॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२४२



परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्चित्सुखमुनिप्रणीता

तत्त्वप्रदीपिका

(चित्सुखी)

परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्प्रत्यक्स्वरूपभगवत्प्रणीतं

'नयनप्रसादिनी'-संस्कृतव्याख्यया

श्रीमत्स्वामीहनुमानदासजी महाराजविरचित

'तत्त्वचन्द्रिका'-हिन्दीव्याख्यया च विभूषिता

प्रस्तावना-लेखक सम्पादकश्च

डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० न० ११३९

जडाव भवन, के ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक श्रीगोकुल मुद्रणालय, वाराणसी
संस्करण प्रथम वि० सं० २०४४
मूल्य : साधारण संस्करण रु० १२५-००
राज संस्करण रु० २००-००

फोन ६५८८९

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ५४७६६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

242

*****

TATTVAPRADĪPIKĀ

OF

PARAMAHAMSA PARIVRĀJAKĀCHĀRYA

ŚRIMATSUKHĀCHĀRYA

With

"Nayana Prasādinī" Sanskrit Commentary

By

PARAMAHAMSA PARIVRĀJAKĀCHĀRYA

ŚRIMATPRATYAKASVARUPABHAGAVAT

and

"Tattvachandrikā" Hindi Commentary

By

ŚRIMAT SWĀMĪ HANUMĀN DĀSA ŚATAŚĀSTRĪ

Foreward By

ŚRI GAJĀNAN ŚĀSTRĪ MUSALGAONKAR

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publishers and Distributors of Oriental Cultural Literature

P O. Chaukhambha, P. Box No. 1139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221001 (INDIA)

Phone 65889

First Edition 1987

Price Ordinary Edition Rs 125-00

Deluxe Edition Rs 200-00

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 1084

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-22 1001

Phone 54766

Printers—

SRIGOKUL MUDRANALAYA

Gopal Mandir Lane,

Varanasi-221 001

श्रीहरि शरणम्

भूमिका

भारतीय-परम्परा के शास्त्रीय ग्रन्थो की रचना, तत्तत्कालीन धुरन्धर विद्वानो ने तीन प्रकार से की है। प्रत्येक दर्शन अथवा शास्त्र के कुछ 'प्रकरण ग्रन्थ', कुछ 'वादग्रन्थ' और कुछ आकर-ग्रन्थ हुआ करते है।

सभी दर्शन अथवा शास्त्र के मूलग्रन्थ सूत्रात्मक है। सूत्र की परिभाषा, विद्वत्परम्परा मे प्रसिद्ध है—

"स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥"

ये सूत्र, बहुतसारे सारगर्भित गम्भीर अर्थ को स्वल्प अक्षरो के द्वारा बता देते हैं। इन सूत्रो मे एक अक्षर भी व्यर्थ या दोषपूर्ण नही होता है।

कालान्तर मे मानव-मस्तिष्क मे शनै-शनै जब कृशता का सञ्चार होने लगा तब मानव के कल्याणार्थ तत्तत्कालीन ऋषि-महर्षि-मुनि तथा विद्वन्मूर्धन्यो ने उन सूत्रो पर भाष्यो की रचना की। भाष्य के स्वरूप की परिभाषा इस प्रकार बताई गयी है—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्व-पदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥"

सूत्रानुसारी पदो के द्वारा सूत्रार्थ को बताकर शब्दश व्याख्या करते हुए शास्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन शङ्कासमाधानपूर्वक जिसमे बताया जाता है, उसे भाष्य कहते हैं।

तदनन्तर मानव-मस्तिष्क को उर्वरित बनाने के हेतु एव उसे नव-नवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा से सम्पन्न कराने के लिये तत्कालीन प्रतिभा के धनी, सूत्र-भाष्य-गत सिद्धान्तो को करतलामलकवत् प्रत्यक्षदर्शी विद्वदग्रेसरो ने वाद-ग्रन्थो की रचनाएँ की। इन वाद-ग्रन्थो मे अनेक युक्ति-प्रयुक्ति, तर्क तथा प्रमाणो के द्वारा पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षो को प्रदर्शित करते हुए सूत्र-भाष्यो के सिद्धान्तो का पूर्णतया समर्थन किया जाता है।

तदनन्तर तत्तच्छास्त्रो मे प्रवेश पाने के इच्छुक बुद्धिमान् बालक छात्रो एव शास्त्रो मे अभिरुचि रखने वाले शास्त्रजिज्ञासु सर्वसाधारण अधिकारीजनो के कल्याणार्थ तत्तत्कालीन शास्त्ररहस्यवेत्ता विद्वच्छिरोमणियो ने तत्तच्छास्त्रो के प्रकरण-ग्रन्थो की रचनाएँ की।

जिन ग्रन्थो मे शास्त्रीय परिभाषाओ को बताते हुए अल्प-स्वल्प युक्तियो, और तर्कों को देकर तत्तच्छास्त्रो के सिद्धान्तो को सक्षेप मे बता दिया जाता है, उन्हे प्रकरण ग्रन्थ कहते है।

उक्त त्रिविध ग्रन्थो मे से प्रस्तुत 'तत्त्वप्रदीपिका' ग्रन्थ, जो विज्ञ पाठको के हाथो मे स्थान प्राप्त करने जा रहा है, उसकी गणना 'वादग्रन्थो' मे की जाती है।

अद्वैत वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थो मे से यह एक अन्यतम अत्युत्तम ग्रन्थ है। विद्वत्समाज मे इस ग्रन्थ को बडे ही आदर के साथ महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता आ रहा है। विद्वानो की राजधानी वाराणसी मे तथा अन्यत्र भी जहाँ धुरन्धर विद्वान् वास्तव्य करते है, वहाँ इस ग्रन्थ का अध्ययनाध्यापन आज भी चल रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम "तत्त्वप्रदीपिका' है। इसीको 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' के नाम से भी कहा जाता है, तथापि विद्वानो के मानसपटल पर 'चित्सुखी' के नाम से ही इस ग्रन्थ की मुहर चिरकाल से लगी हुई है, जो अमिट हो गई है। विद्वत्समाज तथा सस्कृत-प्रेमी जनसमाज इस ग्रन्थ को 'चित्सुखी' के नाम से ही जान पाता है।

'चित्सुखी' के नाम से प्रस्तुत ग्रन्थ की पसिद्धि का कारण यह हे कि उक्त ग्रन्थ के रचयिता 'चित्सुख मुनि' है। इन्ही को 'चित्सुखाचार्य' भी कहा जाता हे। इनका वैदुष्य, नितान्त विश्वसनीय है, अत एव ये सस्कृत विद्वत्समाज की सुदृढ श्रद्धा के पात्र है। श्रद्धेय व्यक्ति समाज के मानसपटल पर सर्वदैव अकित रहता हे, और जो मन मे रहता है, वही वाणी से निकल पडता है। अत ग्रन्थ की प्रसिद्धि भी उसके रचयिता के नाम पर ही हुई होगी।

यह चित्सुखी अथवा तत्त्वप्रदीपिका नामक वादग्रन्थ, अद्वैत वेदान्तशास्त्र का शिखर ग्रन्थ है। अत 'अद्वैत' और 'वेदान्त' इन दो शब्द से परिचित होना भी आवश्यक है।

'वेदस्य अन्त वेदान्त' इस व्युत्पत्ति के अनुसार वेद के सिद्धान्त को वेदान्त शब्द से कहा जाता है। वेद का सिद्धान्त, उसके अन्तिम भाग मे निहित रहता है। इस अन्तिम भाग को ही 'उपनिषद्' कहा गया हे। एव च वेद के 'उपनिषद्' भाग

को 'वेदान्त' कहते है। उपनिषदो के वचनपुष्पो को सगृहीत कर भगवान् बादरायण ने उनको माला के रूप मे ग्रथित कर 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की है। अत-एव ब्रह्मसूत्र को भी 'वेदान्त' शब्द से कहा जाने लगा। उनपर रची गई व्याख्याओं को भी 'वेदान्त' समझा जाने लगा। श्रीमद्भगवद्गीता को तो उपनिषद्रूपी कामधेनु का दुग्धामृत ही कहा गया है—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥"

इस कारण 'श्रीमद्भगवद्गीता' को भी वेदान्त शब्द से कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि 'उपनिषद्', 'ब्रह्मसूत्र' और 'श्रीमद्भगवद्गीता' इन तीनो ग्रन्थो को 'वेदान्त' शब्द से विज्ञलोग कहा करते है। इन तीन ग्रन्थो को 'प्रस्थान' की सज्ञा दी गई है। अत ये तीन ग्रन्थ 'प्रस्थानत्रयी' शब्द से विद्वत्समाज मे मान्यता को प्राप्त हुए हैं।

यह भी स्मरण रखना होगा कि वेदान्त मे अनेक 'वाद' भी सर्वविश्रुत है। जैसे—'द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, और अद्वैत', किन्तु ये सभी 'वाद' किसी के द्वारा स्व-कल्पनाप्रसूत नही है। ये सभी वाद वेदो मे उपलब्ध होते है। कालान्तर मे तत्तत् आचार्यो ने इन उक्त वादो को अपने-अपने बुद्धिवैभव से विभूषित कर उनको पल्लवित मात्र कर दिया है। ये सभी वाद सुदूरतर अतिचिरन्तन काल से विद्वत्समाज मे पूर्वपक्ष अथवा सिद्धान्तपक्ष का रूप धारण कर अध्ययन-अध्यापन मे प्रचलित रहे। बादरायणसूत्र से भी उक्त तथ्य का आभास होता है। जैसे—भगवान् बादरायण ने 'आश्मरथ्य' आचार्य के मत का उल्लेख, प्रथमाध्यायगत चतुर्थ पाद के बीसवे सूत्र 'प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः' कह कर किया है। इससे प्रतीत होता है कि ये आचार्य, विशिष्टाद्वैतमत के प्रतिपादक होगे।

उसी तरह द्वैतमत के पक्षपाती महर्षि जैमिनि तथा महर्षि औडुलोमि आदि भेदाभेदवादी अनेक आचार्यो का भी उल्लेख बादरायण ने किया है।

उसी तरह द्वैतमत का प्रतिपादन भी श्रुति मे उपलब्ध है—

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥"

—(कठ उ.)।

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥"

—(मुण्डक)

अर्जित कर्मफल के प्रकाशक देह मे उत्कृष्ट हृदय के बीच आकाश मे प्रविष्ट होकर कर्मफल को भोगने वाले, छाया और आतप के समान विरुद्ध स्वभाव के जीव और ईश्वर है।

दो सुन्दर पक्षवाले, एकसाथ रहने वाले मित्र, एक ही वृक्ष का आश्रय लेते है। उनमे से एक तो कर्म के फल को भोगता है, और दूसरा कर्मफल भोगे बिना ही सदा प्रसन्न रहता है।

ये श्रुतिवचन जीव और ईश्वर मे भेदप्रतिपादक द्वैत को ही बता रहे हैं।

तथा विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन भी श्रुति ने किया है—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरयितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मैवैतत्।'

—(श्वेताश्व)।

'उद्‌गीथमेतत् परम तु ब्रह्म तस्मिन् त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरञ्च।'

—(श्वेताश्व)।

'भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति, और प्रेरयिता ईश्वर ये तीनो ब्रह्म का ही स्वरूप है (ईश्वर, चित् और अचित पदार्थ, त्रितयस्वरूप हरि है। यही विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त है)। 'उद्‌गीथ ॐकार, यह ब्रह्म का स्वरूप है। इसके तीन रूप है।' ये श्रुतिवचन विशिष्टाद्वैत को बता रहे है।

उसी तरह शुद्धाद्वैत मत का प्रतिपादन भी श्रुति ने किया है—

"न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च ॥"

—(श्वेताश्व)।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

—(मुण्डक)।

उस ब्रह्म से भिन्न कोई कार्य अथवा करण नही है। उसके सदृश या उससे अधिक कोई वस्तु नही है। उसकी विविध प्रकार की सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ हैं, और स्वाभाविक ही ज्ञान, बल और क्रिया (जानाति, इच्छति, यतते) सर्वज्ञता,

सर्वेच्छा, और सर्वसम्पादन की क्रिया है। अर्थात् स्वय ब्रह्म, जगत् रूप मे परिणत होता है, माया' की आवश्यकता नही है।

यह आत्मा प्रवचनादि पाण्डित्यबल से नही प्राप्त होता, किन्तु जिसपर अनुग्रह करके वह अपना स्वरूप प्रकट कर देता है, उसीके द्वारा वह प्राप्त किया जा सकता है, इत्यादि अनेक श्रुतिवचन शुद्धाद्वैत को बता रहे है।

उसी प्रकार निम्बार्क मत (द्वैताद्वैत सिद्धान्त) का प्रतिपादन भी श्रुति भगवती ने किया है—

"स तपस्तप्त्वा ··आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दम्प्रयन्त्य-भिसंविशन्ति।" —(तैत्तिरी उ भृगुव.)।

उसने तपस्या करके ब्रह्म को आनन्दमय जाना। आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते है। आनन्द से ही उत्पन्न होकर जीते है और मृत्यु के पश्चात् पुन आनन्द मे ही प्रवेश कर जाते है।

'रसो वै सः रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति। को ह्येवान्यत् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति।'

(तैत्तिरी उ ब्रह्मव)।

वह रस स्वरूप है। रस को पाकर मनुष्य आनन्दित हो जाता है, यदि इस विश्व मे (हृदयाकाश मे) रस नही होता तो कौन जीता और कौन कर्म करता ? यही रसस्वरूप ब्रह्म, आनन्द देता है। इत्यादि अनेक श्रुतिवचन 'द्वैताद्वैत' को बता रहे है।

इसी तरह 'शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त' भी वेदान्तसम्प्रदायो के अन्तर्गत है। इस मत के सस्थापक—प्रचारक श्री रेणुकाचार्य हुए है। अनेक निगमागम उपनिषदादि श्रुतियो का अनुशीलन कर रेणुकाचार्य ने जीव-शिव की एकता का प्रतिपादन किया है। शक्ति विशिष्टाद्वैत वादी उक्त जीव-शिव के ऐक्य को "लिङ्गाङ्गसामरस्य' कहते है। 'अग' नाम हे जीव का और 'लिङ्ग' नाम है शिव का। लिङ्गाङ्गसामरस्य ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ है। शिवाद्वैतदर्शन मे यह कहा गया हे—

"लिङ्गं तत्पदमाख्यातमङ्गं त्वम्पदमीरितम्।
संयोगोऽसि पदं प्रोक्तमनयोरंगलिङ्गयोः॥"

'लिङ्ग' को 'तत्' पद से कहा गया है, 'अङ्ग' शब्द से 'त्वम्' पद को बताया है, और इन दोनो के सयोग को 'असि' पद से कहा है।

उसी प्रकार 'अद्वैतमत' का प्रतिपादन भी भगवती श्रुति ने किया है। नासदीय सूक्त मे कहा गया है—

"तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्। तुच्छेनाभ्वपिहितं तदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायत।

—(ऋवे १०।१२।९३)।

यह जो कहा जाता है कि सृष्टि से पूर्व अन्धकार से व्याप्त भेदाभेदशून्य अज्ञेय-कारण 'वारि' था। वह तुच्छ झूठी माया से आच्छादित 'आभु' सर्वव्यापी ब्रह्म था। उसी एक ब्रह्म ने ज्ञानरूप तपस्या के द्वारा अपने को अनेक रूपो मे प्रकट किया।

छान्दोग्योपनिषद् मे बताया गया है—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्" —(छा उ ६।२।१)।

हे सौम्य ! श्वेतकेतु ! पहले-पहल यह सद्रूप एक अद्वितीय ब्रह्म ही था।

बृहदारण्यक मे स्पष्ट उल्लेख है—

"मनसैवानुद्रष्टव्य नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्यो॰ स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥"

—(बृह उ ४।४।१९)।

उस ब्रह्म का ज्ञान, शुद्ध मन के द्वारा ही होना है। उसके अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरा पदार्थ नही है। जो कोई उससे भिन्न (नाना) द्वैत देखता है, वह मृत्यु के चक्र मे फँसा रहता है। इत्यादि सैकडो श्रुतिवचन अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर रहे है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त के उक्त सभी सम्प्रदाय श्रुतिप्रोक्त (वेद-मूलक) है, उन्ही को पल्लवित कर समय-समय पर आचार्यो ने उन मतो को प्रचारित, प्रसारित किया है।

अतिप्राचीनतर काल से आज तक उक्त मतो के प्रसारित-प्रचारित होने पर भी अद्वैतवाद की प्रधानता को प्राय सभी ने निष्पक्षता के साथ स्वीकार किया है, यहाँ तक कि विरोधी पक्षवालो ने भी उक्त तथ्य को मान लिया है। दर्शन, इतिहास स्मृति, पुराण आदि जितने भी अनुसन्धानात्मक विचारधाराएँ है, उन सभी ने वेदान्तसिद्धान्त के नाम पर 'अद्वैतवाद' का ही ग्रहण किया है। गोस्वामी तुलसी-दासजी स्वय रामानुजसम्प्रदाय के होते हुए भी रामायण मे अद्वैतवाद को

दरसाया ही है। ब्रह्मसूत्र के रचयिता बादरायण को अद्वैतमत ही मान्य था। अद्वैतमत को लक्ष्य कर किसी का भाष्य अथवा कोई व्याख्या उपलब्ध न रहने से अद्वैतमत के सर्वप्रथम आचार्य के रूप मे आद्यशङ्कराचार्य को ही माना जाता है। सत्ययुग से लेकर अद्वैतवाद के सभी आचार्यो का उल्लेख एक पौराणिक श्लोक मे उपलब्ध होता है। तदनुसार कलियुग मे अद्वैतमत के उद्धारक आद्यशकराचार्य को ही बताया गया है—

"कृते ज्ञानप्रदः सत्यस्त्रेतायां दत्त एव च।
द्वापरे व्यासनामा तु कलौ शकरनामधृक्॥"

भगवान् शकराचार्य ने अद्वैतवाद का इतना अधिक प्रचार-प्रसार किया कि तदुत्तरवर्ती प्राय सभी अन्यान्य आचार्यो तथा मूर्धन्य विद्वानो ने भी अद्वैतवाद पर कुछ न कुछ खण्डन-मण्डन के रूप मे लिख कर ही अपनी कृतार्थता समझी।

अद्वैतमत के समर्थक शिखरस्थ अन्यान्य ग्रन्थो के समान प्रस्तुत 'तत्त्वप्रदीपिका' (चित्सुखी) नामक ग्रन्थ की शैली, ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायो की शैली के समान ही है। ब्रह्मसूत्रो को—'समन्वय, अविरोध, साधन और फल—इन चार अध्यायो मे विभाजित किया गया है, उसी प्रकार प्रस्तुत तत्त्वप्रदीपिका को भी चार परिच्छेदो में विभाजित करके अद्वैत-तत्त्व का प्रतिपादन किया है। क्योकि वेदान्त का वास्तविक उद्देश्य 'अद्वैत' का प्रतिपादन करना ही है।

सदानन्द योगीन्द्र ने अपने वेदान्तसार ग्रन्थ मे बताया है—

'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाण तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।'

अर्थात् 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग हम मुख्य-गौण भेद से दो अर्थो मे करते है। 'वेदस्य अन्त — वेदान्त', इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'वेदान्त' शब्द का मुख्य अर्थ तो 'उपनिषद्' है, और औपनिषदर्थ के अनुकूल अथवा उसी अर्थ के पोषक 'शारीरक-सूत्र' तथा उपनिषदर्थ के सग्राहक ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' तथा इन्ही से सम्बन्धित उनकी व्याख्या, भाष्य, वृत्ति आदि वाद-ग्रन्थ, प्रकरण ग्रन्थो मे भी 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग गौण रूप से किया जाता है। एव च वेदान्त शब्द का मुख्य अर्थ 'उपनिषद्' ही है। 'वेदान्त' शब्द को सुनते ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'वेद' क्या है? इस जिज्ञासा का समाधान महर्षि आपस्तम्ब के वचन से हो जाता है। वे कहते है—'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् वेद' का विभाजन 'मन्त्र और ब्राह्मण' इन दो भागो मे किया गया है। एवञ्च 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद' का अन्त 'उपनिषद्' है। कुछ 'उपनिषद्', मन्त्र-भागात्मक वेद के अन्तर्गत है, और कुछ

'उपनिषद्', ब्राह्मणभागात्मक वेद के अन्तर्गत है। जैसे—शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय संहिता का अन्तिम अध्याय 'ईशावास्योपनिषद्' है, और कृष्णयजुर्वेद की श्वेताश्वतर संहिता का अन्तिम भाग 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' है। सामवेद की कौथुम शाखा के 'ताण्ड्यब्राह्मण', जिसे 'पञ्चविंशब्राह्मण' भी कहते है, उसके अन्तिम आठ भागो को 'छान्दोग्योपनिषद्' कहा जाता है। उसी तरह शुक्लयजुर्वेद की काण्वसंहिता के शतपथ ब्राह्मण मे अन्तिम छह अध्यायो को 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहा जाता है। एवञ्च वेदो के अन्तिम भाग मे ही सभी 'उपनिषदो' का समावेश है।

वेद के स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान गुरुपरम्परा (सम्प्रदाय) से होने पर किसी भी वैदिक या वेदश्रद्धालु व्यक्ति को कभी स्वप्न मे भी सन्देह नही हो सकता कि 'उपनिषदो' को 'वेद' कहे या न कहे। वेद के अन्तिम भागरूप 'उपनिषद्' ग्रन्थ, 'वेद' भी है, और 'वेदान्त' भी है, अत एव उपनिषदो के प्रति जनताजनार्दन के हृदय मे अगाध श्रद्धा है।

मन्त्रभागात्मक वेद के उपनिषद् मे मन्त्रस्वर और ब्राह्मणभागात्मक वेद के उपनिषद् मे ब्राह्मण स्वर हुआ करते है। इन स्वरो से ही निश्चित अर्थ का ज्ञान होता है। आगे चलकर वेदान्तशास्त्र का श्रुति, स्मृति और न्याय के नाम पर तीन प्रकार से विभाजन किया गया है—उपनिषद् भाग को श्रुतिप्रस्थान के रूप मे, श्रीमद्भगवद्गीता, सनत्सुजातसंहिता को स्मृतिप्रस्थान, और ब्रह्मसूत्र आदि को न्यायप्रस्थान के रूप मे विभाजित कर दिया गया है।

उपनिषद् को वेदकाण्ड होने से 'ब्रह्मविद्या' कहा जाता है। यह ब्रह्मविद्या ही श्रेष्ठविद्या या पराविद्या के नाम से कही गयी है। शेष कर्मविषयक-विज्ञान को अपरा विद्या कहा गया है। इस कर्मविद्या का फल कालान्तर मे प्राप्त होता है, तत्काल नही। यह कर्मफल, नश्वर होता है। किन्तु ब्रह्मविद्या का फल तत्काल मिलता है, और वह अविनाशी होता है। मोक्षप्राप्ति का एकमात्र कारण यह ब्रह्मविद्या ही है। कर्मविद्या, मोक्षप्राप्ति का साक्षात् कारण नही है, तथापि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति मे वह कारण अवश्य है। अत एव यह कहा गया है कि जो ब्रह्मविद्या नही जानता वह परमात्मा को नही जानता—'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्'।

भगवान् आद्यशंकराचार्य की सूक्ष्म दृष्टि मे समस्त उपनिषद्रूप वेदान्तशास्त्र का तात्पर्य, 'अद्वैत' मे ही है। एक ब्रह्म ही वस्तुतः सत्य है, दृश्यमान जगत् वास्तविक सत्य नही है। स्वाप्निक पदार्थ के समान वह मिथ्या है। जीव और ब्रह्म एक ही है, भिन्न-भिन्न नही है, यानी एक ही है, दो नही है। यही उपनिषदो

का सिद्धान्त है। इसी तथ्य को—श्लोकार्ध से बता दिया गया है—

"श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥"

यह अद्वैतवाद या अद्वैतमत (अद्वैत-सम्प्रदाय) अत्यन्त प्राचीनतम है, नवीन नही है। श्री शकराचार्य का कपोल-कल्पितवाद नही है। क्योकि नासदीय सूक्त मे अद्वैतवाद को ही बताया गया है, द्वैतवाद का उसमे नाम तक नही है। तथा छान्दोग्य, बृहदारण्यक मे भी अद्वैतवाद का ही स्पष्ट उल्लेख है। तथा साख्यसूत्र (१।२१ २४), (३।२, ८,१९) मे अद्वैतवाद को वेदान्तमत माना गया है। न्यायसूत्र 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग' के भाष्य मे अद्वैतवाद ही वेदान्तसिद्धान्त के रूप मे स्वीकृत हुआ है। महाकवि भवभूति की—'एको रस करुण एव विवर्त-भेदात्' तथा 'ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलय कृत' उक्तियो मे अद्वैतवाद के सिद्धान्त को ही सूचित किया गया है। एव 'सूतसहिता' और 'योगवासिष्ठ' मे अद्वैतवाद ही सर्वत्र अनुस्यूत है। नैषध-महाकाव्य (२१।८८) मे श्रीहर्ष ने बुद्ध को भी अद्वैतवादी ही बताया है। शान्तरक्षित के 'तत्त्वसग्रह' (३२८।१२९) मे भी अद्वैतवाद का ही उल्लेख किया गया है। दिगम्बराचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमासा (श्लो २४) मे अद्वैतवाद की ही चर्चा की है। निष्कर्ष यह है कि अद्वैतवाद का सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीनतम (अनादि) सिद्धान्त है। द्वैतवादी अपने समर्थन मे जिन श्रुतिवाक्यो का उल्लेख किया करते है, उनमे किसी मे भी द्वैतवाद का स्पष्ट समर्थन नही किया गया है। आपातत देखने पर द्वैतवाद का आभासमात्र होता है, परन्तु विचार-शक्ति का उपयोग करने पर उन वाक्यो से द्वैतवाद का न समर्थन ही हो पाता है और न अद्वैतवाद का खण्डन ही हो पाता है।

अद्वैतवादी सर्वाशत द्वैतप्रपञ्च का अपलाप नही करते है। वे भी सत्त्व-शुद्धि के लिये शास्त्रविहित कर्म का अनुष्ठान करते है तथा चित्त की एकाग्रता और निर्मलता के लिये उपासना भी करते है। वे उपास्य और उपासक के रूप मे जीव-ब्रह्म का औपाधिकभेद मानते है, तथा तत्त्वसाक्षात्कार के लिये योगमार्ग को अपनाते है। उनका कहना इतना ही है कि द्वैतप्रपञ्च सत्य नही है, पारमार्थिक नही है। वह व्यावहारिक और मायामय है। अत उपनिषदो मे द्वैतप्रपञ्च का उल्लेखमात्र होना सम्भव है, परन्तु द्वैतप्रपञ्च की सत्यता का उल्लेख किसी भी उपनिषद् मे नही किया गया है। द्वैतप्रपञ्च की मायिकता का उल्लेख तो उपनिषदो मे स्पष्ट रूप से किया गया है। 'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते' से परमेश्वर का

माया के द्वारा अनेक रूपो मे दृष्ट होना बताया गया है। कठोपनिषद् के 'ऋत पिबन्तौ' मन्त्र मे उपाधि के भेद से जीवात्मा और परमात्मा के रूप मे आत्मा के भेद का प्रतिपादन किया गया है। 'जीआत्मा और परमात्मा वस्तुत भिन्न है'—यह नही कहा गया है। अभिप्राय यह है कि व्यवहारदशा मे अद्वैत-वादी भी जीवेश्वर-भेद, द्वैतप्रपञ्च, और परमात्मा-जीवात्मा का उपास्य-उपासकभाव मानते है। अद्वैतवादियो ने कहा भी है—

'मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥'

मायासज्ञक कामधेनु के दो बछडे है—जीव और ईश्वर। ये दोनो अपनी इच्छानुसार द्वैतरूप दुग्ध का पान करे, परन्तु परमार्थतत्त्व तो 'अद्वैत' ही है।

अद्वैतवाद के प्रतिपादक, प्रचारक, प्रसारक के रूप मे भगवान् आद्यशकराचार्य (ई ७८८, सवत् ८४५) को ही लोग मानते आ रहे है। ये अतिविलक्षण प्रतिभा के धनी थे। इनकी आकृति, वाणी अत्यधिक तेजस्विनी थी। इनकी अनुपम वाग्मिता असाधारण तर्कपटुता, सर्वातिशायिनी शेमुषी, के सामने मानवमात्र का मस्तक श्रद्धा और गौरव के साथ नत हुए विना नही रहता। इन्होने अपने ३२ वर्ष के स्वल्पतर जीवन मे राष्ट्रहितकारक प्रशसनीय महत्त्वपूर्ण इतने कार्य किये, जो साधारण मनुष्य की शक्ति के बाहर है। उसके परिणामस्वरूप आज भी ये अपने कीर्तिमय शरीर से विश्व मे विद्यमान है। अत एव इन्हे 'शिव का अवतार' कहा जाता है। ये केरल के नम्बूद्रीब्राह्मण थे। सन्यासदीक्षा लेने पर श्री गोविन्द-भगवत्पाद के शिष्य कहलाने लगे। श्री गोविन्दभगवत्पाद के गुरु आचार्य गौडपाद थे। आचार्य शकर का इतिहास अतिसक्षेप से एक पद्य के द्वारा बताया जाता है—

"अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥"

आपने प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र), श्री गौडपादाचार्य की माण्डूक्यकारिका, विष्णुसहस्रनाम, सनत्सुजातीय, आदि ग्रन्थो पर भाष्य की रचना करके रहस्यपूर्ण उक्त ग्रन्थो को बोधगम्य बना दिया है।

इसके अतिरिक्त सौन्दर्यलहरी, उपदेशसाहस्त्री, तथा अनेकानेक देवी-देवताओ के स्तोत्र तथा उपदेशप्रद काव्यो की सरस-मधुर-प्रसादगुणपूर्ण शैली से रचना की है। अद्वैतवाद के प्रचारक-प्रसारक के रूप मे प्रथम आचार्य श्री गौडपादाचार्य,—जो आचार्य शकर के परमगुरु थे—को ही माना जाता है। उन्ही की रचित माण्डूक्य-

कारिका, 'अद्वैतवाद' मे आधारशिला का काम करती है। अपने परमगुरु के कार्य का उत्तरदायित्व सम्हाल कर उसे ही आचार्य शकर ने अपने पूर्ण पुरुषार्थ के साथ पूर्णता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा कर सर्वदा के लिये चिरस्थायी बना दिया।

तदनन्तर भगवान् श्री शङ्कराचार्य के शिष्य-प्रशिष्य परम्परा के अनेक धुरन्धर बिद्वानो ने शतश सहस्रश ग्रन्थो की तथा व्याख्या ग्रन्थो की रचना करके अद्वैत-मत का प्राणपण से प्रचार-प्रसार कर उसे चिरस्थायी अमिट रूप प्रदान किया।

इसी परम्परा मे चित्सुखाचार्य (१३ वी शताब्दी) ने 'तत्त्वप्रदीपिका' ग्रन्थ की रचना कर चिरस्थायी प्रभूत यश प्राप्त कर लिया। इस ग्रन्थ मे आपने न्याय-शैली का अवलम्ब कर वादपद्धति से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन तथा प्रसङ्गानु-प्रसङ्गोपात्त अनेक विषयो का खण्डन-मण्डन करते हुए अद्वैतमत को परिपुष्ट किया है।

श्री चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' पर प्रत्यक्स्वरूप भगवान् (१५ शताब्दी) ने 'नयनप्रसादिनी' नामक अत्युत्तम प्रौढ व्याख्या का प्रणयन किया है। यह व्याख्या उच्चकोटि के वैदुष्य से परिपूर्ण होने के कारण अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

(१) चित्सुखाचार्य ने अपनी तत्त्वप्रदीपिका के प्रथम परिच्छेद मे १३ वादो पर बडे ऊहापोह के साथ विचार किया है। जैसे—(१) ज्ञान की स्वप्रकाशता, (२) आत्मा की ज्ञानरूपता, (३) तमस् की भावरूपता, (४) जगत् का मिथ्यात्व, (५) भ्रम की सिद्धि, (६) अज्ञान का अनादित्व एव भावरूपत्व, (७) अध्यास की सिद्धि, (८) वेदवाक्य मे सिद्धार्थविषयिणी प्रमा की उत्पादकता, (९) अखण्डार्थता, (१०) स्वत प्रमात्व, (११) अतिरिक्त शक्तिकल्पना, (१२) अभिहितान्वयवाद, (१३) वेदाऽपौरुषेयता। साथ ही प्रसङ्ग प्राप्त दृग्दृश्य-सम्बन्ध का निरसन, अध्ययनविधिविचार, और ख्यातिविचार भी किया है।

नयनप्रसादिनी के व्याख्याकार प्रत्यक्स्वरूप-भगवान् ने एक पद्य के द्वारा चित्सुखाचार्य के निरूपित १३ वादो का सकलन करके बताया है—

"विज्ञानं स्वप्रकाशं भवति च पुरुषस्तद् वपुर्भावरूपम्,
ध्वान्तं मिथ्याप्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोधः।
आरोपारोप्यसिद्धिः प्रमितिजनकताऽखण्डना स्वप्रभात्वम्,
शक्तिर्लक्ष्यः पदार्थोन्वय इति कथिता. पौरुषेयो न वेदः॥"

(२) दूसरे परिच्छेद मे नैयायिक और वैशेषिको की ओर अपनी पैनी विचार दृष्टि से देखते हुए एक के सोलह और दूसरे के सात पदार्थों का खण्डन कर

दिया है, और अद्वैत-तत्त्व की सिद्धि-प्रक्रिया मे उपस्थित होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाणो के विरोध को निरस्त किया है। इस परिच्छेद मे चतुर्दश पदार्थों का निरसन किया गया है। जैसे—(१) भेद, (२) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, (३) अभाव, (४) भाव, (५) अवयवीसहित परमाणु, (६) सयोग, (७) विभाग, (८) द्वित्वादि और जाति, (९) द्वयणुकारम्भ, (१०) पाकज प्रक्रिया, (११) कारणत्व, (१२) काल, (१३) दिशा और (१४) भेदाभेद।

व्याख्याकार प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने उक्त चतुर्दश पदार्थो का एक पद्य मे सग्रह कर दिया है—

"भेदो द्रव्यादिषट्कं क्षणनिधनमतं षट्प्रमाणान्यभावो,
भावः पश्चात् पराणुर्ह्यवयविसहितश्चान्ययोगो वियोगः।
द्वित्वादिर्जातिभानं द्व्यणुकपरिमिता पाकजप्रक्रियाथो,
हेतुत्व कालकाष्ठे जनिमदपि भिदाभेदवादो निरस्तः॥"

(३) तीसरे परिच्छेद मे प्राधान्येन तीन विषयो का निरूपण किया गया है। जैसे (१) शब्द, अपरोक्षज्ञान का कारण है, (२) ज्ञान, मोक्ष का कारण है, (३) ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद का खण्डन।

इसीका सग्रह प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने एक अनुष्टुप् छन्द के द्वारा कर दिया है—

"शब्दः साक्षात्कारहेतुर्विद्या मुक्तिफलप्रदा।
विद्यैव न तु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम्॥"

(४) चौथे परिच्छेद मे—(१) बौद्धसम्मत-मुक्ति का खण्डन, (२) तार्किक-सम्मत, मुक्ति के स्वरूप का खण्डन, (३) साख्यदर्शनसम्मत मुक्ति के स्वरूप का निरसन, (४) एकाविद्या और उसका विषय, (५) अविद्यानिवृत्ति का स्वरूप, (६) जीवन्मुक्ति का साधन—इन छह विषयो का वर्णन विशेषरूप से किया गया है।

प्रत्यक्स्वरूप भगवान् ने उक्त विषयो का सग्रह एक पद्य मे इस प्रकार किया है—

"स्वात्यन्तोच्छेदरूपा क्षणिकनिरतिभिस्तार्किकैः कापिलैर्या,
सोक्ता मुक्तिर्निरस्ता दृढनयनिकरैरात्मपक्षे च मुक्तिः।

एकानेका चिदेकाश्रयविषयवती जीवभावैकहेतु-
र्योऽविद्या तन्निवृत्तिः परमसुखमयी जीवतश्चेति सोक्ता ॥

चित्सुखाचार्य का अपना एक स्वभाव है कि वे किसी विषय के पूर्वपक्ष और उसका खण्डन उपस्थित करते समय सम्भाव्यमान अनेक विकल्पो को सामने रख देते है, तदनन्तर प्रत्येक विकल्प का खण्डन, तर्कपूर्ण युक्तियो से कर देते है ।

जैसे—ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का आरम्भ 'स्वप्रकाश' शब्द की चर्चा से किया है । यह चर्चा 'वाद' पद्धति से की गई है, क्योकि इस ग्रन्थ को 'वादग्रन्थ' की कोटि मे रखने के उद्देश्य से लिखा गया है । अत चित्सुखाचार्य ने अपने इष्टदेव भगवान् नरसिंह के चरणारविन्द पर नमस्कार करने के व्याज (मिष = बहाना) से वाद के विषय 'स्वप्रकाश' पद को प्रदर्शित किया है । अर्थात् स्वप्रकाश-विषयक वाद (कथा) को उपस्थित किया है । ग्रन्थकार के इष्टदेव नरसिंह भगवान् स्वप्रकाश (स्वय प्रकाश) चिदात्मस्वरूप है । 'स्वप्रकाश' शब्द की चर्चा आरम्भ करने के निमित्त पूर्वपक्ष को उपस्थित करते है और प्रश्नो (विकल्पो) की झडी लगा दे रहे है । प्रश्न यह कर दिया है कि 'अथ कोऽय स्व-प्रकाशशब्दार्थ' ? अर्थात् 'स्वप्रकाश' शब्द का अर्थ क्या है ? यानी 'स्वप्रकाशता' की परिभाषा क्या है ? 'स्वप्रकाशता' की परिभाषा (स्वप्रकाश शब्द का अथ) ग्यारह प्रकार से की जा सकती है ।

जैसे—(१) किं स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाशः ?

अर्थात् क्या स्वत्वविशिष्ट (स्वरूपवत्त्व से युक्त)—प्रकाशरूपता को 'स्वप्रकाशता' कहा जाय ?

अथवा (२) स्वस्य स्वयमेव प्रकाशः स्वप्रकाशः ?

अर्थात् क्या स्वविषयक प्रकाशता को स्वप्रकाशता' कहा जाय ?

अथवा (३) सजातीयप्रकाशाऽप्रकाश्यत्व—स्वप्रकाशः ?

क्या सजातीय प्रकाश से जो अप्रकाश्य हो, उसे 'स्वप्रकाश' कहा जाय ?

अथवा (४) स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्वम्—स्वप्रकाशः ?

क्या अपनी सत्ता (वर्तमानता) मे प्रकाश का अवश्य रहना, अर्थात् जब तक इसकी सत्ता है, तब तक प्रकाश के साथ वियोग न हो पाना, ही 'स्वप्रकाशता' है ?

अथवा (५) स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वं—स्वप्रकाशः ?

क्या ज्ञान का अपने व्यवहार के प्रति कारण (हेतु) होना 'स्वप्रकशता' है ?

अथवा (६) ज्ञानाऽविषयत्वम्—स्वप्रकाशः ?

क्या ज्ञान का विषय न होना, यानी—अप्रमेयता को स्वप्रकाश कहा जाय ?

अथवा (७) ज्ञानाविषयत्वे सति अपरोक्षत्वं—स्वप्रकाशः ?

क्या ज्ञान का विषय न होते हुए भी अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होना—स्वप्रकाश कहा जाय ?

अथवा (८) व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्वं—स्वप्रकाशः ?

क्या व्यवहार का विषय (व्यवहार्य) होते हुए ज्ञान का विषय न होना—स्वप्रकाश कहा जाय ?

अथवा (९) स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा स्वप्रकाशः ?

क्या स्वसम्बन्धी (स्वविषयक) व्यवहार मे सजातीय अन्य की (दूसरे की) अपेक्षा न रहना 'स्वप्रकाशता' कही जाय ?

अथवा (१०) अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा स्वप्रकाशः ?

क्या अवेद्यता (ज्ञान का अविषय) होते हुए अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) व्यवहार का विषय होना 'स्वप्रकाशता' है ?

अथवा (११) 'तद्योग्यत्वं वा—स्वप्रकाशः ?

क्या अवेद्यता से युक्त अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता को स्वप्रकाशता कहा जाय ?

इस प्रकार **'स्वप्रकाश' का लक्षण ग्यारह प्रकार** से किया जा सकता है। ये ग्यारह प्रकार के लक्षण इसलिये नही किये गये है कि पूर्व पूर्व लक्षणो के दोषो का उनके द्वारा निरसन किया जाय, अपितु—'स्वप्रकाशता' को बताने वाले इतने लक्षणो का निर्माण सभव हो सकता है, तथापि ये सभी लक्षण किसी न किसी दोष से ग्रस्त है, इनमे से कोई भी लक्षण निर्दुष्ट नही है।

क्योकि—

(१) **प्रथम लक्षण**, वेद्य-ज्ञान मे अतिव्याप्त हो जाता है।

(२) **द्वितीय लक्षण**, कर्मकर्तृभाव का विरोध होने से असम्भव दोष से दूषित हो रहा है।

(३) **तृतीय लक्षण** भी ठीक नही है, क्योकि प्रदीप आदि प्रदीपान्तर से प्रकाशित नही हुआ करते और स्वय, अ-स्वप्रकाश है, अत अस्वयप्रकाशरूप अलक्ष्य मे लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है।

(४) **चतुर्थ लक्षण** भी ठीक नही है, क्योकि सुख-दुखादि मे उसकी अतिव्याप्ति हो रही है।

(५) **पञ्चम लक्षण** भी ठीक नही है, क्योकि वह प्रदीप आदि मे अतिव्याप्त हो रहा है।

(६) **षष्ठ लक्षण** भी समुचित नही है, क्योकि स्वयप्रकाश ब्रह्म मे प्रमाण-जन्य ज्ञान की विषयता ही रहती है, अविषयता नही। अत यह लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है।

(७) **सप्तम लक्षण** भी ठीक नही है, क्योकि असम्भव के कारण 'अविषयता' का तो निराकरण हो ही चुका है। अत 'विषयता' का अर्थ यदि कर्मत्व करते है, तो **प्रभाकर मीमांसकों** के मतानुसार आत्मा मे ज्ञानाश्रयता रहने के कारण उसमे अपरोक्षता मानी जायगी। इस रीति से अलक्ष्य मे लक्षण का प्रवेश हो जाने से अतिव्याप्ति हो रही है।

(८) **अष्टम लक्षण** भी समुचित नही है, क्योकि इस लक्षण मे भी मोक्षादि-कालीन आत्मा मे अव्याप्ति और ज्ञानविषयता का असम्भव आदि पूर्व प्रतिपादित दोष होते है। तथा **प्रभाकर मीमांसक** के अनुसार शुक्ति-रजतादि ससर्ग मे यह लक्षण अतिव्याप्त भी हो रहा है। क्योकि उसमे व्यवहारविषयता रहने पर भी **प्रभाकर** की दृष्टि से ज्ञानविषयता नही है।

(९) **नवम लक्षण** भी ठीक नही है, क्योकि प्रदीपादि और घटादि सम्बन्धी व्यवहार मे भी सजातीय पर (अन्य) की अपेक्षा न रहने से अतिव्याप्ति हो रही है।

(१०) **दशम लक्षण** भी निर्दुष्ट नही है, क्योकि स्वयप्रकाश वस्तु के अवेद्य रहने पर उसके विषय मे विचार करना सम्भव ही नही हो सकता, यानी असम्भव है। **दूसरी बात** यह है कि स्वयम्प्रकाश आत्मा जब कि अपरोक्ष ज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) का विषय (वेद्य) है, तब उसके विरुद्ध उसे अवेद्य कहना तो अपनी माता को वन्ध्या कहने के तुल्य ही होगा। अपि च सुषुप्ति-प्रलय-मोक्ष-कालीन आत्मा मे व्यवहारविषयता का अभाव रहने से लक्षण की अव्याप्ति भी हो रही है। एव च असम्भव, वचोव्याघात, और अव्याप्ति इन त्रिदोषो से लक्षण, ग्रसित हो रहा है, अत यह लक्षण उचित नही है।

(११) **एकादशवॉ लक्षण** भी ठीक नही है, क्योकि लक्षणघटक 'योग्यता' को यदि 'स्वयप्रकाश का धर्म' कहे तो मोक्ष दशा मे आत्मा निर्धर्मक रहने से

अव्याप्ति होगी, और यदि उस दशा मे उसे निर्धर्मक न माने तो **अद्वैतियो** का सिद्धान्त भग हो जायगा। यदि 'योग्यता' को 'स्वयप्रकाशकास्वरूप' कहे तो 'ज्ञानस्वरूप आत्मा' मे भी व्यवहारनिरूपणीयता आजायगी तब 'ह्रस्वत्व' आदि के समान वह नित्य सापेक्ष हो जायगा। निरपेक्ष नही रह पायगा। ऐसी स्थिति मे परमात्मा की स्वयम्प्रकाशता उक्त लक्षण से सिद्ध नही हो रही है। क्योकि 'स्वयम्प्रकाशता' (स्वयप्रकाश) का कोई लक्षण ही नही बन पा रहा है।

'लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः' इस नियम के अनुसार स्वयप्रकाशता का परीक्षण भी 'प्रमाण' के द्वारा **ग्रन्थकार** ने किया है।

किन्तु **ग्रन्थकार** प्रथमत अपनी शैली के अनुसार **पूर्वपक्षी के पक्ष** का उत्थापन करने के लिये 'स्वयप्रकाशता' की सिद्धि कर रहे है—'स्वयप्रकाशता' की सिद्धि अनुमानप्रमाण से हो सकती है। जैसे—**'अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'**।

पूर्वपक्षी कह सकता है कि यह अनुमान ठीक नही है, क्योकि इस अनुमान मे **'अप्रसिद्धविशेषणता'** दोष है। अर्थात् 'पक्ष' मे जो 'साध्य' रूप विशेषण दिया है, वह अप्रसिद्ध है।

इस पर **वेदान्ती** का कहना है कि आपको ऐसा सन्देह नही करना चाहिये, क्योकि पक्ष मे दिया हुआ जो विशेषण (अनुभूतिव्यवहार का हेतु जो प्रकाशत्व) है, वह उभयवादिप्रसिद्ध है, अर्थात् व्यवहार का हेतुभूत 'प्रकाश' दोनो को मान्य है। अत उसे अप्रसिद्ध कह देना उचित नही है। क्योकि 'स्व-व्यवहार का हेतु स्वय होना' ही 'स्वप्रकाशता' है। इसलिये पक्षरूप 'अनुभूति' मे अनुभूति-व्यवहारहेतुप्रकाशत्व' की जो प्रतिज्ञा की गई वह ठीक ही है।

किञ्च—'अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्व' रूप विशेषण का 'पक्ष' मे असिद्ध रहना उचित ही है। अन्यथा (पक्ष मे 'साध्य' यदि पूर्व से ही सिद्ध रहे तो) परार्थानुमान के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यो होगी? क्योकि 'पक्ष' तभी होता है, जब उसमे 'साध्य' का सन्देह हो, **'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः'** यही तो पक्ष का स्वरूप है।

यदि **पूर्वपक्षी** यह कहे कि 'अनुव्यवसाय' ज्ञान मे तो 'साध्य' का निश्चय (सिद्धि) रहता है, तब अनुभूति का अनुव्यवसायरूप जो अश (भाग) है, उसमे **'सिद्ध-साधनता'** दोष हो जायगा।

उसपर **वेदान्ती** कहता है कि इस प्रकार से 'दोष' कह देना तुम्हे उचित नही होगा, क्योकि **हम** वेदान्ती लोग 'अनुव्यवसाय' को मानते ही नही। उस स्थिति मे

'अनुव्यवसाय' को आप पक्ष (धर्मी) का एकदेश (अंश-भाग) कैसे कह रहे है ? अतः पक्ष के एकदेश मे 'सिद्धसाधनता' दोष आप नही दे सकते।

उसपर **पूर्वपक्षी** पुनः कहता है कि **'स्वप्रकाशता'** की सिद्धि मे आपके द्वारा प्रयुक्त किया गया 'अनुमानप्रयोग' ठीक नही है। इसप्रकार के अनुमानप्रयोग से 'स्वप्रकाशता' की सिद्धि नही हो सकेगी। क्योकि आपने जो अनुमान **'अनुभूतिः, अनुभूतिहेतुप्रकाशः'** किया है, वह **'केवलव्यतिरेकी'** मानकर किया है। **'केवल-व्यतिरेकी हेतु'** उसे कहते है जिस 'हेतु' का 'साध्य' के साथ सहचार निश्चित न हो। प्रकृत मे तो **साध्य** (अनुभूतिव्यवहारहेतुभूतप्रकाशत्व) के अधिकरण मे **'हेतु'** (अनुभूतित्व) की सत्ता निश्चित ही है। अर्थात् अनुभूति के व्यवहार का हेतुभूत 'प्रकाशत्व', जिस ज्ञान मे सिद्ध है, वही पर यदि 'हेतु' भी रहे, तो 'हेतु' मे 'केवलव्यतिरेकित्व' कैसे कहा जायगा ? व्यतिरेकी तो तभी कहा जायगा, जब कि उसका (हेतु का) साध्य के साथ सहचार नही रहेगा। साध्य के साथ उसका सहचार होने पर तो वह 'अन्वयी हेतु' कहलायगा। एवं च आपके द्वारा प्रयुक्त किया गया अनुमान, 'केवलव्यतिरेकी' न होकर 'अन्वयव्यतिरेकी' हो गया। क्योकि 'प्रकाशत्व' रूप साध्य, जिस ज्ञान मे निश्चित है, उसी ज्ञान मे हेतु के रहने से उसकी केवल-व्यतिरेकिता भंग हो गई।

यदि आप यही दुराग्रह करे कि **'साध्य'** (अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्व) के अधिकरण मे हेतु (अनुभूतित्व) नही रहता, तब **सपक्ष** (निश्चितसाध्यवान् पक्ष) मे न रहने वाला (अवृत्ति) **'हेतु'** (सपक्षाऽवृत्ति हेतु) **असाधारण अनैकान्तिक** (सव्यभिचार) कहा जाता है। एवं **"निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः"** जिसमे 'साध्य' के अभाव का निश्चय रहता है, उसे **'विपक्ष'** कहते है। उस साध्याभाव के अधिकरण (विपक्ष) मे 'हेतु' का रहना (वृत्तित्व), अनुमान करने वाले को ही मान्य नही है। अर्थात् विपक्ष मे हेतु की वृत्तिता को तो अनुमान करने-वाला स्वयं स्वीकार नही कर रहा है। अन्यथा 'हेतु' को **साधारण** (विपक्षवृत्ति) कहना पडेगा। अतः **निष्कर्ष** यह हुआ कि यह 'हेतु' न सपक्ष मे रहता है, और न विपक्ष मे ही रह रहा है, यानी दोनो मे इस हेतु के न रहने से उसे **'असाधारण'** (सपक्ष-विपक्ष मे न रहना, केवल पक्ष मे ही रहना) कहा गया है। **केवल पक्ष** (पक्षमात्र) मे वर्तमान रहने वाले 'हेतु' को **अनैकान्तिक** (अनिश्चित साध्यवाला) (दूषित हेतु) कहा गया है। जैसे—**'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्'** इस अनुमानप्रयोग मे जो **'शब्दत्व'** हेतु है, वह **नित्य** 'आकाशादि' रूप सपक्ष **और 'अनित्य** घटादि'

रूप विपक्ष दोनो मे ही न रह कर **नैयायिकों** की दृष्टि से केवल 'शब्द' रूप **पक्ष** मे ही रहता है, क्योकि **'शब्दत्व'** को, शब्द का असाधारण धर्म कहा जाता है। 'नित्यत्व' रूप **साध्य** के साथ 'शब्दत्व' रूप **हेतु** का ऐकान्तिकत्व (नियत-सहचारवत्त्व) नही है।

उसी प्रकार **'अनुभूतित्व'** भी 'अनुभूति' रूप **'पक्ष'** मात्र मे रहता (वृत्ति) है, और उसका (अनुभूति का) **असाधारण धर्म** भी हे, तथा वह (अनुभूतित्व) अपने साध्य के साथ ऐकान्तिक नही है, अर्थात् अनैकान्तिक है। तथा अनुव्यवसाय रूप **सपक्ष** (निश्चित साध्य वाले पक्ष) मे 'हेतु' की वृत्ति कहे, तो पक्ष के एक भाग (एकदेश) मे 'सिद्धसाधनता' दोष होगा, जिसे दूर नही किया जा सकता। अर्थात स्वसिद्धान्त मे अनुव्यवसाय को 'असिद्ध' कह देने मात्र से **दूसरे के** (वादी के) मत मे सिद्धसाध्य वाले अनुव्यवसाय मे 'सिद्धसाधन' दोष को दूर नही किया जा सकता।

यदि **वेदान्ती** के मत (स्वसिद्धान्त) मे अनुव्यवसाय का स्वीकार न करने मात्र से **वादी** के मत मे स्वीकृत (सिद्ध) किये गये अनुव्यवसाय मे सिद्ध-साधनता-दोष का निवारण होता हो तो—

अन्यथा ख्यातिवादी नैयायिक 'रजतलिप्साजन्यनियतपुरोवर्तिप्रवृत्तित्वादि' हेतु के बल पर 'इद रजतम्' यह पुरोवर्ति शुक्तिविषयक ज्ञान, अन्य के आकार मे होता है—यह सिद्ध करना चाहता है।

तब **वेदान्ती,** नैयायिकोक्त हेतु (रजतलिप्साजन्यनियतपुरोवर्तिप्रवृत्तित्वात्) मे 'सिद्धसाधनता' दोष को बताते हुए कहता है कि **'रजतज्ञानं पुरोवर्तिविषयकं रजतेच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वात्'** अर्थात् 'इद रजतम' यह ज्ञान, 'पुरोवर्ति अनिर्वचनीय रजत–विषयकही है, शुक्ति विषयक नही है। इस प्रकार नैयायिक के अनुमान मे सिद्धसाधनता दोष देगा। तब **अन्यथाख्यातिवादी** भी कह देगा कि 'अनिर्वचनीय रजत' को हमलोग स्वीकार ही नही करते। इतना कहने मात्र से ही **वेदान्ती** के द्वारा लगाये गये सिद्धसाधनता-दोष का परिहार वह कर देगा। यदि वचन मात्र से ही दोष का परिहार हो जाता है तो दोषपरिहारार्थ अनिर्वाच्यता के निरसनादि प्रयत्न की आवश्यकता ही नही होगी।

यह भी नही कह सकते कि **अन्यथाख्यातिवादी** के द्वारा किया गया 'पुरोवर्ति-विषयकत्व' का अनुमान, **अनिर्वचनीयवादी वेदान्ती** को लक्ष्य करके नही है, **अपितु अनुव्यसायवादी** को लक्ष्यकर किया गया हे।

किन्तु यह कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि **अनिर्वचनीयवादी** के मत से 'सिद्धसाधनता' दोष उपस्थित होता है, उस स्थिति मे अन्यथाख्यातिवादी को मूक हो जाना पडेगा। उसी तरह **अनुव्यवसायवादी** को लक्ष्य कर के भी **'अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वात्'** यह प्रयोग नही हो सकेगा, क्योंकि अनुव्यवसाय के एक अश (भाग) मे 'सिद्धसाधनता' दोष प्राप्त होता है।

इसपर **अन्यथाख्यातिवादी** यदि यह कहे कि हम उम **अनुव्यवसायवादी** को लक्ष्य करके उक्त अनुमानप्रयोग नही कर रहे है। हम अपना अनुमानप्रयोग तो **अनिर्वचनीयवादी** तथा **अनुव्यवसाय वादी** दोनो के अतिरिक्त किसी अन्य को लक्ष्य करके कर रहे है।

किन्तु उसका यह कहन। भी उपहासास्पद ही होगा, क्योंकि उक्त दोनो से अन्य और है ही कौन ? जिसके लिये आप अनुमानप्रयोग कर रहे है।

इसपर यदि **अन्यथाख्यातिवादी** यह कहे कि हम **'अनुभूतिः'** इस पक्ष के साथ **'विवादपद'** को विशेषण के रूप मे जोड देगे। तब **'विवादास्पदीभूता अनुभूतिः'** यह कहा जायगा। विवाद का विषय तो अनिश्चित पदार्थ ही हुआ करता है। अर्थात् जहाँ 'साध्य' की सत्ता का निश्चय न रहने से वह विवाद का विषय बन गया है, यह कहने पर **'अनुव्यवसाय'** तो विवादास्पद (विवाद का विषय) होगा ही नही, क्योंकि 'अनुव्यवसाय' मे **'साध्य'** तो निश्चित रूप से रहता ही है। एव च **'विवादास्पदीभूता अनुभूतिः'**के अन्तर्गत 'अनुव्यवसाय' का समावेश न हो पाने से उसकी (अनुव्यवसाय) की व्यावृत्ति (व्यवच्छेद) हो जायगी। जब वह 'पक्ष' के अन्तर्गत ही नही हो पायगा, तब उसमे **धर्मिभागता** (पक्ष का अश = भाग) कैसे कही जा सकेगी ? जब वह धर्मी का 'भाग' ही नही, तब **पक्ष के एकदेश** (एक भाग) मे 'सिद्धसाधनता' दोष भी नही कहा जा सकता।

अन्यथाख्यातिवादी यह भी कह सकता है कि 'अनुव्यवसाय' मे 'साध्य' की प्रसिद्धि कहने पर 'हेतु' की केवलव्यतिरेकिता नही रह पाती उसका (हेतुका) जो **'केवलव्यतिरेकित्व'** स्वरूप है वह नष्ट हो जाता है, और 'अनुव्यवसाय' को **साध्यसिद्धि** का स्थल न मानने पर 'साध्य की अप्रसिद्धि' पूर्ववत् बनी रहती है, यानी 'पक्ष' के विशेषणरूप 'साध्य' की प्रसिद्धि नही हो पाती।

यदि यह कहे कि **नैयायिक** ही 'अनुव्यवसाय' को साध्यप्रसिद्धि का स्थल मानते है। तब तो उसके लिये **'केवलव्यतिरेकी हेतु'** का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता ही नही है।

इसी प्रकार अन्यान्य कितने ही प्रश्न मन मे उठते है। जैसे—**'व्यवहारहेतुत्व'** को 'प्रकाश' (साध्यांग) का **'विशेषण'** कहा जाय, अथवा **'उपलक्षण'** कहा जाय ?

यदि 'व्यवहारहेतुत्व' को 'प्रकाश' का विशेषण कहते हे, तो **मोक्षावस्था** (कैवल्यावस्था) मे 'जीवात्मा' व्यवहारशून्य रहता हे, यानी उसमे व्यवहारहेतुता (व्यवहारहेतुत्व) रूप विशेषण का अभाव रहता है। एव च **विशेषण-विशिष्टसाध्य** के अभाव से उसकी स्वयप्रकाशता का भी अभाव प्राप्त होगा।

उक्त आपत्ति को दूर करने के लिये यदि 'व्यवहारहेतुत्व' का अर्थ **'व्यवहार-हेतुत्वयोग्यता'** करते हे, तब तो वह 'व्यवहारहेतुत्वयोग्यता', मोक्षावस्थापन्न-**जीवात्मा** मे भी रहती है, उस कारण उसमे स्वयम्प्रकाशता का अभाव (अस्व-प्रकाशता) कहने का प्रसग नही आवेगा।

किन्तु यह भी नही कह सकते। क्योकि यह भी विचार करना होगा कि उस 'योग्यता' को आप 'स्वयम्प्रकाशवस्तु' का **'स्वरूप'** समझ रहे है, अथवा 'स्वरूप' से **भिन्न** (अतिरिक्त) समझ रहे हे ?

'योग्यता' को यदि 'स्वयम्प्रकाशवस्तु' का **स्वरूप** कहे तो उसमे **'नित्यसापेक्षता'** (सप्रतियोगिकत्व) कहनी होगी, अर्थात 'योग्यता' को नित्यसापेक्ष रहना होगा। नित्यसापेक्षता भी एक दोष है।

अत **'योग्यता'** को स्वरूपातिरिक्त कहे तो उसे (योग्यता को) **विशेषण** कहना होगा। तब वह **योग्यतारूप विशेष,** मोक्षावस्थापन्न **आत्मा** मे न रहने से वही पूर्वोक्त दोष (मोक्षावस्थापन्न आत्मा मे अस्वप्रकाशता) ही पुन कायम रहेगा। क्योंकि मोक्षावस्था मे **निर्विशेष आत्मा** रहता है।

अब यदि 'व्यवहारहेतुत्व' या 'व्यवहारहेतुत्वयोग्यता को' **उपलक्षण** कहे, और उससे उपलक्षित हुए 'प्रकाशात्मत्व' को **'साध्य'** रखे तो **'उपलक्षितत्व'** को साध्य (प्रकाशात्मत्व) का विशेषण कहना होगा, क्योकि वह 'साध्य' के अन्तर्गत ही है। उस कारण मोक्षावस्था मे स्वयम्प्रकाशत्वाभाव (अस्वप्रकाशता) रूप दोष, जो पहले प्राप्त हुआ था, वही पुन कायम रहेगा।

यदि **'उपलक्षितत्व'** को 'साध्य' का विशेषण (साध्य के अन्तर्गत) न कहकर, साध्य के बहिर्भूत अर्थात् 'उपलक्षण' कहते है तब 'प्रकाशरूपतामात्र' को ही 'साध्य' कहना होगा। किन्तु वह 'प्रकाशस्वरूपता' (साध्य) **'प्रकाशरूपतामात्र'** मे भी सिद्ध है। तब 'केवलव्यतिरेकी अनुमान' करने का अवकाश ही कही नही रहता है।

इन उक्त दूषणो से ही **'अनुभूतिः अनुभाव्या न भवति, अनुभूतित्वात्'**— अर्थात् अनुभूति-(सविद्) अनुभाव्य (वेद्य) नही होती, क्योकि उसमे 'अनुभूतित्व' (अनुभवस्वरूपत्व) रहता है, इत्यादि प्रयोगो का भी निरसन हो जाता है। क्योकि उन प्रयोगो मे भी **'अप्रसिद्धविशेषणता'** दोष दूर नही किया जा सकता।

अपि च—'ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वात् घटवत्' अर्थात् ज्ञान 'वेद्य' (अनुभाव्य) है, क्योकि वह, वस्तुत्वविशिष्ट है जैसे घट। इस प्रतिप्रयोग (विरोधी प्रयोग) रूप विरोधीपक्ष (प्रतिपक्ष) का भी सम्भव हो सकता है। इस विरोधी प्रयोग के द्वारा **'सत्प्रतिपक्षितत्व'** दोष का भी सम्भव है। एवं च **बाधित होने से** उक्त अनुमान नही किया जा सकता।

यदि यह कहा जाय कि **'ज्ञानरूपवस्तु'** निर्धर्मक होने से 'वस्तुत्वधर्मरूप हेतु' ही 'पक्ष' मे वेदान्तियो के मतानुसार असिद्ध है।

किन्तु यह कहना ठीक नही होगा, क्योकि **कल्पित** या **अकल्पित** आदि विशेष का विचार न करे तो 'अनुभूतित्व' के समान **'सत्ताधिकरणत्वरूपवस्तुत्व'** भी उसी प्रकार **'पक्ष'** मे सिद्ध है, जैसे कि 'अनुभूतित्व'। अर्थात् 'सत्ताधिकरणत्वरूप वस्तुत्व' मे **'हेतुत्व'** सिद्ध है।

तात्पर्य यह है कि 'वस्तुत्व' हेतु कल्पित है या अकल्पित है? **यह प्रश्न** करना उचित **न** होगा। अन्यथा **'अनुभूतित्व'** के विषय मे भी यही प्रश्न किया जायगा। अर्थात् यदि **वेदान्ती** 'अनुभूतित्व' हेतु को **'कल्पित'** कहेगा तो **परमत में** 'कल्पित' असिद्ध है और यदि **अकल्पित** (सत्य) कहे तो स्व मत मे 'असिद्ध है'। अत **कल्पित-अकल्पितकोटिनिरपेक्ष** अनुभूतित्व के समान **'वस्तुत्व'** को भी 'हेतु' माना जाता है।

'ज्ञानं वेद्यम्' इस अनुमान मे पुन एक प्रश्न उपस्थित होता है कि उसमे जो **साध्य** 'वेद्यत्व' है, वह **'वास्तविक'** (पारमार्थिक) है, या **'अवास्तविक'** (प्रातिभासिक यानी मिथ्या) है? अथवा **व्यावहारिक** है? या **'साधारण'** (वास्तविकता आदि विशेषण से रहित यत्किञ्चित् सामान्य) है?

प्रथम (वास्तविकता) पक्ष मे 'घटादि **दृष्टान्त** को 'साध्य-शून्य' कहना होगा। क्योकि **अद्वैतवादी वेदान्ती** 'घट आदि मे **'पारमार्थिक'** (वास्तविक) वेद्यत्व नही मानते, और **तीनो पक्षो में** 'सिद्धसाधनता' दोष होगा, क्योकि **'अपारमार्थिक'** (अवास्तविक = मिथ्या) व्यावहारिक और साधारण 'वेद्यत्व' को तो— 'अनुभूति मे **वेदान्ती** मानते ही है।

वह **'अवास्तविक वेद्यत्व',** 'वेद्यत्वाभाव' का **विरोधी भी** नही है, इसलिये 'अवास्तवादिस्वरूपवाले वेद्यत्व के रहते हुए भी **वास्वविक वेद्यत्वाभाव** (स्वप्रकाशत्व) की सिद्धि हो सकती है। एवच इस रीति से **स्वयम्प्रकाशत्व** को सिद्ध किया जा सकता है।

इसपर **प्रतिवादी** कहता है कि वादी का उपर्युक्त कथन ठीक नही है, क्योकि **'घट'** मे जैसा **व्यावहारिक** (प्रमाण-सिद्ध-व्यावहारिक) वेद्यत्व है वैसा ही **अनुभूति मे वेद्यत्व** की सिद्धि का प्रयत्न करने पर भी **उसमे** 'स्वयम्प्रकाशत्व' की सिद्धि नही कर सकते। क्योकि यदि **व्यावहारिक वेद्यत्व** के रहने पर भी 'अनुभूति' मे यदि स्वयप्रकाशत्व को मानोगे तो **'घट पट' को भी** 'स्वप्रकाश' क्यो नही मानते ? **एवं च** 'अनुभूति' स्वयम्प्रकाश न होकर 'घट' के समान ही वेद्य है। क्योकि **व्यावहारिकवेद्यत्व** भी **स्वप्रकाशत्व का** विरोधी ही है। एवच **अनुभूति** मे व्यावहारिक वेद्यत्व के विद्यमान रहते उसका **स्वप्रकाशकत्व** कैसे सिद्ध हो सकता है ?

एक **अन्य अनुमान प्रयोग से** भी 'अनुभूति' मे 'वेद्यत्व' का होना सिद्ध किया जा सकता है, जैसे —**'अनुभूतिपदं, स्वगोचर गोचरज्ञानजन्यं, पदत्वात्, कुम्भपदवत्'**—अर्थात् 'अनुभूति पद, स्व वाच्यविषयक ज्ञान से जन्य है, क्योकि उसमे 'पदत्व' है, जैसे—कुम्भपद, स्वगोचर (स्ववाच्यविषयक) ज्ञानजन्य है। इस अनुमान से भी **'अनुभूति' मे वेद्यत्व** सिद्ध होता है।

फिर भी **इस दूसरे अनुमान मे** शका यह होती है कि इसमे जो **पहिला** 'गोचर' पद है, उससे क्या **'विषय मात्र'** विवक्षित है, या **'वाच्यार्थ'** विवक्षित है, अथवा **'लक्ष्यार्थ'** विवक्षित है ?

उक्त विकल्पों में से प्रथम पक्ष (विषयमात्र) और द्वितीयपक्ष (वाच्यार्थ) तो **'सिद्धसाधनता'** दोष प्राप्त होने से सगत हो नही सकते, क्योकि **'अनुभूति' शब्द** का 'विषय' और 'वाच्यरूप' जो **अन्तःकरणवृत्तिविशिष्ट ज्ञान** (अनुभव) है, उसको ज्ञान का गोचर (विषय) मानते ही है। अर्थात **अनुभूतिपदवाच्य जो अन्तःकरणवृत्तिविशिष्ट ज्ञान** (अनुभव) है, उसमे ज्ञानगोचरता (वेद्यता) मानते ही है। इस प्रकार के **'सभी ज्ञानों में 'साक्षिवेद्यता'** होनी ही है।

किन्तु **तृतीय** (लक्ष्य) पक्ष मे **मुख्य** (वाच्य) अर्थ की विवक्षा से प्रयुक्त (बोले गये) **'गङ्गा'** आदि पदो मे व्यभिचार होगा। **इस पक्ष में** अनुमान का आकार यह होगा—**,अनुभूतिपदं स्वलक्ष्यविषयकज्ञानजन्यं, पदत्वात्, गङ्गा-**

पदवत्'। इसी को इस प्रकार भी कह सकते है—**अनुभूतिपदं, स्वगोचर (लक्ष्य) गोचर-ज्ञानजन्यं, पदत्वात्, पदान्तरवत्'।** यहाँ पर **'पदत्व' हेतु,** व्यभिचारी है। क्योकि मुख्यार्थ (प्रवाह) की बोधेच्छा से उच्चारित **'गङ्गायां नावः सन्ति'** इत्यादि वाक्यो के 'गगा' पद रूप **पदान्तर में** 'पदत्वरूा' **हेतु** तो है, किन्तु लक्ष्यविषयक-ज्ञान की जन्यता **(साध्य)** नही है, यानी 'साध्य' का अभाव है। यहाँ का **'गङ्गापद',** अपने मुख्यार्थ (प्रवाह) विषयक ज्ञानसे 'जन्य' है, अपने लक्ष्यार्थ (तीर) विषयकज्ञान से जन्य नही है। अर्थात् **गङ्गारूप** जो पदान्तर है, उसमे 'लक्ष्यज्ञान-जन्यता' का अभाव है। **तात्पर्य** यह हे कि **'गङ्गायां नावः सन्ति'** या **'गङ्गायां मत्स्याःसन्ति'** इत्यादि वाक्य, **लक्ष्यज्ञानजन्य नहीं होते।**

किन्तु यह शका ठीक नही है, उसका समाधान यह होगा कि **'लक्षक'** पद को 'पक्षकोटि' मे रखकर **'लक्षकपदत्व'** को 'हेतु' बनावेगे, तथा **'लक्षक गङ्गादिपद'** को दृष्टान्त मे रखेगे। इतनी सामग्री तयार करके **'लक्ष्यविषयक-ज्ञानजन्यत्व'** का अनुमान करेंगे—**'लक्षकमनुभूतिपदं, स्वलक्ष्यविषयक-ज्ञानजन्यं, लक्षकपदत्वात्, लक्षकगङ्गादिपदवत्'**—इस प्रकार अनुमान करने पर **तृतीय पक्ष** (गोचर शब्द का 'लक्ष्य अथ'—स्वीकारने) **मे** कोई दोष नही हो पाता है। क्योकि जब **केवल** 'पदत्व' को 'हेतु' बनाते थे, तब लक्षक 'गगा' पद को न लेकर **मुख्यार्थक** 'गगा' पद को भी लेलिया जाता था, जिसमे 'पदत्व' हेतु, तो रहता था, किन्तु साध्य नही रहता था, उस कारण व्यभिचार दोष होता था। किन्तु जब **'लक्षकपदत्व'** को **हेतु** बना लिया, तब वह हेतु (लक्षकपदत्व), **'मुख्यार्थक गङ्गापद'** मे नही रहता। अर्थात् **'लक्षकपदत्वरूप हेतु',** अब मुख्यार्थ के अभिप्राय मे प्रयुक्त हुए 'गगा' पद मे नही रहता। उसमे तो केवल **शुद्ध 'पदत्व'** रहता है, किन्तु अब **उसे** हमने 'हेतु के रूप मे नही रखा है। अत **तृतीय पक्ष मे** कोई व्यभिचार दोष नही है।

फिर भी और एक प्रश्न मन मे उदित होता हे कि **वेदान्ती के 'अनुभूतिः, अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशः, अनुभूतित्वात्'** इस 'स्व प्रकाशत्वानुमान' मे पक्षभूत **'अनुभूति'** पद मे **वेदान्ती को** क्या विवक्षित है, यानी 'अनुभूति' पद का **'वाच्य अर्थ'** विवक्षित है, या **'लक्ष्य अर्थ'** विवक्षित है? इस प्रश्न का अभिप्राय यह है कि आप 'अनुभूति' पद के अभिधेय अर्थ (वाच्य अर्थ) को 'स्वप्रकाश' सिद्ध करना चाह रहे है? या उसके लक्ष्य अथ को स्व-प्रकाश सिद्ध करना चाह रहे है?

यदि **प्रथम पक्ष** (वाच्य अर्थ को स्वप्रकाश सिद्ध करना) स्वीकार करते है, तो आपको अपने पक्ष (सिद्धान्त) का त्याग करना होगा। उसका परिणाम यह

होगा कि **'अपसिद्धान्त'** नामक— निग्रहस्थान' से आप निगृहीत हुए समझे जायेंगे। क्योंकि **'अन्तःकरणवृत्तिविशिष्ट चेतन'** ही तो 'अनुभूति' पद का 'वाच्य अर्थ' है, किन्तु **वेदान्तियो** के सिद्धान्तानुसार उसे **'स्वप्रकाश' नहीं माना जाता,** अपितु— **'शुद्ध चेतन'** को ही **'स्वप्रकाश'** माना जाता ह। अत **अपने सिद्धान्त** (शुद्ध चेतन के स्वप्रकाशत्व) का अब आप त्याग करके उसके विरुद्ध **वृत्तिविशिष्ट चेतन** को 'स्वप्रकाश' कहगे तो उसे 'अपसिद्धान्त' ही कहा जायगा। क्योंकि **स्व-सिद्धान्त** को त्यागकर **उसके विरुद्ध**(स्वसिद्धान्त के विपरीत) कथाप्रसग (बोलना) च ाने को ही **'अपसिद्धान्त'** कहते है—**'स्वसिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः'**–(न्या सू ५।२।२३)। एवञ्च प्रथम पक्ष का स्वीकार यदि आप करते है तो आप स्वय **'निगृहीत'** हो रहे है।

उसी तरह यदि आप (अनुभूतिपद के लक्ष्यार्थ रूप) **द्वितीय पक्ष** (विकल्प) का स्वीकार करते है तो **'आश्रयाऽसिद्धि'** नामक दाष होता ह। **'प्रमातृत्वादि** सभी धर्मो से रहित किसी **अद्वितीय वस्तु'** को ही 'अनुभूनि' पद का **लक्ष्यार्थ,** आप बना रहे है, किन्तु आपके द्वारा बताये गये 'अनुभूति' पद के उक्त 'लक्ष्यार्थ को **प्रतिवादी** नही मान रहा है। अत **किसी आश्रय के अभाव** मे आप 'स्वप्रकाशत्व' को कहाँ सिद्ध करेगे ? एवञ्च 'अनुभूति' पद के **वाच्यार्थ मे** 'स्वप्रकाशता' न सिद्ध हो रही हे और न ही उसके **'लक्ष्यार्थ' मे** 'स्वप्रकाशता' सिद्ध हो पा रही हे। अत **आश्रयासिद्धि** दोष हो रहा है।

एक प्रश्न और भी 'स्वप्रकाशता' के सम्बन्ध मे हो सकता है कि 'स्वप्रकाशना' को बताने वाला कोई **'प्रमाण' भी है, या नहीं** ?

यदि **प्रथमविकल्प** (प्रमाण हे) का स्वीकार करते है, तो वह 'प्रकाशना', **प्रमाण से वेद्य** (प्रकाश्य) कहलायगी। उस स्थिति मे उस 'प्रकाशता' को प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होना होगा। तब वह 'प्रकाशना' **पर प्रकाश्य** हो जायगी, **'स्वप्रकाश्य'** नही रहेगी। अर्थात् उसकी **'स्वप्रकाशता भङ्ग** हो जायगी।

'स्वप्रकाशता के भग होने की भीति से यदि **दूसरे विकल्प** (स्वप्रकाशना के होने मे कोई प्रमाण नही) का स्वीकार करते है तो **'प्रमाणाभाव'** की स्थिति मे 'स्वप्रकाशता' की सिद्धि ही नही हो सकेगी। क्योंकि किसी भी वस्तु की सिद्धि का होना 'प्रमाण' के ही अधीन रहता है। कहा भी है कि **'मानाधीना मेयसिद्धिः'।** एवञ्च **'उभयतः-पाशारज्जुः** है, उसके बन्धन से **वेदान्ती** बँध जाते हैं। इससे अधिक घोर विपत्ति, वेदान्तियो पर क्या हो सकेगी ? **निष्कर्ष** यह है कि **'स्वप्रकाशता'**

के अस्तित्व मे न **कोई लक्षण** ही बन पा रहा है और **न प्रमाण ही** उपलब्ध हो रहा है। अत **'स्वप्रकाशता' की सिद्धि करने मे तत्पर रहना** 'आकाशपुष्प' के चयन के समान ही समझना चाहिये - यह कह कर पूर्वपक्षी ने **वेदान्तियों** पर घनघोर आक्रमण कर दिया है।

इसपर धैर्यशाला **वेदान्ती** बडी गम्भीरता तथा निर्भयता से उक्त **पूर्वपक्ष के** समाधानार्थ तत्पर हो जाता है।

वेदान्ती कहता है -

'अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याऽधीपदस्य नः।
संभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणाऽसम्भवः कुतः॥'

हम वेदान्तियो के मत मे अपरोक्ष-व्यवहार (प्रत्यक्ष बोल चाल' के व्यवहार) मे आने वाले **'अ-धीपद'** (अवेद्य = ज्ञान का अविषय) रूप **'स्वप्रकाशत्व'** के सम्भव रहते 'लक्षण' (स्वप्रकाश का लक्षण) सभव नही है—यह कैसे कहा जायगा ? अर्थात् जब कि **'अ धी' शब्द** (ज्ञान का अविषय यानी ज्ञान का विषय न हो सकने वाला = न जाना जा सकने वाला यानी अवेद्य) लोगो के मुख से **उच्चारित** किया जा रहा है, यह कोई छिपी हुई बात नही है, सबके प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति मे 'स्वप्रकाश' पदार्थ का लक्षण ही नही है, यह कहना अत्यन्त अनुचित है। क्योकि ज्ञान का विषय न होते हुए भी यानी **'अवेद्य'** रहते हुए भी जिसका व्यवहार निरन्तर हो रहा है। अत एव वह **'स्वप्रकाश'** कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि **अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं 'स्वप्रकाशत्वम्'** —यही 'स्वप्रकाशत्व' का लक्षण है।

किञ्च—यह जो कहा था कि **'व्यवहारयोग्यत्व'** को **'लक्ष्यार्थ** के रूप मे मानते हुए उसे **'ब्रह्मात्मा'** का धर्म कहा जाय तो मोक्षावस्था मे अव्याप्ति होगी क्योकि मोक्षावस्था मे 'ब्रह्मस्वरूप हुआ 'आत्मा' निर्धर्मक रहता है और उस अव्याप्ति के भय से यदि मोक्षावस्था मे भी 'व्यवहारयोग्यता' रूप धर्म को उसमे स्वीकार किया जाय तो अपसिद्धान्त होगा।

किन्तु ऐसी आशका करना ठीक नही है, क्योकि उपर्युक्त **'अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** रूप लक्षण मे 'योग्यत्व' पद का अर्थ **'योग्यत्व' के 'अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व'** ही हमे विवक्षित है। अर्थात् 'योग्यता' के अत्यन्ताभाव की अनधिकरणता' ही यहाँ उक्त **'योग्यत्व** है। **जैसे—**गुणत्वात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व ही 'द्रव्यत्व' का स्वरूप समझा जाता है। इसको इस प्रकार भी समझ सकते है—जैसे, **'द्रव्य'** का लक्षण **न्यायलीलावतीकारने** 'गुणाश्रयो

द्रव्यम्' किया है । **किन्तु वैशेषिकों** के अनुसार उत्पत्तिक्षण मे कोई भी **'द्रव्य'** किसी भी **'गुण'** का आश्रय नही होता है । इस प्रकार **उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य** मे द्रव्यलक्षण की अव्याप्ति होती देख कर **'गुणाश्रयत्व'** का अर्थ किया जाता है कि **'गुणात्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदः'** यानी 'गुण' के अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व । यह **अनिधिकरणत्व,** उत्पत्तिक्षणावाच्छिन्नद्रव्य मे भी रहता है। उसी तरह **वेदान्ती** भी उक्त **'योग्यता'** का अर्थ, उसके **'अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व'** करके अपने लक्षण की अव्याप्ति को दूर कर सकते है ।

दूसरा दोष जो 'अपसिद्धान्त' कहा था, वह भी ठीक नही है, अर्थात् **'योग्यत्व'** धर्म के मानने से अपसिद्धान्त भी नही होता है, क्योकि **पारमार्थिक** (वास्तविक) जो धर्मादिगुण है, उनका **अभाव,** 'ब्रह्मरूप आत्मा' मे हम (वेदान्ती) स्वीकार करते ही है, और **काल्पनिक धर्मो** को 'ससारी जीवात्मा' मे हम मानते ही है । इसी बात को श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—

'अक्षमा भवतः केयं साधकत्व-प्रकल्पने ।
किं न पश्यसि ससारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥'

—(बृह वार्ति १।४।१२१६) ।

अर्थात् **अद्वितीय आत्मा** मे साधकत्व की कल्पना आपको असह्य क्यो रही है ? क्या आप यह नही देखते कि **आत्मा मे** ही सम्पूण ससार अज्ञानकल्पित है । इसी तरह **अध्यासभाष्य** के अत्रयत्र की व्याख्या करते हुए **पञ्चपादिकाचार्य** ने शका उपस्थित की है—**'एकरस स्वप्रकाशरूप आत्मा** के धर्म ही कैसे सिद्ध हो सकते हे ? जिनका **विषयो मे** अध्यास हो सके' ।

स्वय उपस्थापित शका का समाधान करते हुए वे कह रहे है—**'आनन्द, विषयानुभव** (विषयो का अनुभव) और **नित्यत्व'—**ये सब धर्म, **'आत्मा'** मे रहते है, यानी ये आत्मा के धर्म है । **वास्तव मे** देखा जाय तो **'आनन्द आदि'** आत्मा मे पृथक् नही है, वे तो तत्स्वरूप (आत्मा के स्वरूपभूत) है, किन्तु **दुःखादि** जो अनात्मपदार्थ है, उनकी अपेक्षा से पृथक के समान भासित होते है ।

'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः ।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते ॥'

इसलिये **उनको** 'धर्म' शब्द से कह देते है। यदि यह कहे कि 'ससारी जीवात्मा' मे **'योग्यत्वादि' धर्म** की कल्पना से 'योग्यत्वादि धर्म' के अत्यन्ताभाव की

'आत्मा' मे अनधिकरणता वैसी ही है जैसी 'द्रव्य' मे गुणाश्रयता'। किन्तु **मोक्षावस्था** मे 'योग्यत्वादि धर्मो' की कल्पना **आत्मा मे** कदाचिदपि नही की जा सकेगी। **एवञ्च** मोक्षावस्था मे उक्त 'योग्यत्वादि धर्म' का **जीवात्मा मे** अभाव रहने से लक्षण की **अव्याप्ति** यथास्थित रहेगी ही।

लक्षण में प्रयुक्त विशेषणो का कार्य भी देखना चाहिये, जिससे उनके औचित्य का पता लगता है। लक्षण मे **'अवेद्यत्व'** पद से 'योग्यत्व' को विशेषित किया गया है यानी 'अवेद्यत्व' को 'योग्यत्व' का विशेषण बना दिया है, उसकारण अपरोक्ष-व्यवहार के योग्य **'घट'** आदि मे **अतिव्याप्ति** नही हो पाती। **यदि** कोई पूछे कि 'अवेद्यत्व' को विशेषण के रूप मे रखने के बजाय केवल उसी को (वेद्यत्व को) ही **स्वप्रकाश** का लक्षण कहे तो क्या हानि है ? **हानि यह होगी** कि भूतकालिक और भविष्यत्कालिक यानी भूत और भावी घटादि कार्यो मे तथा नित्य अनुमेय (प्रत्यक्ष के अगोचर) **धर्म आदि में** अतिव्याप्ति होगी। क्योकि **सिद्धान्त की** दृष्टि मे ये सब 'वेद्य' नही है।

इस पर **यह शङ्का** हो सकती है कि भूत-भावी पदार्थ तथा धर्मादि भी **अनुमान** और **आगम** से वेद्य हो सकते है, अत उन्हे **'अवेद्य'** नही कहा जा सकता। क्योकि **'अवेद्यत्व'** का अर्थ 'ज्ञानाविषयत्व' यानी ज्ञान का विषय न होना है। एवञ्च यह ज्ञानाविषयत्वरूप 'अवेद्यत्व' उनमे नही है। अपितु उनमे **परोक्षज्ञान के** द्वारा 'वेद्यत्व' ही है। अत **'अवेद्यत्वमात्र'** लक्षण की अतिव्याप्ति नही होगी।

इसपर **सिद्धान्ती** उत्तर देता है कि 'अवेद्यत्व' का अर्थ **'ज्ञानाऽविषयत्व'** नही है, अपितु **फलव्याप्यत्वरूप वेद्यत्व का अभाव'**—यह अर्थ है। एवञ्च 'फलव्याप्यत्वरूप वेद्यत्व का अभाव' उनमे भी है। अर्थात् **धर्मादि में** शब्दजन्यवृत्ति की विषयता रहने पर भी **'फलव्याप्यता'** (फलविषयता) नही रहती। अत केवल 'अवेद्यत्व' लक्षण की उनमे अतिव्याप्ति तो होती ही है। धर्म आदि मे 'फलव्याप्यता' के न रहने का **कारण यह** है कि **'अभिव्यक्तविषयावच्छिन्न चैतन्य'** को ही 'फल' कहते है। 'विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति वही पर होती है, जहाँ 'इन्द्रिय' का **अपने योग्यविषय** के साथ सम्बन्ध (सन्निकर्ष) रहता है। **धर्मादि** तो इन्द्रिय के विषय बनने के योग्य ही नही है, क्योकि **वे अतीन्द्रिय** है। इसलिये उनमे फल-विषयता (फलव्याप्यता) रूप **'वेद्यत्व'** का अभाव रहने से अतिव्याप्ति हो रही है।

सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि **'साधारण ज्ञान की विषयता'** (विषयत्व) **मात्र**, को 'वेद्यत्व' शब्द से विवक्षित नही किया गया है। अपितु **'अर्थाकार वृत्ति'** मे स्थित **'चिदाभासरूप फल'** से व्याप्य होना (व्याप्यता या प्रकाशमान होना), यह

अर्थ, **'वेद्यत्व'** शब्द से यहाँपर विवक्षित है। इस 'वेद्यत्व' का धर्मादि मे अभाव रहता ही है। इस प्रकार **'अवेद्यत्व' लक्षण की** 'धर्मादि' मे अतिव्याप्ति होती ही है। क्योकि आप्तवाक्य रूप विधिवाक्यादिविशिष्ट 'शब्दरूप' जो प्रमाण है, उसके आधार पर भूत-भावी, धर्मादि पदार्थ के आकार मे परिणत हुई अन्त करण की जो **परोक्ष विषयक वृत्ति** पैदा होती है, उसीसे अतीतादि पदार्थो का प्रतिपादनादि-व्यवहार तथा धर्मादि के अनुष्ठान का व्यवहार हुआ करता है। अर्थात् **विशिष्ट शब्द प्रमाण** के आधार पर जहाँ प्रत्यक्ष होना है, वहाँ **इन्द्रियजन्य अन्तःकरण वृत्ति,** विषय के प्रदेश मे पहुँच कर विषयाकार हो जाती है और **उपाधिरूप विषय,** और **वृत्ति** के एकत्र हो जाने से **उपहित** दोनो **'चेतन',** एक हो जाते है। तब 'वृत्ति' मे व्यक्त होकर 'विषय' प्रकाशित होता है, तथा **वृत्तिगत चिदाभास** भी विषय को विशेषरूप से प्रकाशित करता है। इसी को **'वेदन'** कहते है, और भूत-भावी के ज्ञान स्थान मे (विषयदेश मे) **'वृत्ति'** नही जाती। वह भीतर ही उत्पन्न होती है। **धर्म** आदि का ज्ञान, धर्म के प्रदेशरूप **अन्तःकरण मे** उत्पन्न होना हुआ भी धर्मादि विषय की **अयोग्यता से,** 'वृत्तिविशेष' धर्माकार नही होती है। अत उसे वेदन शब्द से नही कहा जाता। अतएव उसका विषय **'ज्ञेय'** होता हुआ भी उसे 'वेद्य' नही कहते। यही **'ज्ञान'** और **'वेदन'** मे अन्तर है।

उक्त विवेचन के अनुसार 'धर्म' आदि मे **'फलव्याप्यत्व'** के न रहने पर भी योगियो को उसका प्रत्यक्ष होता है, इसलिये **धर्मादि मे** भी अपरोक्षत्व (फलव्याप्यत्व) हो सकता है।

किन्तु यह कहना ठीक नही है। क्योकि 'धर्म' आदि का ज्ञान, एकमात्र **'वैदिक विधिवाक्य रूप प्रमाण' से** ही होता है। इस तथ्य को **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** इस सूत्र के द्वारा **महर्षि जैमिनि** ने बताया है। **'चोदना चोपदेश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः'** अर्थात् 'चोदना और विधि' दोनो शब्द, 'एक ही अर्थ' के वाचक है, यानी पर्याय है। **तात्पर्य** यह है—**वेद के शब्द से** ही 'धर्म' को जाना जाता है, अन्य किसी प्रमाण से नही। अत यह स्पष्ट है कि **योगियो को** 'धर्म' का प्रत्यक्ष नही होता। क्योकि **'धर्म',** कभी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से गम्य नही है।

इसपर **पूर्वपक्षी** का कहना है कि यदि **योगी,** 'धर्म' का प्रत्यक्ष नही कर सकेगा तो उसे (योगी को) **सर्वज्ञ** कैसे कहा जा सकेगा? क्योकि **सर्वज्ञ** उसी को कहा जा सकता है, जिसे विश्व की समस्त वस्तुओ का प्रत्यक्ष ज्ञान हो।

इसपर **वेदान्ती** कहना है कि **सर्वज्ञत्व** के होने मे विश्व के यच्च-यावत (सपूर्ण) पदार्थो का **द्रष्टृत्व'** प्रयोजक' नही है। अत **द्रष्टृत्वाभाव से** सर्वज्ञत्वाभाव (सर्व-

दर्शित्वाभाव) की प्राप्ति नही होगी। 'योगी' को सर्वदर्शी (सर्वज्ञ) तो कहते ही है। उसके 'सर्वज्ञत्व' (सर्वदर्शित्व) का अर्थ यही है कि 'सर्वयोग्य पदार्थों का द्रष्टृत्व' उसमे रहता है। अर्थात् 'श्रोत्र-नेत्र' आदि इन्द्रियो के द्वारा श्रवण, दर्शन होने के योग्य पदार्थों के दूर-व्यवहित होने पर भी उनका प्रत्यक्ष या श्रवण, योगी को हो जाता है। किन्तु दर्शन-श्रवण के योग्य न रहनेवाले (अयोग्य) पदार्थों का द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व योगी मे भी नही रहता। अत योगीको सर्वज्ञत्व (सर्वदर्शित्व) कहने का तात्पर्य यही है कि योगी, योग्य पदार्थो का द्रष्टा, श्रोता रहता है। साधारण व्यक्तियो मे दूर-व्यवहित रहने वाले योग्य पदार्थो को देखने-सुनने की शक्ति नही होती। एवञ्च साधारण लोगो की अपेक्षा 'योगी' का सामर्थ्य, विलक्षण रहता है। क्योकि योगसाधना के प्रभाव से उनके इन्द्रियो मे साधारण लोगो की अपेक्षा 'सामर्थ्यातिशय' प्राप्त हुआ रहता है। 'धर्म' तो प्रत्यक्ष योग्य, पदार्थ है नही, इसलिये योगी को भी उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नही हो पाता। प्रत्यक्ष तो उसी वस्तु का होता है, जिस वस्तु का 'रूप' हो। 'धर्म' कोई रूपवान् पदार्थ नही है, इस कारण उसका 'प्रत्यक्ष' न हो पाना उचित ही है। इन्द्रिय के अत्यन्त अयोग्य रहने वाले पदार्थ को भी योगी देख ले, सुन ले यह कदापि सभव नही है।

श्री कुमारिल भट्टपाद कहते है—

"यत्राप्यतिशयोदृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥"

अर्थात् किसी के इन्द्रिय मे किसी उपाय से जो अतिशय (उत्कर्ष) दिखाई देता है, तो वहाँ भी कोई इन्द्रिय अपने निर्धारित विषय का उल्लघन करता हुआ दिखाई नही देता। जैसे चक्षुरिन्द्रिय, उपायवश प्राप्त किये अपने सामर्थ्यातिशय से, दूरस्थित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भी वस्तु को देख ले, यह तो सभव है, किन्तु यह कभी नही हो सकता कि चक्षु से 'शब्द' को देख ले और श्रोत्र (कान) से नील-पीतादि रूप को देख ले। जिस इन्द्रिय का जो विषय (अर्थ) नियत है, उसका उल्लघन, वह कदापि नही करता। यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि धर्म आदि मे 'फलव्याप्यता' के न रहने से 'अवेद्यत्व' मात्र लक्षण करने पर अतिव्याप्ति होती है। उस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिये 'अवेद्यत्व' मे 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व' यह 'विशेषण' अवश्य देना होगा, जिससे अतिव्याप्ति नही होगी। आँख से प्रत्यक्ष-योग्य होने मे 'रूप' को कारण कहा जाता है। वह 'धर्म' मे न रहने से 'धर्म' का प्रत्यक्ष नही हो पाता है। उसी तरह 'धर्म' का मानस-प्रत्यक्ष भी नही हो सकता,

क्योकि सस्कार के समान ही वह भी मानस-प्रत्यक्ष के योग्य नही है। अर्जुन आदि को भी पुण्य के बल से तत्तदिन्द्रिय के योग्य वस्तु का ही प्रत्यक्ष हुआ था, 'धर्म' का नही। वस्तुत जीवन्मुक्त योगी भी ईश्वरकोटि और अनीश्वरकोटि के भेद से दो प्रकार के होते है। ईश्वरकोटि के योगी के विषय मे भगवती श्रुति कहती है कि 'य सर्वज्ञ स सर्ववित्'—(मु उ १।१।९), अर्थात् जो 'सर्वज्ञ' है वह 'सर्ववित्' है, अर्थात् जो सामान्यतया सब का ज्ञाता है, वह विशेष रूप मे भी सब का ज्ञाता होता है। तथा 'पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण'—(श्वेता उ ३।१९), नेत्ररहित होता हुआ देखता है, और कर्णरहित होता हुआ सुनता है।

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि 'धर्म' आदि मे 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यत्व' इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होने पर भी 'अज्ञान, अन्त करण, अन्त करण के इच्छादिधर्म, तथा शुक्ति-रजत' आदि मे उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति तो है ही, वह दूर नही हो पाई। क्योकि इनमे 'फलव्याप्यता' (फलविषयता) नही है, इसलिये इन मे, लक्षण-प्रदर्शित 'अवेद्यत्व' के रहने से और 'अहम् अज्ञानी' इस प्रकार की 'अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता के होने मे अतिव्याप्ति हो रही है।

उसपर वेदान्ती कहता है कि उनमे 'अवेद्यत्व' है, यह कहना तो ठीक है, किन्तु उसके साथ 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यता' उनमे रहती है—यह कहना ठीक नही है, क्योकि 'य साक्षात् अपरोक्षाद् ब्रह्म' यह श्रुति बताती है कि 'साक्षात् अपरोक्षता' तो 'अपरोक्ष-ब्रह्म-स्वरूप साक्षी' मे ही अध्यस्त (कल्पित) रहती है। और उसमे अध्यस्त (कल्पित) रहने से ही 'अज्ञान' आदि मे उस 'अपरोक्षता' की प्रतीति होती है। अर्थात् 'अधिष्ठान-साक्षी' की 'अपरोक्षता' उन अज्ञानादिको मे भासित होती है। इसलिये 'अहम् अज्ञ' इस प्रतीति के आधार पर उन अज्ञानादिको' में 'अपरोक्षता' को मानना उचित नही है।

शङ्का—अपरोक्ष 'ब्रह्म' मे 'अज्ञान' आदि कल्पित होने पर भी उसमे (अज्ञान आदि मे) 'अपरोक्ष' शब्द का व्यवहार किया जाता है। उस व्यवहार के आधार पर ही 'अपरोक्षव्यवहार की योग्यता' को भी कल्पित कर ले तो क्या हानि है ?

समा०—'शुक्ति' को 'रजत' शब्द से व्यवहार करने के अयोग्य माना जाता है, तथापि भ्रमकाल मे 'शुक्ति' को 'रजत' समझ कर 'शुक्ति' मे 'रजत' शब्द का व्यवहार किया जाता है। अर्थात् रजत-व्यवहारयोग्यता 'शुक्ति' मे न रहने पर भी उसमे 'रजत व्यवहार' होता रहता है। अत व्यवहार होनेमात्र से उसमे 'व्यवहार-योग्यता' भी है, यह नही कहा जा सकता। निष्कर्ष यह है कि शुक्ति मे रजत

व्यवहार की योग्यता के बिना भी 'रजतव्यवहार' की उपपत्ति हो जाती है। उतनेमात्र से उसमे व्यवहारयोग्यता की भी कल्पना करना उचित नही है।

शङ्का—यदि आप उपर्युक्त रीति से **'अध्यस्त पदार्थ'** मे 'अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता' को नही स्वीकार करते है, तो आपके लक्षण मे **'अवेद्यत्व'** विशेषण की सार्थकता ही समाप्त हो जाती है, क्योकि **'अवेद्यत्व'** वेशेषण से व्यावर्तनीय (व्यवच्छेद्य) होने वाली ऐसी कोई 'वस्तु' ही नही है। आपने 'अवेद्यत्व' विशेषण से 'वेद्य घट–पटादि' की व्यावृत्ति जो बताई थी, वह तो अब 'प्रत्यक्षव्यवहार-योग्यत्व' मात्र से ही हो जायगी। क्योकि आपके मत मे 'घट–पट आदि पदार्थ' भी **'अध्यस्त'** (कल्पित) ही है। उस कारण उनमे **'साक्षात् अपरोक्षव्यवहार-योग्यता'** नही है, किन्तु वह **अधिष्ठानाधीन** है।

समा०—आपको ऐसी आशका नही होनी चाहिये। क्योकि प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होने वाले (प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले) घट-पटादिको मे जो **'अपरोक्ष-व्यवहारयोग्यता'** है, उसे 'व्यवहार काल' मे मानते ही है। अत **'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** के कहने मात्र से उन घट-पटादिको की व्यावृत्ति नही हो पाती है। उस कारण उनकी व्यावृत्ति के लिये **'अवेद्यत्व'** विशेषण देना सार्थक है, निरर्थक नही है।

तथापि यह जिज्ञासा हो सकती है कि **'अवेद्यत्वे सति प्रत्यक्षव्यवहार-योग्यत्वम्'** इस लक्षण मे से **'व्यवहारयोग्यत्वम्'** इतना अश यदि निकाल दे, और **'अवेद्यत्वे सति प्रत्यक्षत्वम्'** (अवेद्यत्वविशिष्टमपरोक्षत्वम) अर्थात 'अवेद्यत्व से युक्त प्रत्यक्ष' को ही **'स्वप्रकाश'** कहे, यानी इतना ही 'स्वप्रकाश' का लक्षण करे तो भी कही **अतिव्याप्ति** (व्यभिचार) आदि दोष की सभावना नही है। अत उतना बडा लक्षण करने की आवश्यकता क्या है ?

उक्त जिज्ञासा का **समाधान** यही हे कि **'सन्देहनिवारणार्थ'** उतना बडा लक्षण किया गया हे **'प्रत्यक्षव्यवहारयोग्यत्व'** के बजाय **'प्रत्यक्षत्व'** यदि कहते हैं, तो **'लाघव'** ही होगा, और अतिव्याप्ति भी नही होगी, यह हम भी जानते हैं, तथापि उतना बडा लक्षण बनाने मे रहस्य यह है कि 'घट-पट' आदि पदार्थों मे जो **अपरोक्षता** (प्रत्यक्षता) कही जाती है, **वह** उनमे **'अपरोक्षज्ञान की विषयता'** (प्रत्यक्षज्ञान की विषयता) के रहने से ही कही जाती है, उसी प्रकार **स्वप्रकाश वस्तु 'ब्रह्मात्मा'** मे भी **'अपरोक्ष—विषयता'** के होने से ही प्रत्यक्षता (अपरोक्षता) कही जायगी, तब उस स्वयप्रकाश वस्तु 'ब्रह्मात्मा' मे 'अवेद्यता' (अवेद्यत्व)

कैसे रहेगी ? क्योकि 'अपरोक्षज्ञानविषयतारूप प्रत्यक्षता' का 'अवेद्यता' (अवेद्यत्व) के साथ विरोध है। विरोध होने से किसी को व्याघात का भ्रम भी हो सकता है। वह न हो, इसलिये केवल 'अपरोक्षत्व' न कहकर **'अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व'** कहा गया है। यह 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व' पूर्वपक्षी को भी **'ब्रह्म'** मे अभिमत है। एव च पूर्वपक्षी के द्वारा अभिमत 'अपरोक्षव्यवहारयोग्यता' के रहने से ही **'ब्रह्म'** मे 'अपरोक्षता' मानी जाती है। 'अपरोक्षज्ञानविषयता' के कारण नही। अत **'प्रत्यक्षता'** (अपरोक्ष) का **'अवेद्यता'** (अवेद्यत्व) के साथ कोई विरोध नही है।

शका—इस पर **पूर्वपक्षी** कहता है कि **'अवेद्य ब्रह्म'** मे 'व्यवहारयोग्यता' (व्यवहारविषयता) कैसे सभव हो सकती है ? क्योकि लोकव्यवहार मे बराबर देखते है कि जो 'वेद्य' रहता है वही व्यवहार्य यानी व्यवहार के योग्य (व्यवहार का विषय) हो पाता है। एक ओर आप 'अवेद्य' भी कहे और एक ओर उसे 'व्यवहार का विषय भी' कहे। ये दोनो परस्पर विरोधी बाते एक ही वस्तु मे कैसे उपपन्न हो सकती है ?

समा०—पूर्वपक्षी के द्वारा की गई आशका पर सिद्धान्ती उसकी आशका का तात्पर्य उसी के मुख से निकलवाने के लिये उससे प्रश्न करता हे कि क्या आप यह कहना चाह रहे है ? कि जो **'अवेद्य' होता** है, वह **व्यवहार का विषय** नही होता है' अथवा **'अपरोक्षव्यवहारविषयता'** के आधार पर **'वेद्यत्व'** का **अनुमान** करना चाह रहे है।

हमारे द्वारा उपस्थित किये गये प्रश्नात्मक दो विकल्पो मे से **प्रथम विकल्प** का आश्रय कर अनिष्टापादन आप नही कर सकते, क्योकि **अवेद्यत्व'** रूप आपादक और **'व्यवहार का विषय न होना** (व्यवहाराऽविषयत्व यानी अव्यवहार्य) रूप आपाद्य ये दोनो ही तार्किको के मत मे अप्रसिद्ध है। **अभिप्राय** यह है कि **'आत्मा** मे यदि अवेद्यत्व (वेद्यत्व का अभाव) होगा, तो 'अपरोक्षव्यवहारविषयता' का अभाव (अपरोक्षव्यवहाराऽविषयत्व) भी होगा'—इस **अनिष्टापादन** (अनिष्टप्रसञ्जन) मे आपादक होगा—**'अवेद्यत्व'** (वेद्यत्व का अभाव), और आपाद्य होगा—**'अपरोक्षव्यवहाराऽविषयत्व'** (अपरोक्षव्यवहारविषयता का अभाव)। ये दोनो ही तार्किको के मत मे अप्रसिद्ध है। उनके मत मे 'वेद्यत्व' और 'अपरोक्षव्यवहारविषयत्व'—दोनो ही 'केवलान्वयी धर्म है, इसलिये उनका अभाव कही भी प्रसिद्ध (ज्ञात) नही है, अर्थात् अप्रसिद्ध है। प्रसञ्जन

(प्राप्ति) तो प्रसिद्ध का ही हुआ करता है, अप्रसिद्ध का कभी भी प्रसञ्जन नही हो सकता । **एवञ्च** 'वेद्यत्व और अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व (विषयत्व) दोनो 'केवलान्वयी' है क्योंकि **जीवात्मा** के लिये जो 'अवेद्य' है, वह भी **ईश्वर** के लिये 'वेद्य' रहता है । जब कि उनका 'अभाव' 'प्रसिद्ध ही नही है, तब किससे किसका आपादान होगा ? अत प्रथम पक्ष का स्वीकार आप नही कर सकते ॥

अब रहा **दूसरा विकल्प** (पक्ष), अर्थात् (अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व [विषयत्व] से 'वेद्यत्व' का अनुमान करना), उसे भी आप स्वीकार नही कर सकते । क्योंकि ग्रन्थकार ने ही 'सत्प्रतिपक्ष' का निराकरण करते समय इसका भी खण्डन कर दिया है । प्रस्तुत प्रसग मे प्रतिपक्ष का अवसर न होने से द्वितीय विकल्प का खण्डन यहाँ नही किया है । इसलिये हमने जो **'स्व-प्रकाश'** का **लक्षण** किया है, वह पूर्णतया **निर्दुष्ट** है ।

उसी तरह **'स्वप्रकाशता'** के होने मे **अनुमान प्रमाण** भी है । जैसे—**'अनुभूतिः स्वयं प्रकाशा, अनुभूतित्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः'**—'अनुभव' (ज्ञान) स्वय प्रकाश है, ज्ञान होने से, जो स्वय-प्रकाश नही है, वह ज्ञान भी नही है, जैसे 'घट' । 'अनुभव' मे ज्ञानत्व है, अत उसमे 'स्व-प्रकाशत्व' है । 'स्वप्रकाशत्व' मे यह प्रमाण हम ने दिया है । इस अनुमान प्रमाण मे **'अप्रसिद्ध विशेषणता'** (अप्रसिद्ध-साध्यता) दोष है, यह भी आप नही कह सकते । क्योंकि **'सामान्यतो दृष्टानुमान'** से सामान्यतया **'विशेषण'** (साध्य) की सिद्धि हो जाती है । तब आप कैसे कह सकते है कि **'पक्ष'** (अनुभूति), अप्रसिद्धविशेषणवाला है । अर्थात् 'पक्ष' का 'विशेषण' अप्रसिद्ध है, यह आप नही कह सकते । न कह सकने मे कारण यह है कि—

'सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे ।
कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ॥'

यहाँ 'अपि' शब्द, को भिन्नक्रम' समझना चाहिये । अर्थात् सामान्यतोऽपि प्रसिद्धे विशेषणे अप्रसिद्धविशेषण पक्ष कथमिति कथय । कथमपीत्यर्थं ।

सामान्यतोदृष्टानुमान का आकार यह होगा—

'वेद्यत्व किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात् शौक्ल्यवत्' ।

अर्थात् **'वेद्यत्व'** धर्म, किसी-न-किसी **धर्मी में** रहने वाले 'अत्यन्ताभाव का 'प्रतियोगी' हे, क्योकि वह भी धर्म है, जैसे **शुक्लत्व** धर्म है, तो उसका 'अत्यन्ता-भाव' भी कही-न-कही अवश्य ही होगा । उसी प्रकार **'वेद्यत्व'** धर्म का भी कहीं

'अत्यन्ताभाव' हो सकता है। तब जिस धर्मी मे उसका अत्यन्ताभाव रहेगा, उसका प्रतियोगी 'वेद्यत्व' कहा जायगा। क्योकि जिसका अभाव होता है, वही उस अभाव का प्रतियोगी कहा जाता है। अत उस 'वेद्यत्व' धर्म को अवश्य ही 'वेद्यत्वात्यन्ताभाव (अवेद्यत्व) वाला कह सकते हैं। उस अभावाधिकरणरूपी 'धर्मी' का भले ही किसी 'विशेषधर्मी' के रूप मे निर्देश न भी हुआ हो, तो भी इतना तो निश्चित ही है कि कही-न-कही 'वेद्यत्वाऽभाव' है, अर्थात् 'अवेद्यत्व' कही-न-कही प्रसिद्ध है ही। एव च सामान्यतोदृष्टानुमान से नामत अनिर्दिष्ट किसी-न-किसी धर्मी (पक्ष) विशेष मे विद्यमान 'अवेद्यत्वधर्म' के सामान्यरूप की सिद्धि तो हो ही जाती है।

उस **'अवेद्यत्व'** मे **'अनुभूतिः स्वयम्प्रकाशा'** इस केवलव्यतिरेकी अनुमान से उस 'अनुभूति (पक्ष) विशेष' की 'अश्रितता' को बताया जा रहा है, जिसमे अपरोक्षव्यवहारविषयता सभी को सम्मत है। अभिप्राय यह है कि उक्त अनुमान मे अप्रसिद्धविशेषणता को दूर करने के लिये **सिद्धान्ती** ने **'वेद्यत्वं, चिञ्चिन्निष्ठ'** इस अनुमान का सहारा लिया है।

इस पर **पूर्वपक्षी** ने कहा कि आपके इस अनुमान से 'अवेद्यत्व' साध्य का जो विशेषणभाग है वही केवल प्रसिद्ध होगा, **सम्पूर्ण 'साध्य'** (अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व) नही।

उस पर **सिद्धान्ती** कहता है कि **'अनुभूति',** जो 'पक्ष' है, उसमे **'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** तो रहता ही है, इस बात को तो वादी-प्रतिवादी दोनो मानते हैं। प्रश्न तो केवल 'अवेद्यत्व' रूप विशेषण का है, कि वह प्रसिद्ध है या नही ? तो उस विशेषणभाग की प्रसिद्धि भी सामान्यत हमने कर दी है, तब 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष क्यो दिया जा रहा है ? अर्थात् 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष हमारे अनुमान मे नही है। इस प्रकार 'केवलव्यतिरेकी' का प्रामाण्य, **उदयनाचार्य** के अनुसार बताया गया।

अब **न्यायलीलावतीकार** की रीति मे भी उसे बताते है। **'यद्विपर्ययेऽसमीहितप्रसक्तिः तत् किञ्चिन्मानयोग्यम्'** यानी जिस पदार्थ का अभाव रहने पर 'अनवस्था' आदि अनिष्ट दोष प्राप्त होते है, वह पदार्थ, निश्चित ही किसी प्रमाण का विषय होता है—यह **सामान्य नियम** माना जाता है। प्रस्तुत प्रसग मे वादी के विप्रतिपत्ति वाक्यो को सुनने से 'अनुभूति' अनुभव का विषय है, या नही ? यह सशय होने लगता है। इसलिये 'अनुभूति' मे किसी दूसरे अनुभव की विषयता

को यदि मानते हैं तो अनवस्था आदि दोष प्राप्त होते है। **अतः** अनुभवविषयता का 'अभाव' यानी अवेद्यता किसी प्रमाण का विषय अवश्य है। अर्थात् वह पदार्थ, कही पर प्रमाणयोग्य अवश्य रहता है—**'यस्य वैपरीत्यांगीकारे प्रमाणान्तरबाधादि-प्रसक्तिः तत्प्रमाणयोग्यम्'**—इस 'सामान्य व्याप्ति' का ज्ञान होता है, यानी सामान्यरूप से ज्ञान होता है। जैसे—आकाश आदि के समान सर्वत्र 'जाति' का अभाव मानने पर 'गो' आदि मे जो अनुगतप्रतीति होती है, उसके बाध का प्रसग प्राप्त होने लगेगा, और 'गो' आदि के समान सर्वत्र 'जाति' के अभाव का अभाव (जाति) को मानते है, तो 'अनवस्था' दोष प्राप्त होता है, तथा 'जाति' मे भी एक दूसरी 'जाति' माननी पडती है।

प्रकृत मे प्रतिवादियो के विरुद्धवाक्य (विप्रत्ति) को सुनकर जब सशय होने लगता है और अनुभूति को अनुभव का विषय (अनुभाव्य) मानते है तो अनवस्था आदि अनिष्टदोष प्राप्त होते है। अत अनुभाव्यत्व (अनुभवविषयत्व) के अभाव (अवेद्यत्व) का सामान्यरूप से कही प्रमाणविषयत्व है, ऐसा ज्ञान होने के पश्चात् विशेषप्रमाण की जब जिज्ञासा होने लगती है, तब 'अनुभूति स्वय प्रकाशा'–इस केवलव्यतिरेकी अनुमान को बताया गया है। इसलिये जो **'अप्रसिद्ध-विशेषणता'** दोष दिया गया है, वह उचित नही है।

अन्यथा यानी उक्त सामान्यव्याप्ति का स्वीकार न करने पर नैयायिक भी **'इच्छादयः,अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिता, अष्टद्रव्याऽनाश्रितत्वे सति गुणत्वात्'** इस अनुमान के द्वारा **'इच्छा'** आदि मे **'अष्टद्रव्यातिरिक्त-द्रव्याश्रितत्व'** (इच्छा आदि मे आठ द्रव्यो से अतिरिक्त अन्यद्रव्य की आश्रितता) चार्वादिको के प्रति कैसे बता पायेगे ? क्योकि **'इच्छा'** आदि, भूम्यादि आठ द्रव्यो से भिन्न अन्य किसी द्रव्य के आश्रित है, क्योकि वे इच्छा आदि, 'गुण' है। इस अनुमान से **नैयायिक** 'आत्मा' की सिद्धि नही कर सकेगे, क्योकि **आठ द्रव्यों** मे अतिरिक्त अन्य द्रव्य, अप्रसिद्ध है। इसलिये 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष होता हे, और प्रसिद्ध रहने पर भी यदि वहाँ 'हेतु' रहता है, तो **'हेतु'** की 'अन्वयव्यतिरेकिता' के कारण 'केवल-व्यतिरेकिता' का असभव होता हे। यदि 'हेतु' वह नही रहता है, यानी 'पक्ष' से अतिरिक्त 'साध्य के स्थान' मे 'हेतु' नही रहता है, तो **पक्षमात्रवृत्ति 'गुणत्वरूपहेतु'** मे 'असाधारण अनैकान्तिकता' प्राप्त होती हे।

अत **नैयायिक** जिस प्रकार अनुमानान्तर से 'विशेषगुणत्व और अष्टद्रव्या-ऽवृत्तित्व' सिद्ध होने पर ही **इच्छादयः, अष्टद्रव्यातिरिक्त-द्रव्याश्रिता, अष्टद्रव्या-**

नाश्रितत्वे सति गुणत्वात्, यन्नैवं तन्नैव, यथा गन्धः'—इस व्यतिरेकी से ही **अष्ट-द्रव्यातिरिक्त-द्रव्याश्रितत्व** को 'इच्छा' आदि मे सिद्ध कर सकते है । उसी प्रकार **वेदान्ती** भी 'स्वप्रकाशत्व' की सिद्धि कर सकते है ।

शङ्का—उक्त **'सामान्यव्याप्ति** और **केवलव्यतिरेकी'** द्वारा तो सर्वत्र ही 'साध्य' की प्रसिद्धि की जा सकती है, नब तो **'अप्रसिद्ध-विशेषणता'** दोप कही होगा ही नही, यानी हमेशा के लिये उसीका अभाव हो जायगा ।

समा०—वेदान्ती कहता है कि उक्त शका ठीक नही है, **'अप्रसिद्धविशेषणता'** नामक दोप को कही अवसर न मिल पाने से उसका अस्तित्व ही ससार मे नही रहेगा—ऐसा क्यो कह रहे है ? क्योकि **'सामान्यतोदृष्टानुमान'** के क्षेत्र (विपय) से अतिरिक्त क्षेत्र **'भूमिः, शशविषाणोल्लिखिता, भूमित्वात्, यन्नैवं, तन्नैवम्, यथा—जलम्'**-मे,–जो सामान्यतोदृष्टानुमानादि का अविषय है, यानी विषय नही है,—ऐसे स्थलो मे 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष के लिये अवकाश (स्थान) है ।

अथवा 'अनुभूति' मे 'अवेद्यत्व' का अनुमान **'महाविद्या'** के प्रयोग से भी किया जा सकता है । **'महाविद्यानुमान'** का अर्थ यह है—**'महतीविद्या-महाविद्या, तदुपयोगि अनुमानं महाविद्यानुमानम् । विद्यायां महत्त्वञ्च द्वाराल्पत्वरूपलाघवशालित्वेसति सिषाधयिषितार्थसाधकत्वम्** । टीकाकार ने द्वितीय परिच्छेद मे बताया है कि **केवलान्वयिनिव्यापके प्रवर्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वय-व्यतिरेकि साध्यविशेषं साधयन् हि महाविद्येति'** । **महाविद्याप्रयोग** (महाविद्यानुमान) का आकार यह है—**'अयं घटः, एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वाऽनधिकरणाऽन्यः पदार्थत्वात्, पटवत्'**-अर्थात् **यह घट,** इस घट से अन्य मे रहनेवाले वेद्यत्व के अधिकरण से अन्य है, यानी एक व्यक्तिरूप घट, इस घट से अन्यत्वयुक्त वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य है, क्योकि वह पदार्थ है, जैसे—पट । यहाँ पर एक व्यक्तिरूप घट से अन्यत्वयुक्त वेद्यत्व 'पट' मे रहेगा, उसका अनधिकरण, 'एक व्यक्तिरूप घट' ही होगा, उससे अन्य (भेदयुक्त) 'पट' होगा । इस रीति से 'पटरूप दृष्टान्त' मे 'हेतु' के स्थान (जगह) मे 'साध्य' की प्रसिद्धि होती है, किन्तु 'एकव्यक्तिरूप घट, 'स्वान्यत्वयुक्त वेद्यत्व' का अनधिकरण आप ही (स्वय ही) है । किन्तु उक्त 'वेद्यत्वानधिकरण' से अन्य, वह, स्वय ही (आप ही) तो हो नही सकता । जब स्वान्यत्वयुक्त वेद्यत्व का अनधिकरण, उससे अन्य कोई भी हो, तब उस 'घट' (पक्ष) मे तदन्यत्वयुक्त वेद्यत्वानधिकरण से 'अन्यत्व' (साध्य) की सिद्धि हो जायगी । अत अनुभूति मे 'तद्घटान्यत्व' के रहते हुए भी 'वेद्यत्व' का

अभाव रहता है, उस कारण 'तद्‌घटान्यत्वयुक्तवेद्यत्व' का अनधिकरणत्व रहता है, और उसका भेद 'एनद्‌ घटव्यक्ति' मे रहता है। इस रीति से (**इस** प्रकार की महाविद्या का प्रयोग करके) 'घट' मे साध्य की प्रसिद्धि होती है। अत 'अवेद्यत्व' की अप्रसिद्धि का दोष नही है। एव च **महाविद्याप्रयोग** के द्वारा भी 'अवेद्यत्व' की प्रसिद्धि की जा सकती है।

महाविद्याप्रयोग उस अनुमान को कहते है, जिसके 'साध्य' का समन्वय, 'दृष्टान्त' मे किसी अन्य पद्धति से किया जाय, और 'पक्ष' मे किसी अन्य पद्धति से किया जाय।

तथाहि—प्रकृत अनुमान मे 'एनद्‌घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्व के अनधिकरण का भेद',—'साध्य' है। 'शुद्ध वेद्यत्व' तो जहाँ-कही सर्वत्र रहता है, किन्तु 'एनद्‌ घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्व' इस घट' से भिन्न 'पट' आदि मे ही रहेगा, इस कारण, 'विशिष्टवेद्यत्व' का अधिकरण होगा 'पट आदि', और अनधिकरण होगा 'एतद्‌ घट'। इस 'अनधिकरण' का भेद रहेगा, दृष्टान्तरूप 'पट' मे ही। दृष्टान्तरूप 'पट' मे 'भेद' रूप साध्य की प्रसिद्धि होने का कारण यह है कि उस 'पट' मे एनद्‌ घटान्यत्व' है। अन्यथा साध्यप्रसिद्धि न होती।

अब 'पक्ष' की ओर दृष्टि दीजिये—पक्षरूप जो 'एतद्‌घट' है, उसमे एतद्‌ घटान्यत्व' नही है। अत 'पक्ष' मे 'साध्य' का समन्वय करने के लिये हमे बाध्य होकर 'पक्ष' से भिन्न किसी दूसरे को 'वेद्यत्व' का अनधिकरण अवश्य ही स्वीकार करना होगा, जो **एतद्‌घटान्यत्वविशिष्टवेद्यत्व** का अनधिकरण हो सके। उसमे भी, यद्यपि **'एतद्‌घटान्यत्व'** रूप 'विशेषण' है, तथापि 'वेद्यत्व' रूप 'विशेष्य' के न रहने से उसे विशिष्ट का अधिकरण नही कह सकते, अपितु 'विशिष्ट' का अनधिकरण ही कहना होगा, और उससे अन्य —'पक्ष' होगा। एवञ्च **निष्कर्ष** यह है कि विवश होकर हमे जो 'वेद्यत्व' का अनधिकरण मानना पडा उस कारण 'अवेद्य' मे अवेद्यता प्रसिद्ध हो गई।

प्रकृत **'स्वयं प्रकाशत्व'** के अनुमान मे 'अप्रसिद्ध विशेष्यता' भी नही है, क्योकि 'अनुभूति' रूप 'विशेष्य' (धर्मी = पक्ष), अपनी स्वप्रकाशता से ही प्रसिद्ध है, और वही 'हेतु' का 'आश्रय' भी है। अत **'प्रसिद्ध अनुभूति'** रूप आश्रय की प्राप्ति हो जाने से 'हेतु' के आश्रय की भी 'असिद्धि' नही कह सकते, इसलिये **'आश्रयासिद्धि'** दोष भी नही है।

शङ्का—अनुभूति (चैतन्य) तो एकात्मस्वरूप हुआ करती है, अर्थात् एक ही है। अत **'अनुभूतित्व' सामान्य** (जाति) की असिद्धि है। क्योकि **उदयनाचार्य** ने

अपनी किरणावली मे **छह धर्मों को** 'जाति' का बाधक बताया है। तथाहि—**व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जाति-बाधक-संग्रहः'** ॥ अर्थात् 'आकाश' **व्यक्ति का अभेद** (एक) होने से (अनेकता का अभाव रहने से) सामान्य (जाति) का **'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्'** लक्षण 'आकाशत्व' धर्म मे घटित (समन्वित) नही होता है, इस कारण 'आकाशत्व' धर्म को 'जाति' शब्द से नही कहा जाता। तथा **'घटत्व-कलशत्व'** ये पृथक् 'जाति' नही मानी जाती, क्योकि व्यक्ति की **'तुल्यता'** उसमे बाधक है। तथा **'सङ्कर'** दोष से **'भूतत्व, मूर्तत्व' धर्म** को जाति' शब्द से नही कहा जाता। 'सङ्कर' उसे कहते हैं, जहाँ**'परस्परात्यन्ताभावाधिकरणवृत्तिधर्म'**,अन्यत्र कही एकत्र रहे। **'अनवस्था'** दोष भी 'जाति' के मानने मे बाधक होता है। अतएव **'जाति'** पर **'जातित्व'** धर्म को 'जाति' शब्द से नही कहा जाता। **रूपहानि** (स्वरूप की हानि) भी **'अन्त्य विशेष'** मे **'विशेषत्व' धर्म** को 'जाति' कहने मे बाधक बनती है। तथा **'असम्बन्ध'** भी **'समवायत्व'** और **'अभावत्व'** धर्म को 'जाति' रूप समझने मे बाधक होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि **'एकव्यक्तिवृत्तित्व** भी छह जाति-बाधकों मे से एक है। अत एक व्यक्ति रूप आकाश के समान **'अनुभूति'** (चैतन्य) भी एक ही व्यक्ति है। उस कारण 'अनुभूतित्व' धर्म को **जाति** नही कह सकते, तथापि **भिन्न भिन्न उपाधियों के आधार पर** 'अनुभूति' व्यक्तियाँ भी अनेक हो सकती है। अत कल्पभेद से अनेक 'चन्द्र' व्यक्तियो की कल्पना करके 'चन्द्रत्व' जाति के समर्थन के समान **औपाधिक भेद से** 'अनुभूति' व्यक्तियो को अनेक मानकर **'अनुभूतित्व' धर्म** को 'जाति' कहा जा सकता है। **'अनुभूतित्व'** को 'जाति' मान लेने से **पारमार्थिक एक अनुभूति के सिद्धान्त का** विरोध भी नही हो रहा है। क्योकि जैसे **काल्पनिक प्रतिबिम्ब** अपने बिम्ब का साधन होता है, वैसे ही **काल्पनिक 'अनुभूतित्व'**—हेतु भी अपने 'साध्य' (स्वप्रकाशत्व) का साधक होता है। **एवञ्च** 'अनुभूति' के एक होने से 'अनुभूतित्व' हेतु मे **'स्वरूपासिद्धि'** दोष का जो उद्भावन किया था, वह भी हमारी उक्त युक्ति से उपस्थित नही हो रहा है। अत **'स्वरूपा-सिद्धि' दोष** भी नही है। **प्रतिवादी** भी 'अनुभूतित्व' सामान्य, (जाति) को मानता है, इसलिये उसके मत मे भी हेतु (अनुभूतित्व) की असिद्धि नही है।

शङ्का—वेदान्ती 'अनुभूतित्व' को 'कल्पित' मानता है और **प्रतिवादी** उसको अकल्पित (सत्य) मानता है। अत **वेदान्ती** का अभिमत 'अनुभूतित्व', **प्रतिवादी** के मत मे तो 'असिद्ध' ही है, **उसी तरह** प्रतिवादी का अभिमत 'अनुभूतित्व'

वेदान्ती के मत मे असिद्ध है। एवञ्च 'हेतु' की असिद्धि प्राप्त हो रही है, क्योकि हेतु मे **कल्पितत्व** और **अकल्पितत्वरूप** जो 'वैधर्म्य (विरोधी धर्म) है, उनमे से अन्यतर (दो मे से एक) की असिद्धि प्रत्येक के मत मे हो रही है। अर्थात् **प्रतिवादी** को 'कल्पित अनुभूतित्व की असिद्धि, और **वेदान्ती** को 'अकल्पित अनुभूतित्व' की असिद्धि प्राप्त हो रही है।

समा०—उपर्युक्त शङ्का मे कोई औचित्य प्रतीति नही हो रहा है। क्योकि हमने कल्पित या अकल्पित किसी भी प्रकार के विशेष (भेद) की विवक्षा किये विना ही सामान्यरूप से 'अनुभूतिमात्र' को 'हेतु' बनाया है। अर्थात् **अवधीरित-कल्पिताऽकल्पितविशेष** यानी कल्पित या अकल्पित इस प्रकार का कोई भी विशेष (भेद) जिसमे नही है, ऐसे 'अनुभूतित्व' को यानी 'अनुभूतित्वमात्र' को सामान्यतया हेतु बनाया है, जो सामान्यतया प्रयुक्त 'अनुभूतित्व' मात्र हेतु, दोनो के मत मे सिद्ध है। यानी किसी के भी मत मे असिद्ध नही है।

अन्यथा (सामान्यरूप से अनुभूतित्वमात्र को यदि हेतु के रूप मे प्रयुक्त न करे तो) **'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्वात्'** इस प्रसिद्ध अनुमान मे 'धूमवत्वात्' हेतु के विषय मे भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यहाँ **'महानसीय धूम'** हेतु है, या **'पर्वतीयधूम'** हेतु है ? अर्थात् 'तद्देशनिष्ठत्व' (महानसदेशवृत्तित्व), और 'एतद्देश-निष्ठत्व' (पर्वतदेशवृत्तित्व) के विकल्प (भेद) प्रदर्शित करके 'असिद्धि' को बताया जा सकता है। **अभिप्राय** यह है कि 'धूम' मे पर्वतीयत्व (पर्वतवर्तित्व) और महानसीयत्व (महानसवर्तित्व) धर्म से भेद मानकर यदि 'महानसवृत्ति धूम' को 'हेतु' कहे तो उसकी **'पर्वत'** (पक्ष) मे असिद्धि (स्वरूपासिद्धि) होती है, क्योकि महानसीयधूम 'पर्वत' मे नही रहता। और यदि **'पर्वतवृत्तिधूम'** को हेतु कहे तो **'दृष्टान्त'**, साधन (हेतु) से रहित यानी 'दृष्टान्त' मे **साधनाभाव** प्राप्त होता है, क्योकि **'पर्वतीयधूम'**, महानसरूप दृष्टान्त मे नही रहता। अत **पर्वतीयत्व** और **महानसीयत्व** भेद को त्याग कर (पर्वतीयत्व-महानसीयत्व आदि कुछ भी विवक्षित न करके) जैसे **'धूमवत्व' मात्र** को 'हेतु' माना जाता है, उसी प्रकार **कल्पितत्व** (मिथ्यात्व) और **अकल्पितत्व** (सत्यत्व) भेद को त्याग कर 'अनुभूतित्व' मात्र को 'हेतु' माना गया है, जिसमे 'अन्यतरासिद्धि' नही हो पाती।

यदि कोई अन्यथाऽसिद्धि की आशका करे तो उसका भी परिहार करने के लिये ग्रन्थकार ने बताया है कि **'न च व्याप्यत्वाऽसिद्धिः'**। 'अनुभूतित्व' हेतु मे **'स्वप्रकाशत्व'** साध्य की व्याप्ति रहने से **असिद्धिरूप** 'व्याप्यत्वाऽसिद्धि' भी—

नही है। क्योकि 'हेतु' जब सोपाधिक (उपाधि के सहित) होना है, तभी उसे 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहा जाता है। किन्तु प्रकृत मे तो 'हेतु' केवल व्यतिरेकी है। अत केवलव्यतिरेकी हेतु मे 'उपाधि' का सभव ही नही है। क्योकि **'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः'** अर्थात् जो धर्म 'साध्य' का व्यापक और 'साधन' का अव्यापक रहता है, उसको 'उपाधि' कहते है। यथा —'धूमवान् वह्नेः' मे 'आर्द्रेन्धनसयोग' को 'उपाधि' कहा गया है। यह 'आर्द्रेन्धसयोग', 'धूम' (साध्य) का 'व्यापक' और 'वह्नि' (हेतु) का 'अव्यापक' रहता है। निष्कर्ष यह है कि साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापफ जो 'धम' रहेगा, वह 'अन्वयव्यतिरेकी' ही होगा। वह धर्म, 'केवलव्यतिरेकी हेतु' के 'साध्य' के साथ 'पक्ष' के अतिरिक्त स्थल मे 'अन्वयी' कैसे हो सकेगा ? क्योकि 'पक्ष' से अन्यत्र जिस 'साध्य' का निश्चय न हो, उसी 'साध्य' से युक्त रहने वाले 'हेतु' को 'केवलव्यतिरेकी' कहा करते है। उस प्रकार के 'साध्य' का सहयोग 'पक्ष' के अतिरिक्त स्थल मे होना सभव ही नही है। 'पक्ष' मे 'उपाधि' को 'साध्य' से अन्वित कहे, तो वह भी ठीक नही है, क्योकि अभी (अनुमानारभकाल मे) प्रतिवादी को 'साध्य' सन्दिग्ध है, उसे उसका निश्चय नही हुआ है। प्रतिवादी को 'पक्ष' मे यदि 'साध्य' का निश्चय हो तब तो हमारे अभीष्ट की ही (अनुभूति मे स्वयम्प्रकाशता की ही) सिद्धि हो जायगी। 'उपाधि' कल्पित होने पर भी, वह हमारा कुछ नही बिगाड सकता। किञ्च — 'पक्ष' मे 'उपाधि' के रहने पर उसमे (उपाधि मे) साधन की व्यापकता भी अवश्य रहेगी, जिससे 'साधनाऽव्यापकत्व' (साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) रूप 'उपाधि' का लक्षण ही समन्वित नही हो पायेगा।

शंका—यदि 'साध्य' के सद्भाव मे (साध्यसमानाधिकरणक) कोई उपाधि नही बन रहा है, अर्थात् 'साध्य के व्यापकत्वादिलक्षण से युक्त कोई उपाधि नही हो पा रहा है, तब भी 'साध्याभावविषयक (साध्य के अभाव मे) ही 'वस्तुत्व, गुणत्व' आदि को उपाधि मान लेगे और उससे (उपाधि से) 'पक्ष' मे साध्याभाव' का अनुमान कर लेगे—**'अनुभूतिः, स्वप्रकाशत्वाभाववती, गुणत्वात् , इच्छादिवत्'**। प्रतिवादी 'अनुभूति' को 'आत्मा' का 'गुण' मानता है। इसलिये 'हेतु' की असिद्धि नही है।

समा०—किन्तु ऐसी शका करना उचित नही है। क्योकि 'यत्र उपाधि तत्र साध्याऽभाव' अर्थात् जहाँ 'गुणत्वरूप उपाधि' है, वहाँ 'स्वप्रकाशत्वरूप साध्य

नही है । इस प्रकार 'उपाधि' को 'साध्याभाव' के बोधकरूप मे मानना होगा, और उसके लिये (उपाधि को साध्याभाव का बोधक या साधक बनाने के लिये) उपाधि को 'साध्याभाव' का 'व्याप्य' कहना होगा । अर्थात् 'जहाँ-जहाँ उपाधि है, वहाँ-वहाँ साध्याभाव है'—ऐसी व्याप्ति बनानी होगी । अन्यथा यानी 'उपाधि' को व्याप्य और 'साध्याभाव' को व्यापक न मानने पर 'उपाधि' के रहते हुए भी, 'अव्यापक' होने से 'साध्याभाव' नही रहेगा, प्रत्युत 'साध्य' ही रहेगा । अर्थात् 'गुणत्व' रूप उपाधि के रहते 'स्वप्रकाशत्व' रूप साध्य रहेगा, किन्तु 'अनुभूति' रूप पक्ष मे 'गुणत्व' रूप उपाधि के विद्यमान रहते (साध्य) स्थित रह सके, यह तो सभव नही है, क्योकि 'अनुभूति' रूप पक्ष मे 'गुणत्व' रूप उपाधि भी रहे और 'अनुभूतित्व' हेतु भी रहे, तो 'गुणत्व' रूप उपाधि को 'अनुभूतित्व' रूप हेतु की अपेक्षा अधिकदेशवृत्ति मानना होगा । तब 'गुणत्व' उपाधि, 'अनुभूतित्व' रूप हेतु (साधन) का 'व्यापक' ही बन जायेगा, अव्यापक नही । तब तो उसमे 'उपाधित्व' ही नही बन पायेगा, क्योकि 'उपाधि' बनने के लिये उसे 'साधन' का अव्यापक होना चाहिये, अन्यथा वह उपाधि नही बन सकेगा । अत- 'पक्ष' से भिन्न कही अन्यत्र ही उपाधि (गुणत्व) के रहने पर 'साध्य' का सद्भाव कहना होगा, जिससे साध्य का व्यापक वह 'उपाधि' बन सके । ऐसा होने पर केवलव्यतिरेकत्व' का तो अभाव ही हो जायेगा, यानी 'हेतु' की केबलव्यतिकेता तो भग ही हो जायेगी । अभिप्राय यह है कि साध्य का व्यापक होता हुआ, साधन का अव्यापक बनने वाला उपाधि तो अन्वय-व्यतिरेकी हेतु के स्थल मे ही होता है, अन्यत्र नही । जैसे—**'पर्वतो धूमवान् बह्नेः'** यहाँ पर 'आर्द्रेन्धन सयोग' उपाधि होता है । उसका 'महानस' मे अन्वय और 'ह्रद' मे व्यतिरेक रहता है । 'वह्नि' रूप हेतु, तप्त अयोगोलक मे भी रहता है, किन्तु वहाँ पर 'उपाधि' के न रहने से 'हेतु' (साधन) का अव्यापक और साध्यरूप धूम का व्यापक वह (आर्द्रेन्धनसयोग) रहता है, तथापि वह स्वरूपत नही, अपितु अपने अभाव (स्वाऽभाव) से 'धूम' रूप साध्य के आभाव का बोधक, बनकर 'वह्नि' के स्थानभूत (स्थानापन्न) तप्त अयोगोलक मे रहता है । इस प्रकार के उपाधि का 'केवलव्यतिरेकी' स्थल मे असभव ही है । इस रीति से आश्रयाऽसिद्धि, स्वरूपाऽसिद्धि, और व्याप्यत्वाऽसिद्धि से रहित 'अनुभूतित्व' हेतु 'केवलव्यतिरेकी' है यह स्पष्ट होता है ।

अभिप्राय यह है कि उक्त दोषो से बचने के लिये 'उपाधि' को 'साध्याभाव का व्याप्य' भी नही बना सकते । क्योकि **'अनुभूतिः वेद्या वस्तुत्वात् घटवत्'** यह केवलान्वयी अनुमान करेगे और उसके द्वारा प्रकृत पक्ष मे 'स्वय प्रकाशत्व' रूप

साध्य के अभाव को ही सिद्ध करना पडेगा, किन्तु वहाँ 'वस्तुत्व' मे 'उपाधित्व' का होना असभव है, क्योकि 'वस्तुत्व' तो केवलान्वयी धर्म है। वह 'साधन' का व्यापक ही रहेगा, 'अव्यापक' नही। इसलिये 'अनुभूतित्व' हेतु को किमी भी प्रकार से 'असिद्ध' नही कहा जा सकता।

निष्कर्ष यह है कि 'स्वप्रकाशत्व' के अनुमान मे 'अनुभूति' (स्वप्रकाशत्वाऽभाव-विशिष्ट को 'वेद्य' बताने का प्रयत्न किया गया है, क्योकि वह भी 'वस्तु' है, जैसे 'घटपट' आदि वस्तुएँ 'वेद्य' है, वैसे ही 'अनुभूति' भी 'वेद्य' है। इस केवलान्वयी 'वस्तुत्व' रूप 'हेतु' से ही 'स्व प्रकाशत्व' का अभाव 'वेद्य' है –यह कहना होगा, किन्तु यहाँ पर 'वेद्यत्व' के साधक 'वस्तुत्व' को मानने पर भी 'अनुभूतित्वहेतुक' अनुमान मे उसे 'उपाधि' नही कह सकते। क्योकि वस्तुत्व' तो 'केवलान्वयी' है। उसे यदि 'उपाधि' बनाना है, तो अनुभूतित्वरूप हेतु की अव्यापकता उसमे दिखानी होगी, किन्तु वह सभव नही है। क्योकि 'साधन' (हेतु) का अव्यापक हुए बिना उसमे 'उपाधित्व' नही हो सकेगा। एव च 'अनुभूतित्व' हेतु यहाँ पर 'असिद्धि दोष' से दूपित नही है।

उसी तरह 'अनुभूतित्व हेतु' विरुद्धदोष से भी दूषित नही हो रहा है। 'विरुद्ध हेतु' उसे कहते है, जो 'हेतु' साध्याभाव का साधक होता हो। जैसे, **'शब्दो नित्यः कृतकत्वात्'** मे 'कृतकत्व' हेतु है। यह 'कृतकत्व' हेतु साध्याभाव (नित्य-त्वाभाव) का साधक होने से 'विरुद्ध' हेतु है। साध्याऽभाव का साधक हेतु 'विपक्ष' मे ही रहता है, इसी कारण वह 'साध्य' की सिद्धि करने मे असमर्थ हो जाता है। यह स्थिति 'अनुभूतित्व' हेतु की नही है। क्योकि 'अनुभूतित्व' हेतु, वेद्य जो 'घट, पटादि' विपक्ष है, उसमे नही रहता है। अत उसे 'विरुद्ध' नही कह सकते।

तथा 'अनुभूतित्व' हेतु को 'अनैकान्तिक' अर्थात् साधारण व्यभिचारी भी नही कह सकते। क्योकि वह 'विपक्ष' मे नही रहता। वह 'विपक्ष' से व्यावृत्त ही रहता है। **पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्'** मे 'प्रमेयत्व' हेतु, साधारण अनैकान्तिक (साधारण व्यभिचारी) है। क्योकि वह (प्रमेयत्व हेतु), **वह्निरूप साध्यवदन्य-ह्रदवृत्ति** होने से व्यभिचारी है, अर्थात् साधारण व्यभिचारी है। साध्य 'वह्नि' है, साध्यवान् 'पर्वतादि' पक्ष है, उस (पक्ष) से अन्य जो 'जलह्रद', वह विपक्ष है, उसमे भी 'प्रमेयत्व' हेतु रहता है। इसलिये 'प्रमेयत्व' हेतु को साधारण अनैकान्तिक

कहा जाता है। वैसा हमारा 'अनुभूतित्व' हेतु नही है। इसलिये 'अनुभूतित्व' हेतु मे साधारण अनैकान्तिक होने की शका नही कर सकते।

तथा 'अनुभूतित्व' हेतु को 'असाधारण अनैकान्तिक' भी नही कह सकते। क्योकि **'साध्याऽसमानाधिकरण हेतु'** को असाधारण अनैकान्तिक कहते है। जैसे, **'शब्दो नित्यः शब्दत्वात्'** मे 'शब्दत्व' हेतु, नित्यत्व, (निश्चितसाध्यवान् सपक्षादि) और अनित्यत्व (निश्चितसाध्याभाववान् घटादि विपक्ष) दोनो से व्यावृत्त है, वह तो केवल 'शब्दमात्र' मे ही रहता है। अत 'शब्दत्व' हेतु, **'साध्य समानाधिकरण'** नही है, इस प्रकार उसकी असाधारणता का निश्चय हो जाने पर **'शब्दो नित्यः'** इस अनुमिति को वह नही होने देता। यह स्थिति 'अनुभूतित्व' हेतु की नही है। इस हेतु का कोई 'सपक्ष' ही नही है। जिससे वह व्यावृत्त हो, और विपक्ष 'घट' आदि है। **सपक्षवृत्तित्व** और **विपक्षवृत्तित्व** दोनो का अभाव, जिस 'हेतु' मे रहता है, उस पक्षमात्रवृत्ति 'हेतु' को 'असाधारण अनैकान्तिक' कहा जाता है। एव च 'असाधारण अनैकान्तिक' का लक्षण 'अनुभूतित्व' हेतु मे घटित न हो पाने से उसको असाधारण अनैकान्तिक नही कह सकते।

शंका—यदि कोई यह कहे कि 'विपक्ष' मे यानी अनुभाव्यत्वरूप (वेद्यत्वरूप) विरुद्ध पक्ष मे 'बाधक तर्क' का 'अभाव' रहने से 'पक्ष' मे ही 'साध्य' का सन्देह हो सकता है, उस कारण 'सन्दिग्ध अनैकान्तिकता' अवश्य होगी।

समा०—उक्त शका के लिये कोई अवसर ही नही है, क्योकि विपक्ष मे बाधक तर्क है—**'अभूतिर्यदि वेद्या** (अनुभाव्या) **स्यात् तर्हि अनवस्था स्यात्'**। अर्थात् 'अनुभूति' यदि वेद्य' होगी तो अनवस्था होगी।

शंका—'अनुभूतिः अनुभाव्यैव'—अर्थात् 'अनुभूति, अनुभाव्य' ही होती है—ऐसा यदि नियम हो, तो 'अनवस्था' का भय भी हो, किन्तु वैसा कोई नियम तो है नही, तब अनवस्था का प्रश्न ही कहाँ है ?

प्रश्न—यदि अनुभूति के अनुभाव्य होने का (सभी अनुभूतियाँ 'वेद्य' ही हो,—ऐसा) नियम नही है, तो 'अननुभूत अनुभूति' से अर्थविषयकव्यवहार कैसे किया जायेगा ?

उत्तर—अर्थविषयक व्यवहार तो 'अनुभूति' की 'स्वरूपसत्ता' (अज्ञातसत्ता) से भी उपपन्न हो सकता है।

शंका—जिस अनुभूति मे कोई प्रमाण न हो, उसकी 'अज्ञातसत्ता' का निश्चय भी कैसे हो पायेगा ? अत अज्ञातसत्ता के निश्चय मे किसी प्रमाण के न होने से

(निष्प्रमाण होने से) ही उससे व्यवहार की उपपत्ति का होना भी नही कह सकते। निष्कर्ष यह है कि एक **व्यवसायात्मक ज्ञान** होना है और तदनन्तर दूसरा **अनुव्यवसायात्मक ज्ञान** होता है। 'अनुव्यवसायात्मक द्वितीय ज्ञान' से व्यवसायात्मक प्रथम ज्ञान 'वेद्य' (अनुभाव्य) होता है। लोक मे 'व्यवसाय' और 'अनुव्यवसाय' का जो शाब्दिक व्यवहार (उच्चारण, कथन) होता है, वह 'अनुव्य-वसाय' की 'अज्ञातसत्ता (स्वरूपसत्ता) मात्र' से ही चलता रहता है, किन्तु जो अनुव्यवसाय (अनुभूति), किमी प्रमाण के द्वारा तही बताया गया है, उसकी 'अज्ञातसत्ता' (स्वरूपसत्ता) को भी कैसे जाना जायेगा ? क्योकि जाना वही जाता है, जो प्रमाण से बताया गया हो। अत- अनुव्यवसाय (अनुभूति) की अज्ञातसत्ता भी अप्रामाणिक (प्रमाणरहित) होने से व्यवहार की उपपत्ति नही हो रही है। अज्ञातसत्ता को अप्रामाणिक कहने का तात्पर्य यह नही है कि 'सत्ता' मे प्रमाण ही नही है, अपितु जिज्ञासा होने पर अर्थात् यदा कदाचित् अज्ञात (अनुभूति, अनुव्यसाय आदि की) सत्ता की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) उत्पन्न होगी, तब 'व्यवहार' आदि लिङ्ग (हेतु) से 'सत्ता' का अनुमान कर लिया जायगा, यानी 'व्यवहारादि' हेतु से वह 'सत्ता' अनुमित (प्रमित = ज्ञात) हो जायेगी।

समा०—उक्त शका उचित प्रतीत नही हो रही है। क्योकि **'अयं घटः'**, और **'घटमहमनुभवामि'** अर्थात् यह घट है, और मै घट का अनुभव करता हूँ, इन दो प्रकार के अनुभवो (व्यवसाय और अनुव्यवसाय) से अतिरिक्त कोई 'अन्य अनुभवपरम्परा' (अनुभूतिपरम्परा) किसी को भी ज्ञात नही है। अत व्यवहारादि हेतु के बल पर 'सत्ता' की अनुमिति का स्वीकार नही किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि **'अयं घटः'**, और **'घटमनुभवामि'** या **'घट जानामि'** इन दोनो व्यवहारो से 'व्यवसाय', 'अनुव्यवमाय' की अनुमिति मान भी ले, तो 'अनुव्यवसायविषयक ज्ञान' की अनुमिति के लिये, किसी 'हेतु' के न रहने से 'अज्ञात अनुव्यवसाय की सत्ता' ही सिद्ध नही होगी, परम्परा की तो वार्ता ही कहाँ है ?

यदि **'अनुव्यवसायादिविषयक अनुभव** (ज्ञान) के बिना ही 'अनुभूति परम्परा की सत्ता' को मान ले, तो उसी प्रकार से (ज्ञान के विना ही) 'प्रमेय' (घट, आत्मा) आदि की 'सत्ता' को भी मान लिया जायेगा, तब 'प्रमेय' की 'सत्ता' के लिये 'प्रमाण' के अन्वेषण की आवश्यकता ही क्यो होगी ? और यदि 'अनुव्यवसाययिषयक घट जानामि' को प्रमाण (हेतु) माने अर्थात् प्रमाणान्तर के

आधार पर 'अनुभूतिपरम्परा' को माना जाय तो उस अनुव्यवसायविषयक (तृतीयज्ञानविषयक) प्रमाण का अन्वेषण करना होगा, तब तो 'अनवस्था' दोष तदवस्थ ही रहेगा।

शंका—'द्वितीय अनुभूति' (अनुव्यवसाय), स्वविषयक प्रमाण के अभाव मे भी अपने 'स्वभावविशेष' से ही अपने विषय (प्रथम अनुभूति अर्थात् व्यवसाय) का व्यवहार (विशेष व्यवहार) सम्पन्न करा देगी।

समा०—फिर तो 'प्रथम अनुभूति' (व्यवसाय) भी अपने स्वभावविशेष से ही (अन्य किसी प्रमाण के विना ही) अपना व्यवहार चला लेगी। तब तो 'अनुभूतिपरम्परा' का स्वीकार करना ही व्यर्थ है।

इस प्रकार 'अनुभूति' को अनुभाव्य (वेद्य) मानने पर 'अनवस्था' होगी, और द्वितीय, तृतीय आदि 'अनुभूति' मे कही भी 'प्रमाण' न होने पर मूलपर्यन्त अनुभूति के स्वरूप की सिद्धि ही नही हो पायेगी, अर्थात् 'असिद्धि' ही रहेगी,—यही विपक्षबाधक **प्रबल तर्क** है। अत 'सन्दिग्ध अनैकान्तिकता' भी नही हो सकती।

किञ्च 'स्व-विषय' के प्रकाशन के समय यदि 'अनुभूति' भी 'स्वय प्रकाशित' न होती हो तो 'विपय प्रकाश' होने के पश्चात् जिज्ञासु व्यक्ति को अपनी 'अनुभूति' मे 'सशय' (मुझे घट का ज्ञान हुआ है, या नही ?) अथवा 'विपर्यय' (मुझे घटाभाव का ज्ञान हुआ) अथवा 'विपरीत निश्चय' (मुझे ज्ञान ही नही हुआ, यह निश्चय) होना चाहिये। किन्तु किसी भी जिज्ञासु को 'अपनी अनुभूति' के विषय मे इस प्रकार का 'सशय, या विपर्यय, या विपरीत निश्चय' होता नही है। क्योकि जिज्ञासु (देखने वाले व्यक्ति) को पूछा जाय कि 'क्या आपने अमुक वस्तु को देखा है, या नही ? तब वह देखने वाला व्यक्ति न तो 'सशय' प्रकट करता है, न 'विपर्यय' और न 'विपरीत प्रमा' (विपरीत निश्चय) ही प्रकट करता है, प्रत्युत 'मैने उस 'वस्तु' को देखा है–यह दृढता से कहता है, अर्थात् अपना निश्चय ही प्रकट करता है। इस कारण यह स्वीकार करना ही होगा कि 'अनुभूति' **स्वयं प्रकाशित** होती है, और 'स्व-विषयक व्यवहार' को करवाती है।

शंका—जैसे 'सुख' आदि स्वय प्रकाश नही है, 'अन्य ज्ञान' से ही प्रकाशित होते है, फिर भी उनके विषय मे कोई 'सशय' नही होता, वैसे ही 'विषयप्रकाश' के साथ-साथ 'प्रथम अनुभूति' भी किसी 'दूसरी अनुभूति' से प्रकाशित हो जायेगी।

एव च 'अनुभूति' **परप्रकाश्य**—होती हुई भी 'सुख' आदि के समान ही अवश्य 'वेद्य' होने से उसमे भी 'सशय' आदि का न होना उचित ही है।

समा०—किन्तु उक्त शका उचित प्रतीत नही हो रही है। जैसे, 'सुखादि-प्रकाश' का धर्मी 'विषय' होता है, वैसे ही 'अनुभूति' (अनुभव) के 'धर्मी' होनेपर 'सुखादि' के समान उसमे अवश्य 'वेद्यत्व' होनेपर भी 'अनवस्या' तो बनी ही रहेगी। अर्थात् 'दूसरी अनुभूति' मे 'वेद्यत्व', **तीसरी अनुभूति से,** और 'तीसरी अनुभूति' मे वेद्यत्व, **चौथी अनुभूति से** इस प्रकार अनवस्था दोष से मुक्ति पाना सभव नही होगा। अत 'अनुभूति' को **स्वयं प्रकाश ही** मानना उचित होगा।

वेदान्तप्रक्रिया के अनुसार तो 'सुख' आदि का तथा 'समस्त मनोवृत्ति' का 'प्रकाश', **'स्वय प्रकाश साक्षी चैतन्य' से** होता है। इसलिये 'अनवस्था' आदि दोषो का प्रसग ही प्राप्त नही होता, किन्तु प्रतिवादी तार्किक के मतानुसार 'घट-पटादि बाह्य विषयो' के ज्ञान को प्रक्रिया यह है कि 'आत्मा' का 'मन' के साथ सयोग होता है, तदनन्तर 'आत्मसयुक्त मन' का 'इन्द्रिय' के साथ सयोग होता है, पश्चात् 'मन सयुक्त इन्द्रिय' का विषय' के साथ सयोग होता हे, तब कही **घट-पटादि** बाह्य विषयो का ज्ञान होता है।

तार्किकों की इस प्रक्रिया के अनुसार 'घट-पटादि ज्ञान' का **'समवायि-कारण'** (उपादान) 'आत्मा' होगा, और **'असमवायी कारण'** आत्म मन सयोग, होगा, तथा 'अदृष्ट' आदि **'निमित्तकारण'** होगे।

इस स्थिति मे **तार्किकों से** हम पूछाना चाहते है कि पहिले यह बताओ कि जिस 'आत्म-मन सयोग' (असमवायिकारण) से 'घट' का अनुभव (ज्ञान) उत्पन्न हुआ है, क्या 'उसी आत्ममन सयोग' (असमवायिकारण) से **'अनुव्यवसाय'** (दूसरे अनुभव = अनुभूति) की उत्पत्ति होती है ? अथबा 'अन्य (दूसरे) आत्म-मन.सयोग' से 'अनुव्यवसाय' (दूसरे अनुभव) की उत्पत्ति होती है ?

प्रश्नात्मक दो पक्षो मे से **प्रथमपक्ष** को आप स्वीकार नही कर सक्तते, क्योकि एक ही 'मन सयोग', दोनो (अनुव्यवसाय और व्यवसाय) का 'कारण' (उत्पादक) हो, तो 'दोनो ज्ञानो' (अनुव्यवसाय और व्यवसाय) की 'उत्पत्ति', एक साथ ही (एक-काल मे ही) होनी चाहिये, किन्तु 'दोनो ज्ञानो' की उत्पत्ति एक-काल मे होना कदापि और कथमपि सभव नही है। क्योकि **तार्किक** (प्रतिवादी), प्रथम ज्ञानविषयक दूसरे (द्वितीय) ज्ञान को **'अनुव्यवसाय'** कहता है। उसकारण

'अनुव्यवसाय' (द्वितीयज्ञान) के प्रति 'व्यवसाय' (प्रथमज्ञान) कर्मकारक है। अतएव 'प्रथमज्ञान' (व्यवसायज्ञान) को **'जनक'** कहा गया है, और 'द्वितीयज्ञान' (अनुव्यवसायज्ञान) को **'जन्य'** कहा गया है। एवञ्च 'जन्य और जनक' दोनो 'एक ही समय' मे उत्पन्न कैसे हो सकेंगे ? यदि यह कहे कि 'एक ही मन सयोग' (असमवायी कारण), 'व्यवमाय' और 'अनुव्यवसाय' रूप दोनो कार्यो को क्रमश उत्पन्न करता है, तो यह कथन भी उचित नही है। क्योकि 'भिन्न-भिन्न असमवायिकारण' ही भिन्न-भिन्न कार्यो (ज्ञानो) को उत्पन्न कर सकते है। 'एक ही असमवायिकारण' से भिन्न-भिन्न दो कार्यो की उत्पत्ति नही हुआ करती।

अन्यथा एक ही सयोगरूप असमवायिकारण से 'अनेक कार्य' (ज्ञान) हो तो 'आत्म-मन सयोग' के अतिरिक्त अन्य किसी सयोग की अपेक्षा ही नही होगी। तब एक ही समय मे उस एक आत्म-मन-सयोग से ही 'घट का अनुभव' और 'घट का स्मरण', तथा 'घटविषयक और स्मरणविषयकप्रत्यभिज्ञा' इन तीनो की उत्पत्ति होनी चाहिये, किन्तु वैसा होता नही है। अत 'उनके असमवायीकारण' (मनःसयोग) को क्रम से ही स्वीकार करना होगा। अर्थात् तीनो ज्ञानो के 'असमवायीकारण' (आत्ममन सयोग) भिन्न-भिन्न है और क्रमिक है—यह मानना होगा। 'अक्रमिक (क्रमरहित) कारण' मे कार्यभेद का क्रम उचित नही है। यदि यह कहे कि 'विषयेन्द्रियसन्निकर्ष' आदि बाह्यसामग्री (कारण) के क्रम से 'कार्य (ज्ञान) का क्रम' हो सकता है तो यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि 'क्रमभेद' के आधार पर 'कार्य का क्रम' स्वीकार करनेपर एक साथ 'इन्द्रियसयुक्त घट, पटादि अनेकविषयक, अनेक ज्ञानो' की उत्पत्ति एक समय मे ही होनी चाहिये, किन्तु होती नही है। 'समूहालम्बन एक ही ज्ञान' हुआ करता है। अत 'कार्यभेद' के लिये 'असमवायीकारण का भेद' स्वीकार करना ही होगा। 160-5/366

द्वितीय पक्ष (दूसरे मन सयोग से अनुव्यवसाय की उत्पत्ति) भी ठीक नही है। क्योकि 'एक मन सयोग' से घटज्ञान (व्यवसाय) उत्पन्न हुआ, उसी क्षण मे 'अनुव्यवसाय' को उत्पन्न करने के लिये 'दूसरे मन सयोगार्थ' को (सयोगान्तर को पैदा करने के लिये) 'मन' मे **क्रिया** होगी, **द्वितीयक्षण** मे उक्त 'क्रियाजन्य विभाग', **तृतीयक्षण** मे 'विभागजन्य पूर्वसयोग' का नाश, **चतुर्थक्षण** मे 'उत्तरसयोग' उत्पन्न होगा, उसके बाद **पञ्चमक्षण** मे 'दूसरा ज्ञान' (अनुव्यवसाय) उत्पन्न हो पायगा। इस रीति से अनेक क्षणो के विलब से अर्थात् 'व्यवसायज्ञान' के नष्ट हो जानेपर उत्पन्न होनेवाला 'अनुव्यवसायज्ञान', अपने से पूर्व स्थित 'व्यवसायज्ञान' का

प्रत्यक्ष रूप से ग्राहक (प्रकाशक) नही हो सकेगा, क्योकि **प्रत्यक्ष** (अपरोक्ष) तो 'वर्तमान (विद्यमान) विषय' का ही हुआ करता है ।

किञ्च— **ज्ञान** के प्रकाशित न होनेपर भी (अप्रकाशितज्ञान से भी) 'व्यवहार' किया जा सकता है-यह यदि कहे तो, जैसे 'बिषय', **स्वयं-प्रकाश** नही है, तथापि वह (विषय), 'प्रकाश' का उत्पादक (जनक) है, उसीतरह 'ज्ञान' भी केवल 'दूसरे ज्ञान' का जनक ही हो सकता है । क्योकि 'विषय' **स्वयं प्रकाशरूप** नही है। इसलिये वह, 'व्यवहार साधक' नही हो सकेगा। 'घट-पट आदि विषय' (पदार्थ) **स्वयं प्रकाश** है नही और न **एक दूसरे के प्रकाशक ही है**। 'चक्षु' के समान ही **'ज्ञान'** भी स्वय प्रकाशरूप है नही, तब वह 'ज्ञान' अपने मे भिन्न दूसरे 'ज्ञान' को पैदा कर देने मात्र से किसी अर्थ (विषय) के व्यवहार मे कारण (हेतु) कैसे बन सकता है ? और 'व्यवहार' के न बननेपर 'जगत् अन्धकारमय' हो जायगा ।

शंका—'घटज्ञानवान् अहमस्मि', 'ज्ञातोघटः' [मै घटज्ञानवाला हूँ, और घट ज्ञात है] इस प्रकार के प्रत्यक्ष होने से ही **'अनुभूति'** मे 'वेद्यत्व' की प्रतीति होती है, तब **अनुभूति** की 'स्वप्रकाशता' को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त जो 'अनुभूतित्व' हेतु है, वह 'बाधित' हो जायगा ।

समा०—उक्त शका ठीक नही है, क्योकि 'वेद्यत्व' के बिना भी 'अनुभूति' की अपनी **स्वय प्रकाशता** (स्वत स्फुरण) से उक्त व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। **अपिच** 'विदितोघट' [घट विदित है] इस 'अनुव्यवसाय' मे 'घट' मे ही 'वेद्यत्व' की प्रतीति होती है, 'अनुभूति' मे नही । क्योकि **'विदितो'-या 'ज्ञातो घटः'** इस वाक्य मे **'विदितत्व'** (ज्ञातत्व), 'घट' का विशेषण है, 'ज्ञान' का नही । अपिच यह मान भी ले कि उक्त 'अनुव्यवसाय' से व्यवसाय रूप 'अनुभूति' का प्रत्यक्ष होता है, तथापि अनुभूति के प्रत्यक्ष होने से अनुभूतिगत 'वेद्यत्व' का तो प्रत्यक्ष नही हो पाता है, इसलिये 'प्रत्यक्ष' से 'अवेद्यत्व' का बाध नही हो रहा है। अर्थात अवेद्यत्वसाधक 'अनुभूतित्व' हेतु को 'प्रत्यक्ष' के विरुद्ध नही कह सकते ।

किञ्च 'व्यवसाय' मे रहनेवाली जो 'अनुव्यवसाय' की वेद्यता है, उसका ग्रहण यदि **'अनुव्यवसाय'** से ही होता हो, तो **'अनुव्यवसाय'** को भी 'अनुव्यवसाय' का **'वेद्य'** कहना होगा, क्योकि **'वेद्यत्व** का विशेषण है, **'अनुव्यवसाय'**। इस रहस्य को इस प्रकार समझना चाहिये— **जैसे—सादृश्य** आदि धर्म, किसी न किसी अपने **प्रतियोगी** की अपेक्षा करते है, वैसे ही **'वेद्यत्व'** धर्म भी अपने **प्रतियोगी** की अपेक्षा करता है। अर्थात् **'वेद्यत्व', 'सादृश्य'** आदि पदार्थ (धर्म),

सापेक्ष हुआ करते है। केवल **'सादृश्य'** का या **'वेद्यत्व'** का ग्रहण कभी नही होता है, अपितु अपने प्रतियोगी से विशेषित हुए **'सादृश्य'** या **'वेद्यत्व'** का ही ग्रहण होगा। एव च यहाँ पर भी अकेले (केवल) 'वेद्यत्व' का ग्रहण न होकर **'अनुव्यवसाय'** से विशेषित हुए 'वेद्यत्व' का ही **'अनुव्यवसाय'** से ग्रहण होगा। एत्र च **'अनुव्यवसाय विशिष्ट वेद्यत्व'** ही अनुव्यवसाय से ग्राह्य होने के कारण 'वेद्यत्व' के विशेषण बने हुए ,अनुव्यवसाय मे भी ग्राह्यत्व (वेद्यत्व) प्राप्त होगा। तब **ग्राहक** और **ग्राह्य** एक ही होने से क्षणिक विज्ञान वादी **बौद्धसिद्धान्त** को ही आपने स्वीकार कर लिया कहना होगा। अर्थात् 'एक ही' (अनुव्यवसाय) मे **कर्म-कर्तृ-भाव** के प्राप्त होने मे **विरोध** प्राप्त होगा।

किञ्च—'वस्तुत्व' को हेतु बनाकर 'वेद्यत्व' साधक अनुमान मे जो **सत्प्रति-पक्ष'** दोष बताया था, वह भी वस्तुत नही है। क्योकि 'वस्तुत्व' **हेतु** से 'वेद्यत्व' का अनुमान करने वाले को **'यद्‌यद् वस्तु, तत्तद् वेद्यम्'** (जो-जो वस्तु है, वह-वह वेद्य होती है) यह **व्याप्ति** बतानी होगी। तब उसे **प्रश्न** किया जा सकता है कि आपके द्वारा प्रदर्शित की गई 'व्याप्ति' का ग्राहक (प्रकाशक) **ज्ञान** (सवित्) 'व्याप्ति' के ग्रहण करते समय स्फुरित (प्रकाशित) होता है, या नही ? **प्रथम पक्ष** यदि स्वीकार करते है तो **'स्वय से ही स्वयं का ग्रहण'** रूप, बौद्धो की 'स्व-प्रकाशता' प्राप्त होगी। अर्थात् बौद्ध मत मे स्वीकृत 'स्व-प्रकाशता' की उपस्थिति होगी और 'व्याप्तिज्ञान के प्रकाश' (स्फुरण) को 'व्याप्तिज्ञान-जन्य' (व्याप्तिज्ञान-हेतुक) न मानकर स्वतन्त्ररूप मे ('उस स्फुरण' = प्रकाश को) मानते है, तो **वेदान्तियो** के मत मे स्वीकृत **'स्व प्रकाशता'** को आपने स्वीकार कर लिया, यह कहा जायगा।

द्वितीय पक्ष (व्याप्ति ग्रहण के समय मे 'व्याप्ति ग्राहक ज्ञान' का प्रकाश [भान] न मानने पर) उसमे 'ज्ञानस्वरूप' (सविन्स्वरूप) वस्तुविशेष का 'अस्फुरण' (अप्रकाश यानी अज्ञान) होने से उसमे उक्त व्याप्ति का ग्रहण नही हो पायेगा। उसकारण सर्वोपसहारवती' (सर्वव्यक्तिव्यापिनी) 'व्याप्ति' का सर्वदा के लिए ही अस्त (समाप्ति) हो जायेगा। क्योकि **'व्याप्तिग्रहण'** (जहाँ-जहाँ वस्तुत्व है, वहाँ-वहा वेद्यत्व है) काल मे 'व्याप्तिग्राहक ज्ञान' का प्रकाश, न होने से उस ज्ञान मे 'वेद्यत्व' नही है, किन्तु 'वस्तुत्व' है। अर्थात् 'व्याप्तिग्राहक-ज्ञान' मे **'यत्र यत्र वस्तुत्वं तत्र-तत्र वेद्यत्वम्'** इस प्रकार से व्याप्ति का ग्रहण न हो सकने के कारण व्यापकरूप से **'व्याप्ति'** गृहीत न हो सकेगी। तब

'व्याप्तिज्ञान' के बिना **'वस्तुत्व'** हेतु से **वेद्यत्व** का अनुमान कैसे होगा ? एवं च **व्याप्तिग्राहकज्ञान** मे 'वस्तुत्व' तो है, किन्तु 'वेद्यत्व' नही है, उस कारण 'वस्तुत्व' **हेतु,** 'वेद्यत्व' का **व्यभिचारी** हो गया है। ऐसे व्यभिचरित **हेतु** मे 'वेद्यत्वरूप साध्य' की व्याप्ति न रहने से 'व्याप्ति' का **भंग** हो गया है। **व्याप्तिज्ञान** के बिना 'वस्तुत्व' हेतु से 'वेद्यत्व' का अनुमान कैसे हो सकेगा ? और **व्याप्तिग्राहक ज्ञान** मे 'वस्तुत्व' के रहते हुए भी **'वेद्यत्व'** के न रहने के कारण **व्यभिचारी कहे जाने वाले 'वस्तुत्व'** हेतु से प्रकृत मे अनुभूतित्व **हेतु** को 'सत्प्रतिपक्षित' कैसे कह रहे है ? अर्थात उसे आप 'सत्प्रतिपक्षदोष' से दूषित नही कर सकते। **भाट्टमीमांसक** भी **'वस्तुत्व' हेतु** को **व्यभिचरित** ही मानते हे। क्योकि भाट्ट-मीमासक, **ज्ञातता** (ज्ञानजन्य-विषयनिष्ठ प्राकट्य) मे **वेद्यत्व** नही स्वीकार करते। वे तो **'ज्ञातता' को स्वप्रकाश** मानते है। **किन्तु** 'वस्तुत्व' तो उसमे भी रहता है। **अतः** 'वस्तुत्व' हेतु, व्यभिचारी है।

नैयायिक आदि विद्वानो के मत मे **'वेद्यत्व' एक धर्म** है, उस कारण **'घटत्वधर्म'** के समान किसी न किसी मे रहनेवाले **'अत्यन्ताभाव'** का वह **प्रतियोगी** होगा। तब कोई न कोई **अवेद्य पदार्थ** भी सम्भव होगा। **'वस्तुत्व'** हेतु तो **'केवलान्वयी'** है। अत उसका भी **'विपक्ष'** कोई अवेद्य पदार्थ होगा। **उस विपक्ष मे** 'हेतु' के 'वृत्तित्वाभाव' (अवृत्तित्व) को **'विपक्षबाधकतर्क'** के बिना निश्चित रूप से नही कह सकते। **इसलिए** 'हेतु' मे **'सन्दिग्ध अनैकान्तिकता'** के रहने से वह **'साध्यसाधक'** नही हो सकेगा। अर्थात् **अनैकान्तिक हेतु** से 'साध्य' का अनुमान नही किया जा सकेगा।

यदि यह कहें कि 'अनुभूतौ यदि वेद्यत्व न स्यात्, वस्तुत्वमपि न स्यात्'। 'अनुभूति' मे 'अवेद्यत्व' के रहने पर अर्थात 'अनुभूति' को अवेद्य' मानने पर उसमे (अनुभूति मे) 'वस्तुत्व भी नही रह पायेगा' —यही **'विपक्षबाधक तर्क'** है।

किन्तु यह कहना उचित नही होगा, क्योकि **'स्वयं प्रकाश अनुभूति'** मे 'वेद्यत्व' के बिना भी 'वस्तुत्व' का रहना **संभव हो सकता है**। इसी प्रकार **'वेद्यत्व'** के साधक **'लक्ष्यत्व', 'न्यायविषयत्व'** (अनुमानविषयत्व) आदि 'हेतुओ से **'वेद्यत्व'** साध्य का जो अनुमान किया जाता है, वहाँ पर (व्याप्तिग्रहण-काल मे ग्राहक सवित के स्फुरण या अस्फुरण पक्ष मे) भी उन 'हेतुओ' मे 'उक्त दोषो को समझ लेना चाहिए।

पहिले जो आक्षेप किया गया था कि 'लक्षक-पदत्व' रूप **हेतु से** 'लक्षक

अनुभूति' **पद में** 'लक्ष्य-विषयकज्ञानजन्यत्व' का **अनुमान** करना चाहिये, अर्थात् **'लक्ष्यविषयकज्ञानजन्यत्व'** अनुमेय है, जिससे **'स्वप्रकाशत्व' का भंग** हो जायेगा।

किन्तु वादी का उक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि **प्रतिवादी** के मत मे **'अनुभूतिलक्षकत्व'** रूप हेतु, **'अनुभूति'** पद मे असिद्ध है। **कारण यह है** कि आप के मत मे 'अनुभूति' पद, 'अनुभूति' रूप अर्थ का **'वाचक' ही** है, 'लक्षक' नही है।

किञ्च—'लक्ष्यविषयकज्ञानत्वम्' इस वाक्य मे 'लक्ष्यविषयकज्ञान' शब्द से (लक्ष्यज्ञानशब्द से) **'लक्ष्यकर्मकस्फुरण'** (प्रकाश) विवक्षित है? अथवा **'लक्ष्य-विषयकस्फुरण'** विवक्षित है? अथवा **'स्फुरणमात्र'** विवक्षित है? अथवा **'लक्ष्यविषयक अन्तःकरणवृत्ति'** विवक्षित है? **इतने विकल्प** आप के सामने हम उपस्थित कर रहे है। इनमे से **कौन सा पक्ष** आप स्वीकार कर सकते **है**?

उक्त **चार पक्षों** मे से **प्रथम पक्ष** का स्वीकार आप कर नही सकते। क्योकि 'अतीतादि' अर्थो (पदार्थो) के 'लक्षक पदो' मे **व्यभिचार** होगा। कारण यह है कि 'अतीतादि पदार्थों' के **लक्षक पदो में** 'लक्षक पदत्व' रूप 'हेतु' तो रहता है, किन्तु 'लक्ष्य-कर्मक-स्फुरण' नही रहता। अत 'लक्ष्यकर्मकस्फुरण' के न रहने (अभाव) से 'तज्जन्यत्व **साध्य** भी नही रहेगा अर्थात 'साध्य' का **अभाव** रहेगा। क्योकि **'वर्तमान पदार्थ'** (वस्तु), **"क्रियाजन्य-फल' का आश्रय** होने से **कर्म** कहा जाता है। **प्रकृत प्रसंग** मे 'ज्ञा' धातु का **अर्थ** 'ज्ञानक्रिया' है। 'धात्वर्थ' को 'क्रिया' कहते है। अतीतादि—(भूतकालिक) 'अर्थ', 'ज्ञानक्रियाजन्य विषयता' (ज्ञातता) रूप फल का न 'आश्रय' होता है और न 'ज्ञान', उससे जन्य है। इसलिए **'व्यभिचार'** हो रहा है। उसी तरह **द्वितीय, तृतीय** और **चतुर्थ** कल्पो मे भी **'सिद्ध-साधनदोष'** उपस्थित होता है। क्योकि 'अनुभूति' रूप स्फुरण मे भी 'अनुभूतिविषयकत्व' रहता है। कारण यह है कि 'अनुभूतिरूप स्फुरण' (प्रकाश) भी 'अनुभूति' के व्यवहार का उत्पादक (जनक) है। इसलिये 'अनुभूति लक्षक पद' मे अर्थात् **अनुभूतिविषयकस्फुरण की जन्यता,** 'अनुभूति'-रूप लक्षक पद मे सिद्ध ही है यानी 'अनुभूतिविषयकज्ञानजन्यत्व' सिद्ध है। उसी को पुन आप साधने का प्रयत्न कर रहे है, अत **'सिद्धसाधन'** दोष है। और 'अनुभूति' तो 'स्फुरण' स्वरूप है। अत उसे **'स्फुरणमात्र'** भी कह सकते है। उस कारण अनुभूतिलक्षक 'अनुभूति' पद मे **'स्फुरणमात्रजन्यता'** भी सिद्ध है,

और उस 'अनुभूति के आकार' की **'अन्तःकरणवृत्ति'** भी होती है। अत 'लक्ष्य-विषयक-अन्त करणवृत्तिजन्यता' अनुभूति के लक्षक 'अनुभूति' पद मे सिद्ध ही है। उसी को पुन साधने का प्रयत्न करने पर **'सिद्धसाधनता'** दोष कहलायेगा।

शंका—अब आप का एक प्रश्न और शेष रह जाता है, जिसमे आपने पूछा है कि 'अनुभूति' वद के **'वाच्यार्थ'** मे **'स्वप्रकाशता** सिद्ध करना चाह रहे है ? अथवा 'अनुभूति पद के **'लक्ष्यार्थ'** मे **'स्वप्रकाशता'** सिद्ध करना चाह रहे है ?

समा०—किन्तु यह प्रश्न ही **अनुचित** है। क्योकि हम तो **'स्फुरणमात्र'** मे **स्वप्रकाशता** को सिद्ध कर रहे है, जो 'स्फुरणमात्र' **उभय वादियो** के मत मे स्वीकृत है। **अन्यथा 'अनुभूति'** मे **'वेद्यत्व'** का साधन करते समय **आपके समक्ष** भी **यही विकल्प** उपस्थित होगा, जिसे निवारण करना आपको कठिन हो जायेगा। अर्थात् 'अनुभूति' पद के 'वाच्यार्थ' मे 'वेद्यत्व' को सिद्ध करने का प्रयत्न करोगे तो सिद्धसाधन दोष होगा और 'लक्ष्यार्थ' मे 'वेद्यत्व' को सिद्ध करोगे तो आपके ही मत के अनुसार 'लक्ष्याथ' की 'असिद्धता' होगी। इसलिय 'वादी–प्रतिवादी' **दोनो को** मान्य रहने वाले 'स्फुरणमात्र' यानी **स्फुरणसामान्य** का ग्रहण करना ही उचित है। इस लिए **उसीमें** हम 'स्वप्रकाशता को सिद्ध कर रहे है।

पूर्वपक्षी—आपकी प्रक्रिया के अनुसार 'अनुभूति की **स्वप्रकाशता** के सिद्ध होने पर भी **'घटः, स्वप्रकाशः, घटत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं, यथा पटः'**—अर्थात् 'घट' स्वप्रकाश है, क्योकि वह 'घटत्व' से युक्त है, 'जो वैसा नही है, वह ऐसा नही है, जैसे 'पट'। इस **अनुमानाभास** (मिथ्यानुमान) के समान ही **आपके द्वारा** किये जाने वाले **'स्वप्रकाशत्वानुमान'** का **'हेतु'** असद्धेतु है, **'सद्धेतु'** नही है। **अतः** 'स्वप्रकाशत्वानुमान' भी अनुमानाभास ही है।

सिद्धान्ती—पूर्वपक्षी का कहना ठीक नही है, क्योकि पृथु-वर्तुलाकार उदर वाला कम्बुग्रीवादिमान् आकार (रूप) वाला और 'स्पर्श आदि गुणो वाला **'पदार्थ'** 'घट' शब्द का **'वाच्यार्थ'** होता है। अर्थात् उक्त आकृति वाला और स्पश करने योग्य पदार्थ को ही लोकव्यवहार मे 'घट' शब्द से कहा करते है। इस प्रकार के ही 'घट' शब्द के 'वाच्यार्थ' मे तो आप 'स्वप्रकाशत्व' को सिद्ध नही कर सकते। क्योकि उसको तो सभी कोई 'नेत्र' (आँख) तथा 'त्वक्' आदि इन्द्रिय से यानी **'प्रत्यक्ष' प्रमाण** से देखते है। **ऐसे 'घट'** को यदि आप **'स्वप्रकाश'** कहेगे तो 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के विरूद्ध आप कह रहे है–ऐसा सभी लोग कहेगे। क्योकि चक्षु-

रिन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय प्रमाणो से ही 'घट' (घटशब्द-वाच्यार्थरूप पदार्थ) की सिद्धि होती है। अत उसी को 'स्वयप्रकाश' कहने मे 'धर्मिसाधक प्रत्यक्ष प्रमाण', बाधक होगा।

पूर्वपक्षी -हम किसी **अलौकिक** (लोकोत्तर) 'घट' मे 'स्वप्रकाशत्व' को सिद्ध कर रहे है, जिस 'घट, का प्रत्यक्ष, लोगो को नेत्र त्वक् आदि इन्द्रियो से नही होता है।

सिद्धान्ती --यह भी आप नही कह सकते, क्योकि उस प्रकार का कोई 'अलौकिक घट' कही भी प्रसिद्ध नही है। ऐसे अलौकिक घट की **अप्रसिद्धि** के कारण 'धर्मी' (पक्ष) की ही **'असिद्धि'** हो रही है। जब **'पक्ष'** ही नही है तो **अनुमान** कहाँ करेगे। अत अलौकिक घट' मे **स्वप्रकाशत्व** के अनुमान की बात करना तो उपहासास्पद ही होगा।

इस पर आप कदाचित् यह कह दे कि तुम्हारे (वेदान्तियो के) **स्वयंप्रकाशत्व** (अवेद्यत्व) के अनुमान' मे भी **'अनुभूतित्व'** असिद्ध है। यानी 'अवेद्य अनुभूति रूप **'धर्मी'** असिद्ध है।

किन्तु यह आक्षेप करना ठीक नही होगा। क्योकि 'अनुभूति' रूप **धर्मी** के ही प्रसिद्ध न रहने पर 'वेद्यत्व', 'अवेद्यत्व' का **विवाद ही** कैसे हो पायेगा ? अर्थात् अनुभूति धर्मी की प्रसिद्धि के बिना उसके विषय मे **वादी** 'कथा' (विवाद) ही नही कर पायेगा ओर यदि 'कथा' (विवाद) करता है तो 'अनुभूति को **'अप्रसिद्ध'** नही कह सकते। एवच 'अनुभूति' को **अप्रसिद्ध** मत कहिये।

यह जो **पूर्वपक्षी** ने कहा था कि 'स्वप्रकाश अनुभूति' की प्रसिद्धि के लिये प्रमाण के सद्भाव मे 'वेद्यत्व' प्राप्त होने से 'अस्वप्रकाशत्व' प्राप्त होता है, और प्रमाण के असद्भाव मे 'धर्मी' की असिद्धि प्राप्त होती है। अत **वेदान्तियों** के लिये 'उभयत पाशारज्जु' है।

उस पर **वेदान्ती** का कहना है कि हम वेदान्तियो के लिये उस प्रकार से 'उभयत पाशारज्जु' नही कह सकते। क्योकि 'प्रमाण-जन्य स्फुरण' (प्रकाश, ज्ञानना, वेदना) की 'आश्रयता' अथवा 'स्फुरण' (ज्ञान) की **कर्मता** (ज्ञानजन्य-फल की आश्रयता) 'घट आदि मे रहती है। उस कारण 'घटादि' मे जैसी 'विषयता' मानी जाती है, वैसी **'विषयता,** का यानी 'ज्ञानजन्य विषयता' का **'अनुभूति'** मे अभाव रहने पर भी और **'प्रमाणजन्य अन्त.करणवृत्ति'** की

विषयता (व्याप्तता) अर्थात् 'वृत्तिविषयता' को मान लेने पर भी उसकी **'स्वयं-प्रकाशता'** मे कोई हानि नही पहुँच रही है और 'प्रमाणजन्य अन्त करणवृत्ति' की व्याप्यता (विषयता) उसमे (अनुभूति मे) रहने के कारण ही **स्फुरण** (फल, ज्ञान यानी वृत्तिगत चिदाभास) की **विषयता** न रहने मात्र से **'अनुभूति'** मे अप्रामाणिकता भी प्राप्त नही हो रही है क्योकि **'व्यतिरेकव्यभिचार'** यानी 'केवल व्यतिरेक' का अभाव है। **अभिप्राय** यह है कि किसी भी 'कार्य-कारण-भाव' का ज्ञान **'अन्वय-व्यतिरेक'** से हुआ करता है। ऐसी स्थिति मे **'फलव्याप्यता'** और **'प्रामाणिकता'** मे यदि कार्य-कारणभाव देखना हो तो **'अन्वय-व्यतिरेक'** के द्वारा ही देखना चाहिये। जैसे— **'यत्र यत्र फलव्याप्यत्वं, तत्र-तत्र प्रामाणिकत्वम्'**— जहा-जहाँ फलव्यप्यता रहगी, वहाँ वहाँ प्रामाणिकना भी रहेगी —इस प्रकार का **'अन्वय'** तो है, किन्तु **'यत्र-यत्र फलव्याप्यत्वाऽभावः तत्र-तत्र प्रामाणिकत्वाऽभावः'**—जहाँ-जहाँ फलव्याप्त्व नही रहेगा, वहाँ वहाँ प्रमाणिकत्व भी नही रहेगा—इस प्रकार का **'व्यतिरेक'** (अभाव) नही घट रहा है। अर्थात् **फलव्याप्यता** और **प्रामाणिकता** का अन्वय तो घटित हो रहा है, किन्तु **व्यतिरेक** नही घट रहा है। यदि **'फलव्याप्यता'** पौर **'प्रामाणिकता'** का 'कार्यकारणभाव' निश्चित होता तो **'अनुभूति'** मे **'फलव्याप्यता'** के अभाव मे अर्थात फलव्याप्यता के न रहने पर **'प्रामाणिकता'** का भी अभाव रहता, यानी प्रामाणिकता भी न रहती। अत उन दोनो का **कार्य-कारणभाव** नही है। 'व्यतिरेक' के न घटने का कारण यह है कि **भाट्टमीमांसक,** 'भूत-भावी पदार्थों' मे 'फलव्याप्यता' के बिना भी केवल वृत्तिव्याप्यता के न रहने मात्र से ही प्रामाणिकता मानते है। उक्त वृत्ति के विषय होने वाले **भूत भावीपदार्थ,** जो स्फुरण (प्राकट्य-ज्ञातता) से रहित है, उनकी **'प्रामाणिकता'** भाट्टमीमासक मानते है। उसी तरह **'अनुभूति'** मे भी 'वृत्तिविषयता, होने के कारण 'प्रामाणिकता' रहती है। अत वृत्ति का विषय बनने पर भी 'अनुभूति' के 'स्वयप्रकाश' सिद्ध होने मे कोई बाधा नही हो रही है। **निष्कर्ष** यह है कि **'स्वयं प्रकाशता'** का अर्थ यह नही है कि 'किसी प्रमाण का विषय न होना', **अपितु** अपने अपरोक्ष व्यवहार मे दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न करना ही **'स्वयं प्रकाशता'** है। यह 'स्वय प्रकाशता', हमारी 'अनुभूति' मे निर्बाध विद्यमान है। यही कारण है कि 'चेष्टादिहेतुक अनुमान' का विषय होने वाला **दूसरे व्यक्ति** (पर पुरुष) का 'ज्ञान' भी, अपने आधार (आश्रय) मे (पर-पुरुष मे) स्व-विषयक प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) व्यवहार की उत्पत्ति के लिए ज्ञानान्तर (दूसरे ज्ञान) अर्थात् प्रकाशान्तर की अपेक्षा नही

करता है। अतएव 'स्वप्रकाश कहलाता है। इस प्रकार की 'स्व–प्रकाशता', अनुमान का विषय होने वाली 'अनुभूति' मे है ही। क्योकि **'अनुभूति'** भी अपने आश्रय मे **प्रमाणान्तर** की अपेक्षा नही रखती, निरपेक्ष रहकर ही 'स्व-विषयक अपरोक्ष व्यवहार' का हेतु (कारण) होती है।

पूर्वपक्षी यह भी नही कह सकता कि **'अनुभूतिः अस्वप्रकाशा, प्रामाणिकत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथा भूतादिकम्'**। क्योकि यहाँ प्रयुक्त किये गये **'हेतु'** मे 'केवल व्यतिरेक' का अभाव है।

उपर्युक्त रीति से **'अनुभूति'** की 'स्वप्रकाशता' का केवल–व्यतिरेकी अनुमान के द्वारा वताया गया है। उसी तरह 'अन्वय–व्यतिरेकी अनुमान' से भी **'अनुभूति'** की 'स्वप्रकाशता' को सिद्ध किया जा सकता है।

जैसे—**'त्वज्ज्ञान तव अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वविशिष्टवेद्यत्ववत् न भवति, ज्ञानत्वात्, मदीयज्ञानवत्'** अर्थात् तुम्हारा ज्ञान तुम्हारे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) व्यवहार की योग्यता के सहित वेद्य (वेद्यत्व) विशिष्ट–नही होना है, क्योकि 'ज्ञानत्वविशिष्ट' है जैसा हमारा ज्ञान है। यहाँ 'प्रकाशरूप ज्ञान' मे 'अपरोक्ष–व्यवहार–योग्यताविशिष्ट–अवेद्यत्व (वेद्यत्वाऽभाव) तभी हो सकेगा, जब कि वह 'स्वप्रकाश' रहेगा, अन्यथा नही हो सकता। वह 'स्वप्रकाशत्व' तो प्रतिवादी के अपरोक्ष 'व्यवहार की योग्यताविशिष्ट वेद्यत्वाऽभाव', वादी के ज्ञान मे भी विद्यमान है, और 'ज्ञानत्व' हेतु की स्थिति, 'पक्ष' और 'दृष्टान्त' मे भी है। इस कारण **'अन्वयी हेतु',** 'स्वप्रकाशत्व' का साधक होना है–यह स्पष्ट है।

शंका—उपर्युक्त अनुमान मे **'मदसमवेतत्व'** अथवा **'मदन्यसमवेतत्व'** **उपाधि** है तब 'हेतु' के सोपाधिक रहने से वह (हेतु), साध्य का साधक कैसे हो सकेगा ?

समा० —**प्रतिवादी** की उक्त शका, उचित नही है, क्योकि **'उपाधि'** वही बन पाता है, जो 'साध्य' का **व्यापक** हो और 'साधन' का **अव्यापक** हो। ऐसी स्थिति मे 'मदसमवेतत्व' या 'मदन्यसमवेतत्व' को उपाधि नही कह सकते, क्योकि उसमे अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वयुक्त वेद्यत्वाभावरूप 'साध्य' की व्यापकता नही है, और 'ज्ञानत्वरुप साधन' की अव्यापकता भी नही है। अर्थात् प्रतिवादी के 'आत्मा' मे समवेत 'धर्मादि' मे उक्त 'प्रत्यक्षव्यवहारयोग्यत्वयुक्त वेद्यत्वाभाव' रूप 'साध्य' है और उक्त 'असमवेत रूप उपाधि नही है तथा **प्रतिवादी** के आत्मा मे असमवेत परमाणुओ मे उक्त 'वेद्यत्वाभाव' रूप साध्य है, किन्तु 'मदन्यसमवेतत्व' रूप

उपाधि नही है। क्योकि **'परमाणु'**, किसी मे समवेत नही होता है। **'कार्य'** तो अपने कारण मे समवेत होता है।

यदि यह कहा जाय कि **'मम अपरोक्षव्यवहाराऽयोग्यत्व'**—अर्थात् मेरे अपरोक्षव्यवहार की अयोग्यता—**उक्त अनुमान** मे 'उपाधि' है।

किन्तु इसे भी यहाँ पर उपाधि नही सिद्ध कर सकते। क्योकि 'उपाधि'-प्रदर्शन का प्रयोजन यही होता है कि **'पक्ष'** मे 'साध्य के व्यापक' 'उपाधि' के अभाव से (उपाधि के न रहने पर) 'साध्य' के अभाव की अनुमिति करा देना। अर्थात् 'साध्याभाव को 'हेतु' के स्थान मे प्रदर्शितकर 'हेतु' को व्यभिचारी सिद्ध कर देना। एव च 'उपाधि' के व्यतिरेक (अभाव) से 'साध्य' के व्यतिरेक (अभाव) को **अनुमान** से जाना जाता है। यदि **'व्यतिरेकानुमान'** ही सोपाधिक हो तो प्रथम अनुमान का 'हेतु' व्यभिचारी नही हो पाता। अर्थात् **'साध्याभाव'** रूप 'हेतु' मे 'उपाधि' के लगजाने से **'उपाध्यभाव' रूप** 'हेतु', **व्याप्यत्वाऽसिद्ध** होता है। इस कारण वह 'साध्याभाव' का अनुमान नही करा सकता। तब **प्रथम अनुमान** के 'हेतु' की व्यभिचारिता सिद्ध नही होती।

उसी तरह **'मम अपरोक्षव्यवहाराऽयोग्यत्व'** को भी 'उपाधि' नही कह सकते। क्योकि **'मम अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** के कारण 'यह ज्ञान', **'मम अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वविशिष्टवेद्यत्व'** से युक्त है, घट के समान। अर्थात् मेरे अपरोक्षव्यवहारयोग्य होने पर अवेद्य नही है। **'ममाऽपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वात्, इदं ममाऽपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति अवेद्यं न भवति, घटवत्'**। इस व्यतिरेक (उपाधि के अभाव से साध्याभाव) के अनुमान मे **'ज्ञानेतरत्व'** (ज्ञान-भिन्नत्व) ही उपाधि हो जाता है। इस कारण **'हेतु'** व्यभिचारी हो जाता है। क्योकि उक्त **'साध्य'** जहाँ (घट आदि मे) है, वहाँ **'ज्ञानेतरत्व'** है, और **'अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व'** रूप हेतु, जहाँ (ज्ञान मे) है, वहाँ **'ज्ञानेतरत्व'** नही है। इस कारण **'ज्ञानेतरत्व'** को 'उपाधि' कहा जा सकता है।

इसी प्रकार अन्य और भी अनुमान किये जा सकते है, जिनसे 'स्वप्रकाशत्व' की सिद्धि हो जाती है। जैसे—**'विवादास्पदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वात्, घटज्ञानवत्'**—अर्थात् विवादास्पद (विवाद के विषय) ज्ञान, घटज्ञानभेदविशिष्ट (घट ज्ञान से अन्यत्व युक्त) वेद्यत्व के अनधिकरण है, क्योकि वे, 'ज्ञानत्व' से युक्त हैं (उनमे ज्ञानत्व है), 'घटज्ञान' के समान। यहाँ पर 'घटज्ञान' रूप **दृष्टान्त** मे **घटज्ञानभेद** (घटज्ञान से अन्यत्व)

रूप, 'विशेषण' के अभाव से विविष्ट 'वेद्यत्व' का **अभाव** रूप 'साध्य' प्रसिद्ध है, **और** अन्यत्र **'स्वप्रकाशत्व'** से 'साध्य' सिद्ध है, अर्थात् 'वेद्यत्वाभाव' से 'स्वप्रकाशत्व' सिद्ध होता है। एवञ्च **'ज्ञानत्व'** हेतु से 'स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है।

इस **अनुमान** में कदाचित् कोई **'घटज्ञानत्व'** को 'उपाधि' के रूप में बता सकता है। क्योंकि **'घटज्ञानान्यत्वयुक्त-वेद्यत्वानधिकरणत्वरूप** 'साध्य' का व्यापक **'घटज्ञानत्व'** है, और वह **'ज्ञानत्व' रूप** 'साधन' (हेतु) का **अव्यापक** भी है। अतः यहाँ पर **'घटज्ञानत्व'** उपाधि है।

किन्तु **यह कथन** ठीक नहीं है। क्योंकि **'शरीरिजन्यत्व'** उपाधि में 'शरीरि-विशेषण' के समान, उक्त 'उपाधि' में भी **'घट-विशेषण'** भी व्यर्थ है। कहने का **अभिप्राय** यह है कि **नैयायिक विद्वान्** ईश्वर की सिद्धि करने के लिये अनुमान करते हैं—**'क्षित्यादिकं, सकर्तृकं, कार्यत्वाद् घटवत्'**। इस अनुमान में पूर्वपक्षी **'शरीरिजन्यत्व'** को उपाधि के रूप में उपस्थित करता है। क्योंकि प्रसिद्ध **सकर्तृकत्व** (कर्तृजन्यत्व) रूप 'साध्य' का व्यापक **'शरीरिजन्यत्व'** है और वही, **'कार्यत्व'** रूप साधन (हेतु) का **अव्यापक** भी है। अतः **उक्त अनुमान** में **'शरीरिजन्यत्व'** उपाधि है।

उस पर **नैयायिक विद्वान्** कहते हैं कि आपकी प्रदर्शित की हुई **'उपाधि'** में **'शरीरी'** विशेषण व्यर्थ है। अर्थात् केवल **'जन्यत्व'** ही **'कर्तृजन्यत्व** रूप, साध्य' का व्यापक है, 'शरीरिजन्यत्व' नहीं। इसलिये **'शरीरी'** विशेषण लगाना व्यर्थ है। अतः यह 'विशिष्ट उपाधि', 'पक्षमात्र' का व्यावर्तक नहीं हो सकता। उसी प्रकार **'ज्ञानत्व'** मात्र से ही 'ज्ञानभिन्न' की व्यावृत्ति हो सकती है। **'घट' विशेषण,** व्यर्थ है। इसलिये 'घटज्ञानत्व' को 'साध्य' का व्यापक नहीं कह सकते। किञ्च 'घट' पद, घटज्ञानभिन्न-ज्ञान रूप 'पक्ष' का व्यावर्तक है, उस कारण **'घटज्ञानत्व'** को 'पक्ष' से इतर (भिन्न) ही कहना चाहिये। अर्थात् वह (घटज्ञानत्व) **'पक्षेतरत्व'** रूप ही है। उसे **'उपाधि'** नहीं कह सकते।

और विशेषण से रहित होने पर **'साधन'** (हेतु) का भी **'समव्यापक'** (अभिन्न) हो जाता है। अतः यहाँ पर 'उपाधि' नहीं है। इसलिये **'अनुभूति'** के 'स्वप्रकाशत्व का अनुमान समस्त कलङ्क (दोष) से शून्य है, यानी निर्दुष्ट **अनुमान** है। इस दोषरहित अनुमानप्रमाण से ही ज्ञानस्वरूप आत्मा **की** स्वप्रकाशता भी सिद्ध हो रही है, तथा **'चिद्रूपत्व' 'अकर्मत्व',** और **'स्वयंज्योतिश्श्रुति'** इन तीन हेतुओं के आधार पर भी 'ज्ञानरूप आत्मा' की

'स्वयप्रकाशना' अकाट्यरूप से सिद्ध होती है। अर्थात् उसका खण्डन, कोई भी नही कर सकता। उक्त तीन हेतुओ का सग्राहक एक पद्य भी प्रसिद्ध है—

'चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयं-ज्योतिरितिश्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः ॥'

प्रभाकर मीमांसक को लक्ष्य करके एक अनुमान प्रयोग किया गया है, जिससे **'आत्मा'** की **'संविद्रूपता'** (ज्ञानरूपता) सिद्ध की गई है। जैसे— **'आत्मा संविद्रूपः संवित्कर्मतामन्तरेण अपरोक्षत्वात् संवेदनवत्'**— अर्थात् 'आत्मा', सविद्रूप (ज्ञानरूप) हे, 'सवित्' की 'कर्मता' प्राप्त किये बिना ही 'अपरोक्ष' होने से, 'सवेदन' (ज्ञान) के समान।

उसी प्रकार **नैयायिक** को लक्ष्य करके भी एक अनुमान किया गया हे, जिससे 'ज्ञानरूप आत्मा' की 'चिद्रूपता' को सिद्ध किया गया हे। क्योकि सवितकर्मता के बिना 'अपरोक्षत्व' (अपरोक्षव्यवहारविषयत्व) 'चिद् (ज्ञान) रूपता' से ही हो सकता है। जैसे—**'घट-तज्ज्ञानयो॰ सम्बन्ध॰ आत्मनिष्ठः, ज्ञाननिष्ठत्वात्, पदविषयत्ववत्'**—अर्थात् 'घट' और उसके 'ज्ञान' का सम्बन्ध, आत्मवृत्ति हे, ज्ञानवृत्ति होने से, 'पदविषयता' के समान—इस अनुमान से **आत्मा** की 'चिद्-रूपता' सिद्ध होती है। क्योकि **विपक्ष** (आत्मा के ज्ञानरूपत्वाऽभावपक्ष) मे 'आत्मविषयक सशय, विपर्यय', का अभाव (सशय—विपर्ययादिविषयता का अभाव) बाधक है। **अभिप्राय** यह है कि यदि 'आत्मा' को **ज्ञानरूप** न माना जाय तो 'आत्मा' के विषय मे 'सशय—विपर्यय' आदि होने चाहिये, किन्तु **'अहं वा, अनह वा'**—ऐसा सशय (सन्देह) और 'नैव अहम्' ऐसा विपर्य (अपने अभाव का निश्चयरूप भ्रम) अपने आत्मा के प्रति किसी को नही होता है। एव च इस प्रकार 'सशय—विपर्यय' आदि का न होना तभी उपपन्न होगा कि जब **'आत्मा'** को स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप' माना जायगा। अन्यथा नही।

शंका—जिस प्रकार सुख-दु ख आदि के होने पर उनका ज्ञान अवश्य होता हे। 'सुख-दु ख' आदि पदार्थ, ज्ञानस्वरूप न रहने पर भी उनके विषय मे कभी किसी को सशय', या विपर्यय नही होते है, उसी प्रकार 'आत्मा' के विषय मे भी 'सशय-विपर्ययादि' नही होगे। उसके प्रति सशयादि न होने के लिये उसे (आत्मा को) **ज्ञानस्वरूप** मानना उचित नही है।

समा०—उक्त **शंका ठीक नहीं है,** क्योकि 'सुख-दु ख' आदि पदार्थों की सत्ता के समय, **'अन्तःकरणवृत्तिरूप'** जो 'अनित्यज्ञान' (जन्यज्ञान) है, अथवा

नैयायिक के अनुसार **आत्मनिष्ठ** जो **अनित्यज्ञान** (जन्यज्ञान है, उसका **अव्यभिचार** (सत्त्व) रहता है, अर्थात् व्यभिचार नही रहता। इसलिये सुखादि के प्रति सशयादि नही हुआ करते।

किन्तु **'आत्मा'** मे 'सुख-दु खादि' के समान 'आत्मा' की सत्ता के काल मे 'अनित्यज्ञान' (जन्यज्ञान) का अव्यभिचार (सत्त्व) नही माना जा सकता। **अन्यथा** 'सुषुप्ति' का ही अभाव हो जायगा। क्योकि **नैयायिक लोग** आत्मनिष्ठ (आत्म-वृत्ति) जन्यज्ञान (अनित्यज्ञान) के उपरम (निवृत्ति) को ही **'सुषुप्ति'** कहते है। यदि 'आत्मा' को सर्वदा ही 'जन्यज्ञान' से युक्त मानेगे तो 'सुपुप्ति' कैसे हो सकेगी ? इसलिये 'आत्मा' के विषय मे किसी को 'सशय' आदि न हो पाने से 'आत्मा' की ज्ञानस्वरूपता निर्बाध सिद्ध हो रही है।

शंका—'ज्ञान और आत्मा' का सम्बन्ध **आत्मवृत्ति** नही है अर्थात् अनात्म (आत्मभिन्न) वृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से, जैसे सत्ता—यह सत्प्रतिपक्ष दोष होगा।

समा०—यह 'सत्प्रतिपक्ष' की शका नही करनी चाहिये। क्योकि 'ज्ञान' ही **आत्मा** है—यह सिद्धान्त जिनका हे, उनके मत मे 'ज्ञान' और 'आत्मा' के सम्बन्ध का ही अभाव है। उस कारण 'आश्रयाऽसिद्धि' दोष है। अर्थात् आश्रयासिद्धि दोष से दूषित यह प्रतिपक्ष है।

शका—'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते (बृ दा उ ४। ३। २३) अर्थात् द्रष्टा (आत्मा) की दृष्टि (ज्ञान) का विपरिलोप (अभाव) कभी नही होता है—इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाली श्रुति से द्रष्टा (आत्मा) और दृष्टि (ज्ञान) का सम्बन्ध प्रतीत होता है, इस प्रकार **'मानमनोहरकार'** ने 'ज्ञान' और 'आत्मा' का सम्बन्ध बताया हे। तब आप उनके श्रुतिसिद्ध सम्बन्ध का आभाव कैसे बता रहे है ?

समा०—आपकी यह आशका उचित नही है, क्योकि श्रुति का अभिप्राय, सम्बन्धप्रतिपादन मे नही है। वह तो केवल लोकप्रसिद्ध सम्बन्ध का अनुबाद कर रही है। अनुवाद के माध्यम से दृष्टि (ज्ञान) के विनाशित्वाऽभाव को बताने मे उसका तात्पर्य है। क्योकि "अप्राप्ते शास्त्रम् अर्थवत्" अज्ञान अर्थ के विधान करने मे,शास्त्र प्रमाण होता है-(शास्त्र अर्थवत् यानी सार्थक (सफल) होता हे) यह न्याय, प्रसिद्ध है। अत 'सम्बन्ध' के विधान करने मे श्रुति का तात्पर्य नही हे, यह स्पष्ट होता हे। उक्त श्रुति के वास्तविक (अभिधा शक्ति से प्रतिपादित) सम्बन्धरूप मुख्य अर्थ को यदि मानते है, तो अद्वैतबोधक श्रुति के साथ विरोध होता हे। किन्तु

विरोध होना तो उचित नही है। क्योकि 'राहो शिर' के समान कल्पित भेद (उपचार) के द्वारा भी सम्बन्धबोधक श्रुति की प्रवृत्ति का समर्थन किया जा सकता है। अत उपर्युक्त शका उचित नही है।

शंका—'सम्बन्धबोधक श्रुति और अद्वैतात्मबोधक श्रुति' ये दोनो श्रुतियाँ तुल्यबल (तुल्यप्रमाण) है। अत पूर्वोक्त बाध्य-बाधक-भाव को विपरीत (उलटा) ही क्यो न मान लिया जाय ? अभिप्राय यह है कि 'अद्वैतश्रुति' को गौणार्थक और 'सम्बन्धबोधक श्रुति' को मुख्यार्थक मान ले—यह नही हो सकता। क्योकि तत्परत्व (स्वार्थपरत्व) और अतत्परत्व (स्वार्थपरत्वाभाव) के कारण दोनो मे विशेष (भेद) की उपपत्ति हो जाती है। अत दोनो मे तुल्यबलता बताना उचित नही है। निष्कर्ष यह है कि सबन्ध-श्रुति और अद्वैतश्रुति दोनो की समानबलता को समझकर विपरीत बाध्य-बाधकभाव की कल्पना करना ठीक नही होगा, क्योकि 'अद्वैतश्रुति, अद्वैतपरक रहने से प्रबल है और 'सबन्धश्रुति' सम्बन्धपरक न होने से दुर्बल है। अत दोनो की तुल्यबलता नही है। एव च तुल्यबलता के आधार पर विपरीत बाध्य-बाधक भाव की कल्पना करना उचित नही है।

किच—उपक्रमोपसहारादि षड्विध (छहप्रकार के) तात्पर्यग्राहक लिङ्गो से युक्त अद्वैतश्रुति की अद्वैतपरता निश्चित हो जाती है और 'सबन्धबोधकश्रुति' तो उपक्रमोपसहारादिषड्विधतात्पर्यग्राहक लिगो से युक्त नही है। अत 'सम्बन्धबोधकश्रुति' की 'अतत्परता' का ज्ञान हो जाता है। वह तो केवल 'लोकप्रवाद' पर आधारित है। ऐसी स्थिति मे तात्पर्य लिगो से विशिष्ट हुई 'अद्वैतपरकश्रुति', लोकप्रसिद्ध सबन्ध (लोकप्रवाद) का अनुवाद करनेवाली 'सम्बन्धबोधकश्रुति' का बाध क्यो नही करेगी ? एवच अद्वैतश्रुति उक्त कारणो से प्रबल है। इसलिये वही, दुर्बल रहनेवाली सम्बन्धबोधकश्रुति का बाध करेगी। अत विपरीत बाध्य-बाधक भाव की कल्पना करना असगत होगा। इस रीति से दोनो षष्ठी विभक्तियो के वैयधिकरण्य को मानकर भी सम्बन्धश्रुति की दुर्बलता दूर नही हो सकी।

अब हम यह बताना चाह रहे है कि दोनो षष्ठियों का वैयधिकरण्य ही नही है। दोनो के सामानाधिकरण्य से भी हम अपनी बात को सिद्ध कर सकते है। इसी बात को उदाहरण देकर बता रहे है। जैसे 'देवदत्तस्य गन्तु धनम्' अर्थात् जानेवाले देवदत्त का धन है। यहाँ समानाधिकरण (अभेदार्थक) षष्ठी विभक्ति की तरह 'द्रष्टु द्रष्टे' इस श्रुति मे भी 'द्रष्टारूप' जो 'दृष्टि' अथवा 'दृष्टिरूप' जो द्रष्टा, उसका विपरिलोप नही होता है। इस पद्धति से दोनो षष्ठी विभक्तियो का

अन्वय सामानाधिकरण्य (अभेदार्थक षष्ठी) से भी हो जाता है। तब 'द्रष्टा की दृष्टि'—इस प्रकार की व्यधिकरणता (भेदनिमित्त सम्बन्ध की) कल्पना करना निरर्थक है।

किञ्च—'न दृष्टेः द्रष्टारं पश्ये.'—(बृह उप ३।४।२) अर्थात् 'दृष्टि' के 'द्रष्टा' को तुम नहीं देख सकते—इस श्रुतिवाक्य में जैसा **वैयधिकरण्येन** (व्यधिकरण) अन्वय किया गया है, वैसे ही **प्रकृत** में भी व्यधिकरणता (भेद) अभीष्ट हो तो 'अन्त करण' के परिणामरूप 'दृष्टि' (ज्ञान) का जो 'द्रष्टा', **अथवा** 'परिणामी-अन्त करणरूप 'द्रष्टा' की साक्षीरूप जो दृष्टि, **उसका** 'विपरिलोप' (नाश) नही होता है। इस प्रकार **अद्वैतश्रुति के अविरोधी** (अनुकूल) सम्बन्ध (अन्वय) के सम्भव रहते **'गुण-गुणिभाव'** से सम्बन्ध की कल्पना करना, तो मीमासाशास्त्र की अनभिज्ञता का परिचय देना ही कहलायगा। अर्थात् अनधीतमीमासाशास्त्र-वाले व्यक्ति को ही ऐसी कल्पना करना शोभादायक होगा।

किञ्च—जीव ओर **ईश्वर** के **भेद** को मानने वाला व्यक्ति, किसके नित्यदृष्टि-रूप सम्बन्ध को कह रहा है ? इसपर भी विचार करना होगा। भेदवादी व्यक्ति 'जीव' के 'नित्य दृष्टिरूप सम्बन्ध' को तो कह नही सकता, क्योकि 'जीव' का 'ज्ञान' तो 'अनित्य' है। ईश्वर की नित्यदृष्टि के सम्बन्ध को भी वह नही कह सकता, क्योकि ईश्वर का प्रकरण ही प्रस्तुत नही है। प्रस्तुत प्रसग तो यह चल-रहा है कि **'मैत्रेयी ब्राह्मण'** (बृह उप अध्याय २।४।५) मे **"नवा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति"**—अरी मैत्रेयी ! 'पति' के प्रयोजन के लिये 'पति' प्रिय नही होता है, आत्मा के अपने ही प्रयोजन के लिये 'पति' प्रिय होता है। 'स्त्री' के प्रयोजन के लिये 'स्त्री' प्रिय नही होती, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'स्त्री' प्रिय होती है। 'पुत्रो' के प्रयोजन के लिये 'पुत्र' प्रिय नही होते, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'पुत्र' प्रिय होते है। 'धन' के प्रयोजन के लिये 'धन' प्रिय नही होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'धन' प्रिय होता है। 'ब्राह्मण' के प्रयोजन के लिये 'ब्राह्मण' प्रिय नही होता, किन्तु अपने ही प्रयोजन के लिये 'ब्राह्मण' प्रिय होता है,—इत्यादि वाक्यो के द्वारा पति, जाया आदि के 'प्रियत्व'-प्रतिपादन से ज्ञापित (बोधित) जीवात्मा को बताने का उपक्रम (आरम्भ) करके **"एतेभ्यो भूतेभ्य. समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति"**–(बृ उ. ४।५।१३) अर्थात् यह जीव इन भूतो से पृथक् होकर (उत्थित होकर) उन भूतो के नष्ट होते ही स्वय नष्ट हो जाता है, यानी अपने औपाधिक रूपविशेष को

त्याग देता है। मरने पर (मोक्ष दशा मे) 'विशेषज्ञान' नही रहता है। इस प्रकार से एक अवस्थान्तर को बताया जा रहा है। इसी प्रसग मे उस जीवात्मा के विनाश की आशका करके उसके **विनाशाभाव** को बताया जा रहा है—**"अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति। यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्"** इति। अर्थात् अरी मैत्रेयी! यह आत्मा अविनाशी है, यानी नाशरूप धर्म से रहित है, किन्तु मोक्ष की अवस्था मे विषयादिरूप मात्राओ (भूतो) से इसका कोई सम्बन्ध नही है। तू जो यह समझ रही है कि वह देखता नहीं है, उसका तात्पर्य यह है कि वह साक्षात् स्वरूप मे देखता हुआ भी विशेष रूप से नही देखता है—इत्यादि वाक्यो से उस जीवात्मा की अविनाशिता को ही बताया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यह ईश्वर का प्रकरण नही है। उसी तरह **ज्योतिर्ब्राह्मण** मे जाग्रत् आदि अवस्थाओ का निरूपण करते हुए **"अथ यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति"**—अर्थात् जिस स्वरूप मे सोया हुआ जीवात्मा, किसी भोग को नही चाहता है, न किसी स्वप्न को देखता है—इस प्रकार से सुषुप्ति अवस्था (सम्प्रसाद का अवस्थान) का प्रसग (अन्तरण) उठाकर **"यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"** इस वाक्य से सुषुप्ति की दशा मे 'विशेषज्ञान' का अभाव रहने पर भी 'स्वरूपज्ञान' की नित्यता बताई गई है।

ईश्वरपक्ष मे—उसको विशेष ज्ञान नही है, यह कहना ही अनुचित होगा, क्योकि ईश्वर की सर्वज्ञता तो सर्वदा ही रहती है, और 'सुषुप्ति' आदि अवस्थाओ का भी उसमे अभाव है, अर्थात् इन सब अवस्थाओ से वह परे है। इसलिये 'ज्ञान और आत्मा' का सम्बन्ध 'अनात्मनिष्ठ' (अनात्मवृत्ति) है, यह अनुमान, **आश्रयाऽसिद्धि** दोष से दूषित है यह निश्चित होता है।

यह जो आशका की गई थी कि **'ज्ञानम् आत्मा न भवति, गुणत्वात् रूपवत्'**, तथा **'ज्ञानम् आत्मा न भवति अनित्यत्वात्'**—इत्यादि अनुमानप्रयोगो के विरुद्ध होने से 'आत्मा' को 'ज्ञानात्मक' (ज्ञानरूप) कैसे कहा जायगा? अर्थात् 'गुणत्व' और 'अनित्यत्व' हेतु के आधार पर 'रूप' आदि के समान 'ज्ञानरूपगुण को 'आत्मा' नही कह सकते। यानी 'आत्मा' को 'ज्ञानरूप' नही कह सकते।

किन्तु जिस 'ज्ञान' को नित्य आत्मस्वरूप माना जाता है, उसे गुण या अनित्य कैसे कहा जायगा? अत 'गुणत्व' हेतु, वादी-प्रतिवादी दोनो मे से अन्यतर के

(वेदान्ती के) मत मे 'असिद्ध' है। इसकारण वह अनुमान परास्त (खण्डित) हो जाता है।

शंका—पूर्वपक्षी, 'ज्ञान' मे 'गुणत्व' की सिद्धि करने के लिये एक अनुमान-प्रयोग के द्वारा 'ज्ञान' मे गुणत्व' की आशका उपस्थित करता है। तथाहि—**'घट-तज्ज्ञानयो. सम्बन्धः गुणनिष्ठः, ज्ञाननिष्ठत्वात्, सत्तावत्, विपक्षे च जानामि इति प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वप्रसंगो बाधकः'**। अर्थात् 'घट' और उसके 'ज्ञान' का सम्बन्ध गुणनिष्ठ (गुणवृत्ति) है, क्योकि वह (सम्बन्ध) ज्ञाननिष्ठ (ज्ञानवृत्ति) है, जैसे 'सत्ता' जाति। यानी 'सत्ताजाति' जैसे 'गुणवृत्ति' है, वैसे ही यह सम्बन्ध भी है। इसलिये 'ज्ञान' को 'आत्मा' का गुण क्यो नही स्वीकार करते ? एव च 'ज्ञान', 'आत्मा' का गुण है। 'ज्ञान' ही आत्मा नही है। अर्थात् 'ज्ञान' को ही आत्मा कहना ठीक नही है। यदि आप के ही पक्ष (विपक्ष=विरुद्धपक्ष) को स्वीकार किया जाय, अर्थात् 'ज्ञान' को आत्मा का गुण न मानकर उसे 'ज्ञानस्वरूप ही माना जाय तो **'अहं जानामि'**–मै जानता हूँ—इस प्रकार की 'आत्मा' मे 'ज्ञानाश्रयताविषयिणी जो प्रतीति' होती है, उसे 'निरालम्ब' (निरालम्ब–आश्रय-रहित) ही कहना होगा। अर्थात् उक्त प्रतीति को निर्विषय ही कहना पडेगा। एव च 'आत्मा' को ज्ञानस्वरूप मानने मे उक्त प्रतीति को निरालम्बनता का प्रसग ही बाधक हो रहा है।

समा०—उपर्युक्त शका उचित प्रतीत नही हो रही है। क्योकि **'रूप-तज्ज्ञानयोः सम्बन्धो द्रव्यनिष्ठः ज्ञाननिष्ठत्वात्, सत्तावत्'** अर्थात् 'रूप' और उसके 'ज्ञान' का सम्बन्ध, द्रव्यनिष्ठ (द्रव्यवृत्ति) है। क्योकि वह 'ज्ञाननिष्ठ' (ज्ञान-वृत्ति) है, जैसे—'सत्ता', ज्ञाननिष्ठ (ज्ञानवृत्ति) है, वैसे ही यह 'सम्बन्ध' भी **'ज्ञानवृत्ति' है**,—यह **प्रतिप्रयोग** (सत्प्रतिपक्ष) किया जासकता है। अत **'ज्ञान'** मे **आत्म** (द्रव्य) रूपता ही सिद्ध होती है, **'गुणरूपता'** नही।

अब रही **'अहं जानामि'**—मै जानता हूँ–इस 'अनुभव' (ज्ञान) की उपपत्ति। तो वह भी, **'अन्तःकरण' के 'वृत्ति रूप ज्ञान'** की 'प्रमातृनिष्ठ आश्रयता' को **विषय कर लेने से** हो जाती है। तथा **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "प्रज्ञान ब्रह्म", "ज्ञानघन एव"**—विशुद्धविज्ञानस्वरूप–आनन्दरूप ब्रह्म है, **प्रकृष्ट ज्ञानरूप** ब्रह्म है, अखण्ड ज्ञानस्वरूप ही ब्रह्म है –इत्यादि श्रुतिवाक्यो से भी **'आत्मा** की 'चिद्-रूपता सिद्ध होती है।

शंका—पूर्वपक्षी कह रहा है कि **'विज्ञप्ति**—विज्ञानम्, **प्रज्ञप्तिः** =

प्रज्ञानम्'—यह **विग्रह** (विवरण) नही है, जिस निरूक्ति के बलपर उक्त श्रुति-वाक्यो से **'आत्मा'** को **चिद्रूप** (ज्ञानरूप) सिद्ध कर रहे हो। **अपितु** 'विज्ञप्ति, प्रज्ञप्ति विद्यते यस्मिन् तद् विज्ञानम् तत-प्रज्ञानम् ब्रह्म' ऐसी **अधिकारणार्थक** (ज्ञानाश्रयार्थक) निरुक्ति से **'विज्ञान', 'प्रज्ञान'** शब्द **'ब्रह्म'** को बता रहे हे। अत **'विज्ञानब्रह्म'** का अर्थ **'ज्ञानाधिकरण' ब्रह्म** है। एवच ये श्रुति वचन **'आत्मा'** की **'चिद्रूपता'** को नही बता रहे है।

समा —वेदान्ती कहता है कि **'ज्ञान'** शब्द को **अधिकरणार्थक** मानकर **'विज्ञानं ब्रह्म'** का अर्थ, **'ज्ञानाधिकरण'** (ज्ञानाश्रय) **ब्रह्म'**—अर्थ करना उचित नही होगा, क्योकि ऐसा करने पर **अद्वैतबोधक श्रुतिवचनो के साथ** विरोध होगा। अत **'चिद्रूपत्व' हेतु,** सर्वथा निर्दुष्ट है, उस से **'आत्मा'** का **स्वप्रकाशत्व,** और **'ज्ञानरूपत्व'** सिद्ध हो रहा है।

द्वितीय 'हेतु' **अकर्मत्व** बताया था, उससे भी 'आत्मा' की 'स्व-प्रकाशता' सिद्ध होती है। क्योकि 'आत्मा' मे 'अकर्मत्व' न मानकर यदि उसमे 'वेद्यत्व' (कर्मत्व = ज्ञानजन्यफलाश्रयत्व) स्वीकार करे, तो एक ही मे 'कर्मत्व' और 'कर्तृत्व' इन दो विरोधी धर्मों की प्राप्ति होगी। क्योकि 'ज्ञान' रूप क्रिया का आश्रय 'आत्मा' है, अत वही 'कर्ता' है, और स्वाश्रित ज्ञान की विषयता, उसी मे (आत्मा मे) रहने के कारण अर्थात् कर्तृरूप आत्मा की जो ज्ञानरूप क्रिया, उस से होनेवाली जो 'विषयता' वही फल है उसका आश्रय 'आत्मा' है, उस कारण वही 'कर्म' है। एवच 'आत्मा मे 'कर्तृत्व' और 'कर्मत्व' दो विरोधी—धर्म प्राप्त होते है। किन्तु एक ही **'आत्मा',** 'ज्ञानक्रिया' का कर्ता, और 'ज्ञानजन्य-फल का आश्रय' हो, यह हो नही सकता। कोई **'अनात्म'** पदार्थ, कभी—**'ज्ञानाश्रय'** अथवा **'ज्ञानरूप'** नही होता है, जिसके 'कर्म' के रूप मे 'आत्मा' को कह सके।

शंका—' अहं सुखी'—मैं सुखी हूँ—इत्याकारक **ज्ञान** की 'कर्मता', **'सुखविशिष्ट आत्मा'** मे रहती है, और उस **ज्ञान** की **कर्तृता 'शुद्ध आत्मा'** मे रहती है। इस प्रकार दोनो का आकार भिन्न होने से कोई विरोध नही माना जाता, क्योकि **विशिष्टं शुद्धात् अतिरिच्यते'—**विशिष्ट वस्तु, शुद्ध वस्तु से भिन्न होती है-यह नियम है।

समा०—यह शका उचित नही है, क्योकि इस तरह से तो **'कर्म—कर्तृविरोध'** (कर्मत्व और कर्तृत्व का विरोध) का नाम ही ससार से नष्ट हो

जायगा। **'गमनादि क्रियाओं'** का भी **'शुद्ध आत्मा'** मे—'कर्तृत्व' मानलेगे, और 'गमनक्रियाविशिष्ट आत्मा' मे 'कर्मत्व' मान लेगे। **'विशिष्टं शुद्धादतिरिच्यते'** नियम के अनुसार दोनो के आकार भिन्न-भिन्न है ही। तब **कर्म—कर्तृ विरोध'** के लिये अवसर ही कहाँ मिलेगा ?

शका—प्रभाकर मीमांसक का कहना है कि 'आत्मा' मे **'अकर्मत्व'** (ज्ञानकर्मत्वाभाव) भले ही रहे, किन्तु उसमे **'स्वप्रकाशत्व'** नही रह सकता। क्योकि तत्तत्–अर्थविषयक ज्ञान का आश्रय होने से **अस्वप्रकाश** 'आत्मा' के स्फुरण की उपपत्ति हो जाती है। अर्थात् **'आत्मा'** ज्ञान क्रिया का 'कर्म' न होने पर भी तत्तत्–घट आदि के चाक्षुषज्ञानो का आधार (आश्रय) रहने से, उन ज्ञानो के द्वारा ही उसका (आत्मा का) **प्रकाश** (स्फुरण) हो जाता है, जैसे—**'अहं घटं जानामि'**, **'मयि घटज्ञानम् अस्ति'** इत्यादि। **किञ्च**—**'क्रिया-फलभाक्त्वमात्रं कर्मत्वम्'** यह कर्मत्व का लक्षण नही है। **अन्यथा** 'नगर गच्छति चैत्र' मे 'चैत्र' मे भी **'कर्मत्व'** प्राप्त होगा। ज्ञानक्रिया का फल **'प्रकाश'** है, उसका **आश्रय** (भागी) **'आत्मा'** होता है, तथापि उसमे ज्ञानक्रिया की **'कर्मता'** नही मानी जाती। क्योकि **'कर्म'** का लक्षण **'परसमवेतक्रियाफल-शालित्वं कर्मत्वम्** है। **'पर'** मे समवेत (समवाय सम्बन्ध से वर्तमान) जो क्रिया, उससे उत्पन्न जो फल, उसका आश्रय जो होता है, उसे 'कर्म' कहते है। उसके अनुसार **'आत्मा'** मे **परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्व** (फलवत्त्व) का अभाव है। उस मे तो **'स्व—समवेतज्ञानजन्यफलशालित्व'** रहता है।

यदि यह कहे कि **'आत्मा'** मे 'ज्ञानजन्यफलशालित्व' के रहने पर भी 'पर-समवेतक्रियाजन्यफल' का अभाव रहने से **'आत्मा'** मे 'कर्मत्व' नही है, तो **'ज्ञान का आश्रय'** होने से उसका **'प्रत्यक्ष'** क्यो मानते हो ? इस प्रश्न का उत्तर तो यह है कि **'स्व-मानस प्रत्यक्ष ज्ञान'**, आत्मा मे रहने पर भी उसमे **'अकर्मत्व'** उपपन्न हो सकता है, क्योकि **'मानसप्रत्यक्षज्ञान में 'पर समवेतत्व'** नही है। इस रीति से 'अकर्मकत्व' तो 'आत्मा' की **मानस—प्रत्यक्षता** मे भी समान है। **किन्तु** यह सन्देह नही करना चाहिये, क्योकि उसमे 'मानसप्रत्यक्षज्ञान' की विषयता स्वीकार करने पर **'आत्मा'** मे **'कर्मत्व'** का स्वीकार तो करना ही होगा, क्योकि **'ज्ञानक्रिया'** सर्वदा **सकर्मक** हुआ करती है। अत **'ज्ञानत्व'**, कर्म से व्याप्त होता है। तब **'कर्म' रूप 'व्यापक** की निवृत्ति से **'ज्ञानत्व' रूप व्याप्य'** की भी 'मानस-ज्ञान' मे से निवृत्ति हो जायगी। **'कर्म'** के विना 'मानसज्ञान' हो नही सकता, **और**

'कर्म' के मानने पर **'कर्म-कर्तृभाव'** का विरोध उपस्थित होता है। 'ज्ञान' के आश्रय रूप से 'आत्मप्रत्यक्ष' मे यह विरोध नही है। अत **तुल्यता नहीं** है—यह **प्रभाकर मीमांसक** का अभिप्राय है।

समा०—किन्तु प्रभाकर मीमासक का यह कहना उचित नही है। क्योकि यह नियम है—'ज्ञान' से भिन्न किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष (अपरोक्ष) तभी होगा, जब उस मे 'ज्ञान' का कर्मत्व रहेगा। **प्रभाकर-मीमांसक** के मतानुसार 'आत्मा' भी 'ज्ञान' से भिन्न पदार्थ (वस्तु) है। उस मे यदि 'कर्मत्व' नही होगा, तो उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? **ज्ञान** (सवित्) के **आश्रय रूप में** उसका अपरो क्षत्व मानने पर 'अनुमान' का विरोध होगा। **अनुमान** यह है—**'संवेदिता संविदाश्रयतया अपरोक्षो न भवति अपरोक्षत्वात् सवेदनवत्।'** अर्थात् ज्ञाता, ज्ञानाश्रयता के द्वारा कभी अपरोक्ष नही हो सकता, अपरोक्ष होने से, जैसे—'ज्ञान'। इस **अनुमान** से **प्रभाकर मीमांसक** का मत, बाधित हो जाता है।

यदि यह कहें कि 'स्वप्रकाश के साधक अनुमान' मे **विपक्ष बाधक 'तर्क'** नही है। अत 'तर्क' के न होने के कारण **'स्वप्रकाशत्व'** की सिद्धि नही हो सकती।

किन्तु यह कहना भी उचित नही होगा क्योकि यदि **'आत्मा'** का 'स्फुरणा-दिव्यवहार' किसी दूसरे ज्ञान के अधीन कहेगे तो 'आत्मा', कभी 'उस ज्ञान' से रहित भी हो सकता है। तब-'आत्मा' के विषय मे कभी 'सशय' भी होना चाहिये। जैसे—**'अहं वा, अनहं वा'** इत्यादि विकल्प के विषयत्वकी प्राप्ति ही विपक्ष-बाधक **तर्क** है।

दूसरा तर्क यह भी है कि **प्रभाकर मीमांसक 'घट'** आदि पदार्थो के ज्ञान मे **'आत्मा'** का भी भान मानते है, क्योकि इनके मत मे **'त्रिपुटी प्रत्यक्ष'** होता है। तब तो 'घट' आदि पदार्थो के समान ही **'आत्मा'** का भी **चाक्षुष प्रत्यक्ष** होना चाहिये। क्योकि चक्षुरिन्द्रिय से होनेवाले ज्ञान की **भासमानता** ही चाक्षुष **प्रत्यक्ष** है। **किन्तु** जिस द्रव्य मे 'रूप' नही रहता उस **नीरूप द्रव्य** का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही होता है। इस प्रकार से विरोधी **अनुमान** का भी प्रयोग (प्रतिपक्ष) हो सकता है। जैसे—**'आत्मा, चाक्षुषज्ञाने न प्रकाशते, अरूपिद्रव्यत्वात्, आकाशवत्'** इति। अत **'आत्मा' स्वयं प्रकाश** है।

(३) अब पूर्व बताये गये **तृतीय हेतु** से भी 'आत्मा' की स्व-प्रकाशता सिद्ध

होती है। **"अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः"** (बृह० उप २।३।६) अर्थात् इस स्वप्नावस्था मे यह 'आत्मा', स्वय-प्रकाश रहता है। इस श्रुति से भी **'आत्मा'** का स्व-प्रकाशत्व सिद्ध होता है।

शङ्का—उक्त श्रुति स्वप्नावस्था के प्रकरण (अधिकार) का उपक्रम करके पढी गई है। वहाँ आत्मा का प्रकाशक **'मन'** सतत विद्यमान (अनुपरत = अनिवृत्त) रहता है। अर्थात् उस अवस्था मे भी आत्मा का प्रकाशक 'मन' रहता ही है। इस कारण 'आत्मा' मे **'स्वयंप्रकाशता'** कैसे रह सकती है ? अर्थात् आत्मा मे **'स्वयंज्योतिःस्वरूपता'** नही रह सकती।

स्वप्नावस्था मे **'मन',** गज आदि के आकार मे परिणत होकर स्वाप्नज्ञान का (अवभास = तात्कालिक ज्ञान का) **'कर्म'** बनकर स्थित रहता है। उस समय उस ज्ञान का अन्य कोई **'करण'** (साधन) भी नही है, कोई **'अन्य-ज्ञान'** भी उस समय करण नही है। इसलिये उस समय 'आत्मा' ही 'स्वयम्प्रकाश' हो सकता है। यह कहो तो वह भी ठीक नही होगा।

यदि वही 'गज' आदि के रूप मे परिणत होगा तो गजादि रूप से परिणत हुए 'मन' का प्रत्यक्षत्व सिद्ध नही हो सकेगा, क्योकि 'मन' इन्द्रिय को भी 'चक्षु' आदि के समान अतीन्द्रिय माना जाता है। **'अतीन्द्रिय पदार्थ'** 'अनुमेय' या 'आगमगम्य' हुआ करता है। एव च **परिणत** हुआ 'मन', चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नही बनता। अत **'मन'** का 'आत्मा' के साथ 'सयोग सम्बन्ध' होकर जो ज्ञान उत्पन्न (जन्य) होता है, 'उस जन्यज्ञान का आधार **'आत्मा'** होता है। उस आधारता के कारण ही स्वय शब्द का वाच्य 'आत्मा', "ज्योति' शब्द से कहा जाता है।

अथवा—'ज्योति का साधन' होने से भी उसे 'ज्योति शब्द से कह सकते है। क्योकि उसी प्रकरण मे **'वाचैवायं ज्योतिषास्ते अग्निनैवायं ज्योतिषास्ते'** (बृह उप ४।३।५) वाक् रूप ज्योति के द्वारा, अग्निरूप ज्योति के द्वारा—इन श्रुतियो मे ज्योति के साधनभूत 'वाक्' आदि को 'ज्योति' कहा गया है। 'आत्मा' को 'स्वयज्योति' नही कहा गया है। अत 'आत्मा' स्वय ज्योति स्वरूप नही है। 'क्योकि गुणाश्रय **'द्रव्यरूप आत्मा',** को गुण (ज्योति = ज्ञान) रूप नही कह सकते।

समा०—यह **शङ्का** उचित प्रतीत नही हो रही है। उक्त शका का समाधान सिद्धान्ती यह दे रहा है—

"सम्बन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानाऽसमवायिनः ।
इन्द्रियत्वाऽविघाताच्च मनः प्रत्यक्षमात्मवत् ॥"

पूर्वपक्षी ने जो कहा कि **'ज्ञान'** गुणरूप है और **'आत्मा'** द्रव्यरूप है। उसका खण्डन **सिद्धान्ती,** अनुमान प्रमाण के सहारे कर रहा है— **ग्रन्थकार** ने उपर्युक्त श्लोक के द्वारा **'अनुमान'** को ही प्रदर्शित किया है। जैसे—**'मनः प्रत्यक्षं, विज्ञानाऽसमवायिनो विज्ञानं प्रति असमवायिकारणस्य सम्बन्धस्य आश्रयत्वात्, आत्मवत्"** अर्थात् 'विज्ञान' के **असमवायिकारणसम्बन्ध** का आश्रय होने से **'आत्मा'** के समान। इस **अनुमान** से स्पष्ट है कि 'ज्ञानरूप-आत्मा' के **'असमवायिकारणसम्बन्ध'** का आश्रय होने से उस 'सम्बन्धरूप विज्ञान' के असमवायी कारण **'मन'** का **प्रत्यक्ष** होता है, और **इन्द्रियत्व** भी उपपन्न होता है। एवं च उसमे 'इन्द्रियत्व' का विघात न हो पाने से 'ज्ञान' के **असमवायि** कारण **'आत्मा'** के समान **नैयायिकों** की दृष्टि से **'मन'** का **प्रत्यक्ष** होता है। इस **अनुमान** से **'मन'** मे प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हो जाती है। **'मन'** के प्रत्यक्ष होने से उसके **'इन्द्रियत्व'** का 'बाध' (व्याकोप) होगा, यह भी नही कह सकते। क्योकि **'साक्षीचैतन्य'** से वेद्य (प्रत्यक्ष) होने पर भी वह (मन) इन्द्रियजन्य-ज्ञान का विषय न होने के कारण उसे **'अतीन्द्रिय'** कहा जाता है। **अतः** हमारे द्वारा किया गया **'स्व-प्रकाशत्वानुमान',** समस्त कलङ्को (दोषो) से रहित है। **एवञ्च** समस्त दोष-कलङ्कावकाश (प्रवेश) रहित **'आत्मा'** मे स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है। और वही 'आत्मस्वरूप' **'प्रकाश'** (ज्ञान), 'अविद्याकल्पित प्रपञ्च' का अवभासक होता है, तथा 'अविद्यारूप' **'तम'** (अन्धकार) का निवर्तक भी होता है। इसलिये उस **'आत्मा'** को 'ज्योति' शब्द से कहा जाता है। जैसे—'रात्रि' के **भावरूप** 'अन्धकार' के निवर्तक और 'जगत्' के अवभासक (प्रकाशक) **सूर्य** आदि को **'ज्योति'** शब्द से कहा जाता है।

शङ्का—सूर्य, **'भावरूप** 'तम' का निवर्तन करने से' इतना सुनते ही न्याय-वैशेषिकमतवादी बडी असहिष्णुता से शंका करने के लिये उपस्थित होते है।

पूर्वपक्ष—न्याय-वैशेषिक विद्वानो का कथन है कि 'तम' (अन्धकार) को **'भावपदार्थ'** नही कह सकते। क्योकि जो **भावपदार्थ,** परिगणित किये गये है, उनमे उसकी गिनती नही की गई है। **द्रव्यादि छह** ही भाव पदार्थ बताये गये हैं। उन छह भाव पदार्थों मे से यदि 'द्रव्य' पदार्थ मे उसका अन्तर्भाव कहे तो क्या 'पृथिवी' आदि **नौ द्रव्यो मे से** कोई अन्यतम, यह (**'तम'** नाम का 'भाव

सस्पर्श मानने पर 'तम' मे भी **'स्पर्श'** की उपलब्धि माननी होगी। और 'तम' के **आरम्भक** कारणो को **'निःस्पर्श'** (स्पर्शरहित) मानने पर उनकी **अस्पर्शवत्ता** के कारण **'मन'** के समान **'द्रव्य'** का आरम्भक उन्हे नही कहा जा सकेगा। अत **'द्रव्य'** के अन्तर्गत **'तम'** को नही कह सकते।

उसीतरह **'तम'** को 'गुणो' के अन्तर्गत भी नही मान सकते। क्योकि 'तम' को यदि **'गुण'** के अन्तर्गत कहे तो क्या **'रूप'** मे उसका अन्तर्भाव होगा ? या **अन्य गुणों** मे अन्तर्भाव होगा ? यदि **'रूप'** गुण मे उसका अन्तर्भाव करते है तो **'रूपगुण'** तो **'पृथिवी, जल,** और **तेज'** इन तीनो मे ही **'रूप'** रहता है। इन तीनो मे से किसी के 'रूप' मे इसका अन्तर्भाव करने पर उक्त तीनो के 'सहचारी' **गन्धादि गुणो** की भी **'तम'** मे उपलब्धि कहनी होगी। किन्तु **'तम'** मे 'गन्धादि गुणो' की उपलब्धि होती नही है। **'तम' को 'आकाश** तथा **वायु'** का भी 'गुण' नही कह सकते। क्योकि 'आकाश' और 'वायु' दोनो ही **'नीरूप'** है। **'तम'** को **'दिशा, काल,** और **मन'** का भी 'गुण' नही कह सकते। क्योकि 'दिशा', काल और मन इन तीनो मे कोई **'विशेषगुण'** नही रहता। **प्रशस्तपाद** ने 'रूपादि विशेष गुणो का परिगणन किया है—**"रूप-रस-गन्ध-स्पर्श स्नेह-सांसिद्धिक द्रवत्व-बुद्धि-सुख दुःख इच्छा-प्रयत्न-धर्माऽधर्म-भावना-शब्दा वैशेषिक-गुणाः"** इन 'विशेष गुणो मे से कोई भी **'दिशा, काल, मन'** मे नही रहता। **'तम'** को **'आत्मा'** का भी **'गुण'** नही कह सकते। क्योकि 'आत्मा' के **गुणों** का **बाह्य इन्द्रिय** से प्रत्यक्ष नही हुआ करता। **किन्तु** 'अन्धकार' (तम) के 'रूप' का **चाक्षुषप्रत्यक्ष** होता है। **अतः** उसे 'आत्मा' का गुण नही कह सकते। **'तम'** (अन्धकार) को **'कर्म'** पदार्थ के अन्तर्गत भी नही कह सकते। क्योकि वह **'संयोग विभाग'** का कारण नही है। **वैशेषिकों ने** 'सयोग-विभाग' के **'असमवायिकारण'** को ही **'कर्म'** माना है। 'तम' (अन्धकार) से कोई भी **'संयोग'** अथवा **'विभाग'** उत्पन्न नही होता। अत उसे **'कर्म'** के अन्तर्गत कभी नही माना जा सकता।

उसीतरह 'तम' (अन्धकार) को, **'सामान्य'** (जाति), **'विशेष',** और **'समवाय'** के अन्तर्गत भी नही कह सकते। क्योकि यह एक **नियम** है कि **'व्यक्ति'** की 'उपलब्धि' (ज्ञान) के विना **'जाति'** की, **'आश्रय'** की उपलब्धि (ज्ञान) के विना **'विशेष'** की, और **'सम्बन्धी'** की उपलब्धि के विना **'समवाय'** की उपलब्धि नही हुआ करती। यदि **'तम'** उक्त तीनो मे से किसी के अन्तर्गत

होता तो 'उसकी' भी उपलब्धि **'व्यक्ति'** आदि के विना न हो पाती। किन्तु **'तम'** की प्रतीति **'व्यक्ति'** आदि की प्रतीति के विना ही होती है। एव च **'तम'** का कोई **आधार** प्रतीत नही होता है। इसलिये उसका अन्तर्भाव **'सामान्यादि'** मे नही हो सकता।

किञ्च-'तम' को **भावस्वरूप** अतिरिक्त पदार्थ यदि कहे तो उसका उपलम्भक (प्रत्यायक-ज्ञापक) ही कोई नही है। **'नेत्रों'** को यदि उसका उपलम्भक (ज्ञापक) कहे तो 'नेत्रो' कौ बन्द कर लेने पर उसकी (तमकी) प्रतीति नही होनी चाहिये, किन्तु होती है। नेत्र बन्द किये हुए व्यक्ति को यह अभिमान (अनुभव) होता है कि मै **'तम'** को देख रहा हूँ।

किञ्च—'तम' को **'रूप'** या **'रूपवान्'** यदि कहते है कि 'आलोक' (प्रकाश) की सहायता से रहित (निरपेक्ष) **नेत्रेन्द्रिय** से 'उसका' प्रत्यक्ष नही हो सकेगा। क्योकि **'रूप'** या **'रूपवान्'** का प्रत्यक्ष 'आलोकसहकृत चक्षु' से ही हुआ करता है।

उसी तरह **'मन'** मे भी उसका (तम का) प्रत्यक्ष नही हो सकता, क्योकि 'मन', **अन्तरिन्द्रिय** है। उसे बाह्य पदार्थों के प्रत्यक्ष करने मे **बाह्येन्द्रियों** की सहायता लेनी पडती है। विना उनकी सहाता के वह (मन) **बाह्यपदार्थ** का प्रत्यक्ष करने मे समर्थ नही है।

तात्पर्य यह है कि **'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष,** और **समवाय'**— इन **छह भाव** पदार्थों मे 'तम' का अन्तर्भाव कथमपि नही हो पारहा है। और यदि दुराग्रहवश कथञ्चित् किसी मे अन्तर्भाव मान भी ले, तो उसका कोई प्रत्यायक (ज्ञापक) नही मिलता। **'प्रभा** (आलोक) का **अभाव'** स्वरूप ही **'तम'** है, यह सिद्ध हो रहा है।

सिद्धान्त—पूर्वपक्षी के द्वारा उपर्युक्तरीति से पूर्वपक्ष के उपस्थित करने पर सिद्धान्ती उसका खण्डन करता है—

> **"तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे।**
> **द्रव्यान्तरन्तमः कस्मादकस्मादपलप्यते ॥**

सिद्धान्ती का कहना है कि 'तम' को 'तेजोऽभाव' रूप बताना ठीक नही है। वस्तुत वह तो **'भावरूप'** है। 'तमालवृक्ष के पत्र के समान वह (तम) **श्यामल** (काला-नीला) वर्ण का है'—इस प्रकार निर्बाध (अकाट्य) प्रत्यक्ष रहता है। फिर भी उसको (तम को) द्रव्यान्तर (दशमद्रव्य) कहने मे क्यो झिझक लग रही है?

यानी सत्य का अपलाप क्यो कर रहे है ? क्योकि **'तमालमालाश्यामलं तमः'**—तमाल की पङ्क्ति के तुल्य यह काला (नील) तम है—यह प्रतीति सभी को होती है। अत इस प्रकार होनेवाली 'प्रतीति के विषय' को **'अभाव'** रूप कहना कैसे उचित होगा ? एवञ्च **'तम'** को 'भावपदार्थ' ही कहना चाहिये।

शङ्का—'अप्रतीति' मे ही **'प्रतीति का भ्रम** होता है, यह क्यो न कहा जाय ? अर्थात् वास्तविक (यथार्थ) प्रतीति के अभाव मे ही यह प्रतीति का भ्रम हो रहा है।

समा०—'प्रतीति' होती है, इसीलिये उसका (तम का) व्यवहार मे प्रयोग किया जाता है। 'प्रतीति' यदि न होती तो उसका व्यवहार ही कभी न होता।

शङ्का—वस्त्र (पट) मे शुक्लता के न रहने पर उसे 'काला' (मैला) कह दिया करते है, वैसे ही 'आलोक' (प्रभा) के न रहने पर (अभाव मे) 'तम' को 'काला' कहा जाता है, किन्तु इस प्रकार कहने का व्यवहार 'औपचारिक' (गौण) ही है। अर्थात्—विवेक न रहने से (अविवेक के कारण) इस प्रकार का मिथ्या व्यवहार लोग किया करते है।

समा०—यह शका ठीक नही है। क्योकि किसी भी शब्द का 'गौण' (औपचारिक) व्यवहार, तभी किया जाता है, 'जब 'मुख्य अर्थ' मे उस शब्द की प्रवृत्ति का कोई बाधक हो'। प्रस्तुत प्रसग मे 'मुख्यार्थता' मे कोई बाधक नही है, तब 'श्यामल' को औपचारिक (गौण) क्यो कहा जायगा ? **अभिप्राय** यह है कि **'नीलं तमः'**—यह लोक-व्यवहार, सर्वत्र प्रसिद्ध है। और प्राणिमात्र का व्यवहार सर्वदा 'ज्ञानपूर्वक' ही हुआ करता है। इस कारण 'व्यावहारिक हेतुज्ञान', जब तक बाधित नही होगा, तब तक 'व्यवहार' को औपचारिक (गौण) नही कह सकते।

शङ्का—'तम' को 'रूपात्मक' या 'रूपवान्' मानने पर उसमे **'आलोक-निरपेक्ष चक्षुर्जन्यज्ञान'** की 'विषयता' का सभव न हो पाना ही 'बाधक' है इस प्रकार **'नील-तम'** का ज्ञान, बाधित (मिथ्या) है।

समा०—यह कहना उचित नही है। क्योकि आलोकविरोधी 'तम', आलोका-ऽभाव' से ही अभिव्यक्त होता है। इसलिये 'आलोकनिरपेक्षचक्षुर्विषयता' की सिद्धि 'तम' मे उपपन्न हो जाती है।

शङ्का—सर्वत्र ज्ञानोत्पत्ति मे 'चक्षुरिन्द्रिय' को आलोक (प्रकाश) की अपेक्षा

रहती है, तभी वह, ज्ञान को उत्पन्न कर पाता है। तब 'तम' का प्रत्यक्ष करने मे आलोकनिरपेक्ष होकर वह (नेत्रेन्द्रिय) कैसे समर्थ हो पायेगा ?

समा०—यह शका ठीक नही है। क्योकि 'सामर्थ्य' तो 'कार्य' (फल) से गम्य (बोध्य) होता है। अन्यथा 'आलोकाऽभावरूप' माना हुआ जो 'तम' (अन्धकार) है, उसका भी प्रत्यक्ष, 'आलोकनिरपेक्ष चक्षु' से नही हो सकेगा, क्योकि 'तम' को 'आलोकाऽभावरूप' कहने पर उस 'अभाव' (तम) को 'रूपवत्प्रतियोगिक' कहना होगा, क्योकि 'आलोक' रूपवान् है। तब जैसे – 'रूपवत्-घटादिप्रतियोगिक अभाव' का प्रत्यक्ष, 'आलोकनिरपेक्षचक्षु' से नही होता, अर्थात् आलोकनिरपेक्षचक्षुर्जन्यज्ञान का विषय नही होता है, उसी तरह आलोका-भावरूप 'तम' भी 'आलोक का विरोधी होने के कारण उसके (अभावरूप तम के) प्रत्यक्ष मे 'चक्षुरिन्द्रिय' को 'आलोक' की अपेक्षा रहती है।

यही समाधान 'भावरूप अन्धकार' के प्रत्यक्ष मे भी कहा जा सकता है। अर्थात् प्रकाश-विरोधी 'तम' के प्रत्यक्ष मे चक्षुरिन्द्रिय को प्रकाश की आवश्यकता नही हुआ करती।

प्रकाशविरोधी 'तम' के प्रत्यक्ष मे भी 'आलोकसापेक्ष चक्षुरिन्द्रिय' से ही प्रत्यक्ष होने का यदि दुराग्रह हो तो उसको दूर करने का कोई उपाय नही है।

शङ्का—यदि यह कहो कि नेत्र बन्द किये हुए व्यक्ति को नेत्र का व्यापार न होने पर भी उसे 'तम' का प्रत्यक्ष होता है। ऐसी स्थिति मे 'तम' को चाक्षुष-प्रत्यक्ष का विषय कैसे कह सकते है ?

समा०—उक्त आशका करना उचित नही है। क्योकि नेत्र बन्द रखने पर भी नेत्र की पलको (पटलो) के अन्तरवर्ती 'तम' का 'नेत्र' के व्यापार से ही ज्ञान (उपलब्धि) हो जाता है। अर्थात् 'प्रत्यक्ष' होता है। जैसे दोनो श्रोत्र (कान) बन्द कर लेने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय के 'व्यापार' से ही 'भीतर के शब्द' का ज्ञान होता रहता है। इसी प्रकार से 'तम' का भी प्रत्यक्ष, नेत्र बन्द किये हुए व्यक्ति को उसके नेत्रव्यापार के चलते रहने के कारण उसे होता है। अत 'तम' के प्रत्यक्ष का कारण आलोकनिरपेक्ष 'नेत्र' को ही समझना चाहिये।

शङ्का—यह जो कहा था कि 'पृथ्वी' मे 'नीलरूप' का व्यापक जो 'गन्ध' है, उसके अभाव मे, उसका व्याप्य 'नीलरूप' भी 'तम' मे कैसे रह पायगा ?

समा०—यह कहना भी ठीक नही है। क्योकि 'पृथिवी' मे जो 'अनुष्णाशीत-

स्पर्श' है, वह 'पृथिवी' मे रहने वाले 'गन्ध' का 'व्याप्य' है, और 'गन्ध' व्यापक है, किन्तु 'वायु' मे 'गन्ध' (व्यापक) के न रहने पर भी प्रतीति के बलपर उसे (अनुष्णाशीत स्पर्श को) स्वीकार किया जाता है। उसी तरह 'तम' मे 'गन्ध' के न रहने पर भी 'प्रतीति' के बल पर 'नीलरूप' को स्वीकार किया जा सकता है।

शङ्का—'पाकज' (तेजोजन्य भूमिवृत्ति) 'अनुष्णाशीत स्पर्श' ही 'गन्ध' का 'व्याप्य' है, अनुष्णाशीतस्पर्शसामान्य' व्याप्य नही है। इसलिये 'वायु' मे 'गन्ध' के न रहने पर 'पाकज-अनुष्णाशीतस्पर्श' की ही निवृत्ति होगी। अर्थात् 'वायु' मे 'व्यापक गन्ध' की निवृत्ति से 'व्याप्य पाकज अनुष्णाशीतस्पर्श' की ही निवृत्ति होती है किन्तु 'अपाकज अनुष्णाशीतस्पर्श' तो 'वायु' मे रहेगा ही। इसीलिये 'वायु' मे 'पाकजस्पर्श' की निवृत्ति, व्यापक 'गन्ध' की निवृत्ति होने से होती है। उसी प्रकार यहाँ भी कह सकते है कि 'गन्ध' का व्याप्य 'पाकज नीलरूप' ही है। तम (अन्धकार) मे गन्ध' की निवृत्ति से 'पाकज नीलरूप' की ही निवृत्ति होगी, किन्तु 'अपाकज नीलरूप' तो कायम रहेगा ही।

यदि यह कहे कि 'वायु' मे 'अपाकज स्पर्श' के ग्राहक प्रमाण के सामान 'अपाकज नीलरूप' का ग्राहक प्रमाण यदि कोई रहे, तो आपका कहना उपपन्न हो सकता है, अन्यथा नही।

उस पर यह कहना है कि 'सद्भाव' के ग्राहक 'प्रत्यक्ष' प्रमाण उभयत्र तुल्य है। 'वायु' मे जिस प्रकार 'त्वक्' से 'अनुष्णाशीत अपाकज स्पर्श' का ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'तम' मे भी 'चक्षुरिन्द्रिय' से 'अपाकज नीलरूप' का ज्ञान होता है। उस पर भी यदि 'अपाकज नीलरूप' को 'तम' मे न माना जाय, तो 'वायु मे भी 'अनुष्णाशीतस्पर्श' नही माना जायगा। दोनो मे यही समानता है। अर्थात् 'अपाकज नीलरूप' के अस्तित्व का ग्राहक 'प्रत्यक्ष' प्रमाण यदि हो, तो उसके बलपर 'तम' मे उसे माना जा सकेगा, किन्तु उसके अस्तित्व का ग्राहक 'प्रत्यक्ष प्रमाण' है ही नही, तो यहाँ भी कह सकते है कि 'अपाकज अनुष्णाशीत स्पर्श' का ग्राहक प्रत्यक्ष और 'अपाकज नीलरूप' का ग्राहक प्रत्यक्ष—इन दोनो की कथा, तुल्य ही है।

शंका—'तम' मे 'स्पर्श' का अभाव रहने से उसमे (तम मे) 'रूप' के **सामान्याभाव** का अनुमान करेगे—**'तमः रूपरहितं स्पर्शरहितत्वात् आकाशवत्'**। तब तम मे 'नीलरूप' कैसे रहेगा ?

समा०—उक्त 'अनुमान', **कालात्ययापदिष्ट** (बाधित) है। क्योकि 'रूप-रहितत्व' (रूपाभाव) यह 'साध्य' है, उसका, 'रूपग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण' से बाध हो जाता है। इसलिये 'तम' मे 'रूपाभाव' का अनुमान नही किया जा सकता।

अन्यथा अर्थात् यदि 'तम' मे 'स्पर्शरहितत्व' हेतु से (स्पर्शाभाव से) 'रूपाभाव' का अनुमान करेगे, तो 'वायु' मे भी 'रूपाभाव' हेतु से 'स्पर्शाभाव' का अनुमान कर सकते है। तथाहि—**'वायुःस्पर्शरहित. रूपरहितत्वात्, आकाशवत्'**—यह अनुमान का आकार होगा।

शङ्का—इस पर कोई यह कह सकता है कि **'व्यापकाभाव'** से **'व्याप्याभाव'** का अनुमान हुआ करता है। अत रूपरहितत्व' (रूपाभाव) **हेतु** से स्पर्शरहितत्व' (स्पर्शाभाव) **साध्य** का अनुमान तभी कर सकेगे, जब 'रूप' **व्यापक** और 'स्पर्श **व्याप्य** रहे। किन्तु **'रूपाभाव'** अपने **अधिकरण** 'वायु' मे रहता है। इसलिये **'स्पर्श'** कभी भी **'रूप'** का व्याप्य नही बन सकता। ऐसी स्थिति मे **'रूपाभाव'** हेतु से 'वायु' मे **'स्पर्शाभाव'** साध्य का अनुमान कैसे हो सकेगा?

समा०—'रूपाभाव' का **'पक्ष'**—'वायु' है। **'पक्ष'** उसी को कहते है, जिसमे **'साध्य' का सन्देह** हो। यही कारण है कि **'व्याप्ति'** का प्रदर्शन, सर्वदा **'पक्ष'** से अन्यत्र ही किया जाता है। **'वायु'** से अन्यत्र तो **'स्पर्श'** का कही व्यभिचार नही है। जैसे—'वायु' से अन्यत्र 'रूपवान् पृथिवी, जल, तेज' मे 'स्पर्श' नियमितरूप से रहता है। इसलिये 'स्पर्श' व्याप्य है और 'रूप' व्यापक है। अत **'वायु. स्पर्शरहितः रूपरहितत्वात् आकाशवत्'** यह अनुमान किया जा सकता है। अर्थात् 'रूपाभाव' से 'वायु' मे 'स्पर्शाभाव' का अनुमान हो सकता है। क्योकि 'स्पर्श' की प्रतीति जो होती है, वह तो आभासरूप है, वास्तविक नही है। अतः उक्त अनुमान का प्रयोग करने मे कोई रुकावट नही है।

कन्दलीकार का जो कहना है कि **'यत् स्पर्शरहितं न तद् द्रव्यारम्भकं यथा मनः'** - यह व्याप्ति है। इसलिये स्पर्श रहित होने से अगीकृत परमाणुओ को द्रव्यारम्भक नही मान सकते। अर्थात् 'तम' के 'परमाणु', 'तम' रूप कार्य के आरभक नही हो सकते है। तथाहि—**'तमःपरमाणवः द्रव्यानारम्भका. स्पर्शाभावात् मनोवत्'**—यह अनुमान होगा। किन्तु उक्त 'अनुमान' भी **सोपाधिक** होने से ठीक नही है। क्योकि उक्त अनुमान मे तदारब्ध द्रव्य **'वैयर्थ्य'** उपाधि है। अत **'अस्पर्शवत्त्व'** और **'अनारम्भकत्व'** दोनो की व्याप्ति नही बन पा रही है।

अर्थात् **'मन'** मे 'द्रव्याऽनारम्भकता' है, और 'व्यर्थता' भी है। 'मन' से जो आरब्ध है, उसका कोई 'फल' नही हो सकता। इसलिये **'व्यर्थता'** का 'साध्य' का **व्यापक** कह सकते है और 'स्पर्शाभावरूप हेतु, का वह **अव्यापक** भी है। क्योकि 'वायवीय परमाणु' मे **स्पर्शाभाव** है, परन्तु **'व्यर्थता'** नही है। अत **'व्यर्थता'** मे साध्यव्यापकता और साधनाव्यापकता रहने से 'व्यर्थता' (वैयर्थ्य) को 'उपाधि' कह रहे है। **'मन'** से जो आरब्ध है, उसका 'फल' इसलिये नही है कि 'मन' से आरब्ध 'द्रव्य' या तो **'शरीर'** होगा, या **'विषय'** या **'इन्द्रिय'** होगा। इनमे से किसी मे भी **'भोगसाधनता'** (सार्थकता) नही हो सकती, क्योकि **'पार्थिव', 'जलीय', 'तैजस'** और **'वायवीय'**—इन चतुर्विध शरीरो को ही प्रामाणिक (प्रमाणसिद्ध) माना गया है। इन 'चतुर्विध शरीरो' के अतिरिक्त कोई भी 'शरीर', इन्द्रियो का आश्रय हो नही सकता। तब वह 'भोग' का साधन कैसे बनेगा ? **दूसरी बात** यह है कि **'मन'** स्वय अतीन्द्रिय है, उससे—'आरब्ध द्रव्य', **इन्द्रियाश्रय** भी नही होगा। इसलिये वह **'शरीररूप'** से 'भोग' का साधन नही होगा। उसी तरह **'विषयरूप' से** भी भोग का साधन नही बन सकेगा, क्योकि 'रूप स्पर्श' से रहित 'मन' के द्वारा 'आरब्ध द्रव्य', रूपादिरहित होने के कारण 'इन्द्रियो' का विषय नही हो सकता। और 'शरीर' तथा 'इन्द्रिय' से भिन्न जो अवयवी (कार्य द्रव्य) होता है, उसे ही 'विषय' कहा जाता है। उसी तरह 'मनोजन्य द्रव्य', **इन्द्रियरूप से** भी भोग-साधन नही हो सकता। क्योकि 'मन' स्वय ही 'इन्द्रिय' होने से उससे (मन से) जन्य मे 'इन्द्रियान्तरत्व' मानना व्यर्थ है। **तार्किक विद्वान्** 'शरीर, इन्द्रिय, विषय' से भिन्न (अनन्तर्गत) किसी जन्य द्रव्य को भोगसाधन मानते नही है।

जिनका स्पर्श हो नही सकता उन स्पर्शरहित **'आत्मा'** आदि द्रव्यो से भी **शरीर, इन्द्रिय, विषय** का आरम्भ नही होता है। अत द्रव्यान्तरारम्भ की 'व्यर्थता' रूप उपाधि 'मन' के ही समान है। परन्तु प्रस्तुत प्रसग मे 'स्पर्शरहित परमाणुओ से आरब्ध रूपवाले 'तम' मे **भोगसाधनता** का होना सम्भव है। अत **'तम'** मे 'आरम्भ' की **'व्यर्थता'** रूप उपाधि है। इसलिये **'उपाधि'** मे 'साधना-ऽव्यापकता' है। निष्कर्ष यह है कि जो **स्पर्शरहित** है, वह, 'द्रव्यान्तर का आरम्भक' नही हो सकता'—यह **'व्याप्ति'** है। इस व्याप्ति मे **'तदारब्धद्रव्य-व्यर्थकत्व'** रूप उपाधि को बताया गया था। क्योकि मन और आत्मा मे **'द्रव्यानारम्भकत्व'** साध्य भी है और **'तदारब्धकार्यव्यर्थकत्व'** उपाधि भी है। अत साध्यव्यापकता

घट जाती है। 'तम' के परमाणुओ मे 'स्पर्शरहितत्व' हेतु तो है। **'तदारब्धद्रव्यव्यर्थत्व'** रूप उपाधि वहा नही बन पा रहा है। यह समाधान तो हमने **परमत** के मन्तव्य के अनुसार कर दिया है। क्योकि हमारे प्रतिद्वन्द्वी लोग **'तम'** की उत्पत्ति 'उसके परमाणुओ' से मानते है। **'तम'** के परमाणुओ मे 'स्पर्शरहितत्व' **हेतु** तो है, किन्तु 'तदारब्धद्रव्यव्यर्थकत्व' **उपाधि** नही है। अत **'वैयर्थ्य'** उपाधि बताना निरर्थक ही है।

वास्तविकस्थिति तो यह है कि हमारी **वेदान्तप्रक्रिया** के अनुसार **'तम'** नामका द्रव्य, अपने 'परमाणु' रूप अवयवो से आरब्ध (उत्पन्न) नही होता है। क्योकि उसकी (तम की) उत्पत्ति (जन्म) तो अपने मूलकारण 'मायाविशिष्ट ब्रह्म' से वैसे ही होती है, जैसे 'मेघमण्डल' से **महाविद्युत्** की उत्पत्ति होती है। **विवरणकार** कहते है कि **'आलोकविनाशितस्य च तमसः पुनर्मूलकारणादेव झटिति महाविद्युदादिजन्मवज्जन्म सिद्ध्यति'। अतः** स्पर्शरहित परमाणुओ से 'तम' की उत्पत्ति न होना हमारे मत से सिद्ध ही है, उसी को पुन सिद्ध करने के लिये आप तैयार हो रहे है। अत आपके उक्त अनुमान मे हमारे मत से **'सिद्धसाधनता'** हो रही है।

तथा **वेदान्त-सिद्धान्त** के अनुसार 'मन' को **अनारंभक** भी नही मानते है। क्योकि 'मन' तो **सावयवद्रव्य है,** अत उसको **परिणामी** (द्रव्यारम्भक) माना जाता है। तथा स्पर्शरहित 'आत्मा' को **सम्पूर्ण सृष्टि** का 'उपादानकारण' माना जाता हैं। इसलिये उक्त **अनुमान** मे **'दृष्टान्तासिद्धि'** भी है। ये सब दोष उपस्थित होते है, उस कारण **'स्पर्शरहितत्व'** हेतु से 'तम' के अवयवो मे **'तदनारम्भकत्व'** सिद्ध नही हो पा रहा है। इसलिये 'तम' को **'सावयव द्रव्य'** कहा जा सकता है।

एवञ्च 'तम' **'रूपवान्'** होने से उसे **'द्रव्य'** ही कहना चाहिये। उसे **'तेज'** का **अभाव** कहना उचित नही है।

जिस प्रकार **'श्यामरूप'** हेतु के बल पर 'तम' मे **'द्रव्यत्व'** सिद्ध किया गया है, उसी तरह **'चलनक्रिया'** अर्थात् **'चलत्व'** हेतु से भी उसे **आलोक** (प्रकाश) के समान **द्रव्यान्तर** सिद्ध किया जा सकता है। अत वह (तम), **प्रकाशाभावरूप** नही है।

शङ्का—'तम' मे जो 'चलनक्रिया' बताई जा रही है, वह उसकी अपनी **स्वाभाविक** नही है, किन्तु **'दीप'** आदि के हिलने से उसमे वह प्रतीत होती है। **अर्थात्**

'तम' मे **प्रतीयमान क्रिया,** 'अन्य' की **क्रिया का** अनुसरण किया करती है। जैसे—**'घट'** की क्रिया का अनुसरण **'घट' का रूप** किया करता है। अत जैसे **गुणात्मक रूप** मे 'क्रिया की प्रतीति' मिथ्या होती है, वैसे ही **'तम'** मे 'चलन-क्रिया' की प्रतीति भी मिथ्या ही कहनी चाहिये।

किन्तु यह **उपर्युक्त** कथन उचित नही है। यदि यह भी कहा जाय कि **'तम',** 'दूसरे की क्रिया' का **अनुकरणमात्र** करता है। अर्थात् **'तम'** मे जो **'चलन क्रिया'** की प्रतीति होती है, वह उसकी अपनी निजी नही है, अपितु **'दीपक'** के हिलने-डुलने से उसमे (तम मे) वैसी ही क्रिया की प्रतीति होती है। **तब भी** उसे (तम को) **प्रकाशाभावरूप** नही कह सकते। क्योकि किसी 'अन्य द्रव्य' के अनुकरण (अनुविधान) करनेवाले 'द्रव्यान्तर' मे भी उसकी अपनी **स्वाभाविक चलनादि क्रिया** हुआ करती है। जैसे 'आकरज' (खनिज) तेजोरूप सुवर्ण आदि' मे, पीतरूपवाले पार्थिवांश के सम्बन्ध (सम्मिश्रण) से उसके अनुकरण (अध-पतन) को 'तेजोरूप सुवर्णादि' करते है, तथापि उन 'सुवर्णादिरूप तेज' की 'स्वाभाविक ऊर्ध्वचलनादि क्रिया' की प्रतीति न रहने पर भी वह नष्ट नही होती। प्रतीति न होने का कारण यह है कि 'पार्थिवद्रव्य' का सम्मिश्रण उसमे हुआ है। उस कारण उसके 'स्वाभाविक ऊर्ध्वचलन' की प्रतीति नही होती है। जैसे—'अग्नि' जब मन्द हो जाता है, तब उसके 'ऊर्ध्वज्वलन' की प्रतीति नही होती है। **वैशेषिकों ने 'भौम, दिव्य, औदर्य, आकरज'**—ये चार प्रकार के **तेज** माने है। तदनुसार यह विचार किया गया है। अब विचारणीय कोई बात शेष नही रह जाती।

उसपर भी यदि कोई दुराग्रह ही करे कि 'तम', किसी अन्य द्रव्य का अनुविधान (अनुकरण) करता ही है, तो उससे हम पूछ सकते है कि वह (तम) **किस द्रव्य** का अनुविधान करता है। क्या **प्रकाश** (आलोक) के अवरोधक **छत्र** आदि का अनुकरण करता है ? अथवा 'तम' के **निवारक** 'दीपक' आदि का अनुकरण करता है ? **प्रथम विकल्प** को तो स्वीकार नही कर सकते, क्योकि **प्रकाश** (आलोक) के अवरोधक 'पर्वत' आदि के निश्चल रहने हुए भी उनके **छायारूप** 'तम' (अन्धकार) का 'चलन', सूर्य की चलनक्रिया से अवगत होता है।

द्वितीय विकल्प भी ठीक नही है, क्योकि 'दीपक के प्रकाश' (आलोक) के प्राप्त होनेपर 'तम' (अन्धकार = छाया) चला जाता है। और 'दीपक का प्रकाश' वहाँ से हट जाने पर 'तम' (अन्धकार = छाया) आ जाता है। एवञ्च 'आलोक'

के विपरीत 'तम' की क्रिया दिखाई देती है। अत इस प्रकार के 'वैपरीत्य' को **'अनुकरण'** नही कह सकते। **'तम** और **अन्धकार'** ये दोनो परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं। विरोधी का अनुकरण कभी कोई नही करता। प्रकाश (तेज) के उदित होते ही 'तम' नष्ट हो जाता है, तब वह 'तेज' का अनुविधान (अनुसरण) कैसे कर सकता है ? इस प्रकार **आलोकाभाव** के प्रतिबन्दी के रूप मे **'तम'** के रूपवान् रहने पर भी उसका प्रत्यक्ष' **आलोकनिरपेक्ष चक्षुरिन्द्रिय** से होता है, यह बात कही गई। अब उसी बात को अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध करते है—

"चक्षुः प्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम्।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥"

'प्रकाश' (**आलोक**) **से अजन्य जो रूपवद्-द्रव्य का वीक्षण** अर्थात् 'रूपी-द्रव्य का साक्षात्कार, उस 'साक्षात्कार' के करने मे **चक्षुरिन्द्रिय,** समर्थ है—यह **प्रतिज्ञा** है। क्योकि वह, 'रूपी द्रव्य' का ग्राहक है—यह **हेतु** है। जैसे—**त्वगिन्द्रिय,**—यह दृष्टान्त है।

उक्त पद्य के द्वारा सगृहीत **अनुमान** को इस प्रकार—विवृत कर सकते है—**'चक्षुः, आलोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकं, रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्'**—यहाँ पर 'चक्षु'—**पक्ष** है, 'आलोकाऽजन्य ... जनकत्व'—**साध्य** है, 'रूपिद्रव्य ... त्वात्'—**हेतु** है, 'त्वगिन्द्रिय'—यह **दृष्टान्त** है अर्थात् 'आलोक की अपेक्षा न रखनेवाले चक्षु', **भावद्रव्यरूप-नीलरूपवाले 'तम'** (अन्धकार) के ग्राहक है, क्योकि 'समस्त रूपिद्रव्य' के ग्राहक होने से, 'त्वगिन्द्रिय' के समान। एवञ्च **'तम'** को—**रूपवान् भावरूप द्रव्य** कहना चाहिये। वह **अभाव रूप** नही है।

शङ्का—**'तम'** को 'रूपवान्, भाव द्रव्य' सिद्ध करने के लिये जो **अनुमान प्रयोग** किया गया है, उसमे 'रूपरहित इन्द्रियत्व उपाधि' के उपस्थित हो जाने से वह **सोपाधिक'** हो गया है। अत उससे 'तम' की **भावद्रव्यता** सिद्ध नही हो सकेगी। **'रूपरहित इन्द्रियत्व'** मे उपाधित्व इस प्रकार होगा—**'आलोकाजन्य-रूपवद्द्रव्यसाक्षात्कारजनकत्व'** यह **साध्य** उपलब्ध होता है **'त्वगिन्द्रिय'** मे, क्योकि 'त्वक्', प्रकाश के विना भी द्रव्य का बोधक होता है, और वही पर 'रूप-रहित इन्द्रियत्व' भी है। अत **रूपरहित इन्द्रियत्व'** जिसे उपाधि बनाने जा रहे है, वह **'साध्य'** का व्यापक' हो जाता है। उसी तरह वह 'साधन' का 'अव्यापक' भी हो रहा है। तथाहि—**'रूपवद्द्रव्यग्राहकत्व'** जो 'हेतु' है, वह 'चक्षु' मे भी **है,**

किन्तु वहाँ 'रूपरहित इन्द्रियत्व' नहीं है। **अतः** 'साधन' (हेतु) का **अव्यापक** भी हो जाता है। एवञ्च **'रूपरहितइन्द्रियत्व'** मे 'साध्य' की **व्यापकता** और 'साधन' की **अव्यापकता** उपलब्ध हो जाने से उसे **'उपाधि'** कह सकते है

समा०—इस तरह **उपाधि** बताकर 'तम' मे 'रूपिद्रव्यता' के साधक अनुमान को दूषित करना उचित नही है। क्योकि **त्वगिन्द्रिय** की उपर्युक्त 'साध्यवत्ता' होने पर **'रूपरहितेन्द्रियत्व'** को 'उपाधि' नही कह सकते। क्योकि **व्यतिरेक-व्याप्ति** के न होने से 'साध्य' की व्यापकता 'उपाधि' मे नही हो पाती। साध्य-व्यापक उपाधि के अभाव से साध्याभाव को बताने पर ही 'उपाधि' दूषक कहलाता है। साध्याभाव का बोधन तो, निरूपाधिक अनुमान से ही होना है। **'यद्रूपवदिन्द्रियं तद् आलोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं न भवति, रूपरहितत्वाभावात्, घ्राणवत्'**—जो रूपवान् इन्द्रिय है अर्थात जो रूपरहित इन्द्रिय नही है, वह प्रकाशाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कार की उत्पादक नहीं होती, रूपरहित न होने से, जैसे—**'घ्राण'**। इस **व्यतिरेकव्याप्ति** मे **'रूपिद्रव्याऽग्राहकत्व** (रूपवान् का ग्राहक न होना) उपाधि है। अर्थात् वह साध्य की व्यापक भी है, क्योकि 'घ्राणादि इन्द्रियो मे पार्थिवत्व होने से आलोकाजन्य रूपिद्रव्य के साक्षात्कार की जनकता का अभाव (रूपवद्-अग्राहकत्व) है, अर्थात् उसमे 'रूपरहितत्वाभावरूप 'हेतु' नही है। अत 'आलोकाऽजन्य रूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनकत्वाऽभावरूप साध्य (व्यापक) का व्यापक है, और 'रूपयुक्त इन्द्रियत्वरूप' (रूपरहितत्वाभावरूप) साधन (हेतु = व्याप्य) का (रूपवद्ग्राहकत्व) अव्यापक है। क्योकि 'घ्राण' के पार्थिव होने मे उसमे 'रूपरहितत्वाभावरूप' हेतु नही है। वह तो 'गन्धमात्र' का ग्राहक होने से 'रूपवत्' का ग्राहक भी नही है। तथापि 'चक्षुरिन्द्रिय' मे 'रूपवद् अग्राहकत्व' उपाधि नही है, किन्तु 'रूपरहितत्वाभावरूप' हेतु है। अत व्यतिरेक-साधक इस सोपाधिक हेतु से 'साध्याभाव' की सिद्धि नही हो रही है। इसलिये निरुपाधिक अनुमान से 'तम' की द्रव्यान्तरता सिद्ध हो जाती है। एवञ्च—'आलोक' (प्रकाश) के समान ही **भावरूप अज्ञानात्मक** 'तम' के विरोधी तथा 'जगत्' का अवभासक (प्रकाशक) 'आत्मा', **'ज्योति'** शब्द का वाच्य है। इसलिये **'अत्राऽयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः'** यह श्रुति, जो उसके विषय मे कही गई है, वह समुचित ही है। अत सिद्धान्ती अपने सिद्धान्त को बताता है—

'साक्षिवेद्यं स्वराद्धान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुषं पुनः।
आचार्योऽसाधयद्युक्तिवैभवं स्वं विभावयन् ॥' इति।

ज्योति· स्वरूप 'आत्मा' तो 'असङ्ग' है। अत उसका 'दृश्य' (प्रकाश्य) के साथ 'सग' (सम्बन्ध) होना सभव नही है। और 'दृश्य प्रपञ्च' की **स्वतः सिद्धि** तथा **परतः सिद्धि** भी हो नही सकती। अत **दृगात्मा** (ज्ञानस्वरूप आत्मा) मे 'रज्जु-सर्प' के समान अध्यस्त होकर ही 'प्रपञ्च' की सिद्धि (उत्पत्ति या ज्ञप्ति) हुआ करती है। इस रीति से प्रपञ्च मे 'मिथ्यात्व' भी सिद्ध होता है।

इस पर **सत्यत्ववादी** (प्रपञ्च को सत्य मानने वाला) शङ्का करता है—

शङ्का—सिद्धान्ती ने 'प्रपञ्च' को जो **मिथ्या** बताया, तो वह पहिले 'मिथ्यात्व' का लक्षण बतावे, जिससे—'मिथ्यात्व' क्या है ? यह अवगत हो सके। अतः **पूर्वपक्षी** पूछता है कि **'किं पुनरिदं मिथ्यात्वम्** ?'—इस प्रश्न को दस विकल्पो के द्वारा वह उपस्थित कर रहा है—

(१) **'प्रमाणागम्यत्वं वा** ? क्या प्रमाणविषयत्वाभावरूपमिथ्यात्व है ?

अथवा

(२) **अप्रमाणज्ञानगम्यत्वं वा** ? क्या अप्रमाणज्ञानविषयत्वरूप मिथ्यात्व है?

अथवा

(३) **अयथार्थज्ञानगम्यत्वं वा ?** क्या अयथार्थज्ञान (भ्रमज्ञान) विषयत्वरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(४) **सद्विलक्षणत्वं वा** ? क्या सद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(५) **सदसद्विलक्षणत्वं वा ?** क्या सत् और असत् उभय से विलक्षणत्व (भिन्नत्व) ही मिथ्यात्व है ?

अथवा

(६) **अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा** ? क्या अविद्या और अविद्याकार्य मे से अन्यतरत्व को मिथ्यात्व कहा जाय ?

अथवा

(७) **ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा ?** क्या ज्ञान के द्वारा निवर्त्यत्व (बाध्यत्व) रूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(८) **प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा** ? क्या प्रतीति के आश्रय मे अभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व है ?

अथवा

(९) **बाध्यत्वं वा ?** क्या मिथ्यात्वबुद्धिविषयत्व को मिथ्यात्व कहे ?

अथवा

(१०) **स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा ?** क्या अपने अत्यान्ताभाव के अधिकरण मे प्रतीयमानत्व (अत्यन्ताभाव के समानाधिकरणरूप से प्रतीतिविषयत्व) ही मिथ्यात्व है ?

उक्त **दस विकल्पों** मे से **प्रथम** (१) विकल्प (प्रमाणाऽविषयत्व) जो किया है, उसे 'मिथ्यात्व' का लक्षण नही बना सकते । क्योकि उसकी **'ब्रह्म'** मे **अतिव्याप्ति** होगी । कारण यह है कि **वेदान्तसिद्धान्त** मे 'ब्रह्म' को **स्वयं प्रकाश** माना जाता है । वह किसी प्रमाण का विषय नही होता ।

(२) **दूसरा विकल्प** (अप्रमाणज्ञानगम्यत्व) को भी मिथ्यात्व का लक्षण नही कह सकते, क्योकि **'प्रपञ्च'** को सत्य माननेवाले भी 'सत्य पदार्थ' मे अप्रमाण-ज्ञान' की विषयता मानते है । इसलिये 'अर्थान्तर' हो जाता है । न्यायसूत्रकार 'प्रकृतार्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्' के अनुसार प्रकृत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ की प्राप्ति को **'अर्थान्तर'** कहते है, जिसे 'निग्रहस्थान' माना जाता है । प्रकृत मे 'सत्यत्व' के विरोधी 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करना था किन्तु 'सत्यत्व' का अविरोधी ही 'मिथ्यात्व' सिद्ध हो गया । यह वैसा ही हुआ, जैसे **'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्'** । अत अर्थान्तर हो जाता है । **नैयायिक के** अनुसार 'शुक्ति' मे 'सत्यत्व' भी है, और 'रजताकार' से भासित होने के कारण 'इद रजतम्' इत्याकारक अप्रमाण ज्ञान की विषयता भी है । **अप्रमाणज्ञान** का विषय केवल शुक्ति ही नही है, अपितु **सम्पूर्ण सत्य प्रपञ्च में** 'यह क्षणिक है', 'यह ब्रह्म का कार्य है', 'यह अनिर्वचनीय है',—इस प्रकार के 'अप्रमाण (मिथ्या)-ज्ञान' की विषयता को अन्य लोग मानते है । उसी प्रकार 'स्मृति' भी 'अप्रमाण ज्ञान' है, किन्तु उसके 'विषय' को 'सत्य' ही स्वीकार करते है । इस रीति से अतिव्याप्ति होने के कारण यह द्वितीय लक्षण भी ठीक नही है ।

(३) अब मिथ्यात्व का तृतीय लक्षण **'अयथार्थज्ञानविषयत्व'** भी ठीक नही है । क्योकि 'तत्तदारोप की अधिष्ठानता' होने से सभी, 'अयथार्थज्ञान' से ही गम्य माने गये है । अत उक्त दोष इसमे भी प्राप्त हो रहे है ।

(४) **'सद्विलक्षणत्व'** इस चतुर्थ लक्षण मे भी अतिव्याप्ति दोष है । क्योकि **'सत्'** से विलक्षण **'असत्'** शशविषाणादि मे भी मिथ्यात्व नही माना

जाता। किंतु उसमे लक्षण घटित होता है। यदि यह कहे कि 'शशबिषाण' तो 'मिथ्या' ही है, तब उसमे लक्षण का घटित होना उचित ही है। किन्तु यह कहना उचित न होगा, क्योकि 'मिथ्या ससार' मे **'अपरोक्षज्ञानयोग्यत्व'** और **'सार्थक-क्रियासामर्थ्य'** का स्वीकार करनेवाले लोग **'शशविषाण'** की अपेक्षा **'संसार में विलक्षणता** (विषमता) मानते है। अत **'शशविषाण'** मे **'अमिथ्यात्व'** का स्वीकार किया है। इसलिये मिथ्या से भिन्न **'सत्य'** ही नही, अपि तु **'असत्'** भी है। कहने का अभिप्राय **यह** नही है कि 'शशविषाण' **सत्य** है। 'शशविषाण' **सत्य** नही है। क्योकि **सप्रयोजन, प्रत्यक्ष** तथा **बाधित** 'प्रपञ्च' मे मिथ्यात्व माननेवाले **निष्प्रयोजन, अप्रत्यक्ष** 'शशविषाण' मे मिथ्यात्व नही मानते है, तथा **अबाधित 'ब्रह्म'** मे मिथ्यात्व नही मानते है। अत **'मिथ्या' से** भिन्न जैसा **'सत्य'** है, वैसे ही **'असत्'** भी 'मिथ्या से भिन्न ही है। एवञ्च अलक्ष्य 'असत्' मे 'मिथ्यात्व' का लक्षण घटित होने से अतिव्याप्ति हो रही है। क्योकि वह प्रत्यक्ष-ज्ञानयोग्य, अर्थक्रियासामर्थ्यवाला विवक्षित लक्ष्य नही है।

(५) अब **'सदसद्विलक्षणत्व'** यह **पञ्चम** लक्षण भी 'मिथ्यात्व' का नही हो सकता। क्योकि 'दो विरोधी धर्मो' मे से एक का निषेध कर देने पर 'दूसरे' का विधि (होना) अनिवार्य हो जाता है। जैसे 'रात्रि' का निषेध करने पर 'दिवस' का और दिवस का निषेध करने पर 'रात्रि' का विधान स्वत एव होता है। **'सत्'** से विलक्षण **'असत्'** और **'असत्'** से विलक्षण **'सत्'** होता है। **एक देश** और **एक काल** मे दोनो परस्पर विलक्षण धर्मो का **निषेध** नही हो सकता। 'सत्' तथा 'असत्' दोनो से विलक्षण 'कोई पदार्थ' है ही नही, जिसमे मिथ्यात्व का लक्षण घट सके। अत 'सत्त्व, असत्त्वरूप विरोधी धर्म का 'प्रपञ्च' मे निषेध नही किया जा सकता। एवञ्च 'निषेध' का असम्भव है।

(६) **'अविद्या-तत्कार्ययोरन्यतरत्व वा'** यह लक्षण भी उचित नही है। अर्थात् 'अविद्या और अविद्याकार्य' दोनो मे अन्यतरत्व यह **षष्ठ लक्षण** भी उचित नही है। क्योकि यहाँ पर 'अविद्या' पद से **'अनिर्वचनीय अविद्या'** विवक्षित है? अथवा **'अग्रहण'** अथवा **'मिथ्याज्ञान'** विवक्षित है? यदि 'अनिर्वचनीय अविद्या' विवक्षित हो तो वह 'परमत' मे प्रसिद्ध ही नही है। और 'अग्रहण' (ज्ञानाभाव), ओर 'मिथ्याज्ञान' (भ्रम, विपर्यय) रूप अविद्या मे तथा उसके कार्य 'प्रवृत्ति, सस्कार' आदि मे 'सत्यत्व' ही है। अर्थात् 'सत्यत्व' के होने से (सत्य के अविरोधी मिथ्यात्व का लक्षण बन जाने मे) 'अर्थान्तर' हो जायगा। तब वह 'सत्य' के विरोधी-'असत्य' का लक्षण कैसे सिद्ध हो पायगा?

(७) अब **'ज्ञान-निवर्त्यत्व'** यह सप्तम लक्षण भी उचित नही है। क्योकि उसमे भी **'अर्थान्तर'** दोष उपस्थित होता है। **'नैयायिक'** विद्वान्, **'उत्तर-ज्ञान'** से **'पूर्वज्ञान'** की निवृत्ति मानते हैं। तब उत्तरज्ञान से निवर्त्यमान 'पूर्वज्ञान' की 'सत्यता' रहने से 'अलक्ष्य' मे 'लक्षण' की अतिव्याप्ति होती है। **दूसरी बात** यह है कि प्रतिवादी के मतानुसार 'प्रपञ्च' की सत्यता रहनेपर भी 'महाप्रलय' के समय 'ईश्वर के ज्ञान' से 'प्रपञ्च' की निवृत्ति होने के कारण **'अर्थान्तर'** भी होता है। अभिप्राय यह है कि 'आत्मा' 'विभु द्रव्य' है। उसके 'ज्ञानादि' विशेष गुण होते है। वे, अपने 'उत्तरभाविज्ञानादि' से निवर्त्य होते है। इसप्रकार उत्तरभाविज्ञान से निवृत्त होनेवाले पूर्वभाविज्ञान के विषय-होनेवाले 'सुखादिगुण', सत्य है। यदि 'नित्यज्ञान से निवर्त्य' को 'मिथ्या' कहे तो **'अर्थान्तिर'** होगा।

(८) अब मिथ्यात्व का **'प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा'** अर्थात् ज्ञायमान आश्रय मे होनेवाले निषेध का प्रतियोगित्व,—यह अष्टम लक्षण भी ठीक नही है। क्योकि लक्षण बनानेवाले को पहिले यह स्पष्ट करना होगा कि 'आश्रय', का 'प्रमाणज्ञान' से 'ज्ञायमान' होना अभीष्ट है अथवा 'भ्रान्ति' से 'ज्ञायमान' होना अभीष्ट है?

यदि **प्रथम विकल्प** को स्वीकार करते है तो 'प्रतिपन्न' शब्द का अर्थ होता है—**'प्रमाण से निश्चित'**। तब 'प्रमाण' से जो पदार्थ, जिस आश्रय मे निश्चित हुआ हो, उसका 'निषेध' कैसे हो सकेगा? अन्यथा 'ब्रह्म' मे जो प्रमाणसिद्ध ज्ञान-स्वरूपता, आनन्दस्वरूपता आदि उसका भी निषेध होने लगेगा। और **'भ्रान्ति से निश्चित (ज्ञायमान) होना'** यदि अभीष्ट अर्थ हो तो, 'भ्रान्ति' से ज्ञायमान आश्रय मे होनेवाले निषेध की प्रतियोगिता 'सत्यवस्तु' मे भी सभव हो सकती है। तब **'अर्थान्तर'** दोष होता है। **अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक** 'भ्रमस्थल' मे किसी जगह 'निषिध्यमान पदार्थ की 'अन्यत्र सत्ता' स्वीकार करते ही है। अर्थात् 'शुक्ति' मे 'रजत' निषेध के प्रतियोगी 'सत्य रजत'की सत्ता को अन्यत्र मानतेही है।

(९) अब मिथ्यात्व का नवम लक्षण **'बाध्यत्वं वा',** यह भी ठीक नही है। क्योकि 'बाध्यत्व' को **'बाधकज्ञानविषयत्व'** माना जाय? अथवा **'बाधकज्ञान-निवर्त्यत्व'** माना जाय?

दोनो पक्षो मे 'अर्थान्तरता' पूर्णरूप से रहती है। 'शुक्ति' आदि सत्य पदार्थ मे 'रजत' का भ्रम होने के पश्चात् 'नेद रजतम्'-यह रजत नही है—अपितु 'शुक्ति' है,

इस प्रकार से 'बाधकज्ञान' की विषयता को 'सत्य शुक्ति' मे माना जाता है। उसीतरह 'नेद रजतम्' इस बाधक-ज्ञान से, 'इद रजतम्' इस पूर्वज्ञान की निवृत्ति मानी जाती है।

(१०) अब मिथ्यात्व का दशम लक्षण **'स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा'** यह भी ठीक नही हे। अर्थात् अपने 'अत्यन्ताभाव' के अधिकरण मे प्रतीयमानत्व (प्रतीतिविषयत्व)—यह दशम-लक्षण भी सगत नही है। क्योकि **संयोग, विभाग, शब्द,** और **'आत्मा'** के विशेषगुणो को नैयायिकविद्वान् **'अव्याप्य वृत्ति'** कहते है। वे 'अपने अत्यन्ताभाव' के 'अधिकरण' मे प्रतीयमान होते है, तो भी उनको **'सत्य'** माना जाता है। उसकारण 'अर्थान्तरता' प्राप्त होती है, उसका निवारण नही किया जा सकता। एवञ्च **प्रपञ्च** के 'मिथ्यात्व' का निर्वचन (लक्षण) नही हो पा रहा हे।

मिथ्यात्व का निर्दुष्ट लक्षण जैसे नही है, वैसे ही 'प्रपञ्च' को **मिथ्या** मानने मे कोई **प्रमाण** भी नही है। तथाहि—यदि **'प्रत्यक्ष'** प्रमाण से 'प्रपञ्च' को 'मिथ्या' कहे, तो वह सभव नही है। क्योकि अभी ऊपर-'मिथ्यात्व' को सिद्ध करने के लिये जो **दश प्रकार** के लक्षण किये थे, उनमे से कोई एक प्रकार का भी 'मिथ्यात्व' यदि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से सिद्ध हो जाता तो 'मिथ्यात्व' को लेकर वादियो का 'विवाद' ही न होता।

शङ्का—यदि कोई कहे कि **'मिथ्यात्व'** का अस्तित्व **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** से सिद्ध नही हो पा रहा है, तो न सही। हम **'अनुमानप्रमाण'** से 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करेगे। जैसे—**'विवादपदं'** (विवादास्पद = विवादविषय) **प्रपञ्चः, मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'**—अर्थात् विवाद का आस्पद (विषय) प्रपञ्च, मिथ्या है, दृश्य होने से, जैसे शुक्ति मे रजत दृश्यरूप से भासित होता है। यह 'अनुमान' का आकार होगा।

समा०—'प्रपञ्चमिथ्यात्व' की सिद्धि उक्त अनुमानप्रयोग से नही की जा सकेगी। क्योकि ऊपर दिये हुए 'दश लक्षणो' मे से **'प्रमाणागम्यत्व'** रूप 'प्रथम-लक्षण', अथवा **'सदसद्वैलक्षण्य'** रूप 'पञ्चमलक्षण', अथवा **'अविद्यातत्कार्यान्यतरत्व'** रूप 'षष्ठलक्षण' से लक्षित किये गये **'मिथ्यात्व'** को 'अनुमान' मे सिद्ध करने का प्रयत्न करेगे तो **'अप्रसिद्धविशेषणता'** दोष प्राप्त होगा। यदि **'अयथार्थज्ञानविषयत्व'** रूप 'तृतीय लक्षण' से लक्षित 'मिथ्यात्व' को सिद्ध कर रहे हो तो वह 'मिथ्यात्व', तो **प्रभाकर** (गुरु) मीमासक के मत मे **'अप्रसिद्ध'**

है। और **शेष छह लक्षणों** से लक्षित 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करना चाहो तो **'सिद्ध-साधनता'** दोष की उपस्थिति होगी। इस प्रकार से **'मिथ्यात्व'** (साध्य) का अस्तित्व सिद्ध करना सभव नही है। **किञ्च**—आपके द्वारा प्रयुक्त अनुमान मे जो **'दृश्यत्व'** हेतु दिया गया है, उसके 'अर्थ' का भी विचार करना होगा कि उसका अर्थ **'फलव्याप्यत्व'** है अथवा **'वृत्तिव्याप्यत्व** है ? अथवा **'उभय साधारण'** है ? उक्त 'तीन विकल्पो' मे से **'फलव्याप्यत्व'** अर्थात् फलविषयत्व रूप **प्रथम विकल्प** का स्वीकार करना सभव नही है क्योकि **अतीन्द्रिय** 'धर्म-अधर्मसस्कारादि' मे 'फलव्याप्यत्व' नही रहता, यानी 'फलव्याप्यत्व' का अभाव है। अत प्रपञ्च' रूप पक्ष' के 'धर्माधर्मरूप अतीन्द्रिय भाग (अश), मे **'दृश्यत्व हेतु'** के न रहने से उसमे **'भागासिद्धि'** दोष हो जाता है, जिससे वह 'दृश्यत्व' हेतु **'भागासिद्ध'** (पक्ष के अतीन्द्रिय-भाग मै असिद्ध) है। अत **भागासिद्ध हेतु,** 'साध्य (मिथ्यात्व) की सिद्धि करने मे असमर्थ है।

उसीतरह **'वृत्तिव्याप्यत्व'** अर्थात् वृत्तिविषयत्व रूप द्वितीय विकल्प का स्वीकार करना भी सभव नही है, क्योकि मिथ्यात्व के विपक्षरूप **'ब्रह्म'** मे भी वेदान्तियो ने 'वृत्तिव्याप्यता' (वृत्तिविषयता) स्वीकार की है। अत **वृत्ति-व्याप्यत्वरूप** 'दृश्यत्व' हेतु, **'अनैकान्तिक'** (व्यभिचारी) है।

अब **'उभयसाधारण'** रूप तृतीय विकल्प भी सगत नही हो रहा हे। क्योकि वह भी **'ब्रह्म'** मे व्यभिचारी है। इस रीति से **'दृश्यत्व'** हेतु के खण्डित हो जाने से ही **'जडत्व, अन्तवत्त्व'** (उत्पत्ति-नाशवत्त्व) **परिच्छिन्नत्वादि** हेतुओ का भी खण्डन हो जाता है। एवञ्च **'मिथात्व'** का निर्वचन नही हो पा रहा हे।

इसपर यदि कहो कि हम एक 'अन्य अनुमान' से 'मिथ्यात्व' को सिद्ध करेगे। जैसे—**'अयं पटः, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, दृश्यत्वात्, घटवत्,** अर्थात् यह पट, अपने समवायिकारणभूत उन तन्तुओ मे रहनेवाले 'अत्यन्ताभाव' का प्रतियोगी है। क्योकि 'तन्तुओ' मे 'पट', दृश्यमान है। तन्तुओ से पृथक् (भिन्न) उसका 'सत्यस्वरूप' अन्य कोई नही है। इसलिये जैसे **'घट',** 'तन्तुओ' मे रहनेवाले अपने 'अत्यन्ताभाव' का प्रतियोगी है, उसीप्रकार 'पट' भी 'प्रतियोगी' है।

किन्तु **यह अनुमान** भी 'प्रपञ्च मिथ्यात्व' मे प्रमाण नही हो सकता। क्योकि 'तन्तुवृत्ति अत्यन्ताभाव' और 'दृश्यत्व' हेतु इन दोनो मे **दृश्यत्वहेतु** 'अनै-कान्तिक' (व्यभिचारी) है। क्योकि 'तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव' मे तथा 'दृश्यत्व' मे भी 'हेतु' तो है, किन्तु उसमे 'एतत्तन्तुनिष्ठ-अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व है

अर्थात् 'प्रतियोगित्वरूप, साध्य', इनमे नही है। क्योकि वहाँ 'अत्यन्ताभाव' का 'अत्यन्ताभाव' नही है और न 'दृश्यत्वाभाव' है। एवञ्च उन दोनो मे 'दृश्यत्व' के रहनेपर भी 'तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगित्व' ही है, 'प्रतियोगित्व' नही है।

शङ्का—यदि **'साध्य** तथा **हेतु'** दोनो मे उक्त **'प्रतियोगित्व'** को मानले तो **'तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का अभाव'** कहना होगा। तभी दोनो मे **'प्रतियोगित्व'** प्राप्त हो सकेगा। तब **'पक्ष'** मे और **'दृष्टान्त'** मे भी कही **'साध्य'** की सिद्धि ही नही होगी। और **'तन्तु'** मे रहनेवाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता **'दृश्यत्व'** 'हेतु' मे मानने से उनकी (तन्तुओ की) **'अदृश्यता'** प्राप्त होगी। क्योंकि 'तन्तुओ' मे 'दृश्यत्व' का **'अत्यन्ताभाव'** मान रहे है, तभी तो 'दृश्यत्व' मे 'प्रतियोगिता' आपायेगी। तब 'तन्तुओ' मे 'दृश्यत्व' के न रहने से 'तन्तु', अदृश्य हो जायेगे।

तथा एक और विचारणीय प्रश्न उपस्थित होता हे कि यह **'प्रपञ्च', प्रामाणिक** हे ? या **'अप्रामाणिक'** ?

यदि **'प्रामाणिक'** हो तो जिस प्रमाण से उसको प्रामाणिक सिद्ध करोगे, 'उसी प्रमाण' से उसके **'मिथ्यात्वानुमान'** का बाध हो जायगा। क्योकि **'प्रमाण'** से जो अवगत होता है, उसकी **'सत्यता'** मानी जाती है।

यदि **'प्रपञ्च'** को **अप्रामाणिक** कहते है तो **'आश्रयासिद्धि'** (आश्रय का अभाव) होती है।

यदि यह कहो कि **'प्रपञ्चरूप आश्रय',** प्रतीतिमात्र से तो सिद्ध हे ही, अत अनुमान मे **'आश्रयासिद्धि'** दोप, नही होगा।

इसतरह प्रतीति होनेमात्र से ही **'आश्रयासिद्धि'** दोष दूर हो जायगा तो सभी के मत मे 'सत्य, मिथ्या, दोप, गुण' आदि सभी कुछ प्रतीतिमात्र से ही सुलभ होने लगेगे। 'केवल प्रतीति होनेमात्र से' ही सभी के मतो का मण्डन, खण्डन समझा जा सकता है, तब तो 'सम्पूर्ण व्यवहार' ही अव्यवस्थित हो जायगा।

यही प्रश्न **'साध्य, हेतु और दृष्टान्त'** के विपय मे भी हो सकता है कि 'वे **प्रमाणसिद्ध** है, अथवा **नही** ?' यदि उन्हे प्रमाणसिद्ध मानते है तो 'दृश्यत्व' हेतु, उनमे 'व्यभिचरित' होता है। क्योकि प्रामाणिकता रहने से उन्हे 'सत्य' कहना होगा, तब उनमे 'मिथ्यात्व' नही रहेगा और 'हेतु' तो रहेगा ही। एवञ्च मिथ्यात्व

के न रहनेपर भी अर्थात् 'सत्यत्व' मे भी 'दृश्यत्व' हेतु के रहने से उसे व्यभिचारी मानना होगा।

और यदि 'प्रमाणसिद्ध' नही है, तो उनमे 'साध्यभाव', 'साधनभाव', 'दृष्टान्तभाव' नही है,—यही कहना होगा।

तब 'अनुमान' का सभव ही कैसे हो सकेगा ? अर्थात् **'साध्य'** आदि को 'अप्रामाणिक' माननेपर 'साध्य, हेतु, दृष्टान्त' का अभाव रहने से 'मिथ्यात्व' का अनुमान नही होगा। एवञ्च 'आश्रयासिद्धि' के समान ही 'साध्य' आदि की भी सिद्धि नही हो पा रही है।

जैसे **'प्रपञ्च'** के 'मिथ्यात्व' को **'प्रत्यक्ष'** और **'अनुमानप्रमाण'** से सिद्ध नही कर पा रहे है, उसीतरह सबसे प्रबल 'आगमप्रमाण' भी उसके मिथ्यात्व को सिद्ध नही कर सकता है।

उसपर वेदान्ती, अपने पूर्वपक्षी से कहता है कि **'एकमेवाऽद्वितीयम्'**-(छा उ ६।२।१) एक ही अद्वितीय है—इस आगमप्रमाण से **'प्रपञ्च'** मे 'मिथ्यात्व' सिद्ध हो रहा है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**-(तै उ २।१।१) सत्य, ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप ब्रह्म है—इस 'आगमप्रमाण' से **'ब्रह्म'** मे ही अद्वितीयत्व, अनन्तत्व को बताया गया है, उससे तद्भिन्न का अभाव अर्थात् 'प्रपञ्च' का **'मिथ्यात्व'** अवगत होता है। तथा **'नेह नानास्ति किञ्चन'**-(बृह उ ४।४।१९) ब्रह्म मे नानात्व नही है—इस आगमप्रमाण से **'नानात्व'** (भेद) का 'निषेध' अर्थात् **प्रपञ्च** का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'**-(ऋ वे म ६, अ ४, सू ४७, म १८)-परमेश्वर अपनी माया से अनेक रूपो को धारण करता है—इस वचन से भी भेद (प्रपञ्च) का मिथ्यात्व सिद्ध हो रहा है। तथा **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'**-(कठ उ ४।१०)-वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है—यह वचन, **भेददर्शन** की निन्दा कर रहा है, उससे **भेदरूप प्रपञ्च** मे 'मिथ्यात्व' सिद्ध हो रहा है। इत्यादि अनेक आगमवचनो से **प्रपञ्चमिथ्यात्व** का प्रतिपादन किये जानेपर भी आप कैसे कह रहे है कि **आगम प्रमाण** भी 'प्रपञ्चमिथ्यात्व' की सिद्धि नही कर पा रहे है ?

उसपर **पूर्वपक्षी** कहता है कि जिन 'आगमप्रमाणो' को आपने **प्रपञ्च के मिथ्यात्व** मे प्रस्तुत किया है, वे 'प्रपञ्च के मिथ्यात्व' को नही बता रहे है। **'एक-मेवाऽद्वितीयम्'** यहाँ 'अद्वितीय' शब्द से केवल 'सजातीय द्वितीय वस्तु' का निषेध किया जा रहा है। 'समस्त प्रपञ्च' का निषेध (मिथ्यात्व) नही बताया जा रहा है। अर्थात् 'ब्रह्म' की सजातीय दूसरी वस्तु के निषेध मे 'अद्वितीय' शब्द का तात्पर्य

है। जैसे—यदि कहा जाय कि इस गाँव मे 'यह देवदत्त' ही एक **'अद्वितीय पुरुष'** है'। वैसे ही उक्त 'श्रुतिवचन' मे भी समझना चाहिये। तथा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** यहाँ 'अनन्त' पद, **'पूर्वकालिक अन्त'** (प्रागभाव) और **'उत्तरकालिक अन्त'** (ध्वसाभाव) के **अभाव** को बताता है, अर्थात् **'जन्म-मरणाभाव'** का बोधन करता है। एवञ्च लोकव्यवहारप्रसिद्ध **'प्रागभाव'** और **'प्रध्वंसाभाव'**-रहित के अर्थ मे ही **'अनन्त'** शब्द का 'शक्तिग्रह' होना है। अर्थात् **'उत्पत्ति' और 'ध्वंस'-रहित अर्थ** का ही अभिधायक **'अनन्त'** शब्द है। **'अन्योन्याभावाधिकरणत्व** (भेदाधिकरणत्व) की **अनधिकरणता'** (अभिन्नत्व = अद्वैतत्व)—यह अर्थ, **'अनन्त'** शब्द का नही है। अत इस अर्थ मे 'अनन्त' पद का शक्तिग्रह (व्युत्पत्तिग्रह) होना असभव है। **'नेह नानास्ति किञ्चन'**-(बृह उप ४।४।१९) अर्थात् इस 'ब्रह्म मे नानात्व नही'—यह आगमवचन भी **'कारणब्रह्म'** मे 'नानात्व' का **निषेधमात्र** कर रहा है, 'प्रपञ्चमिथ्यात्व' मे उक्त वचन का तात्पर्य नही है। **'इन्द्रो मायाभिः'** (ऋ म ६ अ ८ सू ४७ म १८) परमेश्वर अपनी माया से अनन्त रूप धारण करता है—**'चेतश्चित्तं क्रतुर्माया'** इत्यादि कोष के अनुसार यहाँ पर 'माया' शब्द, चित्त' और 'चित्तवृत्ति' (ज्ञान) का वाचक है। अत यह या इस प्रकार के मन्त्रो का तात्पर्य तो 'चित्त' (अन्त करण) की तत्तत्-इन्द्रिय-द्वारक 'विविधवृत्तिरूप' **'उपाधियाँ'** (जो 'माया' शब्द से कही जाती है यानी वाच्य होती है) हैं, उनसे 'परमेश्वर' की **उपासनाविधि** (प्रतिपत्ति विधि) बताई गई है। 'प्रपञ्च के निषेध' मे उनका तात्पर्य नही है। **'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति'**-(कठोप ४।१०) मृत्यु से मृत्यु को वह प्राप्त होता है—इसप्रकार के श्रुतिवचनो का तात्पर्य भी 'भेददर्शन' (भेदज्ञान) की निन्दा के द्वारा **'अभेदोपासना'** (अभेद-प्रतिपत्ति = चिन्तनोपासना) के **विधान में ही** है। 'प्रपञ्च के निषेध' (मिथ्यात्व) मे उसका तात्पर्य नही है।

यदि कोई **'आगम'**, 'प्रपञ्चनिषेध' (प्रपञ्चमिथ्यात्व) को बताता भी हो तो उसका **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** से बाध हो जायगा। क्योकि **'आगम'** को अपने 'स्वरूप-ज्ञानार्थ' तथा 'पद-पदार्थविभाग ग्रहण (शक्तिग्रह) मे **'प्रत्यक्ष'** की अपेक्षा रहती है, किन्तु **'प्रत्यक्ष प्रमाण'** को अपने कार्य सम्पादनार्थ **'आगम प्रमाण'** की अपेक्षा नही रहती। अत 'प्रत्यक्ष प्रमाण' **स्वतन्त्र** होने से प्रबल है, और 'आगमप्रमाण', **परतन्त्र** (प्रत्यक्ष प्रमाण के अधीन) होने से 'दुर्बल' है। एवञ्च 'दुर्बल' होने से उसका बाध होता है। इसलिये **'प्रपञ्च का निषेध'** उससे नही किया जाता। किञ्च-**'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'**-कोई प्राणी, किसी भी प्राणी की हिंसा न करे,

'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' (तै स ६।१।११) अग्नीषोमदेवता के लिये जो छागपशु है, उसकी हिंसा (आलभन) करे, **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'**-ब्राह्मण का हनन नही करना चाहिये, **'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत'**-ब्राह्मणत्व के रक्षणार्थ ब्राह्मण का हनन करे, **'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**–अतिरात्रसस्थाक ज्योतिष्टोम याग मे 'षोडशि' नामक पात्र मे 'सोमरस' का ग्रहण करे।, **'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'**–अतिरात्रसस्थाक ज्योतिष्टोमयाग मे 'षोडशि' सज्ञकपात्र मे 'सोमरस' का ग्रहण न करे–। **'उदिते जुहोति'**-सूर्य का उदय होनेपर होम करे–**'अनुदिते जुहोति'**-सूर्योदय के पूर्व ही होम करे–। इत्यादि श्रुति (आगम) वचन, परस्पर विरुद्ध अर्थ को बता रहे है। अत ये सभी वचन 'व्याकुल' अर्थात् सन्देह से ग्रस्त है। ऐसी व्याकुलता (सदिग्धता) 'प्रत्यक्ष प्रमाण' मे नही है। इसकारण 'आगम-प्रमाण' की अपेक्षा **'प्रत्यक्षप्रमाण'** प्रबल है, और **'आगमप्रमाण'** दुर्बल है।

किञ्च—**'प्रपञ्चमिथ्यात्व'** (अभेद या एकत्व) का बोधक 'आगमप्रमाण' तो 'उपचरित अर्थ' (गौण अर्थ) मे प्रामाणिक माना जा सकता है। तात्पर्य यह है कि 'आगम प्रमाण' **गौण अर्थ** मे सावकाश हो जाता है, किन्तु भेद-बोधक 'प्रत्यक्ष प्रमाण', को यदि **'अपने अर्थ'** मे बाधित कर देगे तो उसे कही भी 'प्रमाण' नही कहा जा सकेगा। उसका क्षेत्र तो एक मात्र 'भेद-बोधन' करना ही है। वहाँ भी यदि वह **निरवकाश** रहगा तब उसे तो कही जगह ही नही रहेगी। एवच उसकी **निरवकाशता** को देखकर उसे 'प्रत्यक्ष' की अपेक्षा प्रबल ही कहना होगा।

दूसरी बात यह है कि 'आगम प्रमाण' की अपेक्षा, **पूर्व-प्रतिष्ठित** होने से 'प्रत्यक्ष प्रमाण' अपने अर्थ मे **'असञ्जातविरोधी'** है, और 'आगमप्रमाण' **सञ्जात-विरोधी** है, क्योकि पहले से ही उसका **'विरोधी प्रत्यक्षप्रमाण'** उपस्थित है। एवञ्च **सञ्जात** और **असञ्जात विरोधियों में** 'सञ्जात-विरोधी' दुर्बल हुआ करता है। अत **'आगम प्रमाण'** का ही बाध होगा।

वस्तुत देखा जाय तो 'विरोध' भी नही है, क्योकि **आगम** भी 'प्रपञ्च की सत्यता' को ही बताता है। तथाहि—**'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** (छा उ ६।१।४) मृत्तिका सत्य ही है, **त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्'**—सत्त्व, रज और तम ये तीन रूप सत्य ही है—अथवा यो कहिये 'तेज, जल और भूमि के रक्त, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप ही सत्य है, **'प्राणा वै सत्यम्'** (बृह उ २।१।२०) प्राण सत्य ही है—**'सच्च त्यच्चाऽभवत्'** (तै उ २।६)—'सत्' = व्यक्त पृथिवी, जल, तेज और 'त्यत्' = अव्यक्त वायु और आकाशरूप ब्रह्म हुआ। इत्यादि आगम वाक्यो ने 'प्रपञ्च को सत्य' ही बताया है। इसलिये कोई विरोध नही है।

अनुमान प्रमाण से भी 'प्रपञ्च' की सत्यता सिद्ध होती है—**"विवादास्पदीभूत प्रपञ्चः सत्यः प्रमाणसिद्धत्वात् आत्मवत्"**—अर्थात् विवाद का आस्पद (विषय) जो 'प्रपञ्च' (ससार) है, वह 'सत्य' है, प्रमाणसिद्ध (प्रामाणिक) होने से, जैसे 'आत्मा' । इस अनुमान से 'भिन्न वस्तु की सत्यता' सिद्ध की गई है ।

अब **'भेद'** की सत्यता मे भी 'अनुमान' बताते है—**'अयं घटः एतन्निष्ठबाध्य भेदातिरिक्त-भेदाश्रयः द्रव्यत्वात्पटवत्'** अर्थात् 'यह घट', इस घट-वृत्ति बाध्य (मिथ्या) भेद से भिन्न (सत्य) भेद का आश्रय है, द्रव्य होने से, जैसे—'पट', **सत्यभेद** का आश्रय है । उक्त दोनो अनुमानो से 'घटादि' मे तथा 'सम्पूर्ण ससार' मे आकाश, आत्मा, के भेद की सत्यता सिद्ध हो जाती है ।

शङ्का—'भेद को सत्य' मानने पर **'दृक्'** (ज्ञान) और **'दृश्य'** (विषय) के **सम्बन्ध** की अनुपपत्ति होगी, क्योकि **'ज्ञान'** (दृक्) और **'घट आदि विषय'** (दृश्य = ज्ञेय) का आपस मे **'संयोग समवाय'** आदि सम्बन्ध के होने का सभव नही है ।

निष्कर्ष यह है कि **'भेद'** अथवा **'भेदी** दृश्यवर्ग' को सत्य मानने पर उसका और उसके ज्ञान का परस्पर सम्बन्ध कौन सा होगा ? 'सयोग' सम्बन्ध को कह नही सकते, क्योकि 'सयोग' के 'गुण' होने से वह द्रव्यमात्रवृत्ति होगा । 'ज्ञान' तो गुण है, 'द्रव्य'-नही है । समवाय' सम्बन्ध को भी नही कह सकते, क्योकि 'ज्ञान' तो 'आत्मा' मे समवेत (समवाय सम्बन्ध से) रहता है ।

समा०—ऐसी शङ्का करना उचित नही है क्योकि **'ज्ञान'** और **'विषय'** का साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी 'तत्तद् विषय' के ज्ञान के निमित्तभूत (उत्पादक) **'इन्द्रिय, लिङ्ग, शब्द'** आदि का तत्तद् घट पटादि विषयो के साथ **नियत सम्बन्ध** रहता ही है, यही घट पटादि विषय के प्रति 'घटादिविषयकज्ञानो' का नियामक बन जायगा । अत **'विषय' के साथ** 'ज्ञान' का सम्बन्ध न रहने पर भी, जिस विषय से सम्बन्धित 'इन्द्रिय, लिङ्ग, या 'शब्द' से जो ज्ञान होगा, वह ज्ञान, उसी विषय को ग्रहण करेगा, 'अन्य विषय' को नही । एव च 'विषय' के साथ 'ज्ञान' का सम्बन्ध न रहने पर भी जिस विषय का तत्सम्बन्धी इन्द्रिय, लिङ्ग अथवा शब्द से जो ज्ञान होगा, वह उसी विषय का होगा, दूसरे विषय का नही । जैसे-घटसयुक्त इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का विषय 'घट' ही होगा, 'पट' नही । इस प्रकार का नियम सिद्ध होनेपर 'ज्ञान' और 'विषय' का अतिरिक्त सम्बन्ध (साक्षात् सम्बन्धान्तर) न होनेपर भी किसी प्रकार का अतिप्रसग अथवा अप्रसङ्ग नही है । अत **'भेद को**

सत्य मानने में किसी प्रकार की बाधा नही है। प्रत्युत **'भेदरूप प्रपञ्च'** को मिथ्या मानने पर, **'कर्म भेद' के प्रतिपादक** (१) **शब्दान्तर,** (२) **अभ्यास,** (३) **संख्या,** (४) **संज्ञा,** (५) **गुणान्तर,** (६) **प्रकरणान्तर**—प्रमाणो मे 'अप्रामाण्य' कहना होगा। **अभिप्राय** यह है कि पूर्वमीमासाशास्त्र के द्वितीय अध्याय मे यह बताया है कि 'भविता के भवनानुकूल व्यापार को **भावना** कहते हैं'। 'यज्ञ' भविता (होनेवाला) है। 'यजति, ददाति, जुहोति' मे 'धातु' का अर्थ—याग, दान, होम के भेदे से भिन्न-भिन्न है, किन्तु 'प्रत्यय' (ति) का अर्थ, 'भावना' (विधि-प्रेरणा) एक ही है। ऐसी स्थिति मे धात्वर्थ-युक्त शब्द 'जुहोति' आदि के भेद से भिन्न-भिन्न अर्थ (कर्म) का विधान 'शब्द भेद' के कारण होता है।

तथा **'समिधो जयति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति'**—यहाँ पर **'यजति' क्रिया** के, 'समान' (एक) रहने पर भी **'अभ्यास'** के कारण **'पाँच कर्म'** माने जाते है।

तथा **'सप्तदशप्राजापत्यान् पशून् आलभते'**—यहाँ पर **'प्रजापति'** देवता के एक रहने पर भी **'सप्तदश' सख्या** के कारण **कर्मभेद** माना जाता है।

तथा **'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत'** यहाँपर ज्योतिष्टोम याग से विलक्षण ज्योति अर्थात् **'विश्वज्योति'** 'संज्ञा' (नाम) के कारण **इस कर्म** को 'ज्योतिष्टोम' से भिन्न माना गया है।

तथा **'वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्'**—यहाँ पर **'आमिक्षा'** और **'वाजिन'** रूप गुण के भेद से दो भिन्न-भिन्न कर्म माने जाते है। तपे हुए दूध मे 'दही' के डालने पर दूध फट जाता है, तब घनीभूत जो दूध का भाग है, उसे **'अमिक्षा'** कहते है, और शेष जो जल भाग है, उसे **'वाजिन'** कहते है।

तथा **'मासमग्निहोत्रं जुहोति'** यहाँपर **'प्रकरणान्तर'** रहने से यह **'मासाग्निहोत्र'** कर्म, **नित्याग्निहोत्र' कर्म** से भिन्न है। कहा भी है—

'शब्दान्तरं धातुभेदोऽभ्यासो विधेः पुनः श्रुतिः।
उत्पत्तिस्था द्व्यादिसंख्या संज्ञा चाङ्गमपूर्वगम्॥
सानुपादेयसम्बन्धोऽसंनिधिः प्रक्रियान्तरम्।
इति शब्दान्तरादीनामुक्तं लक्ष्म-विचक्षणैः॥

अनुपादेय पञ्चक निम्नलिखित है—

'देशः कालो निमित्तञ्च फलं संस्कार्यमेव च।
मीमांसानिपुणाः प्राहुरनुपादेयपञ्चकम्॥'

यदि **'भेदरूप प्रपञ्च'** को बाधित या मिथ्या कहेगे तो भेद अर्थात् बाधित-अर्थ के प्रतिपादक उपर्युक्त **छह प्रमाणों** (कर्म भेदक प्रमाणो) को 'प्रमाण' कैसे कहा जायगा ? अर्थात् उन्हे **अप्रमाण** कहना होगा ।

शङ्का—ऊपर बताये गये कर्म-भेदक शब्दान्तरादि छह प्रमाण, तो लोकव्यवहार मे प्रसिद्ध जो 'भेद' है, उसी का अनुवाद करते है, अनुवादक होने से **'अपूर्वार्थ-प्रतिपादकत्वरूप प्रामाण्य'** ही उनमै नही है, जिसका **'भेदमिथ्यात्व'** से बाध होगा ।

समा०—उक्त आशङ्का ठीक नही है, क्योकि अलौकिक कर्मों का भेद भी अलौकिक ही होता है। वह लोकव्यवहार से गम्य नही है। वैसा वैदिक कर्म, और तज्जन्य अपूर्व (अदृष्ट) का भेद—प्राकृत लोगो को अवगत नही हो पाता । अत साधारण भेद' का ज्ञान, लोकव्यवहार मे होने पर भी 'अलौकिक कर्मों के भेद' का ज्ञान, लोकव्यवहार से नही हो सकता । यदि उसे 'लोकव्यवहार' से ही अवगत होने का दुराग्रह ही हो तो 'शब्दान्तरादि छह अधिकरणो' का आरम्भ ही न हुआ होता, किन्तु मीमासाशास्त्र मे उनके विचार को निष्फल तो कह नही सकते। अत 'प्रपञ्चमिथ्यात्व' का **लक्षण** एव **प्रमाण** दोनो ही नही बन पा रहे है। प्रत्युत 'अनुमान' तथा 'आगम' प्रमाणो के तो **'भेदरूपप्रपञ्च'** मे 'सत्यत्व' ही सिद्ध हो रहा है, मिथ्यात्व नही। अत 'प्रपञ्च' **'मिथ्या'** नही है, अपितु **'सत्य'** है।

सिद्धान्ती—इस प्रकार **पूर्वपक्ष** के उपस्थित किये जाने पर **सिद्धान्ती** के द्वारा उसका **उत्तर** दिया जाता है । **सिद्धान्ती** कहता है—**'अत्रोच्यते'** । **पूर्वपक्षी** ने कहा था कि **'मिथ्यात्व'** का लक्षण किया जाना सभव ही नही है। उस पर **सिद्धान्ती** कह रहा है कि **'मिथ्यात्व'** का लक्षण किया जाना **असंभव** नही है, क्योकि—

'सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन समते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता' ॥

अर्थात् स्वाश्रय' मे रहनेवाले **अत्यन्ताभाव** का जो **प्रतियोगित्व** है, वही तो 'समस्त भाव पदार्थो' का **मिथ्यात्व** है। जैसे—'पटादि भाव पदार्थों' के आश्रय (उपादानकारणस्वरूप) जो 'तन्तु' आदि है, उनमे रहनेवाला (विद्यमान) जो 'अत्यन्ताभाव', उसकी **प्रतियोगिता** पटादि भाव पदार्थों मे है, उस **प्रतियोगिता** को ही 'मिथ्यात्व' का लक्षण कहा जाता है। क्योकि **'पटादि भाव पदार्थों'** की

सत्ता, अपने आश्रयभूत **'तन्तु आदि'** से अन्यत्र तो सभव नही है, और **'कार्यरूप'** होने मे उस 'पट' आदि की **स्वतन्त्रसत्ता** हो नही सकती, और उसके अपने 'उपादानभूत आश्रय' **में** भी **'सत्ता'** न रहे, तब तो हठात् **गले पादुकान्याय** से उन 'भाव पदार्थों' म **मिथ्यात्व'** ही सब प्रकार से सिद्ध होता है ।

शङ्का—**'स्वाश्रयत्वेन सम्मते उपादानकारणे स्वरूपेण विद्यमानात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'**—इस 'आश्रयघटित लक्षण' की निराश्रय नित्य **परमाणु, आकाश** और **काल** मे उस **अत्यन्ताभावीयप्रतियोगिता** के नही रहने से **अव्याप्ति** हो रही है । किन्तु 'अनात्मतत्त्व' के कारण उन्हे **'मिथ्या'** कहा जाता है । उनमे आपका किया हुआ **मिथ्यात्वलक्षण** घटित न हो पाने से वह अव्याप्ति-दोष से दूषित हो गया है ।

समा०—किन्तु यह शङ्का ठीक नही है, क्योकि **'ब्रह्म'** से भिन्न जितना भी **'प्रपञ्च'** है, वह 'कार्यरूप' है । अत व्यवहारदशा मे वह, अपने 'कारण' के आश्रित ही रहता है । उसका **कारणाश्रितत्व** उसी प्रकार से समझना चाहिये, जैसे—कल्पित 'रजत' आदि पदार्थ, 'शुक्ति' के आश्रित माना जाता है । अत हमारे **मिथ्यात्वलक्षण** की 'सत्यस्वरूप ब्रह्म' मे अतिव्याप्ति भी नही है, क्योकि **'सत्य ब्रह्म'** तो निराश्रय है । अत उसमे **'स्वाश्रयनिष्ठ-अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता'** की शङ्का करना सभव ही नही है ।

शङ्का—नैयायिक विद्वानो के द्वारा स्वीकृत, एकदेशवृत्ति 'अव्याप्यवृत्ति'-सयोग, तथा 'शब्द आदि सत्य पदार्थों' मे भी आपका 'मिथ्यात्वलक्षण' घटित हो जाता है । अत **'अर्थान्तर'** दोष उपस्थित होता है ।

समा०—यह शङ्का करना उचित नही है, क्योकि **'संयोग', 'शब्द'** आदि **'भावपदार्थ'** है । अत- उनका और उनके 'अत्यन्ताऽभाव' का 'सामानाधिकरण्य' अर्थात् 'एक अधिकरणता' कभी हो नही सकती । यदि उनकी 'एकाधिकरणता' मान ली जाय तो सभी जगह **'भाव** और **अभाव'** की 'एकाधिकरणता' प्राप्त होगी । तब तो **'भाव** और **अभाव'** का कही विरोध ही नही रहेगा । तब ससार से 'विरोध' नाम की वस्तु ही समाप्त हो जायगी । अर्थात् ससार मे भावाऽभाव के विरोध को जलाञ्जलि देने का (त्यागने का) प्रसङ्ग आवेगा । यदि 'भाव और अभाव' मे विरोध न मानने का दुराग्रह ही हो तो भी 'गोत्व, अश्वत्व-घटत्व, पटत्व आदि मे विरोध का अपलाप तो कर नही सकते हो । अत. 'विरोध' पदार्थ

का अस्तित्व तो रहेगा ही। अतः संसार से **'विरोध' नाम की वस्तु ही उठ जायगी**—यह नहीं कह सकते।

उस पर हमारा कहना यह है कि **भाव** और **अभाव** का तो 'साक्षात् विरोध' हुआ करता है, और उसी विरोध के कारण अन्य पदार्थों में भी विरोध हुआ करता है। इस बात को विद्वत्समाज बराबर मानता आ रहा है। **'गोत्व और अश्वत्व'** का विरोध भी **'परस्परात्यन्ताभावव्याप्यत्वमूलक'** हुआ करता है।

यद्यपि **एकदेशावच्छेदेन** 'भाव और अभाव' का विरोध है, तथापि **भिन्न-देशावच्छेदेन** 'भाव और अभाव' दोनों एकत्र भी रहते हैं। इस प्रकार 'प्रदेशरूप उपाधि' के द्वारा **संयोग** और उसके **अभाव'** के विरोध का समाधान (निवारण) करने पर भी 'संयोग' रूप भाव' और उसके 'अभाव' का **भिन्नाधिकरणत्व** तो सिद्ध हो ही जाता है। ऐसी परिस्थिति में (सत्य पदार्थ में) 'मिथ्यात्व' का लक्षण कहाँ घटित हो रहा है ? और जब वहाँ घटित ही नहीं हो रहा है, तब उस लक्षण की **अतिव्याप्ति** की बात भी कैसे कही जायगी ? और **'अर्थान्तर'** भी कहाँ हो रहा है ?

एवञ्च हमारे सिद्धान्त में 'मिथ्यात्व' का जो लक्षण—**'स्वाश्रयनिष्ठ-अत्यन्ताभावीय-प्रतियोगिता'** किया गया है, वह 'संयोग' आदि पदार्थों में भी घटित होता है। उस कारण वे 'संयोगादि पदार्थ' भी **सत्य** नहीं हैं। इसलिये **'मिथ्यात्व'** के लक्षण का अभाव (मिथ्यात्व की अनिरुक्ति = अनिर्वचन) नहीं है। उसी तरह 'मिथ्यात्व' में **प्रमाण का अभाव** (असत्त्व) भी नहीं है। क्योंकि 'अनुमान प्रमाण' से 'मिथ्यात्व' को सिद्ध किया जा सकता है। **जैसे**—'अवयवी' (अंशी) अवयव (अंश)-निष्ठ-अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है—इस प्रतिज्ञा में 'अंशित्वात्' हेतु है, अन्य अवयवी के समान। इसी को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—**'विमतः पटः एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, अवयवित्वात् पटान्तरवत्'** अर्थात् विवाद का विषयभूत पट, अपने आश्रयभूत तन्तुओं में विद्यमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, अवयवी होने से, पटान्तर के समान। 'पटमात्र' को पक्ष बनाकर उसमें एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व की सिद्धि करने पर **'अर्थान्तरता'**, क्योंकि किसी भी **पटान्तर** में 'एतत्तन्तुनिष्ठत्वाभाव' रहेगा ही। अतः उसकी (अर्थान्तरता की) निवृत्ति के लिये अनुमानवाक्य में **'विमतम्'** कहा गया है। अर्थात् **पटमात्र** को पक्षकोटि में न रखकर **'पटविशेष'** को ही 'पक्ष' बनाना चाहिये। सर्वत्र इसी प्रकार **'विशेष'** को ही पक्षकोटि में रखना चाहिये। प्रस्तुत में एतत्पटारम्भक तन्तु, एतत्तन्तु' ही

हैं। 'अन्योन्याभाव' के व्यवच्छेदार्थ, अनुमानवाक्य मे 'अत्यन्ताभाव' का ग्रहण किया गया है। केवल इतना ही यदि कहे कि 'तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी', तो 'पटान्तर' को लेकर **अर्थान्तरता** होगी। तन्निवृत्यर्थ 'एतत्तन्तुनिष्ठ' कहा गया है। 'पटान्तर' का आरम्भ 'एतत्तन्तुओ' से नही है। अत 'साध्य' सुप्रसिद्ध होने से **'अर्थान्तर'** नही है। पक्षकोटिप्रविष्ट 'पट' को अवयवी के रूप मे मानने से 'प्रतिज्ञा और हेतु' मे भी कोई विरोध नही है। इसी प्रकार इन तत्तत्तन्तुओ के गुण, कर्म, जाति आदि भी 'तत्तत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी' है,' तत्तद्रूप आदि होने से, अन्य रूप-गुणादि के समान। इस प्रकार के प्रयोगो की कल्पना सर्वत्र कर लेनी चाहिये। तथाहि— **'एतद्रूपम्, एतत्तन्तुनिष्ठ—अत्यन्ताभावप्रतियोगि, रूपत्वात्, इतररूपवत्'। 'एतच्चलनम्, एतत्तन्तुनिष्ठात्यान्ताभावप्रतियोगि, चलनत्वात्, अन्यचलनवत्'** । तथा— **तन्तुत्वं, तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, जातित्वात्, घटवत्'**। इसी प्रकार सत्ता आदि तथा समवाय के विषय मे भी समझना चाहिये। **'अयम् अन्त्यविशेषः, एतदात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी, विशेषत्वात्, आत्मान्तरगतविशेषवत्'**—यह विशेष के सम्बन्ध मे हो गया। एवञ्च—'मिथ्यात्व' के होने मे अनुमानप्रमाण है। अत **'मिथ्यात्वसिद्धि'** मे कोई प्रमाण नही है, यह नही कह सकते।

शङ्का—उक्त अनुमान प्रयोग मे 'प्रामाणिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' को आप 'साध्य' बनाना चाह रहे है? अथवा 'प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' को साध्य बनाना चाह रहे है? इन दो पक्षो मे से आप **प्रथम पक्ष** का स्वीकार इसलिये नही कर सकेंगे कि 'अभाव' यदि **प्रामाणिक** होगा, तब उसी के बलपर **'द्वैत'** ही सिद्ध हो जायगा, और 'प्रामाणिक अभाव' के प्रतियोगी 'घटादिभावपदार्थों' मे 'प्रामाणिकता' प्राप्त हो जाने से उनमे 'मिथ्यात्व' सिद्ध नही हो सकेगा?

'प्रातिभासिक अभाव की प्रतियोगिता' रूप जो दूसरा पक्ष है, उसे भी आप स्वीकार नही कर सकते। क्योकि **'रजत** मे सीसे (राँगे) का भ्रम होने पर **'यह सीसा ही है,** रजत नही है'—ऐसी प्रतीति होती है। यहाँपर 'रजत' मे **रजतत्व का निषेध** 'प्रातिभासिक' है उस 'प्रातिभासिक निषेध' (अत्यन्ताभाव) का प्रतियोगी होने पर भी उस 'रजतत्व' मे मिथ्यात्व नही है। अत **अर्थान्तरता** दोष की प्राप्ति होगी। एवञ्च ऊपर प्रदर्शित 'दोनो पक्षो' मे से किसी भी पक्ष का स्वीकार आप नही कर सकते।

समा०—उक्त शङ्का पर **सिद्धान्ती** कहता है कि पूर्वपक्षी ने जिन आपत्तियो को प्रदर्शित कर जो एक बिभीषिका उपस्थित कर दी है, वह प्रभावहीन है। क्योकि 'अभाव' को **प्रामाणिक** मानने पर भी 'द्वैत' की सिद्धि नही हो सकेगी। क्योकि 'भावरूप कोई भी द्वितीय पदार्थ' नही है। इस लिये **'ब्रह्म'** की 'अद्वयता' का बाध नही हो रहा है। **'सत्य'** का ज्ञान, केवल **'प्रमाण'** होने मात्र से नही होता है, अपितु **'तात्त्विक प्रमाण'** से 'सत्य' का ज्ञान होता है। जो **भावपदार्थ,** या **अभावपदार्थ,** 'केवल व्यावहारिक प्रमाणो' से जाने जाने है, उन 'व्यावहारिक भावपदार्थ', या 'अभावपदार्थो' से 'तात्त्विक प्रमाण' सिद्ध **पारमार्थिक 'ब्रह्म'** की 'अद्वैतना की निवृत्ति' की आशका कैसे की जा सकेगी ?

पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि 'प्रामाणिक अभाव' का 'प्रतियोगी' भी **प्रामाणिक** होना है। अत उसमे 'मिथ्यात्व' सिद्ध नही हो सकेगा। किन्तु यह कहना उचित नही हे। क्योकि 'प्रामाणिक अभाव' का 'प्रतियोगी' **सत्य** ही होता है—यह कोई **नियम नहीं** है। अत 'द्वैत' की प्राप्ति नही होगी। प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी की 'सत्यना उस परिस्थिति मे कह सकते थे कि यदि प्रामाणिक अभाव' (निषेध) के प्रतियोगीस्वरूप 'शुक्ति-रजतससर्ग' की सत्ता को किसी देश, किसी काल मे **अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक** मानता होता। तथा **अख्यातिवादी प्रभाकर** के मत मे ससर्गज्ञान के न हो पाने पर भी 'ससृष्टव्यवहार' से उपनीत (प्राप्त) ससर्ग के प्रामाणिक निषेध (अभाव) का प्रनियोगी, यदि प्रामाणिक माना गया होता। तथा—**विज्ञानवादी बौद्ध** के मत मे बुद्धिरूप (ज्ञानरूप) जो 'रजत' है, उस रजत के आकार मे आरोपित (आरोही) जो बाह्यवृत्ति (बहिष्ट्व) है, उसके 'प्रामाणिक निषेध' (अभाव) के प्रतियोगीरूप बाह्यवृत्तित्व (बहिष्ट्व) की सत्ता किसी भी देश, किसी भी काल मे यदि मानी गई होती।

किन्तु **नैयायिक, प्रभाकर** और **बौद्ध** ये तीनो ही ऊपर वर्णित 'सत्ता' को नही स्वीकार करते है। उस कारण प्रामाणिक अभाव (निषेध) के 'प्रतियोगी' (भाव पदार्थ) को सत्य नही कहा जा सकता।

द्वितीय विकल्प, 'प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' का स्वीकार न करने से ही वह निरस्त हो जाता है।

यह भी नही कह सकते कि 'धर्मिग्राहक प्रमाण' से 'मिथ्यात्वाऽनुमान' का

बाध हो जायगा, क्योकि किसी भी 'तात्त्विक प्रमाण' से 'धर्मी' (प्रपञ्च) की सिद्धि नही हो रही है ।

'धर्मी की असिद्धि' सुनकर **पूर्वपक्षी** हमारे 'मिथ्यात्वानुमान' मे 'आश्रयाऽसिद्धि' दोष भी नही दे सकता, क्योकि 'व्यावहारिक (लौकिक) प्रमाण' से 'आश्रय' (प्रपञ्च) की सिद्धि होती है ।

शङ्का—भेदवादी (पूर्वपक्षी) कहता है कि 'प्रपञ्च' (धर्मी) की सिद्धि **'तात्त्विकप्रमाण'** से नही है—यह कथन उचित नही है । 'प्रपञ्च की प्रमिति' हम **अनुमानप्रमाण** से कर सकते है । तथाहि—**'प्रपञ्चः तत्त्वावेदकप्रमाणविषयः धर्मित्वात् आत्मवत्'—**इस अनुमान से 'प्रपञ्च' का स्वरूप 'तात्त्विकप्रमाण' (तत्त्वबोधकप्रमाण) का विषय हो सकता है ।

समा०—किन्तु यह कहना ठीक नही होगा । क्योकि 'निरुपाधिक अनुमान' (हेतु) से 'साध्य' की सिद्धि हुआ करती है । उक्त अनुमान मे **'आत्मत्व'** उपाधि है । 'आत्मा' मे 'तात्त्विकप्रमाण' की 'विषयता' है, और 'आत्मा' मे 'आत्मत्व' भी है । अत 'आत्मत्व' मे **साध्य-व्यापकता** है, और 'धर्मित्व' रूप हेतु, 'प्रपञ्च' मे है, किन्तु वहाँ 'आत्मत्व' नही है । अत 'आत्मत्व' मे 'साधन' की **अव्यापकता** है । अत **'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्व'** रूप 'उपाधि' का लक्षण 'आत्मत्व' मे घटित हो जाता है ।

यदि यह कहो कि 'आत्मत्व' की **'व्यतिरेकव्याप्ति'** की सिद्धि 'साध्य' मे नही है, इसलिये **'उपाधि'** मे 'साध्यव्यापकता' कहाँ हो रही है ? अभिप्राय यह है कि 'साध्यव्यापक उपाधि' के अभाव से 'साध्याभाव' की सिद्धि होनेपर ही 'साध्यव्यापकता' का निश्चय हुआ करता है । प्रकृत मे 'प्रपञ्च' तो 'पक्ष' कोटि मे है । **'आत्मत्व'** तो 'पक्षेतर' स्वरुप है । अत **व्यतिरेक** की सिद्धि नही हो पारही है ।

किन्तु यह कहना ठीक नही होगा । क्योकि भ्रम के कारण प्रतीत होनेवाले **'शुक्ति'रजतसंसर्ग'** मे 'अनात्मत्व' (आत्मत्वाभाव) भी है, और 'तात्त्विक-प्रमाणविषयत्वाऽभाव' अर्थात् तत्त्वबोधकप्रमाण का 'अविषयत्व' भी है । इसकारण यह एक ऐसा उभयवादिसम्मत स्थल है, जहाँ **'व्यतिरेकव्याप्ति'** का निश्चय हो जाता है । अत यहाँपर **'आत्मत्वाऽभाव'** के रहने से **'तत्त्वप्रमाणवेद्यत्व'** की प्रसिद्धि हो जाती है । दूसरी बात यह है कि 'शुक्ति-रजतससर्ग' रूप धर्मी मे 'धर्मित्व' हेतु तो है, किन्तु 'उपाधि' नही है । अत -**'धर्मित्व' हेतु** का व्यभिचार

(अव्यापकत्व) भी उपाधि' मे है, इसलिये ऐसे व्यभिचरित 'हेतु' से **अभीप्सित-साध्य की सिद्धि** नही हो सकेगी।

शङ्का—'शुक्ति-रजतससर्ग' तो 'मिथ्या' है। अत उसमे 'धर्मित्व' हेतु नही रह सकता।

समा०—पहिले हमे यह बताओ कि **'शुक्तिरजतसंसर्गः न धर्मी मिथ्यात्वात्'** इस अनुमान मे प्रयुक्त **'मिथ्यात्व' हेतु** के प्रति 'ससर्ग' को 'धर्मी' मानते हो या नही ? यदि उसे उक्त 'हैतु' का 'धर्मी' मानते हो तो 'धर्मित्व' का निषेध नही कर सकते। यदि 'ससर्ग' को 'मिथ्यात्व' हेतु के प्रति धर्मी नही मानते हो, तो भी 'आश्रय' ही असिद्धि रहने से 'निषेध' का सभव ही नही है। क्योकि उसमे मिथ्यात्व' रहने के कारण ही 'धर्मित्व' का निषेध कर रहे थे। जब 'मिथ्यात्व' धर्म ही उसमे नही है, तब वह मिथ्या भी नही है। ऐसी स्थिति मे 'मिथ्यात्व' हेतु से 'धर्मित्व' का निषेध कैसे होगा ? इस व्यावहारिक प्रमाणभूत साधनादि के मानने से ही पूर्वोक्त **आक्षेप**—'प्रतीतिमात्र से सिद्ध प्रपञ्च को आश्रय माननेपर दूषण भूषण आदि भी सर्वत्र वैसे ही सुलभ होने लगेगे जिससे सभी वादो का विधान, सभी का निषेध होने लगेगा, कोई व्यवस्था नही रहेगी'—खण्डित हो जाता है। क्योकि 'साधन' आदि की व्यवस्था, 'व्यावहारिक प्रमाण' से ही हुआ करती है। किसी प्रकार का आक्षेप, दूषण या भूषण तो 'वादकथा' के अग माने जाते है। वादी-प्रतिवादी तथा मध्यस्थलोग, एकमत होकर जिसके विषय मे कह दे कि 'ये प्रमाण-सिद्ध है', जिनका तीन-चार कक्षा तक बाध न हो, और जो तत्तत् आभासलक्षण के लक्ष्य न बन पाये हो, उसी प्रकार के 'व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध पदार्थो' मे ही 'व्यावहारिक सत्यत्व' माना जाता है। उन पदार्थो मे 'पारमार्थिक सत्यत्व' कभी नही माना जाता। क्योकि सर्वथा 'बाधरहित तत्त्व' (सत्य) को कोई भी असर्वज्ञ व्यक्ति, 'आगमप्रमाण' के सिवाय 'अन्य किसी प्रमाण' से नही जान सकता। 'व्यावहारिक-प्रमाण' की विषयता को ही 'व्यावहारिक सत्य' कहते है।

इस कथन से ही श्री कुमारिलभट्टपाद का जो मन्तव्य हे वह भी निरस्त हो जाता है।

'सवृतेर्न तु सत्यत्व सत्यभेद कुतोऽन्वयम्।
सत्या चेत् सवृति केय मृषा चेन सत्यता कथम् ॥

श्रीकुमारिलभट्टपाद का कहना है कि—

सत्यत्व न च सामान्य मृषार्थ-परमार्थयो ।
विरोधान्नहि वृक्षत्व सामान्य वृक्ष-सिहयो ।।" इति ।
(श्लो वा ५।६–७) ।।

अर्थात बौद्धो ने **'संवृति'** (तत्त्व को आवृत करनेवाली अविद्या) को 'सत्य' कहा है, किन्तु 'सवृति' मे सत्यत्व नही रह सकता। यदि उसको 'सामान्य सत्य' न कहकर 'सत्यविशेष' कहे, तो उसे किस प्रमाण से सिद्ध कर सकेगे ? क्योकि 'अनेक' मे कोई एक 'विशेष' होता है। जब कि 'अविद्या मात्र' एक ही है, एवञ्च श्री कुमारिलभट्ट के अनुसार 'सवृति' (अविद्या) मे सत्यत्व नही रह सकता। तब 'विशेष' का प्रश्न ही नही उठता।

यदि 'सवृति' सत्य है, तब उसमे 'सवृतित्व' (मिथ्यात्व) कैसे रह पायेगा ? और यदि वह 'मिथ्या' है, तो उसमे 'सत्यत्व' कैसे रहेगा ? 'अर्थ'-दो प्रकार का होता है, एक-'मिथ्या अर्थ' और दूसरा 'परमार्थ', इन परस्पर विरुद्ध पदार्थो (वस्तुओ) मे 'सत्यत्वजाति' नही रहेगी, क्योकि विरोध है। जैसे-वृक्ष और सिह इन विरुद्ध पदार्थो मे 'वृक्षत्व' जाति नही रहती। एवञ्च श्री कुमारिलभट्टपाद ने जो कहा कि 'अविद्या' मे सत्यता नही है, अर्थात उसमे असत्यता ही है', —इस कथन का खण्डन हो गया।

वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार तो 'मिथ्या (असत्य) प्रपञ्च' मे ही लौकिक-वैदिकव्यवहार की अगता होने से 'देह' मे जैसे 'आत्मत्व' का व्यवहार किया जाता है, वैसे ही 'प्रपञ्च' मे सत्यत्व का व्यवहार तभी तक होता है जब तक उसका बाध न हो। अत 'अविधा' को व्यावहारिकरूप से 'सत्य', और पारमार्थिक रूप से 'असत्य' कहा गया है। एवञ्च दृष्टिकोण की भिन्नता से 'प्रपञ्च' को **सत्य** और **असत्य** कहा जाता है। इसलिये कोई विरोध नही है।

उक्त **'अंशित्व'** (अवयवित्व) हेतु **'असिद्ध'** भी नही है, क्योकि 'पट' के **अवयवित्व** (अशित्व) मे किसी का वैमत्य नही है। **'हेतु'** मे 'विरुद्ध' दोष भी नही है। क्योकि **'एतत्तन्तुवृत्ति (एतत्तन्तुनिष्ठ) अत्यन्ताभाव'** के 'अप्रतियोगी' **विभु आत्मा** (विपक्ष) मे **अवयवित्व** (अशित्व) रूप 'हेतु' नही रहता है। **'हेतु'** मे विरुद्धदोष' तभी आता है, जब वह **'विपक्ष'** मे वृत्ति हो, ('विपक्ष' मे रहता हो), यानी 'साध्याभाव' का साधक हो, तभी उसको **'विरुद्ध'** कहते है।

विपक्ष (निश्चितसाध्याभाववान्) से पृथक् रहने के कारण ही (विपक्षाऽवृत्ति होने से ही) वह 'हेतु' **अनैकान्तिक** (व्यभिचारी) भी नही है।

शङ्का—'इह तन्तुषु पटः'–इन तन्तुओ मे पट है—इस 'प्रत्यक्ष' प्रमाण से ही 'तन्तुओ' मे 'वृत्तितारूप' से 'पट' का ज्ञान होता है। अत उक्त अनुमान का विषय (साध्य), 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के द्वारा अपहृत हो जाता है। इसलिये **पटाभावरूप** 'साध्य' का बाध होता है। एवञ्च **हेतु** (अनुमान) मे 'कालात्ययापदिष्टता' (बाध) प्राप्त होती है। अर्थात् 'हेतु' **बाधित** हो जाता है। उस **बाधित हेतु** से 'साध्य' की सिद्धि नही हो सकेगी।

समा०—किन्तु यह अक्षेप करना ठीक नही है। क्योकि 'पट' मे 'एतत्तन्तुनिष्ठ—अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता' को स्वीकार करने वाला, 'इह तन्तुषु पट'—इन तन्तुओ मे पट हे—इस 'पत्यक्ष' को प्रमाण नही मानता। अत जैसे—'इह नभसि नीलिमा'-इस आकाश मे नीलिमा है—इत्याकारक 'प्रत्यक्ष' का विरोध रहने पर भी उसका बाधकर के **'आकाशम् अरूपि विभुत्वात् आत्मवत्'**—आकाश रूपरहित है, विभु होने मे आत्मा के समान—यह 'अरूपित्वानुमान' किया ही जाता है, उसीप्रकार प्रकृत मे भी 'मिथ्यात्वानुमान' की प्रवृत्ति हो सकती है।

शङ्का—इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि इस तरह से तो **'अग्निः शीतलः पदार्थत्वात् हिमवत्'** इत्याकारक अग्नि मे शीतलता का अनुमान भी अकुण्ठितगति से प्रवृत्त होने लगेगा। तब तो बाध (कालात्ययापदिष्ट) सज्ञक हेत्वाभास की चर्चा ही ससार से लुप्त हो जायगी।

समा०—ऐसी शका नही होनी चाहिये। क्योकि जहाँ 'विरोधी कोई 'प्रमाण', जो दोनो पक्षो को मान्य होगा, उसके उपस्थित रहने पर **'बाध'** सज्ञक हेत्वाभास की चर्चा निरङ्कुशगति से चलेगी, उसे कौन रोक सकेगा ?

प्रकृत **'मिथ्यात्वानुमान'** मे वैसा उभयपक्ष सम्मत प्रबल विरोधी प्रमाण' तो कोई उपस्थित नही है, तब 'बाध' की प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस प्रकार 'प्रत्यक्षविरोध' का निराकरण हो जाने से ही **'प्रपञ्चः सत्यः, प्रमाणसिद्धत्वात्'**–यह प्रत्यनुमान (सत्प्रतिपक्ष) भी निरस्त हो जाता है। क्योकि **'प्रमाणसिद्धत्वात्'** यह हेतु ही 'असिद्ध' है।

दूसरी बात यह हे कि जिस 'प्रपञ्च' के सत्यत्व मे 'नभनीलिमाप्रत्यक्ष' की समानता के कारण 'प्रत्यक्षप्रमाण' भी 'तत्त्वावेदकप्रमाण' नही बन सका, वहाँ 'प्रत्यक्षपादोपजीवी' (प्रत्यक्ष के अधीन) वराक (बेचारा) अनुमान' को प्रमाण

कैसे कहा धायगा ? अर्थात् **'अनुमान'** भी 'प्रपञ्च की सत्यता' का बोध नही करा सकता।

भेद की सत्यता सिद्ध करने के लिये जो—अनुमान **'अयं घटः एतद्घटत्वेसति एतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदाधिकरणं भवति, द्रव्यत्वात् पटवत्'**–पहले कहा था कि 'इस घट' मे 'द्रव्यत्व' के होने से 'घटनिष्ठबाध्यभेद से अतिरिक्त भेद है—वह तो **'अयं घटः एतद्घटत्वेसति एतन्निष्ठबाध्यभेदत्वानधिकरणभेदाधिकरणं न भवति द्रव्यत्वात् पटवत्'**–इस अनुमान से सत्प्रतिपक्षित हो जाता है। तथा अद्वैत–प्रतिपादकश्रुति का विरोध रहने से भी बाधित है। अत उपेक्षा करने योग्य है।

शङ्का—'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुतिवचनो से 'प्रपञ्च' की सत्यता का ज्ञान स्पष्टतया हो रहा है। इसलिये 'अद्वैतप्रतिपादकश्रुति' को ही गौणार्थक (अन्यार्थपरक यानी उपचरितार्थक) क्यो न मान लिया जाय ?

समा०—ऐसा नही मान सकते। क्योकि 'मृत्तिकेत्येव सत्यम' इस श्रुतिवचन का तात्पर्य, मृत्तिका आदि 'प्रपञ्च की सत्यता' के प्रतिपादन मे नही है, अपितु उसका तात्पर्य, 'किसी अन्य अर्थ मे' है। वह अन्य अथ यह है कि—**एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं'**–एक के जान लेने से सब का ज्ञान हो जाता है—यह प्रतिज्ञा करके **'ब्रह्म'** ही 'यच्च–यावत् समस्त प्रपञ्च' का 'कारण' होने से वह, 'सम्पूर्ण कार्यरूप प्रपञ्च' से **अनन्य** (अभिन्न) है, यह प्रदर्शित करते हुए उक्त प्रतिज्ञा के उपपादनार्थ, लोकव्यवहार मे प्रसिद्ध 'घट, रुचकादि सुवर्णालकार' आदि 'कार्यो' का, मृत्तिका सुवर्ण, लोह' आदि कारणो से **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', 'त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्'** इत्यादि श्रुतिवचनो के द्वारा **'अनन्यत्व'** (अभिन्नता) बताया गया है, न कि 'मृत्तिका आदि' की सत्यता। **भगवती श्रुति** को 'मृत्तिका आदि प्रपञ्च' की **सत्यता** अभिप्रेत नही है। क्योकि यदि उसे 'मृत्तिका आदि' की सत्यता ही बतानी होती तो वह **'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा'** (छा उ ६।८।७)—एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है। वह आत्मा है—इन वचनो को न कहती। उसने तो इन वचनो के द्वारा **'ब्रह्म'** की ही सत्यता का प्रतिपादन किया है। 'प्रपञ्चरूप मृत्तिका' आदि की सत्यता मानने पर, **'ब्रह्म' मात्र** की सत्यता का प्रतिपादन उसके विरुद्ध होगा। एवञ्च **'मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** इत्यादि श्रुति वचनो को 'गौणार्थपरक' (अन्यार्थपरक) मानने से हमारे 'मिथ्यात्वानुमान' के साथ पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित 'आगमवचन' (श्रुतिवचन) के विरोध का भी निरसन हो जाता है।

किञ्च 'प्रपञ्चसत्यत्व' का अनुमान करने मे **'दृक्-दृश्यसम्बन्ध'** (ज्ञान और विषय का सम्बन्ध) की अनुपपत्ति भी बाधक होती है। **पूर्वपक्षी** ने जो यह कहा था कि 'इन्द्रियो (करणो) के सन्निकर्ष' से ही 'दृग्-दृश्यसम्बन्ध' (ज्ञान-विषय-सम्बन्ध) की उपपत्ति हो जायगी, किन्तु पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित नही है। क्योकि **ईश्वर के ज्ञान** मे 'विषय' का प्रकाश (स्फुरण) तो होता ही है। अत. उसके ज्ञान का 'विषय' के साथ सम्बन्ध मानना ही होगा, किन्तु ईश्वर का ज्ञान **'इन्द्रिय-जन्य'** नही हुआ करता। इसलिये वहाँ **'इन्द्रिय-सम्बन्ध'** का होना कदापि सभव नही है।

योगियो का ज्ञान यद्यपि इन्द्रिय (करण) जन्य होता है, तथापि जब उनकी युक्त (समाहित) अवस्था रहती है, उस समय 'इन्द्रिय' (अन्त करण) से असम्बद्ध 'भूत-भविष्यत् बाह्य विषयो' का ज्ञान उन्हे होता रहता है। अत उस समय उनके ज्ञान का तत्तद् विषयो के साथ सम्बन्ध मानना ही होगा। **तार्किक विद्वान्** उस स्फुरण (ज्ञान) को **'आत्ममनःसंयोग' मात्र** से स्वीकार करते है। इसलिये 'युक्त योगियो' को भी 'इन्द्रियसम्बन्ध' के बिना ही ज्ञान होता है—यह कहना होगा। क्योकि 'भूत-भविष्यत्कालिक पदार्थों' के विद्यमान न रहने से उनके साथ सम्बन्ध नही हो सकना, और बाह्य पदार्थ के साथ 'मन' का सम्बन्ध, इन्द्रियो के बिना नही होता, क्योकि बाह्यविषय के ज्ञान मे **'मन', इन्द्रियो** के अधीन रहता है।

उसी तरह हम जैसे **साधारण लोगो** को इन्द्रियो से होने वाले 'भ्रमात्मक ज्ञान' मे भी इन्द्रिय से असम्बद्ध विषय (वस्तु) का ही स्फुरण हुआ करता है।

तथा हम लोगो के **'सोऽयं देवदत्तः'**—यही वह देवदत्त है—इत्यादि प्रमाण-जन्य ज्ञान' (प्रत्यभिज्ञा) मे भी **इन्द्रिय से असम्बद्ध 'तत्ता'** अश का स्फुरण होता ही है, अर्थात् 'पूर्वदेश—कालसम्बन्ध' का प्रत्यक्ष माना ही जाता है। यदि यह कहे कि **'तत्ता'** अश के साथ भी 'इन्द्रिय' का 'स्व-सयुक्त (इन्द्रिय-सयुक्त) विशेषणता' सन्निकर्ष (सम्बन्ध) है।

किन्तु यह कहना ठीक नही होगा, क्योकि **'समवाय'** से भिन्न ('समवायेतर) 'भाव पदार्थ' का 'इन्द्रिय-सन्निकर्ष' के बिना भी यदि 'प्रत्यक्ष' होना स्वीकार किया जाय, तो **'अयं पर्वतोऽग्निमान्'**—यह पर्वत अग्निमान् है—यहाँ पर भी 'अग्निमत्त्व' का 'सयुक्त-विशेषणतासन्निकर्ष' से 'प्रत्यक्ष' ही हो जायगा। अर्थात् चक्षु से सयुक्त 'पर्वत' और उसका विशेषण 'अग्नि' इत्याकारक सम्बन्ध है।

तब 'प्रत्यक्षधर्मी' (प्रत्यक्षपक्षक) अनुमान मात्र का उच्छेद (अभाव) ही हो जायगा।

इस पर **पूर्वपक्षी** पुन प्रकारान्तर से कह रहा है कि—

'अन्य सम्बन्ध' यदि नही बन पा रहा है तो 'ज्ञान और ज्ञेय' का **'विषय-विषयिभाव'** सम्बन्ध मान लीजिये।

किन्तु यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि **'विषय विषयिभाव'** की ही सिद्धि अभी नही हो पाई है। पहले यह विचारना होगा कि 'विषयत्व' और 'विषयित्व' क्या है ? क्या **ज्ञानजन्यफलाधारत्वं विषयत्वम्** ? और **'विषयनिष्ठ-ज्ञान-जनकत्वं विषयित्वम्'** है ? किन्तु इस प्रकार से 'विषयत्व ओर विषयित्व' का स्वरूप-निरूपण करना तो ठीक नही होगा। क्योकि ऐसा स्वरूप निर्धारण करनेपर जिज्ञासा होगी कि **'ज्ञानजन्य फल'** क्या है ? क्या **'ज्ञातता'** को 'फल' कहे, या **'व्यवहार'** को फल कहे ? 'ज्ञातता' (प्राकट्य) को तो 'फल' नही कह सकते, क्योकि 'ज्ञातता' को 'फल मानने पर **'अतीत,** पदार्थो मे 'ज्ञानजन्य-ज्ञातता' के अभाव से 'अविषयत्व' (विषयत्व' का अभाव) होगा। किन्तु **अतीतादि पदार्थ भी** 'ज्ञान' के 'विषय' तो हुआ करते है। **अभिप्राय** यह है कि 'अतीत पदार्थ' का ज्ञान 'वर्तमानकाल' मे हो रहा है। वर्तमानकाल मे होनेवाले ज्ञान की 'विषयता', **'अतीतपदार्थ'** मे तभी हो सकेगी, जब 'वर्तमानकालिकज्ञान' से जन्य, 'ज्ञातता' रूप **फल** के वे 'आधार' (अधिकरण = आश्रय) बने। किन्तु **अतीतादि पदार्थ,** जो इस वर्तमानकाल मे विद्यमान ही नही है, वे 'वर्तमानकालिक ज्ञान'-जन्य फल के आधार कैसे हो सकेगे ? एवञ्च 'अतीतादि पदार्थो' मे **'ज्ञानजन्य-ज्ञाततारूप फल'** की 'आधारता' (आश्रयता) न रहने से उनमे 'विषयत्व' नही रह सकता। **दूसरी बात** यह है कि **'घटज्ञान' अपने 'फल' को 'घट' ही में उत्पन्न करता है**—ऐसा कोई नियम भी नही है। अर्थात 'ज्ञान ज्ञेय' का कोई सम्बन्ध हो तो, उसे 'फल की उत्पत्ति मे 'नियामक' भी कहा जा सकता है। किन्तु वह सम्बन्ध ही तो अनिरूप्य है। अत अतीतपदार्थ के विद्यमान न रहने से और किसी नियामक के न रहने से भी फलाधारतारूप 'विषयत्व' उस अतीत पदार्थ मे नही रह सकता। अर्थात् वर्तमानकाल मे होनेवाले अतीतविषयक ज्ञान की 'विषयता' अतीत पदार्थो मे तभी हो पायेगी, जब उस ज्ञान से उत्पन्न होने वाली (जन्य) 'ज्ञातता' (ज्ञान का फल) की आधारता उन अतीत पदार्थों मे रहे। किन्तु जो पदार्थ विद्यमान ही नही है, वह उस फल (ज्ञातता) का आधार कैसे

बन पायेगा ? इसलिये अतीतपदार्थ मे 'ज्ञान जन्यज्ञाततारूप फल की आधारता न रहने से उसमे ज्ञान की विषयता नही बन सकेगी।

किञ्च—कोई भी ज्ञान, अपने 'ज्ञाततारूपफल' को उसी विषय पर उत्पन्न करे—ऐसा विधान करनेवाला कोई नियामक भी नही है। यदि किसी को नियामक कह दे तो वही 'विषयता' का भी नियामक हो जायगा। तब 'ज्ञानजन्य-ज्ञातता' (फल) की कल्पना करने की आवश्यकता ही नही है। एवञ्च ज्ञानजन्य फल, 'ज्ञातता' रूप नही है।

अब द्वितीय पक्ष का भी विचार कर लिया जाय। ज्ञानजन्यफल को 'व्यवहार'-रूप यदि माना जाय तो वह भी ठीक नही होगा। क्योकि वह 'व्यवहार', क्या 'आकर्षण' आदि है अथवा 'इच्छा' आदि है ? दोनो ही प्रकार का व्यवहार नही बन सकता। क्योकि 'आत्मा' आदि विभु पदार्थों के ज्ञान मे उनमे (आत्मादि विभु पदार्थो मे) आकर्षणादि व्यवहार नही हो पाता है, तब उन विभु पदार्थो मे ज्ञान की 'विषयता' कैसे बनेगी ? और 'रजत' (कलधौत) के आकर्षणादि (हिलाने-चलाने) से 'रजत मे बैठे हुए मल मे भी आकर्षणादि (हल-चल) व्यवहार नान्तरीयकरूप से (अनिवार्यरूप से) होता है, तब 'रजतज्ञानजन्य आकर्षणादि व्यवहार का आश्रय 'रजतगत मल' भी है। अत उस 'मल' मे भी 'रजतज्ञान' की 'विषयता' प्राप्त होगी।

उसी तरह 'इच्छा' रूप व्यवहार भी नही बन सकता। क्योकि 'इच्छा' रूप व्यवहार का आधार (आश्रय) 'आत्मा' ही होता है। अत 'आत्मा' से अन्य (भिन्न) पदार्थो मे 'विषयता' नही बन सकेगी।

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि जिस ज्ञान से उत्पन्न (जन्य) अर्थात् 'ज्ञान-प्रतिबद्ध' (ज्ञाननिमित्तकज्ञानजन्य) जो हानोपादानादि का ज्ञान, उसका जो विषय होता है, अथवा हानोपादानादि की योग्यता का जो विषय होता है, उस को ही 'प्रथमज्ञान' का 'विषय' कहा जाय।

किन्तु यह कहना भी उचित नही है। क्योकि हानोपादानादिज्ञान की 'विषयता' का निर्णय होनेपर ही 'प्रथमज्ञान' की 'विषयता' का निश्चय होगा। अभी तो 'विषयता' ही निरूप्यमाण (असिद्ध) है। इस प्रकार 'ज्ञानविषयता' की सिद्धि के लिये 'हानोपादानादिज्ञानविषयता' को स्वीकार करनेपर अर्थात् 'ज्ञानविषयता' के निरूपण मे 'ज्ञानविषयता' की अपेक्षा रहने से 'आत्माश्रयदोष' होता है, क्योकि

दोनो 'विषयता' एकस्वरूप है। एकस्वरूप न मानकर दोनो विष्यताओ मे 'भेद' कहे तो 'अन्योन्याश्रयदोष' होगा।

इसी प्रकार पुन एक प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि 'हानोपादानादिज्ञान' अपनी विषयता की उपपत्ति के लिये दूसरे हानोपादानादिज्ञानो के उत्पादक (जनक) होते है या नही ? यदि नही होते हैं, तो वे निर्विषयक हो जायेगे। क्योकि हानोपादानादिज्ञानो की 'विषयता' कही है ही नही। हानोपादानादिज्ञान के जनक (उत्पादक) ज्ञान ही सविषयक हुआ करते है।

यदि प्रथमोत्पन्न हानोपादानादिज्ञान अपने को सविषयक वनाने के लिये अन्य (दूसरे) हानोपादानादिज्ञान को उत्पन्न करता है, तो दूसरा भी तीसरे ज्ञान को और तीसरा चौथे ज्ञान को उत्पन्न करेगा। इस प्रकार के उत्पादन का कभी विराम ही नही हो पायगा। इस प्रकार हानोपादानादिज्ञानो के अनुपरम (असमाप्ति) से 'विषयान्तर' मे 'मन' का सचार (प्रवृत्ति) ही नही होगा, और न कभी 'सुषुप्ति' ही होगी। क्योकि एकविषय के हानोपादानादिज्ञानो की 'धारा' सतत चलती ही रहेगी, और 'व्यवहारयोग्यता' रूप 'विषयत्व' मानने पर उस 'व्यवहारयोग्यता' मे 'दूसरी योग्यता है, या नही ? क्योकि 'व्यवहारयोग्यता' का भी ज्ञान होने से, उसमे 'व्यहारयोग्यत्व' मानना होगा। तब अनवस्था होगी, और 'योग्यता' मे दूसरी 'योग्यता' के न मानने पर 'योग्यता' मे 'विषयत्वाभाव' होगा, अर्थात् योग्यता' मे ज्ञान' की विषयता सिद्ध नही होगी।

महामीमासक प्रभाकर के शिष्य श्री शालिकनाथ मिश्र का कहना है कि 'विषयता' के निर्णयार्थ किसी लक्षण को ध्रण्डने की आवश्यकता नही है। 'विषयता' का ज्ञान तो बहुत सरलता से हो सकता है—**'यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते सोऽर्थस्तस्याः संविदो विषयः'**—जिस ज्ञान (सविद्) मे जो अर्थ (पदार्थ = वस्तु) अवभासित (अनुभूत होता है, वही (पदार्थ), उस ज्ञान का 'विषय' होता है। एवञ्च—'ज्ञान' मे भासमानत्व (प्रकाशमानत्व) ही 'विषयता' (विषयत्व) का सरल लक्षण है। श्रीशालिकनाथ ने अपनी प्रकरणपञ्चिका मे कहा है—

'अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्यां संविदि भासते।
वेद्यः स एव नान्यद्धि वेद्याऽवेद्यस्य लक्षणम् ॥'

किन्तु यह कथन भी उचित प्रतीत नही हो रहा है। क्योकि **'संविदि'** यह सप्तमीविभक्त्यन्त पद है। यहाँ सप्तमी' विभक्ति से आपको क्या विवक्षित है ?— (१) क्या **अधिकरण** विवक्षित है ? अथवा (२) **विषय** विवक्षित है ? अथवा (३) **सम्बन्धिमात्र** विवक्षित है ? अथवा (४) **'सति'** के अर्थ मे सप्तमी है ? यानी 'सतिसप्तमी' है। उक्त लक्षण से इन विकल्पो के उत्तर नही दिये जा सकेगे। क्योकि प्रथम विकल्प का स्वीकार इसलिये नही कर सकते कि 'सविदि' इस सप्तम्यन्त का अर्थ होगा—**'सविद्रूप** अधिकरण मे'। किन्तु यह सभव नही हो पायगा, क्योकि 'घट-पटादि' पदार्थ तो **बाह्य द्रव्य है,** और 'सविद्' **आभ्यन्तर** गुण है। इसलिये घट-पटादि **बाह्यद्रव्यो** की जो अधिकरणता है, वह **आभ्यन्तर-**वृत्ति 'सविद्' रूप 'गुण' मे कैसे बन पायगी ? 'सविद्रूप अधिकरण' मे जो रहेगा, वह उसका 'विषय' कहलायेगा। गुण, कर्म, सामान्य, विशेष की भी अधिकरणता 'सवित्' (ज्ञान) मे नही होगी। अत लक्षण की अव्याप्ति है। एवञ्च प्रथम विकल्प ठीक नही है।

'ज्ञानविषयत्व' रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नही है। क्योकि अभी वह **'विषयत्व'** ही निरूप्यमाण (विचारणीय = असिद्ध) है। उसीको सिद्धि **के** लिये 'विषयत्व' को प्रदर्शित करते है तो **'आत्माश्रय'** दोष प्राप्त होता है। यदि **'मुक्तौकामना'** मे 'विषयसप्तमी' मानकर मुक्तिविषयिणी कामना' अर्थ किया जाता है, उसीतरह **'संविदिघटः' मे** भी विषयसप्तमी मानकर 'सविदि घट' का अर्थ **'संविद्विषयक घट'** होगा। तब 'सम्विद्' मे **विषयत्व** और 'घट' मे **विषयित्व** के प्राप्त हो जाने से तो **'विषय-विषयिभावसम्बन्ध'** उलटा ही हो जायगा। क्योकि **'सप्तमी'** विभक्ति का अर्थ 'विषयत्व' है, वह, सप्तम्यर्थसम्बन्धी 'सम्विद्' मे भासित होगा।

उसीतरह **तृतीय** (सम्बन्धिमात्र) **पक्ष** भी ठीक नही है। क्योकि 'घट' आदि पदार्थज्ञान के सम्बन्धी, 'नेत्र, अदृष्ट' आदि भी होते है। क्योकि वे अपना ज्ञान' कराने मे कारण होते है। इसलिये वे सभी अपने-अपने 'ज्ञान' के 'विषय' कहाने लगेगे, तब **'अतिव्याप्ति'** होगी।

इसपर यदि कोई यह कहे कि **'सम्विदि'** मे 'सप्तमी से यद्यपि **'सम्बन्धिमात्र'** प्रतीत होता है, तथापि **'संविदि भासते'** कहने से **'भासमानता'** भी 'विषय' का विशेषण होकर प्रतीत होती है। **अभिप्राय** यह है कि **'सप्तमी'** का अर्थ तो **'सम्बन्धिमात्र'** ही है, किन्तु केवल 'सम्बन्धी' विषय न होकर **'भासमान-सम्बन्धी'**

को 'विषय' समझना चाहिये। 'नेत्र, अदृष्ट' आदि, 'घट' के 'सम्बन्धी होनेपर' भी, वे, **'घटज्ञान'** मे भासमान नही हुआ करते। अत उनमे 'विषयता' की अतिव्याप्ति नही है। 'सम्विद्' (ज्ञान) का 'विषय' बनने के लिये **'पदार्थ'** को सविद् मे भासमान होते हुए उसका (सविद् का) सम्बन्धी होना आवश्यक है। तभी वह पदार्थ 'सविद्' का विषय बन पाता है।

किन्तु यह कहना ठीक नही है। क्योकि भासमानत्व (भानविषयत्व = ज्ञान-विषयत्व) तो अभी 'निरूप्यमाण' है, अभीतक उसका 'निरूपण' ही नही हो पारहा है। अत **आत्माश्रय** दोष होगा। इसलिये तृतीयपक्ष ठीक नही है।

इसीतरह **चतुर्थ** (सति सप्तमी) पक्ष भी ठीक नही है। क्योकि इस पक्ष मे भी वह अर्थ होगा कि 'जिस-ज्ञान' के रहते जो 'अर्थ' भासता है, **वही अर्थ,** 'उस ज्ञान' का 'विषय' होता है, किन्तु **'भासमानत्व'** का अभी निर्णय (निरुक्ति) ही नही हुआ है, इसलिये **'आत्माश्रयता'** दोष प्राप्त होगा। यदि यह कहे कि 'ज्ञान' के रहते 'अर्थ' का **व्यवहारयोग्यत्व** होना ही 'भासमानत्व' है, तो वह भी ठीक नही होगा। क्योकि 'योग्यता' मे पूर्वोक्त दूषण की पुन प्राप्ति होगी।

बौद्धदार्शनिकों का कथन है कि जैसे **'घटज्ञानम्'** इत्याकारक ज्ञानगत 'आकार' के 'समर्थक हेतु' को उस ज्ञान का 'विषय' कहा जाय अर्थात् **'ज्ञाना-कारार्पको हेतुर्विषयः'**। तब 'विषय विषयिभाव' ठीक बन जायगा।

किन्तु यह कहना भी ठीक नही होगा। **'ज्ञान'** और **'ज्ञानगत आकार'** दोनो मे कोई भी 'भेद' न रहने से (दोनो के एक रहने से) ज्ञानोत्पत्ति मे हेतुभूत **'नयनादि'** सभी मे 'ज्ञानगत आकार' की समर्पणक्षमता रहने से (ज्ञानाकार-समर्पकता रहने से) 'विषयता' होने लगेगी।

उक्त विपत्ति को दूर करने के लिये यदि यह कहे कि **'दृश्यमान'** होकर जो आकारसमर्पक होता हो, उसे 'विषय' कहेगे। अर्थात् उसे ज्ञान का 'विषय' कहेगे। तब 'नयन (नेत्र) आदि', जो ज्ञानहेतु है, उनमे 'विषयता' की प्राप्ति न होने से **अतिव्याप्ति** नही होगी।

यह कहनेपर भी सुलझना तो दूर रहा, और अधिक उलझन पैदा हो रही है, क्योकि **जिसके बलपर** तुम 'विषयता' का निर्धारण करने की सोच रहे हो वह **'दृश्यमानता'** ही तो अभी सिद्ध नही है, अर्थात् उसीका अभीतक निरूपण नही हो पाया है।

यदि **'ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्'** अर्थात् 'ज्ञान के फल' को ही 'विषय' कहे, तो वह भी ठीक नही है, क्योकि अतीत और भविष्यत के ज्ञान मे और ईश्वरज्ञान मे 'कर्मकारक' की जन्यता न रहने से 'उन ज्ञानो' मे **निर्विषयता** प्राप्त होगी। **अभिप्राय** यह है—एक **कारकविशेष** को 'कर्म' कहते है। जैसे कर्त्ता, करण, सम्प्रदान आदि 'कारकविशेष' होते है। 'कारक' का अर्थ होता है—**'कारण-विशेष'**। 'कारण' वही होता है, जो अपने 'कार्य' से अव्यवहितपूर्व विद्यमान रहकर उसका (कार्य का) जनक (उत्पादक) होता है। ऐसी स्थिति मे 'अतीत (भूत), भावी (भविष्यत्) पदार्थ' (विषय = वस्तु), अपने ज्ञान के अव्यवहित-पूर्व न रहने से, वे, 'ज्ञान' के **कर्म** नही हो सकते। इसलिये उनमे उक्त लक्षण की अव्याप्ति हो रही है। उसीप्रकार 'ईश्वर का ज्ञान' नित्य रहने से कोई भी विषय (पदार्थ = वस्तु), उसका (ईश्वरीयज्ञान का) जनक नही है। अर्थात् 'कर्मकारक' को ईश्वरीयज्ञान का जनक, नही कह सकते। अत ये 'दोनो ज्ञान', कर्मरहित होने से 'निर्विषय' कहे जायेगे। तब उन ज्ञानो के विषयो मे उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी।

उक्त दोषो से बचने के लिये यदि यह कल्पना करे कि **'सम्बन्धान्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषणं स तद्विषयः, विशेष्यश्च तेन विषयी'**—अर्थात 'संयोग, समवाय' आदि-सम्बन्धान्तर के बिना जो पदार्थ, जिस 'ज्ञान' का **विशेषण** बनता है, वह पदार्थ, 'उस ज्ञान' का **'विषय',** और 'विशेष्य' (ज्ञान), उसका **विषयी** होता है, अर्थात उस विषय का प्रकाशक होता है।

किन्तु यह कथन भी ठीक नही है। क्योकि **'मत्समवेतं रूपज्ञानमस्ति'** अर्थात् मुझमे समवेत रूपज्ञान है—यहाँ पर 'समवाय' मे उक्त लक्षण का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है। क्योकि 'ज्ञान' मे **समवायविशिष्टता के** रहने से 'ज्ञान' का विशेषण 'समवाय' है। यहाँ पर सम्बन्धान्तर के बिना ही **'मत्समवाय'** और **'रूपज्ञान'** का 'विशेषण-विशेष्यभाव' हो रहा है। किन्तु 'मत्समवाय' और 'रूपज्ञान' मे 'विषय-विषयिभाव' नही है। अत 'अलक्ष्य' मे लक्षण के चले जाने से **'अतिव्याप्ति'** हो रही है।

इसपर यदि यह कहे कि **'मुझ में रूपज्ञान समवेत है'**-इस **'अनुव्यवसाय-ज्ञान'** का विषय **'व्यवसायज्ञान'** (प्रथमज्ञान) होता है, क्योकि **'समवायसहित व्यवसायज्ञान',** 'अनुव्यवसायज्ञान' का विषय होता ही है, तथापि 'अनुव्यवसाय' का विषय होनेपर भी जिस 'व्यवसायज्ञान' का **वह समवाय** 'विशेषण' रहता है,

उस 'रूपज्ञान' का 'वह समवाय', **विशेषण** कहलायगा, 'विषय' नही कहलायगा। अर्थात् उस 'रूपज्ञान' का 'वह समवाय' 'विषय' नही होगा। इसरीति से 'विषय-विषयिभाव' का निरूपण नही बन पारहा है। इसकारण **'प्रपञ्च'** की 'आत्मा' मे 'अध्यस्तरूप' से सिद्धि, 'प्रपञ्च को सत्यम ननेवालो' के मत मे नही है। अत 'प्रपञ्च की सत्यता' मे 'उसके (प्रपञ्च के) दृश्यत्व' की **अनुपपत्ति** ही बाधक है, यही स्थिर रहा।

यह जो कहा गया था कि **भेद को मिथ्या** मानने पर 'कर्मभेद के प्रतिपादक **शब्दान्तरादि प्रमाण'** अप्रमाण कहलाएँगे, वह भी उचित नही है। क्योकि 'घट-पट' आदि के समान 'कर्मविषयक व्यावहारिक भेदमात्र' को ही तत्तत स्थानो मे **'शब्दान्तरादि प्रमाणो'** के द्वारा बताया गया है। वे शब्दान्तरादि प्रमाण' 'कर्मो' के 'सर्वथा अबाध्य (पारमार्थिक) भेद' को नही बताते। वे शब्दान्तरादिप्रमाण, कर्मो के अबाध्य भेद को बताने मे उदासीन है। अर्थात् 'सत्यता के प्रतिपादन' मे उनका तात्पर्य नही है। इसलिये समस्त विरोधो से रहित 'उक्त अनुमान', **'प्रपञ्च के मिथ्यात्व'** मे प्रमाण है—यह सिद्ध होता है।

शङ्का—अद्वैत (सत्य ब्रह्म) की सिद्धि (ज्ञान) के लिये उक्त अनुमान-प्रमाण से 'प्रपञ्च के मिथ्यात्व' की सिद्धि की जा रही है, किन्तु प्रपञ्चान्तर्गत **'अनुमान'** भी आ जाता है। तब उसके **मिथ्यात्व** का ज्ञान हुए बिना **'अद्वैत'** का ज्ञान होना सम्भव नही है। अत **जिज्ञासा** होती है कि 'उक्त अनुमान' के **मिथ्यात्व** की सिद्धि किसी **दूसरे अनुमान** से होती है, अथवा **उसीसे** (स्वेनैव = स्वरूप से ही) होती है ? **प्रथम पक्ष** का स्वीकार करने पर **'अनवस्था'** होगी। क्योकि पूर्व-पूर्व अनुमानो का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिये उत्तर-उत्तर अनुमान की अपेक्षा (आवश्यकता) होती जायगी। यदि यह कहे कि अनुमान के मिथ्यात्व की की आवश्यकता (जिज्ञासा) होनेपर अनुमानान्तर की प्रवृत्ति होगी। जिज्ञासा के बिना प्रथम अनुमान के समय उत्तर-उत्तर अनन्त अनुमानो की अपेक्षा न होने से **मूलक्षयकरी अनवस्था** का प्रसग नही आवेगा। **जिज्ञासितमात्र** के अनुमान करने मे अनवस्था दोष नही होगा।

किन्तु यह कहना भी ठीक नही है। क्योकि 'जो-जो उक्त साधनवाला है, वह सब उक्त साध्यवाला है'—इस व्याप्ति—ज्ञान के समय तत्तद् अनुमानो मे मिथ्यात्व का ज्ञान न रहने से सर्वोपसहारवती (सर्वव्याप्य—विषयक = सर्व-व्यक्तियो मे घटित होनेवाली) व्याप्ति नही बन पावेगी, और **यदि** उक्त व्याप्तिग्रहण

के समय सभी अनुमानो मे 'मिथ्यात्व' का निश्चय है, तो अनुमान के मिथ्यात्व के लिये अनुमानान्तर की समाप्ति वही हो जायगी। अर्थात व्याप्तिग्रहणकाल मे ही तत्तदनुमानान्तर की अपेक्षा होगी, यानी **अनन्त अनुमान** एक ही समय मे अपेक्षणीय होगे। किन्तु यह तो सभव नही है, तब अनवस्था 'मूलक्षयकरी कैसे नही होगी? **अवश्य** ही मूलक्षयकरी होगी।

अब यह कहे कि **'मिथ्यात्व का अनुमान,** 'अपने मिथ्यात्व' को भी स्वय बता देता है'—इस द्वितीय पक्ष मे **आत्माश्रय दोष** उपस्थित होता है, क्योकि 'स्व' मे **स्ववृत्तिता** नही हुआ करती। अत 'स्वगत—मिथ्यात्व' का ग्रहण **'स्व'** से नही हो सकता।

समा०—यह कथन उचित नही है। क्योकि जैसे **'शब्द'** इत्याकारक पद, सभी 'घट पटादिशब्दो' का बोधक होता है, यानी 'सभी घट-पट दि शब्दो' को विषय करता है, तथा 'शब्दत्वेन अपने स्वरूप' का भी बोधक होता है, अर्थात् अपने को भी विषय बना लेता है, तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चगत सत्यत्व का अनुमान, 'अपने मे भी सत्यत्व' सिद्ध करता है। जैसे—**'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'—** **'स्वश्चासौ अध्याय = स्वाध्याय'**—अपनी कुल—परम्परागत वेदशाखा का अध्ययन करना चाहिये—यह **वेदाध्ययनविधि** है। यह विधि, 'सम्पूर्ण वेदाध्ययन' का विधान करता है, **साथ ही** अपनी कुल—परम्परागत वेदशाखा के अध्ययन का भी विधान करता है। इसी प्रकार 'प्रपञ्च के मिथ्यात्व का अनुमान', अन्य के मिथ्यात्व को बताता है और साथ ही प्रपञ्चत्वेन अपने मिथ्यात्व' को भी बताता है। अत कोई विरोध नही है। **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** वाक्य मे **'तव्यत्'** प्रत्यय है। इस प्रत्यय से विधि' की प्रतीति होती है। क्योकि 'लिङ्, लोट्, तव्य, तव्यत्, अनीयर्, यत्, लेट्' आदि प्रत्ययो से 'विधि का बोध होता है। उक्त वाक्य के सम्बन्ध मे ऊपर जो कहा गया, वह **भाट्टमत के अनुसार** था।

शंका—किन्तु **प्रभाकरमीमांसक** का कहना है कि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** इस अध्ययनविधि से **'अध्ययन'** का विधान नही किया जा रहा है, अपितु 'अध्ययन' का विधान तो **'अध्यापनविधि** मे किया जाता है। क्योकि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'**—यह अध्ययनविधिवाक्य, अध्ययन' के **अनुष्ठापन** मे समर्थ नही है। न हो सकने का कारण यह है कि वह 'अध्ययनविधि', **निर्नियोज्य** है, अर्थात् उस विधिवाक्य मे 'किसी अधिकारी' को नही कहा गया है। 'विधि का काम 'प्रेरणा' करना है। किन्तु **उक्त विधिवाक्य** मे प्रवृत्त होने वाले किसी

'अधिकारी व्यक्ति' का उल्लेख न होने से, वह 'विधि', किस व्यक्ति को अध्ययन मे नियुक्त (प्रवृत्त) करेगा ? **'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेत'** के समान किसी **कामनावाले** अथवा **'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति'** के समान **जीवनादिनिमित्त-वाला** कोई 'नियोज्य' (अधिकारी) व्यक्ति भी श्रुत नही हो रहा है। **'विश्वजिता-यजेत'** के समान 'नियोज्य' के न रहने पर भी 'विधि' के उपपत्त्यर्थ **कर्ता** की कल्पना के लिये सभी को अभीष्ट लगनेवाले **'स्वर्ग'** रूप 'सर्वसाधारण फल' की कल्पना कर ली जाती है, तब **तत्फलकामी** उस याग मे 'अधिकारी' मान लिया जाता है। उस प्रकार यहाँ 'अध्ययन विधिवाक्य' मे **अधिकारी** (नियोज्य) की कल्पना (अध्याहार) के लिये कोई उचित शब्द भी नही है। क्योकि 'अध्यापन-विधि' से ही अध्यापन के विषयरूप 'अध्ययन' की सिद्धि हो जाती है। तब वहाँ 'नियोग'–(अध्ययनविधि) का कोई कल्पक ही नही है।

यदि यह कहे कि **'अध्यापनविधि'** मे भी 'कोई नियोज्य' (अधिकारी) श्रुत नही है। इसलिये वह भी **अध्ययनविषयक अध्यापन** का 'अनुष्ठापक' नही हो सकेगा। किन्तु यह कहना उचित नही होगा। क्योकि **अध्यापनविधि** मे 'आचार्यत्वकामनावान्' अपने मे आचार्यत्व की कामनावाला **नियोज्य** (अधिकारी) श्रुत (प्रतीत) हो रहा है। श्रुति कह रही है कि **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत'** आठवर्ष के ब्राह्मण का उपनयन (यज्ञोपवीत सस्कार) करे तदनन्तर उसको पढावे। इस श्रुतिवाक्य मे जो **'उपनयीत'** पद है, उसमे **सम्माननोत्सञ्जना-ऽऽचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः'** (प सू १।३।३६)– सम्मानन= सम्पूजन, उत्सञ्जन = उत्क्षेपण, आचार्यकरण = आचार्यत्वसम्पादन, ज्ञान, भृति = वेतन, विगणन = ऋणार्पणादि, और व्यय–इन अर्थों मे **'णीञ्'** धातु से आत्मनेपद का विधान किया गया है। **'उपनयीत, अध्यापयीत'** इन पदो से **'उपनयन और अध्यापन'** दोनो की 'एकप्रयोगता' (एकवाक्यता = एकसाध्यसाधनता) प्रतीत होती है। अत उक्त श्रुति से 'उपनयनपूर्वक अध्यापन' से साध्य होनेवाले 'आचार्यत्व' की प्रतीति होती है। उस 'आचार्यत्व' के कामी (इच्छुक) की 'नियोज्यता' (अधिकारिता) की प्रतीति हो जाती है। अत 'अध्यापनविधि' को 'निर्नियोज्य' (अधिकारी से रहित) नही कहा जा सकता। इसरीति से 'अध्यापन-विधि' के 'सनियोज्य' होनेपर वही (अध्यापनविधि ही) अपने **विषयभूत** 'अध्यापन' का 'अनुष्ठापक' बनकर उस 'अध्यापन' के साधक 'अध्ययन' मे भी प्रवर्तक होता है। अर्थात् 'अध्ययन' मे **अध्येता** को प्रवृत्त करता है। एवञ्च

'आक्षिप्त हुए अध्ययन' के बिना 'विधि' की अनुपपत्ति के कारण 'आक्षेपरूप अर्थापत्ति-प्रमाण' (अध्यापनान्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाण) से ही **'अध्ययन'** मे 'बटु' की प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है। इसलिये **'स्वाध्यायोऽध्येतव्य'**—यह वाक्य, **न अध्ययनविधि** है, और न इससे—**प्रयुक्त अध्ययन** है, अत **अध्यापनविधि** से ही 'अध्ययन प्रयुक्त होता है।

समा०—प्रभाकर मीमासक ने जो कहा कि **'अध्यापनविधि'** मे **नियोज्य** (अधिकारी) श्रुत है—यहाँ तक तो उनका कहना ठीक है, किन्तु **'अध्यापनविधि'** से 'अध्ययन' की **प्रयुक्ति** होती है'—यह कहना उचित नही है। अर्थात् 'अध्यापनविधि' से 'अध्ययन की 'साध्यता' को कहना ठीक नही है। क्योकि **प्रभाकर** का सिद्धान्त है कि 'काम्यकर्मो' मे (काम्य-कर्मरूप करण अश = याग आदि मे) **'राग'** ही प्रवर्तक (मनुष्य की प्रवृत्ति कराने मे हेतु) होता है, 'विधि' नही।

अत उसी के सिद्धान्त की दृष्टि से 'अध्यापन' कर्म को भी **'काम्य'** कर्म ही कहना होगा। तब 'अध्यापनविषयक राग' से ही उसके (अध्यापन के) निष्पादक (साधक = उत्पादक) 'अध्ययन विषयक अनुष्ठान' (प्रवृत्ति) का लाभ (सिद्धि) हो जायगा। अत **अध्यापनविधि** मे 'अनुष्ठापकत्व' (प्रयोजकत्व) की कल्पना करना उचित नही होगा। अर्थात् 'अध्ययन' को **अध्यापनविधि** से प्रयुक्त कहना ठीक नही है।

शङ्का—'अध्ययन' तो **'अध्यापन'** का 'अग' है, उस कारण 'अध्ययन' मे 'अध्यापन' विधि से ही प्रवृत्ति हो जायगी। तब 'अध्ययन' को 'अध्यापनविधि' से **प्रयुक्त** क्यो नही कह सकते ?

समा०—उक्त आशका करना ठीक नही है। क्योकि दोनो का **अङ्गाङ्गिभाव** (शेष-शेषिभाव) मानने मे कोई प्रमाण नही है। अत 'अध्ययन' को 'अध्यापन' का अग कहना उचित नही है। अङ्गाङ्गिभाव' का निर्णय, मीमासाशास्त्रोक्त **छह प्रमाणो** से किया जाता है। वे **छह प्रमाण** ये हैं—(१) **श्रुति,** (२) **लिङ्ग,** (३) **वाक्य,** (४) **प्रकरण,** (५) **स्थान,** (६) **समाख्या**। उक्त छह प्रमाणो मे से किसी एक प्रमाण ने भी 'अध्यापन' और 'अध्ययापन' इन दोनो मे 'अङ्गाङ्गिभाव' को नही बताया है। ऐसी स्थिति मे 'अध्ययन' को अध्यापन' का **अंग** कह देना कहाँ तक उचित होगा ? अत अङ्गाङ्गिभाव के न रहने से **'अध्ययन'** को 'अध्यापनविधि' से प्रयुक्त, नही कह सकते।

शङ्का—'अध्यापनविधि' से 'अध्ययन' को प्रयुक्त माना जाता है। इस **प्रयुक्ति के बलपर ही** 'अध्ययन' मे **अध्यापनाङ्गत्व** स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

समा०—ऐसी शका नही करनी चाहिये। क्योकि **जो-जो 'प्रयुक्त'** हो वह अपने **'प्रयोजक'** का 'अङ्ग' भी बने, ऐसी **व्याप्ति** (नियम) नही है। यदि ऐसी व्याप्ति होती तो, 'अध्यापनविधि' से प्रयुक्त होने के कारण 'अध्ययन' को अध्यापन' का **'अंग'** कह सकते थे, किन्तु **'प्रयुक्तत्व'** तो 'अङ्गत्व' का व्यभिचारी है। क्योकि **'भिन्ने जुहोति', 'स्कन्ने जुहोति'**—ये वैदिक वाक्य है। इनका अर्थ इस प्रकार है—'कपाल' के भिन्न (टूट-फूट या सच्छिद्र) होने पर 'होम' करना चाहिये। इन वाक्यो से अवगत होता है कि 'कपाल' का 'भेदन, छेदन', 'हवन-कर्म' का 'प्रयोजक' (निमित्त) है। अर्थात **'हवन** (होम) **कर्म', 'कपालभेदन'** या 'छेदन' से प्रयुक्त है, किन्तु उसका (भेदन या छेदनरूप प्रयोजक का) **वह** (होम) 'अग' नही है। अर्थात **'होम'** को **'भेदन'** का 'अग' कोई नही कहता। एवञ्च **'प्रयुक्ति'** के व्यभिचारी होने से उसके बल पर **'अंगत्व'** की सिद्धि नही की जा सकती।

किञ्च—**'अध्ययन'** मे **'अध्यापनविधि प्रयुक्तत्व'** अभी सिद्ध (निश्चित) नही हो पाया है। ऐसी स्थिति मे **'प्रयुक्ति'** के बलपर **'अगत्व'** को कैसे माना जायगा ? **अन्यथा** 'अङ्गत्व' रहने पर 'प्रयुक्ति की सिद्धि और 'प्रयुक्ति' के रहने पर 'अङ्गत्व' की सिद्धि होने से **'अन्योन्याश्रय'** दोष भी होगा।

प्रश्न—'अध्ययन' को **'अध्यापनविधि'** से प्रयुक्त कहनेवाले विद्वान् जब कि **'अध्ययनविधि'** (स्वाध्यायोऽध्येतव्य) **में 'अधिकारी'** को स्वीकार कर लेते है, तो उसी **'अधिकारी'** को **'नियोज्य'** (विधिविषय) क्यो नही मानते ? क्योकि **'अधिकारी'** को ही **'नियोज्य'** कहा जाता है। कर्मजन्य **'नियोग'** अथवा **'अपूर्व'** पर जो अपना 'अधिकार' समझता हो उसी को **'नियोज्य'** कहते है।

उत्तर—'अधिकारी' को **'नियोज्य** इसलिये नही कहते कि उसकी **'अपेक्षा'** (आवश्यकता) नही है, क्योकि 'कर्मानुष्ठान' की सिद्धि (सम्पादन) के लिये **'नियोज्य'** की अपेक्षा हुआ करती है, किन्तु वह 'अनुष्ठान' तो 'अन्य' (अध्यापन-विधि) से ही सिद्ध (सम्पन्न) हो जाता है। इसलिये **'नियोज्य'** मानने की कोई आवश्यकता ही नही है।

इस पर **अध्ययनविधिवादी** (सिद्धान्ती) कहता है कि 'अध्यापनविधिवादी' ने जो उत्तर दिया है, वह युक्तियुक्त नही है, क्योकि कर्मानुष्ठानार्थ यदि 'नियोज्य'

की आवश्यकता नही है, तो 'अधिकारी' की भी आवश्यकता (अपेक्षा) नही होनी चाहिये। क्योकि 'अध्ययन' के अनुष्ठान की सिद्धि 'अध्यापन' से ही हो जायगी। समझने की बात है कि **'अधिकारी'** ही तो 'नियोज्य' होता है, और 'अधिकारी' उसे कहा जाता है, जो 'कर्म' से उत्पन्न होनेवाले **फल** का 'भोक्ता' अपने को समझता हो। ऐसी स्थिति मे अर्थात 'अधिकारी' मानते हुए भी 'नियोज्य' को न मानना—यह **वाङ्मात्र** है, यानी—निरर्थक है। एवञ्च 'अधिकारी' को यदि मानते हो तो 'नियोज्य' को आपने मान ही लिया है—यही कहा जायगा।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि **'विधिवाक्य'** का अर्थ होता है—कर्तव्यकर्म', और 'कर्म' मे 'कर्तव्यबुद्धि' तभी होती है, जब 'उस कर्म' मे **'इष्टसाधनता'** रहे। 'कर्म' मे रहनेवाली 'इष्टसाधनता' की प्रतीति किसे होनी चाहिये ? यह जिज्ञासा होनेपर यही कहा जायगा कि अपने 'अभीष्ट फल' के भोग करने वाले (भोक्ता) 'अधिकारी' को ही 'कर्मगत इष्ट साधनता' की प्रतीति होनी चाहिये। क्योकि 'अधिकारी' के बिना 'विधि' का स्वरूप ही नही बन पायगा। अर्थात् 'विधि' की पूर्णता नही हो सकेगी। अत 'विधि' के **स्वरूप की निष्पत्ति** के लिये (विधि की पूर्णता के लिये) 'अधिकारी' की आवश्यकता होती है।

सिद्धान्ती कहता है कि 'पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित नही है। क्योकि 'अधिकारी' की अपेक्षा (आवश्यकता) प्रदर्शित करने मे जो **तर्क** (युक्ति), 'पूर्वपक्षी' ने उपस्थित किया है, **ठीक वही तर्क** 'नियोज्य' के विषय मे भी दिया जा सकता है। क्योकि 'नियोज्य' (नियोगरूपविधिविषय) के बिना भी 'नियोग' (विधि) की 'आकाक्षा' पूर्ण नही होती। अर्थात् 'नियोग' का **अपर्यवसान** (अपूर्णता) रहता है। जब कि **अन्यविधि** (अध्यापनविधि) से 'अध्ययन' के सिद्ध होने के कारण 'नियोग' भी सिद्ध हो जाता है। तब 'अधिकारी' के बिना 'विधि का पर्यवसान नही होगा—यह कथन निरर्थक ही है।

किञ्च यह भी विचारणीय है कि **'तम् अध्यापयीत'** इस विधिवाक्य से 'जीविकावृत्त्यर्थ' लोकप्रसिद्ध **'अध्यापन'** का 'विधान' हो रहा है, **अथवा** किसी **'अलौकिक 'नियोग'** (पुण्य-अपूर्व) का विधान किया जा रहा है ? 'जीविका-वृत्त्यर्थ लोकप्रसिद्ध 'अध्यापन' का विधान तो उक्त वाक्य (तम् अध्यापयीत) से हो नही सकेगा, क्योंकि 'जीविकावृत्त्यर्थ जो अध्यापन' है, वह तो **'याजन'** आदि के समान प्राप्त है, और 'विधान' तो **अप्राप्त** का ही हुआ करता है, 'प्राप्त' का नही। अत उक्त वाक्य (अध्यापयीत) को **'अनुवाद'** कह सकते है। **मनु ने**

कहा है—**'षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।**
याजनाऽध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥

अर्थात् **अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान, प्रतिग्रह**—इन 'छह कर्मों' मे से 'अध्यापन, याजन, और प्रतिग्रह'—ये **तीन कर्म,** 'ब्राह्मण' की **जीविका** के साधन है । एवच 'याजनादि' के समान **'अध्यापन'** की प्राप्ति (सिद्धि) रहने मे उक्त वाक्य (अध्यापयीत) को 'अध्यापन-विषयक विधिवाक्य' ही नही कह सकते, जिसके **अंगरूप** मे 'अध्ययन' को कहा जा सके ।

अत जैसे **'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्**—इस विधिवाक्य से **'याजन'** का विधान नही किया जा रहा है, अपितु 'इस अवेष्टिसज्ञक इष्टि के द्वारा अन्नभक्षण की कामनावाला (अन्नाद्यकामनावान्) **'यजन करे'**—यही अर्थ, उक्त विधिवाक्य का किया जाता है । उक्त श्रुति वाक्य का अर्थ यद्यपि यह प्रतीत होता है कि 'अदनीय (आद्य = भक्षणीय) अन्न की कामना करनेवाले से इस 'अवेष्टि कर्म' का अनुष्ठान करावे'—तथापि यह **'वाक्यार्थ'** मीमासाशास्त्र सम्मत नही है । अर्थात् इसवाक्य से **'याजन'** का विधान नही है, किन्तु **'यजन'** का विधान हो रहा है ।

उसी प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्ग मे भी **'अष्टवर्षो ब्राह्मणः उपगच्छेत् सोऽधीयीत'**—आठवर्ष का ब्राह्मण गुरु के समीप जाय और अध्ययन करे—इसी वाक्यार्थ को स्वीकार करना होगा । एव **'अलौकिक नियोग'** (आज्ञा) के रूप मे भी 'अध्यापन-विषयक विधि' नही हो सकता । अन्यथा 'याजन' मे भी **'विधि'** मानना होगा । किन्तु **'याजन'** का विधान तो इष्ट नही है ।

किञ्च—**'अध्ययन' नित्यकर्म** है । क्योकि जो द्विज, वेद का अध्ययन किये बिना अन्य कर्मो के अनुष्ठान मे परिश्रम करता है, वह अपने जीवनकाल मे ही अन्वय सहित (कुलसहित) तत्काल शूद्र हो जाता है । **मनु** ने कहा है—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
सजीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥' (मनु २।१६८)

इस स्मृतिवचन से **वेदाध्ययन** के न करनेपर **'प्रत्यवाय'** (पाप) बताया है । **'नित्यकर्म'** के न करनेपर ही 'प्रत्यवाय' बताया गया है, **'काम्यकर्म'** के न करनेपर किसी प्रत्यवाय को नही बताया गया है । **'अध्यापन'** तो 'अनित्यकर्म' है, क्योकि वह 'काम्यकर्म' है, अर्थात् वहाँ 'कामना' श्रुत हो रही है । ऐसी परिस्थिति मे **'नित्यकर्म'** की प्रयुक्ति, **अनित्य (काम्य) कर्म** से **कैसे** होगी ? क्योकि दोनो का विरोध है । किसी अन्य प्रकार से 'जीविका' की सिद्धि हो

जानेपर 'जीविका' के निमित्त जो **'अध्यापन'** है, उसका अभाव भी हो सकता है। उस समय जबकि **'अध्यापन'** है—ही नही, तब **वह** (अध्यापन) 'अध्ययन' का प्रयोजक (निमित्त) कैसे हो सकेगा ? और अध्ययनात्मक **नित्यकर्म** के लिये 'अध्यापन' को भी 'नित्य' मान। जाय तो, उसकी काम्यता के साथ विरोध होगा। क्योंकि 'काम्यत्व' और 'नित्यत्व' 'दो विरुद्ध धर्मों' की स्थिति 'अध्यापनात्मक एक कर्म' मे नही हो सकती। इसलिये 'अध्ययन' को **'अध्ययनविधि'** से ही प्रयुक्त मानना होगा। एवञ्च जैसे 'अध्ययनविधि' स्वय अपने को विषय करता है, अर्थात् **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** यह 'विधिवाक्य' जैसे स्वविषय 'अध्ययन' का विधायक होता है, उसीप्रकार 'मिथ्यात्व' का अनुमान भी स्व-विषय 'मिथ्यात्व' को भी सिद्ध कर सकता है। अत मिथ्यात्व के अनुमान मे 'अध्ययनविधि' का उक्त दृष्टान्त, असिद्ध नही है।

अथवा यदि यह मान भी ले कि 'अध्ययन' की प्रयुक्ति 'अध्यापनविधि' से ही होती है। तब भी जैसे 'अध्यापनविधि' समस्त वेदवाक्यो के 'अध्यापन' का विधान करता हुआ 'स्वविषयक अध्यापन' का भी विधान करता है उसीतरह हमारा 'मिथ्यात्वानुमान' भी अपने 'मिथ्यात्व' को भी सिद्ध करेगा। इस प्रकार से उक्त 'अध्यापनविधि' हमारे द्वारा निर्दिष्ट 'मिथ्यात्व' की सिद्धि मे दृष्टान्त बन जायगा, अब अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नही है।

उसीप्रकार **'एकमेवाऽद्वितीयम्'** इत्यादि आगमवचन भी **'प्रपञ्च'** के मिथ्यात्व मे प्रमाण है। एवञ्च प्रपञ्च के 'मिथ्यात्व' मे 'लक्षण और प्रमाण' दोनो ही उपपन्न हो रहे है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मा' मे जो **'द्वैत-प्रपञ्च'** की प्रतीति होती है, वह सब **अनिर्वचनीय 'अविद्या'** का विलास (लीला) मात्र है, वह 'सत्य' नही है। अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नही है।

पुन **पूर्वपक्षी** कहता है कि 'अनिर्वचनीय अविद्या' के होने मे न कोई लक्षण है और न प्रमाण ही है। अत उसका 'विलास' कहकर 'प्रपञ्च' को **मिथ्या** कहना ठीक नही है।

उसपर **सिद्धान्ती** कहता है कि 'अविद्या' के होने मे 'लक्षण' भी है और 'प्रमाण' भी है। वह **अज्ञान,** 'भाव' रूप है 'ज्ञानाऽभाव' रूप नही है।

'अज्ञान' का लक्षण **'भ्रमोपादानत्व'** है। 'भ्रम' के उपादान' को 'अज्ञान' कहते है।

इसपर **'अख्यातिवादी प्रभाकर मीमांसक'** का कहना है कि यह-लक्षण **'गोरेकशफत्वम्'** के समान 'असम्भव दोष' से ग्रस्त है, क्योंकि 'सभी ज्ञान' **यथार्थ** ही होते है।

उसपर **सिद्धान्ती** का कहना है कि 'भ्रम' को स्वीकार न करनेवाले **प्रभाकर** के मतानुसार 'शब्दरूप एक अधिकरण' मे 'नित्यत्व-अनित्यत्वरूप दो विरुद्ध-धर्मो को विषय करनेवाली विप्रतिपत्ति ही नही हो सकेगी, तब शास्त्रार्थ के निर्णय मे प्रवृत्ति कैसे हो पायगी ? और विप्रतिपत्ति' का निराकरण कैसे हो सकेगा ? अत यही मानना होगा कि-**'रजत'** आदि के भ्रम मे पुरोवर्ती **'शुक्तिखण्ड'** ही 'रजत' के रूप मे प्रतीत होता है।

इसीप्रकार **'असत्ख्यातिवादी** बौद्धो' का कहना भी केवल प्रलापमात्र है। अत **'भ्रम'** का विषय 'असत्' भी नही है। 'असत्ख्याति' मे 'अन्यथानुपपत्ति' से भी 'आरोप्यमाण' की अन्यत्र सत्ता, सिद्ध नही होती।

आत्मख्याति को माननेवाला विज्ञानवादी बौद्ध कहता है की **'विज्ञानरूप रजत'** ही बाहर प्रतीत होता है। अत **'रजत'** को 'विज्ञान' का आकार ही मानना चाहिये।

सिद्धान्ती का कहना है कि **आत्मख्यातिवादी** का कथन भी ठीक नही है। क्योकि आत्मख्यातिवादी के मत मे **'रजत'** तो 'ज्ञानरूप' है। **'ज्ञान',** भीतर रहता है, उसकी 'बाह्यता' तो अत्यन्त **अलीक** (मिथ्या) है, फिर भी उसकी बाह्यता (इदन्ता) का ज्ञान (प्रतिभास) 'रजत' मे होता ही है। उसीतरह 'अत्यन्त असत रजत' के ज्ञान (प्रतिभास) की उपपत्ति हो सकती है।

आत्मख्यातिवादी ने यह जो कहा था कि **'नेदं रजतम्'** से 'इदन्ता मात्र' का 'बाध' होने से 'स्व-पत' मे **'लाघव'** है, और **सिद्धान्ती** (वेदान्ती) के मत मे 'रजत' तथा 'इदन्ता' दोनो का बाध होने से **कल्पना-गौरव** है।

उसपर **सिद्धान्ती** का कहना है कि उक्त प्रकार से 'कल्पना-गौरव' बताना उचित नही है। क्योकि जहाँ 'कल्पना' करनी होती है, वहाँ 'गौरव लाघव' का बिचार किया जाता है। कल्पना करने मे लघुमार्ग अपनाना कल्पक की योग्यता का परिचायक होता है। यहाँपर तो **'इदं रजतम्'**-इस 'भ्रम ज्ञान' से **'इदन्त्व-विशिष्ट-रजत'** की प्रसक्ति (प्राप्ति) हो रही है, और **'नेदं रजतम्'** इस **'अनुभव'** से, उसका **'बाध', 'अनुभव-प्रमाण'** से सिद्ध है, **कल्पनीय** नही है। अर्थात् **काल्प-**

निकत्व का अभाव है। अत **'कल्पना लाघव'** का न्याय (युक्ति) यहाँ बताना उचित नही है।

यह जो कहा था कि **'विज्ञान'** (संविद्) से **'अभेद'** न माननेपर (विज्ञान के साथ एकता न मानने पर) **'रजत'** मे 'अपरोक्षता' (प्रत्यक्षता) नही हो सकेगी।

उसपर **सिद्धान्ती** कहता है कि उक्त कथन ठीक नही है। क्योकि 'बाह्यता' **विज्ञानरूप** नही है, फिर भी उसमे 'अपरोक्षता' (प्रत्यक्षता) रहती है। उसीतरह 'रजत' की भी 'प्रत्यक्षता' हो सकती है।

किञ्च—आरोपित 'रजत' की **सत्ता** 'बुद्धि' मे भीतर मानेगे, तो 'गुञ्जापुञ्ज' मे आरोपित 'अग्नि' की 'बुद्धि' मे सत्ता रहने से 'देह' मे दाह होने लगेगा। यदि यह कहो कि 'बुद्धि' मे वह 'अग्नि' तो आरोपित है, उसकी वास्तविक 'सत्ता' नही है। इसलिये 'देह' मे 'दाह' नही होता है। तब तो आरोपित 'रजत', न बाहर 'सत' है, और न भीतर 'सत्' है। इसलिये उसे **'अत्यन्त असत्'** अथवा **'अनिर्वचनीय'** ही कहना होगा। एवञ्च **'आरोपित रजत'** अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। इसरीति से **'अनिर्वचनीय रजत'** के भ्रम मे 'लक्षण' और 'प्रमाण' जैसे सिद्ध है, उसीप्रकार **'द्वैत प्रपञ्च भ्रम'** भी सिद्ध होता है, और वेदान्तवाक्य से उत्पन्न, अधिष्ठानरूप-**अद्वितीय आत्मा** के ज्ञान से उसका **विनाश** होता है।

आगे चलकर 'ब्रह्म' रूप **सिद्ध अर्थ** मे वेदान्तवाक्यो का परम तात्पर्य माना गया है। **'कार्यरूप अर्थ'** मे **शब्द** से 'शक्तिग्रह' का होना सभव नही है। क्योकि बालक-**'कार्यज्ञान'** को अपना 'प्रवर्तक' नही समझता, अपितु **'इष्टसाधनताज्ञान'** को ही अपना 'प्रवर्तक' समझता है। एवञ्च **'कृतियोग्य इष्टसाधनताज्ञान'** को ही 'कार्यज्ञान' मे **हेतु** मानना चाहिये। क्योकि **इष्टसाधनता** के बिना 'कार्य-ज्ञान' ही नही हो पाता है। इसके आगे **'नियोग', नियोज्य, यागादिकी फल-करणता, अखण्डार्थत्व, प्रामाण्यविचार, शक्तिविचार, आन्विताभिधान, अभिहिताऽन्वय** आदि विषयों का ऊहापोह के साथ पर्याप्त विचार करते हुए **वेदान्तवाक्यों** की 'अपौरुषेयता' सिद्ध की गई है। उन **दोषरहित** वेदान्तवाक्यो से अखिल भेदरहित 'शुद्ध ब्रह्म' का बोध होता है। तब सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती है, और **जीव** अमर (मुक्त) हो जाता है। अत श्रुति-स्मृति-पुराण आदि के द्वारा प्रतिपादित की गई **जीवन्मुक्ति** का केवल द्वेष के वशीभूत होकर अपलाप करना उचित नही है।

आजकल मेरा भ्रातुष्पुत्र **राजेश्वर** 'तत्त्वप्रदीपिका' का अध्ययन कर रहा है। उसे पढाने के लिये श्री हनुमानदास जी तथा स्वामी श्री योगीन्द्रानन्द जी की 'तत्त्वप्रदीपिका' की व्याख्याओं से मुझे बहुत सहायता प्राप्त होती है। दोनो की व्याख्याओ मे अपनी-अपनी विशेषता पाईजाती है। मुझे आशा है कि अन्य विद्वानो को भी इन व्याख्याओं से सहायता अवश्य होगी। दोनो ही व्याख्याकार नारायण स्वरूप है। अत उनके पादारविन्दपर अपनी प्रणामाञ्जलि को मै अर्पित कर रहा हूँ।

वेदान्तशास्त्र के प्रस्तुत प्रौढ ग्रन्थ की प्रौढिमा की प्रसिद्धि से विद्वत्समाज भलीभाँति सुपरिचित है, तथापि सुकुमारमति छात्रो के द्वारा अनुभूयमान क्लेश-जनितपीडा से द्रवित होकर वीतराग, ब्रह्मनिष्ठ विद्वद्वरिष्ठ **श्री हनुमानदास-शास्त्रीजी** ने प्रस्तुत ग्रन्थ की व्याख्या राष्ट्रभाषा हिन्दी मे रचकर जिज्ञासु छात्र-वर्ग तथा प्राकृतजनता को उपकृत किया है और उनके अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है।

वाराणसी के सुप्रसिद्ध मूर्धन्य विद्वान् वीतराग, **स्वामी योगीन्द्रानन्द जी महाराज** की **तत्त्वप्रदीपिका** मे सुरक्षित उनके विचारपीयूष से परिपूर्ण कतिपय रत्नमय वाक्य-शब्द तथा अशो का भी व्याख्यातग्रन्थ की शोभा वृद्धि की दृष्टि से इस ग्रन्थ मे व्याख्याकार के द्वारा सग्रह किया गया है। तदर्थ चौखम्बा संस्कृत सस्थान के अधिपति, विद्वत्समाज के स्नेहपूर्ण आशीर्वाद के परमास्पद **श्री मोहनदास,** चि० राजेन्द्रकुमार तथा **श्री व्रजरत्नदास गुप्त** स्वय को ऋणी मानते हुए। सादर प्रणाम के साथ आपके आशीर्वाद की शुभ कामना करते हैं।

[वि स २०४४ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा]

१३ दीनदयालनगर

दुर्गाकुण्ड वाराणसी।

गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर

* ओम्-राम *

दो शब्द

अनादि अपौरुषेय वेदों का सर्वोत्कृष्ट स्थान भारतीय वाङ्मय मे माना जाता है। वेदों मे प्रधानतया तीन काण्ड है। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। इन तीनों काण्डों का उत्म मानवीय जीवन में परम ग्राह्य है। मनुष्य-जीवन के सर्वाङ्गीणविकाश क्रम मे इनका महत्त्व पूर्ण स्थान है। ससार का प्रत्येक मानव इन तीनों पत्तों से कथमपि अछूता नहीं रह सकता है। जीवन में इनकी उतनी ही अपेक्षा है, जितनी अन्न-जल की, जैसे अन्नादि के अभाव मे जीवन स्थाई नहीं रह सकता है, उसी प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान के अभाव मे मानवीय जीवन सार्थक नही हो सकता है।

पूर्वोक्त तीनों पत्तों मे ज्ञानकाण्ड का महत्त्वपूर्ण मूर्धन्यस्थान है। ज्ञानकाण्ड को ही उपनिषद् कहा जाता है। औपनिषदीय ज्ञान ही श्रौत-सिद्धान्त है। उपनिषदों की संख्या अनेक है। समग्र श्रौतसिद्धान्तों का दोहन कर भगवान् वेदव्यास ने वेदान्त-दर्शन का निर्माण किया है। वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के ऊपर भारतीय आस्तिक दार्शनिक महापुरुषों ने भाष्य लिखकर अपना-अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। जिसकी परिणति स्वरूप अनेक वादों के भारतीय धराधाम पर पावन ज्ञान के विचार जनसमूह को आज भी श्रवण, मनन निदिध्यासन करने को मिलते हैं।

भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ने अद्वैतमूलक वेदान्तदर्शन पर भाष्य लिखा है। जिसकी मौलिकता सभी दर्शनकार मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं। यह दर्शन समग्र-दर्शनों का मुकुट-मणि माना जाता है। मानवजाति के उन्नयन मे इस दर्शन का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' वेदान्तदर्शन की प्रथम पृष्ठभूमि है। पुरुषार्थ चतुष्टय के परिवेश मे ब्रह्म जिज्ञासाशील मनुष्य 'मुक्त परिज्ञानात्' से अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का भव्य भाजन बनता है। 'नाऽल्पे सुखमस्ति' श्रुति भी कहती है कि अल्प परिच्छिन्न पदार्थों में सुख नहीं है। दुर्धर्ष माया के चाक-चिक्य

से सुखाभास ही प्रतीत होता है। वस्तुत 'भूमैव सुखम्' सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही सुखस्वरूप है। उसकी लब्धि या साक्षात्कार ही वेदान्त दर्शन का मीमांसित प्रतिपाद्य ज्ञान है। अद्वैत ज्ञान पीठिका ही विविध विभ्रमों को ध्वसकर मुक्ति प्रदान करती है।

अद्वैतज्ञान की सुखद छत्र-छाया मे मानव अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करता है। 'नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते' भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र मे उद्घोष किया है कि इस ससार में ज्ञान से पावन दूसरा कोई पदार्थ नही है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' ज्ञान द्वारा ही मुक्ति सम्भाव्य है, इसके अतिरिक्त सकाम कर्मादि बन्धप्रद ही हैं। 'प्रज्वालित ज्ञानमय प्रदीप' भगवान् वेदव्यास ने एक ऐसी अमर ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की है, जिसके द्वारा सारा भूमण्डल आलोकित हुआ है, आज भी हो रहा है, आगे भी होगा।

'वेदान्त-विज्ञान-सुनिश्चितार्था.' श्रुति प्रतिपादित वेदान्त के ज्ञान विज्ञान के स्वनुभूत निश्चयन से 'तरत्यविद्याम्' मनुष्य अविद्या से छूट जाता है। 'तरति शोकमात्मवित्' आत्माज्ञानी शोक से रहित हो जाता है। 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते' भगवान् श्रीकृष्ण ने कितना मनोरम बतलाया है। भगवान् को प्राप्त करनेवाला स्वय माया के कठिन बन्धन से छुट जाता है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति' ब्रह्मज्ञानी प्रकृष्टपद को प्राप्त करते हुए तद् स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' ज्ञान के द्वारा ही कल्याण होता है 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' परमतत्त्ववेत्ता ही मृत्यु का अतिक्रमण करता है। 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' ब्रह्मविद्या से ही अमृततत्त्व मोक्ष होता है। 'रसोव स' वह परमात्मतत्त्व रस-स्वरूप है 'रस लब्ध्वा ह्येष आनन्दी भवति' सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मानन्द रस की अनुभूतिकर जिज्ञासु सुख सम्पन्न होता है 'निरामण्य ब्रह्म रसायन पिब यह भगवतीय सूक्ति भी निरामय ब्रह्म रस की समास्वादनपूर्वक अनुभूति बतलाती हे। यह अद्वैतवाद का उदात्त विचार और सिद्धान्त है।

परन्तु भारत मे विचार बाहुल्य का प्राबल्य सदा से रहा है, और आज भी है, जिसको लेकर प्रतिपत्ति विप्रतिपत्ति होती रही हैं। इन प्रतिपत्तियों को देखकर चित्सुखाचार्य ने 'तत्त्वप्रदीपिका' (चित्सुखी) का निर्माणकर विपत्तियों का मान मर्दन

क्रिया है। यह ग्रन्थ वेदान्त दर्शन के ग्रन्थों मे वादग्रन्थ माना जाता है। 'तत्त्व-प्रदीपिका' का महाविद्यानुमान का विशद विवेचन एक अभूतपूर्व विवेचन है। जिसका लोहा समस्तवादी स्वीकार करते है। 'तत्त्वप्रदीपिका' का प्रणयन ब्रह्मसूत्र के चार अध्यायों की अधारशिला को दृष्टिगत रखकर चार परिच्छेदों मे किया गया है। जिसकी परिणति मानव जीवन मे 'असतो माम सद् गमय, तमसो माम ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माम-अमृत गमय' की शखनाद करता है।

जिसकी सुखद ध्वनि से ध्वनित होकर मनुष्य असद् मार्ग से विरत होकर सद् मार्ग का अनुष्ठान करता है। अन्धकार मार्ग से विरत होकर प्रकाश मार्ग पर आरोहण करता है। दु खार्णव रूप जन्म मरण के दु खद चक्र से छुटकर अमृत = मोक्ष प्राप्त करता है। यही अद्वैतदर्शन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। भेद वादियों के सिद्धान्तगढ़ को धराशायी करने के लिये चित्सुखी, खण्डनखण्डखाद्यम्, अद्वैतसिद्धि जैसे वाद ग्रन्थों के निर्माण हुए हैं। जिसकी भूमिका अनेकता में एकता स्थापित कर नर से नारायण बनाने का सन्देश देती है। तत्त्वप्रदीपिका के गहनतम विचारों को समझने के लिए श्रीमत्प्रत्यक् स्वरूपाचार्य विरचित 'नयनप्रसादिनी' व्याख्या एक मनोरम व्याख्या है। जिसके सहयोग से चित्सुखी के काठिन्य भावो को हृदयगम करना साधुकर है। 'विद्या सा या विमुक्तये' वस्तुत वही विद्या-विद्या है जो मुक्ति की विधायिका हो, वेदान्त शास्त्र का जो प्रतिपाद्य प्रयोजन आत्यन्तिक दु ख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति ही है। वह ज्ञानकाण्ड की स्वानुभूति द्वारा ही सम्भावित है। कर्म उपासना ज्ञान के सहयोगी बनकर उसी में पर्यवसित हो जाते है।

परमपूज्यपाद अनन्त श्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ स्वामी श्रीहनुमानदासजी साहब षट्शास्त्री ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से 'तत्त्वप्रदीपिका' की व्याख्या कर ग्रन्थ का हृदय खोल दिया है। चित्सुखी के स्वाध्यायी को इस व्याख्या से अपार लाभ होगा। ऐसी मेरी धारणा है। गहनतम दार्शनिक ग्रन्थों की गुत्थियों को सुलझाने में पू० श्रीस्वामीजी सिद्ध हस्त हैं। इनका अधिकाश जीवन दर्शनों के मीमासित विचारों के आलोडनप्रत्यालोडन और प्रचार-प्रसार में संलग्न रहा है। जिसकी परिणति ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य की हिन्दी व्याख्या, खण्डनखण्ड खाद्यम्, की हिन्दी व्याख्या,

गीता पर संस्कृत हिन्दी व्याख्या, ईश, केन, कठ पर हिन्दी सस्कृत व्याख्या प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र के मूलसूत्रों पर भी श्रीस्वामीजी ने हिन्दी में एक मनोरम व्याख्यान किया है। वेदान्त के चूडान्त ग्रन्थों के अतिरिक्त श्रीसद्गुरु कबीर साहब के मूल ग्रन्थ बीजक का अमर भाषा में श्लोकबद्ध व्याख्यान किया है, जो इनकी वाग्मीता का परिचायक है।

भारतीय सस्कृति के उन्नयन में चौखम्बा संस्कृत संस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और आज भी है। इस सस्थान के माध्यम से वेद, वेदान्त, शास्त्र, पुराण, तन्त्र तथा मीमासा प्रभृति विपुल साहित्य प्रकाशित होते आ रहे है और अभी भी हो रहे है। आज की भौतिकवाद के परिवेश मे आध्यात्मिक प्रकाशन की महती आवश्यकता है। जिसकी पूर्ति मे यह प्रकाशन सस्थान सलग्न है जो प्रसन्नता की बात है। इस सस्थान के समुन्नायक श्रीमोहनदास जी गुप्त इस कार्य को आगे बढ़ाने में हर प्रकार से दत्तचित्त होकर कर्तव्य परायण है। जिसकी बहुत आवश्यकता है। इनका परिवार भी इस कार्य मे दत्तचित्त हैं—

आशा है इस कार्य से भारतीय सस्कृति की रक्षा होती रहेगी। आशुतोष भगवान् विश्वनाथ से प्रार्थना है कि यह परिवार भारतीय विद्या का अधिक से अधिक प्रकाशन कर लोक कल्याण करते रहे। चित्सुखी पर स्वल्पात् स्वल्प मै चर्चा की जो मात्र सूर्य को दीपक दिखाना है। आगे प्रभु के पावन नामों के साथ अब मै विराम लेता हूँ।

ओंराम ओंराम ओं ओं राम।
राम ओं राम ओं ओम् ओम् राम॥

के० ६७/६६ ए० सद्गुरु कबीरहनुमत्
पुस्तकालय, महेश कालोनी,
ईश्वरगगी वाराणसी १

स्वामीसुभद्रदासशास्त्री

विषयानुक्रमणिका

प्रथमपरिच्छेदे

मङ्गलाचरणम १
स्वप्रकाशत्वनिरूपणे पूर्वपक्ष २
स्वप्रकाशत्वनिरूपणे उत्तरपक्षः २३
स्वप्रकाशत्वानुमाने हेतुदोषनिरास ३५
स्वप्रकाशत्वानुमाने विपक्षबाधकस्तर्क ४०
स्वप्रकाशत्वानुमाने हेतुदोषनिरास ४८
आत्मन स्वप्रकाशत्वनिरूपणम् ५६
तमसो भावत्वे पूर्वपक्ष ६६
तमसो भावत्वे उत्तरपक्ष ७३
मिथ्यात्वनिरूपणे पूर्वपक्ष ८१
मिथ्यात्वनिरूपणे उत्तरपक्ष ९४
दृग्दृश्यसम्बन्धविधूननम १११
विषयविषयिभावप्रत्यादेश १११
अध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वोत्थापनम् १२१
अध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वनिरास १२५
प्रपञ्चमिथ्यात्वे श्रुतिप्रमाणम् १२९
अनिर्वचनीयाविद्यानिरूपणे पूर्वपक्ष १३७
अनिर्वचनीयाविद्यानिरूपणे उत्तरपक्ष १४७
अख्यातिवादोत्थापनम १५७
अख्यातिवादनिरास १६२
भ्रमज्ञानसाधनम् १७३
असत्ख्यातिमतनिरास १८१
आत्मख्यातिमतोत्थापनम् १९१
आत्मख्यातिमतखण्डनम् १९४
अनिर्वचनीयत्वनिरूपणे पूर्वपक्ष १९६
अनिर्वचनीयत्वनिरूपणे उत्तरपक्ष २०६
सिद्धार्थशक्तिग्रहनिरूपणे पूर्वपक्ष २२१
सिद्धार्थशक्तिग्रहनिरूपणे उत्तरपक्ष २३०
कार्यज्ञानस्य प्रवर्तकत्वोत्थापनम् २४५
कार्यज्ञानस्य प्रवर्तकत्वनिराकरणम् २४९
नियोगगमकभञ्जनम् २५१
नियोज्यभञ्जनम् २६२
नियोज्यस्य कृत्युद्देश्यत्वनिराकरणम् २६४
यागादे फलकरणत्वनिराकरणम् २६७
धर्माधर्मादिवैषम्यानुपपत्ति २७४
सिद्धार्थबोधकत्वोपसहार २७७
अखण्डार्थत्वनिरूपणे पूर्वपक्ष २७९
अखण्डार्थनिरूपणे उत्तरपक्ष २८८
प्रामाण्यवादे पूर्वपक्ष ३०४
प्रामाण्यवादे उत्तरपक्ष ३२३
अतिरिक्तशक्तिवादे पूर्वपक्ष ३४३
अतिरिक्तशक्तिवादे उत्तरपक्ष ३५६
अन्विताभिधानवाद ३७९
अभिहितान्वयवाद ३८९
वेदान्तानामपौरुषेयत्वे पूर्वपक्ष ४०४
वेदान्तानामपौरुषेयत्वे उत्तरपक्ष ४१४

द्वितीयपरिच्छेदे

भेदोजीवनम् ४२५
भेदबम्भञ्जनम् ४३२
द्रव्यलक्षणक्षारणम् ४५२
द्रव्यवे प्रमाणनिराकरणम् ४५८
गुणलक्षणप्रत्यादेश ४६४
कर्मलक्षणप्रतिक्षेपणम् ४७०
कर्मलक्षणादिदूषणम् ४७७
जातिलक्षणादिखण्डनम् ४८५

विशेषलक्षणादिनिरास	४९५
समवायलक्षणनिराकरणम्	५०५
समवायप्रमाणनिराकरणम्	५१६
विरुद्धधर्मसंसर्गाद्भेदसाधनम्	५२३
धर्मभेदनिरास	५३०
क्षणिकत्वनिराक्रिया	५४१
प्रत्यक्षलक्षणनिराकरणम्	५४६
प्रमात्वव्यञ्जकनिरास	५५३
संशयलक्षणापाकरणम्	५५४
विपर्ययलक्षणनिराकरणम्	५६६
स्मृतिलक्षणनिराकरणम्	५७९
प्रत्यक्षलक्षणान्तरनिराकरणम्	५७९
अनुमानलक्षणापाकरणम्	५८२
लिङ्गलक्षणनिराकरणम्	५८६
व्याप्तिलक्षणनिराकरणम	५८६
व्याप्तिग्राहकनिरास	६००
पक्षधर्मत्वनिरुक्तिनिरास	६०८
प्रतिज्ञालक्षणनिराकरणम्	६१४
हेतुलक्षणनिराकरणम्	६१६
उदाहरणलक्षणनिराकरणम्	६१७
पञ्चावयवप्रयोगायोग	६२१
कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेऽन्तर्भावनम्	६२४
उपमानलक्षणनिराकरणम्	६२८
शब्दलक्षणनिराकरणम्	६४३
विशेषणनिरुक्तिखण्डनम्	६४८
पदलक्षणनिराकरणम्	६५२
शब्दप्रमेयनिरास	६५७
शब्दवाच्यत्वनिरास	६६१
शब्दार्थसम्बन्धनिरास	६६३
अर्थापत्तिलक्षणनिरास	६६८
अनुपलब्धिलक्षणनिरसनम्	६७५
अभावलक्षणनिराकरणम्	६८२
प्रागभावलक्षणनिराकरणम्	६८७
अन्योन्याभावलक्षणनिराकरणम्	६९१
अभावखण्डनम्	६९४
करणलक्षणनिराकरणम्	६९८
आरम्भवादोत्थापनम्	७०८
आरम्भवादविमर्दनम्	७२०
अवयविखण्डनम्	७२५
संयोगलक्षणनिरसनम्	७३३
विभागखण्डनम्	७४०
द्वित्वनिराकरणम्	७४८
जातिखण्डनम्	७५६
द्व्यणुकारम्भनिराकरणम्	७६६
परिमाणलक्षणनिराकरणम्	७७१
परिमाणप्रमाणनिराकरणम्	७७३
गुणानां कारणगुणपूर्वकत्वनिरसनम	७७७
कारणत्वनिर्वचननिरास	७८२
कार्यलक्षणखण्डनम	७९६
कालकवलीकरणम्	८९९
दिक्खण्डनम्	८०७
दिक्कालखण्डनम्	८११
भेदाभेदनिराकरणम्	८१६
परिच्छेदार्थसंग्रह	८२७

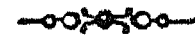
तृतीयपरिच्छेदे

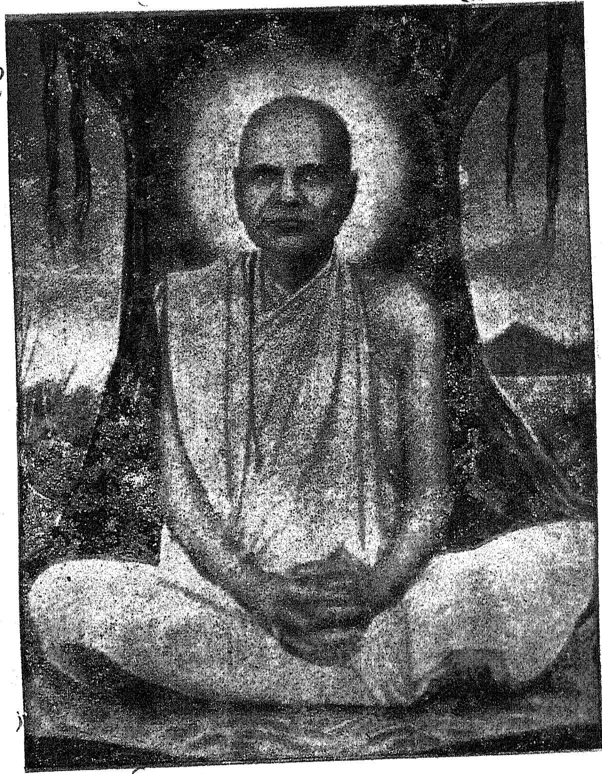
शब्दस्यापरोक्षहेतुत्वे पूर्वपक्ष	८२८
शब्दस्यापरोक्षहेतुत्वे सिद्धान्त	८३१
ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वे पूर्वपक्ष	८४०
ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वे सिद्धान्त	८४३
समुच्चयवादनिराकरणम्	८४७
समुच्चयवादोज्जीवनम्	८४९
समुच्चयवादखण्डनम्	८५३

चतुर्थपरिच्छेदे

सौगतमुक्तिनिरास	८६६
तार्किकमोक्षस्वरूपोपवर्णनम्	८७०

तार्किकसम्मतमोक्षप्रतिक्षेप	८८०	अविद्यालेशविमर्श	९५६
आत्मन सुखस्वरूपत्वप्रसाधनम्	८८३	अविद्याया विविधाकारत्वम्	९६०
साख्यसम्मतमोक्षप्रत्याख्यानम्	८८६	जीवन्मुक्तिसाधनोपसहार	९६४
अविद्याश्रयनिरूपणे पूर्वपक्ष	८९-	परिशिष्टम्–१ (श्लोकावलि)	९६७
अविद्याश्रयनिरूपणे उत्तरपक्ष	९११	परिशिष्टम्–२ (मूलोद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकारा)	९७५
एकजीववादसमर्थनम्	९१६	परिशिष्टम्–३ (व्याख्योद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकारा)	९७६
साक्षिप्रसाधनम्	९२७	परिशिष्टम्–४ (मूलोद्धरणवाक्यानि)	९७८
नानाजीववाद	९३२	परिशिष्टम्–५ (स० व्याख्योद्धरण-वाक्यानि)	९८५
अविद्यानिवृत्तिस्वरूपनिरूपणे पूर्वपक्ष	९४७		
अविद्यानिवृत्तिस्वरूपनिरूपणे उत्तरपक्ष	९५२		





स्वामी हनुमानदास जी षट्शास्त्री

श्रीमच्चित्सुखाचार्यविरचिता

तत्त्वप्रदीपिका

स्वोपज्ञ 'नयनप्रसादिनी' संस्कृतटीकासहित- 'तत्त्वचन्द्रिका' हिन्दी-व्याख्योपेता

प्रथमः परिच्छेदः

स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो,
य पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मत ।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाण हरि,
सोऽव्याद्वः शरदिन्दुसुन्दरतनु सिंहाद्रिचूडामणि ॥ १ ॥

❀ नयनप्रसादिनी ❀

यन्नित्य निरवग्रहस्वमहिमाऽमेयस्वभाव महा-
मायावेशवशाद् व्यवर्तत वियद्वाय्वग्न्यबुर्वीमुखै ।
भावैस्तत्तदनन्तविभ्रममयैर्विध्वस्तभेदोद्भव,
निर्धूतावधिबोधमोदजलधिं वन्दे महीयो मह ॥ १ ॥

उन्निद्रशुभ्रसरसीरुहसनिषण्णा
निर्गच्छदच्छरुचिनिर्जितचन्द्रकान्तिम् ।
हारोज्ज्वला लिपितनु स्फटिकाक्षकुम्भ-
मुद्राक्षपुस्तककरा प्रणमामि वाणीम् ॥ २ ॥

अविरलविगलितमदजलविलुलितमत्तालिमाल्यमनुलम्ब ।
सुविपुलकपोलफलको दलयतु लम्बोदरो दुरितम् ॥ ३ ॥

यद्विद्याधवलैर्बिभर्ति विबुधै सर्वा दिवापीन्दुमु-
न्मीलत्कैरवकोरकाकुलरुचिं विश्वभग्येय भूता ।
घोराज्ञानदुरन्तपङ्कनिकरप्रोत्सारिविद्यानदी-
मूल नौमि मुनीन्द्रमन्वहमह विद्यागिरिं त गुरुम् ॥ ४ ॥

यत्पादपावनसरोजरज परागै-
रेते विनेयनिवहा विरजस्त्वमापु ।
सत्यप्रकाशपरिशुद्धनिजानुभाव
प्रत्यक्प्रकाशमभिनौमि गुरु यतीन्द्रम् ॥ ५ ॥

उद्यद्विद्यासुरसरिदियं निःसृता यत्सकाशाद्,
यत्पादाब्जं सकलविबुधोत्तंसलीलां बिभर्ति ।
हंसानां यद्विमलबहुवाग्जीवनं जीवनं तं,
वन्दे विद्यागुरुमविरतं मानसं तीर्थमार्यम् ॥ ६ ॥

अविनश्वररुचितत्त्वप्रदीपिकालोकनार्थिना क्रियते ।
अज्ञानतिमिरभेत्त्री मानसनयनप्रसादिनी टीका ॥ ७ ॥

दोषत्वमुज्ज्वलगुणा अपि यान्ति येषु
तैरुन्नते किमथवेह तिरस्कृते किम् ।
दोषोऽपि येषु गुणतामुपयाति भूया-
स्तेभ्यो नमोस्तु सततं भुवि सज्जनेभ्यः ॥ ८ ॥

प्रारिप्सितस्य प्रकरणस्य निरन्तरायपरिसमाप्तिपरिपन्थिदुरितपरम्परानिवारणाय शिष्योपशिष्यद्वारा प्रचयप्रचाराय शिष्टानुष्ठानप्रतिष्ठापनेन शिष्टपरिग्रहाय च प्रवरगुणगणोपवर्णनपूर्वकं परमेश्वरं परिपूजयन् आशीर्लक्षणमङ्गलमविगीतशिष्टाचारानुमितस्मृतिपरिकल्पितश्रुतिप्रमाणकमाचरन्ति शिष्यशिक्षार्थं ग्रन्थतो निबध्नाति—**स्तम्भाभ्यन्तरेति** । स हरिरज्ञानतत्कार्यहर्ता वः युष्मानव्याद्रक्षतात् । तस्यैव हरेर्विशेषणानि स्तम्भाभ्यन्तरेत्यादीनि । स्तम्भस्याभ्यन्तरं स्तम्भाभ्यन्तरं तत्र गर्भभावः स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावः । गर्भत्वं चेदमनभिव्यक्ततया वृत्तित्वं नतु गृहान्तरावस्थितदेवदत्तवत्प्रकटतया । सर्वान्तरभावोऽनेन विवक्ष्यते मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीनामितिवत् । तेन न पौनरुक्त्यम् । तेन निगदव्याख्यातः निगदमात्रेण व्याख्यातम्, उपायान्तरनिरपेक्षतया स्पष्टीकृतमिति यावत् । तद्वैभवं तस्य स्वरूपस्य, तत्ताहगनुपममिति वा, वैभवं विभुत्वं येन, यस्येति वा । असौ स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवः । तदनेन सर्वगतत्वमुक्तं भवति । सर्वगतत्वमपि नैयायिकादेरिव वस्तुतः परिच्छिन्नं स्यादिति तन्निवृत्तये सर्वात्मतामाह—यः **पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मत इति** । पञ्चाननसम्बन्धि पाञ्चाननं पञ्चाननः सिंहः पञ्चसु दिक्ष्वाननमस्य विपरिवर्तत इति व्युत्पत्त्या विस्तृतास्यत्वाद्वा 'पचि विस्तारे' इत्यस्मात्पञ्चशब्दव्युत्पत्तेः 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः' इत्यमरसिंहोक्तेश्च । पञ्चजना मनुष्याः, 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इति तेनैवोक्तत्वात्, 'दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायामि'ति समासाभिधानाच्च । तत्सम्बन्धि पाञ्चजन्यम् । पाञ्चाननं च तत्पाञ्चजन्यं चेति पाञ्चाननपाञ्चजन्यं तादृशं वपुः पाञ्चाननपाञ्चजन्यवपुः नरसिंहात्मकमित्यर्थः । तेन वपुषा व्यादिष्टा विशेषेणोक्ता विश्वात्मता विश्वस्वरूपता येन, यस्येति वा स तथोक्तः । न च सर्वात्मकत्वकथनेनैव सर्वगतत्वसिद्धेर्वृथा पृथक्कथनमिति वाच्यं, अतत्परत्वात्, यदेतद्वादिश्रुत्यादिप्रसिद्धं सर्वगतत्वं, सर्वात्मकत्वं तन्नून मया प्रकटितमित्युत्प्रेक्षाया विवक्षितत्वात् । तदेवं सर्वगतत्वं सर्वात्मकत्वं चोक्त्वा परमकारुणिकस्य भक्तानुग्रहीतृतामाह —**प्रह्लादेति** । प्रह्लादेनाभिहितार्थस्तस्मिंस्तत्क्षणं

समसमयमेव मिलद् घटमान दृष्ट प्रत्यक्ष प्रत्यक्षवत्साक्षात्कारसाधकत्वात्प्रमाण य स तथोक्त । प्रमाणशब्दस्य नित्यनपुंसकत्वात्प्रतिपिपादयिषिततया तत्पुरुषसमासतया स्वप्रधानत्वाच्च सगच्छत एव प्रमाण हरिरिति सामानाधिकरण्यम् । सर्वात्मकस्य परमेश्वरस्य स्तम्भादिसर्ववस्तुगतत्व हि प्रह्लादेन प्रत्यज्ञायि । तत्र चागमोऽनुमान वा यत्तेन वक्तव्य प्रमाण तत्परोक्षमेवाह तु साक्षात्कारयिष्यामीत्यभिमानेन स्तम्भोदरान्निरगादित्यर्थ । **शरदिन्दुसुन्दरतनु** शरदिन्दुवत्सुन्दरा धवला तनुर्यस्य स तथोक्त सिंहाद्रेश्चूडामणि सिंहाद्रिचूडामणि सिंहगिर्यलकार सिंहगिरिनिवासीत्यर्थ । य एवविध स हरिरित्यन्वय । यद्यप्यत्र वैभवस्यार्थात्मकतया निगदव्याख्यातत्व न सम्भवति तस्य ग्रन्थधर्मत्वात्तथापि समाधिप्रदर्शनार्थमयमन्यधर्मोऽन्यत्र निवेदित । समाधिर्नाम काव्यविशेषस्य प्राणविशेष । काव्यविशेषस्य हि दश प्राणा कविभि परिगणिता , यथाहु —

'श्लेष प्रसाद समता माधुर्य सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृता' इति । तथा—
'अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधि स्मृतो यथा ।।
कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च ।।' (काव्यादर्श परि० १)

इत्यत्र हि नेत्रक्रियारूपयोर्निमीलनोन्मीलनयो कुमुदकमलयोरनेत्रयोरध्यारोपणं समाधिस्तथेहापि ग्रन्थधर्मस्यार्थे निवेदनात्समाध्यलकारो दर्शितो भवति । पाञ्चालीवैदर्भीरीत्योश्चाञ्जसैव वैषम्यात् । अस्य च वेदान्तशास्त्रप्रकरणत्वात्तद्विषयादिभिस्तद्वत्त्वमस्तीति दर्शयितु लेशतस्तदपि सूचितम् । तथाहि—हरिरित्यनेनाज्ञानतत्कार्यहारित्वदर्शनान्निर्धूतोपाधिव्याधिपरिशुद्ध प्रत्यग्रूप ब्रह्म प्रयोजन सूचितम् । व्यादिष्टविश्वात्मत इत्यनेनारोपितमायतयाऽज्ञात प्रत्यग्भूत च ब्रह्म विषयो दर्शित । प्रह्लादशब्देन तादृगधिकार्यशब्दसूचितोऽपि सूचित । अर्थाच्च शास्त्रफलयोर्हेतुहेतुमद्भावरूप शास्त्रतत्त्वज्ञानफलयोश्च कार्यकारणभावरूपौ तत्फलज्ञानतत्त्वयोश्च विषयविषयिभावरूप शास्त्रतत्त्वयोश्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप इति पञ्चविध सम्बन्धो दर्शित इत्यनेनैव प्रकरणारम्भोऽपि समर्थित ।। १ ।।

❀ तत्त्वचन्द्रिका ❀

वन्दे नित्य चिदानन्द निष्कल निर्मल स्वयम् ।
अखण्डमभय देव गुरु ब्रह्म पर पदम् ।। १ ।।
अवेद्यश्चापरोक्षव्यवहृतेर्विषय विभुम् ।
मनसा वचसा नौमि सच्चिदानन्दमव्ययम् ।। २ ।।
सम्मते स्वाश्रयत्वेन स्वाभावप्रतियोगिनम् ।
भासयन्त स्वमात्मान स्वप्रकाशं भजाम्यहम् ।। ३ ।।

नमो नमोऽस्तु किल कर्मसाक्षिणे क्रियाकलादिविगतार्थभासिने ।
अनन्तधामसदसत्स्वरूपिणे अनन्तपारगुरुमूर्तये नम ॥ ४ ॥
शिवकर शिववाक्यविशारद प्रणततापतुद तनुतारणम् ।
निखिलधर्मतदङ्गदिवाकर सुसदय प्रणतोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥

यह प्रसिद्ध कथा है कि प्रह्लाद हरिभक्त थे, और उनका पिता हरिविमुख था अत हरिभक्ति से प्रह्लाद को भी विमुख करना चाहता था, किन्तु प्रह्लाद हरिभक्ति से विमुख नही हुए और उन्होंने गृह के स्तम्भादि मे सर्वत्र विभुहरि का वर्णन किया, तब क्रुद्ध उसके पिता ने उस निकटवर्ती स्तम्भ में मुष्टिप्रघात किया, और कहा कि यदि इसमे हरि है, तो वह प्रकट हो इत्यादि, फिर श्री भगवान् ने किसी अश मे सिह (पञ्चानन नामक सम्बन्धी पाञ्चानन) रूप, युक्त, प्रकट होकर और किसी अश मे मानव (पञ्चजन नामक सम्बन्धी पाञ्चजन्य) रूप. युक्त, प्रकट होकर, प्रह्लाद के पिता का वध करके प्रह्लाद की रक्षा की। इत्यादि आशय से, आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण किया गया है कि—

जिस हरि ने स्तम्भ के अभ्यन्तर (भीतर) गर्भभाव से (वत्सादितुल्य अव्यक्त स्थिति से) निगद (स्पष्ट) व्याख्यात (व्यक्त प्रकट) तद्वैभव (तिस अव्यक्त स्वरूप के विभुत्व) को किया है। अर्थात् स्तम्भाभ्यन्तर स्थिति से ही जिसके विश्वाभ्यन्तर गर्भत्वेन स्पष्ट व्याख्यात अव्यक्त स्वरूप की विभुता हो गई है। और पाञ्चानन (सिह सम्बन्धी) पाञ्चजन्य (पञ्चजन मनुष्य सम्बन्धी) अशत उभय नर और सिहात्मक (नरसिह) वपु (शरीर) से जिस हरि ने विश्वात्मता विश्वरूपता व्यादिष्ट विशेष रूप से मानो व्याख्यात की है। और प्रह्लाद से कथित सर्वात्मत्व अर्थ मे उसके कथन क्षण मे ही मिलता हुआ प्रत्यक्ष प्रमाण रूप जो हरि है, तथा जो शरद ऋतु काल के धवल स्वच्छ सुन्दर चन्द्र तुल्य सुन्दर शरीरवाले, एव सिहाद्रि (नृसिहाश्रम पर्वत) के चूडामणि (अलकार स्वरूप) सिहगिरि के विभूषण स्वरूप है, सो हरि आप (श्रोता वक्ता आदि) सब की रक्षा करे ॥ १ ॥

ज्योतिर्यद्दक्षिणामूर्ति व्यासशंकरशब्दितम् ।
ज्ञानोत्तमाख्य तद्वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥ २ ॥

तदेवमाशीर्वादेन परदेवता पूजिता । गुरुपूजयापि भवितव्यम्—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मन ॥

इति देवताभक्तिवद्गुरुभक्तेरपि विद्यावगमावन्तरङ्गतावगमात्तदर्थं गुरु नमस्करोति—ज्योतिर्यदित्यादिना । सत्यानन्देति । सत्यानन्दपदाभ्या प्रकाशित, अथवा सत्यानन्दात्मक यत्पद पद्यते इति पद तेनोदित स्फुरितम् । इत्थभावे तृतीया, अनेन च गुरुदेवतयोरैक्यमुक्तम् । वेदान्तवेद्यवस्तुस्वरूपप्रतिपादकवेदान्तापेक्षितन्यायसूत्रणाय व्यासपदवीमवाप । पुनस्तदर्थाविष्करणाय शकराचार्येना तद्भाष्यार्थविवरणाय च ज्ञानोत्तमतामुपागमदिति भाव ॥ २ ॥

जो दक्षिणामूर्ति (शिव स्वरूप) ज्योति (चिदात्मा) वेदान्त सूत्र रचना के लिये व्यासदेव रूप से, और उसके भाष्य के लिय श्री शङ्कराचार्य रूप से प्रकट होने के कारण श्री व्यास और शङ्कर (शङ्कराचार्य) शब्द से शब्दित (शब्द से कथित) होती है। तथा ज्ञानोत्तम नामक श्री गुरु स्वरूप हुई है। उस सत्य आनन्द पद से कथित = प्रकाशित, सत्यानन्द प्राप्तव्य स्वरूप ज्योति (चिदात्मा ब्रह्म) की वन्दना करता हूँ। इससे सद्गुरु और ज्योति स्वरूप को एकता कही गई है, और श्रुतिवर्णित गुरुभक्ति की ज्ञानान्तरङ्ग साधनता मानी गई है॥ २॥

विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्तध्वंसप्रगल्भवाचाला ।
क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका विदुषा ॥ ३ ॥

यद्यपि शारीरकविपयादिनास्यापि परमविषयादिमत्त्व सिद्धचति तथाप्यसाधारणान्यपराण्यपि वक्तव्यान्येव, अन्यथा पृथगारम्भवैयर्थ्यादित्यसाधारणान्याह—**विप्रतिपत्तिव्रातेति**। विप्रतिपत्तीना व्रात समूहस्तदेव ध्वान्त तस्य ध्वसे प्रगल्भा दृढतरन्यायोपेना वाचाला बहुभापिणी "आलजाटचौ बहुभाषिणी"ति पाणिनिस्मरणात्, "स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवागि"त्यभिधानाच्च । अनेनासपूर्णोक्तिः परिहृता। प्रतीचो जीवस्य तत्त्व पारमार्थिक रूप निरतिशयानन्दनिरस्तानर्थव्रात ब्रह्म तस्य प्रदीपिकेव प्रदीपिका प्रकाशकत्वात्। एतदुक्त भवति—यद्यपि शारीरकादितत्तद्ग्रन्थै प्रत्यक्तत्त्वप्रकाशने करणभूतवेदान्ताना विप्रतिपत्तिनिरसनरूपोपकरणेतिकर्तव्यताकृत्यमपि कृत तथापि तत्तदभिनवविप्रतिपत्तिव्रातनिवारणे तदेवास्यापि प्रयोजनं भवति । विप्रतिपत्तितिरोहित तु विषय । तत्काम्यधिकारी । तथाविधश्च सम्बन्ध इत्यस्त्येवासाधारणमस्य विषयादि, अत एव चारम्भणीयमिति । केचिद्विप्रतिपत्तीत्यादिना अवान्तरप्रयोजनस्य निर्देश प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकेति प्रधानस्यैवेति वदन्ति ॥ ३ ॥

प्रथम श्लोक मे हरि शब्द से ज्ञात, प्रत्यगभिन्न शुद्ध ब्रह्म अविद्यादि के हारक (नाशक) होने से वह ग्रन्थ का प्रयोजन (फल) रूप सूचित हुआ है। और व्यादिष्ट (व्याख्यात) विश्वात्मता शब्द से आरोपित जगद् विशिष्ट अज्ञात ब्रह्म विषय दर्शित हुआ है, प्रह्लाद शब्द से तत्तुल्य अधिकारी सूचित हुआ है, और हेतुहेतुमद्भावादि रूप शास्त्र फलादि के सम्बन्ध भी प्रथम श्लोक से सूचित हुए है, सो सब अनुबन्ध टीका मे वर्णित है। और शारीरक के विषय प्रयोजनादि से ही इस ग्रन्थ को भी वस्तुत विषयादिमत्त्व है, अत यद्यपि पृथक् विषयादि निरूपणीय नही है, तथापि सर्वथा तुल्य विपयादि के होने पर पृथक् ग्रन्थारम्भ की निष्फलता की प्राप्ति होती है, अत इस ग्रन्थ के विशेष प्रयोजनादि कहे गये ह कि—विप्रतिपत्ति (विरुद्ध प्रतिपत्ति = ज्ञान) श्रुतिप्रतिपादित स्वयप्रकाश अद्वैतवस्तु के ज्ञान से विरुद्ध ज्ञान। और तन्मूलक विरुद्ध वाद (कथन) का व्रात (समूह) रूप जो ध्वान्त (तम अन्धकार) उसके ध्वस (नाश) मे प्रगल्भा (प्रतिभावाली दृढयुक्तियुक्ता) और वाचाला = बहुभाषिणी, प्रत्यक् तत्त्वदीपिका (अन्तरात्मतत्त्व = जीव के पारमार्थिक स्वरूप की प्रकाशिका = बोधिका) ग्रन्थ चित्सुख मुनि नामक विद्वान्‌से किया जाता है। भाव है कि यद्यपि विप्रतिपत्ति आदिका निवारण

शारीरकादि से भी किया गया है, तथापि अभिनव विप्रतिपत्ति आदि का निवारण इसका विशेष फल है। विप्रतिपत्ति से तिरोहित वस्तु इसका विषय है, इत्यादि ॥ ३ ॥

प्रमाणनखनिर्भिन्नमहामोहामरारये ।
नमस्कुर्मो नृसिंहाय स्वप्रकाशचिदात्मने ॥ ४ ॥

अनन्तरवर्तिष्यमाणवादार्थं नरसिंहनमस्कारच्छलेन दर्शयति—**प्रमाणेति** । प्रमाण तत्त्वमस्यादिवाक्यजनिता जीवब्रह्मैक्याकारा चित्प्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिवृत्तिस्तत्प्रतिबिम्बित वा चैतन्यम् । वाक्यापेक्षया च बहुत्वम् । प्रमाणमयैर्नखैर्निर्भिन्नो महामोहाह्वयोऽमरारिरसुरो येन तस्मै । अथ किमिति तत्कर्मकानुभवाजनकत्व प्रमाणानामिति तत्राह—**स्वप्रकाशेति** । स्वप्रकाशा चित्सैवात्मा यस्य । अथवा स्वप्रकाशश्चिद्रूपश्चासावात्मा चेति विग्रह । एतेन स्वप्रकाशरूपेऽतिशयानाधायकत्वेऽपि मोहनिवृत्तिलक्षणातिशयाधायकतया वेदान्ताना स्वप्रकाशे ब्रह्मणि प्रामाण्य प्रमाणकृत्य चोपपादित भवति । तदनेन सविदात्मनो. स्वप्रकाशत्व प्रतिज्ञात तदेतद्द्वयमुत्तरत्र यथाक्रम समर्थयिष्यते ॥ ४ ॥

आगे होनेवाले स्वप्रकाश विषयक वाद (कथा) के विषय को भगवान् नरसिंह के नमस्कार के व्याज (बहाने) से दर्शाया गया है कि—तत्त्वमसि, इत्यादि महावाक्य जन्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्माकारवृत्ति रूप प्रमाणात्मक नखों से (नखों द्वारा) निर्भिन्न (नष्ट) किये गये है, महामोह = अविवेकादि रूप अमरारि = असुर, जिससे, उस स्वप्रकाश (स्वय प्रकाश) चिदात्मस्वरूप श्री नरसिंह भगवान् को हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

अथ कोऽयं स्वप्रकाशशब्दार्थ ? किं स्वश्चासौ प्रकाशश्च स्वप्रकाश ॥१॥ स्वस्य स्वयमेव प्रकाश इति वा ? ॥२॥ सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यत्व वा ? ॥३॥ स्वसत्तायां प्रकाशव्यतिरेकविरहितत्व वा ? ॥४॥ स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्व वा? ॥५॥

अथ कोऽयमिति । अथशब्दोऽयमानन्तर्यार्थे । विषयादिमिद्धचनन्तरमित्यर्थ । अधिकारार्थो वा । स्वप्रकाशत्वस्य स्वयमनङ्गीकारादङ्गीकृतशब्दद्वारा विप्रतिपत्त्यधिकरणनिर्देश कोऽयमिति । किंलक्षणक इत्यर्थ । **स्वश्चेति** । स्वत्वे सति प्रकाशत्वमित्यर्थ । घटादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै प्रकाशग्रहणम् । **स्वस्येति** । स्वविषयत्वे सति प्रकाशत्व वेत्यर्थ । अर्थान्तरतानिवृत्त्यै प्रथम विशेषणम् । शब्दशब्दादावतिव्याप्त्यै प्रकाशग्रहणम् । द्वयमिहोक्त भवति स्वस्य स्वस्मिन्प्रकाशत्वविधान, अर्थात्प्रकाशान्तरव्यावृत्तिश्चेति । इदानीमुत्तरे विशेष शङ्कते—**सजातीयेति** । अर्थान्तरतानिवृत्त्यै सजातीयग्रहणम् । एतच्च प्रदीपादेरपि स्वप्रकाशत्व वाञ्छतो लक्षणम् । **स्वसत्तायामिति** । यावदस्य सत्ता तावत्प्रकाशेनावियोग । वेद्यत्वे हि निलीनताया अपि सभवात्प्रकाशव्यतिरेकोऽनवस्था वा स्यादित्यर्थ । **स्वव्यवहारेति** । अविज्ञाने व्यवहारायोगादवश्य ज्ञानेन स्वव्यवहारहेतुभूतेन भवितव्यम् । तद्रूपत्व च तस्य स्वप्रकाशत्व विवक्षितमित्यर्थ । यद्यपि न पूर्वपूर्वपक्षदोषपरिजिहीर्षया सर्वत्रोत्तरोत्तरपक्षपरिग्रहस्तथापि सभाव्यमानत्वाद्विभिन्नदूषणत्वाच्च विनेयमतिविकासायोपन्यस्यन्ते ।

यहाँ मङ्गलाचरण विषय निर्देशादि के अनन्तरता अर्थक, अथ शब्द है, और (कि स्वप्रकाशत्वम्) पूर्वनिर्दिष्ट (स्वप्रकाशत्व क्या है) ऐसे सुगम प्रश्न को छोड़ कर (कोऽय स्वप्रकाशशब्दार्थ.) यह स्वप्रकाशशब्द का अर्थ क्या है, इस प्रश्न का तात्पर्य है कि, स्व-शब्द, आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति आदि का वाचक होता है, और आत्म वाचक स्वशब्द स्वय शब्द के साथ समानार्थक होता है, तहाँ "स स्वय जानाति, त्व स्वय जानासि, अह स्वय जानामि" इत्यादि प्रयोगादि से स्वय शब्दार्थ, कूटस्थ चेतनात्मा, प्रथम, मध्यम, उत्तम सब मे व्यापक प्रकाश (साक्षी) स्वरूप सिद्ध होता है, सोई स्वप्रकाश शब्द मे स्वशब्द का अर्थ है। और (यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह। यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते (१) यत यह जीवात्मा सुषुप्ति मे सद्ब्रह्म को प्राप्त करता है, स्वप्न मे जाग्रत् के वासनाओं का ग्रहण करता है, जाग्रत् मे यहाँ विषयों को भोगता है, और यत इसका निरन्तर सर्वत्र सर्वकाल मे भाव (सत्व प्रकाश) रहता है, अत आप्नोति, आदत्ते, अत्ति, अतति, इति आत्मा कहा जाता है, इस कथन से आत्मा के तीन स्वरूप व्यावहारिक, एक पारमार्थिक विभु-स्वरूप सिद्ध होता है, सो पारमार्थिक स्वरूप यहाँ स्वशब्दार्थ है, ऐसा सिद्धान्त मे माना जाता है, और उसकी स्वय प्रकाशता भी सिद्धान्त मे मान्य है, परन्तु प्रतिवादी नही मानता है, और वादी प्रतिवादी दोनों से अङ्गीकृत अर्थ द्वारा प्राय कथा की प्रवृत्ति होती है। अत वादी प्रतिवादी दोनों से अङ्गीकृत शब्द द्वारा प्रश्न किया गया है कि कोऽय, किस लक्षण वाला, स्वप्रकाश शब्द का अर्थ है। और (आत्मनस्तत्प्रकाशत्व यत्पदार्थावभासनम्। नाग्न्यादिदीप्तिवद्दीप्तिर्भवत्यान्ध्य यतो निशि ॥ अपरोक्षानुभूति) इस प्रकाशत्व को भी प्रतिवादी नही मानता है। अत दीपादि मे अतिव्याप्ति कहता है। प्रथमविकल्प है कि क्या स्वश्च (स्वत्वविशिष्ट=स्वरूपवत्त्वयुक्त प्रकाश रूपता, स्वप्रकाशता है। स्वरूपवत्ता घटादि में भी है। अत प्रकाश कहा गया है ॥ १ ॥ अथवा, स्वविषयक प्रकाशता है, प्रकाशता अग्नि आदि में भी है, अत उनकी व्यावृत्ति के लिये स्वविषयकत्व कहा गया है। अर्थात् प्रकाशान्तराविषयत्वे सति स्वविषयक प्रकाशत्वविशिष्ट रूपता है, क्या ॥ २ ॥ अथवा, सजातीय प्रकाश से अप्रकाश्य मान्ता है, इस पक्ष मे दीपादि को भी स्वप्रकाश माना गया है ॥ ३ ॥ अथवा अपनी सत्ता (वर्तमानता मे) प्रकाशाऽभावरहिता=अर्थात् नियत=अवश्य प्रकाश मानता है क्या ॥ ४ ॥ स्वव्यवहारहेतुतादृक्त प्रकाशत्व है क्या, अर्थात् अज्ञात का व्यवहार नही हो सकता है, अत व्यवहारहेतु ज्ञानरूपत्व स्वप्रकाशता है ॥ ५ ॥

ज्ञानाविषयत्व वा ? ॥ ६ ॥, ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्व वा ? ॥ ७ ॥ व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्व वा ? ॥ ८ ॥, स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वं वा ? ॥ ९ ॥ अवेद्यत्वे, सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वं वा ? ॥ १० ॥ तद्योग्यत्व वा ? ॥ ११ ॥

ज्ञानाविषयत्व शशविषाणादेरप्यस्ति तच्छब्दजनितबुद्धेर्विकल्पमात्रतयार्थासस्पर्शात्, यथाहु पतञ्जलय —"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इतीत्यपरितोषात्पक्षान्तर शङ्कते— ज्ञानाविषयत्वे सतीति। नच तृतीयषष्ठयो सकर , तथाभूतस्यापि प्रदी-

पस्य ज्ञानविषयत्वात् । अथ ब्रूयात्किमिदमपरोक्षत्वम् ? किमपरोक्षज्ञानविषयत्वम् ? किंवाऽपरोक्षज्ञानत्वम् ? नाद्य, ज्ञानाविषयत्वज्ञानविषयत्वयोर्व्याघातात् । न द्वितीय ; सर्वस्यैव ज्ञानस्य स्वप्रकाशताश्रयणेन व्यर्थविशेषणत्वापातात्, अनपरोक्षज्ञानाभावाच्च । भवन्मते 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्मे'ति श्रुते, वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्य च ज्ञानत्व नेष्यते भवतेत्यत पक्षान्तर शङ्कते—**व्यवहारेति** । अख्यातिवादिना व्यवहारविषयत्वे सति ज्ञानाविषयत्व शुक्तिरजतादिससर्गेऽप्यस्तीत्यतिव्याप्तिमालक्ष्य पक्षान्तर कक्षीकरोति—**स्वप्रतिबद्धेति** । असभवनिवृत्त्यै सजातीयग्रहणम् । ज्ञानाविषयत्वे सत्यपरोक्षत्व पूर्वमुक्तमिह तु तद्व्यवहारविषयत्वमिति न सप्तमदशमसकरावसर । मुक्तिदशाया व्यवहारानङ्गीकरणादव्याप्ति स्यादत उक्त **तद्योग्यत्वं वेति** ।

अथवा ज्ञानाऽविषयता = अप्रमेयता स्वप्रकाशता है ॥ ६ ॥ अथवा ज्ञानाविषयत्वयुक्तअपरोक्षत्व स्वरूप है॥७॥ अथवा व्यवहारविषयता युक्त ज्ञानाविषयत्व है॥८॥ अथवा स्वसम्बन्धी = स्वविषयक व्यवहार मे सजातीय अन्य की अपेक्षा रहितत्व है ॥ ९ ॥ अथवा अवेद्य=ज्ञानाविषय होते हुए अपरोक्ष व्यवहार (कथनादि) विषयता है ॥ १० ॥ या अवेद्यतायुक्त अपरोक्षव्यवहार की योग्यता स्वप्रकाशता है ॥ ११ ॥ यहा पूर्व पूर्व पक्ष में दोष की प्राप्ति होने पर उसके निवारण के लिये, उत्तर-उत्तर पक्ष का ग्रहण नहीं है, किन्तु इन लक्षणों के सम्भव होने से, इनमे पृथक् २ दोष दर्शनार्थक इनका कथन किया गया है । या कथञ्चित्पूर्व पूर्व मे अरुचि होने पर उत्तरोत्तर का उपन्यास है, सो ऊहनीय है, या टीका से ज्ञातव्य है ।

नाद्य, वेद्यस्यापि ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वाभ्युपगमात् ॥ १ ॥ न द्वितीय, कर्मकर्तृभावविरोधेन लक्षणस्यासभवात् ॥ २ ॥ न तृतीय, प्रदीपादे सजातीयप्रकाशाप्रकाशस्याप्यप्रकाशत्वेन लक्षणस्यातिव्याप्ते, घटादेरपि सजातीयप्रकाशाप्रकाश्यस्य स्वप्रकाशत्वप्रसङ्गाच्च । न हि प्रदीपादौ ज्ञाने वा घटत्वादिजातिरस्ति, येन घटादय सजातीयप्रकाशप्रकाश्या भवेयु । सत्तया सजातीयत्वं तत्राप्यस्तीति चेत्, न, विशेषणवैयर्थ्यात्सत्ताविरहिण प्रकाशस्यैवासभवात्प्रकाशाप्रकाश्यत्वमित्येतावतैव चरितार्थत्वात् ॥ ३ ॥

अथवार्थान्तरतानिवृत्त्यै द्वितीयोत्थान, विशेषपरिहाराय तृतीयोत्थान, घटादावतिव्याप्तिपरिहाराय चतुर्थ, सुखादावतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पञ्चम, प्रदीपेऽतिव्याप्तिपरिहाराय षष्ठ, सप्तमाष्टमनवमेषु चोक्तमेव । प्रदीपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै दशम, एकादशेऽप्युक्तमिति सभवत्येव सर्वत्र पूर्वपूर्वानुपपत्तिपरिहारायोत्तरोत्तरोपन्यास । **वेद्यस्यापीति** । नहि तदस्व नाप्यप्रकाश ज्ञानताङ्गीकारादित्यर्थः । **कर्मकर्तृभावेति** । यद्यपीय स्वस्येति षष्ठी सबन्धमात्रेऽपि सभवति तथाप्यविवक्षितविशेषे व्यवहारायोगाद्विशेषस्य च सनिहितप्रकाशनक्रियानुरोधेन कर्मणि व्यवस्थापनात्प्रसज्यैव कर्मकर्तृभाव इत्यर्थ । **प्रदीपादेरिति** । नहि तदालोकान्तरेण प्रकाश्यते । यच्च ज्ञान प्रकाशक तद्विजातीयमि-

ध्यर्थ । नच प्रदीपस्यापि स्वप्रकाशत्वादनतिव्याप्तिरिति शङ्कनीय, भौतिकस्य स्वप्रकाशताव्याघातादिति । न, विशेषणवैयर्थ्यादिति ।

उक्त लक्षणों का खण्डन है कि आद्य=प्रथम लक्षण स्वत्वेसति प्रकाशता=स्वत्वयुक्तप्रकाशरूपता । यह युक्त नही है, क्योंकि इस प्रकार से अनुव्यवसायादि से वेद्य (ज्ञेय= अस्वप्रकाश) वृत्तिरूप ज्ञान की भी स्वप्रकाशता मानी जाती है (प्राप्त होती है)। उसमे भी स्वत्वे सति (परभिन्नत्वे सति=असाधारण स्वरूपत्वे सति) प्रकाशता है, अत अलक्ष्य मे लक्षण की प्राप्तिदोष से दुष्ट यह लक्षण है । यद्यपि स्वशब्द के अर्थ आत्मा को माना जाय तो (स्वत्वे=आत्मत्वे सति प्रकाशत्वं=स्वप्रकाशत्वम्) यह लक्षण होगा, सो सर्वथा सिद्धान्त मे अदुष्ट होगा, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान आत्मा नही है । और वस्तुत वृत्तिरूप ज्ञान मे प्रकाशत्व भी सिद्धान्त के अनुसार नही है, किन्तु तप्तलोहगत अग्नि के दाहकत्व के समान, वृत्तिगत ब्रह्मात्मा के प्रकाशत्व वृत्ति मे भ्रम से भासता है, इतना भेद है कि आत्मा (ब्रह्म) सामान्य प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप है, और वृत्ति के सात्त्विक (स्वच्छ) होने से चिदाभास सहित ब्रह्मात्मा ही वहाँ विशेष प्रकाश स्वरूप हो जाता है, या तप्त लोहपिण्ड के समान ब्रह्मात्मा और चिदाभास सहित होकर वृत्ति विशेष प्रकाश रूप (ज्ञान शब्दभागिनी) हो जाती है, वह स्वय प्रकाश स्वरूप है, किन्तु साक्षिभास्य होने से वृत्ति वेद्य है । प्रतिवादी के मत मे आत्मा प्रकाश स्वरूप नही है, किन्तु आत्मा का गुण रूप ज्ञान घटादि विषय का प्रकाश स्वरूप है (सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म) इत्यादि में भी ज्ञान शब्द का (ज्ञानवत्) ज्ञानवाला अर्थ, प्रतिवादी मानता है । अत प्रतिवादी मत के अनुसार दुष्ट है ॥ १ ॥

इसी प्रकार से, स्वस्य स्वयमेव प्रकाश.=स्वविषयक प्रकाश (स्वप्रकाश) यह दूसरा लक्षण भी दुष्ट है, क्योंकि एकमें एक क्रिया के कर्मत्व और कर्तृत्व के विरुद्ध होने से लक्षण का असम्भव होता है। कोई इस लक्षण का लक्ष्य नही सिद्ध होता है । अर्थात् जैसे (घटं पश्यति) (घट को कोई देखता है ऐसे जहा कहा जाता है, वहां देखने वाला कर्ता होता है, दर्शन= देखना क्रिया होती है, उस क्रिया दर्शन विषयता रूप फल वाला घट उस कर्ता से भिन्न होता है ।) कर्ता और कर्म इसी प्रकार से सर्वत्र भिन्न होता है । प्रकृत मे (स्वस्य स्वयमेव प्रकाश) अपना आप ही ज्ञान है, इस वाक्य मे उक्त दर्शन के समान प्रकार शब्द का अर्थ (ज्ञान) रूप क्रिया होता है और जिसको ज्ञान होता है,वह उस क्रियाका कर्ता होता है, जिस वस्तु का ज्ञान होता है,वहाँ कर्ता और कर्म भिन्न ही होता है, जैसे कि (देवदत्तो घट जानाति) देवदत्त घट को जानता है,यहा देवदत्तज्ञान का कर्ता, घट ज्ञान का कर्म भिन्न है, और धातु के अर्थ को क्रिया कहा जाता है. ज्ञान भी ज्ञाधातु का अर्थ होता है, क्रिया का जनक आश्रय कर्ता कहा जाता है, कर्मत्वेनाभिमत से भिन्नवृत्ति क्रिया (व्यापार) प्रयत्न जन्य फलाश्रय को कर्म कहा जाता है, ग्राम गच्छति, हरि पश्यति, इत्यादि । प्रकृत में यदि अपना प्रकाश आप ही होगा, तो प्रकाश (ज्ञान) रूप क्रिया का कर्ता और कर्म स्वरूप एक के विरुद्ध होने से असम्भव होगा । वस्तुत. सिद्धान्त मे आत्मभिन्न लक्षणादि सब व्यवहार कल्पित होते है, अत राहो शिर , पुरुषस्य चैतन्यम् । इत्यादि विकल्पवृत्ति (कल्पित भेद ज्ञानादि)

के समान भेद के आरोप द्वारा यह लक्षण भी समीचीन है, परन्तु प्रतिवादी मत के अनुसार अयुक्त है ॥ २ ॥

सजातीय प्रकाश से अप्रकाशमानता, रूप यह तृतीय भी स्वप्रकाश का लक्षण युक्त नही है। क्योंकि प्रदीप सूर्यादि भी सजातीय=प्रदीपान्तर सूर्यान्तरादि से प्रकाशित नही होते है, किन्तु (यद्भासा भास्यते सूर्य) जिस ब्रह्मात्मा के प्रकाश से सूर्य प्रकाशते है, इत्यादि शास्त्रादि के अनुसार अन्य से प्रकाशित वेद्यादि होते है, अत अस्वय प्रकाशरूप अलक्ष्य मे लक्षण की प्राप्ति से यह लक्षण भी अयुक्त है। केवल प्रदीपादि मे ही नही, किन्तु घटादि मे भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि घटादि भी सजातीय प्रकाश से प्रकाशित नही होते है, घटादि के सजातीय अन्य घटादि है, सो उनके प्रकाशक नही है, घटादि के प्रकाशक प्रदीप ज्ञानादि मे घटादि की सजातीयता नही है, प्रदीपादि मे यदि घटत्वादि होते तो सजातीयता होती, सो उनमे घटत्वादि है नही, कि जिन घटत्वादि के प्रदीपादि मे रहने से घटादि सजातीय प्रकाश से प्रकाशित हो। यदि कहा जाय कि द्रव्य गुण कर्म मे व्यापक सत्ता नामक जाति घटादि में और उन प्रदीपादिकों मे भी रहती है। अत सत्ता द्वारा घटादि के सजातीय-प्रदीपादि से घटादि के प्रकाश होने से, सजातीय प्रकाशाऽप्रकाश्यत्व, रूप लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी तो यह कहना ठीक नही, क्योंकि ऐसी सजातीयता मानने पर=सजातीय यह विशेषण ही व्यर्थ होगा, विशेषण किसी की व्यावृत्ति करके सार्थक होता है। यहा विजातीय प्रकाश के निवारण के लिये सजातीय विशेषण सार्थक हो सकता था, परन्तु सत्ता द्वारा सजातीयता मानने पर सत्तारहित प्रकाश के अभाव से व्यावर्त्यरहित विशेषण होगा, अत प्रकाशाप्रकाश्यत्व, इतना ही लक्षण सार्थक होगा। वस्तुत प्रकाश का ही सजातीय प्रकाश ही हो सकता है, घटादि प्रकाश रूप नही है, अत घटादि मे अतिव्याप्ति का कथञ्चित् प्रसङ्गाऽऽपादन है, अर्थात् तृतीय लक्षण का (प्रकाशत्वे सति सजातीय प्रकाशाऽप्रकाश्यत्व) अथ है, इस अर्थ को समझे बिना घटादि में अतिव्याप्ति हो सकती है, यह भाव है। और सिद्धान्त मे, वृत्तिरूप विजातीय प्रकाश से आत्मविषयक आवरण के भङ्ग से कथञ्चित् वृत्ति से आत्मा के प्रकाश (अभिव्यक्ति) होने पर भी, आत्मा के एक होने से सजातीयता आदि के अभाव से, आत्मा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप होता हुआ सजातीय प्रकाश से अप्रकाश्य (अप्रकाशित) है, अत स्वय प्रकाश है। प्रतिवादी के मत मे आत्मा प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप नही है, किन्तु आत्मा का गुण ज्ञान है, और (सुखी-अहम् अस्मि) इत्यादि ज्ञान का विषय है, अत स्वयप्रकाश नही है ॥ ३ ॥

नापि चतुर्थ, सुखादावतिव्याप्ते सुखादेरपि स्वसत्ताया प्रकाशाव्यभिचारात् ॥ ४ ॥ न पञ्चम, प्रदीपादावतिव्याप्ति, प्रदीपादेरपि स्वव्यवहारे हेतुत्वात्प्रकाशत्वाच्च। अथ ज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्व विवक्षित, तदपि न, अनुव्यवसायेऽतिव्याप्तेः। तस्य वेद्यत्वेऽपि व्यवसायज्ञानव्यवहारहेतुप्रकाशत्वात्, प्रदीपज्ञानमिदमिति व्यवहारहेतौ प्रदीपप्रकाशेऽतिव्याप्तेश्च। किच व्यवहारहेतुत्व विशेषणम्? उपलक्षण वा? नाद्य, मुक्तिप्रलयादावव्याप्ते। न द्वितीयः; उपल-

क्षितत्वस्यापि विशेषणत्वे प्रागुक्तदोषानुषङ्गात्, स्वरूपमात्रत्वे तु ज्ञानं प्रकाश इत्येव स्यात्, तथा सति न लक्षणसिद्धि' ॥ ५ ॥

एव हि विशेषणस्य सार्थक्य यदि क्यापि जात्या साजात्यहीन कश्चित्प्रकाश स्यात्' न चैवमस्ति, जातिमत सर्वस्यापि अन्तत सत्तया साजात्यादित्यर्थ । **प्रकाशाव्यभिचारात्** । साक्षिणेश्वरज्ञानेन वा मानसप्रत्यक्षेण वेत्यर्थ । घटादावपि तुल्यमेतत् । **स्वव्यवहारे हेतुत्वादिति** । व्यवहारो ह्येतद्विषयोऽभिज्ञाभिवदन वा हानादिर्वा कर्मकारकप्रदीपजन्य इत्यर्थ । **अथ ज्ञानेति** । स्वव्यवहारेत्यत्र प्रस्तुत ज्ञानमेव स्वशब्देनाभिधीयते न विषयमात्रम् । तद्व्यवहारहेतुत्व च न दीपादेरस्ति, प्रदीपादर्शनाप्रकाशत्वात् । अतो नातिव्याप्तिरिति भाव । अनुव्यवसायेतीश्वरज्ञानस्याप्युपलक्षणम् । अथानुव्यवसायज्ञानमेव स्वप्रकाशवादे न सप्रतिपन्न, यत्रातिव्याप्तिरुच्येत सप्रतिपन्नत्वे वा तस्यापि व्यवसायवदेव पक्षतेति तत्राह—**प्रदीपज्ञानमिति** । विशिष्टवेदनस्य विशेषणालम्बनत्वनियमात् विषयजन्यत्वाच्च तज्ज्ञानस्य प्रदीपज्ञानमिदमित्यनुव्यवसायस्याभिज्ञारूपव्यवहारस्य स्वविषयज्ञानविशेषणीभूतप्रदीपजन्यत्वमस्तीति ज्ञानव्यवहारहेतौ प्रदीपेऽतिव्याप्ति स्यादेवेत्यथ । अभिवदन वा व्यवहारस्तस्यापि परम्परया व्यावर्तकप्रदीपजन्यत्वाद्व्यवहारहेतुत्वमिति । **व्यवहारहेतुत्वमिति** । स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमित्यत्र व्यवहारहेतुत्व प्रकाशस्य विशेषणमुपलक्षण वेत्यथ । उपलक्षितत्वमप्युपलक्षिते नाम तस्य धम ? स्वरूप वा ? आद्ये तदप्युपलक्षण ? विशेषण वा ? नाद्य, अनवस्थापातात् । द्वितीय निरस्य द्वितीयद्वितीयं शङ्कते—**स्वरूपमात्रत्वे त्विति । न लक्षणसिद्धिरिति** । लक्ष्यस्वरूपमात्रत्वात्तस्य जडज्ञानवादिभिरपि तावन्मात्राङ्गीकाराच्चेत्यर्थ ।

स्वसत्ता काल मे स्वप्रकाशाभावरहितत्व=नियत (अवश्य) प्रकाशमानत्व यह यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही है, क्योंकि सुख दु खादि मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, सुखादि भी अपनी सत्ता काल में, प्रकाशाऽभाव रहित नियत प्रकाश वाले ही होते है. यह सर्वानुभवसिद्ध है कि अज्ञात सुखादि नहीं रहते है। और (सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभो पुरुषस्यापरिणमित्वात्। योग सू० ४।१८) सुखादिरूपचित्त की वृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती है, क्योंकि उनका प्रभु (प्रकाशक) पुरुष (आत्मा) अपरिणामी है। अत सदा वृत्तियों को प्रकाशता है, अतएव प्रकाशाऽव्यभिचारी=नियत प्रकाशवाले सुखादि में लक्षण की अतिव्याप्ति है ॥ ४ ॥

स्वस्य व्यवहार हेतुतायुक्त प्रकाशत्व प्रकाशत्वे सति स्वव्यवहार हेतुत्व, यह पञ्चमलक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि इसकी प्रदीपादि मे अतिव्याप्ति है, प्रदीपादि को भी स्वव्यवहार (स्वविषयक शब्दप्रयोग ग्रहण त्यागादि) मे हेतुत्व और प्रकाशत्व है। यदि कहा जाय कि ज्ञानविषयक व्यवहार हेतुत्वे सति प्रकाशत्वम्, ऐसा लक्षण विवक्षित (अभिप्रेत) है, आत्मा निज ज्ञानस्वरूप विषयक व्यवहार का हेतु होता हुआ प्रकाश

(ज्ञान) स्वरूप है, प्रदीपादि नही, अत अतिव्याप्ति नही है, तो भी अतिव्याप्ति का निवारण नही हो सकता है, क्योंकि उक्त विवक्षा से प्रदीपादि मे अतिव्याप्ति के वारण होने पर, अनुव्यवसाय (ज्ञानविषयक ज्ञान) मे अतिव्याप्ति होती है। अनुव्यवसाय के वेद्य (अस्वप्रकाश) होते भी, वह व्यवसायरूप ज्ञान के व्यवहार का हेतु है, व्यवसाय का प्रकाश रूप है, स्वप्रकाश नही है, अत अतिव्याप्ति है। यदि कहा जाय कि स्वप्रकाशवाद मे अनुव्यवसाय प्रसिद्ध है (अमान्य है) तो भी (प्रदीपज्ञानमिदम्) ऐसा व्यवहार (शब्द प्रयोग) के हेतु प्रदीपरूप प्रकाश मे अतिव्याप्ति होगी, ज्ञान के विशेषण रूप से वह भी स्वज्ञान के व्यवहार मे हेतु है। और (स्वव्यवहार हेतु प्रकाशत्व) इस लक्षण मे व्यवहार हेतुत्व, यह प्रकाश का विशेषण है, या उपलक्षण है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, यदि विशेषण कहा (माना) जाय, तो मुक्ति प्रलयादि अवस्था मे व्यवहार के अभाव से व्यवहार हेतुत्व के अभाव होने पर अव्याप्ति होगी। कि जिससे अदुष्ट लक्षण नही होगा। और दूसरा, उपलक्षण स्वरूप भी व्यवहार हेतुत्व को नहीं माना जा सकता है। क्योंकि उपलक्षण निमित्तक जो प्रकाश मे उपलक्षितत्व धर्म होगा, उसमे भी जिज्ञासा होगी कि वह प्रकाश का विशेषण है, या उपलक्षण है, वहा विशेषण मानने पर, पूर्वोक्त मोक्षादि अवस्था में अव्याप्ति होगी, मोक्षादि अवस्था मे व्यवहार के अभाव से तन्निमित्तक उपलक्षितत्व का भी अभाव ही रहेगा। उपलक्षितत्व को उपलक्षण मानने पर अनवस्था होगी, क्योंकि फिर जिज्ञासा होगी कि उपलक्षितत्वरूप उपलक्षण निमित्तक उपलक्षितत्व विशेषण है, या उपलक्षण है, इत्यादि। यदि कहा जाय कि उपलक्षितत्व उपलक्षित का धर्म विशेषण या उपलक्षण नही होता है, किन्तु स्वरूप होता है, तब तो व्यवहारहेतुत्वादि विशेषण के अभाव से (ज्ञान प्रकाश) ज्ञानरूप प्रकाश स्वप्रकाश है— यही लक्षण रह जाता है, सजातीय विजातीय के व्यावर्तक विशेषण युक्त लक्षण होता है। सो नहीं सिद्धहोता है ॥ ५ ॥

नापि षष्ठ , स्वयप्रकाशत्वसाधकानुमानागमादिजन्यज्ञानविषयत्वेन लक्षणस्यासंभवित्वात्तस्याप्यविषयत्वे कथाप्रवृत्त्यनुपपत्ते ॥ ६ ॥ नापि सप्तम ,- अविषयत्वस्यैवासभवेन निरस्तत्वाद्विषयत्वशब्देन कर्मत्वविवक्षाया गुरुमतानुसारिणामात्मन्यतिव्याप्तेश्च तस्य ग्राहकतया सिद्धस्याविषयत्वेऽप्यपरोक्षतायास्तैरङ्गीकारात् ॥ ७ ॥ नाप्यष्टम., प्राचीनदोषानुषङ्गात्, शुक्तिरजतादिसंसर्गेऽख्यातिवादिनामतिव्याप्तेश्च। तस्य व्यवहारविषयत्वेऽपि तैर्ज्ञानविषयतानङ्गीकारात् ॥ ८ ॥ नापि नवम , स्वप्रतिबद्धव्यवहारे सजातीयपरानपेक्षत्वस्य प्रदीपादौ घटादौ च भावेनातिव्याप्ते। सत्तया सजातीयत्वविवक्षाया तु तद्व्यवहारस्यापि सत्तया सजातीयादृष्टादिजन्यतया तदपेक्षत्वेन लक्षणस्यासभवित्वप्रसङ्गात् ॥९॥

ज्ञानाविषयत्वे सतीत्यत्र यदिद ज्ञानविषयत्व प्रतिपिध्यते तत्किं वेद्यत्व ? ज्ञानकर्मत्व वा ? नाद्य, तन्निषेधासभवस्य दर्शितत्वादित्याह—अविषयत्वेति। द्वितीय निषेधति—विषयत्वेति। प्राभाकराणा मते सविदाश्रयतया सिद्धस्यात्मनो ज्ञानाकर्मत्वेनापरोक्षतास्तीत्यङ्गीकारादतिव्याप्तिरित्यर्थ । ईश्वरवादिना तज्ज्ञानाकर्मतयाऽपरोक्षे

जगति भ्रमविषयससर्गे च वेदान्तिना च साक्षिवेद्यसुखादावतिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । प्राचीनदोषानुषङ्गादिति । व्यवहारविषयत्वस्य मुक्तिदशायामसभवाज्ज्ञानाविषयत्व-निरासाच्चेत्यर्थ । अतिव्याप्तिं चाह—शुक्तीति । शुक्तिरूप्यससर्गस्य ज्ञानविषयत्व तेषामनभिमत तथा सत्ययथार्थज्ञानाङ्गीकारापातादिति भाव । साजात्य किमत्यन्त ? यथाकथचन वा ? आद्ये, प्रदीपे प्रसक्तिरुक्ता, द्वितीयेऽप्यनपेक्षामात्र घटादेरप्यस्ति । अपेक्षावत्त्वानधिकरणत्वविवक्षायामाह–सत्तयेति । अदृष्टादे सर्वोत्पत्तिसन्निमित्ततया सत्तावत्तया च तज्जन्यव्यवहारस्य सजातीयपरसापेक्षतया लक्षणासभवादित्यर्थ । पूर्वोक्तव्यर्थविशेषणत्वमपि द्रष्टव्यम् ।

ज्ञानाऽविषयत्व=अप्रमेयत्व रूप भी षष्ठ लक्षण नहीं युक्त है, क्योंकि ब्रह्मात्मा के स्वय प्रकाशत्व के साधक अनुमान आगम (शास्त्रवेद) आदि से जन्य ज्ञान (प्रमाण) की विषयता ही (स्वयप्रकाश) ब्रह्मात्मा मे रहती है, अविषयता नही, अत इस लक्षण का होना असम्भव है। यदि उक्त ब्रह्मात्मा को स्वप्रकाशत्व साधक अनुमानादि का विषय नहीं माना जाय, अनुमानादि का अविषयत्व ब्रह्म मे माना जाय, तो ब्रह्म विषयक कथा (विचार) की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। ब्रह्म विषयक गुरु शिष्य का विचार भी नही सिद्ध होगा, इत्यादि ॥ ६ ॥

ज्ञानाविषयत्वे सति अपरोक्षत्व, यह सप्तम लक्षण भी युक्त नही है। क्योंकि उक्त रीति से निरस्त=खण्डित होने से ज्ञानाऽविषयता का ही होना ब्रह्म मे असम्भव है। और विषयताशब्द का यदि कर्मत्व अर्थ विवक्षित हो, और भाव हो कि क्रियाजन्य फलाश्रय कर्म होता है, ब्रह्मज्ञान स्वरूप स्वयप्रकाश है, अत अनुमानादिजन्य ज्ञान का विषय होता हुआ भी घटादि के समान प्रकाशरूप फल का आश्रय नही होता है, अत (ज्ञानाकर्मत्वे सति प्रकाशत्व) यह स्वयप्रकाश का सुष्ठु लक्षण है। तो कहा जाता है कि यह भाव भी युक्त नहीं है, तो भी अतिव्याप्ति है, क्योंकि गुरु (श्रीभट्टशिष्यप्रभाकर) मतानुसारियों के सम्मत (अस्वयंप्रकाश) आत्मा मे इस प्रकार मानने पर अतिव्याप्ति इस लक्षण की होगी। वे प्रभाकरानुयायी आत्मा को ज्ञान का विषय (कर्म) स्वरूप नहीं मानते हुये, सर्वज्ञान मे ज्ञान के आश्रयरूप से आत्मा के अपरोक्ष प्रकाश को मानते है, अत ज्ञानाविषयत्व रूप ज्ञानाकर्मत्व रूप लक्षण की उस अलक्ष्य मे प्राप्ति होने से यह लक्षण दुष्ट है। यद्यपि स्वसिद्धान्तानुसार दोषाभिधान उचित होता है, अन्यथा सर्वशून्यतावादी नास्तिकमतानुसार, ब्रह्मात्मा के अभाव को कहकर, स्वप्रकाशत्व की कथा का ही कोई विच्छेद करेगा, तथापि आस्तिक प्रतिवादी के मतानुसार भी दोषाभिधान यहा उचित माना गया है, अतएव प्रथम अनुव्यवसाय मे अतिव्याप्ति कही गयी है, और प्रभाकारानुयायी को तार्किक का सहोदर माना गया है। और खण्डन खण्ड-खाद्यकार ने जो नास्तिकवाद से भी तार्किक का उपालम्भ किया है, सो वैतण्डिकता से किया है, यहा जल्पवाद है, इत्यादि ॥ ७ ॥

व्यवहारविषयत्वयुक्त ज्ञानाऽविषयत्वरूप, अष्टम लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि मोक्षादि अवस्था मे व्यवहार विषयत्व के विषयत्व के अभावसे, तथा, स्वयप्रकाशत्व साधक

अनुमानादि जन्य ज्ञान के विषयत्व से पूर्वोक्त अव्याप्ति तथा ज्ञानाविषयता का असम्भव रूप दोष प्राप्त होता है और अख्यातिवादी (प्रभाकर) मत के अनुसार भ्रमस्थानके शुक्ति रजतादि के ससर्ग मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि अख्याति वाद मे इद रजतम्, ऐसा ज्ञान जहा शुक्ति मे होता है वहाँ शुक्ति के इद अश का यथार्थ ही ज्ञान होता है, और अन्यत्र सत्य पूर्व दृष्ट रजत का स्मरण होता है, अत इद अश का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है, और रजत का स्मरण रूप ज्ञान रहता है, इस रीति से दो ज्ञान रहते है) और उनके विषय भी भिन्न-भिन्न दो रहते है, परन्तु विषय और ज्ञान के विवेक (पार्थक्य की अख्याति (अप्रतीति) दोष के बल से रहती है, ऐसा मानने से इस मतवादी को अख्यातिवादी कहा जाता है, इस मत मे भ्रम नही माना जाता है, यदि शुक्ति मे अवर्त मान रजत के ससर्ग का ज्ञान माना जाय, तो भ्रम मानना होगा, अत , इद रजत, इस ज्ञान को ससर्गाविषयक मानते है,और विवेकज्ञान रहित ज्ञानद्वय से ससर्ग का व्यवहार मानते है। इससे (व्यवहार विषयतायुक्त ज्ञानाविषयत्व) शुक्तिरजतससर्ग मे होने से लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ॥ ८ ॥ स्वसम्बन्धी (स्वविषयक) व्यवहार मे सजातीय अन्याऽनपेक्षत्व, रूप नवम लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि प्रदीपादि और घटादि सम्बन्धी व्यवहार में भी सजातीय अन्य की अपेक्षा नही है, अत अतिव्याप्ति दोषयुक्त यह लक्षण है, प्रदीपादि के व्यवहार मे ज्ञान अदृष्टादि की अपेक्षा होती है, परन्तु ज्ञानादि प्रदीपादि के सजातीय नही है। यदि सत्ता जाति से ज्ञानादि मे प्रदीपादि की सजातीयता को माने कि जिससे सजातीय की अपेक्षा से लक्षण की अतिव्याप्ति नही हो तव तो लक्षण की असम्भवता की प्राप्ति होगी, क्योंकि अदृष्टरूप गुण मे सत्ता जाति रहती है, और शब्दादि रूप व्यवहार मे भी सत्ता रहती है, अत ब्रह्म सम्बन्धी व्यवहार भी अदृष्ट रूप स्वसजातीयपेक्षना के होने से, स्वसजातीयानपेक्षत्व का उसमे असम्भव है। जन्यमात्र का अदृष्ट कारण होता है, अत ब्रह्म व्यवहार का भी अदृष्ट कारण है ॥९॥

नापि दशमः, अवेद्यत्वेऽनुमानाद्यगोचरतया कथानवतारप्रसङ्गस्य दर्शितत्वात्, अपरोक्षव्यवहारविषयत्वमिति शब्देन प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वस्य कण्ठोक्तत्वात् तद्विपरीतावेद्यत्वाभिधाने मे माता वन्ध्येतिवद् व्याघाताच्च सुषुप्तिप्रलयमोक्षेषवव्याप्तेश्च, तदा व्यवहारस्यैवासभवेन तद्विषयताभावात् ॥ १० ॥ नाप्येकादश, उक्तव्यवहारयोग्यताया धर्मत्वे मोक्षदशायामव्याप्तेरद्वैतवादिनामपसिद्धान्तापातात्, स्वरूपत्वे च ज्ञानस्वभावस्यात्मनो व्यवहारनिरूपणीयत्वात्सप्रतियोगिकत्वप्रसङ्गात् ॥ ११ ॥ तदेव न स्वप्रकाशलक्षण पश्यामः।

अपरोक्षेति। अपरोक्षज्ञानमप्यपरोक्षव्यवहारो भवत्येवाभिज्ञारूपत्वात्ततश्च व्याघात इत्यर्थ। अभिवदनविवक्षाया तु तस्य स्वविषयज्ञानप्रयोज्यत्वाद्व्याघात।

अवेद्यत्व युक्त अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व, रूप दशम लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि अवेद्य (अज्ञेय) होने पर, अनुमान आगमादि के अविषय होने से कथा की अनवतार (अप्रवृत्ति) की प्राप्ति को प्रथम दर्शाया जा चुका है (कहा गया है) और अपरोक्ष व्यवहारविषयत्व इस शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्व स्वकण्ठ (मुख) से उक्त हो

जाता है। क्योंकि अज्ञात का व्यवहार हो नही सकता है, इस प्रकार से स्वमुख से कथित प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्व से विपरीत अवेद्यत्व के कहने पर, मेरी माता वन्ध्या है। इस कथन के समान वह कथन व्याघात (विरोध) युक्त है। और सुषुप्ति प्रलय मोक्षावस्था मे इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योंकि उस सुषुप्ति आदि काल मे व्यवहार के असम्भव से ही व्यवहार विषयता का भी अभाव ही रहता है ॥ १० ॥

एकादश लक्षण का सम्भव ब्रह्मात्मा मे नही है, क्योंकि (अवेद्यत्वे सति अपरोक्षव्यवहार योग्यत्व) यह एकादश लक्षण है, वहा इस योग्यत्व को ब्रह्म का धर्मरूप लक्षण माना जाय तो निर्धर्म निर्गुण अद्वैत ब्रह्मवादियों को अपसिद्धान्त (स्वसिद्धान्त का त्याग) की प्राप्ति होगी। और उक्त योग्यत्व को यदि ब्रह्मात्मा का स्वरूप माना जाय तो ज्ञान स्वभाव वाले आत्मा को भी योग्यत्व के व्यवहारनिरूपणीयत्व (साध्यत्व) द्वारा निरूपणीयत्व प्राप्त होने मे सप्रतियोगिकत्व (साध्यत्व सापेक्षत्व) की प्राप्ति होगी स्वत सिद्ध स्वरूप ब्रह्मात्मा इस लक्षण से सिद्ध नही होगा, अत उक्त रीति से स्वप्रकाश का लक्षण नहीं दीखते है ॥ ११ ॥

नापि प्रमाणम्। अथानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशोऽनुभूतित्वात् यन्नैवं तन्नैव यथा घट इत्यनुमान प्रमाणम्। न चाप्रसिद्धविशेषण पक्ष , अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूत प्रकाश परेषामपि हि प्रसिद्धस्ततोनुऽभूतेस्तत्स्वरूपत्वप्रतिज्ञोपपद्यते। न चानुव्यवसायज्ञाने साध्यस्य सिद्धत्वाद्भागे सिद्धसाधनता, तत्स्वरूपस्यैवासमतत्वेन तस्य धर्मिभागतानङ्गीकारादिति चेत्, मैवम् , अनुभूतिव्यवहारस्य हेतुभूत प्रकाशो यत्र सिद्धस्तत्र हेतोर्वृत्तौ, केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात् , अवृत्तौ सपक्षाप्रवेशिनोऽसाधारणानैकान्तिकत्वापातात्। वृत्तावपि भागे सिद्धसाधनताया दुष्परिहरत्वात्। न च स्वस्यासिद्धतामात्रेण परसिद्धे साध्यवति धर्मिणि सिद्धसाधनताया परिहारः।

ननु प्रमाणबलात्स्वप्रकाशत्वे सिद्धे तदनुगुण यत्किंचिल्लक्षणमपि भविष्यति यतो लक्षणमपि प्रमाणान्तरसिद्धस्येतरेभ्यो व्यावर्तक व्यवहारहेतुर्वा भवेदित्यत आह— नापि प्रमाणमिति। न्यायरत्नदीपावलीकृतमनुमानमुपन्यस्यति—अथानुभूतिरित्यादिना। प्रकाशत्वस्य यत्किंचिद्व्यवहारहेतुत्वस्य च परैरप्यङ्गीकारात्सिद्धसाधनता स्यादित्यनुभूतिग्रहणम्। न चाप्रसिद्धविशेषणता, अनुभूतिव्यवहारस्योभयसिद्धतया तद्धेतुभूतप्रकाशस्यापि सम्मतत्वात्केवल व्यतिरेकाव्यतिरेकयोर्विप्रतिपत्ते, तथा चानुभूतिव्यवहारहेतुत्वाप्रसिद्धिरलकार एव। वह्निमत्त्वादीनामपि महीधरादिसम्बन्धस्यानुमानगम्यत्वादितरथा सिद्धसाधनतापातादिति—तदिदमाह—नचाप्रसिद्धविशेषण पक्ष इत्यादिना। तदेतद् दूषयति—मैवमिति। अयमभिसधि –न तावदनुभूतिव्यवहारहेतुरविवक्षितस्थलविशेष प्रकाश सिद्धयतीति शक्याङ्गीकार; नह्यस्ति सम्भव ,सम्प्रतिपन्नमुभयो क्वेति न ज्ञायत इति। कस्य चायमविवक्षितस्थलविशेष सिद्धयतीति विवेचनीयम् ? न तावत्त्वत्पक्षे, तस्य सविद्रूपतया निर्णीतत्वादपरथा पर प्रति प्रसाधनायो-

गात् । यदाह 'निश्चितौ हि वाद कुरुत' इति । नापि परस्य, तस्याप्यनुव्यवसायेन निर्णीतत्वात् । अत एव नोभयो । तस्माददविवक्षितस्थलविशेष सिद्धचतीत्यस्य न कचनार्थं पश्याम । न च केवलव्यतिरेकिण्यप्रसिद्धविशेषणता नाम न दूषणमिति मन्तव्य, तथा सति वसुधा शशविषाणोल्लिखिता वसुधात्वादित्यादिना शशविषाणादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । अथ तत्र प्रमाणान्तरबाधतया दुष्टता नाप्रसिद्धविशेषणतयेति ब्रूषे, तन्न, बाधकासिद्धे । नहि शशविषाणादीनामभावावेदक प्रमाणमस्ति । तस्य प्रमाणान्तरयोग्यताऽयोग्यतयोरभावासिद्धे । अथ नियमेन प्रमाणानुपलम्भो बाधक, ततोऽतिरिक्ता तर्हि का नामाप्रसिद्धविशेषणतेति घट्टकुटीप्रभातायितम् । अथ विपक्षे बाधकतर्काभावात्स किं विपक्षे बाधकस्तर्क प्रमाणानुज्ञाद्वारोपयोगी ? स्वातन्त्र्येण वा ? नान्त्य, तर्कस्य प्रमाणानुज्ञाव्यापारमन्तरेणोपयोगाभावात् । प्रथमे तु तर्काभावात्प्रमाणाभाव एव सिद्धचति सैव चाप्रसिद्धविशेषणतेति सिद्ध न समीहितम् । किंच केवलव्यतिरेकित्वादेव केवलव्यतिरेकिणि न दूषणमप्रसिद्धविशेषणता केवलान्वयिन्यन्वयव्यतिरेकिणि च सपक्षवत्यप्रसिद्धविशेषणताशङ्कैव नास्तीति हता बतेयमप्रसिद्धविशेषणताकथा तपस्विनी । तस्माद्यत्राय प्रसिद्ध स सपक्ष स्वीकर्तव्य ,तथा चोच्यमानदूषणगणग्रामो दुर्निरसन इति । सपक्षवृत्त्यवृत्त्यो केवलव्यतिरेकिताहानिरसाधारणाऽनैकान्तिकता चेति दूषणद्वयमुक्तम्, तत्र मा नामाय भूत्केवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेक्येव भवत्विति शङ्कमान प्रत्याह—**वृत्तावपीति ।** यत्तूक्त स्वप्रकाशवादिनो नानुव्यवसायो नाम ज्ञानग्राहक ज्ञानमस्ति तत्कथ तस्य धर्मिता कथतरा तत्र सिद्धता कथतमा सिद्धसाधनतेति तत्राह—**नच स्वस्यासिद्धतामात्रेणेति ।**

प्रमाण भी स्वप्रकाश अर्थ मे कोई नही है, ऐसा कहने पर प्रमाण दर्शाया गया है कि अनुभूति (ज्ञानस्वरूप आत्मा) अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाश. (अनुभूति के व्यवहार का हेतुप्रकाशस्वरूप) है । क्योंकि उसमे अनुभूतित्व है, जो ऐसा अनुभूति व्यवहार हेतु प्रकाशस्वरूप नही है, सो अनुभूतित्ववाला भी नही है, अर्थात् अनुभूतित्व, अनुभूति व्यवहारहेतु प्रकाशत्व की सत्ता मे व्याप्य होकर प्रमाण (अनुभूतित्व का ज्ञानरूप प्रमाण है) अत यह अनुमान आत्मा के (अनुभूति के) स्वप्रकाशता मे प्रमाण है । स्वव्यवहार का हेतु स्वय होना यही स्वप्रकाशता है । यदि कहो कि अनुभूति (आत्मा) में अनुभूति हेतु प्रकाशत्व पक्ष का विशेषण प्रतिवादी मत मे असिद्ध है, तो सो कहना युक्त नही, क्योंकि अनुभूति का व्यवहारवादी प्रतिवादी दोनों को सिद्ध है, तथा व्यवहार हेतु प्रकाश दोनों को मान्य है, इस प्रकार से अनुभूति के व्यवहार का हेतु प्रकाश प्रसिद्ध है, और पक्ष मे तो प्रतिवादी को असिद्ध होना उचित ही है, पक्ष मे प्रतिवादी को साध्य सिद्ध हो तो परार्थानुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती है । सन्दिग्धसाध्यवान् ही पक्ष होता है, अत. अनुभूति में उक्त अनुभूति हेतुप्रकाशत्व (प्रकाशस्वरूपत्व) की प्रतिज्ञा सिद्ध (युक्त) है । यदि कहा जाय कि प्रतिवादी मत मे अनव्यवसाय ज्ञान मे साध्य की सिद्धि (निश्चय) से अनुव्यवसायरूप अनुभूति भाग (अश) मे सिद्ध साधनतारूप

न्द्रियवत्। न च रूपरहितेन्द्रियत्वमुपाधिः, यद्रूपवदिन्द्रियं तदालोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं न भवति घ्राणवदिति व्यतिरेकव्याप्तौ, रूपवदग्राहकत्वस्यैवोपाधित्वात्। तत्सिद्धमेतत्तमो द्रव्यान्तरमिति। इत्थमालोकवदेव भावरूपाज्ञानतमोविरोधिन आत्मनो जगदवभासकस्य ज्योतिःशब्दवाच्यत्वात्।

तस्य त्वसङ्गस्य दृश्यसङ्गानिरूपणात् दृश्यप्रपञ्चस्य स्वतः परतश्चासिद्धेर्दृगात्मन्यध्यस्ततयैव सिद्धिरिति सिद्धं मिथ्यात्वम्। किं पुनरिदं मिथ्यात्वं? (१) प्रमाणागम्यत्वं वा (२) अप्रमाणज्ञानगम्यत्वं वा? (३) अयथार्थज्ञानगम्यत्वं वा? (६) अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वं वा? (७) ज्ञाननिवर्त्यत्वं वा? (८) प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वं वा? (९) बाध्यत्वं वा? (१०) स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं वा?। नाद्यः, ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वप्रसङ्गात्, तस्य स्वप्रकाशत्वेन त्वया सर्वप्रमाणगोचरत्वानङ्गीकारात्। नापि द्वितीयः, सद्वादिभिरपि तस्याङ्गीकृतत्वेनार्थान्तरत्वात्, तस्य तस्य शुक्तिशकलादेस्तेन तेन रजताद्याकारेण प्रतीयमानतयाऽप्रमाणज्ञानविषयत्वात्, सर्वस्य प्रपञ्चस्य क्षणिकमिदं ब्रह्मकार्यमिदमनिर्वचनीयमिदमिति च मिथ्याज्ञानगोचरतया परैरभ्युपगमात्, स्मृतेरप्रमाणतया तद्विषयस्य तथात्वाङ्गीकाराच्च। न तृतीयः, उक्तदोषानुषक्तेरेव। न चतुर्थः, सद्विलक्षणस्यापि शशविषाणादेरमिथ्यात्वात्। न पञ्चमः, एकतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकतया तदसम्भवात्। न षष्ठः, अनिर्वचनीयाविद्याया अप्रसिद्धत्वात्। अग्रहणमिथ्याज्ञानलक्षणाविद्यायास्तत्कार्यस्य च प्रवृत्तिसंस्कारादेः सत्यत्वात्। न सप्तमः, ज्ञाननिवर्त्यस्यापि ज्ञानसुखादेः सत्यत्वात्, सर्वस्य सत्यत्वेऽपि परैरीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारात्। नाष्टमः, प्रमाणेन यदुपाधौ यः प्रतिपन्नस्तत्र तस्य निषेधासम्भवाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। भ्रान्तिप्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वस्य सत्त्वेऽपि सम्भवेनार्थान्तरत्वाद्, अन्यथाख्यातिवादिभिरपि क्वचिन्निषिद्धस्यान्यत्र सत्तास्वीकारात्। न नवमः, बाधकज्ञानविषयत्वं तन्निवर्त्यत्वं वा बाध्यत्वमित्यभ्युपगमेऽप्यर्थान्तरतायास्तादवस्थ्यात्, शुक्त्यादेरपि बाधकज्ञानविषयत्वाङ्गीकारात्, बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञाननिवृत्त्यभ्युपगमाच्च। न दशमः संयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानां प्रदेशवृत्तीनां स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानामपि परैः सत्यत्वाङ्गीकारादर्थान्तरताया दुरतिक्रमत्वात्। तदेवं न प्रपञ्चमिथ्यात्वनिरुक्तिः।

पूर्वमालोकाभावप्रतिबद्धा रूपवत्यपि तमस्यालोकनिरपेक्षचक्षुषः प्रवृत्तिरस्तीत्युक्तमिदानीं तत्रैवानुमानमप्याह—किंच चक्षुरित्यादिना श्लोकेन। प्रकाशनमालोकस्तेनाजन्यं यद्रूपवद्वीक्षणं रूपद्रव्यसाक्षात्कारस्तत्क्षमं तत्समर्थमिति प्रतिज्ञा। तत्र

हेतुमाह—रूपीति । रूपवद्द्रव्यग्राहकत्वात् यथा त्वगिन्द्रियमित्यर्थः । सगृहीतमनुमानं विवृणोति—चक्षुरित्यादिना । आलोकाजन्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्ते आलोकाभावतयाऽर्थान्तरता, तदर्थं द्रव्यग्रहणम्। आलोकाजन्यद्रव्यसाक्षात्कारक्षममित्युक्तेऽर्थान्तरता, भाट्टनये कालादीनामपि तथात्वात् । यथाह मानमनोहर—विवक्षितामाधन चेति, तदर्थं रूपिग्रहणम् । घटादिप्रतीतिजनकत्वेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमालोकाजन्येत्युक्तम् । अनुमानादेर्व्यावृत्त्यर्थं हेताविन्द्रियग्रहणम् । इन्द्रियत्वादित्युक्ते घ्राणानैकान्तिकता तस्य द्रव्यग्राहकत्वाभावात् । तदर्थं द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वादित्युक्तम् । तावत्युक्ते प्रतिवादिनो मनस्यनैकान्तिकता, तस्यात्मद्रव्यग्राहकत्वेऽपि रूपिद्रव्ये स्वातन्त्र्येण ग्राहकत्वाभावात्, तदर्थं रूपीत्युक्तम् । साध्यहेत्वोर्द्वयपद स्पष्टार्थमित्येके । एव च सति मानमनोहरसभ्रमोऽप्यनवसरनिरस्त । त्वगिन्द्रियस्योक्तसाध्यवत्ताया रूपरहितेन्द्रियत्व नोपाधिस्तस्य व्यतिरेकव्याप्त्यभावेन साध्याव्यापकत्वादित्याह—यद्रूपवदित्यादिना । व्यतिरेकासिद्धचैव चादृष्टादौ चेन्द्रियसन्निकर्षे चोलूकादिदृष्टौ च साध्याव्याप्तिनिवृत्त्यै मनुष्येन्द्रियत्वविशेषितोक्तसाध्यस्योपाधेर्विधानमपि निरस्त मन्तव्यम् । एवच सति यदनुमान तम पदमित्यादि, तदुक्तप्रमाणबलाद्भावरूपत्वे निर्णीते कालातीत, विपक्षे बाधकाभावात् शङ्कितोपाधिता च । नचालोकनिरपेक्षचक्षुर्ग्राह्यत्वहानिस्तस्यालोकविरोधितया तदभावव्यङ्ग्यत्वेनाप्युपपत्ते , तम पदस्य नानार्थवाचकत्वसिद्धावप्यस्य चरितार्थत्वेन तमसोऽभावत्वासिद्धेश्च । आलोकसमर्गाभावस्तम पदवाच्यो न भवति अभावत्वाद् घटाभाववदित्यादिना सत्प्रतिपक्ष चाभावप्रमाणगम्याभाववादिन साधनवैकल्य च दृष्टान्तस्येत्यादिदोषादुपेक्ष्यम् । मनस्त्व स्पर्शवदवृत्तिवेगवद्वृत्तिजात्यन्यन्मेयत्वाद्घटवदिति तमसो द्रव्यान्तरत्वसिद्धिरित्यप्येके ।

साक्षिवेद्य स्वराद्धान्ते ध्वान्तं तच्चाक्षुष पुन ।
आचार्योऽसाधयद्युक्तिवैभव स्व विभावयन् ।।

वादार्थमुपसहृत्य प्रयोजनमाह—इत्थमित्यादिना । अभावविलक्षणाविद्यासिद्धि फलमित्यर्थ । ज्योतिःशब्दवाच्यत्वाद् । युज्यते श्रुति 'अत्राय पुरुष' इत्यादिकेति शेष ।

वक्ष्यमाणवादार्थं प्रस्तावयति—दृश्यप्रपञ्चस्येत्यादिना ।

कार्यं वाचारम्भण भेदलीढ सत्य तत्त्व त्वेकमेवाद्वितीयम् ।
इत्यद्वैते श्रौत एवाह युक्तीर्युक्त्याभासोद्भूतविभ्रान्तिभित्त्यै ।।

दृगात्मन्यध्यस्ततया दृश्यप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमित्युक्त, तदिदमसहमान प्रपञ्चसत्यत्ववादी मिथ्यात्वलक्षणमाक्षिपति—किं पुनरिति । आक्षेपमेव सभवत्सर्वप्रकारनिरसनेन निर्वाहयितु सभवत्प्रकारान् विकल्पयति—प्रमाणेत्यादिना । प्रमाणविषयत्वा-

भावादप्रमाणविषयत्वमन्यदेव, अप्रमाणमपि द्वेधा यथार्थमयथार्थं च, तथा स्मृतिर्विपर्ययश्च तेन प्रथमद्वितीयतृतीयकल्पसङ्करकलङ्काभावः। **अविद्यातत्कार्ययोरिति** । अव्याप्तिनिवृत्त्यै अन्यतरग्रहणम् । बाधकज्ञानविषयशुक्त्यादेस्तन्निवर्त्यपूर्वज्ञानादेश्च प्रतिपन्नोपाधौ बाधाभावान्न सप्तमाष्टमनवमसङ्करः । प्रतिपन्नोपाधिः प्रतीतमधिष्टानम् । **स्वात्यन्तेति** । पूर्वं स्वाधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावमात्रप्रतियोगित्वं विवक्षितम्, इह तु स्वात्यन्ताभावस्य स्वस्य चैकत्र वर्तमानतया प्रतीतिरिति नाष्टमदशमसङ्करः शङ्कनीयः । **सर्वप्रमाणेति** । गोचरता चात्र वेद्यता न पुनर्विषयत्वमेव । तद्विवक्षाया च नैयायिकादेरसिद्धिः, सर्वस्यापि यथाकथचन प्रमाणविषयत्वात् । **सद्वादिभिरपीति** । ये हि प्रपञ्चसत्यत्ववादिनस्तैरपि सत्यस्यैव शुक्तिकादेरधिष्ठानतयाऽप्रमाणज्ञानगम्यत्वस्वीकारात्सत्यत्वेऽप्युपपद्यमानमर्थान्तरमेवेत्यर्थः । तदेव विवृणोति—**तस्य तस्येति** । अत्यल्प चेदं शुक्तिकादावङ्गीकृतमिति सर्वस्यैव प्रपञ्चस्यैवविधत्वमेवाङ्गीकृतमिति स्फुटतरमर्थान्तरमित्यर्थः । अर्थान्तरोदाहरणान्तरमाह—**स्मृतेरिति** । **उक्तदोषेति** । तत्त दारोपाधिष्ठानतया सर्वस्यायथार्थज्ञानगम्यत्वाङ्गीकारादित्यर्थः । **सद्विलक्षणस्येति** । न च शशविषाणस्यापि मिथ्यात्वादनतिव्याप्तिरिति वचनीयम् । मिथ्याभूतप्रपञ्चस्यापरोक्षज्ञानयोग्यत्वमर्थक्रियासामर्थ्यं च स्वीकुर्वद्भिः शशविषाणवैषम्येष्टेरमिथ्यात्वं स्वीकृतमेव शशविषाणस्य । नचैवं सत्यद्वैतविरोधः सदद्वैताभ्युपगमादप्युपपत्तेरतोऽतिव्याप्तिरनतिलङ्घनीयेति भावः । **एकतरेति** । सत्त्वनिषेधेऽसत्त्वं नान्तरीयकमसत्त्वनिषेधे च सत्त्वं नान्तरीयकम् । "परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः" रिति न्यायात् । अतोऽसम्भवीदं लक्षणमित्यर्थः । **न षष्ठ इति** । अविद्यातत्कार्ययोरित्यत्र केयमविद्या विवक्षिता ? किमनिर्वचनीयदण्डायमानाऽविद्या ? किंवाऽग्रहणमिथ्याज्ञानात्मिका? प्रथमेऽसिद्धिर्लक्षणस्येत्याह—**अनिर्वचनीयेति** । उत्तरस्मिन्नर्थान्तरतेत्याह—**अग्रहणेति** । **ज्ञाननिवर्त्यस्येति** । आत्मविशेषगुणानामपर्यायमुत्पत्तिमनिच्छतामुत्तरेणोत्तरेण पूर्वपूर्वनिवृत्तिस्वीकारेष्टेरर्थान्तरत्वमित्यर्थः । न केवलं सुखादेरेव, सर्वस्यैव संहरणीयस्य प्रपञ्चस्येश्वरज्ञानेन निमित्तभूतेन निवृत्तिस्वीकाराद्भवतितरामर्थान्तरत्वमित्याह—**सर्वस्येति** । परिणामवाद्यभिप्रायेण वा । **नाष्टम इति** । प्रतिपन्नोपाधावित्यत्र प्रतिपत्तिशब्दस्य कोऽर्थः ? किं प्रमाणज्ञानमुत भ्रान्तिज्ञानमाहो साधारणम् ? आद्य प्रत्याह—**प्रमाणेनेति** । द्वितीय प्रत्याह—**भ्रान्तीति** । न केवलं संभव, स्वीकृत चान्यथाख्यातिवादिभिरित्याह—**अन्यथाख्यातीति** । एतेन साधारणपक्षोऽपि निरस्त । किमिदं बाध्यत्वमभिमत ? किं बाधकज्ञानविषयत्वमुत तन्निवर्त्यत्वम् ? उभयथाप्यर्थान्तरतेत्यभिप्रेत्याह—**न नवम इति** । प्रथमोदाहरणमाह—**शुक्त्यादेरपीति** । द्वितीयमाह—**बाधकज्ञानेनेति** । **संयोगविभागेति** । अयमर्थः—संयोगविभागयोरव्याप्यवृत्तिता स्वीकुर्वद्भिस्तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमङ्गीक्रियते । नच तत्रापि घटावयवानादाय संयोगविभागयोर्भिन्नाधिकरणता शक्योपपादना । तथा सति

तदवयवसयोगस्यापि तदवयववृत्तितापरम्परया परमाणावेव परिनिष्ठेति नाध्यक्षपथमवतरेदय सयोगयोगीति तदनिच्छताप्यच्छमतिना यत्रैव सयोगस्तत्रैव तदत्यन्ताभावोऽप्यभ्युपेय॰। नच प्रमाणविनिवेशितयोर्विरोधशङ्काऽवकाशोऽतिप्रसङ्गात्, शब्दस्य चाकाशे वर्तमानस्य प्रदेशभेदमादायाप्येकस्मिन्नेव नभसि भावाभावौ समानाधिकृतौ स्वीकृतौ। एव सर्वगतात्मवादिनामात्मविशेषगुणाना, तत्राप्यतिपीडने साक्षादेवैकाधिकरण्य प्रदेशवृत्तीनामिति तु तदनुरुन्धानेनोक्तम्। अत्र ब्रह्मण्यनतिव्याप्त्यै द्वितीयस्योत्थानम्, अर्थान्तरतानिवृत्त्यै तृतीयचतुर्थयो, असत्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यै पञ्चम, असनिवृत्त्यै षष्ठ, असभवातिव्याप्तिनिवृत्त्यै सप्तम, अष्टमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेव, असभवार्थान्तरयोर्निवृत्त्यै नवम, दशमोऽप्यर्थान्तरनिवृत्त्यर्थमेवेति ॥

चक्षु, प्रकाशन (आलोक) से अजन्य रूपवाली वस्तु के वीक्षण (ज्ञान) में क्षम (समर्थ) है क्योंकि रूपी (रूपवान्) का ग्राहक इन्द्रिय है, जैसे कि त्वक है। अत जैसे त्वक प्रकाश के बिना द्रव्य का ज्ञापक होता है वैसे चक्षु भी होता है ॥ ६ ॥ अर्थात्—आलोकानपेक्षचक्षु रूपवाले अन्धकाररूप भावद्रव्य का ग्राहक है। इस अर्थ मे अनुमान प्रमाण भी है कि, चक्षु, आलोकाऽजन्यरूपवद् द्रव्य के साक्षात्कार का जनक है, रूपवद् द्रव्य के ग्राहक होने से, त्वगिन्द्रिय के समान। यहाँ रूप रहित इन्द्रियत्व उपाधि है, क्योंकि आलोकाजन्य रूपवद द्रव्य साक्षात्कारजनकत्व त्वक् मे है, वहाँ रूप रहित इन्द्रियत्व साध्य का व्यापक है, और रूपवद् द्रव्यग्राहकत्व रूप हेतु चक्षु मे भी है, वहाँ रूपरहित इन्द्रियत्व नही है, अत साधन का अव्यापक उपाधि है। ऐसा नही कहना चाहिये, क्योंकि साध्य के व्यापक उपाधि के अभाव द्वारा साध्याभाव के बोधन से उपाधि मे दूषकता होती है, और साध्याभाव का बोधन निरुपाधिक अनुमान से होता है, अन्यथा नही। प्रकृत में चक्षु (रूपवदिन्द्रिय), 'प्रकाशानपेक्षरूपवद् द्रव्यसाक्षात्काराऽजनकम्, रूपरहितत्वाभावात् घ्राणवत्।' इस साध्याभाव के अनुमान के लिये व्याप्ति-ग्रहण में रूपवद् अग्राहकत्व, रूपवान् का ग्राहक नहीं होना, उपाधि हो जाता है। क्योंकि प्रकाशानपेक्ष-रूपवद्-द्रव्य-प्रकाशाऽजनकत्व जहाँ है, वहाँ घ्राणादि में रूपवद् अग्राहकत्व भी है, अत साध्य का व्यापक है, और रूपरहितत्वाभाव रूप हेतु का रूपवद् ग्राहकत्व अव्यापक है। क्योंकि घ्राण के पार्थिव होने से, उसमें रूप रहितत्वाभावरूप हेतु नहीं है, गन्धमात्र का ग्राहक होने से रूपवद् का ग्राहकत्व भी नही है यद्यपि, तथापि नेत्रेन्द्रिय में रूपवद् अग्राहकत्व उपाधि नहीं है। और रूप रहितत्व भावरूप हेतु है, अत इस उपाधियुक्त व्यतिरेक साधक हेतु से साध्याभाव नहीं सिद्ध होने के कारण, तम को उक्त द्रव्यान्तरत्व सिद्ध हो गया। और इसी प्रकार से आलोक के समान ही भावरूप अज्ञानात्मक तम के विरोधी जगद् अवभासक (प्रकाशक) आत्मा में ज्योतिशब्द वाच्यत्व है। और (अत्राऽय पुरुष स्वय ज्योति) यह श्रुति भी युक्त है। और उस ज्योति स्वरूप आत्मा के असङ्ग होने के कारण प्राकाश्य दृश्य के साथ सङ्ग (सम्बन्ध) के अनिरूपण (असिद्धि) से, तथा दृश्य प्रपञ्च की आत्मप्रकाशादि के बिना स्वत वा अन्य किसी से सिद्धि के अभाव से दृगात्मा (ज्ञान स्वरूप आत्मा) में

ही रज्जु सर्प के समान अध्यस्त रूप से प्रपञ्च की सिद्धि (उत्पत्ति ज्ञप्ति) होती है। अत प्रपञ्च में मिथ्यात्व भी सिद्ध होता है।

यहाँ प्रपञ्च के सत्यत्ववादी शका करते है कि, (किं पुनरिदं मिथ्यात्वम्) फिर यह मिथ्यात्व क्या है, मिथ्यात्व का लक्षण नहीं हो सकता है। क्योंकि, वही क्या प्रमाणाऽगम्यत्व = प्रमाण विषयत्वाभाव रूप है ॥१॥ या अप्रमाणज्ञानगम्यत्व = अप्रमाण ज्ञान विषयत्व रूप है, ॥ २ ॥ या अयथार्थज्ञान विषयत्व = भ्रमविषयत्व रूप है. ॥ ३ ॥ या सद्विलक्षणत्व = सद्भिन्नत्व रूप है ॥४॥ या सत् और असत् उभय से विलक्षणत्व = भिन्नत्व रूप है, ॥ ५ ॥ या अविद्या और अविद्याकार्य में अन्यतरत्व (एकरूपत्व) है ॥ ६ ॥ या ज्ञान निवर्त्यत्व (बाध्यत्व) रूप है ॥ ७ ॥ या प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्व = प्रतीत्याश्रय में अभाव प्रतियोगित्व रूप है ॥ ८ ॥ या बाध्यत्व = मिथ्यात्व बुद्धिविषयत्व रूप है ॥ ९ ॥ या अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण मे प्रतीयमानत्व=अत्यन्ताभाव के समानाधिकरण रूप से प्रतीतिविषयत्व रूप है ॥ १० ॥ इन मे आद्य (प्रथम) (प्रमाणाऽविषयत्व) रूप मिथ्या का लक्षण नही हो सकता है। क्योंकि वेदान्त में ब्रह्म के स्वप्रकाश होने से वह किसी प्रमाण का विषय नही माना जाता है। अत उस मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ॥ १ ॥ दूसरा, अप्रमाणज्ञानगम्यत्व, रूप लक्षण भी नही हो सकता है। क्योंकि सत्यवादी भी अप्रमाण के विषय सत्य को मानते है। अत अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है (प्रकृतार्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्) इस न्यायसूत्र के अनुसार, प्रकृतार्थ से सम्बन्ध रहित अर्थ की प्राप्ति को अर्थान्तर कहते है। सो एक प्रकार का निग्रह स्थान रूप दोष होता है। प्रकृत में मिथ्या का लक्षण करना है, उस मिथ्या के असम्बन्धी (विरुद्ध) सत्य मे लक्षण प्रवृत्त होता है, क्योंकि तत्तत् शुक्ति शकल (खण्ड) आदि को भी तत्तत् रजतादि आकार से प्रतीयमान (प्रतीतिविषय) होने के कारण शुक्तिखण्डादि अप्रमाण ज्ञानगम्य (अप्रमाण ज्ञान के विषय) होते हैं, केवल मिथ्या रजतादिक ही उन (इद रजतम्) इत्यादि अप्रमाण ज्ञान के विषय नहीं होते है। और सब प्रपञ्च में यह क्षणिक है, यह ब्रह्म का कार्य है यह अनिर्वचनीय है। इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान विषयता को अन्यवादी मानते हैं। और स्मृति को अप्रमाण होने से स्मृति के विषय सत्य को भी अप्रमाण ज्ञान का विषय मानते हैं, वहाँ अतिव्याप्ति है ॥ २ ॥ तृतीय = अयथार्थज्ञानविषयत्व, लक्षण नहीं बन सकता है। क्योंकि उक्त दोषों की ही इसमे भी प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥ सद्विलक्षणत्व रूप चतुर्थ लक्षण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सत् से विलक्षण (असत्) शशविषाणादि को बिवक्षित मिथ्या नहीं माना जाता है, और उसमे लक्षण की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि शशविषाण भी मिथ्या है, उस में लक्षण की प्राप्ति उचित ही है। तो सो कहना उचित नहीं, क्योंकि मिथ्यास्वरूप ससार मे अपरोक्ष ज्ञानयोग्यत्व और सार्थक क्रियासामर्थ्य को मानने वालों मे ससार में शशविषाण से विषमता (विलक्षणता) मान्य (इष्ट) है। अत शशविषाण मे अमिथ्यात्व स्वीकृत है। अत एव लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि, वह प्रत्यक्षज्ञानयोग्य अर्थक्रियासामर्थ्य वाला विवक्षित लक्ष्य नही है ॥ ४ ॥ पञ्चम, सदसद्विलक्षणत्व रूप लक्षण नही हो सकता है, क्योंकि विरोधी दो में से एक के निषेध करने पर एक दूसरे की विधि, नान्तरीयक, व्याप्य रूप से हो जाती है. जैसे

रात्रि के निषेध से दिवस की और दिवस के निषेध से रात्रि की विधि होती है, एक देश काल मे दोनों का निषेध हो नही सकता है, वैसे ही सत्त्व असत्त्व रूप विरोधी धर्म का प्रपञ्च मे निषेध नही हो सकता है। अत निषध का असम्भव है ॥ ५ ॥ अविद्या और अविद्याकार्य के अन्यतरत्व, रूप षष्ठ लक्षण भी युक्त नही है। क्योंकि अनिर्वचनीय अविद्या यदि अविद्या शब्द के अर्थ रूप से विवक्षित हो तो वह परमत मे अप्रसिद्ध है, और (ज्ञानाभाव) मिथ्या ज्ञान (भ्रम विपर्यय) रूप अविद्या मे तथा उसके कार्य प्रवृत्ति सस्कारादि मे सत्यत्व से अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अर्थात् यह सत्य के विरोधी असत्य का लक्षण नही सिद्ध होता है ॥ ६ ॥ सप्तम (ज्ञान निवर्त्यत्व) लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि उत्तर ज्ञानादि से पूर्व के ज्ञानादि की निवृत्ति न्यायादि में मानी जाती है। वहाँ ज्ञान से निवर्त्य पूर्व ज्ञानादि के सत्य होने से अलक्ष्य में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। और सब ससार के प्रतिवादीके मत में सत्य होते हुये भी महाप्रलयादिकाल में ससार की ईश्वर ज्ञान से निवृत्ति होने के करण अर्थान्तरता की प्राप्ति होगी ॥ ७ ॥ प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्व। यह अष्टमलक्षण भी युक्त नही है, क्योंकि प्रतिपन्न शब्द का यदि प्रमाण से निश्चित अर्थ हो, तो प्रमाण से जो पदार्थ जिस आश्रय (स्थान) में निश्चित हुआ, वहाँ उसका निषेध होना अयुक्त है। अन्यथा अतिप्रसङ्ग होगा ब्रह्मात्म के प्रमाणनिश्चित आनन्दस्वरूपता आदि का भी निषेध होने लगेगा। और भ्रान्ति से निश्चित यदि प्रतिपन्न शब्द का अर्थ हो, तो भ्रान्ति से निश्चित अधिकरण में निषेध के प्रतियोगित्व सत्य में भी सम्भव होने के कारण अर्थान्तरता की प्राप्ति होगी। केवल सम्भव मात्र नही है किन्तु भ्रान्ति स्थान में सर्वत्र अन्यथाख्याति वादी तार्किक भ्रम निश्चित रजतस्थान शुक्ति में रजत के निषेध के प्रतियोगी सत्य रजत को सत्ता को अन्यत्र मानते ही है ॥ ८ ॥ बाध्यत्व रूप नवम लक्षण भी नहीं बन सकता है, क्योंकि बाधक ज्ञानविषयत्व, या बाधक ज्ञान निवर्त्यत्व (नाश्यत्व) स्वरूप बाध्यत्व को मानने पर भी अर्थान्तरता ज्यों की त्यों बनी रहती है, यत शुक्ति आदि में रजतादि की भ्रान्ति के अनन्तर नेदं रजतम्, यह रजत नही है, किन्तु शुक्ति है—इत्यादि बाधक ज्ञान के विषयत्व सत्य शुक्ति में माना जाता है, तथा उस बाधक ज्ञान से पूर्ववृत्ति ज्ञान की बाधक ज्ञान से निवृत्ति मानी जाती है। अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीतिविषयत्व, रूप दशम लक्षण भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रदेश वृत्ति (अपने अधिकरण के एक देश मे वृत्ति) अव्याप्यवृत्ति, सयोग, विभाग, शब्द और आत्मा के विशेषगुणों को नैयायिक, अपने अत्यन्ताभाव के अधिकरण में प्रतीयमान होते भी इन को सत्य मानते है। अतः अर्थान्तरता का अतिक्रमण (निवारण) अशक्य (असाध्य) है। इस प्रकार से प्रपञ्च के मिथ्यात्व का निर्वचन (निर्णय = लक्षण) नहीं हो सकता है।

नापि तत्र प्रमाणम्। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्ष तत्र क्रमते, उक्तप्रकाराणामन्यतमस्यापि मिथ्यात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वे तत्र वादिना विवादाभावप्रसङ्गात्। न च विवादपद, मिथ्यादृश्यत्वाच्छुक्तिरूप्यवदित्यनुमानम्; प्रमाणागम्यत्वस्य सदसद्वैलक्षण्यस्याविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वस्य वा साधनेऽप्रसिद्धविशेषण-

त्वादयथार्थज्ञानगम्यत्वस्य गुरुमतेऽप्रसिद्धत्वात् , इतरेषु च सिद्धसाधनत्वात् । किञ्च दृश्यत्वं नाम फलव्याप्यत्वं वा । वृत्तिव्याप्यत्वं वा । साधारणं वा । नाद्य , अतीन्द्रियेषु तदभावेन भागासिद्धत्वात् । न द्वितीय , ब्रह्मणोऽपि वेदान्तिभिर्वृत्तिव्याप्यत्वाभ्युपगमादनैकान्तिकत्वात् । न तृतीय , ब्रह्मण्यनैकान्तिकत्वादेव । एतेन जडत्वाद्यन्तवत्त्वपरिच्छिन्नत्वादयो हेतवो निरस्ता, तत्रापि साध्यानिरुक्ते' ।

अथाय पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी दृश्यत्वाद् घटवदिति चेत् , न, तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावे दृश्यत्वहेतौ चानैकान्तिकत्वात् , तयोर्दृश्यत्वेऽपि तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात् । प्रतियोगित्वे वा तन्निष्ठात्यन्ताभावाभावात्पटस्य तत्प्रतियोगित्वलक्षणसाध्यासिद्धिस्तन्तूनामदृश्यता च स्यात् । किं च प्रपञ्चस्य प्रामाणिकत्वे, मिथ्यात्वानुमानाना धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाध' । अप्रामाणिकत्वे, चाश्रयासिद्धि । प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे च दूषणदूषणादेरपि प्रतीतिमात्रसिद्धस्य सर्वत्र सभवात्सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्ग । एवं साध्यहेतुदृष्टान्तानामपि प्रामाणिकत्वे, दृश्यत्वहेतोस्तत्रानैकान्तिकता अप्रामाणिकत्वे वा साध्यसाधनाद्यभावादनुमानासिद्धि ।

नापि तत्र प्रमाणमिति । यद्यपि लक्षणमपि प्रमाणविशेष एव, तथापि न तत्स्वरूपसिद्धिपरम् अपि त्वितरव्यावृत्ति व्यवहार चोपहरति । प्रमाण तु लक्षितमेव स्वरूपं साधयतीति सर्वत्रानयो पृथगाक्षेपसमर्थने द्रष्टव्ये । प्रत्यक्ष न माणमित्युक्तं तत्र हेतुमाह— **उक्तप्रकाराणामिति** । अयमर्थ —भवदुक्तप्रकाराणामन्यतम मिथ्यात्वम्, तस्य तु न कस्यचिदप्यत्र प्रत्यक्षसिद्धि । यदि हि प्रत्यक्षत सिद्धचेन्न कोऽपि विप्रति पद्येत। नहि प्रत्यक्षसिद्धे घटादौ विवदन्ते, विवदन्ते चाद्यापि वादिनो मिथ्यात्व इत्यर्थ । ननु मा भूत्प्रत्यक्षम् अनुमान भवत्वित्यत आह—**नच विवादपदमिति** । दशधा हि मिथ्यात्वसभव । तत्र प्रमाणगम्यत्वादिरूपसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणता, अविद्येहाप्यनिर्वचनीया विवक्षिता । इतरयोस्तस्यामसप्रनिपन्नत्वात् । नन्वयथार्थज्ञानगम्यत्वात्मक साध्य तथा, च नाप्रसिद्धविशेषणताऽत आह—**अयथार्थेति** । यद्यप्यस्माकमिद प्रसिद्ध तथाप्यख्यातिवादिनामप्रसिद्धविशेषणता, सोऽपि तावदेव मिथ्यात्वे विप्रतिपन्न इत्यर्थ । भवतु त प्रति, त्वा प्रति तु को दोष इत्यत आह— **इतरेषु चेति** । पक्षत्रयातिरिक्तेष्वित्यर्थ । तथाच यथा चैतत्तथा तत्तल्लक्षणदूषणसमयेऽर्थान्तर दर्शयतोपपादितम् । उपलक्षणं चैतत् । तेन यथासभव सद्वैलक्षण्यादिप्रयुक्तदूषणमूहनीयम् । तदेव साध्यनिरूपणमुक्त्वा हेतोरप्यनिरुक्तिमाह— **किञ्चेति** । **अतीन्द्रियेष्विति** । कृतोपपादनमिद स्वप्रकाशलक्षणसमये अदृष्टादेरवेद्यतामावेदयद्भिरस्माभिस्तेन भागासिद्धो हेतुः । शुक्तिरूप्यादिव्यतिरिक्तमखिल जड पक्ष । अतोऽतीतादेरपि पक्षतया तत्रावृत्ते-

रित्यर्थं । नन्वविवक्षितविशेषे तृतीये पक्षे का क्षतिरित्यत आह—**न तृतीय इति । ब्रह्मणीति** । अविवक्षितविशेषसाधारणस्य य कचन विशेषमादायापि पर्यवसानादित्यर्थ । ननु विवादपद मिथ्या जडत्वादाद्यन्तवत्त्वात्परिच्छिन्नत्वाद्वा शुक्तिरूप्यवदिति प्रयोगो मिथ्यात्वे प्रमाणमित्यत आह—**एतेनेति** । अतिदिश्यमानमेव विशदयति—**तत्रापीति** । अनुमानान्तर शङ्कते—**अय पट इति** । एतत्तन्तव, एतत्पटसमवायिकारणतन्तवस्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीनि योजना । अभावप्रतियोगीत्युक्ते कार्यकारणभेदवादिना तार्किकाणामेतत्तन्तुष्वेतत्पटान्योन्याभावप्रागभावप्रध्वसाभावस्वीकारेणार्थान्तरता, तदर्थमत्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्त, तावदुक्ते यत्किचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहारार्थं तन्तुनिष्ठेत्युक्तम् । एतत्पटस्यैतत्पटाजनकत्वेनाभिमततन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन पुनरपि सिद्धसाधनता स्यात्तत्परिहार्थमेतदिति तन्तुविशेषणम् । एतत्तन्तुशब्देन च वादिनो जनकत्वेनाभिमततन्तव उच्यन्ते । पटान्तरापेक्षया सिद्धसाधनतापरिहारायायमिति पटविशेषणम् । घटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव प्रसिद्ध इति साध्यप्रसिद्धिस्तदेतद् दूषयति—**नेति**। एव ह्यनुमिन्वता यद्यद् दृश्य तत्तदेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीति व्याप्तिरेष्टव्या । न चेयमस्ति । एतत्तन्तुषु योऽयमस्य पटस्यात्यन्ताभाव साध्यते, न तस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमस्ति । तत्स्वीकारे च तत्साध्यस्यैवाभावादनुमान व्याहत स्यादथच तत्र दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्त । इद च वादिन प्रत्येव, तादृग्विधविपक्षस्य सत्यत्ववादिनोऽसिद्धेस्तथा दृश्यत्वहेतावप्युक्तमाध्य नास्त्येतत्तन्तुषु दृश्यत्वस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे तन्तूनामदृश्यतया साध्यासिद्धिप्रसङ्गादथ च दृश्यत्वमस्तीत्यनैकान्त । इद तूभयानुमत तदेतदाह—**तन्निष्ठेत्यादिना अदृश्यता च स्यादित्यन्तेन** । मिथ्यात्वसाधकानुमानजातस्य च साधारणदूषणमाह—**किंचेत्यादिना । बाध इति** । प्रमाणगम्यत्वस्यैव सत्त्वादिति भाव । ननु न वय प्रमितमप्रमितं वाश्रयमाश्रया, नापि शशविषाणायमानम्, अपि तु प्रतीतिमात्रसिद्ध, प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ तदतिरिक्तप्रमितत्वस्याप्याश्रयकोटिनिवेशने न किंचन मान पश्याम इत्यत आह—**प्रतीतिमात्रेति** । अयमर्थ—न प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनदूषणते । तथा सति सर्वदर्शनानामपि साधनबाधनप्रसङ्गात्तत्त्वोपप्लवप्रसङ्गात्, क्व नाम तादृशानि साधनानि दूषणानि वा न सन्ति यानि प्रतीतिपथमपि नावतरेयु ? शब्देनापि तत्प्रतीतीना शक्यजननत्वादिति । आश्रयोक्त विकल्प साध्यादिष्वतिदिशति—**एवमिति** । तथाहि तेषा प्रामाणिकत्वे सत्यत्वेन विपक्षतया तत्र वर्तमानो हेतुरनैकान्तिक स्यादप्रामाणिकत्वे च यथायथमप्रसिद्धविशेषणतास्वरूपासिद्धयाश्रयहीनता प्रसज्येरन्निति भाव ।

प्रपञ्च के मिथ्यात्व में कोई प्रमाण भी नहीं है। प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण की तो इसमें प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि उक्त दश प्रकार (लक्षण) वाले में से यदि कोई प्रकार का मिथ्यात्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता, तो उस मिथ्यात्व विषयक वादियों के विवाद

का अभाव ही होता। और, विवादपद (विवादास्पद = विवाद का विषय प्रपञ्च) मिथ्या है, क्योंकि दृश्य है, जैसे कि शुक्ति का रजत हो, वैसा जगत है। यह अनुमान भी मिथ्यात्व में प्रमाण नहीं हो सकता है। क्योंकि उक्त, प्रमाणागम्यत्व रूप प्रथम, या सदसद् वैलक्षण्य रूप पञ्चम, अविद्यातत्कार्यान्यतरत्व रूप षष्ठ, लक्षण लक्षित को अनुमान से सिद्ध करने पर अप्रसिद्ध विशेषणत्व की प्राप्ति होती है। अयथार्थज्ञान-विषयत्व रूप तृतीयलक्षणलक्षित गुरुमत मे अप्रसिद्ध है। इनसे अन्यपक्षों मे सिद्धसाधनता दोष है। इस रीति से साध्य का अस्तित्व असम्भव है। हेतु भी विचारणीय है कि दृश्यत्व क्या है। फलव्याप्यत्व है, या वृत्तिव्याप्यत्व है, वा साधारण है, वहाँ प्रथम फल व्याप्यत्व पक्ष बन नहीं सकता है, क्योंकि अतीन्द्रिय धर्म सस्कारादि मे फलव्याप्यत्व के अभाव से पक्ष के भाग (अश) धर्मादि मे हेतु नही रहता है, अत भागासिद्ध हेतु साध्य का साधक नही है। द्वितीय (वृत्तिव्याप्यत्व) भी नही मान सकते है, क्योंकि वेदान्ती ब्रह्म को भी वृत्तिव्याप्य मानते है, अत यह वृत्ति व्याप्यत्व रूप दृश्यत्व हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) होगा। तृतीय साधारण पक्ष भी नहीं बन सकता, क्योकि वह भी ब्रह्म मे व्यभिचारी होगा इस दृश्यत्व हेतु के खण्डन से ही, जडत्व, अन्तवत्त्व, परिच्छिन्नत्व आदि रूप मिथ्यात्व के साधक माने गये हेतुओं का खण्डन सिद्ध हो गया। क्योंकि उन हेतुओं के स्थान मे भी साध्य का निवचन नही हो सकता है।

दूसरा अनुमान किया जाय कि (यह पट, इसी पट के समवायी कारण रूप इन तन्तुओं मे अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि तन्तुओं में पट दृश्यमात्र है, तन्तुओं से भिन्न उसका सत्य स्वरूप नहीं है। अत जैसे घट तन्तुओं में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है वैसे पट भी है। यह अनुमान भी प्रमाण नही हो सकता है, क्योंकि तन्तु वृत्ति अत्यन्ताभाव में, और दृश्यत्व हेतु मे दृश्यत्वहेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। कारण है कि तन्तु निष्ठात्यन्ताभाव मे तथा दृश्यत्वमे भी हेतु है, परन्तु उक्ततन्तु निष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व रूप साध्य इन मे नहीं है, क्योंकि वहाँ अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव नही है, न दृश्यत्वाभाव है। अत उन दोनों मे दृश्यत्व होते भी तन्तु-निष्ठ अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगित्व है, और यदि तन्तुनिष्ठात्यन्तका भाव और दृश्यत्व हेतु मे तन्तुनिष्ठात्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व हो (माना जाय) तब तो तन्तुनिष्ठा-त्यन्ताभाव का अभाव होगा, कि जिससे पट को अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिरूप साध्य के पक्ष मे वा दृष्टान्त मे कही सिद्धि नही होगी, और तन्तु मे दृश्यत्व के अत्यन्ताभाव से अदृश्यता की प्राप्ति होगी। और प्रपञ्च के मिथ्यात्व के अनुमान करने वाले को विचारना चाहिये कि प्रपञ्च मे प्रामाणिकत्व है, या नहीं, वहाँ प्रामाणिकत्व होने पर मिथ्यात्व साधक अनुमानों का धर्मी (प्रपञ्च) के ग्राहक प्रमाणों से बाध होगा। क्योंकि पूर्व प्रमाण से ज्ञात को सत्यता ही होगी। और प्रपञ्च के अप्रामाणिक रहने पर आश्रयासिद्धि (आश्रय का अभाव) होगी। यदि कहा जाय कि प्रामाणिकत्व अप्रामाणिकत्व विकल्प को त्याग कर, प्रतीतिमात्र से सिद्ध को अनुमान की आश्रयता होगी, इससे आश्रया-सिद्धि नही होगी, तो कहा जा सकता है प्रतीतिमात्र से सिद्ध सत्य मिथ्या दूषण भूषण (दोष गुण) सब मत मे सुलभ होने से, सभी वाद (मत का मन) माना विधि और निषेध प्राप्त होगा, अमुक सत्य हेतु से विधि वा निषेध करना, इत्यादि कथा का नियम नहीं रहेगा। इसी प्रकार से साध्य हेतु और दृष्टान्त के प्रामाणिक होने पर, और दृश्यत्व

हेतु के वहाँ रहने पर अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि प्रामाणिकता से सत्यता के रहने के कारण मिथ्यात्व नहीं रह सकेगा, और हेतु तो रहेगा ही। और साध्यादि के अप्रामाणिक होने पर, साध्य हेतु दृष्टान्त के अभाव से मिथ्यात्व का अनुमान नहीं होगा, इस प्रकार से आश्रयासिद्धि के समान साध्यादि की असिद्धि प्राप्त होता है।

नाप्यागमः प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानम्। तथाहि-न तावत् 'एकमेवाद्वितीय' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मे' त्यत्र ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वानन्तत्वप्रतिपादनाद् द्वितीयवस्तुनोऽभाव प्रतीयत इति युक्तं वक्तुम्, अद्वितीयशब्दस्य तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपरत्वात्, अस्मिन्ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीय पुरुष इतिवत्। अनन्तपदस्य च प्रागुत्तरकालीनान्ताभावपरत्वात्तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरन्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणत्वस्याप्रसिद्धत्वेन तत्र व्युत्पत्त्ययोगात्। 'नेह नानास्ति किंचने'त्यादेश्चागमस्य कारणे ब्रह्मणि नानात्वनिषेधपरत्वात् 'इन्द्रो मायाभि' रित्यादेश्च तत्तदिन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधिभिर्मायाशब्दाभिधेयैः स्वशक्तिविशेषैर्वा भेदेन परमेश्वरप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात्। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोती' त्येवंविधायाश्च श्रुतेर्भेददर्शननिन्दयाऽभेदप्रतिपत्तिविधिपरत्वेन प्रपञ्चनिषेधे तात्पर्याभावात्।

आगमस्य च स्वरूपावगतौ पदपदार्थविभागप्रतिपत्तौ च प्रत्यक्षादिसाकाङ्क्षत्वात्प्रत्यक्षस्य चागमानपेक्षत्वात्। 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि', अग्नीषोमीयं पशुमालभेत', 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत' 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति', 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'उदिते जुहोति' 'अनुदिते जुहोती'ति च परस्पर व्याकुलत्वात्। प्रत्यक्षादेश्च तदभावात्। आगमस्य चोपचरितार्थत्वेनापि तत्र सावकाशत्वादनवकाशत्वाच्च भेदग्राहिण प्रत्यक्षादे। पूर्वसिद्धतया चागमेभ्यस्तस्य प्रतिष्ठितत्वात्तद्विरोधे तेषामेव बाधात्। 'मृत्तिकेत्येव सत्यं' 'त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यं', 'सच्च त्यच्चाभवदि'ति च प्रपञ्चस्य सत्यत्वप्रतिपादनात्।

ननु मा भूदनुमानान्मिथ्यात्वम्, आगमादागमिष्यतीत्यत आह—**नाप्यागम इति।** तत्र वक्तव्य किम् 'एकमेवाद्वितीय' मित्यद्वितीयशब्दाद् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वसिद्धिरिति मन्यसे? किंवा 'सत्यं ज्ञानमनन्त' मित्यनन्तश्रुत्या? किंवा 'नेह नानास्ती' ति ब्रह्मणि नानात्वनिषेधात्? आहोस्वित् 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयत' इति मायाभिर्बहुभवनाभिधानात्? उत 'मृत्योः स मृत्यु' मिति द्वैतदर्शननिन्दया? तत्र नाद्यद्वितीयावित्याह— **न तावदित्यादिना।** न युक्तं वक्तुमित्युक्तं तत्र हेतुमाह— **अद्वितीयशब्दस्येति।** यथा खल्वस्मिन्ग्रामे अयमेक एवाद्वितीय पुरुष इत्यत्र शौर्यौदार्यातिशयादिना सजातीय पुरुष प्रतिषिध्यते, न तु तद्व्यतिरिक्त समस्त वस्तु, तत्कस्य हेतोस्तस्य तस्य वस्तुनस्तत्तत्प्रमाणोपनीततयाऽशक्यनिषेधत्वात्, तद्वदिहापि

समस्तं मानोपनीत वस्तु निषेद्धुमशक्नुवानाऽद्वैतश्रुतिस्तत्सजातीय ब्रह्मान्तर निषेधतीत्यर्थ । भवत्वद्वितीयश्रुतेरिय गतिः, अनन्तशब्दस्य को निवारक ? इत्यत आह—**अनन्तपदस्य चेत्यादि** । वस्तुपरिच्छेदाभावस्य परम्पराभावाधिकरणत्वरूपस्य लोकेऽप्रसिद्धतया तत्रागृहीतसंगतिकत्वात्कालपरिच्छेदाभावमाकाशादौ प्रसिद्धमभिधत्त इति भावः । प्रागुत्तरकालीनान्तौ, प्रागभावप्रध्वंसौ, अनेकान्योन्याभावपक्षे एकानधिकरणस्यापि तत्सिद्धेर्नाद्वैतसिद्धिरिति तदधिकरणत्वानधिकरणेत्युक्त, तृतीय पक्ष निषेधति—**नेह नानास्तीति** । इद हि वाक्यमिह पदावमृष्टे प्रस्तुते कारणे ब्रह्मणि नानात्व निषेधति । तथाच न नाना ब्रह्म किं त्वेकमिति स्यात् । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य तु किमायातमित्यर्थ । चतुर्थ निषेधति—**इन्द्रो मायाभिरिति** । अत्र हि मायाशब्देन बुद्धिवृत्तयोऽभिधीयन्ते । 'चेतश्चित्त क्रतुर्माय' ति चित्ताभिधायकतावगमान्मायाशब्दस्य । तत्रच चित्तस्यैकत्वात्कथ मायाभिरिति बहुवचनोपपत्तिरित्यत उक्त—**तत्तदिन्द्रियेति** । स्वत एकस्यैव सतश्चित्तस्यानेकेन्द्रियोपाधिकवृत्तिभेदादिद बहुवचनम् । अतस्तैरुपाधिभि परमेश्वरो बहुधोपास्यत इत्यर्थ । अथ वा या परमेश्वरस्येच्छाज्ञानक्रियाशक्तयो मायाशब्दाभिधेयास्तासामपि श्रुत्यादिषु मायाशब्दाभिधानदर्शनात्ताभिश्च परमेश्वर प्रत्युपासक बहुरूपमाविर्भवति । अवतारभेदैर्वा बहुधा व्यवह्रियते इत्यर्थ । ननु 'मृत्यो स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' ससारात्संसार प्रतिपद्यत इति भेददर्शनात्ससाराविमोकक्थनादतत्त्वज्ञानत्वमवगम्यते, अतएव तद्विषयस्य भेदस्यातत्त्वतेति भेदस्य मिथ्यात्वमियमेव श्रुतिर्गमयतीति पञ्चम पक्ष निरस्यति-**मृत्योरिति** । नास्याश्रुतेरत्र तात्पर्यमपुरुषार्थत्वात्, अपि त्वभेदध्यानविधौ, तत्स्तुत्यर्थं च भेददर्शननिन्दा । यथोदिते जुहोतीति विहितोदितहोमस्तुतयेऽनुदितहोमनिन्दा 'प्रात प्रातरनृत ते वदन्ती'ति । यथा चानुदितहोमस्य विहितस्य स्तुत्यर्थमुदितहोमस्य निन्दा 'यथाऽतिथये प्रद्रुताये' ति । ततोऽन्यपरादस्मात्प्रत्यक्षविरुद्धोऽयमर्थो न लभ्यत इत्यर्थ ।

ननु प्रत्यक्षागमयोरुभयो प्रमाणत्वाविशेषे केन वैषम्येणेदमवधार्यते यत्प्रत्यक्षादिविरोधे श्रुतिरेव तदनुरोधेन व्याख्येया न विपरीतमित्यत आह—**आगमस्य चेति** । अथवा आगमस्वभावपर्यालोचनया नात्र तात्पर्यमित्युक्त. इदानी भवतु वागमस्तत्परस्यापि प्रत्यक्षादिभिर्विरोधे बाध्यत एवेत्यभिप्रेत्यागमस्य दौर्बल्ये कारणान्याह—**आगमस्य चेति** । एषा हेतूना तद्विरोधे तेषामेव बाधादित्युत्तरप्रतिज्ञाया सबन्ध । यथाहि शब्द' स्वरूपग्रहणे वाऽबाधित प्रत्यक्षादिकमपेक्षते न तथा प्रत्यक्षादि स्वरूपादिप्रतिपत्तौ शब्दप्रमाणमपेक्षते, तेन सापेक्षनिरपेक्षयोर्विरोधे सापेक्षागमबाध इत्यथ । किंच परस्परविगीततयाऽतिकलहेनैव तावदुपहता आगमा, किमु वक्तव्यमविगीतानुपहतप्रत्यक्षादिविरोध इत्याह—**न हिंस्यादित्यादिना** । ब्रह्मणे, ब्राह्मणत्वाय । आलभतिर्विशसनपर । यस्मिन्गृह्यमाणे षोडश शस्त्राणि शस्यन्ते स ग्रहविशष षोडशी । यथा ह्येकस्यैव हिंसाहिंसे, ग्रहस्यैकस्मिन्नेव ग्रहणाग्रहणे, होमस्य चैकस्यैकस्मिन्नेव

प्रयोगेऽनुदितोदितकालसबन्ध इति परस्परविरुद्धानधिगमयत्यागमो, न तथा प्रत्यक्षादीत्याह—**प्रत्यक्षादेश्चेति**। सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाश बलवदिति न्याय, सावकाशाश्चागमा इत्याह—**आगमस्य चोपचरितार्थत्वेनेति**। यथा ह्यागमस्य मुख्यलक्षणागुणात्मकानेकवृत्तिमत्तया अन्यतमानुपपत्तावन्यतमामादायापि प्रामाण्यनिर्वाहो, न तथा प्रत्यक्षादेर्वृत्त्यन्तरमस्ति शब्दधर्मत्वात्तासामित्यर्थ । सजातासजातविरोधिनो सजातविरोधि दुर्बल, सजातविरोधिनश्चागमा प्रथमोपजातपदभेदावबोधकाध्यक्षादीननुवर्तमाना इत्याह—**पूर्वसिद्धतयेति**। किंचाभ्युपगम्य विरोधमिद प्राबल्यमभिहितम्। वस्तुतस्तु विरोध एव नास्ति आगमेभ्य एव प्रपञ्चसत्यतावगमादित्याह—**मृत्तिकेत्यादिना**। त्रीणि रूपाणीति—लोहितशुक्लकृष्णानीत्यर्थं । सदिति भूतत्रयम्। त्यदिति वाय्वाकाशौ द्वौ। अत्र च सदिति खुररवश्रवणेनोपन्यस्तम्। भेदग्राहिप्रत्यक्षादीति येयमागमबिभीषिकोक्ता, तत्र प्रत्यक्ष सवजनीनमिति न तत्र किंचिद्वक्तव्यमस्ति।

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष वा अनुमान प्रपञ्च के मिथ्यात्व मे प्रमाण नही है, तो इन दोनों से प्रबल वेद रूप प्रमाण से तो प्रपञ्च मे मिथ्यात्व सिद्ध होता ही है, क्योंकि एकमेवाद्वितीयम्, इससे द्वितीय प्रपञ्च मे मिथ्यात्व सिद्ध होता है ॥ १ ॥ सत्य ज्ञान मनन्तं ब्रह्म, यहाँ अनन्त श्रुति से सिद्ध होता है, ॥ २ ॥ नेह नानास्ति किञ्चन, यहाँ नानात्व निषेध सिद्ध होता है ॥ ३ ॥ इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते, यहाँ माया द्वारा मिथ्या बहुरूपता कथन से सिद्ध होता है ॥ ४ ॥ और (मृत्यो स मृत्युमाप्नोति) इत्यादि भेददर्शन की निन्दा से भेदरूप प्रपञ्च से मिथ्यात्व सिद्ध होता है ॥ ५ ॥ वहाँ कहा जाता है कि प्रपच के मिथ्यात्व मे ये उक्त कोई आगम (श्रुति) प्रमाण नही है, प्रथम और द्वितीय (एकमेवाद्वितीयम् सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म) ये श्रुतियाँ ब्रह्म के अद्वितीयत्व अनन्तत्व का प्रतिपादन करती है, अत द्वितीयवस्तु का अभाव प्रतीत होता है, यह कहना युक्त नही है। क्योंकि अद्वितीय शब्द का ब्रह्म के सजातीय दूसरी वस्तु के निषेध में तात्पर्य है। प्रपंच के निषेध (मिथ्यात्व) मे नही। जैसे कि कहा जाता है, कि इस ग्राम मे यह देवदत्त ही अद्वितीय पुरुष है। इसी के समान उक्त श्रुति है। और अनन्त पद क पूर्वोत्तर कालिक अन्त (अभाव) के अभाव बोधक होने से (जन्ममरण रहित बोधक हाने से) उसी अर्थ में अनन्त पद की व्युत्पत्ति (शक्ति का ग्रहण) होता है। अत उत्पत्ति और ध्वस रहित अर्थ ही अनन्त पद का लोक में प्रसिद्ध है। अन्योन्याभाव (भेद) अधिकरणत्व का अनधिकरणत्व (अभिन्नत्व=अद्वैतत्व) की अनन्त पद के अर्थ रूप से प्रसिद्धि नहीं है। अत उस अर्थ में व्युत्पत्ति (शक्ति) ग्रह का अयोग (असम्भव) है। नेह नानास्ति किंचन, इत्यादि आगम भी परमात्मा में नानात्व का निषेध मात्र परक (तात्पर्य वाला), प्रपंच मिथ्यात्व मे उसका तात्पर्य नही है। और (इन्द्रो मायाभि) यहाँ माया शब्द (चेतश्चित्त क्रतुर्माया) इत्यादि अभिधान के अनुसार, चित्त और चित्त वृत्ति ज्ञानादि का वाचक है। अत माया शब्द के वाच्यार्थ, तत्तदिन्द्रिय जन्यचित्त वृत्ति रूप उपाधियों द्वारा, या अपने ज्ञानादि शक्ति विशेषों के द्वारा परमेश्वर नाना रूपता को प्राप्त होता है, यह श्रुति का अर्थ है । और औपाधिक

भेद द्वारा परमेश्वर की प्रतिपत्ति विधि (उपासना विधि) मे श्रुति के तात्पर्य होने से प्रपंच के निषेध मे तात्पर्य का अभाव है। और (मृत्यो स मृत्युमाप्नोति) इस प्रकार वाली श्रुतियों का भी भेददर्शन (ज्ञान) की निन्दा = द्वारा अभेद की प्रतिपत्ति (चिन्तनोपासना) विधि मे तात्पर्य है। अत प्रपच क निषेध (मिथ्यात्व) मे तात्पर्य का अभाव है। और आगम को अपने स्वरूप के ज्ञान में, तथा पदपदार्थ के विभाग शक्त शक्यार्थ के ज्ञान मे प्रत्यक्षादि की अपेक्षा होती है, और प्रत्यक्षप्रमाण को आगम की अपेक्षा नही होती है, अत प्रत्यक्ष स्वतन्त्र होने से प्रबल है, और आगम प्रत्यक्षाधीन होने से दुर्बल है, अत एव आगम कहीं प्रपच निषेधादि परक होगा भी तो प्रबल प्रत्यक्ष से विरोध के कारण बाधित होगा, या गौणार्थक किया जायगा। और (न हिंस्यात्सर्वा भूतानि) सब प्राणियों मे कोई किसी प्राणी की हिसा नहीं करे। अग्नीषोमीय पशुमालभेत—अग्निषोमदेवता वाले पशु का आलम्भ करे। ब्राह्मणो न हन्तव्य । ब्राह्मण हननयोग्य नहीं है। ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत ब्राह्मणता के लिये ब्राह्मण का आलम्भ करे। अतिरात्रे षोडशिन गृह्णाति, अतिरात्र नामकयाग मे षोडशिनामक पात्र मे सोमरस का ग्रहण करे। नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति अतिरात्र मे सोमरस का ग्रहण षोडशिपात्र में नहीं करे। उदिते जुहोति, सूर्योदय होने पर हवन करे। अनुदिते जुहोति, सूर्य के अनुदित रहते हवन करे। इत्यादि आगम परस्पर विरोध के कारण व्याकुल (सशयादि ग्रस्त) है। प्रत्यक्षादि मे ऐसी व्याकुलता नही है। व्याकुलता का अभाव है, इसमे भी आगम से प्रत्यक्षादि प्रबल है। और अभेद एकत्वादि जगन्मिथ्यादि बोधक आगम का तो उपचरितार्थ (गौणार्थ) रूप से उस गौणार्थ मे सावकाशत्व होता है। भेद ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भेद के बिना निरवकाश होने से तथा आगम से प्रथम सिद्धता के कारण प्रतिष्ठित (निश्चित = विरोधरहित) होने से उन प्रत्यक्षादिकों के साथ विरोध होने पर, उन आगमों का ही बाध होता है, अत प्रत्यक्षादि प्रबल है। और प्रत्यक्ष आगम के विरोध को मान कर प्रत्यक्ष की प्रबलता कही गई है, वस्तुत विरोध नही है, क्योंकि 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' मृत्तिका ही स व है। "त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्" तेज जल और भूमि के रक्त, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप ही सत्य है। "प्राणा वे सत्यम्" प्राण अवश्य सत्य है। (सच्च त्यच्चाभवत्) सत् = व्यक्त पृथिवी, जल, तेज और त्यत = अव्यक्त वायु, आकाश रूप वह ब्रह्म हुआ। इत्यादि शास्त्र भी प्रपच को सत्य ही प्रतिपादन करता है, अत विरोध नही है।

विवादास्पदीभूत प्रपच , सत्य , प्रमाणसिद्धत्वादात्मवदिति, अय घट एतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदाश्रय द्रव्यत्वात्पटवदित्यनुमानतोऽपि वियदादेरात्मना च सत्यभेदसिद्धि । नच भेदस्य सत्यत्वे दृग्दृश्ययो सम्बन्धानुपपत्तिबाधिका, तत्तत्प्रतिपत्तिहेतुभूतेन्द्रियलिङ्गादेस्तत्तद्विषयसम्बन्धादेव तदुत्पन्नज्ञानाना तत्तद्विषय प्रति नियमसिद्धावन्तरेणापि सबन्धान्तरमतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात् । शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यादेश्च कर्मभेदप्रतिपादकप्रमाणस्य भेदमिथ्यात्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्ग । नच तस्य लोकसिद्धभेदानुवादकत्वसमव , तादृक्कर्मापूर्वभेदस्य लोकतोऽसिद्धे , सिद्धत्वे च शब्दान्तराद्यधिकरणानारम्भप्रसङ्गात् । तदेव

मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरसंभवादनुमानागमाभ्या प्रपञ्चस्य सत्यत्वापादनान्न मिथ्यात्वमिति ।

अत्रोच्यते—न तावल्लक्षणासभव , यत —

सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन समते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥७॥

तथाहि—घटादीनां भावाना स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितैव तेषा मिथ्यात्वम् । न हि तेषामन्यत्र सत्ता सभविनी । तत्रापि चेत्सा न स्यात्तदा गले पादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत । न च निराश्रयेपु नित्येषु भावेषु सा नास्तीति लक्षणस्याव्याप्ति, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यतया कारणाश्रितत्वस्य व्यवहारदशाया रजतादेरिव शुक्त्याद्याश्रितताया स्वीकारात् । नाप्यतिव्याप्ति , सत्यस्य ब्रह्मणो निराश्रयत्वात्तस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिताया शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् ।

अनुमान दर्शयति—**विवादेति** । प्रपञ्चमात्रस्य सत्यत्वसाधने शुक्तिरूप्यससर्गादौ बाध स्यात्, तेषामपरोक्षतया बाध्यतया च सदसद्विलक्षणतया मिथ्यात्वात्, तथा घटाद्यनुगनसत्ताशे सिद्धसाधनता, तन्निवृत्त्यर्थं विवादास्पदग्रहणम् । न चासिद्धो हेतु , प्रत्यक्षे प्रदर्शितागमे चाविवादादिति । भिन्नवस्तुसत्यत्वेऽनुमानमुक्त, भेदस्यापि सत्यत्वेऽनुमानमाह—**अय घट इति** । अथवा व्यावहारिकतात्त्विकत्वादिस्वकपोलकल्पितविकल्पमादाय यद्यय विवदिषुरद्वैतवादी, तर्हीयमेव नीरन्ध्रा रीतिर्भवत्वित्याह—**अय घट इति** । भेदाश्रय इत्युक्ते कल्पितभेदमादाय सिद्धसाधनम्, तदर्थं बाध्यभेदातिरिक्तग्रहण, तावति वाऽप्रसिद्धविशेषणता, अद्वैतवादिन सर्वभेदाना बाध्यत्वादत उक्त—**एतन्निष्ठेति** । पदार्थान्तरनिष्ठभेदस्यैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदत्वेन नाऽप्रसिद्धविशेषणता, पक्षे चैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तत्व भेदस्यैतन्निष्ठातिरिक्तत्वान्न सभवति एतन्निष्ठत्वादेव । अतो बाध्यभेदातिरिक्तसत्यभेदसिद्धि । अतिरिक्तत्व चात्राभेदानधिकरणत्व तेन नार्थान्तरता । **इत्यनुमानतोऽपीति** । एवप्रकारानुमानत इत्यर्थ. । ननु प्रतिकूलतर्कपराहतत्वात् शङ्कितोपाधिदुष्टमिदमनुमानद्वयम् । तथाहि—भेदस्य भेदिनो वा दृश्यवर्गस्य सत्यत्वे, तस्य तज्ज्ञानस्य च क सबन्ध ? इति विवेचनीयम् । न तावत्सयोग., तस्य गुणत्वेन द्रव्यमात्रवृत्तित्वात्, ज्ञानस्य गुणत्वात् द्रव्यत्वाभावात् । नापि समवाय , आत्मसमवेतत्वाज्ज्ञानस्य । नाप्यन्य कश्चित्षट्पदार्थनियमानुगुण सभवति । नाप्यभाव , अभावतज्ज्ञानयो सबन्धाभावप्रसङ्गात् । किंच यत्र यत्रास्यान्तर्भावस्तस्य तस्य तज्ज्ञानेन सबन्धो न स्यात्स्ववृत्तिविरोधादिति । तदेतद्दूषयति—**नचेति** । हेतुमाह—**तत्तदिति** । नियामको हि सबन्ध । सभवति च तत्र नियम , तत्तज्ज्ञानाना तत्तदर्थे स्वतन्त्रसबन्धाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानजनकेन्द्रियलिङ्ग-

शब्दादीनां तत्तदर्थैं सह सबन्धेनेत्यर्थ । एव प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य स्वानुमानस्य विपक्षे बाधकतर्कमाह—**शब्दान्तरेति** । अयमर्थ —शब्दान्तराभ्याससङ्ख्यासज्ञागुणप्रकरणान्तरै कर्मभेदो निरूपितो द्वादशलक्षण्या द्वितीयाध्याये । (१) तत्र यजति ददाति जुहोतीत्यादौ धातुभेदेन धात्वर्थभेदेऽपि भावना भिद्यते न वा ? इति सदेहे धातूना भेदेऽपि भावनावाचकलिङादे सर्वत्र प्रत्यभिज्ञयाऽभेदावगमात् धात्वर्थस्य च भावना प्रति गुणभूतत्वाद् गुणभेदेन प्रधानभेदस्यान्याय्यत्वात् अभेद एवेति पूर्वपक्षय्य धातोरिति विवक्षितैकवचनेन सूत्रेणैकधातोरुपरि प्रत्ययविधानात्सर्वत्र धात्वर्थानुरञ्जिताया भावनाया प्रतीतेरेकानुरञ्जितायाश्चान्यानुरञ्जनायोगात्प्रतिधात्वर्थं भिद्यत एव भावनेति राद्धान्तित०‘शब्दान्तरे कर्मभेद कृतानुबन्धत्वादि’ त्यत्र । अयमर्थ —शब्दान्तरे धात्वन्तरे सति कर्मभेद , भावनाभेदो भवितुमर्हति । कुत ? कृतानुबन्धत्वात् तेनैव कृतावच्छेदत्वात् भावनाया इति । सोय शब्दान्तरात्कर्मभेद । (२) तथा ‘समिधो यजति’ ‘तनूनपात यजती’ त्यादिषु पञ्चकृत्वो यजतिश्रुतौ किं प्रथमविहितस्यैव यागस्य पुन: पुनरभ्यास ? उत पञ्चापि विधय ? इति सदेहे शब्दान्तरे सति कर्मभेदस्य पूर्वाधिकरणे वर्णनात् इहैकस्यैव यजते पुन पुन श्रवणात् तस्यैवायमभ्यास आदरार्थ इति पूर्वपक्षय्याप्रवृत्तप्रवर्तकत्वाद्विधे सर्वेषा च प्राथम्यार्हतया विध्यनुवादविनिगमाभावादानर्थक्यपरिहाराय भिन्नविधितया कर्मभेद इति सिद्धान्तितम्, ‘एकस्यैव पुन श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्या’ दित्यत्र । अयमर्थं —एकस्यविधे पुन -श्रवणमपि एव कर्मभेदक, कुत.?अविशेषात् विध्यनुवादविशेषाभावात्। इतरथा पुन श्रवण हि यस्मादनर्थक स्यादिति । आनर्थक्ये वा हेतुरविशेषादिति । सोयमभ्यासात्कर्मभेद । (३) तथा ‘सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभते’इत्यत्र किं सप्तदशपशुकमेकं कर्म’ उत सप्तदश कर्माणि विधीयन्ते’इति सशये प्राजापत्यानित्यत्र कृतैकशेषाणा पशुना तद्धितेनैकप्रजापतिदेवताकत्वबोधनादेककर्मत्वमिति प्रापय्य राद्धान्तितम्, एककर्मत्वे हि एक एवातिदेश स्यात्। ततश्चैकपशुनिष्ठमेकादशावदानमतिदेशप्राप्तमेकपशौ निष्पन्नमितीतरेषामदृष्टार्थता स्यात् । सप्तदशकर्मत्वे तु प्रतिपशु एकादशावदानसिद्धिरिति दृष्टार्थताऽत. कृततद्धितदेवतासम्बन्धतया देवतासम्बद्धानामेकशेष इति सप्तदश कर्माणीति । इद भाष्यकारीय मतम् । वार्तिककारीय तु ‘तिस्र आहुतीर्जुहोती’त्यत्रैकस्य जुहोते. श्रवणादेकहोमत्वम् । त्रित्व तु एकादशप्रयाजादिवदावृत्त्येति प्राप्ते राद्धान्त —त्रित्वस्य तावज्जुहोतिसामानाधिकरण्यमुत्सर्गतो होमभेदकमेकातिरिक्तसंख्याया पृथक्त्वसामानाधिकरण्यस्वरसत्वात् । कचित्त्वगत्याऽपवाद । एकादशप्रयाजादौ प्रकृतौ पञ्चत्वावधारणात् । नचेह तथा बाधकमस्तीति होमभेद इति । तदुक्त ‘पृथक्त्वनिवेशात्सख्यया कर्मभेद स्या’ दिति । सख्ययापि हेतुना कर्मभेद स्यात् । कुत ? कर्मपृथक्त्वनिवेशात् , कर्मपृथक्त्वेनैव तस्या निवेश त् एकातिरिक्तसख्याया कर्मपृथक्त्वसामानाधिकरण्यादित्यर्थ॰ । सोय सख्यया कर्मभेद । (४)तथा ‘अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन

मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरसंभवादनुमानागमाभ्यां प्रपञ्चस्य सत्यत्वापादनान्न मिथ्यात्वमिति ।

अत्रोच्यते—न तावल्लक्षणासंभवः, यतः—

सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन संमते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभावं प्रति मृषात्मता ॥७॥

तथाहि—घटादीनां भावानां स्वाश्रयत्वेनाभिमतास्तन्त्वादयो ये तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितैव तेषां मिथ्यात्वम् । न हि तेषामन्यत्र सत्ता संभविनी । तत्रापि चेत्सा न स्यात्तदा गले पादुकान्यायेन मृषात्वमेव पर्यवस्येत । न च निराश्रयेषु नित्येषु भावेषु सा नास्तीति लक्षणस्याव्याप्तिः, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यतया कारणाश्रितत्वस्य व्यवहारदशायां रजतादेरिव शुक्त्याद्याश्रिततायाः स्वीकारात् । नाप्यतिव्याप्तिः, सत्यस्य ब्रह्मणो निराश्रयत्वात्तस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितायाः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् ।

अनुमानं दर्शयति—**विवादेति** । प्रपञ्चमात्रस्य सत्यत्वसाधने शुक्तिरूप्यसंसर्गादौ बाधः स्यात्, तेषामपरोक्षतया बाध्यतया च सदसद्विलक्षणतया मिथ्यात्वात्, तथा घटाद्यनुगतसत्तांशे सिद्धसाधनता, तन्निवृत्त्यर्थं विवादास्पदग्रहणम् । न चासिद्धो हेतुः, प्रत्यक्षे प्रदर्शितागमे चाविवादादिति । भिन्नवस्तुसत्यत्वेऽनुमानमुक्तं, भेदस्यापि सत्यत्वेऽनुमानमाह—**अयं घट इति** । अथवा व्यावहारिकतात्त्विकत्वादिस्वकपोलकल्पितविकल्पमादाय यद्ययं विवदिषुरद्वैतवादी, तर्हीयमेव नीरन्ध्रा रीतिर्भवत्वित्याह—**अयं घट इति** । भेदाश्रय इत्युक्ते कल्पितभेदमादाय सिद्धसाधनम्, तदर्थं बाध्यभेदातिरिक्तग्रहणं, तावति वाऽप्रसिद्धविशेषणता, अद्वैतवादिनं सर्वभेदानां बाध्यत्वादत उक्तं—**एतन्निष्ठेति** । पदार्थान्तरनिष्ठभेदस्यैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदत्वेन नाऽप्रसिद्धविशेषणता, पक्षे चैतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तत्वं भेदस्यैतन्निष्ठातिरिक्तत्वान्न संभवति एतन्निष्ठत्वादेव । अतो बाध्यभेदातिरिक्तसत्यभेदसिद्धिः । अतिरिक्तत्वं चात्राभेदानधिकरणत्वं तेन नार्थान्तरता । **इत्यनुमानतोऽपीति** । एवंप्रकारानुमानत इत्यर्थः । ननु प्रतिकूलतर्कपराहतत्वात् शङ्कितोपाधिदुष्टमिदमनुमानद्वयम् । तथाहि—भेदस्य भेदिनो वा दृश्यवर्गस्य सत्यत्वे, तस्य तज्ज्ञानस्य च कः संबन्धः ? इति विवेचनीयम् । न तावत्संयोगः, तस्य गुणत्वेन द्रव्यमात्रवृत्तित्वात्, ज्ञानस्य गुणत्वात् द्रव्यत्वाभावात् । नापि समवायः, आत्मसमवेतत्वाज्ज्ञानस्य । नाप्यन्यः कश्चित्षट्पदार्थनियमानुगुणः संभवति । नाप्यभावः, अभावतज्ज्ञानयोः संबन्धाभावप्रसङ्गात् । किंच यत्र यत्रास्यान्तर्भावस्तस्य तस्य तज्ज्ञानेन संबन्धो न स्यात्स्ववृत्तिविरोधादिति । तदेतद्दूषयति—**नचेति** । हेतुमाह—**तत्तदिति** । नियामको हि संबन्धः । संभवति च तत्र नियमः, तत्तज्ज्ञानानां तत्तदर्थे स्वतन्त्रसंबन्धाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानजनकेन्द्रियलिङ्ग-

शब्दादीनां तत्तदर्थैः सह सबन्धेनेत्यर्थ । एव प्रतिकूलतर्कं परिहृत्य स्वानुमानस्य विपक्षे बाधकतर्कमाह—**शब्दान्तरेति** । अयमथ —शब्दान्तराभ्याससख्यासञ्ज्ञागुण-प्रकरणान्तरै कर्मभेदो निरूपितो द्वादशलक्षण्या द्वितीयाध्याये । (१) तत्र यजति ददाति जुहोतीत्यादौ धातुभेदेन धात्वर्थभेदेऽपि भावना भिद्यते न वा ? इति सदेहे धातूना भेदेऽपि भावनावाचकलिङादेः सर्वत्र प्रत्यभिज्ञयाऽभेदावगमात् धात्वर्थस्य च भावना प्रति गुणभूतत्वाद् गुणभेदेन प्रधानभेदस्यान्याय्यत्वात् अभेद एवेति पूर्वपक्षय्य धातोरिति विवक्षितैकवचनेन सूत्रेणैकधातोरुपरि प्रत्ययविधानात्सर्वत्र धात्वर्थानुरञ्जिताया भावनाया प्रतीतेरेकानुरञ्जितायाश्चान्यानुरञ्जनायोगात्प्रतिधात्वर्थं भिद्यत एव भावनेति राद्धान्तित०'शब्दान्तरे कर्मभेद कृतानुबन्धत्वादि' त्यत्र । अयमर्थ — शब्दान्तरे धात्वन्तरे सति कर्मभेद , भावनाभेदो भवितुमर्हति । कुत ? कृतानुबन्धत्वात् तेनैव कृतावच्छेदत्वात् भावनाया इति । सोय शब्दान्तरात्कर्मभेद । (२) तथा 'समिधो यजति' 'तनूनपात यजती' त्यादिषु पञ्चकृत्वो यजतिश्रुतौ किं प्रथमविहितस्यैव यागस्य पुन पुनरभ्यास ? उत पञ्चापि विधय ? इति सदेहे शब्दान्तरे सति कर्मभेदस्य पूर्वाधिकरणे वर्णनात् इहैकस्यैव यजते पुन पुन श्रवणात् तस्यैवायमभ्यास आदरार्थ इति पूर्वपक्षय्याप्रवृत्तप्रवर्तकत्वाद्विधे सर्वेषा च प्राथम्यार्हतया विध्यनुवादविनिगमाभावादानर्थक्यपरिहाराय भिन्नविधितया कर्मभेद इति सिद्धान्तितम्, 'एकस्यैव पुन श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्या' दित्यत्र । अयमर्थ —एकस्यविधे पुन -श्रवणमपि एव कर्मभेदक, कुत०?अविशेषात् विध्यनुवादविशेषाभावात्। इतरथा पुन श्रवण हि यस्मादनर्थकं स्यादिति । आनर्थक्ये वा हेतुरविशेषादिति । सोयमभ्यासात्कर्मभेद । (३) तथा 'सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभते' इत्यत्र किं सप्तदशपशुकमेकं कर्म' उत सप्तदश कर्माणि विधीयन्ते?इति सशये प्राजापत्यानित्यत्र कृतैकशेषाणा पशुना तद्धितेनैकप्रजापतिदेवताकत्वबोधनादेककर्मत्वमिति प्रापय्य राद्धान्तितम्, एककर्मत्वे हि एक एवातिदेश स्यात्। ततश्चैकपशुनिष्ठमेकादशावदानमतिदेशप्राप्तमेकपशौ निष्पन्नमितीतरेषामदृष्टार्थता स्यात् । सप्तदशकर्मत्वे तु प्रतिपशु एकादशावदानसिद्धिरिति दृष्टार्थताऽत० कृततद्धितदेवतासम्बन्धतया देवतासम्बद्धानामेकशेष इति सप्तदश कर्माणीति । इद भाष्यकारीय मतम् । वार्तिककारीयं तु 'तिस्र आहुतीर्जुहोती' त्यत्रैकस्य जुहोते० श्रवणादेकहोमत्वम् । त्रित्व तु एकादशप्रयाजादिवदावृत्त्येति प्राप्ते राद्धान्त —त्रित्वस्य तावज्जुहोतिसामानाधिकरण्यमुत्सर्गतो होमभेदकमेकातिरिक्तसंख्याया पृथक्त्वसामानाधिकरण्यस्वरसत्वात् । कचित्त्वगत्याऽपवाद । एकादशप्रयाजादौ प्रकृतौ पञ्चत्वावधारणात् । नचेह तथा बाधकमस्तीति होमभेद इति । तदुक्त पृथक्त्वनिवेशात्सख्यया कर्मभेद स्या' दिति । सख्ययापि हेतुना कर्मभेद स्यात् । कुत ? कर्मपृथक्त्वनिवेशात् , कर्मपृथक्त्वेनैव तस्या निवेशात् एकातिरिक्तसख्याया कर्मपृथक्त्वसामानाधिकरण्यादित्यर्थ० । सोय सख्यया कर्मभेद । (४)तथा 'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन

यजेते'त्यत्र ज्योतिर्विश्वज्योति शब्दयो प्रकृतज्योतिष्टोमानुवादकत्व कर्मान्तरविधायकत्व वा ? इति सशये सत्येषशब्दस्य सर्वनाम्न प्रकृतावमर्शित्वात् ज्योतिरादिशब्दस्य तत्समानाधिकरणत्वात्पूर्वकर्मैवानूद्य सहस्रदक्षिणालक्षणगुणान्तर विधीयते इति प्राप्ते ज्योतिष्टोमशब्दस्य ज्योतिरादिशब्दाना च स्वरूपविलक्षणत्वात् भिन्नार्थत्वे सभवत्येकदेशलक्षणयैकार्थत्वकल्पनाया अगतिकगतित्वाद् सर्वनाम्नश्च प्रस्तोष्यमाणपरामर्शितयापि सभवात् नामान्तर कर्मान्तर गमयतीति साधित 'सज्ञा चोत्पत्तिसयोगा'-दित्यत्र । अयमर्थ —सज्ञा च पूर्वविलक्षणा कर्मभेदिका । कुत ? उत्पत्तिसयोगात् । कर्मस्वरूपज्ञापनसमय यव तस्य नाम्न सयोगादिति । (५) तथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिन' मित्यत्र द्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितयागके किं पूर्वकर्मानुवादेनोत्तरत्र वाजिनगुणविधानम् ? उत कर्मान्तर तद्गुणकम् ? इति विशये वाजिभ्य इत्यत्र वाजमन्नमेषामिति व्युत्पत्त्याऽमिक्षान्नयुक्तविश्वदेवदेवताककर्मानुवादेन वाजिनगुणविधानादेककर्मत्वमिति प्राप्ते वैश्वदेवीत्यत्र विश्वे देवा देवता अस्या इत्यर्थेऽण्प्रत्ययविधानादन्तर्णीतेदमा परामृष्टामिक्षायास्तद्धितनिर्दिष्टविश्वदेवसबन्धेन श्रौततया प्रबलेन सह 'वाजिभ्यो वाजिन' मिति पदद्वयात्मकवाक्यावगतवाजिनसम्बन्धस्य विकल्पसमुच्चययोरभावाद्वाजिनगुणविशिष्टकर्मान्तरविधानमिति सिद्धान्तित 'गुणश्चापूर्वसयोगे वाक्ययो समत्वा'दित्यत्र। गुणश्च कर्मभेदक , अपूर्वकर्मसयोगे पूर्वकर्मसम्बन्धाभावे सति। कुत ? वाक्ययो समत्वात समे हि तदा वाक्ये भवत ततोऽविधान्तमनेक कर्मेत्यर्थ । सोय गुणान्तरात्कर्मभेद । (६) तथाऽसन्निहितदेशकालनिमित्तफलसस्कार्यसबन्धकर्मवाक्येषु मासमग्निहोत्र जुहोती त्यादिषु किं प्रकृताऽग्निहोत्रादौ मासादिगुणविधानम्? उत तद्गुणकं कर्मान्तरविधानम् ? इति सदेहे कर्मान्तरविधाने गौरवप्रसङ्ग दग्निहोत्रशब्देन तदनूद्य गुणमात्रविधानमिति पूर्वपक्षिते मासादेरनुपादेयतया साक्षाद्विधानायोगादग्निहोत्रादेश्च विच्छिन्नप्रकरणतया प्रत्यभिज्ञाभावाच्च मासादिगुणविशिष्टं कर्मान्तरमेव विधीयते, अग्निहोत्रादिधर्मातिदेशार्थं चाग्निहोत्रादिनामोपदेश इति प्रकरणान्तरात् कर्मान्तरत्व निरधारि 'प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्व' मित्यत्र । अयमर्थ·—प्रकरणान्तरे सति प्रयोजनान्यत्व विधेयभावनान्यत्व स्यान्नतु पुन पूर्वकर्मानुवादेन तत्र गुणविधानमिति । तत्र—

'शब्दान्तर धातुभेदोऽभ्यासो विधे पुन श्रुति ।
उत्पत्तिस्था द्वयादिसख्या सज्ञा चाङ्गमपूर्वगम् ।
सानुपादेयसंबन्धोऽसनिधि प्रक्रियान्तरम् ।
इति शब्दान्तरादीनामुक्त लक्ष्म विचक्षणै ॥'

तदेतदखिलमम्भोनिधावेव निधीयेत भेदमिथ्यात्व इति । ननु शब्दान्तरादीना न भेदे प्रामाण्य तस्य लोकसिद्धतयाऽप्रतिपाद्यत्वादित्यत आह—**नच तस्येति** । भेदमात्रस्य लोकसिद्धत्वेऽप्यलौकिककर्मभेदोप्यलौकिक इत्यर्थ । सिद्धत्वे च बाधकमाह—**सिद्धत्वे चेति** । उपसहरति—**तदेवमिति** ।

दूसरे पक्ष मे (व्याप्ति के ग्रहण काल में व्याप्ति ग्राहक-ज्ञान के प्रकाश को नहीं मानने पर) संवित्स्वरूप वस्तुविशेष के अस्फुरण (अज्ञान) से ही उससे उक्त व्याप्ति के ग्रहण नहीं होने के कारण, सर्वोपसहार वाली (सर्वव्यक्तिव्यापिनी) व्याप्ति ही अस्त (नष्ट) हो जायगी। उक्त व्याप्ति ग्राहक ज्ञान के व्याप्ति ग्रहण काल मे प्रकाश नही होने से, उसमे, यत्र यत्र वस्तुत्व तत्र तत्र वेद्यत्व, यह व्याप्ति नही गृहीत हो सकने के कारण व्यापक रूप से व्याप्ति नही गृहीत होगी। फिर ऐसा होने पर व्याप्ति ज्ञान के विना वस्तुत्वसे वेद्यत्व का अनुमान कैसे होगा, और व्याप्ति-ग्राहक ज्ञान में वस्तुत्वके रहते वेद्यत्व के नहीं रहने के कारण व्यभिचारी वस्तुत्व से प्रकृत हेतु अनुभूतित्व को प्रतिसाधनता (प्रतिपक्षता) कैसे होगी, किसी प्रकार से नही। और इस वस्तुत्व को भट्टों के मत में ज्ञातता (ज्ञानजन्यविषयनिष्ठ प्राकट्य) मे व्यभिचार है, क्योंकि भाट्ट लोग ज्ञातता मे वेद्यत्व नही मानते हैं, उसको स्वयप्रकाश मानते है, और उसमें भी वस्तुत्व रहता है। अत व्यभिचारी हेतु है। और नैयायिकादि के मत मे भी वेद्यत्व की धर्मता के कारण घटत्वादि के समान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व से अवेद्य भी किसी पदार्थ की सम्भावना से केवलान्वयिरूप से स्वीकृत भी वस्तुत्वादि हेतु की सम्भावित विपक्षता अवस्था मे विपक्षबाधक तर्क के विना सन्दिग्ध अनैकान्तिता से वस्तुत्व हेतु को अप्रयोजकता (असाधनता) है। यदि कहा जाय कि अवेद्यत्व रहते अनुभूति के वस्तुत्व भी नही रहेगा। वस्तुत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी यही विपक्ष बाधक तर्क है, तो सो कहना युक्त नही क्योंकि स्वत सिद्धता (स्वयप्रकाशता) अवस्था में भी वेद्यत्व के विना ही वस्तुत्व की सिद्धि होती है, शून्यत्व की प्राप्ति नही होती है। लक्ष्यत्व, न्यायविषयत्व (अनुमान विषयत्व) हेतु से वेद्यत्व का जो अनुमान किया जाता है, वहाँ भी उन हेतुओं के व्याप्ति-ग्रहण-काल मे ग्राहक सविद के स्फुरण अस्फुरण पक्ष में उक्त दोष ज्ञातव्य हैं।

नच लक्षकपदत्वेन लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमेयं, हेतोरसिद्धत्वात्। न ह्यनुभूतिपदमनुभूतिं लक्षयतीति तवाभिमतं, तद्वाचकत्वेनैव स्वीकारात। किंच लक्ष्यज्ञानशब्देन लक्ष्यकर्मकं स्फुरणं ? किंवा तद्विषयम् ? उत स्फुरणमात्रं ? किंवा तद्विषयान्तःकरणवृत्तिर्विवक्ष्यते ? नाद्य, अतीताद्यर्थलक्षकपदेषु व्यभिचारात्। नेतरे, सिद्धसाधनत्वात्। अस्ति हि तत्स्वभावस्यापि स्फुरणस्य तद्व्यवहारजनकत्वेन तद्विषयत्वम्। अस्ति च स्फुरणमात्रमनुभूते स्फुरणरूपत्वात्तदाकाराया वृत्ते स्वीकाराच्च। अनुभूतिपदवाच्यस्य लक्ष्यस्य वा स्वप्रकाशत्वमित्यपि विकल्पोऽनुपपन्न उभयवादिसंप्रतिपन्नस्फुरणमात्रस्य स्वप्रकाशत्वप्रतिपादनात्। अन्यथा वेद्यत्वसाधनेऽपि तवास्य विकल्पस्य दुष्परिहरत्वात्।

यत्तूक्त लक्षकपदत्वादेव लक्षकपद पक्षीकृत्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वमनुमीयत इति तत्राह— नचेति। हेतुमाह—नहीति। अयमर्थ —नहि यस्य कस्यचिल्लक्षकमनुभूतिपद पक्ष। तथा सति प्रमात्रादिलक्षकानुभूतिपदस्य लक्ष्यविषयज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनताप्रसङ्गात्। तस्मादनुभूतिलक्षकमनुभूतिपद पक्ष इति वक्तव्यम्। तथाच तादशा-

नङ्गीकाराङ्गीकारयोराश्रयासिद्धचपसिद्धान्तयोरन्यतरापात इति । अथानुभ वबाध-कानुभूतिलक्षकपद पक्षीकुर्यात्त प्रति साध्य विकल्पयति—किंचेति । लक्ष्यकर्म स्फुर-णजन्यत्वमतीतादिवस्तुलक्षकपदस्य नास्ति । अतीतादीनामिदानीमभावेनानुभव वच्छेद-कत्वाभावात् । अतोऽनैकान्तिकमित्याह—अतीताद्यर्थेति । तद्विषयस्फुरणजन्यत्वसाधने सिद्धसाधनतामुपपादयति–अस्ति हीति । येन हि यस्य व्यवहार वर्तते तस्य हि स विषयभेद स्वतन्त्र इत्यभिप्राय । तत्स्फुरणमात्रेण जन्यत्वसाधने तृतीयपक्षे सिद्ध-साधनतामाह–अस्ति चेति । लक्ष्यस्वभावभूतस्फुरणस्यापि लक्ष्यस्फुरणत्वादित्यर्थ. । चतुर्थे पक्षे सिद्धसाधनता दर्शयति–तदाकाराया इति । अन्यथेति । अनुभूतिपदवा-च्यस्य चेत्सिद्धसाधन, लक्ष्यस्य चेत्तवासिद्धिरिति विकल्प्य दूषणे साधारणाशग्रहणमेव शरणमित्यर्थ ।

प्रथम जो यह कहा गया था कि लक्षक पदत्वरूप हेतु से लक्षक अनुभूति पद मे लक्ष्य विषयक ज्ञानजन्यत्व अनुमेय है, कि जिसमे स्वप्रकाशता का भङ्ग होगा, सो कहना वादी का नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रतिवादिमत मे अनुभूतिपद मे अनुभूतिलक्षकत्वरूप हेतु की असिद्धि है। अनुभूतिपद, अनुभूति का लक्षण द्वारा बोधक है। यह आप प्रतिवादी को अभिमत (स्वीकृत) नहीं है। क्योंकि अनुभूतिपद को उस अनुभूति के वाचक रूप से ही आप स्वीकार करते है, लक्षक रूप से नहीं। और यह भी विचारणीय है कि, लक्ष्यविष-यकज्ञानत्वम्. इस वाक्य में लक्ष्यविषयक ज्ञान शब्द से, लक्ष्यकर्मक स्फुरण (प्रकाश) विवक्षित है।

अथवा लक्ष्यविषयक स्फुरण, या स्फुरणमात्र, या लक्ष्यविषयक अन्त करण की वृत्ति विवक्षित है। वहाँ प्रथमपक्ष युक्त नही है। क्योंकि अतीतादि अर्थ के लक्षक पदों मे व्यभिचार है, वहाँ लक्षकपदत्व रूप हेतु रहता है, परन्तु लक्ष्यकर्मक स्फुरण के अभाव से तज्जन्यत्व साध्य का अभाव रहता है, क्योंकि वर्तमान वस्तु क्रिया-जन्य फल का आश्रय होने से कर्म होता है। प्रकृत मे ज्ञाधातु का अर्थ ज्ञान क्रिया है, धात्वर्थ को क्रिया कहते हैं। भूतादि अर्थ ज्ञानजन्य विषयता (ज्ञातता) रूप फल का आश्रय नहीं होता है। न ज्ञान उससे जन्य होता है। अत. व्यभिचार है। और अन्य तीनों पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि सिद्धसाधनता है। अनुभूति रूप भी स्फुरण (प्रकाश) को अनुभूति के व्यवहार की जनकता से अनुभूति विषयकत्व है ही, अत अनुभूतिविषयक ज्ञानजन्यत्व अनुभूतिलक्षक पद मे सिद्ध है। और अनुभूति के स्फुरण स्वरूप होने से स्फुरणमात्र भी अनुभूति है। अत स्फुरणमात्र जन्यता भी अनुभूति लक्षक अनुभूतिपद मे सिद्ध है। और उस अनुभूति के आकार वाली अन्त करण की वृत्ति भी होती ही है। ऐसी मानी जाती है। अत लक्ष्य विषयक अन्त करणकी वृत्तिसे जन्यता लक्षक अनुभूतिपद मे सिद्ध होने से सिद्धसाधनता है। और अनुभूति पद के वाच्य को या लक्ष्य को स्वप्रकाशत्व है, वह विकल्प प्रश्न) अयुक्त है। क्योंकि उभयवादी से स्वीकृत निश्चित स्फुरण मात्र के स्वप्रकाशत्व का प्रतिपादन किया जाता है। अन्यथा ऐसा नहीं मानने पर (अनुभूति मे वेद्यत्व के साधने में तुझे भी यह विकल्प दुर्निवार होगा) अर्थात् अनुभूतिपद के वाच्य में वेद्यत्व को साधोगे तो सिद्धसाधनता होगी। लक्ष्य में

वेद्यत्व को सिद्ध करना चाहो, तो आप के मत मे लक्ष्य की असिद्धता होगी । अत उभयस्वीकृत सामान्य का ग्रहण ही उचित है ॥

नन्वेवमपि घट स्वयंप्रकाशो घटत्वाद्यन्नैवं तन्नैव यथा पट इत्याभाससमानयोगक्षेमता हेतोरिति चेत्, मैवम्, पृथुबुध्नोदराकारस्य घटशब्दवाच्यस्य स्पर्शरूपादिमतश्चक्षु स्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वेन संमतस्य स्वप्रकाशत्वसाधने प्रत्यक्षविरोधादतद्विषयस्य चाप्रसिद्धत्वेन धर्म्यसिद्धि । न चात्राप्यवेद्यस्यानुभूतित्वमप्रसिद्धमिति वाच्यम्, तथा सति तस्या वेद्यत्वावेद्यत्वयोर्वादिना विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । न चैवमुभयत पाशारज्जु, अनुभूते प्रमाणजन्यस्फुरणाश्रयतया स्फुरणकर्मतया वा घटादिवद्विषयभावाभावेऽपि प्रमाणजनितान्तःकरणवृत्तिव्याप्यत्वेन विषयताङ्गीकारेऽपि स्वप्रकाशत्वाव्याघातात् । उक्तवृत्तिव्याप्यत्वेऽपि स्फुरणव्याप्यत्वाभावापराधेन नाप्रामाणिकतापि, केवलव्यतिरेकाभावात्, अतीतानागतयोः स्फुरणविरहिणोरुक्तवृत्तिव्याप्ययोर्भाट्टैः प्रामाणिकत्वाभ्युपगमात्, चेष्टादिलिङ्गकानुमानविषयस्यापि परज्ञानस्य स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनने ज्ञानान्तरनिरपेक्षतया स्वप्रकाशत्वोपपत्तेश्च ।

उक्तानुमानस्य यद्यपि विशेषतो दूषण न स्फुरति तथापि अस्त्याभाससमानयोगक्षेमत्वं, तथाच यदितरस्य दूषण तदस्यापि समानमिति शङ्कते—**नन्वेवमिति** । अत्र किं रूपादिमान्घट पक्षीक्रियते ? उतालौकिक कश्चित् ? नाद्य, धर्मिग्राहकप्रमाणबाधादित्याह—**मैवमिति** । चक्षु स्पर्शनप्रमाणसिद्धत्वे हेतु —**स्पर्शरूपादिमत** इति । द्वितीय दूषयति—**अतदिति** । **न चात्रापीति** । रूपादिहीनस्य यथा घटत्वमप्रसिद्धमेवमित्यर्थ । हेतुमाह—**तथा सतीति** । विप्रतिपत्तिरेव वेद्यावेद्यसाधारणानुभूतिप्रसिद्धौ प्रमाणमित्यर्थ । यच्च प्रमाणसद्भावे वेद्यत्वादस्वप्रकाशत्वमभावे च प्रमाणाभावादसिद्धिरित्युभयत पाशारज्जुरित्युक्त तदपि नास्तीत्याह—**न चैवमिति** । स्फुरणाश्रयतयेति भाट्टाभिप्रायेणोक्त, स्फुरणकर्मतयेतीतराभिप्रायेण । एतदुक्त भवति— न प्रमाणप्रवृत्तिमात्रादनुभवकर्मत्व येनास्वप्रकाशता स्यादपि तु तदाकारान्त करणवृत्तिरेव प्रमाणैर्जन्यते। नच वृत्तिविषयतामात्रादस्वप्रकाशता स्यात्प्रकाशप्रकाश्यत्वाभावात्स्वरूपप्रकाशाभिव्यञ्जकमात्रत्वाद् वृत्ते । तेन न वेद्यत्वप्रसक्तिर्नाप्यप्रामाणिकमिति । ननु वृत्तिव्याप्यत्वमात्रान्न प्रामाणिकत्वमपितु स्फुरणव्याप्यतया, घटादौ तथा दर्शनादित्यत आह—**उक्तेति** । कुत ? केवलव्यतिरेकाभावात् । नहि सभवद्व्यतिरेकयोरन्वयमात्राद्धेतुहेतुमद्भावनिश्चय, अतिप्रसङ्गात् । मा भूत्तुरगखरवर्णयोर्हेतुहेतुमद्भाव., सभवति ह्यन्वय इति भाव । किंच तौतातितैस्तावदेव वक्तुमयुक्त, प्राकट्यानाधारयोरप्यतीतानागतयो ज्ञानमात्रविषयतया प्रामाणिकत्वाङ्गीकारादित्याह—**अतीतेति** । तार्किकाणा वृत्तिफलविभाग एव नास्तीति न पर्यनुयोगावकाश । तदेव वृत्तिविषयत्वमात्रेणापि

प्रामाणिकत्वमस्तीत्युपपादितम् । इदानीं वृत्तिविषयत्वेऽपि स्वप्रकाशत्वक्षतिर्नास्तीत्युपपादयति—**चेष्टा**ोति । स्वाश्रये स्वाधारे । नहि प्रमाणावेद्यत्वं स्वप्रकाशत्वं किंतु स्वविषयापरोक्षव्यवहारजननं प्रकाशान्तरनिरपेक्षत्वम् । तच्च स्वप्रकाशत्वसाधकप्रमाणगम्यत्वेपि न विरुद्धयते प्रमाणान्तरनिरपेक्षतयैव स्वाश्रये स्वविषयापरोक्षव्यवहारजनकत्वादित्यर्थः । एवं व्यतिरेक्यनुमानेन स्वप्रकाशत्वं समर्थितम् ।

एवमपि (उक्तरीति से अनुभूति की स्वप्रकाशता की सिद्ध होने पर भी) घट स्वयं प्रकाश है, घटत्व वाला, होने से, जो (ऐसा) स्वयं प्रकाश नहीं है, सो ऐसा, घटत्व वाला भी नहीं है। जैसे कि पट है, इस अनुमानाभास (मिथ्यानुमान) के समान ही आप के स्वप्रकाशत्व अनुमान के हेतु की योगक्षेमता (साधनता) है। ऐसा यदि कोई कहे तो, वह नहीं कहना चाहिये। क्योंकि पृथु (स्थूल) गोल उदर रूप आकार वाला, तथा स्पर्श रूपादिवाला जो घटशब्द का वाच्यार्थ है, और नेत्र त्वग् इन्द्रियरूप प्रमाण से सिद्ध (प्रत्यक्ष) रूप से सबको सम्मत (सबसे स्वीकृत) है, उस घट के स्वप्रकाशत्व को साधने पर प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध होगा, और नेत्रत्वक् के अविषय स्वरूप अलौकिक घट के स्वप्रकाशता को साधने (अनुमान करने) पर, उस घट की अप्रसिद्धि से धर्मी (पक्ष) की ही असिद्धि है । अतः वह अनुमान हो नहीं सकता है। यदि कहे कि इस वेदान्ती के स्वयं प्रकाशत्वरूप अवेद्यत्व के अनुमान में अनुभूतित्व असिद्ध है । अर्थात् (अनुभूति रूप धर्मी असिद्ध है) तो सो कहना नहीं बन सकता है, क्योंकि तथा सति (अनुभूतिधर्मी के अप्रसिद्ध रहने पर) उस अनुभूति के वेद्यत्व अवेद्यत्व विषयक वादियों की विप्रतिपत्ति (विवाद) के अभाव की प्राप्ति होगी, अनुभूति की प्रसिद्धि के बिना वादी उस विषयक कथा नहीं कर सकेंगे, और कथा होती है। अतः अनुभूति अप्रसिद्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भी उभयतः (दोनों तरफ) पाशारज्जु (बाधा बन्धन) है। अर्थात् स्वप्रकाश अनुभूति की प्रसिद्धि के लिए प्रमाणके सत्त्व रहनेपर वेद्यत्व (अस्वप्रकाशत्व) की प्राप्ति होती है, और प्रमाण के अभाव अवस्था में धर्मी की असिद्धि प्राप्त होती है। यहि उभयतः पाशारज्जु है। तो यह दोष नहीं है। क्योंकि प्रमाणजन्य स्फुरण (प्रकाश ज्ञातता वेद्यता) की आश्रयता रूप से या स्फुरण कर्मता (ज्ञानजन्य फलाश्रयता) रूप से घटादि के समान अनुभूति में ज्ञानविषयत्व के अभाव रहते भी, और प्रमाण से जन्य अन्तःकरण की वृत्ति की व्याप्यता (विषयता) से वृत्तिविषयता को मानने पर भी स्वप्रकाशत्व का व्याघात (अभाव) नहीं प्राप्त होता है। और उक्त अन्तःकरण की वृत्ति से व्याप्यत्व (विषयत्व) होने पर भी, स्फुरण (ज्ञान=वृत्तिगत चिदाभास) से व्याप्यत्व (प्रकाश्यत्व) के अभावरूप अपराध (न्यूनता) से अनुभूति में अप्रामाणिकता की प्राप्ति भी नहीं होती है। क्योंकि केवल व्यतिरेक का अभाव है। भाव है कि अन्वय व्यतिरेक से कार्यकारणभाव का ज्ञान होता है, तहाँ फलव्याप्यता और प्रामाणिकता में यदि कारणकार्यभाव निश्चित हो, तो अनुभूति में फलव्याप्यता के अभाव से प्रामाणिकता का भी अभाव हो, परन्तु यहाँ, यत्र यत्र फल व्याप्यत्वं, तत्र तत्र प्रामाणिकत्वं (जहा-जहा फलव्याप्यता है, तहा-तहा प्रामाणिकता है) इस प्रकारका अन्वय तो है। किन्तु (यत्र यत्र फल व्याप्यत्वाभावस्तत्र तत्र प्रामाणिक-

त्वाऽभाव) जहाँ जहाँ फलव्याप्यत्व नहीं है, वहाँ-वहाँ प्रामाणिकत्व नहीं है—इस प्रकार व्यतिरेककारणत्व निश्चय का हेतु नहीं है। क्योंकि भूतभावी पदार्थों मे फलव्याप्यता के बिना ही भट्टमत में प्रामाणिकता मानी जाती है। अत अन्वय के रहते भी, केवल व्यतिरेकमात्र के भाव से कारणता का यहाँ निश्चय नहीं होता है। स्फुरण (प्राकट्य) से रहित भूत भावी उक्तवृत्ति विषयों की प्रामाणिकता भट्टों से मानी गई है, वैसे ही वृत्तिविषयता से अनुभूति मे प्रामाणिकता होती है। और वृत्ति के विषय होने पर भी स्वप्रकाशत्व की क्षति नहीं होती है। अत एव चेष्टादि लिङ्ग (हेतु) जनित अनुमिति ज्ञान का विषय भी परपुरुषवर्ती ज्ञान को स्वाश्रय (पर पुरुष) मे, स्वविषय के अपरोक्ष व्यवहार के उत्पादन मे ज्ञानान्तर की निरपेक्षता के कारण स्वप्रकाशता की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। भाव है कि प्रमाणाऽविषयत्व (प्रमाणाऽवेद्यत्व) स्वप्रकाश का लक्षण नहीं है। किन्तु स्वविषय के अपरोक्ष व्यवहार के उत्पादन मे प्रकाशान्तर (ज्ञानान्तर) की निरपेक्षता ही स्वप्रकाशत्व है। ऐसी स्वप्रकाशता, स्वप्रकाशता के साधक अनुमान के विषय अनुभूति में रहती ही है। क्योंकि स्वाश्रय मे प्रमाणान्तर की अपेक्षा के बिना स्वविषय के अपरोक्ष व्यवहार का हेतु होती है। 'अनुभूति अस्वप्रकाशा, प्रामाणिकत्वाद्, यन्नैव, तन्नैवम्, यथा भूनादिकम्' ऐसा अनुमान भी नहीं हो सकता है, क्योंकि इस हेतु मे केवलव्यतिरेक का अभाव है। इत्यादि ॥

किच त्वज्ज्ञान तवापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्य न भवति ज्ञानत्वान्मदीयज्ञानवत्। न च मदसमवेतत्व मदन्यसमवेतत्व वोपाधि, साध्याव्याप्ते, त्वदीयधर्मादिषु त्वत्समवेतेष्वसमवेतेषु च परमाणुषूक्तसाध्यसद्भावेऽप्युपाधेरभावात्। न च ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमुपाधि', ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादिद ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्य न भवति घटवदिति व्यतिरेके ज्ञानेतरत्वस्यैवोपाधित्वात्। विवादपदानि ज्ञानानि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणानि ज्ञानत्वाद् घटज्ञानवत्।

ये तु वक्रनयवर्त्मानुमारिणस्तान्प्रत्यभिनवरीतिसुरभिमन्वयव्यतिरेकिप्रयोगमाह—किच त्वज्ज्ञानमिति। त्वज्ज्ञान वेद्य न भवतीत्युक्ते अप्रसिद्धविशेषणता। तन्निवृत्त्यर्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीत्युक्तम्। वेद्यत्वाभावस्याप्रसिद्धत्वेऽप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितस्य परमाण्वदृष्टादे प्रसिद्धत्वेन नाप्रसिद्धविशेषणता। तावत्युक्तेऽर्थान्तरता तदीयज्ञानस्य पर प्रत्युक्तरूपत्वात्, तदर्थं तवेत्युक्तम्। एवमपि परकीयज्ञानमादायार्थान्तरता तस्यैव प्रति तथात्वादत उक्त—त्वदिति। एतदीयस्य च ज्ञानस्यैत प्रत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वाद्वा? वेद्यत्वानधिकरणत्वाद्वा? नाद्य, व्याघातात्। उत्तर तु सिद्धयदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वलक्षण स्वप्रकाशत्वमादाय सिद्धयतीति स्वप्रकाशत्वसिद्धि, अन्यज्ञाने चैतदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वानधिकरणत्वात् तद्गर्भवेद्यत्वानधिकरणत्वमिति साध्यप्रसिद्धि। अन्यदीयज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे मदसमवेतत्व

मदन्यसमवेतत्व वोपाधिरित्याशङ्क्य निरस्यति—**न चेति** । कुत ? साध्याव्यापकत्वात् । तदेव विवृणोति—**त्वदीयेति** । त्वददृष्टसस्कारयोस्त्वदपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यत्वरहितयोस्त्वदसमवेतत्वत्वदन्यसमवेतत्वयोरुपाध्योरभावेन साध्याव्यापकत्वादित्यर्थ । उत्तरस्योपाधे साध्याव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—**असमवेतेष्विति** । परमाण्वाकाशादीना नित्यत्वादसमवेतत्वेनान्यसमवेतत्वस्य सुतरामभावादित्यर्थ । उपाध्यन्तरमाशङ्क्य निराकरोति—**न चेति** । प्रतिवादिज्ञानस्य तदपरोक्षव्यवहार्ययोग्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वे तदपरोक्षव्यवहारायोग्यत्वमुपाधि , तथाच वादिज्ञानेऽयमुपाधिर्व्यावर्तमान साध्यमपहरतीत्युपाधिवादिनोऽभिमत तद्दूषयितु हेतुमाह—**ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यादिनोपाधित्वादित्यन्तेन** । उपाधि वदतोपाधिव्यतिरेकेण साध्यव्यतिरेकोऽनुमातव्य , सर्वोपाधीनामेवस्वाभाव्यात् । युक्त चैतत्साध्योपाध्योर्व्याप्यव्यापकभावार्थं तदभावयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमात् । तत उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि निरुपाधिसबन्धो वक्तव्य । तस्मादभावयोरप्युपाधिर्निविशमानो दूषयेदेव प्रथमोपाधिमित्यभिसधाय तद्व्यतिरेकयोरयमुपाधिरुपन्यस्तस्तत्र ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्युपाधिव्यतिरेकनिर्देश । शेष साध्यव्यतिरेकनिर्देश । अनयो सबन्धे ज्ञानेतरत्वमुपाधिरित्यर्थ । तदेव व्यतिरेकानुन्नायकत्वात्साध्याव्यापकत्वाच्चानुपाधित्वे सिद्धे पूर्वोक्तहेतुरप्रत्यूह इत्यभिप्राय । ननु यथा ज्ञानत्वव्यतिरेकस्यज्ञानेतरत्वस्योपाधित्व ब्रूषे एव ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादित्यस्य हेतोर्व्यतिरेकस्य ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्योपाधित्व परेणापि सुवचमिति षण्ढमैथुनायित चक्रकापत्तिश्च—ज्ञानेतरत्वव्यतिरेकस्य ज्ञानत्वस्य प्रतिवादिसाध्यव्यतिरेकरूपत्वदीयसाध्योन्नायकत्वे सिद्धे ज्ञानेतरत्वस्योपाधित्वं, तस्योपाधित्वे व्यतिरेकानुन्नायकत्वान्ममापरोक्षव्यवहारायोग्यत्वस्यानुपाधित्व, तस्यानुपाधित्वे च ज्ञानत्वस्य प्रथमसाध्यप्रति हेतुत्वमिति । तस्मान्नेय रीतिश्चतुरश्रेणीगीतिसरणिमधिरोहतीति । आकर्ण्यता तावदवहितहृदा ग्रन्थकारहृदय, ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वस्य प्रथमसाध्यव्यतिरेकोन्नायकत्व तावदसगतम् । वेद्यत्व ह्यनेन साधनीयम् । नच नदप्रसिद्ध, येन ममापरोक्षेति विशेषणान्तरसार्थक्य स्यात् । तस्मान्मद्वेद्यमिद मद्व्यवहारयोग्यत्वादित्येवालमिति व्यर्थविशेषणत्वादहेतुरेवायम् । अत एव न तद्व्यतिरेकस्योपाधितेति । ननु एतदेवोच्यता किमनेनाजागलस्तनायमानेन, सत्यम्, इयमपि काचन रीतिस्तार्किकैरुररीकृतेति प्रदर्शनार्थम् । तथाहि माननमनोहरकारेण वादिवागीश्वरेणात्मप्रकरणे—विवादाध्यासित बोधाधारजन्य कार्यत्वात् चेष्टादिवदित्यनुमानम्, व्यर्थविशेषणेनापि शरीरिजन्यत्वव्यतिरेकेण 'विवादाध्यासित बोधाधारजन्यं न भवति । शरीर्यजन्यत्वाद्', इति सत्प्रतिपक्ष्यते स्म । तथा, विवादाध्यासितमूर्तं प्रयत्नज परमाणुव्यतिरिक्तत्वे सति मूर्तत्वात्, गन्ध प्रयत्नज गन्धत्वात्पटवत्तद्गन्धवच्चेति, ईश्वरात्ननुमाने च, न शरीरिणाऽजन्यत्वादित्यनेन प्रकरणसमत्वम् । नापि तज्जन्यत्वमुपाधिर-

कार्यत्वस्योपाधेर्व्यतिरेकस्य व्यर्थविशेषणत्वाच्चेतिवत् । तस्मान्न कश्चिदपि कलङ्कशङ्कावकाश । तथैव रीत्यानुमानान्तरमाह— **विवादपदानीति** । ज्ञानमात्रपक्षीकरणे घटज्ञानाशे सिद्धसाधनता तदर्थं विवादपदानीति ग्रहण वेद्यत्वानधिकरणमित्युक्तेऽसिद्धविशेषणता तन्निवृत्त्यर्थं घटज्ञानान्यत्वे सतीति विशेषण वेद्यत्वानधिकरणत्वस्या सिद्धत्वेऽपि घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्वं घटज्ञाने प्रसिद्ध घटज्ञानस्य घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वादेव, अन्यत्व चात्र तत्त्वानधिकरणत्व, घटज्ञानान्यत्वानधिकरणानीत्युक्ते व्याहृतिस्तेषा घटज्ञानान्यत्वादेव तदर्थं वेद्यत्वग्रहण, घटज्ञानान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणत्व घटज्ञानान्यत्वानधिकरणत्वान्न सभवति व्याघातात् । तस्माद्वेद्यत्वानधिकरणत्वसिद्धि । पूर्वानुमान समग्रलक्षणवत सद्भावे, इद त्ववेद्यत्वमात्र इति विशेष ।

केवल व्यतिरेकी अनुमान से अनुभूति के स्वप्रकाशत्व को सिद्ध करके, अन्वयव्यतिरेकी से सिद्धि दर्शाते है कि आपका ज्ञान, आप के अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता युक्त वेद्य (वेद्यत्व वाला) नहीं होता है। क्योंकि ज्ञानत्व वाला है। जैसा हमारा ज्ञान है। यहाँ प्रकाश स्वरूप ज्ञान को अपरोक्ष व्यवहार की योग्यतायुक्त अवेद्यत्व स्वप्रकाश होने ही से हो सकता है। सो प्रतिवादी के अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता से युक्त वेद्यत्वाभाववादी ज्ञान मे वर्तमान है। और ज्ञानत्वहेतु पक्ष दृष्टान्त में है। अत अन्वयी हेतु स्वप्रकाशत्व का साधक है। यहाँ, मदसमवेतत्व (प्रतिवादी मे असमवेतत्व) या मुझसे अन्य मे समवेतत्व, वादी ज्ञान में है, यही उपाधि है, अर्थात् मम (प्रतिवादी के) अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व युक्त वेद्यत्वाभाव रूप साध्य के व्यापक और ज्ञानत्व रूप साधन के अव्यापक ये धर्म है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि ये दोनों धर्म उक्तसाध्य के व्यापक नही हैं। प्रतिवादी मे समवेत धर्मादि मे भी उक्त प्रत्यक्षव्यवहार युक्त वेद्यत्वाभाव रूप साध्य है। और उक्त असमवेतरूप उपाधि नही है। तथा परमाणु मे भी उक्त साध्य है। मदन्यसमवेतत्व रूप उपाधि नही है, क्योंकि परमाणु किसी मे समवेत नही होता है, कार्यादि कारणादि में समवेत होते है। फिर भी यदि कहे कि (ममापरोक्षव्यवहाराऽयोग्यत्व) मेरे अपरोक्षव्यवहार की अयोग्यता, उक्त अनुमान में उपाधि है। तो सो कथन भी युक्त नही। क्योंकि उपाधि का तो यही फल होता है कि साध्य के व्यापक उपाधि के अभाव प्रदर्शन द्वारा उसके साध्य के अभाव हेतु के स्थान मे प्रदर्शन से हेतु को व्यभिचारी सिद्ध कर दिया जाय, सो उपाधि के व्यतिरेक द्वारा साध्य के व्यतिरेक के अनुमान से सिद्ध किया जाता है. वहाँ वह व्यतिरेकानुमान ही सोपाधिक हो तो, प्रथम अनुमान के हेतु की व्यभिचारिता नहीं सिद्ध होती है। तथा हि (ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वादिद ममापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्य न भवति) उक्त उपाधि के अभाव रूप मेरे अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता के कारण, यह मेरा ज्ञान मेरे अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व अवेद्यत्व रूप साध्य वाला भी नही है, घट के समान वेद्यत्व वाला ही है। इस व्यतिरेक (उपाधि के अभाव से साध्याभाव के अनुमान मे ज्ञानेतरत्व (ज्ञानभिन्नत्व) ही उपाधि हो जाता है। अत व्यभिचारी हेतु हो जाता है। उक्त साध्य जहाँ घटादि मे है, वहाँ ज्ञानेतरत्व है। और

अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व हेतु ज्ञान में है, वहाँ ज्ञानेतरत्व नहीं है। अत साध्यव्यापक साधनाव्यापक उपाधि है॥

उक्त रीति से स्वप्रकाशत्व का साधक अन्य अन्य अनुमान है कि (विवाद के विषय ज्ञान, घट जाने से अन्यत्व (भेद) युक्त वेद्यत्व के अनधिकरण है, ज्ञानत्व होने से, घट ज्ञान के समान) यहाँ घटज्ञान रूप दृष्टान्त में घटज्ञान से अन्यत्व रूप विशेषण के अभाव से विशिष्ट वेद्यत्व का अभाव रूप साध्य प्रसिद्ध होता है, और अन्यत्र स्वप्रकाशत्व से साध्य सिद्ध होता है, (वेद्यत्वाभाव से स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है) ज्ञानत्व हेतु स्वप्रकाशत्व को सिद्ध करता है॥

न च घटज्ञानत्वमुपाधि., शरीरिजन्यत्वोपाधाविव व्यर्थविशेषणत्वात्। तस्माद्विगलितसकलकलङ्कमनुभूते स्वप्रकाशत्वानुमानमिति सिद्धम्।

एतेनात्मनोऽपि स्वप्रकाशत्व व्याख्यातम्।

तथाहि—

'चिद्रूपत्वादकर्मत्वात्स्वयज्योतिरिति श्रुते।
आत्मन स्वप्रकाशत्व को निवारयितु क्षम'॥ ३॥

घटज्ञानस्योक्तसाध्यवत्त्वे घटज्ञानत्वमुपाधिमाशङ्क्य निषेधति—नचेति। यथाहि—विवादपद सकर्तृक कार्यत्वात्कुम्भवदित्यत्र शरीरिजन्यत्व व्यर्थविशेषणत्वादनुपाधि, जन्यत्वमात्रेण साध्यव्याप्तिसिद्धेरितरस्य पक्षमात्रव्यावर्तकत्वात्, एव ज्ञानत्वमित्येनैव ज्ञानव्यतिरिक्तव्यावृत्तौ सिद्धाया घटपदस्य पक्षीकृतघटज्ञानव्यतिरिक्तज्ञानव्यवच्छेदकत्वात्पक्षेतरतयाऽयमनुपाधिरित्याह—शरीरीति।

अवीतपदमाचार्यैरकार्यन्वयगोचरा।
महाविद्या पुनर्दिव्या दीव्यन्त्यत्रानिवारितम्॥

तथाहि—विमत ज्ञानमेतज्ज्ञानविज्ञानविषयत्वे सति वेद्यत्वरहितज्ञानविषयपदविषयत्वात् घटवदित्यादिमहाविद्याभिरपि समर्थनीय स्वप्रकाशत्व, फलाविषयत्वादिसाधनान्न व्याहति। स्वप्रकाशसमर्थनमुपसहरति—तस्मादिति।

विज्ञानस्वप्रकाशत्वमात्मस्वप्रकाशत्वेऽप्यतिदिशति—एतेनेति। यद्यपि विज्ञानस्वप्रकाशतयैव तद्रूपस्यात्मन स्वप्रकाशता सिद्धा, तथापि तद्रूपतायामेव विवादात्तत्समर्थनार्थमधिकयुक्तिप्रदर्शनार्थं च वादान्तरारम्भ। हेतून्प्रमाणानि सगृह्णाति श्लोकेन—चिद्रूपत्वादित्यादिना।

यदि यहाँ इस उक्त अनुमान मे, घटज्ञानत्व रूप उपाधि कहे कि, घट ज्ञानान्यत्व युक्त वेद्यत्वानधिकरणत्व रूप साध्य का घटज्ञानत्व व्यापक है, और ज्ञानत्व रूप साधन (हेतु) का अव्यापक है। अत उपाधि है, तो सो नहीं कह सकते है। क्योंकि शरीरिजन्यत्व उपाधि मे शरीरिविशेषणता के समान, इस उपाधि मे भी घटविशेषण व्यर्थ है। अर्थात् ईश्वर की सिद्धि के लिये (क्षित्यङ्कुरादिक सकर्तृक कार्यत्वात् घटवत्) पृथिवी आदि अकुरादि, कर्ताजन्य है, कार्य होने से, घट के समान यह अनुमान किया जाता है।

वहाँ प्रसिद्ध कर्तृजन्यत्व का व्यापक, और कार्यत्व का अव्यापक, शरीरी (जीव) जन्यत्व उपाधि के प्रयोग करने पर, नैयायिक कहते है कि इस उपाधि मे शरीरी विशेषण व्यर्थ है, जन्यत्व ही कर्तृजन्यत्व का व्यापक है। अत पक्ष मात्र का व्यावर्तक यह विशिष्ट उपाधि नही हो सकता है। इसी प्रकार से, ज्ञानत्व मात्र से ज्ञानभिन्न की व्यावृत्ति हो सकती है। घट पद, घट ज्ञानभिन्न ज्ञान रूप पक्ष की व्यावृत्ति के लिये होने से यह घट ज्ञानत्व पक्षेतरत्व रूप है, सो उपाधि नही हो सकता है, और विशेषण से रहित होने पर ,साधन का भी समव्यापक हो जाता है (अभिन्न हो जाता है) अत उपाधि का अभाव है। अत एव सब कलङ्क (दोष) से रहित अनुभूति की स्वप्रकाशता का अनुमान है, यह सिद्ध हुआ और इसीसे विज्ञान स्वरूप आत्मा के स्वप्रकाशत्व सिद्ध व्याख्यात यद्यपि हो गया, तथापि विज्ञान स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा को सिद्ध करने के लिये कहते है कि चिद्रूपत्व १, अकर्मत्व, २, और स्वयज्योति, ३ यह श्रुति, इन तीनों हेतुओंसे भी आत्मा के स्वयप्रकाशत्व सिद्ध होता है, कि जिसका निवारण करने में कोई समर्थ नहीं है ॥ ३ ॥

आत्मा सविद्रूप सवित्कर्मतामन्तरेणापरोक्षत्वात्सवेदनवदिति प्राभाकर प्रत्यनुमानात्, घटतज्ज्ञानयो सबन्ध आत्मनिष्ठ ज्ञाननिष्ठत्वात्पदविषयत्ववदिति नैयायिकादीन्प्रत्यनुमानादात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धि। विपक्षे चात्मनः सशयविपर्यासगोचरत्वापत्तिर्बाधिका—नह्यात्मन्यहमनह वेति कश्चित्सदिग्धे, नैवाहमिति वा विपर्यस्यति। न चैतत्स्वप्रकाशज्ञानरूपतामन्तरेणावकल्पते। न चान्तरेणापि ज्ञानरूपता दु खादिवदेतदुपपद्यत इति शङ्कनीयम्, तेषा स्वसत्ताया ज्ञानाव्यभिचारात्तदुपपत्ते। न चात्मन्येवमभ्युपगम्यते, सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात्। न च ज्ञानात्मनो सबन्धोऽनात्मवृत्तिर्ज्ञानवृत्तित्वात् सत्तावदिति शङ्कनीयम्, ज्ञानमेवात्मेत्यभ्युपगच्छता ज्ञानात्मनो सबन्धस्यैवाभावादाश्रयासिद्धे। नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति द्रष्टृदृष्ट्यो सबन्ध श्रुतित एवाधिगत इदि मानमनोहरकार प्रातिष्ठिपदिति चेत्, मैवम श्रुतेर्लोकप्रसिद्धसबधानुवादेन दृष्टेर्विनाशित्वाभावमात्रप्रतिपादनपरत्वात्, "अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थव"दिति न्यायात्, मुख्यार्थेऽद्वैतश्रुतिविरोधात्, राहो शिर इतिवदुपचारेणापि संबन्धश्रुतेर्वृत्त्युपपत्तेश्च।

प्रथमं समर्थयते—आत्मा सविद्रूप इति। अपरोक्षव्यवहारविषयत्व, चापरोक्षत्वं नापरोक्षज्ञानविषयत्वमपरोक्षज्ञानत्व वा। तेन न साधनवैकल्यासिद्धी, घटादेरतीतादेश्च व्यवच्छेदाय विशेषणद्वयम्। घटतज्ज्ञानेति। यद्यपि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभावो नाम न भावरूप कश्चित्सबन्धस्तथाप्यभावरूपत्वादस्त्येवाश्रितत्व, सिद्धान्ते त्वात्मिक सबन्धोऽत्र, सबन्धस्य सबन्धिमात्रनिष्ठत्वात्, सबन्धिभूतज्ञानघटयोरन्यतरस्यात्मत्वमादायात्मनिष्ठत्व पर्यवस्यति, तत्रापि घटस्यात्मत्वमुभयवाद्यनभिमतमिति प्रतिपन्नज्ञानस्यात्मतामापादयति। पदस्य विषयत्व पदविषयत्वम्। ज्ञानरूपत्वाभावे बाधक-

माह- **विपक्षे चेति।** संशयाद्यविषयत्वं स्वप्रकाशत्वव्याप्तं न भवति, दुःखादावदर्शनादित्याशङ्क्य निषेधति— **न चान्तरेणेति। सुषुप्त्यभावप्रसङ्गादिति।** एतन्निष्ठजन्यज्ञानेनैतस्य प्रकाशाव्यभिचारेऽस्य न सुषुप्तिः स्यात्। एतन्निष्ठकार्यज्ञानोपरमस्यैतत्सुषुप्तित्वादित्यर्थः। सत्प्रतिपक्षतामाशक्य निषेधति—नचेति। अत्रापि सम्बन्धस्यानात्मवृत्तित्वमन्यतरस्यानात्मतामादाय पर्यवस्यति। तत्राप्यात्मनोऽनात्मता व्याहन्ति ज्ञानस्यानात्मत्वसिद्धि। ननु मानमनोहरकारेण, स च ज्ञानाश्रयः 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति श्रुतौ द्रष्टृदृष्ट्योः संबन्धप्रतीतेरिति ज्ञानात्मनोः सम्बन्धः समर्थितः, तत्कथमाश्रयासिद्धिरिति शङ्कते— **नहि द्रष्टुरिति।** नेयं श्रुतिः सम्बन्धप्रतिपादिका अन्यपरत्वादिति परिहरति—**नैवमिति।** तत्परत्वाभावे च कारणमाह—**अप्राप्त इति।** अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्। "अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण"मिति तत्र तत्र जैमिनिनोक्तत्वादित्यर्थः। एवमनुवादकतया परिहारमुक्त्वा प्रकारान्तरेण परिहरति—**मुख्यार्थ इति।** एतेन देवताधिकरणन्यायोऽप्यनवकाशीकृतः।

आत्मा, संविद् (ज्ञान) स्वरूप है। संविद् के कर्मता के बिना ही अपरोक्ष होने से, ऐसा है, जैसे संवेदन, (ज्ञान) है प्रभाकर के प्रति इस प्रयुक्त अनुमान से, और घट तथा उस घट के ज्ञान का सम्बन्ध, आत्मवृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से ऐसा है। पदविषयता के समान, वह सम्बन्ध आत्मवृत्ति है। नैयायिकादि के प्रति प्रयुक्त इस दूसरे अनुमान से भी आत्मा की चिद्रूपता की सिद्धि होती है। क्योंकि संवित्कर्मता के बिना अपरोक्षत्व (अपरोक्ष व्यवहार विषयत्व) चिद् (ज्ञान) रूपता से ही हो सकता है। और घट ज्ञान का सम्बन्ध आत्मवृत्ति भी आत्मा में ज्ञानरूपता से हो सकता है। और विपक्ष (आत्मा के ज्ञानरूपत्व के अभाव रूपपक्ष) में, आत्मविषयक संशय विपर्यय का अभाव बाधक है। यदि आत्मा ज्ञानरूप नहीं हो तो आत्मा में संशय विपर्यय ज्ञान विषयता की प्राप्ति होगी। सोई विपक्ष का बाधक है। क्योंकि अहं वा-अनहं वा, मैं हूं, वा मैं नहीं हूं—इस प्रकार से आत्मविषयक संशय कोई नहीं करता है। अथवा (नैवाहं) मैं नहीं हूं, ऐसा विपर्यय (निजाभाव का निश्चयरूप भ्रम) नहीं करता है। सो यह संशय भ्रम का अभाव स्वप्रकाश ज्ञानरूपता के बिना सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

यदि शंका हो कि ज्ञानरूपता के बिना भी सुखदुःखादि के समान आत्मामें संशयादि की अविषयता सिद्ध हो सकती है, अर्थात् सुखादि के होने पर उनका ज्ञान अवश्य होता है, उनके संशयादि नहीं होते है, ऐसे ही आत्माके संशयादि नही होंगे। इसके लिये ज्ञान स्वरूप आत्मा को मानना ठीक नहीं है, तो कहा जाता है कि यह शंका ही होना ठीक नहीं है। क्योंकि उन दुःखादि की सत्ताकाल में अन्तःकरण की वृत्तिरूप अनित्यज्ञान का, या नैयायिक सम्मत आत्मनिष्ठ अनित्यज्ञान का अव्यभिचार (सत्त्व) रहता है। उसीसे उनके संशयादि के अभाव की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। आत्मा में सुखादि के समान आत्मा की सत्ता काल में अनित्य (जन्य) ज्ञानका अव्यभिचार (सत्त्व) नहीं माना जाता है। अन्यथा सुषुप्ति का अभाव प्राप्त होगा। क्योंकि आत्मवृत्तिजन्य ज्ञान की निवृत्ति को ही न्यायमत में सुषुप्ति माना जाता है। यदि सदा उस ज्ञान सहित आत्मा

रहेगा, तो सुषुप्ति नहीं होगी। अत उक्त सशयादि के अभाव से आत्मा की ज्ञानरूपता उचित है। और (ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध) अनात्म (आत्मभिन्न) वृत्ति है, ज्ञानवृत्ति होने से, सत्ता के समान। इस प्रकार सत्प्रतिपक्षरूप शङ्का भी यहाँ कर्तव्य नहीं है। क्योंकि ज्ञानस्वरूप ही आत्मा है। ऐसा मानने वालों के सिद्धान्त मे ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध का ही अभाव है। अत आश्रयासिद्धि दोष से दुष्ट यह प्रतिपक्ष है। यदि कहा जाय कि द्रष्टा (आत्मा) की दृष्टि (ज्ञान) का विपरिलोप (अभाव) कभी नही होता है। इस अर्थ को कहने वाली श्रुतिसे ही द्रष्टा-आत्मा और दृष्टि-ज्ञानका सम्बन्ध अधिगत (ज्ञात=प्रतीत) होता है। इस प्रकार मानमनोहरकार ने प्रतिपादन किया है, तो श्रुतिसिद्ध सम्बन्ध का अभाव कैसे माना जाय, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि श्रुति का सम्बन्ध प्रतिपादन मे तात्पर्य नही है, किन्तु लोकव्यवहार से सिद्ध लोक मे (ज्ञात) सम्बन्ध के अनुवाद द्वारा दृष्टि की विनाशिता के अभावमात्र (नित्यत्व-मात्र) के प्रतिपादन परत्व (प्रतिपादन मे तात्पर्य) श्रुति को है। क्योंकि (अप्राप्त) लोकादि से प्रसिद्ध अर्थ मे शास्त्र अर्थवत् (सफल) होता है। 'लोकादि से अज्ञात अर्थ मे शास्त्र प्रमाण होता है' ऐसा न्याय (युक्ति) भी है। और सम्बन्ध को कहने वाली श्रुति के मुख्यार्थ रूप से सम्बन्ध को माना जाय तो उस मुख्यार्थ विषयक श्रुति को अद्वैत बोधक श्रुति के साथ विरोध होता है। सो विरोध उचित नही, अत राहो शिर, राहु का शिर इस के समान उपचार (कल्पितभेद) द्वारा भी सम्बन्ध श्रुति की वृत्ति (स्थिति) बनती है, अत एव उक्त शका कर्तव्य नहीं है॥

न चानयोस्तुल्यबलतया विपर्ययः, तत्परत्वातत्परत्वविशेषोपपत्तेरुपक्रमोपसहारादिर्षाड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुति कथ लोकप्रवादोपजीविनी सबन्धश्रुति न बाधेत। देवदत्तस्य गन्तुरितिवद् द्रष्टुर्दृष्टेरिति द्रष्टृरूपाया दृष्टे, दृष्टिलक्षणो वा यो द्रष्टा तस्य, विपरिलोपो नास्तीति सामानाधिकरण्येन षष्ठयोः सबन्धसभवे वैयधिकरण्यस्य कल्पनायोगात्। न 'दृष्टेर्द्रष्टार पश्ये'रित्य दाविव वैयधिकरण्येऽप्यन्त करणपरिणामरूपाया दृष्टेर्यो द्रष्टेति वा परिणामिनोऽन्त करणस्य द्रष्टु साक्षिभूता या दृष्टिस्तस्या विपरिलोपो नास्तीति वाऽद्वैतश्रुत्यनुगुणे सभवति संबन्धे गुणगुणिभावेन सबन्धकल्पना अविदितमीमासावृत्तान्तस्यैव पर शोभते।

नन्वद्वैतश्रुति विरोधादन्यथाभावोऽस्या किमिति कल्प्यते विपरीतमेव वा किं न स्यात् श्रुत्योस्तुल्यबलत्वात् 'तुल्य हि साम्प्रदायिक'मिति न्यायादित्याशङ्क्य तत्परत्वातत्परत्वविशेषान्नेत्याह— **नचेति**। तत्परत्वमेव तस्या कथमवगम्यतेऽनत्परत्व चास्या इत्यत आह—**उपक्रमेति**। 'आत्मा वाऽरे' 'यत्र त्वस्ये'ति चाद्वैतेनोपक्रमोपसहारौ। 'इद सर्व सलिल एक' इति चाभ्यास। जीव-ब्रह्मैक्य च प्रमाणान्तरागोचरम्। 'एतावदरे' इति फलश्रवणम्। 'अस्य महत एतेभ्य' इति सृष्टयादिरर्थवाद। दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरुपपादित तदेतदादिशब्देन गृहीतम्। लोकप्रवाद इत्यनेनानुवादकतया सबन्धश्रुतेरतत्परत्वमुक्त, कथ न बाधेत? बाधेतैवेत्यर्थ। एवच यदत्र तेनैव गर्जित

"न चानाम्नायप्रतीत आम्नातो भवितुमर्हतीत्यादि" 'तत्राप्युपचारप्रवृत्ते सुलभत्वा"-दित्यन्त तत्सर्वं प्रमत्तप्रलपितायितम् । यत्तु नच प्रत्यक्ष, तस्य भेदग्राहकत्वादित्युक्त तदपि भेदनिर्भर्त्सनसमये सम्यगुपरिष्टाद्भूम्मसाद्भावयिष्याम । तदेव वैयधिकरण्य षष्ठयोरङ्गीकृत्य पर्यहार्षीत्, सम्प्रति वैयधिकरण्यमेव नास्ति सामानाधिकरण्येनाप्युपप-त्तेरिति सनिदर्शनमाह—देवदत्तस्येति । ननु 'न दृष्टेर्द्रष्टार पश्ये' रित्यत्र यथा वैयधिकरण्यमेवमत्रापि किं न स्यादित्यत आह— न दृष्टेरिति । अन्त करणवृत्ति-साक्षिणौ वान्त करणसाक्षिणौ वा भिन्नौ सबन्धितया निर्दिश्येते न तु ज्ञानात्माना-वित्यर्थ । अद्वैतश्रुत्यनुगुणे सबन्धे सभवतीत्यन्वय । अद्वैतश्रुत्यविरुद्धानेकप्रकारे परिस्फुरत्यपि यत्तस्य विरुद्ध एव प्रकार पर्यस्फुरत्तत्र तद्दौर्भाग्यमेव पर कारण-मित्यभिप्राय ।

सम्बन्ध बोधक श्रुति और अद्वैतात्म बोधक श्रुति, इन दोनों की तुल्यबलता (तुल्य-प्रमाणता) के कारण पूर्वोक्त बाध्यबाधक भाव से विपर्यय नही हो सकता है, अर्थात् अद्वैत श्रुति गौणार्थक हो, सम्बन्ध बोधक मुख्यार्थक हो, ऐसा नही हो सकता है , क्यों-कि तत्परत्व (स्वार्थपरत्व) और अत परत्व (स्वार्थपरत्वाभाव) से दोनों में विशेष (भेद) की उपपत्ति मे तुल्यबलत्व का अभाव है। और उपक्रमोपसहारादि षड्विध तात्पर्यलिङ्ग से अद्वैतबोधक श्रुति की अद्वैतपरता निश्चित हो जाती है, उक्त तात्पर्य लिङ्ग के अभाव से सम्बन्धबोधक श्रुति की अतत्परता का ज्ञान होता है, इस अवस्था मे तात्पर्यलिङ्गों से युक्त श्रुति, लोकप्रवाद (लोकप्रसिद्ध सम्बन्ध) को, अनुजीवन (अनुवाद) करने वाली सम्बन्ध बोधक श्रुति को कैसे नही बाधेगी । ओर, (देवदत्तस्य-गन्तुधनम्), गन्ता देवदत्त का धन है । इस समानाधिकरण (अभेदार्थक) षष्ठी विभक्ति के समान, 'द्रष्टुर्दृष्टे' यहाँ भी द्रष्टा स्वरूप दृष्टि का या दृष्टि स्वरूप द्रष्टा का विपरिलोप नहीं होता है। इस प्रकार से सामानाधिकरण्य (अभिन्नार्थकता) रूप से दोनों षष्ठी-विभक्तियों के सम्बन्ध के सम्भव होते, व्यधिकरणता (भेदनिमित्तसम्बन्ध) की कल्पना अयुक्त है। ओर 'न दृष्टेर्द्रष्टार पश्ये' दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देखते हो, इत्यादि के समान, प्रकृत में (उक्त श्रुति मे) व्यधिकरणता (भेद) माना जाय (भेद इष्ट हो) तो, अन्त करण का परिणामरूप दृष्टि (ज्ञान) का जो द्रष्टा, या परिणामी अन्त करण रूपद्रष्टा की साक्षीस्वरूप जो दृष्टि उसका विपरिलोप (नाश) नही होता है। इसप्रकार से अद्वैत श्रुति के अनुसार (उसके अविरोधी) सम्बन्ध (अन्वय) के सम्भव होते (रहते) गुणगुणिभाव से सम्बन्ध की कल्पना अज्ञातमीमासावृत्तान्त वाले को केवल शोभता है। अर्थात् यह कल्पना मीमासा के अज्ञान को सूचित करती है।

किंच जीवेश्वरयोर्भेदमभ्युपगच्छता नित्यदृष्टिसबन्ध कस्योच्यत इति विवेचनीयम् । न तावज्जीवस्य, तस्यानित्यज्ञानाभ्युपगमात् । नापीश्वरस्य, मैत्रेयीब्राह्मणे 'नवा अरे पत्यु कामाय पति प्रियो भवती' त्यादिना पतिजा यादि यत्संसूचित जीवमुपक्रम्य तस्यैव 'चतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य सज्ञास्ती' त्यवस्थान्तरप्रतिपादनावसरे विनाशमाशङ्क्य

'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' मात्राऽससर्गस्त्वस्य भवति। 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेविपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वा' दित्येवमविनाशितोपपादनात्।

इय श्रुतिरेव तावत्त्वत्पक्षे नार्थवती दूरेतरा त्वभिमतसबन्धे प्रामाण्यमित्याह— **किंचेति। नापीश्वरस्येति।** यद्यपीद मैत्रेयीब्राह्मण जीवानुवादेन तस्य ब्रह्मात्मताप्रतिपादनपर नतु जीवपर जीवब्रह्मभेदपर वेति 'वाक्यान्वया'द्' इत्यत्र प्रतिपादित, तथापि शोधितस्य ब्रह्मताप्रतिपादनमिति शोधनसमये जीवस्याप्येवस्वभावता वक्तव्येत्यभिप्रेत्य प्रियादिससूचितस्याविनाशितोपपादनादित्युक्त, तेनात्रेश्वरज्ञानस्य कारणरहिततायामिमा श्रुति प्रमाणयन् वादिवागीश्वरोऽप्युपहसित । एतेभ्य इत्यादिश्रुतेरयमर्थ —यान्येतानि कार्यकरणविषयाकारपरिणतानि नामरूपात्मकानि पञ्चभूतानि, एतेभ्यो भूतेभ्य । हेतौ पञ्चमी । समुत्थाय सम्यगुत्थाय पृथग्भूत्वा यथोदकेभ्यो हेतुभ्यश्चन्द्रार्कप्रतिबिम्बचन्द्राणा पृथग्भावस्तद्वत्तान्येवानुविनश्यति तानि भूतानि ब्रह्मविद्यया समूल विनश्यन्त्यनुविनश्यति, उपाधिप्रलयात्तत्प्रयुक्तावच्छेदोऽपि निवर्तत इत्यर्थ । न प्रेत्येति। शरीरद्वय परित्यज्य सज्ञा विशेषविज्ञान नास्ति तदापादकानामुपाधीनामभावादित्यर्थ । **अवस्थान्तरेति।** मोक्षावस्थाप्रतिपादनावसर इत्यर्थ । **विनाशमिति।** सज्ञा नास्तीति ज्ञाननाशाभिधानादित्यर्थ । प्रतिवचनमिदम् । अरे मैत्रेयि! अयमात्मा अविनाशीति। विनाशशब्देन विक्रिया विवक्ष्यते सास्य नास्तीत्यर्थ । तथानुच्छित्तिधर्मा, उच्छित्ति स्वरूपनाश स धर्मोऽस्य नास्तीत्यनुच्छित्तिधर्मा। कस्तर्हि सज्ञा नास्तीत्यस्यार्थ इत्यत आह— **मात्रेति।** मात्राभिर्विषयेन्द्रियाद्याकारपरिणतैर्भूतैरससर्ग परमस्य भवति न स्वरूपविनाश । **यद्वै तन्न पश्यतीति।** वै इत्यवधारणे। यत्तन्न पश्यत्येवेति मन्यस इत्यर्थ। पश्यन्वै तन्न पश्यति। तत्र हेतु— **नहीति।** हि यस्माद् द्रष्टुरात्मनो दृष्टे स्वरूपभूताया इति वा पूर्वोक्तप्रकारेण वा विपरिलोपो न विद्यत इत्यन्वय । तत्रापि हेतु— **अविनाशित्वादिति।** स्वरूपविनाशाभावात्, अथवा अविनाशित्वमपक्षयरहितत्वमित्येव विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनादित्यर्थ ।

और यह विवेचनीय (विचारणीय) है कि जीव और ईश्वर के सत्य भेद को मानने वाला किसकी नित्यदृष्टि के सम्बन्ध को कहता है। जीव की नित्य दृष्टिके सम्बन्ध को तो उक्त श्रुति मे कह नही सकता है। क्योंकि उस जीव के ज्ञान को अनित्य माना जाता है। ईश्वर की नित्यदृष्टि के सम्बन्ध को भी वहाँ नही कहा जा सकता है। क्योंकि ईश्वर का प्रकरण नही है, किन्तु मैत्रेयी ब्राह्मण (बृहदारण्यक चतुर्थ अ० ४) मे 'न वा अरे पत्युः कामाय पति प्रियो भवति' मैत्रेयि! पति के काम (भोग)के लिये पति प्रिय नहीं होता है। इत्यादि वाक्यों द्वारा पतिजाया (स्त्री) आदि के प्रियत्व के कथन से ससूचित (बोधित) जीव के कथन का उपक्रम (आरम्भ करके) 'एतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय

तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सञ्ज्ञाऽस्ति' वह जीव इन भूतों से समुत्थित होकर (पृथक् हो कर) उन भूतों के नाश होने पर स्वयं नष्ट हो जाता (औपाधिक स्वरूप विशेष को त्याग देता है) मरने पर मोक्ष अवस्था में विशेष ज्ञान नहीं रहता है, इस प्रकार से अवस्थान्तर के प्रतिपादन के अवसर में, उस जीव के विनाश की शंका करके "अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्राऽसंसर्गस्त्वस्य भवति, यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति, नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते-अविनाशित्वात्" अरे मैत्रेयि! यह आत्मा अविनाशी है, नाशरूप धर्म से रहित है, परन्तु मोक्षादि अवस्था में विषयादिरूप मात्राओं (भूतों) से इसको सम्बन्ध नहीं होता है। जो नहीं देखता है ऐसा समझती है, सो साक्षात्स्वरूप से देखता हुआ ही विशेष रूप से नहीं देखता है। इत्यादि से उस जीवात्मा की ही अविनाशिता का उपपादन किया गया है। अतः ईश्वर का प्रकरण नहीं है॥

ज्योतिर्ब्राह्मणे च जागराद्यवस्थोपन्यासपुरःसरम् 'अथ यत्र सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यती'ति सम्प्रसादावस्थानमवतार्य 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इति विशेषविज्ञानाभावेऽपि स्वरूपविज्ञानस्य नित्यत्वप्रतिपादनात्, ईश्वरपक्षे च विशेषविज्ञानाभावस्य वक्तुमयुक्तत्वात्तस्य सर्वदा सर्वज्ञत्वात् सुषुप्त्याद्यवस्थाभावाच्च। तस्माज्ज्ञानात्मनो संबन्धोऽनात्मनिष्ठ इत्यनुमानमाश्रयासिद्धमिति सिद्धम्। यत्तु गुणत्वादनित्यत्वाज्ज्ञानमात्मा न भवति रूपादिवदित्यनुमानं तत्सर्वमन्यतरासिद्धतयापास्तम्।

जागरादीति। 'स वा एष' इत्यादिना जागराद्यवस्थोपन्यासपूर्वकमित्यर्थः। यत्रेति। यत्र यस्मिन्ननन्ते सुप्तो जीवः न कञ्चन कामं जाग्रत्स्वप्नयोर्ये कामास्तेषु न कमपि कामं कामयते तथा न कञ्चन स्वप्नम्। स्वप्नशब्देन तद्विषयाणि ज्ञानान्यभिधीयन्ते। जाग्रद्दर्शनमपि मिथ्याविषयत्वात्स्वप्नशब्देन निर्दिश्यते न कञ्चनेत्यत्र चनशब्दोऽप्यर्थः। कमपि स्वप्नं न पश्यतीत्यर्थः। सम्प्रसादावस्थानमिति। सम्प्रसादः सुषुप्त्यवस्था, सम्यक्प्रसीदत्यस्यां जीवस्वरूपमिति व्युत्पत्त्या, तस्यामवस्थानं सम्प्रसादावस्थानं तदवतार्योक्तमत्रेति वाक्यशेषः। भवत्वेवं ततः किमित्यत आह—ईश्वरपक्ष इति। अनुपपत्त्यन्तरं चाह—सुषुप्त्यादीति। ननु ज्ञानमात्मा न भवति गुणत्वाद्रूपवत्तथा ज्ञानमात्मा न भवत्यनित्यत्वादित्यादिप्रयोगविरोधात्कथमात्मनो ज्ञानात्मकत्वमित्यत आह—यत्त्विति। यस्य हि नित्यात्मस्वरूपताभिमता विज्ञानस्य, तस्य कथं गुणत्वमनित्यत्वं वाभिमतमित्यर्थः।

और ज्योति ब्राह्मण में जाग्रदादि अवस्थाओं के कथनपूर्वक "अथ यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति" जिस स्वरूप में सोया हुआ जीव किसी भोग को नहीं चाहता है, न किसी स्वप्न को देखता है। इस प्रकार सम्प्रसाद (सुषुप्ति अवस्था) का अवतरण (प्रसङ्ग) रचकर फिर उसके बाद "यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इस वाक्य से सुषुप्ति में विशेष ज्ञानों के अभाव

होते भी स्वरूप ज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है, और ईश्वर पक्ष मे ईश्वर के विशेष ज्ञानों के अभाव को कहना अयुक्त है। क्योंकि उस ईश्वर को सदा सर्वज्ञत्व रहता है, और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का अभाव रहता है। अत ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध अनात्मवृत्ति है, यह अनुमान आश्रयासिद्ध है यह सिद्ध हुआ। और जो यह अनुमान किया जाता है कि गुणत्व और अनित्यत्व हेतु से रूपादि के समान ज्ञानरूप गुण आत्मा नहीं है, सो ज्ञान मे गुणत्व रूप हेतु अन्यतर (वेदान्त) मत से असिद्ध है। इसीसे वह सब अनुमान परास्त (खण्डित) हो जाता है॥

अथ घटतज्ज्ञानयो' संबन्ध गुणनिष्ठ ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावद्विपक्षे च जानामीति प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वप्रसंगो बाधक इति चेत्, मैवम्; रूपतज्ज्ञानयो' सबन्धा द्रव्यनिष्ठो ज्ञाननिष्ठत्वात्सत्तावदिति प्रतिप्रयोगसभवात्, जानामीति चानुभवस्यान्त करणवृत्त्याश्रयप्रमातृविषयतयाप्युपपत्ते । 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' 'प्रज्ञान ब्रह्म' ज्ञानघन एव' इत्यादिश्रुतिभ्यश्चात्मनश्चिद्रूपत्वसिद्धि । न चाधिकरणपरतया ज्ञानशब्दो योज्य, अद्वैतश्रुतिविरोधात्। तस्मात्साधूक्तं चिद्रूपत्वादिति ।

गुणत्वसाधकानुमान शङ्कते—अथेति । अत्रापि सबन्धिमात्रनिष्ठस्य गुणनिष्ठत्वमन्यतरसबन्धिनि गुणत्वमन्तरेण न घटते, घटस्य च गुणत्वमुभयानभिमतमिति ज्ञानस्य गुणत्वसिद्धि, यदि च ज्ञानस्य गुणत्व न स्यात्तदा जानामीति ज्ञानाश्रय विषयीकुर्वत प्रत्ययस्य निर्विषयताऽऽपतेत्, तत्स्वरूपत्वे तत्प्रत्याधारतायोगादिति बाधकमाह—विपक्षे चेति । इदच प्रतिप्रयोगेण निरुन्धे—मैवम् । रूपेति । अत्रापि रूपस्य द्रव्यत्वमुभयवादिविप्रतिषिद्धमिति ज्ञानस्य द्रव्यत्वसिद्धि । यत्तु बाधकमुक्त तदन्त करणवृत्तिमादाय शाम्यतीत्याह—जानामीति । तदेवमनुमानाच्चिद्रूपत्वमुक्त्वा तदनुग्राहकमागममप्याह—विज्ञानमिति । यत्तु मानमनोहरकृतोक्तं 'ज्ञानशब्दश्च ज्ञायते अस्मिन्नित्यधिकरणवचन" इति तद्दूषयति—नचेति । करणाधिकरणयोश्चे'त्यधिकरणेऽपि ल्युड्विधानादित्यर्थ ।

यदि शका हो कि घट और उसके ज्ञान का सम्बन्ध गुणवृत्ति है, क्योंकि ज्ञानवृत्ति है जैसे कि सत्ता जाति गुणवृत्ति है, तैसे यह सम्बन्ध है, अत ज्ञान आत्माका गुण है, आत्मा नहीं, यदि यहाँ विरुद्ध पक्ष माना जाय कि ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, किन्तु आत्म स्वरूप है, तो मै जानता हूँ, इस प्रकार की आत्मा मे ज्ञानाश्रयता के ज्ञानको निरालंबता (निर्विषयता) की प्राप्ति होगी। तो कहा जाता है कि ऐसी शका यहा कर्तव्य नहीं है, क्योंकि, रूप और उसके ज्ञान का सबध द्रव्यवृत्ति है, क्योंकि ज्ञानवृत्ति है, जैसे कि सत्ता ज्ञानवृत्ति है तैसे यह सबध है, इस प्रतिप्रयोग के सभव होने से ज्ञान मे आत्म (द्रव्य) रूपता की सिद्धि होती है, गुणरूपता नही। और (मै जानता हूँ) इस अनुभव (ज्ञान) की उपपत्ति (सिद्धि) तो अन्त करण की वृत्ति की प्रमाता आश्रयता विषयक होने से भी बनती है। और "विज्ञानमानन्द ब्रह्म, प्रज्ञान ब्रह्म, ज्ञानघन

दृष्ट विशुद्धविज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, प्रकृष्ट आनन्दस्वरूप ब्रह्म है, अविरल अखण्ड ज्ञानस्वरूप ही ब्रह्म है, इत्यादि श्रुतियों से भी आत्मा की चिद्रूपता की सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि 'विज्ञप्ति प्रज्ञप्ति, विज्ञान प्रज्ञान' ऐसा विग्रह (शब्दार्थ = विवरण) नहीं है कि जिससे इन श्रुतियों द्वारा चिद्रूपता की सिद्धि हो, किन्तु, विज्ञप्ति, प्रज्ञप्ति, विद्यते यस्मिन् तद्विज्ञान प्रज्ञान ब्रह्म, इस प्रकार से अधिकरण (ज्ञानाश्रय) अर्थ द्वारा विज्ञान प्रज्ञान शब्द ब्रह्म मे योजनीय (प्रयोक्तव्य) है। अतः ये श्रुतियाँ चिद्रूपता को नहीं कहती है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि इस प्रकार से अद्वैत श्रुतियों से विरोध होगा, अत स्वप्रकाशत्व ब्रह्मात्मा के ज्ञानस्वरूपत्व का साधक चिद्रूपत्व हेतु सर्वथा युक्त कहा गया है।

अकर्मत्वाच्चात्मन. स्वप्रकाशत्वम्, वेद्यत्वे स्वाश्रयज्ञानविषयतया कर्मकर्तृभावविरोधप्रसङ्गात्। न च सुखादिविशिष्टस्याह सुखीत्यादिज्ञानकर्मत्व केवलस्य च कर्तृत्वमित्याकारभेदादविरोधो, गमनादिक्रियास्वपि केवलस्य कर्तृत्व-गमनविशिष्टाकारेण च कर्मत्वमित्याकारभेदेनाविरोधात्कर्मकर्तृभावविरोधस्य सर्वत्रोच्छेदप्रसङ्गात्।

द्वितीय हेतु विवृणोति— **अकर्मत्वाच्चेति**। नन्वकर्मत्वमेव कथ यावता मानसप्रत्यक्षोऽयमिष्यत इत्यत आह— **वेद्यत्व इति**। स्वाश्रय यज्ज्ञान तद्विषयतयेत्यर्थः। स्यादनदुपाधिवशात्किमित्यनेकाकारता न स्यात्। दृश्यते ह्येकस्यापि देवदत्तस्यानेकाकारता पिता भ्राता मातुल श्याल इत्यादि। सभवति चात्रापि सुखादिविशिष्टाकारेणाह सुखीति ज्ञेयत्व, केवलस्य तु ज्ञातृत्वमित्युपाधिभेदस्तत्राह— **नच सुखादीति**। पित्रादीना स्वरूपेणैकत्वेऽपि प्रतियोगिनानात्वादात्मभवति तदपेक्षयानेककल्पनाविषयत्व-मिह तूपाधिविशिष्टस्यैव त प्रति कर्तृत्व कर्मत्व चेति विप्रतिषिद्ध नियमेनानुपलब्धे-र्गमनादावप्येवविधोपाधिभेदेनाविरोधप्रसङ्गादित्यर्थः।

अकर्मत्वरूप द्वितीय हेतु से भी आत्मा के स्वप्रकाशत्व (ज्ञानस्वरूपत्व) सिद्ध होता है। क्योंकि आत्मा के वेद्यत्व कर्मत्व (ज्ञानजन्य फलाश्रयत्व) को माना जाय, तो वेद्यत्व होने पर, स्वाश्रयज्ञान की विषयता से एक मे कर्मत्व और कर्तृत्वरूप विरोध की प्राप्ति होगी। एक ही आत्मा ज्ञानक्रिया का कर्ता, और ज्ञानजन्यफल का आश्रय हो, यह बन नहीं सकता है। अनात्मा ज्ञानाश्रय वा ज्ञानरूप नही होता है कि जिसका आत्मा कर्म हो सके। यदि कहा जाय कि (विशिष्ट शुद्धादतिरिच्यते) विशिष्ट वस्तु शुद्ध से भिन्न हो जाता है। इस न्याय से, सुखादि से विशिष्ट (युक्त) आत्मा मे 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान की कर्मता रहती है। और केवल (शुद्ध) आत्मा मे ज्ञान की कर्तृता रहती है, अत आकार के भेद से विरोध नहीं है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि गमनादि क्रियाओं मे भी केवल को कर्तृत्व, गमनादियुक्त आकार से कर्मत्व मानने पर आकार भेद से अविरोध होनेपर कर्तृत्व कर्मत्व के विरोध का सर्वत्र अभाव प्राप्त होगा।

तथापि नात्मन स्वप्रकाशत्व, तत्तदर्थसवेदनाश्रयतयापि स्फुरणोपपत्तेः। न चास्य क्रियाफलभाजोऽपि कर्मत्व, परसमवेतक्रियाफलशालित्वाभावात्।

विप्रतिपत्तेरिति । इद च प्रयोगशरीर-वेद्यत्वमनुभवनिष्ठ प्रामाणिकात्यन्ताभाव-प्रतियोगि तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वात् यदेव तदेव यथा शुक्तिरजतादि यथा वा घटत्वादि । तर्कमात्र चेत्किमित्याशङ्क्य प्रस्तुतानुमानोपन्यासमाह—**विशेषप्रमाणापेक्षायामिति** । अत्र सामान्यतोऽनुमानेनेतिसामान्येन प्रमाणोन्नयनेनेति योजनीयम्। एतदेव प्रतिबन्द्या साध-यति **अन्यथेति** । अनुपपत्तिसाम्य तावदाह-**अष्टद्रव्यव्यतिरिक्तेति** । **तत्र वृत्ताविति** । अत्र ह्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याप्रसिद्धौ तदाश्रितगुणादीना पक्षत्वम् । तथाच तत्र हेतुवृत्त्या-वृत्त्योर्दूषणद्वय स्यादित्यर्थ । एवमनुपपत्तौ समानायामस्मदुक्तविधामन्तरेण नापरा विधाऽस्तीति भाव । तथाहि इच्छादयो गुणा अनित्यत्वे सत्यस्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्ष-त्वात् गन्धवदित्यादिना गुणत्वे स्थिते गुणत्वापरजातिमत्तया नित्यैतद्द्रव्यव्यवच्छेद-कतया विशेषगुणत्वे च सिद्धे सतीच्छादय क्वचिदाश्रिता गुणत्वाद्रूपवदिति सामान्य-तोदृष्टानुमानेनानिर्धारिते कस्मिश्चिदाश्रये सिद्धे न तावत्स्पर्शवद्विशेषगुणा प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात्, प्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वाद्वा । नाप्याकाशविशेषगुणा बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात् । नापि दिक्कालमनसा विशेषगुणत्वादिनाऽष्टद्रव्याश्रयत्वानुप-पत्तौ सिद्ध यामिच्छादयोऽष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रया , तेष्वनुपपद्यमानत्वे सति गुण-त्वाद्यन्नैव तन्नैव यथा गन्धादीति केवलव्यतिरेकिणैव सिद्धिरिति । नन्वेवविधपरिहा-रज्ञानस्य सर्वत्र सुलभत्वादुता व्रताप्रसिद्धविशेषणतापरिम्लिनीयत आह—**नचैव सतीति** । एतदुक्त भवति—न सर्वत्रैवविध परिहार सुलभ असमाधेयाप्रसिद्धविशेष-णत्वानामपि 'भूमि शशविषाणोल्लिखिता' इत्यादीना सभवात् तेषु चास्या साम्राज्य-मिति । तदेवमृजुरीत्याऽप्रसिद्धविशेषणता परिजहार ।

यद्वा (अथवा) जिस पदार्थ के विपर्यय (वैपरीत्य = अभाव) के मानने (रहने) पर अनवस्था बाधादि अनिष्ट की प्राप्ति हो, वह पदार्थ कहीं प्रमाण योग्य (प्रमाण का विषय) अवश्य रहता है । यह सामान्य व्याप्ति (नियम) है । जैसे आकाशादि के समान सर्वत्र जाति के अभाव मानने पर गवादि मे अनुगत प्रतीति की बाधापत्ति होती है, गवादि के समान सर्वत्र जाति के अभाव के अभाव (जाति) को मानने पर अनवस्था प्राप्त होती है, जाति मे भी जाति प्राप्त होती है, इत्यादि । यहाँ प्रकृत मे तो अनुभूति अनुभाव्य (अनुभव का विषय) होती है, या नही, इस प्रकार प्रतिवादियों की विप्रति-पत्ति (विरुद्धवाक्य) से सशय होने पर, अनुभूति को अनुभाव्यत्व (अनुभवविषयत्व) माना जाय तो अनवस्था आदि अनिष्ट की प्राप्ति होती है, अत उस अनुभाव्यत्व (अनु-भवविषयत्व) के अभाव (अवेद्यता) के सामान्य रूप से कही मानयोग्यता के ज्ञान होने पर, फिर विशेष प्रमाण की अपेक्षा (जिज्ञासा) होती है, तब उक्त व्यतिरेकी अनुमान का उपन्यास (उल्लेख) किया गया है कि (अनुभूति स्वय प्रकाश) इत्यादि, अत अप्रसिद्धविशेषता दोष नहीं है ।

अन्यथा (उक्त सामान्य व्याप्ति के अस्वीकार करने पर) नैयायिकादिभी इच्छादि को अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व कैसे चार्वाकादि के प्रति सिद्ध कर सकेंगे । अर्थात्

इच्छा आदि, भूमि आदि आठ द्रव्य से भिन्न किसी द्रव्य के आश्रित है, क्योंकि गुण है। इस अनुमान से आत्मा की सिद्धि नही कर सकेंगे, क्योंकि आठ द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्य के अप्रसिद्ध रहते अप्रसिद्ध विशेषणता होती है, और प्रसिद्ध होने पर भी यदि वहाँ हेतु रहता है, तो हेतु की अन्वयव्यतिरेकिता से केवल व्यतिरेकिता का असम्भव (अभाव) होता है। और पक्ष से अतिरिक्त साध्य के स्थान में हेतु के नहीं रहने पर पक्षमात्र वृत्ति-गुणत्व हेतु मे असाधारण अनैकान्तिकता की प्राप्ति होती है। अत अनुमानान्तर से विशेष गुणत्व और अष्ट द्रव्यावृत्तित्व सिद्ध होने पर (इच्छादयोऽष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रिता, अष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्, यन्नैव तन्नैवम्, यथा गन्ध) इस व्यतिरेकी से ही अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व नयायिकादि भी इच्छादि मे सिद्ध कर सकते है, इसी प्रकार से वेदान्त मे स्वप्रकाशत्व की सिद्धि होती है। शका होती है कि उक्त सामान्य व्याप्ति और केवल व्यतिरेकी द्वारा तो सर्वत्र साध्य की प्रसिद्धि की जा सकती है, तो अप्रसिद्ध विशेषणता रूप दूषण का ही अभाव प्राप्त होता है, उत्तर है कि दूषण का अभाव नही प्राप्त होता है। क्योंकि (भूमि, शशविषाणोल्लिखिता, भूमित्वात, यन्नैव, तन्नैवम् यथा जलम्) इत्यादि सामान्यतो दृष्टानुमानादि के अविषय स्थान मे अप्रसिद्धविशेषणता का अवकाश है, स्थान है।

अथवा अय घट एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्य पदार्थत्वात्पटवदित्यादिमहाविद्याप्रयोगैरप्यवेद्यत्वप्रसिद्धिरप्यूहनीया।

ये तु वक्रनीति रोचयन्ते तान्प्रति महाविद्याभिरपि साध्यप्रसिद्धि सुलभेति—अथवेति। अय घट वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्ववेद्यत्ववादिनोऽनुमानात्पुरस्तात्तदनधिकरणासिद्धेरत उक्त—घटान्यत्वे सतीति। घटत्वानधिकरत्व इति यावत्। तथाच सर्वघटेषु सिद्धसाधन तत उक्त—एतादिति। एतस्य च घटस्य वेद्यत्वाधिकरणत्वेऽपि स्वान्यत्व प्रत्यनधिकरणत्वात्तथाविधघटान्यत्वस्य च पटादावेव प्रसिद्धेर्नाप्रसिद्धविशेषणतासिद्धसाधनते इत्यर्थ। घटमात्र पक्षीकृत्यैतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते घटान्तरमादायार्थान्तरता, घटान्तरस्याप्येतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणादेतस्मादन्यत्वात्तद्व्यवच्छेदार्थमयमितिपदम्। एतस्यैव घटस्य एतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वे साध्यमाने घटान्तरमादायार्थान्तरताया अनवकाशात्। एतद्घटान्यत्वानधिकरणान्य इत्युक्ते व्याहति स्यादेतद्घटस्यैतद्घटान्यत्वायोगात् तदर्थं वेद्यत्वपदम्। अत्र चैतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणमयं घटस्तदन्यत्वमादाय पटादौ साध्यप्रसिद्धि। पक्षे त्वेतद्घटस्यैतद्घटान्यत्वे सति वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वमेतद्घटान्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा ? वेद्यत्वानधिकरणान्यत्वेन वा स्यात् ? आद्ये, व्याहति। एतस्यैव घटस्यैतद्घटान्यत्वायोगात्। अत एतद्घटान्यत्वेसति वेद्यत्वानधिकरणमन्यत्किचिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यवेद्यत्वसिद्धि। आदिग्रहणेन 'वेद्यत्व स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिवृत्तिधर्माधिकरणभेयत्वादि' त्यादि सगृहीतम्। एतदपि सामान्यतोऽनुमानेनेति सगृहीतमेव।

अथवा महती विद्या के हेतु प्रयोगों के द्वारा भी अवेद्यत्व की प्रसिद्धि अनुभूति में ऊहनीय (अनुमेय) है। प्रयोग (अनुमान का आकार) यह है कि (यह एक व्यक्तिरूप घट, इस घट से अन्यत्व युक्त वेद्यत्व के अनधिकरण से अन्य है, पदार्थ होने से, पट के समान) यहाँ एक व्यक्ति घट से अन्यत्व युक्त वेद्यत्व पट में रहेगा, उसका अनधिकरण, एक व्यक्ति घट ही होगा, उससे अन्य (भेदवाला) पट होगा, इस प्रकार से पटरूप दृष्टान्त में तो हेतु के स्थान में साध्य की प्रसिद्धि होती है, परन्तु एक व्यक्ति, स्वान्यत्व युक्त वेद्यत्व का अनधिकरण आप ही है, तब तो उक्त वेद्यत्वानधिकरण से अन्य आप हो नहीं सकता है, किन्तु स्वान्यत्वयुक्त वेद्यत्व का अनधिकरण, उससे अन्य कोई भी हो, तो उस घट रूप पक्ष में तदन्यत्वयुक्त वेद्यत्वानधिकरण से अन्यत्व रूप साध्य की सिद्धि होती है, अतः अनुभूति में तद्घटान्यत्व के रहते भी वेद्यत्व के अभाव से, तद्घटान्ययुक्तवेद्यत्व का अनधिकरणत्व रहता है और उसका भेद एतद्व्यक्ति घट में रहता है, इस प्रकार से घट में साध्य की प्रसिद्धि होती है, सो अनभूति में वेद्यत्वाभाव (अवेद्यत्व) को सिद्ध करती हुई होती है, अतः अवेद्य की अप्रसिद्धि रूप दोष नहीं है, अनुमान के पदकृत्यादि टीका में द्रष्टव्य हैं।

नाप्रसिद्धविशेष्यतापि: अनुभूतेः प्रसिद्धत्वात्। अत एव नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः। नापि स्वरूपासिद्धिः; कल्पितव्यक्तिभेदनिष्ठस्य चन्द्रत्वसामान्यस्येवानुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमे सिद्धान्ताविरोधात्। कल्पितस्यापि प्रतिबिम्बादिवत्साधकत्वसंभवात्। न च प्रतिवाद्यसिद्धिस्तेनाप्यनुभूतित्वसामान्यस्याभ्युपगमात्।

नाप्रसिद्धविशेष्यतापीति। विशेष्यं धर्मि। तदेवं पक्षदूषणान्यपाकृत्य हेतुदूषणान्यपाकरोति—**अत एवेत्यादि**। यत एवं विशेष्यरूपस्य धर्मिणः प्रसिद्धिस्तत एवेत्यर्थः। ननु किमिदमनुभूतित्वं नाम? न तावज्जातिः, अनुभूतेरेकत्वाङ्गीकारेण व्यक्त्यभेदस्य जातिबाधकत्वात्। यथाह—

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रह' इति।

अत एव नोपाधिरपि। अनुगतो ह्युपाधिर्भवति अद्वैतविरोधश्चोभयत्रापि तुल्य इत्यसिद्धिरेव हेतोरित्यत आह—**नापीति**। यथा च कल्पितस्यापि साधकत्वं तथा मिथ्यात्ववादे व्युत्पादयिष्यते।

प्रकृत = प्रदर्शित स्वप्रकाशत्व के अनुमान में अप्रसिद्ध विशेष्यता (अप्रसिद्धधर्मिता) दोष भी नहीं है, क्योंकि अनुभूति रूपधर्मी (पक्ष) स्वप्रकाशता से ही प्रसिद्ध है। और वही हेतु का आश्रय है, अत एव = प्रसिद्ध अनुभूति के ही आश्रय होने से हेतु के आश्रय की असिद्धि भी नहीं है। यहाँ यदि शंका हो कि वेदान्त में सत्यानुभूति के एकात्मस्वरूप होने से अनुभूतित्वरूप (सामान्य) जाति की असिद्धि है, क्योंकि (व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः। रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥१॥) व्यक्ति के अभेदादि

छः जाति के बाधक न्यायवैशेषिक सिद्धान्तमें माने गये हैं) आकाश की व्यक्ति के अभेद (एक) होने से अनेकता के अभाव से (नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्) इस लक्षण का आकाशत्व में अभाव रहता है, अतः आकाशत्व जाति नहीं मानी जाती है, व्यक्ति की तुल्यता से घटत्व कलशत्व पृथक् जाति नहीं मानी जाती है, सङ्करदोष से भूतत्व मूर्तत्व जाति नहीं जाती है) परस्परात्यन्ताभावाधिकरणवृत्तिधर्म कहीं एकत्र रहें तो सङ्कर कहा जाता है। जाति में जाति मानते तो अनवस्था होती है, अन्त्य विशेष में जाति माने तो स्वतो व्यावृतत्व स्वरूप की हानि होती है। समवाय में सम्बन्धाभाव की प्राप्ति होती है, यह स्पष्ट अन्यत्र द्रष्टव्य है। प्रकृत में अनुभूति के एक होने से अनुभूतित्व की स्वरूपासिद्धि की प्राप्ति होने पर कहा जाता है, कि स्वरूपासिद्धि भी नहीं है, क्योंकि चन्द्रव्यक्ति के एक होते भी प्रतिबिम्बादि रूप, तथा दिवसादि भेद से भिन्नस्वरूप कल्पित व्यक्ति भेद में वर्तमान चन्द्रत्व जाति के समान अनुभूतित्व जाति के मानने में सिद्धान्त से विरोध नहीं होता है, पारमार्थिक एक अनभूति सिद्धान्त का बाध नहीं होता है और जैसे कल्पित प्रतिबिम्बत्व कल्पित भेदयुक्त बिम्ब का साधक (अनुमापक) होता है, कल्पित अनुभूतित्व भी वैसे ही स्वप्रकाशत्व का साधक होगा। प्रतिवादी को भी अनभूतित्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रतिवादी भी अनभूतित्व रूप सामान्य (जाति) का स्वीकार करता है।

नच कल्पिताकल्पितत्ववैषम्याद्धेतोरन्यतरासिद्धिराशङ्कनीया, अवधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वमात्रस्योभयवादिसिद्धत्वात्। अन्यथा धूमवत्त्वादावपि तदेतद्देशनिष्ठत्वादिविकल्पेनासिद्ध्याद्युष्परिहरत्वात्। न च केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेरसंव्याप्यत्वासिद्धिः; सोपाधिकस्यैव तथात्वात्, केवलव्यतिरेकिणि चोपाधेरसंभावात्। उपाधिर्हि—साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः, स चान्वयव्यतिरेकी कश्चिद्धर्मः। स कथं केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्येनान्वयी स्यात्। न च पक्षे साध्येनान्वयः; तत्र साध्यस्याद्यापि संदिग्धत्वात्। निश्चये च सिद्धं नः समीहितमिति किमुपाधिः करिष्यति। पक्षे चोपाधिवृत्तौ, साधनव्यापकता च दुर्वारा। न च साध्यसद्भावे मा भूदुपाधिः, साध्याभावे पुनरुपाधिः कश्चिद्भविष्यतीति वाच्यम्; तथाहि—यत्रोपाधिरस्ति तत्र साध्यं नास्तीति साध्याभावस्य गमकत्वेनोपाधिरेष्टव्यः। अन्यथोपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो व्यापकतया न वर्तते चेत्, उपाधिसद्भावे साध्यं स्यात्। तच्च न पक्षे; तत्रोपाधिसद्भावे तस्य साधनव्यापकत्वप्रसङ्गात्। तस्मादन्यत्रोपाधिसत्त्वे साध्यस्य सत्त्वं स्यादिति वाच्यम्। तथा च केवलव्यतिरेकित्वभङ्गप्रसङ्गः।

ननु प्रतिवादिना पारमार्थिकी जातिराद्रियते, भवता तु काल्पनिकीत्यन्यतरासिद्धिरित्यत आह—**नच कल्पितेति**। अवधीरितः कल्पिताकल्पितरूपो विशेषो येनानुभूतित्वमात्रेण तत्तथोक्तम्। उक्तपरिहारानङ्गीकारे स्वव्याहृतिं बाधकमाह—**अन्यथेति**। **तदेतद्देशेति**। धूमवत्त्वं किं महानसनिष्ठं हेतुरुत पर्वतनिष्ठम्। आद्येऽसिद्धिः, द्वितीये

साधनविकल निदर्शनमिति दूषणे नोदीरितपदवीव्यतिरेकेण परित्राणमस्तीत्यर्थः । अन्यथाऽसिद्धिं परिहरति—**नच व्याप्यत्वासिद्धिरिति** । एषा हि हेत्वाभासाना स्थिति- र्व्याप्यत्वे सति पक्षधर्मतया प्रामेतत्व विद्रुत्व तद्विपरीतमसिद्धत्वम् । तत्र व्याप्तेरसिद्धौ व्याप्यत्वासिद्धिरित्यभिधीयते । पक्षधर्म-त्वाऽसिद्धिस्तु त्रिधा । तत्राश्रयस्वरूपासिद्धावा- श्रयासिद्धिस्तद्विशेषणपक्षमत्त्वाप्रतीतया तु सिद्धसाधनमिति । इमामपि द्विविधा केचिद भिदधति साध्याप्रसिद्धचा साध्यस्वरूपासिद्धया चेति, प्रथमाऽसिद्धसाधनताभिधाना द्वितीया त्वप्रसिद्धविशेषणमिति । एतत्तु केवलपक्षदूषणतयैव वृद्धव्यवहारे प्रसिद्ध, हेतुस्वरूपासिद्धौ तु स्वरूपासिद्धिरिति । तत्र व्याप्यत्वासिद्धिर्नाम सोपाधिकः सम्बन्धः, निरुपाधिकसबन्धस्य व्याप्तित्वात्सोपाधिकत्वे च निरुपाधिकसम्बन्धवैधुर्यादिति । तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह—**सोपाधिकस्यैव तथात्वादिति** । भवतु तर्ह्युपाधिरपि किमेतावता ? इत्यत आह—**केवलव्यतिरेकिणि चेति** । केवलव्यतिरेकिण्युपाध्यभाव वक्तुमुपाधिलक्षणमनुवदति—**उपाधिर्हीति** । साधनाव्यापक उपाधिरित्युक्ते शब्दो- ऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियग्रहणार्हत्वमुपाधि स्यात्तदर्थं साध्यव्यापक इत्युक्तम्, तथेत्युक्ते सामान्यवत्त्वादिनाऽनित्यत्वसाधने कृतक- त्वमुपाधि स्यात्तदर्थं साधनाव्यापक इत्युक्तम् । एतेन पक्षेतरत्वमपि व्याख्यात, तस्यापि साध्यव्यापकत्वे उपाधित्वादितरथाऽनुपाधित्वादिति । भवत्वेव तत किमायात- तमित्यत आह—**स चान्वयव्यतिरेकीति** । साध्यव्यापकत्वमन्वयः, साधनाव्यापकत्व व्यतिरेकः, तदुभयवान्धर्मः कश्चिदुपाधिरित्यर्थः । अस्त्वेतावतापि प्रस्तुते किमित्यत आह—**स कथमिति** । तत्र वक्तव्य किं पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्यव्यापकत्व किंवा पक्ष एवाभिप्रेतमिति । नाद्य इत्याह—**स कथमिति** । केवलव्यतिरेकिणि प्रवर्तमानः स उपाधिः पक्षव्यतिरिक्तभूमौ साध्येन कथमन्वियान्न कथमपीति योजना । केवलव्य- तिरेकिणीति हेतुगर्भं विशेषणम् । नहि केवलव्यतिरेकिणि पक्षव्यतिरिक्तस्थले साध्य सभवति अविद्यमानसपक्षत्वादित्यर्थः । न द्वितीय इत्याह—**न च पक्ष इति** । तत्र साध्या- निर्णयादित्याह—**तत्र साध्येति** । विपक्षे दण्डमाह—**निश्चये चेति** । साध्यापहारो ह्युपाधेः कृत्य, तत्र साध्यमेव चेन्निर्णीत किं कुर्वन्नयमुपाधिः स्यादित्यर्थः । दूषणान्तर- माह—**पक्षे चेति** । साधननिष्ठात्यन्ताभाववत्त्व ह्युपाधेः साधनाव्यापकत्वम् । तत्र पक्षेऽपि चेदुपाधिर्वर्तते कथं तत्रैव तस्यात्यन्ताभावः स्यात् । न चान्यत्र, केवलव्यतिरे- किसाधनस्यान्यत्राभावादिति भावः । ननु न वय साध्यसद्भावे उपाधिं ब्रूमः, येन साध्यव्यापकता दुःसाध्या अपितु साध्याभाव इत्यत आह—**नच साध्यसद्भाव इति** । नच वाच्यमित्युक्तः तत्र हेतुमाह—**तथाहि यत्रोपाधिरिति** । तथाहि तथा सतीत्यर्थः । उपाधिना हि साध्याभावप्रमिति वाञ्छता साध्याभाव प्रति गमकत्वेन व्याप्यत्वेनो- पाधिरेष्टव्य इत्युक्तम् । व्यापकत्वे दोषमाह—**अन्यथेति** । अन्यथा व्यापकत्वेनाङ्गी- क्रियमाणे, व्यापकतयोपाधेरिति सबन्धः । व्यापकस्य चोपाधेरधिकवृत्तित्वसंभवात्,

उपाधिसद्भावेऽपि साध्याभावो यदि न वर्तेत, सम्भवति ह्यवर्तन न्यूनवृत्ते साध्याभावस्य। तत उपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भाव स्यात्साध्याभावाभावस्य साध्यरूपत्वात्तन्नान्तरीयकत्वाद्वेत्यर्थ। अव्यापकतयति वा पदच्छेद। साध्याभावस्य व्यापकत्वाभावेनेत्यर्थ। भवतूपाधिसद्भावेऽपि साध्यसद्भाव किमत ? तत्र वक्तव्य किं पक्षे ? उत तद्व्यतिरिक्तस्थले ? आद्य प्रत्याह—**न पक्ष इति।** तत्र हेतुमाह—**तत्रोपाधिसद्भाव इति।** यदत्र वक्तव्य तत्पुरस्तादेवोक्तम्। द्वितीय परिशेषयति—**तस्मादिति।** भवत्वेव तत किमिति। केवलव्यतिरेकिताकोपमपहाय न किंचिदित्याह—**तथा चेति।**

उक्त अर्थ मे यह शका हो कि, वेदान्त मे अनुभूतित्व को कल्पित माना जाता है, और प्रतिवादी उसको सत्य (अकल्पित मानता है) अत वेदान्त सम्मत अनुभूतित्व प्रतिवादी मत मे असिद्ध है, और प्रतिवादी सम्मत वेदान्त मे असिद्ध है, इस प्रकार से हेतु के कल्पितत्व और अकल्पितत्व रूप वैधर्म्य से (विरोधि धर्म से) अन्यतर (दो मे से एक) की असिद्धि प्राप्त होती है। प्रतिवादी को कल्पित की असिद्धि, वेदान्ती को पारमार्थिक की असिद्धि प्राप्त होती है, तो कहा जाता है कि यह शका नहीं करना चाहिये, क्योंकि अवधीरित (अनादृत) कल्पित अकल्पित विशेष (भेद) वाला सामान्य अनुभूतित्व मात्र को हेतु माना गया है। सो वादी प्रतिवादी दोनों के मत मे सिद्ध है। (अन्यथा) यदि ऐसा सामान्य हेतु को नहीं माना जाय, तो धूमवत्त्वादि रूप प्रसिद्धानुमान के हेतु मे भी तद्द्(महानसदेश) एतद्देश (पक्ष पर्वतादि देश) निष्ठत्व (वर्तित्व) आदि विकल्प (भेद) से असिद्धि आदि की दुष्परिहरता = दुर्वारता होगी। अर्थात् धूम मे पर्वत वर्तित्व, महानसवर्तित्व धर्म से भेद मान कर महानसवृत्ति को हेतु माना जाय तो उसकी पक्ष मे असिद्धि प्राप्त होती है और पर्वतवृत्ति को हेतु माना जाय साधन (हेतु) रहित दृष्टान्त प्राप्त होता है, अत पर्वतीयत्व = महानसीयत्व भेद को त्याग कर जैसे धूमवत्त्व हेतु माना जाता है, वैसे ही सत्यत्व मिथ्यात्व भेद को त्याग कर, अनुभूतित्व मात्र हेतु को मानने पर अन्यतरासिद्धि नहीं होती है।

व्याप्यत्वासिद्धि (अनुभूतित्व रूप हेतु मे उक्त साध्य की व्याप्ति की असिद्धि) भी नहीं है, क्योंकि सोपाधिक (उपाधियुक्त) हेतु मे व्याप्यत्वासिद्धि होती है, और केवल व्यतिरेकी अनुमान में उपाधि का सम्भव नहीं है। क्योंकि साध्य के व्यापक और साधन के अव्यापक किसी धर्मादि को उपाधि कहते है, जैसे कि (धूमवान् वह्ने) यहाँ आर्द्रेन्धनाग्निसयोग उपाधि होता है, सो धूम का व्यापक और अग्निरूप हेतु का अव्यापक रहता है। सो उपाधि अन्वयव्यतिरेकी कोई धर्म रूप होता है। सो उपाधि केवल व्यतिरेकी अनुमान मे पक्ष से भिन्न स्थान में साध्य के साथ अन्वय (सम्बन्ध) वाला कैसे होगा, क्योंकि पक्ष से अन्यत्र जिस साध्य का निश्चय नहीं हो, उसी साध्यवाला हेतु को केवल व्यतिरेकी कहा जाता है। पक्ष मे उपाधि साध्य के साथ अन्वित होगा, यह भी नहीं कह सकते है, क्योंकि पक्ष में अभी (अनुमानारम्भ काल मे) प्रतिवादी को साध्य सन्दिग्ध है। निश्चित नहीं हुआ है। यदि पक्ष मे प्रतिवादी को साध्य का निश्चय हो, तब तो हमारा अभीष्ट (अनुभूति के स्वप्रकाशत्व) ही सिद्ध हो गया। कोई उपाधि कल्पित भी हो, तो उपाधि हमारी हानि क्या करेगी। और दूसरी बात

यह है कि पक्ष में उपाधि की स्थिति से तो साधन की व्यापकता उपाधि में दुर्वार होगी, साधन की व्यापकता अवश्य होगी, कि जिससे साधनाऽव्यापकत्व (साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व) रूप उपाधि का लक्षण ही नहीं रहेगा।

यदि कहा जाय कि साध्य के सद्भाव मे (साध्य के स्थान मे) साध्य के व्यापकत्वादि लक्षणवाला उपाधि नही हो, तो भी साध्याभावविषयक कोई गुणत्वादि उपाधि होगी, अर्थात् उपाधि से पक्षादि मे साध्य के अभाव का अनुमान होता है, अत प्रकृत मे भी (अनुभूति , स्वप्रकाशत्वाभाववती, गुणत्वात्, इच्छादिवत्) प्रतिवादी मत में अनुभूति आत्मगुण है, अत हेतु की असिद्धि नही है। तो यह कहना युक्त नही, क्योंकि जहाँ उपाधि (गुणत्व) है, तहाँ साध्य (स्वप्रकाशत्व) नहीं है, इस प्रकार से साध्याभाव के बोधक रूप मे उपाधि को मानना होगा, अन्यथा (उपाधि को व्याप्य और साध्याभाव को व्यापक नही मानने पर) उपाधि के रहने पर भी साध्याभाव व्यापक रूप से यदि नही रहेगा, तो उपाधि के रहते साध्य रहगा (गुणत्व के रहते स्वप्रकाशत्व रहेगा) परतु वह पक्ष मे (अनुभूति में) उपाधि के हते साध्य रहे, यह बात नही मानी जा सकती है, क्योंकि अनुभूति मे गुणत्व के रहने पर, और वहाँ अनुभूतित्व के रहने पर, अनुभूतित्व से अधिक देशवृत्ति गुणत्व हेतु का व्यापक होगा, फिर उसमें उपाधि का लक्षण ही नही रहेगा। अत पक्ष से अन्यत्र ही उपाधि के रहते ही साध्य के सत्व को कहना होगा, कि जिससे साध्य की व्यापकता उपाधि मे सिद्ध हो। परतु ऐसा मानने पर केवल व्यतिरेकित्व का भङ्ग (अभाव) होगा। भाव है कि साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक उपाधि ही अन्वय व्यतिरेकी हेतु के स्थान मे ही होती है, अन्यत्र नही जैसे कि (धूमवान् पर्वत , वह्न) यहाँ आर्द्रेन्धन सयोग उपाधि है, उसका महानस मे अन्वय ह्रद मे व्यतिरेक रहता है, और अग्निरूप हेतु तप्त अय (लोह) पिण्ड मे भी रहता है वहाँ उपाधि के नहीं रहने से हेतु का अव्यापक और साध्य का व्यापक आर्द्रेन्धन सयोग है, सो स्वरूप से नही, किंतु स्वाभाव से धूम रूप साध्य के अभाव का बोधक, अग्नि के स्थान तप्तपिण्डादि मे होता है, ऐसी उपाधि का केवल व्यतिरेकी मे असम्भव है अत उक्त रीति से, आश्रयासिद्धि स्वरूपासिद्धि व्याप्यत्वासिद्धि से रहित अनुभूतित्व रूप केवल व्यतिरेकी हेतु है।

प्रकृते चानुभूतिर्वेद्या वस्तुत्वाद्घटवदिति केवलान्वयिनानुमानेन हि स्वयप्रकाशत्वव्यतिरेको वक्तव्य । तत्र च नोपाधि सभवति, साधनाव्यापकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । तदेव नासिद्धो हेतु । नापि विरुद्ध:, वेद्येषु विपक्षेष्वनुभूतित्वहेतोरवृत्ते । नाप्यनैकान्तिक , विपक्षाद्व्यावृत्तेरेव । नाप्यसाधारण', सपक्षाभावात् । विपक्षे बाधकतर्काभावात्सन्दिग्धानैकान्तिकतेति चेत्, मैवम् , अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनवस्थापातात् । न च वाच्यमवश्यवेद्यत्वाभावान्नानवस्था व्यवहारस्य तत्स्वरूपसत्तामात्रेणाप्युपपत्तेरिति, तद्विषयप्रमाणानुदये तत्सत्ताया अप्यनिश्चयात् तत एव व्यवहार इत्यप्यसिद्धे । अथ यदा कदाचित्तत्सत्ताजिज्ञासोदये व्यवहारादिना केनचिल्लिङ्गेन सापि प्रमीयत इति मत, तन्न, घट इति घटमनुभवामीति चानुभूतिद्वयातिरिक्तायास्तत्तदनुभूतिपरम्परावगाहि-

काया कस्याश्चिदनुभूतेरनुभवागोचरत्वात्। अन्तरेण तदनुभवं तत्सत्ताभ्युपगमे, प्रमेयसत्ताया अपि तथाभ्युपगमोपपत्तौ प्रमाणगवेषणावैयर्थ्यापातात् तत्रापि च प्रमाणगवेषणाया पूर्वोक्तानवस्था तदवस्थैव स्यात्।

ननु मा भूदुक्तदोषराशिक्लेशानुकर्षितया साध्याभावं प्रति व्यापकत्वमुपाधेः व्याप्यत्वे का नामानुपपत्तिरिति तत्राह—**प्रकृते चेति। अनुमानेनेति**। हेतुनेत्यर्थः। अत्र हि स्वप्रकाशत्वलक्षणसाध्याभावो वेद्यत्वम्। यत्रच वस्तुत्व तत्र च वेद्यत्वं गमकत्वेनाभिमतमिति तदेवोपाधिस्तस्य च केवलान्वयित्वेनाभिमततया सर्वनिष्ठस्य साधनवत्यपि विद्यमानत्वात्साधनाव्यापकत्वं दुर्लभमित्यर्थः। अत्र च प्रकृतग्रहणं केवलान्वयिग्रहणं चोपलक्षणम्। **सर्वकेवलव्यतिरेकिणि** पक्षनिष्ठतयाशङ्क्यमानसर्वोपाधेः साधनव्यापकत्वात्। एतेन साध्याभावसमव्याप्तः कश्चिदुपाधिरस्तीति पक्षोऽपि निरस्तः। किंच यदा साध्याभावं प्रति व्याप्य उपाधिरिष्यते, तदा साध्याभावव्यावृत्तावुपाधिव्यावृत्तिरप्येष्टव्या, व्यापकात्यन्ताभाववन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनो व्याप्यत्वात्, समवद्व्यतिरेकयोश्च व्यतिरेकव्याप्तेरप्येष्टव्यत्वात्। तथाच साध्याभावव्यावृत्तावुपाधेरपि व्यावृत्तिः किं पक्षे? उतान्यत्र? नाद्यः, पक्षे साध्याभावाभावरूपसाध्यस्याद्याप्यनिर्णयात्। नाप्यन्यत्र, केवलव्यतिरेकिताकोपादिति। अत्र कश्चित्—साध्याभावसाधनाभावसम्बन्धभङ्गकृतया विपक्ष एवोपाधिं निदध्यादिति, तत्तु साध्यशब्दार्थानवबोधविजृम्भितमिति न तदपराधः कश्चित्। एवं हि साध्याभावाव्यापकत्वे सति साधनाभावव्यापक उपाधिरित्युक्तं स्यात्तथा च कथं साध्यव्यापकत्वम्? न हि साधनाभावः साध्यम्। अविप्रतिपन्नत्वात्। कुत्र च साध्याभावाव्यापकत्वमवसेयम्? न तावत्पक्षे, तत्र साध्याभावानिर्णयात्। नाप्यन्यत्र, तथासति साधनाभावाव्यापकतया तत्पक्षव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य केवलव्यतिरेकिसाधनाभाववत्त्वात्। बहु चात्र वक्तव्यमस्ति विस्तरभयात्तु नोच्यते। ननु भवतु विपक्षवृत्त्यभावात्सपक्षेऽसति सपक्षाप्रवेशाभावाच्च विरुद्धानैकान्तिकनानामध्यवसितानामभावः। विपक्षे बाधकतर्काभावात्तु संदिग्धानैकान्तिकताकिंवदन्त्या का नु प्रतिक्रियेति शङ्कते—**विपक्षे बाधकेति**। नन्वनुभूतिरनुभाव्यैवेति यदि नियमः स्यात्, स्यादनवस्था। नत्वयं नियम इति मतमाशङ्क्य निषेधति—**नच वाच्यमित्यादिना**। ननु यदि नानुभाव्यतानियमः, अननुभूततया तर्हि कथमर्थे व्यवहार इति शङ्का स एव परिहरति—**व्यवहारस्येति। तत्स्वरूपसत्तामात्रेण**। अज्ञातेनेत्यर्थः। नच वाच्यमित्युक्तं तत्र हेतुमाह—**तद्धिषयेति**। स्यादेव, यदि तज्ज्ञानमन्तरेण तत्सत्ता निश्चीयेत, नत्वेतदस्ति प्रमाणाभावे दुरवधारणसत्तावत्त्वादितरथाऽसत्त्वमेव कथं नाध्यवसीयते। यथोक्तं "को ब्रूते सती सा वित्तिरिति"। तस्मात्सत्त्वमपि तस्य प्रमाणादेवावगन्तव्यमित्यर्थः। यदत्र तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्तं तदाशङ्कते—**अथेति**। अयमर्थः—नास्माभिः सत्तायां प्रमाणमेव नास्तीत्युच्यते अपितु जिज्ञासायां सत्यां, नतु पुनः स्वोदयसमसमयमेवेति। तस्याश्चातीतायाः प्रत्यक्षाविषय-

त्वात् व्यवहारादिना लिङ्गेनेत्युक्तम् । आदिशब्देन न स्मरण गृह्यते । परिहरति—**तन्नेति** । अय भाव —भवेदेव यदि काचिदेवविधा वित्ति स्यात्सैव त्वनुपलब्धिविरुद्धा । न हि समारमण्डले कस्यचिदर्वाग्दशो व्यवसायानुव्यवसायातिरिक्ता तत्तद्विज्ञानपरम्पराग्राहिका काचिदपि वित्तिरनुभूयते । किन्तु तेनोपलब्धियोग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभाव एवावसीयते । योगिप्रभृतीना तु तदस्तित्वे न ते प्रमाणमस्तीति । अथ मा भूदनुभवस्तथापि तत्कल्पयाम इत्यत आह—**अन्तरेणेति** । तदनुभव तादृशवित्त्यनुभवमित्यर्थ । न वयमवमेव कल्पयाम अपितु प्रमाणबलादिति चेत्तत्राह—**तत्रापीति** । तृतीयज्ञान इत्यर्थ ।

उक्त अनुभति के स्वप्रकाशतारूप साध्याभावसाधक उपाधि के अभाव को ही **साधनाऽव्यापकत्व से दर्शाते है कि, प्रकृत (स्वप्रकाशत्वानुमान**) मे (अनुभूति, वेद्य= **स्वप्रकाशत्वाऽऽभाववाली है) क्योंकि** वस्तु है, अत जैसे घट वेद्य है, वैसे अनुभूति भी वेद्य है) इस केवलान्वयी वस्तुत्व रूप (अनुमान) हेतु से ही स्वप्रकाशत्व का व्यतिरेक (अभाव=वेद्यत्व) वक्तव्य (कहना) होगा, परन्तु यह वस्तुत्व वेद्यत्व का साधक माना गया भी, अनुभुतित्व हेतुक अनुमान मे उपाधि नही हो सकता है, क्योंकि वस्तुत्व के केवलान्वयी होने से अनुभूतित्वरूप साधन (हेतु) के अव्यापकत्व कहना अशक्य है । और साधनाऽव्यापकत्व के बिना उपाधि नही कहा जा सकता है । अत उक्त रीति से अनुभूतित्व हेतु असिद्ध नही है । विरुद्ध भी नही है, क्योंकि साध्य के अभाव का साधक हेतु विरुद्ध कहा जाता है (जैसे शब्दो नित्य कृतकत्वात्) यहाँ कृतकत्व है, और साध्याभाव साधक हेतु विपक्ष मे ही रहता है । और यहा अनुभूतित्व रूप हेतु विपक्ष रूप वेद्य (घटादि) मे नही रहता है । अनुभूतित्व अनैकान्तिक (साधारण व्यभिचारी) नहीं है । क्योंकि विपक्ष से व्यावृत्त ही रहता है, विपक्ष वृत्तिसाधारण अनेकान्तिक होता है । असाधारण अनैकान्तिक भी नही है, क्योंकि सपक्ष नहीं है, और जिस हेतु का सपक्ष विपक्ष दोनों हो, परन्तु वह हेतु सपक्ष विपक्ष दोनों से व्यावृत्त होकर पक्षमात्र मे रहता हो, तो वह असाधारण अनैकान्तिक कहा जाता है, जैसे कि (शब्दो नित्य शब्दत्वात) यह शब्दत्व हेतु निश्चित साध्यवान् सपक्ष आकाशादि और निश्चित साध्याभाववान् विपक्षघटादि दोनों से व्यावृत्त होकर पक्ष (शब्द) मात्र मे रहता है । अत असाधारण है, अनुभूतित्व ऐसा नही है, क्योंकि उसका विपक्ष तो घटादि है, परन्तु सपक्ष है नही कि जिससे व्यावृत्त हो । यदि कहा जाय कि विपक्ष (अनुभूति मे अनुभाव्यत्व=वेद्यत्वरूप विरुद्धपक्ष) से बाधक तर्क के अभाव से पक्ष में ही साध्य के सशय होने के कारण सदिग्ध अनैकान्तिकता होगी, तो यह कहना युक्त नही है, क्योंकि अनुभूति यदि अनुभाव्य (वेद्य) होगी, तो अनवस्था की प्राप्ति होगी, यह विपक्ष बाधक तर्क है । अवश्य वेद्यत्व के अभाव से अनवस्था नही होगी, किन्तु अनुव्यवसाय से व्यवसाय वेद्य होगा, और अनुव्यवसाय के अज्ञात स्वरूपसत्तामात्र से ही व्यवसाय अनुव्यवसाय का व्यवहार (कथनादि) होगा । ऐसा कहना नही बन सकता है । क्योंकि अनुव्यवसाय विषयक प्रमाण (ज्ञान) के अनुदये (अनुत्पत्ति) रहते, उसकी सत्ता के भी अनिश्चय से, उसके स्वरूप सत्तामात्र से ही व्यवहार कहना होना भी असिद्ध है ।

यदि कहा और माना जाय कि जब कभी अज्ञात अनुभूति (अनुव्यवसाय) आदि की सत्ता की जिज्ञासा होगी, तब वह सत्ता भी व्यवहारादि लिङ्ग (हेतु) से प्रमित (अनुमित) होगी, और होती है। तो सो मानना नही बन सकता है, क्योंकि, घट है और घटका अनुभव करता हूँ। इस दो अनुभव से अन्य, तत्तदनुभवों के परम्परा (प्रवाह) को ग्रहण करनेवाली किसी अनुभूति (अनुभव = ज्ञान) के अभाव से (अनुभव नही होने से) उक्त अनुमिति नही मानी जा सकती है, अर्थात् उक्त (अय घट) और (घट जानामि) इन दोनों व्यवहारों से, व्यवसाय अनुव्यवसाय की अनुमिति मानी भी जाय तो अनुव्यवसाय विषयक ज्ञान को अनमिति के लिये ही कोई हेतु नही रहने से अज्ञान अनुव्यवसाय की सत्ता नही सिद्ध होगी परम्परा की बात तो दूर रही और और यदि अनुव्यवसायादि विषयक अनुभव (ज्ञान) के बिना उनकी सत्ता मानी जाय तो घटादि आत्मादि प्रमेय की सत्ता की भी उसी प्रकार से ज्ञान के बिना ही स्वीकार की प्राप्ति से, प्रमाण के अन्वेषण में व्यर्थता की प्राप्ति होगी, और यदि अनुव्यवसाय विषयक (घट जानामि) इसको हेतु (प्रमाण) मानकर, उस अनुव्यवसायविषयक तृतीय ज्ञानविषयक प्रमाण का अन्वेषण (खोज) किया जाय तो पूर्वोक्त अनवस्था तदवस्थ हो रहेगी।

अथ सा स्वविषयप्रमाणमन्तरेण स्वभावभेदादेव स्वविषयभेदव्यवहार जनयेत् जनयेत् सैव तर्हि तथा स्वव्यवहारमिति व्यर्थोऽनुभूतिपरम्पराभ्युपगमः। तदेवमनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽनुभूतित्वस्वरूपासिद्धिप्रसङ्ग एव विपक्षे बाधकतर्कत्वात्, न सन्दिग्धानैकान्तिकता। किञ्चानुभूतिरर्थप्रकाशनसमये यदि न प्रकाशेत, तथा सत्यनन्तरक्षणे जिज्ञासोस्तत्र सदेहो विपर्ययो वा विपरीतप्रमा वोदियात्। न च कश्चिदमुमद्राक्षीन्नो वा भवानिति पृष्टोऽनन्तरक्षणे संदिग्धे विपर्यस्यति सविदभाव वा प्रमिणोति, किन्तु निश्चिनोत्येव 'इदमहमद्राक्षम्' इति तेन प्रकाशमानैवानुभूतिरर्थे व्यवहार जनयतीति युक्तम्। न च सुखादिवदन्याधीनप्रकाशत्वेऽपि सशयाद्यविषयत्वोपपत्ति, सति धर्मिणि तद्वदेवावश्यवेद्यत्वेऽनवस्थादौस्थ्यात्।

ननु तादृशी सवित् स्वज्ञापकप्रमाणमन्तरेणैव स्वरूपविशेषात्स्वविषये व्यवहार प्रवर्तयतु, नह्येकस्य यादृगेव स्वभावस्तादृगेव सर्वस्येति शक्यनियमन, जगद्वैचित्र्यभङ्गप्रसङ्गादिति शङ्कते—**अथ सेति । स्वभावभेदात् ।** स्वभावविशेषादित्यर्थ । **स्वविषयभेदव्यवहारमिति ।** स्वविषयविशेषव्यहारमित्यर्थ । परिहरति—**सैव तर्हीति । स्वव्यवहारमिति ।** स्वविषयव्यवहारमिति यावत्। अन्तिमायां यो न्याय स प्रथमायामवास्तु, "प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेष किंनिबन्धन" इति न्यायादित्यर्थ । तृतीयज्ञानमेव वा तच्छब्देनावमृष्ट तदा स्वविषयवत्स्वस्मिन्नपि तथा व्यवहार प्रवर्तयेत्तन्न्यायेन बाद्यस्य स्वप्रकाशता सिद्ध्यतीति द्रष्टव्यम्। किं चानुभूतिरेव भवतु स्वप्रका-

गत्व च माभवत्विति वदन्प्रष्टव्य कि अर्थप्रकाशनसमयेऽनुभूतिर्न प्रकाशत एव ? प्रकाशमान वा परत ? इति । नाद्य इत्याह— किचानुभूतिरिति । अप्रकाशमानेपि सवत्र सदेहादिर्नास्ति जिज्ञासाभावादपि तदभावोपपत्ते । नहि हिमगिरिदरिविहारि केसरिनट सख्यासु सदिहने जना असदिहाना वा विपर्यस्यन्ति, अविपर्यस्यन्तो वाऽभाव प्रमिण्वन्ति, अप्रमिण्वन्तो वा तत्तत्व विनिश्चिन्वन्तीत्यत उक्त — जिज्ञासोरिति । जिज्ञासाया सत्यामपि सदेहादिर्नोदेति अभावनिर्णयादपि नेवाप्यभावोपपत्तेरत उक्त — विपरीतप्रमा वोदियादिति । एतदुक्त भवति—यत्र विपये प्रमितिरपि नास्ति जिज्ञासा च चकास्ति तस्या स्फुरणदशाया सदेहादिभवेदेवेति । नचैनदत्रास्तीत्याह— नच कश्चिदिति । निश्चयमेवाभिनयति—इदमहमद्राक्षमिति । इदानी द्वितीय निषेधति—नच सुखादिवदिति । हेतुमाह—सति धर्मिणीति । धर्मी अनुभव । तद्वदेवेति सुखादिवदेवेत्यर्थ । अथवा सति धर्मिणीति । द्वितीयज्ञाने सतीत्यथ । तद्वदेवेति प्रथमज्ञानवदित्यर्थ । तथासत्यनवस्था पसरन्त्येवेति भाव । नच सुखादिप्रतिबन्दी, तत्राप्यस्मन्मते तत्साधकसाक्षिण स्वप्रकाशत्वेनानवस्थानवतारात्, मततामेव तत्रापि दौस्थ्यात् । तदेवमर्थप्रतीतिसमये सविद स्फुरणमनवस्थाभयादन्यनिवन्धन न भवतीत्युक्तम ।

यदि कहा जाय कि सा (वह दूसरी अनुभूति = अनुव्यवसाय) स्वविषयक प्रमाण के विना ही, अपने स्वभाव भेद (विशेष) से ही अपने विषय (व्यवसाय) के भेद व्यवहार (विशेष व्यवहार) सिद्ध करेगी, तो कहा जाता है कि सा (वह) प्रथमा अनुभूति (व्यवसाय) ही तथा (स्वभाव विशेषसे) स्वव्यवहार को सिद्ध (उत्पन्न) करेगी, फिर अनुभूति परम्परा की अभ्युपगति (अभ्युपगम = स्वीकार) व्यर्थ ही है । इस उक्त रीति से अनुभूति को अनुभाव्य (वेद्य) मानने पर अनवस्था होगी, और द्वितीय तृतीयादि मे कहीं भी प्रमाण के अभाव होने पर मूलपर्यन्त अनुभूति के स्वरूप की असिद्धि की प्राप्ति होगी, सोई उक्त विपक्ष मे बाधक तर्क है, अत सदिग्ध अनैकान्तिकता नही है । और यह विचारणीय है कि स्वविषय के प्रकाशन के समय यदि अनुभूति स्वय नही प्रकाशती हो, तो तथा सति (विषय मात्र के प्रकाश होने पर) उसके अनन्तर उत्तर क्षण में जिज्ञासु को अपनी अनुभूतिविषयक, सशय, विपर्यय, वा विपरीत प्रमा होना चाहिये कि, मुझे घट का ज्ञान हुआ या नही, या मुझे घटाभाव का ज्ञान हुआ, या मुझे ज्ञान नही हुआ ऐसा निश्चय होना चाहिये । परन्तु ऐसा होता नही है, क्योंकि किसी द्रष्टा से उसके शीघ्र दृष्टपदार्थविषयक प्रश्न किया जाय कि आपने अमुक मनुष्य को देखा कि नही, तो वह अनन्तर क्षण मे सशय नहीं करता है, न विपर्यय करता है, न विपरीत प्रमा करता है, किन्तु निश्चय ही करता है, कि मैंने इसको देखा है । अत स्वय प्रकाशमान ही अनुभूति अर्थ विषयक व्यवहार को सिद्ध करती है, ऐसा ही मानना युक्त (उचित) है । यदि कहा जाय कि सुखादि के समान अनुभूति के भी अन्य के अधीन प्रकाश होते भी सुखादि के समान ही अवश्य वेद्य होने से सशयादि नही होते है, तो कहा जाता है कि जैसे सुखादि प्रकाश का धर्मी,

विषय, होता है, प्रकाश स्वरूप नही होता है, वैसे ही अनुभूति के धर्मी होने पर, सुखादि के समान अवश्य वेद्यत्व भी होने पर अनवस्था रूप दुरवस्थता (कठिनाई) होगी ही ।

किञ्च येन मन सयोगेन घटानुभूतिर्जनिता तेनैवानुव्यवसायस्यापि जन्म? उत सयोगान्तरेण ? नाद्य , अनुव्यवसाय प्रति कर्मकारकतया जनकस्य व्यवसायस्य तज्जन्यानुव्यवसायस्य च यौगपद्यायोगात्, करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्यानङ्गीकाराच्च यतोऽसमवायिकारणभेद एव ज्ञानभेदहेतुरभ्युपयते। अन्यथापेक्षणीयान्तरासम्भवेन युगपदेव घटानुभवस्मरणयोरनुभवान्तरस्य च तद्विषयस्योत्पत्तिप्रसङ्गात् । अक्रमाच्च कारणात्कार्यभेदक्रमायोगात्, बाह्यसामग्र्यवच्छेदकक्रमभेदेन कार्यक्रमाभ्युपगमे युगपदेव सम्प्रयुक्तेषु घटपटादिषु युगपदेवानेकज्ञानजन्मप्रसङ्गात् । न द्वितीय , घटज्ञानोदयसमये मनसि क्रियाततो विभागस्तत पूर्वसयोगविनाशस्तत उत्तरसयोगोत्पत्तिस्ततो ज्ञानान्तरमित्यनेकक्षणविलम्बेनोत्पद्यमानस्य ज्ञानस्यापरोक्षतया पूर्वज्ञानग्राहकत्वानुपपत्ते । किञ्च चक्षुरादिवदप्रकाशमानस्यैव ज्ञानस्य स्वातिरिक्तज्ञानजननेनार्थव्यवहारहेतुत्वाभावात् जडाना च स्वत परस्परतो वा प्रकाशमानत्वायोगात् ज्ञानमपि न प्रकाशते चेन्, किमपि न प्रकाशेतेति जगदान्ध्यप्रसङ्ग इत्यादिविपक्षबाधकस्तर्क उह्येय ।

इदानी तात्कालिक तद्विषय ज्ञानमेव निरूपयितु न शक्यते कारणाभावादित्याह—**किच येनेति** । व्यवसायजनकसयोगेनैवानुव्यवसायजन्मेत्याद्य पक्ष निराचष्टे- **नाद्य इति** । तत्र कि युगपदेव ज्ञानद्वय जनयति स मन-सयोग ? उत पर्यायेण ? नाद्य , जन्यजनकयो समसमयमेव जन्माभावादित्याह—**अनुव्यवसाय प्रतीति** । न द्वितीय इत्याह—**करणस्येति** । प्रत्ययपर्याय प्रत्ययपरम्परा । पत्ययपर्याये सामर्थ्याभाव विवृणोति--**यत इति** । अस्यैव भेदकत्वानङ्गीकारे दण्डमाह—**अन्यथेति** । तत्र सस्कारसहितमिन्द्रिय प्रत्यभिज्ञा जनयति तत्र घटविषययोरनुभवस्मरणयोस्तद्घटविषयानुभवान्तरस्य चेति ज्ञानत्रयस्य युगपदुत्पत्ति सङ्गात् । तत्र हेतु —**अपेक्षणीयान्तरासम्भवेनेति** । सयोगभेदस्यानङ्गीकारात्, विषयस्य चैकत्वादेव उपपन्नत्वात्सस्कारस्य सम्प्रयोगस्य च विद्यमानत्वादिति भाव । तदेव कार्यभेदो दृश्यमानस्तदुपपादकासमवायिकारणभेद कल्पयतीत्युक्तम् । इदानी कार्यक्रमोऽपि क्रमवत्कारणमन्तरेणानुपपद्यमानोऽसमवायिकारणक्रम कल्पयति, ततश्च तस्यानेकत्वमित्याह—**अक्रमाच्चेति** । ननु भवतु कारणक्रम , स त्वसमवायिकारणस्य न भवति, अपि तु बाह्यसामग्री या विषयेन्द्रियसम्प्रयोगादिस्तदीय इत्याशङ्क्य नहि यत्र युगपदेव विषयेन्द्रियसम्प्रयोगस्तत्र युगपदेवानेकानि ज्ञानानि जायेरन् ननु तदस्ति तस्मात्तत्रापि कार्य-

क्रमप्रयोजको बाह्यसामग्र्यतिरिक्तस्यान्तरस्य कारणस्य क्रमो वक्तव्यस्तत्र चात्ममन-सोरेकत्वेन क्रमायोगात्परिशेषात्तयोः संयोगलक्षणासमवायिकारणक्रम एव प्रयोजक इत्याह—**बाह्यसामग्रीति** । न चादृष्टस्य भेदाद्, अतिप्रसङ्गात् । तदेव प्रथमज्ञान-जनकसंयोगादेव द्वितीयज्ञानजन्मेत्यय पक्षो निरस्तो वेदितव्यः । इदानीं संयोगान्तरा-दनुव्यवसायजन्मेति द्वितीयं पक्षं निरस्यति—न **द्वितीय इति** । अवसानाग्र[illegible]प्रत्य-क्षाभावादित्यर्थः । पूर्वं संवित्स्फुरणानुपपत्तिर्बाधिकेत्युक्तमिदानीं सर्वस्फुरणानुपपत्ति-रूपं बाधकमाह—**किंचेति** । एवं हि तव मतेऽभ्युपगमः, ज्ञायमानमेव ज्ञानमर्थव्यवहार-हेतुरिति न नियमो निलीनस्यापि तस्य चक्षुरादिवद्व्यवहारहेतुत्वसम्भवादिति । न चैषोऽपि युक्तः । तथा सति चक्षुरादिवदेवार्थप्रकाशकत्वं स्यात् न तु प्रकाशत्वं, प्रकाशत्वं च सिद्धमतो न चक्षुरादिसाम्यमित्यर्थः । किंच तदपि ज्ञानं पूर्वज्ञानवदेवेति न किंचिदपि-ज्ञानमर्थप्रकाशं स्यात् । ज्ञानानां च जडत्वादेव न स्वयं परस्परेण वा प्रकाशकत्वम् इति जगदप्येवान्धकारमयं हि निपतितं पदे पदे इत्याभाणकमागतं चैव जगत एव घोरान्धकारनिकरकूपोदरनिपाताऽपात इत्याह—**जडानां चेत्यादिना** ।

और भी विचारणीय विषय है कि वेदान्त में तो स्वयं प्रकाश साक्षी से सुखादि का तथा सब मनोवृत्ति का प्रकाश होता है, अतः अनवस्था आदि का भय नहीं है, प्रतिवादी मत में, आत्मा का मन के साथ संयोग होता है फिर आत्मसंयुक्त मन का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है, मनःसंयुक्त इन्द्रिय का विषय के साथ संयोग होता है, तब बाह्य विषय का ज्ञान होता है, तहाँ आत्मा उस ज्ञान का समवायी कारण (उपादान) होता है, और आत्म के साथ मन का संयोग असमवायी नामक कारण होता है, अदृष्टादि-निमित्त कारण होते हैं, तहाँ विचारणीय है कि जिस मन संयोग से घट का अनुभव (ज्ञान) जनित (उत्पन्न) होता है, उसी संयोग से अनुव्यवसाय का जन्म होता है, अथवा दूसरे संयोग से अनुव्यवसाय होता है, तहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रथम ज्ञानविषयक दूसरे ज्ञान को प्रतिवादी अनुव्यवसाय कहते हैं, अतः अनु-व्यवसाय के प्रति व्यवसाय नामक प्रथम का ज्ञान कर्मकारक रूप से जनक (हेतु) होता है, और उससे जन्य अनुव्यवसाय होता है, अतः पिता पुत्र के समान दोनों का यौगपद्य (समकालिक समहेतुक उत्पत्ति) का सम्भव नहीं है, यौगपद्य अयुक्त है। यदि कहा जाय कि एक मन संयोग से एक काल में व्यवसाय अनुव्यवसाय हो, तब यौगपद्य हो, परन्तु क्रम से दोनों की उत्पत्ति मानी जाय तो यह दोष नहीं रहेगा, तो सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि करणों का प्रत्यय पर्याय (ज्ञान परम्परा) में सामर्थ्य नहीं माना गया है, अतः एक संयोगरूप मनरूपकरण ज्ञान को क्रम से उत्पन्न नहीं कर सकता है, अतः एव असमवायी कारण (रूपकरण) के भेद ही को ज्ञानभेद का हेतु माना जाता है। अन्यथा (यदि एक संयोग से अनेक ज्ञान हो तो) आत्मा और मन सब ज्ञानों का तुल्य कारण है, संयोगान्तर भी अपेक्षणीय नहीं हो, एक ही संयोग से अनेक ज्ञान माना जाय तो, युगपद् (एक ही काल में) ही घट का अनुभव और स्मरण की प्राप्ति

होगी, उस घट विषयक तथा स्मरण विषयक प्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति होगी, क्योंकि घट विषय एक है, और उसके पूर्वदर्शनादि जन्य संस्कार का भी सम्भव है, तहाँ अपेक्षणीयान्तर (संयोगान्तर) के असम्भव से ज्ञानत्रय की समकाल से प्राप्ति होगी। अत उनके असमवायी कारण (मन संयोग) को अवश्य भिन्न भिन्न क्रमिक मानना होगा, क्योंकि अक्रम (क्रमरहित) कारण से कार्यभेद का क्रम अयुक्त है (हो नही सकता है) यदि कहा जाय कि मन संयोगरूप अन्त करण के एक होते भी बाह्य इन्द्रिय विषय संयोगादि कारण के क्रम से कार्य ज्ञान का क्रम होगा, तो सो कहना भी नहीं बन सकता है, बाह्य सामग्रीरूप अवच्छेद (व्यावर्तक) के क्रम भेद से कार्यक्रम को मानने पर भी, समकाल में इन्द्रियों से संयुक्त घटपटादि विषयक समकाल में ही अनेक ज्ञान के जन्म की प्राप्ति होगी, और ऐसा होता नहीं, समूहाऽलम्बन एक ही ज्ञान होता है, अत असमवायी कारण भेद मन्तव्य है। दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, अर्थात् संयोगान्तर से अनुव्यवसाय होता है, यह पक्ष भी युक्त नहीं है। क्योंकि एक मन संयोग से घट ज्ञान के उत्पन्न होने पर उसी समय (क्षण) में अनुव्यवसाय के लिये संयोगान्तर का हेतु मन में क्रिया होगी, दूसरे क्षण में क्रियाजन्य विभाग होगा, फिर तीसरे क्षण में विभाग से पूर्वसंयोग का नाश होगा, चौथे क्षण मे उत्तरसंयोग होगा, तब उसके बाद अनुव्यवसाय होगा, इस प्रकार से अनेक क्षण के विलम्ब से जन्य अनुव्यवसाय ज्ञान का पूर्वज्ञान का प्रत्यक्षरूप से ग्राहक (प्रकाशक) होना असम्भव है, क्योंकि वर्तमान विषय का ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। और दूसरी बात है कि यदि ज्ञान स्वयं प्रकाशस्वरूप नहीं रहता है, व चक्षु आदि के समान अपने से भिन्न प्रकाश को उत्पन्न करके विषय का प्रकाश करता है, तो चक्षु आदि के समान ही अप्रकाशमान (अप्रकाशस्वरूप) ज्ञान का स्वातिरिक्त ज्ञान के जनन (उत्पत्ति) द्वारा घटादि अर्थ के व्यवहार के हेतुत्व के अभाव से तथा जड ज्ञान और अर्थों को स्वतः वा परस्पर घटपटादि के समान प्रकाशमानता के अयोग (अभाव) से ज्ञान भी यदि नहीं प्रकाशेगा, तो कुछ भी नहीं प्रकाशेगा, न कोई व्यवहारसिद्ध होगा, इस प्रकार से जगत में अन्धता (केवल जडता = चैतन्यशून्यता) की प्राप्ति होगी, इत्यादि विपक्ष बाधक तर्क कल्पनीय है। अर्थात् चक्षु प्रकाशक है, प्रकाशस्वरूप नही है, तैसा ही यदि ज्ञान जड हो, तो चक्षु से जैसे प्रकाश की उत्पत्ति होती है, तैसे ज्ञान से अन्य प्रकाश की उत्पत्ति नहीं होने के कारण और स्वयं भी प्रकाशस्वरूप नही होने के कारण घट और घट ज्ञान में जडता तुल्य रहने कौन किसको प्रकाशेगा इत्यादि।

ननु घटज्ञानवानहमस्मि ज्ञातो घट इति प्रत्यक्षेणैवानुभूतेर्वेद्यत्वप्रतीतेर्बाधात् तदसिद्धिरितिचेत्, न, वेद्यत्वव्यतिरेकेण तस्या स्वत स्फुरणेनापि तादृग्व्यवहारोपपत्ते। किञ्च विदितो घट इत्यत्रानुव्यवसायेन घटस्यैव विदितत्वमवसीयते न तु वित्ते, विदितत्वस्य घटविशेषणत्वात्। अपि चानुभूते प्रत्यक्षतायामपि तत्प्रत्यक्षेणैव तदनुभाव्यत्वस्याप्रत्यक्षीकरणान्न प्रत्यक्षविरुद्धता। अन्यथानुव्यवसायेन व्यवसायस्य स्वविशेषितवेद्यत्वग्रहणे विशेषणतया स्वस्यापि स्वेन वेद्यत्वापातात् सौगतमतानुमति-

प्रसङ्ग । न च वेद्यत्वापादकवस्तुत्वाद्यनुमानविरोध, व्याप्तिग्रहणासिद्धे । तथाहि-वस्तुत्वाद्वेद्यत्व साधयता यद्यद्वस्तु तत्तद्वेद्यमिति व्याप्तिरभ्युपेया । तथासत्यस्या व्याप्तेर्ग्राहिका सविद्व्याप्तिग्रहणसमये स्फुरति ? न वा ? आद्ये स्वेनैव स्फुरणे सौगतमतानुसतस्वप्रकाशतापत्ति । तत्स्फुरणस्य स्वनेतुताया अप्यनङ्गीकारे वेदान्तसिद्धान्ताभिमत स्वप्रकाशत्व त्वयाभ्युपगत स्यात् ।

प्रत्यक्षविरुद्धकालातीततामाशङ्कते—नन्विति । घटविशेषितज्ञानावग्राहि वा ज्ञान विशेषितघटावग्राहि वोभयथापि ज्ञानग्राह्यमेवेदमित्यर्थ । अत्र तावदेवविधशब्दप्रयोगस्य विषयस्फुरणेन भवितव्य, तत्तु यथायथ ज्ञानस्य स्वरूपस्फुरणेन घटस्य तु तेनैव स्फुरणेनेत्येव स्फुरणेऽपि सभवत्येवाय व्यवहार इति नाय ज्ञानस्य वेद्यत्वापादनक्षम इत्याह—न, वेद्यत्वव्यतिरेकेणेति । विदितो घट इत्यत्राधिकमाह—किंचेति । अथवा व्यवहारस्यानुभूतिविषयत्वमङ्गीकृत्यान्यथासिद्धिरभिहिता । इदानीं तु तदेव न स्तीत्याह—किंचेति । एव हि ज्ञानस्यापि विदितत्व व्यवहारविषयत्व वा स्यात् । यदि विदित इति पद वेदनेन तदन्विततत्वेतत्, घटेनैव तस्यान्वयादित्यर्थ । किं भवतु तावेन ज्ञानेन स्फुरण तथाप्येतज्ज्ञानवेद्यत्वमनेनैव गृह्यते ? अन्येन वा ? न तावदन्येन, तदानीं प्रथमस्यातीततया तन्निष्ठवेद्यताया अप्रत्यक्षत्वात् । न द्वितीय अपराद्धान्तापातादित्याह—अपिचानुभूतेरिति । सौगतमतानुप्रवेशो ज्ञानस्यैव स्वग्राहकत्वेन क्रियाकर्मभावस्वीकार । मतप्रतिपक्षता परिहरति—नचेति । येयं व्याप्तिग्राहिणी सवित्समस्त वस्तु तद्गतवेद्यत्व च गृह्णाति, सापि स्फुरति ? न वा ? यदि स्फुरति ? तदा स्वेनान्येन वा ? स्वेनेति तावन्न घटत इत्याह—स्वेनेति । न वयं क्रियाकर्मभाव ब्रूमो येन तथागतमतापात स्यात्किंतु सविद्रूपत्वमित्यत आह—तत्स्फुरणस्येति । अन्येनेति त्वनवस्थया दूषितप्रायमित्युपेक्षितम् ।

शका हो कि, मै घट ज्ञानवाला हूँ, और घट ज्ञात है, इस प्रकार के प्रत्यक्ष से ही अनुभूति के वेद्यत्व की प्रतीति से, अनुभूति के स्वप्रकाशत्व के साधक अनुभूतित्व हेतु मे, कालात्ययापदिष्टता (बाधितत्व) है, तथा प्रत्यक्ष से विरुद्धता है। यदि यह शका हो तो युक्त नही है, वेद्यत्व के बिना ही अनुभूति के स्वत स्फुरण (स्वप्रकाश) स्वरूपता से भी वैसे उक्त व्यवहार की सिद्धि होती है। और दूसरी बात यह है, विदितो (ज्ञातो) घट इस अनुव्यवसाय से घट के ही विदितत्व (ज्ञातत्व) ज्ञात (प्रत्यक्ष) होता है, ज्ञान के नही, क्योंकि ज्ञातो घट, इस वाक्य मे विदितत्व (ज्ञातत्व) घट का विशेषण है। ज्ञान का नही। और यदि अनुव्यवसाय से व्यवसायरूप अनुभूति की प्रत्यक्षता हो भी तो भी उस अनुभूति के प्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय से जो, उस अनुभूति (व्यवसाय) के अनुग्राह्यत्व (वेद्यत्व) का प्रत्यक्ष नहीं किया जाता है, अत अवेद्यत्व साधक अनुभूतित्व का इस प्रत्यक्ष से विरुद्धता नही है। अन्यथा (अनुव्यवसाय से व्यवसायगत स्वजन्यवेद्यत्व के प्रत्यक्ष=ग्रहण होने पर) अनुव्यवसाय से स्वविशेषित (अनुव्यवसाय विशेषणयुक्त) व्यवसाय के ग्रहण होने से विशेषण रूप से अपने से

अप ी वेद्यता (ज्ञेयता) की प्राप्ति से सोगत (क्षणिक विज्ञानवादी बुद्ध) मत की स्वाकृति प्राप्त होगी। भाव यह है कि अनुव्यवसाय से व्यवसाय में वेद्यत्व होता है, उस वेद्यत्व के ग्रहण में वद्यत्व के साधक अनुव्यवसाय जबतक अपने स्वरूप को नही ग्रहण करेगा, तब तक स्वसिद्ध व्यवसायगत वेद्यत्व को ग्रहण नही कर सकेगा और वेद्यत्व साधक अपने को आप ग्रहण करेगा। ऐसा माना जाय तो सौगत मत प्राप्त होता है। एक ही में कर्मकर्तृभाव विरोध प्राप्त होता है।

और वद्यत्वसाधक वस्तुत्वादि अनुमान (हेतु) से जो विरोध (प्रतिपक्ष) कहा था, सो विरोध भी नही है, क्योंकि वेद्यत्व के वस्तुत्व में व्याप्तिज्ञान की असिद्धि है, हो नही सकती है। सो दर्शाया जाता है कि वस्तुत्व हेतु से वेद्यत्व की सिद्ध (अनुमान) करने वाले को जो जो वस्तु है, सो सो वेद्य है। यह व्याप्ति माननी होगी। और ऐसा मानने पर, विचार करना होगा कि इस व्याप्ति का ग्राहक (प्रकाशक) सम्विद (ज्ञान) इस व्याप्ति ग्रहण के समय स्फुरता (प्रकाशता) है, और उसमे व्याप्तिगृहीत हो जाती है। या उस समय वह नहीं प्रकाशता है, न उसमें व्याप्ति गृहीत होता है, तहाँ प्रथम पक्ष में अपने से ही अपने स्फुरण (प्रकाश) की प्राप्ति से तो सौगत मत में स्वीकृत स्वप्रकाशता की प्राप्ति होगी। और उस व्याप्तिज्ञान के स्फुरण (प्रकाश) को व्याप्ति ज्ञान हेतुक (व्याप्तिज्ञानजन्य) नहीं मानकर, प्रकाश को मानने पर, वेदान्त सिद्धान्ताभिमत स्वप्रकाशता आप में स्वीकृत हो जायगी।

द्वितीये तु सविल्लक्षणवस्तुविशेषस्यास्फुरणादेव सर्वोपसंहारवती व्याप्तिरेवास्तमियात्तत्र कुतोऽनुमानप्रसरः कुतस्तरां च प्रकृतस्य हेतोः सप्रतिसाधनता। अपि च भाट्टानां ज्ञाततायां व्यभिचारात् नैयायिकादेश्च वेद्यत्वस्यापि धर्मतयात्यन्ताभावप्रतियोगित्वादवेद्यस्यापि कस्यचित्सम्भवेन वस्तुत्वादेः केवलान्वयित्वेनाभिमतस्यापि हेतोः सम्भावितविपक्षतया विपक्षबाधकतर्कमन्तरेणाप्रयोजकत्वात्। नह्यनुभूतेरवेद्यत्वे वस्तुत्वानुपपत्तिः, स्वतःसिद्धतायामपि तदुपपत्तेः। लक्ष्यत्वन्यायविषयत्वहेत्वोरपि यथोक्तमूहनीयम्।

अस्फुरणं दूषयति—**द्वितीये स्थिति**। सर्वोपसंहारवती सर्वं नैष्ठिका । सर्वव्यक्तिनिष्ठा इति यावत्। तदेव साधारण्येन व्याप्त्यसिद्धिमभिधाय प्रतिदर्शनमपि दर्शयति—**अपिचेति**। भाट्टानां प्राकट्य स्वप्रकाशमित्यर्थः। यस्य तु नैयायिकस्य स्वप्रकाशं न किंचिदप्यस्ति तस्य पूर्वोदितानुमानेन वेद्यत्वरहितं किंचित्साधयित्वा तत्र हेतोर्वृत्तिनिश्चयात्सदिग्धानैकान्तिकता वक्तव्या इत्याह— **नैयायिकादेश्चेति** । नन्वेतदेव विपक्षबाधकं यद्वस्तुत्वहानिरित्यत आह—**नहीति**। वस्तुत्वं हि स्फुरणाभावे निवर्तते अवेद्यस्यापि स्वतःस्फुरणोपपत्तेः । नान्तरेण वेद्यत्वमनुपपत्तिर्वस्तुत्वस्येत्यर्थः । एतेनेदमप्यपास्तं यदाह मानमनोहरकारः 'ज्ञानं प्रत्यक्षवेद्यं वस्तुत्वाद्घटवत्" इति। यच्च तार्किकैरुत्प्रेक्ष्यते वेद्यत्वसाधनाय लक्ष्यत्वान्न्यायविषयत्वादिति च, तत्रापि यल्लक्ष्यं यच्च न्यायविषयं तद्वेद्यमिति व्याप्तिग्राहिणि ज्ञाने लक्ष्ये न्यायविषये च स्फुरत्यस्फुरति च पूर्वोक्तविकल्पदोषाः समानाः इत्याह—**लक्ष्यत्वेति**।

दोष प्राप्त होता है तो ऐसा कहना=समझना उचित नहीं, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त मे ज्ञान की स्वप्रकाशता से ज्ञानविषयक ज्ञानस्वरूप अनुव्यवसाय का स्वरूप ही असम्मत होने के कारण उसमें धर्मि भागता (पक्षांशता) नहीं मानी जाती है, अर्थात् अनुव्यवसाय रूप अनुभूति वेदान्त मे नहीं मानी जाती है, अत भाग में सिद्धसाध्यता नहीं हो सकती है।

उक्त अनुमान युक्त नही है, अत उसमे भी स्वप्रकाशता नहीं सिद्ध हो सकती है। क्योंकि अनुभूति के व्यवहार का हेतुस्वरूप प्रकाशत्व जहा (जिस ज्ञान मे) सिद्ध है, वहां यदि हेतु भी रहता है, तब तो हेतु में केवल व्यतिरेकित्व नही रहता है, व्यतिरेकी हेतु वही होता है कि जिसका साध्य के साथ सहचार निश्चित नही हो, और प्रकृत मे व्यतिरेकी हेतु का प्रयोग किया गया है, साध्य के सहचार का ज्ञान होने पर वह अन्वयी हेतु समझा जायगा, और साध्य स्थान (अनुभूति व्यवहारहेतु प्रकाशत्व स्थान) मे हेतु के नही रहने पर, सपक्ष (निश्चित साध्यवान्पक्ष) मे अप्रवेशी (अवृत्ति) हेतु को असाधारण अनैकान्तिकता (सव्यभिचारता) की प्राप्ति होगी। निश्चित साध्याभाववाला विपक्ष कहा जाता है, उसमें हेतु की वृत्तिता तो अनुमान का प्रयोग करनेवाला मानता ही नही है, और निश्चित साध्यवाले में भी यदि हेतु नही हो, तो वह सपक्ष विपक्ष उभय से व्यावृत्त (निवृत्त) होकर पक्षमात्र मे वृत्ति अनैकान्तिक (अनिश्चित साध्यवाला) दुष्ट हेतु कहा जाता है। जैसे (शब्दो नित्य शब्दत्वात्) यह शब्दत्व नित्य आकाशादि और अनित्यघटादि रूप सपक्ष विपक्ष से व्यावृत्त होकर, नैयायिक मतानुसार पक्ष (शब्द) मात्र मे वृत्ति है, और शब्द का असाधारण धर्म है, और साध्य के साथ ऐकान्तिक (निश्चित नियत सहचारवाला) नहीं है, ऐसा ही अनुभूतित्व अनुभवरूप पक्ष मात्रवृत्ति उसका असाधारण धर्म और अनैकान्तिक है। और सपक्ष (साध्ययुक्त पक्ष) मे हेतु के रहने पर, उस अनुव्यवसाय रूप सपक्ष भाग में सिद्धसाधनता दोष दुष्परिहार है। अनुव्यवसाय को स्वसिद्धान्त में असिद्धतामात्र से, परमत से सिद्धसाध्यवाले धर्मी=अनुव्यवसाय मे सिद्धसाधनता का परिहार (निवारण) नही हो सकता है।

अन्यथाऽन्यथाख्यातिवादिभि केनचिद्धेतुना रजतज्ञानस्य पुरोवर्तिविषयत्वे साधिते वेदान्तिना चानिर्वचनोयपुरोवर्तिरजतविषयत्वेन सिद्धसाधनत्वेऽभिहिते नास्माक तत्सिद्धमिति वचनमात्रेणान्यथाख्यातिवादिनश्चरितार्था भवेयु । अथ नानिर्वचनीयवादिनं प्रति अयं प्रयोगस्तस्य सिद्धसाधनतापत्ते, तर्ह्यनुव्यवसायवादिनं प्रत्यप्यय प्रयोगो न स्याद्भागे सिद्धसाधनत्वप्रसङ्गात्, स्वप्रकाशवादिनं प्रति सिद्धसाधनत्वादप्रयोग इति मूकीभाव एव स्यात्।

विपक्षे बाधिका प्रतिबन्दी गृह्णाति—**अन्यथान्यथेति**। **केनचिद्धेतुनेति**। रजतार्थिनो नियमेन पुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्रजतेच्छाधीनपुरोवर्तिप्रवृत्तिहेतुत्वाद्वेत्यादिनेत्यर्थ । अस्त्वनुव्यवसायवादिन प्रत्यप्रयोग यस्य तु तन्नास्ति तं प्रति निरुपसर्गः प्रयोग इत्यत आह—**स्वप्रकाशवादिनमिति**।

यदि स्वसिद्धान्त (वेदान्त) मे अनुव्यवसाय के अस्वीकारमात्र से परसिद्ध अनुव्यवसाय मे सिद्धसाधनता का निवारण हो, तो अन्यथाख्यातिवादी जहा नियत पुरोवर्तित्वादि हेतु से भ्रान्त रजतज्ञान को पुरोवर्त्तिविषयकत्व अनुमान करते है कि (इद रजतम्) यह रजत है, ऐसा ज्ञान आगे वर्तमान शुक्तिविषयक (अन्यथा) अन्य रूप से होता है, वहाँ यदि वेदान्ती अनिर्वचनीय (कल्पित) रजत विषयकत्व से, अनुमान मे सिद्धसाधनत्व दोष कहेगे, तो, अन्यथा ख्यातिवादी भी, मेरे मत मे अनिर्वचनीय रजत मान्य नही है, अत सिद्ध साधन नही है, ऐसा वचन मात्र कहकर चरितार्थ (कृतार्थ) होंगे, सिद्धसाधनता की निवृत्ति के लिये, यत्नान्तर (अनिर्वाच्य का खण्डनादि) नहीं करना होगा, इत्यादि। यदि कहा जाय कि अन्यथा ख्यातिवादी, यह पुरोवर्तिविषयकत्व का अनुमान अनिर्वचनीयवादी के प्रति नहीं प्रवृत्त होता है, क्योंकि अनिर्वचनीयवादी के प्रति सिद्धसाधनता का प्रसङ्ग होना है, तो अनुव्यवसायवादी के प्रति भी (अनुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाश) इस अनुमान का प्रयोग नही होगा, क्योंकि अनुव्यवसाय भाग (अश) में सिद्ध साधनता की प्राप्ति होती है, यदि कहा जाय कि अनुव्यवसायवादी के प्रति यह अनुमान प्रयोग नहीं होकर अन्य के प्रति होगा, तो सो कहना भी ठीक नही, क्योंकि अनुव्यवसायवादी से अन्य तो कोई स्वप्रकाशवादी होगा, अत उसके प्रति सिद्ध साधनता से अप्रयोग की प्राप्ति से मूकीभाव = मौन ही धारण करना होगा

अथ विवादपदेनानुव्यवसायस्य व्यवच्छेदान्नास्य धर्मिभागेनेति मति, तथापि तस्य साध्यविशेषणप्रसिद्धस्थलत्वेनाभ्युपगमाद्धेतो केवलव्यतिरेकित्वाभावस्तदवस्थ, तदनङ्गीकारे च न विशेषणप्रसिद्ध्युपपत्ति। अथ पर प्रत्येव तस्य प्रसिद्धिस्थलता, तर्हि त प्रति केवलव्यतिरेकिप्रयोगायोग। कि च व्यवहारहेतुत्वस्य प्रकाशविशेषणतायां, कैवल्ये तदभावात्स्वयप्रकाशताभाव, व्यवहारहेतुत्वयोग्यतायां च स्वरूपातिरिक्तायां स एव दोष। अथ तदुपलक्षितप्रकाशात्मत्वमेव साध्यं, तथाप्युपलक्षितत्वस्य साध्यान्तर्भावे स एव दोष। अनन्तर्भावे च प्रकाशस्वरूपताया एव साध्यत्वात् तस्याश्चान्यत्रापि सिद्धत्वान्न केवलव्यतिरेक्यनुमानावकाश।

ननु विवादपदमित्यनुभूतेर्विशेषण प्रक्षिप्यते तथानुव्यवसायस्य परसप्रतिपन्नमान्यस्य व्यावर्तनमिति तदाह—**अथेति**। तत्रेद वक्तव्य—किमनुव्यवसायज्ञान स्वमनसमत ? न वा ? न यदि, तदा कथ विशेषणता। अथ समत तदा कथ स्वप्रकाशता, कथ वा केवलव्यतिरेकितेति। तदेतदपिना सूचयन्भङ्ग्यन्तरेण पुरोदित केवलव्यतिरेकिताकोरमाह—**तथापीति। साध्यविशेषणेति**। साध्यमेव विशेषण, पक्ष प्रति विशेषण त्वात्तस्य। नव व्यवसाय पक्षीकृत्यानुव्यवसाय स्वदनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाशत्वसाधनादन्वयव्यतिरेकितास्तु। अनुव्यवसायाङ्गीकारानङ्गीकारयोव्याहतिदृष्टान्ताभावयो. प्रसङ्गात्। यानि च स्वव्यवहारहेतुप्रकाशत्वमिति पञ्चमे पक्षे व्यवहारहेतुत्वस्य विशेषणोपलक्षणपक्षविकल्पेन दूषणान्युक्तानि तान्यत्र प्रसरन्तीत्याह—**किंच व्यवहारहे-**

तुत्वस्येति। ननु व्यवहारहेतुत्वयोग्यता विवक्षिता। सा च तदानीमप्यस्ति योग्यताया यावद्वस्तुभावित्वादित्याशङ्क्य, तर्हि सा स्वरूपातिरिक्ता? तदनतिरिक्ता वा? अतिरिक्तापि विशेषणम्? उपलक्षणं वेति विकल्प्य, विशेषणपक्षं दूषयति—व्यवहारेति। स्वरूपातिरिक्ताया विशेषणताया चेत्यध्याहर्तव्यम्। उपलक्षणत्वे पक्षद्वयं शङ्कते—अथेति। तया योग्यतया, तेन व्यवहारहेतुत्वेन वोपलक्षितं यत्प्रकाशात्मकत्वं तदेव साध्यमित्यर्थः। तदापि वक्तव्यं यत्तदुपलक्षितत्वं तद्विशेषणम्? उपलक्षणं वा? आद्यं दूषयति—तथापीति। स एव दोष इति। कैवल्यावस्थायां तदभावादस्वयंप्रकाशत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः। उपलक्षितत्वस्योपलक्षणत्वपक्षं दूषयति—अनन्तर्भावे चेति। तस्याश्चान्यत्रापीति। अनुव्यवसायादिष्वपीत्यर्थः। एतेनानतिरिक्तपक्षोऽपि निरस्तो वेदितव्यः।

उक्त आपत्ति के वारण के लिये कहा जाय कि, विवादपद (विषय) यह, अनुभूति रूप पक्ष का विशेषण लगाया जायगा, और अनिश्चित वस्तु विवाद का विषय होता है, अनुव्यवसाय में साध्य (व्यवहारहेतु प्रकाशत्व) निश्चित होने से उसका व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) हो जायगा, अत उस अनुव्यवसाय को धर्मि भागता (पक्षांशता) नही रहेगी, इससे अंश में सिद्धसाध्यता भी नही रहेगी। तो भी उस अनुव्यवसाय को साध्य की प्रसिद्धि का स्थान होने के कारण, और उसको साध्यप्रसिद्धि के स्थान रूप से स्वीकार करने पर, हेतु के केवल व्यतिरेकित्व का अभाव पूर्व के समान रहता है, और नहीं मानने पर पक्ष के विशेषण रूप साध्य की प्रसिद्धि नहीं सिद्ध होती है, यदि कहा जाय कि, पर (नैयायिक) के ही प्रति उस अनुव्यवसाय को साध्यप्रसिद्धि की स्थानता है, मेरे अभ्युपगमादि की आवश्यकता नहीं है, तो उस नैयायिक के प्रति केवलव्यतिरेकि प्रयोग अयुक्त है। और यहा यह भी विचारणीय है कि व्यवहारहेतुत्व यह साध्यांश प्रकाश का विशेषण है, या उपलक्षण है. उसको विशेषण मानने पर, कैवल्य (मोक्ष) अवस्था में आत्मा मे व्यवहारहेतुत्व के अभाव से, विशेषण विशिष्ट साध्य के अभाव से स्वप्रकाशता के अभाव की प्राप्ति होगी। और यदि कहें कि व्यवहार हेतुत्व से व्यवहार हेतुतायोग्यत्व विवक्षित है, सो मोक्षावस्था में भी रहता है, अत अस्वप्रकाशता नही प्राप्त होगी, तो सो कहना भी नही बन सकता है। क्योंकि वह योग्यत्व स्वरूप से अतिरिक्त विशेषण होगा, तो मोक्षावस्था में नही रहने से पूर्वोक्त दोष ही प्राप्त होगा, मोक्षावस्था मे निर्विशेषण आत्मा रहता है। योग्यत्व को उपलक्षण माना जाय, और योग्यत्व से उपलक्षित प्रकाशत्व मात्र को साध्य माना जाय तो भी उपलक्षितत्व को साध्य के अन्तर्भाव (विशेषण) मानने पर वह मोक्षावस्था मे अस्वप्रकाशता की प्राप्ति पूर्वोक्त दोष ही रहेगा, यदि उपलक्षितत्व को साध्य के अन्तर्भाव नही करे, विशेषण नही माने, किन्तु उपलक्षण मानें, तो प्रकाशस्वरूपता के ही साध्य होने से, और उस प्रकाशस्वरूपता को अन्यत्र (अनुव्यवसाय में) भी सिद्ध होने से केवल व्यतिरेकि अनुमान का अवकाश (स्थान) नही रहता है। योग्यता आदि के स्वरूपत्वपक्ष मे नित्य सापेक्षता को प्राप्तिरूप दोष प्रथम कहा जा चुका है।

एतेनानुभूतिरनुभाव्या न भवत्यनुभूतित्वादित्यादिप्रयोगोऽपि परास्त; तत्राप्यप्रसिद्धविशेषणताया दुष्परिहरत्वात्, ज्ञान वेद्य वस्तुत्वाद्घटवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च। नच हेत्वसिद्धि, सत्ताधिकरणत्वलक्षणवस्तुत्वस्यावधीरितकल्पिताकल्पितविशेषस्यानुभूतित्वादिवद्धेतुत्वोपपत्ते ।

उक्तदूषणजात प्राचीनाचार्योदीरितानुमानेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति**। एतेनेत्येतदेव विवृणोति—**तत्रापीति**। तदेव स्वप्रकाशत्वे सभाव्यमानानुमानानि दूषयित्वा वेद्यत्वेऽप्यनुमानमाह—**ज्ञानमित्यादिना**। **प्रतिप्रयोगेति**। प्रतिपक्षसाधकेत्यर्थ, सत्प्रतिपक्षता वा। ननु किमिद वस्तुत्व हेतूकृत कि काल्पनिकसत्त्वम्? आहोस्विद्वास्तवसत्त्वमिति? नाद्य, उभयासिद्धे। नोत्तर, अद्वैतवादिन साधनविकलत्वादित्यत आह—**नच हेत्वसिद्धिरिति**। साधनवैकल्यस्याप्युपलक्षणमेतत्। अथवा कि वस्तुत्व नाम काल्पनिको धर्म? उताकाल्पनिक? नाद्य, तवासिद्धे। नोत्तर, ममासिद्धेरित्याशङ्क्याविवक्षितविशेषमादायाय परिहार। **सत्ताधिकारणत्वेति**। स्वरूपसत्ता विवक्षिता। **अनुभूतित्वादिवदिति**। यथा ह्यनुभूतित्वादिति स्वप्रकाशत्वादिहेतौ कोऽयमनुभूतित्व नाम धर्म कि कल्पित? उताकल्पित? नाद्य, परस्यासिद्धे, न द्वितीय स्वस्यासिद्धेरिति विकल्पिते साधारण्येनैव परिहारस्तद्वदित्यर्थ।

अनुभूति (संविद्) अनुभाव्य (वेद्य) नही होती है। क्योंकि उसमे अनुभूतित्व (अनुभवस्वरूपत्व) रहता है, इत्यादि प्रयोग भी पूर्वोक्त दूषणों से परास्त (निरस्त) हो गया। क्योंकि उनमे भी अप्रसिद्धविशेषणता दोष दुष्परिहर (दुर्निवार) है। और वस्तुत्व के कारण ज्ञानवेद्य (अनुभाव्य) है। इस प्रति प्रयोग (विरोधी प्रयोग) रूप प्रतिपक्ष (विरोधी पक्ष) का भी सम्भव है, अत बाधित होने से उक्त अनुमान नही हो सकता है। यदि कहा जाय कि ज्ञानस्वरूप वस्तु के निर्धर्मक होने से वस्तुत्व धर्म रूप हेतु पक्ष में वेदान्त के अनुसार असिद्ध है, तो यह कहना युक्त नही, क्योंकि कल्पित अकल्पित विशेषता के अवधीरण (अविचार) पूर्वक, अनभूतित्वके समान सत्ताऽधिकरणत्व स्वरूप वस्तुत्व को हेतुत्व सिद्ध होता है। अर्थात् अनुभूतित्व हेतु को यदि वेदान्ती कल्पित कहे तो परमत मे कल्पित असिद्ध है, यदि अकल्पित सत्य कहे, तो स्वमत मे असिद्ध है, अत परवादी के साथ कथाकाल मे कल्पितादि विकल्प से रहित साधारण रूप से अनुभूतित्व को हेतु माना जाता है, वैसे ही वस्तुत्व भी हेतु मान्य है।

ननु किमिद साध्यमान वेद्यत्व—वास्तवम्? उतावास्तवम्? आहोस्विद्व्यावहारिकम्? अथवा साधारणम्? आद्ये, साध्यविकल निदर्शनमितरेषु सिद्धसाधनत्वमिति चेत्, मैवम्, घटादेरिव व्यावहारिकप्रमाणसिद्धवेद्यतापादनेऽपि स्वप्रकाशत्वासिद्धे। कि चानुभूतिपद स्वगोचरगोचरज्ञानजन्य पदत्वात्कुम्भपदवत्। ननु किमत्र गोचरशब्देन विषयमात्रमुच्यते? किंवा वाच्योऽर्थः? अथ लक्ष्यो वा? न तावत्प्रथमद्वितीयौ, सिद्धसाधनतापत्ते।

अभ्युपेयते हि अनुभूतिशब्दवाच्यस्यान्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्य ज्ञानस्य ज्ञानगोचरता। तृतीये, तु मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदैर्व्यभिचार इति चेत्,

अत्र गङ्गापुरीभट्टारकोदीरितदूषणमनुवदति—**ननु किमिदमित्यादिना।** **मैवम्।** **घटादेरिवेति।** नहि घटादेरिवानुभूतेरपि वेद्यत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धमिति मन्तुमुचितम्। तथा सति नैयायिकादेरिव जडयापि संविदाऽर्थप्रथनसिद्धौ घटादिप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्युपन्यासानवसरात्तद्दूषणानां स्वमतेऽप्यनुषङ्गप्रसङ्गाच्च। न च नैयायिकाद्युपगतजडतायाः समारोपितत्वाङ्गीकारादस्त्येवानुभूतेरपि व्यावहारिकवेद्यतेति साम्प्रतं, तस्याः शुक्तिरजतादेरिव व्यवहाराक्षमत्वात्। अतो व्यावहारिकवेद्यत्वसाधनमपि विरुणद्ध्येव राद्धान्तमिति भावः। वेद्यत्वेऽनुमानान्तरमाह—**किं चानुभूतिपदमित्यादिना।** स्वगोचर एव गोचरो यस्य तज्ज्ञानं स्वगोचरगोचरज्ञानं तज्जन्यं, शब्दनित्यत्ववादिना प्रयोगस्य तज्जन्यत्वाच्छब्दोऽपि तज्जन्य इत्युच्यते। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै स्वगोचरग्रहणम् अत्रापि तैरुद्भावितदूषणमनुवदति—**ननु किमत्रेति।** सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—**अभ्युपेयते हीति।** अन्तःकरणवृत्तिविशिष्टस्येति हेतुगर्भं विशेषणम्। यस्मादन्तःकरणवृत्तिविशिष्टमतो ज्ञानगोचरतेत्यर्थः। **मुख्यार्थविवक्षयेति।** एवं हि तदा प्रयोगः स्यात्—विवादपदं स्वलक्ष्यविषयज्ञानजन्यं पदत्वात्सम्प्रतिपन्नवदिति। एतच्चानैकान्तिकं, मुख्यार्थविवक्षया प्रयुक्तगङ्गादिपदानां तल्लक्ष्यतीरादिज्ञानजन्यत्वाभावात्तेषां मुख्यार्थज्ञानमात्रजन्यत्वादित्यर्थः।

उक्त अनुमान में शङ्का होती है कि, उससे साध्यमान (सिद्ध किया जाता हुआ) वेद्यत्व कैसा है। वास्तव (परमार्थिक) है, या अवास्तव (प्रातिभासिक=मिथ्या) है। अथवा व्यावहारिक है। या साधारण (वास्तविकता आदि विशेषणरहित यत्किञ्चित्सामान्य) है। तहाँ प्रथम वास्तविकता पक्ष में घटादि दृष्टान्त (निदर्शन) साध्य शून्य होगा, क्योंकि अद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में पारमार्थिक वेद्यत्व घटादि में है नहीं, और अन्य तीनों पक्षों में सिद्धसाधनता होगी, क्योंकि अवास्तवादि स्वरूप वेद्यत्व की अनुभूति में वेदान्ती मानते ही हैं। अवास्तव वेद्यत्व, वेद्यत्वाभाव का विरोधी नहीं होता है, अतः अवास्तवादि वेद्यत्व के रहते भी वास्तविक वेद्यत्वाभाव (स्वप्रकाशत्व) भी सिद्ध होता है। प्रतिवादी का समाधान है कि मैवम् (ऐसा नहीं कहो) क्योंकि घटादि में जैसी व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध व्यावहारिकवेद्यता रहती है, वैसी वेद्यता की भी अनुभूति में आपादन (सिद्ध) करने पर, स्वप्रकाशत्व नहीं सिद्ध होगा, किन्तु घट के समान वेद्य होगा। और, अनुभूतिपद, स्वगोचर (वाच्य) गोचर (विषयक) ज्ञान जन्य है, कुम्भ पद के समान पद होने से, जैसे कुम्भपद स्वगोचर ज्ञान जन्य है, तैसे अनुभूति पद भी है, इस अनुमान से भी अनुभूति में वेद्यत्व सिद्ध होता है। फिर इस दूसरे अनुमान में शंका है कि इसमें प्रथम गोचर पद से, विषयमात्र कहा जाता है, या वाच्यार्थ कहा जाता है अथवा लक्ष्यार्थ कहाजाता है। तहां सिद्धसाधनता की प्राप्तिसे प्रथम द्वितीय पक्ष बन नहीं सकता है। क्योंकि अनुभूतिशब्दका विषय तथा वाच्यस्वरूप अन्तःकरणकी वृत्ति विशिष्ट

(युक्त) ज्ञान को (अनुभवको) ज्ञान का गोचर (विषय) वेद्य माना ही जाता है, इस प्रकार के सभी ज्ञान साक्षिवेद्य होते है। और तृतीय (लक्ष्य) पक्ष मे मुख्य (वाच्य) अर्थ की विवक्षा से प्रयुक्त (उच्चारित) गङ्गादि पदों द्वारा व्यभिचार होगा, क्योंकि, अनुभूतिपद स्वगोचर (लक्ष्य) गोचर ज्ञानजन्य पदत्वात् पदान्तरवत्। तहाँ मुख्यार्थक गङ्गा पद-रूप पदान्तर मे पदत्व रूप हेतु के रहते भी लक्ष्यज्ञानजन्यता का अभाव रहता है। जैसे कि (गङ्गाया मत्स्य) इत्यादि वाक्य लक्ष्य ज्ञान जन्य नही रहते है।

मैवम्, लक्षकपद पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वेन लक्षकगङ्गादिपदवल्लक्ष्यज्ञानजन्यत्वानुमानात्। किंचानुभूतिपदाभिधेयस्य स्वप्रकाशत्वमभिधीयते भवद्भि - उत लक्ष्यस्य? नाद्यः, अपसिद्धान्तापातात्। न द्वितीय, प्रतिवादिनं प्रत्याश्रयासिद्धे। सकलधर्मातीतस्याद्वितीयस्यानुभूतिपदलक्ष्यस्य परैरनङ्गीकारात्। किंच स्वप्रकाशतायां सति प्रमाणे तद्वेद्यत्वमसति च साधकाभावादेव न तत्सिद्धिरिति सैषौपनिषदानामुभयत पाशारज्जुरित्यलमतिविस्तरेण।

तदेतद् दूषयति—**मैवमिति**। लक्षकपदत्व हेतुस्तथा च नानैकान्तिकमित्यर्थ। पदमात्र पक्षीकृत्य लक्षकपदत्वादित्युक्ते भागासिद्धिबाधौ स्यातामिति लक्षकपदमित्युक्तम्। उभयवादिसप्रतिपन्नानुभाव्यवाचकानुभूतिलक्षकपद चात्र विवक्षित, तेन नाश्रयासिद्धिमिद्धमावने। किंच यावत्किंचित्स्वप्रकाशत्वानुमानमुपन्यस्यते तस्य सर्वस्य धर्म्येव तावन्न निरूपणपद्धतिमध्यास्ते इत्याह—**किंचानुभूतीति**। **अपसिद्धान्तेति**। अन्त करणवृत्तिविशिष्टस्य स्वप्रकाशत्वानाश्रयणादित्यर्थ। **प्रतिवादिन प्रतीति**। न तावदनुभूतिपदलक्ष्यस्य यस्य कस्यचित्प्रमातुर्वा प्रमेयस्य वा स्वप्रकाशता सिसाधयिषिता, येनाश्रयासिद्धिर्न भवेत्, किंत्वद्वितीयानादिनिधनात्मभूतज्ञानस्य, तस्य पर प्रत्यसिद्धेराविशत्येवाश्रयासिद्धिपिशाचिकेति भाव। किंच स्वप्रकाशताया प्रमाणमङ्गीकृत्य वा-सद्भावयो प्रमेयासिद्धिरिति व्याघातलक्षणतर्कयुगलविरोध इत्याह—**किंच स्वप्रकाशतायामिति**।

उक्त शका का समाधान है कि उक्त शका युक्त नही है, क्योंकि लक्षक पद को पक्ष करके लक्षकपदत्व रूप हेतु से लक्षक गङ्गादि पद के समान लक्ष्य ज्ञानजन्यत्व का अनुमान किया जाता है कि लक्षक अनुभूतिपद, स्वगोचर (लक्ष्य) गोचर (विषयक) ज्ञान जन्य है, लक्षक पद होने से, (लक्षक गङ्गादिपदवत्) ऐसा अनुमान करने पर व्यभिचार नही रहता है, क्योंकि लक्षक पदत्व मुख्यार्थके अभिप्राय से प्रयुक्त पद मे नही रहता है, पदत्व रहता है, सो अब हेतु नही है। और यह भी विचारणीय है कि आप वेदान्ती जो अनुमान का प्रयोग करते हैं कि (अनुभूति -अनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाश) तहा अनुभूतिपद को अभिधेय (वाच्य) को आप स्वप्रकाश सिद्ध करना चाहते हैं, या लक्ष्यको सिद्ध करना चाहते हैं। तहा अपसिद्धान्त (स्वपक्षत्याग) की प्राप्ति से प्रथम पक्ष बन नहीं सकता है, क्योंकि अन्त करण की वृत्तियुक्त ज्ञान (अनुभूतिपद वाच्य) को आप स्वप्रकाश मानते नही है, उससे विरुद्ध स्वप्रकाशत्व का स्वीकार अपसिद्धान्त होगा।

और दूसरा (लक्ष्य) पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि प्रतिवादी के प्रति आप से स्वीकृत अनुभूतिपद के लक्ष्यार्थ की असिद्धि से आश्रयासिद्धि की प्राप्ति होती है, कर्तृत्वादि सब धर्म से रहित अद्वितीय आप से स्वीकृत अनुभूतिपद का लक्ष्य प्रतिवादी से माना नहीं जाता है, तो स्वप्रकाशत्व उसके प्रति आप कहा सिद्ध करेगे।

और यह भी विचारणीय है कि, स्वप्रकाशता मे कोई प्रमाण है, या नहीं, तहा प्रमाण के रहने पर प्रमाण से वेद्यत्व की प्राप्ति से स्वप्रकाशता नहीं रहती है, यदि स्वप्रकाशता की रक्षा के लिये प्रमाण का अभाव माना जाय, तो प्रमाण के असत्त्व से (स्वप्रकाशत्व के साधक प्रमाण के अभाव से) ही स्वप्रकाशत्व की सिद्धि नही होगी। इस प्रकार से यह प्रमाण के सत्त्वाऽसत्त्व ही उपनिषद्वेत्ताओं को उभयत पाशारज्जु (बन्धन) है। इससे अधिक आपत्ति क्या होगी। यहां तक पूर्व पक्ष है।

अत्रोच्यते—

अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य न ।
सभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासभव कुत ॥ १ ॥

न तावत्स्वयप्रकाशे लक्षणासभव, अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यतायास्तल्लक्षणत्वात्। नच योग्यतालक्षणधर्माङ्गीकारेऽव्याप्तिर्मोक्षदशाया तदसंभवादपसिद्धान्तापत्तिश्चेति शङ्कनीय, योग्यत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात्, गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणस्य द्रव्यत्ववत्, तेन नाव्याप्ति। नाप्यपसिद्धान्त, काल्पनिकधर्माणा संसारदशायामभ्युपगमात्।

एव स्वप्रकाशत्वे प्रमाणलक्षणे समाक्षिप्य समाधातुमुपक्रमते—**अत्रोच्यत** इत्यादिना। तत्र लक्षण तावच्छ्लोकेन गृह्णाति—**अपरोक्षे**त्यादिना। न अस्माक पक्षे अपरोक्षव्यवहृतेर्व्यवहारस्य योग्यस्य। व्यधिकरणे षष्ठ्यौ। तथाऽधीपदस्य सविदविषयस्य स्वप्रकाशस्य सभवे सति, स्वप्रकाशस्येति पदमुपर्यपि सबध्यते द्वारमध्यस्थमणिवत्। अतस्तस्य स्वप्रकाशस्य लक्षणासभव कुत? न कुतोपीति योजना। सगृहीतलक्षण विवृणोति—**न तावदि**त्यादिना। अपसिद्धान्तापत्तिश्चाद्वैतवादिन इतरदशायामपीति शेष। नच शङ्कनीयमित्युक्त तत्र हेतुमाह—**योग्यत्वात्यन्तेति**। कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेव। अनुत्पत्तिविनाशवन्त हि ससर्गाभावविशेषमत्यन्ताभावमुपगच्छन्ति तार्किका। तथा च यदि कदाचिदपि तत्प्रतियोगी स्यात्तदा तत्पूर्वं वा तदुत्तरकाल वा तदभावो मन्तव्य, न समसमय विरोधात्। नचान्योन्याभावतत्प्रतियोगिघटयोश्च समसमयवर्तमानत्वान्न विरोध इति वचनीयम्, तस्य तादात्म्यप्रतियोगित्वात्तस्य कदाचिदप्यभावात्। इतरथा घटससर्गाभावघटान्योन्याभावयो सकरप्रसङ्गात्। ननु घटप्रतियोगित्वे समानेऽपि ससर्गतादात्म्यरूपविशेषणभेदादस[illegible] तथापि तर्हि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन ससर्गतादात्म्ययोरेवोभयत्र प्रतियोगित्व न घटस्येति सुवचत्वात् नित्यससर्गाभावेषु नाय नियम। विस्तरेण चैतदुपरिष्टादुपपाद-

यिष्यते। ततश्च प्रतियोगिपूर्वकालीनत्वे विनाशित्वमुत्तरकालीनत्वे तूत्पत्तिमत्त्वं स्यात्ततश्च प्रागभावप्रध्वंसयोरन्यतरत्वं प्रसज्येत। तस्मात्कदाचिदपि योग्यताधिकरणं तदत्यन्ताभावानधिकरणमेवेति सिद्धम्। ततश्चैतदङ्गीकर्तव्यम्। इतरथा गुणवद् द्रव्यमिति कणादोक्तगुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वभङ्गप्रसङ्गात्। प्रथमक्षणे हि गुणवत्त्वाभावेनाव्याप्तेः। यथा चैनत्तथा द्वितीयपरिच्छेदे द्रव्यलक्षणखण्डनप्रस्तावे विस्तरेण निवेदयिष्यते। तस्मात्तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव तत्र शरणं, तदत्रापि समानमभिनिवेशमपहायेत्यभिसंधेराह—**गुणवत्त्वात्यन्तेति**। यद्यप्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेव लक्षणं संभवति तथाप्यामुक्तेर्विद्यमानयोग्यताऽन्यायायेदमुक्तम्। भवत्वेवमव्याप्तिपरिहारोऽपसिद्धान्तव्याधेः किमौषधमित्यत आह—**नाप्यपसिद्धान्त इति**।

उक्त पूर्वपक्ष का उत्तर अब यहाँ कहा जाता है कि, न (हमारे) मत में, अपरोक्ष व्यवहार के योग्य अधीपद (बुद्धि=ज्ञानाऽविषय=अवेद्य) को स्वप्रकाशत्व के सम्भव होने पर, स्वप्रकाश के लक्षण का असम्भव कैसे होगा॥ १॥ क्योंकि प्रथम यह कहना है कि, स्वप्रकाश विषयक (स्वप्रकाश के) लक्षण का असम्भव नहीं है। 'अवेद्यत्व युक्त अपरोक्ष व्यवहारयोग्यत्व' उसका लक्षण है। और जो प्रथम कहा गया था कि व्यवहार योग्यता को, लक्ष्य ब्रह्मात्मा का यदि धर्म माना जायगा तो मोक्षावस्था में अव्याप्ति होगी, क्योंकि मोक्षावस्था में निर्धर्मा ब्रह्मात्मा रहता है। और मोक्ष में भी योग्यता रूप धर्म को मानने पर अपसिद्धान्त होगा, सो शंका यहां कर्तव्य नहीं है क्योंकि उक्त योग्यत्व के अत्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व ही यहां उक्त योग्यत्व रूप लक्षण विवक्षित है। और जो वस्तु कभी कहीं रहती है, उसके अत्यन्ताऽभाव का अनधिकरणत्व (तत्स्वरूप ही) उसमें सदा रहता है। अतः अव्याप्ति आदि नहीं हो सकते हैं। इसको ऐसे समझना चाहिए कि जैसे वैशेषिक मत में, गुणवत्त्व क्रियावत्त्व, समवायिकारणत्व द्रव्य का लक्षण किया जाता है, और द्रव्य को ही गुणादि का समवायी उपादान कारण माना जाता है, अतः आद्यक्षण में निर्गुण निष्क्रिय द्रव्य उत्पन्न होता है। जहां गुणवत्त्वादि लक्षण की अव्याप्ति होती है, तहां गुणवत्त्व का गुणवत्त्वाऽत्यन्ताभावाऽनधिकरणत्व अर्थ करने पर अव्याप्ति नहीं रहती है, क्योंकि उत्पत्ति क्षण में भी वह अत्यन्ताभावानधिकरणत्व रहता ही है, इसी प्रकार से उक्त योग्यताऽत्यन्ताभाव के अधिकरणत्व को आत्मा में नहीं रहने से अनधिकरणत्व सदा रहता है, अतः लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती है। और योग्यत्व धर्म के मानने से अपसिद्धान्त भी नहीं होता है, क्योंकि पारमार्थिक गुण धर्मादि का अभाव ब्रह्मात्मा में वेदान्ती मानते हैं, और काल्पनिक (मिथ्या) धर्मों को आत्मा में संसार (सृष्टि) काल में मानते ही हैं। अतएव बृहदारण्यक वार्तिककार, श्री सुरेश्वराचार्य जी का वार्तिक है कि—

"अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्"॥

इति सुरेश्वराचार्यवचनात्। "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति

धर्मा'' इति पञ्चपादिकाचार्यवचनाच्च। मोक्षदशाया च विवक्षितधर्माभावेऽपि कदाचित्सत्त्वेन तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य गुणाश्रयो द्रव्यमितिवन्सिद्धे ।

अपरोक्षव्यवहारयोग्यघटादावतिव्याप्तिपरिहारार्थमवेद्यत्वे सतीति विशेषणम्। नचैतावदस्तु लक्षणमिति वाच्यम्, तथा सत्यतीतानागतयोर्नित्यानुमेयेपु च धर्मादिष्वतिव्याप्ते ।

क खल्वेव वदेत्ससारदशायामपि काल्पनिकधर्मा न सन्तीति किं पर ? किं वा स्वयूथ्य कश्चित् ? पग्श्चेद्द्वियदाद्यारोपसमर्थनेन समर्थनीय । उत्तरमाप्तवाक्येन समतयति—**अक्षमा भवत** इत्यादिना। अद्वितीयात्मन साधकत्वकल्पनाया केयमक्षमा असहिष्णुता भवत किं तत्रैव समस्तप्रपञ्च कल्पित न पश्यसि ततोऽत्यल्पमिदमित्यर्थ । "विषयिणस्तद्धर्माणा चे"त्यध्यासभाष्यावयव व्याचक्षाणै पञ्चपादिकाकृद्भि —ननु विषयिणश्चिदेकरसस्य कुतो धर्मा ये विषयेऽध्यस्येरन्नित्याक्षिप्य समाहित—

'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्व चेति सन्ति धर्मा ।
अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात्पृथगिवावभासन्ते' ।। इति ।

ननु ससारदशाया कल्पनासभव मोक्षदशाया तु तदभावादव्याप्तिरित्यत आह—**मोक्षदशायामिति**। यद्यप्ययमपि कश्चन धर्मस्तथापि परैस्तदभावरूपत्वेनाङ्गीकृतत्वाद् अभावभावयोरेव विधस्थलेष्वनतिरेकस्वीकाराच्च न दोष । एतच्च पूर्वोक्तस्यैव विवरणम्। इदानी लक्षणविशेषणाना कृत्यमाह—**अपरोक्षे**त्यादिना।

अद्वितीय ब्रह्मात्मा के जगत्साधकत्व (हेतुत्व) की कल्पना मे आपको यह अक्षमा (असहिष्णुता) क्या हो रही है, क्या आप सम्पूर्ण ससार को उस ब्रह्मात्मा मे ही कल्पित नही देख रहे हैं। अत साधकत्व की तो अति अल्प कल्पना है, सो मान्य है। और अध्यासभाष्य के अवयव का व्याख्यान करते हुए श्रीपञ्चपादिकाऽऽचार्य ने 'एकरस प्रकाशस्वरूप आत्मा के धर्म ही कैसे सिद्ध हो सकते है, कि जिनका विषयों मे अध्यास हो सके" इस प्रकार से शका करके कहा है कि, आनन्द, विषयो का अनुभव, और नित्यत्व, ये आत्मा के धर्म है, वस्तुत आनन्दादि आत्मा से पृथक् नही है, तत्स्वरूप है, परन्तु अनात्मा दु खादि की अपेक्षा से पृथक् के समान भासते है, अत धर्म कहे जाते है, इत्यादि। यदि कहा जाय कि ससार अवस्था मे योग्यत्वादि धर्म कल्पना सम्भव है, परन्तु मोक्षदशा मे कल्पना के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति होगी, तो उत्तर है कि मोक्षदशा मे विवक्षित (उक्त योग्यत्वादि) धर्म के अभाव रहने भी, कभी, ससारावस्था मे, धर्म के सत्व रहने से, उस धर्म के अत्यन्ताभाव के अनधिकरणत्व (अत्यन्ताभाव के अधिकरणत्व का अभाव) सदातन सिद्ध होता है। जैसे कि गुणाश्रय द्रव्य सदातन सिद्ध होता है। अपरोक्ष व्यवहार के योग्य घटादि मे अतिव्याप्ति के निवारण के लिये, उक्त योग्यत्व का अवेद्यत्व विशेषण है, यदि कहा जाय कि, अवेद्यत्व, इतना ही स्वप्रकाश का लक्षण रहे, तो सो कहना युक्त नही हो सकता है, क्योंकि वैसा लक्षण करने पर,

अतीत (भूत) और अनागत (भावी) कार्यों में तथा नित्य (सदा) अनुमेय (प्रत्यक्षागोचर) धर्मादि में अतिव्याप्ति होगी, सिद्धान्त के अनुसार वे सब वेद्य नहीं है।

ननु तेषामप्यागमवेद्यत्वान्नावेद्यत्वमिति चेत्, मैवम्, फलव्याप्यतालक्षणवेद्यत्वस्य तत्राभावात्। तत्र विशिष्टशब्दप्रमाणबलात्तदाकारधीवृत्तिसमुल्लासमात्रादेव तद्व्यवहार इति वेदवादिना प्रक्रिया। न च योगिप्रत्यक्षगम्यतया अपरोक्षत्वं धर्मादीनां, चोदनैकप्रमाणवेद्यत्वात्तेषाम्। न चैतावता सर्वदर्शित्वाभावो योगिनाम्, सर्वदर्शित्वशब्देन योग्यसर्वद्रष्टृत्वस्य विवक्षितत्वात्—

'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥'

इति न्यायात्। अतो धर्मादिव्यवच्छेदार्थमपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सतीति विशेषणम्।

अवेद्यत्वशब्देन ज्ञानाविषयत्वमभिमतमिति भ्रान्तः शङ्कते—**नन्विति**। **फलव्याप्यतेति**। विषयावच्छिन्नं चैतन्यमभिव्यक्तं फलमिति वेदान्तवादिनां मतम्। अभिव्यक्तिश्चेन्द्रियद्वारा अर्थसंनिकृष्टमनःपरिणामविशेषः। न चैवंविधः परिणामविशेषोऽदृष्टादिषु संभवति, तेषामिन्द्रियायोग्यत्वात्। एतेनातीतादि व्याख्यातम्। तस्मान्न धर्मादीनां फलावच्छेदकतया वेद्यत्वमित्यर्थः।

'यथानयैव व्यवहारसिद्धिर्द्धा भवेत्कल्पनयान्यथा न।
तथोदितं तत्तदगाधधीभिस्तो वयं विस्तरतो विभीताः॥'

ननु यदि न वेद्यत्वं तेषां कथं तर्हि तेषु विज्ञानमनुष्ठानमित्यादिव्यवहार इत्यत आह—**तत्रेति**। विशिष्टशब्दप्रमाणं विधिवाक्यादि। धीवृत्तिरन्तःकरणपरिणामस्तस्य समुल्लास उदयस्तन्मात्रादित्यर्थः। **ननु** यद्यपि धर्मादीनां नास्मदादिप्रत्यक्षगम्यत्वं तथापि योगिनां भवति तत्प्रत्यक्षमत एव वेद्यत्वमित्यत आह—**नचेति**। अयमभिसंधिः—न तावद्धर्मादीनां बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वं, रूपादिहीनतया तदुपहितमर्यादाविषयाणामिन्द्रियाणां तत्राप्रवृत्तेः। मानसत्वं तु तेषामात्मगुणत्वेऽपि संस्कारवदयोग्यत्वेन दूरनिरस्तम्। अथ विशिष्टादृष्टसामर्थ्यात्तेषां तेषु विषयेषु सामर्थ्यमिति मतं, तर्हि तदेव हि विशिष्टादृष्टज्ञानं कथंकारमेषामुदेति? अज्ञातेषु तेषामनुष्ठानायोगात्। अथ योग्यन्तरवचनात्तदाऽन्धपरम्परा। अथ नित्यसिद्धेश्वरवचनात्, स्यादेव यदि नित्यसिद्ध ईश्वरः सिद्ध्येत्। आगमबलादीश्वरसिद्धिरिति चेत्स किमीश्वरवचनतया प्रमाणमपौरुषेयतया वा। प्रथमे त्वितरेतराश्रयः, तद्विरचनात्तत्प्रामाण्यं, तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धिरिति। उत्तरे स्वपरसिद्धान्तः। यथा चानुमानजातमपि न पराभिमतेश्वरे वर्तते, यथा चापौरुषेयत्वं वेदस्य तत्सर्वमग्रे निवेदयिष्यते। अत आगमाज्ज्ञानेष्वनुष्ठानमिति। अस्तु तर्हि स एवागमस्तत्र प्रमाणम् अवश्यापेक्षणीयत्वं कृतं तदुपजीविभिर्योगिभिरिति। ननु यदि न योगिनामयोग्यविषयेषु सामर्थ्यं, कुतस्तर्हि तेषां सर्वदर्शित्वप्रद-

र्शकशास्त्रराशिना । अत आह— **नचैतावतेति** । प्रमाणान्तरबलात्सर्वशब्द सकोचनीय इत्यर्थ । यत्रापि विषयेऽतिशयो दृष्ट पार्थसपातिप्रभृतीना विश्वरूपाशोकवनिकानिहितसीतादिषु, सोऽतिशय स्वार्थानतिलघनाद् द्रष्टव्य । अनतिलघनमेवाह— **दूरसूक्ष्मादीति** । योग्य एव विषये दूरवर्तिनि सूक्ष्मे या दर्शन तत्र, न पुना रूपादौ श्रोत्रादेर्वृत्तिरिति भट्टोक्तेरर्थं ।

शका होती है कि भत और भावी को तथा धर्मादि को भी अनुमान और आगम से वेद्यता सिद्ध होती है, अत अवेद्यत्व नही रहता है, क्योंकि ज्ञानाऽविषयत्व अवेद्यत्व शब्द का अर्थ होता है, सो उनमे नही है, किन्तु परोक्षज्ञान से वेद्यत्व ही है, अत अवेद्यत्व मात्र लक्षण की भी अतिव्याप्ति नही होगी । उत्तर है कि यह शका युक्त नही क्योंकि साधारण ज्ञान विषयत्व मात्र वेद्यत्व विवक्षित नही है, किन्तु अर्थाकार वृत्ति निष्ठ चिदाभास रूप फल से व्याप्यता (प्रकाशमानता) रूप वेद्यता होती है, उसका उक्त धर्मादि मे अभाव रहता है । अत अवेद्यत्व लक्षण की अतिव्याप्ति होती ही है। क्योंकि विशिष्ट शब्द (विधिवाक्य आप्तवाक्यादि) रूप प्रमाण के बल से, भूतभावी धर्मादि अर्थाकार धी (अन्त करण) की परोक्षवृत्ति की उत्पत्तिमात्र से ही उनके कथन अनुष्ठानादि व्यवहार होते है, यह वेदवादियों की प्रक्रिया है । भाव है कि शब्दादि के प्रत्यक्ष ज्ञानस्थान मे इन्द्रियजन्य अन्त करण की वृत्ति विषय स्थान मे जाकर विषयाकार होती है, और उपाधिरूप विषय और वृत्ति के एकत्र होनेसे उपहित चेतन यह दोनों एक हो जाता है, और वृत्ति से व्यक्त होकर विषय को प्रकाशता है, वृत्तिगत चिदाभास भी विषय को विशेष रूप से प्रकाशता है, वही वेदन (विज्ञान) कहा जाता है और भूतभावी के ज्ञानस्थान मे विषयदेश में वृत्ति नही जाती है, भीतर उत्पन्न होती है । धर्मादि के ज्ञान धर्मादिदेश अन्त करण मे उत्पन्न होने पर भी विषय धर्मादि की अयोग्यता से वृत्ति विशेष धर्माकार को नही प्राप्त होती है, अत वह वेदन नही कही जाती अतएव उसका विषय ज्ञेय होते भी वेद्य नही होता है (य सर्वज्ञ सर्ववित्) इस श्रुति मे भी ज्ञान और वेदन का भेद माना गया है, इत्यादि ।

योगियों के प्रत्यक्ष का विषय होनेसे धर्मादि को अपरोक्षत्व (फल व्याप्यत्व) होगा, ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि चोदना (वैदिक विधि वाक्य) रूप एक प्रमाण से ही उन धर्मादि को जाना जाता है, ऐसा (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म) चोदना (विधि) ही जिसका लक्षण (प्रमाण) है सो अर्थ धर्म कहा जाता है, इत्यादि पूर्वमीमासा मे निर्णय किया गया है । यदि कहा जाय कि धर्मादि के ज्ञानके बिना योगियो को सर्वज्ञत्वा कैसे होगी, तो कहा जाता है कि, एतावता, धर्मादि के अपरोक्ष ज्ञानाऽभाव से योगियों के सर्वदर्शित्व (सर्वज्ञत्व) के अभाव की प्राप्ति नहीं होती है, क्योकि योगिविषयक सर्वदर्शित्व शब्द से श्रोत्र नेत्रादि के द्वारा श्रवण दर्शनादि योग्य दूर व्यवहितादि शब्दादि का द्रष्टृत्व ही विवक्षित है, अयोग्य धर्मादि का द्रष्टृत्व विवक्षित नहीं है, क्योंकि तप योगादि जन्य अदृष्टादि बल से जिन योगियों के इन्द्रियों मे अतिशय (सामर्थ्य विशेष) देखा गया है, सो सामर्थ्य भी इन्द्रियों के विषय का उल्लङ्घन (त्याग) नही

करता है, अत रूपविषयक दूर सूक्ष्म के दर्शन में श्रोत्रवृत्तिता (श्रोत्रजन्यता) नहीं हो सकती है, इसी रीति से धर्मादि विषयक धर्मादि विषय नेत्रादिजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान योगी को भी नही हो सकता है, क्योंकि नेत्रादि से प्रत्यक्षयोग्यता के कारण रूपादि धर्मादि मे नही है, सस्कार के समान अयोग्य होने से मानस प्रत्यक्ष भी धर्मादि का नही होता है। अर्जुन आदि को भी पुण्य बल से तत्तदिन्द्रिय योग्य का ही प्रत्यक्ष हुआ, धर्मादि का नही। वस्तुत जीवन्मुक्त योगी, ईश्वर कोटि और अनीश्वर कोटि भेद से दो प्रकार के माने गये है, और ईश्वर के विषय में श्रुति कहती है कि (य सर्वज्ञ सर्ववित्। मुण्डक १।१।९) जो सर्वज्ञ (सामान्य रूप से सर्व का ज्ञाता) है, और सर्ववित् (विशेष रूप से सर्व का ज्ञाता) है। तथा (पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण । श्वेता ३।१९) आँख रहित होता हुआ देखता है, कर्ण रहित होता हुआ सुनता है। इत्यादि, ऐसे ईश्वर को भट्टमत के अनुसार नही मानने पर, धर्मादि मे अतिव्याप्ति के वारण के लिये, अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व यह विशेष्य अवश्य लक्षण में देना चाहिये, या (अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वम्) इस प्रकार से विशेषण करना चाहिये, ईश्वर के स्वीकारपक्ष में भी (ईश्वरादन्यैरवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्) ऐसा लक्षण समझना चाहिये ॥

नन्वज्ञानान्त करणतद्धर्मेच्छादिषु शुक्तिरजतादिषु च लक्षणातिव्याप्तिस्तदवस्था, तेषामपि फलव्याप्यत्वाभावेनावेद्यत्वात् , अहमज्ञ इत्याद्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाच्चेति चेत्, सत्यम् , अवेद्यत्वेऽपि नापरोक्षव्यवहारयोग्यता तेषाम् , अध्यस्ततयैव तेषा सिद्धे । ननु तथाप्यपरोक्षमिति व्यवहारदर्शनात्तद्योग्यता तत्र कल्पनीयेति चेत्, मैवम् , रजतादिव्यवहारयोग्येऽपि शुक्तिशकलादौ रजतादिव्यवहारादर्शनात् । नन्वेव सत्यवेद्यत्वविशेषणस्य न व्यवच्छेद्यमस्ति, त्वन्मते घटादेरध्यस्ततया अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वाभावात् , मैवम , व्यवहारदशाया तेषा प्रत्यक्षप्रमाणाविषयाणामपरोक्षव्यवहारयोग्यताङ्गीकरात् ।

फलव्याप्यत्वाभावेनेति । प्रमाणाविषयत्वेन केवलसाक्षिवेद्यत्वादित्यर्थ । परिहरति—सत्यम् । अवेद्यत्वेऽपीति । नाज्ञानादीना साक्षादपरोक्षता साक्षिवेद्यतया तेषा साक्ष्यापरोक्ष्याध्यासादेवापरोक्ष्यादित्यर्थ । उत्तरौ चोद्यपरिहारौ स्पष्टार्थौ । ननु यदि स्वतोऽपरोक्षत्व चैतन्यस्यैवाज्ञानादीना तु तदध्यासादापरोक्ष्यमध्यस्तमिति नापरोक्षव्यवहारयोग्यत्वमिति ब्रूषे, तर्हि तद्घटादावपि तुल्यमिति न तेषामप्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वप्राप्तिरतस्तद्व्यवच्छेदार्थमवेद्यत्वविशेषण व्यर्थमिति शङ्कते— नन्वेवमिति । व्यवहारदशायामिति । यद्यपि वास्तवापारोक्ष्याभावो घटादेरज्ञानादेश्च समानस्तथाप्यर्थक्रियाक्षममापरोक्ष्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्ध सत्त्वमिव घटादेरस्ति अज्ञानादेस्तु तन्नास्ति प्रत्यक्षादिविषयताया अप्यभावात् । अतः शुक्तिरजतादिसत्तावत्प्रातीतिकमित्यर्थ ।

फिर शका होती है कि, अज्ञान, अन्त करण के धर्म इच्छा आदि और शुक्ति रजतादि मे लक्षण की अति व्याप्ति तदवस्थ (अवश्य) है। क्योंकि उन अज्ञानादि मे भी फल व्याप्यता के अभाव से अवेद्यत्व रहता है, और मै अज्ञानी हू, कामी हू, इत्यादि व्यवहार से अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता भी सिद्ध होती है। उत्तर है कि उनमे अवेद्यत्व है, यह आपका कथन सत्य है किन्तु अवेद्यत्व के होते अपरोक्षव्यवहारयोग्यता उनमे नही रहती है, क्योंकि अपरोक्ष ब्रह्म स्वरूप साक्षी मे अध्यस्त (कल्पित=सिद्ध) होने से ही उनकी सिद्धि होती है, अधिष्ठान साक्षी की अपरोक्षता उनमें भासती है, अत उक्त व्यवहाराधीन उनमें अपरोक्षव्यवहार की योग्यता नही मानी जा सकती है। यदि शका हो कि अज्ञानादि के अपरोक्ष ब्रह्मात्मा मे अध्यस्त होने पर भी उनमे अपरोक्ष ऐसा व्यवहार (शब्द प्रयोग) के दर्शन (ज्ञान) से, उनमे साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान की योग्यता कल्पनीय (अनुमेय) है, तो यह शका युक्त नहीं, क्योंकि रजतादि व्यवहार के अयोग्य भी शुक्तिशकल (खण्ड) आदि मे भ्रमकाल मे रजतादि का व्यवहार देखा जाता है, अत व्यवहारमात्र से व्यवहारयोग्यता की कल्पना नहीं हो सकती है। योग्यता के बिना अध्यासमात्र से भी तत्तद् व्यवहार होता है॥

शका होती है कि उक्त रीति से अध्यस्त मे अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता को नही मानने पर, लक्षण मे अवेद्यत्व विशेषण से व्यवच्छेद्य (व्यावर्तनीय) कोई वस्तु नहीं रह जाती है, उससे वेद्य घटादि की व्यावृत्ति कही गई थी, सो अब, प्रत्यक्ष व्यवहार योग्यत्व मात्र से ही व्यावृत्त हो सकता है, क्योंकि आप वेदान्ती के मत में घटादि भी अध्यस्त ही है, अत उसमें साक्षात् अपरोक्ष व्यवहार योग्यता नहीं है, किन्तु अधिष्ठानाधीन है, ऐसी शका होने पर कहा जाता है कि ऐसी बात नही कहनी चाहिये, क्योंकि व्यवहार दशा मे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय उन घटादिकों की अपरोक्ष व्यवहार योग्यता मानी जाती है, अत अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व से उनकी व्यावृत्ति नही होने के कारण उनकी व्यावृत्ति के लिये अवेद्यत्व विशेषण सार्थक है॥

तथाप्यवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वमेव लक्षणमस्तु व्यभिचाराभावादिति चेत्, सत्यम्, अपरोक्षज्ञानविषयत्वेनैव घटादेरपरोक्षत्वाङ्गीकाराद्, अत्रापि तथात्वाद्व्याघात इति विभ्रमो माभूदिति तद्व्यवहारेणैव प्रतिवादिनामपि संप्रतिपन्नेन तदेव स्फुटीक्रियत इति न कश्चिद्दोष.। कथ तर्हि अवेद्यस्य व्यवहारयोग्यत्वमिति चेत्, किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वं न स्यादित्यनिष्टप्रसञ्जनम्? उत व्यवहारविषयत्वाद्वेद्यत्वानुमानम्? नाद्य, आपाद्यापादकयोरुभयोरपि परेषामप्रसिद्धे। नेतर, तस्य सप्रतिसाधननिराससमये निराकरिष्यमाणत्वात्। तस्मादनाविलं स्वप्रकाशलक्षणम्।

ननु तथापि व्यवहारयोग्यतापदस्य कृत्य न पश्याम, अवेद्यतापदेन घटादिव्यावृत्तेरपरोक्षतापदेनाज्ञानादिव्यावृत्तेरिति शङ्कते—**तथापीति**। परिहरति—**सत्यमिति**। अयमर्थ —अपरोक्षज्ञानविषयेष्वपि तावदपरोक्षशब्द प्रयुज्यते। तत्रापरोक्षमित्युक्ते व्याहतिशङ्का स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमवेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानं व्यवहार-योग्यतापदग्रहणमिति।

वस्तुतस्तु न प्रसज्यत्येव घटादिष्वपरोक्षत्व, तस्या प्रमात्वावान्तरजातितयाऽप्रमाया घटादावभावात्। नच मिथ्याज्ञानेऽपि भावात्प्रमात्वेन परापरभावाभावान्न जातिरिति वाच्यम्, तत्रारोपाङ्गीकाराच्छब्दप्रयोगस्यापि तन्मार्गत्वात्। अन्यथा घटत्वादेरव्यपलापप्रसङ्गात्सुवर्णनिर्मितेऽपि घटशब्द प्रयोगेण पृथिवीत्वादिना परापरभावाभावस्यापि शक्यवचनत्वात्। यद्यपि व्यवहारो ज्ञानमपि भवति तथाप्यवेद्यत्वविशेषणानुरोधेन शब्दप्रयोग एव स्वीक्रियते। तेन न पूर्वपक्षावसरोक्तदूषणप्रसर। यद्यपि योग्यताव्यतिरेकेणापि लक्षण शक्यमसमर्थन तथापि सुषुप्तौ तदभावेऽपि योग्यत्वस्य सतोऽत्यागाय तद्ग्रहणम्। व्यवहारविषयत्वादेव ज्ञानविषयत्वमपि सिद्धयतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—कथ तर्हीति। तदेतत्प्रसङ्गो वा ? प्रसाधन वेति विकल्प्य दूषयति—**किमिदमवेद्यत्वे व्यवहारविषयत्वमि**त्यादिना। **आपाद्यापादकयोरिति**। क्वचित्प्रमितेन पक्षे चाहार्यारोपितेन क्वचिद्व्यापकतया प्रमित पक्षे चानभिमतमापाद्यत इति हि स्थितिस्तदिहावेद्यत्वेनापादकेन प्रमितेन भवितव्यम्। न चैतत्सर्वं प्रत्यक्षमिति मन्यमानस्य सभवति। नापि व्यवहाराविषयत्वस्य प्रमितिरिति केन किमापाद्यत इत्यर्थ। **तस्य सप्रतिसाधननिराससमय इति**। लक्षणदूषणसमये प्रत्यनुमानप्रयोगोऽनवसरनिरस्त इत्यर्थ॥

फिर भी जिज्ञासा होती है कि (अवेद्य वे सति प्रत्यक्षव्यवहारयोग्यत्व) इस लक्षण मे व्यवहारयोग्य, इतना भाग निष्फल है, (अवेद्यत्वे सति अप्रत्यक्षत्वम्) अवेद्यत्व युक्त प्रत्यक्ष जो होता है, सो स्वप्रकाश है, इतना ही लक्षण रहे, तो भी कही व्यभिचार (अतिव्याप्ति) नही होता है, तहाँ कहा जाता है कि यद्यपि प्रत्यक्ष व्यवहार योग्यत्व के स्थान मे, प्रत्यक्षत्व कहने से लाघव है, और अतिव्याप्ति भी नहीं है, यह कहना सत्य है, तथापि-घटादि की अपरोक्षता अपरोक्ष ज्ञान विषयत्व से ही मानी जाती है, अत ब्रह्मात्मा मे भी वैसी ही अपरोक्षज्ञान विषयत्व रूप प्रत्यक्षता लक्षण से प्राप्त होगी, किन्तु उसका अवेद्यत्वके साथ विरोध होनेसे व्याघात का भ्रम होगा सो भ्रम न हो इसके लिये, अपरोक्षत्व मात्र नही कहकर, प्रतिवादी को सम्मत अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व शब्द द्वारा ही प्रतिवादी का सम्मत लक्षण स्फुट किया जाता है, क्योंकि प्रतिवादी को भी ब्रह्म मे अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व सम्मत है, और व्यवहार को अवेद्यत्व के साथ प्रत्यक्ष कोई विरोध नही है, इत्यादि॥

यदि कोई कहे कि अवेद्य ब्रह्म को व्यवहार योग्यत्व वा विषयत्व कैसे होगा, लोक मे जो वेद्य ही व्यवहार का विषय वा योग्य देखा जाता है। तहाँ कहने वाले से पूछा जा सकता है कि, क्या, अवेद्यत्व के रहने पर, व्यवहार विषयत्व नही होगा, इस प्रकार के अनिष्टाऽऽपादन (प्राप्ति) मे आपका तात्पर्य है, या अपरोक्ष व्यवहार विषयता मे वेद्यत्व के अनुमान मे तात्पर्य है। तहाँ प्रथम पक्ष तो कह नही सकते है, क्योंकि अवद्यत्व रूप आपादक, और व्यवहाराऽविषयत्वरूप आपाद्य, ये दोनों ही आप तार्किकों के मत मे अप्रसिद्ध है, और कहीं प्रसिद्ध का ही अन्यत्र प्रसञ्जन (प्राप्ति प्रदर्शन) हो सकता है। अप्रसिद्ध का नही। तार्किकमत मे वेद्यत्व, और अपरोक्ष व्यवहारविषयत्व (योग्यत्व)

दोनों केवलान्वयी है, क्योंकि जीव से अवेद्यादिभी ईश्वर से वेद्यादि है। अपरोक्षव्यवहारयोग्यत्व से वेद्यत्व का अनुमानरूप दूसरा पक्ष भी नहीं कह सकते है। क्योंकि सत्प्रतिपक्ष के निराकरण प्रसङ्ग में उसका आगे निराकरण (खण्डन) करना है लक्षण के दूषणादि समय प्रतिपक्ष का अवसर नहीं है॥ अतः स्वप्रकाश का लक्षण निर्दोष है॥ लक्षण का समर्थन करके, आगे प्रमाण का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाता है—

प्रमाणमपि—अनुभूतिः स्वयप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्यन्नैव तन्नैवं यथा घट इत्यनुमानम्। न चाप्रसिद्धविशेषणत्वम्, यत —

सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे।
कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषण॥ २॥

तथा हि—वेद्यत्व किंचिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात् शौक्ल्यवदिति सामान्यतो दृष्टानुमानेनानिर्धारितधर्मिविशेषनिष्ठस्यावेद्यत्वधर्मस्य प्रसिद्धत्वात्, केवलव्यतिरेकिणश्चोभयवादिसप्रतिपन्नापरोक्षव्यवहारयोग्यानुभूतिविशेषावलम्बनतया एव समर्प्यमाणत्वात् नाप्रसिद्धविशेषणता।

तदेव लक्षण समर्थयित्वा प्रमाण समर्थयितुमुपक्रमते—प्रमाणमपीति। स्वप्रकाशलक्षणसभवेऽपि तादृग्रूप साध्य प्रसिद्धमप्रसिद्ध वा। आद्ये सिद्धसाधनता केवलव्यतिरेकिताव्याकोपश्च। द्वितीयेऽप्रसिद्धविशेषणता इत्यत आह—नचेति। हेतुमवतारयति—यत इति। श्लोकेन हेतुमाह—सामान्यत इति। सामान्यतोऽनुमानेन सामान्यतो दृष्टेन। प्रसिद्धेऽपि विशेषण इत्यत्रापि सामान्यत इत्यनुषञ्जनीयम्। अनिर्धारितधर्मिविशेषतयेत्यर्थ। अत एव सामान्यतोदृष्टानुमाने नानिर्धारितधर्मिविशेपनिष्ठस्येति विवरणम्। अपिर्भिन्नक्रम। सामान्यतोऽपि प्रसिद्धे विशेषणे अप्रसिद्धविशेषण पक्ष कथमिति कथय? न कथमपीति योजना। अत्र च सामान्यत इति सिद्धसाधनतापि सामान्यतोदृष्टमेवाह—तथाहि वेद्यत्वमित्यादिना। अभावप्रतियोगीत्युक्ते अन्योन्याभावेन वेद्यत्वेऽप्युपपद्यमानेनार्थान्तरता स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावग्रहणम्। नचास्तित्वेन व्यभिचार, तस्य पक्षत्वात् पक्षतुल्यत्वाद्वा। अभिधेयत्वादिष्वपीयमेव गति। अन्तत स्वस्मिन्नेवाभावादात्माश्रयप्रसङ्गात्, उत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव दोषत्वमिति प्रक्रियामात्र, नियमेन प्रमाणानुपलब्धेरविशेषादिति। अत्र च वेद्यत्वप्रसिद्धैचत्र यद्यपि तदनधिकरणत्वमपि प्रसिद्ध, प्रतियोगिप्रसिद्धैचवाभावप्रसिद्धे तथापि सुहृद्भूत्वेदमाहेति द्रष्टव्यम्। अनिर्धारितेति। अनिर्धारितो यो धर्मिविशेषस्तन्निष्ठस्येत्यर्थ। ननु भवत्ववेद्यत्वसिद्धिरपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सत्यवेद्यत्वस्य कुतः सिद्धिरित्यत आह—केवलव्यतिरेकिणश्चेति। अथवा मानान्तरेणावेद्यत्वसिद्धौ किमनेनानुमानेनेत्यत आह—केवलेति। केवलव्यतिरेकिण इति पञ्चमी। प्रथमपक्षे त्वयमर्थ। अपरोक्षव्यवहारविषयत्व तावदनुभूतावेव तत्रापि सप्रतिपन्न तादृगनुभूतौ चावेद्यत्वमन्यत स्वरूपेण सिद्ध यदा साध्यते तदा किमपरमत्राप्रसिद्ध येनाप्रसिद्ध-

विशेषणता स्यादिति । द्वितीये तु सामान्यत सिद्धस्यानमानेन धर्मिविशेषे साधनान्नान-र्थक्यमित्यर्थ । एतेन केवलव्यतिरेकितापि रक्षिता अन्यत्र प्रसिद्ध्यनभ्युपगमात् ।

अनुभव (ज्ञान) स्वयं प्रकाश है, ज्ञानत्व होने से, जो स्वय प्रकाश नही है, वहाँ ज्ञानत्व भी नहीं है, जैसे कि घट है। अनुभव में ज्ञानत्व है, अत स्व प्रकाशत्व है। यह अनुमान, स्वय प्रकाशत्व मे प्रमाण भी है। इस अनुमान मे अप्रसिद्ध विशेषणता (अप्रसिद्ध साध्यता) दोष भी नही है, क्यों कि, सामान्यतो दृष्टानुमान से सामान्यत विशेषण (साध्य) की सिद्धि होने पर आप कहेंगे कि यह अनुभूति रूप पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण (साध्य) वाला कैसे रह सकता है। सामान्यतो दृष्टानुमान का आकार है कि (वेद्यत्व रूप धर्म, किसी मे वर्तमान अत्यन्ताऽभाव का प्रतियोगी है क्योंकि यह धर्म है, जैसे शुक्लत्व धर्म है,तो उसका कहीं अत्यन्ताभाव अवश्य है, ऐसे ही वेद्यत्व का भी कहीं अभाव है। इस सामान्यतो दृष्टानुमान से अनिर्धारित (विशेषरूप से अनिर्णीत) धर्मी (पक्ष) विशेष मे वर्तमान अवेद्य धर्म (साध्य) की प्रसिद्धि होने से, और (अनुभूति स्वय प्रकाश) इस व्यतिरेकी अनुमान द्वारा, उभय वादी से सिद्ध मान्य अपरोक्ष व्यवहार योग्य अनुभूति विशेष आलबता (आलम्बनता आश्रयताका ही साध्य में समर्पण (साधन) होने से अप्रसिद्धता नही रहती है, किन्तु सामान्यतो दृष्टानुमान से अनिर्णीत पक्ष मे अवेद्यत्व के सामान्य रूपकी सिद्धि के बाद केवल व्यतिरेकी से प्रतिपक्षी सम्मत भी अपरोक्ष व्यवहार योग्यत्व से पक्ष मे साध्य की सिद्धि होती है। क्योंकि अवद्यत्व प्रतिवादी नही मानता है, उसकी सिद्धि सामान्यतो दृष्टाऽनुमान से सिद्ध होती है, अन्यांश ना उभयमत सिद्ध ही है ॥

यद्वा यद्विपर्यये असमीहितप्रसक्तिस्तत्क्वचिन्मानयोग्यमिति सामान्य-व्याप्तिः। इह चानुभूतिरनुभाव्या भवति नवेति वादिविप्रतिपत्तो सशये सत्यनुभाव्यत्वे सत्यसमीहितप्रसक्तेस्तद्विपर्ययस्य सामान्यतो मानयोग्यत्वाधि-गमात्, विशेषप्रमाणापेक्षाया व्यतिरेकिण उपन्यासात् नाप्रसिद्धविशेषणता। अन्यथा कथमिच्छादीनामष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्व नैयायिकादयोऽपि साधयेयुरष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यस्याप्रसिद्धावप्रसिद्धविशेषणता, प्रसिद्धौ च हेतो-स्तत्र वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्वासंभव, अवृत्तौ चासाधार-णानैकान्तिकतापत्ति। न चैव सत्यप्रसिद्धविशेषणताया अदूषणतापत्ति, उक्तसामान्यतोदृष्टानुमानगोचरत्वासभवे शशविषाणोल्लिखिता भूरित्यादौ तस्या सावकाशत्वात्।

एवमुदयनरीत्या केवलव्यतिरेकिण प्रामाण्य समर्थितम्, सप्रति लीलावतीकार-रीत्याप्याह—**यद्वेति**। यस्य वैपरीत्याङ्गीकारे प्रमाणान्तरबाधादिप्रसक्तिस्तत्प्रमाण-योग्यमिति सामान्याकारेण व्याप्ति । व्याप्तहेतो पक्षधर्मतामाह—**इह चेति**। तत्कि सर्वत्र विपक्षबाधात्प्रमाणोन्नयनम् ? तथाच गत घटादिप्रत्यक्षेणाविमर्शपूर्वकेणेत्यत आह —**संशये सतीति**। कोटिद्वयाप्रसिद्ध्या साधारणधर्मदर्शनाभावान्न सशयोऽत उक्तम्—

न चैतन्मानसप्रत्यक्षेऽपि समानं, जानाते· सदा सकर्मकतया कर्मणा व्याप्तस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेरिति चेत्, मैवम्, संविद्व्यतिरिक्तस्य संवित्कर्मत्वेनैवापरोक्षत्वनियमादात्मनः कर्मत्वाभावे तदनुपपत्तेः। संवेदिता संविदाश्रयतयाऽपरोक्षो न भवति अपरोक्षत्वात्संवेदनवदिति। न च विपक्षे बाधकतर्काभावः, स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारवतः प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे कदाचित्संशयादिगोचरत्वप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात्, आत्मनो घटादिज्ञाने भासमानत्वाङ्गीकाराच्च घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत, तज्जनितज्ञाने भासमानतया एव तत्त्वात्, नीरूपस्य च द्रव्यस्य चाक्षुषत्वायोगात्, आत्मा च क्षुर्ज्ञाने न प्रकाशते, अरूपिद्रव्यत्वादाकाशवदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च।

अत्र प्राभाकरः शङ्कते—**तथापीति**। यद्यप्यकर्मत्वं तथापि तत्तदर्थविषयाणि यानि संवेदनानि तदाश्रयतया स्फुरणरूपतामन्तरेणापि स्फुरणोपपत्तेरिति योजना। पूर्वं चिद्रूपता तु प्रतिसाधिता। अत्र त्वकर्मत्वस्यान्यथोपपत्तिः परिह्रियत इति न जामिता। ननु कर्मतैवास्य किमिति नास्ति ज्ञानक्रियाफलभाक्त्वात्क्रियाफलभाजश्च कर्मत्वादिति नैयायिकमतमाशङ्क्य स एव निषेधति—**न चास्येति**। न क्रियाफलभाक्त्वमात्रं कर्मत्वम्, नगरं गच्छति चैत्र इत्यत्र चैत्रस्यापि कर्मत्वप्रसङ्गात्। तस्मात्परसमवेतक्रियाफलशालित्वं कर्मत्वं, तच्चास्य नास्ति स्वसमवेतत्वाज्ज्ञानक्रियाया इति भावः। ननु तर्हि संविदाश्रयतयेति किमित्ययमाग्रहः, मानसप्रत्यक्षत्वेऽपि परसमवेतक्रियाफलविकलतया कर्मताऽभावेन कर्मकर्तृविरोधाभावादित्यत आह—**न चैतदिति**। तथा सति ज्ञानतामेव जह्यात् आत्मनः कर्मत्वाभावादन्यस्य च कर्मणोऽनङ्गीकारादित्यर्थः। तदेतन्निरस्यति—**मैवमिति**। यदि संविद्व्यतिरिक्तः स्यात्तर्हि कर्मतयैवापरोक्षव्यवहारविषयः स्याद्विषयेषु तथा व्याप्तेस्तेन कर्मत्वं व्यावर्तमानं संविद्व्यतिरिक्तत्वे सत्यपरोक्षत्वं व्यावर्तयतीत्याह—**संविदिति**। संविदाश्रयतयाऽपरोक्षत्वे चानुमानविरोधमाह—**संवेदितेति**। बाधनिवृत्त्यै प्रथमविशेषणं, परप्रसिद्ध्यापि प्रतियोगिप्रसिद्धिः। एवं च सति संविदधीनप्रकाशत्वतदप्रकाशत्वविकल्पेन यदत्र कैश्चिद्दूषणमुक्तं तदप्यनवकाशीकृतम्। यत्तु तैरेवोक्तं विपक्षबाधकतर्काभावादिति तत्र विपक्षबाधकतर्कमाह—**स्वसत्तायामिति**। प्रकाशान्तराधीनव्यवहारवत्त्वे नित्यज्ञानत्वानङ्गीकारात्स्वसत्तायां प्रकाशाव्यभिचारवत इति योजना। तेन च सुखादिव्यावृत्तिः। यत्तु तैरेवाद्रष्टृत्वोपाधिहतत्वाच्चेत्युक्तं तदसत्पक्षेतरत्वात्पर्वतेतरत्वादिवद्व्यतिरेकानिर्णयेन साध्याव्यापकत्वात्, तर्कान्तरविरोधमाह—**आत्मन इति**। आत्मनो घटादिवदेव चाक्षुषत्वमपि प्रसज्येत घटादिज्ञानेषु भासमानताङ्गीकारादिति योजना। ननु चक्षुरसंयुक्तस्य कथं चाक्षुषत्वमित्यत आह—**तज्जनितज्ञान इति**। अन्यथा चक्षुःसंयुक्ततया परमाण्वादेरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाने तत्ताया अचाक्षुषत्वा-

पत्तेश्च, सर्वगतात्मवादिना तस्यापि भावादिति भाव.। भवतु तर्हि चाक्षुषत्वमपि, नच नीरूपस्य चाक्षुषत्वाभाव, रूपादौ व्यभिचाराद् द्रव्यत्वविशेषणेऽपि वियदादौ भाट्टाना व्यभिचारादित्यत आह्—**नीरूपस्य चेति**। किमत्र समयबलादिति न, प्रमाणबलादित्याह—**आत्मा चाक्षुषज्ञान इति**। रूपतत्सामान्यादिषु व्यभिचारनिवारणाय द्रव्यग्रहणम्। घटादिव्यभिचारविघटनायारूपिग्रहणम्। नच भाट्टाना साध्यविकलता दृष्टान्तस्य, तत्प्रत्यक्षत्वे प्रमाणाभावात्प्रत्युताकाशमचाक्षुषमरूपिद्रव्यत्वात्मर्वदाऽस्पर्शवद्द्रव्यत्वान्मनोवत्सर्वगतत्वादात्मवदित्यादिप्रयोगसंभवाच्च। नचान्तरत्वमुपाधिर्गुरुत्वादौ साध्याव्याप्ते।

यहाँ प्रभाकर मतानुसार शका होती है, कि तथापि आत्मा में ज्ञानकर्मत्वाभाव होते भी स्वप्रकाशत्व आत्मा को नहीं है, क्योंकि कर्मता के बिना ही तत्तत् चाक्षुषादि घटादि के ज्ञानों के आश्रय (आधार) रूप से उन ज्ञानों द्वारा ही आत्मा का स्फुरण (प्रकाश) सिद्ध हो जाता है कि घट को मै जानता हू, मुझ में घट का ज्ञान है, इत्यादि। और इस प्रकार से ज्ञान क्रिया के प्रकाश रूप फल के भागी (आश्रय) आत्मा के होते भी इसको ज्ञानक्रिया के कर्मत्व नही होता है। क्योंकि पर में समवेत (समवायसम्बन्ध से वर्तमान) क्रियाजन्य फल वाला कर्म होता है, और आत्मा को परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्व (फलवत्त्व) का अभाव है, स्वसमवेतज्ञानजन्यफलशालित्व होता है, यदि कहा जाय कि ज्ञानजन्य फलशालित्व होते भी परसमवेतक्रियाजन्यत्व के फल में अभाव होने से आत्मा मे कर्मत्व नहीं होता है, तो ज्ञानाश्रयता से उसका प्रत्यक्ष क्यों माना जाता है, स्वमानसप्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा के होने पर भी अकर्मता सिद्ध हो सकती है, क्योंकि मानस ज्ञान में परसमवेतत्व नही रहता है तो यह कहना नहीं बनता है कि मानस प्रत्यक्ष मे अकर्मत्व, आश्रयता मूलक प्रत्यक्ष के समान है, क्योंकि जानाति (ज्ञा) धातु की सदा सकर्मता के कारण वह धातु का अर्थ (ज्ञान) सदा कर्म से व्याप्त रहता है, अत कर्म की निवृत्ति होने पर ज्ञानत्व भी निवृत्त होगा, कर्म के बिना मानस ज्ञान हो नही सकता है, और कर्म मानने पर कर्मकर्तृभाव विरोध होता है, ज्ञान के आश्रय रूपसे आत्मप्रत्यक्ष में यह विरोध नहीं है। अत तुल्यता नही है, यह प्रभाकर का आशय है। परन्तु यह आशय युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान से भिन्न वस्तु का ज्ञान के कर्मत्वरूप से ही अपरोक्षत्व का नियम है, प्रभाकर मत में ज्ञान से भिन्न आत्मा के कर्मत्व के अभाव रहते उसके प्रत्यक्षत्व की सिद्धि नही हो सकती है। और, ज्ञाता, ज्ञानाश्रय रूप से प्रत्यक्ष नही होता है, क्योंकि उसमे अपरोक्षत्व है। जैसे कि ज्ञान है, वैसा ज्ञाता है। इस अनुमान से प्रभाकर मत बाधित होता है। और यदि कहो कि स्वप्रकाशत्व के साधक अनुमानों के विपक्ष का बाधक तर्क नहीं है अत तर्काभाव से स्वप्रकाशत्व की नही सिद्धि हो सकती है, तो सो कहना युक्त नही, क्योंकि आत्मा की अपनी सत्ता (वर्तमानता) काल में प्रकाश के व्यभिचार (अभाव) वाले होने पर, तथा प्रकाशान्तर (ज्ञानान्तर) के अधीन व्यवहार वाले होने पर कभी सशयादि (अह, अनह वा) इत्यादिविकल्पादि के विषयत्व की प्राप्ति ही विपक्ष का बाधक तर्क है। और प्रभाकर मत के अनुसार घटादि के ज्ञान में आत्मा के भासमानत्व के स्वीकार करने से घटादि के समान आत्मा मे भी

चाक्षुषत्व (चक्षुजन्य ज्ञान प्रकाश्यत्व) की प्राप्ति होगी, क्योंकि चक्षुजन्य ज्ञान में भा समानत्व ही चाक्षुषत्व होता है। नीरूप द्रव्य (आत्मा) में चाक्षुषत्व युक्त नहीं है। और आत्मा चाक्षुषज्ञान में नही प्रकाशता है, क्योंकि प्रकाश के समान रूपरहित आत्म स्वरूप द्रव्य है। इस विरोधी प्रयोग (प्रतिपक्ष) का भी सम्भव है। अत आत्मा स्वय प्रकाश है।

'अत्राय पुरुष स्वयज्योति'रिति श्रुतेरात्मा स्वप्रकाश । ननु स्वप्नावस्थामधिकृत्येदमाम्नायते, तत्र मनसोऽनुपरमान्न स्वयज्योतिष्ट्वम् । न च मनसो गजाद्याकारपरिणतस्यावभासकर्मतयैवावस्थानात्करणान्तराभावाच्चात्मैव स्वयज्योति स्यादिति शङ्कनीयम् , मनसश्चक्षुरादिवदिन्द्रियत्वेन प्रत्यक्षत्वानुपपत्ते , तस्मान्मन सयोगजन्यज्ञानाधारत्वेन स्वयशब्दवाच्य आत्मा ज्योतिरित्यभिधीयते, ज्योति साधनत्वाद्वा 'वाचैवायं ज्योतिषा,' 'अग्निनैवाय ज्योतिषे' त्येतत्प्रकरणपठितवागग्न्यादिवत्, न त्वात्मा स्वयंज्योतिरिति, द्रव्यस्य गुणत्वानुपपत्तेरिति चेत् ।

तृतीय हेतु विवृणोति—अत्रायमिति । शङ्कते—नन्विति । अयमर्थ —न तावत्स्वप्नावस्थाया स्वप्रकाशत्व श्रुत्या दर्शयितु शक्यम्, इन्द्रियस्य मनसो विद्यमानतया व्यतिरेकनिर्णयाभावादन्यथाजागरेऽपि तदुद्भावनप्रसङ्गेन स्वप्नावस्थाश्रयणवैफल्यादिति सिद्धान्तिमतमाशङ्क्य दूषयति—नच मनस इत्यादिना शङ्कनीयमित्यन्तेन । तत्र हेतुमाह—मनस इति । यदि हि मनसो दृश्यतयावस्थान स्यान्न स्यात्तर्हि करणत्व नत्वेतदस्ति । मनस इन्द्रियत्वेनायोगिन प्रत्यतीन्द्रियत्वात् । शरीरसयुक्तमतीन्द्रिय साक्षात्प्रतीतिसाधनमितीन्द्रियलक्षणान्मनोऽतीन्द्रियमिन्द्रियत्वाच्चक्षुवदिति प्रयोगसभवाच्चेत्यर्थ । कस्तर्हि श्रुतेरर्थ ? इत्यत आह—तस्मादिति । ज्योतिर्लक्षणप्रकाशाधिकरणत्वाज्ज्योतिरित्यभिधीयते । ज्योति साधनतया वा ज्योति शब्द, वागादिवदित्यर्थ । उपपत्तिविरुद्धश्चायमर्थ इत्याह—द्रव्यस्येति । ज्ञानस्य गुणत्वादात्मनो द्रव्यत्वाच्चेत्यर्थ ।

इस स्वप्नवस्था मे यह आत्मा स्वयप्रकाश रहता है। इस अर्थ को कहनेवाली श्रुति से आत्मा स्वयप्रकाश सिद्ध होता है, परन्तु यहाँ शका होती है कि यह श्रुति स्वप्नावस्था के अधिकार=प्रकरण को आरम्भ करके पढी गई है और वहाँ मन के अनुपरत (अनिवृत्त) रहने के कारण मन आत्मा का प्रकाशक रहता ही है, अत आत्मा को स्वयज्योति स्वरूपत्व नहीं रहता है। यदि कहा जाय कि मन तो उस अवस्था मे, गज (हस्ती) आदि रूप से परिणत रहता है, अत अवभास (तात्कालिक ज्ञान) के कर्म रूप से उसकी स्थिति रहती है, ज्ञान के करणान्तर का भी अभाव रहता है, अत वहाँ आत्मा ही स्वयप्रकाश हो सकता है, तो ऐसा नही कहना चाहिये, यह शका नही करनी चाहिये। क्योंकि मन को भी चक्षु आदि के समान इन्द्रियत्व होने से यदि वही गजादि रूप से परिणत होगा, तो गजादिरूप मन के प्रत्यक्षत्व की असिद्धि होगी, क्योंकि इन्द्रिय अतीन्द्रिय(अप्रत्यक्ष)

होती हैं अनुमेय या आगमगम्य होती है । अत मनके आत्मा के साथ संयोग से जन्य ज्ञान की आधारता से ही आत्मा स्वय शब्द का वाच्य और ज्योति कहा जाता है। अथवा ज्योतिके साधनत्वसे भी ज्योति कहा जाता है, क्योंकि उसी प्रकरण से 'वाचैवाय ज्योतिषाऽस्ते अग्निनैवाय ज्योतिषास्ते' वाक् ज्योति से यह रहता है, अग्नि ज्योतिसे यह रहता है, इत्यादि ज्योति के साधनों मे ज्योति शब्द का प्रयोग किया गया है। अत वाक् आदि के समान आत्मा मे, ज्योतिशब्द के प्रयोग को समझना चाहिये । अत आत्मा स्वयज्योति स्वरूप नहीं है, और गुणाश्रय द्रव्यस्वरूप आत्मा को गुणत्व की उपपत्ति नही हो सकती है, यह यदि शका हो तो आगे समाधान है कि—

मैवम् , यतः—

'सबन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानासमवायिन ।
इन्द्रियत्वाविघाताच्च मन प्रत्यक्षमात्मवत् ॥ ४ ॥

मन प्रत्यक्ष ज्ञानासमवायिकारणाधारत्वात् आत्मवदित्यनुमानान्मनसोऽपि प्रत्यक्षत्वोपपत्ते । न च प्रत्यक्षत्वे सति इन्द्रियत्वव्याकोप , तस्य साक्षिवेद्यस्यायैन्द्रियकज्ञानाविषयत्वेनेन्द्रियत्वाव्याकोपात् । तस्मान्निरस्तसमस्तकलङ्कावकाशमात्मन स्वप्रकाशत्वम् । तच्चात्मरूपमविद्यापरिकल्पितप्रपञ्चावभासकत्वादविद्यातमोनिवर्तकत्वाच्च ज्योति शब्दाभिधेय, यथा भावरूपशार्वरादितमोनिवर्तनेन जगदवभासकमादित्यादि ज्योतिरिति सिद्धम् ।

तदेतदप्यपाकरोति—**मैवमिति** । हेतुमवतारयति—**यत इति** । श्लोकेनानुमानमाह—**सबन्धस्येति** । मन प्रत्यक्ष विज्ञानासमवायिनो विज्ञानं प्रत्यसमवायिकारणस्य सबन्धस्याश्रयत्वेन हेतुनात्मवदित्यनुमानं सगृहीतम् । यत्तु प्रत्यक्षत्वे इन्द्रियत्वव्याघात इति तत्राह—**इन्द्रियत्वाविघाताच्चेति** । न चेन्द्रियाजन्यायोगिसाक्षात्काराविषयो मन इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वदिति प्रयोग. । नैयायिकादेरप्रसिद्धविशेषणत्वादुक्तहेतुव्यतिरेकस्योपाधित्वाच्च । सगृहीत मनुमान विवृणोति—**मनइत्यादिना** । ज्ञानासमवायिकारणमात्ममन सयोग. । ज्ञानाधारत्वादित्युक्ते असिद्धिस्तथाऽसमवायिकारणाधारत्वादित्युक्ते परमाण्वादिषु व्यभिचारस्ततो विशेषणद्वयमिदं, इन्द्रियत्वाविघाताच्चेति विवृणोति—**नचेति**। ननु कथं ज्ञानस्वरूपस्यात्मनो ज्योति शब्दवाच्यता यावता भूतविशेष एवाय ज्योति शब्दा व्युत्पन्न इत्यत आह—**तच्चेति** । तमोनिवर्तनेनावभासके हि ज्योति शब्द प्रयुज्यते तदिहापि समानमित्यर्थ ।

ऐसा नही कहो, क्योंकि, आत्मा के साथ सम्बन्ध के आश्रय होने से, उस सम्बन्ध रूप विज्ञान के असमवायी करण रूप मन को इन्द्रियत्व के अविघात होने से ज्ञानासमवायिकारण आत्मा के समान मन को भी न्यायमतानुसार प्रत्यक्षत्व है । अत स्वप्न में गजादि रूप से परिणत मन प्रत्यक्ष होता है ॥ ४ ॥ मन प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह ज्ञान के समवायि करण सम्बन्ध का आधार है, जैसे कि आत्मा है, इस अनुमान से मन

को भी प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है। मन के प्रत्यक्षत्व होने पर उसके इन्द्रियत्व का व्याकोप (बाध) होगा, ऐसा भी नही समझना चाहिये, क्योंकि साक्षी से वेद्य (प्रत्यक्ष) उस मन के इन्द्रियजन्य ज्ञान के अविषयत्व से (अनैन्द्रियकत्व रूप) इन्द्रियत्व का बाध नही होता है। अत समस्त दोष कलङ्कावकाश (प्रवेश)रहित आत्मा में स्वप्रकाशत्व है। और वह आत्म स्वरूप प्रकाश अविद्या से परिकल्पित (सिद्ध) प्रपञ्च (ससार) का अवभासक और अविद्या रूप तम का निवर्तक होने से ज्योतिशब्द का अभिधेय (वाच्य) होता है, ज्योति शब्द से कहा जाता है जैसे कि भाव स्वरूप रात्रि आदि के अन्धकार (तम) के निवर्तन द्वारा जगत का अवभासक (प्रकाशक) सूर्यादि ज्योति इस शब्द का अर्थ सिद्ध हैं।

ननु तमो न भावरूप, भावेष्वनन्तर्भावात्। तद्धि पृथिव्यादिद्रव्याणामन्यतमम्? अन्यद्वा स्यात्? नाद्य। क्षितिसलिलात्मसु चतुर्दशगुणेषु, तेजसि एकादशगुणे, मातरिश्वनि नवगुणे, मनसि चाष्टगुणे, नभसि षड्गुणे, दिक्कालयो पञ्चगुणयोरविनाशिनोरनन्तर्भावात्। अन्तर्भावे तु तावद्गुणवत्त्वप्रसङ्गात्, आत्मादावन्तर्भावे नित्यत्वापत्तेश्च।

'भावाभावातिगाऽविद्यातत्त्वे दृष्टान्तित तम।
वृद्धैस्तदस्य भावत्व वादेनानेन साध्यते॥'

भावरूपतमोनिवर्तनेनेत्युक्त तदिदममृष्यमाणा वैशेषिकादय प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तमो न भावरूपमिति**। हेतुमाह—**भावेष्विति**। षट्पदार्थान्यतमत्व हि भावत्वम्। तदिह तदन्यतमत्व व्यावर्तमान भावत्वमपि व्यावर्तयतीत्यर्थ। तत्र किं द्रव्यान्तर्भूतमुत्तरपञ्चकान्तर्भूत वा द्रव्यान्तर्भावे पृथिव्यादिनवान्यतममन्यद्वेति विकल्प्य नवान्तर्भावं निषेधति—**नाद्य:। क्षितीति**। तत्र रूपरसगन्धस्पर्शसख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्काराश्चतुर्दश क्षितिगुणा, गन्धरहिता स्नेहसहितास्ते एव चतुर्दश सलिलगुणा, सख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मभावनाख्यसंस्काराश्चतुर्दशात्मगुणा, आत्मा चात्रापर। रूपस्पर्शसख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसस्कारा इत्येकादश गुणास्तेजस, रूपद्रवत्वहीनास्ते एव नव गुणा वायो। स्पर्शरहितास्ते एवाष्ट मनसो गुणा। एतेनेश्वरोऽपि गृहीत। शब्दसख्यापरिमाणपृथक्त्वसयोगविभागा षड् गगनगुणा। शब्दवर्जितास्ते एव पञ्च दिक्कालयो एतेष्वनन्तर्भावादित्यर्थ.। **ननु** किमित्यनन्तर्भाव इत्यत आह—**अन्तर्भावे त्विति**। यस्मिन्नस्यान्तर्भावोऽभिमतस्तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणत्वप्रसङ्गादित्यर्थ.। नित्यद्रव्यान्तर्भावेऽधिक दूषणमाह—**आत्मादाविति**। तथा चालोकानिवर्त्यत्वमिति शेष।

भावरूप शार्वरादितम शब्दरूप प्रश्नबीज के प्राप्त होने पर न्याय वैशेषिक मतवादी की शका उपस्थित होती है कि तम अन्धकार भावपदार्थ रूप नहीं है किन्तु तेज का अभाव रूप है, क्योंकि तम का भाव स्वरूप द्रव्यादि छ: पदार्थ में अन्त

र्भाव नहीं हो सकता है, यदि उसका द्रव्य मे अन्तर्भाव कहे, तो क्या वह पृथिवी आदि नव द्रव्यों में (अन्यतम) किसी एक स्वरूप होगा, या इन नवों से अन्य होगा । तहाँ प्रथम पक्ष तो हो नही सकता है। (नव के अन्तर्गत तम नहीं हो सकता है) क्योंकि चौदह = चौदह गुणों वाले भूमि जल आत्मा में, ग्यारह गुण वाला तेज में, नव गुण वाली वायु मे, आठ गुण वाले मन में, छह गुण वाले आकाश में, पाच पाच गुण वाले अविनाशी दिशा और काल मे तम का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। उनके अन्तर्भाव हो तो जिसके अन्तर्भाव माना जायगा, उसके परिगणित गुणवत्ता की तम में प्राप्ति होगी। और आत्मादि नित्य द्रव्य के अन्तर्गत होने पर नित्यत्व की प्राप्ति से प्रकाश से निवृत्ति नही होगी।

नापि द्वितीय , निर्गुणस्य द्रव्यत्वानुपपत्तौ द्रव्यान्तरत्वमस्य सुतरामनुपपत्ते। नीलोत्पलदलश्यामं महच्चोपलक्ष्यमाण तम कथ निर्गुणमिति चेन्न। नीलरूपस्य गन्धाद्येकार्थसमवायिनस्तद्द्रव्याप्तस्य तदभावे भावायोगात्। अपि च द्रव्यान्तरत्वे न तावन्निरवयवत्व, नित्यत्वेनालोकानिवर्त्यत्वापत्ते । सावयवत्वे च तदारम्भकाणा स्पर्शवत्त्वे तस्मिन्नपि स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गादस्पर्शवत्त्वे च तेषा मनोवद्द्रव्यारम्भकत्वायोगात्।

नवबहिष्ट्व दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। तत्र वक्तव्य किं गुणवद् ? उत निर्गुणमिति ? निर्गुणपक्ष दूषयति—**निर्गुणस्येति**। गुणवत्त्वस्य द्रव्यलक्षणत्वेन तद्रहितस्य द्रव्यत्वव्याघातादित्यर्थ । प्रथम शङ्कते—**नीलेति**। रूपपरिमाणगुणवत्त्वोपलम्भादित्यर्थ । परिहरति—**नेति**। पृथिव्या हि नीलरूप गन्धादिभिर्व्याप्तमतस्तन्निवृत्तौ तमसि नीलरूपमपि निवर्ततेत्यर्थ । भावायोगादिति पदच्छेद: । भङ्ग्यन्तरेणापि द्रव्यान्तरत्व दूषयति—**अपि चेति**। तत्किं निरवयवमुतावयवारभ्यम् ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। निरवयवद्रव्यस्यात्मवन्नित्यत्वादित्यर्थ । द्वितीयेऽपि किं स्पर्शवदारभ्य तद्रहितारभ्य वा ? प्रथमे प्राह—**तदारम्भकाणामिति**। समवायिकारणगतविशेषगुणस्य कार्ये सजातीयगुणारम्भकत्वनियमादिति भाव । द्वितीय दूषयति—**अस्पर्शवत्त्वे चेति**। यत्स्पर्शरहित न तद्द्रव्यारम्भक यथा मन इत्यर्थ । उत्तरपञ्चकान्तर्भाव क्रमेण दूषयति—**नापीति**। गुणपक्षेऽपि किं रूपान्तर्भूतमितरान्तर्भूत वा ? आद्येऽपि किं पृथिव्यादित्रयवृत्तीतरवृत्ति वा ? आद्य निराचष्टे—**रूपान्तर्भाव इति**। इतरवृत्तितामपि क्रमेण दूषयति—**नापीति**। नभस्वान्वायु । **विशेषगुणरहितत्वादिति**। दिक्कालमनसा विशेषगुणशून्यत्वमिति सिद्धान्तादित्यर्थ । चक्षुर्मात्रग्राह्यस्येतरगुणान्तर्भावस्त्वसम्भवनिरस्त ।

परिगणित नव द्रव्य से भिन्न द्रव्य तम है, यह दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है। क्योंकि गुणवत्त्व द्रव्य का लक्षण है, अत: निर्गुण पदार्थ की द्रव्यता की ही अनुपपत्ति (असिद्धि) रहते द्रव्यान्तरत्व की अत्यन्त अनुपपत्ति है। यदि कहा जाय कि नील कमल

दल के तुल्य श्याम और महान (महत्त्वगुणयुक्त) प्रतीयमान (ज्ञात) अन्धकार निर्गुण कैसे कहा जा सकता है, तो सो कहना युक्त नही, क्योंकि गन्धादि के साथ एक भूमि रूप अर्थ(वस्तु) मे समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला(समवायी) नीलरूप उस गन्धादि से व्याप्त रहने के कारण व्यापक गन्धादि के अभाव रहते रह नही सकता है, अत गन्धादि के अभाव होते उस नीलरूप का तम मे भाव(सत्व)होना अयुक्त है और तम के द्रव्यान्तरत्व पक्ष में उसको निरवयव, या सावयव कहा जाय तो निरवयव तो कहा नही जा सकता है, क्योंकि निरवयवत्वपक्ष मे आकाशादि के समान नित्यत्व से आलोक (प्रकाश) से अनिवर्त्यता (अनाश्यता) की प्राप्ति होगी और सावयवत्व (कार्यत्व) पक्ष मे, यदि उनके आरम्भक (कारण) परमाणु आदि को स्पर्शयुक्त माना जाय, तो उस तम मे भी स्पर्श के उपलम्भ (ज्ञान) का प्रसङ्ग होगा कि तम मे स्पर्श का ज्ञान होना चाहिये। और तम के आरम्भकों को स्पर्शरहित मानने पर उनकी अस्पर्शवत्ता के कारण मन के समान द्रव्यारम्भकत्व का उनसे असम्बन्ध (अभाव) होगा। इस प्रकार से द्रव्य के अन्तर्गत तम नही हो सकता है।

नापि गुणा, रूपान्तर्भावे पृथिव्यादित्रितयगुणत्वे च तत्सहचारिणां गुणान्तराणामप्युपलब्धिप्रसङ्गात। नापि नभोनभस्वतोर्गुण, तयोररूपत्वात्। नापि दिक्कालमनसाम्, एतेषा विशेषगुणरहितत्वात्। नाप्यात्मन, तस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षगुणानधिकरणत्वात्। नापि कर्म, सयोगविभागयोरकारणत्वात्। नापि सामान्यविशेषसमवाया, तेषा व्यक्त्याश्रयसम्बन्धिनामुपलब्धिमन्तरेणानुपलम्भनियमात्। न हि सामान्यस्येव व्यक्तिर्विशेषाणामिव चाश्रय समवायस्येव सबधी तमस कश्चिदुपलभ्यते। न चास्य तमस उपलम्भसभव, तदुपलम्भकाभावात। नच लोचनमुपलम्भक, तद्व्यापारे तदनुपलम्भापातात्। अस्ति च निमीलितनयनस्यापि तम पश्यामीत्याभिमान। अपि च रूपत्वे रूपवत्त्वे वाऽऽलोकाजन्यचक्षुर्जन्यसाक्षात्कारविषयत्व न स्यादालोकसहकृतस्यैव चक्षुष स्तत्र सामर्थ्यात्। नापि मनस्तदुपलम्भक, बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य तस्य बहिरप्रवृत्त। तस्मात्षट्स्वपि भावेष्वनन्तर्भावात्तद्भावे वोपलम्भकाभावाच्च, प्रभाभावस्तम इति।

कर्मान्तभाव निराकरोति—**नापीति**। सयोगविभागयोरसमवायिकारणत्वस्य कर्मलक्षणत्वात्तमसश्च तदभावादित्यथ.। सामान्यादित्रयधर्माणामभाव तमसि दर्शयति—**नहीति**। सामान्यत्वे व्यक्तिव्यङ्ग्यत्व, विशेषत्वे चाश्रयप्रतीत्यपेक्षा, समवायत्वे च सबन्धिप्रतीत्यपेक्षा स्यादित्यर्थ। एव भावत्वे नि स्वभावापत्तिमुक्त्वा प्रतीत्यनुपपत्तिमाह—**नचेति**। प्रत्यक्ष तावदभ्युपगते। तत् किं चाक्षुषम्? उत मानम? स्पार्शनादिक त्वनुपलम्भपराहतम्। नाद्य इत्याह—**नचेति**। अस्मत्पक्षे निमीलितलोचनस्यापि सतमसालोचन सभवति, आलोकाभावस्यान्तरस्य चक्षुषा ग्रहणसभवादालोकानपेक्षत्वाद्भावपक्षे त्वालोकापेक्षाया वक्ष्यमाणत्वात्, पदार्थान्तरस्याप्यान्तरस्य ग्रहणप्रसङ्गाच्चेति

भाव । रूपगुणत्वे रूपवद्द्रव्यत्वे चानुपपत्त्यन्तरमाह—**अपि चेति** । आलोकेनाजन्य-श्चक्षुर्जन्यश्च य साक्षात्कारस्तद्विषयत्वं न स्यादस्ति च तदित्यर्थ. । रूपघटादिव्यभि-चारायाद्यविषणम्, ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यस्यास्मदादिस्पार्शनप्रत्यक्षवेद्यस्य च घटादेर्निवृत्त्यै चक्षुर्जन्यग्रहणम् । अस्मत्पक्षे त्वालोकाभावस्यालोकानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षप्रतियोगिकतया च प्रत्यक्षत्वाद्यनुपपत्तिरिति भाव । मानसत्वं निषेधति—**नापि मन इति** । तमश्च बहिरूपलब्धेरिति शेष. । उपसहरति—**तस्मादिति** । **तद्भाव** इत्यन्तर्भूतत्वेऽपीत्यर्थ । अयमत्र प्रयोग —**तम**:पदमालोकाभाववाचकमालोकानपेक्षचक्षुर्ग्राह्यवाचकत्वादालोका-भावपदवदिति ।

अन्धकार को गुणान्तर्भावता भी नही है, क्योंकि रूप के अन्तर्गत तम को माने तो पृथिवी जल ,तेज इन तीनों ही में रूप रहते है, अत उन तीनों में किसी के रूप तम के होने पर वहीं इस अन्धकार के सहचारी (सहवृत्ति) गन्धादि गुण का भी ज्ञान तम के साथ ही प्राप्त होगा, आकाश और वायु का गुण भी रूपात्मक तम नही हो सकता है, क्योंकि वे दोनों रूपरहित है, दिशा काल और मन का भी गुण तम नही हो सकता है । क्योंकि दिशा काल और मन ये विशेष गुण से रहित रहते है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सासिद्धिक(स्वाभाविक) द्रवत्व, बुद्धि, ज्ञान सुख, दु ख, इच्छा, प्रयत्न, धर्म-अधर्म भावना-सस्कार, और शब्द विशेष गुण कहे जाते हैं । सो आत्मा और भूतों में वैशेषिक मतानुसार रहते है, दिशा आदि में नहीं, आत्मा का गुण भी तम नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मा मे बाह्य इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष गुण का अनधिकरणत्व है, और तम बाह्य इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषय प्रत्यक्ष माना जाता है । कर्म के अन्तर्गत भी तम नही है, क्योंकि सयोग और विभाग के कारणत्व तम मे नही है, और वैशेषिक मत में सयोग और विभाग के असमवायिकरण रूप ही कर्म का माना जाता है, और सामान्य (जाति) विशेष और समवाय के अन्तर्गत तम नही हो सकता है, क्योंकि व्यक्ति, आश्रय, और सम्बन्धी की उपलब्धि (ज्ञान) के बिना इन जाति आदि की अनुपलब्धि का नियम है, अन्धकार यदि इन के अन्तर्गत होगा, तो इसकी भी उपलब्धि व्यक्ति आदि की उपलब्धि के बिना नही होगी, और सामान्य की व्यक्ति के समान, विशेषों के आश्रय के समान और समवाय के सम्बन्धी के समान तम के कोई व्यक्ति आश्रय वा सम्बन्धी उपलब्ध (ज्ञात) नही होता है, अत सामान्यादि के अन्तर्गत तम नहीं हो सकता है । और तम को भावस्वरूप मानने पर, उस तम के ज्ञान का सम्भव नहीं है । क्योंकि उसके उपलम्भक (प्रत्यक्षज्ञान जनक) का ही अभाव है । नेत्र उपलम्भक (ज्ञापक) है, ऐसा नहीं कह सकते है, क्योंकि यदि नेत्र तम का उपलम्भक होगा, तो, नेत्र के अव्यापार (दर्शनाभाव) काल मे तम के अज्ञान की प्राप्ति होगी, नेत्र के व्यापार के बिना तमका ज्ञान नहीं होगा, परन्तु ऐसा होता है नहीं, क्योंकि निमीलित (बन्द) नेत्र वाले को भी अभिमान (अनुभव) होता है कि मै तम को देखता हूँ । और दूसरी बात है कि यदि अन्धकार रूपात्मक होगा वा रूपवाला होगा तो प्रकाश से अजन्य केवल नेत्रजन्य (प्रकाशनिरपेक्ष चक्षुजन्य) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होगा , क्योंकि प्रकाश सहित ही नेत्र को रूप और रूपवान् के ज्ञान में सामर्थ्य है । और

मन भी तम का ज्ञान नहीं कर सकता है, क्योंकि बाह्य इन्द्रिय की अपेक्षा (सहायता) रहित उस मन की बाह्यप्रवृत्ति नही होती है, अत द्रव्य गुणादि छह भाव पदार्थों में अन्तर्भाव नही होने से, और कथञ्चित् अन्तर्भाव मानने पर भी उसके उपलम्भक के अभाव से प्रभा=प्रकाश का अभाव स्वरूप ही तम सिद्ध होता है।

अत्रोच्यते—

तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तर तम कस्मादकस्मादपलप्यते ॥ ५ ॥

अस्ति हि तमस्तमालमालाश्यामलमिति प्रतीति'। न चाप्रतीतावेवायं प्रतीतिभ्रम', तद्व्यवहारस्य तत्प्रतीतिमन्तरेणानुपपत्ते । न चायमौपचारिक आलोकाभावे, शौक्ल्याभावे पटादौ नोलव्यवहार इवेति युक्तम्, मुख्ये बाधकाभावात्। रूपत्वे रूपवत्त्वे वा आलोकानपेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वासभवो बाधक इति चेत्, मैवम्, आलोकविरोधिनस्तमसश्चालोकाभावव्यञ्जनीयतया तन्निरपेक्षचक्षुर्विषयत्वो पत्ते, सामर्थ्यस्य कार्यगम्यत्वात्। न चेद् आलोकाभावस्यापि रूपवदभावतया घटाभाववदालोकनिरपेक्षचक्षुर्विषयत्व न स्यात, तद्विरोधितया तदनपेक्षत्व तु प्रकृते समानमन्यत्राभिनिवेशात।

समाधातुमुपक्रमते—अत्रोच्यत इति। श्लोकेन प्रमाणमुपदर्शयति—तमालेति। तमालवच्छ्यामलमिति ज्ञान तमालश्यामलज्ञान तस्मिन्निर्बाधे स्फुटे जाग्रति स्फुरति सति अकस्मान्निष्कारण द्रव्यान्तर तम विशेषणैरुदयत् कस्मादपलप्यते। अयुक्तो ह्यकस्मादपलापोऽतिप्रसङ्गादिति योजना । अत्र जाग्रतीत्यनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्य परिहृतम्। स्फुट इति सशय परिहृतः। निर्बाध इति विपर्ययपर्युदास । श्लोक विवृणोति—अस्ति हीति। अत्र प्राभाकरावलम्बिन प्राहुः—प्रतीतिरेव तावन्नोदेति । यस्तु प्रतीतिव्यवहारः स तु प्रतीत्यभाव एव प्रतीतिभ्रम । यथाहुरदृष्टौ ध्वान्तदृष्टिवदिति, तन्निराचष्टे—नचेति। तत्र हेतु—तद्व्यवहारस्येति। अस्ति तावदेवविध ससर्गव्यवहार । स च तादृशज्ञानमन्तरेणानुपपन्न । चेतनव्यवहारस्य ज्ञानपूर्वकत्वनियमादित्यर्थ । यथा चैतत्तथोदर्केऽख्यातिप्रत्याख्याने प्रख्याप्यते। न चालोकादर्शनविषयज्ञानमेव तम पश्यामीति व्यहारहेतुस्तस्याचाक्षुषतया इदमिति व्यवहाराद्यनुपपादकत्वादिति भाव । एतेनैतदपि परास्तम् । यदाह मानमनोहरस्तमसि प्रमाणाभावमुपन्यस्य नील तम इति प्रतीति प्रमाणमिति चेन्न, नीलबुद्ध्यसिद्धे, उक्त नाथेनापि—"अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रमो मन्दानामिति"। यत्तु तेनैवोक्त—"कथ तर्हि पदप्रयोग इति चेत्सिताभावे उपचारादसितं नीलमिति हि लौकिक प्रयोग" इति। तदेतदनुवादपूर्वक दूषयति—न चायमित्यादियुक्तमित्यन्तेन। पटादौ शौक्ल्याभावे नीलस्य व्यवहार इवालोकाभावेऽयमौपचारिक इति न युक्तमित्यन्वय । मुख्ये बाधकाभावा-

दिति तत्र हेतु । यत्त्वत्रापि तेनोक्त 'मुख्ये किं बाधकमिति चेदालोकनिरपेक्षस्य चक्षुषो रूपप्रत्ययजनकत्वानुपपत्ते, कारणाभावे कार्यं जायत इति दुर्घटमि"ति। तदेतदर्थन शङ्कते—रूपत्व इत्यादिना। परिहरति मैवमिति । रूपवत्त्वेऽपीतर-रूपवद्वैलक्षण्यमस्ते'त्यन्यथासिद्धमित्यर्थ । नन्वितरत्रालोकसापेक्षस्य चक्षुष कथ तमन्तरेण तमसि सामर्थ्यमित्यत आह—सामर्थ्यस्येति । एतदेव प्रतिबन्द्या समर्थयते—नचेदित्यादिना । यदि हि रूपवत्त्वमात्रेणालोकसापेक्षताप्राप्तिस्तदा रूपवदभावत्वा-दालोकाभावेऽपि घटाद्यभाववदालोक किमिति नापेक्षते चक्षुरित्यथ । प्रसङ्गसाम्य-मुक्त्वा परिहार समीकरोति—तद्विरोधितयेति । न चाभिव्यञ्जकतयाप्यवश्यापे-क्षणीये सत्यालोकाभावे तावतैव तम शब्दसाथक्यात् कृतमधिकान्धकारकल्पनयेति वाच्यम्, यत कल्पयन्त प्रति अय पर्यनुयोग, न प्रत्यक्ष प्रमाणयन्त प्रति आभासतो-द्भावनीयेति चेदुद्भाव्यतां, मैव तु केनेति विवेचनीयम्? नहि न नील तम इति प्रत्यक्षमस्ति बाधकम्, अनुमानमिति चेत्तस्यैव तावदध्यक्षविध्वस्तविषयस्य बाधव्याधि समाधत्स्व । तदेवमालोकनिरपेक्षचक्षु प्रवृत्त्यनुपपत्ति परिहृता ।

अब यहाँ तम में तेजोऽभावरूपता का खण्डन और भावरूपता का प्रतिपादन किया जाता है कि 'तमाल नामक वृक्ष के समान श्यामल (काले) तम के ज्ञान के निर्बाध स्फुट (प्रत्यक्ष) जाग्रत् (वर्तमान) रहते अकस्माद् (निष्कारण) द्रव्यान्तर रूप तम किस कारण से अपलपित होता है (अभाव रूप कहा जाता है)। अर्थात् अन्धकार है—ऐसी प्रतीति के विषय को अभाव रूप कहना उचित नही है, तेज का अभाव रूप कहा जाय, तो भी सामान्य तेज का अभाव तो कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि अत्यन्त गर्म (तेजयुक्त) कोठरी मे भी अन्धकार रहता है, और काले रूपयुक्त के ज्ञान से विशेष तेज का अभाव रूप भी नही कहा जा सकता है ॥ ४ ॥ तमालमाला (पंक्ति) के समान श्यामल तम है, ऐसी प्रतीति अवश्य (अस्ति) होती है । यदि कहा जाय कि अप्रतीति (यथार्थ प्रतीति के अभाव) मे ही यह प्रतीति का भ्रम होता है, कि मुझे नील तम का ज्ञान हुआ है, मनुष्य को ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि मुझे तम के अभाव का ज्ञान हुआ है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तम की यथार्थ प्रतीति के बिना उसके कथनादिव्यवहार की सिद्धि नही हो सकती है। यदि कहा जाय कि पटादि मे शुक्लता के अभाव रहते जैसे नील का व्यवहार होता है कि पट काला है, ऐसा ही आलोक के अभाव मे यह औपचारिक (गौण) व्यवहार होता है कि तम काला है अर्थात् अविवेक से मिथ्या व्यवहार होता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहार की मुख्यता में बाध के बिना उसमें गौणता नहीं मानी जा सकती है। भाव है कि 'नील तम' यह व्यवहार प्रसिद्ध है। और चेतन का व्यवहार ज्ञानपूर्वक होता है, अत व्यवहार के हेतु ज्ञान के बाधित (मिथ्या औपचारिक) हुए बिना व्यवहार औपचारिक नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि तम के रूपात्मक वा रूपवाले होने पर आलोकनिरपेक्ष नेत्रजन्य ज्ञान के विषयत्व का असम्भव बाधक है, इससे नीलतम का ज्ञान बाधित (मिथ्या) सिद्ध होता है तो ऐसा कहना भी नहीं चाहिये, क्योंकि आलोक

विरोधी तम की आलोकाभाव से व्यञ्जनीयता (अभिव्यक्ति) के कारण आलोक निरपेक्षचक्षुर्विषयता की तम में सिद्धि होती है (बनती है) यदि कहा जाय कि आलोक सापेक्ष ज्ञान जनक नेत्र में आलोक के बिना ज्ञान का सामर्थ्य नहीं है, तो सो कहना युक्त नहीं, क्योंकि सामर्थ्य कार्य से गम्य (ज्ञातव्य) होता है, जाना जाता है। यदि ऐसा नहीं माना जाय-तो, आलोक का अभाव स्वरूप माना गया हुआ अन्धकार का भी आलोकनिरपेक्ष चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि आलोकाऽभाव रूप तम के रूपवत् आलोक रूप प्रतियोगी (सम्बन्धी) वाले होने के कारण घटाभाव के समान आलोक निरपेक्ष चक्षु का विषय नहीं होगा। यदि कहा जाय कि आलोकाऽभावरूपतम को आलोक विरोधिता के कारण उस अभावरूप तम के प्रत्यक्ष में चक्षु को आलोक की अपेक्षा नहीं होती है। तो प्रकृत अन्धकार रूप भाववस्तु के चाक्षुष ज्ञान में भी यह समाधान तुल्य है कि प्रकाशविरोधी अन्धकार के प्रत्यक्ष में चक्षुप्रकाश की अपेक्षा नहीं करता है, दुराग्रह से अन्यत्र यह समाधान है दुराग्रह का नहीं।

न च निमीलितनयनस्य लोचनव्यापाराभावेऽपि तमस उपलम्भादचाक्षुषत्व, तत्रापि पक्ष्मपटलान्तवर्तितमसश्चक्षुर्व्यापारादेवोपलब्धे, पिहितकर्णपुटस्य श्रोत्रव्यापारादेवान्तरशब्दोपलब्धिवत्। यत्तु गन्धाभावे तद्व्याप्त नील रूपमपि न स्यादिति, तदपि न, अनुष्णाशीतस्पर्शस्य पृथिव्या गन्धादिव्याप्तस्य तदभावेऽपि मरुति प्रतोतेरेवाङ्गीकारवदिहापि प्रतीतेरेव नीलरूपस्य गन्धाभावेऽप्यभ्युपेयत्वात्। अथ पाकजस्यैवानुष्णाशीतस्पर्शस्य गन्धादिना व्याप्तिस्तर्हीहापि पाकजस्यैव कालिमगुणस्य गन्धादिना व्याप्तिरिति तुल्यम्। सद्भावग्राहिण प्रत्यक्षस्योभयत्र समानत्वात्। न च स्पर्शाभावात्तमसो रूपवत्त्वाभाव, रूपग्राहकप्रत्यक्षविरोधे हेतो कालात्ययापदिष्टतया तदभावानुमानानुदयात्। अन्यथा रूपाभावेन पवनेऽपि स्पर्शाभावानुमानस्य दुर्निवारत्वात्, अन्यत्र रूपवतामेव स्पर्शवत्त्वनियमात्। न चास्पर्शवत्त्वादेव तम परमाणूना मनोवदनारम्भकत्वमनुमातु युक्तम्, तत्र वैयर्थ्यस्योपाधे सद्भावात्। न हि शरीरतया विषयतेन्द्रियतया वा मनआरब्धद्रव्यस्य भोगसाधनता सभावनीया, पार्थिवादिचतुर्विधशरीरानन्तर्भूतस्येन्द्रियानाश्रयस्य शरीरतया भोगसाधनतानुपपत्ते। न च विषयतया, रूपस्पर्शशून्यारब्धस्य तद्रहितत्वेन विषयत्वायोगाच्छरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोऽवयवी विषय इत्यङ्गीकारात्। नापोन्द्रियतया; मनस एवेन्द्रियत्वात्तदारब्धेन्द्रियान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात्। न च शरीरेन्द्रियविषयानन्तर्भूतस्य कार्यद्रव्यस्य भोगसाधनत्व परैरङ्गीक्रियते। आत्मादीनामपि पुनरस्पर्शवता शरीरेन्द्रियविषयारम्भासभवात्समानमेव द्रव्यान्तरारम्भवैयर्थ्यम्। इह पुनस्तमसो स्वतो रूपवत संभवति भोगसाधनत्वमिति नारम्भवैयर्थ्यम्। किंचास्मन्मते न तमस्तमोवयवैरारब्ध, तस्य मूलकारणान्मेघमण्डलान्महाविद्युदादिजन्मवज्जन्माभ्युपगमात्। न च मनसोऽनारम्भकत्वं, तस्यापि सावयव-

द्रव्यत्वेन परिणामित्वाभ्युपगमात्, आत्मनश्च स्पर्शरहितस्य सर्वजगदुपादान-कारणत्वाभ्युपगमाच्च ।

यत्तु चक्षुर्व्यापाराभावेऽप्युपलम्भादचाक्षुषत्वमिति तदनूद्यासिद्धिमाह—**नच निमीलितेति**। नच रूपवदन्तरग्रहप्रसङ्ग तत्रालोकसापेक्षत्वात्। नचेन्द्रियाणामन्त. प्रवृत्तिर्न दृष्टचरी येनायमलौकिक. क्लृप्त स्यादित्याह—**पिहितेति**। तत्र शब्द इत्यादिप्रतीते श्रोत्रमपि गत्वा ग्राहीति भाव । इत्थमुपलम्भकसिद्धिरुक्ता। अथ यदुक्त नीलरूपमस्य न सभवति, तद्व्यावर्तकगन्धवैधुर्यादिति तदनूद्याभाससमानयोग-क्षेमता दर्शयन्बाधकमाह—**अनुष्णाशीतस्पर्शस्येत्यादिना**। अत्र हि गन्धव्यावृत्त्या नीलरूपव्यावृत्तिरनुमित्सिता। सा चायुक्ता, रूपोपलब्धिविरोधात्। यदि चैवमपि नानुमन्यसे, तर्हि गन्धव्यावृत्त्यानुष्णाशीतस्पर्शमपि पवनाद्व्यावर्तयेदित्यर्थ, अथ नानुष्णाशीतस्पर्शमात्रस्य गन्धेन व्याप्ति, अपि तु तद्विशेषस्य पाकजन्मनस्तर्हीहापि न नील-रूपमात्रस्य गन्धेन व्याप्ति । किंतु पाकजस्यैवेत्याह—**अथ पाकजस्यैवेति**। नन्वपाक-जस्पर्शवदपाकजनीलरूपसिद्धावेतत्स्यात्तदेव तु कुत प्रमाणादित्यत आह—**सद्भाव-ग्राहिण इति**। ननु तमो रूपरहित स्पर्शरहितत्वादाकाशवदित्यनुमानविरोधाद्रूपव-त्त्वमेव नास्तीति कुतस्तद्विशेषनीलरूपवत्ता ? इत्यत आह—**नच स्पर्शेति**। एतदपि पवनस्पर्शप्रतिबन्द्या समर्थयते—**अन्यथा रूपाभावेनेति**। वायु स्पर्शरहित रूपर-हितत्वादाकाशवदित्यस्यापि सुवचत्वात्, प्रतीतिराभासतयानुमानोदयस्य सुवचत्वा-दित्यर्थ । अस्यैव व्याप्तिमाह—**अन्यत्रेति**। यत्तु यत्स्पर्शरहित न तद्द्रव्यारम्भक यथा मन इति व्याप्त्या स्पर्शरहिततयाङ्गीकृततम परमाणूना द्रव्यारम्भकताभ्युपग-मव्याघात इति कन्दलीकारोक्तदूषण तदनूद्य निराकरोति—**न चास्पर्शवत्त्वादेवेति**। तत्रेति। मनसि द्रव्यानारम्भकत्वे तदारब्धकार्यवैयर्थ्यमुपाधि, अतो नास्पर्शवत्त्वद्रव्या-नारम्भकत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थ । वैयर्थ्यमेव विवृणोति—**नहीति**। शरीरतया भोगसा-धनताभावमाह—**पार्थिवादीति**। अयमर्थ—पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानि चतुर्वि-धानि हि शरीराणि प्रमाणयन्ति। तत्र पार्थिवानि कानि ? यानीमान्यनुभूयन्ते। आप्यादीनि तु तत्तच्छास्त्रगम्यानीति ते स्थिति । पुनश्चातुर्विध्यानवरुद्धशरीरसद्भावे प्रमाणमस्तीति तदारब्धस्य न शरीरता। अत्र च मृतशरीरवदभोगसाधनतायामिन्द्रि-यानाश्रयत्व हेतु । तत्र च हेतुरनन्तर्भूतत्व, विषयताऽभावमाह—**नच विषयतयेति**। रूपस्पर्शशून्यान्तकरणारब्धमपि रूपस्पर्शशून्यमत ए॰ विषयत्वरहित, द्रव्येषु रूपवत्सु स्पर्शवत्सु वा बाह्येन्द्रियप्रवृत्तेरित्यर्थ । तम पवनयोर्व्यवच्छेदाय रूपस्पर्शग्रहणम्। उक्त च मानमनोहरकारेण—शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तोवयवी हि विषय इति। नच रूपस्पर्शरहितस्यावयवित्व कार्यत्वे सति रूपस्पर्शवतोऽवयवित्वादिति भाव॰। मन-श्चारब्धस्येन्द्रियता निषेधति—**मनस एवेन्द्रियत्वादिति**। नन मास्तु त्रिविधान्तर्भाव,

अनन्तभूतस्यैव किमिति भोगसाधनत्वं न स्याद् गुणादिवदित्यत आह—**नच शरीरेति।** कार्यद्रव्यस्येत्यत्र हृदय—तत्र कालादीनां सर्वोत्पत्तिनिमित्ततया भोगसाधनताऽस्तीति। तत्र बाधपरिहाराय कार्यग्रहणम्। उक्तोपाधेरात्मादिष्वपि साध्यव्याप्तिमाह—**आत्मादीनामिति।** प्रकृतस्य तु पुनस्तमसो विषतया भोगसाधनतयोपाधे साधनाव्यापकत्वमाह—**इह पुनरिति।** उपलक्षणं चैतत्स्पर्शवत्त्वस्यापि। सुखस्पर्शा चूतच्छाया, उष्णस्पर्शा वटच्छायेति प्रतीते। न चेदं परमाण्वादिवदणु, येन विषयतयापि न भोगाय स्यादित्याह—**महत इति।** तत्प्रतीत्या चायमारम्भवाद समर्थितः नास्माकमयं समर्थनीय। न ह्यस्माकमनिर्वचनीयाचिन्त्यसामर्थ्याविद्यासचिवब्रह्मविवर्तवादिनामेताद्दशानुपपत्त्याभासपांशुभिः परिभव इत्याह—**किञ्चास्मन्मत इति।** भाट्टरीत्या वा पुरोक्त, मूलकारणमखण्डमायावद् ब्रह्म। **महाविद्युदादीति।** द्व्यणुकादिपरम्परानिलम्बो निरस्त। पुनरपि सिंहावलोकितेन आरम्भमेव निर्वाहयति—तत्र यन्मनसोऽनारम्भकत्वं दृष्टान्तितम्, तदभ्युपगम्य वैयर्थ्यमुपाधिरुक्तस्तनदेव तु नास्त्यस्मत्पक्षे तस्यापि सावयवतया परिणामित्वेनारम्भकत्वादित्याह—**नच मनस इति।** अन्यथानैकान्तिकता चाह—**आत्मनश्चेति।**

निमीलित (बंद) नेत्र वाले को नेत्र के व्यापार (नेत्र से दर्शन) के अभाव रहते भी भीतर तम का ज्ञान होता है, अत तमोज्ञान मे चाक्षुषत्व (चक्षुर्जन्यत्व) नहीं रहता है। तो यह समझना युक्त नहीं है, क्योंकि उस चक्षु की निमीलित अवस्था में भी नेत्र पटलों (पलकों) के अन्तरवर्ती तम का नेत्र के व्यापार से ही उपलब्धि (ज्ञान) होती है। जैसे कि दोनों कानों (श्रोत्रों) का बन्द रखने वाले को भी श्रोत्र के व्यापार से ही भीतर के शब्द का ज्ञान होता है, इसी प्रकार से तम ज्ञान को समझना चाहिये, इस प्रकार से तम की उपलब्धि का कारण नेत्र है। और जो यह कहा था कि भूमि में नील रूप का व्यापक गन्ध के अभाव रहते गन्ध का व्याप्य (गन्ध से न्यून देशवृत्ति) नील रूप भी तम मे नही रह सकता है, सो भी कहना नहीं बन सकता है। क्योंकि अनुष्णाशीत (उष्णशीत से विलक्षण) स्पर्श के पृथिवी में गन्धादि से व्याप्त रहते भी वायु में गन्धादि के अभाव होते भी उस स्पर्श की प्रतीति से वायु मे उस स्पर्श को माना जाता है। ऐसे ही तम मे भी गन्ध के अभाव रहते भी प्रतीति बल से नीलरूप भी अभ्युपेय (स्वीकारार्ह) है। यदि कहा जाय कि पाकज (तेजजन्य भूमिवृत्ति) अनुष्णाशीत स्पर्श को ही गन्धादि से व्याप्यता रहती है। सामान्य को नहीं, और वायु मे अपाकज अनुष्णाशीत रहता है। अत वायु में पाकजस्पर्श की व्यापक गन्ध की निवृत्ति से निवृत्ति होती ही है, ऐसे ही व्यापक गन्ध की निवृत्ति से तम की निवृत्ति होगी, तो यहाँ भी कहा जा सकता है कि पाकज कालिमा ही पृथिवी मे गन्धादि से व्याप्त रहता है, सामान्य या अपाकज नही, अत तम मे पाकज गन्ध की निवृत्ति से पाकज नीलता की निवृत्ति होगी अपाकज की नही यह तुल्यता है। यदि कहा जाय कि वायु मे अपाकज स्पर्श के ग्राहक प्रमाण के समान अपाक नीलरूप का ग्राहक प्रमाण हो, तब तो उक्त कथन बन सकता है, अन्यथा नही। तब कहा जाता है कि

सद्भाव के ग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण उभयत्र तुल्य है। वायु मे, जैसे त्वक् से अनुष्णाशीत अपाक स्पर्श का ज्ञान होता है, इसी प्रकार से तम मे नेत्र से अपाकज नीलरूप का ज्ञान भी होता है, तो भी यदि अपाकज नील रूप तम मे नही माना जाय तो वायु मे भी अनुष्णाशीत नही माना जायगा, तुल्यता ही है। यदि कहा जाय कि स्पर्शवत्ता के अभाव से तम मे आकाश के समान रूपाऽभाववत्ता को अनुमान द्वारा नील रूप के अभाव का अनुमान होता है, क्योंकि आकाश के समान सामान्य रूप के अभाव होते नील रूप भी उसी मे नहीं सिद्ध हो सकता है तो कहा जाता है कि तम रूप ग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण मे विरोध रहते (अन्धकार रूपाभाववान्, स्पर्शरहितत्वात्) इस अनुमान के हेतु स्पर्शरहितत्व के कालात्ययापदिष्ट (बाधित साध्य वाला) होने से उस रूप के अभाव के अनुमान का उदय नही हो सकता है। अन्यथा (यदि तम मे स्पर्शाभाव मे रूपाऽभाव का अनुमान हो) तो वायु मे भी रूपाऽभाव से स्पर्शाभाव का अनुमान दुर्निवार होगा। क्योंकि वायु से अन्यत्र रूपवाले ही पृथिवी जल तेज को स्पर्शवत्त्व का नियम है। अत अनुमान होग ही कि वायु स्पर्शरहित है, रूपरहित होने से, आकाश के समान, स्पर्शवत्ता की प्रतीति की आभासता मान लेने से वह अनुमान को नहीं रोक सकेगा। और जो कहा गया था कि मन के समान स्पर्शरहित होने के कारण तम के परमाणु तमरूप कार्य के आरम्भक नहीं हो सकते है, सो भी युक्त नहीं है। क्योंकि (तम परमाणव, द्रव्यानारम्भका स्पर्शाभावात् मनोवत्) यहाँ व्यर्थता ही उपाधि है, मनमें द्रव्यानारम्भकता है, वहाँ व्यर्थता है। मन से आरब्ध का कोई फल नही हो सकता है, अत व्यर्थता साध्य का व्यापक है, स्पर्शाभाव का अव्यापक है, क्योंकि वायु परमाणु में स्पर्शाभाव है, परन्तु व्यर्थता नही है, अत साध्यव्यापक साधनाव्यापक व्यर्थता उपाधि है। और मन से आरब्ध का फलाभाव इसलिये है कि मन से आरब्ध द्रव्य मे शरीररूप से वा विषयरूप से या इन्द्रियरूप से भोग की साधनता का सम्भव नही है, क्योंकि पार्थिव, आप्य, तैजस, वायवीय, चतुर्विध शरीर के अन्तर्गत, मन से आरब्ध द्रव्य नहीं होगा, अत शरीर रूप मे भोगसाधनता नही हो सकती है। और स्वय अन्तरिन्द्रिय मन है। उससे आरब्ध द्रव्य इन्द्रियाश्रय भी नहीं होगा, अत शरीर रूप से भोग का साधन नही होगा, विषय रूप से भी भोग का साधन नही हो सकता है, क्योंकि रूपस्पर्श से रहित मन से आरब्ध द्रव्य को भी रूपादि रहितत्व के कारण इन्द्रियों के विषयत्व होना अयुक्त है। और शरीर इन्द्रिय से भिन्न अवयवी (कार्यद्रव्य) विषय होता है, ऐसा माना जाता है, और इन्द्रिय रूप से भी मनोजन्य द्रव्य भोगसाधन नही होगा, क्योंकि मन के ही इन्द्रिय होने से मनोजन्य में इन्द्रियान्तरत्व मानना व्यर्थ है। और शरीर इन्द्रिय तथा विषय, इन तीन के अन्तर्गत कार्यद्रव्य की भोगसाधनता को ही नाकिक मानते है। स्पर्शरहित आत्मादि को शरीर इन्द्रिय विषय रूप द्रव्यारम्भ के असम्भव से द्रव्यान्तरारम्भ की व्यर्थता रूप उपाधि मन के समान ही है, और प्रकृत में महान् रूपवाले तम को भोग साधनता का सम्भव है, अत तम मे आरम्भ की व्यर्थता रूप उपाधि नहीं है। अत उपाधि मे साधनाऽव्यापकता है। और वस्तुत यह तम का परमाणुओं से आरम्भ का समर्थन पररीति से किया गया है। हमारे वेदान्त मत में तमरूप द्रव्य तम के परमाणु रूप अवयवों से आरब्ध (जन्य) नहीं होता है,

क्योंकि जगत के मूल कारण मायी ब्रह्म से ही इस प्रकार जन्म उत्पत्ति मानी जाती है कि जैसे मेघमण्डल से महान् विद्युत आदि की उत्पत्ति होती है। आलोक से विनाशित तम को फिर मूल कारण से ही शीघ्र उत्पत्ति होती है, इत्यादि अन्यत्र लिखा गया है। अत स्पर्शरहित परमाणु जन्यता के वेदान्त मत मे अभाव से वेदान्त मे सिद्धसाधनता उक्त अनुमान को है। और वेदान्त में मन को भी अनारम्भकत्व नहीं है, क्योंकि उस मन के सावयवद्रव्य होने से उसको भी परिणामी माना जाता है। और स्पर्शरहित आत्मा को समस्त जगत विवर्त का वैवर्ती उपादान कारण माना जाता है, अत उक्त अनुमान मे दृष्टान्त की असिद्धि है और अन्धकार रूपवान् होने से द्रव्य है, तेज का अभाव नहीं॥

चलत्वाच्चालोकवत्तमो द्रव्यान्तरम्। अन्यानुविधाननियमान्न स्वाभाविक चलनमस्य घटरूपादिवदिति चेत्, न, द्रव्यस्यापि सुवर्णादिवद्द्रव्यान्तरानुविधानेऽपि स्वाभाविकचलनोपपत्ते। तथाहि—आकरजस्य तेजस सुवर्णादेः पार्थिवद्रव्यापष्टम्भात्पतनादिप्रतिभासेऽपि न स्वाभाविक चलनमुपरुध्यते। किंचेदमनुविधानम्—किमालोकावरकानपत्राद्यनुविधानम्? किंवा निवर्तकप्रदीपाद्यनुविधानम्? नाद्य, निश्चलेऽप्यचलादौ तच्छायायाश्चलनोपलम्भात्। नापि द्वितीय, वैपरीत्यादालोकागमने गच्छति इचेति प्रतीतेर्गमने चागच्छतीति प्रतीते, तद्विरोधित्वाच्च तदनुविधानानुपपत्ते।

तमो द्रव्य रूपवत्त्वाद्घटवदित्युक्तमिदानीं क्रियावत्त्वादपि द्रव्यत्वमाह—**चलत्वाच्चेति**। असिद्धि शङ्कते—**अन्येति**। **घटरूपादिवदिति**। घटगतगुणाना क्रियारहिताना यथा घटगमनानुविधानेऽपि न स्वाभाविक गमनमेवमित्यर्थ। तत्किं तमः स्वाभाविकचलनहीनमन्यचलनानुविधायित्वाद्रूपादिवदित्यनुमिनोषि? तथाच सुवर्णेऽनैकान्तिक तत्र ह्यनुच्छिन्नद्रवत्वस्याकरजतेजस सुवर्णस्य कठिनपार्थिवद्रव्येण नित्यमवष्टम्भात् तच्चलनाद्यनुविधाननियमोऽस्ति। न चैतावता स्वाभाविकत्वहानिश्चलनस्येति परिहरन्ति—**न**। **द्रव्यस्यापीति**। आकरज तेजोविशेष आकरेषु जायत इति व्युत्पत्त्या। चतुर्विध हि तेजो वैशेषिकै परिगणितम्—भौम दिव्यमुदर्यमाकरज चेति। ननु न वयमनुमिमीमहे अपि तर्हि प्रमाणमेव नास्ति चलनवत्त्वे, प्रतीतिस्त्वन्यानुविधानेनान्यथासिद्धेति ब्रूम इति, तत्रानुविधानमेव नास्त्यनिरूपणादित्याह—**किंचेदमनुविधानमिति**। न किमपीत्यर्थ। किं यन्निमित्त छायाद्यात्मक तमस्तदनुविधत्ते? किंवा यन्निवर्त्यं तदनुविधत्ते? इति विकल्पयति—**किमालोकेत्यादिना**। नाद्य; नियमाभावादित्याह—**निश्चलेऽपीति**। द्वितीयोऽप्ययुक्त, विपरीतभानादित्याह—**नापि द्वितीय इति**। आगमन इति पदच्छेद। यदि हि तदनुविदध्यात्तदा तस्मिन्गच्छति गच्छतीति, आगच्छत्यागच्छतीति प्रतीति स्यान्नतु तदस्तीत्यर्थ। **तद्विरोधित्वाच्चेति**। यस्य हि यदुदयसमसमयमेव विनाशस्तस्य कथ तदुदयानन्तर स्थिति.?

तत्क्रियानुकरण वा ? अस्थितस्याननुकरणादिति भाव । तदनेन भावत्वविभावनेनो-त्पत्तिसमर्थनेन गुणवत्तया द्रव्यत्वद्दीपनेन च गतेरनागन्तुकत्वनिरूपणेन चोपलम्भकोन्मी-लनेन च गुणवत्त्वाद्यनुगुणप्रमाणगवेषणपरिश्रमपरिद्रूयमानमानसोदयनदैन्यमप्यपनोदितं मन्तव्यम् ।

नील रूपवत्ता से तम के द्रव्यान्तरत्व को सिद्ध करके कहा जाता है कि 'चलत्वाच्च' चलत्व (क्रियावत्त्व) हेतु से भी सिद्ध होता है कि, आलोक (प्रकाश) के समान तम (अधकार) द्रव्यातर है, अभाव रूप नहीं। यदि कहा जाय कि अन्धकार मे स्वाभा-विक चलन क्रिया नही रहती है, क्योंकि वह क्रिया अन्य की क्रिया का अनुविधान (अनुसरण = अनुकरण) नियम से करती है, जैसे घट की क्रिया का अनुकरण घट का रूप करता है, तहाँ गुणात्मक रूप में क्रिया की प्रतीति मिथ्या होती है वैसे ही अन्धकार मे चलन क्रिया की प्रतीति मिथ्या होती है, तो यह कहना ठीक नहीं, मान ले कि तम अन्य की क्रिया का अनुकरण करता है, तो भी वह अभाव रूप नहीं सिद्ध हो सकता है, किंतु द्रव्यरूप तम का ही वह द्रव्यातर का अनुकरण, सुवर्णादि के समान द्रव्या-न्तर के अनुकरण करने पर भी स्वाभाविक चलन सिद्ध होता है। जैसे कि आकरज (खनिज) तेज रूप माने गये सुवर्णादि में पीत रूप वाले पार्थिवाश के सम्बन्ध से उसके अनुकरण (अध पतनादि) को सुवर्णादि रूप तेज करते हैं, पतनादि की प्रतीति उन मे होती है, तो भी उनके स्वाभाविक ऊर्ध्वचलन नष्ट नहीं हो जाता है, पार्थिव द्रव्य के सम्बन्धन रूप प्रतिबधक से ऊर्ध्व चलन की प्रतीति नहीं होती है, जैसे कि मदाग्निको ऊर्ध्व चलन की प्रतीति नही होती है। भौम, दिव्य, औदर्य आकरज, चार प्रकार के तेज वैशेषिक मत मे माने जाते है, उसके अनुसार विचार हुआ। अब विचार-णीय क्या है, अर्थात् यह अनुविधान सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि क्या आलोक के निरोधक छत्रादि (छत्ता आदि) का अनुकरण तम करता है, या आलोक तमनिवर्तक प्रदीपादि का अनुकरण तम करता है। तहाँ प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है। क्योंकि आलोक के अवरोधक पर्वतादि के निश्चल रहते भी उनके छाया रूप अधकार का चलन सूर्य क्रिया से उपलब्ध (ज्ञात) होता है। दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है। क्योंकि विपरीतता देखी जाती है कि आलोक के आने पर छाया (अधकार) चली जाती है, ऐसी प्रतीत होती ह। और आलोक क गमन करने पर, (चल जाने पर) तम आता है, एसी प्रतीत होती है, यही वैपरीत्य है, अनुकृति नहीं। अन्धकार का तेज विरोधी है, विरोधी का अनुकरण नहीं हो सकता है। अत तेज का अनुकरण करना तम के लिये अयुक्त है। जिस तेज के उदय होते ही तम नष्ट होता है, उस तेज का अनुसरण भी कैसे करेगा।

किञ्च—

'चक्षु प्रकाशनाजन्यरूपवद्वीक्षणक्षमम् ।

रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥ ॥

चक्षुरालोकाजन्यरूपिद्रव्यसाक्षात्कारजनक रूपिद्रव्यग्राहकेन्द्रियत्वात्त्वगि-

तत्र लक्षण श्लोकेन सगृह्णाति—**सर्वेषामिति**। सर्वेषा भावाना मृषात्मता मिथ्यात्वमिद यत्स्वाश्रयत्वेन समतेऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्व नित्यमविद्यमानत्वमिति योजना। श्लोक विवृणोति—**तथाहीति**। **अभिमता इति**। प्रमितव्यावृत्तिस्तेन च बाध परिहृत। नन्वेतावतापि किमिति मिथ्यात्वमिति चेत्तत्र वक्तव्य किमन्यत्र सन्त्विति? उत स्वतन्त्रा एव सन्त्विति? नाद्य, प्रमाणाभावादित्याह—**नहीति**। द्वितीय प्रतिषेधति—**तत्रापीति**। अयमर्थ—**न** तावदात्मवदेषामनाश्रितत्व कार्यत्वेन समवायिकारणाश्रितत्वात् सामान्यादीनामपि धमत्वात्ममानमाश्रितत्व तस्मादाश्रितानामन्यत्र प्राप्त्यभावात्प्राप्तदेशेऽपि चेदसत्त्वमापद्यत एव तदा वलान्मिथ्यात्वमिति। ननु भवत्वाश्रितानामेव मिथ्यात्वमनाश्रिताना परमाण्वाकाशादीनामाश्रयाभावेनोक्तलक्षणाभावात् मिथ्यात्वेष्टेश्चाव्याप्तिरित्यत आह—**नच निराश्रयेष्विति**। लक्षणपद तु मध्यस्थमणिवन्नेयम्। तेन सत्ताभावात्लक्षणस्येत्यपि पर्यवस्यति। विदधिकरणाद्युक्तन्यायेन तेषामप्यस्त्येव कार्यत्वमित्यर्थ। कार्यत्व चेद कल्पितत्व, तेन नाविद्यायामव्याप्ति। यथा चैतत्तथा द्वितीयपरिच्छेदे प्रमाणयिष्यते। अद्वितीयासङ्गस्य ब्रह्मण कथ मिथ्याभूतविषयदाद्याश्रयत्वमिति मतिमपाकर्तु व्यवहारदशायामित्युक्तम्। ननु सन्मात्र ब्रह्म सत्ता च घटपटाद्याश्रिताऽनस्तत्राप्युक्तलक्षणस्य शक्यसमर्थत्वात्लक्षणस्यातिव्याप्ति स्यादित्याशङ्क्याह—**नाप्यतिव्याप्तिरिति**। सत्य सन्मात्र ब्रह्म, तस्य तु घटादिसमवायोऽसिद्ध, घटादीनामेव तत्र कल्पितत्वादिति भाव।

हिन्दी—विवाद का आस्पद (विषय) प्रपञ्च (ससार) सत्य है। प्रमाण सिद्ध (प्रमाणिक) होने से, जैसे आत्मा। और यह घट, इस घटवृत्ति बाध्य (मिथ्या) भेद से भिन्न (सत्य) भेद का आश्रय है। द्रव्य होने से, जैसे कि पट सत्य भेद का आश्रय है। इत्यादि अनुमान से भी आकाशादि के आत्माओं के घटादि मे तथा सब ससार मे सत्यत्व की सत्य भेद की सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि भेद के सत्यत्त्व मे दृश् (ज्ञान) और दृश्य वस्तु के सम्बन्ध की अनुपपत्ति बाधक है। क्यो कि ज्ञान और घटादि विषयो को परस्पर सयोग समवायादि सम्बन्धो का सम्भव नहीं है। तो सो कहना युक्त नहीं है। क्योकि ज्ञानो को तत्तद्विषय के व्यवस्थित रूप से प्रकाशकत्व के लिये स्वस्व विषय के साथ उनके सम्बन्ध अपेक्षित है। यहाँ ज्ञान को विषय के साथ साक्षात सम्बन्ध नही होने पर भी तत्तत् विषयो के ज्ञान के हेतु रूप, इन्द्रिय, लिङ्ग और शब्दादि का तत्तत् घटादि विषयो के साथ नियत सम्बन्ध ही उन से उत्पन्न होने वाले ज्ञानो का तत्तद् विषयो के प्रतिनियामक होगा। अत, विषय के साथ ज्ञान का सम्बन्ध नहीं रहने पर भी

जिस विषय सम्बन्धी इन्द्रिय लिङ्ग वा शब्द से जो ज्ञान होगा, सो उसी विषयक होगा, अन्य विषयक नही। इस प्रकार से नियम की सिद्धि होने पर ज्ञान के साक्षात् सम्वन्धान्तर के बिना भी अतिप्रसक्ति (विषया नियति) की प्राप्ति नही है। अत, भेद के सत्यत्व मे बाधा नही है। और भेदरूप प्रपञ्च को मिथ्या मानने पर, कर्म भेद के प्रतिपादक प्रमाण रूप शब्दान्तर १, अभ्यास २, सख्या ३, सज्ञा ४, गुणान्तर ५, और प्रकरणान्तर ६, इन छवो प्रमाणो मे अप्रमाणता की प्राप्ति होगी। अर्थात् पूर्वमीमासा के द्वितीय अध्याय मे यह विचार किया गया हे कि भविता के भवनाकूल व्यापार को भावना कहते है, तहाँ यज्ञादि भविता (होने वाला) है, सो, यजति, ददाति, जुहोति मे धातु का अर्थ रूप, यजन, दान, हवनादि, अनेक है, परन्तु प्रत्यय का अर्थ भावना (विधि-प्रेरणा) रूप अर्थ एक है, तहाँ धात्वर्थयुक्त शब्द के भेद से जुहोति आदि से भिन्न भिन्न अर्थ (कर्म) का विधान, शब्द भेद से होता है ॥ १ ॥ तथा समिधो यजति, तनूनपात यजति, ईडो यजति, बर्हिर्यजति। स्वहाकार यजति, यहाँ यजति क्रिया के एक होते भी अभ्यास से पाच कर्म माने गये हैं ॥ २ ॥ सप्तदशप्राजापत्यान् पशूनालभेत, यहाँ प्रजापतिरूप देव के एक होते भी सप्तदश सख्या से कर्मभेद माना गया है ॥ ३ ॥ और (अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिरतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत) यहाँ, ज्योतिष्टोम, याग से विलक्षण ज्योति—विश्वज्योति नाम होने से इसको ज्योतिष्टोम से भिन्न माना गया है ॥ ४ ॥ और वैश्वदेव्यामिक्षा, वाजिभ्यो वाजिनम्, तहाँ तप्त दूध मे दही देने से फट कर जो गाढा सा हो जाता हे, उसको आमिक्षा कहते है, और पानी सा होता हे उसको वाजिन कहते हे। अत, आमिक्षा और वाजिन रूप गुण के भेद से दो कर्म माना गया है ॥ ५ ॥ और मासमग्निहोत्र जुहोति, यहाँ प्रकरणान्तर से कर्मान्तर का विधान माना गया है (अग्निहोत्र जुहूयात्) इसमे विहित अग्निहोत्र मे मासरूप गुण का विधान नही माना गया है, इनका विस्तार अन्यत्र दृष्टव्य है। यदि प्रपञ्च मिथ्या हो, तो इन कर्म भेदप्रतिपादक प्रमाणो मे अप्रमाणता होगी। यदि कहा जाय कि उक्त शब्दभेदादि को लोकसिद्ध व्यवहारिक भेद के अनुवादकत्व का सम्भव है, अत अपूर्व अर्थ का प्रतिपादकत्व रूप प्रमाणत्त्व ही उनमे नही है कि जिसका भेदमिथ्यात्व मे बाध होगा, तो सो कहना उचित नही, क्योकि जैसा भेद, शब्दान्तरादिरूप प्रमाण से प्रतिपादित होना है, तादृश (वैसा) कर्म अपूर्व (अदृष्ट) का भेद लोक से सिद्ध नही होता है। अत भेदमात्र के लोक-सिद्ध होते भी, अलौकिक कर्मो का भेद भी अलौकिक ही है। और यदि लोकसिद्ध हो (लोक प्रसिद्ध माना जाय) तो, शब्दान्तरादि रूप उक्त पूर्व मीमासा के छह अधिकरणो (विचारात्मक सूत्रो) के अनारम्भ की प्राप्ति होगी (उन

अधिकरणो का आरम्भ निष्फल होगा। अत, इस उक्त रीति से, प्रपञ्च के मिथ्यात्व के लक्षण और उस मिथ्यात्व विषयक प्रमाण, इन दोनो के अभाव से, तथा अनुमान और आगम द्वारा प्रपञ्च मे सत्यत्व के प्रतिपादन (सिद्धि) से प्रपञ्च मे मिथ्यात्व नही है, किन्तु सत्यत्व है। यहाँ तक पूर्वपक्ष कहा गया है।। "अत्रोच्यते" अब यहाँ सिद्धान्त–उत्तर पक्ष कहा जाता है कि–प्रथम लक्षण का असम्भव प्रतिवादी ने कहा है, परन्तु मिथ्यात्व के लक्षण का असम्भव नही है। क्योकि (सब भावो, अनात्मपदार्थो, का जो उनके आश्रय रूप से सम्मत, स्वीकृत, स्थान मे अत्यन्ताभाव है, उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता ही उन पदार्थो मे मिथ्यात्व है। जैसे कि-पट आदि भावो (पदार्थो) के आश्रय (उपादान कारण) रूप से अभिमत (सम्मत) जो तन्तु आदि है, उनमे वर्तमान जो अत्यन्ताभाव (तन्तु आदि से पृथक् घटादि के सत्त्व का अत्यन्ताभाव) उस अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता (निमित्तता—सम्बन्धिता) ही उन पटादि को मिथ्यात्व है। क्योकि उन पटादिको की सत्ता स्वाश्रय से अन्यत्र तो सम्भव नही है, कार्य होने से स्वतन्त्र सत्ता हो नही सकती है। और यदि आश्रय मे भी सत्ता नही हो तो बलात् उनमे मिथ्यात्व ही पर्यवसित (सर्वथा सिद्ध) होता है। यदि कहा जाय कि नित्य अतएव निराश्रय परमाणु कालादि मे वह अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता नही है, और अनात्मत्व से उनको भी मिथ्या माना जाता है, अत उन लक्ष्यो मे इस लक्षण की अव्याप्ति है। तो सो कहना युक्त नही है, क्योकि ब्रह्मात्मा से भिन्न सब पदार्थ मे कार्यता होने से, सब पदार्थ को कारणाश्रितत्व व्यवहारावस्था मे है, सो भी कारणाश्रितत्व इस प्रकार से माना जाता है कि जैसे कल्पित (मिथ्या) रजतादि की शुक्ति आदि आश्रितता मानी जाती है। और इस लक्षण की सत्य स्वरूप ब्रह्म मे अतिव्याप्ति भी नही है, क्यो कि सत्य ब्रह्म के निराश्रय होने से उसके स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता की शका करना भी अशक्य (असम्भव) है।

न च परै प्रदेशवृत्तितयाभ्युपगतेषु सयोगशब्दादिषु सत्येष्वपि लक्षणस्य सद्भावादर्थान्तरता, भावाभावयोरेकाधिकरणत्वाभ्युपगमे सर्वत्रैव तथाभावापत्तेर्विरोधस्य जगति दत्तजलाञ्जलिताप्रसङ्गात्। भावाभावयोर्हि साक्षाद्विरोधस्तन्मुखेनैवान्यत्रेति परीक्षकपरिषदा समतत्वात्, प्रदेशोपाधिभेदेन वा तत्र विरोधसमाधाने भावात्यन्ताभावयोर्भिन्नाधिकरणत्वेन लक्षणस्य तत्र सत्ये कुत सभव ? कुतस्तरा चातिव्याप्ति ? कुतस्तमा चार्थान्तरता ? तदेव न मिथ्यात्वानिरुक्ति ।

नापि मानासत्त्वम् , अनुमानसद्भावात् । तथाहि—

अंशिन स्वांशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिन ।
अंशित्वादितरांशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥ ८ ॥

विमत पट एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी अवयवित्वात्पटान्तरवत् । एवमेतद्गुणकर्मजात्यादयोऽपि तत्तत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिन तत्तद्रूपत्वादितरतत्तद्रूपवदित्येवमादिप्रयोग सर्वत्रैवोहनीय ।

ननु किं प्रामाणिकैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व साध्य ? किं वा प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ? नाद्य , अभावाना प्रामाणिकत्वे तैरेव द्वैतापत्ते, प्रामाणिकाभावप्रतियोगित्वे च भावानामपि प्रामाणिकतया न मिथ्यात्वसिद्धि । न द्वितीय , रजते सीसविभ्रमे सीसमेवैतन्न रजतमिति रजते रजतत्वप्रतिषेधे प्रातिभासिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि रजतत्वस्यामिथ्यात्वेनार्थान्तरत्वापातादिति चेत्, मैवम् , अभावाना प्रामाणिकत्वेऽपि सदद्वैताव्याकोपात् । कथ च व्यावहारिकप्रमाणोपस्थापितस्वभावैर्भावैरभावैर्वा तत्त्वावेदकप्रमाणोपनीतस्याद्वैतस्य व्याकोपाशङ्कावकाश ? नापि प्रामाणिकाभावप्रतियोगिनोऽपि शुक्तीदमंशरजताकारद्वयालिङ्गितस्य, ससर्गस्य, 'इद रजतम्'—इत्येकज्ञानोपनीतस्य, केवलतद्व्यवहारोपनीतस्य, वा धीरूपरजताकारोपारोहिणो बहिष्ट्वस्य वा कुत्रचिद्देशे काले वा केनचिदपि वादिना सत्ता स्वीक्रियते, येन प्रामाणिकाभावप्रतियोगिन सत्ता भावा प्रतिपद्येरन् । द्वितीयस्तु विकल्पोऽनङ्गीकारपरास्त । न च धर्मिग्राहकप्रमाणबाध , धर्मिणस्तत्त्वावेदकाप्रमाणसिद्धत्वानभ्युपगमात् । तर्ह्याश्रयासिद्धिरितिचेत्, न, साव्यावहारिकप्रमाणोपनीतस्याप्याश्रयत्वोपपत्ते । प्रपञ्चस्तत्त्वावेदकप्रमाणविषय धर्मित्वादात्मवदिति चेत्, न, आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् । नच व्यतिरेकासिद्धि , अनात्मन शुक्तिरजतससर्गादेस्तत्त्वावेदकप्रमाणाविषयस्योभयवादिसिद्धस्य व्यतिरेकोपसहारस्थलस्य सद्भावात्, धर्मित्वहेतो शुक्तिरजतादिससर्गधर्मिणि व्यभिचाराच्च । नासौ धर्मी मिथ्यात्वादिति चेत्, न , एतमेव हेतु प्रति धर्मित्वाधर्मित्वयोस्तदयोगात् । एतेन प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयत्वे दूषणभूषणादेरपि तथाभूतस्य सुलभत्वात् सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्ग इत्यपास्तम् , वादिप्रतिवादिमध्यस्थाना प्रमाणसिद्धमेतदिति समत्यालम्बनतया त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्य तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितस्याश्रयस्य दूषणभूषणादेश्च तत्र तत्र कथाङ्गताङ्गीकारात् , तादृशव्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्यैव च व्या-

वहारिकसत्यत्वेन स्वीकारात्, सर्वथा बाधवैधुर्यस्यागमेतरप्रमाणैरसर्वज्ञेन ज्ञातुमशक्यत्वात्। एतेनेदमपास्तम्, यदाहुर्भट्टाचार्या —

"सवृतेर्न तु सत्यत्व सत्यभेद कुतोऽन्वयम्।
सत्या चेत्सवृति केय मृषा चेत्सत्यता कथम्॥
सत्यत्व नच सामान्य मृषार्थपरमार्थयो।
विरोधान्नहि वृक्षत्व सामान्य वृक्षसिहयो॥" इति।

(श्लो० वा० ५।६,७)

वस्तुतोऽसत्यस्यैव यावद्बाध देहात्मभाववल्लौकिकवैदिकाव्यवहाराङ्गतया सत्यत्वेन व्यवहारात्।

नायमसिद्धो हेतु, पटस्याशित्वे वादिनोरविवादात्। नापि विरुद्ध, एतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनि विपक्षे आत्मनि अशित्वस्यावृत्ते। नानैकान्तिकोऽपि, विपक्षाद्व्यावृत्तेरेव। इह तन्तुषु पट इत्यादिनैव प्रत्यक्षेण तन्तुनिष्ठतया पटस्यावगमात्तदपहृतविषयतया कालात्ययापदिष्टतेति चेत्, मैवम्, पटस्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमङ्गीकुर्वता तस्य प्रामाण्यानङ्गीकारादिह नभसि नीलिमेति प्रत्यक्षाभिमतप्रत्ययबाधेनारूपित्वानुमानप्रवृत्तिवदत्राप्यनुमानप्रवृत्त्युपपत्ते। नचैव सति दहनशैत्यानुमानादेरप्यप्रतिबद्धप्रसरतया कालात्ययापदिष्टकथा सर्वत्रास्तमियादिति वाच्यम्, तत्र तत्रोभयवादिसमतप्रबलप्रमाणे परिपन्थिनि जाग्रति तस्या निरकुशप्रसरत्वात्, प्रकृते च तथाभावाभावात्। एतेन प्रमाणसिद्धत्वादिति प्रत्यनुमानविरोधोऽपास्त, प्रमाणसिद्धत्वस्यैवासिद्धे। यत्र प्रत्यक्षमपि न तत्त्वावेदक प्रमाण, तत्र का कथा तत्पादोपजीविनो वराकस्यानुमानादे प्रमाणतायाम्?

यत्पुनरेतस्य घटस्य द्रव्यत्वादेतन्निष्ठबाध्यभेदातिरिक्तभेदवत्त्वानुमान, तदप्यद्वैतागमविरोधात्कालात्ययापदिष्टमित्युपेक्षणीयम्। 'मृत्तिकेत्येव सत्य'मित्याद्यागमेन प्रपञ्चस्य सत्यतावगमादद्वैतागम एवोपचरितार्थ किं न स्यादिति चेत्, न, तस्यान्यपरत्वात्। तथाहि—एकविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञाय ब्रह्मण सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेन ता प्रतिज्ञामुपपादयितु लोकेऽपि घटरुचकादिकार्याणा मृल्लोहादिकारणादनन्यत्व दर्शयति— 'मृत्तिकेत्येव सत्य, त्रीणि रूपाणीत्येव सत्य' मित्यादिना। न तु तेषा वास्तवत्वमभिप्रैति, 'ऐतदात्म्यमिद सर्व तत्सत्य स आत्मे' त्यन्तेन ब्रह्मण एव सत्यत्वप्रतिपादनविरोधात्। एतेन मिथ्यात्वानुमानस्यागमविरोधोऽप्यपास्त।

यत्तु पूर्वपक्षिणोक्त सयोगादिभि स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणैरर्थान्तरतेति तदनूद्य दूषयति—**नच परैरिति ।** नच वस्तुसता सयोगादीनामत्यन्ताभावसामानाधिकरण्ये प्रमाणमस्ति व्यवहारस्तु विभ्रममात्रशरीरैरनिर्वचनीयैरपि सेत्स्यतीति न सोऽस्य साधक इति भाव । ननु किमिति जलाञ्जलिर्दीयते, यावता भावाभावावपहाय भावभेदेष्वेव गोत्वाश्वत्वघटत्वप्रभृतिष्वय प्राणान्धारयतीत्यत आह—**भावाभावयोरिति ।** परीक्षकाणा परिषत्सभा । नहि गोत्वाश्वत्वयोस्तत्त्व विरोध, अपितु परस्परात्यन्ताभावाविनाभूतत्वम् । तद्यदि भावाभावयोर्न विरोध का नु नाम तदा तदाघ्रातयोर्विरोधवार्तेति भाव । नन्वेकस्मिन्नपि प्रदेशभेदमादाय सयोगादेर्वर्तनम्, अतो न विरोधोच्छेद इति निरुद्धगते पूर्वपक्षिणो मतमाशङ्क्यातिव्याप्ति परिहरति--**प्रदेशेति । कुतः संभव इति** तदङ्गीकाराभिप्रायम् । अङ्गीकारप्रयुक्तत्वादर्थान्तरताया । स्यादेतत्, यद्यपि लक्षणमिदमक्षीण तथापि तल्लक्षणलक्षितस्य मिथ्यात्वस्यात्र सद्भावे कि प्रमाणम् ? नहि लक्षणमस्तीति सर्वत्र तत्सत्ता सिध्यत्यतिप्रसङ्गादित्यत आह— **नापीति ।** अशिनोऽवयविन स्वावयवनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिन इति प्रतिज्ञाया हेतुमाह—**अंशित्वादिति ।** इतरावयवीवेति दृष्टान्त । अनवयविरूपगुणादिष्वतिदिशति—**दिगेषैवेति** । दिङ्मार्ग । श्लोकोक्तमनुमान विवृणोति—**विमत इत्यादिना ।** पटमात्र पक्षीकृत्यैतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे साधितेऽर्थान्तरता, पटान्तरस्यैतत्तन्तुनिष्ठत्वाभावात्तन्निवृत्त्यर्थ विमत इत्युक्तम् । पटविशेष इत्यर्थ । सर्वत्र चैव विशेष एव पक्षीकर्तव्य । अत्रैतत्पटारम्भकास्तन्तव एतत्तन्तव । अन्योन्याभावादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगीत्युक्ते तन्त्वन्तरमादायार्थान्तरता तदर्थमेतत्तन्तुनिष्ठेत्युक्तम् । पटान्तरे त्वेतत्तन्तुभिरनारब्धे सुप्रसिद्ध साध्यम् । **अवयवित्वात्** अवयवित्वेन समतत्वात् । तेन न प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध । दिगेषैवेत्येतद्विवृणोति **एवमिति ।** एतद्रूपमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि रूपत्वादितररूपवत् । एव स्पर्शादिष्वपि । एतच्चलनमेतत्तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि चलनत्वादन्यचलनवत् । तथा तन्तुत्व तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि जातित्वाद्घटत्ववत् । एव सत्तादयोऽप्यनुमेया । एव समवायेऽपि द्रष्टव्यम् । अयमन्त्यविशेष एतदात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगी विशेषत्वादात्मान्तरगतविशेषवदिति विशेषेपु ।

स्यादेतत्, पटादीना तन्त्वादिषु यदत्यन्ताभावप्रतियोगित्व साध्यते स कि प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा स्यात् ? इति विकल्प्य दूषयति पूर्ववादी—**किं प्रामाणिकेत्यादिना ।** प्रामाणिको यस्तन्निष्ठात्यन्ताभाव इनि विग्रह । **तैरेवेति ।** यानत्यन्ताभावान्प्रति प्रतियोगित्व तन्तुब्रह्मादौ पटप्रपञ्चादे साध्यते तैरेव

प्रामाणिकैरित्यर्थ । किच एष ह्यभावाना स्वभावो यत्प्रतियोगिनिरूपणीयत्वम् । नथा च यद्यभावा प्रामाणिका, सुतरा तन्निरूपका भावा, तथा चाद्वैताशैव नोदेतीत्याह-**प्रामाणिकाभावेति** । एतेन सदद्वैतमेवाद्रियते इति वेदान्तिना किवदन्त्यपोदिता । अप्रामाणिकपक्ष दूषयति—**नेति** । अप्रमाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्व न मिथ्यात्व, सत्यस्यैव रजतत्वस्य सीसविभ्रमविषये रजते भ्रान्तिप्रामात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य परैर्मिथ्यात्वास्वीकारादित्याह—**रजत इति** । तमाक्षेप परिहरति—**मैवमिति** । तत्र प्रमाणगम्यत्व सत्त्वमित्यभ्युपेत्य परिहरति—**अभावानामिति** । इममभ्युपगम त्यजन् राद्धान्तरहस्यमादाय परिहरति—**कथं च व्यावहारिकेति** । न प्रमाणमात्रगम्यत्वान् सत्त्वमायाति । देहात्मत्वादौ तथाभावाभावात्, अपि तु तात्त्विकप्रमाणगम्यत्वात् । नचैतत् ब्रह्मव्यतिरिक्तस्याभावस्य भावस्य वास्ति, येनाद्वैतसकोचावकाश स्यादिति भाव । यत्तु प्रामाणिकाभावपक्षे प्रतियोगिभूतैर्भावैरद्वैतविरोध इति तत्परिहरति—**नापि प्रामाणिकेति** । अयमर्थ —नैव व्याप्तिरस्ति यत्प्रामाणिकाभावप्रतियोगि तत्प्रामाणिकमिति । यत शुक्तीदमशरजताकारयोरेकज्ञानोपनीतस्य ससर्गस्य प्रामाणिकात्यन्ताभावप्रतियोगिनोऽपि क्वचिदपि देशे कदाचिदपि काले सत्त्वमन्यथाख्यातिवादिभिर्नेष्यते । तथाऽख्यातिवादिभि ससर्गज्ञानाभावेऽपि ससृष्टव्यवहारोपनीतस्य ससर्गस्य । तथा विज्ञानवादिभिरपि धीरूप यद्रजत तत्रारोपितस्य बहिष्ट्वस्येत्येव यथादर्शन व्यभिचारादिति । यत्त्वप्रमाणिकाभावप्रयुक्तदूषणमुक्त तदभावस्य प्रामाणिकतास्वीकरात्] निरनुयोज्यानुयोगमित्याह—**द्वितीयस्त्विति** । तत्त्वाश्रयस्य प्रामाणिकत्वाप्रमाणिकत्वविकल्पेन दूषणमुक्त तत्परिहरति—**न चेति** । प्रमाणमात्रगम्यस्यात्यन्तिकसत्त्वाभावादिति भाव । सत्त्व चेन्नास्ति तर्हि असदेव । तथा च शशविषाणवदेवानर्थक्रियाक्षममिति शङ्कते—**तर्हीति** । देहात्मभावादिवद्व्यावहारिकसत्त्वमादाय परिहरति—**न । सांव्यावहारिकेति** । यथाच सदसद्विलक्षणाप्यपरा कोटिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे निर्वक्ष्यते । तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वाभावेन धर्मिग्राहकबाध परिहृतस्तत्र बाधमिद्धयर्थ तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमप्यनुमिनोति पूर्ववादी—**प्रपञ्च इति** । ननु कथमात्मत्वमुपाधि ? साध्यव्यापकत्वानिर्णयात् । तथा हि यत्रात्मत्व नास्ति तत्र तत्त्वावेदकप्रमाणगम्यत्वमपि नास्तीति साध्याभावेनोपाध्यभावव्यतिरेष्टव्या । न चैषा शक्यनिर्णया । आत्मत्वरहिते प्रपञ्चे साध्याभावानिर्णयात् । तस्मात्पर्वतेतरत्वादिवत्पक्षेतरोयमित्यत आह—**न च व्यतिरेकेति** । शुक्तिरूप्यससर्गादौ सर्वथा प्रमाणयोग्ये शक्य उभयाभावो निर्णेतुमित्यर्थ । अनैकान्तिकता चाह—**धर्मित्वेति । संसर्गधर्मिणीति** । ससर्ग एव धर्मी । हेतोस्तत्रावृत्तिमाशङ्कते—**नासाविति** । परिहरति—**नेति** । अयमर्थ —मिथ्यात्वादितीममेव

हेतु प्रति ससर्गो धर्मी ? नवा ? आद्ये धर्मित्वमशक्यनिषेधम् । द्वितीयेप्यशक्यनिषेधमेव, निषेधकहेतोराश्रयासिद्धत्वादिति । यत्तु प्रतीतिमात्रसिद्धस्य साधनादित्वेऽतिप्रसक्तिरित्युक्त तदप्येव सति परिहृतमित्याह—**एतेनेति** । व्यावहारिकप्रमाणसिद्धस्य साधनदूषणत्वाभ्युपगमेनत्यर्थ । एतेनेत्येतदेव विवृण्वन्साव्यावहारिकप्रमाणशरीरमेव दर्शयति—**वादिप्रतिवादीत्यादिना** । **त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तस्येति** । त्रिचतुरपदस्वबाधितस्येत्यर्थ । स्यादेतत्, कतिपयपुरुषस्य कतिपयकाल बाधविधुरमित्यवबोधविषयस्य साधनादिभावश्चेदभ्युपेयते तर्हि सिद्धान्तविरोध, यतो व्यावहारिकसत्त्वयुक्तस्य वेदान्तिभि साधनादित्वमङ्गीक्रियत इत्यत आह—**तादृशेति** । ननु किमत्यय सकोच ? आत्यन्तिकमेव सत्त्व किं न स्वीक्रियते ? इत्यत आह—**सर्वथेति** । सर्वपुरुषसर्वदेशकालापेक्षयेत्यर्थ । तत्कि ब्राह्मणोऽपि तादृश सत्त्वमशक्यज्ञानमित्यत उक्तम्—**आगमेतरेति** । नन्वागमेतरैरपि प्रमाणै सर्वज्ञेन केनचित्तादृश ज्ञायतामित्यत उक्तम्—**असर्वज्ञेनेति** । सर्वज्ञस्य तु कस्यचित्तादृश प्रमाणमस्ति प्रपञ्चविषयमित्यत्र नार्वाग्दशा प्रमाणमस्ति, प्रत्युतागमविरोधादभावनिर्णय इति भाव । व्यावहारिकसत्त्व नाम न सत्त्वविशेष, अपित्वेवविधज्ञानविषयत्वमित्यनेनैव भट्टपादोक्तदूषणमप्यपास्तमित्याह—**एतेनेदमिति** । सवृतिसत्यमिति यद्बौद्धैरुच्यते तद्दूष्यते—**सवृतेर्न तु सत्यत्वमिति** । अत्र च सवृणोति तत्त्वमिति सवृतिरविद्या तस्या सत्यत्वमयुक्त तत्र हेतुमाह—**सत्यभेद इति** । 'इद सवृतिसद्, इद परमार्थसदिति' वदता किं सत्यविशेष कश्चित्सवृतिसत्य नाम स्वीक्रियते ? उतासदेव ? द्वितीये सत्यशब्दो नार्थवान् । प्रथमे प्राह—**सत्यभेद इति** ? कुतोऽय सत्यभेद ? न कुतोपि प्रमाणादित्यर्थ । किमिति । प्रमाणाभाव इति ? विरुद्धत्वादित्याह—**सत्या चेदिति** । विरुद्धत्वाज्जातिव्यक्तिभावो नास्तीत्युक्तम्, इदानीं सदसतो परस्परविरुद्धयो सत्यत्वजातिसबन्धोपि न घटत इत्याह—**सत्यत्वमिति** । तत्र दृष्टान्त—**नहि वृक्षत्वमिति** । एतेनेत्यस्यैव विवरण—**वस्तुत इति** । नचात्रानेतन्निष्ठत्वमुपाधि, आकाशादौ साध्याव्यापकत्वात् । नाप्येतदनिष्ठत्वम्, तस्यैव साध्यत्वात् । नाप्येतन्निष्ठत्वरहिततया प्रतीयमानत्वम्, सयोगादौ तव साध्याव्याप्ते । एतेनैतदवयवानारब्धत्वमपि निरस्तम् । न च द्रव्यत्वविशेषितम्, गुणादौ साध्याव्याप्ते । नच द्रव्यत्वविशेषिते साध्ये द्रव्यत्वविशेषितोयमुपाधि, व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या पक्षेतरत्वादिति । स्वरूपासिद्धि परिहृत्य विरुद्धत्व परिहरति—**नापि विरुद्ध इति** । अत्र ह्यात्मा विपक्षस्तस्य सर्ववस्तुस्वरूपतया तन्तुनिष्ठात्यन्ताभावाभावात् । नच तस्मिन्निरवयवेऽशित्व वर्तते इत्यर्थ । एतेनैतन्निष्ठगुणादि व्याख्यातम् । एवमेतदत्यन्ताभावस्यैतत्तन्तुनिष्ठतास्वीकारे तस्याप्येतदनिष्ठत्वाङ्गीकारे तु तदभावादेव बाध शङ्कते—**इह तन्तुष्विति** । परिहरति—

मैवमिति । यत्तदवोचामाभिमतग्रहणेन बाधपरिहार इति तस्यैतदुत्थानम् । यथा ह्याकाशनीलिमग्राहिप्रत्यक्षविरोधेऽप्याकाशमरूपि विभुत्वादात्मवदित्याद्यनुमानमुदेति, तत्कस्य हेतो ? दृढतरन्यायादर्थाभावेऽवगते क्लृप्तकारणाभावेऽप्युत्पद्यमानत्वात्, नयेहाप्यद्वैतपरसकलश्रुतिस्मृतिबलादर्थाभावेऽवगते जायमान प्रत्यक्ष प्रत्यक्षाभास इति नानुमानानुदय इत्यर्थ । नन्वनुमानवाद्यभिप्रायेण प्रत्यक्षाभासीकरण सर्वत्र सुलभमिति दहनानुष्णतानुमानेपि न प्रत्यक्षबाध स्यादिति गत कालात्ययापदिष्टकथयेन्यत आह—**न चैवं सतीति** । हेतुमाह—**तत्र तत्रेति** । अगमभिमधि अग्निरनुष्ण इत्यत्र निषेध्यमुष्णत्व क्वचित्प्रमित ? न यदि, तदा प्रतियोग्यप्रमित्याऽभावप्रमित्यभावात् अप्रसिद्धविशेषणता । नच भ्रान्तिसिद्धस्य निषेध, अर्थक्रियाया बाधाभावात् । तस्मात्प्रमितमिति वक्तव्यम् । नच तदग्निव्यतिरिक्तस्यतेऽस्तीत्युभयवादिसप्रतिपन्नमस्ति तत्र प्रमाणम । अतस्तद्विरोधादनुमितिर्निर्दोषेतीत्यनिरुद्धैव बाधप्रवृत्तिरिति । प्रकृते तु न तथोपजीव्यमस्ति किंचित्प्रमाण येन बाध स्यादित्याह—**प्रकृते चेति** । प्रत्यक्षविरोध परिहृत्य यदुक्त पूर्ववादिना प्रपञ्च सत्य प्रमाणिकत्वादिति तद्विरोध परिहरति—**एतेनेति** । तस्यैव विवरण—**प्रमाणेति** ।

नन्वेतदेव किं न स्यात्प्रमाणमिति तत्राह—**यत्रेति** । अथवा प्रत्यक्षविध्वसनन्याय कैमुतिकन्यायेन सभाव्यमानसर्वानुमानेष्वतिदिशति—**यत्रेति** । असिद्धेरेव वा विवरणमिदम् । अनुभवविरोधपरिहाराय तत्त्वावेदकमित्युक्तम् ।

यत्तु भेदसत्यत्वेऽनुमानमुक्त तदनूद्य निराकरोति—**यत्पुनरिति** । अय घट एतद्घटत्वे सति एतन्निष्ठबाध्यभेदत्वानधिकरणभेदाधिकरण न भवति द्रव्यत्वात्पटवदित्यादिना सत्प्रतिपक्षतापि द्रष्टव्या । न चैतन्मृदनारब्धत्वमुपाधि, व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धे । परसिद्धया च साध्यप्रसिद्धि । ननु कथमद्वैतागमविरोधसत्यागमान्तरविरोधेनानतपरत्वादिति शङ्कते—**मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादिना** । पौर्वापर्यपर्यालोचनया अद्वैतश्रुतिशेषत्वमितरश्रुतेरवसीयते, तद्यदि मृदादिसत्यत्वमसौ श्रुति प्रतिपादयेत् शेषिविरोध स्यात् । अत कारणव्यतिरेकेण कार्यमनिवचनीयमित्येतावन्मात्रपरा सा श्रुति, अद्वैतश्रुतिस्तु स्वप्रधानत्वादनन्यपरेत्यभिप्रेत्याह—**न तस्यान्यपरत्वादिति** । **एकविज्ञानेनेति** । 'येनाश्रुत श्रुत भवती' त्यनेनेति शेष । तथा—**सर्वकारणतया सर्वकार्यैरनन्यत्वप्रदर्शनेनेति** । 'सदेव साम्येद'मित्यादिनेति शेष । अथ कुतो वास्तवसत्त्वमेव न प्रतिपाद्यत इति चेत्तोपसहारविरोधादित्याह—**ऐतदात्म्यमिति** । **एतेनेति** । अन्यपरत्वादित्यर्थ ।

हिन्दी—इस उक्त लक्षण विषयक शका होती है कि पर (प्रतिवादी नैयायिको) से, प्रदेश (एक देश) वृत्तिरूप से स्वीकृत अव्याप्यवृत्ति सयोग शब्दादि सत्य

पदार्थो मे भी इस लक्षण की सत्ता से अर्थान्तरता दोष की प्राप्ति होती है, तो कहा जाता है कि ऐसी शका नही करनी चाहिए, क्योकि सयोगादिभाव, और उनके अत्यन्ताभाव की एकाधिकरणता को मानने पर, सवत्र ही तथा भाव की आपत्ति (भावाभाव की एकाधिकरणता की प्राप्ति) से ससार मे भावाभाव के विरोध की दत्ताञ्जलिता (त्याग) का प्रसङ्ग होगा। यदि कहा जाय कि भावाभाव मे विरोध नही रहने पर भी, गोत्व अश्वत्व घटत्व पटत्व आदि मे विरोध रहेगा ही, अत ससार मे विराध का त्याग नही होगा, तो कहा जाता है कि भावाभाव को ही साक्षात् विरोध रहता है, और उसी विरोध द्वारा अन्यत्र विरोध होता है, यह परीक्षक (विद्वत्) परिषदो (समूहो सभाओ) को सम्मत है। गोत्व अश्वत्व का विरोध भी परस्परात्यन्ताभाव व्याप्यत्वमूलक होना है। यदि कहा जाय कि वृक्षादि के प्रदेश (अवयव) भेद से कही सयोग रहेगा, कही सयोग का अत्यन्ताभाव रहेगा, एक प्रदेश मे कपिसयोग ओर तदत्यन्ताभाव नही रहता है, अत भावाभाव का विरोध है ही, अविरोध नही, तो कहा जाता है कि इस प्रकार से प्रदेशरूप उपाधि के द्वारा वहाँ सयोग शब्दादि स्थान मे विरोध के समाधान (निवारण) करने पर, सयोग शब्दादि-रूप भाव ओर उनके अभावो के भिन्नाधिकरणत्व के सिद्ध हो जाने से, वहाँ सत्य मे लक्षण का सम्भव कैसे, अर्थात् अब वहाँ लक्षण की प्राप्ति उक्त स्वीकृत अविरोधी रूप मे नही है, तो फिर अतिव्याप्ति वा अर्थान्तरता भी किसी प्रकार से नही है। किन्तु सिद्धान्त सिद्ध स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता तो सयोगादि मे भी है ही॥ अत उक्तरीति से मिथ्यात्व की अनिरुक्ति—अनिर्वचन—लक्षण का अभाव नही है॥ और मिथ्यात्व के प्रमाण का असत्त्व (अभाव) भी नही है, क्यो कि अनुमान प्रमाण का सद्भाव (सत्त्व) है कि—अशी—अवयवी--कार्य, अपने अशो–अवयवो मे रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी है। अशी होने से, अन्य अशी के समान, यह अशी भी॥ इसी प्रकार से गुणादि विषयक मिथ्यात्व का अनुमान किया जा सकता है, यह दिग्मार्ग दर्शन कराया गया है॥ ८॥ श्लोक का विवरण है कि (विवाद का विषय घट, एतत् निजाश्रय तन्तुओ मे वर्तमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। अवयवी होने से, घटान्तर के समान है। इसी प्रकार से, इन तन्तुओ के गुण कर्म जाति आदि भी, इन तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी है, तत्तत् रूप-गुणादि होने से, अन्य रूपगुणादि के समान। इस प्रकार के प्रयोग सर्वत्र ऊहनीय (कल्पनीय) है॥

उक्तार्थ मे प्रतिवादी की शका है कि, एतन्निष्ठ (स्वाश्रयवृत्ति) प्रामाणिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व साध्य है, अथवा प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव के

प्रतियोगित्व साध्य है। तहाँ प्रथम पक्षयुक्त नही हो सकता है, क्योकि अशि आदि के अत्यन्ताभावो के प्रामाणिक (सत्य) होने पर उनसे ही द्वैत की प्राप्ति होगी। और अभावो के प्रामाणिक होने पर, भावो मे भी पारमार्थिक (प्रामाणिक) अभाव के प्रतियोगित्व से भावो को प्रामाणिकत्व होगा, अत उनमे मिथ्यात्व की सिद्धि नही होगी। दूसरा पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि रजत मे सीमा के भ्रम होने पर, प्रतिति होती है कि (यह सीसा ही है। रजत नही है) तहाँ रजत मे रजतत्व के प्रनिषेध होने पर, प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगि रजतत्व मे अमिथ्यात्व के कारण अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है। सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसी आपत्ति नही है, क्योकि अभावो के प्रामाणिक होने पर भी सत्य अद्वैत का बाध नही होता है। क्योकि प्रमाणमात्र से गम्य सत्य नही होता है, किन्तु तात्त्विक (सत्य) प्रमाण से गम्यसत्य होता है। तो व्यावहारिक प्रमाणो से सिद्ध (उपस्थापित) स्वभाव वाले (सत्त्ववाले) भाव वा अभावो से तत्त्वावेदक (सत्यबोधक) प्रमाण से सिद्ध अद्वैत के बाध की शका का अवकाश (प्रवेश) भी कैसे हो सकता है। और प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगि को भी प्रामाणिकत्व होने से सत्त्व होगा कि जिससे द्वैत की प्राप्ति होगी। यह शका भी युक्त यही, क्योकि शुक्ति के इदम् अश और कल्पित रजत का आकार इन दोनो से आलिङ्गित (युक्त) इन दोनो का सम्बन्ध, इद रजतम्, यह रजत है, इस एक ज्ञान से उपनीत (ज्ञात) होता है। और नेद रजतम्, यह रजत नही, इस प्रतीति के विषय-प्रामाणिक अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी भी होना है। परन्तु उस ससर्ग की सत्ता नही हो जाती है। न किसी देश कालादि मे उसकी सत्ता को अन्यथा ख्याति-वादी मानते है। इसी प्रकार से प्रभाकर मत मे इद और रजताकार के ससर्ग को ज्ञान को नही मानने पर भी, इद रजतम्, इस केवल व्यवहार से उपनीत (प्राप्त) ससर्ग के प्रामाणिक निषेध का प्रतियोगी ससर्ग प्रामाणिक नही माना जाता है। और विज्ञानवादी मत मे अन्तर्गत बुद्धिरूप रजताकार मे आरोही (आरोपित) बहिष्ट्व (बाह्यवृत्तित्व) के प्रामाणिक निषेध प्रतियोगि की किसी देश काल मे वा किसी वादी से सत्ता नही मानी जाती है, कि जिससे प्रामाणिक अभाव के प्रतियोगी रूप भाव पदार्थ सत्ता को प्राप्त करेगे।। दूसरा, प्रातिभासिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व, रूपविकल्प तो अस्वीकार से ही परास्त (त्यक्त) है। मिथ्यात्व अनुमान के धर्मी के ग्राहक प्रमाण से अनुमान की बाधा नही होती है, क्योकि धर्मि प्रपञ्च को तत्त्वबोधक प्रमाण से सिद्ध नही मानते हैं, धर्मी को वस्तुत प्रामाणिक नही मानने पर आश्रयासिद्धि होगी, यह भी नही कह सकते है, क्योकि साव्यवहारिक (लौकिक) प्रमाण से सिद्ध

(प्राप्त) प्रपञ्च को भी आश्रयत्त्व हो सकती है । यदि कहा जाय कि (प्रपञ्च, तत्त्वबोधक प्रमाण का विषय हे, उक्त अनुमान का धर्मी (पक्ष) होने से, आत्मा के समान है । इस अनुमान से प्रपञ्च तत्त्व बोधक प्रमाण का विषय स्वरूप सिद्ध होता है, तो सो कहना युक्त नही हे । क्योकि निरुपाधिक अनुमान (हेतु) से साध्य की सिद्धि होती है, उक्त अनुमान मे आत्मत्व, ही उपाधि है । तात्त्विक प्रमाण विषयत्व आत्मा मे है, तहाँ आत्मत्व हे, अत साध्य का व्यापक हे । और धर्मित्वरूप हेतु प्रपञ्च मे भी ह, वहाँ आत्मत्व नही रहता हे । अत साधन का अव्यापक है । यदि कहा जाय कि साध्य व्यापक उपाधि के अभाव से साध्याभाव की सिद्धि होने पर, साध्यव्यापकत्व का निश्चय होता हे, प्रकृत मे प्रपञ्च तो पक्ष है, आत्मत्व पक्षेतरत्व रूप है, अत व्यतिरेक की सिद्धि नही हो सकती है, तो सो कहना युक्त नही, क्योकि, अनात्मा (आत्मत्व-रहित) शुक्ति रजत के भ्रमसिद्ध ससर्गादि स्वरूप तत्त्वबोधक प्रमाण के अविषय उभयवादी से स्वीकृत व्यतिरेक प्रदर्शन स्थान के सद्भाव होने से वहाँ आत्मत्वा-भाव से तत्त्वप्रमाणवेद्यत्व की प्रसिद्धि होती है । और उक्त अनुमान के धर्मित्व रूप हेतु का शुक्तिरजतादिरूप धर्मी मे व्यभिचार है, अर्थात् वहाँ तत्त्वाऽऽवेदक प्रमाणविषयत्व रूपसाध्य नही है, और हेतु है, अत उस हेतु से उक्त साध्य सिद्ध नही हो सकता है, वह हेतु उक्त उपाधि का व्यापक भी नही है, उपाधि हेतु का अव्यापक है । यदि कहा जाय कि शुक्ति रजत ससर्ग के मिथ्या होने से वह धर्मी ही नही हो सकता हे, कि जहाँ धर्मित्व व्यभिचारी हो, तो सो कहना युक्त नही, क्योकि (शुक्ति रजतससर्ग, न धर्मी, मिथ्यात्वात्) इस मिथ्यात्व हेतु के प्रति ससर्ग धर्मी हे, या नही, यदि इस हेतु का धर्मी हे, तो धर्मित्व का निषेध नही हो सकता है, मिथ्यात्व हेतु के प्रति धर्मी नही हे, तो भी आश्रय की असिद्धि से निषेध का असम्भव हे । उसमे मिथ्यात्व होता तो धर्मित्व का निषेध होता, जब मिथ्यात्व धर्म उसमे नही है, तब तो वह मिथ्या भी नही है, फिर मिथ्यात्व से कहाँ धर्मित्व का निषेध होगा । और इस व्यावहारिक प्रमाण मे सिद्ध साधनादि के मानने से उक्त अव्यवस्था प्रसङ्ग का भी खण्डन हो गया कि जो प्रथम कहा गया था कि, प्रतीतिमात्र से सिद्ध प्रपञ्च को आश्रयमानने पर, दूषण भूषणादि भी वैसे ही सर्वत्र सुलभ होगे कि जिससे सब वाद की विधि और निषेध प्राप्त होगा । कोई व्यवस्था नही हो सकेगी, क्योकि व्यावहाकि प्रमाण से ही साधनादि की व्यवस्था हो जाती है । अतएव वादी प्रतिवादी मध्यस्थ की सम्मति द्वारा, यह साधनादि प्रमाण सिद्ध है, इस प्रकार से कथा के आलम्बन (विषय) रूप से कथा के तीन चार कक्षा (कोटि) मे अविश्रान्त (अबाधित) तत्तत् आभासो (दोषो) से अयुक्त

आश्रय की ओर दूषण भूषणादि की तत्तत् वादादि कथाओ मे अङ्गता मानी जाती है। क्योंकि तादृग=त्रिचतुरादि कक्षा मे अबाधित आभासलक्षण हीन, व्यावहारिक प्रमाण सिद्ध को ही व्यावहारिक सत्य स्वरूप माना गया है। पारमार्थिक प्रमाण सिद्ध को नही। और सर्वथा बाधरहित (सत्य) को आगम भिन्न प्रमाणो द्वारा कोई असर्वज्ञ जान भी नही सकता है। इसी से जो श्रीकुमारिलभट्टाऽऽचार्य ने कहा है, सो भी अपास्त (निरस्त) हो गया। उनका कथन है कि, बुद्धो ने जो सवृत्ति (तत्त्व को आवृत्त करने वाली) अविद्या को सत्य कहा है, परन्तु सम्वृत्ति को सत्यत्व नही है। यदि उसको सामान्य सत्य नही कह कर सत्यविशेष कहे, तो सत्यभेद (सत्यविशेष) भी यह कैसे हो सकता है। क्योकि अनेक मे कोई एक विशेष होता है। एक अविद्यामात्र होने पर विशेष नही हो सकता है। और यदि सम्वृति सत्य है, तो मिथ्या ससार क्या है। और यह ससार यदि मिथ्या है। तो ससार रूपता को प्राप्त सम्वृति मे सत्यता कैसे है। और मिथ्या परमार्थरूप ससार सवृत्ति मे विरोध से सत्यत्व सामान्य भी नही रह सकता है, जैसे कि वृक्ष और सिह मे वृक्षत्व नही रहता है। यह भट्ट की उक्ति इससे अपास्त हुई कि अविद्यादि मे वस्तुत असत्यता ही है। परन्तु असत्य को ही ज्ञान से बाध पर्यन्त (बाध से पूर्वकाल मे) देह मे आत्मत्व के समान लौकिक वैदिकव्यवहार के अङ्ग (साधन) रूप से सत्य मान कर सत्यरूप से व्यवहार (कथन) होता है, अत व्यवहारिक रूप से अविद्यादि को सत्य और पारमार्थिक रूप से असत्य कहने मे दृष्टिकोण के भेद के कारण विरोध नही है इत्यादि ॥

उक्त अंशित्व हेतु असिद्ध नही है, क्योकि पट के अंशित्व मे वादियो का विवाद नही है। विरुद्ध भी हेतु नही है। क्योकि एतत् तन्तुवृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी विभु आत्मस्वरूपविपक्ष विपक्ष मे अंशित्व (अवयवित्व) रूप हेतु नही रहता है। और विपक्ष वृत्ति (साध्याभाव-साधक) हेतुविरुद्ध कहा जाता है। और विपक्ष (निश्चितसाध्याभाव-वान्) से व्यावृत्त रहने से ही अनैकान्तिक (व्यभिचारी) भी हेतु नही है। यदि कहा जाय कि (यहाँ इन तन्तुओ मे पट है) इत्यादि प्रत्यक्ष से ही तन्तुओ म वृत्तिता रूप से पट के अवगम (ज्ञान) से उक्त अनुमान के विषय (साध्य) के अपहृत (अभाव) हो जाने के कारण अनुमान मे कालात्ययापदिष्टता (बाध) प्राप्त होती है तो ऐसा कहना उचित नही है। क्योकि पद मे एतत्तन्तुनिष्ठ अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता को मानने वाले, इह तन्तुषु पट। इस उक्त प्रत्यक्ष मे प्रमाणता नही मानते है। अत जैसे (इह नभसि नीलिमा) इस आकाश मे नीलता है, इस प्रत्यक्ष

रूप से अभिमत ज्ञान को बाध कर (आकाशम्, अरूपि, विभुत्वात्, आत्मवत्) आकाश, रूप रहित है, विभु होने, आत्मा के समान) इस अनुमान की प्रवृत्ति (सिद्धि) होती है, वैसे ही यहाँ भी मिथ्यात्वानुमान की प्रवृत्ति बनती है। यदि कहा जाय कि इस रीति से तो अग्नि की शीतता आदि के अनुमान की भी अप्रत्तिहतप्रवृत्ति से कालात्ययापदिष्ट (बाध) की कथा ही सर्वत्र लुप्त हो जायगी। तो सो कहना युक्त नही, तत्तत्स्थानो मे उभयवादी सम्मत विरोधी प्रमाण के रहने पर उस कालात्ययापदिष्ट (बाध) कथा की निरङ्कुशप्रवृत्ति होगी। प्रकृत मिथ्यात्वानुमान मे तो वैसा = उभयवादी सम्मतविरोधी प्रबल प्रमाण के भाव (सत्त्व) का अभाव हे। अत यहाँ बाध की प्रवृत्ति नही हो सकती हे। इन प्रत्यक्ष विरोध के निराकरण से ही (प्रपञ्च, सत्य, प्रामाणिकत्वात् (प्रमाणसिद्धत्वात्) यह प्रत्यनुमान (प्रतिपक्ष) रूप विरोध भी अपास्त = निरस्त हो गया) क्योकि प्रमाणसिद्धत्व रूप हेतु की ही असिद्धि हे। और जिस ससार के सत्यत्व मे नभ नीलिमाप्रत्यक्ष तुल्यता के कारण प्रत्यक्ष प्रमाण भी तत्त्वावेदक (सत्त्वबोधक) प्रमाण नही हो सकता हे। तहाँ प्रत्यक्ष पादोपजीवी (प्रत्यक्षाधीन) वराक (अपमानित = बेचारे) अनुमानादि की प्रमाणता मे क्या कहना हे, अनुमानादि भी प्रपञ्च की सत्यता मे प्रमाण नही हो सकते है। और जो भेद की सत्यता मे प्रथम अनुमान कहा था कि (इस घट को, द्रव्यत्व से, एतत् घटनिष्ठ बाध्य भेद से भिन्न भेदवत्त्व है) सो अनुमान भी अद्वैत बोधक श्रुति विरोध से बाधित होने के कारण उपेक्षणीय हे। यदि कहा जाय कि (मृत्तिकेत्येव सत्यम्) इत्यादि श्रुति से प्रपञ्च की सत्यता के ज्ञान से अद्वैत श्रुति ही उपचारितार्थ = (गौणार्थक) क्यो न मानी जाय, तो सो कहना युक्त नही, क्योकि, 'मृत्तिके-त्येव सत्यम्' इत्यादि श्रुति का प्रपञ्च की सत्यता मे तात्पर्य नही है, वह अन्यार्थ परक है। जैसे कि—एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा करके ब्रह्म की सर्वकारणता के द्वारा सब कार्यो से अनन्यता (अभिन्नता) के प्रदर्शन पूर्वक उक्त प्रतिज्ञा को सिद्ध (प्रतिपादन) करने के लिये लोक मे भी घट रुचक (निष्क-सुवर्णभूषण) आदि कार्यो की मृत्तिका लौहादि कारणो से अनन्यत्व को (अभेदको) 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्', त्रीणि रूपाण्येव सत्यम्' इत्यादि वचनो मे श्रुति दर्शाती है। उन मृत्तिकादि के सत्यत्व मे श्रुति का तात्पर्य नही है, उन की सत्यता को श्रुति नही मानती है। क्योकि यदि (मृत्तिकेत्येव सत्यम्) इससे सत्यत्व का प्रतिपादन हो, तो (एतदात्म्य-मिद सर्व तत्सत्य स आत्मा) इस अणु स्वरूप यह सब है। वह सूक्ष्म सत्य है, वह आत्मा है, यहाँ तक अग्रिम वचनो से ब्रह्म के ही सत्यत्व के प्रतिपादन

से विरोध होगा। इस अन्य परत्व से आगम को मिथ्यात्व अनुमान के साथ विरोध का निवारण हो गया ॥

दृग्दृश्ययो सबन्धानुपपत्तिश्च सत्यत्वानुमानस्य बाधिका। न च करणसबन्धादेव सबन्धोपपत्ति , ईश्वरज्ञानेऽकरणजन्येऽपि विषयाणा स्फुरणात्, करणजन्येष्वपि योगिज्ञानेषु युक्तावस्थायामन्त करणासबद्धानामतीतानागताना बाह्यार्थाना च स्फुरणात्। न च मनसो बहिरर्थै सबन्ध , परतन्त्र बहिर्मन इति न्यायात् , अस्मदादीना चैन्द्रियिकविभ्रमेष्विन्द्रियासबद्धानामेव स्फुरणाङ्गीकारात्, अस्मदादिप्रमाणजन्येऽपि ज्ञाने सोय देवदत्त इत्यादौ तत्ताशस्य करणासबद्धस्यापि प्रत्यक्षताभ्युपगमात्। नच तत्तायामपीन्द्रियेण सह सयुक्तविशेषणतालक्षण सनिकर्ष समवायेतरभावस्येन्द्रियसप्रयोगमन्तरेणापि प्रत्यक्षतायामथ पर्वतोऽग्निमानित्यत्राग्निमत्त्वस्यापि सयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वापत्ते प्रत्यक्षधर्मिकानुमानमात्रोच्छेदप्रसङ्ग ।

अस्तु तर्हि ज्ञानज्ञेययोर्विषयविषयिभाव सबन्ध इतिचेत्, न, तदनिरूपणात्। तथा हि न तावज्ज्ञानजन्यफलाधारत्व, विषयत्व विषयनिष्ठफलजनकत्व च विषयित्वमिति युक्तम्, विकल्पासहत्वात्। तत्फल ज्ञातता? व्यवहारो वा? नाद्य , अतीतादौ तदभावेनाविषयत्वप्रसङ्गात्। तत्रैव फलजननेप्यनुगतनियामकायोगात्, तद्योगे वा तस्यैव विषयत्वनियामकतोपपत्ते । न द्वितीय , कराकर्षणादेर्व्यवहारस्यात्मादावभावात्, कलधौतमलादेरपि नान्तरीयकतया तद्व्यवहारविषयस्य तज्ज्ञानविषयतापत्ते । नापीच्छादि , आत्मन एव तदाधारतया तदन्यस्याविषयत्वप्रसङ्गात्। अथ ज्ञानप्रतिबद्धहानादिलक्षणज्ञानगोचरत्व तद्योग्यत्व वा विषयत्वम, न, ज्ञानगोचरत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वात्। हानादिज्ञानाना च हानादिज्ञानान्तराजनकतया निर्विषयत्वप्रसङ्गात् , जनकत्वे वा हानादिज्ञानानुपरमाद्विषयान्तरसचाराभाव सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयाताम् । व्यवहारयोग्यत्व विषयत्वमित्यङ्गीकारे च योग्यताया योग्यतान्तराभ्युपगमेऽनवस्था, तदनभ्युपगमे योग्यताया विषयत्वाभाव ।

बाधकतर्कसभवाच्च शङ्किताऽप्रयोजकत्व सत्यत्वानुमानमित्याह — **दृग्दृश्ययोरिति**। पूर्ववाद्युक्तामन्यथोपपत्तिमनूद्य दूषयति— **नचेति**। नाय सार्वत्रिक , ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य तद्विषयाणा च नियमाभावप्रसङ्गादित्यर्थ । अथ जन्येष्वय नियम इति तर्हि तेष्वप्यव्याप्तिरित्याह— **करणजन्येष्वपीति** । युक्तावस्थाया ह्यात्ममनोयोगमात्रादेवाशेषार्थज्ञानमिति तार्किकाणा मतम् । अतीतादीना

चाविद्यमानत्वादेव सबन्धानर्हत्वम् । अथ च विषयास्तत्र परिस्फुरन्तीत्यव्याप्ति-रित्यर्थ । ननु युक्तावस्थाया कथमव्याप्तिर्यावता मनोलक्षणेन्द्रियसबन्धादेव तत्रापि नियमोपपत्तिरिति तत्राह—**न च मनस इति ।** अथ विशिष्टादृष्टसामर्थ्य-सचिवमनोयोगियोगिज्ञान विहायाय नियम इति तर्हि तेष्वप्यतिव्याप्तिरित्याह—**अस्मदादीनां चेति ।** अधिष्ठानस्येन्द्रियसबद्धत्वेऽप्यारोप्यतत्संसर्गयोस्तदभावा-त्संस्कारद्वारा प्रत्यासत्तेश्चातिप्रसङ्गित्वादिति भाव अथ विभ्रमत्वात्तत्र यथा तथा भवतु, प्रमाणेष्वय नियम इति ब्रूयात्त प्रत्याह—**अस्मदादिप्रमाणजन्येपीति । तत्तांशस्येति ।** तद्देशकालविशिष्टाशस्येत्यर्थ । एतच्च प्रत्यभिज्ञानस्यानुभवैक-त्ववादे । ननु चक्षुषा सम्प्रयुक्तस्तावद्देवदत्त तस्य च विशेषण तत्ताऽत सम्प्र-युक्तविशेषणताप्रत्यासत्त्या भूतलविशेषणघटाभाव इवेन्द्रियेण किमिति न गृह्यते इति तत्राह—**नच तत्तायामिति ।** आत्मद्वारा चाय सम्बन्ध शङ्कनीय । हेतु-माह—**समवायेतरभावस्येति ।** भावस्येन्यभावव्यावृत्ति । समवायस्येन्द्रिया-सप्रयुक्तस्यापि ग्रहण परैरङ्गीक्रियत इत्यत उक्त—**समवायेतरेति ।** गुणादीना तु सयुक्तसमवायादि नास्मत्सम्मत तेषा द्रव्यतादात्म्येन समवायासिद्धे, सबन्धान्तरता-भावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । विद्यमानेतिविशेषणाच्च प्रत्यभिज्ञाया तत्ताव्यवच्छेद । **संयुक्तविशेषणतयेति ।** चक्षुषा सयुक्त पर्वतस्य विशेषणमग्निरित्यर्थ । एतदुक्त भवति—समवायाभावातिरिक्तस्यापि चेत्सयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्व तर्हि प्रत्यक्षे धर्मिणि न क्वाप्यनुमान प्रवर्तेत सर्वत्र प्रत्यक्षत्वसभवादिति । सबन्धान्तरमा-शङ्कते—**अस्तु तर्हीति ।**

ज्ञानजन्येति । ज्ञानेन जन्य यत्फल तत्प्रत्याधारत्व विषयत्व तादृशफलजन-कत्व च विषयित्वमिति न च युक्तमित्यर्थ । **विकल्पासहत्वादिति ।** विकल्पे सति दूषणासहत्वादित्यर्थ । ज्ञातता प्राकट्यम्, एतच्च भाट्टाभिप्रायेण । **अतीतादाविति ।** फलजननसमयेऽतीतादेरविद्यमानत्वादेव फलाधारत्वानुपपत्ते, अत एव तज्जनकत्व ज्ञानस्य न सभवति, अतस्तत्राव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थ । दूषणान्तरमाह—**तत्रैव फलजनन इति ।** अयमर्थ—यत्फल प्रत्याधारत्व विषयस्योच्यते, तत्फल तत्रैव नान्यत्र जनयति विज्ञानमित्यत्रापि किंचिन्नि-यामकमस्ति ? न वा ? यदि नास्ति, तर्हि नियतकार्यायोग । यदाह—

'भवेत्सर्वत्र सत्ता चानियमेऽन्यानपेक्षया ।
नियामकाद्धि भावाना क्वाचित्कत्वस्य सभव ॥' इति ।

असति ज्ञानज्ञेययो सबन्धे नियमायोगाच्च । द्वितीये दूषणमाह—**तद्योगे वेति ।** यदि यत्किंचिन्नियामक स्वभावोऽन्यद्वा समाश्रीयते तर्हि तदेव विषयत्वनियामकमस्तु कृत तदुपजीविना प्राक्तनेनेत्यर्थ । तदुक्त कुसुमाञ्जलौ—

'स्वभावनियमाभावादुपकारोपि दुर्घट ।
सुघटत्वेपि सत्यर्थेऽसति का गतिरन्यथा ॥' इति ।

न द्वितीय इति । कोय व्यवहारोऽभिमन ? किं कराकर्षणादि ? उतेच्छादि ? आद्य प्रत्याह—**कराकर्षणादेरिति ।** आदिशब्देन भक्षणादि विवक्षित, तस्य च विभौ स्पर्शरहिते चात्मादावसभवादव्याप्तिरित्यर्थ । अतिव्याप्तिं चाह—**कलधौतेति ।** कलधौत रजत, रजतमलस्यापि नान्तरीयकतया रजतज्ञानप्रयुक्तादानादिगम्यत्वमस्तीति तदपि रजतज्ञानविषय स्यादित्यर्थ । द्वितीय दूषयति—**नापीति ।** इच्छाधार आत्मैवेति अनात्मवर्गे लक्षणमव्यापकमित्यर्थ । नचेच्छादिविषयत्व, तस्यैव निरूप्यमाणत्वात् । विषयत्वस्य लक्षणान्तर शङ्कते—**अथ ज्ञानेति ।** घट इति ज्ञानाद्यद्धानादिज्ञान जायते तत्प्रति विषयत्व हानादियोग्यत्वमेव वा यत्तत्पूर्वज्ञान प्रति विषयत्वमित्यर्थ । एतेनातीतादि सगृहीत, तदेतदात्माश्रयेण दूषयति—**न, ज्ञानगोचरत्वस्यैवेति ।** किंच हानादिज्ञानाना हानादिज्ञानान्तरजनकत्वमस्ति ? न वा ? यदि नास्ति, तदा हानादिज्ञानाना निर्विषयत्वप्रसङ्ग । अस्ति च तदतोऽव्याप्तिरित्याह—**हानादिज्ञानानामिति ।** प्रथम दूषयति—**जनकत्वे वेति ।** ज्ञानान्तरजनकत्वेन तज्ज्ञानानामपि सविपयत्वसिद्धयर्थं ज्ञानान्तरजनकत्वे घटादिज्ञानानुत्पाद सुषुप्त्यभावश्च प्रसज्येयातामित्यर्थ । द्वितीये दूषणमाह—**व्यवहारयोग्यत्वमिति ।** उपलक्षण चैतत्प्रथमपक्षस्यापि । तेन हानादिज्ञानगोचरत्वेपि गोचरत्वान्तरमस्ति ? न वा ? तद्यस्ति, तदानवस्था । अथ नास्ति, तर्हि तस्यानिर्विषयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम् ।

दृग्दृश्य (ज्ञान विषय) के सम्बन्ध की अनुपपत्ति (प्रसिद्धि) भी प्रपञ्च सत्यत्व की बाधिका है, पूर्ववर्णित करणो (इन्द्रियो) के सम्बन्ध से दृग्दृश्य का सम्बन्ध (नियम) नही बन सकता है, क्योकि इन्द्रियो से अजन्य ईश्वर के ज्ञान मे भी विषयो का स्फुरण (प्रकाश) होता है, अत उस ज्ञान के साथ विषयो का सम्बन्ध होना चाहिये और करणजन्य भी योगियो के ज्ञानो मे, युक्त (समाहित) अवस्था मे, अन्त करण के असम्बन्धी अतीत अनागत बाह्य पदार्थो का स्फुरण आत्ममन सयोग मात्र से तार्किक मत मे माना जाता है। वहाँ करण सम्बन्ध के बिना ही ज्ञान होता है, क्योकि अतीत अनागत के अविद्यमानता से सम्बन्ध नही हो सकता है। और बाह्य अर्थ के साथ मन का सम्बन्ध इन्द्रियो के विना नही होता है। क्योकि, बाहर के ज्ञान के लिये मन परतन्त्र (इन्द्रियाधीन) रहता है, यह न्याय (नियम) माना जाता है। और हम लोगो के इन्द्रियजन्य भ्रमात्मक ज्ञानो मे इन्द्रियो से सम्बन्ध रहित पदार्थों का स्फुरण होता है, तथा माना जाता

है। और हम लोगो के प्रमाणजन्य भी (सोऽय देवदत्त) वही देवदत्त यह है, इत्यादि प्रत्यभिज्ञान रूप ज्ञान मे करण से सम्बन्ध रहित भी तत्ता, अश (पूर्व देशकाल सम्बन्ध) की प्रत्यक्षता (स्फुरण) मानी जाती है। यदि कहा जाय कि ज्ञान तत्ता मे भी इन्द्रिय के साथ तत्ता का स्व (इन्द्रिय) सयुक्त विशेषणता रूप सम्बन्ध रहता है, तो सो कहना युक्त नही, क्योकि समवाय से भिन्न भावपदार्थ की इन्द्रिय सयोग के बिना भी यदि प्रत्यक्षता मानी जाय तो (पर्वतोऽग्निमान्) पर्वत अग्निवाला है। यहाँ भी अग्निमत्ता की सयुक्त विशेषणता से प्रत्यक्षता की प्राप्ति होगी, जिससे प्रत्यक्षधर्मी (पक्ष) वाले अनुमान मात्र का उच्छेद (अभाव) प्राप्त होगा। अन्य सम्बन्ध के सिद्ध नही होने पर ज्ञानज्ञेय का विषय-विषयिभाव (विषयत्व = विषयित्व) रूप सम्बन्ध हो, यदि ऐसा कहा जाय तो, उस विषय-विषयिभाव के अनिरूपण (असिद्धि) से यह कहना भी नही बनता है। कैसे नही बनता है, सो कहा जाता है, सुनिये, प्रथम विचारिये कि विषयत्व क्या है, क्या ज्ञानजन्यफलाधारत्व है, और विषयित्व क्या है, क्या, विषयवृत्तिफल जनकत्व है, ये दोनो युक्त नही हो सकते है, क्योकि विकल्प को नही सह सकते है (विकल्प होने पर दूषणरहित नही सिद्ध होते है) विकल्प होता है कि विषयत्वलक्षणघटक वह ज्ञानजन्य फल ज्ञातता (प्राकट्य) रूप होता है, या व्यवहार रूप होता है, वहाँ, आद्य (प्रथम) पक्ष नही माना जा सकता क्योकि अतीतादि पदार्थो मे ज्ञानजन्य-ज्ञानता के अभाव से उनमे अविषयत्व की प्राप्ति होगी, और वे भी ज्ञान के विषय होते है। और घटज्ञान घट ही मे फल जनक हो, इसमे भी अनुगत नियम का अभाव है, अर्थात् ज्ञान ज्ञेय का कोई सम्बन्ध हो तो सम्बन्ध फल जनन मे नियामक हो सकता, वह सम्बन्ध अनिरूप्य है। अत भूतादि पदार्थ के अविद्यमान रहने से तथा नियामक अभाव से भी फलाधारता रूप विषयत्व नही हो सकता है। यदि उस ज्ञान की विषयता का नियामक कोई योग (सम्बन्ध स्वभावादि) विषय के साथ है, तो उसीसे विषयत्व नियामकता की सिद्धि होगी, ज्ञानजन्य फल की कल्पना विषय-विषयिभाव व्यर्थ है। ज्ञानजन्य फल व्यवहार होता है, यह दूसरा पक्ष भी नही बन सकता, क्योकि वह व्यवहार हाथ से आकर्षणादि रूप है, या इच्छादि रूप है, दोनो प्रकार नही बन सकता, क्योकि आत्मादि के ज्ञान से विभु आत्मादि का आकर्षण नही हो सकता अत आत्मादि मे ज्ञान की विषयता भी नही सिद्ध होगी। और कलधौत (रजत) के आकर्षणादि व्यवहार के विषय नान्तरीयक (व्याप्य) रूप से रजत का मल भी होता है, अत उस मल मे भी रजतज्ञान की विषयता की प्राप्ति होगी। इच्छा आदि भी व्यवहार रूप नही माना जा

अलमिह लक्षणान्तरगवेषणापरिश्रमेण यस्या सविदि योऽर्थोऽभासते स तद्विषय इति लक्षणनिरुक्त्युपपत्तेरिति चेत्, मैव, विकल्पासहत्वात् ।

शालिकनाथोक्तलक्षणमवतारयति—**अलमिह लक्षणान्तरेति** । यस्या सविदि योऽर्थोऽवभासते सोऽर्थस्तस्या सविदो विषय इत्यर्थ । उक्त च पञ्चिकाप्रकरणे—

'अत्र ब्रूमो य एवार्थो यस्य सविदि भासते ।
वेद्य स एव नान्यद्धि वेद्यावेद्यस्य लक्षणम् ।।' इति (प्र० प० नय० २३)

सकता है, क्योकि आत्मा को ही इच्छा आदि के आधार होने से, आत्मा से अन्य को ज्ञान के अविषयत्व की प्राप्ति होगी। यदि कहे कि ज्ञानप्रतिबद्ध (ज्ञाननिमित्तक-ज्ञानजन्य) जो हान (त्याग) ग्रहणादि का ज्ञान, उस ज्ञान का विषयत्व, वा हानादि ज्ञानजन्य हानादि योग्यताविषयत्व है। तो वह कहना भी युक्त नही, क्योकि अभी विषयता ही निरूप्यमाण है, (असिद्ध है) और ज्ञानविषयता की सिद्धि के लिये हानादि ज्ञानविषयता को मानने पर, दोनो विषयता के एकस्वरूप होने पर आत्माश्रय होगा, भेद-पक्ष मे अन्योन्याश्रयादि होगे। और दूसरी यह बात है कि हानादि के ज्ञान विषयता की सिद्धि के लिये यदि दूसरे हानादि ज्ञानो को नही उत्पन्न करे तो उन हानादि ज्ञानो को हानादि ज्ञानान्तर के अजनक होने से उनमे निर्विषयत्व की प्राप्ति होगी, क्योकि उक्तरीति से हानादि ज्ञान के जनक ही ज्ञान विषय वाला होता है, और यदि प्रथम (पहले) का हानादि ज्ञान अपनी सविषयता की सिद्धि के लिये दूसरे हानादि ज्ञान को उत्पन्न करे तो इसी प्रकार दूसरा तीसरे को भी उत्पन्न करेगा, तब तो इस प्रकार के हानादि ज्ञान के जनकत्व होने पर हानादि के ज्ञानो के अनुपरम (असमाप्ति) से विषयान्तर मे मन ज्ञान का सचार (प्रवृत्ति) नही होगा, सुषुप्ति का अभाव प्राप्त होगा। और व्यवहारयोग्यत्व रूप विषयत्व को मानने पर, व्यवहार-योगत्व का भी ज्ञान होने से उसमे व्यवहारयोग्यत्व मानना होगा, तो इस प्रकार अनवस्था होगी, और योग्यता मे योग्यता के उपरम (अभाव,) होने पर, योग्यता मे योग्यता को मानने पर योग्यता को विषयत्व का अभाव होगा। योग्यता मे ज्ञानविषयत्व नही होगा।

प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथ का कहना है कि विषयत्व के लक्षणा-न्तर के अन्वेषणरूप परिश्रम को त्याग देना चाहिये, उसका कोई फल नही है, और जिस सम्विद् (सम्विदि ज्ञान) मे जो अर्थ (पदार्थ) अवभासता (अनुभूत होता) है, प्रकाशता है, वह अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। अत ज्ञान मे भासमानत्व ही विषयत्व का सुगम लक्षण है। परन्तु ऐसा कहना

सविदीति सप्तम्या किमधिकरण विवक्ष्यते ? अथ विषय. ? कि वा सबन्धिमात्र ? सति सप्तमी वा ? नाद्य, घटादिद्रव्याणा बाह्यानामान्तरसविल्लक्षणगुणाधिकरणतानुपपत्ते । न द्वितीय, तस्यैव निरुप्यमाणत्वात्, सविदो विषयत्व घटादीना च विषयित्वमिति वैपरीत्यापत्तेश्च । न तृतीय, सविज्जकनतया तत्सबन्धिनो नयनादृष्टादेरपि तद्विषयत्वप्रसङ्गात् । सविदि

तदेतद्दूषयति—**मैवमिति । घटादिद्रव्याणां संविल्लक्षणगुणाधिकरणतानुपपत्तेरेति ।** उपलक्षण चैतद्गुणकर्मसामान्यविशेषाणामिदमनिष्ट न भवतीत्यत उक्त—**बाह्यानामान्तरत्वेति ।** ततश्च तेपु लक्षणस्याव्याप्तिरिति भाव । विपयसप्तमीपक्ष निराचष्टे—**न द्वितीय इति ।** विषयत्वस्यैव निरूप्यमाणत्वादात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थ । किच सविदीति सप्तम्या सविदो विषयत्वाभिधाने वैपरीत्यमपि स्यादित्याह—**संविद इति ।** सबन्धिमात्रमिति तृतीयपक्ष निराचष्टे—**न तृतीय इति ।** सविदीति कोर्थ, सवित्सबन्धीति, तथाच नयनाद्यपि तथेति घटज्ञानस्य नयनाद्यपि विषय स्यादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थ । नच तस्यापि विषयत्वादनतिव्याप्तिर्विशेपपरत्वात् । इतरथा वस्तुमात्राभिधानापातात् । ननु यद्यपि सबन्धिमात्र सप्तम्या प्रतीयते तथापि भासत इति विशेषणात् भासमानतया सबन्धि विवक्षिता र् । तथाचाप्रकाशमाननयनादिव्यावृतिरिति शङ्कते—**संविदीति ।** भावविषयत्व हि भास-

---

युक्त नही है, क्योकि यह लक्षण विकल्प (विचार) को नही मह सकता है । विकल्प होता है कि 'सम्विदि' इस पद मे सप्तमी विभक्ति का अधिकरण अर्थ विवक्षित (वक्तु इष्ट) है या विषय अर्थ है । या सम्बन्धी मात्र अर्थ है या सति अर्थक सप्तमी है । वहाँ प्रथम कल्प नही बन सकता, क्योकि उस पक्ष मे सम्विदि के अधिकरण मे रहने वाला सम्विद् का विषय कहा जायगा । और वाह्य घटादि द्रव्य की अधिकरणता अनन्तर वृत्ति ज्ञानरूप गुण मे हो नही सकती है, अत अयुक्त है । गुण, कर्मादि का भी अधिकरण ज्ञान नही हो सकता है, अत लक्षण की अव्याप्ति है । दूसरा कल्प (पक्ष) ज्ञानविषयत्व रूप भी नही माना जा सकता है, क्योकि अभी वह विषयत्व निरूप्यमाण, विचारणीय = असिद्ध है । उसके साधन के लिये विषयत्व के प्रदर्शन से आत्माश्रयता होगी । और सम्विद्गत सप्तमी विभक्ति से विषयत्व के कथन करने पर सम्विद मे विषयत्व और घटादि मे विषयित्व की सिद्धि से विपरीतता की प्राप्ति होगी, क्योकि सप्तम्यर्थविषयत्व सप्तम्यर्थसम्बन्धी सम्विद् मे भासेगा, जैसे कि, मुक्तौ कामना, यहाँ मुक्तिविषयक कामना भासती है ॥ तृतीय कल्प भी नही बन सकता है । क्योकि घटादि ज्ञान के नेत्र, अदृष्टादि भी कारण रूप से सम्बन्धी होते है, अत वे सब भी घटादि

भासत इति भासमानताया विशेषणत्वान्न नयनादावतिप्रसङ्ग इति चेत्, न, भासमानताया एवाद्याप्यनिरूपितत्वात् न चतुर्थ, भासमानत्वानिरुक्तेरेव ।

ज्ञानाकारार्पको हेतुर्विषय इति चेत्, न, ज्ञानतदाकारयोर्भेदाभावेन सर्वेषामपि ज्ञानहेतूना तदाकारसमर्पकतया विषयत्वप्रसङ्गात् । दृश्यमान-

---

मानत्व तथाचात्माश्रयत्वमिति परिहरति--**न, भासमानतया इति ।** सतिसप्तमीपक्ष निराचष्टे--**न चतुर्थ इति ।** अत्रापि सविदि सत्या यद्भासते स विषय इति वक्तव्यम् । तथाचात्माश्रयत्वमित्यर्थ । न च ज्ञाने सति व्यवहारयोग्यत्वमेवार्थस्य भासमानत्वमिति वाच्यम्, योग्यताया पूर्वोक्तदूषणापातात् ।

सौगताभिमत लक्षण शङ्कते--**ज्ञानेति ।** घटज्ञान पटज्ञानमिति योय ज्ञानाकारस्तदर्पको यो हेतु स विषय इत्यर्थ । तेन च नयनादिव्यावृत्ति । उक्त हि--

'भिन्नकाल कथ ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यता विदु ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ।।' इति

ज्ञान के विषय होने (कहाने) लगेगे, अत अतिव्याप्ति होगी ।। यदि कहा जाय कि सम्विदि, मे सप्तमी से सम्बन्धी मात्र प्रतीत होता है, परन्तु उसमे भासमानता विशेषण से नेत्रादि मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि सम्विद मे भासता हुआ जो सम्विद का सम्बन्धी हो, वह सम्विद् का विषय होता है। नेत्रादि घटादि ज्ञान मे भासते नही है, अत अतिव्याप्ति नही होगी, तो वह कहना युक्त नही है, क्योकि भासमानत्व, भान (ज्ञान) विषयत्व ही है, सो भासमानत्व ही अभी निरूप्यमान है । अत आत्माश्रयता होगी। चतुर्थ (सति सप्तमी) पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि उस पक्ष मे भी अर्थ होगा जिस ज्ञान के रहते जो अर्थ भासता है, वह अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है। और भासमानत्व की अभी निरुक्ति (निर्णय) नही हुई है, अत. आत्माश्रयता होगी। ज्ञान के रहते अर्थ के व्यवहारयोग्यत्व ही भासमानत्व है। यह भी नही कह सकते है, क्योकि योग्यता मे प्रथम दूषण कहा गया है, उसकी प्राप्ति होगी।

सौगत (बुद्ध) मत के अनुसार कहा जाय कि, 'घटज्ञानम्' इत्यादि ज्ञान के आकार = स्वरूप, उस प्रकार के अर्थ का (साधक) ज्ञान के हेतु को ज्ञान का विषय कहा जाता है, तो वह कहना भी नही बन सकता है, क्योकि ज्ञान और ज्ञानाकार मे भेद के अभाव से सभी ज्ञानहेतुओ मे ज्ञानाकारसमर्पकता (साधनता) के कारण, सभी ज्ञानहेतुओ मे विषयत्व की प्राप्ति होगी । यदि कहा जाय कि दृश्यमानता रूप से जो ज्ञानाकार का समर्पक

तया तदाकारसमर्पको विषय इतिचेत्, न, दृश्यमानताया एवाद्याप्यनिरूपणात् । न च ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्, अतीतादिज्ञानस्येश्वरज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेनाविषयत्वप्रसङ्गात् । सबन्धान्तरमन्तरेण ज्ञानस्य यद्विशेषण स तद्विषयो, विशेष्य च तेन विषयीति चेत्, न, मत्समवेत रूपज्ञान-

---

दूषयति—**नेति** । ननु यद्यपि नयनादीना ज्ञानस्वभावभूताकारहेतुत्वमस्ति तथापि दृश्यमानतयाऽऽकारहेतुत्व नास्ति तादृश च लक्षण विवक्षितमिति शङ्कते—**दृश्यमानतया इति** । लक्षणान्तर दूषयति—**नचेति** । तत्र हेतु —**अतीतादीति** । कर्म नाम कारकविशेष । कारक च कारणविशेष । कारण च कार्ये सभवति, तेन नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तद्विषस्य च विषयविषयिभाव न व्याप्नोतीद लक्षणम् । अतीतादेस्त्वविद्यमानत्वादेव नियतप्राक्क्षणसत्त्वलक्षणकारणत्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थ । उपलक्षण चैतदनुमानादे , कर्मत्व च तत्फलभाक्त्व तच्च दूषित पुरस्तात् । लक्षणा-

---

होता है, वह ज्ञान का विषय होता है, नेत्रादि ऐसे नहीं है, अत उनमे अतिव्याप्ति नही होगी, तो यह कहना भी युक्त नही है । क्योकि दृश्यमानता ही तो विषयत्व है, और उस दृश्यमानता का ही अभी निरूपण (प्रतिपादन) नही हुआ है । ज्ञानकर्मत्व (ज्ञानफलत्व) विषयत्व है, यह भी नही कह सकते है, क्योकि अतीतादि के ज्ञान को और ईश्वरज्ञान को कर्मकारकजन्यत्व के अभाव से उन ज्ञानो मे अविषयत्व (निर्विषयत्व) की प्राप्ति होगी । अर्थात् कारकविशेष को कर्म कहा जाता है, और कर्ता, कर्म, करणादिकारण विशेष कारक होता है । वह कार्य-कारण से अव्यवहित पूर्व वर्तमान रहकर कार्य का जनक होता है । वहाँ भूत, भावी अर्थज्ञान से पूर्व वर्तमानता के अभाव से वह ज्ञान का कर्म नही हो सकता है । और ईश्वरीय ज्ञान के नित्य होने से उसका जनक कर्मकारक नही हो सकता है । अत कर्मरहित वे दोनो ज्ञान निर्विषय होगे । और उन ज्ञानो के विषयो मे लक्षण की अव्याप्ति होगी । सयोग-समवायादि सम्बन्धान्तर के विना जो पदार्थज्ञान का विशेषण होता है, वह उसका विषय होता है और उस विशेषण मे जो ज्ञान विशेष्य (प्रधान) होता है, वह ज्ञानविषयी (उस विषय का प्रकाशक) होता है । यदि ऐसा कहा जाय, तो वह भी नही बन सकता है, क्योकि (मत्समवेत रूपज्ञानमस्ति) मुझमे समवाय वाला रूप का ज्ञान है । यहाँ समवाय मे इस लक्षण का व्यभिचार (अति व्याप्ति) है । समवाय वाला ज्ञान के होने से समवाय ज्ञान का विशेषण है, वहाँ सम्बन्धान्तर के बिना ही मत्सम्बन्धी समवाय और रूपज्ञान को विशेषणविशेष्यभाव होते भी मत्समवेत समवाय और रूपज्ञान को विषयविषयिभाव नही है, अत अलक्ष्य मे लक्षण की प्रवृत्ति रूप अतिव्याप्ति है । यदि कहा जाय कि मुझ मे रूपज्ञान समवेत है, इस अनुव्यवसाय

मित्यत्र व्यभिचारात्। संबन्धान्तरमन्तरेणैव मत्समवायस्य रूपज्ञानस्य च विशेषणविशेष्यभावेऽपि मत्समवायरूपज्ञानयोर्विषयविषयित्वाभावात्, तत्र समवायस्यानुव्यवसायज्ञानविषयत्वेऽपि रूपज्ञानाविषयत्वात्। तदेवं विषयविषयिभावानिरूपणात्, आत्मन्यध्यस्ततया चासिद्धौ, प्रपञ्चस्य सत्यत्वे दृश्यत्वानुपपत्तिर्बाधिकेति स्थितम्। न च भेदस्य मिथ्यात्वे शब्दान्तरादे. कर्मभेदप्रतिपादकस्याप्रामाण्यप्रसङ्ग, घटपटादेरिव व्यावहारिकस्यैव भेदमात्रस्य

न्तर शङ्कते—**संबन्धान्तरमिति**। ज्ञानस्य विशेषण विषय इत्युक्ते ज्ञानगतसत्तादिजातिष्वात्मनि चक्षुरादिषु च समवायकार्यकारणभावसबन्धाभ्या यथायथ ज्ञान प्रति विशेपणेष्वतिव्याप्ति स्यात्तदर्थ सबन्धान्तरमन्तरेणेत्युक्तम्। यद्यपि घटतज्ज्ञानयो कार्यकारणभावोस्ति तथापि स नेश्वरज्ञानेऽतीतादौ च सभवत्यनतिरिक्तश्चेत्यभिप्राय। **विशेष्यं चेति**। नेन विशेषणेनेत्यर्थ। तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**न, मत्समवेतमिति**। मत्समवेतमित्यत्र हि समवायो ज्ञान प्रति विशेषण, नचानयोः सयोगसमवायादिसबन्धान्तरमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थ। अस्यैव प्रपञ्च सबन्धान्तरमित्यादि। ननु मत्समवेत ज्ञानमित्यस्यानुव्यवसायस्य च विषयविषयिभावाल्लक्ष्यमेव समवाय, तत्र च तल्लक्षणगमनमनुगुणमेवेत्यत आह—**तत्र समवायस्येति**। अनुव्यवसाय प्रति विषयत्वेऽपि यत्प्रति विशेषण, तत्प्रति विषयत्वमित्यर्थ। एव नास्ति घटज्ञानमित्यादावभावस्यापि घटज्ञानादिविषयत्वप्रसङ्ग। प्रतिपादित बाधकतर्कमुपसहरति—**तदेवमिति**। यत्तु शब्दान्तराद्यप्रामाण्यप्रसङ्ग इत्यादिना मिथ्यात्वे बाधकमुक्त तदपि भेद्यकर्मसमानस्वभावव्यावहारिकमेव सन्त भेद प्रतिपादयति, नतु ब्रह्मवत्पारमार्थिकमित्यन्यथाप्युपपन्नमित्याह—**न च भेदस्येति**। निरूपितमनुमान-

---

ज्ञान का विषय व्यवसायज्ञान होता है, वहाँ समवाय सहित व्यवसाय ज्ञान अनुव्यवसाय का विषय होता ही है, तो वह कहना सत्य है, तो भी अनुव्यवसाय का विषय होने पर भी जिस व्यवसायज्ञान का वह समवाय विशेषण रहता है, उस रूप ज्ञान का वह समवाय विशेषण रहता है, उस रूपज्ञान का वह समवाय विषय नही रहता है, अत इस उक्त रीति से विषय-विषयिभाव के अनिरूपण (असिद्धि) से प्रपञ्च की आत्मा मे अध्यस्तरूप से असिद्धि रहते, प्रपञ्च के सत्यत्व मे दृश्यत्व की अनुपपत्ति बाधक है, यह स्थिर हुआ।

प्रथम जो कहा था, कि भेद के मिथ्या होने पर शब्दान्तरादि रूप जो कर्म भेद के प्रतिपादक प्रमाण है, उनमे अप्रमाणता प्राप्त होगी, वह कहना युक्त नही, क्योकि घट-पटादि के समान कर्मविषयक व्यावहारिक भेद मात्र को ही तत्तत् स्थानो मे शब्दान्तरादि रूप प्रमाणो से प्रतिपाद्यमान (प्रतिपादित) होने से उन कर्मादिको के बाध्य के अयोग्यता स्वरूप सत्यत्व के प्रतिपादन मे उन शब्दान्त-

कर्मगोचरस्य तत्र तत्र शब्दान्तरादिभि प्रतिपाद्यमानत्वात्तद्गतबाधायोग्यतालक्षणस्य सत्यत्वस्य प्रतिपादने तेषामौदासीन्यात्। तदेव निरस्तसमस्तप्रत्यनीकमनुमान प्रपञ्चमिथ्यात्वे मानमिति सिद्धम्।

नन्वस्यानुमानस्य मिथ्यात्व किमनुमानान्तरेण सिद्धयति ? कि वा स्वेनैव ? आद्येऽनवस्था—तस्य तस्यानुमानस्य मिथ्यात्वसाधनेऽनुमानान्तरापेक्षणात्। जिज्ञासाया सत्या तत्तदनुमानप्रवृत्तेर्नानवस्था मूलक्षयकरीति चेत्, न, यद्यदुक्तसाधन तत्तदुक्तसाध्यमिति व्याप्तिग्रहणसमये तस्य तस्यानुमानस्य

मुपसहरति—**तदेवमिति**। तथा विमत ससर्ग एतद्घटैतत्ससर्गान्यितरान्याबाध्यान्य प्रमेयत्वादित्यादयोऽप्यत्र महाविद्या द्रष्टव्या।

यद्यपीदमनुमान घटादिमिथ्यात्व साधयति तथापि न स्वस्य तत्साधयितुमलम्, आत्माश्रयात्। नाप्यन्येन, अनवस्थापातात्। तथाच नाद्वैतसिद्धि। धर्मित्वादीना च कियता हेतूनामस्मिन्ननुमानेऽनैकान्तिकत्वमित्यभिप्रेत्य प्रत्यवतिष्ठते—**नन्वस्यानुमानस्येत्यादिना**। शङ्कते—**जिज्ञासायामिति**। यदि हि प्रथमानुमानसमसमय एवानन्तानुमानस्फुरणापत्ति स्यात्तदानुपलब्धिपराहततया मूलक्षयकरी, नात्र नदस्तीत्यर्थ। दूषयति—**यद्यदुक्तसाधनमित्यादिना**। तत्तदनुमानजातस्य मिथ्यात्वेन

रादिको की उदासीनता है (सत्यता के प्रतिपादन मे उनका तात्पर्य नही है) अत समस्त विरोध-विरोधी अनुमानादि के निराकरणपूर्वक प्रपञ्चमिथ्यात्व विषयक अनुमान प्रमाण सिद्ध हुआ।

शङ्का होती है कि अद्वैत सत्य ब्रह्म की सिद्धि (ज्ञान) के लिये उक्त अनुमान से प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि की जाती है। जहाँ प्रपञ्चान्तर्गत इस अनुमान के मिथ्यात्व के ज्ञान बिना अद्वैत का ज्ञान नही हो सकता है, वहाँ इस अनुमान के मिथ्यात्व की सिद्धि क्या अनुमान्तर से होती है, या स्वेनैव = स्वरूप से ही, स्वकीय मिथ्यात्व सिद्ध होता है। वहाँ प्रथम पक्ष मे अनवस्था होगी, क्योकि तत्तत् उत्तरोत्तर अनुमानो के मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिये अनुमानान्तर की अपेक्षा (आवश्यकता) होती जायगी। यदि कहा जाय कि अनुमान के मिथ्यात्व की जिज्ञासा होने पर अनुमान की प्रवृत्ति से मूलक्षयकरी अनवस्था नही होगी, क्योकि यदि प्रथम अनुमान के समय मे ही अनन्त अनुमान की स्फुरणापत्ति होती, तो अनन्त की अनुपलब्धि असम्भवादि मे बाधित होने से मूलक्षयकरी अनवस्था होती। जिज्ञासित मात्र के अनुमान मात्र मे यह दोष नही है, तो यह कहना ठीक नही, क्योकि जो जो अनात्मा अशित्वादि साधन वाला है, वह सब उक्त मिथ्यात्व साध्य वाला है, इस व्याप्तिग्रहणकाल मे तत्तत् अनुमानो के मिथ्यात्व के अज्ञात रहने पर, सर्वोपसहारवाली (सर्वव्याप्य विषयक) व्याप्ति नही सिद्ध होगी और तत्तत्

मिथ्यात्वानधिगमे सर्वोपसहारवती व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् । अधिगमे च तद-धिगमाय तत्तदनुमानान्तर तदैवापेक्षणीयमिति कथय कथ न मूलक्षति ? द्वितीये तु स्वात्मनि वृत्तिविरोध, स्वगतमिथ्यात्वस्य स्वेनैव ग्रहणादिति चेत्, मैवम्, शब्दशब्दवत्प्रपञ्चसत्यत्वानुमानवदध्ययनविधिवच्चाविरोधात् ।

ननु नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनम् , तस्याध्यापनविधिप्रयुक्तत्वात् ।

साध्यवद्व्यक्तित्वात् व्याप्तिग्रहणकाले सर्वेषामेव स्फुरणापत्त्या मूलक्षतेरित्यर्थ । स्वेनैव स्वमिथ्यात्वसाधने दूषणमाह--**द्वितीये त्विति** । तमिममाक्षेप परिहरति-- **मैवम् । शब्दशब्दवदित्यादिना** । यथाहि—शब्दशब्द शब्दत्वाक्रान्त शब्दजात विषयीकुर्वन्स्वमपि विषयीकरोति, यथा वा सर्वप्रपञ्चसत्यत्वानुमान स्वात्मन्यपि सत्यता साधयतीति भवद्भिरभिमन्यते, यथा वा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्यध्ययनविधि स्वाध्यायशब्दवाच्यसमस्तवेदराशेरध्ययन विदधानस्तदन्तर्वर्तिन स्वात्मनोऽपि विधत्ते तेषु य परिहारोद्धारभेदादि सोऽत्रापि समान इत्यर्थ ।

अध्ययनविधेर्विधायकत्वमुक्तममृष्यमाण प्राभाकर प्राह—**ननु नाध्यय-नेति** । नन्वविहितस्य कथमनुष्ठानमित्यत आह—**तस्येति** । ननु श्रूयमाणे विधौ

अनुमानो से मिथ्यात्व के अधिगम (ज्ञान) होने पर, उस मिथ्यात्व के अधिगम के लिये, तत्तदनुमानान्तर की उस व्याप्ति ग्रहण काल मे ही अपेक्षा होगी, अनन्त अनुमान समकाल मे अपेक्षणीय होगे, तो उनके असम्भव से यह अनवस्था मूल-क्षयकरी कैसे नही हो, अर्थात् अवश्य मूलक्षयकरी होगी । मिथ्यात्व का अनुमान अपने मिथ्यात्व को भी स्वय ग्रहण करता है । इस दूसरे पक्ष मे तो स्वात्मा मे स्ववृत्ति (आत्माश्रय) रूप विरोध है । यदि स्ववृत्ति मिथ्यात्व का अपने ही से ग्रहण होता है तो यहाँ तक पूर्वपक्ष है । अब उत्तर है कि मवम्–ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि शब्द तो यह शब्द (पद) घट-पटादि शब्दो का बोधक होता हुआ शब्दत्वेन अपने स्वरूप का भी बोधक होता है और प्रपञ्च के सत्यत्व का अनुमान अपने को भी सत्यत्वेन सिद्ध करता है और (स्वाध्यायोऽध्येतव्य) वेद अध्येतव्य है, यह वेदाध्ययन विधि, अन्य वेद वाक्यो के अध्ययन की विधि को प्रतिपादन करती हुई, वेदान्तर्गत अपने अध्ययन की विधि का प्रतिपादन करती है । इसी प्रकार प्रपञ्च के मिथ्यात्व का अनुमान अन्य के मिथ्यात्व की सिद्ध करता हुआ प्रपञ्च-त्वेन अपने मिथ्यात्व को भी सिद्ध करता है, अत कोई विरोध नही है ।

लिङ्, लोट्, तव्य, तव्यत् प्रत्ययान्त से विधि मानी जाती है, अत प्राचीन-मतानुसार स्वाध्यायोऽध्येतव्य , इस वाक्य से अध्ययन विधि का कथन प्रथम

तथाहि—अध्ययनविधिर्न स्वविषयाध्ययनस्यानुष्ठापनक्षम , निर्नियोज्यत्वात् । नह्यत्र कामी जीवनादिनिमित्तवान्य कश्चिन्निज्योज्य प्रतीयते । नापि विश्वजिदादिवत्कल्पयितु शक्य , अध्यापनविधिप्रयुक्तित एव तद्विष-

---

कथमेतत्प्रयुक्तत्व तत्राह—**तथाहीति** । स्वविषयरूपमध्ययन स्वविषयाध्ययनम् । ननु यद्यप्यत्र स्वर्गादिवत्काम्य, नित्य वा जीवनादिवत्किचिन्निमित्त न श्रूयते, तथापि यथा 'विश्वजिता यजेत,' 'अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ती'त्यत्र वाऽश्रूयमाणोऽपि स्वर्गकाम्यधिकारी कल्पित । तथा हि 'विश्वजिता यजेते'त्यत्राश्रूयमाणोऽधिकारी कल्प्य ? उत न ? इति सदेहे द्वारमित्यत्र क्रियान्वय विना कारकाणामिव विषयेण पर्यवसितान्विताभिधानस्य भार्यस्याधिकारिणा विनानुपपत्त्यभावात् अनध्याहार इति प्रापय्य राद्धान्तितम् । कर्तृव्यापारकृते कर्त्रा विनानुपपत्तेस्तन्निरूप्यकार्यस्याप्यनुपपत्तिरिति सोऽध्याहर्तव्य । स चासबद्धकार्यसवन्धो न सबद्धयत इति स्वसबन्धित्वेन कार्यबोद्धा नियोज्यो भवति । तत्रापि सर्वकल्पनाया नैरर्थक्यात् यस्य कस्यचित्कल्पनाया विनिगमनाभावात्सर्वाभिलषितस्वर्गकामोऽधिकारी कल्पित 'चोदनाया फलाश्रुते'रित्युपक्रम्याधिकरणत्रयेण, 'स स्वर्ग स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वा'-दित्यन्तेन । एव पिण्डपितृयज्ञेऽमावास्यायामिति कालपर ? उत कर्मपर ? इति सशय्य कर्मपरत्वात्तदङ्गत्वमिति पूर्वपक्षस्य कर्मपरत्वे लक्षणाप्रसङ्गात् कालपरत्वमादाय स्वतन्त्राधिकारत्वेन स्वर्गकामाधिकार्यध्याहृत —'पिण्डपितृयज्ञ स्वकालत्वादनङ्ग स्या'दित्यत्र, तद्वदत्र कि न स्यादित्यत आह—**नापि विश्वजिदादिवदिति ।** ननु 'तमध्यापयीते'त्यत्रापि न कश्चिन्नियोज्य प्रतीयतेऽतो निर्नियोज्यत्व-

---

किया गया है, परन्तु यहाँ प्रभाकर जी का कहना है कि, अध्ययन विहित अध्ययन का अनुष्ठान नही किया जाता है । क्योकि उस अध्ययन का अनुष्ठान अध्यापन विधि से होता है । वह दर्शाया जाता है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्य , यह अध्ययन विधि, अपने विषय (अर्थ) रूप अध्ययन के अनुष्ठापन (साधन= उत्पादन) मे क्षम (समर्थ) नही है, क्योकि यह अध्ययन विधि, निर्नियोज्य (अधिकारी रहित) है, अर्थात् यह विधि अध्ययन का विधान करती है, परन्तु जिसको विधि से नियोग (प्रेरणा) किया जाय, अध्ययन मे नियुक्त (प्रवृत्त) किया जाय, उस को यह विधि नही बताती है । क्योकि इस विधि मे (दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत) स्वर्ग की इच्छा वाला दर्शपौर्णमास नामक यज्ञ द्वारा स्वेष्ट का सम्पादन करे, इस वाक्य गत स्वर्गका मी के समान कोई कामी अधिकारी नही श्रुत है । न 'यावज्जीवमग्निहोत्र जुहोति'—जीवन काल मे सदा अग्निहोत्र करे, इसके समान जीवनादिनिमित्तक कोई नियोज्य प्रतीत होता है और 'विश्वजिता यजेत' इत्यादि मे नियोज्य के नही रहते भी कर्ता के विना विधान की अनुपपत्ति से

यस्याध्ययनस्य सिद्धौ नियोगसिद्धे कल्पकाभावात् । नचाध्यापनविधेरपि निर्नियोज्यतयाननुष्ठापकत्वम्, आचार्यकरणकामस्य नियोज्यस्य प्रतीतेः। तथा हि—'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीते'ति श्रूयते। तत्र 'समाननोत्सञ्जनाचार्यकरणे'ति सूत्रेणाचार्यकरणे नयतेरात्मनेपदविधानात्,

---

मुभयो समानमिति कथमेतत्प्रयुक्तविपयत्वमितरस्य, तत्राह—**न चाध्यापनेति**। हेतुमाह—**आचार्यकरणकामस्येति**। आत्मनो यदाचार्यकरणमाचार्यत्वसपादन तत्कामस्येन्यर्थ । नन्वाचार्यकरणकाम इत्यपि न श्रूयते इति तत्राह—**तथा हि ह्यष्टवर्षमिति**। श्रूयता नाम, तावतापि किमायातमाचार्यकरण इति तत्राह—**तत्र समानेति**। 'समाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेपु निय'। अयमर्थ —यद्यपि 'स्वरितञित कर्त्रभिप्राये क्रियाफल' इति कर्तृगामिफलाभिधायिनो नयतेरात्मनेपद सिद्ध तथाप्यकर्त्रभिप्रायार्थोयमारम्भ, समाननादिष्वर्थेषु गम्यमानेपु नयतेर्धातोरात्मनेपद स्यात्। तत्र समानन पूजन, यथा नयते चार्वी लोकायते, चार्वी बुद्धिमानाचार्यो लोकायते मते शिष्यान्नयते। ते हि सद्युक्तिभिराचार्येण प्रतिष्ठापितबुद्धय सन्त पूजिता भविष्यन्ति इत्यात्मनेपदार्थ । उत्सञ्जनमुत्क्षेपण, यथा माणवकमुन्नयते उत्क्षिपतीत्यर्थ । आचार्यकरणमाचार्यत्वसपादन, यथा माणवकमुपनयते आत्मानमाचार्यीकर्तुं माणवकमात्मसमीप प्रापयतीत्यर्थ । ज्ञान प्रमेयनिश्चय, यथा नयते चार्वी लोकायते तन्मते प्रमेयत्व निश्चिनोतीत्यर्थं । भृतिर्वेतना, यथा कर्मकरानुपनयते, भृतिदानेन समीपीकरोतीत्यर्थं । विगणनमृणादेर्निर्यातन, यथा मद्रा कर विनयन्ते, करदानेन निवर्तयन्तीत्यर्थं । व्ययो धर्मादिषु विनियोग, यथा शत विनयते सहस्र विनयते, धर्मार्थ विनियुक्ते इत्यर्थ । अथ कथमेतेष्वित्युक्तम्, अजा ग्राम नयती-

---

सभी के प्रति स्वर्गरूप सामान्य फल के कामी अधिकारी की जैसे कल्पना (अध्याहार) होती है, वैसे यहाँ अधिकारी (नियोज्य) की कल्पना (अध्याहार) के योग्य (शब्द) नही है। क्योकि अध्यापनविधि-निमित्तक ही अध्यापन के विषयरूप अध्ययन की सिद्धि होने पर नियोग = अध्ययन विधि की सिद्धि से कल्पक (अध्याहार के हेतु) अनुपपत्ति का अभाव हो जाता है। यदि कहा जाय कि अध्यापन विधि भी निर्नियोज्य है, अत वह भी अध्ययन-अध्यापन का अननुष्ठापक (असाधक) होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अध्यापन विधि मे अपने मे आचार्यत्व को सिद्ध करने की कामना वाले नियोज्य की प्रतीति होती है। प्रतीति का हेतु श्रुति है कि ('अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत') आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन (यज्ञोपवीतादि सस्कार) करे और फिर उसको अध्ययन करावे। यहाँ उपनयीत, इस पद मे (सम्माननोत्सञ्जनाऽऽचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु निय) सम्मान = सम्पूजन, उत्सञ्जन (उत्क्षेपण) आचार्यत्वसम्पादन, ज्ञान,

'उपनयीत, तमध्यापयीते'ति चोपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतावगमात्, उपनयनपूर्वकाध्यापनसाध्याचार्यत्वप्रतीतौ तत्कामिनो नियोज्यत्वावगमात् न निर्नियोज्यताध्यापनविधे । तथा च स्वविषयस्याध्यापनस्यानुष्ठान प्रयुञ्जानोऽध्यापनविधिस्तन्निष्पादकमध्ययनमपि प्रयुङ्क्ते, तेन विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणेनान्यत एवाध्ययनसिद्धेर्नाध्ययनविधिप्रयुक्तमध्ययनमिति ।

त्यादिषु विनिवृत्तये इनि । तस्मादुपनयीतेति श्रौतमेवाचार्यकरणमित्यर्थ । ननु भवतूपनयनस्याचार्यकरण फल तत्र श्रूयत इति, किमायातमध्यापनस्य सनियोज्यत्व इति तत्राह—**उपनयीत तमध्यापयीतेति चेति । एकप्रयोगतेति ।** 'अष्टवर्ष ब्राह्मणमुपनयीत उपनीय च तमध्यापयीते'ति क्त्वाश्रुतेरेकप्रयोगतावगम्यते वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेतेतिवदित्यर्थ । तथा चैकदेशस्यैवानुष्ठानात्फलासिद्धिरिति सोपनयनाध्यापनादाचार्यत्वसिद्धिरिति भाव । तथा च स्मृति —

'उपनीय तु य शिष्य वेदमध्यापयेद्द्विज ।
सकल्प सरहस्य च तमाचार्य प्रचक्षते' ॥ इति । (मनु० २।१४०)

ननु भवतूपनयनाध्यापनयोरेकप्रयोगतयाङ्गाङ्गिभावावगमादङ्गे श्रुतस्याङ्गिनि उपसहारस्तस्य त्वनित्यस्याचार्यकरणस्य कथ नियोज्यविशेषणत्व, नह्यत्र स्वर्गादिवत्कामिशिरस्कत्व प्रतीयते इत्यत आह—**तत्कामिन इति ।** रात्रिसत्रन्यायेन फलत्व विपरिणम्यते इति भाव । नन्वध्यापनविधि स्वविषयमध्यापन विहाय कथमध्ययन प्रयुञ्जीतेत्याशङ्क्याह—**तथा च स्वविषयस्येति ।** ननु विधिर्हि सर्वत्र स्वविषये तदङ्गे वा पुरुषमनुष्ठापयति, नचाध्यनस्याध्यापनाङ्गत्वे किंचन श्रुत्यादीनामन्यतम प्रमाणमस्ति, नचोपकारमात्रादङ्गत्व, गोदोहनधनार्जनादेरप्यङ्गत्वप्रसङ्गात् । नचैतद्युक्तम्, उक्त हि 'यस्मिन्प्रीति पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वादि'ति तत्राह—**तेन विध्याक्षेपेति ।** तार्कीयप्रमाणाभावेपि चातुर्थिकमस्ति प्रमाणमित्यर्थ ।

वेतन, विगणन = ऋणार्पणादि और व्यय, इन अर्थो मे णीञ् धातु से आत्मनेपद होता है । इस सूत्र से आचार्यकरण अर्थ मे, णीञ् धातु मे आत्मने पद का विधान किया गया है और उपनयीत, अध्यापयीत, इन वाक्यो से उपनयन, अध्यापन इन दोनो की एक प्रयोगता (एकवाक्यता = एकसाध्यसाधनता) अवगत (ज्ञात) होती है । अत उपनयनपूर्वक अध्यापन से साध्य आचार्यत्व की प्रतीति होने पर, उस आचार्यत्व के कामी की नियोज्यता (अधिकारिता) की प्रतीति होती है, अत अध्यापन विधि को निर्नियोज्यता (निरधिकारिता) नही है । इस प्रकार अध्यापन विधि के सनियोज्य होने पर वह अध्यापन विधि ही अपने विषय अध्यापन को सिद्ध (प्रयुक्त) करती हुई, उस अध्यापन के साधक अध्ययन को भी सिद्ध करती है (अध्ययन मे अध्येता का प्रवर्तक होती है) । अत विधि का आक्षेप

अत्रोच्यते—भवतु नाम सनियोज्यताऽध्यापनविधे, तथापि नाध्यापनविधिप्रयुक्तताऽध्ययनस्य सिद्ध्येत्, कामाधिकारे करणाशे रागस्यैव प्रवर्तकत्वात्, अध्यापनस्यापि काम्यत्वात्, तद्विषयरागेणैव तन्निष्पादकेऽध्ययनेऽनुष्ठानलाभात् अध्यापनविधेरनुष्ठापकत्वकल्पनानुपपत्ते । नचाध्यापनाङ्गत्वादध्ययने विधित प्रवृत्तिराशङ्कनीया, तत्र श्रुत्यादीनामन्यतमप्रमाणस्यादर्शनात् । नचाध्यापनविधिप्रयुक्तत्वादध्ययनस्य तदङ्गत्व, प्रयुक्ते-

---

समाधातुमुपक्रमते—**अत्रोच्यते इति** । अत्र तावदध्यापनविधेरपि समानमेव निर्नियोज्यत्वमुपनयनस्याङ्गत्वेन तत्र श्रूयमाणस्यापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वादुपसहारायोगादङ्गीकृत्यापि तावदुपादानमन्यथैवोपपत्त्या दूषयति—**भवतु नामेति** । हेतुमाह—**कामाधिकार इति** । अधिकारो नियोग एष हि प्राभाकरराद्धान्त । अन्यतोऽप्रवृत्त खलु पुरुप शास्त्रेण प्रवर्तनीयस्तथा च काम्यनियोगेपु फलवदेव करणाशेषि रागत एव प्रवृत्त, इतिकर्तव्यतासु तु शास्त्रेण प्रवृत्त इति । अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत आह—**अध्यापनस्यापीति** । ननु भवतु करणाशेऽध्यापने कामत प्रवृत्तिस्तदङ्गेऽध्ययने किमिति विधिर्न प्रवर्तयति ज्योतिष्टोमाङ्गेष्विव दीक्षणीयादिषु, न च दृष्टार्थत्वादविधेयत्व, तत्तन्नियमोपेताध्ययनजन्यादृष्टस्यावघातादिष्विवान्यतोऽप्राप्तस्य विद्यमानत्वादित्यत आह—**न चाध्यापनेति** । ननु श्रुत्यादिप्रमाणभावेपि तत्प्रयुक्तत्वलक्षणोपादानप्रमाणात्तदङ्गत्वमुक्तमिति तत्राह—**न चाध्यापनविधीति** ।

रूप अध्ययन के बिना अनुपपत्ति से, अध्ययन का आक्षेप रूप अर्थापत्ति प्रमाण से ही अध्ययन की सिद्धि होने से अध्ययनविधिनिमित्तक अध्ययन नही होता है ।

अब यहाँ इस शका का समाधान कहा जाता है कि उक्त रीति से अध्यापन विधि को सनियोज्यता = (साधिकारिता) हो, तो भी अध्यापन विधि प्रयुक्तता (अध्यापन विधि साध्यता) अध्ययनविधि को नही सिद्ध हो सकती है, क्योकि प्रभाकर का ही सिद्धान्त है कि कामाधिकार (कामविधि) मे काम्य कर्म रूप करण अश (यज्ञादि) मे राग ही को प्रवर्तकत्व (प्रवृत्तिहेतुत्व) होता है—विधि को नही और अध्यापन भी काम्य कर्म है, अत उस अध्यापन विषयक राग से ही, उस अध्यापन के निष्पादक (साधक) अध्ययन विषयक अनुष्ठान (प्रवृत्ति) के लाभ (सिद्धि) हो जाने से अध्यापनविधि को अध्ययनानुष्ठापकत्व (साधकत्व) कल्पना अनुपपन्न (अयुक्त) हो जाता है । अध्ययन मे अध्यापन की अङ्गता से अध्ययन मे अध्यापन विधि से ही प्रवृत्ति होती है । यह शका भी कर्तव्य नही है, क्योकि अध्ययन मे अध्यापन की अङ्गता का बोधक श्रुति आदि रूप कोई प्रमाण नही दीख पडता है । श्रुति = विधायकादि स्वतन्त्रवचन १ । शब्दसामर्थ्य रूप लिङ्ग २ । सापेक्ष वचन रूप समभिहार वाक्य, ३ । उभयाऽऽकाक्षा रूप प्रकरण, ४ । देश-

व्यभिचारात् । न हि 'भिन्ने जुहोति स्कन्ने जुहोति इत्यादौ भेदनादिना प्रयुच्यमानो होमस्तदङ्गमङ्गीक्रियते । तत्प्रयुक्तेरध्ययनस्याद्याप्यसिद्धेः, अङ्गत्वेन प्रयुक्तिः प्रयुक्तौ च तदङ्गत्वमिति परस्पराश्रयता च । किं चाध्यय-

भिन्ने जुहोतीत्यादौ भेदनादीनां निमित्तत्वेन नैमित्तिकहोमं प्रति प्रयोजकत्वमस्ति, अथ च नाङ्गित्वं; भेदनादीनां निमितत्वेनाननुष्ठेयतयाङ्गित्वानुपपत्तेः । अतः प्रयुक्तिर्व्यभिचारणीत्यर्थः । अङ्गीकृत्य प्रयुक्तिमेतदुक्तं सैव तु नास्तीत्याह—**तत्प्रयुक्तेरिति ।** रागस्यैवोभयत्र प्रयोजकत्वादिति भावः । नन्वङ्गत्वात्प्रयुक्ति-रित्यत आह—**अङ्गत्वेन प्रयुक्तिरिति ।** किंच नोपादानात्मकं किंचिन्मानं; मेया-निरूपणात् । तस्माच्छ्रुत्यादिषट्केण विनियोगो, नचात्र ते, यत्तु प्रोक्षणादेः क्रत्वर्थं-त्वमुपादानलभ्यमिति तन्न; श्रुत्यैवापूर्वसाधनत्वे व्रीह्यादिगते विनियोगात् । तथापि कथमपूर्वार्थत्वम् ? उच्यते—व्रीहीणां तण्डुलपिष्टपुराडाशयागप्रणालिकयाऽपूर्वं-साधनत्वमस्ति तथाविधांश्चोद्दिश्य विधीयमानं सर्वस्य द्वारद्वारिभावव्यवस्थितस्याङ्गं भवतीति, पश्वेकत्वादीनामपि श्रुत्यैव विनियोगसिद्धिः, ज्योतिष्टोमादेश्च फलार्थत्वं वाक्यादिभिरिति । यच्च निर्नियोज्यत्वमध्ययनविधेरुक्तं तदपि दूषयति—**किं चाध्ययनविधाविति ।** पूर्ववादी नियोज्यानङ्गीकारे कारणमाह—**अनुष्ठान-**

सामान्य रूप स्थान ५ । यौगिक शब्द रूप समाख्या ६ । ये छः अङ्गता के बोधक प्रमाण होते हैं, वह यहाँ नहीं है । यदि कहा जाय कि अध्यापन विधि से प्रयुक्त (अध्यापन विधि की सिद्धि के लिये अध्यापन विधि निमित्तक अध्ययन विधि के होने से अध्ययन को उस अध्यापन के अङ्गत्व) है, अतः अध्यापन विधि से अध्ययन में प्रवृत्ति होती है तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि प्रयुक्ति का व्यभिचार है । अर्थात् जो-जो जिस-जिस से प्रयुक्त हो, सो-सो उस-उस प्रयोजक का अङ्ग हो ऐसी व्याप्ति नहीं है । व्याप्ति होती तो अध्यापन विधि से प्रयुक्त अध्ययन अध्यापन का अङ्ग होता, और भिन्ने जुहोति, स्कन्ने जुहोति, कपाल के भिन्न = सच्छिद्र होने पर हवन करे, यहाँ कपाल के भेदन, छेदन, हवन का प्रयोजक (निमित्त) होता है, परन्तु भेदनादि की अङ्गता को होम में नहीं माना जाता, अतः प्रयुक्ति के व्यभिचारी होने से अङ्गत्व का साधक नहीं है और वस्तुतः अध्यापन से अध्ययन की प्रयुक्ति (सिद्धि) की अभी सिद्धि (निर्णय) नहीं हुई है, क्योंकि राग ही अध्ययन-अध्यापन दोनों में प्रयोजक (हेतु) है और अङ्गत्व से प्रयुक्ति (साध्यता) से उसका अङ्गत्व, इस प्रकार से अन्योन्याश्रयता की प्राप्ति होती है और यह भी विचारणीय है कि अध्ययन विधि में अधिकारी को मानने वाले आप उस अधिकारी को नियोज्य (विधि विषय) क्यों नहीं मानते हैं । यदि कहें कि कर्मानुष्ठान की सिद्धि के नियोज्य की अपेक्षा होती है, वह

नविधावधिकारिणमङ्गीकुर्वता नियोज्य. कस्मान्न स्वीक्रियते इति वाच्यम् ? अनुष्ठानसिद्धये नियोज्योऽपेक्षितव्य तच्चान्यत एव सिद्धमिति नासावङ्गी क्रियत इति चेत्, तर्हि अधिकार्यपि नापेक्षणीय, अनुष्ठानस्यान्यत एव सिद्धे । अधिकारी विधिपर्यवसानायापेक्ष्यत इति चेत् , नियोज्येऽपि तुल्य, तेनापि विना नियोगापर्यवसानात् । अन्यतोपि विषयानुष्ठानसिद्धया च नियोगसिद्धौ का नाम विधेरपर्यवसानवाचोयुक्ति ? कि च तमध्यापयीतेति

सिद्धये इति । दूषयति—**अधिकार्यपीति** । अनुष्ठानार्थमधिकार्यपेक्षा तच्चेदन्यत सिद्ध किमर्थमधिकार्यपेक्ष्यत इत्यर्थ । शङ्कते—**अधिकारीति** । अयमभिसधि — यद्यपि कार्यमेव नियौगापरपर्याय वाक्यार्थस्तथापि तदेवेष्टसाधनतानिबन्धन यथाहु — 'फलसाधनता तत्र कारण तेन कार्यते'ति । तच्चेष्टसाधनत्व कस्येति भोक्तारमधिकारिणमाकाड्क्षमाण न तावत्पर्यवस्यति यावन्नाधिकारिविशेषप्रतीतिरिति, तदेतन्नियोज्येपि तुल्य नियोगस्यापि नियोज्यव्यतिरेकेणापर्यवमानादिति परिहरति—**नियोज्येपीति** । आपाद्यदूषणमिदम्, आधानादिनियोगेषु तैरनङ्गीकारात् । कि च विषयसिद्धिद्वारा स्वसिद्धिर्हि विधे पर्यवसान सा चेदन्यतोपि सिद्धा पर्यवसित एव विधिरित्यधिकार्यपेक्षापि निर्निबन्धनेत्याह—**अन्यतोपीति** । अध्यापनस्य विधेयत्वमङ्गीकृत्यैतदुक्त तदेव नास्तीत्याह—**किं चेति** । तत्र किं वृत्त्यर्थे यदध्यापन तदेव

अनुष्ठान (अन्य) अध्यापन विधि से सिद्ध हो जाना है । अत नियोज्य मानने की आवश्यकता नही रहती है । अत वह नियोज्य नही माना जाता, तो वह कहना भी उचित नही । ऐसा होने पर तो अधिकारी भी अपेक्षणीय नही होगा, क्योकि अनुष्ठान (अध्ययन) की सिद्धि भी अध्यापन से ही हो जाती है । भाव यह है कि अधिकारी ही नियोज्य होता है कि जो कर्मजन्य फल के अधिकारी अपने को समझता है, फिर अधिकारी को मानकर नियोज्य को नही मानना वाड्मात्र है । यदि कहा जाय कि कर्तव्य कर्म विधि वाक्य का अर्थ होता है और कर्म मे कर्तव्यता इष्टसाधनता से होती है और वह इष्टसाधनतत्व किसका होना चाहिये, ऐसी आकाक्षा के होने पर, इष्टफलभोक्ता अधिकारी के बिना विधि का पर्यवसान (अन्त) नही होता हे, अर्थात् विधि पूर्ण नही होनी है, अत विधि के पर्यवसान (सर्वथा समाप्ति = पूर्णता) के लिये अधिकारी अपेक्षणीय होता है । तो कहा जाता है कि नियोज्य के विषय मे भी यह तुल्य ही अपूर्णत्व है । क्योकि नियोज्य (नियोगरूप विधि विषय) के विना, नियोग आदि (आज्ञा आदि) का अपर्यवसान होता है और जब अन्य अध्यापन विधि से भी उसका तथा अध्ययन विधि का विषय अध्ययन-अधापन सिद्ध होता है, उसकी सिद्धि से नियोग (विधि) भी सिद्ध ही हो गया । नियोग (विधि) की सिद्धि हो गई । अब विधि के अपर्यवसानवाक्

च नायमध्यापने विधि, वृत्त्यर्थत्वेनाध्यापनस्य याजनवत्प्राप्तत्वात्। उक्त हि—

'षण्णा तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रह' ॥ इति। (मनु १०।७६)

'तस्माद्यथैतयाऽन्नाद्यकामं याजये'दित्यादिषु याजन न विधीयते, किन्तु एतयान्नाद्यकामो यजेतेति वाक्यार्थ। तथेहाप्य'ष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्सोऽधीयाते'ति वाक्यार्थ स्वीकार्य। नचालौकिकनियोगार्थत्वेनाध्यापने विधि, याजनेति तथाप्रसङ्गात्। अपि चाध्ययन नित्य—

विधेयम्? उतालौकिकनियोगार्थ कश्चित्? नाद्य इत्याह—**वृत्त्यर्थत्वेनेति**। अध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहात्मकाना षण्णा कर्मणा मध्ये त्रीणि जीविका जीवनसाधनम्। तान्येवाह—**याजनेत्यादिना**। ननु यदि न विधान कथ तर्हि उपनयीताध्यापयीतेति विधीयत इत्यत आह—**तस्माद्यथैतयेति**। एतयाऽवेष्टया, यथाहि न तावद्यथाश्रुति याजन विधातु शक्य वृत्त्यर्थत्वेन तत्र स्वत एव प्रवृत्तत्वादतोऽप्राप्तप्रयोज्यरूपसाक्षात्कर्तृव्यापारयागपरो विधिस्तथेहाप्यन्यनोऽप्राप्तप्रयोज्यमाणवकव्यापाराबुपगमनाध्ययने विधीयते इत्यर्थ। न द्वितीय इत्याह—**नचालौकिकेति**। सिंहावलोकितेन अध्यापनविधेयत्वपक्ष एव दूषणान्तरमाह—**अपि चाध्ययनमिति**।

की युक्ति क्या है। यह कथन निष्फल है और यह भी विचारणीय है कि वृत्ति (जीविका) के लिये जो अध्यापन प्रसिद्ध है, उसीका (तमध्यापयीत) इससे विधान माना जाता है। या किसी अलौकिक नियोग (पुण्य) के लिये विधि मानते हैं। वहाँ प्रथम पक्ष मे विधि नही हो सकता है, अनुवाद हो सकता है। क्योकि वृत्त्यर्थक रूप से अध्यापन याजनादि के समान प्राप्त (सिद्ध) है। अत अध्यापन विषयक विधि ही नही है कि जिसके अङ्गादि रूप से अध्ययन की सिद्धि हो। मनुस्मृति मे कहा गया है कि यजन = यज्ञ करना १, याजन = यज्ञ कराना २, अध्ययन ३, अध्यापन ४, दान करना ५, और प्रतिग्रह = दान लेना ६, इन षट् कर्मो मे याजन, अध्यापन और विशुद्ध परिग्रह ये तीन कर्म ब्राह्मण के जीविका रूप है। अत जैसे (एतयाऽन्नाद्यकाम याजयेत) इस श्रुति का अर्थ यद्यपि प्रतीत होता है कि (इस अवेष्टि = कर्म द्वारा आद्य = अदनीय अन्न की कामना वाले को यजन (यज्ञ) करावे तथापि मीमासा मे माना गया है कि 'एतयाऽन्नाद्यकाम याजयेत' इत्यादि मे याजन का विधान नही किया जाता है, किन्तु (एतयाऽन्नाद्यकामो यजेत) इस अवेष्टि द्वारा आद्य अन्न की कामना वाला यज्ञ करे, यह इस श्रुति रूप वाक्य का अर्थ है। इसी प्रकार यहाँ भी मान्य अर्थ है कि (अष्ट वर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्सोऽधीयीत) आठ वर्ष का ब्राह्मण गुरुकुल मे जाय और वह

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वय ॥'

इत्यादिनाऽकरणे प्रत्यवायस्मरणात् । अध्यापन चानित्य, काम्यत्वात् । तथाच कथ नित्यमनित्येन प्रयुज्येत, विरोधात् । तस्मादध्ययनविधिप्रयुक्तमेवाध्ययनमिति न दृष्टान्तासिद्धि । अस्तु वाध्यापनविधिप्रयुक्तमध्ययन तथाप्यध्यापनविधिरखिलवेदवाक्याध्यापन विदधान स्ववाक्याध्यापनमपि

सान्वय सवश । **विरोधादिति ।** काम्य हि कामनाधीन कामना हि कादाचित्की उपायान्तरादपि तत्फलप्राप्तौ यदा स्वविषय नानुष्ठापयति तदा नित्यमध्ययन कथ प्रयुञ्जीत, अविद्यमानस्याप्रयोजकत्वात् । अथ स्वयमपि यावत्प्रयोज्य विद्यमान तदा काम्यत्वविरोध इति । अल वा गुरुभिर्विवादेन । भवत्वध्ययनमध्यापनविधिप्रयुक्त तथापि स एवाध्यापनविधिर्दृष्टान्त इत्याह—**अस्तु वेति ।**

अध्ययन करे । और अलौकिक नियोगार्थत्व (आज्ञा) रूप से भी अध्यापन विषयक विधि नही हो सकती है, क्योकि अध्यापन विधि के अलौकिक नियोगार्थक (नियुक्त्यर्थक) होने पर, याजन मे भी वैसी ही विधि प्राप्त होगी, वह इष्ट नही है और दूसरी एक बात यह है कि, अध्ययन रूप कर्म नित्य कर्म है । क्योकि "जो द्विज वेदो का अध्ययन नही करके अन्य कर्मादि मे श्रम करता है, वह अन्वय (वश सहित) जीवन काल मे ही शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त करता है ।" इत्यादि स्मृतियो से अध्ययन के अकरण (अभाव) मे प्रत्यवाय (पापदोष) कहा गया है और नित्य कर्म के ही अभाव से प्रत्यवाय माना जाता है, काम्य कर्म के अभाव से नही । और अध्यापन अनित्य कर्म है, क्योकि वह काम्य कर्म है तो फिर नित्य कर्म अनित्य से कैसे प्रयुक्त (सिद्ध) होगा । क्योकि जीविका निमित्त अध्यापन का किसी अन्य प्रकार से जीविका की सिद्धि काल मे अभाव भी हो सकता है, फिर स्वभाव काल मे वह अध्यापन अध्ययन का प्रयोजक (साधक) नही हो सकता है और नित्य अध्ययन के नियोजन (साधन) के लिये अध्यापन की भी नित्य वर्तमानता मानी जाय तो, उसकी काम्यता से विरोध होता है । काम्यता नित्यता दोनो विरोधी है, अत एक अध्यापन मे रह नही सकती है । अत अध्ययनविधिप्रयुक्त (अध्ययन विधि निमित्तक) ही अध्ययन होता है, इससे मिथ्यात्व के अनुमान मे अध्ययन विधि का उक्त दृष्टान्त की असिद्धि नही है, किन्तु स्वाध्याय विधि वाक्य जैसे स्वविषयक अध्ययन का विधायक होता है, वैसे मिथ्यात्वानुमान स्वविषयक मिथ्यात्व को सिद्ध करता है । अथवा विवाद की आवश्यकता नही है । अध्यापन विधि प्रयुक्त (हेतुक) ही अध्ययन हो, तथापि अध्यापन विधि, जैसे सब वेद वाक्यो के अध्यापन का विधान करती हुई, स्वविषयक अध्यापन का

विधत्त इति स एव दृष्टान्तो भविष्यतीत्यलमतिविस्तरेण।

तथैकमवाद्वितीयमित्याद्यागमोपि तत्र प्रमाणम्। नचाद्वितीयशब्दस्तत्सजातीयवस्त्वन्तरनिषेधपर, सकोचे कारणाभावात्, एकत्वविशेषणेनैव सजातीयस्य निषेधत्वात्, सजातीयमात्रनिषेधपरत्वे चैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानस्य वाचारम्भणशब्दस्य चैतदात्म्यमिद सर्वमित्याद्युपसहारस्य च बाधप्रसङ्गात्। नचैकमित्येकत्वसख्याविधानपर तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरिति वाच्यम्, एक रूपमेका सख्या एकोऽभाव इत्यादावपि प्रयोगात्। आनन्त्यमप्युभयान्ताभाव एव, तत्रैव तस्य व्युत्पत्तेरित्यपि न, पूर्वापर-

---

तदेवमनुमान प्रपञ्चमिथ्यात्वे प्रमाणमभिहितम्। अथागममपि प्रमाणयति—**तथैकमेवेति।** पूर्वपक्षोक्तदूषणमनूद्य दूषयति—**नचेति। संकोच इति।** अद्वितीयमित्यत्र द्वितीयमात्रवाचिनो द्वितीयशब्दस्य द्वितीयविशेषे तन्निष्ठनिषेधकनञस्तद्विशेषनिषेधे वा सकोचे प्रमाणाभावादित्यर्थ। अन्यत सिद्धत्वाच्च नानेन तन्निषेध्यमित्याह—**एकत्वविशेषणेति।** किच सजातीयमात्रनिषेधप त्वे समस्तद्वैतनिषेधपरताप्रतिपादकोपक्रमपरामर्शोपसहाराच्च विरुद्धचेरन्नित्याह—**सजातीयेति।** नन्वेकशब्दो न सजातीयनिषेधपरोऽपितु एकत्वसख्याभिधानपर। यथाह मानमनोहरकार—'एकत्वसख्यामाचष्टे तत्रैव लोके व्युत्पत्ते लोकशक्तेश्च वेदे बोधकत्वा'दिति। तत्राह—**नचैकमिति।** सख्यारहितेष्वपि रूपसख्याभावेषु प्रयोगाद्बाधकाभावाच्च लोपचारिकत्वशङ्कापीति भाव। यत्तु तेनैवोक्तम् 'आनन्त्य पुनरुभयान्ताभाव एव तत्र लोके व्युत्पत्तेरि'ति तदप्यनूद्य दूषयति—**आनन्त्यमपीति।** तत्र हेतु—**पूर्वापरेति।**

भी विधान करती है। वैसे ही मिथ्यात्व अनुमान भी स्वकीय मिथ्यात्व को भी सिद्ध करेगा, इस प्रकार से वह अध्यापन विधि ही दृष्टान्त होगा, अतिविस्तार की आवश्यकता नही हे।

जैसे अनुमान प्रपञ्च के मिथ्यात्व मे प्रमाण है, वैसे ही "एक मेवाद्वितीयम्" इत्यादि आगम = शास्त्र = श्रुतियाँ भी प्रमाण है। इस श्रुति मे अद्वितीय शब्द ब्रह्म सजातीय वस्त्वन्तर के निषेधार्थक है, यह प्रथम कहा था वह युक्त नही है। विजातीय निषेधादि मे सकोच मे कोई कारण नही है, और कारण के बिना सामान्य निषेधपरक वाक्य विशेषार्थपरक नही हो सकता है। और एकत्व विशेषण से ही विजातीय निषिद्ध हो जाता है, अत वह सजातीय का निषेध अन्यथासिद्ध है। अद्वितीय पद से उसका निषेध कर्तव्य नही है। और यदि सजातीय मात्र के निषेधार्थक अद्वितीय शब्द हो, तो एक के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा रूप समस्त द्वैत निषेधविषयक तात्पर्य वाला उपक्रम का, तथा वाचारम्भण शब्द रूप परामर्श = उपपत्ति का और एतदात्म्यमिद सर्वम्,

कालानवच्छेदस्यैवेहानन्तपदेन विवक्षाया नित्यमाकाशमनन्त चेति प्रयोगा-नुपपत्तिप्रसङ्गात् । न चान्योन्याभावाधिकरणत्वानधिकरणे व्युत्पत्त्यभावो दोष, अन्तशब्दस्य देशत कालतो वस्तुतश्च परिच्छिन्ने व्युत्पन्नत्वात्तस्य

अस्ति तावन्नित्यमाकाशमनन्त चेति प्रयोग, तत्र यद्यन्तपदेनैव पूर्वापरकालावच्छेद-रूपोभयान्तोऽभिधीयते तन्निषेधश्चानन्तपदेनोच्यते तदा नित्यशब्द पुनरुक्त स्यादि-त्यर्थ । अथ देशकालकृतोऽन्त उभयान्तस्तथापि पुनरुक्तिरिति भाव । यस्तु पूर्व-पक्षिणा व्युत्पत्त्यभावोऽभिहितस्त दूषयति—**न चान्योन्याभावेति** । सर्वत्र ह्यभाव-वाचकशब्दाना प्रतियोगिवाचकशब्दव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्तिस्तत्कुतो हेतो ? यौगि-कत्वाद्यौगिकाना चावयवव्युत्पत्तित एव व्युत्पत्ते समुदायव्युत्पत्त्यनपेक्षणात् । तदिहान्तपदस्यावच्छेदत्रये व्युत्पत्तेर्नञस्तन्निषेधव्युत्पन्नत्वान्न पृथक् समुदायस्य व्युत्प-त्त्यपेक्षेत्याह—**अन्तशब्दस्येति** । यत्तु नेह नानेत्यत्र ब्रह्मणि नानात्वनिषेधादेक

इस स्वरूप ही सब ससार है, इस उपसहार का बाध प्राप्त होगा । यदि कहा जाय कि श्रुतिगत एक शब्द सजातीय द्वैत के निषेधार्थक नही है किन्तु 'एकम्' यह शब्द एकत्व सख्या के विधानात्मक है, क्योकि एकत्व सख्या मे ही उस एक शब्द की व्युत्पत्ति (शक्ति-ग्रह) होती है । तो वह कहना अयुक्त है, क्योकि, एक रूपम्, एका सख्या, एकोऽभाव, इत्यादि वाक्यो मे भी एक शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु रूप, सख्या, और अभाव मे, एकत्व सख्या रहती नही है, किन्तु द्रव्य-मात्र वृत्ति गुणात्मक सख्या होती है । और एक शब्द के सजातीय निषेध परता मे कोई बाध नही है, अत सजातीय निषेधपरक ही श्रुति मे एक शब्द है । और अनन्तता भी पूर्वापर अन्त = प्रागभाव प्रध्वस का अभाव ही है, क्योकि उभय अन्त के अभाव मे अनन्त शब्द की व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) होती है । यह कथन भी युक्त नही है । क्योकि पूर्वापर काल के अनवच्छेद (अन्तरहितत्व) मात्र ही यहाँ अनन्त पद से विवक्षित हो, तो (नित्यमाकाशमनन्तञ्च) इस प्रयोग की अनुपपत्ति (असिद्धि) प्राप्त होगी । क्योकि नित्य शब्द से ही पूर्वापर परिच्छेद का अभाव कहा जाता है, अत नित्य शब्द के साथ पठित अनन्त शब्द पुनरुक्त या अनर्थक होगा और जो यह कहा था कि, अन्योन्याऽभावाधिकरणत्व के अनधिकरणार्थ मे अनन्त शब्द की व्युत्पत्ति नही है, अर्थात् सबभेदरहित अखण्डार्थ मे अनन्त शब्द की शक्ति नही है, अत उस व्युत्पत्ति का अभाव ही अद्वैतवाद मे दोष है, वह दोष भी नही है । क्योकि यौगिक शब्दो मे अवयवो मे अवयव की व्युत्पत्ति से समुदाय व्युत्पत्ति सिद्ध होती है, और आभाववाचक शब्दो की प्रतियोगिवाचक की व्युत्पत्ति से व्युत्पत्ति होती है । प्रकृत मे अन्त शब्द देश, काल और वस्तु से

नञ्समासे त्रिविधस्याप्यन्तस्य निषेधकतोपपत्तौ पृथग्व्युत्पत्त्यनपेक्षत्वात् । "नेह नानास्ति किंचने"ति च न ब्रह्मणि नानात्व निषिध्यते, अप्रसक्तत्वात् । नहि लोकत. श्रुतितो वा वादिप्रसिद्धितो वा ब्रह्मणि नानात्व प्रसक्त येन प्रतिषिद्ध्येत । नानाशब्दस्य भावप्रत्ययान्तताभावाच्च न नानात्वनिषेध । तन्निषेधे वा सकोचे कारणाभावात् सजातीयविजातीयस्वगतनानात्व-निषेधाद् ब्रह्माद्वैतमेव पर्यवस्येदिति स एव घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त प्रसज्येत ।

ब्रह्मेति सिद्धचति न तु द्वैतनिषेध इत्युक्त तन्निषेधति—**नेह नानेति** । अयमभिसन्धि – प्रसक्त हि सर्वत्र निषेध्य, नाप्रसक्तम् । यत्र तु क्वचिदप्रसक्तस्यापि निषेधो यथा "नान्तरिक्षे न दिवि" इत्यत्र, तत्र गत्यन्तर नास्ति । नच तत्रापि निषेधपरत्व, अर्थवादो ह्यय रुक्मोपधानस्य, रुक्ममुपदधातीत्यनेनैकवाक्यत्वात् , तस्माद्यथाकथचन तत्स्तुतावेव तात्पर्यम् । अत्र तु द्वैतनिषेधपरत्वमिति वैषम्य, तदिहापि प्रसक्त-द्वैतप्रपञ्चनिषेधपरत्व युक्त नाप्रसक्तेश्वरनानात्वनिषेधपरत्वमिति । किंच नानात्व-निषेधपरत्वे नानाशब्देन द्वयेकयोरित्यत्र द्वित्वैकत्ववत् नानात्व लक्षणीय, न च विना कारण सा युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षादिविरोधस्तु कारण हृदि विपरि-वर्तमान पुरस्तादेव निरस्त तदनेनाभिसन्धिनाह—**नानाशब्दस्येति** । भवतु नानाशब्देन नानात्वाभिधान गोशब्देन गोत्वस्येव तथापि सङ्कोचे कारणाभावात् समस्तप्रतियोगिकनानात्वनिषेधादद्वैतसिद्धिरित्याह—**तन्निषेधे वेति** । नानाशब्दस्य च नानात्ववाचकत्वेपि तवोक्तिवैयर्थ्य तदुपलक्षितव्यक्तिवचनत्वे चेह गौर्नास्तीति-वत्तज्जातीयनिषेधसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

परिच्छिन्न अर्थ मे व्युत्पन्न (गृहीत शक्ति वाला) है । उसका नञ् के साथ समास होने पर, देश, काल और वस्तु कृत तीनो प्रकार के अन्त की निषेधकता की सिद्धि से फिर अनन्त शब्द की पृथक् व्युत्पत्ति की अपेक्षा नही रहती है । और 'नेह नानास्ति किञ्चन' यह श्रुति ब्रह्म मे नानात्व का निषेध करती है, द्वैत का नही, यह कहा था, वह भी युक्त नही है, क्योकि किसी प्रकार से प्रसक्त (प्राप्त) का निषेध किया जाता है, ब्रह्म मे नानात्व अप्रसक्त (अप्राप्त) है । लोकव्यवहार से वा श्रुति से या वादि प्रसिद्धि से ब्रह्म मे नानात्व प्राप्त नही है कि जिससे प्रतिषिद्ध हो सके । और नाना शब्द के भावप्रत्ययान्तता के अभाव से भी नानात्व का निषेधार्थ नही है । किसी प्रकार से नाना शब्द का नानात्व अर्थ हो और नानात्व का निषेध हो, तो भी सकोच मे प्रमाण के (कारण के) अभाव से सजातीय विजातीय स्वगत नानात्व के निषेध से अद्वैत ब्रह्म ही सिद्ध होगा कि जिससे वही घट्टकुटीप्रभात न्याय प्राप्त होगा ॥

न चेन्द्रो मायाभिरितीन्द्रियद्वारकबुद्धिवृत्त्युपाधावीश्वरस्य भेदोऽवभासत इत्येतावत्परमिद वाक्य नतु द्वैतनिषेधपरमिति युक्तम्, ईश्वरस्य नित्यानुमेयस्यैन्द्रियकबुद्धिवृत्तिविषयत्वानङ्गीकारात् । मायाशक्तिविशेषाभिधाने च 'युक्ता ह्यस्य हरय शता दशे'ति वाक्यशेषो न सगच्छेत। इन्द्रियबाहुल्याभिधानस्य मायाशक्तिविशेषाभिधान प्रत्यनुपयुक्तत्वात्। 'अयं वै हरयोऽय वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि चे'ति वाक्यशेषे सर्वस्येश्वरात्मकत्वप्रतिपादनविरोधाच्च । मृत्यो स मृत्युमिति च नाभेदप्रतिपत्ति-

---

या तु श्रुत्यन्तरस्यान्यथासिद्धिरुक्ता पूर्वपक्षिणा तामनुवादपूर्वक दूषयति—**न चेन्द्र इत्यादिना**। प्रत्यक्षयोग्य खल्वैन्द्रियकबुद्धिवृत्तौ प्रतीयते, ईश्वरस्त्वतीन्द्रियो न तथेति न बुद्धिवृत्त्यभिप्रायेणाय मायाशब्द इत्यर्थ । नीरूपत्वादवाह्यत्वादनवतारप्रकरणत्वाच्च न योगीन्द्रियापेक्षयेति भाव । यत्त्वीश्वरशक्तयो वेत्युक्त तत्राह—**मायाशक्तिति**। असङ्गतिमेवाह—**इन्द्रियेति**। तत्र हि दशशतहरयोऽस्य युक्ता इतीन्द्रियाणि हरिशब्देनोच्यन्ते। तद्बाहुल्याभिधान नेश्वरशक्तिप्रतिपादानोपयोगीत्यर्थ । उत्तरत्र तेषा हरीणामीश्वरमात्रतया बोधनमपि त्वत्पक्षे विरुद्धचते तेषा भिन्नत्वाभ्युपगमादित्याह—**अयं वै हरय इति**। नच निमित्तत्वाभिप्रायेण, सामनाधिकरण्यानुपपत्तेरिति भाव । यत्तु मृत्यो स मृत्युरित्यभेददर्शनस्य विधित्सितस्य स्तुतिर्नतु द्वैतनिषेधपरमिति तत्राह—**मृत्योरिति**। यदि ह्यभेदप्रतिपत्तिमात्र विधित्सित तदा द्वैतनिषेधो व्यर्थ । प्रत्युतानर्थकरश्चाद्वैततत्त्वभ्रान्तिप्रसक्तेरिति भाव । किंच

"इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते" यह श्रुतिवाचक, इन्द्रियद्वाराक बुद्धि वृत्तिरूप उपाधि मे ईश्वर का भेद भासता है। इसी अर्थ मे तात्पर्य वाला है, द्वैतनिषेध मे तात्पर्य वाला, यह श्रुति वाक्य नही है। यह भी पूर्व का कथन युक्त नही है। क्योकि ईश्वर के नित्यानुमेय (सदा अनुमानगम्य) होने से, ईश्वर मे इन्द्रियवृत्ति विषयता नही मानी जाती है। और माया शब्द से ईश्वर शक्तियाँ कही जाती है, यह कहना भी नही बन सकता है। क्योकि माया शक्तिविशेष के कथन करने पर 'युक्त ह्यस्य हरय शतादश' यह वाक्यशेष सङ्गत नही होगा। अर्थात् जब शक्ति वाला एक ईश्वर का अभिधान होता है, तब तो जीव रूपता को 'उपाधि से प्राप्त जीवस्वरूप ईश्वर के प्रत्येक दृष्टि से दश इन्द्रिय रूप दश हरि का कथन तथा समुदाय दृष्टि से सैंजडो का कथन सङ्गत होता है, माया शक्ति मात्र के कथन मे युक्त नही होगा। क्योकि इन्द्रियबाहुल्याभिधान का माया शक्ति के अभिधान के प्रति कोई उपयोग नही है (फल नही है) और (अय वै हरयोऽय वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च मन्वानो मन शृदावन् श्रोत्रम्) इत्यादि श्रुत्यन्तर के अनुसार यह ईश्वर (ब्रह्मात्मा) ही दश-दश भिन्न-

विधि, नेह नानास्ति किच नेति द्वैतनिषेधवैयर्थ्यात्, अनुवासनप्रकरणत्वाच्च। पूर्वापरालोचनायां चास्य प्रकरणस्य निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तौ तात्पर्याधिगमात्। ननु पूर्वापरवाक्यानामुपासनपरतापि दृश्यते 'आयुर्होपासतेऽमृत, विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत, सर्वस्य वशी सर्वस्येशान, अन्नादो वसु-

---

निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मज्ञानप्रकरणोत्कर्षश्चोपासनापरत्वे इत्याह—**अनुवासनेति**। अस्यैव प्रपञ्च —**पूर्वापरेति**। ननु 'त देवा ज्योतिषा ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृत'मिति विज्ञाय शास्त्रत प्रज्ञा साक्षात्कारलक्षणा मपादयेदिति च, तथा सर्वस्य वशी सर्वस्येशान, अन्नादोऽन्नमा समन्ताद्ददद् वसुदानो धनप्रद इति यो वेद स वसु धन विन्दते लभते इति, तत्रैव पूर्वोत्तरभागयोरुपासनाश्रवणादुपासनाप्रकरणमेतदिति चोदयति—**ननु**

भिन्न प्राणियो मे इन्द्रिय रूप से है, और बहुत अनन्त सहस्र रूप से है। इस वाक्य शेष मे सब के ईश्वरात्मकत्व के प्रतिपादन से भी माया शक्ति अभिधान पक्ष मे विरोध है। अत माया शक्ति मात्र का अभिधान नही है किन्तु शक्ति वाला अद्वैत ब्रह्म ही का 'इन्द्रो मायाभि' इस श्रुति से अभिधान किया गया है और 'मृत्यो समृत्युमाप्नोति' इसको पभेद की स्तुति उपासनारूप प्रतिपत्ति (चिन्तना) परक प्रथम कहा था, वह अभेद की प्रतिपत्ति विधि नही है, क्योकि प्रतिपत्ति विधि होने पर 'नेहनानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से द्वैतनिषेध की व्यर्थता प्राप्त होगी, अत वह द्वैतदर्शन की निन्दापरक है, और उपासना का प्रकरण भी नही है, क्योकि पूर्वापर वाक्य के आलोचना (दर्शन विचार) करने पर, इस प्रकरण का निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मत्व की प्रतिपत्ति (अनुभूति) मे ही तात्पर्य का ज्ञान होता है। शङ्का होती है कि पूर्वापरक वाक्यो की उपासनापरता भी देखी जाती है—

आयुर्होपासतेऽमृतम्, विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत, सर्वस्य वशी सर्वस्येशान, अन्नादो वसुदानौ विन्दते वसु य एव वेद॥

ज्योतिस्वरूप अमृत = अमरणधर्मा ईश्वर की आयुरूप से देव उपासना करते है। उस आत्मा को उपासना, चित्तशुद्धि आदि द्वारा परोक्षरूप से जान कर फिर शास्त्र गुरु उपदेश से प्रकृष्ट प्रज्ञा अपरोक्षानुभव का सम्पादन करे। वह अज आत्मा इन्द्रादि सबको वश मे रखने वाला सबका शासन कर्ता ईश्वर है। वह आत्मा अन्नाद = अन्नभक्षक = सर्वसंहर्ता है और कर्म फलरूप वसु का दाता है। ऐसा समझ कर जो उसकी उपासना करता है वह वसु = कर्मफल को पाता है। इत्यादि उपासना विधि सुनी जाती है। तो कहा जाता है कि ऐसी शङ्का उचित नही है, क्योकि उपासना का अनुवाद प्रसङ्ग मे आ गया है। निष्प्रपञ्च ब्रह्म-प्रकरण मे ही ब्रह्मस्तुति के लिये वह उपासना का अनुवाद है, विधि नही, अन्यथा वाक्यभेद होगा। अत "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत तमेव मन्ये आत्मानम्॥"

दानो विन्दते वसु य एव वेदे'त्यादिश्रवणादिति चेत्, मैव, प्रसङ्गागतत्वादुपासनानुवादस्य। तमेव धीरो विज्ञायेति च "यस्मिन्पञ्च पञ्चजना" इति पूर्वोदिताकाशादितत्त्वाधारतया सप्रपञ्चताप्रसक्तावधारणस्य तन्निवारणपरत्वात्। प्रज्ञा कुर्वीतेति च प्रज्ञाशब्देन विज्ञानशब्दाभिधेयपरोक्षज्ञानातिरिक्तसाक्षात्काराभिधानाङ्गीकारे तस्यानवधिसुखरूपात्मसाक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्ते सर्वस्य वशीत्यादे स्तुतिपरतया गुणविधानार्थत्वाभावात्।

आगमस्य च स्वरूपप्रतीतौ पदपदार्थसबन्धावगमे च प्रत्यक्षादिसापेक्षत्वेऽपि तस्य तद्विषयस्य च पारमार्थिकत्वाशस्यानुपजीव्यत्वात्तद्बाधनेऽपि

पूर्वापरेति। प्रसङ्गागतत्वादिति। निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रकरण एव स्तुत्यर्थमुपासनानुवाद स न तु विधिर्वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यर्थ। किच तमेव धीर इति, तमेव मन्य इति चैवकाराभ्या तस्मिन्पञ्च पञ्चजना पञ्चप्राणादय आकाशश्च प्रतिष्ठित इति पूर्ववाक्यारोपिताकाशादिप्रपञ्चव्यावर्तनान्निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वमेवेत्याह—**तमेव धीर इति।** निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वेऽपि तत्साक्षात्कारविधिपरत्व भवत्विति नेत्याह—**प्रज्ञामिति।** यत्तु सर्वस्य वशीत्यादिगुणक य एव वेदेत्युपासन विधत्ते इति तत्राह—**सर्वस्य वशीत्यादेरिति।** प्रतिपादित खल्विद 'कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्य' इत्यत्र।

उपजीव्यविरोध परिहरति—**आगमस्येति। तस्येति।** प्रत्यक्षस्य। एत-

---

धीर उस आत्मा को ही जान कर प्रज्ञा करे। उसी आत्मा को मै अमृत मानता हूँ। इत्यादि श्रुतियाँ एवकार से उस सप्रपञ्चता का ब्रह्मात्मा मे निवारण करती है, जो कि (यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठित) जिसमे पाच पाच जन और आकाश प्रतिष्ठित = स्थिर है, इस श्रुति से पूर्वकथित आकाशादि तत्त्वो की आधारता से परब्रह्म मे सप्रपञ्चता प्रसक्त (प्राप्त) होती है, उसके प्रसक्त होने पर अवधारण को उसके निवारणपरत्व होता है और प्रज्ञा कुर्वीत, यहाँ प्रज्ञा शब्द से विज्ञान शब्द का वाच्य परोक्षज्ञान से अतिरिक्त साक्षात्कार के अङ्गीकार करने पर उस प्रत्यक्ष की अनवधि (नित्य) सुख स्वरूप आत्मसाक्षात्कारता से फलरूपता होने के कारण उसमे विध्येयत्व नही हो सकता है, क्योकि स्वर्गादिफल के उद्देश्य मे (फल के लिये) यज्ञादि साधन विधेय होता है, फल नही। 'सर्वस्य वशी' इत्यादि वाक्य को भी स्तुतिपरता है (स्तुति मे तात्पर्य है) सर्ववशित्वादि गुण वाले की उपासना का विधान वह वाक्य नही करता है। अत गुणविधानार्थत्व का अभाव है और अद्वैत आगम को जो स्वापेक्षित प्रत्यक्षादि से विरोध कहा था, वह विरोध नही है, क्योकि आगम को अपने स्वरूप के ज्ञान मे तथा पदपदार्थ के सम्बन्ध के ज्ञान मे प्रत्यक्षादि सापेक्षत्व होते भी तो उस प्रत्यक्षादि के

विरोधाभावात् , साव्यवहारिकभेदाभावस्य ज्ञानोदयनान्तरीयकतया श्रुतिबाध्यत्वाभावात् न व्यावहारिकभेदसापेक्षतया श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्ग । नच न हिंस्यादित्यादिवाक्येषु परस्परपराहृति , सामान्यविशेषभावेनेच्छा-

---

दुक्त भवति निषिध्यमान तदीयपारमार्थिकत्व नापेक्ष्यते यच्चापेक्ष्यते साव्यवहारिक रूप न तद्बाध्यत इति । ननु साव्यवहारिकमपि रूपमागमेन बाध्यमेवेतरथाऽद्वैतानुपपत्तेरतस्तत्रैवोपजीव्यविरोधो दुर्निवारण इति तत्राह—**सांव्यवहारिकेति** । यथा तेषा वास्तवत्वज्ञान तत्त्वप्रतिपत्तिविरोधि न तथा साव्यवहारिकाकारज्ञानमिति भाव । तदेतदखिलमद्वैतश्रुतीनामन्यथासिद्धिपथपरिधावनव्यथितचेतसे शालिकनाथायाकथयत् । यत्तु कृत्स्नस्यैव च वेदस्य परस्परपराहृत्योपहतत्वमुक्त तत्परिहरति—**नचेति । सामान्यविशेषभावेनेति** । भिन्नविषयत्वस्योपलक्षणमिद, मुख्यसामान्यविशेषभावाभावात् । यथाहवनीये जुहोतीति होममात्राधिकरणतया प्राप्तस्याहवनीयस्य पदे जुहोतीति विशेषविधानात तदितरहोमविषयतया सङ्कोच । नहि तथेह

और उस प्रत्यक्षादि के विषय घटादि के पारमार्थिकत्व अश के अनुपजीव्यत्व, अनपेक्षितत्व (अहेतुत्व) होने से आगम से पारमार्थिकत्व के बाध प्रत्यक्षादि मे होने पर भी उपजीव्य (हेतुरूप = अपेक्षित = प्रत्यक्षादि) मे आगम के विरोध का अभाव है । अर्थात आगम यदि अपने अपेक्षित व्यावहारिक प्रत्यक्षादि रूप भेद का खण्डन करता तो विरोध होता, और पारमार्थिक द्वैत खण्डन से व्याहारिक के साथ विरोध नही होता है ओर साव्यवहारिक भेद के अभाव (बाध) को ज्ञानोदय से अन्तरीयकता रहती है, अत ज्ञान के उदय होते ही व्यावहारिक भेद का स्वय अवश्य बाध होता है, अतएव व्यावहारिक भेद मे श्रुतिबाध्यत्व के अभाव से व्यावहारिक भेद की सापेक्षता के कारण श्रुति की अप्राणता नही प्राप्त होती है । अर्थात् श्रुति स्वोपजीव्य का विरोधी है । अत अप्रमाण हे । यह नही कहा जा सकता है । क्यो कि श्रुति उपजीव्य का विरोधी है और 'न हिंस्यात्' इत्यादि सब वेद वाक्यो मे जो परस्पर विरोध कहा था, वह भी परस्पर आकृति (खण्डन = हनन) रूप नही है, क्योकि कही सामान्य-विशेषभाव से, कही इच्छा के विकल्प से, कही व्यवस्थित विकल्प से अविरोध की सिद्धि होती है । वहाँ, मा हिंस्यात् , यह श्रुति वैध हिसा मे प्रवृत्त ही नही होती है, बाधक को समझ कर उससे अन्यत्र प्रवृत्त होती है । यदि सामान्य रूप से प्रवृत्त भी होती है तो बाधक विशेष शास्त्र अपने विषय मे प्रवृत्त नही होने देता है, अत विरोध नही होता है और षोडशिपात्र के ग्रहण अग्रहण इच्छा के अनुसार होते है । अत विरोध नही है, ग्रहण की इच्छा हो तो ग्रहण करे, नही इच्छा हो तो नही करे, कर्म की पूर्ति

विकल्पेन वा व्यवस्थितविकल्पेन वाऽविरोधोपपत्ते । नच कर्मज्ञानकाण्डयोर्भेदाभेदविषयतया कर्मानुष्ठानतत्त्यागप्रतिपादकतया च विरोध, विद्याविद्यावस्थाभेदेन विद्वदविद्वत्पुरुषविषयतया चाविरोधात् । तदेव मिथ्यात्वे लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादनिर्वचनीयानाद्यविद्याविलसित एवायमात्मनि द्वैतप्रपञ्च इत्यलमतिप्रपञ्चेन ।

ननु भो ! केयमनिर्वचनीयाविद्या नाम ? नहि ज्ञानाभावव्यतिरेकेण

हिंसामात्रविषयतया निषेध पवर्तते येन विशेषे सङ्कोचमर्हेदपितु रागप्राप्तहिंसाया, तावतापि निषेधोपपत्तौ न क्रतुप्रकरणेपि निषेधपदप्रक्षेपकल्पना तस्या प्रमाणाभावात् । प्रत्युत यदर्था प्रवृत्तिस्तदर्थं प्रतिषेध इति न्यायेनानृतवदनाज्यभागादिप्रतिषेधस्येवास्यापि क्रत्वर्थत्व स्यात् । तथाच विधिप्रतिषेधयोनयोर्ग्रहणवद्विकल्प स्यादित्यनर्थपरपरैव स्यात्तस्माद्वर्णितविभिन्नविषयत्वस्य केवलमुपलक्षणमिद, ग्रहणाग्रहणयोरिच्छया विकल्प, उदितानुदितहोमयो शाखाभेदेन व्यवस्थितविकल्प । कर्मकाण्डज्ञानकाण्डयोर्विरोध —**नचेत्यादिना** । विद्याऽविद्यावस्थाभेदेनाभिन्नभिन्नवस्तुप्रतिपादनयोरविरोध, कर्मतत्त्यागविधानयोस्तु विद्वदविद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छुद्धान्त करण परोक्षज्ञानवान्वा विद्वान् । यथाहि न हिंस्यात्सर्वाभूतानीति फलाशे निषिद्धस्य श्येनेनाभिचरन्यजेतेत्यस्यानवबुद्धप्रतिषेधवाक्यार्थं पुरुष प्रति प्रवृत्तिरितरस्य त्वितर प्रतीति विभागस्तद्वदिति भाव । वादार्थमुपसहरति—**तदेवमिति ।**

अनिर्वचनीयाद्यविद्येत्युक्तमुपश्रुत्य प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति** । ननु सर्वेषामेव

उभयथा होती है और उदितानुदित होम मे शाखाभेद से व्यवस्थित विकल्प होता है। अर्थात् जिसकी शाखा मे जैसा विहित हो वैसा करे। इसमे कोई विरोध नही है और कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड रूप वेदो की भेद और अभेद रूप विरुद्ध विषयता मे, तथा कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग रूप विरुद्धार्थप्रतिपादकता से दोनो काण्डो को परस्पर विरोध है, ऐसा भी नही समझना चाहिये। क्योकि विद्या अविद्या अवस्था के भेद से विद्वान् और अविद्वान् पुरुषविषयता दोनो काण्डो की भिन्न-भिन्न हैं, कर्मकाण्ड अज्ञ के लिये भेद का प्रदर्शन पूर्वक कर्मकर्तव्यता का विधान करता हे और ज्ञानकाण्ड जिज्ञासु विवेकी के लिये अभेद का प्रदर्शनपूर्वक कर्मत्याग का विधान करता है। अत विषय अधिकारी के भेद से विरोध नही है। अत इस उक्त रीति से मिथ्यात्वविषयक लक्षण और प्रमाण के उपपन्न (सिद्ध) होने से, यह भी सिद्ध हो गया कि आत्मा मे अनिर्वचनीय अनादि अविद्या का विलास (लीला) कार्य रूप ही द्वैत प्रपञ्च है, सत्य नही, अब अतिविस्तार की आवश्यकता नही है।

अनिर्वचनीय शब्दरूप प्रश्न बीज को सुनकर प्रश्न है कि हे भाई यह

काचिदविद्या प्रसिद्धा उपपन्ना वा। ज्ञानप्रागभावप्रध्वसयोरेव न जानामीत्यविद्यात्वेन लोके व्यावहारिकव्यवहारोपलम्भात्। अविद्येति च विद्यापदेन समस्यमानस्य च नञस्तदभावस्तद्विरोधी तदन्यो वार्थोऽभ्युपेय। आद्ये विद्याभावस्यापि वेद्याभाववन्नानिर्वचनीयता। द्वितीये तु सशयविपर्यासादेर्विद्याविरोधिनो गुणान्तरस्य वा नानिर्वचनीयतोपपत्ति, प्रसिद्धभावस्वभावत्वस्य व्याकोपात्। न तृतीयोपि, विद्यातिरिक्तस्य समस्तस्याविद्यात्व-

---

मोक्षवादिनामनित्याशुचिदुःखरूपससारे नित्यशुचिसुखख्यात्यभिरतिनिदानमविद्या प्रसिद्धैव किमत्र वक्तव्यमित्यत आह—**नहि ज्ञानाभावेति।** ननु सामान्येन प्रसिद्धविद्याया उपपत्तिबलादनाद्यनिर्वचनीयत्वमायातीत्यत आह—**उपपन्ना वेति।** अभाव एव प्रसिद्धि निदर्शयति—**ज्ञानेति।** प्रागभावप्रध्वसयोरिति सप्तमी। व्यावहारिका व्यवहारकर्तार तेषा व्यवहारोपलम्भादित्यर्थ। एव प्रसिद्ध्यभावमेवाभिधायोपपत्त्यभावमाह—**अविद्येति।** अविद्येत्यत्र नञस्तावदर्थत्रय सभवति तच्च निर्वचनीयभावाभावयोरेवान्तर्भवति नानिर्वचनीय कश्चिदविद्याशब्दार्थ इत्यर्थ। **विद्याभावस्यापीति।** यथा वेद्यस्य घटादेरभावो नानिर्वचनीय, भावाभावविलक्षणत्वाङ्गीकारादनिर्वचनीयस्य, तथा ज्ञानाभावस्यापि नानिर्वचनीयत्वमित्यर्थ। विद्याविरोध्यविद्येति द्वितीयपक्ष विषेधति—**द्वितीये त्विति।** एवमविद्याशब्दात्तावदनिर्वचनीयानाद्यविद्याप्रतीत्यभावमुक्त्वा लक्षणप्रमाणनिरूपणादपि तदभावमाह—

अनिर्वचनीय अविद्या नाम वाली वस्तु क्या है। यदि कहा जाय कि (अनित्याशुचि दुःखानात्मस्वरूप ससार मे नित्य शुचि सुखात्मता के ज्ञान रूप अविद्या मोक्ष वादियो के यहाँ प्रसिद्ध है, तो कहा जाता है कि ज्ञानाभाव से भिन्न रूप से कोई अविद्या नही प्रसिद्ध है, उपपन्न (सिद्ध) हो सकती है। क्योकि ज्ञान के प्रागभाव और प्रध्वस मे ही ('न जानामि') नही जानता हूँ, इस प्रकार से अविद्या रूप से व्यावहारिको का व्यवहार लोक मे उपलब्ध (ज्ञात) होता है और अविद्या इस पद मे विद्या पद के साथ समस्यमान, समास वाला, नञ् का, विद्या का अभाव १, या विद्या का विरोधी, २, या विद्या से अन्य ३, यही अर्थ मन्तव्य हो सकते है। वहाँ प्रथम पक्ष मे विद्या के अभाव मे भी वेद्य के अभाव के समान अनिर्वचनीयता नही रहती है, क्योकि भावाभाव से विलक्षण को अनिर्वचनीय माना जाता है और वेद्य घटादि के अभाव समान विद्या के अभाव मे अभाव से विलक्षणता नही रहती है। दूसरे विद्या विरोधी पक्ष मे भी, विद्या के विरोधी सशय भ्रमादि को या ज्ञानेच्छादि रूप आत्मा के गुणान्तर को अनिर्वचनीयता नही सिद्ध हो सकती है, क्योकि उनमे अनिर्वचनीयता मानने पर प्रसिद्ध भावस्वभाव से विरोध होगा (भावस्वभाव का बाध होगा) विद्या से अन्यत्व रूप

प्रसङ्गात् । नचास्या लक्षण प्रमाण वा पश्याम । न तावज्ज्ञाननिवर्त्यम-ज्ञान, पूर्वज्ञानस्यापि तन्निवर्त्यस्याज्ञानत्वप्राप्ते । अनादित्वविशेषणाददोष इति चेत् , न, ज्ञानप्रागभावे व्यभिचारात् अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्य-मज्ञानमिति चेत् , न, अनादेर्भावस्यात्मवन्नित्यत्वेन निवर्त्यत्वानुपपत्ते । अथ चिरन्तनमतानुसारेणानादेरेव भावस्य परमाणुगतश्यामत्वादेरिव निवर्त्यत्वमुच्येत, तर्हि तस्मिन्नेवेश्वरज्ञाननिवर्त्येऽतिव्याप्ति , त्वदुक्तलक्षण-

---

नचास्या इति । तत्र ज्ञाननिवर्त्यत्व तल्लक्षण ? अनादित्वे सति ज्ञान-निवर्त्यत्व वा ? अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्व वा ? अनादित्वे सत्य-निर्वचनीयत्व वा ? भ्रमोपादानत्व वा ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति ।** निर्वचनीयतयाङ्गीकृतपूर्वज्ञानादिष्वतिव्याप्तिरित्यर्थ । द्वितीये तु प्रागभावेऽति-व्याप्तिमाह— **अनादित्वेति ।** तृतीयेऽसम्भवमाह —**अनादीति** । आधुनिकै पार्थि-वपरमाणुविशेषगुणाना पाकजत्वाङ्गीकाराच्चिरतनग्रहणम् —**तर्हि तस्मिन्निति ।** तैरेव चिरतनैस्तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तकविनाशाङ्गीकारादतिव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थ । **त्वदुक्तलक्षणस्यापीति ।** त्वदुक्त लक्षण यस्य श्यामत्वादे' स तथौक्त । चतुर्थ शङ्कते— **अथेति ।** किमिदमनिर्वचनीयत्व नाम ? न तावन्निर्वचनाविषय-त्वम, अनेनैव प्रकारेण निरुच्यमानत्वान्नापि सदसद्विलक्षत्व, परस्परविरुद्धयोर्भा-

---

तृतीय पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि उस पक्ष मे विद्या से अन्य समस्त ब्रह्मात्मादि को अविद्यात्व की प्राप्ति होगी। इस अविद्या के लक्षण का प्रमाण भी नही दिखते है। क्योकि 'ज्ञाननिवर्त्यम्-अज्ञानम्' इस प्रकार से ज्ञान निवर्त्यत्व उसका लक्षण नही हो सकता है। क्योकि ज्ञान से निवर्त्य पूर्व ज्ञान का भी अविद्या-त्व की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि अनादित्व विशेषण से दोष नही होगा, अनादित्वे सति ज्ञाननिवर्त्य (अज्ञान) होता है। ऐसे पूर्व ज्ञानादि नही है तो भी ज्ञान के प्रागभाव मे व्यभिचार (लक्षण का अतिव्याप्ति) होगा। अनादि भाव होते ज्ञान मे निवर्त्य अज्ञान है, ऐसा लक्षण करने से, भावत्व विशेषण से प्रागभाव मे अति-व्याप्ति नही होगी, यह भी नही कहा जा सकता है। क्योकि अनादि भाव मे आत्मा के समान नित्यत्व की प्राप्ति से निवर्त्यत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। यदि चिरन्तनो (प्राचीन आचार्यों) के मतानुसार अनादि ही पर-माणुगत श्यामतादि के निवर्त्यत्व के समान, अनादि अज्ञान के निवर्त्यत्व (विनाशित्व) कहा जाय, तो उस अनादि ईश्वर ज्ञान से निवर्त्य (विनाश्य) श्यामतादि मे ही अतिव्याप्ति होगी। क्योकि आप से उक्त (कथित) लक्षण वाले मे भी उस ईश्वर के ज्ञान से निवर्त्य मे अज्ञानत्व नही है, अत अलक्ष्य मे लक्षण

स्यापि तस्याज्ञानत्वाभावात् । अथानाद्यनिर्वचनीयमज्ञान, तदपि न, निर्वचनागोचरताया भावाभावविलक्षणतायाश्चासभवित्वात् । भ्रमोपादानमज्ञानमित्यपि न, आत्मन्यतिव्याप्ते । सत्योपादानत्वे भ्रमस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् नात्मोपादानमिति चेत्, न, भ्रमस्यापि स्वरूपसत्यवात् । विषयापहाराद्धि तत्र मिथ्येति व्यवहारो न स्वरूपापहारात् तथात्वे चैतावन्त कालमिद रजतमित्यभादित्यनुभवविरोध । अस्तु वा यत्किचिदविचारि-

---

वाभाववदुभयवैलक्षण्यस्याप्यसभवात् । असभवीद लक्षणमित्याह—**निर्वचनेति । भ्रमोपादानमज्ञानमिति ।** आत्मनोऽपि हि जगद्विभ्रमाधिष्ठानत्वमङ्गीक्रियते भवद्भिरन्यथा जन्माद्यधिकरणाद्यनारम्भप्रङ्गात् । अङ्गीकृतमस्माभिश्चात्मनो विभ्रमसमवायिकारणत्वमिति भाव । आत्मनि लक्षणावृत्ति शङ्कते—**सत्योपादानत्व इति ।** नायमनिष्टप्रसङ्ग इति परिहरति—**न । भ्रमस्यापीति ।** ननु स्वरूपमात्रसत्यत्वे कथ मिथ्याज्ञानत्वप्रसिद्धिरित्यत आह—**विषयेति ।** स्वरूपस्याप्यपहारे प्रत्यभिज्ञाविरोधमाह—**तथात्वे चेति । अनादित्वेति ।** अज्ञोऽहमिति ज्ञानराहित्यमेव प्रतीयते नतु तस्याज्ञानस्यानादित्वभावत्वे । अतो नेदमभिमतसाधकमित्यर्थ । स्यादेतत्—अस्ति तावत्सुप्तोत्थितस्य एतावन्त काल न किचिदवेदिषमिति परामर्श,

---

की प्रवृत्ति अतिव्याप्ति है। यदि (अनाद्यनिर्वचनीयत्व), अनादि होने अनिर्वचनीयरूपता, अज्ञान का लक्षण कहे, तो वह कहना भी नही बन सकता है। क्योकि वह अनिर्वचनीयत्व क्या है ? निर्वचनाऽगोचरत्व है, या भावाऽभावविलक्षणत्व है, इन दोनो मे असम्भावितत्त्व है। अर्थात्, निर्वचनाविषयत्व और भावाभावविलक्षणत्व ये दोनो प्रकार के लक्षण नही हो सकते है, क्योकि निर्वचनाऽविषयत्व इस शब्द से ही उसका निर्वचन (कथन) हो जाता है, तथा विरुद्ध होने से भाव और अभाव दोनो से विलक्षणत्व भी नही हो सकता है। जैसे सदसद्-विलक्षणत्व नही हो सकता है। भ्रम का उपादान अज्ञान है। यह कहना भी नही बन सकता है, क्योकि इस लक्षण की भ्रमोपादान अधिष्ठान आत्मा मे अतिव्याप्ति होगी। यदि कहे कि आत्मा भ्रम का उपादान-कारण नही है, क्योकि भ्रम के सत्यात्मोपादान वाले होने पर भ्रम मे भी सत्यता की प्राप्ति होगी। सत्योपादानक भ्रम सत्य होगा, उसकी निवृत्ति नही होगी। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि भ्रम मे सत्यत्व होना अनिष्ट नही है, भ्रम के भी स्वरूप का सत्त्व रहता ही है। भ्रम के विषय का अभाव रहता है। अत विषय के अपहार (बाध) से ही भ्रमज्ञान विषयक मिथ्यात्व का व्यवहार होता है, भ्रम के स्वरूप के अपहार (अभाव) से नही, क्योकि यदि तथात्व (भ्रम के स्वरूप का अपहार मान्य) हो, तो, मुझे इतने समय तक यह रजत है, ऐसी प्रतीति होती रही, इस प्रत्यभिज्ञा रूप अनुभव

तरमणीय लक्षण तथापि तत्र कि प्रमाणम् ? अज्ञोऽहमित्यनुभव इति चेत्, न, तस्य ज्ञानाभावविषयत्वेनाप्युपपत्ते, अनादित्वभावत्वयोस्त्वनभिमतयोरस्यानुभवस्यौदासीन्याच्च। नापि सुप्तोत्थितस्य 'न किंचिदवेदिष', गाढ मूढोऽहमासमि'तिपरामर्शानुपपत्तिसिद्ध [सुषुप्तिकालीनोऽनुभव प्रमाण, त्वन्मते ज्ञानाभावस्यापि साक्षिसिद्धस्य परामर्शोपपत्ते। अस्मन्मते चेदानीमेव ज्ञानाभावस्यानुमीयमानतया परामर्शासप्रतिपत्ते ननु कथ ज्ञानाभावस्य

सच सुषुप्तिकालीनमज्ञानानुभव गमयति, अननुभूते परामर्शायोगात्। स चानुभवस्तत्र प्रमाणमिति तदेतद्दूषयति—**नापीति**। सुषुप्तिकालीनज्ञानाभावगमकतया त्वन्मते तावदन्यथासिद्धमस्मन्मते तूत्थानानन्तरकालीनमनुमान पूर्वकालीनज्ञानाभावविषयमित्युभयथापि विवक्षितासिद्धिरित्याह—**त्वन्मत इति**। या तु वेदान्तपक्षेऽन्यथासिद्धिरुक्ता, सा न युक्ता, धर्मिप्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानस्य ज्ञानाभावस्य सुषुप्तौ निर्विशेषचिन्मात्रादप्रतीतेरिति शङ्कते—**ननु कथमिति**। प्रथम निर्विकल्पकानु-

---

से विरोध होगा। अथवा कोई अविचारित रमणीय, विचार के बिना सुन्दर-भासता हुआ सदसद्विलक्षणत्वादि लक्षण हो, तो भी उसमे प्रमाण क्या है ? यदि कहा जाय कि (अज्ञोऽहम्) मै ज्ञानी नही हूँ, यह अनुभव ही प्रमाण है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि इस अनुभव की तो ज्ञानाभावविषयत्व रूप से भी उपपत्ति (सिद्धि) हो सकती है। अर्थात् इस अनुभव से ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है, अत आप के अभिमत अनादित्व और भावत्व मे इस अनुभव की उदासीनता है, अर्थात् इस अनुभव का विषय आप से स्वीकृत अनादि भावरूप अज्ञान नही है, अत यह अनुभव उस विषयक प्रमाण भी नही हो सकता। यदि कहा जाय कि, प्रथम सो कर उठे = जागे हुए को परामर्श (स्मरण) होता हैं कि मै सुषुप्तिकाल मे कुछ नही जाना, गाढ (गम्भीर) निद्रायुक्त मूढ था, यह परामर्श अनुभव के विना हो नही सकता है, अत इस परामर्श की अनुपपत्ति (असम्भवता) से सिद्ध (कल्पित = अनुमित) सुषुप्ति कालिक अज्ञान का अनुभव अज्ञान के सत्त्व मे प्रमाण है, तो यह कहना भी नही बन सकता है, क्योकि आप वेदान्ती के मत मे साक्षी से सिद्ध (भासित) ज्ञानाभाव का भी उक्त परामर्श (स्मरण) हो सकता है और मुझ तार्किक मत मे इदानी (जागने पर ही ज्ञानाभाव की अनुमीयमानता = अनुमानज्ञेयता) से परामर्श की असप्रतिपत्ति (असिद्धि) है। अर्थात् तार्किक मत मे सुषुप्ति कालिक ज्ञानाभाव को अनुमेय माना जाता है और अज्ञान का स्मरण नही माना जाता है, तो स्मरण सिद्ध अनुभव के अभाव से वह प्रमाण भी नही हो सकता हे। यदि शका हो कि अभाव के ज्ञान मे प्रतियोगी अनुयोगी के ज्ञान की अपेक्षा होती है, अत अभाव सविकल्पक ज्ञान का विषय होता है,

निर्विकल्पकचैतन्यगोचरतया सिद्धि ? तत्सिद्धेर्धर्मिप्रतियोगिज्ञानपराधीनत्वात्, सुषुप्तौ च तदसभवादिति चेत्, न, ज्ञानाभावस्यापि स्वरूपेण भेदादिवन्निर्विकल्पकसिद्धस्य सविकल्पकदशाया धर्मिप्रतियोगिज्ञानपराधीनतया स्फुटतरव्यवहारविषयत्वोपपत्ते । नचासिद्धे तत्कालीने धर्मिण्यात्मनि, ज्ञानाभावस्येदीनामेवानुमीयमानत्वासिद्धि, प्रतिपन्ने हि प्रातश्चत्वरादौ धर्मिणि सायसमये तत्र गजाभावानुमानमुपलभ्यत इति वाच्यम्, सम्प्रतिपन्नोदयास्तमयवद्विवादपदयोरप्युदयास्तमययोरन्तरालकालमनुमाय

भूतस्यापि पश्चात् सविकल्पकविषयतया विशिष्टव्यवहारहेतुत्व भवति । नच नित्यसापेक्षतया निर्विकल्पकाविषयत्व, भेदसादृश्यादिभिर्व्यभिचारादिति परिहरति—**न । ज्ञानाभावस्यापीति ।** ननु भवत्वस्मत्पक्षेऽन्यथासिद्धिस्त्वत्पक्षे तु कथमनुमानत्वमस्य सौषुप्तिकात्मनस्तदानीमननुभवात् तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानायोगात् । तथाहि प्रातश्चत्वरे गजो नासीदित्यत्र प्रात कालीनचत्वरानधिगमे गजाभावानुमानाभाव इति शङ्का निराकरोति—**नचासिद्ध इति ।** नच वाच्यमित्युक्त तत्र हेतुमाह—**संप्रतिपन्नेति ।** यद्यपि सुषुप्तिसमये तत्कालीनात्मनो न ज्ञानमस्ति तथाप्युत्तरकाले सभवत्येवानुमानेन तस्य ज्ञान, तथाह्यनिद्राणस्य सप्रतिपन्नोदयास्तमययोरन्तरालका-

---

तो ज्ञान के अभाव की निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य की विषयता रूप से कैसे सिद्धि होगी, क्योंकि उस ज्ञानाभाव की सिद्धि (अनुभूति) को धर्मि (अनुयोगी) और प्रतियोगी के ज्ञानात्मक पर की अधीनता रहती है । और सुषुप्ति मे उस अनुयोगी के ज्ञान का असम्भव है, अत साक्षी से अभाव का ज्ञान नही हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि भेदादि के समान, स्वरूप से निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा सिद्ध (ज्ञात) ज्ञानाभाव को भी सविकल्पक अवस्था रूप जाग्रत् काल मे धर्मी प्रतियोगी के ज्ञानपराधीनता रूप से स्फुटतर व्यवहार विषयत्व की उपपत्ति (सिद्धि) होती है । यदि शका है कि उस सुषुप्ति काल के अप्रसिद्ध (अज्ञात) आत्मस्वरूप धर्मी (पक्ष) मे इस वर्तमान जाग्रत काल मे ही ज्ञानाभाव को अनुमीयमानत्व (अनुमान विषयत्व) की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि प्रात काल मे प्रतिपन्न (ज्ञात) चत्वर (प्राङ्गण) आदि धर्मी मे सायकाल मे गजो (हाथियो) के अभाव का अनुमान होता है, कि स्मरणाभाव से प्रात काल मे वहाँ (चत्वर मे) हस्ती नही था, प्रात कालादि मे अज्ञात मे हस्ती का ज्ञान नही हो सकता है, इसी प्रकार सुषुप्ति काल मे अज्ञात आत्मा मे जागने पर न्यायमतानुसार ज्ञानाभाव का अनुमान नही हो सकता है, तो कहा जाता है कि ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि जाग्रत काल मे सम्प्रतिपन्न (निश्चित) उदय-अस्त

कालाख्येन लिङ्गेनानुमिते धर्मिण्यात्मनि ज्ञानाभावानुमानोपपत्ते । भवत्वेव धर्मिसिद्धिस्तथापि न ज्ञानाभावानुमाने लिङ्गमस्ति, अस्मर्यमाणत्वस्य नियमेनास्मर्यमाणत्वस्य वा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादौ निर्विकल्पकानुभूते चानैकान्तिकत्वादिति चेत्, न, ज्ञानसामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गाज्ज्ञानाभावानुमानोपपत्ते । तदेव कुत सिद्धमिति न वाच्यम्, तत्सिद्धेरुभयवादिसिद्ध-

---

लानुभवान्निद्राकालात्पूर्वोत्तरास्तमयोदयकालयोस्तत्कालत्वेन हेतुनान्तरालकालवत्त्वमनुमाय तस्यात्मवत्त्व कालत्वेनेतरकालवदनुमाय तस्मिन्धर्मिणि ज्ञानाभावानुमानमप्रत्यूहमित्यर्थ । उक्त च तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनाचार्यैरपवर्गप्रकरणे—'पूर्वापरावस्थयोरेकत्वप्रत्यभिज्ञानेन मध्यावस्थायामपि तत्सामान्येनोपनया'दिति । अभ्युपगम्य धर्मिसिद्धि, हेत्वसिद्धि शङ्कते—**भवत्वित्यादिना** । अन्तरालकालीनात्मा दु खादिज्ञानाभाववानस्मर्यमाणत्वादिदानीन्तनदु खादित्वादिति हेतु । पथि गच्छतस्तृणादिस्पर्शेष्वनन्तरमस्मर्यमाणेष्वनैकान्त । नियमेनेति विशेषणेपि निर्विकल्पकानुभूतेऽनुदिनसविकल्पकेऽनैकान्त इत्यर्थ । **उभयवादिसिद्धत्वादिति** । विशेषविज्ञानो-

---

के अन्तराल काल के समान विबादास्पद भी उदय-अस्त के अन्तराल सुपुप्तिकालिक समय का अनुमान करके काल नामक लिङ्ग से अनुमित धर्मी रूप आत्मा मे ज्ञानाभाव के अनुमान की सिद्धि होती है । अर्थात् सुषुप्तिपूर्वोत्तरकालिकौ, उदयास्तमयौ, अन्तरालयुक्तौ, उदयास्तमयत्वात्, प्रतिपन्नउदयास्तकालवत् । स चान्तरालकाल, आत्मविशिष्ट, कालत्वात्, कालान्तरवत् । इस प्रकार से ज्ञात आत्मा मे अनुमान से तार्किकमतानुसार ज्ञानाभाव का अनुमान सुषुप्ति मे होता है अत सुषुप्ति मे उक्त परामर्शादि से अनिर्वाच्य अज्ञानविषयक सुषुप्ति का अनुभव प्रमाण नही हो सकता है । यदि कहा जाय कि उक्त रीति से सुपुप्तिकालिक आत्मस्वरूप धर्मी की प्रसिद्धि हो, ज्ञानाभाव के अनुमान मे लिङ्ग नही है । यदि कहा जाय कि, अस्मर्यमाणत्व (स्मरणविषयात्वाभाव) या नियमेन अस्मर्यमाणत्व, ज्ञानाभावानुमान के लिङ्ग है कि यदि सुषुप्ति मे ज्ञान होता तो कभी स्मरण भी ज्ञान का होता इत्यादि, तो कहा जाता है कि ये दोनो हेतु चलते हुये के तृणस्पर्शादि से और निर्विकल्पक ज्ञान से अनुभूत विषय मे व्यभिचरित है, क्योकि चलते मे अनेकतृणादि के स्पर्श होते है, वहाँ उनका ज्ञान होता ही है, परन्तु दृढ सस्कार के अभाव से सबका स्मरण नही होता है, अत ज्ञानाभाव रूप साध्य के अभाव स्थान मे अस्मर्यमाण हेतु की वृत्तिता है । तृणस्पर्श का तो कोई स्मरण होता भी है किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान से अनुभूत का कभी कोई स्मरण नही होता हे, अत वहाँ दूसरा हेतु व्यभिचारी है । इस प्रकार से लिङ्ग का अभाव कहना उचित नही है । क्योकि ज्ञान की सामग्री के अभाव रूप लिङ्ग से ज्ञानाभाव का

त्वात् । अन्यथा वेदान्तिनामपि सुषप्तिकाले घटपटादिविशेषज्ञानाभावानुमान न स्यात् । ज्ञानाभावस्य निर्विकल्पकसाक्षिवेद्यतानङ्गीकारात् । नचावस्थाभेदसभिन्नभावरूपाज्ञानपरामर्शसामर्थ्यसिद्धतदनुभवादेव तद्विरोधिनो ज्ञानस्याभावानुमानम्, भावरूपाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च पर प्रत्यद्याप्यसिद्धत्वात् ।

यत्तु कैश्चिदनुमान रचितम्—न तावदज्ञान ज्ञानाभाव अभावमानागम्यत्वात्, सप्रतिपन्नवत् । अभावो ह्यभावस्य प्रत्यक्षस्य वा विषय परे-

---

परमस्य त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थ । अतश्चैवमङ्गीकर्तव्यमित्याह—**अन्यथेति** । ननु नास्माक सामग्र्याभावात्तदनुमेयमपितु साक्षिसिद्धमिति तत्राह— **ज्ञानाभावस्येति** । तत्काले निर्विकल्पकवेद्यत्वेऽपि न तावतोत्तरकाल बिशिष्टव्यवहार इत्यनुमानमेव शरणमित्यर्थ । तेन च न पूर्वोत्तरयोर्व्याघात । ननु परामर्शबलाद्भावरूपाज्ञानसिद्धौ तद्बलात्तद्विरोधिघटादिज्ञानाभावानुमानमस्मन्मते न सामग्र्याभावादिति वैषम्यमिति तत्राह—**न चावस्थेति** । अवस्थाभेद सुषुप्तिरूपावस्थाविशेषस्तेन यद्विशेषित भावरूपमज्ञान तत्परामर्मसामर्थ्येन सिद्धो यस्तदवस्थाऽज्ञानानुभवो न किंचिदेतावन्त कालमवेदिषमित्येवविधस्तस्मादिति योजना ।

न्यासकारकृतमनुमानमुद्भावयति—**यत्तु कैश्चिदिति** । हेतुमेव समर्थयते—**अभावोह्यीत्यादिना** । अभावस्येति भाट्टाभिप्रायेण, प्रत्यक्षस्येति तार्किकाभिप्रायेण । **सम्प्रतिपन्नवदिति** । शुक्तिरूप्यससर्गवदित्यर्थ । मानागम्यत्वे तत्साध-

---

अनुमान सिद्ध होता है। ज्ञान की सामग्री का अभावरूप लिङ्ग ही कैसे सिद्ध हुआ यह शङ्का भी नही करनी चाहिये, क्योकि सुषुप्ति मे ज्ञानाभाव तथा ज्ञानसामग्री का अभाव उभयवादी मे सिद्ध (मान्य) है, अन्यथा वेदान्तियो को भी घटपटादि के विशेष ज्ञानो के अभाव का अनुमान नही होगा। क्योकि सप्रतियोगिक ज्ञानाभाव की निर्विकल्पकसाक्षिवेद्यता नही मानी है। अत उसका अनुमान से ही ज्ञान माना जाता है। यदि कहा जाय कि सुषुप्ति रूप अवस्थाभेद विशेष से सम्भिन्न (युक्त) भावरूप अज्ञान के परामर्श (स्मरण) से सिद्ध उस भावरूप अज्ञान के अनुभव बल से ही उस अज्ञान के विरोधी विशेष ज्ञान के अभाव का अनुमान होता है तो वह कहना ठीक नही, क्योकि भावरूप अज्ञान और उसका परामर्श भी प्रतिवादी के प्रति असिद्ध है।

जो किसी ने अनुमानाकार रचा है कि अज्ञान, ज्ञानाभावस्वरूप नही है, (अभावग्राहक प्रमाण रूप प्रत्यक्ष वा अनुपलब्धि से अगम्य होने से, सम्प्रतिपन्न घटादि के समान, क्योकि अभाव का ज्ञान भट्टमत मे अभाव (अनुपलब्धि) से होता है, तार्किकमत मे प्रत्यक्ष से होता है, अत अभाव, अभाव (अनुपलब्धि) का

णेष्यते, अज्ञान च न मानगम्य माननिवर्त्यत्वात्सप्रतिप्रन्नवदिति। तदन्ये नानुमन्यन्ते, अज्ञानस्य मानागम्यत्वे तत्साधनायानुमानप्रयोगायोगात्। एतन्मानगम्यत्वे वा मानगम्य न भवतीति स्ववचनव्याघातात्। नचात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधन इव न स्ववचनव्याघातादिदोषापत्ति, तत्र वृत्तिव्याप्यत्वेपि फलाव्याप्यत्वेनाविरोधात्। इह च वृत्तिव्याप्यत्वानङ्गीकरात्। नच प्रमाणनिवर्त्यस्य प्रमाणागम्यत्वनियम, प्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यस्य तद्धेतोस्सस्कारस्य नित्यपरोक्षतया साक्षिसिद्धत्वा-

---

नायानुमानप्रयोगो व्याहतोऽनुमान प्रयोगे च मानागम्यत्व व्याहतमिति दूषयति—**तदन्य इत्यादिना**। ननु यथात्मनोऽनुमानेनावेद्यत्वसाधनेपि न वेद्यत्वप्रसक्तिस्तद्वत्प्रमाणेनैवाप्रामाणिकत्वसाधनेपि न प्रामाणिकत्वप्रसक्तिरिति तत्राह—**नचात्मन इति**। प्रमाणनिवर्त्यत्वादिति हेतोरनैकान्तिकता चाह—**नच प्रमाणेति**। सस्कारस्य हि कार्यापवर्गित्वात तत्कार्यप्रत्यभिज्ञानप्रमाणनिवर्त्यत्व, अथ च साध्य नास्तीत्यर्थ। अनुव्यवसायनिव र्येन च तद्गम्येन परममतेन व्यवसायेनानैकान्त द्रष्टव्यम, विवरणकारोक्तार्थापत्तिमाशङ्कच निषेधति—**नचेत्यादिना युक्तमित्यन्तेन**।

या प्रत्यक्ष का विषय प्रतिवादी से माना जाता है। और अज्ञान प्रमाण से गम्य (ज्ञेय) नही है, क्योकि वह ज्ञान (प्रमाण) से निवर्तनीय है, सम्प्रतिपन्न (शुक्ति रजतादि ससर्गादि के समान) परन्तु इन अनुमानो को अन्य नही मानते है, क्योकि अज्ञान मे प्रमान से अगम्यता (प्रमाणविषयता) हो, तो उस अज्ञान के साधक अनुमान का प्रयोग अयुक्त होगा, उसको सिद्ध करने के लिये अनुमान का प्रयोग नही किया जा सकेगा। और यदि इस अनुमान रूप साधक प्रमाण से अज्ञानगम्य हो, तो अज्ञानमानगम्य नही होता है, इस अपने बचन का ही व्याघात (बाध) होता है। यदि कहा जाय कि आत्मा के अवेद्यत्व के अनुमान से साधने (सिद्ध करने) पर भी जैसे स्ववचन व्याघात नही होता है, वैसे यहाँ अज्ञान साधन मे भी स्ववचन व्याघातादि दोष नही होगे, तो वह कहना नही बन सकता है। क्योकि उस आत्मा मे वृत्तिव्याप्यत्व (वृत्तिविषयत्व) के रहते भी आभास रूप फल व्याप्यत्व के अभाव से अवेद्यत्व साधने मे विरोध नही होता है। और यहाँ अज्ञान मे तो वृत्तिव्याप्यत्व नही माना जाता है, अत विरोध है। और प्रमाण निवर्त्य मे प्रमाणागम्यत्व का नियम भी नही है, क्योकि प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण से निवर्त्य उस प्रत्यभिज्ञा के हेतु रूप सस्कार के नित्य (सदा) परोक्षता के कारण साक्षिसिद्धत्व के अभाव से उसमे अनुमान प्रमाण से गम्यत्व (ज्ञेयत्व) माना जाता है। अत प्रत्यभिज्ञारूप प्रमाण से निवर्त्य तद्धेतु सस्कार मे अनुमान प्रमाण गम्यत्व होता है यदि शङ्का हो कि

भावेनानुमानगम्यत्वाङ्गीकारात् । नच त्वदुक्तमर्थं न जानामीत्यादि-व्यवहारोऽत्यन्तसुषुप्ते ज्ञायमाने वाऽसभाव्यमानोऽतिरिक्तमेव ज्ञानाभावादज्ञान गमयति । अवगतेऽशेऽवगतत्वादेव न जानामीतिव्यवहारायोगादनवगतेशे चानवगतत्वादेव प्रश्नानुपपत्तेरिति युक्तम् , त्वदुक्तमर्थं-प्रमाणतो न जानामीत्येवपरतयापि व्यवहारोपपत्ते , प्रतिवादिवाक्यादव-

---

ननु सामान्याश ज्ञातमनूद्य विशेषाशेऽज्ञाते प्रश्न इति तत्राह— **अवगतेऽश इति ।** ततश्च स एवार्थो ज्ञातश्चाज्ञातश्च वक्तव्य , नचैतज्ज्ञानाभावपक्षे घटते, ज्ञानेन विरोधात् । अस्मत्पक्षे तु नित्यचैतन्यस्याज्ञानसाधकत्वादविरोध इति भाव । न युक्तमित्युक्त तत्र हेतुमाह—**त्वदुक्तमर्थमिति ।** नाशतो ज्ञानाज्ञानविषयत्वमर्थस्यापि तु तत्रैवप्रमाणज्ञानाभावतदितरज्ञानवो सह वर्तन ब्रूम । नचेव सति विरोध नापि प्रश्नानुपपत्तिरिति भाव । न केवलमत्रैवेय गतिरपि तु सर्वत्रैव दूष्यस्थल इत्याह—**प्रतिवादीति ।** प्रमाणानवगतस्य कथमनुवाद इत्याशङ्कायां वाय ग्रन्थ । आगम निषेधति—

(त्वदुक्तमर्थं न जानामि) आप के कहे अथ को मै नही जानता हूँ, इत्यादि व्यवहार, अत्यन्तसुषुप्त = (अत्यन्त अज्ञात) विषयक, या अत्यन्त ज्ञानविषयक असम्भाव्यमान होता हुआ ज्ञानाभाव से अतिरिक्त ही अज्ञान को सिद्ध करता है । क्योकि अत्यन्त अज्ञातविषयक प्रश्न नही हो सकता है । अत कोई शिष्य गुरु से सुने हुए अर्थ को प्रथम समझकर फिर भूल जाने पर पूछता है कि अभी मै आपके कहे हुए अर्थ को नही जानता हूँ । फिर भी कहिये, वहाँ सर्वथा ज्ञान हो तो भी पूछना नही बनता है, सर्वथा अज्ञान हो, तो भी पूछना नही बनता है, अत मानना होगा कि पूछने वाले मे ज्ञान और अज्ञान दोनो रहते है, वहाँ विरोध से ज्ञानाऽभावरूप अज्ञान नही रह सकता है, और भाव रूप अज्ञान हो, तो दोनो मे सहवृत्तित्व बन सकता है । अन्यथा अवगत (ज्ञात) अश मे अवगत (ज्ञात) होने ही से न जानामि यह व्यवहार अयुक्त होगा, और अज्ञाताश मे अनवगत (अज्ञात) होने ही से प्रश्न की अनुपपत्ति होगी, और भावरूप अज्ञान पक्ष मे, ब्रह्मात्मारूप ज्ञान से सामान्य रूप से अर्थ का ज्ञान रहता है, विशेष रूप से भावात्मक अज्ञान रहता है, सामान्यचेतन रूप ब्रह्म अज्ञान का भी भासक होने से अज्ञान का विरोधी नही होता है, अत प्रश्न बनता है, अत उक्त व्यवहार से भाव रूप अज्ञान सिद्ध होता है । उक्त कथन युक्त नही है, क्योकि, आप से कहे गये अर्थ को मैं प्रमाण से नही जानता हूँ, इस प्रकार के अर्थपरता (बोधकता) रूप से (त्वदुक्तमर्थं न जानामि) आप से कथित अर्थ को न जानता हूँ, इस व्यवहार की उपपत्ति सिद्धि, हो सकती है, अत इस व्यवहार से भावरूप अज्ञान की सिद्धि नही हो सकती है । क्योकि प्रतिवादी के वाक्य से अवगत (ज्ञात)

गतार्थस्यानुवादपुरःसर प्रमाणासभवेन सर्वैर्वादिभिर्निराकरणाङ्गीकारात् । नापि 'नासदासीन्नो सदासी'दित्युपक्रम्य 'तम आसीत्', 'माया तु प्रकृति विद्यात्', 'इन्द्रो मायाभि'रित्याद्यागमस्तत्र प्रमाणम् , तम शब्देन सासारिक-पुरुषाणा प्रलयकालीनज्ञानाभावस्यैवोच्यमानत्वात् , माया शब्देन च पर-मेश्वरज्ञानशक्तेरेव तत्स्वरूपभूताया सकीर्तनात् तदेवमनिर्वचनीयाज्ञाने लक्षणप्रमाणयोरसभवत्तादृगज्ञानमस्तीत्येतदेवाज्ञानमिति सिद्धम् ।

अत्रोच्यते । न तावल्लक्षणासभवस्तथाहि—

अनादिभावरूप यद्विज्ञानेन विलीयते ।

नापीति । तदानी प्रलयकालेऽऽसन्नासीत्सदपि नासीदिति प्रतिषेधे कि तर्हि तम आसीदित्येका श्रुति , माया त्वित्यपरा, इन्द्रो मायाभिरित्यप्यन्या । प्रलयकाले ये ससारिणा ज्ञानाभावास्तेऽत्र तम शब्दाभिधेया न त्वदभिमतमज्ञानमित्यर्थ । इतर-श्रुत्योरन्यथासिद्धिमाह —**मायाशब्देन चेति । तत्स्वरूपभूतेति । प्रकृतिः** स्वभाव-भूतेत्यर्थ । उपसहरति—**तदेवमिति ।** एतदेवाज्ञान मोढ्यमित्यर्थ ।

लक्षण श्लोकेन सगृह्णाति—**अनादिति ।** पूर्वज्ञानादे प्रागभावस्यात्मनश्च

अर्थ का अनुवादपूवक, प्रमाणाऽसम्भव के कारण सब वादियो से निराकरण का स्वीकार किया जाता है । अर्थात् प्रतिवादी से कथित अर्थ को यदि प्रामाणिक माना जाय तो निराकरण अयुक्त हो, और उसका ज्ञान ही नही हो तो अज्ञात का निराकरण नही हो सकता है, अत प्रतिवादी वाक्य से ज्ञात को भी प्रमाण से अज्ञात (असिद्ध) मानकर जैसे खण्डन किया जाता है, वेसे ही प्रश्न भी हो सकता है । यदि कहा जाय कि (नासदासीन्नोऽसदासीत्) महाप्रलय मे सदसत् = कार्य-कारण नही थे । ऐसा उपक्रम (आरम्भ) करके किया था, ऐसी आकाक्षा पर कहा गया है कि (तम आसीत्) तम था । और (माया तु प्रकृति विद्यात्) माया को प्रकृति समझना चाहिये । "इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते" ईश्वर मायायो से बहुरूप होता है । इत्यादि आगम उस भावरूप अज्ञान मे प्रमाण है, यह भी कहना युक्त नही है, क्योकि ये आगमभावरूप अज्ञानार्थ मे प्रमाण नही है । क्योकि तम शब्द से सासारिक पुरुषो के प्रलयकालिक ज्ञानाभाव ही कहा गया है । और माया शब्द से परमेश्वर की ज्ञानशक्ति जो ईश्वर के स्वभावरूप प्रकृत्यात्मक है, उसका सकीर्तन (कथन) किया गया है । अत उक्तरीति से अनिर्वचनीय अज्ञान के लक्षण और प्रमाण के असम्भव से तादृक् (अनिर्वाच्य) वैसा अज्ञान है । ऐसा समझना ही अज्ञान है । यहाँ तक पूर्व पक्ष हुआ ।

अत्रोच्यते = अब यह उत्तर पक्ष कहा जाता है कि, पूर्व वर्णित अविद्या के लक्षण का असम्भव नही है, अत लक्षण दर्शाया जाता है कि—

जो अनादि भावरूप वस्तु विज्ञान से विलीन = नष्ट हो जाती है, वह अज्ञान

तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षण सप्रचक्षते ॥ ९ ॥

अनादित्वे सति भावरूप विज्ञाननिरस्यमज्ञानमिति लक्षणमिह विवक्षितम् । न तावदिहाव्याप्ति', सर्वेषामप्यज्ञानानामुक्तरूपत्रयानुगमात् । नाप्यतिव्याप्ति, अनादेर्भावस्यात्मनो निवर्त्यत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वस्याप्यभावात्, तदन्यस्य च परमाणोस्तद्गतश्यामत्वादेश्च स्वरूपतोऽनङ्गीकृतस्य दूरत एवानादित्वानङ्गीकारात् । नचासभवित्व, भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्याभावविलक्षणत्वमात्रेण भावत्वोपचारादात्मवदनादिभावत्वेनानिवर्त्यत्वानुमानानुपपत्ते ।

यथायथ विशेषणैर्व्यावृत्ति । सगृहीत लक्षण विवृणोति—**अनादित्वे सतीत्यादिना ।** ननु चिरतनमतानुसारेण पार्थिवपरमाणुविशेषगुणेष्वतिव्याप्तिरुक्तेति तत्राह—**तदन्यस्य चेति ।** एतच्च द्वितीयपरिच्छेदे विवरिष्यते । यच्चानादित्वे सति भावरूप तदनिवर्त्य यथात्मेत्यनुमानविरोधादसभवीद लक्षणमिति तद्दूषयति—**नचासंभवित्वमिति ।** अय भाव—किमिद भावत्व हेतुकृत ? कि वस्तुत्व ? उताभावविलक्षणत्वम् ? नाद्य, असिद्धे । न द्वितीय, वस्तुत्वस्यैवोपाधित्वादिति ।

है । यह अज्ञान का लक्षण विद्वान् कहते है ॥ ९ ॥

अर्थात् अनादित्व युक्तभावस्वरूप विज्ञान निरस्यत्व (विनाश्यत्व), अज्ञान का लक्षण विवक्षित है । इस लक्षण मे अव्याप्तिदोष नही है, क्योकि सभी अज्ञानो मैं उक्त (अनादित्व, भावरूपत्व और ज्ञाननिवर्त्यत्व) इन तीनो रूपो का अनुगम (अन्वय) है । अतिव्याप्तिदोष भी नही है, क्योकि अनादि भाव स्वरूप आत्मा मे निवर्त्यत्व के अभाव से ज्ञाननिवर्त्यत्व का भी अभाव है, आत्मा से अन्य जो परमाणु और उनके श्यामत्वादि स्वरूप से ही वेदान्त मे अनङ्गीकृत है, (नही माने जाते है), उनके अनादित्व का अनङ्गीकार तो बहुत दूर से है, अर्थात् उनको किसी प्रकार से भी अनादि नही माना जाता है, कि जिनमे अतिव्याप्ति हो, इस लक्षण मे असम्भवित्व (असम्भवता) दोष भी नही है, क्योकि भावाभावविलक्षण अज्ञान मे वस्तुत अभाव विलक्षणत्व मात्र से भावत्व का उपचार (गौण व्यवहार) होता है । वस्तुत भावत्व अज्ञान मे नही रहता है । अत अनादिभावरूप हेतु से आत्मा के समान उसमे अनिवर्त्यत्व के अनुमान की अनुपपत्ति है । अर्थात्, अज्ञानम्, अनिवर्त्यम्, अनादिभावत्वात्, ऐसे अनुमान उक्त अनुमान मे बाधा नही हो सकती है, क्योकि वस्तुत भावत्व के अभाव से यह हेतु ही असिद्ध है ।

नचैवंविधे मानासंभवः, यतः—
देवदत्तप्रमा तत्स्थप्रमाभावातिरेकिणः ।
अनादेर्ध्वंसिनी मात्वादविगीतप्रमा यथा ॥ १० ॥

विगीतं देवदत्तनिष्ठप्रमाणज्ञानं देवदत्तनिष्ठप्रमाऽभावातिरिक्तानादेर्निवर्तकं प्रमाणत्वाद्यज्ञदत्तादिगतप्रमाणज्ञानवदित्यनुमानम् । ये तु प्रमा प्रमाप्रागभावनिवृत्तिरेव न तु निवर्तिकेति मन्यन्ते, तान्प्रति—देवदत्तप्रमा तन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवृत्तिरिति प्रयोक्तव्यम् । नचैतदसमवेतत्वमेतद-

---

प्रमाणाक्षेपं परिहरति—**न चैवंविध इति** । श्लोकेनानुमानं संगृह्णाति—**देवदत्तेत्यादिना** । देवदत्तप्रमेति धर्मिनिर्देशः, तत्स्थेत्यादि, साध्यनिर्देशः । मात्वादिति हेतुनिर्देशः । अविगीता अविप्रतिपन्ना । यज्ञदत्तप्रमेति दृष्टान्तः । संग्रहं विवृणोति—**विगीतमित्यादिना** । इत्थमत्र प्रयोगः—देवदत्तप्रमाणज्ञानमेतन्निष्ठप्रमाणाभावत्वानधिकरणानादिनिवर्तकं प्रमाणत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणवदिति । अत्र चाभावत्वानधिकरणेत्येवालम् । अनादिनिवर्तकमित्युक्ते प्रागभावमादायार्थान्तरता तदर्थं प्रमाणाभावत्वानधिकरणेत्युक्तम् । तावति चाप्रसिद्धविशेषणता प्रमाणाभावत्वानधिकरणस्यानादेर्ज्ञाननिवर्त्यस्य तेनानङ्गीकारादात्मनश्च तन्निवर्त्यत्वानङ्गीकारात् तदर्थं देवदत्तनिष्ठेत्युक्तम् । यज्ञदत्तनिष्ठप्रमाणे हि देवदत्तनिष्ठत्वे सति प्रमाणाभावत्वानधिकरणानादेस्तत्प्रागभावस्य निवर्तके सुप्रसिद्धमेव साध्यमिति नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये । पूर्वज्ञानसुखादिव्यवच्छेदायानादिग्रहणम् । पक्षे चैतन्निष्ठप्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणत्वमेतन्निवर्त्यस्यानादेरेतन्निष्ठत्वानधिकरणत्वेन न संभवति । अन्यनिष्ठप्रागभावं प्रत्यन्यनिष्ठस्यानिवर्तकत्वात् । तस्मादेतन्निष्ठत्वे सति यत्प्रमाणज्ञानाभावत्वानधिकरणमनादि ज्ञाननिवर्त्यं च, तदभिमताज्ञानमेवेति तत्सिद्धिः । नन्वभावनिवृत्तिरेव भावः, नहि भावव्यतिरेकेणाभावनिवृत्तिर्नाम संभवतीति केषांचिन्मतम् । तथा च यज्ञदत्तप्रमाणस्य स्वप्रागभावनिवृत्तित्वात्, निवर्तकत्वलक्षणसाध्याभावात्साध्यविकलो दृष्टान्त इति तत्राह—**ये त्विति** । व्याप्यत्वासिद्धिं परिहरति—**नचैतदिति** । सत्प्रतिपक्षमाशङ्क्य परिहरति—

उक्त अनिर्वचनीय स्वरूप वाली ऐसी अविद्या मे प्रमाण का असम्भव (अभाव) भी नही है। क्योकि देवदत्त की प्रमा, देवदत्तनिष्ठप्रमाऽभाव से व्यतिरेकी भिन्न अनादि की ध्वंसिनी (विनाशिनी) है, मात्वात् प्रमात्व होने से, अविगीत (अविप्रतिपन्न) प्रमा के समान, अर्थात् विगीत (विवाद-विषय), देवदत्तनिष्ठ (वर्ती) प्रमाण ज्ञान, देवदत्तवृत्तिप्रमाऽभावातिरिक्त अनादि का निर्वतक है, प्रमाणत्वात् (प्रमाण होने से), यज्ञदत्तादि वृत्ति प्रमाण ज्ञान

न्यसमवेतत्व वा तत्रोपाधि, साध्याव्याप्ते —एतत्समवेतसुखदु खेच्छाद्वेष-प्रयत्नानामेतन्निष्ठप्रमाभावातिरिक्तानादे स्वप्रागभावस्य निवर्तकत्वेन साध्ये विद्यमानेऽपि त्वदुक्तोपाधेरभावात् । नच विवादपदमनादेर्भावस्य निवर्तक न भवति पदार्थत्वात्सप्रतिपन्नवदिति प्रत्यनुमानविरोध, सत्ता-द्रव्यत्वाद्यनिवर्तकत्वेन सिद्धसाधनत्वात् । ननु सप्रतिपन्नात्मादिपदार्थाति-

---

नच विवादपदमिति । संप्रतिपन्नवदिति । घटवदित्यर्थ । अत्र किमनादिभावस्य यस्य कस्यचिदनिवर्तकत्व साध्यते । किं वोभयसप्रतिपन्नानादिभावव्यतिरिक्तस्यानादे-र्भावस्याभावविलक्षणस्य ? आद्य प्रत्याह—**सत्तेति** । द्वितीय शङ्कते—**नन्विति** । नच निगीता प्रमा प्रमाऽभावातिरिक्तैतन्निष्ठानादिनिवर्तकत्वानधिकरण प्रमात्वात् यज्ञ-दत्तप्रमावत् इति प्रसाधनादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावाद्भवति प्रतिप्रयोग इति वाच्यम् । देवदत्तनिष्ठ प्रमाणज्ञान देवदत्तनिष्ठानाद्यभावानिवर्तकत्वात्यन्ताभावानधिकरण प्रमाणज्ञानत्वात् यज्ञदत्तप्रमाणज्ञानवदित्यभाससमानयोगक्षेमत्वात् । नच देवदत्तप्रमा देवदत्तनिष्ठत्वे सति देवदत्तप्रमाभावातिरिक्तानादिनिवर्तकत्वानधिकरण प्रमात्वात् यज्ञदत्तप्रमावदिति सत्प्रतिपक्षता । एतन्निष्ठनिवर्तकत्वानधिकरणत्वस्योपाधे, एत-त्सुखादौ च व्यतिरेकसिद्धि । अभावविलक्षणाज्ञाने प्रत्यक्षमपि प्रमाणमाह—

के समान । यह अनुमान अनादि अज्ञान मे प्रमाण है । इस अनुमान से प्रमाण अभाव से अतिरिक्त अनादि अज्ञान पक्ष मे सिद्ध होता है, और दृष्टान्त मे देवदत्तगत प्रमा-ऽभाव से अतिरिक्त अज्ञान प्रमाप्रागभाव के निवर्तकत्व यज्ञदत्तादि के प्रमा मे प्रसिद्ध है । जो कोई मानते है कि प्रमा, प्रभा कै प्रागभाव की निवृत्ति स्वरूप ही होती है । उससे प्रागभाव की निवृत्ति से पृथक् नही होती, अत प्रमा निर्वर्ति-का नही है, उनके प्रति प्रयोग होगा कि (देवदत्तप्रमा, देवदत्तगतप्रमा, प्राग-भावातिरिक्तानादिनिवृत्तिरूपा, प्रमात्वात्), इस अनुमान मे एतत् (देवदत्त) असभवेतत्व, वा एतदन्य समवेतत्व उपाधि है, अत असत् हेतु है, ऐसा नही कह सकते हैं । क्योकि उन दोनो मे साध्यव्यापकत्व का अभाव है । यत एतत् देवदत्त-समवेत सुखदु ख-इच्छा-द्वेषप्रयत्नो को देवदत्तनिष्ठ प्रमाप्रागभाव से अतिरिक्त अनादि स्व (निज) प्रागभाव के निवर्त्यकत्व से, उन सुखादिको मे साध्य के विद्यमान रहते भी तदसमवेतत्व तदन्यसमवेतत्व नही रहते है । अत साध्य-व्यापकता के अभाव से उपाधि नही हो सकते है । यदि कहे कि (विवादपद = विवादविषयप्रमाज्ञान), अनादिभाव का निवर्तक नही है, पदार्थ होने से, घट के समान (सम्प्रतिपन्नवत्) इस प्रति अनुमान से विरोध (प्रतिपक्षता) है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सत्ता द्रव्यत्वादि अनादिभाव के अनिवर्तकत्व से इस अनुमान मे सिद्धसाधानता है । यदि शङ्का हो कि, विगीता प्रमा, सम्प्रतिपन्नवादि-

रिक्तस्य भावस्याभावातिरिक्तस्य चानादेर्न निवर्तकमिति विशेषणादिदम-दूषणमिति चेत्, न, तस्य तवाप्रसिद्धतयाऽप्रसिद्धविशेषणत्वापत्ते । किंच 'न किंचिदवेदिषमि' ति परामर्शसिद्धसौषुप्तिकानुभवोऽप्यत्र प्रमाणम् । नच ज्ञानाभावविषयोऽयमनुभव, अभावप्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगिबोधपराधीनतया तदभावे तस्यानुभवितुमयोग्यत्वात् । नच भेदसादृश्यादिवत्स्वरूपेणाभाव-स्यापि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यता, तथात्वे सादृश्यादिवदेव भावत्वापत्ते, निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यो भाव इति परैर्लक्षणाङ्गीकारात् । नाय सुषुप्ति-कालीनानुभवज परामर्श, कितूत्थितस्येदानीमेव सौषुप्तिकज्ञानाभावानु-

---

किं चेति । उत्थितस्य न किंचिदवेदिषमिति परामर्शादुन्नीतो य सौषुप्तिकानुभव सोपि प्रमाणमित्यर्थ । ननु किमिति निर्विकल्पकानुभवायोग्यत्व यावता भेदसादृश्या-दिवत्सभव उक्तस्तत्राह—**न च भेदसादृश्येति** । ननु किमिति भावत्वापत्ति ? नहि निर्विकल्पकबुद्धिबोध्यत्वसाम्यात्सादृश्यभेदयोरैक्यमिति तत्राह—**निर्विकल्पकेति** । यत्तु तेनोक्तमस्मत्पक्षे तु नाय परामर्श इत्यादि तदनूद्य दूषयति—**नाय-मित्यादिना** । ननु किमिति सामग्रीवैकल्यलक्षणलिङ्गासिद्धि ? यावता ज्ञाना-

---

प्रतिवादिसम्मत, आत्मादि पदार्थातिरिक्त, अभावातिरिक्त अनादिभाव का निवर्तक नही होती है, ऐसा विशेषण (साध्य) होने से सिद्धसाधनता नही होगी, तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि ऐसे साध्य (अनादि भव) की आपके मत मे अप्रसिद्धि होने से, अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होगी । और (सुषुप्तौ न किञ्चिदवेदिषम्) सुषुप्ति मे मैंने कुछ जाना नही, इस परामर्श से (जाग्रतकालिक स्मरण से) सिद्ध = (अनुमित) सुषुप्तिकालिक अनुभव भी भावस्वरूप अज्ञान के सत्त्व मे प्रमाण है । क्योकि यह सुषुप्तिकालिक अनुभव ज्ञानाऽभावविषयक नही हो सकता है, उसमे यह कारण है कि, अभाव की प्रतीति, धर्मी (अनुयोगी) और प्रतियोगी, इन दोनो के ज्ञानाधीन होती है, अत अनुयोगी-प्रतियोगी के ज्ञान के अभाव रहते उस अभाव का सुषुप्ति मे अनुभव होना अशक्य है, भेदसादृश्यादि के समान, अभाव को भी स्वरूप से निर्विकल्पक बुद्धिविषयत्व की योग्यता है, ऐसा भी नही कहा जा सकता है । क्योकि सादृश्यादि के समान निर्विकल्पक बुद्धि के विषय होने पर सादृश्यादि के समान ही भावत्व की प्राप्ति होगी । यत निर्विकल्पक से वेद्य भाव होता है, ऐसा अन्य लोगो से भाव का लक्षण माना गया है, और जो कहा था कि (न किञ्चिदवेदिषम्) यह सुषुप्ति कालिक अनुभवजन्य परामर्श (स्मरण) नही होता है, किन्तु सुषुप्ति से ऊठे (जागे) हुए को जाग्रत् काल मे ही सुषुप्ति-कालिक ज्ञानाभाव का अनुमान होता है, वह वक्तव्य नही है, क्योकि उस अभाव के अनुमापक लिङ्ग (हेतु) की असिद्धि (अभाव) है । कहा जाय कि सुषुप्ति-

मानमिति च न वाच्यम्, तदनुमापकलिङ्गासिद्धे । नच सामग्र्यभावो लिङ्गम्, तस्याप्यसिद्धे । नच ज्ञानाभावेन तस्यानुमानम् , अन्योन्याश्रयतापत्ते, सामग्र्यभावाज्ज्ञानाभावानुमान तदभावाच्च सामग्र्यभावानुमानमिति । नचैव सति वेदान्तिनामपि ज्ञानाभावानुमानासभव , अवस्थाभेदसभिन्नभावरूपाज्ञानसवेदनादेव सुषुप्त्यवस्थाया तद्विरुद्धस्य ज्ञानस्य तत्सामग्र्याश्चाभावानुमानात्, त्वयापि गत्यन्तराभावादेवमेव ज्ञानाभावानुमानस्यावश्याभ्युपेयत्वात् । नचैवविधमज्ञानमद्याप्यसिद्धमिति वाच्यम्, तत्प्रमाणस्य दर्शितत्वात् ।

त्वदुक्तमर्थ न जानमीति व्यवहारान्यथानुपपत्तिरपि भावरूपाज्ञान-

---

भावेनैव शक्यानुमान तद्वैकल्यमिति तत्राह—**नच ज्ञानाभावेनेति** । यच्च तेनोक्तमन्यथा भवतामपि घटपटादिज्ञानाभावानुमान न स्यादिति तदनूद्य परिहरति—**नचैवं सतीति** । मम तु भावरूपाज्ञानवलादुभयाभाव शक्यानुमान इत्यर्थ । तवापीयमेव गतिर्नान्येत्याह—**त्वयापीति** । तत्त्वेवविधाज्ञानस्य तत्परामर्शस्य च मा प्रत्यसिद्धिरिति तत्राह—**नचैवंविधमिति** । परामर्शस्याप्युपलक्षणमिद तस्यापि समर्थनात् ।

अर्थापत्तिमपि प्रमाणयति—**त्वदुक्तमर्थमित्यादिना** । पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य

कालिक ज्ञान की सामग्री का भाव लिङ्ग हे, वह कहना भी ठीक नही, क्योकि सामग्री के अभाव की भी अनिद्धि (अज्ञान) है। ज्ञान के अभाव से सामग्री के अनुमान होगा, यह भी नही कहा जा सकता है, क्योकि अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होगी, अर्थात् सामग्री के अभाव से ज्ञानाभाव का अनुमान, और ज्ञानाभाव से सामग्री के अभाव का अनुमानरूप परस्पराश्रयता की प्राप्ति होगी । यदि कहा जाय कि इस प्रकार से सामग्री अभाव से ज्ञानाभाव के अनुमान को नही मानने पर वेदान्तियो को भी सुषुप्तिकालिक ज्ञानाभाव का अनुमान असम्भव होगा । वे भी ज्ञानाभाव का अनुमान अन्योन्याश्रय से नही कर सकेगे, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि अवस्थाभेद (विशेष) सुपुप्ति से साम्भिन्न (युक्त) भावरूप अज्ञान के साक्षीस्वरूप सवेदन (ज्ञान) से ही उस अज्ञान से विरुद्ध ज्ञान के और उसकी सामग्री के अभाव का अनुमान होता है। अत आप को भी गत्यन्तर के अभाव से इसी प्रकार ज्ञानाभाव के अनुमान को अवश्य मानना होगा । ऐसा भावरूप अज्ञान अभी तक असिद्ध है, ऐसा भी नही कहना चाहिये, क्योकि उस अज्ञानविषयक अनुमान प्रदर्शित हो चुका है ।।

'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' आपके कहे अर्थ को मैं नही जानता हूँ, इस व्यवहार की अन्यथा (भावरूप अज्ञान के बिना) अनुपपत्ति भावरूप ज्ञान के

सद्भावे मानम्। नच प्रमाणतो न जानामीत्येवपरतयापि व्यवहारोपपत्तिः त्वदुक्तेर्थे प्रमाणज्ञान मम नास्तीत्यस्य विशिष्टविषयज्ञानस्य प्रमात्वात्, तद्विशेषणतयार्थस्यापि प्रमाणेनाधिगतत्वात्, स्ववचनव्याघातापत्ते। एतदतिरिक्तप्रमाणज्ञान त्वदुक्तेऽर्थे मम नास्तीति वदतो वचनव्याघातदोषानुषङ्ग एवास्यापि ज्ञानस्य पूर्ववदेव प्रमाणजन्यत्वात्। नच सामान्यत प्रमाणेनार्थस्याधिगमेपि विशेषानधिगमाददोष, विशेषस्याप्यधिगमानधिगमयो

निषेधति—**नचेत्यादिना**। त्वदुक्तमर्थ प्रमाणतो न जानामीति यदिद ज्ञान तत्तावत्प्रमाणमेव, यथार्थानुभवत्वात्। तथा चैतज्ज्ञानविषयान्तर्गततयैतद्विषयभूतस्यार्थस्यापि प्रमाणतो ज्ञातत्वात्तन्निषेधवचनविरोध इत्याह—**त्वदुक्तेऽर्थ इति**। ननु प्रमाणतो न जानामीत्यस्यायमर्थ—एतदज्ञातत्वग्राहिप्रमाणव्यतिरिक्त प्रमाणज्ञान नास्तीति। तत्राह—**एतदतिरिक्तेति**। अत्राप्येवविधज्ञानस्य पूर्वनिर्दिष्टाददतिरिक्तप्रमाणत्वादेव तदविषयत्ववचन व्याहतमित्यर्थ। ननु सामान्यत प्रमितस्य विशेषतोऽनधिगमोद्भावनान्न व्याहतिरिति तत्राह—**नच समान्यत इति। पूर्वोक्तेति**। पूर्वपक्षसमयोक्तेत्यर्थ। ननु त्वन्मतेपि कथ ज्ञायमानेऽर्थे न जानामीति व्यवहार

सद्भाव (सत्त्व) मे प्रमाण है। प्रमाण से आपके कहे अर्थ को नही जानता हूँ, ऐसे अर्थपरता (तात्पर्य से भी) उक्त व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, यह कहना नही बन सकता है, क्योकि, आपके कहे अर्थविषयक प्रमाण ज्ञान मुझे नही है, इस प्रकार के विशिष्टविषय ज्ञान को प्रमात्व है, क्योकि यह यथार्थ ज्ञान है, और इस ज्ञान के अन्तर्गत रूप से उसके विषय के अन्तर्गत स्वरूप अर्थ भी प्रमाण से ज्ञात हो जाता है। अत उस अर्थ को प्रमाणज्ञान का अविषय कहना विरुद्ध होता है। अर्थात् उस ज्ञान मे विशेषण रूप से अर्थ का भी प्रमाण से ही ज्ञान होता है, अत प्रमाण से अज्ञात कहने पर स्ववचन का व्याघातापत्ति होगी। यदि कहे कि, त्वदुक्तमर्थ प्रमाणतो न जानामि (त्वदुक्त अर्थ के अज्ञातत्व ग्राहक) इस प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाणरूप ज्ञान, आपके अर्थविषयक मुझे नही है। तो ऐसे कहने वाले को भी वचन का व्याघात दोष ही है। क्योकि इस ज्ञान को भी पूर्व के समान प्रमाण जन्यत्व है। अर्थात् पूर्वकथित प्रमाण से नही जानता हूँ। इससे अतिरिक्त प्रमाणत्व ही दूसरे कल्पको है, कि जो कहा गया है कि त्वदुक्त अर्थ के अज्ञातत्व ग्राहक प्रमाणज्ञान मुझे नही है। यदि कहा जाय कि सामान्य रूप से प्रमाण से अर्थ के ज्ञान होने पर भी, विशेषरूप से अज्ञात रहने के कारण 'त्वदुक्तमर्थ न जानामि' ऐसा कहने पर व्याघात दोष नही हो सकता है, तो यह कहना भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि विशेष के भी ज्ञानाज्ञान उभय अवस्था

पूर्वोक्तदोषानतिवृत्ते । ननु भावरूपमप्यज्ञान ज्ञाननिरस्यमभ्युपगम्यते भवद्भिस्तत्कथ ज्ञायमानेर्थे न जानामीति व्यवहार, मैवम्, अस्मन्मतेऽज्ञानस्य साक्षिसिद्धतया प्रमाणाबोध्यत्वात्, प्रमाणज्ञानोदयात्प्राक्कालेऽज्ञान तद्विशेषितोऽर्थ साक्षिसिद्धोऽज्ञात इत्यनुवादगोचरो भवति, भवति च प्रश्नार्ह इत्यविरोधात् । उक्त च सम्प्रदायविद्भि --"सर्व वस्तु ज्ञाततया अज्ञातया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एवे"ति ।

किच 'तम आसीत्', 'माया तु प्रकृति विद्यादि'त्याद्यागमोपि तत्र

यावता ज्ञानाभाववदज्ञानमपि ज्ञाननिवर्त्यमेवेति चोदयति--**नन्विति** । न तत्राज्ञाननिवर्तक प्रमाणज्ञान तद्बोधकमपि तु साक्षिचैतन्यम् । नच तदज्ञाननिवर्तक तत्साधकत्वादिति परिहरति -- **मैवमिति । प्रमाणाबोध्यत्वादिति** । अभावव्यावृत्तेरेवानुमानादिप्रमाणैर्बोध्यमानत्वादिति भाव । अत एव पूर्व प्रमाणज्ञान नोत्पन्न साक्षिणैवाज्ञानविशिष्टतयैवार्थौ निर्ज्ञात इत्यत एवानुवादप्रश्नौ घटेते इत्याह--**प्रमाणज्ञानोदयादिति ।**

आगममपि प्रमाणयति--**किच तम आसीदित्यादिना** । यत्तु जीवाना

मे पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नही हो सकती । अर्थात् विशेष यदि ज्ञात हो, तो 'न जानामि' यह कहना नही बनेगा, अज्ञात हो तो प्रश्नानुपपन्न (असिद्ध) होगा । शङ्का है कि भावरूप भी अज्ञान ज्ञान से निरसनीय है, ऐसा आप (वेदान्ती) मानते है, तो समझे बिना अज्ञात अर्थविषयक प्रश्न के असम्भव से आपके मत मे ज्ञात ही अर्थविषयक न जानामि, यह व्यवहार होता है, वह कैसे होता है, क्योकि जाने हुए मे न जानामि यह कहना विरुद्ध है । उत्तर है कि ऐसी शङ्का हमारे मत मे नही कर्तव्य है, क्योकि हमारे मत मे अज्ञान मे प्रमाणायोग्यता है, और साक्षी से अज्ञान के सिद्ध होने से उसकी सिद्धि के लिये प्रमाण की आवश्यकता भी नही है । अत प्रमाणायोग्यत्व अज्ञान मे है । और प्रमाण ज्ञान के उदय से पूर्वकाल मे अज्ञान और अज्ञान से विशेषित (अज्ञात) साक्षी से सिद्ध रहता है, वही अज्ञात इस अनुवाद का विषय होता है, और साक्षिवेद्य (साक्षी से ज्ञात) होने से प्रश्न के योग्य होता है, अत अविरोध है, क्योकि साक्षीरूप ज्ञान अज्ञान का भी साधक होता है, और प्रमाणजन्य ज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है, अत भावरूप अज्ञान को ज्ञाननिवर्त्य मानना आदि युक्त ही है । सम्प्रदायवेत्ताओ ने कहा है कि, ज्ञात रूप से वा अज्ञातरूप से सब वस्तु साक्षि चैतन्य का विषय ही है । अत चैतन्य से ज्ञातप्रमाण से अज्ञातविषयक प्रश्न सिद्धान्त मे बनता है, अन्यत्र नही ।

"तम आसीत्, माया तु प्रकृति विद्यात्" इत्यादि आगम भी उस भाव-

प्रमाणम् । नच तम शब्देन ज्ञानाभाव कथ्यते, नासदासीदित्यभाव व्यावर्त्य तम आसीदिति प्रतिपादनात् । नच परमेश्वरज्ञानशक्तिर्माया, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति', 'मायामेता तरन्ति ते,' 'तरत्यविद्या वितता योगी माया'मित्यादिना ज्ञाननिवर्त्ये मायाशब्दप्रयोगदर्शनात् । तदेव लक्षणप्रमाणयोरुपपन्नत्वादनादिभावरूपाज्ञानमस्तीति सिद्धम् ।

किच भ्रमोपादानज्ञानमिति लक्षणेऽपि न दोष । नचात्मन्यति-

तात्कालिकज्ञानाभावस्तमश्शब्दाभिधेय इति तन्न । नासदासीदित्यभावस्यापि प्रतिषेधादित्याह—**नच तम इति ।** नच प्रागभावप्रध्वसवर्गस्थानाद्यनन्तस्य सद्भावादशक्यनिषेधतेति वाच्यम् । तयोरप्युत्पत्तिविनाशवत्ताया साधयिष्यमाणत्वात् । मायाशब्दस्यान्यथासिद्धिमुक्त्वा निराचष्टै—**नच परमेश्वरेति ।** ईश्वरज्ञानस्य नित्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वानङ्गीकारादिति भाव । उपसहरति—**तदेवमिति ।**

पञ्चममपि मत शक्यसमर्थनमित्याह—**भ्रमोपादानमिति । नचात्मनीति ।** कूटस्थस्य तस्य वियदादिविकाराभावादविद्यावेशवशाद्विकारे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन तस्या एव विकार । नचैव साख्यसिद्धान्तसङ्गतेरिह गन्धिता, परमेश्वराध्यस्तानिर्वचनीयाविद्यापरिणामस्य विवर्तापरनाम्न स्वीकारादीदृशमेव हेतुत्वमभिप्रेत्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सभूत' इत्यादिसृष्टिश्रुतयस्तथा 'जन्माद्यस्य यत, प्रकृतिश्चे'त्याद्यधिकरणान्यपि । अत एव धातुसमीक्षाया ब्रह्मवित्प्रकाण्डैर्भर्तृहरिभिरभिहितम्—

रूप अज्ञान मे प्रमाण है । तम शब्द से ज्ञानाभाव कहा जाता है, यह कहा था सो युक्त नही, क्योकि, नाऽसदासीत्, इससे अभाव का निषेध करके, तम आसीत्, इससे तम का प्रतिपादन किया गया है । परमेश्वर की ज्ञानशक्ति रूप भी माया नही है, क्योकि परमेश्वर की ज्ञानशक्ति परमेश्वरस्वरूप नित्य है, और 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति' फिर अन्त मे सब माया की निवृत्ति होती है । (मायामेता तरन्ति ते) इस माया को वे लोग तर जाते है, "तरत्यविद्या वितता योगी मायाम्" योगी विस्तृत अविद्या और माया को तरता है । इत्यादि वाक्यो द्वारा ज्ञान से निवर्त्य अर्थ मे माया शब्द के प्रयोग के देखने से माया शब्द का नित्य ईश्वरीय शक्ति ही अर्थ नही हो सकता है । अत उक्तरीति से लक्षण प्रमाण के सिद्ध होने से अनादिभावरूप अज्ञान है, यह सिद्ध हुआ ।

भ्रम का उपादान अज्ञान कहा जाता है, इस लक्षण मे भी दोष नही है, कहा जाय कि आत्मा मे अतिव्याप्ति है, तो वह कथन युक्त नही । क्योकि

व्याप्ति, तस्य केवलस्य कूटस्थस्य कस्याप्यनुपादानत्वात्। सत्योपादानत्वे च विभ्रमस्यापि सत्यत्वप्रसङ्गात्, नच विभ्रमोऽपि स्वरूपत सत्य, तथात्वे प्रमाणज्ञानवदेव विषयापहारलक्षणबाधस्याप्यसभवप्रसङ्गात्। नचैतावन्त कालमिद रजतमित्यभादित्यनुभवविरोध, अनिर्वचनीयस्यापि विभ्रमस्याभावविलक्षणतया तथात्वेनानुसन्धानोपपत्ते। नच स्वरूपसत एवासीदिति प्रतिसन्धानम्, एतावन्त कालमिहादर्शे मुखमासीत्स्फटिकश्च लोहित आसीदित्याद्यनुसन्धानदर्शनात्। प्रयोगश्च, विगीतो विभ्रम एत-

---

'शुद्धतत्त्व प्रपञ्चस्य न हेतुरनिवृत्तित।
ज्ञानज्ञेयादिरूपस्य मायैव जननी तत॥' इति

परिणामित्वमात्र चात्रोपादानत्वमभिप्रेत, यत्तु विभ्रमस्यापि स्वरूपेण सत्यत्वान्नेदमनिष्टमिति तत्राह—**नच विभ्रमोऽपीति**। यदि हि घटादिज्ञानवत्स्वरूपेण सत्यो विभ्रम स्यात्ततस्तद्वदेव यथार्थोपि स्यादित्यर्थ। अत एवाहुराचार्या—'सदसद्भ्यामनिर्वाच्याविद्या वेद्यै सह भ्रम' इति। प्रत्यभिज्ञाविरोधमुक्त परिहरति—**नचैतावन्तमिति**। ननु सद्विलक्षणस्यासत कथमासीदिति प्रतिसधानविषयत्वमिति तत्राह—**नच स्वरूपसत एवेति**। भ्रमोपादानाज्ञाने प्रमाणमाह—**विगीत इति**। अत्राप्य-

---

केवल (शुद्ध), कूटस्थ (निर्विकार) चेतनात्मा को किसी भी कार्य के उपादानत्व नही है, और यदि विभ्रम सत्य उपादान वाला होगा, तो उस विभ्रम को भी सत्यता की प्राप्ति होगी। विभ्रम भी स्वरूप से सत्य है, यह कहना भी उचित नही है, क्योकि विभ्रम के स्वरूप से सत्य होने पर, प्रमाणज्ञान के समान ही विषय का अपहार (बाध) रूप ज्ञान (विभ्रम) के बाध का भी असम्भव होगा। यदि कहा जाय कि विभ्रम को स्वरूप से भी सत्य नही मानने पर, इतने काल तक यह रजत भासता था, यह भ्रमोत्तरकालिक अनुभव से विरोध होगा, यह अनुभव भ्रम के स्वरूप सत्त्व को ग्रहण करता है, तो कहा जाता है कि इस अनुभव से विरोध नही है, क्योकि (तस्माद्वा एतस्मादात्मादात्मन आकाश सम्भूत जन्माद्यस्य यत) इत्यादि श्रुति सूत्र के अनुसार, अपनी अनिर्वचनीय अविद्या द्वारा अनिर्वचनीय जगत् का कारण आत्मा होता है, वहाँ व्यावहारिक वस्तु और उनका ज्ञान व्यवहार काल मे अबाधित रहते है, अनिर्वचनीय विभ्रम मे व्यावहारिक सत्त्व भी नही रहता है, तो भी अभाव से विलक्षणतामात्र से उक्त वर्तमान रूप अनुसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) की सिद्धि होती है। स्वरूप मे सत्य का आसीत् (इतने काल तक भासता था) यह प्रतिसन्धान होता है। यह कहना ही युक्त नही, क्योकि इतने काल तक इस दर्पण मे मुख था, स्फटिक, लोहित (रक्त) था। इत्यादि स्वरूप सत्त्वरहित का भी अनुसन्धान देखा जाता है। विभ्रम के

ज्ञानकारणाबाध्यातिरिक्तोपादान विभ्रमत्वात् देवदत्तादिविभ्रमवत्। दर्शित एव च सत्योपादानत्वे सत्यत्वप्रसङ्गो विपक्षे बाधकस्तर्क । तस्माद्य-दुपादानो विभ्रमस्तदज्ञानमिति सिद्धम् ।

ननु तथाप्यसभवि लक्षण, सर्वप्रत्ययाना यथार्थत्वेन विभ्रमागा-

तिरिक्तकारणस्य द्रव्यस्य परैरबाध्यत्वाङ्गीकारात् तदर्थमेतज्ज्ञानकारणेत्युक्तम् । एत-ज्ज्ञानकारणत्वानधिकरणोपादान इत्युक्ते व्याहतिस्तदर्थमबाध्यत्वानधिकरणेत्युक्तम् । ततश्चाबाध्यत्वानधिकरणबाध्याज्ञानोपादानकत्वसिद्धिर्विभ्रमस्य । दृष्टान्ते त्वेत-ज्ज्ञानकारणातिरेकमादाय साध्यप्रसिद्धि । अन्तिमसमर्थनमुपसहरति—**तस्मादिति** ।

'इत्यध्यक्षानुमानार्थापत्तिशब्दै प्रसाधिता ।
अविभक्ते परेऽविद्या भावाभावविभागदा ।।
एषा साक्षात्साक्षिचैतन्यवेद्याऽविद्यानादि, स्वीकृता स्वे कृतान्ते ।
वादिभ्रान्त्यापादिनाभाव गावादेर्भिर्मानै केवल भेदितात्र ।।
शास्त्रैकगम्येऽपि यथा ह्यपूर्वेपरप्रमाणान्निरणायि भेद ।
यथाच रज्जूरगयोर्विभाग परे प्रभिण्वन्ति परानुबन्धात् ।।'

विभ्रमोपादानमज्ञानमित्युक्त, तत्र विभ्रमाणामेवाभावादुपादानत्वमसभवीत्य-ख्यातिवादिन प्रत्यवष्ठिन्ते—**ननु तथाप्यसभवीति** । किमिद विभ्रमत्वेन विव-क्षित ? कि यथार्थज्ञानविशेष यथास्माक ? उतायथार्थज्ञानम् ? नाद्य । तदुपा-दानस्यात्मनोन्त करणस्य वा अविद्यात्वाभावात् । न द्वितीय इत्याह—**सर्वप्रत्य-यानामिति । विभ्रमाणामेवाभावादिति** ज्ञानानामयथार्थत्वाभावादित्यर्थ ।

उपादान अज्ञान विषयक अनुमान रूप प्रयोग भी हो सकता है कि (विगीत विवादास्पद) विभ्रम, एतत् ज्ञानकारण (अधिष्ठानात्मा) का बाध्य कारण से अतिरिक्त उपादान वाला है, विभ्रम होने से, देवदत्तादि विभ्रम के समान। इस अनुमान से **प्रबाध्य** से अतिरिक्त भावस्वरूप अज्ञान की पक्ष मे सिद्धि होती है। और दृष्टान्त मे एतत् ज्ञान के अबाध्य कारण आत्मा से अतिरिक्त देव-दत्तात्मा को मानकर साध्य की प्रसिद्धि होती है, और सत्योपादानत्व पक्ष मे सत्यत्व की प्राप्तिरूप विपक्ष का बाधक तर्क प्रदर्शित कराया गया है। अत जिस उपादान वाला विभ्रम होता है, वह अज्ञान है, यह सिद्ध हुआ ।

विभ्रम को नही मानने वाले अख्यातिवादी प्रभाकर मतानुसार शङ्का है कि उक्त अनुमान के करने पर भी (भ्रमोपादानत्व) रूप लक्षण सम्भावना रहित है। क्योकि सब ज्ञानो के यथार्थ होने के कारण विभ्रमो का अभाव है, तो विभ्रमोपादानत्व कैसे हो सकता है। और विवादास्पद (भ्रमत्वेनभिमत),

मेवाभावात्, विगीता प्रत्यया यथार्था प्रत्ययत्वात्सप्रतिपन्नवदित्यनुमानात्, अन्यथान्याकारस्य प्रत्ययस्यान्यालम्बनतायामनुभवविरोधात्, सविदा स्वविषयव्यभिचारे चानाश्वासप्रसङ्गात्, असतोऽपि ससर्गादेरवभासमानतायामसत्ख्यातेरपि दत्तावसरतया सौगतमतानुप्रवेशप्रसङ्गात्, असतश्च

ननु कुत सर्वप्रत्ययाना यथार्थत्वसिद्धिरित्यनुमानादित्याह—**विगीता इति।** अशत सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विगीतग्रहणम्। अयथार्थव्यवहारहेतुभूतज्ञानाना पक्षीकरणाच्च नाश्रयासिद्धि। विपक्षे बाधकमाह—**अन्यथेति।** भासमानतया हि विषयत्व नतु सत्तया, नापि कारणतयाऽतिप्रसङ्गात्। नच रजतज्ञाने शुक्तिका चकास्ति। तथाचाचेत्यमानशुक्तिकालम्बनत्वकल्पनाया विरुध्यत्येव रजतानुभव इति भाव। तथाच नयवीथ्या—'अत्र ब्रूमा य एवार्थ' इत्यादिना विषयलक्षणमुक्त्वोक्त तेन—

'अन्यस्य चान्यथाभान प्रतीत्यैव पराहतम्।
परस्मिन्भासमानेपि न पर भासते यत'॥ इति।

स्थाने तत्त्वानधिकरणपद प्रक्षेप्तव्यम्। अबाध्यत्वानधिकरणोपादान इत्युक्तेऽप्रसिद्धविशेषणता सर्वत्रोपादानबाधकान्तरमाह—**संविदामिति।** तदप्युक्त—

यदि स्वार्थ परित्यज्य काचिद्बुद्धि प्रवर्तते।
व्यभिचारवती स्वार्थे कथ विश्वासकारणम्'॥ इति।

अपसिद्धान्तापत्तिरपि बाधिकेत्याह—**असतोपीति।** यदि च बहिरसदिद प्रतीयेत साकारतापि विज्ञानस्य स्यात्। तदप्युक्त 'अयथार्थत्वपक्षे च ज्ञान साकारमापते'दिति। तदेव सविद्विरोधानाश्वासासत्ख्यातिप्रसङ्गान्बाधकानुक्त्वा कारणानिरूपण दर्शयन्नकारणककार्यप्रसङ्गमपि बाधक बध्नाति—**असतश्चेति।** तदप्युक्त 'अयथार्थस्य बोधस्य नोत्पत्तावस्ति कारण'मिति। नन्वन्वयव्यतिरेकाभ्या चक्षुर-

---

ज्ञान, यथार्थ होते है, ज्ञान होने से सर्वसम्मत यथार्थज्ञान के समान, अन्यथा = अयथार्थ ज्ञान को मानने पर, अन्याकार (रजताकार) ज्ञान को अन्य (शुक्ति) अवलम्बनता (शक्तिविषयता) मानने पर अनुभव से विरोध होगा, कि रजत के ज्ञान मे शुक्ति भासती है। और दूसरी बात है कि ज्ञानो को अपने विषय से व्यभिचार हो, स्वविषय के बिना ज्ञान हो, तो ज्ञानो मे अविश्वासत्ता की प्राप्ति होगी कि सूर्यादि का ज्ञान यथार्थ है या नही, और भ्रम मे शुक्ति, रजत आदि के असत् ससर्गादि की अवभासमानता (ज्ञातता) मानने पर, असत् ख्यातिवादि को भी अवसर देने से सौगत मत का अनुप्रवेश (स्वीकार) प्राप्त होगा। और असत् ससर्गादि के कारण के अनिरूपण (असिद्धि) से भी, भ्रम होना असम्भव

ससर्गादि स्फुरणकारणानिरूपणात्, चक्षुरादेश्च सप्रयुक्तमात्रग्राहित्वात्, देशान्तरनिवेशिन स्वरूपासतश्च सप्रयोगायोग्यत्वात्, दोषाणा च स्वारसिककार्यप्रसवशक्तिप्रतिरोधमात्रहेतुत्वात् मूषिकाघ्रातशालिबीजादौ तथादृष्टत्वात्, दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मनो दग्धस्यावेत्रबीजत्वेन दोषाणा विपरीतकार्यकारणता प्रत्यनुदाहरणत्वात्। सर्वत्र च प्रतीयमानयो

वसीयते कारणमिति तत्राह—**चक्षुरादेरिति**। अस्तु तर्ह्यारोप्येणापि सप्रयोग इति तत्राह—**देशान्तरेति**। देशान्तरनिवेशिनो रजतादे स्वरूपेणासतश्च नष्टपुत्रादेरिति योजना। ननु दोषदूषिताक्षादेरस्ति मिथ्याप्रत्ययजननसामर्थ्यमिति तत्राह—**दोषाणां चेति**। स्वाभाविकशक्तिप्रतिबन्धमात्र दोषकृत्य नत्वतिशयाधानमित्यर्थ। ननु दावदाहोपहतवेत्रबीजाना हरिद्राजलावसिक्तहरिद्राङ्गारपरिप्लुष्टहारीतमासस्य च दशरात्र कास्यपात्रोषितस्य सर्पिषश्च दृष्ट विपरीत रम्भाकाण्डारम्भकत्व मरणकारणत्व चेति तत्राह—**दावदहनेति**। दोषाणा विपरीतकार्यकारणता प्रति दावदहनदग्धवेत्रबीजात्कदलीकाण्डजन्मनोऽनुदाहरणत्वात्, कुत ? दग्धस्यावेत्रबीजत्वेनेति योजना। उक्त हि 'भस्मकादिषु कार्यस्य विधातादेव दोषते'ति। ननु ससृष्टव्यवहारदर्शनात्ससर्गज्ञानपूर्वकत्वमितरत्रेवानुमीयत इत्यत आह—**सर्वत्रेति**। सुषुप्त्यातौ सर्वत्र ससृष्टव्यवहारप्रसक्तिवारणाय प्रतीयमानयोरित्युक्तम्। नन्विद विपर्ययस्थलमात्रलोभेन सकलसमीचीनव्यवहारवर्तिससर्गज्ञानजात हेतुपरिहरणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढ प्रतिभासि मे त्व'मिति न्यायमनुसरतीत्यत

है, क्योकि चक्षु आदि स्वसम्बद्धमात्र के ग्राहक होते है। देशान्तर मे जो वर्तमान है, या जिनका स्वरूप ही नही है, उनके साथ इन्द्रियो के सम्बन्ध की योग्यता नही रहती है। यदि कहा जाय कि दोषदूषित इन्द्रियो मे मिथ्या ज्ञान के हेतु शक्ति हो जाती हे, तथा असन्निकृष्टादि अर्थो को गहण करने की शक्ति हो जाती है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि दोषो को स्वाभाविक कार्यजनन शक्ति के प्रतिरोध 'का हेतुत्व है, भूषिका से दूषित शालि (धान) बीजादि मे ऐसा ही (शक्ति प्रतिरोध ही) देखा जाता है। यदि कहा जाय कि दावाग्निदग्धवेत्र (वेत) बीज से कदली काण्ड 'केला' के जन्म होने से दोषो मे विपरीत कार्य की कारणता सिद्ध होती है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि दोषो की विपरीत कार्य कारणता के प्रति, दावाग्नि से दग्ध वेत्र-बीज से कदलीकाण्ड के जन्म को उदाहरणता (दृष्टान्तता) नही हो सकती है, दग्ध को वेत्र-बीजत्व ही नहीं रहता है कि जिससे उदाहरण हो। यदि कहा जाय कि भ्रमस्थान मे ससर्ग-

संसर्गिणो संसर्गव्यवहारस्यासंसर्गाग्रहनिबन्धनत्वात्, संसर्गज्ञानस्यापि हेतुत्वकल्पनाया गौरवात् । असंसर्गाग्रहप्रसञ्जितसंसर्गव्यवहारमात्रबाधनादेव बाधकस्य बाधकतोपपत्ते । इदमितिप्रत्ययस्य च दोषदूषितचक्षुर्जन्यतयानाकलितविशेषस्य सामान्यमात्रग्रहणरूपत्वात्, रजतमिति चासंनिहित-विशेषविषयस्य संप्रयोगलिङ्गाद्यजन्यतया संस्कारमात्रकारणत्वेन स्मरण-

---

आह—**संसर्गज्ञानस्यापीति**। नन्वयथार्थज्ञानानङ्गीकारे नेद रजतमिति बाधकबोधेन किं बाधितव्यमिति तत्राह—**असंसर्गाग्रहेति**। ननु सर्वमेतदिदं रजतमिति संसर्गग्राहिप्रत्ययविरुद्धमित्याशङ्क्य नेदमेकं ज्ञानमपितु ग्रहणस्मरणात्मकमगृहीतविवेकं ज्ञानद्वयमित्याह—**इदमितिप्रत्ययस्य चेत्यादिना**। इदमितिप्रत्ययस्य ग्रहणरूपत्वादित्युत्तरत्रान्वय । अस्य च ज्ञानस्य स्वप्रकाशस्यापि स्वस्य स्वविषयस्य चेतरस्मादविवेचकत्वस्य वक्ष्यमाणस्यानाकलितविशेषत्वस्य च सिद्ध्यर्थं दोषदूषितेत्युक्तम् । भवत्वेवमेतद्रजतमित्यत्र का वार्तेति ? परिशेषात्स्मृतिरित्याह—**रजतमिति**। असंनिहितत्वेनासंप्रयोगादप्रत्यक्षत्वम्, अगृहीतव्याप्तिकत्वादनुमेयत्वमस्यासंभवि । अननुभूतरजतस्य च प्रत्ययो नोत्पद्यते, तस्मात्सदृशदर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारस्य संजायमानैषा स्मृतिरेवेति भाव । तदुक्तं 'परिशेषात्स्मृतिरेषेति निश्चयो जायतेऽन्तत' इति । ननु स्मृतेर्गृहीतग्रहणस्वभावायास्तद्विपरीतात् ग्रहणाद्गृह्यमाणाच्च गव-

---

के व्यवहार से उस व्यवहार के हेतुज्ञान मे भी संसर्ग विषयत्व के अनुमान से भ्रम की सिद्धि होती है, तो वह कहना भी युक्त नही, क्योकि सर्वत्र ही प्रतीत संसर्गियो के संसर्ग (सम्बन्ध) का व्यवहार (कथन) असंसर्गाऽग्रह (असम्बन्ध के अज्ञान) निमित्तक होता है, यथार्थ ज्ञानस्थान मे भी सम्बन्ध-ज्ञाननिमित्तक सम्बन्ध का व्यवहार ही नही होता है कि जिसके दृष्टान्त से अनुमान हो सके । और असंसर्गाग्रहनिमित्तक व्यवहार की सिद्धि होते, संसर्गज्ञान का भी व्यवहार मे हेतुत्वकल्पना करने पर गौरव होगा । यदि कहा जाय कि अयथार्थ ज्ञान को नही मानने पर 'नेदं रजतम्' यह रजत नही है, इस बाधक ज्ञान से किसका बाध होगा, तो कहा जाता है कि असंसर्ग के अज्ञान से प्राप्त संसर्ग के व्यवहार मात्र के बाध से ही बाधक ज्ञान (नेदं रजतम् इत्यादि) की बाधकता सिद्ध होती है । यदि कहे कि सब ज्ञान के यथार्थ होने पर ही भ्रमत्व प्रसिद्धि की सिद्धि कैसे होगी, तो कहा जाता है कि 'इदं रजतम्' इस ज्ञान मे इदम् यह ज्ञान विशेषाविषयक होता है, वहाँ दोषदूषित नेत्रजन्यता से उस ज्ञान को विशेषविषयत्व नही होता है, किन्तु सामान्यमात्र की ग्रहणरूपता होती है । और रजतम्, यह जो ज्ञान होता है, वह असन्निहित विशेषविषयक होने से, तथा इन्द्रियसम्बन्ध लिङ्गादि से अजन्यता से संस्कारमात्र जन्यत्व के कारण स्मरण

त्वात्, तस्य च दोषहेतुकत्वेन तत्ताशागोचरतया स्वविषयाविवेचकत्वात् । तयोश्चान्योन्यससर्गसाकाक्षसामान्यविशेषालम्बनयो स्वरूपतो विषयतश्चागृहीतासंसर्गयोर्निरन्तरोत्पन्नयो स्वरूपेण यथार्थयोरप्ययथार्थव्यवहारप्रवर्तकयोर्विभ्रमत्वप्रसिद्धेरप्युपपत्ते । तदेव प्रत्ययाना यथार्थत्वेन स्वरूपतो

यादिस्मृतिवत्स्वार्थस्य स्वस्य च किमिति न विवेचकत्वमिति तत्राह—**तस्य चेति ।** दुष्टमनोयोगित्वात् तद्देशकालवैशिष्टच न गृह्णातीत्यविवेचकत्वमित्यर्थ । तथापि कथ स्वरूपतो विषयतश्च विभिन्नाभ्यामाभ्या ससृष्टप्रवृत्तिरित्यत आह—**तयोश्चेति । सामान्यविशेषेति ।** इदमिति सामान्यमात्र, रजताकारो विशेष । नन्विद ज्ञानमिदमि प्रवर्तयतु रजतज्ञान च रजते, किमिति रजतार्थिन पुरोवर्तिनि प्रवृत्तिस्तत्राह—**स्वरूपतो विषयतश्चेति ।** स्यादेतत् किमिदमेकैक व्यवहारहेतु ? उत मिलितम् ? नाद्य, पृथक्प्रदेशे प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न द्वितीय, क्षणिकज्ञानयोर्मेलनायोगादित्यत आह—**निरन्तरोत्पन्नयोरिति ।** यद्यपि मैलन न सभवति तथापि नैरन्तर्येणोत्पत्तिरेव तथाविधप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थ । विनश्यदविनश्यतो सहावस्थान वा नैरन्तर्येण विवक्षित् । ननु यथार्थज्ञानानामपि विभ्रमत्वे सर्वेषामेव किमिति न विभ्रमत्वसिद्धिरिति तदनुपपत्तिरेव विपर्यये प्रमाणमित्यत आह—**स्वरूपेणेति ।** तदुक्त नयवीथ्या—

सन्निहितरजतशकले रजतमतिर्भवति यादृशी सत्या ।
भेदानध्यवसायादियमपि तादृक्परिस्फुरति ।।
साधारण हि रूप तस्याश्चास्याश्च विद्यते तेन ।
तन्मात्रप्रतिभानात्समानतामेव मन्यन्ते ।।
तत्तुल्यव्यवहारप्रवृत्तिरपि युज्यये चात ।
तद्विनिवारणकारणबाधकभावोऽय बाधकस्यापि ।।'

इति वृत्तवादसगतिगर्भ पूर्वपक्षमुपसहरति—**प्रत्ययानामित्यादिना ।** एतेन पीत शङ्ख इत्यादिप्रत्यया अपि व्याख्याता, तेषु ग्रहणाविवेकसमाश्रयणात् । स्वप्न-

---

रूप होता है, वहाँ उस स्मरण के दोषजन्य होने से तत्ता अश को अन्य स्मरण के समान विषय नही करता है, अतएव अपने विषय का विवेचक (इदम् अश से भिन्न रूप से बोधक) नही होता है, इस प्रकार परस्पर ससर्गसाकाक्ष, इद रूपसामान्य और रजतरूप विशेष-विषयक दोनो ज्ञान, स्वरूप से और विषयरूप से अज्ञात संसर्ग वाले निरन्तर उत्पन्न होते है, वहाँ स्वरूप से यथार्थ होते भी अयथार्थ व्यवहार के हेतु होने के कारण विभ्रमत्व प्रसिद्धि की उपपत्ति (सिद्धि) होती है । अत इस उक्तरीति से सब ज्ञानो की यथार्थता

विभ्रमत्वाभावात् विभ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणमलक्षणमेवेति ।

अत्रोच्यते, नैतत्सार यत --

स्वीकारे विभ्रमाणा स्यात्स्वीयसिद्धान्तबाधना ।
अनभ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥ ११ ॥

विगीतविभ्रमाभ्युपगमे सिद्धान्तविरोधात्, अनभ्युपगमे हेतोराश्रयासिद्धेरनुमानानुदयात् । अयथार्थव्यवहारहेतोर्ज्ञानस्य पक्षीकरणाददोष इति चेत्, न, यथार्थस्यापीश्वरज्ञानस्य सर्वव्यवहारहेतोरयथार्थव्यवहार प्रत्यपि हेतुतया तत्र तार्किकाणा सिद्धसाधनत्वात् । इद रजतमित्यत्रापीदमंशविषयस्य वृत्तिज्ञानस्यायथार्थव्यवहारहेतोरप्यधिष्ठानविषयस्य वेदान्तिभिर्यथार्थत्वा-

---

सशययोश्च स्मरणाविवेकत्वमिति सिद्धान्तयति--**नैतत्सारमित्यादिना** । श्लोक विवृणोति—**विगीतेति** । ननूभयसमतायथार्थव्यवहारे हेतुज्ञानमात्रपक्षीकरणादुभयपरिहार इति गङ्गापुरीय मत शङ्कते--**अयथार्थेति** । अयथार्थव्यवहारहेतोर्यथार्थत्वसाधने तार्किकाणा तावदीश्वरज्ञानमादायार्थान्तरमिति दूषयति--**न । यथार्थस्यापीति** । भवतु तान्प्रति, त्वा प्रति तु किमायातमिति तत्राह--**इदं रजतमित्यत्रेति** । अयमर्थ --इद रजतमित्यत्रेदमित्यन्त करणपरिणाम प्रत्यक्ष, रजतमिति तु रजतरूपसस्कारानुरञ्जितेदमशावच्छिन्नात्माविद्यापरिणाम, तयोरेकसाक्षिवेद्यत्वेनैकफलत्वादेकज्ञानत्वमिति हि सिद्धान्त । ततश्चेदमशज्ञाने सिद्धसाधनमिति । अन्यथाख्यातिवादिनामपीदमशज्ञाने समानमेतत् । 'सर्व ज्ञान धर्मिण्यभ्रान्त प्रकारे तु विपर्यय'

के कारण स्वरूप से विभ्रमत्व के अभाव से, व्यवहारमात्र विभ्रम के होने से, विभ्रमोपादानत्व रूप लक्षण ही है । यह पूर्व पक्ष है ॥

अब यहाँ समाधान (उत्तर) कहा जाता है । क्योकि यह उक्त मत सार नही है । यत (जिससे)

उक्त वादी यदि विभ्रम को मानते है, तो सिद्धान्त से विरोध होता है, उन विभ्रमो को नही मानने पर आश्रयऽसिद्धि उद्धत (प्रकट) होती है ॥ ११ ॥

अर्थात् विगीत भ्रम को मानने पर स्वसिद्धान्त से विरोध होगा, नही मानने पर, उक्त-विगीता प्रत्यया यथार्था, प्रत्ययत्वात्, इस प्रत्ययत्व हेतु के आश्रय (पक्ष) की असिद्धि से अनुमान का अनुदय होगा । यदि उभयवादी सिद्ध अयथार्थ व्यवहार के हेतु ज्ञान को पक्ष करने से उक्त आश्रयासिद्धि दोष का अभाव आप कहै, तो दोषाभाव नही कह सकते । क्योकि सब व्यवहार का हेतु यथार्थ भी ईश्वर का ज्ञान अयथार्थव्यवहार के प्रति भी हेतु होता है, अत उस ज्ञान मे तार्किको को सिद्धसाधनता होगी । और "इद रजतम्" यहाँ भी इदम् अशविषयक, अयथार्थ व्यवहार के हेतु रूप भी अधिष्ठानविषयक वृत्ति

ङ्गीकारात् । ज्ञानत्व यथार्थमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वात्प्रमात्ववदिति विवक्षितमिति चेत्, मैवम्, मात्रशब्देनायथार्थवृत्तिव्यावृत्तिविवक्षायामयथार्थव्यवहारे ज्ञानत्वस्य वृत्त्यभावेन सिद्धसाधनत्वात् । अयथार्थवृत्तित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व विवक्षितमिति चेत् न, दुष्टसामग्रचप्रसूतमात्रवृत्तित्वस्य तत्रोपाधे ।

यथार्थशब्देन च सदर्थविवक्षाया नाय सर्प इत्यादिबाधविरोधात्,

इति न्यायात् । धर्मिप्रयुक्तदूषणपरिहाराय रीत्यन्तरमाह—**ज्ञानत्वमिति** । यथार्थवृत्तित्वमात्रसाधने सिद्धसाधनता तदर्थ मात्रग्रहणम् । तथा ज्ञानवृत्तित्वादियुक्ते सत्तायामनैकान्तिकत्व, अयथार्थव्यवहारेऽपि तस्या वृत्तेस्तन्निवृत्यर्थ मात्रग्रहणम् । अत्र मात्रशब्देन किमयथार्थवृत्तित्वाभावमात्र विवक्षित ? कि वाऽयथार्थवृत्तित्वानधिकरणत्वम ? प्रथम प्रत्याह—**मैवम् । मात्रशब्देनेति** । अयथार्थो हि व्यवहारस्तत्रापि ममतस्तत्र च ज्ञानत्वस्यावृत्तिरस्तीत्यर्थान्परमित्यर्थ । ज्ञानत्वमनुभवमात्रवृत्ति ज्ञानमात्रवृत्तित्वादित्याभाससमानयोगक्षेमता च द्रष्टव्या । द्वितीय शङ्कते—**अयथार्थेति** । अत्र दुष्टसामग्रचप्रसूतमात्रवृत्तित्वमुपाधि । नच साधनव्यापकता, दुष्टसामग्रीप्रसूतग्रहणस्मरणयोरपि ज्ञानत्वस्य वृत्ते । व्यवहारत्वसत्त्वादिना व्यतिरेकसिद्धि । मात्रग्रहण तु व्यर्थमेव विषमव्याप्तेरप्युपाधित्वात् ।

किंचोभयोरप्यनुमानयो साध्यगतयथार्थशब्दस्य कोऽर्थ ? कि सत्त्वम् ? उतासद्व्यावृत्तत्वम् ? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—**यथार्थशब्देनेत्यादिना** । ननु

रूप ज्ञान को वेदान्ती यथार्थ मानते है, उसमे सिद्धसाधनता होगी । यदि कहे कि (ज्ञानत्व, यथार्थज्ञानमात्रवृत्ति है, ज्ञानमात्रवृत्ति होने से, प्रमात्व के समान) ऐसा अनुमान विवक्षित है, तो वह भी नही कह सकते, क्योकि मात्रशब्द से यदि, अयथार्थ वृत्ति की व्यावृत्ति (अयथार्थवृत्तित्वाभाव) विवक्षित हो, तो अयथार्थ व्यवहार मे ज्ञानत्व की वृत्तिता के अभाव से सिद्धसाधनता की प्राप्ति होगी, क्योकि आप के मत मे अयथार्थ ज्ञान नही माना जाता है, किन्तु अयथार्थ व्यवहार तो माना ही जाता है, और उसमे ज्ञानत्व नही रहता है, अत उससे अन्य ज्ञान मे वृत्तिज्ञानत्व सिद्ध ही है । यदि (अयथार्थवृत्तित्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व) मात्र शब्द से विवक्षित हो, तो अयथार्थव्यवहार मात्र मे अवृत्तिता से सिद्ध साधनता नही होने से अयथार्थ ज्ञान मे अवृत्तित्व रूप साध्य की पक्ष मे सिद्धि होगी, तो यह भी युक्त विवक्षा नही है । क्योकि "दुष्टसामाग्रचजन्यमात्रवृत्तित्व" उपाधि है ।

वह यह उक्त साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक है । और यथार्थविषया तथा यथार्थमात्रवृत्ति यहाँ यथार्थ शब्द से सत्यार्थ की विवक्षा हो, तो

तुच्छव्यावृत्तार्थविवक्षाया चास्मान्प्रति सिद्धसाधनत्वात् । कि चायथार्थ-प्रत्ययोस्तीत्यस्य प्रत्ययस्य यथार्थत्वे तस्य सालम्बनत्वाय कश्चिदप्ययथार्थ-प्रत्ययोऽभ्युपेय , तथा सति तत्रैव हेतोरनैकान्तिकता । अयथार्थत्वे तस्य प्रत्ययस्य कण्ठोक्त एव व्यभिचार । अयथार्थप्रत्ययोऽस्तीत्येतादृश प्रत्ययो नास्ति किंतु व्यवहारमात्र पदार्थानामससर्गाग्रहनिबन्धनमिति चेत् , मैवम् , सर्वत्र ससर्गव्यवहारस्य व्यवह्रियमाणपदार्थससर्गज्ञानपूर्वकत्वनियमात् । -अन्यथा मध्यमवृद्धव्यवहारेऽप्यससर्गाग्रहादेव तदुपपत्तेर्व्युत्पित्सो ससर्गज्ञा-

---

भवतूत्तरपक्षे त्वा प्रति सिद्धसाधनत्वमन्यथाख्यातिवादिन प्रति कि दूषणमिति तदर्थं सर्वसाधारण दूषण वक्तुमुपक्रमते—**किंचेत्यादिना** । अयथार्थ प्रत्ययोऽस्तीति वाक्य-जन्या तत्प्रयोगमूलभूता वा प्रतीतिरुत्पद्यते न वा ? आद्ये यथार्थाऽयथार्था वा ? उभ-यथाप्येतत्प्रत्ययविषयेणैतत्प्रत्ययेन वानैकान्तिकत्वमुक्त्वाऽनुत्पत्तिपक्ष शङ्कते—**अय-थार्थेति** । अससर्गाग्रहमात्रात् ससृष्टव्यवहारो न युक्त ससर्गज्ञानमन्तरेण ससृष्टव्यव-हारानुत्पत्तिनियमादिति परिहरति—**मैवमिति** । एव नियमानङ्गीकारे बाधक-माह—**अन्यथेति** । गामानयेति हि उत्तमवृद्धेनोक्ते मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्ति दृष्ट्वा बाल इत्थमाकलयति—नूनमनेन पदकम्बेनैतावदर्थविषय ज्ञान ससृष्टप्रवृत्तिहेतुभूत-

---

'नाय सर्प ' यह सर्प नही है, इस बाध से विरोध होगा, क्योकि मत्र ज्ञान सदर्थ-विषयक है, और ज्ञानत्व सदर्थक ज्ञानवृत्ति हे, ऐसा अर्थ दोनो अनुमान का होगा, तहाँ सदर्थ का बाध नही हो सकेगा और तुच्छ सदर्थ से व्यावृत्त (भिन्नार्थ) की विवक्षा मानने पर, अर्थात् मत्र तुच्छार्थभिन्न विषयक होते है, ज्ञानत्व तुच्छार्थक भिन्न ज्ञानवृत्ति होता है, ऐसा मानने पर, हमारे (वेदान्ती) के प्रति सिद्धसाधनता होगी, क्योकि वेदान्त मे मिथ्या भ्रमविषय को भी असत् (तुच्छ) शशशृङ्गादि से भिन्न ही माना जाता है। और अयथार्थ ज्ञान है, इस ज्ञान के यथार्थ होने पर, उस ज्ञान की सालम्बनता (विषयकता) के लिये कोई अयथार्थ ज्ञान मन्तव्य होगा, और अयथार्थ ज्ञान को मानने पर उसमे ज्ञानत्व हेतु की अनैकान्तिकता (व्यभिचारिता) होगी और यदि (अयथार्थ-प्रत्ययोस्ति) अयथार्थज्ञान है, इसी ज्ञान मे अयथार्थत्व हो, तो आपके कण्ठ से कथित ही व्यभिचार है, क्योकि हेतु ज्ञानत्व इसमे है, और साध्य रूप यथार्थत्व नही है । यदि कहे कि "अयथार्थ ज्ञान है" ऐसा ज्ञान नही होना है, किन्तु पदार्थों के अससर्गाग्रह (असम्बन्धाज्ञान) निमित्तक ऐसा व्यवहार मात्र होता है, तो ऐसा कहना नही बन सकता है, क्योकि सर्वत्र सब व्यवहारो को, व्यवहार**विषय पदार्थों के ससर्ग के ज्ञान पूर्वकत्व का नियम है, अर्थात् पदार्थों के ससर्ग के ज्ञान-पूर्वक ही सभी पदार्थों का सर्वत्र सब व्यवहार होता है ।** अन्यथा यदि ऐसा नियम

नानुमानाभावाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेऽप्यससर्गाग्रहादेव ससर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेद, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च, ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामससर्गाग्रहादेव ससर्गव्यवहारोपपत्ते ।

मुत्पादितमिति, पश्चादावापोद्धाराभ्या पदार्थविशेषेषु पदविशेषसामर्थ्य गृह्णातीति व्युत्पत्तिपरिपाटी । तदत्रापि ससृष्टव्यवहारस्य ससर्गाग्रहादेवोपपत्तौ ससृष्टपदार्थविषयप्राथमिकज्ञानानुदयात्तन्मार्गसङ्गतिग्रहायोगादृगत शब्दप्रामाण्येनेत्यर्थ । न केवल शब्दप्रामाण्यस्यैवाय वियोगोऽपि त्वनुमानस्यापीत्याह—**एवमिति**। यथा हि शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वाद् घटवदित्यनुमानाभासे ससृष्टव्यवहारोऽससर्गाग्रहमात्रात्, तद्वन्नित्य शब्दो ध्वनितद्धर्मव्यतिरिक्तत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदित्यत्रापीत्यर्थ । प्रत्यक्षेऽप्याह—**प्रत्यभिज्ञेति**। तत्र हेतु —**ज्वालैकत्वेति**।

नही हो, तो उत्तम वृद्ध की आज्ञा से होने वाले मध्यम वृद्ध के व्यवहार मे भी ससर्गाग्रह से ही उस व्यवहार की सिद्धि होने से व्युत्पत्ति (शब्दशक्तिज्ञान) के इच्छुक को उत्तम मध्यम वृद्ध के व्यवहार से ससर्गविषयक शक्तिज्ञान के अभाव से शब्द की प्रमाणता का अभाव प्राप्त होगा । अर्थात् पिता, आचार्यादि व्युत्पन्न (शक्तिज्ञ) पुत्र-शिष्यादि को कहते है कि (घटमानय = पटमपसारय) घट लावो, पट को हटाओ, तो वहाँ बठा हुआ व्युत्पन्न बालक उस मध्यम वृद्ध के आनयनादि को देखकर, समझता है कि इनको इन शब्दो से इस अर्थ का ज्ञान हुआ है कि जिससे इन्होने यह आनयनादि व्यवहार किया है, और इन शब्दो से इनको इस अर्थ का ज्ञान हुआ है, अत इन सब्दो की इस अर्थ मे शक्ति हे, इस प्रकार से बालक ऊहापोहादिपूर्वक शब्दार्थ को समझता है कि जिससे शब्दो मे प्रमाणता होती हे, यदि ससर्गज्ञान के विना ही प्रवृत्ति हो तो, ससर्गविषयक शक्ति ज्ञान के अभाव से (शक्तिज्ञान के अनुमान नही करने से) बालक व्युत्पन्न नही होगा और न शब्द मे प्रमाणता होगी । यद्यपि शक्तिज्ञान के हेतु व्याकरणादि भी है, तथापि प्रथम और मुख्य हेतु व्यवहारदर्शन ही है । इसीप्रकार, अनुमानाभास = मिथ्या अनुमान के समान, सदनुमानो मे भी अससर्गाग्रह (असम्बन्ध के अज्ञान) से ही ससर्गव्यवहार की सिद्धि से पक्ष मे साध्य के सम्बन्ध के ज्ञान रूप अनुमान का उच्छेद होगा, तथा प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य का उच्छेद होगा, क्योकि दीपादि के अनेक ज्वालाओ मे एकत्व व्यवहार के समान सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा मे भी अससर्गी ज्ञान से ही ससर्गव्यवहार की सिद्धि होगी ।

यत्र दोषशङ्का नास्ति तत्र संसर्गज्ञानानुमानादुपपद्यत एव शब्द-प्रामाण्य, अन्यथान्यथाख्यातिवादिनोऽपि विपर्ययाशङ्कया व्युत्पत्तिविरहा-च्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गो दुर्वार इति चेत्, मैवम्, तव ससर्गज्ञानानुमान-लिङ्गानिरूपणात्। तथाहि—किं दोषाभाव ससर्गज्ञानानुमापक ? कि वा व्यवहारमात्र ? उताविसवादिव्यवहार ? नाद्य, दोषाभावस्य ससर्ग-ज्ञानस्य च व्यभिचारित्वात्, सत्यपि दोषाभावे सामग्रीवैकल्ये ससर्गज्ञाना-

---

दोषशङ्कासदसत्त्वाभ्या नियममन्यथाख्यातिवादिप्रतिबन्द्या शङ्कते—**यत्र दोषे-त्यादिना**। अन्यथाख्यातिवादिनामपि उत्तमवृद्धप्रयुक्तशब्दात्ससृष्टज्ञानमनुमाय तत्र बालस्य व्युत्पत्तिरित्यभिमत, तथा सति यथा क्वचिदविपर्ययेऽपि विपर्ययशङ्का तथा तत्रापि विपर्ययशङ्का सावकाशेति तन्मार्गव्युत्पत्तेरभावात् शब्दप्रामाण्यभङ्ग एव। विपर्ययशङ्कोपशमश्च तत्र दोषशङ्कोपशमात्तदस्मन्मतेऽपि समानमित्यर्थ'। दूषयति—**मैवमिति**। अस्याय व्यवहार ससर्गज्ञानपूर्वक न पुनरससर्गाग्रहादित्यत्र न किचि-ल्लिङ्गमस्तीत्यर्थ। सभवन्ति लिङ्गानि विकल्प्य दूषयल्लिङ्गाभावमेवोपपादयति—**तथाहीत्यादिना**। यत्र दोषाभावस्तत्र ससर्गज्ञानमिति व्याप्तिर्नास्तीत्युक्त तदेव विवृणोति—**सत्यपि दोषाभाव इति**। ननु न दोषाभावमात्रात्ससर्गज्ञानमनुमिनुम

यदि कहे कि जहाँ दोष की आशङ्का नही हो, वहाँ सत्पुरुष वृद्ध के व्यवहारादि द्वारा ससर्गज्ञान के अनुमान से शब्द की प्रमाणता सिद्ध ही होती है। अन्यथा ऐसी व्यवस्था नही मानी जाय तो, अन्यथाख्याति मत मे भी उत्तम वृद्ध के शब्द से मध्यम ज्ञान के अनुमान करके जो बालक की व्युत्पत्ति मानी जाती है, वह नही सिद्ध होगी, क्योकि विपर्यय की शङ्का से व्युत्पत्ति का अभाव होगा, कि जिससे शब्दप्रमाणता के अभाव का प्रसङ्ग दुर्वार होगा। यदि कहे कि जहाँ विपर्यय ज्ञान की शङ्का नही हो सकती है, वहाँ ससर्ग ज्ञान के अनुमान से व्युत्पत्ति आदि की सिद्धि होती है। तो इसी प्रकार अख्याति मत मे भी जहाँ दोष की आशङ्का नही होती है, वहाँ ससर्ग के ज्ञान का अनुमान होता है कि जिससे शब्द की प्रमाणता भी रक्षित रहती है। यह ऐसा कहना युक्त नही। क्योकि आपके अख्यातिवाद मे, ससर्गज्ञान के अनुमान के लिङ्ग (हेतु) का निरूपण नही हो सकता है, क्योकि विचारणीय है कि, ससर्गज्ञान का अनुमापक (अनुमिति हेतु), क्या, दोषाऽभाव है, या व्यवहार मात्र है, अथवा अविसम्वादि व्यवहार है ? वहाँ प्रथम दोषा-भाव, ससर्ग का अनुमापक लिङ्ग नही हो सकता है। क्योकि दोषाभाव व्यभिचारी है, जहाँ दोषाभाव हो, वहाँ ससर्ग ज्ञान हो, यह व्याप्ति नही है, अत एव दोषाभाव के रहते भी ससर्गज्ञान की सामग्री के नही रहने पर ससर्ग का ज्ञान नही होता

नुदयात् । नच दोषाभावविशिष्टसामग्रीसद्भावेन ससर्गज्ञानानुमानम्, सामग्रया कार्यैकसमधिगम्यत्वात् । सति ससर्गज्ञाने सामग्रयनुमान तदनुमाने च ससर्गज्ञानमिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नापि द्वितीय , इद रजतमित्याद्ययथार्थव्यवहारे व्यभिचारात् । नापि तृतीय , विनापि ससर्गग्रहं ससृष्टयोरससर्गाग्रहादेव तदुपपत्ते , त्वन्मते घटत्वतद्वयक्त्यो समवायस्या-

---

किंतु तद्युक्तसामग्रीसद्भावात्तथाच न व्यभिचार , यस्मिन् सति भवत्येव कार्यमिति सामग्रीलक्षणादिति तत्राह–**नच दोषाभावेति ।** भवेदेव यदि सामग्रयेव ज्ञायेत, नत्वेतत्, तस्या कार्यैकमन्यतया ससर्गज्ञानलक्षणकार्यज्ञानतत्सामग्रीज्ञानयो परस्पराश्रयप्रसङ्गादित्याह—**सामग्रया इति । इदं रजतमिति ।** नहि तत्र ससर्गज्ञान तवाभिमतमिति भाव । **विनापीति ।** अविसवादिव्यवहारस्यापि ससृष्टयोरर्थयोरससर्गाग्रहादेवोत्पत्तिसभवात् न ससर्गज्ञान विना काचिदनुपपत्तिर्येन तदनुमापयेदित्यर्थ । अत्र च विसवादिव्यवहाराद्वैषम्यार्थे ससृष्टयोरित्युक्तम् । तेनैतदुक्त भवति—असति ससर्गेऽससर्गाग्रहादुत्पद्यमानो व्यवहारो विसवादीतरत्वविसवादीति । न केवलमस्योक्तवर्त्मना शङ्कितानैकान्त्यमपितु स्पष्टमेव त्वन्मत इत्याह—**त्वन्मत इति । घटत्वेति ।** घटत्वतद्वयक्तिससृष्टव्यवहारस्तावदविसवादी । नचात्र व्यवहारसमये ससर्गज्ञानमस्ति, तत्ससर्गस्य समवायस्य त्वन्मते प्रत्यक्षत्वानङ्गीकारात् , अनुमानस्य चाविसवादिव्यवहारलिङ्गतया प्रागसिद्धे । ततस्तत्राविसवादिव्यवहारस्य ससर्ग-

---

है । यदि दोषाभाव युक्त सामग्री सत्त्व से ससर्ग के ज्ञान का अनुमान कहे, तो नही कह सकते है । क्योकि सामग्री भी एक कार्यमात्र अधिगम्य (अनुमेय) होती है, अत ससर्ग के ज्ञान होने पर, उससे सामग्री का अनुमान होगा, और सामग्री के अनुमान होने पर उससे ससर्ग का ज्ञान होगा, तो इस प्रकार परस्पराश्रय (अन्योन्याश्रय) की प्राप्ति होगी । दूसरा = व्यवहार मात्र भी ससर्ग ज्ञान का लिङ्ग नही हो सकता है । क्योकि (इद रजतम्) इत्यादि अयथार्थ व्यवहार मे व्यवहार व्यभिचारी है । तीसरा = अविसम्वादी (सफल प्रवृत्ति जनक) व्यवहार भी ससर्ग ज्ञान का अनुमापक लिङ्ग नही हो सकता है । क्योकि ससृष्ट (सम्बद्ध) पदार्थ के ससर्ग ज्ञान के बिना भी असससर्गाग्रह से ही उस अविसम्वादी व्यवहार की सिद्धि होती है, और अख्याति मत मे घटत्व और घट व्यक्ति के समवाय की अप्रत्यक्षता से ससर्ग के ज्ञान नही रहते भी सम्वादी व्यवहार देखने से हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारी) भी होता है । और व्यवहार के अविसम्वाद (सफलत्व) को ज्ञान देशान्तर कालान्तर के

प्रत्यक्षतया ससर्गाग्रहेऽपि सवादिव्यवहारदर्शनेनानैकान्त्याच्च। व्यवहाराविसवादस्य च देशान्तरकालान्तराधीनाधिगमतया व्यवहाराधिगमसमयेऽनधिगतत्वेनातल्लिङ्गत्वात् बालस्य मध्यमवृद्धसमवायिससर्गज्ञानानुमानानुदये व्युत्पत्तिविरहप्रसङ्गात्। नच प्रतीतिविरोध, रजताकाराया. प्रतीते शुक्तिकालम्बनतानभ्युपगमात्। नहि रजत शुक्तिरिति परैरपि प्रतीतिरूपेयते। इदमाकारस्य तु रजतज्ञानालम्बनतामनभ्युपगच्छतस्तवैव प्रतीतिविरोध। इद रजतमिति सामानाधिकरण्येन पुरोवर्तिन्यङ्गुलिनिर्देशपुरसरमादानादिव्यवहारदर्शनात्।

ज्ञानपूर्वकत्व व्यभिचरतीत्यर्थ। स्वरूपासिद्धि चाह—**व्यवहारेति**। अविसवादस्य कालान्तराधिगम्यत्वात मध्यमवृद्धवर्तिज्ञानानुमानसमये दुरधिगमतया लिङ्गत्वाभावेन सङ्गतिग्रहणायोगात् पुनरपि स एव दुरात्मा शब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्ग आगत इत्यर्थ। एवमनुमान दूषितम्। यस्तु रजतज्ञानस्यान्यालम्बनत्वेऽनुभवविरोध इति बाधकतर्कोऽभिहितस्त परिहरति—**नचेति**। नत्र कि रजताकारप्रतीति प्रति शुक्तेरालम्बनत्वेऽनुभवविरोध ? इदमाकारस्य वा ? आद्योऽनङ्गीकारपराहत इत्याह—**रजतेति**। द्वितीय दूषयति—**इदमाकारस्यत्विति**। प्रतीतिमेवाभिनयति—**इदं रजतमिति**।

अधीन होने के कारण मध्यम वृद्ध के व्यवहार के ज्ञान के समय, उस अविसम्वादी व्यवहार के अज्ञात होने के कारण वह उस ज्ञान के हेतुरूप लिङ्ग नही हो सकता है, अत बालक को भी मध्यम वृद्ध मे समवाय वाले (समवेत) ससर्ग ज्ञान के अनुमान के अनुदय (अनुत्पत्ति) रहते, व्युत्पत्ति (शक्तिज्ञान) का अभाव प्राप्त होता है (शक्ति का ज्ञान नही हो सकता है)। और रजतज्ञान को अन्य विषयकत्व होने पर प्रतीति विरोध कहा था, वह प्रतीतिविरोध नही है। क्योकि रजताकार ज्ञान को अन्य विषयक मानने पर प्रतीतिविरोध होता, यहाँ तो इदमाकार ज्ञान को इद वस्तु विषयक माना जाता हे। रजताकार ज्ञान को शक्ति का विषयक नही माना जाता है कि जिससे प्रतीति विरोध हो। रजत शुक्ति है, ऐसी प्रतीति अन्यवादी भी नही मानते है। बल्कि इदमाकार को रजत ज्ञान के विषय रूप नही मानने वाले आप से अख्याति वादी को ही प्रतीति विरोध है। क्योकि 'इद रजतम्' यह वस्तु रजत है, इस प्रकार से समानाधिकरणता (अभेद) के द्वारा, पुरोवर्ती वस्तुविषयक अङ्गुलियो से निर्देशपूर्वक उसके ग्रहणादि रूप व्यवहार देखा जाता है, अत पुरोवर्तिविषयक ज्ञान को नही मानने वाले को प्रतीतिविरोध है, अन्य को नही।

नच संविदां विषयव्यभिचारादनाश्वासप्रसङ्गः, विसंवादिव्यवहार-जनकत्वपक्ष इवास्मन्मतेऽप्याश्वासोपपत्तेः। नचासतः संसर्गादेरवभासाभ्युपगमादसत्ख्यातिप्रसङ्गः, भासमानस्य संसर्गादेः सद्विलक्षणतावदसद्विलक्षणतायाः अप्यङ्गीकारात्। नचायथार्थज्ञानजन्मनि करणाभावः, दोषदूषितचक्षुरादेस्तत्करणत्वोपपत्तेः ज्ञानानामाजानतो यथार्थव्यवहारजनकत्वेऽपि दोषवशादयथार्थव्यवहारहेतुत्ववदेव दुष्टानां करणानां विपरीतज्ञानहेतुतायाः

अनाश्वासप्रसङ्गं पूर्वोक्तं परिहरति—**नचेति**। येन हि नियामकेन क्वचिद्विसंवादिव्यवहारजनकत्वेऽपि संविदां न सर्वत्र तच्छङ्कया प्रवृत्त्युच्छेदः, स नास्मन्मतेऽपि दण्डवारित इत्याह—**विसंवादीति**। किंच बोधकतया स्वतः प्रमाणत्वात् ज्ञानानामव्यभिचारस्य चानुमानमात्राङ्कतया प्रमाणमात्राननुप्रवेशित्वात् सितासितव्यभिचारेऽपि चक्षुषः प्रामाण्याङ्गीकाराच्च नाऽनाश्वासशङ्कापि। तृतीयं बाधकं परिहरति—**नचासत इति**। नानिर्वचनीयवादिनामयं दोष इत्यर्थः। एतेन साकाराप्रसङ्गोऽपि परिहृतः। अन्यथाख्यातिवादिना तु त्वदीयव्यवहारेण समानयोगक्षेमत्वमिति द्रष्टव्यम्। यस्तु कारणाभावाद्विपर्यासापलापस्तं परिहरति—**नचायथार्थेति**। ननु समीचीनज्ञानहेतुभ्यो नयनादिभ्यः कथमसमीचीनज्ञानजन्म? नहि जातु कुटजबीजाद्वटाङ्कुरप्ररोह इत्याशङ्कय तत्र प्रतिबन्द्या परिहारमाह—**ज्ञानानामिति। आजानतः**, स्वभावतः। यत्तु दोषोपहतेभ्योऽपि न मिथ्याज्ञानजन्य

जो कहा था कि भ्रम मानने पर भ्रम के स्थान मे ज्ञानो को विषय से व्यभिचार (राहित्य) होने पर, सर्वत्र अविश्वास होगा, सो भ्रम के विषय व्यभिचारिता से सर्वत्र अविश्वास की प्राप्ति नही हो सकती है। क्योकि विसम्वादी व्यवहार जनकत्व पक्ष मे भी सर्वत्र विसम्वादि जनकत्व की शङ्का से विश्वास का अभाव नही होता है, वैसे हमारे मत मे भी भ्रमस्थान मे विषय के साथ ज्ञान का व्यभिचार रहते भी सर्वत्र अविश्वास नही होगा, किन्तु विश्वास होगा कि जिससे निःसदेह प्रवृत्ति भी होगी, अभ्यस्त विषयता आदि से बाधा भावादि से विश्वासादि होगे इत्यादि। और कहा था कि असत् संसर्गादि के ज्ञान को मानने पर, उस स्वीकृति से असत् ख्यातिवाद रूप बुद्ध मत का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) होगा, सो कहना भी युक्त नही, क्योकि भ्रम से भासमान संसर्गादि मे सद्विलक्षणता के समान असद्विलक्षणता भी मानी जाती है। असद्विलक्षणता नही मानने पर असत् ख्याति प्राप्त होगी, वह बात नही है और जो कहा था कि, असत् = अयथार्थ ज्ञान के जन्म मे समर्थ कारण का अभाव है, अतः अयथार्थ ज्ञान नही हो सकता है, यह भी निर्मूल शङ्का है। क्योकि दोषो से दूषित नेत्रादि को भ्रम के कारणत्व सिद्ध होता है। जैसे ज्ञानो को आजानतः (स्वभाव से) यथार्थ व्यवहार के जनकत्व होते भी दोष के वश

अपि सम्भवात्। यथाच दवदाहस्य वेत्रबीजविनाशकत्व रूपान्तरजनकत्व च तथा दोषाणामपि यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्वमयथार्थज्ञानजनकत्व च किं न स्यात्? सर्वत्र चाससर्गाग्रहादेव ससर्गव्यवहारमभ्युपगच्छतः शब्दलिङ्गादिप्रामाण्यभङ्गस्य दर्शितत्वादेव कल्पनागौरवस्यादूषणत्वात्। अससर्गाग्रहमात्रस्य व्यवहाराप्रसञ्जकत्वादेव तत्प्रसञ्जितायथार्थव्यवहारबाधकत्वेन बाधकस्य बाधकत्वोपपादनासम्भवात्। नच व्यवहारव्यवच्छेदो बाध,

---

प्राप्तकार्यप्रतिबन्धकमात्रत्वाद् दोषाणामित्युक्त तत्परिहरति—**यथाच दवदाहस्येति**। दवो वनवह्नि तेन यो दाहस्तस्येत्यर्थं। मा भूद्वनवह्निदग्धवेत्रबीजान्युदाहरण, मा च भूत्तेषा वेत्रबीजता, दाहस्यैव तावदुभयकारकत्वमनुमत तदेव भवतूदाहरणमित्यर्थ। यत्तु ससर्गज्ञानस्यापि ससृष्टव्यवहारहेतुत्वे कल्पनागौरवादससर्गाग्रह एव सर्वत्र ससृष्टव्यवहारहेतुरित्युक्त तत्राह—**सर्वत्रचेति**। प्रमाणबलात्प्राप्तगौरव न दोष।

'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि।
बालाग्रशतभागोपि न कल्प्यो निष्प्रमाणक॥'

इति न्यायादिति भाव। तदेव ससर्गज्ञाने ससृष्टव्यवहारान्यथानुपपत्ति प्रमाणमभिधाय बाधान्यथानुपपत्तिमपि प्रमाणयति—**असंसर्गेति। उपपादनासंभवादिति।**

से अयथार्थ व्यवहार के हेतुत्व भी होता है, वैसे दोषरहित करणो को सत्यज्ञानहेतुत्व होते भी दुष्टकरणो की विपरीतज्ञानहेतुता का भी सम्भव है और जैसे दाग्नि को नेत्रबीजनाशकत्व और रूपान्तर जनकत्व होता है, वैसे ही दोषो को भी यथार्थज्ञानप्रतिबन्धकत्व और अयथार्थज्ञानजनकत्व क्यो न होगा। और सर्वत्र अससर्गाऽग्रह से ही ससर्ग के व्यवहार को मानने वाले के मत मे शब्द, लिङ्गादि की प्रमाणता के भङ्ग को दर्शाया ही गया है। अत ससर्ग के ज्ञान को भी ससृष्ट व्यवहार के हेतु मानने पर जो गौरव दोष कहा था वह दोष नही है, क्योकि उसके बिना अनुमानादि मे प्रमाणता ही नही होती है, अत फलमुखकल्पना गौरव को दूषणत्व नही है। और अससर्गाऽग्रह मात्र को विशिष्ठ व्यवहार के अप्रसञ्जक (असाधक) होने से ही, उस अससर्गाऽग्रह से प्रसञ्जित (प्रसक्त = सिद्ध) अयथार्थ व्यवहार के बाधकत्व रूप से बाधक (नेदमादि) के बाधकत्व के उपपादन (साधन) का असम्भव है, अत बाधकत्व की अनुपपत्ति भी ससर्गज्ञान का साधक है, यदि कहा जाय कि ससर्ग के अभावादि का ज्ञान बाध नही कहा जाता है, कि जिस बाध की अनुपपत्ति मे भ्रम को ससर्ग विषयकमाना जाय, किन्तु ग्रहणादि व्यवहार का उच्छेद (अभाव) बाध कहा जाता है, वह ससर्ग ज्ञान के बिना भी कथन रूप व्यवहार मात्र से हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि

अतदर्थिना तत्र व्यवहारानुदये नेदं रजतमित्यादिज्ञानस्याबाधकत्वप्रसङ्गात् । तदर्थिना च व्यवहारविच्छेदकस्य बाधकत्वे चोरादिज्ञानस्यापि तद्विच्छेदकस्य बाधकतापत्ते ।

नच तद्योग्यताविच्छेदो बाध , तद्विच्छेदे, समयान्तरे पुनस्तत्र व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । योग्यताप्रतिबन्धो बाध इत्यपि न, विवेकज्ञानवेलाया

तदनुपपत्तिरपि ससर्गज्ञानसाधिकेतिशेष । अङ्गीकृत्य तदीय बाध तद्धेतुत्व ज्ञानस्य निरस्तम्, इदानी स एव तु न घटतेऽव्याप्तेरित्याह—**नच व्यवहारेति ।** अस्ति हि विरक्तस्यापि कस्यचित्पुरोवर्तिनीद रजनमिति भ्रान्तिर्नेद रजतमिति बाधश्च । नच तत्र व्यवहारोऽतदर्थित्वाद् अतोऽव्याप्तिरित्यर्थ । लक्षणान्तर शङ्कते—**तदर्थिनामिति । चोरादीति ।** यदा हि कश्चित्क्वचिद्देशे यागे चोरादिज्ञानाद्विच्छिन्नोद्योगो भवति तत्र चोरादिज्ञानस्य यागादिबाधकत्व स्यादित्यर्थ ।

ननु येथ व्यवहारयोग्यता पुरोवर्तिनो रजताद्यात्मना, तद्विच्छेदो बाधस्तयाच नाव्याप्तिरपि, विरक्तस्यापि योग्यतानपायादिनि तत्राह —**नच तद्योग्यतेति ।** तर्हि योग्यताप्रतिबन्धमात्र बाधस्तयाच प्रतिबन्धापाये पुनरपि तत्रैव भ्रमिष्यतीति तत्राह—**योग्यतेति ।** सति पुष्कलकारणे कार्यानुत्पत्तिर्हि शक्तिप्रतिबन्धकल्पिका सा चात्र नास्नि विवेकग्रहणेन विवेकाग्रहस्य निरासादित्यर्थ । लक्षणान्तर दूष-

---

जो कोई विरक्त रजतार्थी नही है, उसको इद रजतम्, का ज्ञान होने पर, उस विषयक ग्रहणादि व्यवहार, विरक्तता मे उदित नही हुआ, और फिर नेद रजतम्, इस ज्ञान का बाधकत्व होता है, अब आप के मतानुसार उस विरक्त ज्ञान मे बाधकत्व नही होगा, क्योकि व्यवहार का उदय ही नही हुआ है कि जिसका व्यवच्छेद हो । रजतादि के इच्छुक के व्यवहार के विच्छेद को बाध कहे, तो तदर्थी के व्यवहार के विच्छेदक (नाशक) को बाधकत्व होने पर चोरादि के ज्ञान को व्यवहार विच्छेदक होने से उसमे बाधकता की प्राप्ति होगी । अर्थात् किसी रजतार्थी को सामने भ्रम से रजत दीख पडा, और सामने चोर या कोई विरोधी दीख पडा कि जिसके भयादि से रजत के ग्रहणादि नही कर सका, वहाँ चोरादि के ज्ञान ही व्यवहार का व्यवच्छेदक हुआ, अत उससे बाधकता प्राप्त होगी ।

व्यवहार योग्यता के व्यवच्छेदक को बाध कहे कि जिससे विरक्त के लिये भी रजतादि रूप से व्यवहार की योग्यता रहने से उसका नेद रजतम्, इससे विच्छेद होगा, अव्याप्ति नही रहेगी । तो वह कहना भी युक्त नही, क्योकि किसी स्थान मे बाधा से व्यवहार योग्यता के व्यवच्छेद होने पर, फिर कभी उसी स्थान मे भ्रम से व्यवहार होता है, उसका अभाव प्राप्त होगा । व्यवहार योग्यता का प्रतिबन्ध बाध है । अत प्रतिबन्ध के अभावकाल मे फिर भी भ्रममूलक व्यवहार होगा, यह कहना

हेत्वभावादेव फलासिद्धौ प्रतिबन्धकल्पनानवकाशात्। नचाग्रहणनिवृत्तिर्बाध, सर्वग्रहणानां तथात्वेन बाधरूपत्वप्रसङ्गात्। अतो न व्यवहारनिवारणेन बाधकस्य बाधकतोपपत्ति। रजतगोचरविज्ञानस्य च दोषदूषितलोचनजन्यतया परिशेषासिद्धौ सस्कारमात्रजन्यतया स्मृतित्वकल्पनायोगात्। नन्वसयुक्तत्वेन रजतज्ञान प्रत्यकारणस्य रजतस्य न तद्गोचरत्व, सर्वत्र साक्षात्कारिज्ञाने तज्जनकस्यैव विषयत्वादिति चेत्, न, प्रत्यभिज्ञाया

यति—**नचाग्रहणेति।** सर्वाणि हि ज्ञानानि स्वप्रागभावनिवर्तकानि निवृत्तिर्वेति बाधकत्व बाधत्व वा स्यात्, तथाच सर्वेऽप्यभ्रान्ता स्युरित्यर्थ। नच विवेकाग्रहनिवृत्तिर्बाध, सर्वभेदज्ञानाना बाधकत्वप्रसिद्ध्यभावादित्यपि द्रष्टव्यम्। अन्यथोपपत्तिनिराकरणमुपसहरति—**अत इति।** परिणताज्ञाननिवृत्तिर्बाधस्तथाच तत्परिणामरूपमिथ्याज्ञानतदर्थौ विना न बाधसिद्धिरितिखण्डनकार्थ। यत्तु परिशेषात्स्मृतिरित्युक्त तददूषयति—**रजतगोचरेत्यादिना।** असप्रयुक्तविषयत्व साक्षात्कारित्वेऽनुपपन्नमिति शङ्कते—**नन्विति।** दूपयति—**न प्रत्यभिज्ञायामिति।** येषा हि प्रत्यभिज्ञानमेक ज्ञान तेषा तत्तापि चाक्षुष्येनेत्यर्थ। तत्र चक्षुपा सस्कारद्वारा प्रत्यासत्त्या

भी युक्त नही, क्योकि शुक्ति, रजत के विवेक काल मे असंसर्गाऽग्रह (विवेकाज्ञान) रूप हेतु के अभाव मे ही व्यवहार रूप फल की असिद्धि होते, प्रतिबन्ध कल्पना की आवश्यकता नही रहती है। शुक्ति आदि के अग्रहण (अज्ञान = अविवेक) की निवृत्ति बाध है, यह भी नही कह सकते है, क्योकि सभी ज्ञानो को स्वप्रागभाव रूप अग्रहण के निवर्तक होने से, तथा सभी विवेक ज्ञानो को अविवेक के निवर्तक होने से सब ज्ञान को बाध रूपता की प्राप्ति होगी, अत व्यवहार के निवारण मात्र से बाधक के बाधकत्व की उपपत्ति नही हो सकती है, किन्तु अविद्या के परिणाम रूप ज्ञान अर्थसंसर्ग की बाधकता से बाधकत्व की सिद्धि होती है। और जो कहा था कि शुक्ति मे रजत ज्ञान के कारण के अभाव से परिशेषत सस्कार ही कारण है अत रजत का स्मरण होना है, यह कथन भी युक्त नही है। क्योकि रजतविषय के विज्ञान के दोषदूषित नेत्रजन्य होने से परिशेष की असिद्धि होने पर, सस्कार मात्र जन्यता से स्मृतित्व की कल्पना अयुक्त (असम्भव) हो जाती है। यदि कहे कि नेत्र से असयुक्त होने के कारण, रजतज्ञान के प्रति कर्म रूप से अकारण रजत को रजत ज्ञान के विषयत्व नही हो सकता है, क्योकि सभी प्रत्यक्षज्ञान मे उस ज्ञान के जनक (कर्म) को ही ज्ञान विषयत्व होता है। तो यह सशय भी युक्त नही, क्योकि प्रत्यभिज्ञा मे इन्द्रिय से असम्बद्ध (सम्बन्ध रहित) भी तत्ता को ज्ञान

तत्ताया अपि गोचरत्वात् । तत्र सस्कारसचिवमिन्द्रिय तत्ता गोचरयति सस्कारोपस्थापितत्वात्तत्ताया इति चेत्, प्रकृतेऽपि तर्हि सस्कारोपनीत रजत दोषकलुषितेन्द्रियेण विषयीक्रियत इति न दोष ।

तथापि समारोपे कि प्रमाणमिति चेद्, उच्यते--

नयन नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिण ।
ज्ञानस्य कारण तत्त्वाद्यदैव नयनान्तरम् ॥ १२ ॥

एतच्चक्षुरेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजनक चक्षुष्ट्वादिन्द्रिय-

---

चाक्षुपत्वेऽत्रापि सा समेत्याह—**तत्र संस्कारेत्यादिना** । प्रत्यभिज्ञावदेव तत्रोल्लेख-यथार्थत्वप्रसङ्गवारणाय दोषकलुषितेत्युक्तम् ।

यद्यपि सर्वप्रत्यययाथार्थ्यमप्रामाणिक नापि विपक्षे कश्चिद्बाधकस्तथापि समारोपसद्भावे कि प्रमाणं ? नहि परपक्षप्रतिषेधमात्रात्स्वपक्षसिद्धिरित्यधिकविव-क्षायाशङ्कयति—**तथापीति** । श्लोकेनानुमान मगृह्णाति—**नयनमिति** । अत्र नयनविशेप पक्षसाध्ययोर्निवातव्य । कारणमित्यन्ता प्रतिज्ञा । **तत्त्वादिति** । नयनत्वादिन्द्रियत्वाद्वेति हेतु । यथैव नयनान्तरमिन्द्रियान्तर वेति दृष्टान्त । एतदेव विवृणोति—**एतच्चक्षुरित्यादिना** । एतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरण-ज्ञानजनकमिति च साधनीयम् । अन्यथा पूर्वकालैतज्जन्ययथार्थज्ञानातिरिक्तज्ञानजन-कत्वस्योत्तरकाले सभवेन सिद्धसाधनत्वात् । तत्र चक्षुर्मात्रपक्षीकरणे चक्षुरन्तर-जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणेनैतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानेनार्थान्तिरता तन्निवृत्त्यर्थमेतच्च-क्षुर्ग्रहणम् । एव साध्येपि द्रष्टव्यम् । यथार्थज्ञानत्वानधिकरणज्ञानजनकमित्युक्ते प्राभाकराणामप्रसिद्धविशेषणता विरुद्धता च, तन्निवृत्त्यर्थमेतच्चक्षुर्जन्येत्युक्तम् । चक्षुरन्तरजन्यज्ञानस्य यथार्थत्वेनाङ्गीकारेऽप्येतच्चक्षुर्जन्यत्वाभावादेवैतच्चक्षुर्जन्यत्वे सति यथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमस्तीति नाप्रसिद्धविशेषणत्वसाध्यवैकल्ये । व्याहति-निवृत्त्यै यथार्थपदम् । पक्षे त्वेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतच्चक्षुर्जन्यत्वा-

---

गोचरत्त्व होता है । यदि कहा जाय कि वहाँ तो, तत्ता को सस्कार से उपस्थापित (स्मृत) होने से सस्कार सहित इन्द्रिय तत्ता को विषय करती है, तो प्रकृत मे भी सस्कार से उपनीत (उपस्थापित) रजत को दोष-दूषित इन्द्रियविषय करती है, अत दोष नही है ।

उक्त रीति से सब ज्ञान के यथार्थ नही होने पर भी जिज्ञासा हो कि समारोप (भ्रमरूप ज्ञान) मे क्या प्रमाण है, तो कहा जाता है कि—

नयनविशेष नयनजन्य सम्यग् ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान का कारण है, नयन होने से, नयनान्तर के समान ॥ १२ ॥

अर्थात् यह एक चक्षु इस चक्षुजन्य यथार्थज्ञानातिरिक्त ज्ञान का जनक है,

त्वाद्वा चक्षुरन्तरवदिन्द्रियान्तरवच्च । नच चक्षुश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यरिक्तज्ञानजनक न भवति इन्द्रियत्वात् घ्राणवदिति प्रकरणसमता, मनस्यनैकान्तिकत्वात्, तस्य साधारणकारणस्य चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तरसादिज्ञानजनकत्वात् । चक्षुषश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यरिक्तरसादिज्ञानाजनकतया सिद्धसाधनत्वाच्च । नच बहिरिन्द्रियत्वादिति विशेषणान्नानैकान्तिकता, तत्रापि सिद्धसाधनातयास्तादवस्थ्यात् ।

नधिकरणत्वान्न सम्भवति, व्याघातात् । तस्माद्यथार्थज्ञानत्वानधिकरण किंचिच्चक्षुर्जन्य ज्ञान सिद्ध्यतीति चाक्षुषायथार्थज्ञानसिद्धि । एव लिङ्गाभासादिकमपि पक्षीकृत्य साधनीयम् । सत्प्रतिपक्षतामाशङ्क्य दूषयति—**नच चक्षुरित्यादिना ।** यथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनक न भवतीत्युक्ते व्याप्त्यसिद्ध्या बाधानैकान्तिकते स्याताम् तन्निवृत्त्यर्थं चक्षुर्जन्येत्युक्तम् । चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानाजनकत्व, चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वाभावाद्वा व्यतिरिक्तज्ञानाजनकत्वाद्वा । आद्य पक्षो व्याहत । द्वितीयस्तु सिद्धचन्नयथार्थज्ञानजननिवारणेन सिद्ध्यतीत्यर्थ । अनेकान्तिकतामेव दर्शयति—**तस्येति ।** सिद्धसाधनता चाह—**चक्षुष इति ।** मनस्यनैकान्तिकतापरिहाराय विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—**नचेति ।** प्रकारान्तरेण

चक्षु होने से वा इन्द्रिय होने से, अन्य चक्षु वा इन्द्रियान्तर के समान । यह अनुमान प्रमाण है, क्योकि एतच्चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान से अतिरिक्त भ्रमरूप ज्ञान ही पक्ष मे सिद्ध होता है, और दृष्टान्त मे एतच्चक्षुजन्ययथार्थ ज्ञान से अतिरिक्त तच्चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान से ही साध्य की प्रसिद्धि होती है। यदि कहे कि (चक्षु, चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान का जनक होता हुआ अतिरिक्त ज्ञान का जनक नही होता है, इन्द्रिय होने से, (घ्राण के समान) इस प्रकार से प्रकरण समता (सप्रतिपक्षता) दोष से पूर्वानुमान दुष्ट है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि यह इन्द्रियत्व हेतु मन मे अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है। मन के सब ज्ञान के साधारणकारण होने से चक्षुजन्य यथार्थ ज्ञान के जनक होता हुआ, उससे अतिरिक्त रसादि के ज्ञान का भी मन जनक है, अत चक्षुजन्य यथार्थज्ञानातिरिक्त ज्ञानाजनकत्व रूप साध्य मन मे नही है, और इन्द्रियत्व रूप हेतु है, और चक्षु को चक्षुर्जन्य यथार्थज्ञानजनकत्व होते भी तदतिरिक्त रसादि ज्ञान के अजनक होने से सिद्ध साधनता दोष भी है। यदि कहे कि बहिरिन्द्रियत्वात् इस प्रकार से इन्द्रिय रूप हेतु मे बहि विशेषण लगाने से अनैकान्तिकता नही होगी, क्योकि मन मे साध्य नही है, तो बहिरिन्द्रियत्व भी नहीं है। तो भी उक्त सिद्धसाधनता की स्थिति वैसी ही रहती है, यदि कहे कि नेत्रजन्य यथार्थज्ञान का जनक होता हुआ, अतिरिक्त ज्ञान-

नच यथोक्तयथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणतया साध्यस्य विविक्षितत्वाददोष, घ्राणादिषु चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वस्यैवोपाधे सत्त्वात्। नच व्यतिरेकोपसहारस्थलाभाव, मनसश्चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकस्यातिरिक्तज्ञानजनतया व्यतिरेकोपसहारभूमित्वात्।

सिद्धसाधनतापरिहारमाशङ्क्य निषेधति—**नच यथोक्तेति**। अतिरिक्तज्ञानजनकत्वाभावमात्र न साध्य किन्तु तदत्यन्ताभावस्तथाच न सिद्धसाधनम्, अयथार्थज्ञानजनकत्ववादिनामतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावासिद्धे। अत्र च बहिरिन्द्रियत्वादित्येव हेतु, अन्यथा मनस्यनैकान्त। तत्र हेतु—**घ्राणादिष्विति**। ननु यत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानाजनकत्व नास्ति तत्र चक्षुर्जन्ययथार्थज्ञानजनकत्वे सत्यरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वमपि नास्तीति व्यतिरेक क्व निश्चित? इत्यत आह—**नच व्यतिरेकेति**। नच तत्राप्यान्तरेन्द्रियत्वमुपाधि, आन्तरपदस्य पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वात्। तथा प्रमाणत्वमनुभवाद्व्यावृत्त अनुभवत्वातिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वावान्तरजातित्वात् स्मृतित्ववत्। प्रमानुभूत्योश्च लक्ष्यलक्षणभावाङ्गीकारादभेदसिद्धि। पूर्व चाक्षुपविभ्रमसद्भावे प्रमाणमुक्तम्।

जनकत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व रूप साध्य के विवक्षित होने से सिद्धसाधनता दोष नही होगा, क्योकि चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञान जनकत्व युक्त तदतिरिक्त ज्ञान जनकत्वाभाव मात्र साध्य नही है, कि जिससे रसादि के ज्ञान के अजनक होने से चक्षु मे सिद्धसाधनता हो, कि अतिरिक्तज्ञानजनकत्वात्यन्ताभाव, विवक्षित है, और अयथार्थ ज्ञान के जनकत्ववादी के मत मे अतिरिक्त ज्ञान के जनकत्व का अत्यन्ताभाव प्रसिद्ध है, अत सिद्ध साधनता नही है और बहिरिन्द्रियत्व हेतु है, अत मन मे अनैकान्तिकता नही है। यह कथन भी युक्त नही है, क्योकि घ्राणादि मे, चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानाऽजनकत्व उपाधि का सत्त्व है। घ्राणादि मे (चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानजनकत्व युक्त अतिरिक्त ज्ञानजनत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व) रूप साध्य है, और उक्त उपाधि भी है, अत उपाधि साध्य का व्यापक है, और नेत्र रूप पक्ष मे बहिरिन्द्रियत्व रूप हेतु है, और उपाधि नही है, अत साधन का अव्यापक है। जिज्ञासा (शङ्का) होती है कि घ्राणादि मे तो साध्य के साथ उक्त उपाधि की अन्वयव्याप्ति समझी गई, परन्तु व्यतिरेकोपसहार (उपाधि के अभाव से साध्याभाव का प्रदर्शन) के स्थान का अभाव है। अर्थात चक्षुर्जन्यज्ञानाजनकत्व रूप उपाधि जहाँ नही है, वहाँ चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानजनकत्व युक्त अतिरिक्त ज्ञानजनकत्वाभावाधिकरणत्व भी नही है। इस व्यतिरेक का कोई स्थान नही है, तो यह युक्त नही, क्योकि चक्षुर्जन्य यथार्थ ज्ञानजनक मन को अतिरिक्त ज्ञानजनकत्व होने से व्यतिरेकोपसहारभूमित्व (स्थानत्व) है।

विवादपदानि पदानि स्वस्मारितपदार्थान्वयप्रतिपादकानि आकाङ्क्षासन्निधिमत्पदकदम्बकत्वाद् गामानयेत्यादिपदकदम्बवत् । नच **योग्यतावत्त्वमुपाधि , साध्येन समव्याप्त्यभावात्** । आकाङ्क्षासन्निधिरहितपदेषु योग्यतावत्त्वेऽपि साध्याभावात् । नचाकाङ्क्षादिमत्त्वे सति योग्यतावत्त्वमुपाधि , व्यर्थविशेष्यापातात् । नह्याकाक्षासन्निधिमत्त्वे सति योग्यताभावेनान्वय-

---

इदनी शब्दविभ्रम साधयति—**विवादपदानीति** । पदमात्रपक्षीकरणे गामानयेत्यादिपु यथार्थज्ञानजनकेपु सिद्धसाधनता तदर्थं विवादपदग्रहणम् । आकाङ्क्षासन्निधिमान्वन्ति पदानीत्यर्थ । पदाना देवदत्तोऽयमधीत इति वक्तृविशेषानुमापकतयाप्यन्वयप्रतिपत्तिजनकत्वेन सिद्धसाधनताऽत उक्त—**स्वस्मारितेति** । पदकदम्बकत्वात्पदसमूहत्वादित्युक्ते उरगस्तुरग खदिर इत्यादिपदसमूहेष्वनैकान्तिकता तदर्थमाकाङ्क्षाग्रहणम् । तावत्युक्ते 'गामानय प्रासाद पश्ये'त्यत्र साकाक्षयोरप्यसन्निहिततया परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोगी पश्येत्यनयोरनैकान्तिकता तन्निवृत्त्यर्थं सन्निधिमदिति । तावत्युक्ते च, 'अयमेति पुत्रो राज पुरुषोऽपसार्यतामि'ति वाक्ये राज इति पुरुष इति च पदयो सन्निधिमत्त्वेऽपि नैराकाक्ष्येण परस्परमन्वयप्रतीत्यजनकयोरनैकान्तिकता तदर्थमाकाक्षाग्रहणम् । कि समव्याप्तिवादिनायमुपाधिर्दीयते ? विषमव्याप्तिवादिना वा ? नाद्य इत्याह—**साध्येनेति** । तदेव विवृणोति—**आकांक्षेति** । ननु न क्वयमन्वयप्रतीतिजनकत्वे योग्यतावत्त्वमात्रमुपाधि ब्रूम , कितर्ह्याकाक्षासन्निधिमत्त्वविशेषित तथाच समव्याप्तिरस्त्येवेत्यत आह—**नचाकांक्षेति** । हेतुमाह—**व्यर्थविशेष्येति** । आकाङ्क्षासन्निधिमत्त्वेपि यदि क्कचिद्योग्यताभावापराधेनान्वयप्रतीतिर्न स्यात्तत साध्यव्याप्तिसिद्ध्यर्थं योग्यतावत्त्वमुपादेयम्, नचैतदस्ति तादृशा सर्वेषा पक्षत्वादेव साध्याभावनिर्णयस्थलत्वाभावात्, अत पक्षमात्रव्यावर्तकतया पक्षेतरत्वमित्यर्थ । तदेव विवृणोति—**नह्याकांक्षासन्निधीत्यादिना** । द्वितीय दूषयति—**नचेति** । अत्रापि पक्षेतरत्वमेवो-

---

चाक्षुषादि भ्रम के समान शब्द से भी भ्रम होता है। उसका साधक अनुमान है कि (विवाद विषय = इद रजतम् इत्यादि) पद, स्वस्मारितार्थ के अन्वय के प्रतिपादक = बोधक, होते है, आकाक्षासन्निधि वाले पदसमूह होने से, गामानय, इत्यादि पदसमूह के समान। यदि कहे कि योग्यतावत्त्व उपाधि है, क्योकि, गामानय, इत्यादि मे साध्य है, अर्थाऽबाध रूप योग्यता है और पक्ष मे हेतु के रहते भी अर्थाऽबाध रूप योग्यता के नही रहने से साधन का अव्यापक है, तो यह उपाधि कहना युक्त नही, क्योकि उपाधि के दो भेद होते है, एक साध्य उपाधि की समव्याप्ति होती है, और एक विषयव्याप्ति होती है, परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव हो तो वह समव्याप्ति होती है, एक मे व्याप्यता और अन्य मे व्यापकता ही हो तो वह

ज्ञानाजनकत्वमुभयवादिसम्प्रतिपन्नस्थले दृष्टमस्ति। अयोग्यार्थविषयाणामा-काङ्क्षासन्निधिमत्पदानां सर्वेषां पक्षीकरणात्। नच योग्यतावत्त्वस्य विषम-व्यापकत्वेनोपाधिता, यदयोग्यार्थं तदन्वितप्रतिपत्तिजनकं न भवतीति व्यतिरेकोपसंहारस्थलस्य पूर्वोक्तन्यायेन दर्शयितुमशक्यत्वात्। नच विवाद-पदानि पदानि स्वस्मारितार्थान्वयप्रमितिजनकानि, आकांक्षासन्निधिमत्प-

---

पाधिव्यतिरेकस्य साध्यव्यतिरेकेण व्याप्त्यनिर्णयात्। जरद्गवादिवाक्यानां पक्षतु-ल्यत्वात्, 'खदिरस्तुरग' इत्यादिपदानामाकाङ्क्षाद्यभावादेवान्वयप्रतीत्यजनकत्वादि-त्यभिप्रेत्याह —**यदयोग्यार्थमिति**। आभाससमानयोगक्षेमतामाशङ्क्य निषेधति—**नचेति**। नेदं रजतमिति समनन्तरबाधकप्रमाणविरोधात् प्रमितिजनकत्वानुमानं कालात्ययापदिष्टम्, नैवम् प्रतीतिमात्रजनकत्वानुमाने किंचिद्बाधकमस्ति, उक्तानां सविद्धि-

---

विषम व्याप्ति कहाती है, प्रकृत मे साध्य के साथ समव्याप्ति का अभाव है, क्योकि आकांक्षा-सन्निधि रहित पदो मे योग्यता के रहते भी साध्य का अभाव रहता है, जैसे कि (अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषमपसारय) यह आता है पुत्र राजा का पुरुष को हटाओ। भाव है कि आकांक्षा सन्निधि के नही रहते भी यहाँ केवल योग्यता से बोध होता है कि, ये राजा के पुत्र आते है अन्य पुरुषो को हटाओ, अन्यथा, यह पुत्र आता है, राजा के पुरुषो को हटाओ, ऐसा बोध की प्राप्ति होगी। अतः यहाँ पदो मे योग्यता रूप उपाधि है, स्मारितापदार्थान्वयप्रतिपादकत्व रूप साध्य नही है। यदि आकाक्षादि युक्त योग्यतावत्त्व उपाधि कहे, तो नही कह सकते है, क्योकि व्यर्थ विशेष्यता की प्राप्ति होती है। यतः, आकाक्षा सन्निधि युक्तत्व रहते, योग्यता के अभाव से अन्वयज्ञानाऽजनकत्व जहाँ हो, ऐसा स्थान कोई उभयवादी सम्मत दृष्ट नही है, और योग्यतावत्त्व विशेष्य की तभी सार्थकता होती कि जब उभय सम्मत कोई ऐसा स्थान होता, सो है नही, क्योकि अयोग्यार्थविषय वाले आकाङ्क्षा-सन्निधि युक्त सब पदो को पक्ष किया गया है। अतः वह साध्याभाव का निर्णीत स्थान नही हो सकता है, अत एव यह उपाधि पक्षेतरत्व रूप है, अतः अनुपाधि है। यदि कहे कि योग्यता वत्त्व को विषम व्यापकत्व रूप से उपाधिता है। [अर्थात् जहाँ स्वस्मारित पदार्थान्वय प्रतिपादकत्व है, वहाँ योग्यतावत्त्व है, [वह उक्त साधन का अव्यापक है। तो यह कहना भी नही बनता है, क्योकि, जो अयोग्यार्थक ([योग्यता रहित) पद समूह है, वह अन्वितार्थ (वाक्यार्थ) ज्ञान का जनक नही है, इस प्रकार उपाध्यभाव से साध्याभाव के उपसंहार के स्थान को पूर्वोक्त न्याय से देखना अशक्य है, अर्थात् पक्ष से भिन्न ऐसा स्थान नही है, यदि कहा जाय कि (विवादविषय = इदं रजतम् = इत्यादि पदसमूह, स्वस्मारितार्थ की प्रमिति =

दत्वात्, गामानयेति पदवदित्याभाससमानयोगक्षेमता, तत्र बाधकप्रमाण-विरोधेन कालात्ययापदिष्टत्वात्। प्रतीतिमात्रसाधने नु बाधाभावात्। उक्त चैतद्भट्टाचार्यै—'अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्द करोति ही'ति। विपक्षे च प्रतिपक्षाप्रतिपत्तौ तन्निराकरणाय कथारम्भासम्भवो बाधक। तथाहि—शब्दोऽनित्य इति शब्दस्यानित्यत्वे वादिना प्रतिपादिते यदि न तत्प्रतिवादी प्रतिपद्येत तदा वादिना परिषदा च विज्ञातस्यापि स्वयम-

---

रोधादीना प्रागेव वरिहृतत्वादित्यभिप्रेत्याह—**तत्र बाधकेति**। षशविषाण खपुष्पमित्याद्यसत्यर्थेऽत्यन्तायोग्येऽप्याकाक्षासन्निधिमाञ्छब्दो ज्ञान करोतीति भट्ट-वार्तिकार्थ। योग्यतारहितस्याप्याकाक्षादिमत प्रतीतिजनकत्वानङ्गीकारे प्रतिवा-दिवाक्याच्छब्दोऽनित्य इत्यादेर्योग्ययो शब्दानित्यत्वयो ससृष्टप्रतीत्यनुपपत्तौ तदनुवादाभावेन तन्निराकरणाय ग्रन्थकरणादिरूपकथानारम्भप्रसङ्गो बाध इत्याह—**विपक्षे चेति**। एतदेव विकल्पपूर्वक विवृणोति—**तथा हीति**। यदि न बुद्ध्येत ? बुध्येत वा ? इत्यपि द्रष्टव्यम्। आद्ये तन्निराकरणमशक्यमित्यपि द्रष्टव्यम्। न केवलमप्रतिबुद्धस्य निराकरणमशक्य निग्रहस्थानापत्तिश्चेत्याह—**तदा वादिनेति**। इद च विशेषण "अविज्ञात चाज्ञानमिति" सूत्रस्यचकारानुकृष्टोऽर्थोऽविज्ञातार्थाति-व्याप्तिपरिहार प्रयोजनम्। 'परिषत्प्रतिवादिभ्या त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञाता-

---

प्रमाज्ञान के जनक हे, आकाङ्क्षा सन्निधि वाले पदसमूह होने से, गामानय, इत्यादि पदो के समान) इस अनुमानाऽऽभास (मिथ्यानुमान) के समान ही उक्त अनुमान की योगक्षेमता है, अर्थात् इस अनुमान के समान वह अनुमान दोष युक्त है, तो यह कहना युक्त नही है। क्योकि इस अनुमान मे नेद रजतम्, यह रजत नही है, इस बाधक प्रमाण के विरोध से कालात्ययापदिष्टता (बाधितता) दोष है, अत इस ज्ञान मे अप्रमात्व के निश्चय से प्रमात्व की अनुमिति नही हो सकती है, और प्रतीतिमात्र साधन, स्वस्मारितार्थ प्रतिपादकत्त्व (बोधकत्व) मे कोई बाधक नही है। क्योकि, प्रतीति मात्र साधनत्व तो 'इद रजतम्, मे क्या कहना है, अत्यन्त अयोग्य आकाङ्क्षा सन्निधि वाले शशविषाणादि पद भी प्रतीति मात्र के जनक होते है, यह श्रीभट्टाचार्य कुमारिल भट्ट ने कहा है कि—(अत्यन्त असत्य अर्थ विषयक ज्ञान को भी शब्द उत्पन्न करता है)। और विपक्ष मे, योग्यतारहित = आकाक्षादि युक्त पदो मे प्रतीति जनकत्व नही मानने मे, कथा के आरम्भ का असभव बाधक है, क्योकि यदि योग्यता रहित आकाक्षादि युक्त पदो द्वारा वादी से कथित अर्थ की प्रतीति प्रतिवादी को नही हो, तो प्रतिपक्ष की अप्रतीति रहते उसके निराकरण के लिये कथा का आरम्भ नही हो सकता है, अर्थात् (शब्दोऽनित्य) शब्द अनित्य है, इस प्रकार से वादी (नैयायिक) के शब्दानित्यत्व के प्रतिपादन करने पर, यदि प्रतिवादी = मीमासक

विज्ञातेऽविज्ञान नाम निग्रहस्थानमापद्येत । प्रतिपत्तौ वा विपर्ययाभ्युपगम-प्रसङ्ग , नहि शब्दस्यानित्यत्वज्ञान तन्नित्यत्ववादिनो यथार्थम् ।

किञ्चैकाधिकरणविरुद्धधर्मद्वयप्रतिपत्तिलक्षणा विप्रतिपत्तिरेव भवन्मते न भवेत् तत्र कुतस्तरा कथाप्रवृत्ति ? कुतस्तमा च विप्रतिपत्तिनिरास ? अपि च सर्वस्य वाक्यस्य ससर्गप्रतीत्यजनकत्वेऽनृतापार्थकनिरर्थकभेदो न स्यात् , समुदायार्थप्रतीतौ सत्यामपि यदर्थो बाधितो भवति तद्वाक्यमनृतमुच्यते,

---

र्थमि'ति सूत्रम् । त्रिरभिहितमपीति । वादिनेति शेष । द्वितीये आह—**प्रतिपत्तौ वेति** । तस्यैव प्रपञ्च **नहि शब्दस्येति** ।

दूषणान्तरमाह—**किं चेति** । एक शब्दादिकमधिकृत्य विरुद्धधर्मविषायण्यौ प्रतिपत्ती हि विप्रतिपत्तिर्न पुनर्भिन्नाधिकरणे नाप्यविरुद्धार्थविषयिण्यौ । नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरित्यनयोर्नित्य आत्मा विभुश्चेत्यनयोर्वा विप्रतिपत्तित्वाभावात् । सेय विपर्यासानङ्गीकारे न भवेत्, नापि व्यवहारद्वयमात्रम् । अप्रतिपत्तौ विरुद्धधर्म-प्रतिपत्तित्वाभावात् । प्रतिपत्तित्वे च विरुद्धधर्माध्यासेनार्थस्यैव भेदापत्तिरित्यर्थ । ननु तादृशधर्मद्वयस्य अस्तुनर्धर्मिव्यतिरिक्तानिष्ठतयाऽग्रहणात्तथाव्यवहार इति चेन्न । एकनिष्ठत्वाप्रतिपत्तौ व्याप्तिग्रहाभावादनुमानानुदयादिति । बाधकान्तरमाह—**अपि चेति** । **सर्वस्येति** । वाक्यमात्रस्येति यावत् । अनृतादीना प्रसिद्ध विवेक दर्शयति तदभावापादनाय—**समुदायार्थेत्यादिना** । अत्र चानृतशब्देन प्रतिज्ञा-

---

उसको नही समझेगा, तो वादी और परिषद = मध्यस्थ, से ज्ञात अर्थ को नही जानने के कारण, अज्ञान नामक निग्रह स्थान (कथाऽनधिकार) को प्राप्त होगा। वादी और परिषद से तीन बार कथित अर्थ के अज्ञान को अज्ञातार्थ रूप निग्रह-स्थान न्यायदर्शन मे कहा गया है, और यदि वादी के (शब्दोऽनित्य) इस वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान प्रतिवादी को होता है, तो विपर्यय के अभ्युपगम (स्वीकार) का प्रसङ्ग होता है, क्योकि शब्द के अनित्यत्व का ज्ञान, शब्द के नित्यत्ववादी को यथार्थ नही हो सकता है ।

भ्रम को नही मानने वाले आप के मतानुसार, एक शब्द रूप अधिकरण मे विरुद्ध नित्यत्व, अनित्यत्व रूप दो धर्म के ज्ञान स्वरूप विप्रतिपत्ति (विरुद्ध पक्ष का ग्रहण) ही नही हो सकता है, तो वहाँ निर्णयार्थक कथा की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, और विप्रतिपत्ति (विरोध) का निराकरण कैसे हो सकता है, और यदि सभी वाक्यो को ससर्ग की प्रतीति के अजनकत्व है, अत कोई वाक्य यदि ससर्ग की प्रतीति के जनक नही है, तो, अनृत, अपार्थक, निरर्थक यह भेद नही होगा। क्योकि जहाँ पदसमुदाय के अर्थ की प्रतीति होते भी जिसका अर्थ बाधित होता है, उस वाक्य को अनृत (प्रतिज्ञा सन्यासादि) कहते है, जैसे, नदी के

यथा नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीति विप्रलम्भकवचनम्, यत्रावयवार्थ-प्रतीतौ सत्यामपि समुदायार्थाप्रतीतिस्तदपार्थकम्, यथा 'दश दाडिमानि षडपूपा कुण्डमजाजिन'मित्यादि। अवयवार्थप्रतीतेरपि यत्राभावस्तन्नि-रर्थक यथा 'नित्य शब्द कचटतपाना गजडदवत्वात् खछठथव'दिति। स चायमनृतापार्थकादिभेद क्वचिदपि शब्दस्य ससर्गप्रतीत्यजनकत्वे न सभवतीत्यलमतिविस्तरेण। यदसत्तन्न प्रकाशते यथा गगनकुसुमम्, असच्च शुक्तिरजततात्म्यमितिचेत्, मैव, गगनकुसुमस्यापि तच्छब्दात्प्र-

---

सन्यासो निरनुयोज्यानुगोऽसिद्धिविशेषश्च विवक्ष्यते। अपार्थकमाह—**यत्रेति**। "पौर्वापर्ययोगादप्रतिसबद्धार्थमपार्थक" "वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थक"मित्यक्षपादसूत्रा-दित्यर्थ। **क्वचिदपीति**। एतेषु मध्ये क्वचिदपीत्यर्थ, ससर्गप्रतीतिमनुमानेनापल-पन्सत्प्रतिपक्षयति—**यदसदिति**। दूषयति—**मैवमिति**। नच यदसत्तदपरोक्षतया न प्रकाशते इति साध्य, तव व्यर्थविशेषणत्वात्। किच तादात्म्य प्रतीत न वा

किनारे = तट, पर पाच फल है, ऐसा किसी वञ्चक का वचन अनृत होता है और जहाँ वाक्य के अवयवार्थ की प्रतीति होने पर भी समुदाय के अर्थ की अप्रतीति हो, वहाँ उस वाक्य को अपार्थक कहा जाता है, जैसे (दशदाडिमानि, षडपूपा, कुण्डमजाजिनम्) दश दाडिम छै मालपूआ, कुण्डा, बकरा का चर्म, ये अपार्थक है। जहाँ अवयवार्थ की प्रतीति का भी अभाव हो, वहाँ निरर्थक कहा जाता है, जैसे (शब्द नित्य है) क च ट त प, ग ज ड द ब होने से ख छ ठ थ के समान। इन अनृतादिको के लक्षण न्यायदर्शन मे निरूपित है। परन्तु कही भी शब्दो के ससर्ग के जनक नही होने पर, ये अनृतादि के भेद नही हो सकेगे, फिर इनके द्वारा निग्रहादि नही हो सकने से कथा ही अव्यवस्थित हो जायगी, अब अतिविस्तार की आवश्यकता नही है। यदि कहै कि जो असत् होता है, वह प्रकाशता नही है, जैसे कि, गगनपुष्प नही प्रकाशता है। और शुक्तिरजत का तादात्म्य (अभेद), भी असत् है, अत वह भी नही प्रकाशता है। अर्थात् = (विवादास्पद पद, स्वस्मारितार्थान्वियप्रतिपादक है, आकाक्षासन्निधिमत्पदसमूह होने से, गामानय, इत्यादि के समान) यह पूर्वोक्त अनुमान (विवादास्पद पद, स्वस्मारितार्थान्वय के प्रतिपादक नही होते है, असदन्वयार्थकपदार्थप्रतिपादकत्वात्। गगनकुसुमपदवत्) इस अनुमान से सत्प्रतिपक्ष वाला है, अत स्वसाध्य का साधक नही है, तो कहा जाता है कि ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि गगनकुसुम की भी गगनकुसुम शब्द से प्रतीति होती है, अत गगनकुसुम के प्रतीयमान = (प्रतीतिविषय) होने से गगन और कुसुम का असत् सम्बन्ध भी भासता है, इससे दृष्टान्त साध्यरहित है। और जिस शुक्ति, रजततादात्म्य की अप्रकाशता को अख्यातिवादी सिद्ध करते है,

तीयमानत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तादात्म्यस्य च प्रतीतावन्यथाख्यातिस्वीकारात्, अप्रतीतावाश्रयासिद्धे, असंसर्गाग्रहबलेन च तद्व्यवहारे तत्रासत्त्वाप्रतीतौ हेतोरपक्षधर्मत्वात्। तस्माद्रजतादिविभ्रमे पुरोवर्तिशुक्तिशकलादि रजताद्यात्मनावभासत इति सिद्धम्।

भवत्वेव विभ्रमसद्भाव, विभ्रमालम्बन तु किमसत्? सदेव वा?

यस्यायमप्रकाश साध्यते, उभयथापि दूषणमाह—**तादात्म्यस्य चेत्यादिना।** ननु तादात्म्य तावत्प्रतीयते अन्यत्र, शुक्तिरजते च प्रतीयेते, तेषा चासंसर्गाग्रहाद-प्रतीतेऽपि विशिष्टतादात्म्ये तद्व्यवहार इति तत्राह—**असंसर्गाग्रहेति।** आश्रया-प्रतीतौ तन्निष्ठतया हेतोरप्यप्रतीतावसिद्धि स्यात्। तथोक्तम् 'एकदेशदर्शन खल्वनुमापक'मिति। भाष्यकारैरप्येकदेशदर्शनादेकदेशान्तरे बुद्धिरिति। एतेन शुक्ती रजताकारेण न प्रकाशते तद्रूपेणासत्त्वात् यथा घट पटरूपेणेति मुरारिरप्यपास्त, प्रमाणस्मृतिविवक्षाया सिद्धसाधनत्वात्, भ्रान्तिविवक्षाया त्वाप्रसिद्धविशेषणता साध्यविकलश्च दृष्टान्त इत्यादेश्च। वादार्थमुपसहरति—**तस्मादिति।**

आरोप निरूप्यारोप्य निरूपयति—**भवत्वेवमित्यादिना।** सदेवेत्यन्यथाख्यात्यात्मख्यात्योर्निर्देश। उभयात्मकमिति तु भेदाभेदवादिनोऽन्यथाख्यातिविशेषस्य,

---

उस तादात्म्य की प्रतीति उन्ह होती है, या नही,'यह विचारणीय है, यदि तादात्म्य की प्रतीति होती है, तो अन्यथाख्याति का स्वीकार करना होगा, क्योकि तादात्म्य के अभावस्थान मे तादात्म्य की प्रतीति हुई है और अप्रतीति नही होती हो, तो आश्रयासिद्धि होगी। क्योकि शुक्तिरजत तादात्म्य, प्रकाशविषय नही होता है, असत् होने से, गगनकुसुमवत्। इस अनुमान से ही तादात्म्य मे प्रकाशाऽविषयत्व सिद्ध किया जाता है। वहाँ तादात्म्य की प्रतीति के बिना किस मे प्रकाशाऽविषयत्व सिद्ध किया जा सकता है, यदि कहे कि तादात्म्य की प्रतीति के बिना ही असंसर्गाऽग्रह के बल से तादात्म्य का व्यवहार होता है। अत व्यवहार मात्र से आश्रय की सिद्धि से आश्रयासिद्धि नही होती है, तो वह कहना युक्त नही, उस असत् तादात्म्य के व्यवहार होने पर भी, वहाँ असत के असत्त्व की अप्रतीति रहते हेतु को अपक्षधर्मता (पक्षाऽवृत्तित्व) की प्राप्ति होगी। अत यह सिद्ध हुआ कि रजतादिविभ्रम मे पुरोवर्ती शुक्तिखण्डादि रजतादि रूप से भासते है, रजतादि का स्मरणमात्र नही होता है।

इस उक्त रीति से विभ्रम का सद्भाव हो, किन्तु विभ्रम का आलम्बन (विषय) क्या है, यह विचारणीय है कि, वह आलम्बन (भ्रमज्ञान का विषय रजतादि) असत् है, या सत ही है, या सदसत् उभय स्वरूप है, या उभय विलक्षण है, वहाँ प्रथम पक्ष असत् नही माना जा सकता है, क्योकि असत् रजतादि मे अपरोक्षाव-

किं वोभयात्मकम् ? उतोभयविलक्षणम् ? इति विवेचनीयम् न तावदसत्, असतोऽपरोक्षावभासानर्हत्वात्, तदादित्सया प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च। क्वचिदसद्विशेषेऽपि प्रतिभासप्रवृत्ती किं न स्यातामिति चेत्, न, विशेषाधिकरणत्वे तुच्छत्वानुपपत्तेस्तस्य निःस्वभावत्वात्। सद्वैलक्षण्यमात्रेणासत्त्वाभिधाने मायावादिमतप्रवेशात्। अन्तरेणापि ज्ञेयसामर्थ्यं निःस्वभावेऽप्यसति स्वकारणविशेषसमासादितस्वभावविशेषज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिमदिति

उभयविलक्षणमिति तु सिद्धान्तस्य। प्रथममसत्ख्यातिं निराचष्टे—**न तावदिति।** **अपरोक्षेति।** शाब्दप्रतीतिव्यावृत्त्यै। ननु यद्यपि शशविषाणादौ प्रवृत्तिप्रतीती न दृष्टे तथाप्यसद्विशेषे रूप्यादौ किं न स्यातामिति शङ्कते— **क्वचिदिति।** सत खल्वयं सामान्यविशेषभावो न त्वसत इति परिहरति—**नेति।** अथासत्त्वं नाम न निःस्वभावत्वं येनेदं दूषणं स्यात् अपितु सद्वैलक्षण्यं तत्राह—**सद्वैलक्षण्येति।** असतोऽप्यापरोक्ष्यं संपादयत्यसद्वादी। **अन्तरेणापीति।** यद्यपि निःस्वभावमसज्ज्ञेयं तथापि तस्य ज्ञेयस्य सामर्थ्यमन्तरेण स्वकारणविशेषात्समनन्तरप्रत्ययादासादितं प्राप्तं स्वभावविशेषो येन विज्ञानेन तत्तथा। तादृशविज्ञानमेवाविद्ययाऽसत्प्रकाशनशक्तिलक्षणया असत्प्रकाशनशक्तिमदिति योजना। एतदुक्तं भवति—यद्यप्यधिपतिसहकार्यालम्बनसमनन्तरात्मकेभ्यः प्रत्ययेभ्यश्चतुर्भ्यश्चित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते इति स्थितिस्तथापि भ्रान्तिस्थलेष्वालम्बनप्रत्ययस्यासत्त्वात् अनर्थक्रियाक्षमत्वादत एव तत्संयुक्तस्याधिपतेश्चक्षुरादेस्तत्सहकारिणश्चालोकस्य सहकारिप्रत्ययस्याभावेऽपि समनन्तरप्रत्ययलक्षणपूर्वज्ञानमात्रात् स्वभाववैचित्र्यवशाद्विज्ञानमुत्पद्यते स्मृतिज्ञानमिव विषयमन्तरेण सामग्रीमात्रप्रयोज्यमिति तदेतद्दूषयति—**तर्हि**

भास (ज्ञान) की अयोग्यता से उसका अपरोक्ष ज्ञान नही हो सकेगा। और अपरोक्ष ज्ञान नही होने पर उसके आदान (ग्रहण) की इच्छा से जो प्रवृत्ति होती है, उस प्रवृत्ति की असिद्धि होगी। यदि कहा जाय कि शशशृङ्गादि असत् की प्रतीति आदि नही होने पर भी कही रजतादि विशेष असत् की प्रतीति, तद्विषयक प्रवृत्ति क्यो न मानी जाय, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि विशेष (भेद = धर्म) के अधिकरणत्व होने पर, तुच्छत्व (असत्व) की अनुपपत्ति (असिद्धि) होगी। निःस्वभाव को असत् कहा जाता है, सामान्य विशेष स्वभाव वाला सत् पदार्थ होता है, शुक्ति, रजत यदि विशेष स्वभाव वाला होगा तो असत् नही रहेगा। यदि कहे कि सत् से विलक्षणता मात्र से रजतादि को असत् कहा जाता है, निःस्वभावत्व से नही, तब तो मायावाद वेदान्तमत का प्रवेश (स्वीकार) होगा। यदि कहे कि असत् के निःस्वभाव होते भी और भ्रम के विषय रूप ज्ञेय के सामर्थ्य के बिना भी स्व कारण विशेष पूर्व प्रत्यय से प्राप्त स्वभाव विशेष वाला विज्ञान ही अविद्या से असत्

चेत्, तर्हि वक्तव्य किमस्या शक्ते शक्यमिति? यद्यसदेव, किमेतस्याः कार्यम्? उतैतज्ज्ञाप्यम्? नाद्य, असतोऽकार्यत्वात् प्रकाशनशक्तित्वव्याघाताच्च। न द्वितीय, प्रकाशान्तराभावात्, अनवस्थानाच्च। तदेव विज्ञानमसत' प्रकाश इति चेत्, न, विज्ञानाश्रया शक्ति प्रति विज्ञानस्यैव शक्त-

---

वक्तव्यमित्यादिना। प्रकाशनशक्तित्वेति। व्यञ्जकत्वात्प्रमाणस्य प्रमेयोत्पादकत्वमयुक्तमित्यर्थ। **प्रकाशान्तरेति।** एतज्ज्ञाप्यमिति कोऽर्थ? एतज्जनितज्ञानस्य विषय इति। तथाच यदनया शक्त्या जन्य ज्ञान तत्किं ज्ञानान्तरम्? आश्रयभूतमेव वा? नाद्य। असज्ज्ञानमन्तरेण द्वितीयज्ञानानुपलब्धेरुपलब्धो वाऽनवस्थानाच्चेत्यर्थ। द्वितीय शङ्कते—**तदेवेति।** दूषयति—**न, विज्ञानाश्रयामिति।** स्यादेतत्-सत्यमाश्रयविषयसापेक्षा शक्तिर्विषयाभावे न भवेत्, शक्तिरेव तु न स्वीक्रियते किं तर्हि विज्ञानमात्रमेव, तस्य च तथाविधमेव रूप कारणविशेषादाहित येन परित्यक्तशक्ति-

---

के प्रकाशन की शक्ति वाला होता है, तो, यह भी कहना चाहिये कि इस शक्ति का शक्य (कार्य = साध्य) क्या है, अर्थात् पदादि मे शक्ति रहती है, तो उसका शक्य अवश्य रहता है, जैसे शक्ति वाला ज्ञान का शक्य होगा, तो वक्तव्य है कि सत् या असत् शक्य (ज्ञान का विषय) है, यदि कहे कि असत् ही शक्य है, तो भी यह वक्तव्य है कि वह असत् शक्य उस ज्ञान की शक्ति का कार्य है, या उसे ज्ञाप्य (बोधनीय) है। प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि असत् मे कार्यत्व नही रह सकता है, दूसरी बात है कि ज्ञान मे प्रकाशनशक्ति होती है, उत्पादन शक्ति नही, यदि कार्योत्पादन शक्ति होगी तो प्रकाश शक्तित्व का व्याघात (बाध) होगा। ज्ञान मे ज्ञानत्व ही नही रहेगा। दूसरा (ज्ञाप्यत्व) पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि प्रकाशान्तर (ज्ञानान्तर) का अभाव है। भाव है कि ज्ञान (प्रकाशन शक्ति वाला) ज्ञापक होगा, तब शक्य ज्ञाप्य होगा और वहाँ शक्ति जन्य ज्ञान का विषय ज्ञाप्य कहायगा, और यहाँ शक्ति वाला ज्ञान एक है, ज्ञानान्तर का अभाव है अत ज्ञाप्य रूप शक्य नही हो सकता है। यदि दूसरा ज्ञान मान भी ले, तो वह ज्ञापनशक्ति वाला होगा, अत उससे भी शक्य ज्ञाप्य होगा, तो अनवस्था होगी, यदि कहे कि शक्तिमान् एक ही ज्ञान असत् का प्रकाशक और प्रकाशस्वरूप रहता है, उससे ज्ञानान्तर उत्पन्न नही होता है कि जिससे अनवस्था हो। तो यह कहना भी बन नही सकता है, क्योकि जो शक्ति का आश्रय विज्ञान शक्य का जनक है, वही विज्ञान, विज्ञानाश्रित शक्ति के प्रति उसी विज्ञान के शक्य रूप से (कार्य रूप से) विषय नही हो सकता है। अर्थात प्रकाशक ही प्रकाश का विषय नही हो सकता है, क्योकि एक ही को एक ही समय सिद्ध (शक्तजनक) रूप से शक्ति का आश्रयत्व, और असिद्ध (कार्य) रूप से उस शक्ति का विषयत्व नही हो

शक्यतया विषयत्वानुपपत्ते । नह्येकस्यैकदैव सिद्धतया शक्त्याश्रयत्वमसिद्धतया च तद्विषयत्व सभवति, युगपदेव सिद्धसाध्यत्वविरोधात् । शक्यमेव तर्हि शक्तेर्माभूदिति चेत् , न, शक्ते कस्य कुत्रेति शक्तशक्यनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् । अस्तु तर्हि स्वकारणविशेषासादितस्वभावभेद विज्ञानमेवासत प्रकाश इति चेत् , न, सदसतो सबन्धानिरूपणात् । असदधीननिरूपणत्व ज्ञानस्य तत्सबन्ध इतिचेत् , न, तदधीननिरूपणत्वस्यापि सबन्धान्तराधीनत्वादसतश्च निरुपाख्यत्वात्सबन्धाधारतानुपपत्ते । ज्ञान-

---

कमपि तदसत्प्रकाशो भवतीति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । दूषयति—**नसदसतोरिति**। ननु शून्यवादिना कथ विज्ञानसत्त्वमभिमत येन सदसतोरिति शक्यवचन स्यात् सत्य, शून्यवादिविशेषोयम्, का तर्हि शून्यवादिता ? विज्ञेयस्य सर्वथा शून्यत्वाङ्गीकारात् । योगाचारेण हि बहि शून्यता वेद्यस्याङ्गीकृता । अनेन त्वन्तरेऽपीति ततो विशेष । यथाचैतत्तथा भट्टशभुना तत्तदभियुक्तवचनान्युदाहरता "अस्याप्यभावमिच्छन्ति ये माध्यमिकवादिन" इत्यत्रोपपादितम् । **सम्बन्धानिरूपणादिति** । यदि हि अविद्यात्मिका शक्ति स्वीकृता स्यत्तदा मावृत कोऽपि सबन्ध,, तामपि परिहरत को नु नामानयो सबन्ध स्यादित्यभिप्राय । असत्प्रकाशोऽयमिति यदिदमसदधीननिरूपणत्व ज्ञानस्य तत्तेनासता तस्य सबन्ध इति शङ्कते—**असदधीनेति** । दूषयति—**न, तदधीनेति** । सबद्धयोर्हि निरूप्यनिरूपकभावो दृष्ट , न हि जातु धौतकलधौतकलशधवलिम्ना तालफलकालिमा निरूप्यमाणो दृष्टचर इत्यर्थ । भवतु सबन्धान्तरमपि सयोगादिलक्षणमिति नेत्याह—**असतश्चेति** । अथ घटस्य प्रकाश इतिवत् कि न स्यादिति तत्राह—**ज्ञानजन्येति** । असत्त्वाद्धेतोर्ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वात् अपरोक्षज्ञानविषयभावानुपपत्ते , घटादि-

---

सकता है, यत 'युगपद' = एक समय ही एक मे सिद्धत्व और साध्यत्व का रहना विरुद्ध है । यदि कहा जाय कि शक्य का निरूपण नही हो सकता है, तो शक्ति का शक्य नही रहे, शक्य नही माना जाय, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि शक्ति का निरूपण (ज्ञान) शक्त और शक्य के निरूपणाधीन होता है, अतएव शक्ति की चर्चा होनेपर जिज्ञासा होती है कि, किस कार्य की शक्ति, किसमे रहती है, इत्यादि । यदि कहे कि ऐसा होने पर, स्व (विज्ञान) कारण (पूर्वप्रत्यय) विशेष से प्राप्त स्वभाव भेद (विशेष) वाला विज्ञान ही असत् का प्रकाश स्वरूप रहे, वही मन्तव्य है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि, असत् का प्रकाश, कहने से सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति द्वारा असत् का प्रकाश के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है, और असत् के साथ सत् प्रकाश को सम्बन्ध का निरूपण नही हो सकता है, (बन नही सकता है) । यदि कहे कि विषयाधीन ज्ञान के आकाशादि का निरूपण होता है, अत

ज्ञानजन्यातिशयानाधारत्वाच्च घटादिवदसतो ज्ञानविषयत्वानुपपत्ते । अयमसदनुभव इत्यसता विना नानुभवो निरूप्यत इति तेनाविनाभाव सबन्ध इति चेत् , मैवम् , अतदुत्पत्तेरतदात्मनश्चानुभवस्य तदविनाभावा-

वदिति दृष्टान्तो व्यतिरेके । शङ्कते—**अयमसदनुभव इति ।** अयमर्थ — अस्ति तावदय निरूप्यनिरूपकभावनियम , तेन हेतुना तेनासता तस्य ज्ञानस्य-अविनाभाव कश्चिदस्ति मूलभूत इति विकल्प्यते इति । परिहरति—**मैवमत-दुत्पत्तेरिति ।** अयमभिसन्धि —त्रिविधोह्यविनाभाव सौगतसमये, स्वभाव कार्यमनुपलब्धिश्च । यदाह कीर्तिर्न्यायबिन्दौ—'त्रिरूपाणि च त्रीण्येव च लिङ्गा-न्यनुपलब्धि, स्वभाव कार्य चेती'ति । तत्रानुपलब्धिरर्थाभावावेदिका, यथा यदुपलब्धिलक्षणप्राप्त सन्नोपलभ्यते सोऽसद्व्यवहारविषय , यथान्यत्र क्वचिद्दृष्ट क्वचिद्देशविशेष उपलब्धिलक्षण प्राप्तो घटपटादिर्नोपलभ्यते, नोपलभ्यते च शशविषाणादिरर्थ इति साधर्म्यवत्प्रयोग । स्वभावकार्याख्यौ तु भावबोधकौ यथा वृक्षशिंशपात्वयो यथा वाऽग्निधूमयोरिति । तदप्युक्त कीर्तिना—

'कार्यकारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् ।
अविनाभावनियमोऽदर्शनान्नतु दर्शनात् ।। इति ।।

असत् के ज्ञान मे असत् विपयाधीन निरूपणत्व (निरूप्यमाणत्व) ही ज्ञान को उस असत् के साथ सम्बन्ध है, तो वह कहना भी नही बन सकता है, क्योकि निरूप्य निरूपक भाव भी सम्बन्धान्तराधीन होता है, अत असदधीन निरूपणत्व को भी सम्बन्धान्ताराधीनता प्राप्त होगी, और असत् को निरूपाख्य (नि स्वरूप) होने के कारण, उसको सम्बन्ध की आधारता नही हो सकती है, और घटादि के समान ज्ञानजन्य विशेषता ज्ञातता रूप अतिशय (आधिक्य) अनाधारता से भी असत् को ज्ञान विषयत्व की अनुपपत्ति (असिद्धि) है । यदि कहा जाय कि, यह असत् का अनुभव है, इस प्रकार का अनुवाद असत् के बिना निरूपित (सिद्ध) नही होता है । अत उस असत् के साथ अविनाभाव (व्याप्यत्व) रूप सम्बन्ध इस ज्ञान को है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि असत् से अनुभव की उत्पत्ति नही होती है, न असदात्मक अनुभव है, अत असत् के साथ अनुभव का अविनाभाव (व्याप्यत्व) होना असम्भव है, अग्नि से धूम की उत्पत्ति होती है, वहाँ अविनाभाव रहता है, और शिंशपा (सीसो) मे वृक्ष स्वभावत्व रहता है, अत शिंशपात्व को वृक्षत्व के साथ अविनाभाव (वृक्षत्व के बिना असद्भाव) रूप सम्बन्ध रहता है । [illegible] मे श्लोक है कि "कार्य कारणभावाद्वा स्वभावाद्वा नियामकात् । अविनाभावनियमो-दर्शनान्नतु दर्शनात्" अर्थात् सपक्ष मे दर्शन, विपक्ष मे अदर्शन रूप अन्वय-व्यतिरेक से अविनाभाव का नियम (निश्चय) नही होता है, किन्तु कार्यकारण [illegible]

सभवात् । तस्मात्स्वप्रत्ययासादितस्वभावभेद विज्ञानमेवासत्प्रकाश इत्यसत्ख्यातिवादिनामसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाण नासत् ।

नापि सत्, नेद रजतमित्यादिबाधविरोधात् । यत्र बाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेत्, न, तत्र प्रमाणानिरूपणात् । तथाहि—भ्रान्त्यनुभवस्तत्र प्रमाणम् ? उत बाधानुभव ? किंवा भ्रमानुपपत्ति ? बाधानुपपत्तिर्वा ? असत्ख्यात्यनुपपत्तिर्वा ? नाद्य, तस्य पुरोवर्तिरजतसत्तामात्रगोचरतयाऽसंनिहिततत्सत्तायामौदासीन्यात् । न द्वितीय, बाधानुभवस्यापि पुरोवर्ति-

---

अन्वयव्यतिरेकाभ्या न भवतीत्यर्थ । तदिह ज्ञानस्यासत्लक्षणार्थबोधकस्वाभाव्यादनुपलब्धिता दूरापेता, सदसतो स्वभावस्वभविन्वाभावाच्च, न स्वभावाविनाभाव उक्त हि न्यायविन्दौ—'स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतु स्वभाव' इति, विज्ञानस्यासदुत्पत्त्यभावाच्च न कार्यकारणभाव इति । असत्ख्यातिनिराकरणमुपसहरति—**तस्मादिति** ।

सत्ख्याति निराकरोति—**नापीति** । न वयमत्रैव सत्त्व ब्रूम येन बाधविरोध स्यादपित्वन्यत्रेति शङ्कते—**यत्रेति** । भवेदेव तद्यन्यत्र सत्त्वे प्रमाण स्यान्नतु तदिति परिहरति—**न तत्रेति** । सभावितप्रमाणानि विकल्प्य दूषयति—**भ्रान्त्यनुभवे**-

---

नियामक स्वभाव मे होता है, असत् अनुभव को न कायकारण भाव है, न नियामक स्वभाव रूप सम्बन्ध है । अत स्वप्रत्यय (कारण) से प्राप्त स्वभावभेद (विशेष) वाला विज्ञान ही असत् का प्रकाश है, यह असत्वादी का मिथ्या प्रलाप है, इससे सिद्ध हुआ कि आरोप्यमाण भ्रमज्ञान का सर्वथा असत् नही रहता है ।

"नेद रजतम्" इत्यादि बाधरूप ज्ञान के साथ विरोध होने से भ्रम ज्ञान का विषय सत् भी नही रहता है, यदि सत्वादी कहे कि जहाँ पुरोदेश मे बाधित होता है, उससे अन्यत्र सत् रहता है, उसी की यहाँ प्रतीति होती है, अत वस्तुत देशमात्र का बाध होता है कि यहाँ नही है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि जो यहाँ भासता है, उसकी अन्यत्र सत्ता मे प्रमाण का अभाव है (प्रमाण नही दीखता है) क्योकि विचार कर्त्तव्य है कि अन्यत्र सत्ता मे भ्रान्ति रूप अनुभव प्रमाण है, अथवा बाध रूप अनुभव प्रमाण है, अथवा भ्रम की अनुपपत्ति प्रमाण है, या बाधाऽनुपपत्ति प्रमाण है, या असत् ख्याति की अनुपपत्ति है, प्रथम बाधानुभव, अन्यत्र सत्त्व मे प्रमाण नही हो सकता है, क्योकि भ्रान्ति रूप अनुभव को पुरोवर्ती रजत सत्ता मात्र गोचरता (विषयकता) से, असन्निहित अन्यत्र उस रजत की सत्ता मे उस भ्रान्ति की उदासीनता रहती है । दूसरा बाध रूप अनुभव भी प्रमाण नही हो सकता है, क्योकि बाधानुभव को भी पुरोवर्ती मे आरोपित वस्तु के अभाव विषयक होने से वह देशान्तर मे उसकी सत्ता का आवेदक (बोधक) नही

न्यारोपिताभावविषयस्य देशान्तरतत्सत्तानावेदकत्वात् । न तृतीय, रजतावभासस्य यथाप्रतीतपुरोवर्तिरजतसत्ता विनानुपपत्तावपि देशान्तरे तदीयसत्तामन्तरेणानुपपत्त्यभावात् । न चतुर्थं, बाधस्य प्रसक्तप्रतिषेधात्मनस्तत्रैव तत्सत्ताक्षेपकतयाऽन्यत्र तत्सत्तानाक्षेपकत्वात् । नच वाच्यमन्यत्रापि तस्यासत्त्वे तत्रापि कुतो न तस्य बाध स्यादिति, तत्र तस्याप्रसक्तेरेव बाधाभावोपपत्तौ तत्सत्ताध्यवसायायोगात् । नेद रजतमिति पुरोवर्तिनि

त्यादिना । प्रत्यक्षमर्थापत्तिर्वा इत्यर्थ । भ्रमानुपपत्ति दूषयति—**न तृतीय इति** । अत्यन्तासत ससर्गस्याप्यपरोक्षप्रतीतिमङ्गीकुर्वतो रजतस्यापि तथाप्रतीतिसभवान्न सत्तापेक्षेति सूचितम् —अनुपपत्तावपीत्यपिना । **तत्रैव तत्सत्तेति** । सन्निधिरित्यर्थं ननु यद्यन्यत्राप्यसदत्रेव तत्रापि बाध स्यान्नत्वेतदस्ति ततो नूनमवगच्छामोऽन्यत्र सदिति तत्राह—**नच वाच्यमित्यादिना** । हेतुमाह—**तत्र तस्येति** । बाधाभावस्त्वन्यथासिद्ध इत्यर्थं । ननु न वय रजतबाधान्यथानुपपत्त्या रजतसत्त्व ब्रूम, अपि तु तादात्म्यमात्रबाधो धर्मिभूत रजत क्वापि परिशिनष्टीत्याशङ्क्य निषेधति—**नेदमिति** । अयमर्थ —कथमिदमवधार्यते तादात्म्यनिषेधोऽयम् ? न धर्मिनिषेध इति । यदि हि धर्मिणो रजतस्य मानान्तरात्सत्त्वमवसीयेत तदा प्रसक्तस्यापीदमशस्येवाबाध इत्यवधार्येत, नत्वेतदस्ति, नहि दूरस्थस्थावरयोर्भेदाग्रहात्परस्परात्मत्वारोपे

हो सकता है, तीसरा भ्रमाऽनुपपत्ति भी प्रमाण नही है, क्योकि रजतावभास (ज्ञान) की जैसे पुरोवर्ती मे आरोपित रजत की सत्ता के बिना अनुपपत्ति है, उस अनुपपत्ति के होने भी, देशान्तर मे उस रजत की सत्ता के बिना अनुपपत्ति का अभाव है, अत देशान्तरस्थ का अर्थापत्ति से ज्ञान नही हो सकता है, क्योकि उसके बिना भी भ्रम सिद्ध होता है । चतुर्थ बाधानुपपत्ति भी अन्यत्र सत्त्व मे प्रमाण नही है, क्योकि प्रसक्त (प्राप्त) का प्रतिषेधरूपबाध को जहाँ प्रतिषेध करना है, वहाँ ही उस प्रतिषध्य वस्तु की सत्ता की आक्षेपकता (प्रापकता) होने से अन्यत्र उसकी सत्ता का अनाक्षेपक (अप्रापक) होता है, अबोधक होता है, अर्थात् प्रसक्ति के बिना प्रतिषेध नही हो सकता है, अत जहाँ सत्ता की प्रसक्ति होती है, वहाँ निषेध भी होता है, अन्यत्र सत्ता से इस निषेध को कोई सम्बन्ध नही रहता है, यदि कहे कि पुरोवर्ती देश मे जैसे वह रजत नही है, वैसे ही यदि अन्यत्र भी नही है (प्रमाणाभाव से नही माना जाता है) तो अन्यत्र भी पुरोवर्ती के समान ही बाध क्यो नही होगा, और बाध होगा, तो प्रसक्ति भी होगी, तो ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि, तत्र, अन्यत्र अप्रसक्ति से ही बाधाभाव की सिद्धि होती हे, अत वहाँ बाध न होने से उसकी सत्ता का निश्चय भी नही हो सकता है, क्योकि बाधाऽभाव अन्यथा सिद्ध है । यदि कहा जाय कि, नेद रजतम्, यह, पुरोवर्ती मे रजत के तादात्म्य (अभेद) के निषेधात्मक बाध रूप

रजततादात्म्यनिषेधात्मबाधानुभवो रजतमर्थात् क्वापि परिशिनष्टीति चेत्, न, तथासति वनस्पत्योरिव विविक्तयोर्द्वयोरप्यत्रैवान्तर प्रतीतिप्रसक्ते । नापि पञ्चम, असत ससर्गस्येव रजतस्याप्यसत ख्यात्युपपत्ते ।

अथाधुनिकस्य कस्यचिन्मतानुसारेणेद रजतमिति ज्ञानमिदमाकाररजताकारयोर्न ससर्गग्राहकमपितु तयोरेकज्ञानसर्गिणोर्भेदाग्रहादयथार्थव्यवहारो गृह्यमाणयोर्भेदाग्राहि सविकल्पकमेक विज्ञान विभ्रम इति भ्रम-

---

नेदिष्ठ तिष्ठतश्च विवेकग्रहात्तादात्म्याशनिषेधे तत्रैवान्तरप्रतीतिवदनयोरस्ति प्रतीति । एतदुक्त भवति—प्रमक्तयोस्तादात्म्याशनिषेधो धर्मिणोस्तत्रैव समनन्तरप्रतीत्या व्यासस्तन्निवृत्तौ निवर्तत इति । नच तत्र सनिहितयोस्तादात्म्यारोप इह तु सन्निहितासन्निहितयोरिति वैषम्यम्, एतादृशेषु तादात्म्यारोपासप्रतिपत्ते, द्वावेतौ नैक इतिवदबाधनाच्च । असत ख्यात्यनुपपत्तिरिति पञ्चम पक्ष निषेधति—**नापि तञ्चम इति ।** असत एव ससर्गस्यापरोक्षतया ख्यातिरिति यस्य मत तस्य का नु नामानुपपत्तिरसतो रजतस्य प्रतीतावित्यर्थ ।

न्यायकल्पतरावुदीरितमाशङ्कते—**अथाधुनिकस्येति ।** न ससर्गोऽत्र प्रतीयते येनासत प्रकाशमानता स्यात् । तद्दृष्टान्तेन च रजतस्य सत्त्व निषेधेताऽपितु शुक्तिरजतयो स्वरूपमात्रग्राहीदमेक विज्ञानमित्यर्थ । तर्हि कि तत्ससृष्टव्यवहारो निर्निबन्धन ? न, भेदाग्रहनिबन्धन इत्याह—**अपि त्विति ।** कथ तर्ह्यख्यातेर्भेदस्तत्राह—**गृह्यमाणयोरिति ।** एक विज्ञानमित्यख्यातेर्भेद, सविकल्पकमिति च

अनुभव, तादात्म्य का निषेध करता है, रजत का नही, अत अर्थात् (तात्पर्य से) रजत को कही परिशेष (अबाधित) सिद्ध करता है, तो यह कहना ठीक नही, क्योकि यदि तादात्म्य मात्र का बाध हो, रजत का बाध नही हो, तो बाध के बाद मे रजत और शुक्ति की पृथक्-पृथक् प्रतीति होनी चाहिये कि जैसे दूर से दो वृक्ष के तादात्म्य की प्रतीति होती है, और समीप मे जाने पर तादात्म्य के बाध होने पर वृक्षो की पृथक् पृथक् प्रतीति होनी है । पञ्चम असत् की ख्याति की अनुपपत्ति भी प्रमाण नही है, क्योकि ससर्ग के समान असत् रजतादि की भी प्रतीति की सिद्धि हो सकती है, इसकी प्रतीति के लिये अन्यत्र सत्ता मानने की आवश्यकता नही है ।

यहाँ किसी आधुनिक मत के अनुसार से शङ्का होती है कि (इद रजतम्) यह रजत हे, यह भ्रम ज्ञान, इदमाकार (पुरोवर्ती वस्तु, और रजताकार के ससर्ग का ग्राहक नही होता हे । अपित्तु किन्तु) उन एक ज्ञान मे सम्बन्ध वाले शुक्ति और रजत के भेद के अग्रहण से उस ज्ञान से अयथार्थ (भ्रम) का व्यवहार होता है, और गृह्यमाण (शुक्ति, रजतादि) के भेद का अग्राहक (अप्रकाशक) सविकल्पक एक ज्ञान भ्रम कहा जाता है, यह भ्रम का लक्षण माना जाता है, अर्थात्

लक्षणाभ्युपगमात् । तथा च नासत कस्यचित्ख्यातिरिति कश्चिद्ब्रूयात्, त प्रति ब्रूयात्—मध्यमवृद्धव्यवहारेऽप्येकज्ञानोपारोहिणो ससर्गिणोरससर्गाग्रहादेव व्यवहारोपपत्तौ बालस्य ससर्गज्ञानानुमानानुदयाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात् । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेऽप्यससर्गाग्रहादेव ससर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेद, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च, ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामससर्गाग्रहादेव ससर्गव्यवहारोपपत्तेरिति गुरुमत-

---

वस्तुमात्रग्राहिणो निर्विकल्पकाद्विवेचित, नेद रजतमित्यादिभ्यश्च भेदाग्राहीति व्यावृत्ति, घट इत्याद्येकैकवस्तुग्राहिविज्ञानमितरस्माद्भेद न गृह्णाति, उक्तरूप चातस्तन्निवृत्त्यर्थ गृह्यमाणयोरित्युक्तम् । एकैकेन ज्ञानेन तु भेदवत्पटादेरप्यग्रहणाद्व्यावृत्ति । फलितमाह—**तथा चेति** । तदेतद्दूषयति—**तं प्रति ब्रूयादिति** । एकज्ञानोपारोहस्वीकारेऽपि ससर्गज्ञानापलापमाम्याद् अख्यातिवादिनि ससर्गज्ञानापलापिन्युक्त शब्दानुमानप्रत्यक्षाप्रामाण्यप्रसङ्ग दोषमत्राप्याह—**मध्यमवृद्धेत्यादिना** । कि चैकस्मिन्नेव घटे स एवाय घटो न भवतीति विभ्रमे लक्षणमव्यापकम् । विद्यमान-

---

प्रभाकर यहाँ इदम अश के अपरोक्ष ज्ञान को, और रजत के स्मरण को स्वीकार करते है और ये आधुनिक दोनो विषयक एक ज्ञान मानते है, यह विलक्षणता है, अत ऐसा होने पर ससर्गाऽविषयत्व प्रभाकर और आधुनिक मत मे तुल्य ही है, जहाँ प्रथम कहा गया है कि प्रभाकर मत मे भी असत् ससर्ग के समान असत् रजत की भी ख्याति मान ले तो असत् ख्याति की उपपत्ति हो जायगी, वहाँ यह प्रभाकर के अनुयायी कोई कहता है कि उक्त रीति से असत् किसी ससर्ग की भी ख्याति नही होती है कि जिससे उसी के समान असत् रजत की ख्याति मानी जाय । परन्तु उस की यह शका अयुक्त है, अत (त प्रति ब्रूयात्) उसके प्रति कहना चाहिये कि, आप का कथन युक्त नही है, क्योकि उक्त (इद रजतम्) इसी ज्ञान के समान, मध्यम वृद्ध के व्यवहार मे भी, एक ज्ञान मे उपारोही (प्राप्त विषय स्वरूप) ससर्गियो (सम्बन्धियो) के अससर्गाग्रह से ही घटानयनादि व्यवहार की सिद्धि होने पर श्रोता द्रष्टा बालक को ससर्ग ज्ञान के अनुमान के अनुदय से शब्द की प्रमाणता के अभाव की प्राप्ति होगी । और इसी प्रकार से अनुमानाऽऽभास के समान सदनुमान मे भी अससर्गाऽग्रह मे ही ससर्ग व्यवहार की सिद्धि होने पर, अनुमान का उच्छेद होगा । और प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता का भी उच्छेद (अभाव) होगा । क्योकि अनेक दीपज्वाला मे एकत्व व्यवहार के समान सभी प्रत्यभिज्ञाओ मे अससर्गाऽग्रह से ही ससर्ग व्यवहार की सिद्धि होगी, इस प्रकार से गुरु (प्रभाकर) मत के निरसन (निराकरण) से ही गुरुमत के परिपोषण मे निपुण बुद्धि वाले का मत भी निरस्त हो गया । अत पृथक् निरसन की आवश्यकता नही है । और कणाद

मभवात्। तस्मात्स्वप्रत्ययासादितस्वभावभेदं विज्ञानमेवासत्प्रकाश इत्यसत्ख्यातिवादिनामसत्प्रलाप इत्यारोप्यमाणं नासत्।

नापि सत्, नेदं रजतमित्यादिबाधविरोधात्। यत्र बाध्यते ततोऽन्यत्रास्तीति चेत्, न, तत्र प्रमाणानिरूपणात्। तथाहि—भ्रान्त्यनुभवस्तत्र प्रमाणम्? उत बाधानुभवः? किंवा भ्रमानुपपत्तिः? बाधानुपपत्तिर्वा? असत्ख्यात्यनुपपत्तिर्वा? नाद्यः तस्य पुरोवर्तिरजतसत्तामात्रगोचरतयाऽसंनिहिततत्सत्तायामौदासीन्यात्। न द्वितीयः, बाधानुभवस्यापि पुरोवर्ति-

---

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां न भवतीत्यर्थः। तदिह ज्ञानस्यासत्लक्षणार्थबोधकस्वाभाव्यादनुपलब्धिना दूरापेता, सदसतोः स्वभावस्वभाविभावाभावाच्च, न स्वभावाविनाभावः उक्तं हि न्यायबिन्दौ—'स्वसत्तामात्रभाविनि साध्यधर्मे हेतुः स्वभावः' इति, विज्ञानस्यासदुत्पत्त्यभावाच्च न कार्यकारणभाव इति। असत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—**तस्मादिति।**

सत्ख्यातिं निराकरोति—**नापीति।** न वयमत्रैव सत्त्वं ब्रूमः येन बाधविरोधः स्यादपि त्वन्यत्रेति शङ्कते—**यत्रेति।** भवेदेव तद्यन्यत्र सत्त्वे प्रमाणं स्यान्नतु तदिति परिहरति—**न तत्रेति।** सम्भावितप्रमाणानि विकल्प्य दूषयति—**भ्रान्त्यनुभवे-**

नियामक स्वभाव से होता है, असत् अनुभव को न कार्यकारण भाव है, न नियामक स्वभाव रूप सम्बन्ध है। अतः स्वप्रत्यय (कारण) से प्राप्त स्वभावभेद (विशेष) वाला विज्ञान ही असत् का प्रकाश है, यह असत्वादी का मिथ्या प्रलाप है, इससे सिद्ध हुआ कि आरोप्यमाण भ्रमज्ञान का सर्वथा असत् नहीं रहता है।

"नेदं रजतम" इत्यादि बाधरूप ज्ञान के साथ विरोध होने से भ्रम ज्ञान का विषय सत् भी नहीं रहता है, यदि सत्वादी कहे कि जहाँ पुरोदेश मे बाधित होता है, उससे अन्यत्र सत् रहता है, उसी की यहाँ प्रतीति होती है, अतः वस्तुतः देशमात्र का बाध होता है कि यहाँ नहीं है, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि जो यहाँ भासता है, उसकी अन्यत्र सत्ता मे प्रमाण का अभाव है (प्रमाण नहीं दीखता है) क्योंकि विचार कर्त्तव्य है कि अन्यत्र सत्ता मे भ्रान्ति रूप अनुभव प्रमाण है, अथवा बाध रूप अनुभव प्रमाण है, अथवा भ्रम की अनुपपत्ति प्रमाण है, या बाधाऽनुपपत्ति प्रमाण है, या असत् ख्याति की अनुपपत्ति है, प्रथम बाधानुभव, अन्यत्र सत्त्व मे प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि भ्रान्ति रूप अनुभव को पुरोवर्ती रजत सत्ता मात्र गोचरता (विषयकता) से, असन्निहित अन्यत्र उस रजत की सत्ता मे उस भ्रान्ति की उदासीनता रहती है। दूसरा बाध रूप अनुभव भी प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि बाधानुभव को भी पुरोवर्ती मे आरोपित वस्तु के अभाव विषयक होने से वह देशान्तर मे उसकी सत्ता का आवेदक (बोधक) नहीं

न्यारोपिताभावविषयस्य देशान्तरतत्सत्तानावेदकत्वात् । न तृतीय, रजतावभासस्य यथाप्रतीतपुरोवर्तिरजतसत्ता विनानुपपत्तावपि देशान्तरे तदीयसत्तामन्तरेणानुपपत्त्यभावात् । न चतुर्थ, बाधस्य प्रसक्तप्रतिषेधात्मनस्तत्रैव तत्सत्ताक्षेपकतयाऽन्यत्र तत्सत्तानाक्षेपकत्वात् । नच वाच्यमन्यत्रापि तस्यासत्त्वे तत्रापि कुतो न तस्य बाध स्यादिति, तत्र तस्याप्रसक्तेरेव बाधाभावोपपत्तौ तत्सत्ताध्यवसायायोगात् । नेद रजतमिति पुरोवर्तिनि

त्यादिना । प्रत्यक्षमर्थापत्तिर्वा इत्यर्थ । भ्रमानुपपत्तिं दूषयति—**न तृतीय इति** । अत्यन्तासत ससर्गस्याप्यपरोक्षप्रतीतिमङ्गीकुर्वतो रजतस्यापि तथाप्रतीतिसभवान्न सत्तापेक्षेति सूचितम् —अनुपपत्तावपीत्यनेना । **तत्रैव तत्सत्तेति** । सन्निधिरित्यर्थ ननु यद्यन्यत्राप्यसदत्रेव तत्रापि बाध स्यान्नत्वेतदस्ति ततो नूनमवगच्छामोऽन्यत्र सदिति तत्राह—**नच वाच्यमित्यादिना** । हेतुमाह—**तत्र तस्येति** । बाधाभावस्त्वन्यथासिद्ध इत्यर्थ । ननु न वय रजतबाधान्यथानुपपत्त्या रजतसत्त्व ब्रूम, अपि तु तादात्म्यमात्रबाधो धर्मिभूत रजत क्वापि परिशिनष्टीत्याशङ्क्य निषेधति—**नेदमिति** । अयमर्थ —कथमिदमवधार्यते तादात्म्यनिषेधोऽयम् ? न धर्मिनिषेध इति । यदि हि धर्मिणो रजतस्य मानान्तरात्सत्त्वमवसीयेत तदा प्रसक्तस्यापीदमशस्येवाबाध इत्यवधार्येत, नत्वेतदस्ति, नहि दूरस्थस्थावरयोर्भेदाग्रहात्परस्परात्मत्वारोपे

हो सकता है, तीसरा भ्रमाऽनुपपत्ति भी प्रमाण नही है, क्योकि रजतावभास (ज्ञान) की जैसे पुरोवर्ती मे आरोपित रजत की सत्ता के बिना अनुपपत्ति है, उस अनुपपत्ति के होने भी, देशान्तर मे उस रजत की सत्ता के बिना अनुपपत्ति का अभाव है, अत देशान्तरस्थ का अर्थापत्ति से ज्ञान नही हो सकता है, क्योकि उसके बिना भी भ्रम सिद्ध होता है । चतुर्थ बाधानुपपत्ति भी अन्यत्र सत्त्व मे प्रमाण नही है, क्योकि प्रसक्त (प्राप्त) का प्रतिषेधरूपबाध को जहाँ प्रतिषेध करना है, वहाँ ही उस प्रतिषेध्य वस्तु की सत्ता की आक्षेपकता (प्रापकता) होने से अन्यत्र उसकी सत्ता का अनाक्षेपक (अप्रापक) होता है, अबोधक होता है, अर्थात् प्रसक्ति के बिना प्रतिषेध नही हो सकता है, अत जहाँ सत्ता की प्रसक्ति होती है, वहाँ निषेध भी होता है, अन्यत्र सत्ता से इस निषेध को कोई सम्बन्ध नही रहता है, यदि कहे कि पुरोवर्ती देश मे जैसे वह रजत नही है, वैसे ही यदि अन्यत्र भी नही है (प्रमाणाभाव से नही माना जाता है) तो अन्यत्र भी पुरोवर्ती के समान ही बाध क्यो नही होगा, और बाध होगा, तो प्रसक्ति भी होगी, तो ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि, तत्र, अन्यत्र अप्रसक्ति से ही बाधाभाव की सिद्धि होनी है, अत वहाँ बाध न होने से उसकी सत्ता का निश्चय भी नही हो सकता है, क्योकि बाधाऽभाव अन्यथा सिद्ध है । यदि कहा जाय कि, नेद रजतम्, यह, पुरोवर्ती मे रजत के तादात्म्य (अभेद) के निषेधात्मक बाध रूप

रजततादात्म्यनिषधात्मबाधानुभवो रजतमर्थात् क्वापि परिशिनष्टीति चेत्, न, तथासति वनस्पत्योरिव विविक्तयोर्द्वयोरप्यत्रैवान्तर प्रतीतिप्रसक्ते। नापि पञ्चम, असत समर्गस्येव रजतस्याप्यसत ख्यात्युपपत्ते।

अथाधुनिकस्य कस्यचिन्मतानुसारेणेद रजतमिति ज्ञानमिदमाकाररजताकारयोर्न मसर्गग्राहकमपितु तयोरेकज्ञानससर्गिणोर्भेदाग्रहादयथार्थव्यवहारो गृह्यमाणयोर्भेदाग्राहि सविकल्पकमेक विज्ञान विभ्रम इति भ्रम-

---

नेदिष्ठ निष्ठतश्च विवकग्रहात्तादात्म्याशनिषेधे तत्रैवान्तरप्रतीतिवदनयोरस्ति प्रतीति। एतदुक्त भवति—प्रसक्तयोस्तादात्म्यारोपनिषेधो धर्मिणोस्तत्रैव समनन्तरप्रतीत्या व्यासन्नवृत्तौ निवर्तत इति। नच तत्र सनिहितयोस्तादात्म्यारोप इह तु सन्निहितासन्निहितयोरिति वैषम्यम्, एतादृशेषु तादात्म्यारोपासप्रतिपत्ते, द्वावेतौ नैक इतिवदबाधनाच्च। असत ख्यात्यनुपपत्तिरिति पञ्चम पक्ष निषेधति—**नापि तञ्चम इति।** असत एव ससर्गस्यापरोक्षतया ख्यातिरिति यस्य मत तस्य का नु नामानुपपत्तिरसतो रजतस्य प्रतीताविन्यर्थ।

न्यायकल्पतरावुदीरितमाशङ्कते—**अथाधुनिकस्येति।** न ससर्गोऽत्र प्रतीयते येनासत प्रकाशमानता स्यात्। तद्दृष्टान्तेन च रजतस्य सत्त्व निषेधेताऽपितु शुक्तिरजतयो स्वरूपमात्रग्राहीदमेक विज्ञानमित्यर्थ। तर्हि कि तत्ससृष्टव्यवहारो निर्निबन्धन? न, भेदाग्रहनिबन्धन इत्याह—**अपि त्विति।** कथ तर्ह्यख्यातेर्भेद-स्तत्राह—**गृह्यमाणयोरिति।** एक विज्ञानमित्यख्यातेभद, सविकल्पकमिति च

अनुभव, तादात्म्य का निषेध करता है, रजत का नही, जत अर्थात् (तात्पर्य से) रजत को कही परिशेष (अबाधित) सिद्ध करता है, तो यह कहना ठीक नही, क्योकि यदि तादात्म्य मात्र का बाध हो, रजत का बाध नही हो, तो बाध के बाद मे रजत और शुक्ति की पृथक्-पृथक् प्रतीति होनी चाहिये कि जैसे दूर से दो वृक्ष के तादात्म्य की प्रतीति होती हे, और समीप मे जाने पर तादात्म्य के बाध होने पर वृक्षो की पृथक् पृथक् प्रतीति होती है। पञ्चम असत् की ख्याति की अनुपपत्ति भी प्रमाण नही हे, क्योकि समर्ग के समान असत् रजतादि की भी प्रतीति की सिद्धि हो सकती है, इसकी प्रतीति के लिये अन्यत्र सत्ता मानने की आवश्यकता नही है।

यहाँ किसी आधुनिक मत के अनुसार से शङ्का होती है कि (इद रजतम) यह रजत हे, यह भ्रम ज्ञान, इदमाकार (पुरोवर्ती वस्तु, और रजताकार के समर्ग का ग्राहक नही होता हे। अपित्तु किन्तु) उन एक ज्ञान मे सम्बन्ध वाले शुक्ति और रजत के भेद के अग्रहण से उस ज्ञान से अयथार्थ (भ्रम) का व्यवहार होता है, और गृह्यमाण (शुक्ति, रजतादि) के भेद का अग्राहक (अप्रकाशक) सविकल्पक एक ज्ञान भ्रम कहा जाता है, यह भ्रम का लक्षण माना जाता है, अर्थात्

लक्षणाभ्युपगमात् । तथा च नासत कस्यचित्ख्यातिरिति कश्चिद्ब्रूयात्, त प्रति ब्रूयात्—मध्यमवृद्धव्यवहारेऽप्येकज्ञानोपारोहिणो ससर्गिणोरससर्गाग्रहादेव व्यवहारोपपत्तौ बालस्य ससर्गज्ञानानुमानानुदयाच्छब्दप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात् । एवमनुमानाभास इव सदनुमानेऽप्यससर्गाग्रहादेव ससर्गव्यवहारोपपत्तेरनुमानोच्छेद, प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्योच्छेदश्च, ज्वालैकत्वव्यवहारवत्सर्वत्र प्रत्यभिज्ञायामससर्गाग्रहादेव ससर्गव्यवहारोपपत्तेरिति गुरुमत-

---

वस्तुमात्रग्राहिणो निर्विकल्पकाद्विवेचित, नेद रजतमित्यादिभ्यश्च भेदाग्राहीति व्यावृत्ति, घट इत्याद्येकैकवस्तुग्राहिविज्ञानमितरस्माद्भेद न गृह्णाति, उक्तरूप चातस्तन्निवृत्त्यर्थ गृह्यमाणयोरित्युक्तम् । एकैकेन ज्ञानेन तु भेदवत्पटादेरप्यग्रहणाद्व्यावृत्ति । फलितमाह—**तथा चेति** । तदेतद्दूषयति—**तं प्रति ब्रूयादिति** । एकज्ञानोपारोहस्वीकारेऽपि ससर्गज्ञानापलापसाम्याद् अख्यातिवादिनि ससर्गज्ञानापलापिन्युक्त शब्दानुमानप्रत्यक्षाप्रामाण्यप्रसङ्ग दोषमत्राप्याह—**मध्यमवृद्धेत्यादिना** । कि चैकस्मिन्नेव घटे न एवाय घटो न भवतीति विभ्रमे लक्षणमव्यापकम् । विद्यमान-

---

प्रभाकर यहाँ इदन् अश के अपरोक्ष ज्ञान को, और रजत के स्मरण को स्वीकार करते ह और ये आधुनिक दोनो विषयक एक ज्ञान मानते है, यह विलक्षणता है, अत ऐसा होने पर ससर्गाऽविषयत्व प्रभाकर और आधुनिक मत मे तुल्य ही है, जहाँ प्रथम कहा गया है कि प्रभाकर मत मे भी असत् ससर्ग के समान असत् रजत की भी ख्याति मान ले तो असत् ख्याति की उपपत्ति हो जायगी, वहाँ यह प्रभाकर के अनुयायी कोई कहता है कि उक्त रीति से असत् किसी ससर्ग की भी ख्याति नही होती है कि जिससे उसी के समान असत् रजत की ख्याति मानी जाय । परन्तु उस की यह शका अयुक्त है, अत (त प्रति ब्रूयात्) उसके प्रति कहना चाहिये कि, आप का कथन युक्त नही है, क्योकि उक्त (इद रजतम्) इसी ज्ञान के समान, मध्यम वृद्ध के व्यवहार मे भी, एक ज्ञान मे उपारोही (प्राप्त विषय स्वरूप) ससर्गियो (सम्बन्धियो) के अससर्गाग्रह से ही घटानयनादि व्यवहार की सिद्धि होने पर श्रोता द्रष्टा बालक को ससर्ग ज्ञान के अनुमान के अनुदय से शब्द की प्रमाणता के अभाव की प्राप्ति होगी । और इसी प्रकार से अनुमानाऽऽभास के समान सदनुमान मे भी अससर्गाऽग्रह मे ही ससर्ग व्यवहार की सिद्धि होने पर, अनुमान का उच्छेद होगा । और प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता का भी उच्छेद (अभाव) होगा । क्योकि अनेक दीपज्वाला मे एकत्व व्यवहार के समान सभी प्रत्यभिज्ञाओ मे अससर्गाऽग्रह से ही ससर्ग व्यवहार की सिद्धि होगी, इस प्रकार से गुरु (प्रभाकर) मत के निरसन (निराकरण) से ही गुरुमत के परिपोषण मे निपुण बुद्धि वाले का मत भी निरस्त हो गया । अत पृथक् निरसन की आवश्यकता नही है । और कणाद

निरमनेनैव गुरुमतपरिपोषणनिपुणमतेर्मत निरस्तमिति । किं च कणभक्षाक्षचरणमतमवलम्ब्यैवमन्यथाख्यातिमन्यथावर्णयतो द्वितीयसूत्रे मिथ्याज्ञानविवेचनवेलायाम्—'इहात्मनि मिथ्याज्ञानमनेकप्रकार वर्तते, तद्यथाऽनित्ये नित्यमिति सभये निर्भय'मित्यादिभाष्यविरोध । 'क पुनर्विपर्यय ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्यय'इत्युद्द्योतकरवार्तिकविरोधश्च प्रसज्येतेति ।

'वध्यता वध्यता बालो नानेनार्थोऽस्ति जीवता ।
स्वपक्षहानिकर्तृत्वाद य कुलाङ्गारता गत ॥'

भेदयोरिति विशेषणेऽपि दूरगिरिशिखरतरुनिकरमात्रग्राहिप्रत्ययेऽतिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । एतन्मतदूषणमुपसंहरति —**इति गुरुमतेति ।** किं च कणादाक्षपादमतावलम्बिना तावदिद वक्त न युक्तम्, भाष्यवार्तिकविरोधेनापसिद्धान्तापातादित्याह— **किंच कणभक्षेत्यादिना । द्वितीयसूत्रे**—'दु खजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग' इति । **आत्मनी**त्यधिकरणे सप्तमी । अत्र ह्यनित्ये इत्यादिसप्तम्या आधाराधेयरूपसम्बन्धग्राहित्व विभ्रमस्य कण्ठोक्तमिति भाव । **स्वपक्षहानीति ।** प्रह्लाद प्रति हिरण्यकशिपुवचनम् । अन्तिमपक्षोक्त-

---

और अक्षचरण (गौतम) मत का अवलम्बन करके इस प्रकार की अन्यथाख्याति को अन्यथा (विकृत रूप) से वर्णन करने वाले को न्यायभाष्यकार और वार्तिककार से विरोध सिद्ध होता है, क्योंकि न्यायदर्शन के दूसरे सूत्र मे, मिथ्या (भ्रम) ज्ञान के विवेचन (विवरण) काल मे भाष्यकार श्रीवात्स्यायन मुनि ने कहा है कि (तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्ते प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकार वर्तते, आत्मनि तावन्नास्तीति, अनात्मन्यात्मेति, दु खे सुखमिति, अनित्ये नित्यमिति, अत्राणे त्राणमिति, सभये निर्भयमिति) आत्मा से मोक्ष पर्यन्त बारह प्रमेयविषयक अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान (भ्रम) होता है, जैसे कि आत्मविषयक, नही है, अनात्मविषयक, यही आत्मा है, दु ख विषयक, यह सुख है, अनित्य विषयक, यह नित्य है । अरक्षक मे रक्षक है, भमय मे निर्भय है, इत्यादि । यहाँ सर्वत्र सप्तमी विभक्ति से आधाराऽऽधेय रूप सम्बन्ध भ्रम का विषय दर्शाया गया है और वार्तिककार ने कहा है कि (क पुनर्विपर्ययोऽनस्मिँस्तदिप्रत्यय) वह विपर्यय (भ्रम) क्या = अतद् मे तद् ऐसा ज्ञान विपर्यय है, यहाँ भी आधाराऽऽधेय भाव सम्बन्ध भ्रम का विषय दर्शाया गया है, अत सम्बन्ध को भ्रम का विषय नही मानने वाले को भाष्य और वार्तिककार से विरोध अवश्य प्राप्त होगा । और भाष्यवार्तिक विरोधी के ऊपर महापुरुषो का फटकार लागू होगा कि जैसे हिरण्यकश्यप का फटकार लागू हुआ था कि—

यह बालक मारा जाय, मारा जाय, इसके जीवित रहने का कोई फल नही है, क्योकि यह अपने पक्ष की हानि के कर्ता होने से कुलाङ्गारता को प्राप्त हुआ है ।

इति न्यायविषयतामय नातिवर्तते। तस्मादसत्ख्यात्यनुपपत्तिरपि नान्यत्र सत्तावेदिकारोपितस्य।

कुत्रचेदमारोपितमन्यत्र भवद्भवेत्? न तावद्देशान्तरादौ, तस्यासन्निहितस्य द्रष्टुमयोग्यत्वात्। दुष्ट करण विप्रकृष्टमपि द्रष्टु शक्नोतीतिचेन्न, दुष्टकरणस्य पुस सर्वदर्शित्वप्रसङ्गात्। अतो दोषोऽप्यसदनिर्वचनीय वा दर्शयति, दृष्टानुसारात्। तदेव न देशान्तरादावारोप्यसद्भाव।

अस्तु तर्हि बुद्धौ, स्वरूपेणासतो गगनारविन्दादिवदप्रतिभासात्, नेद

दूपणमुपसहरयि—**तस्मादिति**।

तदेव साधारणण्येनारोपितस्यान्यत्र सत्त्व नास्तीत्युक्तमिदानी विशेषतो-दूषयितुमुपक्रमते—**कुत्र चेदमिति**। अन्यथाख्यातिं निराकरोति—**न तावदिति**। ननु यदि न दुष्टाक्षरय विप्रकृष्टद्रष्टृत्व कुतस्तर्हि दाषस्य दोषत्वमिति तत्राह—**अतो दोषोऽपीति**। प्राग्नकार्यप्रतिबन्धकत्वे सति विपरीतकार्यनिष्पादको दोप, तदिहाप्यसदनिर्वचनीय वा सत्त्वेन भासयतोऽस्तीत्यर्थ। **दृष्टानुसारादिति**। असत्ससर्गावभासकत्वस्य ज्ञाने त्वयैव स्वीकारादित्यर्थ।

आत्मख्यातिमवतारयति—**अस्तु तर्हीति**। तत्र युक्तीराह—**स्वरूपेणासत इत्यादिना**। नन्वस्य सत्त्वकल्पन नेद रजतमिति बाधविरुद्धमिति नेत्याह—**नेदं**

इस न्याय (नीति) विषयता को यह उक्त वादी त्याग नही सकता है। अत असत्ख्याति की अनुपपत्ति भी आरोपित की अन्यत्र सत्ता का बोधक नही हो सकती है।

क्योकि यह आरोपित अन्यत्र होता हुआ कहाँ होगा, देशान्तरादि मे तो हो नही सकता है। क्योकि असन्निहित को देखना अयोग्य है, यदि कहा जाय कि दुष्ट नेत्र रूप करण विप्रकृष्ट (दूरस्थ) को भी देख सकता है। तो वह कहना नही बन सकता हे, क्योकि ऐसा होने पर, दुष्ट करण वाले पुरुष को सर्वदर्शित्व की प्राप्ति होगी, यदि कहा जाय कि दोष से यदि दूर दर्शनादि नही हो सकता, तो दोष से होता क्या है, तो कहा जाता है कि (अत) दूरदर्शनादि के नही हो सकने से दोप भी असत् अयवा अनिर्वचनीय को दर्शाता है, दृष्ट के अनुसार यही मानना उचित है, असत्ससर्ग के अवभास को माना ही जाता है, वैसे ही असत् वस्तु भी भास सकते है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि देशान्तर आदि मे आरोप्य वस्तु का सद्भाव (सत्त्व) नही रहता है।

यहाँ आत्मख्याति वादी (बुद्धि रूप आत्मा की रजतादि रूप से प्रतीतिवादी) कहते है कि आरोप्य के बहिसत्त्व नही होने पर बुद्धि रूप आत्मा मे ही वह

रजतमिति बाधस्येदतामात्रगोचरत्वात्, द्वयोर्बाधकल्पनाया कल्पना-गौरवात्, नेद रजतमिति च रजते बाधादर्शनात्। नचेदतानिषेधे सत्य-निदतया बहिरपि व्यवस्थोपपत्तौ कुत सविदाकारतेति माप्रतम्, व्यवहितस्यापरोक्षसविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्ते, सविदाकारो रजत सप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वात्सवेदनवदिति प्रयोगोपपत्ते। ननु सप्रयोगो नाम किमिन्द्रियसयोगादिविशेष ? कि वा सबन्धमात्रम् ? नाद्य, रूपादिनाऽनै-

---

रजतमिति। अथ किमिति न द्वय निषेधतीत्यत आह—**द्वयोर्बाधकल्पनायामिति**। अनुभवमपि प्रमाणयति—**नेद रजतमिति**। नन्विदतानिषेधे सत्यनिदतया विप्रकृष्ट भवत्वत्यन्तसन्निधान त्वात्मरूपप्रत्ययात्मक कुतस्त्यमिति तत्राह—**न चेदतानिषेधे सतीति**। हेतुमाह—**व्यवहितस्येति**। सप्रयोगरहितस्येति यावत। सविदाकारतायानुमानमपि प्रमाणमाह—**संविदाकारो रजतमित्यादिना**। घटादेरनुमेयस्य च व्यवच्छेदार्थं सप्रयोगमन्तरेणेत्याद्युक्तम्। यदत्र न्यायदीपावल्या दूषणमुक्त तदनूवदति—**नन्वित्यादिना**। **रूपादिनेति**। सयोगमन्तरेणापरोक्षता रूपादे,

---

सिद्ध हो सकता है, क्योंकि गगन कमलादि के समान सर्वथा स्वरूप से असत् का अप्रतिभास (अप्रतीति) होता है, अत प्रतीति का विषय असत् नहीं हो सकता किन्तु बुद्धि में उत्पन्न होता है। और भीतर होता है, बाह्यता की प्रतीति मिथ्या होती है, अत 'नेद रजतम्' इस बाध को भी इदन्ता मात्र गोचरता होती है। अर्थात् इस बाध से रजत की बहिर्वृत्तिता मात्र का निषेध किया जाता है, बुद्धिस्थ रजत का नहीं, क्योकि इदन्त्व और रजत दोनो के बाध की कल्पना करने पर कल्पना गौरव होगा, और नेद रजतम्, इससे रजत विषयक बाध नहीं दीखता है, किन्तु इदन्ता विषयक ही दीखता है। अत जैसे (नाय शख पीत) यहाँ पीतिमा का बाध नहीं होता है, किन्तु नेत्रगत पीतिमा के इदन्त्व का बाध होता है, वैसे यहाँ बुद्धिगत रजत के इदन्त्व का बाध होता है, यदि कहा जाय कि बाध से इदन्ता मात्र के निषेध होने पर अनिद (असन्निकृष्ट) रूप से बाहर भी उस आरोप्य की व्यवस्था (स्थिति) की उपपत्ति हो सकती है, फिर सम्विदाकारता (बुद्धचा-कारता) कैसे हो सकती है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योकि व्यवहित पदार्थ को अपरोक्ष सम्विद् (ज्ञान) के साथ एकता के बिना उसके अपरोक्षत्व की अनुपपत्ति होगी। और उसकी सम्विदाकार विषयक प्रयोग (अनुमान) भी प्रमाण है कि (रजत, सम्विदाकार है, सम्बन्ध के बिना अपरोक्ष होने से, सम्बेदन (ज्ञान) के समान), इस प्रयोग से सम्विदाकारता की सिद्धि होती है। यहाँ शका होती है कि यह सप्रयोग नामक, क्या इन्द्रिय के सयोगादि विशेष विवक्षित है, या सम्बन्ध मात्र विवक्षित है। वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि सयोगादि के बिना रूपादि

कान्त्यात्। द्वितीये तु विशेषणासिद्धि । दृष्टान्ते साधनविकलता च। नह्याध्यासिकसबन्ध विनास्माक रूप्य तद्धीश्चापरोक्षा, धीरूपत्वे च रजतादेर्भ्रान्ति विनापि दर्शनप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, इन्द्रियसन्निकर्षानधीनापरोक्षत्वस्य विवक्षितत्वात् । सवेदनस्य चेन्द्रियसबन्धमन्तरेणैव स्वतसिद्धतया साक्षिसिद्धत्वेन वा साधनवैकल्याभावात्। न च धीरूपत्वे रजता-

---

समवायमन्तरेण च शब्दव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य, तथापि सविद्रूपता नास्तीत्यनैकान्त्यम्। न च तत्रापि सविद्रूपताङ्गीकारादिति वाच्यम, तथा सति विपक्षासभवेन सप्रयोगमन्तरेणेति विशेषणवैयर्थ्यात् । तत्सम्बन्धमात्रविवक्षाया तद्राहित्यविशेषणमसिद्धम, चैतन्येनाध्यासिकसम्बन्धस्वीकाराद्रजतसवेदनयो । अत एव दृष्टान्तस्य साधनवैकल्य चेत्याह—**द्वितीये त्विति**। तर्कबाधमप्याह—**धीरूपत्वे चेति**। तदेतत्परिहरति पूर्ववादी—**मैवमित्यादिना**। न सबन्धमात्रराहित्य विवक्षित, किन्त्विन्द्रियसम्बन्धराहित्यम, तेन नानैकान्तिकताऽसिद्धी इत्यर्थ । साधनवैकल्य परिहरति —**संवेदनस्य चेति**। रूप्यज्ञानस्येत्यर्थ । **स्वतःसिद्धतयेति** बौद्धाभिप्रायेण। **साक्षिसिद्धतयेति** स्वाभिप्रायेण। तर्कविरोध परिहरति—**न चेति**। पूर्वपक्षमुप-

---

की अपरोक्षता होती है, और केवल समवाय के बिना शब्दातिरिक्त सब की प्रत्यक्षता होती है, अत हेतु की उनमे वर्तमानता है, सम्बिद्रूपता साध्य नही है। अत हेतु व्यभिचारी है। यदि कहे कि रूपादि मे भी सम्बिद्रूपता है, क्योकि सब की सम्बिद्रूपता मानी जाती, तब तो विपक्ष के असम्भव से सम्प्रयोगमन्तरेण यह विशेषण व्यर्थ होगा, क्योकि उससे व्यवच्छेद्य का अभाव है। दूसरे पक्ष मे विशेषणासिद्धि और दृष्टान्त मे साधन की विकलता (अभाव) रूप दो है, क्योकि, हमारे मन मे आध्यासिक सम्बन्ध के बिना रूप्य (रजतादि) वा उसकी बुद्धि की अपरोक्षता नही होती है, और शुक्ति आदि मे भासित रजतादि को यदि बुद्धिस्वरूपत्व हो, तो भ्रान्ति के बिना भी रजतादि के दर्शन का प्रसङ्ग होगा। उक्त अनुमान विषयक ऐसी शका होने पर आत्मख्याति का कहना है कि—ऐसी शका नही करनी चाहिये क्योकि उक्त अनुमान मे सम्प्रयोगमन्तरेण इससे सम्बन्ध मात्र रहितता नही विवक्षित है, किन्तु इन्द्रियसन्निकर्षानधीनत्व (इन्द्रिय सम्बन्ध रहितता) विवक्षित है। अत सम्वेदन के इन्द्रिय सम्बन्ध के बिना ही बुद्धिवाद मे स्वत सिद्ध होने से अथवा वेदान्त मे साक्षि द्वारा सिद्ध होने से दृष्टान्त (सवेदन) मे साधन की विकलता का अभाव है। जो कहा गया था कि रजतादि के बुद्धि स्वरूप होने पर, भ्रान्ति के बिना भी उनके दर्शन का प्रसङ्ग होता है, यह कहना युक्त नही, क्योकि

देर्भ्रान्ति विनापि दर्शनप्रसङ्ग, धियोऽन्यत्वेऽपि पटादिवद्भ्रान्ति विनापि दर्शनप्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। ततो धीरूपमेव रूप्यमिति चेत्,

तदयुक्तम्, अत्यन्तालीकाया अपि बाह्यताया प्रतिभासवदत्यन्तासतोपि रजतादे प्रतिभासोपपत्ते। नच नेद रजतमितीदन्तामात्रमेव बाध्यते, कल्पनालाघवादिति न्याय्यम्, इद रजतमिति प्रतिपन्नविशिष्टरजतस्य नेद रजतमिति बाधस्य चानुभवसिद्धतया कल्पनीयत्वाभावात्। अतएव कल्पनालाघवन्यायानवतारात्। नच सविदैक्यमन्तरेणापरोक्षत्वानुपपत्ति, बाह्यतावत्तदुपपत्ते। किचारोपित बुद्धौ चेत्, गुञ्जापुञ्जादौ

सहरति—**तत इति**। न तावदनत ख्यात्यनुपपत्ति, वहिष्ट्वे तदभावादित्याह—**अत्यन्तालीकाया इति**। नच न्याय्यमित्युक्त तत्र हेतु —**इदं रजतमिति**। कल्पनाया हि लाघवमनुसरणीयम्, नचात्र कल्पना, प्रमाणमार्गगतत्वादितरथाऽतिप्रसङ्गादह रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति भाव। अनुपपत्त्यन्तर परिहरति—**नच संविदैक्यमिति**। तदेवमप्रामाणिकत्वमुक्त्वा प्रमाणबाध चाह—**किञ्चारोपितमि-**

बुद्धि से अन्य होने पर भी पटादि के समान भ्रान्ति के बिना ही दर्शन का प्रसङ्ग तुल्य ही है, अत दोनो मतो मे तुल्य दोष होने, स्वमत से अन्य मत मे दोष कहना अनुचित है। अत बुद्धि रूप ही कल्पित रजत रहता है, यह मन्तव्य है। यह विज्ञानवाद का सिद्धान्त है।

परन्तु यह अयुक्त है, (समीचीन नही है) क्योकि जैसे उस मत मे रजत को भीतर रूप माना जाता है, अत उसकी बाह्यता अत्यन्त अलीक (मिथ्या) मानी जाती है, तो भी उसका प्रतिभास (ज्ञान) माना जाता है वैसे ही अत्यन्त असत् रजतादि के प्रतिभास की उपपत्ति (सिद्धि) हो सकती है, और जो कहा था कि, नेद रजतम्, इससे इदन्ता मात्र बाधित होता है, क्योकि ऐसा मानने से कल्पना का लाघव होता है, अन्यथा गौरव होता है, सो भी कथन न्याय्य (उचित) नही है, क्योकि जहाँ कल्पना करना हो, वहाँ लाघव गौरव का विचार किया जाता है, यहाँ तो, इद रजतम्, इस भ्रम से प्रतिपन्न (निश्चित) प्रसक्त, प्राप्त, इदन्त्वविशिष्ट रजत को नेद रजतम्, इस प्रकार से बाध के अनुभवसिद्ध होने से काल्पनिकत्व का अभाव है, अतएव कल्पनालाघवन्याय (युक्ति) की यहाँ प्रवृत्ति नही हो सकती है, और सम्विद के साथ एकता के बिना अपरोक्षता की अनुपत्ति भी नही कही जा सकती है, क्योकि बाह्यता मे सम्बिद के साथ एकता के बिना भी जैसे उसकी प्रत्यक्षता होती है, वैसे रजतादि की प्रत्यक्षता की सिद्धि हो सकती है। और यदि विज्ञानवादी आरोपित की सत्ता बुद्धि मे भीतर मानते है, तो गुञ्जा (करजनी) पुञ्जादि मे अग्नि के आरोप होने पर वह अग्नि देह मे सिद्ध होगी, अत उसमे देह

दहनसमारोपे देहदाहप्रसङ्ग । बुद्धावपि तस्यातात्त्विकत्वादप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि न तद्वहि सन्नान्तरित्यत्यन्तासदनिर्वचनीय वा स्यात्, गत्यन्तराभावात्। सप्रयोगमन्तरेणापरोक्षत्वादिति हेतुर्बहिष्ट्वेऽप्यबुद्ध्याकारे वर्तत इति सव्यभिचार । तस्मान्नासत्। नापि सत्समारोपितम्। नापि सद्सद्रूपम्, विरोधात्। अविरोधे वा न भ्रान्तिबाधौ, द्वयोरपि परमार्थविषयत्वात्। उभयाकारस्यैकाकारप्रतिभासो भ्रम इति चेत्, तर्हि बाधस्यापि भ्रमत्वप्रसङ्ग । तस्याप्येकाकारविषयत्वात्। सर्वज्ञानाना च सर्वात्मनाऽनवभा-

---

त्यादिना । स यदि भ्रमादान्तर न वस्तु सदतो न दाहादिरिति त अत्याह—**तर्हीति** । अपसिद्धान्तापत्तिरित्यर्थ । यत्त्वनुमानमुक्त तद्वहिष्ट्वेऽनैकान्तिकमित्याह—**संप्रयोगमित्यादिना** । सत्ख्यातिनिराकरणमुपसंहरति—**तस्मादिति** । अस्तु तर्हि सदसदात्मकमारोपितम् । यथाह —

'स्वरूपपररूपाभ्या नित्य सदसदात्मके ।
वस्तूनि ज्ञायते किंचिद्रूप कैश्चित्कदाचन ॥' इति

तत्राह—**नापि सद्सद्रूपमिति** । ननु यद्यपि परमार्थविषयत्वमुभयोस्तथाप्युभयाकारस्य सतोऽर्थस्यैकाकारग्राहित्वात् पूर्वज्ञान भ्रान्तमित्याशङ्कते—**उभयाकारस्येति** । तर्ह्यसदाकारमात्रग्राहिणो बाधकस्यापि स्याद्भ्रान्तित्वमित्याह—**तर्हीति** । अत्यल्पचेदम्, सर्वज्ञानानामेवैवभावाद् भ्रान्तित्वप्रसक्तिरित्याह—**सर्वज्ञानानां चेति** ।

का दाह प्राप्त होगा । यदि कहे कि बुद्धि मे भी उस आरोपित के अवास्तविक (असत्य) होने से दाह की प्राप्ति नही होती है, तब तो वह आरोपित न बाहर सत्य है, न भीतर सत् है, तो अत्यन्त असत् या अनिर्वचनीय होगा । गत्यन्तर (मार्गान्तर) नही है, सप्रयोग (सयोग) विना ही अपरोक्षता रूप हेतु, अबुद्ध्याकार बहिष्ट्व (इदन्त्व) मे भी रहता है । अत सव्यभिचार (अनैकान्तिक) है । अतएव आरोपित वस्तु न सत् है, न असत् है, न सत् असत् उभय स्वरूप है, क्योकि उभय स्वरूपता मे विरोध है। यदि उभय रूपता मे अविरोध हो (सत्त्व असत्त्व दोनो धर्म एक मे रह सकता हो) तो इद रजतम्, और नेद रजतम् ये भ्रान्ति और बाध नही हो सकेगे । क्योकि दोनो को परमार्थ (सत्य) विषयकत्व से बाध्य-बाधक भाव नही हो सकेगा । यदि कहा जाय कि आरोपित वस्तु के सद्-असद् उभयाकार होते भी उसके एक सत्याकार का प्रतिभास (ज्ञान) भ्रम कहा जाता हे, तब तो केवल असदाकार बाध को भी भ्रमत्व प्राप्त होगा । क्योकि उस बाध को भी एकाकार विषयत्व रहता है, और सभी वस्तु के सदसद् उभय स्वरूप होने पर, सभी ज्ञानो को सर्वात्मना (सदसदुभय रूप से) अनवभासक होने से सब ज्ञानो मे

सकत्वाद्भ्रान्तित्वप्रसङ्गो दुर्वार स्यात् । तस्माद् गत्यन्तराभावादनिर्वचनीयमारोपितमिति सिद्धम् ।

ननु किमिदमनिर्वचनीयत्वम्—किं निरुक्तिविरह ? किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरह ? नाद्य, इद रजतमित्यादिनिरुक्तेरङ्गीकारात् । न द्वितीय, विकल्पासहत्वात् । तथाहि निरुक्तेर्निमित्त ज्ञानम् । अर्थो वा ? नाद्य, रजतादिज्ञानस्य निरुक्तिनिमित्तस्य मायावादिभिरभ्युपगमात् । न

आरोपितमनिर्वचनीयमित्युपसहृत तदाक्षिपति—**नन्विति** । किं निरुक्तिविरहोऽनिर्वचनीयत्व ? किंवा निरुक्तिनिमित्तस्य विरह ? किं वा ज्ञानबाध्यत्वम् ? अथवा प्रतिपन्नोपाधौ निषेधप्रतियोगित्वमिति ? तत्र प्रथम निषेधति—**नाद्य इत्यादिना । निरुक्तेर्निमित्तमिति ।** निर्वचनसबन्धि हि निर्वचनीय, तच्च निमित्त ज्ञानमपि भवति, कारणतया सबन्धित्वात । तथा विषयतयाऽर्थोऽपि । तयोर्विरहश्चेदनिर्वचनीयत्व विवक्षितमित्यर्थ । ज्ञाननिमित्तविरह दूषयति —**नाद्य इति** । विषयज्ञान हि शब्दप्रयोगे निमित्त तच्च त्वयाप्यभ्युपेयत इत्यर्थ । अर्थविरहपक्ष

भ्रान्तित्व का प्रसङ्ग दुर्निवार होगा । अत गत्यन्तर के अभाव से आरोपित वस्तु अनिर्वचनीय है, यह सिद्ध हुआ ।

आरोपित को अनिर्वचनीय कहने पर शङ्का (जिज्ञासा) होती है कि—यह अनिर्वचनीयत्व क्या है, अर्थात् अनिर्वचनीय का लक्षण क्या है ? क्या निरुक्ति (निर्वचन) का अभाव है, या निरुक्ति निमित्त का अभाव अनिर्वचनीयत्व है । यहाँ प्रथम लक्षण नही कहा जा सकता क्योकि, इद रजतम्, इत्यादि रजतादि विषयक निर्वचन (कथन) का अङ्गीकार किया जाता है। निरुक्तिनिमित्त का विरह रूप दूसरा लक्षण भी नही बन सकता है, क्योकि वह विकल्प (विचार) को नही सह सकता, विचार करने पर युक्त नहीं सिद्ध होता है। क्योकि निरुक्ति का निमित्तकारण रूप ज्ञान होता है, और विषय रूप से अर्थ होता है, वहाँ विचारणीय है कि निरुक्ति का निमित्त क्या मन्तव्य है, ज्ञान या अर्थ है, कि जिसका विरह अनिर्वचनीयत्व है, वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि निरुक्तिनिमित्त रूप रजतादि के ज्ञान को मायावादी भी मानते है, अत उसका विरह नहीं कहा जा सकता है। दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है। क्योकि निरुक्ति का निमित्त विषय रूप अर्थ को नही माना जाय, तो सत् अर्थ के भी अभाव रहते असत् ख्याति का प्रसङ्ग होगा, असत् अर्थ के भी विरह रहते सत् अर्थ का प्रसङ्ग होगा, और लोकसिद्ध परस्पर विरुद्ध सदसद् दोनो के विरह (अभाव) की तो, अन्यतर (एक) के निषेध, को इतर (अन्य) की विधि से नान्तरीयकत्व (व्याप्यत्व) के नियम दर्शन से ही अनुपपत्ति

द्वितीय अर्थस्यापि सतो विरहेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गात्, असतोपि विरहे सत्त्व-प्रसङ्गात्। उभयविरहस्य च परस्परविरुद्धयोर्लोकसिद्धयोरन्यतरनिषेध-स्येतरविधिनान्तरीयकत्वनियमदर्शनादेवानुपपत्ते। भावाभावयोरलौकि-कयो स्वकपोलपरिकल्पितयोर्निषेधसमुच्चयाङ्गीकरणे तु लौकिकसदसतो-रनिषेधात् न निरुक्तिनिमित्तार्थासभव। अतो न मदसद्विलक्षणमनिर्वच-नीयम्, नापि ज्ञानबाध्यत्वम्, बाध्यत्वशब्देन निवर्त्यत्वाङ्गीकारे पूर्वज्ञानस्य सस्कारस्य चोत्तरविज्ञाननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्वापात। विश्वस्य चेश्वर-ज्ञाननिवर्त्यत्वादनिर्वाच्यत्व स्यात् इति लक्षणस्यातिव्याप्ति। अथ बाध्य-त्व नाम बाधकज्ञानविपयत्वम्, तदा शुक्त्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्व स्यात्,

---

दूपयति—**न द्वितीय इति**। अर्थविरह इति कोऽर्थ? कि नञर्थोनास्तीति? तर्हि नञर्थ इत्य... मिथ्यात्वमेव न पुनरनिर्वचनीयत्वमित्याह—**अर्थस्यापीति**। अथासन्नर्थो नास्तीति? तर्हि नञर्थ इति सत्ख्यातित्वमेवेत्याह—**असतोऽपि विरह इति**। ननु ...योरर्थयोर्विरहोऽर्थविरहस्तया च नायन्निरतेति तत्राह—**उभयविरहस्य चेति**। तत्र कि लोकप्रसिद्धसदसतोर्विरहोऽनिर्वचनीयत्वम्? उत स्वमतकल्पितयो? नाद्य, असभवादित्याह—**लोकसिद्धयोरिति**। द्वितीये आह—**भावाभावयोरिति**। निषेधयो समुच्चय निषेधसमुच्चय। तृतीय निषेधति—**नापि ज्ञानबाध्यत्वमिति**। तत्र वक्तव्य कि बाधकज्ञाननिवर्त्यत्वम्? किंवा बाधकज्ञानविषयत्वम्? किंवा कालत्रयनिषेधप्रतियोगित्वम्? तत्र प्रथम निषेधति—**बाध्यत्वशब्देनेति**। द्वितीय दूषयति—**अथ बाध्यत्वं नामेति**। अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञान हि त्वन्मते बाधक तथाच स्पष्टैवातिव्याप्ति। अस्मन्मतेऽपि

है। यदि लोकप्रसिद्ध सदसत् अर्थ के विरह को नही मान कर, स्वकपोल (अपने गाल मुख मन) से कल्पित अलौकिक भावाभाव (सदसत्) के निषेध को समुच्चय (समूह) माने भी, तो लौकिक सदसद् के निषेध के अभाव से निरुक्त के निमित्त का असम्भव (अभाव) नही हो सकता है। अत सदसद् से विलक्षण अनिर्वचनीय नही हो सकता है। ज्ञानबाध्यत्व भी अनिर्वचनीयत्व नही हो सकता है। क्योकि बाध्यत्व शब्द से, क्या तो बाधक ज्ञाननिवर्त्यत्व, या बाधकज्ञान विषयत्व, अथवा कालत्रयनिषेधप्रतियोगित्व, अर्थ माना जा सकता है। वहाँ बाध्यत्व शब्द का निवर्त्यत्व अर्थ माना जाय तो बाधक रूप उत्तर ज्ञान से पूर्वज्ञान मे और सस्कार मे निवर्त्यत्व के होने से उनमे अनिर्वाच्यता की प्राप्ति होगी। और सब ससार मे प्रलय कालिक ईश्वर ज्ञान से निवर्त्यत्व होने के कारण अनिर्वाच्यता होगी। अत लक्षण का अतिव्याप्ति दोष है। और यदि बाधकज्ञानविषयत्व को बाध्यत्व कहे, तो शुक्ति आदि मे और ब्रह्म मे अनिर्वाच्यता होगी, क्योकि उन दोनो

तयोरधिष्ठानतया बाधकज्ञानविषयत्वात् । अथ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्व च बाध्यत्वमिति, मैवम् , मायाविवर्तस्य पुरोवर्तिरजतस्य तथाविधनिषेधविषयत्वानङ्गीकाराल्लक्षणस्याव्याप्ते , लौकिकपरमार्थरजतस्यात्र तथाविधनिषेधविषयत्वाङ्गीरादनिर्वाच्यत्वापत्तिरिति लक्षणस्यातिव्याप्तेश्च । एतेन प्रतिपन्नोपाधौ निषेध्यत्वमनिर्वचनीयत्वमित्यपास्तम् । पुरोवर्तिनि प्रतिपन्नस्य रजतस्याधिष्ठानज्ञानेन मायाया विलीयमानाया तत्परिणामतया स्वयमेव विलीयमानस्य नेद रजतमिति निषेधाविषयत्वात् ।

कि चात्र प्रमाणम् ? ख्यातत्वे सति बाध्यत्वानुपपत्ति —असतो

नेद रजतमित्यत्राधिष्ठानमपि स्फुरतीत्यर्थ । तृतीय दूषयति—**मैवमिति** । त्वन्मतेऽनिर्वचनीयरजतस्य तत्रैवाविद्ययोत्पन्नत्वात्प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च न कालत्रयेऽप्यभाव शक्याङ्गीकारोऽतोऽव्याप्ति, कस्मिश्चिदपि तदभेऽवर्तमानत्वादित्यर्थ । अतिव्याप्ति चाह—**लौकिकेति** । तृतीयपक्षोक्त दूषण चतुर्थेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति** । अतिदिश्यमानामव्याप्तिमेव विवृणोति – **पुरोवर्त्तिनीति** । अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनाधिष्ठानाज्ञानमेव बाध्यते । तत्परिणामरूपयोस्तु ज्ञानज्ञेययो स्वयमेव विलय इति हि तव समय । तथा च रूप्यादेर्निषेध्यत्वाभावादव्याप्तिर्लक्षणस्येत्यर्थ ।

एव लक्षणमाक्षिप्य प्रमाण प्रतिक्षिपति—**किचात्र प्रमाणमित्यादिना** ।

को भी अधिष्ठान रूप से बाधक ज्ञान विषयत्व होता ह । यदि कहे कि (शुक्ति मे रजत न हुआ, न है और न होगा) इस प्रकार से तीनो काल मे आरोपित की सत्ता का निषेध रूप बाध होना है, और उस बाध का विषयत्व बाध्यत्व होता है । तो ऐसा कहना भी नही बन सकता है, क्योकि, शुक्ति के अज्ञान रूप माया का विवर्त (प्रातिभासिक) पूवोवर्ती रजत के वर्तमान काल मे रहने के कारण तथाविध (त्रैकालिक), निषेध के विषयत्व के अनङ्गीकार से उसमे लक्षण की अव्याप्ति होती है । और लौकिक परमार्थ रजत के इस शुक्ति मे त्रैकालिक निषेध के अङ्गीकार से उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । इसीसे प्रतिपन्नोपाधि (निश्चित स्वाश्रय) मे निषेध्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्, यह लक्षण भी निरस्त हो गया । क्योकि पुरोवर्त्ती मे ज्ञात रजत के अधिष्ठान के ज्ञान से माया (अज्ञान) के विलीयमान (नष्ट) होने पर, उस माया के परिणामरूपता के कारण स्वय विलीयमान रजत को, नेद रजतम्, इस निषेध के विषयत्व नही होता है, अर्थात् अधिष्ठान के ज्ञान से अधिष्ठान का अज्ञान बाधित होता है उसका कार्य आप ही निवृत्त होता है, अत लक्षण की अव्याप्ति है ।

इस अनिर्वचनीयत्व मे प्रमाण क्या है । अर्थात् प्रमाण नही है । यदि

नरशृङ्गादेरख्यानात्सतश्च चिदात्मनो बाधाभावाद् उभयस्य चेह दर्शना-दितिचेत्, न, देशान्तरे सत्त्वात्ख्यातेरिहासत्वाद्बाधस्यापि सभवाद् अन्य-थाप्युपपत्ते । कि चासनो भानमनुपपन्नमित्यसत्, असतोपि तच्छब्दाद्भा-नात् । अन्यथा त्वपार्थकत्व वाक्यस्य, प्रयुक्तपदाना सभूयकारित्वनिय-मात् । कि चेद सद्विवक्षितम ? कि सत्तायुक्तम् ? अथाबाध्यम् ? उत ब्रह्मस्वरूपम् ? नाद्य, सत्तायुक्तस्य प्रपञ्चस्य भवन्मते बाध्यतया यत्स-

अर्थापत्ति शङ्कते—**ख्यातत्वे सतीत्यादिना** । अनुपत्तिमेव स्फोरयति—**असतो नरशृङ्गादेरित्यादिना** । इमामर्थापत्ति मानमनोहरकारोक्तान्यथाप्युपपत्त्या दूषयति—**न । देशान्तरेत्यादिना** । अनुदयमप्याह —**कि चेति** । यद्यसतो न भान कथम-सत्पद बोधक स्यात् ? यदि चाबोधकमसत्पद कथमपार्थक नाम निग्रहस्थान न भवेत् ? इति भाव । निरर्थक चात्रापार्थकत्वेन विवक्षितम् । नन्वसतोऽभानादि-त्यत्रासत्पदस्याबोधकत्वेऽपीतरपदाना बोधकत्वात्कथमपार्थकता ? तत्राह—**प्रयुक्त-पदानामिति** । इदमपि तेनैवोक्त, यदाह 'असतो भासनायोगा'दित्यादिनाशङ्कय प्रथमे त्वसत्पदस्य बोधकत्वेऽसतो भासनायोगादित्यनेन व्याघात । अन्यथानर्थकत्व प्रयुक्तपदाना सभूयकारित्वनियमादिति । यत्तु तेनैव द्वितीये सत इति कोऽर्थ इत्या-दिदूषणमुक्त तदाह—**कि चेदं सद्विवक्षितमित्यादिना** । प्रथम दूषयति—**नाद्य इति** । यत्सत्तायुक्त तदबाध्यमिति व्याप्ति क्व दृष्टा ? न तावत्प्रपञ्चे, तस्य

कहा जाय कि (ख्यातत्वे = ज्ञातत्वे सति बाध्यत्वानुपपत्ति) ज्ञात होते बाध्यता की असिद्धि रूप अर्थापत्ति प्रमाण है, क्योकि असत् नरशृङ्गादि के ज्ञान नही होते हे, और सत् चेतनात्मा का बाध नही होता है, और शुक्तिरजतादि मे ख्यातत्व (ज्ञातत्व) और बाध (बाधत्व) दोनो देखे जाते है। अत सत् और असत् से विलक्षणत्व रूप अनिर्वचनीयत्व सिद्ध होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि देशान्तर मे सत्ता से ज्ञान के यहाँ सन्मुख असत्त्व से बाध के सम्भव से अन्यथा (अनिर्वचनीयता के बिना भी) उपपत्ति (ख्यातत्वे सति बाध्यत्व की सिद्धि) हो सकती है और असत् का भान (ज्ञान) अनुपपन्न है। यह कहना असत् है, क्योकि असत् का भी असत् शब्द से भान (ज्ञान) होता है। अन्यथा यदि असत शब्द से असत् अर्थ का भान न हो तो असत् का भान नही होना है इत्यादि आपके वाक्य को अपार्थकत्व होगा, क्योकि एक वाक्य मे प्रयुक्त (उच्चारित) सब पदो को सम्भूय (मिलकर) कार्यकारित्व (वाक्यार्थ बोधक-त्व) होना है, अत एक पद के भी अनर्थक होने पर वाक्यार्थ का ज्ञान नही हो सकता है। और जो कहा गया है कि (सत् चिदात्मा का बाध नही होता है) वहाँ सत् कैसा विवक्षित है। क्या सत्तायुक्त सत् विवक्षित है अथवा अबाध्यत्व या ब्रह्मस्वरूपत्व विवक्षित है। यहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि

तदबाध्यमिति व्याप्तेरसिद्धे । न द्वितीय, यदबाध्य तदबाध्यमिति साध्याविशिष्टत्वापत्ते । न तृतीय, सिद्धसाधनत्वात्, अर्थान्तरत्वाच्च । किं चान्यथैवोपपत्तिरप्यूहनीया, सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत्ख्यात्यनुपपत्ते,

---

सत्तायुक्तत्वेऽपि बाध्यत्वेन व्यभिचारभूमित्वात् । नापि ब्रह्मणि तथ्याबाधत्वेऽपि निर्धर्मकत्वेन सत्तायुक्तत्वाभावादिति भाव । द्वितीये तु सता बाधाभावादिति कोऽर्थ ? बाध्यमबाध्यमस्य बाधाभावादिति, तथा च साध्याविशिष्टत्वमित्याह— **न द्वितीय इति** । यद्ब्रह्मस्वरूप तदबाध्यमिति हि तृतीय पक्ष । तथाचास्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्सिद्धसाधन प्रपञ्चस्यानिर्वचनीयत्वापर्यवसानादर्थान्तर चेत्यर्थ । त्रीणि हि दूषणानि अर्थापत्ते —अन्यथैवोपपत्तिरन्यथाप्युपपत्तिरनुदयश्चेति । तत्रान्यथाप्युपपत्तिमनुदय चोक्त्वाऽन्यथैवोपपत्तिमाह— **किं चेति** । सद्वैलक्षण्येऽसद्वैलक्षण्ये उभयवैलक्षण्ये चानुपपद्यमानाभ्या ख्यातिबाधाभ्या सदसदात्मकत्वमेव रजतादे सिद्ध्यतीत्यर्थ । स्यादेतत्—सद्विलक्षणत्वे नृशृङ्गवत् ख्यात्यनुपपत्तिरित्युक्तमयुक्तम्, सद्वैलक्षण्यस्य सप्रतियोगिकतयाऽनेकज्ञानापेक्षस्य कल्पनागौरवेण भानाभाव

सत्तायुक्त प्रपञ्च की बाध्यता आपके मत मे मानी जाती है । अत यत् (जो) सत् (सत्तायुक्त) है, तत् (वो) अबाधित है, यह व्याप्ति नही बन सकती है । और दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, उस पक्ष मे अर्थ होगा कि, यत् (जो) सत् (अबाध्य) है, वह अबाध्य है । ऐसा होने मे हेतु रूप सत्त्व और अबाध्य साध्य की एकता हो जाती है, अत साध्य के समान हेतु की असिद्धि ही प्राप्त है, सत्त्व से अबाध्यत्व की सिद्धि नही हो सकती है । तृतीय ब्रह्मस्वरूप भी सत्त्व नही कहा सकता है, क्योकि इस पक्ष मे सिद्धसाधनता की प्राप्ति होगी (जो ब्रह्मस्वरूप है, सो अबाध्य है) यह तो मेरे मत मे भी सिद्ध ही है । और अर्थान्तरत्व की भी प्राप्ति होगी, क्योकि इस व्याप्ति से शुक्ति, रजतादि के प्रपञ्च मे मिथ्यात्व की सिद्धि नही होती है, ब्रह्मस्वरूप अबाध्य है, इससे प्रपञ्च अनिर्वचनीय है, यह नही सिद्ध होता है । और ब्रह्म के समान अबाध्यत्व के अभाव मे तथा नरशृङ्ग के समान आख्यातत्व के अभाव से, अबाध्यत्व आख्यातत्व के अभाव से सदसद्विलक्षणता की अपेक्षा अन्यथा ही उपपत्ति ऊहनीय (कल्पनीय है) अर्थात् सद्विलक्षणत्व होने पर नरशृङ्ग के समान ख्याति की अनुपपत्ति है, असद्विलक्षण होने पर आत्मा के समान बाध की अनुपपत्ति है, अत सदसद् उभय विलक्षण मे ख्याति और बाध दोनो की अनुपपत्ति से सदसदुभयात्मकत्व की सिद्धि होती है कि जिससे बाध और ख्याति दोनो की उपपत्ति होती है। यदि शका हो कि बाधाभाव और (अभान) भानाभाव के प्रयोजक (हेतु) सत्त्व और असत्त्व ही होते है । सदसद्

असद्विलक्षणत्वे चात्मवद्बाधायोगादुभयविलणस्योभयानुपपत्ते । नच वाच्य सदसत्त्वे बाधाभावाभानप्रयोजके न तु तद्वैलक्षण्ये गौरवादिति, असतोपि तत्पदात्प्रतिभानेन सतोपि प्रपञ्चस्य बाध्यत्वदर्शनेनोक्तोत्तरत्वात् । तदेव नार्थापत्तिरनिर्वचनीये प्रमाणम् ।

अस्तु तर्ह्यनुमानम्——विवादपदमनिर्वाच्य, भ्रमविषयत्वात् यन्नैव तन्नैव यथात्मा । नचाप्रसिद्धविशेषण पक्ष , इच्छादीनामष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रितत्वानुमानवत्सामान्यत प्रसिद्धिविशेषपरिशेषाभ्या तत्प्रसिद्ध्युपपत्तेरितिचेत् न शुक्त्यादावात्मनि च विपक्षे वर्तमानतया विरुद्धत्वात् । गुणत्वलिङ्गेन

पनि प्रयोजकत्वायोगात, एवमसद्वैलक्षण्येऽपि, तस्मादसत्त्वमेवाभाने प्रयोजक तद्धि निरपेक्ष लक्षितनि, तथा बाधाभावेऽपि सत्त्वमेव प्रयोजक लघुत्वादेव, तदिह बाधो दृश्यमान सद्वैलक्षण्य गमयनि ख्यातिश्चासद्वैलक्षण्यमिनि, तदेतदाशङ्क्य निषेधति—— **नच वाच्यमित्यादिना** । उक्तान्यथोपपत्तिमेव दूषणमाह——**असतोऽपीति** ।

एतमर्थापत्ति दूषयित्वाऽनुमान शङ्कते——**अस्तु तर्हीति** । तत्र हि भ्रमविषयत्व हेतुरधिष्ठानतया भ्रमे प्रतिभासमाने शुक्त्यात्मादौ वर्तत इति विरुद्ध इत्याह——**न शुक्त्यादाविति** । कि च तथा तत्र गुणत्वेन सामान्यत क्वचिदाश्रितत्वसाधनम्, नैवमनिर्वाच्यत्वस्य सामान्येन साधने लिङ्गमस्ति किचित्, ततो वैलक्षण्यमित्याह—— **गुणत्वेति** । अप्रसिद्धविशेषणतापरिहारान्वयव्यतिरेक्यनुमान न्यायरत्नदीपावलीस्थ

से विलक्षणत्व नही, क्योकि सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व को प्रयोजक मानने पर गौरव होगा । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि असत् की भी असत् पद से प्रतीति होने के कारण, यथा सत् प्रपञ्च के बाध्यत्व के दर्शन से सत्त्व और असत्त्व अबाध्यत्व और अभानत्व का प्रयोजक नही हो सकता है, यह उत्तर प्रथम दिया गया है । अत इस उक्त रीति से अर्थापत्ति अनिर्वचनीय मे प्रमाण नही है ।

अर्थापत्ति प्रमाण नही है, तो भी अनुमान प्रमाण है ही—कि (विवाद का विषय (शुक्ति रजतादि अनिर्वचनीय है, भ्रम का विषय होने से, जो ऐसा अनिर्वाच्य नही है, वह भ्रम का विषय भी नही है, जैसे आत्मा) पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण (साध्य) वाला है । ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि इच्छादि के अष्टद्रव्यातिरिक्ताश्रितत्वानुमान के समान सामान्य रूप से प्रसिद्धि और विशेष परिशेष के द्वारा उस विशेषण (साध्य) की प्रसिद्धि हो सकती है । सामान्य रूप प्रसिद्धि की चर्चा प्रथम हो चुकी है । ऐसी शङ्का होने पर वादी का कथन है कि यह अनुमान युक्त नही है, क्योकि शुक्ति आदि और आत्मस्वरूप विपक्ष (साध्याभावस्थान) मे भी भ्रान्तिविषयत्व रूप हेतु के रहने से यह हेतु विरुद्ध है । और साध्य की अप्रसिद्धि भी है ही, क्योकि जैसे गुणत्व रूप लिग (हेतु) से इच्छादि मे सामान्य

क्वचिदाश्रितत्वप्रसाधनवदनिर्वाच्यत्वसाधने लिङ्गाभावात् । अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया विमत सदसद्विलक्षण दोषप्रयुक्तभानत्वात् भ्रान्तिसिद्धतानात्म्यवदिनि प्रयुञ्जीत, तदप्यसत्, दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। नहि शुक्तिरजततादात्म्यस्य सदसद्वलक्षण्य परीक्षकैरभ्युपगम्यते, येनोभयवादिसिद्धतया तस्य दृष्टान्तता स्यात । अथ भावरूपतयाऽपरोक्षत्वेन भानाद्बाधाच्च तस्य सदसद्वैलण्य युक्त्या साध्येन, तदा रजतस्यापि तथा तत्साधयितु शक्यमिति व्यर्थोऽय वकवन्धविधिप्रयास । किचेद दोषप्रयुक्तभानत्वम् ? कि दोपजन्यज्ञानविपयत्वम् ? उत दोषजन्यप्राकटचाश्रयत्वम्

शङ्कत — **अथैतद्दोषेति** । साध्यवैकल्यमेव विशदयति — **नहि शुक्तीति** । अथ तादात्म्यस्य प्रथम युक्त्या सदसद्वैलक्षण्य प्रमाण्य तददृष्टान्तन प्रपञ्चस्य तत्साध्यते, तर्हि सैव शुक्तिरत्रैवोपन्यस्यतामलमनेन दण्डसर्पमारणन्यायेनेत्याह — **अथ भावरूपतयेत्यादिना** । भवतु वा यथाकथचित्पर तथापि हेतुरेवाय न घटत इत्याह — **कि चेत्यादिना** । भानशब्देन ज्ञानमभिप्रेयत ? प्राकटच वेत्यर्थ । प्रथमेऽनैकान्तिकता-

---

रूप से क्वचिदाश्रितत्व सिद्ध होता है कि (इच्छादि, किसी के आश्रित है, गुण होने से, रूपादि के समान) इस प्रकार से अनिर्वाच्यत्व रूप साध्य की सामान्य रूप से सिद्धि के लिङ्ग का अभाव है । अत साध्याऽप्रसिद्धि दोष का निवारण नहीं हो सकता है । यदि कोई इस दोष का निवारण की इच्छा से प्रयोग (अनुमान) करे कि (विमत = शुक्ति, रजतादि, सदसद् से विलक्षण है, दोषप्रयुक्त (जन्य) भान के विषय होने से, भ्रमसिद्ध शुक्ति, रजत तादात्म्य (अभेद) के समान) तो यह प्रयोग भी असत् है, क्योकि दृष्टान्त साध्य रहित है, कारण है कि शुक्ति, रजत का तादात्म्य सदसद् से विलक्षण है । यह परीक्षको से स्वीकृत नही हुआ है, कि जिससे उभयवादी से सिद्धता के कारण उसकी दृष्टान्तता हो सके । यदि भावरूप से, अपरोक्षत्व से और ज्ञान से बाध के कारण, उस तादात्म्य की सदसद् विलक्षणता को युक्ति (अनुमान) से सिद्ध करे, तो रजत के भी वह सदसद् विलक्षणत्व उसी प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है । फिर यह तादात्म्य मे सदसद् विलक्षणता साधन द्वारा रजत मे साधनरूप बकबन्धविधि प्रयास व्यर्थ है । और साध्य की प्रसिद्धि किसी प्रकार से हो भी, तो दोषप्रयुक्त भानत्व रूप हेतु ठीक (सत्य) नही है, क्योकि विचारणीय है कि, दोषप्रयुक्त भानत्व, क्या दोषजन्य ज्ञान विषयत्व रूप है, या दोषजन्य प्राकटच (प्रत्यक्षत्व = ज्ञातता) आश्रयत्व है । अर्थात् दोषप्रयुक्त भानत्वात्, यहाँ भान शब्द से

नाद्य,, ज्ञानस्यैकत्वेन तज्ज्ञानविषयाधिष्ठाने व्यभिचारात् । न द्वितीय, प्रतिवादिन प्रत्यसिद्धत्वात्—नहि देशकालव्यवहितस्य रजतादेर्दोषजन्य-भानाश्रयत्वमुपपद्यतेऽभ्युपेयते वा परै । कि चेदमनिर्वचनीयत्व न भ्रान्ति-ज्ञानानुकूलम्, नापि बाधकज्ञानानुसारि, भ्रान्तौ सदिद रजतमिति सत्त्वेन बाधे च नेद रजतमित्यसत्त्वेन स्फुरणात् ।

अपि चानिर्वचनीये रधतशब्दो न जातिनिबन्धनस्तत्र जातेरभावात्, भावे वा सत्यरजतवदेवाबाध्यत्वप्रसङ्गात् । नाप्यौपाधिक, पाचकादिशब्द-

---

माह—**नाद्यः, ज्ञानस्येति** । अधिष्ठानज्ञानस्यादोषजन्यत्वादितरस्य च ज्ञानत्वानङ्गीकारादसिद्धिरित्यप्येक । द्वितीये स्वरूपासिद्धिरित्याह—**न द्वितीय इत्यादिना ।** यद्यपि त्व पक्षे भ्रमस्य साक्षिवेद्यतास्वीकारादस्त्येवापरोक्ष्य तथापि विषयावच्छिन्नाभिव्यक्तचैतन्यरूपाप्राकटच नास्तीत्यपि द्रष्टव्यम् । किं च यदुपपादनायेदमनिर्वचनीयत्वमाद्रियते ताभ्यामेव भ्रान्तिबाधाभ्या विरोधादयुक्तमेतदित्याह—**कि चेदमिति ।**

रजतशब्दप्रयोगानुपपत्तिरप्यनिर्वचनीयत्वबाधिकेत्या—**अपि चानिर्वचनीयेति** । तत्र वक्तव्य किमयमनिर्वचनीये रचते रजतशब्दो जातिनिबन्धन ? किवोपाधिनिबन्धन ? किवाश्वादिशब्दवद्रूढ ? इति विकल्प्याद्य निषेधति—**न जातिनिबन्धन इति** । अङ्गीकारे बाधकमाह—**भावे वेति** । रजतत्वाधिकरण हि रजत नाम तदिदमपि चेत्तथाविध तद्वदेवाबाध्यमपि स्यादित्यर्थ । द्वितीय निषेधति—

ज्ञान या प्राकटच कहा जाता है। वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि दोषप्रयुक्त, इद रजतम्, यह ज्ञान एक होता है, वह शुक्ति के इदन्ताश रूप अधिष्ठान और रजत दोनो को विषय करता है। अत उस ज्ञान के विषय अधिष्ठान मे हेतु व्यभिचारी है। दूसरा (दोषजन्य प्राकटचाश्रयत्व) भी नही कहा जा सकता है। क्योकि वादी के प्रति असिद्ध है, वादी उस ज्ञान के विषय देश काल व्यवहित रजतादि को मानता हे, और उस व्यवहित मे दोषजन्य भानाश्रयत्व (प्राकटच) नही बन सकता है, न वादी से माना जा सकता है। और जिस भ्रान्ति और बाध की सिद्धि के लिये, इस अनिर्वचनीयता को सिद्ध करना चाहते है, वह अनिर्वचनीयत्व न भ्रान्ति के अनुकूल है, न बाधक ज्ञान के अनुसारी है। क्योकि भ्रान्ति मे 'सदिद रजतम्' इस प्रकार से सत् रूप से रजत भासता है, और बाध मे 'नेद रजतम्' इस प्रकार असत्त्व रूप मे रजत भासता है।

अनिर्वचनीयत्व सत्त्व असत्त्व से विलक्षण हे। और अनिर्वचनीय अर्थ मे रजत शब्द की प्रवृत्ति जातिनिमित्तक नही हो सकती है, क्योकि उसमे रजतत्व जाति नही रहती है। और यदि उसमे रजतत्व जाति का भाव (सत्त्व) हो, तो सत्य रजत के समान ही अबाध्यता की प्राप्ति होगी। क्रिया आदि उपाधि

वदखण्डशब्दत्वात् उपाधेरनिरूपणाच्च । नाप्यक्षादिशब्दवद्रूढ, स्वभ्रान्तिमात्रसिद्धस्यान्यत्रादृष्टचरत्वेन रजतस्य तेनागृहीतसबन्धत्वात्। किं चानिर्वचनीय चेद्रजतम्, न प्रतीयेत । तथा हि किं दुष्टेन्द्रियेण तत्प्रतीति ? उत सस्कारात् ? अथवा साक्षिचैतन्यात् ? नाद्य, तस्य प्रतिभासमात्रशरीरतया सप्रयोगायोग्यत्वात्। न द्वितीय, अननुभूते सस्काराभावात् ।

नापीति । हेतुमाह—**अखण्डशब्दत्वादिति** । अयौगिकत्वात । यथाहि पाचक इत्यत्रावयवशक्त्या पचिक्रियासम्बन्धाभिधानेन तद्युक्ते वर्तन नैव रजतशब्दस्यास्ति, ण्वुलादिवत्कर्त्रादिनिहितप्रत्ययाभावादित्यर्थ । अथ यथाऽखण्डत्वेऽपि जातिशब्दस्योपाधिवाचकत्व तद्वत्किं न स्यादित्यत आह—**उपाधेरिति** । तृतीय निषेधति—**नाप्यक्षादीति** । यद्यप्यक्षादौ न सर्वत्रानुगत कश्चिज्जातिरुपाधिर्वार्थोऽस्ति येन साधारणशब्दत्व तथापि विभीतकत्वविदेवनत्वादिभिरवान्तरधर्मै शक्य सङ्गतिग्रह, आकाशादश्वानादिवद्वृद्धव्यवहारप्रसिद्धतया, इह तु न तथाविधमपि किंचिदस्ति, भ्रान्तिसिद्धस्य प्रतीतिमात्रजीवनत्वात् । प्रतीतिश्च प्रत्यात्मवृत्तित्वादतोऽगृहीतसङ्गतिकत्वादप्रयोग एवात्र रजतशब्दस्य प्रसज्येतेत्यर्थ । अनिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्तिरपि बाधिकेत्याह—**किं चानिर्वचनीयंचेदिति** । इन्द्रियेण प्रतीतिरिति प्रथम पक्ष निराचष्टे—**नाद्य इति** । इन्द्रियव्यापारात्पूर्वमेव निर्वृत्त पश्चादिन्द्रियसप्रयोगाज्ज्ञायमान ह्यैन्द्रियक र्, न चैव प्रतीतिमात्रशरीर रजतमित्यर्थ । **अननुभूत इति** । प्रतीतिसमसमयशरीरस्य पूर्वानुभवाभावात्सस्काराभावे न तत

(भ्रम) निमित्तक भी रजत शब्द की अनिर्वचनीय मे प्रवृत्ति नही हो सकती है । जैसे कि पाचकादि शब्दो मे सखण्डत्व है, पच धातु पाकक्रिया का वाचक है, अक् (ण्वुल्) प्रत्यय कर्तावाचक है, अत प्रकृति प्रत्यय मिलकर पाककर्ता का बोधक होता है । ऐसा (यौगिक) रजत शब्द नही है, क्योकि अखण्ड (अयौगिक) है । और जाति से अतिरिक्त जातित्वादि धर्म रूप उपाधि के अनिरूपण (अप्रसिद्धि) से भी औपाधिक नही है, और अक्षादि शब्द के समान रूढ भी नही है, क्योकि अक्षादि शब्दो की विभीतक (हरड) पासा, इन्द्रिय अर्थो मे जैसे जाति उपाधि के बिना ही परम्परा प्रसिद्धि रूप रूढि से शक्तिग्रह होता है, वैसे रजत शब्द की अनिर्वचनीय मे शक्ति का ज्ञान नही होता है, क्योकि अपनी भ्रान्ति मात्र से सिद्ध रजत के अन्यत्र अदृष्टचर (अदृष्ट विषय) होने के कारण, उस रजत के साथ रजत पद की शक्ति रूप सम्बन्ध का ग्रहण नही हो सकता है, अपने भ्रम से सिद्ध रजत अपने-अपने को भासता है । अन्य को नही, अत रूढि से भी मिथ्या रजत मे अगृहीत शक्ति वाला रजत शब्द रहता है । और यदि अनिर्वचनीय रजत है, तो वह प्रतीत नही हो सकता है । क्योकि यदि उसकी प्रतीति हो, तो किससे प्रतीति होगी, दुष्ट इन्द्रिय से या सस्कार से

न तृतीय, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायिन केवलसाक्षिवेद्यत्वासभवात्। नचाधिष्ठानविषयतयान्वयतिरेकयोरन्यथासिद्धि, तथासति ज्ञानद्वयस्वीकारेणाख्यातिमतानुमतिप्रसङ्ग। नच ससर्गप्रतीतेरभ्युपगमान्नाख्याति-

---

प्रतीतिरित्यर्थ। साक्षिवेद्यता निराचष्टे—**न तृतीय इति**। यत्र हीन्द्रियादिव्यापाराभावेऽप्यापरोक्ष्य यथाऽज्ञानादौ तत्साक्षिवेद्य नाम इतरथातिप्रसङ्गात्, नचेह तथाभाव इत्याह—**इन्द्रियान्वयेति**। ननु यद्यप्यधिष्ठानविषयतया अन्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धत्वान्न रजतज्ञानमिन्द्रियजम्, अपि त्वविद्यापरिणाम इति ज्ञानद्वित्वमङ्गीक्रियते, तथापि ससर्गज्ञानस्वीकारान्नाख्यातिप्रसक्तिरिति तत्राह—**नच संसर्गेति**। किं चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिष्ठानोपक्षये स्पर्शनेनापि तद्ग्रहे तादृश-

---

अथवा साक्षि चैतन्य मे होगी, यह विचारणीय है। तथा प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि उस अनिर्वचनीय का प्रतिभास (प्रतीति) मात्र शरीर (स्वरूप) है, अत प्रतीति से प्रथम अविद्यमानता, अयोग्यता आदि के कारण इन्द्रिय सयोग के अयोग्य है। इन्द्रिय व्यापार से प्रथम सिद्ध वस्तु इन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय होता है, प्रतिभास मात्र स्वरूप वाला ऐसा नही है। दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि प्रथम अननुभूत (अज्ञात) विषयक सस्कार का अभाव रहता है। और वह प्रतिभासित प्रथम का अननुभूत ही रहता है। तृतीय साक्षिचैतन्यविषयता भी नही हो सकती है। क्योकि इन्द्रिय के अन्वय व्यतिरेक को अनुसरण करने वाले को केवल साक्षि वेद्यत्व का अभाव रहता है। अर्थात् इन्द्रिय व्यापार के बिना जिस अज्ञानादि का प्रत्यक्ष होता है, वह साक्षिवेद्य कहा जाता है, भ्रमसिद्ध रजतादि ऐसे नही है, इनका प्रत्यक्ष इन्द्रियो की सहायता से होता है। अत ये साक्षिवेद्य नही हो सकते है। यदि कहा जाय कि रजत साक्षिवेद्य ही है, किन्तु अधिष्ठान, इदता, विषयता रूप से इन्द्रिय के अन्वय व्यतिरेक है, अत रजतज्ञान मे वे अन्यथासिद्ध (कारणता रहित) है। अर्थात् शुक्ति रूप अधिष्ठान का ज्ञान इन्द्रिय से होता है, और रजत का साक्षी से अविद्या वृत्ति द्वारा प्रकाश होता है, तो ऐसा मानने पर दो ज्ञान के स्वीकार होने से अख्याति मत की अनुमति (स्वीकृति) प्राप्त होगी। यदि कहा जाय कि अख्याति वादी दो ज्ञान अधिष्ठान और अध्यस्त रजत विषयक मानते है, परन्तु इद रजत के कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध विषयक ज्ञान को नही मानते है, वहाँ ससर्ग के अविद्या की वृत्ति रूप ज्ञान के स्वीकार से अख्यातिवाद का प्रसङ्ग नही होगा, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि तथापि (ससर्ग को अधिक विषय मानने पर भी)

प्रसङ्ग, तथापि विज्ञानद्वयाभ्युपगमेनाख्यातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् इदमाकारविषयमिन्द्रियजन्य ग्रहण रजततत्संसर्गविषय साक्षिचैतन्यमित्यभ्युपगमात्। तदित्थ लक्षणप्रमाणयोरनिरूपणान्नानिर्वचनीयावभासो विभ्रम इति।

अत्रोच्यते—

प्रत्येक सदसत्त्वाभ्या विचारपदवी न यत्।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिन ॥ १३ ॥

सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारासहत्वे सति सदसत्त्वेन च यद्विचार न सहते

भ्रमप्रसङ्ग। नच तेन सादृश्याग्रहादप्रसङ्ग, विसदृशेऽपि तद्दृष्टेरिति। ज्ञानद्वित्वाभ्युपगममेव प्रकटाति—**इदमाकारेत्यादिना। रजततत्संसर्गेति।** तज्ज्ञानाकारविद्यापरिणामस्याप्युपलक्षणम्। पूर्वपक्षमुपसहरति—**तदित्थमिति।**

तत लक्षण श्लोकेन सगृह्णाति—**प्रत्येकमिति।** यत्प्रत्येक सदसत्त्वाभ्या सत्त्वेनासत्त्वेन सदसत्त्वेन च विचारपदवी विचारमार्ग न गाहते न प्रविशति तदनिर्वचनीयमिति वेदान्तवदिन आहुरिति योजना। अत्र सदसत्त्वाभ्या विचारपदवी न गाहते यत्तदनिर्वाच्यमित्युक्ते सदसतोरतिव्याप्ति, तयोरप्युभयप्रकाराभ्यामनिर्वाच्यत्वादत उक्तम्—**प्रत्येकमिति।** तयो प्रत्येक विचारसहत्वात्। तावत्युक्ते समुदितया सदसतोरतिव्याप्ति, तदर्थ—**सदसत्त्वाभ्यामित्युक्तम्।**

सगृहीत लक्षण विवृणोति—**सत्त्वेनासत्त्वेनेत्यादिना।** एतदुक्त भवति—न प्रकारत्रितयप्रतियोगिकाभाववत्त्वमनिर्वचनीयत्व किंतु प्रकारत्रयप्रतियोगिकाभाव-

---

विज्ञान द्वय के अभ्युपगम (स्वीकार) से अख्याति का प्रसङ्ग दुर्वार होगा। क्योकि इदमाकार विषयक इन्द्रियजन्य ज्ञान का और रजत रजतससर्ग विषयक साक्षिचैतन्य का अभ्युपगम से अख्यातिवाद हो ही जाता है। अत इस उक्त रीति से लक्षण और प्रमाण के अनिरूपण (अभाव) ये अनिर्वचनीय का अवभास (हीन प्रतीति) भ्रम कहा जाता है, यह लक्षण नही सिद्ध हो सकता है। यहाँ तक अनिर्वचनीय का पूर्व पक्ष है। आगे उत्तर है कि—

(अत्रोच्यते) अब यहाँ समाधान (उत्तर) कहा जाता है कि अनिर्वाच्य का लक्षण यह है कि जो वस्तु सत्त्व और असत्त्व प्रत्येक (एक-एक) रूप से, और सत्त्व असत्त्व उभय रूप से विचार मार्ग मे नही आ सकता हो (विचार से सत्यादि स्वरूप नही सिद्ध हो सकता हो) वेदान्तवेत्ता उसको अनिर्वाच्य कहते हैं ॥ १३ ॥

अर्थात् सत्त्व रूप से असत्त्व रूप से विचाराऽसह (विचाराऽविषय) होता हुआ, जो सत्त्व असत्त्व उभय रूप से भी विचार को नही सह सकता, वह अनि-

नदनिर्वाच्यम् । न चैवसत्यव्याप्तिरतिव्याप्तिर्वा, सर्वभ्रमगोचराणा तथा भावनियमात् सदादीना च तत्तद्विचारसहत्वेन परैरभ्युपगमाच्च । एव च सति निरुक्तिविरह, कि वा निरुक्तिनिमित्तस्य च विरह इत्यादिविकल्पोऽकाण्डताण्डवितम्, निरुक्तेर्निमित्तभूताया प्रतीतेस्तदालम्बनस्य चार्थस्य व्यवहारगोचरत्वेऽपि सदसदादिप्रकारैर्निश्चत्य वक्तमनर्हत्वागीकारात् । न च परस्परविरुद्धयो सदसत्त्वयोर्निषेधसमुच्चयोऽनुपपन्नोऽन्यतरनिषेधस्यान्यतरविधिनान्तरीयकत्वादिति युक्तम्, निषेधसमूच्चयस्य

त्रयवत्त्वमनिर्वचनीयत्वमिति । अव्याप्त्यभावमाह—**सर्वभ्रमेति** । अतिव्याप्त्यभावमाह—**सदादीनामिति** । एव च सति यदुदयनेन तात्पर्यपरिशुद्धौ हि द्वितीयसूत्रे विपर्ययविचारावसरे गर्जित 'किमिदमनिर्वचनीयत्वम् ? कि निरुक्तिविरह एव ?' इत्यादि तदस्थाने एवानाकलितपराभिसन्धिना सभ्रान्तमित्याह—**एवं च सतीति** । **अकाण्डताण्डवित**मनवसरनर्तनम् । तत्र हेतु—**निरुक्तेरिति** । न निरुक्तिमात्रस्य तन्निमित्तस्य वाऽभावोऽनिर्वचनीयत्व किंतु सदादिप्रकारैर्निश्चित्य वक्तुमनर्हत्वमित्यर्थ । यत्त्वत्रापि तेनोक्त तदनूद्य निराकरोति—**न च परस्परेति** । समुच्चयानुपपत्तौ हेतु—**अन्यतरनिषेधस्येति** । न च युक्तमित्युक्त तत्र हेतुमाह—**निषेधसमुच्चयस्येति** । अनुपपन्न इति कोऽर्थ, यदि प्रमाणयुक्त्याधात न सहत इति

वाच्य है। एसा लक्षण करने पर इस लक्षण की कही अव्याप्ति वा अतिव्याप्ति नही है। क्योकि सभी भ्रम के विषयो को इस लक्षण से लक्षित स्वरूपता है, अत अव्याप्ति नही है। और सदादि (सत्य-असत्य) को सत्त्व असत्त्व रूप से विचार सह (विचार विषय) अन्य वादी भी मानते हैं, सत्यात्मा को सत्त्वेन मानते है, नरशृङ्गादि को विचार से असत् मानते है, अत विचाराऽसहत्व रूप लक्षण की उनमे अतिव्याप्ति नही है। इस उक्त रीति से लक्षण के सिद्ध होते भी जो निरुक्ति विरह, या निरुक्ति निमित्त विरह, अनिर्वाच्यता है, इत्यादि विकल्प है, वह अकाण्डताण्डवित (अनवसरनृत्य) रूप है। क्योकि निरुक्ति निमित्त ज्ञान का, या निरुक्ति निमित्त ज्ञान के विषय अर्थ (रजतादि) का विरह नही कहा जाता है। किन्तु इस ज्ञान और विषय के व्यवहार गोचर (व्यवहार के विषय) होते भी, सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्व प्रकारो (भेदो) से युक्तरूप से निश्चयपूर्वक कथनानर्हत्व अनिर्वचनीयत्व माना जाता है। और जो यह कहा था कि परस्पर विरुद्ध सत्त्व और असत्त्व दोनो के निषेध का समुच्चय (समेलन) अयुक्त = असम्भावित है। क्यो कि दोनो मे से एक का निषेध अन्य के 'विधानविधि' सत्त्व से नान्तरीयक (व्याप्य) रहता है। वह कथन युक्त नही है, क्यो कि निषेधसमुच्चय के

तात्त्विकत्वानङ्गीकारात् । तत्तत्प्रतियोगिदुर्निरूपतामात्रप्रकटनाय तद्विलक्षणत्वाभिलाप । न हि स्वरूपतो दुर्निरूपस्य किंचिदपि रूप वास्तव सभवति, तथा सति तस्यापि तात्त्विकत्वप्रसङ्गात् । न चैकतरनिषेधोऽन्यतरविधिनान्तरीयक , अनिर्वचनीयवादिन प्रति व्याप्त्यसिद्धे ।

ज्ञानबाध्यत्व वाऽनिर्वचनीयत्वम् । न च पूर्वज्ञानसस्कारयोरतिव्याप्ति , तयोर्ज्ञाननाश्यत्वेऽपि ज्ञानबाध्यत्वाभावात् । बाधो हि नाम प्रतिपन्नोपाधावभावबोधनम् । न च पूर्वज्ञानस्य तत्सस्कारस्य वा प्रतिपन्नोपाधावात्मनि नासीदात्माधिकरण ज्ञान सस्कारो वेत्यभावो बोध्यते । ईश्वरस्य ज्ञानेन

सिद्धमेवेदमस्माकमद्वैतवादिनामिति भाव । कर्न्तर्हि सदसद्विलक्षणशब्दार्थस्तत्राह—**तत्तत्प्रतियोगीति** प्रतियोगी सत्त्वादि । किमुत्तरकालरतयेयमःश्रीयते विधा ? न, अपरयाऽसभवादित्याह—**न हि स्वरूपत इति ।** स्वरूपेण सदसत्त्वादिभिर्दुर्निरूपस्य प्रपञ्चस्य योऽय सदसद्वैलक्षण्य धर्म, तस्य कथ सदादित्वेन निरूपणम व , तथात्वे वा तदाश्रयस्यापि तथात्वप्रसङ्गादित्यर्थ । कि चाङ्गीकृत्य व्याप्तिमिदमुक्त सैव नास्तीत्याह—**न चैकतरेति ।**

तृतीयमपि लक्षण समर्थयते—**ज्ञानबाध्यत्वं वेति ।** पूर्वज्ञानादौ ज्ञानबाध्यत्वलक्षणाभाव दर्शयितु बाधस्वरूपमाह—**बाधो हि नामेति ।** अभावबोधनप्रकारमेवानुकरोति—**नासीदात्माधिकरणं ज्ञानं संस्कारो वेति ।** यत्त्वीश्वरज्ञाननिवर्त्यत्वस्वीकारादतिव्याप्तिरिति तत्राह—**ईश्वरज्ञानेन चेति ।** अत्यन्ताभावबोधन हि

तात्त्विकत्व (यथार्थत्व) को नही मानते है, किन्तु तत्त् (सत्त्व, असत्त्व, सदसत्त्व) रूप प्रतियोगी की दुर्निरूपता मात्र को प्रकट (व्यक्त) करने के लिये सदसद्विलक्षणत्व कहा जाता है, कि जिससे शुक्ति, रजतादि मे सत्त्वादिरूपता का अभावात्मक अनिर्वचनीयत्व अनुभूत होता है, और वह सदसद्विलक्षण भी उस रजतादि का पारमार्थिक स्वरूप नही रहता है, क्यो कि जो स्वरूप से दुर्निरूप्य है, उसका कोई (सदसद्विलक्षणत्वादि) स्वरूप भी वास्तव (सत्य) हो, ऐसा सम्भव नही है, क्यो कि (तथा सति) उस विलक्षणत्वादि धर्म के तात्त्विक होने पर, उस धर्मी को भी तात्त्विकत्व प्राप्त होगा। और परस्पर विरोधी मे से एक का निषेध अन्य की विधि (सत्त्व) से व्याप्त होता है, यह कहना भी युक्त नही है, क्यो कि अनिर्वचनीयवादी के प्रति यह व्याप्ति असिद्ध है, क्योकि ब्रह्मभिन्न सब ससार मे सत्त्वासत्त्व उभय का निषेध माना जाता है।

'ज्ञानबाध्यत्वमनिर्वचनीयत्वम्' यह भी निर्दोष लक्षण है, उत्तर ज्ञान से नष्ट होने वाले पूर्व ज्ञान और सस्कार मे प्रथम इस लक्षण की अतिव्याप्ति कही गई है, वह अतिव्याप्ति नही है, क्योकि उत्तर ज्ञान से पूर्व ज्ञान और सस्कार के

च मुद्गरप्रहारेणेव घटादे प्रपञ्चस्य प्रध्वस एव क्रियते नाभावबोधनमतो नातिव्याप्ति । एनेन बाधकज्ञानविषयत्वाच्छुक्त्यादेर्ब्रह्मणश्चानिर्वाच्यत्वप्रसङ्ग इत्यपास्नम्, धर्मितया बाधकज्ञानप्रतिपन्नत्वेऽपि बोध्यमानाभावप्रतियोगित्वाभावात् । अत एव प्रतिपन्नोपाधौ नाभूदस्ति भविष्यतीति कालत्रयसत्तानिषेधो बाधस्तद्विषयत्व च बाध्यत्वमिति केचिदाचार्या । न चाव्याप्त्यतिव्याप्ती, शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्य रजतस्य कालत्रयेऽपि तत्र सत्ताभावस्य नेद रजतमिति बाधेन बोध्यमानत्वात्, लौकिकपरमार्थरजतस्य देशान्तरादौ

बाध, नतु ध्वसकरणमित्यर्थ । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**धर्मितयेति** । यत्तु बाधलक्षणमनूद्याव्याप्त्यतिव्याप्तिभ्या दूषयाम्बभूव, तदपि परिहर्तुमुपक्रमते—**अतएवेति** । यत एव निषेधोऽभावबोधनमत एवेत्यर्थ । अव्याप्ति निराकर्तुमाह—**शुक्तिशकले प्रतिपन्नस्येति** । नहि नेद रजतमित्यस्यायमर्थ, यदिदानी रजत न भवतीति भाव । नन्वय निषेधो लौकिकपरमार्थरजतविषयस्तथा च तत्रैव तावदतिव्याप्ति अत्र चासिद्धिरिति तत्राह—**लौकिकपरमार्थेति** । तत्रेद वक्तव्यम्—किं यत्रेद सत्त्वेन

नाश के होने पर भी, उत्तर ज्ञान से उनमे बाध्यत्व का अभाव रहता है, अर्थात् उत्तर ज्ञान मे पूर्व ज्ञानादि का बाध नही होता है । क्योकि प्रतिपन्न (निश्चित) उपाधि (आश्रय) मे सर्वथा अभाव के बोधन को बाध कहा जाता है, और पूर्व ज्ञान के तथा सस्कार के निश्चित आश्रय आत्मा मे आत्माश्रित ज्ञान नही था वा सस्कार नही था, इस प्रकार से अभाव का बोध उत्तर ज्ञान से नही होता है, और ईश्वर के ज्ञान से भी मुद्गर प्रहार से घटादि के प्रध्वस के समान प्रपञ्च का प्रध्वस ही किया जाता है । किसी के प्रति प्रपञ्च के अभाव का प्रबोधन नही किया जाता है, अत पूर्वोक्त अतिव्याप्ति नही है, इसीसे बाधक ज्ञान के विषयत्व से शुक्ति आदि को और ब्रह्म को भी अनिर्वाच्यत्व प्राप्त होगा, यह पूर्वोक्त दूषण निरस्त हो गया । क्योकि धर्मी (अधिष्ठान) रूप से बाधक ज्ञान से प्रतिपन्न (बोधित) होते भी, बोध्यमान अत्यन्त अभाव के प्रतियोगित्व का उनमे अभाव रहता है । और इस अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को अनिर्वचनीय कहा जाता है । अत एव किसी आचार्य ने कहा है कि प्रतिपन्नोपाधि मे न था, न है, न होगा, इस प्रकार से त्रैकालिक सत्तानिषेध को बाध कहा जाता है, और उस बाध के विषयत्व बाध्यत्व होता है । इस लक्षण की कही अव्याप्ति और अतिव्याप्ति नही है, क्योकि शुक्ति शकल (खण्ड) मे ज्ञात रजत के उस शुक्ति शकल मे त्रैकालिक सत्ता के अभाव का 'नेद रजतम्' इस बाध से बोध होता है । और देशान्तरादि मे सत्त्व रूप से प्रतीत (ज्ञात) लौकिक परमार्थ (व्यावहारिक) रजत का उस देशान्तरादि मे असत्त्व का बोधन अशक्य

सत्त्वेन प्रमितस्य तत्रासत्त्वबोधनस्याशक्यत्वात्। तस्य शुक्तिकाशकले कालत्रयासत्त्व बोध्यत इतिचेत्, न, तस्यात्राप्रसक्ते.। रजताभासप्रसक्तिरेव तत्प्रसक्तिरितिचेत् मैवम्, रजताभास इत्यप्रतीतेरिद रजतमित्येव प्रतीतेश्च। प्रतिपन्नोपाधौ निषेधात्तदाभासता पश्चान्निश्चीयते इतिचेत्, एव तर्हि नाव्याप्ति, प्रतिपन्नोपाधौ तस्य निषेधस्य त्वयाङ्गीकारात्। अत एव न देशान्तरादौ प्रमितस्य लौकिकपरमार्थरजतस्यैतन्निषेधप्रतियोगित्वम्, आभासविषयत्वात्तस्य। अन्यथा जगति रजतमेव न स्यात्। तस्माल्लौकि-

---

प्रमित हट्टादौ तत्रैव निषेध ? किंवा शुक्तौ ? न तावद्देशान्तरे, तत्र सत्ताग्राहकप्रमाणविरोधादित्यभिधाय द्वितीय शङ्कते—**तस्य शुक्तिकाशकलेति**। अत्राप्रतीतस्य न निषेध सम्भवतीति परिहरति—**न, तस्येति**। ननु यद्यपि तस्यात्र न साक्षाप्रसक्तिस्तथापि रजताभास प्रतीतस्तद्द्वारा रजतत्वसाम्यात् तदपि प्रसक्तमिति शङ्कते—**रजताभासेति**। तत्र किं भ्रमकाले रजताभासतयावभासस्तत्प्रसक्ति ? उत दैवगत्या तथाभूतस्य स्वरूपेण ? नाद्य इत्याह—**मैवं रजताभासेति**। द्वितीय शङ्कते—**प्रतिपन्नेति**। तत्कि प्रतिपन्नशुक्तिकाद्युपाधौ रजतादे कालत्रयसत्तानिषेधरूपबाधविषयत्वमङ्गीकृत रजतादेराभासतासिद्धये ? तथाचायुष्मतैवाव्याप्ति परिहृतेत्याह—**एवं तर्हीति**। ननु तथापि तद्द्वारा लौकिकरजतप्रसक्तिरप्यस्तीति नेत्याह—**अत एवेति। आभासविषयत्वादिति**। आभासविषयत्वेन त्वयाप्यङ्गीकारादित्यर्थ। न केवल तवाङ्गीकार अनुपपन्नश्च लौकिकरजतनिषेध इत्याह—**अन्यथेति**। रजततदाभासयोरैक्यायोगाद्रजताभाससम्यग्रजतविषयकप्रतीतिद्वयाभा-

---

है, और उस देशान्तरस्थ का ही शुक्ति का शकल मे असत्त्व (अभाव बोधित) (ज्ञात) होता है, ऐसा भी नही कहा जा सकता है, क्योकि उस दूरस्थ की शुक्ति का शकल मे प्रसक्ति (प्रतीति प्राप्ति) नही रहती है, और प्रसक्त का प्रतिषेध होता है, अत देशान्तरस्थ मे अतिव्याप्ति नही है। यदि कहा जाय कि रजताऽऽभास (मिथ्या रजत) की प्रसक्ति ही दूरस्थ व्यावहारिक रजत की भी प्रसक्ति है, क्योकि रजतत्वेन उसकी भी प्रसक्ति हो सकती है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि 'इद रजतम्' इस प्रकार से प्रसक्ति होती है, 'रजताऽऽभास' ऐसी प्रतीति नही होती ह, अत रजताभास की प्रसक्ति से अन्य की प्रसक्ति भी नही हो सकती है। यदि कहा जाय कि प्रतिपन्नोपाधि मे निषेध से पश्चात् उस रजत की आभासत्ता निश्चित होती है प्रथम नही सो सत्य है, तो भी ऐसा होने पर अव्याप्ति नही रह जाती है, क्योकि प्रतिपन्नोपाधि मे उस प्रतीयमान के त्रैकालिक अभाव को आपने मान लिया है। भाव है कि प्रतीति काल मे प्रातिभासिक रजत के सत्त्व से त्रैकालिक निषेध की प्रतियोगिता रूप लक्षण की अव्याप्ति है, ऐसा पूर्वपक्षी

कपरमार्थरजतमेव नेद रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पुरोवर्तिनि रजतार्थिन प्रवृत्तिदर्शनाल्लौकिकरजतात्मत्वेनापरीक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकरजतमिद न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्या । न चैव सत्यन्यथाख्याते, प्रसक्ति, ससर्गवत्ससर्गिणोऽपि ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या सदसद्विलक्षणताङ्गीकारात् ।

वाच्चाप्रसक्तस्यैव सम्यग्रजतस्य निषेध इति वक्तव्यम्, तथा च यत्र यत्र प्रमित तत्र सर्वत्र निषेध स्यादित्यर्थ । नन्वेव सति विवरणकाराचार्यवचनविरोध इत्यत आह—**तस्मादिति** । ननु लौकिकपरमार्थरजतात्मत्वेन चेत्प्रतीत निषिध्यते, तर्ह्यन्यथाख्यात्यापात, देशान्तरस्थरजतस्यात्र प्रतीतस्य निषेध इति हि तेषामपि मतमित्यत आह—**नचैवं सतीति । संसर्गवदिति** । ससर्गस्य सदसद्विलक्षण्याङ्गीकारादेव तावदन्यथाख्यात्यादिवादिभ्य सिद्ध एव भेद, ससर्गिणस्तु लौकिकपरमार्थरजततया प्रतीतस्यापि सदसद्वैलक्षण्यस्वीकारात् प्रसिध्यतितरा भेद इत्यर्थ । लौकिक-

---

का आशय था, परन्तु रजतादि की आभासता की सिद्धि के लिये कालत्रय मे सत्ता के निषेधरूप बाध के विषयत्व के स्वीकार से आप से ही अव्याप्ति निवारित हो गई, अर्थात् प्रतीति के रहते भी रजत की सत्ता नही रहती है । और (अत एव) प्रसक्त का प्रतिषेध होने ही से, देशान्तरादि मे प्रमित लौकिक परमार्थ रजत को इस निषेध की प्रतियोगिता नही होती है । क्योकि 'नेद रजतम्' इस निषेध को आभास विषयकत्व रहता है, अत लौकिक रजत मे अतिव्याप्ति नही होती है । और (अन्यथा) यदि निषेध का प्रतियोगी लौकिक रजत हो, तो इस निषेध कर्ता के लिये ससार मे रजत ही नही रह जायगा । परन्तु ऐसा मानने पर विवरणाचार्य से विरोध होगा, क्योकि उन्होने लौकिक रजत को निषेध का प्रतियोगी कहा है, तो कहा जाता है कि लौकिक रजत को प्रतियोगी मानने पर उक्त रजताभाव की प्राप्ति होने के कारण, आचार्य का ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये कि (लौकिक परमार्थ रजत ही नेद रजतम् इस निषेध का प्रतियोगी है, यह पूर्वाचार्य की वचन युक्ति भी 'पुरोवर्ती' मे रजतार्थी की प्रवृत्ति को देखने से लौकिक रजत रूप से अपरोक्ष प्रतीतिविषय रजत का तीनो कालो मे यह लौकिक रजत नही है, इस प्रकार के निषेध की प्रतियोगिता को मानकर, आचार्य ने कहा है। व्यावहारिक रजतरूप से प्रतीत का निषेध मानने पर अन्यथाख्याति की प्राप्ति होगी, यह नही कहना चाहिये, क्योकि ससर्ग के समान ससर्गी के भी प्रतीति ओर बाध की अनुपपत्ति से उसमे सदसद से विलक्षणता को स्वीकार किया जाता है, वहाँ शुक्ति रजत्त के तादात्म्य सम्बन्ध को अनिर्वाच्य मानने ही से अन्यथाख्याति से वैलक्षण्य हो जाता है, रजत की अनिर्वाच्यता के अस्वीकार करने पर

एव च सति कुतोऽतिव्याप्ति ?

प्रमाण च तत्र ख्यातत्वे सति बाध्यत्वान्यथानुपपत्ति । न च देशान्तरे सत्त्वादत्रासत्त्वाच्च ख्यातिबाधयोरन्यथाप्युपपत्ति, अन्यत्र सत्ताया इह प्रतीत्यहेतुत्वात् । न हि भूमावम्भोरुह सदिति दुष्टाक्षस्यापि नभसि तदवभासते । अप्रतीतत्वादेव च बाधायोगात् । न चासतोऽभाने शब्दस्यापार्थकत्वप्रसङ्ग, अपरोक्षभानाभावस्येह विवक्षितत्वात्, परोक्षभानस्य चानिराकरणात् । न च सच्छब्दार्थानिरुक्तेर्यत्सत्तदबाध्यमिति

परमार्थरजताप्रतिषेधादेवानिव्याप्ति परिहृतेत्याह—**एवं च सतीति ।**

लक्षण समर्थयित्वार्थापत्ति तावत्प्रमाणमाह—**प्रमाणं चेति ।** अन्यथाप्युपपत्तिमुक्ता परिहरति—**न च देशान्तरेत्यादिना ।** ननु दुष्टाक्षस्यान्यत्र सदन्यत्र प्रतीयत इति, नेत्याह—**न हि भूमाविति ।** एव प्रतीतेरन्यथाप्युपपत्ति परिहृत्य बाधस्यापि ता परिहरति—**अप्रतीतत्वादेव चेति ।** यत्त्वसतो भानाभावेऽसत्पदप्रयोगस्यापार्थकत्वप्रसङ्ग इति तत्परिहरति—**न चासत इति ।** नासतो भानमात्र प्रतिषिध्यतेऽपित्वपरोक्षभानम् । तथा च नान्यथोपपत्तिरपार्थकत्व चेत्यर्थ । यत्तु सच्छब्दार्थं त्रिधा विकल्प्य दूषणमुक्त तत्परिहरति—**न च सच्छब्दार्थेति ।** शुक्ति-

---

तो किसी प्रकार से अन्यथाख्याति कही नही जा सकती है । इस उक्त रीति से लौकिक रजत मे निषेध प्रतियोगिता के अभाव मे उसमे उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है—किसी प्रकार से नही ।

ख्यातत्व (ज्ञानत्व) युक्त बाध्यत्व की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण, भी उस अनिर्वचनीयार्थ विषयक है । देशान्तर मे रजत के और शुक्ति मे असत्त्व से प्रतीति और बाध की अन्यथा ही सिद्धि हो जा सकती है । अनिर्वाच्यता के बिना अनुपपत्ति नही है, ऐसा नही कहा जा सकता है क्योकि अन्यत्र की सत्ता शुक्ति देश मे रजत की प्रतीति का हेतु नही हो सकता है, दुष्ट नेत्र मे भी यह शक्ति नही रहती है कि जिससे दूर व्यवहित का दर्शन कर सके, क्योकि भूमि मे कमल सत् है, इससे यह नही होता है कि दुष्ट नेत्र वाले को आकाश मे वह कमल भासता हो । और देशान्तर के रजत के अप्रतीति होने ही के कारण उसका बाध भी नही हो सकता है (उसका बाध मानना अयुक्त है) यदि कहै, कि असत अर्थ का यदि भान (ज्ञान) न हो तो असत् शब्द के प्रयोग को अनर्थकता होगी, अत असत् शब्द युक्त (असन्नभाति) इत्यादि वाक्य का प्रयोग भी नही होगा । प्रयोग होने पर अनर्थक समझा जायगा । यह कहना युक्त नही (असत् नही भासता है) यहाँ अपरोक्ष भान का अभाव विवक्षित है । अत शब्द से परोक्ष ज्ञान होता ही है, (असतो न भानम्) इत्यादि से परोक्ष ज्ञान का निराकरण नही किया है ।

व्याप्त्यसिद्धि, त्वयापि द्वे तत्त्वे सदसती इति तत्त्व व्यवस्थापयता यदेव सत्त्वेन व्यवस्थापित तस्यैव मयापि व्यवहारदशायामबाध्यत्वोक्ते । न चान्यथैवोपपत्ति, सदसत्त्वयोरेवाबाधाभानप्रयोजकत्वोपपत्तौ तदितरवैलक्षण्यस्य तत्प्रयोजकत्वकल्पनाया गौरवात् । न चासतोऽपि तत्पदात्प्रतिभासनात्सत्तायुक्तस्यापि प्रपञ्चस्य बाधाभ्युपगमात्तयोरप्रयोजकत्वम्, अपरोक्षतयाऽभानस्य व्यवहारदशाया चाबाध्यत्वस्येह विवक्षितत्वात् ।

न्याद्यनक्षयाऽबाध्यत्व च घटादा व्याप्तमित्यर्थ । दूषणान्तर परिहरति—**न चेति ।** नन्वसत्त्वमभाने न प्रयोजकम्, असतोऽपि तच्छब्दाद्भानात् । नापि सत्त्वमबाधायाम्, सतोऽपि प्रपञ्चस्य बाधाङ्गीकारादित्युक्तमिति तत्राह—**न चासतोऽपीत्यादिना ।** पूर्वोक्तमेव परिहारमत्राप्याह—**अपरोक्षतयेति ।** नन्वबाध्यत्वे सत्त्व प्रयोजकमङ्गीकुर्वता सद्वैलक्षण्य बाध्यत्वे प्रयोजक स्वीकर्तव्यम्, तथा च प्रयोजकगौरव स्यात्, एवमितरत्रापि । मत्पक्षे त्वसत्त्व बाध्यत्वे प्रयोजक सत्त्व च प्रतीताविति लाघवमिति न्यायरत्नदीपावलीयमाशङ्क्य तत्रापि व्यतिरेकेऽसद्वैलक्षण्यमबाधे प्रयोजक सद्वैलक्षण्य

जोग जो यह कहा है कि, सत् शब्दार्थ की अनिरुक्ति (अनिर्वचन = अनिर्णय) से, जो सत् है, वह अबाध्य है, यह व्याप्ति नही सिद्ध हो सकती है, वह भी कथन अयुक्त है, क्योकि तुम नैयायिक (न्याय प्रथम सूत्र के भाष्यकार) ने भी (द्वेतत्त्वे सदसती) सत असत् दो पदार्थ है, इस प्रकार से तत्त्व (वस्तु) के व्यवस्थापन (निर्णय) करते हुए, जिस वस्तु को उन्होने तत्त्व (सत्त्व) रूप से व्यवस्थापित (सिद्ध) किया है, उसी को मैं भी व्यवहारावस्था मे अबाध्य कहता हू और अन्यथा ही उपपत्ति कही गई थी कि, सद्विलक्षणता से नरशृङ्गादि की अप्रतीति होती है । असद्विलक्षणता से आत्मा मे अबाध्यता है, अत अभान अबाधता के प्रयोजक (हेतु) सद्विलक्षणत्व और असद्विलक्षणत्व है, और शुक्ति रजत की ख्याति और बाध देखे जाते है, अत उसमे सद् असद् विलक्षणत्व का अभाव सिद्ध होता है, और सदसद् विलक्षणत्व के अभाव है अत वह सदसत् स्वरूप है, और सद्रूपता मे ख्याति असद्रूपता मे बाध की उपपत्ति होती है, परन्तु इस प्रकार से अन्यथोपपत्ति नही हो सकती है । क्योकि सत्त्व और असत्त्व को ही अबाध और अभानके प्रयोजकत्व रहते, उस सत्त्वासत्त्व से इतर (अन्य) वैलक्षण्य (विलक्षणता) मे अभान अबाध्यत्व प्रयोजकत्व की कल्पना मे गौरव होता है । यदि कहे कि असत् की भी असत् पद से प्रतीति होती है, तथा सत्तायुक्त प्रपञ्च का भी बाध माना जाता है, अत असत्त्व और सत्त्व, अभान और अबाध्यत्व के प्रयोजक नही हो सकते है, तो कहना युक्त नही । क्योकि अभानगत भान शब्द से अपरोक्ष ज्ञान विवक्षित है, सामान्य ज्ञान नही । और अबाध्य शब्द से भी व्यवहारदशा

ननु सत्त्वासत्त्वयोरेवाबाध्यत्वाभानप्रयोजकत्वे यत्सद्विलक्षण तद्बाध्य यदसद्विलक्षण तत्ख्यातीति व्यतिरेके गौरव स्यात्। सत्त्वासत्त्वयोस्तु ख्याति-बाधप्रयोजकताया लाघवमिति चेत्, मैवम्, तवापि व्यतिरेके गौरवस्य तुल्यत्वात्, अख्यात्यबाध्यत्वयो सदसद्वैलक्षण्यस्य प्रयोजकत्वाङ्गीकारात्। एवमपि प्रयोजकत्वविनिगमनाया को हेतुरितिचेत्, पक्षान्तरे ख्यात्यसभव । तथाहि—न तावत्सत्त्वादध्यस्तस्य ख्याति, तस्येहासत्त्वात्, सतश्च ख्यातौ भ्रान्तिबाधयोरनुपपत्तेश्च । असत्त्वे चापरोक्षतया भानत्वानुपपत्ते ।

चाभाने प्रयोजकमिति गौरव समानमित्याह—**मैवं तवापीति** । नन्वेव समानगुण-दोषत्वे किमित्यन्यतरपक्षे पक्षपात इति शङ्कते—**एवमपीति** । विनिगमना निर्णय । सत्त्व भाने प्रयोजकमिति पक्षे बाध्यस्य किं सत्त्वात् स्फुरणम्? उतासत्त्वात्? नाद्य इत्याह—**न तावत्सत्त्वादिति** । दूषणान्तरमाह—**सतश्चेति** । असत इति पाठे द्वितीयपक्षनिषेध । चस्त्वर्थ । स च दूषितपक्षात्पक्षान्तरपरिग्रहसूचक । द्वितीय निषेधति—**असत्त्व इति** । द्वितीययोजनाया तत्रैव हेतु ।

मे अबाध्यता विवक्षित है, सर्वदा अबाध्यत्व नही, शुक्ति रजत का प्रत्यक्ष भान होता है, और व्यवहार दशा मे बाध होता है, अत अभान प्रयोजक असत्त्व और अबाधप्रयोजक सत्त्व दोनो से विलक्षणता के कारण अनिर्वाच्यत्व की सिद्धि होती है, और भान तथा बाध की अनुपपत्ति से असत्सत् से विलक्षणता का ज्ञान होता है। यदि शङ्का हो कि सत्त्व और असत्त्व को ही अबाध्यत्व और अभान के प्रयोजक मानने पर, जो सद्विलक्षण होता है वह बाध्य होता है, और जो असद्विलक्षण होता है, उसकी ख्याति होती है, इस प्रकार से शुक्ति रजत मे सत्त्व असत्त्व के व्यतिरेक निश्चय मे गौरव होगा। और सत्त्व असत्त्व को ही ख्याति बाध मे प्रयोजक मानने पर लाघव होता है तो ऐसी शङ्का नही करनी चाहिये। क्योकि आपके मत मे गौरव की तुल्यता है, अख्याति और अबाध्यत्व के प्रयोजक सदसद्विलक्षणत्व को आप भी मानते है, सद्विलक्षणत्व अख्याति का असद्विलक्षणत्व अबाधत्व का प्रयोजक आप के मतानुसार है। यदि कहे कि इस प्रकार से दोनो पक्ष मे तुल्य गौरव होने पर, दोनो मे से एक ही प्रयोजकता की विनिगमना (निर्णय) मे क्या हेतु है। तो कहा जाता है कि पक्षान्तर मे (अनिर्वाच्यता से भिन्न सद्रूपता आदि पक्ष मे) ख्याति का असम्भव ही निर्णायक है। क्योकि सत्त्व होने से अध्यस्त की प्रतीति होती है, यह नही कह सकते है, सत् की यहाँ (शुक्ति मे) ख्याति का सत्त्व नही है, और सत् की ख्याति हो तो भ्रान्तित्व और बाध की अनुपपत्ति होगी। और असत्त्व हो तो अपरोक्ष रूप से ज्ञान की अनुपपत्ति होगी। अत उक्त रीति से ख्याति बाध की अनुपपत्तिरूप अर्थापत्ति अनिर्वचनीयत्व मे प्रमाण है।

अमुमानमप्यत्र प्रमाणम्—विमतमनिर्वचनीय वाध्यत्वात् यन्नैव तन्नैव यथात्मेति। ससर्गस्यैव बाध्यत्वाद्रजतस्य बाध्यत्व सिद्धमितिचेत्, न, द्वयोरपरोक्षतया प्रतिभासमानयो ससर्गमात्रनिषेधे वनस्पत्योरिव विविक्तयो बाधोत्तरकालमुभयोरपि इहावभासप्रसङ्गात्। न चाप्रसिद्ध-विशेषण पक्ष। यस्मात्—

एकालम्बनससर्गनिषेधे सदसत्त्वयो।
धर्मत्वाद्रूपरसवत्सिद्धानिर्वचनीयता ॥ १४ ॥

तदेवमर्थापत्तिमुक्त्वानुमानमपि प्रमाणयति—**अनुमानमपीति। विमत-मिति।** शुक्तिरूप्यादीत्यर्थ। अत्र च सदसद्विलक्षणत्वमनिर्वचनीयत्व साध्यमिति न साध्याविशिष्टता। असिद्धिमन्यथाख्यातिवादी शङ्कते—**संसर्गस्येति।** परिहरति—**नेति।** असनिहितबाधनिवारणाया**परोक्षतयेत्युक्तम्।** सामान्यतो दृष्टानुमानेना-निर्वचनीयता साधयन्नप्रसिद्धविशेणता परिहरति—**एकालम्बनेति।** धर्मत्वाद्धेतो सदसत्त्वयोरेकालम्बनससर्गनिषेधे एकानिष्ठससर्गाभावे एकाधिकरणात्यन्ताभाव इति यावत्। तस्मिन्साधिते रूपरसवदनिर्वचनीयता सिद्धा भवति इति योजना। सग्रह

अनुमान भी इस अनिर्वचनीयत्व मे प्रमाण है कि (बिमतम् = अध्वस्त रजतादिकम् , अनिर्वचनीयम्, बाध्यत्वात् = यन्नैव तन्नैवम् यथाऽऽत्मेति) विवाद विषय रजतादि, अनिर्वचनीय है, बाध्य होने से, जो अनिर्वचनीय नही है, वह बाध्य भी नही है, जैसे आत्मा है। यदि कहै कि 'नेद रजतम्' इससे रजत का ससर्गमात्र बाध्य होता है, रजत नही। अत हेतु असिद्ध है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि रजत और ससर्ग दोनो भ्रमकाल मे अपरोक्षरूप से प्रतिभासित = प्रतीत, होते है, वहाँ 'नेद रजतम्' इससे ससर्गमात्र के निषेध (बाध) होने पर, दूरस्थ वनस्पति के ससर्ग मात्र के बाधित होने पर जैसे वनस्पति पृथक्-पृथक् स्थिर रहता है, वैसे शुक्ति, रजत को पृथक्-पृथक् स्थिर रहना चाहिये, और बाध के बाद दोनो की पृथक्-पृथक् प्रतीति होनी चाहिये, और ऐसा होता नही है, अत दोनो का बाध होता है। और उक्त अनुमान मे अप्रसिद्ध विशेषण (साध्य) वाला पक्ष है, यह भी नही कहना चाहिये, क्योकि—

धर्मत्वरूप हेतु से रूप, रस, के समान किसी एक आलम्बन (आश्रय = आधार) मे, सत्त्व असत्त्व दोनो के निषेध सिद्ध होने पर, अनिर्वचनीयता सामान्यत सिद्ध हो जाती है ॥ १४ ॥

विवादाध्यासिते सदसत्त्वे एकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनी धर्मत्वाद् रूपरसवदिति अनिर्धारितधर्मिनिष्ठतया सामान्यत सिद्धस्य सदसद्वैलक्षण्यस्य

विवृणोति—**विवादाध्यासिते इति ।** अत्र च सासत्त्वाभावाने सत्त्वासत्त्वे एकधर्मिनिष्ठौ यावत्यन्ताभावौ तत्प्रतियोगिनी धर्मत्वात्, यौ धर्मौ तावेकधर्मिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनौ, यथा रूपरसौ तथाचाम् , तस्मात्तथेति प्रयोग । भिन्नाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगितयार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थम् —**एकधर्मीत्युक्तम् ।** सत्त्वम सत्त्वानधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मत्वात् रूपादिवदिति तु प्रयोगशरीरम् । न चार्थान्तरता, सतोऽसता वाऽस्यात्यन्ताभावद्वयाधिकरणत्वाभावात्, मिलितयोश्चैकत्वाभावादेकत्वे वा सदसदन्तर्भूततयाशमुभयाभावाधिकरणत्वायोगात्, अनन्तर्भूतत्वे च सिद्ध न समीहितमिति क्वार्थान्तरता । नच प्रमेयत्वादौ व्यभिचार, तेषामपि वेदान्तिमते पूर्वोदितन्यायेनैवात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् । नच वेपरीत्यानुमानम्, धर्मत्वहेतो रूपादावनैकान्तिकत्वात् । अपरे त्वेवमेतदनुमान समर्थयामासु —सत्त्वमसत्त्वानधिकरणानात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि अनात्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाद्रूपादिवदित्यत्र विवक्षितम् । तेन चैतत्परिहृत भवति—धर्मत्वहेतोर्वाच्यत्वादिना व्यभिचार । अथ तस्यापि निर्धर्मके ब्रह्मण्यभावेनाव्यभिचार, तर्हि तस्मिन्नेव ब्रह्मणि निर्धर्मकतयोक्तसाध्यसिद्धे, न जडानिर्वाच्यतासिद्धिरित्यर्थान्तरता स्यादिति । नत्र व्याघात, परस्परविरुद्धयोरपि नित्यत्वानित्यत्वयोरिव शुक्तिरजतादिससर्गेषु व्यावृत्तिसभवात् । अतएव विवादाध्यासिते सत्त्वासत्त्वे एकानात्मनिष्ठससर्गाभावप्रतियोगिनी न भवत , परस्पराभावरूपत्वात्, नित्यत्वानित्यत्ववदिति न सत्प्रतिपक्षतापि, आरोपितससर्गे एवोभयव्यावृत्त्या साध्यविकलत्वादिति । तदेतदसमीचीनमिव, मेयत्वादेरपि, सर्वधर्मविधुरे ब्रह्मण्यवृत्तेरव्यभिचारभूमित्वात् । न चार्थान्तरता, निर्धर्मके ब्रह्मण्यत्यन्ताभावस्याप्यवृत्ते , वृत्तौ वा सत्त्वस्यापि वृत्तेरनर्थान्तरत्वात । कथ तर्हि सत्त्वासत्त्वयोस्तत्तदत्यन्ताभावरूपयोर्ब्रह्मण्येव वर्तनम् ? किमत्र चित्र प्रत्यायकश्रुतौ सत्या, परस्परप्रतिक्षेपरूपभावाभावयो सयोगादेरेकवृत्तितेष्टेश्च, स्वस्मिन्नेव च मेयत्वाद्यवृत्तेर्वृत्तौचात्माश्रयात् । प्रमाधयिष्यते चायमर्थ । व्याघातस्तु नियमानङ्गीकारेणात्रैव परिहृत । न च नित्यत्वानित्यव्यावृत्तरारोप्यससर्ग उदाहरणम् । अत्यन्ताभावरूपस्य तस्य नित्यताया परैरङ्गीकृतत्वात् । नहि सत्ता तत्र जातिरूपिणि स्वरूपसत्त्वाङ्गीकारात् । अस्तित्वात्मकस्य च तस्या-

अर्थात् (विवाद विषय सत्त्व असत्त्व, एकधर्मी वृत्ति अत्यन्ताऽभाव के प्रतियोगी है, धर्म होने से, रूप रस के समान । अत जैसे रूप रस का आकाशादि एक ही धर्मी मे अभाव रहता है, वैसे सत्त्व असत्त्व का कही एक धर्मी मे अभाव है, और जहाँ दोनो का अभाव है वह अनिर्वचनीय है, इस प्रकार अनिर्धारित

केवलव्यतिरेकिणो रजतधर्मिनिष्ठतयोपसहारादप्रसिद्धविशेषणत्वाभावात् । न चानिर्वचनीयत्वे सदिद रजतमिति भ्रमानुभवविरोध, अधिष्ठानेदतामसर्गवत्तत्सत्तासंसर्गस्यापि अनिर्वचनीयस्यैव भ्रमेऽनुभवात् । अपि च ब्रह्मणीव पारमार्थिकसत्ताया प्रपञ्च इव च व्यावहारिकसत्ताया अभावेऽपि प्रातिभासिकसत्तास्वीकारेण सदिद रजतमित्यनुभवो न विरुद्धचते । न च नेद रजतमित्यसत्त्वानुभवविरोध, अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणसत्त्वस्यैव तत्र

भावेऽपीष्टेरिति, एतेन सामान्यादीना नित्यत्व व्याख्यातम् । तद्यथान्यासमेवास्त्वनुमानम्, अलमतिवैदग्धीप्रकटनेन । **केवलव्यतिरेकिण** इति पञ्चमी । ननु सदिद रजनमिति सत्त्वानुभवबाधितमिद सद्वैलक्षण्यानुमानमिति तत्राह—**न चानिर्वचनीयत्व इति** । यथा ह्यपुरोवर्तिनो रजतस्य पुरोवर्त्यधिष्ठानारोपात् पुरोवर्तित्वप्रतिभास । तथासद्विलक्षणरजतस्य सदधिष्ठाने समारोपितत्वात् सद्बुद्धिबोध्यत्वम्, न पुन सत्त्वादिति परिहरति—**अधिष्ठानेति** । अथवा सदिद रजतमिति प्रातीतिकसत्त्वमनुभूयते, पारमार्थिकव्यावहारिकवैलक्षण्य चानिर्वचनीयत्व माऽयन इति नानुभवविरोध इत्याह—**अपि चेत्यादिना** । सदसद्विलक्षणताया भ्रान्तिबाधानुभवविरोधो ह्यवस्तादभिदधे । तत्र भ्रान्तिविरोध परिहृत्य बाधविरोध परिहरति—**न च नेदमिति** । नेद रजतमिति कोऽर्थ ? नेद मदभिमतरजतमिति ।

धर्मिनिष्ठता रूप से सामान्य रूप से सिद्ध सदसद् वैलक्षण्यरूप अनिर्वचनीयत्व का केवल व्यतिरेकी अनुमान से रजत धर्मिवृत्तिता रूप से उपसहार (स्थिति) होने से अप्रसिद्ध विशेषणत्व का अभाव होता है। यदि कहे कि उक्त रीति से अव्यस्त को अनिर्वचनीयत्व हो, तो भ्रमकालिक (सदिद रजतम्) यह रजत सत्य है, इस अनुभव से विरोध होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अधिष्ठान इदन्ता के समान, अनिर्वचनीय सत्ता के ससर्ग का भी भ्रम मे अनुभव होता है, रजत के सत्त्व का नही। और वस्तुत अनिर्वचनीय मे पारमार्थिक व्यावहारिक सत्ता मे वैलक्षण्य कहा जाता है, सामान्य सत्ता से नही। अत (सदिद रजतम्) इस सामान्य सत्ताप्रतीति तो अनिर्वचनीयता से विरोध नही होता है, क्योकि ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के प्रपञ्च की व्यावहारिक सत्ता के शुक्ति रजतादि मे अभाव रहते भी प्रातिभासिक सत्ता के स्वीकार से, यह रजत सत् है, यह अनुभव विरुद्ध नही होता है, क्योकि इस अनुभव का विषय प्रातिभासिक सत्त्व रहता है, अन्य नही। यदि कहे कि प्रातिभासिक सत्त्व को अनिर्वचनीय मे मानने पर, तथा असत्त्व से विलक्षणता मानने पर 'नेद रजतम्' यह रजन नही है, इस बाध रूप असत्त्वानुभव से विरोध होगा, तो यह कहना युक्त नही है, क्योकि लौकिक क्रिया (भूषणादि) मे सामर्थ्यस्वरूप जो

निषिध्यमानत्वात् । न चानिर्वाच्ये रजतशब्दप्रयोगायोग, सविकल्पकरजतानुभवसस्कारजन्यतया रजतभ्रमस्य तद्वाचकशब्दोल्लेखोपपत्ते । न चानिर्वचनीयत्वे रजतस्य प्रतीत्यनुपपत्ति, शुक्त्यवच्छिन्नात्मचैतन्यस्था-

---

तथाचार्थक्रियासामर्थ्यलक्षणमन्वस्यैव निषेधान्न तद्वैलक्षण्यानुमान विरुणद्धीत्यर्थ । सदसद्वैलक्षण्यमनिर्वचनीयत्व मत तन्निर्वाहावमरनया च पूर्वोदितलौकिकपरमार्थरजतविषयत्वनिषेधेन न विप्रतिषेधशङ्कापीति भाव । दोषान्तरमुक्त परिहरति—**न चानिर्वाच्य इति** । रजवानुभवमस्काररञ्जिता ह्यविद्या रजतज्ञानाकारेण विवर्तते । अननुभूतरजतस्य भ्रान्त्यनुपपत्ते । स चानुभव सविकल्पक इति शब्दोल्लेखवान् । तथा तत्संस्काररञ्जिताविद्या तद्बुद्धिवत्तच्छब्दप्रयोगेऽपि हेतु । एतदुक्त भवति—रजतबुद्धिवद्रजतजातीयबुद्धिरप्युदेति । ततश्च तच्छब्दप्रयोग इति परस्यापि शुक्त्यादौ रजतत्वजात्याद्यसभवात्तत्सस्कार एव शरणमिति भाव । या तु प्रत्यायकानुपपत्त्या प्रतीत्यनुपपत्तिरुक्ता ता परिहरति—**न चानिर्वचनीयेति** । शुक्त्यवच्छिन्न य चैतन्य तदविद्यापरिणामो हि रजतम्, न तु केवलशुक्त्यविद्यापरिणाम, शुक्तेरविद्याकार्यस्य स्वकारणाविद्या प्रत्याश्रयत्वायोगात् ।

तदुक्तमाचार्यैरिष्टसिद्धिकारै —

'शुक्त्यवस्थात्मसोहोत्था रूप्यधी शुक्तिमोहजा ।
कथ्यते मृदवस्थात्मजातो मृज्जो यथा घट ॥' इति ।

ततस्तेनैव चैतन्येन रजतमपि वेद्यमित्यर्थ । रजतस्य शुक्तिसामानाधिकरण्योपपाद-

---

व्यावहारिक सत्त्व, उसीको उस प्रातिभासिक रजत मे निषिद्धत्व 'नेद रजतम्' इस अनुभव से होता है, प्रातिभासिक सत्त्व को नही, लौकिक सत्त्व से असत्त्व से विलक्षणत्व अनिर्वचनीयत्व है, वहाँ लौकिक सत्त्व के निषेधद्वारा अनिर्वचनीयत्व के अनुकूल ही 'नेद रजतम्' यह अनुभव होता है, विरोधी नही । यदि कहा जाय कि शक्तिग्रहादि के अभाव से अनिर्वाच्य मे रजत शब्द का प्रयोग नही हो सकता है, यह कहना भी युक्त नही, क्योकि भ्रान्तिज्ञान के सविकल्पक सत्य रजतादि के ज्ञानजन्य सस्कारजन्य होने के कारण, वह भ्रान्तिज्ञान रजतादि के वाचक शब्दो को भी विषय करता है, अत ज्ञानानुकूल शब्द के उल्लेख (प्रयोग) की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। इन्द्रियसम्बन्धादि के अभाव से अनिर्वचनीय की प्रतीति नही हो सकती है, यह कहा था, परन्तु अनिर्वचनीयत्व होते भी रजत की प्रतीति की अनुपपत्ति नही है। क्योकि शुक्ति से अवच्छिन्न (शुक्तिदेशमात्र वृत्ति) आत्मचैतन्याश्रित अविद्या के विवर्त (कार्य) होने के

विद्याविवर्ततया चैतन्येऽध्यस्तत्वात्तेन प्रतीत्युपपत्ते । न च सप्रयोगाभावादपरोक्षत्वानुपपत्ति, अध्यस्तस्यापरोक्षताया सप्रयोगानपेक्षत्वात् । अन्यथा भवतोऽपि रजततत्ससर्गयोरपरोक्षत्वाभावापातात् । अधिष्ठानसप्रयोगादेवापरोक्षत्वमस्मन्मतेऽपि तुल्यम्, अन्यत्र स्वपक्षपातात् । न चेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्व रजतस्य, तयोरधिष्ठानग्रहणेनान्यथा-

---

नाय शुक्त्यवच्छिन्नेत्युक्तम् । नन्विन्द्रियसप्रयोगाभावे कथमपरोक्षता ? तत्राह—**न च संप्रयोगेति** । न केवलमस्माकमय नियमभङ्गोऽपि भवतोऽपीत्याह—**अन्यथेति** । ननु न देशान्तरस्थ रजत रजतज्ञानविषयोऽपितु पुरोवर्ति वस्तु, तच्चेन्द्रियसयुक्तमितीन्द्रियसप्रयोगादेवापरोक्ष तर्हीदमस्मन्मतेऽपि समानमिति प्रौढिमारूढ प्राह—**अधिष्ठानेति** । नन्विन्द्रियान्वयव्यतिरेकयो सतो कथ तदभावो येनैव परिह्रियत इति तत्राह—**तयोरिति** । अधिष्ठानग्राहकेन्द्रियग्राह्यतामन्तरेणारोप्यस्यापरोक्ष-

---

कारण चैतन्य मे अध्यस्त (कल्पित = सिद्ध) होने से उस चेतन से अविद्या की वृत्ति द्वारा उसकी प्रतीति की सिद्धि होती है । यदि कहे कि प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रियसम्बन्ध होता है, और प्रतिभास स्वरूप वाले रजतादि के साथ इन्द्रियो का सम्बन्ध हो नही सकता है, अत सम्प्रयोग (सम्बन्ध) के अभाव से रजतादि के अपरोक्षत्व की अनुपपत्ति है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अध्यस्त की अपरोक्षता मे सम्प्रयोग की अपेक्षा नही होती है । अन्यथा (अपेक्षा होने पर) आप को भी रजत और उसके ससर्ग के अपरोक्षत्व का अभाव प्राप्त होगा, क्योकि दूरस्थ रजत के ज्ञान को मानने पर भी उसके साथ नेत्र का सम्बन्ध नही रहता है । यदि कहे कि दूरस्थ रजत, रजतज्ञान का विषय हमारे मत मे नही होता है, किन्तु पुरोवर्ती वस्तु रजतज्ञान का विषय होता है, शुक्ति रजतरूप से भासती है, वह इन्द्रिय से सयुक्त रहती है, अत इन्द्रियसयोग से ही अपरोक्ष ज्ञान होने के कारण हमारे मत मे अधिष्ठान शक्ति के साथ सम्प्रयोग से अपरोक्षत्व होता है, तो मै कहता हूँ कि मेरे मत मे भी वह अपरोक्षत्व तुल्य है । परन्तु स्वपक्षपात से अन्यत्र की यह बात है । यदि कहे कि रजत को इन्द्रिय अन्वयव्यतिरेक अनुविधायित्व है, अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्धि नियत प्रतिभासत्व प्रतीत होता है, अत साक्षिभास्यत्व नही हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक का अधिष्ठान (इदन्ता) के ग्रहण मे उपयोग (फल) होता है । अत वह अन्वयव्यतिरेक रजतज्ञान मे अन्यथासिद्ध (अहेतु) है । यदि शङ्का हो कि रजत का ज्ञान यदि इन्द्रियजन्य नही होता है, किन्तु अधिष्ठान (इदन्ता) मात्र का ज्ञान इन्द्रियजन्य होता है, तो स्पर्शन (त्वक्) इन्द्रिय से अधिष्ठान के गृहीत (ज्ञात) होने पर भी चाक्षुष (चक्षुजन्य) रजत का

सिद्धत्वात् । न चैव सति स्पर्शनेनाधिष्ठाने गृहीतेऽपि चाक्षुषो रजतविभ्रम स्यादिति वाच्यम्, सादृश्यदर्शनजन्ये विभ्रमे तेनैवेन्द्रियेण सादृश्यस्य ग्रहणनियमात्। अन्यथा तवापि तिक्तो गुड इति विभ्रमो न भवेत्। आरोप्यस्य रसस्य रसनेन्द्रियग्राह्यतया द्रव्यग्राहकस्पर्शनेन्द्रियागोचरत्वात्। तस्मात्तत्राधिष्ठानग्रहण एवेन्द्रियस्योपयोग इति त्वयापि वक्तव्यम्। तथा च न तत्प्रक्तेऽपि दण्डवारितम्। न च ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यातिप्रसङ्ग, इदमशावच्छिन्नसाक्षिचैतन्यस्यैवाधिष्ठानज्ञानफलभूतस्य स्वमायाविवर्तरज-

---

ताया बाधकमाशङ्क्य परिहरति —**न चैवं सतीति**। न तावदारोप्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमाद्भ्रमानुदय, अपि तु सादृश्यजन्यभ्रमेषु सादृश्याधिष्ठानयोरेकेन्द्रियग्राह्यतानियमात् तदभावापराधादित्याह— **सादृश्येति**। यदि च कस्मैचित्समानेन्द्रियग्राह्यत्वनियमदुराग्रहादुक्तरीतिर्न रोचेत, तं प्रति बाधकमाह—**अन्यथा तवापीति**। विभिन्नेन्द्रियग्राह्यतामेव हेतुमाह—**आरोप्यस्येति**। तदेवमधिष्ठान एवेन्द्रियोपयोगमुपपाद्य ज्ञानद्वयाङ्गीकारादख्यात्यापत्तिमुक्त्वा परिहरति—**न च ज्ञानेति**। कोऽयं ज्ञानभेद ? किं ज्ञप्तिभेद ? उतान्त करणवृत्तिभेद ? नाद्य इत्याह— **इदमशेति**। उभयोरपीदमशावच्छिन्नैकसाक्षिवद्यत्वेन फलभेदाभावादित्यर्थ । द्वितीये

विभ्रम होना चाहिये। तो ऐसी शङ्का युक्त नही, क्योकि सादृश्यदर्शनजन्य विभ्रम मे, तत (अधिष्ठानग्राहक इन्द्रिय से ही) सादृश्य के ग्रहण का नियम रहता है, और त्वक् से सादृश्य का ग्रहण नही होता, अत त्वक् गृहीत मे चाक्षुषभ्रम की आपत्ति नही हो सकती है। अन्यथा (यदि ऐसा नियम आदि नही माने जाये) तो (तिक्ता गुड) गुड तिक्त है, यह विभ्रम आप के मत मे नही होगा, क्योकि आरोप्य तिक्त रस की रसनेन्द्रिय ग्राह्यता मे उसमे द्रव्यग्राहक स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्यता नही है, अत अधिष्ठान ग्रहण मे इन्द्रिय का उपयोग होता है, यह आप (तार्किक) को भी कहना होगा, ऐसा होने पर प्रकृत रजतभ्रम मे भी इन्द्रिय से अधिष्ठान का ज्ञान हो, और साक्षि से रजत का ज्ञान हो, तो उसका दण्ड से वारण नही किया जा सकता है, और सादृश्य ज्ञान मे चक्षु के कारण होने से चक्षुगृहीत मे ही रजतभ्रम हो सकता है, स्पर्शन गृहीत मे नही। तिक्त का भ्रम सादृश्य ज्ञान जन्य नही होता है, स्पर्शनेन्द्रिय से गृहीत ग्रह मे रसना से तिक्त ज्ञान मे कोई विरोध नही है। यदि कहे कि रजत भ्रम अधिष्ठान के चाक्षुष ज्ञान और रजत के साक्षी रूप ज्ञान द्वय के अङ्गीकार से अख्याति मत का प्रसङ्ग होगा, तो यह कहना उचित नही, क्योकि वस्तुत ज्ञानस्वरूप चेतनात्मा है, अन्त करणादि की वृत्तियाँ उसके व्यञ्जक होने से ज्ञान कही जाती है और 'इद रजतम्' इस भ्रम मे, इदमशावच्छिन्न (इदमाकारवृत्तिनिष्ठ) जो साक्षि चैतन्य है, वही

तादिमिद्धित्वात् अन्त करणवृत्तिलक्षणज्ञानद्वयानङ्गीकारात् । तदेव लक्षण-प्रमाणयोरनिर्वचनीये रजतादिविभ्रमे सभवात् तद्वद् द्वैतप्रपञ्चविभ्रमोऽपि वेदान्तवाक्यप्रमाणजन्याधिष्ठानाद्वितीयात्मविज्ञानाद्विलीयत इति सिद्धम् ।

ननु कथ वेदान्तवाक्याना सिद्धार्थबोधकत्वम् ? सकलपदाना लोके कार्ये

प्राह—**अन्तःकरणेति** । न चैकत्रान्त करणपरिणामोऽपरत्राविद्यापरिणाम इति ज्ञान-भेद, अविद्यापरिणामस्य ज्ञानाभासत्वेन ज्ञानताऽसिद्धे । उक्त हि—'अविद्या वेद्यै सह भ्रम' इति । वादार्थमुपसहरन् समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** । भेद-प्रपञ्चस्याविद्यापरिणामतया शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयोपितत्वात् तदधिष्ठानाद्वैत-तत्त्वसिद्धि फलमित्यर्थ ।

इत्यनिष्टविपरीतबुद्धितत्तुच्छसद्विषयवाददूषणात् ।
व्यक्तमुक्तमिह तत्तदुक्तिभि शक्यनिर्वचनतानिवारणम् ॥

वेदान्तवाक्यजन्यादद्वितीयात्मविज्ञानादित्युक्तम् । तदसङ्गतम्, सिद्धेऽर्थे वेदस्य प्रामाण्याभावादिति कार्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**ननु कथमिति** । ननु भवतु लौकि-

---

अधिष्ठान ज्ञान मे (इदमाकारवृत्ति मे) फलभूत (प्रतिबिम्बित) होता है । और वही अपनी माया (अविद्या) के विवर्त रूप रजतादि की सिद्धि (ज्ञान) स्वरूप होता है । अत ज्ञान का भेद नही रहता है । और उसका अभिव्यञ्जक अन्त करण की वृत्तिरूप ज्ञान द्वय का अङ्गीकार नही किया जाता है, यदि कहा जाय कि अधिष्ठानाश की वृत्ति, नेत्रजन्य अन्त करण का परिणाम रूप होती है, और रजताकार अविद्या का परिणामरूप मानी जाती है । अत वृत्तिद्वय रूप दो ज्ञान का अङ्गीकार है ही, तो यह दोष भी नही है, क्योकि अविद्या-परिणाम के ज्ञानाऽऽभास (मिथ्या) होने से उसमे ज्ञानता असिद्ध है । अत इस उक्त रीति से, अनिर्वचनीय रजतादि के विभ्रम मे लक्षण और प्रमाण के सम्भव होने पर, उसीके समान, वेदान्तवाक्यरूप प्रमाणजन्य, अधिष्ठान स्वरूप अद्वितीय आत्मा के विज्ञान से द्वैतप्रपञ्च रूप विभ्रम भी विलीन होता है, यह सिद्ध हुआ ।

वेदान्तवाक्यजन्य अद्वितीय आत्मज्ञान से प्रपञ्च विलय को सुनकर, पूर्व मीमासा से शिक्षितो को सशय होता है कि वेदान्तवाक्यो को सिद्धार्थ की बोधकता कैसे हो सकती है, अर्थात् नही हो सकती है, क्योकि पदशक्ति ज्ञानाधीन वाक्यो की अर्थबोधकता होती है, और लोक मे प्रथम वर्णित रीति से मध्यम वृद्ध के व्यवहार दर्शनादि द्वारा कार्य (साध्य) अर्थविषयक ही पदो की शक्ति का ज्ञान प्रथम बालक को होता है, उत्तम वृद्ध के 'घटमानय' इत्यादि वाक्यो से घटानयनादि क्रिया युक्त मध्यम वृद्ध को देखकर, प्रवृत्ति हेतु ज्ञान का अनुमान

एव सङ्गतिग्रहणात् लोकावगतसामर्थ्यं शब्दो वेदेऽपि बोधक इति न्यायात्। लोके च प्रवर्तकवचनश्रवणमनन्तरं श्रोतु प्रवृत्तिमुपलभ्य प्रवृत्तिलिङ्गेन प्रवर्तकप्रत्यये पदसमुदायस्य सामान्यत सामर्थ्यमधिगम्य पुनरावापोद्धा-

---

काना कार्ये शक्तिग्रहा वैदिकाना तु किमायातमित्यत आह —**लोकावगतेति।** निर्णीत खल्विद प्रमाणलक्षणे आकृत्यधिकरणे तदर्थचिन्तया। तथाहि—स्वरवर्ण-लोपागमादिवैलक्षण्यात अनध्यायादिनियमभेदाल्लौकिकवैदिकव्यपदेशाच्च स्पष्टभेद-यूपादिशब्दसाहचर्याच्च गोशब्दादरपि लोकवेदयोर्भेदस्तद्भेदादश्ववालादिशब्देष्वर्था-न्तरदर्शनात् 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ति, तेजो वै घृत'मित्यादिषूत्तानवहनादिविपरी-तलिङ्गाच्चार्थभेद इति प्राप्तस्य प्रतिविदधे, प्रत्यभिज्ञया तावदेकत्व गवादिपदानाम-वगम्यत। न च स्वरवर्णलोपागमादिवैषम्यमात्रात् प्रत्यभिज्ञायमानशब्दस्वरूपभेद, तथार्थोऽपि स एव, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उत्तानवहनादि तु स्तुतिर्न गवादिभेदप्रति-पादकम्, तस्माद्भेदकाभावादभेदावगमाच्च शब्दार्थयोरैक्यमेव कवेदयोरिति लोकवे-दाधिकरणे स्थितम्। नन्वस्तु लोकगृहीतसङ्गतिशब्दाना वेदेऽपि बोधकत्व कथमेतावता सिद्धार्थबाधकत्वाभाव ? तत्राह—**लोके चेति।** अयमर्थ —गामानयेत्युत्तमवृद्ध-वचनश्रवणमनन्तर मध्यमवृद्धस्य गवानयन दृष्ट्वा व्युत्पित्सुरित्थमाकलयति बाल, ज्ञानपूर्विकेयमस्य प्रवृत्ति स्वतन्त्रप्रवृत्तित्वात मदीयस्वतन्त्रप्रवृत्तिवदिति। तथैव स्वात्मदृष्टान्तेन प्रवर्तकप्रत्यये शब्दपूर्वकत्व चानुमाय तस्मिञ्छब्दानन्तर-भाविनि शब्दस्य शक्ति गृह्णाति, तदनु च प्रयोगान्तरेषु गा बधानाश्वमानयेत्यादि-ष्वानयनगोशब्दयोरुद्धारे तदर्थयोरप्युद्धारात् प्रक्षेपे च प्रक्षेपदर्शनाद् अन्वयव्यतिरे-काभ्या गवादिविशेषेषु पदविशेषस्य सामर्थ्य गृह्णाति। सर्वत्र च कार्यान्वियाव्यभि-

---

करता है, और अन्वयव्यतिरेक से उस क्रियाज्ञान के कारण पदो को समझता है, कि यह प्रवृत्तिज्ञानजन्य है, फिर सर्वत्र कार्य (क्रिया) के सम्बन्ध को देखकर क्रियान्वित मे शक्ति को समझता है, सिद्धार्थ मे नही। यदि कहा जाय कि लौकिक शब्दो की शक्ति का ज्ञान उक्त रीति से हो, वैदिक शब्दो की शक्ति का ज्ञान सिद्धार्थ मे भी होता है, तो यह कहना नही बन सकता है, क्योकि (य एव लोकिका शब्दास्त एव वैदिका) प्राय जो लोकिक शब्द ह, वही वैदिक शब्द हे, तथा (लोकावगतसामर्थ्य शब्दो वेदेऽपि बोधक) लोक मे ज्ञात सामर्थ्य वाले शब्द वेद म भी अर्थ के बोधक होते है। यह न्याय (युक्ति नियम) है ओर लोक मे 'गामानय' इत्यादि प्रवर्तक (प्रवृत्तिजनक) वचन सुनने के बाद श्रोता की प्रवृत्ति को समझकर (देखकर) फिर उस प्रवृत्ति रूप लिङ्ग (हेतु) से प्रवर्तक ज्ञान मे पदसमूह के सामान्य रूप से सामर्थ्य (शक्ति) को समझकर, फिर पदान्तर के आवाप (आदान) और वाक्यगत प्रथम पद के

राभ्या च प्रत्येक कार्यान्विते पदाना मङ्गतिग्रहणात्, आनयनादिलक्षण-कार्यविशेषे व्यभिचारेऽपि कार्यमात्रस्य सर्वत्राव्यभिचारात्तदन्वितस्वार्थेषु पदाना सामर्थ्याधिगमात्। न चान्तरेणापि व्यवहार पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यश्रवणममन्तर श्रोतुर्मुखविकासादिना लिङ्गेन हर्षमनुमाय, तद्धेतुप्रत्यये वाक्यस्य सामर्थ्य सामान्यतोऽधिगम्यावापोद्धाराभ्या पुन पुत्रादिपदाना तनयाद्यर्थविशेषेषु सङ्गतिग्रहो दृश्यते इति वाच्यम्, परिशेषाव-

---

चारानदन्विनपदार्थेपु सामर्थ्यं गृह्णाति, न पुन पदार्थमात्रे, नाप्यन्यमात्रान्वितेपु, प्रथमावगताव्यभिचारिकार्यान्वियपरित्यागे प्रमाणाभावादिति। ननु कथ कार्यान्विते सामर्थ्यग्रह, यावता पश्यानय बधानेत्यादावन्यदन्यत्कार्य प्रतीयते अतो व्यभिचाराद्गवादिवदेव शब्दविशेषाभिधेयत्वमेव न सर्वशब्दसामर्थ्यप्रतियोगित्वमिति तत्राह— **आनयनादिलक्षणेति**। प्रकृत्यभिधेयबन्धनादिव्यभिचारेऽपि प्रत्ययाभिधेयानुगतकार्यमात्र न व्यभिचरतीत्यर्थ। ननु यत्र प्रवृत्तिलिङ्गमवलम्ब्य सङ्गतिग्रह, तत्रैव भवतु, यत्र तु मुखविकासादिलिङ्गाद्धर्षहेतुसिद्धार्थमनुमाय शब्दस्य सङ्गतिग्रह, यथा पुत्रस्ते जात इत्यादिषु तत्रावश्य कार्यमन्तरेणैव सिद्धार्थे शब्दशक्तिराश्रयणीयेति तत्राह-- **नचान्तरेणापीति**। न च वाच्यमित्युक्त तत्र हेतुमाह— **परिशेषेति**।

उद्धार (उद्वाप = त्याग) द्वारा कार्यान्वित अर्थ मे प्रत्येक पदो की शक्ति का ज्ञान होता है, (अर्थात्, गामानय, घटमानय, पटमानय) इत्यादि मे सर्वत्र आनय के दर्शन से घटादि पदो की आनयनान्वित अर्थ मे शक्ति का ज्ञान होता है और गामानय मे गौ के स्थान मे घट का आवाप होता है, गौ का उद्वाप होता है, इससे पृथक्-पृथक् शक्ति का ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि (गामानय, गा बधान, गा पश्य) गौ लावो, गौ को बाँधो, गौ को देखो, इन वाक्यो मे सर्वत्र एक क्रिया नही रहती है, अत सर्वत्र एक क्रिया के अन्वय के अभाव से घटादि के समान क्रिया मे भी विशेष रूप से शक्ति का ज्ञान हो सकता है, सामान्य क्रिया अन्वित रूप से नही। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि आनयनादि रूप क्रिया विशेष मे व्यभिचार (सर्ववाक्य मे अन्वयाभाव) होते भी सामान्य कार्य मात्र (प्रवर्तक भावना रूप व्यापार) का सर्वत्र अव्यभिचार (अन्वय) रहता है, अत उससे अन्वित अपने-अपने अर्थो गवादि पदो के शक्ति का ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि आनयनादि रूप व्यवहार (व्यापार क्रिया) वाचक शब्द के बिना ही (ते पुत्रो जात) तेरा पुत्र जन्मा, इत्यादि वाक्य सुनने के बाद, श्रोता के मुखविकासादि (प्रसन्नता) आदि लिङ्ग से उसके हर्ष (आनन्द) का अनुमान करके, फिर उस हर्ष के हेतु ज्ञानविषयक पद के सामर्थ्य को सामान्य रूप से समझकर, फिर आवाप उद्धार द्वारा पुत्रादि पदो की तनयादि रूप अर्थ

धारणानुपपत्ते, प्रियासुखप्रसवादेरपि हर्षहेतो सभवात्। यत्र च प्रभिन्न-कमलोदरे मधूनि मधुकर पिबतीति प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्प्रसिद्धेतर-पदार्थोऽप्रसिद्धमधुकरपदार्थं समधिगतविभक्त्यर्थश्च य मधुपाने कर्तार पश्यति, त मधुकरशब्दवाच्यत्वेन प्रत्येति। तत्रापि न कार्यपरताव्याकोप,

---

अयमभिसन्धि —न तावत्प्रवर्तकवाक्येष्विव सिद्धार्थवाक्येषु प्रवर्तकविशेषानुमापका-नयनादिप्रवृत्तिवदस्ति हर्षहेतुविशेषानुमापक प्रत्यक्षलिङ्गम्, मुखविकासादि तु हर्ष-हेतुमात्रमनुमापयति। तद्विशेषस्तु परिशेषात्प्रार्थनीय। न चैव सभवति, पुत्रजन्म-वदेव सुखप्रसवादेरनेकस्योपप्लवमानत्वात् विनिगमनाभावादत पुत्रशब्दस्य सङ्गति-ग्रहो दूरोत्सारित इति। यथाहु नाथा प्रमाणपारायणे—'न च पारिशेष्येण तत्प्रतिपादकताध्यवसाय, भूतभविष्यद्वर्तमानाना सन्निहितव्यवहिताना सभवात् पारिशेष्यावधारणाया अत्यन्तदुष्करत्वा'दिति। स्यादेतत्—अस्ति प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकर पिबतीत्यादिवाक्य श्रुतवत पुरुषस्य मधुकरप्रातिपदिकार्थमात्रमजा-नत समयान्तरे सरसीरुहोदरविपरिवर्तिमधुकरमधुपानमवलोकयत, प्रसिद्धपदसमभ्व्या-हारबलान्मधुकरशब्दस्य मधुकरशब्दार्थे सिद्धे सङ्गतिग्रह इति तत्राह—**यत्र चेति।**

विशेष मे शक्ति (सामर्थ्य) का ज्ञान देखा जाता है। अत कार्यान्वित ही मे शक्तिज्ञान के नियम को नही माना जा सकता है, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि हर्ष के हेतु अन्य के अभाव से पुत्रजन्म का ही परिशेष रूप से अवधारण की उपपत्ति (सिद्धि) नही हो सकती है, प्रिया के सुख से प्रसवादि रूप हर्ष के हेतुओ का भी सम्भव है, अत किसी अन्य कारण से हर्ष की सम्भावना होने पर उक्त रीति से पुत्र पद की सिद्धार्थ मे शक्ति का ज्ञान नही हो सकता है। यदि कहा जाय कि (प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकर पिबति) विकसित कमल के मध्य मे मधुकर मधु पीता है। इस वाक्य को सुनने पर, मधुकर शब्द के अर्थ को जानने वाला पुरुष भी, यदि कही मधुपान करते हुए भ्रमर को देखता है, तो विभक्त्यर्थ को कमलोदर मधु अर्थ को जानने वाला वह पुरुष प्रसिद्धार्थक पदो के सम्बन्ध मे क्रियान्वयरहित मधुकर मे मधुकर पद की शक्ति को ग्रहण करता है। अत क्रियाऽन्वित मे शक्तिग्रह का नियम नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि वहाँ भी कार्यपरत्व का व्याकोप (बाध = अभाव) नही होता है। वैसी व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) को भी व्यवहारनिमित्तक मधु, कमलादि पद के कार्यविषयक प्रथम के शक्तिग्रह निमित्तक होने से उसके अनुसार ही कार्यान्वित रूप से व्यवस्थित (निश्चित) किया जाता है, अर्थात् अन्य पदो की शक्ति को व्यवहार द्वारा कार्यान्वित मे समझने पर, उसके अनुसार ही क्रिया पद के अध्याहार से मधुकर पद की शक्ति को क्रिया अन्वित मे समझा जाता है। यदि कहा जाय

तादृश्या अपि व्युत्पत्तेर्व्यवहारनिबन्धनप्रथमकार्यव्युत्पत्तिनिबन्धनतया तदानुगुण्येन व्यवस्थानात्, पुत्रस्ते जात इत्यादेश्च सिद्धार्थप्रयोगस्य लाक्षणिकत्वेनाप्युपपत्ते । परस्परान्वयस्य कार्यान्वयाव्यभिचारात् । पुत्रस्ते जातस्त पश्येति वक्तव्येऽपि कार्ये, विव्रियतामिति पदावधीरणेन

किमिति न कार्यपरताव्याकार इति तत्राह्—**तादृश्या अपीति**। सोऽपि हीतरपदाना सङ्गति गृहीत्वा तत्समभिव्याहारादस्य सङ्गति गृह्णाति । इतरपदाना च व्यवहारबलात्प्रवर्तककार्यान्विते प्रथममेव सङ्गतिर्गृहीतव्या । न हि तत्रापि प्रसिद्धपदार्थसमभिव्याहारा शक्यपरिग्रह, अनवस्थादौस्थ्यात् । तथा चोपजीव्यैकप्रयोजकानुगुण्येनात्राप्यनुहृतकार्यान्विते शक्तिर्ग्राह्येत्यर्थ । कथ तह्यगृहीतसङ्गतिकाना सिद्धार्थे प्रयोग 'पुत्रस्ते जात' इत्यादिपदानाम् ? तत्राह—**पुत्र इति**। ननु 'अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते' इति लक्षणालक्षणात् अभिधेयकार्यान्वयसबन्ध सिद्धार्थान्वयस्य विलक्षयिषितस्य वक्तव्यस्तत्राह—**परस्परान्वयस्येति**। कार्यान्वयस्य परस्परान्वयविशेषत्वादित्यर्थ । उक्त च नाथेन—"कार्यान्वयो हि परस्परान्वयाव्यभिचारीत्यविवक्षिता कार्यान्वय परस्परपदार्थान्वयविवक्षयापि लक्षणया लोक शब्द प्रयुङ्क्ते" इति । अर्थलक्षणया परिहृत्य वाक्यैकदेशलक्षणया च परिहरति—**पुत्रस्ते जात इति**। यथा हि द्वार विव्रियतामिति प्रयोक्तव्ये द्वारमिति वाक्यैकदेश प्रयुङ्क्ते, न

कि शक्तिज्ञानरहित पदो का (पुत्रस्ते जात) इत्यादि का सिद्धार्थ मे कैसे प्रयोग होगा, तो कहा जाता है कि वहाँ (पुत्रस्ते जात) इत्यादि प्रयोग की लक्षणा से भी सिद्धि हो सकती है, जैसे कि (द्वार विव्रियताम्) द्वार खोलो, ऐसा जहाँ कहना चाहिये, वहाँ 'विव्रियताम्' इस पद का अवधीरण (अनादर = त्याग) करके, द्वारम्, इतना ही का प्रयोग रहता है, तो 'विव्रियताम्' इस क्रियापद का अध्याहार होता हे, वैसे ही प्रकृत मे 'पुत्रस्ते जातस्त पश्य' तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ उसको देखो, ऐसा कहना चाहिये वहाँ (पुत्रस्ते जात) इतना ही लक्षणा दृष्टि से कहा जाता है, परन्तु लक्षण शक्यसम्बन्ध को कहते है, जैसे 'गङ्गाया घोष' यहाँ तीर के साथ प्रवाह का सम्बन्ध लक्षणा रूप होता है, उस द्वारा गङ्गा पद तीर का बोधक होता है, वैसा यहाँ यद्यपि साक्षात् सम्बन्ध नही है, तथापि परस्पर अन्वय को कार्यान्वयत्व का अव्यभिचार है (कार्यान्वय को ही परस्परान्वयविशेष रूपत्व है) अर्थात् पुत्रजन्म के पिता निमित्तक होने से जन्म द्वारा दोनो का सम्बन्ध है, और उस सम्बन्ध से त पश्य इस अध्याहृत अर्थ का लक्षण से बोध होता है । तथा 'त पश्य' इस अध्याहार से प्रेरणा (भावना) की प्रतीति होती ही है, उससे जनित दर्शन का विषय पुत्र होगा अत पुत्र को दर्शनक्रिया द्वारा पिता के साथ और पिता द्वारा प्रेरणा के साथ सम्बन्ध रूप

द्वारमिति प्रयोगवत्प्रयोगोपपत्ते । ननु न कार्यान्विते पदाना सामर्थ्यमव्यवसातु शक्यम्, कार्यस्य कार्यान्तराभावेन कार्यपदस्य कार्यान्वितस्वार्थाभिधायित्वानुपपत्ते, योग्येतरान्विताभिधाने च प्रयोजकद्वैविध्यापातादिति चेत्, न, कार्यान्वयान्वयिनि कार्यपरपदार्थान्विते वा पदशक्तिग्रहणाभ्युपगमे प्रयोजकद्वैविध्याप्रसक्ते ।

चैतावता विव्रियतामिति नाध्याहरन्ति व्यवहर्तारः, तद्वत्त इश्येति वचनस्ये कार्यं, तद्वयतिरेकेण पुत्रस्ते जात इत्यत्र प्रयुक्ते । अध्याहारश्च वाक्य पूर्त्यर्थमित्यर्थ । उक्तप्रयोजकस्य कार्यपदे व्यभिचार शङ्कते— **नन्विति** । ननु न य योग्येतरान्विताभिधायित्व भवत्वित्यत आह—**योग्येतरेति** । अनुगत प्रयोजक दर्शयन् परिहरति—**न कार्येति** । कार्यान्वय कार्यस्योऽन्वयस्तदन्वयि तदाधार, स च कार्यमितरच्च भवति सम्बन्धस्य द्वयाधारत्वात् । तत्र सामर्थ्य सर्वपदानामस्ति च कार्यपदस्येत्यर्थ । नयविवेककारोक्त प्रयोजकमाह—**कार्यपरेति** । कार्यपर यत्पद तस्य योऽर्थ तेनान्विते सामर्थ्यमिति । तथा च न प्रयोजकभेद, कार्यपदस्यापि कार्यपरगवादिपदार्थान्वितकार्यशक्तित्वादितरेषामपि कार्यपरनिडादिपदाभिधेयकार्यान्वितगवादिनिष्ठशक्तित्वादित्यर्थ ।

लक्षणा से कार्यान्वयी का बोध होता है । फिर भी शङ्का हो कि कार्याऽन्वित मे पदो की शक्ति का निश्चय नही किया जा सकता है, क्योकि 'घटमानय' यहाँ घट तो आनयन रूप क्रिया से अन्वित है, किन्तु आनयनादि रूप कार्य के कार्यान्तर (क्रियान्तर) के अभाव से कार्यवाचक पदो को कार्यान्वित अर्थ के वाचकत्व की अनुपपत्ति (असम्भव) है, अत उनसे अन्वितार्थ विषयक शक्ति का ज्ञान नही हो सकता है । इस शङ्का का उत्तर है कि योग्येतरान्वित के कथन मे भी पदो की शक्ति रहती है, तो कार्यान्वय योग्य इतर घट के साथ अन्वित कार्यवाचक मे भी शक्तिग्रह हो सकता है, तो ऐसा मानने पर शक्तिग्रह मे प्रयोजक (विषय रूप हेतु) की द्विविधता की प्राप्ति होगी । क्योकि कही कार्यान्वित मे शक्ति होगी, कही कार्ययोग्येतरान्वित मे शक्ति होगी । इस शङ्का का समाधान है कि कार्यान्वयान्वयी (कार्य सम्बन्धसम्बन्धी) मे वा कार्यपरपदार्थान्वित मे पदो की शक्ति को मानने से प्रयोक द्वैविध्य की प्राप्ति नही होती है, क्योकि कार्य का जो अन्वय (सम्बन्ध) उस सम्बन्धी कार्य और कार्यसम्बन्धी अन्य दोनो होते है, क्योकि सम्बन्ध सम्बन्धी द्वय निष्ठ होता है । इसी प्रकार 'गामानय' इत्यादि मे दोनो पद कार्यपरक (कार्यबोध के तात्पर्य से उच्चारित) रहते है, वहाँ, 'आनय' आदि साक्षात् कार्यपरक (कार्य बोधक) होते है । आनयनादि द्वारा गो आदि पद कार्य के बोधक होते है ।

यत्तु कैश्चिदुच्यते कार्यान्वयान्वयिनि इत्यत्र किं कार्यं विशेषणमन्वयस्य ? किं वोपलक्षणम् ? नाद्य , अन्वयस्य कार्यविशिष्टस्य सम्बन्धद्वयप्रसङ्गात् । युगपच्च कार्यान्वययोर्विशेषणता विशेष्यता चापद्येत । न चैतत्सर्वमुपपन्नम्, अलौकिकत्वात् । नापि द्वितीय , कार्यस्य शब्दशक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति, तदसत्, कार्यान्वयान्वयिनीति कार्यस्य सबन्धव्यावर्तकमात्रताया विवक्षितत्वात् । तत्र यथा गवादिपदार्थानामकार्यरूपाणा तत्स-

---

अत्र रत्नदीपावलीकृत प्रथम प्रयोजक दूषयावमुवु , तदनुवदति—**यत्त्वित्यादिना । संवन्धद्वयप्रसङ्गादिति** । कार्यान्वियेत्यत्रैक सवन्धस्तदन्वयीत्यत्रापर स्तत्र । किं च कार्यान्वितेत्यत्र कार्यस्य विशेपणत्वमन्वयस्य च विशेष्यत्वम्, अन्वयीत्यत्र चान्वयस्य विशेपणत्व कार्यस्य विशेष्यत्वमिति युगपदेव विशेपणत्वविशेष्यत्वे प्रत्यक्षमनयोरन्योन्यापेक्षया स्यातामित्याह—**युगपच्चेति** । उभयमप्यस्तु, को दोष ? अत्र आह—**न चेति । शक्त्यगोचरत्वप्रसङ्गादिति** । विशेषणस्यैव नियतान्वयित्वनियमात्कार्यस्य च विशेपणत्वाभावात् अन्वयवत एव शक्तिगोचरत्व न तु कार्यस्येत्यर्थ । तदेतन्निहन्ति—**तदसदिति** । नात्र कार्यस्यान्वय प्रति विशेपणत्वोपलक्षणत्वे विवक्षिते अपितु अन्यानुगतव्यावर्तकत्वमात्र विवक्षितम् । नचैतदसिद्धमित्याह—**तत्र यथेति** । कार्यतदितरसबन्धस्योभयनिष्ठत्वादितरवदेव कार्य-

---

यहाँ कोई शङ्का करते है कि (कार्यान्वियान्वयी) यहाँ कार्य के अन्वय के अन्वय वाला, यह अर्थ भासता है, वहाँ कार्य अन्वय का विशेषण है, अथवा उपलक्षण है वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि अन्वयविशिष्ट कार्य के अन्वय होने पर कार्य को दो सम्बन्ध की प्राप्ति होगी, एक विशेपण रूप सम्बन्ध कार्य का अन्वयरूप रहेगा, और विशेपण युक्त वह अन्वयी (अन्वय वाला) होगा, अत दूसरा सम्बन्ध प्राप्त होगा, और एक ही काल मे कार्य और अन्वय दोनो को विशेष्यता और विशेपणता भी प्राप्त होगे, अर्थात् अन्वयविशिष्ट होने से अन्वय का विशेष्य कार्य होगा, फिर अन्वयी होने से अन्वय का विशेषण होगा, इसी प्रकार प्रथम विशेपण रूप अन्वय फिर विशेष्य होगा, और ये उभय-उभय रूपता सब उपपन्न (युक्त सिद्ध) नही हो सकते है, क्योकि ये अलौकिक है, लोक मे प्रसिद्ध नही है । और दूसरा उपलक्षण पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि उपलक्षणरूप कार्य को शब्दशक्ति का विपयत्व नही होगा, कार्य से उपलक्षित अन्वित मे शक्ति होगी, कार्य मे नही, विशेपण को विधेय के साथ सम्बन्ध होता है, उपलक्षण को नही । यह शङ्का अयुक्त है । क्योकि कार्यान्वियान्वयी, इस कथन मे कार्य के अन्वय के प्रति विशेपणत्व वा उपलक्षणत्व विवक्षित नही है, किन्तु कार्य को सम्वन्ध व्यावर्तकमात्रता (सम्बन्धनिरूपकता मात्र) बिवक्षित है । वहाँ जैसे अकार्य-

बन्धनिरूपकता तथैव कार्यस्यापि, सबन्धस्योभयनिष्ठत्वात्। इतरथा योग्येतरान्वयपक्षेऽप्यन्वययोग्येनेतरेणान्वयस्य विवक्षितत्वात्, अन्वयस्य विशेषणोपलक्षणपक्षयोरुक्तदोषानुपङ्गस्तुल्य एव स्यात्। उपलक्षणपक्षेऽपि कार्यस्य शब्दशक्तिविषयत्व न व्याहन्यते, कार्योपलक्षिततवस्यान्वयविशेषणतया कार्यस्यापि परम्परया शब्दशक्तिप्रतियोगित्वोपपत्ते। एवमनभ्युपगच्छत स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्येवमादिलक्षणमपि

मपि निरूपकमित्यर्थ। एतदेव प्रतिबन्द्या साधयति—**इतरथेति**। योग्येतर इत्यत्रान्वय प्रतीति वक्तव्यम्, यत्किंचिद्योग्यतायाः अन्वयानुपपादकत्वात्। तथा चान्वययोग्येनेतरेणान्वित इत्यत्राप्यन्वययोग्यान्वययोरुक्तदूषणानतिवृत्ति, अन्वयविशेषितयोग्यविशेषितत्वात्। अन्वयस्योपलक्षणत्वे त्वभिहितान्वयवादत्वापात इत्यर्थ। एतेन व्यावर्तकत्वप्रयुक्तदोषोऽपि परिहृत इत्यभिप्राय।

विशेषविवक्षायामप्युपलक्षणपक्षे न दोष इत्याह—**उपलक्षणपक्षेऽपीति**। कार्योपलक्षितोऽन्वय इति कोऽर्थ? कार्यविशेषितोपलक्षितत्वविशेषितोऽन्वय इति। न चोपलक्षितत्वमप्युपलक्षणमेव, अनवस्थानात्। ततश्च परम्परया कार्यस्याप्यन्वयशरीरविनिवेशितया शब्दशक्तिगोचरत्वमित्यर्थ। यदि नोपलक्षणत्वापराधादेवात्यन्तमननुप्रवेश इत्याशय, तर्ह्यनित्यत्वलक्षणमपि न सिद्ध्येत्। तत्र हि स्वप्रच्युत्युपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति लक्षणे प्रच्युतेर्विनाशस्योपलक्षणतया सत्तानन्वयात् केवलसत्तायोगित्वमनित्यत्वमपि स्यात्। तथा चात्मादेरनित्यत्वमित्यतिव्याप्तिस्तदेतदाह—**एवमनभ्युपगच्छत इति**। कार्य लक्षणम। इष्टप्रसङ्गता परि-

स्वरूप गौ आदि पदार्थो को कार्यसम्बन्धनिरूपकत्व (साधकत्व) रहता है, वैसे ही कार्य को भी रहता है, क्योकि सम्बन्ध उभयसम्बन्धी वृत्ति होता है। 'इतरथा' इस व्यवस्था को नही मानने पर, योग्येतरान्वय पक्ष मे भी अन्वय योग्य इतर के साथ अन्वय के विवक्षित होने से अन्वय के विशेषण और उपलक्षण पक्ष मे वर्णित दोष का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) तुल्य ही होगा और वस्तुत उपलक्षण पक्ष मे भी कार्य की शब्दशक्ति विषयता व्याहृत (निवृत्त) नही होती है, क्योकि कार्योपलक्षितत्व को अन्वय के विशेषण होने से उपलक्षक कार्य को भी परम्परा सम्बन्ध से शब्दशक्ति के प्रतियोगित्व (सम्बन्धित्व = विषयत्व) सिद्ध हो जाती है, उपलक्षित मे शक्तिग्रह काल मे उपलक्षण भी अवश्य स्मृत होता है, अत उसमे शक्तिगृहीत होता है। ऐसा नही मानने वाले यदि उपलक्षण को शक्ति का विषय नही मानेगे, तो (स्वप्रच्युति-उपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वम्) स्वनाशोपलक्षित सत्ता वाले मे अनित्यत्व होता है। इत्यादि उनका लक्षण भी सिद्ध नही होगा। क्योकि प्रच्युति (नाश) कार्य (विधेय लक्षण) मे उपलक्षणता के कारण अनन्वय

न निर्वहति, प्रच्युते कार्यानन्वये सत्तायोगित्वमात्रस्यैव लक्षणत्वादात्मादेरप्यनित्यत्वापत्तेः। स्वयमेव चानुभूतिरनुभूतिव्यवहारहेतुप्रकाश इति प्रतिज्ञाय मोक्षदशायां व्यवहारहेतुत्वाभावात् लक्षणस्याव्याप्तिमाशङ्क्य व्यवहारहेतुत्वमुपलक्षणमित्यङ्गीकृत्योपलक्षिततत्वमपि क्वचित्साध्य यथा विनाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमिति स्वकीयग्रन्थे निबद्धत्वात्। एतेन विवादपदानि पदानि न कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमन्ति पदत्वात् कार्यपदवदित्यनुमानमपास्तम्, विशेषणोपलक्षणपक्षयोरुक्तदूषणोद्धरणात् कार्यवदस्यापि कार्यान्वयान्वयिनि शक्तिमत्त्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादपदानि पदानि कार्यपराणि पदत्वात्कार्यपदवदिति प्रयोग-

---

हरति—**स्वयमेवेति**। सिद्धे व्युत्पत्तिदूषणेन कार्यव्युत्पत्तिसमर्थनेन च तर्कबाधविपक्षबाधकतर्काभावाभ्यामनुमानमपि दूषितमित्याह—**एतेनेति**। यजेनेत्यादौ लिङ्गादिव्यवच्छेदाय विवादपदग्रहणम्, इतरथा दृष्टान्तासिद्धेः। दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यं चाह—**कार्यपदस्यापीति**। विशेषणोपलक्षणेत्येतदादिर्वाय ग्रन्थः। स्वपक्षेऽनुमानं दर्शयन् बाधमप्याह—**विवादपदानीति**। कार्यभावार्थपदयोः सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विवादपदग्रहणम्। ननु 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादीनि पदानि सिद्धब्रह्मस्वरूपपर्यवसितानि, विध्यश्रवणात्, विधिसन्निधिश्रवणाभावाच्च। द्रष्टव्य इत्यादेश्च विधित्वं न संभवति। उपयुक्तमुपयोक्ष्यमाणं वा संस्कारार्हम्, यथाहुः—'भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हती'ति। न चात्र प्रोक्षितव्रीहीणामिव विज्ञानसंस्कृत-

---

(असम्बन्ध) रहने पर, सत्तायोगित्व मात्र ही लक्षण अनित्य का होगा, कि जिससे आत्मादि मे भी अनित्यत्व की प्राप्ति होगी और आपने स्वयं ही अनुभूति, अनुभूति के व्यवहार का हेतु प्रकाशस्वरूप है, ऐसी प्रतिज्ञा करके फिर मोक्षावस्था मे व्यवहारहेतुत्व के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति की आशङ्का करके, व्यवहारहेतुत्व को उपलक्षण मानकर, कही उपलक्षितत्व भी साध्य (साध्यान्वयी) होता है, जैसे विनाशोपलक्षित सत्तायोगित्व अनित्यत्व होता है, इस प्रकार अपने ग्रन्थ मे निबन्धन (लेख) किया है। ऐतेन, इस सिद्धार्थ मे शक्तिग्रह के खण्डन और कार्य मे व्युत्पत्ति के प्रतिपादन से विवादास्पद पद, कार्यान्वयाऽन्वयी मे शक्ति वाले नही है, पद होने से, कार्य पद के समान, यह अनुमान भी निरस्त हो गया। क्योकि विशेषण उपलक्षण पक्ष के दोषो का उद्धार (वारण) कर दिया गया है, और कार्यपद को भी कार्यान्वयाऽन्वयी मे शक्तिमत्ता होने से दृष्टान्त को साध्यविकलता (साध्यशून्यता) है। और विवादास्पद पद कार्यपरक है, पद होने से, कार्यबोधक पद के समान। इस प्रकार के प्रतिपक्ष का भी सम्भव है। अतः उक्त अनुमान अपास्त हो गया। यदि कहा जाय कि, पदत्व हेतु, 'विज्ञान-

सभवाच्च। न च 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादिपदेषु व्यभिचार , तेषामपि द्रष्टव्य इत्यादिविधिशेषतया कार्यपरत्वात्। तदेव सकलपदाना कार्यपरत्वान्न सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्तवाक्यानां प्रामाण्यमिति।

अत्रोच्यते—न तावत्सिद्धे प्राथमिकव्युत्पत्त्यसभव। प्रागुन्नीतन्यायेन पुत्रस्ते जात इत्यादिवाक्यादपि व्युत्पत्तिसभवात्। न च तत्र पारिशेष्यात्रधारणानुपपत्ति , यत —

स्यात्मन क्वचित्कृतौ विनियोक्ष्यमाणत्वम्। शुद्धबुद्धब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानस्य समस्तप्रवृत्तिविरोधित्वात्। नापि कृष्णविषाणादिवद्विनियुक्तत्वम्, येन चात्वालप्रासनेनेव ज्ञानेनात्मा सस्क्रियते। नापि सुवर्णं भार्यमित्यत्र सुवर्णेन विभूयादिनिवदात्मना पश्येदिति विनियोगभङ्ग', दर्शनस्य प्रमाणपराधीनतयाऽविधेयत्वात्। साक्षात्कारस्य फलतया विधानानर्हत्वात्। विधिपरत्वे च ब्रह्मासिद्धे, अनिस्तष्टो व्यभिचार इति तत्राह—**न च विज्ञानमिति**। अयमभिसन्धि —यद्यपि यथाश्रुते सस्कारपक्षोऽनुपपन्नस्तथापि सुवर्णभरणसक्तुहोमादिवाद्विनियोगभङ्गे न किंचिदस्ति बाधकम्। न च दर्शनाविधेयत्व बाधकम, ध्यानत्वात्तस्य विधेयत्वमायुष्मताप्यनुमन्यते। यथाह श्रुति —'निदिध्यासितव्य' इति। न च ब्रह्मासिद्धि , यूपादिवत्तत्सिद्धेरपि सभवात्। ततस्तद्विधिविषयापेक्षितमात्मान सत्यज्ञानादिरूप समर्थयन्ति सन्त्यमूनि पदानि न कार्यपरतामतिवर्तन्ते। सर्ववेदान्तप्रत्ययतया चाश्रूयमाणस्थलेष्वपि समर्थयन्त्येव विधिमिति। उपसहरति—**तदेवमिति**।

प्राथमिकव्युत्पत्तौ सिद्धे सिद्धाया प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात् व्युत्पत्ति स्वत एव सिध्यतीति ता समर्थयते—**न तावदित्यादिना**। परिशेषोपपत्ति श्लोकेनो-

---

मानन्द ब्रह्म' इत्यादि सिद्धार्थक पदो मे व्यभिचारी है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि वे पद सब भी 'द्रष्टव्य' आनन्दस्वरूप ब्रह्मात्मा दर्शनीय है, इत्यादि विधि के शेष (अङ्ग) कर्म है, अत उनको भी कार्यपरत्व है। अत एव उक्त रीति से सब पदो को कार्यपरक होने से वेदान्तवाक्यो की सिद्ध ब्रह्म मे प्रमाणता नही हो सकती है। यहाँ पूर्व पक्ष समाप्त हुआ।

अत्रोच्यते (अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है) कि प्रथम तो यह कहना है कि सिद्धार्थ विषयक बालक की प्राथमिक व्युत्पत्ति (शक्ति ग्रह) का असम्भव नही है। क्योकि पूर्व दर्शित सिद्धार्थ पद समभिहारादिन्याय से 'पुत्रस्ते जात' इत्यादि वाक्य से भी व्युत्पत्ति का सम्भव है और वहाँ पुत्र जन्म रूप ही हर्ष हेतु की परिशेषता के अवधारण (निश्चय) का भी असम्भव नही है। क्योकि—

दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा ।
वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चिते ॥ १५ ॥

यो हि परिदृष्टचैत्रप्रहर्षहेतुपुत्रजन्मा पुत्रपदालिप्तकुङ्कुमाङ्कितपट-प्रदर्शकेन वार्ताहारेण सह चैत्रसकाश गत, तस्य दिष्टचा वर्धसे चैत्र! पुत्रस्ते जात इति वार्ताहारव्यवहारश्रवणसमनन्तर समुन्मीलत्पुलकसकल-कलेवरमुत्फुल्लगण्डयुगलमुल्लसितनयनयुगल चैत्रमवलोकयतस्तत्प्रमोद-लिङ्गेन स एव नूनमनेन मदवलोकित सुतसभव प्रमोदहेतुरेतस्माद्वाक्याद-धिगत इति परिशेषावधारणोपपत्ते । न च प्रियासुखप्रसवस्यापि सभवा-

पनिवध्नाति—**दृष्टेत्यादिना ।** दृष्टा चैत्रसुतोत्पत्तिर्येन तस्य दृष्टचैत्रसुतोत्पत्ते-स्तनदेन तस्य पुत्रस्य पदेनाङ्कित चिह्नित वासो वस्त्र यस्य हस्तेऽसौ तत्पदा-ङ्कितवासास्तेन तत्पदाङ्कितवाससा वार्ताहारेण सह यातस्याविदितार्थभाषस्य च पुस परिशेषविनिश्चिते सभवादित्यर्थ । अत्र च विज्ञातपुत्रजन्म विहायाविज्ञातहर्ष-हेतुकल्पनमयुक्तमिति दर्शयितु दृष्टेत्यादिविशेषणम् । विज्ञातादपि प्रियासुख-प्रसवाद्विशेषदर्शनार्थ तत्पदाङ्कितेति । अस्यैव श्लोकस्यार्थं विवृणोति—**यो हीत्यादिना ।** यत्तु तत्पदाङ्कितवाससेति विशेषणस्य प्रयोजनमुक्त तद्दर्शयति शङ्कानिरासपूर्वकम्—**न च प्रियेति ।** तत्र किं पुत्रजन्मैव तत्सूचकम् ? किं वान्यत् ? आहो सभावनामात्रात्तच्छङ्का ? आद्ये प्रथमप्रतीतपुत्रजन्मपरित्यागे

चैत्र के पुत्र की उत्पत्ति को देखने वाला, यदि चैत्रपुत्र पद से अङ्कित (चिह्नित) वस्त्र वाले वार्ताहार (सन्देशदायक) के साथ चैत्र के पास मे जाता है, तो उसको चैत्र के प्रसन्नता का हेतु पुत्र का जन्म ही परिशेष रूप से निश्चित होता है ॥ १५ ॥

जो मनुष्य चैत्र के प्रहर्ष के हेतु उनके पुत्र के जन्म को देखा है, वह पुत्र पद मे आलिप्त कुङ्कुमाङ्कित पट के प्रदर्शक वार्ताहार के साथ चैत्र के पास मे प्राप्त होकर, चैत्र ? भाग्य से बढते हो, तेरा पुत्र जन्मा है, इस प्रकार के वार्ता-वाहक के कथन-श्रवण के बाद देखता है कि चैत्र का सम्पूर्ण देह समुन्मीलत्पुलक (रोमाञ्च) वाला हो गया है, दोनो कपोल (गाल) खिल गये है, नेत्र दोनो विकसित हैं । इस प्रकार से देखने वाले उस पुरुष को उस प्रमोद के लिङ्ग (चिह्न) से निश्चय होता है कि इस चैत्र ने मुझ से अवलोकित (दृष्ट) प्रमोद हेतु पुत्रजन्म को इस वार्ताहार के वाक्य से अवश्य समझा है । इस प्रकार परिशेष की सिद्धि होती हे । प्रिया के सुखपूर्वक प्रसवरूप आनन्द हेतु के भी सम्भव होने से परिशेष के अवधारणा की अनुपपत्ति है, ऐसा नही कहा जा सकता है । क्योकि पुत्रपदाङ्कित पट प्रदर्शन रूप जन्म लिङ्ग के समान, प्रियासुख प्रसव के सूचक

त्परिशेषावधारणानुपपत्ति , पुत्रपदाङ्कितपटप्रदर्शनवत्प्रियासुखप्रसवसूचका-भावात्। न च विद्यमानतामात्रेण तत्रापि शङ्कावकाश , कार्येऽप्युपान-च्छत्रदण्डाद्याहरणलक्षणावान्तरकार्यदर्शनेन शङ्काप्रसरस्य दुर्निवारत्वात्। एवमुक्तरीत्या सिद्धेऽपि प्राथमिकव्युत्पत्ते सभवात्प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकर पिबतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारनिबन्धनव्युत्पत्तावपि सिद्धार्थ-परता न व्याहन्यते, मुख्यार्थविषयतया सिद्धेऽपि प्रयोगयोगे लाक्षणिकत्व-कल्पनानुपपत्ते ।

कारणाभावान तत्रैव सङ्गतिग्रहो युक्त । द्वितीय निषेधति—**पुत्रपदाङ्कितेति।** तृतीय निषेधति—**च न विद्यमानतेति।** विशेषनिर्णयकारणाभावेऽपि सभावना-मात्रेण चेद्विपरीतशङ्कोदयस्तर्हि गवानयनवदेव छत्राद्यानयनमपि तेन क्रियते इति तेषामपि शब्दार्थताशङ्कया अनिर्णय स्यादित्यर्थ । एतेन तदपि निरस्तम । यदाह भवनाथ—'नच स्वाधिगतत्तत्प्रिये तद्धीरिति तत्सन्तत्वादतधूनिस्तत्रैवानकस्य सभवात् सुतो जात , सूता ते सुख प्रियेत्यादेरिति' एव सिद्धे प्राथ मिकव्युत्पत्ति-समर्थनेन । तत्पूर्वप्रसिद्धार्थसमभिव्याहारनिबन्धनव्युत्पत्तिरपि समर्थयित्याह—**एव-मुक्तरीत्येति।** यत्तु सिद्धार्थपरपदप्रयोगो लाक्षणिक इत्युक्तम्, तत्राह—**मुख्यार्थेति।**

का अभाव है। यदि कहे कि सुखप्रसवादि की विद्यमानता मात्र से उनकी शका हो सकती है कि जिससे परिशेष का अवधारण नही हो सकेगा। तब तो 'गामा-नय' इत्यादि कार्य मे भी उपानत् , छत्र, दण्डादि के आनयन स्वरूप अवान्तर (गौण) वर्तमान अनेक कार्य के देखने मे आनयन कर्ता मे शङ्का प्राप्ति की दुर्निवारिता होगी। अत इस उक्त रीति से सिद्धार्थ मे भी प्राथमिक व्युत्पत्ति की सिद्धि सम्भव होने मे (विकसित कमल मे मधुकर मधु पीता है) इत्यादि प्रसिद्ध पद सम्बन्धनिमित्तक भी व्युत्पत्ति होती है और उसमे भी सिद्धार्थपरता का व्याघात (अभाव) नही होता है और जो कहा था कि सिद्धार्थक पद लाक्षणिक प्रयुक्त होते है, यह कहना युक्त नही है। क्योकि मुख्यार्थक रूप से प्रयोग के योग (युक्तता = सम्भव) होने लाक्षणिकत्व की कल्पना नही हो सकती है। अन्वयानु-पपत्ति तात्पर्यानुपपत्ति रूप लक्षणाबीज के बिना लक्षणा नही मानी जा सकती है। यदि कहा जाय कि (पुत्रस्ते जात) इत्यादि प्रयोग करने वाले को प्रथम व्यु-त्पत्ति काल मे (पुत्र पश्य) पुत्र को देखो, (त गृहाण) उसको धरो, इत्यादि क्रियाऽन्वित स्वार्थ (सिद्धार्थ) मे शक्तिग्रह (ज्ञान) होता है। अर्थात् क्रियाऽन्वित मे सामान्य रूप से शक्ति को जान कर, आवापोद्वाप से विशेष रूप से जानकर प्रयोक्ता प्रयोग करता है, अत वह स्वशक्तिग्रहानुसार लाक्षणिक प्रयोग रहता है।

नच प्रथमावगनकार्यान्वयानुरोधेन लक्षणाश्रयणम्, प्रथममपि 'पुत्रस्ते देशान्तरादागत' 'पुत्रस्ते गच्छति,' 'पुत्रस्ते सुखी,' 'पुत्रस्ते निरामय' इत्यादिप्रयोगेष्वावापोद्धाराभ्या पुत्रादिपदाना स्वस्वार्थे व्युत्पत्तेरुपपत्ते। प्रथमव्युत्पत्त्यनुसारेण च लक्षणाश्रयणे लोके भावार्थकार्ये व्युत्पत्तेर्वेदे तदसभवात्, यजेतेत्यादिशब्दानामबोधकताप्रसङ्ग। कामाधि-

---

ननु प्रथम प्रयोक्तु व्युत्पत्तिकाले पुत्रादिपदानामावापोद्धारेण कार्यान्वितस्यार्थे सङ्गतिग्रह पुत्र पश्येत्यादिकार्यवाक्येषु कृतस्तदनुरोधात्तत्रप्रयोगसमयेऽपि सिद्धार्थप्रयोगो लाक्षणिक इति तत्राह—**नच प्रथमेति। इत्यादिप्रयोगेष्विति।** सिद्धार्थप्रयोगेष्वित्यर्थ। किंच प्रथम योग्येतरविशेषकार्यान्विते व्युत्पन्नस्यान्यत्र योग्येतरमात्रान्विते प्रयोगो लाक्षणिक इति यदि ब्रूषे, तर्हि लोके धात्वर्थात्मककार्ये व्युत्पन्नस्य वेदे तस्य लाक्षणिकतया कार्यतानङ्गीकारात लिङादेर्लाक्षणिकत्व प्रसज्येत। तथा काम्यनियोगे फलदातृनियोगे व्युत्पन्नस्य नित्येषु लाक्षणिकतापात। तथा नित्यनैमित्तिकविधिषु स्वतन्त्रकार्ये गृहीतसङ्गतिकस्य तदङ्गप्रयाजादिषु परतन्त्रकार्ये लाक्षणिकतापात। यद्यप्यनुवादाशङ्कया न झटिति नियोगान्तरबोधकत्वमङ्गवाक्यगततिङादेरिति प्राभाकरराद्धान्तस्तथाप्यङ्गनियोगाभिधायित्वमिष्यत एवारादुपकारकाङ्गवाक्येषु, इतरथा तदुपकारासभवाद्, अनन्यविषयत्वाच्च। सन्निपत्योपकारकेषु तदुभयाभावादनुवादकत्वमेवेति तदेतदाह—**प्रथमव्युत्पत्तीत्यादिना। अबोधकतेति।** अपूर्वस्य वाच्यभावार्थसबन्धाद्दृष्टेर्लक्ष्यत्वस्याप्यभावादित्यर्थ।

यह कहना भी नही बनसकता है कि प्रथमावगत कार्यान्वयानुसार से लक्षणा का आश्रयण अवश्य किया जाय। क्योकि प्रथम भी (पुत्रस्ते देशान्तरादागत) तेरा पुत्र देशान्तर से आया है। तेरा पुत्र जाता है, तेरा पुत्र सुखी है, तेरा पुत्र निरामय (अरुग्ण) है, इत्यादि सिद्धार्थ प्रयोगो मे भी आवापोद्वाप द्वारा पुत्रादि पदो को अपने-अपने अर्थविषयक शक्तिग्रह होना है और वस्तुत प्रथम कार्यान्वित ही मे शक्तिग्रह को मानकर और उस प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार सर्वत्र लक्षणा मानने पर, वैदिक (यजेत) यज्ञ से स्वेष्ट को सिद्ध (प्राप्त) करे। इत्यादि शब्दो को अनवबोधकता प्राप्त होगी। अर्थात् उनमे शक्ति का ज्ञान नही होगा। क्योकि लोक मे (घटमानय) इत्यादि वाक्यो से (भावार्थ) धात्वर्थ रूप कार्य (क्रिया) विषयक व्युत्पत्ति (शक्ति ज्ञान) होती है। और वेद मे उस धात्वर्थ रूप क्रियाविषयक व्युत्पत्ति का अभाव रहता है, अर्थात् वेद मे धात्वर्थ करण रूप से अन्वित होता हे और अदृष्ट फल साधक होता है और वह लिङ्लोटादि का वाच्य होता है। लोक मे धात्वर्थ विषयक गृहीत शक्ति से लक्षणा द्वारा उसका बोध नही हो सकता अत वह स्वतन्त्र अदृष्ट स्वरूप कार्य का बोधक हो सकता है।

कारे च प्रथम कामसाधने नियोगे लिङ्गादिपदाना व्युत्पत्ते, नित्यनैमित्तिकाधिकारे लाक्षणिको लिङ्गादिप्रयोगः स्यात्। एव नित्यनैमित्तिकयो स्वतन्त्रकार्ये पदशक्त्यधिगतेरङ्गवाक्ये परार्थकार्ये लिडादिपदप्रयोगो मुख्यो न स्यात्।

अथावधीरितभावार्थकामसाधनस्वतन्त्रविशेष कार्यमात्र व्युत्पत्तिगोचर, सर्वत्र तस्याव्यभिचारात् लाघवाच्चेति मतम्, तर्हीहापि योग्येतरान्विते पदशक्तेरव्यभिचाराल्लाघवाच्चेति सम समाधि। एव च सति कार्यान्वयान्वयिनि पदशक्तिरित्यपास्तम्, अन्वितमात्रस्य प्रयोजकत्वे सभवति कार्यान्वयान्वयिनीति कल्पनाया गौरवात्। न च कार्यपरपदार्था-

---

अथ तेषा सग्रहायानुगतरूपे व्युत्पत्तिरिति ब्रूषे ? तर्हि सर्वसग्रहार्थ योग्येतरान्विते व्युत्पत्तिरित्येव स्वीकुरु, सर्वानुगतप्रयोजकलाभात् लाघवाच्चेत्याह—**अथावधीरितेति**। अवधीरित। परित्यक्त भावार्थरूपकामसाधनादिविशेषो येन तत्तथोक्तम्। एत्र सतीत्यस्यैव विवरणमन्वितमात्रस्येति। द्वितीय प्रयोजक दूषयति—**न चेति**। किं कार्यपर यत्पद तदर्थेनान्वित इति विवक्षितम् ? उत कार्यपरो य

लक्षणा द्वारा बोधता वाधक माने तो अबोधकता की प्राप्ति होगी। क्योकि लिडाद्यर्थ अपूर्व (अदृष्ट) का धात्वर्थ भाव के साथ सम्बन्ध नही देखा गया है, अत लक्ष्यत्व नही हो सकता है। कथञ्चित् सम्बन्ध माने तो लिडादि अदृष्ट के वाचक नही रहेगे। लाक्षणिक होगे, और लाक्षणिक माने नही जाते हैं। और कामविधि प्रकरण मे प्रथम काममाधन अदृष्टविषयक लिडादि का शक्तिग्रहण होगा, तो नित्य-नैमित्तिक अधिकारविधि मे लाक्षणिक लिङ्गादि का प्रयोग प्राप्त होगा। इसी प्रकार नित्य-नैमित्तिक कर्मो के स्वतन्त्र कार्य मे पद की शक्ति के ग्रहण होने पर, प्रयजादि पदार्थ कार्य वाले अङ्ग वाक्यो मे लिडादि पद का प्रयोग मुख्यार्थक नही होगा।

यदि कहा जाय कि लौकिक भावार्थ कामसाधन (अपूर्व) स्वतन्त्र नित्यापूर्व रूप विशेषो का अवधीरण (अनादर=त्याग) करके सर्वसग्रह के लिये कार्यमात्र व्युत्पत्ति का विषय होता है, क्योकि कार्य का सर्वत्र अव्यभिचार (अन्वय) होने मे लाघव है, तो इस सिद्धार्थ व्युत्पत्तिवाद मे भी योग्येतरान्वित मे पदशक्ति के अव्यभिचार से और लाघव से यही पक्ष युक्त है, यह समाधान तुल्य है, अर्थात् ऐसा होने मे कार्यान्वयी मे शक्ति पक्ष अपास्त हुआ। क्योकि अन्वयी मात्र मे शक्तिग्रह के द्वारा प्रवृत्तिप्रयोजकता होते कार्यान्वयी मे शक्ति की कल्पना मे गौरव है। अर्थात् मीमासक विशेष कहते है कि व्यवहार विशेष के लिये शब्द का प्रयोग होता है कि जिससे बालक को शक्तिग्रह होता है और वह शब्दप्रयोग केवल सिद्धार्थक

न्वितस्वार्थे शक्ति, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—कार्यपरत्व पदधर्म ? कि वा पदार्थधर्म ? नाद्य, सर्वपदाना लिडादिपदवत्कार्यपरत्वे पर्यायतापत्ते। अथ पर्यायतापरिहाराय मुख्यगौणसाक्षात्परम्परादिभेदेन कार्यपरता विशिष्यात्, न तर्ह्येकप्रयोजकत्वलाभ, मुख्यादिविशेषणाना सर्वपदेष्वेकरूपताभावात्। न हि सिहो देवदत्त इत्यादौ सिहादिशब्दाना मुख्यगौण-

पदार्थस्तदन्वित इति विवक्षितम् ? इति विकल्प्य आद्य दूषयति—**सर्वपदानामिति।** ननु कार्यपरत्वेऽपि न कार्यपर्यायता कार्यपद मुख्यवृत्त्या तत्परमितरद् गौण्या, अथवा कार्यपदमव्यवधानेन तत्परमितरद्व्यवधानेनेत्यत्रान्तरविशेषादित्याशङ्क्य परिहरति—**न तर्हीति।** न हि मुख्यवृत्त्या तत्परत्वमेव जघन्यवृत्त्यातत्परत्वमेवमितरदपीत्यर्थ तदेव निदर्शयति—**न हीति।** किमिति तथा न स्यादित्यत

नही होना है, किन्तु क्रिया-अन्वित ही सिद्धार्थक का प्रयोग होता है, तहाँ याग होमादि मे जहाँ स्वर्ग साधनता बोधित होती है, तहाँ क्षणिक क्रिया रूप यागादि से स्वर्गादि हो नही सकते हैं, अत स्थायी अपूर्व लिडाद्यर्थ रूप कार्य (अदृष्ट) को मानते है। वेद मे उस कार्य से अन्वित अर्थ को वेदवाक्य कहा जाता है। मतान्तर मे क्रियान्वयी मे नही किन्तु सर्वत्र इतरान्वयी मै शक्तिग्रह माना जाता है, इतर क्रिया हो, या अन्य हो इसमे आग्रह नही रहता है, और वस्तुत शेश्वरवाद मे अदृष्ट की कल्पना भी नही करनी पडती है (स सर्वधीवत्यनुभूतसर्वे) वह ईश्वर साक्षी स्वरूप से मायावृत्ति से सब प्राणी की बुद्धिवृत्ति से सबको जानता है, वहाँ सब की बुद्धिवृत्ति रूप ज्ञान नष्ट होकर भी कर्मादि फलपर्यन्त वासनारूप से वर्तमान रहता है, वही जन्मायु भोगादि फलप्रद होता है। विलक्षण अपूर्व मानने की आवश्यकता नही रहती है, इत्यादि। यदि कहे कि इतरान्वित मे शक्ति होते भी कार्यपरक इतरान्वित मे ही शक्ति रहती है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि यह विकल्प (विचार) को नही सह सकता है। क्योकि विचार करिये कि कार्यपरत्व पद का धर्म है, या अर्थ का धर्म है। वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि सब पदो के कार्यपरक (कार्यबोधक) होने पर लिडादिपद के समान सब होने से पर्यायताऽऽपत्ति (एकार्थतापत्ति) होगी। यदि पर्यायता के निवारण के लिये मुख्य, गौर परम्परादि भेद से कार्यपरता को विशेषित (भेदयुक्त) करे कि लिडादि मुख्य (शक्ति) वृत्ति से साक्षात् कार्यबोधक होते है और अन्य पद लक्षणा गौण वृत्ति या परम्परा से क्रिया के बोधक होते है। तब एक प्रयोजकता (हेतुता) का लाभ (ज्ञान) नही, होगा, क्योकि मुख्यादि विशेषणो की सब पदो मे एकरूपता नही रहती है जैसे कि (सिहो देवदत्त) देवदत्त सिह है। इत्यादि वाक्यो मे सिहादि शब्दो को मुख्य और गौण अर्थो मे तत्परत्व एक स्वरूप नही है। यदि एक स्वरूप

योस्तत्परत्वमेकरूपम् , तथा सति देवदत्तादेरपि केसरादिमत्त्वप्रसगात् । नापि द्वितीय , पदार्थाना कार्यबोधकत्वेन तत्परत्वाभावात् । अथ कार्यशेषत्व कार्यपरत्व पदार्थानाम् , तर्हि कार्यशेषत्व कार्यपदार्थस्य नास्तीति तदन्विताभिधायिकारकपदाना कार्यपरपदार्थान्पिताभिधायित्व न स्यादिति न किंचिदेतत् । यत्पुनरनुमान कार्यपराणि पदानि पदत्वात्कार्यपदवदिति, तदपि 'न पिबेन्न हन्यादि'त्यादिनिषेधवाक्यस्थपदैरनैकान्तम् । न हि तत्र

आह—**तथा सतीति** । मुख्यवृत्त्या तत्परत्व हि केसरादिमत्त्वमादाय तदेव चेत्तत्परत्व गौणेऽपि स्यात् , स्यादेव केसरादिमत्त्वमपीत्यर्थ । द्वितीये किं पदार्थाना कार्यपरत्व कार्यबोधकतया ? उत साधकतया ? नाद्य , पदार्थाना बोधकत्वाभावात । बोधकत्वे वा धूमादिवत । लिङ्गतयाऽनुमेयत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रेत्याह—**पदार्थानामिति** । द्वितीय शङ्कते—**अथेति** । दूषयति—**तर्हीति** । अयमर्थ —न कार्यस्य कार्यशेषत्व भेदाभावादतस्तदन्विताभिधायिना गवादिपदाना नोक्तरूपवत्तेति । निषेधवाक्येषु साध्याभाव दर्शयन्ननैकान्तिकता स्फोरयति—**न हि तत्रेति** । प्राप्ता या हननक्रिया तन्निषेधादनिष्टसाधनतावबोधाद्यत्पुरुषस्यौदासीन्य तद्व्यतिरेकेणेत्यर्थ । एतदुक्त भवति—सर्वत्र भावार्थनिष्ठो विधिर्दध्यादावपि भावार्थनिष्ठस्यैव सतो विधेरन्यत प्राप्तत्वात्तस्याप्राप्ते शक्तिमात्रमुपसंक्रामति ।

हो तो देवदत्त को भी केसरादिमता प्राप्त होगा । कार्यपरत्व पदार्थ विशेषण है, यह दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि कार्यान्वित पदार्थो को कार्यबोधकत्व रूप से कार्यपरत्व का अभाव रहता है, कार्यादि के बोधक पद होते हैं, अर्थ नही । धूमादि लिङ्ग के समान यदि बोधक पदार्थ होगे, तो कार्य अनुमेय हो जायगा । यदि कहा जाव कि कार्यान्वयी पदार्थो को कार्यशेषत्व (कार्याङ्गत्व) कार्यपरत्व है । तब तो शेषकार्यस्वरूप पदार्थ को कार्यशेषत्व नही रहता है, अत उसके कार्यपरत्व के अभाव से उसमे अन्वितार्थ के वाचक कारक पदो को भी कार्यपरक पदार्थान्वितार्थवाचकत्व नही होगा अत यह पक्ष कुछ नही है और जो यह अनुमान का प्रयोग किया था कि (कार्यपरक पद है, पदत्व होने से, कार्यपद के समान) वह भी युक्त नही है, क्योकि (न पिबेत् = न हन्यात्) मद्यादि अपेय नही पिये, प्राणी का हनन नही करे । इत्यादि निषेध वाक्यस्थ पदो के द्वारा उस पदत्व को व्यभिचार है, यहाँ पदत्व रहता है, और प्राप्त क्रिया पान हनन की निवृत्ति रूप उदासीनता से भिन्न कोई अनुष्ठेय (कर्तव्य) क्रिया नही प्रतीत होती है । भावार्थ विधेय होता है । हननादि के प्रागभाव के अनादि होने से वह अनुष्ठेय नही हो सकता है । नञ् का वही अर्थ है, प्रध्वस विधेय नही हो सकता है, प्राप्त का नाश क्षणिक होने से स्वय निवृत्त हो जाता है । यदि कहा जाय कि (नेक्षेतो-

प्राप्तक्रियानिवृत्त्यौदासीन्यव्यतिरेकेण किंचिदनुष्ठेयमवबोध्यते, हननप्रागभावस्यानादित्वेनाननुष्ठेयत्वात् । न हन्यामिति सकल्पस्य विधारकप्रयत्नस्य वा विधानाभ्युपगमे तस्याप्रतीयमानतया लक्षणाप्रसङ्गात् । प्राप्तक्रिया-

---

'यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादवपि द्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितयागविषयत्वमेव, तदिहापि वो न भावार्थ ततस्तद्वाच्यवृत्तौ तद्वाचविधिरपि व्यावर्तत इति । तदिदमाह—**अनुष्ठेयमिति** । किं च प्रागभावो ह्यत्र नञाभिधेय प्रध्वसे वैयर्थ्यं, क्षणिकत्वात्क्रियाया स्वत एव निवृत्ते, स चानादिरननुष्ठेय इत्याह—**हननेति** । ननु यथा 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यत्र नेक्षिष्य इति सङ्कल्पविधिपरत्व व्यवसित "तदुत्सर्गे कर्मणीत्यधिकरणे' तद्वदिह पर्युदासवृत्त्या हननविरोधिअहननसकल्पो विधीयताम्, अथवा हननोद्यतदेहेन्द्रियादेर्विधारकसमाग्रीघट कश्चन प्रयत्नमन्तरेण नाकस्मादौदासीन्य भवितुमर्हतीति स एवात्र विधीयतामिति, तत्राह—**नेति** । न तावदत्र सकल्प श्रौत । किमिति न श्रौत ? यावता तदन्यद्विरोधितदभावा यथायथ नञोऽर्था स्वर्यन्ते तद्विरोधी च सकल्प इति चेन्न, अभावस्यैव मुख्यार्थत्वात् । इतरयोस्तु तदनुषङ्गादेव लक्षणादिवृत्त्यन्तरेण प्रयोगोपपत्ते । इतरथाऽनेकत्र शक्तिकल्पनाप्रसङ्गात् । एव प्रयत्नोऽपि न श्रौत, श्रौतसभवे च लक्षणा न युक्ता । एतेन नञ प्रकृत्यर्थसबन्धेनाहनन कुर्यादिति कल्पनमपि प्रत्युक्तम् । नेक्षेतेत्यत्र तु तस्य व्रतमित्युपक्रमादनुष्ठेयार्थविधिपरतावगमात् लक्षणयापि पर्युदासवृत्तिराश्रितेति वैषम्यादित्यर्थं । तत्किमिदानीमकस्मादेव हननोन्मुखाना देहेन्द्रियाणा तत उपरम इति ? नेत्याह—**प्राप्तेति** । अय भाव—इष्टसाधनत्वज्ञानात्प्रवृत्तिनिष्टसाधनत्वज्ञानाच्च निवृत्तिरित्यनन्तरमेव समर्थयिष्यते । तदिह यद्धन्यादिति प्रकृतिप्रत्ययाभ्या रागत प्राप्तहनने इष्टसाधनतामनूद्य तन्नेति निषिध्यतेऽनर्थसाधनता च बोध्यते, तत्रापि प्रत्यक्षविरोधात् सहसेष्टसाधनताऽभाव बोधयितुमशक्नुवान प्रतिषेधस्तदधिगमाय तामनर्थसाधनतामेवावेदयति, ततश्च विरलरागस्यानिष्ट-

---

द्यन्तमादित्य नास्त यान्त कदाचन) उदय अस्त समय के सूर्य को कभी नही देखूगा, दीक्षित पुरुष ऐसा सङ्कल्प करे, इत्यादि विधि के समान, न मारूँगा, इस प्रकार के हनन विरोधी सकल्प का या शरीरेन्द्रिय की विरुद्ध प्रवृत्ति से विधारक (निरोधक) प्रयत्न विशेष का (न हन्यात्) इत्यादि वाक्यो से विधान (विधि) मान लिया जाय कि जिससे अनुष्ठेयार्थ सिद्ध हो, तो उक्त वाक्य से प्रतीयमान अर्थपरकता से लक्षण की प्राप्ति होगी । नेक्षेतेत्यादि मे व्रत के प्रसङ्ग से वैसा अर्थ होता है । प्रकृत मे प्राप्त हननादि क्रियाओ मे इष्ट साधनता के अभाव तथा

याश्चेष्टसाधनत्वाभावबोधादेव निवृत्तेर्वाक्यस्य चरितार्थत्वोपपत्तेश्च ।

न च 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादिवचसां प्रतिपत्तिशेषत्वम्, विकल्पासहत्वात् । तथा हि किं शाब्दी प्रतिपत्तिर्विधेया ? उत भावनात्मिका ? अथ साक्षात्कारलक्षणा ? नाद्यः; तस्याः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशब्दादिव-द्विदितपदपदार्थसंगतेः स्वयमेवोत्पत्तेः । न द्वितीयः; ज्ञानप्रकर्षहेतुत्वस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेन भावनाया अविधेयत्वात् । न तृतीयः; साक्षात्कारस्य ब्रह्मरूपत्वेन नित्यत्वेनाविधेयत्वात् । अन्तःकरणपरिणतिरूपत्वे चानन्द-

---

साधनताज्ञानादौदासीन्यमिति विवृत्तं निषेधावाक्यमतो न विधिनात्र किंचित्कृत्यमिति ।

यत्तु विज्ञानादिपदेष्वेव विधिनिष्ठतोपपादनेन व्यभिचारवारणम्, तद्दूषयति **—न चेति** । न च वचनीयं स्वर्गकामादिवाक्येष्वप्यध्ययनविधित एव बोधनमिति यतोऽत्रापि स एव शक्नोतीति; पृथग्विध्यपेक्षानवकाशादिति, अध्ययनविधेरक्षरग्रहणमात्रविश्रान्तत्वाच्च । **अन्वयव्यतिरेकेति** । गान्धर्वशास्त्रादौ षड्जादिस्वरग्राम-मूर्छनासाक्षात्कार इत्यर्थः । तृतीयेऽपि साक्षात्कारः किं ब्रह्मस्वभावभूतः ? किं वान्तःकरणपरिणामरूपः ? नाद्यः, इत्याह**—साक्षात्कारस्येति** । द्वितीयं दूषयति**—अन्तःकरणेति** । नहि फलं विधेयं यथाहुः—'तस्य॰ लिप्सार्थलक्षणे'तीति भावः । तर्हिं

अनिष्टसाधनता के बोध से ही निवृत्ति के सिद्ध होने से वाक्य की चरितार्थता सिद्ध हो जाती है । अन्य विधि की आवश्यकता नहीं रह जाती है ।

जो यह कहा था कि (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म) इत्यादि वाक्य (प्रतिपत्ति = ज्ञानविधि के शेष = अङ्गरूप है) इत्यादि, सो भी युक्त नहीं है, प्रतिपत्ति विधि शेषत्व इन्हें नहीं है । क्योंकि विधिशेषत्व विचाराऽसह है । ज्ञान विधि मानने पर, शाब्दी = शब्दजन्या परोक्षा प्रतिपत्ति विधेय होगी, या भावनात्मिका चिन्तना ध्यान स्वरूपा, अथवा साक्षात्कार स्वरूपा, विधेय होगी । वहाँ प्रथमा विधेय नहीं हो सकती है । क्योंकि पद-पदार्थ की सङ्गति (सम्बन्ध) के जानने वाले को जैसे (स्वर्गकामो यजेत) इत्यादि शब्दों से स्वर्गादि का परोक्ष ज्ञान होता है, वैसी ही उस शाब्दी वित्ति (प्रतिपत्ति) की स्वयं उत्पत्ति होने से विधि की आवश्यकता नहीं रहती है, दूसरा पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि भक्ति ध्यानादि रूप भावना को ज्ञान के प्रकर्षत्व (वृद्धि आदि) के हेतुत्व लौकिक अन्वय व्यतिरेक से ही सिद्ध है । अतः भावना को विधेयत्व नहीं हो सकता है । तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सत्य साक्षात्कार के ब्रह्मस्वरूप होने से नित्यता से ही वह अविधेय है, और यदि अन्तःकरण की वृत्तिरूप प्रतिपत्ति का विधान माना जाय तो, अन्य वृत्ति का विधान कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि

साक्षात्कारतया फलत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः । 'द्रष्टव्यः' इत्यादिपदानां चार्हार्थतयाप्युपपत्तेः,

अथापि सिद्धार्थव्युत्पत्तौ किं मानमिति चेत्, उच्यते—

विवादाध्यासितः सिद्धः शब्दव्युत्पत्तिगोचरः ।
मेयत्वान्न्यायगम्यत्वात् तवाभिमतकार्यवत् ॥ १६ ॥

न च कार्यत्वमुपाधिः; व्यतिरेकासिद्धेः । यत्कार्यं न भवति नासौ शब्दव्यु-

---

प्रमत्तप्रगीतमिदं "द्रष्टव्यः" इत्यादिवाक्यमित्यत आह—**'द्रष्टव्यः' इत्यादिपदानामिति**। 'अर्हे कृत्यतृचश्चे'ति कृत्यप्रत्ययानामहार्थेऽपि विधानात् । "कृत्याः प्राङ् ण्वुलः" इति तव्यादीनां कृत्यसंज्ञत्वाच्चेत्यर्थः । एवं च सति सिद्धेऽर्थे व्युत्पत्त्यसंभवेन वेदान्तानामपि आत्मा ज्ञातव्य इति विधिनैकवाक्यतया कार्यपरत्वं शालिकनाथोक्तं थूत्कृतम् । यच्च तेन परमानन्दादित्वस्यानुभवपराहतत्वात् अभिनवकल्पनायाश्चायुक्तेर्निर्विकारत्वस्य च विज्ञानादिविकारवत्तया अयुक्तेनानन्दादिपरत्वमित्युक्तं तत्सर्वं चतुर्थपरिच्छेदे एवाचार्येण तुच्छीकरिष्यते ।

ननु युक्तिरियम् यदेतावदभिहितम्, प्रमाणमभिधीयतामिति शङ्कते—**अथापीति**। तत्र तावत्कार्यस्यापि पदशक्तिगोचरतामङ्गीकृत्यानुमानमाह—**विवादेति श्लोकेन**। कार्यान्विते सिद्धसाधनताव्यवच्छेदाय विवादाध्यासितग्रहणम् । कार्यान्वयरहित इत्यर्थः । व्यतिरेकासिद्धिमेव विवृणोति—**यत्कार्यमिति**। ततश्च पक्षे-

---

अन्य वृत्ति वस्तुतः प्रतिपत्ति नहीं है, ब्रह्माकार वृत्ति ही प्रतिपत्ति कही जा सकती है, उसको अन्तःकरण के परिणाम रूप होते भी आनन्द स्वरूप ब्रह्म के साक्षात्कार स्वरूप होने से फलरूपता के करण उसमें विधेयता की अनुपपत्ति है, क्योंकि फल विधेय नहीं होता है, किन्तु फल के लिये साधन विधेय होता है, यदि कहा जाय कि उक्त रीति से यदि ज्ञान का विधान नहीं हो सकता है, तो (आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः) अरे मैत्रिय ! आत्मा ही द्रष्टव्य है, इस श्रुति से आत्मदर्शन का विधान कैसे किया गया है । तो कहा जाता है कि दर्शन का विधान नहीं है किन्तु (अर्हे कृत्यतृचश्च) इस सूत्र से कृत्यसंज्ञक तव्यप्रत्यय के होने से 'द्रष्टव्य' इत्यादि पदों की अर्ह (योग्य) अर्थकता से भी सिद्धि हो सकती है कि (आत्मा दर्शन के योग्य है) इत्यादि ।

सिद्धार्थ विषयक युक्त वर्णित हुई, फिर भी सिद्धार्थ विषयक व्युत्पत्ति में प्रमाण क्या है, यदि ऐसी जिज्ञासा हो तो, कहा जाता है कि—

विवादविषय सिद्धार्थक शब्द, (ब्रह्मात्मादि) व्युत्पत्ति (शक्तिग्रह) का विषय होता है, मेयत्व (प्रमेयत्व) तथा न्यायगम्यत्व से (तब) प्रभाकर सम्मत कार्यवत् ॥१६॥

यह अनुमान प्रमाण है। कार्यत्व उपाधि इसमें नहीं हो सकता है; क्योंकि

त्पत्तिगोचरो तथा सम्प्रतिपन्नमिति व्यतिरेकव्याप्ते पर प्रति दर्शयितुमशक्यत्वात् । नन्वाकृतेरेव शब्दार्थत्वाद्व्यक्तेस्तदभावात्तत्रानैकान्तिकमिति चेत्, मैवम्, आकृते शब्दार्थत्वेऽपि तस्या एव शब्दार्थत्वमिति नियमानङ्गीकारात्, "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ" इत्यक्षचरणपक्षपातिभिरङ्गीकारात्, आकाशादिपदाना च व्यक्तिवचनतया मीमांसकैरप्यभ्युपगमात्, व्यक्तिशब्दस्य च व्यक्तिवाचकत्वात् । ननु तत्रापि व्यक्तित्वोपाधेरेव वाच्यत्व न व्यक्तेस्तस्या लक्ष्यत्वादितिचेत्, मैवम्, क्वचिच्छब्दान्तरवाच्यस्यैव

तरत्वमिति भाव । केचित्त्विदमेवानुमानमुद्भाव्य दूषयावभूवु —"तदसत् । कार्यान्वयोपाधिहतत्वात् गवादिव्यक्त्याऽनैकान्त्याच्च आकृति शब्दार्थ इति हि स्थिता शब्दार्थविद" इत्यादिना । तत्रोपाधि परिहृत, अनैकान्त्य परिहर्तुं शङ्कयति—**नन्वाकृतेरिति ।** किं नैयायिकादिसाधारणमिदमनैकान्तिकत्वम् ? किंवा मीमांसक प्रत्येव ? नाद्य इत्याह—**आकृतेरिति ।** आकृतिराकार सास्नादिमत्त्व सूत्रे विवक्षितम् । द्वितीयेऽपि प्रकृतशब्दाना जातिवाचकत्व तेषामप्रसिद्ध जातिरहितेष्वपि भावादित्याह—**आकाशादीति ।** ननु तथापि गवादिव्यक्तिष्वनैकान्तिकत्वस्य क परिहार ? तत्राह—**व्यक्तिशब्दस्येति ।** व्यक्तिशब्देनापि न व्यक्तिरभिधीयते किंतु सर्वव्यक्तिष्वनुस्यूतव्यक्तित्वोपाधिरेवेति शङ्कित्वा परिहरति—**मैवं**

कार्य और इस साध्य के व्यतिरेक व्याप्ति की असिद्धि मे यह कार्यत्व पक्षेतरत्व मात्र है। अतएव (जो कार्य नही है) सो शब्दशक्ति का विषय नही ही है। जैसे अमुक निश्चित वस्तु हे। इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति (पर) प्रभाकर मिश्र वादी के प्रति दर्शाना अशक्य है। मेयमात्र के व्युत्पत्ति के विषय होने से व्यतिरेक व्याप्ति प्रदर्शन के स्थान का अभाव है। यदि शङ्का हो कि पूर्वमीमासा मे आकृति (आकारविशेष) को ही शब्द का अर्थ (वाच्य) माना गया है, अत व्यक्ति को शब्दार्थ नही होने से, उसमे व्युत्पत्ति ग्रह के विषयत्व रूप साध्य नही रहता है, और मेयत्वरूप हेतु रहता है, अत हेतु अनैकान्ति (व्यभिचारी) है। तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि आकृति के शब्दार्थ होते भी आकृति को ही शब्दार्थत्व हे, अन्य को नही, ऐसा नियम नही माना जाता है। क्योकि (व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ) व्यक्ति आकृति और जाति तीनो पद के वाच्य होते हे, यह न्यायदर्शन मे कहा गया है। उसीको अक्षचरण (गोतम) पक्षपाती मानते है। और व्यक्ति की एकता आदि के कारण अमूर्त और जातिरहित के वाचक आकाशादि पदो को मीमासक भी व्यक्तिवाचक मानते ही है। और व्यक्ति शब्द को भी व्यक्तिवाचकत्व है। यदि कहे कि उन व्यक्तियो मे भी व्यक्तित्व रूप उपाधि

शब्दान्तरलक्ष्यत्वाभ्युपगमात्, व्यक्ति शब्दवाच्या न भवतीति स्ववचनव्याघाताच्च। तस्मात्सिद्ध सिद्धे ब्रह्मणि वेदान्ताना प्रामाण्यमिति।

अङ्गीकृत्यैतदवोचाम—कार्ये प्रामाण्यमेव शब्दस्यानुपपन्नम्, तत्र सङ्गतिग्रहणायोगात्। ननु कथ तत्र सङ्गतिग्रहणायोग, प्रवृत्तिदर्शनात्

क्वचिदिति। अस्ति मीमासकानामभ्युपगम शब्दान्तरवाच्यमेव शब्दान्तरलक्ष्यमिति। तथा च व्यक्तेरपि यत्किचिच्छब्दवाच्यत्व मन्तव्यमितिरथा लक्षणानुपपत्तेरित्यर्थ। नन्विम नियममभ्युपगच्छद्भ्य किमुत्तर देयमिति तत्राह—**व्यक्तिरिति**। व्यक्ति शब्दवाच्या न भवतीत्यत्र यस्या व्यक्ते शब्दवाच्यत्व निषिध्यते सा तावद्व्यक्तिशब्देनाभिधेया, इतरथा कस्याय निषेध स्यात्ततश्च परस्पर व्याघात इत्यर्थ। न च तत्रापि व्यक्तिशब्दलक्षितस्य शब्दवाच्यत्वनिषेध इति वाच्यम्। यत किं नाम तल्लक्षितमिति पर्यनुयोगे लक्षणापरपराश्रयणमन्तरेण निरुत्तराऽऽपातादिति।

यत्तदवोचाम कार्यस्य शक्तिगोचरत्वमङ्गीकृत्येति, तदुद्घाटयति—**अङ्गीकृत्यैतदिति**। तत्र कार्ये सङ्गतिग्रहणपरिपाटी दर्शयति पूर्ववादी—**नन्विति**। **प्रवृत्तिदर्शनादीति**। स्वतन्त्रस्य प्रवृत्तिदर्शनादीति यावत्। इतरथा बलवदनिसलिलौघेन नुद्यमानप्रवृत्तावनैकान्तिकता स्यादिति। नन्विष्टसाधनत्वज्ञानादेवात्मनि प्रवृत्तिर्दृष्टा न कार्यज्ञानादनन्तदेव परत्राप्यनुमीयतेऽतो विरुद्धो हेतु, साध्यविक-

---

ही व्यक्ति शब्द का वाच्य (शक्य) होता है, व्यक्ति नही, क्योकि उस व्यक्ति को लक्षण से समझा जाता है, अत उसमे लक्ष्यत्व रहता है, शक्यत्व नही, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि कही शब्दान्तर के वाच्य को ही किसी शब्दान्तर के लक्ष्यत्व युक्त माना जाता है, जैसे कि (तीरे-ग्राम) वाक्यगत तीर शब्द के वाच्य को ही (गङ्गाया ग्राम) यहाँ गङ्गा शब्द का लक्ष्य माना जाता है। और व्यक्ति शब्द का वाच्य नही होता है, यह कथन व्याघात (विरोध) युक्त है, क्योकि व्यक्ति शब्द से व्यक्ति को शक्य रूप से कहते हुए, उसका निषेध नही बन सकता है। इस उक्त रीति सिद्ध ब्रह्मविषयक वेदान्तो (उपनिषदो) की प्रमाणता सिद्ध हुई।

प्रथम जो यह कहा गया है कि (तवाभिमत कार्यवत्) प्रभाकराभिमत कार्य के समान। इत्यादि। वह मानो परोक्ष रूप से ज्ञात के समान को मान कर, कहा गया है। मानो कार्य के स्वरूप को यथार्थ रूप से नही जान कर कहा गया है। वस्तुत कार्य के यथार्थ प्रत्यक्ष अनुभव की बात यह है कि कार्यविषयक शब्द की प्रमाणता ही अनुपपन्न (असिद्ध) है। क्योकि उस कार्य विषयक शब्द की शक्ति के ग्रहण का प्रयोग (असम्भव) है। प्रभाकरानुयायी की शङ्का है, उस कार्यविषयक शक्तिग्रह का अयोग कैसे है, अर्थात् अयोग नही है, क्योकि

प्रवर्त्तकज्ञानमनुमाय तस्य च प्रवर्त्तकज्ञानत्वादेवात्मीयप्रवर्त्तकज्ञानवत्कार्यविषयकतामध्यवस्यानन्तर शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायितया तस्य शब्दजन्यत्वावगमेन तत्रैव शब्दशक्तेर्ग्रहणात्। न च स्वात्मनि प्रवर्त्तकबोधस्येष्टसाधनविषयत्वात्परप्रवृत्तावपि तदेव प्रवर्तकतयानुमीयते न कार्यमिति वाच्यम्, अतीतानागतविषयेष्विष्टसाधनज्ञानेषु प्रवर्तकत्वव्यभिचारात्। अथ कृतिसाध्येष्टसाधनत्वज्ञान प्रवर्त्तकम्, तर्हि कार्यमेव नामान्तरेण

लश्च दृष्टात इतीमा शङ्का निषेधति—**न चेति**। **तदेवेति**। ज्ञायमानतया विवक्षितम्, तेन न पूर्वापरव्याघात। तत्र किमिष्टसाधनताज्ञान प्रवर्त्तकम्? किंवा कृतियोग्यताविशेषणविशिष्टतज्ज्ञानम्? आद्ये प्राह—**अतीतानागतेति**। द्वितीय शङ्कते—**अथेति**। कृति पुरुषप्रयत्नस्तेन साध्य यदिष्टसाधन तज्ज्ञानमिति योजना। तर्ह्यविप्रतिपत्ति कार्यस्य चैव रूपत्वादित्याह—**तर्हीति**। यद्यपि भावार्थस्य कृतिसाध्यत्वमस्ति, तथापि कार्योपाधित्वान्न प्राधान्येन तदस्तीति भाव। एतदेव शालि-

---

वृद्धवचन से मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति को देखने से, प्रवर्तक (प्रवृत्तिहेतु) ज्ञान का अनुमान द्रष्टा को होता है कि (यह मध्यम वृद्ध की स्वतन्त्र प्रवृत्ति ज्ञानपूर्वक हो रही है, स्वतन्त्र प्रवृत्तित्व से मेरी स्वतन्त्र प्रवृत्ति के समान) इस प्रकार ज्ञान का अनुमान करके, फिर उसके प्रवर्तक रूप ज्ञान होने से, उस प्रवर्तक ज्ञानत्व रूप हेतु से अपने प्रवर्तक ज्ञान के समान (निज ज्ञानदृष्टान्त द्वारा) उस मध्यम वृद्ध के ज्ञान मे कार्यविषयता का अनुमान से निश्चय होता है कि (यह प्रवृत्ति का हेतु ज्ञान, कार्यविषयक हुआ है, प्रवृत्ति का हेतु होने से, मेरे ज्ञान के समान) फिर उस ज्ञान को शब्द के साथ अन्वय, व्यतिरेक वाला जान कर, ज्ञान मे शब्दजन्यत्व के ज्ञान से उस कार्यविषयक ही सामानय, इत्यादि की शक्ति का ग्रहण होता है। यदि कहा जाय कि अपने मे प्रवर्तक ज्ञान को इष्टसाधनता विषयक बालक समझता है, अर्थात् इष्टसाधन समझकर बालक प्रवृत्त होता है, अत मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति मे हेतु रूप उस इष्टसाधनता ज्ञान का ही प्रवर्तक रूप से अनुमान किया जा सकता है, कार्य का अनुमान नही हो सकता है। कार्य विषयक ज्ञान से प्रवृत्ति नही होती है, तो यह कथन उचित नही। क्योकि अतीत अनागत विषयक इष्टसाधन ज्ञानो मे प्रवर्तकत्व का व्यभिचार (अभाव) रहता है। यदि कहे कि भूत, भावी मे कृतिसाध्यत्व नही रहता है, और प्रकृत मे कृति (यत्न) साध्य इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवर्तक होता है, उसीका बालक अनुमान करता है। तब तो कार्य को ही नामान्तर द्वारा प्रवर्तक आपने भी स्वीकार किया, क्योकि उस कार्य को ही कृतिसाध्यत्व होता है (कृतिसाध्य

प्रवर्तक त्वयाप्यङ्गीकृम्, तस्यैव कृतसाध्यत्वात् 'कृतिसाध्य प्रधान यत्त-त्कार्यमभिधीयते' इत्यभिधानात्। तथापि कृतिसाध्येष्टसाधनज्ञानमेव प्रवर्तक न केवल कार्यज्ञानमिति चेत्, मैवम्, इष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोध प्रति हेतुतयाऽन्यथासिद्धे। उक्त हि—

'किन्तु स्वय क्लेशरूप कर्म यत्कार्यता व्रजेत्।
फलसाधनता तत्र कारण तेन कार्यता॥' इति।

कनाथवचनेन द्रढयति—**कृतिसाध्यमिति**। कृतिसाध्य कार्यमित्युक्ते भावार्थेऽति-प्रसक्तिस्तदर्थ प्रधानमित्युक्तम्, प्राधान्य चेद कृत्युद्देश्यत्वम्, तावति चोक्ते फलेऽपि स्यात्तदर्थं कृतिसाध्यमित्युक्तम्, तत्र कृतिसाध्यत्व कृत्यन्वयव्यतिरेकरूपानुमानगम्यम्, कृतिप्राधान्य च मानसप्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षानुमानगम्ष बालस्य स्वात्मनि कार्यम्, यथौदन पाकश्चेत्यर्थ। भवतु कार्यस्याप्येवविधत्व तथापि न कार्यताज्ञानात्प्रवृत्ति-रिति शङ्कते—**तथापीति**। नेष्टसाधनताज्ञान प्रवृत्तेर्हेतुरपि तु कार्यताज्ञानमेव, तज्ज्ञानाच्च प्रवृत्तिरित्याह—**मैवमीति**। अत्रापि वाक्यार्थमातृकागत तद्वचनमेव प्रमाणमित्याह—**उक्त हीति**। अयमर्थ—हितसाधनताकार्यतयो पूर्वम् भेद उक्त, अनन्तर हितसाधनेष्वेव किमिति कार्यतामतिर्नान्यत्रेति शङ्का परिहरन्त आहु शालिकनाथा—**किंत्विति**। सत्यमस्त्वय नियम, किन्त्वय तत्र विशेष—यत्कर्म-कार्यता व्रजेत् तत्स्वय क्लेशरूपमेव। कथ तर्हि तस्य कार्यत्वम्? नहि दुखाकरस्य कार्यत्वमुपपद्यते, यथाहु—'अकर्तव्यो दुखफल' इत्यत आह—**फलसाधनता तत्रेति**। तस्यैव विवरणम—**तेन कार्यतेति**। अथवा फलसाधनता तत्र कथ कारणम? यावता प्रवृत्ति प्रत्येव कारण तदिति केचित्तत्राह—**तेनेति**। तेन कार्य-तास्य भवति, नतु प्रवृत्तेरिति। अतएव तैरुक्तम् "ज्ञापककोटिनिविष्टा फलसाधनता कार्यतामनुरुध्यते। नत्वसौ तदात्मैवेति।"

प्रधान यत्तत्कार्यमभिधीयते) यत्न से साध्य जो प्रधान = धात्वर्थभिन्न अदृष्ट वह कार्य कहा जाता है—ऐसा कहा गया है। तो भी यदि कहा जाय कि कृतिसाध्य इष्टसाधन का ज्ञान ही प्रवर्तक होता है, केवल कार्य का ज्ञान प्रवर्तक नही होता है, तो यह कथन युक्त नही, क्योकि इष्टसाधनता का ज्ञान कार्यता ज्ञान के प्रति हेतु होने से प्रवृत्तिजनन मे घटजनन मे कुलाल के पिता के समान अन्यथा-सिद्ध (कारणतारहित) है। यह शालिकनाथ ने कहा है कि—

हितसाधन ही कार्य (कर्तव्य) होता है, किन्तु उसमे भी यह विशेष है कि स्वय क्लेश रूप भी जो कर्म कार्यता को प्राप्त होता है (कर्तव्य होता) उस कर्त-व्यता मे फल (इष्ट) साधनता कारण रहता हे, उस कारणता से कार्यता कर्म मे होती है)।

ननु चिकीर्षैवैषा ममेद कार्यमिति, न तु तदतिरिक्त कार्यं नामात्र किञ्चित्प्रतीयत इतिचेत्, मैवम्, अन्तरेणापि कार्यधिय समीहितसाधनता-मात्रावबोधात् सुधामरीचिमण्डलोदयादौ चिकीर्षाया अप्यनुपपत्ते । न चास्या कार्यधिय कृतियोग्यतामात्रमालम्बनम्, कृतियोग्ययोरपि दु ख-तत्साधनयोस्तददर्शनात् । नापि समीहितसाधनम्, अतीतवर्तमानयो समी-

---

ननु कार्यसिद्धिरेव कुत प्रमाणात् ? तावन्ममेद कार्यमिति बुद्धि प्रमाणम्, तस्याश्चिकीर्षामात्रतयार्थासाधकत्वादिति शङ्कते—**नन्विति** । कोऽस्याभिसन्धि ? किं कार्यमेव नास्तीति ? उत तत्रेय प्रमाण न भवतीति ? नाद्य, तदनङ्गीकारे चिकिर्षाया एवानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न चेष्टसाधनतामात्रावबोधात्तदुपपत्ति, सुरतार-म्भपरिश्रान्तसुदरीसमीहितसाधनेऽपि सुधामरीचिमण्डलोदये मलयमारुतरङ्गसङ्गमेव वा असाध्यस्वभावे चिकीर्षाऽभावादित्याह—**मैवमन्तरेणेति** । द्वितीये त्वनन्यगति-कत्वादेवैव भविष्यति प्रमाणमिति भाव । भवत्वियमिच्छातिरेकिणी, तथापि कृति-योग्यतामेवालम्बते न तदतिरिक्त किञ्चित्कार्यमस्ति तत्राह—**न चास्या इति** । साधयितु योग्यत्वमस्ति दु खादेरपि, न कार्यबुद्धिविषयत्वमिति तदतिरिक्तमेवास्या विषय इत्याह—**कृतियोग्ययोरिति** । अस्तु तर्हीष्टसाधनत्वमेवास्या विषय इति तत्राह—**नापीति** । तत्र हेतु —**अतीतेति** । ननु यद्यपि साधनेऽपि दर्शनात्फल-मात्रमस्य आलम्बन न भवति नाप्युभयमेकैकव्यभिचारात्, तथाप्युभयानुगतमिच्छा-

---

यदि शङ्का हो कि (ममेद कार्यम्) मेरा यह कर्तव्य है, यह चिकीर्षा (कार्येच्छ) का स्वरूप है, इससे अतिरिक्त कार्य वस्तु कुछ भी प्रतीत नही होता है कि जिस का कार्य नाम हो, तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि कार्यता ज्ञान के बिना भी इष्टसाधनता मात्र के ज्ञान से (सुधामरीचिमण्डल) चन्द्रोदयादि विषयक भी चिकीर्षा (कर्तुमिच्छा) की उत्पत्ति नही होती है, क्योकि वह असाध्य है, अत मानना होगा कि साध्य स्वभाव वाले कार्य विषयक ही चिकीर्षा होती है, अतएव (ममेद कार्यम्) यहाँ कार्यज्ञान वर्तमान रहता है, तभी चिकीर्षा होती है, यदि कहा जाय कि चिकीर्षा से भिन्न कार्यबुद्धि हो, परन्तु, इस कार्यबुद्धि का कृतियोग्यता मात्र विषय रहता है। तो यह कहना भी युक्त नही, कृतियोग्य (यत्नसाध्य) भी दु ख और दु खसाधनो मे कार्यताबुद्धि नही देखी जाती है, अत कृतियोग्यता से अतिरिक्त ही कार्यबुद्धि के विषय को मानना उचित है। इष्टसाधन रूप समीहित साधन ही कार्यबुद्धि का विषय हो, यह भी नही कहा जा सकता है, क्योकि अतीत, वर्तमान इष्टसाधन मे कार्यबुद्धि का अभाव रहता है, अतीत का स्वरूप नही रहता है, वर्तमान इष्टसिद्ध रहता है, उसमे

हितसाधनयोस्तदभावात्। नापि फलमेव, तत्साधनेऽपि दर्शनात्। नापि फलतत्साधनयोरनुस्यूतमभिलाषगोचरतामात्रमस्या आलम्बनम्, अभिलाषमात्रगोचरेऽपि सुधामरीचिमण्डलादौ तदभावस्य दर्शितत्वात्। तस्मादेभ्योऽतिरिक्त एव कश्चिदाकार कार्यधीगम्य, स एव चाकार कृतिसाध्य. कृत्युद्देश्य कार्यमित्युच्यते। स एव प्रवर्तकतया स्वात्मन्यधिगतत्वाच्छब्दशक्तेर्गोचर।

तथापि कथमलौकिकनियोगे वैदिकलिङादिशब्दाना व्युत्पत्तिरितिचेत्, उच्यते—यद्यपि लोकव्युत्पत्यनुसारेण क्रियाया कार्यत्व प्राप्तम्,

---

गोचरत्वमात्रमस्य आलम्बनमित्याशङ्क्य पूर्वोक्तव्यभिचारमेवाह—**अभिलाषेति।** परिशेषादतिरिक्तमेवालम्बनमित्युपसहरति—**तस्मादिति**। ननु भवत्वतिरिक्त तथापि कथ कार्यत्वमिति तत्राह—**स एवेति**। तथापि कथमस्य शब्दार्थत्वावगतिस्तत्राह—**स एवेति। स्वात्मनीति।** बालस्येति शेष।

कार्यमात्रस्य शब्दार्थत्वेऽपि नियोगस्य शब्दार्थत्वमयुक्तम्, अलौकिकत्वेन तत्रागृहीतसगतिकत्वादिति शङ्कते—**तथापीति**। अलौकिकत्वेऽपि विमर्शात्मकतर्कत सभाविते सङ्गतिग्रहमुपवादयति—**यद्यपीत्यादीना। क्रियाया इति।** भावार्थस्येत्यर्थ। स्वर्गकामो यजेतेत्येतन्नियोज्यसमर्पणपर नतु फलपरमिति हि गुरुमतम्, तथाच षष्ठाद्ये राद्धान्तितमतस्तत्समर्पकपदेन समभिव्याहारात् सहपाठात् क्रियातिरिक्त नियोगमवगमयन्ति लिडादय इत्युत्तरेण सम्बन्ध। ननु कर्त्रपेक्षत्वात्कार्यस्य

साध्यता (कार्यता) नही हो सकती है। स्वर्ग सुखादि फल ही कार्यबुद्धि का विषय नही हो सकता है, क्योकि फल के साधनो मे भी कार्यबुद्धि देखी जाती है। फल और साधन दोनो मे व्यापक इच्छा विषयता मात्र को भी इस कार्यबुद्धि का विषय नही कह सकते हे, क्योकि इच्छामात्र के विषय चन्द्रमण्डलादि मे कार्यबुद्धि विषयता के अभाव को प्रथम दर्शाया गया है। अत इन इष्टसाधनादि को से अतिरिक्त ही कोई आकार (वस्तु) कार्यबुद्धि से गम्य (ज्ञेय) होता है। और वही आकार कृतिसाध्य, कृत्युद्देश्य, कार्य (यत्न से साध्य, यत्न का उद्देश्य =लक्ष्य) इन शब्दो से कहा जाता है। और उसी आकार को प्रवर्तक रूप से बालक के अपने मन मे ज्ञात होने के कारण, मध्यम वृद्ध के व्यवहार से वही आकार शब्द शक्ति का विषय रूप बालक को सिश्चित होता है।

यदि शङ्का हो कि उक्त रीति से कार्य विषय शब्दशक्ति का ज्ञान लोक मे होने पर भी लोक से अप्रसिद्ध अलौकिक नियोग (अदृष्ट) विषयक वैदिक लिडादि शब्दो की व्युत्पत्ति (शक्ति ज्ञान) कैसे हो सकती है। तो समाधान कहा जाता है कि यद्यपि लोक को व्युत्पत्ति के अनुसार धात्वर्थ रूप क्रिया को

तथापि वेदे स्वर्गकामो यजेतेति नियोज्याभिधायिना स्वर्गकामपदेन समभिव्याहारात्, 'नियोज्य सच कार्यं य स्वकीयत्वेन बुध्यते' इतिन्यायात्। तस्य च कमिसबन्धात्साध्यस्वर्गविशिष्टस्य क्षणप्रध्वसिन्या क्रियाया कालान्तरभाविस्वर्गसाधनयोग्यतावैधुर्येण कार्यताबुद्धचनुपपत्ते क्रियातोऽतिरिक्त कालान्तरभाविफलसाधन नियोगमेव नियोज्य प्रति लिङादय कार्यमवगमयन्ति। तच्च स्वात्मनि पुरुष नियुञ्जान नियोग इति, मानान्तरा-

---

तत्समर्पकत्वमेव स्वर्गकामादिपदस्येत्यत आह—**नियोज्यः स चेति**। य कार्य स्वकीयत्वेन बुध्यते स नियोज्य इति न्यायान्नियोगसवन्धबोद्धा नियोज्येन भवितव्यमितरथाकर्तृत्वानुपपत्तेरित्यर्थ। तथापि भावार्थसवन्धबोद्धैव नियोज्यो भवतु, कुतो नियोगसिद्धिरिति तत्राह—**तस्येति**। स्वर्गकाम इति काम्यस्वर्गविशिष्टत्वात् सिद्धे च कामाभावात् साध्यस्वर्गविशिष्ट प्रतीयते नियोज्य, एवविधस्य च भावार्थक्रियाया ममेद कार्यमिति कार्यताबुद्धचनुपपत्ते, तत्र हेतु–क्षणध्वसिन्यामिति। मर्दनादिव्यावृत्त्यर्थं कालान्तरभावीत्युक्तम्। तदुक्तम—

'लिङादिस्तत्र कार्यं चेत्क्रियामेवावबोधयेत्।
समन्वयो नियोज्येन तदानीमेव हीयते'॥ इति॥

(प्र प पृ १८३)

ननु कथमस्य नियोगत्वम्, आज्ञा हि नियोग, न चापौरुषेये वेदे सा सभवति, अत एव नापूर्वत्वमिति तत्राह—**तच्च स्वात्मनीति**। अथवा अपूर्वस्य शब्दार्थत्वे नियमस्य वाक्यार्थता कथमिति तत्राह—**तच्च स्वात्मनीति**। पुरुषाभिप्रायरूपप्रैषाद्यभावेऽपि परस्परव्यभिचारिषु तेष्वनुगतप्रवर्तकत्वरूपो नियोग शब्दार्थ, स चात्रापि सभाव्य इत्यर्थ। स्यादेतत्-स्वर्गसाधनत्वयोग्यताबलेन खल्वलौकिकनियोगाङ्गीकार,

---

ही कार्यत्व प्राप्त (सिद्ध) होता है, तथापि वेद मे (स्वर्गकामो यजेत) स्वर्ग की इच्छा वाला यज्ञ से इष्ट को प्राप्त करे। यहाँ नियोज्य (यज्ञ मे नियुक्त होने वाला कर्ता) का वाचक, स्वर्गकाम, पद के साथ समभिहार, यजेत, के पाठ से, नियोज्य कर्ता के प्रति लिङादि कार्य के बोधक होते है, क्योकि नियोज्य कर्ता वही होता है जो कार्य को अपना कर्तव्य समझता है, यह न्याय (नियम) है। और नियोज्य को कमि (काम) रूप सम्बन्ध से स्वर्गयुक्त (स्वर्गकामी) को क्षणविध्वसी क्रिया मे कालान्तर मे होने वाले स्वर्ग की साधन योग्यता के अभाव के कारण कार्यता बुद्धि की उत्पत्ति नही हो सकती है। अत भावार्थ रूप क्रिया से अतिरिक्त कालान्तरभावी फल के साधन रूप नियोग को ही नियोज्य के प्रति लिङादि कार्य रूप अवगम (ज्ञान) कराते है। वह कार्य रूप वस्तु नियोग इससे कहा जाता है कि अपने मे पुरुष का नियोजक (प्रवर्तक) होता है। मानान्तर से

पूर्वतया अपूर्वमिति च व्यपदिश्यते। न च फलजनकतया फल प्रति शेषत्वाद् अपूर्वस्य प्राधान्यप्रच्युति, स्वसिद्ध्यनुकूलनियोज्यलाभायैव फलशेषतावलम्बनात्। स्वशेषभुतगर्भदासोपकाराय सविदधानस्थ स्वामिन इव प्राधान्यानुपरोधात्।

तदुक्तम्—

स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये।
कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव न'॥ इति।

तथा च वरघाताय कन्योद्वहनम्, यत 'कृतिमाध्य प्रधान यत्तत्कार्यमभिधीयते' इति कार्यलक्षणमायुष्मन्मते, तत्र स्वर्गं प्रति साधनतया तच्छेषस्य न प्राधान्यमिति तत्राह—**न च फलेति**। यदि परसिद्ध्यर्थमय व्याप्रियेत तदा स्यात्प्राधान्यविघात, नतु तदस्ति, नहि स्वर्गोऽस्य स्यादिति नियोगव्यापारोऽपितु कथकार मामय साधयेदिति, तदर्थमेव खल्वयमस्मै स्वर्गं ददाति गर्भदासोपकर्तेव स्वामी, तथाच कुत प्राधान्यप्रच्युतिरित्याह—**स्वसिद्धीति। सविदधानस्य।** सविधान योगक्षेम कुर्वत इत्यर्थ।

स्वात्मसिद्धीति। अनुष्ठान विना नियोगासिद्धे कर्त्रा विना च तस्यासिद्धे अधिकारिण विना कर्तुरभावान्नियोज्य विना च तदभावाद् अकामानुगुणे च कामिनियोगत्वायोगात् तदिदमानुकूल्यम्। अपिर्भिन्नक्रम। स्वर्गादिक कुर्वदपि प्रधानमिति। प्रतिपादिततर्कोपसहारपूर्वकमुपपादित नियोगशब्दार्थे प्रतिबन्दीग्रहण-

---

प्रथम अज्ञात होने के कारण अपूर्व कहा जाता है। शका होती है कि (कृतिसाध्व प्रधान यत्तत्कार्ययभिधीयते) यह प्रथम कहा गया है, किन्तु फलजनकता से फल के प्रति शेषता (अङ्गना) के कारण अपूर्व की प्रधानता नही रह जाती है। परन्तु यह शका युक्त नही, क्योकि स्वसिद्धि के अनुकूल (हेतुरूप) नियोज्य के लाभ के लिये ही फलशेषता का अवलम्वन नियोग करना है, फलसिद्धि के लिये नही, अत फल का शेष नही होता है। जैसे स्वशेष (अङ्ग) गर्भदास (नित्यभृत्य) के उपकार के लिये सम्यक् विधि करने वाला भी स्वामी प्रधान ही रहता है, वैसे फलार्थक होने पर भी कार्य प्रधान रहता है।

ऐसा कहा भी है—

अपनी सिद्धि के अनुकूल नियोज्य की सिद्धि के लिये स्वर्गादि फल को करता हुआ भी कार्य प्रधान ही रहता है। अर्थात् कर्ता को अनुष्ठानादि के बिना नियोग की सिद्धि नही हो सकती है। अत उनमे कार्यानुकूलता रहती है, तथापि प्रत्ययार्थ कार्य प्रधान ही रहता है।

तदेवमलौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपाहवनीयादिवत्पदान्तरसमभिव्याहारा-ल्लिडादीना तत्र सबन्धग्रहणोपपत्तेरुपपन्न तत्राम्नायस्य प्रामाण्यम् । प्रयोगश्च विवादाध्यासिता लिङादय एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायिन कार्याभिधायित्वाद् गामानयेत्यादिपदवदिति । विपक्षे यागातिरिक्तकार्यान-

---

पूर्वकमुपसहरति—**तदेवमिति । यूपादीति** । यथा खलु यूपाहवनीयादौ 'यूप तक्षति, यूपमष्टास्त्रीकरोति, यूपमनक्ति, अर्द्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधाती'त्यादि-वाक्यपर्यालोचनया सस्कृतौ कौचन दार्वग्निविशेषौ 'यूपे पशु निबन्धाति' 'आह-वनीये जुहोति'त्यत्र यूपाहवनीयशब्दार्थाविति निर्णीयते । आदिशब्देन यववराहा-दिग्राह्यम् । **विवादेति** । कार्याभिधायिन इत्युक्ते भावार्थाभिधानेन सिद्धसाधनता तन्निवृत्त्यर्थ क्रियातिरिक्तेत्युक्तम्, तथाचाप्रसिद्धविशेणता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम् । क्रिया-न्तरामिधायिपदेषु च सुप्रसिद्ध साध्य ु, पक्षे चैतदभिधेयक्रियातिरिक्तकार्यत्वमेतद-

---

अत उक्त रीति से नियोग के अलौकिक होने भी यूप, आहवनीय, आदि शब्दो के समान प्रसिद्धार्थक पदान्तर के साथ पाठसम्बन्ध से लिडादि के उक्त कार्य के साथ सम्बन्ध ग्रहण की सिद्धि से उस कार्यविषयक वेद की प्रमाणता सिद्ध होती है। अर्थात् (यूप तक्षति, यूपमष्ठास्त्री करोति, यूपमनक्ति, अर्द्धोदिते सूर्ये आह-वनीयमादधाति, आहवनीये जुहोति) यूप को छिलता है। आठ कोण युक्त करता है, चिकना करता है। अर्द्धोदित सूर्य काल मे आहवनीय मे अग्नि का आधान करे, आहवनीय मे हवन करे। इन सब विधि वाक्यो मे अन्य पद के सम्बन्ध से यूपादि अर्थ का निर्णय होता है, वैसे कार्य का निर्णय होता है। इस विषय मे प्रयोग (अनुमान) भी है कि (विवादास्पदलिडादि, एतत् प्रसिद्ध अभिधेय [धात्वर्थ] क्रियाऽतिरिक्त कार्य के वाचक हैं, कार्यवाचक होने से, गामानय, इत्यादि पद के समान) यहाँ क्रियाभिधायी मात्र कहने पर, धात्वर्थाभिधान (कथन) से सिद्ध साधनता होगी, उसकी निवृत्ति के लिये क्रियाऽतिरिक्त कहा गया है, परन्तु क्रियातिरिक्त मात्र कहने पर भी अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होगी, क्योकि गामानय, इत्यादि क्रियातिरिक्त के अभिधायी (वाचक) नही है, अत एतत्, यह कहा गया है, अत अर्थ होता है कि लिडादि के प्रसिद्ध विधि निमन्त्रणादि रूप तथा भावना (आज्ञाप्रेरणादि) रूप क्रियाओ से, तथा यजादि धात्वर्थ रूप क्रिया से अतिरिक्त (नियोग) के वाचक लिडादि है। इस प्रकार पक्ष मे साध्य सिद्ध होता है, और गामानय, इत्यादि मे क्रियान्तराभिधेयकत्वेन साध्य की प्रसिद्धि होती है। नियोग मे कार्यत्व के रहते भी क्रियात्व के अभाव से क्रियातिरिक्त साध्य की पक्ष मे सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि (हेतुरस्तु

भ्युपगमात् यागस्य च स्वर्गसाधनत्वानुपपत्ते स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधक इति ।

अत्रोच्यते—भवेदिष्टमनोरथो यदि स्वात्मन्यपि कार्यबोधस्य प्रवर्त्तकत्वमध्यवसीयेत, समीहितसाधनताया एव तु स्वात्मनि प्रवर्तकत्वाध्यवसायात् न च भूतादौ व्यभिचार, यत —

कार्यस्यावगतेर्हेतुर्यादृश हितसाधनम् ।

नभिधेयत्वे सति क्रियात्वाद्वा, एतदभिधेयत्वे सति क्रियात्वानधिकरणत्वाद्वा, आद्यमभिधायकत्वसाधनव्याहतम्, द्वितीय सिध्यत् क्रियात्वानधिकरणकार्यनियोगमादाय सिध्यतीति नियोगसिद्धि ।

तदेतत्कार्ये व्युत्पत्तिसमर्थन दूषयितुमुपक्रमते—**उच्यत इति । समीहितसाधनताया इति ।** तद्बोधनम्, विषयेण विषयिलक्षणात् । ततश्च तस्यैव परत्राप्यनुमानेन तत्रैव शब्दशक्ति, ननु कार्ये इत्यभिप्राय । इष्टसाधनतावबोधस्य भूतादौ प्रवर्तकत्वव्यभिचार पूर्वोक्तमनूद्य श्लोकेन परिहरति—**कार्यस्येति ।** यादृशमिष्टसाधनत्व कृतियोग्यताविशिष्ट तव कार्यज्ञाने हेतुस्तादृशमेव प्रवृत्तिहेतुराश्रीयते मया

साध्य माऽस्तु) हेतु रहे, परन्तु साध्य नही रहे, अर्थात् अदृष्टवाचक लिङादि नही है, तो इस विरुद्ध पक्ष मे नश्वर याग होमादि से अतिरिक्त स्थायी कार्य के अस्वीकार से, तथा क्षणिक यागादि मे स्वर्गसाधनत्व की अनुपपत्ति **से** स्वर्गकामी याग से इष्ट को सिद्ध करे, इत्यादि वाक्यो मे अप्रमाणता की प्राप्ति होगी । अत यह अप्रामाण्य प्रसङ्ग ही विपक्ष का बाधक है, अतएव उक्त अनुमान अदृष्ट मे प्रमाण है ।

उक्त लिङादि की कार्यविषयता मे कहा जाता है कि—आप का यह इष्ट मनोरथ सत्य होता, यदि बोध इच्छुक बालक स्वात्मा मे भी उक्त कार्यबोध को प्रवर्तक निश्चय करता, किन्तु वह तो इष्टसाधनता के ज्ञान को ही अपने मन मे प्रवर्तक समझ सकता है—अप्रसिद्ध कार्यता को नही । अत मध्यम वृद्ध को प्रवृत्ति मे भी उसी इष्टसाधनता के ज्ञान को हेतु रूप से अनुमान द्वारा समझ सकता है, और इष्टसाधनता मे ही लिङादि की शक्ति का ज्ञान व्यवहार से बालक को होता है, कार्य से नही । और जो प्रथम कहा गया था कि भूत-भावी मे इष्टसाधनता के ज्ञान होते भी प्रवर्तकत्व नही होता है । अत उसमे प्रवर्तकत्व का व्यभिचार है, वह कहना युक्त नही । क्योकि जैसा—

कृतियोग्य, हित (इष्ट) साधन कार्य के ज्ञान का हेतु आपके मत मे

प्रवृत्तेस्तादृश हेतुर्व्यभिचारस्तत कुत ॥ १७ ॥

येनापि हि कार्यावबोधस्यैव प्रवर्तकत्वमभ्युपेयतेऽभ्युपेयते एव तेनापीष्टसाधनतावबोधस्य कार्यावबोध प्रति हेतुता, तदभावे कार्यबोधानुपपत्ते । तत्रापीष्टसाधनतामात्रस्य भूतादौ व्यभिचारात् कृतियोग्येष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानहेतुरित्यभ्युपेयम्, तथा च तादृगिष्टसाजताबोधस्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वोपपत्तौ किमन्तर्गड्डुना कार्यावबोधेन । न चेदृगिष्टसाधनताज्ञानमेव कार्यताज्ञानम् , तस्य तज्ज्ञान प्रति हेतुत्वाभ्युपगमात् । न च ममेद कार्यमिति चिकीर्षामपहाय कार्यज्ञान नाम किंचिदुपलभामहे । न च चिकीर्षैव कार्यधियमन्तरेणानुत्पद्यमाना ता कल्पयतीति युक्तम् । कृतियोग्येष्टसाधन-

---

नत कुतो व्यभिचार इति योजना । श्लोक विवृणोति—**येनापीति** । ननु कृतियोग्येष्टसाधनज्ञानमेव कार्यज्ञान नत्वनयोर्धूमाग्निबोधवज्जन्यजनकता यदाह—'यथा खल्वेकधीवेद्यत्वेऽप्याकृतितो व्यक्तिधीरुक्ते'ति । तथाच तस्य प्रवर्तकत्वाश्रयणमस्मदनुकूलमेवेति तत्राह—**न चेति** । हेतुमाह—**तस्येति** । 'फलसाधनता तत्र करण तेन कार्यता, इति स्वीकारान् हेतुहेतुमतोरैक्यमनुपपन्नमित्यर्थ । यत्तु ममेद कार्यमिति बुद्धे परिशेषात्कायविषयत्वमुक्त नदप्यसिद्ध तस्याश्चिकीर्षारूपत्वादित्याह—**न च ममेदमिति** । यत्त्विष्टसाधनतामात्राच्चिकीर्षानुत्पत्तेस्तद्धेतु कार्य स्वीकर्तव्यमिति तदपि विशिष्टेष्टसाधनस्वीकारात्परिहृतमित्याह—**न चेत्यादिना** ।

होता है, वैसा ही इष्टसाधनता के ज्ञान को प्रवृत्ति के हेतुत्व माना जाता है, तो व्यभिचार कैसे हो सकता है ॥ १७ ॥

जो कार्य ज्ञान को प्रवृत्ति का हेतु मानते है, वह भी इष्टसाधनता के ज्ञान को कार्यज्ञान के प्रति हेतु मानते है, क्योकि इष्टसाधनता ज्ञान के अभाव रहते, कार्य (कर्तव्य) बुद्धि की उपपत्ति (सिद्धि) नही होती है। अत उस कार्यबोध स्थान मे भी इष्टसाधनता मात्र का भूतादि मे व्यभिचार से (प्रवृत्ति हेतुत्व के अभाव से) कृतियोग्य (वर्तमान) इष्टसाधनता ज्ञान को ही कार्यता ज्ञान का हेतु मानना होगा । फिर ऐसा होने पर, कृतियोग्य (यत्नयोग्य) इष्टसाधनता ज्ञान को ही प्रवृत्ति हेतुत्व सिद्ध होने पर, अन्तर्गड्डु (गलगण्ड तुल्य निरर्थक) कार्यज्ञान का क्या फल हो सकता है। ऐसा इष्टसाधनता का ज्ञान ही कार्यता ज्ञान है, अत अन्तर्गड्डु तुल्य नही है, यह नही कह सकते है, क्योकि उस इष्टसाधनता ज्ञान को आपने कार्यता ज्ञान के प्रति हेतु माना है और (ममेद कर्तव्यम्) मेरा यह कर्तव्य है, इस प्रकार की चिकीर्षा (कर्तव्येच्छा) को छोडकर (इसके बिना) कार्य नामक कोई वस्तु उपलब्ध नही होती है। यदि कहे कि, कार्यज्ञान के बिना अनुत्पद्यमान (असिद्ध) होती हुई चिकीर्षा ही कार्य बुद्धि की

तावबोधादेव चिकीर्षाया अप्युपपत्ते ।

न च कृतिसाध्य प्रधानमिति कार्यलक्षण युक्तम्, फलेऽतिव्यापप्ते । अथ साक्षात्कृतिसाध्यत्व विवक्षित न च तत्फलेऽस्तीति मतम्, मैवम् । नियोगे तदभावेनाव्याप्ते, भावार्थस्यैव साक्षात्कृतिसाध्यत्वात् । अथ साध्यैकस्वभावत्वम् न, प्रागभाववत्सु व्यभिचारात् । न च सदा साध्यैकस्वभावत्वम्, यागाद्यनुष्ठानोत्तरकालमपि तस्य साध्यैकस्वभावत्वे कदा-

तदेव कार्यस्याप्रवर्तकत्व प्रमाणाभाव चोक्त्वा तल्लक्षणमुक्त दूषयति—**न च कृतीति**। फलमपि हि कृतिसाध्य कृत्युद्देश्यतया प्रधान चातस्तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थ । नन्वव्यवधानेन कृतिसाध्यत्व विवक्षितम्, नच तत्फलेऽस्ति नियोगव्यवधानात्तस्येति शङ्कते—**अथेति**। तर्ह्यसिद्धिर्धात्वर्थस्यैव साक्षात्कृतिलक्षणप्रयत्नसाध्यत्वात् नियोगस्य तद्व्यवधानादिति दूषयति—**मैवमिति**। किमिद साध्यैकस्वभावत्वम्? कि साधनार्हत्वाधिकरणत्वम्? किंवा सिद्धत्वानधिकरणत्वम्? आद्ये प्रागभाववत्सूत्पत्तियोग्येष्वतिव्याप्तिरित्याह—**प्रागभावेति**। द्वितीय दूषयति—**न च सदेति**।

कल्पना कराती है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि कृतियोग्य इष्टसाधनता के ज्ञान से ही चिकीर्षा की सिद्धि (उत्पत्ति) होती है, उसकी उत्पत्ति मे कार्य ज्ञान की अपेक्षा नही होती है (उक्त रीति से कार्य के प्रवर्तत्व और प्रमाण के अभाव का वर्णन हुआ, लक्षण का भी अभाव कहा जाता है कि—

कृति से साध्यप्रधान कृति का उद्देश्य कार्य होता है। यह लक्षण जो कहा गया था, वह कार्य का लक्षण युक्त नही है। क्योकि इस लक्षण की फल स्वर्गादि मे अतिव्याप्ति है, क्योकि फल ही कृति का उद्देश्य रहता है। यदि कहे कि कृति से साक्षात् साध्यत्व कार्य का लक्षण विवक्षित है, अत फल मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि कृति से अपूर्व द्वारा फल की सिद्धि होती है, साक्षात् नही, तो ऐसा कहना भी नही बन सकता है, क्योकि नियोग नामक कार्य मे उस कृतिसाक्षात् साध्यत्व के अभाव से उसमे लक्षण की अव्याप्ति होगी, धात्वर्थ रूप भावार्थ को ही साक्षात्कृति साध्यता से, उसमे लक्षण की प्राप्ति होगी। यदि कहे कि साध्यैक स्वभावता कृतिसाध्यत्व का अर्थ है, और धात्वर्थ साध्य और सिद्ध दोनो स्वभाव वाले होते है, अत उनमे अतिव्याप्ति नही होगी, तो वह कहना भी युक्त नही, क्योकि प्रागभाव वाले सब वस्तु साध्यैकस्वभाव वाली होती है, उनमे लक्षण का व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होगा। यदि कहे कि सदा साध्यैकस्वभावत्व विवक्षित है, अत प्रागभाव वाले मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि प्रागभाव काल मे उनमे साध्यत्व रहता है, बाद मे नहीं, तो यह कहना भी नही बन सकता है। क्योकि यागादि के अनुष्ठान के उत्तर काल मे भी नियोग के सदा साध्यैकस्वभाव

चिदपि नियोगासिद्धौ स्वर्गासिद्धिप्रसङ्गात् । अस्तु वा यत्किञ्चिदविचारितरमणीय लोके कार्यम्, तथापि कथ वैदिकलिडादिशब्दादलौकिकनियोगस्य प्रतिपत्ति ? मानान्तरानधिगते तस्मिँल्लिडादे सङ्गतिग्रहणायोगात् । अधिगमे वा "अतो मानान्तरापूर्वमपूर्वमिति गीयते', इति कपोलकल्पितापूर्वत्वभङ्गप्रसङ्ग । न च कार्यमात्रेऽवसितसङ्गतिका लिडादय शब्दा नियोज्याभिधायिस्वर्गकामादिपदसमभिव्याहारसामर्थ्यात्क्रियातिरिक्तमेव कार्यमवगमयति, आशुतरविनाशिन्या क्रियाया कालान्तरभाविस्वर्गादि-

---

एवलक्षणके नियोगे तत्सिद्ध्यर्थं प्रवृत्तिरेवानुपपन्ना व्याघातात्, फलसिद्धि पूर्वोक्तयोग्यताविरहश्च । तथाच स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्येत्यादिशालिकया केवल विलपितमेव स्यादित्यर्थ । एव कार्यमात्रस्य लक्षणानि दूषयित्वा तद्विशेष नियोग दूषयति—**अस्तु वेति**। तादृशो नियोग किं प्रमाणान्तरेण न गृहीत ? किंवा गृहीत ? उभयथापि दूषणमाह—**मानान्तरेत्यादिना**। ननु नात्यन्तमलौकिकत्वमस्य यावता कार्यताकारेण लोकप्रसिद्धस्यैव सतो विशेषमात्रनिर्णयो वाक्यविशेषविमर्शाद्भवति । यथाहु --

'व्युत्पत्तिरपि कार्येऽर्थे व्यवहारानुसारिणी ।
किंतु निर्धारणामात्र वेदवाक्यविमर्शजम् ॥' इति ॥

(प्र प पृ १९२)

तदेतत्पूर्वपक्षावसरोक्तमनूद्य दूषयति—**न चेत्यादिना**। न च युक्तमित्युक्तम्, तत्र

रहने पर, कभी नियोग सिद्ध ही नही होगा, और नियोग की असिद्धि से नियोग जन्य स्वर्गादि की असिद्धि प्राप्त होगी । अत ऐसे नियोग के लिये प्रवृत्ति आदि की अनुपपत्ति से इसकी कथा प्रलाप मात्र है। अथवा अविचारित रमणीय (अविचारित सुन्दरता वाला) यत्किञ्चित् कार्य लोक मे हो और उसका ज्ञान भी लोक म हो । तथापि वैदिक लिडादि शब्द से अलौकिक नियोग का ज्ञान कैसे होता है अर्थात् नही हो सकता है, क्योकि प्रमाणान्तर से अज्ञात उस नियोग मे लिडादि की शक्ति का ज्ञान होना अयुक्त (असम्भव) है। यदि शक्तिग्रह के लिय मानान्तर से उसका अधिगम (ज्ञान) मानें, तो (अतो मानान्तरापूवमपूर्वमिति गीयते) इस वेद से अन्य मानान्तर से प्रथम अगृहीत होने से मानान्तर के अविषय (अपूर्व) को अपूर्व कहा जाता है, यह स्वकपोल (मुख) से कल्पित अपूर्वत्व का अभाव प्राप्त होगा । यदि कहे कि सामान्य लौकिक कार्य मात्र मे निश्चित सङ्गति (शक्ति सम्बन्ध) वाले लिडादि शब्द यद्यपि रहते हैं, तथापि नियोज्यवाचक स्वर्ग कामादि पद के साथ पाठ के सामर्थ्य से क्रिया से अतिरिक्त ही के बोधक होते है, क्योकि अतिशीघ्र विनश्वर क्रिया यागादि को कालान्तर

साधनतानुपपत्तेरिति युक्त वक्तुम्। अनुपपत्तिवेद्यत्वे मानान्तरगोचरत्व-प्रसङ्गात्।

ननु नेयमर्थापत्ति, तर्क एवायमुपन्यस्त, तेन तर्काधिगते नियोगे सङ्गतिग्रह सङ्गच्छते, तर्कस्यामानत्वात्। प्रमाणानुग्राहकस्तर्को नतु प्रमाण-मिति हि परीक्षका इति चेत्, मैवम्, तर्कगोचरत्वेऽपि प्रमाणान्तरगोचर-त्वस्यापरिहार्यत्वात्। तथाहि—प्रमाणान्तराधिगतव्याप्यव्यापकभावयोरे-काभ्युपगमेन द्वितीयस्य नियतप्रसञ्जनरूपस्तर्क। यथा यद्यय वह्निमान्न

हेतुमाह—**अनुपपत्तीति**। अर्थापत्ति खल्वनुपपत्ति। तथाच मानान्तरगम्यत्वाद-पूर्वत्वनिवारणमित्यर्थ।

पूर्वत्रादिहृदय शङ्कते—**नन्विति**। अपूर्वत्व निर्वाहयति—**तर्कस्येति**। यद्यपि तर्क स्वय न प्रमाण तथापि तद्विषय प्रमाणविषय एव, तथा चोक्तदोषानुपङ्ग इत्याह—**मैवमिति**। तदेव दर्शयितु तर्कस्वरूपमाह—**तथाहीति**। **एकाभ्युपगमे-नेति**। व्याप्याहार्यारोपेणेत्यर्थ। अनेन चानुमानेऽतिव्याप्ति परिहृता। नियप्रसञ्जन तर्क इत्युक्ते यद्यनित्य स्यान्मूर्त स्यादित्यादिप्रसङ्गभासेऽतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाणान्तरे-

---

भावि स्वर्गादि की साधनता की अनुपपत्ति है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि उक्तरीति से यागादि मे स्वर्गसाधनता की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से अपूर्व की कल्पना करने पर, अनुपपत्ति रूप मानान्तर से वेद्य होने के कारण मानान्तरगोचरत्व की प्राप्ति होगी कि जिससे अपूर्वता का अभाव होगा।

यदि शङ्का हो कि स्वर्गसाधनता की असिद्धि से अपूर्व की कल्पना, यह अर्थापत्ति रूप नही है। किन्तु तर्क (ऊहा) स्वरूप है, उसीका यह उपन्यास (कथन) किया गया है। तेन हेतुना (उस कारण), तर्क से ज्ञात नियोग मे लिङादि की शक्ति का ज्ञान होता है। और तर्क के प्रमाण नही होने पर तर्क से अधिगत मे भी मानान्तरानधिगतता से अपूर्वता रहती है, क्योकि प्रमाणो का अनुग्राहक (सहायक) तर्क होता है। प्रमाणस्वरूप नही, इस प्रकार परीक्षक (विवेकी) कहते है। तो ऐसी शका युक्त नही। क्योकि नियोग के तर्कविषय होने पर भी प्रमाणान्तर गोचरत्व अपरिहार्य (अनिवार्य) है। वह इस प्रकार से है कि प्रमाणान्तर से जिनके व्याप्य-व्यापकभाव गृहीत हुए है, उनमे से एक के स्वीकार द्वारा दूसरे के अवश्य प्रसज्जन (प्रापन) को तर्क कहा जाता है। (यदि गृहे धूम स्यात्, तर्हि अग्निरपि स्यात्) यदि घर मे धूम होगा, तो अग्नि भी होगी ही, यदि पर्वत मे अग्नि का अभाव होता, तो धूम का भी अभाव होता, इत्यादि व्याप्यारोप से व्यापकारोप रूप तर्क होता है, तो जैसे यदि यह अग्निवाला नही होता तो धूम वाला भी नही होता, यह तर्क होता है। इसी

स्याद्धूमवानपि न स्यादिति । तथा च यद्यय लिङादि क्रियातिरिक्तकार्याभिधायी न भवेत्तदा न स्वर्गकामपदेन समभिव्याह्रियेत, समभिव्याह्रियते चायम्, तस्मात्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायक इति प्रसङ्गरूपेऽपि तर्के द्वयोरापाद्यापादकभावयोस्तदभागयोश्च धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोस्तदभावयोरिव मानान्तरगोचरता कथ न स्यात्? न चापाद्यापादकभावोऽपि, क्रियातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वेन तदभावस्याप्रसिद्धत्वात् । अप्रमाणभूतश्च तर्क ।

त्याद्युक्तम् । नियतपद तु व्यर्थमेव । उदाहरन्ति—**यथेति** । प्रकृतस्थलेऽप्यापाद्यापादके विवेचयन्ति—**तथा चेति** । अस्य च विपर्यये पर्यवमान दर्शयति—**समभिव्याह्रियते चायमिति । कथं न स्यादिति** । इतरथा मूलशैथिल्यादिति भाव । अभ्युपगम्यापाद्यापादकभाव प्रमाणान्तरगोचरत्वप्रसक्तिरुक्ता स एव नास्ति अप्रसिद्धविशेषणत्वादित्याह—**न चेति** । अत्र हि क्रियातिरिक्तकार्यानभिधायकत्वमापादक स्वर्गकामपदासमभिव्याहारश्चापाद्य, तत्रातिरिक्तकार्यस्याप्रसिद्धत्वादेव तदनभिधानमप्रसिद्धमवत्यर्थ । एव तर्कगोचरत्वेऽपि प्रमाणान्तरगम्यत्वमापादितमिदानीमप्रमाणरूपत्वमपि त्वन्मते तर्कस्य न शक्यसमर्थनम्, स्मृतिव्यतिरिक्ताप्रमाणज्ञानस्य भवताऽनङ्गीकारात् । स्मृतेश्चाननुभूतचरतयाऽनुपचितसंस्कारेऽनुपपत्तेरित्याह—**अप्रमाणभूतेत्यादिना** । ननु वयमेतल्लक्षण न कक्षीकुर्म यत्संस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृतिरिति येनाननुभूते संस्काराभावात्स्मृत्यनुपपत्ति स्यात्कि तु सापेक्ष ज्ञानमिति शङ्कते—

प्रकार प्रकृत मे, यदि यह लिङादि क्रियातिरिक्त नियोगार्थवाचक नही हो, तो स्वर्गकाम पद के साथ उच्चारित नही हो, किन्तु यह लिङादि स्वर्गकाम पद के साथ पढा जाता है, अत यह क्रियातिरिक्त अर्थ का वाचक है। इस प्रकार प्रसङ्ग (कल्पना) रूप भी तर्क के रहते भी आपाद्य (अतिरिक्त अर्थवाचकत्व) और आपादक (स्वर्गकाम पद के साथ पाठ) को, तथा उनके अभावो को धूमवत्व, अग्निमत्व और उनके अभावो के समान मानान्तर विषयता कैसे नही होगी, अवश्य होगी। और आपाद्य आपादक (कार्यकारण) भाव मान कर नियोग मे प्रमाणान्तर गोचरता कही गई है। वस्तुत उक्त आपाद्य-आपादक भाव भी नही है, क्योकि क्रिया से भिन्न कार्य (नियोग) के अप्रसिद्ध होने से उसके अभाव को भी अप्रसिद्धता ही है, यहाँ क्रियातिरिक्तकार्यानभिधायकत्व आपादक है, और स्वर्ग कामपदाऽसमभिहार आपाद्य है, वहाँ अतिरिक्त कार्य की अप्रसिद्धि से उसका अनभिधान भी अप्रसिद्ध है, प्रतियोगी की प्रसिद्धि से अभाव की प्रसिद्धि होती है, अन्यथा नही।

तर्क विषय होने पर, प्रमाणविषयत्व भी कहा गया है, अब तेरे मत मे

स्मृत्यनुभवभेदेन ज्ञानद्वैराश्यवादिना स्मृतावन्तर्भवतीति वाच्यम् । न चात्रा-ननुभूते नियोगे स्मृति सभवति, सस्कारजन्याया स्मृतेस्तदभावेऽभावात् । ननु पूर्वानुभवजन्यसस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मृतिरिति न ब्रूम, किंतु सापेक्ष ज्ञानम् । अस्ति चात्र प्रमाणानुग्राहकतया तर्कस्य तदपेक्षा, ततो नोक्तदोष. इति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किमुत्पत्तौ सापेक्षत्वम्? उत विषयावबोधे? नाद्य, प्रमाणज्ञानानामपीन्द्रियलिङ्गादिसापेक्षतया स्मृतित्वप्रसङ्गात् । न द्वितीय, विषयावबोधेऽपि सापेक्षत्वे स्मृते प्रदीप-

---

नन्विति । प्रकृतनतर्के च लक्षण- वर्तयते—**अस्ति चात्रेति ।** यदिदमस्य सापेक्षत्व तत्क्व? स्वोत्पत्तौ? उक्तविषयाववोधे? आद्येऽपि यत्किंचिदपेक्षा? उत ज्ञानापेक्षा? आद्ये आह—**नाद्य इति ।** एनेन द्वितीयोऽपि निरस्त । लिङ्गज्ञानसापेक्षस्याप्यनु-मानस्यास्मृतित्वात । द्विनीय निरस्यति—**विषयेति ।** विषयावबोधे विषयव्यवहार-जनने, कारणेन कार्यलक्षणात नत्र मापेक्षत्वे प्रदीपवज्ज्ञानत्व न स्यादित्यर्थ ।

अप्रमाणरूपत्व भी तर्क को नही हो सकता, क्योकि स्मृति से अतिरिक्त ज्ञान को आप अप्रमाण नही मानते हे और अननुभूत की स्मृति हो नही सकती है । अत कहा जाता है कि, यदि अप्रमाण रूप तर्क हे, तो स्मृति अनुभव रूप दो प्रकार के ज्ञानवादी को स्मृति के अन्तर्गत तर्क है, ऐसा कहना होगा, परन्तु अननुभूत नियोग की स्मृति का सम्भव नही है, क्योकि सस्कारजन्य स्मृति के होने मे अनुभवजन्य सस्कार के अभाव रहते स्मृति का भी अभाव रहता है । यदि कहे कि पूर्व अनुभवजन्य जो सस्कार उस सस्कार मात्रजन्य ज्ञान स्मृति होती है, ऐसा स्मृति का लक्षण हम नही कहते है, किन्तु सापेक्ष ज्ञान स्मृति, ऐसा लक्षण मानते है । और तर्क मे भी प्रमाणानुग्राहकता होने से इस तर्क को प्रमाण की अपेक्षा रहती है, अत इसको स्मरण रूप होने से प्रमाणता के अभाव के कारण तर्क विषय नियोग मे प्रमाणान्तर विषयत्व रूप उक्त दोष की प्राप्ति नही हो सकती है । तो ऐसा कहना नही बन सकता है, क्योकि तर्क के प्रमाणापेक्षत्व विकल्पाऽसह है । अर्थात् विचार से सिद्ध होने वाला नही है । विचार यह है कि, तर्क अपनी उत्पत्ति मे प्रमाण की अपेक्षा करने से स्मृति कहाता है, या अपने विषय के बोध मे प्रमाण की अपेक्षा करता है । वहाँ प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि यदि उत्पत्ति मे सापेक्ष होने से तर्क स्मृति हो, तो प्रमाण ज्ञानो को भी इन्द्रिय लिङ्गादि सापेक्षता से स्मृतित्व की प्राप्ति होगी । दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि यदि स्वविषयावबोध प्रकाशो मे (विषयत्व व्यवहार मे) भी यदि स्मृति रूप तर्कसापेक्ष होगा, तो वह ज्ञान ही नही कहा जायगा, सापेक्षाव बोधक प्रदीप के समान, उसमे ज्ञानत्वाऽभाव प्राप्त होगा । यदि स्मृति को ज्ञान

वज्ज्ञानत्वाभावप्रसङ्गात्, अपसिद्धान्तापत्तिश्च ।

"प्रमाणमनुभूति सा स्मृतेरन्या स्मृति पुन ॥
पूर्वविज्ञानसस्कारमात्रज ज्ञानमुच्यते ॥"

(प्र प अमृ १)

इति शालिकनाथवचनविरोधात् ।

न चार्थापत्तिगम्यत्वमपि, कृतेर्भावार्थजननद्वाराऽपूर्वसाधनत्ववत्क्रि-

---

प्रमाणमनुभूतिरिति । प्रमाणनामान्यलक्षणम् । अनुभूतेर्लक्षणमाह—**सा स्मृतेरन्येति ।** स्मृतिव्यतिरिक्तम् ज्ञानमित्यर्थ, तेन च स्मृते प्रामाण्य निवारितम् । स्मृतेरपि लक्षणमाह—**स्मृति पुनरित्यादिना ।** अनुमानप्रत्यभिज्ञादिव्यावृत्त्यर्थ मात्रग्रहणमिति प्रकरणपञ्चिकाप्रमाणपारायणश्लोकार्थ ।

एवमनुपपत्तिमङ्गीकृत्यापूर्वत्वक्षतिरापादिता । इदानीमनुपपत्तिरेव नास्त्यन्यथैवोपपत्तेरित्येतत्प्रतिबन्दीपूर्वकमाह—**न चार्थापत्तीति ।** यथा हि यजेतेत्यत्र कृतिसाध्यनियोगाभिधायिना लिडा कृतिनियोगयो प्रतीतेरुभयोश्चैकपदत्वेन साध्यसाधनभावप्रतीतौ भावार्थविषयकत्वेन तज्जनकत्वनियमात्कृतेर्नियोगस्य चाभावार्थत्वात् प्रकृत्यभिधेयभावार्थमुत्पाद्य तद्द्वारा नियोगसाधनता कृतेर्भवद्भिरङ्गीक्रियते तथा क्रियाया एव क्षणिकाया अप्यपूर्वान्तरव्यापाराया फलसाधनत्वोपपत्तौ न स्वतन्त्रनियोगव्यतिरेकेण काचनानुपपत्तिरित्यर्थ । यत्पुनरत्र कैश्चिदुक्तम्–अपूर्वकल्पनायामपि साधनसाधनतैव यागस्य न तु साक्षात्साधनता यागस्येति तत्कल्पनायामपि तदवस्थैवानुपपत्तिरिति, तन्न, व्यापारतयैव कल्पना तेन चाव्यवधानात् । यदि च तत्कल्पनामात्राद्व्यवधान तर्ह्यवगूरणादावपि स्यादिति प्रतिबन्दी गृह्णाति—

स्वरूप नही माने, तो अपसिद्धान्त (सिद्धान्त का त्याग) भी प्राप्त होगा । क्योकि—

अनुभूति = अनुभव रूप ज्ञान, प्रमाण होता है, वह स्मृति से अन्य होता है । और पूर्व ज्ञान के सस्कार मात्र से जन्य ज्ञान को स्मृति कहा जाता है ।

इस शालिक नाथ के वचन से (सिद्धान्त से) विरोध होता है । इस मत मे भ्रमरूप अनुभव नही माना जाता है, अत स्मृतिभिन्न सब ज्ञान प्रमाण माना जाता है । और स्मृति को भी ज्ञान माना जाता है ।

प्रथम अनुपपत्ति को मानकर, अपूर्वत्व का अभाव कहा गया है, अब अनुपपत्ति का भी अभाव कहा जाता है कि, अर्थापत्ति से गम्यत्व भी नियोग को नही हो सकता है । क्योकि कार्यनामक नियोग के बिना स्वर्गादि फल की अनुपपत्ति नही है, आप (प्रभाकर) के मत मे जैसे कृति (यत्न) को धात्वर्थ रूप भावार्थ के जनन (उत्पादन) द्वारा अपूर्व (कार्य) साधनत्व माना जाता है । वैसे धात्वर्थ

याया एवापूर्वावान्तरव्यापाराया स्वर्गसाधनत्वोपपत्ते । अपि च 'यो ब्राह्मणायावगुरेत्त शतेन यातया'दित्यत्रावगूरणकर्मण क्षणिकस्यापि दुरितापूर्वजननद्वारा कालान्तर्भावि शतयातनाफलसाधनत्ववत्क्षणिकाया अपि यागक्रियाया अपूर्वजननद्वारा स्वर्गसाधनता किं न स्यात् ? नन्ववगूरणे दुरितापूर्वकल्पना कामाधिकारे क्रियातिरिक्तनियोगसिद्ध्युत्तरकालीना । तथाहि—तत्राशुतरविनाशिन्या क्रियाया कालान्तरभाविफलसाधनत्वासामर्थ्यात्तदतिरिक्तापूर्वस्य फलसाधनत्वे स्थिते पश्चादवगूरणेऽपि कालान्त-

---

अपि चेति । य पुरुषो ब्राह्मणायावगुरेच्छस्त्रमुद्यमेत्, उद्यतायुध तदेवावगूरण शतेन यातयात् । इत्थभावे तृतीया । यावत्परत्रानेन दु खमुत्पाद्यते तत, शतगुणयातनामनुभावयेत् । अथवा शतेन सवत्सरेण यातयात् । तावत सवत्सरान् पितृलोक न प्रजानातीति वाक्यशेषात् । अत्र हि कालान्तरभाविशतयातनादे न क्षणिकावगूरणादि साधनमिति किंचिद्दुरितापूर्वं कल्पनीयमिति । न च तदपि श्रौतम्, दु खफलतया अकार्यत्वेनाशक्यार्थत्वात् । यत्त्ववगूरणे तादृशापूर्वकल्पनमेव काम्येषु वाक्येषु स्वतन्त्रनियोग गमयति तमन्तरेण तदनुपपत्तेरिति नयविवेककारेणोक्त तदुद्भावयति—**नन्विति** । तत्सिद्ध्युत्तरकालतामेव दर्शयति—**तथाहीत्यादिना** । अदृष्टचरस्य कल्पनानुपपत्ते कामाधिकारसिद्धो नियोगोऽत्र कल्प्यत इत्यर्थ । अन्यत्र सिद्धावेव

रूप क्रिया को ही अपूर्व रूप अवान्तर (मध्यवर्ती) व्यापार द्वारा स्वर्गसाधनत्व हो सकता है, अत स्वतन्त्र अपूर्व (नियौग) के बिना कोई अनुपपत्ति नही है । अर्थात् क्षणिक क्रिया के व्यापार रूप अदृष्ट के होने से अदृष्ट द्वारा क्रिया फल का जनक होती है, अत स्वतन्त्र अदृष्ट के बिना अनुपपत्ति नही है । अत एव (यो ब्राह्मणायाऽवग्रस्त शतेन यातयेत्) जो ब्राह्मण को मारने के लिये शस्त्र उठाता है, उसको वह कर्म सौ गुना दण्ड देता है, या सौ वर्ष तक यमयातना भोगाता है । यहाँ जैसे क्षणिक भी अवगुरण कर्म को पापरूप अपूर्व की उत्पत्ति के द्वारा कालान्तरभावी शत यातना रूप फल के साधनत्व होता है, वैसे ही क्षणिक भी याग रूप कर्म को अपूर्व द्वारा कालान्तरभावी स्वर्गसाधनत्व क्यो न होगा । यहाँ शका होती है कि अवगुरण मे पापरूप अपूर्व की कल्पना, काम्य यागादि प्रकरण मे क्रिया से अतिरिक्त नियोग की सिद्धि के बाद ही हो सकती है । क्योकि काम्य प्रकरण मे शीघ्र विनाशी क्रिया मे कालान्तरभावी फलसाधन सामर्थ्य के अभाव से उससे भिन्न फलसाधन अपूर्व के स्थित (निश्चित) होने पर, फिर अवगुरण के भी कालान्तरभावी शत यातनारूप फल भी दुरित (पाप) रूप अपूर्व द्वारा ही कल्पित होता है, तो अवगुण दृष्टान्त से नियोग की असिद्धि कैसे होगी उस नियोग की सिद्धि के उत्तरकालिकत्व, उस उत्तरकालिक अवगुरणदृष्ट कल्पना मे है । पूर्व

रभाविशतयातनाफलमपि दुरितापूर्वद्वारैवेति कल्प्यते, तथा सति कथं नियोगासिद्धि ? तत्सिद्ध्युत्तरकालीनत्वादुत्तरकल्पनाया इति चेत्, मैवम्, कृतिसाध्ये नियोगे प्रतीते कृतेर्भावार्थैकविषयत्वात, नियोगस्य चाभावार्थ-रूपत्वात्साक्षात्कृतिसाध्यत्वासंभवात्, भावार्थं साधयन्ती कृतिर्नियोगं साधयतीति यथा कल्प्यते। अत एव चाघटितसंघटकतया भावार्थोऽपि विषयं करणं न नियोगं प्रतीति गीयते। यथाहु —

"कृतितत्साध्यमध्यस्थो यागादिर्विषयो मत ।
कार्ये संघटिताकारे करणत्वेन संमत ॥" इति ॥

तथा लोकावगतसामर्थ्यैर्लिङादिशब्दैरधिगतफलसाधनभावाया क्रियाया

हेतु —**तत्सिद्धीति**। सत्यमन्यत्र दृष्ट कल्प्यते तत्तु तत्रावान्तरव्यापारत्वेनैव दृष्ट न तु स्वतन्त्रत्वेनेत्यभिप्रेत्य परिहरति — **मैवमित्यादिना**। अयं च कृतेर्भावार्थजनन-द्वारेत्यस्य प्रपञ्चोऽपि। अत्र च यागादिधात्वर्थस्य नियोगं प्रति विषयत्वाङ्गीकरणं करणत्वाङ्गीकरणं च गमकमित्याह —**अत एव चेति**।

एतदेव भवनाथवचनेन द्रढयति—**कृतीति**। कृति प्रयत्न तत्साध्यो नियोगस्त-योर्मध्यस्थो यागदानहोमादिधात्वर्थो विषयो मत । षिञो बन्धनकर्मणो विषयशब्द-व्युत्पत्ते । कृति नियोगादौ घटयतो धात्वर्थस्य युज्यते विषयत्वं तथा कार्येऽसंघटिता-कारे स एव च विषय तस्मिन्नेव करणत्वेन च संमत इति श्लोकयोजना। एतदुक्तं भवति—प्रतिपत्त्युपाधौ विषत्वं सिद्ध्युपाधौ करणत्वमित्यस्ति तयोर्भेद इति। दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह —**तथा लोकावगतेत्यादिना**। गवानयनादिक्रियैव

सिद्ध के अनुसार पश्चाद्भावी हो सकता है, पश्चाद्भावी के अनुसार पूर्ववृत्ति नही होती है। यह शका युक्त नही, क्योकि, कृति (यत्न) साध्य नियोग के प्रतीत होने पर, कृति के भावार्थ (धात्वर्थ) विषयक होने से, और नियोग के अभावार्थत्व (अधात्वर्थत्व) से नियोग मे साक्षात्कृतिसाध्यत्व के असम्भव से जैसे कल्पना की जाती है कि धात्वर्थ को सिद्ध करती हुई कृति नियोग को सिद्ध (उत्पन्न) करती है। अत एव (धात्वर्थ मे कृतिविषयता होने से) अघटित (यत्न के साथ असम्बद्ध नियोग) के संघटक होने से भावार्थ भी विषय और करण नियोग जनन के प्रति कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है--

कृति और कृति से साध्य नियोग के मध्य मे स्थिर यागादि कृति का विषय माना गया है, कृति से असंघटित आकार वाले कार्य मे करण रूप से यागादि माना गया है।

इसी प्रकार लोक से अवगत (ज्ञात) सामर्थ्य वाले लिङादि शब्दो द्वारा

नियोगमन्तरेणापि स्वजन्यापूर्वावान्तरव्यापारद्वारा फलसाधनत्वसभवे तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एवावगूरणेऽपि दुरितापूर्वकल्पनाया सभाविन्यामलोकवेदसिद्धनियोगकल्पनानुपपत्ते । इतरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वभङ्गोऽपरिक्लृप्तनियोगवाचकत्वकल्पना, अपूर्वस्य फलसाधनत्वकल्पना, यागस्य च फलनियोगयो करणत्वकल्पना चेति गौरव प्रसज्येत ।

कि च यथा तवाग्नेयादीनामुत्पत्त्यपूर्वावान्तरव्यापाराणा परमापूर्वसाधनभावस्तथास्मन्मतेऽप्यपूर्वावान्तरव्यापाराया एव क्रियाया ईश्वरप्रसा-

---

नावत्फलसाधनत्वेनाधिगता लिङादिशब्दै, तद्यदि क्षणिकत्वादनुपपन्न तर्ह्यवान्तरव्यापारवत्यास्तस्या एव साधनत्वमास्थेयम् । एव दृष्टमनुगृहीत भवति, इतरथा हि दृष्टहानिरदृष्टकल्पना प्रसज्येयाताम् । अत एव तद्दृष्टान्तेनावगूरणेऽपि तत्कल्पनासिद्धेर्न नियोगेन विनानुपपत्तिरित्यर्थ । युक्त चैतदितरथा क्लृप्तक्रियाकार्यवाचकत्वमात्रेण व्यवहारोपपत्तौ अलौकिकबहुकल्पनाप्रसङ्ग इत्याह—**इतरथेति । अपूर्वस्येति** । अपूर्वस्य फल प्रति साधनत्वकल्पनेत्यर्थ । **यागस्येति** । अपूर्वफलयोरेकैकैव भावना एकमेकमेव करण एकैकैव च भाव्यतेति हि तेषामभ्युपगम । उपलक्षण चैतत्, यागस्य नियोग प्रति विषयत्वकल्पनाया । प्रतिपत्त्यनुबन्धितया तस्य करणत्वादपि प्राथमिकत्वात् ।

एव प्रतिबन्दी समर्थ्याग्नेयादिप्रतिबन्द्यापि क्रियाया एव फलसाधनतामुपपादयति—**किंचेति ।** 'आग्नेयोऽष्टाकपाल, ऐन्द्र दधि, ऐन्द्र पय' इति यागत्रय दर्शत्रय नाम । आग्नेयोऽष्टाकपालो याग, आज्यहविष्कश्चोपाशुयाग, अग्नीषोमीयैकादश-

---

जिन यागादि क्रियाओ मे स्वर्गादि फलसाधनत्व का ज्ञान होता है, वह क्रिया ही स्वतन्त्र नियोग के बिना ही स्वजन्य अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा स्वर्गादि फलो के साधन हो सकती है, इस प्रकार यागादि मे फल साधनत्व के सम्भव होने पर, उसी दृष्टान्त के अवलम्बन से ही उक्त अवगुरण मे भी पाप रूप अपूर्व की कल्पना की सम्भावना होने पर, लोक वेद से असिद्ध नियोग की कल्पना नही हो सकती है। ऐसा नही मानने पर लिडादि के निर्णीत क्रियावाचकत्व का अभाव होगा, अनिर्णीत नियोग वाचकत्व की कल्पना होगी, अपूर्व मे फल के प्रति साधनता की कल्पना होगी। और याग मे फल और नियोग दोनो के करणत्व की कल्पना आदि गौरव प्राप्त होगा।

दूसरी बात यह है कि जैसे आपके मत मे, आग्नेय, ऐन्द्रादि उत्पत्ति विधिजन्य आग्नेयादि कर्म अपने उत्पत्त्यपूर्व रूप अवान्तर व्यापार द्वारा परमापूर्व (फलापूर्व) के साधनता को प्राप्त होते है। इसी प्रकार मेरे मत मे भी अपूर्व रूप अवान्तर व्यापार वाली, या ईश्वर की प्रसन्नता रूप अवान्तर वाली क्रिया

दावान्तरव्यापाराया वा फलसाधनतोपपत्तेर्न नियोगकल्पनावकाश । न चोत्पत्त्यपूर्वाणामेव परमापूर्वसाधनत्वमाग्नेयादीना तु तत्साधनतैवेति युक्त वक्तुम्, प्रमाणाभावात् । तथाहि—किं 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत' इत्यधिकारवाक्येनैषा परमापूर्वसाधनत्वमवगतम् ? उत 'आग्नेयोऽष्टा-

---

कपालयागश्चेति पौर्णमासत्रयम् । एतेषा च परम दर्शपूर्णमासापूर्व प्रति करणत्व 'दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत', इति विधिना बोधितम्, न च क्षणिकानामुदीच्योपकारो घटते इत्यवान्तरव्यापाररूपाणि षडपूर्वाणि कल्प्यन्ते । न च तावनाग्नेयादीना साधनताऽभाव इति भवतामपि सप्रतिपन्न तथात्राप्यस्मन्मते क्रियैवापूर्वावान्तरव्यापारा स्वर्गसाधन नत्वपूर्वम् । अथ ईश्वरप्रसाद एवापूर्वस्थानेऽभिषिच्यता तस्य श्रुतिस्मृतिपुराणगणनिर्णीतत्वादित्यर्थ । यथा चास्मन्मते तत्तद्देवतायागावैवर्थ्यम् 'देवता वा प्रयोजये'दित्यधिकरणाविरोधश्च, तथा 'फलमत उपपत्ते'रित्यत्र वर्णित वाचस्पतिमिश्रै । ननु नाग्नेयादिष्वपूर्वाणामवान्तरव्यापारत्वम् अपितु तान्येव परमापूर्वं प्रतिसाधनम्, आग्नेयादीनि तु तत्साधनानीत्याशङ्क्य दूषयति—**न चोत्प त्तीत्यादीना ।** अधिकारवाक्य फलसबन्धबोधक वाक्य नियोज्यसमर्पक वा, उत्पत्तिवाक्य कर्मस्वरूपबोधकम् । आद्येऽपि पक्षे दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यनेन वा यजेतेत्यनेन वा । प्रथमे प्राह—**दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्येति ।** आग्नेयादिकर्मसमुच्चयवाचक-

---

(यागादि) स्वर्गादि फल का साधन हो सकती है । अत नियोग की कल्पना का अवकाश (स्थान) नही है । यदि कहे कि तीन दर्श और तीन पौर्णमास याग होते हैं। जहाँ याग स्वरूपबोधकविधि उत्पत्तिविधि कही जाती है। फलसम्बन्धबोधकविधि अधिकारविधि कही जाती है, वहाँ (दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत स्वर्गकाम) यह अधिकारविधि है । और (आग्नेयोऽष्टाकपाल) इत्यादि उत्पत्तिविधि है । वहाँ आग्नेयादि के अनुष्ठान से जो अपूर्व होता है, उसको उत्पत्त्यपूर्व कहते है । वहाँ तीन दर्शयाग से तीन अपूर्व की उत्पत्तिपूर्वक फिर तीनो से एक समुदायापूर्व की उत्पत्ति मानी जाती है । इसी प्रकार पौर्णमास मे भी मानी जाती है । उन दोनो समुदायाऽपूर्व से परमापूर्व माना जाता है । परन्तु आग्नेयादि यागो को उत्पत्त्यपूर्व द्वारा परमापूर्व के करण मान कर, कहा गया है कि क्रिया ही कारण है, नियोग कल्पना का अवकाश नही, वहाँ यदि कहा जाय कि उत्पत्त्यपूर्वो को ही परमपूर्व के प्रति साक्षात् साधनत्व है, आग्नेयादि के प्रति द्वारत्व (व्यापारत्व) उक्त अपूर्वो को नही है । अत आग्नेयादि को परमापूर्व के साधन उत्पत्त्यपूर्व के साधनत्व ही है । तो यह कहना युक्त नही । क्योकि परमापूर्व की साधनता उत्पत्त्यपूर्व मे है, इस अर्थ मे प्रमाण का अभाव है । क्योकि विचारणीय है कि (दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत), इस अधिकार वाक्यो से

कपाल ' इत्याद्युत्पत्तिवाक्यै ? नाद्य, दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यस्य कर्मसमुदायवाचकत्वात्, यजेतेति च परमापूर्वाभिधानात् । नापि द्वितीय, दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यधिकारवाक्यसनिधिसमाम्नातानामुत्पत्तिवाक्यानामधिकारापूर्वानुवादशङ्काकुण्ठितशक्तीना द्रागित्येवापूर्वान्तरप्रत्ययजनकतानाश्रयणात् । अन्यथाधिकारवाक्यसनिधिपरिपठितसमिदादिवाक्यस्थलिडादिशब्दानामपि स्वतन्त्रकार्याभिधायकत्वे ग्राहकग्रहणभङ्गप्रसङ्ग । प्रयोजनप्रयोजनिभावेनान्विताभिधान ग्राहकग्रहणमित्यभ्युपगमात्, स्वतन्त्राणा च

त्वादुत्पत्त्यपूर्वाभिधायकत्वादित्यर्थ । द्वितीय निषेधति—**यजेतेति चेति**। भावार्थविशिष्टपरमापूर्वाभिधायकत्वादित्यर्थ । उत्पत्तिवाक्यैरिति पक्ष दूषयति—**नापीति**। एष हि तेषामभ्युगम—आग्नेयादिवाक्यैरपूर्वान्तराणि नाभिधीयन्ते, प्रधानापूर्वसनिधिपठिततया तदनुवादाशङ्कया कुण्ठितशक्तित्वात् । केवल कर्मस्वरूपमात्र तत्र शाब्दम् । योग्यतावैधुर्याभावाच्च प्रकरणिनान्विताभिधान कारणान्तरवशाच्चापूर्वाणा कल्प्यत्वमिति सोऽय भज्येतैवमभ्युपगच्छत इत्यर्थ । न केवल मनुवादाशङ्कयानभिधायकमनिष्टप्रसङ्गाच्चेत्याह—**अन्यथेति** । दर्शपूर्णमासाभ्यामित्याद्यधिकारवाक्यप्रकरणपठितसमिदादिवाक्यानामप्याग्नेयादिवाक्यवदपूर्वाभिधायकत्वात् । अपूर्वस्य च कृतिसाध्य प्रधान यदित्युक्तलक्षणवत्तया प्रधानत्वात्प्रधानयोश्चाङ्गाङ्गिभावाभावात्तद्बोधकग्राहकसज्ञकप्रयोगवचनेन परिग्रहो न स्यादित्यर्थ । आपाद्य चेद दूषणम् ।

इन उत्पत्त्यपूर्वों की परमापूर्वसाधनता समझी जाती है, अथवा, आग्नेयोऽष्टाकपाल) इत्यादि उत्पत्ति विधि वाक्यो से समझी जाती है । वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि (दर्शपूर्णमासाभ्याम्) इस पद को कर्मसमुदाय का वाचकत्व है, और (यजेत) इससे परमापूर्व कहा जाता है—उत्पत्त्यपूर्व नही । दूसरा पक्ष भी नही बन सकता हैं । क्योकि (दर्शपूर्णमासाभ्याम) इस अधिकार वाक्य के सन्निधि मे पठित उत्पत्ति वाक्यो की शक्ति अधिकाराऽपूर्व के अनुवादकत्व शङ्का से कुण्ठित रहती है, अत शीघ्र ही अपूर्वान्तर की ज्ञानजनकता का आश्रयण नही कर सकता है । अर्थात् उनसे अपूर्वान्तर का बोध नही हो सकता है, और कर्मस्वरूप के बोधक उत्पत्ति वाक्य को अदृष्टबोधक आप मानते भी नही हैं। अन्यथा = यदि आग्नेयादि वाक्य को स्वतन्त्र अपूर्वान्तर बोधकत्व होगा, तो अधिकार वाक्य के सन्निधि मे पठित समिदादि ('समिधो यजति) इत्यादि वाक्यगत लिडादि को भी स्वतन्त्र कार्य (अपूर्व) वाचकत्व होने पर ग्राहण अङ्गी (प्रधान) से अङ्गो के ग्रहण का भङ्ग (अभाव) प्राप्त होगा, क्योकि सब प्रधान हो जायगे। प्रयोजन प्रयोजनी भाव (अङ्गाङ्गी भाव) अन्वित (सम्बद्ध) के कथन को ग्राहक ग्रहण इस शब्द से कहा और माना जाता है। और स्वतन्त्रो को परस्पर

प्रयोजनप्रयोजनिभावासभवात्। आग्नेयादीनामेव त्वधिकारापूर्वं प्रत्यवगतकरणविषयभावाना क्षणिकत्वेन तदनुपपत्तौ तत्सिद्धचर्थमेवावान्तरव्यापारतयोत्पत्त्यपूर्वाङ्गीकरणात्।

कश्चाय नियोज्यो नाम यदन्वयात्क्रियातिरिक्तनियोगसिद्धि ? स कि

परमापूर्वेण ग्राहकग्रहणस्वरूप दर्शयति—**प्रयोजनेति**। प्रयाजन प्रधान नियाग, प्रयोजनिन तत्प्रकरणपठितसकलपदार्थास्तदन्वितनया प्रधाननियोगस्याभिधान ग्राहकग्रहणमित्यर्थ। कथ तर्ह्याग्नेयादीना क्षणिकाना सेतिकर्तव्यताकाना परमापूर्व-निर्वर्तकत्वमित्यत आह—**आग्नेयादीनामेव त्विति**। अवगताविषयभाव करण-भावश्च येषा ते तथा। **अङ्गीकरणादिति**। यत्रानन्यनिष्ठभावार्थलक्षणविषयताभ-स्तत्राभिधायकत्वकल्पना अन्यत्र केवलकल्पनेत्यर्थ। अत्र भवनाथ प्राह—"न क्षणिका क्रिया व्यवहितस्वर्गं प्रति साधनत्वेनाभिदधाति शब्द। अत कल्पनानुपपत्ते अपूर्वकल्पनात प्रागयोग्यत्वात् आग्नेयादीना त्वपूर्व प्रति योग्यत्वादन्विताभिधानम्" इति, तन्न, नहि क्षणिकत्वाद्व्यवहितत्वमात्राद्वाऽयोग्यत्वम्, तैलपानादावदर्शनात्। निरन्वयविनाशस्तत्राप्यसिद्ध, आग्नेयादेरिव च क्षणिकस्यापि योग्यताऽस्त्यत कारणान्तरमप्रयोजकम्।

एव नियोगस्याशाब्दत्वमुपपाद्य तद्व्यावर्तक नियोज्य दूषयति—**कश्चाय-मिति**। ननु नियोगदूषणसमये नियोज्यदूषणमकाण्डताण्डवमिव नेत्याह—**यदन्वया-**

प्रयोजन प्रयोजनी भाव का असम्भव है। क्योकि सब अपने-अपने अपूर्व के प्रति अङ्ग रूप से अन्विन्वयित होने के कारण निराकाक्ष हो जायगे, अपूर्व प्रधान ही होता है, अत स्वापूर्व से अन्विन्वयित अन्य के साथ अङ्ग रूप से अन्विन्वयित नही होगे। अत परमापूर्व के बोधक वाक्य से प्रयाजादि का अङ्ग रूप से ग्रहण नही होगा। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर इतिकर्तव्यता क्षणिक आग्नेयादि को परमापूर्व के साधकत्व (हेतुत्व) कैसे होगा तो कहा जाता है कि जिन आग्नेयादि के अधिकारापूर्व (प्रधानापूर्व) के कारणत्व और विषयत्व (साधनत्व) ज्ञात है, उन्हे क्षणिक होने से करणत्वादि की अनुपपत्ति होने पर उस करणत्वादि की सिद्धि के लिये ही अवान्तर व्यापार रूप से उत्पत्ति अपूर्व को माना जाता है (स्वतन्त्र रूप से = प्रधान रूप से) नही। उक्त रीति से नियोग की शब्दार्थता निषेध किया गया है। अब उसके व्यावर्तक (भेदक) नियोज्य का खण्डन किया जाता है कि—

जिस नियोज्य के अन्वय (सम्बन्ध) से क्रिया (धात्वर्थ) से अतिरिक्त नियोग की सिद्धि होनी है, वह नियोज्य क्या है ? क्या कार्य (नियोग) के

कार्यं प्रति गुणभूत ? प्रधानभूतो वा ? नाद्य, गुणत्वे कर्तृत्वान्वयान्तर्भावात्। न द्वितीय, प्राधान्येऽधिकार्यन्वयापातात गुणप्रधानभावातिरिक्तप्रकारान्तरासंभवाच्च। कार्यमात्मीयत्वेन योऽवबुध्यते स नियोज्य इति चेत्, तथाभूतावबोधस्यापि गुणप्रधानभावान्तर्भावेणोक्तदूषणापत्ते। क्रियाकार्यं प्रति गुणभूतत्व कर्तृत्व क्रियातिरिक्त प्रति गुणभूतत्वमेव नियोज्यत्व-

---

दिति। **गुणत्व इति।** क्रिया प्रति गुणभूतश्चेतन कर्तैव न तु तदतिरिक्त इत्यर्थ। तेन न समिदादिषु व्यभिचार। इद च निगूढाभिसन्धेर्दूषणम्। **प्राधान्य इति।** क्रिया प्रति प्राधान्य नाम तत्फलभोक्तृत्वमत्र विवक्षित चेतनत्वाविशेषित वा तदेव चाधिकारित्वमित्यर्थ। तेन च व्रीह्यादिव्यावृत्ति। ननु गुणप्रधानभावव्यतिरिक्त एव कश्चित्प्रकारो भवत्विति तत्राह—**गुणप्रधानेति।** स्वतन्त्रयो सबन्धाभावप्रसङ्गादिति भाव। **तथाभूतेति।** आत्मीयत्व नामात्मसबन्धित्वम्। न च निराकाङ्क्षयो सबन्ध इत्यन्तर्भवत्येव गुणप्रधानभावे सोऽपीत्यर्थ। यो निगूढोऽभिसन्धिरुक्तस्तमुद्घाटयितु शङ्कते—**क्रियाकार्यमिति।** द्विविध हि कार्यं क्रियारूप तदतिरिक्तनियोगरूप च। तत्र प्रथम प्रति गुणभूतत्व कर्तृत्वम्, द्वितीय प्रति गुणभूतत्वं नियोज्यत्वमिति गुणभावे समानेऽपि यत्प्रति गुणभावस्तद्वैषम्यादिद वैषम्यमित्यर्थ।

प्रति गुणस्वरूप है या प्रधान स्वरूप है। आद्य (गुणस्वरूप) नही हो सकता है। क्योकि क्रिया के प्रति चेतनात्मा के गुणत्व होने पर वह कर्तृत्वाऽन्वय के अन्तर्गत होगा। क्रिया के प्रति चेतन ही कर्ता रूप से अन्वित हो सकता है, अन्य नही, और वह कर्ता (समिधो यजति) इत्यादि मे तथा लौकिक क्रियाओ मे भी अन्वित रहता है। अत उसके अन्वय से क्रिया से अतिरिक्त नियोग की सिद्धि नही हो सकती है। कार्य के प्रति प्रधान रूप से अन्वय होता है, यह दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि नियोज्य मे प्राधान्य होने पर उसको अधिकारी (कर्मफल भोक्ता चेतन) रूप से अन्वय प्राप्त होगा। और इस सम्बन्ध से भी क्रिया से भिन्न नियोग नही सिद्ध होगा। और गुणप्रधान भाव से अतिरिक्त अन्य प्रकार के सम्बन्ध का असम्भव है। अत स्वतन्त्र नियोज्य और नियोग के सम्बन्ध का अभाव प्राप्त होता है। यदि कहे कि (कार्य को जो आत्मीय = अपना समझता है, सो नियोज्य कहा जाता है) तो कहना भी युक्त नही, क्योकि तथा भूत (आत्मीय) बोध वाले को भी गुणप्रधान भाव वाले के अन्तर्गत होने से उक्त दोष की प्राप्ति होती है। यदि कहे कि क्रिया (धात्वर्थ) रूप कार्यप्रति गुण स्वरूपत्व कर्तृत्व होता है और क्रियातिरिक्त कार्य (नियोग) के प्रति गुणभूतत्व ही नियोज्यत्व है। इस प्रकार से गुणभूतत्व के तुल्य होते भी विषय के

मिति विषयभेदाद् भेद इति चेत् , मैवम् । क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धौ, नियोज्यान्वयसिद्धि, नियोज्यान्वयसिद्ध्यधीना च क्रियातिरिक्तकार्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् ।

न च नियोगस्य कृत्युद्देश्यत्वम् , अपुरुषार्थत्वात् । सुखदु खप्राप्तिपरिहारौ तदुभयसाधन वा पुरुषार्थ । न चैषामन्यतमो नियोग , येन पुरुषार्थतया कृत्युद्देश्य स्यात्, न च स्वर्गादिसाधनतया पुरुषार्थत्वम्, नित्य-

---

दूषयति—**मैवमिति** । विषयनियोज्यनिरूप्य कश्चित्कार्यविशेषे नियोगो नाम, यथाहु —

'कार्यत्वेन नियोज्य य स्वात्मनि प्रेरयन्नसौ ।
नियोग इति मीमासानिष्णातैरभिधीयते ।।'

तथाच नियोज्यनिरूपणान्नियोगनिरूपण सप्रति नियोगेन त निरूपयसीति परस्पराश्रय इत्यर्थ ।

यच्च कृत्युद्देश्यत्व प्राधान्य जेगीयते गुरुमतानुसारिभिस्तदपि दूषयति—**न च नियोगस्येति** । पुरुषार्थत्वप्रयोजक दर्शयन्नपुरुषार्थतामेव विवृणोति—**सुखेति** । ननु किमिति न पुरुषार्थत्व यावता स्वर्गादिसाधनतया सुखसाधनत्वमस्तीत्याशङ्क्य नित्यनियोगे फलरहिते कृत्युद्देश्यता न स्यादित्याह—**न चेत्यादिना** । स्यादेतत्—लोके खल्विय कथा यत्सुखादिचतुष्टयान्यतम स पुरुषार्थ इति, वेदे तु नियोगसिद्धि-

---

भेद से भेद होता है, तो ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योकि क्रिया से अतिरिक्त कार्य (नियोग) की सिद्धि होने पर, उसका नियोज्य के साथ अन्वय की सिद्धि होगी, और नियोज्य के अन्वय के अधीन क्रिया मे अतिरिक्त कार्य की सिद्धि होगी, इस प्रकार से परस्पराश्रय (अन्योन्याश्रय) प्राप्त होगा ।

और जो कहते है कि (कृति का उद्‌देश्य प्रधान नियोग होता है) वह कहना भी युक्त नही । क्योकि कृति के उद्देश्यत्व नियोग को नही हो सकता है । पुरुषार्थ =पुरुष =जीवात्मा, का अर्थ (फल) कृति का उद्देश्य होता है । नियोग को अपुरुषार्थत्व है । सुख और दु ख का परिहार (नाश) पुरुषार्थ होता है, या सुख दु खाभाव का साधन पुरुषार्थ होता है, इनमे से किसी स्वरूप नियोग नही है कि जिससे पुरुषार्थ रूप से कृति का उद्‌देश्य (लक्ष्य) हो सके । अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष को सुख तथा सुखसाधनता रूप से ही पुरुषार्थ कहा जाता है । यदि कहा जाय कि स्वर्गसुखसाधनता रूप से नियोग मे पुरुषार्थत्व है, तो वह भी नही बन सकता है । क्योकि नित्य-नैमित्तिक नियोग मे स्वर्गसाधनता के अभाव से वह कृति का उद्‌देश्य नही होगा, यदि कहे कि उक्त सुख तत्साधनादि लौकिक पुरुषार्थ

नैमित्तिकनियोगयोस्तदभावेन कृत्युद्देश्यतावैधुर्यापातात् । नियोगसिद्धेरेव च पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थक्यप्रसङ्गात् । ननु कामाधिकारे फलकामिनो नियोज्यत्वात्फल प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोग प्रति विषयत्वात् तत्साध्यस्य नियोगस्य फलान्तरसाधनता । नित्ये तु न फलकामिनोऽधिकार, नापि फल प्रति करणीभूतस्यैव यागस्य नियोग प्रति विषयत्वम्, किंतु नियोग प्रत्येव विषयत्व करणत्व च, अन्यथा नित्यकाम्यवैषम्यानुपपत्ते तस्मान्नित्येषु नियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थ इति चेत्, मैवम्, नित्यकाम्यवैषम्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वात् । तथाहि द्वयो फलवत्त्वाविशेषेऽपि

रेव पुरुषार्थ इति तत्राह—**नियोगसिद्धेरेवेति** । शङ्कते—**नन्विति** । अयमर्थ —नियोगसिद्धिस्तु सर्वत्र पुरुषार्थो भवत्येव । न च काम्येषु स्वर्गसाधनत्वाभावप्रसङ्ग, स्वर्गकामिनस्तत्राधिकारित्वात् । स्वर्गकरणस्यैव यागस्य नियोग प्रति विषयत्वाच्च । तेन भवतु नाम तत्र स्वर्गोऽपि फल न तावता नियोगस्यापुरुषार्थता । अतएव च काम्येषु साध्यविवृद्धिरिति वृद्धा । नित्येषु न तादृशोऽधिकारी, नापि तादृशी विषयकरणे, अपित्वकामिनियोग प्रत्येव विषय करण चातो विवृद्धिरहित नियोगमात्र तत्र पुरुषार्थ । अवश्य चैव मन्तव्यम्, इतरथोभयथाप्यतिरिक्तफलकत्वे तदभावे वा नित्यकाम्यविभागानुपपत्तेरिति । तदेतन्नित्यकाम्ययोर्व्यतिरिक्तफलकत्वेऽपि प्रकारान्तरेण वैषम्य दर्शयन्दूषयति—**मैवमित्यादिना** । विश्वजिदादिसंग्रहार्थमाह—

कहे जाते हैं, वैदिक तो नियोग की सिद्धि ही पुरुषार्थ है । तो इस प्रकार से नियोगसिद्धि के पुरुषार्थ स्वरूप होने पर, नियोग की स्वर्गसाधनता का स्वीकार अनर्थक सिद्ध होगा । यदि शका हो कि नियोग की सिद्धि तो सर्वत्र पुरुषार्थ होता ही है, किन्तु कामाधिकार (प्रकरण) मे फलकामी के नियोज्य (अधिकारी) होने से फल के प्रति करण स्वरूप ही याग को नियोग के प्रति विषयत्व से उस याग से साध्य नियोग को फलान्तर की साधनता होती है और नित्य कर्म मे तो फलकामी का अधिकार नही रहता हैं, न फल के प्रति करण स्वरूप ही याग को नियोग के प्रति विषयत्व होता है, किन्तु नियोग के प्रति ही विषयत्व और करणत्व याग को रहता है । अन्यथा यदि काम्य नित्य दोनो सफल हो, या दोनो निष्फल हो, तो नित्य काम्य मे विषमता की अनुपपत्ति होगी । अत नित्य कर्मों मे अन्य फल रहित नियोग की सिद्धि ही पुरुषार्थ है । इस प्रकार की शङ्का युक्त नही है । क्योकि नित्य काम्य कर्मो के तुल्य सफल होते भी विषमता की अन्यथा (अन्य प्रकार से) उपपत्ति होती है । अत दोनो के फलवत्त्व के तुल्य होते भी, जहाँ स्वर्गादि की कामना निमित्त रूप से सुनी जाती है या (विश्वजित्)

यत्र कामना निमित्ततया श्रूयते कल्प्यते वा तत्काम्यम्, यत्र पुनर्नैव यदकरणे च प्रत्यवायस्तदितरदिति वैषम्यात्। नित्यनैमित्तिकयोश्च फलशून्यत्वे हि तत्साधनताबुद्ध्या प्रवृत्तिरेव पुंसां न स्यात्। ननु नियोगसिद्धे परमपुरुषार्थत्वात्तत्साधने यागादौ हितसाधनबुद्ध्यैव प्रवृत्ति, "नियोगार्थसिद्धे किमन्यत्प्रयोजनं सर्वविधीनाम्" इति गुरुणैवोदीरितत्वादिति चेत्, मैवम्, तथा सति तवापि नित्यकाम्यवैषम्यभङ्गप्रसङ्गात्। तथाहि फलं प्रति करणीभूते यागादौ रागत एव प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु वैधी कामाधिकारे, नित्येषु

कल्प्यते वेति। ननु फलत्त्वं चेत्सर्वत्र समानं किमिति नित्येऽपि विश्वजिदादिवदेव न कल्प्यते कामः? किमिति वा न काम्यत्वम्? इत्यत्र उक्तम्—**यदकरणे चेति।** यत्र प्रत्यवायश्रवणं तत्र न कल्प्यमित्यर्थः। नित्ये हि न फलं नित्यमिति खण्डलकार्थः। वैषम्यान्तरं वा, यदकरणे प्रत्यवायो न दृश्यते तत्काम्यम्, यत्र च श्रूयते नियतं निमित्तं तन्नित्यम्, तत्र च तच्छ्रवणेऽप्यनियतं निमित्तं तन्नैमित्तिकमिति विभागः। 'कर्मणा पितृलोकः' इति शास्त्राच्च नित्यानां फलवत्ताधिगमः, नित्येषु प्रवृत्तिलाभाच्चैवमेव वैषम्यं युक्तमित्याह—**नित्यनैमित्तिकयोश्चेति।** ननु किमिति न प्रवृत्तिः तावता नियोगो हितम्, तत्साधनं च यागः, ततो हितसाधने प्रवृत्तिः सम्भवतीति शङ्कते—**ननु नियोगेति।** वैषम्यभङ्गमेवोपपादयति—**तथा हि फलं प्रतीति।** यत्र करणे रागात् प्रवृत्तिस्तत्काम्यम्, यत्र पुनः करणेऽपि

आदि के समान कामना कल्पित होती है। वह कर्म काम्य कहा जाता है और जहाँ ऐसी अवस्था न हो, कामना न श्रुत न हो, न कल्पित हो, किन्तु जिस कर्म के नही करने पर, प्रत्यवाय (पाप) कहा गया हो, और करने पर पाप का अभाव फल हो, तो काम्य मे अन्य कर्म नित्य कहा जाता है, इस प्रकार दोनो के सफल होते भी विषमता होती है। यदि नित्य नैमित्तिक कर्मों को सर्वथा फलशून्यत्व हो, तो फलसाधनता बुद्धि से पुरुषो की प्रवृत्ति ही उनमे नही होगी। यदि शका हो कि नियोग रूप अर्थ की सिद्धि को ही परम पुरुषार्थता है, अतः उसके साधन यागादि मे हितसाधनता बुद्धि से ही प्रवृत्ति होती है। सब विधियो का नियोग रूप अर्थ की सिद्धि से अन्य क्या प्रयोजन (फल) होगा, नियोगार्थसिद्धि ही फल है, यह गुरु (प्रभाकर) ने ही कहा है। तो ऐसी शङ्का युक्त नही, क्योकि इस प्रकार से आपको नित्य काम के वैषम्य का अभाव प्राप्त होगा, जैसे कि कामाधिकार मे आप जानते है कि फल के प्रति करण स्वरूप यागादि मे राग से प्रवृत्ति होती है, और इतिकर्तव्य (साधनानुष्ठान) मे विधि से प्रवृत्ति होती है। और नित्य कर्मों मै यागादि करण और अङ्गरूप इतिकर्तव्य दोनो मे विधि से ही

तु करणेतिकर्तव्यतयोर्विधित एव प्रवृत्तिरिति वैषम्य तवाभिमतम्, तच्चेद भज्येत, नियोगस्य फलरूपत्वेन तत्करणे यागादावपि रागत एव प्रवृत्त्युपपत्ते ।

किचेद यागस्य फल प्रति करणत्वम् श्रुतिलिङ्गादिगम्यम् ? उत नियोगानुपपत्तिगम्यम् ? नाद्य श्रुत्यादेरदर्शनात् । 'स्वर्गकामो यजेते'त्यादौ

विधित प्रवृत्तिस्तन्नित्यमिति हि नित्यकाम्यवैषम्यमभिमतम्, तन्न स्यात् । नित्येष्वपि करणीभूतयागादिषु रागादेव प्रवृत्तेरित्यर्थ ।

यदुक्त पूर्व फल प्रति करणीभूतस्य यागस्य नियोग प्रति विषयत्वमिति तदपि दुर्निरूपमित्याह—**किं चेदमित्यादिना ।** किम श्रुतिलिङ्गादिगम्यमित्यनेनान्वय । चस्तु किंचार्थ । **श्रुत्यादेरदर्शनादिति ।** यथा हि इष्टसाधनतावाक्यार्थवादिनामस्माक स्वर्गयागयो साध्यसाधनभाव श्रौत, यथा च भावनावाक्यार्थवादिना भाट्टाना वाक्यगम्य साध्यसाधनभाव । यथाहु पार्थसारथिमिश्रा—'नहि तत्र स्वर्गकामस्य यागस्य वा साध्यत्व साधनत्व वा केनचिदुक्तम्, पदद्वयसमभिव्याहारादेव तु सम्बन्धे कल्पयितव्ये असाधक तु तादर्थ्या'दिति न्यायेन 'कामिन प्राधान्य यागस्य च गुणत्व कल्प्यते' इति । तन्मतेऽपि फलसबन्ध श्रौत इष्टसाधनरूपत्वात् विधेर्न तथा भवद्भिरभ्युपगम्यते औपादानिकत्वाङ्गीकारादित्यर्थ । किं तर्हि प्रकृति-

---

प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार की विपमता आप को मान्य है । यह विषमता अब नष्ट हो जायगी । क्योकि नियोग के फल रूप होने से उसके करण यागादि मे भी राग से प्रवृत्ति की सिद्धि होगी कि जिससे नित्य काम्य का वैषम्य नही रहेगा ।

जो प्रथम कहा गया है कि काम्य कर्म मे फल के प्रति करणस्वरूप याग को नियोग के प्रतिविपयत्व होता है, तहाँ क्या यह याग को फल के प्रति करणत्व, श्रुतिलिङ्गादि रूप अङ्गत्व बोधक प्रमाणो से गम्य (ज्ञेय) होता है ? अथवा नियोग की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से गम्य होता है ? वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नही हो सकता, क्योकि प्रकृत मे श्रुति आदि दीख नही पडते है । (स्वर्गकामो यजेत) इत्यादि मे फल के प्रति करणत्व की प्रतीति प्रकृति-प्रत्यय से नही होती है । किन्तु फल शिरस्क (फल की हेतुता वाला) नियोग की ही याग से साध्यत्व की प्रतीति मानी जाती है । अर्थात याग से नियोग सिद्ध होता है और नियोग से फल होता है, यहाँ नियोग मे फल साधनता श्रुति से नही सिद्ध होती है, किन्तु अर्थात सिद्ध होती है, अत दैवगति से नियोग फल का साधन होता है, और फल शिरस्क नियोग को साध्यत्व होता है । फल को नही, इस प्रकार से स्वर्गकामो यजेत, इस वाक्य को फलपरक (बोधक) नही होने से फल और

फल प्रति करणत्वस्य प्रकृतिप्रत्ययाभ्यामप्रतीते, यागेन फलशिरस्कस्य नियोगस्यैव साध्यत्वप्रतीतेरभ्युपगमात्। लिङ्गादीना चानाशङ्कनीयत्वात्। नापि द्वितीय, विकल्पासहत्वात्। किं नियोग स्वसिद्धये यागस्य फलकरणत्व कल्पयति? उत फलसिद्धये? स्वस्य फलकामिकृतिसाध्यत्वसिद्धये वा? न प्रथम स्वसाधनीभूतयागानुष्ठानादेव स्वस्य सिद्धे.। न द्वितीय, स्वसिद्ध्यैव फलस्यापि सिद्ध्युपपत्ते। न चरम, यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वा-

---

प्रत्ययाभ्यामभिधीयते'? इत्यत आह—**यागेनेति**। यजेतेत्यस्य यागेन नियोग इत्यर्थ। स च नियोगो दैवगत्या फलसाधनमिति तच्छिरस्कस्य साध्यत्व ननु फलस्य। फलपरत्वाभावाच्च तद्वाक्यस्य न फलयागयो साध्यसाधनभाव इत्यर्थ। अस्तु तर्हि लिङ्गवाक्यादीनि प्रमाणमिति तत्राह—**लिङ्गादीनां चेति**। नियोगानुपपत्तिलक्षणौपादानिकत्व दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। **फलकामीति**। फलकामिनो य प्रयत्नस्तेन साध्यत्व यन्नियोगस्य तन्नोपपद्यते यागस्य तद्धटकस्य स्वर्गकरणत्वाभाव इत्यर्थ। **साधनत्वाभाव इति**। न हि यागस्य स्वर्गं प्रति साधनत्वम्, प्रमाणाभावात्, नियोगो हि वाक्यार्थस्त प्रत्येवेतरेषा शेषत्वावगमात्, व्यवहितत्वेनायोग्यत्वाच्च न कामिनस्तस्मिन्साधनताबुद्धि कर्तृव्यापारगोचरगोचरतया करणता तु स्यात्। यथाह भवनाथ—'न स्वर्गकामो व्यवहितसाधन यागादि कार्यतया बोद्धुमल'मिति। एतदुक्त भवति—फल प्रति साधनत्वाभावेऽपि फलसाधनीभूतनियोगसाधनत्वादेव यथा यागस्य फलकामिनस्तद्द्वारा नियोगे प्रवृत्तिर्घटते तथा प्रकृतेऽपीति। ननु यदि न याग स्वर्गं प्रति करण कथ तर्हि तत्कामिनो यागे प्रवृत्ति?

याग को साध्यसाधन भाव श्रुति से नही सिद्ध होता है। और लिङ्गादि की तो आशङ्का भी नही की जा सकती है। शब्दसामर्थ्य को लिङ्ग कहते है। यहाँ ऐसे कोई शब्द नहीं हैं। नियोग की अनुपपत्ति से भी याग को फल के प्रति करणत्व की सिद्धि नही हो सकती, अत दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि दूसरा पक्ष विचाराऽसह है, विचार है कि, क्या यह नियोग अपनी सिद्धि के लिये याग के करणत्व की कल्पना करता है, या फलसिद्धि के लिये अथवा फलकामी की कृति से अपनी साध्यता की सिद्धि के लिये याग के करणत्व की कल्पना करता है। वहाँ प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि नियोग अपने साधन स्वरूप याग के अनुष्ठान से ही सिद्ध हो जाता है, अत उसको अपनी सिद्धि के लिये याग मे फलकरणता कल्पना की आवश्यकता नही रहती है। दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि याग से स्वसिद्धि (नियोगसिद्धि) द्वारा ही फल की भी सिद्धि हो जाती है, फिर उक्त कल्पना का कोई फल नही हो सकता है। अन्तिम पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योकि याग मे स्वर्गसाधनत्वाऽभाव के समान करणत्वाऽभाव के

भाव इव करणत्वाभावेऽपि स्वर्गसाधनीभूतनियोग प्रति करणत्वादेव स्वर्गकामिकृतिव्याप्यत्वोपपत्ते । यागादे फल प्रत्यकरणत्वे तत्कामिनस्तत्र कथ प्रवृत्तिरिति चेत्, साधनत्वाभावेऽपि तत्र तस्य प्रवृत्तिरनुपपन्नेति तुल्यम् । किं च साधनत्वाभावे तद्विशेषरूपकरणत्वमपि न स्यात्, 'साधकतम करण'-मिति पाणिनिस्मरणात् ।

अथ परोद्दिष्टकृतिव्याप्यत्व तेन साधनत्वाभावेऽपि करणता कि न

अनुपाये प्रवृत्त्यभावादिति शङ्कते—**यागादेरिति** । अकरणे प्रवृत्त्यदर्शनवदसाधनेऽपि प्रवृत्तिर्न दृष्टा, तदिहासाधनेऽपि प्रवृत्तिमङ्गीकुर्वतोऽकरणे प्रवृत्तिर्न विरुध्यते दर्शनस्य नियामकत्वानङ्गीकारादिति परिहरति—**साधनत्वेति** । साधनसाधनत्वात्प्रवृत्त्युपपत्तिं ब्रुवाणस्य करणकरणत्वादित्युत्तरम् । न च यत्कामिनो यत्र नियोगस्तत्तस्य साधनमित्यपि नियम, ग्रामाद्यसाधनेऽपि भोजनादौ 'ग्रामकामो भुङ्क्ष्वे'ति निर्ज्ञातविशेषणेऽन्नभोजनार्थ नियोगदर्शनात् । अथ कर्तृव्यापारगोचरगोचरत्वात्करणमिति, तन्न, साधनत्वरहितस्य करणत्वाङ्गीकारे व्याहते, सामान्यव्यावृत्तौ विशेषव्यावृत्तेरित्याह—**किंचेति** । **साधकतममिति** । तमपा साधनविशेषत्वमुक्तमिति भाव ।

न सावनविशेष करणमपित्वन्यदुद्दिश्य प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्य यथा छेदनोद्देश्येन

रहते भी स्वर्गसाधन नियोग के प्रति याग के करणत्व से स्वर्गकामी के कृति के विषयत्व याग मे हो सकता है। अर्थात् प्रमाणाभाव से स्वर्ग के प्रति याग को साधनत्व नही है, किन्तु नियोग के वाक्यार्थ होने से नियोग के प्रति यागादि को अङ्गत्व है, अत कर्ता के व्यापार (यत्न) के विषय नियोग के विषय होने से नियोग करण याग होता है, और कर्ता के यत्न से साध्य होता है। यदि कहा जाय कि यागादि को फल के प्रति करणत्व के अभाव रहते, फल कामी की उस यागादि मे कैसे प्रवृत्ति होगी, तो कहा जा सकता है कि जैसे याग मे फलसाधन् के अभाव रहते भी फलकामी की प्रवृत्ति अनुपपन्न (असिद्ध) नही माना जाता है, वैसे करणत्वाभाव रहते भी अनुपपन्न नही होगा, अर्थात् फल साधन अदृष्ट के साधन होने से जैसे यागादि मे प्रवृत्ति मानते है, वैसे फल के करण अदृष्ट (नियोग) के करण होने से प्रवृत्ति सिद्ध होगी। और दूसरी बात यह है कि याग मे फलसाधनत्व के अभाव रहते, साधनत्वविशेषरूप करणत्व भी नही रहेगा, क्योकि 'साधकतम करणम्' विशिष्ट साधक (साधन) को ही इस सूत्र से करण कहा गया है।

यदि कहा जाय कि जो पर (अन्य) को उद्देश्य करके प्रवृत्त कृति (यत्न) का

स्यादिति चेत्, तर्हि नियोगस्यापि परोद्दिष्टकृतिव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्ग, तस्यापि स्वर्गादिफलोद्देशेन प्रवृत्तकृतिव्याप्यत्वात्। अथ साक्षादिति विशेषणाददोष, मैवम्, इतिकर्तव्यस्य प्रयाजादेरङ्गजातस्य धात्वर्थतया साक्षात्कृतिव्याप्यत्वेन करणत्वप्रसङ्गात्। उभयो साधनत्वाविशेषे करणेतिकर्तव्यतालक्षणो विभागो न सिद्ध्येदिति चेत्, न, तत्रापि नियोगसाधने

प्रवृत्तप्रयत्नव्याप्यत्वं हि कुठारादे करणत्वं तत्कुतो व्याघात ? इति शङ्कते— **अथेति**। तदिदमतिव्यापकं स्वर्गं प्रत्यकरणस्यापि नियोगस्य स्वर्गोद्देशितुरुषप्रयत्नव्याप्यतया करणत्वप्रसङ्गादिति दूषयति—**तर्हीति**। आपाद्य चेदम्। ननु परोद्दिष्टकृत्या साक्षाद्व्याप्यत्वं करणत्वं तथाच न नियोगेऽतिव्याप्ति तस्य भावार्थव्यवधानादिति शङ्कते - **अथेति**। तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि भावार्थस्य साक्षात्कृतिव्याप्यतया यागवदेव करणत्वप्रसङ्ग इत्यतिव्याप्त्या दूषयति —**मैवमिति**।

यत्तु साधनत्वव्यावृत्तौ करणत्वव्यावृत्तिरित्युक्तं तत्परिहरन् शङ्कते —**उभयोरिति**। प्रयाजादे षड्यागस्येव स्वर्गं प्रति साधनत्वाविशेषे प्रयाजादेरितिकर्तव्यतात्वमितरस्य करणत्वमिति प्रसिद्धो विभागो न स्यात्। अत करणेतिकर्तव्यताविभागलोभादेनासाधनस्यैव यागस्य स्वर्गं प्रति करणत्वं स्वीकर्तव्यमित्यर्थ। परिहरति—**न तत्रापीति**। यथाहि नियोगं प्रति साधनत्वाविशेषेऽप्ययं विभागस्तथा

व्याप्य (विषय) होता है, वह करण कहा जाता है। जैसे कि छेदन को उद्देश्य करके प्रवृत्त यत्न के विषय कुठारादि करण कहाते है। अत साधनत्व के अभाव रहते भी इस लक्षण वाले मे करणता क्यो न होगी, तो कहा जाता है कि इस प्रकार से तो नियोग को भी स्वर्ग से उद्देश्य से प्रवृत्त कृति के विषय होने से उसमे करणता प्राप्ति होगी। क्योकि उस नियोग को भी स्वर्गादि फल के उद्देश्य से प्रवृत्त कृति की विषयता है। यदि कहे कि जो परोद्देश कृति के साक्षात् व्याप्य हो, (कृति का साक्षात विषय हो) वह करण कहाता है, ऐसा भावार्थ है--नियोग नही। अत उक्त दोष नही, तो ऐसा नही कह सकते है, क्योकि इतिकर्तव्य रूप प्रयाजादि अङ्गसमूह को भी धात्वर्थता के कारण साक्षात् कृति विषयत्व रहता है, अत उनमे भी करणत्व प्राप्त होगा। इस प्रकार मे साधनता रहित से करणता हो, ऐसा लक्षण करण का नही सिद्ध होसकता है। यदि शङ्का हो कि याग को साधन मानने पर आग्नेयादि याग और प्रयाजादि रूप इतिकर्तव्य (अङ्ग) दोनो मे साधनत्व के तुल्य होने मे करण और इतिकर्तव्यता रूप विभाग (भेद) नही सिद्ध होगा, अत इस विभाग की सिद्धि के लिये साधनतारहित याग को स्वर्ग रूप फल के प्रति करण मानना उचित है। तो यह शका युक्त नही, क्योकि आप के मन्तव्य के अनुसार भी यद्यपि फल (स्वर्गादि) की साधनता याग मे नही

यागे तदितिकर्तव्येषु च साधनत्वाविशेषाद्विभागानुपपत्तेस्तुल्यत्वात्। न च करणांशे रागतः प्रवृत्तिरितिकर्तव्येषु तु विधित इति विभागो युक्तः, सेतिकर्तव्यताकस्यैव करणतया तत्र रागतः प्रवृत्तेरवर्जनीयत्वात्, तथा लोके दृष्टत्वात्। एतेन श्येनाग्नीषोमीयवैषम्यमप्यपास्तम्, श्येनवदग्नीषोमीयेऽपि रागतः प्रवृत्तेः समानत्वात्। न च प्रथमतो नियोगेनैव सबद्धेतिकर्त-

स्वर्ग प्रतीति भाव। यश्च कामाधिकारे करणेतिकर्तव्यताविभागो गुरुमतानुसारिभि परिकल्प्यते, तमपि प्रसङ्गाद् दूषयति—**न च करणांश इति**। अथवा साधनत्वाविशेषेऽपि कामाधिकारे करणत्वप्रयोजकमाशङ्क्यानेन दूष्यते। तत्र हेतु—**सेतिकर्तव्यतेति**। यथा ह्युद्यमननिपातनव्यापारविशिष्टस्यैव कुठारस्य करणत्व न तु केवलस्य तथा सेतिकर्तव्यताक करणम। तत्र चेद्रागत प्रवृत्तिस्तर्हीतिकर्तव्यतास्वपि रागत एव सेति न विभाग इत्यर्थ। अथवा इतिकर्तव्यतासाध्योपकारसापेक्षत्वात्करणस्य तदपेक्ष्येष्वपि रागत प्रवृत्तिरित्यर्थ। तथा नित्ये विभागानुपपत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम। करणेतिकर्तव्यतयो रागत प्रवृत्तिसाम्यापादनेन श्येनाग्नीषोमीययागयोरपि वैषम्यमपास्तमित्याह—**एतेनेति**। एतेनेत्यस्यैव विवरण **श्येनवदिति**। ननु नेतिकर्तव्यतासु रागत प्रवृत्ति, प्रथमत एव नियोगेन सबन्धात्तस्य च रागविषयत्वाभावात्। यागस्य तु नैव प्रथमत फलसबन्धित्वात् फलस्य च रागविषयता तत्करणेऽपि रागत एव प्रवृत्तिरित्यत आह—**न च प्रथमत इति**।

रहती है, तथापि नियोग की साधनता याग और इतिकर्तव्य दोनो मे तुल्य रहती है। अत उक्त विभाग की अनुपपत्ति तुल्य ही है। यदि नियोग के प्रति साधनत्व तुल्य रहते भी विभाग हो, तो स्वर्ग के प्रति साधनत्व रहते भी विभाग रह सकता है। यदि कहे कि करणांश (याग) मे राग से प्रवृत्ति होती है, और इतिकर्तव्य मे विधि से प्रवृत्ति होती है, इसी विशेषता से साधनत्व तुल्य होते भी विभाग युक्त है। तो वह कहना युक्त नही, क्योकि इतिकर्तव्यता सहित ही याग मे फल का कारणता होने से उस याग मे राग से प्रवृत्ति होने पर, इतिकर्तव्यो मे भी राग से प्रवृत्ति अनिवार्य होगी। क्योकि उद्यमन निपातन रूप इतिकर्तव्यता (प्रकार) सहित ही कुठार की करणता लोक मे देखी जाती है। अत उक्त विभाग नही बन सकता है और एतेन = इस करण और इतिकर्तव्य मे रागमूलक तुल्य प्रवृत्ति प्रतिपादन से ही, श्येनादि रूप अभिचार और अग्नीषोमीयादि की विषमता भी अपास्त (निरस्त) हो जाती है। क्योकि श्येनादि के समान अग्नीषोमीयादि मे राग से प्रवृत्ति की तुल्यता रहती है। यदि कहे कि इतिकर्तव्यो मे राग से प्रवृत्ति नही होती है, प्रथम नियोग के साथ ही सम्बन्ध वाली इतिकर्तव्यता, पीछे नियोगप्रयुक्त (नियोगद्वारा) फल के सम्बन्ध वाली होती है, और प्रथम सम्बन्धी नियोग राग का

ग्गता पश्चात्तत्प्रयुक्ता फलेन सबध्यते, यागस्य तु फल प्रति करणीभूतस्यैव नियोगेन पश्चात्सबन्ध. इति वैषम्यम्, ग्राहकग्रहणदशाया प्राकरणिकसकलपदार्थानामविशेषण नियोगसबद्धाना तद्वशादेव परस्परसबन्धस्य पार्ष्ठिकस्याङ्गीकारात्, फल प्रति करणत्वस्य विध्याक्षेपलक्षणोपादानाधीनतया तत्प्रतीतेर्विशिष्टनियोगप्रतीत्युत्तरकालीनत्वात्।

हेतुमाह—**ग्राहकेति।** न प्रथमत फलेन यागस्य सबन्ध अप्रकरणित्वात्फलस्याप्रकरणिता चेतरेणासबन्धत्वात्। तेनेतिकर्तव्यतावदेव यागोऽपि नियोगशेषतया ग्राहकेण गृहीत पश्चात्तमेव प्रधानान्वय निर्वोढु तद्द्वारेण परस्परान्वय, स च पृष्ठतो भवतीति पार्ष्ठिकस्तस्या च दशाया यागस्वर्गयोरप्यन्वय इति भवतामङ्गीकार इत्यर्थ। किं च विध्याक्षेपलक्षणोपादानप्रमाणात्फलकामिकृतिव्याप्यतानुपपत्तिलक्षणान्नियोगफलयो सबन्धोऽभिप्रेयते। आक्षेपश्च विषयनियोज्यविशिष्टनियोगप्रतीत्याऽतोऽपीतरप्राकरणिकवन्नियोगेनैव विषयभूतयागस्य प्रथम सबन्धो वक्तव्य। न तु फलेनेत्याह—**फलं प्रतीति।** तस्मादुभयत्र रागतो वा विधितो वा प्रवृत्ति समानेत्यर्थ।

विषय नही होता है। फल के प्रति करण स्वरूप याग को राग के विषय फल से प्रथम सम्बन्ध होना है, पीछे नियोग के साथ सम्बन्ध होता है, अत करण मे राग से प्रवृत्ति होती है, यह विषमता है। तो यह कहना भी युक्त नही है। क्योकि, ग्राहक (अङ्गी) प्रधान से अङ्गो के ग्रहण की अवस्था मे नियोग के साथ सम्बन्ध वाले प्रकरणी (प्रकरण पठित) सब पदार्थों का उस प्रधान के साथ सम्बन्ध के बल से ही पीछे परस्पर सम्बन्ध माना जाता है। अत याग को प्रथम फल के साथ सम्बन्ध नही होता है। क्योकि फल प्रकरण वाला नही है, किन्तु प्रभाकर मत मे नियोग प्रकरणी (प्रधान) है, वही सब का ग्राहक है, उससे जैसे इतिकर्तव्यता गृहीत होती है, तैसे याग भी अङ्गरूप से गृहीत होता है, फिर उस प्रधान के साथ सबके सम्बन्ध को निवाहने (रखने) ही के लिये परस्पर पीछे यथायोग्य सम्बन्ध होता है, उसको पार्ष्ठिक कहा जाता है। और उस पार्ष्ठिक सम्बन्धावस्था मे याग और स्वर्गकामी का सम्बन्ध होता है, प्रथम नही, यह आप मानते है। अत प्रथम करण रूप से फल के साथ याग के सम्बन्ध को कहना उचित नही है। और आक्षेप नामक विधि के व्यापार (विध्याक्षेप) रूप उपादान नामक प्रमाण के अधीन फल के प्रति याग के करणत्व की प्रतीति होती है, अत विशिष्ट (ससाधन) नियोग की प्रतीति के उत्तर काल मे फल के प्रति करणत्व की प्रतीति होती प्रथम नही। अत दोनो मे राग से या विधि से समान ही प्रवृत्ति होगी, विषमता नही हो सकती है।

कथ चैव सति 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'ति विधौ जाग्रति रागत प्रवृत्तौ निषेधानुप्रवेशादधर्मता स्यात् ? नहि विधिसस्पृष्टे निषेध प्रवर्तमानोऽनर्थता वोधयितुमीष्टे । तथा सति षोडशिग्रहणस्यापि नातिरात्रे षोडशिन गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वप्रसङ्गात् । उक्त हि धट्टाचार्यैं—

'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम् ।
विज्ञायते ह्यनर्थत्व षोडशिग्रहणादिवत् ॥' इति ।

(श्लो वा २।२०३)

ननु यद्यप्युभयत्र रागन प्रवृत्ति समाना तथापि 'न हिस्यात्सर्वा भूतानी'ति निषेधानुप्रवेशादधर्मता श्येनयागस्येतरस्य न तथा तदभावादिति वैषम्यमिति नेत्याह—**कथं चैवं सतीति** । रागत प्रवृत्तिस्तावदुभयत्र समानेत्यावेदितम् । तथा सति विधिस्पर्शास्पर्शाभ्या वैषम्य वक्तव्यम् । न चैतदपि, श्येनेऽपि विधेर्विद्यमानत्वादिति भाव । एतदेव षोडशिप्रतिवन्द्या समर्थयते—**न हि विधिसंस्पृष्ट इत्यादिना ।** विधिसस्पृष्टेऽपि चेन्निषेधादनर्थत्व तर्ह्यतिरात्रे षोडशिन गृह्णातीति विहितस्यापि षोडशिग्रहणस्य नातिरात्रे षोडशिन गृह्णातीति निषेधादनर्थत्वभङ्गप्रसङ्ग । न चैतद्युक्तम् । आह हि—

'यद्यपि स्याद्विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशम् ।
विज्ञायते ह्यनर्थत्व षोडशिग्रहणादिवत् ॥' इत्यर्थ ।

---

५५ यहाँ शङ्का होती है, कि (एव सति) जैसे याग और इतिकर्तव्यो मे राग मे और विधि मे प्रवृत्ति होती है, वैसे ही (श्येनेनाभिचरन् यजेत) इस विधि के रहते और राग मे प्रवृत्ति होने पर, (न हिंस्यात् सर्वा भूतानि) इस निषेध के अनुप्रवेश (प्रवृत्ति) से श्येनयाग को ही अधर्मता कैसे होगी । क्योकि विधि-सस्पृष्ट (विधि विषय) मे प्रवृत्त भी निषेध वाक्य अनर्थता (अधर्मता) को बोध कराने मे समर्थ नही होता है । तथा सति (यदि विधि सस्पृष्ट मे भी निषेध वाक्य अधर्मता बोधित करे) तो, षोडशिग्रहण को (षोडशिन गृह्णाति) इससे विहित होने पर भी (नातिरात्रे षोडशिन गृह्णाति) अतिरात्र नामक याग मे षोडशि नामक पात्र का ग्रहण नही करे । इस निषेध से अनर्थता (अधर्मता) की प्राप्ति होगी । परन्तु ऐसा होना युक्त नही है । अत एव भट्टाचार्य ने कहा है कि—

यद्यपि विधिस्पृष्ट मे निषेध की प्रवृत्ति नही होती है, प्रवृत्त होने पर तादृश (विधि रहित के समान) अनर्थत्व नही समझा जाता है, जैसे षोडशि ग्रहण के निषेध होते भी षोडशिग्रहण से अनर्थ नही समझा जाता है ।

ननु विधेर्द्विविधो व्यापरो भावार्थफलयो साध्यसाधनसबन्धबोधो भावार्थानुष्ठानबोधश्चेति । तत्रैव चानुष्ठानबोधो यत्र भावार्थेऽन्यतो न प्रवृत्ति, श्येनादौ च फलोपायत्वेऽधिगते रागत एव प्रवृत्त्युपपत्तेर्नानुष्ठापकत्वम्, ततश्च निषेधप्रवेशाच्छ्येनादेरनर्थत्वमिति चेत्, न, उक्तोत्तरत्वात्। उक्त हि—सेतिकर्तव्यस्यैव करणत्वात्तत्र रागत प्रवृत्तावितिकर्तव्येऽपि तत एव प्रवृत्तो श्येनवदग्नीषोमीयस्यापीतिकर्तव्यस्यानर्थता प्रसज्येतेति। ननु 'अभिचारमहीन च त्रिभि कृच्छ्रैर्व्यपोहती'ति प्रायश्चित्तविधानादनर्थता

व्यापारद्वैविध्य विधेर्दर्शयन् श्येनयागस्याधर्मतामुपपादयति पूर्ववादी—**नन्वित्यादिना**। तदेतदग्नीषोमीयेऽहिंसायामपि समानमिति परिहरति—**न, उक्तोत्तरत्वादिति**। प्रकारान्तरेणाधर्मतामाशङ्कते—**नन्विति**। अहीनोऽहर्गणनिर्वर्त्य क्रतुविशेष 'अह्न ख क्रतावि'ति समूहे गम्यमाने अहन्शब्दात्खप्रत्ययविधानात्। परि-

---

उक्त रीति से विधिस्पृष्ट श्येन मे अधर्मता के अभाव प्राप्त होने पर शका होती है। अर्थात् पूर्ववादी श्येन मे अधर्मता का उपपादन करता है कि—विधिवाक्य के दो प्रकार के व्यापार होते है। एक तो भावार्थ (धात्वर्थ) और फल के साध्यसाधनभाव रूप सम्बन्ध को समझाना, और दूसरा भावार्थ के अनुष्ठान (आचरण) को समझाना और वहाँ ही विधि से अनुष्ठान का बोध होना है कि जहाँ अन्य प्रमाणो से भावार्थ मे प्रवृत्ति नही होती है। और श्येनादि मे तो फल की उपायता (साधनता) के ज्ञान होने पर, राग से ही प्रवृत्ति की सिद्धि होने से विधि को अनुष्ठापकत्व (अनुष्ठान जनकत्व) नही रहता है, अत निषेध के प्रवेश (प्रवृत्ति) से श्येनादि के अनर्थत्व की सिद्धि होती है। यह शङ्का भी यहाँ युक्त नही है। क्योकि इसका उत्तर प्रथम कहा गया है कि—जहाँ इतिकर्तव्यता सहित याग को करणत्व होता है, वहाँ याग मे राग से प्रवृत्ति होने पर इतिकर्तव्यो मे भी राग से ही प्रवृत्ति होने पर, श्येन के समान अग्नीषोमीय के भी इतिकर्तव्य मे राग से प्रवृत्ति होने के कारण (अग्नीषोमीय पशुमालभेत्) इससे विहित कर्म को अनर्थता प्राप्त होगी। उक्त रीति से श्येन और अग्नीषोमीय मे विषमता नही हो सकेगी। यदि शङ्का हो कि (अभिचारमहीन च त्रिभि कृच्छ्रैर्व्यपोहति) श्येनादि अभिचार और त्रिरात्रादि अहर्गणसाध्य अहीन नामक कर्मो को करने वाला तीन कृच्छ्र चान्द्रायण व्रतो द्वारा उन कर्मजन्य पापो को नष्ट करता है। इस स्मृति मे प्रायश्चित्त के विधान से श्येनादि मे अनर्थता (पापरूपता) का निश्चय होता है, कि जिससे अग्नीषोमीयादि पुण्यकर्मो से श्येनादि मे विलक्षणता सिद्ध होती है, तो इस शङ्का का समाधान है कि इस मनुस्मृति मे प्रायश्चित्त का

निश्चीयत इति चेन् मैवम् , नैमित्तिकत्वेनाप्यस्योपपत्ते । यथा हि— "वर्णिना हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृत वदे"दित्यनृतवदनविधानानन्तर "तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरु सारस्वतो द्विजै"रिति नैमित्तिकत्वेन सारस्वतश्चरुनिर्वाप्यो विधीयते नत्वनृतवदनजनितपापनिवर्हणाय; अनृतवदने कामतो-

---

हरति—**मैवमिति**। निषिद्धत्वानिर्णये प्रायश्चित्तानिर्णयात् तद्विधानस्य च नैमित्तिकत्वेनाप्युपपत्ते निषिद्धत्वविधानात्प्रायश्चित्तत्वे प्रायश्चित्तविधानाच्च निषिद्धत्वे परम्पराश्रयमिति भाव । ननु व्यपोहतीति दोषनिवर्हणश्रवणात्प्रायश्चित्तत्वमिति तत्राह—**यथा हि वर्णिनामिति**। यत्र यस्मिन्समये ब्राह्मणादीना वध प्राप्नोति तत्र तदा साक्ष्यनृत वदेत्। अनृतवदनमवदनस्याप्युपलक्षणम्। ततश्च यदि वदनमात्राद्वध प्राप्नोति तदा न वदेत्। यदा तु सत्यवदनात्तदानृत वदेदित्यर्थ । तत्पावनायेति तच्छुद्धचर्थम्। द्विजैस्त्रैवर्णिकै । सारस्वत सरस्वतीदेवताकश्चरु । निर्वाप्य निर्वपणेन यागपर्यन्त लक्ष्यते। ननु तत्पावनायेति श्रवणात्प्रायश्चित्ततैव किं न स्यादिति तत्राह—**नत्वनृतवदनेति**। तत्र हेतु—**अनृतवदनेति**। कामत प्राप्त ह्यनृतवदन नानृत वदेदिति निषिद्ध निषिद्धानुष्ठाने च प्रायश्चित्तम्, प्रकृते तु विधित प्रवृत्तेर्न प्रायश्चित्त युक्त निषिद्धानुष्ठानशङ्काभावादित्यर्थ । एव च

विधान नही है कि जिसमे अनर्थता सिद्ध हो, किन्तु यह तीन कृच्छ्रव्रत रूप नैमित्तिक कर्म का विधान है कि श्येन कर्म रूप निमित्त के प्राप्त होने पर तीन कृच्छ्र से शुद्धि कर्तव्य होता है, अत नैमित्तिक रूप से भी इस व्रतविधान की सिद्धि हो सकती है, जैसे कि (वर्णिना हि बधो यत्र तत्र साक्ष्यनृत वदेत्) सत्य बोलने से जहाँ ब्राह्मणादि वर्णवालो का वध प्राप्त हो, वहाँ साक्षी झूठ बोले—सत्य नही। इस प्रकार से याज्ञवल्क्यस्मृति मे अनृत (मिथ्यावादन) विधान के अनन्तर (तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरु सारस्वतो द्विजै) उस अनृत रूप निमित्त के प्राप्त होने पर, उसकी शुद्धि के लिये सारस्वत = सरस्वतीदेवताक, चरु = ओदनविशेष का निर्वाप (अर्पण) द्विजो का कर्तव्य होता है। इस स्मृति से नैमित्तिक कर्म रूप से ही सारस्वत चरुनिर्वाप्य विहित होता है। अनृतबदन निमित्तक पापनिवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त रूप से नही विहित होता है। क्योकि उक्त अनृतबदन (मिथ्याकथन) मे काम से अप्रवृत्ति होने से तथा विधि से ही प्रवृत्ति के स्वीकार से नानृत वदेत्-इस निषिद्ध पाप की सम्भावना नही रहती है, कि जिसकी निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त का विधान हो। इसी प्रकार अन्यत्र (अभिचारमहीन च) इत्यादि मे समझना चाहिये कि नैमित्तिक विधि है—प्रायश्चित्त नही। अत इस उक्त रीति से

ऽप्रवृत्तेर्विधित एव तत्र प्रवृत्त्यङ्गीकारात् एवमत्रापि। तदेव नित्यकाम्य-वैषम्यस्य वक्तुमशक्यत्वान्नित्यवत्काम्येपि नियोगस्य फलसाधनत्वकल्पना नि प्रामाणिका, पुरुषार्थत्वे नियोगस्य स्वर्गसाधनताभ्युपगमानर्थकता-प्रसङ्गात्।

न च स्वर्गादिसाधनत्वे नियोगस्य प्राधान्यमपि सभवति, स्वर्गादि-सुखशेषत्वात्। न च स्वानुकूलनियोज्यसिद्धये स्वर्गादिक साधयतो नियोगस्य स्वामिवत्प्राधान्यानुपघात, दृष्टान्तवैषम्यात् तथा हि—द्वौ तत्र स्वामि-भृत्ययो प्रयत्नो स्वार्थोद्देशेन प्रवृत्तौ परस्परमुपकुर्वाते, न तथेह नियोगस्य चेतनता, येन स्वकीयप्रयत्ने स्वर्गमात्मार्थतया आक्षिपेत्, प्रत्युत गर्भदा-

---

विषयविभागेन प्रायश्चित्तव्यवस्थापनमपि कैश्चित्क्रियमाणमयुक्तमित्यवान्तरविचार-मुपसहरति—**तदेवमिति**।

यच्च प्राधान्यसमर्थन कृत स्वर्गादिसाधनत्वेऽपि तद्दूषयति—**न चेति**। पूर्वपक्ष्या-शयमनूद्य दूषयति—**न चेति**। गर्भदासस्वामिनोश्चेतनतया स्वस्वप्रयोजनोद्देशेन प्रवृत्तिर्युक्ता, अत्र तु नियोगस्य स्वामिस्थानीयता न युक्ता, अचेतनत्वात्। अत एव न प्रवृत्तिरपीत्यर्थ। न केवल नियोगस्य प्राधान्याभाव, प्रत्युत स्वर्ग प्रति शेषत्व-मेवेत्याह—**प्रत्युतेति**। ननु कथमिदमवधार्यते स्वर्गशेषो नियोग ननु विपरीत-

---

नित्य और काम्य कर्म मे विषमता नही कही जा सकती है सफलता से उभय मे काम से प्रवृत्ति होगी, या उभय मे विधि से ही प्रवृत्ति होगी। अत यदि नित्य मे नियोग की फलसाधनता नही मान्य हो, तो नित्य के समान ही काम्य कर्म मे भी नियोग की फलसाधनत्व कल्पना निष्प्रामाणिक है, और यदि आपके मत से नियोग ही पुरुषार्थ हो, तो नियोग की स्वर्गसाधनता स्वीकार मे अनर्थकता की प्राप्ति होती है। अत नियोग पुरुषार्थ नही हो सकता है।

नियोग मे स्वर्ग साधनत्व होते भी जो नियोग के प्रधानत्व को कहा था, उस प्राधान्य (प्रधानत्व) का भी सम्भव नही है, क्योकि स्वर्गादि सुख के शेषत्व (अङ्गत्व) नियोग मे रहता है, वह स्वर्ग का साधन है, साध्य प्रधान होता है—साधन नही। और जो वह कहा था कि अपने (नियोग के) अनुकूल नियोज्य की सिद्धि के लिये स्वर्गादि फल को सिद्ध करते हुए भी नियोग की प्रधानता का भृत्योपकारक स्वामी के समान अभाव नही होता है, वह दृष्टान्त के विषम होने से कथनयुक्त नही है, क्योकि दृष्टान्त मे स्वामी और भृत्य के दो प्रयत्न प्रवृत्त होते है, वे स्वार्थ के उद्देश्य से प्रवृत्त होते है, और परस्पर उपकार करते है। प्रकृत मे यहाँ नियोग को चेतनता नही है कि जिससे अपने प्रयत्न मे स्वर्ग को (आत्मार्थता) साधन रूप से आक्षेप करेगा। प्रत्युत (उल्टा) गर्भदास के स्थान

सम्थानीयो नियोज्य स एव स्वर्गाय प्रवृत्तो नियोगमेव स्वर्गशेषतया स्वीकुर्यात्। न च स्वर्गादिसुखस्यान्यार्थता, स्वभाववैपरीत्यापत्ते। यदर्थं सर्वं यच्च नान्यार्थं तत्सुखमिति हि सुखस्य लक्षणमाक्षते, तत्कथमन्यशेषता स्वर्गादिसुखस्य भवेत्? न चालौकिकत्वेऽपि नियोगस्य यूपाहवनीयादिवत्प्रदान्त मनभिव्याहारात्मबन्धग्रहणम्, तत्र यूपाहवनीयादेर्यूप तक्षतीत्यादिप्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्यथानुपपत्तिगम्यत्ववन्नियोगस्यार्थापत्तिगम्यत्वानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे वाऽपूर्वत्वव्याघाताच्च। यत्तु लिडादे क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वानुमानम्, तत्प्रत्यनुमानपराहतत्वादसाधनम्। तथाहि—

विवादाध्यासिता शब्दा क्रियाकार्याभिधायिन।

मिति? इति तत्राह—**न चेति**। अथवा पूर्वमचेतनत्वान्नियोगस्य न स्वर्गस्य तच्छेषत्वमित्युक्तम्। इदानी स्वभावविरोधादपि न तथेत्याह—**न च स्वर्गादिति**। यच्च नान्यार्थं तत्सुखमित्युक्ते दु खेऽपि स्यादत उक्तम्—**यदर्थमिति**। स्वर्गादिसुखस्यान्यशेषत्वं यच्च नान्यार्थमिति लक्षणविरुद्धमित्यर्थः। यत्तु यूपाहवनीयादि दृष्टान्तित तदपि वैषम्य दर्शयन् परिहरति—**न चालौकिकत्वेऽपीति**। प्रत्यनुमानमेव श्लोकेन दर्शयति—**विवादाध्यासिता इति**। लौकिकलिडादौ सिद्ध-

मे नियोज्य है, वही स्वर्ग के लिये प्रवृत्त होता हुआ नियोग को ही स्वर्ग के शेष (साधन) रूप से स्वीकार करेगा, और स्वर्गादि सुख को अन्यार्थता (नियोगार्थता) हो नही सकती है, क्योकि ऐसा होने पर साध्यसाधनादि स्वभाव की विपरीतता की प्राप्ति होगी, यह प्रसिद्ध है कि जिसके लिये सब साधन किये जाते है। और जो अन्य के लिये साधन रूप नही होता है, वही सुख कहा जाता है, यही सुख का लक्षण कहा गया है। फिर स्वर्गादि सुख को अन्य (नियोग) की शेषता (अङ्गता) कैसे हो सकती है—किसी प्रकार से नही। और जो कहा था कि नियोग के अलौकिक होते भी यूपादि के समान प्रसिद्धार्थक पद के साथ पाठ से शक्ति का ग्रहण होता है। सो यूपादि को दृष्टान्त कहना भी युक्त नही। क्योकि वहाँ यूपादि को (यूप तक्षति) इत्यादि प्रसिद्धार्थक पदसमभिहार की अन्यथा (यूपपदवाच्यतादि के बिना) अनुपपत्ति (अर्थापत्ति) प्रमाणगम्यत्व के समान, नियोग को अर्थापत्ति गम्य नही माना जाता है, न आगमभिन्न किसी प्रमाण का विषय माना जाता है, यदि अर्थापत्ति से गम्यत्व (ज्ञेयत्व) का स्वीकार हो, तो अपूर्वत्व का व्याघात होगा। और जो लिडादि के क्रियातिरिक्त कार्यवाचकत्व का अनुमान कहा था, सो भी प्रतिपक्षानुमान से पराहत (निरुद्ध) होने के कारण अपने साध्य का साधन (साधक) नही हो सकता है। प्रतिपक्ष का स्वरूप है कि—

विवाद विषय वैदिक लिडादिशब्द, क्रिया रूप कार्य के वाचक है, कार्य = क्रिया

कार्यप्रत्ययहेतुत्वाद् आनयेत् यदि शब्दवत् ॥ १८ ॥

इष्टसाधनवादिनो वेदान्तिन प्रति साध्यविकलत्वाच्च । लौकिकलिडादिशब्दानामपि श्रेय साधनबोधकत्वाभ्युपगमात्, व्यापकानुपलब्धिपराहतत्वाच्च । तथाहि—तदभिधायकत्व तत्र सङ्गतिग्रहणेन व्याप्यम्, तच्च मानान्तरानधिगतादपूर्वाद्व्यावर्तमान लिडादीना तदभिधायकता व्यावर्तयति । न च क्रियातिरिक्तकार्यानभिधाने स्वर्गकामो यजेतेत्यादिशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्ग, क्रियाया एवापूर्वावान्तरव्यापाराया परमेश्वरप्रसादा-

---

साधनतापरिहाराय विवादपदम् । वैदिकलिडादय इत्यर्थ । क्रियारूप कार्य क्रियाकार्य तदभिधायिन इत्यर्थ । नियोगेनार्थान्तरतानिरासाय क्रियाग्रहणम् । न च लौकिकलिडादित्वमुपाधि, लौकिकपदवैयर्थ्येन पक्षेतरत्वात् । नन्वेवमपि त्वत्पक्षे किं प्रमाणम् ? न तावदिदमेव, प्रतिरोधमात्रतया स्वपक्षासाधनत्वात् । नैतत्सारम्, बाधकत्वेन प्रतिरोधकत्वासिद्धे । समबलयोर्विरुद्धसाध्यविपर्ययत्व हि प्रतिरुद्धत्वम्, न चात्र समबलत्व अधिकबलत्वादितरस्य दुर्बलत्वात्तदाह—**इष्टसाधनेति** । वादिनो वेदान्तिन इति च द्वितीया । साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—**लौकिकेति** । एतत्क्रियातिरिक्तकार्याभिधायित्वे गामानयेत्यादिपद हि पूर्ववादिना दृष्टान्तितम् । न च तत्रापि कार्याभिधायित्वमिष्टसाधनताभिधायित्वाङ्गीकारात् मयेत्यर्थ । इद चासिद्धेरप्युपलक्षणम् । दूषणान्तर चाह—**व्यापकेति** । व्यापक विवेचयन् तदनुपलब्धिमिहोपलम्भयति—**तथा हीत्यादिना** । यद्यद्विषयस्याभिधायकम्, तत्तस्य गृहीतसङ्गतिकमिति व्याप्तम् । न च प्रमाणान्तरानधिगतेऽपूर्वे तत्सभव इति व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्यव्यावृत्तिरग्निव्यावृत्त्येव धूमव्यावृत्तिरित्यर्थ । यस्तु तेन विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्तमपि प्रशिथिलमूलमुन्मूलयति—**न च क्रियातिरिक्तेति** ।

के ज्ञान के हेतु होने से, आनय इत्यादि शब्द के समान ॥ १८ ॥

लिडादि के इष्टसाधन वाचकत्ववादी वेदान्ती के प्रति आनयनादि दृष्टान्त मे साध्य विकलता होने से दोनो मे समबलता नही है । क्योकि लौकिक लिडादि शब्दो मे भी श्रेय साधनबोधकत्व ही वेदान्ती मे माना जाता है। और व्यापक की अनुपलब्धि से पराहत (नष्ट) होने से भी उक्त अनुमान अयुक्त है। जैसे कि (घट का अभिधायक, घटविषयक सङ्गतिग्रह से व्याप्य रहता है। अर्थात् सङ्गतिग्रह के विना घट पद घट का बोधक नही होता है, किन्तु शक्ति के ज्ञानपूर्वक बोधक होता है, अत शक्तिग्रह बोधकाव्यापक होता है, वह व्यापक शक्तिग्रह, मानान्तर से अज्ञात अपूर्व मे व्यावृत्त होकर लिडादि के तद्वाचकत्व को भी व्यावृत्त करता है। अत उक्त अनुमान से उक्त साध्य की सिद्धि नही हो सकती है। और क्रियातिरिक्त कार्य के अकथन होने पर (स्वर्गकामो यजेत) इत्यादि

वान्तरव्यापाराया वा फलसाधनत्वोपपत्ते प्रदर्शितत्वात्। तदेवं विधिवाक्यानामपि सिद्धार्थबोधकत्वाद्विधिसस्पर्शविधुराणा सत्यज्ञानादिवाक्यानामखण्डैकरसब्रह्मलक्षणसिद्धार्थाविबोधकत्व सुतरा सिद्धयतीति सिद्धम् ।

ननु कथ वेदान्तानामखण्डार्थत्वम् ? तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, तत्र प्रमाणामभवाच्च तथाहि—किमिदमखण्डार्थत्वम् ? किं निर्विशेषवस्तुपरत्वम् ? उत निर्भेदार्थनिष्ठत्वम् ? आहोस्विदपर्यायशब्दाना प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम् ? अथवा तेषामेवैकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वम् ? ससर्गागोचरप्रमाजनकत्व वा ? नाद्य, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—पदाना

वादार्थमुपमहरन् ममन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना** ।

"हितसाधनतामवलम्व्य यदा ववृते विधिबोधकवाक्यमपि ।
परमामृतबोधविधौ सुतरा परमात्मनि वेदशिरासि तदा ॥"

अखण्डबोधकत्वमुक्तमाक्षिपति—**ननु कथमित्यादिना** । अखण्डार्थत्वस्य मभवल्लक्षणानि दूषयति—**किमिदमित्यादिना** । खण्डशब्दस्य च विशेष भेद चार्थमादाय प्रथमद्वितीययो प्रवृत्तिस्तृतीयचतुर्थयो स्वविवक्षावशात्। **तेषामेवेति**। अपर्यायशब्दानामेवेत्यर्थ । पञ्चमस्तु खण्डशब्दस्य ससृष्टमर्थमादाय, निर्विशेषाणामप्यन्त्यविशेषाणा भिन्नत्वस्य परैरङ्गीकारात् नाद्यद्वितीयसङ्कर । तात्पर्यमभिहितेषु लक्षितेषु वा सभवति यथा गङ्गाया यादासीति, यथा वा गङ्गाया घोष इति,

---

शास्त्र मे अप्रमाणता प्राप्त होगी, यह कहा था, वह भी युक्त नही, क्योकि अपूर्वरूप अवान्तर व्यापार वाला, या परमेश्वरप्रसाद रूप अवान्तर व्यापारवाली यागादि रूप क्रिया ही को फलसाधनत्व की सिद्धि होती है, वह प्रदर्शित कराया गया है, और उसी फलसाधन के बोधक होने से शास्त्र प्रमाण होता है। इस उक्त रीति से लिङादि के इष्टसाधनता बोधकत्व के स्वीकार करने पर विधि वाक्यो को भी सिद्धार्थ बोधकत्व होता है, तो विधिसम्बन्धरहित सत्य ज्ञानादि वाक्यो को अखण्ड एकरसब्रह्मस्वरूप सिद्धार्थ बोधकत्व स्वत सिद्ध होता है—यह सिद्ध हुआ ।

अखण्ड एकरससिद्धार्थबोधकत्व सिद्ध हुआ, इस शङ्का बीज को पाकर शङ्का होती है कि वेदान्त वाक्यो को अखण्डार्थकत्व कैसे हो सकता है, क्योकि उस अखण्डत्व का निर्वचन (लक्षण वर्णन) अशक्य है, तथा ब्रह्म के अखण्डत्व मे प्रमाण का असम्भव है। प्रथम यह विचारणीय है कि वेदान्त को वह अखण्डार्थत्व क्या है, क्या निर्विशेष वस्तुपरत्व है, अथवा निर्भेदार्थनिष्ठत्व है, अथवा अपर्याय शब्दो की प्रातिपादकार्थ मात्र पर्यवसायिता (बोधकता) है, या अपर्याय शब्दो की एक प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायिता है, या ससर्गाऽगोचर प्रमाजनकता है, वहाँ विकल्पाऽसहविषय होने से प्रथम पक्ष मान्य

निर्विशेषवस्तुपर्यवसायित्वमभिधायकतया ? लक्षकतया वा स्यात् ? न प्रथम, तस्यात्यन्तमप्रसिद्धतया सबन्धाग्रहणेन पदाना तत्पर्यवसायित्वासभवेन लक्षणस्यासभवित्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीय अप्रसिद्धत्वादेवाभिधेयाविनाभावस्य लक्षणाहेतोरसभवेन प्राचीनदोषानुषङ्गप्रसङ्गात्। न चाभिधेयाविनाभाव विनापि 'गरमस्य दहरे' त्यादिगिरामिव वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिका अत्यन्ताप्रसिद्धत्वेन गगनारविन्दादेरिव लक्षणत्वानुपपत्ते ।

नमुभयमपि प्रकार विकल्प्य दूषयति—**तस्यात्यन्तमिति**। अन्यविशेषा... सबद्धिरनङ्गीकारादिति भाव । तत्रगापत्र दूषयति—**नापीति**। अभिधेयाविनाभूत हि लक्ष्य दृष्ट यथा गङ्गाया घोष प्रतिवसति इत्यत्र गङ्गाऽविनाभूत तीर गङ्गापदेन, न पुनरविनाभूतम्। अविनाभावस्चाय भूय सबन्धदर्शनमात्रम्, मञ्चा क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चपुरुषयोर्मुख्याविनाभावाभावेऽपि लक्षणादर्शनात्। न चात्यन्ताप्रसिद्धस्य निर्विशेषवस्तुनोऽभिधेयाविनाभाव सभवतीति लक्षणाऽसभवाल्लक्षणाऽसभव इत्यर्थ । नन्वभिधेयासबद्धमपि क्वचिल्लक्ष्य दृष्ट यथा कश्चित् किमस्य गृहे भोक्तव्यम् ? इति केनचित्पृष्ट तन्निवारयन्नाह–विष भुङ्क्ष्वेति। न चात्र लक्ष्यमाणैतद्गृहनिष्ठभोजननिवृत्ते विषभक्षणस्य च सबन्धोऽस्ति । अथ च लक्ष्यते, तत्कस्य हेतो ? वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ते । एवमत्रापि सत्यादिवाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेरेव किमिति न लक्षणेत्यत आह—**न चाभिधेयेति**। तत्र हेतु—**अत्यन्ताप्रसिद्धेति**। अनुपपत्तिरपि हि योग्ये लक्षणा प्रवर्तयति न त्वयोग्ये, इतरथा खपुष्पादेरपि लक्षणाप्रसङ्गात्, तस्मात् प्रामाण्यानुपपत्तिरपि अन्यपरतायामेव बीजम्, न त्वखण्डार्थतायामिति भाव ।

नही हो सकता है। क्योकि पदो को निर्विशेषवस्तु पर्यवसायित्व (निर्विशेषवस्तुपरत्व) अभिधायक (वाचक) रूप से या लक्षक रूप से होगा। वहाँ निर्विशेषपरत्व प्रथम (वाचक) रूप से हो नही सकता है, क्योकि उस निर्विशेष के अत्यन्त अप्रसिद्ध होने पर सम्बन्ध के ग्रहण नही होने से पदो की तत्पर्यवसायिता के असम्भव से लक्षण के असम्भावितत्त्व की प्राप्ति होती है। द्वितीय लक्षकता रूप से भी निर्विशेषपरत्व शब्दो को नही हो सकता है। क्योकि निर्विशेष वस्तु के अप्रसिद्ध होने ही से, लक्षणा के हेतु वाच्यवाचक भाव के असम्भव से लक्षणा के असम्भव द्वारा लक्षण का असम्भव रूप पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है, अर्थात् शक्य (अभिधेय) का सम्बन्ध रूप लक्षणा होती है। अत अभिधेय का अविनाभूत (व्याप्य) लक्ष्य होता है, जसे गङ्गापद के वाच्य से अविना भूत तीर लक्ष्य होता है, अत्यन्ताऽप्रसिद्धवस्तु को अभिधेय के अविनाभूत होने का सम्भव नही,

अथ निर्भेदवस्तुपरत्वम् ? तदपि न; निर्भेदत्वस्यानिरुक्तेः। तथाहि—निर्भेदत्वं नाम किं भेदाभावविशिष्टत्वम् ? उत भेदाभावोपलक्षितत्वम् ? नाद्यः, तत्परत्वे वाक्यस्य निर्घटं भूतलमितिवत्संसृष्टार्थत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः; तत्रापि संसृष्टार्थत्वस्यानतिवृत्तेः। तथाहि—भेदस्य योऽभावस्ते-

---

द्वितीयं दूषयति—**अथ निर्भेदवस्त्विति**। निर्भेदत्वं नाम भेदाभावविशिष्टत्वमिति प्रथमपक्षं दूषयति—**नाद्य इति**। यथा हि निर्घटं भूतलमिति घटाभावविशिष्टभूतलबोधकस्य नाखण्डार्थमेवं तत्रापीत्यर्थः। भेदाभावोपलक्षितत्वपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति**। तत्रापि वक्तव्यं किं भेदाभावोपलक्षितत्वविशिष्टम् ? उत वस्तुमात्रम् ? इति। आद्ये प्राह—**भेदस्य योऽभाव इत्यादिना**। द्वितीयं शङ्कते—

अतः लक्षणा के अभाव से लक्षण का असम्भव है। यहा शङ्का होती है कि अभिधेय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध के विना भी कहीं लक्षणा देखी जाती है, जैसे कोई अपने मित्र या पिता से पूछा कि अमुक मनुष्य के यहाँ से भोजन के लिये निमन्त्रण आया है, उसके गृह में भोजन करना चाहिये या नहीं, तो वह मित्र वा पिता, नहीं ऐसा नहीं कह कर, (शत्रुगृहे विषमाहर) शत्रु के घर में विष का आहार करो (विषं भुङ्क्ष्व) विष खाओ ऐसा कहता है, तहाँ शत्रु गृह में भोजन की निवृत्ति लक्ष्यार्थ रहता है, परन्तु उसको शक्यार्थ के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं रहता है, तो भी मित्र वाक्य की प्रमाणता की अनुपपत्ति से ही भोजन की निवृत्ति लक्षित होती है, वैसे ही (तत्त्वमसि, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) इत्यादि वाक्य की प्रमाणता की अनुपपत्ति ही लक्षण की आक्षेपिका (हेतु) होगी। परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि प्रामाण्य की अनुपपत्ति भी अत्यन्त अप्रसिद्ध के कारण लक्षणा के अयोग्य विषयक लक्षणा का हेतु नहीं हो सकती है किन्तु योग्यविषयक लक्षणा का हेतु हो सकती है। अन्यथा गगन पुष्पादि की भी लक्षणा प्राप्त होगी। और अखण्डार्थ गगन कमलादि के समान अप्रसिद्ध है, अतः उसके लक्ष्यत्व की अनुपपत्ति है।

निर्भेद-पदार्थ-निष्ठत्व रूप जो निर्भेदवस्तुपरत्व, दूसरा लक्षण है, वह भी नहीं बन सकता है, क्योंकि निर्भेदत्व का निर्वचन नहीं हो सकता। विचारणीय है कि निर्भेदत्व क्या है, क्या भेदाभाव विशिष्टत्व है, या भेदाभावोपलक्षितत्त्व है, उनमें प्रथम पक्ष नहीं बन सकता है, क्योंकि वेदान्तवाक्य के भेदाभाव विशिष्ट परक होने पर निर्घटं भूतलम्, घटाऽभाव वाला भूतल है, इत्यादि के समान वेदान्त को सखण्डार्थत्व प्राप्त होगा। भेदाभावोपलक्षितत्त्व रूप दूसरा पक्ष में भी संसृष्टार्थत्व की निवृत्ति नहीं होने से यह पक्ष भी युक्त नहीं। क्योंकि भेद का जो अभाव, उस उपलक्षण से उपलक्षित वस्तु परत्व (वाचकत्व) होने पर, संसृष्टार्थता कैसे नहीं होगी, संसृष्ट (संसर्ग युक्त) कहा जाता है, और उपलक्षण का संसर्ग भासता है,

नोपलक्षणेनोपलक्षितवस्तुपरत्वे कथं न ससृष्टार्थता ? वस्तुमात्रमेव तत्र प्रतिपाद्यम्, भेदाभावस्तु द्वारमिति चेत्, तथापि नाखण्डार्थता, उपलभ्यमाणस्य स्वेतरेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतीतावखण्डार्थत्वासंभवात्। अप्रतीतौ चानुपलक्षकत्वादेवोपलक्षणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नापि तृतीय, शीतोष्ण-स्पर्शवन्तौ पय पावकावित्यत्रापर्यायशब्दाना प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायि-

---

वस्तुमात्रमेवेति। दूषयति—**तथापीति**। भेदाभावेन यद्ब्रह्म लक्ष्यते तत्किमितरेभ्यो व्यावृत्त प्रतीयते ? न वा ? प्रथमे प्राह—**उपलक्ष्यमाणस्येति**। व्यावृत्तिविशिष्टस्याखण्डत्वाभावादित्यर्थ । द्वितीय दूषयति—**अप्रतीताविति**। कादाचित्कव्यावर्तकमुपलक्षण नाम तस्य चाव्यावर्तकत्व व्याहतमित्यर्थ । अपर्यायशब्दाना प्रातिपदिकार्थमात्रनिष्ठत्वमिति तृतीय दूषयति—**नापि तृतीय इति**। यस्य हि लक्षणवाक्य लक्ष्यप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसितमिति मत तस्येमे लक्षणवाक्ये लक्ष्यजलानलस्वरूपपर्यवसिते, तथापि नाखण्डार्थता भिन्नत्वाल्लक्ष्ययोरित्यर्थ । अथवा पय-पावकशब्दयोरपि शीतोष्णस्पर्शवन्तावेवार्थौ जातिमात्रपरत्वायोगात्। तथा च शीतोष्णस्पर्शवच्छब्दयो पय पावकशब्दयोश्च प्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वमस्ति, नचात्राखण्डार्थतेत्यर्थ । अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थत्वमिति चतुर्थं पक्ष दूषयति—

अत ससृष्टार्थत्व प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि उपलक्षण पक्ष मे वेदान्त वाक्यो मे अखण्ड वस्तु मात्र ही प्रतिपादनीय रहता है, भेद का अभाव तो द्वार मात्र (अखण्डार्थ के ज्ञान मे निमित्त मात्र) रहता है, तो भी अखण्डार्थता नही सिद्ध हो सकती है, क्योकि भेदाऽभाव मे जो ब्रह्म उपलक्षित होता है, उस उपलक्ष्यमाण (उपलक्षित) ब्रह्म की स्वेतर से व्यावृत्त रूप से प्रतीति होने पर अखण्डार्थत्व का असम्भव है, क्योकि व्यावृत्तिविशिष्ट को अखण्डत्व का अभाव रहता है। और यदि उपलक्ष्यमाण वस्तु इतर मे व्यावृत्त रूप से प्रतीति नही हो, तब तो उपलक्षण के अनुपलक्षकत्व से ही उपलक्षण मे व्यर्थता प्राप्त होगी। क्योंकि कादाचित्क व्यावर्तक उपलक्षण कहा जाता है, उपलक्ष्य मे इतरव्यावृत्तत्व नही होने पर, उसके व्यावर्तकत्व का अभाव होगा। अपर्याय शब्दो के प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायित्व रूप, तृतीय लक्षण भी युक्त नही है, क्योंकि शीतोष्णस्पर्श वाले जल अग्नि है। इस लक्षणवाक्य मे अपर्याय शब्दो को प्रातिपदिकार्थमात्र पर्यवसायित्व (प्रातिपदिकार्थ मात्र के बोधकत्व) होते भी अखण्डार्थत्व नही देखा जाता है। यद्यपि ये लक्षण रूप वाक्य है, अत जल अग्नि रूप प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायी माने जाते है, तथापि लक्ष्य के भिन्न होने से अथवा पय वाचक शब्द के शीतस्पर्शवान्, उष्णस्पर्शवान् अर्थ होने से अखण्डार्थत्व नही है। अपर्याय शब्दों के

त्वेऽप्यखण्डार्थत्वादर्शनात् । नापि चतुर्थ, तथासत्येकेनैव तत्प्रतिपत्ते पदान्तरप्रयोगस्य वैयर्थ्येन लक्षणस्यासंभवित्वापातात् । व्यवच्छेद्यभेदाद-वैयर्थ्यमिति चेन्न । तदनिरुक्ते । तथाहि—किं व्यवच्छेद्याना व्यावृत्तय पदै प्रतिपाद्यन्ते ? अथवा तद्विशिष्टम् ? आहोस्विदुपलक्षित स्वरूपमात्र वा ? तत्र न प्रथमद्वितीयौ, तथासति ससृष्टार्थत्वेनाखण्डार्थत्वानुपपत्ते । नापि तृतीय, तत्राप्यन्यतो व्यावृत्तस्य प्रतिपादने प्राचीनदोषानुषङ्गात् ।

नापि चतुर्थः इति । यदि ह्येकमेव वस्तु बुबोधयिषित तदैकेनैव बुद्धमिति पदान्तरप्रयोगो वृथैव स्यात्, न च पदमात्र वाक्यमस्ति तस्मादसंभविलक्षणमित्यर्थ । यद्यप्येकमेव लिलक्षयिषितम्, तथापि व्यवच्छेद्या बहव सन्ति असत्यजाड्यादय । न चैकपदमात्रात्सर्वेषा व्यवच्छेद, तदर्थमात्रेणेतरेषा विरोधाभावात् । अतो न पदान्तरवैयर्थ्यमिति शङ्कते—**व्यवच्छेद्येति** । दूषयति—**न तदनिरुक्तेरित्यादिना ।** तद्व्यवच्छेदमात्रप्रतिपादन व्यवच्छेदविशिष्टवस्तुप्रतिपादन च ससृष्टार्थतया अखण्डार्थताविरोधीति दूषयित्वा व्यवच्छेदोपलक्षितवस्तुप्रतिपादनमिति तृतीय पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति ।**

एकप्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायित्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि इस लक्षण के अनुसार 'सत्य ज्ञानमनन्तम्' इस वाक्य मे एक ही पद से उस वक्तव्यार्थ की प्रतीति होने से पदान्तर के प्रयोग की व्यर्थता के कारण लक्षण के असम्भावित्व की प्राप्ति होगी, कारण है कि अनर्थक होने से एक पद से भिन्न पद का प्रयोग अयुक्त होगा, और एक पद मात्र वाक्य नही हो सकता है, अत उक्त लक्षण वाक्य के प्रयोग का असम्भव होगा। यदि कहा जाय कि यद्यपि लक्षण से बोधनीय वस्तु ब्रह्म एक है, उसका बोध किसी एक पद मे भी हो सकता है, परन्तु सजातीय-विजातीय से व्यावृत्त वस्तु का बोध स्वरूप लक्षण का फल होता है, और जिनसे लक्ष्य को व्यावृत्त करना होता है, उन व्यवच्छेद्य (निवार्य) असत्यादि वस्तुओ के बहुत होने से उनके व्यवछेदन द्वारा सब लक्षण गत पद सार्थक हो जाते है, तो यह कहना भी नही बन सकता है, क्योकि उस व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) का निर्वचन (निर्णय) नही हो सकता है, वह दर्शाया जाता है कि क्या व्यवच्छेद्य असत्यादि के व्यावृत्तियो को सत्यादि पदो से प्रतिपादन किया जाता है, या व्यावृत्ति युक्त वस्तु (ब्रह्म) का प्रतिपादन किया जाता है, अथवा व्यावृत्ति से उपलक्षित स्वरूप मात्र का प्रतिपादन होता है । यहाँ प्रथम द्वितीय पक्ष तो बन नही सकता है, क्योकि सप्रतियोगिक इतर व्यवच्छेद्यमात्र के या व्यवच्छेद्यविशिष्ट के प्रतिपादन के उक्त रीति से ससृष्टार्थक होने से अखण्डार्थत्व की असिद्धि होती है । व्यवच्छेद्य से उपलक्षित वस्तुमात्र का प्रतिपादन रूप तृतीय पक्ष भी नही बन सकता है,

स्वरूपमात्रप्रतिपादने च पदान्तरप्रयोगवैयर्थ्यस्य दर्शितत्वात् ।

नापि पञ्चम । तथात्वस्यात्यन्तादृष्टचरत्वेन लक्षणासंभवित्वात् । ननु प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्येषु दृष्ट मसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति चेत्, मैवम्, लक्षणवाक्यैरपि लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तत्वेन प्रतिपादनात् तच्छब्दवैर्व्यवहर्तव्यत्वेन प्रतिपादनाद्वा लक्षणवाक्यानामपि समृष्टार्थत्वानतिवृत्ते । ननु सोऽ्य देवदत्त इत्यादिषु देवदत्त-

---

ममर्गागोचरप्रमोजनकत्वमिति पञ्चमत्र दूपयति - **नापीति** । सर्वत्र हि वाक्यार्थस्य पदार्थसमर्गतया वा समृष्टपदार्थतया वा ससगग्राहि वाक्यमित्यमसवि लक्षणमित्यर्थ । सिद्धान्त्यभिमतम रवस्यमाशङ्कते—**ननु प्रकृष्टेति** । अत्र हि चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र पृष्ठमेतद्वाक्यविषय न पुन प्रकर्षादिसमर्गस्याबुभुत्सितत्वादिति, तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । तदितरव्यावृत्तिर्वा तच्छब्दव्यवहारो वा लक्षणार्थ, उभयथापि ससृष्टार्थपरतानतिवृत्ति । तदिह प्रकर्षादिसर्गपरताऽभावेपि भवत्येव विधान्तरेण समृष्टार्थत्वमित्यर्थ । उदाहरणान्तरमाशङ्कते—**ननु सोऽयं देवदत्त**

क्योकि इस पक्ष मे भी अन्य से व्यावृत्त के प्रतिपादन करने पर उपलक्षितत्व से विशिष्ट के प्रतिपादन होने से अखण्डार्थता नही रहती ह, और लक्ष्यस्वरूप के एक पद मे लक्षित होने पर 'स्वरूपमात्र के प्रतिपादन करने पर' पदान्तर निरर्थक होते है, यह पूर्व वर्णित दोष प्राप्त होता हे। वह पदान्तर के प्रयोग की व्यर्थता प्रथम दर्शाई गई है ।

(ससर्गाऽगोचरप्रमाजनकत्वम् = अखण्डार्थत्वम्) यह पञ्चम लक्षण भी युक्त नही है । क्योकि तथात्व के (ससर्गाऽविषयत्व के) लोक मे अत्यन्त अदृष्टिविषय (अत्यन्त अज्ञात) होने से यह लक्षण असम्भव दोषयुक्त है । यदि शङ्का हो कि (प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र) इन ताराओ मे अधिक प्रकाश वाला चन्द्र है, किसी के प्रश्नविषयक उत्तर रूप इत्यादि लक्षण वाक्यो मे ससर्गाविषयक •प्रमाजनकत्व देखा गया है, क्योकि चन्द्रस्वरूप मात्र विषयक प्रश्न होने से स्वरूपमात्र विषयक ही उत्तर हो सकता है, प्रकाशादि परिचायक रहते है । उनके ससर्गादि विवक्षित नही रहते है, इत्यादि, तो ऐसी शङ्का युक्त नही, क्योकि लक्षण वाक्यो द्वारा भी सजातीय विजातीय से व्यावृत्त (भेदविशिष्ट) रूप से लक्ष्य का प्रतिपादन किया जाता है, अथवा तत्तत शब्द (चन्द्रादिशब्द) से व्यवहर्त्तव्य (वाच्यत्व) रूप से प्रतिपादन किया जाता, अत लक्षण वाक्यो मे भी समृष्टार्थत्व का अभाव नही हो सकता है । फिर भी यदि शङ्का हो कि (सोऽ्य देवदत्त) इत्यादि वाक्यो मे

गतभेदभ्रमव्युदासेन तत्स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वमपर्यायशब्दाना दृष्टमिति चेत्, मैवम्, तत्रापि परोक्षदेशकालोपलक्षितस्यैतद्देशकालविशिष्टत्वप्रतिपादकतया ससृष्टार्थत्वानतिवृत्ते, तावतैव च भेदभ्रमव्युदासादुभयपदलक्षणाभ्युपगमे **गौरवप्रसङ्गाच्च**। तदेव नाखण्डार्थत्वनिरुक्ति ।

नापि तत्र प्रमाणम् । प्रकृष्टप्रकाश इति वाक्यार्थश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थस्तत्प्रश्नोत्तरार्थत्वात् यन्नैव तन्नैव यथा वाक्यान्तरार्थ इति व्यति-

---

इति। देवदत्तैक्यस्यैकैकपदादपि सिद्धेर्वाक्यवैयर्थ्यमाशङ्कयोक्तम्—**भेदभ्रमव्युदासेनेति**। यद्यपि लक्षणवाक्यमिद न भवति, तथापि महावाक्याखण्डार्थत्वसभावनाया भवत्येव भूमिरितीदमाशङ्कितम् । यदि ह्युभयोरपि लक्षणया देवदत्तमात्रपर्यवमितमिद स्यात्तदाखण्डार्थत्वम्, नत्वेनदस्ति, एतद्देशकालमसर्गप्रतिपादनपरत्वात्, नत्पदस्यैव केवल लक्षणाश्रयणात् तावन्मात्रादेव भेदभ्रान्तिनिवृत्ते, विना कारण लक्षणायामतिप्रमङ्गात्तदेतदाह—**मैवं तत्रापीति । गौरवप्रसङ्गादिति**। प्रथम मुख्यार्थप्रतीतिस्नत्परित्यज्य तत्सबन्धादर्थान्तरप्रतीतिश्चेति बहु कल्प्यमित्यर्थ । एतेनार्थादेकत्वप्रतिपादनाद्वार साक्षादेकत्वप्रतिपादनमित्यपि परास्तम्, लक्षणागौरवादेव ।

यदत्र न्यायरत्नदीपावल्यामनुमानमुक्तम्, तदनुवदति—**प्रकृष्टेत्यादिना**। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थ मात्रग्रहणम्, ससृष्टपदार्थाना वाक्यार्थत्वेन चन्द्रपदार्थस्यापि तत्स्वीकारात । तत्प्रश्नस्योत्तर यद्वाक्य तदर्थत्वादित्यर्थ । अत्र साध्यश्चन्द्रप्राति-

---

तत्तत पद से एक विभक्ति से देवदत्त गत भेदभ्रम के निवारण द्वारा देवदत्त के स्वरूप मात्र पर्यवसायित्व, अपर्यायवाचक शब्दो को देखा गया है । तो यह शङ्का भी युक्त नही, क्योकि उस 'सोऽय देवदत्त' वाक्य मे भी परोक्ष देश काल से उपलक्षित के एतद्देशकाल विशिष्टत्व की प्रतिपादकता से ससृष्टार्थत्व की निवृत्ति नही हाती है, और तावता (केवल तत्पद मे लक्षण से) परोक्ष कालादि के उपलक्षितत्व के बोध होने से भेदभ्रम का निवारण हो जाता है, और सोऽय के तत् इदम् दोनो पद मे लक्षण मानने पर गौरव की प्राप्ति होती है, अत उभय पद मे लक्षण मानकर अखण्डार्थत्व का वर्णन युक्त नही । इस उक्त रीति से अखण्डार्थत्व की निरुक्ति (लक्षण) नही हो सकती है ।

उस अखण्डार्थ मे कोई प्रमाण भी उपलब्ध नही है । यदि कहा जाय कि 'प्रकृष्टप्रकाश यह वाक्यार्थ, चन्द्ररूप प्रातिपादिकार्थमात्रार्थ वाला है, चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र विषयक प्रश्न का उत्तर होने से, जो प्रश्न का उत्तर नही, वह प्रातिपदिकार्थ मात्र पद नही, यथा वाक्यान्तरार्थ' । यह व्यतिरेकी अनुमान प्रमाण है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यह विचार मे नही ठहरता है, वह दर्शाया जाता

रेक्यनुमानमस्तीति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि——चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थोऽन्यत्र प्रसिद्ध? न वा? आद्ये तत्र हेतोर्वृत्तावन्वयव्यतिरेकितया केवलव्यतिरेकित्व-व्याघात। अवृत्तौ तु सत्यपि सपक्षे तत्र हेतोरवृत्तेरसाधारणानैकान्तिकता। द्वितीये पुनरप्रसिद्धविशेषणतैव। अन्वयव्यतिरेकिताया च यो यत्प्रश्नोत्तरार्थ इति व्याप्तिरभ्युपेया। तथाच त्वत्करे कति वराटका इति प्रश्नस्य पाणौ पञ्च वराटका इति प्रतिवचने व्यभिचार। न च विमतमखण्डार्थं लक्षणवाक्यत्वात्पृथुबुध्नोदराकार कुम्भ इति

पदिकार्थ तत्सिद्धप्रसिद्धो न वेति विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना।** ननु मा भूत्केवलव्यतिरेकिता, अन्वयव्यतिरेकिता तु भवतु, किमेतावतेत्यत आह—**अन्वयेति।** कति वराटका इति प्रश्नोत्तरार्थे वराटकसङ्ख्याविशेषे वराटकप्रातिपदिकार्थत्व नास्ति सङ्ख्यामवन्तरत्वाद्वाक्यस्येत्यर्थ। वराटक कपर्दक,। न च तत्प्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधौ व्याप्ति क्वचिदपि प्रातिपदिकमात्रनिष्ठवाक्यासप्रतिपत्ते। अन्यथा तस्यैव दृष्टान्ततोपपत्तौ एतत्प्रसाधनवैयर्थ्यापातादिति। अतएव चन्द्रप्रातिपदिकप्रश्नोत्तरार्थत्वोपाधावपि न व्याप्ति, असिद्धेरेव। आनन्दबोधाचार्यानुमानमुद्भाव्य दूषयति—**विमतमित्यादिना।** विज्ञानादिवाक्यमित्यर्थ। **उक्तप्रकारेणेति।** इतरव्यावृत्तेर्व्यवहारस्य वा बोधनादित्यर्थ। स्वपक्षे चानुमान-

---

है कि—चन्द्रप्रातिपदिकार्थ मात्र साध्य पक्ष मे अन्यत्र प्रसिद्ध है, या नही, यदि प्रसिद्ध है, और वहाँ हेतु भी रहता है, तो अन्वयव्यतिरेकिता से इस अनुमान के केवल व्यतिरेकित्व का अभाव होगा। ओर प्रसिद्ध साध्य के स्थान मे हेतु की अवृत्ति (अभाव) होने पर, सपक्ष के रहते भी उसमे हेतु के नही रहने से असाधारण अनैकान्तिकता होगी। और चन्द्रप्रातिपदिकार्थ के अन्यत्र अप्रसिद्धत्व रूप दूसरे पक्ष मे, अप्रसिद्ध विशेषणता ही दोष होगा। और अन्वयव्यतिरेकिता होने पर (जो वाक्य जिस प्रश्न का उत्तरार्थक होता है, सो उस प्रश्न के प्रातिपदिकार्थ मात्रार्थ वाला भी होता है) ऐसी व्याप्ति माननी पडेगी। और ऐसा मानने पर (तेरे हाथो मे कितने बराटक = कौडियाँ है) इस प्रश्न के उत्तर रूप (हाथ मे पाँच कौडियाँ है) इसमे व्यभिचार होता है, क्योकि यहाँ प्रश्न के उत्तरत्व हेतु है, और प्रातिपदिकार्थपरत्व रूप साध्य नही है, सख्यासम्बन्धपरत्व उत्तर वाक्य को है, वराटक रूप प्रातिपदिकार्थमात्र परत्व नही है। (विमत = विज्ञानादि वाक्य अखण्डार्थक है, लक्षणवाक्य होने से, पृथु बुध्न उदर आकार वाला कुम्भ, है, इस वाक्य के समान) यह अनुमान भी अखण्डार्थ मे प्रमाण नही हो सकता है, क्योकि लक्षण वाक्यो को भी उक्तरीति से ससृष्टार्थपरक होने से दृष्टान्त मे

वाक्यवदित्यनुमान मानम् , लक्षणवाक्यानामप्युक्तप्रकारेण ससृष्टार्थपरतया दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । तदेव लक्षणप्रमाणयोरभावान्नाखण्डार्थत्व शब्दानाम् । विवादाध्यासित पदार्थसमर्गप्रतीतिजनक वाक्यत्वाद् गवानयनादिवाक्यवत् । न च जरद्गवादिवाक्ये व्यभिचार, तस्य वाक्याभासत्वात् । आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति हि वाक्य-

माह पूर्ववादी—**विवादाध्यासितमिति** । सत्यज्ञानादिवाक्यमित्यर्थ । प्रतीगिरमिति । प्रयोगद्वये च ससृष्टापदार्थस्य पदार्थससर्गस्य वा पक्षीकरणे बाधस्तदितरस्य त्वप्रसिद्धेराश्रयासिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम् । **जरद्गवेति** ।

'जरद्गव कम्बलपादुकाभ्या द्वारि स्थितो गायति भद्रकाणि ।
न ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन्रुमाया लशुनस्य कोर्घ' ।।

इति श्लोकादावित्यर्थ । वाक्याभासतामेव दर्शयति—**आकाङ्क्षेति** । न तत्र योग्य-

साध्यविकलता है । अत उक्त रीति से अखण्डार्थ मे लक्षण और प्रमाण के अभाव से शब्दो की अखण्डार्थता नही सिद्ध होती है । क्योकि लक्षणवाक्य से भी इतरव्यावृत्ति वा व्यवहर्तव्यत्व का ही बोध होता है । और सखण्डार्थता मे प्रमाण है कि (विवादास्पद = सत्यज्ञानादिवाक्य, पदार्थ के ससर्ग की प्रतीति के जनक है, वाक्य होने से, गवानयनादि वाक्य के समान) यदि कहे कि जरद्गवादि[1] निरर्थक वाक्य मे वाक्यत्व हेतु का व्यभिचार है, क्योकि वहाँ वाक्यत्व रहता है, और साध्य नही रहता है, तो कहा जाता है कि व्यभिचार दोष नही है, क्योकि (जरद्गवादि निरर्थक पद समूह मे वाक्याभासत्व (मिथ्या वाक्यत्व) रहता है, वाक्यत्व नही । वाक्यवेत्ता लोग (आकाक्षा सन्निधि योग्यता वाले पदो को ही वाक्य

१ जरद्गव कम्बलपादुकाभ्या द्वारि स्थितो गायति मद्रकानि ।
त ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रूमाया लशुनस्य कोऽर्थ ।।

यह जरद्गवादि वाक्य है कि, कम्बलपादुका युक्त **वृद्धगौ = बैल,** द्वार पर स्थिर होकर भद्रक = मङ्गल गाता है और पुत्र की इच्छा वाली ब्राह्मणी उससे पूछती है कि—हे राजन ! रुमा = नमक की खान = ऊषर भूमि मे लशुन का क्या फल है । बैल मे सास्ना नामक गलकम्बल से अन्य की योग्यता नही है । या, पशुपति = ईश्वर के ज्ञानादि से रहित अज्ञ जीव जरद्गव (बैल) अविद्यागत आवण विक्षेप शक्ति रूप कम्बलपादुका से युक्त होकर, मानव देह रूप मुक्ति द्वार पर स्थिर होकर भी विषय की गीत को गाता है, उसको मोक्षकामा ब्रह्मविषया बुद्धिरूप ब्राह्मणी पुछती है कि राजन् स्वप्रकाश रुमा प्रज्ञानेत्र मे विषय लशुन का क्या फल है, ऐसा अर्थ भी करते हैं ।

विद. । न च ख छिद्रमित्यादौ व्यभिचार, तस्यापि लक्षणवाक्यत्वेन लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वेनाखण्डार्थत्वाभावात् । न च विपक्षे बाधकतर्काभाव, ससर्गप्रतीत्यजनकत्वे वाक्यत्वाभावप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात् । तदेव नाखण्डार्थता वेदान्तानामिति ।

अत्राभिदध्महे—न तावल्लक्षणासभवो, यत —

ससर्गासङ्गि सम्यग्धीहेतुता या गिरामियम् ।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ।। १९ ।।

अपर्यायशब्दाना समर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थता न चेदमसभवि

तास्तीत्यर्थ । ननु ख छिद्रमित्यत्र वाक्यत्वमस्ति, न च साध्यमस्ति, अनेकपदार्थाभावेन ससर्गाभावादतो व्यभिचार इति तत्राह—**न च खं छिद्रमितीति ।**

अत्र समाधातुमुपक्रमते—**अत्रेति । संसर्गेति ।** गिरामपर्यायशब्दाना या ससर्गाविषयत्वे सति सम्यग्धीहेतुता इयमखण्डार्थतोक्ता । अथवा तेपामेव शब्दाना तत्प्रातिपदिकार्थता तदिति ससर्गराहित्येन लक्षितमेकत्व परामृशति—एकप्रातिपदिकार्थतेति लक्षणसग्राहकश्लोकयोजना । अनेन च चतुर्थपञ्चमपक्षौ परिगृहीतौ । श्लोक विवृणोति—**अपर्यायेति ।** हस्त कर इत्यादौ व्यभिचारवारणायापर्यायग्रहणम् । इन्द्रियव्यावृत्त्यै शब्दग्रहणम । गामानयेत्यादिव्यवच्छेदार्थ ससर्गागोचरग्रहणम् ।

कहते है । जरद्गवादि वाक्य मे योग्यता के अभाव से वाक्याभासत्व रहता है । यदि कहे कि (ख छिद्रम्) आकाश विवरस्वरूप, अवकाश (स्थानप्रद) है । इत्यादि मे वाक्यत्व हेतु का व्यभिचार है, क्योकि आकाश के एक होने से अनेक पदार्थो के अभाव होने के कारण ससर्गप्रतीति जनकत्व रूप साध्य नही है, हेतु है, तो वह कहना युक्त नही, उस वाक्य को भी लक्षणस्वरूप वाक्य होने से लक्ष्य की सजातीय विजातीय से व्यावृत्ति के प्रतिपादनपरत्व के कारण अखण्डार्थत्व का अभाव रहता है । यदि कहे कि इस अनुमान के विपक्ष का बाधक कोई तर्क नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि ससर्ग की प्रतीति के अजनकत्व रूप विपक्ष के वाक्यत्वाभाव का प्रसङ्ग ही बाधक तर्क है । ससर्गप्रतीति के अजनकत्व रहते वाक्यत्व नही रह सकता है । अत उक्त रीति से वेदान्तवाक्यो की अखण्डार्थता नही सिद्ध होती है ।

यह पूर्व पक्ष हुआ । अत्राभिदध्महे, यहाँ उत्तर कहते है कि अखण्डार्थक लक्षण का असम्भव नही है । क्योकि—

गिराओ = वाक्यो को ससर्गाऽविषयक सम्यक् ज्ञान की जो जनकता है, यही अखण्डार्थता नही कही गई है । यद्वा वह प्रातिपादिकार्थता रूप है ।। १९ ।।

अपर्याय शब्दो मे ससर्गविषयक प्रमाजनकत्व अखण्डार्थता है, (यह

लक्षणम्, प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्येषु तत्सद्भावात्। न च लक्षणवाक्यमपि समृष्टार्थं लक्ष्यस्य सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्तिवैशिष्टचप्रतिपादनपरत्वात्तत्तच्छब्दैर्व्यवहर्तव्यत्वप्रतिपादनाद्वेति युक्तम्, विकल्पासहत्वात्। कि प्रकृष्टप्रकाशादिवाक्य साक्षादन्यतो व्यावृत्ति प्रतिपादयति ? किवा स्वरूपप्रतिपादनेनार्थात् ? नाद्य, व्यावृत्तिप्रतिपादकशब्दाभावात्। नापि द्वितीय, नान्तरीयकतया सिध्यतोऽर्थस्य शब्दार्थत्वाभावात्, 'यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थ' इति न्यायात्। अन्यथा गामानयेत्यादिवाक्येष्वश्वाद्यानयनव्यावृत्तरपि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। नन्वय चन्द्र इति व्यवहर्तव्य, प्रकृष्टत्वे सति

वाक्याभासव्यावृत्त्यर्थं प्रमितिग्रहणम्। **तत्सद्भावात्।** लक्षणसद्भावादित्यर्थ। तत्रापि समृष्टार्थत्व पूर्ववादिनोक्तमनूद्य त दूषयितुम् विकल्पयति—**कि प्रकृष्टेत्वादिना।** साक्षादित्यभिधानेनेत्यर्थ। **अर्थादिति।** नान्तरीयकतयेत्यर्थ। यश्चार्थाच्छ्रुतार्थनान्तरीयकतया लभ्यते, न च स चोदनार्थो वेदार्थ इति शबरस्वामिवाक्यार्थ। न चाश्वाद्यानयनव्यावृत्तिरपि तद्वाक्यार्थ, वाक्यभेदप्रसङ्गादिति भाव। ननु माभूद्व्यावृत्तिप्रतिपादनपरत्वम् व्यवहारसाधनमेव लक्षणप्रयोजन ब्रूम - तावताप्यखण्डार्थता खण्डितैवेति शङ्कते—**नन्वयमित्यादिना।** चन्द्ररूपार्थविशेषितव्यव-

---

प्रथम कहा गया है। यह लक्षण असम्भवतादोष युक्त नही है। क्योकि प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्यो मे इस अखण्डार्थबोधकत्व का सद्भाव (सत्त्व) है। लक्षण वाक्य को भी ससृष्टार्थत्व (सम्बन्धयुक्तार्थवत्त्व) रहता है, क्योकि लक्ष्य को सजातीय विजातीय मे व्यावृत्ति विशिष्ट रूप से प्रतिपादनपरत्व से तथा तत्तत् शब्दो द्वारा व्यवहर्तव्यत्व के प्रतिपादन से लक्षण वाक्य के ससृष्टार्थत्व को प्रथम कहा गया है। तो कहा जाता है कि वह कथन युक्त नही है, क्योकि विचारायोग्य है। विचार यह है कि, क्या प्रकृष्ट प्रकाशादि वाक्य, साक्षात् अन्य से लक्ष्य की व्यावृत्ति (भेद) का प्रतिपादन करता है, अथवा लक्ष्यस्वरूप के प्रतिपादन के द्वारा फलितार्थ रूप मे (व्याप्यता रूप से) प्रतिपादन करता है। प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि उक्त लक्षण वाक्य मे व्यावृत्ति वाचक शब्द का अभाव है। दूसरा पक्ष भी अमान्य है, क्योकि नान्तरीयक (व्याप्य) रूप से सिद्ध होने वाले अर्थ मे शब्दार्थत्व (शब्द वाच्यत्व) का अभाव रहता है, यह शबर स्वामी ने कहा है कि, जो अर्थ अर्थ से (श्रुतार्थ के व्याप्य रूप से) लब्ध ज्ञात होता है, वह चोदनार्थ (वेदार्थ) नही होता है। इस न्याय से यहाँ भी फलितार्थ लक्षण वाक्यार्थ नही होता है, अन्यथा 'गामानय' इत्यादि वाक्यो मे भी अश्वादि के आनयन की व्यावृति को भी वाक्यार्थत्व प्राप्त होगा, और उसको भी वाक्यार्थ मानने पर वाक्य भेद की प्राप्ति होगी। यदि शङ्का हो कि (यह चन्द्र, चन्द्र इस

प्रकाशत्वात्, यन्नैव न तदेव यथा नक्षत्रादि, न तथा चायम्, तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेकितया लक्षणवाक्य पर्यवस्यति, तथा च कथमखण्डार्थता ? चन्द्र इति व्यवर्हव्यतालक्षणधर्मवैशिष्टचप्रतिपादनपरत्वादिति चेत्, मैवम्, 'चन्द्रतया व्यवहर्तव्य' इति किं चन्द्ररूपार्थविशेषितो व्यवहार कर्तव्य ? उत चन्द्रशब्दमात्रविशेषितो व्यवहार ? आद्ये चन्द्रविशिष्ट व्यवहार यदि नाज्ञासीत्तदा लक्षणवाक्यादपि विषयविशेषितकर्तव्यता तस्य कथमधिगच्छेत् ? नह्यविदिताग्निरनुमानादप्यग्निसम्बन्धमधिगमयितु शक्य । अथाधिगतवान् तदा लक्षणवाक्यरूपमनुमान निष्प्रयोजनम्,

---

हारकर्तव्यतासाधने दोषमाह—**आद्य इति**। यस्य कर्तव्यतामात्र साध्यते स किं चन्द्रविशेषितो व्यवहार प्रतिवादिनोऽज्ञात ? ज्ञातो वा ? यद्यज्ञातस्तदाऽप्रसिद्ध-विशेषणत्वम्। अविदितदहन प्रतीव दहनानुमानप्रवृत्तावित्याह—**तदा लक्षण-वाक्यादपीति**। अपिना स्वरूपसाधकत्व लक्षणस्य सूच्यते। द्वितीय दूषयति—

शब्द से व्यवहार योग्य है, प्रकृष्ट प्रकाश युक्त होने से, जो ऐसा = प्रकृष्ट प्रकाश युक्त, नहीं है। वह इस प्रकार का = चन्द्र शब्द से व्यवहार योग्य भी नहीं है। जैसे कि नक्षत्रादि है, और यह चन्द्र नक्षत्रादि के समान प्रकृष्ट प्रकाशरहित नहीं है। अत न तथा (चन्द्र शब्द से अव्यवहर्तव्य भी नहीं है) इस प्रकार से केवल-व्यतिरेकी अनुमानरूपता से लक्षण वाक्य सिद्ध होता है, तो लक्षण वाक्य को अखण्डार्थता कैसे हो सकती है, क्योकि इस अनुमान के अनुसार चन्द्र इस शब्द से व्यवर्हतव्यता स्वरूप धर्मविशिष्टता के प्रतिपादनपरत्व लक्षण वाक्य को सिद्ध होता है। यह शङ्का युक्त नही, क्योकि (चन्द्र इति व्यवहर्तव्य = चन्द्रतया व्यवहर्तव्य) इस साध्य का क्या अर्थ है ? क्या, चन्द्र रूप अर्थ से विशेषित व्यवहार कर्तव्य अर्थ है, या चन्द्रशब्द मात्र विशेषित व्यवहारकर्तव्य अर्थ है। प्रथम पक्ष मे यदि श्रोता चन्द्रविशिष्ट व्यवहार को नही जानता हो, तो लक्षण वाक्य से भी उस चन्द्रविशिष्ट व्यवहार रूप विषय से विशेषित कर्तव्यता को कैसे समझ सकता है। अर्थात् जिस व्यवहार की कर्तव्यता को सिद्ध करते हैं, वह चन्द्रविशेषित व्यवहार ज्ञात है, या अज्ञात है। यदि अज्ञात है, तो अप्रसिद्ध विशेषणता होगी। तो जैसे अग्नि को नही जानने वाला अनुमान से अग्नि के सम्बन्ध को नही जान सकता, वैसे चन्द्र विशेषित व्यवहार को नही जानने वाला, व्यवहार के कर्तव्यता के साथ सम्बन्ध को भी अनुमान से नही जान सकता है, और यदि वह श्रोता (प्रतिवादी) वा जिज्ञासु चन्द्र विशेषित व्यवहार को जानता है, तो उसके प्रति लक्षण वाक्य रूप अनुमान प्रयोग निष्फल है, क्योकि ज्ञात का ज्ञापन रूप अनुमान

ज्ञानस्येव ज्ञापनात्। अथ सामान्यतो जानात्यस्ति कश्चिद्विषयश्चन्द्रव्य-वहारस्येति, विशेषतस्तु न जानातीत्युच्यते, तथापि किं सामान्यतो व्यवहारस्य निमित्तवत्ता जानाति? किं वा व्यवहारविशेषस्य? आद्ये प्रकृतानुपयोग, व्यवहारविशेषस्य विचार्यमाणत्वात्। द्वितीयेऽपि चन्द्र-लक्षणार्थविशेषापरिज्ञाने तद्विशिष्टव्यवहार एव विज्ञातुमशक्य । ज्ञाते

अथेति। चन्द्रव्यवहारस्य कर्तव्यतामात्रमेव तावत्साध्यते, न पुनरग्निसबन्ध इवा-न्यत्र सिद्धस्यान्यत्र सबन्ध, केवलव्यतिरेकिताभङ्गात् तच्चैत्क्वचित्सिद्ध सिद्धमनु-मानमाव्यमित्यथ । ज्ञाताज्ञानविकल्पोक्तदोष परिहरन्नाशङ्कते—**अथ सामान्यत इति।** अयमर्थ—यद्यपि न स्थलान्तरे सिद्धि केवलव्यतिरेकित्वात्, तथापि ना-प्रसिद्धत्व सामान्यत सिद्धत्वादिति तदेतद्दूषयति—**तथापीति।** कीदृशमिद सामान्येन ज्ञानम्? किं वक्ष्यमाणदिशा चन्द्रशब्दविशेषितत्वासिद्धेश्चन्द्रलक्षणार्था-ज्ञानाच्चाश्वकर्णादिव्यवहारमात्रस्य नाम चन्द्रव्यवहार इति ततो व्यवहारमात्र निमित्तवदिति? किंवा चन्द्रव्यवहारो निमित्तमात्रवानिति? आद्ये गवादिव्यव-हारमात्रस्य निमित्तवत्त्वज्ञान न चन्द्रव्यवहारकर्तव्यतानुमानस्याप्रसिद्धविशेषणता निवारयति, न ह्यग्निमत्त्वप्रसिद्धिरनित्यत्वानुमाने ता वारयितुमलमित्यभिप्रेत्याह—**आद्ये प्रकृतानुपयोग इति।** द्वितीये चन्द्रविशेषितव्यवहार किं चन्द्रलक्षणार्थविशे-षितो व्यवहार? उत चन्द्रशब्दविशेषित? द्वितीयस्तु प्राथमिकद्वितीयविकल्पसमा-नजीवन। प्रथमेऽपि किं चन्द्रोऽविदित? विदितो वा? आद्ये प्राह—**द्वितीयेऽपि चन्द्रेति।** द्वितीये प्राह—**ज्ञाते चेति।** चन्द्रशब्दविशेषितो व्यवहार साध्यत इति

है। यदि कहा जाय कि श्रोता सामान्य रूप से जानता हो कि चन्द्र व्यवहार का कोई विषयविशेष है, परन्तु विशेष रूप नही जानता हो, तो उसके लिये अनुमान का प्रयोग सार्थक होता है, तो भी विचार कर्तव्य है कि सामान्य रूप से व्यवहार की निमित्तवत्ता (कर्तव्यता) को जानता है। या व्यवहारविशेष की निमित्तवत्ता को जानता है। अर्थात् लक्षण रूप निमित्त वाली व्यवहार मात्र की कर्तव्यता को समझता है, या व्यवहारविशेष की कर्तव्यता को लक्षणनिमित्त वाली समझता है। प्रथम पक्ष मे कहा जाता है कि सामान्य ज्ञान का प्रकृत मे उपयोग नही है, व्यवहार मात्र निमित्त वाला है, इसका विचार यहाँ नही किया जा रहा है, किन्तु विशेष चन्द्रविशेषित व्यवहार विचार्यमाण है, दूसरे व्यवहार विशेष की सनिमित्तता (लक्षणहेतुकता) पक्ष मे भी चन्द्रस्वरूप अर्थविशेष के अज्ञान रहते, तद्विशिष्ट व्यवहार को जानना अशक्य है। और जान लेने पर लक्षण वाक्य मे व्यर्थता कही गई है। चन्द्रशब्द विशेषित व्यवहार की सिद्धि के लिये लक्षण रूप अनुमान है, यह दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि लक्षण के

च लक्षणवाक्यवैयर्थ्यमित्युक्तम्। नापि द्वितीय, लक्षण विनापि गवादि-शब्दानामिव वृद्धव्यवहारादेव वाच्यवाचकसबन्धग्रहोपपत्ते। पूर्वं प्रतिपन्न एव वाच्यवाचकभावो लक्षणवाक्येन स्मार्यत इति चेन्, न, अवगतसबन्धस्य तत्र तच्छब्दादेव सम्बन्धस्मरणोपपत्तौ लक्षणाभिधानवैयर्थ्यात्। अवगतस-बन्धस्यापि शब्दस्य लक्षणवाक्यादेव सबन्धस्मरणनियमे, लक्षणवाक्यस्थप-दानामपि प्रत्येकलक्षणवाक्यै सबन्धस्मरणप्रसङ्गादनवस्थादुरवस्था स्यात्। तस्माद् गवानयनादिवाक्यपदाप्तोपदेशतयैव लक्षणवाक्यमवबोधकम्। तच्च सर्व स्वरूपमात्रे पर्यवस्यति, अर्थात्पुनरन्यतो व्यावृत्ति फलतीति युक्तम्।

द्वितीयपक्ष दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। अत्र चन्द्रशब्द प्रयोक्तव्य इति वाच्यवाचक-सङ्गतिग्रहो हि यदा लक्षणप्रयाजन तदा लक्षण व्यर्थमन्तरेणापि लक्षण गवादिपदाना-मिव सङ्गतिग्रहमभवादित्यर्थ,। प्रथमतोऽवगतस्यापि शब्दसबन्धस्य लक्षणवाक्या-त्स्मरणसाधनमप्यनर्थकम्, गवादिपदानामिवान्तरेणापि लक्षण स्मरणमभवादित्युक्तम्, इदानी न केवलमानर्थक्यमपि त्वनवस्थालक्षणानर्थोपि स्यादित्याह—**अवगत-संबन्धस्यापीति**। तत्तद्वाक्यस्थपदानामपि तैस्तैरर्थै सबन्धो लक्षणैरेव स्मारयित-व्य, एव तत्तत्स्मारकवाक्यपदानामपीति न कश्चिदपि स्यादित्यर्थ। तर्कि लक्षण-मेव तेषु ग्रन्थेषु न प्रयोक्तव्यम्? तथा च सत्य ज्ञानमनन्तमिति ब्रह्मलक्षणेन तत्प्रयुक्तजन्माद्यधिकरणेनापीत्य आह—**तस्मादिति**। न लक्षणमनुमानतयोपयुज्यते, अपि तु शब्दप्रमाणतयेत्यदे। ननु भवतु लक्षण शब्दतयोपयोगि किमायातमखण्डार्थ-तायामिति तत्राह—**तच्च सर्वमिति**। उक्तमेतत्पुरस्तादेव स्वरूपमात्र शब्देन बोध्यते इतरव्यावत्तिस्त्वार्थिकी न चार्थिक शब्दार्थ इति।

विना भी गो आदि शब्दो के समान वृद्धव्यवहार मे ही वाच्य-वाचक भाव रूप सम्बन्ध का ग्रहण होता है, वहाँ लक्षण प्रणयन व्यर्थ हे। यदि कहा जाय कि प्रथम ज्ञात ही वाच्य-वाचक भाव को लक्षण वाक्य द्वारा स्मरण कराया जाता है। तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि उस ज्ञात पक्ष मे सम्बन्ध को जानने वाले को वाचक शब्द से ही सम्बन्ध के स्मरण की सिद्धि हो सकती है, फिर स्मरण के लिये लक्षण का कथन व्यर्थ है। यदि ज्ञात सम्बन्ध वाले शब्द के लक्षण वाक्य से ही सम्बन्ध के स्मरण का नियम माना जाय, तो लक्षण वाक्यस्थ प्रत्येक पदो के लक्षण वाक्य द्वारा सम्बन्ध की प्राप्ति से, तत्तत् लक्षणस्थ पदार्थो के सम्बन्धो के अन्य लक्षण वाक्य द्वारा स्मृति की प्राप्ति से अनवस्था प्राप्त होगी। अत लक्षण अनुमान रूप से बोधक नही होता है, किन्तु गवानयनादि वाक्य के समान आप्तो-पदेश रूप से ही बोधक होता है। और वह सब लक्षण वाक्य लक्ष्य के स्वरूप मात्र मे बोधक रूप से स्थिर होता है, अन्य से व्यावृत्ति तो अर्थात् (व्याप्य) रूप से फलित (सिद्ध) होता है, शब्दार्थ रूप से नही।

नन्वेवमपि नैतल्लक्षणम्, अप्राप्तयो प्राप्ति सयोग, नित्य सबन्ध समवाय इत्येवमादिसबन्धप्रतिपादकलक्षणवाक्येष्वव्याप्ते । तेषा समर्गगोचरप्रमितिजनकत्वादिति चेत्, मैवम्, तेषामपि स्वस्वपदस्मारित-पदार्थानामन्योन्यससर्गगोचरप्रमितिजनकत्वात् । ससर्गगोचरप्रमितिजनक-त्वशब्देन चास्यैवार्थस्य विवक्षितत्वात् । नाप्यतिव्याप्ति, ससर्गप्रमिति-जनकेषु गवानयनादिवाक्येषु लक्षणाभावात् ।

यद्वा अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपादिकार्थमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता ।

यद्यपीद मभवति, तथाप्यव्यापकमिद लक्षणम्, सयोगसमवायात्मकसबन्धस्य यल्लक्षणवाक्य तस्य लक्ष्यससर्गविषयत्वेन ससर्गागोचरत्वलक्षणाशाभावादिति शङ्कते—**नन्वेवमपीति** । ससर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमिति कोऽर्थ ? यद्बोधयति तदीयससर्गागोचरत्वे तत्प्रमितिजनकत्वमिति, अस्ति चैतदत्रापि, नहि सयोगस्य समवायस्य वा तत्तद्विशेषणससर्गबोधपरमिद वाक्य तस्याबुभुत्सितत्वादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**मैवं तेषामपीति** । न च विष भुङ्क्ष्वेत्यादिसर्वलक्षणावाक्येष्वति-व्याप्ति, प्रतिपिपादयिषितससर्गगोचरत्वात् तदभावस्येह विवक्षितत्वात् ।

यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थतेति श्लोकावयव विवृणोति—**यद्वा अपर्यायेत्यादिना ।**

फिर भी शङ्का होती है कि ऐसा होने पर भी यह अखण्डार्थ का लक्षण नही बन सकता है । क्योकि लक्षण वाक्य को अखण्डार्थक माना गया है, और अपर्याय शब्दो मे ससर्गाऽविषयक प्रमाजनकता अखण्डार्थता है, वह सयोग-समवाय के लक्षण मे अव्यापक है, क्योकि (अप्राप्तयो प्राप्ति सयोग नित्यसम्बन्ध समवाय) अप्राप्त दो द्रव्य की प्राप्ति को सयोग कहा जाता है और नित्य सम्बन्ध को समवाय कहा जाता है, इस प्रकार के लक्षण ससर्ग विषयक ही प्रमिति के जनक होते है, अत यहाँ उक्त लक्षण की अव्याप्ति है, क्योकि सम्बन्ध प्रतिपादकत्व है, अत ससर्गा-गोचर प्रमितिजनकत्व नही है, यह शङ्का भी कर्तव्य नही है, क्योकि उन लक्षणो को भी तत्तत् लक्षण पदो से स्मारित पदार्थों के ससर्गागोचर प्रमिति जनकत्व है, अर्थात् उन लक्षणो से स्मारित सयोग और समवाय के ससर्गागोचर ही प्रमिति के जनकत्व उन लक्षणो को है सयोग-समवाय का स्वरूप ससर्ग रूप है, इससे अव्याप्ति नही हो सकती है, ससर्गागोचर प्रमिति जनकत्व शब्द से इसी उक्त अर्थ को विवक्षितत्त्व है, सयोग वा समवाय के तत्तद् विशेषण के बोधन परक वे वाक्य नही है, क्योकि वे बुभुत्सित नही है, स्वरूप मात्र बुभुत्सित है, इस लक्षण की कही अतिव्याप्ति भी नही है । क्योकि ससर्गप्रमिति जनक गवानयनादि वाक्यो मे लक्षण का अभाव है ।

अथवा, 'यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता' इस श्लोकाश के अनुसार अपर्याय शब्दो

न चैव पदान्तरवैयर्थ्यम् , व्यावर्त्यभेदादर्थवत्त्वोपपत्ते । तथाहि—लोके प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टपदेनाप्रकृष्टखद्योतादे प्रकाशपदेनाप्रकाशात्मप्रकृष्टसतमसादेश्च व्यवच्छेदेन बुभुत्सितश्चन्द्रप्रातिपदिकमात्रार्थ प्रतिपाद्यते, अन्यथा वक्तुरबुभुत्सितमर्थ प्रतिपादयतोऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गात् । न च व्यावृत्तिपरत्वे व्यावृत्तिमत्परत्वे वा ससृष्टार्थत्वम् , स्वरूपमात्रपरत्वे च पदान्तरवैयर्थ्यमिति वाच्यम् , व्यावृत्तिद्वारा पदाना स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वाङ्गीकारात् , व्यावर्त्यभेदेनावैयर्थ्याच्च । तथा वेदेऽपि 'सत्य ज्ञानमनन्त

यद्यप्येकपदलक्ष्यमेव पदान्तरपर्यवसानभूमिस्तथापि नैकपदव्यावर्त्यमेव पदान्तरव्यावर्त्य जाड्यानृतादीना विभिन्नत्वात् ततो न ससृष्टार्थतावैयर्थ्ये इत्युक्तम् । एतदेव लौकिकोदाहरणेन दर्शयति—**तथा हीत्यादिना** । सतमस विष्वक्तम । अत्र च व्यवच्छेदेनेति व्यवच्छेदाना द्वारतोक्ता । **प्रतिपाद्यत इति** । तात्पर्यविषयत्व तेन न शून्यनिष्ठतापत्ति । ननु किमिति स्वरूपमात्रपरताश्रयण न पुनर्यथाश्रुतप्रकर्षादिससर्गपरत्वमिति तत्राह—**अन्यथेति** । यदि हि स्वरूपमात्रे पृष्टे गुणादिससर्गं प्रतिपादयेत्तर्ह्यश्रद्धेयवचन स्यादित्यर्थ । यत्तु पूर्वपक्षिणा त्रेधा विकल्प्य दूषणद्वययुक्त तन्निराकरोति—**न च व्यावृत्तीति** । ननूक्त स्वरूपमात्रपरत्वे पदान्तरवैयर्थ्यमिति तत्राह—**व्यावर्त्यभेदेनेति** । तदेव लौकिकेषूदाहृत्य विवक्षितमन्यादिव.क्येषु लक्षण वर्तयति—**तथा वेदेऽपीति** । ननु स्ववान्यप्रक्षेपेण वा पदाना निरोक्तिव्यावर्तनम ?

की एक प्रातिपदिकार्थ मात्र पर्यवसायिता = एकप्रातिपदिकार्थ मात्र बोधकता अखण्डार्थता है । इस प्रकार के लक्षण होने पर, पूर्वोक्त पदान्तर की व्यर्थता दोष भी नही है । क्योकि व्यावर्त्य के भेद से तत्तद् व्यावृत्ति द्वारा सब पदो की अर्थवत्ता (सार्थकता) की सिद्धि होती है । जैसे कि लोक मे (प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्र) इस लक्षण गत प्रकृष्ट पद से, अप्रकृष्ट प्रकाश वाले खद्योतादि की व्यावृत्ति होती है, प्रकाश पद से अप्रकाशात्मक प्रकृष्ट अन्धकार की व्यावृत्ति होती है, और उन दोनो के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) द्वारा बुभुत्सित चन्द्र प्रातिपदिकार्थमात्र लक्षण से प्रतिपादित (बोधित) होता है । अन्यथा यदि ससर्गादि परत्व हो तो अबुभुत्सित (बोद्धुमनिच्छित) अर्थ को प्रतिपादन करने वाले वक्ता मे अनवधेय (अश्राव्य) वचनता की प्राप्ति होगी । व्यावृत्ति परत्व वा व्यावृत्तिमत् पदार्थ परत्व होने पर लक्षण को ससृष्टार्थत्व होगा, और स्वरूप मात्र परत्व होने पर पदान्तर मे व्यर्थता होगी, यह पूर्वोक्त दोष वक्तव्य नही है । क्योकि व्यावृत्ति द्वारा पदो की स्वरूपमात्र मे पर्यवसायिता (निश्चलता) के अङ्गीकार से तथा व्यावर्त्य भेद से पदो की अव्यर्थता से उक्त दोष की प्राप्ति नही होती है । तथा इस लौकिक लक्षण के समान ही वेद मे भी, सत्य, पाप, आनन्द, अनन्त, आत्म शब्द भी अनृत, जड, दु ख,

ब्रह्म' इत्यादौ सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मशब्दा अनृतजडदुःखान्तवत्त्वानात्मत्व-भ्रान्तिनिवृत्तिद्वारा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति। न चैवमनेकाकारविज्ञान-जनकत्वात्पदानां लक्ष्यस्य ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वप्रसङ्गः, लक्षणासमये भिन्ना-कारविज्ञानजनकानामपि पदानां तत्तद्भ्रान्तिनिवृत्तिमात्रप्रयोजनकतया लक्ष्ये ब्रह्ममात्रे तात्पर्येण पर्यवसानात्। एवं च तत्तच्छब्दजन्यविज्ञानानां तत्त-द्भिन्नाकारसमर्पिणां नान्तरीयकतया तत्तद्विरोध्याकारनिवर्तकत्वाद्वाक्य-स्याखण्डार्थत्वसिद्धिः।

उक्तं चैतत्सुरेश्वराचार्यैः—

अप्रक्षेपेण वा? न तावद् द्वितीयः। विरोध्यदर्शनेनानृतादिव्यावृत्तेरशक्यज्ञानत्वात्। प्रथमे तु विभिन्नैर्ज्ञानत्वादिभिराकारैर्ब्रह्मणोऽप्यनेकाकारत्वमिति तत्राह—**न चैव-मनेकाकारेति**। लक्षणासमय इति सामीप्यात् लक्षणाप्राक्समयो विवक्ष्यते। न हि तत्ताकाराः प्रतिपिपादयिषिता इति प्रतिपाद्यन्ते किन्तु कथं नु नामानृताद्यारोप-रहितब्रह्मप्रतिपत्तिरिति? तथावदनृतादिव्यावृत्तिस्तावदेव सत्यत्वाद्याकाराणां स्थितिः, निवृत्तेषु तु तेषु एते एवाकारा अनृता जायन्ते, कः खलु विशेषोऽनृतादि-भिराकाराणामद्वैतविरोधे? तस्मादेकानन्दव्यक्तिपरमेव सत्यादिवाक्यं न सत्यत्वादि-परं नाप्यनृतादिव्यावृत्तिपरमित्यर्थः। विधिमुखेषु वाक्येषु उक्तन्यायं निषेधमुखेन प्रतिपादकेष्वप्यतिदिशति—**एवं च तत्तच्छब्दजन्येति**। तदेतद्विरोधनिवृत्त्यर्थमेव तत्तदाकारविधानं किञ्चिदुक्तम्, तत्तदाकारविरोधिनिवृत्तेश्चाशब्दत्वमुक्तम्, तदाचार्य-वचनेन द्रढयति—**उक्तं चैतदिति**। तैत्तिरीयके वार्तिके सत्यं ज्ञानमनन्तमिति

अन्तवत्ता, अनात्मत्व की भ्रान्ति की निवृत्ति द्वारा लक्ष्य ब्रह्म को भी अनेकाऽऽकारत्व का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) होगा। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि लक्षण के आरम्भ के समय मे भिन्न-भिन्न अनेकाकार विज्ञानो के जनक पदो को भी तत्तत् असत्त्वादि की भ्रान्ति की निवृत्ति मात्र की प्रयोजकता (हेतुता) होने से लक्ष्य स्वरूप ब्रह्म मात्र मे तत्परता (मुख्य रूप) से पर्यवसान (स्थित) होना है। अर्थात् भ्रान्ति की निवृत्ति के लिये प्रथम शब्दो से अनेकाऽऽकार प्रतिपादित होते है। भ्रान्ति की निवृत्ति होने पर अनेकाकार भी नही रहते है, सब एक आनन्द स्वरूप मे पर्यवसन्न (लीन) होते है। इस उक्त रीति से तत्तद् भिन्नाकार के समर्पक (प्रकाशक) तत्तत् सत्यादि शब्दजन्य विज्ञानो को नान्तरीयक (व्याप्य) रूप से तत्तत् असत्त्वादि विरोधी आकारो के निवर्तक होने के कारण वेदान्त वाक्य को अखण्डार्थकत्व की सिद्धि होती है।

इस उक्त अर्थ को इसी प्रकार से आचार्य श्रीसुरेश्वराचार्य ने तैत्तिरीय वार्तिक मे कहा है—

"प्रतिपद्य पदार्थं हि विरोधात्तद्विरोधिन ।
पश्चादभाव जानाति वध्यघातकवत्पदात् ॥ १ ॥
शब्दात्प्रतीयते तावत्सङ्गतिर्धर्मधर्मिणो ।
मानान्तरादपोहस्तु न शाब्दस्तेन स स्मृत ॥ २ ॥
तत्रानन्तोऽन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषणम् ।
स्वार्थार्पणप्रणाड्या च परिशिष्टौ विशेषणम् ॥ ३ ॥

वाक्यव्याख्यानसमये इति शेष । पदात्सत्यादे पदार्थ सत्यत्वादि ब्रह्मणि प्रतिपद्य ज्ञात्वा तेन विरोधाद्धेतोर्विरोधिनोऽनृतादेरभाव जानाति । तत्र निदर्शनम्—**बध्यघातकवदिति**। यथा खल्वाखुभूषिता भूमि दृष्ट्वाऽर्थान्मार्जाराभावोऽवगम्यते एवमिति । तत्किमुभयमपि शाब्दम् ? आहोस्विदन्यतरद् ? इति तत्राह—**शब्दादिति** । प्रथम धर्मधर्मिणो सत्यत्वादे ब्रह्मणश्च सगति शब्दात्प्रतीयते तावतास्यास्तात्पर्याविषयत्व द्योत्यते, अपोहस्तु विरोधिव्यावृत्तिर्मानान्तरादनुपपत्तिलक्षणात् ज्ञायते तेन स अपोहस्तु न शाब्द । तत्र किं त्रयाणामविशिष्टोय न्याय इति ? नेति ? वैषम्यमाह—**तत्रानन्त इति** । तत्र तेषु मध्येऽनन्त अनन्तशब्दार्थ अन्तवद्वस्तुव्यावृत्त्यैव विशेषण व्यावर्तक साक्षादेव ब्रह्मणो व्यावर्तकमित्यर्थ । परिशिष्टौ तु सत्यज्ञानशब्दौ स्वार्थसमर्पणप्रणाड्या व्यवधानेन विशेषणम् । न हि यथाऽनन्तमित्युक्तेऽन्ताभाव साक्षात्प्रतीयते तथा सत्य ज्ञानमित्यत्रानृताद्यभाव, अपि तु स्वार्थ-

---

सत्यादि पदो से ब्रह्म मे सत्यत्वादि पदार्थ को जान कर, फिर उन सत्यत्वादि के साथ विरोध मे उनके विरोधी असत्यत्वादि के अभाव को इस प्रकार से जिज्ञासु जानता है कि जैसे वध्य (मूसकादि) युक्त स्थान को देखकर वहाँ उनके घातक बिल्ली आदि के अभाव को समझता है ॥ १ ॥

इत्यादि शब्दो से प्रथम सत्यत्वादि धर्म और ब्रह्मरूप धर्मी की सङ्गति का ग्रहण होता है। फिर अर्थापत्ति रूप प्रमाणान्तर से असत्यत्वादि का अपोह (निवारण) होता है, अत वह अपोह शाब्द (शब्दजन्य ज्ञान का विषय) नही कहा जाता है ॥ २ ॥

वहाँ, सत्य ज्ञानम, अनन्तम्, इन पदो मे अनन्त शब्द का अर्थ, अन्तवाली वस्तु की व्यावृत्ति द्वारा साक्षात् ही ब्रह्म का विशेषण होता है, और परिशिष्ट सत्य और ज्ञान शब्द स्वार्थ के अर्पण द्वारा ब्रह्म का विशेषण होता है। अर्थात् अनन्त शब्द से साक्षात् अन्तरहित ब्रह्म का ज्ञान होता है। और सत्य तथा ज्ञान पद से अनृतत्व जडत्व रहित ब्रह्म का साक्षात ज्ञान नही होता है, किन्तु सत्यत्वादि के विधान द्वारा होता है ॥ ३ ॥

तद्विरोध्यर्थसत्याग सामर्थ्यात्स्यान्न शब्दत ।" इति ।

न च गुणगुण्यादिभावप्रतिपादनेऽपि तत्तद्विरोध्याकारनिवृत्त्युपपत्ते कथमखण्डैकरसत्त्वसिद्धिरिति वाच्यम्, ब्रह्मशब्दार्थमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात्। सर्वतोऽनवच्छिन्नवस्तुप्रतिपादनपरब्रह्मानन्तशब्दाभ्या विरोधाच्च, एकधैवानुद्रष्टव्यमेकमेवाद्वितीयमित्याद्येकरसत्वप्रतिपादकवाक्यविरोधाच्च, नेह नानास्ति किचनेत्यनेकरसत्वप्रतिषेधाच्च ।

विधानव्यवधानेनेत्यर्थ । तर्हि तयोर्विरोधिव्यवच्छेद किंनिबन्धन ? इति तत्राह—**तद्विरोधीति**। एतच्च **मानान्तरादपोहस्तु** इत्यस्यैव प्रपञ्च ।

ननु विरोध्याकारनिवृत्तिरखण्डार्थतामन्तरेण ससर्गपरत्वेऽपि सेत्स्यति किमर्थमखण्डार्थताऽऽग्रह ? इति तत्राह—**न चेति**। लौकिकवाक्येषु ससर्गपरतायामुक्त बोधक प्रक्रमेऽप्याह—**ब्रह्मशब्देति**। 'ब्रह्मविदाप्नोति पर'मिति श्रुतस्य ब्रह्ममात्रस्य बुभुत्सितत्वादित्यर्थ । न केवलमबुभुत्सितार्थपरत्व बुभुत्सितार्थपरानन्तादिपदविरोधश्चेत्याह—**सर्वत इति**। साक्षादेवैकार्थप्रतिपादकानन्ताकारनिवारकश्रुत्यन्तरविरोधश्चेत्याह—**एकधैवेत्यादिना**।

अत उस सत्यत्वादि अर्थ के विरोधी अनृतत्वादि अर्थ का त्याग (अपोह) अर्थत (अर्थापत्ति) से होता है। शब्द से नही।

कहा जाय कि सत्यत्वधर्म और धर्मीभाव, तथा ज्ञानगुण और गुणीभावादि के सत्यादि पदो से प्रतिपादन करने पर ही, तत्तत् अनृतत्वादि विरोधी आकारो की निवृत्ति की सिद्धि होते अखण्डैकरसत्व की सिद्धि कैसे हो सकती है, अर्थात् अखण्डार्थता के बिना भी विरोधी की निवृत्ति हो सकती है, फिर अखण्डार्थता के स्वीकार का क्या फल है, तो कहा जाता है कि (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) ब्रह्मज्ञ परमपद पाता है। इस उपक्रम (आरम्भ) से ब्रह्म के श्रवण होने से ब्रह्म मात्र की जिज्ञासा होती है, अत ब्रह्ममात्र को बुभुत्सितत्व (बोधेच्छाविषयत्व) रहता है, गुणधर्मादि को नही। और सब प्रकार से अनवच्छिन्न (भेद रहित) वस्तु के प्रतिपादन परक ब्रह्म अनन्त पद के साथ विरोध से, तथा (एकधैवानुद्रष्टव्यम्, एकमेवाद्वितीयम्) इत्यादि एकरसत्व के प्रतिपाद वाक्यो के साथ विरोध से, और (नेह नानास्ति किञ्चन) इस अनेक रसत्व के प्रतिषेध से, उक्त गुणगुणी आदि भाव का प्रतिपादन नही हो सकता है, और अखण्डता के स्वीकार से विरोध नही होता है।

न चाप्रसिद्धत्वाद्ब्रह्मणो लक्ष्यत्वासंभव, प्रत्यगात्मतया स्वतः सामान्येन प्रसिद्धत्वात्। न च तथात्वे लक्षणवैयर्थ्यम्, लक्षणस्य विशेषाकारसमर्पणार्थत्वात्। अन्यथा 'गन्धवती पृथिवी' 'नित्यज्ञानाधार ईश्वर' इत्यादिलक्षणानामपि लक्ष्यस्याप्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वयोर्वैयर्थ्यापातात। एतेन 'सोऽयं देवदत्त' इत्यत्रापि तत्कालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यत इत्येतन्निरस्तम्, । देवदत्तस्वरूपमात्रस्यैव बुभुत्सितत्वात्। एतत्कालवैशिष्ट्यस्य दृष्टत्वेनाबुभुत्सितत्वात्। न च पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालवैशिष्ट्यप्रति-

६३ ननु प्रसिद्धमेव लक्ष्यं नत्वप्रसिद्धं गगनारविन्दादेर्लक्ष्यत्वादर्शनात, अप्रसिद्धं च ब्रह्म सर्वप्रमाणागम्यत्वादिति तत्राह—**न चेति**। अथवा लक्षणलक्ष्यत्वमत्राक्षिप्य समर्थ्यते। स्वप्रकाशस्य प्रत्यागात्मतया प्रसिद्धिरस्तीति संभवत्येव लक्ष्यत्वमित्यर्थः। न केवलमस्माकमेवेयं रीतिः, अपितु सर्वेषामेव लक्षणवादिनामित्याह—**अन्यथेति**। घटादिषु सामान्येन प्रसिद्धस्य पृथिवीव्यवहारस्येतरेभ्यो भेदस्य च परमाण्वादिभूगोलकान्तसमुदायेऽप्रसिद्धस्य लक्षणेन साधनमिति पराङ्गीकारादित्यर्थः। यत्तु 'सोऽयं देवदत्त' इत्यत्राखण्डार्थताऽभावाय पूर्वपक्षिणोक्तम् तत्राप्युक्तन्यायमितिदिशति—**एतेनेति**। एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**देवदत्तस्वरूपेति**। नन्वितरदपि बुभुत्सितं किं न स्यात? नहि देवदत्तमात्रमत्र केनचित्पृष्टं यत लक्षणवाक्यं तत्तन्मात्रमेव बुभुत्सितं स्यादिति तत्राह—**एतदिति**। न केवलमनुभुत्सितत्वादप्रतिपाद्यत्वं बुभुत्सितैक्यविरोधाच्चेत्याह—**न चेति**। तत्किमेतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितेनैक्यं बोधयति? किं वा पूर्वकालोपलक्षितस्यैतत्कालविशिष्टेन? नाद्य इत्याह—

यदि कहे कि अखण्ड एकरस ब्रह्म, अप्रसिद्ध होने से वह लक्ष्य नही हो सकता है, तो कहना युक्त नही, क्योकि प्रत्यगात्म (अन्तरात्म) स्वरूप होने से स्वत (ब्रह्म ही) अहमादि वृत्ति द्वारा सामान्य रूप मे प्रसिद्ध (ज्ञात) होता है। यदि कहा जाय कि (तथात्वे) प्रसिद्ध होने पर लक्षण मे व्यर्थता है, तो वह कहना युक्त नही, क्योकि लक्षण को सत्यानन्दादि विशेषाकार के समर्पणार्थकत्व है, अतः सार्थकता है। सभी लक्षणवादी को लक्ष्य की सामान्य रूप मे प्रसिद्धि और विशेष रूप मे अप्रसिद्धि मन्तव्य है, अन्यथा, (गन्धवती भूमि, नित्यज्ञानाधार ईश्वर) इत्यादि लक्षणो को भी लक्ष्य की प्रसिद्धित्व अवस्था मे व्यर्थता की प्राप्ति होगी। इस उक्त अखण्डार्थता के प्रतिपादन मे (सोऽयं देवदत्त) यहाँ भी तत्कालोपलक्षित की एतत्काल विशिष्टता का प्रतिपादन किया जाता है, यह कथन निरस्त हो गया, क्यो कि वहाँ देवदत्त के स्वरूप को ही बुभुत्सितत्व है, और एतत्कालवैशिष्ट्य (वृत्तित्व) के दृष्टत्व (प्रत्यक्षत्व) से वह अबुभुत्सित है, और पूर्वकालोपलक्षित मे एतत्कालविशिष्टता के प्रतिपादन करने से भी भेदभ्रान्ति का निवारण सिद्ध

पादनेऽपि भेदभ्रमनिरास सिध्यतीति वाच्यम् , एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालमबन्धासभवेन तदुपलक्षितत्वस्यासभवात् , तयोरभेदप्रतिपादनशक्यत्वात् ।

ननु तथापि पूर्वकालोपक्षितस्यैतत्कालवैशिष्टचसभवात्सभवत्येव तयोरभेदप्रतिपादनमितिचेत् , मैवम्, विकल्पासहत्वात् । कि पूर्वकालोपलक्षितस्यैनत्कालविशिष्टेनाभेद प्रतिपाद्यत इत्युच्यते ? कि वा पूर्वकालोपलक्षिते वर्तमानकालवैशिष्टचलक्षणधर्मप्रतिपादनेनार्थादभेद सिद्धचतीति ? नाद्य , विशिष्टाविशिष्टस्वरूपयोरभेदासभवात् । तथा सति वर्तमानकालविशिष्टस्य पूर्वमपि सद्भावप्रसङ्गात् । नापि द्वितीय , साक्षादेवाभेदप्रतिपादने

एतत्कालेति । नवद्र खलूपलक्ष्य नामबद्रम । न चैतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालम्बन्ध भवति, एतत्काले पूर्वकालाभावादतो न तयोरैक्यमित्यर्थ ।

द्वितीय शङ्कते—**नन्विति** । किमुपलक्षितस्य विशिष्टेनाभेद शब्दगम्य ? किं वोपलक्षिते वशिष्टचमात्र शब्दार्थ ? अभेदस्त्वानुपपत्तिक इति विकल्प्य दूषयति—**मैवमित्यादिना** । एतत्कालविशिष्टस्य पूर्वकालोपलक्षितस्वरूपस्य चैक्यासभवेन प्रथम पक्ष दूषयति—**नाद्य इति** । किमितरसभवस्तत्राह—**तथा सतीति** । द्वितीये तु शब्दाद्विशिष्टमर्थाच्च स्वरूपमात्रैक्यमिति कल्पनागौरवाद्वर शब्दादेवोभयोपलक्षितस्यैक्यप्रतिपादनमित्याह—**साक्षादेवेति** । ननु साक्षाच्छब्दादभेदप्रतिपत्ताबुभयोरपि

होता है, यह नही कह सकते है, क्योकि एतत्काल मे विशिष्ट को पूर्वकाल के साथ सम्बन्ध के अभाव मे पूर्वकाल सम्बन्ध से उपलक्षितत्व का असम्भव है। क्योकि सम्बन्ध वाला ही उपलक्षक होता है, और एतत्कालविशिष्ट को पूर्वकाल के साथ सम्बन्ध का सम्भव नही है। अतएव पूर्वकालोपलक्षित और एतत्कालविशिष्ट इन दोनो के अभेद का प्रतिपादन नही हो सकता है।

फिर भी यदि शका हो कि यद्यपि एतत्कालविशिष्ट को पूर्वकालीन लक्षित के साथ एकता नही हो सकती है, तथापि पूर्वकाल से उपक्षित को एतत्कालविशिष्ट के सम्बन्ध होने मे उन दोनो के अभेद का प्रतिपादन हो ही सकता है, तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि विचार से यह भी सिद्ध नही हो सकता है। विचार यह है, कि, पूर्वकालोपलक्षित का एतत्कालविशिष्ट के साथ अभेद का प्रतिपादन सोऽय देवदत्त इससे किया जाता है, यह आप कहते है। या पूर्वकाल से उपलक्षित मे वर्तमान काल से विशिष्टता रूप धर्म के प्रतिपादन से अर्थात अभेद सिद्ध होता है, यह आप कहते है। वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि एतत्कालविशिष्ट और अविशिष्ट (पूर्वकालोपलक्षित) के स्वरूप के अभेद का होना असम्भव है, क्योकि

सभवति परम्परया तत्प्रतिषादनाश्रयणस्यायुक्तत्वात् । उभयपदलक्षणाश्रयणे कल्पनागौरवात्तथाश्रीयत इति चेत्, मैवम्, अत्रापि परम्पराया अभेद-प्रतिपादनात्साक्षादभेदप्रतिपादने बुद्धिलाघवस्य दर्शितत्वात् । तथापि विनि-गमनाया को हेतुरिति चेत्, बुभुत्सितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादनलाभ एवेति ब्रूम । उक्त च प्रतिज्ञावचनस्य साधनाङ्गत्वमाचक्षाणेनाचार्यवाचस्पतिना—"अनित्य शब्द बुभुत्समानायानित्य शब्द इत्यनुक्त्वा यदेव किंचिदुच्यते

लक्षणा प्रसज्येत, ततो वरमेकलक्षणया पारम्पर्याश्रयणमिति शङ्कते—**उभयेति ।** पारपर्यकल्पनातो लक्षणाश्रयण न्याय्य व्यापारवत्प्रमाणगौरवात्, व्यापारगौरवस्य लघीयस्त्वात् । यदुद्दिश्य च वाक्य प्रवर्तते तस्य बुभुत्सितस्याभेदस्य साक्षात्प्रतिपादन भवति उद्दिष्टस्य पारपर्येणेतिक्लिष्टकल्पना स्यात्, तदेतद्धृदि निधाय परिहरति—**मैवमत्रापीति ।** अनधिगतपराभिसन्धि शङ्कते—**तथापीति ।** विनिगमना निर्णय । अभिसन्धिमुद्घाटयन्परिहरति—**बुभुत्सितेति ।** बुभुत्सितस्यार्थिकप्रतिपत्ते साक्षा-त्प्रतिपत्तिरभ्यर्हितेत्यत्राचार्यवाचस्पतिवचनमपि प्रमाणयति—**उक्तं चेति ।** हेतूदाह-रणावयवद्वयवादिन सौगत प्रति प्रतिज्ञानानन्तर्य हेतोर्ब्रुवतेत्यर्थ । अत्र च यत्कृतक तदनित्यमित्युदाहरणनिर्देश । कृतकश्च शब्द इति हेतुनिर्देश । एतदुक्त भवति—यद्यप्युदाहरणहेतुनिर्देशादप्यर्थाच्छब्दस्यानित्यत्व पर्यवस्यति, तथापि साक्षादनिर्देशा-

---

(तथा सति) यदि एतत्कालविशिष्ट व्यक्ति पूर्वकालोपलक्षित से अभिन्न हो तो एतत्कालविशिष्ट का पूर्वकाल मे भी सद्भाव (सत्त्व) प्राप्त होगा । दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि भाग त्याग लक्षणा मे साक्षात् ही अभेदप्रतिपादन के सम्भव रहते, उक्त धर्म के प्रतिपादन द्वारा परम्परा से अर्थत उस प्रतिपादन के आश्रयण को अयुक्तत्व है । यदि कह कि दोनो पद (ब्राह्मणोऽयम्) मे लक्षण मानने पर कल्पना गौरव होता है, अत उक्त धर्म के प्रतिपादनपूर्वक अर्थत अभेद का आश्रय करते ह, तो यह कहना भी युक्त न होगा, क्योकि इस पक्ष मे भी परम्परा से अभेद का प्रतिपादन होता है, अत बुद्धि की गौरवता है । उभय पद मे लक्षणा द्वारा साक्षात् अभेद के प्रतिपादन मे बुद्धि के लाघव दर्शाया गया है । तथापि एक पक्ष मे लक्षणा लाघव है, एक पक्ष मे बुद्धि लाघव है, वहाँ इनके विनिगमना (एक पक्ष के उत्कर्ष निर्णय) मे कौन हेतु है कि जिससे कोई एक पक्ष माना जाय, यदि ऐसा प्रश्न हो, तो उत्तर है कि बुभुत्सितार्थ का साक्षात्प्रतिपादन रूप लाघव ही हेतु है । बुभुत्सित के आर्थिक ज्ञान की अपेक्षा साक्षात् ज्ञान श्रेष्ठ होता है, इसी तात्पर्य से प्रतिज्ञा वचन के साधनाङ्गत्व को कहते हुए आचार्य श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि (अनित्य शब्द के बुभुत्समान (बोधेच्छुक) के प्रति (अनित्य शब्द) ऐसा न कह कर, जो कुछ दृष्टान्त कहा जाता है कि—जो कार्य होता है

यत्कृतक तदनित्यमिति वा, कृतकश्च शब्द इति वा, तत्सर्वमसम्बद्धबुद्धया न प्रत्येति प्रतिवादी" इति । एतेनोभयपदलक्षणास्वीकारे गौरवदोषो निरस्तो वेदितव्य । बुभुत्सितार्थप्रतिपादनप्रयोजनताया गौरवस्यैवोचितत्वात् प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्यपि' इति न्यायात् । तदेवमखण्डार्थत्वे न लक्षणासभव ।

नापि प्रमाणासभव । तथाहि—

सत्यज्ञानादिगीरेतत्ससर्गव्यतिरेकिणि ।
अर्थे प्रमाण मानत्वान्नयनादिप्रमाणवत् ॥ २० ॥

सत्यादिवाक्यमेतत्पदार्थससर्गातिरिक्तेऽर्थे प्रमाण प्रमाणत्वाच्चक्षुरादिवत् ।

पराधमात्रादिदमसबद्धबुद्धयभिधानमिति । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**बुभुत्सितार्थेति** । लक्षणसमर्थनमुपसहरति—**तदेवमिति** । प्रमाण श्लोकेन सगृह्णाति—

सत्यज्ञानादीति । सत्यज्ञानादिगीर्वाक्यमेतत्ससर्गव्यतिरेकिण्यर्थे य एते सत्यादय पदार्थास्तेषा ससर्गव्यतिरिक्ते ससर्गरहिते प्रमाणमिति प्रतिज्ञानिर्देश । शेष विशदम् । सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै ससर्गव्यतिरेकिणीत्युक्त, तथापि यत्किचित्ससर्गव्यतिरिक्तत्वेनार्थान्तरता तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पदम । यद्यपि गामानयेत्यादिवाक्य ससर्गविषय तथाप्येतत्ससर्गव्यतिरेकिण्यर्थे प्रमाणमेवेति न व्यभिचार । ततश्चाससृष्टार्थप्रमितिजनकत्वसिद्धि एतदेव विवृणोति—**सत्यादिवाक्यमित्यादिना** । पर्वमद्वैतश्रुतीनाम-

---

वह अनित्य होता है, अथवा शब्द कार्य है, यह हेतु कहा जाता है, उन सबके असम्बद्ध (सम्बन्ध रहित) बुद्धि से प्रतिवादी नही समझता है । अर्थात् उदाहरण और हेतु=उपनय के कथन से यद्यपि शब्द के अनित्यत्व सिद्ध होता है । तथापि साक्षात् प्रतिज्ञा के बिना असम्बद्ध बुद्धि होती है, अत साक्षात् कथन युक्त है । इसीसे दोनो पद मे लक्षणा के स्वीकार होने पर भी गौरव रूप दोष को निरस्त (निवारित) समझना चाहिये । क्योकि बुभुत्सितार्थ (जिज्ञासितार्थ) के प्रतिपादन रूप प्रयोजन (फल) की सत्ता रहते गौरव की ही उचितता (मान्यता) रहती है । अत श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है कि—प्रमाणवाली अनन्त अदृष्ट वस्तु कल्पनीय है । इस न्याय से यहाँ भी उभय पद मे लक्षण कल्पनीय है । अत इस उक्त रीति से उपनिषद् के अखण्डार्थत्व मे लक्षण का असम्भव नही है । किन्तु सम्भव ही है ।

प्रमाण का भी असम्भव नही है, वह दर्शाया जाता है कि सत्य ज्ञानम् अनन्त ब्रह्म, इत्यादि गी = वाक्य, इन सत्यादि अर्थो के ससर्ग के व्यतिरेकी अभाव वाले अर्थ स्वरूप मात्र मे प्रमाण है । प्रमाण होने से, नेत्रादि प्रमाण के समान ॥ २० ॥

यहाँ सिद्धसाधनता की निवृत्ति के लिये ससर्गव्यतिरेकिणी कहा है । यत्किञ्चित्

विपक्षे चैकरसत्वप्रतिपादकश्रुतीनामुदाहृतानामप्रामाण्यप्रसङ्ग, बुभुत्सिते ब्रह्मणि प्रामाण्याभावप्रसङ्गश्च बाधकस्तर्क उन्नेय । यत्तु वाक्यत्वाद् गवानयनादिवाक्यवत् ससर्गपरत्वानुमानम्, तदेदरसत्वप्रतिपादकश्रुतिविरो-धात्कालात्ययापदिष्टम्, उक्तरीत्या च ससर्गप्रतीतिजनकत्वाभावेऽपि वाक्यत्वोपपत्ते सदिग्धव्यतिरेको हेतु । आकाक्षासनिधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्य मिति वाक्यविद, ननु ससर्गप्रमितिजनकान्यपीति, विशेषण-वैयर्थ्यात् । आचार्यशबरस्वामिना च 'शास्त्र शब्दविज्ञानादसनिकृष्टेऽर्थे

प्रामाण्यप्रसङ्ग उक्त, इदानी सत्यज्ञानादिवाक्यस्य गुणगुण्यादिपरत्वेऽप्यप्रामाण्यप्रसङ्ग माह—**बुभुत्सितेति** । पूर्वपक्षिणोऽनुमान दूषयति—**यत्त्वित्यादिना** । विपक्षबाधकतर्काभावाच्छङ्कितोपाधिना चाह—**उक्तेति** । उक्तनीत्या वाक्यत्वोपपत्तेरिति सबन्ध । ननु ससर्गपरत्वाभावे वाक्यत्वभङ्गप्रसङ्ग एव बाधक इत्यत आह—**आकाङ्क्षेति** ।. ननु प्रामाणाण्यभङ्गप्रसङ्गो बाधको नेत्याह—**आचार्येति** । शब्दविज्ञाना-च्छब्दविषयज्ञानादसनिकृष्टेऽर्थे प्रमाणान्तरेण तथा चानधिगते यद्विज्ञान जायते

ससर्गव्यतिरिक्तता से अर्थान्तरता की निवृत्ति के लिये एतत् पद है, गामानय, इत्यादि वाक्य भी एतत् ससर्ग व्यतिरे की अर्थ मे प्रमाण ही है। इत्यादि। अत सत्यादि वाक्य, एतत्=सत्यादि पदार्थससर्ग से अतिरिक्त अर्थ मे प्रमाण है, चक्षु आदि के समान। यह अनुमान ससर्गरहित अखण्डार्थ मे प्रमाण है। इस अनुमान के विपक्ष (विरोधी पक्ष) मे, एकरसत्व के प्रतिपादक पूर्वोदाहृत श्रुतियो की अप्रमाणता की प्राप्ति, तथा जिज्ञासित ब्रह्मविषय के श्रुतियो की प्रमाणता के अभाव की प्राप्ति बाधक तर्क उन्नेय (प्रदर्शनीय) है, और जो वाक्यत्व हेतु से गवानयनादि वाक्य के समान, ससर्ग का अनुमान प्रथम दर्शाया गया था कि (विवादास्पद सत्यादि वाक्य, पदार्थससर्ग प्रमिति जनक है) इत्यादि। वह अनुमान एकरसत्व के प्रतिपादक श्रुति के विरोध से कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है। और उक्त रीति से ससर्गप्रतीति के जनकत्व के लक्षण वाक्यादि मे अभाव रहते भी वाक्यत्व की सिद्धि से, सन्दिग्ध व्यतिरेक = साध्याऽभाव वाला वाक्यत्व हेतु है, क्योकि वाक्यत्व के रहते भी लक्षण वाक्यो मे उक्त साध्य नही रहता है, अत अन्य वाक्यो मे साध्याऽभाव का सशय हो सकता है। ससर्गपरत्वाभाव मे वाक्यत्व का भङ्ग ही बाधक है, अत उक्त सशय नही हो सकता है, यह नही कह सकते है, क्योकि (अकाक्षा सन्निधि योग्यता वाले पदसमूह रूप वाक्य होता है, यह वाक्यवेत्ता कहते है, ससर्गप्रमिति जनको को भी वाक्य नही कहते है। अत वाक्य के लक्षण मे स्मृतिजनकत्व विशेषण की व्यर्थता सिद्ध होती है, तथा उक्त पक्ष मे विशेषण की (साध्य की) व्यर्थता है, और आचार्य श्री शबर स्वामी ने (शास्त्र शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेर्थे विज्ञानम्)

विज्ञानमि'त्येतावत एव लक्षणस्याभिधानात् । प्रातिपदिकमात्रार्थप्रश्नोत्तर-त्वानुपपत्तिश्च, लौकिकवैदिकलक्षणवाक्यानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसा-यित्वे प्रमाणम् । प्रदर्शिता च तत्रानुपपत्ति —अबुभुत्सितार्थप्रतिपादनेऽनव-धेयवचनत्वप्रसक्तिरिति । तदेवमशेषोपनिषदामखण्डैकरसे ब्रह्मणि स्वत सिद्धमेव प्रामाण्यमिति सिद्धम ।

तच्छास्त्र शब्दप्रमाणमिति शाबरवाक्यार्थ । अत्र चानुवादविसवादव्यवच्छेदाया-सन्निकृष्टपदम् । अरक्षितादिपदनिराकरणायार्थग्रहणम् । अनुमानत्वनिराकरणाय शब्दविज्ञानग्रहणम् । एतावदेवाचार्यैर्लक्षणमभिहित शब्दप्रमाणस्य न तु ससर्गविज-यत्वमपीत्यर्थ । द्वितीयपक्षेऽप्यर्थापत्ति प्रमाणमाह—**प्रातिपदिकेति ।** अनुपपत्तिमेव दर्शयति—**अबुभुत्सितेति ।** वादार्थमुपसहरन् वर्तिष्यमाणमेवोद्घाटयति—**तदेव-मिति ।**

अद्वैतवादे सत्यादिपदपर्यायता तथा ।
अपर्यायेऽद्वयध्वस वादी वागीश्वरोऽब्रवीत् ।।
तस्य वाच्यार्थनानात्वाल्लक्ष्यस्यैक्यसमाश्रयात् ।
न पर्यायाद्वयध्वसावित्यनुत्तरमुत्तरम् ।।

यत्तु प्रकृष्टप्रकाशशब्दावपि प्रकर्षादिबलात्प्रवृत्ताविति, तदबुभुत्सितत्वेनात्रैव परि-हृतम् । यत्तु पृथक्प्रवृत्तयो प्रकृष्टप्रकाशशब्दयोरेकत्र प्रयोगाद्युज्यते अर्थविशेषबोधक-त्वम्, न तथेह, लौकिकज्ञानादेरपि ब्रह्मत्वादिति । तत्रोपहितज्ञानादेर्न ब्रह्मस्वरूपत्व-मनुपहित तु न वाच्यमित्यस्त्येव पृथक्प्रवृत्ति ज्ञानादिशब्दस्येति न कोऽपि व्यतिकर ।

अद्वयसत्सुखबोधविताने देहहृषीकमनोमतिहीने ।
विश्वविवर्तनिदानमबोध घ्नन्ति वचासि स यत्र परोऽस्मि ।।

इतना ही शब्द (वाक्य) रूप प्रमाण का लक्षण कहा है । अर्थ है कि (शब्द विषयक श्रावण (श्रोत्र जन्य) ज्ञान से, प्रमाणान्तर से अनधिगतार्थ विषयक जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान का जनक शास्त्र शब्दप्रमाण कहा जाता है) इससे ससर्ग विषयकत्व नही सिद्धि होता हे । और लौकिक-वैदिक लक्षण वाक्यो के एक प्राति-पदिकार्थ मात्र मे पर्यवसायित्व (तात्पर्य वत्त्व) मे प्रातिपदिकार्थ मात्र के प्रश्नत्व तथा उत्तरत्व की अनुपपत्ति प्रमाण है । वह अनुपपत्ति दर्शाई गई है कि अजि-ज्ञासितार्थ के प्रतिपादन करने पर वक्ता मे अनवधेय वचनत्त्व (अश्रद्धेय = उपेक्ष्य वचनवत्त्व) की प्रसक्ति (प्राप्ति) होती है । अत उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि सब उपनिषदो की अखण्ड एकरसब्रह्मविषयक स्वत सिद्ध ही प्रमाणता है, अर्थात इतिहास, पुराण, स्मृति आदि मे प्रत्यक्ष अनुमान वेदादि मूलक प्रमाणता होती है, वेद मे स्वत प्रमाणता रहती है, उपनिषद् वेद है, अत स्वत प्रमाण है ।

ननु किमिद प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम् ? न तावत्स्वत एव जन्म, स्वस्य स्वहेतुकत्वविरोधात्। नापि प्रमाणादेव जन्म, ज्ञानस्य गुणत्वेन स्वप्रामाण्य प्रति समवायिकारणत्वासभवात्। नापि ज्ञानसामग्रीतो जन्म' प्रामाण्यस्योपाधित्वे जातित्वे च जन्मासभवात्। तथाहि—उपाधिपक्षे स्मृतित्वानधिकरणस्य ज्ञानस्य वाधात्यन्ताभाव प्रामाण्यम्। न च तस्योत्पत्ति सभवति,

---

स्वत सिद्धमेव प्रामाण्यमित्युक्तमुपश्रुत्य परत, प्रामाण्यवादी प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति**। तत्र लक्षण तावदाक्षिपति—**न तावदित्यादिना**। तत्र किं स्वत एव प्रामाण्यस्य जन्म स्वत प्रामाण्य नाम ? आहोस्वित्स्वाश्रयज्ञानजन्यत्वम ? उत स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् ? अथवा ज्ञानसामग्रीजन्यप्रमाश्रितत्वम ? किंवा ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यप्रमाश्रितत्वम् ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। **विरोधादिति**। स्वस्यैव स्वकारणतया प्राक्क्षणे सत्त्व, कार्यतया च प्रागसत्त्वमिति व्याघातादित्यर्थ। द्वितीय निषेधति—**नापीति**। एतच्च स्वशब्दस्य स्वीयवचनत्वमाश्रित्य। स्वाश्रयप्रामाण्यजनकत्वे हि समवायिकारणतया द्रव्यत्वापातो ज्ञानस्येत्यर्थ। तृतीय निषेधति—**नापि ज्ञानेति**। तत्सामग्र्यामपि हि यथाकथचित्स्वीयतया स्वशब्दो भवत्येवेति भाव। तदेतदसभवेन दूषयति—**प्रामाण्यस्येति**। बाधात्यन्ताभावो घटादेरप्यस्तीति ज्ञानस्येत्युक्तम्। तथापि स्मृतावतिव्याप्तिस्तदर्थ **स्मृतित्वानधिकरणस्येति**। अबाध्यानुभवत्वमित्यर्थ। विषयापहारश्च बाधस्तदभावश्चापातत सशयादेरप्यस्तीत्यत्यन्तग्रहणम्। अत्र च भ्रमादौ धर्म्यशे जातिसङ्करप्रसङ्गात् प्रामाण्यमुपाधिरिति केचित्। अपरे तु तत्र गौण व्यवहारमादाय जातिरिति वदन्ति,

---

उक्त रहस्य को नही जानने मानने वाले परत प्रामाण्यवादी शका करते है कि, यह प्रामाण्य (प्रमात्व) के स्वतस्त्व क्या है (स्वत एव प्रमाण का जन्म स्वत प्रामाण्य है (१), स्वाश्रयज्ञानजन्यत्व है (२), या स्वाश्रयज्ञानसामग्रीजन्यत्व है (३), या ज्ञानसामग्रीजन्यप्रमाश्रितत्व है (४), या ज्ञानसामग्री मात्र जन्य प्रमाऽऽश्रितत्त्व है (५), या वहाँ, स्वत एव (प्रामाण से ही प्रामाण्य का जन्म कहना नही बन सकता हे, क्योकि स्व को स्वहेतुकत्व (स्वजन्यत्व) मे विरोध है, प्रामाण्य—आप अपना पिता और पुत्र नही हो सकता है। स्वाश्रय प्रमाण (प्रमा) ज्ञान से प्रामाण्य का जन्म भी नही कहा जा सकता है, क्योकि समवायिकरणता द्रव्य मे होती है, ज्ञान मे गुणत्व के रहने से, उसमे अपने प्रामाण्य के प्रति समवायिकारणता का होना असम्भव है। स्वाश्रय ज्ञान की सामग्री से जन्यत्व रूप तीसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि प्रामाण्य मे उपाधित्व या जातित्व रहते उसके जन्म होना असम्भव है। उपाधिपक्ष मे, स्मृतित्वानधिरण ज्ञान का बाधाऽत्यन्ताभाव प्रामाण्य का स्वरूप है, उस अत्यन्ताऽभाव की उत्पत्ति नही हो सकती है,

अत्यन्ताभावत्वादेव । नापि जातेर्जन्म, नित्यत्वात् ज्ञानसामग्रीजन्यत्व प्रमाया प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति चेत् मैवम्, अप्रमाया अपि स्वतस्त्व-प्रसङ्गात्, तस्या अपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वात्। अथ ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं स्वतस्त्वम्, अप्रमा तु न तन्मात्रजन्या, दोषसहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वादिति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्री-जन्यत्व मात्रशब्दार्थ ? किं वा दोषासहकृतज्ञानसामग्रीजन्यत्वम् ? नाद्य, परत प्रामाण्यवादिमतानुप्रवेशप्रसङ्गात्। तेऽपि हि दोषाभावसहकृतज्ञान-सामग्रीजन्यत्वमेव परत प्रामाण्यमितीच्छन्ति। नापि द्वितीय, विशेष-

---

ननेद द्वैविध्यमुक्तम्। चतुर्थं शङ्कते—**ज्ञानसामग्रीति**। यदिद प्रमाया ज्ञानसामग्री-जन्यत्व तत्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमिति योजना। तदेनदतिव्याप्त्या दूषयति—**मैवमिति**। ज्ञानविशेषा ह्यप्रमा, विशेषसामग्र्या च सामान्यसामग्र्यनुप्रविशति, शिशपासामग्र्यामिव वृक्षसामग्री, इतरथा तस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। अत परत-स्त्वेनाभिमताप्रामाण्यपि ज्ञानसामग्रीजन्याश्रितेऽतिव्याप्तिरित्यर्थ। **अप्रमाया अपीति**। अप्रामाण्यस्येत्यर्थ। पञ्चम शङ्कते—**अथेति**। अप्रमायामतिव्याप्तिपरि-हार मात्रग्रहणेन विवक्षितम्, स एव विवृणोति—**अप्रमा त्विति**। अत्र मात्रग्रहणेना-प्रमासामग्रीरूपदोषासाहित्यद्वारेण तदभावसाहित्यमपि ज्ञानसामग्र्या विवक्षितम् ? उतासाहित्यमात्रम् ? इति विकल्प्याद्य दूषयति—**नाद्य इति**। एव स्वत प्रामाण्य परतस्त्वेऽप्युपपद्यते इत्यर्थान्तरमित्यर्थ। द्वितीय दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। यथा हि प्रमाणज्ञानहेतोर्विशेषदर्शनस्याभावोऽप्रमाणज्ञानहेतु, एवमप्रमाणज्ञानहेतो-

---

अत्यन्ताऽभाव होने ही से उसमे नित्यत्व रहता है। जाति का भी जन्म नही होता है, उसमे भी नित्यत्व रहता है। ज्ञानसामग्रीजन्यत्व प्रमा के प्रामाण्य का स्वतस्त्व है, यदि ऐसा कहे, तो यह कथन भी युक्त नही। क्योकि इस प्रकार से अप्रमा को भी स्वतस्त्व प्राप्त होगा, क्योकि उसको भी ज्ञानसामग्रीजन्यत्व है। यदि कहे कि ज्ञान को सामग्रीमात्र से जन्यत्व स्वत प्रामाण्य कहा जाता है, अप्रमा तो ज्ञान-सामग्री मात्रजन्य नही होती है, उसमे दोषसहित ज्ञानसामग्रीजन्यत्व रहता है, तो ऐसा कहना नही बन सकता है, क्योकि यह पक्ष विकल्प को नही सह सकता है, विकल्प यह है कि, दोषाऽभाव सहित ज्ञानसामग्रीजन्यत्व लक्षण गत मात्र शब्द का अर्थ है, या दोषाऽसहकृत ज्ञानसामग्रीजन्यत्व है, अर्थात् ज्ञानसामग्री मे दोषाऽभाव युक्तत्व विवक्षित है, या दोषरहितत्व विवक्षित है, प्रथम पक्ष को नही मान सकते हैं, क्योकि परत प्रामाण्यवादी मत का अनुप्रवेश प्राप्त होगा, परत प्रामाण्यवादी नैयायिक भी दोषाऽभावसहकृत (सहित) ज्ञानसामग्रीजन्यत्व को ही परत प्रामाण्य इस शब्द का अर्थ मानते है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो

दर्शनस्य भ्रमनिवृत्तिहेतुत्वे तद्विपर्ययस्य भ्रमहेतुत्ववद्दोषसहकृतज्ञानसामग्री-जन्य ज्ञानमप्रमेत्यङ्गीकुर्वता प्रमा प्रति दोषाभावस्य हेतुताया अनिराकार्यत्वात् । नन्वीश्वरज्ञान इव दोषाभावस्यावर्जनीयतया अस्मत्प्रमास्वपि तथासन्निधि किं न स्यात् ? नहीश्वरज्ञानेऽपि दोषाभाव प्रयोजक इति युक्त वक्तुम्, तत्प्रयुक्तत्वस्य तदन्तर्भूतसामग्रीजन्यत्वानतिरेकात्, तस्य च नित्यतया विशिष्टसामग्रीजन्यत्वादिति चेत्, मैवम्, अन्तरेणापि तत्सामग्री-

---

दोषस्याभावोऽपि प्रमाणहेतुर्भवत्येव । एवमवधूतस्वाभाव्यादनयोरित्यर्थ । यद्यपि प्रमासामग्र्या दोषाभावोऽविनाभूतस्तथापि न हेतुतयाऽपित्ववर्जनीयसन्निधेराकाशवत् । युक्त चैतत्, इतरथा नित्यस्येश्वरज्ञानस्य तदनुत्पाद्यतया प्रामाण्याभावप्रसङ्गादिति शङ्कते—**नन्विति** । जन्या प्रमा दोषाभावसहकृतज्ञानसामग्रीजन्या न भवति प्रमात्वादीश्वरप्रमावदिति भाव । साध्यवैकल्य परिहरति—**न हीति** । ननु जन्यत्वाभावेऽपि तत्प्रयुक्तत्व किं न स्यादित्यत आह—**तत्प्रयुक्तत्वस्येति । तदन्तर्भूतेति** । स दोषाभावादिरन्तर्भूतो यस्या सामग्र्या सा तदन्तर्भूता सामग्री, अथवान्तर्भाव एवान्तर्भूतम्, भावे निष्ठा, तदन्तर्भाववती सामग्रीत्यर्थ । न तद्गर्भसामग्रीजन्यत्व तत्प्रयुक्तत्वम्, नहि गुणवत्त्वप्रयुक्त द्रव्यत्वमित्यत्र गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोर्जन्यजनकभाव, परस्परमेकस्योपाधित्वात् परस्य च जातित्वात्, किं तर्हि समव्यापकत्वमात्रेण प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, एवमत्रापीति परिहरति—**मैवमिति** । अनित्ये स्वाश्रयद्वारा कादा-

---

सकता है । क्योकि भ्रमाधिष्ठान के विशेष दर्शन को भ्रमनिवृत्ति के हेतुत्व रहने पर उसके विपर्यय (विशेष दर्शन के अभाव) को जैसे भ्रमहेतुत्व होता है, वैसे ही दोषयुक्त ज्ञानसामग्रीजन्य ज्ञान अप्रमा होता है, ऐसा स्वीकार करने वाले से प्रमा के प्रति दोषाऽभाव की हेतुता का निवारण नही किया जा सकता है, और दोषाभाव की हेतुता के रहने पर 'परत प्रामाण्य वाद का अनुप्रवेश होगा ही। यदि कहा जाय कि यद्यपि प्रमाज्ञान की सामग्री मे दोषाभाव का उक्त रीति से अनिवार्यता रूप से आकाश के समान सम्बन्ध रहता है, तथापि वह प्रमाज्ञान का हेतु नही होता है, क्योकि जैसे ईश्वरज्ञान मे अवर्जनीय रूप से दोषाऽभाव रहता है, उसी प्रकार से हम सब के प्रमाज्ञान मे ईश्वरज्ञान के समान ही दोषाभाव की सन्निधि क्यो न होगा । और ईश्वर के ज्ञान मे दो भाव के सम्बन्ध रहते भी, दोषाऽभाव ईश्वरज्ञान का प्रयोजक (हेतु) है, ऐसा कहना युक्त नही हो सकता है, क्योकि दोषप्रयुक्तत्व को दोष जिसके अन्तर्गत हो ऐसी सामग्री से जन्यत्व के साथ अनतिरेक (अभेद) रहता है। अर्थात् दोषयुक्त सामग्री से जन्य मे दोषप्रयुक्तत्व (जन्यत्व) होता है, दोष उसका प्रयोजक हेतु होता है, और उस ईश्वरज्ञान के नित्य होने से दोषयुक्त सामग्रीजन्यत्व का होना असम्भव है, अत कैसे अवर्जनीय

जन्यत्व नित्यद्रव्येषु गुणवत्त्वप्रयुक्तद्रव्यत्ववत्तत्प्रयुक्तत्वोपपत्ते । न च दोषाभावस्याभावत्वादेवाकारणत्वम्, विशेषदर्शनाभावस्य भ्रमहेतुत्ववत्प्रामाणाभावस्य प्रमेयाभावप्रमितिहेतुत्ववद्विहिताकारणस्य प्रत्यवायहेतुत्ववच्च तदुपपत्ते ।

चित्कत्वमपि कथचित्सभाव्यमिति नित्यद्रव्येष्वित्युक्तम् । नन्वभावस्य कारणतैबायुक्ता, नि स्वभावत्वादिति तत्राह—**न चेति** । किमिद नि स्वाभावत्वम् ? यद्यसत्त्वम्, नत्कि सत्तानधिकरणत्वम् ? नहि गत सामान्यादीना बुद्धिकारणत्वेन । न च स्वरूपसत्त्वरहितत्वम्, तदसिद्धम् । यथाहोदयन —'नह्यसौ विधिरूपेण तुच्छ इति स्वरूपेणापि तथा, इतरथा भावस्यापि तथात्वापाता'दिति । अथ भावत्वानधिकरणत्वम् ? किमेतावता ? किं चाभावस्य कार्यत्वमङ्गीक्रियते ? न वा ? न यदि, तदा प्रध्वसानुत्पत्त्या घटस्य नित्यता स्यात् । अस्ति चेत, कारणत्वेन किमपराद्धम् । क खलु विशेषो नियतप्राक्क्षणसत्त प्रागसत्त्वे सति सत्तायोगित्वमस्त्वे ? अथान्यथैवाभूत्वाभावित्वाद्यात्मक तत्र कार्यत्व शिक्षयसि कारणत्वमपि तथा णिक्षयेति मूकीभाव, । उक्त चोदयनेन—'भावो यथा तथाऽभाव कारण कार्यवन्मत' इति । किंच न सवत्र भावरूपा एव दोषा, येन तदभावस्याभावतया न कारणत्वम्, अपि त्वभावरूपा अपि सन्ति दोषा, तदभावस्य न किमिति कारणता स्यात् । अथ भावस्य तत्र तत्र दृष्टचर कारणत्व न त्वभावस्येति, तन्न, अभावस्यापि तत्र तत्र दर्शनात्स्वीकाराच्च भवद्भिरित्याह—**विशेषदर्शनेत्यादिना** । साधारणधर्मदर्शनविशेषादर्शनाभ्या सर्वत्र भ्रम इत्यर्थ । भाट्टानेव प्रत्याह—**प्रमाणाभावस्येति** । योग्यानुपलब्ध्या ह्यभावप्रमितिरङ्गीक्रियते अनुपलब्धिश्चोपलब्ध्यभाव इत्यर्थ । मतद्वयसमतमुदाहरणमाह—**विहिताकरणेति** । ये त्वत्र—

'स्वकाले यदकुर्वन् हि करोति यदचेतन ।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते ॥'

दोषप्रयुक्तत्व ईश्वरज्ञान मे नही है, इसी प्रकार स्वत प्रामाण्यवाद मे अवर्जनीय दोषप्रयुक्तत्व प्रमाज्ञान मे नही माना जाता है, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि ईश्वरज्ञान मे दोषयुक्त सामग्रीजन्यत्व के अभाव रहते भी दोषप्रयुक्त हो सकता है, जैसे कि नित्य द्रव्यो मे गुणवत्त्व प्रयुक्त (गुणवत्त्व निमित्तक) द्रव्यत्व होता है । फिर इसी प्रकार दोषाभाव प्रयुक्तप्रमात्व प्राप्त होगा । यदि कहा जाय कि दोषाभाव के अभाव होने ही से उसमे कारणत्व नही रह सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि विशेषज्ञानाभाव को भ्रमहेतुत्व के समान, प्रमाणाभाव (अनुपलब्धि) को प्रमेयाभाव प्रमिति हेतुत्व के समान, विहित कर्माऽकरण (नित्य कर्माननुष्ठान) को प्रत्यवाय (पाप) हेतुत्व के समान, दोषाभाव भी वह प्रयोजकत्व होता है ।

न च प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे मानमस्ति। प्रामाण्य ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत् दोषजन्यत्वेन व्यभिचारो मा भूदिति ज्ञानैकधर्मत्वादित्युक्तम्। तथा प्रामाण्यमुक्तविधमप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात् प्रत्यक्षत्ववदित्यनुमान नानमिनि केचित्, तन्न, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—कि तथाविधव्यक्तिवृत्तितामात्र विवक्षितम्?

इति ब्रुवते, तैरप्यतिप्रसक्तिपरिहारायाकुर्वन् यदन्यद् दोषेभ्य इति वचनादज्ञानहेतुनाऽजन्यप्रत्याख्याना।

एव लक्षणमाक्षिप्य प्रमाणमाक्षिपति—**न च प्रामाण्येति**। तन्दीपाव ोक्तमनुमानमुद्भावयति—**प्रामाण्यमिति**। ज्ञानहेतुजन्याश्रयत्वसाधने सिद्धसाधनता तदर्थ मात्रग्रहणम्, ज्ञानैकधर्मत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति तत्र व्यभिचारवारणायाप्रामाण्येतरत्वे सतीत्युक्तम्। घटत्वादिव्यावृत्त्यै ज्ञानग्रहणम्। उत्तरविशेषणकृत्यमाह—**दोषेति**। तद्धि व्याधेरपि धर्म इति न ज्ञानैकधर्म इत्यर्थ। तदीयमेवानुमानान्तरमाह—**तथेति**। ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति अत उक्तम—**अप्रामाण्येतरत्वे सतीति**। सत्तागुणत्वज्ञानत्वैर्व्यभिचारनिवारणाय ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वग्रहणम्।

नैयायिक विशेषावयव-सम्बन्ध-दोषाऽभावादिरूपगुणजन्यप्रमात्व को मानते है, अत उस स्वसिद्धान्त मे स्थितिपूर्वक ज्ञानसामग्री मात्र जन्यत्व रूप स्वत प्रमाण्य के लक्षण को निषेध करके अब स्वतस्त्व विषयक प्रमाण का अभाव कहते है कि (प्रामाण्य के स्वतस्त्व मे प्रमाण भी नही है) वहाँ स्वत प्रमाणवादी के अनुमान दर्शाते हे कि (प्रामाण्य, ज्ञान हेतुमात्रजन्य आश्रय वाला है, अप्रमात्व से भिन्न होता हुआ ज्ञान मात्र धर्मत्व से, ज्ञानत्व के समान) ज्ञान हेतुजन्याश्रयत्व साध्य करने पर सिद्धसाधन होता, उसके वारण के लिये मात्र कहा है। ज्ञानैकधर्मत्व अप्रमात्व मे भी है, अत अप्रमाण्येतरत्व कहा हे। घटत्वादि के वारण के लिये ज्ञान का ग्रहण है। अप्राण्येतरत्व इतना ही हेतु रहता तो दोषजन्यत्व उसका अर्थ होता, और उसका पक्ष मे वृत्तित्व का व्यभिचार होता, क्योकि दोषजन्यत्व तो व्याधि का धर्म है, अत प्रामाण्येतरत्व युक्त ज्ञानैकधर्मत्व कहा, उसमे पक्षवृत्तित्व है। इसी प्रकार का अनुमानान्तर है कि (प्रामाण्य, उक्तविध = ज्ञानहेतु मात्रजन्य आश्रय वाला है, अप्रामाण्यभिन्नत्व युक्त ज्ञानत्व से न्यूनदेशवृत्तित्व वाला होने से, प्रत्यक्षत्व के समान)। इस अनुमान मे सत्तागुणत्व ज्ञानत्व द्वारा व्यभिचारवारण के लिये ज्ञानत्व न्यूनवृत्तित्व का ग्रहण है। इन अनुमानो को कोई स्वत प्रामाण्य मे प्रमाण कहते है, परन्तु यह कथन युक्त नही है, क्योकि अनुमान विकल्पायोग्य है। उक्त अनुमानो मे (ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमात्र साध्य

उतान्यावृत्तित्वे सति तथाविधव्यक्तिवृत्तित्वम् ? नाद्य , अशत सिद्धसाधनत्वात् अनुव्यवसायानुमित्युपमितीना स्वत प्रमात्वस्य परैरप्यङ्गीकारात् । न द्वितीय , आद्यप्रयोगे दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् , ज्ञानत्वस्य दोषजन्याप्रमाणज्ञानवृत्तित्वस्याप्यङ्गीकारात् । नाप्रमाणज्ञाने ज्ञानत्वस्य वृत्तिस्तस्य ज्ञानाभासत्वादितिचेन् , मैवम् , तथा सत्यप्रामाण्येतरत्वे सति इति विशेषणस्य वैयर्थ्यात् , अप्रमाणज्ञानस्य ज्ञानाभासत्वेनाप्रामाण्यस्य ज्ञानवृत्तित्वाभावात् द्वितीयानुमाने च सशयत्वादिना व्यभिचारः । तथाहि— तदपि ह्यप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्ति भवति, न तु भवति ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयम् , तिमिरादिदोषजन्याश्रयत्वात् । दृष्टान्तस्य साध्यविकलता

अत्र किं ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमात्र साध्यम् ? किं वा ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यावृत्तित्वे सति ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्वमिति विकल्प्याद्येऽशत सिद्धसाधनमाह—**अंशत इति ।** यथा चैतेषा स्वत प्रमात्व तैरङ्गीकृत तथा सिद्धान्ते दर्शयिष्यते । साध्यविकलत्वमेव दर्शयति—**ज्ञानत्वस्येति ।** दोषजन्येत्यतिरिक्तजन्यत्वमुक्तम् । अत्रान्तरा सिद्धान्तिमतमवलम्ब्य कश्चिच्चोदयति—**नाप्रमाणेति ।** उक्त हि अविद्या वेद्यै सह भ्रम इत्यभिमान । एव प्रकृतदूषण परिहरतो विशेषणवैयर्थ्यम्, तथाचैक सन्धित्सतोऽपर प्रच्यवत इत्याह—**मैवमिति ।** व्यभिचारमेव स्फोरयति—**तथाहीति ।** दूषणान्तर

विवक्षित है अथवा ज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्यावृत्तित्व-युक्तज्ञान-हेतुमात्र-जन्य-वृत्तित्व विवक्षित है) इसमे प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योकि अनुव्यवसाय अनुमिति उपमिति के स्वत प्रमात्व को अन्य भी मानते है, अत उन अशो मे सिद्धसाध्यत्व की प्राप्ति होती है । दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि आद्य प्रयोग, अनुमान मे ज्ञानत्व रूप दृष्टान्त को साध्य विकलत्व प्राप्त होता है । ज्ञानत्व को दोषजन्य अप्रमाण ज्ञान मे भी वृत्तित्व को माना जाता है, अत ज्ञान हेतु से अतिरिक्त = दोषजन्य ज्ञान मे अवृत्तित्व ज्ञानत्व को नही रहता है । यदि कहे कि अप्रमाण ज्ञान (भ्रम) मे ज्ञानत्व नही रहता है, क्योकि वह ज्ञान नही है, किन्तु ज्ञानाऽऽभास (मिथ्याज्ञान) है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यदि अप्रमा ज्ञान नही हो तो अप्रामाण्येनरत्वे सति (अप्रामाण्येतरत्व युक्त) इस विशेषण की व्यर्थता होगी । अप्रमा के ज्ञान नही होने पर अप्रमात्व भी ज्ञानवृत्ति नही होगा, फिर उसकी व्यावृत्ति के लिये विशेषण व्यर्थ होगा । ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वात्—इतना ही हेतु उचित होगा । अप्रमाण ज्ञान के ज्ञानाभास होने के कारण उसमे ज्ञानत्व नही रहेगा । द्वितीय अनुमान मे सशयत्वादि से व्यभिचार है । अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानत्वन्यूनवृत्तित्वसशयत्वादि मे भी रहता है, परन्तु तिमिरादि दोषजन्याऽऽश्र-

च, प्रत्यक्षत्वस्यापि परत प्रामाण्यवादिना 'ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयत्वानाश्रयणात्। प्रमात्वमेव यस्य ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रय न भवति, गुणविशिष्टज्ञानसामग्रीजन्यवृत्तित्वात्, तस्य कथ तदवान्तरजातिप्रत्यक्षत्व तद्धेतुमात्रजन्याश्रय स्यात् ?

अस्ति च परतस्त्वेऽपि प्रयोग —अनीश्वरप्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वाद्घटवत्। ननु किं ज्ञानव्यक्ते प्रमाव्यक्तितोऽस्ति कश्चिद्विशेष ? किं

चाह—**दृष्टान्तस्येति**। तस्यैव विवरण **प्रत्यक्षत्वस्यापीति**। ननु किमिति प्रत्यक्षत्व नाङ्गीक्रियते, नहि तत्प्रमात्वमित्यत आह—**प्रमात्वमेवेति**। गुणविशिष्टसामग्रीजन्यप्रमाश्रय प्रमात्वमिति यस्याङ्गीकार स कथ तदवान्तरजाति प्रत्यक्षत्व ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयमङ्गीकुर्यादित्यर्थ। गुणग्रहण दोषाभावस्याप्युपलक्षणम्।

एव स्वतस्त्वलक्षणप्रमाणे दूषयित्वा परतस्त्वे कुसुमाञ्जलीयमनुमान दर्शयति— **अनीश्वरप्रमेति**। इद च तत्र युक्त प्रक्षिप्तमीश्वरप्रमाया बाधासिद्धी मा भूतामिति। यदस्य रत्नदीपावल्यामनुमानदूषणमुक्त तदुद्दिधीर्षुरनुवदति—**ननु किं ज्ञानव्यक्तेरिति**। किं ज्ञानत्वाश्रयो या ज्ञानरूपिणी व्यक्तिस्ततो भिन्ना प्रमात्वा-

---

यत्व से ज्ञान हेतुमात्रजन्याश्रयत्वरूप साध्य नही रहता है, अत हेतु की संशयादि मे व्यभिचार है। संशयत्व को अप्रमात्व से भिन्न मान कर, यह दोष कहा गया है। और प्रत्यक्षत्व रूप दृष्टान्त मे साध्यविकलता है, क्योकि परत प्रामाण्यवादी ने प्रत्यक्षत्व की भी ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयता को नही माना है। और जिसके मत मे प्रमात्व ही ज्ञानहेतुमात्रजन्य आश्रय वाला नही होता है, किन्तु गुणविशिष्टज्ञानसामग्रीजन्य वृत्तित्व से ज्ञानहेतुमात्रजन्याश्रयत्व का प्रमात्व मे अभाव रहता है। उस वादी के मत मे प्रमात्व के अवान्तर (व्याप्य) जातिप्रत्यक्षत्व को ज्ञानहेतुमात्रजन्यवृत्तित्व कैसे होगा।

उक्त रीति से स्वतस्त्व के लक्षण प्रमाण को दूषित ठहरा कर, परत वादी कहते है कि, परतस्त्व मे प्रयोग भी है कि (अनीश्वरप्रमा, विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वात्, घटवत्) जीव की प्रमा, विज्ञान के हेतु से अन्य हेतु के अधीन होती है, कार्य होने से, घट के समान। बाध और असिद्धि के वारण के लिये प्रमा का अनीश्वर विशेषण है, इससे अनित्य प्रमा, यह अर्थ होता है। और वह प्रमा विज्ञान के हेतु सामान्य आत्ममन संयोग से अतिरिक्त इन्द्रिय-विशेषावयवादि के साथ सम्बन्ध से होती है, अत सम्बन्ध गुण कहा जाता है। यहाँ शका होती है कि ज्ञान व्यक्ति को (ज्ञान को) प्रमा व्यक्ति (प्रमा स्वरूप) से कोई विशेष (भेद) है, या नही है अत प्रमा व्यक्ति (स्वरूप) ही ज्ञानव्यक्ति है।

वा प्रमाव्यक्तिरेव ज्ञानव्यक्ति ? आद्ये प्रत्यक्षज्ञानव्यक्त्या स्पष्टो व्यभिचार ; प्रत्यक्षज्ञानव्यक्तेर्विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावात् । द्वितीयेऽपि जन्यापि विज्ञानरूपा प्रमा न ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनेति बाध इति चेत्, मैवम् ; ज्ञानव्यक्ते प्रमाव्यक्तितो भेदाभावेऽपि विज्ञानत्वप्रमात्वधर्मयोर्भेदात् । ततश्च घटत्वस्य पृथिवीत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधन इव प्रमाया विज्ञानत्वप्रयोजकातिरिक्तप्रयोजकत्वसाधने बाधाभावात् । विपक्षे च प्रमात्वस्य विज्ञानत्वप्रयोजकमात्रप्रयोज्यत्वात् , ज्ञानत्ववदप्रमाज्ञानवृत्तित्व स्यादिति बाधकस्तर्क उन्नेय । ननु ज्ञानसामग्र्या एवानिरूपणात् तदति-

---

श्चय प्रमाव्यक्ति ? किं वा नेति विकल्प्याद्ये व्यभिचारमाह—**प्रत्यक्षेति** । द्वितीये ज्ञानरूपाया प्रमाव्यक्तेर्ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वसाधन व्याहतम्, ज्ञान ज्ञानहेतुत्वाधिकरणजन्यमिति हि तदर्थ स्यादित्याह—**द्वितीयेपीति** । तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । यद्यपि व्यक्त्योर्भेदो नास्ति तथापि ज्ञानत्वप्रमात्वयोर्भेदात् प्रमाया अपि ज्ञानत्वप्रयोजकव्यतिरिक्तप्रयोज्यत्वमुपपद्यते, यथा ह्येकस्मिन्नेव घटे द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वाना विभिन्नप्रयोजकतया द्रव्यादीनामपि विभिन्नप्रयोज्यतेत्यर्थ । ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वाभावे च बाधकमाह—**विपक्षे चेति** । यदि ज्ञानहेतुमात्रप्रयोज्येय तर्हि प्रत्प्रयोज्यज्ञानवृत्तिज्ञानत्ववत्प्रमात्वमप्यप्रमाया वर्ततेत्यर्थ । ननु साध्यमेवेद नाङ्ग धारयति, ज्ञानहेतोरेवानिरूपणादीन्द्रियादीना परस्परव्यभिचारादात्ममन सयोगस्य च सुखादिसाधारण्यात । अतस्तदतिरिक्तहेतुरपि दुर्निरूप इति शङ्कते—**नन्विति** ।

आद्य पक्ष मे प्रत्यक्ष ज्ञान व्यक्ति द्वारा स्पष्ट ही व्यभिचार है, क्योकि ज्ञानत्व धर्म वाले प्रत्यक्ष अनित्य ज्ञान मे कार्यत्व रूप हेतु रहता है, और विज्ञान के हेतु से अतिरिक्त हेत्वधीनत्व का अभाव रहता है। अर्थात् प्रमा व्यक्ति मे ज्ञानहेत्वतिरिक्त हेत्वधीनत्व के रहने भी उससे भिन्न प्रत्यक्ष अनित्य ज्ञान व्यक्ति मे नही रहता है, और कार्यत्व हेतु रहता है, अत स्पष्ट व्यभिचार है। और दूसरे पक्ष मे प्रमा व्यक्ति के ज्ञानव्यक्तिस्वरूप ही होने के कारण जन्य (कार्य) स्वरूप भी विज्ञानरूपा प्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्त हेतु के अधीन नही हो सकती है, अत बाधरूप दोष है। यह शका युक्त नही। क्योकि ज्ञान व्यक्ति को प्रमाव्यक्ति मे भेद के अभाव रहते भी विज्ञानत्व और प्रमात्व धर्मो मे भेद रहता है, ज्ञानत्व प्रयोजक से भिन्न प्रमात्व का प्रयोग हो सकता है, अत घटत्व के पृथिवित्व प्रयोजकातिरिक्त प्रयोजकत्व के साधन (अनुमान) के समान, प्रमा के विज्ञानत्व प्रयोजकातिरिक्त प्रयोजकत्व के साधन मे बाध नही हो सकता है। और प्रमात्व के विज्ञानत्व के प्रयोजक (हेतु) मात्र से प्रयोज्य (जन्य) होने पर, ज्ञानत्व के समान प्रमात्व की अप्रमाज्ञान मे वृत्तिता होगी, यह विपक्ष बाधक तर्क प्रयोक्तव्य है। विज्ञान प्रयोजक से अतिरिक्त प्रयोज्यत्व के प्रमा मे कहने पर शका होती है कि इन्द्रियादि के परस्पर व्यभिचारादि से, ज्ञानसामग्री

रिक्तहेत्वधीनत्व दुर्ज्ञानमिति चेत् मैवम् , एव सत्यप्रमायाः परतस्त्व दत्तजलाञ्जलि स्यात् । तदपि हि ज्ञानसामग्रीनिरूपणाधीननिरूपण, तस्य दोषानुषक्तविज्ञानसामग्रीजन्यताप्रतिज्ञानात् । तस्मान्नोत्पत्तौ प्रमाया स्वतस्त्वम् ।

नापि ज्ञप्तौ । तथाहि—नीलसवेदनस्य प्रामाण्य नीलसंवेदनेनैवावेद्यत इति स्वतस्त्वमुच्यते ? किंवा तद्वेदनग्राहकमात्रग्राह्यत्वेन ? नाद्य , तस्य तत्राप्रमाणत्वात् । तथाहि—यदेतन्नीलप्रकाशनप्रत्यक्ष तन्नील प्रति तावत्प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसनिकर्षोत्पन्नत्वात् । स्वप्रामाण्यपरिच्छित्तौ तु कथ

दूषयति—**मैवमिति** । अवश्य तावद्दोषानुषक्तविज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रमाया मन्वानेन ज्ञानसामग्री तावन्निरूपणीया, सा च नास्मन्मते दण्डवारिता, भवितव्य च तया, अन्यथा विलक्षणकार्यादर्शनप्रसङ्गादिति भाव ।

किमाश्रयज्ञानवेद्यत्व वाणाण्यस्य ज्ञप्तौ स्वतस्त्वम् ? किं वा ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वम् ? इति विकल्प्याद्य दूषयति—**नाद्य इति** । नीलसवेदनस्य स्वप्रामाण्यग्राहकत्वाभावमेवोपपादयति— **तथा हीति** । इन्द्रियार्थसनिकर्षोत्पन्न ह्यनीश्वरप्रत्यक्ष

का ही निरूपण नही हो सकता है, ज्ञान की सामग्री क्या है, तो उसके अनिरूपण रहते, तदतिरिक्त हेत्वधीनत्व का प्रमा मे ज्ञान होना दुर्ज्ञान (असम्भव) है, परन्तु ऐसी शका नही होनी चाहिये, इन्द्रियादि मे परस्पर व्यभिचार होते भी तत्तत ज्ञानो के प्रति पृथक् २ अन्वयव्यतिरेक मे उन्हे ज्ञानहेतु मानना चाहिये, क्योकि हेतु नही मानने पर स्वीकृत अप्रमा की परस्ता भी दत्तजलाञ्जलिरित्यक्ता हो जायगी, क्योकि दोषयुक्त ज्ञानसामग्रीजन्यत्व ही अप्रमा मे परतस्त्व वेदान्त मे भी माना जाता है, और वह परतस्त्व भी ज्ञानसामग्रीनिरूपणाऽधीन निरूपण वाला है । और उसकी दोषयुक्त ज्ञानसामग्रीजन्यता की प्रतिज्ञा (स्वीकृति) की गई है । अत उक्त रीति से प्रमा की स्वतस्त्व (ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्व) नही है ।

प्रमा की ज्ञप्ति (ज्ञान) मे भी स्वतस्त्व (ज्ञानज्ञापक ज्ञेयत्व) नही है । क्योकि नीलज्ञान के प्रमात्व नीलज्ञान से ही सवेदित (प्रकाशित) होता है, इस प्रकार का स्वतस्त्व माना जाता है । या जहाँ नीलज्ञानग्राहकमात्र से ग्राह्यत्व रूप से स्वतस्त्व माना जाता है, वहाँ प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि नील ज्ञान को नील ज्ञानगत प्रमात्व के प्रति अप्रमाणत्व रहता है । जो यह नील का प्रकाशन रूप प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वह नील के साथ इन्द्रियसम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण नील के प्रति प्रत्यक्ष (प्रमाण) होता है, और स्वगत प्रामाण्य की परिच्छित्ति (प्रकाशन) मे तो वह प्रमाण कैसे होगा, क्योकि उसको वाह्येन्द्रिय के

तत्प्रमाणम् ? तस्य बहिरिन्द्रियैरसन्निकर्षात् । अपि च तत्प्रत्यक्ष विज्ञानस्यैव प्रामाण्य गृह्णीयात् ? उत तत्फलस्य ? नाद्य, ज्ञानस्य फललिङ्गानुमेयत्वेन तस्याप्रत्यक्षतया तत्प्रामाण्यस्यापि प्रत्यक्षतानुपपत्ते । फलस्यापि स्वप्रकाशतया बाह्येन्द्रियाविषयत्वात्, तद्गतयथार्थत्वलक्षणप्रामाण्यस्यापि

नदिद वहिरिन्द्रियस्यान्तरस्य वा प्रामाण्येन सनिकर्षादुत्पद्यने इति वक्तव्य प्रत्यक्षवादिना, तत्र वहिरिन्द्रियग्राह्यत्व प्रामाण्यस्यान्तर्धर्मत्वादेवासभवीत्याह—**तस्येति**। नापि मानसत्वम्। तदा हि प्रामाण्यस्य मन मनिकर्षसमये तत्सत्त्वार्थ नदाश्रयज्ञानस्यापि मत्त्व वक्तव्यम्, तथा च न तदेव ज्ञान स्वाश्रितप्रामाण्येन्द्रियमन्निकर्पादुत्पत्तुमर्हति, सिद्धस्वभावात्। ज्ञानान्तरस्योत्पत्तौ तु परत प्रामाण्यप्रमक्तिरिनि, लिङ्गादिजन्यत्वाभावाच्च नानुमित्यादिरूपताशङ्कापि। किं चेद प्रामाण्यमिति वा तत्तेन गृह्यते नत्प्रामाण्यमिति वा। आद्ये ज्ञाननिष्ठतया अग्रहणात् गृहीते तस्मिन् मशयप्रसङ्ग । द्वितीये स्वविशेषितप्रामण्यग्रहणे त्वग्रहापत्ति । अपि च यथानथा भवतु, तत्तु कस्य प्रामाण्य गृह्णातीति भाट्ट प्रति विकल्पयति—**अपि चेत्यादिना**। तत्फल प्राकटचम्, प्राकटचलिङ्गानुमेय विज्ञान भाट्टैरभ्युपेयत। न चाप्रत्यक्षगत प्रामाण्य भवितु प्रत्यक्षमर्हति। न च स्पर्शशब्दादितुल्यता, जातित्वात्। जातेरेव व्यक्तिप्रत्यक्षतानियतप्रत्यक्षत्वम्, वक्ष्यते च जातित्वमतमनन्तरमेवेति भाव । फलगतप्रामाण्यग्रहणपक्षेऽपि किं बहिरिन्द्रियेण ? आन्तरेण वा ? नाद्य इत्याह—**फलस्यापीति**। अर्थनिष्ठत्वादेव नान्तरप्रत्यक्षत्वमपि। यदि कश्चिदात्मनिष्ठत्व मन्वीत सुचरितमिश्रमतानुसारेण तथापि स्वप्रकाशत्वादेवाविषयत्वे तद्गतप्रामाण्यमविषय इत्यपि द्रष्टव्यम्। ज्ञानग्राहकादेव तत्प्रामाण्यग्रहण ज्ञप्ति-

साथ सम्बन्ध नही रहता है, और बाह्य इन्द्रिय के सम्बन्ध से वह नील ज्ञान हुआ है, अत वह नील के प्रति प्रमाण है, ज्ञान के प्रति नही। प्रमात्व ज्ञान का धर्म है, ज्ञान के ज्ञान विना तद्गत प्रमात्व का ज्ञान नही हो सकता है, और अन्तर्गत ज्ञान के साथ वहिरिन्द्रिय के सम्बन्ध का अभाव रहता है, और स्वत प्रामाण्यवादी भट्टानुयायी भी होते है, अत उनके प्रति प्रश्न है कि वह प्रत्यक्ष विज्ञान के प्रामाण्य (प्रमात्व) का ग्रहण करेगा, या उस ज्ञान से जन्य, फल (प्राकटच=ज्ञातता) के प्रामाण्य का भी ग्रहण करेगा। वहाँ प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है। भट्टमत मे फल (प्राकटच) रूप लिङ्ग से ज्ञान के अनुमेय (अनुमान से ज्ञेय) उसकी अप्रत्यक्षता से तद्गत प्रामाण्य की प्रत्यक्षता की सिद्धि नही हो सकती है। (घट, विषयता सम्बन्ध से ज्ञान वाला है, ज्ञातता वाला होने से) इस प्रकार से अनुमान मानते है और ज्ञातता रूप फल को भी स्वप्रकाशता के कारण बाह्य इन्द्रिय का विषयत्व नही होता है, और ज्ञातता के बाह्य विषय वृत्ति होन से अन्तरिन्द्रिय मन

बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वानुपपत्ते । नापि द्वितीय , ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वे प्रामाण्यस्य क्वचिदपि ज्ञाने प्रमाणमप्रमाण वेति सशयाभावप्रसङ्गात् । ननु ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेप्यर्थविशेषितत्वस्य साशयिकत्ववत्प्रामाण्यस्यापि साशयिकत्वमुपपद्यते । तथाहि—कुम्भज्ञानस्याम्भो विषयोऽभून्न वेति सशयाना दृश्यन्ते जना , साम्भसामनम्भसामपि कुम्भानामुपलम्भात् । एव प्रामाण्येऽपि सशय किं न स्यादिति चेत् , मैवम् , अम्भस कुम्भग्राहक-सामग्रीमात्रग्राह्यत्वानङ्गीकारात् , अङ्गीकारे वाऽविशेषेण सकलकलशाना

स्वतस्त्वमिति द्वितीय पक्ष दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । दृश्यते हि क्वचिज्ज्ञाने प्रतीतेऽपि प्रामाण्ये सशय , स न स्यात्, ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेरित्यर्थ । तत्र ज्ञानग्राहकमात्रग्राह्यत्वेप्युपपन्न सदेह ज्ञानगततदर्थविशेषितत्वस्य ज्ञानग्राहक-मात्रग्राह्यत्वेऽपि तत्र सदेहदर्शनादत प्रशिथिलमूलस्तर्क हेतुश्च सव्यभिचार इत्यौद यत परतस्त्वानुमान केचिद्दूषयावभूवु , तत्प्रसङ्गादनूद्य दूषयति—**नन्वित्यादिना** । ज्ञानग्राहकग्राह्यत्वे समानेऽपि कुम्भसलिलयोर्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वात् सोदकेऽपि कुम्भे कुतश्चिन्निमित्तात्सलिलग्राहकसामग्रीवैकल्याद्विषयत्वोपप्लवेन सभवत्यपि तावत्यशे सशय , इह तु न तथा किंचिदस्ति सशयकारणमिति परिहरति—**मैवमिति** । बाध-

---

से भी वह गृहीत नही हो सकता है अत उस फल (जानना) गत यथार्थत्व स्वरूप प्रामाण्य भी बाह्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता है । (ज्ञानग्राहक मात्र से ग्राह्यत्व) रूप दूसरा पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि ज्ञानगत प्रामाण्य के ज्ञानग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्यत्व होने पर, जो कही ज्ञान के ग्रहण होने पर उसके प्रामाण्यविषयक सशय होता है, वह नही हो सकेगा, क्योकि धर्मी के सामान्य ज्ञान होते जिस धर्मविशेष का ज्ञान नही होता है, और सस्कार से धर्म का स्मरण मात्र होता है, उसका सशय होता है, धर्मी के निश्चय से निश्चित धर्म प्रमात्व का सशय नही हो सकता है कि यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है। यदि कहा जाय कि प्रामाण्य के ज्ञानग्राहक मात्र ग्राह्य होते भी, जैसे ज्ञानगत अर्थ-विशेषितत्व (अर्थविषयकत्व) के ज्ञान होते भी सशय होता है, वैसे प्रामाण्य के सशयविषयत्व का भी सम्भव है, जैसे कि सजल निर्जल दोनो प्रकार के घट के होने से कहीं घट के ज्ञान होने पर भी मेरे ज्ञान का जल भी विषय हुआ या नही, अर्थात् मुझसे ज्ञात घट सजल था, या निर्जल था ऐसा सशय करने वाले दीख पडते है, इसी प्रकार से प्रामाण्यविषयक सशय क्यो नही होगा । तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि जल को कुम्भग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य नही माना जाता है, यदि घट ग्राहक सामग्री मात्र से ग्राह्य जल को माना जाय तो सब घटो को सामान्य रूप से

सलिलवत्त्वप्रसङ्गात् । तस्मान्नारिकेलफलान्तर्गतसलिलादिवद्भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वादेव तत्र सशय । प्रामाण्ये तु न तथेति युक्तमुत्पश्याम. । किं च विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यताया प्रामाण्यस्य शुक्तिकारजतादिबुद्धिष्वपि तद्ग्रहप्रसङ्ग , सत्यम् , गृहीतमेव तत् बाधकादपनीयते । यथाहु —

'तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धे प्रमाणता ।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानै अपोद्यते ॥' इति ॥ (श्लो वा २।५३)

तस्मादस्माकमिष्टप्रसञ्जनमिति चेत्, मैवम्, परत प्रामाण्यप्रसङ्गात् । तथाहि—प्रसक्तमपि प्रामाण्य रजतादिबुद्धिषु बाधकज्ञानादपनीयते इति वदता बाधकज्ञानाभावनिबन्धनमेव प्रामाण्यावधारणमभ्युपगत स्यात् ।

कान्तरमाह—**किं चेति** । पूर्वमुत्पत्तिस्वतस्त्वे विभ्रमेऽपि तत्सत्त्व स्यादित्युक्तम्, सम्प्रति ज्ञप्तिस्वतस्त्वे तदुच्यत इति न जामिता । उत्सर्गत प्राप्तस्यापि तत्र तस्यापवादमाह स्वत प्रामाण्यवादी—**सत्यमिति** । सत्यमर्धाङ्गीकारे । अनङ्गीक्रियमाणांशमाह—**बाधकादिति** । बोधात्मकत्वेन, ज्ञानत्वादेव, शुक्तिरजतादिबुद्धेरपि प्रमाणता प्राप्ता गृहीता तथाप्यर्थान्यिथात्वज्ञानै प्रतीतार्थस्यान्यथात्वबोधकै बाधकज्ञानैर्हेतूत्थदोषज्ञानैर्हेतुगतदोषज्ञानैश्चापोद्यते बाध्यत इति भट्टोक्तेरर्थ , परत प्रामाण्यमापादयन्ननिष्टतामेव समर्थयते —**मैवमिति** । प्राप्तप्रामाण्यस्यापि बाधकज्ञानादप-

---

जलवत्त्व ही प्राप्त होगा, अत नारियल के फलान्तर्गत जलादि के समान घटजल के घटग्राहक सामग्री से भिन्न से ग्राह्यत्व होने ही के कारण वहाँ सशय होता है, और स्वत प्रामाण्यवाद मे प्रामाण्य मे वैसा भिन्न सामग्रीग्राह्यत्व नही है, अत. दृष्टान्त-दार्ष्टान्त मे वैषम्य है, अतएव सशयाभावापत्ति युक्त ही कहा गया है । और यह भी आपत्ति है कि यदि ज्ञानग्राहक सामग्री मात्र से प्रामाण्य का ग्रहण होगा, तो शुक्ति आदि मे रजतादि के भ्रम ज्ञानो मे भी प्रामाण्य ज्ञान की प्राप्ति होगी, ज्ञानग्राहक सामग्री वहाँ भी रहती है । यदि कहा जाय कि यह बात सत्य ही है, वहाँ प्रामाण्य ग्रहण होता ही है, किन्तु गृहीत भी प्रामाण्य फिर बाधक बलवत् प्रमाण से अपनीत (निवारित) होता है, अतएव श्री भट्ट जी ने कहा है कि—

ज्ञानात्मक होने से शुक्ति-रजतादि ज्ञानो मे भी यद्यपि प्रमाणता (प्राप्त) गृहीत होती है, तथापि अर्थ के अन्यथात्व (मिथ्यात्व) के ज्ञान से हेतु (करण) गत दोषादि के ज्ञान से प्रामाण्य बाधित हो जाता है । तो यह कहना स्वतस्त्व वादी का युक्त नही, क्योकि इस प्रकार से परत प्रामाण्य की प्राप्ति होती है । शुक्ति रजतादि ज्ञानो मे प्राप्त भी प्रामाण्य बाधक ज्ञान से निवारित होता है, ऐसा कहने वाले बाधक ज्ञानाभाव निमित्तक ही प्रामाण्य निश्चय को मानेगे, अत ज्ञानग्राहक सामग्री से भिन्न बाधक ज्ञानाभाव से प्रामाण्य के ग्रहण होने के कारण परत प्रामाण्य ग्रहण की प्राप्ति होगी ही ।

न च ज्ञप्तिस्वतस्त्वे मानमस्ति। ननु 'प्रमा स्वतो ज्ञायते परनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वात् ज्ञानवत्', तथा 'प्रामाण्य स्वतो ज्ञायते अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वात् ज्ञानत्ववत्' इत्यस्त्येवानुमानमिति चेत्, मैवम्, आद्यप्रयोगे परत प्रामाण्यवादिन प्रति हेतोरसिद्धे, दृष्टान्ताभावाच्च। न हि पक्षीकृता प्रमा विपक्षकुक्षिनिक्षिप्तामप्रमा च विहाय ज्ञानस्यापरा कोटिरस्ति, या दृष्टान्तपदवीमुपारोहेत्। द्वितीये च प्रयोगे प्राभाकरस्य स्वयप्रभत्वे

वादे तत्सदसत्त्वाभ्यामप्रामाण्यप्रामाण्यव्यवस्थेति परत प्रामाण्यापत्ति प्राप्नोतीत्यर्थ।

ज्ञप्तिस्वतस्त्वानिरुक्तिमुक्त्वा प्रमाणमपि तत्राक्षिपति—**न चेति**। रत्नदीपावलीयमनुमानमुद्भावयति—**ननु प्रमेति। स्वतो ज्ञायत इति**। ज्ञानज्ञापकमात्राज् ज्ञायते। **परनिरपेक्षेति**। ज्ञानसामग्रीमात्रादुत्पन्नत्वादित्यर्थ। परत प्रामाण्यवादिन परनिरपेक्षोत्पत्तित्व प्रमाया अप्रसिद्धमिति दूषयति—**मैवमिति**। किं च प्रमाणाप्रमाणाभ्या द्वैराश्यमेव ज्ञानस्य। तत्र प्रमाणवर्ग पक्ष सर्व, इतरस्तु विपक्ष ततो दृष्टान्तोऽपि नास्तीत्याह—**दृष्टान्तेति**। अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वादिति द्वितीयानुमानेऽपि गुरुमतभाट्टमतयोर्यथायथमनैकान्तिमाह—**द्वितीये चेति**। ज्ञाततयानुमेय हि ज्ञान भाट्टमते ततो ज्ञाततानुमेयत्व नाम कश्चिज्ज्ञानस्य धर्मस्तस्मि-

---

प्रामाण्य के ज्ञान के स्वतस्त्व की अनिरुक्ति कही गई। अब प्रमाण की अनिरुक्ति कही जाती हैं कि—प्रामाण्य के स्वतस्त्व मे प्रमाण भी नही है। यदि कहा जाय कि (प्रमा, स्वत ज्ञात होती है, परनिरपेक्ष उत्पत्ति वाली होने से, ज्ञान के समान) तथा (प्रामाण्य, स्वत ज्ञात होता ह, अप्रामाण्य से भिन्न होता हुआ ज्ञानैकधर्मत्व से, ज्ञानत्व के समान) ये अनुमान प्रमाण है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि प्रथम अनुमान मे परत प्रमाण्यवादी के प्रति हेतु असिद्ध है। और दृष्टान्त का भी अभाव है। क्योकि प्रमा, अप्रमा दो प्रकार के ज्ञान होते है, उनमे प्रमा सपक्ष स्वरूप हे, अप्रमा विपक्ष रूप है। उनसे भिन्न कोई ज्ञान का स्वरूप नही है कि जो सपक्ष रूप दृष्टान्त हो सके। अत पक्षकृत प्रमा विपक्ष के अन्दर प्रविष्ट अप्रमा को छोडकर ज्ञान के कोटचन्तर के अभाव से दृष्टान्त का अभाव है। और दूसरे प्रयोग (अनुमान) मे अप्रामाण्येतरत्वे सति ज्ञानैकधर्मत्वरूप हेतु, प्रभाकर के स्वय प्रभात्व रूप ज्ञानैक (ज्ञानवृत्ति) धर्म मे, तथा भट्ट के (ज्ञातताऽनुमेयत्व) धर्म मे व्यभिचारी है। क्योकि उन दोनो मे ज्ञानैकधर्म होते भी ज्ञानैक सामग्री मात्र ग्राह्यत्व साध्य का अभाव रहता है। अन्यथा यदि ज्ञानग्राहक सामग्री मात्र से वे दोनो धर्म ग्राह्य होते, तो उन विषयक वादियो के विवाद के अभाव की प्राप्ति होगी, जैसे कि ज्ञानविषयक विवाद का अभाव रहता है। परन्तु ज्ञान के

ज्ञानैकधर्मे, भाट्टस्य च ज्ञाततानुमेयत्वधर्मे व्यभिचार । तयोर्ज्ञानैकधर्मत्वेऽपि ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यत्वाभावात् । अन्यथा तत्र वादिना विप्रतिपत्त्यभावप्रसक्ते । ज्ञप्तिपरतस्त्वे चानुमान न्यायकुसुमाञ्जलावाह स्म चोदयन 'प्रामाण्य परतो ज्ञायते अनभ्यासदशाया साशयिकत्वात् अप्रामाण्यवत् ।' विपक्षे प्रामाण्ये सशयो न स्यात् ज्ञाननिश्चायकादेव तन्निश्चयप्राप्तेर्बाधकस्तर्क ।

ननु नैवमनुमानमुदेति, धर्मिहेत्वोरसिद्धे । तथाहि—प्रामाण्य प्रवृत्तिसामर्थ्यलिङ्गावगम्य भवद्भिरुपगम्यते, तस्य च लिङ्गस्य प्रवृत्ति

त्वित्यर्थ । ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वधर्मेऽव्यभिचारो द्रष्टव्य । अथ किमिति तयोरपि न स्वतो ज्ञानमिति तत्राह—**अन्यथेति** । यदि हि ज्ञानग्राहकादेव तयोरपि ज्ञान स्यात्तर्हि ज्ञानवदेव तयोरपि न विवादो वादिना स्यात्, विवदन्ते चेत्यर्थ । साशयिकत्वादित्युक्ते भागासिद्धि स्यात, न हि करतलस्पर्शवस्त्वादिप्रत्यक्षे मुग्धोऽपि सदिग्धे । तत उक्तम्—**अनभ्यासदशायामिति** । विपक्षे बाधकस्तर्क इति सबन्ध ।

यदत्र रत्नदीपावल्या दूषणमुक्त तदनुवदति—**ननु नैवमिति** । **प्रवृत्तिसामर्थ्येति** । 'विमतमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैव तन्नैव यथा ज्ञानाभास' इति व्यतिरेकिणाऽनुमानादित्यन्वयिना वा । अनभ्यासदशापन्नेषु प्रामाण्यमनुमीयते सशयाच्च प्रवृत्ति , अभ्यासदशापन्नेषु तु तज्जातीयत्वलिङ्गेन इत्यभ्युपेयत इत्यर्थ । क्वचिदनिर्णीतस्य साधारणधर्मदर्शनाद्युपस्थापिततया सशयकोटिताऽभावात् तन्निर्णय-

---

स्वप्रकाशत्व और ज्ञातता के अनुमेयत्व मे विवाद रहता है। अत ज्ञानग्राहक से ग्राह्यत्व का अभाव भी सिद्ध होता है। और न्यायकुसुमाञ्जलि मे श्री उदयनाचार्य ने कहा है कि (प्रामाण्य, परत , ज्ञात होता है, अनभ्यास दशा मे साशयिक होने से, अप्रामाण्य के समान) अर्थात् जिस विषय का बार-बार अनुभव होता है, तज्जन्य सफल प्रवृत्ति आदि से वहाँ प्रमात्व का सशय नही होता, किन्तु कही किसी वस्तु का प्रथम ज्ञान होता है तो अवश्य प्रामाण्य का सशय होता है। यदि ज्ञानग्राहक सामग्री से प्रामाण्य गृहीत हो तो ज्ञान के ग्रहण होने पर प्रामाण्य के भी गृहीत होने से अनभ्यास दशा मे भी प्रामाण्य सशय नही होना चाहिये। ज्ञान के निश्चायक हेतु से ही प्रामाण्य के निश्चय के प्राप्त होने से यह विपक्ष मे बाधक तर्क है।

यहाँ शङ्का होती है कि इस प्रकार का अनुमान ही नही हो सकता है, क्योकि प्रामाण्य रूप धर्मी और साशयिकत्व रूप हेतु की असिद्धि है, प्रामाण्य को आप प्रवृत्तिसामर्थ्य (सवादित्व) लिङ्ग (हेतु) से अवगम्य (अनुमेय) मानते है और सवादि प्रवृत्ति रूप लिङ्ग की प्रामाण्यविषयक प्रवृत्ति (अनुमापकत्व) सशय-

प्रामाण्ये संशयपूर्विका। असंदिग्धे सिषाधयिषाभावात्, अनुमानाप्रवृत्ते। तत्संशयश्च क्वचिन्निश्चयाधीन इति प्रामाण्ये संशयनिश्चययोरन्योन्याश्रयादनवस्थानाद्वा नैकमपि सिद्ध्येदिति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात् किं स्वार्थानुमानमसंदिग्धे न प्रवर्तते ? किंवा परार्थम् ? नाद्य, सद्य समुन्मीलितविलोचनस्य शिखरिशिखरविपरिवर्तमानधूमलेखावलोकनसमनन्तरमप्रत्यूह धूमध्वजमनीषासमुन्मेषात्। नापि द्वितीय, विपर्यस्तमपि प्रति प्रतिवादिनमनुमानप्रयोगोपगमात्। अन्यथा जल्पवितण्डयो प्रमाणतर्काभ्या स्वपरपक्षसाधनोपालम्भासंभवात्। संदिग्धे

स्य च संशयसापेक्षानुमानाधीनत्वात्संशयनिर्णययो परस्परमापेक्षत्वे परस्पराश्रयात् संशयान्तरनिर्णयान्तरापेक्षायामनवस्थानाच्च नैकमपि सिद्धचति, लोकसिद्ध च किंचिद्रूप सर्वत्र प्रमाणत सिद्धमभिवाञ्छतो नास्ति। अतो निर्णीतप्रामाण्याभावाद्धर्म्यभाव संशयाभावाच्च हेत्वभाव इति खण्डलार्थ। अत्र विकल्पपूर्वक संशयव्यतिरेकेणापि निश्चयमुपपादयन्धर्मिहेतू समर्थयते—**मैवमित्यादिना**। शिखरी पर्वत तस्य शिखरमग्रिमभाग, अप्रत्यूह निर्विघ्नम्, धूमध्वजो वह्निर्मनीषा बुद्धि, स्वार्थानुमान च हितसाधनादिज्ञानप्रामाण्यानुमानमित्यर्थ। परार्थानुमानेऽपि न संशयपूर्वकत्वनियम, विपर्यस्त प्रत्यपि प्रयोगादित्याह—**विपर्यस्तमिति। जल्पवितण्डयोरिति**। नहि तत्र संदिहान प्रतिवादी, य प्रत्यनुमान प्रयुज्येत, अपि तु

पूर्वक हो सकती है। क्योकि असन्दिग्ध मे सिषाधयिषा (साधनेच्छा) के अभाव से अनुमान की प्रवृत्ति नही होती है और वह संशय भी कही निश्चय के अधीन होता हे। निश्चित के संस्कार द्वारा कही स्मरणपूर्वक कोटचन्तर के स्मरण होने पर संशय होता है। अत प्रमात्व के संशय मे प्रमात्व–अप्रमात्व दोनो के स्मरण अपेक्षित है, इस प्रकार से प्रामाण्यविषयक संशय और निश्चय मे अन्योन्याश्रय से वा अनवस्था से एक भी नही सिद्ध होगा। अर्थात् कही प्रथम निश्चय हो तो संस्कारस्मृतिपूर्वक संशय से अनुमान हो, और अनुमान हो तो निश्चय हो, अनुमान के विना निश्चय नही होता है। जो कही निर्णीत नही है, वह साधारण धर्मदर्शनादि द्वारा संशय को नही उत्पन्न कर सकता है और उसके निर्णय को संशयाधीन-अनुमानाधीन होने से संशय-निर्णय को परस्परापेक्षत्व हे, संशयान्तर निर्णयान्तर की अपेक्षा होने पर अनवस्था होगी, कि जिससे एक भी नही सिद्ध होगा। परन्तु यह शङ्का युक्त नही हे। क्योकि विचाराऽसह है, विचार हे कि क्या स्वार्थानुमान असन्दिग्ध मे नही प्रवृत्त होता है, या परार्थाऽनुमान नही प्रवृत्त होता हे। वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नही हो सकता हे, क्योकि खुले नयनवाले को पर्वत के शिखर पर वर्तमान धूमरेखा दर्शन के अनन्तर शीघ्र ही निर्विघ्न अग्नि का अनुमान होता है,

न्याय प्रवर्त्तते' इति वचनस्यायोगव्यवच्छेदपरत्वात्, क्वचित्साधकबाधकप्रमाणानुदयात्संदेहे सति न्यायप्रवृत्त्युपपत्ते। न चानभ्यासदशायामिति विशेषणस्य वैयर्थ्यम्, असिद्धिवारकत्वात्। न च व्यभिचारवारकमेव हेतोर्विशेषण-

---

विपर्यस्त। तथा चाह वाचस्पति—'निश्चितौ हि वाद कुरुत' इति। वादे तु स्वत एव वाहार्यो वा सशयोस्ति नत्वितरयोरित्यर्थ। ननु 'सदिग्धे न्याय प्रवर्तते' इति वृद्धवचनस्य तर्हि का गतिरित्यत आह—**संदिग्धे इति**। नैतत्सदेहाभावेऽनुमाननिवृत्तिपरम्, अपि त्वनुमानस्थले सदेहोऽप्यस्तीत्ययोगव्यावृत्तिपरमित्यर्थ। अयोगव्यावृत्तिमेवोपपादयति—**क्वचिदिति**। यच्च तैरेवानभ्यासदशायामिति विशेषण व्यर्थ व्यभिचारानिवारकत्वादसिद्धिपरिहाराय च विशेषणप्रक्षेपायोगादित्युक्तम्, अनभ्यासदशायामित्यादिना तदनूद्य दूषयति—**न चानभ्यासेत्यादिना**। रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्ते मनस्यनैकान्तिकता तदर्थं रूपस्यैवेत्युक्तम्, तथा चासिद्धि द्रव्यसामान्यादेरपि व्यञ्जकत्वाच्चक्षुपस्तदर्थं रूपादिषु मध्य इत्युक्तम्, यद्यपि रसाग्राहकत्वे सति रूपव्यञ्जकत्वादित्युक्त एव मनस्यपि न व्यभिचार, तथाप्यसिद्धिपरिहारार्थमपि भवति विशेषणमिति दर्शयितुमिद चिरन्तनैर्विशेषण प्रक्षिप्तमिति भाव। तत्किमनु-

---

उसमे सशयादि की अपेक्षा नही होती है। परार्थानुमान मे भी सशय की अपेक्षा नही होती है। क्योकि सशयज्ञान उभयकोटिक होता है और जो वादी विपर्यस्त (विपर्ययज्ञान युक्त) है, अत एव सशयरहित है। उस प्रतिवादी के प्रति अनुमान का प्रयोग होता है। अन्यथा जल्प और वितण्डारूप कथाओ मे प्रमाण और तर्क के द्वारा परस्पर पक्षो के साधन और खण्डन का असम्भव होगा, अत एव (निश्चित है कि वाद कुरुत) स्वस्वपक्ष के निश्चय वाले वादी प्रतिवादी वाद (कथा) करते है। इस प्रकार से श्रीवाचस्पति मिश्र जी ने कहा है। शङ्का है कि (सन्दिग्धे न्याय प्रवर्तते) इस वृद्ध वचन की क्या गति होगी, यदि सशय बिना भी अनुमान की प्रवृत्ति होती है, तो यह वचन बाधित होता है, उत्तर है कि यह वचन अयोगव्यवच्छेद परक है। अर्थात् अनुमान मे कही भी सशय का सम्बन्ध नही होता है, इसका निषेधपरक यह वचन है, क्योकि जहाँ कही स्वपक्षसाधक, परपक्ष बाधक प्रमाणो के अनुदय (अप्रतीति) रहती है, वहाँ सन्देह के रहते भी न्याय (अनुमान) की प्रवृत्ति होती है। और अनभ्यासदशायाम्, यह हेतु का विशेषण व्यर्थ है, यह नही समझना चाहिये, क्योकि भागाऽसिद्धि-वारण के लिये सार्थक है, अर्थात्, साशयिकत्वात, इतना ही हेतु होता, तो अभ्यासदशा मे साशयिकत्व के नही रहने से भागाऽसिद्धि होती, और विशेषण से अभ्यास दशा मे हेतु नही रहता है, न साध्य रहता है। क्योकि वहाँ सफल प्रवृत्ति आदि से प्रामाण्य नही जाना जाता है, न प्रामाण्य का सशय होता है। यदि कहा जाय कि व्यभिचार का वारक ही हेतु का विशेषण सार्थक होता है। यह नियम है, तो कहा जाता है कि

मिति नियम , चक्षुस्तैजस रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाभिव्यञ्जकत्वात्, प्रदीपवदित्यादिचिरतनानुमानेष्वसिद्धिनिवारकाणा विशेषणाना बहुलमुपलम्भात् । अपि चासिद्धिनिवारणार्थेऽपि विशेषणोपादाने न दोष पश्याम । क्षित्यादिकर्मकर्तृक शरीर्यजन्यत्वादाकाशवदित्यादाविव व्याप्यत्वासिद्धिरिति चेत्, मैवम्, तत्राकर्तृकत्वे साध्ये तदेकदेशस्याजन्यत्वस्यैवोपाधितया विशिष्टस्य

पपन्नो व्याप्नवचनेनैव साध्योऽयमर्थ इति मत्वा त प्रत्यनुपपत्त्य गाव दर्शयन्ति— **अपि चेत्यादिना ।** दोष शङ्कयति–**क्षित्यादिकमिति ।** अत्र ह्यजन्यत्वादित्युक्तेऽङ्कुरादेर्जन्यत्वादसिद्धि स्यात्तदर्थ शरीर्यजन्यत्वादित्युक्तम् । तदत्र यथाऽसिद्धिपरिहाराय विशेषणे कृते व्याप्यत्वासिद्धि अजन्यत्वस्यैवाकर्तृकत्वोपाधित्वात्तद्वदिहापि स्यादित्यर्थ । न तत्रासिद्धिपरिहारप्रयोजनविशेषणवद्व्याप्यत्वासिद्धि , किं तर्हि तदेकदेशस्योपाधित्वसभवात् । न चात्र तथा सागयिकत्वस्यैकदेशस्योपाधित्वमिति परिहरति–

यह नियम नही है, क्योकि चक्षु (नेत्र), तैजस, (तेज) का कार्य है, रूपादि गुणो मे रूप का ही अभिव्यञ्जक (प्रकाशक) होने से, प्रदीप के समान । इत्यादि पुराने अनुमानो मे असिद्धिवारक विशेषण बहुत उपलब्ध होते है । यहाँ, रूप का ही अभिव्यञ्जक होने से, इतना ही हेतु का स्वरूप होता तो असिद्धि की प्राप्ति होती, क्योकि चक्षु रूप का ही व्यञ्जक नही होता है, किन्तु रूपवाले द्रव्यो का भी व्यञ्जक होता हे, अत उस असिद्धि के वारण के लिये (रूपादि गुणो मे) यह विशेषण दिया गया हे कि जिसमे असिद्धि का वारण होता है, वैसे ही प्रकृत मे भी समझना चाहिये । और असिद्धि-वारणार्थक विशेषण के ग्रहण मे कोई दोष भी नही दीखता हे कि जिसमे उसका ग्रहण नही किया जाय । यदि कहे कि (क्षिति=पृथिवी आदि, अकर्तृक है, शरीरी कर्ता से अजन्य होने से, आकाश के समान) इत्यादि के समान व्याप्यत्वाऽसिद्धि दोष है, क्योकि यहाँ अजन्यत्व कहने पर पृथिवी अकुरादि के सावयवता से जन्यत्व होने के कारण असिद्धि होती, उसके वारण के लिये शरीरी विशेषण दिया गया, अत जैसे यहाँ असिद्धिवारणार्थक विशेषण से व्याप्यत्वासिद्धि होती हे, वैसे अन्यत्र भी होगी। तो यह कहना युक्त नही है। क्योकि शरीरी अजन्यत्व मे असिद्धिवारक विशेषणनिमित्तक व्याप्यत्वासिद्धि नही मानी जाती हे, किन्तु उस अकर्तृकत्व साध्य मे शरीरी अजन्यत्व हेतु के एकदेश जन्यत्व को उपाधिता से विशिष्ट हेतु मे व्याप्यत्वाऽसिद्धि होती है। अकर्तृकत्वरूप साध्य का अजन्यत्व व्यापक हे, और शरीरी अजन्यत्व का अव्यापक है, शरीरी अजन्यत्व अकुरादि मे रहता है, परन्तु अजन्यत्व नही रहता है। अत सोपाधिकता से व्याप्यत्वासिद्धि है, यह उदयनाचार्य ने कहा भी है कि, शरीरी इस विशेषण द्वारा

व्याप्यत्वासिद्धे । उक्त हि—'एकामसिद्धि परिहरतो द्वितीयाऽसिद्धिरापद्यते' इति । प्रकृते तु परतो ज्ञाने न साशयिकत्वमुपाधि, स्फीतालोकविपरिवर्तिना परतो ज्ञायमानानामपि घटादीना साशयिकत्वादर्शनात् । ननु प्रामाण्यस्य परतो ज्ञानेऽनवस्था, तत्तत्प्रामाण्यग्रहणायान्यस्यान्यस्य प्रमाणस्यापेक्षणादत प्रतिकूलतर्कपराहत परत प्रामाण्यानुमानमितिचेत्, मैवम्, मानान्तरस्यावश्यभावनियमाभावात् ।

न च स्फुरत एव मानस्यार्थनिश्चायकत्वमन्यथा ज्ञानेऽप्यनन्तरं सदेहापत्तेरिति वाच्यम्, ज्ञाततयानुमेय ज्ञानमिति मते निलीनस्यापि ज्ञानस्यार्थ-

---

मैवमित्यादिना । एकामसिद्धिमिति । स्वरूपासिद्धि वरिहरतो व्याप्यत्वासिद्धिरिति बौद्धधिक्कारे उदयनेनोक्तमित्यर्थ । **परतो ज्ञायमानानामिति ।** ज्ञानग्राहकातिरिक्तग्राह्याणामित्यर्थ । प्रकृतानुमानस्य तर्कपराहति शङ्कते—**ननु प्रामाण्यस्येति ।** येन हि प्रमाणेन प्राथमिकस्य प्रामाण्य गृह्यते तत्प्रामाण्यमपि प्रमाणान्तरेणैवमुत्तरत्रापीत्यनवस्थेत्यर्थ । उक्त च वाचस्पतिमिश्रै—'पर हि तद्गोचर वा ज्ञानमभ्युपेयते अर्थक्रियानिर्भास वा ज्ञान तद्गोचर नान्तरीयकार्थान्तरदर्शन वा तत्सर्व स्वयमबोधितप्रामाण्यमाकुल सत्कथ प्रवर्तकज्ञान पूर्वमनाकुलये'दिति ।

ननु कथमवश्यभावनियमाभाव यावता स्फुरत एव प्रमाणस्य स्वविषयनिश्चायकत्वनियमात् तदुत्तरप्रमाणानामपि भवितव्यमेव स्फुरणेनेति, नेत्याह—**न च स्फुरत एवेति ।** न च वाच्यमित्युक्त तत्र हेतु—**ज्ञाततयेति ।** स्वत प्रामाण्येपि

एक स्वरूपासिद्धि के वारण (परिहार) करने वाले को दूसरी व्याप्यत्वाऽसिद्धि प्राप्त होती है, और प्रकृत मे तो प्रामाण्य के परत ज्ञान मे, अनभ्यासदशा मे साशयिकत्व हेतु के एकदेश साशयिकत्व उपाधि नही है, क्योकि पूर्णप्रकाश मे वर्तमान ज्ञानग्राहक अतिरिक्त से गृह्यमाण भी घटादिको मे साशयिकत्व नही देखा जाता हे, अत साध्यव्यापकता नही होने से उपाधिता नही है । यदि शङ्का हो कि ज्ञानगत प्रामाण्य के अन्य ज्ञान से ग्रहण होने पर अनवस्था होगी, क्योकि तत्तत् प्रामाण्यो (प्रमाणत्वो) के ग्रहण (ज्ञान) के लिये अन्य-अन्य प्रमाणो की अपेक्षा होगी, अत इस प्रतिकूल तर्क से परत प्रामाण्य का अनुमान पराहत (नष्ट) है, तो ऐसी शङ्का नही होनी चाहिये, क्योकि पूर्वप्रमाणविषयक प्रमाणान्तर को अवश्यभाव का नियम नही माना जाता है, न रहता है ।

यदि कहे कि स्फुटत (प्रकाशमान) ही प्रमाण (ज्ञान) की अर्थनिश्चायकत्व (बोधकत्व) हो सकता है । अन्यथा ज्ञान के बाद अज्ञानविषयक भी सशय की प्राप्ति होगी कि मुझे ज्ञान हुआ या नही । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि

निश्चायकत्वात्। स्वय वेदन सवेदनमिति वदत प्राभाकरस्यापि मते प्रामाण्यस्य तद्धर्मस्य तद्गतगुणत्वादेरिव न स्वत स्फुरणम्, तस्यापि सवेदनवत्स्वयप्रभावत्वावत्ते । तथात्वे चाप्रमात्वस्यापि स्वत एव स्फुरण-प्रसङ्गात्, ततश्चाप्रामाण्य परत प्रतीयते इति स्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्ग । वेदान्तिना च प्रामाण्यस्य साक्षिवेद्यत्वेन स्फुरणनियमादिद प्रमाणमप्रमाण वेति सदेहो न भवेत्। न च प्रमाण स्वत एव फल जनयति, हानोपादानो-पेक्षालक्षणस्य त्रिविधस्यापि फलस्य वस्तुज्ञानातिरिक्तगुणदोषमाध्यस्थ्य-

---

समानैवानस्थेत्यपि द्रष्टव्यम। भवतु भाट्टान्प्रति अज्ञायमानप्रकाशहेतुत्वावादिनो व्यभिचार, स्वप्रकाशवादिन प्रभाकर प्रति किं वक्तव्यमित्याह—**प्राभाकरस्यापीति**। तत्र किं ज्ञानगत प्रामाण्य अर्थप्रकाशनसमसमये ज्ञानेन स्फुरति ? स्वत एव वा ? न तावज्ज्ञानेन, पूर्वमेव निरस्तत्वात्। द्वितीय निषेधति—**न स्वतःस्फुरणमिति**। कुतो न स्वत स्फुरणमिति त गाह—**तस्यापीति**। ततोऽपि वा किमनिष्टमिति तत्राह—**तथात्वे चेति**। तथाप्यपरितुष्यन्त प्रत्याह—**ततश्चेति**। ननु साक्षिवेद्यवृत्तिज्ञानवादिना तत्समये च साक्षिणैव प्रामाण्यमपि स्फुरतीति वदतामखण्डितैव व्याप्तिरित्यत आह—**वेदान्तिनां चेति**। तेषा सन्देहानुपपत्तिरेव बाधिकेत्यर्थ। एवमुत्पत्तौ ज्ञाप्तौ च स्वतस्त्व दूषयित्वा परतस्त्व समर्थितम्, इदानी व्यवहृतावपि तदुभय व्याकरोति—**न च प्रमाणमिति**। नच वस्तुज्ञानमात्राद्धाना-

---

ज्ञातता से ज्ञान अनुमेय होता हे, इस भट्ट मत मे निलीन (अज्ञात) ही ज्ञान को अर्थनिश्चायकत्व होता है । वेदन (ज्ञान) स्वय प्रकाश है, ऐसा कहने वाले प्रभाकर के मत मे भी ज्ञान के धर्मरूप प्रामाण्य का ज्ञानगत गुणत्वादि के समान स्वत स्फुरण (प्रकाश) नही होता है। उसका स्वत स्फुरण हो तो ज्ञान के समान उसके धर्मप्रामाण्य को भी स्वयप्रकाशत्व (स्वयप्रभावत्व) की प्राप्ति होगी, और यदि प्रामाण्य को तथात्त्व (स्वय प्रकाशत्व) होगा, तो अप्रमात्व का भी स्वत स्फुरण ही प्राप्त होगा, और अप्रमात्व के स्वत स्फुरण को मानने पर, अप्रामाण्य परत प्रतीत होता है, यह निजसिद्धान्त का भङ्ग प्राप्त होगा, इस प्रकार से भाट्ट प्रभाकर के स्वत प्रामाण्यवादी मत की भी अनवस्था होगी, यदि सब ज्ञान ज्ञात हो करके ही निश्चायक हो। वेदान्ती के मत मे तो प्रामाण्य के साक्षिवेद्यत्व होने से प्रामाण्य के स्फुरण के नियम से यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है, ऐसा सशय नही होना चाहिये, यह सशयानुपपत्ति स्वत प्रामाण्य मे बाधक है। अत प्रामाण्य का स्वत ग्रहण मे सर्वमत मे दोष प्राप्र होने के कारण परत प्रामाण्य ही युक्त है। उक्त रीति से प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञान मे स्वतस्त्व नही, किन्तु परतस्त्व कहा गया है, व्यवहार रूप फल को ज्ञान स्वत नही उत्पन्न करता है। क्योकि हान (त्याग) उपादान (ग्रहण) और उपेक्षा रूप तीनो प्रकार के फलो

दर्शनपूर्वकत्वाभ्युपगमात्, तस्माद्वेदान्ता स्वत एव प्रमाणमिति न प्रामाणिकप्रतीतिपथमवतरति।

अत्राभिदध्महे—न तावत्प्रमाया स्वतस्त्वानिरुक्ति, यत.—

आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता।
तदन्यत प्रमायास्तत्स्वतस्त्वमिति तद्विद ॥ २१ ॥

विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्व प्रमाया स्वतस्त्व नाम। न चैतल्लक्षणमव्यापकम्, सर्वप्रमाणानुगमात्। न चाजन्यत्वादव्या-

---

दयोऽपि तु इष्टसाधनतादिज्ञानात्तश्च घटज्ञानस्येष्टसाधनतादिज्ञानाधीनव्यवहारजनकत्व तस्य व्यवहृतौ परतस्त्वमित्यर्थः।

लक्षण तावत्समर्थयते—**न तावदिति**। श्लोकेन लक्षण सगृह्णाति—**आहुरित्यादिना**। यद्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदन्यत तदतिरिक्तसामग्रीतोऽजन्यता प्रमायास्तत्स्वतस्त्व प्रमास्वतस्त्वमिनि तद्विद आहुरिनि योजना।

लक्षणवाक्य विवृणोति—**विज्ञानेति**। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति विज्ञानसामग्रीत्वानधिकरणजन्यत्वानधिकरणत्व स्वतस्त्वमित्यर्थ। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वमप्रामाण्येऽप्यस्तीति परत प्रामाण्यवादिभिश्च स्वीक्रियत इत्यतिव्याप्तिरर्थान्तरता वा स्यात् तन्निवृत्त्यर्थ तदतिरिक्तहेत्वजन्यत्वमित्युक्तम्। ननु कथ नाव्यापक यावतेश्वरज्ञानेऽजन्येऽव्याप्ति विशेषणाभावादिति तत्राह—**न चाजन्यत्वादिति**। विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति तदतिरिक्तसामग्रीजन्यत्व यदप्रमासु प्रसिद्ध तदत्यन्ताभाववत्त्व हि

को, वस्तु के ज्ञान से अतिरिक्त दोषदर्शन, गुणदर्शन और माध्यस्थदर्शन पूर्वकत्व माना जाता है। अर्थात् वस्तु के ज्ञानमात्र से उनके ग्रहण त्यागादि फल नही होते है, किन्तु वस्तुज्ञान से भिन्न इष्टसाधनता रूप गुण के ज्ञान से ग्रहण, अनिष्ट साधनता रूप दोष के ज्ञान से त्याग, और दोष गुण से साहित्य रूप माध्यस्थ के ज्ञान से उपेक्षा होती है। अत वेदान्त वाक्य = उपनिषद्, स्वत प्रमाण है, यह कथन प्रामाणिक प्रतीति का विषय नही होता है। अर्थात् यह कथन मिथ्या है। यह पूर्वपक्ष हुआ।

(अत्राभिदध्महे) अब यहाँ उत्तर कहते है कि प्रमा के स्वतस्त्व की अनिरुक्ति (लक्षण का अभाव) नही है क्योकि—

प्रमा की जो विज्ञान-सामग्री से जन्यत्व युक्त तदन्य से अजन्यता है, वही प्रमा की स्वतस्ता है, इस प्रकार उसे स्वतस्त्ववेत्ता कहते है ॥ २१ ॥

विज्ञानसामग्री से जन्यत्व होता हुआ तदतिरिक्त हेतु से अजन्यत्व प्रमा के स्वतस्त्व प्रसिद्ध है। प्रमाण-सामग्रीजन्यत्व अप्रमा मे भी रहता हे, अत अतिव्याप्तिवारण के लिये, तदन्याऽजन्यत्व कहा गया है। यह लक्षण अव्यापक नही

प्तिरीश्वरज्ञाने, तस्याजन्यत्वेऽपि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तकारणजन्यत्वलक्षणविशिष्टधर्मवत्त्वाभावात्। नाप्यतिव्यापकम्, अप्रमाया विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तहेतुजन्यत्वात्। अस्ति चेह मानमनुमानम्, तथा हि—

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यत।
जायते व्यतिरिक्तत्वादप्रमात पटादिवत्॥ २२॥

प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति अप्रमातिरिक्तत्वात्

लक्षण एतच्चेश्वरज्ञानेऽस्तीति नाव्याप्तिरित्यर्थ। अत्र चाप्रमाव्यतिरिक्त सर्व लक्ष्यसमानयोगक्षेमम्, पराभिमतपरतस्त्वव्यतिरिक्तस्वतस्त्वस्य विवक्षितत्वात्। श्लोकविवरणयो प्रमापदस्य प्रकृतोपयोगमात्रनिबन्धनत्वात्। अत एव वक्ष्यमाणानुमाने पटादीना सपक्षीकरणम्। एव च सति पटादिष्वव्याप्तिपरिहारार्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वग्रहणमिति द्रष्टव्यम्। स्पष्टार्थं वा विज्ञानग्रहणम्।

प्रमायामुक्तस्वतस्त्वसद्भावेऽनुमानमाह—श्लोकेन—**प्रमेति**। अत्र जायत इत्यन्ता प्रतिज्ञा, अप्रमातो व्यतिरिक्तत्वादिति हेतु। अतिरिक्तसामग्रीजन्या न भवतीत्युक्ते बाध। यत्किचिद्व्यतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वात्तदर्थं विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सतीत्युक्तम्। तावत्युक्ते परतस्त्वेऽप्युपपद्यमानतयार्थान्तरा तदर्थमुत्तर विशेष्यग्रहणम्। ईश्वरज्ञाने विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तसामग्रीजन्यत्वाभावलक्षण साध्यमस्ति,

---

है, क्योकि सब प्रमाण (प्रमा) मे यह लक्षण अनुगत है। यदि कहे कि ईश्वरज्ञान के अजन्य होने से जन्यत्वघटित लक्षण की उसमे अव्याप्ति है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि ईश्वरज्ञान के अजन्य होते भी उसमे ज्ञानसामग्रीजन्यत्व युक्त अन्य सामग्रीजन्यत्व स्वरूप विशिष्ट धर्मवत्वाभाव रूप लक्षण है। यहाँ ज्ञानसामग्री जन्यत्व युक्त तदन्य सामग्रीजन्यत्व स्वरूप विशिष्ट धर्म अप्रमाज्ञान मे रहता है, उसका अत्यन्ताभाव ईश्वरज्ञान मे रहता ही है, अत अव्याप्ति नही है, अतिव्याप्ति भी नही है, क्योकि अप्रमाज्ञान ज्ञानसामग्री से जन्य होता हुआ अन्य से भी जन्य होता है, और प्रमा लक्षण मे अन्य हेत्वजन्यत्व प्रविष्ट है। उक्त स्वतस्त्व मे अनुमान प्रमाण भी है। जैसे—

प्रमा, विज्ञानसामग्री से जन्य होती हुई अन्य से नही उत्पन्न होती है। अप्रमा से भिन्न होने से। पटादि के समान॥ २२॥

यहाँ प्रमा अतिरिक्त सामग्रीजन्य नही होती है, यत्किञ्चित् व्यतिरिक्त सामग्री जन्यता से ज्ञानसामग्रीजन्यत्व कहा है इत्यादि। यहा ज्ञानत्वानधिकरणत्व उपाधि है, क्योकि ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति अतिरिक्तजन्यत्वाभाव रूप साध्य का पटादि मे व्यापक है और प्रमा मे साधन का अव्यापक है, अत उपाधि है।

पटादिवत् । न च ज्ञानत्वानधिकरणत्वमुपाधि, ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः । नापि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधि, तज्ज्ञानसामग्रीजन्य तज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्यप्रमाणवदिति व्यतिरेकिव्याप्तावप्रमात्वस्यैवोपाधित्वात् । विपक्षे च विज्ञानसामग्रीमात्रादेव प्रमोत्पत्तिसंभवे तदतिरिक्तस्य गुणस्य दोषाभावस्य वा कारणत्वकल्पनागौरवप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः । एतेन—'प्रमा विज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना कार्यत्वात्पटवत्' इति योऽय-

---

नच ज्ञानत्वानधिकरणत्वरूपोपाधि, अत साध्याव्याप्तेरनुपाधिरित्याह—**ईश्वरेति** । ननु तर्हि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधि, तथा चेश्वरज्ञानेऽपि विद्यमानत्वान्न साध्याव्याप्तिरिति तत्राह—**नापीति** । नायमुपाधिर्व्यतिरेके सोपाधिकतया साध्यव्यापकत्वादित्याह—**यज्ज्ञानेत्यादिना** । ईश्वरप्रमाया चाप्रमात्वस्य व्यतिरेकसिद्धि । न चाप्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति प्रमातिरिक्तत्वात् पटवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । दोषान्वयव्यतिरेकबाधात्, प्रतियोग्यप्रसिद्धया अप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । विपक्षे बाधकतर्कमाह—**विपक्षे चेति** । यत्तु पूर्वपक्षे परतस्त्वेनानुमानमुदयनीयमुक्त तत्रापि गौरवतर्कपराहत्याशङ्कितोपाधितामतिदिशति—**एतेनेति** । सत्प्रतिपक्षता चाह—**प्रमेत्यादिना** । ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेतुजन्यत्वानधिकरणत्वमात्रसाधने दृष्टान्ते साध्यवैकल्यम् । अतिरिक्तदोषजन्यत्वादप्रमायास्तन्निवृत्त्यर्थं दोषातिरिक्तेत्युक्तम् । दोषातिरिक्तजन्या न भवति इत्युक्ते बाधस्तदर्थमुत्तर विशेषणम् । दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्यत्व दोषजन्यत्वाद्वा ? ज्ञानहेत्वतिरिक्ताजन्य-

---

ऐसी शका यहाँ नही करनी चाहिये, क्योकि ईश्वरज्ञान मे उक्त रीति साध्य है, और ज्ञानत्वानधिकरण रूप उपाधि नही है, अत साध्य का अव्यापक है, ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व उपाधि कहे, क्योकि ईश्वरज्ञान मे भी ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व रहता है, अत साध्य का व्यापक है, तो कहा जाता है कि ज्ञानसामग्री से अजन्यत्व भी उपाधि नही हो सकती है। क्योकि साध्यव्यापक उपाधि के अभाव से साध्याभाव के साधक व्यतिरेकी व्याप्ति का स्वरूप होगा कि (जो ज्ञानसामग्री जन्य है, वह ज्ञानसामग्री से जन्य होता हुआ अन्य सामग्री से भी जन्य है जैसे अप्रमा, और इस व्यतिरेकी व्याप्ति मे अप्रमात्व ही उपाधि हो जाता है क्योकि ज्ञानसामग्री से जन्य होता हुआ अन्य साधन से जन्यत्व रूप साध्य अप्रमा मे है, वहाँ अप्रमात्व रूप उपाधि भी है, अत साध्य का व्यापक है, और प्रभा मे ज्ञानसामग्रीजन्यत्व रूप हेतु है, परन्तु अप्रमात्व नही है, अत साधन का अव्यापक है। और विज्ञान की सामग्रीमात्र से ही प्रमा की उत्पत्ति के सम्भव रहते उससे अतिरिक्त गुण वा दोषाभाव मे प्रमात्व के कारणत्व की कल्पना करने पर गौरव की प्राप्ति बाधकतर्क है। इस उक्त हेतु से ही (प्रभा, विज्ञान हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन

मुदयनस्य परतस्त्वेऽपि प्रयोग सोऽपि परास्त । प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञान-हेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति प्रतिसाधनग्रस्तत्वाच्च । न च प्रमात्वस्य विज्ञानसामग्रीमात्रप्रयोज्यत्वादप्रमाज्ञानवृत्तित्व स्यादिति वाच्यम्, तत्र प्रयोजकाभावादेव प्रयोज्यस्याप्रसक्ते । दोषासहकृतज्ञान-सामग्रीप्रयोज्य हि प्रमात्वम्, तत्र दोषस्यैव सद्भावात् कथ प्रमात्वस्य वर्त-मानत्वसभावनापि समुद्भवेत् ? दोषस्याप्रमाहेतुत्वे तदभावस्य गले पादु-कान्यायेन प्रमा प्रति हेतुत्व स्यादिति चेत्, स्यादेव यद्यनन्यथासिद्धावन्वय-

---

त्वाद्वा ? नाद्य, प्रमायामुभयानभिमत हि तत् । द्वितीयेऽभीष्टसिद्धि । न च सिद्ध-साधनतानिवृत्त्यै प्रथम विशेषणम्, अनधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात् । न चाप्रमा-त्वमुपाधि, ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्ते । यत्तु स्वतस्त्वे बाधकतर्क उक्त, विज्ञान-सामग्रीमात्रजन्यत्वे ज्ञानत्ववदप्रमाणवृत्तित्वमपि स्यादिति तत्परिहरति—**न चेति** । प्रयोजकमेव दर्शयन् तदभाव दर्शयति—**दोषेत्यादिना** । अत्रापि पूर्वपक्षोक्त स्मार-यति—**दोषस्येति** । नान्वयव्यतिरेकमात्रात्कार्यकारणभावावसाय । माभूद्‌धूमपैङ्ग‌ल्य-योस्तथाभाव, अतोऽन्वयव्यतिरेकाविति । किंत्वनन्यथासिद्धाभ्याम् । न चात्र तथा-विधाविति परिहरति—**स्यादेवमिति** । प्रमोत्पत्तौ या विरोधिन्यप्रमा तदुत्पत्ति-

---

होती है । कार्य होने से, पट के समान) यह जो उदयनाचार्य का परतस्त्वविषक प्रयोग (अनुमान) हे । वह भी परास्त (निरस्त) हो गया और (प्रमा, दोषभिन्न जो ज्ञानहेतु उससे अतिरिक्त जन्य नही होती है, ज्ञानत्व होने से अप्रमा के समान) इस प्रति-पक्ष से भी उक्त अनुमान ग्रस्त है । और इस अनुमान मे दोषभिन्न ज्ञानहेत्वतिरिक्त अजन्यत्व, दोषजन्यत्व से, या ज्ञानहेत्वतिरिक्त अजन्यत्व से हो सकता है, यहाँ प्रमा मे दोषजन्यत्व तो वादी प्रतिवादी कोई मानता नही है, अत ज्ञानहेत्वति-रिक्ताऽजन्यत्व से पक्ष मे साध्य की सिद्धि होती हे और दोषजन्यत्व से दृष्टान्त मे साध्य प्रसिद्ध होता है । प्रथम जो कहा था कि प्रमात्व के विज्ञानसामग्री मात्र प्रयोज्य (जन्य) होने पर, अप्रमाज्ञान मे भी प्रमात्व की प्राप्ति होगी, क्योकि अप्रमा भी ज्ञानसामग्रीजन्य होती है । यह कथन युक्त नही, क्योकि उस अप्रमा मे प्रमात्व के प्रयोजक के अभाव से ही प्रयोज्य (साध्य) अप्रमात्व की प्रसक्ति (प्राप्ति) नही हो सकती है । अर्थात् दोषाऽसहकृत (दोषरहित) ज्ञानसामग्री से प्रयोज्य प्रमात्व होता है, और उस अप्रमात्व मे प्रयोक रूप दोष का ही सद्‌भाव (सत्त्व) रहता है, तो अप्रमा मे प्रमात्व के वर्तमानत्व की सम्भावना भी कैसे प्रकट हो सकती है । यदि कहे कि दोष मे अप्रमाहेतुत्व के होने पर, दोषाभाव मे बलात् प्रमा के प्रति हेतुत्व अवश्य होगा, कि जिससे परतस्त्व की प्राप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि उक्त रीति से दोषाभाव को प्रमात्व के प्रति प्रयोजकत्व होता, यदि

व्यतिरेकौ कारणत्वावेदकौ स्याताम्, तौ तु विरोध्यप्रमाप्रतिबन्धकत्वेनोपक्षीणौ न कारणमात्रत्वमावेदयत.। तथा चाहुर्भट्टपादा —

'तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावत.।
अप्रामाण्यद्वयासत्व तेनोत्सर्गोऽनपोदित'॥ इति
(श्लो० वा० २।६५)

नन्वेकस्यापि दोषाभावस्याप्रमाप्रतिबन्धकत्वं प्रमाहेतुत्व च कि न

प्रतिबन्धकविषयावित्यर्थ। यथा च न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, तथोपरितनवादे विवरिष्यते। यत एव स्वत प्रामाण्य तस्माद्गुणेभ्यो दोषाणामभाव एव पर जायते, न तु प्रमाणोत्पत्ति। ननु तर्हि दोषाभावादेव भवतु प्रामाण्यम्, तथापि सैव परत प्रामाण्यपिशाचिका विशेदिति तत्राह—**तदभावत इति**। दोषाभावादप्रामाण्यद्वयस्य मिथ्यात्वसशयत्वलक्षणस्यासत्त्वमेव जायते, अनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्यस्यानाद्यभावतया दोषादुत्पत्त्यसभवेन तदभावेनाभावस्याप्यसभवात् तेन कारणेनोत्सर्गो ज्ञानसामग्रीमात्रप्रयुक्तत्वलक्षणोऽनपोदित अपोदितो न भवतीति भट्टवार्तिकार्थ।

भवतु दोषाभावस्य विराधिप्रतिबन्धकत्वम, तथापि किमायात प्रमानुत्पादकत्वे? नहि सस्कारस्य स्वजनकानुभवविनाशकत्वमित्येतावता स्मृतिं प्रति हेतुत्वमपनीयन इत्याशङ्क्य वैषम्येण परिहरति—**नन्वित्यादिना**। ननु किमिति तत्र कारणान्तरानिरूपणम्? यावता सस्कारनाश एव स्मृतिकारण भवत्विति। नेत्याह—

इस दोषाभाव के कारणत्व के आवेदक (बोधक) अन्यथासिद्धरहित प्रमात्व के प्रति अन्वयव्यतिरेक होते। परन्तु यहाँ तो अकस्मात् आगत गर्दभादि अन्यथासिद्ध वस्तु जैसे घट के प्रति कारण नही होते है, वैसे ही अन्यथासिद्ध दोषाभाव प्रमात्व के प्रति प्राप्त होता है, क्योकि दोषाभाव को जो प्रमात्व के साथ वह अन्वयव्यतिरेक है, वे प्रमा के विरोधी अप्रमा के प्रतिबन्धकत्व रूप से ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाते है। अत वे दोषाभाव के अन्वयव्यतिरेक दोषाभाव मे प्रमा के कारणमात्रत्व का आवेदन (बोध) नही कराते है। इस प्रकार से श्री भट्टपाद ने कहा भी है कि—

गुणो से दोषो का अभाव होता है। और उस दोषाऽभाव से मिथ्यात्व सशयत्व रूप अप्रामाण्य द्वय का असत्व (अभाव) होता है, अत प्रतिबन्धक के अभाव से ज्ञानसामग्री मात्र से उत्सर्ग=सामान्य प्रमा अनिवारित (निर्विघ्न) उत्पन्न होती है।

शका होती है कि एक ही दोषाभाव के विरोधी अप्रमा के प्रतिबन्धक होने भी प्रमा के प्रति कारण भी दोषाभाव हो सकता है, ऐसा क्यो नही होगा। एक ही

स्यात् ? एकस्यापि सस्कारस्यानुभवनाशकत्वस्मृतिहेतुत्वयोरपि दर्शनादिति चेत्, मैवम्, तत्र संस्कारस्यानुभवनाशकत्वेऽपि स्मृते संस्कारातिरिक्त-कारणान्तरानिरूपणात्, उभयहेतुताया अवश्याश्रयणीयत्वात् । न च तत्रापि सस्कार नाशात्स्मृति किं न स्यादिति वाच्यम्, स्मृतिसमुदयव्यतिरेकेण सस्कारनाशस्यैवासभवात् । प्रकृते तु ज्ञानसामग्रीत एव प्रमोद्भवसभवे दोषाभावस्यापि तद्धेतुत्वकल्पना निष्प्रामाणिका । तस्मात्प्रमा विज्ञान-सामग्रीमात्रादेव जायत इति सिद्धम् ।

तथा प्रमाज्ञप्तिरपि विज्ञानज्ञापकसामग्रीत एव । न च तथात्वे विज्ञान

न च तत्रापीति । नित्यद्रव्येषु गुणनाशस्य गुणान्तरोत्पादनियतत्वादिति भाव । एव तत्रानन्यगतिकत्वमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह—**प्रकृते त्विति** । एतेनाप्रामाण्ये दोषाणामन्यथासिद्धिरुदयनोपादितापोदिता । तत्र हेत्वन्तराभावादभावहेतुताया निरस्तत्वादिति । न च सामग्र्यैक्ये ज्ञानप्रमालक्षणकार्यभेदानुपपत्तिर्बाधिका, एक-स्मादप्यग्निसयोगात्पार्थिवपरमाणौ रूपरसगन्धस्पर्शदाहादीना बहूनामङ्गीकारात् । प्रागभावभेदस्य च तदभावे कार्याभावलक्षणव्यतिरेकाभावादकारणत्वात् ।

उत्पत्तिस्वतस्त्वमुपसहृत्य ज्ञप्तिस्वतस्त्वमपि निर्वक्ति—**तथा प्रमेति** । यत्तत्रा-प्युक्त विज्ञानग्राहकसाक्षिमात्रग्राह्यत्वेन प्रामाण्यस्य सदेहो न स्यात्, ज्ञानवदेव निर्णीतत्वादिति तत्परिहरति—**न चेति** । तथा हि भवता धर्मिमात्रज्ञान स्वत एव

सस्कार के अनुभवनाशकत्व और स्मृतिहेतुत्व देखे जाते है, वैसे ही दोषाभाव मे प्रमाप्रतिबन्धत्व और प्रमाहेतुत्व हो सकते है, परन्तु ऐसी शका युक्त नही, क्योकि वहा सस्कार मे अनुभवनाशकत्व होते भी सस्कार से अतिरिक्त स्मृति के कारण के अनुपलम्भ से सस्कार को स्मृति का भी कारण अशक्यता से अगत्या माना जाता है। प्रमात्व का ज्ञानसामग्री कारण है, अत दोषाऽभाव इसका कारण नही हो सकता है । यदि कहा जाय कि उस सस्कार के स्मृतिकारणत्व के स्थान मे सस्कार-नाश को ही मान लेने पर सस्कारनाश से स्मृति क्यो न होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि स्मृति की उत्पत्ति के विना सस्कारनाश का ही असम्भव है, स्मृति की उत्पत्ति रूप ही सस्कार का नाश होता है, अत सस्कारनाश की कारणता स्मृति की उत्पत्ति मे नही हो सकने से सस्कार मे अगत्या उभय कारणता मानी जाती है । और प्रकृत मे तो ज्ञानसामग्री से ही प्रमा की उत्पत्ति के सम्भव होते दोषाऽ-भाव मे भी प्रमा हेतुत्व की कल्पना निष्प्रमाणिक है । अत ज्ञानसामग्री मात्र से प्रमा उत्पन्न होती है यह सिद्ध हुआ । इस प्रकार प्रमा की उत्पत्ति के स्वतस्त्व का प्रतिपादन हुआ ।

उक्त रीति से प्रमा की ज्ञप्ति (ज्ञान) बोधक सामग्री से ही होती है। अत ज्ञप्ति मे भी स्वतस्त्व रहता है। शका हुई थी ज्ञप्ति मे स्वतस्त्व होने पर जैसे विज्ञान

इव प्रमाणमप्रमाण वेति सशयानुदयप्रसङ्ग , स्वत प्रमाणत्वेन भवदभिमत-धर्मिज्ञानेऽनुव्यवसाये च स्फुरत्यपि सुगतमतानुसारिणामप्रमाणमेवेति विपर्यासदर्शनात्, स्वत प्रमाणत्वेन भवदङ्गीकृतानुमित्यादावपि ज्ञायमानाया चार्वाकस्य प्रामाण्ये विप्रतिपत्त्युपलब्धे । स्वरूपभेदवादिना च गृह्यमाणेऽपि स्थाणो स्वरूपे स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सदेहस्य पुरुष एवेति विपर्ययस्य चोपलम्भात् । सत्यपि प्रतिभासपुष्कलकारणे प्रतिबन्धकदोषादिसमवधानात्तत्र सशयविपर्यासयोरुपपत्तौ प्रकृतेऽपि सम समाधानमन्यत्राभिनिवेशात् । न च

प्रमाणम्, सर्व ज्ञान धर्मिण्यभ्रान्तमिति स्वीकारात् । तथानुव्यवसायज्ञानप्रामाण्यमपि तत्तज्ज्ञानस्फुरणसमय एव स्फुरति, तथापि तत्र बौद्धाना धर्मधर्मिभावाद्यपलापाय वहिष्ट्वारोपवादिना स्वप्रकाशज्ञानरुचीनाप्रामाण्यबुद्धचा विपर्यास , तथानुमित्युपमित्योश्च भवदभिमतस्वतः नाविकमानभावोश्चार्वाकवैशेषिकयोर्विपर्यास । यथा वा प्राभाकरार्कबन्धुप्रभृतीना स्वरूपभेदवादिना स्वरूपे स्फुरत्यपि भेदाग्रहात् सदेहविपर्ययौ तथात्रापि कि न स्यातामित्यर्थ । समाधानसाम्य दर्शयितु तन्मुखेनैव समाधानमुद्भावयति—**सत्यपीत्यादिना ।** प्रतिभासस्य पुष्कलकारणे सत्यपि प्रबलप्रतिबन्धकवशात् तत्र तत्र सशयाद्युत्पत्तिरत्रापि समानेत्यर्थ । यत्तु ज्ञप्तिस्वतस्त्वे

के ज्ञात होने पर उसका सशय नही होता है, वैसे ही प्रमात्व के ज्ञात हो जाने के कारण, ज्ञान प्रमा हुआ या अप्रमा हुआ, ऐसा सशय प्रमात्व विषयक भी नही होना चाहिये । यह शका युक्त नही है । क्योकि आप शका करने वाले, सब ज्ञान को धर्मी अश मे स्वत प्रमाण मानते है, तथा अनुव्यवसाय को स्वत प्रमाण मानते है, वहाँ आपके मतानुसार स्वत प्रमाण रूप से प्रकाशित भी धर्मीज्ञान और अनुव्यवसाय मे बुद्धमतानुसारी (अनुयायी) को ये अप्रमाण ही है ऐसा विपर्यय ज्ञान होना हे, यह जानते है । इसी प्रकार स्वत प्रमाण रूपेण आप से स्वीकृत यथार्थ अनुमिति आदि के भी ज्ञायमान (ज्ञात) रहते भी चार्वाक के प्रमाण्य की विप्रतिपत्ति (अभाव बुद्धि) देखी (समझी) जाती है । धटपटादि के भेद को पृथक् (अन्योऽन्याभाव) नही मान कर स्वरूप मात्र को भेद मानने वालो के मत मे स्थाणु के स्वरूप को गृहीत होने पर भी स्थाणु है या पुरुष है, ऐसे सशय के तथा पुरुष ही है ऐसे विपर्यय की उपलब्धि से, मानना होगा कि ज्ञान के पुष्कल (बहुत) कारण के रहते भी प्रतिबन्धक दोष के सम्बन्ध से तत्तत् स्थानो मे सशय और विपर्यय की सिद्धि होती है । अत प्रकृत मे भी तुल्य समाधान है कि कही दोषबल से ज्ञान के स्वरूप के ग्रहण होने पर भी प्रमात्व का सशय होता है, आग्रह की बात दूसरी है कि ज्ञान के ग्रहण होने पर सशय नही होना चाहिये

ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यग्रहणे मिथ्यारजतादिबुद्धिषु प्रामाण्यग्रहणप्रसङ्ग; प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्य कारणदोषावगमबाधबोधाभ्यामपनयात्। न च ताभ्यामपनये तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यग्रहणहेतुत्वोपपत्तौ परत. प्रामाण्यापत्तिरिति वाच्यम्; दोषबाधबोधयोरनुदयमात्रेण प्रामाण्यस्फुरणोररीकरणात्। तथाचाहुर्भट्टपादा –

'यदा स्वत प्रमाणत्व तदान्यन्नैव मृग्यते।
निवर्तते हि मिथ्यात्व दोषाज्ञानादयत्नत'॥ इति

(श्लो० वा० २।५२)

तेन बाधकमुक्त तत्परिहरति—**न चेति**। हेतुमाह—**प्रसक्तस्यापीति**। ननु कारणदोषज्ञानबाधकज्ञानाभ्या चेत्प्रसक्तस्यापि प्रामाण्यग्रहणस्यापनयस्तर्हि तयोरभावज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुत्व स्यादिति युक्तमिति तत्राह—**न च ताभ्यामिति**। न वयमप्रामाण्यज्ञाने करणदोषज्ञानबाधकज्ञानवत्प्रामाण्यावगमे तयोरभावज्ञान कारणमाश्रयामहे, अपि तु तज्ज्ञानानुदयमात्रम्, तेन न परत प्रामाण्यापत्तिरित्यर्थ। उररीकरण स्वीकार। दोषाभावादिज्ञानस्य प्रामाण्यज्ञानहेतुताऽभाव भट्टाचार्यवचनेन द्रढयति—**तथा चाहुरिति**। यदा स्वत प्रमाणत्वकस्याश्रीयते तदान्यज्ज्ञान ग्राहकातिरिक्त नैव मृग्यते। ननु दोषाभावज्ञानमतिरिक्त मृग्यत इति तत्राह—**निवर्तत इति**। दोषज्ञानानुदयमात्रात् अयत्नतो मिथ्यात्वशङ्का निवर्तत इत्यर्थ। न च दोषज्ञानानुदयमादायैव परतस्त्वापत्तिरिति वचनीयम्, विरोधिबुद्ध्युदयप्रतिबन्धकतयैव कृतसमाधानत्वात्।

इत्यादि। यदि कहे कि ज्ञानबोधक मात्र से ही प्रामाण्य के ग्रहण होने पर मिथ्या रजतादि ज्ञान मे भी उनके ग्राहक से प्रामाण्य का ग्रहण (ज्ञान) प्राप्त होगा, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि प्रसक्त (प्राप्त) भी प्रामाण्यग्रहण का कारण दोष के ज्ञान और बाध से निवारण हो जाता है। यदि कहा जाय कि कारण के दोषज्ञान और बाधज्ञान इन दोनो से अप्रमा मे प्रमात्व के अपनय (निवारण) होने पर, दोषज्ञान के और बाधज्ञान के अभाव को प्रमाण्यज्ञान मे हेतुत्व की प्राप्ति होने पर परतस्त्व की प्राप्ति प्रामाण्यग्रहण मे होती है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि दोषज्ञान और बाधज्ञान के अनुदय मात्र से प्रामाण्यज्ञान को उररी (स्वीकार) किया जाता है। उन ज्ञानो के अभावो को प्रमाज्ञान का हेतु नही माना जाता है कि जिससे परतस्त्व की प्राप्ति हो। दोषाऽभावादि ज्ञान के प्रमात्वज्ञान की हेतुता के अभाव को श्रीभट्टपाद ने भी कहा है कि—

जब प्रमात्व स्वत ग्राह्य होता है, तब अन्य ज्ञानग्राहक से भिन्न का अन्वेषण नही किया जाता है। दोषज्ञान के अनुदय मात्र से यत्न के बिना ही मिथ्यात्व की शका निवृत्त होती है अत दोषाभावज्ञान को प्रमात्वज्ञान का हेतु नही माना जाता है।

अन्यथा तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यस्फुरणहेतुत्वेन तदभावावगमस्यापि प्रामाण्यावगमाय तत्तदभावावगमान्तराणामप्यवश्याश्रयणीयत्वादनवस्था, तथा चानभ्यासदशाया साशयिकत्वादिति हेतो स्पष्टमनैकान्तिकत्वम्। स्वत प्रमाणत्वेन भवदभिमतेष्वेवानुमानोपमानानुव्यवसायधर्म्यव्यवसायेषु व्यभिचारस्य दर्शितत्वात्। उक्त चैतदनुमानादे स्वत प्रामाण्यमाचार्यवाचस्पतिना न्यायवार्तिकटीकायाम् "विमत ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यदि पुनरेव नाभविष्यन्न समर्था प्रवृत्तिमकरिष्यत्,

---

दोषाभावावगमस्यापि प्रामाण्यहेतुत्वेऽनवस्थाबाधकमाह—**अन्यथेति**। येन हि दोषाभावज्ञानेनाद्यस्य प्रामाण्यमवगम्यते, तत्प्रामाण्यावगमार्थमपि दोषाभावज्ञानान्तर गवेषणीयम्। एवकारमुपर्यपीत्यनवस्थेत्यर्थ। यत्तु ज्ञप्तिपरतस्त्वेऽनुमानमुदयनीयम, तत्राप्युक्त दूषणमतिदिशति—**तथा चेति**। तथा चेत्येतदेवोद्घाटयति—**स्वतःप्रमाणत्वेनेति**। ननु यद्यनुमानादि स्वत प्रमाणमिति परैरङ्गीकृत स्यात् स्यादय मनोरथस्तदेव तु कुत इति इत्याह—**उक्तं चैतदिति**। प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति प्रथमभाष्यव्याख्यानावसर इति शेष—**समर्थप्रवृत्तीति**। फलाभिसन्धिप्रवृत्तिजनकत्वादित्यर्थ। व्यतिरेकव्याप्ति दर्शयति—**यदि पुनरेवमिति**। **अभविष्यदिति** च क्रियातिपत्तौ लृङो रूपम। अत्र चोपेक्षाज्ञानाना पक्षत्वेनानुपादानान्न भागासिद्धि। व्यतिरेकी सर्वत्र सपक्षाभावमभ्युपेत्य वर्तत इति नासाधारणानैकान्तिकता। ननु नास्त्येव वादी य प्रामाण्यनिश्चये विप्रतिपद्येत। नहि प्रामाण्य स्वीकृत्य तन्निश्चये विप्रतिपत्ति, स्वीकारस्य निश्चयमूलत्वात्। नाप्यस्वीकृत्य, प्रमाणशून्यविप्रतिपत्तेः सर्वत्र सुलभतया सर्ववादविप्रतिषेधप्रसङ्गात। अनिश्चिते तु प्रामाण्ये तदतद्रूपसदेहोऽपि क्वचिद् दुर्लभ, विशेषस्मृतेरभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्च सशयानाम्। नापि सर्वत्राप्रामाण्यप्रसञ्जनम्, प्रामाण्यग्रहणोपायनिराकरणस्याप्रामाण्येऽपि तुल्यत्वात्त-

---

अन्यथा यदि दोषाभावज्ञान को भी प्रमात्वज्ञान का हेतु माना जाय, तो दोषाभाव के ज्ञान से प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण होगा, फिर उस ज्ञान के प्रामाण्य ज्ञान के लिये अन्य दोषाभावज्ञान की आवश्यकता होगी, इस प्रकार से तत्तत् दोषाभावज्ञानान्तरो की अवश्य स्वीकार्यता से अनवस्था होगी। ऐसा होने पर (प्रामाण्य, परत गृहीत होता है, अनभ्यासदशा मे साशयिक होने से, अप्रामाण्य के समान) इस अनुमान के, अनभ्यादशा मे साशयिकत्व, यह हेतु स्पष्ट ही अनैकान्तिक है, क्योकि स्वत प्रमाणत्व रूप से नैयायिको से स्वीकृत ही अनुमान, उपमान अनुव्यवसाय धर्मी ज्ञानो मे व्यभिचार दर्शाया जा चुका है। अनुमानादि के इस स्वत प्रामाण्य को श्री आचार्यवाचस्पति ने न्यायवार्तिकटीका मे कहा हे कि (विवादास्पद ज्ञान, अर्थाऽव्यभिचारी (सार्थक) होता है, समर्थ = सफल प्रवृत्ति का जनक होने से, यदि ज्ञान एव अर्थाऽव्यभिचारी न होता, तो सफल प्रवृत्ति को भी नही सिद्ध कर

यथा प्रमाणाभास इति व्यतिरेकी। वा। अनुमानस्य स्वत प्रमाणतया अन्वयस्यापि सभवात्।" तथा—"अनुमानस्य तु परितो निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कस्य स्वत एव प्रामाण्यम्, अनुमेयाव्यभिचारिलिङ्गसमुत्थत्वात्।" 'एतेनोपमान व्याख्यातम्" इत्यादि। सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्च—विवादस्थले प्रमात्व विज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यम् अप्रमामात्रवृत्तित्वान-

दस्ति प्रामाण्यादिक तन्निश्चयश्च, तदुपायस्तच्चिन्तामर्हति। एवञ्चान्वयोऽस्त्येव तत्कथ केवलव्यतिरेकीत्याशङ्क्य सप्रत्युत्तरमाह—**अन्वयव्यतिरेकीति**। नन्वनुमानमेव कथ स्वत प्रमाण यद्दृष्टान्तादन्वयित्वमित्याशङ्क्य तत्रापि तदीयमेव ग्रन्थ पठति—**तथानुमानस्येति**। परित सर्वप्रकारेण निरस्ता समस्तविभ्रमाशङ्का यस्येति विग्रह। अनुमेयेनाग्नचादिना यल्लिङ्गमव्यभिचारि तेनोत्पन्नत्वात्। प्रत्यक्षज्ञान ह्यर्थादुत्पद्यमानमपि न गृहीताव्यभिचारादुत्पद्यते, अपि तु सत्तामात्रेणावस्थितादेव। एवमिन्द्रियादीन्यपि न गृहीताव्यभिचारीणि, व्यभिचारीणि वा अर्थेन, शाब्दज्ञान तु नार्थादुत्पन्नम्। न च शब्दस्यार्थाव्यभिचारस्तस्मान्न तयो स्वतोऽव्यभिचारग्रहणमिति। प्रवृत्तिसामर्थ्यं तज्जातीयत्व वा अर्थाव्यभिचारायानुसरणीयम। अनुमानोपमानानुव्यवसायधर्मिज्ञानाना धर्मिज्ञाने स्वत एव तत्, व्याप्तिपक्षधर्मत्वग्राहकेणैवानुमाने, कारणत स्वरूपतश्च व्यभिचाराशङ्कानिरासात्, उपमानेऽप्यतिदेशवाक्यसादृश्यज्ञानयो प्रामाण्यावधारणेन तन्निरासादनुव्यवसायेऽप्यज्ञातानुव्यवसायादित्यर्थ। एवमनैकान्तिकतामुक्त्वा सत्प्रतिपक्षतामप्याह—**सत्प्रतिपक्षसाधनत्वाच्चेति। विवादस्थल इति**। अनुमित्यादिव्यतिरिक्तस्थल इत्यर्थ। इयरथाशत सिद्धसाधनतापातादिति, परत प्रामाण्यवादिनोऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै मात्र-

सकता, जैसे कि प्रमाणाभास सफल प्रवृत्ति को नही सिद्ध करता है। यह व्यतिरेकी अनुमान कहा हे। या अन्वयव्यतिरेकी अनुमान भी हो सकता है। क्योकि अनुमान की स्वत प्रमाणता से अन्वय का भी सम्भव है। इसी प्रकार से पुन श्रीवाचस्पतिमिश्र जी ने कहा है कि (निरस्त समस्त विभ्रम शका वाले अनुमान के तो स्वत प्रामाण्य होता है, क्योकि वह अनुमेय अग्नि के साथ अव्यभिचारी लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न होता है। इसीसे उपमान भी व्याख्यात हो गया, क्योकि उसमे भी सादृश्यज्ञान और अतिदेश वाक्य (गोसदृशो गवय) इत्यादि मे प्रामाण्यता के अवधारण से व्यभिचारशका का अभाव रहता है, अत स्वत प्रामाण्यगृहीत होता है, प्रत्यक्ष मे ऐसा नही रहता है। इत्यादि। और उक्त परत साधक अनुमान मे सत्प्रतिपक्षसाधनत्व भी है कि (अनुमित्यादि से भिन्न विवाद स्थान मे प्रमात्व, विज्ञानग्राहकसामग्री मात्र से ग्राह्य है। अप्रमामात्र वृत्तित्व के अनधिकरणत्वयुक्त होता हुआ ज्ञानैकवृत्तिजातित्व होने से, ज्ञानत्व के

धिकरणत्वे सति ज्ञानैकवृत्तिजातित्वात् ज्ञानत्ववत्।

ननु कथं प्रमात्वम् जाति ? साक्षात्कारित्वेन तस्य परापरभावासभवात्। तथा हि—यदि साक्षात्कारित्व परम्, तदा तदपरसामान्यस्य प्रमात्वस्य परसामान्याविनाभावनियमात्सर्वैव प्रमा साक्षात्कारिण्येवेत्यनुमानादे. परोक्षस्याप्रमात्वमेव भवेत्। अथापरम्, तदा साक्षात्कारित्वस्य प्रमात्वाविनाभावादिद रजतमित्यादिसाक्षात्कारिणो विभ्रमस्य प्रमात्व-

---

ग्रहणम्। गुणत्वादिव्यभिचारवारणाय ज्ञानैकवृत्तीत्युक्तम्। अप्रमात्वसशयत्वादिव्यभिचारनिवृत्त्यर्थमप्रमावृत्तित्वानधिकरणेत्युक्तम्। साधनवैकल्यनिवृत्त्यर्थं मात्रग्रहणम्। प्रमामात्रवर्तिना प्रमान्यान्यत्वादिना व्यभिचारनिवृत्त्यर्थं जातिग्रहणम्। तस्यान्योन्याभावत्वेन प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वेन विवक्षितत्वात्।

उदयनीया विशेष्यासिद्धि शङ्कते—**ननु कथमिति**। साक्षात्कारित्वप्रमात्वयो परापरभावाभाव स एवोपपादयति—**तथाहीत्यादिना**। अत्र साक्षात्कारित्व कि पर व्यापक प्रमात्वमपर व्याप्यमिति मतम्? विपरीत वा? नाद्य इत्याह—**यदीति**। साक्षात्कारित्वव्याप्यत्वे प्रमात्वस्य तद्रहितेषु परोक्षेष्वनुमानादिषु प्रमात्व न स्यादस्ति च तदतो न व्याप्यमित्यर्थ। द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—**अथापरमित्यादिना**। यदि हि साक्षात्कारित्व प्रमात्वावान्तरजातिस्तदा तद्रहितेषु विभ्रमेषु साक्षात्कारित्व न स्यात्, यदि स्यात्तर्हि तद्व्यापक प्रमात्वमपि स्यादित्यर्थ।

समान) गुणत्वादि मे व्यभिचारवारण के लिये ज्ञानैकवृत्तित्व बिशेषण है। अन्य विशेषण का फल टीका से ज्ञेय है।

शका होती है कि प्रमात्व को जाति कैसे माना जा सकता है, क्योकि साक्षात्कारित्व (प्रत्यक्षत्व) और प्रमात्व को परापरभाव (व्याप्य-व्यापकभाव) का असम्भव है, अर्थात् जाति मे कोई पर जाति होती है, जैसे सत्ता सबसे पर (व्यापक) जाति मानी जाती है। अन्य उससे अपर जाति है, इसीप्रकार से सर्वत्र नियत व्याप्य-व्यापकभाव जाति मे माना जाता है, इसके बिना जातित्व का अभाव माना जाता है। यहाँ परापरभाव है नही, क्योकि यदि साक्षात्कारित्व प्रमात्व से पर (विभु) होगा, तो उस साक्षात्कारि से अपर (व्याप्य) सामान्य (जाति) रूप प्रमात्व को परसामान्य के अबिनाभावित्व (व्याप्यत्व) के नियम से सभी प्रमा साक्षात्कारिणी (प्रत्यक्षस्वरूपा) ही होगी। अत परोक्ष अनुमानादि को अप्रमात्व ही प्राप्त होगा। और यदि साक्षात्कारित्व परमात्व से अपर जाति हो, तो साक्षात्कारित्व को प्रमात्व के अविनाभावी (व्याप्य) होने के कारण इद रजतम्, इत्यादि साक्षात्कारी (प्रत्यक्ष) भ्रम को भी प्रभात्व प्राप्त होगा। इस प्रकार से परापरभावरहित मे जातित्व नही हो सकता है, प्रमात्वरहित भ्रम मे प्रत्यक्षत्व

प्रसङ्ग । किं च यदि प्रमात्व जातिस्तदा सर्वं ज्ञान धर्मिण्यभ्रान्त प्रकारे तु विपर्यय इत्येषा परिभाषा परिलुप्येत । एकस्यैवेद रजतमिति ज्ञानस्य धर्म्यंशे प्रमात्वमप्रमात्व चेतरांशे इति जातिसङ्करप्रसङ्गादिति चेत्, मैवम्, साक्षात्कारित्वस्य रजतादिविभ्रमावृत्तित्वात् । तत्रतद्व्यवहारस्येन्द्रियसप्रयोगजन्यतोपाधिमात्रेणोपपत्ते., धर्म्यंशे प्रमाव्यवहारस्य चाबाधितानुभूतित्वोपा-

---

तत परापरभावशून्ययोरेकत्र वृत्तौ सङ्कर स्यात्स च जातिबाधक यथा वक्ष्यति— सङ्कर इति । सङ्करान्तरमाह—**किंचेति** । यदि प्रमात्व जातिस्ततो जातिसङ्करपरिहाराय विभ्रमेष्वप्रमात्वाधिकरणेषु सा नेष्टव्या, ततश्च सर्वज्ञानाना धर्म्यंशे प्रामाण्य प्रकारे रजतादौ विपर्यय इति यौक्तिकपरिभाषा निरर्थका स्यादित्यर्थ । साक्षात्कारित्वमपर प्रमात्व परम्, विभ्रमेषु न साक्षात्कारित्व व्यवहारस्तु औपाधिकस्ततो न जातिसङ्कर इति परिहरति—**मैवमिति** । प्रमात्वाप्रमात्वसङ्कर परिहृति—**धर्म्यंशे इति** । न चाबाधितानुभूतित्वसभवे तद्व्यङ्ग्या जातिरपि तत्र नवेदिति वाच्यम । प्रसाधने सङ्करबाधात्, प्रसञ्जने विपर्ययपर्यवसानात् । न नावदिद प्रयोजक मीमासकाना यथाह सूत्रकार —'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाण'मिति । तथा तद्भाष्यकारोऽपि—'असन्निकृष्टेऽर्थे ज्ञान'मिति । सशयविपर्ययस्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानानि स्वतदतिरिक्तवृत्तित्वानधिकरणजातिमन्ति जातिमत्त्वात्सप्रतिपन्नवदिति च प्रमात्वजातावनुमानम । अत्र चैतदवसेयम् । परसिद्धान्तमाश्रित्यैव जातिसङ्करपरिहार इति । यत —

रहता है । प्रत्यक्षत्वरहित अनुमानादि मे प्रमात्व रहता है, इसप्रकार से परस्पर के अत्यन्ताभावाधिकरणवृत्तिधर्मो की प्रत्यक्ष प्रमा मे वृत्तिता से सकर है । और प्रमात्व यदि जाति होगा, तो सब ज्ञान धर्मी अश मे अभ्रान्त (प्रमा) रहता है, प्रकार (विशेषण) मे विपर्यय होता है, यह परिभाषा लुप्त हो जायगी । क्योकि इस नियम के अनुसार इद रजतम्, इस ज्ञान को इदम अश मे प्रमा, रजतत्व अश मे अप्रमा मानने पर सकर होगा, वह जातित्व का बाधक होगा, और जाति को मानने पर इस नियम का अभाव होगा । क्योकि एक ही इद रजतम् , इस ज्ञान को धर्मी अश मे प्रमात्व इतराश मे अप्रमात्व से जातिसकर का प्रसङ्ग होगा ही । उत्तर है कि ऐसी आपत्ति नही है क्योकि साक्षात्कारित्व रजतादि विभ्रमो मे नही रहता है । अत प्रमात्व को पर और प्रत्यक्षत्व को अपर मानने पर उक्त दोष की प्राप्ति नही हो सकती है । प्रत्यक्ष भ्रम मे प्रत्यक्षत्व के नही रहते भी जो उसमे प्रत्यक्षत्व का व्यवहार (कथन) होता है, वह इन्द्रियसम्बन्धजन्यता रूप उपाधि (कल्पित धर्म) से होता है । इसी प्रकार भ्रमज्ञान के धर्मी अश मे प्रमात्व

धिनिबन्धनतयापि सभवात्। न चैव सर्वत्रोपाधिनिबन्धन एवास्तु प्रमा-व्यवहार, कृत जातिकल्पनयेति वाच्यम्, प्रमिणोमीत्यबाधितानुगतव्यव-हारस्य गौर्गौरिति व्यवहारस्येव जातिमन्तरेणानुपपत्ते। उपाधिमादाय जातिप्रत्याख्यानस्य गोत्वादिष्वपि तुल्यत्वात्। तस्माद्यत्र—

'विज्ञानत्वमधिष्ठानधियामारोपितेषु यत्।
अविद्यापरिणामत्वाद्विज्ञानाभासता मता॥
तेन यत्तत्र विज्ञान तत् प्रमाणमुपेयते।
अप्रमाण न विज्ञान तत् क्व सङ्करसभव॥'

ननु तर्हि सर्वमेव ज्ञान प्रमाणमप्रमाण च ज्ञानाभास इति ज्ञानस्य परतोऽप्रामाण्यमिति वचस कोऽर्थ ? न कोपि। विज्ञान परत प्रमाण अपि तु स्वत इत्येतावदुपपादनीयम्, अथवा अप्रामाण्य परत इत्यस्यैवाय पर्यवसितोऽर्थ यद्विज्ञान-व्यतिरिक्तसमवाय्यप्रामाण्यमिति। सामग्रीभेदस्य कार्यभेदनियमात अप्रमायाश्च ज्ञानविशेषत्वस्यासिद्धेरिति। न च सर्वप्रत्ययाना यथार्थत्वेऽख्यातिमतापात, अविद्या-परिणामरूपभ्रमारोप्ययोरङ्गीकारेण ततो विशेषादिति। नन्वेकत्रोपाधिनिबन्ध-श्चेत्प्रामाण्यव्यवहार सर्वत्र तन्निबन्धन एव भवतु किमित्यर्धजरतीय कल्प्यत इति तत्राह—**न चैवमिति**। तत्र कि कल्पक नास्तीत्युच्यते ? अन्यथासिद्धिर्वा ? प्रथमे प्राह—**प्रमिणोमीति**। एष ह्युत्सर्ग यदनुवृत्तव्यहारस्यानुवृत्तालम्बनमिति, तच्चेत् कथमपि दु सपादम, तदाऽगत्यैवाश्रीयते साधारणशब्दतो यथाक्षादीनाम्। सभवति चेहानुवृत्तोऽर्थ तत्रापि वक्ष्यमाणबाधकाभावे जातित्वमेवेति भाव। द्वितीये प्राह—**उपाधीति**। यदि हि सभवेप्युपाधिना जातिप्रत्याख्यान तदा गोत्वादिष्वप्यनाश्वास स्यात् तत्तद्व्यञ्जकस्यैवोपाधे सभवादित्यभिप्राय। ननु तर्हि पाचकादावपि किमिति जातिर्न कल्प्यते ? अस्ति हि अनुवृत्तप्रत्ययत इति तत्राह—**तस्मादिति**। यत्रैकैव व्यक्ति यथाकाशत्वादौ, न तत्र जातित्वकल्पना। अनुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वाभा-

---

व्यवहार का अबाधित अनुभूतित्व उपाधिनिमित्तिकता से सम्भव होता है। प्रमात्व उसमे नही रहता है। यदि कहा जाय कि सर्वत्र उपाधिनिमित्तक ही प्रमात्व का व्यवहार हो, प्रमात्व मे जातित्व की कल्पना निष्फल है, क्योकि धर्मी अश के ज्ञान मे जैसे जाति के विना उपाधि मे प्रमात्व का व्यवहार होता है, वैसे ही सर्वत्र होगा, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि (प्रमिणोमि) प्रमाज्ञान से मैं जानता हू। इस प्रकार के अनुगत (अनेक ज्ञानविषयक) व्यवहार की गौ गौ इस व्यवहार के समान जाति के विना अनुपपत्ति है, अत अनुगत गौ इस व्यवहार से गोत्व जाति मानी जाती है, वैसे ही प्रमात्व भी मन्तव्य है। उपाधि को मान कर यदि प्रमात्व जाति का खण्डन किया जाय तो गोत्वादि

'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सकरोऽथानवस्थिति ।
रूपहानिरसबन्धो जातिबाधकसग्रह '॥
इत्युक्तबाधकानामन्यतमोपि बाधको न प्रसरति, तत्र जातिनिमित्तो

वात् , अनेकसमवेतत्वाभावाच्च । तस्य च तल्लक्षणत्वात् । तथा यत्र तुल्यव्यक्तित्व यत्र कुम्भत्वकलशत्वयो, न तत्रोभयोर्जातित्व एकयैवानुगतव्यवहारसिद्धे, इतरथा पर्यायत्वविलयप्रसङ्गात् । तथा यत्र सङ्करप्रसक्ति परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र स्थितिर्यथा दण्डित्वकुण्डलित्वयोस्तत्रापि न जातित्वम् । प्रथममस्य दूषणत्व शृणु ! परस्परपरिहारेणैव वर्तमानतयावधृतस्वभावयोरेकत्र प्रतीतिरुत्पद्यमाना 'माता मे वन्ध्ये' तिवत्तद्विरुद्धार्थविषयतया अप्रमाणीभवतीति प्रमाणाभावादेव तदभाव परस्परपरिहारेण वर्तमानयो सामान्ययोरेकत्र समावेशे तदतज्जातीयविरोधोच्छेदापत्तिश्चेति, तथा यत्रानवस्थाप्रसक्ति यथा सत्तायाम् , सत्तास्वीकारे तत्रापि न जातिकल्पना । यत्र रूपहानिप्रसक्तिरागन्तुकत्वादिनाऽनित्यत्वहानादिना यथा पाचकत्वादौ, यथा वा विशेषेषु, तत्रापि न जातिकल्पना । यत्र जातिकल्पनाया व्यक्त्या सह सबन्धाभाव , यथा समवाये जातिकल्पनाया समवायाभावात् जातिव्यक्त्योश्च तन्नियमान्न तत्रापि जातिरिति किरणावलीकारसहितजातिबाधकाना अन्यतमस्यापि यत्राभावस्तत्र जातित्वमितरत्रोपाधित्वमिति

मे भी खण्डन की तुल्य ही प्राप्ति होगी। अत व्यक्ति का अभेद १, तुल्यत्व २, सकर ३, अनवस्था ४, स्वरूपहानि ५, असम्बन्ध ६, ये छ जाति के बाधको मे से कोई भी बाधक जहा नही प्राप्त होता हो, वहा जातिनिमित्तक व्यवहार होता हैं। अन्यत्र उपाधिनिमित्तक होता है, यह विभाग ज्ञातव्य हे। अकाश की एक व्यक्ति होने से अनुवृत्ति हेतुत्व के अभाव से आकाशत्व को जाति नही माना जाना है। घटत्व, कलशत्व की तुल्यदेशवृत्तिता से दोनो की भिन्न जाति नही मानी जाती है। सकर का प्रथम वर्णन हुआ है, सब जाति मे जातित्व जाति को मानने पर अनवस्था प्राप्त होती हे, क्योकि अन्य जाति के साथ जातित्व के सग्रह के लिये जातित्व मे भी जाति को मानने पर इसीप्रकार से अन्य-अन्य जाति की प्राप्ति से अनवस्था होती हे। और विशेष नामक पदार्थ मे जाति को मानने पर उसकी जाति से व्यावृत्ति की प्राप्ति होने पर स्वतोव्यावृत्तस्वरूप की हानि की प्राप्ति होती है, यह वैशेषिक का ही मान्य विशेष पदार्थ है, समवाय मे जाति मानने पर सयोगादि सम्बन्धो का असम्भव होता है। अत समवाय मे जाति नही मानी जाती हे। इसका प्रसङ्ग प्रथम भी आया है।

इस उक्त रीति से प्रमात्व की सिद्धि होने से, ज्ञानैकनिष्ठ जातित्वात , यह हेतु का विशेष्याश असिद्ध नहीं होता है। और ज्ञप्ति के परतस्त्वरूप विपक्ष मे

व्यवहार इतरत्र तूपाधिनिबन्धन इति विभागो द्रष्टव्य । तस्माज्ज्ञानैकनिष्ठजातित्वादिति न विशेष्यासिद्धो हेतु । विपक्षे चानवस्थाप्रसङ्गो बाधकस्तर्क । न च निलीनस्यैव प्रमाणस्यार्थे व्यवहारजनकत्वोपपत्तेर्नानवस्थेति वाच्यम्, तथात्वनिश्चायकप्रमाणानुदये तदस्तित्वस्यैव निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

अस्तु तर्हि ज्ञानस्य स्वत एव स्फुरणम्, तथापि तत्प्रामाण्य तद्गतगुणत्वादिवदन्यत एव स्फुरिष्यति को विरोध इति चेत्, मैवम्, तस्यादित एव प्रमाणत्वेनास्फुरणे तद्विपये नि शङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्ते । न हि ज्ञातमित्ये-

---

खण्डनार्थ । प्रमात्वजातिपमर्थनेऽस्य प्रकृतोपयोग दर्शयितुमुपसहरति—**तस्मादिति** । ज्ञप्तिपरतन्त्वे बाधकमाह—**विपक्षे चेति** । पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—**नचेत्यादिना** ।

ननु भवतु तदस्तित्वलोभाज्ज्ञानस्य स्वत स्फुरणम्, प्रामाण्य तु किमिति न परत स्फुरतीति प्राभाकर प्रति पूर्वोक्त स्मारयति पूर्वपक्षी—**अस्तु तर्हीति** । अर्थे तु नि शङ्कप्रवृत्ति प्रथमत प्रमाणतया स्फुरण एव घटते, नेतरथेति परिहरति—**मैवं तस्यादित इति** । तद्विपये तस्य ज्ञानस्य विषय इत्यर्थ । एतदेव विपक्षे बाधकेन विवृणोति—**नहीति** । मरुभूमिषु मरीचिका मरुमरीचिका । नन्वप्रामाण्यस्फुरणादेव तत्र प्रवृत्त्यभाव न प्रामाण्यास्फुरणात्, प्रामाण्यास्फुरणेऽपि प्रवृत्तिर्घटते इति

अनवस्था का प्रसङ्ग बाधक तर्क है, तत्तत् ज्ञानो के ग्राहक अनन्त ज्ञानो की प्राप्ति परतस्त्रवाद मे होगी । और जो कहा गया था कि निलीन (अज्ञात) ही प्रमाण (प्रमा) को अर्थविषयक व्यवहारजनकत्व की उपपत्ति (सिद्धि) से अनवस्था नही होगी, वह कहना युक्त नही, क्योकि अज्ञात प्रमाण मे तथात्व (प्रमाणत्व) के निश्चायक (निश्चयजनक) प्रमाण (ज्ञान) के अनुदय (अनुत्पत्ति) रहते, उसके अस्तित्व का ही निश्चय होना अशक्य है ।

व्यवहारजनकत्व तो दूर रह जाता है, ज्ञान स्वत प्रकाश तो है नही कि जिससे अस्तित्व की सिद्धि हो, और उससे व्यवहार हो । यदि कहा जाय कि प्रमाण के स्वरूपास्तित्व की सिद्धि के लिये प्रभाकर-मतानुसार प्रमाण के स्वरूप का स्वत - स्फुरण (प्रकाश) हो, तो भी तद्गत गुणत्वादि के समान ज्ञान के प्रामाण्य (प्रमात्व) का अन्य ज्ञान मे ही (अन्य साधन से ही) स्फुरण (ज्ञान) हो, तो क्या विरोध है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि उस विषयज्ञान के प्रथम ही प्रमात्व के स्फुरण (ज्ञान) नही होने पर, उस ज्ञान के विषय मे नि शङ्क प्रवृत्ति की असिद्धि होगी, वस्तु ज्ञात हो गई इतना समझ लेने से प्रवृत्ति नही

तावता प्रवृत्ति , मरुमरीचिकादौ सत्यपि विज्ञाने तदप्रामाण्यनिश्चये प्रवृत्त्य-दर्शनात् । अस्तु तर्ह्यप्रामाण्यास्फुरणे प्रामाण्यस्फुरणमन्तरेणापि ज्ञान-मात्रात्प्रवृत्तिरितिचेत् , मैवम् , विज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ययोरस्फुरणे सशयान्नि शङ्कप्रवृत्त्यनुपपत्ते । अस्ति चानाभ्यासदशाया नववनस्थ-लीस्थितेषु फलितरसालादिषु तत्फलादानेच्छोर्नि शङ्कप्रवृत्ति । अपि च त्वयापि पारलौकिकफलसाधनेषु नि शङ्कप्रवृत्ति प्रामाण्यनिश्चयाधीना-भ्युगता । न च कृष्यादौ सशयेति प्रवृत्तिर्दृष्टेति वाच्यम् , तत्र नि श-ङ्कप्रवृत्तेरभावात् । एव च यत्र यत्र नि शङ्कप्रवृत्ति , तत्र तत्र प्रामाण्यनि-

---

प्रस्तुत तत्कि केन सगतमिति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । प्रामाण्यास्फुरणे न नि शङ्कप्रवृत्तिरुपपन्नेति परिहरति—**मैवं विज्ञानस्येति** । ननु ज्ञानोदयसम-समयमेव नि शङ्कप्रवृत्ति क्व दृष्टा ? यद्बलादिद साध्यते इति तत्राह—**अस्ति चेति** । रसाल आम्र । अपि च त्वयापि पारलौकिकसाधनेषु इहलौकिकेषु अनभ्यासदशापन्नेषु च नि शङ्कप्रवृत्ति प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेति स्वीकृता, तत्सा-म्यात्सर्वनि शङ्कप्रवृत्तिस्थलेसु शक्य प्रामाण्यनिश्चयाधीनत्वमनुमातुमित्यभिप्रे-त्याह—**अपि च त्वयेति** । ननु सशयादपि नि शङ्कप्रवृत्ति कृष्यादौ दृष्टा इति सव्यभिचार इति तत्राह—**न च कृष्यादाविति** । एव पारलौकिकेषु नि शङ्क-प्रवृत्तेर्निर्णयपूर्वकत्वस्य च व्याप्तिनिश्चयात सर्वत्रैव शक्यानुमानमित्याह—**एवं च यत्र यत्रेति** । यदि च सशयात् प्रवृत्तिस्तदा सशयस्य कोटिद्वयसमानत्वा-

---

होती है, क्योकि मरुभूमि की मरीचिका (सूर्यकिरण रूप मृग तृष्णा) आदि मे जलादि के ज्ञान होने पर भी उसकी अप्रमाणता के निश्चय से प्रवृत्ति नही देखी जाती है । यदि कहा जाय कि मरुमरीचिका आदि के ज्ञान मे अप्रामाण्य का निश्चय प्रवृत्ति का प्रतिबन्धक है, तो अप्रामाण्य के अस्फुरण (अज्ञान) रहते प्रामाण्य के ज्ञान के बिना भी ज्ञानमात्र से प्रवृत्ति हो सकती है, प्रामाण्य ज्ञान की क्या आवश्यकता है ? तो ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि विज्ञान के प्रामाण्य अप्रामाण्य दोनो के अज्ञान काल मे भी प्रामाण्यादि के सशय से नि शङ्क प्रवृत्ति की सिद्धि नही हो सकती है । और अनभ्यास दशा मे भी नवीन बनस्थली मे स्थित फलयुक्त रसालो (आम्र वृक्षो) मे उनके फलग्रहण की इच्छा वाले की नि शङ्क प्रवृत्ति होती है । अत ज्ञानग्राहक से प्रामाण्य गृहीत होता ही है, अन्यथा ऐसी प्रवृत्ति का सम्भव नही है । और आप परत प्रामाण्यवादियो ने भी, पारलौकिक फलो के साधन रूप यज्ञादि मे नि शङ्क प्रवृत्ति को प्रामाण्यनिश्चयाधीन माना है । अत सर्वत्र प्रामाण्यज्ञानाधीन नि शक प्रवृत्ति मानना उचित है । यदि कहा जाय कि सशय रहते भी कषि आदि मे नि शक प्रवृत्ति देखी जाती है । तो यह कहना उचित नही, वहाँ नि शङ्क प्रवृति का अभाव रहता है । अत इसप्रकार से

श्रयाधीनैव सेत्यभ्युपगन्तव्यमपरथा प्रामाण्यानिश्चयान्निवृत्तेरपि प्रसङ्गात् । न च फलेपे परतस्त्वम्, ज्ञेयाभिव्यक्तिलक्षणफलस्य ज्ञानमात्रादेव सिद्धे । उपादानादीना पुनरिष्टसाधनादिज्ञानाधीनतया तद्विषयप्रमाणस्य तत्रापि

त्प्रवृत्तिवन्निवृत्तिरपि स्यात । नचानक्षजत्वाद्वैषम्यम्, वैधर्म्यमात्रत्वात् । अथाप्रामाण्यानिश्चयान्न निवृत्ति प्रामाण्यानिश्चयान्न प्रवृत्तिरित्यपि पश्य ? तस्मान्नि ङ्कप्रवृत्ति प्रामाण्यनिश्चयाधीनैवेत्यभिप्रेत्याह—**अपरथेति** । यदत्र कुसुमाञ्जलावुदयनेन झटिति प्रचुरसमर्थप्रवृत्ते स्वत प्रामाण्यानधीनतामुपपादयतोक्तम्—'झटिति प्रवृत्तिर्हीं'त्याद्युपक्रम्य 'इच्छा च प्रवृत्ते कारण सा च समीहितोपायताज्ञानमपेक्षते तच्चेष्टजातीयत्वलिङ्गानुभव सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षात्, प्रामाण्यग्रहण तु न केनाप्यशेनोपयुज्यते उपयोगेऽपि वा स्वत इति कुत एतदिति ? तदपि तस्करस्य पुरत कक्षे सुवर्णमपलपत सर्वाङ्गोद्घाटनमिव, यत समीहितसाधनताज्ञानमेव प्रमाणतयावगम्यमानमिच्छा जनयति, इत्यत्रैव स्फुट स्वत प्रामाण्योपयोग । कि च क्वचिदपि चेत् नि शङ्कसमर्थप्रवृत्ति सशयादुत्पद्यते, तर्हि सर्वत्रैव तथाभावसभवात् प्रामाण्यनिश्चयो निरर्थक अनिश्चितस्य सत्त्वमेव दुर्लभमिति प्रामाण्यस्य जलाञ्जलिरेव वदत स्यादिति । एवमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ च स्वतस्त्वमुपपाद्य व्यवहृतौ स्वतस्त्वमुपपादयति—**न च फलेऽपीति** । यदि तावज्ज्ञानानां ज्ञेयाभिव्यक्ति फलम्, यथाहु —

'ज्ञेयाभिव्यक्तितो यस्मान्न च ज्ञानात्फलान्तरम् ।
इष्यते कर्म्यवन्नातस्तदर्थं विधिकल्पना ।।'

इति । तच्च फल ज्ञानमात्रादेव न पुनरन्यनिबन्धनमित्यर्थ । अथोपादानाद्येव सर्वत्र फल विज्ञानस्य, तच्चेष्टसाधनादिज्ञानाधीनमिति परतस्त्व पुरस्तादेव वर्णितमिति तत्राह—**उपादानादीनामिति** । न वस्तुमात्रज्ञानफलमुपादानादि, अपि तु

जहाँ-जहाँ नि शङ्क प्रवृत्ति होती है, वहाँ-वहाँ वह प्रवृत्ति प्रामाण्यनिश्चयाधीन ही होती है, यह मानना चाहिये, अन्यथा प्रामाण्य के अनिश्चय से निवृत्ति की भी प्राप्ति होगी । क्योकि प्रामाण्य के निश्चय के विना पारलौकि कर्मादि मे प्रवृत्ति नही हो सकती है, सशय से प्रवृत्ति होने पर कही निवृत्ति भी हो सकती है । अप्रामाण्य निश्चय मे निवृत्ति होती है, अत प्रामाण्य निश्चय से ही नि शङ्क प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नही । प्रमात्व की उत्पत्ति और ज्ञान मे स्वतस्त्व का प्रतिपादन करके उसके फल (व्यवहार) मे कहते है कि (न च फलेऽपि परतस्त्वम्) ज्ञान के फल मे परतस्त्व (ज्ञानसामग्री मे अन्य निमित्तकत्व) नही है क्योकि ज्ञेय की अभिव्यक्ति और व्यवहार रूप दो फल ज्ञान के माने जाते है । उनमे ज्ञेय की अभिव्यक्ति (प्राकटच) रूप फल की सिद्धि ज्ञानमात्र से ही होती है । और उपादान (ग्रहण) आदि रूप व्यवहार की इष्टसाधनादि ज्ञानाधीनता (तद्विषयक

फलजनकत्व स्वत एव । तस्मादवधीर्यैव गुणगणमनपेक्ष्यैव दोषाभाव स्वशक्त्यैव स्वार्थमावेदयन्ति वेदान्ता इति सिद्धम् ।

ननु स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्ता शक्तिर्नैव न जानीम, तत्र प्रमाणाभावात् । तथा हि स्फोटादिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्तिस्तत्र प्रमाणम् ? उतोपादानोपादेयभावनियमानुपपत्ति ? नाद्य , स्वरूपादेव पावकादे

गुणदोषमाध्यस्थ्यज्ञानाना तेषा च स्वत एव तज्जनकत्वमिति तत्रापि वर्णितमनन्तरम् न व्यभिचरतीत्यर्थ । वादार्थमुपसहरन् समन्वयोद्योगमाह—**तस्मादिति ।**

'इति स्वतस्त्व परित प्रमाचित प्रमाणमात्रस्य सत स्वतो यदा ।
निषिद्धदुर्दोषकथेषु लीलया समस्तवेदान्तवचस्सु सिध्यति ॥'

स्वशक्त्यैव वेदान्ता स्वार्थमावेदयन्तीत्युक्त तत्र स्वरूपसहकार्यतिरिक्तशक्त्य-सहिष्णवस्तार्किका प्रत्यवतिष्ठन्ते—**नन्वित्यादिना ।** समवधान मेलनम् । तत्र किं कार्योत्पत्तिप्रयोजकधर्ममात्र शक्ति ? किं वातीन्द्रियत्वे सति तादृशो धर्म ? किं मृदादिगतातीन्द्रियप्रयोजकधर्मविशेषो वा ? मृदादिस्वरूपमात्रगतस्तादृशो वा ? प्रथमे त्वविवाद , घटत्वाग्नित्वादिजातीनामङ्गीकारात् । द्वितीयेऽपीश्वरेच्छादीनामङ्गी-कारादविवाद । तृतीयेऽपि कालादिसयोगस्य मृदादावङ्गीकारादविधानमेव । चतुर्थ-श्चेत्तत्राह—**तत्र प्रमाणाभावादिति ।** तत्र किमर्थापत्ति ? अनुमानम् ? आगमो वा प्रमाणम् ? तत्रार्थापत्तिं द्विधा विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना ।** कार्योत्प-त्त्यनुपपत्तिर्वा, इदमस्योपादान दुग्धादि दध्योदेर्न पुनस्तिलादीति, तिलाद्येव तैलस्य न पुनर्दुग्धादीति योय नियमस्तदनुपपत्तिर्वेत्यर्थ । स्यादेतत्—यदि स्वरूपसह-कारिसमवधानमात्रात्कार्योत्पत्ति प्रतिबन्धदशायामपि किमिति नोत्पद्यते स्फोटादि । नहि तदाग्निरनग्नि सहकारिणो वेन्धनादयोऽनिन्धनादय । तस्माद्यत्प्रतिबन्धा-

---

प्रमाण) से उपादानादि विषयक इष्टसाधनता ज्ञान को उस उपादानादि मे फलजनकत्व स्वत होता है। अत आप्तोक्तित्वादि गुण-गण और भ्रमप्रमादादिरूप दोषाभाव की अपेक्षा नही करके अपनी शक्ति से ही वेदान्त अपने अर्थ को समझाते है, यह सिद्ध हुआ ।

यहाँ नैयायिक शङ्का करते है–कारण का स्वरूप और सहकारी का समवधान (सग्रह सम्मेलन) से अतिरिक्त कोई शक्ति पदार्थ नही जानी जाती है । क्योकि उसमे प्रमाण का अभाव है, यदि प्रमाण है, तो क्या स्फोट (दाह से फोडा) आदि स्वरूप कार्य की शक्ति के विना अनुपपत्ति रूप उसमे प्रमाण है, या उपादान कारण और उपादेय (कारण और कार्य) भाव के नियम की अनुपपत्ति प्रमाण है। प्रथम पक्ष मान्य नही हो सकता है, क्योकि मणिमन्त्रादि प्रतिबन्धकाभाव

प्रतिबन्धकाभावादिसहकार्युपबृंहितात्, स्फोटादिलक्षणकार्योत्पत्त्युपपत्तावतीन्द्रियशक्तिकल्पनानुपपत्ते। न चाभावस्याकारणत्वात्प्रतिबन्धकाभावो न सहकारीति साम्प्रतम्, किमन्वयव्यतिरेकित्व नास्ति? उताभावस्य कारणत्वेऽनिष्टप्रसक्ति? नाद्य, भाववदभावस्यापि कार्यान्वयव्यतिरेकित्वात्। न द्वितीय, योग्यानुपलब्धेरभावप्रमितिहेतुत्वात्, विवेकाग्रहस्य च विभ्रमहेतुत्वात्। ननु किं प्रतिबन्धकप्रागभावस्य कारणत्वम्? उत तत्प्रध्वंसस्य? नाद्य, उत्तम्भकसद्भावे सत्यपि प्रतिबन्धके विनापि प्राग-

---

त्काय नोत्पद्यते, सैव शक्तिरित्यनुपपन्नैव कार्योत्पत्तिरन्तरेण शक्तिमिति तत्राह—**प्रतिबन्धकाभावादीति**। एतदुक्त भवति—प्रमाणद्वयविरोधोऽर्थापत्ति, यथा देवदत्तस्य जीवनग्राहकस्य गृहाभावग्राहकस्य च विरोधो बहिर्भाव कल्पयति विरोधपरिहृत्यै। न चात्र तथाविरोध, स्फोटोत्पत्त्यनुत्पत्तिग्राहकयोरग्निमात्रे विरोधेऽपि प्रतिबन्धाभावतद्राहित्यवदग्निविषयत्वेन विरोधशान्तेरिति। ननु न प्रतिबन्धकाभाववदग्निविषयतया विरोध शाम्यति, अभावस्य कारणताभावादिति तत्राह—**न चाभावस्येति**। किंच भाट्टैस्तावदेवमयुक्त वक्तुमित्याह—**योग्येति**। गुर्वनुवर्तिन प्रत्याह—**विवेकाग्रहस्येति**। विभ्रमशब्दोऽयथार्थव्यवहारपरो गुरुनये। अत्र प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्व विकल्प्यैकैक व्यभिचारेण दूषयति शक्तिवादी—**नन्वित्यादिना**। यदा ह्युत्तम्भक प्रतिबन्धकसविध निधीयते तदा सत्यपि प्रतिबन्धके मण्यादौ कार्यमुत्पद्यते, न तत्र प्रागभावोऽस्तीत्यर्थ। इय-

---

रूप सहकारी सहित अग्नि आदि के स्वरूप से ही स्फोटादि स्वरूप कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि होने पर, अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना नही हो सकती है। अभाव की अकारणता से प्रतिबन्धकाऽभाव सहकारीकारण नही हो सकता है, ऐसा कहना युक्त नही हो सकता है। क्योकि अभाव के कारणत्वाभाव मे क्या कारण है, क्या प्रतिबन्धकाभाव मे कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेकित्व रूप कारणताबोधक धर्म नही है, अथवा अभाव के कारणत्व मे कोई अनिष्ट की प्राप्ति होती है, वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नही हो सकता है, क्योकि भावस्वरूप कारण के समान अभाव को भी कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेकित्व होता है, दूसरा पक्ष भी मान्य नही है। क्योकि योग्यानुपलब्धि के अभाव के ज्ञान हेतुत्व को माना जाता है, और विवेकाऽग्रह के विभ्रम हेतुत्व को माना जाता है। अत अभाव मे हेतुत्व इष्ट है, अनिष्ट नही, अत एव प्रतिबन्धकाभाव भी कारण होता है। यदि शङ्का हो कि प्रतिबन्धक के प्रागभाव को कारणत्व होता है, या प्रतिबन्धक प्रध्वंस को कारणत्व होता है, वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नही हो सकता है, क्योकि उत्तम्भक (उत्तेजक) सूर्यकान्तमणि आदि के सद्भावकाल मे प्रतिबन्धक

भाव कार्यदर्शनात्। न द्वितीय, प्रतिबन्धकानुदयेऽपि कार्योपलब्धेरिति चेत्, मैवम्, उत्तम्भकमणिमन्त्राद्यभावसहकृतस्यैव प्रतिबन्धकस्य प्रतिबन्धकत्वात्, तेन तत्र प्रतिबन्धकप्रागभावसहकृतस्यैव कारणत्वान्न व्यभि-

---

मपि प्रबन्धकध्वसव्यभिचारभूमिर्भवत्येव, तथाप्यसाधारण दूषणमाह—**प्रतिबन्धकेति**। नह्यनुदितप्रतियोगी प्रध्वस सभवतीति भाव। तदेतत्परिहरति—**मैवमिति**। नास्माभिर्मण्यादिस्वरूपमात्रस्य प्रतिबन्धकत्वमुच्यते, अपितूत्तम्भकाभावविशिष्टस्य। न च तादृशमुत्तम्भकसन्निधानेऽस्तीति तदापि प्रतिबन्धकप्रागभावस्य न व्यभिचार इत्यर्थ। उक्त च कुसुमाञ्जलावुदयनेन—"प्रतिबन्धकोत्तम्भकाले तर्हि व्यभिचार ? स्यात्, यदि यादृशे सति कार्यानुदयस्तादृशे एव सत्युत्पाद, नत्वेवम्, तदापि प्रतिपक्षस्याभावात् असत्प्रतिपक्षो हि प्रतिबन्धकोऽभिमता, न सत्प्रतिपक्ष। स च तादृशो नास्त्येव, यस्त्वस्ति नासौ प्रतिपक्ष" इति। स्यादेतत्—प्रतिबन्धकाभावस्य सामग्र्यन्त पातित्वमयुक्तम्, अनियतहेतुकत्वप्रसङ्गात्। तथाहि—यत्राग्न्यादिसमवधाने प्रतिबन्धकमण्याद्यभावे झटिति कार्यमुत्पद्यते, तत्र विशेष्यमण्यादि-

---

मणि के भी रहने से उसके प्रागभाव के बिना भी वहाँ स्फोटादि अग्नि के कार्य देखे जाते है। अत प्रागभाव मे कारणता का निश्चय नही हो सकता है, और दूसरा पक्ष भी मान्य नही हो सकता हे, क्योकि प्रतिबन्धक के अनुदय (प्रागभाव) रहते भी दाहादि कार्य की उपलब्धि (ज्ञान) होती है, प्रतिबन्धक ध्वस के विना कार्य की सिद्धि से प्रतिबन्धकध्वस मे भी कारणत्व नही माना जा सकता है। नैयायिक कहते है कि यह शङ्का युक्त नही है, क्योकि उत्तेजक मणि, मन्त्रादि के अभावयुक्त ही प्रतिबन्धक (चन्द्रकान्त) मणि, मन्त्रादि की प्रतिबन्धकता रहती है। अत उत्तेजक के समकाल मे विशेषणभाव प्रयुक्त विशिष्ट प्रतिबन्धक का अभाव ही रहता है, अत दाह होना उचित ही है। उस समय उत्तेजकाभाव युक्त प्रतिबन्धक मणि का प्रागभाव रहता है, अत वहाँ प्रतिबन्धक प्रागभाव सहित के कारणत्व से कही व्यभिचार नही है, प्रतिबन्धक भाव का सर्वत्रान्वय है। जहाँ केवल अग्नि है, और प्रतिबन्धक मणि नही है, वहाँ उत्तेजकाऽभावविशिष्ट के विशेष्याभाव से दाह होता है, और जहाँ उत्तेजक प्रतिबन्धक दोनो है वहाँ उत्तेजकाभावरूप विशेषण के अभाव से दाह होता है, अत दाह मे अनियत हेतुकत्व प्राप्त होता है, ऐसी शङ्का के होने पर कहा गया है कि एतेन (इससे) अनियत हेतुकत्व भी अपास्त हुआ अर्थात् वक्ष्यमाण युक्ति से अनियत हेतुकत्व नही रहता है। क्योकि सर्वत्र प्रतिबन्धक ससर्गाभावविशिष्ट को ही कारण माना जाता है, अर्थात् विशेष्याभाव विशेषणाभाव मे पृथक्-पृथक् कारणत्व नही मानकर, प्रतिबन्धक के प्रागभावप्रध्वस अत्यान्ताभाव

चार । एतेनानियतहेतुकत्वमप्यपास्तम् । सर्वत्र प्रतिबन्धकससर्गाभाव-विशिष्टस्यैव कारणत्वाङ्गीकारात् । अन्यथानुपलब्धावप्युपलब्धिप्रागभाव-प्रध्वसाभावविकल्पेनाभावप्रमितेरनियतहेतुकताया दुष्परिहरत्वात् । शक्ति-पक्षेऽप्यप्रतिबद्धाया एव तस्या कारणत्वादभावविकल्पोत्थदोषतत्परिहारयो समानत्वात् ।

ननु न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, प्रतिबन्धापेक्षस्तदभाव कार-

प्रतिवन्धकाभावादिति वक्तव्यम् । यत्र मण्यादौ विद्यमानेऽपि उत्तम्भकसन्निधौ कार्य-मुत्पद्यते, तत्रोत्तम्भकाभावरूपविशेषणाभावादिति नैकहेतुनिरूपणमिति तत्राह—**एतेनेति** । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**सर्वत्रेति** । न विशेषणाभावो विशेष्याभावो वा हेतुस्तयोरप्रतिबन्धकत्वात , किन्तु विशिष्टाभाव , सचोभयथापि न भिद्यते । यथा-हि—केवलदण्डसद्भावे दण्डपुरुषसद्भावे द्वयाभावे केवलपुरुषाभाव सर्वत्राविशिष्ट , तथा केवलोत्तम्भकसद्भावे, प्रतिबन्धकोत्तम्भकसद्भावे, द्वयाभावे वा, केवलप्रतिबन्ध-काभावोऽविशिष्ट । ससर्गाभावशब्देन तद्विशेषप्रागभावादित्रितय विवक्षितम् । प्रागभावप्रध्वसाद्यपेक्षया चेदमनियतहेतुकत्वमाङ्क्य परिह्रियते । तदा च ससर्गा-भावशब्दोऽप्यनुगुण त्रयानुगतत्वात् 'यस्मिन्न सति कार्य न जायते यस्मिन्सत्येव कार्य जायते इत्येव ससर्गाभावमात्रस्यैव प्रयोजकत्वा'दित्युदयनोक्तेश्च । अतश्चैव-मेवाङ्गीकर्त्तव्यम् , अन्यथाऽनुपलब्धेरप्यभावप्रमितिहेतुतायामपि उक्तदूषणसाम्यादि-त्याह—**अन्यथेति** । अल वा स्थलान्तरप्रतिबन्द्या शक्तावेवेय सुग्रहा—सापि ह्यप्रति-बद्धा कार्याय प्रभवति, ततस्तत्रापि प्रतिबन्धकाभावे समानावेवेमावाक्षेपपरिहारा-वित्याह—**शक्तिपक्षेऽपीति** ।

एवमभावविकल्पप्रयुक्तदोषे परिहृते प्रकारान्तरेण प्रतिबन्धकाभावस्य कारणतामा-क्षिपति शक्तिवादी—**नन्विति** । यस्तदभाव प्रतिबन्धकाभाव कारणमसौ प्रतिबन्धा-पेक्ष तन्निरूपणीयत्वात्, यश्च कारणाभाव प्रतिबन्ध सोऽपि कारणापेक्ष तन्निरूपणी-

---

को ससर्गाभावशब्द से एकरूपेण ग्रहण करके प्रतिबन्धक ससर्गाभावविशिष्ट को कारण मानने से अनियतहेतुकत्व नही रहता है । अन्यथा (अनियतहेतुता के इस परिहार को नही मानने पर) अनुपलब्धि मे भी उपलब्धि के प्रागभाव प्रध्वसाभाव के विकल्प (भेद) से अभाव ज्ञान मे अनियत हेतुकता को दुर्निवारणत्व होगा । और शक्तिवाद पक्ष मे भी अप्रतिबद्ध ही शक्ति मे कारणत्व होने से प्रतिबन्धक के अभावभेद से जन्य दोष और उसके निवारण मे तुल्यता रहेगी ।

फिर शका होती है कि प्रतिबन्धकाऽभाव मे करणता ही नही है कि जिसके प्रागभावादि के विकल्प होगे । क्योकि जो तदभाव (प्रतिबन्धकाभाव) कारण माना जाता है, वह अभाव होने से प्रतियोगी सापेक्षनिरूपण वाला होगा, और

णम्, कारणापक्षश्च तदभाव प्रतिबन्ध इत्यन्योन्याश्रयग्रस्तत्वात्, प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतु प्रतिबन्धक, इत्यङ्गीकारादिति चेत्, मैवम्, अवधीर्यैवाभावस्य कारणता कार्यानुदयमात्रेणैव मन्त्रादे कार्यप्रतिकूलतावगमात्, अनवलम्ब्यैव च मणिमन्त्रादे कार्यप्रतिबन्धकता तदभावस्या-

---

यत्वादेव। ततश्च प्रतिबन्धाभावरूपकारणस्य कारणाभावरूपप्रतिबन्धस्य च परस्पराधीननिरूपणादन्योन्याश्रयतेत्यर्थ। ननु कारणाभावस्य प्रतिवन्धत्वे स्यादयमन्योन्याश्रयस्तदेव तु कथम्, यावता कार्यानुत्पाद एव प्रतिवन्ध इति तत्राह—**प्रतिबन्ध इति**। अयमर्थ—न तावत्कार्यानुत्पाद' प्रतिबन्ध, तस्यानादितया प्रतिवन्धकाधीनत्वाभावात्। नापि तस्य कालान्तरसबन्ध, कालस्यैकत्वात्, औपाधिकानेकत्वे च कालोपाधेर्मण्याद्यजन्यत्वात्। कस्तर्हि कारणाभावात्कार्याभाव इति परिभाषार्थ? भावधर्मोपचारात्, सामग्रीकार्ययो पौर्वापर्यनियम तदभावयोरप्युपचारात्प्रयुज्यते, वस्तुतस्तु समसमयत्वमेव। कस्तर्हि प्रतिबन्ध? इति हृदि निधायोक्तमुदयनेन—

'भावो यथा तथाऽभाव कारण कार्यवन्मत।
प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतु प्रतिवन्धक'॥ इति। (न्या० कु० १।१०)

अत्र पूर्वार्धेनाभावस्य कारणतानिरूपणेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमुक्तम्। उत्तरार्धेन च प्रतिबन्धप्रतिबन्धकौ निर्दिष्टौ। प्रतिबन्धो नाम विसामग्री, सामग्रीवैकल्य मन्त्रादि, तद्धेतुस्तु मन्त्रप्रयोक्ताप्रतिवन्धक इति, तस्मात्सामग्रीप्रतिवन्धयोरस्त्येवान्योन्याश्रयतेति। यद्यप्युभयाभावत्वमुभयस्य तथाप्यन्योन्यनिरपेक्षस्य शक्यनिरूपणत्वान्नान्योन्याश्रयत्वमिति परिहरति—**मैवमिति**। मन्त्रादे स्वाभावकारणतयाज्ञानमन्तरेणैव कार्यानुदयेऽन्वयव्यतिरेकाभ्या कार्यप्रतिकूलतालक्षणप्रतिबन्धकत्वावगभादित्यर्थ। मन्त्राद्यभावस्य कारणत्वमपि मन्त्रादिप्रतिबन्धकत्वज्ञानव्यति-

---

जो कारण का अभावरूप प्रतिबन्ध (प्रतिवन्धक) है, वह भी (तदभाव) कारणाभाव रूप होने से कारणापेक्षनिरूपणीय होगा। इसप्रकार से अन्योन्याश्रय से ग्रस्त होने से प्रतिबन्धकाऽभाव कारण नही हो सकता है। अतएव कहा है कि (विसामग्री सामग्री की विकलता (अभाव) प्रतिवन्ध है, सो मणिमन्त्रादि स्वरूप है, उसका हेतु प्रयोक्ता प्रतिवन्धक है) अत सामग्री और प्रतिबन्ध को अन्योन्याश्रयता है ही। यह शका भी युक्त नही है। क्योकि प्रतिबन्धकाभाव की कारणता की अपेक्षा नही करके ही प्रतिबन्धक मन्त्रादि की कार्यप्रतिकूलता का ज्ञान होता है। तथा प्रतिबन्धक मणिमन्त्रादि के कार्यप्रतिबन्धकता के अवलम्बन (अपेक्षा) के विना ही उनके अभाव मे अन्वयव्यतिरेक से ही स्वतन्त्र करणता का निश्चय होता है। इसप्रकार से परस्पर अपेक्षा के अभाव से अन्योन्याश्रय नही रहता है। और यह भी विचारणीय है कि उक्त कारण (प्रतिबन्धकाभाव) और प्रति-

न्वयव्यतिरेकाभ्यामेव कारणताध्यवसायात्। किं चेदमन्योन्याश्रयत्वमुत्पत्तौ ज्ञप्तौ वा स्यात्? नाद्य,, मन्त्रतदभावयो परस्परहेतुत्वाभावात्। नापि द्वितीय, अज्ञातयोरपि मन्त्रतदभावयो कार्यं प्रति प्रतिकूलत्वकारणत्वयोरुपपत्ते। ननु कार्याभावावसेयकार्यप्रतिकूलभावा मन्त्रादय शक्तेरपह्नवाय कारणाभावरूपा इष्यन्ते, अत एव मन्त्राद्यभावोऽपि कारणमिष्यते, ततो मन्त्रतदभावनिष्ठप्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरन्योन्योपाधिकत्वादुत्पत्तौ

रेकेणैव शक्य ज्ञातुमित्याह—**अनवलम्ब्यैव चेति**। यथाह्यग्न्यादे कारणत्व कार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव तथा मन्त्राद्यभावस्यापीत्यर्थ। एव साधारण्येन परिहारमुक्त्वा विकल्प्याह—**किं चेति**। यद्यपि मन्त्रादिप्रागभावस्य मन्त्रादि प्रति हेतुता सम्भवति, तथापि त प्रति न हेतुता मन्त्रादेरत आह—**परस्परेति**। ज्ञप्तौ परस्पराश्रय परिहरति—**नापीति**। नहि यद्यत्कारण तत्सर्व ज्ञातमेव कारणम्, चक्षुरादेरदर्शनात्। एव प्रतिबन्धाभावोऽपीति भाव। तमिममुदयनीयमन्योन्याश्रयतापरिहार परिजह्रु न्यायरत्नदीपावलीकृतस्तदनुवदति—**नन्विति**। यद्यपि कार्यानुदयोदयान्वयव्यतिरेकावसेये मन्त्रतदभावयो प्रतिबन्धकत्वकारणत्वे, तथापि सामग्रीवैकल्यरूपतया मन्त्रादे प्रतिबन्धकत्व न तु स्वरूपेण। एव तदभावस्यापि प्रतिबन्धकाभावतया कारणत्व न स्वरूपेण, तथा च प्रतिबन्धकत्वकारणत्वयोरपरिहार्यैत्र सत्ताज्ञप्त्योरन्योन्याश्रयतेति खण्डलकार्थ। दूषयति—

वन्धक मणि-मन्त्रादि की उत्पत्ति मे अन्योन्याश्रय होगा या ज्ञान मे होगा, वहा उत्पत्ति मे अन्योन्याश्रय नही कहा जा सकता है क्योकि प्रतिबन्धक मन्त्रादि और उनके अभाव मे परस्पर हेतुत्व का अभाव है। दूसारा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि अज्ञात भी मन्त्रादि और उनके अभाव के कार्य के प्रति प्रतिकूलत्व और कारणत्व की सिद्धि होती है। ज्ञान की अपेक्षा ही नही होती है कि जिससे ज्ञान मे अन्योन्याश्रय हो सके, जैसे इन्द्रिय अज्ञात होते अपने कार्य के हेतु होते है। वैसे वे दोनो स्वकार्यकारी होते ह। फिर भी शका होती है कि कार्य के अभाव से अवसेय (ज्ञेय) कार्यप्रतिकूलता है जिन के, ऐसे मन्त्रादि, शक्ति के अपह्नव (नाश) के लिये कारणाभाव रूप माने जाते है। अत एव मन्त्रादि का अभाव भी कारण माना जाता है। अत मन्त्र और मन्त्राभाववृत्ति कार्यप्रतिवन्धकत्व और कारणत्व मे अन्योन्य (परस्पर) उपाधित्व (निमित्तकत्व) होने से उत्पत्ति ओर ज्ञप्ति मे अन्योन्याश्रयता दुर्वार हे, क्योकि मन्त्राभाव से कारण की सिद्धि और कारणाभाव से प्रतिबन्ध की सिद्धि होती है। भाव यह है कि यद्यपि कार्य के अनुदय-उदय के साथ अन्वयव्यतिरेक से मन्त्र और मन्त्राभाव के प्रतिबन्धकत्व और कारणत्व निश्चित होते है। तथापि सामग्री की विकलता

ज्ञप्तौ वान्योन्याश्रयता दुर्वारेति चेत्, न, उक्तोत्तरत्वात्-अन्तरेणैवाभावस्य कारणतावावगम मन्त्रादे कार्याभावमात्रेण कार्यप्रतिकूलभावस्यावगन्तु शक्यत्वात्, तदभावकारणत्वस्याप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सुकरावगम्यत्वात् इति। न च शक्त्यनङ्गीकारे प्रतिबन्धासभव, मणिमन्त्रादिसन्निधानासन्निधानयो, स्वरूपस्याविशेषादिति वाच्यम्, कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्ध-

---

नेति। उक्तमेवोत्तर दर्शयति—**अन्तरेणेत्यादिना**। यद्यपि कोष्ठगतया विद्यत एवायमर्थ, तथापीतरेतरनिरपेक्षत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्या प्रतीयमानमनुभवसिद्ध न युक्तिसहस्रेणापि शक्यनिवारणमित्यर्थ। ननु प्रतिबन्धान्यथानुपपत्ति शक्तौ प्रमाणम्। तथाहि—अग्न्यादिस्वरूप तावन्न प्रतिबध्यते, पूर्ववदेवाविकलमुपलभ्यमानत्वात्तस्माद्यदनेन प्रतिबध्यते तदतीन्द्रिय शक्तिनमिति तदिद सहेतुकमनूद्य प्रतिषेधति—**न चेत्यादिना वाच्यमित्यन्तेन**। तत्र हेतु—**कार्यौदासीन्येति**। अग्न्यादिस्वरूपावैकल्येऽपि मन्त्रादिसन्निधाने कार्योत्पाद प्रत्युदासीना भवन्त्यग्न्यादय, अयमेव प्रतिबन्ध इत्यर्थ। शक्तिपक्षेऽप्ययमेव प्रतिबन्धशब्दार्थो वक्तव्य, स मत्पक्षेपि

रूप से मन्त्रादि की प्रतिबन्धता होती है, स्वरूप मे नही, इसी प्रकार से मन्त्राभाव प्रतिबन्धकाऽभाव रूप से कारणत्व होता है, स्वरूप से नही। अत प्रतिबन्धकत्व और कारणत्व को सत्व और ज्ञान मे परस्पराश्रयता अपरिहार्य है। परन्तु यह शका युक्त नही, इसका उत्तर कहा गया है कि, अभाव की कारणता के ज्ञान के बिना ही कार्याभावमात्र के स्वरूप से मन्त्रादि कार्यप्रतिकूलता का ज्ञान हो सकता है। तथा प्रतिबन्धकाभाव के कारणत्व का भी अन्वयव्यतिरेक से ही निर्विघ्न ज्ञान होता है, अत अन्योन्याश्रय नही है। यदि कहा जाय कि शक्ति को नही मानने पर, मणिमन्त्रादि से प्रतिबन्ध (स्फोटादि कार्य का निरोध) ही होना असम्भव है, क्योकि मणिमन्त्रादि के सामीप्य और असामीप्य से अग्नि के स्वरूप मे कोई विशेष (भेद) नही होता है। अत अग्नि के स्वरूप का तो प्रतिबन्ध होता नही है, उससे अतिरिक्त अतीन्द्रिय शक्ति हो तो उसके प्रतिबद्ध होने से कार्य की अनुत्पत्ति हो सकती है, इस प्रकार से शक्ति के बिना प्रतिबन्ध की अनुपपत्ति शक्ति मे प्रमाण है। तो यह कहना युक्त नही। क्योकि शक्ति को नही मानने पर भी मणिमन्त्रादि के सामीप्य से अग्नि मे कार्य (दाहादि) से उदासीनता हो जाती है। वही प्रतिबन्ध शब्द का वाच्यार्थ है, और वही मन्त्रादि के असन्निधिकाल से सन्निधिकाल मे विशेषता है, शक्ति का नाश नही। शक्तिवाद मे भी यह उदासीनता रूप ही प्रतिबन्ध मन्तव्य है, अन्यथा प्रतिबन्ध का स्वरूप दुर्विवेक (दुर्ज्ञेय) है। क्योकि शक्ति का नाश रूप प्रतिबन्ध नही हो सकता है।

शब्दाभिधेयस्य विशेषत्वात्, अन्यथा शक्तिपक्षेऽपि प्रतिबन्धस्य दुर्विवेकत्वात्। नहि शक्तेर्नाश प्रतिबन्ध, प्रतिबन्धापाये कार्याभावप्रसङ्गात्। न च स्फोटाख्यकार्योत्पत्तये शक्त्यन्तर तत्रोत्पन्नम्, तत्कारणानिरूपणात्। न च प्रतिबन्धाभाव कारणम्, अभावस्य कारणतानङ्गीकारात्। अङ्गीकारे वा तस्यैव स्फोटादिकार्यजनकत्वमस्तु कृतमतीन्द्रियशक्तिकल्पनादुर्व्यसनेन। शक्ते शक्त्यन्तर प्रतिबध्यते इति वदतोऽनवस्था, तस्मात्कार्यस्यान्यथाप्युपपन्नत्वापन्नातीन्द्रियशक्तिकल्पनावकाश,।

समान इति प्रतिबन्दी गृह्णाति—**अन्यथेति**। एतदेव शक्तिपक्षे परिशेषयति—**न हीत्यादिना**। ननु सा शक्तिविनष्टैव, उत्तरकाल तु शक्त्यन्तरमुत्पन्न तदा कर्योदय इति तत्राह—**न च स्फोटाख्येति**। न तावदग्निसामग्रीतस्तस्योत्पाद, तस्या नष्टत्वात्। नाप्याश्रयभूताग्ने, तस्याऽशक्तस्यानुत्पादकत्वात्। उत्पादकत्वे वा कार्ये तथा इति कृत शक्तिपिशाचिकया। शक्तश्चेत्सैव शक्ति कार्येऽप्यस्तु मुधोत्पाद्या शक्ति, तस्मात्कारणान्तरानिरूपणान्न शक्त्यन्तरोत्पाद इति भाव। ननु किमिति कारणाभाव, यावता प्रतिबन्धाभावादेवेयमुत्पद्यतामिति तत्राह—**न चेति**। ननु शक्तेरपि शक्तिरस्ति सैव प्रतिबद्ध्यतामिति तत्राह—**शक्तेरिति**। तत्राप्युक्तदूषणपरिहाराय शक्तिप्रतिबन्धो वक्तव्य, तथाचानवस्थेति भाव। प्रथमार्थापत्तिदूषणमुपसहरित—**तस्मादिति**।

यदि प्रतिबन्धक के आने से शक्ति का नाशरूप प्रतिबन्ध हो तो प्रतिबन्धक द्वारा शक्ति के नाश के बाद शक्तिप्रतिबन्ध के अपाय (अभाव) होने पर भी दाहरूप कार्य का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि प्रथम की शक्ति के नष्ट होने पर भी प्रतिबन्धक के अपाय से स्फोटादि कार्य की उत्पत्ति के लिये फिर वहाँ दूसरी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि जिस कारण से दूसरी शक्ति उत्पन्न होगी उसका निरूपण नही किया जा सकता है कि वह क्या है? यदि कहे कि प्रतिबन्धाभाव अन्य शक्ति का कारण है, तो यह नही कह सकते है, क्योकि अभाव की कारणता नही मानी जाती है। यदि अभाव की कारणता को मानो, तो उस प्रतिबन्धाभाव को ही स्फोटादि कार्य के प्रति जनकत्व हो सकता है, फिर अतीन्द्रियशक्तिकल्पना के दुर्व्यसन (आग्रह) का कोई फल नही है। यदि कहे कि प्रतिबन्धक से अग्नि की शक्ति का नाश नही होता है, किन्तु शक्ति के शक्त्यन्तर प्रतिबद्ध हो जाती है कि जिससे दाह नही होता है, तो ऐसा कहने वाले को अनवस्था की प्राप्ति होगी। अत कार्य की अन्यथा (शक्ति के बिना) भी उपपत्ति (सिद्धि) होने से अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना का अवकाश (स्थान) नही है।

नापि द्वितीय, उपादानोपादेयभावनियमस्याप्यनादिसिद्धवृद्धव्यवहारावसिततत्कार्यानुकूलस्वभावभेदादेवोपपत्ते। अन्यथेयमिहैव किमिति शक्तिर्नान्यत्रेतिपर्यनुयोगे क स्वभावभेदादन्य परिहार स्यात्? तस्मादर्थापत्तिद्वयमपि नात्र प्रमाणम्। अस्तु तर्ह्यनुमानम्, तथाहि-विमतमजनकदशातो जनकदशायामतिशययोगि, कारकत्वात् कुण्ठकुठारवदिति चेत्, न, सहकारिसमवधानातिशयेनैव सिद्धसाधनत्वात्। अस्तु तर्ह्यग्निरतीन्द्रियसामान्यव-

---

अनादिसिद्धो यो वृद्धव्यवहारस्तेनावसितो यस्तत्तत्कार्यानुकूलस्वभावस्य भेदो विशेष तस्मादेवोपादानोपादेयनियमोपपत्ते तदर्थमपि शक्तिर्न कल्पनीयेति द्वितीयामर्थापत्ति दूषयति—**उपादानेति**। यदि हि स्वभावो नियामको न स्वीक्रियते तर्हि शक्तावपि न स्यान्नियम इत्याह—**अन्येति**। तिमिरादिप्रयोगमनुवदति—**विमतमिति**। विमतमग्न्यादि। अतिशययोगीत्युक्ते अविद्यमानदशातो विद्यमानदशाया सत्त्वलक्षणातिशयवत्त्वात् सिद्धसाध्यता तदर्थमजनकेति विशेषणम्। इद शक्तिसाधक न भवति, सहकारिसमवधानस्यातिशयस्यापि जनकावस्थाया साधकतयार्थान्तरत्वादिति परिहरति—**न। सहकारीति**। न्यायरत्नदीपावलीस्थमनुमानमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति**। निष्क्रियाश्रय इत्युक्ते सामान्याभावाद्याश्रयत्वेन सिद्धसाधन तदर्थं सामान्यवदित्युक्तम्। तथापि गुणकर्मभ्या सिद्धसाधनता तदर्थमतीन्द्रियेत्युक्तम्। तेजोद्व्यणुकरूपादिना सिद्धसाधनतापरिहारायैतत्सामान्यग्रहणम्। तस्यैन्द्रियकसामान्यवत्त्वात्। वाय्वाश्रयत्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै निष्क्रियेत्युक्तम्। गुरुत्वगुणाश्रय पार्थिवमाप्य वाऽत्र दृष्टान्त। गुरुत्वत्वजातेरतीन्द्रियतया गुरुत्वाश्रयस्योक्तरूप-

---

उपादान उपादेयभाव के नियम का अन्यथा अनुपपत्ति रूप दूसरा भी शक्ति मे प्रमाण नही हो सकता है। क्योकि अनादिसिद्ध वृद्धव्यवहार से निश्चित कार्यानुकूल स्वभावभेद से ही उपादान-उपादेयभाव नियम की सिद्धि हो जाती है, कि मृत्तिका से घट होता हे, तिल से तैल होना है, अन्यथा नही होता है। (अन्यथा) यदि स्वभाव को उपादानोपादेयभाव का नियामक नही माना जाय तो यह दाहादि की शक्ति इस अग्नि मे ही क्यो है, अन्यत्र क्यो नही है, ऐसा प्रश्न होने पर, स्वभावविशेष से अन्य क्या परिहार (उत्तर) होगा। अत कार्यानुपपत्ति, नियतोपादानत्वानुपपत्ति रूप दोनो अर्थापत्ति इस शक्ति मे प्रमाण नही हो सकती है। यदि कहे कि अर्थापत्ति के प्रमाण नही हो सकने पर, अनुमान प्रमाण हो सकता है कि (विमत = अग्नि आदि, अजनक अवस्था से जनकावस्था मे किसी अतिशय (विशेष पदार्थ) से युक्त रहते है, कारक होने से, कुण्ठित कुठारादि के समान) तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सहकारी के सान्निध्य रूप अतिशय से ही सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है कि जिससे अर्थान्तरत्व हो जाता

न्निष्क्रियाश्रय कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवदिति प्रयोग । तेजोद्वयणुकमतीन्द्रियरूपस्य वायोश्चाधिकरणमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियेत्युक्तमत शक्तिसिद्धिरिति कश्चित् । तन्न, योगिस्वीकारवादिन प्रत्यतीन्द्रियविशेषणस्याप्रसिद्धत्वात् । विमत न गुरुत्वजातिविषयमिन्द्रियत्वादस्मच्चक्षुर्वदित्यतीन्द्रियसिद्धिरिति चेन्न । योगिनमनङ्गीकुर्वतो मीमासकस्याश्रयासिद्धे, तत्सिद्धौ वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् । अस्तु तर्ह्यस्मदाद्यभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणम्, नैवम्, अनुव्यवसायप्रत्यक्षगोचरतया

त्वात् तेजसि गुरुत्वासत्वेन शक्तिसिद्धि । तदुक्तमेव व्यावर्त्यमाह—**तेज इति**। तदेतद्दूषयति—**योगीति**। तार्किकाणा हि सर्व योगिप्रत्यक्षमित्यतीन्द्रियविशेषणस्यासिद्धत्वात् अप्रसिद्धिविशेषण पक्ष इत्यर्थ । अत्र तैरेव गुरुत्वत्वजातेर्योगिन प्रत्यतीन्द्रियत्वसमर्थनेनैवाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये परिहृते । तदनुवदति—**विमतमिति**। योगीन्द्रियमित्यर्थ । एवमनुमिमानस्य योगीन्द्रिय प्रसिद्धमप्रसिद्ध वा ? द्वितीये प्राह—**योगिनमिति**। प्रथमे प्राह—**तत्सिद्धौ वेति**। साध्य विशेषयति—**अस्तु तर्हीति**। तथाप्यप्रसिद्धविशेषणतामाह—**नैवमिति**। यदा हि परमाणु

है। फिर भी कोई कहते हैं कि (अग्नि, अतीन्द्रिय सामान्य = जाति वाले निष्क्रिय का आश्रय है, कारण होने से, गुरुत्वाश्रय के समान) यह अनुमान प्रमाण है, इससे अतीन्द्रिय शक्ति की सिद्धि होती है। तेज का द्वयणुक अतीन्द्रिय रूप और वायु का आश्रय होता हे, उसकी व्यावृत्ति के लिये अतीन्द्रिय सामान्यवत् और निष्क्रिय कहा गया है, रूपत्व जाति अतीन्द्रिय नही, और वायु निष्क्रिय नही अत उनके आश्रय की व्यावृत्ति होती है, और शक्ति के अतीन्द्रिय होने से उसकी जाति भी अतीन्द्रिय रहती है, और अद्रव्यता से शक्ति निष्क्रिय रहती हे, उसकी अनुमान से अग्नि मे सिद्धि होती है। निष्क्रियाश्रय, इतना ही साध्य का स्वरूप होता, तो सामान्य अभावादि के आश्रयत्व से सिद्धसाधनता होती, अत सामान्यवत् कहा कि जिससे सामान्यादि मे जाति के अभाव से उनकी व्यावृत्ति होनी हे। गुरुत्व गुण का आश्रय पृथिवी जल दृष्टान्त है, क्योकि गुरुत्व जाति के अतीयता से दृष्टान्त की सिद्धि होती है, तेज मे गुरुत्व के अभाव से शक्ति सिद्ध होती हे। परन्तु यह अनुमान भी निर्दोष नही है, क्योकि सर्वज योगी को मानने वाले के प्रति अतीन्द्रिय विशेषण की असिद्धि है। यदि कहे कि (विमत = योगीन्द्रिय, न गुरुत्वजाति = गुरुत्वत्वविषयम्, इन्द्रियत्वात् = हमारे चक्षु समान) इस अनुमान से अतीन्द्रिय की सिद्धि से विशेषण की असिद्धि नही होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि योगी को नही मानने वाले मीमासक के प्रति, योगीन्द्रिय रूप आश्रय की असिद्धि होती है। यदि आश्रय की सिद्धि

सर्वस्यास्मदादिविशेषणस्वीकारेऽपि पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात् । अनुव्यवसायेतरास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्धयगोचरत्वाभिप्रायेणातीन्द्रियत्वविशेषणमितिचेत्, न प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणावगाहिविशिष्टज्ञानवादे सर्वेषामप्यैन्द्रियकत्व-

---

जानाम्याकाश जानामीत्यनुव्यवसायो जायते, तदा परमाण्वादि तज्ज्ञान चानुव्यवसायस्य मानसप्रत्यक्षस्य विषयो भवति, एव सर्वोऽप्यैन्द्रियकज्ञानविषय इत्यप्रसिद्धमतीन्द्रियत्वमस्मदादि प्रत्यपीत्यर्थ । अनुव्यवसायेतरत्वे सतीति विशेषणमाशङ्क्य दूषयति—**न प्रमाणान्तरेति ।** येपा हि व्योमशिवप्रभृतीना मते सुरभिचन्दनमित्यादिविशिष्टज्ञानानि प्रमाणान्तरेण घ्राणादिनोपनीतगन्धादिकमपि विषयीकुर्वन्ति प्रत्यभिज्ञेव तत्ताशमिति मत तन्मने सर्वस्य यत्किचित्प्रत्यक्षार्थविशेपणतया ऐन्द्रियकबुद्धिवोध्यत्वसभवात् , अप्रसिद्धविशेषणता तदवस्थेत्यर्थ । अथ विशिष्टज्ञानानुव्यवसायातिरिक्तास्मदाद्यैन्द्रियकबुद्धयविषयत्वमतीन्द्रियत्वमभिप्रेतमिति विशेषणपरपरामेव प्राणधारणनिरपत्रपतया परिगृह्णीयात् , स प्रष्टव्य किमत्राश्रयशब्देन सयोगितयाधाराधेयभावो विवक्षित, ? समवायितया वा ? नाद्य , दृष्टान्ते

हो तो योगी के इन्द्रिय रूप धर्मी के सर्वार्थकता के ग्राहक अनुमान शास्त्रादि प्रमाण से ही उक्त सा०य का बाध होगा, क्योकि हमलोगो के इन्द्रियो से विलक्षण योगीन्द्रियो को समझाता हुआ प्रमाण, योगीन्द्रियो मे अतीन्द्रिय विपयकत्व को भी समझायेगा । यदि कहे कि उक्त अतीन्द्रियत्व विशेषण हमलोगो के इन्द्रियो के अभिप्राय से रहे, तो यह कहना भी नही बन सकता है, क्योकि अस्मदादि विशेपण को लगाने पर भी, परमाणु को जानता हू, आकाश को जानता हू, गुरुत्व को जानता हू, इस प्रकार के मानस अनुव्यवसाय के विषय सब ही पदार्थ के होने से पूर्वोक्त विशेषणासिद्धि दोष तदवस्थ (वैसा ही बना) रहता है। मन भी इन्द्रिय है, मन का अविषय कोई वस्तु उक्त रीति से है नही, अत अतीन्द्रियत्व की अप्रसिद्धि रहता ही है । यदि कहे कि अनुव्यवसाय = मानस-प्रत्यक्ष से भिन्न हमलोगो के इन्द्रियजन्य ज्ञान अविषयत्व के अभिप्राय से अतीन्द्रियत्व विशेषण है । अत विशेषणासिद्धि नही है, तो यह कहना भी व्यर्थ है । क्योकि प्रमाणान्तर से गृहीत विशेषण को 'ज्ञानलक्षण' अलौकिक सम्बन्ध, से ग्रहण करने वाले विशिष्ट ज्ञान को मानने वाले के मत मे सब पदार्थ के इन्द्रियविषयत्व की सम्भावना से पूर्वोक्त विशेषणासिद्धि दोष का निवारण नही हो सकता है। अर्थात् घ्राण से गृहीत गन्ध का ज्ञानलक्षणसम्बन्ध से जो नेत्रज ज्ञान मानते है, एक गो व्यक्ति मे गोत्व के ज्ञान मे गोत्व रूप सामान्य लक्षणा सम्बन्ध से सब गोव्यक्ति के नेत्रज प्रत्यक्ष को मानते है, उनके मत मे घट मे पदार्थत्व के नेत्र से ज्ञान होने पर सब पदार्थ सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) से चाक्षुषज्ञान

सभावनया पूर्वोक्तदोषानुत्तारात् । आश्रयपदस्य च समवाय्यर्थतायां भाट्टस्य समवायानङ्गीकारवादिनोऽप्रसिद्धिविशेषणत्वात्, वह्नौ स्थितिस्थापकसस्कारसिद्धे, सिद्धसाधनत्वाच्च। ननु कथ सिद्धसाधनत्वम्, तत्सत्त्वे मानाभावादिति चेत्, मैवम्, विमत स्थितिस्थापकसस्कारवान् रूपवत्त्वात्कटवदित्यनुमानसद्भावात् न च स्थितिस्थापककार्यवत्त्वमुपाधि, उत्पन्नमात्रविनष्टकटादिषु कार्यानुपलम्भेऽपि तथाविधसस्काराभ्युपगमेन साध्याव्याप्ते । किं च य स्वसिद्धान्तानुसारेण सिद्धसाधनता ब्रूयात्, स कथमनुमानशतैरपि स्वसिद्धान्तात्प्रच्याव्येत ? कथ वा तदीयसिद्धसाधनताभिधान प्रत्युद्धियेत ?

साध्यवैकल्यात् । द्वितीये प्राह —**आश्रयपदस्येति** । साधारणाकारविवक्षाया सिद्धसाधनतामाह—**वह्नाविति** । अत्रापि तदीयपरिहारमुद्भावयति—**ननु कथमिति** । अस्मिन्नप्यनुमाने तदीय दूषणमुद्भाव्य दूषयति—**न चेति** । साध्याव्यापकत्वेनोपाधि परिहरति—**उत्पन्नेति** । न हि यत्र स्थितिस्थापकवत्त्व तत्र तत्र तत्कार्यवत्त्वमस्ति, यदा ह्युत्पन्न कटोऽनुत्पादितपूर्वास्थानसमानसस्थानादिस्थितिस्थापककार्यो विनश्यति तदा साध्यवत्त्वेऽप्युपाधेरभावात् साध्याव्याप्तिरित्यर्थ । अत्र चोत्पन्नमात्रेति अनुपादितकार्यवत्त्वमात्र विवक्षितम्, इतरथा तत्र साध्याभावस्यापि सुवचत्वादिति ।

के विषय होते है, अत अतीन्द्रिय पदार्थ नही है । और आश्रय पद का समवायी अर्थ हो, तो समवाय को नही मानने वाले तादात्म्यवादी भट्ट के मत मे अप्रसिद्ध विशेषणता होगी अग्नि मे स्थितिस्थापक सस्कार की सिद्धि से सिद्धसाधनता होगी । यदि शङ्का हो कि अग्नि मे सिद्धसाधनता कैसे होगी, उसमे स्थितिस्थापक के सत्त्व मे प्रमाण नही है । तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि (विमताग्नि, स्थितिस्थापक सस्कार वाली है, रूपवाली होने से, कट के समान) इस अनुमान रूप प्रमाण का सत्त्व है, यदि कहे कि इस अनुमान मे स्थितिस्थापक कार्यवत्त्व उपाधि है, वह हेतु का अव्यापक और साध्य का व्यापक है, तो यह कहना नही बन सकता है, क्योकि उत्पन्न होते ही कटादि जहाँ नष्ट हो गये, वहाँ सस्कारादि गुण सहित उत्पन्न हुए परन्तु सस्कार का कार्य नही हो सका, अत वहाँ कार्य अनुपलम्भ होते भी स्थितिस्थापक सस्कार के स्वीकार से उपाधि साध्य का व्यापक नही हो सकता है । और दूसरी बात है कि जो मीमासक अपने सिद्धान्त के अनुसार से स्थितिस्थापक मे सिद्धसाधनता को कहेगा, वह सैकडो अनुमान द्वारा भी अपने सिद्धान्त से कैसे प्रच्युत किया जायगा । या उसके सिद्धसाधनता कथन का निवारण किया जायगा, उसके सिद्धान्तानुसार दोष रहेगा ही ।

अस्तु तर्हि स्थितिस्थापकेतरातीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय इति प्रयोग इति चेत् , मैवम् , तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिन प्राभाकर प्रत्यर्थान्तरत्वापातात्, वह्नेरतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियकर्माश्रयत्वात् । कारणत्वादिति हेतो शक्त्यानैकान्त्यात् , शक्तेश्च शक्त्यन्तराभ्युपगमेऽनवस्थापातात् । जनकशक्तियोगिन एव कारणत्वेन विवक्षितत्वात् न शक्तावनैकान्तिकतेति चेत् ,

---

ननु यदि स्वसिद्धान्तानुरोधेन सिद्धसाधनता वदतोऽनुमानैस्तदीयसिद्धान्तग्रस्यावस्मशक्यम् सिद्धसाधनता वा अपरिहार्या, तर्हि स्थितिस्थापकेतरेति विशेषणीयमिति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । तथापि प्राभाकरमते कर्मणोऽर्थान्तरता, तन्मते कर्मण्यप्रत्यक्षे निष्क्रियेऽतीन्द्रियसामान्यवत्त्वादिरूपसाध्यस्य विद्यमानत्वादित्याह—**मैवमित्यादिना** । तथाहि यद्यत्कादाचित्कं तत्स्वाश्रयातिशयपुरःसरं दृष्टम् , यथा संयोगविभागजन्यं कार्यं संयोगविभागलक्षणस्वाश्रयातिशयपुरःसरमपिति व्याप्त्या संयोगविभागयोरपि कादाचित्कत्वात् स्वाश्रयातिशयपूर्वकत्वमनुमीयते योऽसावतिशय , तत्कर्मेति तेषां मतम् । तस्माद्भवत्येव तेनाऽर्थान्तरतेतिभाव । एवं प्रतिज्ञानिबद्धदूषणान्युक्त्वा अनैकान्तता चाह—**कारणत्वेति** । ननु किमित्यनैकान्तता ? यत शक्तेरपि साध्यवत्तया सपक्षत्वादिति तत्राह—**शक्तेश्चेति** । उक्तं च लीलावतीकारेण 'शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थिते , अनपेक्षत्वे तया एव व्यभिचारा'-दिति । स्यादेतत्—यदि न शक्ते सपक्षत्वम् , तर्हि हेतुरेव तत्र न वर्तत इति शङ्कते—**जनकशक्तीति** । शक्तिमद्धि कारणं ननु शक्तिरित्यर्थ । तर्हि हेतोरसिद्धिरित्याह—**मैवमिति** । कारणत्वादिति कोऽर्थ ? शक्तियोगित्वादिति, तथा च विशेषणस्यैतदनुमानात्प्रागसिद्धेरसिद्धिरेव हेतोरित्यर्थ । अथ ब्रूयान्मानान्तरादेव

भट्टमतानुसार दोष का निवारण, नही हो सकता है। तो, (स्थितिस्थापक भिन्न = अतीन्द्रिय समान्यवान् निष्क्रिय आश्रय अग्नि है) ऐसा साध्य का स्वरूप हो, तो ऐसा भी नही कह सकते है, क्योकि ऐसा साध्य के स्वरूच को मानने पर भी कर्म के अप्रत्यक्षत्ववादी प्रभाकर के प्रति अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अतीन्द्रिय सामान्य वाले निष्क्रिय कर्म का आश्रय अग्नि को प्रभाकर मानते है, अत कर्म से अर्थान्तरता होनी है । अग्नि को उनके मत मे अतीन्द्रियसामान्यवत् निष्क्रिय कर्माश्रयत्व है । और कारणत्व रूप हेतु शक्ति मे अनैकान्तिक है, क्योकि शक्ति मे उक्त साध्यरूप शक्ति नही रहती है और कारणत्वरूप हेतु रहता है । हेतु की अव्यभिचारिता के लिये शक्ति मे अन्य शक्ति माने तो अनवस्था होगी । यदि कहा जाय कि, जनक होता हुआ शक्ति योगवाले शक्तिमान को कारण कहा जाता है, शक्तिमान ही कारण रूप से विवक्षित है, अत शक्ति मे अनैकान्तिकता हेतु नही है, क्योकि शक्ति मे शक्ति के अभाव से केवल शक्ति मे कारणत्व भी नही रहता है, तो

मैवम्, शक्तियोगित्वस्य विशेषणशक्त्यसिद्धावसिद्धे, मानान्तरात्तत्सिद्धौ कृतमनया ग्रन्थकथाकन्थाकदर्थनया, गुणादावनैकान्त्य च। गुणादेरप्यतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयत्वे च घटादिवद्द्रव्यत्वप्रसङ्गान्न यथोक्तशक्त्याश्रयत्वोपपत्ति।

अस्तु तर्हि विवादाध्यासित स्फोट उभयवादिसप्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्य कार्यत्वादघटवदिति प्रयोग इति चेत्, मैवम्, प्रति-

---

विशेषण साधयामीति, तत्राह—**मानान्तरादिति**। ग्रन्थमयी कथाकन्था तत्तद्विसदृशविशकलितग्रथितत्वात् तया कदर्थनमुद्वेजन तेन कृतमलमित्यर्थ। अनैकान्तिकतोदाहरणान्तरमाह—**गुणादावपीति**। तथाहि—द्रव्यगुणकर्मणामेव हि सामान्यवत्त्वम्, तत्र निष्क्रियत्वशेषणात् यद्यपि द्रव्याश्रयत्व नायाति, आश्रितद्रव्यस्यावयवित्वेन सक्रियत्वात्, तथापि गुणकर्मणोरन्यतराश्रयत्व स्यादेव, तच्च द्वयमपि द्रव्यलक्षण द्रव्यत्वव्याप्त वा, अतो गुणादेरपि प्रसज्येतैव द्रव्यत्वमिति तद्भयात्तद्रहितत्व वक्तव्यम्, तथाच तत्र कारणत्व वर्तत इत्यनैकान्तिकमित्यर्थ।

अनुमानान्तर शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। स्फोटकारणत्वानधिकरणकारणजन्य इत्युक्ते व्याहतिस्तदर्थमुभयवादिसप्रतिपन्नेत्युक्तम्। अप्रसिद्धविशेषतानिवृत्त्यै स्फोटग्रहणम्। उभयवादिसप्रतिपन्नकारणातिरिक्तकारण भवति प्रतिबन्धकाभावस्त्वया विप्रतिपन्नत्वात् अतस्तेनार्थान्तरत्वमिति दूषयति—**मैवमिति**। भावजन्य इति विशेषणा-

---

ऐसा कहना भी नही बन सकता है। क्योकि विशेषण रूप शक्ति की असिद्धि रहते शक्तियोगित्व (शक्तिमत्व) रूप विशिष्ट हेतु की सिद्धि नही हो सकती है। अर्थात् शक्तिमान को कारण कहा जाता है, और इस अनुमान से प्रथम अनीश्वरवादी के मत मे शक्ति ही नही सिद्ध है, अत शक्तिविशिष्ट हेतु की असिद्धि है। यदि किसी प्रमाणान्तर द्वारा अनुमान से प्रथम ही शक्ति की सिद्धि हुई हो, तो इस ग्रन्थात्मक कथाकन्था कदर्थन (निर्माण) का कोई फल नहीं है। और गुणादि मे भी कारणत्व हेतु अनैकान्त (व्यभिचारी) है, क्योकि गुणादि मे अतीन्द्रिय जातियुक्त निष्क्रिय आश्रयत्व रूप साध्य नही रहता है, और हेतु रहता है, और यदि गुणादि को भी अतीन्द्रिय सामान्यवत् निष्क्रिय गुरुत्वादि के आश्रयत्व होगा तो घटादि के समान द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी।

यदि कहे कि उक्त अनुमान मे दोष है तो (विवाद-विषय स्फोट, उभयवादी से मान्य स्फोटकारण अग्नि से अतिरिक्त कारण से जन्य होता है, कार्य होने से, घट के समान) यह अनुमान शक्ति मे प्रमाण हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि शक्तिवादी प्रतिवादी को असम्भव प्रतिबन्धकाभाव मे उभयवादी

बन्धकाभावेन प्रतिवादिनोऽसप्रतिपन्नेन कारणेन सिद्धसाधनत्वात् । भावजन्य इति विशेषणेऽपीश्वरेण सिद्धसाधनत्वात् । ननु माभूदर्थापत्ति प्रमाणम्, मास्म भूदनुमानम्, 'व्रीहीन्प्रोक्षति, यूप तक्षति, अग्निनादधीत' इत्याद्या श्रुतय· एव प्रमाणम् । तथा हि व्रीहीनित्यादिवाक्येषु द्वितीयाश्रुत्या ग्राम गच्छतीत्यादिष्विव व्रीह्यादीना कर्मतावगमात् । तेषु कश्चिदतीन्द्रिय प्रोक्षणजन्योऽतिशयोऽस्तीत्यवसीयते, दृष्टस्य फलान्तरस्यादर्शनात् । स चायमतिशय शक्तिरिति शक्तिवादिभिर्गृह्यत इति, मैवम्,

---

दभावेन नार्थान्तरतेति चेन्नेत्याह—**भावेति** । ननु यद्यपि सहजशक्तावर्थापत्तिरनुमान वा न सम्भवति, तथाप्याधेयक्तावागम प्रमाणमस्तीति तद्बलात्सहजशक्तिरपि सिध्यतीत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**नन्विति** । ननु नैतेष्वागमेषु शक्तिवाचक पदमुपलभ्यत इति तत्राह—**तथा हीति** । क्रियाजन्यातिशयभाक्त्व हि कर्मत्वमित्यर्थ । अतीन्द्रियत्वे हेतुमाह—**दृष्टस्येति** । उत्पत्त्याप्तिविकृतिसस्काराणा मध्येऽतीन्द्रियसस्कार प्रोक्षणादिक्रियाफलमित्यर्थ । तावतापि कथ शक्तिसिद्धि ? तत्राह—**स चेति** । परिहरति—**मैवमिति** । आत्मनो गुणोह्यदृष्ट नानात्मसु व्रीह्यादिषु सभवति । न चैतावता प्रोक्षणादिविध्यानर्थक्यम्, कर्तृसंस्कारकत्वात् । यथाह—सस्कार पुस एवेष्ट प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिरिति भाव । ननु व्रीहीनिति द्वितीयया व्रीहीणा सस्कार्यत्वावगमात्, तत्सस्कृता व्रीहय इति प्रसिद्धेश्च, तद्विरुद्धश्चेतनसस्कारस्वीकार

सम्मत से भिन्नत्व होने के कारण उसके द्वारा नैयायिक मतानुसार सिद्धसाधनता होती है, और प्रतिवादी को अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है। यदि कहे कि (अतिरिक्त कारणभावजन्य) ऐसा साध्य मानने से प्रतिबन्धकाभाव से सिद्धसाधनता नही होगी, तो यह कहना भी नही बन सकता है। क्योकि शक्तिवादी मीमासक ईश्वर को नही मानते है, अत उभयवादीसम्मत कारण से भिन्न भावरूप ईश्वर से सिद्धसाधनता होगी। फिर भी शका होती है कि, यदि अर्थापत्ति और अनुमान शक्ति मे प्रमाण नही हो सकते हो, तो नही हो, तो भी (व्रीहीन् प्रोक्षति । यूप तक्षति । अग्नीनादधीत) धानो का प्रोक्षण करे, यूप को छीले, अग्नियो का आधान करे। इत्यादि श्रुतियाँ ही प्रमाण हे, क्योकि (व्रीहीन् प्रोक्षति, इत्यादि वाक्यो मे द्वितीया विभक्ति रूप श्रुति से (ग्राम गच्छति) इत्यादि से ग्रामगत कर्मता के समान व्रीहि आदि की कर्मता की प्रतीति होती हे और क्रियाजन्यफलवत्त्व कर्मता होती है, अत उन व्रीहि आदिको मे प्रोक्षणादिजन्य कोई अतीन्द्रिय अतिशय (फल) होता है, यह समझा जाता है। क्योकि वहाँ दृष्ट फलान्तर के नही देखने से, अतीन्द्रिय फल को माना जाता है। और वह अतिशय रूप फल शक्ति है, इसप्रकार से शक्तिवादियो से शक्ति का ग्रहण स्वीकार किया जाता है, अत

संस्काराख्यादृष्टस्य चेतनगतस्याचेतनेषु व्रीह्यादिषु समवायासंभवात्। घटविषयज्ञानजनितभावनाया घटविषयत्ववत् व्रीहिप्रोक्षणाद्युद्भूतसंस्कार-स्यापि तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदीयत्वप्रतीत्युपपत्तेर्व्रीह्यादिषु शक्ति-कल्पनाया प्रमाणाभावात्। तस्मान्न शक्तिसद्भावे प्रमाणमस्ति। तथाच प्रयुक्तं लीलावतीकारेण—'विवादाध्यासितं न निजरूपमात्रसंबद्धातीन्द्रिय-सापेक्षम्, प्रमाणेन तथानुपलभ्यमानत्वात्, यत्प्रमाणेन यथा नोपलभ्यते न तत्तथाभूतं तथा नीलं पीतरूपम्, इति। अत्र च निजरूपमात्रसंबद्धशब्देन द्विष्ठस्य संप्रयोगादेर्व्यावृत्तिः क्रियत इति।

इति तत्राह—**घटविषयेति**। तथा हि घटविषयज्ञानादुत्पन्नः संस्कारो घटसंस्कार इत्युच्यते, तत्कस्य हेतोः? घटविषयत्वात्, न पुनर्घटाधारत्वात्, एवमत्रापीत्यतो न द्वितीयाश्रुतिः प्रसिद्धिर्वा व्रीह्यादिगतशक्तिसाधिकेत्यर्थः। प्रयोगमेव दर्शयति—**विवादेति**। अग्न्यादीत्यर्थः। अतीन्द्रियापेक्षं न भवतीत्युक्ते बाधः स्यात्, ईश्वरे-च्छादृष्टादिसापेक्षत्वात्। तदर्थं निजरूपसंबद्धेत्युक्तम्। नावत्युक्ते चादृष्टवदात्म-संयोगादिसापेक्षत्वाद्बाधः स्यात्तदर्थं निजरूपमात्रसंबद्धेत्युक्तम्। तस्य द्विष्ठत्वेन व्यापित्वेन तदभावादिति।

श्रुतियाँ शक्ति मे प्रमाण है। यह युक्तिप्रदर्शन भी नही बन सकता है, क्योकि संस्कार नामक अदृष्ट चेतन मे रहने वाली वस्तु है, चेतनगत अदृष्टो के अचेतन व्रीहि आदि मे समवाय का असम्भव है। अतएव प्रोक्षणादि क्रिया से पुरुष का संस्कार माना गया है। यदि कहा जाय कि प्रोक्षणादि से चेतन पुरुषगत संस्कार हो, तो प्रोक्षणादि से व्रीहि आदि को संस्कृत क्यो माना जाता है, तो कहा जाता है कि जैसे घट विषयक अनुभव रूप ज्ञानजनित भावना नामक संस्कार को घटविषयक कहा जाता है, इसी प्रकार से व्रीहि आदि के प्रोक्षणादि से संस्कार को भी व्रीहि आदि विषयक क्रिया से जन्यता मात्र के कारण व्रीहि आदि के संस्कार रूप से प्रतीति की सिद्धि होती है, व्रीहि आदि मे वृत्तिता से नही। अत व्रीहि आदि मे अदृष्टात्मक शक्ति की कल्पना मे प्रमाण का अभाव है। अत-एव शक्ति के सद्भाव (सत्त्व) मे प्रमाण नही है। इसी प्रकार से लीलावतीकार ने भी अनुमान का प्रयोग किया है कि (विवादास्पद = अग्नि आदि, निज स्वरूप मात्र से सम्बन्ध वाले अतीन्द्रिय सापेक्ष कार्यकारी नही होते है, प्रमाण से तथाऽ-नुपलभ्यमान होने से), जो प्रमाण से जैसा उपलब्ध नही होता है, वह वैसा नही रहता है। जैसे प्रमाण से नील, पीत रूप नही अनुभूत होता है, तो नील, पीत रूप नही होता है। इस प्रयोग मे निज रूप मात्र सम्बद्ध शब्द से संयोगादि दो मे वृत्ति वस्तु की व्यावृत्ति की जाती है। अतीन्द्रिय सापेक्ष नही होता है, इतना ही कहने पर बाध होता, क्योकि ईश्वरेच्छा अदृष्टादि सापेक्षता रहती है, अत निज-स्वरूप सम्बद्ध कहा गया है। इत्यादि।

अत्रोच्यते—न तावच्छक्तौ प्रमाणाभाव, यस्मात्—

परास्य शक्तिर्विविधा, सर्गाद्या भावशक्तय ।
इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्ति केन निवार्यते ॥ २३ ॥

'न तस्य कार्य कारण च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥'
'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।'
'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्' ।

तत्र तावच्छक्तावागम प्रमाणयति श्लोकेन—**परेति**। विवृणोति—**न तस्येति**। तस्येश्वरस्य कार्य स्थूलशरीर करण सूक्ष्मशरीर न विद्यते, तथा तेन परमेश्वरेण समोऽभ्यधिको वा न दृश्यते श्रुतिस्मृत्योरित्यर्थ । तया शक्ति परोत्कृष्टा विवधैव बहुप्रकारा श्रूयते तथा ज्ञानलक्षणबलस्य क्रिया सपादन स्वाभाविकी। अथवा ज्ञानबलेन क्रिया जगन्निर्माणादि स्वाभाविकी नान्याधीनेति । अथवा ज्ञान च बल च क्रिया चेत्येतत्सर्वं स्वाभाविकम् स्वरूपतादात्म्येनाध्यस्ताचिन्त्यामायाशविजृम्भितमिति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रस्यार्थ ।

श्लोकोक्तश्रुतेरुपलक्षणत्वात्समानविषयश्रुत्यन्तराण्याह–**ते ध्यानयोगेत्यादिना**। ये किं कारणमित्यादिबहुविध सदिहते स्म ब्रह्मवादिन, ते ध्यानमेव योगो ध्यानयोग त ध्यानयोगमनुगता प्राप्ता सन्तोऽपश्यन् दृष्टवन्त । किम्, देवात्मशक्तिम्, देवो द्योतनात्मकश्चासावात्मा चेति देवात्मा ब्रह्म तस्य शक्तिमनाद्यनिर्वचनीयाचिन्त्यानन्तशक्तिमयी महामाया स्वगुणै सत्वरजस्तमोमयैर्वियदादिकार्यैर्निगूढा छन्नामित्यर्थ । य एकोऽवर्ण करणकर्मव्युत्पत्त्या नाम रूप च वर्णस्तद्रहित सन्

यह पूर्वपक्ष हुआ (अत्रोच्यते) यहाँ उत्तर रूप सिद्धान्त कहा जाता है कि शक्तिविषयक प्रमाण का अभाव नही है, क्योकि—

इस ईश्वर की विविध प्रकार की परा शक्ति है, तथा सर्गादिविषयक भावस्वरूप शक्तियाँ है, इत्यादि श्रुति, स्मृति से ज्ञात शक्ति किससे निवारित हो सकती है ॥ २३ ॥

उस सर्वात्मा ईश्वर के कार्य = शरीर, करण = इन्द्रिय नही है, न उसके तुल्य वा अधिक दीखते है, किन्तु इसकी परा = उत्तमा, विविधा शक्ति सुनी जाती है, और स्वाभाविकी सर्वज्ञत्वादिरूप ज्ञानक्रिया और सर्वाधारत्वादि रूप बलक्रिया सुनी जाती है।

वे ब्रह्मवादी लोगो ने ध्यानयोग मे प्राप्त होकर, अपने सत्त्वादि गुणो से निगूढ = आवृत्त, ईश्वर की शक्ति को देखा = समझा, जो एक अवर्ण = नामरूपरहित, होता हुआ भी शक्ति के सम्बन्ध से बहुधा वर्णो को सिद्ध करता है।

'शक्तय सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा ।
यतोऽतो ब्रह्मणास्तास्तु सर्गाद्याऽभावशक्तय ॥'
"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोध स्वतन्त्रता नित्यमलुप्त शक्ति ।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतैर्गीयमाना शक्ति शक्यते कथमपह्नोतुम् ? न चैतानि वचासि स्वरूपसहकारिमात्रप्रतिपादकानि, कार्यकरणादिसहकारिनि-

---

शक्तियोगात् बहुधा बहुप्रकार वर्णान्विदधातीति च श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रौ । स्मृति विवृणोति—**शक्तय इति** । तथा विष्णुपुराणे—

'निर्गुणस्याप्रमेयस्य विशुद्धस्य परात्मन ।
कथ सर्गादिकर्तृत्व ब्रह्मणोऽप्युपपद्यते ॥'

इति मैत्रेयेण पृष्टे प्रत्युवाच पराशर —'शक्तय ' इत्यादि । सर्वभावानामचिन्त्य-ज्ञानगोचरा —अचिन्त्या अनिर्वचनीयत्वात्, ज्ञानगोचराश्च तत्तदुपासनासूपाधिता याता अचिन्त्यज्ञानगोचरा शक्तय सन्ति यतोऽत परमेश्वरस्यापि ता सर्गाद्या भावशक्तय सन्ति । एतदुक्त भवति—सर्वभावानामेव तावच्छक्तय सन्तीति किमु वक्तव्य ब्रह्मण परमेश्वरस्यात ताभि सर्गादिकर्तृत्वमुपपद्यत इति । अथवा सर्व-भावानामिति कर्मणि षष्ठी, ज्ञानगोचरा अचिन्त्या शक्तयस्तावत्सन्ति यतोऽतस्ता सर्गाद्या भावशक्तयो ब्रह्मण सन्ति, अन्यस्य तादृग्विधशक्तिनियन्तुरभावादत सर्गा-दिकर्तृत्व ब्रह्मण उपपद्यते इत्यर्थ । पुराणान्तरवचनमुदाहरति—**सर्वज्ञतेत्यादिना ।** अचिन्त्यशक्तिरिति तु प्रकृतोपयोगिनी । विधिज्ञा वेदज्ञा परमेश्वरज्ञा इति वा । नन्वेतेषु शक्तिशब्द स्वरूपसहकारिमात्रपर, नातीन्द्रियशक्तिपर इत्यत आह—**न चैतानीति ।** 'न तस्य कार्य करण च विद्यते'इति सहकारिनिषेधेन शक्ते-रुच्यमानत्वान्न सहकारिमात्रपरत्वमित्यर्थ । शक्तेर्ब्रह्मस्वरूपत्वाभावे हेतुमाह—

जिससे सब पदार्थो की अचिन्त्य ज्ञानविषय शक्तियाँ है । अत ब्रह्म की भी सर्गादिविषयक भाव = क्रिया, शक्तियाँ है ।

सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, नित्य अलुप्त शक्तिमत्ता, अनन्त शक्ति-मत्ता, ये छह महेश्वर के अङ्ग विधिज्ञ = वेदज्ञ, कहते हैं ।

इत्यादि सैकडो श्रुतिस्मृतियो से वर्णित शक्ति का अपलाप कैसे किया जा सकता है, अत श्रुति-स्मृति शक्तिविषयक प्रमाण हैं । यदि कहे कि ये सब वचन स्वरूप के सहकारी मात्र के प्रतिपादक है, अतीन्द्रिय शक्ति के प्रतिपादक नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि कार्य-करणादि रूप सहकारियो के निराकरण पूर्वक उस शक्ति का प्रतिपादन किया गया है । श्रुति-स्मृति वर्णित शक्ति को ब्रह्मरूपत्व भी नही है, क्योकि (पराऽस्य शक्ति) इत्यादि वाक्यगत षष्ठी विभक्ति

रासपुर सर तस्या प्रतिपादनात्। न च स्वरूपत्वमपि शक्ते, परास्येत्यादिषष्ठ्या स्वरूपातिरिक्तत्वप्रतिपादनात्, 'अस्य शक्तिर्विविधा' 'तास्तु शक्तय' इति च नानात्वेन श्रूयमाणाया एकरूपब्रह्मत्वासभवाच्च। न चासा श्रुतिस्मृतीनामर्थवादत्वम्, उपक्रमोपसहारादिलिङ्गैनेश्वरस्वरूपत्वाध्यवसायात् नैयायिकादिभिरेतासामीश्वरस्वरूपपरत्वाभ्युपगमाच्च।

अथैवमपि नार्थापत्त्यनुमाने विना तार्किकमन्यस्तुष्यति भवान्, तदर्थापत्त्यनुमानोपन्यासेन भवन्त परितोषयाम। तथा हि—स्फोटादिकार्यान्यथानुपपत्तिक्षणोदाहृतैर्वार्थापत्ति। ननु तत्राप्युदितैवान्यथाप्युपपत्ति, प्रतिबन्धकाभावसहकृतादेव वह्निस्वरूपात्कार्योत्पत्ते। न च प्रागभावप्रध्वसाभावादिविकल्पेनाभावस्याकारणत्वम्, शक्तावपि तत्प्रसङ्गस्य

परास्येति। पष्ठ्या शक्ते ब्रह्मस्वरूपाद् भेदप्रतिपादनात् विविधेति शक्तय इति च बहुत्वाभिधानात्स्वेनैव स्वस्य भेदायोगात् एकस्यानेकत्वायोगाच्चेत्यर्थ। नैयायिकादिभि स्वीकृत चासामीश्वरपरत्वमित्याह—**नैयायिकेति।**

परितोषयामः। परितोषयिष्याम। प्रथममर्थापत्ति नमर्थयते— **तथा हीति।** **स्फोटादीति।** प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तेरप्रतिवद्धाया कारणत्व न

द्वारा शक्ति मे ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन किया गया है, और (अस्य शक्तिर्विविधा, तास्तु शक्तय) इत्यादि वाक्यो मे नाना प्रकार के बहुरूप मे श्रूयमाण शक्तियो को एकस्वरूप ब्रह्मत्व का असम्भव है। इन श्रुति-स्मृतियो को अर्थवादत्व (स्तुतिमात्रत्व) भी नही है, क्योकि उपक्रमोपसहारादि तात्पर्य लिङ्गो के द्वारा ईश्वरस्वरूप के प्रतिपादनपरत्व का निश्चय होना है।

नैयायिकादिको ने इन श्रुति आदि की ईश्वरपरता को माना है। यदि ऐसा होने पर, अपने को तार्किक मानने वाले आप अर्थापत्ति और अनुमान के बिना सन्तुष्ट नही होते है, तो अर्थापत्ति और अनुमान के कथन द्वारा परितुष्ट करेगे। और स्फोटादि रूप कार्य की शक्ति के विना अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण प्रथम कही गई है। यदि कहे उसमे अन्यथा (शक्ति के विना) उपपत्ति (कार्यसिद्धि) कही गई है कि, प्रतिबन्धकाऽभाव सहित अग्नि के स्वरूप से ही स्फोटादि कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, और प्रागभाव, प्रध्वसाभावादि के विकल्प (भेद) से प्रतिबन्धकाभाव मे अकारणत्व भी नही हो सकता है, क्योकि शक्ति मे भी उक्त प्रागभावादि विकल्प प्रसङ्ग की तुल्यता है, प्रतिबन्धक से अप्रतिबद्ध शक्ति मे ही करणत्व रहती है, वहाँ भी प्रतिबन्धकाभाव के प्रागभावादिविषयक विकल्प हो सकता है। तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि आपका कथन विकल्पाऽसह है, सो दर्शाया

तुल्यत्वात्, अप्रतिबद्धाया एव शक्ते कारणत्वादिति चेत्, मैवम्; विकल्पासहत्वात्। तथा हि—यदि प्रतिबन्धकाभाव. कारण न स्यान्न स्यात्तर्हि शक्तिरपि कारणमिति प्रतिकूलतर्कमात्रमिदम्? किं वा भवति च शक्ति कारण तत प्रतिबन्धकाभावोऽपि कारणमिति विपर्यये पर्यवसानादभावस्य कारणत्वसाधक वा? नाद्य, तर्कमात्रस्योपालम्भानङ्गत्वात्। नेतर, भवति च शक्ति कारणमिति विपर्ययस्य शक्तिमनिच्छता वक्तुमशक्यत्वात्। न च परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनम्; प्रमितप्रतियोगिकनिषेधवादिन शक्तिरपि कारण न भवेदित्येवविधनिषेध-

---

स्यादिति यदुक्त तद्विकल्प्य दूषयति—**मैवमिति**। प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वाभावे शक्तिकारणत्वप्रतापादनप्रतिकूलतर्क दर्शयित्वा विपर्यये पर्यवसानरूपप्रमाणादभावस्य कारणतासाधकत्वमिति द्वितीय पक्ष दर्शयति—**भवतीत्यादिना**। विपर्यये पर्यवसानरहितस्य तर्काभासत्वात् तत प्रतिपक्षनिराकरणसिद्धिरित्याह—**नाद्य इति**। द्वितीय दूषयति—**नेतर इति** एव हि विपर्ययपर्यवसानम्। मृदादिविशेषणप्रतिबन्धाभाव कारणम्, प्रतिबन्धाभावत्वात् शक्तिविशेषणप्रतिबन्धाभाववदिति। नचैतच्छक्यानुमानम्, दृष्टान्तस्याश्रयहीनत्वादिदोषग्रस्तत्वादित्यर्थ।

ननु द्विविधस्तर्क स्वपक्षसाधकानुकूल प्रतिपक्षदूषकश्च, तत्राद्यस्य विपर्यये पर्यवसानमपेक्षितम्, इतरथा साधकानुकूलत्वासिद्धे, चरमस्य तु न तदपेक्षितम्, परसिद्धव्याप्तिमादाय परस्यानिष्टप्रसक्ते शक्यकरणत्वात्तादृशश्चायमिति तत्राह—**न चेति**। तत्र हेतु—**प्रमितेत्यादि**। यस्य हि मते प्रमितेऽधिकरणे प्रमितप्रतियोगिक एव निषेध, नाप्रमितप्रतियोगिकस्तस्य वादिन 'यदि प्रतिबन्धाभाव कारण

जाता है कि क्या यह आपका प्रतिकूल तर्क मात्र है कि (यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण नही होगा, तो शक्ति भी कारण नही हो सकेगी। अथवा शक्ति कारण होती है, अत प्रतिबन्धकाभाव भी कारण होता हे, इसप्रकार से तर्क के विपर्यय मे पर्यवसान (स्थिति) से प्रतिबन्धकाभाव के कारणत्व का साधक यह आपका वचन है। वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि तर्कमात्र को उपालम्भ (प्रतिपक्ष निराकरण) का अङ्ग (साधन) नही माना जाता है, क्योकि विपर्यय मे पर्यवसानरहित तर्क तर्काऽऽभास होता है। दूसरा पक्ष कहे, तो वह भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि (कारण रूप शक्ति है) इस विपर्यय को शक्ति नही मानने वाला नही कह सकता है। यदि कहे कि स्वपक्षसाधक तर्क मे विपर्ययावसानापेक्षित रहता है, परपक्षदूषण मे नही, अत परपक्षसिद्ध व्याप्ति के द्वारा, पर के अनिष्ट का प्रतिपादन हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि जो मानता है कि जो वस्तु कही प्रमित रहती है, उसीका निषेध हो सकता है,

स्याप्यसिद्धे । तथापि जल्पकथामवधीर्य प्रतिबन्धकाभावस्याकारणत्वे प्रतिबद्धापि शक्ति किमिति कार्यं न जनयेदिति सुहृद्भावेन पृच्छत किमुत्तरमिति चेत्, श्रूयता तर्हि दर्शनरहस्यम् ?—सति पुष्कलकारणे

न भवेन तर्हि शक्तिरपि कारण न भवेदि'ति शक्तिकारणत्व निषेद्धुम् न शक्यम् । शक्तेस्तत्कारणत्वस्य चाप्रमितत्वात्, प्रमितत्वे वा स्वरूपेण निषेधानुपपत्ते । उक्त च प्रमितस्यैव निषेधप्रतियोगित्व धर्मित्व चोदयनेन—

'व्यावर्त्याभाववत्तैव भाविकी हि विशेष्यता ।

अभावविरहात्मत्व वस्तुन प्रतियोगिता ॥' इति (न्या कु ३।२)

तदिह भवतु नाम विपर्ययापर्यवसाय्यपि तर्क, निषेध एव शक्तिकारणत्वस्यापादयितु न शक्यत इति भाव । वस्तुव्यावृत्ति बुभुत्सु पृच्छति—**तथापीति** । यदि प्रतिबन्धाभाव कारण न भवेत् प्रतिबन्धे विद्यमानेऽपि किमिति शक्ति कार्य न जनयेदित्यर्थ । अत्र सामग्रीवैकल्यस्य प्रतिबन्धकताऽभाव तावदाह—**सतीत्यादिना** । कारणाभावव्यवच्छेदार्थ सति पुष्कलकारण इत्युक्तम् । कार्योत्पत्ति प्रति कारणपौष्कल्ये सति यदुत्पत्तिविरोधि तत्प्रतिबन्धकमिति शक्तिवादिन इष्टम, तेन प्रतिबन्धसमयेऽपि कारणपौष्कल्यान्न प्रतिबन्धाभावस्य कारणान्तर्भाव इति भाव । यदत्रोदयनेन 'सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक, इति मतमसहमानेनोक्तम् 'ये तु प्रतिपादयन्ति कार्यानुत्पाद एव प्रतिबन्ध' इति । तै प्रतिबन्धमकुर्वन्त एव प्रतिबन्धका इत्युक्त भवति । तथाहि—कार्यानुत्पाद इति कोऽर्थ ? कार्यप्रागभावो वा स्यात् ? कार्यप्रागभावस्य कालान्तरप्राप्तिर्वा स्यात् ? नाद्य, तस्यानादित्वेन मणिमन्त्राद्यजन्यत्वात् न द्वितीय, कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात् । अथ कालभेदक उपाधि कालान्तरम्, तस्य तावत्स्वकारणजन्यत्वेन न मण्यादिजन्यत्वम् । अथ प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिर्मन्त्रजन्य, न, प्रागभावस्यानादित्वेन तदवच्छिन्नकालोपाधेरपि मन्त्रादिजन्यत्वानुपपत्ते । तस्मात्सामग्रीतत्कार्ययो पौर्वापर्यनियमादभावयोरपि पौर्वापर्यभाव उपपद्यते । वस्तुतस्तु तुल्यकालत्वमेवेति नाय पन्था, किंतु सामग्रीवैकल्य प्रति-

---

अन्य का नही, उस प्रमितप्रतियोगिक निषेधवादी से (शक्ति भी कारण नही होगी) इसप्रकार का निषेध की सिद्धि नही हो सकती है। क्योकि शक्ति और उसके कारणत्व उसका प्रमित नही है, और यदि प्रमित है, तो भी स्वरूप से निषेध की सिद्धि नही हो सकती है। क्योकि जल्प कथा (विजिगीषु वादी-प्रतिवादी कथा) को छोडकर यदि प्रतिबन्धकाऽभाव के अकारण होते प्रतिबद्ध शक्ति भी कार्य को क्यो नही उत्पन्न करती है, इसप्रकार से सुहृद्भाव से पूछने वाले के प्रति क्या उत्तर है ? ऐसी जिज्ञासा हो, तो सुनो ? दर्शन के रहस्य को सुनाते है। पुष्कल (पूर्ण) कारण के रहते कार्य की

कार्योत्पादविरोधि प्रबन्धकमिति हि शक्तिवादिन । तेन न सामग्रीवैकल्या-त्तत्र कार्यानुदय किंतु विरोधिसद्भावादेव । न च सामग्रीवैकल्यमेव प्रतिबन्ध , लोकप्रसिद्धिविरोधात् नहि कुशूलनिहितबीजानि क्षितिपवन-पाथस्तेजस्ससर्गविरहितानि तन्तवो वा मञ्जूषानिहितास्तुरीवेमकुविन्दा-दिविरहिण प्रतिबद्धा इति प्रतियन्ति लौकिका । सामग्रीविधुरतामात्रस्य

वन्धपदार्थो मुख्य , स च मन्त्रादिरेव न त्वसौ प्रतिबन्धक । नच तस्याऽकिंचित्करत्व वोपाद्य, तत्प्रयोक्तारस्तु प्रतिबन्धा , ते च किंचित्करा ' इति । तदेतदपि गर्जन कारणाना का कार्योदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धकत्वेन निर्वक्ष्यमाणत्वात् आकाशमुष्टि-हननायते । किंच भवतु कालस्य प्रागभावस्य चानादित्व कालोपाधेश्च स्वकारणा-धीनत्वात् मन्त्राद्यजन्यत्व च, तथापि प्रागभावावच्छिन्नकालोपाधिस्तत्सवन्धो वा किमिति मन्त्रादिजन्यो न भवेत् ? नहि स प्रागभाव , नाप्युपाधिमात्र , नापि काल-मात्रम, तस्मात्सति पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधी प्रतिबन्धक इत्ययमेव पन्था । ननु भवन्वय प्रतिबन्धकस्तत किमिति तत्राह—**तेनेति** । सामग्रीवैकल्यस्य प्रति-बन्धकत्वाभावान्न तत कार्यानुत्पाद , किंत्वन्यस्माद्विरोधिन इत्यर्थ । ननु सत्य न सामग्रीवैकल्य प्रतिबन्धकम्, किंतु प्रतिबन्ध इति तत्राह—**न च सामग्रीति** । प्रसिद्धिविरोधमेव दर्शयति—**न हीति** । पाथ उदकम् । यदि हि सामग्रीवैकल्य प्रतिबन्ध , तत सहकारिरहितबीजेषु सहकारिरहिततन्तुषु वा प्रतिबद्धबुद्धि स्यात्, नत्वेतदस्ति, ततो नियमेन बुद्ध्यनुपलब्धिरर्थाभावनिवेदिका इत्यर्थ । इतश्च न सामग्रीवैकल्यमात्र प्रतिबन्ध इत्याह—**सामग्रीविधुरेति** । अस्ति तावादेदमस्य कारणमय प्रतिबन्धभाव इति विभाग । इतरथा प्रतिबन्धसहितकारणाना सामग्री त्वाभावप्रसङ्गात । सचाय विभागस्त्वत्पक्षे न सिद्धयेत् । सर्वस्यैव कारणस्य स्व-

---

उत्पत्ति का विरोधी प्रतिबन्धक होता है, ऐसे शक्तिवादी कहते है । अत प्रतिबन्ध के समय भी कारण की पुष्कलता से प्रतिबन्धकाभाव कारण के अन्तर्गत नही होना है । अत प्रतिवन्धकाऽवस्था मे कारणसामग्री के अभाव से कार्य की अनुत्पत्ति नही होती है, किन्तु विरोधी के सद्भाव से कार्य की अनुत्पत्ति होती है, यदि कहे कि सामग्री की विकलता (अभाव) प्रतिबन्धकरूप नही हो, किन्तु वही प्रतिबन्ध (कार्यनिरोध) रूप हो, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि लोक-प्रसिद्धि विरोध से ऐसा नही माना जा सकता है । सामग्री-विकलता को लोक मे प्रतिबन्ध रूप नही माना जाता है, अतएव, भूमि, पवन, जल, तेज के सम्बन्ध से रहित, कुशूलस्थ (कोठी मे स्थिर) बीजो को तथा तुरी, वेम, कुविन्दादि (जुलाहे आदि) के सम्बन्ध से रहित मञ्जूषा (पेटारी) मे रखे गये तन्तुओ को लौकिक

च प्रतिबन्धतायाम् समस्तस्यापि हेतुजातस्य प्रतिबन्धाभावतयैवोपक्षीणत्वात् 'इदमस्य कारणमयं च प्रतिबन्धाभाव' इति परीक्षकाणां विशेषावधारणमेव न स्यात् । अभावस्याकारणत्वे कार्येणान्वयव्यतिरेकविरोध इति चेत्, मैवम्; अन्यथासिद्धत्वात्, 'अनन्यथासिद्धावन्वयव्यतिरेकौ कारणक्लृप्तिं कुर्वाते' इति न्यायात् । तर्ह्यनुपलब्धेरप्यभावोपलम्भहेतुता न भवेत्, विरोधिन्या भावोपलब्धेरभावतया तदन्वयव्यतिरेकयोरप्यन्य-

---

वैधुर्यलक्षणप्रतिबन्धाभावरूपत्वादित्यर्थः । तदेव सामग्रीवैकल्यप्रतिबन्धनिरसनेन प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वमपि निरस्तम्, तत्रान्वयव्यतिरेकविरोधं शङ्कते—**अभावस्येति** । विरोध्यभावविषयतयान्यथासिद्धत्वात् न तावदभावस्य कारणत्वं कल्प्यत इत्याह—**मैवमित्यादिना** । उ[illegible]रार्थं स्वतःप्रामाण्यवादे ।

एवं शक्तिप्रतिबन्द्यां परिहृतायां पूर्वोदितां प्रतिबन्दीं स्मारयति पूर्ववादी—**तर्ह्यनुपलब्धेरिति** । शक्यं हि तत्रापि वक्तुम् घटाभावोपलब्धेर्विरोधिनी घटोपलब्धिस्तदभावश्च तदनुपलब्धिरतो योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावोपलब्धेश्चान्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकत्वात् न कार्यकारणभाव इत्यभावप्रमाणाभावः स्यादित्यर्थः । यद्यप्येवम्, तथापि कारणान्तरस्याभावादभावोपलब्धेरनन्यथासिद्धायास्तत्र कारणत्व-

---

पुरुष प्रतिबद्ध नहीं समझते हैं। यदि सामग्री की विकलता प्रतिबन्ध हो, तो सहकारीरहित उक्त बीजों में और तन्तुओं में प्रतिबद्ध बुद्धि लौकिकों को होना चाहिये, और सामग्री की विधुरता (अभाव) मात्र को प्रतिबन्धकता होने पर (प्रतिबन्धक मानने पर) सब हेतुसमूह को प्रतिबन्धकाभाव रूप से ही उपक्षीण (चरितार्थ समाप्त) होने से प्रतिबन्धकाभाव के अन्तर्गत सब हेतु के होने से यह तन्तु आदि इस पट का कारण है, यह प्रतिकूल देश, कालादि का अभाव प्रतिबन्धकाभाव है, इसप्रकार से परीक्षकों (विद्वानों) का विशेष (भेद) का अवधारण (निश्चय) नहीं होगा। इस प्रकार से प्रतिबन्धकाभाव को कारण-कोटि से भिन्न ही समझना चाहिये। यदि कहें कि प्रतिबन्धकाभाव के अकारण होने पर कार्य के साथ उसके अन्वयव्यतिरेक में विरोध होगा (अन्वयव्यतिरेक कारणता का बोधक होता है, वह कारणता के बिना नहीं होना चाहिये) तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि वे अन्वयव्यतिरेक अन्यथासिद्ध हैं। अनन्यथासिद्ध अन्वय-व्यतिरेक कारण के निश्चय कराते हैं, और कार्य के प्रतिबन्धक कार्यविरोधी का जो अभाव होता है, तद्विषयक अन्वयव्यतिरेक को अन्यथासिद्धत्व है, क्योंकि वह विरोधी का अभाव विरोधी के निवारण रूप से हेतु है, साक्षात् नहीं, और उसका अन्वयव्यतिरेक भी साक्षात् हेतु का अन्वयव्यतिरेक नहीं है, अतः अन्यथा-सिद्ध है। यदि शंका हो कि जैसे विरोधी के अभावरूप होने से प्रतिबन्धकाभाव

थासिद्धेर्वक्तु सुकरत्वादिति चेत् , न, तद्व्यतिरेकेणाभावोपलम्भकारणानिरूपणात् । इन्द्रियमेव कारणमिति चेत् , न, तस्याभावेन सन्निकर्षाभावात् । सयोगसमवाययोस्तत्राभावात् , विशेषणविशेष्यभावस्य च सबन्धान्तरगर्भस्यैव प्रत्यक्षाङ्गत्वात् , न तत्राभावस्य प्रत्यक्षगम्यत्वम् ; किन्त्वनुपलब्धिगम्यतैवेति निश्चीयते । अन्यथाय पर्वतो वह्निमानित्यत्र वह्नेरपि सयुक्तविशेषणतया प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात् ।

माश्रितम् । वस्तुतस्तु न तथेति वैधर्म्येण परिहरति—**न तदिति** । गत्यन्तरं शङ्कते—**इन्द्रियमिति** । सन्निकर्षाभावमेवाह—**सयोगेति** । द्रव्ययोर्हि सयोगो गुणत्वान्न चाभावो द्रव्यम्, तथा कार्यद्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामेव समवायः, नचैषामन्यतमोऽभाव इत्यर्थः । ननु सयुक्तविशेषणत्वादिकमस्ति सबन्धान्तरमिति तत्राह—**विशेषणेति** । सबन्धाभावादप्रत्यक्षत्वमुक्तमुपसहरति—**न तत्रेति** । यदि च सयुक्तविशेषणतैव प्रत्यक्षबुद्धिनिमित्तं तर्हि प्रत्यक्षधर्मिकानुमानोच्छेदः स्यादित्याह—**अन्यथेति** ।

क कारण नही माना जाता है, वैसे ही घटाभावज्ञान के विरोधी घटज्ञान का अभावरूप अनुपलब्धि मे भी विरोधी घटज्ञान के निवारणरूपता से उसके अन्वय-व्यतिरेक मे भी अन्यथासिद्धत्व कहा जा सकता है, अत अनुपलब्धि को भी अभावज्ञान की हेतुता नही होगी । तो यह कहना युक्त नही । क्योकि अनुपलब्धि के विना अभावज्ञान के अन्य कारण का निरूपण नही हो सकता है, अत अगत्या अनुपलब्धि को अभावज्ञान का कारण माना जाता हे, यदि कहे कि इन्द्रियाँ अभावज्ञान के कारण हो सकती है, तो कहना युक्त नही, क्योकि इन्द्रियाँ सम्बन्ध के विना कारण नही होती हे, और अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध नही हो सकता है, क्योकि द्रव्यो का परस्पर सयोगसम्बन्ध होता है । इन्द्रिय का अभाव मे सयोग नही हो सकता है, द्रव्य मे द्रव्य, गुणादि का समवाय होता हे, गुणकर्म मे जाति का समवाय होता है, अभाव मे इन्द्रिय के समवाय का अभाव रहता है । और विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध भी सयोगादि सम्बन्धान्तर गर्भ (अङ्ग) वाला होकर प्रत्यक्ष का अङ्ग (साधन) होता है । जैसे कि नेत्रसयुक्त नील पटे मे नेत्रसयुत विशेषणता सम्बन्ध से पीतरूपाभाव का प्रत्यक्ष माना जाता है । वहाँ भी अभाव को प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञेयत्व नही होता है, किन्तु अनुपलब्धि मे ही ज्ञेयत्व होता है, ऐसा निश्चय किया जाता है, अन्यथा यदि सयुक्त विशेषणता सम्बन्धद्वारा इन्द्रियजन्य अभाव के ज्ञान को माना जाय, तो (अय पर्वतो वह्निमान्) यह पर्वत अग्नि वाला है, यहाँ भी नेत्रसयुक्त विशेषणता सम्बन्ध से अग्नि के प्रत्यक्षत्व की प्राप्ति होगी, कि जिससे प्रत्यक्ष धर्मिक (प्रत्यक्ष पक्ष वाले) अनुमानो का अभाव प्राप्त होगा ।

नन्वसबद्धस्यैवाभावस्येन्द्रियग्राह्यत्वमस्तु, तत्प्रतीतेरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेनापरोक्षत्वात् गत्यन्तराभावच्चेति चेत्, मैवम्, अयोगिप्रत्यक्षप्रमिताविन्द्रियाणा सबद्धार्थग्राहकत्वनियमस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, अभावप्रतीतेरपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वादिन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरधिकरणग्रहणमात्र एवोपक्षीणतयान्यत्रासिद्धत्वाच्च। नन्वधिकरणग्रहणमात्रोपक्षीणत्वमन्वयव्यतिरेकयोरयुक्तम्, अन्धस्य त्वगिन्द्रियेणोपनीतघटादौ रूपाभावप्रती-

---

नन्वपरोक्षाभावप्रतीतिरिन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ वान्यथानुपपन्नावसबद्धस्यापि ग्रहण कल्पयत एव, यथा हि भावेषु विशेषणविशेष्यभावस्य मूलसबन्धनिबन्धनस्यातन्निनन्धनस्यापि च स्वीकारस्तथाऽभावे तदभावेऽपि प्रतीतिबलादेवाङ्गीकार इति शङ्कते—**नन्विति।** नन्वेतदपरोक्ष स्वप्नादिवद्भ्रान्तिरेवेत्याशङ्क्य मैव बाधाभावादित्याह—**गत्यन्तरेति।** विशिष्टप्रतीतेरुभयवादिसमतत्वात् मूलसबन्धरहितोऽपि विशेषणविशेष्यभाव प्रत्यक्षाङ्गमिति वक्तव्यम्, नतु तथाविधस्य प्रत्यक्षाङ्गत्वे मानमस्ति, अपरोक्षत्वस्यासिद्धत्वात्। प्रापकप्रमाणाभावादयोगीन्द्रियाणा सबद्धार्थग्राहकत्वनियमभङ्गो नाङ्गीकरणीय। इद निर्घट भूतलमिति व्यवहारस्याय घटो गुरुरय पर्वतो वह्निमानित्यादिव्यवहारवदधिकरणप्रत्यक्षतामात्रेणोपपत्तेरित्यभिप्रेत्य परिहरति—**मैवमिति।** योगीन्द्रियव्यावृत्त्यै अयोगीति पदम्। आपरोक्ष्यानुपपत्तेरनुदयमाह—**अभावेति।** स्वप्नापरोक्षवद्भ्रान्तित्वादित्यर्थ। विशेषणादिभावे तु गत्यन्तर नास्ति, आश्रयापरोक्ष्याच्च निर्घट भूतलमिति प्रतीतिर्घटो गुरुरयमित्यादिवदिति भाव। अधिकरणविषयतयेन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोरन्यथासिद्धिरयुक्ता, अतिप्रसङ्गादिति शङ्कते—**नन्विति।** यदि ह्यभावस्य ऐन्द्रियग्राह्यता, तर्ह्यन्धस्यापि त्वगादिना घटादावधिकरणे गृहीते तत्र रूपाभावग्रहणप्रसङ्ग। तत्र हेतु—

यदि शका हो कि सम्बन्धरहित ही अभाव को इन्द्रियविषयत्व हो (माना जाय) क्योकि अभाव के ज्ञान मे इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक के नियम के अपरोक्षत्व से तथा गत्यन्तर के अभाव से भी इन्द्रिय मे अभावज्ञान की कारणता सिद्ध होती है। तो यह शका युक्त नही। क्योकि अयोगी के प्रत्यक्ष ज्ञान मे इन्द्रियो के साथ सम्बन्ध वाले अर्थ के ही ग्राहकत्व के नियम का निराकरण करना अशक्य है। और अभावज्ञान मे अपरोक्षत्व की असिद्धिता से इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक को अधिकरण के ग्रहण मात्र मे ही उपक्षीण (चरितार्थ) होने से उनमे अन्यथा-सिद्धत्व हो जाता है। यदि कहा जाय कि इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक को अधिकरण के ग्रहण मे उपक्षीण कहना अयुक्त है। क्योकि अभावज्ञान स्थान मे यदि इन्द्रिय के अन्वयव्यतिरेक को अधिकरणग्रहण मात्र ही, उपयोग (फल) हो, तो अन्धे को त्वक् इन्द्रिय द्वारा ज्ञात घटादि मे रूपाभाव का ज्ञान होना चाहिये, यह

तिप्रसङ्गात्, अधिकरणस्य गृहीतत्वात्, इन्द्रियस्य चाभावाग्राहकत्वात्। तस्मादन्धस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाभावादेव रूपाभावप्रतीत्यनुदय इति वाच्यम्। तथा चाभावस्यैन्द्रियकत्वसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमतेऽप्यनन्धस्यापि मेर्वादौ घटतद्रूपाद्यभावस्य चक्षुषत्व, कि न स्यात्? ननु तत्र प्रतियोगिनश्चाक्षुषत्वेऽप्यधिकरणस्याचाक्षुषत्वान्न तत्र रूपाभावश्चाक्षुष इति चेत्, एव तर्हि मन्मतेऽपि नान्धस्य त्वगिन्द्रियगृहीते घटादौ रूपाभावप्रतीति। प्रतियोगिग्राहकेणा-

---

अधिकरणस्येति। भवत्वधिकरणस्य ग्रहणम्, तथाप्यन्धस्य चक्षुरिन्द्रियाभावात् कथ रूपाभावप्रत्यक्षमिति चेत्तत्राह—**इन्द्रियस्येति।** तस्माच्चक्षुर्वैकल्यादभावाग्रहण तदिन्द्रियमभावग्राहक वक्तव्यमित्याह—**तस्मादिति।** ाामिमामुदयनीयामनुपपत्ति परिहरति—**मैवमिति।** तस्यापि मते प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वमभावस्याभिमत तस्यासन्निहितमेर्वादौ घटाद्यभाव किमिति चक्षुषा न गृह्यते? इति पर्यनुयोगे य परिहार प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियाग्रहणमधिकरणस्य सोऽस्मन्मतेऽपि समान इति खण्डलकार्थ। यदि प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणे गृहीतेऽभावस्य योग्यानुपलब्धिगम्यत्वम्, तर्हि गन्धग्राहकेन्द्रियागोचरे कुसुमे रूपग्राहकेन्द्रियागोचरे च वायौ गन्धरूपयोरभावो न योग्यानुपलब्धिगम्य इति प्रत्यक्षो वक्तव्य, स न स्यात्, प्रत्यक्षत्व चैवविधस्थलेषु समाहितमुदयनेन, आकाशे शब्दाभावस्य श्रौत्रत्वसमर्थनात्। एव हि मेने—'धर्मिसन्निकर्षो निदान न पुनर्धर्मिग्रहण भूतलादौ तु दैवगत्या योग्यत्वात् युक्तम्, घुणाक्षरन्यायेन धर्मिधिषणा समुन्मिषति, नत्वभावग्रहणोपयोगितया, तस्मादिन्द्रियसन्निकृष्टे धर्मिण्यभाव प्रत्यक्ष एवेति तत शब्दाभाव प्रत्यक्ष' इति। परि-

---

आपत्ति प्राप्त होती है। क्योकि उसको अधिकरण गृहीत हुआ है, और इन्द्रिय को अभावग्राहकत्व नही है। अत जिस नेत्र के अभाव से अन्धे को अधिकरण के ज्ञान होने पर भी रूप के अभाव का ज्ञान होता है, वह नेत्ररूपाभाव के प्रतियोगी का ग्राहक है, और जिस इन्द्रिय से जिसके प्रतियोगी का ज्ञान होता है, उसी इन्द्रिय के रहते उस अभाव का ज्ञान होता है। यह कहना होगा, और ऐसा होने पर अभाव को इन्द्रियविषयत्व की सिद्धि होती है, तो कहा जाता है कि, इसप्रकार से यदि इन्द्रियविषयत्व अभाव को है, तो अभाव मे प्रतियोगिग्राहक इन्द्रियग्राह्यत्व (विषयत्व) वादी के मत मे भी, इन्द्रिय से असन्निहित मेरु आदि मे अनन्ध को भी घट तथा उसके रूपादि के अभाव का चाक्षुषज्ञान क्यो नही होता है। यदि कहा जाय कि वहाँ प्रतियोगी मे चाक्षुषत्व होते भी अधिकरण के अचाक्षुषत्व (नेत्रासन्निहितत्व) से वहाँ रूपाऽभाव चक्षुजन्य ज्ञान का विषय नही होता है। तो इसी प्रकार से मेरे मन मे भी अन्धे को त्वक् इन्द्रिय से गृहीत घटादि मे रूपाभाव की प्रतीति नही होती है। क्योकि रूपादि प्रतियोगी के ग्राहक

धिकरणस्य घटादेरग्रहणात्। तर्हि घ्राणागोचरकुसुमादौ वायौ वाऽचाक्षुषे गन्धस्य रूपस्य चाभावप्रत्यक्षो न स्यादितिचेत्, मा भूत्, तत्र प्रमाणान्तरवेद्यत्वेऽपि तद्व्यवहाराविरोधात्। न च सर्वत्र षष्ठप्रमाणवादिनामनुपलब्धिगम्य एवाभाव इति नियम। व्यापकाभावाद्व्याप्याभावस्य कारणाभावेन कार्याभावस्य वाऽनुमेयत्वाङ्गीकारात्।

हरति—**माभूदिति।** अत्र तावद्वाय्वादौ रूपाद्यभावस्य चाक्षुषत्वे कोशपानमेव शरणम्। तद्व्यवहारस्य प्रमाणान्तरवेद्यत्वेनाप्युपपत्ते। प्रत्युत प्रतियोगिवद्धर्मिणोऽप्यभावनिरूपकत्वात् तदप्रतीतावप्रतीतिरेव। नह्यस्त्येव प्रतीतिर्घटाभाव इति, इह घटाभाव इत्येव प्रतीते। उक्तं च वृद्धै 'सद्भ्यामभावो निरूप्यते नासद्भ्या'-मिति। न चैतदुभयनिरूप्यसंयोगादिप्रतियोगिकाभावविषयम्। सकोचे प्रमाणाभावात्। तस्माद्धर्मिग्रहणमपि कारणमेवाभावग्रहणे तद्रहितेषु च प्रमाणान्तरवेद्यत्वमित्यपरिपन्थी पन्था, प्रमाणान्तरं च कुसुमे गन्धानुपलब्धिरेव, तदभावेऽनुमानम्, वायावपि द्रवत्वसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजात्यनधिकरणत्वादिभिरनुमानमित्यादि स्यात्। एतच्चस्य वादिन प्रत्यक्षानुमानागमै यथायथमभावो गृह्यते इति मतम्, तस्यैव स्यात। यस्य तु योगत्वे सत्यनुपलब्ध्येकवेद्योऽभाव प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियगृहीत एव धर्मि तस्य स्वराद्धान्ते विरोध स्यादिति तत्राह—**न चेति।** अयमर्थ—यदि वक्ष्यमाणतत्तद्दृढसमतिवशात प्रमाणान्तरगम्यत्वमप्यभावस्यास्ति, तदा योग्यानुपलब्धिगम्यस्थल एव प्रतियोगिग्राहकेणाधिकरणग्रहणनियम, तत्कुत्स्य हेतो? तत्तदविनाभूतकारणव्यतिरिक्तकारणपौष्कल्य हि योग्यत्व तदन्तःपाति चेन्द्रियमिति तदभावेऽपि योग्यत्व न भवेत्। यत्र तु प्रमाणान्तरगम्यत्व तत्र तद्विरहेऽपि शक्योऽभावो ग्रहीतुमिति।

इन्द्रिय से अधिकरण रूप घटादि का ग्रहण अन्धे को नहीं होता है। फिर भी यदि शका हो कि, यदि 'प्रतियोगीग्राहक इन्द्रिय से अधिकरण के गृहीत होने पर ही योग्यानुपलब्धि से अभाव का ज्ञान होता है, तो गन्धाभाव के प्रतियोगी गन्ध के ग्राहक घ्राण से घ्राण के अविषय पुष्पादि मे गन्धाभाव का ज्ञान नही होना चाहिये, तथा रूपाभाव के प्रतियोगी रूप के ग्राहक चक्षु से चक्षु के अविषय वायु मे रूपाभाव का प्रत्यक्ष नही होना चाहिये, तो यह शका युक्त नही। क्योकि वहाँ घ्राण से वा चक्षु से अधिकरण का ग्रहण नही हो, न अभाव से अभाव का ज्ञान हो, तथापि प्रमाणान्तर से अभाव के वेद्य होने पर भी उसके व्यवहार मे कोई विरोध नही आता है, और अनुपलब्धि षष्ठप्रमाणवादी के मत मे भी सर्वत्र अनुपलब्धि से ही अभाव का ज्ञान होता है, यह नियम नही है, क्योकि व्यापक के अभाव से व्याप्य के अभाव को और कारण के अभाव मे कार्य के अभाव को अनुमेय = अनुमानगम्य माना जाता है।

उक्तं हि भट्टपादैः—

"नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते ।
विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयोः ॥" (श्लो वा ५।१२१)

तथा च ब्रह्मसिद्धौ मण्डनमिश्रैः "विपर्ययाभावस्तु युक्तोऽनुमातु हेत्वभावे फलाभावः" इति तस्मादनुपलब्धेरनन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकबलादभावप्रतीतिहेतुता स्थलविशेषेऽवसीयते । प्रस्तुते च स्वपुष्कलकारणादेव कार्योत्पत्त्युपपत्तौ न प्रतिबन्धकाभावस्य कारणता, अन्योन्याश्रयता चास्य

व्यापकाभावव्याप्याभावानुमाने भट्टमनतिमाह—**उक्तं हीति ।** अग्निधूमयोर्भावयोर्यादृशी नियम्यत्वनियन्तृत्वे गम्यगमकत्वे मनते ते एव गम्यगमकत्वे तदभावयोर्विपरीते प्रतीयेते । धूमो गमको वह्निर्गम्य इति हि भावयोः स्थितिः, अभावयोस्तु तद्वैपरीत्येनाग्न्यभावो गमको धूमाभावो गम्य इति स्थितिरित्यर्थः ।

कारणाभावेन कार्याभावानुमाने मण्डनमिश्रवचनमुदाहरति—**तथा च ब्रह्मेति ।** 'नहि कारणसद्भावे कार्यसत्तावियोगता' इति श्लोकविवरणे दोषाभावादग्रहाशङ्कानिवर्तनं इत्यख्यातिपक्षेऽविनिगम्यत्वमुक्त्वा स्वपक्षे वैषम्यमाह स्म, दोषाभावाद्विपर्ययज्ञानाभावः शक्योऽनुमातु हेतोरभावे फलाभावस्य नियमादिति । अन्यथानुपपत्तिबलादभावस्य कारणतासमर्थनमुपसहरति—**तस्मादिति ।** प्रतिबन्धकाभावस्य तु न कारणत्वे किंचन प्रमाणमित्याह—**प्रस्तुते चेति ।** उक्तान्योन्याश्रयमपि समर्थयते—**अन्योऽन्येति ।** नन्वत्राप्युक्त एव परिहारः कार्यप्रातिकूल्यस्वरूपप्रतिबन्धकत्वमनु-

---

भट्टपाद ने भी कहा है कि भावों को जैसा व्याप्य-व्यापक भाव होता है, वही व्याप्य-व्यापक भाव उनके अभाव मे विपरीत ही प्रतीत होते है (व्याप्य-व्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते, तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते) अर्थात् धूमगमक व्याप्य हेतु होता है, और अग्निगम्य व्यापक साध्य होता है, तो अभाव अवस्था मे अग्नि का अभावगमक व्याप्य होता है, धूमाऽभावगम्य व्यापक होता है । अतः अभाव से भी अभाव का अनुमान होता है ।

ब्रह्मसिद्धि मे श्रीमण्डन मिश्र ने भी कार्याभाव से कारणाऽभाव का अनुमान कहा है कि (विपर्यय ज्ञान का अभाव तो अभाव रूप हेतु से अनुमान के योग्य है । क्योकि हेतु के अभाव रहते फल का अभाव होता है) इत्यादि । अतः स्थल-विशेष मे अनन्यथासिद्ध अन्वयव्यतिरेक के बल से अनुपलब्धि की अभावप्रतीति की हेतुता मानी जाती है, सर्वत्र नही है । प्रकृत स्फोटादि की सिद्धि मे तो पुष्कल कारण से ही कार्य की उत्पत्ति की सिद्धि होते प्रतिबन्धकाऽभाव की कारणता नही सिद्ध होती है । और प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने वाले इस वादी के

मते दुर्वारा। यद्यपि मण्यादेः कार्यप्रतिकूलत्वमन्वयव्यतिरेकावसेयम्, तथापि विसामग्रीरूपतालक्षण यदिद प्रतिबन्धत्व तत्तदीयाभावस्य सामग्रचयन्तर्भावविज्ञानसापेक्षम्, प्रतिबन्धो विसामग्रीत्यङ्गीकारात्। तेन प्रतिबन्धत्वसामग्रीत्वयोरन्योरन्यापेक्षयैवाधिगतिरिति परस्पराश्रयता कथ न स्यात्? ननु मण्याद्यभावस्य सामग्रचन्तर्भावविज्ञानसापेक्षमस्तु नाम मण्यादेर्विसामग्रीत्वज्ञानम्, तथापि तदभावस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामेव वह्निस्वरूपवत्सामग्रचन्तर्भावावगतिसभवान्नान्योन्याश्रयतेति चेत्, मैवम्,

---

त्पत्त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवावसीयते इति तत्राह—**यद्यपीति**। वैसामग्रच हि प्रतिबन्ध, प्रतिबन्धाभावलक्षणकारणवैकल्य च वैसामग्रच, तथाच मन्त्राद्यभावस्य सामग्रचन्तर्भावविज्ञानसापेक्ष मण्यादेवैसामग्रचरूपप्रतिबन्धत्वज्ञान मण्यादेश्च प्रतिबन्धत्वज्ञानाधीन तदभावस्य सामग्रचन्तर्भावविज्ञानम्, प्रतिबन्धाभावलक्षणकारणवैकल्येन वैमामग्रचोपपादनादिति वक्तव्यमन्योन्याश्रयत्वमिति खण्डलकार्य। प्रतिबन्धत्वस्य स्वाभावस्य सामग्रचन्तर्भावविज्ञानापेक्षज्ञानत्वेऽपि तदभावस्य सामग्रचन्तर्भाव प्रतिबन्धज्ञानानपेक्ष शक्यो ज्ञातुम्, न ह्यग्न्यादे कारणत्व तत्तदभावस्य विसामग्रीत्वज्ञानाधीनमिनि परस्पराश्रयपरिहार पुरैवोक्त स्मारयति पूर्ववादी—**नन्विति**। परिहरति—**मैवमिति**। अनुगतरूपमादाय ह्यन्वयव्यतिरेकौ प्रतीयेने, नतु व्यावृत्तम्। तस्यानन्तत्वेनाशक्यज्ञानत्वात्, घटविशेषचिकीर्षया मृद्विशेषोपादानानुपपत्तेश्च। नह्येतद्व्यक्ति प्रत्येतद्व्यक्तेरन्वयव्यतिरेकावभूताम्। तद्विशेषस्य प्रागनुत्पत्ते। अनुगतेनापि तादृशा भवितव्य यदनतिप्रसङ्गि, तदिह प्रतिबन्धाभावस्यापि कार्यं प्रति हेतुत्वं व्यावृत्ताकारेणाशक्यग्रहण सदनुगत पुरस्करोति, रूपमभावत्व चानुगतमप्यतिप्रसङ्गि। न चाभावेषु जातिरस्ति, तत्प्रतिबन्धाभावत्वमनुगतरूपमुपाधिमादाय

मत मे अन्योन्याश्रय दुर्वार है, यद्यपि प्रथम कहा है कि मणि आदि की कार्यप्रतिकूलता अन्वयव्यतिरेक से ज्ञेय है। तथापि विसामग्रीता (सामग्री-रहितता) रूप जो प्रतिबन्धक काल मे यह प्रतिबन्धत्व होता है, वह उस प्रतिबन्धक के अभाव के सामग्री के अन्तर्भाव ज्ञानाऽऽपेक्ष होता है, अर्थात् प्रतिबन्धकाभाव मे सामग्री के अङ्गत्व (अशत्व) के ज्ञानसापेक्ष विसामग्रीता रूप प्रतिबन्धक मे प्रतिबन्धत्व होता है। क्योकि प्रतिबन्धो विसामग्री, ऐसा माना जाता है। अत प्रतिबन्धत्व सामग्रीत्व की परम्परापेक्षा से ही अधिगति (अनुभूति) होने पर परस्पराश्रयता कैसे नही होगी। यदि शका हो कि, मणि आदि के अभाव मे सामग्री अन्तर्भाव के ज्ञान सापेक्ष, मणि आदि की विसामग्रीतास्वरूप का ज्ञान हो, तो भी मणि आदि के अभाव को अन्वयव्यतिरेक से ही अग्निस्वरूप के समान सामग्री के अन्तर्भाव के ज्ञान के सम्भव होने से अन्योन्याश्रयता नही है। तो ऐसी

विकल्पासहत्वात् । तथाहि–किं मण्याद्यभावाः प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतया अवसीयन्ते ? अथवा प्रतिबन्धाभावत्वोपाधिना क्रोडीकृता ? नाद्य, मण्याद्यभावानामनन्तानामुपसंग्राहकं विना प्रत्येकमन्वयव्यतिरेकाध्यवसानस्य पुरुषायुषेणाप्यशक्यत्वात् । नापि द्वितीय, तथा सति विसामग्रीलक्षणप्रतिबन्धज्ञानाधीनप्रतिबन्धाभावत्वोपाधिज्ञानमन्तरेण मण्याद्यभावाना सामग्र्यन्तर्भावस्य दुरधिगमतयान्योन्याश्रयताया दुरुत्तरत्वात् । न च शक्तिपक्षे प्रतिबन्धासंभव, शक्तिमनभ्युपगच्छतामिव शक्तिमभ्युपगच्छतामपि कारणाना कार्यौदासीन्यस्यैव प्रतिबन्धतोपपत्ते । वैसामग्र्यस्य

कार्येणान्वयव्यतिरेकावगन्तव्यौ । यदाहोदयन—'माभूज्जाति, न तदुपहितगृहीतानामेव व्यवहाराङ्गत्वम् । सर्वत्रोपाधिमद्व्यवहारलोपप्रसङ्गादित्यतोऽय दुष्परिहर एव दुरात्मा परम्पराश्रयस्तदेतद्विकल्पपूर्वकमाह—**विकल्पेत्यादिना** । यत्तु शक्तिपक्षे क प्रतिबन्ध ? नहि शक्तेर्नाश इत्यादिना प्रतिबन्धाभावोऽभिहितस्तत्राह—**न चेति** । ननु न परस्य कार्यौदासीन्य प्रतिबन्धो, येनेद समीक्रियते, अपितु वैसामग्र्यमेव तत्राह—**वैसामग्र्यस्येति** । उदीरितरीति परम्पराश्रय । यदत्र लीलावतीकारेणार्थापत्तिमाशङ्क्योक्तम् "तत्रान्यथैवोपपत्ते, मणिमन्त्रादिना दाहप्रतिपक्षभूतस्य क्षेत्रसमवायिनोऽदृष्टभेदस्योत्पादनात् । अन्यन्तरेणापि तस्य पुरुषस्य दाहो न स्यादिति चेन्न । प्रतिनियताग्निमात्र्यदाहप्रतिपक्षस्यैवादृष्टस्य जननात्" इति । तत्रत्वेतावद्व-

---

शका युक्त नही, क्योकि मणि आदि के अभाव के अन्वयव्यतिरेक विकल्पाऽसह है । विकल्प यह है कि, अन्वयव्यतिरेक द्वारा क्या प्रत्येक मणि आदि के अभाव कारण रूप से निश्चित होते है, अथवा प्रतिबन्धाऽभावत्व रूप उपाधि (धर्म) से सगृहीत (अनुगत) होकर कारण रूप से निश्चित होते है, यहाँ प्रथम पक्ष मान्य नही हो सकता है । क्योकि अनुगत रूप को ग्रहण करके ही अन्वयव्यतिरेक की प्रतीति हो सकती है (उपसंग्राहक) अनुगमक के विना अनन्त मणि आदि के अभावो के प्रत्येक अन्वयव्यतिरेक का ग्रहण होना पुरुष के जीवन भर मे भी अशक्य है । दूसरा पक्ष भी नही मान्य हो सकता है, क्योकि उस रीति से विसामग्री स्वरूप प्रतिबन्धज्ञानाधीन प्रतिबन्धाभावत्वरूप उपाधि का ज्ञान होगा, और उस ज्ञान के विना मणि आदि के अभावो की सामग्री के अन्तर्भाविता के दुरधिगम होने मे अन्योन्याश्रयता दुर्निवार है । यदि कहे कि अन्यत्र जो हो सो हो, शक्ति पक्ष मे प्रतिबन्ध का असम्भव है, क्योकि शक्तिनाशादि रूप प्रतिबन्ध का प्रथम निषेध किया गया है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि शक्ति को नही मानने वालो के समान, शक्ति को मानने वाले के मत मे भी कारणो की कार्य से उदासीनता को ही प्रतिबन्धता हो सकती है । यदि कहे कि कार्योदासीनता प्रतिबन्ध

प्रतिबन्धस्योदीरितरीत्या निरस्तत्वात् । अत प्रतिबन्धाभावस्य कारणत्वासभवान्न कार्यार्थापत्तेरन्यथोपपत्ति ।

उपादानोपादेयभावनियमानुपपत्तिरपि शक्तौ प्रमाणमेव । ननु तत्र स्वभावभेदादेवोपपत्तेरन्यथोपपत्तिरुक्तेति चेत् मैवम्, तथा सति सर्वत्र स्वभाववादपादप्रसारिकया सामान्यसमवायविशेषादेरपि पराकरणप्रसङ्गात् । तथाहि—सत्ताया स्वभावभेदादेव सदिति व्यवहारवत् द्रव्या-

---

क्तव्यम, किमग्निविशेषोद्देशेन मन्त्रादि प्रयुक्त ? किवा दाहो न स्यादिति दाहकाग्निमात्रमुद्दिश्येति ? स्वयमेव परिभाव्यनामिति । किंच दाहानुकूलमहापातकनिकेतने पुसि दाहप्रतिकूलक्षुद्रादृप्टप्रभावस्याप्यसभवात, ओषधिलिप्तकाष्ठादिष्वदाहाभावप्रसङ्गाच्च, इदमपि तेनैव शङ्कितमिति चेत्, सत्य शङ्कितम् परिहारस्त्वसबद्ध । तत्राप्यौषधिलेपकारिपुरुषसमवेतादृप्टस्य दाहप्रतिपक्षभूतस्योत्पादादिति हि परिहारस्तत्र किं पुरुषकृतौषधिलेपाददृष्ठोत्पत्तिरौषधिलेपमात्राद्वा । नाद्य, पवनाद्युपनीतौषधिसपर्के काष्ठादावग्निसयुक्तेऽदाहभावप्रसङ्गात् । न द्वितीय, काष्ठादावप्यदृष्टोत्पादापातात । तदलमनेन लीलावतीविलासवतो विलपनेन ? प्रथमार्थापत्तिसमर्थनमुपसहरति—**अत इति ।**

द्वितीयार्थापत्ति समर्थयते—**उपादानेति ।** तत्र किं शक्तिवादिनोऽप्यन्तत स्वभावशस्त्रग्रहणमेव शरण तद्वरमादावेव स्वभावाश्रयणमिति अभिमन्धिरायुष्मताम् ? आहो क्वचिदपि स्वभावातिरिक्तशक्तौ प्रमाण नास्तीति ? आद्ये प्राह— **तथा सतीति ।** सामान्यादावपि यथायथमुपपादयति—**तथा हीत्यादिना ।**

नही मानते है, किन्तु विसामग्रीता को प्रतिवन्ध मानते है, तो यह कहना नही बन सकता है, क्योकि उक्त अन्योन्याश्रय रूप रीति से विसामग्रीत्व रूप प्रतिबन्ध निरस्त हो चुका है । अत प्रतिबन्धाभाव की कारणता के असम्भव से प्रतिबन्धाभाव द्वारा शक्ति के विना ही स्फोटादि कार्य रूप अर्थापत्ति कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति रूप प्रमाण की (प्रमाण फल की) अन्यथासिद्धि नही है ।

उपादान-उपादेयभाव नियम की अन्यथा अनुपपत्ति भी शक्ति के सत्त्व मे प्रमाण है । शका होती हे कि स्वभावभेद से ही उपादानोपादेयभाव की सिद्धि होने से अन्यथा (शक्ति के विना) ही उपपत्ति (उपादानोपादेयभाव की सिद्धि) हो सकती है, वह अन्यथा उपपत्ति प्रथम कही गई है, परन्तु यह शङ्का युक्त नही क्योकि उक्त रीति से सर्वत्र स्वभाववाद की पादप्रसारिका (वृद्धि) द्वारा सामान्य समवायविशेषादि का भो पराकरण (निराकरण) प्राप्त होगा । क्योकि सत्ता मे सत्ता जाति के अभाव से जैसे स्वभावभेद से ही सत् इस व्यवहार को माना जाता है, उसीप्रकार से स्वभाव की पादप्रसारिका द्वारा द्रव्यादि मे भी सत्

दिष्वपि सद्व्यवहारोपपत्तौ सत्तासामान्यापलाप प्रसज्येत। एव 'समवायवानय घट' इत्यादाविव सबन्धमन्तरेणापि गुणकर्मादेर्विशेषणत्वोपपत्तौ समवायापह्नव स्यात्। विशेषाणा विशेषान्तरमन्तरेणैव व्यावृत्तिव्यवहारहेतुत्ववच्च नित्यद्रव्याणामपि स्वभावभेदादेव तथात्वोपपत्तौ विशेषपदार्थपरित्यागप्रसङ्ग। अथ यत्र यत्र प्रमाणमस्ति तत्र तत्र वस्त्वन्तराधीन एव तद्व्यवहार, यत्र तु तन्नास्ति, तत्र तत्स्वभावभेदादेव व्यवहार इति व्यवस्थेति चेत्, हन्तैवमत्रापि प्रमाणसद्भावादेव स्वरूपातिरेकिणी शक्तिरङ्गी-

---

सत्तायामनवस्थाभयात्सत्तान्तरमन्तरेणैव स्वभावविशेषात्सद्व्यवहारहेतुत्वाङ्गीकारवदितरत्रापि स्यादिति सत्तापलाप, तथा समवायवानय घट इत्यत्रापि अनवस्थाभयादन्तरेणैव समवायान्तर समवायास्य घट प्रति विशेषणत्ववच्छुक्ल पटश्चलति चेत्यादावपि गुणकर्मणो स्वभावभेदादेव विशेषणविशेष्यभावप्रसङ्गात् समवायापलाप। तथा चान्त्यविशेषेषु परस्परव्यावृत्ति स्वभाववशात् तत्कस्य हेतोर्विशेषेषु विशेषान्तरस्वीकारे तेषामप्यनुगतरूपवत्तया रूपादिवदन्त्यविशेषत्वहाने, अनवस्थानाच्च। क्वचिन्नयत्र निर्विशेषस्वीकारे च तेषामेवान्त्यविशेषत्वादिति, तद्विन्नित्यद्रव्याणामपि स्वभाववशाद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्व योगिनामित्यन्त्यविशेषापलाप इति खण्डलकार्थ। उपलक्षण चैतत्, कालादेस्तत्सबन्धमन्तरेण सत्ववदितरेषामपि स्यादिति कालाद्यपलाप इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयमाशङ्क्य परिहरति—**अथेत्यादिना**। उपादानादिग्रहणमुपलक्षण चक्षुरादीना रूपादिग्रहणनियमस्यापि। नहि

व्यवहार की स्वभाव से सिद्धि होने पर सत्ता रूप सामान्य का अपलाप (अनङ्गीकार) प्राप्त होगा। इसीप्रकार से (समवाय वाला यह घट है। इत्यादि के ही असमान, अर्थात् समवाय के सम्बन्धान्तर के विना स्वभाव से समवायवत्ता के समान) सम्बन्ध के बिना ही गुण-कर्मादि की विशेषणता की सिद्धि होने पर समवाय का अपह्नव (अपलाप) होगा। और जैसे विशेषो को विशेषान्तर के विना ही स्वभाव से व्यावृत्ति व्यवहार के हेतुत्व होता है, वैसे ही नित्य द्रव्यो को भी स्वभावविशेष से ही (तथात्व) व्यावृत्तिव्यवहारहेतुत्व की सिद्धि होने पर, विशेष पदार्थ के परित्याग का प्रसङ्ग होगा। यदि कहे कि जहाँ-जहाँ सत्ता सम्बन्धादि के सत्त्व मे प्रमाण है, वहाँ-वहाँ सत्ता आदि वस्त्वन्तर के अधीन ही तत्तत् व्यवहार होता है, और जहाँ प्रमाण नही है, वहाँ उस स्वभावविशेष से ही व्यवहार होता है, ऐसी व्यवस्था है। तो कहा जाता है कि ऐसी व्यवस्था है तो हन्त (हर्ष) की बात है, इस शक्तिविषयक प्रमाण के सद्भाव होने से ही, अग्नि आदि के स्वरूप से भिन्न शक्ति को मानिये, स्वभाव वाद के

क्रियताम्, कृत स्वभाववादपादावलम्बनकातरतयेत्यलमतिविस्तरेण।

अनुमानमपि तत्र प्रमाणम्। तथाहि—

स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्ठसश्रय ।
दहनो गुणयोगित्वाद् गुरुत्वाश्रयकुम्भवत् ॥ २४ ॥

वह्निरद्विष्ठातीन्द्रियस्थितिस्थापकेतरभावाश्रय गुणवत्त्वात् घटवत्। न चेश्वरवादिनामतीन्द्रियत्वमसिद्धम्, प्रमाणान्तरोपनीतविशेषणानालम्ब-

---

सन्निकर्षमात्रात्ततसभव, रसादेरपि तत्स्यात्।

एवमर्थापत्ति समर्थयित्वा अनुमानमपि समर्थयितु श्लोकेन सगृह्णाति—**स्थिति स्थापकेति**। दहन इति धर्मिनिर्देश। पूर्वार्द्धेन साध्यनिर्देश। सङ्ग्रह विवृणोति—**वह्निरित्यादिना**। आकाशादिसयोगव्यावृत्त्यर्थमद्विष्ठेत्युक्तम्। रूपादिव्यावृत्त्यर्थ-मतीन्द्रियेत्युक्तम्। प्रत्यक्षावयविन पक्षत्वाद् द्वयणुकादिगतरूपेण नार्थान्तरता। स्थितिस्थापकनिवृत्त्यै स्थितिस्थापकेतरेत्युक्तम्। अतीन्द्रियाकाशाद्यन्योन्याभावस्या-ग्निगतस्य व्यावृत्त्यर्थ भावग्रहणम् आश्रयग्रहणेन चायुतसिद्धतया सिद्धसबन्धित्व त्रिव-क्षितम्। तेन न वायुपरमाणुभिरर्थान्तरता। गुरुत्वमादाय घटादौ साध्यप्रसिद्धि। आकाशादौ च परममहत्त्वादिना। पूर्ववाद्युक्तमनूद्य दूपयति—**न चेत्यादिना**। प्रमा-णान्तरोपनीतविशेषणालम्बनव्यतिरिक्तमनुव्यवसायातिरिक्त च यदस्मदादिप्रत्यक्ष तद-विपयत्वमतीन्द्रियत्व विवक्षित, तच्च गुरुत्वादौ प्रसिद्ध तेन न पूर्वोक्तत्रिविधाप्रसिद्ध-विशेषणतावतार इति प्रशस्तपादवचनसमतिपूर्वक दर्शयति—**प्रमाणान्तरेति**। भाष्ये भावनाग्रहण स्थितिस्थापकस्याप्युपलक्षणम्। कुण्डमिव बदराणामाश्रयो भवति वायोरप्यग्निरिति तेनार्थान्तरता, इति प्रथम पक्ष दूषयित्वा द्वितीये भाट्ट प्रत्यप्रसिद्ध-

---

पादावलम्बनरूप कायरता का कोई फल नही है, अतिविस्तार का भी फल नही है।

अनुमान भी उस शक्ति मे प्रमाण है, यह दर्शाते है—

दहन = अग्नि, स्थितिस्थापक धर्म से अन्य अद्विष्ठ अतीन्द्रिय पदार्थ का आश्रय है, गुण वाला होने से, गुरुत्वाश्रय घट के समान ॥ २४ ॥

अर्थात् अग्नि, अद्विष्ठ, अतीन्द्रिय स्थितिस्थापकान्यभाव वस्तु का आश्रय है। गुणवान् होने से, घट के समान। यहाँ आकाशादि के सयोग की व्यावृत्ति के लिये अद्विष्ठ (दो मे अवृत्ति) कहा गया है। रूपादि की व्यावृत्ति के लिये अतीन्द्रिय कहा गया है। प्रत्यक्ष अवयवी के पक्ष होने से द्वयणुकादिगत रूप से अर्थान्तरता नही होती है। अर्थात् गुणवत्त्व हेतु मे प्रत्यक्ष गुणवत्त्व कहने से अर्थान्तरता नही होती है। अग्निनिष्ठ आकाशान्योन्याभाव की व्यावृत्ति के लिये भाव का ग्रहण है। इत्यादि। प्रथम कहा था कि सर्वज्ञ योगी और ईश्वरवादी के मत मे अतीन्द्रियत्व असिद्ध है। यह कहना युक्त नही, क्योकि प्रमाणान्तर से प्राप्त विशेषणाविषयक

नानुव्यवसायेतरास्मदादिप्रत्यक्षाविषत्वस्यातीन्द्रियशब्दार्थस्य गुरुत्वादौ भावनादौ च प्रसिद्धत्वात्, 'गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रिया' इति प्रशस्तपादैरुक्तत्वात्। ननु किमिहाश्रयशब्देनाधारत्वमात्र विवक्षितम्? उत तत्समवायित्वम्? नाद्य, वह्ने कदाचित्परमाण्वाधारत्वसम्भवेन सिद्धसाधनत्वात्। नापि द्वितीय, समवायमनिच्छतो भाट्टस्याप्रसिद्धविशेषणत्वादिति चेत् मैवम्, समवायानङ्गीकारेऽपि स्वीयरूपादीनामिवायुतसिद्धतया वह्नेर्विशिष्टधर्माधारत्वस्याश्रयशब्देन विवक्षितत्वात्। न चातीन्द्रियकर्माश्रयत्वेन मीमांसकस्यार्थान्तरता, शक्तिवादिनोरपि प्राभा-

---

विशेषणतामाह — **नापि द्वितीय इति।** अस्ति तावदग्नेर्वाय्वाश्रयत्वविलक्षणाश्रयत्व स्वकीयरूपस्पर्शादि प्रति, तन्मास्तु नाम समवायित्व स्वरूपादितुल्यमेवेदमाश्रयत्वमभिमत तेन नार्थान्तरताऽप्रसिद्धविशेषणते इत्याह—**मैवमिति। अयुतसिद्धतयेति।** द्वयोरन्यतरस्य वा पृथगाश्रयित्वराहित्य वा पृथग्गतिमत्त्वराहित्य वा अयुतसिद्धिस्तद्वत्तयेत्यर्थ। ननु तथापि कर्माप्रत्यक्षवादिन प्राभाकरस्यार्थान्तरतोक्तेति तत्राह—**न चेति।** भाट्टवेदान्तिनोस्तावदक्षीणमिदमनुमान तयो कर्मप्रत्यक्षवादित्वात्, प्राभाकरस्य तु भ्रान्तिमात्रमप्रत्यक्षत्वाभिमान। तथा हि कादाचित्कातिशय स्वश्रयातिशयपूर्वक इति न तावद्व्याप्तिरस्ति। तस्यामेव क्रियाया व्यभिचारात्। या या क्रिया सा कदाचित्की न वा, नचेतन्नित्यतया सयोगादिनित्यतापत्ति। कादाचित्की चेदतिशयान्तरपूर्वकत्वेऽनवस्था। अतत्पूर्वकत्वे हेतोस्तत्रैव

(ज्ञानसामान्यलक्षणसन्निकर्षाजन्य) अनुव्यवसायभिन्न, हमलोगो के प्रत्यक्ष के अविषयत्व रूप अतीन्द्रियत्व है। उसकी गुरुत्वादि मे भावना आदि मे प्रसिद्ध है, अत असिद्धि नही है। वैशेषिक दर्शन के भाष्यकर्ता प्रशस्तपाद ने कहा है कि (गुरुत्व, धर्म, अधर्म, भावना = सस्कार, अतीन्द्रिय है) शङ्का है कि, इस अनुमान मे आश्रय शब्द का आधारत्व मात्र विवक्षितार्थ है, या अतीन्द्रिय का समवायित्व (उपादानत्व) विवक्षितार्थ है, वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि अग्नि को भी कभी अतीन्द्रिय परमाणु के आधारत्व के सम्भव से सिद्धसाधनता की प्राप्ति होगी। और दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि समवाय सम्बन्ध को नही मानने वाले भट्ट मत मे अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होगी। यह शका युक्त नही, क्योकि समवाय को नही मानने पर भी, अग्नि को जैसे अपने रूपादि की अयुतसिद्धता से आधारता होती है वैसे ही विशिष्ट धर्म (अतीन्द्रिय) की आधारता, आश्रय शब्द से विवक्षित है। दो वा एक को पृथक् आश्रयित्वाभाव, या पृथक् गतिमत्त्वाभाव अयुतसिद्धि कही जाती है, वह अयुत सिद्धता गुणादि मे रहती है। मीमासक प्रभाकर मत के अनुसार, अतीन्द्रिय

करवद्भाट्टवेदान्तिनो कर्मातीन्द्रियत्वस्यासिद्धत्वात्। विपक्षे च वह्निस्वरूपस्यैव कारणत्वात् प्रतिबन्धकाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वात्, मन्त्रादिसमवधानासमवधानयोरविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधक । न चैवंविधधर्माश्रयत्वे गुणकर्मादेरपि द्रव्यत्वप्रसङ्ग, तेषा गुणानधिकरणत्वात्। न चैवंविधधर्माश्रयत्वाद् गुणाधिकरणत्वमपि स्यादिति वाच्यम्, प्रसङ्गस्य विपर्ययापर्यवसायित्वात् । न हि यद्गुणानधिकरण तदेवंविधधर्माधिकरण न भवतीति प्रतिवादिसप्रतिपन्नमुदाहरणमस्ति, येनाय प्रसङ्गो

व्यभिचार इति भाव । विपक्षे बाधकमाह—**विपक्षे चेति** । विपक्षे मन्त्रादिसमवधानासमवधानयो । अनादरे सप्तमी । अविशेषेण कार्यजननप्रसङ्गो बाधक, कुत ? अग्निस्वरूपस्यैव कारणत्वात् । प्रतिबन्धाभावकारणत्वस्य पुरस्तान्निरस्तत्वादिति योजना दूषणान्तरमुक्त निराकरोति—**नचैवमिति** । यद्यपि शक्तिवादिना गुणादिष्वप्येव धर्मोभिमनस्तथापि माभूद् गुरुत्वस्थितिस्थापकादेरुक्तरूपनत्तदवान्तरजात्याश्रयत्वमात्राद् द्रव्यत्वप्रसक्ति । अथ तदप्यनेकवृत्तित्वाद्द्विष्ठमपि भवतीति मत तथापि गुणवत्त्व द्रव्यत्वप्रयोजकम् । नच तद्गुणादावप्यस्तीति न द्रव्यत्वप्रसक्तिरित्याह—**तेषामिति** । तर्ह्यनेनैव गुणाधिकरणत्वमपि प्रसञ्जनीयमिति तत्राह —**न चैवमिति** । प्रशिथिलमूलतया आपादन दूषयति —**प्रसङ्गस्येति** । एव ह्यस्य विपर्यय, विप्रतिपन्न गुणादि एव विवधर्मानधिकरण गुणानधिकरणत्वादिति । नचात्र व्याप्तिरस्ति, शक्तिगुरुत्वाश्रयव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात् । अस्तु तर्हि शक्तिरेव

कर्माश्रयत्व से अर्थान्तरता भी नही हो सकती है, क्योकि शक्तिवादी भाट्ट वेदान्ती को भी प्रभाकर के समान कर्म के अतीन्द्रियत्व असिद्ध है, अर्थात् शक्तिवादी-प्रभाकर के समान कर्म के अतीन्द्रियत्व को नही मानते है, अत इनका अनुमान अदुष्ट है। और विपक्ष (शक्ति के अभाव पक्ष) मे, अग्नि के स्वरूप को ही दाहादि के कारण होने से, प्रतिबन्धकाऽभाव के कारणत्व के प्रथम निरस्त होने से, प्रतिबन्धक मणि के सान्निध्य, असान्निध्य दोनो अवस्था मे अविशेष (तुल्य) दाहादि कार्य की सिद्धि की प्राप्ति बाधक तर्क है। प्रथम जो कहा गया था कि, ऐसे धर्म के आश्रय होने पर गुण, कर्मादि को द्रव्यत्व प्राप्त होगा, यह कहना युक्त नही, क्योकि गुणादि को द्रव्यत्वबोधक (साधक) गुणाधिकरणत्व का अभाव है। यदि कहे कि ऐसे धर्म (शक्ति) के आश्रयत्व होने पर गुणादि के अधिकरणत्व भी गुणादि को होगा। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यह तर्क (प्रसङ्ग) विपर्ययपर्यवसायी नही है। अर्थात् जो गुणादि वस्तु गुण का अनधिकरण है, वह ऐसे = अद्विष्ठ अतीन्द्रिय स्थितिस्थापकातिरिक्तभावधर्म का अनाश्रय है। इस प्रकार का प्रतिवादी से स्वीकृत उदाहरण नही है, कि जिससे यह प्रसङ्ग विपर्यय-

विपर्यये पर्यवसायी स्यात्, शक्तिव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य पक्षकोटिनिक्षिप्तत्वात्। द्वितीयानुमानेऽपि मायावादिन प्रति नेश्वरकारणत्वेन सिद्धसाधनता। तस्योभयवादिसमतकारणातिरिक्तत्वाभावादीश्वरकारणत्वस्य वेदान्तिभिरभ्युपगमात्, जन्यभावजन्य इति विशेषणान्तरप्रक्षेपेण भाट्टस्याप्यर्थान्तरपरिहारसम्भवात्। न चैव सति नित्येषु शक्त्यभावप्रसङ्गः;

विपर्ययपर्यवसानभूमि, तस्या गुणानधिकरणत्वादद्विष्ठातीन्द्रियत्वादिविशिष्टधर्मानाश्रयत्वाच्च। तथा शक्तावपि शक्तिस्वीकारेणानवस्थापातादिति चेन, मैवम्, नैयायिकादिमते तदसिद्धे। नच परसिद्धेन दृष्टान्तेन प्रसङ्ग प्रसरमासादयतीति साम्प्रतम्, उभयत्रादिप्रमितस्वसाधनाङ्गतानियमभङ्गप्रसङ्गादिति भाव। एव प्रथमानुमान समर्थयित्वा स्फोट सम्प्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणजन्य इत्यनुमानेऽर्थान्तरतामुक्ता परिहरति—**द्वितीयेति**। ननु भवतु वेदान्तिभिरीश्वराङ्गीकारादुभयवादिसम्प्रतिपन्नत्वेन तदतिरिक्तत्वाभावान्नेश्वरेणार्थान्तरता, मीमासकाना त्वनीश्वरवादित्वाद्भवत्येव तेनार्थान्तरतेति तत्राह—**जन्यभावेति**। तथा च न नित्येश्वरेणार्थान्तरतेति भाव। भाट्टस्यापीत्युपलक्षणम्। तर्हि नित्यगतनित्यशक्तावव्याप्तिरित्याशङ्क्य निषेधति—**न चेत्यादिना**। नित्यद्रव्येषु द्रव्यत्वेन नित्यगुणेषु गुणत्वेन सामान्यादिषु च शक्त्यन्यनित्यत्वेन सम्प्रतिपन्नवदेव शक्त्यनुमानादिति भाव। स्यादेतत्-साध्यता नाम, नित्यता तु कथ स्यात्? यावता शक्त्युपाधावेकरूपाया नित्यत्वा-

---

पर्यवसायी हो, भाव है कि विवादास्पद गुणादि, एव धर्म का अनधिकरण है, गुणानधिकरण होने से, ऐसे विपर्यय का कही व्याप्तिग्रह नही हो सकता है। क्योकि शक्ति और गुरुत्व के आश्रय से भिन्न सब पक्षकोटि मे निविष्ट (निक्षिप्त) है। अत उक्त अनुमान से शक्ति की सिद्धि होती है। दूसरा अनुमान है, (विवादविषय = स्फोट, उभयवादि-मतप्रतिपन्न (निश्चित) स्फोटकारण (अग्नि) से अतिरिक्त कारणजन्य होता है, कार्य होने से, घट के समान) इस अनुमान मे मायावादी के प्रति ईश्वरकारणता से सिद्धसाधनता नही हो सकती है, क्योकि ईश्वरकारणत्व मे उभयवादी समत कारण से अतिरिक्तत्व का अभाव है। ईश्वरकारणत्व को वेदान्ती मानते है। अतिरिक्त कारणजन्य, इसके स्थान मे अतिरिक्तजन्य भावजन्य, ऐसा विशेषणान्तर युक्त साध्य के स्वरूप को रखने से अनीश्वरवादी भाट्ट मत मे भी अर्थान्तरता के परिहार का सम्भव है, क्योकि इसप्रकार से नित्य ईश्वर द्वारा अर्थान्तरता नही हो सकती है। यदि कहे कि उक्त जन्यत्व विशेषण से अनित्य वस्तु मे अनित्य शक्ति की सिद्धि होगी, नित्य मे नित्य शक्ति की सिद्धि नही होने से उसमे अनुमेय शक्तिलक्षण की अव्याप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अनित्यो मे शक्ति की सिद्धि होने पर, उसी दृष्टान्त को

अनित्येषु शक्तिसिद्धौ तद्दृष्टान्तावष्टम्भत एव नित्येष्वपि तत्सिद्धे सलिल-परमाणुरूपादिवन्नित्येषु तस्याश्च नित्यत्वोपपत्ते ।

व्रीहीन् प्रोक्षतीत्यादिद्वितीयाश्रुतिभिश्च व्रीह्यादिषु अतीन्द्रियशक्ति-सद्भावसिद्धि । न चादृष्टस्य चेतनधर्मस्याचेतनेषु व्रीह्यादिष्वसंभवात् तद्विषयक्रियाजन्यतामात्रेण तदीयत्वप्रतिपत्त्युपपत्तेश्च द्वितीयाश्रुतिर्गौणीति

नित्यत्वविरोधादिति तत्राह—**सलिलेति** । इदमत्राकूतम्—नेयं शक्तिरेकैव, येनैकस्या शक्तेर्जन्यत्वमजन्यत्वं च विप्रतिषिध्यते, अपि तु प्रतिपदार्थं भिन्ना तथा-चावयविषु अनित्यत्वेऽपि रूपस्य पाथःपावकपरमाणुषु अनित्यत्ववन्नित्यत्वं किं न स्यादिति ?

आधेयशक्तावागमं प्रमाणं समर्थयते—**व्रीहीनिति** । यत्तु मुख्यार्थानुपपत्त्युप-न्यासेनार्थान्तरत्वमुक्तम्, तदनूद्य दूषयति—**न चेत्यादिना, वाच्यमित्यन्तेन** । तत्र

अवलम्बन करके नित्यो मे भी शक्ति की सिद्धि होगी, कि (नित्य द्रव्य शक्ति वाले है, द्रव्यत्व वाले होने से, अनित्य द्रव्यवत् । नित्य गुण शक्ति वाले है, गुण होने से अनित्य गुणवत्) इत्यादि । शङ्का हो कि शक्ति की अनुमान से सिद्धि हो, परन्तु उसकी नित्यता कैसे सिद्ध होगी, क्योकि शक्तित्व धर्म को नित्य, अनित्य शक्तियो मे वर्तने मे विरोध होगा, तो उत्तर है कि यह कोई विरोध का विषय नही है, क्योकि जैसे जलपरमाणुओ के नित्य रूपादि मे रूपत्वादि रहते है । और वही रूपत्वादि अनित्य रूपादि मे भी रहते है, वैसे ही नित्य, अनित्य, अनन्त शक्तियो मे शक्तित्व रहेगी अत नित्य मे भी अनित्य वृत्ति शक्तित्व की सिद्धि होती है । यह टीका का आशय है । वस्तुत भाव है कि भूमिपरमाणु के नित्य होते भी पीलु (परमाणु) पाकवाद मे पाक से परमाणु के रूप, रसादि पूर्व के नष्ट होते है, और फिर अनित्य उत्पन्न होते है, इसीप्रकार से नित्य परमाणु आदि मे अनित्य शक्ति के अनुमान से सिद्ध होने के कारण नित्य शक्ति ही नही है कि जहाँ अव्याप्ति हो[1] ।

(व्रीहान् प्रोक्षति) इत्यादि द्वितीया विभक्ति श्रुति से भी व्रीहि आदि मे अतीन्द्रिय शक्ति के सद्भाव की सिद्धि होती है । जो प्रथम कहा गया था, कि चेतन धर्म अदृष्ट के अचेतन व्रीहि आदि मे असम्भव होने से व्रीहि आदि विषयक प्रोक्षणादि किया से अदृष्ट की जन्यता मात्र के कारण अदृष्ट मे व्रीहिसम्बन्धित्व की सिद्धि से द्वितीया श्रुति गौणी है । उसका आत्मधर्म अदृष्ट की व्रीहिप्रोक्षण निमित्तकता के बोधन मात्र मे तात्पर्य है । व्रीहिवृत्तिता मे तात्पर्य नही हे । वह

१, जलपरमाणु मे भी द्वयणुक के रूप, रस, स्वसमवायिसम्बन्ध से रहते है, और द्वयणुक के नाश से उनका नाश होता है । इत्यादि ।

हेतुनाह—**धर्माधर्मेति**। नास्माभिर्धर्माधर्मात्मकाद्दृष्ट व्रीह्यादिष्वभ्युपेयते, अपि तु तद्विलक्षणम्। नह्यतीन्द्रियातिशय सर्वो धर्माधर्माभिधान, गुरुत्वादेरपि तत्प्रसङ्गात्। यौ हि सुखदुःखफलौ पुरुषार्थावतिशयौ पुरुषसमवेतौ, तौ नाम पुण्यापुण्याभिधानौ। एतादृशानि तु क्रत्वर्थानि, तथैव श्रुत्यादिप्रमाणैरवगमादित्यर्थ। यथा च प्रोक्षणादीना गुणकर्मतया स्वतन्त्रतापूर्वकल्पनानवकाश, भेदलक्षणे भावार्थपादे 'तानि द्वैध गुणप्रधानभूतानि' इत्यत्रोक्तम्। ननु व्रीहीणामेव प्रोक्षितताना तण्डुलादिपरपरया प्रधानापूर्वनिर्वर्तकत्वमस्तु, किमत्रादृष्टेन विनानुपपन्नमिति ? तत्राह—**अन्यथेति**। एतदनुपपत्त्यात्मकम, प्रमाणान्तरमेव वोच्यते, त्रिविध ह्यङ्ग दृष्टार्थमदृष्टार्थमुभयार्थ चेति। तत्र दृष्टार्थेष्वपि नियमादृष्टमस्त्येव, केवल दृष्टे विधिवैयर्थ्यात्, अनन्यलभ्यस्य च शब्दार्थत्वात्। अतोऽविध्यन्यथानुपपत्तिरप्यदृष्टसाधिकेत्यर्थ। ननु दृष्टसम्भवेनादृष्टकल्पनाऽयुक्तेति तत्राह—**दृष्टस्येति**। ननु भवतु विध्यन्यथानुपपत्त्याऽदृष्टम्, तच्च चेतनसमवायि, चेतनधर्मत्वात् भावनाया इति तत्राह—**संभवति चेति**। अयमर्थ—व्रीहीन्प्रोक्षतीति द्वितीयाश्रुत्या व्रीहीणामेव प्रोक्षणेन सस्कार्यत्व श्रुतम्, नतु सक्तूनामिव होमेन भस्मसाद्भूताना विनियोक्ष्यमाणत्वानुपपत्ति, येन सक्तुभिरितिवद् व्रीहिभिरिति श्रुतविनियोगभङ्गावकाश। न च तीर्थस्नानादिवत्कर्तृधर्मता, तदिह न विषयतामात्रेण द्वितीया श्रूयते, किंतु सस्कारजन्यातिशयाधारतया। तथा सति लक्षणा स्यात्। न च विना कारण लक्षणा, अतिप्रसङ्गात्।

कहना युक्त नही, क्योकि वहाँ धर्माधर्म स्वरूप अदृष्ट मे विलक्षण किसी अतिशय (सस्कार) को व्रीहि मे मानते है, कि जो प्रोक्षित धान के चावल, आँटा, पुरोडाशादि परम्परा से प्रधानाऽपूर्व (फलापूर्व) के जनन सामर्थ्य रूप अन्य नाम वाला होता है। अन्यथा प्रोक्षणजन्य सस्कार को नही मानने पर, स्वरूप से ही व्रीहि आदि को प्रधानापूर्व के साधन होने पर प्रोक्षणादि विधि मे अनर्थकता की प्राप्ति होगी। और जहाँ दृष्ट फल का असम्भव हो वहाँ अदृष्ट की कल्पना ही युक्त होता है, प्रोक्षण का दृष्ट फल नही है, अदृष्ट की कल्पना युक्त है। और अदृष्ट कल्पना द्वारा श्रुति के मुख्यार्थ के सम्भव रहते, लक्षणा (गौणी वृत्ति) आश्रयण का अवकाश नही हो सकता है। अर्थात् द्वितीया विभक्ति से प्रोक्षणजन्य सस्कार की व्रीहि मे प्रतीति होती है, कर्ता मे नही, वहाँ कर्ता मे अदृष्ट को मानकर क्रिया की विषयता मात्र से व्रीहि मे मानने पर लक्षणा सिद्ध होगी, कारण के

अनि-प-ायणस्यानवकाशत्वात्। एतेन लीलावतीकारस्यापि निराकृत प्रयोग। प्रमाणानामागमार्थाप्रत्त्यनुमानाना दर्शितत्वेन प्रमाणेनानुपलभ्यमानत्वादिति हेतोरसिद्धे। तदेवमथप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्पदाना तदभिहितेभ्य. पदार्थेभ्य सन्निधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिर्लक्षणया सिद्धयतीति सिद्धम्।

न चागमैकभूमिषु प्रमाणान्तरावतार, येन विरोधशङ्कापि स्यात्। तदुक्त भाष्यकृद्धि —'न विधौ पर शब्दार्थ' इति। यत्तु श्रीवल्लभेन शक्त्यसद्भावायानुमानमुक्तम्, तदप्युक्तप्रकारेण दूषितमित्याह—**एतेनेति।** एतेनेत्येतद्विवृण्वन्नसिद्धिमाह—**प्रमाणानामिति।** किं च यच्छब्दतच्छब्दयोस्तावदर्थपर्यालोचनायामनुमानशरीर पूतिकूष्माण्डायते। तथा हि यत्तच्छब्दाभ्या साध्यविवक्षाया यथा नील पीतरूपेणेति दृष्टान्तासङ्गति। नीलरूपविवक्षाया तु पक्षासङ्गति। अन्यश्चानुगतोऽर्थोऽनतिप्रसङ्गी दुर्निरूप, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। तथाहि—विवादपद स्वरूपमात्रसम्बद्धातीन्द्रियसापेक्ष जन्यजनकत्वादात्मवदिति शक्यमनुमातुम्। नचात्मत्वमुपाधि, स्वरूपमात्रसबद्धातीन्द्रियगुरुत्वसापेक्षाणा पतने पाषाणादीनामात्मत्वाभावेन साध्याव्यापकत्वात्। न च विवादपद स्वरूपमात्रसबद्धातीन्द्रियभावनासापेक्षमदृष्टसापेक्षमिति वा जनकत्वादात्मवदित्यपि प्राङ्गेनाभाससमानयोगक्षमेना, आत्मत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात्। यच्च तेनोक्त शक्तेरपि शक्त्यन्तरापेक्षायामनवस्थिति, अनपेक्षत्वे तयैव व्यभिचार इति, तदसत्, शक्तस्य कारणत्वाभ्युपगमात्। न चान्नत प्रतीति प्रत्यपि कारणत्वमस्तीति वक्तव्यम्, प्रत्यक्षप्रतीतेरेवार्थजन्यत्वात्। शक्तेश्चाप्रत्यक्षत्वात्। अनुमानादीना तु नार्थजन्यत्वमितरथाऽतीतानुमानानुदयप्रसङ्गात्, न च योगिनामतीताद्यपि प्रत्यक्षमितिप्रत्यक्षेप्यर्थजन्यत्व शक्य-व्यञ्जनम्, अतीतादीना प्रत्यक्षत्व एव विवादात्। यथाह परमर्षि —'विद्यमानोपलम्भनादिति'। वादार्थमुपसहरन् शक्तिसमर्थनस्य समन्वयोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना।** अर्थप्रत्यायनशक्तिसद्भावात्पदाना पदैरेव स्वाभिहितपदार्थेभ्यो द्वारभूतेभ्य सन्निधानादिसहकारिवशात् पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिपत्तिर्लक्षणया सिद्धयतीति सिद्धमित्यन्वय।

विना लक्षणा युक्त नही होती है, इत्यादि। इस शक्तिप्रतिपादन से ही लीलावतीकार का प्रयोग भी निराकृत हो गया, क्योकि आगम, अर्थापत्ति, अनुमान प्रमाणो के प्रदर्शित होने के कारण, उनके "प्रमाणेन अनुपलभ्यमानत्व" रूप हेतु असिद्ध (बाधित) हो गया। अत उक्त रीति से पदो की अर्थबोधन शक्ति के सद्भाव से, उन पदो से कथित पदार्थो के द्वारा सन्निधि, योग्यता आदि के बल से पदार्थो के परस्पर सम्बन्ध की प्रतीति लक्षणा से होती है, यह सिद्ध हुआ। सर्वत्र ही वाक्यार्थ लक्ष्य होता है, यह मीमॉसको का सिद्धान्त है।

ननु पदानामेवान्योन्यान्वितस्वार्थाभिधायकत्वसम्भवे किमिति पदार्थाना लक्षणयान्योन्यान्वयप्रतिपत्तिजनकत्वमास्थीयते ? तथा हि—योग्येतरान्वितस्वार्थेषु पदानामावापोद्धारदर्शनात्तत्रैव सामर्थ्यमध्यवसीयते। यद्यपि प्रतिप्रयोग विशेषान्तरतत्ससर्गयोर्व्यभिचार, तथापि योग्येतरान्वितस्य स्वार्थमात्रस्याव्यभिचारात्, प्रथमावगतयोग्येतरान्वितस्वार्थाभिधानसाम-

---

इत्येषा सदसत्प्रकारविधुरा माया दुरुन्नीतितो
मूलत्वात्प्रकृति प्रबोधभयतोऽविद्या सहायोदिता।
शक्तिर्विश्वमयस्य यस्य विशदानन्दप्रबोधोदधे-
र्निर्धूताखिलभेदगन्धनमत वन्दे भवानीपतिम्॥

पदार्थान्वयप्रतिपत्ति पदैर्लक्षणया सिद्ध्यतीत्युक्तम्, तत्र पदार्थानामन्विताऽवस्थापि पदैरभिधेयैव न लक्ष्येति अन्विताभिधानवादिन प्रत्यवतिष्ठन्तेतराम्—**नन्वित्यादिना।** श्रौतत्वसम्भवे लक्षणा न न्याय्या, मुख्यामुख्ययोर्मुख्यस्याभ्यर्हितत्वादिति भाव। नन्वन्विते सामर्थ्याश्रयणाद्वर स्वरूपमात्रे सामर्थ्याश्रयणमतिलाघवात्, इतरथा गौरवप्रसङ्गादिति तत्राह—**तथा हीति।** प्रमाणगर्भं गौरव न दोषायेति भाव। नन्वेकस्मिन्प्रयोगे बन्धनान्वित गोत्व प्रतीयते, अपरस्मिन्नानयनान्वितम्, अपरत्र दर्शनान्वितमिति व्यभिचारिणौ पदार्थान्तरतदन्वयौ, अव्यभिचारि च, गोत्वम्, अव्यभिचारिणि सामर्थ्य युक्तमाश्रयितुमैकरूप्यादत पदार्थमात्रमेव पदशक्तिगोचर इति तत्राह—**यद्यपीति।** ननु किमित्येव व्यभिचारिणोरपि पदार्थान्तरतत्ससर्गयोरनुगतमेक रूपमापाद्य अनुगतशक्तिकल्पनानिर्बन्ध इति तत्राह—**प्रथमेति।** तदुक्त वाक्यार्थमातृकाया नाथेन —

'आकाङ्क्षासन्निधिप्राप्तयोग्यार्थान्तरसगमान्।

वहाँ अन्विताभिधानवादी (योग्येतरान्वितशक्तिवादी) शका करते है कि, पदो को ही परस्पर अन्वितस्वार्थवाचकत्व के सम्भव रहने, पदार्थो के परस्पर अन्वयज्ञानजनकत्व को लक्षणा द्वारा क्यो माना जाता है। क्योकि पदो के अवापोद्धार के दर्शन (द्वारा) मे, उस योग्येतरान्वित स्वार्थ मे ही सामर्थ्य (शक्ति) का निश्चय होता है, यद्यपि प्रत्येक प्रयोग मे विशेषान्तर और तत्तत् समर्ग का व्यभिचार रहता है, अर्थात् 'घटमानय' इससे घटमानय मे विशेष पदार्थ भिन्न रहता है। घट पश्य, इसमे उन दोनो से सम्बन्ध विलक्षण रहता है, अत ये व्यभिचारी है, और पदार्थ मात्र की अव्यभिचारी अर्थ मे शक्ति मानना चाहिये, तथापि योग्येतरान्वित स्वार्थ मात्र का भी सर्वत्र अव्यभिचार (सम्बन्ध) रहता है, अत प्रथम 'गामानय' इत्यादि से ज्ञात योग्येतरान्वित स्वार्थकथन सामर्थ्य के अनुसार,

र्थ्यानुसारेण प्रयोगान्तरेष्वपि तथैव कल्पयिष्यते ।

ननु किमनभिहितेन पदार्थेनान्वित स्वार्थमवबोधयति गोपदम् ? उत पदान्तराभिहितेन ? नाद्य , एकस्मादेव पदात्तत्तदर्थावबोधप्रभवेन पदान्यरस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न द्वितीय , परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । तथाहि— गामानयेत्यत्र गोपद यावदानयपदेन गोपदार्थान्वितस्वार्थो नाभिधीयते, न तावत्तदन्वितस्वार्थमभिधातुमर्हति, एव तदपि पद यावत्स्वार्थान्वितमर्थ गोपद नाभिदध्यात् , तावत्तदन्वितस्वार्थ नाभिधत्ते । ततश्च गोपदेन तद-

---

न्वार्थानाहु पदानीति व्युत्पत्ति सश्रिता यदा ॥
अन्वयव्यभिचाराभ्या तदा दोषो न कश्चन ॥'
इति (प्र प परि पृ ५)

प्रयोगान्तरेषु तुरगमानयेत्यादिषु इत्यर्थ ।

अनाभिहितान्वयवादिनामाक्षेपमवतारयति — **नन्वित्यादिना** । येन पदार्थान्तरेणान्वित स्वार्थमभिदधाति गोपद तत्किमन्येनानभिहितम् ? उताभिहितम् ? आद्ये पदान्तरवैयर्थ्यम् , विनैव तदभिधान तदन्वयलाभात्, एकपदादेव सर्वार्थप्रतीतिप्रसङ्गात् । न च योग्येतरमात्रान्विताभिधानेऽपि तद्विशेषान्विताभिधानसिद्धये पदान्तरोपादानम् , विशेषान्विताभिधानेऽप्यभिहितानभिहितविकल्पस्य तुल्यत्वात् । द्वितीय दूषयति—**न द्वितीय इति** । आनय इति पदेन गोत्वान्विततयाऽऽनयनाभिधाने सति आनयनान्वित गोत्व गोपदमभिदध्यात, एव गोपदेनानयनान्विते गोत्वेऽभिहिते तदन्वितमानयनमानयेतिपदमभिदध्यादित्यन्योन्याश्रय इति खण्डलकार्थ । ननु नात्र परस्पराश्रयताया अवतार, परस्परनिरपेक्षाणि प्रथम पदानि पदार्थानससृष्टान-

---

'तुरगमानय' इत्यादि प्रयोगान्तरो मे भी उस प्रथमावगति के समान ही अन्वितार्थ मे शक्ति की कल्पना हो सकेगी, अन्वित रूप से पदार्थ सर्वत्र तुल्य है । इत्यादि ।

अब अभिहितान्वयवादी की शङ्का है कि, क्या किसी पद से अनभिहित (अकथित) पदार्थ के साथ अन्वित अपने अर्थ का गोपद (शब्द) बोधक होता हे, अथवा पदान्तर से अभिहित (कथित) के साथ अर्थ के अन्वय का बोधक होता है । वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि गामानय इस वाक्य मे गोपद से ही आनय पद के अर्थ से अन्वित स्वार्थ के कथन होने पर, इतरान्वित गोपदार्थ का एक पद से ही बोध होने के कारण 'आनय' इस पदान्तर मे व्यर्थता की प्राप्ति होगी । दूसरा पक्ष भी नही बन सकता हे, क्योकि, परस्पराश्रयता की प्राप्ति होती हे, जैसे कि (गामानय) यहाँ जब तक 'आनय' पद से गोपदार्थान्वित स्वार्थ कथित नही होगा, तब तक गोपद आनयनार्थ से अन्वित स्वार्थ को नही

न्वितस्वार्थेऽभिहिते पश्चादानयपदेन तदन्वित स्वार्थोऽभिधातव्य, सति च तस्मिन् गोपदेन स्वार्थोऽभिधातव्य इति व्यक्तमेव परस्पराश्रयत्वम्। पदार्थमात्राभिधानपूर्वके तु तदन्विताभिधाने द्विरभिधानमप्रमाणमनुपपद्यमान चापद्येत, ननु द्विरभिधान न पदजातस्य, साहचर्यवशात् स्वार्थेषु प्रथम स्मारकाणा पश्चादन्विताभिधायकत्वाभ्युपगमादिति चेत्, मैवम्,

---

भिधाय पश्चादन्योन्यान्वितास्तानेव पदार्थानभिदधत इति तत्राह—**पदार्थमात्रेति।** न केवलमेव कल्पनाया प्रमाणा व, अपि तु प्रमाणविरोधश्चेत्याह—**अनुपपद्यमानं चेति।** तथाहि ससृष्टाशेऽपि चेत् पदानि गृहीतसगतिकानि, तमपि प्रथममेवाभिदध्यु, अगृहीतसगतिकत्वे पश्चादपि नाभिदध्यु, इत्यस्त्येवानुपपत्ति, सकृत्प्रयुक्तशब्दस्य विरम्य व्यापारानुपपत्तिर्वानुपपत्ति। ननु न प्रथममभिधायकानि पदानि, येन द्विरभिधान प्रसज्येत, अपि तु प्रथम पदार्थेपु स्मृतिरेव जायते, सहचरितदर्शनात्, सहचरितानि हि पदार्थै प्रथमपदान्यनुभूतानि देवदत्तदर्शनादिवत्तत्सहचरितयज्ञदत्ते, अनन्तर तु ससृष्टदशाया स्मारिताना पदार्थानामभिधानमिति तदेतच्छङ्कयित्वा परिहरति—**मैवमिति।** अन्वितपदार्थै साहचर्यमेवोपपादयति—**न हि पदमिति।**

कह सकता है। इसीप्रकार से जब तक गोपद से आनयनान्वित स्वार्थ नही कहा जायगा, तब तक वह आनय पद भी गोऽर्थान्वित स्वार्थ को नही कहेगा। अत गोपद मे आनयनान्वितार्थ के कहने पर, पीछे आनय पद से गोऽर्थ अन्वित स्वार्थ वक्तव्य होगा। और गवार्थ से अन्वित उस आनयन पदार्थ के कथित होने पर, गोपद से आनयनान्वित स्वार्थ वक्तव्य होगा, इसप्रकार से स्पष्ट ही परस्पराश्रय है। यदि कहा जाय कि प्रथम सब पद अपने-अपने शुद्ध (अनन्वित अर्थ को कहते है, फिर अन्वित अर्थो को कहते है, ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय नही होगा, तो कहा जाता है कि इसप्रकार से पदार्थ मात्र के कथनपूर्वक फिर पदार्थान्वित के कथन पर, प्रमाणरहित द्विवार का कथन और अनुपमद्यमान (अयुक्त) अर्थ प्राप्त होगा। क्योकि यदि अन्वितार्थ मे शक्ति गृहीत होगी तो प्रथम ही उस अन्वितार्थ को भी पद कहेगे, अन्वित मे शक्ति गृहीत नही हो तो पीछे भी उनका पद से ज्ञान नही हो सकता है, इत्यादि अनुपपत्ति है। यदि कहा जाय कि पद-समूह को = अपने अर्थो को, दो वार नही कहना होता है, क्योकि प्रथम पद अपने-अपने अर्थो के वाचक (बोधक) नही होते हे, किन्तु शक्तिग्रह काल मे पदो को अर्थ के साथ साहचर्य (सम्बन्ध) का ज्ञान होता है, अत अर्थसहचरित (सम्बन्धी) पदो के श्रवण से, साहचर्य के बल से प्रथम पद अपने अर्थ के स्मरणमात्र कराते है, फिर पीछे स्मृतिजनक (स्मारक) पदो को अन्वितार्थवाचकत्व होता है, ऐसा मानने से द्विवार अर्थबोधकत्व की प्राप्ति नही होती है। तो ऐसा कहना

साहचर्यदर्शनदशायामन्वितानामेवानुभूततया तथैव स्मरणस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। न हि पद पदार्थमात्रप्रतिपत्तये प्रयुज्यते, किंतु व्यवहाराय, स चान्वित एवेति कथमनन्वितानामेव पदार्थाना पदेभ्य स्मृति स्यात्? तथा च गा पश्येति प्रयोगे गोपदेन पूर्वानुभूतानयनान्वितस्वार्थस्य स्मारितत्वात्पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थमसङ्गत प्रसज्येत, एव प्रासाद पश्येत्यत्र प्रासादान्वितस्वार्थाभिधायकत्वात्पश्येति पदस्य, न गोपद तेन सबध्येत। तथा च वाक्यार्थ क्वापि परिनिष्ठितो न सिद्ध्येत्। नन्वव्यभिचाराद्-

---

व्यवहारसमर्थससृष्टपदार्थैं साहचर्यात्तादृगर्थस्मारकपदाना पदार्थमात्रस्मारकत्वमप्रसिद्धमित्यर्थ । अङ्गीकारे च दूषणान्तरमाह—**तथा चेति**। अयमर्थ—गामानयति प्रयोगे गोपदस्यानयनान्वितगोत्वेन साहचर्योपलम्भात गा पश्येति प्रयोगेऽपि कारकमिधायिगोपदमानयनान्वितमेव गोत्व- स्मारयेदिति पश्येति पदमनाकाङ्क्षितार्थस्मारकमसङ्गत प्रसज्येत। एव तस्मिन्नेव प्रयोगे गोपदमपि पश्येत्यनेन क्रियावाचिनाऽनाकाङ्क्षितार्थस्मारकमसङ्गतमेव स्यात्, पश्येत्यस्य प्रयोगान्तरेऽर्थान्तरसाहचर्यदर्शनादिति । उक्तामव्यवस्था सर्ववाक्येष्वतिदिशति—**तथा चेति**। साहचर्याविशेषेऽपि पदार्थान्तरवैषम्य शङ्कते—**नन्विति**। व्यभिचारेऽपि भूयोदर्श

युक्त नही, क्योकि साहचर्य (शक्तिसम्बन्ध) के दर्शन (ज्ञान) दशा (अवस्था = काल) मे अन्वित पदार्थो के ही अनुभूत होने के कारण उसी प्रकार से अन्वित के स्मरण को अवश्य आश्रयण करना (मानना) होगा, शुद्ध का नही। क्योकि पदार्थ के ज्ञान के लिये पद का प्रयोग (उच्चारण) नही किया जाता है, किन्तु व्यवहार के लिये प्रयोग किया जाता है। और वह व्यवहार अन्वित मे होता है, तो अनन्वित पदार्थो का ही स्मरण कैसे होगा। और उक्तरीति से अन्वित मे शक्तिग्रह और अन्वित की स्मृति को मानने पर, जिसको शक्तिग्रह काल मे 'गामानय' इस वाक्य से आनय से अन्वित गोपदार्थ मे गोपद की शक्ति का ज्ञान हुआ है, उसको 'गा पश्य' गो को देखो, इस प्रयोग मे शक्तिग्रहण के अनुसार गोपद से पूर्वानुभूत आनयन से अन्वित स्वार्थ (गोपदार्थ) के स्मारित (स्मृतिविषय) होने से, पश्य यह पद अनाकाक्षित अर्थवाला असङ्गत प्राप्त (सिद्ध) होगा। इसीप्रकार से (प्रासाद पश्य) प्रासाद को देखो, यहाँ पश्य इस पद के प्रासादान्वित अर्थ के वाचक होने से (गामानयगत) गोपद उस पश्य पद के साथ सम्बन्ध वाला नही होगा (पश्यार्थ से अन्वित स्वार्थ को गोपद नही कहेगा) और ऐसा होने पर कही भी परिनिष्ठित (निश्चित) वाक्यार्थ नही सिद्ध होगा। यदि कहा जाय कि साहचर्य (शक्ति) ग्रहण काल मे यद्यपि इतरान्वित अर्थ मे गोपद की शक्ति का ज्ञान होता है तथापि अन्वय के व्यभिचारी (भिन्न-भिन्न) होने से,

गोपद स्वार्थमात्रमेव स्मारयति, नार्थान्तराणि, तेषा व्यभिचारित्वादिति चेत्, मैवम्, पट्वभ्यासादरप्रत्ययैराहिताया भावनाया प्रबोधवत्या स्मरणहेतुत्वाङ्गीकारात्। तत्प्रबोधस्य च व्यभिचारिण्यर्थान्तरे परिगणितप्रणिधानसाहचर्यादिजन्मनोऽविशेषात्। परिगणिता हि स्मृतिहेतव "प्रणिधानाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रिताश्रयसबन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयव्याप्तिव्यवधानसुखदुखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियाराग-

---

नाद्याहितसस्कारोद्बोधादुत्पद्यमाना स्मृतिर्नान्वितान्वितपदार्थयोर्विशिष्यत इति परिहरति—**मैवमिति।** भावना सस्कार। सकृद्गृहीतेऽपि तडिदादौ पटुप्रत्यय, कण्डिकादावभ्यासप्रत्यय, अद्भुतेष्वादरप्रत्यय, तथाप्यप्रबुद्धस्य न स्मृतिजनकत्वमिति प्रबोधग्रहणम। ननु भावनोद्बोध एव न तथा व्यभिचारिणि, यथा अव्यभिचारिणि पदार्थमात्र इति, तत्राह—**तत्प्रबोधस्येति।** प्रबोध उद्बोध। परिगणितेभ्य प्रणिधानसाहचर्यादिभ्यो जन्म यस्य प्रबोधस्य तस्येत्यर्थ। भगवदक्षपादेन परिगणितानेव शास्त्रान्तरे स्मृतिहेतून्दर्शयति - **परिगणिता हीति। स्मृतिहेतवः।** सस्कारोद्बोधनद्वारेति शेष। प्रणिधान मनोऽवधानम्। अभ्यास प्रसिद्ध। लिङ्गाद्व्याप्तिसस्कार। लक्षण धवलच्छत्रादिचिह्न राजादिसस्कारोद्बोधकम्। सादृश्य शुक्तिभास्वरतादि रजतादिसस्कारोद्बोधकम्। परिग्रह स्वीकार कलत्रादिसस्कारस्य। एवमाश्रिताश्रयावपि परस्परसस्कारस्य। सम्बन्ध सहचार सहचरितसस्कारस्य। आनन्तर्य पूर्वननपदार्थसस्कारस्य। वियोग कामिन्यादौ। एककार्यमेकस्मादुत्पन्नकार्याणामन्यतमसस्कारस्य। विरोध सर्पनकुलादौ। अतिशयेनातिशयिते। व्याप्त्या व्याप्यव्यापकया। व्यवधान प्रियतमव्यवहिते। सुखदुखादि तज्जातीयस्य तद्धेतोश्च। अर्थित्वमर्थनीये। अर्थित्व तु अप्राप्तविषये पुन पुनरिच्छा। तेनेच्छया न पौनरुक्त्यम्। क्रियाराग क्रियाशक्ति स्वविषयस्य। धर्माधर्मौ शुभा-

---

स्वार्थ मात्र के साथ अव्यभिचार होने से गोपद स्वार्थ मात्र का ही स्मरण कराता है, अर्थान्तरो का नही, क्योकि उनमे व्यभिचारित्व (भिन्नत्व अनियतत्व) रहता है, तो ऐसा कहना युक्त नही। क्योकि पटु (तीव्र कुशल) अभ्यास, आदरपूर्वक जनित ज्ञान से जनित उद्बोध युक्त सस्कार की स्मृतिहेतुता मानी गई है, और परिगणित= प्रणिधान साहचर्यादि से जन्म वाले उस सस्कार के उद्बोध (अभिव्यक्ति) को व्यभिचारी अर्थान्तर मे अविशेष (सहचारी अर्थ के तुल्य) होता है। स्मृति सस्कार उद्बोध के हेतु न्यायदर्शन मे परिगणित है कि प्रणिधान (ध्यान), अभ्यास, लिङ्ग (व्याप्तियुक्त हेतु), लक्षण (चिह्न), सादृश्य, परिग्रह (परिवार), आश्रित (भृत्यादि), आश्रय, सम्बन्ध (सहचार), आनन्तर्य, वियोग, एककार्य, विरोध, अतिशय (विशेष) व्याप्ति, व्यवधान, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, भय,

धर्माधर्मा " प्रामाणिकै, अस्ति चेह योग्येतरान्वयस्यापि साहचर्यं स्मरण-हेतु । तस्मात्पदैरभिहिता पदार्था एवाकाड्क्षादिमन्त परस्परान्वय बोधयन्तीति युक्तमाश्रयितुम् ।

मैवम्, त्वयापि पदार्थविषया प्रत्यया प्रमाणविपर्ययसशयादिष्वनन्तर्भावात्स्मृतय एष्टव्या, ताश्चान्वितगोचरा न स्वरूपमात्रगोचरा इति

शुभविषयसस्कारोद्बोधकौ । यस्मादेवमन्विताभिधानपक्षो न घटतेऽनोभिहितान्वय-पक्ष एव श्रेयानित्युपसहरति अभिहितान्वयवादी—**तस्मादिति ।**

अत्रान्विताभिधानवादी स्वपक्षदूषण प्रतिबन्द्या समादधाति—**मैवमित्यादिना ।** पदार्था एव पदैरभिधीयन्ते, तदन्वयस्तु लक्ष्यते इति यच्चाभिहितान्वय-वादिनो मत तेनापि पदार्थविषया प्रत्यया प्रमाणत्वेन नाभ्युपगन्तु शक्या । अनधिगतार्थगन्तृत्वाभावात्, सर्वस्य सत्त्वप्रसङ्गाच्च । नापि विपर्ययसशयत्वाभ्याम्, यथार्थनिश्चयत्वात् । अत परिशेषात्स्मृतय एवैष्टव्या । ताश्च न पदार्थमात्रगोचरा, सहचरिनदर्शनात् खल्वय सस्कारोद्बोध, साहचर्य चान्विते पदार्थे नत्वनन्वितत्तै-रित्यायुष्मतैवावेदितम । तथाच कथ त्वन्मतेऽपि पदार्थमात्रस्य प्रथम स्मरणम् ? सोऽयमात्मीय एव बाणो भवन्त प्रहरतीति भाव । ननु द्विविधा स्मृति पदजनिता, साहचर्यादभिधानाच्च । तत्र साहचर्यमन्वितेऽपि समानम् । अभिधान तु पदार्थमात्रे ।

अर्थित्व, क्रिया, राग, धर्म और अधर्म ये सब प्रमाणियो से सस्कार के उद्बोध द्वारा स्मरण के हेतु कहे गये है । और यहाँ भी योग्येतरान्वय के स्मरण का हेतु साहचर्य है, अत पद से कथित पदार्थ ही आकाक्षादि वाले होते हुए परस्पराऽन्वय के बोधक होते है ।

अन्विताऽभिधानवादी कहते है कि उक्त कथन युक्त नही है, क्योकि, आप को भी प्रमाणविपर्यय, सशय, निद्रा आदि के अनन्तर्भाव से पदार्थविषयक ज्ञानो को स्मृतिस्वरूप मानना होगा । अर्थात् यद्यपि आप कहते है कि पदो से पदार्थ कहे जाते है, और उनका अन्वय आकाक्षा से लक्षित होता है, तथापि पद से पदार्थविषयक ज्ञानो को प्रमाणरूप नही मान सकते है, क्योकि वे ज्ञान अनधिगतार्थ विषयक नही होते है, और यथार्थ होने से सशयविपर्यय भी नही हो सकते हे, अत परिशेष से स्मृतिस्वरूप होगे, किन्तु पदार्थमात्र विषयक नही हो सकते है, क्योकि सहचरित पद के ज्ञान से उद्बुद्ध सस्कार से स्मृति होती है, और सहचारज्ञान अन्वित-पदार्थ के साथ ही पदो के सहचार को ग्रहण करता है, अत तज्जन्य सस्कार से अन्वित का ही स्मरण आपके मत मे भी होगा । पदार्थ के स्वरूपमात्र विषयक नही होगा, तो अन्विताभिधानवाद के तुल्य ही दोष आपके मत मे प्राप्त होगा । ऐसा

तुल्यो दोष । न च वाच्यमभिधानत स्मारितमेव वाक्यार्थान्वयि, न साहचर्यमात्रादिति, गङ्गाया घोष प्रतिवसतीत्यादौ पदानभिहिततीरादीनां वाक्यार्थानन्वयप्रसङ्गात् । अभ्यासातिशयश्च पदार्थस्मरणहेतु । स च यथा पदाना स्वार्थेषु, न तथार्थान्तरेषु, तेषा व्यभिचारित्वात् । तथा च स्वरूपमात्रेणैव पदेभ्य स्मारिता पदार्था आकाङ्क्षादिमन्त पदैरन्विता

अभिधानद्वारा च यत्स्मारित तदेव वाक्यार्थान्वयोपयोगि नेनरदिति ब्रूम, देवदत्त ! गामानयेत्यादौ तत्सहचरितयज्ञदत्तादेरन्वयादर्शनात्ततो वैषम्यमिति तत्राह—**न चेति** । हेतुमाह—**गङ्गायामिति** । यदि ह्यभिधानेन स्मारितमेव वाक्यार्थोपयोगि, तर्हि तीरादिपदार्थाना वाक्यार्थान्वयो न स्यात्तेषामभिधानाभावान्मुख्यार्थसाहचर्यादेव स्मारितत्वादित्यर्थ । नन्किमेवमनुपपत्तिसाम्यापादनेन निवृत्तो भवन् तथा च मतानुज्ञाराजयक्ष्मकक्षीकार स्यादित्यत स्वपक्षे परिहारमाह—**अभ्यासेति** । यस्मादव्यभिचारिपदार्थेष्वभ्यासातिशयात्तावन्मात्रस्य प्रथम स्मरणोपपत्ति, अत पूर्वोक्त परस्पराश्रयपरिहार स्थित एवेत्याह—**तथा चेति** । तदुक्तम् शाब्दनिर्णये—

'क्रमेणावगतानर्थान् युगपत्सहृतानथ ।
प्रमिमीरन्पदानीति नान्योन्याश्रयदोषता ॥' इति ॥

नाथैरपि—'श्रूयमाण पद सर्व स्मारितानन्वितार्थकम् ।
न्यायसम्पादितव्यक्ति पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम् ॥
स्मृतिसन्निहितैरेवमर्थैरन्वितमात्मान ।
अर्थमाह पद सर्वमिति नान्योन्यसंश्रय ॥' इति ॥

यत्तु सर्वेषा पदानामन्योन्यानाकाङ्क्षितार्थसमर्पणमापादित तत् न, अभिधानापर्यवसानाद्वा अभिहितार्थापर्यवसानाद्वा पदार्थान्तरे पुरुषस्य जिज्ञासा ह्याकाङ्क्षा-नाम यथाहु—

'अभिधानावसाना हि जिज्ञासार्थाच्च जायते ।
प्रयोजनावसानाच्च पदार्थे सा निवर्तते ॥' इति ॥

नहीं कह सकते है कि वाचक शब्द से स्मारित पदार्थ ही वाक्यार्थ मे अन्वय वाला होता है, साहचर्य मात्र से स्मारित नहीं । क्योकि ऐसा मानने पर (गङ्गाया घोष प्रतिवसति) गङ्गा मे अहीर का ग्राम बसता है, इत्यादि वाक्यों मे पद से अकथित तीरादि का वाक्यर्थ मे अनन्वय (अन्वयाऽभाव) प्राप्त होगा । और अभ्यास का अतिशय पदार्थ के स्मरण का हेतु होता है, और वह अभ्यास का अतिशय जैसा पदो का स्वार्थो मे होता है, वैसा अर्थान्तर मे नहीं होता है, क्योकि अर्थान्तरो को पद के साथ सम्बन्ध का नियम नहीं रहता है, अत उनमे व्यभिचारित्व रहता है । अतएव अव्यभिचारी सम्बन्ध के कारण पदो द्वारा स्वरूप मात्र से स्मारित आकाक्षादि वाले पदार्थ फिर अन्वित रूप से पदो से कहे जाते हैं, अत

अभिधीयन्त इति न परस्पराश्रयता। नापि पदान्तरानाकाङ्क्षा, आकाङ्क्षा हि प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा, सा चाभिधानापर्यवसानादभिहितार्थापर्यवसानाद्वा भवति। यथा वृक्ष इत्यत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तेस्स्मरणात्तेनैव तस्यान्विताभिधानासम्भवादन्यस्य चानभिधानादभिधानपर्यवसानायैवाकाङ्क्षा। यथा वा 'विश्वजिता यजेत' इत्यत्र कार्यस्य विषयकरणान्विततया प्रतीतस्यैवापर्यवसानाद्विशिष्टाधिकारिकल्पना। तदेवमूनाकाङ्क्षा-

---

नाथेनापि 'अन्वितस्याभिधानार्थ'मित्यादि। तदिहाभिधानानवसानजनिताकाङ्क्षा पदार्थान्तरेऽपि समाना, तद्विशेषनिर्णयस्तु सन्निहितयोग्यपदावमर्शादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**नापीति**। नच पदत्रयात्मके अन्यतरानाकाङ्क्षा कारणद्वयाभावादिति वाच्यम्, अश्रूयमाणे हि तथा, श्रूयमाणे तु रक्तपटन्यायेनाकाङ्क्षाकल्पनात्। अभिधानपर्यवसानोदाहरणमाह—**यथा वृक्षेति**। वृक्ष इति पदेनापि हि पदत्वादन्वितो वृक्षोऽभिधातव्य, स च केनान्वित इति विमर्शे न तावद्वृक्ष वृक्षैरित्यादौ कर्मकरणादिभिरिव विभक्त्यर्थेन। प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविधानात्। 'प्रातिपादिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इति प्रातिपदिकार्थादिष्वर्थेषु प्रथमा पाणिनि स्मरति स्म। नच पदार्थान्तरमभिहितमस्ति। तस्मादभिधानपर्यवसानायैव तत्र तिष्ठतीत्यादौ जिज्ञासेत्यर्थ। अभिहितापर्यवसानस्योदाहरणमाह—**यथा वेति**। विषयो धात्वर्थ, स एव करण हि पदान्तरश्रवणादभिधानपर्यवसानेप्यभिहितापूर्वापर्यवसानमस्ति। विषयो नियोज्यव्यावृत्तो हि नियोग प्रतीयमानोऽनुष्ठानाय कल्पत इति विषयवन्नियोज्येप्यस्त्येवाकाङ्क्षेत्यर्थ। प्रतिपादितामाकाङ्क्षा प्रकृतेऽपि दर्शयति—**तदेवमिति**। यद्यप्यन्योन्याश्रयादिदोषो नास्ति, तथाप्यभिहितपदार्थेभ्य

परस्पराश्रयता नही है। और कहा गया था कि अन्विताऽभिधान पक्ष मे (गामानय) यहाँ गाम् पद से ही आनयनाऽन्वित गोपदार्थ के कथन हो जाने मे, आनयन पद की आकाक्षा नही रहेगी, वह पदान्तर की अनाकाक्षा दोष भी नही है, क्योकि आकाक्षा प्रतिपत्ता (ज्ञाता) की जिज्ञासा को कहा जाता है। और वह जिज्ञासा अभिधान के (वाक्य के) अपर्यवसान (अपूर्णता) से, या अभिहित (कथित) के अपर्यवसान मे होती है। जैसे कि 'वृक्ष' यहाँ प्रातिपदिकार्थ मात्र मे प्रथमा विभक्ति के स्मरण (विधान) से, उस प्रातिपदिकार्थ के साथ उस वृक्ष रूप प्रातिपदिकार्थ के अन्विताभिधान के असम्भव से और अन्य किसी पद के अनभिधान से उस अभिधान की पूर्णता के लिये ही 'तिष्ठति' इत्यादि पद की आकाक्षा होती है, या जैसे (विश्वजिता यजेत) यहाँ विषय और करण रूप याग से अन्वित से प्रतीत ही कार्य (अदृष्ट) के अपर्यवसान से ही विशिष्ट (विनियोज्य स्वर्गकामी) अधिकारी की कल्पना होती

वशात्पदानामन्विताभिधान न विरुध्यते । ननु तथापि पदानामन्विताभिधाने सामर्थ्य न कल्पनीयम्, पदस्मारितानामेव पदार्थानामाकाङ्क्षादिवशादन्योन्यान्वयप्रत्यायकत्वोपपत्तेरिति चेत्, मैवम्, मानान्तराधिगताना पदार्थाना वाक्यार्थप्रत्यायकत्वादर्शनात् ।

ननु—'पश्यत श्वेतिमारूप ह्रेषाशब्द च शृण्वत ।
खुरनिक्षेपशब्द च श्वेतोऽश्वो धावतीति धी' ॥
(श्लो० वा० वाक्य० ३५८)

इतिन्यायादस्त्येव पदार्थाना ससर्गबोधजनकत्वमिति चेत्, न, अनुमानादर्थापत्तेर्वा तत्र ससर्गावगात् । तथाहि—एषा पदार्थानामेकाधिकरणतया-

---

एव ससर्गसिद्धौ पदानामपि सामर्थ्यकल्पनाया कल्पनागौरव दूषणमित्यभिहितान्वयवादी शङ्कते—**नन्विति** । यदि हि पदार्थाना ससर्गबोधकत्व स्यात्तदा तदपहाय पदानामपि सामर्थ्यकल्पनाया स्यादेव गौरवम्, नतु तदस्ति, प्रमाणान्तरगृहीतपदार्थेष्वदर्शनादित्याह—**मैवमिति** । उक्त च नयेन—

'किंतु तेषा न दृष्टैपा शक्तिर्मानान्तरोद्गतौ ।
कल्प्या विशिष्टार्थपरपदसस्पर्शभाविते ॥' (प्र प वाक्य परि पृ १०)

प्रमाणान्तरगृहीतानामाप्यस्त्येव ससर्गबोधकत्वमिति शङ्कते—**नन्विति** । अत्र हि दृश्यमान श्वेतिमारूपमव्यक्तरूप श्रूयमाणौ च ह्रेषाखुरनिक्षेपशब्दौ श्वेतोऽश्वो धावतीति ससर्गबुद्धि जनयन्तीत्यर्थ । अत्र किमेकनिष्ठतयावगतमेतत्त्रय ससर्गबोधकम् ? विशकलिततया वा ? प्रथमेऽनुमानता दर्शयति—**तथा हीति** । यत्र ह्येतत्त्रयमेक-

---

है । अत ऐसी आकाक्षा के बल से पदो का अन्विताऽभिधान विरुद्ध नहीं होता है । यहाँ अभिहितान्वयवादी यदि कहते है कि उक्तरीति से पदो की शक्ति अन्विताऽभिधान मे माननी पडती है, वह अन्विताभिधान मे पदो के सामर्थ्य (शक्ति) कल्पना योग्य नही है, क्योकि पदो से स्मारित पदार्थो को ही आकाक्षादि के बल से परस्परान्वयबोधकत्व की सिद्धि हो सकती है, तो ऐसा कहना युक्त नही । क्योकि मानान्तर से ज्ञात पदार्थो की अन्वयार्थ रूप वाक्यार्थबोधकता नही देखी जाती है ।

यदि शङ्का हो कि (श्वेतिमा अरूप = अस्पष्ट रूप, को दूर से देखने वाले ह्रेषा = अश्वशब्द, को सुनने वाले और खुरविक्षेप के शब्द को भी सुनने वाले को श्वेत अश्व दौडता है, यह ज्ञान हो जाता है) इस प्रकार से अन्य प्रमाण से उपस्थित पदार्थो को भी ससर्ग रूप वाक्यार्थ के बोधजनकत्व है ही, तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि वहाँ अनुमान से या अर्थापत्ति से ससर्ग का ज्ञान होता है, उपस्थित पदार्थो से नही । वहाँ यदि अव्यक्त रूप, ह्रेषा, खुरविक्षेप शब्द, ये तीनो एक अधिकरण मे वृत्ति रूप से ज्ञात होते है, तो प्रत्ययजनक रूप से अनुमान मे भिन्न

वगताना प्रत्यायकत्वेनानुमानानतिरेक, विशकलितावगताना वार्थान्तराभावे निश्चितेऽर्थापत्तिरेव परिशिष्यते, अनिश्चिते त्वनध्यवसाय एव। अपि च शब्दसामर्थ्याजन्यत्वे वाक्यार्थप्रत्ययस्य पदार्थाख्य सप्तम प्रमाणमभ्युपेय स्यात्, प्रत्यक्षादिषु तस्यानन्तर्भावात्। कि च पदार्थानामनभिहिताना ससर्गबोधकत्वाभावादभिहितानामेव तदेष्टव्यम, तथा च पदार्थाना ससर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यम्, पदाना च पदार्थेषु तत्सामर्थ्याधानसामर्थ्यमिति द्वय कल्पनीयमिति कल्पनागौरवमभिहितान्वयवादिन, अन्विताभि-

---

त्रावगत तत्राश्वत्व दृष्टमिति व्याप्त्या बोधकत्वादनुमानमित्यर्थ। द्वितीयेऽर्थापत्तितामाह—**विशकलितेति**। नन्वर्थान्तराभावे विनिश्चितेऽनुपपत्त्याश्वत्वबोधकत्वाद्भवेदर्थापत्तित्वमर्थान्तराभावोऽपि यदा न निश्चितस्तदा कथमर्थापत्तित्वमिति तत्राह—**अनिश्चिते त्विति**। किञ्च शब्दाजन्यत्वे ससर्गबुद्धेरप्रामाणिकत्वं पदार्थाख्यसप्तमप्रमाणाभ्युपगमो वा प्रसज्येत, प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावादित्याह—**अपि चेति**। अथ पदस्मारितानामेवेद सामर्थ्यम्, तर्ह्यनेकशक्तिकल्पनागौरव स्यादित्याह—**कि चेति**। पदार्थाना तावत्ससर्गबुद्धिजननसामर्थ्यम् एकम्, अपरमपि पदाना पदार्थेषु ससर्गप्रत्ययजननसामर्थ्यमुत्पादयितु सामर्थ्यम्, पदैरेवाभिहितपदार्थेषु तादृश सामर्थ्यमाधीयते, अनभिहितेषु सामर्थ्यादर्शनात्। नैवमस्मत्पक्षे, अन्वित स्वार्थेषु पदानामेकसामर्थ्याश्रयणात्। यद्यप्यर्थसामर्थ्यादन्विते सामर्थ्यकल्पनाया गौरवमस्ति, यथापि न सामर्थ्यद्वित्वम, अपि तु स्थौल्यमात्रमिति भाव। अत्र च सामर्थ्यद्वयाभिधान प्राथमिकपदार्थबुद्धे साहचर्यात्स्मृतित्वमभिप्रेत्य, तच्च परिहारा-

---

नही होते है। क्योकि जहाँ-जहाँ ये तीनो अवगत हुए है, तहाँ-तहाँ अश्वत्व देखा गया है, अत व्याप्ति से = बोधकत्व से, अनुमान है। और विशकलित (व्यधिकरण) रूप से ज्ञात इन तीनो के आश्रय अर्थान्तर के अभाव के निश्चित रहते अर्थापत्ति से अश्व का बोध होता है। अर्थान्तर के अभाव के अनिश्चय रहते अनध्यवसाय (निश्चयात्मक) ज्ञान होता है। और वाक्यार्थज्ञान के शब्दसामर्थ्य से अजन्य शब्दार्थ से जन्य होने पर, पदार्थ नामक सप्तम प्रमाण, अभिहितान्वयवादी को मानना होगा, क्योकि प्रत्यक्षादि छ प्रमाणो मे उस पदार्थ रूप प्रमाण का अन्तर्भाव नही है, और, अनभिहित पदार्थो को ससर्गबोधकत्व के अभाव से अभिहितो पदार्थो के ही बोधकत्व को मानना होगा। और ऐसा होने पर पदार्थों के ससर्गज्ञानजननसामर्थ्य और पदो के पदार्थों मे उस सामर्थ्याधान (स्थापन) का सामर्थ्य ये दो कल्पनीय होगे, अत अभिहित अन्वयवादी को इसप्रकार से कल्पनागौरव होगा। और अन्विताभिधानवादी को तो पदों के योग्येतरान्वित-

धानवादिनस्तु पदाना योग्येतरान्वितस्वार्थाभिदानसामर्थ्यमेकमेव कल्पनीयमिति कल्पनालाघवमित्ययमेव पक्ष श्रेयानिति ।

अत्राभिहितान्वयवादिन प्रत्यवतिष्ठन्ते—

विनाभिधेयस्मरणमन्वयाप्रतिपत्तित ।
तत्तत्पदार्थस्मृतयस्तेषामन्वयबोधिका ॥ २५ ॥

पदकदम्बकश्रवणसमनन्तरमपि कुतश्चिन्मानसापराधादनुपजनितपदार्थस्मृतेर्वाक्यार्थप्रत्ययानुदयादुदयाच्चोपजातपदार्थस्मृतेरन्वयव्यतिरेकाभ्या पदार्थस्मृतीना वाक्यार्थप्रत्ययहेतुत्व तावदवसीयते । न च पदार्थस्वरूपमात्रविषयस्मृतीनामन्योन्यान्वयबोधकत्वमनुपपन्नमन्यत्रादृष्टत्वादिति वाच्यम् । स्मरणमात्रस्य सामर्थ्याभावेऽपि समभिव्याहृतपदकम्बकसमुपजनि-

---

वसरे स्वयमेव स्फुटीकरिष्यति । उभयसाधारणत्वाद् वावधीरित पदार्थस्मृतिजनन सामर्थ्यमिति ।

अभिहितान्वयवादे अन्वयव्यतिरेकौ तावत्प्रमाणमाह-**विनेत्यादिना श्लोकेन** । अभिधेयपदार्थस्य स्मरण विनान्वयस्य वाक्यार्थस्याप्रतिपत्तिरित्यत्राविगानमायुष्मतोऽपि । ततोऽवश्यापेक्षणीयाभिधेयस्मरणै स्मृतैर्राभिधेयैरन्वयव्यतिरेकवद्भिरन्वयो बोध्यत इत्ययमेव श्रेयानिति श्लोकार्थ । श्लोक विवृणोति—**पदेत्यादिना** । कदम्बक समूह । एव पूर्वार्धेनान्वयव्यतिरकौ प्रदर्श्य उत्तरार्धं व्याचष्टे—**अन्वयेति** । पूर्वपक्षिणोऽनुशयबीजमुन्मूलयति—**न चेत्यादिना** । विशकलितपदार्थमात्रस्मृती-

---

स्वार्थाभिधानसामर्थ्य एक ही कल्पनीय होता है, अत कल्पना का लाघव है, अतएव यह पक्ष श्रेयान् है ।

यहाँ अभिहितान्वयवादी प्रतिपक्षी होते हैं और कहते हैं कि—

अभिधेय = वाच्य, के स्मरण के विना अन्वय (वाक्यार्थ) का ज्ञान नही होता है, अत उन पदार्थों की स्मृतियाँ या स्मृतपदार्थ उन पदार्थों के अन्वय के बोधक होते है ॥ २४ ॥

पदसमूह के श्रवण के बाद भी किसी मानस अपराध से अनुपजनित पदार्थ स्मृति वाले को वाक्यार्थ के ज्ञान का उदय (जन्म) नही होता है । और उपजात (उपजनित) स्मृति वाले को वाक्यार्थज्ञान का उदय होता है । इसप्रकार से अन्वयव्यतिरेक द्वारा पदार्थस्मृति के वाक्यार्थज्ञान हेतुत्व का अवश्य निश्चय होता है । यदि शङ्का हो कि पदार्थों के स्वरूपमात्रविषयक स्मृतियो मे परस्पर अन्वयबोधजनकत्व अनुपपन्न (अयुक्त = असिद्ध) है, तो यह शङ्का युक्त नही, क्योंकि स्मरणमात्र (विशकलितक्रमोत्पन्न) के सामर्थ्य के अभाव होते भी सम-

तपदार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षादिसहकारिणीना सभवत्येव तद्बोधकत्वम्, सहकारिभेदोपादानात् कथमन्यथा सस्कारेन्द्रिययोरन्यत्र परस्परसगतार्थाविषययो प्रत्यभिज्ञाया पूर्वापरदेशकालससृष्टैकवस्तुबोधकत्वम्? परस्परसहकारितया तथात्व तु प्रकृतेऽपि तुल्यम्। न च पदार्थस्मृतीना वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वे सप्तमप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्ग, लिङ्गप्रकरणस्थानाना-

---

नामदशनेऽपि पदस्मारितपदार्थस्मृतीना सहकारिवशादुपपद्यत इत्यर्थ। **सहकारीति।** सहकारिणो भेदो विशेषस्तत्सबन्धादित्यर्थ। अन्यत्रादृष्टस्य कथ कल्पनमित्याशङ्क्य प्रतिबन्दी गृह्णाति—**कथमिति।** यथान्यत्र विभिन्नविषयनिष्ठतया दृष्टयोश्चक्षुसस्कारयो प्रत्यभिज्ञाया सहकारिवैचित्र्यवशात्सोऽय देवदत्त इत्येकार्थविषयत्वमेवमत्रापि सभाव्यत इत्युपपाद्य सप्तमप्रमाणत्व पदार्थानामापादित परिहरति—**न चेति।** तथा हि—श्रुतिवाक्यसमाख्याना शब्दरूपत्वेऽपि लिङ्गप्रकरणस्थानाना न शब्दरूपत्वम्। अथ च न शब्दात्पृथक्प्रमाणत्वम्, तथेहापीत्यर्थ। यद्यपि प्रकरणमप्यङ्गवाक्यापेक्ष प्रधानवाक्यमिति शब्दरूपमेव प्रतीयते, तथापीतिकर्तव्यताकाङ्क्षाया अर्थरूपत्वादशब्दत्वमभिप्रेतमिति द्रष्टव्यम्, अविनियोजकत्वाद्वा। न हि लिङ्गादीनि साक्षाद्विनियोजकानीति। लिङ्गादिभ्यो वैधर्म्य दर्शयितु तद्वृत्ता-

---

भिव्याहृत (सहपठित) पदसमूह से जनित आकाक्षादि सहकारी वाली पदार्थ के स्मृतियो को सहकारीभेद के ग्रहण से अन्वयबोधकत्व का सम्भव है ही, अन्यथा (विभिन्न विषयक स्मृतियो को एकवाक्यार्थ-बोधजनकत्व को नही मानने पर) सस्कार और इन्द्रिय को अन्यत्र परस्पर सगतार्थ (मिलितार्थ) अविषयक होते, प्रत्यभिज्ञा मे पूर्वपर देशकाल सयुक्त एकवस्तुबोधकत्व कैसे होगा। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र असन्निहित विषय के स्मृति का जनक होता है, इन्द्रियाँ सन्निहित विषय के ज्ञान का जनक होती है, परन्तु दोनो मिलकर प्रत्यभिज्ञा के जनक होते हैं, वैसे ही आकाक्षादि सहित स्मृति वाक्यार्थबोध के जनक होती है। अर्थात् परस्पर सहकारिता से जैसे सस्कार और इन्द्रिय को प्रत्यभिज्ञाजनकत्व होता है, वैसे प्रकृत मे भी परस्पर सहकारित्व तुल्य है। और कहा गया था कि पदार्थ स्मृति वा स्मृतिविषय पदार्थो को अन्वयबोधक होने पर, इनको सप्तम प्रमाण मानना होगा। वह सप्तम प्रमाणाऽभ्युपगम प्रसङ्ग भी नही है, क्योकि अङ्गता के बोधक-श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन छऽ प्रमाणो मे श्रुति, वाक्य और समाख्या (यौगिक पद) इन तीनो के शब्दस्वरूप होते भी लिङ्गप्रकरण और स्थान इन तीनो को शब्दस्वरूपत्व नही रहता है, तो भी उनको शब्द से पृथक् प्रमाण नही माना जाता है, किन्तु शब्द के अन्तर्गत माना जाता है, वैसे ही यहाँ लिङ्ग, प्रकरण, स्थान के समान पदार्थ स्मृति वा स्मृत पदार्थ को शब्दप्रमाण के अन्तर्भावित्व की सिद्धि से सप्तम प्रमाण मानने का

मिव शब्दप्रमाणान्तर्भावोपपत्ते । ननु लिङ्गादिषु श्रुति कल्पयित्वैव विनियोगप्रतीते स्वीकाराच्छाब्दत्व न विरुद्धयते, इह तु पदार्थस्मृतीना स्मृताना वा पदार्थानामन्वयबोधकत्वमिति वैषम्यम् । शब्दावगतपदार्थजन्यत्वेनान्वयप्रतीते शाब्दत्वे, चक्षुषावगतधूमजन्यस्यापि वह्निज्ञानस्य चाक्षुषत्वप्रसङ्ग इति चेत् , मैवम् , अन्वयप्रतीति जनयता पदानामवान्तरव्या-

न्तमाह— **नन्विति** । शब्दस्याथस्यापेक्षितोऽर्थ शब्देनैव समर्पणीय, न प्रमाणान्तरेण । न हि त्रयो ब्राह्मणा आगता कठश्च माठरश्चेत्युक्त्वा तृतीयमगुल्या निर्दिशन्त सन्त प्रशसन्ति, प्रशसन्ति तु कौण्डिन्य इति शब्देनैव समर्पयन्तम् । तदिहापि श्रुतिभिरेव चेत्तत्तदङ्गानि समर्प्यन्ते, समस्यन्ते तदा श्रुतप्रधानेन, नेतरथेति श्रुतिकल्पनयैवैषा लिङ्गादीना विनियोजकत्वम्, न स्वातन्त्र्येण । श्रुतिकल्पनाया च त्वरामन्थरतातारतम्यनैषा प्राबल्यदौर्बल्ये, यथाह परमपि —'अर्थविप्रकर्षा'दिति । अन्येऽपि—

"एकद्वित्रिचतुष्पञ्चवस्त्वन्तरायकारितम् ।
श्रुत्यर्थ प्रति दौर्बल्य लिङ्गादीना प्रतीयते ।।" इति ।

प्रकृते तु वैषम्यमाह— **इहत्विति** । न शब्दस्येति शेष । नन्वशब्दत्वेऽपि पदार्थाना शब्दावगतत्वात्तज्जन्यप्रतीतेरपि शाब्दी एवेति नातिप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—**शब्दावगतेति** । तामिमा शङ्का परिहरति सिद्धान्ती— **मैवमिति** । नात्र शब्दावगतपदार्थजन्यत्वमात्रादन्वयप्रतीते शाब्दत्वमुच्यते येनानुमितेरपि चाक्षुषत्वप्रसक्ति , किंतु शब्दावान्तरव्यापाररूपपदार्थस्मरणजन्यत्वात् । उक्त हि— (श्लो० वा० ७।३४२, ३४३)

'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन्पर्यवस्यन्ति निष्फले ।।
वाक्यार्थमितये तेषा प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठाना पदार्थप्रतिपादनम् ।।' इति ।

ततो नातिप्रसक्तिरिति भाव । ननु तथापि पदार्थैर्व्यवधानात् पदाना कथमन्वय-

प्रसङ्ग नही होगा । पुन यदि शङ्का होती है कि शब्द की आकाक्षा शब्द ही से पूर्ण होती है, इस नियम के अनुसार लिङ्गादि से शब्द रूप श्रुति की कल्पना द्वारा ही लिङ्गादि मे विनियोग (अङ्गबोधकत्व) की प्रतीति के स्वीकार से वहाँ शाब्दत्व (शब्दप्रमाणतत्व) विरुद्ध नही होता है और यहाँ तो पदार्थ स्मृति वा स्मृत पदार्थो को ही अन्वयबोधकत्व होता है, शब्द को नही यह विषमता है, अत लिङ्गादि के समान शब्दप्रमाण के अन्तर्गतत्व नही हो सकता है । यदि शब्द से अवगत (स्मृत) पदार्थजन्यता से अन्वयप्रतीति के शाब्दत्व (शब्दजन्यत्व) को माने (उस अन्वयप्रतीति मे शाब्दत्व हो) तो नेत्र से ज्ञात व्याप्य धूमजन्य व्यापक अग्निज्ञान को भी चाक्षुषत्व प्राप्त होगा । तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि अन्वय की प्रतीति (ज्ञान) को उत्पन्न करने वाले पदो का, पदार्थो का स्मरण अवान्तर

पारत्वात्पदार्थस्मरणानाम्। न च स्वव्यापारव्यवधानाद्व्यापारवत करणत्व विहन्यते, यागादीनामपूर्वव्यवधानेन फलसाधकानामकरणत्वप्रसङ्गात्। न च चक्षुषो लिङ्गज्ञानमवान्तरव्यापार, अगृहीताविनाभावस्यानुमानानुदयात्, अचाक्षुषस्थलेऽपि लिङ्गस्य बोधकत्वात्। गुरुमतानुसारिभिरपि लिङ्गप्रकरणादीनामन्तरेणैव श्रुतिकल्पन विनियोजकाना शब्दप्रमाणान्तर्भावाभ्युपगमाच्च।

प्रतीति प्रति करणत्वम्? तद्व्यनन्तरफलत्वनिति तत्राह—**न चेति। यागादीनामिति।** गुरुमतेऽपि यागस्य फल प्रति करणत्वमस्त्येवेति भाव। पदार्थेभ्यो लिङ्गज्ञानस्य वैषम्यमाह—**न चेति।** अथ किमिति न व्यापारस्तत्राह—**अगृहीतेति।** तज्जन्यस्तदाश्रितो यस्तत्क्रियाहेतु स हि तद्व्यापारो नाम। तथा च कथ चक्षुषि व्याप्रियमाणेऽप्यगृहीतव्याप्तिकस्य लिङ्गज्ञानमनुत्पद्यमान चक्षुर्व्यापार स्यात्? नहि धूमज्ञानमात्र लिङ्गज्ञानम्, अपि तु व्याप्तस्य सत पक्षधर्मतया ज्ञानमिति भाव। चक्षुर्व्यतिरेकेणोत्पद्यमानत्वादपि न तद्व्यापारत्वमित्याह—**अचाक्षुषेति।** अथवा न चक्षुर्जन्यानुमिति, तस्मिन्सत्यपि नियमेनोत्पत्त्यभावात्। असति चोत्पत्तेः रतो नेद तस्य व्यापार इति ग्रन्थार्थ। यत्तु लिङ्गप्रकरणादि उदाहृतम, तदन्विताभिधानवादिन प्राभाकरस्य भवत्येवोदाहरणम्। श्रुतिकल्पनाव्यतिरेकेणैव लिङ्गादीनि विनियोजकानीति हि गुरूणा मतमित्याह—**गुरुमत इति।**

(मध्यगत व्यापार) होता है, और पदार्थ स्मृति के व्यापार होने से, उस व्यापार के व्यवधाम से व्यापार वाले पदो के अन्वयबोध के प्रति करणत्व विनष्ट नही होता है, यदि व्यापार के व्यवधान से करणत्व का विघात हो, तो स्वर्गादिफलसाधक यागादि को भी फलजनन मे अपूर्व द्वारा व्यवधान होने से उन यागादिको मे अकरणता की प्राप्ति होगी। (तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापार) करण से जन्य होकर, करणजन्य का जनक जो हो वह व्यापार कहा जाता है, और व्यापार वाला ही कारण=करण कहा जाता है। अत व्यापार करणत्व का बाधक नही, किन्तु साधक होता है। और नेत्र का लिङ्गज्ञान अवान्तर व्यापार नही होता है कि जिससे लिङ्गज्ञान द्वारा अग्नि के ज्ञान का हेतु हो सके, क्योकि अविनाभाव (व्याप्ति) ज्ञानरहित पुरुष को नेत्र से धूम के ज्ञान होने पर भी अग्नि का अनुमान (ज्ञान) नही होता है, अत वहाँ अनुमान करण व्याप्तिज्ञान है कि जिसके होने से अनुमान होता है। और चाक्षुषस्थान मे भी लिङ्गज्ञान को बोधकत्व होता है। अत लिङ्गज्ञान चक्षु का व्यापार नही है। और लिङ्गादि श्रुति की कल्पना द्वारा विनियोजक होते है, यह कहा या, वह नियम नही है, क्योकि प्रभाकरमतानुगामी लिङ्गादि से श्रुति की कल्पना के बिना ही विनियोजक लिङ्गप्रकरणादि को शब्दप्रमाण के अन्तर्गत मानते हैं।

ननु त्वयाप्यभिहितान्वयवादे तिस्र शक्तय कल्पनीया , पदाना ताव-दर्थस्वरूपानुभवजननशक्ति , अर्थाना चान्योन्यान्वयप्रत्यायनशक्ति , तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामिति । पदाना साहचर्येणार्थस्मारकत्वे पुन शक्तिद्वय कल्पनीयम् , पदार्थानामन्वयबोधनशक्ति , तेषु तदाधानशक्तिश्च पदानाम् , अन्विताभिधाने तु पदानामन्योन्यान्वितस्वार्थाभिधानशक्तिरेकैवेति कल्पनालाघवमिति चेत् , मैवम् , त्वयाप्यर्थान्तरे तदन्वये स्वार्थे च पदशक्तीना कल्पनीयत्वात् । न चार्थान्तरान्वितस्वार्थाभिधायकमपि पद स्वार्थस्यैव वाचकम्, नार्थान्तरतदन्वययोर्जातिवाचकमपि पद व्यक्तितदन्व-

---

यत्तु शक्तिकल्पनागौरवमुक्तम्, तत्परिहर्तुमुत्थापयति—**नन्विति** । ननु कथ शक्तित्रयकल्पना ? यावता साहचर्यवशादेव प्रथम स्मृति पदार्थेषूत्पद्यते भवतामिवेति, तर्हि शक्तिद्वयमवश्य भावीत्याह—**पदानामिति** । यत्तु पूर्वपक्षे स्पष्टीकरिष्यतीत्युक्तम्, तदत्र स्पष्टीकृतम् । स्वपक्षे च लाघव स्मारयति—**अन्वितेति** । अत्राभिहितान्वयवाद्यन्विताभिधानेऽपि शक्तित्रयकल्पनामापादयन्परिहरति—**मैवमिति** । स्यादेतत्—यथा नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतरूपजातिवाचकमपि पद नानेकात्मकव्यक्तीना तदन्वयस्य समवायस्य वा वाचकम्, गोत्ववाचक यथा तद्व्यक्तितदन्वययोरवाचकम्, तद्वदन्यान्वितस्वार्थवाचकमपि पद स्वार्थमात्रमेव वक्तीति न शक्तित्रय कल्पनीयमिति तत्राह—**न चेति** । किं यद्वेगत्यान्वित तद्वाचकमित्यन्वयस्योपलक्षणत्वम् ?

अब यहाँ अन्विताऽभिधानवादी शङ्का करते है कि आप को अभिहिताऽन्वय वाद मे तीन शक्तियो की कल्पना करनी पडती है। प्रथम पदो की अर्थस्वरूपाऽनुभवजननशक्ति, दूसरी अर्थो की परस्पर अन्वयबोधन शक्ति, तीसरी पदो की अर्थवृत्तिशक्त्याधानशक्ति, माननी पडती है । पदो को साहचर्य से स्वार्थ के स्मारकत्व हो, बोधकत्व नही हो, तो भी दो शक्ति की कल्पना करनी पडती है। पदार्थो की अन्वयबोधन शक्ति, और पदो की पदार्थों मे अन्वयबोधनशक्त्याधानशक्ति, और अन्विताभिधानवाद मे तो पदो की अन्योन्यान्वित स्वार्थाभिधानशक्ति एक ही मान्य है, अत कल्पनालाघव है, अभिहितान्वयवादी कहते है कि यह शङ्का युक्त नही है। क्योकि आप को भी अन्योन्योऽन्वित स्वार्थाभिधानशक्ति के मानने से तीन शक्ति माननी पडती है, क्योकि, अन्योन्योऽन्वित इत्यादि का अर्थ होता है, अर्थान्तरान्वित-स्वार्थाभिधानशक्ति, अर्थान्तर मे, अर्थान्तर के अन्वय मे, और स्वार्थ मे, ये तीन पद शक्ति की कल्पना करनी पडती है। यदि कहे कि नित्यत्वयुक्त अनेक समवेतस्वरूप जाति के वाचक भी पद, जैसे अनेक व्यक्ति और समवायसम्बन्ध के वाचक नही होते है, इसीप्रकार अर्थान्तर से अन्वित स्वार्थ के वाचक पद भी अर्थान्तर और उनके अन्वय का वाचक नही होता है, किन्तु स्वार्थ का ही वाचक होता है, अत तीन

'वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तित ।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते ॥' इति ।
(प्र० प० वाक्य० परि० पृ० १३)

न च 'औदन चैत्र पचति पिठरे' इत्यादौ चैत्रपिठगादीनामर्थाना वाक्यर्थसबन्धानुपपत्ति । न च पदार्थैर्लक्षितायाः पदार्थानामन्वितावस्थाया पुनरन्वयान्तरशालिता, तेनेय न लक्षणा तल्लक्षणविरहादिति चेत्, मैवम्, अव्यापकत्वादेनस्य लक्षणालक्षणत्वासभवात् । न हि विष भुङ्क्ष्वेत्यादावेतल्लक्षणमस्ति । तत्र सर्वेषाँ पदाना लक्षकत्वेन वाच्यार्थाभावात्, वाच्यार्थाविनाभूतस्य वाक्यार्थेन पुनरन्वयाभावाच्च ।

रूपे सवन्धानुपपत्तौ सत्या वाच्यार्थसबन्धवशात्प्राप्तस्य वाक्यार्थान्वियाद्धेतोर्या शब्दस्य तत्र प्रवृत्ति लक्षणेति श्लोकार्थ । प्रकृते च वाच्यार्थाना वाक्यार्थे सबन्धानुपपत्तिरूपलक्षणभागो नास्तीत्याह—**न चेति** । पिठर भाण्डम् । यस्तु तत्सबन्धवशात् प्राप्तस्यान्वयादिति लक्ष्यमाणार्थस्य पुनर्वाक्यार्थेऽन्वय उक्त, सोऽपि नास्तीत्याह—**न च पदार्थैरिति** । नह्यत्र वाक्यार्थद्वयमस्ति, येन वक्ष्यमाणवाक्यार्थस्य वाक्यार्थसबन्धो भवेत्, स्वेनैव स्वसम्बन्धानुपपत्तेरिति भाव । लक्षणमेवेद लक्षणाया न सभवति, अव्यापकत्वात्, अतो ननदभावमात्राल्लक्षणात्वक्षय इति परिहरति अभिहितान्वयवादी—**मैवमित्यादिना** । वाक्यार्थे सबन्धानुपपत्तित, अत्र कोऽय वाक्यार्थोनिमत ? कि न्यायपरिशोधनया निष्पन्नोऽर्थ ? किवा क्रिया ? आहोस्वित्परिशिष्टिपदवाच्योऽर्थ ? नाद्य, तदानीमनिष्पन्नत्वाद्वाक्यार्थस्येत्यभिप्रेत्याह—**न हीति** । नापि द्वितीय, विष भुङ्क्ष्वेत्यत्र क्रियाया अविवक्षितत्वात् भुङ्क्ष्वेत्यस्यापि तन्निवृत्तिपरत्वात् । अत एव न तृतीय इत्याशयवानाह—**तत्रेति** । इतरोऽपि लक्षणाशो नास्तीत्याह—**वाच्यार्थेति** । नहि भोजननिवृत्तिव्यतिरेकेणापरो वाक्यार्थोऽस्ति येनान्वियादिति भाव ।

वाच्यार्थ गङ्गादि के सम्बन्ध की वाक्यार्थ (घोषादि) मे अनुपपत्ति मे उस वाच्यार्थ के सम्बन्ध के बल से प्राप्त (ज्ञात) तीरादि का वाक्यार्थ मे अन्वय लक्षणा कही जाती है ।

प्रकृत मे (चैत्र पिठर मे ओदन पकाता है) इत्यादि वाक्यो मे चैत्र पिठरादि अर्थों को वाक्यार्थ मे अन्वय की अनुपपत्ति नही है, और पदार्थों की लक्षित अन्वय अवस्था की पुन पदार्थों के द्वारा अन्वयान्तरशालिता नही है, अर्थात दो वाक्यार्थ नही है कि जिससे लक्ष्य वाक्यार्थ सम्बन्ध हो, अत लक्षणा के लक्षण के अभाव से यहाँ लक्षणा को मानना युक्त नही । अभिहितान्वयवादी कहते है कि ऐसी शङ्का युक्त नही । क्योकि उक्त लक्षण के अव्यापक होने से इसको लक्षणा के लक्षणत्व का असम्भव है । क्योकि (विष भुङ्क्ष्व) इत्यादि लक्षणा मे यह लक्षण नही है । क्योकि वहाँ सभी पद के लक्षक होने से कोई वाच्यार्थ नही है, और वाच्यार्थ के अविनाभूत (व्याप्य लक्ष्यार्थ) का फिर वाक्यार्थ के साथ अन्वय का भी अभाव है ।

यदपि—

'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे ।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥'

इतिलक्षणालक्षणम्, तदप्यव्यापकम्। कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वनी'त्येतल्लक्षणाऽव्यापकत्वात्, 'उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वनी'ति श्रूयमाणत्वात्, प्रसिद्धाग्निहोत्रे चोपसदामभावात्कर्मान्तरेऽग्निहोत्रशब्द प्रसिद्धाग्निहोत्रसाधर्म्याल्लक्षणया वर्तते। न च तत्र मानान्तर-

---

लक्षणान्तरमप्यनुवदति—**यदपीति**। मुख्यार्थस्य परिग्रहे मानान्तरविरोधे सति मुख्यार्थेनाविनाभूते सबद्ध इति यावत्। मञ्चा क्रोशन्तीत्यत्राविनाभावादर्शनात्, तस्मिन्नविनाभूते या प्रतीति सा लक्षणोच्यते इति योजना। अस्ति कुण्डपायिनामयनगत कर्मे 'मासमग्निहोत्र जुहोती'ति श्रूयमाणम, तत्र चाग्निहोत्रशब्दो गौण्या प्रयुज्यते इति स्थितम्। उक्त 'क्रियाभिधानम्' इत्यत्र। 'गौण्यपि हि गुणलक्षणयोगेन वर्तते इति लक्षणोच्यते'। लक्षितलक्षणा हि गौणी, न च तत्र एतल्लक्षणमस्तीत्यव्याप्त्या दूषयति—**तदित्यादिना**। ननु किमिति गौण, मुख्य एवाग्निहोत्रशब्द किं न स्यात्? अत आह—**उपसद्भिरिति**। एतच्च भाष्यकारीय मतम्, वार्तिककारमत त्वनुपादेयमाससबन्धात्, विच्छिन्नप्रकरणत्वाच्च, प्रत्यभिज्ञाभावाच्च कर्मान्तरमिति। तच्च दर्शित प्रकरणान्तराधिकरणमनुक्रामद्भिरस्माभिर्मिथ्यात्ववादपूर्वपक्षावसरे। अस्तु लक्षणात्वम्, लक्षणस्य तत्र कथमभाव इति? मानान्तरविरोधाभावादित्याह—**न चेति**। यथाहि गङ्गाया घोष इत्यत्र तद्वाक्यव्यतिरेकेण मानान्तरविरोधो मुख्यार्थपरिग्रहे, न तथेह प्रमाणान्तरविरोध, तदर्थस्य तदयोग्यत्वात् केवलमेतद्वाक्यव्यापारपर्यालोचनया मुख्यार्थपरित्यागादिति भाव। एव पराभिमतलक्षण दूषयित्वा सर्वलक्षणानुगत लक्षणमुपसहारफले-

---

नीरादि के समान यहाँ अन्वययोग्य अर्थान्तर नहीं है। और जो दूसरा लक्षणा का लक्षण है कि (शब्द के मुख्यार्थ के ग्रहण करने पर मनान्तर से विरोध हो, वहाँ मुख्यार्थ के साथ अविनाभूत (नियतसम्बन्धी) अर्थविषयक प्रतीति लक्षणा कही जाती है।

यह लक्षणा का लक्षण भी अव्यापक है। क्योंकि कुण्डपायी के अयनगत (माममग्निहोत्र जुहोति) यहाँ लक्षणा है, परन्तु इम लक्षण की उसमे अव्याप्ति है। क्योंकि (उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्र जुहोति) उपसद् द्वारा कर्मानुष्ठान करके मामपर्यन्त अग्निहोत्र करे। इसप्रकार से उपसद् कर्मानुष्ठानपूर्वक यह मामाग्निहोत्र सुना जाता है, और (अग्निहोत्र जुहोति) इसमे विहित प्रसिद्ध नित्य अग्निहोत्र मे उपसदो के अभाव से कर्मान्तर मे यह अग्निहोत्र शब्द प्रसिद्ध अग्निहोत्र

विरोध, तदर्थस्य मानान्तरागोचरत्वात्। तस्मात्पदाना पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति तदेव लक्षण लक्षणाया, सर्वलौकिकवैदिकलक्षणाया व्यापकत्वात्। तथा हि 'गङ्गाया घोष प्रतिवसति, आदित्यो यूप, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्र जुह्वती त्यादावस्ति पदार्थमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ति। ननु तत्र वाच्यार्थान्वयानुपपत्तिरप्यस्ति, तत्कथमिदमेव लक्षणमिति नियम्यते? इति चेत्, मैवन्, वाच्यार्थान्वयानुपपत्त्यभावेऽपि लोकवेदयोर्लक्षणादर्शनात्। तथाहि लोके—

'सुवर्णपुष्पा पृथिवी चिन्वन्ति पुरुषास्त्रय।
शूरश्च कृतविद्यश्च योऽभिजानाति सेवितुम्॥'

नाह—**तस्मादिति**। लौकिकवैदिकलक्षणासु लक्षणव्याप्तिमेव दर्शयति—**तथा हीति**। आदित्यो यूप इत्यत्रादित्यशब्दस्तेजस्वित्वलक्षणापर। निर्णीत खल्विद प्रमाणलक्षणे नामधेयपादे—'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशमाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रया इत्यत्र सारूप्यादादित्यशब्दो यूपे वर्तते' इति। नन्वेतेषूदाहरणेऽव स्मल्लक्षणमपि वाच्यार्थस्य वाक्यार्थे सबन्धानुपपत्त्यात्मकमस्ति तत्कथ निर्णय? इति शङ्कयित्वा तल्लक्षणरहितेऽपि स्वकीयलक्षणानुवृत्त्या लक्षणान्वय लोकवेदयोर्दर्शयति—**मैवमित्यादिना। सुवर्णपुष्पामिति**। सुवर्णमयपुष्पशालिनी पृथ्वी चिन्वन्तीति तत्र योजना। अथवा पृथिवी सुवर्णपुष्पा चिन्वन्ति पृथिव्येव सुवर्णपुष्पा यथा भवति तथा चिन्वन्ति सपादयन्ति। एव तु नाम बहुसुवर्णमुपार्जयन्तीत्यर्थ। तांश्च त्रीनाह—**शूरश्चेत्यादिना। कैमर्थक्येति** (पृ ३६६)। नहि वायो क्षेपि-

---

की समता के कारण लक्षणा से वर्तता है, और वहाँ मानान्तर से विरोध नहीं है। क्योकि उस वैदिक अर्थ मे मानान्तर की विषयता नही है। अत पदो की पदार्थ-स्वरूपमात्रपरता के होने पर जो वाक्य मे प्रमाणता की अनुपपत्ति प्राप्त होती है, वही लक्षणा की आक्षेपिका (बोधिका) होती है। अत प्रामाण्यानुपपति ही लक्षणा का लक्षण है, यह लक्षण लौकिक-वैदिक सब लक्षणाओ मे व्यापक है, अत उक्त अव्यापकत्व दोषरहित है, क्योकि (गङ्गाया घोष प्रतिवसति, आदित्यो यूप, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्र जुहोति) इत्यादि लौकिक-वैदिक सब वाक्यो की पदार्थमात्रपरता अवस्था मे वाक्यप्रमाणता की अनुपपत्ति होती है। यदि शङ्का हो कि प्रदर्शित उदाहरणो मे वाच्यार्थान्वयानुपपत्ति भी तो लक्षणा का बीज है, तो फिर प्रामाण्यानुपपत्ति ही लक्षण है, ऐसा नियम कैसे कर सकते है, तो यह शङ्का युक्त नही। क्योकि वाच्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति के अभाव रहते भी लोक और वेद मे लक्षणा देखी जाती है। जैसे कि—

शूर, विद्वान्, सेवा के मर्मज्ञ सेवक ये तीन पुरुष सुवर्ण पुष्प वाली पृथिवी का सञ्चय करते हैं।

इत्यादौ पदार्थानामन्वयसभवेऽपि निष्प्रयोजने तात्पर्यासम्भवेन वाक्यप्रामाण्यानुपपत्ते, प्रतीयमानवाक्यार्थं हित्वा शूरादित्व सपदोहेतुरिति ध्वनिना सूच्यते । तथा च वेदे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठ' सभवत्येव वाच्यार्थान्वये कैमर्थक्यवशेन देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मण प्राशस्त्य लक्ष्यते । तस्माद्वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तिरेव लक्षणाक्षेपिकेति निश्चिनुम । अस्ति चेहापि लोकानुसारतो विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनामर्थमात्रपरत्वे पदाना प्रामाण्यानुपपत्ति । 'विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन' इति न्या-

---

ष्ठत्व प्रमाणान्तरेण विरुद्धचेत । अविरुद्ध एव तु तस्मिन्सत्यपि निष्प्रयोजनतया पर्यवसानाभावात् किमर्थमिदमित्यपेक्षावशेन रक्ताटन्यायेन वा नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन वा देवताप्राशस्त्यलक्षणया कर्मप्राशस्त्यमिति वाक्यार्थ । एव लौकिकवैदिकलक्षणासु लक्षणस्यानुगति दर्शयित्वा प्रकृतेऽपि तदनुगतिमाह—**अस्तीति** । विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्ता समभिव्याहृतिरुच्चारण येषा पदाना तानि विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्तसमभिव्याहृतीनि तेषामित्यर्थ । अर्थ पदार्थ । ननु वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्ते अन्वयान्तरशालित्वस्य च सर्वलक्षणास्वननुगमेऽपि तत्सम्बन्धवशप्राप्तेरस्त्यन्वय, इह च

इत्यादि मे पदार्थो के अन्वय के सम्भव होते भी निष्प्रयोजन (अहेयानुपादेय) अर्थ मे वाक्य के तात्पर्य के असम्भव के कारण वाक्य के प्रामाण्य की अनुपपत्ति से वाक्य मे प्रतीत होने वाले अर्थ को त्याग कर, शूरत्वादि सम्पत्ति के हेतु है, यह ध्वनि (व्यञ्जना वृत्ति) से सूचित होता है। इसी प्रकार से वेद मे भी (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता) वायु शीघ्रगामी देव है । इत्यादि मे वाच्यार्थ अन्वय के सम्भव रहते भी यह किस प्रयोजन के लिये कहा गया है, ऐसी किमर्थता की आकाक्षा से देवता की प्रशस्तता (श्रेष्ठता) की लक्षणा द्वारा कर्म की प्रशस्तता लक्षित होती है । अत वाक्य के प्रामाण्य की अनुपपत्ति ही लक्षण की आक्षेपिका है, यह निश्चय करते है । यहाँ भी लोकानुसार से विशिष्टार्थ के बोधननिमित्त समभिव्याहृति (उच्चारण) वाले पदो के स्वार्थमात्र परत्व होने पर इनके प्रामाण्य की अनुपपत्ति है (लोक मे विशिष्टार्थ बोधनिमित्तक ही समभिव्याहृति होती है) इस न्याय से भी पदो की विशिष्टार्थपरता सिद्ध होती है। यदि कहा जाय कि वाक्यार्थ मे सम्बन्ध की अनुपपत्ति से सम्बन्धान्तरवत्त्व रूप लक्षणा के लक्षण की सर्वलक्षणा मे व्याप्ति नही होते भी वाक्यार्थ के सम्बन्ध वश से अन्विताभिधानवाद मे तीरादि अर्थ की प्राप्ति का अन्वय होता है । और इस अभिहितान्वयवाद मे पदार्थो के ही वाक्यार्थ होने से (गङ्गाया घोष) इत्यादि मे वाक्यार्थ के सम्बन्ध से तीरादि की प्राप्ति (लक्षणा से बोध) नही होगी । तो कहा जाता है कि अभिहितान्वयवाद मे

यात्। अस्ति च शब्दानामर्थरूपसम्बन्धवशप्राप्तिरन्वितावस्थायाम्, तथा चार्थरूपबोधनसामर्थ्यान्नाधिकसामर्थ्यद्वयकल्पनापि।

ननु पदाना संस्कारोन्मेषमात्रोपयोगान्नाभिधातृत्वम्, पदार्थानामपि स्ववाचकपदसंस्कारोन्मेषकाणा तत्स्मारकतयाभिधायकत्वप्रसङ्गादितिचेत्,

---

पदार्थानामेव वाक्यार्थत्वात् न तत्सम्बन्धात्प्राप्तिरिति तत्राह—**अस्ति चेति।** वाक्यार्थस्वरूपाणा परस्पर य सबन्ध तद्वशात्परस्परयान्वितावस्थाया शब्दाना प्राप्तिरस्तीत्यर्थ। अथवा अर्थस्वरूपाणा यो वाक्यार्थेनान्वय, विशिष्टस्वरूपयोस्तादात्म्याङ्गीकारात्, तद्वशाच्छब्दानामपि प्राप्तिरस्ति वाक्यार्थ इत्यर्थ। एव च यदन्विताभिधानवादिनामतिरिक्तसामर्थ्यद्वयम्, पदानामन्वितबोधनसामर्थ्यमेकम्, स्मृतेश्च पदेष्वन्वितबोधनसामर्थ्याधानसामर्थ्यमपरमिति, तदपि निष्प्रयोजन नास्मिन्मतेऽस्तीत्याह—**तथा चेति।**

स्यादेतत्—न पदाना पदार्थाभिधायकत्वम, येन तत्सामर्थ्यादधिक न कल्पनीय स्यात, अपि तु साहचर्यवशात्संस्कारोन्मेषकतया स्मारकत्वम्। नचैतदेवाभिधायकत्वम, अर्थानामपि शब्दाभिधायकत्वप्रसङ्गात्, अस्ति च तेषामपि शब्दस्मारकत्वमिति। ततश्च तदतिरिक्ताभिधाव्यापारस्वीकारेऽन्विताभिधानवादस्वीकार इत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**नन्वित्यादिना।** यद्यपि स्मारकत्व पदतदर्थयो समान, तथापि पदानामेवाभिधायकत्व लौकिकप्रसिद्ध नेतरस्येति परिहरति—**न पदानामिति।** नन्वन्य एवाभिधाव्यापार शब्दस्य भाट्टैरभ्युपेयते, तत्कथ स्मारकाणामेव प्रसिद्धि-

---

भी पदार्थों की अन्वितावस्था मे शब्दो की अर्थरूप सम्बन्धवश मे नीरादि की प्राप्ति होती है। अर्थात पदो से अर्थों के स्मरण होने पर, शब्दो के समभिहारादि-वश से अर्थों का अन्वय भासता है, वही वाक्यार्थ रहता है, उसके द्वारा शब्दो की वाक्यार्थ मे प्राप्ति होती है, और इसप्रकार से अर्थ के स्वरूपबोधन के सामर्थ्य से अधिक सामर्थ्य द्वय की कल्पना नही करनी पडती है। अर्थात अन्विताभिधानवाद मे, पदो मे अन्वित बोधनसामर्थ्य, और स्मृति के पदो मे अन्वित बोधनसामर्थ्याधान सामर्थ्य ये दो अधिक मानना होता है। और अभिहिताभिधान मे इनकी आवश्यकता नही रहती है। अत लाघव है।

अब यह शङ्का होती है कि पदो को स्ववाच्यार्थविषयक संस्कार के उन्मेष (उद्बोधन) द्वारा स्मृति के हेतुमात्र मे उपयोग होने से, अर्थात स्मृतिमात्र के हेतु होने से, पदार्थ के वाचक पद नही हो सकते है, क्योकि इसप्रकार से यदि वाचकत्व हो, तो पदार्थों को भी स्ववाचक पदो के संस्कार के उद्बोधन द्वारा पदो की स्मृति के हेतु होने से पदो की वाचकता की अर्थों मे प्राप्ति होगी। अत स्मरण से अतिरिक्त शब्दव्यापार के लिये अन्विताभिधान का स्वीकार करना

न पदानामेव पदार्थस्मारकाणामभिधातृत्वस्य लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धिसिद्धस्यानिवारणीयत्वात्, शब्दविषयविज्ञानस्यैव पदार्थस्मरणजननशक्त्युपहितस्याभिधाव्यापारत्वेन स्वीकारात्, अन्यस्य च परिस्पन्दप्रयत्नलक्षणस्य व्यापारस्य विभौ विभुगुणे वा शब्दे चैतन्यानधिकरणे दुर्निरूपत्वात्। तस्मात्समभिव्याहृतपदकदम्बकस्मारितपदार्थाना परस्परान्वयप्रत्ययो लाक्षणिक शाब्दश्चेति सर्वमवदातम्। तथाचोक्त मीमासावार्तिककारमिश्रै —

वशादभिधायकत्वमिति तत्राह—**शब्देति**। अथवा स्मृतिजननशक्तिविशिष्ट शब्दविज्ञानमभिव्यापार, नचैद विधौ व्यापारोऽर्थस्यास्तीति कथमभिधायकत्वप्रसक्ति ? इत्याह—**शब्दविषयेति**। अथवाभिधायकत्व न निवारयाम, किंतु स्मरणजनकतानिरिक्तमेव तत्स्वीकर्तव्यमिति तत्राह—**शब्दविषयेति**। पदजनितविज्ञाने परिशेषात्स्मृतित्वेन तज्जनकत्वमेव शब्दस्याभिधायकत्वमित्यर्थ। अत्र वक्तृविशेषानुमापकशब्दविज्ञाने तदनभिधानरूपेऽतिव्याप्तिनिवृत्त्यै शब्दग्रहणम्। ननु परिस्पन्द प्रयत्नो वा अन्य एव व्यापारो लोकप्रसिद्ध, यथा वा कौमारिलानामात्मन, तत्कथ विज्ञानस्य व्यापारत्वम्? इत्याशङ्क्याह—**अन्यस्येति**। विभाविति भट्टनये। विभुगुण इति काणादादिनये। तदनेन मूर्तद्रव्यानुविधायिपरिस्पन्दो निरस्त। प्रयत्ननिरासायाह—**चैतन्येति**। अयमभिसन्धि —तज्जन्यस्तदाश्रितश्च तत्क्रियाहेतुस्तद्व्यापार इति चक्षु सयोगादौ यद्यपि दृष्टस्तथापि श्रोत्रशब्दसन्निकर्षे तज्जन्यत्वाभावेऽपि तद्व्यापारत्व दृष्टम्, तथा अपूर्वस्य यागाश्रयत्वाभावेऽपि यागजन्यतया तद्व्यापारत्वमभ्युपगतम्, तदिहापि शब्दविषयविज्ञानस्य शब्दाश्रयत्वाभावेऽपि तज्जन्यत्वादपि भवति तद्व्यापारत्वमिति। स्वपक्षदूषणसमाधानमुपसहरति—**तस्मादिति**।

लाक्षणिकत्वेऽत एव शाब्दत्वे च भट्टपादसमतिमाह—**तथा चेति**। ननु तथापि

उचित है। तो यह शङ्का युक्त नही, क्योकि यद्यपि स्मृति के जनक पद और अर्थ दोनो होते है, परन्तु अर्थो मे वाचकत्व की न प्रसिद्धि है, न बन सकता है, किन्तु पदार्थ स्मारक पदो के ही वाचकत्व लौकिक परीक्षक की प्रसिद्धि से प्रसिद्ध है, वह अनिवारणीय है, क्योकि पदार्थ के स्मरण की उत्पत्ति शक्तियुक्त शब्दविषयक विज्ञान को अभिधा (वाचक शब्द) का व्यापार माना गया है। उस विज्ञान से अन्य परिस्पन्द प्रयत्न रूप व्यापार का भाट्ट मत से विभु वा न्याय मत से विभुगुण स्वरूप चैतन्यानधिकरण शब्द मे निरूपण होना कठिन है। अत समभिव्याहृतपदसमूह से स्मारित पदार्थो का परस्परान्वय ज्ञान लाक्षणिक शब्दजन्य होता है, वह सब शुद्ध है, अन्य शक्तिकल्पना की आवश्यकता नही है। इसीप्रकार से मीमासावार्तिककार मिश्र ने भी कहा है कि—

'न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि न ।
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थिति ।।' इति।
(श्लो० वा० वाक्य० २२९)

प्रयोगश्च—

शब्दास्तात्पर्यविषयव्यतिषङ्गस्य लक्षका ।
तत्तात्पर्याभिधानत्वात् क्ष्वेल भुङ्क्ष्वेति शब्दवत् ।। २६ ।।

विवादपदानि पदानि लक्षणया पदार्थानामन्योन्यान्वयप्रतिमत्तिपराणि, अन्वितप्रतिपत्तिपरत्वे सति पदत्वाद्विष भुङ्क्ष्वेति पदकदम्बवत् ।

न च पदानि स्वार्थपरित्यागेन लक्षणयान्वयप्रतिपत्तिपराणि उक्तसाधनत्वात् त्वदुदाहृतवाक्यवदित्याभाससमानयोगक्षेमता । अस्यैव त्वदुदा-

---

वाक्यार्थस्य लाक्षणिकत्वे किं प्रमाणम् ? नह्येतदभियुक्तवचनैकगम्यमिति तत्राह—**प्रयोगश्चेति** । तात्पर्यविषयो व्यतिषङ्गसम्बन्धस्तस्य लक्षका इति साध्यनिर्देश । विष भुङ्क्ष्वेति शब्दवदित्यर्थ । श्लोकेन सगृहीतमनुमान विवृणोति—**विवादपदेति** । विष भुङ्क्ष्वेत्यादौ सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै विवादग्रहणम् । अन्विताभिधानेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै लक्षणयेत्युक्तम । **पदार्थानामिति** । अन्वयिना न पुन स्वस्मारितानाम् । तेन न दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम । पक्षे च सामर्थ्यात्स्वस्मारितान्यसिद्धि , इतरस्यासभवात् । गौरश्व इत्यादिपदैरनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ प्रथम विशेषणम् । लिङ्गिलिङ्गसबन्धपरलिङ्गव्यवच्छेदाय पदग्रहणम् । अनन्वितानधिकरणेत्यपि विशेषणीयमिति केचित्, इतरथा स्वपुत्रानुमापकपदेषु व्यभिचारादिति ।

आभाससमानयोगक्षेमता निराकरोति—**न चेति** । उदाहृतानुमानवाक्ये वाच्या-

---

हमारे मत मे पद वाक्यार्थविषयक सामर्थ्य को नही त्यागता है = वाक्यार्थ बोध के लिये भी सामर्थ्य रखता है, सर्वत्र वाक्यार्थ लक्ष्यमाण ही होता है।

अनुमान के लिये प्रयोग भी है कि—

शब्द, तात्पर्य विषय सम्बन्ध के लक्षक होते है, तात्पर्य विषय अर्थ के वाचक होने से 'क्ष्वेल विष भुङ्क्ष्व, इस वाक्य के समान ।। २६ ।।

अर्थात् विवादास्पद पद, लक्षणा द्वारा पदार्थो के परस्पर सम्बन्ध के प्रतिपादन परक है, अन्वित के प्रतिपादन परक होते हुए पद होने से, विष भुङ्क्ष्व = विष खाओ, इस पदसमूह के तुल्य ।

यहाँ कहा जाय कि (पद, स्वार्थ को त्याग कर लक्षणा द्वारा अन्वय के ज्ञानपरक होते है, अन्वय ज्ञानपरक होते पदत्व रूप साधन वाला होने से, विष भुङ्क्ष्व के समान) इस प्रकार के अनुमानाऽऽभास के समान, उक्त अनुमान की योगक्षमता है, अर्थात् इसीके समान वह असदनुमान है, और इससे वह प्रतिपक्षित हो जाता

हृतानुमानवाक्यस्य स्वार्थपरित्यागापरित्यागयोस्तदनुपपत्ते । तथा हि स्वार्थपरित्यागे विशिष्टसाध्यप्रतीत्यभावादेवाविघातकत्वात्, अपरित्यागे च तत्रैवानैकान्तिकत्वात्, मुख्यार्थबाधोपाधिप्रयुक्तत्वाच्च स्वार्थपरित्यागस्य । इह च बाधाभावान्न स्वार्थपरित्यागानुमानम्, तस्मादभिहितान्वयवाद एव श्रेयानिति केचिदाचार्या । न चैवमपसिद्धान्त, भाष्यकार-

र्थपरित्यागापरित्यागयो प्रकृताविघात दर्शयति—**तथा हीत्यादिना । अनैकान्तिकत्वादिति** । तत एव व्याघातकाभावादव्याघात इति शेष । उपाधिमप्याह—**मुख्यार्थेति** । साधनव्याप्ति परिहरति—**इह चेति** । कि चेदमन्विताभिधान नाम न तावदन्वितप्रतिपादनमात्रम्, अविप्रतिपत्ते । नापि पदार्थाभिधायकशब्दस्यान्विते तात्पर्यम्, अत्राप्यविवादादेव । नापि पदार्थमात्रे गृहीतसगतिकस्यान्विताभिधायकत्वम्, पदार्थसगतेस्तन्मात्रोपक्षीणत्वात्, इतरथाऽतिप्रसङ्गात् । अन्वितपदार्थसगतिबलेन तत्प्रतिपादन तदिति चेत्, नत्र वक्तव्यम्, किमन्वयविशेषवति सगतिग्रह ? कि वान्वयमात्रवति ? आद्ये, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वक्षति । अन्वयपदार्थप्रतीत्यो समसमयतया योग्यतादिप्रतिसन्धानविरहिणामपि पदार्थप्रतीतिवदन्वयप्रतीत्यापत्तिश्च । द्वितीयस्त्वसभवनिरस्त । नह्यन्वयमात्रवति गृहीतसगतिकस्यान्वयविशेषवद्वाचकत्व सभवति, जातौ गृहीतसगतिकस्यापि व्यक्तिवाचकत्वप्रसङ्गात् । अन्वयमात्रवति गृहीतसगतिकेन तावन्मात्रमभिधीयते विशेषस्तु लक्ष्यत इति चेत्, हन्त ! पदार्थाभिधायिभिरेव शब्दैरय लक्ष्यताम्, कृतमन्तर्गडुनान्वयमात्रेण प्रमाणप्रयोजनरहितेनेत्यलम् । केचिदाचार्या, वाचस्पतिमिश्रप्रभृतय । यति चैव न्यायपरिशुद्धेऽपि पक्षे विवरणकारादिमतमवलम्ब्यापसिद्धान्तगन्धिता कश्चिदादध्यात्,

है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि आप के इसी उदाहृत अनुमान वाक्य के स्वार्थपरित्याग और परित्याग मे उस तुल्ययोगक्षेमता की अनुपपत्ति हो जाती हे । क्योकि स्वार्थ के परित्याग करने पर विशिष्ट साध्य की प्रतीति के अभाव से ही पूर्व अनुमान का विघातक नही हो सकता हे । और अपने अर्थ के परित्याग नही करने पर उक्त साधनवत्व हेतु वहाँ ही अनैकान्तिक हो जाता हे । और मुख्यार्थ का बाध रूप उपाधि = निमित्त हेतुकत्व स्वार्थपरित्याग मे रहता है, और वहाँ बाध के अभाव से स्वार्थपरित्याग द्वारा लक्षणा से अन्वयप्रतिपत्ति (ज्ञान) परत्व का अनुमान नही होता है । अथवा आप के अनुमान मे, मुख्यार्थबाध रूप उपाधि है, वह स्वार्थपरित्याग का प्रयोजक होता है, अत मेरे अनुमान मे स्वार्थबाध के नही रहने से स्वार्थत्याग का अनुमान नही किया जा सकता हे । अत अभिहितान्वयवाद ही श्रेयान् है, ऐसा कोई आचार्य मानते है । इसप्रकार मानने पर अपसिद्धान्त नही होता है । क्योकि भाष्यकार को भी यह सम्मत हे । (तत्तु समन्वयात्)

संमतत्वात् । तथा च समन्वयसूत्रे वेदान्तवाक्यानि प्रस्तुत्य भाष्यकार प्रतिपादयति स्म––"न च तद्गताना पदार्थाना ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमानेऽर्थान्तरकल्पना युक्ता, श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात्" । तत्र च पदार्थानामेवान्योन्यान्वयप्रत्यायकता प्रतीयते, मण्डनमिश्रादिभिरत्यङ्गीकृतत्वात् ।

पदार्थान्तरतुल्यत्वाद्विध्यकाङ्क्षानिबन्धन ।
न ससर्ग पदार्थाना स्वशब्दैस्तु प्रकाशिता ॥
सम्बन्धयोग्यरूपेण तस्मात् सबन्धभागिन ।
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिर्जन ॥' इति ।
(ब्र० सि० पृ० १११)

व्यवहारे भट्टनय इत्यङ्गीकारात् भट्टपादैश्च वाक्यार्थस्य सर्वत्र लाक्षणिकत्वस्वीकारात् । 'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थिति'

तन्मुख भाष्यकारप्रभृतिवृद्धवचनप्रतिबन्धेन विदधाति—**न चेत्यादिना । पदार्थान्तरेति ।** पदार्थाना ससर्गो न विध्याकाक्षानिबन्धन , कुत ? विधेरपि पदार्थान्तरतुल्यत्वात्, तस्मात्सबन्धयोग्यरूपेण स्वशब्दै प्रकाशिता , पदार्था स्वयमेव नसर्गभागिन । सबन्धयोग्यतया पदार्थप्रकाशे कारणमाह—**विशिष्टार्थेति ।** सप्योजन-

---

इस समन्वय सूत्र मे वेदान्तवाक्यो के प्रसङ्ग करके भाष्यकार ने प्रतिपादन किया है कि वेदान्तगत पदार्थो का ब्रह्मस्वरूप विषयक निश्चित समन्वय के अवगम्यमान (ज्ञात) होने पर अर्थान्तर (विधि-विषयत्वादि) की कल्पना युक्त नही हो सकती है, क्योकि अर्थान्तर की कल्पना करने पर श्रुत की हानि और अश्रुत की कल्पना का प्रसङ्ग होगा । इस भाष्य मे पदार्थो की ही परस्पर ससर्गबोधकता की प्रतीति होती है, और मण्डन मिश्रादि से भी यह सिद्धान्त माना गया है कि—

पदार्थो का ससर्गविधि की आकाक्षा निमित्तक नही होता है, अर्थात् विध्यर्थ निमित्तक नही होता है, क्योकि विधि भी नियोगादि पदार्थान्तर तुल्य है । अत स्ववाचक शब्दो से सम्बन्ध योग्य स्वरूप से प्रकाशित अर्थ स्वय ही ससर्गभागी होते है । क्योकि जन (लोक) मे विशिष्टार्थ निमित्तक ही समभिव्याहृति होती है ।

व्यवहार मे वेदान्ती भी भट्टनीति को अङ्गीकार करते है, और भट्टपाद ने वाक्यार्थ को सर्वत्र लाक्षणिक माना है, और (वाक्यार्थ सर्वत्र लक्ष्यमाण ही होता है, ऐसी स्थिति है) वह भट्टपाद ने कहा है, अत पौरुषेय वाक्यो के समान अपौरुषेय

इति। तस्मात्पौरुषेयवाक्येभ्य इवापौरुषेयेभ्यो वेदान्तवाक्येभ्यो लक्षणया यथोक्तलक्षणं ब्रह्म सिद्धयतीति सिद्धम्।

ननु कथमपौरुषेयत्वं वेदान्तानाम्? तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्। नन्वपौरुषेया वेदाः सम्प्रदायाविच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादात्मवदित्यनुमानमस्तीति चेत्, मैवम्, विशेषणासिद्धेः। पौरुषेयवेदवादिभिः प्रलये सम्प्रदायविच्छेदस्याभ्युपगमात्। अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं च किमप्रमीयमाणकर्तृकत्वं विवक्षितम्? उत स्मरणागोचरकर्तृकत्वम्? नाद्यः, "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत," "त्रयो वेदा अजायन्त, ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः

कथनं वादार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति।**

संसृष्टपरवाक्येषु संसृष्टार्थस्य लक्षणा।
अखण्डार्थपरं वाक्यमखण्डस्यैव लक्षणम्॥
यद्वा—अखण्डार्थपरेष्यादावस्ति संसर्गलक्षणा।
तस्यापि च ततस्त्यागस्तेन नाखण्डखण्डना॥

अपौरुषेयेभ्य इत्युक्तमभृष्यमाणा वैशेषिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमिति।** जीर्णकूपारामादिव्यभिचारवारणाय सम्प्रदायाविच्छेदे सतीत्युक्तम्। कालिदासादिवचस्सु व्यभिचारवारणायास्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्युक्तम्। विशेषणासिद्धिमेवाह—**पौरुषेयेति।** अस्मर्यमाणेत्यत्रापि स्मृतिपदं किं मूलप्रमितिपरम्? किं वा मुख्यवृत्ति? इति विकल्प्याद्ये तदविषयत्वं वेदकर्तुरसिद्धमित्याह—**नाद्यस्तस्माद्यज्ञादिति।** तस्मात्प्रकृताद्यज्ञाद्यज्ञरूपिणः परमेश्वरात् सर्वहुतः हुतं हुत् यस्मिंस्तत्सर्वं विद्यते स सर्वहुत् ततः सर्वहुतः सकाशात्, अथवा सर्वं जुहोतीति सर्वहुत् यष्टापि स एवेति

वेदान्त वाक्यों से भी यथोक्त सत्यादि लक्षण वाला ब्रह्म सिद्ध (ज्ञात) होता है यह सिद्ध हुआ।

अपौरुषेय इस प्रश्नबीज को पाकर, कहा जाता है कि, वेदान्त को अपौरुषेयत्व कैसे हो सकता है। क्योकि अपुरुष रचितत्व के प्रतिपादक प्रमाण का अभाव है। यदि कहा जाय कि (वेद, अपौरुषेय है। सम्प्रदाय अविच्छेदपूर्वक अस्मर्यमाणकर्तृक होने से, आत्मवत्) यह अनुमान प्रमाण है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योकि विशेषण की असिद्धि है, पौरुषेय वेदवादी प्रलय मे सम्प्रदाय के विच्छेद को मानते है। और अस्मर्यमाण कर्तृत्वविशेष्य भाग से क्या अप्रमीयमाण कर्तृकत्व विवक्षित है, अथवा स्मरणाविषयकर्तृकत्व विवक्षित है। प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है। क्योकि (उस सर्वहुत यज्ञ नामक पूज्यपरमात्मा से ऋग्, सामवेद उत्पन्न हुए, सब छन्द हुए, यजुर्वेद उससे उत्पन्न हुआ। तीन वेद उत्पन्न हुए,

सामवेद आदित्यात्," "इद सर्वमसृजत ऋचो यजूषि सामानि" इत्यादिश्रुतिभि कर्त्तु प्रमीयमाणत्वात्। नापि द्वितीय , विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमेकेनास्मरण विवक्षितम् ? उत सर्वास्मरणम् ? नाद्य , मुक्तकश्लोकादावानैकान्तिकत्वात्। न द्वितीय , सर्वास्मरणस्यासर्वज्ञविज्ञानाविषयत्वात्। ननु "वाचा विरूप ! नित्यया," "यो ब्रह्माण विदधाति पूर्व यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै," "नाचिकेतमुपाख्यान मृत्युप्रोक्त सनातनम्," "अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयभुवा"—इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्येभ्यो वेदस्य नित्यत्वावगमात् पौरुषेयत्वप्रतिपादकानि कल्पादौ तत्स-

---

यावत्। प्रलयकाले वा सर्व स्वमात्रतया जुहोतीति सर्वहुत् तत ऋगादयो जज्ञिरे उत्पन्ना इति पुरुषसूक्तार्थ । त्रयो वेदा इति श्रुत्यन्तरम । इद सवमित्यपरा श्रुति । **मुक्तकेति।** विप्रकीर्णा श्लोका मुक्त-श्लोका तेषु यै कैश्चिदस्मर्यमाणकर्तृकत्वमस्ति नचास्त्यपौरुषेयत्वमित्यर्थ । नित्यत्वप्रतिपादकागमविरोधात् सृष्टिश्रुतीनामन्यार्थत्वम् शङ्कते—**नन्वित्यादिना।** हे विरूप ! वृष्णे ! नित्यया वाचा सुष्टु स्तुति चोदयस्वेत्यर्थ । तथा य परमेश्वरो ब्रह्माण हिरण्यगर्भ विदधाति विहिताय च तस्मै वेदान् प्रहिणोति प्रददाति । उपदिशतीति यावत् । न तु करोतीति श्वेताश्वतरोपनिषन्मन्त्रार्थ । नाचिकेतमिति कठवल्लीश्रुति । अनादिनिधनेति स्मृति । आदिनिधनरहिता, अत एव नित्या उत्सृष्टेत्युपदिष्टेत्यर्थ । अतत्परत्वादासा न्यायसापे-

---

ऋग्वेद ही प्रथम अग्नि से उत्पन्न हुआ, यजुर्वेद वायु से, सामवेद सूर्य से हुआ। इस सब को रचा और ऋग्, यजु , साम को रचा) इत्यादि श्रुतियो से वेदकर्ता प्रमीयमाण (प्रमाणविषय) होता है। विकल्पाऽसह होने से दूसरा पक्ष (स्मरणाविषयकर्तृकत्व) भी युक्त नही हो सकता है। विकल्प है कि, क्या किसी एक से अस्मर्यमाणत्व विवक्षित है अथवा सबसे अस्मर्यमाणत्व विवक्षित है ? वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि मुक्तक (विप्रकीर्ण) श्लोक आदिको मे यह हेतु व्यभिचारी है, क्योकि वहाँ किसी से अस्मर्यमाणत्व रहता है। और अपौरुषेयत्व साध्य नही रहता है। और दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है। क्योकि सर्वाऽस्मरण को असर्वज्ञ के ज्ञान का विषय होना असम्भव है, सर्व के ज्ञानपूर्वक ही सर्व के अस्मरण को कोई जानेगा, सो सर्वज्ञ ही होगा, अल्पज्ञ नही। अत अपौरुषेयत्व मे प्रमाण का अभाव है। यदि कहा जाय कि (वाचा विरूप नित्यया) हे विरूप ! नित्य वाक् से सुस्तुति के लिये प्रेरणा करे। जो परमात्मा प्रथम ब्रह्मा को सिद्ध करता है, फिर उसको वेद देता है। मृत्यु से सनातन नाचिकेतोपाख्यान कहा गया। उत्पत्ति अन्तरहित नित्य वाक् स्वयभू से उपदिष्ट हुई। इत्यादि श्रुति" स्मृति वाक्यो से वेद के नित्यत्व के ज्ञान होने मे, वेद के पौरुषेयत्व के प्रतिपादक

म्प्रदायप्रवर्तकत्वपराणीति चेत् , मैवम् , 'वाचा विरूप ! नित्यया' इत्यस्य वाक्यस्य वृष्णे चोदस्व सुष्टु स्तुतिम्" इति वाक्यशेषादग्निस्तुतिविधिपरत्वावगमात् अन्यार्थदर्शनस्य प्राप्त्यभावे प्रमाणत्वानुपपत्ते । "यो वै वेदाश्च प्रहिणोति" इत्यस्य च पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयो साधारणत्वात् , स्वय निर्मायापि वेदाना प्रदानसम्भवात् । 'मृत्युप्रोक्त सनातनम्' इत्यस्य वाक्यस्य उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते' इति वाक्यात् उपाख्यानानुवचनश्रवणप्रशसापरत्वात् । 'अनादिनिधना नित्या' इति स्मृतेश्च प्रतिमन्वतर चैषा श्रुतिरन्या विधीयते' इति स्मृत्यन्तरविरोधेनानिर्णायकत्वात् । एव च नित्यत्वप्रतिपादकानामन्यार्थतया पौरुषेयत्वप्रतिपादकवाक्याबाधकत्वात् पौरुषेयत्वमेव वेदान्ता निश्चितुम ।

क्षाणा तदभावे नास्ति स्वार्थे प्रामाण्यम्, अतो न सृष्टिश्रुतिविनिवारकत्वमिति परिहरति—**मैवमित्यादिना । अन्यार्थेति ।** अन्यशेषे वाक्ये यद्दर्शन पदसमभिव्याहारमात्रम्, तदन्यार्थदर्शनम् । साधारण्यमेव दर्शयति—**स्वयमिति । उपाख्यानेति ।** उपाख्यानस्यानुवचन श्रवण च यत्तयो प्रशसापरत्वादित्यर्थ । स्मृते स्मृत्यन्तरविरोधमाह—**अनादीति ।**

वाक्यकल्प के आदि मे वेदो के अध्ययन, अध्यायनादि के सम्प्रदाय प्रवर्तकत्व परक है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि (वाचा विरूप नित्यया) इस वाक्य की (वृष्णे चोदस्व सुष्टु स्तुतिम्) इस वाक्य शेष (अङ्ग) से अग्नि की स्तुतिपरत्व का अवगम होता है, और अन्यार्थक (स्तुत्यर्थक) जो नित्यत्वादि का दर्शन है, उसको अनित्यत्वादि की प्राप्ति के अभाव मे प्रमाणत्व की अनुपपत्ति है। और (यो वै वेदाश्च प्रहिणोति) इसको पौरुषेयत्व, अपौरुषेयत्व दोनो पक्ष मे साधारणत्व है। क्योकि स्वय निर्माण (रचना) करके भी वेदो के प्रदान का सम्भव है। 'मृत्युप्रोक्त सनातनम' इस वाक्य को (उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते) नाचिकेत उपाख्यान को कह सुनकर बुद्धिमान ब्रह्मलोक मे पूज्य होता है, इस वाक्य से उपाख्यान के अनुवचन (कथन) श्रवण की स्तुतिपरत्व सिद्ध होता है। और (अनादि निधना नित्या) इस स्मृति को (प्रतिमन्वन्तर चैषा श्रुतिरन्या विधीयते) हर एक मन्वन्तर मे यह वेद अन्य सिद्ध होता है। इस स्मृत्यन्तर के साथ विरोध होने के कारण अनिर्णायकत्व है। इस प्रकार से नित्यत्व प्रतिपादक वाक्यो की अन्यार्थता से पौरुषेयत्व प्रतिपादक वाक्य के अवाध से वेदो के पौरुषेयत्व का ही निश्चय कहते है।

अनुमानतोऽपि तथात्वमध्यवस्याम —वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् कालिदासवाक्यवदिति, वेदवाक्यान्याप्तप्रणीतानि प्रमाणत्वे सति वाक्यत्वान्मन्वादिवाक्यवत् । ननु—

'वेदस्याध्ययन सर्व गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनरूपत्वादधुनाध्ययन यथा ॥
(श्लो० वा० वाक्य० ३६६)

इत्यनुमानात्सप्रतिसाधनतेति चेत् , मैवम् , सर्ववेदाध्ययनपक्षीकारे दृष्टान्तासिद्धे, अतीतकालीनाध्ययनपक्षीकारे चाशत सिद्धसाधनत्वात्, सर्गकालीनाध्ययनपक्षीकारे सर्गमनङ्गीकुर्वतो मीमासकस्याश्रयासिद्धे ।

'भारताध्ययन सर्व गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययन यथा ॥'

एव नित्यत्वानुमानागमदूषणपूर्वकमनित्यत्वागम प्रदर्श्यानुमानमप्यनित्यत्वे दर्शयति—**अनुमानेति** । गीतिरूपेषु हुफडादिस्तोभभागेषु चासिद्धिपरिहारार्थ वाक्यानीति विशेषणम् । ईश्वरकृतत्वेऽप्यनुमानमाह—**वेदेति** । उन्मत्तवाक्ये प्रत्यक्षादौ च व्यभिचारवारणाय विशेषणद्वय गृहीतम् । सत्प्रतिपक्षता शङ्कते—**नन्विति** । अत्र किं कृत्स्न वेदाध्ययन पक्ष ? उतातीतकालीनम् ? उत सर्गकालीनाध्ययनम् ? इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—**मैवमित्यादिना** । आभाससमानयोगक्षेमतया दौर्बल्यमाह—**भारतेति** । ननु तत्र व्यास कर्तेति स्मर्यते 'को ह्यन्य पुण्डरीकाक्षा-

---

अनुमान से भी तथात्व = पौरुषेयत्व, का निश्चय करते है कि (वेदवाक्य पौरुषेय है, वाक्य होने से, कालिदासादिवाक्यवत्) । वेदवाक्य, आप्तप्रणीत = रचित है, प्रमाण होते वाक्य होने से, मनु आदि वाक्यवत् । यदि कहे कि—

सब वेद के अध्ययन, गुरु से अध्ययनपूर्वक हुए है । वेदाऽध्ययन स्वरूप होने से, आधुनिक अध्ययन के समान ।

इस अनुमान से पूर्वानुमान को सत्प्रतिपक्षता है, तो ऐसा नही कह सकते है, क्योकि सब वेदाऽध्ययन को पक्ष करने पर, दृष्टान्त की असिद्धि प्राप्त होती है, अतीत कालिक अध्ययन को पक्ष करने पर, अतीत कालिक कुछ अध्ययन अश मे सिद्धसाधनता होती है, सृष्टिकालिक अध्ययन को पक्ष करने पर सृष्टि को नही मानने वाले मीमासक के मत मे आश्रयाऽसिद्धि होती है ।

और सब महाभारत का अध्ययन, गुरु से अध्ययनपूर्वक है । भारताऽध्ययन होने से, वर्तमानभारताऽध्ययन के समान ।

इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वात्। अथ तत्र कर्तृस्मृत्या बाधः—

'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्।
को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्॥'

तर्हि इहापि सकर्तृकताप्रतिपादकश्रुतिभिर्बाध इति समानम्। विपक्षे चाप्ताप्रणीतत्वात् बालोन्मत्तादिवाक्यवदप्रामाण्यप्रसङ्गो बाधकस्तर्कः। अथ बालोन्मत्तादिवाक्यानामनाप्तप्रणीतत्वेनाप्रामाण्यम्, इह तदभावादाप्तवाक्यवत्प्रामाण्यमुपपद्यत इतिचेत्, मैवम्, अनाप्ताप्रणीतवाक्यस्य जगत्याप्तप्रणीतत्वनियमदृष्टे, अन्यथा वक्तुरभावे वाक्यस्योत्पत्तिप्रती-

---

न्महाभारतकृद्भवेत ?' इत्यादौ तेन बाधाद्वैषम्यमिति तत्राह—**अथेति**। शङ्कितोपाधिता निराकरोति पूर्ववादी—**विपक्षे चेति**। सोपाधितया प्रशिथिलमूलता शङ्कते—**अथेति**। अनाप्ताप्रणीत वेदाप्तप्रणीतमेवेति नित्यत्वाभावाद्वाक्यस्येति हृदि निधाय परिहरति—**मैवमिति**। आत्मादिषु व्यभिचारवारणाय वाक्यग्रहणम्। ननु न वक्ता शब्दाना निष्पादन क्रियते, किंत्वभिव्यक्तिरेव, तेन वक्त्रभावो नानुत्पत्ति-

---

इस आभास अनुमान के तुल्य उक्त अनुमान है। यदि कहे कि भारत के कर्ता के स्मरण (कथन) से उसमे सदा गुरु-अध्ययनपूर्वकत्व का बाध हो जाता है, वहाँ कर्ता का स्मरण है कि—

कृष्णद्वैपायन व्यास को नारायण प्रभु समझो, क्योकि पुण्डरीकाक्ष भगवान् से अन्य महाभारत का कर्ता कौन हो सकता है।

तो कहा जाता है कि इस वेद मे सकर्तृकता के बोधक श्रुतियाँ निर्बाध है, अत उभयत्र कर्तृस्मरण तुल्य है, श्रुतियाँ प्रथम कही गई है। और विपक्ष मे (आप्त-प्रणीतत्वाभाव पक्ष मे) आप्त से प्रणीतत्व के कारण बालोन्मत्तादिवाक्य के समान वेद मे अप्रामाण्य का प्रसङ्ग बाधक तर्क है। यदि कहा जाय कि बालोन्मत्तादि वाक्यो को अनाप्तप्रणीतत्व के कारण अप्रमात्व होता है, यहाँ वेद मे तो अनाप्त-प्रणीतत्व का अभाव है, अत आप्तवाक्य के समान प्रमाणत्व की सिद्धि होनी है, तो कहना युक्त नही, क्योकि अनाप्तप्रणीत वाक्य की लोक मे आप्तप्रणीतता के नियम को देखा गया है, अन्यथा यदि अनाप्त अप्रणीत, आप्तप्रणीत भी नही हो तो वक्ता के अभाव से वाक्य की उत्पत्ति और प्रतीति दोनो का असम्भव है, वक्ता, के विना वेद की उत्पत्ति और प्रतीति नही हो सकती है। यदि कहा जाय कि नित्य शब्द वेद ही नही, किन्तु सब शब्द उत्पत्तिरहित है, और उनका वक्ता भी है, परन्तु वक्ता के व्यापार (उच्चारण) से शब्द की अभिव्यक्ति मात्र होती

त्योरसंभवात् । अथाभिव्यक्तिरेव शब्दानां वक्तृव्यापारान्नोत्पत्तिः, मैवम्; एवं सति पाषण्डाद्यागमानामपि नित्यत्वप्रसङ्गात् । किं च शब्दोऽनित्यः कृतको वा सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटवदित्यनुमानेन शब्दानां कृतकत्वेन पौरुषेयत्वसिद्धिः । न च मीमांसकं प्रति योगिव्यवच्छेदार्थमस्मदादिपदं व्यर्थम्, तेन योगिनामनभ्युपगमादिति वाच्यम्, स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थत्वात् । तथा च निरन्तनाचार्याणामपि स्वमते व्यभिचारनिवारणार्थं विशेषणोपादानं दृश्यते—नित्यः शब्दो ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति । न हि वर्णानित्यत्ववादिमते

व्याप्त इति प्रशिथिलमूलतां शङ्कते—**अथेति** । अतिप्रसक्त्या परिहरति—**मैवमिति** । तदेव सदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गं नित्यत्वे बाधकमभिप्रायानित्यत्वेऽप्यनुमानमाह—**किंचेति** । अथायमभिव्यक्तिवादित्वान्मीमांसकः कृतत्वे एव विवदेत्तर्हि तदपि साधनीयमित्याह—**कृतको वेति** । ईश्वरप्रत्यक्षेष्वाकाशादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमिन्द्रियप्रत्यक्षत्वादित्युक्तम् । तथापि मनोग्राह्यात्मनि व्यभिचारस्तदर्थं बाह्येति । तथापि योगिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षपरमाण्वादिषु व्यभिचारस्तदर्थं ऽस्मदादीत्युक्तम्, तथापि सामान्ये व्यभिचारस्तदर्थं सामान्यत्वे सतीत्युक्तम् । अत्रात्मवादीति विशेषणं मीमांसकं प्रति व्यर्थम्, तेन तन्निवर्त्ययोग्यनङ्गीकारात्तदुद्धारे च त्वन्मते व्यभिचार इति केचिद् दूषणमूचिरे, तत्परिहरति—**न चेति** । ननु न स्वमतमात्रव्यभिचारनिवारणाय विशेषणं युक्तमदृष्टचरत्वादिति तत्राह—**तथा चेति** । ध्वनिषु तद्धर्मोदत्तादिषु च व्यभिचारनिवारणायोक्तं ध्वनिधर्मान्यत्वेसतीति । स्वमतसमतं व्यभिचारवारकत्वं दर्शयति—**नहीत्यादिना** । वर्णग्रहणं शब्दपरम् ।

है, उत्पत्ति नही । तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि ऐसा होने पर तो शब्दात्मक होने से पाषण्डादिरूप आगमो को भी नित्यत्व प्राप्त होगा । और (शब्द, अनित्य है वा कृतक = कार्य है, जातिमान् होते हुए हमारे इन्द्रियो से प्रत्यक्ष होने से घटवत्) इस अनुमान से शब्दो (वेदो) मे कृतकत्व (कार्यत्व) से पौरुषेयत्व की सिद्धि होती है । यदि कहे कि हेतु मे जातिमान् यह विशेषण जाति मे व्यभिचार वारण के लिये है, यह तो उचित है, परन्तु योगी के बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण, आदि मे व्यभिचारवारण के लिये अस्मदादि इन्द्रिय (हमारे इन्द्रिय) कहा है । वह युक्त नही है । क्योकि योगी के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) के लिये अस्मदादि यह पद मीमासक के प्रति व्यर्थ है, वे लोग योगी को नही मानते है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि स्वमत के अनुसार योगी प्रत्यक्ष के विषय परमाणु आदि मे व्यभिचार वारण के लिये 'अस्मादि' पद दिया गया है । और इस प्रकार पुराने आचार्यो का भी स्वमत के अनुसार व्यभिचार वारणार्थक विशेषण का ग्रहण देखा गया है ।

वर्णातिरिक्ता ध्वनय उदात्तादयो वा तद्धर्मा सन्ति, ये व्यावर्तेरन्, स्वमते तु ध्वनेस्तद्धर्माणा चोदात्तादीना सद्भावादुपपद्यते ध्वनिधर्मान्यत्वे सतीति विशेषणम् ।

न चोपान्त्यादिशब्देषु भागासिद्धि ; श्रोत्रग्राह्यशब्दविशेषस्यैव पक्षीकरणात् । न चैवमपि विशिष्टधर्मिहेत्वोरसिद्धिस्तत्तच्छ्रोत्रेष्वेकस्यैव शब्दस्य समवायानङ्गीकारात् , एकस्य शब्दस्य बहूना प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेरिति

एतदुक्त भवति—व्यभिचारमात्रनिवृत्त्यापि भवति सार्थक्य हेतोरिति ।

यच्च दूषणान्तरमुच्यतेऽस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वमुपान्त्यादिषु नास्तीति भागासिद्धिरिति तत्राह—**न चोपान्त्यादीति** । ननु तथापि धर्म्यसिद्धि , भेरीदण्डसयोगान्निमित्तकारणात भेर्याकाशसयोगादसमवायिकारणात् महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथममेक शब्द उत्पद्यते, तस्य च शब्दस्य विभुगुणतया आश्रयद्वारा स्वतो वा गमनानुपपत्ते प्रदेशान्तरोत्पन्नत्वात् स्वभावभेदाद्वा न श्रोत्रेण सबन्ध , ततश्च तस्माच्छब्दादसमवायिकारणात अदृष्टादिनिमित्तकारणादाद्यशब्दाश्रयाकाशप्रदेशान्तराकाशप्रदेशेषु समवायिकारणेषु सर्वतो दिशि शब्दा उत्पद्यते, तेभ्यश्चान्ये तेभ्यश्चान्ये इति बीचीसतानवत् यावच्छ्रोत्रसमवेतशब्द शब्दसताना उत्पद्यन्ते, तत्र य कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नाकाशप्रदेशे शब्द उत्पद्यते, स श्रोत्रसमवायात् श्रोत्रेण गृह्यते, स च न श्रोत्रान्तरग्राह्य , तत्रासमवेतत्वात् स्वभावभेदाद्वेति वैशेषिकादिदर्शनम्, ततश्च न वादिप्रतिवादिश्रोत्रग्राह्य एक शब्दोऽस्तीति धर्म्यसिद्धि , अतएवोभयसमतहेत्वसिद्धिरिति, तदेतदनूद्य निराकरोति—**न चैवमित्यादिना** । जात्युत्तरता दर्शयितु पर-

---

जैसे कि (शब्द, नित्य है । ध्वनि ध्वनिधर्म = उदात्तादि से अन्य होते हुए श्रवणविषय होने से, शब्दत्व के समान) वर्ण के अनित्यत्ववादी के मत मे वर्ण से भिन्न ध्वनि वा उदात्तादि उनके धर्म नही है, कि जो इस हेतु विशेषण से व्यावृत्त किये जॉय । किन्तु स्वमत (शब्द नित्यत्व मत) मे ध्वनि और ध्वनि के धर्मों के शब्द से पृथक् सत्त्व होने के कारण उनकी व्यावृत्ति के लिये ध्वनिधर्मान्यत्वे सति यह विशेषण युक्त होता है ।

यदि कहा जाय कि धाराप्रवाह रूप से उत्पन्न वा व्यक्त होने वाले शब्दो मे जो अन्तिम कर्णदेश मे उत्पन्न वा व्यक्त होते हे उनका प्रत्यक्ष होता है, उपान्त्यादि का नही, अत उपान्त्यादि शब्दो मे भागासिद्धि है, तो कहा जाता है कि श्रोत्र से ग्राह्य शब्दविशेष को ही पक्ष करने से भागासिद्धि नही होती है । यदि कहा जाय कि श्रोत्रग्राह्य विशेष शब्द को पक्ष करने पर भी विशिष्ट (उभय सम्मत) धर्मी और हेतु की असिद्धि है, क्योकि तत्तत् श्रोत्रो (कर्णों) मे एक ही शब्द के समवाय को नही माना जाता है, अत एक शब्द के बहुत के प्रत्यक्षत्व की अनुपपत्ति हे ।

वाच्यम् , शब्दनित्यत्वानुमानेऽप्यस्य दोषस्य तुल्यतया स्वव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वापत्ते , तथाहि—भवदिन्द्रियग्राह्य शब्द पक्ष ? अस्मदिन्द्रियग्राह्यो वा ? नाद्य , प्रतिवादिन प्रत्यसिद्धे । न द्वितीय , वादिन प्रत्यसिद्धे । तस्माल्लोकप्रसिद्धशब्दत्वजात्याधार एव शब्दो नित्यत्वसाधने पक्ष इति वाच्यम् । एवमनित्यत्वसाधनेऽपीति न कश्चिद्दोष । न च स एवाय गकार इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात् कालात्ययापदिष्टमनित्यत्वानुमानम्, प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वेन व्यक्तिविषयत्वेन च सदिह्यमानाया बाधकतानुपपत्ते । ननु विवादाध्यासित कालो वेदाध्ययनयुक्त कालत्वात् सप्रतिपन्न-

---

पक्षेपि विकल्पसाम्यमुत्तरसाम्य च दर्शयति—**तथा हीत्यादिना** । लोकप्रसिद्ध , श्रावणत्वेन लोकप्रसिद्ध । ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितमिदमनित्यत्वानुमानम्, स एवाय गकार इति प्रत्यभिज्ञया गकारस्यैर्यमवगम्यत इति तत्राह—**न च स इति** । यथाहि—ज्वालादौ जातिमवलम्ब्य प्रत्यभिज्ञा प्रवर्तमाना न व्यक्तिस्थैर्यसाधिका तद्वदिहापीत्याह—**प्रत्यभिज्ञाया इति** । न केवल वेदप्रणयनोत्सादनव्याकुर्वतो मीमासकस्य प्रणयनात् प्राक्कालोत्पादोत्तरकालप्रणयनकालानामसिद्धया धर्म्यसिद्धि , किंतु प्रथमपक्षे वेदसर्गात्प्राक्कालोऽपि वेदाध्ययनप्रयुक्त इति प्रतिज्ञाविरोधश्चाधिक

अत कोई एक शब्द उभयसम्मत पक्ष हो सकता है । न सामान्यवत्त्वे सति, इत्यादि हेतु उभय सम्मत हो सकता है, तो कहा जाता है कि शब्द नित्यत्वानुमान मे भी इस दोष के तुल्य होने से स्वव्याघातकत्व होने के कारण जाति उत्तरत्व (असदुत्तरत्व) की आपत्ति होती है । यह दर्शाया जाता है कि आपके मतानुसार नित्यत्वानुमान मे आपके इन्द्रिय से ग्राह्य शब्द पक्ष है, या हमारे इन्द्रिय से ग्राह्य प्रत्यक्ष शब्द पक्ष है, प्रथम पक्ष नही बन सकता, क्योकि वह प्रतिवादी के प्रति असिद्ध है, और द्वितीय पक्ष भी नही बन सकता, क्योकि वह वादी के प्रति असिद्ध है । विभु नित्य शब्द वाद मे भी अभिव्यक्ति, अनभिव्यक्ति दृष्टि से यह सिद्धि, असिद्धि की प्राप्ति होती है । अत लोकप्रसिद्ध शब्दत्व जाति का आधार शब्द को ही नित्यत्व साधन पक्ष मे पक्ष कहना होगा, तो इसीप्रकार से अनित्यत्व साधन पक्ष मे भी कहा जा सकता है, अत कोई विरोध नही है । यदि कहे कि (स एव गकार) वही गकार है, जो पहले सुना था । इस अभेदग्राहक प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष से विरोध होने से भेदग्राहक अनित्यत्व का अनुमान कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हो जाता है, तो यह नही कह सकते, क्योकि प्रत्यभिज्ञा के जातिविषयकत्व और व्यक्तिविषयकत्व के विकल्प से सन्देहविषय होने से उसमे बाधकता की अनुपपत्ति है । यदि कहा जाय कि (विवादास्पद काल, वेदाऽध्ययन युक्त रहता है, काल होने से, सम्प्रतिपन्न = निश्चित

कालवदिति प्रत्यनुमानविरोध इति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्, तथाहि– किं वेदप्रणयनात्प्राक्काल ? कि वा तदुत्पादोत्तरकाल ? उत सर्गकाल पक्षीक्रियते ? पक्षत्रयेऽपि मीमासकस्य धर्म्यसिद्धि, प्रथमे च प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातोऽतिरिच्यते, कालिदासादिवाक्यपाठेऽप्येवमनुमानोत्थानादाभाससमानयोगक्षेमता चानुमानस्य। नन्वशरीरस्येश्वरस्य ताल्वादिविवृतिरूपवर्णोच्चारणासम्भवात्कथ तत्प्रणीतत्व वेदस्येति चेत्, मैवम्, स्वभावतोऽशरीरस्यापि परमेश्वरस्य भक्तानुग्रहार्थ लीलाविग्रहग्रहणोपपत्ते। तदेव वेदपौरुषेयतानुमानस्य निरस्तसमस्तदूषणतया वेदा पौरुषेया इति प्राप्तम्।

इत्याह—**प्रथमे चेति**। दूषणान्तर चाह—**कालीति**। ननु यदीश्वरो वेदकर्ता तर्हि शरीरी स्यादिति तर्कविरुद्ध वेदकर्तृत्वानुमानमिति शङ्कते—**नन्विति**। इष्टप्रसङ्गतया परिहरति—**मैवमिति**। लीलया विग्रहस्य ग्रहण लीलाविग्रहग्रहणम्।

वर्तमान काल के समान) इस प्रत्यनुमान (प्रतिपक्ष) से विरोध है, इससे अध्ययन विषय वेद मे नित्यत्व सिद्ध होता है, तो ऐसा भी नही कह सकते है, क्योकि यहाँ पक्ष विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि वेदप्रणयन से पूर्वकाल को, या वेदोत्पत्ति से उत्तर काल को अथवा सर्गकाल को इस अनुमान मे पक्ष किया जाता है, वहाँ तीनो पक्ष मे मीमासक को धर्मी की असिद्धि है, वेद के प्रणयनादि के निषेध करने वाले के मत मे वे तीन विशेष काल नही है। और प्रथम पक्ष मे प्रतिज्ञागत पदो को व्याघात (विरोध) रूप अधिक दोष है, क्योकि वेद प्रणयन से पूर्वकाल को वेदाऽभाव के कारण वेदाऽध्ययनयुक्तत्व नही हो सकता है। और कालिदासादिरचित वाक्य के पाठो (अध्ययनो) मे भी इसप्रकार के अनुमान (प्रयोग वाक्यरचना) उत्थान हो सकने से इस अनुमान को आभास की तुल्ययोगक्षेमता है। कहा जा सकता है कि (विवाद विषयकाल, कालिदासवाक्याध्ययन युक्त रहता हे, काल होने से, वर्तमानकालवत्)। यदि शङ्का हो कि वेद को नित्य नही मानने पर, अल्पज्ञ जीव से तो सर्वज्ञकल्प वेद की रचना हो नही सकती है, ईश्वर से वेद के उच्चारणादि रूप रचना को मानना होगा, और शरीररहित ईश्वर के ताल्वादि स्थानो से विवृत्ति (प्रकटीकरण) रूप वर्णोच्चारण के असम्भव से वेद के वह ईश्वर प्रणीतत्व कैसे हो सकता है, तो ऐसी शङ्का युक्त नही, क्योकि स्वभाव से अशरीरी परमेश्वर को भी भक्तानुग्रह के लिये लीलामय विग्रह (शरीर) के ग्रहण की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। अत उक्त रीति से वेद के पोरुषेयत्वाऽनुमान समस्त दोषरहित होने से वेद पौरुषेय है, यह सिद्ध हुआ। यहाँ पूर्व पक्ष समाप्त हुआ।

अत्र समाधि —

श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवल श्रुतिषु श्रुतम् ।
मानान्तरोपलब्धेर्थे रचना तु न मीयते ॥ २७ ॥ इति ।

किमिद पौरुषेयत्व नाम, यत्र श्रुतय स्मृतयश्च प्रमाणत्वेनोदाहृता ? कि पुरुषाद्युत्पत्तिमत्त्व वेदाना पौरुषेयत्वम् ? उत प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वम् ? तत्राद्योऽङ्गीक्रियते, आकाशवन्नित्यत्वेन सर्वगतत्वेन कालतो देशतश्च क्रमशून्याना वर्णानामनित्योच्चारणप्रतिपत्तिक्रमविशिष्टाना

सिद्धान्तयति—**अत्र समाधिरिति।** समाधि समाधानम् । अभिधीयत इति शेप । अत्र कि पुरुषादुत्पन्नत्वमात्र पौरुषेयत्व सिषाधयिषितम्, यथाऽस्मदादिभिरहरह उच्चार्यमाणो वेद ? कि वा प्रमाणेनार्थमुपलभ्य तत्प्रकाशनाय विरचितत्वात्मकत्व वेदाना पौरुषेयत्वम्, यथास्मदादिभिरेव बद्धयमानग्रन्थपद्धति ? आद्ये त्वविवाद । द्वितीयेऽपि किमागमबलात तत्साधनम् ? अनुमानाद्वा ? नाद्य इत्याह—**श्रुतीति श्लोकेन।** श्रुतिष्वीश्वरात श्रुतीना केवल जन्म श्रुतम्, नतु पुनरुपलभ्यविरचनम्, नत्पुनरनुमीयते, तच्चायुक्तम वक्तव्यदोषादित्यर्थ । विषयविवेचनपूर्वक श्लोक व्याचष्टे-**किमित्यादिना।** ननु नित्यस्य कथ पौरुषेयत्वमिम विनुदन्नाद्याङ्गीकारमेव विवृणोति—**आकाशवदित्यादिना ।** क्रमविशेषवान् शब्दराशिर्हि वेद, क्रमश्च कालतो देशतो वा नियत, स चोभयविधोऽप्यत्र न सभवति, वक्ष्यमाणनित्यत्व-प्रमाणबलान्नित्याना विभूना च शब्दाना कालतो देशतो वा क्रमासभवात् । प्रतीयते च, तेनाभिव्यञ्जकोच्चारणप्रतिपत्त्योरन्यतरक्रमोपरागात्क्रमवत्त्व वक्तव्यम्, तत्रो-च्चारणप्रतिपत्ती अनित्ये, इति तत्क्रमविशिष्ट शब्दराशिरपि तद्रूपाभावनित्य एवेति इष्टमेवेदृश पौरुषेयत्वमित्यर्थ । ननु प्रतिपुरुष क्रमद्वाराऽनित्यत्वे कथ स एवाय

(अत्र समाधि) अब यहाँ (समाधि) समाधान कहा जाता है—

श्रुतियो मे श्रुतियो का केवल ईश्वर से जन्म सुना गया है। प्रमाणान्तर से उपलब्ध अर्थविषयक वेद की रचना तो श्रुति से नही कही जाती है ॥ २७ ॥

यहाँ विचारणीय है कि, यह पौरुषेयत्व नामक कौन वस्तु है, कि जिसमे श्रुति, स्मृतियो का प्रमाता रूप से उदाहरण दिया गया है। क्या पुरुषाधीन उत्पत्तिमत्व वेदो का पौरुषेयत्व है ? अथवा प्रमाणान्तर द्वारा अर्थो को जानकर रचनारूपत्व पौरुषेयत्व है ? यहाँ प्रथम पक्ष का अङ्गीकार किया जाता है, क्योकि, आकाशतुल्य नित्य सर्वगत होने से कालदेशकृत क्रम से रहित, अनित्य-उच्चारण ज्ञान के क्रमयुक्त पूर्वपूर्व के क्रमानुस्मृति निमित्तक तत्तत्सदृश उत्तर-उत्तर क्रम वाले वेदशब्द के वाच्य (अर्थ) स्वरूप वर्णो की वर्तमान काल से भी पुरुषाधीन उत्पत्तिमत्ता से, सृष्टि काल मे भी श्रुति से तथात्व (उत्पत्तिमत्व)

पूर्वपूर्वक्रमानुस्मृतिनिमित्ततत्तत्सदृशोत्तरोत्तरक्रमवता वेदशब्दवाच्याना साप्रतमपि पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्तया सर्गसमयेऽपि श्रुत्वा तथात्वस्य प्रतिपादयितुमुचित्वात्। द्वितीयस्तु न, प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्रेश्वरेण वेदा विरचिता इति श्रुतिभिरप्रतिपादितत्वात्। न च पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वश्रवणान्यथानुपपत्त्यैव प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्व सिध्येत्, इदानीमस्मदादिभिरुच्चार्यमाणवेदवाक्येषु मालतीमाधवादिवाक्येषु च व्यभिचारात्। एतेन—प्रमाणभूतवाक्यस्य रचनान्यथानुपपत्त्या मानान्तरोपलब्धेऽर्थे विरचितत्वकल्पनापि प्रयुक्ता, अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणमन्वादि-

---

वेद इति प्रत्यभिज्ञानमिति? तत्राह—**पूर्वेति**। क्रमस्येद प्रथमतया पौरुषेयत्वभङ्गमाशङ्क्य चेदमुत्तरम्—**सांप्रतमपीति**। सृष्टिश्रुत्याप्येतदविरुद्धमेव प्रतिपादयितुमुचितमित्यर्थ। एव पूर्वार्धं व्याख्यायोत्तरार्ध व्याचष्टे—**द्वितीय इत्यादिना**। अदर्शन हेतुमाह—**प्रमाणेति**। स्यादेतत्—यद्यपि न साक्षात् श्रुतोऽयमर्थ, तथापि श्रुतोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते पौरुषेयत्वम्, सोऽपि हि भवति कश्चित् श्रुतो व्यापार। यथाहु—'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा'दिति। तत्रैव वक्तव्यम्—किं पुरुषाधीनोत्पत्त्यनुपपत्त्या कल्प्यते? उत प्रमाणभूतवाक्यरचनान्यथानुपपत्त्या? नाद्य इत्याह—**न चेति**। प्रागुक्तरीत्या वेदवाक्यानि काव्यवाक्यानि च उच्चारणसमये सृज्यन्ते, तत्र प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनव्यतिरेकेण पुरुषाधीनोत्पत्तिमत्त्वमुपपद्यमानं न वेदेष्वपि तत्कल्पयतीत्यर्थ। द्वितीये पक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—**एतेनेति**।

के प्रतिपादन मे उचितत्व है। दूसरा पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि प्रमाणान्तर से समझकर उस सृष्टिकाल मे ईश्वर से वेद विचरित हुये, यह अर्थ श्रुतियो से प्रतिपादित नही है। यदि कहा जाय कि, पुरुषाधीन उत्पत्ति मत्व के श्रवण की अन्यथा अनुपपत्ति से ही प्रमाणान्तर से जानकर विरचितत्व की सिद्धि होगी, तो यह नही कह सकते है। क्योकि सृष्टि के आदिकाल मे वेदो का उच्चारण ही तो उसकी रचना हो सकती हे, और इस समय भी हम लोगो से उच्चार्यमाण वेदवाक्यो मे, और मालतीमाधवादि वाक्यो मे हम लोगो से विरचितत्व उच्चार्यमाणत्व है। प्रमाणान्तर से उनके अर्थो की उपलब्धिपूर्वक विरचितत्व नही है, अत व्यभिचार है। इसीसे प्रमाणस्वरूप वाक्य की रचना की अन्यथा अनुपपत्ति से मानान्तर से उपलब्ध अर्थ विषयक ही विरचितत्व की कल्पना निरस्त हो गई, क्योकि हमलोगो से उच्चार्यमाण प्रमाणस्वरूप मनुस्मृति आदि वाक्यो मे व्यभिचार हे। उनका उच्चारण रूप रचना हमलोग करते है, परन्तु उनके अर्थ को प्रमाणान्तर से जान करके ही उच्चारण नही करते है। और यदि विरचितत्व की अन्यथानुपपत्ति मानान्तरोपलब्ध विषयक रचना

वाक्येषु व्यभिचारात्। किं च यदि विरचितत्वान्यथानुपपत्तिर्मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना कल्पयेत्, हन्तैवम् 'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्या'दिति वेदानामग्न्यादिभ्यो जन्मस्मरणात् तत्तत्कर्तृकतया ईश्वरकर्तृकत्वनियमो न स्यात्। अथ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिवाक्ये वेदानामीश्वरकर्तृकत्वाधिगमादधिष्ठातृदेवतापरं तत्तद्वाक्यमिति कल्प्येत, तर्हि 'ब्रह्म स्वयम्भु, वाचा विरूप नित्यया, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्योऽपि वेदाना नित्यत्वावगमात्। तस्माद्यज्ञादित्यादिवाक्य सम्प्रदायप्रवर्तकत्वपरमिति कल्पना न प्रकृतेऽपि दण्डवारिता। नन्वेषामन्यपरत्वान्नैतेभ्यो नित्यत्वसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, देवताधिकरणन्यायेन प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरस-

---

किं च भवनैवायमङ्गीकर्तव्योऽर्थ, इत्युपत्तिश्रुतेरन्यथासिद्धौ प्रतिवन्दीमाह— **किंचेत्यादिना।** अथ श्रुत्यन्तरवशादन्यथा नेतव्य तदिदमिनि, तदस्मन्मतेऽपि समानमित्याह—**अथेत्यादिना।** ब्रह्म वेद। पूर्वपक्षाशयमनुवदति—**नन्वेषामिति। देवताधिकरणन्यायेनेति।** द्वेधा हि वाक्यार्थो द्वारभूत, प्रधान चेति। तत्र प्रधाने तात्पर्ये द्वारे त्वतत्परमपि प्रमाणम्। अबाधितासदिग्धानधिगतार्थबोधकत्व हि प्रमाणत्वम्। न चान्यपरैरपि मन्त्रादिभि प्रतीयमानो वज्रहस्ते-

---

की कल्पना का हेतु हो, तब तो आनन्द ही है। (ऋग्वेद प्रथम अग्नि से, यजुर्वेद वायु से और सामवेद सूर्य से हुआ। इसप्रकार से वेदो के अग्नि आदि से जन्म सुनने के कारण वेदो मे तत्तत् देवकर्तृकता से इश्वरकर्तृकत्व के आपका नियम नही रहेगा। इससे ईश्वर से वेद की उत्पत्ति श्रुति वेद के पौरुषेयत्व मे प्रमाण भी नही सिद्ध होगी। यदि कहे कि (उस सर्वहुत यज्ञपुरुष से ऋक् साम उत्पन्न हुए) इत्यादि वाक्यो मे वेद के ईश्वरकर्तृकत्व के ज्ञान से अधिष्ठातृदेवतापरक अग्न्यादिकर्तृत्व बोधक तत्तत् वाक्य है, ऐसी कल्पना हो सकती है। तो कहा जाता है कि (ब्रह्म स्वयभू) ब्रह्म=वेद, स्वय प्रकट होता है (वाचा विरुप नित्यया, अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा) इत्यादि सैकडो श्रुति, स्मृति से वेदो की नित्यता के ज्ञान होने से "तस्माद् यज्ञात्" इत्यादि वाक्य सम्प्रदाय (अध्ययन, अध्यापन) प्रवर्तकत्व परक है, ऐसी कल्पना प्रकृत (अपौरुषेय वेदवाद) मे भी दण्डवारित नही है। यदि शका हो कि (वाचा विरूप नित्यया) इत्यादि को अन्यार्थपरत्व है, तो वह प्रथम कहा गया है कि ये अग्नि की स्तुति आदिपरक है, अत इनसे वेद के नित्यत्व की सिद्धि नही हो सकती है, तो यह शका युक्त नही, क्योंकि शारीरकगत देवताधिकरण न्याय से, प्रमाणान्तर की प्राप्ति और विरोध से रहित अन्य मुख्यार्थपरक वाक्यो की अप्रधान स्वार्थ मे भी प्रमाणता होती है,

तोऽन्यपराणामपि स्वार्थे प्रामाण्योपपत्ते ।

एतेन वाक्यत्वादिति पौरुषेयत्वानुमानपि परास्तम्। पुरुषप्रणीतत्व-मात्रसाध्ये सिद्धसाधनत्वात्। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वसाधने च मालतीमाधवादिष्वनैकान्तिकत्वात्। तथा च प्रमाणत्वे सति वाक्य-

---

न्द्रादिलक्षणोऽर्थ सदिग्ध, नापि विपर्यस्त, बाधाभावात्, प्रमाणान्तरायोग्यत्वाच्चानधिगत इति प्रमाणमेव तस्मिन्नपि मन्त्रादय । न चार्थभेदे वाक्यभेदप्रसक्ति, प्रधानार्थस्य भेदाभावात, अवान्तरवाक्यस्येष्टत्वाच्च । न चातत्परत्वादप्रामाण्यम्, अतत्वरस्याप्यर्थवादस्य द्वारभूतार्थे प्रामाण्यस्वीकारात् । इतरथा तद्द्वारातत्प्रधानेऽपि तत्प्रामाण्याभावाद् 'गुणवादस्तु' 'तत्सिद्धि' इत्यादि सूत्राणामनारम्भप्रसङ्गात । विशिष्टविधौ च तात्पर्याविषयेऽपि विशेषणे प्रामाण्यस्यावश्यस्वीकर्तव्यत्वात । तत्रापि विशेषणांशे तत्पर विध्यन्तरमुन्नीयते इति चेत, किं तदुन्नायक विशिष्टविधानमेवेति चेत, हन्त! परस्पराश्रयप्रसङ्गात विशिष्टविधिप्रवृत्तौ च विध्यन्तरोन्नयन विध्यन्तरप्रवृत्तौ च विशिष्टविधानमिति । न च प्रमाणान्तरगोचरत्व विशेषणस्य सर्वत्र सभवति, वारवन्तीत्यादौ तदभावात्, तस्मादतत्परमपि प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोरभावे प्रमाणमेवेति सोऽय देवताधिकरणन्यायसार । तेनासामपि श्रुतीना वेदनित्यत्वे प्रामाण्यमस्त्येवेत्यर्थ ।

ननु नेद पौरुषेयत्व श्रुत श्रुतसामर्थ्यसिद्ध वेति अस्माभि स्वीक्रियते, किंत्वनुमानबलादिति, तत्राह—**एतेनेति।** एतद्विशदयति–**पुरुषेति। मालतीमाधवादिष्विति।** यद्यपि प्रथम कविकृतवाक्येषु साध्याभावान्न व्यभिचार, तथाप्यस्मदुच्चार्यमाणमालतीमाधवादिवाक्ये व्यभिचार । नहि तत् तद्वाक्यम्, तस्यान्यत्वादित्यर्थ । कविकृतेऽप्यौत्प्रेक्षिकचित्रकथापरेषु वाक्येषु व्यभिचार इत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीयानुमानेऽपि सिद्धसाधनतामाह—**तथेति।** अत्रापि किमाप्तेनोच्चर्यमाणत्व पौरुषेयत्वम्? किं वोपलभ्यविरचनम्? प्रथमे सिद्धसाधनता

जैसे वज्रहस्तादि शब्दो की वहाँ इन्द्रादि अर्थ मे प्रमाणता बताई गई है, वैसे ही यहाँ स्तुतिपरक श्रुतियो की स्वार्थ (वेदनित्यता) मे प्रमाणता होगी ।

इसी, 'वाक्यत्वात्' इस हेतु से पौरुषेयत्वानुमान भी निरस्त हो गया। क्योकि पुरुषप्रणीतत्व मात्र के साधन पर सिद्धसाधनात्व की प्राप्ति होती है। प्रमाणान्तर से अर्थ की उपलब्धि के बिना पुरुषाधीन उच्चारितत्व रूप पौरुषेयत्व माना ही जाता है। और प्रमाणान्तर से अर्थ की उपलब्धिपूर्वक रचितत्व के साधने पर, मालतीमाधवादि के हमलोगो से उच्चारित वाक्यो मे अनैकान्तिकता होती है क्योकि कवि भले ही प्रमाणान्तर से अर्थ को समझकर वाक्य का उच्चारण किया हो, हमलोग वैसा उच्चारण नही करते है। और ऐसा होने पर

त्वादाप्तप्रणीतत्वानुमानेऽपि सिद्धसाधनता। आप्तेनोच्चार्यमाणतया तत्प्रणीतत्वस्यापौरुषेयवादिभिरप्यभ्युपगमात्। प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य विरचितत्वानुमाने तु हेतोरन्यथासिद्धि। अस्मदादिभिरुच्चार्यमाणेदानीतनवेदवाक्यानामिव सर्गकालीनानामपि तेषामीश्वरेणोच्चार्यत्वमात्रेणापि प्रमाणवाक्यत्वोपपत्तौ प्रमाणान्तराधिगतिपूर्वकविरचितत्वस्यानुमातुमशक्यत्वात्, तस्य च सर्वज्ञत्वादतीतकल्पान्तरगतवेदापरोक्ष्यसभवात्। अविग्रहस्यापि तस्य भक्तानुकम्पितया लीलाविग्रहग्रहणेन तदुच्चारणोप-

---

विशदयति—**आप्तेनेति**। स्यादेतन—द्वितीय एव न पक्ष सिषाधयिषित। न चेदानीमुच्चर्यमाणवेदवाक्यैरनैकान्तिकता, तेषामपि पक्षतुल्यत्वेनान्त परमेश्वरविरचितत्वस्येष्टत्वादिति, तत्राह—**प्रमाणेति**। अन्यथासिद्धिमेव दर्शयति—**अस्मदादीति**। यदि हि विरचन प्रमाणान्तरेणोपलभ्यविरचनेन व्याप्तम्, तदास्मदादावपि तथा स्यात्, नचास्ति, ततोऽवगम्यते—नूनमनयो सम्बन्धोऽन्यप्रयुक्त इति भाव। स्यादेतत्—कल्पाङ्गीकारे निर्लेप प्रलीनस्य चिरकालातीतस्य सस्कारप्रमोषात् कथमीश्वरेणापि शक्य पूर्ववद्वेद उच्चारयितुमिति? तत्राह—**तस्य चेति**। न तावन्निर्लेप प्रलय, तत्सकाररञ्जितमायोपबृहितपरमेश्वरस्य मूलकारणस्य वा विद्यमानत्वात्। अत एव तत्सकारवशात् तत्सदृशक्रमवद्वेदोच्चारणमपि सभवतीत्यर्थ। तथापि ताल्वादिकरणरहितस्य कथ कर्तृत्व सप्रदायप्रवर्तकत्व चेति? तत्राह—**अविग्रहस्यापीति**। अभ्युपगम्येदमुच्यते, वस्तुतस्त्वीश्वरस्य शरीरादिनोपदेष्टृत्वमेव नास्ति, कल्पादिभुवामतीतकल्पानुष्ठितविशिष्टज्ञानपरपरापरितुष्टपरमेश्वरानुग्रहवशान्निरतिशयज्ञानसमृद्धाना हिरण्यगर्भप्रभृतीना बुद्धौ यो वेदानामाविर्भाव, स खलु परमेश्वरस्य वेदोपदेष्टृत्व नाम। इदमेव च यो वै

वाक्यत्व हेतु से आत्मप्रणीतत्व अनुमान मे भी सिद्धसाधनता होती है, क्योकि आप्त से उच्चार्यमाणता रूप से आप्तप्रणीतत्व को अपौरुषेयवादी भी मानते है। प्रमाणान्तर से अर्थ को जानकर विरचितत्व के अनुमानपरक हेतु को अन्थथा सिद्धि (साध्याऽसाधकता) है। क्योकि हमलोगो से उच्चार्यमाण वेदवाक्यो के समान सृष्टिकालिक उच्चार्यमाण उन वेदो की भी ईश्वर से उच्चार्यमाणत्व से ही प्रमाणवाक्यता की सिद्धि होते प्रमाणान्तर से अर्थ की उपलब्धिपूर्वक विरचितत्व की अनुमति करना अशक्य है। और उस ईश्वर को सर्वज्ञ होने से अतीत कल्पान्तरगत वेदो के अपरोक्ष का होना सम्भव है, अत सर्वथा नवीन वेद की रचना की आवश्यकता ईश्वर को नही हो सकती है। और वस्तुत शरीररहित ईश्वर को भी भक्तानुकम्पा वाले होने से लीलामय शरीर के धारण द्वारा उस वेद के उच्चारण की सिद्धि होती है। वस्तुत कल्प के आदि मे होने वाले पूर्व

पत्तेश्च । एतेन——सर्गकालीनाध्ययनस्य पूर्वपूर्ववेदाध्ययनपुर सरत्वमपि समर्थनीयम् । न चाश्रयासिद्धि, वेदान्तिभि सर्गाङ्गीकारात् । न च भारताध्ययनस्य तथात्वप्रसङ्गेनाभाससमानयोगक्षेमता, तत्र दृढतरकर्तृस्मरणेन बाधात् । न चेहापि कर्तृश्रुत्या बाध, तस्या सप्रदायप्रवर्तकत्वपर-

---

वेदाश्चेति श्रुत्याप्युच्यते, न तत्र शरीरेण किंचित्कृत्यमिति । यत्तु वेदाध्ययनस्यानिदप्रथमतायामनुमानमुद्भाव्य दूषित पूर्ववादिना, तदपि सस्काराप्रमोषादित्यादिना समर्थितमित्याह——**एतेनेति ।** यत्तु तेनाश्रयासिद्धिरित्युक्तम्, तत्र भवतु मीमासक प्रत्यय दोष, नास्मान्प्रतीति परिहरति——**न चेति ।** तन्मतेऽपि ब्राह्मगहोरात्रादिपरिगणनाविशिष्टस्य सर्गकालत्व पराङ्गीकृतम्, तत्काल शक्य पक्षीकर्तुमिति द्रष्टव्यम् । आभाससमानयोगक्षेमता परिहरति——**न चेति ।** ननूक्तमत्रापि कर्तृप्रतिपादकश्रुतिस्मृती विद्येते इति तत्राह——**न चेहापीति ।** अथ किमित्युपलभ्यविर-

---

कल्प के उपासना, तप आदि से ईश्वरानुग्रह से विज्ञानयुक्त हिरण्यगर्भ देव, ऋषियो की बुद्धि मे जो वेद आविर्भूत होता है, वही ईश्वर की वेदाऽध्यापकता है । इससे सृष्टिकालिक पूर्व-पूर्व वेदाऽध्ययनपूर्वकत्व भी समर्थनीय है, क्योकि ईश्वर कृपा से हिरण्यगर्भादि को पूर्वकल्प से गुरु से अधीत वेदो का ही उन्हे स्मरण होता है, तपोबल से उनका सस्कार लुप्त नही होता है । और जो प्रथम मीमासकमत मे सर्ग के अनङ्गीकार से सर्गकालिक अध्ययन रूप पक्ष की असिद्धि कहा था, वह वेदान्त मे आश्रयासिद्धि नही है, क्योकि वेदान्ती सर्ग को मानते है । अत अनुमान कर सकते है कि (सर्गकालिक वेदाऽध्ययन, पूर्वसर्गकालिक वेदाऽध्ययनपूर्वक होता है, या गुरु-अध्ययनपूर्वक होता है, वेदाध्ययन होने से वर्तमान वेदाऽध्ययन के सम्मान) और जो कहा गया था कि (भारताऽध्ययन, गुरु-अध्ययनपूर्वक होता हे, भारताऽध्ययन होने से, वर्तमान भारताध्ययनवत्) इस अनुमान से भारताध्ययन को गुरु-अध्ययनपूर्वकत्व प्राप्त होने से उक्त वेदविषयक अनुमान आभासानुमान के तुल्य योग-क्षेम वाला है । ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि भारत मे दृढतर कर्ता के स्मरण से गुरु-अध्ययनपूर्वकत्व अनुमान का बाध हो जाता है । वेद मे कर्तृस्मरणरूप बाधक नही है । यदि कहे कि प्रथम वेदकर्ता के प्रतिपादक श्रुति कही गई है, अत बाध तुल्य ही हे । तो कहा जाता है कि वेदकर्ता प्रतिपादक श्रुति, स्मृति की सम्प्रदायप्रवर्वतकपरता से भी उपपत्ति (युक्तता) होती है, अन्यथा उसकी कर्तृप्रतिपादकता के होने पर वेद नित्यत्वप्रतिपादक वाक्यो की अनवकाशता (निष्प्रयोजनता) प्राप्त होगी । और वेद मे यह नित्यत्व पुरुष की अस्वतन्त्रता स्वरूप

तयाप्युपपत्ते , अन्यथा नित्यत्वप्रतिपादकवाक्यानामनवकाशत्वप्रसङ्गात् , भारतस्य नित्यत्वप्रतिपादकप्रमाणाभावाच्च ।

न च वेदानामनाप्ताप्रणीतत्वादाप्तप्रणीतत्वमनुमातु युक्तम् , आत्माकाशादौ व्यभिचारात् । अथ शब्दत्वे सतीति विशेषणाददोष , मैवम् ,

---

चयिता कर्तैवाभि श्रुतिभि न स्वीक्रियते ? तत्राह—**अन्यथेति** । नित्यत्व चेद पुरुषास्वातन्त्र्यम्, न पुन सर्वथैव, नि श्वसितमित्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् । उक्त **वृद्धै** —'यत्नत प्रतिषेध्या न पुरुषाणा स्वतन्त्रता' इति । स्यान्मतम्—वयमपि तावद्वेदमुच्चारणद्वारेण विरचयाम , परमेश्वरेऽपि चेत्तथैव रचयति, नतु पूर्वक्रममन्यथयति, नाप्युपलभ्यार्थ विरचयति, कस्तर्हि विशेष परमेश्वरस्य मादृशेभ्य ? येन नि श्वसितमित्यादिश्रुतय परमेश्वरमेव कर्तारमावेदयन्तीति, उच्यते, उपादानत्वात्स खलु परमेश्वर प्रतिसचरसमये समस्तमेव जगत्सहरन् वियदादिवदेव वेदाद्यात्मकमपि शब्दराशिं सहरति, महासर्गसमये च तत्तद्वासनावासिताचिन्त्यशक्तिराशिमहामायासहायमापन्न शब्दाकारेण विवर्तते, तदनु च पूर्वक्रमसदृशक्रमवच्छब्दराशिरूपवेदाकारेण विवर्तते, सर्गादिभुवा हिरण्यगर्भप्रभृतीना च तमुपदिशतीति शब्दकर्तृत्व सम्प्रदायप्रवर्तकत्व चेश्वरस्यैवेत्युच्यते । यद्यपि सर्वज्ञस्येश्वरस्य वेदार्थविषयमपि ज्ञानमस्ति, तथापि न तस्य वेदनिर्माणे कारणभाव , पूर्वपूर्वक्रमानुसरणमात्रेण तत्सदृशक्रमनिर्माणक्षमत्वात् । अस्मदादीनामिवेदानीन्तनभारतादिक्रमनिर्माणे, तेन नापौरुषेयत्वक्षति । नन्वेव भारतस्यापि सम्प्रदायप्रवर्तयितैव व्यास , न तु कर्तेति तस्याप्यपौरुषेयत्व स्यादिति तत्राह—**भारतस्येति** ।

यच्चानाप्तप्रणीतत्वे सत्याप्तप्रणीतत्वमेवायाति गत्यन्तराभावादित्युक्तम् , तत्र किमनाप्ताप्रणीतत्वमात्रेणाप्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते ? शब्दत्वविशेषितेन वा ? नाद्य इत्याह—**न चेति** । द्वितीय शङ्कते—**अथेति** । तत्रापि किमाप्तप्रणीतत्वमात्रमनुमीयते ? उपलभ्य विरचन वा ? आद्ये प्राह—**मैवमिति** । द्वितीये तु पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भाव । यत्तु पाषण्डाद्यागमानामप्यपौरुषेयत्वमेव सति स्यादित्युक्तम्,

---

है । पूर्वस्मरणपूर्वक उच्चारणकर्ता तो होते ही है । और भारत के नित्यत्व का प्रतिपादक प्रमाण नही है, अत उक्त योगक्षेमतुल्यता नही हो सकती है ।

अनाप्तप्रणीतत्व हेतु से वेदो के आप्तप्रणीणत्व का अनुमान कहा था, वह युक्त नही, क्योकि वैसा अनुमान किया नही जा सकता है, आत्मा, आकाशादि मे अनात्मप्रणितत्व (आप्तप्रणितत्वाऽभाव) रूप हेतु व्यभिचारी है, आप्तप्रणीतत्व रूप साध्य के नही रहते हेतु वर्तमान है । यदि कहे कि हेतु मे (शब्दत्वे सति) इस विशेषण के लगाने से व्यभिचारदोष नही रहेगा, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि

आप्तप्रणीतत्तामात्रस्य पूर्वोक्तन्यायेन वेदेऽप्यङ्गीकारात्। न चैव सति पाषण्डाद्यागमानामपौरुषेयत्वम्, मानान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्तत्पुरुषविरचितत्वस्य सौगतादिभि स्वयमेवाङ्गीकारात्प्रसिद्धेश्च। न च सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबहिरिन्द्रियप्रत्यक्षतया वर्णाना कृतकत्वानुमानम्, अस्मदादिबहिरिन्द्रियप्रत्यक्षस्य कालाकाशादेर्नित्यत्वेन भाट्ट प्रत्यनैकान्त्यात्, सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। श्रोत्र नित्यद्रव्यग्राहक निरवयवेन्द्रियत्वात् मनोवदिति भाट्टमतेन प्रयोगसभवात्। न च श्रोत्र न नित्यद्रव्यग्राहकम्, अनित्यभूत-

---

तत्राह—**न चेति**। अथ तदङ्गीकारे भ्रान्तो नैयायिकादीनामिव वेदपौरुषेयत्वे इति तत्राह—**प्रसिद्धेश्चेति**। ननु सर्वमेतच्छब्दनित्यत्वे सति स्यात्तदेव तु नास्ति, अनुमानाच्छब्दानित्यत्वभावनान्नित्यत्वप्रमाणदूषणाच्चेति, तत्राह—**न चेति**। अत्र तावदेकदेशिमतेन दूषणमाह—**अस्मदादीति**। आकाशमस्मदादिप्रत्यक्ष प्रदेशवृत्तिविशेषगुणवत्त्वात् आत्मवत्, दिक्कालाकाशानि अस्मदादिप्रत्यक्षाणि विभुत्वादात्मवत्, श्रोत्र विभुग्राहकमिन्द्रियत्वान्मनोवदित्यादिना च तेषा प्रत्यक्षत्वसिद्धे। न सबन्धासभवो बाध, अजसयोगसभवात्। वक्ष्यते च तत्र प्रमाण द्वितीयपरिच्छेदे। तन्मतेनैव सत्प्रतिपक्षतामप्याह—**सदिति**। जातौ सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्यपदम्, घ्राणे रूपे वानैकान्त्यनिवृत्त्यै हेतौ पदद्वयम्। प्रत्यनुमानविरोध निराचष्टे—**न चेति**।

पूर्वोक्त रीति से वेद मे भी आप्तप्रणीतता (आप्तोच्चारितता) मात्र के स्वीकार से हेतु की अन्यथासिद्धि (निरर्थकता) सिद्धसाधनता प्राप्त होती हे। इसप्रकार से पाषण्डादि आगमो को अपौरुषेयत्व होगा, यह प्रथम कहा था, वह प्रसङ्ग भी नही हो सकता है। क्योकि मानान्तर से अर्थो को समझकर तत्तत् पुरुषो से विरचितत्व का सौगतादि से स्वय अङ्गीकार किया गया है, और ऐसी प्रसिद्धि भी है कि तत्तत् आगम तत्तत् पुरुषो से विरचित है। और (सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादि वहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्षविषयता से जो वर्णो की अनित्यता का अनुमान प्रथम कहा था, वह भी युक्त नही, क्योकि भाट्ट के प्रति अस्मदादि वाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व को अनैकान्तिकता है, कालाकाशादि के नित्यत्व से और भाट्ट मत मे कालाकाशादि के प्रत्यक्षत्व से यह अनैकान्तिकता होती है। और उक्त अनुमान मे सत्प्रतिपक्षता भी है। क्योकि (श्रोत्र, नित्य द्रव्य का ग्राहक है, निरवयव इन्द्रिय होने से, मन के समान। आकाश, अस्मदादि के प्रत्यक्ष का विषय हे, प्रदेश वृत्ति विशेष गुण वाला होने से, आत्मा के समान, दिक्कालाऽऽकाश, हमलोगो के प्रत्यक्ष विषय है, विभु होने से, आत्मा के समान) इत्यादि भट्ट मत से प्रयोग का सम्भव है। अर्थात् आकाश, दिशा, काल के स्वतन्त्र रूप से प्रत्यक्ष नही होने पर भी, इस काल मे, इस देश मे, अमुक दिशा मे सूर्य है, इत्यादि विशेषण विशिष्ट रूप से

विशेषगुणग्राहक वा, बहिरिन्द्रियत्वादिन्द्रियत्वाद्वा चक्षुर्वदिति प्रत्यनुमानबाध, प्रथमानुमाने नयनस्य नित्यगगनादिग्राहकत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात्, द्वितीये च ध्वनिग्राहकतया सिद्धसाधनत्वात्। व्यक्तिभेदासिद्धौ च 'स एवाय गकार' इति प्रत्यभिज्ञाया जातिविषयत्वकल्पनानुपपत्ते, तद्विरोधश्च अनित्यत्वानुमाने दुर्वार । न च 'द्रुतो गकारो विलम्बितो गकार' इति विरुद्धधर्मससर्गित्वाद् गकारव्यक्तिभेदसिद्धि, तस्या प्रतीतेर्ध्वनिविषयतया वर्णविषयत्वाभावेन प्रामाणिकविरुद्धधर्मससर्गस्यासिद्धे ।

अनित्यो यो भूतविशेषगुणस्तस्येत्यर्थ । वेदान्तिप्रभाकरयोर्मते सिद्धसाधनतापरिहाराय अनित्यग्रहणम् । शब्दनिष्ठद्वित्वादिना भाट्ट प्रत्यर्थान्तरनानिवृत्त्यै विशेषग्रहणम्। नभोगुणत्वार्थ भूतपदम् । मानसप्रत्यक्षात्मवादिना मनसि व्यभिचारवारणाय बहिरिन्द्रियेत्युक्तम्। अत्रापि भाट्टमतेन दूषणमाह—**प्रथमेति** । नैयायिकादीना च योगीन्द्रियैर्व्यभिचार । अस्मदादिविशेषण च परस्य व्यर्थमिति द्रष्टव्यम । तावतापि तव मते कि दूषणमस्य ? इत्याशङ्क्य प्रत्यभिज्ञाबाध दर्शयितु तस्या अपि जातिविषयत्वेनोक्तामन्यथासिद्धि परिहरति—**व्यक्तीति** । अथ कथ व्यक्तिभेदासिद्धिर्यावतोदात्तानुदात्तादितारतम्यादिविरुद्धधर्माध्यासाद् भेद एव गकारादेरवसीयते इति ? तत्राह—**न चेति** । अत्र किं प्रामाणिकविरुद्धधर्माध्यासाद्भेदसाध्यते ? प्रातीतिकाद्वा ? आद्येऽसिद्धिमाह—**तस्याः प्रतीतेरिति** । यदि व्यक्तिभेद स्यात्तदा द्वौ गकाराविति स्यात्, न पुनर्द्विर्ग उच्चरित इति । तदिह स्वारसिक

आकाशादि प्रत्यक्ष होते है। इत्यादि तात्पर्य है। यदि कहे कि (श्रोत्र, नित्य द्रव्य का ग्राहक नही है, बहिरिन्द्रिय होने से, नेत्रवत्। या श्रोत्र, अनित्य भूत विशेष गुण का ग्राहक होता है, इन्द्रिय होने से, नेत्रवत) इन विरोधी अनुमानो से पूर्व अनुमानो का बाध होता है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि भट्ट मत के अनुसार नेत्र नित्य गगनादि का ग्राहक होता है, अत प्रथम अनुमान मे दृष्टान्त नेत्र साध्यरहित है। और दूसरे अनुमान मे भट्ट मत मे भी अनित्यभूत विशेष गुण ध्वनि ग्राहता से सिद्धसाधनता होती है। और (सोऽय गकार) इस प्रत्यभिज्ञा को जातिविषयक कहा था वह भी अयुक्त है, क्योकि जहाँ प्रमाण से व्यक्तिभेद सिद्ध रहता है, वहाँ प्रत्यभिज्ञा को जातिविषयक माना जाना है, वर्णो के जन्यत्व निमित्तक व्यक्तिभेद की असिद्धि रहते (सोऽय गकार) इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के जातिविषयत्व की अनुपपत्ति से, अनित्यत्वानुमान मे उक्त प्रत्यभिज्ञाविरोध दुर्वार है। यदि कहे कि, यह गकार द्रुत (शीघ्र उच्चारित) हुआ, यह विलम्बित गकार हुआ, इसप्रकार से विरुद्ध द्रुतत्व, विलम्बितत्व धर्म के सर्सगित्व के कारण गकार की व्यक्तिभेद की सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि उक्त प्रतीति की ध्वनिविषयकता से वर्णविषयकता के अभाव के कारण प्रामाणिक

प्रातीतिकस्य च तस्य मणिकृपाणादिष्विवाननस्य भेदासाधकत्वात्। वेदान्तवादिभि सर्गस्य तद्विशेषितकालस्य चाङ्गीकारात्। अतीतकालशब्देन

प्रत्यभिज्ञयैक्य प्रतीयते, विरुद्धधर्मससर्गस्तु परोपाधिक । न च परोपाधिभेदेन स्वाभाविकमैक्य विहन्यते, मा हि भून्नभसोपि कुम्भाद्युपाधिभेदादाजानतो भेद इति, तेनानुवृत्तिव्यवहार स्वरूपेण, व्यावृत्तव्यवहारस्तूपाधिनिदान इत्यनवद्यम् । उक्त च वृद्धै —

'तेन यत्प्रार्थ्यते जातेस्तद्वर्णादेव लभ्यते ।
व्यक्तिलभ्य तु नादेभ्य इति गत्वादिगीर्वृथा ।।' (श्लो० वा० स्फोट २६)

द्वितीयेऽप्यनैकान्तिकतामाह—**प्रातीतिकस्येति**। यथा हि मणिकृपाणदर्पणादिषु तद्भेदेन भिन्नमिव प्रतीयमानमपि मुख न स्वतो भिद्यते, एवमित्यर्थ । एतेन तीव्रादिधर्मोपेतत्वादुत्कर्षनिकर्षवत्त्वादित्यादिकमनित्यत्वसाधकहेतुजातमपहस्तित मन्तव्यम् । तथाच—

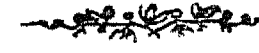
प्रत्यभिज्ञा यदा शब्दे जागर्ति निरवग्रहा । अनित्यत्वानुमानानि सैव सर्वाणि बाधते ।।

किंच सामान्यवत्त्वे सतीत्यनुमाने शब्दमात्रपक्षीकारेऽपि ध्वन्यशे सिद्धसाधनता तदितरत्वविशेषणे चानिष्टाव्यवच्छेदाद्वैयर्थ्यम्, हेतोश्चोपान्त्यादिष्वसिद्धि । अन्त्यशब्दपक्षीकारे च पूर्ववदेव वैयर्थ्यम्, तथा स्वमतेन सोपाधिकत्वम्, अश्रावणत्वस्योपाधित्वात् । शब्दत्वादिनिवर्त्यसद्भावाच्च न पक्षेतरत्वम् । एतेनेदमप्यपास्तम् यदाह मानमनोहरकार—"अनित्य शब्द, इन्द्रियविशेषगुणत्वात्, चक्षूरूपवत्" इति । तत्रापि हि समान ध्वन्यशे सिद्धसाधनत्व तदितरविशेषणे वैयर्थ्यमश्रावणत्वोपाधिहतत्व चेति । उदयनस्तु आश्रयाप्रत्यक्षत्वेऽप्यभावस्य प्रत्यक्षता महता सरम्भेण समर्थयन्नेव निवृत्तकोलाहल, उत्पन्न शब्द इति व्यवहारचरणैकशरण प्रत्यक्षमेव शब्दानित्यत्वे प्रमाणयति स्म, स च विरुद्धधर्मससर्गस्यौपाधिकत्वोपपादनन्यायेन दत्तबलिरेव वेताल । योऽपि नित्यत्वे सर्वदोपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गो न्यायभूषणकारोक्त, सोऽपि ध्वनिसस्कृतस्योपलम्भाभ्युपगमान्निरस्त । यत्तु युगपदिन्द्रियसबद्धत्वेन प्रतिनियतसस्कारसस्कार्यत्वाभावानुमानम्, तद्भवन्मत एवात्मन्यनैकान्तिकमित्यलमतिकलकलेन । यत्तु वैदिक्यानुपूर्वी इद प्रथमा वर्णानुपूर्वीत्वात्सप्रतिपन्नवदित्यनुमान नैयायिकानाम्, तदसत्, विगीत कालो वेदाध्ययनयुक्त कालत्वादिदानीतनवदिति सत्प्रतिपक्षत्वात् । यत्तत्र पूर्वपक्षिणोक्त तत्परिहरति—**वेदान्तवादिभिरिति**।

विरुद्ध धर्मससर्ग की असिद्धि है। और प्रातीतिक (औपाधिक) उक्त विरुद्ध धर्म तो, जैसे मणिकृपाणादि मे मुख के औपाधिक धर्म वर्तुलत्वादि मुखभेद के साधक नही होते है, वैसे ही वे गकारादि के भेद के साधक नही हो सकते है। और भट्ट मत के अनुसार सर्गकाल की असिद्धि से आश्रय (पक्ष) की असिद्धि कहा था वह भी कथन युक्त नही है, क्योकि वेदान्तवादी सर्ग को और सर्गयुक्त काल को मानते है, अत अतीतकाल शब्द से उस सर्गविशिष्ट काल को पक्ष करके अनुमान की

तत्पक्षीकारेणानुमानप्रवृत्तावपि न धर्म्यसिद्धि । न चाभाससमानयोगक्षेमता, भारताध्ययनानामनादित्वनिरासेन पुरस्तान्निरस्तत्वात् । एवमपौरुषेयतया वेदान्तानामसभाविताशेषपुरुषदोषससर्गेभ्यस्तेभ्यो विगलितनिखिलभेदविशुद्धब्रह्मप्रमिति सिद्धचतीति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यश्रीज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्यश्रीचित्सुखाचार्यमुनिविरचितायां तत्त्वप्रदीपिकाया प्रथम परिच्छेद ।



वादार्थमुपसहरन्प्रथमपरिच्छेदार्थ सकलयति—**एवमपरुषेयतयेत्यादिना** । अत्र च पुरुषदोषासभवग्रहणमितरशब्ददोषासभवस्याप्युपलक्षणम्, तेन स्वत प्रामाण्यशक्त्यभिहितान्वयापौरुषेयसिद्धार्थप्रामाण्यकार्यप्रामाण्यवादाना सग्रह कृत । विगलितनिखिलभेदग्रहणेनाखण्डवाक्यार्थप्रपञ्चमिथ्यात्वतदुपपादकभावरूपाज्ञानतदुपयोगितम -ख्यातिविशेषविचारा सगृहीता । परिशुद्धब्रह्मग्रहणेन विज्ञानात्मस्वप्रकाशवादी सगृहीताविति परिच्छेदार्थ सकल सकलित इति सर्वं निर्मलम् ।

विज्ञान स्वप्रकाश भवति च पुरुषस्तद्वपुर्भाविरूपम्,
ध्वान्त मिथ्या प्रपञ्चो भ्रमभरनिलयोऽनादिभावोऽप्रबोध ।
आरोपारोप्यसिद्धप्रमितिजनकताऽखण्डता स्वप्रमात्वम्,
शक्तिर्लक्ष्य पदार्थान्वय इति कथिता पौरुषेयो न वेद ॥

इति श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यग्रूपभगवत कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्याया नयनप्रसादिन्या प्रथम परिच्छेद ।



प्रवृत्ति होने पर भी धर्मी (पक्ष) की असिद्धि नही होती है कि (सर्गकाल, वेदाध्ययन युक्त था, काल होने से, वर्तमान काल के समान) आभास अनुमानो के समान, इस अनुमान की योगक्षेमता नही है, भारत अध्ययनो के अनादित्व के निराकरण से योगक्षेमतुल्यता प्रथम ही निरस्त हो चुकी है। उक्त रीति से बेदान्तो की अपौरुषेयता के कारण, जिनमे अशेष (सब) पुरुषदोषो के ससर्ग का सम्भव नही, उन वेदान्तो से सब भेदरहित विशुद्ध ब्रह्म की प्रमिनि (अनुभूनि) होती है, यह सिद्ध हुआ ।

वेदान्तवेद्यसद्ब्रह्म तत्रैवास्ति समन्वय ।
वेदान्ताना ततो ज्ञेय ध्येय तद्धि मुमुक्षुभि ॥ १ ॥

श्री स्वामी हनुमानदासजी महाराजकृत चित्सुखी प्रथम परिच्छेद की हिन्दी टीका समाप्त ।



द्वितीयः परिच्छेदः

ननु कथ विगलितनिखिलभेदब्रह्मप्रतिपत्ति ? प्रत्यक्षादिविरोधात् । तथाहि—प्रत्यक्षेण तावदिदमस्माद्भिन्नमिति नीलपीतादेर्भेदमध्यवस्याम ।

नमस्ये मानौघै प्रमितममित स्थाणुमनिश
समस्तज्ञ लोकत्रितयनयन सत्रिनयनम् ।
सकाल कालारि सकलवपुष निष्कलमुमा-
सहाय कामारि भवमभवमीश पशुपतिम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणि वेदान्तानामुदितोऽद्वैते समन्वयस्तस्य ।
भेदावगाहिमानैर्विरोधनुत्यै पर परिच्छेद ॥ २ ॥

यद्यप्यद्वये ब्रह्मणि वेदान्ताना प्रामाण्य साधितम्, तथापि भेदग्राहिप्रत्यक्षादि-विरोधादसाधितसम तत्, अतोऽनुत्पत्तिलक्षणाप्रामाण्याभावेऽपि विरोधान्मिथ्यात्व-लक्षणमप्रामाण्य भवेत्, क खलु विशेष स्वगोचरशूराणा प्रत्यक्षादीनामागमेभ्य ? इति प्रामाणिकभेदवादिन प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमित्यादिना** । अनेन परि-च्छेदयोर्विषयविषयिभावलक्षणासगतिरपि दर्शिता, पूर्वस्य विषयत्वादुत्तरस्य विषयि-त्वादिति । अत्र मण्डनमिश्रैर्भेदवस्तुनो किमेकैकग्राहक प्रत्यक्षम् ? उतोभयग्राहकम् ? उभयग्रहपक्षेऽपि युगपत्क्रमेण वा ? क्रमपक्षेऽपि किं पूर्वम् ? किमपरम् ? इति

समन्वय परिज्ञाय ज्ञेय यदद्वय परम् ।
परमानन्दरूप तत्सत्तनोतु सुमङ्गलम् ॥

यद्यपि वेदान्त का अद्वय ब्रह्म मे समन्वय कहा गया है, तथापि प्रत्यक्ष भेद से विरोध रहते उसका निश्चय नही हो सकता है, अत प्रत्यक्ष भेदविरोध के निवारण द्वारा उक्त अर्थ को स्थूणानिखनन न्याय से दृढ करने के लिये द्वितीय परिच्छेद का आरम्भ प्रतीत होता है, यहाँ प्रामाणिक भेदवादी को प्रथम प्रतिवादी रूप खडा किया गया है । अत उसका प्रश्न है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणो से विरोध रहते सब भेद से रहित अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान कैसे हो सकता है, अर्थात् नही हो सकता है, क्योकि प्रत्यक्ष जो सबसे प्रबल प्रमाण है, उसीसे 'यह इससे भिन्न है' इस प्रकार से नील, पीतादि के भेद को निश्चय करते है । यहाँ यदि मत (विचार)

अथ मतम्—कि प्रत्यक्ष भेदमेव गोचरयति? उत वस्त्वपि? तदापि भेदपूर्वक तद्गोचरयेत्? तत्पूर्वक वा भेदम्? युगपदेव वोभयम्? नाद्य, धर्मिप्रतियोगिवस्तुप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदस्य प्रत्येतुमशक्यत्वात्। अत एव न भेदग्रहपूर्वको वस्तुग्रह। नच वस्तुग्रहपुरस्सरो भेदग्रह, बुद्धेर्विरम्य व्यापाराभावात्। नापि युगपदुभयग्रह, कार्यकारणबुद्ध्योर्यौगपद्यायोगात्। धर्मिप्रतियोगिप्रतिपत्तिर्हि भेदप्रतिपत्ते कारणम्, सन्निहितेऽपि धर्मिण्यसन्निहितप्रतियोगिप्रतिपत्तिमन्तरेण भेदप्रतिपत्तिव्यतिरेकस्य वादिप्रतिवादिनो समतत्वादिति मैवम्, स्वरूपभेदवादिन प्रत्येतेषा विकल्पानामनवसरदु स्थत्वात्, वस्तु-

विकल्प्य दूषयद्भिर्भेदग्राहित्वमेव प्रत्यक्षस्य नास्तीत्युक्तम्, तदनुवदति पूर्ववादी—**अथ मतमिति**। वस्त्वेवेति तु पक्षस्तदनर्थबीजमिति परित्यक्त। धर्मिप्रतियोगिरूप वस्तु धर्मिप्रतियोगिवस्तु। इदमेव दूषणमुभयग्रहेऽपि भेदग्रहपूर्वकवस्तुग्रहपक्षेऽप्यतिदिशति—**अत एवेति**। कार्यकारणभावमेवोपपादयति—**धर्मिप्रतियोगीति**। ननु यद्यपि भेदप्रतिपत्तिसमये धर्म्यादिज्ञानमन्वेति, तथापि न तावता कारणत्व शक्याध्यवसायम्, व्यतिरेकाभावादितरथा नभसोऽपि निमित्तकारणतापतात्, अस्ति ह्यन्वय इति, तत्राह—**सन्निहितेऽपीति**। तमिममनूदित पक्ष प्रतिक्षिपति—**मैवमिति**।

हो कि 'प्रत्यक्ष प्रमाण' क्या भेद को ही विषय करता है, अथवा वस्तु = अनुयोगी प्रतियोगी को भी विषय करता है, तदापि (वस्तु के ग्रहण काल मे भी) भेदपूर्वक वस्तु को विषय करता है, या वस्तुपूर्वक भेद को विषय करेगा। यहाँ प्रथम पक्ष (भेदमात्र का ग्रहण) नही बन सकता है, क्योकि धर्मी = अनुयोगी और प्रतियोगी, के ज्ञान के विना भेद को जानना अशक्य है, अत एव भेद के ग्रहणपूर्वक वस्तु के ग्रहण को भी नही माना जा सकता है, क्योकि वस्तु के ज्ञान के विना प्रथम भेद का ग्रहण ही नही होगा, तो तत्पूर्वक वस्तु का कैसे ग्रहण होगा। वस्तु के ग्रहणपूर्वक भेद का ग्रहण हो, यह पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि विरामपूर्वक बुद्धि का व्यापार नही होता है, अर्थात् एक ही ज्ञान प्रथम वस्तु को ग्रहण करके फिर भेद को ग्रहण करे, ऐसी शक्ति ज्ञान मे नही है ऐसा हो तो एक ज्ञान ठहर-ठहर कर सबका प्रकाश करे, ज्ञानान्तर की आवश्यकता ही नही हो। एक काल मे दोनो का ग्रहण हो, यह भी नही बन सकता है, क्योकि कार्यकारण रूप ज्ञान की समकालता का असम्भव है। धर्मी और प्रतियोगी का ज्ञान भेदज्ञान का कारण है, भेदज्ञान कार्य है, अत कारण को कार्य से अव्यवहित पूर्व काल मे होना चाहिये, एक काल मे नही। धर्मी के सन्निहित रहते भी, असन्निहित प्रतियोगी के ज्ञान के विना भेदप्रतीति के अभाव को वादी-प्रतिवादी दोनो मानते है, अत धर्मीप्रतियोगी दोनो के ज्ञान मे भेदज्ञान की कारणता निश्चित है। 'अब प्रामाणिक' भेदवादी कहते है कि ऐसा प्रश्न विचार

ग्रहस्यैव भेदग्रहत्वात्। न च वस्तुस्वभावस्यैव भेदत्वे तद्ग्रहस्य प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्ग, वस्तुस्वभावतया भेदस्यानपेक्षदृष्टिदृष्टस्य सविकल्पके व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षत्वोपपत्ते। दृश्यते हि प्रादेशमात्रपरिमाणवस्तुनोऽनपेक्षदृष्टिदृष्टस्य ह्रस्व दीर्घमिति सविकल्पके व्यवहारे न्यूनाधिकपरिमाणवस्तुग्रहसापेक्षता। न च धर्मभेदवादिन प्रत्यप्येते विकल्पा प्रसरमर्हन्ति, युगपदुभयग्रहेऽपि विरोधाभावात्। असन्निहिते धर्मिणि प्रति-

---

कि वस्तुस्वरूपमेव भेद इति तस्य मत प्रतीमानि दूपणान्युच्यन्ते ? कि वा धर्मभेदवादिन प्रति ? प्रथमे चौरापराधान्माण्डव्यनिग्रहन्याय, उच्यमानदूषणाना तदविषयत्वादित्याह—**स्वरूपभेदेति।** ननु वस्तुस्वभावत्वमेव भेदस्य न घटते, तथा सति घटस्वभाववदेव प्रतियोग्यनपेक्षितत्वप्रसङ्गात्, प्रतियोगिसापेक्षश्च सर्वत्र भेद प्रतीयत इति, तत्राह—**न च वस्तुस्वभावस्येति।** अत्र यदि वस्तुस्वभावो भेद स्यात्तर्हि सापेक्षप्रतीतित्व न स्यादिति ह्यापादनम्, तच्चायुक्तम्, वस्त्वेव भेद इति वदन्त मा प्रति व्याप्त्यसिद्धे प्रशिथिलमूलत्वादित्याह—**वस्तुस्वभावतयेति।** प्रतीतिविशेषो व्यवहारविशेषप्रयुक्त, न वस्त्वतिरेकप्रयुक्त इति भाव। अथैवमापाद्यते—यदि हि निरपेक्षदृष्टिदृष्ट स्यात्, नस्यात्तर्हि सापेक्षदृष्टिदृष्ट इति, तत्रापि प्रशिथिलमूलतामाह—**दृश्यते हीति।** दीर्घमिति व्यवहारे न्यूनवस्तुग्रहापेक्षा, ह्रस्वव्यवहारे त्वधिकग्रहापेक्षा। अधिकत्व चात्र दीर्घत्व विवक्षितमित्यर्थ। अस्तु तर्हि द्वितीय, नेत्याह—**न च धर्मभेदवादिनमिति।** ननु कथ युगपदुभयग्रह ? यावता कार्यकारणभावस्तदुभयग्रहयोर्वर्णित, असन्निहितप्रतियोगिस्थले स्थितव्यतिरेकत्वादिति तत्राह—**असन्निहिते धर्मिणीति।** यथा हि—विभिन्नेन्द्रियग्राह्यसन्निहित-

---

या शङ्का युक्त नही है, क्योकि स्वरूपभदवादी के प्रति इन विकल्पो की अनवसरता से विकल्प दूरस्थ है, वस्तु का ग्रहण ही भेद का ग्रहण होता है। यदि कहा जाय कि वस्तुस्वभाव (स्वरूप) ही भेद हो, तो भेदज्ञान मे प्रतियोगी की अपेक्षा नही होनी चाहिये, तो कहा जाता है कि—प्रथम वस्तुस्वभावस्वरूप' से अनपेक्ष दृष्टि से दृष्ट (प्रत्यक्ष) भेद के सविकल्पक = विशेषधर्मविषयक, व्यवहार मे प्रतियोगिसापेक्षत्व की सिद्धि होती है, ज्ञान मे नही। अनपेक्ष दृष्टि से दृष्ट प्रादेशमात्र (वितस्तिमात्र) वस्तु के ह्रस्व-दीर्घ इसप्रकार के विकल्पक व्यवहार मे न्यूनाधिक परिमाण वाली वस्तु के ग्रहण की अपेक्षा देखी जाती है, स्वरूपमात्र के ग्रहण मे नही, ऐसे ही प्रकृत मे समझना चाहिये। धर्मी वस्तुस्वरूप भेद को नही मानकर वस्तु के धर्मरूप भेद को मानने वाले भेदवादी के प्रति भी ये पूर्वोक्त विकल्प नही प्राप्त हो सकते है। क्योकि एक काल मे वस्तु और अभाव (भेद) दोनो के ग्रहण होने पर भी विरोध का अभाव है, क्योकि धर्मी वा प्रतियोगी के

योगिनि वा युगपदुभयग्रहाभावेऽपि सन्निहितस्थले दण्डी देवदत्त इतिवदपर्यायमेवोभयग्रहोपपत्ते । न च धर्मभेदवादे तस्य तस्य भेदस्य भेदान्तरभेद्यत्वादनवस्थादोषापत्ति , मूलक्षतेरभावात् , 'मूलक्षतिकरी प्राहुरनवस्था हि दूषणम्' इति न्यायात् ।

ननु धर्मपक्षेऽपि धर्मिणो भेदेन प्रतिपन्नस्य प्रतियोगिताया परस्पराश्रयदोष , स्तम्भात्कुम्भस्य भेदसिद्धौ, कुम्भात्स्तम्भस्य भेदसिद्धिरिति ।

विशेषणविशेष्यज्ञानयोर्विशिष्टज्ञानपूर्वभावित्वेऽप्येकेन्द्रियग्राह्यसन्निहितस्थले पूर्वभावित्व नास्थीयते, तत्कस्य हेतो ? व्याप्ते सकोचात्, व्याप्तिसकोचश्च दर्शनबलादेव, तथेहाप्यसन्निहितस्थले पौर्वापर्यदर्शनेन वस्तुभेदयोरग्निविशिष्टपर्वतवत् प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि सन्निहितस्थले योगपद्य भवतु, को दोष ? इत्यर्थ । **मूलक्षतेरिति ।** मूल प्राथमिकभेदप्रतीतिस्तत्क्षतेरभावादज्ञायमानानामेव भेदाना प्रथमभेदोपपादकत्वादित्यर्थ ।

धर्मभेदपक्षे धर्मिप्रतियोगिज्ञानयो परस्पराश्रयदोषमाशङ्कते—**ननु धर्मपक्षेऽपीति ।** परस्पराश्रयमेवाभिनयति—**स्तम्भादिति ।** ननु न भेदेन प्रतिपन्नस्य

असन्निहित (दूर) रहते, एक काल मे दोनो के ग्रहण के अभाव होने भी धर्मी प्रतियोगी के सन्निहित स्थान मे 'दण्डी देवदत्त' इसके समान (अपर्याय) युगपद ही दोनो को ग्रहण (ज्ञान) की सिद्धि होती है । अर्थात् विभिन्नेन्द्रियग्राह्य असन्निहित विशेषण-विशेष्य के ज्ञान की विशिष्ट ज्ञान से प्रथम स्थिति रहती है, क्योकि वैसे स्थान और विशेष्य के ज्ञानविशिष्ट ज्ञान के हेतु होते है, परन्तु एकेन्द्रिय से ग्राह्य सन्निहित स्थान मे विशेषणादि ज्ञान मे पूर्वकाल भावित्व नही मानते है, क्योकि दण्डी इस ज्ञान मे विशेषणविशेष्यविशिष्ट ज्ञानो मे समकालिकत्व देखा जाता है । यदि कहे कि धर्मभेदवाद मे तत्तत भेदो को भेदान्तर से भेद्यत्व (भेदवत्त्व) होने के कारण अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी । अर्थात् धर्म रूप भेद धर्मी से भिन्न होगा, तो भेद वाला होने से भिन्न कहा जायगा, तो फिर जिस भेद से भेद वाला होगा, वह भी अपने धर्मी भेद से भिन्न होगा, तो इस प्रकार से अनवस्था होगी, तो कहा जाता है कि मूल क्षति के अभाव से यह अनवस्था दोष स्वरूप नही है, क्योकि मूलक्षतिकारिणी अनवस्था को दूषण रूप कहते है, ऐसा न्याय माना गया है । पहिली भेद की प्रतीति मूल है, अज्ञात भी आगे के भेद उस प्रथम भेद के साधक होते है, अत मूल की क्षति नही होती है ।

फिर भी यदि शङ्का हो कि, धर्मभेद पक्ष मे भी धर्मी=अनुयोगी, से भेदपूर्वक (भिन्न स्वरूप से) प्रतिपन्न (निश्चित) को प्रतियोगिता हो तो परस्पराश्रय (अन्योन्याश्रय) दोष प्राप्त होता है क्योकि स्तम्भ (अनुयोगी) से कुम्भ के भेद

अप्रतिपन्नभेदस्य तु प्रतियोगिताया दुष्परिहर स्वात्मनोऽपि तत्प्रसङ्ग इति चेत् , मैवम् , विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपेण च स्फुरतोर्धर्मिप्रतियोगित्वोपपत्तौ एकस्मिन् भेदग्रहप्रसङ्गाभावात् । ननु क्षीरनीरयोर्विद्यमानभेदयोरपि स्वरूपग्रहणे भेदग्रहो न दृश्यत इति चेत् , मैवम् , तत्र समानाभिहारलक्षणदोषप्रतिबन्धादेव तदग्रहोपपत्ते । एतेन दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्ग प्रत्युक्त ।

उक्तञ्च—

प्रतियोगिता, येनायमनन्तरो दोष प्रसृज्येत, अपि तु स्वरूपेण प्रतीतस्येति, तत्राह— **अप्रतिपन्नेति ।** तदेतत्परिहृति—**मैवमिति ।** न स्वरूपेण प्रतीतिमात्र विवक्षितम्, अपितु विद्यमानभेदत्वमपि । तथाच स्वस्य स्वस्मात्तदभावान्न भेदग्रहप्रसङ्ग , नाप्यन्योन्याश्रयतेत्यर्थ । तदप्यप्रयोजकमिति शङ्कते—**ननु क्षीरेति ।** समानैरभिहारोमिश्रणम् , प्रनिबन्धे सति कार्यानुत्पादो न कारणत्व विहन्तीति भाव । यच्च विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण प्रतीते प्रतियोगित्वधर्मित्वप्रयोजकताया दूषण कैश्चिद् उच्यते, दूरस्थवनस्पत्योरपि भेदग्रहप्रसङ्ग इति, तत्राप्युक्त परिहारमतिदिशति— **एतेनेति ।**

की सिद्धि होने पर, कुम्भ (प्रतियोगी) से स्तम्भ के भेद की सिद्धि होगी । और धर्मी से अनिश्चित भेद वाले को प्रतियोगिता हो, तो अनुयोगी को भी वह प्रतियोगिता प्राप्त होगी । अर्थात अपने स्वरूप मे अपना भेद प्राप्त होगा (आप अपने से भिन्न होगा) यह सम्भव नही । तो कहा जाता है कि—यह शङ्का युक्त नही । क्योकि विद्यमान भेद वाले को ही स्वरूप से ज्ञात होने पर धर्मित्व प्रतियोगित्व की सिद्धि होती हे, वहाँ स्वरूप से ज्ञान मे अन्योन्याश्रय की प्राप्ति नही हो सकती हे, और एक अनुयोगी के स्वरूप मे विद्यमान भेद के अभाव से भेदग्रहण की प्राप्ति नही हो सकती है । यदि कहा जाय कि विद्यमान भेद वाले क्षीर-नीर के स्वरूप के ज्ञान होने पर भी पृथक् प्रतियोगित्व-अनुयोगित्व के ज्ञान विना भेद का ज्ञान नही देखा जाता है, इसीप्रकार अन्यत्र स्वरूप से स्फुरणमात्र से भेद का ग्रहण नही होगा, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि वहाँ दूध-पानी के भेदग्रहण मे समानाभिहार (समस्वभाव वालो के मेल) रूप दोष से प्रतिबन्ध होने ही से भेद के अज्ञान की सिद्धि होती है, स्वरूपमात्र के ग्रहण से नही । इसीसे दूरस्थ वनस्पतियो के भी स्वरूपग्रहण से उनके भेद का भी ग्रहण होना चाहिए, यदि स्वरूपग्रहण से कही भेद का ग्रहण होता है तो यह भेदग्रहण का प्रसङ्ग भी निरस्त हो गया, क्योकि वहाँ भी दूरता दोष भेदग्रह मे प्रतिबन्धक हो जाता है ।

कहा भी है कि—

'अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात् ।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च' ॥ इति (सा का ७)

किं चैकस्यामेव निर्विकल्पिकायां संविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपत्प्रतिभासे सत्येकं भेदिनं प्रतियोगीकृत्यैतस्मादयं भिन्नस्सविकल्पकबोधोपपत्तौ कुतः परस्पराश्रयो दोषः ? एतेन भेदभेदिनोर्भेदान्तरप्रतीतिमन्तरेण विशेषण-विशेष्यभावासंभवाद् भेदस्य विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा प्रतीतिनियमादनवस्था मूलक्षयकरी स्यादित्यपि प्रत्युक्तम्, विद्यमानभेदयोः स्वरूपेण

अत्र च प्रतिबन्धमात्रमतिदेश्यमनिदूरत्वप्रतिबद्धत्वात्तयोः । **अतिदूरादिति ।** अतिदूराद् गिरिशिखरवर्तितर्वादौ, अतिसामीप्याल्लोचननिलीनसलिलबिन्द्वादौ, इन्द्रियघातादन्धादे, मनोऽनवस्थानात्तीव्रदुःखाद्युदये, अतिसौक्ष्म्यात्परमाण्वादौ, व्यवधानादपवरकान्तरवर्त्तिषु, अभिभवाद्दिवादीपादौ, समानाभिहारान्नीराशये नीरदमुच्यमाननीरेषु यथावद्ग्रहणप्रतिबन्धो भवति । चस्त्वनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन दुग्धादिषु दध्यादेरनुद्भवादग्रहोऽपि गृहीतः । तेन नानुपलब्धिमात्रादतीन्द्रियप्रधानाद्यपलाप इति माख्यार्यार्थः ।

प्रकारान्तरेण परस्पराश्रयं परिहरति—**किंचैकस्यामेवेति ।** यदि धर्मि प्रतियोगिसापेक्ष एव सर्वदा भेदः प्रतिभायात्तदा स्यादयं दोषः, नत्वेतदस्ति, निर्विकल्पकसंविदि निरपेक्षप्रतीतिसंभवादित्यर्थः । यच्च कैश्चिदुच्यते—विशेषणतया विशेष्यतया वा सर्वत्र भेदः प्रतीयते, तच्च द्वयं भेदेन प्रतीतस्य । तथाच विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन वा प्राथमिकभेदप्रतीतिर्भेदान्तरप्रतीतिपूर्विका, तदपि भेदान्तरं तथैवेत्यनन्तभेदप्रतीत्यापत्त्या मूलक्षतिकारिण्येवानवस्थेति, तदप्युक्तेन परिहृतमित्याह—**एतेन भेदभेदिनोरिति ।** एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**विद्यमानेत्यादि ।**

अतिदूरता, अतिसमीपता, इन्द्रिय का नाश, मन की चञ्चलता, अति सूक्ष्मता, व्यवधान, बलवत्तेज आदि से अभिभव, समानाभिहार से विद्यमान वस्तु आदि के ज्ञान नहीं होते हैं ।

यदि धर्मी प्रतियोगी के ज्ञानपूर्वक ही भेदज्ञान का नियम हो तो अन्योन्याश्रय हो सकता है, परन्तु ऐसा नियम नहीं है, अतः एक ही निर्विकल्पक ज्ञान में भेद और भेदवाले के युगपद (एक साथ) प्रतिभास (प्रकाश) होने पर, फिर एक भेद वाले को प्रतियोगी मानकर यह इससे भिन्न है, इसप्रकार के सविकल्पक ज्ञान की सिद्धि होते परस्पराश्रय दोष किससे हो सकता है ? इसीसे यह भी प्रत्युक्त (खण्डित) हो गया कि जो कोई कहते हैं कि भेद की विशेषण रूप से या विशेष्य रूप से प्रतीति का नियम है, और भेद भेदी के भेदान्तर की प्रतीति के विना विशेषण-विशेष्यभाव का असम्भव है, अतः मूलक्षयकरी अनवस्था होगी, यह इससे प्रत्युक्त हुआ कि,

स्फुरतोऽग्रेव धर्मिप्रतियोगित्ववद् विशेषणविशेष्यभावस्याप्युपपत्ते । तदेव प्रत्यक्षप्रमितिगोचरो भेद ।

अनुमानमपि लिङ्गविशेषात् लिङ्गिविशेषप्रत्यायकत्वाद्भेदे प्रमाणम् । आगमोऽपि शब्दान्तराभ्याससख्यासञ्ज्ञागुणप्रक्रियानामधेयै कर्मोपासनादि-भेदमेव बोधयति । उपमानमपि प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टपरोक्षगो-विषयमनेन सदृशी मदीया गौरिति भेदमेव गृह्णाति । अर्थापत्तिरपि 'तिलेभ्य एव तैल पयस एव दधि' इति व्यवस्थान्यथानुपपत्तिप्रभवाभेदमेवालिङ्गते । योग्यानुपलब्धिरप्यन्योन्याभाव लक्षण भेद बोधयत्येव । तदेव भेदग्राहक-प्रत्यक्षादिविरोधान्नाद्वैत प्रतिपादयितुमर्हन्ति वेदान्ता । प्रयोगश्च–घट घटनिष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदाश्रय दृश्यत्वात् पटवत् । अत्राभिदध्महे--

---

एव प्रत्यक्षगम्यत्व भेदस्योक्त्वाऽनुमानादिरपि भेद गमयतीत्याह—**अनुमानमपीत्यादिना।** सुरभिधूमेन चन्दनदहनानुमानमितरव्यावृत्तवस्तूनि प्रमाणमित्यर्थ । शब्दान्तराद्यधिकरणान्यनुक्रान्तानि प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे । यद्यप्युपासनान्यपि कर्म, तथापि मानसत्ववैधर्म्येण भेदेन निर्दिष्टानि । आदिशब्देन निर्गुणविद्याया इतरेभ्यो भेदसग्रह । उक्तलक्षणमेवोपमान दर्शयति—**अनेन सदृशीति।** अन्योन्याभाव इत्यु-पलक्षणम्, भूतलादौ घटादिससर्गाभावस्यापि बोधकत्वात् । अत्र च साक्षादेव प्रमा भेद, भविष्यन्ति चैतेषा प्रमाणाना लक्षणानि तत्तत्खण्डनसमये । भेदसत्यत्वेऽप्यनुमान मानमाह—**प्रयोगश्चेति।** व्याख्यात चैतत्प्रपञ्चमिथ्यात्ववादे पूर्वपक्षावसरसमये ।

जैसे विद्यमान भेद वाले के प्रथम स्वरूप से स्फुरण ज्ञान होने पर ही फिर धर्मित्व प्रतियोगित्व की प्रतीति होती है । इसीप्रकार से प्रथम स्वरूप से प्रतीति होने पर विशेषणविशेष्य भाव की सिद्धि होगी, इसलिए अनवस्था नही होगी । अत उक्त रीति से प्रत्यक्षप्रमा का विषय भेद सिद्ध हुआ ।

लिङ्गविशेष हेतु, विशेषीलिङ्गी विशेष का बोधक होता है, अत अनुमान भी भेद मे प्रमाण है । अर्थात् सुगन्ध धूम से चन्दनादि की अग्नि का अनुमान, इतर से व्यावृत्त साध्य का बोधक होता है । शब्दान्तर अभ्यास, सख्या, गुण, प्रकरण, नाम द्वारा आगम भी कर्म उपासना आदि के भेद को ही समझता है । प्रत्यक्ष दृष्ट गवय सादृश्य युक्त परोक्ष गोविषयक उपमान भी इसके सदृश मेरी गौ है, इसप्रकार से भेद का ही गहण करता है । तिलो से ही तैल होता है, दूध से ही दधि होता है, इसप्रकार की व्यवस्था की अनुपपत्ति से जन्म वाली अर्थापत्ति भी भेद को ही आश्रयण करती हैं । अन्योन्याभाव रूप योग्यऽनुपलब्धि भी वृक्षादि मे पिशाचादि के भेद को बोध कराती ही है । अत इस प्रकार से भेद के बोधक प्रत्यक्षादि के साथ विरोध होने से वेदान्त अद्वैत का प्रतिपादन नही कर सकता है । इस विषय मे प्रयोग भी है कि (घट, घटवृत्ति मिथ्या भेद से भिन्न भेद का आश्रय है, दृश्य होने से, पटवत्) । यहाँ सिद्धान्त कहते है कि—

सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसङ्गत ।
एकाभावादसदेहान्न रूप वस्तुनो भिदा ॥ १ ॥

न तावत्स्वरूप भेद , प्रतियोग्यनपेक्षत्वप्रसङ्गात् । न च प्रादेशमात्रपरिमाणस्य ह्रस्वदीर्घादिव्यवहार इव सविकल्पकव्यवहारे भेदस्यापि प्रतियोगिसापेक्षत्वम् , वैषम्यात् । तथाहि–प्रादेशमात्रपरिमाण स्वतो न्यूनाधिकपरिमाणाभ्यामेकद्रव्यसमवायविरोधिधर्मद्वयविशिष्टतयोपलम्भे प्रतियो-

---

स्वरूपभेदपक्षे दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**सापेक्षत्वादिति** । न रूप वस्तुनो भिदेत्यनेनैषा हेतूनामन्वय । सापेक्षप्रतीतित्वाद् भेदस्य, वस्तुनश्च निरपेक्षप्रतीतित्वात् । तथा सावधे सप्रतियोगिकस्य भेदस्य तत्त्वे वस्तुस्वरूपत्वे सति तद्द्वारा प्रतियोगिनामपि धर्मिस्वरूपत्वादद्वैतप्रसङ्ग इति द्वितीयो हेतु । तथाविदारणात्मकस्य भेदस्य वस्तुस्वरूपत्वे तस्यापि विदीर्णतयैकाभावात् तन्निमित्तानेकाभावाच्च शून्यतापातादिति तृतीयो हेतु । तथा स्वरूपत्वे भेदस्य धर्मिणि दृष्टमात्र एव तत्स्वरूपभेदोऽपि, दृष्ट इति सदेहो न भवेत् । उपलक्षण चैतत् विपर्ययस्यापि । विशेषाग्रहनिबन्धनौ हि तौ तद्ग्रहणे न स्यातामिति चतुर्थो हेतु । एतेभ्यो हेतुभ्यो न स्वरूप वस्तुनो भिदा भेद इति श्लोकयोजना ।

श्लोक विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । पूर्वपक्ष्याशयमुन्मूलयति—**न चेति** । वैषम्यमेव विवृणोति—**तथाहीति** । स्वता न्यूनपरिमाणेन स्वतोऽधिकपरिमाणेन च सहैकद्रव्ये समवायविरोधि यद्धर्मद्वय दीर्घत्वह्रस्वत्वात्मकम् अस्य प्रादेशमात्रपरिमाणस्य तद्विशिष्टतया प्रतीतावेव प्रतियोग्यपेक्षा, न स्वरूपमात्रप्रतीताविति न भेदस्यो-

---

भेद के प्रतियोगी सापेक्ष होने से तथा सावधिक होने से भेद वस्तु का स्वरूप नही है, और साविध भेद को भी यदि तत्त्व (वस्तुस्वरूपत्व) हो, तो भेद द्वारा प्रतियोगी भी धर्मी मे प्रविष्ट होगा कि जिससे अद्वैत का प्रसङ्ग होगा । और भेदात्मक वस्तु के होने पर सर्वत्र एक का अभाव प्राप्त होगा, और स्वरूप के ज्ञान से तदात्मक भेद के ज्ञात होने से स्वरूप के ज्ञान होने पर भेदविषयक सशय नही हो सकेगा । अत भिदा (भेद) वस्तु का स्वरूप नही हो सकता है ॥ १ ॥

भेद वस्तुस्वरूप नही है, क्योकि यदि वस्तुस्वरूप भेद होगा तो उसमे प्रतियोगी की अपेक्षा से रहितत्त्व प्राप्त होगा, वस्तुस्वरूप प्रतियोगी अपेक्षारहित रहता है, यदि कहा जाय कि पूर्ववर्णित रीति से निर्विकल्पक ज्ञानकाल मे भेद को प्रतिसापेक्षत्व नही रहता है किन्तु प्रादेशमात्र परिमाण को ह्रस्व, दीर्घादि व्यवहार के समान सविकल्पक व्यवहार मे भेद को भी प्रतियोगी सापेक्षत्व होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि दृष्टान्त मे दार्ष्टान्त से विषमता है । क्योकि अपने से न्यूनाधिक परिमाणो के साथ, एक द्रव्य मे समवाय के विरोधी ह्रस्वत्व,

गिनमपेक्षते इत्यस्त्येव तत्र मेयभेद । प्रकृते तु न तथा, स्वरूपस्यैव भेदत्वात् । यदि चास्मादय भिन्न इति प्रतियोगिघटिततया प्रतीयमानो भेदो वस्तुन स्वरूप स्यात्, तदा तस्य सपरिकरस्य भेदस्य स्वरूपेऽन्तर्भावात् प्रतियोगिनोऽपि स्वरूपतया निमज्जनादद्वैतमेव पर्यवस्येत् । अथ प्रतियोगी भेदस्य स्वरूपे नान्तर्भूत, किन्तु तटस्थ एव तन्निरूपकस्ततो नाद्वैतापत्ति-रिति, मैवम्, प्रतियोगिनो भेदस्वभावानन्तर्भावेऽपि स्वभावभूतस्य भेदस्य वस्तुस्वभाववदेवान्यनिरूप्यत्वानुपपत्ते । किच कुम्भ प्रति स्तम्भस्य यत्प्रतियोगित्व तदपि स्तम्भस्य स्वरूपेऽन्तर्भूत चेत्कुम्भस्यापि स्तम्भात्मना पर्यवसानादद्वैतापत्ति । धर्मत्वे च कुम्भोऽपि स्तम्भधर्मतामनुप्रविशेत्,

---

दाहरण तदित्यर्थ । सावधेश्चेत्यादि द्वितीय हेतु विवृणोति--**यदि चेत्यादिना । घटिततयेति ।** विशिष्टतयेत्यर्थ । ननु न प्रतियोगिविशिष्टो भेद, किंतु तदुप-लक्षित, तेन भेदस्य धर्मिस्वभावत्वेऽपि न प्रतियोगिनस्तदनन्तर्भूतस्य धर्मिस्वभाव-तेत्याह-**अथ प्रतियोगीति ।** परिहरति-**मैवम्, प्रतियोगिन इति ।** तदानीमद्वैत-प्रसङ्गाभावेऽपि धर्मिवदेव तत्स्वरूपभूतभेदोऽपि न प्रतियोगिनिरूप्य, स्यादित्ययमेव दोष स्यादित्यर्थ । तथा स्तम्भस्य यदिद कुम्भ प्रति प्रतियोगित्व नानावधिघटितम्, तदपि स्तम्भस्य स्वरूप धर्मो वा । आद्ये सावधेस्तस्य तत्त्वे स्वभावत्वेऽद्वैतप्रसङ्ग । कुम्भस्यापि प्रतियोगित्वान्तर्भूततया स्तम्भान्त पातित्वादिति योजनान्तर विवक्षन्नाह-**किच कुम्भमिति ।** द्वितीये दूषणमाह—**धर्मत्व इति ।** ननु कुम्भविशेषितप्रतियोगि-त्वस्य स्तम्भधर्मत्वेऽपि न विशेषणीभूतकुम्भस्य स्तम्भधर्मता, तथा लोक दर्शनाभावा-

---

दीर्घत्व रूप धर्मद्वय विशिष्ट रूप से अपनेविषयक ज्ञान के होने पर प्रादेशमात्र परिमाण प्रतियोगी की अपेक्षा करता हे, अत वहाँ स्वरूपप्रतीति मे प्रतियोगी की अपेक्षा नही होती हे, उससे भिन्न मेय (ज्ञेय) है कि जिसकी वहाँ अपेक्षा होती है, प्रकृत मे तो वैसा नही है, स्वरूप ही भेद हे, उसमे अन्य की अपेक्षा नही हो सकती है । और इससे यह भिन्न है इस प्रकार से प्रतीति का विषयभेद प्रतियोगी-घटित (युक्त) होता हुआ अनुयोगी वस्तु का स्वरूप हो, तो उस सपरिकर = सविशेषण = प्रतियोगी युक्त, भेद के अनुयोगी के स्वरूप के अन्तर्भाव होने से प्रति-योगी की भी अनुयोगी स्वरूपता से अनुयोगी स्वरूप मे निमज्जन (लय) होने से अद्वैत ही सिद्ध होगा । यदि कहा जाय कि प्रतियोगी भेद के स्वरूप मे अन्तर्गत नही होता है, किन्तु तटस्थ रह करके ही उस भेद का निरूपक (परिचायक) होता है, अर्थात् भेद का उपलक्षण होता है, विशेषण नही । अत उपलक्षित भेद के स्वरूपमात्र होते भी प्रतियोगी पृथक् रहता हे, अत एव अद्वैतापत्ति नही होती है, तो यह कहना भी नही बनता है, क्योकि इस प्रकार से प्रतियोगी को भेदस्वभाव (स्वरूप) के अनन्तर्भाव होते भी स्वभाव स्वरूप भेद के वस्तुस्वभाव के समान ही,

कुम्भविशेषितस्य प्रतियोगित्वस्य स्तम्भधर्मत्वात् । अथ विशेष्यांशस्य धर्मतायामपि न विशेषणस्य तद्धर्मता देवदत्तश्चित्रगुरित्यादौ बहुव्रीहि-समासाभिहितस्वामित्वस्य देवदत्तधर्मतायामपि गवा चित्रतायाश्च देवदत्ता-द्भिन्नत्वेन धर्मत्वादर्शनादिति, सत्यम् , एषा विभीषिका तदा समुन्मिषेद्यदि-लोके क्वापि कमपि भेद परमार्थसत्यमभ्युपगच्छेम। यदा पुनरद्वैतमेव परमार्थमवलम्ब्य समस्त भेदजात प्रत्याचिख्यासाम , तदा घटस्य स्तम्भ-धर्मताया गवा देवदत्तधर्मताया वा क विशेषमवलोकयसि ? येनैवमुपालभसे। दृष्टचर चैतत् विशिष्टस्य धर्मताया विशेषणानामपि तद्धर्मत्व तेषु तेषु

दिति शङ्कते—**अथ विशेष्यांशस्येति ।** चित्रगुरित्यत्र चित्रा गावो यस्येति षष्ठ्या स्वामित्व देवदत्तस्य विशेषणीभूतमभिधीयते, स्वाम्यस्य विशेषण चित्रा गाव, चित्रगवा स्वामीति, तत्र चित्रगवा न देवदत्तविशेषणत्व स्वविशेष्यस्वाम्यस्य तद्वि-शेषणत्वेऽपि, तद्वदित्यर्थ । देवदत्तादिति स्वामित्वपर धर्मिणो धर्मलक्षणया, भिन्न-त्वेनेति च युतसिद्धिपरम् । यस्य भेदमात्रमेवाप्रामाणिकमविद्याविजृम्भितमत एव प्रत्युक्तविशेषणादिव्यवहारोऽपि तादृश इति मतम्, तस्य कथ पक्षविशेष एव व्यभि-चारभूमि स्यात् ? इति परिहरति—**सत्यम् , एषेत्यादिना ।** किंचादर्शनादिति कोर्थ ? किं नियमेन ? किं वा क्वचिदपि ? अन्त्ये व्याप्त्यभावादशक्यप्रसञ्जन-मिति, तत्र क्वाचित्कादर्शनमतिप्रसञ्जकम् । प्रथमस्त्वसिद्ध इत्याह—**दृष्टचरं चैतदिति ।** अत्र हि भावत्वादि विशेषण कृतकत्वादे । इतरथा विशेषणविशेष्या-

---

अन्य प्रतियोगी से निरूप्यत्व नही हो सकता है। और कुम्भरूप अनुयोगी भेद-स्वरूप के प्रति जो स्तम्भ की प्रतियोगिता है, वह भी यदि स्तम्भ के स्वरूप के अन्तर्भूत है तो कुम्भ को भी स्तम्भरूपता से सिद्ध होने के कारण अद्वैततापत्ति होगी। वह प्रतियोगित्व यदि धर्म है, स्तम्भ के अन्तर्भूत नहीं है, तो कुम्भ भी स्तम्भ धर्मता मे विशेषण रूप से प्रविष्ट होगा, क्योकि कुम्भविशेषण युक्त प्रतियोगित्व को स्तम्भधर्मत्व होता है। यदि कहे कि विशेष्याश प्रतियोगित्व की धर्मता होने पर विशेषाशनिरूपक प्रतियोगी की तद्धर्मता नही होती है, अत एव (चित्रगुर्देवदत्त) चित्रगौवाला देवदत्त है, इत्यादि मे बहुव्रीहि समास से कथित स्वामित्व मे देवदत्त-धर्मता होते भी स्वामित्व के विशेषण गौ, गौ का विशेषण चित्रा मे देवदत्त से भिन्नता के कारण देवदत्त के धर्मत्व नही देखा जाता है। तो यह कहना सत्य है। परन्तु यह विभीषिका (डराना) तव उत्थित हो सकती है, यदि लोक मे कही भी किसी भी भेद को परमार्थसत्य हम मानते हो, जब हम परमार्थ अद्वैत का अवलम्बन करके समस्त भेदसमूह का प्रत्याख्यान करना चाहते है, तो घट की स्तम्भधर्मता मे या गौओ की देवदत्त धर्म मे किस विशेष को देखते हो कि जिससे

बहुषु स्थलेषु। तद्यथा शब्दोऽनित्य भावत्वे सति कृतकत्वात्, नित्य ध्वनिर्धर्मान्यित्वे सति श्रावणत्वात्, अनित्य सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वादित्यादिषु। तदेव स्तम्भस्य कुम्भधर्मता कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेति सर्वस्यान्योन्यधर्मतायामशेषवस्तुधर्मकमेकमेव धर्मि पर्यवस्येत्, न चैवमुपलभ्यते। किच विदारणात्मकभेदस्य भावस्वभावताया न किचनैक वस्तु स्यात्। अभेदैकार्थसमवायिन्या एकताया भेदेन विरोधात्। परमाणुरपि नैक इति न तत्समाहाररूपोऽनेकोऽपि स्यात्। भेदस्य च

सिद्धचोरभावप्रसङ्गात्। तथा शब्दस्यापि तद्विशेषणम्। तदेव क्षुद्रोपद्रव समाधाय, प्रकृतदूषणोपजीवनेन दूषणान्तरमाह—**कुम्भस्यापि स्तम्भधर्मतेत्यादिना**। स्तम्भो धर्मो यस्यासौ कुम्भस्तद्धर्मा तद्भाव स्तम्भधर्मता। अयमर्थ —यदा हि स्तम्भ प्रति प्रतियोगित्व कुम्भस्य तदा तस्य कुम्भस्वरूपत्वेऽद्वैतापात। धर्मत्वेऽपि तद्द्वारा स्तम्भोऽपि कुम्भधर्म इत्यन्योऽन्यधर्मत्व स्यात्ततश्च यद्घटारूढो य पटस्तत्पटारूढश्च स एव घट इति घटना स्यात्। एवमेकस्य विश्वप्रतियोगिताया विश्वधर्मकत्व स्यात्, एवमितरेषामपि स्यात, अतश्च न धर्मधर्मिभावादिकल्पना, अस्यामनेकधर्मकमेव वस्तु पर्यवस्येदिति। एकाभादादित्येतद्विवृणोति–**किंचेति**। तत्र हेतु –**अभेदेति**। अभेदेन सहैकस्मिन्नर्थे वर्तत इति तथोक्ता। ननु माभूदेकम्, अनेकमेव समस्त वस्तु, तथाच बौद्धै स्वरूपभेदवादिभिरवयविव्यतिरेकेणैव परमाणुपुञ्जेष्वेकस्थूलादिप्रत्ययोऽभ्युपगम्यत इति, तत्राह–**परमाणुरपीति**। अथवा निरवयवपरमाणूनामविदारणात्मकत्वा-

---

ऐसा उपालम्भ करते हो। और तत्तत् बहुत स्थानो मे विशिष्ट की धर्मिता होने पर विशेषणो की भी तद्धर्मिता देखी भी जाती हे। जैसे कि (शब्दोऽनित्य भावत्वे सति कृतकत्वात्) शब्द अनित्य है, भाव होते कार्य होने से। (नित्य ध्वनिर्धर्मान्यित्वे सति श्रावणत्वात्) ध्वनि नित्य है धर्म से अन्य होता हुआ श्रावण होने से (ध्वनि अनित्य सामान्यत्वे सति अस्मादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात्) ध्वनि अनित्य है, सामान्य वाला होता हुआ हम लोगो के वाह्य इन्द्रिय से ग्राह्य होने से। यहाँ कृतकत्व के विशेषण भावत्व मे शब्द की धर्मता, ध्वनिधर्मान्यित्व श्रावणत्व के विशेषण मे ध्वनि की धर्मता, ऐसे ही सामान्यवत्त्व मे पक्षविशेषणता है, इत्यादि। अत इसप्रकार से स्तम्भ को कुम्भधर्मता कुम्भ को भी स्तम्भधर्मता होगी, और इसप्रकार से सबमे परस्पर धर्मता होने पर अशेष वस्तु रूप धर्म वाला एक ही धर्मी सिद्ध होगा। परन्तु ऐसा उपलब्ध (ज्ञात) नही होता है। और विदारण (भेदन) आत्मक भेद के भाव वस्तुस्वरूप होने पर कोई एक वस्तु सिद्ध नही होगी, क्योकि अभेद के साथ एक अर्थ मे समवायसम्बन्ध से रहने वाली एकता को भेद के साथ

वस्तुस्वभावत्वेऽन्यापेक्षत्वनिरासादेव "अन्यापेक्ष वस्तुस्वरूप भेदो ननु केवलमतो नोक्तदोष" इत्यपि निरस्तम्। यदि च स्वरूप भेदस्तदा धर्मिणि दृष्टे स्वरूप दृष्ट न क्वचिदपि सशयावकाश, तथा विपर्ययस्यापि। भेद-स्वभावस्य वस्तुनस्तथैवावभासनात्तस्मान्न स्वरूपभेदे प्रत्यक्ष प्रमाणम्। तथा धर्मभेदेऽपि—

युगपद्-ग्रहणायोगादनवस्थाप्रसङ्गत ।
परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधी ॥ २ ॥

तत्समूहरूपानेकात्मकमस्तीत्याशङ्क्य तत्सरूपस्यापि भेदात्मकत्वादुक्तदोषोपपादनमनेन क्रियते। अत्र केचिदद्वैतैकाभावप्रसङ्गदूषणद्वयपरिहारायेद वदन्ति—द्विविध वस्तूना स्वरूपम्, स्वारसिकमन्यापेक्ष चेति, तत्रान्यापेक्ष रूप भेदो न स्वारसिकमिति, तत्राह—**भेदस्येति**। असदेहादिति। हेतु विवृणोति—**यदि चेति**। अयमर्थ—अस्ति यज्ञदत्ते दृष्टे कदाचित् दृष्टचरदेवदत्तस्य सोऽय देवदत्तो न वेति सदेह, तत्कस्य हेतो? ततो भेदाग्रहात् स न स्यात्। स्वरूपभेदवादिन स्वरूपग्रहे तन्मात्रभेदस्यापि गृहीतत्वात्, भेददर्शनेन च सदेहानवकाशात्। एव स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादौ, तथा विपर्ययोऽपि, सदेहग्रहण विपर्ययस्याप्युपलक्षणमिति।

एव स्वरूपभेद दूषयित्वा धर्मभेदेऽपि दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**युगपदिति**। धर्मभेदेऽपि न प्रत्यक्षा धी प्रमाणम्, कुत? धर्मिप्रतियोगिभेदाना युगपद्ग्रहणायोगात्, दण्डचादावपि युगपत्प्रतिपत्ते स्वपरासमतत्वात्, तथानवस्था-

---

विरोध रहता है, परमाणु भी एक नही रहेगा, अत उसका समाहार रूप अनेक भी नही होगा। और भेद के वस्तुस्वभावत्व (स्वरूपत्व) होने पर, अन्यापेक्षत्व के खण्डन से ही, अन्यापेक्ष वस्तुस्वरूपभेद होता है, केवल वस्तुस्वरूप नही। अत अद्वैतता आपत्ति आदि उक्त दोष नही है, यह कथन भी निरस्त हो गया। और यदि स्वरूप मात्र भेद है, तो धर्मी के अनुयोगी के प्रत्यक्ष होने पर स्वरूप देख ही गया, कही भी भेद के सशय का अवकाश नही रह जाता है, इसीप्रकार से विपर्यय का भी अवकाश नही रहता है, क्योकि भेदस्वभाव वाली वस्तु के तथैव (उस भेद स्वभाव से ही) भासने से, उससे वह अभिन्न है ऐसा भ्रम नही हो सकता है, न वही देवदत्त है या अन्य है, ऐसा सशय हो सकता है। और सशय-विपर्यय होता है अत स्वरूपभेद मे प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। इसी प्रकार से धर्मस्वरूप भेद मे भी प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। क्योकि—

धर्मी, प्रतियोगी और भेद इन तीनो का युगपत् ग्रहण नही हो सकता है, और अनवस्था का प्रसङ्ग है, तथा परस्पराश्रयता की प्राप्ति होती है, अत धर्मभेद मे भी अक्षधी = प्रत्यक्ष बुद्धि, प्रमाण नही है ॥ २ ॥

यद्यपि दण्डदेवदत्तौ तुल्योपलम्भयोग्यत्वेन युगपद् गृह्येते, तथापि न तयोर्विशेषणविशेष्यभावस्तदैव प्रत्येतु युक्त , विशिष्टप्रत्ययस्य विशेषण-विशेष्यस्वरूपप्रत्ययाधीनत्वात्——

'विशेषण विशेष्य च सबन्ध लौकिकी स्थितिम् ।
गृहीत्वा सकलय्यैतत्तथा प्रत्येति नान्यथा ॥' (न्या ली पृ ७०)

इति भट्टमतानुसारिभि स्वीकारात् । तथा तार्किकैरपि——"समवायिन. श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धे श्वेतबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते" इति काणादसूत्रात् । अस्यायमर्थ——पटसमवायिन श्वेत्याच्छौक्लचगुणात् कर्मकारणभूतात्तस्मिन् गुणे शौक्ल्यमिति मतिरुपजायते, तस्याश्च श्वैत्यबुद्धेर्हेतोर्गुणविशिष्टे शुक्लमिदमिति बुद्धिरुपजायते, ते च बुद्धी कार्यकारणभूते इति । तथाच

प्रसङ्गत , भेदेन प्रतीयमानयोरेव विशेषणविशेष्यभावनियमादनन्तभेदप्रतीति विना प्रथमभेदप्रतीतेरसभवान्मूलक्षयाक्षते । तथा धर्मिप्रतियोगिनोरपि पूर्वन्यायेन प्रतीयमानयोरेव धर्मिप्रतियोगित्वप्रतीतिनियमात् भेदस्य च निर्विकल्पके निरपेक्षप्रत्यक्षत्वे स्वभावहानिप्रसङ्गेन पूर्वोक्तपरस्पराश्रयस्यापि विश्रान्तत्वादिति श्लोकार्थं ।

आद्य हेतु विवृण्वन्पूर्वोक्त दृष्टात विघटयति–**यद्यपीति** । क खल्वित्थ कथयेद्विशेषणादिप्रत्ययानधीना विशिष्टप्रतिपत्तिरिति ? किं भट्टभुजावलम्बी ? किं वा तार्किककगावलम्बी ? प्रथमे भट्टाचार्यवचनविरोधमाह–**विशेषणमिति । लौकिकीं स्थितिमिति** । विशेषणविशेष्यत्वयोग्यतामित्यर्थ । तेन च सयोगस्य द्विष्टत्वाद्दण्डी पुरुष इतिवत्पुरुषी दण्ड इत्यपि स्यादिति शङ्का परिहृता । सकलनमेकीकार , स चैकज्ञानोपारोह । द्वितीयेऽप्याह—**तथा तार्किकैरपीति** । न केवल परैरङ्गीकरणम्,

---

यद्यपि दण्ड और देवदत्त तुल्य = एक प्रत्यक्ष ज्ञान, योग्यता के कारण युगपद् गृहीत (ज्ञात) होते हे, तथापि उनके विशेषण-विशेष्यभाव उसी एक काल मे जानने के योग्य नही है, क्योकि विशिष्ट ज्ञान को विशेषण-विशेष्य स्वरूप ज्ञानाधीनत्व रहता है । भट्टानुयायियो ने स्वीकार किया है कि–विशेषण, विशेष्य, सम्बन्ध और लौकिक स्थिति=विशेषण-विशेष्य योग्यता को ग्रहण करके, और इनका सकलन= समेलन, एक ज्ञानारोह करके तथा=विशिष्ट रूप से कोई जानता हे, अन्यथा नही । तथा तार्किको ने भी (समवायिन श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धे श्वेतबुद्धिस्ते कार्यकारणभूते) इस काणाद सूत्र से वैसा ही माना हे, इस सूत्र का अर्थ है कि–पट के समवायी तन्तुओ की श्वेतता = शौक्ल्य, गुण रूप ज्ञान, कर्मरूप कारण, स्वरूप से उस पट के गुण मे शुक्लता की बुद्धि होती हे, उस श्वैत्य बुद्धिरूप हेतु से गुण-विशिष्ट पट मे, यह शुक्ल है, ऐसी बुद्धि होती हे, वे दोनो बुद्धियाँ परस्पर कार्य-कारण स्वरूप होती है । इसीप्रकार से (सुरभि चन्दनम्) सुगन्ध चन्दन हे । यहाँ

सुरभि चन्दनमिति सौरभस्य गुणस्य घ्राणेन्द्रियैकगोचरस्य चन्दनस्य लोचनगोचरस्यैकेन्द्रियाविषयत्वात् क्रमेण गृहीतयोरेव विशेषणविशेष्यभावप्रतीतिरित्यनिच्छताप्यभ्युपेयम्, तथा च सर्वत्र विशेषणविशेष्यभावप्रतीतावयमेव न्याय इत्यस्मादिद भिन्नमिति धर्मिप्रतियोगिज्ञानपुरस्सरमेव तद्विशिष्टभेदज्ञानमेष्टव्यम्, तथाच सति न युगपदुभयग्रहसभव । भेदभेदिनोश्च भेदेऽनवस्थापि तदवस्थैव । न चानन्तभेदाभ्युपगमेऽपि मूलक्षतेरभावादनवस्थाऽदोषाय, भेदस्य 'इदमतो भिन्नमयमनयोर्भेद' इति वा विशिष्टत्वेनैव प्रतीतिनियमात्, भेदनैव च प्रतिपन्नस्य विशेषणत्वात् । ततश्च पूर्वपूर्वभेदप्रतीतिमन्तरेणोत्तरोत्तरभेदप्रतीतेरसभवात् युगपदनन्तभेदप्रतीतेरयोगाच्च

युक्तिरप्यत्रास्तीत्याह—**तथा च सुरभीति**। अस्तु तर्हि विभिन्नेन्द्रियग्राह्ययोरेवम्, एकेन्द्रियग्राह्येषु का वार्तेति ? तत्रापि विमन विशिष्टप्रत्यक्ष विशेषणादिप्रत्ययोत्तरकालीन विशिष्टप्रत्ययत्वात्सुरभिचन्दनमिति प्रत्यक्षवदित्यनुमान विवक्षन्नाह—**तथा चेति**। न च भिन्नेन्द्रियजन्यत्वमुपाधि, व्यतिरेके प्रकृतहेतुव्यतिरेकस्योपाधे । अस्तु, प्रकृते किं स्यादत आह—**इतीति**। तदेव युगपद्ग्रहणायोगादित्येतदुपपाद्य द्वितीय हेतु विवृणोति—**भेदभेदिनोश्चेति**। पूर्वपक्ष्याशयमनुवदति—**न चानन्तभेदेति**। हेतुमाह—**भेदस्येति**। प्रतीतिनियमादित्युत्तरत्रान्वय । विशेषणादिभावेन हि भेद प्रतीयते, स च भेदेन प्रतीतस्य, एव द्वितीयो भेद पूर्वभेदवद्विभिन्नतया प्रतीयमान एव प्रथम भेद प्रति विशेपण भवति, इव तृतीयोऽपीत्यनन्तभेदप्रतीतिप्रसक्तिरित्यर्थ । अस्तु तर्ह्यनन्तभेदप्रतीति, तत्राह—**युगपदिति**।

सुगन्ध गुण घ्राणेन्द्रियमात्र का विषय होता है, चन्दन नेत्र का विषय होता है, अत दोनो को एकेन्द्रिय के विषय नही होने के कारण क्रम से गृहीत ही दोनो मे विशेषण विशेष्य भाव की प्रतीति होती है, यह अनिच्छुक को भी मानना होगा। और ऐसा होने पर सर्वत्र विशेषण-विशेष्यभाव की प्रतीति मे यही न्याय प्रवृत्त होगा, अत यह इससे भिन्न है, इस ज्ञान को धर्मी प्रतियोगी के ज्ञानपूर्वक ही उनसे विशिष्ट भेदज्ञान मानना होगा। और ऐसा होने पर विशेषण अनुयोगी आदि और विशिष्ट भेद दोनो को एक काल मे ग्रहण का सम्भव नही है। और भेद तथा भेदी = अनुयोगी प्रतियोगी के भेद रहते अनवस्था भी तदवस्थ है। और अनन्त भेद को मानने पर भी सब भेद की प्रतीति की अनावश्यकता से मूल भेद की क्षति नही होती है, अत अनवस्था दोषावह नही, ऐसा नही कह सकते है। क्योकि यह इससे भिन्न है या यह इन दोनो का भेद है, इस प्रकार से भेद के विशिष्ट रूप से ही प्रतीति के नियम होने से और भेदेन (भिन्न रूप से) ज्ञात मे ही विशेषणता के होने से दोषावह अनवस्था होगी। क्योकि भिन्न रूप से ज्ञान की विशेषणता से पूर्व भेद की प्रतीति के विना उत्तरोत्तर भेद की प्रतीति के असभव होने से और

जातैव मूलक्षति । अथ विद्यमानभेदस्य स्वरूपेण गृहीतस्य विशेषणतोपपत्तौ

क्रमपक्षे विषयान्तरसचारोच्छेदादिप्रसङ्गापादनार्थश्चकार । अत्र मानमनोहरकारो नृत्यति स्म—"नच भेदानवस्था बाधिका, भेदान्तरप्रसक्तौ मूलाभावात्, भेदभेदिनौ भिन्नाविति व्यवहारादर्शनात् । न चैकभेदबलेनान्यभेदानुमानम्, दृष्टान्तभेदाविघा तेनोत्थाने दोषाभावात् । सोऽय पिण्याकयाचनार्थं गतस्य पाकिन खारिकातैलदातृत्वाभ्युपगम इव, दृष्टान्तभेदविमर्दे त्वनुत्थानमेव । उपजीव्यस्य प्रबलत्वेन बाधात्, स्वात्मव्याघातकत्वेन जात्युत्तरत्वाच्च । एतेन दृश्यत्वादयो निरस्ता । नचानिर्वचनीयत्व भेदस्य, प्रमाणाभावात्"इति गायन् । तत्र तावद्भेदानवस्थाया बाधकत्वम्, उक्तरीत्या मूलक्षयकरित्वादित्यवेहि । न च व्यवहारादर्शनात्प्रसञ्जकाभाव, घटो भिन्नो घटस्य भेद इति विशेषणविशेष्यभावेन भेदव्यवहारस्यैव विहस्तस्य समस्ताधस्तनभेदपद्धतिप्रसञ्जकत्वात् । ननु तर्ह्ययमेवानन्तभेदान्कल्पयन्नारूढमूल प्रौढो भवेत्, न जानीम किमारूढमूलतया प्ररूढ ? किंवाऽनुपलब्धिपराहततत्तन्मूलतया निर्मूललूनसस्यवद्विलीयेतेति । यत्त्वेकभेदबलेनान्यभेदानुमान मायावादिमततया आशङ्क्य दृष्टान्ताव्याघातयोर्दूषणमुक्तम्, तल्लोकोत्तरप्रज्ञस्य तवैव शोभते, क खल्वनुन्मत्तोऽनिर्वचनीयसर्वभेदमायावादिमततयैवमाशङ्केत ? अथ योऽय विशेषणविशेष्यभूतभेदव्यवहारो भेदपरम्पराप्रसञ्जक, तत्रैवेद दूषणद्वयमास्तामिति चेत्, न, दृष्टान्तभेदानङ्गीकारात् । तर्हि व्याप्तिराहित्य स्वव्याघातकत्व चेति चेत्, न, प्रामाणिकत्वाभावेऽपि विशेषणादिभावस्य भिन्नतया प्रतीतेश्च व्यभिचाराभावात् । तत्र दृष्ट स एव प्रामाणिको भेद इति चेत्, न, प्रामाणिकत्वासिद्धे । तर्ह्यसाधकमिति चेन्, न, प्रतिबिम्बदेहात्मभावादीनामिव व्यावहारिकसतोऽपि लौकिकवैदिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्ते, तत्रापि मुग्धोऽय मिथ्यात्ववादम् व्याचक्षीत । व्याघातश्च यदि शून्यताकारणम्, तन्न, अन्यत्राकरणात्, यद्यनिरूपितरूपतापादनम्, अनुमोदय एव तत्र । एतेन दृश्यत्वादयोऽपि समर्थिता । नचानिर्वचनीयत्वे प्रमाणाभाव, तल्लक्षणप्रमाणयोरुद्घोषितत्वादनिर्वचनीयवादे । एव चैतादृशमुत्तरदान पिण्याकयाचिने खारिकातैलदान वा सकललोकवेदनिन्दितवैशेषिकदर्शनमदिरामत्ताय मरणान्तिकप्रायश्चित्तरूपतीव्रतरतर्कतप्तमदिराधारादान वेत्यात्मनि परिभावयेत्यलम् । पूर्वोक्तानवस्थापरिहारमुद्भाव्य दूषयति—**अथेत्यादिना** । यत्त्वत्रापि तेनोक्त समा-

---

युगपत् (अनन्त अनेक भेद की प्रतीति के असम्भव होने से मूलक्षति होगी ही । अर्थात् विशेषण-विशेष्य रूप से ही भेद प्रतीत होता है, और वह विशेषणादि रूपता भिन्न रूप मे ज्ञात मे होती है, अत प्रथम भेद भिन्न रूप से दूसरे भेद वाला होने पर विशेषण होगा, ऐसे ही द्वितीयादि भेद होगे कि जिन अनन्तो की असिद्धि से मूल की क्षति होगी । और जो कहा था कि स्वरूप से गृहीत विद्यमान भेद की विशेषणता की सिद्धि होने पर अनन्त भेद की अप्रतीति क्या हानि करेगी, तो यह

भेदाप्रतीति किं करिष्यतीति ? तन्न, क्षीरनीरयोर्दूरस्थवनस्पत्योश्च तथात्वाप्रतीते । न च तत्र दूरत्वादिदोषप्रतिबन्धात्तदग्रह इति वाच्यम्, विद्यमानभेदयोरपि भेदेनाप्रतीतौ विशेषणविशेष्यभावाग्रहे सिद्धे कारणविशेषोपन्यासस्य निष्प्रयोजकत्वात् । नह्युभयवादिसमत तथाविध स्थलमस्ति, यत्र विद्यमानभेदयो स्वरूपप्रतिपत्तिमात्रेण विशेषणविशेष्यभावग्रहणम् । एतेन भिन्नतया प्रतिपन्नयोरेव धर्मिप्रतियोगिभाव इतीतरेतराश्रय-

नाभिहारादिप्रतिबन्धादग्रहणमिति, तदनूद्य दूषयति—**न च तत्रेति** । अयमभिसन्धि —तत्र तेषा परस्पर भेदो गृहीत ? न वा ? यदि गृहीतस्तदा दोषशतैरपि न विपर्ययादि शक्यमुत्पादयितुम्, असाधारणाकारग्रहणेऽपि भ्रमोत्पत्तावतिप्रसङ्गात् । ततो भेद एव न गृहीतस्तदग्रहे चातिदूरत्वादि कारणमिति वक्तव्यम्, तथाचास्मदुक्त प्रयोजकमनुसृत्यैव तत्र कारणवर्णनमनुकूलमेवेति । किंच भवदभिमतप्रयोजकस्य प्रयोजकत्व क्व वा दृष्टम् ? येनास्य प्रतिबन्धकतेत्याह—**न ह्युभयवादीति** । प्रतिबन्धरहितस्थलेऽपि क्षीरनीरयो स्वरूपप्रतीतिमात्राद्धर्म्यादिभावादृष्टेर्भेदप्रतीतिपूर्वकत्वे चान्योन्याश्रयता स्यादेवेत्यर्थ । यस्तु धर्मिप्रतियोगिभेदबाधयोरितरेतराश्रयपरिहारोऽभिहित पूर्ववादिना तत्राप्युक्तदूषणमतिदिशन्परस्पराश्रयत्वादिति श्लोकावयव विवृणोति—**एतेनेति** । तस्यैव विवरणम्—**भिन्नतयेति** । परिहारान्तर-

कहना युक्त नही, क्योकि दूरस्थ वनस्पति और क्षीर-नीर के स्वरूप से ग्रहण होने पर भी तथात्व=विशेष्य-विशेषणभाव की प्रतीति नही होती है और जो कहा था कि वहाँ दूरत्वादि दोष रूप प्रतिबन्धक से भेद का ग्रहण नही होता है, यह कहना भी युक्त नही, क्योकि भिन्न रूप से प्रतीयमान मे ही विशेषण-विशेष्यभाव होता है, यह नियम है, वहाँ विद्यमान भेद वाले की भी भिन्नरूप से अप्रतीति रहते विशेषण-विशेष्यभाव के अग्रहण के असिद्ध होने पर उसमे दोषरूप कारणविशेष के कथन को निष्प्रयोजकत्व है, अर्थात् विशेषण-विशेष्य रूप से अग्रहण मे भेदेन अग्रहण रूप मुझ से वर्णित हेतु को ही आप भी पुष्ट करते है, आपका कथन किसी विशेष अर्थ का बोधक नही है । उभयवादी समत ऐसा कोई स्थान = उदाहरण, नही है कि जहाँ विद्यमान भेद वाले के स्वरूप के ज्ञान मात्र से विशेषण-विशेष्य-भाव का ग्रहण होता हो । अत (एतेन) भिन्न रूप से प्रतीत के विशेषण-विशेष्य-भाव के स्वीकार से, भिन्न रूप से ज्ञात मे धर्मी प्रतियोगिभाव हो सकता है, अत अन्योन्याश्रय बज्रलेप (अनिवार्य) रहता है । और भी कहा था कि निर्विकल्पक ज्ञान मे भेद, अनुयोगी और प्रतियोगी ये तीनो अगुलित्रय के समान युगपद् भासते है, फिर यह इससे भिन्न है, इसप्रकार के सविकल्पक व्यवहार की सिद्धि होने से इतरेतरताश्रयता कैसे है, अर्थात् नही है, ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि

दोषो वज्रलेपायते। न च निर्विकल्पिकायां सविदि भेदस्य भेदिनोश्च युगपद-ङगुलित्रयवदवभासनादिदमस्माद्भिन्नमिति सविकल्पकव्यवहारोपपत्ते कथमितरेतराश्रयतेति वाच्यम्, निष्प्रतियोगिकस्य भेदस्य प्रमाणागोचरत्वात्, नित्य प्रतियोगिघटित एव तस्मिन्प्रमाणप्रसरात्।

कश्चाय धर्मभेद ? किमन्योऽन्याभाव ? कि वा वैधर्म्यम् ? उत पृथक्त्वम् ? आहोस्विद् भिन्नलक्षणयोगित्वम् ? तत्र तावत्—

नान्योन्याभावरूपोऽस्य द्वैताभावप्रसङ्गत ।
तादात्म्यस्याप्यमानत्वात्प्रतियोग्यनिरूपणात् ॥ ३ ॥

मुक्त दूषयति—**न च निर्विकल्पिकायामिति**। निष्प्रतियोगिकभेदसद्भावे प्रमाणमेव नास्तीत्यर्थ । एतेन प्रतियोगित्वेनाप्रतीतावधिकरणत्वेनास्मृतौ च प्रतियोविस्मृतिरित्यादि बौद्धधिक्कारस्थमुदथनीयसमाधानमपि निरस्त मन्तव्यम्।

तदेव साधारण्येन धर्मभेददूषणमुक्त्वा विशेषतोऽपि दूषणानि दर्शयितु विकल्पयति—**कश्चायमिति**। वैधर्म्य घटत्वपटत्वनित्यत्वादि लक्षणालक्षणसाधारणम्। लक्षण त्वसाधारणम्। तेन च न द्वितीयचतुर्थसङ्कर । अन्योऽन्याभावभेदे दूषण श्लोकेन सगृह्णाति—**नान्योन्येति**। अथ भेदोऽन्योऽन्याभावरूपो न भवति, कुत ? सप्रतियोगिकस्यान्योन्याभावस्य धर्मस्य धर्मिस्वभावत्वे विश्वप्रतियोगिकान्योऽन्याभावद्वारा विश्वस्यापि धर्मिभूतवस्तुमात्रत्वाद् द्वैतस्यैवाभावप्रसङ्गत, धर्मत्वे पूर्वोक्तानवस्था विश्वधर्मवत्ता च घटादेरित्यादि बहिरेव दातव्यम्। किंचान्योन्याभावस्यैवानिरूपणात्तद्रूपोऽपि भेदो दुर्निरूप इति कथम् ? तादात्म्यप्रतियोगिको ह्यभावोऽन्योन्याभाव । तच्च सर्वत्र भेदवादिनस्तार्किकस्याप्रामाणिकम्, ततस्तन्निरूप्याभावोऽपि प्रतियोग्यनिरूपणादप्रामाणिक इत्याह—**तादात्म्यस्येति**। अथ तादात्म्य घटपटयो प्रमितम्, तर्हि तत एव तन्निषेधरूपोऽन्योन्याभावस्तयोर्न घटते। एव

निष्प्रतियोगिक भेद को प्रमाणविषयत्व नही है। सदा प्रतियोगी युक्त ही भेद में प्रमाण की प्रवृत्ति होती है। उक्त रीति से सामान्य रूप से धर्मस्वरूप भेद का दूषण कहा गया है, विशेष रूप से दूषणों को दर्शाने के लिये विकल्प है कि—

(कश्चाय धर्मभेद) यह धर्मरूप भेद क्या है ? क्या अन्योन्याभाव है, या वा वैधर्म्य है, या पृथक्त्व है, यद्वा भिन्नलक्षणयोगित्व है, वहाँ प्रथम अन्योन्याभाव स्वरूप भेद नही हो सकता है, क्योकि परस्पर सब के अभाव होने पर द्वैत का अभाव प्राप्त होगा, तादात्म्य प्रतियोगिक भेद को मानने पर द्वैत का अभाव नही प्राप्त होगा, ऐसा भी नही कह सकते, क्योकि तादात्म्य के भी प्रमाण के अविषय होने से भेद के प्रतियोगी का निरूपण नही हो सकता है ॥ ३ ॥

अन्योऽन्याभावोऽपि हि यस्माद् भेदस्तं प्रतियोगिनमपि धर्मतया स्वस्मिन्नन्तर्भावयेत् । तथाच विश्वप्रतियोगिघटितान्योऽन्याभावस्य वस्तुनो भेदेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, वस्तु तावन्मात्रत्वे कथ नाद्वैत पर्यवस्येत् ? किच तादात्म्यप्रतियोगिकाऽभावोऽन्योऽन्याभाव इति तद्वादिभिरभ्युपेयते, तथाचाभावप्रतियोगिभूतस्तम्भकुम्भयोस्तादात्म्यं यदि न प्रमाणगोचरस्तदा कथ

सर्वत्रेति, पुनरप्यद्वैतापात इति घट्टकुटीप्रभातम् । नचान्यत्र प्रमिततादात्म्यस्यान्यत्र निषेध , ससर्गाभावत्वप्रसङ्गादित्यपि द्रष्टव्यम् । अस्तु तर्ह्यन्य एवान्योन्याभावप्रतियोगीति, तत्राप्येतदेवावृत्त्या योजनीयम् । प्रतियोग्यनिरूपणादिति श्लोकयोजना । श्लोक विवृणोति—**अन्योऽन्याभावोऽपीत्यादिना** । अन्योऽन्याभावोऽपि हि भेदो यस्मात्प्रतियोगिन सकाशादेष्टव्य तमपि प्रतियोगिन स्वस्मिन्नन्तर्भावयन्कथ न धर्मतया स्वस्य घटधर्मत्वात्तमपि घटधर्मतयैवान्तर्भावयेत् । घटधर्मतामापादयेदित्यर्थ । तथापि द्वैताभाव कथमित्यत आह—**तथा चेति** । यदुक्तमस्माभिर्बहिरेव दातव्यमिति तत्प्रथममाह—**वस्तुनो भेद इति** । द्वितीय हेतु विवृणोति—**किंच तादात्म्येति** । अभाव निरूपतया प्रतियोगिना विशेषणेनोपलक्षणेन वा भविव्यम् । उभयथापि तस्याप्राणिकत्वे तद्विशिष्ट तदुपलक्षित वाऽप्रामाणिकमेव स्यादित्यर्थ । वादीन्द्रस्तु पक्षधर्मत्वादीना धर्माणामभावत्वमुररीकृत्य प्रतियोगिपर्यनुयोगे प्राह—वस्तुतस्तु न किंचिदिति । त प्रत्येतावद्वक्तव्य वस्तुतस्तु नाभावत्वमपीति । अनिषेधात्मकत्वेऽभावत्वव्याघातान्निषेधात्मकत्वे तु निषेध्यप्रतियोगिनमनङ्गीकृत्य न निस्तार इति ।

घट मे पट का अन्योन्याभाव रूप भेद भी जिस प्रतियोगी पट से भेदरूप होगा, उस प्रतियोगी पट को भी धर्मरूप (पटभेद रूप) से अपने मे विशेषण रूप से अन्तर्भाव करेगा । अपने घट का धर्म होता हुआ पट को भी घट का धर्म सिद्ध करेगा । इसप्रकार से विश्वप्रतियोगी युक्त अन्योन्याभाव को धर्मीरूप वस्तु से भेद रहते अनवस्था प्राप्त होगी, घटप्रतियोगिक भेदरूप पटप्रतियोगिक भेद होगा, फिर तत्स्वरूप अन्यप्रतियोगिक होगा, इसप्रकार से अनन्तविश्वप्रतियोगी अनन्त भेदपरम्परा होगा । और वस्तु तावन्मात्र = धर्मी मात्र, भेद के होने पर पट प्रतियोगिक भेद के पट विशेषण सहित घटरूप होने पर विश्वप्रतियोगिक भेद किसी एकरूपता को प्रतियोगी सहित प्राप्त होगा, तो अद्वैत कैसे न सिद्ध होगा। और (तादात्म्य = अभेद, प्रतियोगिक अभाव को अन्योन्याऽभाव कहा जाना है) इसप्रकार से तादात्म्यप्रतियोगिक भेदवादी मानते है, तो यदि भेदरूप अभाव के प्रतियोगीस्वरूप स्तम्भ, कुम्भ का तादात्म्य प्रमाण का विषय नही है तो उस तादात्म्य का अभाव प्रामाणिक कैसे होगा, अर्थात् प्रतियोगी की प्रामाणिकता के विना अभाव प्रामाणिक नही हो सकता है। अत कुम्भ के भेद को जो प्रतिपादन

तदभाव प्रामाणिकः स्यात् ? एव कुम्भस्य विश्वप्रतियोगिक तादात्म्यमादावेव प्रमितमित्यद्वैतसिद्धावूर्ध्वमपि तद्विरोधिनोऽन्योऽन्याभावग्रहस्य न समुदय स्यात्, उपजीव्यविरोधात्। ननु कुम्भ स्तम्भो न भवतीति स्तम्भप्रतियोगिकोऽभावो य कुम्भमाश्रित सोऽन्योन्याभाव इति कथमप्रमितप्रतियोगित्वप्रसक्ति ? मैवम्, प्रतियोगिभेदाभावादन्योन्याभावससर्गाभावयोर्भेदाभावप्रसङ्गात्। स्तम्भ. कुम्भे नास्ति, कुम्भ स्तभो

प्रतियोग्यनिरूपणादित्यस्य द्वितीययोजना दर्शयितु शङ्कामाह—**ननु कुम्भ इति।** न तादात्म्यप्रतियोगिकाऽन्योन्याभाव, किंतु स्तम्भादिप्रमितपदार्थप्रतियोगिक, ततश्च कथमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम्। अथवा भवतु तादात्म्यप्रतियोगिकत्वम्, तथापि नोक्तदूषणद्वयसभव, स्तम्भादिस्वरूपमात्रत्वात्तस्यातिरिक्ततादात्म्ये प्रमाणाभावादिति शङ्कते—**नन्विति।** दूषयति—**मैवमिति।** प्रतियोग्यभेदमेव दर्शयति—**स्तम्भ इत्यादिना।** अयमभिसन्धि—स्तम्भ कुम्भे नास्तीति ससर्गाभावोऽपि स्तम्भप्रतियोगिक कुम्भाधिकरणक एव। न च ससर्गप्रतियोगिकोऽसौ न स्तम्भप्रतियोगिक इति वाच्यम्, तथासति ससर्गमात्रस्यैव प्रलयप्रसङ्गात्। स्तम्भविशेषितससर्गनिषेधे तु स्तम्भोऽपि प्रतियोगिकोटि टीकत इति पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यम्। तथाचान्योन्याभावोऽपि चेत्स्तम्भप्रतियोगिक, व्यक्तमतिव्याप्तिस्तल्लक्षणस्येति। एतेन तादात्म्य नाम घटस्वरूपमित्यपि निरस्तम्, घटमात्रोच्छेदप्रसङ्गादेव। नच स्तम्भस्य कुम्भे निषेध, ससर्गाभावत्वापातात्। तस्माद्घटस्य स्तम्भस्वरूपत्व निषेध्यम्, तथाचायमर्थो न क्वचित्प्रमित इति नोक्तदूषणलङ्घनजङ्घालता। न च प्रतियोग्यैक्येपि प्रागभावादिवदनयोरपि भेद स्यादिति वाच्यम्, असिद्धे पूर्वोत्तरकालत्रितयरूपविशेषणत्रयविशिष्टस्यैव घटस्य तत्रापि प्रतियोगित्वात्, तद्वदेव ससर्गाभावान्यत्वापा-

---

करना चाहता है, उसको विश्वप्रतियोगिक तादात्म्य (अभेद) स्वरूप कुम्भ को मानना होगा, फिर इसप्रकार से कुम्भ के विश्वप्रतियोगिक तादात्म्यस्वरूप आदि ही मे (भेदज्ञान से प्रथम ही) प्रमित हुआ, तो इसीमे अद्वैत की सिद्धि होने पर, उसके बाद भी उस अद्वैत प्रमिति के विरोधी अन्योन्याभाव के ज्ञान का समुदाय नही होगा, क्योकि उपजीव्य तादात्म्य से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि, तादात्म्य प्रतियोगिक अन्योन्याभाव नही होता है, किन्तु स्तम्भादि प्रमित पदार्थ प्रतियोगिक होता है, अत (कुम्भ स्तम्भो न भवति) कुम्भ स्तम्भ नही होता है, इस प्रतीति का विषय जो अभाव है, वह स्तम्भप्रतियोगिक कुम्भाश्रित अभाव अन्योन्याभाव है। तो अप्रमित (अप्रसिद्ध) प्रतियोगिकत्व की प्राप्ति कैसे है ? तो यह कहना युक्त नही, क्योकि इस रीति से प्रतियोगी के भेद के अभाव मे अन्योऽन्याभाव और ससर्गाभाव मे भेद के अभाव की प्राप्ति होगी क्योकि (स्तम्भ

न भवतीत्युभयत्रापि स्तम्भस्यैव प्रतियोगिताङ्गीकारात् । प्रतियोगिनिष्ठोऽभावोऽत्यन्ताभाव प्रतियोग्यनिष्ठत्वे सत्यकादाचित्कोऽभावोन्योऽन्याभाव इति लक्षणभेदादभावयोर्भेद इति चेत्, मैवम्, यत्किंचित्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योऽन्याभावेऽपि भावादतिव्याप्ते । स्वप्रतियोगिनिष्ठत्व विवक्षितमिति चेत् मैवम्, स्वशब्देनात्यन्ताभावोपादानेन तत्प्रतियोगिनिष्ठत्वस्यान्योऽन्याभावेऽपि भावेनातिव्याप्तेस्तदवस्थत्वात् । पटे घटो नास्तीत्यत्यन्ताभावस्य घट प्रतियोगी, पटप्रतियोगिकान्योऽन्या-

---

ताच्च । लक्षणभेदाद्भेद शङ्कते—**प्रतियोगिनिष्ठ इति** । नहि स्वस्मिन्स्वय वर्ततेऽन प्रतियोगिन्यपि वर्तत एवात्यन्ताभाव । न च प्रमेयत्वादावसभव, प्रमेयत्वादेस्सकलवस्तुनिष्ठत्ववादिना स्वस्मिन्निवान्यत्रात्यन्ताभावाभावात्, अन्यमते तु स्वस्मिन्नप्यत्यन्ताभावात् । एतेन चेतरेतराभावससर्गाभाववर्गोऽपि व्यवच्छिन्न । नह्यन्योन्याभाव स्वप्रतियोगिनि वर्तते, तस्यैव तदन्यत्वापत्ते । एव प्रागभावप्रध्वसाभावावपि, तत्समये प्रतियोगिनोरेवाभावेन तत्र वृत्ते शङ्कितुमप्यशक्यत्वादिति, स.दृश्यादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम् । अपरे तु रूपादिव्यवच्छेदार्थमभावपदम्, प्रागभावादिव्यवच्छेदायाकादाचित्कविशेषण द्रष्टव्यमिति वदन्ति । इद चान्योन्याभावनिष्कर्षायोक्तम्, इतरथा प्रकृतानुपयोगात् । अन्योन्याभावलक्षणमाह—**प्रतियोगीति** । अकादाचित्केति प्रागभावप्रध्वसाभावयोरुत्पत्तिविनाशवत्तया कादाचित्कयोर्व्यवच्छेद, तावति चात्यन्ताभावेऽपि स्यादित्याद्य विशेषणम् । तत्रात्यन्ताभावलक्षण दूषयति—**मैवमिति** । प्रतियोगिनिष्ठत्व शब्देन यत्किचित्प्रतियोगिनिष्ठत्व स्वप्रतियोगिनिष्ठत्व वा विवक्षितमिति विकल्प्याद्य दूषयति—**यत्किंचिदिति** । द्वितीय शङ्कते—**स्वेति** । अत्रापि स्वशब्देनाभावमात्र विवक्ष्यते ? अत्यन्ताभावो वा ? प्रथमे पूर्वोक्तमेव दूषणम् । द्वितीये प्राह—**मैव स्वशब्देनेति** । अत्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठमेवान्योन्याभावस्य दर्शयति—**पटे घट इत्यादिना** । तेनैव च

कुम्भे नास्ति, कुम्भ स्तम्भो न भवति) स्तम्भ कुम्भ मे नही है, स्तम्भ कुम्भ नही होता है । इन दोनो स्थानो मे स्तम्भ की ही प्रतियोगिता मानी जाती है । यदि कहे कि प्रतियोगिवृत्ति अभाव अत्यन्ताऽभाव कहा जाता है, और प्रतियोगी मे आवृत्ति होता हुआ कादाचित्क अभाव अन्योऽन्याभाव कहा जाता है, इसप्रकार से लक्षण के भेद से अभावो मे भेद होगा, तो ऐसा नही कह सकते है, क्योकि सामान्यरूप से यत्किञ्चित् प्रतियोगिवृत्तित्व कहा जाय तो अन्योन्याऽभाव मे भी यत्किञ्चि प्रतियोगिवृत्तित्व के रहने से अतिव्याप्ति होगी । यदि कहे कि स्वप्रतियोगिवृत्तित्व विवक्षित है, तो ऐसा भी नही कह सकते, क्योकि स्वशब्द से अत्यन्ताभाव के ग्रहण करने पर, उसके प्रतियोगी मे अन्योन्याभाव के वृत्तित्व होने से अतिव्याप्ति

भावोऽपि घटे वर्त्तत इति । किंचेद प्रतियोगित्वम् ? निरूपकत्वं चेत् ? धर्मिणोऽपि प्रतियोगित्वप्रसङ्ग । अथ पञ्चम्यन्तशब्दवाच्यत्वम्, तर्हि घट पटो न भवतीत्यत्रान्योन्याभावे पटस्य प्रतियोगिता न स्यात्, पञ्चम्यन्त-शब्देनानिर्देशात् । अथ धर्मिणोऽन्यत्वे सति निरूपकत्व प्रतियोगित्वम्, तदपि न, प्रतियोगित्वस्यानिरूपणादेव धर्मिप्रतियोगिकान्यत्वस्याद्याप्यसिद्धे । तदेव नान्योऽन्याभावो भेद ।

नापि द्वितीय, वैधर्म्ये वैधर्म्यान्तराभ्युपगमेऽनवस्था । अनभ्युपगमे

तल्लक्षणादात्माश्रयभावात् । नचान्योन्याभावप्रतियोगिनिष्ठत्व लक्षण वाच्यम्, प्रागभावादावपि भावात् । अनेकान्योन्याभावपक्षे तेनैव चानैकान्तिकता । यस्मिश्च प्रतियोगिनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामभाववैलक्षण्य विवक्षित तदेव प्रतियोगित्व दुर्निरूप-मित्याह—**किंचेदमित्यादिना** । एतदपि प्रतियोग्यनिरूपणादित्यर्थ । ननु न निरू-पकत्वमात्र प्रतियोगित्वम्, येन धर्मिण्यपि प्रसङ्ग , किंतु धर्म्यन्यत्वे सति निरूपक-त्वमिति शङ्कते—**अथेति** । धर्म्यन्यत्व हि धर्मिप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वम, न च प्रतियोगित्वमद्यापि सिद्धमित्यात्माश्रयत्वमिति परिहरति—**तदपि नेत्यादिना** । एतेनान्योन्याभावलक्षणमपि निरस्तम् । तत्रापि प्रतियोगिप्रयुक्तदूषणाना सुवच-त्वादिति ।

वैधर्म्यपक्ष दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । वैधर्म्ययोरपि घटत्वपटत्वयोर्भे-दोऽस्ति ? नवा ? आद्ये स्वरूपान्योन्याभावयोर्दूषितत्वात् वैधर्म्यमेव मन्तव्यम् । तथाचानवस्थेत्याह—**वैधर्म्य इति** । ननु नानवस्था वैधर्म्यान्तरास्वीकारात् ।

तदवस्थ ही रहती है, क्योकि (पटे घटो नास्ति) पट मे घट नही है, इस प्रतीति के विषय अत्यन्ताभाव का घट प्रतियोगी है, और पटप्रतियोगिक अन्योऽन्याभाव भी घट मे रहता है। और जिस प्रतियोगी मे वृत्तित्व अवृत्तित्व से अभाव मे भेद मानते है, यह प्रतियोगित्व क्या है, यदि निरूपकत्व (सम्बन्धी रूप से बोधकत्व) प्रतियोगित्व हो, तो धर्मी को भी प्रतियोगित्व प्राप्त होगा, यदि पञ्चम्यन्त शब्द-वाच्यत्व प्रतियोगित्व हो, तो (घट पटो न भवति) इस प्रतीति विषय अन्यो-न्याभाव मे पट की प्रतियोगिता नही होगी, क्योकि पट का पञ्चम्यन्त शब्द से निर्देश नही है। यदि कहे कि धर्मी से अन्यत्वयुक्त निरूपकत्व प्रतियोगित्व है, तो यह भी लक्षण नही हो सकता है, क्योकि प्रतियोगित्व के अनिरूपण से ही धर्मिप्रतियोगिक अन्यत्व (भेद) की भी अभी सिद्धि नही हो सकती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्योन्याभावरूप भेद नही है।

दूसरा वैधर्म्य (घटत्व पटत्वादि विरोधी धर्म) स्वरूप भी भेद नही हो सकता है। क्योकि वैधर्म्य मे वैधर्म्य (घटत्व मे घटत्व) माने तो अनवस्था

वा वैधर्म्ययोरेकतापत्त्या तद्धर्मिणोरप्येकतापत्तावद्वैतप्रसङ्गः। नापि तृतीय पृथक्त्वे पृथक्त्वान्तराभावादेव धर्मिणस्तस्यैकतापत्ते.। किच पृथक्त्वस्य गुणत्वान्निर्गुणेषु पृथक्त्वगुणासम्भवेन भेदो न स्यात् ।.तत्रान्योऽन्याभावनिबन्धनो भेदव्यवहार इति चेत्तर्हि द्रव्येष्वपि तन्निबन्धन एव तद्व्यवहारोऽस्तु कृत पृथक्त्वेन, तत्सत्तावेदकप्रमाणाभावाच्च । अथाकाश स्पर्शवद्गुणासमवायिकारणाद्विष्ठगुणयोराश्रय द्रव्यत्वाद् भूतत्वाद्वा पटारम्भक-

---

यथाहोदयनो बौद्धधिक्कारे 'अनवस्था हि प्रवाह प्रापयति, गन्धे गन्धान्तराभ्युपगम इवे'ति तत्राह—**अनभ्युपगमे वेति**। तयोर्हि भेदाभावे घटत्वमेव पटत्वमिति तदधिकरण घटोपि पट स्यादेवमितरदपीत्यद्वैतापात इत्यर्थ । पृथक्त्वपक्ष दूषयति—**नापीति**। पृथक्त्वस्य धर्मिणो भेदाङ्गीकारेऽनवस्थाभयादभेदापत्ति स्यात् । तथा च घटस्वरूपमात्र न भेद प्रतिषिद्धत्वादित्यद्वैतापात इत्यर्थ । अत्र त्वधिकमपि दूषणमाह—**किचेति**। तत्र गुणादिष्वित्यर्थ । पृथक्त्वमेव तावदप्रामाणिक तद्रूपभेद सुतरामप्रामाणिक इत्याह—**तत्सत्तावेदकेति**। अत्र मानमनोहरस्थमनुमान शङ्कते—**अथाकाश इति**। स्पर्शवद्द्रव्यगतगुण प्रत्यसमवायिकारणभूतौ यावद्विष्ठगुणौ तयोरधिकरणमित्यर्थ । अद्विष्ठगुणाधिकरणमित्युक्ते शब्दपरममहत्त्वाधिकरणत्वेनार्थान्तरता तदर्थमितरद्विशेषणम् । तावन्मात्रोक्तौ वाकाशतन्तुसयोगविभागाभ्यामाकाशपटसयोगविभागलक्षणस्पर्शवद् गुणौ प्रत्यसमवायिकारणाभ्यामर्थान्तरता, तन्निवृत्त्यर्थमद्विष्ठेत्युक्तम् । तेनैकत्वसख्यैकपृथक्त्वयो सिद्धि । तथाहि—आकाशतदितरवृत्तित्वात्स्पर्शवद् गुणा भवन्ति द्वित्वद्विपृथक्त्वादयस्तत्कारणे चैकत्वैक-

---

होगी। और वैधर्म्य मे भेदरूप वैधर्म्य के नही मानने पर, तथा नही रहने पर वैधर्म्य की एकता की आपत्ति से उनके धर्मियो की भी एकता की आपत्ति से अद्वैत का प्रसङ्ग होगा। तृतीय = पृथक्त्व रूप, भी भेद नही हो सकता है, क्योकि पृथक्त्व मे पृथक्त्व मानकर पृथक्त्व मे धर्मी से भेद माने तो अनवस्था होगी और पृथक्त्व मे अन्य पृथक्त्व के अभाव से ही धर्मी और पृथक्त्व की एकता की प्राप्ति होगी, जिससे धर्मी मे भेदाभाव से अद्वैतापत्ति होगी। और दूसरी बात हे कि पृथक्त्व के चौबीस गुण के अन्तर्गत होने से निर्गुण गुणो मे पृथक्त्व गुण के असम्भव से गुणो मे भेद का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहे कि गुणो मे पृथक्त्व के नही रहते भी अन्योन्याभाव निमित्तक भेद का व्यवहार होता है, तो द्रव्यो मे भी अन्योन्याभाव निमित्तक ही भेद का व्यवहार हो सकता है, द्रव्य मे पृथक्त्व से भेद का व्यवहार मानना निष्फल है, और पृथक्त्व की सत्ता के बोधक प्रमाण के अभाव से, पृथक्त्व ही अप्रामाणिक है, अत पृथक्त्व रूप भेद

तन्तुवत् । तेन वियद्गतयोरेकत्वपृथक्त्वयो सिद्धि मानमनोहरकार-प्रत्यतिष्ठिपदिति चेत्, न, वेदान्तिन प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, तेन कारणगुणाना कार्ये गुणान्तरारम्भस्यानभ्युपगमात्, स्पर्शवत्त्वोपाध्युपहतत्वाच्च ।

नचान्त्यावयविनामनारम्भकत्वादेव तादृशगुणानधिकरणानामपि स्पर्शवत्त्वेन साध्यसमव्याप्त्यभावादेवानुपाधित्वम्, विषमव्यापकोपाध्य-

---

पृथक्त्वे इत्यर्थ । साध्यवैकल्यमेव विवृणोति—**तेनेति** । आरम्भवादिना खल्विय प्रक्रिया यत्समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणत्रयात्कार्योत्पत्तिरिति । यस्य तु पुनर-ज्ञातरशनेव पवनाशनादिभावेनैकमात्मतत्त्वमनादिभावाविद्यासहाय वियदाद्याकारेण विवर्तत इति मतम, न तस्यैषा परिभाषेत्यर्थ । व्याप्यत्वासिद्धि चाह—**स्पर्शवत्त्वेति** ।

यत्त्विममेवोपाधिमुद्भाव्य तेनोक्त स्पर्शवता घटादीनामपि तथाविधगुणद्वयाश्रय-त्वप्रसङ्गादिति, तदेतत्प्रतिसाधनमनूद्य दूषयति—**नचान्त्यावयविनामिति** । नचानुपाधित्वमित्युक्त तत्र हेतुमाह—**विषमव्यापकेति** । अयमर्थ—पक्षादुपाधि-

---

को होना असम्भव है । और जो मानमनोहर ने पृथक्त्व मे अनुमान प्रमाण कहा है कि (आकाश, स्पर्श वाले द्रव्य के गुण 'द्वित्व-द्विपृथत्व' के असमवायी कारण, अद्विष्ठ गुण 'एकत्व-एकपृथक्त्व' का आश्रय है । द्रव्यत्व वा भूतत्व से, पटारम्भक-तन्तुवत्) यहाँ अद्विष्ठ गुणाश्रय, इतना ही कहा जाता तो शब्द परममहत्त्व द्वारा अर्थान्तरता होती, अत अन्य विशेषण दिये गये है, इत्यादि । और इस अनुमान से आकाशगत एकत्व एक-पृथक्त्व की सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है, वह युक्त नही है, क्योकि वेदान्ती के प्रति दृष्टान्त साध्यरहित है, वेदान्ती कारणगुणो को कार्य मे गुणान्तर का आरम्भक नही मानते है, अत तन्तुगुण मे पटगुण आरम्भकता के दृष्टान्त से एक पृथक्त्व मे स्पर्शवद् वृत्ति द्विपृथक्त्व के असमवायिकारणत्व कैसे सिद्ध होगा । और स्पर्शवत्त्व उपाधि से भी यह अनुमान उपहृत (नष्ट) होता है, क्योकि स्पर्शवद्गुण = रूप, का असमवायिकारण तन्तुओ मे, स्पर्शवत्त्व, साध्य का व्यापक है । और आकाशादि मे साधन द्रव्यत्व रहता है, स्पर्शवत्त्व नही रहता है, अत साधन का अव्यापक है ।

यदि कहे कि घटादि रूप अन्त्यावयवी मे आरम्भकता नही रहने से वह उक्त असमवायिकारण का आश्रय भी नही रहता है, अत तादृश गुणो के अनधिकरण अन्त्यावयिवियो के स्पर्शवान् होने से साध्य के साथ समव्याप्ति के अभाव से, 'स्पर्शवत्त्व' उपाधि नही होगा, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि विषम व्याप्ति वाला उपाधि माना जाय तो भी कोई दोष नही प्राप्त होता है, क्योकि उपाधि के अभाव से साध्याभाव का अनुमान होना उपाधि का फल होता है, वह विषम

ङ्गीकारेऽपि दोषाभावात् । न चैतत्पर्वतान्यत्वादे पक्षेतरत्वस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गो दोष, य एतत्पर्वताऽसावनग्निमानिति व्यतिरेकासिद्ध्यैव तस्य दुष्टत्वात् ।

'एकसाध्यविनाभावे मिथ सबन्धशून्ययो ।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्यय ॥'

व्यावृत्त्या साध्यस्य विनिवर्तनम् । उपाधिफलमस्मिंश्च समवद्विषम क्षम । स्वव्यावृत्त्या साध्यस्य पक्षाद्व्यावृत्त्या व्यापकप्रमित्युत्पत्तिप्रतिबन्धो वा हेतोरपहृतसाध्यतया विपक्षभूते पक्षे वर्तमानस्यानैकान्तिकतापादन वोपोधे कृत्यमिति हि नूननोन्नयनम । तच्च समव्याप्तिवद्विषमव्याप्तिरपि शक्नोति सपादयितुमग्निमत्त्वमिव निवर्तमान धूमवत्त्व व्यावर्तयितुमतो विषमव्याप्तिरपि सम्भवत्येवोपाधिरिति । अभ्युपगम्य चैतदुक्तम् । वस्तुतस्तु समव्याप्तिरेवायम्, अन्त्यावयविना पक्षतुल्यत्वेन साध्याभावानिर्णयात् । विपक्षत्वे च द्रव्यत्वादेस्तत्रानैकान्तिकत्वात् सपक्षत्वे च तत्रोपाधेरपि वृत्तें समव्याप्तित्वादिति । नन्वधिकव्याप्तेरप्युपाधित्वे पक्षेतरत्वमप्युपाधि स्यात्, तथा च गत धूमानुमानेन, अधिकव्याप्तेरुपाधित्वानभ्युपगममेन हि पक्षेतरत्वनिवारणमिति, तत्राह—**नचैतत्पर्वतेति ।** यदि हि पक्षेतरत्वस्य साध्यव्यापकता स्यात् स्यादय दोष, नत्वेतदस्ति, एतत्पर्वतेतरत्वरहितेऽप्येतत्पर्वतेऽग्निमत्त्वविरहानिश्चयेन व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्ध्या साध्याव्यापकत्वात्, ईदृशश्च सर्वत्र पक्षेतर । यत्र तु साध्योपाध्यो व्यतिरेकव्याप्तिनिर्णयस्तत्र न पक्षेतरत्वसज्ञा, अपितूपाधित्वमेवेत्यभिसन्धिराह—**य एतत्पर्वत इति ।**

अत्रोदयनलक्षणविरोधमाशङ्क्य परिहरति—**एकसाध्येति ।** मिथ परस्पर सबन्धशून्ययोर्धर्मयोरेकेन साध्येनाविनाभावे विरूप्यमाणे सहभावोऽविनाभाव तस्मिन् सति यदत्यय यस्याभाव साध्याभावाविनाभावी साध्याभावेन व्याप्त स

उपाधि से भी होना है। यदि कहे कि विषयव्याप्ति (अधिक व्याप्ति) से भी उपाधित्व हो, तो एतत् पर्वतेतरत्वादि रूप पक्षेतरत्व को भी उपाधित्व होगा, विषम व्याप्ति को उपाधित्व मानने मे यह दोष है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि पक्षेतरत्व के अभाव से साध्य का अभाव नही सिद्ध होता है, ऐसा नही होना है कि जो एतत् पर्वत है, वह अग्नि वाला है। इसप्रकार से व्यतिरेक की असिद्धि से ही उस पक्षेतरत्व को दुष्ट उपाधि कहा जाता है, विषम व्याप्ति से नही। हेतु की व्याप्ति से रहित जो धर्म, अर्थात् व्याप्ति रूप सम्बन्ध से रहित हेतु उपाधि के होते—

'एक साध्य के साथ अविनाभावी (सहवृत्ति) जो हो, और जिसका अभाव साध्याभाव का अविना भावी (व्याप्य) हो उसको उपाधि कहते है।'

इति चोपाधिलक्षणस्य समासमव्यापकयोस्तुल्यत्वात्। "समवायः समवेत सम्बन्धत्वात् सयोगवदि"ति प्रयोगे सबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधिरिति विषमव्यापकोपाधेरुद्योतकराचार्यैरङ्गीकारात्। अपि चान्यो-

---

तदभावप्रतियोगी उपाधि, अत्र च मिथ सबन्धशून्ययोरिति सावनाव्यापकत्वमुक्तम्। अत्रापि साध्याभावस्य व्यापकत्वमुपा०यभावस्य व्याप्यत्व च प्रतीयते, तेन च साध्यस्य व्याप्यत्वमुपाधेश्च व्यापकत्व सिध्यति, तच्च द्वयमग्निधूमवद्विषमव्याप्तित्वेपि घटत इति नाय समव्याप्तित्वगमक इत्यर्थ।

न केवलमगमक विषमव्याप्तितागमकश्चेतरथोद्योतकराचार्यवचनविरोधप्रसङ्गादित्यभिसन्धेस्तदीयग्रन्थमाह—**समवायः समवेतः इत्यादिना**। सयोगे हि सबन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वमुपाधि। कार्यत्व च समवायाद्व्यावर्त्तमान सबन्धत्वे सति समवेतत्व व्यावर्त्तयति। तत्रापि सबन्धत्वमुभयवादिसमतमिति समवेतत्वव्यावृत्तिरुपाधिफलम। यद्यप्यय साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापक, नतु केवलसा०यव्यापकस्तथापि विषमव्याप्तिकत्वेन प्रकृतोदाहरणम्, साधनावच्छिन्नसाध्येन च विषमव्याप्तिकता, कार्याणामपि गुणादीनामुक्तसा०यवत्वाभावात।

एतेन—

'समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा समे।
समे न यदि नो व्याप्नस्तयोर्हीनोऽप्रयोजक ॥

इति भट्टाचार्यवचनमपि प्रतिघटित मन्तव्यम्। वस्तुतस्तु उभावपि प्रकारौ सग्राह्यौ। नह्येतत्सामान्यलक्षणमपि तु विशेषलक्षणम्, तस्य चानेकप्रकारत्व न दोषाय, सामान्यलक्षण त्वत्यन्ताभावप्रतियोगिधर्म इति, अभावमात्रप्रतियोगित्व प्रमेयत्वादेरप्यस्त्यन्योन्याभाववत्त्वात्, स च नोपाधि, तस्य सर्ववस्तुनिष्ठतया साधनव्यापकत्वेन साध्यानपहारित्वादत उक्तमत्यन्ताभावेति। धर्मग्रहण तु परमाण्वादीनामनाश्रितानामुपाधित्वनिरसनार्थमिति। नवीनानामुन्नयनम्। यथाचैनत्सर्वमविचारितरमणीय तथोदर्के दर्शयिष्यते। इदानी सर्वस्य धर्मभेदस्य साधारणमाश्रयानिरूपण दूषणमाह—**अपि चेत्यादिना**। कि परस्पर विभिन्न घटादिकमालिङ्गन्ते भेदा ? उताभिन्नम् ?

यह उपाधि का लक्षण समव्यापक, असमव्यापक दोनो मे तुल्य रहता है। और (समवाय, समवेत समवायसम्बन्ध वाला है, सम्बन्ध होने से सयोगवत्) इस प्रयोग मे सम्बन्धत्व युक्त समवेतत्व (साधनावच्छिन्नसाध्य) मे कार्यत्व उपाधि है, इसप्रकार से विषम व्यापक उपाधि को भी उद्योतकराचार्य ने माना है। कार्यत्व उपाधि उक्त साधनावच्छिन्न साध्य का विषम व्यापक है। अपि च (और यहाँ

न्याभावादयो भेदा कि भिन्नमेव धर्मिण परिरभन्ते ? उताभिन्नम् ? नाद्य , अनन्तभेदाभ्युपगमप्रसङ्गात् । अस्तु, कि न छिन्नमिति चेत्, शृणु—क्रमेण तेषा धर्मिणा सम्बन्धे धर्मिणश्च घटादे कादाचित्कत्वेन तत्सम्बन्धासम्भव । सभवे वाऽतीतानागताना च भेदाना क्रमसम्बन्धाय घटोऽनादिरनन्तश्च स्यात् । अथ युगपदेव धर्मिणा सर्वे भेदास्सबद्ध्येरन्, तर्हि भिन्ने भेदस्थिति-रिति पक्षक्षति , भेदसम्बन्धै विना तस्य भिन्नत्वानुपपत्ते । तत्सबन्धेनैव च भिन्नत्वे, किभेदविशिष्टे किभेदस्थितिरिति नियामकाभावादेकोऽपि भेदो न

इत्यर्थ । ननूत्तरोत्तरभेदार्तनार्थ पूर्वपूर्वाश्रय ।देऽनन्त भेदश्चेत्प्रसज्येत, तत्प्रसज्यता नाम, अज्ञायमानतयोपपादकत्वेन मूलक्षयाभावादित्याशङ्क्य परिहरति—**शृण्विति ।** तत्रानन्ताना भेदाना क्रमेण घटे वतमानत्वम् ? युगपद्वा ? क्रमपक्षे तु सावयिके वस्तुनि तेषामसम्भव इत्याह—**क्रमेणेति ।** असम्भवमेव विपक्ष बाधकेन दृढयति—**सभवे चेति ।** किमिति पक्षक्षतिरिति तत्राह—**भेदसंबन्धमिति ।** यदीदानीमेव निष्पन्न घटमाश्रयते भेदस्तत पूर्वमभिन्नत्वात्तस्य स्यादेव पक्षक्षतिरित्यर्थ । ननु यद्यपीय प्रथमैव प्रवृत्तिस्तथापि प्रथम स्वपरनिर्वाहकतया स्वस्य परस्य चाश्रयभेद सपादयति, तदुपरि चोत्तरोत्तरमुत्तरोत्तरस्य तथाखल्वतिशूर पदाति परदुर्गेषु परेषामात्मनश्च कपाटविघटनेन द्वारमापादयति, तद्वदिति तत्राह—**तत्संबन्धेनेति ।** स्यादेव यदा पदातिरिव कश्चिद् भेद प्रमाणेन प्रथमप्रवृत्त इति निर्णीयेत नत्वेतदिति भाव । केन भेदेन विशिष्टे घटदौ कस्य भेदस्य स्थितिरिति योजना । युगपदवबद्ध्यमानैर्भेदैरेवाधारभेदशङ्काया वाय ग्रथ । एतमविनिगम्यत्वमुक्त्वा प्रामलोपापत्ति चाह—

यह विचारणीय है कि) अन्योन्याभावादि रूप भेद, क्या भिन्न धर्मी का आश्रयण करते है, या अभिन्न मे रहते हे ? इनमे प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि भिन्न मे रहेगे, तो जिस भेद से धर्मी भिन्न होगा, वह भेद भी भिन्न मे रहेगा, तो इसप्रकार से अनन्त भेद का स्वीकार करना प्राप्त होगा । यदि कहे कि अनन्त भेद हो, उससे हमे क्या हानि है ? तो हानि सुनो कि अनन्त उन धर्मो के धर्मी के साथ क्रम से सम्बन्ध मे अनन्त काल चाहिये, और घटादि धर्मी के कादाचित्क होने से उन अनन्तो भेदो के साथ सम्बन्ध का असम्भव है। यदि उनके सम्बन्ध का सम्भव हो तो अतीत अनागत भेदो के क्रम से सम्बन्ध के लिये घटरूप धर्मी अनादि और अनन्त होगा । और यदि सब भेद युगपत् धर्मी के साथ सम्बन्ध वाले होगे, तो भिन्न मे भेद की स्थिति होती हे, इस पक्ष का त्याग होगा, क्योकि भेद के सम्बन्ध के विना उस धर्मी के भिन्नत्व की सिद्धि नही हो सकती हे। ओर उस भेद के सम्बन्ध से ही भिन्नत्व होने पर, अनन्त भेद मे से किस भेद युक्त मे कौन भेद की स्थिति होती है इसमे नियामक के अभाव से एक भी भेद सिद्ध नही

भवेत्। उत्तरोत्तरेणैव च भेदेन पूर्वपूर्वभेदोपयोगोपपत्तावनन्तभेदाभ्युपगमोऽपि निष्फल स्यात्। एवमपि भेदा स्वीक्रियेरन्, यदि भेदपरम्पराभरमन्थरा कापि सविदुदयमासादयेत्।

तथाचाहु खण्डनकारा —

"प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत्।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्सा त्रिदोषता॥"

इति। (ख पृ २०७)

न द्वितीय, अभिन्नेपि चेद् भेदो निविशेत्तदा तदपि नैक स्यादित्येकाभावादनेकमपि न सिद्ध्येत्।

उत्तरोत्तरेति। प्रतीतिक्रमापेक्षयोत्तरमुपपादक पूर्वमुपपाद्यम्, घटपटयोर्भेदव्यवहारसिद्धिर्हि प्रथमभेदोपयोग, स चोपपादकेन द्वितीयेन सिध्यतीति मुधा प्राथमिकभेद। एवमग्रेऽग्रेपीत्यर्थ। तदुक्त श्रीहर्षकविभि 'अग्रे धावन् पश्चाल्लुप्यमानो विसपरणशीलश्चुनरत् न भेदप्रवाह किमालम्बेत' इति। प्रमाणापगममपि दूषणमाह—**एवमपीति**। विषयभूतया भेदपरपरया मन्थरा अलमत्यर्थ। उक्तदूषणत्रितय श्रीहीरनयोनत्योनोब्दलयति—**तथा चाहुरिति**। भेदानवस्थितिमास्थातु प्राग्लोपादिभिर्दोषैरचिकित्स्या त्रिदोषता चिकित्सामतिक्रान्तो यस्त्रिदोषो वातपित्तश्लेष्मणा प्रकोप सन्निपातस्तद्भाव स्यादिति श्रीहर्षोक्तेरर्थ। धर्मरूपो भेदो भिन्नेवर्तत इति प्रथमपक्षो निरस्त। अभिन्ने वर्तत इति द्वितीय पक्ष दूषयति—**न द्वितीय इति**। यदि पटादभिन्ने घटे वर्तमान पटाद्घट भिन्द्यात्पटमपि पटाद्, भिन्द्यात् समानयोगक्षेमत्वादिति भाव।

होगा। और उत्तरोत्तर भेद से ही पूर्व-पूर्व भेद के फल की सिद्धि होने पर, किसी एक अन्तिम भेद से धर्मी मे भिन्न बुद्धि हो सकती है, फिर भी अनन्त भेद का स्वीकार निष्फल होगा। इसप्रकार के भी अनन्त भेद माने जायँ, यदि भेद परम्परा के भार से मन्द गति वाली कोई सम्बिद् = अनुभूति, उदित हो तो खण्डनकार ने कहा है कि—

भेदानवस्थितिमास्थातु = भेद की अनवस्था को मानने वाले को उत्तरोत्तर भेद से पूर्व-पूर्व की निष्प्रयोजनता रूप प्राग् लोप, अविनिगम्यत्व और प्रमाणापगम, द्वारा अचिकित्सा त्रिदोपता (सन्निपात) होती है।

अभिन्न मे भेद रहता है, यह दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि अभिन्न मे यदि भेद निविष्ट होगा, तो एक अभिन्न वस्तु नही रह सकेगी, पट से घट को भिन्न करता हुआ भेद घट से भी घट को भिन्न करेगा। इसीप्रकार से सबको स्वरूप मे भिन्न करेगा, तो कोई एक वस्तु नही सिद्ध होगी।

नापि वैलक्षण्य भेद , आत्माश्रयत्वात् । नानालक्षणयोगो हि वैलक्षण्यम्, नानात्व च भिन्नत्वापरपर्यायमद्याप्यसिद्धम्, तेन च तत्सिद्धौ तत्सिद्धिरिति । किच नानालक्षणयोगोऽपि दुर्निरूप । तथा हि—द्रव्यादीना षण्णा लक्षणानि नानाविधान्यभ्युपगम्यन्ते ।

तत्र तावद्गुणाश्रयो द्रव्यमित्यलक्षणम्, यत —

अव्याप्तेरप्यतिव्याप्तेर्द्रव्य नैव गुणाश्रय ।

भिन्नलक्षणयुक्तत्व भेद इति चतुर्थ धर्मभेदविकल्प दूषयति—**नापीति** । अत्र चान्योन्याश्रयद्वारा तत्फलमात्माश्रय स च ज्ञप्तौ । आत्माश्रयमेव सुबोधेन ग्रन्थेन विवृणोति—**नानालक्षणेति** । लक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तद्रूपोऽपि भेदो दुर्निरूप इत्याह— **किचेति** । तानि च दूषयितु सकलयति—**तथा हीति** । यानि नानालक्षणानि अभ्युपगम्यन्ते, तानि द्रव्यादीना न तु लक्षणानि, तत्प्रधानत्वादतस्तेषा दुर्निरूपत्वे दुर्निरूपतराणि तदवान्तरलक्षणानीत्यभिप्राय ।

भेदज्ञाने प्रविध्वस्ते भेदज्ञानेकविभ्रमान् ।
आगमापायिन सर्वानागमा बाधितु क्षमा ॥

द्रव्यलक्षण दूषयति—**तत्र तावदिति** । आश्रयत्व गुणकर्मणोरप्यस्ति, तत्तज्जात्याधारत्वादत उक्तम्—**गुणाश्रय इति** । तथा गुणो द्रव्यमित्युक्ते व्याघातस्तदर्थं गुणस्येत्युक्तम् । तथापि तत्सबन्धिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमाश्रयग्रहणम् । श्लोकेन दूषण सगृह्णाति—**अव्याप्तेरिति** । गुणाश्रयो द्रव्यमिति यत्तन्नैव न भवत्येव तल्लक्षणम्,

---

एक के अभाव से अनेक भी नही सिद्ध होगा कि जिससे सर्वशून्यता प्राप्त होगी । भिन्नलक्षणयुक्तत्व रूप चतुर्थ कल्प भी नही बन सकता है, क्योकि वैलक्षण्य को भेद मानने पर आत्माश्रयता प्राप्त होती है । नानालक्षण का योग (सम्बन्ध) वैलक्षण्य कहा जाता है, और भिन्नत्व रूप दूसरा नाम वाला नानात्व अभी सिद्ध नही हुआ है, उस नानात्व रूप से भेद की सिद्धि होने पर उस वैलक्षण्य की सिद्धि होगी, इसप्रकार से भेद की सिद्धि मे भेद के आश्रयण से आत्माश्रय होता है । और नानालक्षणयोग रूप वैलक्षण्य मे नानालक्षणयोग भी दुर्निरूप है, यह दर्शाया जाता है कि, द्रव्यादि छ पदार्थो के नाना प्रकार के लक्षण माने जाते है, उन लक्षणो के सिद्ध होने पर, नाना लक्षणो का योग हो सकता है, परन्तु ये लक्षण भी दुर्निरूप है । क्योकि —

प्रथम (गुणाश्रयो द्रव्यम्) गुण का आश्रय द्रव्य होता है, यह द्रव्य का लक्षण नही हो सकता है । क्योकि—

द्रव्य गुण का समवायकारण होता है, अत प्रथम क्षण मे द्रव्य निर्गुण उत्पन्न होता है, अत आद्यक्षण मे लक्ष की अव्याप्ति होती है, क्योकि आद्यक्षण मे गुण का

आद्ये क्षणे गुणाभावाद् गुणादावपि वीक्षणात् ॥ ४ ॥

उत्पन्नमात्र द्रव्य क्षणमगुण तिष्ठतीत्यङ्गीकारादव्याप्ते । गुणादिष्वपि चतुर्विंशतिर्गुणा इत्यादि सख्यागुणान्वयवीक्षणादतिव्याप्ते । न च तत्र सख्यावत्त्वप्रतीतिर्विभ्रम , नवैव द्रव्याणीत्यादाविव बाधकादर्शनात् । अथ

कुतोऽव्याप्तेरतिव्याप्तेश्चेति योजना । ते एव क्रमेणोत्तराधन विवृणोति —**आद्ये इति ।**

आद्यक्षणे गुणाभाव दर्शयन्नव्याप्तिमेव विवृणोति —**उत्पन्नमात्रमिति ।** कार्यस्य गुणस्य समवायिकारण वक्तव्यम्, तच्चाश्रयभूत द्रव्यमेवेति तस्य गुणात्प्राक्क्षणवर्तित्व वक्तव्यम्, नियतप्राक्क्षणसत कारणत्वादित्यवयविषु गुणवत्त्वम्, लक्षण नास्तीत्यव्याप्ति । ननु केनैवमुक्त यावल्लक्ष्य लक्षणेन भवितव्यमिति ? यथा हि कादाचित्कमपि पतनभावत्व गुरुद्रव्यलक्षणमेवमत्रापि कि न स्यादिति ? उच्यते, लक्षण हि केवलव्यतिरेक्यनुमानविशेष , तथाचाद्यक्षणवर्त्यपि द्रव्य पक्ष एव, न च तत्र हेतुवृत्तिरित्यसिद्धि स्यात् । पतनस्यापि लक्षणत्वमसप्रतिपन्नम् । किचोत्तरक्षणे गुणोत्पत्तौ उत्पन्नमात्रस्यानुत्पन्नगुणस्यापि क्वचिद्विनाशसभवात्तत्र सर्वथैवाव्यापकमिद स्यात् । अपि च गुणस्य क आश्रय इति पृष्टे किमुत्तर देयम् ? यदि द्रव्यमिति, तदा परस्पराश्रयम् , अथान्यत्किचित्सकलगुणाश्रयानुगतमनतिप्रसक्त चाभिधीयेत, तर्हि तदेव भवतु लक्षणमितीतरद्व्यर्थम् । द्रव्यविलक्षणगुणाज्ञाने च लक्षणासिद्धि । तज्ज्ञाने च चक्रकपरस्पराश्रयात्माश्रयाणीति तदेतच्छ्लोकस्थापिना दर्शितम् । गुणादावपीत्येतद्विवृण्वन्नतिव्यति दर्शयति—**गुणादिष्वपीति ।** स्यादेतत्—अगुणा गुणा इति लक्षणात्तेषु सख्यावत्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तेति तत्राह—**न च तत्रेति ।** बाधाभावान्न भ्रमत्वमितरथाऽतिप्रसङ्गात् । अत्र लीलावतीकार प्राह—'गुणाश्रयो द्रव्यम्', अत्र यद्यपि सबन्धो न सदातन , योग्यता तु स्वरूपमननुगत च, द्रव्यत्व तु क्लृप्तम्, तथाप्यत्यन्तायोगव्यवच्छेदो लक्षणार्थ इति । तदेतद्धृदि निधाय शङ्कते—**अथ मतमिति ।** अभिनव वक्र च यन्नयवर्त्म न्यायमार्गस्तदनुसारिणामित्यर्थ । वक्रमार्गमेव दर्शयति—

अभाव रहता है, और गुणादि मे सख्या रूप गुण के देखने से अतिव्याप्ति होती है, गुणाश्रयत्व द्रव्य का लक्षण नही हो सकता है ॥ ४ ॥

उत्पन्नमात्र द्रव्य क्षणमात्र अगुण = गुणरहित, रहता है, ऐसा स्वीकार करने से अव्याप्ति होती है । और गुणादि मे भी चौबीस गुण है इत्यादि सख्या रूप गुण के सम्बन्ध के देखने से अतिव्याप्ति होती है, गुण मे सख्यावत्त्व की प्रतीति विभ्रम रूप है, ऐसा नही कहा जा सकता है । क्योकि नव ही द्रव्य है, यहाँ जैसे बाध नही दीखता है, वैसे ही गुणादि मे बाधक नही दीखता है । यदि माना जाय कि ऋजु

मतम्, आस्तामिदमृजुपथप्रस्थितानां दूषणाभिधानम्, अस्माकं पुनरभिनव-वक्रनयवर्त्मानुसारिणां नैषा विभीषा समुन्मिषति, यतो गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणतामेव गुणाधिकरणतामाचक्ष्महे, तेन नाव्याप्तिर्नाप्यतिव्याप्ति। गुणादीनां पञ्चानामपि निर्गुणत्वनिष्क्रियत्वे इति प्रशस्तपादभाष्यदर्शनादिति, मैवम्, तत्रैवात्यन्ताभावेऽतिव्याप्ते। सोऽपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावस्तस्यानधिकरणम्, स्वस्य स्वस्मिन्नवृत्ते। अथानेकत्वादत्यन्ताभावानामत्यन्ताभावेऽभावोऽस्ति, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। किमेकैकगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वं द्रव्यलक्षणम्? उत सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावा-

---

यत **इत्यादिना।** तथाप्यतिव्याप्तिरित्याह—**मैवम्, तत्रैवेति।** किं गुणवत्त्वात्यन्ताभावोऽनेकः? किं वैकः? एकत्वे तावदाह—**सोऽपि हीति।** योऽपि हि गुणवत्त्वात्यन्ताभावः सोऽपि हि स्वस्यानधिकरणमेव, स्वस्मिन्स्वस्यावृत्तेरिति। न च प्रमेयत्वादिवत्केवलान्वयित्वं येनाधुनिकनीत्यापि स्ववृत्तिता स्यात्। केवलान्वयित्वे च भग्नं द्रव्यलक्षणमिति भावः। अनेकत्वपक्षमुद्भाव्य दूषयति—**अथानेकत्वादित्यादिना।** अत्र तावत्प्रतियोगिभेदादभावभेदो वक्तव्यः। नह्यभावस्य स्वतो भेदोऽस्ति, निर्विशेषत्वात्, तथाच गुणवत्त्वभेदो वक्तव्य इति स्थिते विकल्पयति—**किमेकैकेत्यादिना।** रूपादिगुणानां मध्ये यदेकैकगुणवत्त्वं तत्प्रतियोगिकोऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा? उत चतुर्विंशतिगुणैर्यानि चतुर्विंशतिगुणवत्त्वानि तेषां योऽत्यन्ताभावस्तदनधिकरणत्वं वा? इत्यर्थः। प्रथमेऽपि किं नियतस्य कस्यचित् अत्यन्ताभावानधिकरणत्वम्? अनियतस्य वा? नियमपक्षे दूषणमाह—

(अवक्र) पथगामियों के दूषणों का कथन हो, अभिनव वक्रपथगामी हमलोगों को यह विभीषिका (दोष) नहीं उत्पन्न होती है, क्योंकि, गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता को ही हम गुणाधिकरणता कहते है, वह गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता आद्यक्षण में भी द्रव्य में रहती है, और गुणादि में नहीं रहती है। अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति रूप दोष नहीं है। गुणादि पाँचों को ही निर्गुणत्व = निष्क्रियत्व है, यह प्रशस्तपाद भाष्य में देखा गया है, तो यह मानना भी नहीं बन सकता है। क्योंकि उसी गुणात्यन्ताभाव में उस द्रव्य लक्षण की अतिव्याप्ति है। वही अत्यन्ताऽभाव, उस अत्यन्ताभाव का अनधिकरण है, क्योंकि अपने में अपनी वृत्ति (स्थिति) नहीं होती है। यदि कहें कि गुणात्यन्ताभाव के भी अनेक होने से अत्यन्त्याभावों का अत्यन्ताभाव में भी अत्यन्ताभाव है, अतः अत्यन्ताऽभावानधिकरणत्व रूप लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, तो ऐसा कहना नहीं बनता है, यह कथन विकल्पाऽसह है। विकल्प यह है कि अनेक अत्यन्ताभाव होने पर क्या एक-एक गुणात्यन्ताभावानधिकरणत्व द्रव्य का लक्षण है, अथवा सर्वगुणात्यन्ताभावान-

नधिकरणत्वम् ? नोभयम्, उभयत्राप्यव्याप्ते तथाहि—रूपादीना गुणानामनेकत्वात्तदेकगुणाधिकरणस्यापि तदितरगुणात्यन्ताभावाधिकरणत्वादेव तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वाभावात् । सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य सर्वस्मिन्नसम्भवात् । सति हि सर्वगुणाधिकरणत्वे सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणता स्यात् । न च सर्वगुणाधिकरणत्वमेकैकस्यास्तीति कथ नाव्याप्ति ? अथ चतुर्विंशतिगुणानामन्यतमगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणता विवक्षिता, तदपि न, अन्यतमशब्देन रूपादेरेवैकैकस्य सर्वस्य वा विवक्षाया पूर्वाभिहिताव्याप्तिदोषस्य तदवस्थत्वात् ।

रूपादीनामिति । रूपात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे वाय्वादिष्वसिद्धिरेवमितरत्रापीति भाव । सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वपक्ष दूषयति—**सर्वेति ।** सर्वगुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व तत्प्रतियोगिसर्वगुणाधिकरणत्वे सति स्यात्, नचैतदस्ति । नहि तदस्ति किंचिद्‌द्रव्य यच्चतुर्विंशतिगुणाधिकरणमिति असभव एव लक्षणस्येत्यर्थ । अनियतपक्ष शङ्कते—**अथेति ।** किमन्यतमशब्देन प्रत्येक समुदित वा विहायान्यस्य कस्यचिन्निर्देश ? उतैतयोरेवान्यतरस्योभयस्य वा ? नाद्य, तथाविधस्य तस्य नियमेनादर्शनात, उत्तरत्र तूक्तमेव दूषणमित्याह—**अन्यतमशब्देनेति ।** अथ भावत्वे सति गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमित्युच्येत, तन्न, रूपादावतिव्याप्तेर्वक्ष्यमाणत्वात् । ननु सयोगात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य लक्षणत्वे को दोष ? तदत्यन्ताभावस्यैकत्वे तस्मिन्नेवातिव्याप्ति' अनेकत्वे पुन किमेकैकसयोगात्यन्ताभाव ? सर्वसयोगात्यन्ताभाव ? अन्यतमसयोगात्यन्ताभावो वा ? इति विकल्पैरुन्मूलनात । एतेन विभागपरिमाणसङ्ख्यापृथक्त्वैरपि लक्षणनिरुक्तिप्रत्याशा नवकाशीकृता वेदितव्या ।

धिकरणत्व लक्षण है । दोनो लक्षण नही बन सकता हे, दोनो ही मे अव्याप्ति रूप दोष है, क्योकि रूपादि गुणो के अनेक होने से उनमे से किसी एक गुण के अधिकरण को भी उससे अन्य गुण के अत्यन्ताभाव के अधिकरण होने से ही उस अत्यन्ताभाव के अनधिकरणत्व का अभाव हो जाता हे, और द्रव्य के लक्षणानुसार अनधिकरणत्व होना चाहिये । सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणत्व का सर्वलक्ष्य मे असम्भव हे । क्योकि कही सर्वगुणाधिकरणत्व रूप प्रतियोगी के होने पर, सर्वगुणात्यन्ताभावानधिकरणता हो सकती है, और सर्वगुणाधिकरणत्व एक-एक द्रव्य को नही हे तो अव्याप्ति कैसे नही होगी । यदि कहे कि चौबीस गुणो मे से अन्यतम गुणवत्त्वाऽत्यन्ताभावानधिकरणता विवक्षित है, तो वह भी नही बन सकता है, क्योकि अन्यतम शब्द से एक-एक रूपादि की या सत्त्व की विवक्षा होने पर पूर्व कथित अव्याप्ति दोष की तदवस्थता रहती है ।

किञ्चास्मिन्नपि वक्रलक्षणे गुणादिष्वपि सङ्ख्यापृथक्त्वगुणयो प्रतीते कथ नातिव्याप्ति ? न च प्रशस्तपादभाष्य मनुवचनम्, येन निर्गुणता गुणादीना प्रामाणिकी स्यात । न च मन्तव्यम्, गुणेष्वपि गुणाभ्युपगमेऽनवस्था-प्रसक्ते सङ्ख्यापृथक्त्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरिति, रूपादिषु तदभ्युपगमेऽपि सङ्ख्यापृथक्त्वयो सङ्ख्यापृथक्त्वान्तरानभ्युपगमेनैवानवस्थापरिहारात् । यथा

किचैव विवेक्षायामपि न पूर्वोक्तातिव्याप्त्युपशम इत्याह—**किञ्चेति ।** ननु प्रशस्तपादवचनान्निर्गुणत्व गुणानामुक्तम्, तत्राह—**नच प्रशस्तेति ।** अत्र किरणावलीकार प्राह—'समानजातीयगुणाभावस्तावदनवस्थाप्रसङ्गात्, रूपादौ रसादिवेगान्तर्भावे मूर्तत्वप्रसङ्गात् । बुद्ध्यादीना च प्रतिसन्धानात्मगुणत्वेन व्यवस्थितेरप्रसक्तिरेव, शब्दस्य नभोनियमात्, गुणेषु गुणयोगे च समवायिकारणत्वप्रसक्तौ द्रव्यत्वापत्तेर्गुणत्वव्याघात, एव रूपावयवि रूपेष्वेव वर्तते इति घटादेर्नीरूपत्वप्रसङ्ग इत्यादि, एव निर्गुणत्वे निष्क्रियत्वे च रसादयो गच्छन्ति चतुर्विंशतिर्गुणा महान् शब्द इत्यादयो व्यवहारास्तदेकार्थसमवायादिना साधर्म्येण गौणा समर्थनीया' इति । तदेतदाशङ्क्य दूषयति—**न च मन्तव्यमिति ।** अनवस्थाग्रहण तदुक्तबाधकान्तराणामप्युपलक्षणम् । न च मन्तव्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**रूपादिष्विति ।** अय मर्थ—**सत्य** सजातीयगुणाङ्गीकारेऽनवस्था, विजातीयसख्यापृथक्त्वयोराश्रयणे किं बाधकम् ? **न** च समवायिकारणत्वप्रसक्तिर्बाधिका, इष्टत्वात्सख्यादिसमवायिकारणत्वस्य । **अत** एव द्रव्यत्वप्रसक्तिरपि नानिष्टाय । कथ च द्रव्यत्वप्रसक्ति ? यदि ह्येतद्द्रव्यलक्षण स्यात्, स्याद् द्रव्यत्वप्रसङ्ग, तदेव त्वयापि न निर्णीतम् । न च रूपाद्यारब्धत्वे सङ्ख्याया रूपादिवृत्तित्वान्न द्रव्ये सख्या स्यादिति वचनीयम् । गुणेऽपि पर्यनुयोगस्य तुल्यत्वात्, प्रत्ययसाम्याच्च । यथा तु तन्तुशौक्ल्यव्यतिरेकेण पटेऽपि शौक्ल्यमङ्गीक्रियते प्रतीतिबलात, एवमत्रापि सङ्ख्याद्वयं किं न स्यात ? न च सङ्ख्याया सङ्ख्यान्तरस्वीकारादनवस्थाप्रसक्ति, तत्र पृक्त्वस्वीकारात् पृथक्त्वे

इस वक्र लक्षण के करने पर भी गुणादि मे भी सख्या और पृथक्त्व गुण की प्रतीति से अतिव्याप्ति कैसे नही होगी। यद्यपि प्रशस्तपाद भाष्य मे गुण को निर्गुण निष्क्रिय कहा गया हे, तथापि प्रशस्तपाद भाष्य मनु का वचन नही हे कि जिससे गुणादि की निर्गुणता प्रामाणिकी होगी। ऐसा नही मान सकते कि गुणो मे भी सख्या पृथक्त्व गुण को मानने पर अनवस्था की प्राप्ति होगी, अत गुणो मे सख्या पृथक्त्व की प्रतीति भ्रान्ति रूप होती है। क्योकि रूपादि मे प्रतीति के अनुसार सख्या पृथक्त्व को मानने पर भी सख्या पृथक्त्व मे अन्य सख्या पृथक्त्व के नही मानने से ही अनवस्था नही होगी, जैसे सयोगसम्बन्ध मे समवायसम्बन्ध को

भवता सबन्धे सबन्धान्तरमङ्गीकुर्वतामपि समवाये तदनभ्युपगमादेवानवस्थापरिहार । द्रव्यगतसङ्ख्यापृथक्त्वाभ्यामेव तदेकार्थसमवायलक्षणप्रत्यासत्या गुणादिष्वपि तद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था तत्कल्पनेति चेत्, मैवम्, विपर्ययस्यापि सुवचत्वात् । अथ गुणानामनेकत्वेऽपि द्रव्यस्यैकत्वदर्शनात्कथ गुणसङ्ख्यया द्रव्ये तद्व्यवहार ? तर्हीहापि माध्यस्थ्यमवलम्ब्य किमिति न दीयते दृष्टि ? नवैव द्रव्याणि चतुर्विंशतिर्गुणा इति सङ्ख्यावैषम्यात्–अथावान्तरद्रव्यसङ्ख्यासभवनिमित्तोऽय व्यवहार, तर्हि परार्द्धसङ्ख्याव्यवहारोऽपि गुणेषु स्यात् । द्रव्येषु तत्सभवात्, द्रव्यगतसत्तासामान्यादि-

---

च सङ्ख्यास्वीकारादिति, भवदुररीकृता चेय रीतिरित्याह—**यथा भवतामिति** । अन्यथोपपत्तिं शङ्कते—**द्रव्यगतेति** । द्रव्यगतसङ्ख्यादिप्रतीतेरपीय समाना गतिरित्याह—**मैवमिति** । गुणगतसङ्ख्यया द्रव्ये सख्याप्रतीतिरशक्योपपादना । गुणानामनेकत्वेऽपि तदाश्रयद्रव्यस्यैकत्वात् । अन्यथा आश्रयद्रव्यस्यानेकत्वप्रसङ्गादिति शङ्कते—**अथ गुणानामिति** । एषामुपपत्तिरत्रापि तुल्या । यदि हि द्रव्यसङ्ख्ययैव गुणेषु सख्या स्यात्तदा द्रव्याणा नवसङ्ख्यावत्त्वादतिरिक्तगुणा न भवेयुरिति परिहरति—**तर्हीति** । नन्ववान्तरद्रव्येषु चतुर्विंशतिसङ्ख्यासद्भावात्तन्निमित्तो व्यवहार इति शङ्कते– **अथावान्तरेति** । तर्हि चतुर्विंशतित्वनियम कि कृत ? अधिकसङ्ख्यानामपि द्रव्येषु विद्यमानत्वात् । न च चतुर्विंशतिजातिनिमित्त चतुर्विंशतित्वम्, जातेरेव चतुर्विंशतित्वासभवादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**तर्हि परार्द्धेति** । अतिप्रसङ्ग चाह—**द्रव्यगतेति** । तदेव "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारण द्रव्यमिति"

मानने वाले भी आपके मत मे समवाय मे समवाय के अस्वीकार से ही अनवस्था का परिहार होता है, वैसे यहाँ परिहार होगा । यदि कहे कि द्रव्यवृत्ति सख्या और पृथक्त्व से ही उन दोनो के साथ एक अर्थ रूप = द्रव्य मे रूपादि गुणादि के समवायसम्बन्ध से ही गुणादि मे भी सख्या पृथक्त्व का व्यवहार हो सकता है, अत गुणादि मे सख्या पृथक्त्व की कल्पना व्यर्थ है, तो ऐसा कहना भी नही बन सकता है, क्योकि विपर्यय को भी सुवचत्व हो सकता है कि गुण-गत सख्या पृथक्त्व का ही स्वसमवायि समवाय सम्बन्ध से द्रव्य मे सख्यादि का व्यवहार हो सकता है, अत द्रव्य मे उनकी कल्पना व्यर्थ है । यदि कहे कि एक किसी द्रव्यगत गुण के अनेक होते भी द्रव्य के एकत्व को देखा जाता है, तो गुणगत सख्या से द्रव्य मे उसका व्यवहार कैसे माना जा सकता है, तो उन कहने वाले को माध्यस्थ का अवलम्बन करके (पक्षपात छोडकर) इधर भी दृष्टि क्यो नही देना बनता है कि नव ही द्रव्य हैं, और चौबीस गुण है, अत सख्या की विषमता से द्रव्यगत सख्या से गुण मे सख्या का व्यवहार नही कहा जा सकता है, यदि कहे कि अवान्तर द्रव्य

भिरेव गुणकर्मणोरपि सद्व्यवहारोपपत्तौ तत्र सत्तासामान्यकल्पनावैयर्थ्य-प्रसङ्गाच्च। एतेन समवायिकारण द्रव्यमित्यपास्तम्। जातमात्रस्य तद-भावात्, तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य चात्यन्ताभावे एव व्यभिचारात्, रूपादिगुणानामपि सङ्ख्यापृथक्त्वसमवायिकारणस्वसम्भवात्।

अस्तु तर्हि द्रव्यत्वजातियोगित्व द्रव्यलक्षणम्, न,

द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि नो द्रव्यलक्षणम्।
तज्जातिव्यञ्जकाभावात्तन्मानस्यानिरूपणात् ॥ ५ ॥

द्रव्यत्व जातिमभ्युपगच्छता तज्जातिव्यञ्जक किंचिदवश्यमभ्युपेयम्, नच

काश्यपसूत्रोक्तलक्षणेषु गुणत्वलक्षण दूषयित्वा तदीयलक्षणान्तरेपि तदेव दूषणमतिदि-शति—**एतेनेति**। अतिदिश्यमानाव्याप्त्यतिव्याप्ती विशदयति—**जातमात्रस्येति**।

लक्षणान्तर शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। जातियोगित्व गुणकर्मणोरप्यस्तीति द्रव्य-त्वग्रहणम्। नियतव्यञ्जकप्रमाणयोरभावाद् द्रव्यत्वजातिरेवासिद्धा, ततस्तद्युक्तलक्ष-णमप्यसिद्धमिति श्लोकेन दूषयति—**द्रव्यत्वेति**। तज्जातिव्यञ्जकाभावादित्येतद्वि-वृणोति—**द्रव्यत्वं जातिमिति**। न च व्यञ्जकनियमो नास्तीति युक्तम्, तथासति

(द्रव्य मध्यगत पाषाण सुवर्ण मृतिकादि द्रव्य) गत चौबीस सख्या के सम्भव निमित्तक यह गुण मे चौबीस सख्या का व्यवहार होता है, तब तो परार्द्ध (अन्त्य मध्य परार्द्ध) इस प्रकार से वर्णित अन्तिम सख्या का व्यवहार भी गुणो मे होगा, क्योकि अवान्तर द्रव्य मे परार्द्ध सख्या का भी सम्भव रहता है। और सख्या के समान द्रव्यगत सत्ता सामान्यादि से ही गुण कर्म मे सद्व्यवहार की सिद्धि होते गुण कर्म मे सत्तासामान्य की कल्पना मे व्यर्थता प्राप्त होती है। एतेन = (इस गुणवत्व लक्षण के निराकरण से ही) 'समवायिकारण द्रव्यम्' = समवायिकारण द्रव्य होता है, यह लक्षण भी निरस्त हो गया, क्योकि जातमात्र = उत्पत्तिक्षण-वृत्ति द्रव्य मे गुणादि की उत्पत्ति के अभाव से समवायिकारणत्व नहीं रहता है। और समवायिकारणत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व का समवायिकारणत्व अत्यन्ता-भाव मे ही व्यभिचार (अतिव्याप्ति) रहता है। रूपादि गुणो को सख्या पृथक्त्व के समवायिकारणत्व का सम्भव है।

उक्त लक्षण के नही हो सकने पर, द्रव्यत्वजातियोगित्व = द्रव्यत्वजातिमत्व लक्षण हो, यह भी नही कह सकते हे। क्योकि—

द्रव्यत्वजातियोगित्व द्रव्य का लक्षण नही है, उसमे कारण है कि उस जाति के व्यञ्जक का अभाव है, और द्रव्यत्व जाति के प्रमाण का भी निरूपण नही हो सकता है ॥ ४ ॥

द्रव्यत्व जाति को मानने वाले को उस जाति का व्यञ्जक अवश्य किसी

तन्निरूपण सुशकम्, गुणविशिष्टस्य तद्व्यञ्जकत्वे विशेषणभूतस्य गुणस्यापि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वापत्ते। रूपादीनामपि सङ्ख्यादिगुणवतां तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्गाच्च। एतेन समवायिकारणस्यापि तद्व्यञ्जकता निरस्ता। स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्व व्यञ्जकमिति चेत्, किमिद स्वातन्त्र्यम्? किमाश्रयप्रतीतिमन्तरेण प्रतीतियोग्यत्वम्? उतानाश्रितत्वमेव? नाद्य, शब्दादेरपि तत्सभवात्।

कि त्वया दृष्टम्? किं वा श्रुतम्? इति पृष्ठे न जानामि दृष्ट श्रुत वेति, ज्ञात तावदिति प्रत्यक्षन्वादौ सन्दिग्धम्। न व्यञ्जकास्फुरणव्यतिरेकेण सदेहकारण तत्रास्ति, ज्ञानस्याश्रयभूतस्य मानसप्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात्। तस्माज्जातिपिच्छता नियतव्यञ्जक वक्तव्यमेव। तत्र किं गुणवत्व तद्व्यञ्जकम? समवायिकारणत्व वा? स्वातन्त्र्येण प्रतीतियोग्यत्व वा? नाद्य इत्याह—**गुणविशिष्टस्येति। तद्व्यञ्जकतयेति।** द्रव्यत्वजातिव्यञ्जकतयेत्यर्थ। यस्य हि विशेषणाद्यनतिरिक्त विशिष्ट तस्याय दोष, यस्य त्वनिरिक्त तस्य घटादिव्यक्तरप्यद्रव्यतापात, तन्मात्रस्य विशिष्टाभावादित्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीय दूषयति—**एतेनेति।** तत्र हि समवायविशिष्टस्य कारणस्य तद्व्यञ्जकत्वे समवायस्यापि तद्व्यञ्जकत्वाद् द्रव्यत्वप्रसङ्ग। सङ्ख्यादिसमवायिकारणत्वाद् गुणकर्मणोरपि तद्व्यञ्जकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थ। तृतीय शङ्कते—**स्वातन्त्र्येणेति। शब्दादेरपीति।** शब्दस्य वायुस्पर्शस्य रसगन्धयोश्चेति गुणानामेवाश्रयप्रतीतिनिरपेक्षप्रतीतीना स्वातन्त्र्यसभवेन तद्व्यजकतया द्रव्यत्वप्रसङ्ग इत्यर्थ। अवयविष्वव्याप्ति, तेषामप्यवयवप्रतीतिव्यतिरेकेणाप्रतीतेरिति केचित्।

को मानना होगा, परन्तु व्यञ्जक का निरूपण सुशक (सहज) नही है। क्योकि गुणविशिष्ट को द्रव्यत्व के व्यञ्जक होने पर, विशेषण रूप गुण मे भी द्रव्यत्व व्यञ्जकता होने से गुण को भी द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी और सख्यादि गुण वाले रूपादि मे भी द्रव्यत्व व्यञ्जकता के होने से उनमे द्रव्यत्व का प्रसङ्ग होगा। इसीसे समवायिकारणत्व की भी द्रव्यत्व व्यञ्जकता निरस्त हो गई, क्योकि समवाय विशिष्ट कारण मे व्यञ्जकता होने पर विशेषण समवाय मे भी व्यञ्जकता होने से द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी, स्वतन्त्र रूप से प्रतीति योग्यत्व द्रव्यत्व का व्यञ्जक है, क्योकि गुणादि द्रव्याश्रित रहते है, और द्रव्य स्वतन्त्र रहता है, यदि ऐसा कहे, तो भी विचारणीय है कि वह स्वतन्त्रता क्या है, क्या आश्रय के ज्ञान के विना ज्ञान योग्यत्व है, या अनाश्रितत्व ही है। वहाँ प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि शब्दादि मे भी उस स्वातन्त्र्य का सम्भव है, शब्द, वायु का स्पर्श, रस और गन्ध इनकी प्रतीति आश्रय की प्रतीति के विना होती है, अत स्वातन्त्र्येण प्रतीति

न द्वितीय', अवयविनामद्रव्यत्वापत्तेस्तेषामवयवाश्रितत्वात् । तदेव न व्यञ्जक द्रव्यत्वजाते ।

नापि प्रमाणमस्ति । द्रव्य द्रव्यमित्यनुगतप्रत्यय प्रमाणमितिचेत्, न, सुवर्णमुपलभ्य मृत्तिकामुपलभमानस्य लौकिकस्य तदेवेद द्रव्यमिति प्रत्यया-भावात्, परीक्षकाणा चानुगतप्रत्यये पिप्रतिपत्ते । रत्नतत्त्वमिवोपदेशसह-कृतप्रत्यक्षेणैव द्रव्यत्वमीक्षत इत्यपि स्वशिष्यधीबन्धनमेव, रत्नतत्त्वस्येव

अनाश्रितत्व स्वातन्त्र्यमिति द्वितीय दूषयति—**न द्वितीय इति** । अवयवा-श्रितावयविना स्वातन्त्र्याभावेन द्रव्यत्वाव्यञ्जकत्वात्तत्र तज्जात्यभावेनाद्रव्यत्व-प्रसङ्ग इत्यर्थ ।

तन्मानस्यानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**नापि प्रमाणमिति** । तत्र प्रमाण प्रत्यक्ष शङ्कते—**द्रव्यं द्रव्यमिति** । अनुगतप्रत्ययवेदनीय हि सामान्यम् । अस्ति चात्रानु-वृत्तप्रत्यय इत्यर्थ । किं तदेवेदमिति बुद्धयाजातिसिद्धि, किं वैकाकारप्रत्यय-मात्रात् । प्रथमे लौकिकानामिय बुद्धि ? परीक्षकाणा वा ? नाद्य इत्याह—**न सुवर्णमिति** । द्वितीये प्राह—**परीक्षकाणामिति** । यत्तु श्रीवल्लभेनोक्तम्—"जाति-समवायस्य रत्नतत्त्ववद्भावादिति" । त प्रत्याह—**रत्नतत्त्वमिवेति** । यत्तु तेनोक्तम्—"प्रतारणैवेति चेन्न, रत्नशास्त्रेपि प्रतारणप्रसक्तेरिति" तत्र रत्नतत्त्वे वैषम्यमाह—

योग्यत्व होने से द्रव्यत्व की प्राप्ति होगी ।

दूसरा अनाश्रयत्व रूप भी स्वतन्त्रता नही हो सकती है, क्योकि अवयवी = कार्य द्रव्यो के अवयवाश्रित रहने मे स्वतन्त्रता के अभाव से उनको अद्रव्यत्वापत्ति होगी । अत उक्त रीति से द्रव्यत्व जाति का कोई व्यञ्जक नही सिद्ध होता है । जैसे गोत्व का व्यञ्जक सास्नादि होता है, वैसा कोई है नही ।

द्रव्यत्व जाति मे प्रमाण भी नही है, यदि कहे कि द्रव्य-द्रव्य इस प्रकार के पृथिवी मे अनुगत ज्ञान द्रव्यत्व मे प्रमाण है, तो नही कह सकते है, क्योकि सुवर्ण को देखकर मृत्तिका को देखने वाले लौकिक पुरुष को यह प्रतीति नही होती है कि वही द्रव्य यह है अर्थात् सुवर्ण मृत्तिका मे अनुगत द्रव्यत्व लौकिक पुरुष को नही भासता है, परीक्षको को भी अनुगत प्रत्यय मे विप्रतिपत्ति (विरोध) रहता है । जैसे कि अन्धकार मे किसी को द्रव्यत्व भासता है, किसी को नही भासता है । यदि कहा जाय कि, रत्नतत्त्व (स्वरूप) के समान उपदेश सहकृत प्रत्यक्ष से ही द्रव्यत्व जाति जानी जाता है, तो यह भी अपने शिष्य की बुद्धि का बन्धन ही है (वञ्चना ही है) यथार्थ नही । क्योकि जाति की रत्नतत्त्वतुल्यता मे सब परीक्षको

जाते सर्वपरीक्षकासमतत्वात् । धर्माधर्मयोरदृष्टत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्गाच्च, अदृष्टमदृष्टमित्यभयोरप्यनुगतप्रत्ययदृष्टे ।

यदपि लीलावतीकारमतम्—"आकाशकालदिश सत्तेतरजातिमत्य सयोगविभागजनकत्वात् कर्मवत् । नच कर्मत्वमप्रसिद्धम् । चलतीत्यनुगतप्रत्ययवेद्यत्वादिति" । तदपि मन्दम्, कर्माप्रत्यक्षवादिना चलतीति प्रत्ययस्य सयोगविभागप्रवाहविषयतया कर्मविषयतानङ्गीकारात् कर्मत्वासिद्धौ

रत्नतत्त्वस्येवेति । द्वितीये दूषणमाह—**धर्माधर्मयोरिति** । यदि ह्येकाकारबुद्धिमात्राज्जातिसिद्धिस्तर्हि धर्माधर्मयौरत्यदृष्टमदृष्टमित्येकाकारबुद्धेरदृष्टत्व नाम जाति स्यात्, नचेतदिष्टम्, अनुगतजातिव्यञ्जकाभावादित्यर्थ ।

एव प्रत्यक्ष निरस्यानुमानमपि द्रव्यत्वजातौ निरस्यति—**यदपीति** । जातिमत्य इत्युक्ते सत्तया सिद्धसाधनत्व तन्निवृत्त्यर्थ सत्तेतरेत्युक्तम् । तथा चाकाशत्वादेरभावाद् द्रव्यत्वजातिसिद्धिरित्यर्थ । अत्र च सयोगजनकत्व सयोगप्रागभावस्याप्यस्ति, एव विभागप्रागभावस्यापि विभागजनकत्वमस्तीति तद्व्यभिचारपरिहारायोभयजनकत्वादित्युक्तम्, हेतुद्वय वात्र विवक्षितम् । दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्य स एव परिहरति—**न चेति** । अत्र प्राभाकरमते दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यमाह—**तदपि मन्दमिति** । किच कालाकाशदिश सत्ताद्रव्यत्वातिरिक्तजातिमत्य सयोगविभागजनकत्वात्कर्मवदित्यनुमानसम्भावादाभाससमानयोगक्षेमत्वम् । विपक्षबाधकाभावाच्च शङ्किताप्रयोजकमित्यपिना सूचितम् । द्रव्यत्वजातावनुमानान्तराणि शङ्कते—

की सम्मति नही है, रत्नतत्त्व मे किसी परीक्षक को विबाद करते नही देखा जाता है, और द्रव्यत्व मे विवाद होता है। और यदि अनुगत बुद्धिमात्र से जाति मानी जाय तो, धर्माधर्म दोनो मे भी अदृष्ट=अदृष्ट ऐसी अनुगत बुद्धि होने से अदृष्टत्व जाति की स्वीकृति प्राप्त होगी। और अनुगत जाति व्यञ्जकाभाव से यह इष्ट नही है।

जो लीलावतीकार का मत है कि (आकाश, काल, दिक्, सत्ताभिन्न जाति वाले ह, सयोग, विभाग के जनक होने से, कर्म = क्रिया के समान) एक व्यक्तित्व के कारण आकाशत्वादि जाति के अभाव से इस अनुमान द्वारा द्रव्यत्व जाति की सिद्धि मानी गई हे। कर्मत्व (दृष्टान्त) अप्रसिद्ध है, ऐसा नही कहा जा सकता है, क्योकि चलति (चलता है) इस अनुगत प्रतीति से कर्मत्व वेद्य (ज्ञेय) होता है। वह मत भी मन्द है, क्योकि कर्म को अप्रत्यक्ष कहने वाले 'चलति' इस ज्ञान की—सयोग-विभाग-प्रवाह-विषयता से कर्मविषयता को नही मानते है, अत कर्मत्व की असिद्धि होने पर दृष्टान्त कर्मसाध्य रहित सिद्ध हो जाता है। द्रव्यत्व जाति की सिद्धि के लिये जो

दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्। आत्मा शावलेयवृत्त्यवृत्तिशाबलेयनिष्ठ-जातिमान्सयोगित्वाच्छाबलेयवत्। जलादेश्च पक्षतुल्यत्वान्न तेन व्यभि-चार। तथा, सत्ता दिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वात् पटवत्। आत्माऽनात्मवृत्तिरूपावृत्तिजातिमान् रूपान्यत्वे सति सामान्यवत्त्वाद्घट-वदिति द्रव्यत्वजातिसिद्धिरितिचेत्, मैवम्, सयोगित्वहेतोर्वेगवत्त्वोपाधि-

आत्मेत्यादिना। शावलेयनिष्ठजातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता, तदर्थं शाबलेय-वृत्त्यवृत्तीत्युक्तम्। तस्याश्च शाबलेयवृत्तित्वे सति गुणकर्मणोरपि वर्तमानत्वाद् व्यव-च्छेद। तावन्मात्रोक्तावात्मत्वेन सिद्धसाधनता, तदर्थं शाबलेयनिष्ठेत्युक्तम्। तथापि शावलेयात्मवृत्तिद्वित्वादिधर्मैरर्थान्तरता, तदर्थं जातिग्रहणम्। दृष्टान्ते गोत्वेन साध्य-प्रसिद्धि। पक्षे च तद्व्याघातादुभयनिष्ठद्रव्यत्वसिद्धि। ननु सयोगित्वमस्ति जलादौ, नास्ति चैवंविधा जातिरिति तत्राह—**जलादेरिति।** द्वितीये तु जातेरन्येत्युक्ते घट-त्वान्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं दिक्कालाकाशनिष्ठेत्युक्तम। तावत्युक्ते तन्निष्ठगुणादन्य-त्वेनार्थान्तरता, तदर्थं जातिग्रहणम। अवचातुमानत्रयसूचनाय तथेति ग्रहणम्। इतरथा वैयर्थ्यादिति या सा दिगादिनिष्ठा जाति, तद्द्रव्यत्वमिति द्रव्यत्वजाति-सिद्धि। तृतीये तु जातिमानित्युक्ते सत्तयार्थान्तरता तदर्थं रूपावृत्तीत्युक्तम। तावति चात्मत्वेनार्थान्तरता, तदर्थं अनात्मवृत्तीत्युक्तम्। रूपान्यत्वेनार्थान्तरतापरि-हाराय जातिग्रहणम्। रूपेऽनेकान्तिकतापरिहाराय रूपान्यत्वे सतीत्युक्तम्। रूपत्वान-धिकरणत्वे सतीत्यर्थ। सामान्यादिषु व्यभिचारवारणाय सामान्यवत्त्वग्रहणम्। तत्राद्यहेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिमाह—**मैवं सयोगीति।** द्वितीयानुमाने दूषयति—

अनुमान किये जाते है कि (आत्मा, शावलेय=शवला=चित्रा गौवत्स वृत्ति रूपादि मे अवृत्ति शाबलेय वृत्ति जाति वाला है, सयोगी होने से, शावलेय के समान) यहाँ दृष्टान्त मे गोत्व से साध्य की प्रसिद्धि होती हे, परन्तु पक्ष मे गोत्व के बाध से पक्ष दृष्टान्त उभय वृत्ति द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती है। जलादि पक्ष तुल्य है, अत जलादि से व्यभिचार नही होता है, उनमे व्यभिचार की शका से साध्य की भी शका होगी तो कोई हानि नही है॥ १॥ इस प्रकार का अन्य अनुमान है कि (सत्ता–दिक्, काल, आकाश, वृत्ति जाति से अन्य है, मेय होने से, पटवत) यहाँ दिशा आदि मे वृत्ति द्रव्यत्व जाति सिद्ध होती हे॥ २॥ (आत्मा, अनात्मवृत्ति रूपाऽवृत्ति जातिमान्, रूप से अन्य होता हुआ सामान्य वाला होने से, घटवत्) यहाँ सत्ता की व्यावृत्ति के लिये रूपाऽवृत्ति कहा हे। आत्मत्व की व्यावृत्ति के लिये अनात्मवृत्ति कहा है इत्यादि। इन अनुमानो से द्रव्यत्व जाति की सिद्धि होती हे, ऐसे यदि कहे तो कहना युक्त नही। क्योकि ये निर्दोष अनुमान नही है। प्रथमानु-मान के सयोगित्व हेतु वेगवत्त्व उपाधि से उपहत हे। क्योकि गवादि दृष्टान्त वृत्ति साध्य का व्यापक वेगवत्व है, और सर्वद्रव्यवृत्ति सयोगित्व का अव्यापक है। और

हृतत्वात् मेयत्वहेतोश्च सत्तामनङ्गीकुर्वतामाश्रयासिद्धे। दिक्कालाकाश-निष्ठजातित्वेन तस्या एव विवक्षितत्वे चाप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च। प्रमेयत्वगुणवत्वज्ञानाधारत्वोपाधिभिरेव यथायोग्य सद्द्रव्यमात्मेति व्यवहारोपपत्तौ तत्तत्सामान्यस्वीकारवैयर्थ्येन सामान्यवत्त्वहेतोरप्यसिद्धे। तदेव जातौ व्यञ्जकप्रमाणयोरसभवेनाकाशवृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि,

मेयत्वेति। न च जातिरूपस्याप्ि पक्षत्वान्नाश्रयासिद्धि, दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्। किच दिक्कालाकाशनिष्टजात्यन्यत्व कि सत्तान्यत्वेन ? कि वा द्रव्यत्वान्यत्वेन ? उभयथाप्यप्रसिद्धविशेषण पक्ष। तत्र प्रथमे व्याघाताच्चरमेऽसिद्धेरित्याह—**दिक्कालेति**। सत्ता गुणवृत्तिदिक्कालाकाशनिष्ठजातेरन्या मेयत्वादित्यपि मन्वादाभासमानता चेति द्रष्टव्यम्। तृतीयहेतौ स्वरूपासिद्धिमाह—**प्रमेयत्वेति**। अयमभिसन्धि—निसृपि खलु जातिभिरात्मन सामान्यवत्त्वमभिमतम्, तासु च न किञ्चित्प्रमाणमस्ति, अनुवृत्तप्रत्ययस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात्, अनुमानस्य चैतादृशत्वात्। अस्तु वानुवृत्तव्यवहारस्तथापि प्रमेयत्वादितत्तदुपाधिभिरेवाय व्यवहार शक्यसमर्थन। न च प्रमेयत्वस्य सत्तात्वे चाक्षुषत्व न स्यात्, प्रमाविषयत्वस्य चाक्षुषत्वादिति वचनीयम, सामान्यत्वेऽप्यचाक्षुषत्वस्य तदवस्थत्वात्। स्वरूपसद्विशेषो हि सामान्य नान्न। न च प्रमेयत्वातिरिक्त स्वरूपसत्त्वमस्ति। रूपैकार्थसमवायाच्चाक्षुषत्वमितरत्रापि तुल्यम्, अभावत्व तु प्रमेयत्वादे शक्यसाध्यमिति, यानि च महाविद्यानुमानानि द्रव्यत्वजातौ प्रवर्तन्ते, तान्यपि परमाणुनिराकरणवादे निवेदनीयदूषणदूषितानीति नोदाहृतानि आचार्येण। तदेव व्यञ्जकप्रमाणयोरसिद्धया द्रव्यत्वजातेरसिद्धौ तत्पुरस्कारेण यानि शिवादित्यमिश्रेण लक्षणानि लक्षणमालायामुक्तानि, तान्यपि निरस्तानीत्याह—**तदेवमिति**। अत्र चाकाशवृत्तीत्याद्येक लक्षणम्, क्रियासमानाधिकरणेत्याद्यपरम्, सयोगवद्वृत्तीत्यादि-

मेयत्व रूप हेतु सत्ता को नही मानने वालो के प्रति आश्रयासिद्धि है। और इस अनुमान से प्रथम द्रव्यत्व जाति के असिद्ध होने के कारण, दिक् काल, आकाश निष्ठ जाति रूप से उस सत्ता के ही विवक्षित होने पर अप्रसिद्ध विशेषणता भी सत्ताऽनभ्युपगम वादी के लिये होती है। और तृतीय अनुमान के सामान्यवत्त्व हेतु असिद्ध है, क्योकि, प्रमेयत्व, गुणवत्त्व, ज्ञानाधारत्व रूप उपाधियो से ही यथायोग्य, सत, द्रव्य, और आत्मा इन व्यवहारो की सिद्धि होते, सद्व्यवहार के लिये सत्ता, द्रव्यव्यवहार के लिये द्रव्यत्व और आत्मव्यवहार के लिये आत्मत्व रूप तत्तत् सामान्य स्वीकार की व्यर्थता से सामान्यवत्त्व हेतु की असिद्धि होती है। प्रमेयत्व उपाधि से सद्व्यवहार, गुणवत्त्व उपाधि से द्रव्यव्यवहार और ज्ञानाधारत्व उपाधि से आत्मव्यवहार के सिद्ध होते सत्ता आदि की आवश्यकता नही रह जाती है। इस उक्त रीति से जाति के व्यञ्जक और प्रमाण के अभाव से (आकाशवृत्ति-

क्रियासमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि, सयोगवद्वृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि द्रव्यमित्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि महाविद्यालक्षणानि निरस्तानि वेदितव्यानि ।

तथा गुणलक्षणमपि न युक्त लक्षयाम ।

लक्षणान्तरम् । तत्र मत्ताव्याप्यजातियोगिद्रव्यमित्युक्ते गुणादावतिव्याप्ति गुणत्वकर्मत्वादीनामपि सत्ताव्याप्यत्वात्तदर्थमाकाशवृत्तीत्युक्तम् । तावत्युक्तेऽपि गुणादावतिव्याप्ति, तेपामप्याकाशवृत्तिसत्ताजातियोगित्वात्तदर्थं मत्ताव्याप्येत्युक्तम् । आकाशगुणान्योन्यत्वमित्याद्याकाशवृत्तिसत्ताव्याप्यान्योऽन्याभावादिरूपधर्मयोगिगुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय जातिग्रहणम् । द्वितीये सत्तावान्तरजातियोगीत्युक्ते गुणादावतिव्याप्ति, तदर्थ क्रियासमानाधिकरणेत्युक्तम् । तावति च सत्तायुक्तगुणादावतिव्याप्ति स्यान्, तदर्थं सत्तावान्तरेत्युक्तम् । अत्र च सत्तासाक्षाद्व्याप्यत्व सत्तावान्तरत्वम् । अनेन न घटत्वादिकमादायाव्याप्तिभ्रम । तृतीयेऽपि गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय सयोगवद्वृत्तीति विशेषणम् । सत्तामादाय गुणादावतिव्याप्तिपरिहाराय सत्तावान्तरग्रहणम् । आदिग्रहणेन जातिमन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोग्याकाशवृत्तिजातियोगित्व कार्यसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरण वा रूपसमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि वा स्पर्शसमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरण वा रससमानाधिकरणसत्तावान्तरजात्यधिकरण वेत्यादीनि लक्षणानि सगृहीतानि । **महाविद्यालक्षणानीति ।** महाविद्यारीत्या प्रवृत्तानीत्यर्थ । द्रव्यलक्षणखण्डनेन च तद्विशेषपृथिव्यादिलक्षणान्यपि खण्डितानि वेदितव्यानि । सामान्याभावे तद्विशेषष्य सुतरामसभवात्, तल्लक्षणानामपि जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तत्वाच्च । गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवीत्यादिरूपाणि हि तानि, तत्र द्रव्यत्वजातिदूषणेन तदवान्तरत्वमपि दूषितमेव । प्रदर्शयिष्यते च जातिमात्रस्य खण्डनम्, ततोऽपि तद्गर्भाणि लक्षणानि दुर्भराणि । वादीन्द्रस्तु एतानि लक्षणानि दूषयित्वा स्वमतेन कार्याश्रयो द्रव्य गुणाभावो द्रव्यमित्यादिलक्षणान्युदाजहार, तानि च तत्रैव निरस्तप्रायाणीति ।

नन्वेतावतापि न नानालक्षणवत्त्वेन भेदासिद्धि, गुणलक्षणवत्त्वभेदसिद्धे, गुणलक्षणानामक्षीणत्वात्तदर्थ तान्यपि खण्डयति—**तथा गुणलक्षणमपीति ।** तत्र

सत्ताव्याप्यजातियोगि = जातिमत्, द्रव्यम्, क्रियासमानाधिकरणसत्तावान्तरजातियोगि, द्रव्यम् और सयोगवद्वृत्तिसत्तावान्तरजातियोगि द्रव्यम्, इत्यादि जाति के स्वीकारपूर्वक प्रवृत्त महाविद्या के सब लक्षण तिरस्त हो गये, ऐसा समझना चाहिये, अत इनके निराकरण के लिये पृथक् यत्न कर्तव्य नही है। लक्षणो के पदकृत्य = टीका स्वविचार से ज्ञातव्य है।

उक्त रीति से गुण का भी युक्त = निर्दोष लक्षण नही देखता हूँ। क्योकि—

सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् ।
अन्योऽन्याश्रयतापत्तेर्गुणस्याद्याप्यसिद्धित ॥ ६ ॥

"सामान्यवानगुण सयोगविभागयोर्निरपेक्षो न कारण गुण" इति कन्दलीकारस्य गुणलक्षण तावदयुक्तम्, सिद्धे गुणे अगुण इति लक्षणसिद्धिस्तत्सिद्धौ च गुणसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वदूषणग्रस्तत्वात् । यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्,—"सामान्यवानचलनात्मक समवायिकारणताहीनो गुण" इत्यपि न, रूपादीनामपि समवायिकारणत्वस्य दर्शितन्यायेन सभवात्त-

---

'द्रव्याश्रयी न गुणवान् सयोगविभागेष्वकारण निरपेक्ष' (वै सू १।१।१६) इति गुणलक्षणपर सूत्रम् । तदर्थतया च कदलीकाराद्यभिमतलक्षण तावद् दूषयति—**सामान्यवानित्यादिना ।** अन्योन्याश्रयतायामेव हेतु, गुणस्येति । यदि हि गुणो ज्ञात स्यात्तदा गुणरहितत्वज्ञान स्यात्, स चैतल्लक्षणव्यतिरेकेण नाद्यापि सिद्ध । एतल्लक्षणेन सिद्धावन्योऽन्याश्रयतेत्यर्थ । श्लोक विवृणोति –**सामान्येत्यादिना ।** सामान्यादिव्यावृत्त्यर्थ सामान्यवानिति विशेषणम् । द्रव्यव्यवच्छेदायागुण इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदाय सयोगविभागेत्यादिविशेषणम् । सयोगविभागयोर्हि निरपेक्षकारण कर्म, तन्न भवति यत्स गुण इत्यर्थ । वादीन्द्रस्तु पृथक्त्वानाश्रय सङ्ख्यानाश्रय सयोगकारणत्वे सति विभागनिरपेक्षकारणत्वरहितो गुण इत्यादि प्रत्यवादीत, तन्न, सङ्ख्यापृथक्त्वाद्याश्रयत्वस्य पूर्वमेवोपवर्णनात् । अन्योन्याश्रयतापरिहाराय श्रीवल्लभीयलक्ष्मणमनुवदति—**यत्त्विति ।** उक्त च वैधर्म्यपरिच्छेदे इति शेष । अत्रापि सामान्यादिव्यावृत्त्यै सामान्यवानित्युक्तम् । द्रव्यव्यवच्छेदाय समवायिकारणताहीनः इत्युक्तम् । कर्मव्यवच्छेदायाचलनात्मक इत्युक्तम् । तत्र "कार्यं यत्र समवैति, तत्सम-

---

सामान्यवान होता हुआ, अगुण हो इत्यादि भी इस गुण का लक्षण नहीं हो सकता है, इस लक्षण मे अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है, क्योकि गुण की असिद्धि है ॥ ६ ॥

(समान्यवान् = अगुण सयोगविभागयोर्निर्पेक्षो न कारणम् = गुण) जो जाति वाला होता हुआ निर्गुण हो और सयोग विभाग के निरपेक्ष कारण नही हो, अर्थात् कर्म से भिन्न हो, वह गुण कहाता है, यह कन्दलीकार के गुण का लक्षण है, वह अयुक्त है । क्योकि प्रथम गुण रूप प्रतियोगी की सिद्धि हो, तो उस सिद्ध गुण का निषेधरूप अगुण यह लक्षणाश सिद्ध हो और लक्षण की सिद्धि होने पर गुण की सिद्धि होने से अगुण की सिद्धि होगी, अत इसप्रकार अन्योन्याश्रय दूषण से ग्रस्त यह लक्षण हे, अत युक्त नही है । और जो लीलावतीकार ने कहा है कि (साम न्यवान्= अचलनात्मक = कर्मान्य = समवायिकारणताहीन = द्रव्यान्य गुण कहा जाता हे) यह भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि रूपादि मे भी समवायिकारणत्व के दर्शित

द्धीनतालक्षणस्य लक्षणाशस्यासभावितत्वात्, सामान्यवान्स्पर्शरहितो द्रव्याश्रय कर्मातिरिक्तो गुण इत्यपि न, गुणात्कर्मणो भेदासिद्धौ कर्मव्यावृत्तेरयुक्तत्वात्। अन्यथा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्ता इत्यपि विशेषणोपादानप्रसङ्गात्। तथा च गुणपदार्थे किरणावलीकार 'तस्माद्वरो भूषण. कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगात्' इति।

वायिकारणमिति" परेषा समवायिकारणलक्षणम्, तच्च पूर्वोक्तन्यायेन पृथक्त्वादिप्रति गुणादेरप्यस्तीत्यसभव इत्यर्थ। एतेन केवलनिमित्तकारणे वर्तमानापरजातीयत्व वा समवाय्यसमवायिकारणतारहिते वर्तमानापरजातीयत्व वेति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि परिभूत मन्तव्यम। उक्तन्यायेन सर्वगुणानामपि पृथक्त्वादिसमवायिकारणतया केवलनिमित्तकारणत्वसमवायिकारणत्वरहितत्वयोरभावादिति। किरणावलीय लक्षण दूषयति—**सामान्यवान् स्पर्शरहित इत्यादिना।** कर्मातिरिक्ते इत्युक्ते द्रव्येऽतिव्याप्तिस्तदर्थ द्रव्याश्रय इत्युक्तम्। तथापि कार्यद्रव्याव्यावृत्तिस्तदर्थं स्पर्शरहित इत्युक्तम्। यदि गुणाद्भेदेन कर्मज्ञान स्यात्कर्मातिरिक्तता गुणस्य ज्ञायेत, नचैनदस्ति, गुणानिर्णये तद्व्यतिरेकस्यापि कर्मणो ज्ञातुमशक्यत्वात्, एतल्लक्षणेन च गुण निश्चित्य ततोऽतिरिक्त कर्म ज्ञात्वा तदतिरिक्तत्वविशेषणज्ञान वान्छतश्चक्रकापत्तिरित्यभिसन्धिराह—**गुणात्कर्मण इति।** यदि गुणादज्ञातभेदादपि कर्मण; सकाशादतिरिक्तत्व सिद्धवद्व्यपदिश्येत, तदा रूपातिरिक्तो रसातिरिक्त इत्यपि किमिति न विशेषण क्षिप्यते लक्षणे? समान ह्युभयोरपि गुणादज्ञातभेदत्व व्यतिरेकानङ्गीकारश्च प्रतिवादिन इत्याह—**अन्यथेति।** उक्तश्चायामर्थो गुणपदार्थपूर्वपक्षोपसहारसमये किरणावलीकारेणेत्याह—**तथा चेति।** यस्मान्न कर्मणो भेदकमस्ति, तस्माद् भूषणो वर श्रेष्ठ। कथ कर्मापि गुण? तल्लक्षणयोगादिति हि

रीति से सम्भव होने पर समवायिकारणता हीनता स्वरूप लक्षणाश के असम्भावितत्व है, अर्थात् कार्य का जहाँ समवाय हो वह समवायी कहाता है, और पूर्वोक्त रीति से पृथक्त्वादि के प्रति गुणादि को भी समवायित्व है, अत समवायिकारणता हीन गुण नही हो सकता है। इसीप्रकार से (सामान्य वाला = स्पर्शरहित = द्रव्याश्रित = कर्मान्य गुण होता है) यह लक्षण भी नही बन सकता है। क्योकि गुण-कर्म के भेद की सिद्धि के बिना कर्म व्यावृत्ति की अयुक्तता है, अन्यथा (गुण से कर्म मे भेद को जाने बिना यदि कर्मान्यित्व विशेषण दिया जाय) तो रूपातिरिक्त, रसातिरिक्त इत्यादि विशेषण का भी ग्रहण प्राप्त होगा। इसी प्रकार से गुण पदार्थ के निरूपण मे किरणावलीकार ने कहा है कि (तस्माद्वरो भूषण = कर्मापि गुणस्तल्लक्षणयोगात्) जिससे कर्म का भेद नही है, अत भूषण वर है, कि जो मानता है कि गुण के लक्षण के योग (सम्बन्ध) से कर्म भी गुण है।

ननु गुणत्वजातियोगी गुण । न च व्यञ्जकाभाव., सामान्यवत्त्वे सति संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वस्यैव गुणत्वव्यञ्जकत्वात् । नापि गुणत्वजातौ प्रमाणाभाव, संयोग संयोगत्वातिरिक्तावान्तरजातिमान्, जातिमत्त्वात् कर्मत्वदिति तत्सिद्धिरिति चेत् ?

अत्र ब्रूम —

गुणत्वजातियोगोऽपि न भवेद्गुणलक्षणम् ।
अन्योऽन्याश्रयदुष्टत्वाज्जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च ॥ ७ ॥

न मतमित्यर्थ । तस्माद्वादिन मकाशादिति वार्थ । एतेन कर्मान्यत्वे सति सामान्यैकाश्रयो गुण इति सर्वदेवीयमपि लक्षण प्रतिक्षिप्तम् । पृथक्त्वाद्याश्रयतया सामान्यैक श्रयत्वस्यासिद्धेरिति ।

ननु गुणत्वजातिरेव नास्ति, तद्व्यञ्जकप्रमाणयोरभावादिति, तत्राह—**न च व्यञ्जकेति** । द्रव्यकर्मणोर्व्यवच्छेदाय संयोगविभागकार्यद्वयाजनकत्वमित्युक्तम । द्रव्य हि संयोगविभागयो समवायिकारण भवति, कर्म त्वसमवायिकारणम् । गुणस्तु न तथा । यद्यपि संयोगविभागयोरस्ति तज्जनकत्वम्, तथापि संयोगजनकत्वे सति विभागजनकत्वरूपोभयजनकत्व न संयोगस्यास्ति, संयोगस्य संयोग प्रत्येवासमवायिकारणत्वात् । एव विभागस्यापि विभाग प्रत्येव । अजनकत्व च समवाय्यसमवायिकारणत्वराहित्यम्, तेनेश्वरेच्छादिसग्रह इति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति भाव । **संयोग इति** । संयोगो जातिमानित्युक्ते सत्त्यार्थान्तरता, तदर्थमवान्तरजातिमानिति क्तम् । तथाच संयोगत्वेनार्थान्तरता तदर्थं संयोगत्वातिरिक्तेत्युक्तम् । यासाववान्तरजातिस्तद्गुणत्वमिति तत्सिद्धिरिति भाव ।

गुणत्वजातेस्तद्व्यञ्जकस्य चान्योन्याश्रयदुष्टत्वाद् गुणत्वजातियोगोऽपि गुणलक्षण न भवेदिति श्लोकेन दूषयति—**गुणत्वजातियोगोपीति** ।

शका होती है कि (गुणत्वजातियोगी गुण) गुणत्व जाति वाला गुण कहा जाता है, यह गुण का लक्षण है, और जाति के व्यञ्जक का अभाव नही है, क्योकि सामान्यवत्त्व युक्त संयोग-विभागात्मक कार्यद्वयाऽजनकत्व ही गुणत्व का व्यञ्जक है । गुणत्व जाति मे प्रमाण का अभाव भी नही है । क्योकि (संयोग, संयोगत्वाऽतिरिक्ताऽवान्तर जाति वाला है, जाति वाला होने से कर्मवत्) यह अनुमान गुणत्व जाति मे प्रमाण है, इससे कर्मत्व तुल्य गुणत्वरूप अवान्तर जाति की सिद्धि होती है ।

(अत्र ब्रूम) यहाँ उत्तर कहते है कि—

गुणत्व जाति और उसके व्यञ्जक के अन्योन्याश्रय से दुष्टत्व के कारण गुणत्व जाति का योग सम्बन्ध रूप भी गुण का लक्षण नही हो सकता है ॥ ७ ॥

सिद्धे हि सत्तासामान्ये वा तद्विशिष्टव्यञ्जकसिद्धिस्तत्सिद्धौ च सामान्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयत्वात् अनिष्टवियोगेष्टसयोगोद्देशेनानुष्ठानसमुपजनितधर्मे सयोगविभागहेतौ लक्षणस्यासभवित्वात्, तथाभिचारादिजनिते दुरिते शत्रोरिष्टवियोगानिष्टसयोगहेतौ च लक्षणस्यासभवित्वात्। न च तयोर्निमित्तत्वेनैव जनकत्वम्, नतु समवायिकारणतयाऽसमवायिकारणतया वेति वाच्यम्, आत्मनिष्ठसयोगविभागहेतोरदृष्टस्य कार्यैकार्थसमवायिनोऽसमवायिकारणलक्षणोपपत्ते, समवायित्वासमवायित्वकारण-

---

अन्योन्याश्रय विशदयति—**सिद्धे हीति**। येन गुणत्वजातिर्नाद्रियते, तेन सत्तापि जातिर्नाद्रियते एवेति तद्गर्भव्यञ्जकस्य तद्वचङ्ग्चजातेश्चासिद्धिरित्यर्थ। व्यञ्जकस्याव्यापकता चाह—**अनिष्टवियोगेति**। सयोगविभागद्वयाजनकत्व तत्रासंभवीत्यर्थ। सत्तासामान्यमात्र विवक्षित्वा अन्योन्याश्रयपरिहारमाशङ्क्य वाय ग्रन्थ। ननु तदुभयासमवायिकारणत्वसमवायिकारणत्वयोरभावो लक्षण विवक्षितम्, अस्ति चादृष्टस्यापि तदभाव, निमित्तकारणत्वात्तस्येति तत्राह—**न च तयोरिति**। समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यसमवायिकारणम्। प्रत्यासत्तिश्च द्विविधा—लघ्वी बृहती च, उत्पाद्येन कार्येण सहैकार्थे कारणे स्वस्य य समवाय सा लघ्वी प्रत्यासत्ति, यथा तन्तुसयोगस्य तत्कार्यस्य पटस्य चैकतन्तुसमवाय। तत्कारणेन सहैकार्थे समवायो बृहती, यथा पटगतशौक्ल्यासमवायिकारणस्य तन्तुशौक्ल्यस्य तत्कारणेन पटेन सहैकत्र तन्तौ समवाय। तदत्र सयोग प्रति विभाग प्रति च समवायिकारणे आत्मनि सयोगेन सह वर्तमानस्यादृष्टस्यास्ति लध्वी प्रत्यासत्तिरित्यसमवायिकारण भवत्येवादृष्टमित्यर्थ। किंच यस्य द्रव्यगुणादिभेदमात्रमेवाद्याप्यसिद्धम्, तस्य समवाय्यसमवायिकारणविभागोऽपि न सिद्ध इत्याह—**समवायित्वेति**। एव व्यञ्जक

सत्तारूप सामान्य के या गुणत्वरूप सामान्य के प्रथम सिद्ध होने पर, सामान्य विशिष्ट (युक्त) उक्त व्यञ्जक की सिद्धि हो सकती है, और व्यञ्जक की सिद्धि होने पर सामान्य की सिद्धि हो सकती है, इसप्रकार से परस्पराश्रयता होती है। और अनिष्ट के वियोग इष्ट के सयोग के उद्देश (इच्छा) से कर्मानुष्ठानसमुपजनित (जन्य) इष्ट सयोग अनिष्ट विभाग के हेतुरूप धर्म मे लक्षण के असम्भावित्व है (अर्थात् धर्मरूप गुण मे लक्षण की अव्याप्ति है) इसीप्रकार से श्येनादि अभिचारादि जनित दुरित (पाप) स्वरूप, शत्रु के इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग हेतु स्वरूप, गुण मे भी लक्षण की अव्याप्ति है। यदि कहे कि व्यञ्जक लक्षणगत सयोग-विभागाजनकत्व शब्द से सयोगविभागाऽसमवायिकारणत्त्वाऽभाव विवक्षित है। और उक्त अदृष्टद्वयनिमित्त रूप से इष्ट अनिष्ट के सयोगवियोगादि के हेतु होते हैं, अत अव्याप्ति नही है। क्योकि सयोगविभाग के असमवायिकारणता का

भेदस्याप्यसिद्धेश्च । नापि तत्र प्रमाणम्, जातिमत्त्वहेतोरसिद्धे । कर्मत्वादेरसिद्धौ दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात् । गुणत्वजातेरसिद्धौ 'संयोगाजन्य-

---

दूषयित्वानुमान दूषयति—**नापीति** । वक्ष्यमाणसामान्यमात्रखण्डनेन सत्ताकर्मत्वजात्योरप्यसिद्धिरिति भाव । एतेन रूपादयो रूपत्वाद्यतिरिक्तावान्तरजातिमन्त सामान्यवत्त्वात्कर्मवदितिलीलावतीकारानुमानमपि निरस्तम् । गुण कर्मान्यावृत्तजातिमान् कार्यत्वात्तुरगवदिति सर्वदेव, तदपि द्रव्यत्वजात्यनङ्गीकारेण परिहृतम् । सयोगित्वाद्युपाधिहतत्वाच्च, प्रध्वसेनानैकान्त च, रूपत्वादिनार्थान्तरत्वाच्चेति, यानि शिवादित्यमिश्रेण गुणत्वजातिगर्भाणि गुणलक्षणानि विवक्षितानि, तान्यप्येकप्रहारेण परिहरति—**गुणत्वजातेरित्यादिना** । जातिमान् गुण इत्युक्ते द्रव्येऽतिव्याप्तिस्तदर्थं सयोगासमानाधिकरणेत्युक्तम् । एव सति कर्मण्यतिव्याप्तिस्तदर्थं सयोगासमवायिकारणावृत्तीत्युक्तम् । एव च सति सयोगेऽव्याप्तिस्तस्य सयोगासमवायिकारणत्वेन तदवृत्तिजातिमत्त्वस्यासभवात्, तत उक्तम् सयोगाजन्येति, सयोगाजन्यो य सयोगस्त प्रत्यसमवायिकारण यत्तदवृत्तिजातिमानित्यर्थं । एतच्च सयोगस्याप्यस्त्येव, तस्य सयोगजन्यसयोगासमवायिकारणत्वेऽपि सयोगाजन्यसयोग प्रत्यसमवायिकारणत्वाभावात् सयोगाजन्यसयोगासमवायिकारणावृत्तिजातिमत्त्वसम्भवादतो नाव्याप्तिरिति भाव । द्वितीयेऽपि लक्षणे विभागविशेषेऽव्याप्तिपरिहाराय विभागाजन्येति विशेषणम् । शेष पूर्ववत् । आदिग्रहणेनापेक्षणावृत्तिसयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमानित्यादि सगृह्यते । यत्तु तेन "रूपाद्यन्यतमत्व वा तच्च तदन्यान्यत्वम्" इति रीत्या सर्वत्र लक्षणनिर्वचन कृतम्, तदप्यनन्तरोक्तान्योन्याश्रयग्रस्तम् । रूपादिज्ञाने तदन्यत्वज्ञान तदन्यत्वज्ञाने च रूपादिज्ञानमिति । किंच रूपादिविशिष्टान्योन्याभावो वा तदुपलक्षितान्योन्याभावो वा लक्षणोपयोगी । आद्ये कर्मादीनां रूपादिमत्त्व रूपादीनामपि कर्मादिमत्त्व स्यात् । अन्योन्याभावद्वय प्रति वर्गद्वयस्य विशेषणत्वात् । द्वितीयेऽप्युपलक्षितत्व विशेषणम् ? उपलक्षण वा ? द्वितीयेऽनवस्था ।

अभाव इनमे है ही, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि आत्मवृत्ति इष्ट-अनिष्ट के सयोग का हेतु जो होता है, उसको कार्यरूप सयोग के साथ एकात्मस्वरूप अर्थ मे समवायसम्बन्ध से रहने के कारण असमवायिकारणत्व की सिद्धि होती है। असमावायिकारण का लक्षण उसमे सघटित होना है। और समवायित्व असमवायित्व रूप से कारण भेद की भी असिद्धि होने से उक्त कथन युक्त नही हो सकता है, कि लक्षण मे समवायिकारणत्व विवक्षित है इत्यादि। और (नापि तत्र प्रमाणम्) उस गुणत्व जाति मे कोई प्रमाण भी नही है। क्योकि गुणत्वसाधक अनुमान का जातिमत्त्व हेतु ही असिद्ध है। और कर्मत्वादि की असिद्धि से दृष्टान्त को साध्यविकलत्व (साध्यरहितत्त्व) है। गुणत्व जाति की असिद्धि रहते, सयोगा-

सयोगासमवायिकारणावृत्तिसयोगासमानाधिकरणजातिमान्विभागाजन्यवि-भागासमवायिकारणावृत्तिविभागासमानाधिकरणजातिमान् गुण ' इत्येवमादीनि जातिपुरस्कारप्रवृत्तानि गुणलक्षणानि निरस्तानि।

तथा कर्मलक्षणमपि दुर्लक्ष्यम्। न तावत्सयोगविभागयोरनपेक्षकारण कर्मेति। यत —

प्रथमे परस्परयोभयोरप्युभयवत्त्व स्यात्। अन्योऽन्याभावात्यन्ताभावयोश्च प्रागेव प्रत्युक्त निर्वचनम। प्रत्याख्यास्यते च यद्वादीन्द्रेण तदुन्यान्तरत्व नामैकान्योन्याभाववत्त्वे सति इतरान्योन्याभाववत्त्वानधिकरणत्वमिति निर्वचन कृतम्—"एतदन्योन्याभावानित्यत्वान्यतराधिकरण शब्दत्वात्यन्ताभावानित्यत्वान्यतराधिकरणम्" इत्यादिषु, तदप्ययुक्तम्। तथा सति हि रूपाद्यन्यतमत्त्व नाम रूपान्योन्याभावाधिकरणत्वे सति रसादित्रयोविंशत्यन्योन्याभावाधिकरणत्वरहितत्वमिति लक्षणार्थं स्यात्। तथा च सत्यन्योन्याभावद्वयानधिकरणत्वं वा एकैकान्योन्याभावानधिकरणत्व वा लक्षण विवक्ष्यते ? उभयथाप्यनुपपत्ति, उभयान्योन्याभावानधिकरणत्वस्याव्याप्ते। नहि रूपे रसान्योन्याभावो नास्तीति शक्य वक्तुम्, नापि रूपान्योऽन्याभावो रसादौ नास्तीति। एकैकान्योऽन्याभावानधिकरणत्वपक्षे रूपादिप्रतियोगिकाभावविशेषविवक्षाया रसादिष्वव्याप्तिस्तदवस्था। अनियतविवक्षाया तु अनुगतलक्षणक्षय इति।

ततो वादीन्द्र ! दर्पस्ते तदन्यतरतादिषु।
अखण्डितनिरुक्त्युत्थ पण्डितमन्य ! खण्डित॥

क्रमप्राप्त कर्मलक्षण खण्डयति—**तथा कर्मलक्षणमपीति।** श्रीधराचार्याभिप्रेत लक्षण तावद्दूषयति—**न तावदिति।** अनपेक्षपदेन द्रव्यव्यावृत्ति। सयोगविभागद्रयग्रहणेन सयोगविभागव्यावृत्तिस्तयोस्सयोगजनकत्वे सति विभागाजनकत्वात्, तस्य चेहेष्टत्वादित्यर्थं। **संयोगविभागयोः,** सयोगविभागयोरनपेक्षतया यो

-जन्य सयोगासमवायिकारणावृत्ति-सयोगासमानाधिकरणजातिमान् गुण ॥ १॥ द्रव्य की व्यावृत्ति के लिये, सयोगासमानाधिकरण कहा है। कर्म की व्यावृत्ति के लिये सयोगासमवायिकारणावृत्ति कहा है, सयोगज सयोग का सयोग भी असमवायिकारण होता है, अत उसमे व्याप्तिवारण के लिये कहा गया है, सयोग से अजन्य जो सयोग का असमवायिकारण इत्यादि। विभागाजन्य विभागासमवायिकारणावृत्ति विभागासमानाधिकरण जातिमान् गुण ॥ २॥ इत्यादि जाति के प्रवेशपूर्वक प्रवृत्त लक्षण सब निरस्त हो जाते है।

इसीप्रकार से कर्म का लक्षण भी दुर्निरूप्य है। सयोग, विभाग दोनो का इतर निरपेक्ष कारण कर्म होता है। सयोग, सयोगज सयोग का कारण होता है, विभाग, विभागज विभाग का कारण होता है, परन्तु दोनो के कारण ये दोनो नही होते

यथाश्रुतेऽसभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तित ।
नानपेक्षतया हेतु कर्म योगविभागयो ॥ ८ ॥

नानपेक्षतया सयोगविभागहेतुत्व कर्मण, समवायिकारणेश्वरेच्छादेशकालादृष्टापेक्षणात् ।

अथैव निरुच्यते—पश्चाद्भावि निमित्त नापेक्षते कर्म, तेन चेश्वरेच्छासमवायिकारणादयो व्यावर्त्यन्ते, तेषा पूर्वभावितया पश्चाद्भावित्वाभावादिति, मैवम्, उत्तरसयोगे कर्तव्ये प्रश्चाद्भाविन्या पूर्वसयोगनिवृत्तेरपेक्ष्यमाणत्वात् । पश्चाद्भाविभावरूप निमित्त नापेक्षते इति चेत्, न, पूर्व-

---

हेतु तत्कर्मेति न लक्षणम्, कुत ? यथाश्रुतेऽसभवित्वात् । स्वातिरिक्ते कस्मिश्चिदप्यनपेक्षाया असभवित्वात् । तथा निरुक्तेरपि स्वोत्पत्त्यनन्तरमुत्पद्यमानानपेक्षेत्यादिरूपाया अप्ययुक्तिन इति श्लोकयोजना । श्लोक विवृणोति—**नानपेक्षतयेति** ।

द्वितीय पाद शङ्कापूर्वक विवृणोति—**अथैवमित्यादिना** । **व्यावर्त्यन्ते** । अनपेक्षात इति शेष । कर्मत्वादिति वा । तेषा पश्चाद्भाविकर्मापेक्षितत्वात् । दूषयति—**मैवमुत्तरेति** । एषा हि परिपाटी वैशेषिकाणाम् 'उत्पन्नमात्रात्कर्मण स्वाश्रये पूर्वसयुक्ताद्विभागो जायते तत पूर्वसयोगनाशस्तत उत्तरसयोगोत्पत्ति' इति । तत्रोत्तरसयोगोत्पत्तौ पूर्वसयोगनाश पश्चाद्भाविनमपेक्षते कर्मेत्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थ । ननु भावरूप पश्चाद्भाविन नापेक्षते इत्यनपेक्षाशब्दार्थो विवक्षितस्ततो नासम्भव इति

है । अत सयोग, विभाग मे अतिव्याप्ति नही है, अनपेक्ष पद से द्रव्य की व्यावृत्ति होती है, यह कर्म का लक्षण नही बन सकता है । क्योकि—

यथाश्रुत मे असम्भावित्त्व है, और निरुक्ति भी अयुक्त है, अन्य की अनपेक्षापूर्वक सयोग, विभाग का हेतु कर्म नही होता है ॥ ८ ॥

अर्थात् इतर की अपेक्षारहित सयोग, विभाग के हेतुत्व कर्म को नही है, क्योकि समवायिकारण, ईश्वरेच्छा, देश, काल तथा अदृष्ट की अपेक्षा होती है ।

यदि ऐसा निर्वचन करे कि अपनी उत्पत्ति के बाद उत्पन्न होने वाले किसी निमित्तकारण की अपेक्षा कर्म नही करता है, अत ईश्वरेच्छा समवायिकारणादि व्यावृत्त हो जाते है, उनकी अपेक्षा होते भी लक्षण अदुष्ट रहता है, क्योकि उन ईश्वरेच्छादिको के पूर्वभावी होने से पश्चाद्भावित्व का उनमे अभाव रहता है, ऐसा निर्वचन भी युक्त नही, क्योकि कर्म से पूर्व सयोग के नाशपूर्वक उत्तर सयोग के कर्त्तव्य स्थान मे अपने से पश्चाद्भावी पूर्वसयोग के नाश की अपेक्षा उत्तर

संयोगनिवृत्तिक्षणस्य भावस्यैव पश्चाद्भाविनोऽप्यपेक्ष्यमाणत्वात् । यदनन्तरं सयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मेति च कर्मलक्षणे तत्सामग्र्यामपि तत्सभवादतिव्याप्ति । न च कर्मैव सामग्री, तथा सति विभागोत्पत्तिसमसमयमेव

शङ्कितमो परिहरति—**न पूर्वसंयोगेति** । यस्मिन् क्षणे पूर्वसयोगनाश स कर्मणः पश्चाद्भावी, औपाधिकस्योत्पाद्यत्वाद्भावरूपश्चातस्तदपेक्षत्वात् कर्मणस्तदवस्थ एव पूर्वदोष इत्यर्थ । स्यादेतत्, यदनन्तर सयोगविभागयोरुत्पत्तिस्तत्कर्मेति लक्षणम्, न चेश्वरेच्छादिषु प्रसक्ति, तेषु सत्स्वपि यावत्कर्मोत्पत्त्यनुपपत्ते । नाप्यनपेक्षाक्षिप्तक्षुद्रोपद्रवावसरे इति, तत्राह—**यदनन्तरमिति** । ननु नात्र कर्मातिरिक्तसामग्र्यस्ति, यत्रातिव्याप्तिरुच्येतेति तत्राह—**न च कर्मैवेत्यादिना** । यदि हि कर्ममात्र सामग्री, तदासति भवत्येवेति नियमात् विभागोत्पत्तिसमसमयमेव पूर्वसयोगनाशोत्तरसयोगोत्पत्ती स्याताम्, नचैवमिष्यते युज्यते वा, पूर्वसयोगस्य विभागव्यतिरेकेण नाशकाभावात्, आश्रयस्य चानष्टत्वात्, अनिवृत्ते च पूर्वसयोगे नोत्तरसयोगोत्पत्ति । अत पृथगेव सामग्री, तथाचातिव्याप्तिरिति भाव । पूर्वसयोगनाशस्य च समसमयत्वापादन पूर्वभाविलक्षयोगलक्षणम्, तद्व्यतिरेकेणोत्तरसयोगानुत्पत्ते । वादीन्द्र प्राह—'विभागकुर्वद्रूपत्वापरपर्यायविभागजननशीलत्वस्य धर्मविशेषस्यानपेक्षकारणत्वसब्दार्थत्वात् तस्य पदार्थान्तरव्यावृत्तस्य कारणमात्रविभागकारणाकारणविभागविभागजनकविभागकारणकर्मनिष्ठस्य 'एतद्विभागानपेक्षकारणम् इद विभागानपेक्षकारणमित्यनुभवसिद्धत्वात्' इति, तदसत् । न खलु त्वत्कुतर्कानुपहतबुद्धेरेवमनुभवोऽस्ति । विभागजनकत्व च विभागस्य विभञ्जयिष्यते । या तु महाविद्या अनपेक्षकारणत्वसाधनायोक्ता, सा तदीयविडम्बनोक्त-

सयोगजनन मे होती है । यदि कहे कि पश्चाद्भावी भाव की अपेक्षा कर्म नही करता हे, पूर्वसयोग निवृत्ति तो अभाव है, तो यह कथन भी युक्त नही, क्योकि पूर्वसयोगनिवृत्तिक्षण काल रूप जो कर्म से पश्चाद्भावी भाव ही है, वह भी उत्तरसयोग जनन मे अपेक्ष्यमाण होता है । यदि कहे कि (जिसके अनन्तर उत्तर क्षण मे सयोग, विभाग की उत्पत्ति होती है, वह कर्म है । इस लक्षण की ईश्वरेच्छादि मे अतिव्याप्ति नही है, क्योकि ईश्वरेच्छादि के रहते भी कर्म के बिना सयोग, विभाग की उत्पत्ति नही होती है । तो कहा जाता है कि यह लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि इस लक्षण के सयोग, विभाग की सामग्री मे अतिव्याप्ति होती है । यदि कहे कि कर्म ही सयोग, विभाग की सामग्री है तो यह नही कह सकते है, क्योकि कर्ममात्र के ही सामग्री होने पर, कर्म से विभाग की उत्पत्ति के समकाल मे ही पूर्वसयोग की निवृत्ति की और उत्तरसयोग की उत्पत्ति की प्राप्ति होगी, क्योकि सयोग, विभाग की सामग्री के रहते कार्य मे विलम्ब होना अयुक्त

पूर्वसयोगनिवृत्तेरुत्तरसयोगस्य चोत्पत्तिप्रसङ्गात्, सत्या सामग्र्या कार्ये विलम्बायोगात्। अस्तु तर्हि सयोगविभागयोरसमवायिकारण कर्मेति लक्षणम्। न च सयोगविभागयोरतिव्याप्ति, तयोरेकैककारणत्वात्, अत्र चोभयकारणत्वस्य विवक्षितत्वादिति चेत्, मैवम्, कर्मविशेषे लक्षणस्याव्याप्ते.। तथाहि—यदा पटारम्भकावयवतन्त्वादिनिष्ठेन कर्मणावयवान्तराद्विभागोद्भव, तस्मिन् समये तदारब्धावयविनिष्ठं कर्म यदि भवति, तदावयवाना विभागादवयव्यारम्भकसयोगनिवृत्तिसमयेऽवयविकर्मणा

दोषविडम्बितेति नारदणीया। तदेवमेकद्रव्यमगुण सयोगविभागानपेक्षकारणमिति सौत्र लक्षण दूषयित्वा लीलावतीलक्षणमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति**। निमित्तकारणेश्वरेच्छादौ समवायिकारणद्रव्ये चातिव्याप्तिपरिहारायासमवायिकारणग्रहणम्। ननु तथापि सयोगविभागयोरतिव्याप्तिस्तयोरपि यथायथ तयोरसमवायिकारणत्वादिति, तत्राह—**न चेति**। उभय प्रत्यसमवायिकारणत्व विवक्षित ततो नातिव्याप्तिरित्यर्थ। उक्त च लीलावतीकारेण "द्वित्वे तात्पर्यम्, तेन सयोगविभागव्युदास" इति। मिलितसयोगविभागजनकत्वरूपकर्मलक्षणस्याव्याप्तिमाह—**मैवमित्यादिना**। कर्मविशेषमेव दर्शयन्नव्याप्ति विवृणोति—**तथाहि यदेति**। अत्र तावदवयवकर्मानन्तरमवयविन्यपि कर्म सभवतीति वक्ष्यते। तथासत्यवयवभूततन्तुकर्मणा अवयविभूतपटारम्भकसयोगविरोधिविभागोत्पत्तिसमयेऽवयविगतकर्मणापि विभाग शक्योत्पाद, अवयविनोऽविनष्टत्वात्। उत्तरसयोगो नतिस्तु असभविनी। तदानीमाश्रयस्यावयविन पटस्यासमवायिकारणभूतावयवसयोगनाशान्नष्टत्वात्, असमवायिनाशात्समवायिनाशाद्वाऽवयविनाश इति सिद्धान्तात्, ततश्च तस्मिन्कर्मण्यव्याप्तिरुभयजनकत्वलक्षणस्येत्यर्थ। अवयविनो नाशादित्यस्यैव विवरण सयोगि-

---

है। परन्तु पूर्वसयोग की निवृत्ति के बिना उत्तरसयोग होना नही है, अत कर्म मात्र से उत्तरसयोग का पृथक् सामग्री है, उसमे अतिव्याप्ति होगी। यदि कहे कि (सयोग, विभाग दोनो का असमवायिकारण कर्म कहा जाता है, यह निर्दोष लक्षण रहे) क्योकि इसकी सयोग, विभाग मे अतिव्याप्ति नही है, सयोगज सयोग का सयोग असमवायिकारण होता है। विभागज विभाग का विभाग कारण होता है, अत उनको एक-एक के कारणत्व है, दोनो के नही? अत अतिव्याप्ति नही है, क्योकि यहाँ दोनो के कारणत्व विवक्षित है, तो ऐसा कहना भी युक्त नही। कर्मविशेष मे इस लक्षण की अव्याप्ति है। यह दर्शाया जाता है कि, जब पटारम्भक अवयव तन्तु आदि वृत्ति कर्म से अवयवान्तर का विभाग उत्पन्न हुआ, उसी समय उन तन्तुओ से आरब्ध अवयवी पटवृत्ति कर्म यदि होता है, तो उस समय अवयवो के विभाग से अवयवी के आरम्भक अवयवसयोग की निवृत्ति के समय अव-

तस्मिन्नेवावयविनि यत कुतश्चिद्विभागो जायते। तत्र समवायिकारणा-वयवसंयोगनिवृत्त्यनन्तरमवयविनो नाशान्नोत्तरसंयोगोत्पत्ति । संयोगिनोऽवयविन एवाभावात्। तत्रावयविनिष्ठस्य कर्मण उभयासमवायिकारणत्वाभावादव्याप्ति कथ न भवेत्? न चावयवकर्मान्तरमवयविनि कर्म न जायत इति वाच्यम्, हस्तचलनानन्तर देवदत्तचलनस्य, शाखाचलनानन्तर शाखिचलनस्य दृष्टत्वात्। न चोत्तरसंयोगानुत्पत्तौ कर्मणोऽनुपयोग्यत्वप्रसङ्ग, विभागजननेनापि पुरुषार्थत्वोपपत्ते । न हि यावदशेषप्रयोजनसिद्धिस्तावद्वस्तुनोऽवस्थाननियम, बीजादेरङ्कुराद्यजननेऽपि नाशाद्युपलम्भात्।

अस्तु वोभयकारणत्व कर्मण, तथाप्यसमवायिकारणता निरूपणीया।

नोऽवयविन इति। यत्तद्वक्ष्यते इत्युक्तम्, तदाह—**न चावयवेति**। अवयवावयविनोर्युगपत्कर्मोत्पत्तावप्येषा समानैव। उत्तरसंयोगोत्पत्त्यनुपपत्तेस्तत्रापि तुल्यत्वात्। ननु नास्ति तथाविध कर्म यद्विभागमात्रमेवोत्पाद्योपरमेत्, स्वप्रयोजनासमर्थस्य सृष्टिवैयर्थ्यात्, यथाहुर्विभागप्रकरणे प्रशस्तपादा 'उत्तरसंयोगानुत्पत्तावनुपयोग्यत्वप्रसङ्ग' इति, तत्राह—**न चोत्तरेति**। यदि मन्येत विभागमात्रजननेऽपि समस्तप्रयोजनानिष्पत्तेर्वैयर्थ्यमेवान्यत्र कर्मणस्तथैव दृष्टत्वादिति, तत्राह—**न हि यावदिति**।

सम्प्रत्यतिव्याप्ति दर्शयितुमसमवायिकारणतामत्रत्या निष्कर्षति—**अस्तु वेत्यादिना**। ननु किमत्र निरूपणीयमस्ति? प्रसिद्ध तल्लक्षणमित्याह पूर्ववादी—

यवी के कर्म से उस अवयवी मे जिस किसी से विभाग होता है, वहाँ समवायिकारण रूप अवयवो के संयोग की निवृत्ति के अनन्तर अवयवी का नाश हो जाता है, अत उसमे उत्तरसंयोग की उत्पत्ति नही होती है, क्योकि संयोगी (आश्रय) अवयवी का ही अभाव हो जाता है। अत वहाँ अवयवी वृत्तिकर्म मे संयोग, विभाग उभय कारणत्व के अभाव से लक्षण की अव्याप्ति होती है। अवयवकर्म के अनन्तर अवयवी मे कर्म ही नही होता है, ऐसा नही कह सकते है। क्योकि हस्तचलन के अनन्तर देवदत्तचलन को और शाखाचलन के अनन्तर शाखी (वृक्ष) चलन को देखा जाता है। कर्म से उत्तरसंयोग की अनुत्पत्ति हो तो उस कर्म मे अनुपयोग्यत्व (निष्फलत्व) प्राप्त होगा। ऐसा नही कहा जा सकता है, क्योकि विभागजनन से भी पुरुषार्थ (सफलत्व) की सिद्धि हो जाती है। और जब तक अशेष = सम्पूर्ण प्रयोजन = फल की सिद्धि नही हो, तब तक वस्तु की स्थिति हो ऐसा नियम नही है, अतएव अड्कुरादि की उत्पत्ति के बिना भी बीजादि का नाश देखा जाता है।

अथवा कर्म को संयोग, विभाग उभय कारणता हो, तथापि असमवायिका-

समवायिकारणप्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यं तदसमवायिकारणमिति चेत्, केय प्रत्यासत्ति. ? कार्यैकार्थसमवाय, कारणैकार्थसमवायश्चेति चेत्, न, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—उभयविधप्रत्यासन्नता असमवायिकारणशब्देन कर्मलक्षणेऽपि विवक्षिता ? उतान्यतरा ? नाद्य, अनङ्गीकारादसभवाच्च। न ह्यन्त्यावयविनिष्ठस्य कर्मण सयोगविभागसमवायिकारणेनान्त्यावयविना सहैकस्मिन्नर्थे समवाय सभवति, कर्मण एकद्रव्यमात्रवृत्तित्वात्। न द्वितीय, कारणैकार्थसमवायस्यानङ्गीकारादेव। कार्यैकार्थसमवायस्य तु

समवायिकारणेति। कार्येणोत्पद्यमानेन पटादिना सहैकस्मिन्नर्थे य समवायस्तन्तुसयोगादे, सा तावदेका लघ्व्यभिधाना प्रत्यासत्ति। तथोत्पद्यमानपटशौक्ल्यादेर्यत्समवायिकारण पटादि तेन सहैकार्थे तन्त्वादौ तन्तुशौक्ल्यादेर्य समवाय सा बृहत्यभिधाना इति द्वितीया प्रत्यासत्तिरित्यर्थ। कारणैकार्थसमवायाभाव दर्शयन्नुभयाभाव विवृणोति—**न ह्यन्त्यावयविनिष्ठस्येति**। पटगतसयोगकारण कर्म पट एव प्रवर्तते, न तन्तुषु, तेन न कारणैकार्यसम्वाय इत्यर्थ। अन्यतरपक्षे बृहती दूषयित्वा लघ्व्यामतिव्याप्तिमाह—**कार्येति**। अदृष्टेऽतिव्याप्ति दर्शयितु

रणता निरूपणीय है। यदि कहा जाय कि (समवायिकारण मे प्रत्यासन्न कार्यजनन मे अवधृत सामर्थ्य वाला जो होता है, वह असमवायिकारण होता है, तो भी जिज्ञासा होनी है कि प्रत्यासत्ति (सम्बन्ध) क्या है कि जिससे प्रत्यासन्न (सम्बद्ध) कहा जाता है, यदि कहे कि (कार्यैकार्यसमवाय) पटादि कार्य के साथ तन्तु आदि समवायिकारण रूप एक अर्थ मे तन्तुसयोगादि का समवाय, और (कारणैकार्यसमवाय) पटादि के रूपादि के समवायिकारण तन्तु आदि के साथ तन्तु आदि मे तन्तु के रूपादि को कारणैकार्थसमवाय, प्रत्यासत्ति है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यह प्रत्यासत्ति का लक्षण विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, कर्म के लक्षण मे असमवायिकारण शब्द से, ये दोनो प्रकार की प्रत्यासन्नता विवक्षित है, या दोनो मे से कोई एक विवक्षित है। प्रथम पक्ष तो नही माना जा सकता है, क्योकि उभयथा कारणता का कर्म मे अनङ्गीकार भी है, और असम्भव है, क्योकि अन्त्यावयवी धटवृत्ति कर्म को घटवृत्ति सयोग, विभाग से असमवायी कर्म के कारण अन्त्यावयवी घट के साथ एक अर्थ मे वृत्तित्व का सम्भव नही है, अर्थात् घटवृत्ति कर्म उस घट के साथ कपाल मे नही रह सकता है, न कपालगत कर्म घटगत कर्मज सयोग, विभाग का कारण हो सकता है, क्योकि कर्म स्वाश्रयगत सयोग, विभाग का कारण होता है, अन्य का नही। और कर्म के एक द्रव्य मात्र वृत्तित्त्व होने से जो अवयवी मे रहता है, वह अवयव मे नही रह सकता है। अत अवयवी घटवृत्ति कर्म मे कारणैक समवेतत्व प्रत्यासत्ति नही बन सकती है। दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योंकि कारणैकार्थ समवाय के अनङ्गीकार से अन्त्यावयवी कर्म की उक्त

लक्षणान्तर्भावेऽतिव्याप्ते । यन्निष्ठौ सयोगविभागौ तन्निष्ठतया सयोग-विभागयोर्यत्कारण तत्कर्मेति हि तथालक्षणार्थ. सपद्येत । तथा चात्म-मनसो सयोगविभागजनकादृष्टेऽतिव्याप्ति कथ न स्यात् ? कार्येण सयोग-विभागाख्येन सह तज्जनकादृष्टस्यात्मन्येकस्मिन्नर्थे समवायात् । गुणान्यत्वे सतीति विशेषणादयमदोष इति चेत्, न, तदोभयकारणताभिधानस्य

लक्षण निष्पन्न दर्शयति—**यन्निष्ठाविति** । कार्यैकार्थसमवायमदृष्टे सपादयति—**कार्येणेति** । न च प्रत्यासत्तावपि कर्मण एवासमवायिकारणता नादृष्टस्येति निर्वच-नीयम् , तल्लक्षणस्यातिव्याप्त्यापातात् , उभयोरपि तदुपपत्तेश्च । न चादृष्टचर-कल्पना, उभयासमवायिकारणत्ववदुपपत्ते । न च कल्पनागौरवम् , अवयवनि-ष्ठरूपादीनामनेकेषामप्यवयविरूपादिक प्रत्यसमवायिकारणत्वकल्पनावदुपपत्ते । न च विभिन्नजातीयादेककार्यानुत्पाद , बहुत्वप्रचयाभ्या महत्त्वस्यैवोत्पत्तिसभवात् , उभयासमवायिकारणत्वस्य वस्त्वन्तरेऽनुपलब्धचरस्यापि कर्मणि कल्पनावत्सयोग-विभागविशेषेऽप्यदृष्टस्य च प्रत्यासत्तेरसमवायिकारणत्वकल्पनाया दोषाभावात् । न चादृष्टस्यासमवायिकारणत्वे सर्वनिमित्तकारणत्वानुपपत्ति , कालादीना स्वगुण-समवायिकारणानामपि निमित्ततावदुपपत्तेरिति । अतिव्याप्तिमदृष्टे परिहरति पूर्व-वादी—**गुणान्यत्वे सतीति** । गुणत्वानधिकरणत्वे सतीत्यर्थ । दूषयति—**न; तदेति** । एकैकजनकसयोगविभागव्यवच्छेदाय हि उभयकारणता कर्मलक्षणे विव-क्षिता । तौ च गुणान्यत्वग्रहणेनैव निरस्तौ, ततश्चोभयकारणत्वविशेषण व्यर्थं स्यात्, अतो द्वित्वे तात्पर्यमिति केवल लीलावत्या विलपितमेव भवेदिति भाव । गुणा-

---

रीति से कारण के साथ एकार्थ मे वृत्तिता के अनङ्गीकार से ही वह विवक्षित नही हो सकता है, कार्यैकार्थसमवाय को लक्षण के अन्तर्भाव करे, तो लक्षण होगा कि—सयोग, विभागरूप कार्य के साथ एक अर्थ मे रहकर जो सयोग, विभाग का कारण हो वह कर्म है । परन्तु इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योकि जिसमें सयोग, विभाग वर्तमान हो, उसीमे वर्तमान होकर जो सयोग, विभाग का कारण हो वह कर्म हे, यही उक्त लक्षण का अर्थ सिद्ध होगा । और ऐसा लक्षणार्थ सिद्ध होने पर आत्मा और मन के सयोग और विभाग के जनक अदृष्ट मे अतिव्याप्ति होती ही है—भला अतिव्याप्ति क्यो नही होगी । क्योकि कार्यरूप सयोग, विभाग के साथ उनके जनक अदृष्ट का आत्मस्वरूप एक अर्थ मे समवाय रहता है । यदि कहे कि उक्त लक्षण मे (गुणान्यत्वे सति) यह विशेषण लगाने से गुणरूप अदृष्ट मे अतिव्याप्ति नही होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि गुणाऽन्यत्व विशेषण देने पर सयोग, विभाग एक-एक कारण की व्यावृत्ति के लिये जो लक्षण मे सयोग, विभाग दोनो की कारणता का कथन है वह व्यर्थ होगा, क्योकि गुणान्यत्व पद से

वैयर्थ्यापातात्, गुणान्यत्वपदेनैव विभागजनकविभागस्य च व्यवच्छेदात्। एव विभागाजन्यविभागासमवायिकारण कर्मेत्यपि लक्षण निरस्तम्, असमवायिकारणताया दुर्निरूपत्वात्। विभागाजन्यत्वविशेषण च व्यर्थम्, व्यवच्छेद्याभावात्। न च विभागजविभागव्यवच्छेदार्थमिति वाच्यम्, कर्मण एव तदुत्पत्तौ विभागस्यैवाप्रामाणिकत्वात्।

ननु यत्तावदिह वशावयवेषु प्रवर्तमान कर्म, तद्द्रव्यारम्भकसयोग-

---

न्यत्व चासिद्धम्, अद्यापि कर्मलक्षणानिर्णयात्। गुणलक्षणाना च परागुच्छिन्नत्वादिति वा भाव। उक्त लक्षणमन्यत्राप्यतिदिशति—**एवमिति**। अतिदिश्यमानमेव विवृणोति—**असमवायिकारणताया इति**। **दुर्निरूपत्वादिति**। यथाऽदृष्टे न सभवति, तथा निरूपयितुमशक्यत्वात्तत्राऽदृष्टेऽतिव्याप्तिस्तदवस्था, गुणान्यत्वविशेषणे च पूर्ववद्वैयर्थ्यमित्यर्थ। व्यर्थविशेषणत्व चाह—**विभागाजन्येति**। ननु त्रिविधो विभाग, अन्यतरकर्मज उभयकर्मजो विभागजश्चेति, तत्राद्य सक्रियेण नि क्रियस्य, यथा स्थाणो श्येनेन। द्वितीयस्तु सक्रिययो, यथा मल्लयोर्मेषयोर्वा। तृतीयस्तु कारणमात्रविभागज कारणाकारणविभागजश्चेति। तत्राद्यो य खलु पटावयवस्य स्वगतकर्मणा पटावयवान्तराद्विभागो जायते, स तु विभाग पूर्वतनारम्भकसयोगनाशान्तरकालीनावयविनाशसहकृत स्वाश्रयस्याकाशदेशाद्विभागमारभते। द्वितीयस्तु हस्तावयवाकाशयोर्विभागाद्धस्ताकाशविभाग इति, एवञ्च सति यदि विभागासमवायिकारण कर्मेत्येवोच्यते, तदा विभागेऽतिव्याप्ति स्यात्तदर्थ विभागाजन्येति विशेषणमिति, तत्राह—**न च विभागजेति**। अत्र च विभागजशब्दस्तत्कारणविभागोपलक्षणार्थ। हेतुमाह—**कर्मण एवेति**। न क्वचिदपि विभागो विभागजन्य, किंतु वशदलविभागजनकादेव कर्मणो वशदलादेराकाशस्य च विभाग इत्यर्थ।

अत्र वशदलाकाशविभागस्य कर्मजन्यत्व दूषयन्विभागजन्यत्व वैशेषिक परिशेषयति—**ननु यत्तावदित्यादिना**। तत्रावयवगत कर्म किमवयवान्तराद्विभाग-

---

ही विभागजनक विभाग की और सयोगजनक सयोग की व्यावृत्ति हो जायगी। इसीप्रकार से विभागाऽजन्य विभाग का असमवायिकारण कर्म होता है, यह लक्षण भी निरस्त हो गया। क्योकि असमवायिकारणता की दुर्निरूपता है। और विभागाऽजन्यत्व विशेषण भी व्यर्थ है। क्योकि उससे व्यवच्छेद्य कोई वस्तु है नही। यदि कहे कि विभागज विभाग के व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) के लिये होने से विशेषण सार्थक है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि जिसको विभागज विभाग कहा जाता है, उसकी कर्म से ही उत्पत्ति होने के कारण विभागज विभाग अप्रामाणिक है।

यहाँ श का होती है कि विभाग कैक प्रकार का होता है, जैसे कि एक अन्यतर-

विरोधिन विभागमुत्पादयत्तदैव नाकाशादिभि सह विभागमुत्पादयति, यस्मादाकाशादिविभागजनकत्व कर्मणो द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वेन व्याप्तमुपलभ्यते नलिनदलेपु । न हि तत्र द्रव्यविनाशः प्रत्यक्षाधिगत , तदेवेद नलिनमिति प्रत्यभिज्ञानात् । नाप्यनुमानत , दध्यादिष्विव व्यूहान्तरस्य तदुन्नायकस्य लिङ्गस्यादर्शनात् । तथा च पद्मपत्रस्य

जननसमय एवाकाशादिभ्यो विभागमारभते ? समयान्तरे वा ? द्वितीये तु प्रथमपक्षदूषणमेवातिदेक्ष्यति । प्रथम दूषयति—**तदैव नेति** । द्रव्यस्य वशावयविन आरम्भको यो वशावयवयो सयोगस्तद्विरोधिन विभागमुत्पादयतीति योजना । ननु किमिति नोत्पादयतीत्याशङ्क्य तत्रानुमान बाधक दर्शयितु व्याप्ति तावत्सपादयति—**यस्मादिति । आकाशादिविभागेति**—द्रव्यानारम्भकसयोगविरोधिविभागोपलक्षणम् । तथा च किरणावलीकार—'यत्कर्म द्रव्यानारम्भकसयोगविरोधिन विभागमारभते, न तद्द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिनम्, यत्त्वेवम्, न तत्तद्विरोधिनमिति, विकसत्कमलकुड्मलादौ तथा तद्दर्शनाच्चैतदवधारणीयम्, इति (किर० पृ० २३४) । अथ कथ कमलकुड्मलदलविदलनेऽपि विभागस्य द्रव्यानारम्भकसयोगविरोधित्वम्, न पुनरारम्भकसयोगविरोधित्वमिति ? तत्राह—**न हि तत्रेति** । यदि हि द्रव्यारम्भकसयोगविरोधी स्यात्ततो विकसनसमये नलिनावयवी नश्येत्, न चैतत्प्रत्यक्षतोऽनुभानतो वावसातु शक्यते, अतो न तदारम्भकसयोगविरोधी स

कर्मज होता है, जेसे वृक्ष से पक्षी का विभाग होता है, दूसरा उभयकर्मज होता है, जसे दो मेष-मल्लादि का विभाग होता है, तीसरा विभागज विभाग होता है । वह कारणमात्र विभाग विभागजन्य कारणाऽकारण विभाग कहा जाता है । वहाँ जो यह बास के फाडते समय बास के अवयवो मे वर्तमान कर्म होता है, वह उस बासरूप द्रव्य के आरम्भक तदवयव सयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता हुआ, उसी समय आकाशादि के साथ उन वास के अवयवो के विभाग को नही उत्पन्न कर सकता है—न करता है । क्योकि कमलदलो मे कर्म के आकाशादि विभागजनकत्व को द्रव्यारम्भक सयोगविरोधी विभागानाऽऽरम्भकत्व से व्याप्त देखा जाता है । अर्थात् कमलदल मे जो कर्मज आकाशादि से विभाग होता है, वह द्रव्यारम्भक सयोग का विरोधी नही होता है । क्योकि वहाँ दलो मे विभाग होने पर भी द्रव्यरूप कमल का विनाश प्रत्यक्ष प्रमाण से नही उपलब्ध होता हे, क्योकि वही यह कमल है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है, अनुमान से भी कमलदल-विभाग मे कमलविरोधित्व की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि दूध के विकार दधि आदि मे व्यूहान्तर (रचनान्तर) के समान रचनान्तर का बोधक कोई लिङ्ग नही देखा जाता है । अत सिद्ध होता है कि पद्मपत्र (दलो का उपलभ्यमान पत्रान्तर से

पत्रान्तराद्विभाग उपलभ्यमानो न द्रव्यारम्भकसयोगविरोधी, किंतु स्पर्शवद्द्रव्यसयोगजात्कर्मण उत्पन्नो य सयोग सत्येव द्रव्ये द्रव्यारम्भके च सयोगे पद्मपत्रयोर्वर्तते, तमेव निवर्तयति, यथागुल्योर्विभाग प्रयत्नोत्पादित सयोगमेव निवर्तयति न तु द्रव्यारम्भकसयोगम्, तस्मादगुलिविभागवत्पद्मपत्रक्रियाजनितो विभागो न द्रव्यारम्भकसयोगविरोधीति व्याप्तिनिश्चये प्रयोग —'विवादाध्यासिता वशदलक्रिया नाकाशादिविभागारम्भिका द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागारम्भकत्वाद्यन्नैव न तदेव यथा पद्मपत्रक्रिया'। एककर्महेतुकत्वे च विभागयोर्द्रव्यारम्भकसयोगविरोधित्वा-

---

विभाग इत्यर्थ । व्यूह आकार । कार्यद्रव्यान्तरमिति यावत् । कस्य तर्हि विरोधीत्यत आह—**किन्त्विति** । स्पर्शवद्द्रव्य चन्द्रातपादि । द्रव्यारम्भकसयागे च सत्येव यः सयोग स्पर्शवद्द्रव्यसयोगजात्कर्मण उत्पन्न, पद्मदलयोर्वर्तते तमेव निवर्तयतीत्यर्थ । अत्र च मत्रनिपन्नमुदाहरणमाह—**यथाङ्गुल्योरिति** । तदेव कमलकलिकाविकासकर्मणि समर्थिता व्यतिरेकव्याप्तिमुपसहृत्य प्रयोगमारचयति—**विवादाध्यासितेति** । **नाकाशादीति** । न द्रव्यानारम्भकसयोगविरोधिविभागारम्भिकेत्यर्थ । पद्मपत्रकर्मणि विभागारम्भके व्यभिचारवारणाय द्रव्यारम्भकेति विशेषणम् । **यन्नैवमिति** । यद्द्रव्यानारम्भकसयोगविरोधिविभागजनकम्, न तद्द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागोत्पादकमित्यर्थ । विपक्षे बाधकमाह—**एककर्मेति** । उक्त च किरणावल्याम्—'कार्यविपर्ययाद्भवितव्य कारणविरोधेन, नहि कार्यं विरुद्धमविरुद्ध-

---

विभाग द्रव्यारम्भक सयोग का विरोधी नही होना है, किन्तु स्पर्श वाले द्रव्य सूर्य, चन्द्रादि के किरण के सयोग से जन्य जो कर्म, उससे उत्पन्न जो सयोग होता है, वह द्रव्य कमल के रहते और कमलारम्भक सयोग के रहते पद्म और पद्मपत्र मे रहता है, और वह कर्मजन्य विभाग उस द्रव्यानारम्भक सयोग को ही निवृत्त करता है। जैसे कि अङ्गुलियो का विभाग प्रयत्नजन्य सयोग को ही निवृत्त करता है, द्रव्यारम्भक सयोग को नही। अत अङ्गुलि विभाग के समान पद्मपत्र क्रियाजन्य विभाग द्रव्यारम्भक सयोग का विरोधी नही होता है। ऐसी व्याप्ति के निश्चय होने पर, प्रयोग किया जाना है कि (विवादास्पद वसदल क्रिया आकाशादि विभाग का आरम्भक नही होती है, द्रव्यारम्भक सयोगविरोधि विभागारम्भक होने से, जो क्रिया ऐसी नही है = द्रव्यानारम्भक सयोगविरोधी विभाग का जनक है, वह ऐसी द्रव्यारम्भक सयोगविरोधी विभाग का जनक भी नही है, जैसे पद्मपत्र की क्रिया है, कारण का द्रव्यजनकसयोगविरोधी विभाग और अविरोधी विभाग, इन दोनो के एककर्महेतुकत्व (हेतुजन्यत्व) होने पर, द्रव्यारम्भक सयोगविरोधित्व और अविरोधित्वरूप विलक्षणता नही हो सकेगी, क्योकि कारण की विचित्रता के बिना

विरोधित्ववैलक्षण्यमनुपपन्नम् कारणावैचित्र्ये कार्यवैचित्र्यस्याकस्मिकत्व-प्रसङ्गादिति विपक्षे बाधकस्तर्क । तदेवमवयवक्रिया अवयवविभागकाले पश्चाद्वा नाकाशादिविभागमारभते । तस्मादाकाशवशावयवयोर्विभागो न क्रियाज । न चासमवायिकारणमन्तरेण कार्योत्पत्ति शक्याभ्युपगन्तुम् । न चान्तरेण क्रियामन्यदसमवायिकारणमवयवविभागातिरेकि शक्यमुप-पादयितुम् । अवयवविभागस्त्ववशिष्यते । स च तस्य प्रत्यासन्न एकार्थसम-वायादिति सिद्धो विभागजो विभागस्तद्व्यावृत्त्यर्थं च विभागाजन्यत्व-विशेषणमिति चेत्,

मैवम्, व्याप्तेरसिद्धत्वादनध्यवसितत्व ।

जातीय कारणमिति सभवति' इति । उपपादित कर्मानारभ्यत्वमुपसहरति—**तदेवमिति ।** यत्तदवोचाम द्वितीयेऽतिदेक्ष्यतीति, तदाह—**पश्चाद्वेति ।** तत्रापि समानोऽयमविनाभाव इति भाव । तथापि विभागजन्यत्व कथमित्याशङ्क्य तत्र परिशेष दर्शयिष्यन्सामान्यतो दृष्टानुमाने प्राप्ते हि परिशेषावसर इति तदाह—**न चासमवायिकारणमिति ।** प्रसक्तप्रतिषेधे सत्यन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सप्रत्यय परिशेष इति परिशेषविद । तदिह प्रसक्त कर्म प्रतिषिद्धम्, अन्यत्राप्रसङ्गमाह—**न चान्तरेणेति ।** उभय हि प्रत्यासन्नतयाऽसमवायिकारण सभवति, एक वशदल-कर्म, अपर तु कर्मोत्पन्नस्तद्गतो विभाग , तत्र कर्मण ईदृशी दशा ततो विभागा-तिरेकी न सभवतीत्यर्थ । अन्यत्राप्रसगमुक्त्वा शिष्यमाणे सप्रत्ययाह—**अवयवेति ।** अत्र चासमवायिकारणलक्षण सपादयति—**स च तस्येति ।** उपसहरति—**सिद्ध इति ।** परिनिष्पादितपरिश्रमस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तद्व्यावृत्त्यर्थं चेति ।**

तत्रानुमान तावद्दूषयति कर्मजत्वसभवेन परिशेष विघटयितुम्—**मैवमित्या-दिना श्लोकेन ।** अत्र किं व्यतिरेकभूमावाकाशादिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भक-

---

कार्य की विचित्रता मे निर्हेतुकता की प्राप्ति होगी । यह विपक्ष मे बाधक तर्क है । अत उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि अवयव की क्रिया (कर्म) अवयव = वसदलादि, के विभाग काल मे वा उसके पीछे आकाशादि के विभाग को नही उत्पन्न करती है, अत आकाश और वसावयव का विभाग क्रियाजन्य नही होता है, और असम-वायिकारण के बिना आकाशवसदलविभाग रूप कार्य की उत्पत्ति को माना नही जा सकता है, और क्रिया के बिना, अवयवविभाग से भिन्न, आकाशवसदल-विभाग के असमवायिकरण को कोई उत्पन्न नही कर सकता है, अत अवयव क्रिया जन्य अवयवविभाग ही अवशेष रहता है, वह कार्य = आकाशवसदलविभाग के साथ एक अर्थ वसदल मे समवाय से प्रत्यासन्न (स्थिर) रहता है वही आकाशवसदल-विभाग को उत्पन्न करता है, अत विभागज विभाग सिद्ध हुआ, उसकी व्यावृत्ति के लिये कर्मलक्षण मे विभागाजन्यत्व विशेषण उचित है ।

इस शका का समाधान है कि (उक्त व्याप्तिप्रदर्शन अयुक्त है, क्योकि व्याप्ति

यौगपद्यप्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम् ॥ ९ ॥

न तावदाकाशादिविभागजनकस्य कर्मणो द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागानुत्पादकत्व क्वचित्प्रत्यक्षसिद्धम्, आकाशादिविभागस्यातीन्द्रियस्य क्रियान्वयव्यतिरेकयो प्रत्यक्षतोऽधिगन्तुमशक्यत्वाद्व्याप्त्यसिद्धे । अनध्यवसितश्चाय हेतुः, आकाशादिविभागानारम्भके रूपादौ सत्यपि सपक्षे ततो

सयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ व्याप्तिर्गृह्यते ? किंवा द्रव्यानारम्भकसयोगविरोधिविभागारम्भकत्वस्य द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वोपाधौ ? आद्ये प्राह—**व्याप्तेरसिद्धत्वादिति**। आकाशादिविभागस्याप्रत्यक्षत्वेन तज्जनकत्वमपि कर्मणोऽप्रत्यक्षमतो न प्रत्यक्षत्वसिद्धिर्व्याप्तेरित्यर्थ । द्वितीये दूषणमाह—**अनध्यवसितत्वत इति**। आकाशादिविभागानारम्भकत्वमस्ति रूपादौ, नच तत्र हेतुरस्तीत्यर्थ । किं च वशदलयोर्विभागस्याकाशवशदलविभागस्य च हेतुहेतुमत्त्वकल्पनापि अनुपपन्ना, आकाशप्रत्यक्षवादिनामुभयोरपि विभागयो प्रत्यक्षेण यौगपद्यप्रतीतेरित्याह—**यौगपद्येति**। अथवाकाशप्रत्यक्षवादिमते व्याप्तिसिद्धिमाशङ्क्येदमुक्तम्, योजना तु पूर्ववे ।

श्लोक विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। दिक्कालादिषु सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणतया उभयविधविभागजनकेषु व्यभिचारोऽपि द्रष्टव्य । अनध्यवसितत्वत इत्येतद्विवृणोति—**अनध्यवसित इति**। अत्र चोक्तो विशेषो न प्रविस्मर्तव्य । उपलक्षण चैतत्सत्प्रतिपक्षस्यापि । तथाहि—विमत कर्म आकाशादिदेशेन विभागमारभते आरम्भककर्मत्वात सम्प्रतिपन्नवत्, विभागो वा कर्मजन्य विभागत्वात्सम्प्रतिपन्नवत् इति शक्य सत्प्रतिपक्षयितुम् । तेन च पदार्थतत्त्वनिर्णयोक्तदोषोऽपि परिहृत ।

की असिद्धि है । आकाश के प्रत्यक्षत्व मानने वाले को दोनो विभाग युगपत् प्रतीत होते है, अत विभागो मे कार्यकारणभाव अनिश्चित है ॥ ९ ॥

आकाशादि विभागजनक कर्म को द्रव्यारम्भक सयोगविरोधी विभागानुत्पादकत्व के ही प्रत्यक्ष से सिद्ध नही है । क्योकि अतीन्द्रिय आकाशादि विभाग को क्रिया के साथ अन्वयव्यतिरेक को प्रत्यक्षप्रमाण से समझने मे अशक्य होने के कारण उक्त व्याप्ति की सिद्धि नही हो सकती है । अर्थात् आकाशादि विभागजनक कर्म, द्रव्यारम्भक सयोगविरोधी विभाग का जनक नही, यह प्रत्यक्ष से नही जाना जा सकता है, क्योकि आकाश के अप्रत्यक्ष होने से उनके विभागादि के जनकता भी अप्रत्यक्ष ही रहती है, अत उनके साथ क्रिया के अन्वयव्यतिरेकादि के ज्ञान के अभाव से व्याप्ति का निश्चय नही हो सकता है । और (द्रव्यारम्भक-सयोग-विरोधि-विभागारम्भकत्वात्) यह हेतु अनवसित (अनिश्चित) सपक्षत्व रूप से ज्ञात नही है । क्योकि आकाशादि विभाग के अनारम्भक रूपादि सपक्ष के रहते

व्यावृत्तत्वात् । अपि च क्रमकल्पनेयमनुपपन्ना, आकाशादिविभागप्रत्यक्ष-वादिना विभागद्वयस्यापि यौगपद्यप्रतीते । न च शतपत्रपत्रशतव्यतिभेदानुभववद्विभ्रमोऽयमनुभव, बाधकाभावात् । न चोपन्यस्तानुमान बाधकम्, तस्यानध्यवसितत्वेनापहस्तितत्वात् । "विवादाध्यासित विभागजन्यगुणाधिकरण नित्यद्रव्यत्वादात्मवत् । अस्ति ह्यात्मनो विभागविषय प्रत्यक्षज्ञानं

एतेन व्यभिचारानध्यवसितत्वनिवारणाय कर्मणा हेतुसाध्ययोर्विशेषणमपि निष्फलीकृतम् । न च द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागानारम्भकत्वमुपाधि, उभयविध-विभागजनकेश्वरादौ साध्याव्याप्तेरिति, उत्तरार्धं व्याचष्टे—**अपि चेति**। ननु पूर्वापरीभूतयोरपि विभागयोरतिशैध्र्याद्यौगपद्यविभ्रमोऽयम्, यथातितीक्ष्णसूच्या कमलदलशतवेधे युगपद्धित्वाभिमान इति, तत्राह—**न च शतपत्रेति**। शतपत्रं कमलम् । व्यतिभेद वेध । अपहस्तितत्वाद्धस्तपरिहारमात्रेण परास्तत्वात् । उपलक्षण चैतद्यौगपद्यप्रत्यक्षबाधव्यभिचारसत्प्रतिपक्षत्वानाम् । विभागाजन्यत्वेऽनुमानान्तरविरोध शङ्कते—**विवादाध्यासितमिति** । आत्माकाशव्यतिरिक्तनित्य-द्रव्याणि पक्ष । दृष्टान्ते साध्य दर्शयति—**अस्ति ह्यात्मन इति**। विभागविषयं यत्प्रत्यक्षज्ञान तद्विभागजन्यगुण । एवमाकाशे शब्दो विभागजन्यगुण । न च ताभ्यामेवार्थान्तरता, परमाण्वादेर्ज्ञानशब्दाधिकरणत्वाभावात् । ततश्च योऽसौ विभागजन्यो गुण परमाण्वादिनिष्ठ स विभागजन्यविभाग इत्यर्थ । ब्रह्माद्वैतवादिवेदान्तिमते

भी उसमे हेतु नही रहता है, और जो आप के क्रम की कल्पना है कि प्रथम कर्म से वसदल विभाग के बाद विभागज विभाग होता है, सो अनुपपन्न (अयुक्त) है, क्योकि आकाशादि के विभागो के प्रत्यक्षवादियो को दोनो विभागो की साथ ही एक काल मे प्रतीति होती है । यदि कहे कि शतपत्र (कमल) के सौ पत्ते के भेदन मे क्रम के होते भी अतिशीघ्रता से जैसे व्यतिभेदन (बेधन) मे युगपदना भ्रम से प्रतीत होती है, वैसे ही प्रकृत मे विभाग द्वय की समकालता भ्रम से भासती है, तो बाधकाऽभाव से यह कहना युक्त नही हो सकता है । और पूर्वोपन्यस्त (पठित) अनुमान भी युगपत् प्रतीति का बाधक नही हो सकता है, क्योकि उसके हेतु के पूर्ववर्णित रीति से अनध्यवसित (अनिश्चित) होने के कारण वह अपहस्तित (क्षिप्त = त्यक्त) है । यदि कहे कि (विवादाध्यासित = नित्यपरमाणु आदि, विभागजन्य गुण के अधिकरण है, नित्य द्रव्य होने से, आत्मवत्) यहाँ आत्मा को विभागविषयक, विभागरूप कर्मकारकजन्य प्रत्यक्षज्ञान रहता ही है, अत दृष्टान्त मे साध्य की विकलता नही है, आत्माऽऽकाश से भिन्न नित्य द्रव्य पक्ष है, क्योकि वे दोनो द्रव्य के अजनक है, अत यह जो विभागजन्य गुण सिद्ध होता है, वह परमाणुवृत्ति विभागज विभाग द्वयणुक निवृत्ति काल मे सिद्ध

तत्कर्मकारकजन्य तेन न साध्यविकलो दृष्टान्त" इति मानमनोहरकारोक्तमनुमान बाधकमिति चेत्, मैवम्, वेदान्तिन प्रति हेतोरसिद्धे । तेनात्मव्यतिरिक्तनित्यानङ्गीकारात्, आत्मनो गुणानधिकरणत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । किच नित्यविशेषण व्यर्थम्, जीवाकाशव्यतिरिक्तस्य द्रव्यजातस्य विभागजन्यगुणाधिकरणतया विप्रतिपद्यमानस्य पक्षीकृततया पक्षव्यापकद्रव्यत्वहेतुमात्रेणैव साध्यसिद्धेर्नित्यपदव्यावर्त्याभावात् । अस्तु तर्हि द्रव्यत्वमात्र हेतुरिति चेत्, न, विभुत्वोपाध्युपहतत्वात् । न च दिक्कालेश्वरेषु पक्षैकदेशेषु साधनव्यापकता, पक्षीकृतपरमाण्वादिषु तदभावात् ।

किच कर्मणो द्रव्यारम्भकसयोगविरोधिविभागजनकस्य नभोभाग-

परमाण्वादीना नित्यत्वमसिद्धमिति विशेषणासिद्धचा हेतू दूषयति—**मैवमिति ।** दूषणान्तरमाह—**आत्मन इति ।** व्यर्थविशेषणतया चासिद्धिमाह—**किचेति ।** अनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यर्थं नित्यपदम्, अद्रव्यस्य द्रव्यपदेनैव व्यावृत्ते । न च तद्व्यावृत्त्यर्थम्, पक्षतुल्यत्वादतो वैयर्थ्यमित्यर्थ । आत्माकाशयोक्तगुणवत्त्वे विभुत्वमुपाधि । न च साधनव्यापकता, पक्षीकृतपरमाणुमनसोरुपाधेरभावादित्याह—**न, विभुत्वेत्यादिना ।** ननु कालो विभागजन्यगुणाधिकरण द्रव्यत्वादात्मवदित्यत्र को दोष ? विशेषगुणवत्त्वोपाधिहृतत्व विहाय न किंचिदन्यत् ।

आभाससमानयोगक्षेमता चाह—**किंचेति ।** विमत कर्म न द्रव्यानारम्भक-

---

होता है । अत इसप्रकार का मानमनोहरकार कथित अनुमान विभाग यौगपद्य प्रतीति का बाधक है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि वेदान्ती के प्रति हेतु की असिद्धि है, आत्मा से भिन्न नित्य कोई पदार्थ वेदान्ती का मान्य नही है, और वेदान्ती मत मे आत्मा के गुणानधिकरण होने से दृष्टान्त साध्यहीन है । और हेतु का नित्य विशेषण व्यर्थ है, क्योकि जीव और आकाश से भिन्न सब द्रव्य के विभागजन्य गुणाधिकरण रूप विप्रतिपत्ति के विषय होने के कारण सबको पक्ष कर लेने पर पक्ष का व्यापक द्रव्यत्व हेतु मात्र से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, अतः नित्य पद से व्यावर्त्य (निवारणीय) का अभाव है । तो द्रव्यत्व मात्र हेतु रहे, ऐसा भी नही कह सकते है, द्रव्यत्व हेतु विभुत्व उपाधि से उपहत होता है । यदि कहे कि दिशा, काल, ईश्वर रूप पक्ष के एकदेश मे, उपाधिसाधन द्रव्यत्व का व्यापक हो जाता है, तो यह नही कह सकते । क्योकि पक्षरूप परमाणु आदि मे द्रव्यत्व रहता है, और विभुत्व नही रहता है, अत साधन का व्यापक विभूत्व नही होता है, आत्माकाश मे साध्य का व्यापक होता है ।

और यह भी विचारणीय है कि, द्रव्यारम्भक सयोगविरोधि विभागजनक

विभागाजनकत्वे द्रव्यारम्भकसयोगजनकस्य तदजनकसयोगजनकत्वमङ्गु-ल्याकाशसयोगजनककर्मण इव न स्यात्, तथा च तन्तुद्वयसयोगजनकात् कर्मणस्तन्त्वाकाशसयोगो न स्यात्। नन्वङ्गुल्याकाशसयोगाच्छरीराकाश-सयोगवत्तन्त्ववयवाकाशसयोगादेव तन्त्वाकाशसयोगोपपत्तेर्वाय दोष इति चेत्, एव तर्हि द्वयणुकजनकसयोगासमवायिकारणात् परमाणुकर्मण पर-माण्वाकाशसयोगो न भवेत्, न हि तत्रावयवसयोगात्परमाण्वाकाशसयोग, निरवयवत्वात्। अपि चैव वशदलावयवाकाशविभागादेव दलाकाशविभा-

---

सयोगजनक द्रव्यारम्भकसयोगजनकत्वात् न यदेव न तदेव यथाङ्गुल्याकाशसयोग-जनक कर्मेत्यपि शक्यमनुमातुमिति खण्डलकार्थं। भवत्वेव कि नश्छिन्नमिति? तत्र गूढाभिसन्धिस्तावदाह—**तथा चेति**। द्वितन्त्वारब्धपटारम्भको यस्तन्तुद्वय-सयोगस्तज्जनकात्कर्मणस्तन्त्वाकाशसयोगस्य द्रव्यानारम्भकस्योत्पत्तिर्न स्यादित्यर्थ। अभिसन्धिमविद्वान् श्रीवल्लभ शङ्कते—**नन्विति**। अयमर्थ —यथा हि सयोगज-सयोगविशेषस्य शरीराकाशसयोगस्य तदवयवाङ्गुल्याकाशसयोगादेव जन्म, न कर्मण, तथा तन्त्वाकाशसयोगोऽपि तदवयवाकाशसयोगादेव भवेदिति कर्मा-जन्यत्वमिष्टमेवेति। अभिसन्धिमुद्घाटयन्परिहरति—**एवं तर्हीति**। अवश्य हि निरवयवपरमाण्वाकाशसयोगस्य तदवयवसयोगजन्यत्वासभवात् द्वयणुकारम्भकपर-माणुसयोगजनकपरमाणुकर्मजनितत्व वक्तव्यम्। तदेव मम प्रतिबन्दीस्थलम-स्त्विति भाव। अनिष्टान्तर चाह—**अपि चेति**। शक्यते हि तत्रापि वक्तुम्,

---

कर्म को आकाशाश से विभागाजनकत्व के होने पर, द्रव्यारम्भक सयोगजनक कर्म को द्रव्यानारम्भक सयोगजनकत्व नही होगा, जैसे अङ्गुलि-आकाशसयोग-जनक कर्म को द्रव्यारम्भक सयोगजनकत्व नही होता है, तो तन्तुद्वय सयोगजनक कर्म से द्रव्यारम्भक तन्तु आकाशसयोग की भी उत्पत्ति नही होगी। यदि कहें कि अङ्गुलि-आकाश के सयोग से शरीराकाश के सयोग के समान तन्तु के अवयव आकाश के सयोग से ही तन्तु-आकाश के सयोग की उत्पत्ति के होने से यह दोष नही रहेगा, अर्थात् शरीरगत सयोगज सयोग कर्म के बिना ही अङ्गुलि सयोग से सिद्ध होता है, वैसे ही तन्तु मे कर्म के बिना अवयवसयोगज सयोग तन्तु मे होगा, अत पटजनक कर्म से तन्तु आकाश के सयोग के नही होने पर भी तन्तु आकाश के सयोग की अनुपपत्तिरूप दोष नही है, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि ऐसा मानने पर, द्वयणुक के जनक सयोग को असमवायिकारण परमाणु के कर्म से परमाणु और आकाश का सयोग नही होगा, क्योकि वहाँ अवयव के सयोग से परमाणु आकाश का सयोग नही हो सकता है, क्योकि परमाणु को निरवयवत्व है, और दूसरी बात है कि उक्त रीति से अवयव के सम्बन्ध से अवयवी के सम्बन्ध को मानने पर, वसदल के अवयव के विभाग से ही दलाकाश के विभाग की सिद्धि होने

गोपपत्तेर्दलयोर्विभागस्याकाशविभाग प्रति हेतुता न स्यादिति दलयोर्विभागादाकाशविभाग स्वाभिमतो न सिद्ध्येत्, तस्मादसमवायिकारणापेक्षिणो वशदलाकाशविभागस्य वशदलक्रियैवासमवायिकारणमिति न पारिशेष्याद्विभागस्य विभागजनकत्वसिद्धि । न च कर्मैकहेतुकत्वे विभागयोरुक्तवैलक्षण्यानुपपत्ति, कर्मैकहेतुकयो सयोगविभागयोरिव वैलक्षण्योपपत्ते । तस्माद्विभागजविभागाभावात्तद्व्यावृत्त्यर्थ विभागाजन्यत्वविशेषण कर्मलक्षणे व्यर्थम् । व्यञ्जकप्रमाणयोर्निरस्तत्वाच्च कर्मत्वजातेरभावे तद्योगित्वमपि लक्षण परास्तम् ।

न वशदलयोर्विभागाद्वशदलाकाशयोर्विभाग । किंतु वशदलावयवाकाशयोर्विभागादिति, तस्य च वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्ट स्यादिति भाव । तदेव कर्मजन्यत्वपभवात्परिशेषासिद्धिमुपसहरति—**तस्मादिति** । यस्तु विपक्षे बाधकस्तर्क उक्तस्त प्रशिथिलमूलयति—**न चेति** । यथा कर्मैकहेतुत्वेऽपि सयोगविभागयो परस्पर वैधर्म्यम्, तथेहापीत्यर्थ । एतेन कार्यविरोधात्कारणविरोधोन्नयनमपि किरणावलीय निरस्तम् । विरुद्धयोरेव सयोगविभागयोरेककर्मजन्यत्वात् प्रासङ्गिकस्यास्य विचारस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तस्मादिति** । ननु सख्याऽवृत्तिसयोगासमानाधिकरणसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमदिति वा सयोगाजन्यसयोगासमवायिकारणवृत्तिसयोगत्वासमानाधिकरणजातिमद्वेत्यादीनि शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणानि भविष्यन्तीति तत्राह—**व्यञ्जकेति** । उक्तलक्षणानि खलु व्यञ्जकानि भवन्ति, तानि च यथायथं दूषितानि, प्रमाण च प्रत्यक्ष द्रव्यखण्डनावसरे दूषितम्, अन्यच्च न निरूप्यते अतस्तादृशी नास्ति जातिरित्यर्थ ।

से दलो के विभाग को आकाश-विभाग के प्रति हेतुता नही होगी, अत दलो के विभाग से स्वाभिमत आकाश-विभाग नही सिद्ध होगा । अत असमवायिकारण की अपेक्षा करने वाले बसदल आकाश-विभाग का वसदल की क्रिया ही असमवायिकारण है, अत परिशेष से विभाग को विभागजनकत्व नही सिद्ध होता है । कर्मैकहेतुत्व के होने पर विभागो मे उक्त द्रव्यारम्भक सयोगविरोधित्व अविरोधित्व रूप विलक्षणता नही होगी, यह नही कहा जा सकता है, क्योकि कर्मैकहेतुक उत्तरसयोग और पूर्वविभाग मे जैसे विलक्षणता होती है, वैसे ही उनमे विलक्षणता की सिद्धि होगी । अत विभागज विभाग के अभाव से उसकी व्यावृत्ति के लिये, कर्म के लक्षण मे विभागाजन्यत्व विशेषण व्यर्थ है । और व्यञ्जक और प्रमाण के निरस्त होने से कर्मत्व जाति के अभाव होने पर कर्मत्वजातियोगित्व भी कर्म का लक्षण खण्डित हो गया ।

सामान्यस्य दुर्लक्षत्वाच्च तद्विशिष्टानि लक्षणानि सर्वाण्यपि निरस्तानि वेदितव्यानि। तथाहि किमिद सामान्यम् ? किमनुवृत्तप्रत्ययकारणम् ? उतानुवृत्तप्रत्ययप्रमाणकम् ? अथवानुवृत्तत्त्वम् ? आहोस्विन्नित्यत्वे सत्यनुवृत्तत्वम् ? अथवा नित्यमेकमनेकसमवेतम् ? तत्र—

अतिव्याप्त्या निराकुर्यादाद्य पक्षचतुष्टयम्।
अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्त्य प्रतिक्षिपेत् ॥ १० ॥

न तावद् आद्य, सामग्र्या तदेकदेशेषु चातिव्याप्ते, तेषामपि तत्प्रत्ययकारणत्वात्। नापि द्वितीय, अनुवृत्तप्रत्ययस्य स्वकारणानुमापकतया कारणस्यापि तत्प्रमाणकत्वादतिव्याप्ते, न तृतीय, अनुवृत्तप्रत्ययस्य

किंच सामान्यमेव यदा दुर्लक्षम्, तदा दुर्लक्ष्यतराणि तदवान्तरकर्मत्वादिसामान्यानि दुर्लक्ष्यतमानि च तद्गर्भलक्षणानीत्याभिसन्धाय सामान्यखण्डन प्रस्तावयति—**सामान्यस्येति**। तत्र किमनुवृत्तज्ञान प्रति कारण सामान्यम् ? तज्ज्ञानेन प्रमीयमाण वा ? अनुवृत्त वा ? नित्यत्वे सत्यनुवृत्त वा ? नित्यमेकमनेकसमवेत वा ? इति विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना**। असमवेतस्यापि समवायवदनुवृत्तिसभवान्न चतुर्थपञ्चमपौनरुक्त्यम्। तत्र, तेषु मध्ये, इत्युत्तरश्लोकस्योपकार।

पक्षचतुष्ठयेऽप्यतिव्याप्ति दर्शयन्पूर्वार्ध व्याचष्टे–**न तावदित्यादिना**। तदेकदेशा धर्मादय। इद चासाधारणसाधारणकारणविवक्षयोर्यथायथमुत्तरम्। न च विषयतयाकारणमिति विशेषणीयम्, गौरिति विशिष्टव्यवहारे व्यक्तेरपि तथात्वापातात्। **नापि द्वितीय इति**। यथानुवृत्तप्रत्यय कारणतया सामान्यमनुमापयति, एव सामग्री तदेकदेशाश्चेति तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थ। **न तृतीय इति**। अनेकवृत्तिर्ह्यनुवृत्ति,

---

सामान्य (जाति) के दुर्लक्ष्य होने से, सभी सामान्ययुक्त लक्षणो को निरस्त समझना चाहिये, यह दर्शाया जाता है कि—यह सामान्य क्या है। क्या अनुवृत्त = अनुगत, ज्ञान का कारण है, या अनुवृत्त ज्ञानरूप प्रमाण वाला है, अथवा अनुवृत्तत्व धर्म स्वरूप है, या नित्यत्व युक्त अनुवृत्तत्व है, या नित्य एक अनेक समवेत स्वरूप है, इनमे—प्रथम के चार लक्षणो का अतिव्याप्ति से, और पञ्चम का अनेकत्व की अनिरुक्ति से निरसन करना चाहिये ॥ १० ॥

प्रथम-अनुगत, ज्ञानकारणत्व रूप लक्षण नही हो सकता है, क्योकि इस लक्षण की अनुगत ज्ञान की सामग्री, और उस सामग्री के एकदेश धर्मादि मे अतिव्याप्ति होती है, वे सब भी अनुगत ज्ञान के कारण है। दूसरा लक्षण भी युक्त नही, क्योकि अनुगत ज्ञान अपने कारण का अनुमापक (हेतु, लिङ्ग रूप से बोधक) होता है, अत उसको अपने कारण के प्रमापक होने से, उसके कारण मे अनुवृत्त प्रत्ययप्रमाणकत्व = अनुवृत्तज्ञानप्रमाणवत्त्व लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। अनुवृत्तत्व रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नही, क्योकि अनेक मे

संयोगादिष्वपि भावात्, नापि चतुर्थं, नित्येष्वनेककार्यवृत्तिषु परमाणुषु व्यभिचारात्। नापि पञ्चमं, विकल्पासहत्वात्। तथाहि— किमनेकत्वसंख्याविशिष्टेषु समवेतत्वमनेकसमवेतत्वम्? उताश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वम्। आहोस्वित् स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वम्? न प्रथमः, गुणकर्मवृत्तिसामान्येष्वव्याप्तेः, अद्रव्यत्वेन गुणकर्मणोः संख्यानधिकरणत्वात्। नापि द्वितीयः, अन्त्यै-

---

सा च संयोगविभागद्वित्वादिष्वप्यस्तीति तेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थः। **अनेककार्यवृत्तिष्विति**। संयोगिनामपि वृत्तिरस्त्येव, इतरथा—कुण्डेषु बदराणां वृत्त्यभावप्रसङ्गादिति भावः। समवायेऽप्यतिव्याप्तिः। असंबन्धत्वविशेषणेऽपि पूर्वमुत्तरम्। नन्वस्तु पञ्चमस्तया च नातिव्याप्तिः। समवेतशब्देन परमाण्वाकाशादिव्यावृत्तेर्नित्यपदेनैव संयोगादेरिति। तथाच श्रीवल्लभः—"नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यमिति। एकपदेन चान्त्यविशेषव्यावृत्तेः" इति। तत्राह—**नापीति**। दूषणपरयोत्तरार्धं योजयति—**किमनेकत्वेत्यादिना**। अनेकत्वसंख्या द्वित्वादिसंख्या। **स्वाश्रयेति**। स्वस्य सामान्यस्य यः आश्रयस्तत्प्रतियोगिकान्योन्याभाववान् यस्तस्मिन्समवेतत्वम्। एवं ह्यनेकाश्रयत्वमुक्तं भवति, तस्यैव तस्मादन्यत्वायोगादित्यर्थः। अनेकत्वसंख्याविशिष्टे समवेतत्वमनेकसमवेतत्वमित्युक्तम्, गुणत्वकर्मत्वतदवान्तरजातिषु तद्गर्भलक्षणस्याव्याप्तेरित्याह—**न प्रथम इत्यादिना**। तत्र हेतुः—**अद्रव्यत्वेनेति**। अन्त्यैर्विशेषैरितीदं ह्यन्त्यविशेषाणामपार्थिवपरमाणुविशेषगुणानामीश्वरज्ञानादीनां नित्यद्रव्यसमवेतैकत्वसंख्यापृथक्त्वपरिमाणामानुपलक्षणम्। तेषां नित्यत्वात्तदाश्रयाणां च यत्किंचिदाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्त्वादतोऽतिव्याप्तिस्तेष्वित्यर्थः।

वृत्तित्व अनुवृत्तत्व कहा जाता है, और संयोग, विभाग द्वित्वादि भी अनेकवृत्ति होते है, अतः अनुवृत्तत्व के संयोगादि मे रहने से उनमे अतिव्याप्ति है। नित्यत्वयुक्त अनुवृत्तत्व यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही, क्योकि नित्यत्वयुक्त अनेक द्वयणुकादि कार्यवृत्ति (संयुक्त) परमाणुओ मे इसका व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है। (नित्यमेकमनेकसमवेतम्) यह पञ्चम भी युक्त नही, क्योकि यह विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि यह अनेक समवेतत्व क्या है? क्या अनेक संख्या युक्त मे समवेतत्व है या आश्रय प्रतियोगिक भेदवत् समवेतत्व है अथवा स्वाश्रय प्रतियोगिक भेदवत् समवेतत्व है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योकि गुण और कर्म मे वृत्तिसामान्यो मे इस लक्षण की व्याप्ति होती है, कारण है कि गुण और कर्म के अद्रव्य होने से उनमे संख्या रूप गुण नही रहता है। दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि अन्त्यविशेष और परमाणुरूपो के द्वारा व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है, क्योकि उनको

विशेषै परमाणुरूपैश्च व्यभिचारात्, तेषामपि यत्किचिदाश्रयप्रतियोगिकान्योऽन्याभाववत्समवेतत्वात्। न तृतीय, स्वशब्देन जातिविवक्षायामात्माश्रयत्वप्रसङ्गात्। नित्यत्व च स्वप्रच्युत्यनुपलक्षितसत्तायोगित्वम ? प्रध्वसप्रतियोगित्वानधिकरणत्व वा ? स्वप्रध्वसप्रतियोगित्वानधिकरणत्व वा ? न प्रथम, जातेर्जात्यनधिकरणत्वेन लक्षणस्यासभवित्वात्। न द्वितीय, विकल्पासहत्वात्। कि तत्प्रतियोगित्व यदनधिकरणत्व नित्यतामभिदधासि ? कि तन्निरूपकत्वम् ? उत तेन सहानवस्थितत्वम् ? नाद्य, जातेर्ध्वसोऽन्य इत्यत्र जातेरपि ध्वसनिरूपकत्वात्। न

स्वशब्देनेति। स्वाश्रयेत्यत्र स्वशब्देन यत्किचिद्विवक्षाया पूर्वोक्तदोष, जातिविवक्षाया तेनैव तल्लक्षणादात्माश्रय, पूर्वोक्तातिव्याप्तिश्च। तेषामपि सामान्याश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववत्समवेतत्वादिति भाव । एवमनेकसमवेतत्वानिरुक्त्या लक्षण दूषयित्वा नित्यत्वानिरुक्त्यापि तद् दूषयति—**नित्यत्वं चेति**। इदमपि श्लोकस्थचशब्देनासूचि। प्रच्युतिर्विनाश, तेनानुपलक्षितसत्तायुक्तत्व सत्तायामसभवि, निःसामान्यत्वात् सामान्यस्येति प्रथम पक्ष दूषयति—**न प्रथम इति**। आत्मादिष्वव्याप्ति, तत्र वर्तमानसत्ताया अपि घटादिप्रच्युत्युपलक्षितत्वात्। एतेन स्वरूपसत्ताविवक्षापि प्रतिक्षिप्ता, प्रमेयत्वरूपस्य तस्यानुवृत्तस्य तथात्वात्, इतरस्य च व्यावृत्तस्यानुगतनित्यशब्दार्थत्वायोगात्। स्वप्रच्युतीतिविशेषणे चात्माश्रयत्वमित्यपि द्रष्टव्यम्। प्रतियोगित्वविकल्पस्य प्रकृतोपयोगित्वमाह—**यदनधिकरणत्वमिति**। किं प्रध्वसनिरूपकत्वम् ? किं वा प्रध्वससहानवस्थितत्वमित्यर्थ ? आद्ये तत्प्रतियोगित्वानधिकरणत्व प्रध्वसानिरूपकत्वमिति यावत्, तच्चासिद्धमित्याह—**नाद्यः, जातेरिति**।

भी नित्यत्व है और यत्किञ्चिद् आश्रय गुणादि प्रतियोगिकभेदवत् मे समवेतत्व है। तृतीय पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि स्वशब्द से जाति के ग्रहण करने पर आत्माश्रयत्व की प्राप्ति होगी, यत्किञ्चित् को स्वशब्द से ग्रहण करने पर पूर्वोक्त अतिव्याप्ति होगी। और लक्षणगत नित्यत्व क्या है, स्वप्रच्युति = नाश से अनुपलक्षित सत्तायोगित्व है, या प्रध्वसप्रतियोगित्वानधिकरणत्व है, या स्वप्रध्वसप्रतियोगित्वानधिकरणत्व है। यहाँ प्रथमपक्ष अयुक्त है, क्योकि पटत्वादि जाति के सत्ताजाति के अनधिकरण होने से सत्तायोगित्व लक्षण का असम्भव है। विकल्पाऽसह होने से दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योकि वह ध्वसप्रतियोगित्व क्या है कि जिसके अनधिकरणत्व रूप नित्यता को कहते हो, क्या उस ध्वस का निरूपकत्व ध्वसप्रतियोगित्व है, या उस ध्वस के साथ अनवस्थितत्व ध्वसप्रतियोगित्व है। यहाँ आद्य पक्ष मे असम्भवता है, क्योकि जैसे, घटध्वस, कहने पर ध्वस की निरूपकता घट मे भासती है, वैसे (जातेर्ध्वसोऽन्य) जाति से ध्वस अन्य है, ऐसा कहने से जाति मे भी ध्वसनिरूपकता भासती है, क्योकि ध्वस अन्य है, ऐसा कहने पर अपेक्षा

द्वितीय , सत्ताद्रव्यत्वपृथिवीत्वाना घटध्वसेन सह पृथिव्यामनवस्थानात् । नापि तृतीय , जातिप्रध्वसस्यैवाप्रसिद्धतया तत्प्रतियोगित्वस्याप्रसिद्धे । ननु ब्रह्मणि तवापि नित्यत्व सिद्ध तत्कि जातावपलपसि ? मैवम् , ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्वधर्मानधिकरणत्वात् । कथ तर्हि तद्व्यपदेश इति चेत्,

---

ध्वसोऽन्य इत्यत्र कस्मादन्यत्वम् ? इत्यपेक्षाया जातेरिति जातिर्निरूपिकेत्यर्थ । नचान्यत्व प्रत्येव तदिति वाच्यम् । सतो घटस्य ध्वस इत्यादौ विशेषणतया तस्यापि तथात्वात्, स्वरूपभेदवादिना तस्यापि भावाच्चेति । द्वितीयेपि ध्वसासामानाधिकरणत्वस्य तत्प्रतियोगित्वे तदनधिकरणत्व नाम ध्वसासमानाधिकरणत्वानधिकरणत्व वक्तव्यम । नचैतदित्याह—**न द्वितीय इति** । यद्यपि कपाले सामानाधिकरण्यमस्ति, तथापि तन्त्वादिरूपपृथिव्यादौ तदभावादसमानाधिकरणत्वानधिकरणत्व नास्तीत्यर्थ । स्वध्वसेनेति तु तृतीयपक्षदूषणेनैव दूषयिष्यते । यत्किंचित्प्रध्वसाप्रतियोगित्व सयौगादेरप्यस्तीति तत्र लक्षणस्यातिव्याप्तिरिति द्रष्टव्यम् । स्वध्वसप्रतियोगित्वानधिकरणत्व नित्यत्वमिति । तृतीय पक्ष दूषयति—**नापीति** । ननु ब्रह्मणो निर्धर्मकतया नित्यत्व नास्तीति वक्तुमयुक्तम्, 'आकासवत्सर्वगतश्च नित्य , नित्य विभु सर्वगत च' इत्यादिश्रुतिविरोधादिति शङ्कते—**कथ तर्हीति** । नात्र नित्यत्व

होती है, किससे अन्य है ? तो कहा जाता है कि जाति से अन्य है, इसप्रकार से जाति को निरूपकता होती है इत्यादि । अत ध्वसप्रतियोगित्वनिरूपकताऽनधिकरणत्व जाति मे नही रह सकती है, ध्वस के साथ अनवस्थित्व रूप दूसरा पक्ष भी असम्भव है, क्योकि घट के ध्वस के साथ फूटे घट के कपाल मे घट के नही रहने से घट को ध्वस का प्रतियोगी कहा जायगा, वैसे ही तन्तु, वृक्षादि रूप पृथिवी मे वर्तमान सत्ताद्रव्यत्व पृथिवीत्वादि को कपालवृत्ति घटध्वस के साथ अनवस्थिति से ध्वसप्रतियोगिता प्राप्त होगी । यद्यपि कपाल मे सत्ता आदि को घटध्वस के साथ समानाधिकरणता है ही, तथापि तन्तु आदि मे नही है, यह कथञ्चिदुक्ति है, क्योकि सत्तादि तो सर्वत्र एक है । परन्तु वह भी खण्डनीय है । (स्वप्रध्वस-प्रतियोगित्वानधिकरणत्व नित्यत्व है, यह तृतीय पक्ष भी असम्भवयुक्त है, क्योकि जाति के प्रध्वस के ही अप्रसिद्ध होने से उसके प्रतियोगित्व की भी अप्रसिद्धि है । और प्रतियोगित्व की प्रसिद्धि के बिना उसकी अनधिकरणता कैसे कही जायगी । शका होती है कि आपके मतानुसार ब्रह्म मे नित्यत्व सिद्ध है, तो फिर जाति मे उस नित्यत्व का क्यो अपलाप करते है (अभाव कहते हे), तो उत्तर है कि ऐसी बात नही हे । ब्रह्म मे नित्यत्व धर्म सिद्ध नही हे, क्योकि ब्रह्म के निर्धर्मक (निर्गुण) होने से नित्यत्व धर्म का अधिकरण ब्रह्म नही है, तो यदि शका हो कि (आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य नित्य विभु सर्वगतम्) इत्यादि नित्यत्व का कथन कैसे होता हे ?

विनाशस्य दुर्निरूपत्वादिति ब्रूम । ननु घटादेरपि विनाशो दुर्निरूप, सत्यम्, स्वरूपेण परमार्थस्य तदनिरूपणे नित्यत्वव्यपदेशात् , घटादेश्चातथात्वात् । त्व पुन सामान्यादीना त्रयाणा स्वात्मसत्व बुद्धिलक्षणत्त्वमित्यादिभाष्यदर्शनान्नित्यत्व साधर्म्यमिच्छसि ।

नाम धर्मो विवक्षित , अद्वैतश्रुतिविरोधात्, किंतु दुर्निरूपविनाशत्वादिति परिहरति—**विनाशस्येति** । ननु ब्रह्मव्यतिरिक्तानिर्वाच्यत्ववादिनो घटादेरपि विनाशो दुर्निरूप इत्याशङ्क्य परिहरति— **सत्यम्, स्वरूपेणेति** । यथाहि-रज्जुसर्पादेर्नाशो दुर्निरूप । नचैतावता तेषु नित्यत्वव्यपदेशस्तत्कस्य हेतो ? धर्मिणो दुर्निरूपत्वात्तथा वियदादेरपि, ब्रह्मणस्तु स्वरूपेणापि परमार्थत्वात् स्वरूपेण परमार्थत्वे सति दुर्निरूपविनाशत्वलक्षणनित्यत्वसभवान्नित्यत्वव्यपदेश इत्यर्थ । नन्वस्मन्मतेऽपीदमेव नित्यत्व सामान्यस्य भवत्विति तत्राह—**त्वं पुनरिति** । तथाहि—"सामान्यादीना त्रयाणा स्वात्मसत्त्व बुद्धिलक्षणत्वमकार्यत्वमकारणत्वमसामान्यविशेषत्त्व नित्यत्वमर्थशब्दानभिधेयत्व च" इति प्रशस्तपादभाष्यम् । तत्र च स्वात्मसत्त्व स्वरूपसत्त्वम् । बुद्धिलक्षणत्व बुद्धिभिर्ह्येतानि लक्ष्यन्ते । अनुवृत्तप्रत्ययकारण सामान्यम् । अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवोऽन्त्या विशेषा । इह प्रत्ययहेतु समवाय । अकारणत्व चानात्मगुणकार्यं प्रति, तत्र च नित्यत्व साधर्म्यमभिप्रेतम् । साधर्म्य समानो धर्म इत्यर्थ । एतेन नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतमिति मानमनोहरकारोक्तलक्षणमपि निरस्तम् ।

तो उत्तर है कि ब्रह्म बिनाश के दुर्निरूपत्व के कारण उसको नित्य कहते है, नित्यत्व धर्म से नही । यदि शका हो कि ब्रह्म मे भिन्न को अनिर्वचनीय मानने वाले आप के मत मे घटादि का ध्वस भी अनिर्वाच्य होने से दुर्निरूप है, अत उसमे भी नित्यत्व व्यवहार की प्राप्ति होगी, तो शका सत्य है, परन्तु स्वरूप से परमार्थ वस्तु के उस नाश के अनिरूपण होने पर नित्यत्व का व्यवहार होता है, ब्रह्मात्मास्वरूप से परमार्थ है, अत दुर्निरूप विनाश वाला वह सत्य कहा जाता है—नित्य कहा जाता है । रज्जु सर्प के समान घटादि स्वरूप से परमार्थ नही है, अत उनके विनाश के दुर्निरूप होते भी नित्य नही कहे जाते है । आप तो ऐसा नित्यत्व नही मान सकते है, क्योकि (सामान्यादीना त्रयाणा स्वात्मसत्त्व बुद्धिलक्षणत्वम् = अकार्यत्वम् = अकारणत्वम् = असामान्यविशेषत्वम् = नित्यत्वम्= अर्थशब्दानभिधेयत्व च) इत्यादि वैशेषिकभाष्य के दर्शन से सामान्यादि तीनो के नित्यत्व साधर्म्य को आप मानते है । उक्त एक ब्रह्म को परमार्थ सत्य को नही मानते है । स्वात्मसत्व (स्वरूपसत्त्व = सत्ताजातिरहितत्त्व) बुद्धिलक्षणत्व (बुद्धिप्रमाणकत्व) अकार्यत्व (अनादित्व) अकारणत्व (अनात्मगुण कार्य का अकारणत्व) अपरसामान्यशून्यत्व, नित्यत्व, अर्थशब्दाऽवाच्यत्व, ये सामान्यादि तीनो के समान धर्म है । यह भाष्य का अर्थ है ।

अस्तु तर्हि मनस्त्वात्मत्वातिरिक्तनित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सति समवेत सत्तानाश्रय. सामान्यमिति सामान्यलणमिति चेत्, न, यत —

जातेरद्याप्यसिद्धेश्च सत्तादेरप्यसिद्धित ।
तदनाश्रयतान्यत्वलक्षणेऽन्योऽन्यसश्रय ।। ११ ।।

जातिमात्रलक्षणसिद्धौ सत्तात्मत्वमनस्त्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ चात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति सत्तानाश्रय इति लक्षणविशेषणसिद्धिरिति परस्पराश्रयता ।

शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति** । सत्तानाश्रय सामान्यमित्युक्ते अभावसमवाययोरतिव्याप्ति स्यात्तदर्थं समवेतमित्युक्तम् । तावपि चान्त्यविशेषेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रसमवेतान्यत्वे सतीत्युक्तम् । एवचात्मत्वमनस्त्वयोरव्याप्तिस्तयोर्नित्यमात्रसमवेतत्वात् । अत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेति, आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्त यन्नित्यमात्रसमवेत तदन्यत्वे सतीत्यर्थं । द्रव्यगुणकर्मव्यावर्तनाय सत्तानाश्रय इत्युक्तम् । जातिरेव तावदद्यापि न सिद्धा, अत एव तद्विशेषसत्तात्मत्वमनस्त्वानामप्यसिद्धिस्ततश्च सत्तानाश्रयत्वेनात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वेन च सामान्यलक्षणेऽन्योन्याश्रय स्यादिति सग्रहश्लोकार्थं ।

अन्योऽन्यसश्रय विशदयति—**जातिमात्रेति** । ननु यद्यपि सत्तादीना जातिभेदत्वम्, तथापि न तेषा सामान्यज्ञानाधीननिरूपणमतो नान्योन्याश्रयतेति, तत्राह—

यदि कहे कि (मनस्त्व आत्मत्व से अतिरिक्त नित्यमात्र मे समवेत से अन्य होता हुआ समवेत सत्ताऽनाश्रय सामान्य होता है। यह लक्षण सामान्य का माना जाय) सत्तानाश्रय मात्र कहे, तो अभावसमवाय मे अतिव्याप्ति होगी, अत समवेत कहा है। अन्त्य विशेष मे अतिव्याप्ति वारण के लिये नित्यमात्र समवेत से अन्य कहा है, ऐसा होने पर आत्मत्व मनस्त्व मे अव्याप्ति होती, उसके वारण के लिये, आत्मत्व मनस्त्व से अन्य नित्यमात्र समवेत इत्यादि कहा गया है। परन्तु ऐसा कहना भी नही बन सकता है। क्योकि—

अभी जाति की असिद्धि से सत्ता आदि की भी असिद्धिता के कारण सत्ताऽनाश्रयता आत्मत्व मनस्त्वान्यत्व युक्त लक्षण मे अन्योन्याश्रय की प्राप्ति होती है ।।११।।

जातिमात्र के लक्षण की सिद्धि होने पर सत्ता आत्मत्व मनस्त्व की सिद्धि होगी, और उन सत्ता आदिको की सिद्धि होने पर, आत्मत्व, मनस्त्व अतिरिक्त और सत्तानाश्रय इन लक्षण के विशेषणो की सिद्धि हो सकती है, अत परम्पराश्रयता होती है। यदि कहा जाय कि सत्ता आत्मत्वादि के जातिभेदत्व होते भी सामान्यज्ञानाधीन निरूपण नही होने से अन्योन्याश्रय नही होगा, तो सामान्य

तथाहि—घटवृत्तिवृत्तित्वे सत्यात्मवृत्तिर्जाति सत्तेति परैरभ्युपेयते, न धर्म-मात्र भावमात्र वा । धर्ममात्रत्वे घटवृत्तिरूपादेरात्मनश्चान्योन्याभावेऽति-व्याप्ते । भावमात्रत्वे वाऽपरजातिमत्त्वलक्षणे धर्मे गुणकर्मणोरात्मनि च वर्तमानेऽतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात्, अत परिशेषादेवविशेषिना जाति सत्तेति वाच्यम्, तथासति कथ नान्योन्याश्रयता ? तथात्मत्वमनस्त्वलक्षणे च ?

तथाहीति । जाति सत्तेत्युक्ते गुणत्वादावतिव्याप्तिरत उक्तमात्मवृत्तीति । तथाप्यात्मत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थ घटवृत्तीत्युक्तम्, तथापि द्रव्यत्वेऽतिव्याप्तिस्तदर्थ घटवृत्तिवृत्तीत्युक्तम् । घटवर्त्तिनी ये गुणकर्मणी तदवृत्तीत्यर्थ । ननु घटवृत्तिवृत्तिरात्मवृत्तिभाव सत्ता, अथवा तथाविधो धर्मविशेष कश्चिदिति सत्तालक्षणमस्तु, न जातिविशेषण युक्तम्, येनान्योऽन्याश्रयना स्यादिति, तत्राह—**न धर्ममात्रमिति । घटवृत्तीति ।** रूपादेरात्मनश्च यो धर्मभूतो घटान्योन्याभावस्तत्रैतल्लक्षणमस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थ । भावमात्रत्वे दूपणमाह—**भावेति ।** अस्ति हि गुणकर्मणोरात्मनश्चापरजातिमत्त्व धर्म, स च भावरूपोऽप्रतिषेधात्मकत्वात्, इतरथातिप्रसङ्गात् । किंच विशिष्टरूप-मिदम, विशिष्ट च विशेपणविशेष्यतत्सबन्धात्मकम्, नच तेषा नियमेनाभावत्वमिति कथमीदृशानामभावान्तर्भाव ? यथाह—

> विशेषण विशेष्य च तत्सबन्धफलार्पकम् ।
> ज्ञानरूप स्वसामर्थ्याद्वैशिष्टचमिति कीर्त्यते ।।' इति ।।

(न्या० ली० पृ० ७०)

ततश्च तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थ । आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तेत्यशेऽप्यन्योन्याश्रयमाह—**तथात्मत्वेति ।** तयोरपि जातिगर्भत्वाल्लक्षणस्येत्याह—**तथाहीति ।** सत्ताद्रव्यत्व-

---

ज्ञानाधीन निरूपणत्व दर्शाया जाता है कि (घटवृत्ति गुणादि मे रहता हुआ जो आत्मवृत्ति जाति होती है, वह सत्ता कही जाती है, यह अन्यलोग मानते है (जाति सत्ता, कहे तो गुणत्वादि मे अतिव्याप्ति होगी, अत आत्मवृत्ति कहा, तो भी आत्मता मे अतिव्याप्ति वारण के लिये घटवृत्तिवृत्ति कहा है। यहाँ जाति के स्थान मे धर्ममात्र वा भावमात्र नही कहा जा सकता है । यदि धर्मादि मात्र कहे जाते तो अन्योन्याश्रय नही होता, परन्तु कहे नही जा सकते है, क्योकि धर्ममात्र के कहने पर, घटवृत्ति रूपादि और आत्मा के अन्योन्याश्रय मे अतिव्याप्ति होगी । अन्यो-न्याश्रय भी घटवृत्तिवृत्ति और आत्मवृत्ति धर्म है, जाति कहने से यह दोष नही होता है । इसीप्रकार से धर्ममात्र के कहने पर, अपरजातिमत्त्वस्वरूप गुण, कर्म और आत्मा मे वर्तमान धर्म मे तदवस्थ अतिव्याप्ति होती है। अत परिशेषता से घटवृत्तिवृत्तित्वविशिष्ट आत्मवृत्ति, ऐसी विशेषित जाति को सत्ता कहना होगा, तो आन्योन्याश्रय कैसे न होगा । इसीप्रकार से आत्मत्व, मनस्त्व के जाति-

तथाहि--घटावृत्तित्वे सत्यात्मनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिरात्मत्वम्, एवमाकाशावृत्तित्वे सति मनोनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनी जातिर्मनस्त्वम्, न तु धर्ममात्र भावमात्र वा। तदुभयनिष्ठान्योऽन्याभावे बहुत्वसख्याया च व्यभिचारात्। तथा न तदतिरिक्तत्वलक्षणे कथ न प्राचीनदोषानुषङ्ग? कथ च सत्सदित्यबाधितप्रत्यये सति सत्ताया गोत्वादावभाव? न चैकार्थसमवायात्सदिति प्रत्यय, गुणकर्मणोरपि तथोपपत्तौ सत्ताऽभाव-

---

योरनिव्याप्तिपरिहाराय घटावृत्तीत्युक्तम्। उदकत्वगुणत्वाद्यतिव्याप्तिवारणायात्मनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिनीत्युक्तम्। मनस्त्वलक्षणमाह—**एवमिति।** अत्रापि सत्ताद्रव्यत्वाद्यतिव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमाकाशावृत्तीत्युक्तम्। घटत्वादिष्वतिव्याप्तिपरिहाराय मनोनिष्ठेत्यादिविशेषणम्। यदि हि धर्ममात्रमात्मत्वमनस्त्वे स्याताम्, तदा तदुभयनिष्ठावात्ममनोनिष्ठौ यावन्योन्याभावो आत्मनि घटान्योऽन्याभावो मनसि चाकाशान्योन्याभावस्तयोरतिव्याप्ती स्याताम्। अथ भावमात्रम्, तदात्मवृत्तिज्ञाने मनोनिष्ठबहुत्वसख्याया चातिव्याप्ती स्यातामित्यर्थ। बहुत्वसख्याग्रहण ज्ञानादेरप्युपलक्षणम्। प्राचीनदोषोऽन्योऽन्याश्रय। सत्तानाश्रय इति विशेषण सत्ताव्यतिरिक्तगोत्वादिष्वसिद्धम, गोत्व सद्द्रव्यत्व सदित्यबाधितानुवृत्तप्रत्ययवशात्तेषामपि सत्ताश्रयत्वप्रतीतेरित्याह--**कथं च सत्सदिति।** ननु गोत्वादिषु सदिति प्रत्ययो न सत्तानिमित्त, किंतु सत्तया सहैकस्मिन्नर्थे गवादौ समवायादिति, तत्राह—**न चैकार्थेति।** गुणकर्मणोरपि द्रव्ये तदेकार्थसमवायात्तदुपपत्त्या सत्ताऽभाव प्रसज्येत, एवमवयविष्वपीति भाव। किंच यदि सत्तैकार्थसमवायात्तत्र सदिति व्यवहारस्तर्हि

घटित (युक्त) लक्षण मे अन्योन्याश्रय है, वह दर्शाया जाता है। (घट मे अवृत्तित्वयुक्त आत्मनिष्ठात्यन्ताभाव की अप्रतियोगी जाति आत्मत्व है) इसी प्रकार आकाश से अवृत्तित्वयुक्त मनोवृत्ति अत्यन्ताभाव की अप्रतियोगी जाति मनस्त्व है। आत्मत्वलक्षण मे सत्ता द्रव्यत्व मे अतिव्याप्ति वारण के लिये घटावृत्तित्व कहा है। और मनस्त्व मे आकाशाऽवृत्तित्व कहा है। इन लक्षणो मे भी जाति के स्थान मे धर्ममात्र वा भावमात्र नही कह सकते है, धर्ममात्र कहने पर तदुभय, आत्मा और मनोवृत्ति अन्योन्याऽभाव मे अतिव्याप्ति होती है, आत्मा मे घट आत्मा का अन्योन्याभाव रहता है, मन मे आकाश का अन्योन्याभाव रहता है, और भावमात्र के ग्रहण करने पर, आत्मवृत्ति ज्ञान और मनोवृत्ति बहुत्वसख्या मे अतिव्याप्ति होगी। अत जातिघटित आत्मत्व मनस्त्व के होने पर आत्मत्व मनस्त्व से अतिरिक्तत्व युक्त लक्षण मे प्राचीन दोष (अन्योन्याश्रय) कैसे नही प्राप्त होगा। और सत्ताऽनाश्रय, यह विशेषण भी सत्ताभिन्न गोत्वादि मे असिद्ध है, क्योकि गोत्व सत् है, द्रव्यत्व सत् है, इसप्रकार से सत् सत् इस अबाधित ज्ञान के रहते गोत्वादि मे सत्ता

प्रसङ्गात्। सत्तासमवाययो सदिति व्यवहाराभावप्रसङ्गाच्च। विवादाध्यासित सत्तारहितमपरजातिरहितत्वात् सत्तावदिति बाधकमिति चेत्, मैवम्, सद्गोत्व सदश्वत्वमित्यादिप्रत्यक्षविरोधे कालात्ययापदिष्टत्वात्, अन्यथा गुणकर्मणी सत्तारहिते अद्रव्यत्वात्सत्तावदित्यपि स्यात्। अथ तत्रानुभवविरोध, स न प्रकृतेऽपि दण्डवारित। तस्मादसभवित्वात्सत्तानाश्रय इत्यलक्षणमेतत्।

सत्ताया सत्तान्तराभावेन समवायस्य चासमवायित्वेन सत्तैकार्थसमवायो नाऽस्तीति सद्बुद्धिस्तत्र न स्यादित्याह—**सत्तासमवाययोरिति।** किंच सत्तायामेवाव्याप्ति, तस्या सत्ताश्रयत्वात्। नचात्माश्रयान्योन्याश्रयानवस्था, उत्पत्तिज्ञप्त्यप्रतिबन्धकतया प्रमेयत्वादाविव भवन्मते दूषणत्वाभावादिति। विवादाध्यासितमिति गोत्व विवक्षितम्, जातिरहितत्वादित्युक्ते साध्याविशिष्टता तदर्थमपरग्रहणम्। नहि द्रव्यत्वादिषु द्रव्यत्वादिकमस्तीति तेऽपि मतमिति भाव। यदि प्रतीतावनादरस्तर्हि गुणादावपि न जातिसिद्धिरुक्तानुमानस्य तत्रापि प्रचारादित्याह—**अन्यथेति।** शिवादित्यमिश्रलक्षणमुपसहरति—**तस्मादिति।**

का अभाव कैसे माना जा सकता है। यदि कहे कि एकार्थ समवायसम्बन्ध से गौ आदि द्रव्यवृत्ति सत्ता की गोत्वादि मे प्रतीति होती है, क्योकि गोत्वादि और सत्ता दोनो द्रव्य मे समवायसम्बन्ध से रहते है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि ऐसा होने पर गुण और कर्म मे भी एकार्थ समवाय से द्रव्यवृत्ति सत्ता की प्रतीति की सिद्धि हो सकने से उनमे भी सत्ता का अभाव प्राप्त होगा। और यदि गोत्व-द्रव्यत्वादि मे एकार्थ समवाय से सत्त्व की प्रतीति होती है, तो सत्ता और समवाय मे सत् इस व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा, क्योकि दूसरी सत्ता नही कि जिसके साथ सत्ता को एकार्थ मे समवाय हो, और समवाय के समवाय के अभाव से उसको भी सत्ता के साथ एकार्थसमवाय का असम्भव है। यदि कहे कि (विवादास्पद = गोत्व, द्रव्यत्व, समवायादि, सत्तारहित हैं, अपर जातिरहित होने से सत्तावत्) यह अनुमान गोत्वादि मे सत्तावत्त्व का बाधक है, तो ऐसा नही कह सकते हैं, क्योकि सद्गोत्व, सदश्वत्व इत्यादि इत्यादि प्रत्यक्ष के साथ विरोध से अनुमान कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हो जाता है, अन्यथा प्रत्यक्ष से बाध नही मानने पर (गुण, कर्म सत्तारहित है, अद्रव्य होने से, सत्तावत्) इस अनुमान से गुण, कर्म मे भी सत्ता का अभाव सिद्ध होगा। यदि कहै कि गुणादि मे सत्ता के अनुभव से अनुमान को विरोध है, तो प्रकृत गोत्वादि मे भी वह विरोध दण्ड से निवारित नही हुआ है, यहाँ विरोध है। अत असम्भावित होने से सत्ताऽनाश्रय, यह सामान्य का लक्षण नही हो सकता है।

विशेषलक्षणमपि दुर्निरूपम् । तथाहि—'नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषा' इति न लक्षणम्, यत —

नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वमयोगपरिहारत ।
न लक्षणमतिव्याप्तेस्तवात्मत्वमनस्त्वयो ॥ १२ ॥

आत्मत्व मनस्त्व च नित्यद्रव्येष्वेव वर्तत एवेति तयोरतिव्याप्ति । ननु कालाकाशादिषु नित्यान्तरेष्वसत्वान्न तत्सर्वत्र नित्येषु वर्तते विशेषास्तु

कन्दलीकारोक्तलक्षणामनुवदति—**नित्येष्वेवेति** । द्रव्येषु ये वर्तन्ते ते विशेषा इत्युक्तेऽभावसामान्यसमवायेष्वतिव्याप्तिस्तदर्थ द्रव्येष्वेवेत्युक्तम् । तथापि गुणकर्मणो प्रागभावप्रध्वमयोश्चातिव्याप्तिस्तदर्थं नित्येष्वेवेत्युक्तम् । तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोर्नित्य-द्रव्यगतगुणविशेषेषु चातिव्याप्तिरत उक्त वर्तन्त एवेति । अनेन कदाचिद्वृत्ति-क्वचिद्वृत्तिश्च व्यावर्त्यते । तेन नित्यद्रव्ये कादाचित्कक्वाचित्काना ज्ञानादीनाम-कादाचित्कानामपि क्वाचित्काना मनस्त्वादीना व्यवच्छेद, तेषा कालतो देशतश्चा-वृत्तेरपि विद्यमानत्वाद्वर्तत एवेत्ययमशो न सभवतीति भाव । तदलक्षणमित्युक्तम्, तत्र दूषण श्लोकेन सगृह्णाति—**नित्यद्रव्येति** । यदिद वर्तत एवेत्ययोगपरिहारतो नित्यद्रव्यैकवृत्तित्व लक्षणमुक्तम्, तन्न लक्षणम् । कुत ? त्वन्मते आत्मत्वमनस्त्व-योरतिव्याप्तेरिति श्लोकयोजना । अद्वैतवादिनो मनसो नित्यत्व नास्ति, नाप्या-त्मत्व जातिरित्यत उक्त तवेति । सग्रह विवृणोति—**आत्मत्वमिति** । पूर्ववादी हृदय शङ्कते—**ननु कालेति** । तर्हि सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्व किमेकैकविशेषणम् ? किं

विशेष पदार्थ का लक्षण भी दुर्निरूप है। क्योकि (नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या-विशेषा) इस भाष्य के व्याख्यान मे लिखा गया है कि—

(नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये ते विशेषा) नित्य ही मे, द्रव्य ही मे जो रहते ही है वे विशेष पदार्थ है। जो वर्तता है, वह विशेष है, इतना ही कहने पर अभाव सामान्य समवाय मे अतिव्याप्ति होती, उसके वारण के लिये द्रव्येष्वेव कहा गया है, तो भी गुण-कर्म प्रागभाव प्रध्वस मे अतिव्याप्ति वारण के लिये नित्येष्वेव कहा है। कदाचित् वृत्तिज्ञानादि, क्वचिद् वृत्तिमनस्त्वादि के वारण के लिये वर्तन्त एव कहा है। परन्तु यह लक्षण युक्त नही है। क्योकि—

वर्तते एव इस कथन से अयोग के निवारण द्वारा जो नित्य द्रव्यैकवृत्तिस्वरूप लक्षण कहा है, वह लक्षण नही हो सकता है, क्योकि आपके मतानुसार आत्मत्व मनस्त्व मे अतिव्याप्ति होती है ॥ १२ ॥

अर्थात् आत्मत्व मनस्त्व नित्य द्रव्य मे ही वर्तता है। अत उन दोनो मे अतिव्याप्ति है। यदि कहे कि कालाकाशादि नित्यान्तर मे आत्मत्व, मनस्त्व नही

नैवम्, वर्तन्त एवेति नियमादिति चेत्, न, प्रतिविशेषमव्याप्ते सर्वेषां सर्वत्राभावात्। यज्जातीयमेव स विशेष इति लक्षणार्थ इति चेत्, न, विशेषत्वजातेरनङ्गीकरणात्। उपाधेर्विवक्षितत्वाददोष इति चेत्, न, तदुपाधिसिद्धौ तदुपजीविनो लक्षणस्य वैयर्थ्यापातात्, असिद्धौ च लक्षणस्य दुरवधारणत्वात्।

एकद्रव्या स्वभावसन्तो विशेषा इत्यपि न लक्षणम्, एकद्रव्यत्वस्य

वा सभूयमानानाम्? नान्त्य, अनुगतलक्षणायोगात्। प्रथमे प्राह—**प्रतिविशेषमिति**। नन्वन्त्य एव पक्ष, नचानुगतलक्षणासिद्धि, अयोगान्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यावृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्ययोगव्यवच्छेदेन नित्यद्रव्यवृत्तिजातिमत्त्वमिति लक्षणादिति शङ्कते—**यज्जातीयमिति। अनङ्गीकरणादिति।** सामान्यादीना त्रयाणामित्युपक्रम्यासामान्यविशेषवत्त्वमिति प्रशस्तपादै साधर्म्याभिधानात्, अन्त्यविशेषत्वहानेश्च, जातिमत्त्वे ह्यत्यन्तव्यावृत्तत्व न स्यात्। अत एवाश्रयस्यापि नात्यन्तव्यावर्तका स्यु। ननु यज्जातीयमित्यत्र यदुपाधिकमित्युपाधिसामान्य विवक्षितमित्याशङ्क्य तस्यैवाव्याप्त्यतिव्याप्तिरहिम्य लक्षणत्वमस्त्ववश्याश्रयणीयत्वात् कृत तदुपजीविनानेनेति। दूषयति—**न तदुपाधिसिद्धाविति**। एतदेव विपक्षे बाधकतर्केण द्रढयति—**असिद्धौ चेति**।

श्रीवल्लभोदयनयोर्लक्षणमनुवदति—**एकद्रव्या इति**। स्वभावसन्तो विशेषा इत्युक्ते सामान्यसमवाययोरतिव्याप्तिरत उक्त एकद्रव्या इति। एकमेव द्रव्यम्,

---

रहता है, अत आत्मत्वादि सब नित्य मे नही रहते है, और विशेष तो ऐसे नही है, क्योकि रहते ही है, यह नियम है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि प्रत्येक सब विशेष सब नित्य मे रहते है, ऐसा नही होने से, एक विशेष एक ही मे रहता है। अत इस लक्षण की प्रति विशेष मे अव्याप्ति होगी, क्योकि सब विशेषो का एक से अन्य सब नित्य मे अभाव रहता है। जिस विशेषत्व जाति वाला सब नित्य द्रव्य मे रहता हो, उसको विशेष कहते है। यह उक्त लक्षण का अर्थ है, ऐसा भी नही कह सकते है, क्योकि विशेषत्व जाति नही मानी जाती है। यदि कहे कि विशेषत्व उपाधि की विवक्षा से दोष नही रहेगा, विशेषत्व उपाधि वाला सब नित्य द्रव्य वृत्ति होगा। तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि उस उपाधि की सिद्धि होने पर, विशेषत्ववत्त्व रूप विशेष के लक्षण के सिद्ध हो जाने से तदुपजीवी अन्य लक्षण की व्यर्थता होगी, और उपाधि की नही सिद्धि होने पर लक्षण की दुरवधारणता होगी।

(एकद्रव्या स्वभावसन्त) एक द्रव्यस्वरूप आश्रय वाले स्वभाव से सत् स्वरूप=सत्तारहित विशेष होते है, यह लक्षण भी नही युक्त है। क्योकि एक

दुर्निरूपत्वात्। तथाहि किमिदमेकद्रव्यत्वम् ? किमेकत्वसख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतत्वम् ? उताद्विष्ठत्वम् ? नाद्य, द्रव्यनिष्ठसामान्येष्वतिव्याप्ते, तान्यपि ह्येकत्वसख्याविशिष्टद्रव्यसमवेतानि स्वभावसन्ति च, सत्तासामान्यरहितत्वात्। नापि द्वितीय, विकल्पासहत्वात्। तदपि क्वचिद्वृत्तित्वे सत्यन्यावृत्तित्वम् ? उताश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववदवृत्तित्वम् ? न प्रथम, प्राचीनदोषानुषङ्गात्, सामान्यान्यपि हि किंचिन्निष्ठत्वे सति तदन्यावृत्तीनि, सर्वत्रावृत्ते। अत एव न द्वितीय, सर्वावृत्तित्वेनाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववदवृत्तित्वस्यापि सामान्येषु भावात्। स्वाश्रय-

---

आश्रयो येषा नत्ववयविसयोगादिवदनेक ते तथोक्ता। एकद्रव्या इत्येवोक्ते रूपादिगुणकर्मणोरतिव्याप्तिस्तदर्थं स्वभावसन्त इत्युक्तम्। तदेतदेकद्रव्यानिरुक्त्या दूषयति—**किमिदमित्यादिना।** एकत्वसख्यावति वर्तमानत्वे सति स्वभावसत्त्व द्रव्यगतसामान्येष्वस्तीत्यतिव्याप्तिरित्याह—**द्रव्यनिष्ठेति।** स्वभावसत्त्वे हेतु—**सत्तासामान्येति।** सामान्यादीना त्रयाणा स्वात्मसत्त्वमिति भाव—अद्विष्ठत्वमिति कोऽर्थ ? क्वचिद्वर्तमानत्वे सति क्वचिद्वर्तमानत्व द्विष्ठत्व तदभावोऽद्विष्ठत्वमिति, किंवा स्वाश्रयान्योऽन्याभाववति वर्तमानत्व द्विष्ठत्व तदभावोऽद्विष्ठत्वमिति ? नाद्य इत्याह—**न प्रथम इति।** प्राचीनदोषमेवानुषञ्जयति—**सामान्यान्यपि हीति।** सामान्यान्यपि गुणादिषु वर्तमानानि गुणादिष्वेकत्र वृत्तित्वे सति तदन्याभावाद्यवृत्तीत्युक्तलक्षणकानीत्यर्थ। अत एवेत्यतिदिष्ट विशदयति—**सर्वावृत्तित्वेनेति।** सामान्यादिष्ववृत्तित्वेन सर्ववृत्तित्वाभावादिति भाव। ननु तादृगवृत्तित्वमात्रमत्र न विवक्षितम्, किंतु स्वाश्रयप्रतियोगिकान्योन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्वम्, न तत्सामान्येष्वस्ति, तेषामनेकवृत्तित्वेनोक्तरूपत्वाभावादिति शङ्कते—**स्वाश्रयेति।** अत्र

द्रव्यत्व दुर्निरूपणीय है। यह एक द्रव्यत्व क्या है ? क्या एकत्वसख्याविशिष्ट द्रव्यसमवेतत्व है, या अद्विष्ठत्व है ? द्रव्यनिष्ठसामान्य मे अतिव्याप्ति से प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योकि द्रव्यवृत्तिसामान्य भी एकत्वसख्यविशिष्ट आकाशादि मे रहते है, स्वरूप से सत सत्तारहित माने जाते है। अत सत्ता सामान्यरहितत्व रहता है। अद्विष्ठत्व भी एकद्रव्यत्व नही हो सकता है। क्योकि वह विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, वह अद्विष्ठत्व भी क्वचिद् वृत्तित्वयुक्त अन्यावृत्तित्व रूप है। अथवा आश्रयप्रतियोगिक अन्योन्याऽभाववदवृत्तित्व रूप है। प्रथम पक्ष ठीक नही क्योकि पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है, सामान्य भी किसी मे वृत्ति होने तदन्य मे अवृत्ति होते है। क्योकि सामान्यो की सर्वत्र अवृत्ति (अस्थिति) रहती है। अतएव दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है। सर्व मे अवृत्ति होने ही के कारण

प्रतियोगिकान्योऽन्याभाववद्वृत्तित्वानधिकरणत्व विवक्षितमिति चेत्, न; स्वशब्देन विशेषविवक्षायामात्माश्रयप्रसङ्गात्। एतदात्मवृत्तित्वे सत्येतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इति प्रतिव्यक्तिलक्षण विवक्षितमिति चेत्, न; अन्योन्याश्रयत्वात्। नित्यद्रव्याणा भेदाधिगतिहेतवो विशेषा परैरभ्युपगम्यन्ते। ततश्च विशेषसिद्धौ नित्यद्रव्याणां भेदाधिगतिस्तत्सिद्धौ च

स्वशब्देन किं प्रकृतविशेषा गृह्यन्ते? यत्किचिद्वा? द्वितीये त्वसभव। प्रथमे विशेषैरेव विशेषलक्षणादात्माश्रयत्वमित्याह—**न स्वशब्देनेति**। एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यवृत्तित्वासभवेन यद्दूषणमुक्तम्, तन्निवृत्यर्थं प्रति विशेष पृथग्लक्षण शङ्कते—**एतदिति**। नित्यद्रव्यावृत्तिरेतद्विशेष इत्युक्ते व्याहति, अस्मिन्नप्यवर्तनप्रसङ्गात्तन्निवृत्यर्थ एतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तीत्युक्तम्। तथाप्येतदात्मन्यतिव्याप्तिस्तदर्थमेतदात्मवृत्तित्वे सतीत्युक्तम्। एतदात्मवृत्तिरित्येवोक्तावात्मत्वादिनार्थान्तरता, तदर्थमेतदन्यनित्यद्रव्यावृत्तिरित्युक्तम्। अत्र सत्ताराहित्यमप्यवगन्तव्यम्। वृत्तिशब्देन समवायस्य च विवक्षा, इतरथा तन्मात्रवृत्त्यन्योन्याभावादौ सुखादौ चातिव्याप्तिप्रसङ्गात्। अन्योऽन्याश्रय विवृणोति—**नित्येति**। तथाहि—अनित्यद्रव्याणामाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धेर्न तेषु विशेषसद्भावे प्रमाणम, गुणकर्मणोरपि स्वाश्रयविशेषैरेव व्यावृत्तिसिद्धे, सामान्यमात्राश्रयत्वाच्च, तेषु न विशेषसिद्धौ किंचिदस्ति प्रमाणम्, नित्यानामपि विभिन्नलक्षणाना पार्थिवाप्यपरमाण्वादीना पार्थिवत्वादिनैव व्यावृत्तिरित्यतस्तुल्यलक्षणनित्यद्रव्यव्यावृत्तिहेतवो विशेषा स्वीक्रियन्ते। एव च सति नादृगविशेषसिद्धावेतदात्मसिद्धिरेतदात्मज्ञप्तौ च विशेषज्ञप्तिरिति परम्पराश्रयत्वमित्यर्थ। अथानुमानादिप्रमाणान्तरेणैतदात्मादिरूपनित्यद्रव्यव्यावृत्त्यधिगति, तर्हि विशेषकल्पन मुधा। न च योगिना प्रत्यक्षतया व्यावृत्त्यधिगत्यर्थं तत्कल्पनम्। पृथक्त्वेनैव तदुपपत्तेर्न-

---

स्वाश्रयप्रतियोगिक अन्योन्याऽभाववान् मे अवृत्तित्व भी सामान्यो मे रहता है। यदि कहे कि स्वाश्रयप्रतियोगिक भेदवान् मे वृत्तित्वानधिकरणत्व विवक्षित है। वह सामान्य मे नही है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि स्वशब्द से विशेष की विवक्षा करने पर आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी। यदि कहे कि एतत् आत्मवृत्ति होता हुआ एतदन्य नित्यद्रव्यावृत्ति एतदात्मा का विशेष होता है, इसप्रकार से प्रतिव्यक्ति पृथक् पृथक् विशेष का लक्षण विवक्षित है। तो यह कहना भी युक्त नही, इसप्रकार से आन्योन्याश्रय प्राप्त होता है। क्योकि नित्य द्रव्यो के भेद के हेतुरूप विशेषो को वैशेषिक मानते है। अत विशेष की सिद्धि होने पर नित्य द्रव्यो के भेद की सिद्धि हो सकती है (ज्ञान हो सकता है) और नित्य द्रव्यो के भेद के ज्ञान होने पर तद्वृत्तिविशेष का उक्त रीति से पृथक्-पृथक्

विशेषाधिगतिरिति कथं नान्योन्याश्रयः ? अन्यत एव चेद् भेदाधिगमस्तदा विशेषाधिगमो व्यर्थः स्यात् ।

आत्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सति नित्यमात्रसमवेतः सत्तारहितो विशेष इत्यपि न लक्षणम्, परममहत्त्वसामान्येऽतिव्याप्तेः । अस्ति हीदं परममहदिदं परममहदित्यनुवृत्तप्रत्ययबोध्या परममहत्परिमाणेषु परममहत्त्वं जातिः । न च तत्र व्यञ्जकाभावः, नित्यमहत्परिमाणस्यैव तद्व्यञ्जक-

---

क्ष्यमाणत्वादित्यभिसन्धिराह—**अन्यत एव चेदिति ।** किंचैतदात्मविशिष्टस्यैतल्लक्षणम् ? उपलक्षितस्य वा ? आद्ये विशेषणासिद्धिः । न ह्येतदात्मविशिष्टस्यैतदात्मवृत्तित्वं संभवति, अपि त्वात्माश्रयत्वप्रसङ्गात् । द्वितीये त्वसंभवः, एतदात्मोपलक्षितस्याप्येतदात्मवृत्तित्वाभावात्, तत्कस्य हेतोः ? तदपि ह्येतदुपलक्षितत्वविशिष्टं तदुपलक्षितं वा स्यात् । अन्त्येऽनवस्था । आद्ये फलतो विशेषणपक्षान्न विशेष इति ।

शिवादित्यमिश्रोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषयति—**आत्मत्वेति ।** सत्तारहितो विशेष इत्युक्ते समवायाभावयोरतिव्याप्तिस्तदर्थं समवेत इत्युक्तम् । तथापि सामान्येतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यमात्रेत्युक्तम् । तथाप्यात्मत्वमनस्त्वयोरतिव्याप्तिरत उक्तमात्मत्वमनस्त्वातिरिक्तत्वे सतीति । सत्तारहित इति द्व्यणुकादिव्यवच्छेदः । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**परममहत्त्वेति ।** ननु परममहत्त्वं नाम न सामान्यमस्ति, प्रमाणाभावात्, इति तत्राह—**अस्तीति ।** अनुवृत्तप्रत्ययस्यासति बाधके जातिविषयत्वमिति हि त्वदङ्गीकारः, स चात्राप्यस्तीत्यर्थः । परममहत्परिमाणं महत्त्वावान्तरजातिमान् महत्परिमाणत्वाद्धस्तवितस्त्यादिपरिमाणवदित्यनुमानादपि तत्सिद्धिरवगन्तव्या । ननु नात्र नियतव्यञ्जकमस्ति, नित्यपरिमाणत्वस्य पारिमाण्डल्यसाधारण्यादिति, तत्राह—**न च तत्रेति ।** न नित्यपरिमाणत्वं व्यञ्जकमपि तु नित्यमहत्परिमाणत्वमिति भावः । ननु तर्हि तेनैव व्यञ्जकेनानुवृत्त-

---

ज्ञान होगा तो अन्योन्याश्रय कैसे नहीं होगा ? यदि अनुमानादि अन्य प्रमाणों से नित्य द्रव्यों के भेद का ज्ञान हो तो विशेष को मानना व्यर्थ होगा ।

आत्मत्व, मनस्त्व से भिन्न नित्यमात्र समवेत सत्तारहित विशेष कहाता है । यह लक्षण भी युक्त नहीं है । क्योंकि परम महत्त्वरूप सामान्य में इसकी अतिव्याप्ति होती है । यह परम महत् है, यह परम महत् है, इसप्रकार की अनुवृत्त (अनुगत) बुद्धि से ज्ञेय परममहत् परिमाण वालों में यह परममहत्त्व रूप जाति अवश्य है । यदि कहें कि उसमें व्यंजक का अभाव है, तो यह कहना युक्त नहीं, नित्य महत्परिमाण को ही उसका व्यञ्जकत्व है, तो उस परम महत्परिमाण से ही परममहद् व्यवहार की सिद्धि होते जाति की कल्पना व्यर्थ है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि व्यञ्जक को मानकर जाति के निराकरण करने पर

त्वात्। तर्हि तेनैव परममहद्व्यवहारोपपत्तौ व्यर्था जातिकल्पनेति च न वाच्यम्, व्यञ्जकमादाय जातिनिरासे गोत्वादेरपि प्रत्याख्यानप्रसङ्गात्। न चेव परमाणुत्वजातेरभ्युपगमप्रसङ्ग, तत्र पृथिवीत्वादिना परापरभावस्यानिरूपणात्। यदि पृथिवीत्व परम्, तर्हि परमाणुत्वस्य पृथिवीत्वाव्यभिचारात् सलिलादिपरमाणुषु परमाणुत्व न स्यात्। अथापरम्, तर्हि परमाणुत्वस्य परत्वे पृथिवीत्व परमाणुत्व न व्यभिचरेदिति सर्वा पृथिवी परमाणुरेव स्यात्, तेन न परमाणुत्व जाति, न चैवमत्र बाधकमस्तीति परममहत्त्वजातौ भवेदेवातिव्याप्ति। नित्यमात्रसमवेतत्व च किंचिन्नित्य-

---

व्यवहारसिद्धावधिकजातिकल्पना मुधेति तत्राह—**तर्हीति**। आभाससमानयोगक्षेमतामाशङ्क्य परिहरति—**न चैवमिति**। तत्र जातिसङ्करप्रसङ्गो बाधक, नेह तथास्ति किंचिदित्याह—**तत्रेति**। परापरभावाभावमेव विवृणोति—**यदीति**। पृथिवीत्वस्य परत्वे तन्न्यूनवृत्ते परमाणुत्वस्य तद्रहितसलिलपरमाणुषु वृत्तिर्न स्यात्, अस्ति च तदित्यर्थ। परमाणुत्वस्य परत्वे दूषणमाह—**अथापरमिति**। परमाणुत्वस्य परत्वेन तन्न्यूनवृत्ते पृथिवीत्वस्य तद्रहितद्व्यणुकादिषु वृत्तिर्न स्यादित्यर्थ। समुदायदूषणमुक्त्वाऽवयवानिरूपणादपि दूषयति—**नित्यमात्रेति**। एकनित्यवृत्तित्वम? सर्वनित्यवृत्तित्व वा विवक्षितम्? आद्ये सर्वविशेषाव्याप्ति। सर्वविशेषाणा एकनित्यद्रव्यवृत्त्यभावात्। द्वितीये न क्वापि सभव, एकैकविशेषस्य सर्वनित्यद्रव्यावृत्तेरिति खण्डलकार्थ। एकनित्यद्रव्यवृत्तित्वमपि किमेकत्वनित्यत्वविशिष्टद्रव्यवृत्तित्वम्? तदुपलक्षितद्रव्यवृत्तित्व वा? द्रव्यमात्रवृत्तित्व वा? आद्ये सख्यानित्यत्वयोरपि विशेषाधारत्वप्रसङ्गादसभवि लक्षणम्।

गोत्वादि जाति के निराकरण का प्रसङ्ग होगा। ऐसा नही कहा जा सकता कि परममहत्त्व के समान, परम अणुत्व जाति के अभ्युपगम (स्वीकृति) की प्राप्ति होगी। क्योकि उस परमाणुत्व मे पृथिवीत्वादि के साथ परापरभाव के अनिरूपण (असिद्धि) से उसमे जातित्व नही सिद्ध हो सकती है। यदि पृथिवीत्व परमाणुत्व से हर (व्यापक) हो, तो परमाणुत्व को पृथिवी के साथ अव्यभिचार (नियत सम्बन्ध) से जलादि परमाणुओ मे परमाणुत्व नही रहेगा और यदि पृथिवीत्व परमाणुत्व से अपर (व्याप्य) हो, तो परमाणुत्व के परत्व रहने पर, पृथिवीत्व परमाणुत्व को नही त्यागेगा, परमाणुत्वरहित मे पृथिवीत्व नही रहेगा, अत सब पृथिवी परमाणु ही होगी। अत पृथिवी परमाणु मे पृथिवीत्व परमाणुत्व के सकर होने से परमाणुत्व जाति नही माना जाता है और इस परममहत्त्व जाति मे ऐसा कोई जातित्व का बाधक नही है। अत उसमे उक्त विशेष लक्षण की अतिव्याप्ति होगी ही। और उक्त लक्षण मे, नित्यमात्र समवेतत्व का किञ्चिन्नित्य समवेतत्व,

समवेतत्वम् ? सर्वनित्यसमवेतत्व वा ? उभयथापि लक्षणस्याव्याप्तिः। सर्वेषा विशेषाणा एकनिष्ठत्वाभावाच्च।

कि चात्र प्रमाणम् ? "समानजातिगुणकर्मकार्या परमाणवोऽन्योन्य-व्यावर्तकधर्मसमवायिन द्रव्यत्वात् गवादिवत्।" तथा "सत्ता सामान्य-समवायातिरिक्तभावासर्गिणो जातित्वाद्गोत्ववत्" इति लीलावतीका-

---

द्वितीयतृतीययोस्तु द्रव्यम.त्रवृत्तित्व स्यादुपलक्षणस्य कार्यानन्वयात्। तथाच सर्वद्रव्य-सामान्येऽतिव्याप्ति। तथा सत्ताविशिष्टे तज्ज्ञानसुखादावतिव्याप्ति, तेषामप्युक्त-लक्षणत्त्वात्, सत्ताश्रयत्व तत्रास्तीति चेन्नून बधिर इव भवानाभाति, कथमन्यथा सत्ताविशिष्ट इति विशेषण श्रृण्वत शङ्का स्यात् ? नहि सत्ताविशिष्टेऽपि सत्तास्ति, अशत आत्माश्रयप्रसङ्गादिति। न च नित्यत्वानधिकरणासमवेतत्व तदिति वाच्यम्, नित्यमात्रनिष्ठकार्यप्रतियोगिकप्रागभावप्रध्वसयोर्व्यभिचारात्। न च भावत्वविशेषम्; पूर्वोक्तजातावतिव्याप्ते।

किच किमेतैर्लक्षणैर्लक्ष्यम्, द्रव्यादिपञ्चकम् ? उतातिरिक्तम् ? नाद्य, असिद्धे। नान्त्य, तत्र प्रमाणाभावेनासिद्धत्वादित्यभिसधिराह—**किचात्र प्रमाणमिति।** श्रीवल्लभीयमनुमानद्वय शङ्कते—**समानेति।** अत्र च जातिभिर्गुणै कर्मभिस्तदारब्धकार्यैश्च व्यावर्तकैरर्थान्तरतापरिहाराय तै समानताग्रहणम्। निरवयवद्रव्यत्वादिभिर्घटादिव्यावर्तकैरर्थान्तरतापरिहारायान्योन्येत्युक्तम्। गवादिषु च गोत्वादिना साध्यप्रसिद्धि। **तथा सत्तेति।** भावासर्गिणीत्युक्ते सामान्यसमवायासर्गित्वसाधनेन तत्सिद्धिपर्यवसानार्थान्तरता तथाऽसर्गिणीत्युक्तेऽभावासर्गित्वपर्यवसायितया-

---

या सर्वनित्य समवेतत्व, स्वरूप विवक्षित है। दोनो प्रकार के लक्षण की अव्याप्ति (असम्भव) है। अर्थात् प्रथम पक्ष मे सब विशेषो मे अव्याप्ति है, क्योकि सब विशेष को एकनित्य द्रव्य मे वृत्तित्व नही रहता है। दूसरे पक्ष मे कही सम्भव नही है, एक-एक विशेष को सर्वनित्य द्रव्य मे वृत्तित्व का अभाव है।

इस विशेष मे प्रमाण क्या है ? अर्थात् प्रमाण का अभाव है। (समान, जाति गुण, कर्म और कार्य वाले परमाणु, परस्पर व्यावर्तक धर्म के समवाय वाले है, द्रव्य होने से, गौ आदि के समान) तथा (सत्ता, सामान्य समवायभिन्नभाव से असम्बन्ध (असमवाय) वाली है, जाति होने से, गोत्ववत्) यहाँ प्रथम अनुमान मे जाति, गुण, कर्म और कर्मारब्ध कार्य भी व्यावर्तक होते है, जो उनके द्वारा अर्थान्तरता की व्यावृत्ति के लिये जाति आदि की समानता कही गई है, अन्योन्य व्यावर्तक धर्म होगा, वह विशेष होगा, और दूसरे अनुमान मे जिस भाव से सत्ता मे असम्बन्ध सिद्ध करना हे, वह विशेष सिद्ध होगा। अत ये लीलावतीकार से उद्भावित अनुमान विशेषार्थ मे प्रमाण है, ऐसा यदि कहा जाय, तो कहना युक्त नही है,

रोन्नीतमनुमान प्रमाणमिति चेत्, मैवम्, आद्यप्रयोगे पृथक्त्वेन सिद्धसाधनत्वात्। नच वाच्यम्—पृथक्त्वस्य पृथक्त्वान्तरसदृशत्वान्न ततो व्यावृत्तत्वबुद्धिसिद्धि, या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धि, सा न तत्सदृशधर्मकार्या, यथाश्वात्कुञ्जरस्य, तदणोरपि नाण्वन्तराद्व्यावृत्तबुद्धि सदृशधर्मकार्या" इति,

---

र्थान्तरता, तदुभयनिवृत्त्यर्थ सामान्यसमवायातिरिक्तभावासर्सगिणीत्युक्तम्। यस्माच्च भावात् सा व्यावर्त्यते सोऽन्त्यविशेष। द्रव्यादित्रयासर्सगित्वस्य व्याघातादिति। दूषयति—**मैवमित्यादिना।** अत्र किमयोगिन प्रतिव्यावर्नकधर्मसमवायित्व पिवक्षितम? योगिन प्रति वा? नाद्य, तेषा परमाणुसाक्षात्काराभावात्। द्वितीये तु योगिन परमाणुव्यावृत्तिज्ञानमेव कुन सिद्धम्? येन व्यावर्तकधर्मपेक्षा। अथ ब्रूयात् समानजातिगुणकर्मकार्या परमाणवोऽन्योन्यव्यावर्तकसमवायिधर्मविशिष्टबुद्धिविषया द्रव्यत्वाद् घटवदिति, तत्राह—**पृथक्त्वेनेति।** तदाह पातञ्जल योगिविवेकजज्ञानविषय दर्मयन् पृथक्त्वदूषणावसरे–'तत्रापि देशलक्षणभेदो मूर्तिर्व्यवधि जातिभेदश्चान्यत्वधीहेतु' इति। तत्त्वसारटीकाकारोऽपि—इति सर्वभेदप्रत्ययस्यान्यथासिद्धेर्नान्त्यविशेपकल्पने'ति 'भूतचरेण देहसम्बन्धेन मुक्तात्मभेदो योगिबुद्धिगम्य उन्नेय' इति च। इममपि दोष स एव परिजहार—यत आह 'नच पृथक्त्वादिकमेव परमाण्वन्तरात्परमाणोर्व्यावर्तकबुद्धिजनकमस्तु, तस्य परमाण्वन्तरवृत्तिपृथक्त्वादिना सदृशत्वात्। या हि यतो व्यावृत्तिबुद्धि सा न तत्सदृशधर्मकार्या यथाश्वात्कुञ्जरस्य। तदणोरपि नाण्वन्तराद्व्यावृत्तिस्तत्सदृशधर्मकार्या' इति। तदेतदनूद्य निराचष्टे—**न च वाच्यमित्यादिना। न तत्सदृशेति।** तद्धर्मसदृश धर्मस्तत्सदृशधर्म। नच वाच्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**अयं विशेष इति।** एतेन नित्य-

---

निर्दोष अनुमान प्रमाण होता है, ये निर्दोष नही है। क्योकि प्रथम प्रयोग मे पृथक्त्व से सिद्ध साधनता है, पृथक्त्व ही परमाणुओ का व्यावर्तक धर्म है। यदि कहे कि पृथक्त्व को पृथक्त्वान्तर के साथ सदृशता होने से उससे व्यावृत्तत्व बुद्धि की सिद्धि नही हो सकती है, अर्थात गो सदृश गवय है, क्योकि गवय के सदृश गो है, इसके समान घट से पृथक् पट है, क्योकि पट से पृथक् घट है, इसप्रकार से सादृश्य के समान पृथक्त्व भी अन्य पृथक्त्व के समान है तथा सापेक्ष है, और व्यावर्तक विशेप है, वह पदार्थ जाति आदि ऐसे नही होते है, क्योकि जो जिस किसी से व्यावृत्त बुद्धि होती है वह तत्सदृश धर्म का कार्य नहो होती है, जैसे की अश्व से कुञ्जर, (हाथी) की व्यावृत्त बुद्धि होती है, वह अश्ववृत्ति धर्म के सदृश धर्म से नही होती हे, उन दोनो के व्यावर्तक अवयव जाति आदि सदृश नही रहते है, तो कहा जाता है कि ऐसा नही कह सकते है, क्योकि, तब अणु की भी अण्वन्तर से व्यावृत्त बुद्धि सदृश धर्म रूप विशेष का कार्यात्मक नही हो सकेगी, विशेषो मे भी यह विशेष है, यह विशेष

अय विशेषोऽय च विशेष, इति विशेषेष्वपि सदृशबुद्धे स्वीकारात्। द्वितीयोऽपि प्रयोग —

आश्रयासिद्धिदुष्टत्वादप्रसिद्धविशेषणात् ।
प्रमाणतामश्नुवीत न प्राभाकरभाट्टयो ॥ १३ ॥

सत्ताजातेरनङ्गीकारात् प्राभाकर प्रत्याश्रयासिद्धिरुदिता। एव समवायस्य चानङ्गीकाराद्भाट्ट प्रति समवायातिरिक्तभावासंसर्गिणीत्यप्रविद्धविशेषण पक्ष । विशेषाख्यभावानभ्युपगमेऽपि तदसंसर्गित्वसिद्धेरर्थान्तरता च। किंच सामान्यसमवायातिरिक्तभावशब्देन द्रव्यगुणकर्मा-

---

द्रव्यव्यावृत्तिहेतवोन्त्यविशेषा इत्यपि लक्षण प्रतिक्षिप्तम् । द्वितीयोऽपि प्रयोग इत्यस्य प्रमाणता नाश्नुवीतेत्युत्तरश्लोकस्थपदेनान्वय ।

तत्र हेतुभूतानि दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**आश्रयेति**। आश्रयासिद्ध्यप्रसिद्धविशेषणतयोर्यथायथ प्राभाकराणा भट्टाना च संबन्ध । इदमेव दूषणद्वय विवृणोति—**सत्ताजातेरित्यादिना**। सर्वसाधारण चार्थान्तरत्व दूषणमाह—**विशेषाख्येति**। सामान्यसमवायातिरिक्तभावासंसर्गित्व साध्यमान न नियमेन तत्सत्ता साधयति, तदभावेऽपि तदसंसर्गित्वोपपत्ते । नहीदमसंसर्गित्व नाम विभाग येन समवायिकारणतया तस्यापि सत्त्वमपेक्षेत। नच तदसंसर्गित्वस्य तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वस्य धर्म्यपेक्षेति वाच्यम् । अत्यन्तासतोऽपि प्रतियोगित्वधर्मित्वयोरुपपत्तेरिति भाव । भङ्ग्यन्तरेणाप्रसिद्धविशेषणतामाह—**किंचेति**। अपसिद्धान्तापत्तिमेव दर्श-

---

है, इसप्रकार से विशेषत्व रूप से सदृश बुद्धि का स्वीकार किया जाता है, अत. वह पृथक्त्व के समान ही व्यावर्तक नही होगा। और दूसरा प्रयोग (अनुमान) भी—

प्राभाकर और भाट्ट मत मे आश्रयासिद्धि से दुष्ट होने के कारण, तथा अप्रसिद्ध विशेषणता से प्रमाणत्व को नही प्राप्त होगा ॥ १३ ॥

अर्थात् सत्ता जाति को नही मानने पर प्राभाकर के प्रति आश्रयासिद्धि कही गई है (प्रकट हुई है) और इसीप्रकार समवाय के अनङ्गीकार से भाट्ट के प्रति, समवायातिरिक्त भावाऽसंसर्गिणी यह अप्रसिद्ध विशेषण (समवाय) वाला पक्ष हो जाता है। और विशेष नामक पदार्थ को नही मानने पर भी तदसंसर्गित्व की सत्ता मे सिद्धि होने से अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अर्थात् विशेष पदार्थ द्रव्यमात्र वृत्ति हो, तो भी सत्ता जाति मे नही रहने से सत्ता उसके असंसर्गिणी हो सकती है, और विशेष के अभाव से भी असंसर्गिणी हो सकती है। और उक्त अनुमान प्रयोग मे, सामान्यसमवायातिरिक्त भाव, शब्द से द्रव्य, गुण, कर्म, कहे जाते हैं, या विशेष कहा जाता है, अथवा भावमात्र कहा जाता है। यहाँ आद्य पक्ष

व्यभिधीयन्ते ? किं वा विशेषा ? भावमात्रं वा ? नाद्य, अपसिद्धान्तापातात्, सत्ताया द्रव्यगुणकर्मसु वृत्ते स्वयमङ्गीकृतत्वात्। न द्वितीय., विशेषाणामद्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात्। नापि तृतीय, विकल्पासहत्वात्। असंसर्गित्वपदेन किमसंसर्गितामात्रं विवक्षितम् ? उत संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वम् ? नाद्य, सिद्धसाधनत्वात्, अतीतानागतव्यक्तिभिः सत्ताया अप्यसंसर्गित्वस्वीकारात्। नापि द्वितीय, दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, गोत्वस्यापि किंचिद्भावसंसर्गित्वेन तदत्यन्ताभावाधिकरणत्वाभावात्। आकाश गुणसामान्यव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद्घटवदिति मान-

यति—**सत्ताया इति। अङ्गीकृतत्वादिति।** द्रव्यादीना त्रयाणा सत्तासंबन्ध इति भाष्यमतस्तादृशभावात्सत्ताया व्यावृत्ति साधनमयुक्तमिति भाव। ननु न विशेषात्मकभावादसंसर्गित्व साधयाम, येनाप्रसिद्धविशेषणता, अपित्वविवक्षितविशेषाद्भावमात्रादिति तृतीय पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति।** भावासंसर्गिणात्यत्रासंसर्गित्वाभावमात्रम् ? किंवा संसर्गित्वात्यन्ताभाव ? इति विकल्प्याद्य दूषयति—**नाद्य इति।** तामेव विवृणोति—**अतीतेति।** भावमात्रादसंसर्गित्वमात्रं हि सत्तायाः सिसाधायाषनम्, तच्चातीतादिभ्य सिद्धमिति न विशेषसिद्धि, सिद्धसाधन चेदमर्थान्तरत्वम्। साध्यवैकल्यमेव दर्शयति—**गोत्वस्यापीति।** बाधश्च द्रष्टव्य। किंच सत्ता सामान्यसमवायविशेषातिरिक्तभावासंसर्गिणी जातित्वाद् गोत्ववदित्यनुमानसंभवादाभाससमानयोगक्षेमत्वम्, विपक्षे बाधकतर्काभावाच्छङ्किता प्रयोजकता च। मानमनोहरकारीयमनुमान शङ्कते—**आकाशमिति।** एतच्च तदीयविवादपदविवरणम्। एतच्च विभुद्रव्यमात्रोपलक्षणम्। समवायीत्युक्ते शब्दादिगुणस्य सामान्यस्य च समवायित्वेनार्थान्तरता, तदर्थं गुणसामान्यव्यतिरिक्तेत्युक्तम्। घटे च कर्मणा

युक्त नही हो सकता है, क्योकि अपसिद्धान्त = सिद्धान्तत्याग, की प्राप्ति होगी, सत्ता के द्रव्य, गुण, कर्म वृत्तित्व को वैशेषिक सिद्धान्त मे स्वय माना जाता है, उसका त्याग प्राप्त होगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि विशेषो के अभी असिद्ध होने से अप्रसिद्ध विशेषणता की प्राप्ति होती हे। तृतीय पक्ष भी युक्त नही, क्योकि वह विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि असंसर्गित्व पद से क्या असंसर्गित्व मात्र विवक्षित है, अथवा संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व विवक्षित है, वहाँ आद्य पक्ष अयुक्त है, क्योकि सिद्धसाधनता प्राप्त होती है, अतीत अनागत भाव व्यक्ति के साथ सत्ता के भी असंसर्गित्व को माना ही जाता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योकि दृष्टान्त मे साध्यविकलता की प्राप्ति होती है, गोत्व को भी किसी भाव के साथ संसर्गित्व (गो-समवेतत्व) होने से संसर्गित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व का अभाव रहता है। (आकाश, गुणसामान्य से अतिरिक्त के समवाय वाला है, द्रव्य

मनोहरकारोक्तमनुमानान्तरमस्तीति चेत्, मैवम्, प्राभाकर प्रति शक्त्या सिद्धसाधनत्वात्, तेन शक्तेर्गुणसामान्यव्यतिरिक्ताया वियदाश्रयताश्रयणात्। समवायमनभ्युपगच्छतोर्भाट्टवेदान्तिनोरप्रसिद्धविशेषणत्वात्, वेगवत्त्वोपाध्युपहतवाच्च। तस्मान्न विशेषलक्षणमपि साधु।

नापि समवायलक्षणम्। तथाहि—"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुर्य सबन्ध स समवाय" इति समवायलक्षणपर परेषां भाष्यम्। अस्य चायमर्थ—युतसिद्धिरुभयोरपि सबन्धिनो परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्, सा ययोर्नास्ति तावयुतसिद्धौ, तयो सम्बन्धः समवाय, यथा तन्तुपटयो। तत्र यद्यपि तन्तव स्वारभकावयववाश्रिता-

---

साध्यसिद्धि। आकाशे च तदभावाद्विशेषसिद्धि। अस्यार्थान्तरत्वमाह—**मैवमिति।** शक्ति पदार्थान्तरमिति हि गुरूणा मतम्, तत्समवायिप्रयुक्त च दूषणमाह—**भाट्टेति।** व्याप्यत्वासिद्धिमाह—**वेगवत्त्वेति।** इदमप्याभाससमानयोगक्षेमम् शक्यतेऽनुमातुम्, आकाश गुणसामान्यविशेषव्यतिरिक्तसमवायि द्रव्यत्वाद्धटवदिति।

य च समवायमवलम्ब्यामुकसमवाय्यमुकसमवायीति निरर्गल जल्पसि, सोऽपि समवायो दुर्निरूप इत्याह—**नापि समवायेति।** तत्र प्रशस्तपादोक्त लक्षणमनुवदति—**तथाह्ययुतसिद्धानामिति।** भाष्य व्याचक्षाण कृत्स्नस्य तस्य लक्षणपरता दर्शयति—**अस्य चायमर्थ इति।** तत्रायुतसिद्धे युतसिद्धिज्ञानाधीनत्व तावद्दर्शयति—**युतसिद्धिरिति।** ननु कथ तन्तुपटयोरयुतसिद्धि? यावता पटसबन्धिव्यतिरेकेण तन्तूना स्वावयवाश्रितत्वमिति, तत्राह—**तत्र यद्यपीति।** उभयो पृथगाश्रयाश्रितत्व

होने से, घट के समान) यह मानमनोहरकार का कहा हुआ अनुमानान्तर विशेष मे प्रमाण है। यदि ऐसा कहे, तो युक्त नही, क्योकि प्राभाकर के प्रति शक्ति से सिद्ध साधनता की प्राप्ति होती है, क्योकि प्राभाकर ने गुणसामान्य से भिन्न शब्दादि के अनुकूल शक्ति को आकाशाश्रित माना है। और समवाय को नही मानने वाले भाट्ट तथा वेदान्ती के प्रति अप्रसिद्ध विशेषणता है। और वेगवत्त्व उपाधि से अनुमान उपहत है। क्योकि घटरूप दृष्टान्त मे रहने से साध्य का व्यापक है, और (पक्ष) आकाश मे नही रहने से साधन का अव्यापक वेगवत्त्व है। अत विशेष का लक्षण भी साधु (सत्य) नही है।

समवाय का भी साधु (निर्दोष) लक्षण नही है। यह दर्शाया जाता है (अयुतसिद्धानामाधार्याऽऽधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुरर्य सम्बन्ध स समवाय) यह समवाय के लक्षणपरक प्रस्तपाद का भाष्य है, और इसका यह अर्थ है कि दो सम्बन्धियो मे भी परस्पर के त्यागपूर्वक पृथक्-पृथक् आश्रय के आश्रित रहना युतसिद्धि कही जाती है। वह पृथक् आश्रयवृत्तित्व जिन दोनो को नही हो, वह

स्तथापि पटस्य तन्त्वाश्रितत्वान्न द्वयो परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वम्। तेनानित्याना द्वयो पृथगाश्रयाश्रयित्व युतसिद्धि, अयुतसिद्धिस्तु तद्विपरीता। नित्याना तु पृथग्गमनयोगित्व युतसिद्धिस्तद्विपरीतायुतसिद्धि, यथाकाशद्रव्यत्वयो। तत्रायुतसिद्धयो सबन्ध इत्येतावति लक्षणे सुखस्य धर्मस्य च कार्यकारणभावसम्बन्धोपि समवाय स्यात्। आत्मैकाश्रिततया

युतसिद्धि। न चेह तथात्वम्, पटस्य सम्बन्धितन्तुव्यतिरिक्तनाश्रितत्वादित्यर्थ। फलितमाह—**तेनेति**। द्वयोरपि सबन्ध्यतिरिक्ताश्रयाश्रयित्वम, युतसिद्धिस्तद्विपरीता अयुतसिद्धिरित्यर्थ। नन्विय चेद्युतसिद्धिर्गत तर्हि परमाणूना युतद्धिचा, भवितव्य च तया, इतरथा परमाण्वो सयोगाभावेन द्वचणुकादिकार्यानारम्भप्रसङ्गात्, सदातनभावप्रसङ्गान द्वचणुकादे अयुतसिद्धपरमाणुसबन्धस्य सदाननत्वादित्यत आह—**अनित्यानामिति**। का तर्हि नित्याना परमाणुमनसामाकाशादिभि परस्पर च युतसिद्धि? इति तत्राह—**नित्यानां त्विति। यथाकाशद्रव्यत्वयोरिति।** नहि तत्रान्यतरस्यापि पृथग्गतिमत्त्वमस्ति, यथाकाशपरमाण्वोरिति भाव। उक्तश्चाय विभागस्तदीयभाष्ये। सा पुनर्द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमत्त्वम्, इय तु नित्यानाम्, अनित्याना तु युतेष्वाश्रयेषु समवायो युतसिद्धिरिति। इदानी श्रीधराचार्यरीत्या विशेषणानामुपयोग दर्शयति—**तत्रेत्यादिना**। ननु कथ सुखधर्मयोरयुतसिद्धिरिति ता दर्शयति—**आत्मैकेति**। उभयो परस्परानाश्रयत्वे सति परस्पराश्रयातिरिक्ताश्रयत्व हि युतसिद्धिस्तद्राहित्य चानयोरस्तीति भाव। इद तु चिन्त्यम्—कथमनयो परस्पराश्रयातिरिक्तानाश्रययोयुतसिद्धिरिति? द्वयो पृथगाश्रयाश्रयि-

---

दोनो अयुतसिद्ध कहाते है, और उन दोनो का सम्बन्ध समवाय कहा जाता है। जैसे कि तन्तु और पट का सम्बन्ध होता है। यद्यपि तन्तु, पट इन दोनो मे से एक तन्तु स्वारम्भक अवयव के आश्रित रहते है, तथापि पट को तन्तु के आश्रितत्व होने से दोनो को परस्पर त्यागपूर्वक पृथक् आश्रय मे वृत्तित्व नही रहता है। अत अनित्यो मे दो पदार्थों के पृथगाश्रयवृत्तित्व को युतसिद्धि कहते है। और उससे विपरीत अयुतसिद्धि होती है। और नित्य पदार्थों मे पृथग् गमनयोगित्व युतसिद्धि कहाता है, उससे विपरीत अयुतसिद्धि होती है, जैसे आकाश द्रव्यत्व मे अयुतसिद्धि रहती है। वहाँ (अयुतसिद्धो का सम्बन्ध समवाय होता है) इतना ही लक्षण कहा जाय, तो सुख और धर्म का कार्यकारणभावसम्बन्ध भी समवाय कहा जायगा। क्योकि एक आत्मा के आश्रित रहने से उन दोनो मे भी अयुतसिद्धत्व है। अत इस अतिव्याप्ति को वारण के लिये कहा है कि (आधार्याधारभूताम्) इसप्रकार से सुख और धर्म के सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति के वारण होने पर भी

तयोरयुतसिद्धत्वात्तदर्थमाधर्याधारभूतानामिति पदम् । एवमप्याकाशस्याकाशपदस्य च वाच्यवाचकसबन्ध समवाय स्यात्तन्निवृत्त्यर्थमिह प्रत्ययहेतुरिति पदम् । न हि तस्मात्सबन्धादिहेदमिति बुद्धिर्जायते, केवलाकाशस्यैव प्रतीते । आधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुरित्येतावति लक्षणे कुण्डबदरसबन्धेऽतिव्याप्तिस्तन्निवृत्त्यर्थमयुतसिद्धानामिति पदम् । तेन समस्तमेवेद समवायलक्षणम् , इति कन्दलीकार ।

तदसत्—

न स्यादयुतसिद्धयादि समवायस्य लक्षणम् ।
विशेषणविशेष्यत्वसबन्धे व्यभिचारत ॥ १४ ॥

त्वाभावस्यैवायुतसिद्धत्वोपपत्तौ परस्परपरिहारविशेषणवैयर्थ्यात् । न च नित्यरीत्या, अनित्यत्वात् । तृतीयविशेषणकृत्यमाह—**एवमपीति ।** अस्त्याकाशतद्वाचकाकाशादिपदयोरयुतसिद्धिराधाराधेयभावश्चाकाशविशेषगुणत्वात्तस्येति भाव । इत आरभ्यासिद्धान्तोपक्रम निगदव्याख्यातम् । **कन्दलीकार इति ।** किरणावलीकारपक्षे हि न समस्तमिद भाष्य लक्षणम्, अपि त्वयुतसिद्धाना सम्बन्ध इत्येतावत् । तेन च नित्य सम्बन्ध इति लक्षणमुक्त भवति । इह प्रत्ययहेतुरिति च तत्र प्रमाणोपन्यास । इह प्रत्ययस्य च निर्विषयत्वेनासभवपरिहारायाधाराधेयभूतानामिति विषयनिर्देश इति भाष्ययोजनेति भाव ।

तदेतद्दूषयति—**तदसदिति ।** अयुतसिद्धि पुरस्कृत्य यदिद लक्षणमुक्त तन्न स्यात् । कुत ? विशेषणविशेष्यत्वसबन्धे व्यभिचारादिति श्लोकयोजना । उत्तरार्धं

प्रकाश और आकाश पद का जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध है, वह समवाय होगा, उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, उसकी निवृत्ति के लिये, इह प्रत्यय हेतु, यह पद लक्षण मे कहा है। वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध से (यह यहाँ है), आकाश मे आकाश शब्द है, ऐसी प्रतीति नही होती है, किन्तु केवल आकाश की प्रतीति होती है (आधार्य आधार स्वरूपो इह = अत्र प्रत्यय का हेतु) इतना ही लक्षण करने पर, कुण्ड = कुण्डे और बदर = बेर के सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति होती है, क्योकि कुण्डे मे रखे बेर के सयोग मे लक्षण सघटित होता है, अत अयुतसिद्धानाम , यह पद कहा गया है, कुण्ड और बेर युतसिद्ध पदार्थ है। अत यह सपस्त ही यह भाष्यसमवाय का लक्षण है। यह कन्दलीकार कहते है।

परन्तु यह लक्षण असत् (असाधु) है। क्योकि—

विशेपणविशेष्यभाव सम्बन्ध मे व्यभिचार = अतिव्याप्ति, से समवाय के अयुतसिद्धि आदि लक्षण नही हो सकते है ॥ १४ ॥

इह भूतले घटाभाव इति विशेषणविशेष्यभावलक्षणेऽपि सबन्धे लक्षणस्यातिव्याप्ति । अस्ति हि तत्रायुतसिद्धिर्भूतलघटाभावयो, भूतलस्य स्वावयवाश्रितत्वेऽप्यभावस्य भूतलातिरिक्ताश्रयाभावात् । अस्ति चाधार्याधारभाव इह प्रत्ययश्च । अथ भावयोरीदृश सम्बन्ध समवाय, तथापीह पटे रूपसमवायो रूपसमवायवान् पट इति विशेषणविशेष्यभावे लक्षणस्यातिव्याप्ति, उक्तलक्षणस्य तत्रापि सभवात् । अथ गुणगुणिनो क्रियाकारकयोरवयवावयविनोर्जातिजातिमतोर्विशेषतद्वतोश्च य सबन्ध उक्तरूप समवाय

विवृणोति—**इह भूतल इति**। ननु यद्यपि तयोराधाराधेयभाव प्रतीयते, तथापि कथमयुतसिद्धिरिति ? तत्राह—**अस्ति हीति**। अन्यतरस्य पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावे भवत्येवायुतसिद्धिरिति भाव । निगदव्याख्यानेन ग्रन्थेन लक्षणविशेष तत्र वर्तयति—**अस्ति चेति**। विशेषणान्तर शङ्कते—**अथेति**। तथापि भावरूपगुणगुण्यादिनिष्ठसमवायसमवायिगतविशेषणविशेष्यभावेऽतिव्याप्तिरित्याह—**तथापीति**। शङ्कते—**अथ गुणगुणिनोरिति**। क्रियाकारकयो, कर्मतद्वतोरित्यर्थ । ननु किमनेनाधिकरणमाशङ्क्यते ? यावतात्रैव पूर्वमप्यतिव्याप्तिरुदीरितेति, सत्यम्, दुष्टोऽस्याभिप्राय । स चाभिप्रायदोषोऽनन्तरमेवाविर्भविष्यति । पञ्चसु हि स्थलेषु समवायसभवात्तदेतेषूक्तविध सबन्ध समवाय, विशेषणविशेष्यभावस्त्वतिरिक्तेष्वपि व्यवहारप्रसवितेति नातिव्याप्तिरिति भाव । तथाप्युक्तातिव्याप्तितादवस्थमिति परिहरति—

अर्थात् इस भूतल मे घट का अभाव है, इस प्रतीति के विषय, विशेषणविशेष्यभाव स्वरूपसम्बन्ध मे भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति है, क्योकि वहाँ भूतले घटाभाव की भी अयुतसिद्धि है, क्योकि भूतल के स्वावयव आश्रित होने पर भी भूतल वृत्ति अभाव को भूतलातिरिक्त आश्रय का अभाव है, और आधार्याऽऽधारभाव भी है। और इह (अत्र) ऐसा ज्ञान भी होता है। यदि कहे कि भावपदार्थों का ऐसा सम्बन्ध समवाय होता है। भावाऽभाव का नही। तो भी (इह पटे रूपसमवाय, रूपसमवायवान् पट) इस पट मे रूप का समवाय है, रूप के सम वाला पट है। यहाँ प्रथम प्रतीति मे पट विशेषण है, और समवाय विशेष्य है, दूसरे मे विपरीत है परन्तु विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है, उसमे लक्षण की अतिव्याप्ति है, क्योकि उक्त लक्षण उसमे भी है। यदि कहे कि, गुणगुणी, क्रियाकारक, अवयव-अवयवी, जाति-जातिमान्, और विशेष-विशेषवान्, इनका ही जो परस्पर उक्त लक्षण वाला सम्बन्ध होता है, उसको समवाय कहा जाता है, तो भी अदुष्ट लक्षण नही हो सकता है, क्योकि उनके ही परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव रूप सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति होती है। यदि कहे कि उनमे समवाय और

इति चेत्, न, तेषामेवान्योन्यविशेषणविशेष्यभावेऽतिव्याप्ते । तत्र समवायस्यैवेह प्रत्ययहेतुत्व नेतरस्येति चेत्, न, एवमपीहाकाशे शब्द इत्यत्रेहशब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसबन्धे इह प्रत्ययहेतावतिव्याप्तेस्तादवस्थ्यात् । तत्र हि गुणगुणिनोराधार्याधारभूतयोरयुतसिद्धयोरिह प्रत्ययहेतुरिहेतिशब्दाकाशयोरस्ति वाच्यवाचकलक्षण सबन्ध । किचाधार्याधार-

---

न, तेषामेवेति । योऽसावभिप्रायदोष पूर्वमुद्घृतस्तमुद्गिरन् पर्यनुयुङ्क्ते—**तत्र समवायस्यैवेति ।** यद्यपीह पटे रूपमित्यादौ विशेषणविशेष्यभावोऽप्यस्ति, तथापि नासाविह प्रत्ययहेतु, तत्कस्य हेतो ? अमुख्यत्वात् । औपचारिक खल्वय विशेषणविशेष्यभाव सबन्ध । न च मुख्यसभवेऽप्यौपचारिकाश्रयण युक्तम् । न खलु बलवर्मणि क्रौर्यशौर्यरोषविस्तृततरोन्नद्धस्कन्धादिगुणयोगात्सिहशब्द प्रवृत्त सिहेऽपि तन्निमित्त प्रयुज्यते, अस्ति हि तदिति, तस्मात्समवाय एव तत्र हेतुरिति । अत्र तावदिद वक्तव्यम्—कथ विशेषणविशेष्यभावस्यौपचारिकत्वमिति ? नियामकत्व वा ? सबद्धबुद्धिजनकत्व वा सबन्धत्वम् ? तच्च सर्व सयोगादिभ्यो विशेषणविशेष्यभावस्य न विशिष्यते । न च मूलसबन्धापेक्षत्वादौपचारिकत्वम्, सयोगस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । न च मूलसबन्धाभावादौपचारिकत्वम्, सर्वत्रासिद्धे, समवायेऽपि तथाभावप्रसङ्गाच्च । तदेतदभिना सूचयन्दुषणान्तरमाह—**एवमपीति ।** यद्यप्याकाशवाचकपदमात्रवाच्यवाचकभावस्येह प्रत्ययहेतुत्व नास्ति, तथापीहाकाशे शब्द इत्यत्रेह शब्दस्याकाशस्य च वाच्यवाचकसबन्धेऽतिव्याप्ति स्यादित्यर्थ । एतदेव विवृणोति—**तत्र हीति । गुणगुणिनोरिति ।** इहेतिशब्दाकाशयोरित्यर्थ । न च तत्रापि समवाय एवेह प्रत्ययहेतुर्न वाच्यवाचकभाव इति वचनीयम्, तथा सति अगृहीतसगतिकामनामपीहेति पदश्रवणादिहेति बुद्ध्युदयप्रसङ्गात् । अस्ति हि समवाय इति । किचाधाराधेयभूतानामिति विशेषण व्यर्थम्, इह प्रत्ययहेतुरित्यनेनैवाधार्याधारभावस्यापि सिद्धत्वादित्याह—**किचेत्यादिना ।** उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ ।

विशेषण विशेष्यभाव के रहते भी समवाय को ही इह प्रत्यय का हेतुत्व रहता है, अन्य को नही । तो यह कहना भी युक्त नही । क्योकि ऐसा मानने पर भी (इह आकाशे शब्द) इस आकाश प्रदेश मे शब्द है । यहाँ इह शब्द का और आकाश का जो वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध है, वह इह प्रत्यय का हेतु है, उसमे अतिव्याप्ति तदवस्थ है । क्योकि इह शब्दरूप गुण आकाशरूप गुणी परस्पर आधार्य आधारस्वरूप है, और अयुतसिद्ध है, उन इह इस शब्द और आकाश का इह प्रत्यय का हेतु वाच्य-वाचकस्वरूप सम्बन्ध है । अत उसमे अतिव्याप्ति होगी । और उक्त लक्षण मे (आधार्य-आधारभूतानाम्) यह विशेषण व्यर्थ है ।

भूतानामिति व्यर्थं विशेषणम्। अयुतसिद्धयोरिह प्रत्ययहेतु सम्बन्ध इत्येतावत्यपि लक्षणे भवतामव्याप्त्यतिव्याप्त्याभावात्, अनाधार्याधारभूतयोरिह प्रत्ययस्यैवानुदयात्। अस्तु तर्ह्येतावल्लक्षणमिति चेत्, न, तत्रापि प्रागुक्तवाच्यवाचकसबन्धेऽतिव्याप्ते।

भवतु तर्ह्यर्वाचीनमतानुसारेण नित्य सम्बन्ध समवाय इति लक्षणमिति चेत्, न, विशेषणविशेष्यभाव एव व्यभिचारात्। सोऽनित्य प्रतियोगिनोरनित्यत्वादिति चेत्, तथापि नित्यप्रतियोगिकविशेषणविशेष्यभावे व्यभिचारस्य तुल्यत्वात्, प्रतियोगिनोरनित्यत्वेन सबन्धानित्यत्वापादनस्य

लक्षणान्तर शङ्कते—**भवत्विति।** एतच्चैतद्भाष्यार्थतयोदयनेन समर्थित लक्षणम्, तदेव श्रीवल्लभवादिवागीश्वरसर्वदेवाना समत लक्षणम्। अत्र च सयोगव्यवच्छेदाय नित्यग्रहणम्। आत्मादिव्यवच्छेदाय सबन्धग्रहणम्। ननु न विशेषणविशेष्यभावे लक्षणप्रसक्ति, तस्य नित्यत्वाभावात्। घटतद्रूपादिप्रतियोगिको ह्यय सबन्ध, स च प्रतियोग्यनित्य इत्यनित्य एवायमिति शङ्कते—**सोऽनित्य इति।** तत्रायमेकोऽनेको वा? एकत्वे नित्यवृत्तित्वोभान्नित्यत्वमस्यापि वक्तव्यम्, तथाच तत्रातिव्याप्ति। अनेकत्वे प्राह—**तथापीति।** न खलु सर्वत्रानित्ययोरेव विशेषणविशेष्यभाव, नित्यानामप्यात्मतज्जातिप्रभृतीनामात्मत्वजातिमानित्यादौ विशेषणविशेष्यभावदर्शनात् ततश्च तत्र न प्रतियोगिद्वाराप्यनित्यत्वमित्यर्थ। किंचानित्यप्रतियोगिस्थलेऽपि न विशेषणविशेष्यभावस्यानित्यता, समवायेऽपि तथाभावप्रसङ्गादित्याह—**प्रतियोगिनोरिति।** शिवादित्यमत शङ्कते—

क्योकि (अयुतसिद्धो का इह प्रत्यय का हेतु सम्बन्ध समवाय है) इतना ही लक्षण करने पर, इह प्रत्यय हेतु इसमे आधार्य-आधारभाव का लाभ हो जाता हे, अत आप के मतानुसार अतिव्याप्ति-अव्याप्ति का अभाव रहता हे। क्योकि अनाधार्य आधार स्वरूप सुख-धर्मादि मे इह प्रत्यय का उदय नही हो सकता हे। यदि कहे कि (इतना ही लक्षण रहे) तो यह नही कह सकते है। क्योकि इस लक्षण के मानने पर भी पूर्वोक्त वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति रहती है।

अर्वाचीन (नवीन) मतानुसार से नित्य सम्बन्ध समवाय कहा जाता है, यह लक्षण रहे, यदि ऐसा कहे, तो कहा जाता है, कि, यह लक्षण भी निर्दोष नही है, क्योकि विशेषण-विशेष्यभाव मे ही इसका व्यभिचार (अतिव्याप्ति) है। यदि कहे कि अनित्य घटादि और उनके रूपादि प्रतियोगियो के अनित्य होने से उनका वह विशेषण-विशेष्यभाव भी अनित्य होगा, अत अतिव्याप्ति नही होगी, तो कहा जाता हे कि अनित्य प्रतियोगिक के अनित्य होते भी, नित्य-प्रतियोगी, परममहत्व आत्मादि के विशेषण-विशेष्यभाव मे अतिव्याप्ति तुल्य ही है। और प्रतियोगी के अनित्यत्व से सम्बन्ध के अनित्यत्व का आपदन (आपत्ति)

समवायेऽपि समानत्वाच्च। भावरूपत्वे सतीति विशेषणादयमदोष इति चेत्, न, अजसयोगे व्यभिचारात्। स एव नास्तीति चेत् मेवम्, प्रमाणसिद्धत्वात्--आकाशमात्मना सयुज्यते सयोगित्वाद्धटवत्। न च क्रियावत्त्वमूर्तत्वादिरुपाधि, तद्व्यतिरेकेऽसयोगित्वस्यैवोपाधित्वात्। किचाकाशमा-

---

भावरूपत्वे सतीति। तथाप्यजसयोगेऽतिव्यापकम्, स हि विभुद्रव्यसयोगत्वान्नान्यतरोभयकर्मभ्या जायते, नापि सयोगज, कारणाकारणसयौगाज्जायमान खलु कार्याकार्यसयोग सयोगजसयोग। न च बिभुद्रव्यमयोगस्यैवभाव, तेषामकारणत्वेन तत्सयोगस्य कारणाकारणसयोगजन्यत्वाभावादतम्नत्रातिव्याप्तिरित्याह—**नाजसंयोग इति**। नन्वजसयोग एव नास्ति प्रमाणाभावाद्यथाह भाष्यकार—'नाजः सयोगोऽस्ति नित्यपारिमाण्डल्यवत्पृथगनभिधानात्' इति। तदेतच्छङ्कते—**स एवेति**। विभुद्रव्ययोरपि सयोगेऽनुमान मानमाह—**आकाशमिति**। इदमनुमानमाशङ्क्य मानमनोहरकारो दूषयामास। "तत्र क्रियावत्त्वस्य मूर्तत्वस्य परत्वापरत्वयोर्वोपाधे, आत्माकाशेन न सयुज्यते अमूर्तत्वाद्रूपादिवत्" इति ब्रुवाण। तत्रोपाधि दूषयति—**न चेति**। उपाध्यभावसाध्याभावयोरपि व्याप्तिरेष्टव्या, अन्यथा साध्याव्यापकत्वप्रसङ्गात्, सा च नास्ति, सोपाधिकत्वादित्याह—**व्यतिरेक इति**। रूपादावमूर्तत्वात्मसयोगित्वाभावयोर्व्याप्तिनावसकोचित्वमुपाधिस्तथा च व्यतिरेकव्याप्तिभङ्गात् साध्योपाध्योरपि व्याप्तिभङ्ग इत्यर्थ। एतेन मानमनोहरोक्त प्रत्यनुमानमपि निरस्तम्। स्पष्ट च साध्याव्यापक उपाधि। आत्मना सयुज्यते इति कोऽर्थ? आत्मनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वानाक्रान्तसयोगाधिकरणमिति। तथाच कथ मूर्तत्वाद्युपाधि सभवति? आत्मन्येव साध्याव्याप्ते। यच्च तेन स्वानुमानेऽद्रव्यत्वमुपाधिमाशक्योक्तमाकाशे तदभावेन साध्याव्याप्तेरिति, तदप्येव साध्यव्याख्याने क्रियमाणे निरवकाशम्, उपाधिवदेव साध्यस्याप्याकाशेऽभावेन साध्यव्याप्तेरीक्ष्यमाणत्वात्। मूर्तत्व च पक्षेतरत्वान्नोपाधि। तथाहि—परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्व मूर्तत्वम्, तत्र,

---

तो समवाय मे भी तुल्य है। यदि कहे कि (भावस्वरूप होता हुआ नित्यसम्बन्ध समवाय होता है) इसप्रकार से भावत्व विशेषण से विशेषण-विशेष्यभाव मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि विशेषण-विशेष्यभाव भावरूपत्व नही रहता है, किन्तु भेदस्वरूप होने से अभावत्व रहता है. नीलादि गुणो से बोधित भेद ही घटादि मे विशेष्यता होती है, और वही भेद ज्ञापकतासम्बन्ध से नीलादि मे विशेषणता रूप होता है। तो कहा जाता है कि भावरूपत्व विशेषण देने पर भी दोषाभाव नही हो सकता है, क्योकि अब भी अजसयोग (नित्य पदार्थो के सयोग) मे अतिव्याप्ति है। यदि कहे कि वह अजसयोग ही नही है कि जिसमे अतिव्याप्ति होगी। तो ऐसा नही कह सकते है, क्योकि (आकाश, आत्मा के

त्मना सयुज्यत इत्यात्मसबन्धाधार इति साध्ये क्रियावत्वमूर्तत्वयोरुपाधित्वमेव नास्ति, आत्मनि साध्याव्याप्ते । तस्मादुक्तयुक्त्या न समवायस्य लक्षणसभव' ।

परिमाणवत्त्वमित्यनेनैव साध्यव्याप्तिसिद्धौ परिच्छिन्नग्रहण पक्षीकृताकाशतत्तुल्य विभुद्रव्यव्यावृत्त्यर्थमिति कथ न पक्षेतर ? सोऽयमविदितस्वपरसाध्यसतत्त्वो निर्विषयानेव दूषणाभासानाहोपुरुषिकयैव भाषमाणो 'निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम्' इति न्यायविषयता नातिवर्तते । नित्यत्वानिरूपणाच्च तद्विशिष्टलक्षणासिद्धि । तथाहि—र्तत्कि ध्वसाप्रतियोगित्वम् ? स्वध्वसाप्रतियोगित्व वा ? आद्ये सयोगेऽतिव्याप्ति , तस्यापि यत्किचिद्ध्वंसाप्रतियोगित्वात् । नेतर , आत्माश्रयात् प्रतियोगिध्वसादेश्चानिरूपणात । किच —

तत्तल्लक्षणवल्लक्ष्ये तत्तल्लक्ष्म न विद्यते ।
आत्माश्रयादतोऽव्याप्तिस्तेपु स्यात् सर्वलक्ष्मणाम् ॥ १ ॥
नच तेषाम्लक्ष्यत्व षट्पदार्थातिरेकत ।
नचात्यन्तमसत्त्व तद्वुद्धेर्बाधाद्यभावत ॥ २ ॥
नाभाववर्गनिक्षेप तेषामप्रतियोगिन ।
प्रतियोग्यनिरूप्यस्याभावता नातिसक्तित ॥ ३ ॥
किंच—'तत्तत्कालेषु लक्ष्माणि वर्तेरन् वा न वा वद ।
वर्तेरन् यदि च तत्तत्कालेऽतिव्याप्तिरापतेत् ॥ ४ ॥
न चेत्तदा तदा स्वेषु लक्ष्येष्वव्याप्तिरक्षता ।
न च तत्समवायित्व तत्तद्धर्मेष्वसभवात् ॥ ५ ॥

नित्य सबन्ध इति लक्षण किं सप्रतिपन्नसयोगादिसबन्धस्य ? तदतिरिक्तस्य कस्यचिद्वा ? नाद्य , अपसिद्धान्तापातात् ।

साथ सयुक्त होना है, सयोगी होने से, घटवत्) इस अनुमान प्रमाण से अजसयोग सिद्ध होता है । यदि कहे कि क्रियावत्त्व मूर्त्तत्वादि इस अनुमान मे उपाधि है, तो यह नही कह सकते है, क्योकि साध्यव्यापक उपाधि से, उस उपाधि के अभाव द्वारा साध्याभाव के बोधन कराने पर उपाधि रहती है, प्रकृत मे जहाँ मूर्तत्व-क्रियावत्त्व का अभाव है, वहाँ रूपादि मे आत्मसयोगित्व का अभाव है, इस व्यतिरेकव्याप्ति मे असयोगित्व उपाधि हो जाता है, अत व्यतिरेकव्याप्ति के अभाव से साध्य उपाधि मे व्यप्यव्यापकभाव नही सिद्ध होता है । और दूसरी बात है कि (आकाश, आत्मा के साथ सयुक्त होता है) इसका अर्थ है कि आत्मसम्बन्ध का आधार आकाश है, और वही आधारत्व साध्य है, वहाँ क्रियावत्त्व मूर्तत्व को उपाधित्व नही हो सकती है, क्योकि आत्मा मे साध्य का व्यापक मूर्त्तत्वादि नहीं हो सकते है, अत उक्त युक्ति से समवाय के लक्षण का सम्भव नही है ।

प्रमाणमपि तत्र प्रत्यक्षम् ? अनुमान वा ? नाद्य, तदभवात् । इह तन्तुषु पट इति प्रत्यक्षमस्तीति चेत्, न, विचारासहत्वात् । समवायो ह्याधारबुद्धि कुर्याद् ? आधेयबुद्धि वा ? उभयबुद्धि वा ? सर्वथापि नोपपद्यते । तन्तुपटयोरुभयोरप्याधारबुद्धेराधेयबुद्धेरुभयबुद्धेश्चाविशेषेण प्रसङ्गात् । जातिजातिमन्तौ मिथ सम्बद्धावित्यस्त्येवानुभवान्तरमिहेति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात् । तथाहि–अस्मिन्ननुभवे समवायस्तदीयत्वेन वान्यदीयत्वेन वा स्वरूपेण वा प्रथत इति वक्तव्यम् ? नाद्य, तदीयत्वस्य सबन्धान्तरायत्तत्वेनानवस्थापातात् । न द्वितीय, अन्यत्रैव सबन्धबोध-

---

न द्वितीय, तस्मिन् प्रमाणाभावादित्यभिसन्धिराह—**प्रमाणमपीति** । ननु किमिति प्रमाणाभाव ? प्रत्यक्षस्य सत्त्वादिति शङ्कते—**इह तन्तुष्विति** । यथाहि–तन्तुबुद्धे पट बुद्धेश्च विषयतया हेतुभूतौ तन्तुपटौ प्रतीयेते, तथेहेति बुद्धेर्जनकतया समवायोऽपि प्रतीयते इत्यभिधान प्रत्यक्षवादिन । दूषयति—**नेति** । पक्षत्रयेऽपि दूषणमाह—**तन्तुपटयोरिति** । आधारबुद्धिमात्रजनकत्वे इह तन्तुषु पटेषु इत्युभयत्राप्याधारबुद्धि कुर्यात् । द्वितीये तु तन्तव पटे वर्तन्त इत्याधेयबुद्धिमेव कुर्यात् । तृतीये तु तन्तुष्वाधाराधेयबुद्धि पटेऽप्याधाराधेयबुद्धि कुर्यादित्यर्थ । अविशेषेणोभयबुद्धेरिति चान्वय । प्रत्यक्षान्तर शङ्कते—**जातिजातिमन्ताविति** । **तदीयत्वेनेति** । जातिजातिमदधीनत्वेनेत्यर्थ । **स्वरूपेण वेति** । अपराधीनतया वेत्यर्थ । **नाद्य इति** । तत्सबन्ध विना तदीयत्वानुपपत्ते समवायस्यापि सबन्धान्तरवत्त्वेऽनवस्था स्यादित्यर्थ । अनवस्थापि द्वितीयपक्षे द्रष्टव्या । प्रथमपक्षेऽनवस्था-

---

उस समवाय मे प्रत्यक्ष वा अनुमान प्रमाण है, प्रत्यक्ष तो नही है, समवाय विषयक प्रत्यक्ष का अभाव है । यदि कहे कि इन तन्तुओ मे पट है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान समवाय मे प्रमाण है, क्योकि तन्तु और पट की तन्तुपट शब्द से प्रतीति होती है, और (इह तन्तुषु पट) इसमे इह शब्द से समवाय की प्रतीति होती है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि, (इह तन्तुषु पट) यह विचाराऽसह है । विचार है कि इस प्रतीति मे समवाय आधार ज्ञान को सिद्ध करेगा, या आधेय बुद्धि को, अथवा दोनो बुद्धि को सिद्ध करेगा । सर्वथा इसका उपयोग नही हो सकता है, क्योकि तन्तु पट दोनो के सम्बन्ध स्वरूप होने से दोनो मे आधार बुद्धि वा आधेय बुद्धि वा उभय बुद्धि को तुल्य रूप से उत्पन्न करेगा, ऐसा प्राप्त होता है । भाव है कि सप्तमी विभक्ति से तन्तु मे आधारता प्रतीति होती है, तथा पट अर्थ मे ... आधेयता प्रथमा मे प्रतीत होती है, इस ... का फल नही हो सकता है । यदि कहे कि (जाति और जाति वाले परस्पर सम्बन्ध वाले है) यह दूसरा अनुभव समवाय मे प्रमाण है, तो ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि यह अनुभव विकल्पाऽसह है । विकल्प यह है कि इस अनुभव मे समवाय, तदीयत्वेन (जाति-

प्रसङ्गात्। न तृतीय, क्वचिदपि सबन्धप्रत्ययानुपपत्ते। असत्येव सबन्धे तदीयत्वमनुभवसिद्धमिति चेत्, न, जात्यादेरप्यसत्येव सबन्धे तदीयत्वानुभवप्रसङ्गात्, असत्ख्यातिप्रसङ्गाच्च। असत्येव सबन्धे सबन्धिभ्या निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारे जातेरपि सबन्धान्तरमन्तरेण व्यक्त्या निरूपणात्तदीयत्वव्यवहारप्रसङ्ग। नानुमानमपि, लिङ्गाभावात्। विवादा-

परिहार शङ्कते—**असत्येव सम्बन्ध इति**। इह गवि गोत्वमित्यादौ तदीयत्वेनैव समवाय प्रतिभाति। न च तावता सबन्धवत्त्वम्, अप्रतीते। न च सबन्धाभावे तदीयत्वबुद्ध्याभाव, जातिव्यक्तिसमवायबुद्धीनामेव स्वभाववशात्तदीयत्वव्यवहार-जनकत्वादिति भाव। एव तर्हि समवायोऽपि न सिद्ध्यति, तत्तत्स्थलेऽपि सबन्धि-बुद्धिभिरेव जात्यादीना तदीयत्वबुद्धिसभवादिति दूषयति—**न जात्यादेरपीति**। दूषणान्तरमाह—**असत्ख्यातीति**। यदि हि सबन्धव्यतिरेकेण तदीयत्व प्रतीयते, तदा सम्बन्धाभावे एव तत्सबन्धित्वप्रतीतिरित्युक्त स्यात्, ततोऽन्यत्र सदन्यत्र प्रतीयत इत्यन्यथाख्यातित्याग असत्ख्यातिस्वीकारश्च स्यात्। न चान्यत्र सत समवायस्य तत्र प्रतीति, अन्यत्रापि तदभावस्यापादितत्वादिति भाव। विषयाभावे जायमानशुक्तिरजतससर्गप्रत्ययवद्भ्रान्तित्व वा असत्ख्यातित्वम्। ननु समवायस्य समवायिभ्या यदिद निरूप्यत्व तत्केनेय तदीयत्वख्यातिस्तेन नासत्ख्याति-प्रसङ्ग, निरूप्यनिरूपकभावस्यैव तदालम्बनत्वादिति, तत्राह--**असत्येवेति**। तदेव प्रत्यक्ष दूषयित्वाऽनुमान दूषयति—**नानुमानमिति**। अनुमान शङ्कते—**विवादेति**। इह पटे रूपसमवाय इत्यादीहप्रत्यये बोधपरिहाराय विवादाध्यासितग्रह-

व्यक्ति अधीनत्वेन) जाति आदि के सम्बन्धित्व रूप से, या अन्यदीयत्व = अन्य-सम्बन्धित्व रूप से, अथवा स्वरूप से = अपराधीन = स्वतन्त्र रूप, से प्रतीत होता है। वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही क्योकि तदीयत्व = तत्सम्बन्धित्व, सम्बन्धान्तराधीन होने से अनवस्था की प्राप्ति होती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि उस रीति से जाति जातिमान से अन्य मे ही समवाय सम्बन्ध का बोध प्राप्त होगा। तृतीय पक्ष भी युक्त नही, क्योकि समवाय के स्वरूप से स्वतन्त्रमान होने पर किसी अनुयोगी-प्रतियोगी से उसका सम्बन्ध रूप से ज्ञान नही होगा। यदि कहे कि जातिव्यक्ति का समवाय के साथ सम्बन्ध के नही रहते भी सम्बन्धी जाति व्यक्ति के सम्बन्धित्व अनुभव समवाय मे सिद्ध है। इससे अनवस्था प्रथम पक्ष मे नही होगी, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि इसप्रकार से जाति आदि के व्यक्ति आदि के सम्बन्ध के नही रहते भी तदीयत्वानुभव की प्राप्ति होगी। और असत् ख्याति की भी प्राप्ति होगी। और समवाय को अपने सम्बन्धियो के साथ सम्बन्ध के नही रहते भी सम्बन्धियो मे निरूपण (ज्ञान) होने से तदीयत्वेन (तत्सम्बन्धित्वेन) समवाय मे व्यवहार होता हो, तो जाति के भी सम्बन्धान्तर (समवाय)

ध्यासित इह प्रत्यय सम्बन्धपुरःसरोऽबाधितेहप्रत्ययत्वादिह कुण्डे बदराणीतिप्रत्ययवदित्यनुमानमस्तीति चेत्, न, विशेषणविशेष्यभावाधाराधेयभावसबन्धादिना सिद्धसाधनत्वात्। विशेषणविशेष्यादेरेव मूलसबन्धपुरःसरत्वं सिषाधयिषितमिति न सिद्धसाधनत्वमिति चेत्, न, इह भूतले घटाभाव इत्यस्मिन्नेव विशेषणविशेष्यभावप्रत्ययेऽनैकान्त्यात्।

णम्। जात्यादिप्रतियोगीन्यर्थः। इह शङ्खे पीतमित्यादिप्रत्ययेषु व्यभिचारपरिहारायाबाधितग्रहणम्। असबद्धपदाप्रत्ययव्यवच्छेदाय इति विशेषणम। तथा च कुण्डबदरादिवज्जात्यादिषु संयोगासंभवात् समवायसिद्धिरित्यर्थः। नेद समवायसाधकम्, जात्यादेर्विशेषणविशेष्यभावादिसाधकतयाप्यर्थान्तरत्वादिति परिहरति— **न, विशेषणेति**। नन्विह प्रत्ययस्य सबन्धपुरस्सरत्वमनुमिन्वतामयमभिप्रायः— यत्तत्र विशेष्यभावस्य मूलभूत सेत्स्यतीति शङ्कते—**विशेषणविशेष्यादेरिति**। नन्किमिदानीं जात्यादिगोचरो विशेषणविशेष्यभावः सबन्धान्तरपूर्वकः विशेषणविशेष्यभावत्वाद दण्डयादिष्विवेत्यनुमिनोषि? तथाचानैकान्तिकत्वम्। "इह भूतले घटाभाव, इह घटे रूपसमवाय" इत्यादिविशेषणविशेष्यभावस्य सबन्धान्तरपूर्वकत्वाभाव इति दूषयति—**नेति**। अत्र च शङ्कायामपि विषयवाचकपद विषयिप्रत्ययस्य लक्षकम्, प्रत्ययशब्दो वा परिहारे प्रमादलिखित, अतो विषयस्य लक्षकत्वे "तत्प्रत्ययेनैकान्तिकत्वाभिधानमयुक्तम" इति नाशङ्कितव्यम्।

के विना ही व्यक्ति से जाति के निरूपण होने से जाति मे तदीयत्व का व्यवहार प्राप्त होगा, कि जिससे समवाय की सिद्धि नही होगी। समवाय मे अनुमान प्रमाण भी नही है, क्योकि लिङ्ग (हेतु) का अभाव है। यदि कहे कि (विवाद विषय इह प्रत्यय = अस्मिन् घटे घटत्व यह ज्ञान, सम्बन्ध-ज्ञानपूर्वक होता है, अबाधित इह प्रत्यय होने से, इस कुण्ड मे बैर है, इस ज्ञान के समान) यह अनुमान समवाय मे प्रमाण है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि विशेषणविशेष्यभाव, आधाराधेयभाव सम्बन्धादि मे इस अनुमान मे सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है। यदि कहे कि विशेषण-विशेष्य भाव के मूल सम्बन्ध पूर्वकत्व सिषाधयिषित है, अर्थात् अनुमान से विशेषण-विशेष्य ज्ञान के मूल रूप समवाय के ज्ञान को सिद्ध करता है कि (विशेषण-विशेष्यभाव का ज्ञान, किसी सम्बन्धज्ञानपूर्वक होता है, विशेषण-विशेष्यभाव का ज्ञान होने से, दण्डि-पुरुष इस ज्ञानवत्) अतः सिद्धसाधन नही है। तो ऐसा नही कह सकते है। क्योकि (इस भूतल मे घट का अभाव है) यहाँ इसी विशेषण-विशेष्यभाव के ज्ञान मे, हेतु अनैकान्तिक है, क्योकि यहाँ विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्धान्तरपूर्वक नही रहता है।

यच्च लीलावतीकारेणानुमानमुक्तम्—"जात्यादिगोचरो विषिष्ट-व्यवहार सबन्धनियतो भावमात्रविषयाबाधितविशिष्टव्यवहारत्वात् सघट भूतलमिति व्यवहारवत्, सामानाधिकरण्यज्ञानमबाधितसम्बन्धज्ञानपुर-सरमबाधितसामानाधिकरण्यज्ञानत्वाद्दण्डकुण्डले देवदत्तसंसृष्टे इति ज्ञान-वत्" इति, तदप्ययुक्तम्, प्रागुक्तनीत्या सिद्धसाधनत्वात्। अथ विशेषण-विशेष्यभावादे सम्बन्धत्वमेव नास्ति, अद्विष्ठत्वात्, द्विष्ठत्वे चोभयत्रापि विशेषणबुद्धेर्विशेष्यबुद्धेश्चाविशेषेण जननप्रसङ्गात्, एवमाधाराधेयभावोऽपि,

---

अत्र लीलावतीकार पूर्वपक्षावसरे स्वयमेवैतानि दूषणानि उद्गीर्य सिद्धान्तेऽनु-मिमाय। तदनुवदति—**यच्च लीलावतीकारणेति**। अघट भूतलमित्यादिषु बाध-परिहारार्थं जात्यादिगोचर इत्युक्तम्। अबाधितविशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते अघट भूतलमिति विशिष्टव्यवहारेऽनैकान्तिकत्वम्, तदर्थं भावमात्रेत्युक्तम्। भावमात्र-विषये विशिष्टव्यवहारत्वादित्युक्ते पीत शङ्ख इत्यादिव्यवहारेऽनैकान्तिकता, तदर्थ-मबाधितेत्युक्तम्। इमौ घटपटावित्यादिव्यवहारव्यावर्तनाय विशिष्टपदम्। सघट भूतलमित्यत्र सयोगमादाय साध्यसिद्धि। अनुमानान्तरमपि तदीयमुद्भावयति—**सामानाधिकरण्यज्ञानमिति**। अबाधितसामानाधिकरण्यज्ञान पक्ष। इतरथा भ्रान्तिस्थले बाधासिद्ध्यो प्रसङ्गात्। रूप समवेतमिद रजतमित्यादिस्थलेष्वविवारो पितसम्बन्धज्ञानेनार्थान्तरतानि**वृत्त्यर्थ**मबाधितग्रहणम्। तादृशस्थलेष्वनैकान्तिकतानि-**वृत्त्यर्थ** च हेतावबाधितग्रहणम्। 'घट पट' इत्यादिज्ञानव्यवच्छेदाय सामानाधि-करण्यपदम्। इद समवायस्य प्रत्यक्षत्वसाधनाय प्रत्युक्तम्, "न्यायनये तु प्रत्यक्ष एव समवाय" इत्युपक्रम्य नैयायिकमतेन समवायप्रत्यक्षतोपन्यासात्। तदेव दूषयति—**तदप्ययुक्तमिति**। प्रागुक्तनीतिर्विशेषणविशेष्यभाव सबन्ध। ननु विशेषणविशेष्य-भावादे सबन्धत्वमेव नास्ति, तत्कुतस्तेनार्थान्तरतेति शङ्कते—**अथेति**। नन्वद्विष्ठ-त्वमेव कुत? तत्राह—**द्विष्ठत्वे चेति**। विशेषणविशेष्यत्वनियमो न स्यादित्यर्थ। इममेव न्यायमाधाराधेयभावेऽप्याह—**एवमिति**। तत्रापि नदरादेराधारत्व कुण्डा-

---

जो लीलावतीकार ने अनुमान कहा है कि (जाति आदिविषयकविशिष्ट व्यवहार सम्बन्धनियत = अवश्य सम्बन्धनिमित्तक, होता है, भावमात्र विषयक अबाधित विशिष्ट व्यवहार होने से, सघट भूतल इस व्यवहार के समान)। (सामानाधिकरण्य = नीलो घट, इत्यादि ज्ञान, अबाधित सम्बन्धज्ञानपूर्वक होता है, अबाधित सामानाधिकरण्य ज्ञान होने से, दण्ड कुण्डल देवदत्त से सम्बन्ध वाले है। इस ज्ञान के समान) यह अनुमान भी अयुक्त है। क्योकि पूर्वोक्त रीति से विशेषण विशेष्यभाव द्वारा सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है। यदि शका हो कि विशेषण-विशेष्यभावादि मे सम्बन्धत्व ही नही है, क्योकि सयोगादि सम्बन्ध द्विष्ठ होते है, और ये द्विष्ठ नही होते है, विशेषण मे विशेषणभाव विशेष्य

ततो न सिद्धसाधनतेति चेत्, मैवम्, द्विष्ठत्वेऽपि कुण्डे बदराणीति प्रतिनियताधाराधेयभावबुद्धिजनकसयोगवत्, तन्तुषु पट इति प्रतिनियतप्रतीतिजनकसमवायवच्च बुद्धिवैचित्र्यजननोपपत्ते, प्रतिवादिनाङ्गीकृतस्य वाद्य-

देराधेयत्व च प्रतीयेत इत्यर्थ । दूषयति—**मैवमिति**। यथा हि कुण्डबदरसयोगस्य द्विष्ठत्वाविशेषेऽपि कुण्ड एवाधारबुद्धि करोतीति ब्रूषे, बदरेषु, बदरेष्वेवाधेयबुद्धिम्, नतु कुण्डे, तत्कस्य हेतो ? स्वभावविशेषादेव। एवमाधाराधेयभावादेरपीत्यर्थ। स्यान्मतम्–न सयोगित्वमात्रात् कुण्डादेराधाराधेयभाव, किं तर्हि ? बदरपतनप्रतिबन्धकत्व कुण्डस्य तदाधारत्वम, बदराणा च तत्प्रतिबद्धगुरुत्वाधिकरणत्व तदाधेयत्वम्। तच्च द्वय प्रतिनियतमेवेति वैषम्यमिति, तत्राह—**तन्तुषु पट इतीति**। न हि तत्रावयविगुरुत्वमवयवै प्रतिबध्यते। नित्यप्रतिबन्धप्रसङ्गेनावयविनो नियमेन पतनाभावप्रसङ्गात्, रूपाद्याधारत्वाभावप्रसङ्गाच्च। न हि तेषा पतनमस्ति यत्प्रतिबन्धकतया तदाधारत्व स्यात्। नचौपचारिकत्वम्, मुख्ये बाधाभावात्, वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वाच्च। तस्मात्तन्तुषु पट इत्यत्रोभयो समवायाश्रयत्वाविशेषेऽपि समवाये स्वभावविशेषादेव तन्तुष्विह बुद्धि पटे चादेयबुद्धिरित्यङ्गीकार्यम्, सच स्वभावविशेषोत्रापि समान। अथ तत्र समवायस्यैकत्वेऽपि व्यञ्जकशक्तिवैचित्र्यात्प्रतिनियम, यथोक्त भाष्यकृता समवायैकत्वेन द्रव्यत्वगुणकर्मसङ्कराशङ्कायां परिहारमुपसहरता—'यथा कुण्डदध्नो सयोगैकत्वेपि भवत्याश्रयाश्रयिभावनियम, तथा द्रव्यत्वादीना समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधाराधेयत्वनियम इति मतम्, तर्हि इहाप्याधाराधेयभावस्यैकत्वेऽपि व्यञ्जकशक्तिवैचित्र्याद्वैचित्र्यव्यवहार' इति सम समाधानमन्यत्राभिनिवेशादिति भाव। किंच प्रतिवादिना स्वसिद्धान्तानुरोधेनाधाराधेयादिसबन्धेष्वर्थान्तरत्वेऽभिहिते न वैशेषिकेण स्वानङ्गीकारमात्रात्तच्छक्यपरिहारम्, तस्य स्वसिद्धान्तात्प्रच्यावनाभावादित्याह—**प्रतिवादीति**। एवमर्थान्तरतामुक्त्वानुमानत्रयहेतुष्वबाधितेति विशेषणप्रयुक्तदूषणा-

मे विशेष्याभाव रहता है, और यदि द्विष्ठ ये भी हो, तो विशेषण-विशेष्य दोनो मे विशेषण ज्ञान और विशेष्य ज्ञान के तुल्यरूप से जनक प्राप्त होगे। इसीप्रकार से आधार मे आधारत्व तथा आधेय मे आधेयत्व रहता है, इत्यादि। अत सिद्धसाधनता नही है। यह शका युक्त नही, क्योकि विशेषण-विशेष्यभावादि के द्विष्ठत्व होते कुण्ड मे बदर है, यहॉ सयोग के द्विष्ठ होते भी जैसे प्रतिनियत आधाराधेय भाव ज्ञान का जनक सयोग होता है, तन्तुओ मे पट है, यहॉ प्रतिनियत प्रतीति का जनक समवाय होता हे, वैसे ही विशेषण-विशेष्य भावादि मे बुद्धि की विचित्रता के कारणत्व की सिद्धि हो सकती है, अर्थात् द्विष्ठ होते भी विशेषण-विशेष्य मे विशेषणत्व, विशेष्यत्व रूप विचित्र बुद्धि का हेतु हो सकता है। और स्वसिद्धान्त के अनुसार विशेषण-विशेष्यादि भावो को मान कर सिद्धसाधनता के कहने पर,

नङ्गीकारमात्रेण सिद्धसाधनताया परिहर्तुमशक्यत्वात् । किंचेदमबाधितत्व सर्वानुमानेषु विवक्षितम् ? कि प्रत्यक्षेणाबाधितत्वम् ? उत युक्त्या ? कि वा व्यवहारे बाधराहित्यम् ? नाद्य, नौल नभ प्रादेशिक सवितेत्यादि-विशिष्टव्यवहारे व्यभिचारात् । नापि द्वितीय, युक्तिबाधविरहस्यात्राप्य-सिद्धे । तथाहि---समवाय स्वतन्त्र ? परतन्त्रो वा ? नाद्य, समवायि-

---

न्याह—**किंचेदमिति । नाद्य इति ।** प्रत्यक्षेणाबाधितविशिष्टव्यवहारत्व नील नभ इत्यादिष्वस्ति, नहि तत्र प्रत्यक्षेण वैपरीत्यमनुभूयते, तदयोग्यत्वात्तेषाम्, अथापि न साध्यमस्ति, नैल्यादेर्वियदादेश्च सबन्धासम्भवादित्यर्थ । युक्तिबाधविरहितत्वम-बाधितता प्रकृतेप्यऽसिद्धमिति सप्रपञ्च दर्शयति—**नापि द्वितीय इत्यादिना ।** यदि समवाय स्वतन्त्रस्तदा स्वतन्त्रयो सयोगव्यतिरिक्तसबन्धाभावादद्रव्यत्वेन तस्या प्यसभवात् सबन्धिभ्यामसबद्ध इति वक्तव्यम् । असबद्धस्य च न तद्घटकत्व-मतिप्रसङ्गादित्याह—**नाद्यः, समवायिभ्यामिति ।** परतन्त्रपक्षे दूषणमाह—**नापि द्वितीय इति ।** पराधीन हि परतन्त्र नाम, नचासबद्धस्य तदधीनता, अतिप्रस-ङ्गात् । तथाचानवस्थेति भाव । ननु सबन्धिभ्या सबद्धोऽपि समवायो न सबन्धा-न्तरेण, येनानवस्था स्यात्, अपि तु सबन्धात्मकतया, स्वभावादेव । यथाहुर्भाष्य कारा —'यथा द्रव्यगुणकर्मणा सदात्मकस्य स्वभावस्य नान्य सत्तायोगोऽस्ति, एव-मविभागिना वृत्त्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति' इति । तदेतच्छङ्कते—

प्रतिवादी से अङ्गीकृत के अनङ्गीकार मात्र से सिद्धसाधनता का परिहार नही हो सकता है और उक्त तीनो अनुमानो के हेतुओ म अबाधितत्व क्या विवक्षित हे, क्या प्रत्यक्ष से अबाधितत्व विवक्षित हे, या युक्ति मे अबाधितत्व विवक्षित ह, अथवा व्यवहार मे बाधा रहितता विवक्षित है, प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि (नील नभ , प्रादेशिक सविता) आकाश नीला है, सूर्य स्वल्प देशवृत्ति है, इत्यादि विशिष्ट व्यवहार मे व्यभिचार है। नील नभ इत्यादि म प्रत्यक्ष से अबाधित विशिष्ट व्यवहारत्व है, क्योकि प्रत्यक्ष मे वहाँ बाध नही होता है, प्रत्यक्ष से बाध योग्यता का अभाव है। अत हेतु है और साध्य नही है। क्योकि नीलता और आकाशादि का सम्बन्ध नही है, अत विशिष्ट व्यवहार-सम्बन्ध पूर्वक-सम्बन्ध नियत या अबाधित सम्बन्ध तात्पर्यक नही रहता है। अत सर्वत्र साध्य का व्यभिचारी हेतु है। दूसरा पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि युक्ति से बाधरहितत्व की यहाँ असिद्धि (अभाव) है, वह दर्शाया जाता है कि समवाय स्वतन्त्र या परतन्त्र हे, आद्य स्वतन्त्र पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि स्वतन्त्र रहने पर, समवायी (समवाय के अनुयोगी-प्रतियोगी)

भ्यामसम्बन्धे पदार्थान्तरवत्तद्घटकत्वाभावप्रसङ्गात्। नापि द्वितीय, सम्बन्धिभ्या सम्बन्धे सम्बन्धान्तरसापेक्षत्वेनानवस्थाप्रसङ्गात्। अथ समवाय सम्बन्धिभ्या सम्बन्धे सम्बन्धान्तर नापेक्षते, तस्य सम्बन्धिसम्बन्धनपरत्वात्, नहि तस्मिन्सति सम्बन्धिनावसम्बद्धौ भवतोऽतो नानवस्थेति चेत्, न, सयोगस्याप्युक्तनीत्या सम्बन्धान्तरानपेक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि तृतीय, नील नभ इत्यादावपि व्यवहारे बाधाभावेन व्यभिचारस्य तादवस्थ्यात्।

घटस्तद्वृत्त्यनित्यान्यभावसम्बन्धवानयम् ।
सम्बन्धित्वादिति स्याच्चेन्नाभावे व्यभिचारत ॥ १५ ॥

अय घट एतद्घटनिष्ठानित्यत्वानधिकरणभावरूपसम्बन्धवान्सम्बन्धित्वा-

---

अथेति। सवन्धिनोर्यत्सवन्धन घटन तत्परत्वात्तत्सवन्धनत्वादित्यर्थ। एतदेव विवृणोति—**नहि तस्मिन्निति**। अयमत्र ग्रथितोऽर्थ —समवाय सवन्धान्तरेण सबद्ध सवन्धित्वाद्घटवदिति सिद्धान्तिनोऽभिप्राय। तत्र च सवन्धत्वमुपाधिरिति पूर्वपक्षिणोभिप्रेतम्, तत्र सिद्धान्ती सयोगे साध्याव्यापकतामाह —**न संयोगस्यापीति**। न चासमवायत्वमुपाधि, पक्षेतरत्वात्। ननातिजन्यत्वन्ध्याय, सपतिपन्नताव्यभावादिति। व्यवहारे बाधाभावोऽनाव्यत्वमिति तृतीयपक्षे व्यभिचारमाह—**नापि तृतीय इत्यादिना**। एतेन "विवादाध्यासित नित्यसम्बन्धेन सबद्ध द्रव्यात्वादाकाशवत्" इति मानमनोहरकारोक्तमपि निरस्तम, विशेषणविशेष्यभावेनार्थान्तरत्वादिति।

अनुमानान्तरमुद्भावयति श्लोकेन —**घट इत्यादिना**। सगृहीतमनुमान विवृणोति —**अयं घट इति**। एतद्घटनिष्ठश्चानित्यत्वानधिकरण च भावरूपश्च य

के साथ असम्बन्ध रहने पदार्थान्तर के समान उन दोनो के घटकत्व = योजकत्व, का अभाव प्राप्त होगा, दूसरा परतन्त्र पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योंकि सम्बन्धियो के साथ समवाय के सम्बन्ध के रहने (मानने) पर सम्बन्धान्तर की सापेक्षता से अनवस्था की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि परतन्त्र रहते भी समवाय, सम्बन्धियो के साथ सम्बन्ध मे सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नही करता है, किन्तु उस समवाय के सम्बन्धी के सम्बन्ध सयोजनपरक होने से, उसके रहते सम्बन्धी असम्बद्ध (सम्बन्धरहित = वियुक्त) नही रहते है, न होते है। अत अनवस्था नही प्राप्त होती है। तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि सयोग को भी सम्बन्धियो के सम्बन्धनपरक होने से सम्बन्धान्तर की अपेक्षा उक्त रीति से नही होगी। अत सम्बन्धान्तरानपेक्षत्व का प्रसङ्ग होगा। व्यवहार मे बाधरहितत्व रूप तृतीय अबाधितत्व पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि, नील नभ, इत्यादि मे भी व्यवहार मे बाध के अभाव होने पर व्यभिचार की तदवस्थता है।

यह घट, इस घट वृत्ति अनित्य सम्बन्ध से अन्य भावस्वरूप सम्बन्ध वाला होगा—ऐसा यदि कहा जाय, तो युक्त नही, अभाव मे व्यभिचार से ॥ १५ ॥

अर्थात् (यह घट, इस घटवृत्ति अनित्यत्वानधिकरणभावस्वरूप सम्बन्ध

त्पटवदिति चेत्, मैवम्, अभावे हेतोर्व्यभिचारात्, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धेन सम्बन्धित्वाङ्गीकारात्। अथ भावत्वादिति हेतु, तथापि समवाये व्यभिचारात्। द्रव्यत्वादिति प्रयोगेऽपि सयोगनित्यतापादकतयार्था-

---

सबन्धस्तदधिकरणमिति योजना । विशेषणविशेष्यादिरूपाभावात्मकसबन्धेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै भावग्रहणम्। भावरूपसबन्धवानित्युक्ते सयोगेनार्थान्तिरता, तदर्थमनित्यत्वानधिकरणमित्युक्तम् । तथाचाप्रसिद्धविशेषणता, तन्निवृत्त्यर्थ एतद्धटनिष्ठेत्युक्तम्। घटान्तरसयोगे साध्यप्रसिद्धि तस्या नित्यत्वाधिकरणत्वेपि एतद्धटनिष्ठत्वे सत्यानित्यत्वानधिकरणत्वमस्त्येव, एतद्धटनिष्ठत्वानधिकरणत्वात्। गुणादयश्च पक्षतुल्या इति न व्यभिचाराशङ्कावकाश । नाभावे व्यभिचारत इत्यश व्याचष्टे—**अभाव इति ।** नहि तस्य भावरूपसबन्धाधिकरणत्वसभव, अभावस्य भावाधिकरणत्वात् । अथ च विशेषणविशेष्यभावेन तत्र सबद्धत्वमस्तीत्यर्थ । अभावे हेतोर्वृत्तिमेव दर्शयति—**तस्यापीति ।** हेत्वन्तर शङ्कते—**अथेति ।** तथापि समवायेऽनैकान्तिकता, अद्रव्यत्वेनासयोगित्वादनवस्थाभयाच्च न समवायवत्त्वम्, अथ च भावत्वं समवायस्यास्तीत्यर्थ । अस्तु तर्हि द्रव्यत्वादिति हेतुस्तथा च न व्यभिचारोपद्रवस्तत्राह—**द्रव्यत्वादितीति ।** इद हि भावरूपे नित्ये कस्मिश्चित् सबन्धे विश्राम्यतीति, तथा च सयोगनित्यतयापि सार्थक्यादर्थान्तरमित्यर्थ । ननु कथमर्थान्तरता, यावता सयोगस्य नित्यतैव न सभवति ? तन्नित्यत्वेऽनित्यघटादिनिष्ठत्वानुपपत्ते । अथ कथमनुपपत्ति ? घटाद्यभावदशायामनाधारस्य स्थित्यनुपपत्ते, असमवेतस्य च गुणत्वानुपपत्ति कदाचिदसमवेततया

वाला है। सम्बन्धी होने से, पट के समान) विशेषण विशेष्यभाव को वारण के लिये भावरूप कहा है, सयोग को वारण के लिये अनित्यत्वाऽनधिकरण कहा है, इत्यादि। और दृष्टान्त रूप पट मे पटान्तर के सयोग से साध्य की प्रसिद्धि होती है, यद्यपि वह अनित्यत्व का अधिकरण रहता है, तथापि एतद् पटवृत्तित्व युक्त अनित्यत्व का अनधिकरण रहता है। गुणादि पक्ष तुल्य है, अत उनमे व्यभिचार नही है। यह अनुमान भी निर्दोष नही है, क्योकि सम्बन्धित्व हेतु का अभाव मे व्यभिचार है, क्योकि, उस अभाव को भी विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध से सम्बन्धित्व माना जाता है। यदि सम्बन्धित्व के स्थान मे भावत्व हेतु कहा जाय, तो भी समवाय मे व्यभिचार होगा, क्योकि अद्रव्य होने से उसमे सयोग नही रहता है, और अनवस्था के भय से समवाय नही माना जाता है, और भावत्व रहता है। द्रव्यत्व को हेतुरूप से प्रयोग करने पर भी वह सयोग मे नित्यता का साधक होगा, तो अर्थान्तरता का प्रसङ्ग होगा, यदि कहा जाय कि अनित्य घटादि को

न्तरत्वप्रसङ्ग । न चानित्यस्य घटादेर्नित्यसम्बन्धाधिकरणत्वानुपपत्ति, समवायाधारत्ववत्तदुपपत्ते । अतो यथा समवायस्य स्वभावसामर्थ्यादेवात्मनि परत्र च सम्बद्धव्यवहारहेतुत्वम्, एव गुणगुण्यादेरपि स्वभावसामर्थ्यादेव सम्बद्धव्यवहारहेतुत्वोपपत्तेर्न कल्पनागौरवानवस्थादु स्थसमवायस्वी-

---

स्थितस्य युतसिद्धतया कदाचिदप्यसमवायादिति, तत्राह—**न चानित्यस्येति।** नत्किमिय राजाज्ञा ? नेत्याह—**समवायेति।** अयमभिसन्धि—षण्णामपि पदार्थानामित्युपक्रम्याश्रितत्व चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति भाष्यकारैर्भाषणात्समवायस्याश्रितत्व वक्तव्यम्, तत्रानित्यघटादिविगमे य परिहार स चात्रापि भविष्यति। अथ तत्र समवायस्यैकत्वात्कनिपयनित्यपदार्थद्वयाश्रिततया नाश्रितस्वभावताव्याघात, सयोगस्यैक्य केन वार्यते ? अथ तत्र धटसयोग पटसयोग इति बुद्धिभेदात्सयोगभेद समवायेऽपि दीयता दृष्टि । "अस्ति रूपसमवाय गात्वसमवाय" इति बुद्धिभेद । अथ घटासमवेतसयोगस्य घटगुणत्वानुपपत्ति, युतसिद्धतया च समवायानुपपत्तिरिति नून बधिर इव भवाल्लक्ष्यते, कथमपरया समवायमेव निराकुर्वन्त प्रत्यननुरूपाणि ईदृशानि च वचनानि जल्पसि ? किंच—

असमिद्धस्य रूपादे समवायो न सिद्धयति ।
ससिद्धस्यापि रूपादे समवायो न सिद्धचति ॥

अलब्धात्मकस्य रूपादे सबन्धित्वाभावाल्लब्धात्मकस्य सबन्धो वक्तव्यस्तथाचोष्ट्रलगुडवृत्तान्तापात इति, तस्मात्साधूक्तम्—**समवायाधारत्ववत्तदुपपत्तेरिति।** तत्किं समवायनाममात्र एवायुष्मत प्रद्वेष ? न त्वर्थे ? यावता भवतापि भावरूपनित्यसबन्व सयोगो नाम स्वीकृत इति। तदिद भिक्षुकपादप्रसारण पूर्ववादिन परिहरन्नुपसहरति—**अतो यथेति।** नास्माभिस्तादृश सयोग स्वीक्रियते, कथ तर्हि न गुणादीनामन्यत्वापत्तिस्तत्सबन्धव्यवहारस्य वा न निर्विषयता ? तत्तत्स्वभाववशादेव तयोरुपपत्तिरित्यवेहि ! तथासति धर्मधर्मिभावस्यैवोद्धारप्रसग इति चेन्नोच्चैर्भणितव्यम, यदि कोऽप्यभ्यर्णमाकर्णयेन्महदेतदद्वैतवादिभ्योऽस्मभ्य मर्मोद्घाटित स्यादिति, अवश्य च समवाय स्वीकृत्यापि स्वभाववाद एवालम्बन तदवश्यापेक्षणीयस्वभाव एव सर्वत्राश्रीयता किमनवस्थाकल्पनागौरवलौहगन्धाधायिनाऽप्रा-

---

नित्यसयोगसम्बन्ध के अधिकरणत्व की अनुपपत्ति से ही सयोग मे नित्यता का साधक द्रव्यत्व नहीं होगा, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि अनित्य घटादि का नित्य समवाय की आधारता के समान नित्य सयोग की आधारता की भी उपपत्ति (सिद्धि) होगी। अत जैसे समवाय के स्वभाव सामर्थ्य से ही अपने स्वरूप मे और अन्य मे सम्बद्ध व्यवहार का हेतुत्व समवाय को होता है, इसी प्रकार से गुणगुणी आदि को भी स्वभावसामर्थ्य से ही सम्बद्ध व्यवहार के हेतुत्व की सिद्धि होने से कल्पना के गौरव और अनवस्था से दुरवस्थिति वाले समवाय के स्वीकार

कारावकाश । तदेव लक्षणासम्भवात्प्रमाणाभावाच्च न समवायस्य द्रव्यादिभ्यो भेदसिद्धि । अतो न क्वापि लक्षणभेदाद् भेदसिद्धिरिति सिद्धम् ।

माणिकेन समवायकल्पनाद्दुर्व्यसनेनेत्यर्थ । समवायदूषणमुपसंहरति—**तदेवमिति ।** भिन्नलक्षणयुक्तत्व भेद इति पक्षदूषणमुपसंहरति—**अतो न क्वापि लक्षणभेदादिति ।** किञ्च लक्षणानामेव नानदनुगतलक्षणमस्ति ? न वा ? न यदि, तदा तेषामितरव्यावृत्ततया ज्ञान न स्यात् , तदन्तरेणापि वा तथा ज्ञाने पदार्थेष्वपि तथैव स्यादिति लक्षणक्षति । अथास्ति किञ्चिदनुगत लक्षणलक्षणम ? कि तत् ? सजातीयविजातीयव्यावर्तकत्वमिति चेन्न, सामान्यादिलक्षणेऽव्याप्ते । नहि ते जातिमन्त, येन तत्सजातीयमन्यत्तैर्लक्षणैर्व्यवच्छेद्य स्यात् । किंचैव त्वयादीनामपि लक्षण न स्यात्, सामान्याद्यव्यवच्छेदकत्वात् । नहि सामान्यादय सजातीयतया विजातीयतया वा व्यवच्छेदमर्हन्ति, जातिरहितत्वादेव, प्रमेयाभिधेयादिलक्षणेपु चाव्याप्ति । नहि तत्र किंचिद्व्यवच्छेद्यमस्ति, तस्य प्रमितौ प्रमेयतयाऽव्यवच्छेद्यत्वादप्रमितौ च कि व्यवच्छेद्य स्यात् ? एवमभिधेयत्वेऽपि । किचेद साजात्यमभिमत व्यवच्छेद्यस्य ? कि लक्ष्यमात्रवृत्तिजात्या ? कि यथा कथाचन ? नाद्य, लक्ष्यस्यापि व्यवच्छेदापातात् । न द्वितीय, विजातीयपदवैयर्थ्यात् । अन्ततत सत्तयापि जातिमता साजात्यात् । विजातीयव्यावर्तकमात्र चेन्न, सामान्यादिलक्षणेष्वव्याप्ते । नहि ते जातिमन्त , जातिरहितानां च वैजात्यस्याप्यभावात् । जातिशब्दस्योपाधिपरत्वेऽप्येते दोषा दुरुद्धरा । एतेन लक्ष्यलक्षणमपि प्रत्युक्तम् , तस्याप्युक्तदूषणलङ्घनाजङ्घालत्वात् । न च सामान्यादीनामपि सामान्यवत्ता, अनवस्थानात् । नचदृगनवस्थादीनामदूषणत्व, अवैषम्यात , अदर्शननियमसाम्यात् । एतनुपाधावुपाधिस्वीकारेऽपि, तत्तल्लक्षणानिरुक्तेश्च जातिप्रकाश च खण्डितम्, खण्डयिष्यते च जाति । तेन जातिद्वारोपाधिद्वारा वा वादीन्द्रादिभिरुत्प्रेक्षप्रमाणलक्षणान्यपि क्षुण्णानि मन्तव्यानि । अपि च—

वादीन्द्रस्येष्टदा तावन्महाविद्या पुलोमजा ।
सा च स्वव्यभिचारादिदोषै सदूषितात्मना ।। १ ।।
तामेव दूषयन्नेष तत्पादे निपतन्नपि ।
कथकार मदोन्मत्त श्रद्धेयवचनो भवेत् ।। २ ।।
पक्षतद्भिन्नवृत्तित्वाद्युपज्ञाभिश्च रीतिभि ।
आसा सावकाशसीमा एता पारिप्लवावहा ।। ३ ।।

का अवकाश नही रहता है। अत इस उक्त रीति से लक्षण के असम्भव तथा प्रमाण के अभाव से द्रव्यादि से समवाय के भेद की सिद्धि नही हो सकती है। इसी लक्षण के असम्भव से लक्षण के भेद से भी कही भेद की सिद्धि नही हो सकती है, यह सिद्ध हुआ ।

अन्ये मन्यन्ते––माभूल्लक्षणभेदाद्भेदः, तथापि सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षण-विरुद्धधर्मसंसर्गाद्बीजादीनां भेदः सिद्धचति। तथाहि––यदि कुसूलनिहितं बीजं तदानीमङ्कुरजनने समर्थम्, तर्हि तदेवांकुरं जनयेत्, यद्यदा यज्जनन-

---

नोपादेया महाविद्यामुद्रिता जातु जातयः।
तत्त्वं चापि स्वीययत्नाज्जिगीषयिषुभिर्बुधैः॥ ४॥
शक्यते च सर्वप्रकारविप्लवो महाविद्याभिः।
साधयितुं ग्रन्थगौरवभयान्न प्रपञ्चयते सः॥ ५॥
तस्मात्–'लक्ष्यलक्षणभावोयमलक्ष्योऽभिन्नवस्तुनि ।
त्वद्युक्त्यैवान्वितमनिर्वाच्याविद्याविजृम्भितम् ॥ ६॥
इति षट्पदार्थमतखण्डनया परिशुद्धचिद्घनसुखैकनिधिः।
प्रतिषिद्धभेद इह यः परमः प्रतिपादितस्तमभिनौमि भवम्॥ ७॥

ननु वैधर्म्यभेदनिरसनेनैव लक्षणभङ्गवादिनामपि भेदहेतुर्विभञ्जित एव, सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपि वैधर्म्यरूपत्वात्, अतो मुधैवायं क्षणभङ्गवादावतार इति, उच्यते–न तावत्सुगतमते वैधर्म्यरूपो भेदः, स्वरूपभेदवादित्वात्तथागतानाम्। नापि सामर्थ्यासामर्थ्ययोर्धर्मरूपत्वम्, यतस्तयोः सत्त्वासत्त्वात्मकतया स्वरूपत्वम्, अतः स्वरूपभेदस्यैवायं विशेषो भङ्ग्यन्तरेण निराक्रियते। अथवा प्रत्यक्षतो भेदाधिगतिं निराकृत्यानुमानिकभेदाधिगतिविध्वंसोऽनेन क्रियते, तत्र क्षणभङ्गवादिनो वावदति 'एकस्वभावत्वायोगात् सामर्थ्यस्य च स्वभावत्वात् समर्थस्वभावस्यासमर्थस्वभावत्वमयुक्तम्, स्वभावहानिप्रसङ्गात्, अत एकत्वेन भवद्भिरभिमन्यमानमपि भिन्नमेव।

यदा च समर्थक्षणादसमर्थक्षणमेव प्रत्यभिज्ञायमानमपि भिद्यते, तदा किमु वक्तव्यमप्रत्यभिज्ञायमानतया अप्रतीयमानैक्यानां घटपटप्रभृतीनां भेद इति? तदेतदाह—**अन्ये मन्यन्त इति**। धर्मनिर्देशश्चायं परकीयरीत्या। स्यादेतत्, यदि विरुद्धधर्मसंसर्गः स्यात्तदा बीजक्षणानां भेदः, स तु कुतः? यावता समर्थमेव कुसूलनिहितमपि बीजमङ्कुरजनन इति तत्राह—**यदि कुसूलनिहितमिति**। तत्र जनकत्वेन सामर्थ्यस्य व्याप्तिं दर्शयन्व्यापकजनकत्वनिवृत्त्या व्याप्यसामर्थ्यनिवृत्तिमनुमिनोति—**यद्यदेत्यादिना**। कुसूलनिहितं बीजसमर्थमङ्कुरोत्पादे, तदानीं तदजनकत्वाद्यदेवं तदेवं यथा पदार्थान्तरमिति पररीत्या च प्रयोगः, स्वकीयरीत्या तु यद्यन्न जनयति तत्तत्रासमर्थं यथा पदार्थान्तरम्, न जनयति चेदं कुसूलनिहितं बीजमिति स्वभावहेतुः। तदेवं प्रसङ्गतद्विपर्ययाभ्यामसामर्थ्यमुपपादितम्, इदानीं क्षणान्तर-

---

अन्य बुद्धमतानुयायी मानते हैं कि लक्षण के भेद से पदार्थों में भेद न हो, तो भी सामर्थ्य असामर्थ्य स्वरूप विरुद्ध धर्मों के सम्बन्ध से बीजादि के भेद की सिद्धि होती है। क्योंकि यदि कुसूल (अन्नागार कोष्ठ) में धरा हुआ बीज वहाँ ही अङ्कुर के जन्म में समर्थ होता, तो कोठी में रहते ही अङ्कुर को उत्पन्न

समर्थं तत्तदैव तत्करोति यथा सामग्री, न च कुर्वदुपलभ्यते, तस्मादसमर्थम्, सहकारिसमवधाने च समर्थमिति, सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गः। न च समर्थस्यापि सहकारिसमवधानाभावादजनकत्वमिति सदिग्धव्यतिरेकिता, जनकस्वभावत्वे तस्य सहकारिसमवधानाभावेऽपि स्वभावविरोधा= देवाजनकत्वानुपपत्ते। सहकारिसमवधाने जनकमजनक चान्यदेति स्वभाव इति चेत्, मैवम्, एकस्यानेकस्वभावतानुपपत्ते। किञ्च यदि सहकारिसम-

स्थस्य सामर्थ्यं दर्शयति विरुद्धधर्माध्यासस‍िद्धये—**सहकारीति**। तत्रापि यदि सहकारिसमवेत बीजसमर्थमङ्कुरजनने स्यान्न जनयेदिति प्रसङ्ग यद्यज्जनयेत्तत्तत्र समर्थं यथा सामग्री, जनयति चेदमिति विपर्यय। धर्मद्वयप्रतिपादनमुपसहरति— **इति सामर्थ्येति**। ननु तदानी तदजनकत्वादिति हेतुरनैकान्तिको विपक्षाद्व्यावृत्ते सदिग्धत्वात्। यदि हि समर्थस्याजनकत्वमसम्भव्येवेति निर्णीयेत, तर्ह्येव विपक्षव्यतिरेकनिर्णय, न च तदस्ति, समर्थस्यापि सहकारिमेलनाभावादजनकत्वसम्भवात्। तस्मात्सदिग्धविपक्षव्यतिरेकित्वात् सदिग्धानैकान्तिकमेव। यथाहु—

'यावच्चाव्यतिरेकित्व शताशेनापि शङ्कयते।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धतोर्गमनिकाबलम्'॥ इति

तत्राह—**न च समर्थस्यापीति**। तत्र वक्तव्य किं बीजस्य जनकत्व स्वभाव? उत जनकत्वमजनकत्वम् आहोस्विदजनकत्वमेवेति? तत्र प्रथम दूषयति—**जनकस्वभावत्व इति। स्वभावविरोधादेवेति**। स्वभावभूतेन जनकत्वेन विरोधादजनकत्वानुपपत्तिरित्यर्थ। द्वितीय शङ्कते—**सहकारीति**। दूषयति—**मैवमेकस्येति**। स्वोहि भाव स्वभाव। असाधरण इति यावत्। तथाचोभयस्वभावत्वे कि युगपदुभय स्वभावभूतम्? पर्यायेण वा? नाद्य, भवद्भिरेव सहकारिसमवधानासम-

करता। क्योकि जो जिस समय जिसके जन्म मे समर्थ होता है, वह उसी समय उसको करता है (जन्माता है) जैसे की खेत, बीज, पानी आदि की सामग्री (समूह) अपने समय मे अङ्कुर को पैदा करती है। परन्तु कुसूलस्थ बीज कुर्वद् (वर्तमान कार्य करता हुआ) नही उपलब्ध होता हे, नही देखा जाता हे। अत वह असमर्थ रहता है, और क्षेत्र, पानी आदि सहकारी के समवधान (साथ) होने पर समर्थ होता है, इसप्रकार से सामर्थ्य, असामर्थ्य रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध होता है, और धर्मभेद से पदार्थ मे भेद सिद्ध होता हे, यदि कहा जाय कि कुसूलस्थ बीज के भी अङ्कुर जनन मे समर्थ रहते, सहकारी भूमि, जलादि के साथ समवधान (सम्बन्ध) के अभाव से अजनकत्व होता है, अत अजनकत्व हेतु सामर्थ्याभाव साध्य के व्यभिचारी है असामर्थ्याभाव के अभाव का निश्चय नही होने पर सन्दिग्ध व्यतिरेकिता है, तो यह कथन युक्त नही, क्योकि बीज के जनकस्वभावत्व के रहते, उसको सहकारी समवधान के

वधानमपि स्वभावान्तर्भूतम्, तदा तदपि तदैव सम्पद्येत, स्वभावस्यानपायात्। अथाजनकत्वं स्वभावः, तदा न कदाचिदप्यङ्कुरं जनयेत्। अथ सहकारिसमवधानानन्तरभाविनः कार्यात्समनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावः, तर्हि कुसूलनिहितावस्थायामपि बीजस्य यथावर्णितस्वभावो भवेत्, तत्स्व-

---

वधानावस्थतया व्यवस्थापनात, नित्यं कार्यसत्त्वासत्त्वयोः प्रसङ्गाच्च। द्वितीये तु नोभयोरपि स्वभावता, तस्योभयत्रानुगच्छतोपि तयोरननुगमनेन भेदावसाया-दिति भावः। यदि च सहकारिसमवधानासमवधानव्यवस्थया जनकत्वाजनकत्व-योरप्येकत्र व्यवस्थाभिप्रेयते, सापि न सभवतीत्याह—**किञ्चेति।** तथाच–तदसम-वधानाभावात्तत्प्रयुक्ताजनकत्वमपि तस्य नास्तीति जनकैकस्वभावत्वं स्यात्, तथा च पूर्वोक्तमेव दूषणमिति भावः। सहकारिसमवधानस्याप्यस्वभावत्वपक्षमुत्तरत्रा-शङ्क्य निराकरिष्यति। अजनकत्वमेव स्वभाव इति तृतीयं पक्षं शङ्कते—**अथाजन-कत्वमिति।** ननु नात्यन्तं जनकत्वमजनकत्वं वास्य स्वभावः, किं तर्हि? सहकारि-समवधाने सति यत्कार्यं भवति तस्मादनन्तरपूर्वक्षणवर्तित्वं स्वभावः, तेन न सह-कारिसमवधानाभावेऽपि जनकत्वम्, नापि सहकारिसमवधानेप्यजनकत्वमित्याह—**अथ सहकारीति।** दूषयति—**तर्हीति।** एवंविधः स्वभावः कुसूलनिहितावस्था-यामप्यस्य विद्यते इति तदापि कार्यजन्मप्रसङ्ग इत्यर्थः। विपक्षे बाधकमाह—**तत्स्वभावस्येति।** यत्तदाशङ्क्य निराकरीष्यतीत्युक्तम्, तदाह—**अथेति।** ननु यद्यनुपकारिण्यपेक्षानुपपन्ना, तर्ह्युपकुर्वन्त्येव सहकारिणः कारणस्येति शङ्किते परि-

---

अभाव रहते भी स्वभावविरोध से ही अजनकत्व की अनुपपत्ति है। अर्थात् स्वभाव रूप जनकत्व हो तो स्वभावविरोध से ही कहीं कभी अजनकत्व नहीं हो सकता है। अतः कुसूलस्थ बीज समर्थ नहीं रहता है, अतएव अजनकत्व हेतु व्यभिचारी भी नहीं है। यदि सहकारी के समवधान रहते बीज कार्य का जनक होता है, असमवधान रहते अजनक होता है, समर्थ रहते भी ऐसा होना उसका स्वभाव है। तो ऐसा नहीं कह सकते है, क्योंकि एक में अनेक स्वभावता की अनुप-पत्ति है। और यदि सहकारी का समवधान भी कारण के स्वभाव के अन्तर्गत हो जाता है, तो वह भी उस कारणस्वरूप ही सिद्ध होगा, क्योंकि स्वभाव का कभी अपाय (अभाव) नहीं होता है, तब कुसूलस्थ को भी जनकत्व प्राप्त होगा, क्योंकि स्वभावभूत सहकारी समवधान वहाँ भी रहता ही है। यदि बीजमात्र का अजनकत्व स्वभाव हो तो वह कभी भी अङ्कुर को नहीं उत्पन्न करेगा। यदि कहें कि जनकत्व या अजनकत्व स्वभाव स्वतः नहीं रहता है, किन्तु सहकारी समवधान के अनन्तर होने वाले कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना कारण का स्वभाव होता है, तो कहा जा सकता है कि स्वभावभूत सहकारी कारण के स्वरूप के अन्तर्गत रहता ही है, अतः कुसूलस्थिति अवस्था में भी बीज का उक्त

भावस्य तदानीमभावे स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात्। अथ सहकारिसमवधान न स्वभाव, तर्हि तत्कारणस्योपकरोति ? न वा ? न चेद्, अनपेक्षणीयत्वम्। उपकरोति चेत, उपकारा वस्तुनो भिन्न ? न वा ? भिन्नत्वे प्राप्ताप्राप्तविवेकेन स एव कार्यजनक इति न स्थिरस्य कारणता। अभिन्नत्वे तु पूर्वावस्थस्य वस्तुन साप्रतमुपकाराभिन्नतयोत्पत्त्यसम्भवाद्वस्त्वन्तरोत्पत्ते क्षणिकस्यैव कारणताप्रसङ्ग। उपकारस्य वस्तुतन्मात्रत्वे च सहकारिसमवधानात्पूर्वमपि तद्भावात्तदापि कार्यजननम्, सहकारिसमवधानवैयर्थ्य च

हरति—**उपकारो वस्तुन इति**। उपकारस्य वस्तुनो भिन्नत्वे वस्तुन कारणत्व न स्यात्, अन्वयव्यतिरेकाभ्या तस्यैव कारणत्वादिति परिहरति—**भिन्नत्व इति**। द्वितीये दूषणमाह—**अभिनत्व इति**। अत्र वक्तव्य कि वस्तुन उपकारादभेद ? उपकारस्य वा वस्तुनोऽभेद ? प्रथमे प्राह—**पूर्वावस्थस्येति**। उपकार खल्विदानीमुत्पद्यते पूर्वसिद्धस्य च वस्तुनस्तदभेदे तस्यैव पुनरुत्पत्ति प्रसज्येत, तच्चायुक्तम, द्विरुत्पत्त्यभावात, अतोऽन्यस्यैवोत्पत्तिर्वक्तव्या, तथाच कथय कथ न क्षणिकस्य कारणापत्ति ? इत्यर्थ। दूषणमाह—**उपकारस्येति**। वस्तुन पूर्वमेव विद्यमानत्वात्तदभिन्नोपकारोऽपि पूर्वमेव विद्यत इति तदापि कार्योत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थ। दूषणान्तरमाह—**सहकारिसमवधानेति**। वस्तुस्वभावस्य तस्य तत्पूर्वमपि भावादिति

वर्णित स्वभाव होगा, क्योंकि ... स्वभाव के उस समय ... होने पर ... का परित्याग प्राप्त होगा, और स्वभाव के परित्याग नही होने पर ... अवस्था मे भी अड्कुर के जनन की प्राप्ति होती है। यदि सहकारी का समवधान कारण का स्वभाव नही है, ऐसा माना जाय, तो भी विचारणीय है कि वह सहकारी समवधान, कारण का उपकार (साहाय्य) करता है, या नही। यदि साहाय्य नही करता है, तब तो उसमे अनपेक्षणीयत्व रहेगा, कार्य के लिये उसकी अपेक्षा नही हो सकेगी। और यदि कारण का उपकार करता है, तो उन सहकारी का उपकार कारण रूप वस्तु से भिन्न होता है, या अभिन्न होता है, यह विचारणीय है। यदि उपकार मे कारण रूप स्थिर वस्तु से भिन्नत्व हो, तो प्राप्ताप्राप्त विवेक (अन्वयव्यतिरेक के ज्ञान) से वह उपकार ही कार्य का जनक होगा। स्थिर वस्तु की कारणता नही सिद्ध होगी। उपकार के कारण मे अभिन्नत्व होने पर तो पूर्वावस्था वाली वस्तु की वर्तमान काल मे उपकार के साथ अभिन्न रूप से उत्पत्ति के असम्भव मे पूर्वोत्पन्न की पुन उत्पति नही हो सकने से, वस्त्वन्तर की उत्पत्ति होने के कारण क्षणिक को ही कारणता प्राप्त होता है। उपकार मे बीजादि वस्तुमात्रत्व होने पर, तो सहकारी सम्बन्ध से प्रथम भी वस्तुमात्र के रहने से उस समय भी कार्य जन्म की प्राप्ति होगी, और सहकारी के समवधान मे व्यर्थता प्राप्त होगी। यदि कहा जाय कि उपकार वस्तु के तत्त्व (स्वरूप) और अन्यस्वरूप

प्रसज्येत। अथोपकारो वस्तुनस्तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीय, तदा तस्यैव कारणत्वमिति न वस्तुन कारणता। न च वस्तुनोऽप्यन्वयव्यतिरेकित्वात् कारणता, केवलव्यतिरेकाभावात्—सत्युपकारे वस्त्वभावापराधेन कार्याभावानुपलम्भात्। तदेव सामर्थ्यासामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाज्जनका-

---

भाव । भेदाभेदप्रयुक्तदूषणपरिजिहीर्षोरनिर्वाच्यमतमुद्भावयति—**अथेति**। दूषयति—**तदेति**। यथा भेदेनानिर्वचनीयत्वम्, तथाऽभेदेनापीति न वस्तुस्वरूपत्वमुपकारस्य। तथाच क्षणिकस्य कारणत्व दुरपवादम, वस्तुनश्चाकारणतापत्तिरतिरिच्यत इति न भिन्नपक्षात्फलतो भेद इति भाव । ननु किमिति वस्तुनोऽकारणता, यावतान्वयव्यतिरेकाभ्या तस्यापि कारणत्वमवसीयते इतरथोपकारस्यापि तन्न स्यादिति? तत्राह—**न च वस्तुनोपीति**। हेतुमाह—**केवलेति**। तदेव विवृणोति—**सत्युपकार इति**। यथा हि बीजे विद्यमानेप्युकाराभावादनुत्पत्तिमभ्युपैषि, न तथोपकारे विद्यमानेऽपि वस्तुनोऽभावादनुत्पत्ति शक्यनिदर्शना, अभेदवादिनो व्याघातात, भेदवादेऽप्युपकार्याभावे उपकारस्यैवासम्भवात्, अनिर्वचनीयेऽपि भेदपक्षप्रयुक्तदूषणानुषङ्गादिति भाव । तदित्थ बाधकपद्धतिभि सन्दिग्धव्यतिरेकितानिरसनेनाजनकत्वादनुमानमप्रत्यूहमिति स्थितम्, तथा च—विरुद्धधर्माध्यास सिद्ध इत्याह—**तदेवमिति**। एवमुपपादितप्रकारेण यदा विरुद्धधर्मसंसर्ग सिद्धस्तदा तस्मादेव हेतोर्भेदसिद्धिरपि भवतीति योजना। सहकारिभिराधीयमाने बीजस्यातिशये बीजमुत्पादकम, अन्यथा तदभावे तदुदयापत्ते । बीज चातिशयमादधान सहकारिणोऽपेक्षते, अन्यथा सर्वदोपकारवृत्तावङ्कुरस्यापि सर्वदोत्पत्तिप्रसङ्गात्। तस्मात्तमतिशयार्थमपि सहकारिभिरपेक्ष्यमाणै सहकारिभिरतिशयान्तरमाधेय बीजे, तस्मिन्नप्युपकारे पूर्वन्यायेन बीज सहकारिमापेक्ष जनकमित्युपकारजनकोपकारजननार्थमपेक्ष्यमाणै सहकारिभिरुपकारान्तर बीजे जनयितव्यमिति तत्तदतिशयार्थमपेक्ष्यमाणसहकारिसपाद्यबीजवृत्त्यतिशयानवस्थेति—यद्वा बीजवर्तिनि

से अनिर्वचनीय है, अर्थात उपकार होता है, परन्तु वस्तु से भिन्न वा अभिन्न रूप से कहा नहीं जा सकता है, तो कहा जाता है कि उसी अद्भुत स्वरूप वाले को कारणत्व होगा, किन्तु वस्तु को कारणता नहीं होगी। यदि कहें कि अन्वयव्यतिरेकित्व (अन्वयव्यतिरेकवत्त्व) से वस्तु बीजादि में भी कारणता सिद्ध होती है, तो यह कहना युक्त नहीं क्योंकि, केवलव्यतिरेक का अभाव है, उपकार के रहते वस्तु के अभाव से कार्याभाव का ज्ञान नहीं होता है। जब वस्तु के रहते रहते कार्य का अभाव होता है, तब व्यतिरेकव्याप्ति में व्यभिचार है, उक्त रीति से सहकारी से ही कार्य की सिद्धि होने से सहकारी के अभाव से कार्याभाव कहा जा सकता है, वस्तु के अभाव से नहीं। अत उक्त रीति से सामर्थ्य, असामर्थ्य स्वरूप विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से जनक, अजनक के भेद की सिद्धि होती है। इस विषयक

जनकयोर्भेदसिद्धिः। प्रयोगश्च—कुसूलस्थ बीज सहकारिमध्यमध्यासीना द्भिन्न विरुद्धधर्मसंसृष्टत्वाद्दहनतुहिनवत्। तथा—कुसूलस्थ बीजमङ्कुर-जनकबीजाद्भिन्न कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसम्बन्धित्वाद्घटवत्। एतामेव व्याप्तिमुपजीव्य यत् सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेन क्षणिकतामाचक्षते

सहकारिभिरतिशये क्रियमाणे बीजमपि सहकारिभिरपेक्षणीयमिति बीजेन सह-कारिष्वतिशय आधेय । एव बीजेन सहकारिष्वतिशय आधीयमाने तत्का-रिणोऽपेक्षणीया इति तैर्बीजे पूर्वमतिशयान्यतरमाधेयम्, तस्मिन्नप्यतिशते सह-कारिभिर्बीजस्य क्रियमाणे बीजमपेक्षणीयमिति बीजेन पूर्व सहकारिष्वतिशया-न्तरमाधेयमित्यनवस्थिति । उपकार कार्यार्थमपेक्ष्यमाणो बीजनिरपेक्ष कार्यं जनयति ? बीजसापेक्षो वा ? आद्ये बीजादेरहेतुतापात । द्वितीये तु बीजा-दिनापेक्ष्यमाणेनोपकारेणातिशय आधेय । एवमाहितोऽप्यतिशय कार्यार्थं बीजादीन-पेक्षत इति बीजादीना तत्राप्यतिशयान्तरमाधेयमित्यप्यनवस्थितिरित्यपि ज्ञेय वादीन्द्रस्थम्। ननु किमनेन प्रमाण भेदसिद्धावुक्त भवति ? तत्राह—**प्रयोगश्चेति**। बीजमात्रस्य सहकारिमध्यनिष्ठबीजाद्भेदसाधनेऽर्थान्तरता। यत्किद्बीजस्य ततो भेदसाधनेनाप्युपपत्ते । बाधापतिश्च, तत एव तस्य भेदप्रसङ्गात्। हेतोरसिद्धिश्च, तत उक्तम्—**कुसूलस्थमिति**। तथा यत कुतश्चिद्भेदसाधने बीजमात्राद्भेदसाधने चार्था-न्तरता तदर्थ सहकारिमध्यमध्यासीनादिति विशेषणम्। बीजादिति चाऽध्याहर्त-व्यम्। अत्र च तदेवेदमिति परेषा प्रत्यभिज्ञास्पदस्य भेदसाधनान्न क्षुद्रोपद्रव । यदि कश्चिद्यत्तदोरन्वयस्य दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वक्रता मन्वानो न परितुष्येत् त प्रत्येव-मनुमातव्यम्—विप्रतिपन्नबीज सहकारिमध्यमध्यासीनाद्भिन्न तदङ्कुर प्रत्यसमर्थ-त्वात् सम्प्रतिपन्नवदिति। अनुमानान्तरमाह—**तथेति**। अत्राप्यङ्कुरजनकबीजाद्भिन्न-त्वेनाभिन्नत्वेन विप्रतिपन्न बीज पक्ष । कार्यापेक्षयाऽव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तो य क्षणस्तत्सबन्धित्वादित्यर्थ । अङ्कुरजनकबीजे स्वान्योन्याभावरहिते व्यभिचार-वारणायातीतपदम्। तस्यापि कार्याव्यवहितोत्तरक्षणातिरिक्तकार्योत्पत्तिपूर्वक्षण-सबन्धित्वात्। जनकबीजे व्यभिचारनिरासार्थमसिद्धिपरिहारार्थं चातिरिक्तपदम्। ननु क्षणिकत्वसिद्धावेतत्स्यात्, यद् अजनकावस्थातो जनकावस्थं भिन्नमिति, स्थिरत्वे तदनुपपन्ने, न च क्षणिकत्वे मानमस्तीति, तत्राह—**एतामेवेति**। यदा हि अर्थक्रियाकारित्वाकारित्वयो सामर्थ्यासामर्थ्याभ्या व्याप्ति, सामर्थ्यासामर्थ्य-

अनुमान को है कि (कुसूलस्थ बीज, सहकारि मध्यस्थ बीज से भिन्न है, विरुद्ध धर्मसंसर्गि होने से, अग्नि-हिम के समान) तथा (कुसूलस्थ बीज, अङ्कुरजनक बीज से भिन्न है, कार्याव्यवहित पूर्वक्षण से अतिरिक्त क्षण के सम्बन्धी होने से, घट वत्)। इसी व्याप्ति का आश्रयण करके (यत् सत् तत् क्षणिकम्, अर्थक्रिया-कारित्वात्) इस अनुमान से सब वस्तु की क्षणिकता का कथन क्षणिकवादी

क्षणभङ्गवादिन । नच 'य एवाह रूपमद्राक्ष स एवाहमिदानी स्पर्शमनुभवामि' इति 'स एवाय घट' इत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोध, सामग्रीभेदात् पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मससर्गाच्च प्रत्यभिज्ञानस्यैकत्वानुपपत्ते । तथाहि--मा मे माता स मे पितेत्यादाविन्द्रियनिरपेक्षस्य सस्कारस्य स्मरणकारणत्वादय घट इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानेष्विन्द्रियस्य सस्कारनिरपेक्षस्य कारणतावगमादुभयो सम्भूय कारणतानुपपत्ति । स इत्ययमिति च पारो-

---

योश्च धर्मिभेदेन, तदार्थक्रियाकारित्वात्मक सत्त्व समर्थक्षणस्य क्षणिकता साधयति, क्षणान्तरसत्त्वे तस्यैवासमर्थत्वप्रसङ्गात्, असमर्थस्य चानर्थक्रियाकारित्वात्, अनर्थक्रियाकारिणश्चार्थक्रियाकारित्व व्याहतमिति सत्त्वक्षणिकत्वयो प्रतिबन्धसिद्धि, स्थिरस्य च क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारित्वाऽकारित्वानुपपत्तेर्विपक्षव्यतिरेकसिद्धिरिति भाव । ननु प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेणात्मानात्मपदार्थजातस्य स्थैर्यमवसीयत, ततस्तदपबाधितविषय कालात्ययापदिष्टमिदमनुमानमिति, यत्राह --**नच य एवाहमिति ।** अत्र कि ज्ञानद्वयमिदम् ? एकमेव वाभिप्रेयते ? द्वित्वपक्षे तत स्थैर्यशासन षण्ढमुद्राद्य मुग्धयोषित पुत्रप्रार्थनमिव । तदा हि स एवाह स एवायमिति वालुकावद्विशकलितयोरैक्यानवगाहित्वात । द्वितीयस्त्वसिद्ध इत्याह—**सामग्रीत्यादिना ।** स इत्यशे सस्कारादिरेव सामग्री, अयमशे च सप्रयोगादिरिति, तथा स इत्यशे पारोक्ष्यमयमित्यशे चापारोक्ष्यमिति सामग्रीभेदाद् विरुद्धधर्माध्यासाच्च न प्रत्यभिज्ञानमेकमित्यर्थ । ननु सस्कारसप्रयोगयो सभूयैकसामग्रीत्वात्कथ सामग्रीभेद इति ? तत्राह—**तथाहीत्यादिना ।** अन्यत्र पृथक्कार्यजनकतयावधृतस्वभावयोरत्रापि विभिन्नकार्यजनकत्वमेवेत्यर्थ । विरुद्धधर्माध्यासे तु विप्रतिपत्तिशङ्कैव नास्तीत्याह—**स**

करते है। यदि कहा जाय कि, जो मैने ही रूप को देखा था, वही मैं इस समय स्पर्श का अनुभव करता हूँ। वही वह घट है, क्षणभङ्ग वाद मे, इत्यादि। प्रत्यभिज्ञाओ का विरोध प्राप्त होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सामग्री के भेद से तथा परोक्षता, अपरोक्षता रूप विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञा को एक ज्ञानरूपत्व की अनुपपत्ति हे, क्योकि, (वह मेरी माता, वह मेरा पिता) इत्यादि स्थानो को इन्द्रिय की अपेक्षारहित सस्कार को स्मरण की कारणता रहती है, और (यह घट) इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञानो मे सस्कारनिरपेक्ष इन्द्रिय की कारणता का ज्ञान होता है, अत इन्द्रिय और सस्कार दोनो के साथ होकर ज्ञान कारणता की अनुपपत्ति हे, स्वतन्त्र जो कार्य कर सकता है, वह परस्पर परतन्त्रता का आश्रयण क्यो करेगा, और प्रत्यभिज्ञा मे, स (वह) इस प्रकार से परोक्षत्व, और अयम्

क्ष्यापारोक्ष्यविरुद्धधर्मससर्गस्य स्फुटमुपलम्भाच्च । ज्ञानभेदात्प्रत्यभिज्ञाया: प्रत्यक्षत्वाभावान्न प्रकृतानुमानस्य प्रत्यक्षविरोध, तस्माद्विरुद्धधर्मसमर्गाद् वस्तूना भेदसिद्धिरिति ।

अत्रोच्यते—

सिद्धे भेदे विरोधे च धर्मयोर्धर्मिभेदधी ।
तयोर्नाद्यापि ससिद्धिर्धर्मिभेदस्तदा कुत ? ॥ १६ ॥

अशेषभेदानपाकुर्वतोऽद्वैतवादिनो यदा भेदमात्रमेव नास्ति, तदा कुतो धर्मयोर्भेद ? कुतस्तरा विरोध ? कुतस्तमा च तदधीनो धर्मिभेदाध्यवमाय ? अन्यतो वा भेदविरोधयो सिद्धौ तत एव धर्मिभेदसिद्धि, कृतमनुमानेना-

---

इति । फलितमाह—**ज्ञानभेदादित्यादिना** । **प्रत्यक्षत्वाभावादिति** । समस्तस्येति शेष । पूर्वपक्षमुपसहरति—**तस्मादिति** ।

विरुद्धधर्माध्यासाद्वस्तुभेदसाधनेऽन्योन्याश्रय श्लोकेन सगृह्णाति सिद्धान्ती—**सिद्धे भेद इति** । धर्मयोर्जनकत्वाजनकत्वाद्यात्मकयो परस्पर भेदे सिद्धे सति विरोधसिद्धि, अभिन्नस्य विरोधाभावात्, तयो सिद्धे विरोधे तदाश्रयतया धर्मिणो कुसूलनिहितसहकारिसमेतबीजयोर्भेदबुद्धि स्यात् । यदा च तयोर्भेद एव न सिद्धस्तदा विरोधस्य तद्द्वारकधर्मिभेदस्य च कुत सिद्धि ? परस्पराश्रयादित्यर्थ । श्लोक विवृणोति-**अशेषेत्यादिना** । अद्वैतवादिन इति पदच्छेद । ननु कथमन्योन्याश्रयता ? यावता प्रत्यक्षेण धर्मयोर्भेद सिद्ध्यति, ततश्च विरोधसिद्धिस्ततश्च धर्मिभेदसिद्धिरित्यत आह-**अन्यत इति**। तत्र वक्तव्य कीदृश तद्भेदग्राहिप्रत्यक्षमभिमतम् ? किं निर्वि-

---

(यह) इसप्रकार से प्रत्यक्षत्व रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध स्फुट (स्पष्ट) उपलब्ध होता है, अत प्रत्यक्ष परोक्ष स्वरूप दो ज्ञान के प्रत्यभिज्ञा मे भेद होने से प्रत्यभिज्ञा के एक प्रत्यक्षत्व को अभाव होने से प्रकृत अनुमान को प्रत्यभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष से विरोध नही है । अत विरुद्ध धर्म के ससर्ग से वस्तुओ के भेद की सिद्धि ही है । यहाँ तक पूर्व पक्ष हुआ ।

(अत्रोच्यते) अब समाधान कहा जाता है कि—जनकत्वाजनकत्व धर्मो के भेद के सिद्ध होने पर तथा विरोध के सिद्ध होने पर, धर्मी रूप बीज मे भेदबुद्धि हो सकती है, और धर्म तथा विरोध की सिद्धि अभी नही हुई है, तो धर्मी का भेद किससे हो सकता है ॥ १६ ॥

अर्थात् सब भेदो का निराकरण करने वाले अद्वैतवादी के मत मे जब भेद मात्र ही नही है, तब धर्मो का भेद किससे सिद्ध होगा और धर्मो के भेद बिना विरोध किससे होगा, और विरोध के विरोधाधीन धर्मिभेद का निश्चय कैसे होगा । यदि कहा जाय कि, किसी प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण से धर्मभेद और बिरोध

जागलस्तनायमानेन विरुद्धधर्माध्यासेन ? कश्चाय धर्मयोर्विरोध, येन विरुद्धधर्मसंसर्गित्वेन भेदोऽभिधीयते ? किं सहानवस्थायित्वम् ? वध्यघातक-भावो वा ? भावाभावरूपत्वं वा ? तदत्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वं वा ?

कल्पकम ? सविकल्पक वेति ? न तावत्सविकल्पकम्, तस्य प्रामाण्याभावाद्भवन्मते । नापि निर्विकल्पकम्, तस्य वस्तुमात्रग्राहितया स्वलक्षणातिरिक्तविकल्पागोचरत्वात् । यथाहु 'कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्ष'मिति । भेदस्यापि स्वलक्षणमात्रत्वे स्वरूपभेद-विमर्दनप्रस्तावोक्तदोषानध्यस्याम । एतेनेदमप्यपास्तम् यथाहुस्तथागता —'वर्तमान परिच्छिन्ददवर्तमानताव्यावृत्तिमपि परिच्छिनत्ति' इति । अवर्तमानताव्यावृत्तेर्वर्त-मानतायाश्च धर्मत्वे प्रत्यक्षागोचरत्वात्, स्वरूपत्वे चैकस्योभयस्वभावत्वायोगात् । नचवर्तमानतैवावर्तमानताव्यावृत्ति, भावाभावयोरैक्यायोगात् । यथाहात्मतत्त्व-विवेककृत्—

'विधिरात्मास्य भावस्य निषेधस्तु तन पर ।
सोपि चात्मेति क प्रेक्ष शृण्वन्नपि लज्जते ?' इति ॥

भूतभविष्यतोश्चावर्तमानत्वात् तद्द्वयावृत्तेरप्युभयविधाया एकरूपवर्तमानतात्मकत्वा-योगात्, भविष्यतश्चावर्तमानभूतव्यावृत्तत्वेऽपि वर्तमानत्वाभावात्, भूतस्य चाभविष्य-दवर्तमानभूतव्यावृत्तत्वेपि वर्तमानत्वाभावात्, वर्तमानतावगाहिनाया उत्पन्नावगाहि-तारूपतया उत्पन्नबुद्धेरवर्तमानव्यावृत्त्यवगाहितया पुनरुत्पत्त्यभावात्, जन्ममात्रव्या-पारत्वाच्च बुद्धे । तस्मान्न प्रत्यक्ष भेदावभासनायालम् । अनुमान त्वनन्तरमेव निरा-करिष्यते । नदनादृशी दर्शनस्थिति । आचार्यस्तु–भवतु वा यत्किंचित्प्रमाणम्, तथापि तत एव धर्मिभेदस्यापि सिद्धेर्मुधा धर्मभेदोपन्यास इति प्रौढिमारूढ प्राह—**अन्यतो वेति** । पूर्व भेदासिद्ध्या विरोधासिद्धिरुक्ता । अधुना धर्मिभेदापादनकोबिद कोऽपि विरोधो दु साध्य इत्यभिप्रेत्याह—**कश्चायमित्यादिना** । जनकत्वात्यन्ताभाववति धर्मिण्यजनकत्वस्य वृत्तिरिति चतुर्थविकल्पार्थ । किं सहानवस्थायित्वमिति प्रथमे पक्षे यदिदमवस्थानस्य साहित्य निषिध्यमान तत्कि देशत ? कालतो वा ? इति विकल्प-

की सिद्धि होती है, तो कहा जाता है कि अन्य प्रमाणो से भेद और बिरोध की सिद्धि होने पर, अन्य प्रमाण से ही धर्मियो के भेद की सिद्धि होगी, अजागल-स्तनतुल्यबिरुद्धधर्माध्यास रूप अनुमान का कोई फल नही है । और यह धर्मो का विरोध क्या है कि जिससे बिरुद्धधर्मसंसर्गित्व द्वारा धर्मी का भेद कहा जाता है, क्या वह विरोध, सहाऽनवस्थायित्व है, या वध्यघातक भाव रूप, या भावाऽऽभाव रूपत्व है या परस्पर के अत्यन्ताभाव समानाधिकरणत्वरूप है । प्रथम पक्ष मे भी क्या एक काल मे सहानवस्थायित्व विवक्षित है, अथवा एक अधिकरण मे सहस्थित्यभाव विवक्षित है, वहाँ एक काल मे जनकत्व

प्रथमे किमेकस्मिन्काले सहानवस्थायित्वम् ? उतैकस्मिन्नधिकरणे ? नाद्य, एकस्मिन्नपि क्षणे धर्मिभेदेन जनकत्वाजनकत्वयो सहावस्थानात्। नेतर, एकजनकस्याप्यन्याजनकत्वेन जनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन्नधिकरणे सहभावात्। एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकत्र धर्मिणि सहानवस्थायित्वमिति चेत्, न, स्थायिवादिन प्रत्यसिद्धे। क्षणभङ्गवादिनोऽपि तत्कार्यजनकस्यैकस्य क्षणान्तरे तदजनकत्वेन तयोरेकत्रैव वस्तुनि साहित्यात्।

यति—**प्रथम इति। एकस्मिन्नपि क्षण इति।** एकक्षणे सहानवस्थायित्वरूपो विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरसिद्ध। एकस्मिन्नपि क्षणे बीजवीरणयोरङ्कुर प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्वर्तमानत्वादित्यर्थं। द्वितीयेऽपि विरोधोऽसिद्ध। एकस्मिन्नपि धर्मिणि जनकत्वाजनकत्वयो कार्यभेदापेक्षया वर्तमानत्वादित्याह—**नेतर इत्यादिना।** नन्वेकधर्मित्ववदेकविषयत्वमप्यपेक्षितम, तादृशश्च विरोधो जनकत्वाजनकत्वयोरस्त्येवेति शङ्कते—**एककार्येति।** ईदृशश्च विरोधो न क्वापि सम्प्रतिपन्न, स्थायिवादिनामेकस्यैक प्रत्येव कालभेदेन जनकत्वाजनकत्वयो सर्वत्रैवाङ्गीकारादित्याह—**न, स्थायिवादिनमिति।** क्षणभगवादिन प्रत्यसिद्धिमाह—**क्षणभङ्गेति।** यदिदमितानीतनाङ्कुरजननसमर्थ बीज तत्कालान्तरे त जनयेत् ? न वा यदि जनयेत्सिद्धान्तमनुसन्धत्स्व। ननु क्षणान्तरे तदेव नास्ति कथ तस्य जनकत्वम् ? मास्तु, स्वक्षण एव त किमिति न जनयेत ? स्वानन्तरक्षणवर्तिन प्रत्येव समर्थ तदिति चेत्, एव तर्ह्यसमर्थ तत्तत्रेति वचनीयम्। तथाच तस्यैव बीजस्य तत्कालीनमङ्कुर प्रति जनकत्वमन्यकालीन तमेव प्रत्यजनकत्वमिति तादृशमपि सहावस्थान

अजनकत्व धर्म के विरोध रूप प्रथम पक्ष नही कहा जा सकता है, क्योकि धर्मी के भेद से एक ही काल मे जनकत्व और अजनकत्व की साथ ही मे स्थिति रहती है। इतर एकाधिरण मे विरोध नही कहा जा सकता है, क्योकि एक कार्य का जनक होता है, और उससे अन्य कार्य का अजनक होता है, अत एक मे कार्यभेद की दृष्टि से जनकत्व, अजनकत्व दोनो रहते है, विरोध नही दीखता है। यदि कहे कि एक कार्य रूप प्रतियोगी वाले जनकत्व अजनकत्व को (अर्थात् एक कार्य निरूपित जनकत्वाजनकत्व को) एक धर्मी मे सहानवस्थायित्व रूप विरोध विवक्षित है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि स्थायी धर्मीवादी के प्रति इस विरोध की असिद्धि है, सहकारी के अभाव रहते जो जिस कार्य का अजनक रहता हे, वही सहकारी को पाकर उस कार्य का जनक हो जाता है, और क्षणभङ्गवादी के मत मे भी उस एक कार्य के जनक एक धर्मी को क्षणान्तर मे उसी कार्य के जनकत्व का अभाव रहता है, अत जनकत्वाजनकत्व का एक वस्तुओ मे सह-

नापि द्वितीय, वध्यघातकभावस्य युगपदेकधर्मिनिष्ठयोरेव धर्मयो सम्भवेनाश्रयभेदासाधकत्वात्। नापि तृतीय, कार्यभेद प्रति जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपयोरेकस्मिन्नपि भावात्, एककार्यप्रतियोगिजनकत्वाजनकत्वयोरेकस्मिन् वस्तुनि क्षणभेदेन भावाच्च। नापि चतुर्थ, स्थायिवादिन प्रत्यसिद्धे।

किंच सहकारिसमवधाने य कार्यमुत्पादयति, स भाव सहकारिविरह-

त्वयैवानुमतमित्यर्थ। वध्यघातकभावपक्ष निषेधयति—**नापि द्वितीय इति।** अजातस्य भिन्नाधिकरणस्य वा घातकत्वाभावादेकाधिकरणे वर्तमानयोरेव वध्यघातकभावो वक्तव्य, तदिहेदृशो विरोधोऽनयो सभवति? न वा? इति तावदास्ता विचार। सभवेऽपि नाधिकरणभेदक, प्रत्युत तदैक्यापादक इत्यर्थ। भावाभावरूपो विरोध इति तृतीय पक्ष निषेधयति—**नापि तृतीय इति।** ननु विषयभेदेन वर्तमानयोर्जनकत्वाजनकत्वयोर्भावाभावरूपत्वेति न विरोध, परस्परनिषेधरूपत्वाभावात्। नहि पटाभावो घटश्च परस्पर विरुध्येते, अस्ति भावाभावरूपतेति, तस्मादेकविषययोरनयोर्विरोध इति, तत्राह—**एककार्येति।** कृतोपपादन चेदमनन्तरमेव। जनकत्वाजनकत्वयो परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्य विरोध इति चतुर्थ पक्ष निषेधति—**नापि चतुर्थ इति।** यस्य हि स्थायिवादिनो जनकत्वमजनकत्व चैकत्र वर्तत इति नियमस्त प्रति कथ तयो परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्व सिद्धवदुदाह्रियेतेत्यर्थ।

तदेव स्वपक्षे विरुद्धधर्माध्यास परिहृत्य परपक्ष एव तमासञ्जयति—**किंचेति।**

वृत्तित्व रहता है, दूसरा वध्यघातकभाव विरोध भी नही कह सकते है, क्योकि एक धर्मीवृत्ति धर्मो मे एक काल मे ही वध्यघातकभाव के सम्भव होने से वे धर्म धर्मी के भेद के साधक नही हो सकते हैं, एक धर्मी मे जायमान जनकत्व अजनकत्व का बाधक होता है। तृतीय भावाभाव रूप विरोध नही है, क्यो कि कार्य भेद के प्रति जनकत्वाजनकत्व रूप भावाभाव का एक धर्मी मे भी भाव (सत्त्व) रहता है। और एककार्यप्रतियोगिक (एक कार्य का) जनकत्वाजनकत्व का क्षणभेद से एक वस्तु मे सत्त्व रहता है। चतुर्थ = परस्परात्यन्ताभाव-समानाधिकरणत्व रूप विरोध नही है, क्योकि स्थायिवादी के प्रति इस विरोध की असिद्धि है, एक धर्मी मे ही कालभेद से जनकत्व, अजनकत्व माने जाते है। अत परस्पर अत्यन्ताभाव समानाधिकरणत्व नही रहता है, किन्तु परस्पर समानाधिकरणत्व रहता है।

विचारणीय यह है कि जो भाव सहकारी के रहते कार्य को उत्पन्न करता है,

काले तत्र समर्थं ? न वा ? समर्थंश्चेत् ? तदापि जनयेत्, न चेत् ? तदेव वस्तु शक्तमशक्त चेति दुर्निवारो विरोध । सहकारिविरहकाले सोऽसन्नत्वसमर्थं इति चेत् , न, सहकारिविरहकाले येयमसद्रूपता सा सहकारिसन्निधानकालेऽपि विद्यते ? न वा ? विद्यते चेत्, स्वकाल एवासत्त्वप्रसङ्ग । न चेत् ? न तर्हि सहकारिविरहकाले तदसद्रूपम्, असद्रूपाभावेऽप्यस्य भावात् । अथैकमेव वस्तु सहकारिभावाभावयो सद्व्यवहारयोग्यम्, तथैव

ननु न सहकारिविरहकालीनकार्य प्रत्यसमर्थं तत्, किं तर्हि ? सहकारिवियोगसमये तदेव नास्ति, ततो न विरुद्धधर्माध्यास इति शङ्कते—**सहकारीति** । तर्हि सहकारिविरहसमये येनासद्रूपेण भवति तत्कारणम्, तत् सहकारिसमवधानसमयेपि विद्यते ? नवा ? प्रथमे सद्रूपावस्थायामप्यसत्त्व स्यात् । द्वितीये तु पूर्वसिद्धस्य वस्तुन पश्चाद्भाव्यसत्त्व न स्वभाव , असत्त्वावस्थाया पूर्वमपि वस्तुनो विद्यमानत्वादिति परिहरति—**नेत्यादिना** । ननु यद्यपि तदेकम्, तथाप्युभयव्यवहारालम्बन भवति सहकारिसमवधानासमवधाननिबन्धनत्वेन, विरोधाभावादिति शङ्कते—**अथैकमेवेति** । स एव तर्हि न्याय सामर्थ्यासामर्थ्ययोरपीत्याह—**तर्हीति** । स्यादेतद्यदि च सत्त्वासत्त्वयोर्निदर्शनेन सामर्थ्यासामर्थ्ययोराश्रयण भवति, तर्हि सहकारिविरहकालेऽसत्त्वम् ।

वही भाववस्तु सहकारी के अभाव काल मे उस कार्य के लिये समर्थ रहता है, या नही ? यदि समर्थ हो तो उस सहकारी विरहकाल मे कार्य को उत्पन्न करना चाहिये । यदि सहकारी विरहकाल मे समर्थ नही है, तो वही वस्तु समर्थ और असमर्थ है, यह दुर्निवार विरोध है । यदि कहे कि सहकारी के विरहका मे वह वस्तु असत् हो जाती है, रहती ही नही है, असमर्थ नही होती है, कि जिससे उक्त विरोध हो, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सहकारी के विरहकाल मे जो यह असत् स्वरूपता होती है, वह सहकारी के सन्निधि काल मे रहती है, या नही । यदि उस समय भी असद्रूपता रहती है, तब तो वह धर्मी अपनी वर्तमानता काल मे ही असत् होगी, स्वकाल मे उसमे असत्त्व का सम्बन्ध होगा, कि जिससे कार्यजनकत्व नही हो सकेगा । यदि सहकारी सन्निधान काल मे असद्रूपता नही रहती है, तो सहकारी के विरहकाल मे भी असतस्वरूप धर्मी नही होगा । असत् (असमर्थ) स्वरूप के अभाव रहते भी इस वस्तु का भाव रहता है । यदि कहे कि एक ही वस्तु सहकारी के भावाऽभाव काल मे सदसद् व्यवहार के योग्य होती है, तो उसी प्रकार से स्थिर वस्तु भी शक्त (समर्थ) अशक्त व्यवहार के योग्य होता है, यह तुल्यता है, असामर्थ्य को छोड कर अन्य असत्व नही है, परन्तु

तर्हि स्थिरमपि शक्ताशक्तव्यवहारयोग्यमिति तुल्यम्, न चासामर्थ्यं विहा- यान्यदसत्त्वमस्ति । अथैकस्मिन्नेव वस्तुनि सहकारिसमवाधानानन्तर कार्यजननस्वभावता तद्विरहे चासमर्थस्वभावतेत्युभयमप्यविरुद्धम्, तुल्यमिद- मस्मन्मतेऽपि । तथापि सहकारिसमवधाने यत्समर्थरूप तदेव चेत्प्रागप्यस्ति पूर्वमपि कार्यप्रसवप्रसङ्ग इति चेत्, न, यत्तव कार्येऽसमर्थ रूप तदेव चेत्सह- कारिसमवधानेऽपि ततोऽजननप्रसङ्ग इति तुल्यत्वात् । न च सहकारिणा

तथाच क्षणिकत्वेवेनि, गत स्थैर्यशियोत, तत्राह—**न चासामर्थ्यं विहायेति** । यदिद सहकारिविरहकालेऽसत्वम्, तद्भवन्नये तावदसामर्थ्यरूपम्, अर्थक्रियासामर्थस्य सत्त्वा- भ्युपगमात्, तथा चैतादृशासत्वमेतादृशक्षणिकत्व च नास्मभ्यमपि द्रुह्यतीति भाव । अथ वा सहकारिविरहकाले यदिदमसत्त्वम्, तदवासामर्थ्यम, ततश्चा- सदेव तन्नासमर्थमित्ययुक्तमुक्तमित्याह—**न चासामर्थ्यमित्यादिना** । सामर्थ्यम् हि सत्त्वमङ्गीक्रियते, ततश्चासत्त्वमप्यसामर्थ्यमेवेत्यर्थ । शङ्कते—**अथैकस्मि- न्निति** । इय न निरुद्धगतिसौगतशङ्का । अहो मामकभाग्योद्गमसमयोऽय यदायुष्मतै- वास्मत्समीहित स्वीकृतमित्यभिप्रेत्याह—**तुल्यमिदमिति** । यद्यपीदमावयो समा- नम्, तथापि स्थिरपक्षेऽनुपपत्त्यन्तरमस्तीति शङ्कते—**तथापीति** । स्थैर्यवादिना सह- कारिसमवधाने सामर्थ्यमेवम् रूप प्रागपि वर्तत इति वचनीयम्, तथाच प्रागपि कार्यप्रसवप्रसग इत्यर्थ । अस्य मिथो विरोधेन तर्काभासता दर्शयितुम् प्रतिप्रसङ्ग- माह—**न सहकारीति** । अङ्कुरक्षणोत्पादकमपि बीजक्षण सहकारिविरहे तस्मिन्ने- वासमर्थमिति वक्तव्यम्, अन्यथा तद्विरहेपि जनकत्वप्रसङ्गात् तस्माद्यत्तदसमर्थम् तदेव समर्थमपि, तथाच तस्मादुत्पत्तावसामर्थ्यादप्युत्पत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थ । अजननप्रसङ्ग इति वा पदच्छेद । एव सहकारिसमवधानासमवधानयो सामर्थ्यासामर्थ्यं चाविरुद्ध- मिति प्रौढिमारूढेणोक्तम् । वस्तुतस्तु समर्थमेव, समर्थमपि सहकारिवैकल्ये न जनक- मिति स्थिति । यत्तु समर्थस्यापि सहकारिसाकल्य एव जनकत्वमित्युक्तमयुक्तम्,

---

ऐसा होने से क्षणिकत्व नही सिद्ध होना है । यदि कहे कि एक ही वस्तु मे सहकारि समवधान के अनन्तर कार्यजनन स्वभावता होती हैं । और सहकारी के अभाव रहते असमर्थ स्वभावता रहती है, अत दोनो ही स्वभाव अविद्ध हैं । तो यह अवि- रोध मेरे मन मे भी तुल्य है । तो भी यदि कहे कि सहकारिसमवधान काल मे जो समर्थ स्वरूप वस्तु का रहता हे । वही स्वरूप यदि प्रथम भी रहता है, तो प्रथम भी कार्य की उत्पत्ति की प्राप्ति होती है । तो यह कहना युक्त नही । क्योकि आपके मत मे भी जो सहकारी के विरह काल मे असमर्थस्वरूप रहता है, वही स्वरूप यदि सहकारिसमवधान काल मे भी रहता है, तो उससे कार्य अजननप्रसङ्ग तुल्य है । और सहकारियो का कारण रूप वस्तुस्वभाव के अन्तर्भाव नही है कि जिससे

स्वभावेऽन्तर्भाव , येन गलेपादुकान्यायेन तेषामपि तदेव समुदय स्यात्किंतु भवन्मते समर्थक्षणोत्पादकाना क्षितिपवनपाथस्तेजसामिव सहकारितैव। न च सहकारिकृतोपकारस्य भेदाभेदविकल्पानुपपत्ति , वस्तुनस्तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयत्वात् , लोकसिद्धकारणताया अप्रत्याख्येयत्वात् । न च केवलव्यतिरेकाभाव , उपकारवस्तुनोर्भेदानभ्युपगमात्, उपकारकारणताया

सहकारिणा स्वभावान्तर्भावे यावत्कारणभावित्वेन सर्वदा कार्योत्पत्तिप्रसङ्गादिति पूर्वपक्षिणोक्तम्, तदनङ्गाकारपरास्तमित्याह—**न च सहकारिणामिति**। यथाहि सौगताना मते क्षित्यान्चितुर्विधधातूना समर्थबीजक्षणोत्पादकत्वमेव न समर्थलक्षणस्वभावान्तर्भाव । एवमस्मन्मतेऽपि सहकारित्वमेव न स्वरूपत्वम् । इयांस्तु विशेष—भवन्मते तज्जनकत्वमस्मन्मते तदुपकारकत्वमित्यर्थ । यच्चोपकारकत्वपक्षेऽपि तेनोक्तम्, तदनूद्य निराचष्टे—**न च सहकारिकृतेति**। अनुपपत्तिरुपकारस्येति शेष । नन्वनिर्वचनीयोपकारस्य कारणत्वे कारणस्य कारणत्व न स्यादित्युक्तमेव, तत्राह—**लोकसिद्धकारणताया इति**। कारणस्येति शेष । नन्वत्राप्युक्त केवलव्यतिरेको नास्तीति, तत्राह—**न च केवलेति**। कैवल्य चेदमनौपाधिकत्वमितरथानुपयोगात्, केवलस्य वस्तुमात्रस्येति वा, यदि कारणादुपकारस्य भेद स्यात् स्यात्तदा कारणस्यापि पृथक्केवलव्यतिरेकप्रार्थनम्, नत्वेतदस्ति, भेदेनाप्यनिर्वचनीयत्वादित्यर्थ । ननु तथा-

---

बलात् उनका भी कुसूलस्थ बीज काल मे ही उदय (प्राकट्य) हो जाय । किन्तु आप के मत मे समर्थ क्षण के उत्पादक भूमि पवन, जल, तेज के समान सहकारियो मे सहकारिता ही रहती है। अर्थात् आप के मत मे पृथिवी आदि कार्य क्षण (समर्थ बीज) के उत्पादक होते हैं, समर्थ क्षणरूप स्वभाव के अन्तर्गत नही होते है । ऐसे ही हमारे मत मे सहकारित्व होता है, स्वरूपत्व नही । और जो सहकारी कृत उपकार होते है उनके भेदाभेद के प्रथम विकल्प किये गये है, वह भेदाभेद विकल्प से सहकारिकृत उपकार की अनुपपत्ति नही है, क्योकि उपकार रूप वस्तु तत्त्व (सत्त्व) अर्थात् वस्तुस्वरूपत्व और अन्यत्व रूप से अनिर्वचनीयत्व है। उपकार के अनिर्वचनीय होते भी लोकसिद्ध कारण की कारणता प्रत्याख्येय (खण्डनीय) नही है। और जो प्रथम कहा था कि केवलव्यतिरेक का अभाव है, वस्तु के अभाव रहते कार्य का अभाव हो, ऐसा केवलव्यतिरेक नही है, वस्तु के नही रहते सहकार से कार्य होता है, इत्यादि । यह कहना नही बनता है, क्योकि केवलव्यतिरेक का अभाव नही है, उपकार और वस्तु मे भेद नही माना जाता है, उपकार की कारणता को ही वस्तु की कारणता मानी जाती है, अत उपकार के अन्वयव्यतिरेक, कारण वस्तु के अन्वयव्यतिरेक होते है । प्रथम का प्रयोग (अनु-

एव वस्तुकारणताभ्युपगमात् । प्रयोगस्तु धर्मयोर्विरोधनिरासेनैव निरस्त । अनैकान्तिकश्च, सहकारिमध्यमध्यासीनस्य विरुद्धधर्मससृष्टत्वेऽपि स्वतो भेदाभावात् । कार्याव्यवहितातीतक्षणातिरिक्तक्षणसम्बन्धित्वादित्यपि हेतु स्थायिवादिनो मते तस्यैव तथाविधक्षणसम्बन्धित्वात्तस्मिन्नेवानैकान्त । तदेव प्रसङ्गतद्विपर्यययोरपास्तत्वात् क्षणिकत्वानुमान दूरोत्सारितम् ।

प्यनुमाने कि दूषणमिति ? तत्राह—**प्रयोगस्त्विति ।** पूर्वोक्तप्रकारेण विरोधानि-निरूपणे क्वचिदसिद्धि क्वचिद्विरुद्धत्व क्वचिदनैकान्तिकत्वमित्यर्थ । अविवक्षित-विशेषेऽपि विरोधेनैकान्तिकमाह—**अनैकान्तिकश्चेति ।** तद्धि सहकारिमध्यमध्या-सीन कालान्तरीयमङ्कुरम् न जनयति, जनयति च तात्कालिकमिति विरुद्धधर्मा-ध्यासवत् । अथ च स्वय स्वस्मान्न भिद्यते इति तत्रानैकान्तिकत्वमित्यर्थ । सहान-वस्थायित्वबध्यघातकत्वभावाभावविरोधेषु यथायथमसिद्धयादयो ज्ञेया । यद्वा कुसूल-निहितसहकारिसमवहितबीजयो परस्परविरुद्धधर्मससृष्टत्वस्याविशिष्टत्वात् सत्यपि विरुद्धधर्मससर्ग सहकारिसमवहितस्य स्वप्रतियोगिकभेदानधिकरणत्वादनैकान्तिकत्व-मित्याह—**अनैकान्तिकश्चेति ।** द्वितीयानुमानेऽप्यन्यन्तरानैकान्तिकमाह—**कार्या-व्यवहितेत्यादिना ।** यत् सत्तत्क्षणिकमित्यनुमानेप्युक्त दूषणमतिदिशति—**तदेव-मिति ।** यदि सहकारिसहित बीज तद्विरहकालीनबीजान्न भिद्येतार्थक्रियाकारित्व-रूपसत्त्व न स्यादिति प्रसङ्ग, तच्चेद तस्माद्भिद्यते इति तद्विपर्यय, तयो स्थायि-न्यपि जनकत्वसमर्थनेन निरासात्सत्त्वहेतुक क्षणिकत्वानुमानमपि निरस्तमित्यर्थ ।

मान तो धर्मों के विरोध के निराकरण से ही निरस्त हो गया । (कुसूलस्थ बीज, सहकारिमध्यासीनाद् भिन्न, विरुद्धधर्मससृष्टत्वात्) इसका धर्मभेद निराकरण से निरास हुआ, क्योकि सहकारिमध्यासीन को विरुद्धधर्मससृष्ट (सयुक्त) होने पर भी स्वरूप से भेद का अभाव रहता है । और विरुद्धधर्मससृष्टत्व अनै-कान्तिक भी इसीसे है, क्योकि बीज भेदरूप साध्य के नही रहते भी रहता है । दूसरे अनुमान का हेतु (कार्याव्यवहित) इत्यादि भी अनैकान्तिक है, क्योकि स्थायिवादी के मत मे उस अकुरजनक बीज को ही अतीत क्षण से अतिरिक्त क्षण-वृत्तित्व होता है, अत उसीमे अनैकान्तिक है, अत इस उक्त रीति से, प्रसङ्ग और विपर्यय के अपास्त होने से क्षणिकत्वानुमान-दूरोत्सारित (निरस्त) हुआ । (यदि सहकारि सहित बीज, तद्रहित कालिक बीज से भिन्न हो, तो अर्थक्रिया-कारित्व रूप सत्त्व भी नही होगा । यह प्रसङ्ग है । अर्थक्रियाकारित्व वाला यह सहकारि-युक्त है, यह उस असहकारियुक्त से विपर्यय है) इत्यादि ।

किञ्चेद क्षणिकत्वम् ? कि क्षणसम्बन्धित्वम् ? क्षणान्तरासम्बन्धित्वे सति क्षणसम्बन्धित्व वा ? क्षणान्तरमात्रासम्बन्धित्वे सति क्षणसम्बन्धित्व वा ? उत्पत्तिक्षणे सत्त्व वा ? स्वोत्पत्तिक्षणे सत्त्व वा ? स्वोत्पत्तिक्षणमात्र-सत्त्व वा ? एकक्षणावस्थायित्व वा ? अनेकक्षणानवस्थायित्वविशेषित वा ? न तावत्प्रथम, सिद्धसाधनत्वात अनेकक्षणावस्थायिनोऽपि घटादे क्षण-सम्बन्धित्वात्। न द्वितीय, अर्थान्तरत्वात् क्षणान्तरासम्बन्धित्वेऽप्यनेकक्षण-णसम्बन्धित्वाविरोधात्। घटादीनामनेकक्षणसम्बन्धिनामपि स्वप्रध्वमादि-क्षणासम्बन्धित्वस्याभ्युपगमात्। न तृतीय, व्याघातात्, तत्सम्बन्धिक्षण-स्यापि क्षणविशेषत्वेन क्षणान्तरत्वे सति क्षणान्तरमात्रासम्बन्धाभावात्।

माध्यनिष्ठक्षणिकत्वस्याप्रसिद्धविशेषणत्वसिद्धसाधनत्वयोरन्यतरापत्त इति दिद-र्शयिषुर्विकल्पयति – **किञ्चेत्यादिना**। क्षणान्तरासबन्धित्वमात्रत्वे सति क्षणसबन्धित्व द्वितीय पक्ष। तृतीयस्तु क्षणान्तरसबन्धित्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वे मति क्षण-सबन्धित्वमिति विशेष। सिद्धसाधनतामेव विवृणोति- **अनेकक्षणेति**। न केवल क्षणान्तरेण केनचिदसबन्धोऽनेकक्षणसबन्धेन न विरुध्यत इति स ावनामात्रम्, किं तर्ह्यपगतश्चानित्येषु पदार्थेषु स्थायिवादिभिरित्याह **घटत्यादीनामिति**। व्याघात-मेव दर्शयति—**तत्संबन्धीति**। क्षणान्तरत्वाक्रान्त यत्तत्सबन्धात्यन्ताभाववत्त्वे सति क्षणसबन्धित्वमिति हि तृतीय पक्ष, तच्च व्याहतम। येन हि क्षणेन सबध्यते सोपि यत्किंचित्क्षणापेक्षया क्षणान्तरमेव। तथा च तेनाप्यसबन्ध सबन्धश्चेत्या-

---

यह क्षणिकत्व क्या है—क्या क्षणसम्बन्धित्व है १, या क्षणान्तराऽसम्बन्धित्वे युक्तक्षणसम्बन्धित्व है २, या क्षणान्तरमात्रासम्बन्धित्वयुक्त क्षणसम्बन्धित्व है ३, या उत्पत्तिक्षणसत्त्व है ४, या स्वोत्पत्तिक्षणसत्त्व है ५, या स्वोत्पत्तिक्षणमात्र सत्त्व है ६, या एकक्षणावस्थायित्व है ७, या अनेकक्षणानवस्थायित्वयुक्त एकक्षणावस्था-यित्व है ८। सिद्धसाधनता होने से प्रथम पक्ष युक्त नही है क्योकि अनेकक्षणा-वस्थायी घटादि को क्षणसम्बन्धित्व रहता ही है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योकि अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, क्षणान्तरासम्बन्धी होते भी अनेकक्षणसम्बन्धत्व मे विरोध नही होता है, अनेकक्षणसम्बन्धी घटादि को भी स्वध्वसादिक्षणाऽसम्बन्धित्व को माना जाता है, अत अक्षणिक घट मे भी ध्वसक्षणासम्बन्धित्वयुक्त क्षण-सम्ब-न्धित्व सिद्ध होता है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योकि परस्पर व्याघात (विरोध) है। क्षणान्तर मात्र के साथ असम्बन्धित्व क्षणसम्बन्धित्व यह तृतीय पक्ष है, यहाँ जिस क्षण से सम्बद्ध होता है, वह क्षण भी किसी क्षण की अपेक्षा क्षणान्तर होना है, अत क्षणान्तर के साथ सम्बन्ध और असम्बन्ध यह बिरोध होता है। तत्सम्बन्धी क्षण के भी क्षणविशेषत्व से (क्षणान्तरत्व होने से) क्षणान्तर मात्र के साथ

न चतुर्थ, सिद्धसाधनत्वात्, अनेकक्षणसम्बन्धेऽप्युत्पत्तिक्षणसम्बन्धाविरोधात्। अत एव **न पञ्चम**। **नापि षष्ठ**, स्वशब्देनाङ्कुराद्येकैकविवक्षाया तदुत्पत्तिक्षणमात्रसत्त्वस्य घटादिष्वभावेन क्षणिकत्वाभावप्रसङ्गात्। सर्वविवक्षाया तु लक्षणासम्भवित्वम्, एकैकस्य सर्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वासम्भवेन तन्मात्रसत्त्वासभवात्। नापि सप्तम, अनेकक्षणसत्त्ववादिभिरप्येकक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारात्। नाप्यष्टम, प्रध्वसाद्यनेकक्षणानवस्थायित्वस्यैकक्षणावस्थायिनि स्थायिन्यपि सम्भवात्।

उत्पत्तिक्षणानन्तरक्षणवर्तिध्वसप्रतियोगित्व क्षणिकत्वमित्यपि न,

---

[illegible] स्यादित्यर्थ। **अत एवेति**। यत एवानेकक्षणसतोऽप्युत्पत्तिक्षण सत्त्वसम्भव, अत एव स्वोत्पत्तिक्षणसत्त्वमपि सम्भवतीति सिद्धसाधनमित्यर्थ। **नापि षष्ठ इति**। स्वोत्पत्तीत्यत्र स्वशब्देन कि प्रतिनियत कश्चिदभिधीयते? सर्वे वा पदार्था? आद्येऽव्याप्ति। सर्वपदार्थानामेकपदार्थोत्पत्तिक्षणसत्त्वाभावेन तेषु क्षणिकेषु लक्षणा[illegible]वादित्यर्थ। द्वितीयेऽसम्भवमाह—**सर्वेति**। सप्तमपक्षेऽपि सिद्धसाधनतामाह—**नापि सप्तम इति**। **नाप्यष्टम इति**। उत्पत्तिक्षणावस्थायित्वेन तावदेकक्षणावस्थायित्वमस्ति प्रध्वसक्षणमारभ्योत्तरानेकक्षणानवस्थायित्व चास्तीति स्थायित्वेऽप्युपपत्तेरर्थान्तरत्वमित्यर्थ।

लक्षणान्तर दूषयति—**उत्पत्तिक्षणेति**। उत्पत्तिक्षणसमनन्तरक्षणवर्तिध्वस-

---

असम्बन्ध का अभाव हो जाता है। सिद्धसाधनता से चतुर्थ पक्ष युक्त नही, क्योकि अनेक क्षण के साथ सम्बन्ध होते भी उत्पत्तिक्षण के साथ सम्बन्ध से बिरोध नही रहता है, अत उत्पत्तिक्षणसत्त्व स्थायि मे भी रहता है। अतएव पञ्चम स्वोत्पत्तिक्षण सत्त्व भी सिद्ध साधनता से अयुक्त है। स्वोत्पत्तिक्षणमात्र सत्त्व यह षष्ठ पक्ष भी युक्त नही, क्योकि स्वशब्द से अकुरादि एक-एक की विवक्षा करने पर अकुरादि की उत्पत्तिक्षणमात्र मे सत्त्व के घटादि मे अभाव से क्षणिकत्व के अभाव का प्रसङ्ग होगा और स्वशब्द से सब पदार्थों की विवक्षा करने पर तो लक्षण मे असम्भावित्व होगा, क्योकि एक-एक पदार्थ को सव की उत्पत्तिक्षण मे सत्त्व के असम्भव से सब की उत्पत्तिमात्र मे सत्त्व का असम्भव है। एकक्षणावस्थायित्व रूप सप्तम पक्ष भी युक्त नही, क्षणिकत्व का साधक नही है, क्योकि अनेकक्षणसत्त्ववादी भी एक क्षणावस्थायित्व को मानते है, अत सिद्धसाधनता है। अष्टम पक्ष भी युक्त नही, क्योकि ध्वसादि अनेक क्षण मे अनवस्थायित्व का एक उत्पत्तिक्षण मे स्थायी स्थायी वस्तु मे भी सम्भव रहता है।

उत्पत्तिक्षण के अनन्तर क्षणवर्ती ध्वस का प्रतियोगित्व क्षणिकत्व है, यह लक्षण भी नही हो सकता है। क्योकि स्थिर पदार्थों को भी जिस किसी की

स्थिराणामपि यस्य कस्यचिदुत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वसप्रतियोगित्वोपपत्ते । एतेन स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षणवर्तिध्वसप्रतियोगित्वमपि निरस्तम्, स्वशब्दखण्डनस्य पूर्ववदत्रापि तुल्यत्वात् । अथास्य घटस्यैतद्घटोत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वसप्रतियोगित्व क्षणिकत्वमेव प्रतिव्यक्ति क्षणिकत्वलक्षणमूहनीयमिति चेत्, मैवम्, एवविधक्षणिकत्वसाधने सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वापातात्, न ह्यतीतानागताना च सतामेतदुत्पत्त्यव्यवहितानन्तरक्षणवर्तिध्वसप्रतियोगित्वमस्ति, तत्तद्ध्वसानामेतद्घटोत्पत्त्यनन्तरक्षणेऽनुत्पन्नत्वात् ।

प्रतियोगित्व स्थायिनि न सम्भवतीत्यभिमान । अत्र किमुत्पत्तिक्षणशब्देन यथाश्रुतार्थो विवक्षित ? स्वोत्पत्तिक्षणो वा ? आद्ये प्राह —**स्थिराणामपीति** । स्थिरस्यापि हि यो ध्वसक्षणमनन्तपूर्वक्षणोपि यस्यकस्यचिदुत्पत्तिक्षणो भवतीत्यर्थान्तिरमित्यर्थ । द्वितीय दूषयति—**एतेनेति** । तत्रापि स्वशब्देन कि ध्वसप्रतियोगी विवक्षित ? कि वा प्रतिनियत कश्चित् ? आद्येऽनन्तरदोषानुषङ्ग । द्वितीये तु षष्ठपक्षोक्ताव्याप्तिरित्याह —**स्वशब्देति** । ननु न समस्तक्षणिकेषु अनुगतमिदमाचक्ष्महे लक्षणम, येनैवमव्याप्ति स्यात्किन्तु प्रतिविशेष पृथगेवेत्यभिप्रेत्य शङ्कते—**अथेति** । अनन्तरत्व चात्रोत्तरत्व विवक्षितम, तस्य स्थैर्येऽप्युपपद्यमानतया अर्थान्तरतापरिहारायाव्यवहितग्रहणम् । तत्कि यत् सत्तत्क्षणिकमित्यत्र सत्वहेतुना एतादृश क्षणिकत्व सिसाधयिषितम् ? तथाचानैकान्तिकत्वम् । गणरात्रान्तरितपदार्थाना चैतद्घटोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवर्तिध्वसप्रतियोगित्वलक्षणक्षणिकत्वाभावेन विपक्षत्वात् सत्त्व हेतोश्च तत्र वर्तमानत्वादित्याह—**एवंविधेत्यादिना** । साध्यविकलश्च दृष्टान्त इति च द्रष्टव्यम् । अथ किमिति तत्र नास्ति ? तत्राह—**तत्तद्ध्वंसानामिति** ।

उत्पत्ति के अनन्तर क्षणवर्तिध्वस के प्रतियोगित्व की सिद्धि हो सकती है, इसीसे स्वोत्पत्ति के अनन्तरक्षणवर्ती ध्वस के प्रतियोगित्व रूप लक्षण भी निरस्त हो गया, क्योकि स्वशब्द खण्डन को पूर्व के समान यहाँ भी तुल्यता है । यदि कहे कि, इस एक व्यक्ति घट को इस घट की उत्पत्ति से अव्यवहित उत्तर क्षणवृत्ति ध्वसप्रतियोगित्व है । इसप्रकार से प्रति व्यक्ति क्षणिकत्व लक्षण ऊहनीय है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि इसप्रकार के क्षणिकत्व के साधने पर क्षणिकत्व के सत्वरूप साधन को अनैकान्तिकत्व प्राप्त होता है, क्योकि अतीत अनागत जो सत् है, उनमे एतत् वर्तमान उत्पत्ति मे अव्यवहित अनन्तर क्षणवृत्तिध्वसप्रतियोगित्व रूप साध्य नही है, क्योकि तत्तत् ध्वसो को एतद् घट की उत्पत्ति के अनन्तर क्षण मे उत्पन्नत्व नही रहता है और सत्त्व रहता है । अत अनैकान्तिकता होगी (यत् सत् तत् क्षणिकम) यह व्याप्ति नही सिद्ध होगी । इसी वक्ष्यमाण

एतेनोत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वं क्षणिकत्वमित्यपि निरस्तम्, यत्किञ्चिदुत्पत्तिक्षणध्वंसासमानकालीनत्वस्य स्थायिष्वपि भावात्, स्वशब्देन विशेषणेऽपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्, प्रतिव्यक्तिलक्षणे च सत्त्वसाधनस्यानैकान्तिकत्वात्। घटत्वात्पटत्वादित्यादिप्रयोगसाधनाभ्यूहने चानागतघटपटादिष्वनैकान्तिकता तदवस्थैव। सर्वश्चायमुदितो हेतुकलाप पूर्वोदितप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधितया कालात्ययापदिष्ट। यत्पुनरुक्त सामग्रीभेदाद्विरुद्धधर्मससर्गाच्च प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वानुपपत्तिरिति, तदयुक्तम्,

---

उक्त दूषण लक्षणान्तरेप्यातिदिशति—**एतेनेति**। उत्पत्तिक्षणस्य य प्रध्वसस्तेनासमानकालीनत्व यदुत्पद्यमानस्य तत्क्षणिकत्वम्, स्थिरस्य ह्यनेकक्षणावस्थायिनो नोत्पत्तिक्षणप्रध्वसासमानकालीनत्वम, तेन नार्थान्तरत्वमित्यर्थ। असम्भवपरिहारार्थं चोत्पत्तिपदम्। एतेनेत्येतद्विवृणोति—**यत्किंचिदित्यादिना**। पूर्वोक्तदोषोऽव्याप्ति। अथ विशेषलक्षणमिद विवक्ष्यते, तदा पूर्वोक्तमनुमानदूषण स्यादित्याह—**प्रतिव्यक्तीति**। ननु विशेषलक्षणविवक्षाया न सत्वादिति हेतुरभिप्रेप्सित, किंतु घटत्वात् पटत्वादित्यादिव्यावृत्तधर्मा, अतो नानैकान्तिकता, तत्राह—**घटत्वादिति**। तथाप्यनागतेषु घटेष्वभिप्रेतसाध्यरहितेष्वनैकान्तिकता। एव पटत्वादेरपीत्यर्थ। एतद्घटत्वादित्यादिहेतुविवक्षाया व्याप्त्यसिद्धिरित्यपि द्रष्टव्यम। एव साध्यप्रयुक्तदूषणान्युक्त्वा बाधमप्याह—**सर्वश्चायमित्यादिना**। ननु कथ सस्कारसप्रयोगयो सभूयसामग्रीत्वम्? यावतान्यत्र निरपेक्षयोर्दृष्टयोरत्रापि तयो साहित्याभावो वर्णित

हेतु से (उत्पत्तिक्षण का जो ध्वस, उस ध्वस के साथ असमानकालिकत्व क्षणिकत्व है) यह लक्षण भी निरस्त हो गया। क्योकि यत्किञ्चित् उत्पत्तिक्षण के ध्वस के असमानकालिकत्व का स्थायि वस्तु मे भी भाव (सत्त्व) रहता है। घट की उत्पत्तिक्षण के ध्वस के साथ पट को भी असमान कालीनत्व हो सकता है। स्वशब्द से विशेषणयुक्त लक्षण करने पर (स्वोत्पत्तिक्षणध्वसासमानकालीनत्व कहने पर) पूर्वोक्त स्वत्वानिर्वचन दोष का सम्बन्ध होगा, और प्रतिव्यक्ति लक्षण करने पर, उक्त सत्त्वसाधन (हेतु) मे अनैकान्तिकता होगी, सत्त्व के स्थान घटत्व, पटत्व आदि हेतु को मानने पर (साधन रूप मे कल्पना करने पर) अनागत घट-पटादि मे अनैकान्तिकता तदवस्थ रहेगी। घटत्वादि अनागत घटादि मे भी रहेंगे, और प्रकृतसाध्य वहाँ नही रहेगा। और क्षणिकत्व के साधक यह सब कथित हेतुसमूह, पूर्व वर्णित प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के साथ विरोध से कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है। और जो प्रथम कहा था कि सामग्री भेद से तथा विरुद्ध धर्म के सम्बन्ध से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के एकत्व की अनुपपत्ति है, वह

सप्रयोगसस्कारयो सभूयसामग्रीत्वात् । न चान्यत्र सप्रयोगसस्कारयो प्रत्येकमन्योन्यनिरपेक्षयो कारणत्वादेकज्ञानकारणतानुपपत्ति, यस्मात्—

अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयो ।
दृष्ट सभूयकारित्व विशिष्टानुमिति प्रति ।। १७ ।।

श्रूयमाणस्य स्मर्यमाणस्य वा लिगस्याक्षनिरपेक्षस्यानुमानज्ञानहेतुत्व दृष्टम्, दृष्ट चेन्द्रियस्यानपेक्षस्यापरोक्षज्ञानकरणत्वम्, तथापि सभूयोभाभ्यामय पर्वतो वह्निमानित्येकमनुमानज्ञान जायमानमुपलभामहे । नह्यन्तरेणेन्द्रियसप्रयोगमयमिति पुरोवर्त्याकारोपलम्भसम्भव । न च विरुद्धधर्म-

---

इति तत्राह—**नचान्यत्रेति** । किमन्यत्र निरपेक्षकारणत्वेनात्रापि नैरपेक्ष्यमनुमित्सितम् । तर्ह्यनैकान्तिकम्, लिङ्गस्य श्रूयमाणतया स्मर्यमाणतया वा क्वचिदिन्द्रियनिरपेक्षतयानुमित्युत्पादकस्येन्द्रियस्य च घटादौ लिङ्गनिरपेक्षतयाऽपरोक्षज्ञानजनकस्यायमग्निमान्पर्वत इत्यनुमित्युत्पत्तौ सभूयकारित्वदर्शनादित्याह—**अन्यत्रेति** ।

इममेव श्लोक विवृणोति—**श्रूयमाणस्येत्यादिना** । ननु किमित्यनुमितावपि तयो साहित्यमिति, तत्राह—**नह्यन्तरेणेति** । यद्यप्यय पर्वतो वह्निमानिति प्रतिज्ञात्मकोऽवयवो नानुमन्यते गोतमगोत्रिभि, तथापीदृश ज्ञान प्रत्यात्मवेदनीयमभ्यनुज्ञायत इति न निदर्शन विप्रतिपत्ति । यत्तु पारोक्ष्यापारोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यासाद्भेद इति, तत्राह—**न च विरुद्धेति** । एतेन विषयभेदाद् भेदोन्नयनमपि निरस्तम् ।

कथन अयुक्त हे । क्योकि इन्द्रियसप्रयोग (सम्बन्ध) और सस्कार दोनो सभूय (मिल कर) प्रत्यभिज्ञा रूप एक ज्ञान की सामग्री (पूण साधन) होते है । यदि कहे कि प्रत्यभिज्ञा से अन्यत्र इन्द्रियसम्बन्ध और सस्कार परस्पर निरपेक्ष होकर प्रत्येक ज्ञान के कारण होते है, अत उन दोनो मे मिल कर एक ज्ञान के कारणता की अनुपपत्ति है, तो कहा जाता है कि अनुपपत्ति नही हे, क्योकि—

अन्यत्र परस्पर निरपेक्ष लिङ्ग और इन्द्रिय के मिल कर, कार्यहेतुत्व को विशिष्ट अनुमिति के प्रति देखा गया है, और देखा जाता है ।। १७ ।।

जैसे कि श्रूयमाण या स्मर्यमाण नेत्रनिरपेक्ष लिङ्ग के अनुमिति ज्ञान के हेतुत्व को देखा गया है । तथा अन्यानपेक्ष इन्द्रिय के भी अपरोक्ष ज्ञानकरणत्व को देखा गया हे, तो भी मिले हुए दोनो लिङ्ग और इन्द्रिय से जायमान (पर्वतोऽग्निमान्) पर्वत अग्नि वाला हे, यह एक अनुमिति ज्ञान होता है, कि जिसको हम सब जानते है । इन्द्रियसम्बन्ध के बिना अयम् (यह) इस प्रकार से अग्रवर्ती आकार का ज्ञान नही हो सकता है । और यहाँ विरुद्ध धर्म के ससर्ग से भेद नही होता है, एक विशिष्ट ज्ञान होता है । इसी एक अनुमान ज्ञान मे, वह्निमान्, इस अश मे परोक्षत्व और, अयम्, इस अश मे प्रत्यक्षत्व रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध

ससर्गाद् भेद , अस्मिन्नेवानुमानवेदने वह्निमानिति चायमिति च पारोक्ष्या-पारोक्ष्यविरुद्धधर्मससर्गोपलब्धे । तदेव प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यैकत्वेन प्रामाण्य-

अय पर्वतो वह्निमानित्यत्रैव व्यभिचारात, कथ चात्र पारोक्ष्यमवगतम् ? नहि तदित्युल्लेखमात्रात्, पारोक्ष्यापारोक्ष्ययोरप्यग्निमान्पर्वत सोऽग्निमान् पर्वत इति ज्ञानयोस्तदन्वयानन्वयदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञात्वादेव ज्वालाप्रत्यभिज्ञावदप्रामाण्यानुमानम्, विरुद्धधमससृष्टविषयत्वोपाधिहतत्वात्, अत्र च तदभावस्य निवेदितत्वात्, तथापि चाप्रामाण्ये सर्वत्रैकान्तात् क्वचिदेकक्षणस्याप्यसिद्धे क्षणिकस्यापि क्षयरोगप्रसङ्गात् । प्रत्यभिज्ञाबाधमनुमानस्य समर्थितमुपसहरति—**तदेवमिति** । एतेन विज्ञानक्षणिकत्वानुमानमपि प्रत्युक्त वेदितव्यम्, विनष्टाविनष्टत्वलक्षणविरुद्धधर्मससर्गस्योपाधेर्विषयतया असिद्धे , नीलपीतादेश्च विज्ञानबहिर्भावात् । अस्तु तर्हि प्रत्यक्षम्, न स्वत परतो वा, असिद्धे । कि विज्ञानस्य स्वयमेवोत्पत्तिनाशौ सिद्धचत ? ज्ञानान्तरेण वा ? न तावदन्त्य , अपसिद्धान्तात्तद्विज्ञानस्योत्पत्तिविनाशौ गृह्णत्तद्विज्ञानमपि गृह्णीयादपरथा किमीयाविमाविल्यावेदयेत् । नच विज्ञानस्य विज्ञानान्तरग्राह्यत्व त्वप्रकाशदर्शने शोभनम् । स्वग्राहक विज्ञान स्वोत्पत्तिविनाशावप्यवगाहत इति चेत्, तत्कि स्वसमये ? स्वाभावसमये वा ? न तावदन्त्य, असभवादतिप्रसङ्गाच्च । कि नाम न शक्यसाधनमसता ज्ञानेन ? नापि प्रथम , सवित्समये तदुत्पत्तेरतीतत्वात् निधनस्य चानागतत्वादयोगिप्रत्यक्षस्य चातीताद्यगोचरत्वात् । कथ च तदिन्द्रियसन्निकर्षाजन्यस्य तत्प्रत्यक्षत्वम् ? न हि ज्ञानोत्पत्ते प्राक् तद्ध्वसोस्ति, येन तदिन्द्रियसन्निकर्षादुत्पद्येत । अस्तु तर्हि योगिप्रत्यक्षम्, तस्य च त्रैकाल्यगोचरत्वात्, यदाह कीर्तिर्न्यायबिन्दौ प्रत्यक्षचातुर्विध्य वदन्—'तदनुभूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तज योगिज्ञान चेति, तेन न कोऽपि कलङ्कलेप ' इति, तदपि चार्तम् । तथाहि—किं तदीयनीलादिसवेदनानामुत्पत्तिविनाशविषयत्वम् ? उत्पत्तिविनाशमात्रविषयस्य वा कस्यचित् ? नाद्य , नीलादिसवेदनाना तत्तन्मात्रविषयत्वेन स्वोत्पत्त्याद्यगोचरत्वात् । अथान्या सवित् ? सापि कि स्वोत्पत्त्यादिविषयिणी ? परोत्पत्त्यादिविषयिण्यपि वा ? नान्त्य , परबुद्धीना तदविषयत्वात्, विषयत्वे चापराद्धान्तात् । अथ सा स्वोदयाद्येव विषयीकरोतीति योगिज्ञाननिदर्शनेन चेतरास्वनुमीयत इति मतम् । अस्तु तर्हि तदीयतादृशसविदि प्रमाणपर्यनुयोग । ननु यो यदभिनिविशमानोभ्यस्यति, स तस्य परा काष्ठा प्राप्नोति, चित्रकार इव शिल्पकर्माभ्यासी । अभ्यस्यति च कश्चिदवहितो ध्यानमित्यनुमान प्रमाणम्, न, नष्टपुत्रादिशोकवशेनातिभावयत कूटसाक्षात्कार-

उपलब्ध होता है । और वस्तुज्ञान का भेद नही है, अत भेदसाधक धर्म भेदव्यभिचारी है । अत उक्त रीति से प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के एक होने से, एकत्व रूप से प्रमाणता के सम्भव से, उससे विरुद्ध सब पदार्थों मे क्षणिकत्व से भेद का अनु-

सभवात्तद्विरुद्ध न भेदानुमानं कालात्ययापदिष्ट न भेदप्रत्यायनायालम् ।

कथ च व्याप्यव्यापकभावभेदोपलम्भाधीनात्मलाभमनुमानमसिद्धे भेदे भेद गोचरयेत् ? आगमोऽप्यभिधानाभिधेयभेदावगमपुर सरस्तस्मिन्नेवासिद्धे कथ तत्र प्रामाण्यमश्नुवीत ? शब्दान्तरादिकमपि सिद्धशब्दादिभेदोपजीवनेन प्रवर्तमान तदसिद्धौ कथ कर्मोपासनादिभेदमावेदयेत् ? न हि भेदासिद्धौ

स्यापि दर्शनात् । अभ्यस्यति च कश्चिदिति च शपथसाध्यम । अस्तु तर्हि बुद्धिनिब द्धागमवशात्तादृशसर्वज्ञ इति सिद्धि, स एव तर्हि सर्वज्ञ केन सिद्ध ? ननु सोपि तदीयागमादेव, अहो दुर्भगोऽसि यत्तावकगोत्रधुराधुरैर्मारजिल्लोकजिदित्यादीन्यु-दारगुणग्रामनामान्युपार्जितानि, त्वया तु साम्प्रत मन्दाक्षजिदिति नाम निर्लज्जेनोपा-र्जितम, कथमपरथा तत्प्रणीतागममेव तत्सिद्धावभिदधासि ? परस्पराश्रयादपि न बिभेषि ? तदित्थम—

स्वतस्तावन्न विज्ञप्ते सिद्धचेतामुदयव्ययौ ।
परतोऽपि न विज्ञप्ते सिद्धचेतामुदयव्ययौ ।।

तदेव विरुद्धधर्मससर्गाद्भेदानुमान निरस्तम्, इदानी भेदशङ्कितानुमानजातस्य साधारण दूषणमाह—**कथं चेत्यादिना** । व्याप्यव्यापकयोर्यो भेदोपलम्भ, तमु-पजीव्य प्रवर्तमान कथ भेदमात्रे प्रमाण स्यात ? अन्योन्याश्रयादित्यर्थ । इममेव दोषमागमेऽप्याह—**आगमोऽपीति । तस्मिन्निति** । अभिधानाभिधेययोर्भेद इत्यर्थ । यत्तु शब्दान्तरादि भेदसाधकमित्युक्तम, तत्परिहरति—**शब्दान्तरादीति** । एतेषा चोदाहरणानि मिथ्यात्ववादे दर्शितानि । तत्र च शब्दान्तरेण धातुभेदेन धात्वर्थभेदात्तदुपरक्तभावनाभेदाधिगतिश्च, शब्दादिभेदोऽद्याप्यसिद्धस्तत कथ तदुप-जीविन समस्तभेदसाधकत्वम् ? इत्यर्थ । उपलक्षण चैतदभ्यासादेरपि, तेषामपि

मान कालात्ययापदिष्ट (बाधित) होता है, अत भेदज्ञान के लिये समर्थ नही हो सकता है ।

व्याप्य व्यापकस्वरूप भाव (पदार्थ) के भेदोपलम्भाधीन स्वरूप को लाभ करने वाला अनुमान, भेद के असिद्ध रहते भेद को कैसे विषय करेगा ? अर्थात् व्याप्यादि के भेदाधीन अनुमान होता है, और अनुमान से भेद को सिद्ध करना होता है, तो अन्योन्याश्रय हो जाता है, अत अनुमान से भेद की सिद्धि नही हो सकती है । अभिधान (वाचक शब्द) और अभिधेय के भेद के ज्ञानपूर्वक सिद्ध होने वाला आगम भी उस भेद के ही असिद्ध रहते, उस भेदविषयक प्रमाणता को कैसे प्राप्त करेगा । सिद्ध शब्दादि के भेद को आश्रयण कर के प्रवर्तमान, शब्दान्तरादि प्रमाण भी, उस भेद की असिद्धि रहते कर्मोपासनादि के भेद को कैसे समझायगे, भेद की असिद्धि रहते, यजति, ददाति, जुहोति, आदि धातु के अर्थो

यजतिददातिजुहोत्यर्थानां भेदः सिद्धयति, येन 'धात्वर्थभेदे सर्वत्र विज्ञेयं भावनान्तरम्'—इति वार्तिककारोक्तो भावनाभेदः सिद्धयेत्। उपमानमपि मानान्तरावसितगोगवयादिवस्तुद्वयावच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्, तदसिद्धौ न वस्तुभेदावभासनाय प्रभवति। तिलेभ्य एव तैलम्, पयस एव दधीत्यर्थ-क्रियान्यथानुपपत्तिप्रभवत्वादर्थापत्तिरपि नान्तरेण तिलादिकारणभेदावभासं व्यवस्थासिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयान्न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते। अभावोऽपि नेदमिह नेदमिदमिति धर्मिप्रतियोगिभेदाधीनसिद्धिर्न वस्तुभेद

हि पुनः श्रुतिसङ्ख्याविशेषसंज्ञान्तरगुणान्तरासन्निधिविशेषरूपाणामभ्याससङ्ख्या-संज्ञाङ्गप्रकरणान्तराणां भेदोपजीवनेनैव प्रवर्तमानानां तदसिद्धावप्रवृत्तेः। उप-मानेऽप्युक्तन्यायमतिदिशति—**उपमानमपीति।** मानान्तरावसितं यद् गोगवया-दिवस्तुद्वयं तदवच्छिन्नसादृश्यगोचरत्वात्तस्य च वस्तुद्वयस्यासिद्धावुपमानमपि न समस्तभेदावभासनाय प्रभवतीति योजना। अर्थापत्तेरपि भेदेऽप्रामाण्यमाह—**तिलेभ्य एवेत्यादिना।** अर्थापत्तिरपि न कारणभेदावभासे प्रामाण्यं भजते, कुतः-स्तिलेभ्य एव तैलं पयस एव दधीति तैलदधिलक्षणार्थक्रियाया व्यवस्था नियतिः, तदन्यथानुपपत्तिप्रभवत्वात्। भवतु, तावतापि किमायातमित्यत आह—**नान्तरेणेति।** तिलेभ्य एव दुग्धेभ्य एवेत्यत्र यदि तिलदुग्धयोर्भेदो न प्रतीतः, ततः किं कुत्र व्यवस्थाप्येत? प्रत्युताव्यवस्थैव, तस्मात् तयोर्भेदसिद्धावेव व्यवस्थासिद्धिर्व्यव-स्थान्यथानुपपत्तिलक्षणार्थापत्त्या च कारणयोर्भेदसिद्धिरभिप्रेतेत्यन्योन्याश्रयादिति योजना। न चाभावप्रमाणगम्योस्तु भेदः, तस्य च परस्परव्यावृत्तिरूपभेदे संभवति प्रवृत्तिरिति, तत्राह—**अभावोऽपीति।** संसर्गाभावेऽन्योन्याभावे वा प्रवर्तमानोऽभावो

का भेद भी नहीं सिद्ध हो सकता है कि जिससे (धात्वर्थ के भेद से सर्वत्र भाव-नान्तर विज्ञेय है) यह वार्तिककार से कथित भावना का भेद सिद्ध हो सके। अतः अन्योन्याश्रय से आगम भेद में प्रमाण नहीं हो सकता है। उपमान भी प्रमाणान्तर से सिद्ध गोगवयादि वस्तुद्वयवृत्ति सादृश्यविषयक होने से वस्तुभेद की सिद्धि के बिना वस्तुभेद को प्रकाशने में समर्थ नहीं होता है। तिलों से ही तैल होता है, दूध से ही दधि होता है, इसप्रकार की नियत अर्थक्रिया का अन्यथा (भेद के बिना) अनुपपत्तिजन्य होने से, अर्थापत्ति भी कारण के भेद के ज्ञान में प्रमाणता को नहीं प्राप्त होती है, क्योंकि तिलादि कारण के भेद के ज्ञान के बिना अन्योन्याश्रय से व्यवस्था की सिद्धि नहीं होती है। अभाव (अनुपलब्धिरूप प्रमाण) भी (यह वस्तु यहाँ नहीं है। यह इस स्वरूप नहीं है) इस प्रकार से संसर्गाभाव अन्योन्याभाव के अनुयोगी, प्रतियोगी के भेदाधीन सिद्धि वाला होता है, अतः अन्योन्याश्रय से वस्तु के भेद को नहीं सिद्ध करता है। अतः इन प्रमाणों से अद्वैता-

साधयत्यन्योन्याश्रयात् ।

अपि च—मानाधीना मेयसिद्धिर्मानसिद्धिश्च लक्षणात् ।
तच्चाध्यक्षादिमानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम् ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणाधीना तत्प्रमेयव्यवस्थिति, प्रमाणानि च लक्षणाधीनाधिगमानि, लक्षण च दुर्निरूपणम् । तथाहि—तत्र न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यभिचारीत्यक्षपादोदित प्रत्यक्षलक्षण घटने । अव्यभि-

---

धर्मिप्रतियोगिभेदज्ञानाधीनप्रवृत्तिस्ततश्च भेदसिद्धावन्योन्याश्रयतेत्यर्थ ।

निर्भग्न क्षणभङ्ग एष विषमो बद्धोतिदुर्बुद्धिनि-
बौद्धैर्विभ्रमविभ्रमालयमहामायाविमूढान्तरै ।
य विध्वस्तसमस्तभावविकृति व्याकीर्णमायाकथ
लब्ध्वाऽविक्रियबोधमोदजलधि स्थाणु स्थिर त भजे ॥

प्रत्यक्षादिप्रमाणाना भेदविषयत्वाभावाद्भेदस्य च दुर्निरूपत्वादाद्वैतप्रतिपादकागमाना तैर्विरोध इत्यधस्तादभ्यधायि, इदानी यै प्रमाणैर्विरोध ब्रूषे, तान्येव दुर्निरूपाणि, कैर्विरोध स्यात् ? इत्याह—**अपि च मानाधीनेति । तच्चेति ।** तच्च लक्षणमध्यक्षादिषु देवैरपि वक्तुम् न शक्यत इत्यर्थ । अनेन प्रमाणादिषोडशपदार्थव्युत्पादनरूपन्यायदर्शनविरोधोऽपास्यते । वैशेषिकदर्शनविरोधो हि षट्पदार्थनिर्मथनेन पुरो निवारित । श्लोक विवृणोति—**प्रत्यक्षादीति ।** यद्यपि प्रमाणसामान्यलक्षणखण्डनानन्तर तद्विशेषप्रत्यक्षादे खण्डन युक्तम्, तथापि प्रत्यक्षलक्षणखण्डनप्रसङ्गेन तदपि खण्डयिष्यन इति लाघवमभिप्रेत्यन्यायसूत्रोक्त प्रत्यक्षलक्षण दूषयति—**तत्रेति ।** तेषु प्रमाणेषु मध्य इत्यर्थ । यद्यपीन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमव्य-

---

गम का बाध वा विरोध नही हो सकता है। और प्रमाणो के दुर्निरूप होने से विरोध का अभाव है, इत्यादि आशय से कहते है कि—

प्रमाणो के अधीन प्रमेय की सिद्धि होती है, और लक्षण से प्रमाण की सिद्धि होती है, परन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणो मे (प्रमाणो के) वह लक्षण देवो से भी दुर्भर= कहने मे अशक्य, है ॥ १८ ॥

अर्थात प्रत्यक्षादि प्रमाणो के अधीन उनके प्रमेय की व्यवस्थिति (सिद्धि) होती है, और प्रमाणलक्षणाधीन अधिगत (ज्ञात) होते है, परन्तु लक्षण दुर्निरूपणीय है, यह दर्शाया जाता है कि, उन प्रमाणो मे प्रथम अक्षपाद (गौतम) मुनि ने प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है कि (इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्) इस लक्षण मे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यभिचारी (भ्रमभिन्न) ज्ञान प्रत्यक्ष होता है—इतने मे तात्पर्य है। अव्यपदेश्य पद निर्विकल्पक का बोधक है, व्यवसायात्मक पद सविकल्पक का बोधक है। परन्तु

चारित्वस्य दुरधिगमत्वात्। तदव्यभिचारित्वं किमदुष्टसामग्रीजन्यत्वेन ज्ञायते? किं वा बाधरहितत्वेन? आहोस्वित् प्रवृत्तिसामर्थ्येन? उतान्येन केनचित्? न प्रथमं, अप्रत्यक्षसामग्रीनिष्ठदोषाभावस्याध्यक्षेणाध्यवसातुमशक्यत्वात्। नापि ज्ञानाख्यलिङ्गेन, ज्ञानमात्रेणादुष्टसामग्रीजन्यत्व-

---

भिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति सूत्रम्, तत्रापीयानेवांशो लक्षणोपयोगी। अव्यपदेश्यपदस्य निर्विकल्पकप्रत्यक्षभेदसूचकत्वात्। व्यवसायात्मकपदस्य रूपं रस इत्यादिप्रत्यक्षज्ञानस्य शब्दानुवेधेन शाब्दत्वशङ्कानिवर्तनेन सविकल्पकप्रत्यक्षप्रामाण्यसमर्थनार्थत्वात्, इति हृदि निधायैतावदुदाहृतम्। तत्र चाव्यभिचारीति शुक्तिरजतज्ञानादिव्यवच्छेदः। सुखादिव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम्। अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थमाद्यं विशेषणम्। एतदेवास्य दुर्ज्ञानत्वादप्रसिद्धिं लक्षणस्याह—**अव्यभिचारित्वस्येति**। अत्र प्रत्यक्षतोऽनुमानतो वा इदमवगम्यते? इत्यग्रे विकल्प्य दूषयिष्यते, इदानीं तु मयानुगुणतज्ज्ञानत्वेन भिमतान्विकल्प्य दूषयति—**तदव्यभिचारित्वमित्यादिना**। ननु कथं प्रत्यक्षस्य वर्मणोऽनानुगुण्यमिति चेत् रत्नतत्त्वोपदेशस्येव तत्प्रत्यक्षमाचित्यमित्यर्थः। इति। प्रवृत्तेश्चेष्टाया फलेन तोयादिना अव्यभिचारस्तत्प्राप्तिनियमः प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, अदुष्टसामग्रीजन्यत्वेनेति प्रथमपक्षे यदिदमदुष्टसामग्रीजन्यत्वं तत्किं प्रत्यक्षेण ज्ञायते? उतानुमानेन? आद्ये प्राह—**अप्रत्यक्षेति**। कार्यैकगम्यसामग्र्या दोषाणां च प्रत्यक्षत्वाभावात् तन्निष्ठदोषाभावोऽप्यप्रत्यक्षः, अतस्तज्जन्यत्वमपि ज्ञानगतमप्रत्यक्षमिति भावः। द्वितीयेति किं ज्ञानत्वलिङ्गेन तदनुमीयते? किंवाऽव्यभिचारिज्ञानत्वेन? नाद्य इत्याह—**नापीति**। तत्र हेतुः—**ज्ञानमात्रेणेति**। भावप्रधानो निर्देशः। द्वितीयं दूषयति—**नाप्यव्यभिचरितेति**। परस्पराश्रयमेव विवृणोति—**अदुष्टेति**। बाधरहितत्वेनाव्यभिचारित्वावगम इति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापीति**।

अव्यभिचारित्व के दुरधिगम (दुर्ज्ञेय) होने से यह प्रत्यक्ष का लक्षण सघटित (लक्ष्य का बोधक) नहीं होता है। क्योंकि वह अव्यभिचारित्व विचारणीय है कि, क्या वह अव्यभिचारित्व, अदुष्ट सामग्री जन्यत्व से ज्ञात होता है, अथवा बाधरहितत्व से समझा जाता है, या प्रवृत्तिसामर्थ्य = सफलप्रवृत्तिजनकत्व से, या अन्य किसी से जाना जाता है। इनमें प्रथम पक्ष में निर्दोषता का प्रथम ज्ञान हो, तो निर्दुष्ट सामग्रीजन्यत्व का ज्ञान हो सकता है, उस निर्दोषता का ज्ञान प्रत्यक्ष से मान। नहीं जा सकता है, क्योंकि अप्रत्यक्ष सामग्री के अन्तर्गत दोषाभाव का प्रत्यक्ष से निश्चय होना अशक्य है। कारण है कि कार्यगम्य सामग्री होती है, और दोष भी प्रत्यक्ष नहीं रहते है, ज्ञान नाम के लिङ्ग से दोषाभाव का ज्ञान करे कि (यह ज्ञान, दुष्ट सामग्रीजन्य नहीं है, ज्ञान होने से) तो ऐसा दोषाभाव का ज्ञान नहीं कर सकते है, क्योंकि ज्ञानत्व मात्र में अदुष्ट सामग्रीजन्यत्व के

साधने विभ्रमज्ञानेष्वनैकान्तिकत्वात् । नाप्यव्यभिचरितज्ञानेन तदवगम, परस्पराश्रयत्वात्, अदुष्टकरणजन्यत्वेन ज्ञानस्याव्यभिचरितत्वसिद्धिरव्यभिचरितत्वज्ञानाच्चादुष्टकरणजन्यत्वसिद्धिरिति । नापि द्वितीय, विकल्पासहत्वात् । किं सर्वपुरुषबीजरहितत्वम् ? उत प्रतिपत्तु ? नाद्य, सर्वपुरुषबाधरहित्वस्यासर्वज्ञाविज्ञेयत्वात् । न द्वितीय, प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमननिधनादिना बाधानुदये तदीयमरुमरीचिकाविभ्रमाणामप्यर्थाव्यभिचारित्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीय, तस्याप्यनिरुक्ते । तथाहि--प्रवृत्तिर्नाम पुस समीहा, चेष्टा, तस्या फलेनोदकादिनाभिसम्बन्ध प्रवृत्तिसामर्थ्यम्,

---

उत प्रतिपत्तुरिति । यो हि येन प्रत्यक्षणार्थं प्रतिपद्यते तत्र तस्य बाधाभावाद्वेत्यर्थ । **प्रतिपत्तुर्देशान्तरेति ।** यदा हि मरुमरीचिकाविभ्रमोदयानन्तर प्रतिपत्तुर्देशान्तरगमन देहव्यापत्तिर्वा भवति, तत्र तस्य न बाधोदय इति तद्भ्रमाणामव्यभिचारित्व स्यादित्यर्थ । आदिग्रहणेन स्वस्यस्यैव जिज्ञासाद्यभावो गृह्यते । प्रवृत्तिसामर्थ्येनेति तृतीय पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति ।** पूर्ववाद्यभिमत प्रवृत्तिसामर्थ्यंतदनिरुक्ति दर्शयितु विवेचयति—**प्रवृत्तिर्नामेत्यादिना ।** समीहेत्यस्यैव विवरणम्—**चेष्टेति ।**

साधने पर विभ्रम ज्ञान मे हेतु की अनैकान्तिकता होती है, अव्यभिचरित ज्ञानत्व रूप हेतु से अदुष्ट सामग्रीजन्यत्व का (अवगम) अनुमान भी नही हो सकता है। क्योकि अव्यभिचरितज्ञानत्व भी साध्य है अत अदुष्ट सामग्रीजन्यत्व से साधने पर परस्पराश्रय होगा । अदुष्टकरणजन्यत्व से ज्ञान के अव्यभिचारित्व की सिद्धि होगी और अव्यभिचारित्व ज्ञान से अदुष्ट करणजन्यत्व की सिद्धि होगी । दूसरा बाधरहितत्व से भी अव्यभिचारित्व का ज्ञान नही हो सकता है, क्योकि वह विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि, क्या सर्व पुरुष से बाधरहितत्व विवक्षित है, या प्रतिपत्ता (ज्ञाता) से बाधरहितत्व विवक्षित है । उसमे प्रथम पक्ष माना नही जा सकता है, क्योकि सर्वपुरुष से बाधरहितत्व को असर्वज्ञ कोई जान नही सकता है, वह असर्वज्ञ का ज्ञेय नही है, प्रतिपत्ता मात्र से बाधरहितत्व भी अव्यभिचरितत्व नही हो सकता है, क्योकि यह मरीचिका मे विभ्रम होने के बाद कोई प्रतिपत्ता पुरुष देशान्तर मे चला गया, या उसका मरण हो गया, अत उसका उस भ्रमविषयक बाध का उदय (जन्म) नही हुआ, तो उसके मरुमरिकादि विभ्रमो को भी अर्थाऽव्यभिचारित्व प्राप्त होगा । प्रवृत्तिसामर्थ्य से अव्यभिचारित्व का ज्ञान होता है, यह तृतीय पक्ष भी नही बन सकता है । क्योकि प्रवृत्ति सामर्थ्य का ही निर्वचन नही हो सकता है, क्योकि पुरुष की समीहा रूप चेष्टा का नाम प्रवृत्ति है, उसका फलरूप उदकादि के साथ अभिन्न सम्बन्धप्रवृत्तिसामर्थ्य है, उस प्रवृत्तिसामर्थ्य से उदकादि ज्ञान के अर्थाऽव्यभिचारित्व का ज्ञान होता है, और यह प्रवृत्ति सामर्थ्य लिङ्ग होवे

तेनोदकादिविज्ञानस्यार्थाव्यभिचारित्वमवगम्यत इति स्थिति । तच्चेद प्रवृत्तिसामर्थ्यं लिङ्गत्वादवगत सदव्यभिचारित्व बोधयतीति वाच्यम् । तथा सति किं ज्ञानमात्रावगत सत्तदव्यभिचारिता विज्ञानस्यावगमयेद् ? उताव्यभिचारिज्ञानावगतम् ? नाद्य, भ्रान्तिस्वप्नादिज्ञानेनानैकान्त्यात् । नापि द्वितीय, परस्पराश्रयत्वात् । किंचायमन्वयव्यतिरेकी हेतु ? केवलव्यतिरेकी वा ? नाद्य, सर्वज्ञानानामव्यभिचारित्वे विप्रतिपन्न प्रति

न्वविद प्रवृत्तिसामर्थ्यं तत किम् ? तत्राह—**तच्चेदमिति । लिङ्गत्वादिति ।** व्याप्तत्वपक्षधर्मतया ज्ञात हि लिङ्ग भवति, इतरथाऽसिद्धत्वप्रसङ्गादित्यर्थ । तच्च प्रवृत्तिसामर्थ्यं किं ज्ञानत्वलिङ्गेनावगत सत्नाव्य बोधयति ? किं वा अव्यभिचारिज्ञानत्वेनावगतम् ? इति विकल्प्याद्येऽनैकान्तिकमाह—**भ्रान्तीति ।** अत्र च प्रवृत्तिसामर्थ्यं समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमभिमतमितरथा वैयधिकरण्य स्यात् । पूर्व प्रवृत्तिसामर्थ्यलक्षणो हेतुर्दूषित इत्युक्तम्, इदानी भवतु सुज्ञानत्व, तथापि कीदृशो हेतु ? इति विकल्पयति—**किंचायमिति ।** च किंचार्थ । पञ्चरूप खल्वन्वयव्यतिरेकी । अत्र च सपक्षे सत्त्वलक्षण द्वितीय नास्तीत्यभिप्रेत्याह—**सर्वज्ञानानामिति ।** न च तदनुभवाभावे सदेहाभाव, विपर्यासादपि प्रत्यवस्थानसभवात् । न च सोऽपि, अन्यत्र

से, अवगत (ज्ञात) होकर ज्ञान के अव्यभिचारित्व का बोधक होता है—यह कहना होगा । उक्त रीति से लिङ्गरूप प्रवृत्तिसामर्थ्य के ज्ञात हो कर ज्ञान के अव्यभिचारित्व के अनुमापक सिद्ध होने पर, वह प्रवृत्तिसामर्थ्यज्ञान मात्र से अवगत (ज्ञात) हो कर ज्ञान की अव्यभिचारिता का बोधक होगा, या अव्यभिचारि ज्ञान से अवगत हो कर ज्ञान की अव्यभिचारिता का बोध करायेगा, यह विकल्प होना है, जहाँ प्रथम पक्ष मे भ्रान्ति स्वप्नादि के प्रवृत्तिसामर्थ्यज्ञान मे अनैकान्तिकता होती है, वहाँ प्रवृत्तिसामर्थ्य का ज्ञान हो जाता है, और उससे अवगत ज्ञान मे अव्यभिचारित्व नही रहता है, अत यह माना नही जा सकता । दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि परस्पराश्रयता प्राप्त होती है । ज्ञान मे अव्यभिचारिता से प्रवृत्तिसामर्थ्य का ज्ञान और प्रवृत्तिसामर्थ्य के अव्यभिचारी ज्ञान से पूर्व ज्ञान के अव्यभिचारिताज्ञान यह परस्पराश्रयता प्राप्त होती है । और प्रवृत्तिसामर्थ्य को हेतु मान भी लिया जाय तो, क्या यह अन्वयव्यतिरेकी हेतु होगा, या केवलव्यतिरेकी होगा, यह विचारणीय है । यहाँ प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योंकि (ज्ञानम्, अव्यभिचारी, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्) इसप्रकार के अनुमान मे, सब ज्ञानो के अव्यभिचारित्व मे विप्रत्तिपत्ति युक्त के प्रति सपक्ष का असम्भव होना है । इस अनुमान मे सभी ज्ञान पक्ष हो जाते है, तो दूसरा पक्ष केवल व्यतिरेकी अनुमान (हेतु) रहे ऐसा कहे, इसी प्रकार के तात्पर्य

सपक्षासभवात् । अस्तु तर्हि द्वितीय, तथाचार्यवाचस्पतेस्तात्पर्यटीकाया प्रयोग —'विवादाध्यामित ज्ञानमर्थाव्यभिचारि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यदि पुनरेव नाभविष्यन्न समर्था प्रवृत्तिमकरिष्यद्यथा प्रमाणाभास' इति, मैवम्, हेतोर्विरुद्धत्वात् । दृश्यते हि मणिप्रभाया मणिबुद्धया प्रवर्तमानस्य मणिप्राप्ते प्रवृत्तिसामर्थ्यम्, न चाव्यभिचारित्वम् ।

उक्त हि—

"मणिप्रदीपप्रभयो मणिबुद्धयाभिधावतो ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेपि विशेषोऽर्थक्रिया प्रति" ।। इति

(प्रभा० वा० ३।५७)

सत एवानिर्वचनीयवादात् । न च सर्ववादविविनिषेधप्रसङ्ग, उक्तवक्ष्यमाणसमाधानत्वात्, एतेनोदयनोद्गारोपि चिकित्सित । केवलव्यतिरेकिपक्ष शङ्कते—**अस्तु तर्हीति** । तात्पर्यटीका न्यायवार्तिकटीका । उदाहृतश्चाय ग्रन्थ स्वत प्रामाण्यवादे । भ्रान्तिव्यावृत्त्यै समर्थपदम् । तदेतद्दूषयति—**मैवमिति** । विरुद्धत्व दर्शयति — **दृश्यते हीति** । या हि मणिप्रभाया मणिबुद्धि, सा तावदर्थव्यभिचारिणी, अयथार्थत्वात् । न च मणिप्रभैव मणि । अथ च समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमस्ति, मणिप्रापकत्वादित्यर्थ । अत्र सौगतवार्तिकसमति दर्शयति—**उक्तं हीति** । यदि हि मणिप्रभाया प्रदीपप्रभाया च मणिबुद्धिभ्या पुरुषावभिधावतस्तदा तयोरुभयोरपि विज्ञाने एव, तथाप्यर्थक्रिया प्रति विशेषोस्ति, मणिप्रभाया मणिबुद्धेर्मणिप्रापकत्वात, इतरत्र तदभावादित्यर्थ ।

टीका मे श्रीवाचस्पति आचार्य का प्रयोग भी है कि (विवादा०ग्रासित ज्ञान, अर्थाव्यभिचारी होता है, समर्थप्रवृत्ति के जनक होने से) यदि ऐसा अर्थाव्यभिचारी नही होता, तो समर्थप्रवृत्ति का जनक भी नही होता, जैसे प्रमाणाभास, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि यह हेतुविरुद्ध है (साध्याभावसाधक है) मणिप्रभा मे मणिबुद्धि से प्रवर्तमान को मणि की प्राप्ति से प्रवृत्तिसामर्थ्य देखा जाता है, परन्तु अव्यभिचारित्व नही देखा जाता है, मणिज्ञान का विषय प्रभा मणि नही रहता है, अत मणिप्रभा मे मणिज्ञान अर्थ से व्यभिचारी रहता हे, परन्तु सफल प्रवृत्ति का जनक रहता है, अत प्रवृत्तिसामर्थ्य वहाँ विरुद्ध हे उसीसे वहाँ मणिप्रभा मे अमणित्व सिद्ध हो जाता है । कहा भी हे कि—

मणिप्रभा और प्रदीपप्रभा मे मणिबुद्धि से दो दौडने वाले के मिथ्या ज्ञानो मे तुल्यता होते भी अर्थक्रिया के प्रति विशेष भेद हो जाता हे ।

कश्चाय फलाभिसम्बन्ध ? ज्ञानप्रतिभासितार्थस्य प्राप्ति ? उत तज्जातीयस्य ? नाद्य, वृषभमहिषपरिवर्तनादिना क्रियाविभागन्यायेन विज्ञानावभासितसलिलावयविनो विनाशेन ज्ञानस्य फलाभिसम्बन्धाभावप्रसङ्गात् । न द्वितीय, ग्रहतारादिविज्ञाने तस्य तज्जातीयस्य वा प्राप्त्य-

---

प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य हेतुविशेषान्तर्भावो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानी प्रवृत्तिसामर्थ्यमेव सर्वज्ञानानुगतमशक्यनिरूपणमित्याह—**कश्चायमिति । वृषभमहिषेति ।** अयमर्थ —वैशेषिकादिमते विज्ञानप्रतिभासितार्थप्रापकत्व फलाभिसबन्धरूपप्रवृत्तिसामर्थ्यमित्ययुक्तम्, अव्यापकत्वात् । यदि हि दूरतरे सरसि य सलिल दृष्ट्वा तत्पिपासया सर्पति, तदा समसमयमेव यदि महिषेण वृषभेण वा तदम्भ क्षोभित भवेत्तदा तस्तदवयवव्यारम्भकावयवेषु क्रियोत्पद्यते, ततश्च पूर्वतनद्रव्यारम्भकसयोगविघातकविभागोत्पत्तिस्ततश्च सयोगनाशस्तदनु च तदारब्धावयविनाश, उत्तरसयोगोत्पत्त्या चावयव्यन्तरोत्पत्तिरिति तेषा दर्शनम्, ततश्च पूर्वज्ञात सलिलावयवी विलीन एव, पीयमानश्चान्य एवेति पूर्वज्ञानजनितप्रवृत्ते फलाभिसबन्धो न स्यात्, अस्ति च तत्, इतरथा व्यभिचारित्वाऽप्रामाण्यप्रसगादिति । विज्ञानप्रतिभासितार्थसजातीयार्थप्रापकत्व फलाव्यभिचार इत्यप्ययुक्तम् । ग्रहतारकादिविज्ञानस्य सजातीयस्य वा विजातीयस्य वा ग्रहादे प्रापकत्वाभावेनाव्यापकत्वादित्याह—**ग्रहेति ।** पक्षद्वयेऽप्युपेक्षाज्ञानस्य प्रामाण्य न स्यादित्यपि द्रष्टव्यम् । अन्येनेति पक्ष निषेधति—

प्रवृत्ति को यह फलाभिसम्बन्ध क्या है, ज्ञान से प्रतिभासितार्थ की प्राप्तिरूप है, या प्रतिभासित जातीय अन्य की प्राप्ति रूप है, यहाँ प्रथम पक्ष नही सिद्ध हो सकता है, क्योकि कोई प्यासा मनुष्य दूर से जल को देख कर जल पीने के लिये चला, तब तक बैल, भैंसादि के जल मे परिवर्तन (घूमने) आदि से वैशेषिक मत के अनुसार परमाणु पर्यन्त जल मे क्रिया और परस्पर विभाग की रीति से दूर से अवभासित विज्ञान के विषय जल रूप अवयवी का नाश हो गया, और पुन द्वयणुकादिपूर्वक दूसरा जलावयवी उत्पन्न हुआ, अत उसके जल समीप मे पहुचने पर, प्रथम ज्ञान से अवभासित अर्थ नही रहा, तो भी वह जल पीता है, परन्तु प्रथम के ज्ञान को (फल) जलाभिसम्बन्धाभाव प्राप्त होता है । अर्थात् प्रथम ज्ञान से अवभासित जल अर्थक्रिया का साधक नही होता है, तृषानाशक अन्य जल होता है । अत ज्ञान प्रतिभासित अर्थ की प्राप्ति नही होती है । प्रतिभासित सजातीय की प्राप्ति को फलाभिसम्बन्ध कहे तो यह दूसरा पक्ष भी सिद्ध नही हो सकता है, क्योकि ग्रह, तारा आदि के ज्ञानस्थान मे न उस प्रतिभासित की प्राप्ति का सम्भव है, न उस प्रतिभासित के सजातीय की प्राप्ति होती है । वहाँ प्राप्ति का अभाव रहता है, अत यह ज्ञान फलाभिसम्बन्ध वाला कैसे होगा ।

भावात्। नापि चतुर्थ, अन्यदप्यनुमानान्तरम्? उत प्रत्यक्षम्? नाद्य, लिङ्गस्याव्यभिचरितत्वलक्षणसाध्येन व्याप्तिग्रहणदशायामेवाव्यभिचारस्य गृहीतत्वे पुनरनुमानानुपयोगात्, अगृहीतत्वे वानुमानस्याप्रवृत्ते। न द्वितीय, ज्ञानग्राहकेणैव मानसप्रत्यक्षेण तस्यार्थाव्यभिचारित्वग्रहणेऽभ्यासदशायामिवानभ्यासदशायामपि सशयानुदयप्रसङ्गात्।

नापीति। यत्तदयोचाम–प्रत्यक्षमनुमान वेति विकल्प्य दूषयिष्यतीति, तदाह—**अन्यदपीति।** येन हि लिङ्गेनाव्यभिचारित्वमनुमीयते तस्य तेन व्याप्तिर्गृहीता? न वा? आद्ये आह—**लिङ्गस्येति।** नहि ज्ञानविशेषेऽव्यभिचारित्व विप्रतिपन्नम्, येनाग्निमत्वादिवदन्यत्र प्रसिद्धमेवान्यत्रानुमीयेत, अपि त्वव्यभिचारित्वमात्र इति भाव। द्वितीये आह—**अगृहीतत्व इति।** प्रत्यक्षपक्ष दूषयति—**न द्वितीय इति।** प्रत्यक्षत्वे ज्ञानप्रतीतिसमसमयमेव तस्यापि निर्णीतत्वादनभ्यासदशायामव्यभिचारित्वे सशयो न स्यादित्यर्थ।

तदित्थमव्यभिचारित्वस्य ज्ञापकाभावादसिद्धिरभिहिता, इदानीमव्यभिचारित्व-

---

किसी अन्य से अव्यभिचारित्व जाना जाता है। यह चतुर्थ पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि अन्य भी अनुमानान्तर होगा, या प्रत्यक्ष होगा, वहाँ आद्य अनुमान नही हो सकता है, क्योकि जिस लिङ्ग से ज्ञान के अव्यभिचारित्व का अनुमान करना है, उस हेतु को अव्यभिचारित्वरूप साध्य के साथ प्रथम व्याप्ति गृहीत रहेगी या नही, यदि गृहीत रहेगी, तो लिङ्ग को अव्यभिचारित्व रूप साध्य के साथ व्याप्तिग्रहण काल मे ही अव्यभिचार के गृहीत होने से फिर अनुमान का कोई फल नहीं हो सकता है। अर्थात् ज्ञानविशेष के अव्यभिचारित्व मे विप्रतिपत्ति नही है कि जिससे अग्नि मे कही व्याप्तिग्रह होता है, और कही अन्यत्र अनुमिति होती है, वैसे ही यहाँ भी हो सके, किन्तु यहाँ ज्ञान मात्र विषयक अव्यभिचारित्व की विप्रतिपत्ति है, वहाँ व्याप्ति के निश्चय होने पर अनुमान की आवश्यकता नही रह सकती है। और व्याप्ति के अगृहीत रहने पर अनुमान की प्रवृत्ति नही हो सकती है। दूसरा प्रत्यक्ष से भी अव्यभिचारित्व का ज्ञान नही हो सकता है। क्योकि बाह्यप्रत्यक्ष की विषयता का असम्भव कहा गया है, मानसप्रत्यक्ष ही कहना होगा, वहाँ ज्ञान के स्वरूप का ग्राहक मानसप्रत्यक्ष से उस ज्ञान के अर्थाव्यभिचारित्व के ग्रहण होने पर अभ्यास दशा के समान अनभ्यास दशा मे भी अव्यभिचारित्व के सशय का अभाव प्राप्त होता है (सशय नही होना चाहिये)। अव्यभिचारित्व के बोधक का अभाव कहा गया, अब उसके स्वरूप को दुर्निरूप दर्शाया जाता है कि—

किंचेदमव्यभिचारित्वं नाम विज्ञानस्य ? किं प्रमात्वापरपर्याया जाति ? उतोपाधि ? न तावज्जाति , जातिसङ्करप्रसङ्गात् । तथाहि—सर्वं ज्ञानं धर्मिण्यभ्रान्तं प्रकारे तु विपर्यय इति वदद्भिरिदं रजतमिति विभ्रमज्ञानमिदमंशे प्रमाणमप्रमाणं च रजतांशेऽभ्युपगम्यते परीक्षकैः ।

तथाच—

"अन्योऽन्यपरिहारेण भिन्नव्यक्तिनिवेशिनो ।
सामान्ययो समावेशो जातिसङ्कर उच्यते ॥"

इत्युक्तन्यायेन स्मृतौ प्रमात्वपरिहारेणैवाप्रमात्वस्य वृत्तेरप्रमात्वपरिहारेण च प्रत्यक्षादौ प्रमात्ववृत्तेरेकस्या विभ्रमव्यक्तावुभयसमावेशे कथं न जातिसङ्कर स्यात् ? उपाधिश्चाबाधितत्वाविसंवादित्वादि प्रागुक्तप्रकारेणैवापाकरणीय ,

---

मेव दुर्निरूपमित्याह—**किंचेदमिति ।** प्रमात्वमित्यपरं पर्यायो यस्या सा तथोक्ता । प्रमात्वमितिनामिकेति यावत् । प्रमात्वरूपमव्यभिचारित्वं न जाति । इदं रजतमित्यादिभ्रमेषु धर्म्यंशेऽव्यभिचारित्वरूपप्रामाण्याङ्गीकारादितरांशे चाप्रामाण्याङ्गीकारात् । उभयोश्च परस्परव्यभिचारिणोरेकत्र **वृत्तौ** जातिसङ्करादित्याह—**न तावज्जातिरित्यादिना ।** जातिसङ्करस्वरूपमेव **वृद्धवचनेन** द्रढयति—**अन्योऽन्यपरिहारेणेति ।** नच स्वत प्रामाण्यवादोक्त परिहार इदमंशे तद्व्यवहारस्योपाधिकत्वेऽन्यत्रापि तत एव तद्व्यवहारोपपत्तौ जातिसद्भावे प्रमाणाभावात् । न च गोत्वाद्युच्छेदप्रसङ्ग , इष्टत्वात् । नचाप्रमात्वमुपाधि , प्रमात्वं च जातिरिति वक्तुं युक्तम्, वैपरीत्यस्यापि संभवात् । उपाधिपक्षं दूषयति—**उपाधिश्चेति । प्रागुक्तप्रकारेणेति ।** अबाधितत्वं किं सर्वस्य ? किं वा प्रतिपत्तु ? एवमविसंवादित्वमपि

'किञ्चेदमव्यभिचारित्व नाम विज्ञानस्य' विज्ञान का यह अव्यभिचारित्व नामक कौन स्वरूप है। क्या प्रमात्व अन्य नामवाली जाति है, या उपाधि है। जाति तो नही कही जा सकती है, क्योकि जाति सकर प्राप्त होता है। यह दर्शाया जाता है। सर्वज्ञान धर्मी अश मे प्रमाण अभ्रान्त होता है। और प्रकार विशेषणाश मे विपर्यय होता है, ऐसे कहने वाले परीक्षक भी इद (रजतम) इस शुक्तिविषयक ज्ञान को भी इदमश मे प्रमाण और जलाश मे अप्रमाण मानते है।

परस्पर सग को त्याग कर भिन्न-भिन्न व्यक्ति मे रहने वाले दो सामान्य का कही एक आश्रय मे समावेश होना जातिसकर कहा जाता है।

इस न्याय से इद रजत मे जातिसकर होता है, क्योकि स्मृति मे प्रमात्व को त्याग कर ही अप्रमात्व रहता है, और प्रत्यक्षादि मे अप्रमात्व को त्याग कर प्रमात्व रहता है और एक विभ्रम व्यक्ति मे अशभेद से प्रमात्व, अप्रमात्व दोनो के समावेश होने पर जातिसकर कैसे नही होगा और उपाधि तो अबाधितत्व

अस्तु वा यथाकथचिदविचारितरमणीयमव्यभिचारित्वम्, तथापीश्वरज्ञानेऽव्याप्ति । तस्य नित्यत्वादेवेन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वात् । जन्यप्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्, तथाप्यनुमितावतिव्याप्ति, मनोलक्षणेन्द्रियस्यात्मलक्षणेनार्थेन सन्निकर्षादनुमितेर्जायमानत्वात् । सयुक्तेऽर्थ इति विशेषणान्नातिव्याप्तिरिति चेत्, न, युक्तावस्थायामुपजायमानपरमाणुविषययोगिप्रत्यक्षेऽव्याप्ते । अयोगिप्रत्यक्षलक्षणमिति चेत्, न, प्रत्यभिज्ञाने तत्ताशेऽव्याप्ते । तत्रापि

किसर्वेषाम् ? उत प्रतिपत्तु ? इति विकल्प्योक्तदूषणेनेत्यर्थ । एवमत्ययवशो दूषणमुक्त्वा समुदितेऽपि दूषण वक्तुमुपक्रमते—**अस्तु वेति ।** अनीश्वरप्रत्यक्षलक्षणमिदमतो नाव्याप्तिरिति शङ्कते—**जन्येति ।** अनुमिताविन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नत्व दर्शयन्नतिव्याप्तिमेव विवृणोति—**मनोलक्षणेति ।** उपलक्षण चैतत्स्मृत्यादेरपि । नन्विन्द्रियोर्थसन्निकर्षोत्पन्न सयुक्तेऽर्थे प्रत्यक्षमिति लक्षण विवक्षितम्, नचैवमनुमानम्, अतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**संयुक्तेऽर्थ इतीति ।** एतदुक्त भवति—इन्द्रियार्थेत्यादिविशेषणयुक्त सयुक्तार्थविभासक प्रत्यक्षमिति । तर्हि योगिप्रत्यक्षविशेषऽव्याप्तिरित्याह—**न, युक्तावस्थायामिति ।** आत्ममन सन्निकर्षमात्रादशेषार्थग्रहणमिति भवतामभ्युपगम । युक्त च । नहि तदा परमाण्वादीन्द्रियसयुक्तम्, बहिरिन्द्रियाव्यापारान्मनश्च बहि स्वातन्त्र्याभावादिति भाव । नहि अयोगिप्रत्यक्षस्यैवेद लक्षणमस्त्विति शङ्कते—**अयोगीति ।** तर्ह्ययोगिप्रत्यक्षेप्यव्याप्तिरित्याह—**न, प्रत्यभिज्ञान इति ।** ननु कथमव्याप्ति, यावता तत्तायामपीदानी चक्षुषा सयुक्तदेवदत्तविशेषणतया पारपर्येणेन्द्रियसन्निकर्षोऽस्तीति शङ्कते—**तत्रापीति ।** तर्हि प्रत्यक्ष-

---

अविसम्वादित्वादि विषयक पूर्वोक्त युक्तियो से निराकरणीय है कि अबाधितत्त्व या अविसम्वादित्व रूप प्रमात्व क्या सबके प्रति अबाधितत्वादि स्वरूप है या एक प्रतिपत्ता के प्रति अबाधितत्व अविसम्वादित्व स्वरूप है, उभयथा भी असम्भव है इत्यादि । अथवा किसीप्रकार का अविचारित रमणीयता वाला अव्यभिचारित्व माना जाय । तो भी ईश्वरज्ञान मे लक्षण की अव्याप्ति होती है । क्योकि ईश्वर के ज्ञान के नित्य होने से इन्द्रियसम्बन्ध से जन्यत्व नही रहता है । यदि कहा जाय कि यह जन्यप्रत्यक्षज्ञान का ही लक्षण है, तो भी अनुमिति मे अतिव्याप्ति होती है । क्योकि मनरूप इन्द्रिय का आत्मस्वरूप अर्थ के साथ सम्बन्ध मे अनुमिति की उत्पत्ति होती है। यदि कहा जाय कि इन्द्रियसम्बन्ध से इन्द्रियसयुक्त अर्थविषयक जो ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष होता है, इसप्रकार से सयुक्तार्थ विशेषण से अनुमान मे अतिव्याप्ति नही होगी । तो भी लक्षणनिर्दोष नही होता है । क्योकि योगी की युक्तावस्था मे इन्द्रियसम्बन्ध के बिना जायमान परमाणु विषयक ज्ञान मे अव्याप्ति रहती है । यदि कहे कि यह अयोगी के प्रत्यक्ष का लक्षण है, तो भी प्रत्यभिज्ञा

सयुक्तविशेषणतालक्षण सन्निकर्षोऽस्तीति चेत्, मैवम्, अयमग्निमान्पर्वत इत्यनुमानेऽतिव्याप्ते, तत्रापि सयुक्तविशेषणतालक्षणसन्निकर्षस्य तत्ताश इव सद्भावात् । लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न, इन्द्रियार्थसन्निकर्षपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तेनाप्यतद्व्यावृत्तिमुखेन लिङ्गाद्यजन्यत्वमेवोच्यत इति चेत्, न, यत्किचिदपेक्षया सर्वस्यापि लिङ्गत्वसभवेन

धर्मिकानुमानेऽप्यतिव्याप्तिरित्याह—**मैवमिति** । ननु लिङ्गाद्यजन्यत्वे सत्युक्तविधसन्निकर्षजन्यत्व तल्लक्षणम्, तथा च नानुमितावतिव्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि लिङ्गाद्यजन्यत्वे सति प्रमितित्वमित्येतावदेवास्तु प्रत्यक्षलक्षणम्, व्यभिचाराभावात्, वृथेतरदिति परिहरति—**नेन्द्रियार्थेति** । नन्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यत्र लिङ्गाद्यजन्यत्व विवक्षितमतो न वैयर्थ्यम् । यदि हि लिङ्गाजन्यत्वमिन्द्रियार्थसन्निकर्ष जन्यत्व चोभय विवक्ष्येत, स्यात्तदा वैयर्थ्यम्, नन्वेवमिति शङ्कते—**तेनापीति** । तर्ह्यसिद्धिरेव लक्षणस्य, चक्षुरादेरपि यत्किञ्चित् प्रति लिङ्गत्वेन सर्वप्रत्यक्षाणा लिङ्गजन्यत्वादित्याह—**न, यत्किंचिदिति** । तल्लिङ्गाजन्यत्वे सति तदिन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वस्य लक्षणत्वविवक्षाया तच्छब्दार्थाननुगत्यसम्भवेन लक्षणस्याव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् ।

ज्ञान के तत्ताश मे अव्याप्ति होती है, क्योकि इन्द्रिय के सम्बन्ध के विना तत्ता का प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रकाश होता है । यदि कहे कि वहाँ भी इन्द्रिय सयुक्त विशेषणता रूप इन्द्रिय का तत्ता के साथ सम्बन्ध रहता है, अत अव्याप्ति नही है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि इसप्रकार से प्रत्यक्ष मानने पर (अयम्–अग्निमान् पर्वत) इस अनुमिति मे अतिव्याप्ति होगी क्योकि तत्ता के समान वहाँ भी सयुक्त विशेषणता स्वरूपसम्बन्ध का सद्भाव रहता है । यदि कहे कि लिङ्ग से अजन्य होता हुआ इन्द्रियार्थसम्बन्धजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, ऐसा लक्षण करेगे, कि जिससे दोष नही होगा, तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पद मे व्यर्थता प्राप्त होगी । यदि कहे कि उस इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पद से भी इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य से भिन्न की व्यावृत्ति द्वारा लिङ्गादि से अजन्यत्व ही कहा जाता है, कोई भिन्नार्थ नही कहा जाता है, किन्तु व्यावृत्तिद्वारा कहा जाता है । तो ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि इसप्रकार से लक्षण की असिद्धि (असम्भव) दोष प्राप्त होता है । यत्किञ्चित् की अपेक्षा से सब इन्द्रियादि को लिङ्गत्व के सम्भव से लक्षण के असम्भावित्व का प्रसङ्ग होता है, लिङ्ग से अजन्य प्रत्यक्ष ही नही सिद्ध हो सकता है । यदि कहा जाय कि (प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि) इस प्रमाणविभाग के प्रकरण मे प्रत्यक्ष का लक्षण किया गया है । अत प्रत्यक्ष प्रमाण का पारोक्ष्यानधिकरणप्रमा फल है और उसका करण प्रत्यक्ष प्रमाण है, यह सूत्र से लक्षण सूचित हुआ है । तो यह कहना भी नही बन सकता, क्योकि

लक्षणस्यासभवित्वप्रसङ्गात् । पारोक्ष्यानाधिकरणप्रमा प्रत्यक्षफल तत्करण च प्रत्यक्षप्रमाणमिति सूत्रेण सूत्रित लक्षणमिति चेत्, न, प्रमात्वपरोक्षत्वयोर्दुर्निरूप्यत्वेन तदधीननिरूपणस्यापि लक्षणस्य दुर्निरूपत्वात् । न च प्रमात्वस्य जातित्वेन निरुक्ति, भ्रमज्ञाने जातिसङ्करस्योक्तत्वात् । न तत्रेदमशादिप्रत्यये प्रमात्व जाति, कितूपाधिनिबन्धन प्रमाव्यवहार इति चेत्, न, सर्वप्रमाव्यवहारस्यापि तथात्वोपपत्तौ जातेरपलापापत्ते । न चैव गोत्वापलापप्रसङ्ग, जातिमन्तरेणोपाधिमात्रनिबन्धनतया गोव्यवहारस्य क्वचिदप्यनङ्गीकारात् । मृद्गवादौ गोव्यवहारो न जातिनिबन्धनो नाप्यु-

---

फलद्वारा लक्षण शङ्कते—**पारोक्ष्येति ।** अनुमित्यादिव्यावृत्तये पारोक्ष्यानधिकरणेत्युक्तम् । भ्रान्तिविशेषव्यवच्छेदाय प्रमाणग्रहणम्, इन्द्रियेत्यादिविशेषणेन पारोक्ष्यानधिकरणत्वसूचनादव्यभिचारितया भ्रमादिव्युदासेन प्रमात्वलाभात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानीति सूत्रे करणस्य च प्रक्रान्तत्वादिद लभ्यत इति भाव । **भ्रमज्ञान इति ।** तत्र हीदमशज्ञाने प्रमात्वमितरत्राप्रमात्वमिति जातिसङ्कर उक्त इत्यर्थ । ननु न तत्र प्रमात्व जातिरस्ति, येन जातिसङ्कर स्याद्व्यवहारस्तूपाधिनिबन्धन इति शङ्कते—**न तत्रेति ।** आदिग्रहणेन पीत शङ्ख उष्ण जलमित्यादौ पीतोष्णतादिप्रत्यया समृह्यते । ससर्गमात्रप्रत्यये हि तत्राप्रमात्वम्, तर्हि तेनैवोपाधिना सर्वत्र प्रमाव्यवहारोऽस्त्वनुगतनिमित्ताभात्, अल जातिकल्पनया अर्धजरतीयदृष्टयेति परिहरति—**नैति ।** ननु कथ क्वचिदपि गोत्वव्यवहारस्योपाधिनिबन्धनताऽभाव ? यावता मृदादिविनिर्मितगवादौ गोत्वव्यवहारस्यौपाधिकत्वात्, तत्र जातेरभावादिति, तत्राह—**मृद्गवादाविति ।** न तावन्मृद्गवादौ गवादिबुद्धि-

---

प्रमात्व और परोक्षत्व के दुर्निरूप्यता के कारण तदधीन निरूपण वाले लक्षण मे भी दुर्निरूपत्व है । प्रमात्व का जातिरूप से निरूपण नही हो सकता है, क्योकि भ्रमज्ञान मे जातिसकर प्रथम कहा गया है । यदि कहा जाय कि भ्रमज्ञान के इदमशादि रूप ज्ञान मे प्रमात्व जाति नही रहती है कि जिससे जातिसकर हो, किन्तु उपाधि से ही प्रमात्व का व्यवहार होता है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि सभी प्रमाव्यवहार क उसी प्रकार उपाधि निमित्तक सिद्ध होने से प्रमात्व जाति के अपलाप की आपत्ति होती है । यदि कहा जाय कि इसीप्रकार गोत्व जाति का भी अपलाप (निषेध) होगा, तो ऐसा नही कहा जासकता है, क्योकि गोत्व जाति के बिना उपाधिनिमित्तक गोव्यवहार को कही माना नही गया है । यदि कहा जाय कि मृत्तिका से रचित गो मे उपाधिनिमित्तक गोव्यवहार होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि मिट्टी के गो आदि मे गो आदि व्यवहार, न जातिनिमित्तक होता है, न उपाधिनिमित्तक ही होता है, किन्तु उपचार (सादृश्यमूलक

पाधिनिबन्धन किन्त्वौपचारिक इति न किंचिद् दुष्यति ।

न च प्रमात्वजातेर्व्यञ्जकमस्ति । तथाहि—तत्किमबाधितानुभूतित्वम् ? किं वा यथार्थानुभूतित्वम् ? आहोस्विदव्यभिचार्यनुभूतित्वम् ? अविसंवाद्यनुभूतित्वं वा ? संशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृत्वानधिकरणज्ञानत्वं वा ? एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतदधूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसंसयावृत्तिजातिमत्त्वं वा । न

रश्मिन्, शब्दप्रयोगस्तु परम्, नच सोऽपि जातिमुपाधिं वावलम्ब्य, किंतूपचारात् । नहि सिंहशब्दो बलकर्मणि उपचारात्प्रयुक्त इति उपाधिनिबन्धनो जातिनिबन्धनो वा भवति, विभ्रमेदमजादौ पुनर्मुख्यत्वं प्रमाव्यवहारस्य स्वीक्रियत इति विशेष इति भाव ।

जातिसङ्करान्न प्रमात्वं जातिरित्युक्तम्, इदानीं व्यञ्जकाभावाच्च न प्रमात्वं जातिरित्याह—**न चेति** । पक्षचतुष्टयेऽनुभूतिग्रहणं स्मृतिव्यावृत्त्यर्थम् विपर्ययादिव्यावृत्त्यर्थम् । च विशेषणान्तरम् । संशयाद्विपर्ययाच्च व्यतिरिक्तत्वे सति स्मृतित्वस्याप्यनधिकरणं यज्ज्ञानं तत्त्वमिति पञ्चमः पक्षः । **एतद्घटज्ञानेति** । एतच्च घटज्ञानं चेति प्रत्यक्षज्ञानविशेषो विवक्षितः । एतच्च धूमजन्यवह्निज्ञानं चेत्यत्राप्यनुमानज्ञानविशेषः । तयोर्वर्तमानत्वे सति संशयावृत्तिर्या जातिः प्रमात्वं तदधिकरणत्वं प्रमात्वव्यञ्जकमित्यर्थः । अत्र च घटज्ञानवृत्तिजातिमत्त्वमित्युक्ते अनुमेयघटज्ञानवृत्त्यनुमितित्वजातिमत्त्वमनुमितित्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता, तदर्थमेतद्घटज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षत्वजातिमत्त्वम् प्रत्यक्षत्वव्यञ्जकमादायार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि प्रत्यक्षधूमज्ञाने पूर्वोक्तार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यवह्निज्ञानेत्युक्तम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तिस्तदर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता, तदर्थम् धूमजन्यवह्निज्ञानेत्युक्तम् । तथापि तथाविधस्मृतौ प्रसक्तिस्तदर्थमेतदित्युक्तम् । तथापि गुणत्वादिमत्त्वमादायार्थान्तरता, तदर्थम् संशयावृत्तीत्युक्तम् । संशयावृत्तित्वे सति परोक्षाऽपरोक्षानुभववृत्तिजातिमत्त्वमिति

गोत्वारोप) से सिंहो मनुष्य, इत्यादि के समान व्यवहार होता है। अत वहाँ कोई दोष नहीं प्राप्त होता है।

प्रमात्व जाति का व्यञ्जक भी नहीं है। क्योंकि यदि व्यञ्जक है, तो क्या वह अबाधित अनुभूतित्व है, १। या यथार्थाऽनुभूतित्व है, २। या अव्यभिचारि अनुभूतित्व है, ३। या अविसंवादी अनुभूतित्व है, ४। या संशयविपर्ययभिन्न स्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्व रूप है, ५। या एतद्घटज्ञान (प्रत्यक्ष ज्ञान) वृत्तित्वयुक्त, एतद्धूमजन्य वह्निज्ञान (अनुमिति) वृत्ति, संशयावृत्ति जातिमत्त्व है, ६। इनमे अबाधित अनुभूतित्व युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि इदानीं बाधरहित्व अतिप्रसञ्जक

प्रथम, इदानी बाधविरहस्यातिप्रसञ्जकत्वात् कालान्तरे बाधविरहस्य दुरवधारणत्वात्, सर्वपुरुषाबाधस्य पुरस्तादेव निरस्तत्वात् द्वितीय, यथार्थत्वानिरुक्ते, तत्किमर्थसत्तामात्रविषयत्वम्? उत यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वम्? आहोस्विदबाधितार्थवत्त्वम्? न तावदर्थसत्तामात्रविषयत्वम्, भ्रमस्यापि प्रमात्वप्रसङ्गात्। नापि यावत्प्रतीयमानार्थसत्त्वम्, प्रत्यभिज्ञायामतीतानागतानुमानेषु वैधज्ञाने च तदभावेन तेषामप्रमात्वापातात्। अबाधितार्थवत्त्व तु पुरस्तादेवापहस्तितम्, नापि तृतीय, ज्ञानार्थयोर्विभिन्नदेशकालयो-

---

लक्षणार्थ। तत्र प्रथमपक्षमबाधितत्वानिरुक्त्या दूषयति—**न प्रथम इति। अतिप्रसञ्जकत्वादिति।** विपर्ययादावपीदानी बाधविरहसभवेन प्रमात्वव्यञ्जकत्वप्रसङ्गादित्यर्थ। **पुरस्तादेव निरस्तत्वादिति।** असर्वज्ञाविज्ञेयत्वादित्यर्थ। वादीन्द्रस्तु बाधितत्वात्यन्ताभावोऽबाधितत्वमित्याह। तस्य वक्ष्यमाणबाधानिरुक्त्या निरास। अथाबाधितमबाधितमित्यनुवृत्तबुद्ध्या जातिरुपाधिर्वाऽबाधितत्वम् न, बुद्धिमात्राद सिद्धे। अबाधितत्वे च वक्रम्। **भ्रमस्यापीति।** भ्रमज्ञानेपीदमशस्यार्थस्य विद्यमानत्वात्तत्रापि व्यञ्जकसत्तया व्यङ्ग्यप्रमात्वप्रसङ्गादित्यर्थ द्वितीय दूषयति—**नापीति।** प्रत्यभिज्ञाया तत्ताविशिष्टोर्थ। प्रत्यभिज्ञोदसमये नास्त्यतीतत्वात्, तथातीतानागतार्थविषयानुमानेऽपि तदानीमर्थो नास्ति। तथा विधिवाक्यजन्यज्ञानेपि साध्यार्थविषयत्वात्तदानीमर्थो नास्तीति तेषामव्यञ्जकतयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गादव्याप्तिरित्यर्थ। द्वितीयतृतीयौ दूषयति—**अबाधितार्थवत्त्वं त्विति।** अव्यभिचार्यनुभूतित्वमिति तृतीय पक्ष दूषयति—**नापि तृतीयः इति।** कि यत्रार्थस्तत्र ज्ञानमिति देशतोऽव्यभिचारित्व विवक्षितम्? किं वा यदार्थस्तदा ज्ञानमिति कालत? नोभयमपीत्याह—**ज्ञानार्थयोरिति।** यद्यपि सुखादिषु देशतोऽविनाभावो वर्तमानेषु च

(अतिव्याप्ति युक्त) है। वर्तमानकाल मे बाधरहित के भी कालान्तर मे बाध का अभाव दुरवधारणीय है, सर्व पुरुष के बाध का अभाव प्रथम ही निरस्त हो चुका है। दूसरा यथार्थानुभूतित्व भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि यथार्थत्व का निर्वचन नही हो सकता है, क्या वह यथार्थत्व, अर्थसत्ता मात्र विषयत्व है। या यावत् प्रतीयमान अर्थ का सत्त्व है। अथवा अबाधित अर्थवत्त्व है। अर्थसत्तामात्र विषयत्व प्रथम कोटियुक्त नही हो सकता है, क्योकि भ्रम को भी प्रमात्व प्राप्त होगा, वह भी इदमश रूप सत्तामात्र विषयक रहता है। यावत्प्रतीयमानार्थ सत्त्व कहने मे यद्यपि भ्रम मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि इदमश से अन्य अश का सत्त्व नही रहता है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा मे अतीतानागत के अनुमानो मे तथा विधिवाक्यजनित साध्यार्थविषयक ज्ञान मे, यावत्प्रतीयमान अर्थ के अभाव से भ्रमत्व की प्राप्ति होगी, तत्ता आदिक ज्ञानकाल मे नही रहते है और अबाधितार्थ-

धूमाग्न्योरिवाविनाभावाभावात्। चतुर्थेऽपि पक्षे ज्ञानान्तरेण तथैवोल्लिख्यमानत्वम्? विपरीततया वाऽनुल्लिख्यमानत्वमविसंवादित्वम्? नाद्य, रजत रजतमिति धारावाहिकविभ्रमेष्वपि भावात्। न द्वितीय, असजातबाधस्यापि भ्रमस्य प्रमात्वापातात्। नापि पञ्चम, सशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्वस्य विभ्रमेऽपि धर्म्यंशे भावात्। अन्यथा 'सर्व ज्ञान धर्मिण्यभ्रान्त प्रकारे तु विपर्यय" इत्यभ्युपगमपरित्यागप्रसङ्गात्।

रजत सभवति, तथापि न सर्वप्रमितीनामेव भाव इतितास्वव्याप्तिरित्यर्थ। अविसवाद्यनुभूतित्वमिति चतुर्थेऽपि पक्षेऽविसवादित्व विकल्प्य दूषयति—**चतुर्थेऽपीति।** कि सवादाभावो विसवादित्वम्? सवादभावोऽविसवादित्वम्? इति प्रथमविकल्पाभिप्राय। द्वितीये तु विपरीतसवादो विसवादस्तदभावोऽविसवादित्वमिति। तत्र प्रथम दूपयति—**नाद्य इति।** अस्ति हि इद रजतमिति धारावाहिकविभ्रमे ज्ञानान्तरेण पूर्वज्ञानप्रतीतार्थस्य तथेत्युल्लेख इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थ। द्वितीये देशान्तरगमनादिनानुत्पन्नबाधे भ्रमेऽतिव्याप्तिरित्याह—**न द्वितीय इति।** पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्ति, सर्वभ्रमाणामधिष्ठानांशे त्वदुक्तलक्षणवत्त्वेन प्रमात्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, जातिशङ्करोक्तेरित्यभिप्रेत्याह—**नापि पञ्चम इति।** किच सशयादेरपि दुर्निरूप-

---

त्व तो प्रथम ही अपहस्तित (निरस्त) हो चुका है। अव्यभिचारि अनुभूतित्व यह तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योंकि ज्ञान को अर्थ के साथ अव्यभिचारी कहना होगा, तो जहाँ अर्थ हो वहाँ ज्ञान रहे तो देश से अव्यभिचारी होगा या जब अर्थ रहे तब ज्ञान रहे तो काल से अव्यभिचारी होगा, परन्तु दोनो प्रकार का अव्यभिचार नही हो सकता है, क्योकि भिन्न देश और काल मे रहने वाले ज्ञान और अर्थ को धूम और अग्नि के समान अविनाभाव (अव्यभिचार) का अभाव रहता है। अविसम्वादि अनुभूतित्व रूप चतुर्थ पक्ष मे भी, असम्वादित्व क्या है। ज्ञानान्तर से तथैव सम्बोधित विषयवत्व है। या विपरीत रूप से अबोधित विषयवत्व है। उनमे प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि धारावाहिक, रजतमरजतम् इन विभ्रमो मे पूर्ववर्ती ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानान्तर रूप भ्रम से तथैव सम्बोधित विषयवत्त्व का भाव रहता है। विपरीत रूप से अबोधितवत्त्व रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं हो सकता है। क्योकि जिस भ्रम का बाध नही हुआ उस भ्रम को प्रमात्व प्राप्त होता है, इस लक्षण के अनुसार वहाँ अविसवादी है। पञ्चम पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि (सशयविपर्ययभिन्नस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्व) का धर्म्यंशविभ्रम मे भी भाव रहता है। अन्यथा यदि ऐसा नही माना जाय तो (सब ज्ञान धर्मी अश मे अभ्रात रहता है। प्रकार अश मे विपर्यय होता है) इस अभ्युपगम (सिद्धान्त) का परित्याग प्राप्त होगा। और सशय विपर्यय स्मृति

संशयविपर्ययस्मृतीनामनिरुक्तेश्च तदतिरिक्तत्वमपि दुर्भणम् ।

तत्र किमनवधारणज्ञानं संशयः ? विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिज्ञानं वा ? अनिर्द्धारितत्वविशेषितं वा ? जिज्ञासाजनकं मिथ्याज्ञानं वा ? विपर्ययेतर-मिथ्याज्ञानं वा ? संशयत्वजातियोगि वा ? सर्वथापि न निरूपणपथमवतरति ।

अनिरुक्तेरवधृतेरतिव्याप्तेर्द्वयोरपि ।
अव्याप्तेर्विभ्रमाभेदाज्जातिसाङ्कर्यसक्तितः ॥ १९ ॥

नाद्य, अवधारणानिरुक्तावनवधृतत्वस्याप्यनिरूपणात् । तथाहि—किं

त्वात्तद्व्यतिरिक्तत्वमप्रसिद्धमित्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यभिप्रेत्याह—**संशयेति ।**

तत्र संशयलक्षणानि संभवन्ति विकल्पयति—**तत्र किमित्यादिना ।** निश्चय-व्यावृत्त्यर्थमाद्यं पदम् । अवधारणाभावव्यावृत्त्यै ज्ञानपदम् । घटपटौ स्थाणुरेवेत्या-दिव्यावृत्त्यै विरुद्धोभयग्रहणम् । **अनिर्धारितत्वविशेषितमिति ।** अनिर्धारितोभय-कोटिसंस्पर्शि ज्ञानमित्यर्थः । मिथ्याज्ञानमित्युक्ते विपर्ययेति प्रसङ्गस्तदर्थं जिज्ञासा-जनकेत्युक्तम् । तावत्युक्ते तर्केऽपि प्रसक्ति, तदर्थं मिथ्याज्ञानमिति । सर्वथापि दुर्नि-रूपणमित्युक्तम् । तत्र यथासंभवं दूषणानि श्लोकेन संगृह्णाति—**अनिरुक्तेरित्या-दिना ।** प्रथमे पक्षेऽवधृतेरनिरुक्त्या अनवधृतेरप्यनिरुक्तेरसिद्धिः, तथा द्वितीय-तृतीययोरतिव्याप्तिः, चतुर्थे चाव्याप्तेः, पञ्चमे विभ्रमाभेदात्, षष्ठेऽपि जातिसङ्कर-प्रसक्तित इति योजना ।

संगृहीतानि दूषणानि विवृणोति—**नाद्य इत्यादिना ।** अवधारणानिरुक्त्याऽनव-धारणानिरुक्तिं दर्शयितुमवधारणलक्षणानि विकल्पयति—**किं ज्ञानमात्रमित्यादिना ।**

की अनिरुक्ति (अनिर्वचन) से उनसे अतिरिक्त भी दुर्वचनीय है। अतः उस अतिरिक्तत्व से युक्त लक्षण भी दुर्भर है ।

उनमें, क्या अनवधारणज्ञान संशय है १, या विरुद्ध उभयकोटि संस्पर्शिज्ञान है २, या अनिर्धारितत्व युक्त उभयकोटि संस्पर्शिज्ञान है ३, या जिज्ञासाजनक मिथ्या-ज्ञान है ४, या विपर्ययभिन्न मिथ्याज्ञान है ५, या संशयत्व जातियोगी है ६, किसी प्रकार भी निरूपण मार्ग में नहीं प्राप्त होता है । क्योंकि—

प्रथम पक्ष में अवधृति की अनिरुक्ति के कारण अनवधृति के भी अनिर्वचन से उसकी असिद्धि है और द्वितीय तृतीय में अतिव्याप्ति है चतुर्थ में अव्याप्ति है, पञ्चम में विभ्रम से अभेद प्राप्त होता है। षष्ठ में जातिसंकर प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

अर्थात् संशय का अनवधारणज्ञानरूप प्रथम लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि अवधारण की अनिरुक्ति रहते अनवधृतत्व का भी निरूपण नहीं हो सकता है, अतः अवधारण विचारणीय है, कि वह क्या है ? क्या ज्ञानमात्र अवधारण है, १ ।

ज्ञानमात्रमवधारणम्? उत एकाकारप्रतिनियतम्? आहोस्वित्संशयविरोधिज्ञानं वा? संशयविरोधिप्रमाणज्ञानं वा? आद्ये व्याघातः, ज्ञानं भवति चेत्युक्तत्वात्। द्वितीये चित्रः पटश्चैत्रो मैत्रश्चेत्यादिप्रमाणज्ञानानामपि संशयत्वापातः, एकाकारप्रतिनियमाभावात्। नापि तृतीयचतुर्थौ, संशयानिरुक्तौ तद्विरोधस्यानिरुक्तेः। किं चैवं सति संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं इत्यापतेत्। तथाचानुत्पन्नसंशयस्य संशयाविरोधिता, जायमानप्रमाण-

---

ज्ञानमात्रमवधारणमिति पक्षे ज्ञानत्वानधिकरणं ज्ञानमनवधारणज्ञानं स्यात्, तथाचानवधारणज्ञानं संशय इति वदतो न्यायभूषणकारस्य वदनसरोरुहं व्याहतिहिमाहतमित्याह—**आद्ये व्याघात इति।** नहि चित्रः पट इत्यादिज्ञानानामेकाकारप्रतिनियमस्ततोऽनवधारणज्ञानतापत्त्या संशयलक्षणमिति व्यापकमिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**द्वितीय इति।** संशयविरोधिज्ञानत्वं तथाविधप्रमाणत्वं वेति यदिदमवधारणस्य लक्षणद्वयम्, तत्संशयानिरुक्त्या न सिद्ध्यति, आत्माश्रयप्रसङ्गादित्याह—**नापि तृतीयेत्यादिना।** किंच यदि संशयविरोधिज्ञानमवधारणज्ञानम्, तदा संशयविरोधिज्ञानादन्यज्ज्ञानं संशय इति लक्षणं स्यात्तथा चानुत्पन्नसंशयस्योत्पद्यमानं निर्णयज्ञानमपि संशयः स्यात्तस्य सर्वसंशयाविरोधित्वादित्याह—**किंचेति।** तदेवमनिरुक्तेरवृत्तेरित्ययमंशो विवृतः। एतेन च 'कोटिद्वयानवधारणज्ञानं संशयः' इति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम्।

अथवा एकाकार-प्रतिनियत ज्ञान है अथवा संशयविरोधी ज्ञान है, या संशय-विरोधी प्रमाज्ञान है। यहाँ पर आद्य पक्ष में व्याघात है, क्योंकि ज्ञान के अवधारण होने पर, अनवधारण को संशय कहना है, वहाँ यही उक्त होगा कि ज्ञान होता है और नहीं होता है, अतः व्याघात होगा। अर्थात् ज्ञानमात्र अवधारण है इस पक्ष में ज्ञानत्वानधिकरण ज्ञान (अनवधारण ज्ञान) होगा वहाँ ज्ञान होने ज्ञानत्वानधिकरण होना स्पष्ट व्याघात है। दूसरा पक्ष एकाकार प्रतिनियत यह भी युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि चित्रपट है, चैत्र और मैत्र है। इत्यादि प्रमाणरूप ज्ञानों को भी संशयत्व की प्राप्ति होती है, ऐसे ज्ञान एकाकार में प्रतिष्ठित नहीं रहते हैं, अतः एकाकार के प्रतिनियम का अभाव रहता है। संशयविरोधी ज्ञान या संशयविरोधी प्रमाज्ञान ये तृतीय चतुर्थ लक्षण भी युक्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि संशय के निरुक्ति के बिना उसके विरोध का निर्वचन नहीं हो सकता है और दूसरी बात है कि ऐसा मानने पर संशयविरोधी ज्ञान से अन्य ज्ञान संशय होता है, ऐसा प्राप्त होगा, तब तो जिसको संशय नहीं हुआ, उसके प्रमाज्ञान को संशय का विरोधी नहीं होने से संशय स्वरूप होगा। विरुद्धोभयकोटिसंस्पर्शिज्ञानसंशय होता है, यह लक्षण भी

ज्ञानमपि सशय स्यात् । नापि द्वितीय, भेदाभेदशीतोष्णादिविषयप्रमाणज्ञानाना विरुद्धोभयकोटिसस्पर्शिना सशयत्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीय, निर्धारणानिरुक्तावनिर्धारितत्वस्यैवानिरुक्ते । अनिर्धारितत्वशब्देन कोटिद्वयस्याव्यवस्थितत्व विवक्षितमिति चेत्, तदेव विविच्यताम् । किमव्यवस्थितत्व कोटिद्वयस्य स्वरूपम् ? उत धर्म ? न प्रथम, कोटिद्वयस्वरूपनिश्चयस्यापि सशयत्वापत्ते । नापि द्वितीय, तादृग्धर्मविशिष्टकोटिद्वयग्राहिज्ञानविषयप्रमाया अपि सशयत्वापातात् । नापि चतुर्थ, अजिज्ञासो-

---

अतिव्याप्तेर्द्वयोरपीत्येतद्यथाक्रम विवृणोति—**नापीत्यादिना । निर्धारणेति ।** निर्धारणविषयो हि निर्धारित नाम, तद्विपरीत चानिर्धारित, निर्धारण चावधारणापरपर्यायम्, तस्य च दुर्निरूपत्वमनन्तरमेव निवेदितमिति तदुपजीविलक्षणमपि दुर्निरूपमित्यर्थ । ननु कोटिद्वयाव्यवस्थितत्वमनिर्धारितत्वम्, तेन न पूर्वोक्तान्योयाश्रयत्वमिति शङ्कते—**अनिर्धारणेति ।** यदि हि कोटिद्वयस्वरूपमव्यवस्थितत्वम्, तदा-स्थाणुरेवाय पुरुष एवायमिति कोटिद्वयनिश्चयस्यापि ससयत्वापत्तेरतिव्याप्तिरित्याह—**कोटिद्वयेति ।** अव्यवस्थितत्व कोटिद्वयधर्म, इति द्वितीये पक्षे दूषणमाह—**तादृग्धर्मेति ।** अव्यवस्थितत्वविशिष्टकोटिद्वयग्राहि यज्ज्ञान तद्विषयप्रमाणमपि परपरयाऽव्यवस्थितकोटिविषयज्ञानमित्यतिव्याप्तिरित्यर्थ । यदि च पुरुषत्वादिवदव्यवस्थितत्वमपि पारमार्थिको धम, तदा तद्विशिष्टकोटिद्वयप्रमाणेऽप्यतिव्याप्ति । आरोपितत्वे तद्विपर्ययेऽपि प्रसक्तिरित्यपि द्रष्टव्यम, एतेन साक्षादिति विशेषणमपि

युक्त नही हो सकता है क्योकि भेदाऽभेद शीतोष्णादि विषयक विरुद्ध उभय कोटि विषयक प्रमाण ज्ञानो को भी सशयत्व प्राप्त होगा । (अनिर्धारितत्त्व युक्त उभय कोटि सस्पर्शिज्ञान) यह तृतीय लक्षण भी युक्त नही, क्योकि निर्धारणा की अनिरुक्ति रहते अनिर्धारितत्त्व का निर्वचन नही हो सकता है । यदि कहे कि अनिर्धारितत्व शब्द से कोटिद्विय के अव्यवस्थितत्त्व विवक्षित है, तो उसीका विवेचन किया जाय कि वह अव्यवस्थित्व क्या है । वह अव्यवस्थितत्व कोटिद्वय का स्वरूप है, या धर्म है । प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, अव्यवस्थित को कोटिद्वय स्वरूप मानने पर कोटिद्वय स्वरूप के निश्चय को भी सशयत्व की प्राप्ति होगी । दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है । क्योकि तादृक् = अव्यवस्थितत्व धर्मविशिष्ट कोटिद्वय विषयक ज्ञानविषयक यह पुरुष है या नही यह मै नही जानता हू । इस अनुव्यवसायरूप प्रमाज्ञान को भी सशयत्वापत्ति होगी । अनुव्यवसाय व्यवसाय के विषय को भी विषय करता है । अत यह भी उस धर्म का ग्राहक होगा । जिज्ञासाजनक मिथ्या ज्ञान सशय होता है, यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही, क्योकि अजिज्ञासु को भी स्थाणु आदि मे सशय के देखने से वहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी ।

रपि स्थाण्वादौ सशयदर्शनेन लक्षणस्याव्यापित्वात्। नापि पञ्चम, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—सशयस्य विपर्यासाद्विषयविशेषेण ? कारणविशेषेण ? जातिविशेषेण वा भेद स्यात् ? नाद्य, विषयविशेषानिरुक्ते। तथाहि—न तावदुभयविधिर्विषय, एतौ स्थाणुपुरुषाविति समुच्चयनिश्चयस्यापि सशयत्वापातात्। नाप्युभयनिषेध, न स्थाणुर्न पुरुष इति प्रत्ययप्रसक्ते। नाप्यन्यतरनिषेध, तदितरावधारणापत्ते। नाप्युभयविधिनिषेधौ, स्थाणुर्भवति न भवति पुरुषो भवति न भवतीत्युभयविधिनिषेधावधारण-

---

निरस्तम्। अव्याप्तेरित्येनदपि विवृणोति—**अजिज्ञासोरिति**। नहि सर्वत्र सशयानन्तर जिज्ञासोदेति, अपेक्षाया अपि सभवादिति भाव। विभ्रमाभेदादित्येतद्विवृणोति—**नापि पञ्चम इत्यादिना**। विषयविशेषनिमित्त सशयस्य विपर्ययाद्विशेष इति पक्ष दूषयति—**नाद्य इति**। नन सशयस्य किमुभयविधिर्विषय यथा स्थाणुश्च पुरुश्चेति ? किंवोभयनिषेध ? किं वान्यतरनिषेध ? उतोभयविधिनिषेधौ ? नाद्य इत्याह—**न तावदिति**। द्वितीयेऽसिद्धिमाह—**न स्थाणुरिति। तदितरेति**। यदि ह्यन्यतरनिषेध स्यात्तदान्यतरस्यावधारण पर्यवस्येत्, तथा च सशयत्वव्याघात। चतुर्थेऽप्यसिद्धिमाह—**स्थाणुरिति**। तथाप्युभयविधिनिषेधयोरवधारणतया सशयत्वव्याघात इत्यर्थ। न केवल व्याघातोऽसभवश्चेत्याह—

विपर्ययेतर मिथ्या ज्ञान रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नही। क्योकि वह विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि सशय को विपर्यय से विषयविशेष द्वारा भेद है, या कारणविशेष से, अथवा जातिविशेष से भेद है। विषयविशेष के द्वारा भेद नही कह सकते है, क्योकि विषयविशेष का निर्वचन (निर्णय) नही हो सकता है। सशय का विषय उभय कोटि का विधि या उभय कोटि का निषेध, या एक का निषेध या उभयविधि निषेध कह सकते है। वहाँ उभय विधि युक्त नही, क्योकि ये स्थाणु पुरुष है। इस समुच्चय (समूह) विषयक निश्चय को भी सशयत्व प्राप्त होगा। उभय निषेध सशय का विषय हो तो, न स्थाणु है, न पुरुष है, ऐसा सशयज्ञान का स्वरूप होना चाहिये। अन्यतर = एक का निषेध सशय का विषय नही हो सकता है, क्योकि एक स्थाणुत्व के निषेध को सशय का विषय होने पर, पुरुषत्व का अवधारणरूप स्थाणुविषयक सशय प्राप्त होगा। विधि-निषेध उभयस्वरूप भी सशय का विषय नही हो सकता है। क्योकि, विधि-निषेध दोनो को सशय का विषय होने पर (स्थाणुर्भवति न भवति, पुरुषो भवति न भवति) स्थाणु ठूँठ है नही है, पुरुष है नही है। इसप्रकार का चतुष्कोटिक उभय के विधि और निषेध का अवधारण स्वरूप सशय प्राप्त होगा कि जिससे सशयत्व का व्याघात होगा। और (शब्दो नित्योऽनित्यो वा) यहाँ एक का निषेध अन्य का विधि रूप, उभय

प्रसङ्गात् । नित्योऽनित्यो वेत्यत्रैकतरनिषेधस्यान्यतरविधिरूपतयोभयविधि-निषेधयोरसभवाच्च । न द्वितीय, कारणविशेषानिरुक्ते । स हि सामग्री वा ? तदेकदेशो वा ? नाद्य, अतीन्द्रियत्वेन तस्या प्रत्यक्षत्वायोगात् । लिङ्गाभावेनानुमानतोऽप्यसिद्धे । न च सशयज्ञान लिङ्गम्, तस्येदानीमेव निरूप्यमाणत्वात् । नापि द्वितीय, प्रत्यक्षस्य तदेकदेशस्य साधारणधर्मदर्श-नादे स्वविषयतयानुव्यवसायप्रत्यक्षजनकत्वेनातिव्यापकत्वात्, अप्रत्यक्षस्य

नित्य इति । नित्यत्वानित्यत्वयो परस्परप्रतिक्षेपरूपत्वादेकतरविधावेकतरनिषेध उभयविधानन्नुभयनिषेधश्च न सभवति, उभयविधानातिरिक्तोभयनिषेधाभावा-दित्यर्थ । एव विषयविशेषाद्विशेष निराकृत्य कारणविशेषाद्विशेष इति पक्ष निरा-चष्टे—**न द्वितीय इति ।** कारणशब्देन कि सामग्री विवक्ष्यते ? सामग्र्येकदेशो वा ? आद्ये प्रत्यक्षतस्तज्ज्ञानम् ? अनुमानतो वा ? नोभयथापीत्याह—**स हीत्या-दिना ।** ननु किमिति लिङ्गाभाव ? यावता कार्यात्सशयज्ञानात्सामग्र्या शक्यमनु-मानमिति, तत्राह—**न च संशयेति ।** सामग्र्येकदेश कारणमिति पक्षेऽपि कि प्रत्यक्षगम्यस्तदेकदेश ? तदगम्यो वा ? नाद्य इत्याह—**प्रत्यक्षस्येति ।** तदा हि तादृशकारणजनित ज्ञान सशय इति पर्यवस्येत् । तथाचातिव्याप्ति । तस्य साधा-रणधर्मदर्शनादे स्वविषयानुव्यवसाय प्रत्यपि जनकत्वात् । तस्य च प्रत्यक्षप्रमिति-त्वेन सशयत्वाभावादित्यर्थ । आदिशब्देन च विशेषस्मरणविशेषदर्शने गृह्येते ।

विधि निषेध मे सशय का असम्भव होगा । क्योकि यहाँ नित्यत्व अनित्व के परस्पर निषेध रूप होने से उभयविधि और उभयनिषेध का अभाव है । कारणविशेष से भेदरूप दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि सशय के कारण विशेष का निर्णय नही हो सकता हे, क्योकि कारणविशेप कारणो का समूहस्वरूप सामग्री हो सकता हे या सामग्री का एकदेश (अश) हो सकता है । उनमे आद्य, सामग्री के अतीन्द्रियत्व होने के कारण उसके प्रत्यक्षत्व का असम्भव है । सामग्री अतीन्द्रिय इन्द्रियादि युक्त होती हे । अत वह कार्य से अनुमेय होती है । और वहाँ लिङ्ग के अभाव से अनुमान से भी सामग्री की सिद्धि नही हो सकती है । यदि कहा जाय कि सशय ज्ञान ही उसका लिङ्ग है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सशय अभी निरूप्यमाण (असिद्ध) हे । द्वितीय = सामग्री का एकदेश, भी सशय का कारणविशेष नही हो सकता है । क्योकि सशयज्ञान की सामग्री का एकदेश प्रत्यक्ष स्थाणु पुरुषादि के उच्चैस्त्वादि साधारण धर्म के दर्शनादि को माना जाय तो, वह साधारण धर्म दर्शनादि स्वविषयकता से स्वविषयक अनुव्यवसाय का भी जनक होता है, अत अनुव्यवसाय मे लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, वह भी सामग्री एकदेश प्रत्यक्ष साधारण धर्मदर्शनादि से होता है । और अप्रत्यक्ष सामग्री एकदेश का तो

च तदेकदेशस्य सामग्रीनिरासेन निरस्तत्वात् । नापि तृतीय, जातिसङ्करापत्ते । अय स्थाणु पुरुषो वेत्यत्र धर्म्यंशे तस्यैव ज्ञानस्य निश्चितत्वम्, विशेषाशे विकल्पनाशे च सशयत्वमित्येकस्यैव ज्ञानस्य विरुद्धजातिद्वयलिङ्गिन प्रसङ्गात् । एतेन षष्ठोऽपि पक्षो निरस्त । तस्मान्न सशयलक्षणनिरुक्ति ।

नापि विपर्ययस्य । तथाहि—'मिथ्याध्यवसायो विपर्यय' इति भूषणकारभाषित लक्षण तावदयुक्तम्, मिथ्वात्वानिर्वचनात्—तत्किपप्रमात्वम्? उतोपदर्शितार्थाप्रापकत्वम्? अर्थक्रियाशून्यत्व वा?

आद्यकल्पेष्वतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चान्त्ययोर्द्वयो ।

सामग्रीनिरासेनेति । न प्रत्यक्षतस्तत्सिद्धि नाप्यनुमानत, लिङ्गाभावत । नच सशय एव लिङ्गम, अद्याप्यनिरूपणादित्यर्थ । जातिविशेषाद्विशेष इति पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति** । जातिसङ्करमेव विवृणोति—**अयं स्थाणुरिति** । सशयत्वजातियोगीसशय इति षष्ठेऽपि पक्षे सङ्करप्रसङ्गमतिदिशति—**एतेनेति** ।

एव सशयानिरुक्तिमुपपाद्य पिपर्ययानिरुक्ति प्रतिज्ञातामुपपादयति—**नापि विपर्ययस्येति** । प्रमाणज्ञानसशययोर्मिथ्याध्यवसायपदाभ्या निरास । **उपदर्शितेति** । यद्विज्ञान स्वेन प्रकाशितमर्थम् न प्रापयितु शक्नोति स विपर्यय इति किं विवक्षितमित्यर्थ । अर्थक्रियेत्यत्रोत्तरार्थशब्दो विषयपर, समासश्च बहुव्रीहि । सर्वपक्षेषु दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**आद्येति** । प्रथमद्वितीयतृतीयेष्वतिव्याप्ते-

---

लिङ्गादि के अभाव से सामग्री के निराकरण के समान ही निराकरण हो चुका है, जातिविशेष से सशय का भेदरूप तृतीय पक्ष भी युक्त नही, क्योकि सशयत्व को जाति मानने पर जातिसकर की प्राप्ति होती है (अय स्थाणु पुरुषो वा) यह ठूँठ है या मनुष्य है । यहाँ इस ज्ञान को धर्मी इदम् अश मे निश्चयत्व है, और विशेष विकल्पित अश मे सशयत्व है । अत इस एकज्ञान को विरुद्ध जातिद्वयलिङ्गवत्त्व प्राप्त होता है । इसीसे सशयत्वजातियोगी सशय यह षष्ठ पक्ष भी निरस्त हो गया । अत सशय के लक्षण का निर्वचन नही हो सकता है, यह सिद्ध हुआ ।

विपर्यय का भी निर्दोष लक्षण नही हो सकता है । क्योकि (मिथ्याऽध्यवसायो विपर्यय) मिथ्या निश्चय भ्रान्ति है । यह भूषणकार से कथित लक्षण अयुक्त है, क्योकि मिथ्यात्व का निर्वचन नही हो सकता है कि मिथ्यात्व क्या है । क्या अप्रमात्वरूप है, या अव्यभिचारित्व है, या उपदर्शितार्थाऽप्रापकत्व है, अथवा अर्थक्रिया शून्यत्व है ।

प्रथम के तीन पक्षो मे अतिव्याप्ति है, अन्त्य के दो पक्षो मे अव्याप्ति है ।

न मिथ्याध्यवसायत्वं विपर्यासस्य लक्षणम् ॥ २० ॥

नाद्य, अप्रमात्वे सत्यध्यवसायरूपाया स्मृतावतिव्याप्ते । न द्वितीय, देशत कालतोऽर्थव्यभिचारिषु प्रमाणज्ञानेष्वपि विपर्ययत्वप्रसङ्गात् । न तृतीय, चन्द्रतारकादिप्रमाणज्ञानेष्वतिप्रसक्ते । इद रजतमित्यादिज्ञानेषु चोपदर्शितेदमशप्रापकत्वादव्याप्ते । नापि चतुर्थं, मिथ्याऽहिदशप्रतिसूर्यका-द्यनेकार्थाना निधनप्रकाशनाद्यर्थक्रियादर्शनात् । न च ज्ञानमेवार्थक्रियाकारि

रन्त्ययोस्तृतीयचतुर्थयोरव्याप्तेरिति याजना । चस्तु तृतीयपक्षस्यैवातिव्याप्ति च समुच्चनोति ।

सग्रह विवृणोति—**नाद्य इत्यादिना** । अप्रमात्व मिथ्यात्वमिति पक्षे अप्रमा-रूपाध्यवसायो विपर्यय इत्युक्तम स्यात, तथाच स्मृतावतिव्याप्तिरित्याह—**अप्र-मात्व इति** । अतीतादिज्ञानानामर्थव्यभिचारिणामध्यवसायरूपाणा विपर्ययत्वा-पत्त्यातिव्याप्तेर्द्वितीयपक्षोप्यनुपपन्न इत्याह—**देशत इति** । **चन्द्रतारकेति** । नहि तदर्थाज्ञानसमये प्राप्तु शक्यन्ते इति पूर्वमेवोक्तमिति भाव । अस्यैव पक्षस्या-व्याप्ति चाह—**इद रजतमिति** । चतुर्थेऽव्याप्तिमाह—**मिथ्याऽहिदशेति** । अस्ति तावन्मिथ्याहिदशादपि कस्यचिन्मरणम्, दर्पणादिप्रतिबिम्बितसूर्यस्य च प्रकाशकत्वम, उपसूर्य वा दृश्यमान सूर्य प्रतिसूर्यक, 'तस्याप्युपरि नरपतिम्' इत्यादिशास्त्रान्मरणा-दिहेतुत्वावगमात्प्रकाशकत्वाच्चातस्तत्र त्वदभिमतमिथ्यात्वाभावादव्याप्तिरित्यर्थ । ननु कथमव्याप्तिर्यावता तत्राप्यर्थस्यार्थक्रियाशून्यत्वाज्ज्ञानस्यैव तद्धेतुत्वादिति, तत्राह—**न चेति** । किं ज्ञानमात्र मरणादिहेतु ? तादृगर्थविशेषित वा ? **आद्ये**

अत मिथ्याध्यवसायत्व, विपर्यय का लक्षण नही हो सकता है ॥ २० ॥

अर्थात् मिथ्यात्व के अप्रमात्वरूप होने पर, अप्रमात्वयुक्त अध्यवसायत्व, विपर्यय का आद्य लक्षण होगा, वह युक्त नही हो सकता है । क्योकि उसकी स्मृति मे अति-व्याप्ति होती है । दूसरा अर्थव्यभिचारित्वयुक्त अध्यवसायत्व लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि अतीत दूरस्थ वस्तु के देश, कालादि द्वारा अर्थव्यभिचारी प्रमाज्ञानो मे भी विपर्ययत्व की प्राप्ति रूप अतिव्याप्ति होती है । उपदर्शितार्था-प्रापकत्वयुक्त अध्यवसायत्व, यह तृतीय लक्षण भी युक्त नही, क्योकि चन्द्र, तारकादि के प्रमाज्ञानो मे अतिव्याप्ति होती है, क्योकि वे ज्ञान चन्द्रादि के प्रापक नही होते है । और इद रजतम, इत्यादि भ्रमज्ञानो मे अव्याप्ति होती है, क्योकि भ्रमज्ञान भी उपदर्शित (प्रकाशित) इदम अश के प्रापक होते है । चतुर्थ अर्थक्रियाशून्य अर्थवदध्यवसायत्व, लक्षण भी युक्त नही, क्योकि मिथ्या अहि = सर्प, दश और सूर्य के ऊपर दृश्यमान मिथ्या सूर्यरूप प्रतिसूर्यकादि अनेक मिथ्या अर्थो का भी मरण प्रकाशनादि अर्थक्रिया (फल) देखा जाता है, अत उनके ज्ञानो मे अव्याप्ति

नार्थ इति वाच्यम्, ज्ञानमात्रस्य तद्धेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात् अर्थविशेषितस्य तद्धेतुत्वे चार्थस्यापि तद्धेतुत्वापातात्। तदेव तृतीयचतुर्थयोरव्याप्ति ।

'अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो विपर्यय' इत्युद्द्योतकरीयमपि लक्षणमयुक्तम्, अतिव्याप्ते—भवति हि वल्मीकादौ स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सशय, न स्थाणुर्न पुरुष इत्युभयबाधदर्शनात् अतस्मिंस्तदिति प्रत्यय, न चासौ विपर्यय । अतस्मिन्निति च स्वात्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्ययविव-

---

प्राह—**ज्ञानेति** । द्वितीये प्राह—**अर्थेति** । प्रतिपादितामन्तिमयोरव्याप्तिमुपसहरति—**तदेवमिति** । एतेनैककोटचवलम्बी जाग्रतो मिथ्याज्ञान विपर्यय इति श्रीवल्लभीयमपि लक्षण निरस्तम्, मिथ्यात्वानिरुक्ते ।

एव भूषणकारलक्षण दूषयित्वोद्द्योतकराभिमत दूषयति—**अतस्मिन्निति ।** वल्मीकादौ स्थाणुत्वपुरुषत्वरहिते स्थाणुर्वा पुरुष वेति प्रत्ययस्तावदतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवति । नच विपर्ययोऽसौ, सशयत्वात । अतोऽतिव्याप्तिरित्यर्थ । ननु प्रत्ययशब्देनावधारण विवक्षित तेन न सशयेऽतिव्याप्तिरिति मन्वान प्रत्याह —**अतस्मिन्निति ।** अतस्मिंस्तदिति प्रत्यय इति कोर्थ ? यत्तदत्यन्ताभावाधिकरणे तदिति प्रत्यय इति । तथा च मा भूत् सशयेऽतिव्याप्ति, प्रत्ययशब्देनावधारणस्य विवक्षितत्वात्, तथापि प्रमाणज्ञानेष्वतिव्याप्ति । प्रदेशवृत्तिविशेषगुणेषु सयोगवियोगयोश्च स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणतया तत्प्रमितीना विपर्ययत्वापातादित्यर्थ ।

होगी। यदि कहा जाय कि मिथ्या सर्पादि के ज्ञान ही अर्थक्रियाकारी होते है, अर्थ नही, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सर्पादि के ज्ञानमात्र को मरणादि के हेतुत्व को मानने पर अन्य ज्ञानो मे भी अतिप्रसक्ति होगी, परणप्रसक्ति प्राप्त होगा, अन अथविशेषित को ही मरणादि हेतुत्व होने पर अर्थ को भी हेतुत्व प्राप्त होता है। अत उक्त रीति से तृतीय और चतुर्थ मे अव्याप्ति दोष है।

(अतस्मिस्तदिति प्रत्ययो विपर्यय) रजतत्वादि धर्मरहित मे रजतत्वादि का ज्ञानविपर्यय कहा जाता है। यह उद्योतकराचाय का लक्षण भी अयुक्त है, इसलिए कि इसकी सशय मे अतिव्याप्ति है, क्योकि वल्मीक (दीमकरचित मृत्पिड) आदि मे स्थाणु ह या पुरुष है। ऐसा सशय होता है, वहाँ स्थाणुत्व, पुरुषत्व दोनो का अभाव रहता है, अत उभय के बाध देखने से अतस्मिस्तत बुद्धिरूप विपर्ययलक्षण की प्राप्ति होती हैं, और वह विपर्यय स्वरूप है नही, अत अतिव्याप्ति है। यदि कहे कि 'अतस्मिन्' इत्यादि लक्षण से स्वात्यन्ताभाव के अधिकरण मे तत् = स्वस्वरूप, का निश्चय विवक्षित है। अत अनिश्चयरूप सशय मे अतिव्याप्ति नही होगी, तो कहा जाता है कि ऐसी विवक्षा होने पर भी प्रदेशवृत्ति अव्याप्यवृत्ति,

क्षाया सयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणेषु प्रदेशवृत्तिषु स्वात्यन्ताभाव-समानाधिकरणेषु प्रमारूपोपि प्रत्ययो विपर्यय स्यात्। एतेन बाध्य ज्ञानम्, दुष्टकरणजन्य वा ज्ञान विपर्यय इति लक्षण निरस्तम्, सशयेऽतिव्याप्ते-र्दर्शितत्वात् बाधानिरुक्तेश्च। कि विरोधिप्रमाणज्ञान बाध ? कि वा विपर्ययविरोधिप्रमाणज्ञानम् ? विषयापहारो वा ? आद्ये पूर्वोत्तरप्रमाण-ज्ञानाना वध्यघातकलक्षणेऽतिव्याप्ति। द्वितीये परस्पराश्रयता। न ततीय, तथाहि—विषयापहारो नाम पूर्वज्ञानोपदर्शितार्थासत्त्वबोधनमात्रम् ? उत तथा प्रमिति ? उत यद्देशकालविशिष्टतया यत्प्रतीत तस्य तत्रैवासत्त्व-बोधनम् ? नाद्य, नाय देवदत्तो न जीवतीति विभ्रमप्रत्ययेन देवदत्तादि-

---

एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**संशय इति**। सोऽपि हि बाध्यो दुष्टकरणजन्यश्चेति भाव। अथात्रापि ज्ञानशब्देनावधारणविवक्षा, तन्न, तदनिरुक्तेर्वर्णितत्वात्। भवतु वा, तथापि बाधानिरुक्तेरेवेद दुष्टमित्यभिप्रेत्याह—**बाधेति**। पूर्वमेव बाध्यत्व विलल्प्य दूषित तथाप्यत्र भङ्ग्यन्तरेण दूषण क्रियत इति। **पूर्वोत्तरेति**। यदि हि विरोधिज्ञानमात्र बाध, तदा पूर्वज्ञानानामुत्तरज्ञानविनाश्यतया बाध्यत्वात्सर्व-ज्ञानेषु लक्षणमतिपतेदित्यर्थ। उत्तरो ग्रन्थ स्पष्टार्थ। विषयापहारो बाध इति पक्षमपि विकल्प्य दूषयति—**तथा हीत्यादिना**। **तथाप्रमितिरिति**। पूर्वज्ञानो-पदर्शितार्थस्यासत्त्वप्रमितिरिति वार्थ। **नायं देवदत्त इति**। यदा हि देवदत्त इति

अपने अत्यन्ताऽभाव के साथ रहने वाले, सयोग, विभाग, शब्द, आत्मविशेष गुण-विषयक प्रमारूप ज्ञानविपर्यय हो जायगे, क्योकि स्वात्यन्ताभाव के अधिकरण स्व का निश्चय रूप सब होते है। इसीसे बाध्यज्ञानविपर्यय होता है, दुष्टकरण-जन्य ज्ञानविपर्यय होता है, ये लक्षण भी निरस्त हो गये, क्योकि सशय मे इनकी अतिव्याप्ति दर्शाई गई है, सशय भी बाध्य और दुष्टकरणजन्य होता है। और लक्षणगत बाध की निरुक्ति भी नही हो सकती है। क्योकि क्या, विरोधी प्रमा-ज्ञान को बाध कहते है या विपर्यय विरोधी प्रमाज्ञान को कहते है, या विषयापहार बाध है। आद्य पक्ष मे पूर्वोत्तर प्रमाज्ञानो के बाध्य के घातक स्वरूप मे अतिव्याप्ति होगी, वहाँ भी पूर्वज्ञान के विरोधी उत्तर का प्रमाज्ञान होता है। दूसरे पक्ष मे ज्ञानो मे परस्पराश्रयता होगी, क्योकि विपर्ययज्ञान के ज्ञान होने पर उसके बाधक का ज्ञान होगा, और बाधक ज्ञान के ज्ञान होने पर उसके बाध्य विपर्यय का ज्ञान विषयापहार रूप तृतीय पक्ष भी सिद्ध नही हो सकता है। क्योकि विषयापहार पूर्व ज्ञान से उपदर्शित अर्थ के असत्त्व के बोधन मात्र का नाम है, या उक्त अर्थ के असत्त्व की प्रमिति (प्रमा) का नाम है, अथवा जिस देश काल मे वृत्तिरूप से जो प्रतीत हुआ है, उसका उसी देशकाल मे असत्त्व बोधन अपहार है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही है, क्योकि जहाँ प्रथम किसी को प्रमाज्ञान होता है, कि देवदत्त है और जीवित है और पीछे

प्रत्ययाना बाधितत्वेनाप्रमात्वप्रसङ्गात् । न द्वितीय, देशान्तरकालान्तरयोस्तदसत्त्वप्रमित्या घटादिज्ञानानामप्रमात्वप्रसङ्गात् । नापि तृतीय, देशकालविषयबाधेष्वव्याप्ते, देशकालयोर्देशकालान्तराभावात् । यत्तदादिशब्दाना च सर्वविषयत्वे कतिपयविषयत्वे चाव्याप्तिरेव । एतेन फलापहारोऽपि व्याख्यात । अनुत्पन्नफलस्यापि ज्ञानस्य बाध्यत्वाङ्गीका-

---

वा जीवतीति वा प्रतीतिरेकस्योदेति, अपरस्तु भ्रान्त प्राह, नाय देवदत्त, नच जीवतीति, तत्रोत्तरस्य बाधकत्व पूर्वस्य बाध्यत्वाद्विपर्ययत्व च स्यादितीष्टसिद्धिकारोक्तातिव्याप्तिरित्यर्थ । द्वितीयेऽप्यतिव्याप्तिमाह—**देशान्तरेति** । अनित्यानामविभूना कालान्तरदेशान्तरयोरसत्त्वप्रमितिरस्तीति तज्ज्ञानेष्वतिव्याप्तिरित्यर्थ । यदा हि देशकालविषयो भ्रमो जायते, न तत्र तद्बाधस्योक्तरूपत्वमित्यव्याप्त्या तृतीयपक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति** । किंच यद्देशकालेत्यत्र यत्प्रतीतमित्यत्र च तस्य तद्देशकालेत्यत्र च यत्तच्छब्दाना सर्वदेशकालसर्ववस्तुपरत्वे सर्वत्राधाव्याप्ति, एकैकेन सर्वाबाधात्, निष्कृष्टविशेषविवक्षाया च तदितरबाधाव्याप्तिरित्याह—**यत्तदादीति** । लक्षणान्तरेऽप्युक्त दूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । तत्राप्यभिवदन प्रवृत्तिरूपादानमर्थक्रियेति चतुर्विधफलानामेकैकापहरे सर्वापहारे वाऽव्याप्तिरित्यर्थ । अव्याप्त्यन्तर चाह—**अनुत्पन्नेति** । प्रवृत्तेषु विपर्ययज्ञानेषु फलम्, प्राक् तस्याभावात्, तच्चानुत्पादितप्रवृत्तिकमपि क्वचिद्बाध्य दृश्यते विरक्ता-

---

उसीको वा अन्य को भ्रमज्ञान किसी कारणवश हो जाता है कि यह देवदत्त नही जीवित है । वहा भ्रमज्ञान से प्रमाज्ञान के विषय का अपहार होने से उसमे अप्रमा लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि अनित्य अविभुपदार्थ घटादि के ज्ञान के विषय घटादि की देशान्तर कालान्तर मे असत्त्व प्रमिति से उन घटादि के ज्ञानो मे अप्रमात्व प्राप्त होगा, क्योकि प्रमिति से उनके विषय का अपहार हुआ है (असत्त्व बोधन हुआ है) तद्देशकाल मे ज्ञात का तद्देशकाल मे असत्त्वबोधन रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि देशकाल वाली वस्तु के भ्रम का तो वह विषयापहार कहा जा सकता है, परन्तु देशकाल का ही जहा विपर्यय होगा वहाँ देशकाल रूप भ्रमविषय के बाधो मे इस बाध लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योकि देश काल के देश कालान्तर का अभाव रहता है और लक्षणगत यत् तत् शब्दो के सर्व देश कालादि विषयत्व होने पर, या कतिपय विषयत्व होने पर अव्याप्ति ही है, क्योकि एक एक बाधक से सर्वदेशकाल वृत्ति सब बाध्य का बाध (अपहार) नही होता है, और कतिपय के ग्रहण करने पर अगृहीत मे लक्षण की अव्याप्ति होगी । इसीसे (विषयापहार से) फलापहार भी व्याख्यात (निरस्त) हो गया । क्योकि फल मे भी अभिवदन प्रवृत्ति आदि

राच्च। विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इत्यपलक्षणम्, इद रजतमित्यादौ धर्म्यंशे प्रत्यये जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तस्मान्न विपर्ययस्य लक्षण पश्याम ।

तथा स्मृतेरपि । तथाहि–कि प्रमाकरणाजन्यत्वे सति सस्कारजन्य ज्ञान स्मृति ? उत दोषाजन्यत्वविशेषितम् ? अथवा स्वसमानविषय-सस्कारजन्य ज्ञानम् ? कि वा प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमद् ? आहोस्वित्स्मृतित्वजातियोगि ?

आद्ये कल्पेऽधिकव्याप्तेर्द्वयोश्चासभवित्वत ।
तुर्येऽतिव्याप्तितश्चान्त्येऽभावाद्व्यञ्जकमानयो ॥ २१ ॥

दीनाम्, तत्राव्याप्तिरित्यर्थं । अस्तु तर्हि विपर्ययत्वजातियोगी विपर्यय इति, तत्राह—**विपर्ययेति** । सशयत्वसमानयोगक्षेममिति भाव ।

सशयविपर्ययव्यतिरिक्तस्मृतित्वानधिकरणज्ञानत्व प्रमात्वव्यञ्जकमिति पञ्चम-पक्षे सशयविपर्ययानिरूपणाल्लक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानी स्मृत्यनिरूपणादपि तत्त्वान-धिकरणत्वमप्रसिद्धमित्यभिप्रेत्याह—**तथा स्मृतेरपीति** । सस्कारजन्य ज्ञान स्मृति-रित्युक्ते प्रत्यभिज्ञादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमाकरणाजन्यत्वे सतीत्युक्तम् । **अननुभूत-विषयभ्रमनिवृत्त्यै** द्वितीय विशेषणम् । द्वितीये विपर्ययेतिव्याप्तिपरिहाराय दोषाजन्य-त्वे सतीत्युक्तम् । ज्ञानपदेन घटादे सस्कारजन्यपदेनानुवादस्य प्रत्यभिज्ञाया आद्येन पदेन निरास । तृतीयेऽपि सस्कारजन्यत्वमिति भाव । चतुर्थेऽपि पदजन्यज्ञानवृत्ति-जातिमत्त्व शाब्दप्रमित्यादीनामस्तीति तद्व्यवच्छेदाय प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम् । श्लोकेन दूषणानि सगृह्णाति—**आद्य इति** । अधिकव्याप्ते, अतिव्याप्ते द्वयोर्द्वितीयतृती-

---

रूप सर्वफलापहार वा एक-एक फल के अपहार मे अव्याप्ति होती है। और अनुत्पन्न फल वाला ज्ञान के बाध्यत्व को भी माना जाता है, अत जहाँ फलापहार रूप बाध का अभाव रहता है, वहाँ लक्षण की अव्याप्ति होगी। विपर्ययत्वजाति-योगी (विपर्ययत्व जाति वाला) विपर्यय होता हे, यह भी अपलक्षण (दुष्ट लक्षण) है, क्योकि इद रजतम इत्यादि भ्रम के धर्मी अश के ज्ञान मे सशय के समान सकर प्राप्त होता हे। अत विपर्यय का निर्दुष्ट लक्षण नही दीखता है।

इसीप्रकार से स्मृति का भी लक्षण नही दीखता हे। क्योकि प्रमाकरणाऽ-जन्यत्वयुक्त सस्कारजन्य ज्ञान स्मृति कहा जाता है या दोषाऽजन्यत्वयुक्त प्रमा-करणाऽजन्य सस्कारजन्य ज्ञान स्मृति कहा जाता हे, अथवा स्वसमान विषयक सस्कारजन्य को कहा जाता है, या प्रमा मे अवृत्ति, पदजन्य ज्ञान मे वृत्ति जो जाति तादृश जातिमन् ज्ञान स्मृति है, या स्मृतित्व जाति योगि ज्ञान हे।

प्रथम पक्ष मे अधिक व्याप्ति = अतिव्याप्ति है, द्वितीय तृतीय मे असम्भव है, चतुर्थ मे अतिव्याप्ति है, पञ्चम मे व्यञ्जक और प्रमाण का अभाव है ॥ २१ ॥

नाद्य, भ्रमस्यापि स्मृतित्वप्रसङ्गात् । तस्यापि प्रमाणाजन्यत्वे सति सस्कारजन्यत्वात् । नापि द्वितीय, असभवित्वापातात्, सस्कारस्यापि स्वसामग्र्यनुमापकतया प्रमाकरणत्वात् । नापि तृतीय, असभवित्वादेव, सा मे माता स मे पितेत्यादिस्मृतीना पूर्वानुभवसस्काराधिकविषयत्वात् । नहि पूर्वानुभवे स इत्याकार, अयमितिवर्तमानताया एवानुभवात् । न च स इत्याकार कारणान्तरोपनीत पदात्पदार्थस्मृतौ हरिहरादिस्मृतौ चाभावा-

---

ययो । आद्यपक्षेऽधिकव्याप्ति निगदव्याख्यातग्रन्थेन दर्शयति—**भ्रमस्यापीति** । द्वितीयेऽसभव दर्शयति—**संस्कारस्यापीति** । इद च प्रथमपक्षेऽपि समानम् । समानेऽयस्मिन्पक्षान्तरोपस्थापक तदिति दूषणान्तर तत्रोक्तम् । तृतीयेऽसभव दर्शयति—**सा मे मातेति** । अथ कथ स्मृते पूर्वानुभवसस्कारादधिकविषयता ? तत्राह—**नहीति** । ननु स इत्यत्र तद्देशकालवैशिष्ठ्य प्रतीयते, स च देशादि पूर्वानुभवसमयेऽप्यनुभूत इति कथ तमशमादायाधिकविषयताऽत आह—**अयमितीति** । न तद्देशादिवैशिष्टचमात्र तत्ताश्रय स इति अयमिति चोभयोरविशेषप्रसङ्गात, कित्वसन्निहितदेशकालवच्छेद, पूर्वानुभवसभेदो वा । नच तत्पुरस्तादनुभूतम्, वर्तमानतयैवानुभवात, स्वविशिष्टाग्राहकत्वाच्च पूर्वानुभवस्येति भाव ।, ननु स इत्यकार स्मृतेर्विषय एव न भवति, पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्, तस्मात्कारणान्तरप्रयुक्त एवायमतो न स्मृतेरधिकविषयतेति, तत्राह—**न चेति** । कुतो न वाच्यमिति ? तत्राह—

अर्थात् प्रथम लक्षणयुक्त नही है, क्योकि उस लक्षण के अनुसार भ्रम को भी स्मृतित्व प्राप्त होता है, भ्रम भी प्रमाकरण से अजन्य होता हुआ सस्कारजन्य होता है, अत उसमे प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति है । द्वितीय, दोषाऽजन्य होता हुआ प्रमाकरणाजन्य सस्कारजन्यत्व लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि यह लक्षण असम्भावितायुक्त है । सस्कार भी अपनी सामग्री का अनुमापक होता है, अत उस सामग्री की अनुमिति रूप प्रमा का सस्कारकरण होता हे और उस प्रमाकरण सस्कार से स्मृतिजन्य होती है । असम्भावित्व से ही तृतीय लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि (वह मेरी माता, वह मेरा पिता) इत्यादि स्मृतियो को पूर्वानुभवजन्य सस्कार से अधिक विषय रहता है, पूर्व के अनुभव मे, स, वह ऐसा आकार नही रहता है, किन्तु, अयम, यह, इसप्रकार से वर्तमानता का ही उस समय अनुभव होता है । अत ऐसी स्मृति स्वविषय मे समान विषय वाले सस्कार से जन्य नही होती है । यदि कहा जाय कि, स, वह ऐसा ज्ञान का आकार कारणान्तर (प्रमाणान्तर) से स्मृति मे प्राप्त होता हे, वह वस्तुत स्मृति का विषय नही रहता हे, क्योकि पद से पदार्थ (वाच्य) के स्मरण मे और हरिहरादि के स्मरण मे, स, वह ऐसा आकार का अभाव रहता है, स्मृति का वह विषय हो, तो सब स्मरण मे वह आकार रहता

दिति वाच्यम्, तत्कारणानिरूपणात्। सोऽय देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यये तदित्यशस्य सस्कारानुपनीतत्वे सत्ययमित्याकारस्य च सयोगमात्राधीनतया विशिष्टप्रत्यभिज्ञास्वरूपासिद्धिप्रसङ्गात्। अनुमिततत्ताया स इत्यभिलाप इति चेत्, न, सस्कारस्य प्रत्यभिज्ञा प्रत्यकारणत्वप्रसङ्गात्। स इत्यशेऽनुमानस्यैव सहकारित्वात् त घट स्मरामीत्यनुव्यवसायानुपपत्तेश्च।

तत्कारणेति। न च पदात्पदार्थस्मृतावदर्शनात्कारणान्तरप्रयुक्तिकल्पना, पदजनितबुद्धे। अनुवादो ह्यय या पदात्पदार्थबुद्धि। युक्त चैतत्, इतरथा शक्तिवशादभिधायकत्वप्रसिद्धिर्न स्यात्। नह्युपाध्यायस्मारकस्य शिष्यस्य तदभिधायकत्वप्रसिद्धिरस्ति। सत्यपि स्मारकत्वे शक्तिवैचित्र्यादभिधायकत्वप्रसिद्धिरिति चेत, तर्थैव तर्हि शक्त्याभिधानमात्रमेवास्तु, कृत स्मारकत्वेन। अत एव चैतदन्यथानुपपत्त्या वाक्यार्थाभिधायकत्व शालिकनाथोक्त प्रत्युक्तम्। अनेकत्वाच्चाभिधात्रादीना सबन्धिना न नियमेनार्थस्मृति स्मारकत्वपक्षे स्यात्। नच नियमेन सबन्ध्यन्तरदर्शने सबन्ध्यन्तरस्मृतिर्भवति, भवति च नियमेन गृहीतसगतिकस्य शब्दस्य स्मरणेऽर्थबुद्धि। तदुक्त 'नियमाच्छब्दतो बुद्धिर्न तथान्वयिदर्शनात्' इति। तस्मादनुवादत्वात् पदजन्यबुद्धेर्न तत्रादर्शनात्तत्ताया करणान्तरप्रयुक्तिकल्पना। न केवल कारणान्तरानधीनता, सस्कारानधीनत्वे बाधक चास्तीत्याह—**सोऽयमिति।** तत्र तदित्यशस्य सस्कारानधीनत्वे सप्रयोगस्य च तत्रासत्त्वात्तद्गर्भप्रत्यभिज्ञाशरीर न स्यादित्यर्थ। ननु नखनेत्रपादच्छायादिना लिङ्गेनानुमानात्तत्तोपस्थापिता, सा च स इति परामृश्यत इति शङ्कते—**अनुमितेति।** तर्हि तत्ताया अनुमानसिद्धत्वादिदताया‌श्च सप्रयोगसिद्धत्वात्सस्कारस्य चाकारणतया राद्धान्तविरोध, इति परिहरति—**न संस्कारस्येति।** आनुमानिकत्वे तत्ताया दूषणान्तरमाह—**तं घटमिति।** तत्र कि प्रथमतस्तत्तानुमानमथ घटस्मरण ततस्त स्मरामीत्यनुव्यवसाय ? कि वा प्रथमतस्तत्स्मरण ततस्तत्तानुमान ततोऽनुव्यवसाय इति ? न प्रथम, निर्धर्मिकतत्ताग्रहणाशक्तेस्तत्ता-

---

चाहिये, तो यह कहना अयुक्त है, क्योकि, स, वह इस आकार की प्रतीति के लिये प्रमाणान्तर का निरूपण नही हो सकता है। और (सोऽय देवदत्त) वही देवदत्त यह है, इस प्रत्यभिज्ञान मे तत = तत्ता, इस अश को सस्कार से अनुपनीतत्व (अजन्यत्व) होने पर तत्ता के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध नही होने से किन्तु अयम्, यह, इतना ही आकार के इन्द्रियसम्बन्धाधीन होने मे तत्तायुक्त प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप की असिद्धि प्राप्त होगी। यदि कहे कि अनुमित तत्ताविपयक स, ऐसा अभिलाप (व्यवहार) होता है, तो ऐसा होने पर सस्कार को प्रत्यभिज्ञा के प्रति अकारणता प्राप्त होगी। और स, इस अश मे अनुमान के ही सहकारी हेतु होने से त घट (उस घट का) स्मरण करता हू, इस स्मृति के अनुसार व्यवसाय की

न हि तत्रानुमानव्यवधानमस्ति, तथा सति स्मरणस्यातीतत्वेनानुव्यवसाय-विषयत्वानुपपत्ते । संस्कारस्यासंविद्रूपत्वात्, निर्विषयत्वाच्च समानविषत्वासिद्धि । न ह्यसंविद्रूपस्य सविषयत्वम् । इच्छादिषु तज्जनकज्ञानविषयेण सविषयत्वोपचारात् ।

तर्हि संस्कारजनकानुभवसमानविषयत्वे सति संस्कारजन्यत्व लक्षणार्थ

विशिष्टघटविषयानुमान घटमात्रविषय च स्मरणमिति तत्ताविशेषितघटविषय-स्मृतिग्राहकानुव्यवसायानुपपत्तिरिति । द्वितीय निषेधति—**न हि तत्रेति ।** अथ किमिति तत्रानुमानव्यवधान न स्यात्तत्राह—**तथा सतीति ।** तत्र हि घटस्मृतिरेवा-नुव्यवस्यते, सा चेत्स्वोदयेप्यानुमानिकतत्तावती सत्यनुव्यवस्येत, तथासति चिरातीततया विनश्यदवस्थात्वस्याप्यभावात्, वर्तमानस्मरणग्राहकानुव्यवसायविषयत्व न स्यात् । अस्मार्षमित्येवानुव्यवसायप्रसङ्गाच्चेत्यर्थ । संस्कारस्य विषयभावादपि समानविषयत्वमसिद्धमिति प्रौढचा प्राह—**संस्कारस्येति । असंविद्रूपत्वादिति ।** ज्ञानत्वाभावादित्यर्थ । ननु तर्हि तत्कथमिच्छादिषु सविषयत्वम् ? समान हि तेषा-मप्यसंविद्रूपत्वमिति, तत्राह—**इच्छादिष्विति ।** तदेव स्वसमानविषयसंस्कारज ज्ञानमिति लक्षण दूषितमेव ।

एतत्परिहाराय भङ्गचन्तर शङ्कते—**तर्हीति ।** न स्वसमानविषयसंस्कारजन्य-त्वमत्राभिप्रेयते, येनासिद्धिराभिधीयते, किं तर्हि ? संस्कारजनको योऽनुभवस्तेन समानविषयत्वे सति संस्कारजत्वमित्यर्थ । प्रत्यभिज्ञाव्यावर्तनायाद्य विशेषणम् ।

अनुपपत्ति होती है, क्योकि प्रथम स्मृति हो, फिर तत्ता का अनुमान हो, उसके बाद अनुव्यवसाय हो, तो वहाँ स्मृति अनुव्यवसाय के मध्य मे अनुमान का व्यवधान होना चाहिये, परन्तु वहाँ अनुमान रूप व्यवधान नही रहता हे, तथा सति, यदि अनुमान का व्यवधान हो तो स्मरण के अतीत (नष्ट) हो जाने से उसमे अनुव्यवसाय के विषयत्व की अनुपपत्ति होगी । वर्तमान स्मरण का ग्राहक अनुव्यवसाय नही हो सकेगा । ओर संस्कार के असम्विद् रूप होने से (ज्ञानरूप नही होने से) निर्विषयत्व होने के कारण ज्ञान के साथ समान विषयत्व की सिद्धि नही हो सकती हे । असम्विद् स्वरूप किसी को सविषयत्व नही होता हैं, प्रकाशक विषयी कहा जाता है, प्राकाश्य विषय कहाता है, ज्ञान से अन्य प्रकाशक नही होता हे, अत सविषय भी नही होता हे, इच्छा आदि मे इच्छा आदि के जनक ज्ञान के विषय से सविषयत्व का गौण व्यवहार होता हे । अत संस्कार के साथ स्वसमानविषयत्व युक्त लक्षण स्मृति का नही हो सकता है ।

यदि कहा जाय कि, संस्कारजनक अनुभव के साथ समान विषयत्वयुक्त

इति चेत्, न, तत्ताशे समानविषयताया खण्डितत्वात्। गरुडादिसाक्षात्कारे चातिव्याप्ते, तस्य दीर्घकालनैरन्तर्योपचितसस्कारविषयषिषयत्वात्। नापि चतुर्थ, अनाप्तवाक्योत्थविभ्रमप्रत्ययेऽनेकार्थाक्षादिपदजन्यसशये चातिव्याप्ते। नापि पञ्चम, तज्जातौ व्यञ्जकप्रमाणानिरूपणात्। तदेव सशयविपर्ययस्मृतीनामनिरूक्तौ तदतिरिक्तत्वविशेषण दुर्निरूपम्।

समानविषयत्व चान्यूनानतिरिक्तविषयत्वम्। सस्कारजनकानुभवसमानविषयधारावाहिकज्ञानव्यावृत्त्यै सस्कारजन्यपदम्। इदमपि पूर्वोक्तदूषणेन दूषितमित्याह—**न तत्तांश इति**। अतिव्याप्ति चाह—**गरुडादीति**। गरुडादिध्यानाद्य साक्षात्कारो जायते, स पूर्वपूर्वभावजनित, सस्कारजनकपूर्वानुभवस्य साक्षात्कारस्य चास्ति समानविषयत्वम। अथ च न स्मृति, साक्षात्कारिज्ञानस्य स्मृतित्वव्याघातादित्यर्थ। सस्कारशब्देनात्र तज्जनकानुभवो लक्ष्यते। सस्कारस्य सविषयत्वमङ्गीकृत्य वा। प्रमित्यवृत्तीत्यादि चतुर्थ लक्षण दूषयति—**नापि चतुर्थ इति**। पदजन्येत्यत्र एकत्वमविवक्षितम? विवक्षित वा? उभयथापि क्रमेण व्यभिचारमाह—**अनाप्तेत्यादिना**। अनाप्तवाक्यजनित यद्विज्ञान विपर्ययरूप तत्र विपर्ययत्वादिर्जाति प्रमित्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिर्भवति, तस्यैव ज्ञानस्याप्रमितित्वात्, पदजन्यत्वाच्च। अतस्तद्योगिनि विपर्यये चातिव्याप्ति। तथाक्षगवादिशब्दैरनेकार्थवाचकै श्रवणमात्राद्य सशयो जायते, कि विभीतकम्? किंवा देवनम्? इति, तत्राप्यतिव्याप्तिरित्यर्थ। स्मृतित्वजातियोगित्वमिति पञ्चम पक्ष दूषयति—**नापीति**। प्रासङ्गिकस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तदेवमिति**।

सस्कारजन्यत्व लक्षण का अर्थ है, तो यह कहना भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि तत्ताश मे समान विषयता का खण्डन हो चुका है। और गरुडादि के साक्षात्कार मे अतिव्याप्ति होती है, क्योकि वह साक्षात्कार भी दीर्घकाल तक निरन्तर रूप से उपचित (दृढ प्रवृद्ध) सस्कार = अनुभवविषय-विषयक होता है। अर्थात् गरुडादि के ध्यान से जो साक्षात्कार होता है, वह पूर्व-पूर्व भावना से जन्य होता है, वहाँ सस्कारजनक पूर्व ज्ञान को और साक्षात्कार को समान विषयत्व रहता है, परन्तु साक्षात्कार मे स्मृतित्व नही रहता है, अत अतिव्याप्ति है। चतुर्थ = प्रमृत्यवृत्तिपदजन्यज्ञानवृत्तिजातिमत् ज्ञान, यह लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि अनाप्त वाक्यजन्य विभ्रम ज्ञान मे और अनेकार्थक अक्षादिपदजन्य सशय मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। पञ्चम—स्मृतित्वजातियोगिज्ञान, यह लक्षण भी युक्त नही है। क्योकि स्मृतित्वजाति-विषयक व्यञ्जक और प्रमाण का निरूपण नही हो सकता है। अत इस उक्त रीति से सशय, विपर्यय स्मृति की अनिरुक्ति होने पर, तदतिरिक्त रूप विशेषण प्रमात्वव्यञ्जक लक्षण मे दुर्निरूप है।

नापि षष्ठ, तथाहि—एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सत्येतद्धूमजन्यवह्निज्ञानवृत्तिसशयावृत्तिजातिमत्त्वमित्यपि न, विकल्पासहत्वात्। तथा हि—कि घटज्ञानवह्निज्ञानशब्दाभ्या ज्ञानमात्र विवक्ष्यते ? कि वा प्रमात्वेन व्यवह्रियमाणम् ? अहोस्विदबाधितप्रमाव्यवहारास्पदम् ? नाद्य, विभ्रमज्ञानानामप्येव भावात्। नापि द्वितीय, उक्तदोषानुषङ्गात्, विभ्रमज्ञानेष्वपि तात्कालिकप्रमात्वव्यवहारदर्शनात्। नापि तृतीय, अबाधितत्वस्य दुर्निरूपताया प्रागेवाभिहितत्वात्। तदेव प्रमात्वस्य न निरुक्ति।

नापि परोक्षताया, तस्या जातित्वे जातिसङ्करप्रसङ्गात्। तथाहि—

एतद्घटज्ञानवृत्तित्वे सतीत्यादिषष्ठ प्रमात्वव्यञ्जकमाशङ्कित दूषयति—**नापि षष्ठ इति**। तमेव पक्ष दूषयितुमनिव्यवहित इत्यनुवदति—**तथाहीति**। एतद्घटज्ञानैतद्धूमजन्यवह्निज्ञानशब्दार्थ विकल्पयति—**कि घटज्ञानेत्यादिना**। **विभ्रमेति**। येन हि विपर्ययत्व नाम जातिरङ्गीक्रियते, तस्य विपर्ययेऽप्येतल्लक्षण गच्छति। ज्ञानत्वाधिकरणवृत्तिसशयावृत्तिजातिमदिति हि तदा लक्षणार्थ। स च विपर्ययेऽप्यस्तीति भाव। प्रमात्वेन व्यवह्रियमाण ज्ञानमिति द्वितीयपक्षेऽपीदमेव दूषणमतिदिशति—**उक्तदोषेति**। ननु विभ्रमेषु कथ प्रमात्वव्यवहार ? इति तत्राह—**विभ्रमज्ञानेष्वपीति**।

पारोक्ष्यानधिकरणप्रमाकरण प्रत्यक्षमिति लक्षणे प्रमात्वदुर्निरूपतोपपादिता, पारोक्ष्यदुर्निरूपता प्रतिज्ञातामुपपादयति—**नापि परोक्षताया इति**। जातिसकरमेव

प्रमात्वव्यञ्जक जो षष्ठ कहा था कि (एतद्घटज्ञानवृत्तित्वयुक्त एतद्धूमजन्य वह्निज्ञानवृत्ति (प्रत्यक्षानुमानवृत्ति सशयावृत्ति जातिमत्त्व) व्यञ्जक है। वह कथन भी युक्त नही है। यह विकल्पाऽसह है। क्योकि घटज्ञान वह्निज्ञान शब्दो से ज्ञानमात्र विवक्षित होना है, अथवा प्रमात्व रूप से व्यवह्रियमाण, या अबाधित व्यवहारास्पद विवक्षित होता है। प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि प्रत्यक्षत्व अनुमानत्व रूप से व्यवहृत मे वृत्ति और सशयावृत्ति जाति ज्ञानत्व रूप से विभ्रम ज्ञानो को प्रमाव्यञ्जकत्व प्राप्त होता है। प्रमाणत्वेन व्यवह्रियमाण रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नही, इस पक्ष मे भी उक्त दोष प्राप्त होता है। क्योकि विभ्रम ज्ञानो मे भी तात्कालिक प्रमाव्यवहार देखा जाता है। तृतीय= अबाधित प्रमाव्यवहारास्पद भी नही कहा जा सकता है, क्योकि अबाधितत्व की दुर्निरूपता का प्रथम ही प्रतिपादन किया गया है। अत इस उक्त रीति से प्रमात्व की निरुक्ति नही हो सकती है।

पारोक्ष्यानधिकरण प्रमाकरण प्रत्यक्षम्। यह प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया था, उसमे प्रमात्व की दुर्निरूपता सिद्ध हुई, अब कहा जाता है कि, परोक्षता की निरुक्ति

किं प्रमात्व परम्, पारोक्ष्यमपरम् ? विपरीत वा ? नाद्य, पारोक्ष्यभ्रमा-भावप्रसङ्गात् । यत्र परोक्षत्वजातिर्व्याप्या, तत्र व्यापक प्रमात्वमस्त्येति नियमात् । नापि द्वितीय , तथा सति प्रमात्व परोक्षता न व्यभिचरेदिति प्रत्यक्षप्रमाऽभावप्रसङ्गात् । न च विभ्रमेषूपाधिनिबन्धन एव परोक्षत्वव्यव-हार , तथा सति सर्वत्र तन्निबन्धनतयैव तदव्यवहारोपपत्तौ जातिकल्पना-वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तदेवमन्योन्यपरिहारेण वर्तमानयोर्मनोगगनवर्तिनो-र्मूर्तत्वभूतत्वयो पृथिव्यादावेकत्र समावेशे जातिसङ्कर स्यात् ।

दर्शयति—**किं प्रमात्वमित्यादिना** । परोक्षभ्रमाभावप्रसङ्गमेवोपपादयति — **यत्रेति** । व्याप्यपरोक्षत्वजातिमत्त्वे सर्वत्र व्यापकप्रमात्वनियमात्पारोक्ष्यरूपभ्रमो न स्यादित्यर्थ । द्वितीये प्रत्यक्षरूपप्रमा न स्यात्, यत्र यत्र व्याप्यप्रमात्वम्, तत्र तत्र व्यापकपारोक्ष्यवृत्तित्वनियमादित्याह—**नापि द्वितीय इत्यादिना** । ननु प्रमात्व परमेव, तद्रहितेषु विभ्रमेषु पारोक्ष्यव्यवहारस्त्वौपाधिक इति, तत्राह—**न च विभ्रमेष्विति** । प्रतिपादितजातिसङ्कर सनिदर्शनमुपसहरति—**तदेवमिति** । यथाहि—भूतव्यतिरिक्ते मनसि वर्तमानमूर्तत्वस्यामूर्तेऽपि गगने वर्तमानस्य भूतत्वस्य चैकत्र पृथिव्यादा वृत्त्या जातिसङ्करप्रसङ्गात् न जातित्वम्, एवमनयोरपि परस्पर-परिहारेण वर्तमानयोरेकत्रानुमित्यादौ वर्तमानतया जातिसङ्करप्रसङ्ग इति योजना ।

का सम्भव नही है । क्योकि परोक्षता के जातित्व होने पर, जातिसकर की प्राप्ति होती है । वह दर्शाया जाता है कि, क्या प्रमात्व को पर = व्यापक, और परोक्षत्व को अपर (व्याप्य), माना जाय । या विपरीत, परोक्षत्व को पर, प्रमात्व को अपर, माना जाय, यह विचार होता है । वहाँ प्रथम पक्ष मे परोक्ष भ्रम का अभाव प्राप्त होता हे, क्योकि व्याप्य जहाँ रहता है, वहाँ व्यापक अवश्य रहता है ऐसा नियम होने से व्याप्य परोक्षता जहाँ रहेगी वहाँ व्यापक प्रमात्व अवश्य रहेगा, अत परोक्ष भ्रम का अभाव होगा । दूसरा पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि दूसरे पक्ष मे परोक्षता व्यापक होगी प्रमात्व व्याप्य होगा, अत व्याप्य प्रमात्व परोक्षता को नही त्यागेगा, परोक्षता के बिना प्रमात्व नही रह सकेगा । अत प्रत्यक्ष प्रमा का अभाव प्राप्त होगा । यदि कहे कि प्रमात्व ही पर है, और उसका व्याप्य ही परोक्षत्व हे जाति हे, किन्तु विभ्रम रूप परोक्ष मे उपाधिनिमित्तक ही परोक्षता का व्यवहार होता है । अत उसमे परोक्षता के व्यवहार का लोप रूप दोष भी नही है, न परोक्ष विभ्रम का अभाव प्राप्त होता है, तो कहा जाता है कि ऐसा कहना, मानना, युक्त नही, क्योकि इसप्रकार से सर्वत्र ही उस उपाधिनिमित्तक ही पारो-क्ष्यादि व्यवहार की सिद्धि होने पर जाति की कल्पना मे व्यर्थता की प्राप्ति होगी । इसीप्रकार से परस्पर के त्यागपूर्वक मन और आकाश मे वर्तमान मूर्तत्व भूतत्व

न च परोक्षताया जातेर्व्यञ्जकमस्ति, तत्किमिन्द्रियार्थसन्निकर्षाजन्यत्वे सति प्रमात्वम्? उत लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्वम्? नाद्य, ईश्वरज्ञानस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीय, स्मृतेः परोक्षत्वाभावप्रसङ्गात्। एतेन परोक्षत्वस्योपाधित्वमपि निरस्तम्, व्यञ्जकनिरासेन तयोरुपाधित्वस्यापि निरस्तत्वात्। ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्ययोग्यनुव्यवसायातिरिक्तपरमाणुप्रमित्यवृत्तिर्जाति साक्षात्व तदधिकरण प्रत्यक्षमित्यपि न, यत —

नियन्व्यञ्जकाभावदपि न पारोक्ष्य जातिरित्याह—**न चेति**। प्रत्यक्षप्रमिते परोक्षभ्रमस्य च निरासाय विशेषणद्वयम्। प्रत्यक्षप्रमितिव्यावृत्त्यै घटादिव्यावृत्त्यै वा विशेषणद्वयम। नित्यस्येश्वरज्ञानस्य नेन्द्रियादिसन्निकर्षजन्यत्वमस्ति, अस्ति च प्रमात्वमिति तस्यापि परोक्षत्वप्रसक्तिरिति प्रथम पक्ष दूषयति—**ईश्वरेति**। लिङ्गादिप्रमाकरणजन्यत्व पारोक्ष्यव्यञ्जकमिति पक्षे स्मृते पारोक्ष्य न स्याद्व्यञ्जकाभावादित्याह—**स्मृतेरिति**। एतेनेत्यस्य विवरण—**व्यञ्जकेति**। पारोक्ष्यस्यौपाधिकत्वेऽप्यनयोरेवोपाधित्वसभावनात्तच्च द्वय निरस्तमित्यर्थ। प्रत्यक्षफलस्य लक्षणान्तर शङ्कते—**ईश्वरेति**। अत्र च साक्षात्कारत्वजात्यधिकरण प्रत्यक्षमिति लक्षणम। साक्षात्कारत्वस्य लक्षणमीश्वरेत्यादि, जाति साक्षात्कारत्वमित्युक्ते सत्तादावतिव्याप्तिस्तदर्थं प्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। तथा च व्याघात, प्रत्यक्षप्रमितिवृत्तित्वात, तदर्थ परमाणुप्रमित्यवृत्तीत्युक्तम्। तथाप्यसिद्धि, परमाणुमह जानामी-

का पृथिवी जलादि मे एकत्र सन्निवेश (स्थिति) होने से जातिसकर होगा। और परोक्षता जाति का व्यञ्जक भी कोई नही है। यदि व्यञ्जक है, तो वह, क्या, इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अजन्यत्व युक्त प्रमात्व है या लिङ्गादिरूप प्रमाकरणजन्यत्व है। प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि उक्त रीति से ईश्वर के ज्ञान मे भी परोक्षत्व की प्राप्ति होती है। दूसरे पक्ष मे स्मृति को परोक्षत्वाभाव प्राप्त होगा, क्योकि लिङ्गादि प्रमाकरणजन्यत्वरूप व्यञ्जक नही है, उसमे सस्कारजन्यत्व है। इसीसे परोक्षत्व के उपाधित्व का भी निराकरण हो गया। और व्यञ्जक के निरास से ही (इन्द्रियार्थसन्निकर्षाजन्यप्रमात्व और लिङ्गादि प्रमाणकरणजन्यत्व) इन दोनो के उपाधित्व का भी निराकरण हो गया। इसीप्रकार प्रमात्व परोक्षत्व के उपाधित्व का निराकरण हो गया। ईश्वरज्ञानवृत्ति होता हुआ योगी के अनुव्यवसाय से अतिरिक्त जो प्रमाणुप्रमिति उसमे अवृत्ति जाति साक्षात्त्व होता है, उसका अधिकरण प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् परोक्षज्ञानत्वानधिकरण होना हुआ ईश्वरज्ञानवृत्तिजाति प्रत्यक्षत्व कही जाती है। सत्ता आदि के वारण के लिये विशेषण सब है। यह लक्षण भी युक्त नही हो सकता है। क्योकि—

प्रमितेर्दुर्निरूपत्वाद् व्यञ्जकस्यानिरूपणात्।
साक्षात्त्व जातिसाङ्कर्यान्न प्रत्यक्षस्य लक्षणम्॥ २२॥

प्रमितेरेवानिरूपणे परमाणुप्रमित्यवृत्तिविशेषणस्य दुर्ज्ञानत्वात्, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादेश्चाभिव्यञ्जकस्यापास्तत्वात्, साक्षात्त्वस्य च प्रमात्वेन परापरभावाभावाज्जातिसङ्करप्रसङ्गाच्च नेदमपि प्रत्यक्षलक्षणम्।

त्यनुव्यवसायप्रत्यक्षस्य परमाणुविषयतया साक्षात्कारित्वस्य परमाणुप्रमितिवृत्तित्वात्। तदर्थमुक्तमनुव्यवसायातिरिक्तेति। तथाप्यनुव्यवसायातिरिक्तयोगिप्रत्यक्षमादायासिद्धिरत उक्तमयोगीति। तथापि घटत्वादावतिव्याप्तिस्तदर्थं ज्ञानवृत्तीत्युक्तम्। तथापि विपर्ययत्वस्मृतित्वादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थमीश्वरज्ञानवृत्तीत्युक्तम्। न हि तेषामपरोक्षेश्वरज्ञानवृत्तित्वमित्यर्थः। ईश्वरज्ञानवृत्तित्वे सत्युक्तविधपरमाणुस्मरणरूपज्ञानावर्तिनि प्रमात्वे प्रसङ्गनिरासाय परमाणुप्रमितीत्युक्तम्। पारोक्ष्यानधिकरणत्वादिरूपोपाधिनिरासाय जातिपदम्। परोक्षज्ञानवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ईश्वरज्ञानवृत्तिजातिरिति फलितार्थः। दूषणानि सगृह्णाति—**प्रमिते-रित्यादिना।**

प्रमितेर्दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—**प्रमितेरिति।** व्यञ्जकस्यानिरूपणं विवृणोति—**इन्द्रियार्थेति।** अव्यभिचारित्वखण्डनात्, ईश्वरज्ञानाव्यापकत्वाच्चेत्यर्थः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वासिद्धेश्च। तथाहि—न तावत्प्रत्यक्षतस्तदधिगमः। इन्द्रियार्थसन्निकर्षयोरप्रत्यक्षत्वेन तज्जन्यत्वस्याप्यप्रत्यक्षत्वात्। नाप्यनुमानतः, ज्ञानत्वप्रमितित्वादीनां व्यभिचारित्वात्, साक्षात्कारित्वस्याद्याप्यसिद्धेरिति। तृतीयं हेतुं विवृणोति—**साक्षात्त्वस्य चेति।** तथा—

'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा।
मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा॥ १॥
सर्वविज्ञानहेतूत्थमितौ मातरि च प्रमा।
साक्षात्कारत्वसामान्यात्प्रत्यक्षत्वेन संमता॥ २॥'

(प्र० प० अमृत० ५, ७)

इति शालिकनाथलक्षणमपि परिणुन्नं मन्तव्यम्। एतेन "साक्षात्प्रतीतिसाधक-

---

प्रमिति के दुर्निरूप होने से, व्यञ्जक के अनिरूपण से जाति के सांकर्य से प्रत्यक्ष का साक्षात्त्व लक्षण नहीं हो सकता है॥ २२॥

अर्थात् प्रमिति के ही अनिरूपण रहते, परमाणुप्रमिति में अवृत्ति इस विशेषण में दुर्ज्ञानत्व है। और इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्वादि अभिव्यञ्जक का अपाकरण हो चुका है। और साक्षात्त्व को प्रमात्व के साथ परापरभाव के अभाव से जाति-संकर की प्राप्ति होती है, अतः यह प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं हो सकता है।

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमित्यपि न प्रत्यक्षलक्षणम्, प्रत्यक्षाभासेऽपि सत्त्वात् । वृत्तिकारमतेन तत्सतोर्व्यत्ययेऽपि लक्षणस्याव्याप्तिः, अतिव्याप्तिर्वा । तथा हि—यदाभासविज्ञानं तद्यदि

नमसमध्यक्षम, सम्यगपरोक्षानुभवसाधनं प्रत्यक्षम" इत्यादिश्रीवल्लभभूषणप्रभृतिभिरभिहितं लक्षणजातं प्रत्याचक्षीत । साक्षात्त्वानिरुक्तेरेव, प्रत्यक्षभ्रमस्य परोक्षप्रमाया वाऽभावप्रसङ्गादिति भावः ।

एवं तार्किकप्रत्यक्षलक्षणानि दूषयित्वा मीमांसकाभिमतं लक्षणं दूषयति—**सत्संप्रयोग इति** । 'सता वर्तमानेनार्थेनेन्द्रियाणां सम्प्रयोगे सति पुरुषस्य यद्बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्, इति लोकसिद्धप्रत्यक्षलक्षणानुवादपरजैमिनीयसूत्रस्यार्थः । अत्र च जन्मग्रहणं जन्मैव बुद्धेर्व्यापार इति प्रदर्शनार्थम् । उक्तं हि—

'व्यापारः करणानां तु दृष्टो जन्मातिरेकतः ।
ज्ञानेऽपि हि तथा मा भूदिति जन्माभ्युपेयते ॥'

इति (श्लो० वा० ४।५४)

अन्याप्तिमाह—**प्रत्यक्षाभासेऽपीति** । अस्ति हि तत्रापि वर्तमानेन सम्प्रयोगाद् बुद्धिजन्म । यथाहुः—'केनचित्सम्प्रयोगे हि भ्रान्त्यादि स्यान्नियोगतः ।' इति, ततोऽतिव्याप्तिरित्यर्थः । स्यादेतत्, यद्यपीदं भाष्यकारमते दूषणं सम्भवति, तथापि वृत्तिकारमते न सम्भवति । ते हि तत्सतोर्व्यत्ययं कृत्वा व्याचख्युः । तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षमिति । तदा चायं सूत्रार्थः—'तत्सम्प्रयोगात्तद्विषयविज्ञानं सत्प्रत्यक्षमन्यसम्प्रयोगादन्यविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षाभासः' इति । ततः कथमतिव्याप्तिः ? नहि शुक्तिकारजतज्ञानं रजतसम्प्रयोगादुत्पन्नमिति, तत्राह—**वृत्तिकारमतेनेति** । अव्याप्त्यतिव्याप्ती दर्शयितुं सूत्रार्थमाह—**तथाहीति** ।

(सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्मतत्प्रत्यक्षम्) यह श्री जैमिनि जी ने प्रत्यक्ष का लक्षण किया है । अर्थ है कि (सत् = वर्तमान अर्थ के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध होने पर जो पुरुष की बुद्धि का जन्म होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते है) यह लौकिक प्रत्यक्ष के अभिप्राय से लक्षण कहा गया है । और बुद्धि के जन्मविशेष को बुद्धि के व्यापार रूप दर्शाया गया है, या ज्ञान को भी बुद्धि कहा जाता है (बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थान्तरम्) इस सूत्रादि के अनुसार (ज्ञान का जन्म) यह अर्थ हो सकता है । परन्तु यह भी प्रत्यक्ष का लक्षण निर्दोष नही है, क्योंकि प्रत्यक्षाभास (प्रत्यक्ष भ्रम) मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, शुक्ति आदि अर्थ के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध से ही, 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम होता है । यदि कहा जाय कि यद्यपि भाष्यकार के मत से यह दोष होता है, तथापि वृत्तिकार के मत मे यह दोष नही रहता है, क्योंकि उन्होंने सूत्रगत तत् सत् इन दोनो शब्दो के व्यत्यय =

तत्सप्रयोगादेव भवति तत्समीचीन प्रत्यक्षमिति तदा सूत्रार्थ । तत्र किं प्रतिभासमानेनाकारेण कृत्स्नेन सप्रयोगाज्जायमानत्व विवक्षितम् ? उतैक-देशेनापि ? नाद्य, सोऽय देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाया तत्ताशे सप्रयोगाभावा-दव्याप्ते । न च तत्रापि तत्ताशे सयुक्तविशेषणतालक्षण सप्रयोगोऽस्तीति वाच्यम्, षष्ठप्रमाणवादिना तस्य प्रत्यक्षतानङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा निर्घट भूतलमित्यत्र तथाभूतसन्निकर्षभावादभावस्य प्रत्यक्षतोपपत्तौ षष्ठप्रमाणा-भ्युपगमवैयर्थ्यापातात् । न द्वितीय, विभ्रमेष्वपि भावादतिव्याप्ते, तत्रा-

---

विकल्प्य दूषणे दर्शयति—**तत्रेत्यादिना**। ननु किमित्यभावप्रमाणवादिभिस्तस्य प्रत्यक्षाशत्व नाङ्गीक्रियते, तत्राह—**अङ्गीकारे वेति**। इद चासाधारणम्, साधारण तु प्रत्यक्षधर्मितानुमानोच्छेदात्मक दूषणमनेकवारमुक्तमेव। एकदेशेनापि सप्रयोगे जन्मेति पक्ष दूषयति—**न द्वितीय इति**। विभ्रमेऽप्येकदेशसप्रयोगमाह—**तत्रा**

विपरीत, सम्बन्ध करके व्याख्यान किया है कि (तत्सप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धि-जन्म तत्प्रत्यक्षम्) अर्थात = जिस विषय का ज्ञान होता है, उसी विषय के साथ इन्द्रिय के सम्बन्ध से जब वह ज्ञान होता है, तब सत् प्रत्यक्ष होता है। अन्य के साथ सम्बन्ध से अन्यविषयक ज्ञान प्रत्यक्षाभास होता है। यह वृत्तिकार के मतानुसार सूत्रार्थ है, अत अतिव्याप्ति नही है। तो यहाँ कहा जाता है कि वृत्तिकार के मतानुसार तत् सत के व्यत्यय होने पर भी लक्षण की अव्याप्ति वा अतिव्याप्ति है ही। क्योकि यदाभास (जिस विषयक) विज्ञान होता है, वह विज्ञान यदि उसके साथ सम्बन्ध से ही होता है, तब समीचीन प्रत्यक्ष होता है। यह सूत्रार्थ है। परन्तु यहाँ विचारणीय है कि जहाँ प्रतिमान = प्रत्यक्ष के विषय, सम्पूर्ण आकार के साथ इन्द्रियसम्बन्ध से जायमान समीचीन = सत्य प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, या एकदेश के साथ सम्बन्ध से जायमान सत्यज्ञान होता है, वहाँ प्रथम पक्ष मान्य नही हो सकता है, क्योकि प्रत्यभिज्ञा मे अव्याप्ति होती है, (सोऽय देवदत्त), इस प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति मे तत्ता अश के साथ इन्द्रिय के सम्प्रयोग के अभाव से अव्याप्ति होती है। यदि कहा जाय कि वहा भी तत्ताश मे इन्द्रियसयुक्तविशेष-णतारूप सम्बन्ध रहता ही हे। अत अव्याप्ति नही है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि षष्ठ प्रमाण अनुपलब्धि को मानने वाले कोई वादी उस सयुक्तविशेषणता-सम्बन्धजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नही मानते है। और यदि उस ज्ञान को प्रत्यक्ष माने तो (निर्घट भूतलम्) घटाभाव वाला भूतल है। यहाँ भी तथाभूत = सयुक्तविशेषणता रूप इन्द्रिय को अभाव के साथ सम्बन्ध के भाव (सत्त्व) से अभाव के प्रत्यक्षता की प्राप्ति होने पर षष्ठ प्रमाण के स्वीकार मे व्यर्थता की प्राप्ति होगी। दूसरा पक्ष एकदेश से सप्रयोग मानने पर निर्दोषता नही होती है, क्योकि भ्रम मे एक-

प्यधिष्ठानसप्रयोगस्य भावात् । अथोच्येत--सप्रयोग इत्यत्र समितिविशेषणेन दुष्टेन्द्रियसप्रयोगजन्यत्वस्य व्यावर्तितत्वाद् दुष्टेन्द्रियसप्रयोगजन्येषु विभ्रमेषु नातिव्याप्ति ।

यथाहुर्भट्टपादा --'सम्यगर्थे च सशब्दो दुष्प्रयोगनिवारण ।
पयोग इन्द्रियाणा च व्यापारोऽर्थेषु कथ्यते ।।
दुष्टत्वाच्छुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात् ।' इति।
(श्लो० वा० ४।३८)

तदपि न, उक्तोत्तरत्वात्, प्रत्यभिज्ञाया तत्ताशेन तथाभूतसप्रयोगा-

---

पीति । ननसप्रयोग इत्यत्र समित्युपसर्गादतिव्याप्तिपरिहार शङ्कते—**अथोच्येतेत्यादिना** । सम्यक् प्रयोगो हि सप्रयोग इति भाव ।

अत्र वार्तिकसमतिमाह—**यथाहुरिति** । पादशब्द पूजार्थ । 'पादा इति च नामान्ते देवा भट्टारकावपि' इत्यभिधानात् । सम्यगर्थे प्रसिद्धोऽय समिति शब्दो दुष्टयोगस्य निवारक । अथ कोऽय प्रयोग, यस्याय सम्यक्त्वमाचष्टीन सशब्द इति ? तत्राह—**प्रयोग इति** । बुद्धीन्द्रियाणामर्थेषु यो व्यापार स प्रयोगोऽभिमत इत्यर्थ । कस्तर्हि दुष्टप्रयोगोऽनेन निवर्त्यत इति ? तत्राह—**दुष्टत्वादिति** । कथ तर्ह्यस्य दुष्टत्वमिति ? तत्राह—**रजतेक्षणादिति** । तन्निमित्त रजत ज्ञायते इति दुष्टो योऽसौ प्रयोगोऽतस्तद्व्यावर्तकोय सशब्द इति वार्तिकयोजना । अनेनापि हि सम्यक्प्रयोग समर्थित ।

स च तत्ताशे नास्तीति पूर्वमेवोक्तमित्याह—**तदपि नेति** । उक्तमेव दर्शयति--**प्रत्यभिज्ञायामिति** । ननु विस्मरणशील इव भवानालोच्यते, कथमन्यथा एकदेश-

---

देश धर्मी के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के भाव से अतिव्याप्ति होती है, क्योकि भ्रम की उत्पत्ति मे भी इन्द्रिय को अधिष्ठान शुक्ति आदि के साथ सम्बन्ध का भाव रहता है । यदि कहा जाय कि, सप्रयोग, इस शब्द मे सम्यगर्थक, 'स' इस विशेषण से दुष्ट इन्द्रियसप्रयोगजन्यत्व के व्यावर्तितत्व (निवारितत्त्व) होने से दुष्ट इन्द्रियजन्य विभ्रमो मे अतिव्याप्ति नही होगी—

जैसे कि पूज्य श्री भट्ट जी ने भी कहा है कि—(सम्यक् = सुन्दर अर्थ का बोधक यह शब्द है, वह दुष्ट प्रयोग = सम्बन्ध का निवारक है, और इन्द्रियो का अथविषयक ज्ञान मे अर्थ के साथ (प्रयोग) सम्बन्ध रूप व्यापार कहा जाता है, भ्रम का हेतु जो शुक्तिका के साथ इन्द्रिय का योग (सयोग) होता है, उसकी दुष्टता 'स' शब्द द्वारा उसका वारण किया गया है, वह दुष्ट इसलिये है कि उससे मिथ्या रजत देखा जाता है)।

यह कथन भी युक्त नही है, क्योकि इसका उत्तर कहा जा चुका है कि

भावादव्याप्ते, इन्द्रियेषु दोषाभावस्य प्रागुक्तन्यायेन दुरवधारणत्वात्। तदेव प्रत्यक्षलक्षण प्रत्युक्तम्।

नाप्यनुमानस्य लक्षण निरूपयितु शक्यम्। तथाहि—करणपक्षे तृतीयलिङ्गपरामर्श, परामृश्यमान वा लिङ्गमनुमानमिति नैयायिका। न

सप्रयोगपक्षमुपक्षिप्य तत्ताशे तादृशसप्रयोगाभावादव्याप्तिमाचष्टे इति ? **इन्द्रियेष्विति।** प्रागुक्तन्यायो दुष्टसामग्रीजन्यत्वावधारणनिरसनन्याय। इन्द्रियसप्रयोगयोरप्रत्यक्षत्वेन तन्निष्ठदोषाग्रहणेन दोषाभावस्याप्यग्राह्यत्वादित्यर्थ। प्रत्यक्षखण्डनमुपसहरति—**तदेवमिति।** प्रत्यक्षधर्मिकानुमानेऽप्येकदेशसप्रयोगसत्त्वाददतिव्याप्ति। सप्रयुक्त एवार्थे इति विशेषणे च प्रत्यभिज्ञाव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। अथवा भाष्यकारपक्षे एवातिव्याप्तिपरिहारमाशङ्क्येदमव्याप्तिदानम्। इन्द्रियेष्विति दूषणान्तरान्वाचय।

अध्यक्षे सर्वमानानामध्यक्षेऽस्मिन्प्रधर्षिते।
अनुमानादिषु त्वक्षमनुमानेषु का कथा ? ॥ १ ॥

क्रमप्राप्तमनुमानलक्षण खण्डयितुमुपक्रमते—**नाप्यनुमानस्येति।** प्रमाणखण्डनस्य प्रस्तुतत्वादनुमिति विहाय तार्किकानुमितिकरणलक्षणमुद्भावयति—**करणेति।** इदमेव वाचस्पत्युदयनयोर्मतम्। इम च तृतीय परामर्शमुत्तरत्र स्वयमेव दर्शयिष्यति।

प्रत्यभिज्ञा मे तत्ताश के तथाभूत (सम्यक्) सप्रयोग के अभाव से अव्याप्ति है, अर्थात् इस कथन से भी सम्यक् सम्बन्धजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमासिद्ध होता है, वह सम्बन्ध तत्ता के साथ नही रहता है, यदि कहा जाय कि पूर्व प्रसग तो है, एकदेश सप्रयोग का, और प्रत्यभिज्ञा मे एकदेशसप्रयोग रहता ही है, तो अव्याप्ति कैसे हो सकती है, तो यह कहना उचित नही क्योकि एकदेशसम्बन्ध भ्रम मे भी रहता है, और प्रत्यभिज्ञा मे भी रहता है, वहाँ प्रत्यभिज्ञा मे अदुष्टेन्द्रिय सम्बन्ध सिद्ध हो जाय तो अव्याप्ति नही होगी, परन्तु इन्द्रियो मे पूर्वोक्त रीति से दोषाऽभाव का अवधारण होना दुर्गम है। क्योकि इन्द्रिय और इन्द्रियसम्बन्ध के अप्रत्यक्ष होने से, उनके दोषो के ग्रहण नही होने से दोषाभाव का ज्ञान होना भी असम्भव है। अत इस उक्त रीति से प्रत्यक्ष का लक्षण प्रत्युक्त = निरस्त, हो गया।

अनुमान का लक्षण भी निरूपण के शक्य (योग्य) नही है। क्योकि अनुमान शब्द का अनुमिति, प्रमा और प्रमाण (प्रमा-करण) दोनो अर्थ मे प्रयोग होता है, वहाँ (अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्) इस करण पक्ष मे, तृतीय लिङ्गपरामर्श (हेतु ज्ञान) को, या परामृश्यमान (ज्ञायमान) लिङ्ग (हेतु) को नैयायिक अनुमान प्रमाण कहते है, परन्तु तृतीय लिङ्गपरामर्श अनुमिति प्रमा का करण (प्रमाण) नही हो सकता है। क्योकि व्यापार वाला असाधारणकारण करण कहा जाता है,

तावत्तृतीयलिङ्गपरामर्शोऽनुमितेः करणम्, अव्यापारत्वात्। व्यापारवत एव हि सर्वत्र करणत्वम्, तदिह महानसादौ धूमधूमध्वजयोः प्रथम सबन्ध गृहीतवत शिखरिशिखरपरिवर्तिततया पुनस्तमेव धूममवलोकयतस्तदनु चानुसहितव्याप्तेर्योऽय लिङ्गविषय परामर्श 'तथा चाय धूमवान्' इति न तस्य व्यापारान्तरमुपलभामहे, येन तस्यानुमितिकरणता स्यात्। न च व्याप्तस्य पक्षधर्मतावगमेऽप्यनुमानानुदयस्त्वयाभ्युपगम्यते, येन व्यापारान्तर तत्र कल्प्येत। अथानुसहितव्याप्तिकस्य लिङ्गविषयो निर्विकल्पक-

---

ननु मास्तु व्यापार, करणत्व किमिति न स्यात्? अत आह—**व्यापारवत एव हीति**। व्यापारवत्कारण हि कारकमुच्यते, कारकविशेषश्च करणम्, ततो व्यापारवत एव करणत्वमित्यर्थ। अस्तु तर्ह्यस्यापि व्यापार इति तत्राह—**तदिहेत्यादिना**। धूमध्वजो वह्नि, शिखरी पर्वत। तृतीयलिङ्गपरामर्शमेवाभिनयति—**तथा चायमिति**। ननु यद्यपि व्यापारान्तर तस्य न दृश्यते, तथापि करणत्वसिद्धये कल्पयाम इति, तत्राह—**न च व्याप्तस्येति**। यदि व्याप्ततया पक्षधर्मतया चावगतस्य लिङ्गस्य कदाचिदनुमितिजनकत्व न दृश्येत, कल्प्येतापि तदा व्यापारान्तरम्, केवलव्यतिरेकवत्त्वात्, तथापि तत्कल्पनेऽतिप्रसक्तिरिति भाव। ननु द्विविधस्तृतीयलिङ्गपरामर्शो निर्विकल्पक सविकल्पकश्चेति, तत्र निर्विकल्पक करणम् सविकल्पकस्तु तस्य व्यापार इति शङ्कते—**अथेति**। अनुसधान प्रत्यभिज्ञानम्। एतच्च लिङ्गपरामर्शस्य तृतीयत्वसिद्धये शक्यमेव लक्षयितु प्रत्यक्षलिङ्गोपलब्धिस्थले। यत्र तु शब्दादनुमानाद्वा लिङ्गावगम, न तत्रैव द्वैविध्यम्, प्रत्यक्षगोचरत्वादस्या कथाया।

और तृतीय लिङ्गपरामर्श का अव्यापारवत्त्व है। नियम है कि व्यापार वाले को ही सर्वत्र करणत्व होता है, परन्तु यहाँ प्रथम महानसादि मे धूम और धूमध्वज = अग्नि, के सम्बन्ध को ग्रहण = ज्ञान, को प्राप्त करने वाले को फिर पर्वत शिखरवर्ती उस धूम का ही अवलोकन = दर्शन, होता है, फिर उसके बाद पूर्वगृहीत व्याप्ति वाले उस प्राणी को व्याप्ति के अनुसधान (प्रत्यभिज्ञा) पूर्वक यह लिङ्ग का तृतीय परामर्श होता है कि (तथा चायम् धूमवान्) महानस के समान यह पर्वत धूम वाला है, अर्थात् (वह्निव्याप्यधूमवानय पर्वत) यह तृतीय परामर्श होता है, वहाँ अनुमिति की उत्पत्ति से प्रथम उस परामर्श का व्यापारान्तर नही उपलब्ध होता है कि जो परामर्श से जन्य होकर अनुमिति का जनक हो और जिस व्यापार से उस परामर्श को अनुमितिकरणता हो। और व्याप्त हेतु की पक्षधर्मता (पक्षवृत्तित्व) के ज्ञान होने पर भी अनुमिति के अनुदय को आप नही मानते है कि जिससे मध्य काल मे व्यापारान्तर की कल्पना हो सके। यदि कहै कि व्याप्ति के प्रत्यभिज्ञा रूप अनुसधान (स्मरण) वाले को लिङ्गविषयक निर्विकल्पक ज्ञान होता है, वह

प्रत्यय करण तस्य 'तथाचाय धूमवान्' इति सविकल्पकप्रत्ययो व्यापार, मैवम्, शब्दानुमानाभ्यामवगतलिङ्गेष्वव्याप्ते, आदावेव सविकल्पकेन तेषा विषयीकरणात्, शब्दानुमानयोर्निर्विकल्पकप्रत्ययाजनकत्वात्। अथोच्येत—तस्मादयमग्निमानिति निगमनेन तस्मादित्युपनयार्थस्य लिङ्गाधिकरणत्वस्य परामर्शात्, उपनयार्थस्य पूर्वभाविनस्तृतीयलिङ्गपरामर्शस्य तज्जनकतया तद्व्यापारोपपत्तिरिति, तदपि न, आप्तवाक्यादस्ति धूम इत्यधिगतवतोऽपि विनैव तस्मादिति परामर्शमात्रादस्ति धूमध्वज इति प्रतीतेरुदयात्।

न चैषा प्रतीति प्रत्यक्षा, अनैन्द्रियकत्वात्। नापि शाब्दी, आप्त-

---

ततस्तत्र करणस्यैवाभावप्रसङ्गादव्याप्तिरित्याह—**मैवमिति**। स्यादेतत् 'तथाचाय धूमवान्' इति च 'तस्मादग्निमान्' इति च याविमावुपनयनिगमनाख्यावयवौ तत्र निगमनगत तस्मादिति परामर्शो व्यापार तज्जनकश्चोपनयगतलिङ्गपरामर्श सविकल्पक करणमिति शङ्कित्वा, तादृशपरामर्श विनैवाप्तवचनादवगतधूमादनुमित्युदयेऽव्याप्त्या परिहरति—**अथोच्येतेत्यादिना-उदयादित्यंतेन**।

ननु तादृशपरामर्शव्यतिरेकेणोत्पद्यमानप्रतीतिरनुमितिरेव न भवतीत्याशङ्क्य परिशेषादनुमितित्वमाह—**न चैषेत्यादिना**। परिशेषादनुमितित्व दर्शयित्वा तत्रा-

---

अनुमिति का करण होता है, और उस करण का (तथाचाऽय धूमवान्) यह सविकल्पक ज्ञान व्यापार होता है। तो ऐसा नही कह सकते है, क्योकि प्रत्यक्ष लिङ्गज्ञान के स्थान मे तो ऐसी व्यवस्था हो भी सकती है, किन्तु शब्द वा अनुमान से ज्ञात लिङ्गो मे अव्याप्ति होगी, क्योकि उन लिङ्गो का प्रथम ही सविकल्पक ज्ञान से विषय = अनुभव किया जाता है, शब्द और अनुमान से सविकल्पक ही ज्ञान होता है। यदि कहा जाय कि 'तथाचायम धूमवान्' यह प्रथम उपनयरूप प्रयोग का अवयव होता है, पश्चात 'तस्मादग्निमान्' यह निगमन होता है, अत लिङ्गाधिकरणत्वरूप उपनयार्थ का ही तस्मात इस परामर्श शब्द से 'तस्मादयमग्निमान्' ऐसा निगमन होने के कारण, पूर्वभावी तृतीय परामर्श रूप उपनयार्थ को उस निगमन का जनक होने मे उस निगमन को उस उपनयन के व्यापारत्व की सिद्धि हो सकती है। तो यह कहना भी नही बन सकता हे, क्योकि आप्तवाक्य से धूम है, ऐसा ज्ञान वाले को भी 'तस्मात् इति' इसप्रकार से उपनय के परामर्श के बिना ही, धूम के ज्ञान रूप परामर्श मात्र से ही, अग्नि है, ऐसी प्रतीति का उदय होता है।

यह प्रतीति उक्त परामर्श के बिना होती है, परन्तु प्रत्यक्ष नही कही जा सकती है, क्योकि इन्द्रियजन्य नही होती है, शाब्दी=शब्दजन्य, भी नही कही जा सकती है, क्योकि आप्त वाक्य को धूम के सद्भाव मात्र मे पर्यवसितत्व (तात्पर्यवत्त्व) है।

वाक्यस्य धूमसद्भावमात्रपर्यवसितत्वात्। नापि स्मृतिः, तत्राग्निसद्भावस्य पूर्वमननुभूतत्वात्। अतः परिशेषादनुमितिरेवेत्यास्थेयम्, तत्कथं तत्र व्यापारसंभवः? लिङ्गपरामर्शस्य करणत्वेन प्रमाणेषु ज्ञाताज्ञातकरणविभागश्च न स्यात्। नयनादीनामेव हि करणत्वमज्ञाततया, ज्ञाततया तु लिङ्गशब्दादीनामिति विभागः परामर्शस्य करणतायां न सिद्ध्येत्। न च परामर्शोऽपि ज्ञाततया करणम्, ज्ञानस्य निलीनस्यैव नयनादिवत्स्वरूपफलजनकताङ्गीकारात्, अन्यथाऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथ परामृश्यमानं लिङ्गमनुमितेः करणम्। तदपि न, तत्रासीद् धूम इत्याप्तादुपश्रुत्य वह्निरपि तत्रा-

---

व्यापत्तिं दर्शयति—**तत्कथमिति**। किंच यदि परामर्शः करणम्, तदा तस्याज्ञायमानतया करणत्वान्न प्रत्यक्षाद्वैलक्षण्यं स्यादित्याह—**लिङ्गपरामर्शस्येति**। अस्तु तर्हि परामर्शोऽपि ज्ञायमानतया करणमिति, नेत्याह—**न च परामर्शोऽपीति**। ननु निलीनतया फलजनकस्याप्यपेक्षितस्थले ज्ञायमानतया जनकता किं न स्यात्? इत्यत आह—**अन्यथेति**। स्वप्रकाशतानङ्गीकारादिति भावः। केवलव्यतिरेकाभावस्याप्युपलक्षणमिदम्। सति लिङ्गपरामर्शे तदबोधापराधेनानुमित्यनुदयादर्शनात्। ननु न परामर्शः करणम, येनायं दोषः स्यात्, अपि तु परामृश्यमानं लिङ्गम्, तस्य च ज्ञायमानत्वान्नोक्तदोष इत्युदयनमतं शङ्कित्वा अतीतादिधूमेनानुमानस्थलेऽविद्यमानस्य करणत्वाभावात् परामर्श एव करणं मन्तव्यम, तत्सामान्याद्वर्तमानस्थलेऽपि तस्यैव करणत्वं वक्तव्यम्, तथा चापरिहार्य एव पूर्वोक्तदोष इत्याह—**अथ परामृश्यमानमित्यादिना**।

स्मृतिरूप भी यह प्रतीति नहीं होती है। क्योंकि वहाँ अग्नि का सद्भाव प्रथम अनुभूत नहीं रहता है, अतः परिशेष से अनुमिति ही मन्तव्य है, तो वहाँ व्यापार का सम्भव कैसे है। और लिङ्गपरामर्श के करणत्व से ज्ञाताऽज्ञात रूप करण का विभाग भी नहीं होगा, नेत्रादि को ही अज्ञात रूप से करणत्व है, और लिङ्गशब्दादि को ज्ञातरूप से करणत्व है, परामर्श की करणता में यह विभाग नहीं सिद्ध होगा। यदि कहे कि परामर्श भी ज्ञात रूप से करण होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि परामर्श ज्ञानस्वरूप है, और निलीन (अव्यक्त = अज्ञात) ज्ञान को नेत्रादि के समान स्वरूप से फल का जनक माना जाता है, अन्यथा ज्ञातरूप से फलजनक मानने पर स्वप्रकाशता के अनङ्गीकार से अनवस्था की प्राप्ति होगी। यदि कहें कि परामृश्यमान (परामर्श का विषय), धूमरूप लिङ्ग अनुमिति का करण है, वह ज्ञायमान करण होने से उक्त दोष नहीं है, तो वह भी कहना युक्त नहीं, क्योंकि वहाँ धूम था, इस आप्त वाक्य को सुनकर, वहाँ अग्नि भी थी, इसप्रकार की अनुमिति में अविद्यमान धूम के करणत्व की अनुपपत्ति होने पर उस परामर्श की

सीदित्यनुमितावविद्यमानस्य करणत्वानुपपत्तौ तत्परामर्शस्यैव कारणतायास्तस्यावश्याश्रयणीयत्वात् । एकप्रयोजकतानुरोधेन धूमादेर्वर्तमानत्वदशायामपि तत्परामर्शस्यैव कारणताया स्वीकरणीयत्वात् ।

किचेद लिङ्गम्, यस्य परामर्श परामृश्यमान वा लिङ्गमनुमितिकरणम् ? व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गमिति चेत्, केय व्याप्ति ? किमविनाभाव ? किवा स्वाभाविक सबन्ध ? निरुपाधिक सबन्धो वा ? नाद्य, विकल्पासहत्वात् ।

तथाहि—

कि व्यक्त्योरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयो ।
व्याप्तिस्त्वयेष्यते कि वा साध्यसाधनवत्त्वयो ? ।। २३ ।।

एव लिङ्गमङ्गीकृत्य तत्परामर्शस्य करणत्व नास्तीत्युक्तम्, इदानी लिङ्गानिरूपणादपि तत्परामर्शस्य करणत्व न सम्भवतीत्यभिप्रेत्याह—**किचेदमिति** । लिङ्गस्य लक्षणमुद्भावयति—**व्याप्तीति** । व्याप्तिमल्लिङ्गमित्युक्ते करतल स्पर्शवत् रूपवत्त्वात्, सुरभि गगनारविन्दम् अरविन्दत्वात्कासारारविन्दवदित्यादिसिद्धिसाधनताश्रयासिद्धयोरनित्य शब्द सावयवत्वादित्यादिस्वरूपासिद्धौ चातिव्याप्ति, तदर्थं पक्षधर्मतावदित्युक्तम् । तावत्युक्ते चानित्य शब्द प्रमेयत्वात्, नित्य शब्द कृतत्वादित्यादिसव्यभिचारविरुद्धादिष्वतिव्याप्ति, तदर्थ व्याप्तिग्रहणम् । अविनाभावो व्याप्तिरिति पक्ष दूषयति—**नाद्य इति** ।

विकल्पदूषणे श्लोकाभ्या सगृह्णाति—**कि व्यक्त्योरित्यादिना** । **तद्वतोरिति** । जातिविशिष्टव्यक्त्योरित्यर्थ । **साध्यसाधनवत्त्वयोरिति** । धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोरित्यर्थ । **तदानन्त्याद्**व्यक्तीनामानन्त्यादसर्वज्ञेन तत्सबन्धग्रहणाशक्तेरित्यर्थ । **तद्-**

ही कारणता को वहाँ अवश्य आश्रयणीय होने से एक प्रयोजकता (कारणता) अनुरोध (लाघव) से धूमादि की वर्तमान अवस्था मे भी उस परामर्श की ही कारणता स्वीकरणीय है ।

और यह लिङ्ग क्या है, कि जिसका परामर्श या स्वय परामृश्यमान जो लिङ्ग अनुमिति का करण होता है । यदि कहा जाय कि व्याप्ति और पक्षधर्मता वाला लिङ्ग होता हैं, तो यह व्याप्ति क्या है । क्या अविनाभाव है, या स्वाभाविक सम्बन्ध है, अथवा निरूपाधिक सम्बन्ध है । विकल्पाऽसह होने से आद्य पक्ष युक्त नही हे ।

तथाहि—

क्या व्यक्तियो मे अविनाभाव है, या जातियो मे है, या विशेष जातिमानो मे है, अथवा साध्यवत्त्व साधनवत्त्व धर्मों मे अविनाभाव व्याप्ति आप मानते है ।। २३ ।।

सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसभवात् ।
न तद्वतोरुक्तदोषान्न चतुर्थोऽनिरूपणात् ॥ २४ ॥

किं धूमधूमकेतनस्वलक्षणयोर्व्याप्ति ? उत धूमत्ववह्नित्वजात्यो ? अथ तज्जातीययो ? आहोस्वित् धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयो ? नाद्य, व्यक्तीनामनन्तत्वात्तत्र सबन्धग्रहणासभवात् । न ह्यसर्वज्ञेन सर्वा व्यक्तयो विशेषतो ज्ञायन्ते । अथ व्याप्तिग्रहणसमये सामान्यलक्षणया प्रत्यासत्त्या तास्ता व्यक्तयस्तत्तदिन्द्रियैरवभासन्ते, अन्यथा सर्वोपसहारवती व्याप्तिरेव नावगता इत्यानुमानिकोपादानादिव्यवहारविरहविरोधप्रसङ्गात्, न हि

सभवादिति । अग्नित्वधूमत्वयोरैकाधिकरण्याभावेन व्याप्तेरसभवादित्यर्थ । आनन्त्यम् तद्दोष ।

श्लोकौ व्याकरोति—**किं धूमेत्यादिना** । धूमकेतनो वह्नि । असर्वज्ञेनापि प्रमेयत्वाद्याकारेण सर्वा व्यक्तयो ज्ञातु शक्यन्ते इति तन्निवृत्त्यर्थ विशेषत इति । ननु यदा व्यक्तिद्वय गृह्यते, तदा तद्गतसामान्यद्वयसबद्धा सर्वा व्यक्तय प्रत्यक्षीक्रियन्ते, तत्र च सामान्यात्मिकैव प्रत्यासत्ति, चक्षु सबद्धधूमवह्निव्यक्तिसमये तत्सामान्यद्वयद्वारा सबद्धविशेषणतया प्रत्यासन्नत्वाद्व्यक्तीनाम्, ततो व्यक्तयोरेव व्याप्तिग्रहेऽपि न कश्चिद्दोष इति शङ्कते—**अथेति** । ननु माभूत्सर्वोपसहारवद्व्याप्त्यवगम, किं नश्छिन्नमिति ? तत्र श्रीवल्लभोक्तबाधकमाह—**इत्यानुमानिकेति** । अथ कथमुपा-

---

वह व्याप्ति व्यक्तियो मे गृहीत नही हो सकती, क्योकि व्यक्ति अनन्त है । जातियो मे असम्भव होने से अविनाभाव नही हो सकता है, जातिमान मे भी वही असम्भव दोष है । चतुर्थ पक्ष का निरूपण नही हो सकता है ॥ २४ ॥

अर्थात् क्या धूम धूमकेतन (अग्नि) स्वरूप व्यक्तियो की व्याप्ति है, या धूँमत्व वह्नित्व जातियो की है, या उक्त जातिमानो की है, अथवा धूमवत्त्व वह्निमत्त्व की है । इनमे प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योंकि व्यक्तियो के अनन्त होने से उन सब मे अविनाभाव रूप सम्बन्ध का ग्रहण होना असम्भव है, असर्वज्ञ कोई सब धूमादि व्यक्तियो को विशेष रूप से जान नही सकता है, और जाने बिना व्याप्ति का ज्ञान नही हो सकता है । यदि कहा जाय कि महानसादि मे व्याप्तिज्ञान के समय सामान्य = जाति स्वरूप सम्बन्ध, से धूमत्वेन वह्नित्वेन तत्तद् व्यक्ति तत्तदिन्द्रिय से अवभासित (ज्ञात) होता है । अन्यथा, यदि व्याप्तिग्रहण काल मे सब व्यक्ति अवभासित नही हो, तो सर्वोपसहारवती = सर्वविषयग्राहिका, व्याप्ति ही अवगत (ज्ञात) नही होगी, फिर व्याप्ति के ग्रहण नही होने से व्याप्तिग्रहण निमित्तक अनुमान भी नही होगा, तो आनुमानिक (अनुमाननिमित्तक) जो किसी पदार्थ के ग्रहणादि रूप व्यवहार होता है, उस व्यवहार का अभावरूप विरोध प्राप्त होगा

परिदृश्यमानकदलीफलादे प्रत्यक्षेण दृष्टमिष्टसाधनत्वम्, येनैतदुपाददीत। किं नामानुमेयम्? न च प्रतिबन्धसिद्धिमन्तरेणानुमानप्रवृत्ति, न चान्तरेण विशेषप्रतिभास तन्नियमावगम, ततिसद्ध व्याप्तिग्रहणसमये एव सकलविशेषा प्रतिभासन्ते।

तदयुक्तम्, प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्याप्ति गृह्णत सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्। ननु

ज्ञानादीनामानुमानिकत्वमिति तत्राह—**न हि परिदृश्यमानेति। किं नाम।** किन्त्वर्थ। प्रतिबन्धो व्याप्ति। सर्वव्यक्तिनिष्ठव्याप्तिग्रहणसमर्थनमुपसहरति पूर्ववादी—**तत्सिद्धमिति।** इदमोदनादि मम समीहितसाधनमोदनादित्वात् ह्यस्तनौदनादिवदित्यनुमाय तदादित्सते। एव परिवर्जनीयेऽपि। न चैतत्सकलौदनादिगतहितसाधनतावगम विना शक्यमनुमानमुदेतुम्। न च तदवगमे कथितोपायमन्तरेणोपायान्तरमस्तीति खण्डलकार्थ।

तदेतद् दूषयति—**तदयुक्तमिति।** ग्रहादि विमत प्रत्यक्ष प्रमेयत्वादभिधेयत्वाद्वेत्यादौ यदा प्रमेयत्वादेर्व्याप्ति गृह्णाति, तदा प्रमेयत्वादे सर्ववस्तुनिष्ठत्वात्तद्ग्रहणे सर्वं गृहीतमेवेति क्वापि न ते सशयादि स्यात्, अस्ति च तन्मच्चित्तवर्तिपदार्थेष्वनभिधानलिङ्गानुमितम, अत एव न प्रतिकृत्येति भाव। ननु प्रमेयत्वाक्रान्ताकारेण सर्वं ज्ञायते, तदाकारेण च व्याप्तिग्रहणम, नतु रूपान्तरेण, तदभावादिति शङ्कते—**नन्विति।** तत्र वक्तव्यम्—येनाकारेण तानि न ज्ञायन्ते स किं प्रमेय? न वा? आद्ये सोपि ज्ञात एवेति न पूर्वोक्तदोषान्निर्मोक्ष। उत्तरस्मिस्तु स एव नास्ति, येन

(व्यवहार नही हो सकेगा) परिदृश्यमान कदली फलादि के इष्टसाधनत्व प्रत्यक्ष से दृष्ट नही है कि जिससे उसका कोई उपादान (ग्रहण) करेगा, किन्तु कभी ज्ञात किसी कदली फल की इष्टसाधनता को वर्तमान काल मे भी अनुमान से ही जान कर उसका ग्रहण किया जाता है, अत वह इष्टसाधनता कैसे ज्ञेय होता है, तो कहना होगा कि इष्टसाधनत्व अनुमेय है। और प्रतिबन्ध (व्याप्ति) सिद्धि के बिना अनुमान की प्रवृत्ति नही हो सकती है। और व्याप्य व्यापक विशेष व्यक्तियो के व्याप्तिग्रहण काल मे प्रतिभास (प्रतीति) के बिना उनके नियम (अविनाभाव) का ज्ञान नही हो सकता है इससे सिद्ध होता है कि व्याप्तिग्रहण काल मे ही सब विशेष सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति से प्रतिभासित होते हैं।

यह उक्त कथन अयुक्त है। क्योकि, (सर्वम्, अभिधेयम्, प्रमेयत्वात्) इत्यादि रीति से प्रमेयत्व अभिधेयत्व की व्याप्ति को ग्रहण करने वालो मे उक्त रीति सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यदि कहा जाय कि प्रमेयत्व की व्याप्ति को ग्रहण करने वाला प्रमेयत्व रूप से सब को जान जाता है, परन्तु तत्तत् घटत्वादि रूपान्तर से नही जानता है, अत सर्वज्ञता नही होती है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि जिन

प्रमेयतया सर्वं ज्ञायते न तु रूपान्तरेणेति चेत्, मैवम्, रूपान्तरस्यापि प्रमेयत्वाधारतया ग्रहणप्रसङ्गात्, अप्रमेयत्वे च सप्तमरसादिवत्तदसिद्धेः। येन येन रूपेण यद्यदस्ति तेन तेनाकारेण तत्तत्प्रमेयमिति स्यादेव सर्वज्ञता। किंच व्याप्तिसदर्शनसमय एवाशेषग्रहणे पर्वतनितम्बगोचरोऽपि कृशानुर्गृहीत एवेति पुनर्धूमदर्शने तस्य स्मृतिगोचरतैव स्यान्नत्वनुमेयता। नापि द्वितीयः, यद्धूमत्वं यत्र वा धूमत्वं तद्वह्नित्वं तत्र वा वह्नित्वमिति नियमासंभवात्, तयोर्भिन्नत्वाद्भिन्नाधिकरणत्वाच्च। नापि तृतीयः, व्यक्तीनामिव तद्वतामपि अनन्तत्वात् संबन्धग्रहणानुपपत्तेः।

न ज्ञायेरन्तानीत्याह—**मैवमिति। सप्तमेति।** रसषटकव्यतिरिक्तद्रव्यादे रसत्वस्याप्रमेयस्यासिद्धिवदित्यर्थः। किंच व्याप्तिग्रहणसमये सर्वव्यक्तिग्रहणपूर्वकं तन्निष्ठव्याप्तिग्रहणमाशसता पक्षीकृतपर्वतेऽपि सा गृहीता? न वा? न यदि, तदा सर्वोपसंहारिणी व्याप्तिरेव न गृहीता। अथ गृहीता, तत्राह—**किंच व्याप्तिग्रहणेति।** नितम्ब। सानु। नच धारावाहिवत् सप्तत्ववादेऽनुमानप्रवृत्तिः। परार्थानुमाने तं प्रति सिद्धसाधनतापातात्। जात्योरिति द्वितीयं पक्षं दूषयति—**नापि द्वितीय इत्यादिना।** वृक्षशिंशपयोरिव स्वभावाविनाभावो वा, धूमाग्न्योरिव सादेश्यनियमो वक्तव्यः, कालकृताविनाभावस्य जात्यन्तरेणापि साधारण्यात्। तच्च द्वयं न संभवति, भिन्नस्वभावत्वात्, भिन्नदेशत्वाच्चाग्नित्वधूमत्वयोरिति भावः। जातिविशिष्टव्यक्त्योरिति तृतीयं दूषयति—**नापि तृतीय इति।** यत्त्वत्र लीलावतीकारे-

---

रूपान्तर मे नही जानता है, वे रूपान्तर प्रमेय है, या नही, यदि प्रमेय है, तो उनमे भी प्रमेयत्व की आधारता के रहने से उनका भी प्रमेयत्वेन ग्रहण प्राप्त होता है, और यदि उनमे प्रमेयत्व नही है, तो सप्तम रसादि के समान उनके सत्त्व की सिद्धि नही हो सकती है, और जिस-जिस घटत्वादि रूप से जो-जो घटादि वस्तु है, सो-सो वस्तु उसी-उसी रूप से प्रमेय है, तो प्रमेयत्व रूप मे जानने पर सर्वज्ञता कैसे नही होगी? अवश्य सर्वज्ञता होगी। और दूसरी बात है कि व्याप्तिज्ञान के समय मे ही सम्पूर्ण व्याप्य-व्यापक के ग्रहण होने पर पर्वत के नितम्ब (पास) वृत्ति अग्नि के भी उसी समय गृहीत हो जाने से फिर धूम के दर्शन होने पर उस ज्ञात अग्नि को स्मृतिविषयता होगी, अनुमेयता, नही होगी। धूमत्व-वह्नित्व जाति की अविनाभाव रूप व्याप्ति का ग्रहण रूप दूसरा पक्ष भी नही युक्त हो सकता है, क्योकि, जो धूमत्व है, वह वह्नित्व है, या जहाँ-जहाँ धूमत्व है, वहाँ-वहाँ वह्नित्व है, ऐसे नियम का होना असम्भव है, क्योकि दोनो भिन्न है। और भिन्न अधिकरण वाले है। तृतीय जाति वाले की व्याप्ति का ज्ञान भी नही हो सकता है, क्योकि व्यक्तियो के समान जाति वालो के भी अनन्त होने से उनके सम्बन्धो का ग्रहण नही हो सकता है।

अस्तु तर्हि चतुर्थ, न हि तत्र सबन्धग्रहणानुपपत्ति, धूमवत्त्ववह्नि-मत्त्वलक्षणयोरुपाध्यो कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि गोत्वादिजातीनामिव ग्रहणो-पपत्तेरिति चेत्, मैवम्, सभवेऽपि तत्सवेदनस्य, तत्समये एव पवतनितम्ब-

---

णोक्तम् 'न च प्रतिबन्धासवेदनम्, व्यक्तिमात्रसहिततज्जातिनिर्भासात्' इति, तदसत् सर्वव्यक्तिग्रहणाग्रहणप्रयुक्तदोषापरिहारात् ।

धूमवत्त्ववह्निमत्त्वयोरिति चतुर्थ पक्षमुद्घाटयति—**अस्तु तर्हीति** । ननु तयो-रप्युपाधिसामान्यत्वात् समस्तधूमवदग्निमल्लक्षणोपधेयग्रहणव्यतिरेकेणाशक्यग्रहणत्वात् पूर्वोक्तदोषस्तदवस्थ इति, तत्राह—**नहि तत्रेति** । यथाहि कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि समस्ता जातिर्गृह्यते, तत्कस्य हेतो ? प्रत्येक परिसमाप्यवृत्तित्वात्तद्वदत्रापीति भाव । अत्र तावत्कतिपयव्यक्तिग्रहणे जातिर्गृह्यते इत्यत्रापि नास्ति सम्प्रतिपत्ति । अथ तत्र परिसमाप्यवृत्तित्वाद्गृह्यत इति मतम्, तर्हि वक्तव्यम्–केय परिसमाप्ति ? यदि तत्रैव वर्तमानत्वम्, गत तर्हि गवान्तरगतगोत्वेन । अथ पर्यवसिततया प्रमीय-माणत्वम्, अर्थाभावे तत्प्रमितत्वे कथमाश्वास ? किंच सा ? किं व्यक्तिसर्वगता असर्वगता वा ? अन्त्ये तु नैकस्या व्यक्तौ परिसमाप्ति । नहि सर्वगताया गृहोदरे परिसमाप्तिर्वास्तवी । व्यक्तिसर्वगतत्वपक्षे गोद्वये वर्तमाना तयोरन्तराले वर्तते ? न वा ? न यदि, तदवच्छिन्नदेशाया कथमेकत्वम् ? द्वितीये तु प्रागुक्त एव दोष, उत्पद्यमानाया च व्यक्तौ कुत एष्यति ? इति पतिष्यतीत्यपि चिन्तनीयम्, तत्रापि तत्सत्त्वे प्रागुक्तदोष । प्रतीत्यप्रतीती वृत्त्यवृत्ती नान्ये इति चेत्किं योगाचारनगरगो-पुर प्रविशसि ? अचिन्त्यमहिमेय वस्तुस्वभाववैचित्री, यद्व्यक्तिद्वये वर्तमानाप्यन्त-राले न वर्तते, एकत्व न जहाति, व्यक्त्यनुत्पत्तिदशाया तत्र तत्कारणेषु वा नास्ति, व्यक्त्युत्पत्तौ चास्तीत्यादीति चेत्सत्यम्, अचिन्त्यमहिमैव सा, न केवल सैव, भवदन-वबोधोऽप्यचिन्त्यमहिमैव, यत्तस्यैवविधमहामहेन्द्रजालता । नावकल्पयसि प्रमाणम्, युक्तीश्च तत्र सचारयन्विचारकताभिमान च न मुञ्चसीति । वक्ष्यते चायमुपरिष्टात् सविस्तरोऽर्थ । तदेतादृशदोषराशिकालुष्यकर्षणमपिना सूचयन्दोषान्तरमाह—**मैवम्, संभवेऽपीति** । ननु वह्निमत्त्वमात्रमत्रापि गृहीतमेव पर्वतगतवह्निमत्त्व तु

यदि कहा जाय कि उक्त तीनो पक्षो मे व्याप्तिज्ञान नही हो सकता है, तो धूमवत्त्व वह्निमत्त्व की व्याप्ति रूप चतुर्थ पक्ष रहे (माना जाय), क्योकि इस चतुर्थ पक्ष मे सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्रहण की अनुपपत्ति नही है, कतिपय व्यक्ति के ग्रहण होने ही पर गोत्वादि जाति के समान धूमवत्त्व वह्निमत्त्व रूप उपाधियो के ग्रहण (ज्ञान) की सिद्धि हो सकती है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि कतिपय व्यक्ति के ग्रहण से धूमवत्त्व वह्निमत्त्व के ग्रहण के सम्भव होते भी उनके व्याप्तिग्रहण काल मे ही पर्वत-नितम्ब सम्बन्धी वह्निमत्त्व के गृहीत हो जाने से

सबन्धिनो वह्निमत्त्वस्य गृहीतत्वात्पुनरनुमानाप्रवृत्ते । वह्निमत्त्वमात्रमेव धूमवत्त्वव्यापकतया गृहीतम्, न तु पर्वतगतवह्निमत्त्वमिति चेत्, तत्किमिदानी बहूनि वह्निमत्त्वानि ? हन्तैव धूमवत्त्वान्यपि बहून्येवेति तदानन्त्यात् सबन्धग्रहणानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति घट्टकुट्या प्रभातमनुसरति । अथैकैव धूमवत्ता एकैव वह्निमत्ता न सा पर्वतसबन्धिनी गृहीता, अत सैवानुमानालम्बनमिति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—सबन्धसवेदनसमये यत्र यत्र धूमवत्त्व तत्र तत्र वह्निमत्त्वमिति वीप्साविषयतया पर्वतादिप्रदेशोऽपि प्रतीत ? न वा ? आद्ये पर्वतेऽपि वह्निमत्त्वमधिगतमिति कृतमनुमानेन । द्वितीये तु पर्वते धूमवत्त्वस्य प्रतीतावपि वह्निमत्त्वप्रतीतिर्न स्यात्, व्याप्तेरगृहीतत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

न गृहीतमित्यनुमानमार्थक्यमिति शङ्कते—**वह्निमत्त्वेति** । बहून्येवेति सन्नामान प्रत्याह—**हन्तैवमिति** । शक्यते हि पर्वतगतधूमवत्त्वमन्यदेवेति वक्तुमिति भाव । अनेकत्वपक्ष परित्यज्यैकत्वपक्ष एव पूर्वोक्तदोषस्य परिहार शङ्का—**अथैकैवेति** । धूमवत्त्वव्यापकतया प्रतीतवह्निमत्त्वस्य पर्वतसबन्धबोधनमनुमानार्थमिति भाव । तत्र धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयोर्व्याप्तिग्रहणसमयेऽपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरित्येव गृह्यते, वीप्सा चानुक्तोपसहारार्था, तया च तया सगृहीतार्थान्तर्भावेऽनन्तर्भावे च पर्वतस्यानुमानानुपपत्तिरिति दूषयति—**मैवम्, विकल्पासहत्वादित्यादिना** । **व्याप्तेरगृहीतत्वादिति** । यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तिग्रहणसमये यत्रेत्येतदर्थान्त-

---

(सर्वत्र वह्निमत्त्व के एक होने के कारण एकत्र के ज्ञान मे सर्वत्र के ज्ञान के सम्भव से) फिर अनुमान की प्रवृत्ति नही होगी । यदि कहे कि व्याप्तिग्रहण काल मे धूमवत्त्व के व्यापक रूप से वह्निमत्त्वमात्र ही गृहीत होता है, और पर्वतगत वह्निमत्त्व नही गृहीत होता है, अत उसके ग्रहण के लिये अनुमान की प्रवृत्ति होती है, तो कहा जाता है कि अब क्या आप बहुत वह्निमत्त्व मानने लगे है कि जिससे कहते है कि पर्वत के वह्निमत्त्व नही गृहीत होता है और वह्निमत्त्व बहुत होगा ? तो अब इसीप्रकार मे धूमवत्त्व भी बहुत ही होगा । तब तो अनन्तता से सम्बन्ध (व्याप्ति) ग्रहण की अनुपपत्ति तदवस्थ ही रहेगी, कि जिससे घाट कुटी प्रभात न्याय का अनुसरण होगा । यदि कहे कि धूमवत्त्व एक ही है । वह्निमत्त्व भी एक ही है परन्तु पर्वतसम्बन्धी वे दोनो व्याप्तिग्रहणकाल मे नही गृहीत हुए, अत वही अनुमान का अवलम्बन (विषय) होता है । तो विकल्पाऽसह होने से यह कथन युक्त नही है । विकल्प है कि सम्बन्ध (व्याप्ति) ज्ञान के समय (यत्र यत्र धूमवत्त्व रहता है, तत्र तत्र वह्निमत्त्व रहता है) इस वीप्सा (द्विरुक्ति) के विषय रूप से पर्वतादि प्रदेश भी प्रतीत होता है, या नही, गृहीत होता है । इस आद्यपक्ष मे पर्वत मे भी वह्निमत्त्वव्याप्तिग्रहण काल मे ज्ञात हो गया, यह सिद्ध

कश्चायमविनाभाव ? कि साधनसद्भावेन साध्यसद्भाव ? किं वा साध्याभावेन साधनाभाव ? उतोभयम ? नाद्य, केवलव्यतिरेकिणि तदभावात्, पक्षादन्यत्रापि भावे केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपात्। नापि द्वितीय, केवलान्वयिन्यभावात्। न तृतीय, अन्वयव्यतिरेकिणि तद्भावेऽपीतरयोस्तदभावात्।

र्गतनया अगृहीतव्याप्तिकत्वादित्यर्थं। एतेनास्य वह्निविशेषस्य पूर्वं प्रतीतत्वेऽपि एतत्पर्वतनिष्ठतया पूर्वमप्रतीतिरिति वदन्वादीन्द्रोऽपि विद्रावित। अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानादेतद्वह्निमत्त्वसिद्धि, तत्किमय पर्वत एतद्वह्निमानेतद्धूमवत्त्वादिति सिसाधयिषसि? ओमिति चेद्, हन्तात्माश्रयता पर्वतस्यापि, पर्वताश्रितत्वप्रसक्तेरिति।

एवमविनाभावप्रतियोग्यनिरूपणाल्लक्षणासिद्धिरुक्ता, इदानीमविनाभावशब्दार्थं विकल्प्य दूषयति—**कश्चायमित्यादिना**। किमविनेति विनाशब्दाभिधेयसाधनाभावस्याभाव साधनसद्भाव विवक्षितत्वा तत्र साध्यसद्भावो भावशब्देनाभिधीयत इति साधनसद्भावे एव साध्यसद्भावरूपान्वयव्याप्तिस्त्वयाऽविनाभावशब्दार्थो विवक्षित ? किं वा विनाभाव साध्यव्यतिरेकेण साधनस्य भावस्तदभावोऽविनाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तिर्विवक्षिता ? साध्याभावे साधनाभावस्य तत्त्वात्। उतोभयमपि रीति ? इत्यर्थ। ननु केवलव्यतिरेकिण्यपि साध्यसाधनयो सत्त्वात्सम्भवत्यन्वयव्याप्तिरिति, तत्र वक्तव्यम्—कि पक्ष एवोभयो सहभावनिश्चय ? अन्यत्र वा ? नाद्य, तत्र साध्यानिर्णयात्। द्वितीये प्राह—**पक्षादन्यत्रेति**। **केवलान्वयिनीति**। अविद्यमानविपक्षत्वादित्यर्थ। **इतरयोरिति**। केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोरित्यर्थ।

होता है, अनुमान का कोई फल नही। दूसरे पक्ष मे पर्वत मे धूमवत्त्व के ज्ञान होने पर भी वह्निमत्त्व का ज्ञान नही होगा, क्योकि पर्वतीय धूमवत्त्व मे पर्वतीय वह्निमत्त्व की व्याप्ति अगृहीत है, अब अधिक प्रसग की आवश्यकता नही है।

यह अविनाभाव क्या है ? क्या साधन के सत्त्व से साध्य का भी सत्त्व होना है, या साध्य के अभाव से साधन का अभाव होना है, अथवा उभयस्वरूप है। आद्य पक्ष युक्त नही है, क्योकि केवलव्यतिरेकी मे वैसे अविनाभाव का अभाव रहता है, पक्ष से अन्यत्र भी साधन के सत्त्व से साध्य के सत्त्व होने पर केवलव्यतिरेकित्व का अभाव होगा, अत पक्ष मे निर्णय का अभाव ही रहता हे, और अन्यत्र भी निर्णय नही हो सकता है कि यत्र हेतु तत्र साध्य रहता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है। क्योकि केवल अन्वयी मे उस व्यतिरेक का अभाव रहता है (घटोऽभिधेय प्रमेयत्वात्) यहाँ प्रमेयत्व अभिधेयत्व के अभाव का उदाहरण नही मिलता है। तृतीय पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि अन्वय

एतेन स्वाभाविक सबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीय कल्पोऽपि परास्त, तत्रापि जातिव्यक्त्यादिविकल्पाना दूषणाना तुल्यत्वात्, स्वाभाविकशब्दार्थानिरुक्तेश्च । स्वाभाविकशब्देन कि सबन्धिस्वभावजन्यत्व विवक्ष्यते ? यद्वा तत्स्वभावाश्रितत्वम् ? अथवा तत्स्वभावप्रयुक्तत्वम् ? आहोस्वित्तद्व्याप्यत्वम् ? कि वा तदनतिरिक्तत्वम् ? नाद्य, एकार्थसमवायेन रसाद्रूपानुमाने

एवमविनाभावो व्याप्तिरिति प्रथम पक्ष दूषयित्वा द्वितीयेऽपि तदेवातिदिशति—**एतेनेति** । तस्यैव विवरणम्—**तत्रापीति** । स्वाभाविकोऽपि हि सबन्ध कयो ? इति विवेचनीयमिति भाव । उम्बेकस्तु—'सबन्धो व्याप्तिरिष्टात्र लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिन' इत्यत्र लिङ्गधर्मस्येति दर्शनाद् व्याप्यैकधर्मो व्यापकनिरूप्यो व्याप्तिर्न पुनरुभयनिष्ठेत्यब्रवीत् । अत्र कि निर्देशमात्र प्रमाणम् ? अन्यद्वा ? नाद्य, नहि घटेन पटस्य सबन्ध इति निर्देशात् पटैकनिष्ठ एवाय न घटनिष्ठ इति शक्याङ्गीकारम् । नाप्यन्यत, प्रत्युत सबन्धत्वसिद्धिरेवोभयनिष्ठता गमयेत् । भवतु वा यथातथा, तथाप्युक्तदोषान्न निर्मोक्ष । तत्रापि हि कि धूमव्यक्तिनिष्ठा ? कि धूमत्वजातिनिष्ठा ? किमग्निव्यक्तिनिरूप्या ? इत्याद्युक्तविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वादिति । एव साधारण दूषणमुक्त्वाऽस्मिन्पक्षेऽसाधारणदूषणमाह—**स्वाभाविकेति** । स्वभावशब्दस्य असाधारणभावमात्रवाचकत्वात् प्रस्तुतसबन्धद्वारोत्थापितसबन्धिनो स्वभावे विश्रान्तिस्त स्माच्च तदुपरितनतद्धितप्रत्ययेन तज्जन्यत्वादिष्वन्यतमो वक्तव्य, सबन्धमात्रविधानेऽपि विशेषपर्यवसितत्वादिति विकल्पयति—**स्वाभाविकशब्देनेत्यादिना** । नच जन्यत्वेन प्रयुक्तत्वस्य पौनरुक्त्यम् । अजन्यजनकयोरप्यनित्यत्वकृतकत्वयो प्रयुक्तिदर्शनादित्यवगन्तव्यम् । **तदनतिरिक्तत्वमिति** । स्वार्थ एव विहितोऽय प्रत्यय इत्यर्थ । **नाद्य इति** । विप्रतिपन्न रूपवद्रसवत्त्वादित्यत्र ह्येकार्थसमवाय एव

व्यतिरेकी मे—हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्व, साध्याभावे हेत्वभाव, ये उभय उदाहरण मिल सकते हैं, परन्तु केवल अन्वयी और केवल व्यतिरेकी मे उभय उदाहरण (व्याप्ति) का अभाव रहता हे ।

इसीसे स्वाभाविक सम्बन्ध व्याप्ति है, यह दूसरा पक्ष भी निरस्त हो गया । क्योकि उस पक्ष मे भी जाति, व्यक्ति आदि विकल्पसम्बन्धी दूषणो की तुल्यता है, क्योकि इस पक्ष मे भी विकल्प होगा, कि व्यक्तियो का स्वाभाविक सम्बन्ध है, या जातियो का हे, इत्यादि । और अनन्तता से सम्बन्ध का ग्रहण नही हो सकता है इत्यादि । और स्वाभाविक शब्द के अर्थ की अनिरुक्ति से भी यह पक्ष अयुक्त है । क्योकि स्वाभाविक शब्द से क्या, सम्बन्धी (हेतुसाध्य) के स्वभाव (स्वरूप) से जन्यत्व अर्थ विवक्षित है, या सम्बन्धिस्वभावाश्रितत्त्व है, या सम्बन्धिस्वभावयुक्तत्व है, या सम्बन्धिस्वभाव-व्याप्यत्व है, अथवा सम्बन्धिस्वभाव से अनतिरिक्तत्व है । प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि एकार्थसमवाय-

तत्सबन्धस्य समवायस्याजन्यत्वेनाव्याप्ते , व्यभिचारिणोर्घटपटयो सयोगेऽतिव्याप्तेश्च । तस्य तद्रूपत्वेऽपि व्याप्तिरूपत्वाभावात् । नापि द्वितीय , घटपटयो सयोगे सयोगिस्वभावाश्रिते व्यभिचारात् । नापि तृतीय , प्रयुक्तत्वशब्देन जन्यत्वविवक्षायामाद्यपक्षोक्तदूषणप्रङ्गात्, तद्व्याप्तत्वविवक्षाया तु व्याप्तेरद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रय । अत एव न चतुर्थ । किच सबन्धस्य

व्याप्तिरूप सबन्ध , नच तत्र लक्षणमस्ति, तस्याजन्यत्वादित्यर्थ । घटपटमयोगस्य लक्षणवत्तामलक्ष्यता चाह—**तस्येति** । मबन्धिस्वभावाश्रित सबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीयपक्षेऽपि घटपटसयोगेऽतिव्याप्तिमाह—**नापि द्वितीय इति** । न चाव्यभिचारिसबन्धिस्वभावाश्रितत्वेन मबन्धो विशेषणीय । अव्यभिचारस्यैव तयासति व्याप्तित्वसभवेन तदितरवैयर्थ्यात्, अव्यभिचारस्य निरसिष्यमाणत्वाच्च । ननु तत्प्रयुक्तत्व नाम न तज्जन्यत्वम्, येन पूर्वोक्ताव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषौ स्याताम्, किंतु सबन्धिस्वभावव्याप्तत्वम्, गुणवत्त्वप्रयुक्तत्वमिव द्रव्यत्वस्येति, तत्राह—**तद्व्याप्तत्वेति** । इममेवात्माश्रय चतुर्थेऽप्यतिदिशति—**अत एवेति** । यदि च सबन्धिभ्या व्याप्त सबन्ध , तदा सबन्धिनोर्व्यापकयोरधिकवृत्तितापि सभाव्यत इति सबन्ध विनापि सबन्धिनोरवस्थान स्यात्, तथा चान्यतरदर्शनादन्यतरानुमान न स्यात्, तत्सबन्ध विनापि तयो स्थितिसभवादित्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यभिसन्धिराह—**किञ्चे-**

सम्बन्ध द्वारा रस से रूप के अनुमान मे उन दोनो का सम्बन्धस्वरूप समवाय के अजन्य होने से अव्याप्ति होती है। क्योकि वह समवाय ही व्याप्ति है, सम्बन्ध है। वह सम्बन्धी के स्वरूप से जन्य नही है। और व्यभिचारी (व्याप्तिरहित) घट पट के सम्बन्ध (सयोग) मे अतिव्याप्ति है, क्योकि सयोगसम्बन्ध सम्बन्धि के स्वरूप से जन्य होता है परन्तु व्याप्ति स्वरूप नही होता। सम्बन्धिस्वरूपाश्रितत्व रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि सयोगिस्वरूप के आश्रित घट-पट के सयोग मे व्यभिचार (अतिव्याप्ति) होती है। सम्बन्धिस्वभाव प्रयुक्तत्व रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि प्रयुक्तत्व शब्द से जन्यत्व की विवक्षा होने पर प्रथम पक्ष मे वर्णित दोष की प्राप्ति होती है। और सम्बन्धिस्वभाव से व्याप्यत्वप्रयुक्तत्व से विवक्षित हो, जैसे गुणवत्त्व से प्रयुक्त द्रव्यत्व है, तो (यद्यपि) अभी व्याप्ति की अनिरुक्ति से आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है (स्वाभाविक सम्बन्ध रूप व्याप्ति के निरूपण मे व्याप्ति का आश्रयण करना पडता है) अत एव सम्बन्धिव्याप्यत्व रूप चतुर्थ पक्ष भी युक्ति युक्त नही हो सकता है। व्याप्ति आश्रय को व्याप्य कहते है, अत आत्माश्रयता प्राप्त होती है। और भी दोष हे, क्योकि सम्बन्धि के स्वभाव से व्याप्यसम्बन्ध के व्याप्यत्व

व्याप्यत्वे सबन्धिनोस्तद्व्यापकत्वेनाभिमतयो क्वचित्तदधिकदेशकालावस्थानसभवेन सबन्ध विनाप्यवस्थानोपपत्तौ व्यभिचारात्तदेकतरदर्शनेनान्यतरानुमान न स्यात्। नापि पञ्चम , भूतलघटाभावयोर्विशेषणविशेष्यभावलक्षणसबन्धेऽतिव्याप्ते । तस्य परैस्तदतिरिक्तत्वानङ्गीकारात्। समवायतद्वतो सबन्धे च। रसाद्रूपानुमानादावेकार्थसमवायेऽव्याप्ते , तस्य सबन्धिस्वरूपातिरिक्तस्यापि व्याप्तित्वात्।

अतोऽनौपाधिक सबन्धो व्याप्तिरिति तृतीय कल्पो न युक्त , तत्रापि

त्यादिना। नच समव्याप्तितया व्याप्यत्वविवक्षायामदोष , रूपरसयोरेकार्थसमवायलक्षणव्याप्तौ तदभावात्, समवायस्य नित्यत्वेन द्रव्यादिपञ्चकवृत्तित्वेन च कालतो देशतो वा रूपरसाधिकवृत्तित्वात्। सबन्धिस्वरूपानतिरिक्तत्वमिति पञ्चमपक्षेऽप्यतिव्याप्तिमाह—**भूतलेति**। नच तस्य व्याप्तित्वम्, भूतलघटाभावयोर्व्यभिचरितत्वादिति भाव । तस्य च स्वभावानतिरिक्तत्वे पराङ्गीकारमाह—**तस्य परैरिति**। नचाभावान्तर्भाव , निष्प्रतियोगिकत्वात्, अभावत्वसमानाधिकरणत्वादभाव इति वार्दान्द्रमतेऽपि तद्व्यञ्जकतया सप्रतियोगिकत्व मन्तव्यम्, अभाव इति बुद्धेश्चात्रासिद्धत्वादिति भाव । अतिव्याप्त्युदाहरणान्तरमाह—**समवायेति**। तयोरपि स्वभाव एव सबन्ध । नच तयोर्व्याप्ति , भूतलादौ घटसयोगे तत्समवायाभावात्समवायेऽपि रूपादौ घटाभावादिति भाव । अव्याप्ति चाह—**रसादिति**। तत्र लक्षणाभाव दर्शयति—**तस्येति**। एव स्वाभाविक सबन्धो व्याप्तिरिति द्वितीय पक्षो निरस्त ।

तृतीय दूषयति—**अनौपाधिक इति**। **तत्रापीति**। अनौपाधिक सबन्धो हि

(व्याप्तित्व) होने पर, उसके व्यापक रूप से अभिमत सम्बन्धियो की कही उस सम्बन्ध से अधिक देश काल मे स्थिति के सम्भव से सम्बन्ध के बिना भी सम्बन्धी की स्थिति की सिद्धि होने पर व्यभिचार से सम्बन्धरहित सम्बन्धियो मे से एकके दर्शन से अन्य का अनुमान नही होगा। समव्याप्तिता रूप से व्याप्यत्वविवक्षा मे यह दोष नही होगा, ऐसा नही कह सकते है, क्योकि रूप, रस की एकार्थसमवाय रूप व्याप्ति मे उस समव्याप्तिता का अभाव है इत्यादि। सम्बन्धि-स्वभावानतिरिक्त रूप पञ्चम पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि भूतल और घटाभाव के विशेषण-विशेष्यभाव रूप सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति होती हे, अन्य लोग उसको स्वरूप से अतिरिक्त नही मानते है, व्याप्तिरहित समवाय और समवायवान् के सम्बन्ध मे भी अतिव्याप्ति होती है। इनका सम्बन्ध भी स्वरूप से अतिरिक्त नही माना जाता है, रस से रूपादि के अनुमान मे व्याप्ति रूप से विवक्षित एकार्थवृत्तिसमवाय मे अव्याप्ति होती है, क्योकि वह उभय सम्बन्धी स्वरूप से अतिरिक्त और व्याप्तिस्वरूप रहता हे।

उक्त हेतुओ से, (अनौपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति है) यह तृतीय पक्ष भी युक्त

सबन्धिनोर्दुर्निरूपत्वात्, इतरेतराश्रयप्रसङ्गाच्च। उपाधिर्हि साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक, एव च व्याप्तिसिद्धावुपाधिसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तद्रहितसबन्धस्य व्याप्तित्वसिद्धिरिति कथ नान्योन्याश्रयत्वम्? अथ मत साध्यव्यापकत्व नामोपाधेरदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वम् नतु वस्तुतो व्यापकत्वम्, तस्मान्नेतरेतराश्रयत्वमिति मैवम्, व्यभिचरित साध्यस्यापि वस्तुगत्यापाततोऽदृष्टव्यभिचारसाध्यत्वापत्तेस्तस्याप्युपाधित्वप्रसङ्गात्।

सबन्धिनिष्ठ, तथाच किं व्यक्तयोरित्यादिसबन्धिविकल्पदूषणानि समानानीत्यर्थ। दूषणान्तरमाह—**इतरेतरेति**। अत्र ह्यनौपाधिकत्वज्ञान व्याप्तेरुपाधिज्ञानाधीनमुपाधिज्ञान च व्याप्तिज्ञानाधीनमितितरेतराश्रय विवृणोति—**उपाधिर्हीति**। **व्याप्तिसिद्धाविति**। अव्यापकत्व व्यापकत्व च व्याप्तिज्ञानाधीनज्ञान, तत्प्रतियोगित्वादित्यर्थ। ननूपाधे साध्यव्यापकत्व नाम नाग्निमत्त्वादीनामिव व्याप्तिप्रतियोगि किंचिद्रूपम्, किं नाम? साध्येनादृष्टव्यभिचारित्वम्, तथा च नान्योन्याश्रयतेति शङ्कते—**अथ मतमिति**। अदृष्टव्यभिचार साध्य येनोपाधिना स उपाधिस्तथा, अत्र किमदृष्टव्यभिचारसाध्यत्व व्यभिचारदर्शनविषयत्वाभावमात्रम? किं वा व्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्वम्? नाद्य, वस्तुन माध्यव्यभिचारिण्यपि तददर्शनभभवेनोपाध्याभासे गततयातिव्यापकत्वादित्याह—**मैवम्। व्यभिचरितेति**। द्वितीय शङ्कते—**साध्येति**। एवविधसाध्यव्यापकत्व क्वापि न सभवति

नही है, क्योकि इस पक्ष मे भी सम्बन्धियो की दुर्निरूपता है, अनौपाधिक सम्बन्ध, सम्बन्धी मे रह सकता है, वह सम्बन्धी व्यक्ति है या जाति है, इत्यादि विकल्प यहाँ भी हो सकता है। इससे सम्बन्धियो की दुर्निरूपता होती है। ओर इतरेतराश्रय = अन्योन्याश्रय, की प्राप्ति भी है, क्योकि साधन का अव्यापक होता हुआ साध्य का जो व्यापक हो उसको उपाधि कहा जाता है, तो इसप्रकार से व्याप्ति की सिद्धि होने पर उसके ज्ञानपूर्बक उपाधि की सिद्धि हो सकती है। और उपाधि की सिद्धि होने पर उस उपाधि से रहित सम्बन्ध रूप व्याप्ति की सिद्धि हो सकती है (उपाधिरहित सम्बन्ध के व्याप्तित्व का ज्ञान हो सकता है) तो इसप्रकार से अन्योन्याश्रयता कैसे नही होगी। यदि मत हो कि उपाधि को साध्यव्यापक कहने से वस्तुत उपाधि की साध्यव्यापकता नहो विवक्षित हे, किन्तु साध्य के साथ उपाधि के अदृष्ट व्यभिचारवत्त्व का नाम साध्यव्यापकत्व हे (न दृष्टो व्यभिचार साध्येन मह यस्य स उपाधि) यह तात्पर्य है। अत इतरेतराश्रयत्व नही है, तो ऐसा मानना युक्त नही, क्योकि इसप्रकार से वस्तुत व्यभिचरित साध्य वालो के भी आपातत अदृष्ट व्यभिचार साध्यत्व की प्राप्ति से उसको भी उपाधित्व की प्राप्ति होगी। अर्थात् जो साध्य का व्यभिचारी हो परन्तु व्यभिचारप्राय दृष्ट नही

साध्यव्यभिचारदर्शनविषयत्वात्यन्ताभाववत्त्व विवक्षितमिति चेत्, न, तस्य दुरवधारणत्वात्। नहि देशान्तरे कालान्तरे पुरुषान्तरे वा तयोर्व्यभिचार दर्शन न भविष्यतीत्येवेति शक्य विज्ञातुमसर्वज्ञेन। कि च व्याप्तिग्रहण समयेऽग्निमत्त्वादेर्निश्चितत्वेन साध्यत्वाभावात् साध्यव्यापक उपाधिरिति निर्धारयितुमशक्यम्। व्यापकत्वमिह साध्यशब्देन विवक्षितमिति चेत्, न, व्याप्त्यनवगमे व्यापकत्वानिरुक्ते।

एतेन साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व साध्यव्यापकत्व साधन-वन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व साधनाव्यापकत्वमित्याधुनिकाना वक्र-

---

दुरवधारणत्वादित्याह—**न तस्येति**। किंच साध्यव्यापक इत्यत्र किमिद साध्यत्वम् विवक्षितम? किं सिषाधयिषितत्वम्? कि वा व्यापकत्वम्? नाद्य, उपाधेरग्नि-मत्त्व प्रति व्यापकत्वनिश्चयसमये महानसादावग्निमत्त्वादे सिद्धत्वेन साध्यत्वाभावा-दित्याह—**किं चेति**। द्वितीय शङ्कते—**व्यापकत्वमिति**। धूमवत्त्वादि प्रति यदिद व्यापकत्वमग्नित्वादेस्तदेव तस्य साध्यत्व विवक्षितमित्यर्थ। तत्र लक्षणवाक्यस्ये-दृशोर्थ पर्यवस्यति। व्याप्याव्यापको व्यापकव्यापक उपाधिरिति। तथाच व्याप्ति-ज्ञाने उपाधिज्ञानम् उपाधिज्ञाने च व्याप्तिज्ञानमिति स एव दुरात्मा परस्पराश्रय परावृत्त इत्यभिसन्धिराह—**न व्याप्त्यनवगम इति**।

यत्त्वत्र शिवादित्यमिश्रेण परिहारोऽभिहित परस्पराश्रयस्य, तत्राप्युक्त दूषण मतिदिशति—**एतेनेति**। साध्यवद्यत्स्थल तन्निष्ठात्यन्ताभवस्तदप्रतियोगित्व न-

---

हो तो वह भी उपाधि होता, और ऐसा होता नही ह, यदि कहे कि साध्य के साथ व्यभिचार दशन के विषयत्व के अत्यन्ताभाववत्व विवक्षित है, तो यह भी नही कह सकते है, क्योकि ऐसे उस साध्यव्यापकत्व मे दुरवधारणता है, उस साध्य और उपाधि का देशान्तर, कालान्तर और पुरुषान्तर मे भी व्यभिचार का दर्शन अन्यत्र नही होगा, इसप्रकार से असवज्ञ कोई जान नही हो सकता है। और व्याप्ति-ग्रहण के समय अग्निमत्त्वादि के निश्चित हो जाने से साध्यत्व का वह्निपत्त्व में अभाव हो जाता हे, अत साध्य का व्यापक ऊपाधि होता ह, यह निर्णय = निश्चय, करना अशक्य हे। और (साध्यव्यापक उपाधि होता हे) यहाँ साध्य शब्द से व्यापकत्व विवक्षित हे, अत व्याप्तिग्रहण के समय निश्चित होने पर भी कोई हानि नही है। ऐसा भी नही कह सकते है, क्योकि व्याप्ति के ज्ञान के अभाव रहते व्यापकत्व की भी निरुक्ति नही हो सकती है, अत साध्य के स्थान मे व्यापक भी नही कहा जा सकता है।

इस पूर्वोक्त रीति से साध्य-साधन की अनिरूक्ति से ही साध्यवान् पर्वतादि मे रहने वाले घटादि के अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगित्व ही, (धूमवान् वह्ने) इस

नयोऽपि निराकृत , साध्यसाधनयोरनिरुक्तेरेव । तद्रूपेण सभावितत्वमुभयत्रापि विवक्षितमिति चेत्, मैवम्, तद्रूपस्यानिरुक्तौ तद्रूपेण संभावितत्वस्यापि दुर्भणत्वात् ।

वर्तमानत्व साध्यव्यापकत्वम्, तथा साधनवद्यत्तन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व तत्रावर्तमानत्व साधनाव्यापकत्वमिति योजना । अस्यापि साध्यसाधनगर्भत्वात् न तत्प्रयुक्तपूर्वोक्तदोष शक्यपरिहार इत्याह—**साध्यसाधनेति** । एतेन 'साध्यकृत्स्नसहचारिण साधनैकदेशवृत्तित्वमुपाधित्व'मिति लीलावतीकारलक्षणमपि निरस्तम्, साध्यसाधनशब्दार्थानिरुक्तेरेव । ननु यद्यपि व्याप्तिनिर्णयदशाया साध्यत्व साधनत्व च नास्ति, तथापि तद्रूपेण सभावितत्व विवक्षितम, तच्च तदानीमप्यस्त्येवेति शङ्कते—**तद्रूपेणेति** । विद्यमानस्य खलु सभावना प्रमितिर्वा, न च व्याप्तिग्रहणदशाया साध्यत्वमप्यस्तीति केनाकारेण सभावनापि स्यात्, नापि व्यापकतया, परस्पराश्रयत्वादित्यर्थ । अथ वा सर्वोपसहारवद्व्याप्तिग्रहणसमय एव धूमवत्त्वाग्निमत्त्वयो सर्वत्र सिद्धत्वेन साध्यसाधनभावस्य दुर्निरूपतया सभावनाया सुतरामसिद्धेरित्यर्थ । किंच साध्यसाधनशब्दाभ्यामविशेषेण साध्यसाधनविवक्षा ? तद्विशेषविवक्षा वा ? नाद्य, साधनस्यापि यत्किंचित्प्रति साध्यतया तद्व्यापकत्वे साधनाव्यापकत्वव्याकोपात्, तथा साध्यस्यापि यत्किंचित्प्रति साधनतया तदव्यापकतया साध्यव्यापकत्वव्याकोपात् । नापि द्वितीय, तथा सति धूमवत्त्वाव्यापकोऽग्निमत्त्वव्यापक उपाधिरित्युक्त स्यात, तथा च नानुगतलक्षणसिद्धि । नच विशेषलक्षणत्वाददोष, सामान्यलक्षणासिद्धौ तदसिद्धे । नचात्यन्ताभावप्रतियोगिधर्मत्व सामान्यलक्षणम्, व्यर्थविशेषणत्वात् । नच प्रमेयत्वादिव्यवच्छेदार्थमत्यन्ताभावप्रतियोगित्वविशेषणम्, तस्याप्यन्ताभावप्रतियोगित्वात्, अन्तत स्वस्मिन्नेवाभावात, आत्माश्रयप्रसङ्गात् । नचोत्पत्तिज्ञप्तिप्रतिबन्धकस्यैव तस्य दूषणता, सकोचे प्रमाणाभावात्, नियतानुपलब्धेरुभयत्र समानत्वात् । नच केवलान्वयिनाभङ्गप्रसङ्ग , इष्टत्वात,

---

अनुमान मे आर्द्रेन्धनसयोग को साध्यव्यापकत्व है, और साध्यवान् तप्त अय-पिण्ड मे वृत्ति अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व साधनाव्यापकत्व है । इसप्रकार के आधुनिको के वक्रन्याय भी निराकृत हो गया । यदि कहे कि साध्यव्यापक और साधनाऽव्यापक इन दोनो स्थानो मे साध्यत्वेन सम्भावितत्व, और साधनत्वेन सम्भावितत्व विवक्षित है, अत अभी साध्यत्व, साधनत्व के निश्चय नही होने पर भी सम्भावित के रहने से उपाधि का ज्ञान हो सकता है, तो ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि कही सिद्ध ज्ञात की ही कही अन्यत्र सम्भावना होती है, और साध्य-साधन स्वरूप के सर्वथा अनिरुक्ति असिद्धि रहते, उनके साध्यत्व-साधनत्व रूप मे सम्भावित्व को भी दुर्भणत्व (दुर्वाच्यत्व) है ।

भवतु नाम या काचन व्याप्ति, तस्या व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरेष्टव्येत्यात्माश्रय। सत्यामेव व्याप्तावनुमितिभावादसत्यामभावात्। किच तद्व्याप्तिग्राहक प्रमाणम्?

न प्रत्यक्षमशक्यत्वान्नानुमाप्यनवस्थिते।

केवलान्वयिनि प्रमाणाभावात्। नहि प्रमेयत्वादीना सकलवस्तुनिष्ठत्वे प्रत्यक्षप्रमाणमस्ति, अस्मदादेरसकलवेदितृत्वात्, सर्ववेत्तुश्च तद्विषयप्रमाणेऽस्मदादीना प्रमाणाभावात्। नाप्यनुमानम्, अप्रसिद्धविशेषणतादिदोषप्रग्रासात्। सकलवस्तुनिष्ठत्व प्रमेयत्वादिनिष्ठमित्यादेश्चाश्रयासिद्धत्वात्। सकलवस्तूनि प्रमेयत्वाधार इत्यादेश्चासिद्धिर्दृष्टान्ताभावग्रस्तत्वात्। किंच धूमानुमाने तत्साधनाव्यापकस्तत्साध्यव्यापकश्च कश्चिदुपाधि प्रमिति? न वा? आद्येऽनुमानभङ्ग। द्वितीये प्रतियोग्यप्रमित्या निरुपाधिकसबन्धरूपव्याप्त्यसिद्धि। यावन्त एतत्साधनाव्यापकास्तावन्त एतत्साध्य प्रत्यप्यव्यापका यावन्तश्चैतत्साध्यव्यापकास्तावन्त एतत्साधन प्रत्यपि व्यापका इति साधिते भवत्युपाधेरुद्धार इति चेत्, एतावतापि परिश्रमेण कि प्रतियोगिप्रमितिरापादिता? नवा? इत्यात्मनि परिभावयेत्यलमतिकलकलेन। विध्वमिते च निश्चितोपाधौ शङ्कितोपाधिरिदानी ध्वस्यत एवेति मन्तव्यम्। क्वचिदप्यनिश्चितस्य सशयायोगात्।

एव व्याप्तिलक्षण दूषयित्वात्माश्रयादितर्कबाधादपि व्याप्तेरनुमित्यङ्गत्वासिद्धिमाह—**भवतु नामेति**। व्याप्तेरनुमितेश्च व्याप्तिरस्ति? न वा? यदि न, तदा तामन्तरेणाप्यनुमितिरुदियात्। अथास्ति तदा सैव व्याप्तिस्तत्र वर्तते तदात्माश्रय ज्ञप्तौ चायम्, अथान्या तत्रान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थाश्चेति भाव। एष्टव्या च व्याप्तिरित्याह—**सत्यामिति**। नच व्याप्तौ प्रमाणमपि किंचन निरूपयितु शक्यमित्याह—**किचेति**। सभवत्प्रमाणानि श्लोकाभ्या निरस्यति—**न, प्रत्यक्षमित्या-**

जो कोई व्याप्ति नामक हो, परन्तु उस व्याप्ति की और अनुमिति की व्याप्ति मन्तव्य होगी। अनुमिति की व्याप्ति मे सम व्याप्ति मानना होगा, क्योकि सम व्याप्ति नही हो तो व्याप्ति के विना भी अनुमिति का उदय होगा, और यदि व्याप्ति ह और व्याप्ति की व्यक्ति एक है तो आत्मा अपने मे रहती है, इससे आत्माश्रय होगा, सो ज्ञान मे और स्थिति मे दोनो मे आत्माश्रय प्राप्त होगा; अन्य व्याप्ति मानने पर अन्योन्याश्रयादि प्राप्त होगे। और उस व्याप्ति को माने बिना निर्वाह नही हे, क्योकि व्याप्ति के रहते ही अनुमिति का भाव होता हे, व्याप्ति के नही रहने पर अनुमिति का अभाव होता हे। और व्याप्ति को मानने पर उस व्याप्ति का ग्राहक प्रमाण क्या ह, यह भी निर्णय नही हो सकता हे। क्योकि—

अशक्य होने से प्रत्यक्ष व्याप्तिग्राहक नही है, अनवस्था से अनुमान नही है।

नागमस्तदृते भावान्नोपमाऽतत्प्रमेयत ॥ २५ ॥
नार्थापत्तिरनन्यत्वादनुमाफललोपनात् ।
नाभावो दुर्निरूपत्वान्न तर्कस्तर्कबाधनात् ॥ २६ ॥

न तावत्प्रत्यक्ष व्याप्तिग्राहकम्, सर्वव्यक्तिनिष्ठस्यान्वयस्य व्यतिरेकस्य वा सर्वव्यक्तीनामग्रहे ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहे वाऽनुमानस्य वैयर्थ्यात्। नाप्यनुमानम्, अनवस्थानात्—अन्तरेण व्याप्तिग्रहमनुमानानुदये तत्तद्-व्याप्तिग्राहकानुमानपरम्पराया दुर्वारत्वात्। नाप्यागम, वेदाप्तवचनाक-

---

दिना। सवव्यक्तिनिष्ठव्याप्तेरसवज्ञन ग्रहीतुमशक्यत्वान्न प्रत्यक्षम्तदावगम। नाप्यनुमानम्, अन्योन्याश्रयात्। अथान्यैवानुमानगना व्याप्तिस्तर्हि नत्राप्यनुमानान्तरमेव तद्व्याप्तावपीत्यनवस्था स्यात्। नाप्यागम, आगमव्यापारव्यतिरेकेणापि पामरपशुशकुन्तादीनामनुमित्युदयात्। नाप्युपमानम्, तस्य सादृश्यविषयतया सज्ञासज्ञिसबन्धविषयतया चैतादृशाना तत्प्रमेयत्वाभावात्। नाप्यर्थापत्ति, अनुमानानन्यत्वात्। अथ परमतेन पार्थक्यम्, तथैवानुमानफलस्याग्निमत्त्वस्यापि सिद्धि, शक्नोति ह्यग्निव्यतिरेकेण धूमोऽनुपपद्यमानस्त कल्पयितुमित्यनुमानफललोप स्यात्। नाप्यभाव, यस्य कस्यचिद्वा सर्वेषा वा योग्यानुपलब्धेर्वा अनुपलब्धिमात्राद्वा दुर्निरूपत्वात्। नापि तर्क, तस्य व्याप्तिमूलत्वेऽनवस्थालक्षणतर्कबाधनात्, अतन्मूलत्वे तर्काभासतया तर्कबाधनात्। भावपरो निर्देश इति श्लोकार्थ।

सग्रह विवृणोति—**न तावदित्यादिना।** अनवस्थामेव विवृणोति—**अन्तरे-**

आगम के बिना भी अनुमिति होती है, अत आगम भी नही है। उपमान का तो यह विषय नही है ॥ २५ ॥

अर्थापत्ति अनुमान से अनन्य है, अर्थापत्ति को माने तो अनुमान के फल का लोप होता है। दुर्निरूप होने से अभाव = अनुपलब्धि नही है। तर्क से बाध होने से तर्क व्याप्तिग्राहक नही है ॥ २६ ॥

अर्थात् प्रथम प्रत्यक्षप्रमाण व्याप्ति का ग्राहक नही है, क्योकि सर्वसाध्यसाधन-व्यक्तिवृत्ति अन्वय वा व्यतिरेकव्याप्ति का सर्वव्यक्ति के ग्रहण बिना ग्रहण होना अशक्य है, और सर्वव्यक्ति का प्रत्यक्ष से ग्रहण हो तो अनुमान निष्फल होगा, क्योकि पर्वतवृत्ति अग्नि आदि का प्रत्यक्ष मे ही ज्ञान हो जायगा। अनुमान भी व्याप्तिग्राहक नही हो सकता है, क्योकि अनवस्था की प्राप्ति होती है। व्याप्ति-ज्ञान के बिना अनुमान का उदय नही होगा, अत उसको दूसरे व्याप्ति की अपेक्षा होगी। उस दूसरी व्याप्ति का भी अनुमान से ग्रहण होगा, तो उस अनुमान को तीसरी व्याप्ति की अपेक्षा होगी, इसप्रकार से तत्तत् व्याप्ति के ग्राहक अनुमान का परम्परा दुर्वार होगा। आगम भी व्याप्तिग्राहक नही हो सकता है, क्योकि

णनविधुराणामपि व्याप्तिदृष्टिदृष्टेः । नाप्युपमानम्, तस्य सादृश्यमात्रविषयतया व्याप्तिज्ञप्तावजागरूकत्वात् । नाप्यर्थापत्तिः, तस्या अनुमानानतिरेकात् । अतिरेकेऽपि तयानुमानावसेयार्थाधिगतेरनुमानस्यानुदयप्रसङ्गात् । तथा हि—व्यापकव्यतिरेकेण व्याप्यस्यानुपपत्तिरिहार्थापत्तिरभिमता, तथा च तयैवानुपपत्त्या लिङ्गिनोऽधिगतौ कृतमनुमानेन । नाप्यभावः, एवं हि स प्रमाणयितव्यः—यदि वह्निधर्मिव्यतिरेकेण धूमः स्यात्तदा तथोपलम्भः स्यात्तदभावान्नायं तद्व्यतिरेकेणेति । तच्च न । तथा हि—किं सर्वेषां व्यभिचारानुपलम्भः ? किं वा स्वस्यैवानुपलम्भः ? उत योग्यानुपलम्भः ? नाद्यः, सर्वानुपलम्भस्य निश्चेतुमशक्यतया संशयानिवृत्तेः । न

णेति । वेदाप्तवचनेति विभागो मीमांसकमतेन । **अजागरूकत्वात्** । अप्रबुद्धत्वादित्यर्थः । अभावस्यात्रासम्भवं दर्शयितुं तत्प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति—**एवं हीति** । **तथेति** । वह्निरहिततयेत्यर्थः । **तद्व्यतिरेकेणेति** । वर्तत इति शेषः । **स्वस्येति** । प्रतिपत्तुरित्यर्थः । स्वानुपलम्भपक्षेऽप्यनुपलम्भमात्रात् ? उत योग्यानुपलम्भादित्याह—

वेद-वचन और लौकिक आप्त वचन के श्रवणरहितों को भी व्याप्ति दृष्टि (ज्ञान) देखी जाती है । उपमान भी व्याप्ति का ग्राहक नहीं होता है, क्योंकि उपमान के सादृश्य मात्र विषयक होने से व्याप्तिज्ञान में वह प्रबुद्ध प्रवृत्त नहीं होता है । अर्थापत्ति भी व्याप्तिग्राहक प्रमाण नहीं होता है, क्योंकि वह अनुमान से भिन्न नहीं है । यदि उसको अनुमान से भेद हो तो उसीसे (अनुमान से) ज्ञेय अर्थ के ज्ञान हो जाने के कारण अनुमान का अनुदय (अभाव) प्राप्त होगा । क्योंकि व्यापक के बिना व्याप्य की अनुपपत्ति, यहाँ अर्थापत्ति अभिमत (स्वीकृत) होगी । और ऐसा होने पर उस अर्थापत्ति से ही लिङ्गी (साध्य) के ज्ञान होने पर, अनुमान का क्या फल होगा । अभाव (अनुपलब्धि) भी नहीं प्रमाण हो सकता है । क्योंकि वह इसप्रकार प्रमाण रूप से मन्तव्य होगा कि, यदि अग्निरूप धर्मी = कारण = आश्रय के व्यतिरेक = अभाव रहते भी धूम रहता, तो वैसा=अग्नि के बिना भी उस धूम का, उपलम्भ = ज्ञान, होता, परन्तु अग्नि के बिना धूम का ज्ञान नहीं होता है, अतः धूम अग्नि के बिना नहीं रहता है । इसप्रकार से वह अनुपलब्धि प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि अग्नि के साथ धूम के व्यभिचार का अनुपलम्भ सब को होता है, तब वह प्रमाण होता है, या केवल ज्ञाता को अनुपलम्भ होता है, ज्ञाता का भी अनुपलम्भ मात्र अपेक्षित है, या योग्यानुपलम्भ अपेक्षित हैं, इनमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योंकि सबके अनुपलम्भ का निश्चय होना अशक्य है, धूम के व्यभिचार को कोई नहीं जानता है, ऐसा ज्ञान होना अशक्य है । अतः व्यभिचार के अनुपलम्भ के संशय की निवृत्ति नहीं होगी, न वह प्रमाण होगा । दूसरा पक्ष

द्वितीय, व्यभिचारात्। नहि नगरगतेन स्वेनानुपलब्धमित्येतावतारण्यकोपलब्धगवयादेरपलापसंभव। नापि तृतीय। सार्वत्रिकयोग्यानुपलब्धेरसंभवात्। उक्त च लीलावतीकारेण—

"सर्वादृष्टेश्च सदेहात्स्वादृष्टेर्व्यभिचारत।
योग्यादृष्टेरसत्वाच्च प्रतिबन्धो न सिध्यति॥"

इति (न्या० ली० पृ० २५२)

नापि विपक्षबाधकतर्कात्। तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेनानवस्थानात्, अतन्मूलत्वे च मूलशैथिल्येन तर्काभासत्वात्। अथ मतम्, यदि धूमोऽग्नि

उक्तेति। व्यभिचारादिति। स्वानुपलम्भमात्रस्यार्थाभावेन नियमाभावादित्यर्थ। व्यभिचारमेवाह—**न हीति।** योग्यानुपलब्धिपक्ष दूषयति—**नापीति। उक्तं चेति।** उपाधिविधूननेन प्रतिबन्धसिद्धिमीश्वरानुमाने समर्थयता "कार्यमात्रस्य कारणमात्रेणापि सबन्ध उपाधिविधूननेन" इत्युक्त्वा विपक्षबाधात्तत्र व्याप्तिसिद्धिमाशङ्क्य व्याप्त्यसिद्धावुक्ताया सहेतुकत्वकादाचित्कत्वयोर्व्यभिचारानुपलम्भाद्व्याप्तिसिद्धिमाशङ्किता परिहृतेति शेष।

अन्तिमपक्ष निराकरोति—**नापीति।** यदि व्याप्तिमूलस्तर्कस्तदा तद्व्याप्तावपि तर्कान्तरमेषितव्यमित्यनवस्था। इतरथा प्रशिथिलमूलत्वमित्यर्थ। तत्र यथा तर्कानवस्था नावतरति तथा कुसुमाञ्जलावुदयनेन बाधकस्तर्कोऽभिहितस्तमुद्भावयति—**अथ मतमिति।** यद्यदकारणक तत्सदेकरूपमसदेकरूप वा। आकाशवत्तत्कुसुमवच्च।

भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि एक किसी ज्ञाता के व्यभिचार के अनुपलम्भ से व्यभिचार का अभाव नही सिद्ध हो सकता है, जैसे नगरगत ज्ञाता से अनुपलब्ध हुआ गवयादि, इससे आरण्यक = वनवासी से उपलब्ध गवयादि का अपलाप नही हो सकता है, इसीप्रकार मे किसी ज्ञाता ने धूम के व्यभिचार को नही देखा, इससे व्यभिचाराभाव का या व्यभिचार के अनुपलम्भ का निश्चय नही हो सकता है। तीसरा पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि सर्वदेशकालवृत्ति योग्यानुपलब्धि का असम्भव है। लीलावतीकार ने कहा है—

सब की अदृष्टि = व्यभिचारानुपलब्धि का सशय रहता है, अपनी ज्ञाता की अनुपलब्धि का व्यभिचार हो सकता है, धूम मे व्यभिचार रहते भी उसकी अनुपलब्धि हो सकती है, और योग्यानुपलब्धि का अभाव है, अत अनुपलब्धि से व्यभिचाराऽभाव रूप प्रतिबन्ध (व्याप्ति) नही सिद्ध हो सकता है।

विपक्षबाधक तर्क से भी व्याप्ति की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि तर्क के व्याप्तिमूलक होने से अनवस्था होगी, अन्य व्याप्ति से तर्क की सिद्धि होने पर वह तर्क व्याप्ति का साधक होगा, तो तर्क का साधक व्याप्ति भी अन्य तर्क से

व्यभिचरेदकारणं सन्नित्यं स्यात्, न स्यादेव वा, न तु कदाचित्स्यात्। नच विनापि कारणं कार्यं शङ्कितुं शक्यम्, व्याघातात्—तदेव हि कार्यं यत्कारणाधीनस्वात्मलाभम्, अतः कार्यं च कारणरहितं चेति व्याघातः। तदेव चाशङ्कितव्यं यस्मिन्नाशङ्क्यमाने क्रियाव्याघातादयोपि नावतरन्तीति, मैवम्, अस्यापि तर्कस्य व्याप्तिमूलत्वेन तदसिद्धावसिद्धेः। तथाहि—यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकमिति व्याप्तौ सिद्धायां यदकारणं तन्नित्यं स्यादिति

तदिह यदि धूमाग्निं व्यभिचरेदकारणतया नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरत्वप्रसक्तिरित्यर्थः। उक्तं हि—

'नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा हेतोरन्यानपेक्षया।
नियामकाद्धि भावना कादाचित्कत्वसम्भवः' ॥ १ ॥ इति ॥

नन्वकारणकस्यापि सदातनत्वेन व्यभिचारशङ्कायां किमुत्तरमिति, तत्राह—**न च विनेति**। व्याहतिमेव दर्शयति—**तदेव हीति**। यो व्याघातादपि न बिभेति, तं प्रत्याह—**तदेव चेति**। यदि हि कारणं विना कार्योत्पादस्तदा परप्रत्ययोत्पादनार्थम् सामग्रीप्रयोगो व्याहतः। सेयमत्र क्रियाव्याहतिः। आदिशब्दान्मूकोऽहमिति वचनव्याहतिः स्वभावव्याहतिश्च सगृह्यते। उक्तं च तेनैव—

'शङ्का चेदनुमास्त्येव नो चेच्छङ्का ततस्तराम्।
व्याघातावधिराशङ्का तर्कः शङ्कावधिर्मतः ॥' इति (न्या० कु० ३।७)।

एवमपि पूर्वोक्तदोषो दुष्परिहर इत्याह—**मैवमिति**। ननु किमिति कार्यस्य

सिद्ध होगी। इसप्रकार से व्याप्ति तर्क की अनवस्था होगी। और तर्क यदि व्याप्तिमूलक नहीं होगा, तो तर्काऽऽभास होगा, क्योंकि मूल की शिथिलता से तर्काभासता होती है। यदि मत = तर्क हो कि, यदि धूम अग्नि का व्यभिचार वाला होगा, तो कारणरहित होता हुआ नित्य होगा या नहीं होगा, कादाचित्क नहीं होगा। कारण के बिना कार्य की शंका भी होने के योग्य नहीं है, क्योंकि व्याघात=विरोध प्राप्त होता है, वही कार्य होता है कि जो कारणाधीन अपने स्वरूप का लाभ करता है। अतः कार्य है और कारण रहित है, यह कहना ही विरुद्ध है। वही आशङ्का भी कर्तव्य है कि जिस आशङ्का के करने पर क्रिया विरोधादि की प्राप्ति नहीं हो सके। यह तर्क भी ऐसा युक्त नहीं, क्योंकि इस तर्क के भी कार्यकारणभाव के व्याप्तिमूलक होने से उस व्याप्ति की सिद्धि के बिना इस तर्क की सिद्धि नहीं हो सकती है, किन्तु, 'यत्कार्यं तत्कारणपूर्वकम्', जो कार्य होता है वह कार्यपूर्वक ही होता है, इस व्याप्ति की सिद्धि होने पर, जो कारणरहित होगा, वह नित्य होगा, इस प्रसङ्ग का अवसर आता है, और वह व्याप्ति ही अभी सिद्ध नहीं हुई है। क्योंकि व्याप्ति के आश्रय के ग्रहण से व्याप्ति का ग्रहण हो सकता है, और व्याप्ति

प्रसङ्गप्रसरात्, सैवाद्यापि न सिद्धा। सर्वकार्यकारणव्यक्तिग्रहणस्याशक्यत्वात्, कतिपयव्यक्तिग्रहणे चादृष्टवज्रस्य पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरिव व्याप्तेरनिश्चयात्। नन्वेवभूतोपि व्यभिचारो यत्र न दृश्यते, कतिपयव्यक्तिषु सहभाव प्रदृश्यते, न चोपाधिर्निरूप्यते, तत्र व्याप्तिर्निश्चीयते, तत्रैवसति, "अन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्र चानुमितिरिति। एव च षण्डकमुद्वाह्य मुग्धाया पुत्रप्रार्थनमिव" इति वाचस्पतेरुपालम्भोऽप्यनवकाश,

---

कारणेन व्याप्तिरसिद्धेति, तत्राह—**सर्वकार्येति**। ननु कतिपयव्यक्तिग्रहणेऽपि किमिति व्याप्त्यसिद्धि, तत्राह—**कतिपयेति**। तथाहि—विमत लोहलेख्य पार्थिवत्वादित्यत्र स्तम्भादिकतिपयव्यक्तौ व्यभिचारादर्शनेपि न व्याप्तिनिश्चय। प्रशिथिलावयवारब्धत्वोपाधिहतत्वात्। ननु तत्र वज्रमणौ व्यभिचारदर्शनादेव व्याप्त्यनिश्चय, न पुन सर्वव्यक्त्यपरिज्ञानात्, नचेह तथा व्यभिचारदर्शनमिति, तत्राह—**अदृष्टवज्रस्येति**। येन हि हीरमणिर्न दृष्टस्तेन यो व्याप्त्यनध्यवसाय स सर्वव्यक्त्यदर्शननिमित्त। अध्यवसाये च भ्रान्तिमात्रत्वादित्यर्थ। कतिपयव्यक्तिग्रहणमपि व्याप्तिग्रहणोपाय नवीनमतावलम्बनेन शङ्कते—**नन्वेवमिति**। तत्कि हिसात्वानर्थसाधनत्वयोरपि व्याप्तिरस्तु, अस्ति चात्र रूपद्वयमिति, तत्राह—**न चोपाधिरिति**। स्यादेतत्कतिपयव्यक्तिषु व्याप्तिग्रहणेऽनुमेयस्थले व्याप्तेरग्रहादन्यत्र व्याप्तिरन्यत्रानुमानमिति स्यात्, तथा च गृहीतापि यथावृत्ति व्याप्तिरनुमित्यसमर्थेति वाचस्पत्युक्तोपालम्भप्रसङ्ग इति, तत्राह—**तत्रैवं सतीति**। षण्डक षण्ड तत्र षण्डक स्त्रा-

---

के आश्रय सब कार्यकारण व्यक्तियो का ग्रहण होना अशक्य है। और कतिपय व्यक्तियो (कुछ कार्यकारणो) के ग्रहण होने पर भी व्याप्ति का निश्चय नही हो सकता है कि जैसे वज्रमणि (हीरा) को नही देखने वाले को पार्थिवत्व और लोहलेख्यत्व की व्याप्ति का निश्चय नही होता है। अर्थात पार्थिव वस्तु, लोहलेख्य है, पार्थिव होने से, ऐसा निश्चय का अभाव उसको सर्वपार्थिव वस्तु के अज्ञान निमित्तक होता है, वज्रमणि के दर्शन निमित्तक नही, क्योकि वज्रमणि को उसने वह देखा ही नही है, और यदि उसको निश्चय होता है, तो भ्रमरूप होता है। इत्यादि। यदि कहा जाय कि जैसे पार्थिवत्व लोहलेख्यत्व का वज्रमणि मे व्यभिचार देखा जाता है, पार्थिवत्व रहते भी वहाँ लोहलेख्यत्व नही रहता है, ऐसा भी व्यभिचार जहाँ नही दीखता हो, और कतिपय व्यक्तियो मे सहभाव = सहचार दीखता हो, कोई उपाधि भी नही दीखता हो, वहाँ व्याप्ति निश्चित होती है, क्योकि वहाँ (अन्यत्र महानसादि मे) व्याप्तिग्रहण हो अन्यत्र (पर्वतादि) मे अनुमिति हो, यह ऐसी कामना है कि जैसे कोई मुग्धा स्त्री नपुसक से विवाह करके उससे पुत्र के लिये प्रार्थना करती हो। इस वाचस्पति के उपालम्भ (निन्दा) का भी

व्याप्ते सर्वत्रैकत्वात्तस्याश्च कतिपयव्यक्तिषु गृहीतत्वात्। गृहीतव्याप्तिकलिङ्गसामर्थ्यादेव सदिग्धसाध्यधर्मिणि व्यापकस्यापि प्रतीति सिद्धेति चेत, मैवम्, व्यभिचारादर्शनस्योपाध्यनिरूपणस्य च दुर्निरूपत्वात्, सर्वादृष्टेश्च सदेहादिति न्यायस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। उपाधेश्च व्याप्तिनिरूपणमन्तरेण दुर्निरूपत्वस्य दर्शितत्वात्। किच विनापि धूमध्वज धूमोऽन्यस्मादपि हेतोर्भविष्यतीति शङ्काया क प्रतीकार ? अथ मन्यसे विभिन्नसामग्रीजन्यत्वे धूमस्यैकजातीयताप्रतीतिर्न स्यादिति, मैवम्, इन्द्रियलिङ्गा-

समर्थ समर्थश्च न वृत्तस्तद्वदित्येतावत्यय दृष्टान्त, तत्तु योगभाष्यकृदभिप्रायेण। ननु तथापि कथमन्यत्र व्याप्तिग्रहणमन्यत्रानुमानमिति, तत्राह—**गृहीतेति**। स्यादेव यदि व्यभिचारो न दृश्यत उपाधिश्च न दृश्यते इत्ययमर्थ सिद्धयति, स एव दु साध्य इति परिहरति—**मैवमिति। उभयत्रापीति**। व्यभिचारवदुपाधावपि सर्वादर्शनेन यस्य कस्यचिद्वेत्यादेस्तुल्यत्वादित्यर्थ। उपाधावधिकमप्याह—**उपाधेरिति**। एव व्याप्त्यसिद्धया तर्काप्रवृत्तिमुक्त्वा धूमस्याग्निव्यभिचारशङ्कायामकारणकत्वापत्त्या व्याघातोऽप्यापादयितु न शक्यत अन्यस्मादप्युत्पत्तिसम्भवेन विरोधासिद्धेरित्याह—**किचेति**। स्यादेतद् यद्यन्यस्मादपि धूमोत्पत्तिस्तर्हि परिदृश्यमानधूमानामेकावान्तरजातीयता न स्यात्। कार्यैकजात्यस्य कारणैकजातिनियमात्, अन्यथा तदैकजात्यस्याकस्मिकत्वप्रसङ्गात्। अत एव हि तृणारणिमणिभ्योऽप्युत्पद्यमानदहनेष्ववान्तरजातिभेदकल्पनमिति, तदेतदुद्भावयति—**अथ मन्यस इति**। नियम एवायमसिद्ध इति परिहरति—**मैवमिति**। अस्ति तावत्सर्वज्ञानेषु ज्ञानैकजात्यम्, नचात्रानुगतमनतिप्रसङ्गि

अवसर नही रहता है, क्योकि व्याप्ति के सर्वत्र एक होनेसे और के कतिपय व्यक्तियो मे गृहीत होने से गृहीत व्याप्ति वाले लिङ्ग से ही सन्दिग्धसाध्य वाले धर्मी = पक्ष, मे व्यापक साध्य की प्रतीति (अनुमिति) सिद्ध होती है। ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योकि व्यभिचारादर्शन और उपाधि का अनिरूपण (अदर्शन) की दुर्निरूपता है। 'सर्वादृष्टेश्च सन्देहात्' इस न्याय की दोनो मे तुल्यता है, सर्व व्यक्ति के ग्रहण नही होने से व्यभिचार और उपाधि का सशय हो सकता है। और व्याप्ति के निरूपण के बिना उपाधि की दुर्निरूपता को प्रथम दर्शाया गया हे, उस उपाधि के ज्ञान बिना उससे रहितत्व का ज्ञान भी नही हो सकता है। और यदि शका हो कि अग्नि के बिना किसी अन्य हेतु से भी धूम होगा, तो इस शका का क्या प्रतिकार (निवारण साधन) हे। यदि आप मानते है कि एक अग्नि से धूम न हो, किन्तु भिन्न सामग्री से जन्यत्व धूम मे हो, तो धूम की एक जातीयता की प्रतीति नही होगी, भिन्न सामग्रीजन्य धूम मे भिन्न जातीयता प्रतीत होगी, तो ऐसा मानना युक्त नही, क्योकि इन्द्रिय लिङ्गादिजन्य ज्ञान के ज्ञानत्व के समान

दिजन्यविज्ञानस्येव तृणारणिमणिप्रभवस्याऽऽशुशुक्षणेरिव चैकजातीयतोपपत्ते । तस्मान्न व्याप्तिलक्षण नापि तद्ग्राहक प्रमाणमस्तीति सिद्धम् ।

पक्षधर्मत्वमपि दुर्निरूपम् । तथा हि—कोय पक्षो, यद्धर्मता पक्षधर्मता ? सदिग्धसाध्यधर्मा धर्मीति चेत्, कि वादिप्रतिवादिनो सदेह ? कि

कारण शक्य निरूपयितुम् । इन्द्रियादीना व्यावृत्तत्वात्, आत्ममन सन्निकर्षस्य च सुखादिसाधारण्यात् । ततस्तत्र यथाकारणैकजातीयताभावेपि कार्यैकजात्यम, एव तृणाद्युत्पन्नाग्नेरपि । यथा च तत्रावान्तरजातिभेदकल्पनाऽयुक्ता, तथाग्रे वक्ष्यते । तदिहाप्यनुगतकारणव्यतिरेकेण व्यावृत्तेभ्य एव कारणेभ्य स्वभाववशात्सजातीयधूमा समुत्पद्यन्तामिति भाव । ननु तर्ह्यग्निप्रयोज्येषु धूमेष्वितरेभ्यो व्यावृत्त कश्चिद्विशेषो दृश्येतेति चेन्न, तददर्शनस्य प्रतियोगिधूमादृश्यतयाप्युपपत्तेरिति शङ्काया निरङ्कुशत्वादिति, व्याप्तिखण्डनमुपसहरति—**तस्मादिति** ।

इदानी पक्षधर्मतालक्षणलिङ्गावयव खण्डयति—**पक्षधर्मत्वमपीति** । अनवसरता निराचष्टे—**यद्धर्मतेति** । सदिग्धसाध्यधर्मा पक्ष इत्युक्ते विशेषणीभूतसाध्यधर्मस्यापि पक्षता स्यान्नचैतद्युक्तम्, साध्यस्य पक्षनिष्ठत्वाभावप्रसङ्गात्, आत्माश्रयात्, हेतोर्वैयधिकरण्यापाताच्च । अतस्तद्धर्मित्वमात्रस्य पक्षत्वदर्शनाय धर्मीति विशेषणम् । अत्र यदिद सदिग्धत्व साध्यस्य तत्क प्रतीति विकल्प्य दूषयति—**किं वादीत्यादिना** । किच सदेह किमुपलक्षणम् ? विशेषण वा ? आद्ये कदाचित्सदिग्धे प्रत्यक्षेण निर्णीतेऽपि प्रवर्तमानानुमानस्य न सिद्धसाधनता स्यात्, तदापि पक्षत्वापातात् । द्वितीये त्वनुमित्यनन्तरमप्रवृत्ति स्यात् । धर्मिनाशवद्विशेषणनाशेन पक्षस्य

और तृण-काष्ठमणिजन्य अग्नि के अग्नित्व के समान भिन्न सामग्रीजन्य धूम की भी एक जातीयता की सिद्धि हो सकती है। अत व्याप्ति का लक्षण नही सिद्ध होता है। न उसका ग्राहक प्रमाण है। यह सिद्ध हुआ।

पक्षधर्मत्व भी दुर्निरूप है। क्योकि यह पक्ष ही क्या है कि जिसकी धर्मता पक्षधर्मता कही जाती है। अर्थात् पक्ष की ही दुर्निरूपता है कि जिससे पक्षधर्मता की भी दुर्निरूपता होती है। यदि कहे कि, सन्दिग्धसाध्य रूप धर्म वाला धर्मी (साध्याश्रय) पक्ष कहा जाता है, तो पूछा जा सकता है कि वह सदेह किसका रहता है कि जिससे सन्दिग्धसाध्य वाला धर्मी होता है। क्या कथाकाल मे वादी-प्रतिवादी का सदेह रहता है, या मध्यस्थ का रहता है, उनमे आद्य पक्ष नही माना जा सकता है। क्योकि अपने सिद्धान्त मे निश्चित = सशयरहित वादी-प्रतिवादी वाद = कथा करते हैं, ऐसा माना गया है। मध्यस्थ का सशय रूप दूसरा पक्ष भी नही माना जा सकता हे, क्योकि वादी-प्रतिवादी दोनो के दर्शन द्वय के तत्त्व को जानने वाले उन मध्यस्थो के भी सशय की अनुपपत्ति है। दर्शन द्वयज्ञ मध्यस्थ मे

वा मध्यस्थानम् ? नाद्य , निश्चितौ हि वाद कुरुत इति स्वीकारात् । नापि द्वितीय, तेषामपि दर्शनद्वयतत्त्ववेदिना सदेहानुपपत्ते, किंचान्तरेणापि सशय धूमदर्शनमात्रादग्निमनुभिमानस्य सदेहविशेषिनधर्मिणि हेतोरवृत्ते पक्षधर्मत्वाभावादनुमानानुदयप्रसङ्ग । एतेन ज्ञापनीयधर्मविशिष्टो धर्मी पक्ष इति प्रत्युक्तम्, स्वार्थानुमाने प्रज्ञापनाभावात् । प्रमित्सितधर्मविशिष्ट पक्ष इत्यपि न, अप्रमित्सतोऽप्यनिष्टविषयेऽनुमानोदयदर्शनात् । साध्यधर्मविशिष्ट पक्ष इत्यपि न, साध्यपदेन सदिग्धत्वप्रज्ञापनीयत्वप्रमित्सितत्वाद्यन्यतमविवक्षायामुक्तदोषानुषङ्गात् । अप्रमितत्व साध्यत्वमिति चेत्, न, प्रमाणसप्लववादिनो नैयायिकस्य प्रमितेऽप्यनुमानप्रवृत्ते अनुमितेऽप्यनु-

---

नष्टत्वात । स्वार्थानुमानेऽव्याप्तिं चाह—**किंचेति** एतेनेत्येतद्विवृणोति—**स्वार्थेति** । प्रज्ञापनमित्यत्र णिचा यदिद प्रयोजककर्तृत्वमभिधीयते न तत्स्वार्थानुमानेऽस्ति । तत्र पर प्रति बोधनाभावादित्यर्थ । तर्हि प्रमित्सितधर्मविशिष्ट इत्येवास्तु, तस्य स्वार्थानुमानेपि भावादिति, तत्राह—**प्रमित्सितेति** । तथाप्यव्याप्ति । प्रमातुमनिच्छतोपि दुर्गन्धादीलिङ्गककुणपाद्यनुमानगतपक्षाव्याप्तेरित्यर्थ । सर्वज्ञीय लक्षणमुद्भाव्य दूषयति—**साध्येति** । अत्रापि साध्यपदेन पूर्वोक्तार्थविवक्षाया पूर्वोक्तदूषणानुषङ्ग एवेत्यर्थ । अर्थान्तर शङ्कते—**अप्रमितत्वमिति** । एतदव्यापकमित्याह—**प्रमाणेति** । यस्य ह्येकस्मिन्नपि प्रमेये बहूनि प्रमाणानि वर्तन्त इति मतम्, तस्य प्रमितेऽप्यनुमानमिष्टमेव । यथाहु —

'आगमेनानुमानेन ध्यानात् प्रत्यक्षणेन च ।
त्रिधात्मनि प्रमाणाना सप्लव स्वार्थ इष्यते ॥' इति (ख० पृ० ४६२)

ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थ । ननु तत्रापि तत्तत्कालविशिष्ट एवानुमीयत इत्यप्र-

---

सशय होना असम्भव है, और जहाँ सशय के बिना ही धूम के दर्शन मात्र से कोई अग्नि का अनुमान करता है, वहाँ सदेहयुक्त धर्मी मे हेतु की वृत्ति नही रहने से पक्षधर्मता का भी अभाव रहता है, अत उस अनुमान करने वाले के अनुमान का अनुदय प्राप्त होता है । इसीसे ज्ञापनीय धर्म = साध्यविशिष्ट धर्मी पक्ष कहा जाता है, यह लक्षण भी प्रत्याख्यात हो गया । क्योकि स्वार्थानुमान मे शब्दप्रयोग द्वारा प्रज्ञापन (प्रबोधन) का अभाव रहता है । प्रमित्सित = प्रमातुम् इच्छित धर्मविशिष्ट पक्ष होता है, यह भी नही कहा जा सकता है, क्योकि अप्रमित्सु=प्रमातुमनिच्छुक के भी अनिष्ट विषयविषयक अनुमान का उदय देखा जाता है । साध्य धर्म से विशिष्ट पक्ष होता है, यह भी नही माना जा सकता, क्योकि साध्य पद से सन्दिग्धत्व, प्रज्ञापनीयत्व, प्रमित्सितत्व इनमे से अन्यतम=किसी एक की विवक्षा करने पर उक्त दोषो का सम्बन्ध होता है, अप्रमितत्व साध्यत्व है, यह

मानप्रवृत्तेश्च । न च तत्रापि तत्तत्कालविशिष्टतयानधिगति, कालानुमाने तदभावात् ।

अस्तु वा य कश्चित्पक्षस्तथापि तद्धर्मता दुरधिगमा। तथाहि—पक्षाश्रितत्व पक्षधर्मत्व चेत्, तथा सति प्रमेयत्वहेतौ तन्न स्यात्, प्रमेयत्वस्य प्रमाविषयत्वलक्षणस्य ज्ञानज्ञेयानतिरिक्तत्वाभ्युपगमेन तदाश्रितत्वयोगात्। प्रमान्योन्याभाववत्त्व प्रमेयत्व ततस्तस्य ज्ञानज्ञेयाश्रितत्वमुपपन्नमिति चेत्, न, अन्योन्याभावस्यैकत्वे तस्य तदवृत्तौ प्रमेयत्वहेतुना कस्य-

---

मितमेव तदिति, तत्राह—**न चेति**। यदा हि कालो बहुभिरनुमानैरनुमीयते, नच तत्रैतदस्ति, काले कालवैशिष्ट्यस्यैवाभावादित्यव्याप्तिरित्याह—**कालेति**।

एव पक्ष दूषयित्वा पक्षधर्मता दूषयति—**अस्तु वेति**। प्रमेयत्व नाम प्रमाविषयत्वम्, विषयविषयिभावश्च स्वभावानतिरिक्त इति प्रमातो विषयतश्च प्रमेयत्व नातिरिक्त तथा चादृष्टादि कस्यचित्प्रत्यक्ष प्रमेयत्वादित्यस्य हेतोरपक्षधर्मता स्यात्। आत्मव्यतिरिक्तस्यार्थजातस्य प्रमाश्रयत्वानुपपत्तेरर्थस्यापि स्वाश्रयत्वानुपपत्ते । अत पक्षाश्रितत्व पक्षधर्मत्वमित्यव्यापकमित्याह—**प्रमेयत्वेति**। ननु प्रमेयत्व नाम प्रमाव्यतिरिक्तत्वम्, तेन नोक्तदोष । नच प्रमायामव्याप्ति, तस्या अपि यत्किंचित्प्रमाव्यतिरिक्तत्वादिवि शङ्कते—**प्रमान्योन्येति**। तत्र किमेक एव प्रमान्योन्याभाव ? किं वानेक ? आद्ये प्राह—**अन्योन्येति**। तदापि हि प्रमान्योन्याभावे

भी नही माना जा सकता है, क्योकि प्रमाणो के सप्लव (एक प्रमेय मे अनेक प्रमाण की प्रवृत्ति) वादी के मत मे प्रमित (प्रज्ञात) विषय मे भी अनुमान की प्रवृत्ति होती है, अत वह अप्रमितत्व रूप साध्यत्व नही सिद्ध हो सकता है, और अनुमित मे भी अनुमान की हेत्वन्तरादि से प्रवृत्ति होती है। यदि कहे कि जहाँ प्रमित मे वा अनुमित मे अनुमान की प्रवृत्ति होती है, वहाँ तत्तत् काल विशिष्ट रूप से अनधिगति (अज्ञान) रहता है, अप्रमितत्त्व रूप साध्यत्व रहता ही है, तो यह कहना नही बन सकता है, क्योकि प्रमित काल के अनुमान मे काल विशिष्ट रूप से भी अप्रमितत्त्व नही रहता है, क्योकि काल मे कालान्तर का अभाव रहता है।

अथवा जो कोई पदार्थ पक्ष हो, तो भी पक्षधर्मता दूरधिगम (दुर्ज्ञेय) है। क्योकि पक्षाश्रितत्व यदि पक्षधर्मत्व (पक्षता) है, तो प्रमेयत्व हेतु मे वह पक्षधर्मत्व नही होगा, क्योकि प्रमाविषयत्वरूप प्रमेयत्व के ज्ञानज्ञेयाऽनतिरिक्तत्व (ज्ञानज्ञेय स्वरूपत्व) के स्वीकार से उसमे ज्ञेयादि स्वरूप पक्षाश्रितत्व नही हो सकता है। यदि कहे कि प्रमा अन्योन्याऽभाववत्त्व प्रमेयत्त्व है, अत उसके ज्ञानज्ञेयाश्रितत्त्व उपपन्न (सिद्ध) होता है, प्रमा अन्योन्याभाववत्त्व ज्ञानज्ञेय दोनो मे रहता है, तो यह कहना भी युक्त नही। क्योकि अन्योन्याभाव के एक होने पर.

चित्प्रत्यक्षत्वानुमानं न स्यात्, तस्यैवान्योन्याभाववत्त्वाभावात्। अनेकत्वे चान्योन्याभावानां सर्वान्योन्याभाववत्त्वं प्रमेयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्? उतान्यतमवत्त्वम्? नाद्यः, सर्वग्रहणासंभवात्। न द्वितीयः, अन्यतमशब्देन निर्धारितैकविशेषोक्तौ तदितरप्रमेयशब्दप्रवृत्त्ययोगात्। एकं निमित्तमन्तरेण बहुष्वेकशब्दप्रवृत्तौ गोत्वादेरपलापप्रसङ्गात्।

प्रमेयत्वं न वर्तेत, स्वस्मिन्स्ववृत्त्यभावात्, अभिमता च स्ववृत्तिरायुष्मतः, इतरथाऽभावप्रत्यक्षताया विप्रतिपन्नं मीमांसकं प्रति प्रत्यक्षता कथं भवता साधनीया? सर्वगं वा कथं समर्थयते? ततोऽव्याप्तिरिति भावः। अनेकत्वे दूषणमाह—**अनेकत्व इति। सर्वग्रहणेति।** तदा हि प्रमेयत्वादिति कोऽर्थः? सर्वप्रमोन्योन्याभाववत्त्वादिति, न चैतदसर्वज्ञेन शक्यग्रहणमित्यर्थः। किंच यदैका प्रमा पक्षीकृत्य प्रमेयत्वेन नित्यानुमेयस्वप्रकाशवादिनं प्रति प्रत्यक्षत्वं साध्यते, तदा तस्यां न सर्वे प्रमान्योन्याभावाः सन्ति, स्वान्योन्याभावाभावादित्यव्याप्तिः। अन्यतमपक्षं दूषयति—**न द्वितीय इति।** तदा किमन्यतमशब्देन नियतं कश्चिदभिधीयते? अनियतो वा? नियतपक्षे तदितरान्योन्याभावानां प्रमेयशब्दार्थत्वाभावात्तद्वतां प्रमेयत्वं न स्यात्। नच स एव सर्वत्र प्रवर्ततामिति वाच्यम्। स्वस्मिन्स्वप्रतियोगिनि च वृत्त्यभावादित्यभिसंधिराह—**अन्यतमशब्देनेति।** अथानियमेन कदाचित्कश्चित्प्रवृत्तिनिमित्तम्, तत्राह—**एकमिति।** दूषणान्तरं चेदम्। न चान्योन्याभाववत्त्वमनुगतं जातिरिति युक्तिमत्। उपाधित्वेपि तत्र प्रमेयत्वावृत्तिप्रसङ्गः। स्ववृत्त्यभावात्, उपाध्यन्तरस्वीकारे चाननुगतिरित्यपि द्रष्टव्यम्।

अतएव उस अन्योन्याभाव की उस अन्योन्याभाव मे प्रवृत्ति रहते प्रमेयत्वरूप हेतु से किसी प्रमाऽन्योन्याभाव के प्रत्यक्षत्व का अन्योन्याभाव मे अनुमान नही होगा, क्योंकि प्रमेयत्व हेतु अन्योन्याभाव रूप है, वह एक ही है, अतः पक्ष मे रहेगा नही, अतः अव्याप्ति होगी। उसी अन्योन्याभाव को उसी अन्योन्याभाववत्त्व का अभाव है, आत्माश्रयता हो नही सकती है। और अन्योन्याभाव के अनेक होने पर, सर्व अन्योन्याभाववत्त्व प्रमेयत्व शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त (वाच्यार्थविशेषण) है, या अन्यतम (कोई एक) प्रमाऽन्योन्याभाववत्त्व प्रवृत्ति निमित्त है, प्रथम पक्ष तो बन नही सकता है, सर्व प्रमाऽन्योन्याभाव का असर्वज्ञ से ग्रहण होना असम्भव है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योंकि अन्यतम शब्द से निर्धारित एक किसी विशेष प्रमाऽन्योन्याभाव को प्रमेयत्व शब्द से कहने पर, उससे भिन्न मे प्रमेय शब्दार्थता का अभाव होगा, अतः उन प्रमान्योन्याभाव वालो मे प्रमेय शब्द की प्रवृत्ति का अभाव प्राप्त होगा। और यदि अनियम से कभी कोई अन्योन्याभाव प्रमेय शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त हो, तो एक निर्धारित निमित्त के बिना बहुत

व्याप्तिबलेन प्रवृत्ताया व्यापकसामान्यविषयाया प्रतीतेर्विशेषपर्यवसानाय व्याप्यस्य सामर्थ्यं पक्षधर्मतेति चेत्, नैवम्, विकल्पासहत्वात् । किं प्रथमं सामान्यमात्रालम्बना प्रतीतिर्या सा सामर्थ्यात् पश्चाद्विशेषमवगाहत इति ब्रूषे ? किं वा विशेषविषयप्रतीतिरनन्तरं जायत इति ? नाद्य, प्रतीतेर्विरम्यव्यापारापत्ते । न द्वितीय, प्रमाणान्तरप्रसङ्गात् । किंच पक्षधर्मता

लक्षणान्तरं शङ्कते—**व्याप्तिबलेनेति** । द्विविधं हि हेतो सामर्थ्यम् एकं व्याप्तिबलेन बोधकत्वम् । यथा हि यद्धूमवत्तदग्निमदिति सामान्येनाग्निमत्त्वप्रतीतिजनकत्वम्, तत्कस्य हेतो ? विशेषाणां व्यभिचारित्वेनानन्त्येन च व्याप्तेरशक्यग्रहत्वात् । अपरं तु तामेव प्रतीतिं पर्वताग्निमत्त्वलक्षणविशेषे पर्यवसाययितुमनुगुणम्, निर्विशेषं न सामान्यमिति न्यायात्, तच्चेह पक्षधर्मत्वं विवक्षितमित्यर्थ । दूषयति—**नैवमिति** । किं पक्षधर्मतया सामान्यविषयिण्येव प्रतीति पश्चाद्विशेषविषयिण्यपि क्रियते ? उत विशेषविषयिण्येव प्रतीतिरुत्पाद्यते ? इति विकल्पाद्ये दूषणमाह—**प्रतीतेरिति** । शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्यव्यापाराभावाज्जातस्य पुनर्जन्माभावाच्चेति भाव । यदि विशेषविषयं बुद्ध्यन्तरमुत्पाद्यते, तर्हि प्रमाणान्तरमेव । तद्व्यापकसामान्यप्रतीत्यनुपपत्ते, प्रतीतिव्यापकसामान्यानुपपत्तेर्वार्थापत्तित्वादित्यनुमितित्वक्षतिरित्याह—**न द्वितीय इति** । पक्षधर्मताया विशेषप्रत्यायकत्वे बाधकान्तरमाह—**किंचेति** । यत्र हि सामान्यतो दृष्टेन सामान्यत साध्यसिद्धौ केवल-

---

व्यक्ति मे एक शब्द की प्रवृत्ति को मानने पर गोत्वादि के भी अपलाप (अस्वीकार) का प्रसङ्ग होगा, अन्योन्याभाववत्त्व कोई अनुगत जाति भी नहीं है कि जिसमे प्रमेय शब्द की प्रवृत्ति हो सके । अत अन्योन्याभाव के पक्षाश्रितत्व से पक्षधर्मता नही हो सकती है ।

यदि कहा जाय कि व्याप्ति के बल से प्रवृत्त (सिद्ध) व्यापक सामान्यविषयक (यद्यद्धूमवान् तत्तद् अग्निमान्) इस प्रतीति को विशेष पर्यवसान (पर्वताग्निमत्त्व विषयक) करने के लिये जो व्याप्य मे सामर्थ होता (रहता) है, उसीको पक्षधर्मता कहते है, तो ऐसा कहना युक्त नही । क्योकि यह कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि, क्या जो प्रतीति व्याप्ति बल से प्रथम सामान्य मात्र विषयक होती है, वही व्याप्यसामर्थ्य से पीछे विशेप को ग्रहण करती है, यह आप कहते है । या विशेषविषयक अन्य प्रतीति होती है, यह आप कहते है । इनमे प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि प्रथम सामान्य मात्र विषयक प्रतीति को पीछे विशेषविषयक होने पर, प्रतीति को विरम्यव्यापाराऽऽपत्ति होगी, (विलम कर व्यापार करने वाली प्रतीति सिद्ध होगी) और शब्द, बुद्धि तथा कर्म के विलम कर व्यापार का अभाव माना जाता है । यदि विशेप-विषयक प्रतीत्यन्तर की

चेद्विशेषप्रत्यायिका, केवलव्यतिरेकी तर्हि निरवकाश स्यात्, शब्द. क्वचिदाश्रितो गुणत्वादित्यादिसामान्यतो दृष्टानुमानेषु हेतो पक्षधर्मताबलादेवाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वस्यापि सिद्धे । बाधकान्तराधीनमेव तदितरा-

व्यतिरेकिणा विशेषसमर्पणम् । यथा तावच्छब्द क्वचिदाश्रितो गुणत्वादिति किंचिदाश्रितत्वे सिद्धे केवलव्यतिरेकिणाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्व साध्यते, तन्न स्यात् । सामान्यतो दृष्टहेतो पक्षधर्मताबलादेव विशेषस्यापि सिद्धेरित्यर्थ । ननु यद्यप्यष्टद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्याश्रितत्वमिति सामान्यतोऽनुमानेनैव सिद्ध्यति, तथापि नानर्थकत्व केवलव्यतिरेकिण, आकाशव्यतिरिक्ताष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनार्थत्वात्तस्येति, तत्राह—**बाधकान्तरेति** । न तत्रापि केवलव्यतिरेकिण कश्चिदुपयोग । श्रोत्र विशेषगुणग्राहकमिन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवदिति विशेषगुणत्वे सिद्धे शब्दो न दिक्कालमनोगुण प्रत्यक्षत्वाद्विशेषगुणत्वाच्च रूपादिवत्, नापि स्पर्शवद्विशेषगुण प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वात् । अयावद्द्रव्यभावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च । नचात्मगुण, बाह्येन्द्रियवेद्यत्वादित्यादिबाधकान्तरनिबन्धनत्वात्तस्येत्यर्थ । पक्षधर्मताखण्डनेन महाविद्याजीवनमपि खण्डित वेदितव्यम् । केवलान्वयिनि व्यापके वर्तमानो हेतु पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकि साध्यविशेष वाद्यभिमत साधयन् हि महाविद्येत्युच्यते । तथा च व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानानिरुक्तौ

उत्पत्ति रूप दूसरा पक्ष को माने तो वह भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि प्रमाणान्तर की प्राप्ति होती है विशेष के बिना सामान्य की अनुपपत्ति से विशेष का ज्ञान होगा, तो उसमे अनुमितित्व नही रहेगा। और यदि पक्षधर्मताविशेष (अग्निमत्त्व) बोध का जनक हो तो केवल व्यतिरेकी अनुमान निरवकाश होगा। क्योकि सामान्यत दृष्टानुमान मे सामान्य रूप से साध्य की सिद्धि होने पर, केवल व्यतिरेकी मे विशेष का बोध होता है। जैसे कि (शब्द, किसी के आश्रित है, गुण होने से) इस सामान्यतो दृष्ट से शब्द के किसी के आश्रितत्व के सिद्ध होने पर केवल व्यतिरेकी से अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व सिद्ध किया जाता है, वह अब नही होगा, क्योकि (शब्द, किसी के आश्रित है, गुण होने से) इत्यादि सामान्यतो दृष्टानुमानो मे हेतु के पक्षधर्मता बल से ही अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व की भी सिद्धि होगी। यदि कहा जाय कि यद्यपि शब्द मे अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्याश्रितत्व भी सामान्यतो दृष्टानुमान से ही हेतु सामर्थ्य से सिद्ध होता है, तथापि केवल-व्यतिरेकी मे अनर्थकता नही प्राप्त होती है, क्योकि आकाश से भिन्न अष्टद्रव्याश्रितत्व का निराकरण के लिये केवल व्यतिरेकी की आवश्यकता होती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि श्रोत्रग्राह्य शब्द मे विशेष गुणत्व के सिद्ध होने पर, उसमे आकाश से अन्य अष्टद्रव्याश्रितत्व का निराकरण बाधकान्तराधीन ही होता

ष्टद्रव्याश्रितत्वनिरसनमित्युभयवादिसप्रतिपन्नतया तदितराश्रितत्वनिरासेऽपि केवलव्यतिरेकिणो निरवकाशत्वात् ।

तदेवं न व्याप्तिर्नापि पक्षधर्मता शक्यनिरूपणेति व्याप्तिपक्षधर्मतावल्लिङ्गं तत्परामर्शोनुमानमिति लक्षणं न सिद्धयतीति सिद्धम् । शाब्दव्युत्पत्तिशून्यस्य स्मृतिकरणिका प्रमितिरनुमितिस्तत्करणमनुमानमित्यपि न लक्षणम्, व्युत्पन्नस्यानुमितौ तत्करणे चाव्याप्ते । तादृशप्रमृतिवृत्तिप्रमात्वा-

---

तासामप्यनिरुक्ते, दग्धसारं चेद वादीन्द्रदावानलेन महाविद्याविपिनमिति नाम्माभिस्तद्भस्मीभावाय सरभ्यते । तथा—

पक्षधर्मत्वसामर्थ्यात् सर्वज्ञेश्वरसाधकम् ।
ईश्वरानुमितीना च ज्वरभारातुरं वपुः ॥

व्याप्तिपक्षधर्मताखण्डनस्य प्रकृतोपयोग दर्शयितुमुपसहरति—**तदेवमिति ।** तर्करीत्यानुमानलक्षणान्तर शङ्कते—**शाब्देति ।** अनुमितिकरणमनुमानम्, का पुनरनुमितिरित्यतस्तल्लक्षणमाह—**शाब्दव्युत्पत्तीति ।** प्रत्यक्षव्यवच्छेदाय स्मृतिकरणिकेत्युक्तम् । शाब्दप्रमितेरपि पदार्थस्मृतिकरणत्वमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय शाब्दव्युत्पत्तिशून्यस्येत्युक्तम् । उभयोरप्यव्याप्तिमाह—**व्युत्पन्नस्येति ।** शाब्दव्युत्पत्तिमत इत्यर्थः । व्युत्पन्नगतयोरपि सग्रहार्थम् विशेष शङ्कते—**तादृशेति ।** पूर्वोक्तप्रमितिवर्तिनी प्रमात्वावान्तरजातिरनुमितित्व तद्योगिज्ञानमनुमिति, अस्ति चेद व्युत्पन्नानुमितावपीत्यर्थः । अत्र च प्रत्यक्षभ्रमसशयव्यवच्छेदाय प्रमात्वावान्तरजातिग्रहणम्, प्रत्यक्षागमादिव्यवच्छेदाय तादृशप्रमितीत्युक्तम्, प्रमात्वजातेरित्युपलक्षणमनुमितित्वस्यापीति । तह्यनुमितित्व तावन्न जाति, अयमग्निमान्पर्वत इति ज्ञाने अयमशे

है, यह उभयवादी मे माना जाता है, अत शब्द के आकाशातिरिक्त आश्रितत्वनिरास (निवारण) मे भी केवल व्यतिरेकी को निरवकाशता रहती है ।

इस उक्त रीति से न व्याप्ति का न पक्षधमता का निरूपण हो सका, अत व्याप्तिपक्षधर्मता वाला लिङ्ग होता है, और उस लिङ्ग का परामर्श अनुमान होता है, यह लक्षण भी नही सिद्ध होता है, यह सिद्ध हुआ । शाब्दशक्ति व्युत्पत्ति (शब्दशक्तिज्ञान) रहित की स्मृति रूप करण वाली प्रमा अनुमिति होती है, और उसका करण अनुमान होता है, यह लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि इस लक्षण के व्युत्पन्न (शक्तिज्ञ) की अनुमिति और उसके करण मे अव्याप्ति होती है । यदि कहा जाय, कि शब्दशक्तिज्ञान रहित की स्मृतिकरणक प्रमिति वृत्ति जो प्रमात्व जाति का अवान्तर = व्याप्य जाति, उस जाति के अधिकरण ज्ञान को अनुमिति कहते है, और उसका करण अनुमानप्रमाण होता है । प्रमात्व अवान्तर जाति अनुमितित्व है, वह व्युत्पन्न की अनुमिति मे भी रहती

वान्तरजात्यधिकरणज्ञानमनुमितिस्तत्करणमनुमानमिति चेत्, न, प्रमात्व-जाते पुरस्तादेव निरस्तत्वात् । एतेन—

"अनुमेयेन सबद्ध प्रसिद्ध च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥"
(वै० भा० पृ० १००)

"अनुमान त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृक्" । "ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेक-देशान्तरे बुद्धि" इत्येवमादीनि वैशेषिकवैभाषिकजैमिनीयलक्षणान्यपि

प्रत्यक्षत्वेन सङ्करप्रसङ्गात् । नाप्युपाधि, उद्भावितोपाधीना निरसनादिति वर्णितानुमानलक्षणखण्डन प्रशस्तपाददिङ्नागशबरस्वामिसमनलक्षणेष्वतिदिशति—**एतेनेत्यादिना** । अनुमेयेन पक्षे सर्वस्मिन्सबद्ध पक्षधर्मतावदित्यर्थ । तदन्विते अनुमेयधर्मवति पदार्थान्तरे सर्वस्मिन्नेकदेशे वा प्रसिद्धम् । सपक्षे सदिति यावत् । चकारस्तु पक्षधर्मत्वेनेद रूप समुच्चिनोति । तथा तदभावे साध्याभाववति नास्त्येव । सर्वथा व्यावृत्त विपक्षाद्व्यावृत्तमित्यर्थ । अत्रापि च, पक्षधर्मतयैतत्समुच्चिनोति, न तु सपक्षे सत्त्वेन, केवलव्यतिरेक्यभावापातात् । एव पूर्वोपि, केवलान्वयिलाभात् । एवविध यल्लिङ्ग तदनुमापकमिति काश्यप कणादोऽब्रवीदित्युत्तरश्लोकस्येनान्वय ।

"विपरीतमतो यत्स्यादेकेन द्वितयेन वा ।
विरुद्धासिद्धसदिग्धमलिङ्ग काश्यपोऽब्रवीत् ॥" (वै० भा० पृ० १००)

इति ह्युत्तरश्लोक । तथा त्रिरूपात्पक्षधर्मतादिरूपत्रयवत । समासस्तु बहुव्रीहि । यदर्थदृगर्थदर्शन तदनुमानमिति वैभाषिकाणा सूत्रकृतो दिङ्नागस्य सूत्रम् । तथा ज्ञातसबन्धस्य ज्ञाताविनाभावस्य पुस एकदेशदर्शनाद्धूमविशिष्टाशदर्शनादेकदेशान्तरे अग्निविशिष्टाशे बुद्धिरनुमानम्, एकस्यैव खलु पर्वतस्यैकदेशदर्शनेनैकदेशोऽनुमीयते । तथा चाहुर्वार्तिककृत —

'स एव चोभयात्माय गम्या गमक एव च ।
असिद्धेनैकदेशेन गम्य सिद्धेन बोधक' ॥ इति ।

यद्यपि—

'प्रमाता ज्ञातसबन्ध एकदेश्यथवोच्यते ।
कर्मधारयपक्षे वा सबन्धिन्येकदेशता ॥

है, अत अव्याप्ति नही है । तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि प्रमात्व जाति का प्रथम ही निराकरण हो चुका है । इन उक्त दोषो से ही—

अनुमेय से जो सम्बन्ध वाला=पक्षवृत्ति, हो और अनुमेय अन्वित मे प्रसिद्ध = सपक्षवृत्ति, हो, अनुमेयाभाव स्थान मे नही रहता हो (विपक्षावृत्ति हो) वह लिङ्ग अनुमापक (अनुमिति का हेतु) होता है, यह कणादानुयायी का लक्षण है ।

प्रत्युक्तानि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वव्याप्यव्यापकसबन्धाना पुरैव निरस्तत्वात् । तदेव नानुमानलक्षणमपि निर्वोढु शक्यमिति सिद्धम् ।

एतेन परार्थानुमानमपि प्रत्युक्तम्, स्वार्थानुमानमुपजीव्य तत्प्रवृत्ते । तथाहि—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयवात्मक तत् । तत्र तावत्पक्षवचन प्रतिज्ञा इत्यलक्षणम् ।

पूर्वोदितेन न्यायेन पक्षस्यैवानिरूपणे ।

द्वय वा ज्ञातसबन्धमुपलब्ध परस्परम् ।
तस्यैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिनौ ॥'

इति वार्तिककारैर्बहुविध भाष्य योजिनम् । तथापि विस्तरभयादेकैव रीतिरत्र प्रदर्शिता । एतेनेत्यतिदिष्टाश विशदयति—**पक्षेति** । अत्र हि त्रैरूप्यमुखेनाद्ये लक्षणे प्रवृत्ते तृतीयमपि व्याप्तिपुरस्कारेण, ज्ञातसबन्ध इत्यत्र व्याप्तेर्विवक्षितत्वात् । तच्च रूप पक्षधर्मता व्याप्तिश्चेति द्वय पुरस्तादेव खण्डितम् । पक्षधर्मत्वखण्डनन्यायेन सपक्षविपक्षयोस्तत्र सदसत्त्वयोश्च खण्डितप्रायत्वादिति भाव ।

यद्यप्यनुमानमात्रखण्डनेन परार्थानुमानमपि खण्डितमेव, तथाप्यधिकदूषणविवक्षया अखण्डितवदतिदिशति—**एतेनेति** । स्वार्थानुमानोपजीवन दर्शयितु परार्थानुमान दर्शयति—**तथा हीति** । परोपदेशापेक्षमनुमान तदित्यर्थ । तत्रोप जीवनदर्शनपूर्वक दूषणमतिदिशन्प्रतिज्ञा खण्डयति श्लोकेन—**पूर्वेति** । तद्वचन

और पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, इन तीन रूप वाले लिङ्ग से जो अर्थ का ज्ञान होता है, वह अनुमान कहा जाता है, यह वैभाषिक मतानुयायी का लक्षण है। ओर व्याप्तिरूप सम्बन्ध जानने वाले को जो धूमयुक्त = हेतुयुक्त पक्ष के एक देश को देखने से अग्नि (साध्य) युक्त देशान्तर विषयक ज्ञान होता है, उसको अनुमान कहते है। यह जैमिनीय मतानुयायी का लक्षण है। परन्तु इस प्रकार के सब लक्षण प्रत्युक्त = प्रत्याख्यात हो गये। क्योकि पक्षधर्मत्व = पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, व्याप्यव्यापकसम्बन्ध, इन सब का प्रथम ही निराकरण हो चुका है। अत सिद्ध हुआ कि अनुमान का लक्षण अपने स्वरूप का धारण नही कर सकता है।

इसी स्वार्थानुमान के प्रत्याख्यान से परार्थानुमान भी प्रत्युक्त = खण्डित हो गया। क्योकि वह स्वार्थानुमान को आश्रयण करके प्रवृत्त होता है, वह दर्शाया जाता हे कि—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, और निगमन, इन पाँच अवयवो का समूह स्वरूप वह परार्थानुमान होता है। उनमे प्रथम (पक्षवचन प्रतिज्ञा) पक्ष का कथन प्रतिज्ञा कही जाती, यह लक्षण प्रतिज्ञा का कहा जाता हे, यह लक्षण युक्त नही है। क्योकि—

पूर्वोक्त रीति से पक्ष के ही अनिरूपण रहते, उस पक्ष का वचन प्रतिज्ञा है,

कथ तद्वचन वाच्य प्रतिज्ञेति विपश्चिता ॥ २७ ॥

कि पक्षप्रतिपादक वचनमात्र प्रतिज्ञा ? प्रतिपिपादयिषया वा तद्वचनम् ? उत हेत्वाकाङ्क्षाजनकम् ? कि वा साध्यधर्मविशिष्टधर्मिप्रतिपादकम् ? तदेव हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वविशिष्टम् ? निगमनान्यत्वविशिष्ट वा ? नाद्य, अय पक्ष इत्यादेरपि वचनस्य प्रतिज्ञात्वप्रसङ्गात्, पक्षलक्षणवचनस्यापि तत्त्वप्रसक्तेश्च । अत एव न द्वितीय, प्रतिपादनेच्छया पक्षवचनत्वस्य तत्रापि भावात् । न तृतीय, कस्मादय पक्ष इत्यादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात् । नापि चतुर्थ, निगमनस्यापि तद्भावप्रसङ्गात् । नापि पञ्चम,

---

पक्षवचनम्, प्रतिज्ञेति विपश्चिता कथ वाच्य न कथमपीत्यर्थ । इदानीमधिकृदूषण दर्शयितु प्रतिज्ञालक्षणानि विकल्पयति—**कि पक्षेत्यादिना** । निगमनव्यवच्छेदाय द्वितीयतृतीययोर्विशेषणद्वयम् । **अयं पक्ष इत्यादेरपीति** । इदमपि बचन पक्षप्रतिपादकमित्यर्थ । पक्षस्य यल्लक्षणवचन तस्मिन्नप्यतिव्याप्तिरित्याह—**पक्षलक्षणेति** । अत एवेत्यस्यैव विवरणम्—**प्रतिपादनेति** । **कस्मादिति** । तदपि हेत्वाकाङ्क्षाजनकमित्यर्थ । **निगमनस्यापीति** । तत्रापि तस्मादयमग्निमानिति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादनमस्तीत्यर्थ । ननु यद्यपि कस्मादय साध्यवानिति वचनस्य हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वे सति साध्यविशिष्टधर्मिप्रतिपादकत्वमस्ति, तथापि प्रश्नरूप-

---

यह विद्वान् से कैसे कहा जा सकता है ॥ २७ ॥

अर्थात प्रतिज्ञा का क्या—पक्षप्रतिपादक वचनमात्र लक्षण है, या पक्ष के प्रतिपादन की इच्छा से पक्ष का वचन रूप है, या हेतु की आकाङ्क्षा का जनक पक्षवचन रूप है, या साध्यरूप धर्मयुक्त धर्मी का प्रतिपादक पक्षवचन ही है, या हेत्वाकाङ्क्षा जनकत्वयुक्त साध्ययुक्त धर्मी का प्रतिपादक पक्षवचन रूप है, अथवा निगमनाऽन्यत्वयुक्त साध्यधर्मयुक्त धर्मी का प्रतिपादक वचन रूप है। इनमे प्रथम लक्षण युक्त नही, क्योकि उसके अनुसार, (अय पक्ष) यह पक्ष है, इत्यादि वचन को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होगा। तथा पक्ष के लक्षणरूप वचन को भी प्रतिज्ञात्व की प्राप्ति होगी। अतएव द्वितीय लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि पक्ष के प्रतिपादन की इच्छा से पक्षवचनत्व उन पक्ष के लक्षणादिको मे भी है। हेत्वाकाङ्क्षाजनक पक्षवचन यह तृतीय लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि (कस्मादय पक्ष) किससे यह पक्ष हुआ है, इत्यादि वचनो को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होगा, यह वाक्य भी हेत्वाकाङ्क्षाजनक है। साध्य धर्मयुक्त धर्मीप्रतिपादक वचन रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि उसके अनुसार निगमन को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होगा। पञ्चम लक्षण भी युक्त नही हो सकता है। क्योकि (कस्मादय साध्यधर्म-

कस्मादय साध्यधर्मवानिति वचनस्यापि तथात्वापातात् । अप्रश्नरूप तथाभूतवचन विवक्षितमिति चेत्, न, आक्षेपवचनस्यापि प्रश्न मन्वान प्रति तद्रूपत्वात्, लक्षणवचनेऽपि व्यभिचाराच्च । नापि षष्ठ , परस्पराश्रयप्रसङ्गात्—उपनयानन्तर प्रतिज्ञावचन निगमनम्, सहेतुक प्रतिज्ञावचनमिति वा लक्षणम्, तथा च प्रतिज्ञासिद्धौ निगमनसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तदन्यत्वविशेषितप्रतिज्ञासिद्धिरिति कथ न परस्पराश्रय ? तस्मान्न प्रतिज्ञालक्षणनिरुक्ति ।

नापि हेतो । तथा हि–कि लिङ्गवचन हेतु ? उत तृतीयापञ्चम्योरन्यतरविभक्त्यन्तम् ? साधनत्वख्यापक लिङ्गवचन वा ? नाद्य , अस्ति लिङ्गमय

मिदम्, अप्रश्नरूपमप्यपेक्षित लक्षणेऽतो नास्त्यतिव्याप्तिरिति शङ्कते—**अप्रश्नरूपमिति ।** तथाप्याक्षेपवचनेतिऽतिव्याप्तिरित्याह—**न, आक्षेपेति ।** ननु तस्य कथ हेत्वाकाङ्क्षाजनकत्वमिति, तत्राह—**प्रश्न मन्वानं प्रतीति ।** नचाभ्रान्त प्रतीति विशेषणीयम् । भ्रान्त प्रति प्रयुज्यमानप्रतिज्ञायामव्याप्ते । **लक्षणवचन इति ।** तत्रापि हेत्वाकाङ्क्षास्ति, लक्षणवचनमात्रादर्थासिद्धेरित्यर्थ । निगमनान्यत्वविशिष्टमिति पक्ष दूषयति—**नापि षष्ठ इति ।** परस्पराश्रयमेवाह—**उपनयानन्तरमिति ।**

द्वितीयमप्यवयव खण्डयति—**नापि हेतोरिति । लिङ्गवचनं हेतु**रिति लक्षण-

---

वान्) यह किससे साध्य धर्म वाला है, इस वचन को भी प्रतिज्ञात्व प्राप्त होता है । यह भी हेत्वाकाक्षाजनकत्वयुक्त साध्ययुक्त धर्मी का प्रतिपादक वचन हे । यदि कहा जाय कि यह प्रश्न रूप वचन है, और अप्रश्न रूप तथाभूत वचन प्रतिज्ञा विवक्षित है, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि तो भी आक्षेप (किसी पक्ष का निराकरण) रूप उक्त वाक्य मे अतिव्याप्ति होगी, यदि कहा जाय कि आक्षेप रूप वचन हेत्वाकाङ्क्षाजनक नही होता है, तो कहना सत्य है, तथापि आक्षेपवचन को ही प्रश्न मानने वाले के प्रति वह वचन हेत्वाकाङ्क्षा जनक हो जाता है । और लक्षण वचन मे भी व्यभिचार है, क्योकि उसमे भी हेतु की आकाङ्क्षा होती है। षष्ठ लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि उसमे परस्पराश्रय की प्राप्ति होती है। क्योकि उपनयानन्तर प्रतिज्ञा वचन निगमन कहा जाता है । या सहेतुक प्रतिज्ञा वचन निगमन होता है । यह निगमन का लक्षण है, अत प्रतिज्ञा की सिद्धि होने पर निगमन की सिद्धि हो सकती है, और निगमन की सिद्धि होने पर निगमन से अन्यत्र प्रतिज्ञा की सिद्धि होने पर परस्पराश्रय कैसे नही होगा । अत प्रतिज्ञा के लक्षण का निर्वचन नही हो सकता है ।

हेतु का भी लक्षण नही हो सकता हे । क्योकि, लिङ्ग वचन हेतु होता है, या तृतीया पञ्चमी विभक्त्यन्यतरान्त वचन हेतु होता है, अथवा साधनत्व

धूम इत्यादेरपि वचनस्य हेतुत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, अन्यतरशब्देनैकस्य द्वयोर्वाभिधाने तल्लक्षणस्याव्याप्तेः। न तृतीयः, साधनशब्देन हेतुविवक्षायामात्माश्रयात्, तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थाभिधाने पूर्वोक्तदोषापत्तेः, लिङ्गविवक्षायां त्वेतल्लिङ्गमस्ति वास्य लिङ्गमित्यादेरपि वचनस्य तथात्वापातात्।

नाप्युदाहरणलक्षणम्, दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमुदाहरणमिति वक्तुमयुक्तत्वात्। तथाहि—किं लौकिकपरीक्षकाणां यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ? किं वा निश्चितसाध्यसाधनवान् ? नाद्यः, स्वर्गापूर्वदेवतादीनां लौकिका-

वचनस्य लिङ्गमस्तीत्यादिवचनेऽतिव्याप्तिमुक्त्वा द्वितीये दूषणमाह—**अन्यतरशब्देनेति**। साधनत्वव्यापकं लिङ्गवचनमिति भासर्वज्ञाभिमततृतीयलक्षणे साधनशब्देन हेतुर्विवक्ष्यते तृतीयापञ्चम्योरन्यतरान्तार्थत्वं वा ? लिङ्गत्वं वा ? आद्ये दूषणमाह—**साधनेति**। द्वितीये प्राह—**तृतीयेति**। तृतीये प्राह—**लिङ्गेति**।

तृतीयमप्यवयवं खण्डयति—**नाप्युदाहरणलक्षणमिति**। तत्र सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणमिति भूषणप्रभृतयो बभाषिरे, तत्र दृष्टान्तानिरुक्तौ तद्वचनमपि दुरुक्तीति दृष्टान्तलक्षणं विकल्प्य दूषयति—**किं लौकिकेत्यादिना। निश्चतेति।** निश्चिते साध्यसाधने यस्मिन्स दृष्टान्त इत्यर्थः। ननु साध्यसाधनशब्देन व्याप्यव्यापकावभिप्रेतौ, तथा च भाववदभावावपि व्याप्यव्यापकभूताविति वैधर्म्यदृष्टा-

बोधक लिङ्ग वचन हेतु कहा जाता है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योकि, यह धूम लिङ्ग है, इत्यादि वचन को भी हेतुत्व प्राप्त होना है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि अन्यतर शब्द से एक के या दोनो के कहने पर अव्याप्ति होती है क्योकि तृतीयान्त के ग्रहण करने पर पञ्चम्यन्त मे पञ्चम्यन्त के ग्रहण करने पर तृतीयान्त मे और दोनो के ग्रहण करने पर एक-एक मे अव्याप्ति होती है। तृतीय पक्ष भी युक्त नही। क्योकि साधन शब्द से हेतु की विवक्षा होने पर आत्माश्रयता प्राप्त होती है। तृतीय पञ्चमी विभक्ति अन्यतरान्त को साधन शब्द से ग्रहण करने पर पूर्वोक्त अव्याप्ति दोष की प्राप्ति होती है। साधन शब्द से लिङ्ग की विवक्षा करने पर तो (एतल्लिङ्गमस्ति वा अस्य लिङ्गमस्ति) यह लिङ्ग है, वा इस का लिङ्ग है, इत्यादि वचनो (वाक्यो) को भी हेतुत्व प्राप्त होगा।

उदाहरण का भी लक्षण नही हो सकता है। क्योकि दृष्टान्त की निरुक्ति के बिना (दृष्टान्त वचनम् उदाहरणम्) यह लक्षण कहना अशक्य है। क्योकि दृष्टान्त का लक्षण क्या है ? क्या लौकिक और परीक्षको की जहाँ बुद्धि की समता हो, वह दृष्टान्त है, या निश्चित साध्य-साधनवान् दृष्टान्त होता है। प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि लौकिक पुरुषो के असम्मत = अमान्य भी स्वर्ग,

समतानामपि दृष्टान्तत्वात् । नापि द्वितीय , निश्चितसाध्यसाधनाभाववतो वैधर्म्यदृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात् । साध्यसाधनशब्दाभ्या तदभावयोरपि सग्रहाददोष इति चेत्, न, निश्चितत्वानिरुक्ते । तथा हि—कि वादिनो निश्चय ? उत प्रतिवादिन ? कि वा सर्वेषाम् ? नाद्य , साध्यधर्मिणोपि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात्, वादिनस्तत्र निश्चयसद्भावात् । न द्वितीय , विकल्पासहत्वात् । कि निश्चयमात्रम् ? कि वानुमितिकालविशेषितो निश्चय ?

न्तोपि सगृहीत इति शङ्कते—**साध्येति** । शक्यमत्र विवक्षितु भावविवक्षाया वैधर्म्योदाहरणाव्याप्ति , अभावविवक्षाया साधर्म्योदाहरणाव्याप्तिरुभयविवक्षाया-मुभयाव्याप्तिरिति, तथाप्यतिस्फुटमिदमिति दूषणान्तरमाह—**निश्चितत्वेति** । वाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यसाधनत्व न दृष्टान्त , पक्षस्यापि दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात् । 'निश्चितौ हि वाद कुरुत' इति न्यायेन वादिनस्तत्रापि निश्चितसाध्यवत्त्वादित्याह—**नाद्यः । साध्यधर्मिणोऽपीति** । प्रतिवाद्यपेक्षया निश्चितसाध्यवत्त्वमिति द्वितीयपक्षे

अपूर्व = अदृष्ट देवतादि को दृष्टान्त माना जाता है, अत उनमे दृष्टान्तत्व की सिद्धि होती है, कहा जाता है कि (देववत् पितरो पूज्यौ) इत्यादि । दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है । क्योकि निश्चित साध्यसाधन के अभाव वाले को वैधर्म्य दृष्टान्तता के अभाव की प्राप्ति हे, क्योकि, यन्नैव तन्नैव, इसप्रकार साध्यवान् से बिरुद्ध भी दृष्टान्त होता है । यदि कहे कि साध्यसाधन शब्द से उनके अभावो का सग्रह होने से यह दोष नही रहेगा, क्योकि साध्यसाधन शब्द से व्याप्य-व्यापक विवक्षित हे । अत भावरूप व्याप्य-व्यापकाश्रय के समान अभावाश्रय भी गृहीत होगा, तो यह कहना युक्त नही, तो भी निश्चतत्व की अनिरुक्ति से लक्षण की सिद्धि नही हो सकती है । क्योकि क्या वादी का निश्चय लक्षण मे अपेक्षित है, या प्रतिवादी का, या सबका । आद्य पक्ष नही बन सकता हे । क्योंकि 'निश्चितौ हि वाद कुरुत' । इस सिद्धान्त के अनुसार पक्ष मे भी निश्चित साध्य वाला वादी वाद करता है, अत पक्ष के निश्चित साध्य वाला होने से साध्य वाला धर्मी पक्ष को भी दृष्टान्तत्त्व प्राप्त होगा । क्योकि वादी को वहाँ निश्चय का सद्भाव रहता हे । दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि विकल्पाऽसह है, विकल्प हे कि क्या निश्चय मात्र प्रतिवादी को होना चाहिये, या अनुमिति काल मे निश्चय होना चाहिये । प्रथम पक्ष मे कालान्तर मे निश्चित साध्य-साधन वाले को, कालान्तर मे अन्यथा स्वरूप, साध्यसाधनरहित, होने पर भी उसको दृष्टान्तत्व प्राप्त होता है । अर्थात् प्रतिवादी को जिस पक्ष आदि मे प्रथम साध्य-साधन का निश्चय हो, परन्तु अनुमिति काल मे सशय हो, तो वह भी दृष्टान्त हो जायगा, क्योकि प्रथम उसको निश्चय था ही । अनुमिति काल मे साध्य-साधनवान् प्रतिवादी को निश्चित

आद्ये, कालान्तरे निश्चितसाध्यसाधनवतोऽपि कालान्तरेऽन्यथाभूतस्य दृष्टान्तत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीय, कालस्य निश्चितसाध्यसाधनवतोऽपि दृष्टान्तत्वाभावप्रसङ्गात् काले कालविशेषितनिश्चयस्याभावात् । नापि तृतीय, सर्वनिर्णयस्यासर्वज्ञेन निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

यो यदा निश्चितसाध्यसाधनवान् स तदा दृष्टान्त इत्ययुक्तम्, यदा तदेति कालाभिधाने काले तदभावात्, यत्तच्छब्देन चानुगतरूपस्य तद्वतो

कि यदाकदाचिन्निश्चितसाध्यवत्त्वम् ? उत कालविशेषकथासमयादौ ? इति विकल्प्य प्रथम दूषयति—**कालान्तर इति ।** तथासति कथाप्रवृत्तिसमये विपतिपन्नसाध्यस्यापि दृष्टान्तता स्यात्, यदाकदाचिदत्रापि निश्चयसभवादित्यर्थ । द्वितीये तु कालस्य दृष्टान्तत्व न स्यात् । नहि काल कालविशेषे निश्चितसाध्य, कालस्य कालान्तराभावादित्याह—**न द्वितीय इति ।**

सर्वनिश्चयपक्षमसभवेन दूषयित्वा पक्षान्तर शङ्कते—**यो यदेति ।** यो यदेत्यादिलक्षणे यदातदेत्यश दूषयित्वा य स इत्यश दूषयति—**यत्तच्छब्देनेति ।** अत्र कि यत्तच्छब्देन प्रत्येक व्यावृत्ता साध्यसाधनवन्तोऽभिधीयन्ते ? किवा कौचिदनुगतौ धर्मौ तयोश्च दृष्टान्तत्वमिति विवक्ष्यते ? उत रूपवत, कस्यचित ? आद्येऽनुगतलक्षणाभाव । द्वितीये रूपिणस्तृतीये रूपयोर्दृष्टान्तत्व न स्यादित्यर्थ । दृष्टान्त-

---

हो, तो दृष्टान्त होता है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि इस पक्ष मे निश्चित साध्य-साधन वाले काल को दृष्टान्तत्वाभाव प्राप्त होता है, क्योकि अनुमिति काल मे साध्य साधन वाला अन्य दृष्टान्त तो हो सकता है, परन्तु काल-विशेष रूप अनुमिति काल मे निश्चित साध्य-साधन वाला काल नही रह सकता है, क्योकि काल का कालान्तर नही होता है, अत कालयुक्त काल के निश्चय का अभाव होता है, साध्य-साधनवत्त्वेन सब के निश्चय का विषय हो तो दृष्टान्त होता है, यह तृतीय पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि सब के निर्णय का असर्वज्ञ से निश्चय होना अशक्य है ।

जो जिस समय निश्चित साध्य-साधन वाला होता है, वह उस समय दृष्टान्त होता है, यह भी दृष्टान्त का लक्षण अयुक्त है । क्योकि यदा-तदा इस शब्द से काल के कथन करने पर, काल रूप दृष्टान्त मे इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, क्योकि काल मे काल नही रहता है । और यत्तत् शब्द से (यो = सो शब्द से) साध्य साधनवान् गत अनुगत रूप (धर्म) को या रूपवान् के कथन करने पर, उन दोनो मे ही प्रत्येक की अदृष्टान्तता प्राप्त होती है, क्योकि धर्म को कहने पर धर्मी मे अदृष्टान्तता प्राप्त होती है, धर्मी को कहने पर धर्म मे अदृष्टान्तता प्राप्त होती

वाभिधाने तयोरेव प्रत्येकमदृष्टान्तत्वापातात्। एव दृष्टान्तानिरुक्तौ तत्प्रतिपादक वचनमुदाहरणमित्ययुक्तम्।

नाप्युपनयलक्षणम्। तथा हि--कि दृष्टान्तानन्तर हेतुवचनमुपनय ? किवा दृष्टान्ते प्रसिद्धाविनाभावस्य साधनस्य दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्तिख्यापक वचनम् ? व्याप्तस्य पक्षधर्मताप्रतिपादक वा ? नाद्य, दृष्टान्तवचनानन्तर धूमवत्त्वादित्यपि वचनस्योपनयत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीय, दृष्टान्तवैधर्म्येण न तथा चायमधूमवानित्यादिवचनस्यानुपनयत्व-प्रसङ्गात्। उपमानशब्देन च साधर्म्यवैधर्म्ययोरुभयोर्विवक्षितत्वेऽन्यतर-वचनस्यानुपनयत्वप्रसङ्ग। दृष्टान्ताविनाभावलक्षणयो पुरस्तान्निरस्त-त्वाच्च। नापि तृतीय, व्याप्तो धूम पक्षोऽस्तीति वचनस्यापि तथात्व-

---

खण्डनस्योदाहरणखण्डनशेषतामाह—**एवमिति**।

चतुर्थमवयव खण्डयति—**नापीति। दृष्टान्तोपमानेनेति**। तथा चायमिति महानसाद्युपमानेनेत्यर्थ। **नापि द्वितीय इति**। द्विविधो ह्युपनय, साधर्म्यवैधर्म्य-भेदात्, तथा चाय धूमवानिति साधर्म्योपनय, न तथायमधूमवानिति वैधर्म्यो-पनय। तत्र वैधर्म्योपनये दृष्टान्तोपमान नास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थ। **अथोपमान-शब्देन**। वैधर्म्यमपि विवक्षितम्, तदैकैकाव्याप्तिरित्याह—**उपमानशब्देनेति**। दूषणान्तरमाह—**दृष्टान्तेति। व्याप्तो धूम इति**। व्याप्तस्य पक्षधर्मता तदपि वचन प्रतिपादयेदित्यर्थ। दूषणान्तरमाह—**व्याप्तीति**। पञ्चमावयव खण्डयति—

है। इस उक्त रीति से दृष्टान्त की अनिरुक्ति होने पर, उस दृष्टान्त का प्रतिपादक वचन उदाहरण होता है, यह कथन भी अयुक्त हो जाता है।

उपनय का लक्षण भी नही हो सकता है, क्योकि (क्या, दृष्टान्तानन्तर हेतु-वचन उपनय कहाता है, या दृष्टान्त मे प्रसिद्ध व्याप्ति वाला साधन का दृष्टान्त-रूप उपमान द्वारा पक्ष मे व्याप्तिबोधक वचन उपमान होता है, या व्याप्य की पक्षधर्मता का प्रतिपादक वचन उपमान है। प्रथम पक्ष युक्त नही। क्योंकि दृष्टान्त वचन के अनन्तर, धूमवत्त्वात्, ऐसा कहा जाय तो इस वचन को भी उवनयत्व प्राप्त होता है। और दृष्टान्त से पूर्व अनन्त तो हेतुवचन कहा ही जाता हे। दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि दृष्टान्त के विरोधी धर्म द्वारा (न च तथाऽयम् अधूमवान्) इत्यादि वचन को अनुपनयत्व प्राप्त होगा। ओर उवमान शब्द से साधर्म्य और वैधर्म्य दोनो की विवक्षा करने पर, अन्यतर प्रत्येक वचन को अनुपनयत्व प्राप्त होगा। और दृष्टान्त तथा अविनाभाव (व्याप्ति) के लक्षणो का प्रथम ही निराकरण हो चुका है, अत दृष्टादियुक्त लक्षण होना भी युक्त नही है। तृतीय उपनय लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि व्याप्त = व्याप्य धूम पक्ष मे है,

प्रसङ्गात्, व्याप्तिपक्षधर्मतयोश्च पुरैव निरासात्। नापि निगमनलक्षणम्। तत्किमुपनयानन्तर प्रतिज्ञावचनम्? उत सहेतुक प्रतिज्ञावचनम्? नाद्य, उपनयानन्तरमग्निमान् पर्वत इत्येतावद्वचनस्यापि निगमनत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीय, व्युत्क्रमोदितस्यापि तथात्वापातात्, प्रतिज्ञाहेत्वोश्च पुरैव निरासात्।

किच—अनुमानाङ्गयो सिद्धेर्व्याप्तिपक्षगतत्वयो।
उदाहृतेरुपनयात् पञ्चावयवता मुधा ॥ २८ ॥

पञ्चावयववाक्यमपि न प्रयोजनवदवश्यमिति पश्याम। साधनानुप-

नापीत्यादिना। **अग्निमान् पर्वत इत्येतावदिति**। तस्मादित्येतदशविधुरतयेत्यर्थ—**व्युत्क्रमेति**। यदा हि उपनयानन्तरमग्निमानय तस्मादिति व्युत्क्रमेणोच्यते, तत्रापि प्रसक्ति। नच तदपि निगमनमेव, विपर्यस्तवचनतया अप्राप्तकालत्वप्रङ्गादित्यर्थ। दूषणान्तरमाह—**प्रतिज्ञेति**।

तदेव दण्डकसूत्रस्थावयवाना लक्षणानि खण्डितानि, इदानी यत्तेषा पञ्चत्व तैराद्रियते "स एव परमो न्यायो यद्विप्रतिपन्न प्रति पञ्चावयव वाक्यम्" इति वदद्भि। सोऽप्ययुक्त, प्रमाणाभावात्तत्प्रयोजनस्य च द्वाभ्यामेव शक्यसपादनत्वादित्याह—**कि चेत्यादिना**। व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरनुमानाङ्गयोरुदाहृतेरुदाहरणात्, उपनयाच्च सिद्धे। पञ्चावयवता, त्रित्वस्यापीदमुपलक्षणम्। मुधा वृथेति श्लोकयोजना।

एतदेव विवृणाति—**पञ्चेति**। न केवलमनुपयोग, निग्रहस्थान च स्यात्।

इस वचन को भी उपनयत्व प्राप्त होता है, और व्याप्ति पक्षधर्मता का प्रथम निराकरण हो चुका है, अत तद्युक्त लक्षण होना भी युक्त नही। निगमन का लक्षण भी नही हो सकता है। क्योकि, वह, क्या, उपनयानन्तर प्रतिज्ञा वचन रूप है, या सहेतुक प्रतिज्ञावचन रूप है। प्रथम पक्ष नही बन सकता है, क्योकि उपनय के अनन्तर अग्निमान पर्वत, इतना ही 'तस्मात्' इससे रहित उच्चारित वचन को भी निगमनत्व प्राप्त होता है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि, उपनय के अनन्तर, व्युत्क्रम से (विपरीत क्रम से) अग्निमानय तस्मात्। इस प्रकार से उच्चारित को भी निगमनत्व प्राप्त होगा। और प्रतिज्ञा तथा हेतु का प्रथम निराकरण हो चुका है, अत प्रतिज्ञा हेतुयुक्त लक्षण होना युक्त नही है।

और—अनुमिति के अङ्ग रूप व्याप्ति और पक्षधर्मता की सिद्धि उदाहरण और उपनय से हो जाती है। अत नैयायिक सम्मत पञ्चावयवता परार्थानुमान मे व्यर्थ है ॥ २८ ॥

अर्थात् पाच अवयववाला वाक्य को प्रयोजनवाला नही समझता हू, क्योकि

युक्तवचनस्याधिकनिग्रहत्वात् । तथाहि—वादिप्रतिवादिनो पक्षप्रतिपक्षसमयबन्धस्वीकारसमनन्तर प्रतिवादिन किमत्र प्रमाणमिति प्रमाणे एव जिज्ञासा । यावदङ्गविशिष्ट च प्रमाण तावदेव वक्तव्यम्, अङ्ग च द्वयमेव—व्याप्ति, पक्षधर्मता चेति, तच्चोभयमुदाहरणोपनयाभ्यामेवाभिहितमिति किमपरमवशिष्यते, यदर्थमुपाददीत ? ननु पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व विपक्षाद्व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्व चेति पञ्चरूपाणि हेतोरवश्य

हेतूदाहरणाभ्यामधिकमधिकमिति हि सूत्रम् । हेतूदाहरणग्रहणस्य चोपलक्षणत्वादुपयुक्तापुनरुक्तकृतकार्याभिधानमिति सूत्रार्थ सपद्यते, इतरथा निग्रहान्तरसकरप्रसङ्गात् । तदिह द्वाभ्या सिद्धस्यैवान्येभ्योपि साधनेऽधिक प्रसज्यत इत्याह—**अधिकनिग्रहत्वादिति** । एतदेवाकाङ्क्षाक्रमेणोपयुक्ताङ्गजात विवेचयन्विशदयति—**तथाहीत्यादिना** । समयबन्धो नाम अपशब्दो वर्जनीय एतावन्ति च निग्रहस्थानानि उद्भावनीयानीत्यादिरूप । एतेनेत्यप्यपास्तम् । यदाह लीलावतीकार —अतान्त बुभुत्सितसाध्यप्रतिपादनोपयोगित्वादित्यादि, भङ्गीसहस्रेणापि साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकनिग्रहताया दुष्परिहरत्वादिति । यच्च न्यायवाचस्पतावुक्तम्—'अनित्य शब्द बुभुत्समानाय' इत्यादि तदप्येतेनैव परिहृतम् । पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहबलेनैव प्रतिज्ञार्थस्य बुभुत्सितस्य लब्धत्वादिति । अधिकोपयोग निगमनस्य दर्शयति पूर्ववादी—**नन्वित्यादिना** । पक्षे व्याप्यवर्तन पक्षधर्मत्वम्, सप्रतिपन्नसाध्यस्थल सपक्षस्तत्र सर्वस्मिन्नेकदेशे वा हेतोर्वृत्ति सपक्षे सत्त्वम् । साध्यात्यन्ताभाववान्विपक्ष तत सर्वस्माद्व्यावर्तन विपक्षाद्व्यावृत्ति, तथाऽबाधितविषयत्व विषयशब्देन हेतोर्विषय साध्यमभिधीयते, तस्मिन्मानान्तरेणाबाधिते प्रवर्तमानत्वम्, तथा सन्विद्यमान प्रतिपक्षो यस्यासौ सत्प्रतिपक्षस्तद्रहितत्वमित्येतानि पञ्चरूपाणि हेतौ

साधन मे अनुपयुक्त वचन को अधिक नामक निग्रहस्थानत्व प्राप्त होता हे (हेतूदाहरणाभ्यामधिकमधिकम्) हेतु और उदाहरण से अधिक वचन अधिक कहाना हे । कथा मे वादी-प्रतिवादी के पक्षप्रतिपक्ष समय = नियम बन्धन के स्वीकार कर लेने के बाद, प्रतिवादी की प्रमाणविषयक ही जिज्ञासा होती है कि इस आप के पक्ष = सिद्धान्त मे क्या प्रमाण हे । अत जितने अङ्गो से युक्त वचन प्रमाण होता है, उतना ही वादी को वक्तव्य होता है (उतना कहना चाहिये) । व्याप्ति ओर पक्षधर्मता दो ही अनुमान के अङ्ग होते हे, और वे दोनो उदाहरण ओर उपनय से कथित होते है । फिर अवशेष क्या रहता हे कि जिसके लिये अन्य अन्य अवयवो का ग्रहण किया जाय । यहाँ शका होती है कि, पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्तत्व, अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षत्व, ये पाँच स्वरूप हेतु के अवश्य वक्तव्य होते है । अन्यथा = इन स्वरूपो के बिना, असिद्धि, विरोध, अनैकान्तिकत्व, अनवध्यसितत्व=

वक्तव्यानि, अन्यथाऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमानामनिरासे हेतोरसाधकत्वप्रसङ्गात् । तत्र यद्यपि व्याप्तिपक्ष-धर्मताप्रदर्शनेन रूपत्रयोपपादनादसिद्धविरुद्धानैकान्तिकानि परिहृतानि, तथापि बाधितविषयत्वसत्प्रतिपक्षत्वयोरवशिष्टयोरनिरासे कालात्यया-पदिष्टप्रकरणसमयोर्हेत्वाभासयोः परिहाराय निगमनमपेक्षणीयमेव, स च तस्मादयमग्निमानेव न पुनस्तस्मादन्यस्माद्वानग्निमानपीति निगमनेनाव-

---

वक्तव्यानीत्यर्थः । किमिय राजाज्ञा ? नेत्याह—**अन्यथेति ।** तथाहि—पक्षधर्मत्वा-भावेऽनिश्चितपक्षवृत्तिरूपासिद्धिप्रसक्तिः, सपक्षे सत्त्वाभावे पक्षविपक्षयोरेव वर्तमान-त्वरूपविरुद्धत्वप्रसक्तिः, विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावे पक्षत्रयवृत्तित्वलक्षणसाधारणानैकान्ति-कता स्यात्, एवमितरयोरप्यभावे प्रकरणसमतानीतकालत्वयोः प्रसक्तिरित्यर्थः । ननूदाहरणोपनयाभ्यां व्याप्तिपक्षधर्मत्वयोरुपपादनादपि भवत्येवासिद्ध्यादीनां निरासः, व्याप्तत्वपक्षधर्मत्वाभ्यामप्रतीतस्यैवासिद्ध्यादिमत्त्वाद्, व्याप्तिनिर्णयेन च विरुद्धत्वादीनां निरासादिति तत्राह—**तत्र यद्यपीति ।** तत्रोभयविधोदाहरणेनोभय-विधव्याप्तेर्दर्शनाद् द्वितीयतृतीयरूपयोः सिद्धिरुपनयेन च पक्षधर्मतासिद्धिरिति विभागः । अनैकान्तिकग्रहणमनध्यवसितस्याप्युपलक्षणम् । तस्याप्यव्यभिचारविरह-रूपत्वात्, सपक्षवृत्तिविपक्षव्यावृत्तिनिर्णयेन च तस्याप्यभावादिति । ननु निगमन-वचनादपि कथं तयोर्निरासः ? तत्राह—**स चेति ।** तस्मादग्निमानेवेति हि निगमन-रूपम्, तत्र सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ इति न्यायेन तस्मादेवाग्निमान्नान्यस्मादिति सिद्धसाधनताव्युदासस्तस्मादयमग्निमानेवेति न पुनरन्यस्मादनग्निमानपीति द्विवि-धापि सत्प्रतिपक्षो निरस्तः । द्विविधो हि सत्प्रतिपक्षः, स्वात्मना परात्मना चेति । आद्यो यथाऽनित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात् । एवं नित्यः शब्द इत्यत्रापि । द्वितीयस्तु नित्यं मनो निरवयवद्रव्यत्वादाकाशवत्, अनित्यं मनो मूर्तत्वाद्घटव-दिति । इदमेव विरुद्धव्यभिचारीत्यभिधीयते । तथाग्निमानेवेत्यनग्निमत्त्वनिषेधा-द्बाधोपि निरस्त इत्यवश्यमपेक्षणीयं निगमनमित्यर्थः । एवं समर्थित निगमनो-

---

सन्दिग्धत्व, और बाधितत्व, रूप दोषों के अनिराकरण से हेतु में असाधकत्व की प्राप्ति होती है। वहाँ व्याप्तिपक्षधर्मता के प्रदर्शन से, पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व, इन तीन रूपों के ग्रहण द्वारा यद्यपि असिद्धि, विरोध, और अनैका-न्तिकता परिहृत=निवारित हो जाते हैं। तथापि अवशिष्ट बाधितविषयत्व = बाधितत्व, सत्प्रतिपक्षत्व, के निराकरण के बिना प्राप्त कालात्ययापदिष्ट (बाध) और प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) के परिहार के लिये निगमन अवश्य अपेक्षणीय है। उस निगमन से उन दोनों का वह निरास इस प्रकार से होता है कि (तस्मादयम् = अग्निमानेव) तस्माद् अन्यस्माद् वा अनग्निमानपि न पुनः, इसप्रकार निगमन से

द्योत्यत इति चेत्, मैवम्, पूर्वमेव हि सिद्धत्वादसभवित्वाच्च। तथाहि—साधनसद्भावे साध्यसद्भावनियमलक्षणान्वयव्याप्ते साध्याभावे साधनाभावलक्षणव्यतिरेकव्याप्तेश्चोदाहरणेनैव प्रदर्शितत्वेन कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेऽन्तर्भूतस्य कृत एव परिहार। बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतुर्हि कालात्ययापदिष्ट, बाधश्च पक्षनिष्ठसाध्याभावनिश्चय एवेति निश्चितसाध्याभाववद्वृत्ति कथमनैकान्तिको न स्यात्? ननु साध्याभावनिश्चयो बाध, स च पृथग्दूषणम्, अनैकान्तात्। निश्चिते साध्याभावे तद्वति वर्तमानोऽनैकान्तिक, ततश्च पुर स्फूर्तिकबाधेनैवोपहतो हेतु, कथमनेकान्तिकेन

पयोग दूषयति—**मैवमिति**। अन्यत सिद्धि विवृणोति—**तथाहीत्यादिना**। ननु यदि कालात्ययापदिष्टस्यानैकान्तिकेऽन्तर्भाव स्यात्तदा तन्निरसने निरास, स एव तु कथमिति? तत्राह—**बाधित इति**। सद्धेतुनिरासाय बाधितग्रहणम्। तत किमति, तत्राह—**बाधश्चेति**। पक्षत्रयवृत्तिर्ह्यनैकान्तिक, यथा नित्य शब्द प्रमेयत्वादिति। तदिहाग्निरनुष्ण पदार्थत्वादित्यत्र प्रत्यक्षसिद्धोष्णिमतया विपक्षतामापन्नेऽग्नौ पक्षे सपक्षे च घटादिषु वर्तमान कथमनैकान्तिकानन्तर्भूत स्यात्? कथतरा तन्निवर्तकोदाहरणेन न निवृत्ति? कथतमा च न तन्निवर्तकतया निगमनस्य सार्थक्यम्? इति भाव। बाधस्यानैकान्तिकाद्बहिर्भावमाह पूर्ववादी—**नन्विति**। बाधिते पक्षे वर्तमानो हेतु कालात्ययापदिष्ट, तथा च बाधमुपजीव्य तद्विपक्षत्वनिर्णयानन्तरमनैकान्तिकत्वप्रतीति। तथाचोपजीव्यमेव निग्रहस्थान प्रथमोद्भाव्यत्वात्। न चरमोद्भाव्यम्। इतरथा निग्रहस्थानाना सकरापत्तेरित्यर्थ। तदेतदति-

---

अवद्योतित (प्रकाशित) होता है। शका का उत्तर है कि निगमन से प्रथम बाध और प्रतिपक्ष का निवारण हो जाता है, और अबाध का निरूपण असम्भावित भी है। क्योकि साधन के सद्भाव मे साध्य के सद्भाव का नियम रूप अन्वय व्याप्ति और साध्य के अभाव मे साधन के अभाव रूप व्यतिरेकव्याप्ति के उदाहरण से ही प्रदर्शित होने पर, अनैकान्तिक के अन्तर्गत बाध का परिहार हो ही जाता है, परन्तु बाधित हेतु अनेकान्तिक के अन्तर्गत कैसे है, तो कहा जाता है कि बाधित पक्ष मे वर्तमान हेतु ही बाधित कहा जाता है, अर्थात् साध्य के बाध से हेतु का बाध कहा जाता है, क्योकि पक्षवृत्तिसाध्याभाव का निश्चय ही बाध कहा जाता है, तो इस प्रकार से निश्चित साध्याभाववान् मे वृत्ति हेतु अनैकान्तिक कैसे नही होगा। यदि कहे कि साध्याभाव निश्चय रूप बाध है, तो अनैकान्तिक से पृथक् दूषण है, साध्याभाव के निश्चित होने पर, उस साध्याभाववान् मे वर्तमान हेतु अनैकान्तिक होता है। अत प्रथम प्रभासित बाध से ही हेतु उपहत (नष्ट) हो जाता है, फिर

पुनरुपहन्येत ? नहि मृतो मार्यत इति चेत्, हन्तैव बाधवदेव विपक्षग्राहक-प्रमाणमपि पृथक् दूषणं स्यात् ? प्रमिते विपक्षे तदुपजीविनस्तद्वृत्तेरनैकान्तिकत्वाङ्गीकारात् । व्याप्तिपक्षधर्मताप्रहारेणैव च सर्वदूषणजातस्य दूषणता, अन्यथा सिद्धसाधनताया अपि पृथग्दूषणत्वप्रसङ्गात् । सा हि सिद्धस्य साध्यत्वाभावेन पक्षत्वप्रच्युत्या दूषणमुपेयते, तथा बाधोऽपीति ।

प्रसङ्गेन दूषयति— **हन्तैवमिति ।** तत्साध्याभावज्ञापनं नाम विपक्षत्वज्ञापनमेव, तथा च बाधोपि दूषणमिति, किमुक्तं भवति ? विपक्षग्राहकं प्रमाणमपि भवति दूषणमिति, तथा च प्रसिद्धानैकान्तिकस्थले विपक्षग्राहकं प्रमाणमेव किमिति निग्रहस्थानं न स्यात् ? अस्ति हि तस्यापि केनोपजीव्यत्वमिति भावः । ननु यद्यपि बाधे विपक्षत्वज्ञानमप्यस्ति, तथापि न तेनाकारेण दूषणत्वम्, येनातिप्रसक्तिः स्यात्, किन्त्वनुमितिस्थले तदभावबोधकतया, तदर्थं ह्यनुमानप्रयोजनं यदनुमितमार्थसिद्धिस्तथा च तामेवापहरतो नाङ्गवैकल्यान्तर्भावेण दूषणत्वमपि तु शिरश्छेदनमिव स्वातन्त्र्येणेति, तत्राह— **व्याप्तिपक्षधर्मतेति ।** अयं भावः — न तावद्बाधसहस्रेणापि स्वभावव्याप्तिकान्तिमात्ववति हेतौ जीवति साध्यमपहर्तुं शक्यम् । स्वभावव्याप्त्यपहारे पदार्थत्वादिति हेतोरेवापहारप्रसङ्गात् । तस्मादनेन बाधेनापि निरुपाधिकसम्बन्धाभाव एव बोधनीयः । एतमर्थमभिप्रेत्याह —'बाधेन चापाधिरुन्नीयते तथा चेति न कश्चिदनयोर्विशेषः' इति । तथा च व्याप्त्यपहारेण दूषणत्वान्नानैकान्तिकाद्भेदः । न चासिद्धावन्तर्भावः । व्याप्त्यपहारिलिङ्गत्वाभावात्तस्य, व्याप्त्यपहाररूपा ह्यसौ येयमसिद्धिः । उक्तं च लीलावतीकारेण—'सर्वोपसंहारप्रवृत्तबाह्याभ्यन्तरनियमस्यानुमानसहायत्वात्तद्देशप्रवृत्तेर्विपरीतपरिच्छेदस्य बाधस्य व्यभिचारत्वात्स च व्यभिचारो बहिरन्तश्चेति सव्यभिचारदेहान्तर्भूतत्वादिति । अथवा—'प्रतिज्ञादोषमेवाहु केचित् प्रत्यक्षबाधनम्' इति वार्तिककारमतेन प्रतिज्ञादोषतैवास्यास्तु, नानैकान्तिकतेत्याशङ्क्य तथाप्यपक्षधर्मतयास्यासिद्धावेवान्तर्भाव, न पृथग्दूषणतेत्याह— **व्याप्तीति ।** एवमनङ्गीकारे चातिप्रसक्तिमाह—**अन्यथेति ।** तस्यापि पक्षत्वप्रच्यावकत्वसाम्यादित्याह —**सा हीति ।** अतस्तस्य यथातथाविधस्याप्याश्रयासिद्धिलक्षणा-

---

अनैकान्तिक से कैसे उपहत होगा । क्योंकि मृत को नहीं मारा जाता है । तो ऐसा कहना युक्त नहीं, क्योंकि उक्त रीति से यदि बाध अनैकान्तिक से पृथक् प्रबल दूषण है । इसी प्रकार से बाध के समान ही विपक्षग्राहक प्रमाण भी पृथक् दूषण होगा । क्योंकि प्रमित विपक्ष मे विपक्षग्राही प्रमाणोपजीवी (प्रमाणाश्रित) विपक्षवृत्ति हेतु के अनैकान्तिकत्व को माना गया है, अतः अनैकान्तिक से पूर्ववृत्ति विपक्ष ग्राहक प्रमाण भी होता है, और व्याप्त पक्षधर्मता के प्रहार = नाश द्वारा ही सब दूषण समूह की दूषणता होती है, अन्यथा सिद्धसाधनता को भी पृथक् दूषणत्व का

अबाधितविषयत्वस्य दुर्निरूपत्वाच्च । पक्षे विषयापहारलक्षणबाधस्य प्रमितौ तदभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अप्रमितौ चाप्रमितप्रतियोगितया तदभावस्यासिद्धे ।

तदुक्तमभियुक्तै —

'बाधश्च पक्षे विषयापहारो यद्यस्ति नाबाधितताऽत्र सिद्धा ।

नोचेदसिद्धप्रतियोगिकत्वादेतस्य सिद्धिर्न कथञ्चन स्यात् ॥' इति ।

सत्प्रतिपक्षप्रकरणसमावप्यसभविनावेव, निरुपाधेस्त्वनुमानद्वयस्यैकत्रासभवित्वात्, सभवे वा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्ते । प्रकरणसमेऽपि वस्तुनो

सिद्धावेवान्तर्भाव, एवमस्याप्यनैकान्तिकान्तर्भाव । इयास्तु विशेष —तस्य पक्षमात्रापहारकत्वादसिद्धचन्तर्भाव, अस्य व्याप्त्यपहारकत्वादनैकान्तिकान्तर्भाव इति । असभवित्वाच्चेत्येतद्विवृणोति--**अबाधितेति** । प्रतियोगिप्रमितावप्रमितो च नेद सभवतीत्यर्थ ।

एतदेव वृद्धवचनेन द्रढयति—**तदुक्तमिति** । असत्प्रतिपक्षत्वस्यापि दुर्निरूपता दर्शयितु प्रतियोगिनो दुर्निरूपतामाह—**सत्प्रतिपक्षेति** । स्वात्मना सत्प्रतिपक्ष प्रकरणसम इति विवक्षितस्तत्र हि नित्यत्वानित्यत्वग्राहकमनुमानद्वय निरुपाधिकम् ? सोपाधिक वा ? आद्य आह—**निरुपाधेरिति** । कथमिति न सभवति ? तत्राह--**संभवे वेति** । स्वाभाविकसबन्धव्यापकापहारे हेतो स्वभावपरित्यागप्रसङ्गात् । तदेव मनो नित्यमनित्य च स्यात्, न चैतत्सभवति, धर्म्यव भिद्येतेत्यर्थ । प्रकारणसमे उभयत्र व्याप्तिरस्ति ? न वा ? प्रथमे पूर्वोक्तदूषणमतिदिशति—

प्रसङ्ग होगा, क्योकि सिद्धसाधनता भी सिद्ध के साध्यत्व के अभाव मे साध्यत्व रूप पक्षत्व का प्रच्युति द्वारा दूषण माना जाता है । इसी प्रकार से बाध भी पक्षत्व की प्रच्युति (निवृत्ति) द्वारा दूषण होता है । और अबाधित विषयत्व के अनिरूपण से भी बाध पृथक् दूषण नही हो सकता है । क्योकि पक्ष मे विषय का अपहार-स्वरूप बाध की प्रमिति होने पर, उसके अभाव रूप अबाध को कहना अशक्य है, और यदि उक्त प्रमिति नही है, तो अप्रमिति रहते अप्रमित प्रतियोगिता से उस बाध के अभाव (अबाधित विषयत्व) की सिद्धि नही हो सकती हे ।

अभियुक्तो से कहा गया है कि—(पक्ष मे विषयासाध्य) का अपहार बाध होता है, वह यदि है, तो पक्ष मे अबाधितता (अबाध) नही सिद्ध हो सकती है, और यदि बाध नही है, तो अप्रसिद्ध प्रतियोगिकत्व से इस अबाधितत्व की सिद्धि किसी प्रकार से नही होगी ।

साध्य और तदभाव के साधक दो हेतु वाला सत्प्रतिपक्ष, और विरुद्धार्थसाधक एक हेतु वाला प्रकरण सम भी असम्भवग्रस्त है, क्योकि निरूपाधि अनुमानद्वय का

द्वैरूप्यापत्तिरेव, पक्षविपक्षयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणसद्भावात् । अन्यतरग्राहकप्रमाणाभावे च तत एव व्याप्तिभङ्गात् । किंच नित्य शब्दोऽनित्यः शब्दो वा, पक्षयोरन्यतरत्वात्सपक्षवदित्येवरूपोऽसाविष्यते, तत्र चार्थभेदान्न पक्षप्रतिपक्षयोरेकरूपो हेतु, । नित्यत्वप्रतिज्ञाया नित्यस्यानित्यत्वप्रतिज्ञायामनित्यस्य सपक्षशब्देनाभिधानात् । शब्दसाम्यमात्रेण च हेतोरेक-

---

प्रकरणसमेऽपीति । उत्तरस्मिन्दूषणमाह—**अन्यतरेति** । एतेन सत्प्रतिपक्षे द्वितीयविकल्पोपि निरस्त । एतेन हेत्वाभासान्तरान्तर्भावोपि वेदितव्य । यच्च प्रकरणसमस्य लक्षण तैरुच्यते, स्वपरपक्षसिद्धौ त्रिरूपो हेतुरेक प्रकरणसम इति, तदप्यसिद्धमित्याह—**किंचेति** । अर्थभेदमेव दर्शयति—**नित्यत्वेति** । नित्य शब्द पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र हि शब्दनित्यान्यतरत्वादिति हेत्वर्थ । तथाऽनित्य शब्द पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्र शब्दानित्यान्यतरत्वादित्यर्थ । तथा च नोभयत्रानुगत कश्चिदेको हेतुरस्तीत्यसिद्धिर्लक्षणस्येत्यर्थ । ननु पक्षत्वमपक्षत्वे कोचन धर्मौ, तदधिकरणे च पक्षसपक्षौ, तयोरन्यतरत्व च हेतु, अन्यतरत्व च तदुभयान्योन्याभावानधिकरणत्वम्, तथाच कथमननुगति ? तत्राह—**शब्दसाम्यमात्रेण चेति** । अय भाव —न तावदेत्रविधौ भावाभावयोरन्तर्भूतौ समयनिरूपणौ सकल-

---

एकत्र होना असम्भव है, और वही सत्प्रतिपक्ष का स्वरूप माना जाता है, और यदि विरुद्ध अनुमान द्वय का सम्भव हो, तो वहाँ अनुमेय वस्तु मे द्वैरूप्य (भेद) की प्राप्ति होगी (शब्दो नित्य , श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत् । शब्दोऽनित्यो विशेषगुणत्वात्, रूपवत्) इत्यादि से नित्य अनित्य दो प्रकार के शब्दादि सिद्ध होगे । प्रकरण सम मे भी वस्तु की द्विरूपतापत्ति ही होगी, क्योकि पक्ष, विपक्ष दोनो की व्याप्ति के ग्राहक प्रमाण का सद्भाव रहेगा, यदि दोनो मे से एक के ग्राहक प्रमाण का अभाव रहेगा, तो उसी से व्याप्ति का अभाव प्राप्त होगा । और प्रकरण सम का लक्षण कहते है कि (स्वपरपक्षसिद्धौ त्रिरूपो हेतुरेक प्रकरणसम) वादी प्रतिवादी के पक्षो की सिद्धि मे, पक्षसत्व सपक्षसत्व और अबाधित्व इन तीनो रूप वाला एक हेतु प्रकरणसम होता है, उदाहरण है कि (शब्दो नित्य , पक्षसपक्षान्यतरत्वात्, सपक्षवत्, शब्दोऽनित्य पक्षसपक्षाऽन्यतरत्वात् सपक्षवत्) इन दोनो अनुमानो मे पक्ष तो एक है, परन्तु साध्य नित्य और अनित्य दो है, वहाँ नित्य साध्य वाले अनुमान मे नित्य सपक्ष होगा, अत हेतु का 'शब्दनित्यान्यतरत्वात्' अर्थ होगा, दूसरे अनुमान मे अनित्य सपक्ष होगा, अत हेतु का शब्दाऽनित्यान्यतरत्वात् अर्थ होगा, इस रीति से एक स्वरूप वाला एक हेतुविरुद्ध नित्यत्व अनित्यत्व का साधक होने से प्रकरण सम है । वहा कहा जाता है कि नित्य शब्द है, वा अनित्य शब्द है, इन दोनो मे अन्यतरत्वात् हेतु एक है, तथा सपक्षवत् यह

रूपत्वे गोशब्दवाच्यत्वाद्वागादीनामपि विषाणित्वानुमा प्रसज्येत। तदेव व्याप्तिपक्षधर्मताभ्यामेव सकलहेत्वाभासनिरासे नावयवान्तरकृत्यमस्तीति पश्याम, तेन पञ्चावयववाक्य परार्थानुमानमिति प्रत्युक्तम्।

उपमानलक्षणमपि दुर्घटम्। तथाहि—नगरानुभूतचरगोपिण्डस्य वनमुपेयुष साक्षाद्गवयमीक्षमाणस्यानेन सदृशी मदीया गौरिति प्रत्यक्षदृष्टगवयसादृश्यविशिष्टासन्निकृष्टगोपिण्डग्रहणमुपमानमिति मीमासका।

भाववृत्तित्वेन षट्पदार्थबहिर्भावेन भावानन्तर्भावात्, निष्प्रतियोगिकत्वेनानिषेधात्मकत्वाच्चाभावानन्तर्भावात्, निष्प्रतियोगिकमभावमिच्छतो दत्तचरमुत्तरम। अन्यतरत्वनिरुक्तिश्च खण्डितचरी। नच तद्धर्मसिद्धावपि तस्य हेतुता, अनित्यत्वप्रतिज्ञायामाकाशादावपि तद्भावेनानैकान्त्यात्। एवमितरत्रापीति। तस्मात्तत्तद्वस्तुविशेषवाचका एवैते शब्दा इति मन्तव्यम्। तथाचात्र यद्यनुगति स्यात्, पर शब्दमात्रेणैव सा चातिप्रसङ्गिनी। पशुत्वेन शशादीनामपि विषाणित्वानुमानापातात, गोत्वेन च वागादीनामपीति नैरर्थक्यसमर्थनमुपसहरति—**तदेवमिति।** अत्र च पक्षाखण्डनेन च साध्यखण्डनेन चोपाधिखण्डनेन च व्याप्तिखण्डनेन चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमा खण्डिता। बाधखण्डनेन च कालातीत खण्डित इति वेदितव्यम्। अवयवखण्डनस्यानुमानखण्डनोपयोगमाह—**तेन पञ्चेति।**

क्रमप्राप्तमुपमान खण्डयति—**उपमानलक्षणमपीति।** नत्र सदृशदर्शनात्सन्निकृष्टार्थज्ञानमुपमानमिति मीमासकानामुपमानलक्षणम, तत्सोपपादनमनुवदति—**तथा हीत्यादिना।** उपेयुष प्राप्तस्येत्यर्थ। **प्रत्यक्षदृष्टेति।** प्रत्यक्षदृष्टो यो

उदाहरण स्वरूप मे यद्यपि एक है, ऐसा मानते है, तथापि वहाँ अर्थ के भेद होने से पक्ष-प्रतिपक्ष मे एक स्वरूप वाला हेतु नही है, क्योकि नित्यत्व की प्रतिज्ञा (शब्दो नित्य) मे नित्य को और अनित्यत्व की प्रतिज्ञा मे अनित्य को सपक्ष शब्द से कहा जाता है। शब्द की समता मात्र से हेतु के एकरूपत्व हो, तो गोशब्दवाच्यत्व से वाक् (वाणी) आदि के भी शृङ्गित्व का अनुमान प्राप्त होगा। अत उक्त रीति से व्याप्ति पक्षधर्मता द्वारा सब हेत्वाभास के निवारण होने पर अवयवान्तर का फल नही दीखता है, अत पञ्चावयव वाला वाक्य रूप परार्थानुमान होता हे, यह प्रत्याख्यात हो गया।

उपमान का लक्षण भी दु साध्य है, जैसे कि, जो मनुष्य नगर मे गोशरीर को निज अनुभव का विषय करता है, वही वन मे जाता हे, तो वह प्रत्यक्ष गवय को देखता है, तब उस देखने वाले को ज्ञान होता है कि इसके सदृश मेरी गौ है, इस प्रकार से प्रत्यक्ष ष्ट गवय के सदृशता से युक्त असन्निहित गो शरीर का ज्ञान उपमान है, यह मीमासको का कथन है। वहाँ सदृश के दर्शन से असन्निकृष्ट का

नचेद स्मरणम्, पुरा गोपिण्डमात्रानुभवेऽपि प्रतियोगिगवयाद्यनवगतत्वेन तत्सादृश्यविशिष्टतयाननुभवात् । नाप्यनुमानम्, तद्व्याप्तलिङ्गाभावात् । नापि शाब्दम्, अन्तरेणापि शब्दव्यवहारमुपपत्ते । मैवम्,

भूयोऽवयवसामान्य सादृश्य यच्च गोगतम् ।
विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यत ॥ २९ ॥

गवयसादृश्यविशिष्टतयाऽसन्निकृष्टस्य प्रमाणान्तरेणानधिगतस्य नगरगतगो-पिण्डस्य ग्रहणमिति योजना । अत्र च गवयगतगोसादृश्यज्ञानस्य प्रतियोगिगोपिण्ड-ज्ञानसापेक्षत्वादुक्तमनुभूतचरगोपिण्डस्येति । युगपत्प्रत्यक्षावगतगोगवयसादृश्यव्यवच्छे-दायासन्निकृष्टपदम् । ननु नगर एव यदा गोपिण्डोऽनुभूयते, तदा गवयसादृश्य-विशिष्टतयाऽनुभूत एव स, गवयसादृश्यस्य गोगतस्येन्द्रियसन्निकृष्टतयाऽनुभवितु शक्यत्वात्, अतोऽरण्यस्थस्य तत्र स्मृतिरेव परमुदेति, न प्रमितिरिति, न तत्करण किचित्प्रमाणमतिरिक्तमस्ति, तत्राह—**न चेदमिति ।** यद्यपि सादृश्यमस्ति गोपिण्डे, तथापि प्रतियोगिज्ञानाधीनतया प्रतियोग्यनवगमेन पूर्व नानुभूयते, तेन न स्मृति-रित्यर्थ । अथानुमानमेवेद कि न स्यादित्यत्राह—**नाप्यनुमानमिति ।** न तावत्सा गारनेन सदृशी अस्य तत्सदृशत्वादिति गक्यानुमानम्, तस्य व्यधिकरणत्वात् । नापि गोत्वात्सप्रतिपन्नवदित्यनुमानम, गवान्तरे गवयग्रहणव्यतिरेकेण सादृश्याग्रहणादिति भाव । **अन्तरेणापीति ।** न ह्यरण्यगतदशायामस्ति कश्चिदुपदेष्टेत्यर्थ । एव समर्थितमुपमान दूषयति—**मैवमिति ।** भूयोवयवानां यानि सामान्यानि खुरत्वकर्ण-त्वादीनि, तानि गोगवयावयवेषु वर्तमानानि गोगवययो सादृश्य द्रव्यादिचतुष्टय-तत्त्ववादिना भाट्टस्य तादृशसादृश्यमाश्रयग्रहणेन योग्यतया च पूर्वमेव गवि गृहीतम्,

ज्ञान, उपमान का (उपमिति का) लक्षण सिद्ध होता है, ओर गवय का दर्शन उपमान प्रमाण होता हे । यह उपमिति स्मरण स्वरूप नही है, क्योकि प्रथम गो-शरीर मात्र के अनुभव होने पर भी सादृश्य के प्रतियोगी गवयादि के अज्ञात होने से उसके सादृश्य युक्त स्वरूप से उस गौ के अनुभव का अभाव रहता हे, ओर अनुभूत विषय का ही सस्कारजन्य स्मरण होता है । यह अनुमान (अनुमिति) स्वरूप नही है, क्योकि गवय सदृश गो से व्याप्त लिङ्ग का अभाव है । यह शाब्दी प्रमा भी नही होती है, क्योकि शब्द के व्यापार = उपदेशादि रूप व्यवहार के बिना इसकी उत्पत्ति होती है । यह मीमासको का कथन है, परन्तु ऐसी बात नही हे । क्योकि—

भूय बहुत अवयव की समानता ही सादृश्य होता है । जो गोगत अवयव सामान्य निर्विकल्प रूप से प्रथम विज्ञात रहता है कि जिससे गवयदर्शन के बाद प्रत्यभिज्ञा होती है ॥ २९ ॥

न तावत्तौतान्तिकमते सादृश्यमस्ति पदार्थान्तरम्, किंतु भूयोवयव-सामान्ययोग एव। तदुक्तम्--

"सादृश्यस्य च वस्तुत्व न शक्यमपबाधितुम्।
भूयोवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरस्य तत्॥" इति

(श्लो० वा० उप० १८)

तच्च बुद्धचनारूढेऽपि प्रतियोगिनि गोत्ववन्निर्विकल्पकेनाकलित पुनर्गवयस्य प्रतियोगिनो दर्शने परामृश्यते सविकल्पकेन, तत्किमपरमवशिष्यते यत्रोपमानमिष्येत ? ननु निर्विकल्पकेनापि न सादृश्यमनुभूत सविकल्पक-

इयास्तु विशेष—पूर्वमनेन सदृशीति प्रतियोगिवैशिष्ट्व्यतिरेकेण निर्विकल्पकमनुभूतम्, इदानी तु सविकल्पतया प्रत्यभिज्ञा जायते यतोऽतो न पृथक्प्रमाणमिति श्लोकयोजना। श्लोक पिवृणोति—**न तावदित्यादिना।** तौतान्तिका कौमारिला। प्राभाकरमते हि सादृश्य द्रव्याद्वचतिरिक्तमिति तौनान्तिकग्रहणम्। **पदार्थान्तरमिति।** सामान्यपदार्थादतिरिक्तमित्यर्थ। अत्रैव वार्तिकसमतिमाह—**तदुक्तमिति।** गवयात्सकाशाज्जात्यन्तरस्य गोपदार्थस्य गवयगतभूयोवयवसामान्यैर्योग सादृश्यमतस्तस्य वस्तुत्वमपबाधितुमशक्य भाट्टमतानुसारिभिरिति योजना।

तत किमिति तत्राह—**तच्चेति।** तदुक्त तत्त्वकौमुदीकारेण—"नह्यन्यद्गवि सादृश्यमन्यच्च गवये, भूय सामान्ययोगो जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते, सामान्ययोगश्चैक, स चेद्गवये प्रत्यक्षो गव्यपि तथेति नोपमानस्य प्रमेयान्तरमस्ति" इति। ननु यद्यपि भावरूपत्वान्निर्विकल्पकवेद्यत्वमस्ति, तथापि सप्रतियोगिक एय निर्विकल्पकेनापि गृह्यते, प्रतियोगिसापेक्षस्य निर्विकल्पके सविकल्पके वा स्वभावापरित्यागात्, नच प्रतियोगी पूर्वमुपलब्ध, तेन निर्विकल्पकेनाप्यननुभूनमेवेति शङ्कते—**नन्विति।** यथा ह्रस्ववितस्त्यादिरस्मादय दीर्घ इति व्यवहारे प्रतियोगिसापेक्षग्रहणेपि न स्वरूपमात्रग्रहणे प्रतियोगिनमपेक्षते, एवमत्रापीति

भाट्टमत मे पदार्थान्तर रूप सादृश्य नही है, किन्तु बहुत अवयवो की तुल्यता का सम्बन्ध ही सादृश्य है, ऐसा कहा है—

सादृश्य के वस्तुत्व का बाध नही किया जा सकता हे, किन्तु जात्यन्तर के बहुत अवयव की समानता का सम्बन्ध रूप वह सादश्य हे।

वह गोगत सादृश्य गवय रूप प्रतियोगी के बुद्धि मे अनारूढ (अज्ञात) रहते भी गोत्व के समान निर्विकल्पक ज्ञान से गृहीत होता है, फिर गवय रूप प्रतियोगी के दर्शन होने पर सविकल्पक ज्ञान से परामृष्ट (अनुभूत) होता है, इसप्रकार प्रत्यक्ष से ही सदृश के ज्ञान होने पर क्या परिशेष रहता है कि जिसके लिये उपमान प्रमाण मानना चाहिये। शका होती है कि सविकल्पक के समान निर्वि-

वत्तस्यापि तदाकलने प्रतियोगिसापेक्षत्वादिति चेत्, न, हस्तवितस्त्यादिवत्कर्णखुरादिसामान्यस्य स्वरूपावधारणे प्रतियोगिनिरपेक्षत्वात्। अन्यथा भेदस्यापि निर्विकल्पकेनाकलनाभिनिवेशो भवता प्रलीयेत।

ये तु प्रतिजानते—सादृश्य नाम पदार्थान्तरम्, तद्धि न द्रव्यम्, गुणवृत्तित्वात्, अत एव न गुणोऽपि, नापि कर्म, नापि सामान्यादित्रयम्, तत्रापि वृत्ते। नापि शक्ति, शक्तेरप्रत्यक्षत्वात्, प्रत्यक्षत्वाच्च सादृश्यस्य।

परिहरति—**न हस्तेति।** अतश्चैतदङ्गीकर्तव्यमितरथा भेदस्यापि सप्रतियोगिकतया निर्विकल्पकवेद्यत्वाभावप्रसङ्गात्। स्वीकृत च तत "निर्विकल्पकबोधेऽपि द्वयात्मकस्यापि वस्तुन ग्रहणम्" इति वदद्भिरित्यभिसधायाह—**अन्यथा भेदस्यापीति।**

एव भाट्टपक्षे दूषणमुक्त्वा प्राभाकरमतमुत्थापयति दूषयितुम्—**ये तु प्रतिजानत इत्यादिना।** द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायशक्तिसख्याऽपूर्वसादृश्यात्मका हि पदार्थास्तै परिगणितास्तत्र सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्व परिशेषत साधयामास शालिकनाथ प्रमाणपारायणे—'विषयोऽस्य वित्तिमिद्धो भिन्नो द्रव्यादिभावेभ्य' इत्यादिना, तदनुवदति—**तद्धीति। गुणवृत्तित्वादिति।** केतकीगन्धसदृश सर्पगन्ध इत्यादावित्यर्थ। **अत एव** गुणवृत्तित्वादेव। अगुणा हि गुणा इत्यर्थ। नापि कर्म गुणवृत्तित्वात्कर्मवृत्तित्वाच्चेति द्रष्टव्यम्। **तत्रापीति।** सामान्यादिष्वपीत्यर्थ। अस्तु तर्हि शक्त्यन्तर्भाव, तत्राह—**नापि शक्तिरिति।** सख्यावृत्तितामेव दर्शयति—

कल्पक से भी प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना सादृश्य अनुभूत नही होना है, क्योकि सादृश्य के आकलन (अनुभव) मे प्रतियोगी सापेक्षत्व रहता है। अत निर्विकल्पक से भी प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना सादृश्य का ज्ञान नही हो सकता है, परन्तु यह शका युक्त नही। क्योकि हस्तपरिमाण वितस्ति परिमाणादि के यह इससे दीर्घ है, इत्यादि ज्ञान के सापेक्ष होते भी उन प्रमाणो के स्वरूप के ज्ञान मे किसी की अपेक्षा नही होती है, इसी प्रकार से कर्ण-खुरादि रूप सामान्य के स्वरूप ज्ञान मे प्रतियोगी की अपेक्षा नही होती है। अन्यथा भेद का भी निर्विकल्पक से अनुभव विषयक आपका अभिनिवेश (निश्चय) विलीन हो जायगा (नही रहेगा) और आप मानते है कि द्वयात्मक वस्तु भेद का निर्विकल्पक से ग्रहण होता है। ऐसे ही सादृश्य का भी ग्रहण होगा।

जो प्राभाकरमतानुयायी मानते है कि सादृश्य नामक पदार्थान्तर है, वह द्रव्य नही है। क्योकि गुण मे रहता है, अतएव वह गुण भी नही है, न कर्म है, क्योकि गुण मे गुण और कर्म नही रहते है। सामान्य, विशेष, समवाय इन तीनो रूप भी सादृश्य नही है, क्योकि उनमे भी सादृश्य रहता है। शक्ति रूप नही है। क्योकि कार्यानुमेय शक्ति अप्रत्यक्ष रहती है, और सादृश्य प्रत्यक्ष होता है। सख्या रूप भी

नापि सख्या, सख्यावृत्तित्वात्, इदमेकत्वमेकत्वान्तरसदृशमिद च द्वित्व द्वित्वान्तरसदृशमिति तत्रापि व्यवहारात् । तच्च सविकल्पकैकवेद्यम्, इदमनेन सदृशमिति प्रतियोगिघटितस्यैव व्यवहारनियमदर्शदादिति, मैवम्, विकल्पासहत्वात् । तत्कि स्पर्शवत् ? उत न ? आद्ये, द्रव्यत्वम् । द्वितीये, एकवृत्तित्वे गुणकर्मविशेषाणामन्यतमत्वम् । अनेकवृत्तित्वे तु सामान्यसम-वाययोरन्यतरत्वापत्ति । एतेन पदार्थान्तरत्व सख्याया अपि प्रत्याख्येयम् ।

यत्पुन षट्पदार्थान्तर्भावे सामान्यादिवृत्तित्व न स्यादिति तथ ब्रूम –

इदमेकत्वमिति । अपूर्वत्व तु चोदना लक्षणत्वाभावादतिदूरनिरस्तमिति भाव । ननु भवतु पदार्थान्तर तथापि पूर्वमेव गृहीतत्वात्प्रत्यभिज्ञान्तर्भावे किमुक्तमुत्तरमिति ? तत्राह—**तच्च सविकल्पकेति ।** न च, परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिरिति न्यायेन षट्स्वेव सादृश्यमन्तर्भावयन्पदार्थान्तरता दूषयति—**मैवमित्यादिना ।** अत्र तावदाश्रिततया प्रतीतेर्न नित्यद्रव्यमिति स्थिते विकल्पयति – **तत्कि स्पर्शवदि-त्यादिना । द्रव्यत्वमिति ।** गुणादीना निर्गुणत्वादित्यर्थ । स्पर्शरहितत्वेऽपि किमेकवृत्ति ? किं वानेकवृत्ति ? प्रथमे प्राह—**गुणकर्मेति ।** यद्यपि सयोगादेरनेक-वृत्तित्वमस्ति, तथाप्येकवृत्तिगुणाद्यन्यतमादावतिव्याप्तेर्न व्यभिचार इति भाव । द्वितीये दूषणमाह—**अनेकेति ।** एतच्च नित्यत्वे, अनित्यत्वे तु द्वित्वादिगुणविशेष-त्वापत्तिरपि द्रष्टव्या । नन्वस्पर्शवत्त्वे सत्येकवृत्तित्वमनेकवृत्तित्व च न गुणादिपञ्चक-व्याप्तम्, सख्याया व्यभिचारादित्यत्राह — **एतेनेति ।**

एव षट्स्वेवान्तर्भावमुक्त्वा यत्तेनानन्तर्भावे कारणमुक्त तद्दूषयति — **यत्पुन-रिति । न द्वितीय इति ।** विप्रतिपन्न सामान्याद्यनन्तर्भूत सामान्यादिवृत्तित्वादिति

सादृश्य नही है, क्योकि सख्या मे भी रहती है, यह एकत्व एकत्वान्तर के सदृश है, और यह द्वित्व द्वित्वान्तर के सदृश है। इसप्रकार से सख्या मे सादृश्य का व्यवहार होता है, और यह सादृश्य एक सविकल्पक ज्ञान से ही वेद्य (ज्ञेय) होता है, क्योकि यह इसके सदृश है, इसप्रकार से प्रतियोगियुक्त सादृश्य का व्यवहार नियम से देखा जाता है । ऐसा मानना युक्त नही । क्योकि यह मत विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि वह सादृश्य स्पर्श वाला है या नही, प्रथम पक्ष मे स्पर्श रूप गुण वाला होने से उसको द्रव्यत्व होगा । दूसरे पक्ष मे स्पर्शरहित एकवृत्ति होने पर गुण कर्म विशेषो मे किसी एक स्वरूप होगा । और अनेक वृत्ति होने पर सामान्य समवाय मे किसी एकरूपता की प्राप्ति होगी । इसीप्रकार से सख्या के पदार्था-न्तरत्व प्रत्याख्येय है ।

और जो यह कहा था कि सादृश्य के द्रव्यादि छह पादार्थ के अन्तर्भाव होने पर सामान्यादि मे उसके वृत्तित्व नही होगा । वहाँ कहा जाता है कि क्या यह कथन

किमिद प्रसङ्गमात्रम् ? उत विपर्ययपर्यवसायितया प्रमाणमेव ? नाद्य, तर्कमात्रस्यासाधकत्वात् । न द्वितीय, सामान्यमेव सादृश्यमिति वादिन प्रति सामान्यवृत्तित्वस्यासिद्धे । ननु गवयत्वमिव गोत्वमित्यनुभवादेव सादृश्यस्य सामान्यवृत्तिता सिद्धेति चेत्, किमनुभवादेव सिद्धि ? उताबाधितात् ? नाद्य, गगननीलिमादेरपि सिद्धिप्रसङ्गात् । न द्वितीय, प्रतिवादिन प्रत्यबाधासिद्धे । किञ्च यत्र सौवर्णकर्णाभरणया सौवर्णकर्णाभरणा सदृशीत्युपमीयते, तत्र द्रव्य सादृश्यम्, नच तद्गुणवृत्ति । तथा रस पनसशर्करयो सादृश्यम्, तस्य च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वादित्यसिद्धा हेतु । यत्र च हसगमनेन हसगमनमुपमीयते तत्र कर्मैव सादृश्यमिति तत्रापि

हि विपर्ययपर्यवसायि प्रमाण, तत्र चासिद्धो हेतु । सामान्यवादिनानङ्गीकारादित्यर्थ । वृत्तिमनुभवेन साधयति पूर्ववादी—**ननु गवयत्वमिवेति** । कि प्रतीतिमात्र वृत्तिसाधकम् ? अबाधितप्रतीतिर्वा ? नाद्य । अतिप्रसङ्गादिति दूषयित्वा द्वितीय दूषयति—**प्रतिवादिन प्रतीति** । एव सामान्याद्यनन्तर्भावे हेतुमुद्धृत्य द्रव्यादिष्वनन्तर्भावे हेतु गुणवृत्तित्वमप्यसिद्धमिति—**किचेत्यादिना** । **हंसगमनेति** । 'हसगमना गच्छति चारुहासिनी' इत्यादौ हसगमनेन हेतुना हसगमना हसीत्युपमीयते

प्रसक्तिरूप तर्क मात्र है, या (सादृश्य, सामान्यादि मे अनन्तर्भूत है, सामान्यादि मे वृत्ति होने से) विपर्यय बोधक रूप मे प्रमाण ही है कि जिससे षट्पदार्थ अन्तर्वृत्तिता का अभाव सिद्ध हो । आद्यपक्ष युक्त नही, क्योकि प्रमाणरहित तर्कमात्र किसी अर्थ का साधक नही होता है । दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि सामान्य ही सादृश्य है, ऐसा कहने मानने वालो के प्रति सामान्य वृत्तित्व रूप अनन्तर्भावना का साधक हेतु असिद्ध है । यदि शका हो कि 'गवयत्व के समान गोत्व है' इस अनुभव से सामान्य मे सादृश्य की वृत्तिता सिद्ध होती है, तो इस शका की निवृत्ति के लिये विचारना चाहिये कि उक्त अनुभव मात्र से सादृश्य की सामान्य वृत्तिता सिद्ध हो सकती है, या अबाधित अनुभव से सिद्ध हो सकती है । प्रथम पक्ष तो माना नही जा सकता है, क्योकि अनुभव मात्र से तो गगन की नीलतादि की भी सिद्धि प्राप्त होगी । दूसरा पक्ष माना नही जा सकता है, क्योकि प्रतिवादी के प्रति उस अनुभव मे अबाधितत्व की असिद्धि है, और यह दूसरी बात है कि, सुवर्ण रचित कर्णभूषण वाली किसी स्त्री के साथ, यह सुवर्णरचित कर्णभूषण वाली सदृश है । इसप्रकार से जहाँ उपमा दी जाती है, वहाँ कर्णभूषण रूप द्रव्य ही सादृश्य रहता है, गुण मे वृत्ति नही होता है । इसीप्रकार से पक्व पनस = कटहर और शक्कर का रस ही सादृश्य होता है, उसके द्रव्यवृत्तित्व से भी गुणवृत्तित्व, यह हेतु असिद्ध है । जहाँ हस तुल्य गमन वाले से हस तुल्य गमन वाला उपमित होता है [illegible]

हेतोरसिद्धिः । किच दृश्ये प्रतियोगिनि धर्मिस्वरूपग्रहणमेवाभावव्यवहार-निदानमिच्छन्कि नेच्छसि अधिगतविषयस्य गोस्वरूपावधारणमेव सादृश्य-व्यवहारकारणमिति ?

भवतु वा यत्किंचित्सादृश्यम्, तथापि गोपिण्डस्य तद्विशिष्टताप्रतीति-रनुमानमेव किं न स्यात् ? सा गौर्गवयसदृशी गोत्वात् गवयेन सहोपलभ्य-

---

यत्रेत्यर्थ । हसगमनेन पुरुषेणेत्यन्ये । द्रव्यगुणकर्मणामेव तत्र तत्र सादृश्यव्यवहार-हेतुत्वात्तेषा च द्रव्यवृत्तित्वेन गुणवृत्तित्वासिद्धिरिति खण्डलकार्थ । किचास्तित्व-व्यवहारहेतौ प्राभाकराणामस्तित्वेऽप्यय प्रसङ्ग समान, तस्य भवदभिमतसर्वपदार्थ-वृत्तित्वात । अथेतरान्तर्भूतस्यैव तस्य तथा व्यवहारहेतुत्वम, तत्सादृश्येपि समान-मित्यपि द्रष्टव्यम् । इदानीमभावप्रतिवन्द्या वस्तुत्वमेव सादृश्यस्य नास्त्यतोपि पदार्थान्तरत्व दूरापेतमित्याह—**किचेति** । विषयो गवय ।

इदानी सादृश्यमुपेक्ष्य तत्प्रमितिकरणस्य प्रमाणान्तरत्व दूषयन्ति—**भवतु वेति** । इद च पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञानान्तर्भावमङ्गीकृत्याधिकमभिधीयते, न त्वव्याप्तिमभिप्रेत्य । ननु नास्त्यत्र लिङ्गमित्युक्तम्, तत्राह—**सा गौरिति** । गवयसन्निधावुपलब्धगोपिण्डे प्रत्यक्षेण शक्या गोत्वस्य गवयसादृश्येन व्याप्तिर्ग्रहीतुमिति भाव । तथाप्यनुपलब्ध-

---

रूप कर्म ही सादृश्य रहता है, अत उसकी जाति आदि मे अवृत्ति होने से हेतु के स्वरूप की असिद्धि है । और दृश्य (योग्य) प्रतियोगी के रहते धर्मी = अनुयोगी के स्वरूपग्रहण को ही (घट पटो न भवति) इत्यादि अभाव व्यवहार का हेतु को मानते हुए भी आप, अधिगत = ज्ञात गवय रूप विषय = प्रतियोगी वाले के गो स्वरूप के अवधारण (ज्ञान) को सादृश्य व्यवहार का कारण क्यो नही मानते है । अर्थात् गवय ज्ञान प्रथम गोस्वरूप का ग्रहण ही गवय के ज्ञान के बाद सादृश्य व्यवहार का हेतु होता है, जैसे प्रतियोगी का ज्ञान अनुयोगीस्वरूप अभाव के व्यवहार का हेतु होता है, अभाव के अनुयोगीस्वरूप होते भी और स्वरूप ज्ञान होते भी प्रतियोगी के ज्ञान के बिना उसका व्यवहार नही होता है, इसीप्रकार से गवय के ज्ञान के बिना गो मे प्रथम सादृश के ज्ञान होते भी व्यवहार नही होता है, गवय ज्ञान के बाद व्यवहार होता है, इत्यादि ।

अथवा सादृश्य जो कुछ हो, तो शरीर की सादृश्ययुक्तता की प्रतीति अनुमान (अनुमिति) रूप से क्यो न हो (क्यो न माना जाय) क्योकि (वह मेरी गौ, इस गवय के सदृश है, गौ होने से, इस गवय के साथ उपलभ्यमान इस अन्य गौ के समान) इस प्रयोग की सिद्धि से अनुमान सिद्ध होता है । यदि कहे कि जिसको गवय के ज्ञान काल मे गृहगत गौ से अन्य गौ का ज्ञान नही हुआ है । उसको गो सदृश गृहगत गौ है । इस ज्ञान के लिये उपमान रूप प्रमाणान्तर चाहिये, क्योकि

मानगवान्तरवदिति प्रयोगोपपत्ते । गवयोपलम्भसहकालमप्रमीयमाणगवान्तरस्य गवयसदृशी गौरित्यवगतिरूपमिति चेत्, मैवम्, अर्थापत्तेरेव तत्रापि प्रामाण्योपपत्ते । गवयनिष्ठगोसादृश्यस्य परिदृश्यमानस्य गोगवयसादृश्यव्यतिरेकेणानुपपत्ते । न च गवयनिष्ठ गोसादृश्यमप्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वाप्रतियोगिनो गोरिति वाच्यम्, स्मर्यमाणेऽपि प्रतियोगिनि धर्मिग्रहणादेव सादृश्यस्य भेदवत्प्रत्यक्षत्वोपपत्ते । सादृश्यज्ञानकरणमुपमानमित्यभ्युपगच्छता च सादृश्यप्रतीतेरवश्याभ्युपेयत्वात् । तथाचार्थापत्त्यैव तत्प्रतीत्युपपत्ते कृतमुपमानेन, अन्यथा वैधर्म्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरत्वप्रसङ्ग ।

गोपिण्ड प्रत्युपमानोपयोग शङ्कते—**गवयोपलम्भेति** । अप्रमीयमाणगवान्तरस्य । पुरुषस्येति शेष । अर्थापत्तिमेव सविकल्पिका दर्शयति—**गवयनिष्ठेति** । स्यादेतत्, यदि गवयनिष्ठगोसादृश्य प्रत्यक्षेण गृहीते ततस्तदन्यथानुपपत्त्या शक्य गोगत गवयसादृश्य ज्ञातुम्, नत्वेददस्ति, तस्यापि प्रतियोगिगोसापेक्षग्रहणतया तद्व्यतिरेकेण ग्रहणमेवाशक्यमिति तत्राह—**न च गवयनिष्ठमिति** । माभूत्प्रतियोगिनस्तदानी ग्रहणम्, गृहगृहीतगो स्मरणसहायमिन्द्रियमेव सप्रयुक्तसादृश्यप्रत्यक्षकरणे समर्थम् यथा प्रत्यभिज्ञाया यथा वाऽसन्निहितप्रतियोगिके सन्निहितभेद इत्यर्थ । यदि च तत्र धर्मिणो गृहीतत्वात्तद्गतभेदस्य सप्रयुक्तत्वाच्च युज्यते ग्रहणमिति मति, तदत्रापि समानमिति भाव । अथ सादृश्यमेव प्रत्यक्षायोग्यमिति ब्रूयात्त प्रत्याह—**सादृश्यज्ञानेति** । एवमनुपपन्नदर्शन समर्थयित्वार्थापत्तिमुपसहरति—**तथा चेति** । अवश्य

इसको दृष्टान्त उपलब्ध नही है, पास मे दूसरी गौ के रहने से वह दृष्टान्त बन जाती है। तो यह कहना युक्त नही। क्योकि जहाँ दूसरी गौ नही है, वहा भी अर्थापत्ति को ही प्रमाणता सिद्ध होती है, अर्थापत्ति से वहाँ गृहगोगत सादृश्य का ज्ञान होता है, उपमान की आवश्यकता नही रहती है, क्योकि परिदृश्यमान गवयवृत्ति गोसादृश्य की गोवृत्ति गवयसादृश्य के बिना अनुपपत्ति है, अत गवयगत सादृश्य की अनुपपत्ति से गोगतसादृश्य का ज्ञान होता है। यदि कहे कि सादृश्य के प्रतियोगी गौ के अप्रत्यक्ष होने से गवयवृत्ति गोसादृश्य अप्रत्यक्ष रहता है, अत उसकी अनुपपत्ति से भी गोगत सादृश्य का ज्ञान नही हो सकता है, तो ऐसा कहना उचित नही, क्योकि प्रतियोगी के स्मर्यमाण (अप्रत्यक्ष स्मृत) रहते भी जैसे धर्मी = अनुयोगी के ज्ञान से भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसीप्रकार से सादृश्य के प्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है। और सादृश्य का ज्ञानरूप करण वाला उपमान होता है, ऐसा मानने वाले को भी सादृश्य की प्रतीति अवश्य मन्तव्य है। इस उक्तरीति से अर्थापत्ति से ही सादृश्य की प्रतीति की सिद्धि हो जाने से, उपमान से कुछ कर्तव्य नही रह जाता है, अन्यथा वैधर्म्य प्रतीति को भी प्रमाणान्तरत्व = प्रमित्य-

तथाहि--यत्र परोक्षादपरोक्षे भवति वैधर्म्यावगतिस्तस्मादयमन्यथेति, भवति एतस्मादन्यथा स इत्यपि मति, सापि प्रमाणान्तर स्यात्। सार्थापत्तिरिति चेत्, प्रकृतेऽपि समानम्। यथोदितमुदयनेन--

"साधर्म्यमिव वैधर्म्य मानमेव प्रसज्जते।
अर्थापत्तिरसौ व्यक्तमिति चेत्प्रकृते न किम्॥ इति
(न्या० कु० ३।६)

तदास्ता मीमासकाभिमतोपमानापाकरणप्रपञ्च, नैयायिकोदीरितमुपमानमपि दुर्निरूपम्। अनवगतसगतिसज्ञासमभिव्याहृतवाक्यार्थप्रमितिरुप-

---

चैवमङ्गीकर्तव्यम्, इतरथाऽतिप्रसङ्गादित्याह—**अन्यथेत्यादिना**। अतिप्रसक्तिमेव विवृणोति— **तथाहीति**। यदाहि परोक्षात्क्रमेलकादे सकाशादपरोक्षहस्त्यादावनति-दीर्घाऽवक्रबन्धुरग्रीवाममपृष्ठस्थविष्ठशरीरस्थूलपादादि वैधर्म्यम् ज्ञान भवति, तदा सन्निहितहस्त्यादे सकाशादसन्निहितकरमादावपि वक्रातिदधिकृशग्रीवाविकटपृष्ठकृश-शरीरदीर्घपादादिवैधर्म्यप्रतीतिर्भवति, तत्करणमप्यपर प्रमाण स्यादित्यर्थ। अत्र च शङ्किष्यमाणार्थापत्त्युपयोगितयाऽपरोक्ष इत्युक्तम्। एव प्रतिबन्दी गृहीत्वा परिहार-साम्य वक्तुम् तन्मुखेन तमुद्भावयति—**सेति**। उदयनेन कुसुमाञ्जनावुक्त चैनदि-त्याह—**यथोदितमिति**। अत्र साधर्म्यवैधर्म्यशब्दाभ्या तज्ज्ञापकप्रमाणे विवक्ष्येते।

एव मीमासकाभिमतमुपमान दूषयित्वा नैयायिकाभिमतमुपमान फलविवेचन-पूर्वक दर्शयति दूषयितुम्—**अनवगतेति**। अनवगता सगति स्वार्थेन वाच्यवाचक-भावो यस्या गवय इति सज्ञाया सा तथोक्ता तया समभिव्याहृत सहोच्चारित यद्वाक्य यथा गौस्तथा गवय इति तस्य योऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यो गवयशब्दार्थस्तत्प्रमिति-

---

न्तरत्व प्राप्त होगा, और उसके करणान्तर प्राप्त होगा। क्योकि परोक्ष उष्ट्रादि के ज्ञान से पीछे अपरोक्ष हस्ती आदि मे वैधर्म्य का ज्ञान होता है कि उसमे यह अन्य प्रकार वाला है। फिर ज्ञान होता है कि इस प्रत्यक्ष से वह परोक्ष अन्यथा है, तो यह भी प्रमाणान्तर होगा। यदि इस वैधर्म्य ज्ञान को अर्थापत्ति माना जाय तो प्रकृत मे साधर्म्य ज्ञान मे भी अर्थापत्तित्व तुल्य है यह श्री उदयनाचाय ने कहा है—

साधर्म्यग्राहक प्रमाण के समान वैधर्म्यग्राहक प्रमाण भी इसी प्रकार से प्राप्त होता है, यदि वह वैधर्म्य ग्राहक अर्थापत्ति है, तो प्रकृत मे व्यक्त है ऐसा क्यो न माना जाय।

मीमासक अभिमत उपमान अपाकरण का प्रपञ्च अब रहने दिया जाय। नैयायिको से वर्णित उपमान भी दुर्निरूप है। जिस गवयसज्ञा की स्वार्थ के सङ्गति नही गृहीत हुई है, उस अनवगत = अज्ञात सङ्गति वाली सज्ञा के सहित उच्चारित

मितिस्तत्करणमुपमानमिति ते वर्णयन्ति। तथाहि—नागरिकस्य यादृशी गौस्तादृशो गवय इति श्रुतातिदेशवचस कानने वस्तुतो गोसदृश गवयमालोकयतो नूनमयमसौ गवयपदाभिधेयो यः पुराप्तेन गोसदृशो गवय इत्युपदिष्ट इति प्रमितिरुपजायते। नचेयमागमजा, अपरिदृष्टगवयस्यापि प्रसङ्गात्। भवत्येवाप्तवचनात्सामान्यतस्तन्निश्चय इति चेत्, मैवम्, सामान्यत

स्तस्य तच्छब्दवाच्यताप्रमितिरुपमिति। यच्च तादृश प्रमितिकरण तत्संज्ञास्मरणसहाय गोसादृश्यलक्षणायस्य सन्निकृष्टानुमवानात्मक तदुपमानमित्यर्थः। अत्र च शाब्दप्रमितिव्यवच्छेदार्थमनवगतेत्यादिविशेषणम्। प्रत्यक्षानुमितिव्यावृत्त्यै वाक्यार्थग्रहणम्। इममेवार्थम विवृणोति—**तथाहीत्यादिना। श्रुतातिदेशवचस इति।** आरण्यकमुखाद्यथा गौस्तथा गवय इति वाक्य श्रुतवत इत्यर्थः। अत्र चालोकयत इत्यन्तेन करणशरीरमुक्तम्। शेषेण च फलकथनम्। ननु यथा गौस्तथा गवय इत्यारण्यकवचनादिय प्रमितिरुपपद्यतेऽतो न प्रमाणान्तरमिति, तत्राह—**न चेयमिति।** नेय वचनजनिता। तथा सति नगरगतसमय एवोत्पत्तिप्रसङ्गादित्यर्थः। ननु नायमनिष्टप्रसङ्ग, यो गोसदृशोऽसौ गवयशब्दार्थ इति सामान्येन वाक्यार्थप्रत्ययस्य तदाप्युपपद्यमानत्वादिति शङ्कते—**भवत्येवेति।** न सामान्यप्रतीतिर्व्यवहारोपयोगिनी, विशेषनिष्ठत्वात्तस्य, अतो व्यक्तिविशेषस्य शब्दवाच्यत्वमत्र बुभुत्सितम्, तत्प्रतीतिश्च न वाक्यजन्याऽन्य प्रमाणान्तरनिबन्धनैवेति परिहरति—**मैव-**

वाक्यार्थ की प्रमिति उपमिति होती है, और उसका करण उपमान प्रमाण होता है, यह वे नैयायिक वर्णन करते है। अर्थात्—जैसी गौ है ऐसा ही गवय होता है इस प्रकार अतिदेश (सादृश्य बोधक) वचन को जिसने सुना है, वह नगरनिवासी यदि वन मे जाता है, और वस्तुत गोसदृश गवय को देखता है, उस देखने वाले को प्रमिति होती है कि यह अवश्य वह गवय पद का वाच्य है, कि जो प्रथम आप्त पुरुष ने गोसदृश गवय होता है, यह उपदेश दिया था। यह प्रमिति, आगम = शब्द से जन्य नही होती है, क्योकि आगमजन्य हो तो गवय को नही देखने वाले को भी होना चाहिये। यदि कहे कि आप्त वचन से भी सामान्य रूप से उस गवय का निश्चय होना ही है, अत शब्द कहा जा सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सामान्य रूप मे प्रतीति होने पर भी व्यक्तिविशेष के गवय पद वाच्यत्व की प्रतीति उपदेश मात्र से नही होती है, उसके लिये उपमान को मानना पडता है। अन्यथा (जो जो धूमवान्, सो-सो अग्निमान्) इस आप्तवचन से अविनाभाव (व्याप्ति) को जानने वाले की पर्वत मे अग्नि की प्रतीति आगमजन्य ही होगी, अनुमान की आवश्यकता नही रहेगी। यदि कहा जाय कि गवय के साथ इन्द्रियसम्बन्ध के सत्त्व से प्रत्यक्ष से ही गवय पदवाच्यता की प्रतीति हो सकती

प्रतीतावपि व्यक्तिविशेषस्य तत्पदाभिधेयत्वाप्रतीते । अन्यथा यो यो धूमवानसावसावग्निमानित्याप्तवचनाधिगताविनाभावस्य पर्वते वह्निप्रतीतिरागमजैव स्यात् । अस्तु तर्हि प्रत्यक्षेणैव गवयशब्दवाच्यत्वाधिगतिरिति चेत्, मैवम्, अश्रुतातिदेशवाक्यस्यापि प्रसङ्गात् । उपदेशसस्कारसध्रीचीन प्रत्यक्षमेव रत्नतत्त्वस्येव तदवगतिहेतुरिति चेत्, न, वाच्यत्वस्य प्रत्यक्षानवगाह्यत्वात् । नहि प्रत्यक्षेऽपि घटे घटशब्दवाच्यता प्रत्यक्षा, येन प्रकृतेऽपि तथा स्यात् । नाप्यनुमानतस्तदधिगति, गोसादृश्यस्य गव्यपि

मिति । ननु यद्यपि तदा नोत्पद्यते, तथापि श्रुतवाक्यसामर्थ्यादेव पश्चादुत्पद्यमानत्वादागमजन्यैवेति, तत्राह—**अन्यथेति** । अथवा सामान्यनिश्चायकादेव विशेष निश्चयसम्भवेनोपमानवैयर्थ्याशङ्कायामिदमुत्तरम् । स्यादेनत्सप्रयुक्तगवयनिष्ठ गवयशब्दवाच्यत्व तद्गतसामान्यादिवत्प्रत्यक्षेण किमिति न गृह्यते ? इति शङ्कित्वा परिहरति—**मैवमश्रुतेति** । अतिदेशवाक्योपदेशसहकृतप्रत्यक्षजन्यत्व शङ्कते—**उपदेशेति** । विपरा उपन्यास । तत्रतत्त्वे ह्यवयवविशेषो वा रूपविशेषो वा सामान्यविशेषो वा तच्चिह्न प्रत्यक्षयोग्यम्, इह तु न वाच्यवाचकभावस्य प्रत्यक्षता, घटादावदर्शनान, वृद्धव्यवहारलक्षणानुमानैकावसेयत्वात्तस्येत्यभिसधाय परिहरति—**न वाच्यत्वस्येति** । अस्तु तर्हि घटादिगतवाच्यत्ववदत्राप्यनुमानगम्यत्वमिति, तत्राह—**नाप्यनुमानेति** । अयमभिसधि—न तावत् 'माणवक समिधमाहर' इति वाक्यश्रवणसमनन्तरमेव मध्यमवृद्धमाणवकसमिदाहरणप्रवृत्तिवदेतच्छ्रवणसमनन्तरमस्ति काचित्प्रवृत्तिर्येन मार्गेण गवादिशब्दानामिवानुमानादस्यापि गवये सगतिर्गृह्येत । तत्कस्य हेतो ? अप्रवर्तकत्वात्, तदिहैतावदवशिष्यते, विमत पुरोवर्तिपिण्डो गवयशब्दवाच्य गोसदृशत्वान्न यदेव न तदेव यथा करभादीति व्यतिरेक्यनुमानादधिगतिरिति । तच्च न सभवति, गवान्तरेऽपि गवयशब्दावाच्ये गोसदृशत्वहेतोर्वर्तनेन

है, तो यह कहना भी युक्त नही, यदि प्रत्यक्ष से गवय पद वाच्यता का ज्ञान होता, तो जिसने गोसदृशो गवय, इस अतिदेश वाक्य को नही सुना है, उसको भी वाच्यता का ज्ञान होता और नही होता है, अत इस प्रसक्ति से प्रत्यक्ष नही माना जा सकता है । यदि कहा जाय कि उपदेशजन्य सस्कारसहित प्रत्यक्ष ही रत्नतत्त्व के ज्ञान के समान उस वाच्यता के ज्ञान का हेतु है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि रत्नतत्त्व मे तो उसके अवयवादि प्रत्यक्ष के योग्य हे, वाच्यत्व को प्रत्यक्षानवगाह्यता (प्रत्यक्षायोग्यता) है, क्योकि प्रत्यक्ष घट मे घटपदवाच्यता प्रत्यक्ष नही होती है, उपदेशादि से जानी जाती है, और घटगत वाच्यता प्रत्यक्ष नही है कि जिसकी सदृशता से भी प्रकृत मे प्रत्यक्षता की सम्भावना भी हो सके । अनुमान से भी उस वाच्यता का ज्ञान नही हो सकता है, क्योकि गो के सादृश्य का दूसरे गो मे भी

सभवेन विपक्षवृत्तित्वात् । नार्थापत्ति, अनुमानाव्यतिरेकादिति चेत्, मैवम्, अनुमानतस्तथात्वप्रतीत्युपपत्ते । तथाहि—

वाचको गवयस्याय तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति ।
वृद्धै प्रयुज्यमानत्वाद्गोत्वे गौरिति गौरिव ॥ ३० ॥

यो यत्रासति वृत्त्यन्तरे वृद्धै प्रयुज्यते स तस्य वाचक, यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चायमसति वृत्त्यन्तदे गवयशब्द पुरोवर्तिनि, तस्मात्तस्य वाचक इत्यनुमानादेव सबन्धाधिगतिसिद्धे । न च विशेषणासिद्धो हेतु,

---

विरुद्धत्वादिति । **अनुमानाव्यतिरेकादिति** । तन्निरसनेन निरासादिति भाव ।

एव समर्थित नैयायिकोपमानलक्षण दूषयति—**मैवम्, अनुमानत इति** । अनुमानमेव श्लोकेन सगृह्णाति—**वाचक इति । तत्र वृत्त्यन्तरेऽसतीति** । गोसदृशपदार्थे लक्षणागुणवृत्त्योरसभवे सति तत्र प्रयुज्यमानत्वादित्यर्थ । निमित्तान्तरेण वृत्त्यन्तरम्, इद च गङ्गाया घोष प्रतिवसतीति सिंहो बलवर्मेत्यादिषु लक्षणागुणवृत्तिभ्यामेवावाच्वेष्वपि तीरादिषु प्रयुज्यमानगङ्गादिपदैर्व्यभिचारपरिहाराय विशेषणम ।

सग्रह विवृणोति—**यो यत्रेति** । ननु विशेषणासिद्धो हेतु, असति वृत्त्यन्तरे इत्यस्य दुर्ज्ञानत्वादिति, तत्राह—**न च विशेषणेति** । अत्र तावल्लक्षणावृत्तिर्न

सभव होने से सादृश्य को विपक्षवृत्तित्व है । अत (गवय गवयपदवाच्य, गोसदृशत्वात) यह अनुमान नही हो सकता है, गवयसदृशत्व गवय मे ही नही रहता है, अर्थापत्ति से भी गवयपदवाच्यत्व का ज्ञान नही हो सकता है, क्योंकि अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नही है । अत अनुमान की अप्रवृत्ति से ही अर्थापत्ति की वाच्यत्व मे अप्रवृत्ति सिद्ध है । नैयायिको का ऐसा कहना युक्त नही है, क्योंकि अनुमान से तथात्व = गवय मे गवयपदवाच्यत्व की प्रतीति की सिद्धि हो सकती है । जैसे कि—

यह गवय पद, गवय का वाचक है, क्योंकि लक्षणा गौणीवृत्त्यन्तर के बिना वृद्धो से यह गवय पद गवय मे प्रयुज्यमान = प्रयुक्त होता है । जैसे गोत्व अर्थ मे गो शब्द प्रयुक्त होता है ॥ ३० ॥

अर्थात् लक्षणा गौणीवृत्त्यन्तर के नही रहते जो शब्द जिस अर्थ मे वृद्धो से प्रयुक्त होता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है, जैसे गो शब्द । जातिशक्तिवादी के मत से तथा जाति व्यक्ति उभय मे शक्तिवादी के मत से गोत्व का वाचक होता है । वैसे ही गवय शब्द गवय का वाचक है, क्योंकि लक्षणा गौणीवृत्त्यन्तर के नही रहते भी यह गवय शब्द पुरोवर्ती (अग्रवर्ती) मे प्रयुक्त होता है । अत उसका वाचक ही है, इस अनुमान से ही गवय शब्द के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध की

शङ्क्यमानगोसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वानुपपत्ते, अप्रतीतगवामारण्यकाना गोसादृश्यानधिगतौ गवय इति व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । गवयत्वस्यापि निमित्तत्वाददोष इति चेत्, मैवम्, अप्रतीतगोपदार्थस्य गवयत्व निमित्तम्, प्रतीतगोस्तु तत्सादृश्य निमित्तमित्युभयत्र शक्तिकल्पनाया गौरवप्रसङ्गात् । गोविशेषितसादृश्यस्य गवयशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वे

शङ्कामप्यधिरोहति, तदा हि गोसादृश्यवाचकस्य सतो गवयत्वे तदविनाभूते लक्षणया प्रयोग इति शङ्कितव्यम, तच्च न सभवति, अदृष्टगोशार्यानामरण्यैकनिवासिना गोसादृश्यानधिगमे गवयपदाप्रयोगप्रसङ्गादित्यर्थ । द्वितीययोजनाया तु सुगमम् । ननु किमित्यप्रयोग, यावता गवयत्वमपि प्रवृत्तिनिमित्तम, तच्च तैरप्यधिगतमिति शङ्कते—**गवयत्वस्यापीति ।** अत्र किमुभय मिलित्वा निमित्तम ? कि वा प्रत्येकम् ? नाद्य, पूर्वोक्तदोषानतिवृत्ते । द्वितीये त्वन्यायश्चानेकार्थ इति मीमासकमुद्राभङ्ग, कल्पनागौरव च बाधके स्यातामित्याह—**मैवमित्यादिना ।** गौरवान्तर चाह—**गोविशेषितेति ।** न सादृश्यमात्र गवयशब्दार्थत्वेन शङ्क्यतेऽपितु गोसादृश्यम्, तथाच विशेषणस्यापि निमित्तत्वप्रसक्तिरिति भाव । किंचोपमान पृथक्-

---

अधिगति (अनुभूति) होती है, अत नैयायिक मत अयुक्त है । यदि कहा जाय कि (असति वृत्त्यन्तरे) अन्य वृत्ति (सम्बन्ध) के बिना, यह हेतु का विशेषण असिद्ध है, वृत्त्यन्तर भी हो सकती है । अत विशेषण द्वारा असिद्ध होने से विशेषणासिद्ध हेतु है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि वृत्त्यन्तर यहाँ हो नही सकता है लक्षणावृत्ति मानी जाय तो गोसादृश्य का वाचक होने पर, उस गोसादृय के व्याप्य = सम्बन्धी गवयत्व मे लक्षणा मानना होगा, परन्तु वाच्यश्वरूप से शकामान = शका विषय गोसादृश्य की गवय शब्द की प्रवृत्ति निमित्तत्व (वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्व) वाच्य होकर वाच्य मे रहना, अर्थात् विशेषण रूप से गवय शब्दार्थत्व की अनुपपत्ति है, क्योकि यदि गोसादृश्य गवय शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त रूप वाच्य होगा, तो जिन आरण्यको = वनवासियो को कभी गौ का ज्ञान नही हुआ है, उनको गोसादृश्य के ज्ञान नही रहने पर गवय इस व्यवहार (शब्द प्रयोग) का अभाव प्राप्त होगा । यदि कहा जाय कि जो गौ को जानने वाला है, उसके गवय शब्द के प्रयोग मे गोसादृश्य प्रवृत्ति-निमित्त रहता है, और गो को नही जानने वाले के व्यवहार मे गवयत्व के भी प्रवृत्ति-निमित्तत्व से उक्त व्यवहाराभाव रूप दोष नही रहेगा, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि गौ को नही जानने वाले का गवयत्व प्रवृत्ति-निमित्त होगा, और जानने वाले का गोसादृश्य प्रवृत्ति-निमित्त होगा, तो दोनो मे शक्ति की कल्पना रूप गौरव की प्राप्ति होगी, और गोविशेषण युक्त सादृश्य के गवय शब्द के प्रवृत्ति-निमित्तत्व होने पर गो मे और सादृश्य मे भी

गवि तत्सादृश्ये च शक्ति कल्पनीयेत्यपि गौरव स्यात् । अन्यथोपमानस्य मानान्तरत्वेऽपि गवयशब्दस्य गोसादृश्यस्य निमित्तताशङ्काया दुष्परिहरत्वात्, गवयत्व निमित्तीकृत्य गवयशब्दोऽत्र प्रवृत्त इत्युपमानादपि निर्धारणा न सिद्ध्येत् । किचानवगतसगतित्वविशेषण व्यर्थम्, अभ्युपगतप्रमाणसम्प्लववादिन प्रत्यक्षाधिगतेऽपि पुन प्रत्यक्षवदनुमितेऽप्यनुमानवच्चोपमिते-

---

प्रमाणमिच्छताऽपि गवयत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तम, न गोसादृश्यम्, इतरथा शाब्दत्वप्रसङ्गात । यथाहोदयन —

सादृश्यस्यानिमित्तत्वान्निमित्तस्याप्रतीतित ।
समयो दुर्ग्रह पूर्व शब्देनानुमयापि वा ।।' इति ।।

(न्या० कु० ३।११)

टीकाकृताऽपि 'किंतु गवयत्व निमित्तीकृत्य पिण्डे प्रवर्तत इति परमार्थ' इति । तत्र तवाप्येता युक्तय शरणमिति न त्वा प्रति विशेषणासिद्धिरित्याह—**अन्यथोपमानस्येत्यादिना** । एतेन—

"सबन्धस्य परिच्छेद सज्ञाया सज्ञिना सह ।
प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफल विदु ।।" (न्या० कु० ३।१०)

इत्युदयनीय प्रयासोऽपहस्तित । तदुक्त तत्त्वकौमुदीकृता—'यो हि शब्दो यत्र वृद्धै प्रयुज्यते सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचक' यथा गोशब्दो गोत्वस्य, प्रयुज्यते चैष गवयशब्दो गोसदृश इति तस्यैव वाचक इति ज्ञानमनुमानमेवेति । अव्याप्ति चाह--**किचानवगतेति** । प्रमाणसम्प्लववादिनोनुमितेऽनुमानप्रवृत्तिवदुपमितेऽप्युपमानप्रवृत्तिसभवात्तस्मिश्चानवगत इति विशेषणाभावादव्याप्तिरित्यर्थ । किचेदमन-

---

गवय शब्द की शक्ति कल्पनीय होगी, यह भी गौरव होगा । अन्यथा इस गौरव के गोसादृश्य मे शक्ति को मानने से उपमान को प्रमाणान्तर होने पर भी गवय शब्द के गोसादृश्य की प्रवृत्ति-निमित्तता की शङ्का के दुष्परिहरत्व से गवयत्व को निमित्त करके यहाँ गवय शब्द प्रवृत्त हुआ है, यह निश्चय उपमान से भी नही हो सकेगा । अत उपमान को मानान्तर मानने वाले को भी गो व्यक्ति को नही जानने वाले बनवासी के निर्निमित्त सदा व्यवहार के अनुसार गवयत्व को ही गवय शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त मानना होगा, तब गोसादृश्य को प्रवृत्ति-निमित्त मानकर जो लक्षण से गवयत्व ज्ञान की शका होती है, वह भी नही हो सकेगी, अतएव विशेषणासिद्धि के अभाव से अनुमान निर्दोष है । और आपके लक्षण मे अनवगत सगतित्व विशेषण व्यर्थ है, क्योकि प्रमाणसप्लव को मानने वाले आपके मत मे जैसे प्रत्यक्ष से ज्ञान मे भी फिर प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति होती है, अनुमित मे अनुमान की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही उपमित मे भी फिर उपमान की प्रवृत्ति की सिद्धि हो सकती है ।

ऽपि पुनरुपमानप्रवृत्त्युपपत्ते । अपि च 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकर पिबति' इत्यत्राप्रसिद्धमधुकरपदार्थस्य प्रसिद्धेतरपदार्थस्य च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारान्मधुकरशब्दार्थप्रतीतिवद् गवयशब्दार्थप्रतीति कि न स्यात् ? नच सर्वत्र समभिव्याहारादधिगतिरुपमिति , तत्करणस्य सादृश्यज्ञानस्य तत्राभावात् । असत्यपि च सादृश्यज्ञाने सज्ञासज्ञिसबन्धप्रतिपत्तिरेवोपमितिरित्याधुनिकमतानुप्रवेशे सूत्रवार्तिकप्रसिद्धसिद्धान्तविरुद्धाभ्युपगमो वज्रलेपायते । तथा च भगवदक्षपादप्रणीत सूत्रम्—'प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्' इति । व्याख्यात चेतदुद्द्योतकरेण वार्तिककृता—

वगतसगतिसज्ञासमभिव्याहृतवाक्यमभिमतम ? कि सादृश्यबोधकम् ? कि वा वैसादृश्यबोधकमपि ? किं वा व्युत्पत्त्यौपाधिकधर्ममात्रबोधकम् ? नाद्य, वैसादृश्यप्रतीतिकरणकेऽव्याप्ते । अथ द्वितीयस्तत्राह—**अपिचेह प्रभिन्नेति** । विवृतोयमर्थ कार्यवादे, मभवति मधुपानकर्तरि भृङ्गे मधुकरपदव्युत्पत्तिवद्गोसादृश्यवति गवयपदव्युत्पत्ति, कल्पनालाघवादिना च गधुकरत्वग्द्गवयत्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तता चातोऽतिव्याप्तिरिति भाव । तृतीय दूषयति—**न च सर्वत्रेति** । ननु केनोक्त सादृश्यज्ञानमुपमितिरिति ? यावता सज्ञासज्ञिसबन्धप्रमितिरुपमितिस्तत्करण चोपमानमिति नवीनैरुन्नीयते । आह ह्युदयन—'सबन्धस्य परिच्छेदम्' इति । टीकाकारोपि 'साधर्म्यग्रहण च धर्ममात्रोपलक्षणमिति करमसज्ञाप्रतीतिफलमप्युपमानमेवेति नाव्याप्ति' इति तत्राह—**असत्यपीति** । सूत्र दर्शयति—**तथा चेति** । प्रसिद्धेन गवा गवयस्य साधर्म्यात्साध्यस्य प्रज्ञापनीयस्य गवयशब्दवाच्यत्वस्य ज्ञानमुपमानमिति सूत्रार्थ । वार्तिक दर्शयति—**व्याख्यातं चैतदिति** । आगमोऽनिदेश-

और कहा जा सकता है कि (इस विकसित कमलोदर मे मधुकर मधु पीता है) यहाँ जैसे अप्रसिद्ध (अज्ञात) मधुकर पदार्थ वाले प्रसिद्ध ज्ञात इतर पदार्थ वाले को प्रसिद्ध पदसमभिहार मे मधुकर शब्द के अर्थ की प्रतीति जैसे होती हे, वैसे ही गवय शब्दार्थ की प्रतीति क्यो नही होगी, कि जिसके लिये उपमान प्रमाण मानते है। प्रसिद्ध पद के समभिहार से जहाँ-जहाँ ज्ञान होना है, वहाँ सर्वत्र उपमिति होती है, यह नही कह सकते है, क्योकि वहाँ उपमिति के करण सादृश्य ज्ञान का अभाव रहता है। और सादृश्य ज्ञान के नही रहते भी सज्ञा-सज्ञि के सम्बन्ध की प्रतीति ही उपमिति है, इस आधुनिक मत मे अनुप्रवेश (उसका स्वीकार) करने पर, सूत्र, वार्तिक मे प्रसिद्ध सिद्धान्त से विरुद्धाभ्युपगम (मत) अनिवार्य हो जायगा। क्योकि भगवान् अक्षपाद (गोतम) प्रणीत सूत्र है कि (प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्) प्रसिद्ध गौ के साथ गवय का साधर्म्य (सादृश्य) से सज्ञासज्ञि-सम्बन्ध रूप साध्य का साधनबोधन उपमान है। इसका उद्योतकराचार्य

'आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानम्' इति। अथावधीरितापसिद्धान्तप्रसङ्गभीतेरियं पृथिवीशब्दवाच्या गन्धवत्त्वाद्यन्नैवं तन्नैवमित्यादि केवलव्यतिरेक्यनुमानमपि सज्ञासज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिफलमुपमानमापद्येतेत्यलमतिविस्तरेण।

शाब्दप्रमाणमपि दुर्निरूपम्। तथाहि 'शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्' इति मीमांसकाः। शब्दविषयं विज्ञानं शब्दविज्ञानं

वाक्यम्। ननु प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तो नाम, प्रामाणिकश्चायमस्मत्पक्षः, सूत्रादीनि तु एतदनुसारेणोपलक्षणतया व्याख्येयानि, तथा च 'यथा मुद्गस्तम्बस्तथा मुद्गपर्णीत्युपमानस्य सादृश्यं विषयमभिधायैवमन्योऽप्युपमानस्य विषयो लोके बुभुत्सितव्यः' इति भाष्यकारेण विषयान्तरेऽप्युपमानाभ्यनुज्ञानात् धिक् करभमतिदीर्घवक्रग्रीवं प्रलम्बोष्ठं कठोरकण्टकाशिनं कुत्सितावयवसन्निवेशमपसदं पशूनामिति वाक्यश्रवणानन्तरं तथाभूते द्विरदादिसमवस्तुविसदृशे करभपदार्थे वैधर्म्यात्करभशब्दवाच्यत्वप्रतीतिमप्युपमानत्वेनैवोवाचाचार्यवाचस्पतिरुपमाविनोदे इति मन्वानं प्रति सर्वलक्षणवाक्येषु केवलव्यतिरेकितया प्रसिद्धेष्वतिव्याप्तिरित्याह—**अवधीरितेत्यादिना।**

क्रमप्राप्तं शब्दप्रमाणं खण्डयति—**शाब्देति।** तत्र शबरस्वामिसम्मतं लक्षणमुद्भावयति—**तथाहीति।** ननु परार्थानुमानेऽतिव्यापकमिदं लक्षणम्, तस्यापि पञ्चावयवात्मकवाक्यजनिताद्विज्ञानादसन्निकृष्टे प्रमाणान्तरेणानधिगतेऽर्थे लिङ्गिनि बुद्धिरूपत्वादितामामाशङ्कां परिहरन्भाष्यं व्याचष्टे—**शब्दविषयं विज्ञानमित्यादिना।** नात्र शब्दजनितविज्ञानमिति विवक्षितम्, अपितु शब्दविषयं विज्ञानं तेन

वार्तिककार ने व्याख्यान किया है कि (आगमाहित-संस्कारस्मृत्यपेक्षं सादृश्यज्ञानमुपमानम्) अतिदेश=सादृश्यबोधक वाक्य रूप आगम से जन्य बोधजसंस्कारजन्य स्मृति की अपेक्षापूर्वक सादृश्यज्ञान को उपमान कहते है। और उक्त सिद्धान्तविरोध रूप अपसिद्धान्त की भीति (भय) जिससे अवधीरित (अनादृत) त्यक्त हो गई है (वह पुरुष) (यह भूमि, पृथिवी शब्द का वाच्य है। गन्ध वाली होने से, जो पृथिवी शब्द का वाच्य नही, वह गन्धवान् भी नही है) इत्यादि केवल व्यतिरेकी अनुमान को भी संज्ञा-संज्ञि के सम्बन्ध की प्रतीति रूप फल वाला उपमान समझेगा। अतः उसका मान्य लक्षण वाला उपमान युक्त नही, अब अतिविस्तार का फल नही है।

शब्दप्रमाण भी दुर्निरूपणीय हे। क्योकि मीमांसक का लक्षण है कि (शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्) अर्थात् शब्दविषयक विज्ञान को शब्द

तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे श्रोतुरनधिगतेऽबाधिते च विषये यद्विज्ञान तच्छाब्द-प्रमाणमिति यावत् । उक्त हि वार्तिककारै —

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् ।
ताद्रूप्येण गृहीतत्व तद्विपर्ययतोऽपि वा ।।' इति ।

(श्लो० वा० अनु० ५५. ५६)

यद्वा शब्दाज्जनित पदार्थविषय यद्विज्ञान तस्मादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि शाब्दमिति । तदयुक्तम्, शब्दलिङ्गकवक्तृविशेषानुमानेऽतिव्याप्ते ।

नातिव्याप्तिरिति भाव । असन्निकृष्टपद व्याचष्टे—**श्रोतुरिति ।** प्रमाणान्तरेण तथा वाऽतथा वानधिगन इत्यर्थ । अत्रैव वार्तिकसमतिमाह—**उक्तं हीति ।** अर्थ-ग्रहण चार्थासस्पशो वार्थापेक्षितस्वभावो वा शब्द इति वदता बौद्धाना मतनिरा-सार्थम् । एव हि वर्णयन्ति—अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति वचसोऽर्थ एव नास्ति । नद्यास्तीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यादिवाक्याना कदाचिदर्थवत्ता कदाचिन्ने-त्यर्थासस्पर्शोऽर्थापेक्षितस्वभावो वा शब्द । तस्मान्नार्थे प्रामाण्यम्, किंतु वक्तुरभि-प्राये, तत्रापि न शब्दतया, किंतु तत्कार्यतया तदनुमापक । यथाह कीर्ति —

'नान्तरीयकताऽभावात् शब्दाना वस्तुभि सह ।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्र्यभिप्रायसूचका ' ।। इति

तन्निरासार्थमर्थग्रहणम् । निरासप्रकारश्चाग्र एव विवक्षाया प्रामाण्य निराकुर्वता स्वयमेवाचार्येण दर्शयिष्यते ।

एवमन्विताभिधानाभिहितान्वयसाधारण्येन भाष्य योजितम्, इदानीमभिहिता-न्वयानुसारेण योजयति—**यद्वेति ।** पदात्पदार्थस्मरणस्य शब्दाभासस्य च निवृत्त्यर्थम-सन्निकृष्टाबाधितेति विशेषणद्वयम् । प्रत्यक्षानुमानादिव्यावृत्त्यै शब्दविज्ञानादिति । तत्र प्रथम दूषयति—**तदयुक्तमिति ।** शब्दादेव लिङ्गाद्वस्तुविशेषेऽनुमान जायते, तदपि हि शब्दज्ञानादसन्निकृष्टार्थे बुद्धिर्भवतीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थ । एतदेव

विज्ञान कहते है, उससे असन्निकृष्ट अनधिगत अबाधित अर्थविषयक जो श्रोता को विज्ञान होता है, उसको शाब्दप्रमाण कहते है । वार्तिककार ने कहा है—

असन्निकृष्ट शब्द से यहाँ दो का त्याग विवक्षित है, एक तो ताद्रूप से गृहीतत्व, और दूसरा तद्विपर्यय रूप से गृहीतत्व भी । अत अधिगतत्व, बाधितत्व से रहित अनधिगत अबाधित असन्निकृष्ट अर्थ को कहा गया है ।

अथवा शब्द से जन्य जो पदार्थविषयक विज्ञान होता है, उससे जन्य असन्नि-कृष्टार्थ विषयक ज्ञान को शाब्दप्रमाण कहते है । यह अभिहितान्वय वाद है । परन्तु वह कथन अयुक्त है । क्योकि शब्द रूप लिङ्ग से वक्ताविशेष के अनुमान मे प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । बहि स्थित पुरुष को भी अध्ययन ध्वनि के

भवति हि बहिष्ठस्याध्ययनध्वनिश्रवणाद्भवनान्तर्वर्तिपुरुषविशेषानुमानम् । द्वितीयेऽपि धूमादिपदात्तदर्थविज्ञाने धूमध्वजादौ जायमानानुमानादावति- व्याप्ति । लिङ्गाद्यजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, तर्हि तावद- वास्तु लक्षण किमनेन शब्दविज्ञानादित्यादिना विशेषणेन कण्ठशोषकरेण ?

कश्चाय शब्दो नाम यद्विज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि । न तावत्पदम्, पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकान्न विशिष्यत इति स्वयमेव तस्यासन्निकृष्टार्थ-

---

विवृणोति—**भवति हीति** । तदुक्त निशेपतोदृष्टविशेषानुमान दशयता वार्तिक- कारेण ।

'स्वपुत्राद्यनुमान यद गृहाभ्यन्तरगोचरम ।
वेदस्वरविशेषेण बहिष्ठस्येह लक्ष्यते' ।। इति ।

द्वितीययोजनायामप्यतिव्याप्तिमाह—**द्वितीयेऽपीति** । धूमादिशब्दप्रतीतधूमा- दिलिङ्गादनुमानमाग्न्यादिषु जायते तत्रातिव्याप्तिरित्यर्थ । **तर्हि तावदेवेति** । लिङ्गाद्यजन्यत्वमित्यनेन शब्दव्यतिरिक्तप्रमाणजात व्यावर्तते । प्रमितिशब्दे- त्ताप्रमितिजातम, लिङ्गाद्यजन्य प्रमाण शास्त्रमित्येवास्तु, वृथेतरदित्यर्थ ।

इदानीमवयवशो निर्वाच्यमाणमपि विशीर्यत एवेद लक्षणमित्यभिसधायाह— **कश्चायमिति** । ननु शाब्दप्रमाणविचारावसरे किमिति शब्दजिज्ञासा ? इति प्रकृतानुपयोगिशङ्का वारयति—**यद्विज्ञानादिति** । शास्त्रप्रमाणत्वेन च विवक्षित शेष, कि पदम ? किं वा वाक्यशब्दत्वेन विवक्षितम् ? नाद्य इत्याह—**न ताव- दिति** । पद स्मारकान्न विशिष्यते, कुत ? अभ्यधिकाभावाद् व्युत्पत्तिसमयगृहीता- दर्थादभ्यधिकार्थबुद्धे, पदेभ्योऽभावात्, इतरथाऽगृहीतसगतिकस्यापि बोधकत्वप्रसङ्गा-

---

श्रवण से भवनान्तर्वर्ति पुरुषविशेष का ज्ञान रूप अनुमान (अनुमिति) होता है । दूसरी योजना पक्ष मे धूमादि पद से धूमादि अर्थ के ज्ञान होने पर जो उससे अग्नि आदि विषयक अनुमानादि होता है, उसमे अतिव्याप्ति होती है । यदि कहे कि लिङ्गाद्यजन्यत्वे सति, यह विशेषण लगाने से अतिव्याप्ति रूप दोष नही रहेगा, तो तावत् (लिङ्गाद्यजन्य प्रमाण शास्त्रम) इतना ही लक्षण शब्दप्रमाण का रहना चाहिये । शब्दविज्ञानाद् इत्यादि कण्ठशोषण करने वाले इन विशेषणो का क्या फल है ।

और यह शब्दनामक कौन पदार्थ है कि जिसके विज्ञान से असन्निकृष्टार्थविषयक ज्ञान होता है । पद को शब्द नही कह सकते है, क्योकि (सम्बन्धी दर्शनादि रूप अन्य स्मारक से पदविशेष-भिन्न नही होता है, उसमे अभ्यधिकार्थ का अभाव रहता है, सङ्गतिग्रहण काल मे गृहीत अर्थ से अधिक अर्थ का बोधक शब्द नही होता है) इसप्रकार से स्वय वार्तिककार ने ही पद के असन्निकृष्टार्थ विज्ञान-

विज्ञानजनकत्वानभ्युपगमात् । नापि वाक्यम्, तस्यानिरुक्ते । तथाहि—किं पदसमुदायमात्र वाक्यम् ? उतैकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्न पदसमुदाय ? उताकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि । नाद्य, गौरश्व पुरुषो हस्तीत्यादेरपि वाक्यत्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीय, अर्थस्यैकत्वविषयत्वावच्छिन्नत्वानामनिरुक्ते । तत्रैकत्व नाम किमेकत्वसख्यावत्त्वम् ? उताभेद ? किं वा स्वरूपमेव ? नाद्य, गौरश्व पुरुष इत्यादेरप्येकत्वसख्याविशिष्टतया तद्वाचकपदसमुदायस्यापि वाक्यत्वप्रसङ्गात्, एकत्वादिसख्याप्रतिपादकवाक्याव्यापनाच्च, नह्येकत्वद्वित्वादावेकत्वसख्यान्तरमस्ति, येन तत्प्रतिपादकपदसमूहो वाक्य स्यात् । न द्वितीयतृतीयौ, गौरश्व पुरुष इत्यादाव-

---

दिति वार्तिकार्थ । द्वितीय दूषयति —**नापीति** । तत्र वाक्यलक्षण विकल्पयति—**किं पदेत्यादिना** । प्रथमेऽतिव्याप्तिमाह—**गौरश्व इति** । **अर्थस्यैकत्वेति** । एकार्थप्रतिपादकत्वावच्छिन्नत्वमित्यत्र यदिदमर्थस्यैक्यम्, यच्च तादृगर्थप्रतिपादकत्वविवरणलब्धतादृगर्थविषयप्रतिपत्तिजनकत्वान्तर्गतविषयत्वम्, यच्चैवविधधर्मेणावच्छिन्नत्वम्, तदेतत्त्रितय दुर्निरूपमित्यर्थ । एकत्वसख्यावदर्थप्रतिपादकत्वमित्याद्य पक्ष दूषयति—**गौरश्व इति** । तेषामपि पदार्थाना प्रत्येकमेकत्वसख्यावच्छिन्नत्वादित्यर्थ । अव्याप्तिमेव विवृणोति —**नह्येकत्वेति** । द्वितीयतृतीयोरपि प्रथमपक्षोक्तामतिव्याप्तिमाह—**न द्वितीयतृतीयाविति** । एवमेकत्व खण्डयित्वा विषयविषयित्वे

जनकत्व नही माना है । वाक्य भी शब्द नही कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी निरुक्ति (निर्वचन = लक्षण) नही हो सकती है । क्योंकि क्या पद समुदाय मात्र वाक्य है, अथवा एकार्थप्रतिपादकत्व युक्त पदसमुदाय वाक्य है, या आकाङ्क्षा सन्निधि योग्यता वाले पद वाक्य है । प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योंकि, गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती इत्यादि क्रियाकारकादि सम्बन्ध रहित मे उसकी अतिव्याप्ति होती है । उनको भी वाक्यत्व की प्राप्ति होती है । दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योंकि लक्षणगत अर्थ के, एकत्व, विषयत्व और अवच्छिन्नत्व (युक्तत्व) की निरुक्ति नही हो सकती है । क्योंकि उनमे एकत्व नामक, क्या, एकत्वसख्यावत्त्व है, या अभेद है, या स्वरूप ही है । इनमे प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योंकि गौ, अश्व, पुरुष इत्यादि को भी एकत्वसख्याविशिष्टता के कारण तद्वाचक पदसमुदाय को भी वाक्यत्व प्राप्त होगा, क्योंकि उन गो आदि पदार्थों को भी प्रत्येक एकत्वसख्या युक्तत्व है । और एकत्वादि सख्या के प्रतिपादक वाक्य मे अव्याप्ति भी होगी, क्योंकि एकत्व द्वित्वादि मे एकत्व रूप सख्यान्तर नही रहता है कि जिससे उसका प्रतिपादक पदसमूह वाक्य होगा । द्वितीय तृतीय पक्ष भी युक्त नही है, क्योंकि गौ, पुरुष हस्ती इत्यादि प्रत्येक मे अभेद और स्वरूप का सद्भाव है । और विषय-

भेदस्वरूपयोर्भावात् । विषयविषयिभावस्य च पूर्वमेव निरस्तत्वात् । किंचेदमवच्छिन्नत्वम्? विशिष्टत्वमिति चेत्, तदेव किम्? विशेषणेन सबन्धत्वमिति चेत्, सबद्धत्वमित्यत्रापि सबन्धेन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता । विशेषणव्यावृत्तसबन्धाधारत्वोक्तौ को दोष ? इति चेत्, व्यावृत्तशब्देन विशिष्टत्वोक्तावात्माश्रयता प्रथम, विशेषणविशेष्ययो प्रत्येक विशिष्टत्वापत्ति द्वितीय, सबन्धस्य च विशिष्टत्वाभाव तृतीय, तस्य सबन्धान्तराभावात्, भावे वानवस्था ।

किच विशेषणविशेष्यतत्सबन्धेभ्यो विशिष्ट भिन्नम्? अभिन्न वा?

प्रपञ्चमिथ्यात्ववादोक्तखण्डन स्मारयति—**विषयेति**। अवच्छिन्नत्व खण्डयति—**किंचेदमिति**। विशिष्टत्व निर्वक्ति पूर्ववादी—**विशेषणेनेति**। किमिद विशेषणसबद्धत्वम्? विशेषणसबन्धविशिष्टत्वम्? कि वा तत्सबन्धाधारत्वम्? आद्ये प्राह—**संबद्धत्वमिति**। द्वितीय शङ्कते—**विशेषणव्यावृत्तेति**। तत्र दोषत्रय यथाक्रममाह—**व्यावृत्तेति**। विशेषणव्यावृत्तेत्यत्र व्यावृत्तत्व विशिष्टत्वमिति वक्तव्यम्, तथा चात्माश्रय । द्वितीय चाह—**विशेषणेति**। यदि हि विशेषणसबन्धाधारो विशिष्टम्, तदा विशेषमपि विशिष्ट स्यात्, विशेषणविशेष्यसबन्धस्य द्विष्ठत्वेन विशेषणस्यापि तदाश्रयत्वादित्यथ । तृतीय दूषणमाह—**संबन्धस्येति**। सबन्धाधारत्व च यद्यपि विशिष्टत्वाद्विशेषणविशेष्यसयोगस्य सभवति, तथापि समवायस्य तन्न सभवति, स्वाश्रयत्वाभावात्, अन्यत्वे चानवस्थानात् । अस्त्येव तस्यापि विशिष्टत्व रूपसमवायो रससमवाय इत्यतोऽव्याप्तिरित्यर्थ ।

इदानी विशिष्टस्वरूपमपि दुर्निरूपमित्याह—**किंचेति**। न केवलमनुपलम्भ,

---

विषयि भाव का प्रथम निराकरण हो चुका है, बाकी रहा अवच्छिन्नत्व, वह क्या है, यदि कहे कि विशिष्टत्व = अवच्छिन्नत्व है, तो वह विशिष्टत्व ही क्या है। यदि कहे कि विशेषण से सम्बन्धत्व विशिष्टत्व है, तो सम्बद्धत्व क्या है ऐसी जिज्ञासा होने से सम्बन्ध से विशिष्टत्व को कहने पर विशिष्टत्व मे विशिष्ट की अपेक्षा से आत्माश्रयता होगी। यदि कहे कि विशेषण से व्यावृत्त सम्बन्ध का आधारत्व विशिष्टत्व है और वही परिच्छिन्नत्व है तो ऐसे कहने मे क्या दोष है, तो कहा जाता है कि व्यावृत्त शब्द से विशिष्टत्व के कथन पर आत्माश्रयता रूप प्रथम दोष है। और सम्बन्ध के दो निष्ठ होने से विशेषण सम्बन्ध का आधार होगा, तो सम्बन्धाधार विशेषण भी विशिष्ट होगा और सम्बन्धाधार विशेष्य भी विशिष्ट होगा, इस प्रकार से प्रत्येक विशेषण विशेष्य को विशिष्टत्वापत्ति होगी यह दूसरा दोष होगा। और सम्बन्ध के सम्बन्धान्तर के अभाव से सम्बन्ध के द्विष्ठत्व का अभाव रूप तीसरा दोष होगा, सम्बन्ध के सम्बन्धान्तर का भाव हो, तो अनवस्था होगी ।

और यह भी विचारणीय है कि विशेषण विशेष्य और उनका सम्बन्ध इन तीनो

नाद्य , अनुपलम्भपराहतत्वात्, दण्डिनमानयेत्युक्तेऽन्यस्यैवानयनप्रसङ्गाच्च। नापि द्वितीय , त्रयाणामपि प्रत्येक विशिष्टत्वात् । दण्डादीनामान्यतमानयने दण्डी समानीत इति व्यवहारप्रसङ्गात् ।

किचेद विशेषण नाम यद्विशेषित तत्त्वान्तर स्यात् ? व्यावर्तकमिति चेत्, कि व्यावृत्तेर्भेदस्य जनकम् ? उत तत्प्रतीते ? नाद्य , असभवात् । नहि कठोरकुठारधारया तरोरिव देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विधीयते द्वैधीभाव । नापि द्वितीय , नयनादेरपि भेदप्रतीतिजनकत्व विशेषणत्व-

---

व्यवहारविरोधश्च स्यादित्याह —**दण्डिनमिति** । द्वितीयपि कि मिलित [illegible] विशिष्टम ? उत मिलितम ? आद्ये प्राह—**त्रयाणामपीति** । द्वितीयेपि कि मिलित-मिति तदवाभिधीयते ? कि वा तदन्यत् ? प्रथम पूर्वोक्तमेव दूषणम् । अतिरिक्तपक्षे त्वनुपलम्भपराहति ।

इदानी विशेषणानिरूपणादपि तत्सबन्धविशिष्टमित्यनुपपन्नमित्याह —**किचेद-मिति** । व्यावर्तकत्वमित्यत्र कुत कि व्यावृत्तिजनकत्वमर्थ ? किं वा प्रत्यायकत्वम् इति ? विकल्प्याद्य दूषयति—**नाद्य इति** । असभवमेव विवृणोति—**नहि कठो-रेति** । यथा हि घोरकुठारधारया वृक्षस्य द्वैधीभाव क्रियते, न तथा देवदत्तस्य दण्डकुण्डलादिना विष्णुमित्राद्भेद क्रियते, तत्पूर्वमभेदप्रसङ्गादित्यर्थ । द्वितीये नयनादावतिव्याप्तिस्तस्यापि व्यावृत्तिज्ञापकत्वादित्याह—**नापि द्वितीय इति** ।

मे विशिष्ट पदार्थ भिन्न है, या अभिन्न है, प्रथम पक्ष नही माना जा सकता, क्योकि अनुपलम्भ से पराहत है, पृथक् का अनुभव नही होता है, अत उसका अभाव सिद्ध होता है, यदि विशिष्ट पृथक् होता तो, दण्डी को ले आओ, ऐसा कहने पर दण्डादि से किसी अन्य का आनयन प्राप्त होता । द्वितीय पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि विशेषणादि से अनन्यता होने पर विशिष्ट की प्रत्येक तीनो से अनन्यता होगी, तो प्रत्येक तीनो को विशिष्टत्व होगा । और तीनो मे विशिष्टत्व होने पर भी केवल सम्बन्ध का तो आनयन नही हो सकता है, तथापि उनमे से अन्यतम दण्ड या पुरुष के आनयन होने पर भी, दण्डी (दण्डविशिष्ट) प्राप्त हुआ आया, ऐसा व्यवहार का प्रसङ्ग होगा ।

यह विशेषण नामक कोन वस्तु है कि जिससे विशेषित (व्यावृत्त) तत्त्वान्तर होगा । यदि कहे कि व्यावर्तक विशेषण है, तो व्यावृत्ति रूप भेद के जनक को व्यावर्त्तक कहते हैं, या व्यावृत्ति की प्रतीति के जनक को कहते है, यह भी वक्तव्य है । भेदजनक को व्यावर्तक नही कह सकते है, क्योकि जनक को विशेषण होना असम्भव है, अत जैसे कठोर (तीक्ष्ण) कुटार धारा से वृक्ष के दो खण्ड रूप भेद क्रिये जाते है, वैसे दण्ड, कुण्डलादि विशेषणो से देवदत्त के द्वैधीभाव (दो खण्ड) नही किये जाते है । व्यावृत्ति की प्रतीति का जनकत्त्व रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नही

प्रसङ्गात्। तदपि क्वचित्कस्यचिद्भवत्येव विशेषणमिति चेत्, हन्त तर्हि वस्तुमात्रमित्येव विशेषणलक्षणमस्त्वलमनया ग्रन्थकथाकन्थया? अस्तु तर्हि विषयीक्रियमाणतया यद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकं तद्विशेषणलक्षणमिति चेत्, मैवम्, विशेष्येऽपि प्रसङ्गात्। तदन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न, उपलक्षणेऽपि प्रसङ्गात्, विशेषणसिद्धौ तदुपजीविनो विशेष्यस्य सिद्धि-

---

नेत्रनतिव्याप्ति, तस्यापि चाक्षुषं रूपं रसनाग्राह्यो रस इत्यादिव्यवहारविशेषणतया लक्ष्यत्वादिति शङ्कते—**तदपीति।** उत्तरो निगदव्याख्यात। विशेषणलक्षणान्तरं शङ्कते—**अस्तु तर्हीति।** येन व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषणेन जन्यते तया विषयीक्रियमाणं सद्व्यावृत्तिबुद्धिजनकं यत्तद्विशेषणम्, तथा च न चक्षुरादावतिव्याप्ति। नहि घटः पटाद्व्यावृत्त इति बुद्धेश्चक्षुरादिर्विषयीभवतीत्यभिप्राय। अस्यातिव्याप्तिमाह—**मैवमिति।** नीलमुत्पलमित्यादौ नैल्यविशिष्टमुत्पलादपि तद्बुद्धिविषय एव, तज्जनकं च, प्रत्यक्षप्रतीतित्वात्, अतस्तस्यापि विशेषणत्वं स्यादित्यर्थः। **उपलक्षणेऽपीति।** अस्ति हि मयूराविकरणं श्रीसुन्दरदेवमन्दिरमित्यत्र मयूरस्यापि तद्बुद्धि-

---

हो सकता है, क्योंकि भेदप्रतीति के जनक नेत्रादि को भी विशेषणत्व प्राप्त होता है। यदि कहा जाय कि (चाक्षुषं रूपम्) नेत्र का विषय रूप है, नेत्रवान् देवदत्त है, इत्यादि स्थान मे वह नेत्रादि भी कही किसीका विशेषण होता ही है, अत लक्षण का लक्ष्य है। तो कहा जाता है कि इस प्रकार से तो वस्तु मात्र (सब पदार्थ) विशेषण हो सकता है। अत वस्तुमात्र (वस्तुत्व) इतना ही विशेषण का लक्षण होना (करना) चाहिये, इस ग्रन्थात्मक कथाकन्था की आवश्यकता नही है। यदि कहा जाय कि तो भी जो वस्तु व्यावृत्ति बुद्धि का विषय होकर व्यावृत्ति (भेद) बुद्धि का जनक होती है, वह विशेषण है, यह विशेषण का लक्षण रहे। इस लक्षण की चक्षु आदि मे अतिव्याप्ति नही होगी, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योंकि तो भी विशेष्य मे अतिव्याप्ति होती है, विशेष्यविषय रूप से व्यावृत्ति बुद्धि का जनक होना है (नीलमुत्पलम) इस ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से नीलतायुक्त कमल इस ज्ञान का विषय और जनक होता है। यदि कहे कि, विशेष्य से अन्य होता हुआ उक्त बुद्धि का जनक हो, इस प्रकार से दोष नही रहेगा, तो यह कहना भी युक्त नही, तो भी उपलक्षण मे अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उपलक्षण का ज्ञान भी व्यावृत्ति बुद्धि का जनक होता है। और नियम से जो बुद्धि का विषय होकर व्यावृत्ति का जनक हो, इस प्रकार नियम पद लगाकर उपलक्षण का वारण भी किया जाय तो भी, विशेष्यादन्यत्वे सति, इस विशेषण युक्त विशेषण की सिद्धि होने पर उसके उपजीवी विशेष्य की सिद्धि होगी, क्योंकि विशेषण से व्यावर्त्य विशेष्य होता है। और विशेष्य की सिद्धि होने पर उससे अन्य रूप से विशेषण की

स्ततश्च ततोऽन्यत्वेन विशेषणसिद्धिरिति परस्पराश्रयता। एतेन 'स्वबुद्धया रज्यते येन विशेष्य तद्विशेषणम्' इति भट्टपादीयमपि लक्षण परास्तम्, परस्पराश्रयताया दर्शितत्वात्। यत्पुनरुदयनेनोदीरितम्—'सामानाधिकरण्येन प्रतीयमान विशेषणम्, व्यधिकरणतया प्रतीयमानमुपलक्षणम्' इति, तदप्यसत्, विकल्पासहत्वात्। किमार्थिक सामानाधिकरण्य विवक्षितम्? उत शाब्दम्? नाद्य, असभवात्। नह्यस्ति दण्डदेवदत्तयो शौक्लचपटयोश्चैकाधिकरण्यम्, तयो प्रतिनियताधिकरणत्वात्। दण्डित्वदेवदत्तत्वयो-

---

विषयतया तज्जनकत्वमित्यनिव्याप्तिरित्यर्थ। अथ नियमेन विषयीक्रियमाणतया तज्जनक विशेषणम्, न तदुपलक्षणस्यास्ति असतोऽप्युपलक्षणतया तत्र तस्यासभवादिति ब्रूयात्त प्रति दूषणान्तरमाह—**विशेषणेति**। विशेष्यादन्यत्वे सत्युक्तविध विशेषणमिति हि लक्षणमभिधीयते, नचैतद्युक्तम, परस्पराश्रयापातात्। यद्धर्मविशिष्ट गृह्णाति तदिति वा विशेषणव्यावर्त्यमिति वा विशेष्यलक्षणम्। आद्ये परस्पराश्रय, विशिष्टत्वस्याद्याप्यसिद्धे। द्वितीयेपि परस्पराश्रय एव, विशेषणस्याद्याप्यसिद्धेरिति भाव। उक्त परस्पराश्रय लक्षणान्तरेप्यतिदिशति—**एतेनेति**। विशेष्य येन पदार्थेन स्वबुद्धया रज्यते स रञ्जको विशेषणम्। नहि उपलक्षणस्योपरञ्जकत्वमस्ति, तटस्थत्वादिति निष्कर्षार्थ। अस्यापि विशेष्यगर्भत्वात्पूर्ववदन्योन्याश्रयत्वमित्याह—**परस्परेति**। विशेषणोपलक्षणयोस्तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनेनोक्त भेदमनूद्य निराचष्टे—**यत्पुनरिति**। **सामानाधिकरण्येनेति**। जटी तापस इतिवदित्यर्थ। विशेषणविशेष्ययोरेकाधिकरणत्वरूपसामानाधिकरण्यमसिद्धमित्याह—**नाद्यः, असंभवादिति**। तदेव विवृणोति—**नह्यस्तीति**। **प्रतिनियतेति**। दण्डस्य पुरुषाधिकरणत्वात्पुरुषस्य भूतलाधिकरणत्वादेव शौक्ल्यस्य पटाधिकरणत्वात्पटस्य च तन्त्वधिकरणत्वादिति भिन्नाधिकरणत्वादित्यर्थ। यद्यपि दण्डदेवदत्तयोर्नैकाधिकरण्यम्, तथापि दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरस्त्यैकाधिकरण्यमिति शङ्कित्वा परिहरति—

सिद्धि होगी, तो परस्पराश्रयता प्राप्त होती है। इसीसे (जो अपने ज्ञान द्वारा विशेष्य को रञ्जित करता है वह विशेषण होता है) यह भट्टपाद का लक्षण परास्त हो गया, क्योकि परस्पराश्रयता दिखाई गई है। और जो उदयनाचार्य ने कहा है कि (सामानाधिकरण्य रूप से प्रतीयमान को विशेषण कहते है, व्यधिकरण रूप से प्रतीयमान = प्रतीति विषय, उपलक्षण होता है।) वह भी अयुक्त है, क्योकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि क्या यह समानाधिकरणता आर्थिक = अर्थसम्बन्धी विवक्षित है। या शाब्दिक है। प्रथम पक्ष असम्भव होने से अयुक्त है, क्योकि दण्डी देवदत्त, यहाँ दण्ड देवदत्त की, शुक्ल पट, यहाँ शौक्ल्य = शुक्ल रूप पट की समानाधिकरणता नही रहती है। विशेषण-विशेष्य दोनो को भिन्न-भिन्न

रैकाधिकरण्यमस्ति दण्डिन एव देवदत्तत्वादिति चेत्, तर्हि तयोरेवास्तु विशेषणविशेष्यभावो नतु दण्डदेवदत्तयो । नहि दण्ड एव दण्डी । न द्वितीय, तत्किमेकविभक्तिकानेकपदाभिधेयत्वम् ? उत भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताना शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्ति ? न प्रथम, असभवादेव । नहि विशेषणविशेष्यभावेन प्रसिद्धयोर्दण्डदेवदत्तयोर्दण्डो देवदत्त इत्येकविभक्तिकानेकपदाभिधेयत्वमस्ति । नापि चरम, दण्डी देवदत्त इत्यत्रैवादर्शनात् । नहि यथा शुक्ल पट इति शुक्लगुण पटत्व च निमित्तीकृत्य पदद्वय पटे प्रवृत्तम्, तथा दण्डित्व दण्ड वा निमित्तीकृत्य दण्डपद देवदत्ते प्रवृत्तम्, येन समाना-

---

तर्हीति । दण्डदेवदत्तयोर्विशेषणविशेष्यभाव प्रसिद्धो लोके, नतु दण्डित्वदेवदत्तत्वयोरनस्तयो सामानाधिकरण्यमनुपयोगीत्यर्थ । अथ धर्मद्वारा धर्मिणोरपि मति, तदापि दण्डिदेवदत्तयोरेव, नतु दण्डदेवदत्तयो, दण्डित्वस्य दण्डिधर्मत्वात्, दण्डस्य च दण्डित्वाभावादित्याह—**नहि दण्ड एव दण्डीति** एव विशेषणविशेष्ययोरार्थम सामानाधिकरण्यमिति पक्ष दूषयति—**न द्वितीय इति ।** एकस्मिन्नर्थे वृत्ति पर्यवसानम । असमवमेवाह—**नहीति ।** तथासति दण्डो देवदत्त नैल्यमुत्पलमिति प्रयोग स्यात, न चेतदस्तीत्यर्थ । द्वितीयेऽव्याप्तिमाह—**दण्डा देवदत्त इति ।** विशेषणीभूतदण्डवाची दण्डशब्दो न देवदत्तपदेन समानाधिकरण । यश्च दण्डिशब्द समानाधिकरण नासौ दण्डवाचक इत्यर्थ । एतदेव पर्यनुयोगपरिहाराभ्या विशद-

---

प्रतिनियत अधिकरणवत्त्व रहता है । यदि कहे कि दण्डित्व देवदत्तत्व उपाधि को एकाधिकरणवत्त्व है, क्योकि दण्डी को ही देवदत्तत्व है, तो इसप्रकार से उन दोनो मे विशेषण-विशेष्य भाव होगा, दण्ड देवदत्त को नही । क्योकि जैसे जो दण्डी है, वही देवदत्त है, वैसे जो दण्ड है, वही दण्डी नही है । दूसरा पक्ष शाब्द सामानाधिकरणण्य भी नही हो सकता है, क्योकि वह शाब्द सामानाधिकरण्य, क्या, एक विभक्ति वाले अनेक पदवाच्यत्व रूप है, या भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले शब्दो की एक अर्थ मे वृत्ति (पर्यवसान-तात्पर्य) रूप है । असम्भव होने से ही प्रथम पक्ष युक्त नही है, क्योकि विशेषण विशेष्य रूप से प्रसिद्ध दण्ड देवदत्त को (दण्डो देवदत्त) इस प्रकार से एक विभक्तिक अनेक पदवाच्यत्व नही रहता है । चरम= अन्तिम पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि, दण्डी देवदत्त, यहाँ ही भिन्न-प्रवृत्ति निमित्त वाले शब्दो की एक अर्थ मे वृत्ति नही देखी जाती है, अर्थात शुक्ल पट इस वाक्य मे शुक्ल गुण और पटत्व को भिन्न प्रवृत्ति-निमित्त करके जैसे दोनो पद एक पट अर्थ मे प्रवृत्त होते है, वैसे दण्डित्व वा दण्ड को निमित्त करके दण्ड पद देवदत्त मे नही प्रवृत्त होता है कि जिससे दण्ड को देवदत्त के साथ

धिकरणता स्यात् । दण्डित्व निमित्तीकृत्य दण्डिशब्दो देवदत्ते प्रवृत्त इति चेत्, प्रवर्तता नाम, नतु तद्विशेषणम्, दण्डविशिष्टरूपत्वात्तस्य । किच जटी तापसो जटाभिस्तापस इति वैकल्पिकप्रतिभासमात्रेण विशेषणोपलक्षणव्यवहारमङ्गीकुर्वाण· "सर्व एवाय मानमेयादिव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्म्यादिभावेन, न बहि सदसत्त्वमपेक्षते" इति सौगतमतानुप्रवेशमात्मन-स्तार्किकमन्यो नालोचयते । एतेन सबद्धमेव व्यावर्तक विशेषणमसबद्धमपि व्यावर्तकमुपलक्षणमित्यपि परास्तम् ।

अस्तु वा भवदिच्छया यत्किचनावच्छेदकमवच्छिन्न च, तथापि कि

यति—**दण्डित्वमित्यादिना ।** किच सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानत्व वैयधिकरण्येन प्रतीयमानत्व चेति योऽय विशेषो विशेषणोपलक्षणयो स स तावतार्थकृत, एकस्यैवार्थस्योभयथापि प्रतिभासात्, तस्मात्प्रतीतिकृत एवेति वक्तव्यम्, तथाच सर्वापि धर्मधर्मिवर्ग प्रतीतिमात्रवैचित्र्य स्यात्, सर्वस्यापि विशेषणोपलक्षणानभावात्, तथाच बुद्धिवैचित्र्यमेवार्थवैचित्र्यम्, नतु तदतिरिक्तमिति योगाचारमते निपात इत्याह—**किच जटीत्यादिना ।** उक्तदूषण लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति--**एतेनेति ।** व्यावर्तकत्वानिरुक्तेरित्यर्थ । अत्र चैवकार उपलक्षणव्यावर्तक । अपिस्त्वव्याप्तिव्यावर्तक ।

एवमवच्छिन्नत्व दूषयित्वा पदसमुदाय इत्यत्र पदपदार्थ दूषयति—**अस्तु वेति ।**

समानाधिकरणता हो सके । यदि कहे कि दण्डित्व को प्रवृत्ति-निमित्त करके दण्ड शब्द देवदत्त मे प्रवृत्त होता है, तो भले ही प्रवृत्त हो, परन्तु वह दण्डी विशेषण नही है, उसका दण्ड विशेषण है । अत दण्डविशिष्टत्व उसका स्वरूप है, और, (जटी तापस , जटाभिस्तापस) जटा वाला तपस्वी, जटा द्वारा जटा से उपलक्षित तपस्वी, इस प्रकार के वैकल्पिक = नाना प्रकार की प्रतीति मात्र से विशेषण उपलक्षण व्यवहार को मानने वाले तार्किकाभिमानी अपने सौगतमतानुप्रवेश को नही देखते है । क्योकि सब ही ये प्रमाण प्रमेयादि व्यवहार बुद्धि मे आरोपित धर्म-धर्मी आदि भाव से कल्पित होते है, वह व्यवहारमान मेयादि की बहि सत्त्व की अपेक्षा नही करता है । यह सौगत योगाचार का मत है, प्रतीति के अधीन विशेषण उपलक्षणादि के भेदो को मानने वाले तार्किको का अशत इस मत मे प्रवेश सिद्ध होता है । इसीसे सम्बद्ध = सम्बन्ध वाला व्यावर्तक विशेषण होता है, असम्बद्ध भी व्यावर्तक उपलक्षण होता है, यह भी निराकृत हो गया, क्योकि व्यावर्तकत्व की निरुक्ति नही हो सकती है ।

अथवा आपकी इच्छा के अनुसार जो कुछ अवच्छेदक = विशेषण और अवच्छिन्न विशेष्य हो । तो भी वह पद क्या है, कि जिसका समुदाय वाक्य होता है,

तत्पदम् इति विवेचनीयम्, यत्समुदायो वाक्यम्? ननु प्रसिद्धिसिद्धमेव सुप्तिङन्तं पदमिति, किमिह विवेचनीयमिति चेत्, मैवम्, एकैकस्य मिलितस्य वा लक्षणत्वे सुबन्तेऽपि तिङन्तस्य तिङन्तेऽपि सुबन्तस्योभयोरुभयत्र चाव्याप्ते। उभयान्यतरदिति चेत्, न, अन्यतरशब्देनैकैकस्य मिलितस्य वाभिधाने पूर्वदोषानुषङ्गात्। उभयान्यान्यदिति चेत्, न, उभयशब्देनोभयत्वसंख्याविशिष्टत्वविवक्षायामन्यशब्देन चान्यत्वाधिकरणत्वविवक्षाया-

---

अनवसरशङ्कां निराचष्टे- **यत्समुदाय इति**। पाणिनीयं पदलक्षणमुद्भावयति— **नन्विति**। तत्र 'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्' इति सूत्रोक्तसप्तविभक्त्यात्मकैकविंशतिवचनानां प्रत्याहारन्यायेन सुबिति निर्देशः। तिङिति च 'तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्' इति सूत्रोक्ताष्टादशरूपाणां निर्देशः एतद्विभक्तिवर्गद्वयान्तं शब्दरूपं पदमित्यर्थः। तदेतद्दूषयति—**मैवमिति**। किमेतत्पदमात्रलक्षणम्? किं वा तद्विशेषलक्षणम्? नान्त्यः, पदमात्रलक्षणस्य पृष्टत्वात्सामान्यलक्षणासिद्धौ विशेषासिद्धेश्च। प्रथमे त्वव्याप्तिरेकैकस्य लक्षणत्वे सुबन्तत्वस्य तिङन्तेऽभावात्तिङन्तत्वस्य च सुबन्तेऽभावात्। मिलितस्य लक्षणत्वे चोभयत्राव्याप्तिरेकैकस्योभयान्तत्वाभावादित्यर्थः। अनुगतरूपसिद्ध्यै शङ्कते— **उभयान्यान्यदिति**। दूषयति— **नेति**। उभयत्वसंख्याविशिष्टादेतस्माद्यदन्यद्द्विश्वं तदन्यत्वाधिकरणं यदेतदुभयं तत्त्वमिह लक्षणे विवक्षितोऽर्थः। न चेदमुभयसाधारणमिति प्रत्येकमिलितविकल्पतद्दोषौ च समानावित्यर्थः। उभयान्यान्यशब्दानां च साधारणार्थविवक्षायां सर्वत्रातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। इदानीं तदन्तत्वानिरु-

---

वह पद विवेचनीय है। यदि कहे कि प्रसिद्धि से सिद्ध ही सुबन्त और तिङन्त पद है (सुप्तिङन्तं पदम्) यह सूत्र भी है, फिर यहाँ विवेचनीय क्या है। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि, सुबन्तम् पदम्, तिङन्तं पदम्, इस प्रकार से एक एक को लक्षण होने पर यह विशेष का लक्षण होगा, सामान्य पदमात्र का नहीं, पदमात्र का लक्षण माने तो सुबन्तं पदम्, इसकी तिङन्त में अव्याप्ति होगी, तिङन्तं पदम् इसकी सुबन्त में अव्याप्ति होगी। और (सुप्तिङन्तपदम्) इस मिलित को एक लक्षण माने तो दोनों में अव्याप्ति होगी, क्योंकि उभयान्तत्व उभय में नहीं रहता है। यदि कहे कि, सुबन्त तिङन्त उभयान्यतरत् पदम्, ऐसा अनुगत लक्षण है, तो यह कहना युक्त नहीं। क्योंकि अन्यतर शब्द से एक-एक को वा मिलित को कहने पर पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होती है। यदि उभयान्यान्यत्व, रूप उभयानुगत धर्म को लक्षण कहे, तो भी नहीं बन सकता है, क्योंकि उभय शब्द से उभयत्व (द्वित्व) संख्या से विशिष्टत्व की विवक्षा होने पर, और अन्य शब्द से अन्यत्व के अधिकरणत्व की विवक्षा होने पर, उभयत्व संख्या विशिष्ट उभय से अन्यत्व के अधिकरण संसार से अन्यत्व

मुभयोरपि तत्सभवेन पूर्वोक्तदोषानतिवृत्ते । अपि च सुप्तिडन्त पदमिति यत्र सुप्तिडौ स्तस्तत्पदम् ? यत्र वा तौ विधित्सितौ, तत्पदम् ? नाद्य, विभक्तिसत्त्वस्य विशेषणत्वेऽव्ययाना लुप्तविभक्तिकानामपदत्वप्रसङ्गात् । उपलक्षणत्वे च प्रातिपदिकस्यापि पदत्वम्, भाविनापि विनाशेन विनाशी घट इतिवद्भाविनापि विभक्तिसत्त्वेनोपलक्षितत्वोपपत्ते । अत एव न द्वितीय, एतेन विभक्त्यन्ता वर्णा पदमित्यपि निरस्तम् ।

क्स्यापि लक्षण दूपयति—**अपि चेति** । किमय बहुव्रीहिस्तद्गुणसविज्ञान ? कि वाऽतद्गुणसविज्ञान ? इत्यर्थ । आद्येऽपि कि विशेषणतया विभक्तिसत्त्व विवक्षितम् ? उपलक्षणतया वा ? नाद्य अव्यापनादित्याह—**नाद्य', विभक्तीति** । स्नात्वा स्नातुमित्यादीनि प्रसिद्धानि, नचैतेषु विभक्तिसत्त्वमस्ति, 'अव्ययादाप्सुप इति विभक्तिलोपात्, 'कृन्मेजन्त क्त्वातोसुन्कसुन' इति चाव्ययसञ्ज्ञाविधानादितरथाऽकार्य ओजीत्यादिष्वपि लुप्तविभक्तिकेष्वव्याप्तिरिति भाव । उपलक्षणत्वपक्ष दूषयति—**उपलक्षणत्वे चेति** । प्रातिपदिकग्रहण धातोरप्युपलक्षणम् । ननु तदानीमविद्यमाना विभक्ति प्रातिपदिकस्य कथमुपलक्षणमिति ? तत्राह—**भाविनापीति** । नाशोपलक्षितसत्तायोगित्वमनित्यत्वमित्यत्र तदानीमविद्यमानेनापि नाशेनोपलक्षणदर्शनात् । एव विनाशी घट इत्यत्रापीति भाव । विधित्सिताविति पक्ष दूषयति—**अत एवेति** । प्रातिपदिकमात्रस्यापि पदत्वप्रसङ्गादित्यर्थ । उक्तदूषण लक्षणान्तरेऽप्यतिदिशति—**एतेनेति** । विभक्तेर्विभक्त्यन्तत्वस्य चानिरूपणादित्यर्थ ।

उभय को ही होगा । अत सुबन्त तिडन्त दोनो की अन्यान्यत्व के सम्भव से पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नही हो सकती है । और (सुप्तिडन्त पदम्) इसका सुप्तिङ् जहाँ वर्तमान हो, वह पद कहाता है, यह अर्थ है, या जहाँ सुप्तिङ् विधित्सित = विधि की इच्छा के विषय हो वह पद है, यह अर्थ है । यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि विभक्ति का सत्त्व विशेषण रूप से वा उपलक्षण रूप से माना जा सकता है, वहाँ विभक्ति सत्त्व के विशेषणत्व होने पर, अव्ययो को और लुप्त विभक्ति वाले पदो को अपदत्व की प्राप्ति होती है । और विभक्ति के उपलक्षण पक्ष मे प्रातिपदिक को भी पदत्व प्राप्त होता है । क्योंकि जैसे भावी विनाश से भी विनाशी घट कहा जाता है, वैसे ही भावी विभक्ति सत्त्व से प्रथम ही प्रातिपदिक को उपलक्षितत्त्व की सिद्धि हो सकती है । अतएव = इस प्रातिपदिक की पदत्व प्राप्ति से दूसरा (विधित्सित) पक्ष भी युक्त नही हो सकता है । इसी विभक्ति और विभक्त्यन्त के अनिरूपण से, विभक्त्यन्त वर्ण पद होते है, यह लक्षण भी निरस्त हो गया ।

ननु शाब्दप्रतीत्यजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं पदमिति लक्षणम्, अत्र च शाब्दप्रतीतिजन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वाक्यं प्रथमविशेषणेन व्यावर्त्यते, द्वितीयेन च प्रत्यक्षानुमानादावतिव्याप्तिर्व्युदस्यते, वर्णात्मकत्वविशेषणेन चादृष्टेश्वरादि। तदिहाधुनिकलक्षणे न कोऽपि दोष इति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्—तत्किं शब्दशब्देन पदं विवक्षितम्? उत वाक्यम्? नाग्रिमः, पदस्याद्याप्यसिद्धेः। न पश्चिमः, पदासिद्धौ तस्याप्य-

आधुनिकरीत्या पदलक्षणमुद्भावयति—**नन्विति**। शब्दजनिता या प्रतीतिस्तयाऽजन्यत्वे सति शाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं च यत्तत्पदमित्यर्थः। स्वयमेव विशेषणत्रयस्य कृत्यमाह—**अत्र चेत्यादिना**। पदसमुदायात्मकं वाक्यमतः समुदायिपदविषयप्रत्यक्षप्रतीतिजन्यं तच्छाब्दप्रतीतिजनकं च वाक्यार्थप्रतीतेरपि शाब्दत्वादतस्तद्व्यवच्छेदाय तयाऽजन्यत्वविशेषणमित्यर्थः। शाब्दप्रतीत्यजन्येत्यत्र प्रतीतिविशेषणीभूतशब्दशब्देन पदमभिधीयते? वाक्यं वा? इति विकल्प्याद्यमात्माश्रयत्वेन दूषयति—**नाग्रिम इति**। द्वितीयं दूषयति—**न पश्चिम इति**। पदसमुदायो हि वाक्यमतः पदासिद्धौ वाक्यमप्यसिद्धमित्यर्थः। वाक्ये चातिव्याप्तिः, तस्यापि वाक्यजन्यप्रतीत्यजन्यत्वे सत्युक्तविशेषणत्वात्। वर्णसमुदायरूपपदसमुदाये च वाक्ये वर्णात्मकत्वमप्यस्त्येवान्यथा पदस्यापि वर्णात्मकताभावप्रसङ्गादिति। नच शब्दत्वजातीयाजन्यशब्दत्वजातीयजन्यप्रतीतिजनकवर्णसमुदायः पदमिति युक्तम्। प्रथमविशेषणेन सर्वशब्दत्वजातीयविवक्षायां तदजन्यत्वविशेषणं द्वितीयेन व्याहतम्। द्वितीये वाक्येऽतिव्याप्तिः; तस्यापि यत्किंचित्पदाजन्यत्वे सत्युक्तरूपत्वादिति। किं पदसमुदायो वाक्यमित्यादिना त्रिधा वाक्यलक्षणं विकल्प्याद्यौ द्वौ दूषितौ, इदानीं तृतीयं

शंका होती हो, कि (शाब्दप्रतीति से अजन्य शाब्दप्रतीति का जनक वर्णात्मक पद होता है। वह पद का लक्षण है, और इस लक्षण में, शाब्दप्रतीति = पदार्थ ज्ञान जन्य शाब्दप्रतीति जनक वाक्य, प्रथम विशेषण शाब्दप्रतीत्यजन्य इससे व्यावृत्त होता है। दूसरे शाब्द विशेषण से प्रत्यक्ष अनुमानादि में अतिव्याप्ति का वारण होता है, क्योंकि (शाब्द प्रतीत्यजन्य प्रतीति जनक) इतना ही कहने पर प्रत्यक्षादि में अतिव्याप्ति होती, और वर्णात्मकत्व विशेषण से अदृष्ट ईश्वरादि का वारण होता है, अतः इस आधुनिक लक्षण में कोई दोष नहीं है। ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि यह लक्षण विचाराऽसह है, विचार है कि (शाब्द प्रतीत्यजन्य) यहाँ शब्द-शब्द से पद बिवक्षित है, या वाक्य विवक्षित है, अग्रिम (पद) विवक्षित नहीं हो सकता है, क्योंकि पद की अभी सिद्धि नहीं हुई है, पश्चिम (वाक्य) भी विवक्षित नहीं हो सकता है, क्योंकि पद की असिद्धि रहते पदसमूह रूप वाक्य की

सिद्धे । नाप्याकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यमिति तृतीय पक्ष, आकाङ्क्षाया पुरुषधर्मस्याचेतनेषु पदेष्वभावात् । आकाङ्क्षा हि जिज्ञासा, उक्त हि—

'अन्वितस्याभिधानार्थमुक्तार्थघटनाय वा ।
प्रतियोगिनि जिज्ञासा या साकाङ्क्षेति गीयते ॥' इति
(प्र० प० परि० पृ० ७)

योग्यतापि किं पदानामेव सहप्रयोगयोग्यत्वम् ? उतान्योन्यान्वययोग्यार्थत्वम् ? नाद्य, वह्निना सिञ्चेदित्यादावपि सहप्रयोगदर्शनात् । नापि द्वितीय, वाक्याभासेऽपि प्रसङ्गात् । नद्यास्तीरे फलानि सन्तीति विप्रलम्भकवाक्यस्थपदानामप्यन्योन्यान्वययोग्यार्थकत्वात् । अन्यथा प्रामा-

---

दूषयति—**नाप्याकाङ्क्षेति** । किमत्र योग्यतासन्निधिवदाकाङ्क्षाधिकरणत्व विवक्षितम् ? उत तद्विषयत्वम् ? नान्त्य, विषयविषयिभावस्य खण्डितत्वात् । आद्येऽसिद्धिमाह—**आकाङ्क्षाया इति । अन्वितस्येति** । वृक्ष इत्यत्रान्वितस्याभिधानार्थ विश्वजिता यजेतेत्यादावुक्तार्थयागस्य घटनाय प्रतियोगिनि जिज्ञासा या पुस सा आकाङ्क्षेति गीयत इत्यर्थ । एतच्चोभय विविच्य दर्शितमभिहितान्वयवादे ।

योग्यतामपि विकल्प्य दूषयति—**योग्यतेति** । किं पदगता ? पदार्थगता वा ? इत्यर्थ । आद्येऽतिव्याप्तिमाह—**वह्निनेति** । तयोरपि सहप्रयोक्तुम् योग्यतास्त्येवेतरथा तत्कार्यसहप्रयोगो न स्यादित्यर्थ । वाक्याभासे गमनमेव दर्शयति—**नद्यास्तीर इति** । ननु बाध्यमानस्य तदर्थस्य कथमन्वययोग्यता ? इति, तत्राह—**अन्यथेति** ।

भी असिद्धि ही रहती है । पदसमुदायादि रूप से तीन प्रकार के वाक्य के लक्षण विकल्पित हुए थे, उनमे दो का निराकरण हो चुका । अब कहते है कि (आकाङ्क्षासन्निधियोग्यता वाले पद वाक्य होते है) यह तृतीय भी वाक्य लक्षण पक्ष युक्त नही है । क्योकि पुरुष के धर्मरूप आकाङ्क्षा (इच्छा) का अचेतन पदो मे अभाव रहता है, आकाङ्क्षा जिज्ञासा को कहते है । कहा भी है—

अन्वित अर्थ को कहने के लिये या उक्तार्थ के सघटन = सम्बन्ध के लिये जो प्रतियोगी = सम्बन्धन्तर विषयक पुरुष की जिज्ञासा होती है, वही आकाङ्क्षा कही जाती है ।

योग्यता भी क्या है, पदो का ही सह = साथ प्रयोग योग्यत्व रूप है । या अन्योन्य = परस्पर अन्वय योग्य अर्थकत्व रूप है । प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि (वह्निना सिञ्चेत) अग्नि से सेचन करे, इत्यादि मे भी सह प्रयोग देखा जाता है । द्वितीय पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि वाक्याभास = मिथ्यार्थक वाक्य मे भी योग्यत्व की प्राप्ति होती है, नदी के तीर पर फल है, इस विप्रलम्भक = वञ्चक के वाक्यस्थ पदो को भी अन्योन्यान्वययोग्यार्थकता रहती है,

णिकवाक्येऽपि तेषामनन्वयापत्ते । प्रमाणान्तरविरोधादिह पदार्थानामन्वययोग्यता नास्तीति चेत्, न, ससर्गाभावेपि ससर्गयोग्यस्वभावस्याखण्डितत्वात् ।

अस्तु वा यत्किचिदविचारितरमणीय पदम्, तत्समूहश्च वाक्यम्, तथापि कुत्र प्रमाणम्, इति विवेचनीयम् ?

शब्दो मान विवक्षाया ज्ञानेऽर्थे वा भवन्भवेत् ।
नाद्यौ तद्व्यभिचारित्वान्नान्त्य सगत्ययोगत ॥ ३१ ॥

अय भाव —अत्र किं प्रमाणान्तरबाधादन्वयो नास्तीत्युच्यते ? किंवा तद्योग्यतैव नास्तीति ? आद्ये प्रकृतदोषापरिहार, अन्वयाभावेपि योग्यतानपायात् । नहि यावद्योग्यत्व कार्यदर्शनमस्ति, नियमेन कार्यानिष्पत्तेरिति चेन्न, असिद्धे, आप्तवाक्ये तेषामेवान्वयदर्शनात । एतेन योग्यनाभावपक्षोऽपि प्रत्युक्त । न चाप्तवाक्यस्थपदार्थेभ्योऽनाप्तवाक्यस्थपदार्था अन्य एवेति वाच्यम्, तथा सति तेषामन्वयायोग्यत्वस्याप्यसिद्धे, क्व दृष्ट तेषामन्वययोग्यतास्तीति ? सगतिग्रहणाभावदबोधकता च ? अख्यातिवादिनापि च पदार्थबोधाङ्गीकारात्, तस्मादस्त्येवानाप्तवाक्ये व्यभिचार इति । एतदेव चोद्यपरिहाराभ्या विशदयति —**प्रमाणान्तरेत्यादिना ।**

एव तावच्छब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेर्थे बुद्धि शाब्दमिति लक्षणे शब्दविज्ञानादित्यशो दुर्निरूप इत्युक्तम्, इदानी तदपेक्षार्थविज्ञानमित्यत्रार्थशब्दार्थोऽपि विचारासह इत्याह—**अस्तु वेत्यादिना ।** मान भवन् शब्द किं वक्तृविवक्षाया पदार्थससर्गविषयिण्या लिङ्गतया भवेत् ? यथाहु सौगता —'वक्तुरभिप्राय तु सूचयेयु' इति । किंवा वक्तृप्रयोगमूलभूतज्ञाने लिङ्गताया, यथा वैशेषिकादय ? उपलक्षण चैतत् रागाभिप्राययोरपि । किंवा वाक्यार्थे स्वभावत एव यथा मीमासका ? न तावदाद्यौ, ताभ्या शब्दस्य व्यभिचारात । नाप्यन्त्य , पदार्थेषु सगत्यसभवेन तत्ससर्गरूपवाक्यार्थेपि प्रामाण्यायोगादिति सग्रहश्लोकयोजना ।

अन्यथा प्रामाणिक वाक्य मे भी उन पदार्थो के अनन्वय की आपत्ति होगी । यदि कहा जाय कि प्रमाणान्तर के विरोध से इस वञ्चक वाक्य मे योग्यता नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि वञ्चक कथित अर्थो के ससर्ग के अभाव रहते भी ससर्ग योग्य स्वभाव को अखण्डितत्व रहता है । अत एव आप्त वाक्य मे उनका अन्वय देखा जाता है ।

अथवा अविचारित रमणीयता वाला यत्किञ्चित् पद हो, तथा पदसमूह रूप वाक्य भी हो, तो पद और वाक्य रूप शब्द किस अर्थ मे प्रमाण होता है—

शब्द प्रमाण होता हुआ, क्या पदार्थससर्ग विषयक वक्ता की विवक्षा मे प्रमाण लिङ्ग रूप से होना है, या वक्ता के प्रयोग कारण ज्ञान मे लिङ्ग रूप से प्रमाण होता है, अथवा वाक्यार्थ मे बोधक रूप से प्रमाण होना है । आद्य दो पक्ष बच नही

न तावद् 'देवदत्त गामभ्याज' इति पदनिचयस्तद्विवक्षाया तज्ज्ञाने वा लिङ्गतया मानम्, व्यभिचारित्वात्। भ्रान्तस्य पिपासो पानीयविवक्षाया कुकुद देहीति प्रयोगदर्शनात्। अन्यथा जानतोऽपि विप्रलम्भकस्यान्यथा-प्रयोगदर्शनाच्च। आप्तवाक्यमेव तयोर्लिङ्ग नेतरदिति चेत, अस्तु तर्हि तदर्थस्यैव प्रतिपादकत्व तस्य, तेनाव्यभिचारात्। किच वाक्य वाक्यार्थेना-विशेषितज्ञानविवक्षयोर्मानम्? उत विशेषितयो। नाद्य, व्यवहाराभाव-

इममेव सग्रह् विवृगोति - **न तावदित्यादिना**। विवक्षाव्यभिचारमुदाहृत्य ज्ञानव्यभिचारमुदाहरति—**अन्यथा जानतोऽपीति**। तदुक्त भट्टपादै —

'अन्यथा नविदानोपि विवक्षत्यन्यथा यत।
तस्मादेकान्ततो नास्ति पुवाक्यात्तद्धिया गति ॥' इति

(श्लो० वा० २।१६०)

ननु नास्माभि शब्दमात्र विवक्षाज्ञानयो प्रमाणमित्युच्यते, अपित्वाप्तवाक्यम्, तस्य च न ताभ्या व्यभिचार इति शङ्कित्वा परिहरति—**अस्तु तर्हीति**। अनाप्त-वाक्येष्वर्थव्यभिचारदर्शनेन खलु विवक्षाज्ञानयो प्रामाण्यमाश्रीयते, तत्रापि चेदाप्त-वाक्यत्वेन विशेषणम्, अर्थे एव किमिति तर्हि तादृश वाक्य प्रमाण न स्यात्? अस्ति हि तेनापि तस्याव्यभिचार इत्यर्थ। इतोपि विवक्षाज्ञानयो प्रामाण्य न सभवती-त्याह—**किच वाक्यमित्यादिना**। कि ज्ञानविवक्षामात्रयोर्वाक्य प्रमाणम्? उत तत्तद्वाक्यार्थविशेषितज्ञानविवक्षयो? इत्यर्थ। आद्यमस भावेन दूषयति—**व्यवहारेति**। नहि ज्ञानमात्रविवक्षामात्रप्रतिपत्त्या गवानयनादौ प्रवृत्ति सभवतीत्यर्थ। द्वितीये तु ते वाक्यार्था ज्ञाता? न वा? आद्ये किमन्यतस्तेषा ज्ञानम? शब्दत एव

सकता है, क्योकि उनके साथ शब्द का व्यभिचार रहता है, अर्थ के साथ सङ्गति की अयोग्यता से अन्तिम पक्ष भी नही बन सकता है ॥ ३१ ॥

देवदत्त गामभ्याज = गौ ले आ, यह पदसमूह, उस वक्ता की विवक्षा मे वा उसके ज्ञान मे लिङ्ग रूप से प्रमाण नही होता है, क्योकि विवक्षा और ज्ञान का व्यभिचारी पदसमूह होता है। पिपासा युक्त भ्रान्त पुरुष मे पानी की विवक्षा रहते (कुकुद देहि) अलङ्कृत कन्यादानी को दो, ऐसा कहता है। यहाँ विवक्षा का व्यभिचारी शब्द है। और अन्य प्रकार से सच्चे अर्थ को जानने वाले वञ्चक का अन्यथा = मिथ्या, प्रयोग देखा जाता है। अत ज्ञान का व्यभिचारी शब्द सिद्ध होता है। यदि कहे कि आप्त का वाक्य ही विवक्षा और ज्ञान का लिङ्ग होता है, अन्य नही। तब तो जिस अर्थ के व्यभिचार से अनाप्त वाक्य अप्रमाण होता है, उस अर्थ का ही प्रतिपादकत्व उस वाक्य को होना चाहिये। अर्थ मे ही वाक्य को प्रमाण मानना चाहिये। क्योकि उस अर्थ के साथ वाक्य का अव्यभिचार रहता है। और

प्रसङ्गात्। द्वितीये तु तद्विशेषणभूतोऽर्थ केनाधिगत? इति वाच्यम्, न तावत्प्रत्यक्षेण, नदीतीरे फलसत्ताया श्रोतुरिन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्। नानुमानेन, तद्व्याप्तलिङ्गाभावात्। नाप्येतदवगति स्मृति, पूर्वमननुभूतत्वात्। नाप्युत्प्रेक्षा, तस्या प्रत्यक्षानुमानयोरनन्तर्भावात्। नापि संशयः, कोटिद्वयानवलम्बित्वात्। नापि विपर्यय, तत्र प्रवृत्तस्य तत्प्राप्त्यभावप्रसङ्गात्। शब्दादेव तु तदधिगमे परस्पराश्रयता, अनुमानवैयर्थ्यं च।

या? न तावदन्यत इत्याह—**न तावत्प्रत्यक्षेणेत्यादिना। इन्द्रियासन्निकृष्टत्वात्।** वाक्यप्रयोगसमये इति शेष। ननु स्मृतिरेव सा अत सस्कारादेव प्राप्तेति, तत्राह—**नाप्येतदवगतिरिति।** उत्प्रेक्षापक्षेपि न तावत्स्मृति, निरस्तत्वात्। अनुभवपक्षे तु प्रमाणम्? न वा? आद्ये प्राह—**प्रत्यक्षेति।** द्वितीयेपि सशय? विपर्ययो वा? नोभावपीत्याह—**नापि संशय इति।** अस्तु तर्हि शब्दादेव तदधिगम इति, नेत्याह—**शब्दादेवेति।** यदा शब्दतोर्थम् ज्ञात्वा तद्व्यावृत्तविवक्षा वा ज्ञान वा शब्देन लिङ्गभूतेनानुमीयते ताभ्या चार्थानुमानम्, तथाचार्थज्ञाने विवक्षाज्ञान विवक्षाज्ञाने चार्थज्ञानमिति परम्पराश्रय इत्यर्थ। किच प्रथमत एवार्थप्रतीतौ तद्विवक्षया तुनस्तदनुमान च वृथेत्याह—**अनुमानेति।** अथवा न परस्पराश्रव। अर्थव्यावृत्तविवक्षया पुनरर्थानुमानाभावाद्व्यवहारस्य प्राथमिकार्थप्रतीत्यैवोपपत्ते-

---

यह भी विचारणीय है कि वाक्यार्थ से अविशेषित = वाक्यार्थ विषयतारहित ज्ञान और विवक्षा मे वाक्य प्रमाण होता है, अथवा वाक्यार्थ विशेषित मे प्रमाण होता है। प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा, क्योकि ज्ञानमात्र या विवक्षा मात्र के ज्ञान से गवाऽऽनयादि व्यवहार नही हो सकता है, किन्तु विषय विशेषित ज्ञानादि से व्यवहार की सिद्धि होती है। दूसरे पक्ष मे उस ज्ञान या विवक्षा के विशेषण रूप अर्थ किससे अधिगत (ज्ञात) होता है, वह भी वक्तव्य है। वाक्यार्थ का प्रत्यक्ष मे ज्ञान तो कहा नही जा सकता है, क्योकि (नदीतीरे फलानि सन्ति) नदी के तट पर फल है, इस वाक्य के श्रोता के इन्द्रिय का नदीतीर की फलसत्ता से सम्बन्ध का अभाव रहता है। अनुमान से भी ज्ञान नही हो सकता, क्योकि उससे व्याप्त लिङ्ग का अभाव रहता है। उसका ज्ञान स्मृति रूप नही हो सकता है, क्योकि प्रथम का अनुभूत अर्थ नही है। उत्प्रेक्षा (सम्भावना) रूप ज्ञान नही कह सकते है, क्योकि उत्प्रेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत होती है, अत प्रत्यक्षानुमान के अभाव से उत्प्रेक्षा का अभाव भी सिद्ध होता है। कोटिद्वयानवलम्बी होने से सशय ज्ञान भी नही कहा जा सकता है। विपर्यय भी नही कहा जा सकता, क्योकि विपर्यय होने पर वहाँ प्रवृत्त पुरुष को उस फल की अप्राप्ति का प्रसङ्ग होगा। शब्द से उनके ज्ञान हो तो परस्पर

अनधिगमे तु तद्विशिष्टज्ञानानुमानायोग । नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति न्यायात् । नापि तृतीय, अर्थेन शब्दसगत्यभावात्—शब्दार्थयोरेकदेशकालत्वनियमाभावात् । वाच्यवाचकलक्षण सबन्धोऽस्तीति चेत, वाचकत्व नाम तद्विषयप्रतीतिजनकत्वम्, वाच्यत्वम् तज्जन्यप्रतीतिविषयत्वम्, तदेवासति सबन्धे कथ स्यादिति पर्यनुयोगे तस्मात् इव तद्भवतीति ब्रुवाण पण्डितगोष्ठीषु कथ नापत्रपेत् ? अन्तरेण च सबन्ध शब्दस्यार्थविशेषप्रतीतिजनकत्वेऽध्यक्षानुमानयोरपि सबन्धसमर्थनवैयर्थ्यापात ।

रिति यदि परो ब्रूयात्त प्रत्याह—**अनुमानेति** । तर्हि प्राथमिकमर्थमतिलघ्य विवक्षानुमानमनर्थक तावन्मात्रादेव व्यवहारसिद्धेरित्यर्थ एव ज्ञायमानार्थव्यावृत्तविवक्षाज्ञानयो प्रामाण्यमिति पक्ष दूषयित्वाऽज्ञायमान इति पक्ष दूषयति—**अनधिगम इति** । अर्थे प्रमाण शब्द इति तृतीय पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति** । **अर्थेनेति** । पदार्थेन सगत्यभावात् पदनिचयस्य न पदार्थसमूहे प्रामाण्यमित्यर्थ । ननु माभूदेकदेशादिनियमलक्षण सबन्ध, वाच्यवाचकलक्षणस्त्वस्ति सबन्ध इति शङ्कते—**वाच्येति** । सबन्धव्यतिरेकेणार्थस्य वाच्यत्व शब्दस्य वाचकत्व वा न सभवति तत्र तस्यैव सबन्धोक्तावात्माश्रय स्यादिति परिहरति—**वाचकत्वमित्यादिना** । गोष्ठीषु सद स्वित्यर्थ । असबद्धस्यैव वाच्यत्व वाचकत्व वेत्याशङ्क्यातिप्रसक्ति स्यादित्याह—**अन्तरेणेति** ।

आश्रयता होती है (क्योकि शब्द से अर्थ को जान कर अर्थविशेषित विवक्षा वा ज्ञान का शब्द रूप लिङ्ग से अनुमान होगा, फिर उस विवक्षा ज्ञान से अनुमान के होने पर । अर्थज्ञान से विवक्षा का ज्ञान, विवक्षा ज्ञान से अर्थज्ञान यह अन्योन्याश्रय होगा) और प्रथम ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होने पर, उस अर्थ की विवक्षा से उसका अनुमान मे व्यर्थता होगी । और यदि विवक्षा वा ज्ञान का विशेषण अर्थ का प्रथम ज्ञान नही हो तो अनधिगम रहने अर्थविशिष्ट ज्ञान वा विवक्षा का शब्द से अनुमान नही हो सकता है, क्योकि यह नियम है कि विशेषण को नही ग्रहण करने वाली बुद्धि विशेष्य-विषयक नही होती है (विशेष्य का ग्रहण नही करती है)। अर्थ मे शब्द प्रमाण है, यह तृतीय पक्ष भी नही युक्त है । क्योकि अर्थ के साथ शब्द की सङ्गति (सम्बन्ध) का अभाव रहता है, एकदेश काल से सम्बन्ध होता है, और शब्द और अर्थ को एक देशकालवत्त्व के नियम का अभाव रहता है । यदि कहे कि एकदेश काल वृत्तित्व के अभाव रहने भी वाच्यवाचक स्वरूप = अर्थात् वाच्यत्व वाचकत्व स्वरूप सम्बन्ध तो दोनो को रहना ही है । तो कहा जाता है कि वाचकत्व नाम है, अर्थविषयक प्रतीतिजनकत्व का । और वाच्यत्व

कस्य चाय शब्दो वाचक ? कि जाते ? उत व्यक्ते ? कि वा जाति विशेषिताया व्यक्ते ? नाद्य, विशेषविषयव्यवहाराभावप्रसङ्गात्। अथ जातावेवावसितसगतिकानि पदान्यनाकलितविशेषायास्तस्या बोद्धुमशक्यत्वात्तत्रापर्यवसितव्यापाराणि विशेषानपि बोधयन्तीति मतम्, तदपि न, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—प्रथम जातिमात्रमवबोध्यापर्यवसानादनन्तर विशेषमवबोधयन्ति ? कि वान्तर्भावितविशेषामेव जातिम् ? नाद्य, पद-

अस्तु वा वाचकत्व तथापि कस्य वाचक शब्द इति विकल्प्य दूषयति—**कस्यचायमित्यादिना।** यद्यप्याकृत्यधिकरणे, नियोगेन विकल्पेन द्वे वा सहसमुच्चित "सबन्ध समुदायो वा विशिष्टा चैकयापि वा" इति वार्तिककारैर्बहव पक्षा उपन्यस्ता। तथापि तेषामत्यन्ताभासत्वात्तैरेव निरस्तत्वाच्च विस्तरभीरुणा चार्थेणेह नोपन्यस्य निरस्यन्ते। जातिमात्रे गृहीतसगतिकस्य व्यक्तावपर्यवसानवृत्त्या बोधकत्वमिति प्राभाकररीत्या पूर्ववादिनोक्त विकल्प्य दूषयति—**तथा हीति।** यदिदमपर्यवसानाद्व्यक्तिबोधन तत्कि जातिप्रतीते पश्चात् ? कि वा जात्या सहैव ? इत्यर्थ। आद्यमसभवेन निरस्यति—**नाद्य इति।** बुद्धिग्रहण दृष्टान्तार्थम्, द्वितीयेपि कि व्यक्तावशक्त ? शक्तो वा ? नाद्य, अशक्तस्य द्वद्वाचकत्वाभावात् द्वितीयेपि व्यक्ति-

जायगा, तो ऐसा कहने वाला पण्डितसभा मे क्यो न लज्जित होगा, अर्थात् इस प्रकार से आत्म आश्रयता होती है, वाच्यत्व वाचकत्व का सम्बन्ध भी वही सिद्ध होता है। और सम्बन्ध के बिना ही यदि शब्द को अर्थविशेष की प्रतीति के कारणत्व हो, तो प्रत्यक्ष ओर अनुमान को भी सम्बन्ध का समर्थन = प्रतिपाद व्यर्थ होगा।

किसी प्रकार से वाचकत्व होन पर भी यह शब्द किसका वाचक होता है, क्य जाति का वाचक होता है, या व्यक्ति का होता है, या जातियुक्त व्यक्ति का वाचक होता है। आद्य जाति वाचकत्व पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि जातिवाचक शब्द से विशेष व्यक्तिविषयक व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि जाति मे ही निश्चित सङ्गति (शक्ति = सम्बन्ध) वाले पद होते है, परन्तु अज्ञात विशेष = व्यक्ति वाली उस जाति के बोध कराने मे अशक्यता से, तत्र उस जाति मे अपर्यवसित (अचरितार्थ) व्यापार वाले होकर पर्यवसान के लिये विषयो का भी बोधक पद होते है। तो यह भी कहना युक्त नही। यह मत विकल्पासह है। क्योकि विकल्प है कि प्रथम जातिमात्र के बोध कराकर फिर अपर्यवसान से विशेष के बोधक पद होते है। या अन्तर्भावित विशेष वाली ही जाति के बोधक साथ ही होते है। उनमे प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि शब्द और बुद्धि का विराम विश्रामपूर्वक व्यापार का अभाव होता है, दूसरे पक्ष मे

बुद्ध्योर्विरम्य व्यापाराभावात्। द्वितीयेऽपि विशेषेषु पदाना शक्तिरस्ति ? न वा ? अस्ति चेत्, जातिरेव शब्दार्थ इत्यभ्युपगमभङ्गप्रसङ्ग । अस्तु तर्हि जातिरेव वाच्या, व्यक्तिस्तु तदविनाभावाल्लक्ष्येति चेत्, मैवम्, अविनाभावासिद्धे । कि गोत्वजातेर्व्यक्तिमात्रेणाविनाभाव ? कि वा गोव्यक्त्या ? नाद्य, गोत्वजातेर्घटादिव्यक्तिभिरविनाभावाभावात्। न द्वितीय, आत्माश्रयत्वात्। गोत्वजातिविशिष्टाया गोत्वस्य वर्तनाङ्गीकारात्। विशिष्टस्य लक्ष्यत्वे विशेषणभूताया जातेर्लक्ष्यत्वप्रसङ्गान्। एतेन सास्नावता विशेषेणाविनाभाव इत्यपि प्रत्युक्तम्।

रपि शब्दवाच्येत्यपसिद्धान्तापत्तिरित्याह—**द्वितीयेपीति**। ननु व्यक्तावशक्तमेव पदम्, कथ तर्हि तत्र बुद्ध्युत्पत्ति ? लक्षणयेति शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। जातिव्यक्त्यो साधारण्येनासाधारण्येनोभयथापि नाविनाभावोऽसिद्ध इत्याह—**मैवमित्यादिना**। ननु जातिमात्रस्य न व्यक्तिमात्रेणाविनाभाव, किंतु तद्विशेषेणेति द्वितीय प्रक्ष दूषयति—**न द्वितीय इति**। यदि गोत्वविशिष्टाया व्यक्तौ गोत्वस्याविनाभाव स्तर्हि तत्रैव सा वर्तत इति वाच्यम, तथा चात्माश्रयत्वमित्याह—**आत्माश्रयत्वादिति**। उपलक्षण चैतज्जाते जात्यविनाभावादात्माश्रयान्तरस्यापि। किन्च गोत्वविशिष्टव्यक्तेरविनाभावाल्लक्ष्यत्वे तद्विशेषणजातेरपि लक्ष्यत्वमित्यभिधेयशून्यता शब्दस्य स्यात्तदभावे च लक्षणापि न सम्भवेदिति नैरर्थक्यमेव शब्दसामान्यस्य समर्थित स्यादित्यभिप्रायवानाह—**विशिष्टस्येति**। ननु सास्नावता विशेषेण गोत्वजातेरविनाभाव, न गोत्वविशिष्टेन, तथाच नात्माश्रयतेति, तत्राह—**एतेनेति**। सोपि हि गोत्वविशिष्ट एवेति पूर्वोक्तदूषणद्वय स्यादित्यर्थ । अनन्तव्यभिचाररूपो वा पूर्वोक्तदोष ।

भी विशेषो मे पदो की शक्ति रहती है कि नही, यदि रहती है, ऐसा माना जाय, तो जाति ही शब्दार्थ है, इस अभ्युपगम (सिद्धान्त) का भङ्ग प्राप्त होता है। यदि कहे कि तो जाति ही वाच्य मानी जाय व्यक्ति तो जाति के साथ अविनाभाव से लक्ष्य होती हे, तो यह भी कहना युक्त नही। क्योकि अविनाभाव की असिद्धि हे। क्या गोत्व जाति को व्यक्तिमात्र (सब व्यक्ति) के साथ अविनाभाव हे, या गो व्यक्ति मात्र के साथ है। प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है। क्योकि गोत्व जाति को घटादि व्यक्तियो के साथ अविनाभाव का अभाव रहता है, दूसरा पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है, सामान्य व्यक्ति मे न रह कर विशेष व्यक्ति मे गोत्व को रहना होगा, तो गोत्व जाति विशिष्ट मे गोत्व की वर्तना (स्थिति) का अङ्गीकार होगा और जाति के साथ अविनाभाव से व्यक्ति मे लक्षणा मानने पर जातिविशिष्ट का अविनाभाव रहता है,

किंच सापि शक्तिरनधिगता न कार्याय पर्याप्तेति तदधिगतिरवश्याश्रयणीया। न च सा शक्या, विशेषाणामानन्त्याद् व्यभिचाराच्च। नास्ति चेद्, व्याघात --तत्रासमर्थानि बोधयन्ति च तानीति। अपि च जातिरेव शब्दार्थ इति नियमे कालाकाशदिगादिशब्दानामवाचकत्वप्रसङ्गात्, कालाकाशादौ कालत्वादिजातेरभावात्। यत्र सभवनि तत्र जातिरितरत्र तु व्यक्तिरिति व्यवस्थेति चेत्, न, पाचकादिशब्दानामुपाधिपरत्वस्वीकारात्। अस्तु तर्हि त्रितय शब्दार्थ इति चेत् न, जातिशब्दार्थत्वन्नेषाणामुपाधि--

किंच यया कयापि सवत्वविनाभाव तथापि तासु व्यक्तिषु पोधनसामर्थ्यमस्ति ? न वा ? अस्तिचेदगृह्यमाणा वा ? गृह्यमाणा वा ? आद्ये प्राह—**किंच सापीति**। अनधिगतलक्षणापरिकर प्रत्यपि बोधकत्वप्रसङ्गाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम्। द्वितीये प्राह—**न च सेति**। ननु नास्त्येव तादृशी शक्तिरभिधेयनिष्ठत्वाच्छक्तेरिति तत्राह—**नास्ति चेदिति**। व्याघातमेव दर्शयति—**तत्रेति**। किंच सर्वशब्दाना जातिरर्थ उत यत्र सभवति तत्रेति मतम् ? नाद्य इत्याह--**अपि चेति**। नह्येकव्यक्तिषु कालादिषु जातिरस्तीति तद्वाचकशब्दाना नैरर्थक्यप्रसङ्ग इत्यर्थ। द्वितीय शङ्कते—**यत्रेति**। एतदव्यापकमुभयव्यतिरिक्तस्योपाधेरपि क्वचिच्छब्दार्थत्वाश्रयणादित्याह—**न पाचकादीति**। अव्याप्तिद्वय परिहरन् शङ्कते—**अस्तु तर्हीति**। त्रितयम, जातिर्व्यक्तिरुपाधिश्चेत्यर्थ। एतदपि न सभवति, उपाधे शब्दार्थताया जातिवदुपाधिषु व्यक्तिष्विव प्रवृत्त्यसभवादेस्तुल्यत्वादित्याह --**न जातीति**। किंच

जातिविशिष्ट मे लक्ष्यत्व होने पर विशेषण रूप जाति को भी लक्ष्यत्व प्राप्त होगा, फिर कोई वाच्य नही रह जायगा, और वाच्य के नही रहने पर लक्षणा के असम्भव स शब्द निरर्थक होगा। इसीसे सास्ना वाला विशेष के साथ अविनाभाव है, पक्ष भी निरस्त हो गया। क्योकि वह अविनाभाव गोत्वविशिष्ट मे होगा कि जिसमे पूर्वोक्त दोष प्राप्त होगा।

चाहे अविनाभाव किसी के साथ हो, परन्तु वह शक्ति अज्ञात रहकर अपने कार्य के लिए समर्थ नही होती है, अत उसकी अधिगति (ज्ञप्ति) आश्रयणीय (मन्तव्य, प्रामाण्य) है। परन्तु वह शक्य नही है। पदा की जिनमे शक्ति है, वे-वे विशेष पदार्थ अनन्त है, उनके ज्ञान के बिना उन विषयक शक्ति का ज्ञान हो नही सकता ह। और एक गो व्यक्ति मे गो पद की शक्ति को जानने पर दूसरी गो व्यक्ति मे उसी गो पद का प्रयोग होता है। इससे व्यभिचार भी है, उस व्यक्ति मे शक्तिज्ञान के बिना शब्द का प्रयोग नही हो, ऐसा नियम नही है। यदि कहे कि व्यक्ति मे शब्दशक्ति नही है। तो व्याघात होगा। क्योकि व्यक्ति मे असमर्थ वे पद व्यक्ति के बोध कराते है, ऐसा प्राप्त होगा। और जाति ही शब्द का अर्थ है,

ष्वपि तुल्यत्वात्। नच त्रितयस्य मिलितस्यैकैकस्य वा शब्दार्थत्वप्रयोजकता, व्यभिचारित्वात्, अन्यतमत्वस्य च खण्डितत्वात्। एतेन व्यक्तेरपि शब्दार्थता प्रत्याख्याता, आनन्त्यव्यभिचारयोस्तत्रापि तुल्यत्वात्। विशिष्टस्यापि व्यावृत्तत्वाविशेषाद् व्यक्तेरिव तस्यापि शब्दार्थता निरसनीया। अथ जातिवैशिष्टच सर्वत्रानुगतमेव शब्दार्थ, तदापि जाते शब्दार्थतायामुक्त दूषण न प्रत्युद्ध्रियेत।

त्रितयमपि किं मिलित शब्दार्थ ? किं वैकैकम ? नाद्य, प्रत्येकस्थले तदभावात्। द्वितीयोऽसिद्ध, एकैकस्थले तदितरयोरभावादेव। अथान्यतम शब्दार्थ स्यात, न, अन्यतमस्य त्रितयातिरिक्ततया दुर्वचत्वस्याधस्तात्क्रियासमभिहारेणोदाहृतत्वादित्याह—**अन्यतमत्वस्य चेति**। तदेव जाति शब्दार्थ इति प्रथम पक्ष प्रतिक्षिप्त। द्वितीय दूषयति—**एतेनेति**। लक्षणादिपक्षोक्तदोषविशेषमतिदिश्यमान विशदयति—**आनन्त्येति**। जातिविशेषिता व्यक्ति शब्दार्थ इति तृतीयपक्षेपि व्यक्तिपक्षोक्तदूषणमतिदिशति—**विशिष्टस्यापीति**। ननु न जातिविशिष्टा व्यक्ति शब्दार्थ, येनानन्त्यादिदोष स्यात्किंतु सर्वविशिष्टेष्वनुगत यज्जातिवैशिष्टच तदेव शब्दार्थ इति, तदपि न, तस्यापि जातिवदेवानुगतत्वापावृत्तेषु प्रवृत्त्यभावादेस्तादवस्थ्यादित्याह—**अथ जातीत्यादिना**।

ऐसा नियम मानने पर काल, आकाश, दिशा आदि शब्दो को अवाचकत्व प्राप्त होगा, क्योकि काल, आकाशादि मे व्यक्ति के अभेद से कालत्वादि जाति का अभाव रहता है। यदि कहे कि जहाँ जाति का सम्भव है, वहाँ जाति वाच्य होती हे, और अन्यत्र व्यक्ति ही वाच्य रहती है। यह व्यवस्था हे, तो यह भी नही कह सकते है, क्योकि वाच्कादि शब्दो को उपाधि परत्व माना गया है, अत आपकी व्यवस्था अव्यापक होगी। यदि कहे कि तो तीन जाति व्यक्ति उपाधि शब्दार्थ रहे। तो वह कहना नही बन सकता है, क्योकि जातिशब्दार्थत्व पक्ष मे वर्णित दोषो की उपाधि शब्दार्थत्व पक्ष मे भी तुल्य ही प्राप्ति होनी है। मिलित तीनो को वा एक एक को शब्दार्थ प्रयोजकता (शब्दवाच्यता) नही हो सकती है, क्योकि इनमे परस्पर व्यभिचारित्व रहता है। मिलित मे वाच्यता है, ऐसा कहने से मिलित मे वाच्यता होगी प्रत्येक मे नही, जाति मे मानने पर अन्य मे नही। और अन्यतमत्व का प्रथम खण्डन हो चुका है कि त्रितय से अतिरिक्त अन्यतमत्व दुर्वच है। इस जाति पक्ष के निराकरण से व्यक्ति शब्दार्थता निराकृत हो गई। क्योकि अनन्तता और व्यभिचार वहाँ भी तुल्य ही है। जातिविशिष्ट व्यक्ति को भी परस्पर व्यावृत्तत्व तुल्य होने से व्यक्ति के समान उसकी भी शब्दार्थता निरसनीय है। यदि कहे कि जाति विशिष्ट व्यक्तियो के व्यावृत्त होते भी सर्वत्र सर्वविशिष्टो मे जो अनुगत जाति

किंच वाच्यत्वमर्थस्य धर्म, वाचकत्व च पदस्य, तथा च प्रतिवस्तु-नियते वाच्यत्वे वाचकत्वे च सबन्धवाचोयुक्ति कुतस्त्या ? एतेन साङ्केतिक शब्दार्थयो सबन्ध इत्यपि परास्तम्, सङ्केतस्यापि जातौ व्यक्तौ विशिष्टे वाभिहितन्यायेन दुर्ग्रहत्वात् । तस्माच्छास्त्र शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिरिति लक्षणमलक्षणम् ।

तथाप्तवाक्य शब्दप्रमाणमिति नैयायिकानामपि ।

आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु ।
व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तित ॥ ३२ ॥

स्वकपोलकल्पितमालतीमाधवादिवाक्येषु प्रामाण्याभावादतिव्याप्ति ।

यत्तु वाच्यवाचकत्वमेव सबन्ध इत्युद्भाव्य दूषित पर, तत्रैव सिहावलोकितेन दूषणान्तरमाह—**किंचेति** । सबन्धिद्वयवर्त्येको हि सबन्धो नाम, न चैतत्तथेतीद सबन्ध एव न भवेदित्यर्थ । अत्र नैयायिका प्राहु —'साकेतिक शब्दार्थयो सवन्ध' इति । तदपि—**एतेनेति** । अतिदिश्यमानमेवाह—**संकेतस्यापीति** । एव मीमास-काना शाब्दप्रमाणलक्षणे दूपणमुपसहरति—**तस्मादिति** ।

नैयायिकसमतमपि लक्षण दूषयति—**तथेति** । लक्षणमलक्षणमित्यनुषज्यते । अस्यातिव्याप्तिमसिद्धि च श्लोकेनाह—**आप्तेति** ।

अनैकान्तिकता विवृणोति—**स्वकपोलेति** । नन्वौत्प्रेक्षिकार्थे वचासि नाप्त-

---

वैशिष्टय एक धर्म हे वह शब्दार्थ है, वह व्यावृत्त नही है, तो भी जाति की शव्दार्थता मे जो दूषण कहा गया है उसका प्रत्युद्धार = निवारण नही किया जा सकता है ।

यह विचारणीय हे कि वाच्यत्व अर्थ का धर्म है, वाचकत्व पद का धर्म है, अत प्रति वस्तु वाच्य वाचक मे नियत वाच्यत्व वाचकत्व है, फिर उनमे सम्बन्ध वाक् की युक्ति (योजना) किससे हो सकती है । इसीसे साकेतिक = सकेत जनित शब्दार्थ का सम्बन्ध होता है, यह पक्ष भी निराकृत हो गया । क्योकि उक्त न्याय से जाति या व्यक्ति या विशिष्ट मे सकेत का ग्रहण होना कठिन हे । अत (शास्त्र शब्द-विज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि) यह लक्षण अलक्षण है ।

इसी प्रकार से (आप्तवाक्य शब्दप्रमाणम) यथार्थ वक्ता का वाक्य शब्द प्रमाण होता है । यह नैयायिको का लक्षण भी अलक्षण है । क्योकि—

आप्त कथित वाक्य रूप मालतीमाधवादि मे व्यभिचार से वह लक्षण युक्त नही है, और आप्तत्व की अनिरुक्ति से भी अयुक्त है ॥ ३२ ॥

अपने कपोल = गाल मुख से, कल्पित मालतीमाधवादि वाक्यो मे प्रमाणता के अभाव से उसमे भी लक्षण की प्राप्ति रूप अतिव्याप्ति है । और प्रथम आप्त होता

नहि पुराप्त एव सन्नाटकर्नाटकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणानाप्तो भवति भवभूति। उक्तं चैतदुम्बेकेन—"यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति, न त्वयाननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यम्, यथाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते, इति तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः" इति। कश्चायमाप्तो नाम? यथादृष्टार्थवादीति चेत्, न, भ्रान्तवाक्येऽपि प्रसङ्गात्, प्रमाणदृष्ट इति विशेषणेऽपि, प्रमाणदृष्टस्य प्रमादादिनान्यथाकथनेऽपि प्रसङ्गात्। प्रमाणेन यथादृष्टं तथवादीति चेत्, मैवम्, एकदेशे तथाभूतवादित्वेप्यंशान्तरेऽन्यथाभूतवादिन्यपि प्रसङ्गात्। यावत्प्रमाणदृष्टं तावत एव वक्ताप्त इति चेत् न, अज्ञातमदि-

---

वा...ना ना...ति, न ह—**नहि पुरेति**। नाटकादिकाव्ययोगान्ता नाटकविशेषाः। ... । एतदेव ... तद्वचनेन समतयति—**उक्तं चैतदिति**। तत्र ह्यननुभूतार्थवाक्यस्योदाहरणत्वेन उच्यमानमप्यङ्गुल्यग्रादिवाक्यमासोक्तवाक्यमेव इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थः। आप्तत्वस्यानिरुक्तिं इत्येनद्विवृणोति—**कश्चायमिति। भ्रान्तवाक्य इति**। सोपि हि यथा स्वेन दृष्टं तथैव वक्तीत्यर्थः। ननु प्रमाणदृष्टार्थवक्ताप्तो नाम, ततो भ्रान्ते नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—**प्रमाणदृष्टेति**। ननु न प्रमाणदृ... वदनमात्रं विवक्षितं येनान्यथावदनमादा...व्याप्तिः स्यात्किन्तु यथा दृष्टं तथैव वदनमिति शङ्कते—**प्रमाणेनेति**। अत्र किं प्रमाणदृष्टस्य तथावदनमात्रं विवक्षितम्? निरिक्तावदनमपि वा? आद्ये प्राह—**मैवम्, एकदेशेति**। द्वितीये शङ्कते—**यावदिति**। तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—**अज्ञातेति**। नहि तेषु प्रमाणदृष्टत्वं, व्याख्यानादित्यर्थः। किंचिद् निर्दोषत्वं किं

हुआ ही नाटक नाटकादि प्रबन्ध विरचनमात्र से भवभूति पीछे अनाप्त हो गये, प्रथम से जैसा रहे वैसा ही पीछे नहीं रहे। यह उम्बेक ने कहा है कि जो आप्त भी किसी के प्रति उपदेश देता है कि अननुभूतार्थ विषयक वाक्य का प्रयोग तुझे नहीं करना चाहिये, जैसे कि अङ्गुलि के अग्रभाग में हस्ति के यूथ सैकड़ो हैं। तहाँ अर्थ का व्यभिचार स्फुट है। अर्थात् भवभूति के आप्त होते भी उनके नाटकादि प्रमाण रूप नहीं माने जाते हैं, तथा आप्त का उपदेश रूप होते भी अगुल्यग्र में हस्तियूथ रहता है, इस वचन का प्रमाण रूप नहीं माना जाता है, और लक्षण की व्याप्ति है। और यह आप्त नाम वाला भी कौन है। यदि यथादृष्टार्थवादी को आप्त कहा जाय, तो वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि भ्रान्त पुरुष भी यथादृष्ट अर्थ को कहता है, तो उसके वाक्यों में प्रमाणत्व की प्राप्ति होगी। प्रमाण से जैसा देखा हो वैसा कहने वाला आप्त है, ऐसा यदि कहे, तो यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि वाच्यार्थ के एकदेश में प्रमाप्तदृष्टार्थ का वक्ता होता हुआ, अशान्तर में अन्यथा वस्तु वक्ता में भी आप्त लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि

ग्धानुवादादिवाक्यप्रयोक्तुरनाप्तत्वप्रसङ्गात् । अथ निर्दोष आप्त इति चेत्, मैवम्, आप्तानामपि क्वचिद्रागादिदोषसंभवात् । यत्र विषये यो निर्दोषः स तत्राप्त इति चेत्, न, यत्तच्छब्दयोर्विशेषविषयत्वेनासाधारण्यादव्याप्तेः । तस्मादाप्तवाक्यमागम इत्यप्यलक्षणम् । यथार्थवाक्यं शब्दप्रमाणमित्यपि न, यथार्थत्वस्य प्रमितिखण्डनावसर एव खण्डितत्वात् । एतेन 'समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनं शब्दः' इति भूषणस्यापि लक्षणमपास्तम्, ऊर्ध्वीकृततर्जन्या दशसंख्यानुमाने शङ्खध्वनौ चानुविधेयपुरुषाभिप्रायानुमापके

सर्वविषये ? किं वा क्वचिद्दोषराहित्यम् ? आद्येऽव्याप्तिमाह—**मैवम्; आप्ताना-मिति ।** क्वचिद्रागादिदोषवतोन्यत्र यथार्थवदनमप्याप्तवाक्यं न स्यादित्यव्याप्तिरिति भावः । द्वितीये त्वतिव्याप्तिर्यत्क्वचिद्दोषरहितस्यान्यथावदनेपि प्रसङ्गात् । ननु यत्र यो दोषरहितः स तत्राप्तो नान्यत्रेति शङ्किते परिहरति—**यत्तच्छब्दयोरिति ।** साधारणविषयत्वे च पूर्वोक्तातिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । **यथार्थत्वस्येति ।** प्रमात्वव्यञ्जकखण्डनसमय इत्यर्थः । भासर्वज्ञोक्तलक्षणमुद्भाव्य दूषणमतिदिशति—**एतेनेति ।** अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थं समयग्रहणम् । प्रत्यक्षव्यावृत्त्यै परोक्षग्रहणम् । संशयादिव्यावृत्त्यै सम्यग्ग्रहणम्, स्मृतिव्यावृत्त्यर्थमनुभवग्रहणम् । यत्र हि वणिजां समयबलेनोर्ध्वीकृता तर्जन्यङ्गुलिर्दशसंख्यामनुमापयति, तत्रानुमाने त्वदुक्तलक्षणमतिपतेदित्यर्थः । अतिव्याप्त्यन्तरमाह—**शङ्खध्वनौ चेति ।** अनुविधेयः प्रभुः । तत्रापि

कहा जाय कि जितना प्रमाण से दृष्ट हो उतना ही का वक्ता आप्त होता है । तब तो अज्ञात सन्दिग्ध के अनुवादादि वाक्य के प्रयोक्ता को अनाप्तत्व प्राप्त होगा, अतः यह कथन भी युक्त नहीं । यदि कहें कि निर्दोष पुरुष आप्त कहा जाता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि आप्तों को भी कहीं राग-द्वेष का सम्भव रहता है । यदि कहें कि जिस विषय में जो निर्दोष रहता है, वह उस विषय में आप्त कहा जाता है तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि यत्तत् शब्द के विशेष-विषयक होने से असाधारण के कारण सब लक्ष्य में इस लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी । अतः (आप्तवाक्यमागमः) आप्त का वाक्य शब्द प्रमाण है, यह भी लक्षण नहीं हो सकता है । यथार्थ वाक्य शब्द प्रमाण होता है, यह भी लक्षण नहीं हो सकता है, क्योंकि यथार्थत्व का प्रमिति खण्डन के अवसर में ही खण्डन किया गया है । इससे (समय = संकेत के बल से सम्यक् परोक्ष अनुभव का साधन शब्द प्रमाण होता है, यह भूषण का लक्षण भी अपास्त हो गया । क्योंकि ऊर्ध्व की गई तर्जनी अङ्गुलि द्वारा दश संख्या के अनुमान में तथा अपने अनुविधेय = स्वामी के अभिप्राय के अनुमापक शंखध्वनि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है । अर्थात् कोई व्यापारी संकेत कर देता है, कि मैं तर्जनी अङ्गुलि को ऊपर उठाऊँ तो दश समझना । सेनापति संकेत कर देता है कि शंख बजाऊं तो सावधान हो जाना, तो व्यापारी के सम्बन्धी और सैनिकसंकेत बल से अङ्गुलि और शंखध्वनि द्वारा यथार्थ ज्ञान को

व्यभिचारात्, समयसम्यक्त्वयोश्च पूर्वमेव निरासात्। तदेव शब्दलक्षणमपि दुर्भणमिति सिद्धम्।

तथार्थापत्तिलक्षणमपि। अन्यथानुपपन्नदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः। यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहान्तरभावमलोक्य बहिरवस्थानज्ञानम्। नन्विदमनुमानमेवास्तु, देवदत्तो बहिरस्ति, जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभावात्, सप्रतिपन्नवदिति चेत्, मैवम्, देवदत्तप्रतियोगिकाभावस्य गृहाधिकरणतया देव-

---

हि प्रनो मेनोद्योगपरावृत्त्याद्यभिप्राय मनयबमेन शङ्खध्वनि सैनिकानामनुमापयतीत्यर्थ। एवमधिक दर्शयित्वातिदिष्टाश विशदयति—**समयेति।**

तदित्थ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानीत्यक्षपादसूत्रपरिगणनाक्रमेण प्रमाणचतुष्टय खण्डितम्। इदानी भाट्टप्राभाकराभिमतामर्थापत्ति खण्डयति—**तथेति।** दुर्भणमित्यनुवर्तते। तत्र तावदर्थापत्तिलक्षण दर्शयति दूषणाय—**अन्यथेति।** प्रत्यक्षादिव्यवच्छेदार्थमनुपपन्नदर्शनादित्युक्तम। अनुपपद्यमानविषयनिर्विकल्पकदर्शनात्। यत्सविकल्पक तत्सदृश स्मरण वा भवति तद्व्यवच्छेदार्थमुपपादक इत्युक्तम्। तत्र द्विविधार्थापत्ति—दृष्टार्थापत्ति, श्रुतार्थापत्तिश्चेति। तत्र प्रथमामुदाहरति—**यथा जीवत इति।** अत्र हि जीवतो देवदत्तस्य बहिरवस्थान विनानुपपद्यमानगृहाभावदर्शनात्तदुपपादकबहिरवस्थानज्ञानमर्थापत्तिरित्यर्थ। तत्रैव वैशेषिकादेरनुमानान्तर्भाववादिनो मतमाशङ्क्य मीमासक पार्थक्य समर्थयते **नन्वित्यादिना।** अस्ति हि मैत्रस्य जीवनवत्त्वेपि गृहेऽभावस्य बहिरवस्थानस्य च परस्पर व्याप्तिरिति भाव। मीमासक परिहरति—**मैवमिति।** अत्र जीवनवत्त्वे सति गृहेऽभावादिति कोर्थ? किं गृहनिष्ठाभावाधिकरणत्वादिति? कि वा गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वादिति? आद्येऽसिद्धि। नहि गृहाधिकरणश्चैत्रप्रतियोगिकोऽभाव-

---

प्राप्त करते है, अत अगुलि और शखध्वनि मे लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। समय और सम्यक्त्व का प्रथम ही निराकरण किया गया है। अत इस उक्त रीति से शब्दप्रमाण का लक्षण भी दुर्भण (दुर्वचन) है।

अर्थापत्ति का लक्षण भी दुर्भण है। अन्यथा = उपपादक = कारण के विना अनुपपन्न कार्य के दर्शन से परोक्ष उपपादक विषयक ज्ञान को अर्थापत्ति कहते है। जैसे कि जीवित देवदत्त का गृह के अभाव को देखकर बाहर स्थिति का ज्ञान होता है। शका होती हो कि, यह तो अनुमान ही हो सकता है कि (देवदत्त, बाहर है, जीवित रहते गृह मे अभाव से, बाहर निश्चितवत्) तो ऐसी शका युक्त नही, क्योकि देवदत्त प्रतियोगिक अभाव के गृहवृत्ति होने से देवदत्त स्वरूप पक्ष मे हेतु का अभाव है, अत हेतु असिद्ध है। गृहवृत्ति अभाव प्रतियोगित्व उक्त हेतु का अर्थ है, वह पक्ष वृत्ति है, उससे अनुमान होता है, यह कहना भी युक्त नही, क्योकि

दत्तधर्मत्वाभावात्। गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वं हेत्वर्थ इति चेत्, मैवम्, यदा जीवन्नस्ति क्वचिद्देवदत्त इत्याप्तवाक्यादनिर्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तसत्तावगता ग्रामाद्बहिरवस्थितेनैव चैत्रेण, स च तदागत्य गृहान्तस्तदभावमालोक्य बहि सत्त्वमनुमिमीत इति वाच्यम्, तच्चानुपपन्नम्, साधारणदेशमात्रावस्थानविषयस्यागमस्यार्थापत्त्या यावन्न बहिर्देशसत्ताविषयत्व परिकल्प्यते, तावदागमापबाधितविषयतयानुमानस्यानुत्थानात्। कल्पिते तु बहिर्देशविषयत्वेऽनुमानात्प्रागेवार्थापत्तिर्लब्धप्रमेयेति कृतमनुमानेनेति भाट्टाः प्रतिपेदिरे, तदिदमसुन्दरम्।

श्चैत्रे वर्तत इति सभवति अतोऽपक्षधर्मत्वादसिद्धो हेतुरित्यर्थ। देवदत्तग्रहण चैत्रोपलक्षणम्। द्वितीय शङ्कते—**गृहनिष्ठेति**। दूषयति—**मैवमिति**। अत्रानुमानाप्रवृत्ति दर्शयितु भूमिका परिशोधयति—**यदा जीवन्निति**। य खल्वनुमाता चैत्र तेनैव चैत्रेण यदा ग्रामाद्बहिरेव जीवन्नस्ति क्वचिद्देवदत्त इत्याप्तवचनादनिर्धारितदेशविशेषनिष्ठतया देवदत्तोवगतो भवति, पुनश्च स एव चैत्रो ग्राम प्रविश्य गृहमागत्य गृहान्तश्च तस्य जीवतोऽभावमलोक्य बहि सत्तामनुमिमीत इति वक्तव्यम्। इतरथा आप्तवाक्याज्जीवनमात्रानधिगमे जीवनवत्त्वे सतीति विशेषणासिद्धिप्रसङ्गात्, गृहाभावमात्रस्य बहिर्भावेनाविनाभावाभावाच्च। प्रत्यक्षस्य च साधारण्येनाप्रवृत्तेरनुमानस्य च लिङ्गाभावात्, अत्राप्तवाक्येन सामान्येन जीवनमवगत्य पश्चादनुमिमीत इति वक्तव्यमिति योजना। भवत्वेवमेतावताऽनुमानाभावे किमायातमिति ? तत्राह—**तच्चेति**। यत्खल्वाप्तवाक्य सामान्येन स्थितिमवबोधयति, तस्य कि गृहाद्बहिर्विषयताया क्लृप्तायामनुमानमिद प्रवर्तते ? अक्लृप्ताया वा ? न तावनक्लृप्तायाम्, तदा ह्यागमस्य गृहेपि स्थितिबोधकत्वसभवेन तद्विरुद्धबहिरवस्थानानुमानस्य कालात्ययापदिष्टत्वादित्यर्थ। अथ क्लृप्तायाम्, तत्राह—**कल्पिते त्विति**। गृहेऽभावावेदकप्रमाणस्य सामान्येन स्थितिबोधकागमस्य च योय विरोधस्तयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्भावविषयत्वकल्पना ह्यर्थापत्तिर्नाम, तत्प्रवृत्तौ चानुमान निष्फलमित्यनुमानाप्रवृत्तिरर्थापत्तेश्च पार्थक्यमिति भाट्टाना समर्थनप्रकार इत्यर्थ। अत्र सिद्धान्ती दूषयितुमुपक्रमते—**तदिदमित्यादिना**।

जब गृहग्राम से बाहर स्थिर ही चैत्र, जीवित देवदत्त कही है। इस आप्त वाक्य से अनिर्धारित देशविशेष मे वृत्ति रूप से देवदत्त की सत्ता को समझ लेता है कि देवदत्त कही जीवित ह। फिर वह घर मे आकर गृह के अन्दर देवदत्त के अभाव को देखकर बाहर सत्त्व का अनुमान चैत्र करेगा, यह कहना होगा, परन्तु ऐसा कहना अनुमान होना अयुक्त है। क्योकि साधारण देशमात्र मे देवदत्त की स्थिति विषयक आप्त वचन आगम को गृहाभाव दर्शन द्वारा अर्थापत्ति से बाह्यविषयत्व

आगमस्य बहिर्देशविषयत्वस्य कल्पनात् ।
प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा ॥ ३३ ॥
आद्येऽनुमानं तेनैव निष्प्रत्यूहं प्रवर्तताम् ।
द्वितीये कल्पकाभावादर्थापत्त्युदयः कुतः ॥ ३४ ॥

भाट्टानामप्याप्तवाक्यस्य बहिर्देशविषयत्वकल्पनात्प्रागेव देवदत्तस्याभावः प्रमितः ? अप्रमितो वा ? प्रमितत्वे तत एवानुमानोदयादलमर्थापत्तिप्रकल्पनादुर्व्यसनेन । द्वितीये तु कल्पकाभावात् कुतोर्थापत्तेरुदयः ? इयांस्तु

आगमबाधपरिहारार्थमर्थापत्तिरपेक्षणीयेति हि तेनाभिहितम्, तत्रार्थापत्तिप्रवृत्तिव्यतिरेकेणैवागमबाधं परिहरन्ननुमानप्रवृत्तिं दर्शयति श्लोकद्वयेन—**आगमस्येति** । सामान्येन प्रवृत्तागमस्य बहिर्विषयत्वकल्पनात्प्रागेव गृहाभावः केनचित्प्रमाणेन प्रमितः ? न वा ? यदि प्रमितः, तर्हि तेनैवागमस्य निरुद्धत्वादनुमानं निर्विघ्नं प्रवर्ततां किमर्थापत्त्या ? अथ न प्रमितो गृहाभावः, तर्हि कयानुपपत्त्यागमस्य बहिर्विषयत्वं कल्प्यते ? इत्यनुमानवदर्थापत्तेरप्यनुदय एवेति श्लोकयोजना ।

श्लोकौ विवृणोति—**भाट्टानामित्यादिना** । गुडजिह्विकया चेदमनुमानस्यार्थापत्तिसमानयोगक्षेमत्वमुक्तम्, वस्तुतस्तु भवदर्थापत्त्युदयात्तार्किकानुमानोदयस्याधिक्यमस्तीत्याह—**इयांस्त्विति** । प्रत्यक्षतः खलु गृहाभावस्तार्किकमतेऽधिगम्यते, दृश्याभावत्वात्, प्रत्यक्षसिद्धं तदनुमानमागमं तृणाय मत्त्वैव प्रवर्तते आदित्यवर्णाद्यागममिव

की कल्पना नहीं की जाय, तब तक आगम से बाधित विषय होने से अनुमान का उदय नही हो सकता है, अर्थात् आगम सामान्य रूप से सत्त्व को बताता = कहता है, उसका गृहसत्त्व भी विषय है, अतः गृह में सत्त्व होने पर बाहर सत्त्व बाधित होता है, उसका अनुमान हो नहीं सकता है । और बहिर्देश में अर्थापत्ति से कल्पना हो जाने पर तो अनुमान मे प्रथम ही अर्थापत्ति लब्ध विषय वाली सार्थक होती है, अतः अनुमान का कोई फल नहीं रह जाता है । इस प्रकार से भट्टानुयायी प्रतिपादन करते हैं । परन्तु यह सुन्दर नहीं है । क्योंकि—

आगम के बहिर्देश विषयत्व की कल्पना से प्रथम ही देवदत्त के गृहाभाव किसी प्रमाण से प्रमित = ज्ञात होता है, या नहीं । यदि प्रमित होता तो उसीसे आगमगृह विषयता से विरुद्ध निवारित हो जाता है, निर्विघ्न अनुमान की प्रवृत्ति होती है । यदि अभाव प्रमित नहीं होता है, तो कल्पक के अभाव से अर्थापत्ति का उदय किससे होगा ॥ ३३–३४ ॥

भट्टों के मत में भी आप्त वाक्य के बहिर्देशविषयत्व की कल्पना से प्रथम ही देवदत्त के गृहाभाव प्रमित होता है, या नहीं । प्रमित होने पर उसीसे अनुमान का उदय होगा, अर्थापत्ति की कल्पना रूप दुर्व्यसन निरर्थक है, दूसरे = अप्रमित

विशेष —प्रत्यक्षाभाववादिनो मते प्रत्यक्षस्यागमाद्वलीयस्त्वादागममवगणय्यापि प्रत्यक्षाधिगतगृहाभावलिङ्गेन भवति बहिर्देवदत्तसत्त्वानुमानम्। अभावप्रमाणाधिगम्यत्वे पुनरभावस्यागमाद् दुर्बलतया तद्विरोधिगृहाभावस्यैव प्रमातुमशक्यतया नार्थापत्ति प्रसरति, सदुपलम्भकप्रमाणप्रत्यस्तमय एवाभावप्रमाणप्रवृत्त्यङ्गीकारात्। यथाहु —

"प्रमाणपञ्चक यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥" इति।

(श्लो० वा० अ० १)

किंच यद्यस्य कल्पकमिष्यते, तत्तेनाविनाभूतमिष्यते ? न वा ? आद्ये

परमात्मन्यरूपत्वानुमानम्, भवता त्वागमाद्दुर्बलमेव गृहाभावग्राहिप्रमाणमित्यर्थापत्तेरुदय एव विचारणीय इत्यर्थः। तदुक्त तत्त्वकौमुद्याम्—'प्रमाणेन निश्चितस्य गृहेऽसत्त्वस्य पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षेपायोगादिति। 'तस्माद्गृहाभावेन सिद्धेन बहिर्भावोऽनुमीयत इति युक्तमिति' च। योग्यानुपलब्धेरागमादिदौर्बल्ये हेतुमाह—**सदुपलम्भकेति**। सतो भावस्योपलम्भकानि यानि प्रमाणानि तेषां प्रत्यस्तमयेऽनुदय एवाभावप्रमाणप्रवृत्तेरङ्गीकारात्, इतरथा सघटे भूतले निमीलितलोचनस्याभावनिर्णयप्रसङ्गादिति भाव। अत्र च वार्तिकसमतिमाह—**यथाहुरिति**। वस्तुसत्त्व वस्तुतत्त्वम। भावरूपतेति यावत्। तदवबोधार्थमित्यर्थ।

भङ्ग्यन्तरेणाप्यनुमानतामर्थापत्तेरनुदय च विकल्पपूर्वकमाह—**किंचेति**। **कल्पकमिति**। गृहाभावादित्यर्थ। **तेनेति**। कल्प्येन बहिर्भावेनेत्यर्थ। स्यान्मतम्,

---

पक्ष मे कल्पक के अभाव रहते अर्थापत्ति का उदय नही होगा। परन्तु इतना विशेष है कि अभाव को प्रत्यक्ष मानने वाले नैयायिकों के मत मे प्रत्यक्ष को आगम से अनिवली होने के कारण आगम का अनादर करके प्रत्यक्ष से ज्ञात गृहाभावलिङ्ग द्वारा देवदत्त के बहिःसत्त्व का अनुमान होता है। अभाव को अभावप्रमाण = अनुपलब्धि गम्य (ज्ञेय) होने पर अनुपलब्धि को आगम से दुर्बल होने के कारण, उस आगम से विरोधी होकर गृहाभाव को ही जानने मे अशक्य होने से अर्थापत्ति की प्रवृत्ति नही हो सकती है। क्योकि सद् वस्तु भाव के बोधक प्रमाण के प्रत्यस्तमय (अभाव) काल मे ही अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति मानी जा सकती है। जैसा कि कहते है—

जहाँ वस्तुसत्त्व के ज्ञान के लिये वस्तु के स्वरूप मे प्रत्यक्षादि भाव रूप पाच प्रवृत्त नही होते है। वहाँ ही अभाव की प्रमाणता होती है।

आप जिस गृहाभाव को बाह्यसत्त्व का कल्पक मानते है, वह गृहाभाव बाह्यसत्त्व का अविनाभूत (व्याप्य) है, ऐसा मानते है, या नही। आद्य पक्ष मे आपने

भङ्ग्यन्तरेण भवताप्यनुमानमेवाभिहितमिति, न प्रमाणान्तरावकाश । द्वितीयेऽप्यनियतमेव यत्किचित्कल्पयेदिति नार्थापत्तिप्रमेयसिद्धि । अनुपपद्यमानस्योपपादकासत्त्वे विरोधो गमक इति नानुमानमिति चेत्, मेवम्, अनुपलब्धेरप्यनुपलभ्यमानसत्त्वे विरोध एवाभावगमक इत्यभावमानापह्नवप्रसङ्गात् । धूमोऽपि धूमध्वजस्यासत्त्वे विरोधादेव तद्गमक इत्यनुमानविलयापत्तेश्च । यत्र कार्यकरणभाव विनाऽविनाभावादेव गमकत्व रसरूपादौ तत्र भवत्येवानुमान लब्धावकाशमिति चेत्, न, तत्रापि रूपासत्त्वे रसस्य विरोधादेव गमकत्वोपपत्त ।

कल्पकस्य कल्प्येन या व्याप्ति सानुमित्युपादिका । यस्तु कल्पकस्य कल्प्यासत्त्वे विरोध, सोर्थापत्तिजनक इति कारणभेदादनयोर्भेद । स एव च विरोधोत्र गमक इति नानुमितित्वमिति शङ्कते--**अनुपपद्यमानस्येति** । तदेतदनिष्टान्तरापत्त्या दूषयति--**मैवमिति** । एव सत्यनुपलब्धिलक्षणषष्ठप्रमाणमर्थापत्तिरेव स्यात्, शक्यते हि तत्राप्यनुपलब्धेरनुपलभ्यमानघटसत्त्वे सति यो विरोध, स एव गमक इति वक्तुमित्यर्थं । अनुमानापह्नवश्च स्यादित्याह--**धूमोऽपीति** । अनुमानस्यासाधारण विषय दर्शयन्ननन्तरदोष परिहरति पूर्ववादी--**यत्रेति** । कारणाभावे हि **कार्यस्य** विरोध । नच रसरूपादावकार्यकारणभूते स इत्यभिमान पूर्ववादिन । तत्रापि विरोध सभावयन्नुक्तदूषण सस्मारयति सिद्धान्ती--**नेति** ।

रीत्यन्तर से अनुमान का ही कथन किया है, प्रमाणान्तर का अवकाश नही है। और यदि बहि सत्त्व के साथ अविनाभाव गृहसत्त्व को नही है, ऐसा मानते है, तो इस दूसरे पक्ष मे गृहाऽसत्त्व किसी अनियत की ही कल्पना करायेगा, देवदत्त के वहि सत्त्व की ही नही । अत अर्थापत्ति के प्रमेय = विषय की सिद्धि नही होती है, यदि कहे कि कल्पक गृहासत्त्व को कल्पनीय बाह्यसत्त्व के साथ व्याप्ति है वह अनुमिति का हेतु हैं, किन्तु उपपादक बहि सत्त्व के असत्व होने पर जो अनुपपद्यमान गृहासत्त्व का विरोध होता है, बहि सत्त्व का गमक (अर्थापत्ति) होता है, तो ऐसा कहना युक्त नहीं, ऐसा मानने पर अनुपलब्धि भी अर्थापत्ति के अन्तर्गत हो जायगी । क्योकि अनुपलभ्यमान वस्तु घटादि के सत्त्व होते जो अनुपलब्धि का विरोध उपस्थित होता है, वही अभाव का बोधक होता है, अत इसप्रकार से अभाव रूप प्रमाण का अस्वीकार प्राप्त होगा । और धूम को भी अग्नि के नही रहने पर विरोध प्राप्त होता है । अत विरोध से ही धूम अग्नि का बोधक होगा, कि जिससे अनुमान का विलोप प्राप्त होगा । यदि कहे कि जहाँ कार्यकारणभाव के बिना अविनाभाव से गमकत्व होता है । जैसे कि रस, रूपादि मे गमक-गम्यभाव होता है, वहाँ अनुमानलब्ध अवकाश वाला होता है । अत उसका विलोप नही

कश्चाय विरोध ? (१) कि प्रमाणयो ? (२) उत प्रमाणत्वेनाभिमतयो ? (३) अनिर्णीतप्रामाण्याप्रामाण्ययोर्वा ? (४) सामान्यप्रवृत्तप्रमाणेन विशेषप्रवृत्तप्रमाणार्थबाधसशयो वा ? (५) तर्कयोरेव वा ?

तदसिद्धिरतिव्याप्ति सक्ति सप्रतिसाधने ।
असभवोऽतर्कता च दोषास्तेषा क्रमादमी ।। ३५ ।।

एवमुपपादकोपपाद्ययोर्विरोधोऽर्थापत्तिरित्यत्र प्रमाणान्तरेष्वपि भावादतिव्याप्तिरुक्ता । इदानीं विरोधानिरूपणादसिद्धिरेवेति दर्शयिष्यन्विरोध विकल्पयति—**कश्चायमिति । सामान्यप्रवृत्तेति ।** सामान्येन प्रवृत्त यत्प्रमाण जीवन्देवदत्त क्वचिदस्तीति तेन विशेषे प्रवृत्त यत्प्रमाण गृहाभावग्राहि तदर्थस्य गृहाभावस्य बाधोऽस्ति ? नवा ? इति योऽय सशय स चेत्यर्थ । एव विकल्प्य श्लोकेन सगृह्णाति दूषणानि—**तदसिद्धिरिति ।** प्रमाणयोर्विरोध एवासिद्ध , अन्यतरस्याप्रमाणत्वात् । इतरथा वस्तुन एव द्वैरूप्यापत्तेरित्यर्थ । द्वितीये दूषणमाह—**अतिव्याप्तिरिति ।** प्रमाणत्वेनाभिमतिर्नाम कि प्रमाणत्वेन भ्रान्ति ? कि वा ज्ञानमात्रम् ? उभयथार्थापत्त्याभासे गमनादतिव्याप्तिरित्यर्थ । तृतीये दूषणमाह—**सक्तिः सप्रतिसाधने इति ।** सप्रतिसाधनेष्वनिर्णीतप्रमाणप्रामाण्ययोरुभयोर्विरोधेऽर्थापत्तेरुदयप्रसक्ति , ततश्चातिव्याप्तिरित्यर्थ । चतुर्थे प्राह—**असंभव इति ।** नहि यद्यत्र विशेषत प्रमित तस्य तत्रैव विपरीतप्रमाणविषयत्वमशय सभवति, स्थाणुत्वनिर्णयेपि पुरुषत्वसग्राहकप्रमाणप्रवृत्तिमशयापातादित्यर्थं । पञ्चमे दूषणमाह—**अतर्कता चेति ।** मिथो विरोधेन तर्काभासतापातादित्यर्थ । एवमेते दोषास्तेषा पक्षाणा क्रमाद् द्रष्टव्या इति श्लोकयोजना ।

प्राप्त होना, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि जहाँ कार्यकारणभाव नही है, वहाँ भी रूप के नही रहने पर रस के विरोध मे ही रस मे रूपगमकत्व की सिद्धि हो सकती है ।

उक्त रीति मे अर्थापत्ति के लक्षण की अन्य प्रमाणो मे अतिव्याप्ति, व्याप्ति कही गई है, अब उसकी असिद्धि दर्शाने के लिये विकल्प है कि, यह विरोध क्या है । क्या दो प्रमाणो का परस्पर विरोध है, या प्रमाण रूप से अभिमतो का विरोध है, या अनिर्णीत प्रामाण्य अप्रामाण्य वालो का विरोध है, या सामान्य रूप से प्रवृत्त जीवित सत्त्वबोधक प्रमाण से विशेष मे प्रवृत्त गृहाऽभाव ग्राही प्रमाण के अर्थ का बाध विषयक सशयरूप विरोध है, या तर्को का ही विरोध है ।

(विरोध की असिद्धि) अतिव्याप्ति, सत्प्रतिपक्ष साधन मे प्रसक्ति, असम्भव, अतर्कता, उन पक्षो मे क्रम से ये दोष है ।। ३५ ।।

न तावदाद्य, उभयो प्रामाण्ये विरोधस्य विरोधे वा प्रामाण्यस्यैवा-सभवादसिद्धे, अन्यथा वस्तुनो द्वैरूप्यापत्ते। नापि द्वितीय, अभिमत-शब्देन भ्रमाभिधाने ज्ञानमात्रविवक्षाया वा भ्रमज्ञानयो प्रमाणत्वेन गृहीतयोर्विरोधाद्विभिन्नविषयत्वकल्पनाया अप्यर्थापत्तित्वप्रसङ्गात्। नापि तृतीय, वायुर्बाह्यकरणाप्रत्यक्ष अरूपिद्रव्यत्वात् कालादिवत्, वायु प्रत्यक्ष उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वात् घटादिवदित्यनिर्णीतप्रामाण्याप्रामाण्ययोरनुमानयोर्विरोधेऽप्यर्थापत्तेरुदयप्रसङ्गात्। नापि चतुर्थ, असभवात्। नहि यद्यत्र विशेपत प्रमित तस्य तत्रापि तद्विपरीतप्रमाणविषयत्वसशय। न खलु स्थाणुरयमिति निश्चयेऽपि स्याणुर्वा पुरुषो वेति सशेरते जना। नापि पञ्चम, मिथोविरोधेन तर्कयोरेवाभासत्त्वात्। किचोपपादकेन येन

सग्रह विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। विरोधस्यासिद्धेरित्युपरितनेनान्वय। अनुव्यवसायद्वारा मानसप्रत्यक्षत्व सभवति तथेश्वरप्रत्यक्षत्वमेव सर्वस्येत्यप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति वाह्यकरणग्रहणम्। रूपादिव्यावृत्त्यर्थ द्रव्यग्रहणम्। घटादिव्यवच्छेदार्थमरूपिग्रहणम्। द्वितीयेप्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्व साध्यम्। परमाण्वादिव्यभिचारवारणायोपलभ्यमानपदम्, तदुक्त न्यायकुसुमाञ्जलौ—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादक।
न मानयोर्विरोधोस्ति प्रसिद्धे चाप्यसौ सम' इति ॥ (न्या० कु० ३।१६)

प्रकारान्तरेणार्थापत्ति दूपयति—**किचोपपादकेनेति**। येन हि देवदत्तबहिर्निवेन

अर्थात् प्रथम पक्ष प्रमाण दो का विरोध नही कहा जा सकता है, क्योकि दोनो की प्रमाणता रहते विरोध का असम्भव है, या विरोध रहते दोनो मे प्रमाणता का असम्भव है, अत प्रमाण के विरोध की असिद्धि है, अन्यथा यदि प्रमाण मे विरोध होगा तो वस्तु को प्रमाण के अनुसार द्विरूपता की प्राप्ति होगी। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि अभिमत शब्द मे भ्रम या ज्ञान मात्र के कथन होने पर, प्रमाणरूप मे गृहीत भ्रम ज्ञानो के विरोध से विभिन्न विषयत्व की कल्पना को भी अर्थापत्तित्व प्राप्त होगा। तृतीय पक्ष भी युक्त नही, क्योकि (वायु, बाह्येन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय नही है रूपरहित द्रव्य होने से, कालादि के समान, वायु, प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आधार होने से, घटादि के समान) इत्यादि अनिर्णीत प्रामाण्य, अप्रमाण्य वाले अनुमानो के विरोधो मे भी अर्थापत्ति का उदय प्राप्त होगा। असम्भव से चतुर्थ पक्ष का सम्भव नही हो सकता है, क्योकि जो वस्तु जहाँ विशेष रूप से प्रमित है, उसका वहाँ ही उससे विपरीत प्रमाण के विषयत्व का सशय नही हो सकता है। यह स्थाणु है, ऐसा निश्चय होने पर भी, यह स्थाणु है या पुरुष है, ऐसा सशय मनुष्य नही करते हैं। पञ्चम पक्ष भी युक्त नही, क्योकि

विनानुपपद्यमानत्व तत्प्रमितम् ? न वा ? प्रथमे गृहीतग्राहिकार्थापत्तिर्न प्रमा स्यात्। द्वितीये तु विशेषणासिद्धे तद्विशेषितानुपपद्यमानार्थप्रतीतौ कल्पकाभावान्नार्थापत्तिरुदयमासादयेत् इत्यलमतिविस्तरेण।

अभावाख्य प्रमाणमपि दुर्निरूपम्। एव हि वर्णयन्ति--योग्यानुपल

गृहाभावो नोपपद्यते स किं प्रमित ? न वा ? आद्येऽर्थापत्तिवैयर्थ्यमित्याह--**प्रथम इति**। द्वितीये प्राह--**द्वितीये त्वित्यादिना**। अन्यथानुपपत्तिदर्शन हि कल्पकम। अन्यथेति च कोर्थ। बहिर्भावव्यतिरेकेणेति। तथाच बहिर्भावेऽज्ञाते तद्विशेषित तदन्तरेणानुपपद्यमानत्वमपि न ज्ञातमिति कल्पकाभावादनुदय एवार्थापत्तेरित्यर्थ। तदुक्त श्रीहर्षकविभि --'यतोन्यत्व तदसिद्धे'रिति। एतेन श्रुतार्थापत्तिरपि प्रत्याख्याता वेदितव्या। अनुपपद्यमानवाक्यैकदेशदर्शनेन वाक्यैकदेशकल्पन हि सा। तथाहि--'पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्ते' इति वाक्यैकदेशश्रवणाद्रात्रौ भुङ्क्ते इति वाक्यैकदेशकल्पनम, न चैषा प्रयुज्यते। पूर्वोक्तन्यायेनानुमानताया दुष्परिहरत्वात्। किंच नात्र वाक्यस्यानुपपत्ति। नन्वस्त्येवानुपपत्ति। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूरणीया। नहि पचतीति पद प्रत्यक्षौदनेन निराकाङ्क्षमपि त्वोदनपदात्, इह पीनो देवदत्तो दिवा न भुक्त इति वाक्यस्याकाङ्क्षा रात्रौ भुक्त इत्यनेनैव पूरणीयेति, न तस्य वाक्यस्य सपूर्णक्रियाकारकतया निराकाङ्क्षत्वेन दृष्टान्तवैषम्यात्। अथ पीनो न भुक्त इत्यभोजनेन नान्वेति, भोजनकार्यत्वात्पीनताया इति मतम्, हन्त तर्हि नेयमाकाङ्क्षा, अपितु योग्यताविरह। नच सोप्यस्ति त्रैकाल्यभोजननिषेधे हि स भवेत्। नह्यभुक्त्वा क्षणमपि पीनस्तिष्ठति इति। न वात्र तथा निषेध, दिवा न भुक्त इति विशेषनिषेधात्। यदि तु विशिष्टकार्यदर्शनाद्रात्रिभोजनानुमानमनुमन्यामहेतरा तदा तु रात्रिभोजनवाक्यकल्पनावकाश। तदेतदखिलमितिना सूचयन्नुपसहरति--**इत्यलमतिविस्तरेणेति**।

इदानी भाट्टाभिमताभावप्रमाण दूषयति--**अभावाख्यमिति**। तदभिमत लक्षण तावद्दर्शयति--**एवं हीति**। विषयविषयाविनाभूतव्यतिरिक्तोपलब्धिकारण-

---

परस्पर विरोध से तर्को मे तर्काऽऽभासता हो जाती है। और यह भी विचारणीय है कि जिस बहिःसत्त्व रूप उपपादक के बिना, गृहाऽसत्त्व को अनुपपद्यमानत्व है, वह उपपादक प्रमित रहता है, या नही। यदि प्रथम ही गृहीत हो, तो गृहीत का ग्राहक अर्थापत्ति प्रमा नही होगी। यदि नही गृहीत रहता है, यह दूसरा पक्ष माने, तो बहिःसत्त्व रूप विशेषण की असिद्धि से उसमे विशेषित अनुपपद्यमान अर्थ = गृहाऽसत्त्व की अप्रतीति रहते कल्पक हेतु के अभाव से अर्थापत्ति का उदय नही होगा। अब अतिविस्तार का फल नही है।

अभाव नामक = अनुपलब्धि प्रमाण भी दुर्निरूप है। उसका इसप्रकार से

ऽधिकरणकमर्थाभावज्ञानमभाव, यथेह भूतले घटो नास्तीति ज्ञानम्। न चेद प्रत्यक्षम्, इन्द्रियसन्निकर्षाजन्यत्वात्। नह्यभावेनेन्द्रियसन्निकर्ष सयोग समवायो वा सभवति, तयोर्भावधर्मत्वात्। नापि विशेषणविशेष्यभाव, तस्यापि मूलसबन्धगर्भतया तन्निवृत्तौ निवृत्ते। अन्तरेणापि मूलसबन्ध विशेषणविशेष्यभावाङ्गीकारेऽपि तस्य प्रत्यक्षाङ्गताया पुरैव निरासात्।

सपन्निर्णेयता तत्सपत्तो सत्या योग्यमर्थोपलब्ध्यभावस्तत्करणक पदार्थाभावज्ञान तदभावप्रमाणम्। भाट्टवेदान्तिनोर्हि ज्ञानमेव मुख्य प्रमाणम्। प्राकट्यसवेदनयोश्च फलत्वमक्षादौ त्वौपचारिक प्रमाणव्यवहारस्तेनाभावज्ञान प्रमाणमित्यर्थ। शाब्दानुमानिकाभावज्ञानव्यवच्छेदायानुपलब्धिकरणकमित्युक्तम्। अयोग्यस्यानुपलब्धिमात्राद-भावमात्रव्यवच्छेदार्थं योग्यपदम्। उदाहरति—**यथेति**। नन्वज्ञातकरणजत्वात्प्रत्यक्ष-मेतदिति, तत्राह—**न चेदं प्रत्यक्षमिति**। ननु सयुक्त विशेषणतालक्षणसन्निकर्षा त्प्रत्यक्षमेतदिति तार्किकास्तत्कथ पृथक् प्रमाणमिति? तत्राह—**नापि विशेषणेति**। सबद्धयोर्हि दण्डदेवदत्तयो पटशौक्ल्ययोर्वा विशेषणविशेष्यभावो दृष्ट इति भाव। ननु मूलसबन्ध विनैव निर्घट भूतलमित्यभावभूतलयोर्विशेषणविशेष्यभावो भवद्भिरे-वाङ्गीकृत इति, तत्राह—**अन्तरेणापीति। पुरैवेति**। प्रत्यक्षधर्मिकानुमानमात्रप्रवि-लयप्रसङ्गापत्तेर्बहुश उक्तत्वादित्यर्थ। नचासबद्धस्यापि प्रत्यक्षत्वे को दोष इति वाच्यम्, अतिप्रसङ्गस्यैव दोषत्वात्। नच तत्परिहारिका दृश्यानुपलब्धिर्भविष्यतीति वाच्यम्। तथासति तावन्मात्रस्यैव करणत्वेनेन्द्रियवैयर्थ्यात्। नचान्धस्यापि शुक्ले पटे कार्ष्ण्याभावप्रमितिप्रसङ्ग, प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियेणैवाश्रयग्रहणस्याप्यङ्गत्वात्। नच व्योम्नि स्पर्शाभावाग्रहणप्रसङ्ग, प्रमाणान्तरनिबन्धनत्वात्तद्ग्रहणस्य। अत एव

वर्णन करते है कि (योग्यानुपलब्धि रूप करण वाला अर्थाभाव का ज्ञान, अभाव प्रमाण है, जैसे कि इस मूल मे घट नही है, यह ज्ञान अभाव प्रमाण है) इन्द्रिय सन्निकर्ष से अजन्य होने से यह प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता है, क्योकि अभाव के साथ इन्द्रियो का सयोग या समवाय-सम्बन्ध का सम्भव नही है, वे दोनो सम्बन्ध भाव मे रहते है, अत उनको भाव का धर्मत्व है। अभाव के साथ इन्द्रिय का विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध नही हो सकता है, क्योकि, दण्डी देवदत्त, शुक्लो-घट, इत्यादि मे उस विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्धान्तरगर्भित होने से उस सम्बन्धा-न्तर की निवृत्ति होने पर उस विशेषण-विशेष्य भाव की भी निवृत्ति होती है, अर्थात् सम्बन्धान्तर के बिना विशेषण-विशेष्य भाव का अभाव रहता है। यदि निर्घट भूतलम्, इत्यादि के समान सम्बन्धान्तर निपेक्ष सम्बन्ध का अङ्गीकार भी करे, तो भी उस सम्बन्ध की प्रत्यक्षाङ्गता = साधनता का प्रथम ही निराकरण किया गया है, कि धर्मी ग्राहक इन्द्रिय से अभाव का ग्रहण सम्बन्धाभाव से नही हो

नचेदमनुमानादावन्तर्भवति, चक्षुरादिवदनुपलब्धेरज्ञायमानाया एव करणत्वात्। अन्यथानुपलब्धेरप्यनुपलब्ध्यन्तरोपलभ्यमानतायामनवस्थानादिति।

तदयुक्तम्——

केवलानुपलम्भस्य व्यभिचारनिवारिणी।
योग्यता चेत्कुतो न स्यादनुमानमभावधी ॥ ३६ ॥

अनुपलम्भमात्रस्य सुषुप्त्यादावभावज्ञानाजनकतया तद्व्यभिचारवारणाय योग्यानुपलब्धिरिति विशेष्येतेति चेत्, तर्हि योग्यानुपलब्धेर्धूमादिवद-

---

स्मर्यमाणदेवदत्तकुण्डलादौ देवदत्ताभावग्रहणेपि नानुपपत्तिरिति। अस्तु तर्ह्यनुमान एवास्यान्तर्भावस्तया च सौगतैरनुपलब्धिलक्षण लिङ्गान्तर स्वीक्रियत इति, तत्राह— **न चेदमिति**। ज्ञायमानकरण ह्यनुमानम्, इय तु न तथेत्यर्थ। अथ किमिति ज्ञायमानतयैव करण न भवेत्तत्राह—**अन्यथेति**। अयमर्थ —अनुपलब्धेरभावत्वेन प्रत्यक्षत्वनिरासात्तद्विशेषमानमप्रत्यक्षत्व दुरोत्सारितम्। नित्यानुमेयत्वाच्च ज्ञानस्य न दृश्यप्रतियोगिकत्वमत एव 'ज्ञानविकल्पानामध्यात्म भावाभावसवेदनात्' इति सूत्रमप्यनवकाशम्, तस्मादनुपलब्धिरेवानुपलब्धिसवेदनेपि शरणम्। तथाच तत्र तत्रापि यथेत्यनवस्था स्यादिति।

एव समर्थितमभावप्रमाण दूषयति सिद्धान्ती—**तदयुक्तमिति**। अस्य तावदनुमानान्तर्भाव श्लोकेन दर्शयति—**केवलेति**। अत्र तावदनुपलम्भमात्रस्याभावबोधने सुषुप्त्यादौ व्यभिचारात्तन्निवारणाय योग्यतालक्षणविशेषण प्रक्षिप्यते भवद्भि, तथाच धूमादिवदव्यभिचारेणाभावबोधकत्वात्तज्जन्याभावधीरनुमान कुतो न स्यात्किन्तु स्यादेवेति योजना। एतदेव विवृणोति—**अनुपलम्भेति**। नन्वव्यभिचारेप्यज्ञात-

---

सकता है इत्यादि। यह अनुमानादि के अन्तर्गत नही हो सकता है। क्योकि चक्षु आदि के समान अज्ञायमान अनुपलब्धि को करणत्व होता है। अनुमानादि के अन्तर्गत होने पर लिङ्गादि के समान ज्ञायमान होकर करण होगा। और ज्ञायमान होने पर अनुपलब्धि की अनुपलब्ध्यन्तर से ज्ञायमानता की सिद्धि से अनवस्था की प्राप्ति होगी।

यह अभाव का वर्णन अयुक्त है। क्योकि—केवल अनुपलम्भ के व्यभिचार के निवारण करने वाली योग्यता यदि विशेषण होती है, तो अभाव का ज्ञान अनुमान रूप क्यो न होगा ॥ ३६ ॥

अर्थात् अनुपलम्भ मात्र सुषुप्ति आदि मे भी रहता है, परन्तु वह अभावज्ञान का जनक नही होता, अत केवल अनुपलम्भ व्यभिचारी है, विषय के रहते भी ज्ञान का जनक नही होता है, अत उसके व्यभिचार का वारण के लिये, यदि योग्यानुपलब्धि, इसप्रकार से विशेषित (विशेषण युक्त) किया जाता है, तो योग्यानुप-

व्यभिचारितयाऽभावज्ञानजनकत्वोपपत्तौ कुत प्रमाणान्तरता ? न चाज्ञायमानतया करणत्वेनानुमानाद्बहिर्भाव , अन्यथानवस्थाप्रसङ्गादिति वाच्यम्, स्वत सिद्धसाक्षिप्रसादादेवोपलब्धिवदनुपलब्धेरपि सिद्धावनवस्थादुस्थताऽभावात् ? अन्यथानवस्थायास्तवापि दुरुत्तरत्वात् । तथाहि—अनुपलब्धे सर्वथानवगतत्वे तत्करणत्वस्य दुरधिगमत्वात्तदधिगतिरवश्याश्रयणीया । सापि चेदनुपलम्भान्तरात्सिद्धये त्तदपि तथैवेति कथ नानवस्था ? एव तत्र तत्र प्रमाणानुपन्यासे तत्तदनुपलम्भसत्ताया एवासिद्धि । प्रपञ्चित चैतत्पुरस्तात् ।

करणत्वान्नानुमानमित्युक्तमिति, तत्राह—**न चेति ।** स्यादय दोषो भवन्नये, अस्मन्मते तु स्वप्रकाशसाक्षिवेद्यत्वाद्वृत्तिरूपज्ञानतदभावयोर्नाज्ञातकरणत्वम्, नाप्यनवस्थेत्याह—**स्वतःसिद्धेति ।** ननु तादृक्साक्षिचैतन्ये सिद्धे सत्यय परिहारो भागी तदेव डुलीक्षीरसदृशम्, प्रमाणाभावादिति तत्राह—**अन्यथेति ।** सर्वथाऽज्ञायमानानुपलब्धे प्रमितिकरणत्वमपि दुर्भणमिति कदाचिदपि ज्ञप्तिरवश्याश्रयणीया, तथाच त्वदुदीरितानवस्था कृत्या त्वय्येव प्रतिकृत्या स्यादिति साक्षिणैव तवापि रक्षा विधातव्येति खण्डलकार्थ । वक्ष्यते च साक्षिसिद्धौ प्रमाणगणश्चतुर्थपरिच्छेदे । **पुरस्तादिति ।** ईदृश्यनवस्था स्वप्रकाशवादादौ प्रपञ्चिततरेत्यर्थ ।

लब्धि को धूमादि के समान ही अव्यभिचारिता (हेतुना) से अभाव ज्ञान के जनकत्व की सिद्धि होने पर प्रमाणान्तरता कैसे सिद्ध हो सकती है । यदि कहे कि अनुपलब्धि मे अज्ञायमानता रूप से करणता होने के कारण इसका अनुमान मे अन्तर्भाव नही हो सकता है, अन्यथा ज्ञायमान होकर करणत्व होने से अनवस्था होगी, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि वेदान्तसिद्धान्त मे स्वत सिद्ध साक्षी के प्रसाद (प्रकाश) से ही अन्त करण की वृत्तिरूप उपलब्धि के समान उसके अभाव रूप अनुपलब्धि की भी सिद्धि होने पर अनवस्था रूप दुरवस्था नही प्राप्त होती है । अन्यथा यदि साक्षी से प्रकाश नही मानो तो तुम्हारे मत मे भी अनवस्था दुरुत्तर = दुर्निवार है । क्योकि अनुपलब्धि के सर्वथा अज्ञात रहने पर उसके करणत्व का भी ज्ञान नही हो सकता है, अत उसके ज्ञान के बिना उसके करणत्व के दुरधिगम होने से उसके करणत्व के ज्ञान के लिये, उसका ज्ञान अवश्य आश्रयणीय (मन्तव्य) है । और वह उसका ज्ञान साक्षी से नही मानने के कारण यदि अन्य अनुपलम्भ से सिद्ध होगा, तो उस अन्य अनुपलम्भ का भी अन्य से तो अनवस्था कैसे नही होगी । इस प्रकार से तत् तत् अनुपलम्भ मे प्रमाण के नही कहने पर तत्तत् उत्तर-उत्तर के अनुपलम्भ की सत्ता की ही असिद्धि होगी, फिर मूलपर्यन्त की असिद्धि की प्राप्ति होगी, यह प्रथम प्रपञ्चित हुआ है ।

भवतु वा भिन्ने वानुपलब्धिरनुमानात्तथापि नाभाव प्रमितिकरणम्, विकल्पासहत्वात् । तथाहि—किमुपलब्धे प्रागभावोनुपलब्धि ? उत प्रध्वस ? कि वान्योन्याभाव ? अत्यन्ताभावो वा ? नाद्य, दृष्टनष्टे घटे उपलब्धिप्रागभावाभावेऽप्यभावप्रमितिदृष्टे । नापि द्वितीय, प्रागभावात्यन्ताभावप्रमित्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । प्रतियोग्युपलब्धेरसजातत्वादेव तत्प्रतियोगिकप्रध्वसाभावात् । नापि तृतीय, सत्यपि घटोपलम्भे तदभावप्रतीति-

---

एव प्रौढवादेनानुमानान्तर्भाव उक्त, इदानी भवतु वानन्तर्भावस्तथापि नैतस्य प्रमाणत्व प्रमाणाघात सहते इति प्रामाणिकप्रपञ्चरुचीन्भाट्टान् प्रत्याह—**भवतु वेत्यादिना** । उपलब्धिप्रागभावलक्षणानुपलब्धेर्नाभावप्रमितिनियति, तदभावेपि घटोपलब्धिप्रध्वससमयेऽभावप्रमितिदर्शनादित्याह—**नाद्य इति** । उपलब्धिप्रध्वसोऽभावप्रमितिकरणमिति पक्ष दूषयति—**नापि द्वितीय इति** । कारणनिष्ठ कार्यससर्गाभावो हि प्रागभाव, नच तत्प्रमितिसमये प्रतियोग्युपलब्धिप्रध्वसास्ति, उपलब्धेरसजातत्वात् । प्रमितिर्ह्यत्र प्रतियोग्युपलब्धिरभिप्रेता । नच तादृशप्रतियोगिप्रमितिरस्ति, नित्यमविद्यमानार्थत्वादिति भाव । एवमत्यन्ताभावेपि । उपलब्ध्यन्योन्याभावपक्ष दूषयति—**नापीति** । नहि घटोपलब्धिरेव घट इति घटोपलब्धिसम-

---

अथवा अनुपलब्धि, अनुमानाद्, भिन्ना = इव भवतु । अर्थात् अनुमान से भिन्न नही, परन्तु आपको भिन्न तुल्य भासती हो तो भासे । तो भी अभाव (अनुपलब्धि) प्रमिति का जनक नही हो सकता है । क्योकि विकल्पाऽसह है, वह दर्शाया जाता है कि, क्या उपलब्धि का प्रागभाव अनुपलब्धि प्रमाण है, या उपलब्धि का प्रध्वस है, या अन्योन्याभाव है, या उपलब्धि का अत्यन्ताभाव है । इनमे प्रथम पक्ष माना नही जा सकता है, क्योकि जहाँ घटदृष्ट = उपलब्ध होकर नष्ट हो गया, वहाँ उसकी फिर उपलब्धि होना नही है, कि जिसका प्रागभाव रहे, और जो घट की उपलब्धि हो चूंकि, उसका प्रागभाव नष्ट हो गया, इस प्रकार से उस घटोपलब्धि के प्रागभाव के अभाव रहते भी उस घट के अभाव की प्रमिति देखी जाती है, अत प्रागभाव प्रमितिजनक नही सिद्ध हो सकता है । दूसरा पक्ष भी नही माना जा सकता है, क्योकि इस पक्ष मे प्रागभाव अत्यन्ताभाव की प्रमिति की अनुत्पत्ति प्राप्त होती है । जिस घटादि कार्य का प्रागभाव जब रहता है, तब उस घट की उपलब्धि नही रहती है, न घट रहता है, और उपलब्धि के हुए बिना उसके ध्वस का भी अभाव ही रहता है, अत घट रूप प्रतियोगी की उपलब्धि के भी असजात (जन्माभाव) होने से ही उस उपलब्धि प्रतियोगिक ध्वस का अभाव रहता है, अत उससे घटप्रागभाव का ज्ञान नही हो सकता है, और वायु मे रूप के अत्यन्ताभाव का उपलब्धि के ध्वस से ज्ञान नही हो सकता है, क्योकि वायु मे रूप की उपलब्धि हुई नही, कि जिसका ध्वस हो । तृतीय, उपलब्धि का अन्योन्याभाव भी प्रमाण नही

प्रसङ्गात्। नापि चतुर्थ, दृष्टनष्टाद्यभावे प्रमित्यनुदयापत्ते । एतेनोपलम्भससर्गाभाव करणमित्यपि निरस्तम्, तत्रापि प्रागभावादिविकल्पानामप्रतिबद्धप्रसरत्वात्, अन्यतमत्वखण्डनस्य पूर्वमेव कृतत्वात्। नचानुपलब्धे करणत्वम्, अवान्तरव्यापारानिरूपणात्। नच प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहण वा तद्व्यापार, तयोर्भावविषययोरनुपलम्भाजन्यत्वात्। तज्जन्यस्त-

येपि तदन्योन्याभावस्य सत्त्वात् घटाभावप्रमिति स्यादित्यर्थ । उपलब्ध्यत्यन्ताभावपक्षे दूषणमाह—**दृष्टेति**। दृष्ट सन्नष्टो यो घटस्तदभावस्य प्रमितिर्न स्यात्। घटोपलब्धेर्जातत्वेन तदत्यन्ताभावाभावादित्यर्थ । आदिशब्दादनुत्पन्नग्रहणम । ननूपलब्धिससर्गाभावोनुपलब्धिरभावप्रमितिकरणम्, तेन न पूर्वोक्तदोष, प्रागभावादिव्यभिचारेपि ससर्गाभावस्याव्यभिचारादिति, तत्राह—**एतेनेति**। अतिदेश विशदयति—**तत्रापीति**। किं ससर्गप्रागभाव ? किं वा तत्प्रध्वस ? इति विकल्पजालस्य तुल्यत्वादित्यर्थ । अस्तु तर्हि प्रागभावाद्यन्यतम इति, तत्राह—**अन्यतमत्वेति**। एवमनुपलब्ध्यनवधारणान्न सा अभावप्रमितिकरणमित्युक्तम्। इदानी भवतु या काचिदनुपलब्धिस्तथापि तस्या करणत्व न भवति, तल्लक्षणरहितत्वादित्याह—**न चेत्यादिना**। व्यापारवद्धि कारण कारक तद्विशेषश्च करणमतो व्यापाराऽभावेनुपलब्धे करणत्व न स्यादिति भाव । ननु किमिति व्यापाराभाव, यावता प्रतियोगिस्मरणमधिकरणग्रहण वा व्यापारोस्त्विति, तत्राह—**नचेति**। ननु यद्यपि भावविषययोरधिकरणग्रहणप्रतियोगिस्मरणयो स्वविषयजन्यतया सस्कारजन्यतया चानुपलब्ध्यजन्यत्वम्, तथापि तद्व्यापारत्व किं न स्यादित्यत आह—**तज्जन्य इति**। तेन करणेन जन्यत्वे सति तत्करणजन्यक्रियाजनको य असा तद्व्यापार इत्यर्थ । ननु मास्माभि-

हो सकता है, क्योकि घट के उपलम्भ रहते भी उसके घट मे अन्वोन्याभाव के रहने से घटाऽभाव प्रमा की प्राप्ति होगी। चतुर्थ, उपलब्धि के अत्यन्ताभाव को भी प्रमाणत्व नही हो सकता है, क्योकि दृष्ट होकर जो घट नष्ट हो गया, उस दृष्ट नष्टादि के अभाव विषयक उपलब्धि के अत्यन्ताभाव से प्रमिति का अनुदय अभाव प्राप्त होगा, क्योकि उसकी उपलब्धि के हो जाने से उपलब्धि का अत्यन्ताभाव ही नही रह जाता है। इसीसे उपलब्धि का ससर्गाभाव अभावज्ञान का करण हे, यह कथन भी निरस्त हो गया, क्योकि उसमे भी प्रागभावादि विकल्पो की अप्रतिबद्ध गति रहती है। प्रागभावादि अन्यतम कहे, तो अन्यतमत्व का प्रथम ही खण्डन हो चुका है। अनुपलब्धि कथञ्चित् अभावज्ञान मे हेतु हो भी तो भी उसको करणत्व नही हो सकता है, क्योकि इसके अवान्तर व्यापार का निरूपण नही हो सकता है, प्रतियोगी का स्मरण वा अभावाधिकरण का ज्ञान अनुपलब्धि का व्यापार नही हो सकता है, क्योकि भावविषयक उन दोनो को अनुपलम्भ से जन्यत्व नही रहता है,

ज्जन्यजनको व्यापार इति हि तद्विद । केवलानुपलम्भस्य तदजनकत्वेऽपि योग्यता विशिष्टस्यास्त्येव तज्जनकता, तत्तदविनाभूतेतरप्रमाकरणसाकल्य हि योग्यतेत्यङ्गीकारादिति चेत्, तर्हि भावप्रमितीनामिन्द्रियादिसहकृत-भावानुपलम्भकारणजन्यतया तासु तासु प्रमास्वसाधारणकरणत्वप्रवाद प्रत्यस्तमियात् । कश्चायमनुपलम्भ, किं प्रमाभाव ? किं वा ज्ञानमात्रा-भाव ? नाद्य, इद रजतमिति रजतारोपस्थले रजताभावप्रमित्यजनके

न्नुप-म्भस्य करणत्वमभिप्रेयते, येन तद्व्यापारश्चिन्त्येतापितु योग्यतावतोऽनुप-लम्भस्य तादृशस्य चान्तर्भूतभूतलादिरूपत्वेन तज्जन्याधिकरणग्रहणादिव्यापारकत्वा-दस्यैव करणत्वमिति शङ्कते—**केवलेति** । योग्यतया व्यापारवत्ता दर्शयन् तत्स्वरूप-माह—**तत्तदविनाभूतेति** । तस्माद्विषयात्तदविनाभूताद्विषयसन्निकर्षादेश्चेतरद्यत्प्रति-योगिप्रमितिकरण तत्साकल्य योग्यता, तथा च तत्तज्ज्ञानान्यवान्तरव्यापाररूपाणि भविष्यन्तीत्यभिप्राय । तदेतदतिप्रसक्त्या दूषयति—**तर्हीति** । अस्ति हि घटप्रत्य-क्षात्पूर्वक्षणेऽनुपलम्भ । अस्ति च प्रतियोगिप्रमापकमिन्द्रियादिसाकल्यम् । न च विषयसत्ताऽपराधनीयात् भावप्रमिति प्रत्यनुगुणत्वादिति सर्वत्र तत्तदिन्द्रियादिसहिता-नुपलब्धिरेव करणम् । तथाचेन्द्रियादे करणत्वप्रसिद्धिर्विरुध्येतेत्यर्थ । एवमनुपलब्धे करणत्व न सम्भवतीत्युक्तमिदानीमनुपलब्धिरित्यत्र नञा समस्यमानोपलम्भशब्देन प्रमितिर्वा ज्ञानमात्र वाभिधीयते, उभयथाप्यनुपपत्तिरिति दूषयति—**कश्चायमिति** । **इदं रजतमिति** । अस्ति हि तत्र प्रतियोगिरजतप्रमित्यभाव । अस्ति च योग्यता,

और करण मे जन्य हो करणजन्य का जनक हो उसको व्यापारज्ञ लोग व्यापार कहते है । यदि कहे कि केवल अनुपलम्भ को अधिकरणग्रहणादि के अजनकत्व होते भी योग्यता विशिष्ट अनुपलम्भ को उस अधिकरण ग्रहणादि की जनकता है ही, अत अधिकरणादि व्यापार होगे, क्योकि, अभावप्रतियोगी घटादि और उसके अविना-भूत इन्द्रिय सन्निकर्षादि को छोडकर उनसे अन्य जो प्रतियोगी प्रमा के अधिकर-णादि करण (साधन) समूह है, उनको ही योग्यता माना जाता है । अत योग्यतान्तर्गत से जन्य ज्ञान अवान्तरव्यापार होगे, योग्यता अन्तर्गत से जन्य ज्ञान अनुपलब्धिजन्य समझा जायगा । तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि घटादि के प्रत्यक्षादि ज्ञान से पूर्वकाल मे घटादि का अनुपलम्भ रहता ही है, वही इन्द्रियादि रूप योग्यता से युक्त होकर, सब भाव प्रमिति का करण होगा, तो इसप्रकार से भावप्रमितियो को इन्द्रियादि सहकृत भाव के अनुपलम्भ रूप-कारण जन्य होने से तत्तत् प्रमाओ मे इन्द्रिय लिङ्गादि के असाधारण करणत्व का प्रवाद (व्यवहार) लुप्त हो जायगा । और यह अनुपलम्भ क्या है, क्या प्रमा का अभाव है, या ज्ञान-मात्र का भाव है । प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि, इद रजतम्, इस रजत

रजतप्रमाभावेऽतिव्याप्ते । अन्यथा रजतारोप एव न स्यात्। नापि द्वितीय, शङ्खधवलिमप्रतिसधानवत पीत इति भ्रमानुदयप्रसङ्गात्।

अपि च यत्राभाव एव लक्षणतो दुर्निरूप, कुतस्तत्रेद प्रमाणमिद प्रमेयमिति विचारावतार ? तथाहि--कोयमभाव ? (१) भावादन्यो वा ? (२) भावत्वानधिकरण वा ? (३) भावविरोधी वा ? (४) भावेन स्वभावप्रत्यासन्नो वा ? (५) नास्तीति प्रत्ययविषयो वा ? (६) प्रति-

---

इन्द्रियादेर्विद्यमानत्वादितरस्याधिष्ठानस्याप्यग्रहणप्रसङ्गात्। अथ च न रजताभावप्रमित्युदय इत्यतिव्याप्तिरित्यर्थ । अथ कथमभावप्रमित्यनुदयस्तत्राह--**अन्यथेति।** नह्यारोप्याभावप्रमितावपि तत्रारोप सभवति। अतिप्रसङ्गादिति भाव । द्वितीयेप्यतिव्याप्तिमाह--**शङ्खधवलिमेति।** यदाहि कश्चिद्धवल शङ्ख इति चेतसा शङ्खधवलिमानमनुसदधाति, तदापि पीतपित्तोपहतनयनतया पीत शङ्ख इति भ्राम्यति, तत्र धवलिमानुसधानसमये पीतज्ञान नासीत्। ज्ञानद्वययौगपद्याभावात्। ततश्च योग्यतोपेतपीतोपलम्भाभावस्तदानीमस्ति, नास्ति च पीतशङ्खाभावप्रमित्युत्पत्ति । उत्तरक्षणे भ्रमदर्शनात्। अतस्तावकलक्षण तत्रातिव्याप्तमित्यर्थ ।

इदानीमेतत्प्रसाङ्गादभावमात्रस्यैवानिरूपितता दर्शयितुमुपक्रमते—**अपिचेत्यादिना।** अभाव इत्यत्र नञस्तदन्यत्वतदभावत्वतद्विरोधित्वार्थाभिप्रायेण विकल्पत्रयोत्थानम्। इतरे तु षडपि पक्षा वैवक्षिका । **स्वभावप्रत्यासन्न इति।** नहि भूतल-

---

के आरोप के स्थान मे रजनाभाव की प्रमिति के अजनक रजनप्रमाऽभाव मे अतिव्याप्ति होती है। अन्यथा यदि रजतप्रमाभाव रजनाभाव की प्रमिति का जनक (लक्षण का लक्ष्य) हो, तो रजत का आरोप ही नही हो सकना है, अत अलक्ष्य से लक्षण की अतिव्याप्ति है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि चित्त से शख की श्वेतता के स्मरण वाले को भी पित्त दोष से, पीत शख, यह भ्रम होता है, उस भ्रम का अनुदय प्राप्त होता है। जिससे श्वेतता के अनुसधान के समय पीन का ज्ञान नही रहता है, उसमे कारण है कि ज्ञान की युगपदता नही मानी जानी है। अत उस समय पीत ज्ञान का अभाव रूप योग्य अनुपलब्धि रहती ही है, उससे यदि पीत के अभाव का प्रमा ज्ञान हो तो भ्रान्ति का उदय होना असम्भव होगा, परन्तु प्रमा नही होती है, भ्रम ही होता है। अत ज्ञानाभावरूप अनुपलम्भ प्रमाण नही है।

और जहाँ अभाव ही लक्षणपूर्वक दुर्निरूपणीय है, वहाँ यह अभाव प्रमाण है, यह प्रमेय है, इस विचार की प्राप्ति किसमे हो सकती है, यह दर्शाया जाता है कि यह अभाव क्या है। क्या भाव से अन्य है, या भावत्वाऽनधिरण है, या भावविरोधी है, **या भाव के साथ स्वभाव से प्रत्यासन्न = स्वरूप सम्बद्ध है,** या नास्ति इस प्रतीति

योगिसापेक्षनिरूपणो वा ? (७) अस्तीति बुद्धेरविषयो वा ? (८) निर्विकल्पकबुद्धेरविषयो वा ? (९) भावलक्षणरहितो वा ? नाद्य, भावस्यापि भावादन्यत्वेनातिव्याप्ते । न द्वितीय, अनधिकरणपदेनाधिकरणत्वाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात् । न तृतीय, किंचिद्भावविरोधस्य भावेऽपि सद्भावादतिव्याप्ते, सर्वभावविरोधित्वस्याभावेऽप्यभावेनासंभवित्वात् । न खलु घटाभाव सर्वभावविरोधी, सति घटाभावे विश्वाभावप्रसङ्गात् । विरोधिशब्देन च तादात्म्यासहिष्णुत्वविवक्षाया भावेष्वपि भावात् । नापि चतुर्थ, समवायादावपि भावात् । नापि पञ्चम, इह भूतले घटो नास्तीति

घटाभावयोरन्य सबन्ध प्रत्यासत्ति, सवन्धान्तराभावादित्यर्थ । **न द्वितीय इति ।** भावत्वानधिकरणत्व नाम किं तदधिकरणत्वाभाव ? किंवा तदधिकरणत्वान्यत्वम् ? द्वितीये भावेष्वतिव्याप्ति । नहि भावत्वाधिकरणत्वमेव भाव । प्रथमे प्राह— **अनधिकरणेति ।** एतेन समवायान्यत्वे सत्यसमवाय्यभाव इति मानमनोहरलक्षणमपि निरस्तम् । असमवायित्वविवेचने एव यथोक्तदूषणप्रचारादिति । **भावेपीति ।** गोत्वाश्वत्वादावित्यर्थ । अभावस्य सर्वभावविरोधित्वाभावमेव विवृणोति—**न खल्विति ।** किंचेद भावविरोधित्व किं भावघातकत्वम् ? किं वा भावासहस्थायित्वम ? किं वा भावतादात्म्यराहित्यम् ? त्रिधापि भावेष्वतिव्याप्तिरित्यभिसधिराह— **विरोधिशब्देन चेति । समवायेति ।** नहि समवायस्य समवायिभ्या स्वभावव्यतिरेकेण प्रत्यासत्त्यन्तरमस्ति, अनवस्थादिदोषात् । आदिशब्देन च प्रमेयत्वादि गृह्यते । **इह भूतल इति ।** एक हीद ज्ञान भूतलघटघटिताभावग्राहीति तयोरप्येतत्प्रत्यय-

---

का विषय ह, या प्रतियोगिसापेक्ष निरूपण वाला है, या अस्ति इस ज्ञान का अविषय रूप है, या निर्विकल्पक ज्ञान का अविषय है, अथवा भावलक्षणरहित है । भाव से अन्यत्व रूप आद्य लक्षण युक्त नही, क्योकि कोई भाव भी किसी भाव से अन्य होता है, अत भाव से अन्यत्व के कारण उसमे अतिव्याप्ति होती है । दूसरा लक्षण भी युक्त नही, क्योकि अनधिकरण पद से अधिकरणत्वाभाव की विवक्षा होने पर अभाव के लक्षण मे अभाव के आश्रयण से आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है । तृतीय लक्षण भी युक्त नही, क्योकि किसी भाव के विरोधित्व भाव मे भी रहने से उसमे अतिव्याप्ति होती है । सब भावविरोधित्व के अभाव मे भी अभाव होने से इस लक्षण मे असम्भवितत्व होगा, क्योकि घटाभाव सब भाव का विरोधी नही होता ह । अन्यथा घटाभाव के रहने पर विश्व का अभाव प्राप्त होगा । विरोधी शब्द से तादात्म्यासहिष्णुत्व (भावतादात्म्याभाव) की विवक्षा करने पर, भाव मे भी उन तादात्म्य का अभाव रहता हे, घट का पट से तादात्म्य नही रहता हे । चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि समवायादि मे भी स्वरूप से

घटभूतलयोरपि विशिष्टाभावबुद्धिविषयत्वात्, अनुगताकारानिरूपणाच्च नापि षष्ठ, ह्रस्वदैर्घ्यादिष्वपि भावात्। स सप्तम, घटस्याभावोस्तीत्यभावस्याप्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनासभवित्वात्। नाप्यष्टम, ब्राह्मणत्वादिष्वपि भावात्।

"सस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि जन्मत ।
क्वचिदाचारतश्चापि सम्यग्राजानुपालितात् ॥
(श्लो० वा० वन० २९)
तैलाद्धृत विलीन च गन्धेन च रसेन च।" (वन० २७)

विषत्वादतिव्याप्तिरित्यर्थ । किंच प्रतीतिविषयत्व नाम प्रतीतिश्च विषयश्च, तौ परस्पर व्यावृत्ताविति अनुगतलक्षणाभावादव्याप्तिरित्याह—**अनुगतेति**। निर्विकल्पकबुद्ध्यविषयत्वमिति पक्ष दूषयति—**नाप्यष्टम इति**। ब्राह्मणत्वादीनामपि न निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्वम्, व्यञ्जकविशेषप्रतीत्यभावे तेषामप्रतीतेरतोतिव्याप्तिरित्यर्थं ।

एतदेव भट्टवार्तिकेन द्रढयति—**संस्थानेनेति**। सस्थान कम्बुग्रीवादिलक्षण तत्सहकृतमिन्द्रिय च घटत्वादेर्ग्राहकमित्यर्थ । जन्मत, अविप्लुतब्रह्मचर्यो ब्राह्मण स्यादित्यादिविशेषणात्, क्वचिच्च युधिष्ठिरप्रभृतिसम्यग्राजानुपालितादाचारात्, विलीन घृत गन्धेन च रसेन च तैलाद्भेदेन ज्ञायत इति शेष । भावलक्षणरहितो

सम्बद्धत्व रहता है। नास्ति इस प्रत्यय के विषयत्व रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नही। क्योकि इस भूतल मे घट नही है। भूतल घटयुक्त अभाव विषयक इस एक विशिष्टाभाव ज्ञान के विषयत्व घट और भूतल को भी रहता हे। ओर प्रतीति विषयत्व मे प्रतीति और विषय दो अन्तर्गत है, वह दोनो परस्पर व्यावृत्त है, अत अनुगत आकारके निरूपण का अभाव है। षष्ठ लक्षण भी युक्त नही, ह्रस्व, दीर्घादि का भी प्रतियोगी सापेक्ष निरूपण होना है। अस्ति बुद्धि के अविषयत्व रूप सप्तम लक्षण भी युक्त नही, क्योकि घट का अभाव है, इस प्रकार से अभाव को भी अस्ति ज्ञान के विषयत्व होने मे लक्षण मे असम्भवित्व की प्राप्ति होती है। निर्विकल्पक बुद्धि के अविषयत्व रूप अष्टम लक्षण भी युक्त नही, क्योकि ब्राह्मणत्वादि मे भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। कहा भी है--

कम्बुग्रीवादि रूप सस्थान से अवयवो की विशेष रचना मे, घटत्वादि गृहीत होता है। और विशेष माता-पितादि द्वारा जन्म ब्रह्मचर्यादि मे ब्राह्मत्वादि का ज्ञान होता है। कही आचार से भी ज्ञान होता है, जो आचार धर्मात्मा राजा से पालित रहता है, उससे ब्राह्मणत्वादि का ज्ञान होता है। और पिघला हुआ घृत गन्ध और रस से भिन्न समझा जाता है।

इत्यादिन्यायेन तेषामपि सविकल्पकमात्रविषयत्वात्। न च नवम, राहित्यशब्देनाप्यभावाभिधानादात्माश्रयत्वापत्ते। किच किञ्चिद्भावलक्षणरहितत्वे च भावेष्वपि प्रसङ्ग, सर्वभावलक्षणरहितत्वशब्देन च सर्वभाव लक्षणत्वानधिकरणत्वविवक्षायामेकैकस्यापि भावस्य तत्त्वादतिव्याप्ति। सर्वभावलक्षणाभावाधिकरणत्वाभिधाने च तेष्वेव लक्षणाभावेष्वव्याप्ति। तेषा स्वाधिकरणत्वाभावात्। तेष्वभावान्तराभ्युपगमे चाननुगमप्रसङ्ग।

वेति पक्षं दूषयति—**न च नवम इति।** अन्यत्वाभिधाने च भावेष्वपि भावान्तिव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। भावलक्षणशब्देन सर्वभावलक्षणमभिधीयते? किञ्चिल्लक्षण वा? द्वितीये प्राह—**किच किंचिद्भावेति।** प्रथमेति भावाना यानि सर्वाणि लक्षणानि तदनधिकरणत्व विवक्षितम्? भावलक्षणाना ये सर्वेऽभावास्तदधिकरणत्व वा? आद्ये प्राह—**सर्वभावेति।** सर्वभावलक्षणत्वमिति च बहुव्रीहि। सर्वभावलक्षणवत्त्वमिति यावत्। एकैकभावस्य सर्वभावलक्षणवत्त्वाभावादतिव्याप्तिरभावलक्षणस्येत्यर्थ। द्वितीये दूषणमाह—**सर्वेति।** भावलक्षणाना ये सर्वऽभावास्तदधिकरणमित्यभिधाने च तत्तल्लक्षणाभावेष्वव्याप्ति, नहि तत्तदभावाना सर्वाभावाधिकरणत्वम्, स्वाधिकरणत्वाभावदित्यर्थ। अथ चैकैकभावलक्षणाभावा अपि बहवोऽतस्तत्तल्लक्षणाभावान्तराधिकरणत्वात् तदभावानामप्यस्त्येव सर्वाभावाधिकरणत्वमिति मतम्, तथापि न सर्वाभावाधिकरणत्वम्, स्वाधिकरणत्वाभावादेव। अथ तत्तदभावविशेषाधिकरणत्व लक्षण तर्हि तेषामेव विशेषाणा स्वाधिकरणत्वाभावेनैकैकविशेषाधिकरणत्वविवक्षायामितरेषु लक्षणाननुगति। एवमितरविशेषविवक्षायामपीत्यव्याप्तिरित्याह—**अभ्युपगम इति।**

इत्यादि रीति से उन ब्राह्मत्वादिको को सविकल्पक ज्ञानमात्र विषयत्व होता है, अत उनमे अतिव्याप्ति होती है। भावलक्षणरहितता रूप नवम लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि राहित्य शब्द से भी अभाव के अभिधान (कथन) होने से आत्माश्रयता की प्राप्ति होती है, और किञ्चिद् भावलक्षण रहितत्व को मानने पर भावो मे भी अक्षण प्राप्त होता है, क्योकि एक एक भाव को सर्वभाव लक्षणवत्त्व का अभाव रहता है। और सर्वभाव लक्षणरहितत्व को माने, तो सर्वभाव लक्षणरहितत्व शब्द से सर्वभावलक्षणत्व के अनधिकरणत्व की विवक्षा होने पर एक-एक भाव को वह अनधिकरणत्व होने से अतिव्याप्ति होगी। और सर्वभाव के लक्षणो के अभावाधिकरणत्व को कहने पर उन लक्षणाऽभावो मे ही अव्याप्ति होगी, क्योकि उन-उनको स्वाधिकरणता के अभाव से सर्वलक्षणो के अभावाधिकरणत्व नही रहता है लक्षणाभाव मे अन्य लक्षणाभाव को मानने पर अननुगम प्राप्त होगा, कौन लक्षणाभाव किसमे रहता है, यह निश्चय नही होगा।

किंचेद भावत्व यदनधिकरणत्वमभाव· ? (१) किमस्तीतिप्रत्यय-विषयत्वम् ? (२) नास्तीतिप्रत्ययाविषयत्व वा ? (३) प्रतियोग्यनपेक्ष-निरूपणत्व वा ? (४) निर्विकल्पबुद्धिबोध्यत्व वा ? (५) षड्लक्षण-लक्षितत्व वा ? (६) षड्लक्षणान्यतमलक्षणलक्षितत्व वा ? नाद्य, घट-स्याभावोऽस्तीत्यस्तिप्रत्ययविषयत्वेनाभावेऽतिव्याप्ते । न द्वितीय, भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययविषयस्यापि घटादेर्भावत्वात् । न तृतीय, प्रतियोग्य-पेक्षनिरूपणे ह्रस्वदीर्घत्वादावव्याप्ते । न चतुर्थ, निर्विकल्पबुद्धे प्रागूर्ध्व-मपि घटादेर्भावात् । तदत्यन्ताभावानधिकरणत्वे चात्यन्ताभावे एवाति-व्याप्ति । तत्राप्यत्यन्ताभावान्तराभ्युपगमे लक्षणस्याननुगम । न पञ्चम,

---

किंच भावलक्षणानामेव दुर्निरूपत्वात्तदधीननिरूपणाभावोपि दुर्निरूप इति हृदि निधाय भावलक्षणमपि खण्डयति—**किं चेदमिति । यदनधिकरणत्वमिति ।** यल्लक्षणानधिकरणत्वमित्यर्थ, अस्यैवानन्तर प्रकृतत्वात् । **षड्लक्षणेति ।** द्रव्या-दीना षण्णा यानि लक्षणानि तैर्लक्षितत्व चेत्यर्थ । नास्तीति प्रत्ययाविषयत्वमिति द्वितीयपक्षेऽव्याप्तिमाह—**भूतले घट इति ।** ननु निर्विकल्पकबुद्धिविषयत्व नाम तद्विषयत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्व विवक्षितम्, तेन न प्रागूर्ध्वप्रयुक्ताव्याप्तिरिति, तत्राह—**तदत्यन्तेति ।** योऽयमत्यन्ताभावो लक्षणत्वेनाभिहितस्तस्मिन्नेव स्वानधि-करणेऽतिव्याप्तिरित्यर्थ । उत्तरो ग्रन्थोऽनन्तरमेव कृतोत्तर । **न पञ्चम इति ।**

यह भावत्व क्या है कि जिस भावत्व का अनधिकरणत्व रूप अभाव का लक्षण होना है । क्या अस्ति इस प्रतीति का विषयत्व रूप भावत्व है, या नास्ति इस प्रतीति का अविषयत्व रूप है, या प्रतियोगि-निर्पेक्ष-निरूपणीयत्व है, या निर्विकल्पक बुद्धि-योग्यत्व है, या द्रव्यत्वादि छ लक्षणो से लक्षितत्त्व है, या षड्लक्षणान्यतम लक्षण-लक्षितत्व है । प्रथम लक्षण युक्त नही हो सकता है, क्योकि घट का अभाव है, इस प्रकार से अभाव मे अस्ति प्रत्यय के विषयत्व के रहने से उसमे अतिव्याप्ति होती है । दूसरा लक्षण भी युक्त नही, क्योकि भूतल मे घट नही है, इस नास्ति प्रत्यय के विषय का घटादि को भावत्व रहता है, अत यहाँ लक्षण की अव्याप्ति होनी है। तृतीय लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि सापेक्ष निरूपण वाले ह्रस्वत्व, दीर्घ-त्वादि मे अव्याप्ति होती है । चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही, क्योकि निर्विकल्पक बुद्धि से प्रथम और पीछे भी घटादि का भाव रहता है, अत उस समय निर्विकल्पक बुद्धि विषयत्व रूप लक्षण की अव्याप्ति होती है । यदि निर्विकल्पक बुद्धिविषयत्वा-त्यन्ताऽभावानधिकरणत्व की विवक्षा करे, तो अत्यन्ताभाव मे ही लक्षण की अति-व्याप्ति होगी, अत्यन्ताभाव को भी निर्विकल्पक बुद्धिविषयत्वात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व है । अत्यन्ताभाव मे अन्य अत्यन्ताभाव माने तो लक्षण का अननुगम होगा, यह प्रथम कहा गया है । पञ्चम भी युक्त नही, क्योकि षड्लक्षण लक्षितत्व

षड्लक्षणलक्षितत्वस्य प्रत्येकं द्रव्यादिष्वभावेनाव्याप्ते । न षष्ठ, अन्यतमत्वस्य प्रागेव निरस्तत्वात् ।

कश्चाय प्रागभाव ? विनाश्यभाव इति चेत्, न, विनाशिशब्देनोत्पत्तिमदभाववत्त्वाभिधाने लक्षणस्यासभवित्वात् । नहि प्रागभावस्य घटव्यतिरेकेणोत्पत्तिमानान्योऽभावो निवृत्तिरन्यस्यानुपलम्भात्, 'अपोह्यमाने चाभावे भाव एवावशिष्यते' इत्यभ्युपगमाच्च । नन्वनिवृत्ते प्रागभावे घटजन्मन

षण्णा यानि लक्षणानि न तैरेकैकलक्षितत्वमित्यव्याप्तिरित्यर्थ । अस्तु तर्हि षष्ठ, तथा च शिवादित्यमिश्रेणोक्तमिति, तत्राह—**न षष्ठ इति ।** एव भावलक्षणानिरूपणादपि तन्मुखेनाभावनिरूपण न सभवति, प्रकारान्तरेण निरूपण पुरस्तादेव निरस्तम् ।

एवमभावमात्रलक्षण खण्डयित्वा तद्विशेषलक्षणमपि खण्डयति—**कश्चायमिति ।** प्रध्वसेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विनाशिग्रहणम् । घटादिनिवर्तनायाभावग्रहणम् । अत्र किं विनाशिशब्देन विनष्टो घट इत्यादिष्विवोत्पत्तिमदभाववत्त्वमभिधीयते ? किं वाऽभाववत्त्वम् ? चरमे प्रध्वसादावतिव्याप्ति, तस्याप्यभावप्रतियोगित्वात् । आद्यस्त्वसभवीत्याह—**विनाशिशब्देनेति ।** प्रागभावस्य निवृत्तिरित्यन्वय । अत्र किं प्रत्यक्षात् घटव्यतिरेकेणाभावनिवृत्ति स्वीक्रियते ? उपपत्तिवलाद्वा ? नाद्य इत्याह—**अनुपलम्भादिति ।** तदुक्त तात्पर्यटीकायामाचार्यवाचस्पतिना—"नो खल्वभावाभावो नाम कश्चिदन्यो भावान्नापि भावाभावोन्योऽभावात्' इति । भट्टान्प्रत्याह—**अपोह्यमान इति ।** द्वितीयपक्षमुद्भावयति—**नन्विति ।** किं निवृत्ते प्रागभावे घट

का प्रत्यक्ष द्रव्यादि मे अभाव रहने के कारण उनमे अव्याप्ति होती है । षष्ठ लक्षण भी युक्त नहीं है, क्योकि अन्यतमत्व प्रथम ही निरस्त हो चुका है ।

विशेष भाव के खण्डन के लिये कहते है कि यह प्रागभाव क्या है । अर्थात् आपका माना हुआ प्रागभाव नहीं है । यदि कहे कि विनाशी अभाव प्रागभाव है, अर्थात् कार्य की उत्पत्ति से प्रथम कार्य के उपादान कारण मे रहने वाला और कार्य की उत्पत्ति से प्रथम ही नष्ट हो जाने वाला अभाव प्रागभाव है, क्योकि (ईशस्तज्ज्ञानयत्नच्छा कालाऽदृष्ट दिगेव च । प्राक्प्रतिबन्ध का भावौ कार्ये साधारणा स्मृता) ईश्वरादि कार्य के साधारण कारण है, उनमे प्रागभाव है, परन्तु भावाऽभाव के विरोध होने से घट का प्रागभाव घट के साथ नहीं रह सकता है, अत घट की उत्पत्ति से प्रथम ही रहकर घट के लिये उपयोगी होकर घट की उत्पत्ति क्षण मे नष्ट हो जाता है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि विनाशी शब्द से यदि घटादि के समान उत्पत्तिमान् के ध्वसरूप अभाववत्त्व को कहो तो लक्षण के असम्भावित्व होगा । क्योकि घट से भिन्न उत्पत्तिमान् अन्य अभाव, प्रागभाव की निवृत्ति रूप

एवासम्भवादन्यैव निवृत्तिरभ्युपेया। न च वार्तिकवचनविरोधः, निवृत्त्या प्रागभावेऽपोह्यमाने तत्प्रतियोगी घटादिरवशिष्यत एवेत्ययोगव्यवच्छेदपरत्वात्। अन्यथाऽभावापह्नवमात्रेण भावशेषे प्रागभावसमये प्रध्वंसस्यासम्भवात्, प्रध्वंससमये च प्रागभावस्याभावाद्भावावशेषः प्रसज्येत इति चेत्, मैवम्, त्वदुक्तेन न्यायेनानिवृत्तो प्रागभावे तन्निवृत्तेरपि जन्मासम्भवात्, तत्र

उत्पद्यते? उतानिवृत्ते? न तावदनिवृत्ते, विरोधिनि सति विरोध्यनुदयात्। तस्मान्निवृत्ते सतीति वक्तव्यम्। तथाच घटोत्पत्तेः प्राचीना काचन प्रागभावनिवृत्तिरभावरूपिणी स्वीकरणीया, अतः कथमसम्भवो लक्षणस्येत्यर्थः। **अयोगेति।** यदि ह्यपोह्यमानेऽभावे भाव एवेति यथाश्रुतोऽन्वयः स्यात्तदा विरोधः। नचैवमन्वयः, अपि तु भावोऽवशिष्यत एवेति। तथाच भावोदयमात्रप्रतिपादनपरत्वान्न निवृत्तिनिराकरणपरतेत्यर्थः। ननु भावावशेष एव चेद्विवक्षितस्तर्हि निवृत्त्यवशेषादपि भावावशेषः सिध्यति, तद्रूपत्वाद्भावस्यातः पृथगभिधानवैयर्थ्यमिति, तत्राह—**अन्यथेति।** नाभावापह्नवमात्रं भावशेषः। यदि हि भावाकारेणावशेषो नामाभावापह्नवमात्रं स्यात्तदा भावावशेष एव स्यात्। न पुनः प्रागभावध्वंसावस्थातोऽतिरिक्तः कश्चित्प्रकारः। यतः प्रागभावसमयेऽपि प्रध्वंसापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वात्प्रध्वंससमये च प्रागभावापह्नवरूपघटस्य विद्यमानत्वादभावापह्नवरूपो घटः सर्वदाऽस्तीति नोदकाहरणसमर्थघटसिद्धिरित्यर्थः। अथवाऽभावापह्नवमात्रत्वे भावस्य, प्रागभावध्वंसावस्थायामपि घटः स्यात्, एकैकनिवृत्तेरेकैकावस्थायामपि विद्यमानत्वादित्यर्थः। एतेन प्रागभावस्यैव निवृत्तिर्घट इत्यपि निरस्तम्। तदेतत्सिद्धान्ती दूषयति—**मैवमिति।** न तावद्विरोधिनिवृत्तावेव विरोध्युदय इति व्याप्तिः निवृत्तेरपि प्रागभावा-

---

अन्य को उपलब्ध नही होता है, केवल आप मानते है। जैसे कि मीमांसक वार्तिककार ने माना है कि (अभाव के अपोह्यमान = निवृत्त होने पर भाव ही अवशेष रहता है। यदि शंका हो कि प्रागभाव के प्रथम निवृत्त नही होने पर विरोधी अभाव के रहते घट का जन्म होना ही असम्भव है, अतः घट से अन्य ही प्रागभाव का ध्वंस रूप निवृत्ति मन्तव्य है, अतः लक्षण का असम्भव नही है। और वार्तिक वचन से विरोध भी नही, क्योकि निवृत्ति = ध्वंस से प्रागभाव के अपोह्यमान (निवृत्त) होने पर उसका प्रतियोगी घटादि अवशिष्ट रहता ही है। इसप्रकार से उस प्रतियोगी के अयोग = असम्बन्ध = असत्त्व का व्यवच्छेद = निवारणपरक वार्तिक है। इससे भाव के उदय = जन्ममात्र प्रतिपादन परक वार्तिक सिद्ध होता है, प्रागभाव की निवृत्ति के निराकरणपरक नही। अन्यथा = यदि उक्तार्थक वार्तिक न हो, किन्तु अभाव के अपह्नव (अभाव) मात्र से भाव शेष हो, तो घट प्रागभाव के समय मे घटप्रध्वंस का असम्भव रहता है, अतः घटध्वंस के अपह्नव

तत्र निवृत्त्यन्तराभ्युपगमे चानवस्थापातात् । तस्मादुभयत्रानुपपत्तिसाम्येऽपि घट एव स्वप्रागभावनिवृत्तिरित्यङ्गीकरणीयम्, कल्पनालाघवात् । तथा चासंभवित्वदोषस्तदवस्थ एव । अस्तु वा प्रागभावस्य घटादन्यैव निवृत्तिस्तथापि प्रध्वंसेऽतिव्याप्तिस्तस्यापि विनाशित्वात् । न च ध्वस्तस्योन्मज्जनापत्तिः, प्रध्वंसवदेव तत्तत्प्रध्वंसमालाया अपि प्रध्वस्तभावविरोधित्वात् ।

निवृत्तावुत्पत्त्यसंभवेन निवृत्त्यनवस्थाप्रसङ्गात् । तस्मादनिवृत्ते एव च प्रागभावे विरोध्युदय इति वक्तव्यम् । तथा च तद्वदेव घटोऽप्युत्पत्तुम् शक्नोतीति नेयमुपपत्तिः काचन, प्रत्युत घटरूपैव निवृत्तिः कल्पनालाघवादाश्रयणीया, तथा चासंभवित्वमित्याह—**त्वदुक्तेनेत्यादिना** । असंभवमुपेक्ष्यातिव्याप्तिमाह—**अस्तु वेति** । **ननु** नास्ति प्रध्वंसस्य प्रध्वंसः, येनातिव्याप्तिः स्यात्, प्रध्वंसस्यापि प्रध्वंसे घटप्रागभावध्वंसरहितकालस्य घटकालत्वेन घटोन्मज्जनप्रसङ्ग इति, तत्राह—**न च ध्वस्तस्येति** । यथा हि प्रथमध्वंसो घटविरोधी, एवं तत्प्रध्वंसमालापि घटविरोधिन्येव, तत्कस्य हेतोः ? उत्तरोत्तरध्वंसानामपि ध्वंससमानविरोधित्वात्, पूर्वपूर्वप्रतियोगिव्यावृत्तस्वध्वंसविरोधित्ववत् । इतरथा घटसंसर्गनिषेधे घटस्य निषेधो न स्यादिति घटनित्यतानित्यतयोः प्रसङ्गात्, ततो नोन्मज्जनापत्तिरिति भावः । अतश्चैवमेवाङ्गीकर्तव्यमितरथा घटध्वंसे घटप्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गात्, घटध्वंसस्य प्रागभाव-

---

से उस समय घट का अवशेष प्राप्त होता है, इसीप्रकार से घट प्रध्वंस के समय में घटप्रागभाव का अभाव रहता है, अतः प्रागभाव के अपह्नव से उस समय भी घट का अवशेषस्वरूप प्राप्त होता है। तो ऐसी शंका युक्त नहीं, क्योंकि आप से वर्णित रीति से प्रागभाव के निवृत्त हुए बिना उसकी निवृत्ति का जन्म होना भी असम्भव है, क्योंकि निवृत्ति भी प्रागभाव का विरोधी है, अतः उस निवृत्ति की सिद्धि के लिये निवृत्त्यन्तर को मानने पर, तत् तत् निवृत्ति में निवृत्त्यन्तर के स्वीकार से अनवस्था की प्राप्ति होगी। अतः दोनों पक्ष में अनुपपत्ति की समता होते भी घट ही प्रागभाव की निवृत्तिस्वरूप है, यह अङ्गीकार करने योग्य है, क्योंकि इसमें कल्पना का लाघव है। और ऐसा होने पर उत्पत्तिमदभाववत्त्वरूप लक्षण के असम्भवित्व रूप दोष तदवस्थ ही रहता है। अथवा घटप्रागभाव की घट से अन्य ही निवृत्ति हो, तो भी उसके लक्षण की प्रध्वंस में भी अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि प्रध्वंस को भी विनाशित्व है (यदि कहें कि ध्वंस के विनाश होने पर ध्वस्त = नष्ट, प्रतियोगी की उन्मज्जन = उद्भूति की आपत्ति होगी। तो यह कहना युक्त नहीं, ध्वंस के समान ही ध्वंस के ध्वंसादि प्रवाह को भी ध्वस्तभाव का विरोधित्व रहता है। अन्यथा आपके मत में भी विरोधी प्रतियोगी के अभाव से

तवापि कथमन्यथा प्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गपरिहारः? यत्पुनरुक्त लीलावतीकारेण—'असभवद्विरुद्धधर्मससर्गप्रत्यभिज्ञानबाधितत्वात् कल्पनालाघवाच्च न प्रागभावप्रध्वसयोरुत्पत्तिविनाशौ' इति, तदसत्, कपालचूर्णरजप्रभृतीना सभवद्विरुद्धधर्मससर्गाणा भिन्नतयैव प्रत्यक्षत्वात् त्वदुक्तप्रत्यभिज्ञाया असिद्धे, प्रत्यक्षसिद्धे च भेदे कल्पनालाघवन्यायस्यानवसरदु स्थ-

---

ध्वसध्वसत्वात, घटानवच्छिन्नकालस्य घटप्रागभावव्याप्तत्वाच्चेत्याह—**तवापीति**। नच प्रागभावोन्मज्जनमस्त्येवेति वाच्यम, तथा सति घटोत्पत्तेरवश्यभावेनोष्ट्रलकुटवृत्तान्तापातादिति भाव। उक्त च लीलावतीकारेण—'प्रागभावनिवृत्तिनिवृत्तौ तदुन्मज्जनापत्ति' इति चेन्न। ध्वसस्यापि तद्विरोधित्वादिति। यदत्र तेनैवोक्तम्—एव सति ध्वसोपि नश्येत कृतकत्वात्, प्रागभावोपि जायेत विनाशित्वादिति। प्रागभावप्रध्वसयोरुत्पत्तिविनाशावाशङ्क्य नासभवद्विरुद्धधर्मससर्गप्रत्यभिज्ञानप्रतिक्षिप्तत्वादिति। तदनुवदति—**यत्पुनरिति**। अस्ति हि घटोत्पत्ते प्रागूर्ध्व च नासीन् घट, न भविष्यति घट इति, नास्ति च घट इति वा। स एवाय प्रागभाव स एवाय प्रध्वस इत्येव वाऽबाधिताभावप्रत्यभिज्ञानम्। इद च ज्वालाप्रत्यभिज्ञानवदमानमित्यत उक्तम्—**असंभवद्विरुद्धधर्मसंसर्गेति**। न सभवो विरुद्धधर्मससर्गो यद्विषये तत्प्रत्यभिज्ञान तथोक्तम्, एकाभावेनैव व्यवहारोपपत्तावनन्ताभावकल्पनाया गौरव चेत्याह—**कल्पनेति**। दूषयति—**तदसदिति**। अत्र तावदुत्तरोत्तरकपालादिरेव पूर्वपूर्वघटादे प्रध्वस पूर्वपूर्वपिण्डादिरेवोत्तरघटादे प्रागभाव इति च वक्ष्यति। तथा च तेषाँ कपालप्रभृतीना परस्परविरुद्धानामेवोपलभ्यमानत्वात् ज्वालाप्रत्यभिज्ञानवदाभासोऽयमित्यर्थ। कल्पनागौरव परिहरति—**प्रत्यक्षेति**। कपाला-

---

प्रागभाव के उन्मज्जन रूप प्रसङ्ग का परिहार कैसे होगा, अर्थात जैसे प्रतियोगी प्रागभाव का विरोधी होता है, वैसे प्रतियोगी का ध्वसरूप अभाव भी प्रागभाव का विरोधी होता है, ऐसे ही प्रकृत मे भी मानना होगा। और जो लीलावतीकार ने कहा है कि, प्रागभाव की उत्पत्ति और ध्वस का विनाश रूप विरुद्ध धर्म के ससर्ग का असम्भव होने से, तथा घटोत्पत्ति से पूर्व घट नही था, और नाश के बाद नही रहेगा इस प्रागभावप्रध्वस की प्रत्यभिज्ञा से प्रागभाव की उत्पत्ति के और ध्वस के बाधित होने से तथा अनन्त प्रागभाव तथा ध्वस की उत्पत्ति नाश की कल्पना की अपेक्षा लाघव से भी प्रागभाव और प्रध्वस के उत्पत्ति-विनाश नही मन्तव्य है। यह कथन असत् है। क्योकि जिनमे विरुद्धधर्मो के ससर्ग का सम्भव है, ऐसे कपाल-चूर्ण, रज आदि को भिन्न रूप से ही प्रत्यक्ष होने से आप से वर्णित उनमे एक ध्वस की प्रत्यभिज्ञा की असिद्धि है। और भेद के प्रत्यक्षसिद्ध होते कल्पना लाघव रूप न्याय का अवसर नही रहता है। ऐसा ही पौराणिक उदाहरण

त्वात्। तथा च पौराणिकमुदाहरणम्—'मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः' इति। उत्पत्तिमानभावो ध्वंस इत्यप्यलक्षणम्, पिण्डादेर्घटप्रागभावत्वेनास्मदभिमतस्योत्पत्तिमत्त्वात्तदतिरिक्तस्य चानुपलब्धेः।

तादात्म्यप्रतियोगिकोऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न, घटपटयोस्तादात्म्यस्यैवाप्रमितत्वेन प्रमितनिषेधनियमवादिनः तन्निषेधस्याशक्यत्वात्। प्रमिते घटे प्रमितपटत्वप्रतिषेधे च भूतले घटनिषेधवत् संसर्गाभावापत्तेः। प्रतियोग्यनिष्ठो नित्योऽभावोऽन्योन्याभाव इत्यपि न, विकल्पानुपपत्तेः।

दीनां घटादिध्वंसरूपाणां नानात्वे विष्णुपुराणसंमतिमप्याह—**मही घटत्वमिति**। मही घटत्वं प्रतिपद्यते, एवं यावदणु। अस्य च 'जनैः स्वकर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिरालक्ष्यते ब्रूहि किमत्र वस्त्वि'त्युत्तरार्धः। अयमर्थः—एवमागमापायितया स्वकर्मस्तिमितात्मदृष्टिभिर्जनैर्विकारजातमालक्ष्यते, अतः किमत्र विकारजाते वस्तु ब्रूहि? न किमपीत्यर्थः। प्रध्वंसलक्षणमपि दूषयति—**उत्पत्तिमानिति**। यत्तद्वक्ष्यतीत्युक्तं तदाह—**पिण्डादेरिति**। तथाच प्रागभावेतिव्याप्तिरित्यर्थः।

एवं प्राक्प्रध्वंसाभावौ दूषयित्वाऽन्योन्याभावं दूषयति—**तादात्म्येति**। भेदखण्डनप्रस्तावोक्तं स्मारयत्यधिकविवक्षया—**घटपटयोरिति**। ननु घटे पटत्वमेव निषिद्ध्यताम् तथाच नाप्रसिद्धप्रतियोगितेति, तत्राह—**प्रमिते घट इति**। लक्षणान्तरं शङ्कते—**प्रतियोगीति**। अत्यन्ताभावव्यावृत्त्यर्थं प्रथमं विशेषणम्, नित्यत्वं

भी है कि (पृथिवी घटरूपता को प्राप्त होती है, घट कपालिका हो जाता है, कपालिकाचूर्ण होती है, चूर्ण रज होता है। उससे अणु होता है) इससे ध्वंस में कपालादि अनेक रूपता की सिद्धि होती है, सादृश्यादि से कहीं प्रत्यभिज्ञा भी हो सकती है। उत्पत्ति वाला अभाव ध्वंस होता है। यह ध्वंस का लक्षण भी युक्त नहीं है। क्योंकि घट के प्रागभाव रूप से हमलोगों से अभिमत पिण्डादि के उत्पत्तिमत्त्व से, उनमें लक्षण की अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि हमारे मत से प्रागभाव होने से अभाव रूप हैं, और उत्पत्ति वाले हैं। और उनसे अतिरिक्त अभाव की उपलब्धि नहीं होती है।

तादात्म्य (अभेद) प्रतियोगी वाला अन्योन्याभाव होता है। यह लक्षण भी अयुक्त है, क्योंकि जिसके तादात्म्य को प्रतियोगी माना जाता है, उस घट-पट के तादात्म्य के ही अप्रमित होने से प्रमितप्रतिषेधवादी से उसका निषेध होना अशक्य है। यदि प्रमितघट में प्रमितपटत्व का निषेध माने तो वह अन्योन्याभाव नहीं होगा, किन्तु भूतल में घट निषेध के समान संसर्गाभाव सिद्ध होगा। और (घटादन्यः पटः) इस प्रतीति के अनुसार लक्षण करें कि प्रतियोगी में अवृत्ति

प्रतियोगिशब्देन किमन्यदुच्यते ? कि वा निरूपक ? विरोधी वा ? नाद्य, धर्मिणोऽपि स्वाम्मदन्यत्वेनासभवित्वात्। धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति विवक्षितमिति चेत्, न, अत्यन्ताभावेऽतिव्याप्ते । यत्र यत्र वर्तते तस्यैव धर्मितया ततोऽन्यत्र तस्यावृत्ते । न द्वितीय, धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्त्यसभवात्। धर्मिव्यतिरिक्तनिरूपकावृत्तित्व विवक्षितमिति चेत्, न,

---

चेदनुत्पत्तिविनाशरहितत्वम, एतच्च प्रागभावप्रध्वसयोर्व्यभिचारवारणार्थम । नित्यभावव्यावृत्त्यर्थमभावपदम् । यत्तदधिकविवक्षयेत्युक्त तद्दर्शयिष्यन्विकल्पयति— **प्रतियोगिशब्देनेति । धर्मिणोऽपीति** । अन्यत्व चेत्प्रतियोगित्व तथा सत्यन्योन्याभावादित्यर्थाल्लभ्यते, तस्य प्राधान्येन प्रकृतत्वात् । तथाच प्रतियोग्यनिष्ठ इति कोर्थ ? अन्योन्याभावव्यतिरिक्ते न वर्तत इति, तथा चाभावस्य धर्मिण्यप्यवृत्तिप्रसङ्गेन नित्यमसभव्येव लक्षणमित्यर्थ । नन्वन्यत्वमव न प्रतियोगित्व किंतु धर्मिणोऽन्यत्वम्, तथा च धर्मिव्यतिरिक्ते न वर्तत इति लक्षणार्थ इति शङ्कते—**धर्मिव्यतिरिक्त इति** । तत्र यद्यपि नित्यत्वविशेषणात्प्रागभावादौ न गच्छति, तथाऽप्यत्यन्ताभावे गच्छत्येव, तस्यापि धर्मिव्यतिरिक्ते वृत्तिव्याघातान्नास्ति, अस्ति च नित्यत्वमित्यभिप्रेत्य दूषयति—**अत्यन्तेति** । निरूपकत्व प्रतियोगित्वमिति पक्षेऽप्यसभव एव, धर्मिणोपि निरूपकतया तत्रावृत्तेरसभवादित्याह—**न द्वितीय इति** । न निरूपकत्वमात्र प्रतियोगित्वम, कि तर्हि ? धर्मिव्यतिरिक्तत्व इति । तथाच नाम पव इति शङ्कते—**धर्मिव्यतिरिक्तेति** । कि धर्म्यन्यत्व धर्मिव्यतिरिक्तत्व वा ? धर्मित्वा-

---

नित्य अभाव अन्योन्याभाव = अन्य का अन्य मे अभाव होता है, तो यह भी विकल्पाऽनुपपत्ति से युक्त नही है । क्योकि प्रतियोगी शब्द से, क्या अन्य मात्र कहा जाता है, या निरूपक, अथवा विरोधी कहा जाता है, प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है क्योकि अन्य मात्र कहने पर प्रसङ्ग से अन्योन्याभाव से अन्य समझा जायगा, तब धर्मी को भी, स्वस्माद्, अन्योन्याभाव से अन्य होने से असम्भवित्व होगा । क्योकि अन्योन्याभाव से अन्य मे नही रहता है, ऐसा अर्थ होने पे धर्मी मे भी नही रहना अर्थ होगा वह असम्भव होगा । यदि कहे कि धर्मी से भिन्न मे नही रहता है, यह भिन्न शब्द का विवक्षितार्थ है, तो अत्यन्ताभाव मे अतिव्याप्ति होगी, क्योकि जहाँ-जहाँ अत्यन्ताभाव रहता है, उसीको धर्मी होने से, अत उस धर्मी से अन्यत्र अत्यन्ताभाव की भी वृत्तिता नही रहती है । दूसरा निरूपक पक्ष भी नही बन सकता है । क्योकि धर्मी भी भेद का निरूपक होता है, उसमे अवृत्तित्व का असम्भव है । यदि कहे कि धर्मी से भिन्न निरूपक मे अवृत्तित्व विवक्षित है । तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि धर्मी को भी धर्म्यन्तर से अन्यत्व रहता है ।

धर्मिणोऽपि धर्म्यन्तरादन्यत्वात् । धर्मित्वानधिकरणे न वर्तत इति चेत्, न, असभवित्वात्, निर्धर्मकस्य वस्तुनोऽसभवेन प्रतियोगिनोऽपि धर्मित्वात् । नापि तृतीय, विरोधस्य दुर्घटताया पूर्वमेवाभिहितत्वात् । अस्तु वा य कश्चिदविचारितरमणीय प्रतियोगी, तथापीद भवान् पृष्टो व्याचष्टाम्, किमेको जगत्यन्योन्याभाव ? कि वा बहव ?

सर्वस्य प्रतियोगित्वाद् दुर्लभा तदनिष्ठता ।
द्विधाप्यात्माश्रयत्वाच्च न स्वशब्दो विशेषणम् ॥ ३७ ॥

अन्योऽन्याभावस्य सर्वत्रैकत्वे सर्व एव धर्मी सर्व एव प्रतियोगीति कथ

नधिकरणत्व वा ? आद्ये प्राह—**धर्मिणोपीति** । तथा चासभवस्तदवस्य इत्यर्थ । द्वितीयमाशङ्क्यासभवेन दूषयति—**धर्मित्वेति** । असभवमेव विवृणोति—**निर्धर्मकस्येति** । विरोधी प्रतियोगीति पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति** । **पूर्वमेवेति** । कि सर्वाभावेन ? यत्किचिदभावेन वा ? इति विकल्प्य पूर्वमेव दूषितत्वादित्यर्थ । एव प्रतियोग्यनिरूपणात प्रतियोग्यनिष्ठत्व दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानी तदुपेक्ष्य प्रकारान्तरेण प्रतियोग्यनिष्ठतादुर्घटता व्युत्पादयति—**अस्तु वेत्यादिना** ।

एकत्वे बहुत्वे च यथाक्रम दूषण सगृह्णाति श्लोकेन—**सर्वस्येति** । यद्येको जगत्यन्योऽन्याभावस्तदा सर्व एव तस्य धर्मी, सर्व एव प्रतियोगी, घटप्रतियोगिकपटधर्मिकान्योन्याभावस्यैव घटेऽपि वर्तमानत्वात् । तथा च धर्मिनिष्ठत्वमेव प्रतियोगिनिष्ठत्वमिति प्रतियोग्यनिष्ठता दुर्लभा स्यात् । अथ बहवोऽन्योन्याभावास्तथापि प्रतियोगिमात्रानिष्ठत्व वा ? स्वप्रतियोग्यनिष्ठत्व वा तदाभिप्रेयते ? आद्यस्त्वसभवी, धर्मिणोऽपि यत्किचित्प्रति प्रतियोगित्वेन तदनिष्ठताव्याघातात् । द्वितीये चात्माश्रयत्वप्रसङ्गात स्वशब्दो न विशेषणमिति । द्विधाप्येकत्वे बहुत्वे च दुर्लभा तदनिष्ठतेति श्लोकयोजना । विवृणोति—**अन्योन्येति** । अनवस्था चान्योन्याभावा-

---

धर्मित्वानधिकरण मे नही वर्तता हे, ऐसा भी नही कह सकते हैं, क्योकि असभावितत्व होगा । क्योकि निर्धर्मक वस्तु के असम्भव होने से प्रतियोगी को भी धर्मित्व रहता हे । तृतीय विरोधी पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि विरोध की दुर्घटता को प्रथम कहा गया है । अथवा जो कोई अविचारित रमणीय प्रतियोगी हो, तो भी आप से पूछा जाता है कि आप कहे कि क्या ससार मे एक अन्योन्याभाव है, या बहुत है । वहाँ, एकत्व पक्ष मे—

सब के प्रतियोगित्व होने से प्रतियोग्यनिष्ठता = अवृत्तिता, दुर्लभ है, और दूसरे पक्ष मे आत्माश्रयता से स्वशब्द के विशेषण नही हो सकने से, एकत्व-अनेकत्व दोनो पक्ष मे प्रतियोग्यनिष्ठता दुर्लभ हे ॥ ३७ ॥

अर्थात् अन्योन्याभाव के सर्वत्र एक होने पर सभी धर्मी और सभी प्रतियोगी

तदनिष्ठता सभवेत् ? बहुत्वेऽपि यत्किञ्चिदपेक्ष्य धर्मिणोऽपि प्रतियोगित्वा-त्तदनिष्ठत्वासभवस्तदवस्थ । स्वप्रतियोग्यनिष्ठ इति च विशेषणे स्वशब्दा-भिधेयस्यान्योन्याभावस्याद्याप्यसिद्धे कथ नात्माश्रय ? एतेन प्रतियोगि-निष्ठोऽभावोऽत्यन्ताभाव इत्यपि निरस्तम्, प्रतियोग्यनिरूपणात् । प्रति-पादितन्यायेन सर्वस्य प्रतियोगित्वेनान्योन्याभावस्यापि प्रतियोगिनिष्ठतया विशेषणवैयर्थ्यात्, प्रागभावप्रध्वसयोरपि तत्सभवादतिव्याप्तेश्च ।

किचाभाव एव दुर्निरूप, कुतस्तत्र तत्प्रमाणलक्षणभेदाद् भेदचिन्ता-वतार ? तथाहि—यादृशे भूतलादौ धर्मिणि घटाभावोऽभ्युपेयते,

---

नेकत्वे स्यात्स्वरूपत्वे चानेकत्वासिद्धे । एतेन सर्वत्र तदन्यत्वविशेषण प्रतिक्षिप्त मन्तव्यम् । अत्यन्ताभावलक्षणेऽप्युक्त दूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । अतिदिश्यमान विशदयति—**प्रतिपादितेति** । प्रतियोगिग्रहण यत्किचिन्निष्ठान्योन्याभावव्यावृत्त्यर्थम, नच तेनापि तद्व्यावर्त्यते, तस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगिनि वात्यन्ताभावप्रतियोगिनि वा वर्तमानत्वादतो व्यर्थविशेषणता । अतिव्याप्तिश्च तत्रैवेति भाव । अतिव्याप्त्यन्तर चाह—**प्रागभावेति** । तदधिकरणस्यापि यत्किंचित्प्रतियोगित्वादिति भाव ।

एवमभावलक्षण दुर्निरूपणमित्युक्तम्, इदानी लक्ष्याभावे किंचित्प्रमाणमपि नास्तीत्याह—**किचेति** । ननु भूतले घटो नास्तीत्यबाधितबुद्धिबोध्योऽभाव कथम-पह्नोतु शक्यत इति ? तत्राह—**यादृश इति** । अभ्युपेयते, भवद्भिरिति शेष । स्यादेतत्–सघटेपि भूतले किमिति घटो नास्तीति बुद्धिर्नोदेति, भूतलस्वरूपस्य तदापि

होगे, तो प्रतियोगी मे अवृत्तिता कैसे होगी, और बहुत्व होने पर भी किसी अन्योन्याभाव की अपेक्षा से धर्मी को भी प्रतियोगित्व होने से तदवृत्तित्व का असम्भव तदवस्थ (एकत्व पक्ष तुल्य) रहता है । स्वप्रतियोगी मे अवृत्तित्वे सति, ऐसा विशेषण गाया जाय तो स्वशब्द का अन्योन्याभाव अर्थ होगा, उस अन्योन्याभाव की अभी सिद्धि नही है, अत आत्माश्रयता होगी । इसीसे प्रतियोगी वृत्ति अभाव अत्यन्ता-भाव होता है, यह अत्यन्ताभाव का लक्षण भी निरस्त हो गया, क्योकि प्रतियोगी का निरूपण नही हो सकता है । और उक्त रीति से सब के प्रतियोगी होने से अन्योन्याभाव को भी प्रतियोगी वृत्ति होने के कारण, उसकी व्यावृत्ति के लिये कही गई प्रतियोगि निष्ठता विशेषण मे व्यर्थता सिद्ध होती है, और प्रागभाव प्रध्वस मे भी जिस किसी के प्रतियोगी वृत्तित्व के होने से उसमें भी अत्यन्ताभाव के लक्षण की अतिव्याप्ति होती है ।

और वस्तुत अभाव ही दुनिरूप है, तो उसमे उसके प्रमाण लक्षण के भेद से उसके भेद के विचार की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है । जैसे भूतलादि धर्मी मे घटाऽ-भाव माना जाता है, वैसे ही भूतलादि घटाभाव के व्यवहार का निदान (हेतु =

तादृशस्यैवाभावव्यवहारनिदानत्वमस्तु किमतिरिक्ताभावकल्पनया ? अस्ति तावद्भावाभावोदासीनमाश्रयस्वरूपम्, अन्यथा कीदृशेऽभाव सबध्येत ? न तावद्भाववति, भावाभावयोरविरोधापत्ते । नाप्यभाववति, आत्माश्रयत्वादनवस्थाप्रसङ्गाच्च । ननु किमिद प्रतिकूलतर्कमात्रम् ? उत विपर्ययपर्यवसायितयोदासीनाश्रयस्वरूपोपस्थापकम् ? नाद्य, अनुग्राह्यप्रमाणविरहिणस्तर्कस्य साधनबाधनानङ्गत्वात् । न द्वितीय, सबध्यते चाभाव इति विपर्ययपर्यवमानस्याभावमनिच्छतोऽसिद्धे । सघट भूतलमिति भावव्यवहा-

---

भावात् । अत्र कवलभूतले ? किमिद कैवल्यम् ? घटराहित्यमिति चेत्सोऽय 'निन्दामि च पिबामि च' इति न्याय नूनयति, राहित्यस्यैवाभावत्वादिति, तत्राह—**अस्ति तावदिति**। इद यादृश इत्यस्य विवरणम्, स च न घटरहिते, नापि घटवति, किंतु यत्र घटाभावमवत्र स्वभावतोऽन्यतो वा भवद्भिरभिमन्यते तस्मिन्नित्यर्थ । एतादृश रूप विपर्ययबाधकैरङ्गीकारयति—**अन्यथेति**। अथ सोऽभावोऽन्यस्तेन नात्माश्रयतेति तत्राह—**अनवस्थेति**। अत्र लीलावतीपतिरेताभिरेव युक्तिभि पूर्वपक्षमारचय्य राद्धान्तयाबभूव—नैवम्, विचारासहत्वात्, किमेतत्परिपन्थितर्कमात्रमित्यादिना । तदुद्भावयति दूषयितुम्— **नन्वित्यादिना**। विपर्ययपर्यवसायिना दूषयति— **न द्वितीय इति**। अत्र हि यदि भूतलौदासीन्य न स्यादभावो न सबध्येतेति तर्क, सबध्यते चाभावस्तस्मादस्त्यौदासीन्यमिति च विपर्यय । नचाभावमनिच्छत सबध्यते

विषय) हो सकता है, उस भूतलादि से अतिरिक्त अभाव कल्पना का क्या फल है। और सघट भूतल निर्घट भूतल, इस प्रकार के भावाऽभाव से उदासीन आश्रयस्वरूप भूतल है, कि जिसमे अभाव बुद्धि होती है, अन्यथा = यदि ऐसा भूतल के स्वरूप को नही माने, तो कैसे भूतल मे अभाव सम्बद्ध होता है, इसका निर्णय नही हो सकेगा। क्योकि घट के भाव वाले भूतल मे घट का अभाव नही रह सकता है। यदि रहेगा तो भावाभाव के अविरोध की प्राप्ति होगी। घटाभाव वाले भूतल मे भी घटाभाव नही रह सकता है, क्योकि एक अभाव को मानने पर आत्माश्रयत्व की प्राप्ति होगी, अधिक मानने पर अन्योन्याश्रय चक्रक अनवस्था की प्राप्ति होगी। यहाँ शका होती है कि, क्या यह प्रतिकूल तर्कमात्र किया गया है कि (यदि भूतल का उदासीन स्वरूप नही होगा तो अभाव का सम्बन्ध नही होगा) या विपर्यय मे पर्यवसायिना = स्थिरता, रूप से उदासीन स्वरूप का स्थापक यह तर्क है कि (अभाव सम्बद्ध होता है, अत उदासीन स्वरूप है) इसमे आद्य = तर्कमात्र तो युक्त नही है। क्योकि तर्क से जिसमे सहायता मिले ऐसे अनुग्राह्य प्रमाण के विरह युक्त तर्क को किसी वस्तु के साधन-बाधन की अङ्गता = साधनता, नही होती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि, अभाव सम्बद्ध होता है, इस विपर्ययावसान की अभाव

रस्यापि प्रतिक्षेपकतया स्वव्याघातकरत्वेन जात्युत्तरतापत्ते । तथाहि—कि भाववति भाव ? कि वा तदभाववति ? इति विकल्पदूषणयोस्तत्रापि तुल्यत्वादिति चेत्, मैवम्, अस्या प्रभाकरविभीषिकाया लोकप्रसिद्धभावाभावव्यवहारिण मायावादिन प्रत्यनुत्थानात् । तथाह्यवधीरितसत्त्वासत्त्वाना हेत्वादीना लोकप्रसिद्ध स्वरूपमात्रमुपादाय सर्वोऽय मायावादिन प्रमाणप्रमेयव्यवहार , कस्तत्र परवादिप्रसिद्ध विपर्ययपर्यवसानमाश्रित्य प्रत्यवति-

---

चायमिति वक्तु शक्यम्, अभावस्यैवाप्रमितत्वेनाप्रसिद्धविशेषणतापातादिति भाव । प्रतिक्षेपकतामेव दर्शयन् जात्युत्तरता तर्कस्य विवृणोति—**कि भाववतीति** । न तावद्भाववति भूतले भावो वर्तते, आत्माश्रयात्, अनवस्थानाच्च । नाप्यभाववति, विरोधात् । तस्माद्भावाभावोदासीनमेव भूतल भावाश्रय इति वक्तव्यम्, तथाच तदेव भावव्यवहारालम्बनमस्तु, कृत तदतिरिक्तभावकल्पनयेति सुवचत्वात् जात्युत्तरमिदमित्यर्थ । एवमनूदित दूषयति सिद्धान्ती—**मैवमित्यादिना** । यस्य प्राभाकरस्य प्रमाणसिद्धमेव साधन दूषणाङ्ग न प्रतीतिसिद्धमिति मतम्, त प्रत्येषा विभीषिका स्यान्नास्मान्प्रतीत्यर्थ । अस्यैव प्रपञ्च उत्तरो ग्रन्थ । यत्तु भावप्रतिक्षेपकत्वाज्जात्यु-

---

को नही मानने वाले के मत मे असिद्धि हे । अर्थात् अभाव को नही मानने वाले के प्रति यह नही कहा जा सकता है कि अभाव सम्बद्ध होता है, अत उदासीन भूल है। इत्यादि, क्योकि अभाव के अप्रमित होने से अप्रसिद्ध विशेषणता प्राप्त होती हे । और सघट भूतल है, इस व्यवहार का भी यह तर्क प्रतिक्षेपक (बाधक) होता है, अत स्वव्याघातकरत्त्व से तर्क को जात्युत्तरत्व की प्राप्ति होनी है, इस तर्क का जात्युत्तर दिया जा सकता है, कि भाव क्या भाव वाले मे रहता है, या भाव के अभाव वाले मे रहता है । यहाँ भी विकल्प और दूषण की तुल्यता होने से उक्त तर्क युक्त नही है । अर्थात् भाव वाला भूतल मे भाव रहेगा, तो आत्माश्रयता होगी, अन्य-अन्य भाव को मानने पर अनवस्था होगी, अभाव वाले मे भाव के रहने पर विरोध होगा । अत भावाभाव से उदासी नही भूतल भाव का आश्रय होता है, यह कहना होगा । तो वह भूतल ही भावव्यवहार का विषय हो सकता है, उससे अतिरिक्त भावकल्पना की आवश्यक्ता नही हे, यह जाति उत्तर है । यह शका युक्त नही, क्योकि जो प्राभाकर प्रमाणसिद्ध साधन को ही दूपणाङ्ग मानता हे, प्रतीतिसिद्ध को नही, उस प्राभाकर के प्रति जो यह विभीषिका, जात्युत्तर है, उस विभीषिका का लोकप्रसिद्ध भावाभाव का व्यवहार करने वाले मायावादी के प्रति उत्थान (सम्बन्ध) नही हो सकता है । क्योकि अनादृत सत्त्वासत्त्व विचार वाले हेतु आदि के लोकप्रसिद्ध स्वरूप मात्र को ग्रहण करके मायावादी का यह सब प्रमाण प्रमेय व्यवहार होता है, तो वहाँ परवादी से प्रसिद्ध विपर्ययपर्यवसान का

ष्ठमानस्योपालम्भसंभव ? एतेन भावव्यवहारप्रतिबन्दिग्रह परास्त, तत्रापि दुर्घटताया स्वीकृतत्वात् । तदेवमवधीरितभावाभावभूतलादेरुपलम्भादेवाभावव्यवहारसभवे तदतिरिक्ताभावाभ्युपगमो निष्प्रमाणक एव । ननु कथ निष्प्रमाणकता ? चक्षुश्चाक्षुषभावातिरिक्तग्राहकमिन्द्रियत्वाद् घ्राणवत्, निर्घट भूतलमिति विज्ञानमेतद्विज्ञानालम्बनभावमात्रातिरिक्तालम्बनमेतद्भावमात्रालम्बननिर्विकल्पकेतरज्ञानत्वात्सघट भूतलमिति ज्ञान-

---

न्तरमिति, तन्न, व्याघातकत्वाभावात्प्रत्युतानुगुणमेवेत्याह—**एतेनेति** । एव त्रिचतुरकक्षाविश्रान्तलोकप्रसिद्धिमादाय विपर्ययपर्यवसानमभवेन दृढतरैस्तर्कैर्नास्तिकाभावप्रतिक्षेप प्रपञ्चितमुपसहरन्ति—**तदेवमिति** । मानमनोहरकारीयमनुमानमभावसिद्धावुदाहरन्ति—**ननु कथमित्यादिना** । अत्रातिरिक्तत्वमनधिकरणत्वम्, तथा सति चाक्षुषभावत्वानधिकरणत्व चाक्षुषत्वानधिकरणत्वाद्वा ? भावत्वानधिकरणत्वाद्वा ? आद्ये ग्राहकत्व व्याहतमिति भावत्वानधिकरणमभावस्तच्चाक्षुषत्व चेत्यभावसिद्धि । दृष्टान्ते चाक्षुषत्वानधिकरण गन्धमादाय साध्यसिद्धि । अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यै चाक्षुषग्रहणम् । अनुमानान्तर चाह—**निर्घटमिति** । अत्राप्येतद्विज्ञानालम्बनभावत्वानधिकरणत्वमेतज्ज्ञानालम्बनत्वानधिकरणत्वान्न सभवति, एतद्विज्ञानस्य तादृशालम्बनत्वव्याघातात् । तस्माद्भावमात्रत्वानधिकरणमेवैतद्विज्ञानालम्बनमभाव सिद्ध । दृष्टान्ते त्वेतद्विज्ञानालम्बनत्वानधिकरणत्वमादाय साध्यसिद्धि । अत्र चाप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यर्थमेतज्ज्ञानपदम् । निर्घट भूतलमिति ज्ञानस्यालम्बनभूतो यो भूतलात्मकोऽभावस्तन्निष्ठगुणसामान्यादिश्च तन्मात्रालम्बन यन्निर्विकल्पक तद्व्यतिरिक्तत्वे सति ज्ञानत्वादिति हेत्वर्थं । एतद्विज्ञानालम्बनीभूतभूतलादिनिर्विकल्पकव्यभिचारनिरासार्थं निर्विकल्पकेतरेत्युक्तम् । घटादिव्यवच्छेदाय ज्ञानपदम् । एतच्च साध्य

आश्रयण करके प्रत्यवस्थित (प्रतिवादी) होने वाले का उपालम्भ क्या हो सकता है, कि अभाववत् भूतल ही भावव्यवहार का विषय होगा । इस लोकसिद्ध व्यवहार के स्वीकार से ही भावव्यवहार विषयक प्रतिबन्दी का ग्रह (जाति उत्तर) परास्त हो गया, क्योकि उस भाव मे भी दुर्घटता का स्वीकार किया जाता है । अत उक्त रीति से भावाभाव निरपेक्ष भूतलादि के ज्ञान से ही अभाव व्यवहार के सम्भव होते, उससे भिन्न अभाव का अभ्युपगम (स्वीकार) निष्प्रामाणिक ही है । यहाँ यदि शका हो कि अभाव निष्प्रामाणिक कैसे है । क्योकि (चक्षु, चाक्षुष (चक्षु ग्राह्य) भाव वस्तु से अतिरिक्त (अभाव) का ग्राहक है, इन्द्रिय होने से, घ्राण के सामान । निर्घट भूतल है, यह विज्ञान । इस विज्ञान का विषय भावमात्र से अतिरिक्त (अभाव) विषय वाला है । इसका भावमात्र विषय निर्विकल्पक से अन्य का ज्ञान होने से, सघट भूतल है, इस ज्ञान के समान) ये दो अनुमान रूप

वदिति प्रमाणे जाग्रतीति चेत्, मैवम्, भावातिरिक्तग्राहक भावातिरिक्तालम्बनमिति च तात्त्विकपदार्थान्तरस्य प्रसाधनम्? उत व्यावहारिकस्य? आहोस्वित्साधारणस्य? आद्ये दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। इतरयोश्च सिद्धसाधनता। तदेव प्रमाणलक्षणाना दुर्निरूपत्वादविचारितरमणीय एवाय प्रमाणव्यवहार इति सिद्धम्।

करणस्वरूपानिरूपणाच्च—प्रमितिकरण प्रमाणमित्यपि न, तथा हि—

विकल्प्य दूषयति—**मैवमित्यादिना।** तथा चक्षुश्चाक्षुपभावग्राहकत्वे सत्यतिरिक्तग्राहकत्वानधिकरण वाह्येन्द्रियत्वात् घ्राणवत्, निर्घट भूतलमिति ज्ञानमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनत्वानधिकरणमेतद्भावालम्बनत्वे सत्यतिरिक्तालम्बनान्यत्वात्। एतद्भावमात्रविषयनिर्विकल्पकवदिति सप्रतिसाधनत्वमपि द्रष्टव्यम्। एव प्रमाणखण्डनप्रसङ्गे दण्डकसूत्रोक्ता बहव पदार्था खण्डिता। तथाहि—भावाभावखण्डने प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेन प्रमेयजात खण्डितम्, सशयदृष्टान्तावयवनिर्णया अपि प्रागेव खण्डिता, प्रमाणखण्डनेन प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतत्वलक्षणसिद्धान्तोपि खण्डित, उपरिष्टाच्च क्वचित्खण्डयिष्यन्ते। तत्र प्रमाणखण्डनप्रघट्टकस्याद्वैतागमाविरोधोपयोग दर्शयति—**तदेवमिति।** अत एव न वास्तवाद्वैतपरागमस्य तद्विरोध इति सिद्धमिति शेष।

मुक्तेषु मानैर्निजलक्ष्मसूच्चैर्मुक्तेपुमानै खरतर्कसार्थै।
मुक्तेपु मानै प्रतिवादिपु स्वैर्मुक्तेषुमानै श्रुतिरन्यवैरे॥

प्रमाकरण प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणम्। तच्च प्रमाणखण्डनेन पूर्व खण्डितमिदानी करणखण्डनादपि तद्गर्भलक्षण खण्डितमेवेति मन्वान करणलक्षण खण्डयति—**करणेति।** च समुच्चये, न केवल प्रमितेरनिरूपणादपितु करणानिरूपणाच्चेत्यर्थ। तत्र प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्ताविति भाष्य व्याचक्षाणेनोद्योतकराचार्येणो-

---

प्रमाण वर्तमान है। यह शका होती है, परन्तु युक्त नही है, क्योकि (भावातिरिक्त-ग्राहक=भावातिरिक्त आलम्बन वाला) इन वाक्यो को तात्त्विक (सत्य) पदार्थान्तर का प्रसाधन रूप मानते है, या व्यावहारिक का अथवा साधारण का प्रसाधन रूप मानते है। यहाँ आद्य पक्ष मे दृष्टान्त को साध्यविकलता है। दृष्टान्त मे तात्त्विक साध्य नही है, और अन्य दोनो पक्षो मे सिद्धसाधनता है, व्यावहारिक साधारण अभाव बुद्धि का विषय माना ही जाता है। अत उक्त रीति से प्रमाण लक्षणो की दुर्निरूपता के अविचार से ही सुन्दर भासने वाला प्रमाणो का व्यवहार है। यह सिद्ध हुआ।

और करण के स्वरूप का निरूपण नही हो सकने से प्रमिति का करण प्रमाण कहा जाता है, यह भी प्रमाण का लक्षण नही हो सकता है, क्योकि, क्या,

किं (१) कारकान्तरेऽचरितार्थं कारकं करणम् ? उत (२) अयोगव्यवच्छेदेन फलसाधनम् ? (३) कर्तृव्यापारगोचरो वा ? (४) व्यापारवत्त्वे सति फलाव्यभिचारि वा ? (५) चरमव्यापारं वा ? (६) अनन्तरफलं वा ? (७) यदाभावात्कर्तृकर्मणी क्रिया न जनयतस्तद्वा ? नाद्य, कुठारादौ कारकान्तरे चरितार्थस्य हस्तादेरकरणत्वप्रसङ्गात् । न च तदकरणमेव, करेण कुठारेण देवदत्तश्छिनत्तीति करकुठारयो करणत्वप्रसिद्धेस्तुल्यत्वात् । अन्यथा कर्मकर्तृकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणेष्वनन्तर्भावाद्धस्तादे. सप्तमकारकत्वाङ्गीकारापत्तेः । कारकान्तर इत्यत्रान्तरशब्देन करणं वा ?

पलब्धिहेतुः प्रमाणमिति प्रमाणसामान्यलक्षणमुक्त्वा प्रमातृप्रमेययोरतिव्याप्तावाशङ्कितायां तच्छेदनाय तदर्थं निर्वदता यानि लक्षणान्युक्तानि, तान्युद्भावयति—**कारकान्तरेत्यादिना** । कर्ता खलूद्यमननिपातनव्यापाराविष्टकुठाररूपकरणं निष्पादयत कारकान्तरेऽस्ति चरितार्थत्वम्, एवं कर्मणोऽपि, करणव्यापारस्य कर्मविषयतया कर्माभावे करणाभावात् । अधिकरणमपि कर्त्रादिपूपक्षीणम् । नहि निरधिष्ठानं छिनत्ति, तद्द्वारा च करणेऽपि तेन कर्तृकर्माधिकरणव्यवच्छेदार्थं कारकान्तरेऽचरितार्थमिति विशेषणम्, अत्र च सम्प्रदानापादानयोर्व्यवच्छेदाय सार्वत्रिकमिति विशेषणं द्रष्टव्यम् । ते ह्यसार्वत्रिके, दानपतनयोरेव सम्प्रदानापादानापेक्षणादिति । अथवा तयोरपि कारकान्तरे चरितार्थत्वम् । नहि प्रतिग्रहीत्रभावे दातुरुद्योग, नापि वृक्षाद्यभावे तद्देशस्थपर्णादिसिद्धिरिति व्यापारव्यवच्छेदार्थं कारकग्रहणम् । **अयोगेति** । नहि जातु साधकतमे करणे सति फलानिष्पत्तिस्तेन च कर्त्रादिव्यावृत्ति, सत्स्वपि तेषु फलानिष्पत्तिसम्भवात् । व्यापारस्य कर्तृकर्मणोश्च निरासाय व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिविशेषणद्वयम् । कर्त्रादिव्यावृत्त्यर्थं चरमेति विशेषणम् । **यदाभावादिति** । कर्तृकर्मणो क्रियानिर्वर्तकत्वाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगि वेत्यर्थ । आद्येऽव्याप्तिमाह—**कुठारादाविति** । नन्वकरणमेव करादिस्तेन तदगमनं न दोषायेति, तत्राह—**न च तदिति** । इतोऽपि हस्तादे करणत्वं वक्तव्यमित्याह—**अन्यथेति** । एवं समुदाये दूषणमुक्त्वाऽवयवविवेचनेनापि दूषयति- **कारकान्तर इत्यत्रेति** । अत्रान्तरशब्दोऽ-

---

कारकान्तर मे अचरितार्थ कारक करण कहा जाता है, या अयोगव्यवच्छेद = व्यावृत्ति, द्वारा फलसाधन को कहा जाता है, या कर्ता के व्यापार का बिपय को, या व्यापारवत्त्वयुक्त फलाऽव्यभिचारी को, या अन्तिम व्यापार वाले को, या अनन्तर फल वाले को अथवा जिसके अभाव रहते कर्ता और कर्म क्रिया को उत्पन्न नही कर सकते हे, वह करण कहा जाता हे, इनमे प्रथम पक्ष युक्त सही हो सकता हैं, क्योंकि उसके अनुसार कुठारादि कारकान्तर मे चरितार्थ हस्तादि को अकरणत्व प्राप्त होता है, यदि कहा जाय कि हस्तादि अकरण ही है, तो यह कहना नही बन सकता है, क्योकि (करेण कुठारेण देवदत्तश्छिनत्ति) कुठार द्वारा हाथ से देवदत्त

कर्तृकर्मणी वा विवक्ष्येते ? न तावत्करणम्, करणस्यैवाद्याप्यसिद्धेरात्माश्रयत्वात्। नेतरे, तयोरेवातिव्याप्ते । न हि कर्ता कर्तरि चरितार्थं, नापि कर्मणि कर्म, तयो करणे चरितार्थत्वाङ्गीकारात्। नापि द्वितीय, सामग्र्यामतिव्याप्ते । तस्या सत्या नियमेन फलस्य भावात्। अपूर्वादिव्यवहितफलस्य यागादेरकरणत्वापत्तेश्च। न तृतीय, कर्तुरात्मन प्रयत्नाख्यव्या-

---

विशेषवचन ? अन्यवचनो वा ? आद्ये वैयर्थ्यम्। नहि कारकमात्रे चरितार्थ किचिदस्ति, यद्व्यवच्छेद्यते। द्वितीये किं कस्मादन्यत् ? कि कर्त्रादेरन्यत्करण विवक्ष्यते ? किंवा करणादतिरिक्तकर्तृकर्मणी ? इत्यर्थ । **करणस्यैवेति**। एव तदाऽर्थ मपद्यते—करणकारकेऽचरितार्थ कारक करणम्, तथा चात्माश्रयत्वमित्यर्थ । कर्तृकर्मणोरचरितार्थं कारक करणमिति द्वितीयपक्षे दूषणमाह—**तयोरेवेति**। अथ तयो कर्तृकर्मणो क्व चरितार्थतेति ? तत्राह—**तयोरिति**। नच कर्तरि अचरितार्थत्वमपि, कर्तृव्यापारविषयतया कर्मवदस्यापि तत्र चरितार्थत्वात्। नचाधिकव्यापारत्वादचरितार्थता, तदनिरूपणात्। अयोगव्यवच्छेदेनेत्यादिद्वितीयलक्षण दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। सामग्र्या फलेनायोगव्यवच्छेद दर्शयति—**तस्यामिति**। नच सापि करणमेव, निर्व्यापारत्वात्, करणादिमाकल्यरूपत्वाच्च । अव्याप्ति चाह—**अपूर्वादीनि**। सनि भवत्येवेति ह्ययोगव्यवच्छेद । न चायमपूर्वव्यवधानेन विलम्बितफलसाधनस्य यागस्याऽस्तीत्यर्थ । कर्तृव्यापारगोचर इति तृतीय पक्ष दूषयति—**न तृतीय इति**।

काटता है, इस प्रकार से कर और कुठार मे करणत्व की प्रसिद्धि की तुल्यता है। अन्यथा—यदि हस्तादि मे करणता नही हो तो, कर्म, कर्ता, करण, सप्रदान, अपादान और अधिकरण, इनके अन्तर्भाव नही होने से हस्तादि मे सप्तम कारकत्व को मानना होगा। और कारकान्तर, इसके अन्तर्गत, अन्तर शब्द से करण की या कर्त्ता और कर्म की विवक्षा करते है, करण की विवक्षा तो हो नही सकती है। क्योकि करण ही की अभी सिद्धि नही हुई है, और करण के साधन मे करण के आश्रयण से आत्माश्रयत्व की भी प्राप्ति होती है। ओर कर्ता तथा कर्म की विवक्षा करने पर उन दोनो मे ही अतिव्याप्ति होगी, क्योकि कर्त्ता कर्ता मे चरितार्थ नही होता है, कर्म कर्म मे चरितार्थ नही होता है, किन्तु उन दोनो को करण मे चरितार्थ माना जाता है। अयोगव्यवच्छेद द्वारा फलसाधनत्व रूप दूसरा लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि इसकी सामग्री मे अतिव्याप्ति होनी है। सामग्री के रहने पर नियम से फल का भाव (सत्त्व) होता है। और अपूर्व (अदृष्ट), आदि के व्यवधानपूर्वक फल वाले यज्ञादि मे अकरणत्व की प्राप्ति होती है, कर्तृव्यापार गोचरत्व रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि कर्ता के अपने प्रयत्न

पारकर्मणि शरीरे तद्व्यापाराकरणे लक्षणस्य सद्भावात्। साक्षादिति विशेषणे च आत्मनो मनश्चालनव्यापारे मनस करणत्वप्रसङ्ग। न च तत्र मन करणम्, तद्व्यापारे कर्मतयैवावस्थानात्। हस्तादिव्यापारव्यवधानेन कर्तृव्यापारगोचरे कुठारादावव्याप्तेश्च। न चतुर्थ, कर्तुरपि करणत्वप्रसङ्गात्। तस्यापि करणादिव्यापारवत फलाव्यभिचारित्वात्। अव्यवहितफलादर्शनान्न तस्य फलाव्यभिचारितेति चेत्, न, हस्तादेर्योगादेश्च व्यवहित-

---

य ब्रल्वात्मन शरीरचलनाय प्रयत्न, तस्य तावच्चलनक्रिया क्रियाविशिष्ट वा शरीर विषय। न च तस्मिश्चलने तयो करणत्वम्, प्रथमे स्वस्यैव स्व प्रति करणत्वापातात। द्वितीयेऽपि विशिष्यन पूर्वकालीनक्रियाया करणत्वापातादित्यतिव्याप्तिरित्यर्थ। ननु न कर्तृव्यापारमात्रगोचरत्व विवक्षितमपि त्वव्यवहितो य कर्तृव्यापारस्तद्गोचरत्वम्। न च प्रयत्नस्तादृशस्तस्यात्ममन सन्निकर्षव्यापारव्यवहिततया तथात्वाभावादिति, तत्राह—**साक्षादिति चेति।** यदि च साक्षाद्विषयत्व तदा कुठारादावव्याप्तिरपि स्यात। नहि कुठारस्य साक्षादात्मव्यापारविषयत्वमस्तीत्याह—**हस्तादीति।** न च हस्तस्यापि कर्त्रन्तर्भाव, हस्तेनेत्यप्रयोगापातादिति भाव। साक्षाद्व्यापार्यमन प्रभृतिक्रियायामपि करणतापत्तिरित्यपि द्रष्टव्यम्। व्यापारवत्त्वे सतीत्यादिचतुर्थ पक्ष दूषयति—**न चतुर्थ इति।** कर्तरि लक्षण वर्तयति—**तस्यापीति।** ननु स्वानन्तरक्षणफलवत्त्व फलाव्यभिचारित्वम्, नचैतत्कर्तु सार्वत्रिकमस्तीति शङ्कते—**अव्यवहितेति।** तर्ह्यव्याप्तिरित्याह—**न हस्तादेरिति।**

नामक व्यापार के कर्मस्वरूप शरीर मे उस व्यापार के अकरण मे लक्षण की प्राप्ति होती है। साक्षात् विशेषण दिया जाय कि कर्ता के व्यापार का जो साक्षात् विषय होता है वह करण होता है तब तो शरीर मे अतिव्याप्ति नही होगी, क्योकि आत्मा के प्रयत्न के साक्षात् विषय मन होता है, और मन के व्यापार का विषय शरीर होता है, तो भी आत्मा के मन के चालन = प्रेरणा रूप व्यापार मे मन को करणत्व प्राप्त होगा, क्योकि उस चालन मे आत्मा के व्यापार का मन साक्षात् विषय होता है, परन्तु उस व्यापार मे कर्मरूप मन रहता है, करण नही, अत अतिव्याप्ति होती है। और हस्तादि के व्यापार के व्यवधानपूर्वक कर्ता के व्यापार के विषय कुठारादि मे लक्षण की अव्याप्ति भी होती है। व्यापारवान् होता हुआ फलाऽव्यभिचारी होना यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही हो सकता है। क्योकि कर्ता को भी करणत्व प्राप्त होता है, अत करणादि रूप व्यापार वाले उस कर्ता को भी फलाऽव्यभिचारित्व रहता है, यदि कहा जाय कि कर्ता के व्यापार के अव्यवहित फल के नही देखने से उस कर्ता को फलाऽव्यभिचारित्व नही है, तब तो व्यवहित फल वाले

फलस्याकरणत्वापातात् । एतेन पञ्चमषष्ठविकल्पावप्यपास्तौ, चतुर्थपक्षोक्तदोषानुषङ्गादेव । नापि सप्तमोऽदृष्टेश्वरेच्छादेरपि करणत्वप्रसङ्गात् । तद्भाव एव क्रियानिष्पत्ते । तदेव करणानिरुक्ते प्रमाकरण प्रमाणमित्यलक्षणम् ।

अथाधुनिकनीत्या कर्तृत्वानधिकरणत्वे सति प्रमासार्वत्रिक कारक प्रमाकरणम् । न च कर्तृत्वानिरुक्ति, प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वस्य तत्त्वात् । नापि सार्वत्रिकत्वानिरुक्ति, प्रमाकारकाप्रमाकारकावृत्तिप्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वस्यैव सार्वत्रिकत्वपदेनाभिलापात् ।

चरमव्यापारमनन्तरफलमिति पक्षयोरप्युक्तदूषणमतिदिशति—**एतेनेति** । कर्तुरपि करणत्वापानान विशेषणत्वे हस्ताद्यव्यापनादित्युक्तदोषसाम्यादित्यर्थ । यदभावादित्यादिसप्तमपक्षे तिव्याप्तिमाह—**अदृष्टेति** । कर्तृकर्मणोरतिव्याप्तिश्च, तयोरपि स्वाभावे क्रियाजनकत्वाभावात् । सोपयोग करणखण्डनमुपसहरति—**तदेवमिति** ।

ननु कथ करणानिरुक्ति ? जरद्रीतेरनिर्वाहेपि नूतनरीतेरपरिप्लुतत्वादिति—**अथेति** । इद चानीश्वरप्रमाणस्यैव लक्षणम् । कर्मकारकव्यावृत्त्यर्थं सार्वत्रिकग्रहणम् । नहि सर्वा प्रमा कर्मजन्या, अनुमित्यादिष्वभावात । सार्वत्रिककर्तृव्यावृत्त्यर्थ कर्तृत्वानधिकरणेत्युक्तम, तदेवावयवश उत्पादयति दूषणवैशद्याय—**न च कर्तृत्वेत्यादिना** । सुषुप्तिप्रयत्नाद्यावव्याप्तिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभावानधिकरणत्वग्रहणम् । कारकस्य प्रमाया सार्वत्रिकता निर्वक्ति—**प्रमाकारकेति** । प्रमाकारकेषु वर्तमानत्वे सत्यप्रमा-

---

हस्तादि और यज्ञादि को भी अकरणत्व प्राप्त होगा । इसीसे पञ्चम और षष्ठ पक्ष भी अपास्त हो गये, क्योकि चतुर्थ पक्ष मे वर्णित दोषो का उनमे भी सम्बन्ध होता है । जिसके अभाव से कर्ता, कर्म, क्रिया नही कर सके, यह सप्तम लक्षण भी युक्त नही, क्योकि अदृष्ट ईश्वरादि को भी इस लक्षण के अनुसार करणत्व प्राप्त होना है, जिससे ईश्वर अदृष्ट देश, कालादि के रहते ही क्रिया की सिद्धि होती है । अत उक्त रीति से करण की अनिरुक्ति होने के कारण प्रमा का करण प्रमाण होता हे । यह लक्षण नही सिद्ध हो सका ।

आधुनिक रीति से प्रमाण का लक्षण हे कि 'कर्तृत्वाऽनधिकरणत्वयुक्त' प्रमा का सार्वत्रिक कारक = हेतु, प्रमाकरण होना है । यह अनीश्वर प्रमा का ही लक्षण हे । और कर्मकारक की व्यावृत्ति के लिये सर्वत्र होने बाला सार्वत्रिक का ग्रहण है । लक्षणघटक कर्तृत्व की अनिरुक्ति नही कही जा सकती है, क्योकि प्रयत्न के अत्यन्ताभाव के अनधिकरणत्व कर्तृत्व है । सार्वत्रिकत्व की भी अनिरुक्ति नही है, क्योकि प्रभाकारक वृत्ति प्रमेयत्वादि, अप्रमाकारक वृत्ति दोषादि, भिन्नत्वयुक्त प्रमाकारक वृत्ति अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगित्व को ही सार्वत्रिकत्व पद से कहा

न च कारकत्वानिरुक्तिः, व्यापारवत्कारणं कारकमिति निर्वचनात्। न च व्यापारानिरुक्तिः, तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति हि तन्निरुक्तेरिति मतम्, मैवम्, सर्वस्योदीरितखण्डनालङ्घनाऽजङ्घालत्वात्। तथा हि—न तावत्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम्, विकल्पासहत्वात्। प्रयत्नात्यन्ताभावः किमेकः ? अनेको वा ? एकत्वे तत्रैवातिव्याप्तिः, तस्य तदनधिकरणत्वेऽपि कर्तृत्वाभावात्। नापि भावत्वे सतीति विशेषणाददोषः, भावत्वस्य

कारकवृत्तित्वं यत्तदनधिकरणत्वे सति प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वमित्यर्थः। प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं प्रमेयत्वादेरप्यस्तीति तत्परिहाराय प्रमाकारकेत्यादि। तस्य सर्ववृत्तित्वेन प्रमाकारकेन्द्रियादिवृत्तित्वे सत्यप्रमाकारकदात्रादिवृत्तित्वादनन्तद्राहित्यविशेषणेन तन्निवृत्तिः। तावन्मात्रोक्तौ च प्रमाकारकैकदेशवृत्तिषु तत्कादाचित्कवृत्तिषु चाप्रमाकारकमात्रवृत्तिषु चातिव्याप्तिः स्यात्तदर्थं प्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वग्रहणम्। अथ किमिदं कारकत्वं यद्विशेषस्येदं सार्वत्रिकत्वं निरुच्यते इति ? तत्राह—**न चेति**। कारकव्यापारे कारणलक्षणवति कारकत्वपरिहाराय व्यापारवदित्युक्तम्। अथ व्यापार एव क इति ? तत्राह—**न च व्यापारेति**। तत्कारकेण जन्यत्वे सति तत्कारकजन्यक्रियां प्रति जनकश्च यः स व्यापार इत्यर्थः। तज्जन्यजनकत्वं कारकाणामस्तीति तन्निवृत्त्यर्थं तज्जन्य इत्युक्तम्। क्रियायामेवातिव्याप्तिपरिहाराय तज्जन्यजनक इत्युक्तम्। एवमुपपाद्य दूषयति—**मैवमिति**। उदीरितखण्डनाया लङ्घनाऽजङ्घालत्वात्, अजवत्वादित्यर्थः। उदीरितखण्डनमेव यथायथं दर्शयति—**तथा हीत्यादिना**। **तत्रैवातिव्याप्तिः**। प्रयत्नात्यन्ताभावस्यैकत्वेन स्वाधिकरणत्वाभावादित्यर्थः। ननु

जाता है। अर्थात् प्रमाकारक, अप्रमाकारक मे अवृत्तित्व युक्त प्रमाकारक वृत्ति अत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्व सार्वत्रिकत्व है। कारकत्व की भी अनिरुक्ति नही है। व्यापार वाला कारण कारक कहा जाता है। यह कारकत्व का निर्वचन है। व्यापार की भी अनिरुक्ति नही है, क्योकि कारकजन्य हो और कारकजन्य का जनक हो वह व्यापार कहा जाता है, यही व्यापार की निरुक्ति मानी गई है। यह नवीन लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि इन सब को कथित खण्डना के लङ्घना मे अजङ्घालत्व = अजवत्व = असमर्थत्व है। क्योकि प्रयत्नाऽत्यन्ताऽभावानधिकरणत्व रूप कर्तृत्व नही सिद्ध हो सकता है, क्योकि वह विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि प्रयत्न का अत्यन्ताभाव एक है, या अनेक है, एकत्व होने पर उसीमे अतिव्याप्ति है। क्योकि उस प्रयत्नाभाव को प्रयत्नात्यन्ताभाव का अनधिकरणत्व है, अपने मे आप नही रह सकता है, तो भी कर्तृत्व नही है। अतः लक्षण की अतिव्याप्ति है। भावत्वे सति इस विशेषण से दोष नही रहेगा, क्योकि अत्यन्ताभाव

प्रागेव निरस्तत्वात । अत्यन्ताभावानामनेकत्वेऽपि सर्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व लक्षणम् ? उत यत्किंचित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वम् ? न प्रथम, लक्षणस्यासभवित्वात् । स्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वेऽपि चेतनान्तरप्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणत्वात् । न चरम, प्राचीनदोषानुषङ्गात् । किचैकदेशवृत्तीना सयोगविभागशब्दात्मविशेषगुणानामव्याप्यवृत्तित्व नाम स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमित्युपगच्छता कथमात्मन प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व सभवेत् ? प्रयत्नात्यन्ताभावस्यापि तत्रैव वृत्ते । न च स्वतन्त्र कर्तेत्यपि युक्तम्, स्वातन्त्र्यानिरुक्ते । तथाहि—कि

वहव एवान्यन्ताभावास्ततश्च तस्याप्यत्यन्ताभावान्तरवत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति, तत्राह—**अत्यन्ताभावानामिति** । असभवित्वमेव दर्शयति—**स्वप्रयत्नेति** । नह्येकस्यैव सर्वपुरुषप्रयत्ना सभवन्ति, सर्वसर्वशक्तित्वप्रसङ्गादित्यर्थ । **प्राचीनेति** । यत्किचित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्वमेकैकप्रयत्नात्यन्ताभावेष्वेवास्ति, स्वस्वाधिकरणत्वाभावादतोऽतिव्याप्तिस्तदवस्थेत्यर्थ । किच त्वद्दर्शनपराहत चेद कर्तृलक्षणमित्याह—**किचेति** । यदिद सयोगादीनामव्याप्यवृत्तित्व भवद्भिराद्रियते, तन्नागवृत्तित्वम्, निरशत्वादात्मादीनाम्, साशेप्यप्रत्यक्षतापत्ते । तस्मात्तत्रैव वृत्तिस्तत्रैवावृत्तिरिति, स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमेवाव्याप्यवृत्तित्वमिति मन्तव्यम् । तथा चात्मैव प्रयत्नात्यन्ताभावाधिकरणमिति तदनधिकरणत्व लक्षणकर्तृत्वमसभव्येवेति खण्डनार्थ । प्रसङ्गात्कर्तृत्वलक्षणान्तरमपि दूषयति—**न चेति** । **तत्प्रयोक्तृत्वं** कारकप्रयोक्तृत्वमित्यर्थ । कुठारादिकारकप्रयोक्तरि हस्तादावतिव्याप्तिवारणाय

भाव नही है यह भी नही कह सकते है । क्योकि भावत्व का प्रथम ही निराकरण किया गया है । प्रयत्नात्यन्ताभाव के अनेक होने पर भी सर्वप्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व लक्षण है, या यत्किञ्चित्प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व लक्षण है । लक्षण के असम्भवितत्व होने से प्रथम पक्ष युक्त नही है । क्योकि अपने प्रयत्न के अत्यन्ताभाव के अनधिकरण होते भी अन्य चेतन के प्रयत्न के अत्यन्ताभाव का अधिकरणत्व ही रहता है । पूर्व दोष की प्राप्ति से चरम पक्ष भी युक्त नही है । क्योकि एक-एक प्रयत्नात्यन्ताभाव भी प्रयत्नात्यन्ताऽभाव का अनधिकरणत्व रहता है, अत उनमे अतिव्याप्ति होती है । और दूसरी बात है कि अपने आश्रय के एकदेश मे रहने वाले, सयोग, विभाग, शब्द, और आत्मा के विशेष गुणो के अव्याप्यवृत्तित्व नामक स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्व को मानने वाले के मत मे आत्मा को प्रयत्नात्यन्ताभावानधिकरणत्व कैसे होगा, क्योकि प्रयत्न रहते भी प्रयत्नात्यन्ताभाव की भी उसी आत्मा मे वृत्तिता रहती है । (स्वतन्त्र कर्ता) स्वतन्त्र कर्ता कहा जाता है । यह लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि स्वतन्त्रता की निरुक्ति नही हो

कारकान्तरनिरपेक्षतया फलजनकत्व स्वातन्त्र्यम् ? किं वा कारकाप्रयोज्यत्वे सति तत्प्रयोक्तृत्वम् ? नाद्य, असभवात्, न हि करणादिनिरपेक्षस्य कर्तु फलसाधकता दृष्टचरो । न द्वितीय, सेश्वरवादे सर्वचेतनानामीश्वरप्रयोज्यत्वात् । अनीश्वरवादेऽपि राजादिप्रेरितभृत्यादेरकर्तृत्वापत्त । न च तत्र शरीरादेरेव प्रेर्यत्वम्, नात्मन इति वाच्यम्, चेतनविशिष्टस्य शरीरस्य प्रेर्यतया चेननस्यापि प्रेर्यत्वात् । प्रेरकत्व च तदनुकूलप्रयत्नाधारत्वम्,

---

कारकाप्रयोज्यत्वविशेषणम् । असभवमेव विवृणोति—**न हि करणादीति ।** द्वितीयेऽपि तार्किकमतेऽस्मदादिकर्तृत्वव्याप्तिरित्याह—**सेश्वरेति ।** तेष्वव्याप्तिरिति शेष । अथानीश्वरवादिन प्रति किं दूषणमिति ? तत्राह—**अनीश्वरेति ।** तत्रापि भृत्यादिषु कर्तृत्वव्याप्तिरित्यर्थ । ननु तत्र कर्तुरात्मनो न प्रेर्यत्वमुभयत्र, किं तर्हि शरीरस्यैवातो नाव्याप्तिरिति, तत्राह—**न च तत्रेति ।** न तावदीश्वरादि शरीरमात्र प्रेरयति, तस्यासमर्थत्वात्तत्र । ततश्चेतनविशिष्ट शरीर प्रेरयतीति वक्तव्यम्, तथा च विशेषणीभूतचेतनस्यापि प्रेर्यत्वमस्त्येवेत्यर्थ । जीवस्य निष्क्रियत्वेनेश्वरस्य तत्प्रेरकत्व कथ स्यादिति ? तत्राह—**प्रेरकत्वं चेति ।** भृत्यशरीरप्रेरणानुकूलभृत्यप्रयत्नजननानुकूलप्रयत्नवत्त्व राज्ञो भृत्यप्रेरकत्व यथा लोके, तथा जीवप्रयत्नजननानुकूल चेद प्रयत्नवत्त्वमीश्वरेऽप्यस्तीति जीवप्रेरकत्वमीश्वरस्य सभवतीति भाव । अस्ति च साक्षादेव प्रेरकत्वमित्याह—**तदनुकूलेति ।** ईश्वरनरेश्वरादेरपि तत्तज्जीवानुगुणप्रयत्नाधारत्वादस्ति तद्रूप प्रेरकत्वमित्यर्थ । एतेन निष्क्रियस्य जीवस्य कथमीश्वरप्रेर्यत्वमिति प्रत्युक्तम् । ननु तर्हीश्वरव्यतिरिक्ताकारकाप्रयोज्यत्व स्वातन्त्र्य

सकती है । विकल्प है कि, क्या कारकान्तर की अपेक्षा के बिना फलजनकत्व स्वतन्त्रता है, या कारको से अप्रयोज्य = अप्रवर्तित होता हुआ कारको का प्रयोक्ता होना ही स्वतन्त्रता है । असम्भव होने से प्रथम पक्ष युक्त नही है, क्योकि करणादि निरपेक्ष कर्ता की फलसाधकता दृष्टिविषय नही हुई है । दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि सेश्वरवाद मे सब चेतन (जीव) मे ईश्वर प्रयोज्यत्व रहता है, और अप्रयोज्य ही यदि कर्ता हो, तो अनीश्वरवाद मे राजा आदि से प्रेरित भृत्यादि को अकर्तृत्वापत्ति होगी । यदि कहा जाय कि ईश्वर से या राजा आदि से कर्ता चेतन की प्रेरणा नही होती है, अत आत्मा को प्रेर्यत्व = प्रेरणा विषयत्व, नही होता है, किन्तु शरीरादि को ही प्रेर्यत्व होता है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि केवल शरीरादि कर्मादि के लिये असमर्थ है । अत उनकी प्रेरणा नही हो सकती है, चेतनयुक्त शरीर की प्रेर्यता से चेतन के भी प्रेर्यत्व होता है । चेतन युक्त शरीर की प्रेरणा से विशेषण चेतन का प्रेरणा भी सिद्ध होती है । और प्रेरकत्व, उसके अनुकूल यत्न के आधारत्व को कहते है, वह जीवविषयक प्रेरकत्व ईश्वर मे रहता

तच्चेश्वरे जीवविषयमस्त्येव । न चेश्वरव्यतिरिक्तकारकाप्रयोज्यत्वम्, अनीश्वरवादे विशेषणवैयर्थ्यात्, भृत्यादेस्तु पूर्वोक्तन्यायेनाकर्तृत्वप्रसङ्गाच्च । प्रमात्वानिरुक्तेरेव तद्विशेषितसार्वत्रिकत्वानिरुक्ति । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इत्यपि न, तच्छब्देन सर्वस्य कारणस्याभिधाने लक्षणस्यासभवित्वात् । न ह्येको व्यापार सर्वकारणजन्य, सर्वकारणजन्यजनको वा । कारणविशेषाभिधाने तु लक्षणस्याननुगम । तदेव प्रत्यक्षादिप्रमाणाना दुर्निरूपत्वाज्जगत्कारणब्रह्मात्मतत्त्वप्रतिपत्तिपराणा वेदान्तवचसा न तद्विरोधगन्धोपीति सिद्धम् ।

विवक्षितम्, तथा च नाव्याप्तिरिति, तत्राह—**न चेश्वरेति ।** ईश्वरप्रयोज्यत्वमग्रहार्थं हीद विशेषणम्, न च तदनीश्वरवादिना मीमासकानामस्ति यदर्थं विशेषणमित्याह—**अनीश्वरेति ।** भवतु त प्रति दूषणम्, मा प्रति कि दूषणमिति ? तत्राह—**भृत्यादेस्त्विति ।** यच्च प्रमासार्वत्रिकत्वनिर्वचन कृतम् तदपि दूषयति—**प्रमात्वानिरुक्तेरिति ।** व्यापारलक्षणमपि दूषयति—**तज्जन्य इति ।** अत्र कि तच्छब्देन कारककारणमात्रमभिधीयते ? तद्विशेषो वा ? नाद्य, असभवादित्याह—**तच्छब्देति ।** असभव विवृणोति—**न ह्येक इति ।** द्वितीये प्राह—**कारणविशेषेति ।** तच्छब्देन कारणविशेषाभिधाने कारणान्तरव्यापारा णा तज्जन्यत्वाभावात्तज्जन्यजनकत्वाभावाच्चाव्याप्ति स्यादिति भाव । एव सामान्यतो विशेषतश्च प्रमाणाना दुर्निरूपताप्रतिपादनस्याविरोधोपयोगमाह—**तदेवमिति ।** अत्र चेश्वरो द्रव्योपादानवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमानश्रावणविशेषगुणवत्त्वात्तन्त्वादिवदिति तार्किक प्रति तथा विप्रतिपन्न कार्यद्रव्यमात्मोपादानकम् उपादानवत्त्वादात्मघटसङ्गवत् । नच विमतमात्मानुपादानक द्रव्यत्वादात्मवदिति सत्प्रतिपक्षता, अनुपादानकत्वस्यैव तत्रोपाधित्वात् ।

ही है । अत शरीररहित का भी ईश्वर से प्रेरक होता है । यदि कहे कि ईश्वर से अतिरिक्त कारक से अप्रयोज्यत्व विवक्षित है, तब अनीश्वरवाद मे विशेषण की व्यर्थता प्राप्त होगी । और पूर्वोक्त रीति से भृत्यादि के अकर्तृत्व का प्रसङ्ग होगा । और प्रमात्व की अनिरूक्ति से ही प्रमात्व विशेषित सार्वत्रिकत्व की अनिरुक्ति सिद्ध होती है । तज्जन्य तज्जन्यजनक व्यापार होता है, यह लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि तत् शब्द से समस्त कारक के कथन करने पर लक्षण को असम्भवित्व होता है । क्योकि एक व्यापार सब कारक से जन्य नही होता है, या सब कारक से जन्य का जनक भी नही होता है । तत् शब्द से कारण विशेष के कथन करने पर तो लक्षण का अननुगम होगा । अत इस उक्त रीति से प्रत्यक्षादि प्रमाणो के दुर्निरूपत्व से जगत् का कारण ब्रह्मात्मा के तत्त्व स्वरूप के ज्ञान परक वेदान्त वाक्यो को उन प्रमाणो से विरोध का लेश भी नही रहा यह सिद्ध हुआ ।

ननु तथापि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, परमाणूनामेव जगत्समवायिकारणत्वात्। ननु परमाणव एव न सन्ति, प्रमाणविधुरत्वात्। न तावदणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तम् परिमाणतारतम्यत्वात् महत्परिमाणतारतम्यवदित्यनुमानं मानम्, अणुपरिमाणशब्देनाणुनिष्ठपरिमाणविवक्षायां त्वदभिमताणूनामेवासिद्धौ तत्परिमाणस्य तत्तारतम्यस्य वाऽप्रसिद्धत्वादा-

---

नच समवायिगतविशेषगुणस्य कार्ये समानजातीयारम्भनियमोऽपि, चित्रपटारम्भकनीलपीततन्तुषु तदभावादित्यादितर्कात्तदनुगृहीतागमाच्च ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमवगन्तव्यम्।

जगत्कारणं ब्रह्मात्मतत्त्वमित्युक्तमसहमानाः परमाणुकारणवादिनो वैशेषिकनैयायिकादयः प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु तथापीति**। तत्किं परमाणूनामेव जगत्कारणत्वम्? तथा च गतमीश्वरस्य निमित्तकारणत्वेनेत्यपराद्धान्तस्तत्राह—**समवायिकारणत्वादिति**। उपादानत्वमेव हि भवता ब्रह्मणः सिषाधयिषितम्, इतरस्यास्माभिरप्यङ्गीकारात्। न च तच्छक्यसाधनम्, परमाणूनामेव तत्त्वादित्यर्थः। ननु लोकसिद्धं वा परमाणुकारणत्वमादाय ब्रह्मकारणत्वं निराक्रियते? वादिसिद्धं वा? नाद्यः, तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, तत्र कस्यचिदपि प्रमाणस्यासंभावितत्वात्। वादिनामपि प्रामाणिकतया संभाविते हि भ्रान्तिर्भवति, इतरथातिप्रसङ्गादित्याक्षिपति—**नन्विति। न सन्तीति**। पृथ्वीत्वादेरनित्यवृत्तित्वमूर्तनित्यवृत्तित्वादेरसंभवित्वात्। (**प्रामाण्याभावादिति**)। तन्नित्यवृत्तित्वज्ञानस्य भ्रान्तत्वादित्यर्थः। किमाणुगतपरिमाणतारतम्यमत्र पक्षः? किं वा महत्त्वस्य यदिदमाकाशाद्यपेक्षयापकर्षतारतम्यं तद्वा? नाद्य इत्याह—**अण्विति। त्वदभिमताणूनामिति**। परमाणूनां द्वणुकानां चेत्यर्थः। न केवलं परं प्रति, त्वां प्रत्यप्याश्रयासिद्धिः।

जगत्कारण ब्रह्मात्मतत्त्व के कथन से अभिन्न निमित्तोपादानता सूचित हुई है, उसको नहीं मानने वाले परमाणूपादानवादी शंका करते हैं कि तथापि = प्रत्यक्षादि प्रमाणों के दुर्निरूप होने पर भी जड़ जगत के उपादानकारणत्व ब्रह्म को नहीं हो सकता है, क्योंकि परमाणुओं को ही जगत् के समवायिकारणत्व है। यदि शंका हो कि प्रमाणु के अभाव से परमाणु ही नहीं हैं, क्योंकि अणु परिमाण का तारतम्य = न्यूनाधिक भाव, कहीं विश्रान्त (समाप्त) होता है, (परिमाण तारतम्य होने से, महत् परिमाण तारतम्य के समान) अर्थात् महत्त्व की वृद्धि = आधिक्य, जैसे आकाशादि में समाप्त होती है, वैसे न्यूनता का आधिक्य जहाँ समाप्त होता है वह परमाणु है, यह अनुमान प्रमाण है, यह भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि अणुपरिमाण शब्द से अणुवृत्ति परिमाण की विवक्षा होने पर, आपके अभिमत अणु की ही असिद्धि रहते उसके परिमाण के वा उसके तारतम्य के असिद्ध होने से अनुमान में

श्रयासिद्धे, तेषु परिमाणतारतम्यानङ्गीकाराच्च । महत्त्वापकर्षतारतम्यस्य च क्वचिद्विश्रान्तिसाधने त्रसरेणुष्वेव तद्विश्रान्तिसिद्धे सिद्धसाधनत्वात् ।

"जालान्तरगते भानौ योऽणीयो दृश्यते रज ।
पर तत्परमाणूना परिमाण प्रचक्षते ॥"

इति ब्रह्माण्डपुराणे दर्शनादिति चेत्, मैवम्, त्रसरेणु सावयवश्चाक्षुषद्रव्यत्वान्महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा घटवदिति सावयवत्वानुमाने महत्त्वा-

---

नह्यणुषु तारतम्य परिमाणस्यास्ति, नापि द्व्यणुकपरमाणुपरिमाणयो । नित्यत्वमात्र हि पारिमाण्डल्यस्य परमाणुपरिमाणस्य द्व्यणुकपरिमाणाद्विशेष इत्यभिप्रेत्याह—**तेष्विति** । द्वितीय शङ्कते—**महत्त्वेति** ।

ननु कथ त्रसरेणुभिरर्थान्तरता यतस्ततोप्यपकृष्टमहत्त्वस्य क्वचित्सभावनाया विरोधाभावादिति चेत्, न, पुराणवचनविरोधादित्याह—**जालेति** । जाल वातायनम् । भानु किरण । तत्र हि परमाणूना पर परिमाण प्रचक्षत इति दर्शनान्न ततोपकृष्टमेतदस्तीति भाव । अत्र तार्किक सिद्धसाधनता परिहरन् महत्त्वापकर्षतारतम्यमेव पूर्वानुमानपक्षतया परिगृह्णाति—**मैवमिति** । रूपादावनैकान्त्यपरिहाराय द्रव्यग्रहणम् । आत्मादावनैकान्तिकतानिवृत्त्यै चाक्षुषग्रहणम् । परमाणवो विभुद्रव्याणि च द्वितीये हेतुगतविशेषणाभ्या व्यवच्छिद्यन्ते । एव त्रसरेणुसावयवत्वानुमाने तदवयवाना ततोऽप्यणुतराणा सभवान्न त्रसरेणुषु तद्विश्रान्ति । यद्यपीद द्व्यणुके चरितार्थम्, तथापि महदारम्भकत्वेन तन्तुवत्तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तदवयवभूतपरमाणुसिद्धिरिति भाव । इदानी साक्षात्परमाणुसाधक सर्वदेवीयमनुमान-

---

आश्रयासिद्धि है, अत अनुमान प्रमाण नही है । और द्व्यणुक से परमाणु मे नित्यत्व मात्र विशेष माना जाता है, परिमाण का तारतम्य नही, क्योकि उन परमाणुओ मे परिमाण तारतम्य का अङ्गीकार नही किया गया है, परमाणु और द्व्यणुक मे अणुत्व तुल्य माना गया है । और यदि उस अनुमान से महत्त्वापकर्ष = न्यूनता के तारतम्य, की विश्रान्ति (समाप्ति) को कही सिद्ध करना चाहे तो त्रसरेणु मे ही महत्त्वापकर्ष के तारतम्य की विश्रान्ति होने से सिद्धसाधनता की प्राप्ति होती है । क्योकि—

जालान्तर्गत = वातायनगत, भानु = सूर्य, किरणो मे जो परम सूक्ष्म रज दीखता है, वही परमाणु का पर = अन्तिम, परिमाण कहा जाता है ।

यह ब्रह्माण्डपुराण मे देखा जाता है । यह शका युक्त नही है । क्योकि (त्रसरेणु, सावयव है, चाक्षुष द्रव्य होने से, या महत्त्वयुक्त क्रिया वाला होने से, घट के समान) इस अनुमान से सावयवत्व के अनुमान होने पर महत्त्वापकर्ष की

पकषस्य तत्र विश्रान्त्यनुपपत्ते। पृथिवीत्व नित्यवृत्ति घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात्सत्तावत्। अय घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्त-मूर्तान्य प्रमेयत्वात् पटवदिति प्रयोगसभवाच्च। न च निरवयवयो सयोगाभावादसमवायिकारणभावे कथ कार्यद्रव्यारम्भकत्वमिति वाच्यम्,

---

माह—**पृथिवीत्वमिति**। जातित्वे सतीत्युक्ते सयोगत्वकर्मत्वादावनैकान्तस्तन्नि-वृत्त्यर्थं घटवृत्तीत्युक्तम्। तथाऽपि घटत्वेऽनैकान्तिकस्तदर्थ पटग्रहणम्। पटत्वेऽनैका-न्तिकत्वानिवृत्त्यर्थं घटग्रहणम। महाविद्यानुमानमप्याह—**अयं घट इति**। एतद्घटा-तिरिक्तत्वे सति यदनित्य मूर्तं तत्त्वानधिकरण यन्मूर्तं ततोऽन्य। मूर्तान्य इत्युक्ते पटान्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थ मूर्तातिरिक्तमूर्तान्य इत्युक्तम्। तथा च व्याहृतिर्मूर्तत्वा-नधिकरणत्वमूर्तत्वयोर्व्याघातात्। ततश्च ततोऽन्यत्वसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणता। अतिरिक्तपदेनानधिकरणत्वस्य विवक्षितत्वात्। इतरथार्थान्तरताया दुष्परिहरत्वा-त्तदर्थमनित्यमूर्तातिरिक्तेत्युक्तम्। तथाप्यप्रसिद्धविशेषणता, परमाणुसिद्धिव्यतिरेकेणा-नित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तस्यासिद्धे। तत्परिहारायैतदतिरिक्तपदम्। अनित्यमूर्तत्वा-नधिकरणमूर्तस्याप्रसिद्धत्वेऽप्येतदतिरिक्तत्वे सत्यनित्यमूर्तत्वानधिकरणस्यैतस्य घटस्य प्रसिद्धत्वात्तदन्यत्वस्य च पटादौ प्रसिद्धे। तेन नाप्रसिद्धविशेषणतासाध्यवैकल्ये, पक्षे त्वेतदतिरिक्तानित्यमूर्तत्वानधिकरणत्वमेतदतिरिक्तत्वानधिकरणत्वाद्वा? अनित्यमूर्त-त्वानधिकरणत्वाद्वा? आद्ये तादृशमूर्तादन्यत्वमस्य व्याहतम्, तादृशमूर्तस्य तत्त्वेन स्वस्यैव स्वस्मादन्यत्वाभावात्। द्वितीयेऽप्यनित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तत्व मूर्तत्वानधि-करणत्वान्न सभवति, व्याघातादेव। ततोऽनित्यत्वानधिकरण मूर्तं परमाणुमादाय तदन्यत्वमस्य सिद्ध्यतीति परमाणुसिद्धि। नित्यमूर्त परमाणुरिति तल्लक्षणादि-त्यर्थ। स्यादेतन्निरवयवास्तावत्परमाणवोऽभ्युपगम्यन्ते। तथा ह्यन्त्यावयविनमार-भ्यानुभूयमानोऽयमवयवावयविविभागो यत परावर्तते स हि परमाणुरिति। अन्यथा सुमेरुसर्षपयोरनन्तावयवतया समानपरिमाणत्वप्रसङ्गात्? नच निरवयवयो सयोगो-

---

(सावयवत्व की) विश्रान्ति त्रसरेणु मे नही सिद्ध हो सकती है। एव (पृथिवीत्व, नित्यवृत्ति है, घटवृत्ति जाति होते पटवृत्ति जाति होने से, सत्तावत) इससे परमाणु को मानने ही पर पृथिवित्व को नित्यवृत्तित्व होता है। और (यह घट, इससे अतिरिक्त अनित्य मूर्तपट से अन्य मूर्तस्वरूप मूर्त से अन्य है, प्रमेय होने से, पटवत्) यहाँ दृष्टान्त मे तो घट से अन्यता से साध्य की सिद्धि होती है। परन्तु पक्ष मे साध्य की सिद्धि के लिये, एतत् घट अतिरिक्त अनित्यमूर्त पटादि से अति-रिक्त नित्यमूर्त (परमाणु) मानना होगा कि इससे परमाणु की सिद्धि होती है। यदि कहे कि निरवयवो के सयोग के अभाव से असमवायिकारण सयोग के अभाव रहते परमाणुओ को द्रव्यारम्भकत्व कैसे होगा, तो यह नही कहना चाहिये। क्योकि

परमाण्वसिद्धौ तत्पक्षीकारेणासयोगित्वस्य साधयितुमशक्यत्वात्, सिद्धौ च धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्, द्रव्यत्वेन घटादिवत्सयोगित्वानुमानाच्च। न च सावयवत्वमुपाधि, अर्थत पक्षेतरत्वात्। कार्यद्रव्यत्व वा समवेतत्वे सति द्रव्यत्व वा सावयवत्वम्। तथा च द्रव्यत्वेनैव साध्यव्याप्तौ सिद्धाया कार्य-

---

ऽस्ति ? अव्याप्यवृत्तिनिरासात्तस्य। निरवयवे च यदि वर्तेत, किं त व्याप्नुयात्। यदि च न व्याप्नुयात्क्व वर्तेत ? विमतमयोगि निरवयवत्वात्, रूपादिवदिति प्रयोगाच्च। तस्मादङ्गीकृतेष्वपि परमाणुषु तेषा परस्परसयोगाभावान्तदसमवायिकारणकद्व्यणुकादिप्रक्रमेण जगत्समवायिकारणत्वाभावान्न तद्ग्राहिप्रमाणविरोधो वेदान्तानाम्। तथा चैकैकैव परमाणुभिरसयुक्तैर्द्व्यणुकाद्यारम्भ, तथा सति तदुत्पन्नकार्यस्य विनाशहेत्वभावान्नित्यता स्यात्, असमवायिकारणनाशात्समवायिनाशाद्वा खलु द्रव्यनाश। तत्र सयोगलक्षणासमवाय्यनङ्गीकारेऽणूना च नित्यत्वान्न द्व्यणुकादेर्नाशो न स्यात्। नित्यत्वे चान्त्यावयविपर्यन्ते नित्यतापत्त्या घटविनाशो नोपलभ्येतेति। तत्राह— **न चेति**। निरवयवपरमाण्वनङ्गीकारेऽङ्गीकारे वा सयोगित्वमप्रत्याख्येयमित्याह— **परमाण्विति**। एव बाधक परिहृत्य तत्सयोगित्वे प्रमाणमाह— **द्रव्यत्वेनेति**। एतेन पूर्वानुमानस्याद्रव्यत्वमुपाधिरित्युक्तम्। ननु सावयवत्वप्रयुक्त घटादौ सयोगित्वमिति व्याप्यत्वासिद्धो हेतुरिति, तत्राह- **न चेति**। सावयवत्वमेव विवेचयन्नर्थत पक्षेतरता दर्शयति— **कार्येति**। आकाशादिगुणादिव्यावर्त्य विशेषणद्वयव्यावर्त्यम्। तदयमर्थ —यथाह्यङ्कुरादि सकर्तृक कार्यत्वाद् घटादिवदित्यत्र शरीरिजन्यत्वस्योपाधित्वोद्भावने जन्यत्वमात्रस्य घटादौ साध्यव्याप्तौ सिद्धाया शरीरिग्रहण पक्षीकृताङ्कुरादौ साधनव्याप्तिपरिहारार्थमिति पक्षेतरत्वम्, एव द्रव्यत्वमात्रस्यैव सयोगित्वव्याप्तौ सिद्धाया कार्यत्व समवेतत्व वा विशेषण पक्षीकृतपरमाणुषु साधनव्याप्तिपरिहारार्थमत पक्षेतरत्वमिति। ननु पक्षमात्रव्यावर्तक पक्षेतरो नाम, न पुनरित्थभूत इति, तत्राह— **साध्यव्याप्ताविति**। ननु निरशस्य

परमाणु की असिद्धि रहते (परमाणु को नही मानने पर) परमाणु को पक्ष करके असयोगित्व को सिद्ध करना अशक्य है। और परमाणु को सिद्धि होने पर धर्मी ग्राहक प्रमाण से बाध होने से उसके असयोगित्वादि का अनुमान नही कर सकत है क्योकि द्रव्यत्व हेतु से घटादि के समान सयोगित्व की अनुमान से सिद्धि होतीहै, कि (परमाणु, सयोग वाले है, द्रव्य होने से, घट के समान) सावयवत्व उपाधि इस अनुमान मे नही कह सकते है, क्योकि सावयवत्त्व अर्थात् = पक्षेतरत्व रूप है। कार्यद्रव्यत्व या समवेतत्त्व युक्त द्रव्यत्व सावयवत्व का अर्थ होता है, वहाँ सयोगत्त्व साध्य का व्यापक द्रव्यत्व ही हो सकता है, परन्तु द्रव्यत्व द्रव्यत्वहेतु का अव्यापक

पदस्य समवेतपदस्य च जन्यत्वेन सकर्तृकत्वानुमाने शरीरिजन्यत्वोपाधौ शरीरिपदस्येव साधनाव्यापकत्वमात्रप्रयोजनस्योपादाने कथ न पक्षेतरता ? साध्यव्याप्तौ सत्या साधनाव्याप्त्यर्थ यत्र विशेषणमुपादीयते, स पक्षेतर इति तल्लक्षणात् । न च द्वितीयसयोगासभवात्प्रथिमानुपपत्तिर्दोष , द्वयणुके प्रथिमाभावसाधने दोषाभावात्, तस्याणुत्वात् । त्र्यणुके तु कारणबहुत्वादेव महत्त्वोपपत्ति , द्वयणुकाना सावयवत्वेन सयोगोपपत्तिश्च ।

सयोगे मन्येकपरमाणुना सयुक्ते परमाणौ परमाण्वन्तरसयोगो न स्यात्, सयुक्तप्रदेशातिरिक्तप्रदेशान्तराभावात्, तावन्मात्र एव च द्वितीयसयोगे तदारब्धकार्ये प्रथिमा न स्यादिति, तत्राह —**न चेति** । तत्र तदारब्धकार्यशब्देन द्वयणुक वा ? त्र्यणुक वा विवक्ष्यते ? किं वा चतुरणुकमिति ? प्रथमे त्विष्टापत्तिरित्याह—**द्व्यणुक इति** । द्वितीये त्वाह—**त्र्यणुक इति** । कारणबहुत्वाद्वा कारणमहत्त्वाद्वा प्रचयविशेषाद्वा महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र कारणमहत्त्वप्रचययोरभावेऽपि कारणबहुत्वात् त्र्यणुके महत्त्वमुत्पद्यते । नहि द्व्यणुकाभ्या त्र्यणुकोत्पत्तिर्येन तदारब्धे महत्त्व न स्यादपि तु बहुभिर्द्व्यणुकैरिति भाव । यच्च द्वितीयसयोगाभाव उक्त , सोपि द्वणुकेषु नास्तीत्याह—**द्व्यणुकानामिति** ।

नही होता है । अत हेतु की अव्यापकता की सिद्धि के लिये कार्यपद और समवेत पद को ग्रहण करने पर पक्षेतरता कैसे नही होती । क्योकि यह उपाधि वैसी ही है कि जैसे जन्यत्व (कार्यत्व) हेतु से सकर्तृकत्व के अनुमान मे शरीराजन्यत्व उपाधि मे शरीर पद का ग्रहण साधनाव्यापकत्व मात्र प्रयोजन वाला होता है, और उसमे पक्षेतरता मानी जाती है । वैसे इसमे पक्षेतरता है । साध्य मे व्याप्ति के रहते साधनाऽव्याप्ति की सिद्धि के लिये जहाँ उपाधि मे विशेषण का ग्रहण किया जाता है वही पक्षेतर होता है, अत यह पक्षेतर का लक्षण है । यदि कहे कि परमाणु के निरश होने से एक परमाणु के सयोग होने पर दूसरे सयोग के असम्भव होने से उसमे उत्पन्न कार्य मे प्रथम (पृथुत्व महत्व) की अनुत्पत्ति रूप दोष प्राप्त होता है, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि परमाणुजन्य द्वयणुक मे उक्त रीति से प्रथिमा के अभाव को सिद्ध करे, तब तो दोष का अभाव है, क्योकि द्वयणुक को अणुत्व ही रहता है, यदि अणु से आरब्ध त्र्यणुक मे प्रथिमा के अभाव कहे तो वह भी नही कह सकते है, क्योकि द्वयणुक मे कारणगत बहुत्व से ही महत्त्व की उत्पत्ति होती है । और द्वयणुको के सावयव होने से उनके सयोग की सिद्धि होती है, परमाणु से द्वयणुक और द्वयणुक से त्र्यणुक होते है, यह क्रम है ।

न चावयविन एवाभावात्तदारम्भानुपपत्तिः, एकस्थूलनीलावभासो बाह्ये प्रमा प्रमात्वाद्रूपदर्शनवदित्यवयविसिद्धेः। न चार्थान्तरता, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किं परमाणुसमूहालम्बनत्वमभिप्रेतम्? उतावयवसहतिगोचरत्वम्? नाद्यः, परमाणूनामतीन्द्रियाणामस्मदादिप्रत्यक्षगोचरताऽयोगात्। नापि द्वितीयः, अवयवानामनेकत्वादेक इतिप्रत्ययगोचरत्वा-

---

नन्वस्तु सयोगाद्युपपत्तिः परमाणूनाम्, तथापि न तदारम्भ्यं किंचित्, नहि परमाणुसङ्घातव्यतिरेकेणावयवी नाम कश्चिदास्ते युक्तियुक्तः, तस्मात्सन्तु नाम परमाणवः, तथाप्यारम्भकल्पनानुपपत्तिरिति, तत्राह—**न चावयवीति**। अवयविसद्भावे विज्ञानवादिनः प्रत्युक्तं मानमनोहरीयमनुमानमाह—**एकेति**। एकमिति स्थूलमिति नीलमिति च योऽयमवभासो बाह्ये विज्ञानाद्बहिर्भूते प्रमेत्यर्थः। सौगतनये विज्ञानस्य स्वग्राहकतयाऽर्थान्तरतानिवृत्त्यै बाह्यग्रहणम्। ननु भवतु बाह्यप्रमात्वम्, तथाप्यवयविसिद्धिः कुतः? यतो बहिरपि परमाणूनेव वा तन्त्वाद्यवयवान्वाऽवलम्बतामियं बुद्धिरिति, तत्राह—**न चार्थान्तरतेत्यादिना। परमाणूनामिति**। प्रत्यक्षः खल्वयं प्रत्ययः स्थूलाद्याकारः। नच परमाणूनां प्रत्यक्षयोग्यत्वम्, सूक्ष्मत्वाच्च न स्थूलप्रत्ययविषयत्वमिति न तैरर्थान्तरतेत्यर्थः। अवयवसमूहालम्बनत्वं दूषयति—**नापि द्वितीय इति**। ननु नावयवमात्रं विषयः, किंतु तत्समुदायः,

---

यदि कहे कि परमाणु हो, उनका सयोग भी हो, तो भी उनसे आरब्ध अवयवी अभाव ही है। परमाणुसमूह से ही व्यवहार होता है, क्योंकि अवयवी के आरम्भ की अनुपपत्ति है। यदि इसमें शका हो कि (एक स्थूल नील की प्रतीति) बाह्यविषय = अवयवी मे प्रमा = प्रमाण है, प्रमा होने से, रूपज्ञानवत्। इस अनुमान से अवयवी की सिद्धि होती है। इस अनुमान को परमाणुसमूह विषयत्व से ही अर्थान्तरता नही है। क्योकि अर्थान्तरता विकल्पाऽसह है, यह दर्शाया जाता है, क्या इस बाह्यप्रमा मे परमाणुसमूहावलम्बनत्व (विषयत्व) अभिप्रेत है या अवयवसघातगोचरत्व अभिप्रेत है। उसमे प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि परमाणुओ के अतीन्द्रिय होने से हम लोगो के प्रत्यक्षविषयत्व का असम्भव है, दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है क्योकि अवयवो के अनेक होने के कारण, एक स्थूल इस ज्ञानविषयत्व का उनमे असम्भव है। यदि कहे कि समुदाय के एक होने से यह दोष नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि समुदाय कोई वस्तु नही है कि जिस विषयक एक बुद्धि हो सके, यदि कहे कि समुदाय वस्तु है, तो समुदाय

सम्भवात्। समुदायस्यैकत्वाददोष इति चेत्, न, तस्यावस्तुत्वाद्, वस्तुत्वे च तस्यैवावयवित्वात्, सञ्ज्ञामात्रे विवाद स्यात्।

यत्प्रकाशते तज्ज्ञान यथा ज्ञानम्, प्रकाशते च विवादाध्यासितमित्यनुमानात्सर्वस्य विज्ञानमात्रत्वसिद्धौ साध्यविकलो दृष्टान्त इति चेत्, न, उभयवादिसम्प्रतिपन्नस्य धर्मिणोऽभ्युपगमेऽपसिद्धान्तापत्ते, अनभ्युपगमे चाश्रयासिद्धि। यत्प्रकाशते तदुभयवादिसिद्धैकविज्ञानमात्रम्, प्रकाशते च विवादाध्यासितमिति ज्ञानाद्वैतप्रभञ्जकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च।

स चैक इति शङ्कते—**समुदायस्येति। अवस्तुत्वादिति।** यस्य ह्यवयव्येवानिष्ट, स कथ समुदायिव्यतिरिक्त वस्तुभूत समुदायमङ्गीकुर्यादित्यर्थ।

एवमर्थान्तरताया परिहृताया विज्ञानवादी दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्य शङ्कते—**यत्प्रकाशते इति।** प्रकाशमानत्व ज्ञानस्वभावत्वेन रूपादिज्ञानेषु व्याप्तम्, तद्रूपादिरपि प्रकाशमानो विज्ञानस्वभाव एवेति ज्ञानस्वभावत्वावगते रूपज्ञानस्यापि बाह्यविषयत्वमसिद्धमित्यर्थं। अत्र हि प्रकाशते रूपमिति पक्षीकृत रूपमुभयाभिमतमनभिमत वेति विकल्प्य दूषयति—**नेति।** ज्ञानातिरिक्तरूपाद्यभ्युपगमेऽपराद्धान्त इत्यर्थ। आभाससमानयोगक्षेमता चाह—**यत्प्रकाशत इति।** अस्ति ह्यत्राप्येकस्मिन्विज्ञाने तन्मात्रत्वप्रकाशमानत्वयोर्व्याप्तिरित्यर्थ।

के वस्तुत्व माने पर उसीको अवयवित्व होने से सज्ञामात्र मे विवाद रहेगा वस्तु मे नही।

यहाँ विज्ञानवादी की शका है कि (जो प्रकाशता-भासता है, वह ज्ञानमात्र है, जैसा ज्ञान) विवादविषयरूपादि भी प्रकाशता है, अत वह भी ज्ञानमात्र है, इस अनुमान से सबके ज्ञानमात्र सिद्ध होने पर, साध्यविकल उक्त दृष्टान्त हो जाता है (रूप ज्ञान रूप विषयक प्रमाण रूप नही रहता है) यह शका युक्त नही है, क्योकि इस अनुमान मे उभयवादी से सम्प्रतिपन्न (स्वीकृत) रूपादि धर्मी को मानने पर अपसिद्धान्त (विज्ञानवाद का त्याग) प्राप्त होता है। नही मानने पर आश्रयासिद्धि होती है। और (जो प्रकाशता है वह उभयवादिसिद्ध एक विज्ञानमात्र है। विवादाध्यासित भी प्रकाशता है, अत वह भी प्रकाशमात्र है) इस अनुमान को ज्ञानाद्वैत के प्रापक होने से आभास समान योगक्षेमता है। क्योकि, बुद्धानुयायी ज्ञान नानात्व को मानते है, अत उनके लिये यह अनुमान जैसे आभास रूप है, वैसे ही अन्य के लिये उनका अनुमान आभास रूप है।

न च कम्पाकम्पावृतत्वानावृतत्वरक्तत्वारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गात्तदाश्रयस्यैकत्वानुपपत्ति, अवयवाना कम्पे तदावरणे तद्रक्तत्वे चावयविनोऽतद्रूपत्वेनैकस्य विरुद्धधर्मससर्गासिद्धे । न चावयवावयविनोश्चलाचलयोर्युतसिद्धिप्रसङ्ग, विकल्पासहत्वात् । (१) किं भेदो युतसिद्धि ? (२) किं

ननु तथापि तर्कविरुद्धत्वाच्छङ्कितोपाधित्वमनुमानस्य तथा हि—वृक्षे कासुचिच्छाखासु कम्पमानासु तदंशेऽवयवी कम्पते, अपरास्वकम्पमानासु तदंशे न कम्पते, नचैतदेकस्मिन्वृक्षावयविनि घटते । नहि स भवति तदेव कम्पते न कम्पते चेति । तथा घटादिष्वप्यर्धमाविवृते नार्धम्, तथा पटादावप्यर्धरक्तमरक्तमर्धं दृश्यते । नचैतदेकस्मिन्संभवति, विरोधात्, तस्मान्नास्त्येवावयवीति तत्राह—**न च कम्पेति ।** अवयवेभ्यो विभिन्नस्तावदवयवी । नच तस्मिन्विरुद्धधर्मससर्ग भागनिष्ठत्वात् कम्पादीना विरुद्धधर्माणाम्, अवयवी तु यथानुभव कम्पत एव वा, आवृत एव वा, विपरीतमेव वा, न पुनरुभयाधिकरणमित्यर्थ । स्यादेतत्, यद्यवयवच लनादावप्यवयवी न चलनादिमान् तर्हि घटचलनेप्यचलितपटवद्युतसिद्धतावयवावयविनो प्राप्नोति, तथा च न समवाय इति, तत्राह—**न चावयवेति ।** विरुद्धधर्मवत्त्वेपि न युतसिद्धिरिति विकल्पपूर्वकमाह—**विकल्पासहत्वादित्यादिना ।** अत एवेत्यतिदिष्ट

और जो बुद्धानुयायी कहते है कि अवयवी को मानने पर, एक ही वृक्ष के किसी शाखा मे कम्प किसी मे अकम्प, एक पट के अंग मे आवृतत्व अन्यत्र मे अनावृतत्व, घट मे रक्तत्व अरक्तत्व आदिरूप विरुद्धधर्मो के सम्बन्ध मे उन धर्मों के आश्रयो के एकत्व की अनुपपत्ति प्राप्त होती है यदि अवयवी एक होगा तो कम्परूप धर्म काल मे उसमे विरुद्ध अकम्प का आश्रय नही होगा, परन्तु यह कथन अयुक्त है अवयवो के कम्प उनके आवरण और उनके रक्तत्व होने पर अवयवी के तद्रूप (अवयव रूप) नही होने के कारण एक का विरुद्ध धर्म की असिद्धि होती है, अन्यथा यदि कम्पादि युक्त अवयवरूप, और अन्य अवयवरूप भी धर्मी होता तो विरुद्ध धर्मवत्ता की प्राप्ति होती, अवयवी अवयव से भिन्न है अत अवयवो मे कम्पादि होने भी अतद्रूपता से एक अवयवी को विरुद्ध धर्म का ससर्ग नही होता है । यदि शका हो कि अवयव के चलने = कम्पयुक्त होने, पर भी अतद्रूप अवयवी नही चलता है, तो चलाचल अवयव और अवयवी को घटपट के समान युतसिद्धि का प्रसङ्ग होता है, अर्थात् उन्हे अयुतसिद्ध न होकर युद्धसिद्ध होना चाहिये, तो यह शका युक्त नही, क्योकि युतसिद्धि विकल्पाऽसह है । विकल्प है कि, क्या भेद रूप युतसिद्धि है, या पृथगाश्रयाऽऽश्रितत्व स्वरूप है, या पृथक् क्रियावत्त्व है, या परस्पर सयोग-विभाग वत्त्व है । प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योकि अवयवावयवी के भेद को मानते ही है, तो भेद होने से युतसिद्ध (भेद) होगा, यह कहना नही बनता है

वा पृथगाश्रयाश्रितत्वम् ? (३) पृथक्क्रियावत्त्व वा ? (४) परस्पर-सयोगविभागवत्त्व वा ? न प्रथम, अवयवावयविनोर्भेदाभ्युपगमेन सिद्धसाधनत्वात्। अत एव न द्वितीय अवयविनोऽवयवाश्रयत्वेप्यवयवाना स्वारम्भकावयवाश्रितत्वात्। न तृतीय, पृथक्क्रियावत्त्वस्योभयोरिष्टत्वात्, एकद्रव्य कर्मेति सूत्राच्च। न चतुर्थं, चलाचलयोरपि घटहिमाचलयो. परस्परसयोगविभागानधिकरणत्वात्। अवयवावरणेऽवयविनोऽनावरणे पूर्ववत्कृत्स्नप्रतीति स्यादिति चेत्, सत्यम्, कृत्स्न प्रतीयत एव तस्यै-

---

सिद्धसाधनत्व निवृणोति—**अवयविन इति।** पृथक्क्रियावत्त्व युतसिद्धत्वमिति तृतीयपक्षेऽपि सिद्धसाधनतामाह—**पृथक्क्रियावत्त्वेति।** अवयवेऽन्यत्कर्म अवयविन्य-प्यन्यदेवेत्यत्र वैशेषिकसूत्रमपि प्रमाणयति—**एकद्रव्यमिति।** एकमेव द्रव्य समवायिकारण यस्य कर्मणस्तदेकद्रव्य न पुन सयोगादिवदनेकवृत्तीत्युक्तम्। परस्परसयोगविभागवत्त्व युतसिद्धिरिति चतुर्थं पक्ष दूषयति—**न चतुर्थ इति।** तत्र हि चलाचलत्वेन सयोगविभागवत्त्वमापादनीयम्, नचैतच्छक्यापादनम् व्याप्तेर-भावेन प्रशिथिलमूलत्वादिति भाव। यत्त्वावृतत्वानावृतत्वविरुद्धधर्मससर्गो नास्ति अवयवावरणेप्यवयविनोऽनावृतत्वानुभवादित्युक्तम्, अवयवाना कम्पेऽपीत्यत्र, तत्र बाधक शङ्कते—**अवयवेति।** केय कात्स्न्येन प्रतीति ? किमवयविस्वरूपस्यान-वशेषेण प्रतीति ? किं वा हस्तवितस्त्यादिमत्तया प्रतीति ? आद्यामिष्टापत्त्या दूषयति—**सत्यमिति।** एक खल्ववयवी न पुनरवयववदनेक, स चेत्प्रतीयते, प्रतीत

(एक प्रकार का सिद्धसाधनत्व होता है। अत एव = सिद्धसाधनता से ही दूसरा पक्ष भी युक्त नही है, क्योंकि अवयवी को अवयवाश्रितत्व होने भी अवयवो को स्वारम्भक अवयवाश्रितत्व रहता है, अत पृथगाश्रयाश्रितत्व रहता ही है। पट तन्तुओ मे रहता है, तन्तु अशुओ मे रहते है। तृतीय पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि उसमे भी सिद्धसाधनता है अवयवावयवी पृथक् क्रियावत्त्व इष्ट (मान्य) है। अवयव मे अन्य कर्म और अवयवी मे अन्य कर्म रहता है, इस अर्थ को वैशेषिक सूत्र से भी कहा गया है कि (एकद्रव्य कर्म) एक द्रव्यरूप समवायिकारण वाला = एक द्रव्याश्रित कर्म रहता है, सयोगादि के समान अनेकाश्रित नही चतुर्थ पक्ष भी युक्त नही, क्योकि चलाचलत्व से परस्पर सयोग-विभागवत्त्व रूप युतसिद्धि आप-दनीय (प्रासव्य) है, परन्तु घट और हिमालय, चल और अचल है, तो भी परस्पर सयोग और विभाग का अनधिकरणत्व रहता है। नियत सयोग विभागवत्त्व नही होता है। अवयव के काँपने पर भी अवयवी नही काँपता है, इसीके समान यदि अवयव के आवरण होने पर भी अवयवी के अनावरण रहने पर अवयवावरण से पूर्वकाल के समान सम्पूर्ण (सर्वाङ्गयुक्त) अवयवी की प्रतीति होनी चाहिये, यह

कत्वात्। तथात्वे द्विहस्तत्वादि किमिति न प्रतीयत इति चेत्, तदुचितावयवसन्निकर्षस्य तत्प्रतीतिहेतोरभावात्। रक्तत्वं तु महारजनादेरेव द्रव्यान्तरस्य नाप्यवयवानामिति दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्गः। तथापि तत्संयोगाद्रक्तिमप्रतीतिः सर्वत्र किं न स्यादिति चेत्, न, संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वात्।

एव कार्त्स्न्येनेति नायमनिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः। द्वितीयां शङ्कते—**तथात्व इति।** सहकारिवैकल्यादिति परिहरति—**तदुचितेति।** अवयव्युत्पादका एव येऽवयवास्तेषामिन्द्रियेण यः सन्निकर्षः सोऽप्येतस्यैकहस्तादेः प्रतीतावुचितो हेतुस्तस्याभावादित्यर्थः। यस्तु रक्तत्वारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्ग उक्तस्तं परिहरति—**रक्तत्वं त्विति।** यद्धि पाकादिवशाद् दृढतरं पटेन संयुक्तं कुसुम्भादिद्रव्यान्तरम्, तद्धर्म एव रक्तत्वादि, न पटधर्मः, नापि तन्तुधर्मः, परं तत्संयोगात्पटस्थरक्तताप्रतीतिरित्यरक्तैकस्वभावत्वात्पटस्य दूरनिरस्तो विरुद्धधर्मसंसर्ग इत्यर्थः। स्यादेतत्—भवतु हरिद्रादिसंयोगात्पटे रक्तप्रतीतिस्तथापि किमिति न सर्वात्मना पटे रक्तिमप्रतीतिः? एकः खल्ववयवी तेन संयुक्त इति, तस्माद्रक्तप्रतीतिविषयत्वतद्रहितत्वलक्षण एवायं विरुद्धधर्मसंसर्गोऽस्त्विति शङ्कते—**तथापीति।** परिहरति—**नेति।** यद्यप्येक एवावयवी तथापि द्रव्यान्तरसंयोगस्तस्मिन्न सर्वस्मिन्वर्ततेऽपि त्वव्याप्यवृत्तिर्यावति च स वर्तते भवत्येव रक्तप्रतीतिरियमप्यस्तीत्यर्थः।

संशय हो तो कहा जाता है कि आपका कहना सत्य ही है, अवयवी के एक होने से किसी अवयव के आवृत्त होने पर भी सम्पूर्ण अवयवी प्रतीत होता ही है, अवयव के समान अवयवी अनेक होता तो सम्भव था कि प्रतीत होता और नहीं भी होता, परन्तु एक है, अतः प्रतीत होगा तो हो होगा। यदि कहा जाय कि किसी अवयव के आवरण काल मे भी सम्पूर्ण अवयवी प्रतीत होता है, तो द्विहस्तत्वादि परिमाण की प्रतीति प्रथम के समान क्यो नही होती है। तो कहा जाता है कि, उस परिमाण की प्रतीति का हेतु रूप उस अवयवी के उचित (योग्य) अवयव के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध के अभाव से परिमाण की प्रतीति नही होती है। रक्तत्वाऽरक्तत्व रूप विरुद्ध धर्म संसर्गात्मक दोष भी नही है, क्योकि द्रव्यान्तर रूप महारजनादि को ही रक्तत्व धर्म रहता है, अवयवी का या अवयवो का भी नहीं, अतः अवयवी मे विरुद्ध धर्म का संसर्ग दूर निरस्त हो जाता है। तो भी संशय हो कि उस महारजनादि के सम्बन्ध से रक्तिम=रक्तत्व की प्रतीति सर्वत्र क्यो नही होती है, किसी पट मे हस्त-वितस्ति मात्र मे ही रक्तत्व की प्रतीति क्यो होती है, पट के एक होने से एकाकार प्रतीति होनी चाहिये, तो यह संशय युक्त नही, संयोग के अव्याप्यवृत्ति होने से रक्त द्रव्य का संयोग जिस अंश मे नही रहता है, वहाँ रक्तता की प्रतीति नही होती है।

नन्ववयवेषु वर्तमानोऽवयवी किं वा कात्स्न्येंन वर्तते ? उतैकदेशेन ? नाद्य, शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्गात्, अवयविन कार्येणान्वयात्, युगपदनेकत्र वृत्तावनेकवृत्तिरूपादिवदनेकत्वप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीय, आरम्भकावयवव्यनिरिक्तैकदेशाभावात्, भावे वानन्तावयवतया मेरुसर्षपयोम्तुल्यपरिमाणतापत्ते, अवयवावयविनोर्दूरविप्रकर्षप्रसङ्गाच्चेति चेत्,

---

एव विरुद्धधर्मससर्गे परिहृतेऽपि वृत्तिविकल्पानुपपत्त्याशङ्कितोपाधिता शङ्कते—**नन्वित्यादिना**। ननु किमिति शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्ति, नच शृङ्गस्य स्तनत्वमस्तीति ? तत्राह—**अवयविन इति**। अन्वयो जनकतया सबन्धित्वम्। अत्रैव दूषणान्तरमाह—**युगपदिति**। क्रमेणानेकत्र वर्तमानदेवदत्तादिव्यवच्छेदाय युगपद्ग्रहणम्, यदि हि प्रत्यवयवत्र परिसमाप्य वर्तते, तदा प्रतिद्रव्य परिसमाप्य वृत्तिरूपादिवदनेकत्वमपि स्यादित्यर्थ । ननु किमित्यारम्भकव्यतिरेकेण वृत्त्यर्थमप्यवयवा न स्यु, कोशावयवेषु वर्तमानासे कोशावयवव्यतिरिक्तावयवत्वदर्शनादिति, तत्राह—**भावे चेति**। तदा हि तेष्ववयवेषु तद्वृत्त्यर्थमवयवान्तराणि कल्पेरन्, एव तेषु तेष्वपीत्यनन्तावयवा स्युरपरथान्तिमावयवेषूक्तदोषापातात् । तथा च सुमेरुसर्षपयोरनन्तावयवत्व समानमिति परिमाणसाम्यमपि स्यादविश्रान्ततारतम्यपरिमाणाधिकरणेषु परिमाणवैषम्यस्यावयववैषम्यनिमित्ताव्याप्तेरित्यर्थ । अत्रैव दूषणान्तरमाह—**अवयवेति** । प्रथमावयवावयविनोर्मध्येऽनन्तावयवव्यवधानादित्यर्थ । एव

फिर भी शका होती है कि अनेक अवयव मे एक अवयवी रहता है, तो क्या वह अवयवी अवयवो मे रहता हुआ प्रत्येक अवयवो मे सम्पूर्ण रूप से रहता है, या एकदेश द्वारा रहता है। प्रथम पक्ष नही बन सकता है क्योकि गौ अपन शृङ्ग मे सर्वरूप से रहेगी तो शृङ्ग से भी स्तन कार्य करना प्राप्त होगा, क्योकि अवयवी को कार्य के साथ सम्बन्ध होना है, और अवयवी शृङ्ग मे भी है, और एक काल मे अनेक अवयव मे रहने पर रूपादि के समान अनेक अवयवी सिद्ध होगा। प्रत्येक अवयव मे पूर्णरूप से पृथक्-पृथक् गौ सिद्ध होगी। दूसरा पक्ष भी नही बन सकता है, क्योकि प्रत्येक अवयव मे एक-एक देशद्वारा गौ नही रह सकती है। क्योकि आरम्भक अवयवो से भिन्न अवयवियो मे एकदेश का अभाव रहता है, अत एकदेश द्वारा आरम्भक (कारण) स्वरूप अवयवो मे वर्तना (रहना) नही बन सकता है। यदि अवयव से भिन्न अवयव = अश का भाव (सत्त्व) हो, तो उसमे भी एकदेश द्वारा अवयवी रहेगा, तो इसप्रकार से सब अवयवी की अनन्तावयववत्ता से मेरु सर्षप की तुल्य परिमाणता की प्राप्ति होगी। और अनन्त अवयव के होने पर प्रथमावयवतन्तु और घट के मध्य मे अनन्त अवयव के व्यवधान होने से दूर का विप्रकष (विभाग) प्राप्त होगा (सम्बन्धाभाव होगा) ऐसी शका विकल्प के

मैवम्, विकल्पस्यानवसरदुःस्थत्वात्। नह्येकस्मिन्नेवावयविनि समस्तोऽसमस्तो वेति विकल्पः कल्पते, बहूनां हि समस्तताऽसमस्तता वा सम्भवेत्। किंचायं वृत्तिविकल्पः स्वसिद्धां व्याप्तिमवलम्ब्योत्तिष्ठति ? उत परसिद्धाम् ? नाद्यः, सौगतैः सर्वस्य क्षणिकत्वेनाश्रयाश्रयिभावानभ्युपगमात्। वेदान्तिभिरपि कार्यस्य कारणे कल्पितत्वमभ्युपगच्छद्भिर्वृत्तेरनभ्युपगमात्। नापि द्वितीयः, तेनाप्यनङ्गीकारात्। यद्वर्तते तत्संयोगेन समवायेन वा वर्तते इति परोऽङ्गीकरोति, न तु कार्त्स्न्यैकदेशाभ्याम्। अस्तु वा कार्त्स्न्येन वृत्तिस्तथापि न शृङ्गेण स्तनकार्यकरणप्रसङ्गः, तत्तदवयव-

---

वृत्तिविकल्पदोषं परिहरति—**मैवमिति**। एकस्मिन्ननुपपत्तिमेव व्यतिरेकनियमेन दर्शयति—**बहूनामिति**। किंच यद्यत्र वर्तते तत्कार्त्स्न्येनैकदेशेन वेति किं सौगतसमये नियतिः ? किंवा वेदान्तदर्शने ? आहो मद्दर्शनेनैव प्रसज्यते ? न सर्वथापीत्याह—**किंचायमित्यादिना**। ननु सौगतवेदान्तिदर्शनयोर्वृत्त्यनङ्गीकारादेव युक्तस्तत्प्रयुक्तनियमेष्यनादरः कर्तुम्, भवता तु वृत्तिमङ्गीकुर्वता काचिन्नियतिरङ्गीकरणीयैवेति, तत्राह—**यद्वर्तत इति**। सबन्धे एव नियतिर्न कार्त्स्न्यादाविव्यर्थः। ननु किमिति न प्रसङ्गः, यावताऽवयविन एव कार्यकरत्वादापतत्येवेति, तत्राह—**तत्तदवयवेति**। यथा ह्यवयविनोऽन्वयव्यतिरेकौ तथा तत्तदवयवोपेततयापीत्यर्थः। किंच यद्येकदेशेन वर्तेत, यदि वा कार्त्स्न्येन, यदि वावयवेभ्योऽतिरिच्येत, तर्हीदमिदं स्यादिति यदिदं

अनवसरदुःस्थता (दुरवस्थिरता) से युक्त नहीं है। क्योंकि एक ही अवयवी में समस्त वा असमस्त (एकदेश) ऐसा विकल्प सिद्ध नहीं हो सकता है, ऐसा विकल्प (प्रश्न) बहुत में ही होता है। क्योंकि बहुत के ही समस्तत्व वा असमस्तत्व का सम्भव रहता है। और दूसरी बात है कि यह अवयवी की समस्त रूप से तथा एकदेश से वृत्ति (स्थिति) का विकल्प, बुद्धानुयायी की स्वसिद्धान्तसिद्धव्याप्ति को आश्रयण करके उत्थित (उत्पन्न) होता है। या पर=वेदान्त=न्यायानुयायी से सिद्ध व्याप्ति (नियम) को आश्रयण करके प्रकट होता है। वहाँ प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सुगतमतानुयी सभी पदार्थों को क्षणिक मानते हैं, और क्षणिकता से ही आश्रय-आश्रयी कारण कार्य को भी नहीं मानते हैं, अतः उनके मत से उक्त विकल्प नहीं हो सकता है। वेदान्ती भी कार्य को कारण में कल्पित (मिथ्या) मानते हैं, अतः वस्तुतः वृत्तिता को नहीं मानते हैं, अत एव विकल्प का अवसर नहीं रहता है। दूसरा नैयायिक के मतानुसार विकल्प नहीं बन सकता है, क्योंकि नैयायिकों ने भी सम्पूर्ण रूप से वा एक-एक देश से वृत्ति को नहीं माना है, क्योंकि जो वर्तता है, वह संयोग वा समवाय से वर्तता रहता है, कृत्स्नस्वरूप वा एकदेश से नहीं, यह तार्किक मानते हैं। अथवा अवयवी की कृत्स्नस्वरूप से वृत्ति

विशिष्टस्यैवावयविनस्तत्तत्कार्यप्रसवसमर्थत्वात् । सर्वश्चायं प्रसङ्गहेतुराश्रयासिद्ध, अवयविनोऽनङ्गीकारात्, अङ्गीकारे वा धर्मिग्राहकप्रमाणबाध । परसिद्धेन परस्यानिष्टापादनमिति चेत्, न, परस्यापि प्रमाणत सिद्धावसिद्धौ च पूर्वोक्तदोषद्वयानतिवृत्ते । अस्त्येवेतरस्यापि कल्पनाकल्पितो धर्मीति चेत्, न, कल्पनाया सर्वत्राव्याहतप्रसरतयाऽऽश्रयासिद्धयादिदोषप्रमोपप्रसङ्गात् । तदेव परमाणूनामेव द्वयणुकादिक्रमेण निश्चितनिखिलजगत्कारणतोपपत्तौ न ब्रह्मणस्तत्कारणत्वकल्पनावकाश इति ।

प्रसञ्जने तत्रानेन कश्चिदवयवी स्वीकृत ? न वा ? उभयथाप्यनुपपत्तिरित्याह—**सर्वश्चायमिति ।** प्रसङ्गहेतु प्रसञ्जको हेतुरित्यर्थ । अनङ्गीकारेप्याश्रयासिद्धिपरिहार शङ्कते—**परेति ।** परस्यापि किं प्रमाणत सिद्ध त्वया धर्मीक्रियते ? उत प्रतीतिमात्रसिद्धम ? आद्ये धर्मिग्राहकप्रमाणबाध, नहि परप्रमाणमप्रमाण भवति, वस्तुतोऽन्यथा त्वत्र तु । द्वितीये त्वाश्रयासिद्धिरिति परिहरति—**न परस्यापीति ।** ननु किमित्याश्रयासिद्धिर्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधो वा ? यावता कल्पित कश्चिदवयवी ममाप्यस्त्यवेति शङ्कित्वा अतिप्रसक्त्या परिहरति—**न कल्पनाया इति ।** उपपादितोऽयमर्थो मिथ्यात्ववाद । पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तदेवमिति ।**

हो, तो भी श्रृङ्ग मे स्तनकार्यकरण का प्राप्ति नही हो सकती है। क्योकि तत्तदवयवो से युक्त ही अवयवी को तत्तत् कार्य की उत्पत्ति के लिये व्यवस्थित भिन्न-भिन्न शक्ति रहती है। और अवयवी को नही मानने के कारण बुद्धानुयायी का यह सब ही प्रसङ्ग हेतु (प्रसञ्जक = अनिष्टापादक हेतु) आश्रयासिद्ध है, अथवा अवयवी को मानने पर धर्मीग्राहक प्रमाण से हेतुओ का बाध हो जाता है। यदि कहे कि मै अवयवी को नही मानता हू किन्तु परमतसिद्ध अवयवी द्वारा पर के अनिष्ट का आपादन = प्रतिपादन करता हू, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि पर के प्रमाण से सिद्ध को धर्मी कहते है, या प्रतीति सिद्ध को। वहाँ पर प्रमाण भी तो प्रमाण ही है, उससे सिद्ध होने पर धर्मीग्राहक मान से हेतु का बाध होता है, प्रतीतिसिद्ध मात्र होने से धर्मी की मान से नही सिद्ध होने पर आश्रयासिद्धि होती है, इसप्रकार से पूर्वोक्त दोपद्वय की निवृत्ति नही होती है। यदि कहै कि इतर (बुद्धानुयायी) को भी कल्पना से कल्पित धर्मी है, अत आश्रयासिद्धि नही है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि कल्पना सिद्ध को यदि आश्रयादि माना जाय तो कल्पना की सर्वत्र अव्याहत = निर्विघ्न, प्रगति होने से आश्रयासिद्धि आदि दोषो का प्रमोष (लोप) प्राप्त होगा। अत इस उक्त रीति से परमाणुओ को ही द्वयणुकादि क्रम से निश्चित सकल जगत का कारणता की सिद्धि होने पर, ब्रह्म मे जगत्कारणत्व कल्पना का अवकाश नही रह जाता है।

अत्रोच्यते—

अर्थान्तरत्वादाद्यस्य परस्योपाधिमत्त्वत ।
अन्त्यस्याभासतुल्यत्वात्प्रतिसाधनरोधनात् ॥ ३८ ॥

यत्तावन्महत्त्वापकर्षतरतमभावस्य क्वचिद्विश्रान्तिसाधनम्, तदर्थान्तरम्, त्रसरेणुष्वेव तस्य विश्रान्ते । न च चाक्षुषद्रव्यत्वात् महत्त्वे सति क्रियावत्त्वाद्वा तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तत्र विश्रान्त्यनुपपत्ति , आद्यस्य योगिचक्षुर्गोचरेषु परमाणुष्वनैकान्तिकत्वात् । नचास्मदादीति विशेषणोपादानाददोष , परमाणूनामिदानीमेव साधनीयतया तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेष-

---

तत्र तावत्परमाणुसाधकतया शङ्कितानुमानेषु दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति— **अर्थान्तरत्वादिति** । अणुपरिमाणानारम्यमित्यनुमाने त्र्यणुकैरर्थान्तरता । यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमान", तत्राह—**परस्येति** । यत्तु महाविद्यानुमानमुक्त तत्राभाससमानयोगक्षेमता सत्प्रतिपक्षता चाह—**अन्त्यस्येति** । सग्रह विवृणोति— **यत्तावदित्यादिना** । कश्चाय तरतमभाव ? न तावत्सख्यापरिमाणे, तयोर्निर्गुणे परिमाणेऽसभवात् । नापि जाति , महत्त्वाणुत्वाभ्या परापरभावाभावात् । अभावत्व त्वेतादृशाना पुरैव निवारितम् । ततश्चाश्रयासिद्धिरपि दुरुद्धरा । यत्तु त्र्यणुकानामपि सावयवत्वानुमानद्वारार्थान्तरत्व परिहृतम्, तत्राह—**न चेति** । अत्र किं चाक्षुषत्वमात्र विवक्षितम् ? किंवाऽयोगिचाक्षुषत्वम् ? आद्ये भवतामनैकान्तिकता स्यादित्याह—**आद्यस्येति** । परमाणुष्वित्युपलक्षण कालादीनामपि । द्वितीय दूषयति—**नचेति** । अत्र तावद्भ्राट्टाना कालाकाशदिशामप्यस्मदादिचाक्षुषत्वात्तद्व्या-

---

आरम्भवाद से पूर्वपक्ष हुआ, अब यहाँ उत्तर कहा जाना है कि—

परमाणुसाधक तीनो अनुमानो मे आद्य को अर्थान्तरता है, और उससे पर द्वितीय को उपाधिमत्त्व है। अन्त्य को आभासतुल्यता और प्रतिपक्षसाधन से उसका निरोध होता है ॥ ३८ ॥

अर्थात् जो प्रथम महत्त्व अपकर्ष के तारतम्यभाव की कही विश्रान्ति का साधन = अनुमान किया गया है, वह परमाणु का साधन नही होकर अर्थान्तर का साधन होता हे, क्योकि त्रसरेणुओ मे ही उस तारतम्य की विश्रान्ति हो जाती हे। यदि कहे कि चाक्षुष द्रव्यत्व, वा महत्त्वयुक्त क्रियावत्त्व हेतु से उन त्रसरेणु के भी सावयवत्त्व के अनुमान होने से उनमे अपकर्ष की विश्रान्ति नही सिद्ध हो सकती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि आद्य चाक्षुषद्रव्यत्व हेतु का योगी चक्षु के विषय परमाणुओ मे अनैकान्तिकत्व (व्यभिचार) है, क्योकि वह साध्य नही है, साधन प्राप्त हो जाता है। यदि कहे कि, अस्मदादि चाक्षुषद्रव्यत्वात्, हम लोगो के नेत्र के विषय द्रव्य होने से ऐसा हेतु करने से योगी के प्रत्यक्ष विषय मे व्यभिचार नही

णस्य वैयर्थ्यात्। द्वितीयेऽपि महत्त्वे सतीति विशेषणस्य परमाण्वसिद्धौ वैयर्थ्यात्।

यत्तु पृथिवीत्वस्य नित्यवृत्तित्वानुमानम्, तत्र पृथिवीव्यतिरिक्ताधेयत्वमुपाधि, सत्ताया अपि नित्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् साध्यविकलश्च दृष्टान्त। अय घट एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यः इत्यनुमानमाभाससमानम्, अय घट एतदतिरिक्ता नत्यसावयवातिरिक्तसावयवान्यो

वृत्त्यर्थ न स्यात्तस्माद्योगिनामेव प्रत्यक्षपरमाणुव्यावृत्त्यर्थमिद विशेषण तथा च वैयर्थ्यम्। योग्यनङ्गीकारादपि भाट्टान्प्रति वैयर्थ्यमित्यर्थ। द्वितीय सावयवत्वसाधक दूषयति—**द्वितीयेति**। निरवयवपरमाणुषु क्रियावत्स्वनैकान्तिकतापरिहारार्थम्, महत्त्वे सतीति विशेषणम्। तथाच वैयर्थमित्यर्थ। भवतु वा सावयवत्वम्, तथापि कथमर्थान्तरताऽभाव? नहि द्व्यणुकादौ महत्त्वापकर्षविश्रामसभव, तत्र महत्त्वस्यैवाभावात्।

परस्योपाधिमत्त्वत इत्येतद्विवृणोति—**यत्त्विति**। सत्ताया नित्यवृत्तित्वेपि पृथिवीत्वरहितवृत्तित्वमुपाधि। नच पक्षेतरता, आकाशादेर्विपक्षस्य व्यावर्त्यस्य सत्त्वात्। वेदान्तिमते साध्यवैकल्य चाह—**सत्ताया इति**। आकाशादिप्रपञ्चस्य नित्यत्वाभावात्सत्ताया कल्पितत्वात्, आत्मनश्च सद्रूपतया तत्र सत्तावृत्त्यभावादित्यर्थ। अन्त्यस्येत्येतद्विवृणोति—**अयं घट इत्यादिना**। अत्र ह्येतदतिरिक्ता-

---

होगा, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि अभी परमाणुओ की ही साधनीयता (असिद्धि) है, उनकी व्यावृत्ति के लिये विशेषण दिये गये विशेषण मे व्यर्थता होगी। दूसरे हेतु मे भी, महत्त्वे सति, यह विशेषण परमाणु की व्यावृत्ति के लिये है, अत परमाणु की असिद्धि रहते उसमे व्यर्थता है।

जो पृथिवीत्व के नित्यवृत्तित्व का अनुमान किया गया है कि (पृथिवीत्व, नित्यवृत्ति, घटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात्, सत्तावत्) इसमे पृथिवीभिन्नवृत्तित्व उपाधि है, क्योकि सत्ता मे नित्यवृत्तित्व होते भी पृथिवीत्वरहित मे उपाधि साध्य का व्यापक है। पृथिवीत्व मे हेतु के रहते भी उपाधि के नही रहने से शाधन का अव्यापक है। और वेदान्त मे एक ब्रह्म ही सत्स्वरूप है अन्य वस्तु सत्य नही है। अत सत्ता के नित्यवृत्तित्व के अनङ्गीकार से साध्यरहित दृष्टान्त सिद्ध होता है। और (यह घट, इससे अतिरिक्त अनित्यमूर्त (पट) से अतिरिक्त से अन्य हे, प्रमेय होने से, पटवत्) यह अनुमान आभास तुल्य है। क्योकि (अय घट, एतदतिरिक्तानित्यमूर्तातिरिक्तमूर्तान्यो मेयत्वात्) इस प्रयोग को भी सत्यत्व हो सकता है। क्योकि इस घट से अतिरिक्त अनित्य मूर्त पट होगा, उससे अतिरिक्त मूर्त यह घटरूप अनित्य होगा, नित्य मूर्त हो नही सकता है। उसे

मेयत्वादित्यपि प्रयोगस्य सुवचत्वात्। पृथिवीत्वमनित्यमात्रवृत्ति पृथिवी-

नित्यसावयवातिरिक्त सावयवोऽयमेव वा घटोऽनित्यत्वानधिकरणसावयवो वा कश्चित्? प्रथमेऽन्यत्वमेव तदघटस्य व्याहतमिति ततोऽनित्यत्वानधिकरणस्य सावयवस्य कस्यचिदप्यन्यस्य सिद्धिप्रशङ्ग इत्यर्थ। नचानित्यद्रव्यस्यैव सावयवत्व स्यादनित्यसावयवत्वानधिकरणसावयवान्यत्वानुमान व्याघातादेव नोदेनीति वाच्यम्, मूर्तस्याप्यनित्यताव्याप्त्या त्वदनुमानेपि व्याघातसाम्यात्। परिच्छिन्नापरिमाणमात्र-मेव मूर्तत्वमित्युक्ते द्रव्यत्वे सति द्रव्यसमवेतत्वमेव सावयवत्व न पुनरनित्यत्वगन्ध इत्यपि वक्तुम् शक्यमिति भाव ॥ १ ॥ तथाय घट एतद्घटत्वे सति एतदतिरिक्ता-नित्यमूर्तत्वानधिकरणमूर्तान्यो न भवति मेयत्वात्पटवदिति प्रकरणसमता ॥ २ ॥ तथा त्वद्धेतु स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसमस्तहेतुदोषाधिकरणनिष्ठधर्मवान् मेयत्वात् ॥ ३ ॥ तथा नित्यत्व स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहितनिष्ठाधर्माधिकरण मेयत्वात् ॥ ४ ॥ तथा निरवयवत्व स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणमूर्तनिष्ठत्वरहित-निष्ठधर्माधिकरण मेयत्वात् ॥ ५ ॥ इत्यादिमहाविद्याभिरेवार्थंत सत्प्रतिपक्षता केन वार्यते? तथापि यस्य कस्यचिदुपाधितामुद्भाव्य तत्साध्ये समत्वादिविप्रतिपत्तावप्ये-तयैव रीत्या समर्थनीयम्, तथा हेत्वादिकमपि पक्षीकृत्य वैपरीत्यमनुमातव्यम्, परमाण्वनङ्गीकारेप्येवमनुमानसभव इष्यते, तथा रीत्यन्तरैरपि। नचैतेषा तर्कविद्या-विरोधादिदोष शक्यशङ्क, विमतान्यनुमानानि स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणसकल-दूषणरहितनिष्ठधर्माधिकरणानि मेयत्वात् ॥ ६ ॥ इत्यपि शक्यप्रयोगत्वात्। नच मयाप्येव वैपरीत्यमनुमातु शक्यमिति वचनीयम्, ततोप्येव वक्तु शक्यत्वात्। एव हि महाविद्याकोविदा प्राहु, श्रमादुपरमेपि न दोष इति। ननु तथापि महाविद्या-प्रामाण्य सिद्धमेवेति चेत्, अप्रामाण्यमपि सिद्धमेव। तदित्थम्—

स्वपक्षपरपक्षाणामेषा पारिप्लवावहा।
आरादेव परित्याज्या महाविद्याभिसारिका ॥ १ ॥

सप्रतिसाधनता विवृणोति—**पृथिवीत्वमिति**। एतच्चोभयोरप्यनुमानयो

स्वस्वरूप से अन्यत्व इस घट मे बाधित है, अत आभास रूप है। वैसे पूर्व अनुमान मे स्वरूप से अन्यत्व बाधित है, तो नित्य की कल्पना करनी पडती है। और (पृथिवीत्व, अनित्यमात्रवृत्ति है, पृथिवीमात्र वृत्ति होने से, घटत्ववत्) इस प्रतिपक्ष का भी सम्भव है। यदि कहै कि (पृथिवीनिष्ठात्यन्ताऽभावाप्रतियोगिजात्यन्यत्व) अर्थात् घटादिरूप पृथिवीनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी जाति होगी पटत्वादि अप्रतियोगी होगा द्रव्यत्व सत्ता आदि से अन्यत्व उपाधि है, वह अन्यत्व घटत्व मे है, वह अनित्यमात्रवृत्तित्व का व्यापक है, घटत्व अनित्य ही मे रहता है। और पृथिवीमात्रवृत्तित्व का अव्यापक है, तथापि वह उपाधि नही हो सकता है। क्योकि

मात्रवृत्तित्वात् घटत्ववदिति प्रतिप्रयोगसंभवाच्च । न च पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजात्यन्यत्वमुपाधि, व्यतिरेकव्याप्त्यसिद्धे साध्याव्यापकत्वात्, सत्ताद्रव्यत्वयोरपि नित्यवृत्तित्वासप्रतिपत्ते । न च निरवयवेषु सप्रयोगसंभव, येनासमवायिकारणसपत्त्या द्रव्यारम्भ संभाव्येत । परमाणुपक्षीकारासंभवेऽपि सयोगित्व सावयवमात्रवृत्ति सयोगिमात्रवृत्तित्वात् घटत्ववदिति सप्रयोगोपपत्ते । न च द्रव्यत्वेन सयोगित्वानुमानम्,

---

नमानम । **न च पृथिवीनिष्ठेति** । सकलपृथिवीनिष्ठा या जातय पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातय तदन्यत्वमुपाधिरिति नच वचनीयमित्यर्थ । कुत इत्यत आह— **व्यतिरेकेति** । यत्र हि पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिजातित्व तत्र नित्यवृत्तित्वमिति व्यतिरेकव्याप्ति कुत्र गृह्यते ? न तावत्सत्ताद्रव्यत्वयो, अद्वैतवादिनस्तयोरपि नित्यवृत्तित्वासप्रतिपत्ते । अत साध्याव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थ । यत्तु निरवयवस्यापि परमाणो सयोगसमर्थन कृत तद्दूषयति—**न चेति** । ननु परमाणुसयोगाक्षेपस्य जगत्कारणत्वाभावे क उपयोग ? इति, तत्राह—**येनेति** । अवयवसयोग खल्ववयवव्युत्पत्तावसमवायिकारणम्, स हि लघुप्रत्यासन्न, तदिह परमाणूना तदभावे कारणत्रयाभावाद्भज्येतैव द्वयणुकाद्यारम्भ इत्यर्थ । परमाणुव्यक्तिमात्रपक्षीकरणमाशङ्क्य पूर्ववादिना यद्दूषणमुक्त तदनङ्गीकारपरास्तमिति वदन् भङ्ग्यन्तरेणानुमानमारचयति—**परमाण्विति** । नच द्रव्यत्वेनानैकान्तिकता, तस्यापि पक्षतुल्यत्वात् । प्रतिप्रयोगमाशङ्क्य दूषयति—**न च द्रव्यत्वेनेति** । ननु

व्यतिरेकव्याप्ति की असिद्धि है। पृथिवीनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिजात्यत्व रूप उपाधि का जहाँ अभाव हो, वहाँ उक्त साध्य का भी अभाव हो ऐसा उदाहरण नही मिलता है। क्योकि सत्ता द्रव्यत्व मे भी पृथिवीनिष्ठ अत्यन्ताभावाप्रतियोगि जाति रूप उपाधि की और नित्यत्व रूप साध्याभाव की वृत्तिता को नही कह सकते है, क्योकि वेदान्त के अनुसार द्रव्यत्व और सत्ता मे नित्यवृत्तित्व नही है। अत इस उपाधि को साध्यव्यापकत्व नही है, क्योकि सत्ता द्रव्यत्व मे भी नित्यवृत्तित्व की सम्प्रतिपत्ति = अनुभूति, नही हो सकती है। और निरवयव परमाणुओ मे सयोग का सम्भव नही है कि जिससे असमवायिकारण की सिद्धि से द्रव्यारम्भ की सम्भावना हो सके। और जो कहा था कि परमाणु की सिद्धि के बिना परमाणु को पक्ष बनाकर उसके असयोगित्व का अनुमान नही हो सकता है, यह कहना युक्त नही, क्योकि परमाणु को पक्ष करना असम्भव होते भी (सयोगित्व, सावयवमात्र वृत्ति होता है। सयोगिमात्रवृत्ति होने से, घटत्ववत्) ऐसी प्रयोग की सिद्धि होती है, और इसीसे परमाणु के सयोग का अभाव सिद्ध हो जाता है। द्रव्यत्व से भी

उभयवादिसिद्धस्य धर्मिणोऽभावात् । न च सयोगित्व निरवयववृत्ति सयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेयत्ववदिति सप्रतिसाधनता, सयोगिव्यापिनि सावयवत्वधर्मे परस्यानैकान्त्यात् । न च द्वितीयसयोगानुपपत्तिदोष, पार्थिवाप्यपरमाण्वो सयुक्तयो सजातीयाण्वन्तरसयोगात्

किमित्युभयसिद्धधर्म्यभाव, त्वद्रीत्या सयोगित्वमेव पक्षीकृत्य शक्यप्रयोगत्वादिति, तत्राह—**न च संयोगित्वमिति** । सयोगिनिष्ठघटत्वादिव्यावर्तनायात्यन्ताभावपदम । यस्य हि सावयवमेव सयोगीति मत तन्मते सावयवत्वेऽनैकान्तिकमित्यर्थ । किंच सयोगित्व गुणादिवृत्ति सयोगिनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वान्मेयत्वादिवदिति शक्यानुमानत्वादाभाससमानयोगक्षेमत्वम् । यच्च द्वितीयसयोगाभावो न दोषाय प्रथिमानुपपत्तेरदूषणत्वादित्युक्तम्, तत्राह —**न चेति** । माभूत्प्रथिमानुपपत्तिर्दोष, द्वितीयसयोगानुपपत्तिरेव दोष, अपसिद्धान्तापत्तेरित्याह —**पार्थिवाप्येति** । यदा हि पार्थिवपरमाणोराप्यपरमाणौ सयोगो जायते, तदनन्तर च पार्थिवस्यान्येन पार्थिवेन आप्यस्याप्यन्येनाप्येन सयोगो जायते, तदा पार्थिवाभ्या पार्थिवद्व्यणुकम् आप्याभ्या चाप्यद्व्यणुकमिति द्वय युगपदारभ्यत इति भवता समय, ततश्च पार्थिवाप्यपरमाण्वो प्रथम सयोग, सयुक्तयोरेव पुन सजातीयाणुभ्या सयोगनिष्पत्तिरिति तदनुपपत्ति-

---

परमाणु के सयोगित्व का अनुमान नही हो सकता है, क्योकि उभयवादी से सिद्ध परमाणु रूप धर्मी का ही अभाव हे (सयोगित्व, निरवयवद्रव्यवृत्ति है, सयोगिनिष्ठ अत्यन्ताऽभाव के अप्रतियोगी होने से, मेयत्व समान) इससे पूर्व अनुमान को सप्रतिसाधनता (सत्प्रतिपक्षता) है यह नही कह सकते है, क्योकि सयोगी का व्यापक सावयवत्व धर्म मे निरवयववृत्तित्व रूप साध्य नही रहता है, और पर हेतु (प्रतिपक्ष का हेतु) रहता है, अत अनैकान्तिकत्व है, अर्थात् सावयव ही सयोगी होता है, ऐसा जिसका मत है, उसके मत मे सावयवत्त्व मे मेयत्व रूप हेतु अनैकान्तिक है । और परमाणु मे द्वितीय सयोग का अभाव दोषावह नही होता है, क्योकि परमाणुजन्य द्व्यणुक मे प्रथिमा की अनुत्पत्ति से दोष का अभाव रहता है, यह कहा था, वहाँ कहा जाता है कि द्वितीय सयोग की अनुपपत्ति अदोष रूप नही हो सकता है, क्योकि द्वितीय सयोग अवश्य अभ्युपेय (मन्तव्य) है, क्योकि उसके बिना प्रथिमा की अनुत्पत्ति रूप दोप के नही होते भी द्वितीय सयोग की अनुत्पत्ति ही दोष है। क्योकि जहाँ पार्थिव और जलपरमाणु सयुक्त रहते है पार्थिव परमाणु को सजातीय परमाण्वन्तर के संयोग से पार्थिव द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, जलीय परमाणु को सजातीय परमाण्वन्तर के सयोग से जलीय द्व्यणुक की

द्वयणुकोत्पत्तौ द्वितीयसयोगस्यावश्याभ्युपेयत्वात्, कारणाकारणसयोगेन कार्याकार्यसयोगस्येष्टत्वाच्च ।

न चावयवी कश्चित्सभवति, य परमाणुभिरारभ्यते । न चैकस्थूलनीलावभासो बाह्ये प्रमेत्यनुमानात्तत्सिद्धि, यादृगवयवानामवयव्यारम्भकताभ्युपेयते, तेषामेवैकस्थूलनीलावभासगोचरत्वोपपत्तेरर्थान्तरत्वात् । न

दोषायैवेत्यर्थ । अथेयमपि प्रक्रिया मा भूत्किं नश्छिन्नमिति ? तत्राह—**कारणेति ।** अयमर्थ —सयोगजसयोगप्रकरणे ह्येकस्माद् द्वाभ्या बहुभ्यश्चैकस्य सयोगस्योत्पत्तिमुक्त्वा पुनरेकस्मात्सयोगाद् द्वयो सयोगोत्पत्तावित्थमुदाहृत भवद्भाष्यकृता—'यदा पार्थिवाप्यो' रित्यारभ्योक्तप्रकारेण द्वयणुकयोरुत्पत्तिमुक्त्वा ततो 'यस्मिन्नेव काले द्वयणुकयो कारणगुणक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिस्तस्मिन्नेव काले इतरेतरकारणगतात्सयोगादितरेतरकार्याकार्यगतौ सयोगौ युगपदुत्पद्येते' इत्यन्तेन । उपपत्तिरपि तैरेवोक्ता—'किं कारणम् ? कारणसयोगिना हि कार्यमवश्य सयुज्यते इति हि न्याय' इति । तस्मात्त्वयोदिता द्वितीयसयोगानुपपत्तिरनिष्टापत्तिरेवेति ।

यच्चावयविसाधन पूर्ववादिना कृतम् तदपि दूषयितु क्रमते—**न चावयवीत्यादिना ।** यच्च मानमनोहरीयमनुमानम्, तत्र बाह्यविषयत्वेऽप्यवयवैरर्थान्तरतामाह—**न चैकस्थूलनीलेत्यादिना ।** नन्ववयवानामनेकत्वादेकबुद्धिविषयत्वानुपपत्तिरिति,

उत्पत्ति होती है । अत द्वितीय सयोग अवश्य मन्तव्य होता है, क्योकि पार्थिव और जलीय परमाणु का एक प्रथम के सयोग रहते, दूसरे सजातीय परमाणु के साथ दूसरे सयोगो के बिना द्वयणुक की उत्पत्ति नही हो सकती है । यदि दूसरे सयोग नही हो तो द्वयणुक की अनुत्पत्ति दोष रूप ही है । और कारणाकारणसयोग से कार्याकार्यसयोग आप को इष्ट है, वह भी द्वितीय सयोग के बिना नही सिद्ध होगा । जैसे हस्त-तरुसयोग से कायतरुसयोग माना जाता है, उसको सयोगज सयोग भी कहते है, और शरीर का अवयव रूप कारण हस्त अकारण तरु के सयोग से हस्त का कार्य शरीर और अकार्य तरु का सयोग माना जाता है । वैसे ही पार्थिव परमाणु का जलीय द्वयणुकादि से सयोग कारणाकारण सयोग होगा, और उससे जो परमाणु कार्य का अन्य के साथ सयोग माना जायगा वह कार्याकार्य सयोग होगा । वह द्वितीय सयोग के बिना नही हो सकता है ।

किसी अवयवी का सम्भव नही है कि जिसका परमाणुओ से आरम्भ हो । एक स्थूल नील बाह्यवस्तुविषयक ज्ञान रूप प्रमा होती है, इस पूर्वोक्त अनुमान से अवयवी की सिद्धि होती है । यह नही कह सकते है, क्योकि जैसे अवयवो को अवयवी के आरम्भक मानते है, उन अवयवो मे ही एक स्थूल नीलावभास = प्रतीतिविषयत्व, की सिद्धि से अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, यदि कहे कि अनेक

चानेकेषामेकप्रत्ययविषयत्वानुपपत्ति , एकप्रावरणाद्यर्थक्रियाहेतुत्वोपाधौ बहूनामपि तन्तूनामेकप्रत्ययत्वोपपत्ते । दृश्यते हि बहूनामपि वर्णानामेकार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वोपाधावेक पदमिति बुद्धिगोचरता । कम्पाकम्पावरणानावरणरक्तारक्तत्वलक्षणविरुद्धधर्मससर्गादवयविन एकत्वानुपपत्तेश्च । न चावयवाना तथात्वेऽप्यवयविनोऽतथात्वम्, तथात्वे मति युतमिद्धिप्रसङ्गात् । न च युतसिद्धेरनिरुक्ति , घटपटयोरिव द्रव्ययो समवायायोग्य-

---

तत्राह—**न चानेकेषामिति** । यथा हि बहूनामपि वर्णाना बहूनामपि पदानामेकपदार्थादिबुद्धिजनकत्वोपाधावेक पदमेक वाक्यमिति बुद्धिविषयत्वम्, न पुनस्तादृश कश्चिद्वर्णाद्यतिरिक्तोर्थ , तथेहाप्येकार्थक्रियोपाधौ बहूनामेव तन्तूनामेकबुद्धिविषयत्व किमिति न सभवतीत्यर्थ । न च परमाणूनामप्रत्यक्षत्वात्प्रत्यक्षबुद्धय विषयत्वमिति वाच्यम, तादृशपरमाणूनामेवासिद्धे । विरुद्धधर्मससर्गलक्षणतर्कविरोधमपि समर्थयते—**कम्पेति** । पूर्वोक्त पूर्वपक्षाशय निराचष्टे—**न चावयवानामिति** । ननु युतसिद्धत्वमेव विकल्पपूर्वं दूषितम्, तत्राह—**न च युतेति** । नात्र भेदादिर्युतसिद्धिरापादिता, घटपटयोर्द्रव्ययोर्यादृशी युतसिद्धि समवायायोग्यत्वात्मिका सैवात्र चलाचलत्वादिनापादनीयेति, चलाचलयोरपि द्रव्यगुणयोस्तदयोग्यता नास्तीति द्रव्ययोरित्युक्तम् । इत्थमेव च युतसिद्धिरभ्युपेया भवतापि, इतरथा नित्यानित्यसाधारणयुतसिद्धेरभावात्, पृथगाश्रयाश्रयित्वस्य परमाण्वादिष्वभावात् पृथग्गतिमत्त्वस्य च गुणादावभावादननुगति स्यात् । नवानुगतनिमित्ताऽसभवे साधारणशब्दता युक्ता । न चैवविधयुतसिद्धिर्गुणादावपि शक्यप्रसञ्जना, कम्पादेस्तत्रापि समानत्वादिति वचनीयम्, इष्टत्वात् । नचाप्रमितस्य समवायस्य निषेधानुपपत्ति , शुक्तिरजततादात्म्यवद् भ्रान्तिसिद्धस्यापि निषेधोपपत्ते । एव च यदाह किरणावलीकार —

अवयवो मे एक ज्ञानविषयता की अनुपपत्ति है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि बहुत तन्तुओ मे एक प्रावरण = आच्छादनादि अर्थक्रिया (फलक्रिया) के हेतुत्व की सिद्धि होने पर एक ज्ञानत्व की भी सिद्धि होती है, जैसे कि बहुत वर्णो मे भी एकार्थप्रतीति के हेतुत्व रूप निमित्त के होने पर, एक पद है ऐसी बुद्धि की विषयता देखी जाती है । और कम्प-अकम्प, आवरण, अनावरण, रक्तत्व, अरक्तत्व स्वरूप-विरुद्ध धर्म को सम्बन्ध से अवयवी के एकत्व की अनुपपत्ति से भी अवयवी सिद्ध नही होना है । यदि कहे कि अवयवो मे कम्पादि होते भी अवयवी मे अतथात्त्व (अकम्पादि) रहता है, अत एक मे विरुद्ध धर्म की प्राप्ति नही होती है, तो यह नही कह सकते है, क्योकि तथात्व (ऐमा) होने पर युतसिद्धि का प्रसङ्ग होगा । युतसिद्धि की अनिरुक्ति नही कह सकते है, घट-पट के समान दो द्रव्य के समवाया-योग्यत्व को युतसिद्धि पद से कहा जाता है । युतसिद्धत्व होने पर भागभागी

त्वस्य युतसिद्धिपदेनाभिलापात् । न च युतसिद्धत्वे भागभागिव्यवहार-गोचरत्वानुपपत्ति, पदवाक्यादिवदुपपत्ते ।

यत्तूक्त नावयविनोऽवयवाना वा रक्तत्वम्, किंतु महारजनादिद्रव्यस्यैव तत्सयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वादेव रक्तारक्तत्वव्यवहारो विभागश्च सिद्धचतीति, तदसत्, अव्याप्यवृत्तित्वस्यानिरुक्ते । तत्किं प्रदेशवृत्तित्वम् ? उत स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वम् ? नाद्य, आरम्भकप्रदेशातिरेकेणावयविन. प्रदेशान्तराभावात् । प्रदेशवृत्तित्वे सयोगस्य, अवयविन सर्वत्र सयोगानधिकरणत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशतद्वतोर्भिन्नत्वात् । न द्वितीय, भावस्य स्वात्यन्ता-

---

'तस्मादयुतसिद्धिमतानन्त्वेव शब्दसिद्धिमात्रेण परो व्वनयती'ति, तदात्मन्येव परावर्नितम । ननु यदि युतसिद्धिस्तर्हि घटपटवदेव भागभागिव्यवहारो न स्यात् इति, तत्राह—**न च युतसिद्धत्व इति**। नहि पदादीना वर्णादीना वाऽयुतसिद्धिरस्ति, अथाप्यस्ति भागभाग्यादिव्यवहार पश्चावयव वाक्यमित्यादिष्वेवमिहापीत्यर्थ ।

रक्तारक्तत्वयोरपि तदुक्त परिहारमनूद्य दूषयति—**यत्तूक्तमित्यादिना** सयोगस्याव्याप्यवृत्तितया हि तदधीनरक्तारक्तव्यवहारस्य व्यवस्था क्रियते, तदसत्, अव्याप्यवृत्तिताया दुर्निरूपत्वादित्याह—**अव्याप्येति**। कोऽय प्रदेश ? किमारम्भकावयवव्यतिरिक्ता केचिदवयवा ? कि वा त एव ? आद्योऽसभवतीत्याह—**नाद्य इति**। द्वितीये प्राह—**प्रदेशेति**। प्रदेशेभ्य आरम्भकावयवेभ्यो विभिन्नोवयवी, तथा च प्रदेशवृत्तित्वेन सयोगस्य न क्वचिदप्यवयविना सयोगित्वमिति द्रव्यत्वव्याहृति ।

(अश अशी = अवयव-अवयवी) व्यवहारविषयत्व की अनुपपत्ति होगी, यह भी नही कह सकते है, क्योकि पद, वाक्यादि के समान भाग-भागी का व्यवहार होगा।

और जो यह कहा था कि, अवयवी को वा अवयवो को रक्तत्व नही होता है, किन्तु महारजनादि रूप द्रव्य को ही रक्तत्व रहता है, और उस द्रव्य के सयोग के अव्याप्यवृत्ति होने ही से रक्तत्व-अरक्तत्व का व्यवहार और विभागसिद्ध होता है। यह कहना भी असत् है। क्योकि अव्याप्यवृत्तित्व की निरक्ति नही हो सकती है। क्योकि, वह अव्याप्यवृत्तित्व, क्या प्रदेश (एकदेश) वृत्तित्व रूप है, या स्वात्यन्ताभाव-समानाधिकरणत्व रूप है, प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि आरम्भक अवयव से भिन्न अवयबी के प्रदेशान्तर का अभाव रहता है, और आरम्भक अवयवो से अवयवी आपके मत मे भिन्न माना जाता है, अत सयोगो को प्रदेश = अवयववृत्तित्व होने पर, कही भी अवयवी को सयोगित्व नही होगा कि जिससे द्रव्यत्व का भी अभाव होगा इत्यादि। अर्थात् सयोग के अवयववृत्तित्व होने पर सर्वत्र अवयवी को सयोगानधिकरणत्व प्राप्त होगा, क्योकि प्रदेश (अवयव) और अवयवी मे भिन्नता रहती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि

भावसमानाधिकरणत्वे भावाभावविरोधोच्छेदप्रसङ्गात् । प्रतियोगिसमानदेशकालत्वेऽत्यन्ताभावस्यान्योन्याभावत्वप्रसङ्गाच्च ।

न च नेदमिह नेदमिदमिति विलक्षणबुद्धिवेद्यत्वाद् भेद, असति प्रमेयवैलक्षण्ये बुद्धिवैलक्षण्यासभवात् । न च प्रतियोगिनिष्ठानिष्ठत्वेन विशेष,

---

तस्य तद्व्याप्यत्वात्, कारणसयोगस्य कार्यसयोगोपजननियमाच्चेति भाव । **भावस्येति** । सयोगाख्यस्येत्यर्थ । किचैव सति रक्तत्वतदत्यन्ताभावयोरेकस्मिन्नेवावयविनि वृत्तिरित्युक्त भवेत्तथा च स एव दुरात्मा विरुद्धधर्माध्यासो दुरुद्धर स्यात । न भावाभावयोर्विरुद्धत्व किंतु तद्विशेषगोत्वादेरश्वत्वादाविति चेत, नून पितृभ्या शिक्षितोसि ? कथमन्यथा भावाभावयोर्विरोधमननुमन्य तदाघ्रातयोर्विरोधमनुमन्यसे ? अस्ति चात्राभाणक 'पिण्डमुत्सृज्य कर लेढि' इति । इममेव विरोधोच्छेदप्रसङ्ग बाधक सयोगतदत्यन्ताभावयोरेकत्र **वृत्तौ** बाधकमपश्यते श्रीवल्लभाय व्याचक्षीत । किच सयोगादेरत्यन्ताभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वेन्योन्याभावतैवास्य स्यात्, स्वप्रतियोगिसमानाधिकरणनिषेधत्वस्यान्योन्याभावलक्षणत्वादित्याह—**प्रतियोगीति** । अत्र लीलावतीकारेणेममेव दोषमाशङ्क्य समादधे 'नेदमिद नेदमिहेति विलक्षणबोधवेद्यत्वात्' इति ।

तद्दूषयति—**न चेति** । न बुद्धिवैलक्षण्यमात्रमर्थसाधकम्, अतिप्रसङ्गात्, अपि त्वबाधितम । नचेह तत्, लक्षणाद्यभावेन दुर्निरूपभेदत्वादित्यर्थ । ननु प्रतियोगिनिष्ठत्वमस्त्यत्यन्ताभावस्य, अन्योन्याभावस्य तु तन्नास्ति, नित्यत्वेन तु प्राक्प्रध्वसयोर्व्युदास इत्ययमेवास्तु तयोर्विशेष इति, तत्राह—**न च प्रतियोगीति** । प्रतियोगित्वानिरुक्तेर्यत्किंचित्प्रतियोगित्वस्वप्रतियोगित्वविवक्षयोरनुपपत्तेश्चेदमभावखण्डन एव निरस्तमित्यर्थ । यत्तु वृत्तिविकल्पेन दूषण पूर्वपक्षावसरे उक्तम्, तदपि समर्थयते—

भाव वस्तु को अपने अत्यन्ताभाव के साथ समानाधिकरणत्व (एकाधिकरणवृत्तित्व) होने पर, भावाभाव के विरोध का उच्छेद (अभाव) प्राप्त होगा । और प्रतियोगी के साथ समान देशकाल वाला होने पर अत्यन्ताऽभाव को अन्योन्याभावत्व प्राप्त होगा ।

यदि कहे कि (इदम् इह न) यह रूप इस वायु मे नही है । और (इदम इदम् न) यह रूप इस रजत स्वरूप नही है । इस प्रकार की विलक्षण बुद्धि से वेद्यत्व मात्र भेद रहेगा, तो यह कहना नही बन सकता है, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव रूप प्रमेय मे विलक्षणता के बिना बुद्धि मे विलक्षणता नही हो सकती है । यदि कहे कि अत्यन्ताभाव प्रतियोगी मे भी रहता है, अन्योन्याभाव मे नही, अत प्रतियोगि-निष्ठत्व प्रतियोगि-अनिष्ठत्व से विशेष (भेद) होगा । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि उस प्रतियोगित्वादि का प्रथम अभाव है निराकरण प्रकरण मे

तस्याभावप्रकरण एवापाकरणात् । किंचावयवेष्ववयवी व्यासज्य वर्तते ? यथा द्वित्वादि, किं वा प्रत्येकं परिसमाप्य ? यथा पराभिमता जाति । आद्ये बहुत्वसंख्यादिवदेव समस्तावयवानामग्रहणे न गृह्येत । द्वितीये जातिवदेव पट इति प्रत्यय प्रत्यवयवं स्यात्, तस्यैव च कार्यान्वयात् शृङ्गेणापि स्तनकार्यकरणप्रसङ्ग । स्तनाद्यवयवविशिष्टस्यैव तत्तत्कार्यकरणत्वान्नाति-

---

किंचेत्यादिना । व्यासज्य परिसमाप्येत्यर्थ । आदिशब्दात्त्रित्वादित्रिपृथक्त्वादि-संयोगविभागाश्च गृह्यन्ते । **पराभिमतेति ।** स्वपक्षे हि जातावेव व्यक्तीना कल्पित-त्वाद्वास्तवजातेरभावाच्चेत्यर्थ ? एतच्च द्वित्वादावपि समानम् । स्यादेतद्बहुत्व नाम त्रित्वाद्यभिधीयते तच्चापेक्षाबुद्धिजन्यम, तथाच समस्ताश्रयग्रहणाभावेऽपेक्षाबुद्धि-लक्षणनिमित्तकारणाभावात् बहुत्वमेव नास्ति कस्याग्रहण दृष्टान्त्यते ? तस्मादयुक्त-मिवैतत् यद्बहुत्वसंख्यावदिति निदर्शनदानम्, मैवम्, युक्त चैतत् । नहि उत्पादिका-पेक्षाबुद्धिरेव बहुत्वज्ञानमपितूत्पन्नाया पश्चाद्भाविज्ञानान्तरम्, तथा च तदर्थमप्याश्रय-ग्रहणमपेक्षणीयम् । यथाहु —'आश्रयग्राहकैरिन्द्रियैर्घटत्वसंख्यादिज्ञानम्' इति । तथा च तदवस्थबहुत्वाग्रहण शक्य दृष्टान्तयितुम् । न च समस्तावयवग्रहण क्वचिदपि संभवतीत्यग्रहणमेव नित्यमवयविन स्यादिति भाव । प्रत्यवयव परिसमाप्य वृत्तिपक्षे दोषमाह—**द्वितीय इति ।** यथा हि प्रतिव्यक्ति गौर्गौरिति जाति प्रतीयते, एव प्रतितन्तु पट पट इति प्रतीयेत, नचैवमस्तीत्यर्थ । ननु न शृङ्गेण स्तनकार्यप्रसक्ति, तत्तदवयवविशिष्टस्यैवावयविन कार्यकरत्वोक्तेरिति, तत्राह—**स्तनादीति ।**

निराकरण किया गया है। और यह विचारणीय है कि द्वित्वादि के समान अवयवी अवयवो मे व्यासक्त होकर रहता है, या जाति के समान प्रत्येक अवय मे परिसमाप्त (पूर्ण) रूप से रहता है। प्रथम पक्ष मे बहुत्व संख्या आदि के समान ही सम्पूर्ण अवयवो के ग्रहण नही होने पर अवयवी का ग्रहण (ज्ञान) नही होगा। दूसरे पक्ष मे जैसे प्रतिव्यक्ति मे जाति गृहीत होती है, वैसे ही पट रूप अवयवी का प्रत्येक अवयव मे पट ऐसा ज्ञान प्राप्त होता है, होना ही चाहिये। और जाति के समान अवयव मे अवयवी रहेगा तो उस अवयववृत्ति अवयवी को ही कार्य के साथ अन्वय (सम्बन्ध) होने से शृङ्ग से भी स्तन का कार्य करना प्राप्त होगा। यदि कहे कि शृङ्ग से स्तनकार्यकरण की प्राप्ति नही हो सकती है, क्योकि स्तनादि अवयवयुक्त ही अवयवी को तत्तत् कार्यकरणत्व (हेतुत्व) होता है, शृङ्ग मे अवयवी रहता है, परन्तु स्तनविशिष्ट रूप से नही रहता है, अत वहाँ स्तन कार्यकारी नही होता है। तो यह कहना युक्त नही हो सकता है, क्योकि जैसे संस्थान = संचय = स्थान रूप

प्रसङ्ग इत्यपि न वाच्यम्, यादृशसस्थानेष्ववयवेष्ववयवी समवेत इष्यते, तेषामेव तत्तत्कार्यकरणत्वोपपत्तेरवयविनो वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । किचावयविन प्रत्यवयव परिसमाप्य वृत्तौ कतिपयावयवनाशेऽपि जातिवदभावावतिष्ठेत । समवायिकारणमन्तरेण कथमवस्थानमिति चेत्, तर्हि प्रत्यवयव परिसमाप्य वृत्तावपि सकलसमवायिकारणसहित एवावतिष्ठेत, तथा च शृङ्गेणापि स्तनकार्यप्रसङ्ग पूर्वोक्त एवानुवर्तते, तत्तदवयवविशिष्टस्यैव तत्र तत्र भावात् । प्रत्यवयव निखिलावयवोपलम्भश्च स्यात् । तदित्थ वृत्तिविकल्पस्य

हेतुमाह—**यादृशेति** । यदि ह्यवयविनमभ्युपेत्यावयववैशिष्टच प्राथ्यते, तर्हि तैरवयवैरस्तु तत्तत्कार्यनिर्वृत्ति, कृतमितरेण, तत्र च पारिप्लवपरिहारायोक्तम्—**यादृशसंस्थानेष्विति** । अस्मिन्नेव पक्षेऽनिष्टान्तर चाह—**किचेति । जातिवदिति** । यथा कतिपयव्यक्तिनाशेपि व्यक्त्यन्तरमवलम्ब्य जातिर्जीवत्येवमित्यर्थ । स्यादेतत्, विषम उपन्यास, नित्या हि जातिरत कतिपयव्यक्तिनाशेपि युक्त तस्या व्यक्त्यन्तरावलम्बनेनाप्यवस्थानम् । अत्र त्ववयवैरारभ्योऽवयवी, ततश्चैकतरनाशेपि समवायिकारणस्य तन्तुसयोगलक्षणासमवायिकारणस्य च नाशात्कथमस्यावस्थानमिति शङ्कते—**समवायीति** । एव तर्हि प्रत्यवयव परिसमाप्य वृत्त्यवयविन सकलसमवायिकारणमपि । प्रत्यवयव वर्तेत, इतरथा समवायिकारणव्यतिरेकेण तत्र वृत्त्ययोगात । तथाच शृङ्गेपि स्तनादिसमस्तावयवा सन्ति, स्तनादावपि च शृङ्गादय इति पूर्वोक्तपारिप्लवो वज्रलेपायते इति परिहरति—**तर्हीति** । तत्रैवाहेतुस्तत्तदवयवेति । दूषणान्तर चाह—**प्रत्यवयवमिति** । यत्तु स्वपरमतयोर्व्याप्त्यसिद्ध्या विकल्पानुत्थानमुक्त तददूषयति—**तदित्थमिति** । बहुत्वगोत्वादावित्यर्थं ।

अवयवो मे अवयवी को समवेत मानते है, उन अवयवो को ही तत्तत् कार्यकरणत्व की सिद्धि होने से अवयवी की व्यर्थता की प्राप्ति होती है । और यह भी आपत्ति है कि जाति के समान अवयवी की प्रत्येक अवयव मे परिसमाप्त (पूर्ण) रूप से वृत्ति होने पर कतिपय अवयवो के नाश होने पर भी अवयवी रहेगा, अत यत्किञ्चित् अवयव के नाश से पट के नाशपूर्वक खण्ड पट की उत्पत्ति मानना युक्त नही होगा । यदि कहे समवायिकारण अवयव के नाश होने पर अवयवी की स्थिति कैसे रहेगी, उसका नाश होगा ही । तब तो सिद्ध होता है कि प्रत्येक अवयव मे परिसमाप्त रूप से वृत्ति होते भी सम्पूर्ण समवायिकारण सहित ही अवयवी रहता है, और प्रत्येक अवयव मे रहता है, तो ऐसा होने पर शृङ्ग से भी स्तन के कार्य की प्राप्ति रूप पूर्वोक्त दोष ही आवृत्त (पुन प्राप्त) होता है । क्योकि तत्तत् (सर्व) अवयव युक्त ही अवयवी का तत्तत प्रत्येक अवयवो मे भाव (सत्त्व) है । और सर्वावयवयुक्त का प्रत्येक अवयव मे भाव होने पर प्रत्येक अवयव मे सब अवयवो का ज्ञान भी होना चाहिये । अत इस उक्त रीति से साकल्येन एकदेशेन वा इत्यादि वृत्तिविकल्प के

परसिद्धव्याप्त्युपजीवित्वात् स्वसिद्धा परसिद्धा वेति विकल्पोऽनवसरदु स्थ एव ।

न च सर्वस्यास्य प्रसङ्गस्यावयविन प्रमाणसिद्धावसिद्धौ च धर्मिग्राहक-प्रमाणबाधाश्रयासिद्धिदोषौ, यत —

प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यातिसिद्धस्यैवाश्रयत्वत ।
देहात्मतावन्नियमाल्लक्षणैश्च व्यवस्थिते ।। ३९ ।।

दूषणान्तरमप्यनूद्य दूषयति—**न च सर्वस्येति** । न दोषा इत्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**प्रमितत्वस्येति** श्लोकेन । सिद्धत्वे प्रमितत्वाभावापराधेनाश्रयत्वाभावा-दर्शनात्प्रमितत्वविशेषण व्यर्थमत सिद्धस्यैवाश्रयत्व युक्तम् । ननु कल्पितश्चेदवयवी किमित्यवयवेष्वेव कल्प्यते, न पुनरन्यत्र ? शुक्तिरजतादिकल्पनावच्चानर्थक्रियाक्षमो वा किं न स्यादिति ? तत्राह—**देहात्मतावन्नियमादिति** । यथा देह एवात्मत्व कल्प्यते, न तु घटादौ, तत्कस्य हेतो ? अनुभवादेव । यथा च कल्पितत्वाविशेषेपि देहात्मत्वादेरेवार्थक्रियाक्षमत्व न रजतादेरेवमत्रापीत्यर्थ । कथ तर्हि तत्त्वनिर्णयार्थ कथाप्रवृत्ति ? नह्याभासवर्जनमनाभाससाधनदूषणस्वीकार च विना कथाप्रवृत्ति । इतरथा आभासप्रयोक्तुरिवानाभासप्रयोक्तुरपि पराजय स्यादाभासप्रयोक्तुरपि चेतरवज्जय स्यादिति, तत्राह —**लक्षणैश्चेति** । यद्यपि कल्पितत्व समानम्, तथापि सत्तासत्ताभ्युपगमव्यतिरेकेणोभयसप्रतिपन्नलक्षणस्वरूपमादायाभासानाभासव्यवस्थाया सिद्धायामनाभासैर्व्यवहर्तव्यम्, आभासा वर्जनीया । एव निर्वोढुर्विजय , इतरस्य तु पराजय इति व्यवहारनियमबन्ध एव कथाङ्गम्, नतु धर्म्यादिसत्ता । इतरथाऽसद्वा-दिना परस्पर जयपराजयाव्यवस्थापातात् । नचासत आभासानाभासद्वैविध्य न घटत इति वचनीयम्, सत्त्वव्यतिरेकेणापि लक्षणवत्त्वतद्राहित्याभ्यामनाभासाभासव्यवस्थो-

---

पर (प्रतिवादी) के मत मे सिद्ध व्याप्ति के उपजीवित्व होने से पूर्वोक्त स्वसिद्धा परसिद्धा वा यह विकल्प अनवसर दु स्थ ही है ।

और प्रथम कहा था कि अवयवी के प्रमित होने पर अवयवी के निषेधक हेतु बाधित होते है, अप्रमित होने पर आश्रयासिद्धि होती है । अत अवयवी की प्रमाण से सिद्धि और असिद्धि दोनो अवस्था मे क्रम से धर्मीग्राहक प्रमाण से बाध और आश्रयासिद्धि दोष इस सब प्रसङ्ग को प्राप्त होते है । यह कहना भी नही बनता है । क्योकि—

प्रतीति मात्र से ही सिद्ध को आश्रयत्व होने से प्रमितत्व की व्यर्थता सिद्ध होती है । और अवयवी के कल्पित होते भी जैसे देह ही मे आत्मत्व कल्पित होता है । लोष्ठादि मे नही, वैसे अवयवो मे नियम से अवयवी कल्पित होता है । और लक्षणो से व्यवस्था होती है ।। ३९ ।।

प्रसिद्धतामात्रेणाश्रयत्वोपपत्तौ प्रमाणविशेषणवैयर्थ्यात्। न चैवमवयविन शशविषाणतुल्यता, अपरोक्षप्रतीतिगोचरत्वेनार्थक्रियाकारितया च तद्वैलक्षण्यात्। न च कल्पनाकोशस्य निरङ्कुशप्रसरतयाऽतिप्रसङ्ग, देहात्मभाववत्प्रतिनियमोपपत्ते। न हि देहादावात्मभाव कल्पित इति घटादावपि कल्प्यते। न च कल्पितोऽपि सोऽर्थक्रियाकारीति भवति शुक्तिरजताद्यर्थक्रियाकारि। एवमनभ्युपगमे कथायामप्रवृत्तिरेव स्यात्, उभाभ्या धर्मिण

पपत्ते। तल्लक्षणरहितस्तद्वदवभासमानो हि तदाभास। इतरथा सत्त्वाविशेषाद्भवतामप्याभासानाभासविवेकाभावापातादिति भाव।

श्लोक विवृणोति—**प्रसिद्धतेति**। देहात्मनावदित्येतद्विवृणोति—**न च कल्पनाकोशस्येति**। कोशो भाण्डागारम। द्वितीय नियम विवृणोति—**न च कल्पितोऽपीति**। अथ किमित्यत्यन्तसत्त्वमेव नाश्रीयते इति? तत्राह—**एवमिति**। अवश्य तावत्सद्वादिना अनिर्वचनीयवादिन प्रति सत एव कथाङ्गत्वमित्येतत्प्रसाधनायैवादासीनसदसत्त्वाभ्युपगम किंचित्साधनमेकस्या कथायामुररीकरणीयम्। इतरथा प्रथममेव मतिकर्दमे कथानारम्भप्रसङ्गात्, अनवतीर्णकथापथ प्रति च साधकबाधकप्रयोगायोगात्। तथा च कथान्तरेपि तादृश एव धर्म्यादित्वोपपत्तौ वृथा तदनुपयोगिसदसदादिकथेत्यर्थ। तदुक्त श्रीहर्षकविभि —

अर्थात् अवयवी की प्रसिद्धता मात्र से आश्रयत्व की सिद्धि होने पर, प्रमाण विशेषण (प्रमितत्त्व विशेषण मे व्यर्थता होती है। यदि कहे कि अवयवी मे प्रमाण सिद्धत्व नही होने पर, अवयवी को सशश्रृङ्ग तुल्यता होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अपरोक्ष ज्ञान के विषय होने से तथा अर्थक्रियाकारिता से शशविषाण से विलक्षणता सिद्ध हो जाती है। यदि कहे कि कल्पना कोश (भण्डार) की निरङ्कुशप्रसरता (विस्तार) से अतिप्रसङ्ग होगा (अवयवो से अन्यत्र भी अवयवी की कल्पना होगी) तो यह कहना युक्त नही, क्योकि देह मे आत्मत्व की कल्पना के समान, अवयवावयवी के प्रति नियम की स्वाभाविक सिद्धि होती है। स्वभाव से ही देहादि मे आत्मभाव कल्पित है, ऐसे घटादि मे आत्मभाव नही कल्पित होता हे। और कल्पित वह देहादि मे आत्मभाव अर्थक्रियाकारी (फलसाधन) होता है। परन्तु कल्पित शुक्ति रजतादि अर्थक्रियाकारी नही होते है। इसप्रकार की व्यवहारसिद्ध व्यवस्था को नही मानने पर कथा मे प्रवृत्ति ही नही हो सकती है, क्योकि वादी और प्रतिवादी दोनो एकस्वरूप से प्रमाणसिद्ध धर्मी को नही मान सकते है। आपको भी यदि प्रतिपक्ष प्रमित होगा, तो प्रमित सत्य का निषेध अनुपपन्न होगा। और अप्रमित रहते भी अज्ञात का निषेध नही हो सकेगा, अत प्रमितत्त्व अप्रमितत्त्व रहित व्यवस्थायुक्त प्रतीतिसिद्ध को कथा का अङ्ग

प्रमाणसिद्धत्वेनानङ्गीकारात् । तवापि प्रतिपक्षस्य प्रमितावप्रमितौ च निषेधानुपपत्तेश्च । उभयवादिसप्रतिपन्नलक्षणैरेव धर्मिहेतुदृष्टान्ततदाभासव्यवस्थोपपत्तौ सत्यत्वानङ्गीकारेऽप्यतिप्रसङ्गाप्रसङ्गात् । एकस्यानेकवृत्तेरवयविनो निरासेनैव सयोगविभागद्वित्वद्विपृथक्त्वसामान्यादयोऽपि परास्ता वेदितव्या ।

सयोगादिस्वरूपानिरुक्तेश्च । तथा हि—(१) किमप्राप्तयो प्राप्ति सयोग ? (२) अनित्य सबन्धो वा ? (३) जन्यत्वविशेषितो वा ? (४) अव्याप्यवृत्तित्वविशेषितो वा ? (५) द्रव्यासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयो वा ? सर्वथापि नोपपद्यते ।

पूर्वसबन्धनियमहेतुत्वे तुल्य एव नौ ।
हेतुतत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा ॥ इति ।

आस्ता वाय वस्तुवृत्तविचार । तेषु तेषु पूर्वपक्षेषु प्रतिषेधायानूद्यमानेष्वायुष्मतैव तावदेषा रीतिराश्रयणीया । नचारोपशस्त्रग्रहणम्, अन्यत्राप्रमितस्य तवारोपेऽनारोहात् । अत्यन्तालीकस्य च नभोमलिनवदनुपादेयतयाऽपरोक्षप्रतिभासायोगादित्यभिप्रेत्याह—**तवापि प्रतिपक्षस्येति** । तुरीय चरण विवृणोति—**उभयवादीति** । अवयविन्युक्तन्याय सयोगादिष्वप्यतिदिशति—**एकस्येति** । आदिशब्देन त्रित्वादि गृह्यते ।

अनवधिविधमप्यबोधविद्धैरणुधिषणै अधिरोपिताणुभावम् ।
अनणुमतिनिरूपण त्रिलोकीनिकरपरप्रकृतिं प्रणौमि विष्णुम् ॥

इदानी प्रसङ्गात्सयोगादिकमपि खण्डयति—**संयोगादिति** । न केवलमवयविवदनेकवृत्तित्वात्सयोगादेरनुपपत्ति, स्वरूपानिरुक्तेश्चेति चार्थ । अत्र समवायनिवृत्तये चतुर्षु पक्षेष्वाद्य विशेषणम्—**द्रव्येति** । द्रव्य प्रत्यसमवायिकारण यत् एतद्वृत्तिर्या

मानना ही होगा कि जिससे उभयवादी से निश्चित लक्षणो के द्वारा ही धर्मी (पक्ष) हेतु दृष्टान्त हेत्वाभासादि की व्यवस्था होने पर, धर्मी आदि को सत्य नही मानने पर भी अतिप्रसङ्ग की प्राप्ति नही होगी । और एक अवयवी के अनेक अवयव मे वृत्तित्व के निराकरण से ही सयाग, विभाग, द्वित्व, द्विपृथक्त्व, सामान्यादि भी निरस्त हो गये, ऐसा समझना चाहिये ।

वृत्तिविकल्प उक्त दूषणो से तो सयोगादि निरस्त हो ही गये, सयोगादि के स्वरूप की अनिरुक्ति से भी उनका निराकरण हो सकता है । क्योकि, क्या, अप्राप्त दो द्रव्य की प्राप्ति सयोग है, या अनित्य सम्बन्ध है, या जन्य सम्बन्ध है, या अव्याप्यवृत्ति सम्बन्ध है, या द्रव्यासमवायिकारणवृत्ति गुणत्वावान्तर = व्याप्यजातिमत्त्व है । सर्वथा ही सयोग की सिद्धि नही हो सकती है । क्योकि—

अन्योऽन्यसश्रयापत्तेरतिव्याप्तिप्रसङ्गत ।
अव्याप्तेरजसयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥ ४० ॥

न तावदाद्य, अप्राप्तिशब्देन सयोगाभावविवक्षायामात्माश्रयत्वात् । सबन्धाभावविवक्षाया तन्तुपटयो सबन्धेऽतिव्याप्ते । न हि पटोत्पत्ते प्राक्पटस्य तन्तुभि सबन्धोऽस्ति, सबन्धिन पटस्यैवाभावात् । समवायस्य

गुणत्वावान्तरजाति सयोगत्वाख्या तदधिकरण वेत्यर्थ । रूपत्वादिकमादाय रूपादावतिव्याप्तिपरिहारायाद्य विशेषणम् । सत्तामादाय द्रव्यकर्मणारतिव्याप्तिपरिहाराय गुणत्वावान्तरजातीयग्रहणम् । तत्रैव वर्तमानावान्तरजातीय इत्येवाभिधानेऽपि गुणत्वजातिमत्तया रूपादावेवातिव्याप्तिस्तद्व्यावृत्त्यर्थम् गुणत्वग्रहणम् । अनुपपत्तिहेतून् श्लोकेन सगृह्णाति—**अन्योऽन्येति** । अप्राप्तयोरित्यत्र किमप्राप्तशब्देन सयोगाभाववान् ? सबन्धाभाववान् वा विवक्ष्यते ? प्रथमे सयोगसिद्धौ लक्षणसिद्धिर्लक्षणसिद्धौ सयोगसिद्धिरित्यन्योन्याश्रय, सयोगस्याद्याप्यसिद्धेरित्याह—**अन्योऽन्येति** । द्वितीये तन्तुपटादिसमवायेऽतिव्याप्ति । उत्पत्ते प्रागसबद्धयोरेवावयवावयविनो समवायसबन्धेऽतिव्याप्ति । समवायनित्यत्वेपि प्राक् तदीयत्वाभावेन तस्याप्राप्तयो प्राप्तित्वादित्याह—**अतिव्याप्तीति** । प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थेषु च दूषणमाह—**अव्याप्तेरजसंयोग इति** । नह्यजसयोगस्य विभुमात्रवर्तिनोऽनित्यत्व जन्यत्वमव्याप्यवृत्तित्व वा सभवति ततस्तत्राव्याप्तिरित्यर्थ । पञ्चमे दूषणमाह—**द्रव्यत्वादीति** ।

सग्रह विवृणोति—**न तावदित्यादिना** । आत्माश्रयग्रहणमन्योन्याश्रयस्याप्युपलक्षणम् । ननु माभूत्सबन्धिन पटस्य पूर्वम् भाव, तथापि तत्सबन्धस्य समवायस्य नित्यतया प्रागपि सत्त्वान्नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**समवायस्येति** । तत्र किं तन्तुपटविशेषित एव समवाय प्रागप्यस्ति ? किं वा स्वरूपेणैव ? नाद्य कार्यससर्गस्य

अन्योन्याश्रय की प्राप्ति, अतिव्याप्ति का प्रसङ्ग, तथा अज के सयोग मे अव्याप्ति **और द्रव्यत्वादि के अनिरूपण से लक्षणो की सर्वथा अनुपपत्ति है ॥ ४० ॥**

अप्राप्त की प्राप्ति यह आद्य सयोग का लक्षण युक्त नही है, क्योकि अप्राप्ति शब्द से सयोगाभाव की विवक्षा होने पर, सयोगाभाव का अभाव सयोग होता है, ऐसा अर्थ होने से आत्माश्रयत्व प्राप्त होता है, और अप्राप्ति शब्द से सम्बन्धाभाव की विवक्षा होने पर सम्बन्धरहित का सम्बन्धसयोग होता है, यह अर्थ होगा, अत तन्तु और पट के सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति होगी, क्योकि पट की उत्पत्ति से पूर्वकाल मे पट का तन्तु के साथ सम्बन्ध नही रहता है । क्योकि सम्बन्धी पट ही प्रथम नही रहता है, तो उसका सम्बन्ध कैसे रह सकता है । यदि कहे कि पट का तन्तु के साथ समवायसम्बन्ध माना जाता है, और वह समवाय नित्य सम्बन्ध है, अत तन्तु के सम्बन्धी पट की उत्पत्ति से प्रथम भी समवाय रहता है । तो कहा जाता है कि इस-

नित्यत्वादसत्यपि सबन्धिनि स भवतीति चेत्, तर्हि पटस्य कारणेषु तन्तुषु सदा समवायात्प्रागपि सत्त्वप्रसङ्ग, तथा तन्त्वादीनामपि कारणानामिति न किञ्चित्कादाचित्क स्यात्। अथापि कार्यविशेषित प्राक् नास्तीति चेत्, तर्ह्यप्राप्तयो प्राप्तिरिति सोऽपि सयोग स्यात्। अप्राप्तयो सतोरिति विशेषणादोष इति चेत्, न, सदसतो सबन्धासभवेन सिद्धस्यैव पटस्य समवाय इत्यवश्याभ्युपेयत्वात् पूर्वदोषानिवृत्ते, अजसयोगेऽव्याप्तेश्च। स एव नास्तीति चेत्, न, आकाशादिकमात्मना सयुज्यते सयोगित्वात् घटव-

नित्यतापत्त्या कार्यानित्यतानुमानकलङ्कापातादित्याह—**तर्हीति**। द्वितीयमाशङ्क्य दूषयति—**अथापीत्यादिना**। ननु तर्ह्यप्राप्तयो प्राप्तिरित्येतावन्न लक्षणमपितु अप्राप्तयो सतो प्राप्तिरिति, तथाच किरणावलीकार—'अप्राप्तयो प्राप्ति सयोग' इति भाष्य व्याचक्षाण प्राह—'विद्यमानयोरप्राप्तयो प्राप्ति सयोग' इति। तथा च न पूर्वातिव्याप्ति, पटस्य विद्यमानत्वाभावादिति शङ्कित्वा पुनरपि तत्रैवाति व्याप्तिमापाद्याह—**अप्राप्तयोरित्यादिना**। एतेनैतदपि निरस्त यथाहोदयन—'समवायस्त्वप्राप्तयोर्न सभवत्येव जाते सबन्धोऽस्येत्येककालतावगमात्' इति। अव्याप्तेरित्येतद्विवृणोति—**अजसंयोग इति**। अजसयोगे समवायखण्डनावसरोक्तमेवानुमान स्मारयति—**आकाशादिकमात्मनेति**। कृतोपपादनाश्च तत्रैवैते ग्रन्था।

प्रकार से, पट के सदा कारण रूप तन्तुओ मे समवाय के रहने से पट का भी उत्पत्ति से पूर्व ही सत्त्व प्राप्त होगा। अर्थात् पट के सम्बन्ध को नित्य होने पर, पट मे भी नित्यत्व प्राप्त होगा। इसीप्रकार से तन्तु आदि कारणो की अपने अवयवो मे सदा वर्तमानता से कोई कादाचित्क (किञ्चित्कालवृत्ति) नही होगा। यदि कहे कि समवाय कार्य की उत्पत्ति से पहले स्वरूप से रहता है, तथापि कार्यविशेषित स्वरूप से प्रथम नही रहता हे, अर्थात् कार्यप्रतियोगिक रूप से नही रहता है। तब तो प्रथम उसका रहना आकाशादि के रहने के समान हुआ। और अप्राप्त तन्तु पट की उस समवाय से अन्य प्राप्ति (सम्बन्ध) हुई, अत वह अप्राप्त की प्राप्ति भी सयोग होगा। यदि कहै कि अप्राप्त विद्यमानो (सत् पदार्थों) का सम्बन्ध सयोग होता है, और तन्तुओ मे पट प्रथम से नही रहता है, अत उसके सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति नही होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सत् और असत् का परस्पर सम्बन्ध होना असम्भव है, अत सिद्ध ही पट का तन्तुओ मे समवाय होता हे, यह अवश्य मानना होगा कि जिससे समवाय मे सयोगत्व प्राप्ति रूप पूर्वोक्त दोष की निवृत्ति नही हो सकेगी। और अज्ञो के अज्ञसयोग मे इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, इससे भी यह लक्षण अयुक्त है। यदि कहे कि वह अज्ञसयोग ही नही हे कि जिसमे अव्याप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि (आकाशादि, आत्म के साथ सयुक्त होते

दिति प्रमाणसिद्धत्वात् । न च मूर्तत्वादिरत्रोपाधिरस्ति, व्यतिरेकासिद्धे । यदमूर्तं तदात्मना न सयुज्यते यथा रूपमिति व्यतिरेक, तत्र चासयोगित्व-स्यैवोपाधितया व्यतिरेकासिद्धे । मूर्तत्व चावच्छिन्नपरिमाणाधिकरणत्वम्, ततश्च परिमाणाधिकरणत्वेनैव व्याप्तिसिद्धेरवच्छिन्नविशेषणस्य पक्षमात्र-व्यावृत्तिप्रयोजनस्य पक्षेतरता। अत एव न द्वितीयतृतीयौ, अजसयोगा-व्याप्ते, क्रयादिजन्यस्वस्वामिसबन्धादिष्वतिव्याप्तेश्च । तेषा जन्यत्वाद-नित्यत्वाच्च । नैते सबन्धा, स्वत्वस्वामित्वादीना द्विष्ठत्वाभावादिति चेत्,

---

ननूक्तस्य पुन कथन वृथा, नाधिकार्थत्वात् । कस्तर्ह्यधिकोर्थ ? तमाह—**मूर्तत्वं चेति** । अत्र हि परिमाणाधिकरणत्वमित्येतावतैव सयोगानर्हगुणादिव्यावृत्ते पक्षीकृत-तत्तुल्यविभुद्रव्यमात्रव्यावर्तकावच्छिन्नविशेषणवत्त्वादय पक्षेतर इत्यर्थ । अत एव एतस्य विवरणमजसयोगेति । श्लोकोक्तामतिव्याप्तिं चाह—**क्रयादीति** । आदि-शब्देन भृत्यस्वामिसबन्धादयो गृह्यन्ते । तत्र लक्षण च नयति—**तेषामिति** । समाना चेय प्रथमेपि । स्वस्वाम्याधाराधेयादिषु विशेषणसभवेपि सबन्धरूपविशेष्याभावादति-व्याप्तिपरिहार शङ्कते—**नैत इति** । द्विष्ठत्वे चोभयत्राप्यविशिष्टबुद्ध्युत्पत्तिप्रस-

---

है, सयोगी होने से, घटवत्) इस अनुमानप्रमाण से अजसयोग सिद्ध होता है । इस अनुमान मे मूर्तत्वादि उपाधि है, ऐसा नही कह सकते है, क्योकि उपाधि व्यतिरेक (अभाव) से साध्यव्यतिरेक की सिद्धि नही होने से मूर्तत्वादि मे साध्यव्यापकता नहीं सिद्ध होती है । अर्थात् (जो अमूर्त है, वह आत्मसयुक्त नही होता है, रूपवत्) यह व्यतिरेक है और उसमे असयोगित्व के उपाधि होने से व्यतिरेक की सिद्धि नही होती है । क्योकि व्यतिरेक मे आत्मसयोगाभाव साध्य है, अमूर्तत्व हेतु है । असयोगित्व उपाधिरूप मे साध्य का व्यापक है । और आकाश मे अमूर्तत्व रहता है, असयोगित्व नही रहता है, साधन का अव्यापक है । और मूर्तत्व के पक्षेतरत्व रूप होने से भी वह उपाधि नही हो सकता है, क्योकि अवच्छिन्न (अमहत्) परिमाणाधिकरणत्व को मूर्तत्व कहते है, वहाँ परिमाणाधिकरणत्व रूप से ही साध्य की व्याप्ति के सिद्ध होते, विभुपक्ष मात्र की व्यावृत्ति के लिये अवच्छिन्न विशेषण है, अत पक्षेतरता है । अर्थात् परिमाणाधिकरणत्व मात्र से सयोगानार्हगुणादि की व्यावृत्ति हो जाती है, पक्ष पक्षतुल्य विभु की व्यावृत्ति के लिये अवच्छिन्न विशेषण है, अत पक्षेतर रूप है । अत एव द्वितीय, तृतीय लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि दोनो की अजसयोग मे अव्याप्ति है, और किसी पदार्थ के क्रयणजन्य वस्तु और क्रेता के स्वस्वामिभाव सम्बन्ध मे अतिव्याप्ति है । क्योकि उनमे भी जन्यत्व और अनित्यत्व रहता है । यदि कहे कि ये स्वत्व स्वामित्वादि सम्बन्ध ही नही है, क्योकि ये प्रत्येक मे रहने वाले है, सयोग के समान दो मे स्थिर नही होते है, अत इनमे

तत्किमिदानी विशेषणविशेष्यभावोऽपि न सबन्ध ? तथा च सुव्याहृत विशेषणविशेष्यभावसबन्धादभावसमवाययोर्ग्रहणमिति । अपि चैव समवायोऽपि सबन्धो न स्यात्, घट पटेन सयुक्त पटश्च घटेनेतिवत्तन्तुषु पट समवेत पटे च तन्तव समवेता इति तुल्यरूपव्यवहाराभावात् । तन्तुपटौ सबद्धावित्यस्त्येव व्यवहार इति चेत्, सम समाधानम्, स्वस्वामिनौ सबद्धाविति व्यवहारात् । नापि चतुर्थ , अजसयोगाऽव्याप्ते , न हि निरवयवेषु नित्येषु सन्ति प्रदेशा , यानव्याप्यायमेकदेशे वर्तेत । नापि पञ्चम , द्रव्यस्या-

---

ङ्गादिति भाव । तदिदमपसिद्धान्तेन दूषयति—**तत्किमिति** । किं चोभयत्र तुल्यबुद्ध्यजनकतयोभयनिष्ठत्वाभावेन स्वस्वाम्यादीनामसबन्धत्वमभिमन्यमानस्य समवायोपि सबन्धो न स्यात्तस्यापि तदजनकत्वादित्याह—**अपि चैवमिति** । तुल्यरूपव्यवहारसद्भाव शङ्कते—**तन्तुपटाविति** । समाधानसाम्यमेवाह—**स्वस्वामिनाविति** । एतेन कार्य सबन्ध सयोग इति लीलावत्यपि निरस्ता । अव्याप्यवृत्ति सबन्ध इति चतुर्थपक्षमव्याप्त्या दूषयति—**नापि चतुर्थ इत्यादिना** । द्रव्यासमवायिकारणेत्यादिशिवादित्यमिश्रलक्षण दूषयति—**नापीति** । द्रव्यानिरुक्तें प्रागेवोक्तत्वात्कर्मखण्डनसमये चाऽसमवायिकारणत्वस्य निरासात् गुणलक्षणखण्डनाज्जातिखण्डनाच्च तद्गर्भितमिदमपि लक्षण खण्डितमित्यर्थं । इदानी गुणत्वावान्तरजाति-

---

अतिव्याप्ति नही हो सकती है, तब तो अब इस प्रकार से विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध भी नही रहेगा, और अभाव तथा समवाय का विशेषण-विशेष्यभाव से ग्रहण होता है, इस निज सिद्धान्त का अत्यन्त व्याघात हो जायगा । और इसप्रकार से समवाय भी सम्बन्ध नही होगा, (सम्बन्ध नही कहा जायगा) क्योकि, घट पट से सयुक्त है और पट घट से सयुक्त है, इसप्रकार से जैसे सयोग दोनो मे प्रतीत होता है, वैसे तन्तुओ मे पट समवेत है, और पट मे तन्तु समवेत है इसप्रकार समवाय की दोनो मे प्रतीति और व्यवहार नही होता है, किन्तु तन्तुओ मे पट समवेत है, ऐसा व्यवहार होता है । अत द्विष्ठ समवाय नही सिद्ध होता, इससे सम्बन्धत्व भी नही रहेगा । यदि कहे कि (तन्तुपटौ सम्बद्धौ) तन्तुपट सम्बन्ध वाले है । इसप्रकार से समवाय की द्विष्ठता प्रतीति होती हे, तो कहना सत्य है, परन्तु समाधान तुल्य है कि स्वस्वामिनौ सम्बद्धौ, इस व्यवहार से स्वस्वामिभावसम्बन्ध सिद्ध होता है, और उसमे द्वितीय तृतीय लक्षण की अतिव्याप्ति रहती है । अव्याप्यवृत्ति सम्बन्धत्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि इसकी भी अजसयोग मे अव्याप्ति होती है । निरवयव नित्य पदार्थों मे प्रदेश (अवयव) नही है, कि जिन भागो मे अव्याप्त होकर एकदेश मे सयोग रहेगा (द्रव्याऽसमवायिकारणवृत्ति-गुणत्वावान्तर-

समवायिकारणाना जातेश्चानिरुक्तौ तद्विशेषितलक्षणासिद्धे । अपि च—

सयोगस्यापृथक्त्वेऽपि व्याहारव्यवहारयो ।
समवाय इवोत्थानाद् वृथा सामान्यकल्पना ॥ ४१ ॥

यथा तत्तत्सबन्धिनिरूपणाधीननिरूपणोऽपि समवायस्तत्र तत्रैको नित्यश्च, सयोगोऽपि तथा कि न स्यात् ? तद्भेदव्याहारव्यवहारयो समवायवदुपपत्ते । तेन जातेरसभवाद् गुणत्वावान्तरजातीय इतीद लक्षणमेव न सभवति । नन्वन्यतरकर्मणोभयकर्मणा सयोगेन वा सयोगस्य जन्म, तथा च नित्यात्कारणत्रितयजन्यत्व व्यावर्तमान तस्य सयोगत्वमपि व्यावर्त-

---

रित्यशोप्यसिद्धस्तथाविधजातौ प्रमाणाभावादित्याह—**अपि चेति**। नन्न सयोगानेकत्वे सत्यनुगतव्यवहारान्यथानुपपत्ति सयोगत्वसामान्यकल्पिका । अनेकत्व च प्रत्यक्षाद्वा ? घटसयोग पटसयोग इति भिन्नशब्दप्रयोगाद्वा ? बुद्धिभेदाद्वा ? नाद्य, तत्रासप्रतिपत्ते ।

द्वितीयतृतीययो समवायवदेकत्वेप्युपाधिवशादन्यथासिद्धेरिति श्लोकेनाह—**संयोगस्येति**। श्लोक व्याख्याय सयोगत्वखण्डनस्य प्रकृतोपयोग दर्शयति—**तेनेति**। या त्वजसयोगेऽव्याप्तिश्चतुर्षु पक्षेषूदीरिता, तत्र सिंहावलोकितेन परिहार शङ्कते—**नन्वन्यतरेत्यादिना**। स्थिरेण चलस्य सयोगोऽन्यतरकर्मज, यथा स्थाण्वादिना श्येनादे, चलयो सयोग उभयकर्मजन्य, यथामल्लयोर्मेषयोर्वा, कारणाकारणसयोगात्कार्याकार्यसयोग सयोगज, तथा चोक्तकारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्त सयोगत्व तद्व्यावृत्तौ व्यावर्तत इत्यजस्य सयोगत्व व्याहतमित्यर्थ । सयोगविशेषस्य कारणत्रयजन्यत्वेन व्याप्तिर्नतु सयोगमात्रस्यातो न व्याहतिरिति प्रतिबन्दीग्रहणपूर्वक

जातिमत्त्व) रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नही है । क्योकि गुण की असमवायि-कारणो की और जाति की अनिरुक्ति रहते उनसे विशेषितलक्षण की सिद्धि नही होगी ।

और सयोग में अपृथक्त्व = अनेकत्वाभाव रहते भी समवाय के समान व्याहार= कथन और व्यवहार=ज्ञान का उत्थान (जन्म) हो सकता है । अत अनेक सयोग को मानकर उसमे सामान्य = जाति की कल्पना व्यर्थ है ॥ ४१ ॥

अर्थात जैसे नित्य और एक भी समवाय तत्र-तत्र तत्तत् सम्बन्धि के निरूपण = ज्ञानाधीन ज्ञान वाला होता है, घटसमवाय, पटसमवाय इत्यादि समझा जाता है, सयोग भी वैसा ही क्यो न होगा । क्योकि उस सयोग के भेद के व्याहार और व्यवहार समवाय के समान सिद्ध होगे, अत एकव्यक्तित्व से जाति के असम्भव होने से, गुणत्वावान्तर जातीय इस लक्षण का सम्भव ही नही है । यदि कहे कि अन्यतर कर्म से उभय कर्म से और सयोग से सयोग का जन्म होता है, अत नित्य सयोग से व्यापक कारणत्रितयजन्यत्व व्यावर्तमान (निवृत्त) होता हुआ, उस

यति तत्कथमजसयोगसिद्धिरिति चेत्, हन्त ! तर्हि कारणबहुत्वात् कारण-महत्त्वात् प्रचयविशषाच्च महदिति महत्त्वस्य कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्ता-वात्मादिषु तद् व्यावर्तमान महत्त्वमपि व्यावर्तयेत् ! तथा सयोगे सबन्धत्व-मनित्यत्वेन व्याप्तमिति समवायस्यापि सबन्धस्य नित्यता न स्यात् । ज्ञानस्य चास्मदादिषु शरीरेन्द्रियादिसाधनाधीनत्वादीश्वरे तद्विरहिणि तद् व्यावर्ततेति भवतैव स्वसमय सकलोऽपि व्याकुलीकृत स्यात् । अथ कारण-निवृत्त्या कार्यस्य निवृत्तिर्न नित्यस्य अव्यापकनिवृत्तावव्याप्यनिवृत्तेरयोगा-

---

परिहरति—**हन्त तर्हीत्यादिना**। क्वचित्कारणबहुत्वात्कार्ये महत्त्वमुत्पद्यते यथा त्र्यणुके, यथा वा समानपरिमाणप्रशिथिलावयवसयोगवत्तन्तुभिरारब्धयो पटयोरन्यत-रस्मिन्बहुतन्त्वारब्धे, क्वचित्कारणमहत्त्वात् । यथा त्र्यणुकादुपरितनेषु, यथा वा समानसख्याकैरप्रचयवत्तन्तुभिरारब्धयो पटयोरन्यतरस्मिन्स्थूलदीर्घतन्त्वारब्धे, तथा प्रशिथिलावयवसयोगरूपप्रचयविशेषादपि क्वचिन्महत्त्वमुत्पद्यते, यथा समपरिमाणै समसख्यैश्च तन्तुभिरारब्धयो पटयोरन्यतरस्मिन्, तथा चैतेषु कारणत्रितयजन्यत्वेन व्याप्तमिति नित्यत्वात्मादिषु महत्त्व न स्यादित्यर्थ । स्थलान्तरयोरपि प्रतिबन्दिद्वय सुबोधेन ग्रन्थेन गृह्णाति—**तथेति**। विशेषमादर्शयन् प्रतिबन्दीमाभासयति पूर्व-वादी—**अथेति**। कारणनिवृत्त्या या निवृत्ति सा कार्यस्यैव, तस्य तेनैव व्याप्ते, न नित्यस्य, तस्य तेनाव्याप्ते । तथापि निवृत्तावतिप्रसङ्गादित्यर्थ । नाय विशेष—

नित्य सयोग के सयोगत्व को निवृत्त करता है, उसमे सत्य सयोगत्व नही सिद्ध होने देता है, तो अजसयोग की सिद्धि कैसे हो सकती है। तो कहा जाता है कि इस प्रकार से नित्य महत्त्व परिमाण भी नही सिद्ध होगा, क्योकि कारणबहुत्व, कारण-महत्त्व और प्रचयविशेष से महत् होता है। जहाँ अणुक मे कारण बहुत मे होता है, घट पटादि मे कारण महत्त्व से होता है। रूई आदि मे प्रशिथिल सयोग रूप प्रचय विशेष से होता है, इसप्रकार से महत्त्व मे कारणत्रितयजन्यत्व की व्याप्ति होने पर व्यापक कारणत्रितयजन्यत्व विभु आत्मादि मे व्यावर्तमान होता हुआ व्याप्य महत्त्व को भी व्यावृत्त करेगा। इसीप्रकार से सयोग मे सम्बन्धत्व अनित्यत्व से व्याप्त है, अनित्यत्व व्यापक है, अत समवायसम्बन्ध को नित्यता नही होगी, व्यापक अनित्यत्व निवृत्त होता हुआ सम्बन्धत्व को निवृत्त करेगा। और हमलोगो मे ज्ञान को शरीर, इन्द्रियादि अधीन होने से शरीरादिरहित ईश्वर मे शरीरादि के अभाव से ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा, इसप्रकार से आप से ही आप का समस्त सिद्धान्त व्याकुलीकृत (अव्यवस्थित) हो जायगा। यदि कहे कि कारण की निवृत्ति से कार्यमहत्त्वादि की निवृत्ति होती है, नित्य की नही, क्योकि अव्यापक की

दित्युच्येत, तदितोऽपि दीयता दृष्टि । तस्मान्न सयोग सभवी ।

नापि विभाग । स हि प्राप्तिपूर्विका अप्राप्ति ? कि वा सयोगविरोधी गुण ? अथवा सयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिदिग्वृत्तिवृत्तिगुणत्वावान्तर-जातीय ? सर्वथापि न घटते ।

अस्मत्पक्षेऽप्यस्य समानत्वादतो नाभास प्रतिबन्दीति परिहरति—**तदितोपीति ।** तर्त्हि इतोप्यत्रापीत्यर्थ ।

सयोगत्वनिरासे तद्गर्भलक्षणभाषिणौ ।
वित्रासितौ सर्वदेववादिवागीश्वरावपि ॥

गुणत्वावान्तरजात्या द्रव्यासमवायिकारणजातीय सयोग इति प्रमाणमञ्जरी-कार । घटजनकतदवयवनिष्ठगुणत्वावान्तरजातीय सयोग इति च मानमनोहर-कार । अनित्य सबन्ध इति च तदीय लक्षण पूर्वमेव दूषितम् ।

यथाप्रतिज्ञ विभाग दुर्निरूपयति--**नापीति ।** तत्र प्रशस्तपादसर्वदेवशिवादित्य-मिश्रकक्षीकृतलक्षणान्युद्भावयति—**स हि प्राप्तिपूर्विकेत्यादिना ।** विन्ध्यमेर्वो सयोगाभावोप्यप्राप्तिरिति तन्निवृत्तये प्राप्तिपूर्विकेति विशेषणम । सयोगविरोधित्व-सयोगप्रागभावप्रध्वसयोरप्यस्तीति गुणग्रहणम् । बुद्धयादिव्यावृत्त्यै सयोगग्रहणम् । **संयोगावृत्तीति ।** गुणत्वावान्तरजातीय इत्युक्ते रूपत्वादिकमादाय रूपादावति-व्याप्तिस्तदर्थ जातिरेव विशेषणद्वयेन विशेष्यते । दिग्वृत्तिर्यो गुणस्तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदधिकरणमित्यर्थ । तेन रूपादयो व्यावर्तिता, रूपत्वादीना तदभावात् । तथापि सख्यापरिमाणपृथक्त्वेष्वतिव्याप्तिस्तज्जातीनामपि तथात्वादत उक्तमनित्यमात्रवृत्तीति । नहि सख्यात्वादिजातिरनित्यमात्रे वर्तते, एकत्वैकपृथक्त्व-योर्नित्यवर्तिनो परममहत्त्वस्य च नित्यतया तज्जातेरपि नित्यवृत्तित्वात् । तथापि

निवृत्ति होने पर भी अव्याप्य की निवृत्ति होना अयुक्त है, नित्य महत्त्वादि का न कार्यत्व व्यापक है, न नित्य महत्त्व कार्यत्व का व्याप्य है, नो इधर भी दृष्टि दीजिये कि कारण त्रितयजन्यत्व नित्य सयोग मे नही रहता है, अत त्रितयजन्यत्व सयोग का व्यापक नही है, अनित्य कार्यसयोगत्व का भले ही व्यापक हो सकता है, अत उस जन्यत्व की निवृत्ति से सामान्य सयोगत्व की निवृत्ति नही हो सकती है, और उस नित्य सयोग मे अव्याप्ति आदि से सयोग के लक्षण का सम्भव नही है।

विभाग के लक्षण का सम्भव भी नही है। वह विभाग, क्या प्राप्तिपूर्वक अप्राप्ति रूप है, या सयोगविरोधी गुण रूप है, सयोगावृत्ति-अनित्यमात्रवृत्ति जो दिग्वृत्तिवृत्ति गुणत्वान्तर जाति तज्जातीय है, सर्वथा ही विभाग का लक्षण युक्त नही होता है ।

क्योकि—

आत्माश्रयादतिव्याप्तेरयोगाद् व्यभिचारत ।
विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभाग प्रसिद्धयति ॥ ४२ ॥

तत्र न तावदाद्य, विकल्पासहत्वात् । अप्राप्तिशब्देन विभागोऽभिलप्यते ? किं वा सबन्धाभाव ? विभागाभिधाने त्वात्माश्रयत्वम्, उत्तरत्र सयोगप्रध्वसेऽतिव्याप्ति । न द्वितीय, विरोधशब्देन सहानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासभवित्वात् वध्यघातकयोरेकाश्रयत्वस्य स्वेनैवाभ्युपगमात् ।

सयोगेऽतिव्याप्ति, सयोगत्वजातेरेवभूतत्वादत उक्त सयोगावृत्तीति । सयोगावृत्त्यनित्यमात्रवृत्तिजातीय इत्युक्ते घटादावतिव्याप्तिस्तदर्थं गुणत्वावान्तरपदम् । गन्धत्वादिनिवृत्त्यै दिग्वृत्तिवृत्तीति पदम् । गुणत्वावान्तरत्व च गुणत्वसाक्षाद्व्याप्यत्वम्, तेन च द्वित्वत्वादिसामान्यानतिव्याप्ति । दूषणानि सगृह्णाति—**आत्माश्रयेत्यादिना श्लोकेन।** प्राप्तिपूर्वकाऽप्राप्तिरित्यत्राप्राप्तिशब्देन विभागो वा सबन्धाभावो वा विवक्ष्यते, प्रथमे प्राह—**आत्माश्रयादिति।** उत्तरत्र सयोगप्रध्वसेऽतिव्याप्तिरित्याह—**अतिव्याप्तेरिति।** द्वितीये दूषणमाह—**अयोगाद्व्यभिचारत इति।** अत्र हि विरोधशब्देन किं सहानवस्थानमभिमतम् ? दिवर्त्यनिवर्तकत्व वा ? आद्येऽसभव, वाध्यघातकयोरेकाश्रितत्वाङ्गीकारात् । उत्तरत्र त्वदृष्टादावतिव्याप्तिरित्यर्थं । तृतीये दूषणमाह—**विशेषणेति।** सयोगस्य पूर्वमेव दूषितत्वाद्गुणजात्योरपि खण्डितत्वाच्च तद्विशिष्टलक्षणमप्यसभवीत्यर्थ ।

श्लोक विवृणोति—**तत्र न तावदित्यादिना।** ननु न सहानवस्थानमत्र विरोध, येनायोगोऽसभव स्यात्, किंतु वध्यघातकभाव । तथाच प्राप्तिपूर्विकाऽप्राप्तिर्विभाग इति भाष्य व्याचक्षाण किरणावलीकार 'अप्राप्तिर्विरोधिगुण इत्यर्थ, अथ प्राप्ति सयोग, तेन सह किं देशकृत कालकृत स्वरूपकृतो वास्य विरोध ? सर्वं चैतदनुपपन्नमित्यत उक्त प्राप्तिपूर्विका' इत्येव सहानवस्थानमेवापोद्य प्राह । तथाच प्राप्तेर्वध्यता विभागस्य घातकत्व दर्शितम्, तेन सयोगघातको गुणो विभाग

आत्माश्रय, अतिव्याप्ति, अयोग, व्यभिचार और विशेषणासिद्धि से विभाग प्रसिद्ध नही हो सकता है ॥ ४२ ॥

उक्त तीनो लक्षणो मे आद्य लक्षण युक्त नही है, क्योकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि अप्राप्ति शब्द से विभाग कहा जाता है, या सम्बन्धाऽभाव कहा जाता है। विभाग को कहने पर तो आत्माश्रय होता है। और उत्तरत्र = सम्बन्धाभाव पक्ष मे सयोग प्रध्वस मे अतिव्याप्ति होती है। सयोगध्वस सयोग रूप प्राप्ति = सम्बन्ध का अभाव रूप होता है। सयोगविरोधी गुण रूप दूसरा लक्षण भी नही बन सकता है। क्योकि विरोध शब्द से सहानवस्थान (साथ स्थित्यभाव) के कहने पर लक्षण की असम्भाविता होगी, क्योकि बध्य घातक = नाश्य नाशक के एक आश्रयत्व को

निवर्तकत्वविवक्षाया च तन्निवर्तकादृष्टेश्वरेच्छादावतिव्याप्ति । समानाधिकरणो निवर्तको गुणो विवक्षित इति चेत्, न, आत्ममन सयोगनिवर्तकादृष्टेऽतिव्याप्ते । कर्मजन्यत्वे सतीति विशेषणाददोष इति चेत्, न, तस्यापि तीर्थयात्रादिकर्मजन्यत्वात् । कर्मसमानाधिकरण सयोगविरोधी गुणो विभाग इति चेत्, न, सयोगविभागयोरसिद्धौ कर्मणोऽप्यसिद्धे, सयोगविभागासमवायिकरण कर्मेति कर्मलक्षणाङ्गीकारात्, सयोगस्य चासिद्धौ तद्विरोधित्वस्याप्यसिद्धे, कर्मण एव च पूर्वसयोगनाशकत्वोपपत्तौ

इति सक्षेप इति । तत्राह—**निवर्तकत्वविवक्षायां चेति** । व्याख्यानरीतिरेवेय चतुरा, नतु रीतिमल्लक्षणमतिव्याप्तत्वादिति भाव । एतेन व्यभिचारत इति पद व्याख्यातम् । अत्र मानमनोहरकार प्राह—'सयोगसमानाश्रयत्वे सति सयोगनाशको विभाग' इति । तदेतच्छङ्कते—**समानाधिकरण इति** । आत्ममनसो सयोगस्य निवर्तक यददृष्ट तच्च सयोगेन समानाश्रयमित्यतिव्याप्तिरित्याह—**नात्मेति** । अदृष्टेऽतिव्याप्तिपरिहाराय विशेषणान्तर शङ्कते—**कर्मसमानाधिकरण इति** । अदृष्टस्य कर्मासामानाधिकरण्य विभावात्मनि कर्माभावादित्यर्थ । कर्मणोप्यसिद्धेरित्युपलक्षणम्, अवयवविभागादुत्पद्यमानस्यावयविविभागस्य सयोगविरोधिन कर्मसामानाधिकरण्याभावादव्याप्तिरित्यपि द्रष्टव्यम् । अथ किमिति सयोगाद्यधीनता कर्मनिरूपणस्य येन तदसिद्धावसिद्धिरस्येति ? तत्राह—**संयोगेति** । तथाच विभागसिद्धौ कर्मसिद्धिस्तत्सिद्धौ च विभागसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयतेति भाव । सयोगविरोधित्वप्रयुक्तचाप्यन्योन्याश्रयमाह—**संयोगस्य चेति** । यच्चेद विभागस्य सयोगविरोधित्व निवर्तकत्वरूपमभिमत लक्षणावयवत्वेन तदेव तावदसिद्धम्, अन्यत एव

आप स्वय मानते है । अत सयोग रूप बध्य और विभाग रूप घातक का सहानवस्थान कैसे होगा । विरोधी शब्द से निवर्तकत्व की विवक्षा करने पर, सयोगनिवर्तक अदृष्ट ईश्वर इच्छादि मे अतिव्याप्ति होगी । सयोग समानाधिकरण वृत्तिगुण विवक्षित है, तो भी दोष नही जाता है, क्योकि आत्मा मे रहने वाले आत्ममन सयोग के निवर्तक आत्मवृत्ति अदृष्ट मे अतिव्याप्ति होती है । कर्मजन्य होना हुआ सयोगविरोधी हो, इसप्रकार से कर्मजन्यत्व विशेषण से अदृष्ट मे अतिव्याप्ति नही होगी, यह भी नही कह सकते है, क्योकि अदृष्टादि मे तीर्थयात्रादिजन्य कर्मजन्यत्व रहता है । (कर्मसमानाधिकरणवृत्ति सयोगविरोधी गुणविभाग होता है) ऐसा लक्षण भी नही कर सकते है, क्योकि सयोगविभाग की असिद्धि रहते कर्म की भी सिद्धि नही हो सकती है । सयोगविभाग के असमवायिकारण को कर्म कहते है, ऐसा कर्म का लक्षण माना गया है, और सयोग की असिद्धि से सयोगविरोधित्व की भी असिद्धि ही है । और कर्म को ही पूर्वसयोगनाशकत्व हो

विभागाभ्युपगमवैयर्थ्याच्च । कथ तज्जनकस्य तन्निवर्तकत्वमिति चेत्, मैवम्, प्राचीनकर्मजनितसयोगस्योत्तरकर्मणा निवृत्ते । नाड्गुलिकर्मणस्तरु-सयोगनाशकत्वम्, व्यधिकरणस्य निवर्तकतायामतिप्रसङ्गादिति चेत्, न, स्वाश्रयाश्रितसयोगस्यैव नाशकत्वेनातिप्रसङ्गाभावात् । विरोधिन समाना-धिकरणस्यैव नाशकत्वोपपत्तावसति बाधके यावत्सयोगवृत्तिसामानाधि-

---

सयोगनिवृत्तिसिद्धेरित्याह—**कर्मण एव चेति । प्राचीनेति ।** येन हि कर्मणा सयोग उत्पन्न, न तेन तस्य निवृत्तिरपितूत्तरकर्मणा । नच तदसिद्धि, सयोगनाश-कोत्तरप्रथमविभागजनककर्मणस्तवाप्यभिमतत्वादिति भाव । ननु न कर्मण सयोग-नाशकत्वमभव, तथा ह्यड्गुलितरुसयोगस्तावदड्गुलितर्वोर्वर्तते, कर्म त्वड्गुलिमात्रे तरुमात्रे वा वर्तते, तस्योभयावृत्तित्वात्तथा चैकत्र वर्तमानेन कथमुभयनिष्ठसयोग-निवृत्ति ? व्यधिकरणत्वात्तथापि तथात्वेऽतिप्रसङ्गादेतदेव शङ्कते—**नाङ्गुलीति ।** यद्यप्यन्यतरनिष्ठेन कर्मणोभयनिष्ठसयोगस्य न सर्वात्मना सामानाधिकरण्यम्, तथाप्यन्यतराधिकरणमादायास्ति सामानाधिकरण्यम् । तथा च तदाश्रितसयोग-निवर्तकत्वेऽप्युभयनिष्ठसयोगोऽर्थान्निवर्तते । नाप्यतिप्रसक्तिरिति परिहृति—**न स्वाश्रयेति ।** तत्र सामानाधिकरण्य चेदवश्य मन्तव्यम, तर्हि सर्वथा सामानाधिकर-ण्यमप्युत्सर्गप्राप्त नासति बाधके शक्यत्यागम् । तथाचोभयनिष्ठो विभाग एव स्वीकर्तव्य, न कर्म, अतादृशत्वादिति श्रीवल्लभस्तदुद्भावयति—**विरोधिन इति ।**

सकता है, तो सयोग का नाशक विभाग को मानना व्यर्थ है । यदि कहे कि सयोग-जनक कर्म को सयोगनिवर्तकत्व कैसे होगा, तो ऐसा कहना युक्त नही । क्योकि जो कर्म जिस सयोग का जनक है, वह उस सयोग का निवर्तक नही होगा, किन्तु कर्म अनेक होते है, अत पूर्व कर्मजनित सयोग की उत्तर कर्म से निवृत्ति होती है । यदि शका हो कि जहाँ अगुलि और वृक्ष का सयोग होता है, वहाँ सयोग तो अड्गुलि और वृक्ष दोनो मे रहता है । और क्रिया केवल अड्गुलि मे होती है, वहाँ अड्गुलि के कर्म को स्वसयोगनाशकत्व हो सकता है, परन्तु तरुसयोगनाशकत्व नही हो सकता, क्योकि व्यधिकरण (सयोगाश्रय वृक्ष से भिन्नाश्रय अड्गुलि) वृत्ति कर्म की निवर्तकता होने पर अतिप्रसङ्ग होगा । अत समानाधिकरण वाला विभाग को ही सयोगनाशकत्व की सिद्धि होते, बाधक के नही रहते, सब सयोगवृत्ति समाना-धिकरणता का सकोच होना अनुपपन्न = अयुक्त है । अर्थात् अन्यत्र सयोगसमानाधि-करण कर्म से सयोग के नाश को मानना और तरुसयोग नाश की व्यधिकरण अड्गुलि कर्म से नाश मानना यह उचित नही है, अत उसका नाशक विभागसिद्ध होता है । यह शका युक्त नही, क्योकि आप कहते है कि बाधक नही रहते सकोच

करण्यस्य सङ्कोचोऽनुपपन्न इति चेत्, न, उभयवादिसिद्धकर्मण एवान्वयव्यतिरेकवतस्तन्नाशकत्वोपपत्तौ गुणान्तरकल्पनागौरवस्यैव बाधकत्वात् ।

न च विभक्तप्रत्ययादेव तत्सिद्धौ कल्पनैव नास्तीति वाच्यम्, हिमवद्वि-

असति बाधक इत्यसिद्धि, गौरवस्य बाधकत्वादिति परिहरति—**उभयेति** ।

ननु न कल्प्यते स, येन गौरव दोषाय, अपि तु विभक्त इति प्रत्यक्षादेव तत्सिद्धिरिति, तत्राह—**न चेति** । यथा हि—हिमवद्विन्ध्ययो प्राप्तेरभावात्तत्पूर्विकाप्राप्तिरूपविभागाभावेऽपि सयोगाभावमात्रमादाय विभक्त इति प्रत्ययशब्दयो प्रवृत्तिस्तद्वद्घटादावपि स्यादिति नेय प्रतीतिस्तत्प्रत्यायिकेत्यर्थ । एतेन भाष्यकारोक्त विभागे प्रत्यक्ष प्रत्युक्त मन्तव्यम् । मनोहरस्तु 'तादृशस्थले प्रतीतिरेव नास्ति' शब्दप्रयोगस्तु गौण इत्याह, तदसत्, एतादृशानुभवपरिहारपारिजातस्य प्रकृतेपि सुलभत्वात् । तात्पर्यटीकाकारकिरणावलीकारौ त्वङ्गुलिकर्मणोङ्गुलितरुसयोगनाशकत्वमङ्गीकृत्यापि हस्ततरुसयोगनाशानुपपत्त्या विभाग समर्थयामासतु । तथा हि—हस्तादीना निष्क्रियत्वान्न तद्गतकर्म तत्सयोगनाशकम्, नचाङ्गुलिगत कर्मैव, तस्य हस्ततरुनिष्ठत्वाभावेनातिव्यधिकरणत्वात् । नचाङ्गुलितरुसयोगनाशात् पाणितरुसयोगनाशो भविष्यतीति वाच्यम्, कर्मज करतरुसयोग प्रत्यङ्गुलितरुसयोगस्याकारणत्वात्, अकारणनाशस्य विनाशकत्वेऽतिप्रसङ्गात् । तस्मात् कर्मजनितविभागजविभागपरपरया निष्क्रियकरशरीरतर्वादिसयोगपरपरा विनश्यतीत्यनिच्छन्नपि गलपादुकयाङ्गीकारयितव्य इति, तत्रापि स्वाश्रयेत्यादिग्रन्थेनैवोत्तर देयम् । योजना तु स्वस्य कर्मणो य आश्रयोऽङ्गुल्यादिस्तदाश्रितश्च यो हस्तादिरवयवी तस्य यस्तर्वादिभि सयोगस्तस्यैव नाशकत्वाश्रयण वैयधिकरण्येऽप्यतिप्रसङ्गाभावादिति । अपि चात्रैतद्वक्तव्यम्—कथ हस्तादीना निष्क्रियत्वावगम इति ? हस्तस्याकम्पमानत्वादिति चेत्, न, अङ्गुलिचलनमनु करचलनस्याप्यावश्यकत्वात्, तदितरावयवेषु चलनाभावादवयवी न चलतीति चेत्, किं समस्तावयवचलन एवावयविनि चलनोत्पत्ति ?

होना युक्त नही है, और यहाँ उभयवादी सिद्ध कर्म को ही अन्वय-व्यतिरेक वाला होने से सयोगनाशकत्व की सिद्धि होते गुणान्तर की कल्पना रूप गौरव को ही बाधकत्व है । अर्थात् सयोगानुकूल पूर्व कर्म से जो सयोग होता है, सयोगप्रतिकूल उत्तर कर्म मे ही उसका नाश होता है, सयोग के उभयनिष्ठ रहते भी उसका एकस्वरूप रहता है, अत ऐसा नही होता कि अङ्गुलि कर्म से अङ्गुलिनिष्ठ सयोग की निवृत्ति होने पर तरुनिष्ठ सयोग की निवृत्ति के लिये विभाग की आवश्यकता से यावत् (सर्व) सयोगाश्रयवृत्ति विभाग को ही सयोगनाशक माना जाय, और कर्म को नही, इत्यादि ।

यदि कहे कि विभक्त इस प्रतीति से विभाग माना जाता है, कल्पना से नही

न्ध्ययोरिव सयोगाभावमात्रादेव विभक्तप्रत्ययोपपत्ते । ननु स्फुटद्वेणुदल-शब्दात्तदसमवायिकारणतया विभागोऽवगम्यते, स हि न वशदलद्वयसयोग-नाशापेक्षवशदलाकाशसयोगजन्य, सयोगजन्यस्य शब्दस्य सयोगनिमित्त-

ओमिति चेन्, हन्त समस्तावयवसयोग एवावयविसयोगोऽपीति न हस्तादे सयोग एवास्ति कस्य विनाशाय विभाग कल्प्यते ? तस्माद्यथावयवसयोगानन्तरमवयवि-सयोगनियम एव कर्मण्यपि । इयास्तु विशेष —तत्र सयोग एव सयोगान्तरोत्पादक, अत्र तु नत्रापि क्रियावयवकर्मोत्पादकत्वदवयविन्यपि कर्मोत्पादकानि सन्ति । न ह्यपि न सर्वोऽवयवेषु गुरुत्व द्रवत्व सयोगो वा न पुनरवयविनीति, तस्मात स्वकर्मणैव हस्तादिसयोगोऽपि निवर्तते इति नानेन मिषेणापि विभागभिक्षुकस्य पादप्रसार इत्यलम् । ननु यद्यपि विभक्तप्रत्ययबलान्न विभागसिद्धिस्तथापि न कल्प्यत्वम्, शब्द-लक्षणकार्येण तदनुमानात् । उक्तम हि भाष्यकृता—'विभाग शब्दहेतुश्चेत्' इति । तत्र विभागस्यैवासप्रतिपत्ते यद्यपि न तेन कारणविभागानुमान सम्भवति, तथापि शब्दात्तदनुमान भवतीति लीलावतीकार शङ्कते—**नन्वित्यादिना** । स्फुटतो वेणुकाण्डादुत्पद्यमानशब्दादित्यर्थ । तस्य विभागजत्व परिशेषयति—**स हीति** । वशदलद्वयस्य य सयोगस्तन्न सापेक्षो यो वशदलस्याकाशस्य सयोगस्तज्जन्या न भवतीत्यर्थ । अत्र च निमित्ततयापि विभागाननुप्रवेशाय वशदलद्वयसयोगनाशापेक्षे-त्युक्तम् । एष हि तेषामभ्युपगम —वशदलविभागान्निमित्तकारणाद्वशदलाकाश-विभागादसमवायिकारणान्महाकाशप्रदेशे समवायिकारणे प्रथम शब्द उत्पद्यते इति । तत्र वशदलससोगनाश एव निमित्तकारणमपि भवत्वित्यर्थ । कुतस्तेन न जन्यत इति ? तत्राह—**संयोगजन्येति** । य खलु सयोगासमवायिकारणक शब्द स

कि जिससे कल्पनागौरव हो, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि हिमालय और विन्ध्य पर्वत मे प्राप्ति के अभाव से प्राप्तिपूर्वक अप्राप्तिरूप विभाग के नही रहते भी सयोग के अभाव मात्र से उनमे विभक्त शब्द का प्रयोग और ज्ञान होता है, वैसे ही पटादि मे सयोगाभाव मात्र से ही विभक्त ज्ञान की सिद्धि होने से विभक्त ज्ञान विभाग का बोधक नही हो सकता हे । यदि शका हो कि विभक्तप्रतीति से विभाग की सिद्धि नही होने पर भी उसकी कल्पना नही की जाती है, किन्तु शब्दविशेष से उसका अनुमान होता है, क्योकि फटते हुए बास के दल (भाग) मे शब्द होता है । उस शब्द मे उसके असमवायिकारण रूप से विभाग अवगत (अनुमित) होता है । क्योकि वह शब्द बास के दो दल के सयोग के नाशपूर्वक जो वशदल आकाश का सयोग होता है, उससे जन्य नही होता है । जिससे सयोगजन्य शब्द की सयोग-निमित्तकारणता भी उपलब्ध होती है । अर्थात् जो शब्द सयोग रूप असमवायि-कारण वाला होता है, वह सयोग रूप निमित्तकारण वाला भी देखा गया है । जैसे

कारणतोपलम्भात्, भेर्याकाशसयोगजन्यस्य शब्दस्य भेरीदण्डसयोगनिमित्तकतावदिति चेत्, न, वायुदलसयोगनिमित्तकत्वोपपत्ते । न च सर्वत्रातीन्द्रियवायुसयोगकारणताप्रसङ्ग, भेरीदण्डसयोगस्यान्वयव्यतिरेकवत कारणतोपपत्तो तत्कल्पनानुपपत्ते । अन्यथा तवापि पलाशादौ शुकशुकशब्दो वेगवदनिलपत्राशसयोगनिमित्तो न स्यात् । कर्म सयोगातिरिक्तासम-

---

सयोगनिमित्तकारणताऽपि दृष्ट । यथा भेर्याकाशसयोगादसमवायिकारणादुत्पद्यमानशब्दस्य भेरीदण्डसयोगो निमित्तम, नचेह तथास्ति, तस्मान्नान्यथोपपत्तिरित्यर्थ । दूषयति—**न, वायुदलेति** । अभ्युपगम्यते च वायुवशदलयो सयोगो निमित्तमित्यर्थ । नन्वेव सति भेरीदण्डसयोगस्यापि क्वचिन्निमित्तता न स्यात, तत्रापि वायुदलसयोगस्य सुवचत्वादिति, तत्राह—**न चेति** । तत्रान्वयव्यतिरेकौ स्त , न चेह तयेति भाव । अथाप्यतीन्द्रियकल्पनैवातिप्रसञ्जिकेति ब्रूयात्त प्रत्याह—**अन्यथेति** । पलाश पत्रम्, शुकशुकेति शब्दानुकार । एतेनैतन्निरस्तम्, यदाह श्रीवल्लभ—'तस्य स्पर्शादिगम्यतया तदनुलब्धेरभावावधारणात्' इति, शब्दोपलम्भस्यापि तथात्वात् । एव भाष्यकाराद्यभिमतमनुमान दूषयित्वा मनोहरीयमनुमान दूषयितुमुद्भावयति—**कर्मेति** । सयोगेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै सयोगातिरिक्तेत्युक्तम् । सयोग-

---

कि भेरी और आकाश के सयोगजन्य शब्द का निमित्तकारण भेरी और दण्ड का सयोग होता है । वशदल विभागजन्य शब्द मे ऐसा निमित्तकारण नही है, अत वह विभाग रूप असमवायिकारणजन्य होता है, उसके बिना उस शब्द की सिद्धि नही हो सकती है, वशदल आकाश का सयोग यदि उसका असमवायिकारण हो तो निमित्तकारण रूप भी सयोग होना चाहिये वह नही है । यह शका युक्त नही है, क्योकि वायु और वशदल सयोग मे निमित्तता होती है, अत वायुदलसयोग निमित्तकत्व की उस शब्द मे सिद्धि होती है । यदि कहे कि कही भेरी दण्डसयोग को निमित्त मानने का क्या फल है सर्वत्र शब्द मे वायुसयोग को ही निमित्त मानना चाहिये, तो कहा जाता है कि सर्वत्र अतीन्द्रिय वायुसयोग की कारणता की प्राप्ति नही हो सकती हे, क्योकि प्रत्यक्ष अन्वयव्यतिरेक वाले भेरीदण्ड सायोग की कारणता की सिद्धि रहते वायुसायोग की कल्पना नही हो सकती है । और अन्यथा =अतीन्द्रियता से यदि वायुसायोग को कही भी कारण नही माना जाय, तो आपके मत मे भी पलाशादि (पत्ते आदि) मे होने वाला शुकशुक शब्द बेग वाले वायु और पत्रादि सायोगनिमित्तक नही मान्य होगा । (कर्म, सायोग से अतिरिक्त का भी असमवायिकारण है, सायोग से अतिरिक्त होता हुआ असमवायिकारण होने से, रूप के समान) कारणगत रूप कार्यगत रूप का असमवायिकारण होता है, इससे दृष्टान्त मे साध्य की सिद्धि होती है । और कर्म मे विभाग की कारणता की

वायिकारण सयोगातिरिक्तत्वे सत्यसमवायिकारणत्वाद्रूपवदिति मानमनोहरकारोक्तमनुमानमिति चेत्, न कर्ममात्रपक्षोकारे वेगाख्यसस्कारजनकतया सिद्धसाधनत्वात् । वेगाजनककर्मपक्षस्वीकारे च सप्रतिसाधनता—कर्म सयोगातिरिक्तद्विष्ठगुणासमवायिकारणत्वात्यन्ताभावाधिकरणम्, सयोगासमवायिकारणत्वात् सयोगवदिति प्रतिप्रयोगात् । वेदान्तिन प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । विवर्तवादाश्रयणेन तै कार्ये गुणान्तरमनभ्युपगच्छद्भि कारणगुणाना कार्य गुणासमवायिकारणत्वानङ्गीकारात् । नापि तृतीय , विशेषणाप्रसिद्धे ।

जनकसयोगेऽनैकान्तिकतानिवृत्त्यै हेतावपि विशेषणम्, द्रव्येऽतिव्याप्तिपरिहारायासमवायिकारणत्वादित्युक्तम् । यत्तत्सयोगातिरिक्त स विभाग , अन्यस्याऽसमवादित्यर्थ । अत्र कि कर्ममात्र पक्ष ? किं वा वेगाजनक कर्म ? आद्ये प्राह—**कर्ममात्रेति ।** द्वितीये प्राह - **वेगेति ।** प्रतिसाधनमेव दर्शयति --**कर्मेति ।** सयोगजनकत्वेन बाधपरिहाराय सयोगातिरिक्तेत्युक्तम् । तथापि वेगजनकत्वाद् बाध स्यात्तदर्थ द्विष्ठग्रहणम् । द्रव्यविशेषासमवायित्वेनार्थान्तरतानिवृत्त्यै गुणग्रहणम् । स्वविषयज्ञानजनकतया बाधपरिहारार्थमसमवायिकारणेत्युक्तम् । विभागजनकत्वेनार्थान्तरतापरिहारार्थमत्यन्ताभावग्रहणम् । द्वित्वाद्यसमवायिकारणैकत्वादावनैकान्तिकतापरिहाराय हेतौ सयोगग्रहणम् । अथ कथ वेदान्तिन प्रति साध्यविफलता ? यावता तेनापि कार्ये रूपादि स्वीक्रियते एव, तत्राह—**विवर्तेति ।** सत्यम्, अर्थघटादिकार्येऽपि रूप

इस अनुमान से सिद्ध होने पर विभागसिद्ध होता है, अत यह मानमनोहरकार कथित अनुमान विभाग मे प्रमाण है, ऐसा यदि कहे, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि कर्ममात्र को पक्ष करने पर, वेग नामक सस्कार जनकता से सिद्ध साधनता होगी, क्योकि वेग का भी असमवायिकारण कर्म होता है । और वेगाऽजनक कर्म को पक्ष करने पर, सत्प्रतिपक्षता होती है कि (कर्म, सयोगातिरिक्त द्विष्ठगुण = विभाग के असमवायिकारणत्व के अत्यन्ताभाव का अधिकरण है, सयोग के असमवायिकारण होने से, सयोगवत्) यह प्रतिप्रयोग है । और वेदान्ती के प्रति दृष्टान्त साध्यरहित है, क्योकि विवर्तवाद के आश्रयण से कार्य मे गुणान्तर को नही मानने वाले वेदान्ती कारण गुणो की असमवायिकारणता को कार्यवृत्ति गुणो के प्रति नही मानते है, अर्थात् घटादि कार्य मे रूप मानते है, परन्तु उसको कारण रूप से रूपान्तर नही मानते, क्योकि कार्य को कारण से अन्य रूप से अनिर्वाच्य कहते है । (सयोगावृत्ति-अनित्यमात्रवृत्ति दिग्वृत्तिवृत्ति गुणत्वावान्तरजातिमत्त्व) यह तृतीय भी विभाग का लक्षण युक्त नही है । क्योकि सयोगाऽवृत्ति इत्यादि विशेषण की असिद्धि है । क्योकि—

सयोगस्य निरस्तत्वाद् गुणानामनिरूपणात् ।
जातेश्च दुर्निरूपत्वात् स्यादसभवि लक्षणम् ।। ४३ ।।

नापि द्वित्व सभवति । तत्किमिमौ द्वाविति प्रत्यक्षत सिद्धयेत् ? उतानुमानत ? नोभयथापि—

प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धि स्यादेकत्वसमुच्चये ।
अनुमाप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्यदूषिता ।। ४४ ।।

इमौ द्वाविति प्रत्यक्ष तावदेकैकसमुच्चयविषयतयाप्यन्यथोपपद्यमान नापर द्वित्वमवगमयितुमर्हति । ननु समुच्चयमात्रविषयमिद प्रत्यक्षम् ?

स्वीक्रियते एव न तु तद्रूपान्तरम, तस्य कारणविवर्ततया ततोन्यत्वेनाप्यनिर्वचनीयत्वादित्यर्थ ।

सयोगावृत्तीत्यादिलक्षणविशेषणाप्रसिद्धिमुक्त्वा श्लोकेन विवृणोति—**संयोगस्येत्यादिना ।**

अथ प्रतिज्ञात द्वित्व दूषयति—**नापीति ।** लक्षण तस्य खण्डयिष्यते । प्रमाण तावद् दूषयति—**तत्रैकादिव्यवहारहेतुः संख्येति ।** भाष्ये व्यवहारशब्देन ज्ञानाभिधानात्, 'एक द्वे त्रीणीत्यादिप्रत्यक्षविषय सख्या' इत्युदयनादिभिरभ्यधायि । अपरै 'द्वयणुकपरिमाणमसमवायिकारणजन्य भावकार्यत्वात्कटवत्' इत्यनुमानमगायीनि । तदुभयमपि विकल्प्य दूषयति—**तत्किमित्यादिना ।**

एकत्वसमुच्चय एव विषये प्रवर्तमानतयेमौ द्वाविति प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धिरनुमानमप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्याभ्या दूषित स्यादिति श्लोक विवृणोति—**इमावित्यादिना ।** तत्र लीलावतीकारेण द्वाविति प्रत्यक्षस्यैकत्वसमुच्चयाविषयत्वमुपपादित-

---

सयोग का निराकरण हो चुका है, गुणो का निरूपण नही हो सकता है । जाति को भी दुर्निरूपत्व है, अत उक्त लक्षण का होना असम्भव है ।। ४३ ।।

द्वित्व की सत्ता का भी सम्भव नही है । क्योकि क्या, वह द्वित्व प्रत्यक्ष से सिद्ध होगा, या अनुमान से सिद्ध होगा । दोनो प्रकार से सिद्ध नही हो सकता हे । क्योकि—

एकत्व के समुच्चय मे = इमौ द्वौ, इस प्रत्यक्ष की अन्यथासिद्धि हो जाती है, और अनुमान भी आश्रयासिद्धि और साध्यविकलता से दूषित हो जाता है ।। ४४ ।।

अर्थात् इमौ द्वौ, ये दो है, यह प्रत्यक्ष एक-एक के समुच्चयविषयक होने से द्वित्व बिना ही सिद्ध होता हुआ समुच्चय से अपर = भिन्न, द्वित्व के बोध कराने के लिये समर्थ नही होता है, यदि द्वित्व के बिना यह प्रत्यक्ष नही सिद्ध होता, तो द्वित्व का बोधक (द्वित्व मे प्रमाण) होता, यह बात नही है । यहाँ शका होती है कि **इमौ द्वौ,** यह प्रत्यक्ष एकत्व के समुच्चय मात्र विषयक होता है, या विशेष समुच्चय-

तद्विशेषविषय वा ? नाद्य, तस्यावैचित्र्ये द्वित्वत्रित्वादिव्यवहारवैचित्र्यविरोधात्। नापि द्वितीय, विकल्पानुपपत्ते। स हि समुच्चितैकत्वभेदाद्वा ? तद्गतधर्मभेदाद्वा ? न प्रथम, एकताया सर्वत्र तुल्यत्वात्। न चरम, आरोपितस्य वा, पारमार्थिकस्य वा द्वित्वत्रित्वादेरनङ्गीकरणे तद्गतधर्मभेदासिद्धेरिति चेत्, मैवम्, द्वित्वत्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिविषयेऽपि विकल्प-

---

मुद्भावयति—**नन्विति।** **तस्यावैचित्र्य इति।** एकत्वसमुच्चयमात्रस्य द्वित्वादिव्यवहारस्थले विशेषाभावाद्व्यवहारविशेषो न स्यादित्यर्थ। समुच्चयविशेषविषयमिति द्वितीयपक्षेपि समुच्चेतव्यैकत्वस्वरूपकृतविशेषाद्वा ? तदाश्रितद्वित्वत्रित्वादिधर्मविशेषाद्वा ? नोभयमपीत्याह—**विकल्पेति।** प्रथमे खल्वसिद्धि, न ह्येकत्वस्वरूपे विशेषोस्ति तादृशो येन द्वित्वादिविलक्षणव्यवहार स्यादित्याह—**एकताया इति।** द्वितीये त्विष्टसिद्धि, तस्यैव विशेषस्य द्वित्वत्वेनेष्टेरित्याह—**न चरम इति।** **आरोपितस्येति।** एकत्वसख्याया गुणत्वेन द्वित्वादेर्गुणस्य तत्र वृत्त्ययोगात्। **पारमार्थिकस्येति।** सख्याया पदार्थान्तरत्ववाद्यभिप्रायेण, तमिममाक्षेप प्रतिबन्द्या परिहरति—**मैवमित्यादिना।** एव हि भवता द्वित्वोत्पत्तिवर्णनम्—प्रथम द्रव्यद्वयगत यदेकत्वसख्याद्वय तद्विषय ज्ञानमेकमेकमुत्पद्यते सापेक्षाबुद्धिर्नाम निमित्तकारण तदपेक्ष चैकत्वसख्याद्वयमसमवायिकरण स्वाश्रयद्रव्यद्वय समवायिकारण द्वित्वमुत्पादयति, एव त्रित्वादिष्वेकत्वत्रयादीति। तदत्र येयमपेक्षाबुद्धिस्तस्या किमेकत्वसमुच्चयमात्र विषय ? किं वा तद्विशेष ? नाद्य, तादृशबुद्धे सर्वत्र समानतया द्वित्वत्रित्वादिपारिप्लवापत्ते। नापि द्वितीय, समुच्चितैकत्वस्वरूपकृतविशेषाभावात्।

विषयक होता है। यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योंकि समुच्चयमात्र मे विचित्रता के अभाव से द्वित्व, त्रित्वादि व्यवहार की विचित्रता का विरोध (अभाव) होगा, समुच्चय के तुल्य होने से तुल्य व्यवहार की प्राप्ति होगी। विकल्पानुपपत्ति से दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है। विकल्प है कि वह एकत्व का समुच्चयविशेष, समुच्चित एकत्वस्वरूप भेद से होगा, या समुच्चितगत धर्मभेद से होगा, प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि एकता के स्वरूप की सर्वत्र तुल्यता रहती है, उससे समुच्चय मे विशेषता नही हो सकती है, धर्मभेद से समुच्चय रूप चरम = अन्तिम पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि आरोपित वा पारमार्थिक द्वित्व, त्रित्वादि को नही मानने पर, उस एकत्व समुच्चयगत धर्म की सिद्धि नही हो सकती है, अर्थात् सख्या के गुण होने से एकत्वसमुच्चय मे सत्य द्वित्वादि नही रह सकते हो, तो आरोपित मानने पर धर्म की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा पारमार्थिक मानने से हो सकती है, अन्यथा नही। इस शका का उत्तर है कि ऐसा विकल्प करना युक्त नही है। क्योकि द्वित्व-त्रित्वादि को आप भी अपेक्षा-

साम्यात् । अपेक्षाबुद्धेरेकत्वगुणसमुच्चयमात्रविषयत्वे द्वित्वत्रित्वादिसङ्ख्याभेदोत्पादकता न सिद्धयत्, समुच्चयस्य सर्वत्राविशेषात् । आरोपितद्वित्वत्रित्वादिविशेषितैकत्वसमुच्चयालम्बना बुद्धिर्द्वित्वादिजनिकेतिचेत्, न, तथाभूताया एव बुद्धेर्द्वित्वादिव्यवहारजनकत्वोपपत्तौ द्वित्वाद्युत्पादकत्वकल्पनावैयर्थ्यात् । आरोपितस्यानारोपपूर्वकत्वनियमाद् द्वित्वादे क्वचित् सत्यतापत्तिरितिचेत्, न, शुक्तिरजतादिससर्गवत् क्वचित् सत्यताऽभावेऽपि भ्रान्तिविषयत्वोपपत्ते ।

धर्मान्तराभ्युपगमेप्यनारोपितम ? आरोपित वा ? नाद्य, द्वित्वानवस्थाप्रसङ्गात्, उत्तरोत्तरद्वित्ववैयर्थ्याच्च । विषयवैचित्र्याभावेपि स्वभाववैचित्र्याद्विचित्रकार्यजनकत्वमिति चेत्, न, अतिप्रसङ्गापत्ते । तस्मादारोपितद्वित्वमेव तस्या विषय, तथाच तादृगेव घटादिष्वपि द्वित्वबुद्धेर्विषय इति वृथा तव द्वित्वकल्पनेति सङ्कलितार्थ । इमामेवार्थस्थिति पर्यनुयोगपरिहाराभ्या परिद्रढयति—**आरोपितेत्यादिना । न शुक्तीति ।** उक्तमेतद्यथाक्वचिदपि सत्त्वमन्तरेणानाद्यनिर्वचनीयाविद्यावशादेतद्विभ्रमोद्भव इति प्रथमपरिच्छेदेऽनिर्वचनीयख्यातौ । आस्ता तु मामकी रीति, आयुष्मतैव तावच्छुक्तिरजतससर्गेषु तत्तदत्यन्ताभावप्रतियोगिषु चात्यन्तमसत एव प्रतिभासोऽभ्युपगम्यत इति भाव । अथ तादृशबुद्धिर्ज्ञायमाना व्यवहार प्रवर्तयेत् ? स्वसत्तया वा ? नान्त्योऽतिप्रसङ्गात् । नाद्य, विषयनिरूपणे बुद्धेरेव तावदनिरूपणादिति चेत्,

---

बुद्धिजन्य मानते है, वहाँ द्वित्व-त्रित्वादि के जनक अपेक्षाबुद्धि के विषय मे भी यह विकल्प तुल्य हो सकता है, क्योकि अपेक्षाबुद्धि के एकत्व गुण के समुच्चय मात्र विषयक होने पर, द्वित्व, त्रित्वादि सख्या भेद की उत्पादकता नही सिद्ध हो सकेगी । क्योकि समुच्चय को सर्वत्र तुल्यता रहती है । यदि कहे कि अनारोपित द्वित्वादि तो अनवस्था भय से माना नही जा सकता है, किन्तु आरोपित द्वित्व-त्रित्वादि मे विशेषित (युक्त) एकत्व समुच्चयविषयक बुद्धि द्वित्वादि का जनक होती है, तो कहना युक्त नही, क्योकि वैसी बुद्धि को ही द्वित्वादि व्यवहार के जनकत्व की सिद्धि हो सकने पर, उसमे द्वित्वादि जनकत्व की कल्पना व्यर्थ है । उक्त रीति से एकत्वसमुच्चय मे जैसे आरोपित द्वित्वादि से द्वित्वादि बुद्धि होती है, इसीप्रकार से घटादि मे भी आरोपित द्वित्वादि मे ही द्वित्वादि की बुद्धि होती है, यह ज्ञातव्य है । अत सत्य द्वित्वादि की कल्पना व्यर्थ है । यदि कहा जाय कि आरोपत सर्पादि को भी अनारोपित पूर्वकता के नियम स कही द्वित्वादि की भी सत्यता प्राप्त होती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि शुक्ति आदि और कल्पित रजतादि के सम्बन्ध के समान कही भी सत्यता के नही रहने भी द्वित्वादि को भ्रान्तिविषयत्व की सिद्धि हो सकती है ।

नापि द्वितीय, द्व्यणुकपरिमाण जन्यासमवायिकारणजन्य कार्यत्वा-त्पटवदित्यनुमानस्याश्रयासिद्धत्वात् । द्व्यणुकतत्परिमाणयोरस्माभिरनङ्गी-कारात्, पटस्यापि तन्तुसयोगासमवायिकारणजन्यत्वासप्रतिपत्तेर्दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्याच्च । "विवादाध्यासितो बुद्धिजन्यगुणयोराश्रय द्रव्यत्वादात्म-वद' इति मानमनोहरोदीरितमनुमान मानमितिचेत्, न, अर्थान्तरत्वात्,

---

तदिद बलीवर्दोत्पलनमन्तरेण भारोत्पतनम्, यत स्वप्रकाशज्ञानवादिनोस्मान्विहाय जडज्ञानवादिषु भवादृशेष्वेव विधविकल्प । कल्पितशुक्तिरजतादिष्वपि वा कथकार-मित्यात्मनैवात्मा पर्यनुयुज्यताम् । तत्र बाधितत्वाद्यथातयास्त्वितिचेत्, अत्रापि किमुक्तानि साधकानि लक्षणानि मन्यसे ? गुणसमवायादिखण्डनानि वा विस्मरसि ? तदेव न प्रत्यक्ष द्वित्वे प्रमाणमित्युक्तम् ।

अनुमानानि दूषयति—**नापीति ।** परिमाणमात्रपक्षीकारेण परमाण्वादिषु बाध स्यात्तदर्थ द्व्यणुकपरिमाणग्रहणम् । यत्तज्जन्य द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारण तद् द्वित्वम् । परमाणुद्वयगतद्वित्वाद्धि द्व्यणुकपरिमाणोत्पत्तिरिति भाव । आश्रयासिद्धि-मेव विवृणोति—**द्व्यणुकेति ।** साध्यवैकल्य चाह—**पटस्यापीति ।** अनैकान्तिक चाप्यद्व्यणुकरूपादौ । अथ जन्यपद विहायेदमनुमानम्, तदापि पारिमण्डल्यस्यैव तदसमवायिकारणत्वप्रमापकतयार्थान्तरत्वम् । नच तस्य नित्यपरिमाणत्वात्परममह-त्ववदनारम्भकतानुमानम, परमाणुद्वित्वस्यापि वियदादिद्वित्ववदनारम्भकत्वप्रस-ङ्गात् । द्व्यणुकपरिमाण परिमाणजन्यम्, बहुत्वप्रचयाजन्यत्वे सति कार्यपरिमाणत्वा-न्महत्त्ववदिति मत्प्रतिपक्षत्वाच्च । अनुमानान्तरमुद्भावयति—**विवादेति ।** रूपादि-भिरर्थान्तरतानिवृत्त्यै बुद्धिजन्यग्रहणम् । आत्मव्यतिरिक्तद्रव्यजात च पक्ष । आत्मनश्च बुद्धिजन्येच्छाद्याधारतया सपक्षत्वम्, ततश्चापेक्षाबुद्धिजन्यतयानेकत्वसख्या-नेकपृथक्त्वकथासिद्धिरित्यर्थ । इत आरभ्याश्रयासिद्धत्वादित्यन्तो ग्रन्थो निगदव्या-ख्यात । ननु कथ चेतनत्वस्योपाधित्वम्, यावतेश्वरे नित्यज्ञानादिमति साध्यसम-

---

द्वितीय = अनुमान भी द्वित्व मे प्रमाण नही हो सकता है । अर्थात् अनुमान से भी द्वित्व की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि (द्व्यणुक परिमाण, जन्य असमवा-यिकारण, द्वित्व, जन्य है, कार्य होने से, पटवत्) इस अनुमान को द्वित्व का साधक माना जाता है, परन्तु यह अनुमान द्वित्व का साधक नही हो सकता है, यह आश्रयासिद्धि से दूषित है, क्योकि द्व्यणुक और उसके परिमाण को हम नही मानते है । और पट के भी तन्तुसयोग रूप असमवायिकारणजन्यत्व की असम्प्रति-पत्ति (अस्वीकृति) से दृष्टान्त को साध्यवैकल्य (राहित्य) है । (विवादविषय= आत्मभिन्नद्रव्य, बुद्धिजन्य = द्वित्वद्विपृथक्त्व गुणो के आश्रय है, द्रव्य होने से, आत्म-वत्) यह मानमनोहर कथित अनुमान द्वित्व मे प्रमाण है । यह भी नही कह

सर्वस्यापि घटपटादेरीश्वरबुद्धिजन्यरूपादिगुणाश्रयत्वात् । अनित्यबुद्धिजन्यत्वस्य विवक्षितत्वाददोष इतिचेत्, न, घटपटादिगतरूपादेरप्यस्मदादिज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्यत्वेन पूर्वदोषानतिवृत्ते । परमाणूनामेव पक्षीकरणे तेषामस्मदादिप्रत्यक्षागोचरत्वात् तेषु बुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वसाधने नार्थान्तरतेति चेत्, न, तेषामेवासमतत्वेनाश्रयासिद्धत्वात्, चेतनत्वस्योपाधित्वाच्च । न चेश्वरे साध्याव्याप्ति, तस्यापि त्वन्मते तद्बुद्धिजन्यसयोगविभागाश्रयत्वात् । निर्गुणात्मवादिन प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । अपि

व्याप्तिर्नास्ति तत्राह—**न चेश्वर इति** । साध्याव्याप्ति साध्यसमव्याप्त्यभाव । यद्यपि न तस्मिन् ज्ञानदयो बुद्धिजन्यास्तथापि सयोगविभागौ ईश्वरबुद्धिजन्यौ कार्यत्वात् । तथाच साध्यसमव्याप्तिरिति भाव । नचानित्यबुद्धिजन्यगुणाधिकरणत्वविवक्षाया साध्यसमव्याप्तिर्नास्तीति वचनीयम्, ईश्वरस्याप्यनित्ययोगिबुद्धिजन्यद्वित्वाद्यधिकरणत्वात् । उक्त चैतदधस्तात् । दूषणान्तर चाह—**निर्गुणेति** । वेदान्ति-

---

सकते है, क्योकि इसमे अर्थान्तरता दोष है । सभी घटपटादि द्रव्यो को ईश्वर की बुद्धि जन्य रूपादि गुण के आश्रयत्व है । अनित्य बुद्धि जन्यत्व अर्थात् जीवबुद्धि जन्यत्व की विवक्षा से यह दोष नही रहेगा, यह भी नहीं कह सकते है, क्योकि घटपटादिगत रूपादि के अस्मदादि, कुम्भकारादि के ज्ञानेच्छाप्रयत्नजन्य होने से पूर्व दोष (अर्थान्तरत्व) रहता ही है । यदि कहे कि परमाणु रूप द्रव्य को ही पक्ष करने पर, परमाणुओ को हम लोगो की बुद्धि के अविषय होने से, उनमे बुद्धिजन्य गुण = द्वित्वादि अधिकरणत्व के साधने पर भी अर्थान्तरता नही होगी, क्योकि अनित्य बुद्धिजन्य गुणाश्रयत्व परमाणुओ मे नहीं रह सकता है, ईश्वरबुद्धिजन्य द्वित्वादि सिद्ध होगे, तो यह कहना भी युक्त नहीं, क्योकि उन परमाणुओ के ही सर्वसम्मत नही होने से आश्रयासिद्धि की प्राप्ति होती है । और उस अनुमान मे चेतनत्व उपाधि भी है । क्योकि चेतनत्व उपाधि आत्मा मे साध्य = बुद्धिजन्य गुणाश्रयत्व का व्यापक है । और अन्य द्रव्यो मे द्रव्यत्व हेतु का चेतनत्व अव्यापक है । यदि कहे कि ईश्वर मे साध्य के साथ समव्याप्ति चेतनत्व को नही है, क्योकि वहाँ चेतनत्त्व है, परन्तु साध्य नही है, यह समव्याप्ति का अभाव रूप साध्याव्याप्ति है, तो ऐसा नही कह सकते है, क्योकि उस ईश्वर को भी योगी आदि की अनित्य बुद्धि से जन्य सयोग-विभाग द्वित्वादि गुण का अधिकरण न्यायमत मे माना जाता है । तथा सर्वकर्तृत्व से ईश्वर से जन्य बुद्धिजन्य सयोगादि की आश्रयता ईश्वर मे सिद्ध होती है । अत समव्याप्ति सिद्ध होती है । और निर्गुण आत्मवादी के प्रति दृष्टान्त मे साध्य की विकलता है, क्योकि वेदान्त मे बुद्धि के धर्म इच्छा आदि माने जाते

चापेक्षाबुद्धिव्यङ्ग्यत्वे द्वित्वस्य क दोष पश्यसि, येन तज्जन्यतामङ्गीकुरुषे ? एकत्ववत् द्वित्वस्याप्यपेक्षाबुद्धे प्रागेव सिद्धौ तत्प्रतीतिसमकालमेव द्वित्वप्रतीतिप्रसक्तिर्दोष इति चेत्, न, व्यञ्जकाभावादेव तदप्रतीत्युपपत्ते । न च समानाश्रयसमानेन्द्रियग्राह्यसमानजातीयगुणाना विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्य-

---

मन बुद्धिधर्मा इच्छादयो नात्मनो गुणास्ततश्चात्मनि साध्यवैकल्यमिति भाव । एवमनुमानतोपि न द्वित्वाधिगतिरित्युक्तम् । इदानी यद्भाष्यकारप्रभृतिभि परिकल्प्यते "तस्या खल्वेकत्वेभ्योनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्ति" इत्यादिनापेक्षाबुद्धिजन्यत्व द्वित्वस्य, तदसगतमित्याह—**अपि चेति** । नन्वय दोष यदेकत्ववद्-द्वित्वस्यापि यावद्द्रव्यभावित्वेऽपेक्षाबुद्धे प्रागपि तत्प्रतीतिप्रसक्तिरिति शङ्कते—**एकत्ववदिति** । नाय दोष , यावद्द्रव्यभाविनोऽपि तद्व्यङ्ग्यतया तदनुविधानोपपत्तेरिति परिहरति—**व्यञ्जकेति** । यत्त्वत्रोदयनमानमनोहरकाराभ्या बाधकमुक्त तद् दूषयति—**न चेति** । समानाश्रयाणामपि गन्धरसादीना विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यत **समानेन्द्रियग्राह्याणा**मित्युक्तम् । समानाश्रयाणा समानेन्द्रियग्राह्याणामेकत्वमहत्त्वादीना विचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीत्यत उक्त **समानजातीयाना-**

है । उक्त रीति से द्वित्वादि मे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण नही है, तो भी जो कि एकत्व का समुच्चयादि स्वरूपकल्पित द्वित्व है, उसको इदमेकमिदमेकम्, इत्यादि अपेक्षाबुद्धि से अभिव्यक्ति नही मानकर अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वादि सख्या की उत्पत्ति मानते हैं, वहाँ कहा जाता है कि द्वित्व की अपेक्षाबुद्धि से व्यङ्ग्यत्व मे किस दोष को देखते हैं कि जिससे अपेक्षाबुद्धि से जन्यता को मानते है । यदि कहे कि द्वित्व यदि अपेक्षाबुद्धि से जन्य नही हो किन्तु अपेक्षाबुद्धि से प्रथम ही एकत्व के समान वर्तमान हो (सिद्ध हो) तो उस एकत्व की प्रतीति के समकाल मे ही द्वित्व की प्रतीति प्राप्त होगी, किन्तु होती नही है, यही दोष क्या नही है ? तो यह कहना युक्त नही, क्योकि द्वित्व के रहते भी व्यञ्जक अपेक्षाबुद्धि के अभाव से ही एकत्व के ज्ञानकाल मे द्वित्व की अप्रतीति की सिद्धि होती है । यदि कहे कि, समान = तुल्य आश्रय वाले–समान इन्द्रिय से ग्राह्य–समान जाति वाले = द्वित्वादि गुणो को विचित्र व्यञ्जक (अपेक्षाबुद्धि) से व्यङ्ग्यत्व नही हो सकता है, अत उनकी विचित्र अपेक्षाबुद्धि से उत्पत्ति मानी जाती है, तो यह कहना भी युक्त नही, महत्त्व और दीर्घत्व के समान विचित्र व्यञ्जक से व्यङ्ग्यत्व हो सकता है। समानेन्द्रियग्राह्य समानदेशवृत्ति सजातीय भी महत्त्व और दीर्घत्व विचित्र व्यञ्जक से व्यङ्ग्य होते है, अणुत्व से महत्त्व व्यङ्ग्य होता है, और ह्रस्वत्व से दीर्घत्व व्यङ्ग्य होता है, वैसे ही प्रकृत मे भी होगा । और ह्रस्वत्व की अपेक्षा से जैसे

त्वानुपपत्ति । महत्त्वदीर्घत्वयोरिव तदुपपत्ते । नहि महत्त्वप्रतीतिर्दैर्घ्य-प्रतीतिवद्ध्रस्वमपेक्ष्य जायते, तत्प्रतीतेरणुप्रतियोग्यापेक्षत्वात्ततो न द्वित्व-स्यापेक्षाबुद्धिजन्यतापि ।

न चैकत्वसख्यासमुच्चयोऽपि द्वित्वम्, एकत्वस्यापि स्वरूपातिरेकेण दुर्निरूपत्वात् । न च स्वरूपाणा भिन्नत्वादेकमेकमित्यनुगतप्रत्ययानुपपत्ति, एकत्वसख्यास्वीकारेपि तस्या प्रतिद्रव्य भिन्नतया द्रव्येष्वेकमेकमिति प्रत्ययानुपपत्तेस्तुल्यत्वात् । एकत्वसख्याविशिष्टतया चैकमिति प्रत्ययविष-यत्वे रूपादौ सख्याया चेकमिति मतेरभावप्रसङ्गाच्च । तत्र स्वरूपत एवैक-

---

मिति । महत्त्वदीर्घत्वयोर्व्यभिचारमेव स्फोरयति—**नहीति ।** यथा हि समानेन्द्रिय-ग्राह्यसमानदशसमानधर्मापन्नयोर्महत्त्वदीर्घत्वयोर्ह्रस्वाणुलक्षणप्रतियोगिप्रतीतिव्यङ्ग्य-त्वमेवमत्रापि द्वित्र्यादिसख्यानामित्यर्थ । अथ तत्र महत्त्वदीर्घत्वगतजातिवैलक्षण्यान्न समानजातित्वमिति मतम, तर्हि अत्राप्येकत्वद्वित्वादिजातिभेदोऽस्तीति मम समाधानम् ।

ननु यदि न गुणान्तर द्वित्वम्, तर्ह्येकत्वसमुच्चयरूपद्वित्वमेवमस्तु, नच द्वित्वादिसमानाकारापत्ति, सैकमिद सैकमिद सैकैकमित्येकत्वसमुच्चयतारतम्येनापि तद्व्यवहारोपपत्तेरिति, तत्राह—**न चैकत्वेति ।** अङ्गीकृत्य पूर्वमेकत्वसमुच्चयं तद्विषयतयाऽन्यथासिद्धिद्वित्वप्रत्ययस्योक्तेति न विरोध ।

एकत्वसख्यैव दुर्निरूपा, कुतस्तत्समुच्चयरूपद्वित्वादिरित्येकत्वसख्या दूषयति—**एकत्वस्यापीति ।** यदत्रोदयनश्रीवल्लभावूचतुस्तद् दूषयति—**न च स्वरूपाणा-मिति ।** स्वीकृतायामप्येकत्वसख्यायामय दोषोऽपरिहार्य, तस्या अपि प्रतिद्रव्य विभिन्नत्वादित्यर्थ । ननु तास्वनुगतमेकत्वसख्यावैशिष्ट्यमुपाधिमादायानुगतिसमर्थन-मिति, तत्राह—**एकत्वसंख्येति ।** किंच यत्रेयमेकत्वसख्या वर्तते तत्किमेकम् ? अनेक वा ? नान्त्य, विरोधात् । आद्ये तदप्येकत्व किमेकत्वसख्या ? स्वस्वरूप वा ?

दीर्घत्व की प्रतीति होती है, वैसे महत्त्व की प्रतीति नही होती है, क्योकि महत्त्व की प्रतीति को अणु प्रतियोगी की अपेक्षा होती है । अत द्वित्व की अपेक्षाबुद्धि-जन्यता भी नही हो सकती है ।

प्रथम एकत्व का समुच्चय द्वित्व कहा गया है, तथापि एकत्व सख्या का समुच्चय रूप भी द्वित्व नही हो सकता है, क्योकि द्रव्य के स्वरूप से भिन्न रूप से एकत्व को भी दुर्निरूपत्व है, यदि कहे कि घटादि के स्वरूपो के भिन्न-भिन्न होने से पृथक् सख्या के बिना एक-एक इस प्रकार की अनुगत प्रतीति की अनुपपत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि एकत्व संख्या को पृथक् मानने पर भी प्रत्येक द्रव्य मे उस सख्या के भी भिन्न-भिन्न होने से एक-एक इस अनुगत प्रतीति की अनुपपत्ति

त्वव्यवहारेऽन्यत्रापि तथाभावप्रसङ्गात् । एकत्वसख्याविशिष्टे चैकत्वसमवायस्यानवस्थादिदोषादयुक्ततया यादृक्स्वरूपे सख्यासमवायस्तादृशस्यैवैकव्यवहारविषयतोपपत्तौ सख्यास्वीकारवैयर्थ्यात् । न चैव जात्यपलापानिष्टप्रसङ्गोऽद्वैतवादिनाम्, इष्टत्वात् ।

न च प्रमाण सख्यायामप्येकत्वादिबुद्धय ।
गुणादिष्वपि तद्भावात् तद्बाधस्यानिरूपणात् ॥ ४६ ॥

आद्येऽनवस्था स्वाश्रयत्व वा स्यात । तस्माद्यादृक्स्वरूपे सा वर्तते तादृक्स्वरूपादेव सर्वत्रैकत्वव्यवहारोऽस्तु, मुधाधिकार्थस्वीकार इत्याह—**एकत्वेति** । नन्वेव गोत्वाश्वत्वादयोपि तत्तदाश्रयस्वरूपमादाय शक्योद्धारा । यदाह लीलावतीकार—'जातेरपि विप्लवापत्ते' इति, तत्राह—**नचैवमिति** । यत्त्वेकत्वसख्याया मानमनोहरोक्तमनुमान तद्भेदखण्डनसमय एवैकपृथक्त्वदूषणप्रसङ्गेनानूद्य दूषितम् ।

एवमेकत्वसख्याऽनिरुक्तिमुक्त्वा सप्रति सख्यामात्र एव प्रमाण नास्तीत्याह—**न च प्रमाणमिति** । एकादिव्यवहारहेतु सख्येति हि तैरेकाद्यभिज्ञाव्यवहारस्य विषयतया हेतुरित्येकादिबुद्धय प्रमाणमुच्यन्ते, ताश्चाप्येकत्वादिबुद्धय संख्याया न प्रमाणम्, तद्रहितेष्वपि गुणादिषु तादृगबुद्ध्युपपत्ते । नच तत्र भ्रान्तत्व गौणत्व

तुल्य ही रहते है । एकत्व सख्याविशिष्टता से एकम्—इस अनुगत ज्ञान के विषयत्व को मानने पर सख्यारहित रूपादि मे और सख्या मे एकम्—इस बुद्धि का अभाव प्राप्त होगा । सख्यारहित उन रूपादिको मे स्वरूप से ही एकत्व के व्यवहार होने पर, अन्यत्र द्रव्य मे भी तथा भाव=स्वरूप मात्र से एकत्व का व्यवहार सिद्ध होगा। यदि कहे कि द्रव्यो मे सख्या भिन्न-भिन्न रहती है तथापि एकत्वसख्याविशिष्टत्व रूप उपाधि से अनुगत व्यवहार होता है, तो भी अनेक मे तो एकत्वसख्यावैशिष्टय रह नही सकता है । अत एकत्वसख्याविशिष्ट मे एकत्व के समवाय को मानने पर अनवस्था प्राप्त होगी, अत एकत्वविशिष्ट मे सख्या की अयुक्तता से जैसे स्वरूप मे सख्या का समवाय माना जायगा, वैसे स्वरूप को ही एक व्यवहार के विषयत्व की सिद्धि होते, सख्या स्वीकार मे व्यर्थता सिद्ध होती है । यदि कहा जाय कि इसप्रकार से जाति के अस्वीकार की प्राप्ति रूप अनिष्ट प्राप्त होगा, एकत्वादि के समान स्वरूप से ही गोत्वादि व्यवहार होगा, तो कहा जाता है कि अद्वैतवादी को जाति का अपलाप इष्ट है । और एकत्व ही का अभाव है, इतना ही नही, किन्तु वस्तुस्वरूप से भिन्न सभी सख्याओ का अभाव हे, क्योकि—

एकत्वादि बुद्धि सख्या मे प्रमाण नही है, क्योकि सख्यारहित माने गये गुणादि मे भी एकत्वादि बुद्धि का भाव होना है, और गुणादिविषयक सख्या बुद्धि को भ्रम भी नही कह सकते है, क्योकि उनका बाध नही होता है ॥ ४६ ॥

न च सख्यायामपि प्रमाण पश्याम । न चैकत्वादिबुद्धय प्रमाणम्, सख्याभावेऽपि चतुर्विंशतिर्गुणा पञ्च कर्माणि, द्विविध सामान्यमित्यादिवदुपपत्ते । न च तत्र गौण प्रयोग, मुख्ये बाधानिरूपणात । न हि निपुणमतयोऽपि निरूपका न चतुर्विंशतिर्गुणा, न पञ्च कर्माणीति बाधमध्यवस्यन्ति । तदेव द्वित्वादिसख्याया प्रमाणाभावात, द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीया सख्या तादृग्वृत्तिसख्यात्वावान्तरजातीय द्वित्वमित्यादिलक्षणमसभवित्वदोषेण परास्तम ।

तथा जातिरपि——

चेत्याह—**तद्बाधस्येति** । सगृह्य विवृणोति—**न चेति** । ननु तथापि तल्लक्षणेषु कि दूषणमिति प्रमाणाभावादसभव इत्याह—**तदेवमित्यादिना ।** रूपादावतिव्याप्तिपरिहाराय द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्युक्तम् । द्व्यणुकस्य यत्परिमाण तदसमवायिकारण यत्परमाणुगतद्वित्व तद्वर्तिनी या गुणत्वावान्तरजातिस्तदधिकरणमित्यर्थ । सत्तागुणत्वे समादाय द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिस्तद्वारणाय गुणत्वान्तरजातीयग्रहणम् । **तादृग्वृत्तीति ।** द्व्यणुकपरिमाणासमवायिकारणवृत्तीत्यर्थ । एतच्च त्रित्वादिव्यवच्छेदाय । एतेन द्विपृथक्त्वाद्यपि व्याख्यातम्, तत्राप्यपेक्षाबुद्धिमादाय अर्थप्रत्याख्यानस्य व्यञ्जकत्वसमर्थनस्य सुवचत्वात् । एकपृथक्त्वे चानुमान भेदखण्डने एव दूषितम् ।

नच पृथक्त्वमात्रे पृथगिति बुद्धि प्रमाणम्, रूपादिष्वपि समानत्वादिति । अवयविखण्डनन्यायेन सयोगविभागद्विपृथक्त्वसामान्यादीन्यपि दुर्निरूपाणीत्युक्तम् । तत्र सामान्यव्यतिरिक्तेषु दुर्निरूपतोपपादिता । सप्रति तत्रापि तामुपपादयति—**तथा जातिरपीति ।** षट्पदार्थखण्डनसमये तु सामान्यलक्षणानि खण्डितानि अत्र तु

अर्थात् सख्या मे प्रमाण नही देखा जाता है, एकत्वादि बुद्धियाँ उसमे प्रमाण नही हो सकती है, क्योकि गुणादि मे सख्या के अभाव रहते भी चौबीस गुण है, पाच कर्म है, दो प्रकार के सामान्य है, इत्यादि प्रतीति की उत्पत्ति होती है । गुणादि मे सख्यावाचक पद का गौण प्रयोग होता है, ऐसा नही कहा जा सकता है, क्योकि मुख्य मे कोई बाध नही देखा जाता है । निपुण बुद्धि वाले परीक्षक भी चौबीस गुण नही है, ऐसे बाध का निश्चय नही करते है, न पाच कर्म है, इसके बाध का अध्यवसाय (निश्चय) करते है । अत इस उक्त रीति से द्वित्वादि सख्या मे प्रमाण के अभाव होने से, द्व्यणुकादि परिमाण के असमवायिकारणवृत्ति गुणत्वावान्तर जाति वाली सख्या है, और तादृश = वैसे समवायिकारणवृत्ति सख्यात्वान्तर जाति वाले द्वित्वादि है, इत्यादि लक्षण असम्भावित्व दोष से निरस्त हो गये ।

इसीप्रकार से जाति की भी सिद्धि नही हो सकती है । क्योकि—

प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न जाति सेद्धुमर्हति ।
व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेस्तद्वृत्तेश्चानिरूपणात् ॥ ४७ ॥

न तावद्गौर्गौरित्यभिन्नाकारग्राहिप्रत्यक्ष जातौ प्रमाणम्, विकल्पासहत्वात् । तत्किमेकव्यक्तिवद्व्यक्त्यन्तरे गौरित्यवभास ? उत व्यक्तीनामेकगोस्वभावावभास ? एकधर्मवत्तयावभासो वा ? नाद्य, एकव्यक्तेर्गोस्वभाववद्व्यक्त्यन्तरस्यापि गोस्वभावत्वादेवान्तरेणापि सामान्यमनेकोदकभाजने-

प्रमाण स्वरूपनिरुक्तिश्च खण्ड्यते इत्यपुनरुक्ति । **तद्वृत्तेश्चेति ।** तस्या जातेर्व्यक्तिषु वृत्तिप्रकारस्याप्यनिरूपणादित्यर्थ । श्लोक विवृणोति —**न तावदिति ।** कोऽयमभिन्नाकारग्रह ? किमेकव्यक्तौ यथा गौरिति प्रतीतिस्तथा व्यक्त्यन्तरेपि गौरिति प्रतीतिमात्रम् ? किं वा सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वप्रतीति ? उत व्यक्तीनामेकगोत्वलक्षणधर्मवत्त्वप्रतीति ? इति विकल्पयति—**विकल्पेति ।** प्रथमे तु न जातिसिद्धि व्यक्तीना तन्मात्रवृत्तिगोस्वभावमात्रसमर्पकतयानुगतार्थसमर्पकत्वादित्याह— **एकव्यक्तेरिति ।** तत्रैकव्यक्तावेव गौरिति बुद्ध्युदयबलाद् गोत्वजातिसिद्धि पूर्ववादी

न प्रत्यक्ष से, न अनुमान से जाति सिद्ध होने योग्य है, क्योकि जाति के व्यञ्जको से ही जाति का व्यवहार अन्यथा = जातिबिना सिद्ध हो जाता है, और व्यक्तियो मे जाति की वृत्तित्व का निरूपण नही हो सकता है ॥ ४७ ॥

अर्थात् गौ-गौ, इसप्रकार से ऐक आकार को ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष जाति मे प्रमाण नही हो सकता है, क्योकि यह विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि, क्या वह प्रत्यक्ष, एक व्यक्ति के समान व्यक्त्यन्तर मे गौ ऐसा ज्ञान रूप होकर प्रमाण होता है, अथवा व्यक्तियो के एक गोस्वाभाव के अवभास रूप से होता है, अथवा एक धर्मवत्ता से होता है, प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि एक व्यक्ति के गोस्वभाव के समान व्यक्त्यन्तर के भी गोस्वभाव से ही, सामान्य = जाति के बिना भी गो ऐसा अवभास (ज्ञान) सिद्ध हो सकता है, जैसे कि अनेक जलपात्र मे जाति के बिना ही यह चन्द्र है, यह चन्द्र है, ऐसी अनुगत प्रतीति होती है । यदि शका हो कि सामान्य व्यक्तिमात्र गौ इस प्रतीति का विषय होता है, या गोव्यक्ति विपय होता है, वहाँ प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि अश्वादि व्यक्ति मे भी गौ इस प्रतीति प्राप्ति होती है, व्यक्तिमात्र के अन्तर्गत सब व्यक्ति है । गौ व्यक्ति ही गौ इस प्रतीति का विषय होती है, यह दूसरा पक्ष नही मान सकते, क्योकि उस प्रतीति की विशेष विषयता के लिये जाति का स्वीकार करना होगा । यह शका युक्त नही, क्योकि गौ इस प्रतीति का विषय न व्यक्तिमात्र होता, न गोत्वविशिष्ट व्यक्ति होता है । किन्तु सास्नादि वाली व्यक्ति गौ इस प्रतीति का विषय होती है । अन्यथा व्यक्तिमात्र को गोत्व का व्यञ्जकत्व है, या गोत्ववद्

एवय चन्द्रोऽय चन्द्र इतिवदवभासोपपत्ते । ननु व्यक्तिमात्र गोरितिमति-गोचर ? गोव्यक्तिर्वा ? नाद्य, तुरगादिव्यक्तावपि तत्प्रसङ्गात् । नेतर, जातिस्वीकारापत्तेरिति चेत्, न, सास्नादिमद्व्यक्तेस्तन्मतिगोचरत्वात् । अन्यथा व्यक्तिमात्रस्य गोत्वव्यञ्जकत्व गोत्ववद्व्यक्तर्वति प्रत्यवस्थानस्य जातावपि तुल्यत्वात् । नापि द्वितीय, सर्वत्र गोस्वभावस्यैकस्यानिरूपणात्, निरूपणे वा जातिस्वीकारवैयर्थ्यात् । नापि तृतीय, दण्डी दण्डवानितिवद्-गोत्वी गोत्ववानिति प्रत्ययाभावात् । सास्नादिमत्त्वधर्मस्यैकस्य सर्वत्र प्रतिभासोऽस्तीति चेत्, कृत तर्हि जात्या, तत एवानुवृत्तव्यवहारोपपत्ते ।

समर्थयते—**नन्वित्यादिना ।** न व्यक्तिमात्र तद्बुद्धिविषय नापि गोत्वविशिष्ट-व्यक्ति, किंतु सास्नादिमती, ततो नोक्त दूषणमिति परिहरति—**न सास्नादीति ।** भवतापि स्वीकर्तव्येय रीतिरित्याह—**अन्यथेति । गोत्ववद्व्यक्तेरिति ।** गोत्वविशिष्टव्यक्तेर्गोत्वव्यञ्जकत्वे स्वस्यैव स्वव्यञ्जकतयात्माश्रयप्रसङ्ग इत्यर्थ । सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्वावभास इति द्वितीयपक्ष दूषयति—**नापि द्वितीय इति ।** नहि सर्वव्यक्तीनामेकगोस्वभावत्व भवद्भिरभ्युपगम्यते, जातिव्यक्त्योर्भेदाङ्गीकारात् । **निरूपणे वेति ।** एकशब्दप्रयोगानुपपत्त्या चैकस्वभावाङ्गीकारे वा तादृशस्वरूपेणैवा-नुगतव्यवहारसिद्धेर्व्यावृत्तस्वरूपाणामस्वरूपतयाऽद्वैतवादिनामेव विजय स्यादित्यर्थ । एकधर्मवत्त्वावभास इति तृतीय पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति ।** प्रतीतिरेवेयम-सिद्धा । नहि गौरिति प्रतीतिव्यतिरेकेण गोत्वग्राही प्रत्ययोऽस्तीत्यर्थ । यद्यपि गोत्वस्य धर्मत्वग्राहिणी प्रतीतिर्नास्ति, तथापि सास्नादिमत्त्व नामैकानुगतो धर्म प्रतीयते, अतस्तद्व्यङ्ग्यजातिसिद्धिरिति शङ्कते—**सास्नादिति ।**

व्यक्ति को गोत्व व्यञ्जकत्व है । प्रथम पक्ष मे अश्वादि व्यक्ति को भी गोत्व व्यञ्ज-कत्व प्राप्त होगा, दूसरे पक्ष मे गोत्व को ही गोत्व का व्यञ्जक होने से आत्माश्रयता होगी, इस जाति पक्ष मे भी प्रत्यवस्थान (सशय = विरोध) की तुल्यता है । सब व्यक्ति के गोस्वभाव = स्वरूप अवभास रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि सब गो व्यक्ति मे एक गोस्वभाव का निरूपण नही हो सकता है, यदि सब गो व्यक्ति मे एक स्वभाव का निरूपण हो सके तो जाति का स्वीकार करना व्यर्थ होगा । एक धर्मवत्त्वावभास रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि जैसे दण्डी दण्डवान्, यह एक दण्ड रूप धर्मवत्ता भासता है, वैसे गोत्वी गोत्ववान्, इसप्रकार से एक धर्मवत्ता की प्रतीति नही होती है । यदि कहे कि सास्नादिमत्त्व रूप एक धर्म का सर्वत्र अवभास (ज्ञान) होता है, तो जाति मानने की कोई फल नही । उस सस्नादिमत्त्व से ही अनुगत व्यवहार की सिद्धि हो सकती है ।

किंच जाति स्वीकुर्वता तद्व्यञ्जक किंचिद्वाच्यम् ? तदपि कुत्र वर्तते ? इति पर्यनुयोगे यत्र जातिस्तत्र वर्तत इत्युक्तावन्योन्याश्रयता। उभयोर्वा कुत्र वृत्तिरिति पर्यनुयोगे यदि व्यञ्जकान्तरमभ्युपगच्छेत्तदानवस्था। यदि न, तदोभयोरपि वस्तुमात्रवृत्तितया सर्वत्र सर्वा जातिर्वर्ततेति जातिसाङ्कर्य-प्रसङ्ग। यत्र यत्प्रतीयते तत्र तद्वर्तत इति प्रतीतिचरणशरणत्वेऽपि व्यञ्जकाङ्गीकरणवैयर्थ्यम्। प्रतीतिमात्राच्च तथात्वाङ्गीकारे, नभोनीलिमादेरपि तथात्वापात। अबाधितप्रतीतेर्व्यवस्थापकत्वाङ्गीकारे चेहापि युक्तिबाधस्य

किंच सास्नादिमत्त्वलक्षणव्यञ्जकधर्मोऽपि दुर्निरूप इत्याह—**किंच जाति स्वीकुर्वतेति। सर्वत्रेति।** यदि सास्नादिमत्त्व गोत्व चोभय भाववस्तुमात्रे वर्तेत, तदा सर्वस्य सास्नादिमत्त्व गोत्व च स्यादिति विरोधविशेषोच्छेद जातिसंकरश्च कार्यकारणभावाव्यवस्थितिश्चेत्यादिदोषा प्रादुष्युरिति भाव। ननु प्रतीतिरेव तत्सत्त्वव्यवस्थितौ शरणम्, नच सा सर्वव्यक्तिषु गोत्वावग्राहिण्यस्ति, तत्कथमुक्तदोष इति, तत्राह—**यत्र यदिति।** जातीना व्यञ्जकस्वीकारोपि वृथा, यत्र या प्रतीयते तत्र सास्तीति तत्रापि वक्तु शक्यत्वादित्याह—**व्यञ्जकेति।** अथ मा भूत् व्यञ्जका-भ्युपगम, किमेतावतेति ? तर्हि वक्तव्यम्—प्रतीतिमात्रात्तदङ्गीकार ? उताबाधित-प्रतीते, नाद्य, अतिप्रसङ्गात्। न द्वितीय, असिद्धेरित्याह—**प्रतीतिमात्रेत्या-दिना।** किंच जातिवादिनोऽपि जातिष्वपीय जातिरिय जातिरित्यनुवृत्तप्रतीति-निर्वाहक कश्चिदर्थोऽस्ति ? नवा ? अन्त्ये तद्वद् द्रव्यादिष्वपि प्रतीत्युपपत्ति। आद्ये सा न जातिरनवस्थापातादपरान्नान्ताच्च, तस्मादुपाधिरेव स मन्तव्य,

---

और विभु जाति मानने वाले को उसका व्यञ्जक भी कोई अवश्य कहना होगा। फिर वह व्यञ्जक भी कहाँ रहता है, ऐसा पूछने पर, यदि कहे, माने कि जहाँ जाति रहती है, वहाँ व्यञ्जक रहता है, तो दोनो मे अन्योन्याश्रयता होगी। जाति और व्यञ्जक दोनो कहाँ रहता है, ऐसा पूछने पर, यदि व्यञ्जकान्तर को माने कि जहाँ व्यञ्जकान्तर रहता है, वहाँ दोनो रहते (व्यक्त होते) है। तो अनवस्था होगी, और यदि व्यञ्जकान्तर का स्वीकार नही करे, तो सास्नादिमत्त्व रूप व्यञ्जक और गोत्व दोनो ही वस्तु के स्वरूपमात्रवृत्ति होगे कि जिससे सर्वत्र सर्वजाति की वृत्तिता से जातिसाकर्य की प्राप्ति होगी। जहाँ जो जाति प्रतीत होती है, वहाँ वह रहती है। इसप्रकार से प्रतीति के चरण शरण को लेने पर भी व्यञ्जक को मानना व्यर्थ होगा। और प्रतीति मात्र से गोत्वादि जातिमत्त्व को उसके व्यञ्जक को प्रतीति के अनुसार मानने पर, नभ की नीलिमादि को भी प्रतीति के अनुसार सत्त्वापत्ति होगी, अथवा अबाधित प्रतीति को वस्तु के सत्त्व के व्यवस्थापकत्व मानने पर, यहाँ जातिविषय मे युक्ति से बाध के सुवच होने के

सुवचत्वेन न तादृशप्रतीतेरपि व्यवस्थापकता । किच जातिस्वीकारवादिना-पीय जातिरिय जातिरित्यनुवृत्तप्रत्ययसिद्धये कश्चिदुपाधिरेष्टव्य, तथा च सार्वत्रिक स एवानुवृत्तप्रत्ययकारणमस्तु तदल जातिकल्पनादुर्व्यसनेन । तदेव न प्रत्यक्ष जातौ क्रमते ।

अस्तु तर्हि गन्धवन्तो गन्धवदगन्धावृत्तिगन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्त ।

यथा च तथाविधोपाधिभिरेव सर्वत्रानुगतिसिद्धेर्न जातिकल्पनोपयोग इत्याह— **किचेत्यादिना ।**

एव प्रत्यक्ष जातौ प्रत्याख्याय कुलार्कपण्डितोन्नीतमनुमानमुद्भावयति दूषयितुम— **तर्हीति ।** गन्धवत्स्वगन्धवत्सु च ये वर्तन्ते धर्मास्तेषु गन्धवदगन्धवृत्तित्व नाम धर्म तदत्यन्ताभाववान्, तथा गन्धवत्सु वर्तमाना सन्तस्तेषु न वर्तन्ते ये धर्मास्तेषु गन्धवद्वृत्त्यवृत्तित्व नाम धर्मस्तदनधिकरणो यो धर्मस्तद्वन्त इति योजना । अत्र च गन्धवद्वृत्तिधर्मवन्त इत्युक्ते प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । गन्धवदगन्धावृत्तिधर्मवन्त इत्युक्ते घटत्वपटत्वादिभिरर्थान्तरता, तदर्थ गन्धवद्वृत्त्य-वृत्त्यन्येत्युक्तम । घटत्वादीना च गन्धवद्घटादिवृत्तित्वे सति गन्धवत्पटावृत्तित्वेन तद्राहित्याभावात् । गन्धवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्त इत्युक्ते च प्रमेयत्वादिभिरर्थान्तरता तदर्थमगन्धावृत्तीत्युक्तम् । तावति चागन्धवत्सु साध्याननुगमादप्रसिद्धविशेषणता, अत उक्त गन्धवदिति । गन्धवदगन्धावृत्तित्व चावृत्तित्वाद्वा ? अगन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा ? गन्धवन्मात्रवृत्तित्वाद्वा ? प्रथमद्वितीयौ गन्धवत्सु व्याहतौ । तृतीयोऽपि कतिपयगन्ध-वद्वृत्तिर्वा ? समस्तगन्धवद्वृत्तिर्वा ? प्रथमो द्वितीयविशेषणेन व्याहत । द्वितीयस्तु सिद्धयन्ननुगतजातिरूप सिद्धयतीत्यभिमान । अगन्धवन्मात्रवृत्तिभिश्चेतरत्र

कारण गौ इत्यादि प्रतीति को भी जातिव्यवस्थापकता नही हो सकती है। और जातिवादी को भी यह जाति, यह जाति, इस जातिविषयक अनुगत प्रतीति से उस प्रतीति की सिद्धि के लिये कोई उपाधि मानना ही होगा, क्योकि जाति मे जाति मानने पर अनवस्था होगी, तो जाति के समान सर्वत्र वह उपाधि ही अनुगत प्रत्यय का कारण मानने योग्य है, जाति की कल्पना रूप दुर्व्यसन (हठ) का कोई फल नही है। अत उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि जाति मे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नही हो सकती है ।

कोई कहते है कि प्रत्यक्ष जाति मे प्रमाण नही है, तो अनुमान प्रमाण हो सकता है। और अनुमान का प्रयोग करते है कि (गन्ध वाले पदार्थ, गन्धवान् और अगन्धवान् मे वृत्ति जो प्रमेयत्व सत्ता द्रव्यत्वादि, धर्म, उनसे अन्य, धर्म। तथा किसी गन्धवान् मे वृत्ति, किसी गन्धवान् मे अवृत्ति, ऐसा जो घटत्वादि धर्म उनसे भी अन्य पृथिवीत्व रूप धर्म वाले है, प्रमेय होने से, अग्नि आदि के समान) इसी

तथा शैत्यवन्त शीतवदशीतावृत्तिशीतवद्वृत्त्यवृत्त्यन्यधर्मवन्त. प्रमेयत्वाज्ज्वलनादिवदित्यनुमानै पृथिवीत्वजलत्वादीना सिद्धि । विवादाध्यासितानि द्रव्यगुणकर्माणि सामान्यवन्त्यनित्यत्वाद्गोवदित्यनुमानेन सत्तायाश्च सिद्धिरिति चेत्, न, प्रथमप्रयोगेषु तत्तज्जातिव्यञ्जकगन्धवत्त्वशीतस्पर्शव-

---

साध्यसिद्धि । उदकत्वजातावपि समानामेव रीतिमाह—**तथा शैत्यवन्त इति ।** व्याख्यान तु पूर्ववत् । उभयत्र हेतूदाहरणे निर्दिशति—**प्रमेयत्वादिति ।** एवमुष्णस्पर्शवन्तो नीरूपस्पर्शवन्तश्च पक्षीकृत्य तेजस्त्ववायुत्वे समर्थनीये । तथा सास्नादिमत पक्षीकृत्य गोत्वादि समर्थनीयम् । सत्तायामनुमानमाह—**विवादेति ।** कार्यवर्गश्चात्र पक्ष । तदितरेषु तु तद्द्वारा सिद्धि । एकसामान्यवत्त्व चात्र साध्यम् । तथा कर्म शावलेयवृत्तिजातिमत्कार्यत्वात् शावलेयवदित्याद्यपि द्रष्टव्यम् । एवमनुमानान्युपन्यस्य यथाक्रम दूषयन् व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति श्लोकभाग विवृणोति—**न, प्रथमेति ।** अस्ति हि गन्धवत्त्वशीतस्पर्शवत्त्वादीनामप्युक्तरूपत्व सर्व तन्मात्रवृत्तित्वादित्यर्थान्तरमित्यर्थ । एतेन व्यञ्जकैरन्यथासिद्धेरिति विवृतम् । गन्धवत्पक्षीकारे कथ तस्य गन्धवत्त्वस्य सभव ? आत्माश्रयादतो नार्थान्तरतेतिचेन्न, पाकजरूपवत्त्वादिनार्थान्तरत्वात् । अपि च कुत आगतोऽय देवाना प्रिय ? यो हि उपलक्षणन्यायेन गृहीतधर्म एव निबन्ध वधूमिलनगीतमाशास्ते, तत्किपाकजरूपादिमन्त इत्यशक्यपक्षीकरण ब्रवीति ? भवतु भवतो निर्बन्धस्तथापि नैतादृशेऽप्यात्माश्रये किंचिद्दुष्यति, उत्पत्तिज्ञप्तचोरप्रतिबन्धकत्वात् तस्य चादूषणत्वात्, इतरथा केवलान्वयिविलयप्रसङ्गात् । नच जातिपदप्रक्षेपाददोष, आकाशादौ दुखसाध्यत्वात् ।

प्रकार से (शीतस्पर्श वाले, शीतवद् वृत्ति अशीतवद् वृत्ति धर्म, किसी शीतवद् मे वृत्ति किसी मे अवृत्ति धर्मो से अन्य धर्म वाला है, प्रमेय होने से, अग्नि आदि के समान) इत्यादि अनुमानो से पृथिवित्व जलत्वादि की सिद्धि होती है । यह टीका के अनुसार अर्थ हुआ, परन्तु मूल से प्रतीत होता है कि (गन्धवद् अगन्ध मे अवृत्ति, तथा गन्धवद् मे वृत्ति होता हुआ धर्म से अन्य धर्म वाले, गन्धवाले है) इत्यादि । और (विवादविषय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य वाले है । अनित्य होने से, गोवत्) इस अनुमान से सत्ता जाति की सिद्धि होती है । यह कहना तथा प्रयोगयुक्त नही हे, क्योकि प्रथम प्रयोगो मे तत्तत् जाति के व्यञ्जक गन्धवत्त्व, शीतस्पर्शवत्त्वादि धर्मों से ही अर्थान्तरता होती है । और जाति को नही मानने वालो के प्रति गोवत् इस दृष्टान्त को साध्यविकलता प्राप्त होती है । और जिज्ञासा होती है कि सर्व पदार्थ मे सर्वगत (विभु) जाति है । या व्यक्ति मात्र मे सर्वगत है । अर्थात् व्यापक होने से गोत्व जाति घट, पटादि सब मे रहती है, व्यञ्जक से गो मात्र मे व्यक्त होता है, या गो व्यक्ति मे ही सब व्यक्ति मे रहती है, यहाँ प्रथम पक्ष नही

त्वादिधर्मैरेवार्थान्तरत्वात् । जात्यनङ्गीकारवादिन प्रति गोवदिति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च । किंच सर्वसर्वगता जाति ? उत व्यक्तिसर्वगता ? नाद्य, विकल्पासहत्वात् । किं सर्वसर्वगतत्व नाम—सर्वत्र सयोग ? तादात्म्य वा ? समवायो वा ? सबन्धान्तर वा ?

अद्रव्यत्वान्न सयोग साङ्कर्यान्नेतरावपि ।
पदार्थान्तरतापत्तेर्नान्यसबन्धसभव ॥ ४८ ॥

न तावज्जाते सवव्यक्तिसयोग, अद्रव्यत्वात् । न तादात्म्यसमवायौ, सर्वव्यक्तिषु सर्वजातीना तादात्म्ये समवाये वा सर्वस्य सर्वात्मताप्रतीतिप्रसङ्गात् । व्यञ्जकाभावान्न तथेति चेत्, न, तादात्म्यसमवायस्वीकारे

वर्तते तेषा पक्षतुल्यता सिद्धान्त क्षेमार्था, तस्मात्स वृत्तमर्थान्तरत्वादिति । सत्तासाधकानुमाने दूषणमाह—**जातीति ।** यस्य हि जातिमात्रमेव प्रामाणिक न सप्रतिपन्न तस्य कथ गोत्वसप्रतिपत्ति ? अत साध्यवैकल्यमप्रसिद्धविशेषणत्व चेत्यर्थ । तद्वृत्तेश्चानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**किंचेति ।**

सर्ववस्तुषु सर्वगतत्व विकल्प्य दूषणानि सगृह्णाति—**अद्रव्यत्वादित्यादिना ।** न सर्वत्र जाते सयोग सर्वगतत्वमद्रव्यत्वात सर्ववस्तूना द्रव्यत्वाभावात् । नेतरावपि, कुत ? साङ्कर्यात् । यदि हि सर्वत्र गोत्वादितादात्म्य समवायो वा स्यात्, तदा गवाश्वादिवस्तूना तज्जातीना च सङ्कर स्यादित्यर्थ । सुबोधमवशिष्ट श्लोक विवृणोति—**न तावदित्यादिना ।** ननु किमिति सर्वत्र तज्जातिप्रतीति ? यावता विद्यमानानामपि व्यञ्जकाभावादप्रतीतिसभवेनासङ्करादिति शङ्कते—**व्यञ्जकेति ।** यथा हि शावलेयादिव्यक्तयो गोत्वजातेर्व्यञ्जकास्तत्कस्यहेतो ? तासु तस्यास्तादात्म्य समवायो वास्तीति, तद्वदिह यदि सर्वव्यक्तिषु तस्यास्तयोरन्यतरदस्ति, तदा तासामेवाभिव्यञ्जकत्वादपरिहार्यैव सङ्करापत्तिरिति परिहरति—**न, तादात्म्येति ।**

बन सकता है, क्योकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि सर्वसर्वगतत्व नाम क्या है । सर्वत्र सयोग सर्वसर्वगतत्व है । या सर्वत्र तादात्म्य है, या सर्वत्र समवाय है, अथवा सम्बन्धान्तर है ।

अद्रव्य होने से सयोग नही हो सकता है, साङ्कर्य होने से तादात्म्य समवाय नही हो सकते है । पदार्थान्तरता की प्राप्ति से अन्य सम्बन्ध का सम्भव नही है ॥४८॥

अर्थात् जाति का सब व्यक्ति के साथ सयोग नही कहा जा सकता है, क्योकि जाति द्रव्य नही है, द्रव्य का ही सयोगसम्बन्ध द्रव्य के साथ होता है । तादात्म्य और समवाय भी जाति के सम्बन्ध सर्वत्र नही हो सकते है, क्योकि सर्व व्यक्तियो मे सर्व जातियो के तादात्म्य वा समवाय के होने पर, सर्व पदार्थ मे सर्वात्मता की प्रतीति की प्राप्ति होगी, सर्वत्र सर्व जाति के व्यञ्जक के अभाव से सर्वात्मता की

शावलेयादिव्यक्तिवदेव तद्व्यञ्जकताया अपि दुर्निवारत्वात्। स्वभावभेदात् कस्यचिदेव व्यञ्जकत्व न सर्वस्येति चेत्, न, सिद्धे प्रमाणत सर्वत्र सबन्धे स्वभावभेदालम्बनन्, न तु स्वभाववादपादप्रसारिकयैव वस्तुसिद्धिः, अन्यथास्त्येव पवनादावपि रूपसभेद, स्वभावभेदादेवाप्रतीतिरित्यनर्गलगल-गर्जनस्य क प्रतीकार स्यात्? नापि सबन्धान्तरम्, षट्पदार्थातिरिक्त-पदार्थस्वीकारप्रसङ्गात्। नापि पिण्डसर्वगता जाति, प्रत्यग्रजायमानखण्ड-

न, सिद्धे प्रमाणत इति। यदि हि प्रमाणत सर्वत्र जातिसद्भावावगम स्यात्, तदा विद्यमानायास्तस्या अप्रतीतौ स्वभावभेदो नियामक स्यात्। स्वमूलप्रमाण विनैव स्वभावभेदकल्पनमतिप्रसङ्गीत्यर्थ। उत्तरार्ध विवृणोति—**नापीति।** अस्तु तर्हि व्यक्तिसर्वगता जाति, यथाहु भाष्यकारा—'व्यक्तिसर्वगतम्' इति। तत्राह—**नापि पिण्डेति।** यदि हि व्यक्तिसर्वगता, तदा सर्वत्र जाते पिण्डे गोत्वजाति किं

प्रतीति नही होती, जाति सर्वत्र रहती है, परन्तु सब के व्यञ्जक सर्वत्र नही रहते है, यदि ऐसा कहा जाय तो कहना युक्त नही, क्योकि तादात्म्य समवाय के सर्वत्र स्वीकार करने पर गोत्व जाति के व्यञ्जक शॉवलेयादि व्यक्ति के समान उसकी व्यञ्जकता को भी दुर्निवारता होगी। अर्थात् गो मे शॉवलेय व्यक्ति गोत्व का व्यञ्जक है, और उसमे गोत्व का तादात्म्य और समवाय है, तो गोत्व जहाँ रहेगा, वहॉ सर्वत्र वह उससे अभिन्न व्यञ्जक व्यक्ति रहेगी तो सकर होगा ही। यदि कहे सब जाति के सर्वत्र रहते भी स्वभावभेद से किसी के ही व्यञ्जकत्व व्यक्तियो को होता है, सबका व्यञ्जकत्व नही होता है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि किसी प्रमाण से जाति के सर्वत्र सम्बन्ध के सिद्ध होने पर, सर्वत्र प्रतीति निवारण के लिये स्वभाव का आश्रयण किया जा सकता है, स्वभाववाद की पादप्रसारिका = पॅर फैलाने से ही वस्तु की सिद्धि (सर्वत्र जाति की सत्ता) नही हो सकती है। प्रमाण से सर्वत्र जाति की सिद्धि होने पर अप्रतीति मे स्वभाव को नियामक माना जा सकता है। अन्यथा पवनादि मे भी रूप का सम्बन्ध है, परन्तु स्वभावभेद से ही उसकी प्रतीति नही होती है, इस मिथ्या प्रलपन का क्या प्रतिकार होगा। जाति का सम्बन्धान्तर भी नही हो सकता है, क्योकि द्रव्यादि छ पदार्थो से अतिरिक्त सम्बन्ध रूप पदार्थ का स्वीकार करना प्राप्त होगा, पिण्ड सर्वगत = सर्व-व्यक्ति विशेषगत जाति रहती हे, यह भी नही माना जा सकता है, क्योकि प्रत्यग्र= नूतन जायमान खण्ड मुण्डादि पिण्डो (शरीरो) मे शरीरान्तरगत जाति के सम्बन्ध का अभाव प्राप्त होगा। क्योकि पिण्डान्तर मे वर्तमान वह जाति नूतन इन व्यक्तियो मे उछल-कूद कर नही प्रवेश करती है, क्योकि निष्क्रिय जाति होती है, और यदि प्रथम के आश्रय पिण्ड को त्याग कर किसी प्रकार से नूतन पिण्ड मे

मुण्डादिपिण्डेषु पिण्डान्तरस्थिताया जाते सबन्धाभावप्रसङ्गात् । न हि सा पिण्डान्तरादुप्लुत्यात्रानुप्रविशति, निष्क्रियत्वात् । तत्परित्यागे च पूर्वपिण्डे तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात् । न चाशाभ्यामुभयत्र वृत्ति, अनशत्वात् । स्वसामग्रीवशादुपजायमान पिण्डस्तज्जात्यालिङ्गित एवोत्पद्यत इति चेत्, न, पिण्डोत्पत्ते प्राक् तत्र तस्या अभावात् । भावे च सर्वसर्वगतत्वापत्तो । तदुक्त बाह्यै --

"नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चाशवत् ।
जहाति पूर्व नाधारमहो व्यसनसन्तति ॥" इति ।

व्यक्त्यन्तरस्योपसर्पति ? तत्रस्था वा ? नाद्य इत्याह—**नहि सेति ।** भवतु वोत्पत्त्यागमनम्, तथापि किं सर्वात्मना व्यक्त्यन्तरादुत्पतति ? अशतो वा ? नोभयथापीत्याह—**तत्परित्यागे चेत्यादिना । न, पिण्डोत्पत्तेरिति ।** नहि पिण्डवदेव साप्युत्पद्यते, नित्यत्वात् । न तत प्रागपि च तत्रास्ति कथ, तदालिङ्गनमुत्पद्यमानव्यक्तेरित्यर्थ । अथ तत्राप्यस्ति, तर्हि सर्वसर्वगतत्वापत्तिरित्याह—**भावे चेति ।** एतेन तत्रस्था वेति पक्षोऽपि निरस्त । बाह्या बौद्धा । व्यक्त्युत्पत्तिसमये तावन्न व्यक्त्यन्तरादायाति, निष्क्रियत्वात् । नच तत्र व्यक्त्युत्पत्तिप्रदेशे व्यक्त्युत्पत्ते पूर्व सा जातिरासीत्, व्यञ्जकाभावात् । तथापि तथात्वे सर्वसर्वगतत्वापत्ते । नच पश्चादस्ति उत्पद्यते, अनित्यत्वप्रसङ्गात् । यदा च व्यक्तान्तरादायातीति पक्षस्तदापि नाशवत्, येन व्यक्त्यन्तरमपरित्यज्य व्यक्त्यन्तरमुपक्रमेत । नच पूर्वतनमाधार जहाति येन निरश सदन्यव्यक्तौ वर्तेत, पूर्वतनाश्रये तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गादिति सामान्यवादिना महाव्यसनसन्तति । अहो इत्यनुकम्पायामिति कीर्तिवार्तिकार्थ । किंच भवतु यथातथा जातेर्वृत्ति , तथापि किमाश्रितैकस्वभावा ? आश्रितानाश्रित-

---

जाति आ जाय, तो पूर्व सिद्ध पिण्ड मे उस जाति के व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा । यह जाति अशो द्वारा नूतन प्राक्तन दोनो मे रहती है, यह भी नही कहा जा सकता है, क्योकि निरश होती है । यदि कहा जाय कि अपनी सामग्री के बल से उत्पन्न होता हुआ पिण्ड उस जाति से युक्त ही उत्पन्न होता है, तो यह भी नही कहा जा सकता है, क्योकि पिण्ड की उत्पत्ति से प्रथम वह जाति वहाँ रहती नही है, और नित्य होने से उत्पन्न भी नही होती है, अत जातिविशिष्ट की उत्पत्ति नही हो सकती है । यदि वहाँ उसका भाव (सत्त्व) हो तो सर्वगतत्व की प्राप्ति रूप पूर्वोक्त पक्ष प्राप्त है । यह बुद्धानुयायियो ने भी कहा है—

न जाति पिण्डान्तर से आती है, न वहाँ थी, न पीछे उत्पन्न होती है, न अश वाली है । न निरश होते पूर्व आधार को त्यागती है, अत जातिवाद मे आश्चर्य रूप व्यसन का विस्तार है ।

सर्वपिण्डप्रलये च घटत्वादिजातेरुच्छेदप्रसङ्ग । सबन्धिविगमेऽपि तस्या स्वरूपेणावस्थानमिति चेत्, न, आधारविगमेऽप्याधेयावस्थाने रूपादेरपि तथावस्थितेर्नित्यत्वप्रसङ्ग । तदेवमणूना तत्सयोगस्य तदनेकत्वस्य जातेश्चानिरूपणादनेकै परमाणुभि सयोगसचिवै समानजातीयैर्द्व्यणुकादिक्रमेण सर्व कार्यद्रव्यमारभ्यत इति मनोरथमात्रम् ।

किच—

स्वभावा वा ? प्रथमे घटत्वादिजातीना प्रलयसमये समस्तघटादिविघटनादाश्रयरहिततयोच्छेदप्रसङ्ग इत्युक्त्वा द्वितीय शङ्कते —**संबन्धिविगमेऽपीति ।** एवविधजातिस्तावन्न केनापि प्रमाणेनोपस्थापिता । यदि भवदनुभवमनुरुद्ध्याभ्युपगच्छेम, तदा रूपादेरपि केन विषमबुद्धिनोन्नीतनीत्या नित्यानित्यतासमर्थनमभ्युपेतव्य प्रसह्येत्यर्थ । तदेव परमाणुनिराकरणमारभ्य प्रसक्तानुप्रसक्त्या प्रदर्शितसयोगाद्यनिरूपणत्वस्य ब्रह्मकारणत्ववादिवेदान्तविरोधनिरासोपयोगमाह—**तदेवमित्यादिना ।** **संयोगसचिवैरिति ।** समानजातीयानेकद्रव्याणि समवायिकारणानि द्रव्योत्पत्तौ तत्सयोगस्त्वसमवायिकारणमिति हि तेषा मतमित्यर्थ ।

एव परमाणूनामारम्भकत्वमेव नास्ति, तेषा तत्सयोगस्य चासभवादित्युक्तम् । यद्यपि भवतु नाम तेषामारम्भकत्वम्, तथापि द्व्यणुकारम्भो वृथा, प्रमाणप्रयोजनयोरभावादितीदमिदानीमुपपाद्यते—**किचेत्यादिना ।** तत्र **वैशेषिका** प्राहु —"**परमाणव साक्षान्न महद्द्रव्यारम्भका आरम्भकपरमाणुत्वाद् घटोपगृहीतपरमाणुवत् । नच साध्यविकलो दृष्टान्त , तत्रापि साक्षाद्घटारम्भकत्वे घटध्वसानन्तर न किंचिद् दृश्येत ।** तथा त्रसरेणुवदनुपलब्धिरेखे परेषा **घटे सस्थानविशेषानिष्पत्ति , व्यञ्जकाभावात्** घटत्वानुपलब्धिप्रसङ्गश्च, कपालादीनामनारब्धत्वात्, तस्मात्परमाणुभिरतीन्द्रियमेव किंचिद्व्यवधानेनारभ्यते । **किंच महत्त्वरहितद्रव्यस्य न** तावच्चाक्षुषत्वम्, **परमाणुवत् ।** नच परमाण्वारब्धे **महत्त्वसभव , कारणबहुत्वकारणमहत्त्वप्रचय-**

और जाति यदि व्यक्ति के आश्रित रहने वाली है, तो सर्व पिण्ड के व्यक्ति के प्रलय होने पर घटत्वादि जाति का उच्छेद अभाव होगा । यदि कहे कि व्यक्ति रूप सम्बन्धी के नष्ट होने पर भी उस जाति की स्वरूप से वहाँ स्थिति रहती है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यदि आधार के अभाव होने पर भी आधेय की स्थिति हो, तो रूपादि की भी जाति के समान स्थिति से रूपादि मे नित्यत्व की प्राप्ति होगी । अत इस उक्त रीति से अणु = परमाणु के, परमाणु सयोग के, परमाणु सयोग अनेकत्व के और जाति के निरूपण नही हो सकने के कारण, सयोगसहित, समानजातीय अनेक परमाणुओ से द्व्यणुकादि क्रम द्वारा सब कार्य द्रव्य आरब्ध होता है । यह कथन मनोरथ मात्र है ।

परमाणुबहुत्वेन महत्त्वारम्भसभवात् ।
त्र्यणुके द्व्यणुकारम्भप्रक्रियापि न सिद्धयति ॥ ४९ ॥

द्व्यणुकादिप्रक्रमप्रक्रियापि न प्रमाणपथमवतरति, अणुभिरेव त्र्यणुकाद्युत्पत्तेरुपपत्ते । नन्वेव सति त्र्यणुके महत्त्व न स्यात् । परमाणुपरिमाणस्य नित्यपरिमाणतयाऽनारम्भकत्वात, प्रचयस्य निरवयवेष्वनाशङ्कनीयत्वादिति चेत्, न, कारणबहुत्वादेव त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्ते । न च परमाणु-

---

विशेषैर्हि महत्त्वमुत्पद्यते, तत्र न तावत्कारणबहुत्वम्, परमाणुद्वयेनारम्भात्, अणुत्वादेव न कारणमहत्त्वम्, निरवयवत्वादेव न प्रचयविशेष , द्व्यणुकारब्धस्य तु त्रसरेणोर्महत्त्वादेव युक्त चाक्षुषत्वम्, तस्य च न परमाणुद्वयवद्द्व्यणुकद्वयमारम्भकम्, तथा सति तदारब्धेऽपि महत्त्वासम्भवसाम्यात् । तस्मात्कारणबहुत्वादेव त्रसरेणोर्महत्त्वम्, तथाच "बहुभिरेव द्व्यणुकैस्त्र्यणुकमारभ्यत इति त्र्यणुकमहत्त्वानुपपत्तिरपि द्व्यणुकसाधिका" इति । तदेव श्लोकेन दूषयति—**परमाण्विति ।** तत्र तावत्परमाणूना सहसा महदारम्भे बाधक स्वयमेवाशङ्क्य दूषयिष्यति । तथा च द्व्यणुकमङ्गीकृत्यापि कारणबहुत्वादेव त्र्यणुके महत्त्व प्रार्थनीय तद्बहुभि परमाणुभिरेवोपपाद्य वृथान्तराले द्व्यणुककल्पनेति भाव । श्लोक विवृणोति—**द्व्यणुकादीति ।** ननु किमिति महत्त्व न स्यात्परमाणुपरिमाणैरेवारम्भसभवादिति, तत्राह—**परमाण्विति ।** विप्रतिपन्नमनारम्भक नित्यपरिमाणत्वात् परममहत्त्ववदित्यर्थ । **निरवयवेष्विति ।** प्रशिथिलावयवसयोगो हि प्रचय , न स निरवयवेषु सभवतीत्यर्थ । **न च परमाणु-**

और परमाणुगत बहुत्व से महत्त्व के आरम्भ के सम्भव से द्व्यणुक मे त्र्यणुकारम्भ की प्रक्रिया भी नही सिद्ध हो सकती है ॥ ४९ ॥

अर्थात् परमाणु से द्व्यणुक के आरम्भपूर्वक ही त्र्यणुकादि प्रारम्भ की प्रक्रिया भी प्रमाण से नही सिद्ध हो सकती है । परमाणुओ से ही त्र्यणुकादि की उत्पत्ति हो सकती है । यदि शका हो कि इसप्रकार से द्व्यणुक के बिना परमाणु से त्र्यणुक की उत्पत्ति होने पर त्र्यणुक मे महत्त्व नही होगा, क्योकि परमाणु परिमाण के परम महत्परिमाण के समान नित्य परिमाण होने के कारण इसमे परम महत्त्व के समान ही अनारम्भकत्व भी है, अत परमाणु से आरब्ध द्व्युक मे द्वित्व सख्या से परिमाण की उत्पत्ति मानी जाती है, परमाणु परिमाण से नही, और निरवयव परमाणुओ मे शिथिलावयवसयोग रूप प्रचय तो शका के योग्य नही है, अत उनके प्रचय से भी त्र्यणुक परिमाण की उत्पत्ति नही हो सकती है, अतएव परमाणु से त्र्यणुक की उत्पत्ति मानना युक्त नही, यह शका युक्त नही, क्योकि जैसे परमाणुगत द्वित्व से द्व्यणु मे परिमाण की उत्पत्ति मानते है, इसीप्रकार से कारण रूप परमाणुगत बहुत्व से ही त्र्यणुकादि मे महत्त्व की सिद्धि होगी । यदि कहे कि

गतानेकत्वसख्या नारम्भिका, तद्गतद्वित्वस्यापि द्वयणुकपरिमाणानारम्भकत्वप्रसङ्गात्। नन्ववयविना परमाणूपादानकत्वे कपालशर्करादीनामनारब्धत्वात्परमाणूना चादृश्यत्वादवयविनाशे न किञ्चिद् दृश्येतेति चेत्, न द्वयणुकारभ्यत्वेपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। त्र्यणुकचतुरणुकादिक्रमेणारम्भान्नाय प्रसङ्ग इति चेत्, न, चतुर्भिर्द्वयणुकैश्चतुरणुकवत् द्वयणुकसहस्रारब्धकार्यनाशेऽपि प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। तस्माद् द्वयणुकसद्भावे न किञ्चिन्मान

गतेति। अ किं नित्यगतसख्यात्वादनारम्भकत्वम्? अनेकत्वसख्यात्वाद्वा? नाद्य परमाणुषु द्वित्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गात्। नापि द्वितीय, द्वयणुकगतबहुत्वस्याप्यनारम्भकत्वप्रसङ्गादिति भाव। एतेनाचाक्षुषत्व प्रत्युक्तम्, महत्त्वादेवोपपत्ते। य स्वयमेवाशङ्क्य निराकरिष्यतीत्युक्तम, तत्करोति—**नन्विति**। इयमनुपपत्तिरणुद्वयणुकारम्भेऽपि समाना। यथा द्वयणुकारब्धत्र्यणुकध्वसे द्वयणुकशेषतया न किञ्चिद् दृश्यते, तथावयविनोपि द्वयणुकारभ्यत्वे न किञ्चिद्दृश्येतेति नेय द्वयणुकसाधिकेत्यर्थ। ननु नास्माभिर्द्वयणुकैरेवाव्यवधानेन, पटाद्यारम्भोऽभ्युपगम्यते, येनायमनन्तरो दोष स्यात्, किंतु त्र्यणुकादिक्रमेण। तथाचोत्तरोत्तरनाशेऽपि पूर्वपूर्वस्य प्रत्यक्षत्व घटते, त्र्यणुकविनाशे त्वन्यस्यादर्शनमनुगुणमेवेति शङ्कते—**त्र्यणुकेति** स्यादेव यद्येवमेवेति भवता नियम, न त्वेतदस्ति, चतुर्भिर्द्वयणुकैश्चतुरणुकारम्भवद् द्वयणुकसहस्रेणाप्येककार्यारम्भोऽनुमन्यत एव भवता। तथाच तत्रैवोक्तानुपपत्ति समानेत्याह—**न चतुर्भिरिति**। नच चतुरणुकमपि त्र्यणुकचतुष्टयारब्धम्, अणुशब्दार्थाभावात, अण्वारब्धे ह्यणुषु चाणुशब्दप्रयोग, द्वयणुकत्र्यणुकयोस्तथा, तद्दर्शनात् परमाणुव्यतिरिक्तयो। ननु किमिति मानाभाव? यावता किरणावलीकारोक्त

परमाणुगत अनेकत्व सख्या आरम्भक नही होती है, तो परमाणुगत द्वित्व को भी द्वयणुक परिमाणानारम्भकत्व प्राप्त होगा। यदि शका हो कि घटादि अवयवियो (कार्यो) के परमाणु रूप उपादान से ही जन्य होने पर, उन अन्तिम अवयवी के आरम्भ के मध्यगत कपालशर्करा (कपालिकाठिकरा) के अनारब्ध होन से और परमाणुओ के अदृश्य होने से अवयवी के नाश होने पर, वह आरम्भक परमाणु-रूपता को प्राप्त होगा, अत कुछ भी नही दीख पडेगा, परन्तु कपालादि दीखना है, अत परमाणु से महा अवयवी का आरम्भ मानना युक्त नही। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि द्वयणुक मे अवयवी के आरब्ध = जन्य होने पर भी प्रसङ्ग (आपत्ति) तुल्यता है, द्वयणुक से आरब्ध का नाश होने पर भी कुछ नही दीखेगा, क्योकि द्वयणुक भी अदृश्य ही माना जाता है। यदि कहे कि द्वयणुक से त्र्यणुक चतुरण-कादि क्रम से अवयवी का आरम्भ होता है, अत नाश होने पर कपालादि दीखते है, उक्त दोष का प्रसङ्ग (सम्बन्ध) नही होता है। तो यह कहना भी युक्त नही,

मस्ति। ननु त्र्यणुक कार्यद्रव्योपादानक महत्त्वे सति कार्यत्वात् घटवत्। तथारम्भकद्रव्यसख्यापकर्षतारतम्य क्वचिद्विश्रान्त तरतमभावत्वात्परिमाणतरतमभाववत्। न चैकत्वसख्यायामेव विश्रान्तौ सिद्धसाधनता, तथा सत्येकद्रव्यस्यैव द्रव्यारम्भकत्वप्रसङ्गात्। न चैकद्रव्यारब्ध द्रव्यम्, कार्यद्रव्यस्यानाशप्रसङ्गात्। कारणविभागस्य कारणविनाशस्य च तन्नाशहेतोरभावात्। ततो द्व्यणुकसिद्धौ न परमाणूपादानकत्व त्र्यणुकस्येति चेत्,

---

मस्त्यनुमानमिति शङ्कते— **ननु त्र्यणुकमिति।** आकाशादौ व्यभिचारवारणाय कार्यत्वादित्युक्तम्। इच्छादिनित्यद्रव्यगुणे स्वाभिमतद्व्यणुकेन च व्यभिचारवारणाय महत्त्वे सतीत्युक्तम्। सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै प्रतिज्ञाया कार्यपदम्। **तथारम्भकेति।** तन्त्वारब्धपूर्वपूर्वारम्भकद्रव्येषु यदिद सख्यापकर्षस्य तारतम्य तत्क्वचिद्विश्रान्तम्। नचाश्रयासिद्धि, यतोऽस्ति तावद्घटानुप्रविष्टपरमाणुसख्यापेक्षया तदवयवकपालमनुप्रविष्टपरमाणुसख्यापकर्ष, इतरथा घटकपालयोर्गुरुत्वादिसाम्यापातात्। नचायमपकर्षोऽनवधि, एकत्वादपकृष्टसख्याभावात्। नचैकत्वमेव तदवधिरित्यर्थान्तरता, तस्यारम्भकद्रव्यसख्यात्वाभावात्। नह्येकद्रव्यमारम्भकम्, तथा सति सयोगलक्षणासमवायिकारणाभावात् विनाशहेत्वभावान्नित्यतापाताच्च। तस्मात्परमाणुगतद्वित्व विश्रान्तिभूमि। तथाच यत्परमाणुद्वयारब्ध कार्य तद् द्व्यणुकमिति भाव। तदेतद्

क्योकि जैसे चार द्व्यणुक से चतुरणुक होता है, वैसे सहस्र द्व्यणुक से भी कार्यारम्भ हो सकता है, वहाँ उसके नाश होने पर भी अदृश्यता का प्रसङ्ग तुल्य होता है। अत द्व्यणुक के सत्त्व मे कोई प्रमाण नही है। शका होती है कि द्व्यणुक मे प्रमाण का अभाव नही है, अनुमान प्रमाण है। जैसे कि (त्र्यणुक, कार्यरूप उपादान वाला होता है, महत् होते कार्य होने से, घटवत्) इसीप्रकार से (आरम्भक द्रव्य के सख्या अपकर्ष का तारतम्य, कही विश्रान्त है, तरतमभाव होने से, परिमाणतरतमभाव के समान) इन अनुमानो, से जो त्र्यणुक का उपादान रूप कारण सिद्ध होता है, जिसमे सख्या अपकर्ष की विश्रान्ति होती है, वह द्व्यणुक सिद्ध होता है। एकत्व सख्या मे ही उक्त तारतम्य की विश्रान्ति से सिद्धसाधनता होगी ऐसा नही कह सकते है, क्योकि वैसा होने पर एक द्रव्य (परमाणु) को ही द्रव्यारम्भकत्व प्राप्त होगा, और एक द्रव्य (परमाणु) आरब्ध द्रव्य होता नही है, क्योकि एक द्रव्य से आरब्ध कार्य का विनाशाऽभाव प्राप्त होगा, कारण का विभाग वा कारण का नाश रूप हेतु उस नित्य द्रव्यारब्ध द्रव्य के नाश के लिये नही हो सकता है, क्योकि एक नित्य के विभाग और नाश का होना असम्भव है। अत अनुमान मे द्व्यणुक की सिद्धि होने पर, परमाणु उपादानवत्त्व त्र्यणुक को नही सिद्ध हो सकता है। अत द्व्यणुक मे ही त्र्यणुक की उपादानता युक्त है। यह शका

न, प्रथमप्रयोगे महदुपादानकत्वस्योपाधित्वात्। ननु परिमाणावान्तरसामान्यस्य महत्त्वाद्यवान्तरसामान्यव्यतिरिक्तस्य कार्याकार्यवृत्तित्व महत्त्वे दृष्टमतोऽणुत्वस्यापि कार्याकार्यवृत्तित्वसिद्धौ कार्याणुपरिमाणाधिकरणद्व्यणुकसिद्धिरिति चेत्, न, ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरनैकान्त्यात्, तयो कार्यैकवृत्ति-

---

दूषयति—**न प्रथमेति**। घटादौ कार्योपादानकत्वे त्वदुक्तहेतुर्न प्रयोजक, किंतु महदुपादानकत्वम्, आकाशादौ व्यतिरेकसिद्धेर्न पक्षेतरतेति भाव। वस्तुतो नायमुपाधिर्महत्पदवैयर्थ्यात्। दूषण तु सप्रतिसाधन वक्ष्यते। अपि च घटत्वमत्रोपाधि। नच साध्याव्यापकता, त्र्यणुकघटान्यतरत्वे सति कार्यद्रव्योपादानकत्वे घटत्वस्योपाधित्वात्, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधिवत्। तथाच साध्यव्यावृत्तिसिद्धि, तदन्यतरत्वाव्यावृत्तेरशक्यत्वात्। सर्वानुमानभङ्गप्रसङ्गश्चानिर्वचनीयवादिनो न वचनीय। श्रीवल्लभस्तु 'त्वनुग्राहकतर्काभावात्साध्यव्याप्ति पूर्वस्य नास्ति, प्रत्युत बाधाकापत्तिश्चे'ति मन्वानो बाधकमुक्तवान्, तमनुवदति—**ननु परिमाणेति**। परममहत्त्वादिषु व्यभिचारनिरासायोक्त महत्त्वाद्यवान्तरेति। प्रयोगशरीर तु—अणुत्वसामान्य कार्याकार्यवृत्ति परिमाणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वान्महत्त्ववदिति भाव। नच साध्यविकलता, महत्त्वस्याकाशादिषु घटादिषु च वर्तमानत्वात्। तथा च यत् कार्यमणुत्वाधिकरण परिमाण तदधिकरणम्, द्व्यणुकम्, यच्च नित्यपरमाणुपरिमाण तदधिकरण परमाणुरित्यर्थ। अनैकान्तिकतामेव दर्शयति—**तयोरिति**। अस्तु तर्हि

भी युक्त नही, क्योकि प्रथम अनुमान मे, महदुपादानकत्व, उपाधि है, वह घटादि मे कार्यद्रव्योपादानक साध्य का व्यापक है, और त्र्यणुक मे साधन का अव्यापक है, क्योकि वहाँ महदुपादानकत्व नही है, और हेतु है। आकाशादि मे व्यतिरेक की सिद्धि से पक्षेतरता दोष नही है। यहाँ शका होती है कि (महत्त्वादि अवान्तर सामान्य (परम महत्त्वादि) परिमाणावान्तर सामान्य को महत्त्व मे कार्य कार्याकार्यवृत्तित्व देखा गया है, जैसे कि महत्त्व जाति घटादि कार्य मे भी रहती है, और नित्य आकाशादि मे रहती है। अत परम अणुत्व से अतिरिक्त अणुत्व को कार्याऽकार्यवृत्तित्व सिद्धि होने पर कार्यरूप अणुपरिमाण रूप द्व्यणुक की सिद्धि होती है। क्योकि कार्याणुत्व का अधिकरण द्व्यणुक होता है, और नित्य परमाणु परिमाण का अधिकरण परमाणु होता है। अत महदुपादानकत्व उपाधि व्यतिरेक से साध्याभाव के साधन मे कोई अनुकूल तर्क नही है, और तर्क बाधक है (अणुत्व सामान्य, कार्याकार्य वृत्ति है। परिमाणत्व का साक्षत् व्याप्य जाति होने से, महत्त्ववत्) यह प्रयोग है। यह शका भी युक्त नही, ह्रस्वत्व दीर्घत्व मे अनैकान्तिकता है, हेतु है,

तयाऽकार्यवृत्तित्वानङ्गीकारात् । न च तद्व्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषणान्नानैकान्तिकता, तथापि प्रतिसाधनसद्भावात्, तथा हि--अणुत्व कार्याकार्यवृत्ति न भवति महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सति परिमाणावान्तरजातित्वाद् ध्रस्वत्वादिवत् भवन्मतमाश्रित्य प्रयोगसभवात्, त्रसरेणुनित्यत्ववादिन भाट्ट प्रति हेतोर्विशेष्यासिद्धेश्च द्वितीयप्रयोगे च सिद्धसाधनता, त्रसरेणुयुगलादौ सख्यापकर्षतारतम्यविश्रान्त्युपपत्ते । तदेव परमाणुभिरारब्धे त्र्यणुकादौ महत्त्वोपपत्तेर्न द्व्यणुकादिप्रक्रमप्रक्रियासिद्धि ।

ह्रस्वत्वदीर्घत्वव्यतिरिक्तत्वे सति इति विशेषणम्, तत्राह—**न चेति ।** ननु यदिदमणुत्व प्रतिसाधने पक्षीक्रियते तत्तावन्न वेदान्तिन सिद्धम्, परमाणुद्व्यणुकयोरसिद्धौ तत्परिमाणतत्सामान्ययोरसिद्धतरत्वादिति, तत्राह—**भवन्मतमिति ।** अथवा महत्त्वव्यतिरिक्तत्वे सतीति विशेषण व्यर्थम्, आकाशादीनामपि कार्यत्वादात्मनश्च परिमाणानधिकरणतया महत्त्वस्यापि कार्यैकवृत्तित्वेनोक्तसाध्यवत्त्वादिति, तत्राह—**भवन्मतमिति ।** यच्च प्रथमानुमाने महत्त्वे सति कार्यत्वादित्युक्त तत्र विशेष्यासिद्धिमाह—**त्रसरेण्विति ।** आरम्भकद्रव्यसख्येत्यादिद्वितीयानुमानेऽपि दूषणमाह—**द्वितीयेति ।** द्वित्व ह्यारम्भकसख्यापकर्षविश्रान्तिभूमि, तच्च त्र्यणुकगतमपि सभवति, तत परारम्भकस्याद्याप्यसिद्धिरित्यर्थान्तरमित्यर्थ । प्रपञ्चित द्व्यणुकदूषणमुपसहरति—**तदेवमिति ।**

साध्य नही है । ह्रस्वत्व, दीर्घत्व की एक कार्यमात्र वृत्तिता से अकार्य वृत्तिता नही मानी जाती है । यदि कहे कि हेतु मे ह्रस्वत्व दीर्घ से भिन्नत्व विशेषण लगाने से व्यभिचार दोष नही रहेगा, तो भी सत्प्रतिपक्षता का सद्भाव है । क्योकि (अणुत्व, कार्याकार्य उभय वृत्ति नही होता है । महत्त्व व्यतिरिक्त होता हुआ परिमाणावान्तर जाति होने से, ह्रस्वत्त्वादि के समान) यद्यपि अणुत्वादि वेदान्त मे असिद्ध है । तथापि आपके मत को लेकर प्रतिवादी के मत का आश्रयण करके इस प्रयोग का सम्भव है । और त्रसरेणु को नित्यत्ववादी भाट्ट के प्रति प्रथम प्रयोग के हेतु (महत्त्वे सति कार्यत्व) का विशेष्याश असिद्ध है, क्योकि त्र्यणुक रूप पक्ष कार्योपादानक भट्ट मत मे नही है । और दूसरे प्रयोग मे सिद्धसाधनता है, क्योकि त्रसरेणु के युगल (द्वित्वादि) मे सख्यापकर्ष तारतम्य की विश्रान्ति की सिद्धि होती है । अत इस उक्त रीति से परमाणुओ से आरब्ध त्रिणुकादि मे महत्त्व की सिद्धि होने से द्वचणुकादि से आरम्भ प्रक्रिया की सिद्धि नही हो सकती है ।

किंच--

परिमाणस्य सिद्धत्वे तदारम्भविचारणा ।
नाद्यापि सिद्धस्तद्भावोऽभावाल्लक्षणमानयो ॥ ५० ॥

परिमाणमेव न निरूपणपथमवतरति, कुतस्तदारम्भचिन्ता ? तल्लक्षण-प्रमाणयोरनिरूपणात्, तथा हि--कि (१) मानव्यवहारकारण परि-माणम् ? (२) उत द्वित्वासमवायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातीयम् ? (३) आहोस्विदसमवायिकारणत्वानधिकरणनित्याकाशवृत्तिवृत्तिगुणत्वा-वान्तरजातिमत् ? (४) परिमाणत्वजातिमद्वा ? नाद्य, अदृष्टेश्वरादेरपि

यस्य च महत्त्वस्योत्पत्त्यनुपपत्त्या द्वचणुककल्पन तदेवासिद्धम्, परिमाणमात्रस्य दुर्निरूपत्वे तद्विशेषमहत्त्वस्य दुर्निरूपत्वादित्याह—**किंचेत्यादिना ।** अभावादिति च्छेद । श्लोक विवृणोति—**परिमाणेति ।** द्वित्वमसमवायिकारण यस्य द्वचणुकपरि-माणस्य तद्द्वित्वासमवायिकारणक तद्वृत्तिगुणत्वावान्तरजातिस्तद्वदित्यर्थ । रूपादिव्यवच्छेदाय प्रथम विशेषणम् । द्रव्यादिव्यवच्छेदाय द्वितीयम् । **असमवायि-कारणेति ।** असमवायिकारणत्वानधिकरण नित्यश्च य आकाशवृत्तिर्गुण तद्वृत्तिर्या गुणत्वावान्तरजातिस्तदीय चेत्यर्थ । अत्रापि रूपत्वादिकमादाय रूपादिष्वतिव्याप्ति-निरासार्थमाकाशवृत्तिवृत्तीत्युक्तम् । तथापि द्वित्वादिष्वतिव्याप्तिस्तदर्थं नित्यग्रहणम् । एतेन सयोगविभागशब्दा अपि व्यवच्छिन्ना । तथाप्येकत्वपृथक्त्वयोरतिव्याप्तिस्तदर्थ-

---

और परिमाण के सिद्ध होने पर, उससे आरम्भ की विचारणा हो सकती है। वहाँ लक्षण और प्रमाण के अभाव से उस परिमाण का भाव (सत्त्व) ही नही अभी सिद्ध हुआ है ॥ ५० ॥

अर्थात् परिमाण ही निरूपण मार्ग मे नही आता है। (परिमाण का निरूपण नही हो सकता है) तो तदारम्भ की चिन्तना कैसे हो सकती है। उसके लक्षण और प्रमाण के अनिरूपण से किसी प्रकार से उसकी विचारणा नही हो सकती है ; क्योकि क्या, मानव्यवहार का कारण परिमाण होता है, या द्वित्वाऽसमवायिकारण वाले मे वृत्ति गुणत्वान्तर (व्याप्य) जातिमत्त्व है, या असमवायिकारणरहित नित्य जो आकाशवृत्ति गुण तद्वृत्ति गुणत्वावान्तर जातिमत्त्व है, अथवा परिमा-णत्व जातिमत्त्व है। प्रथम लक्षण युक्त नही है, क्योकि परिमाण व्यवहार के कारण अदृष्ट ईश्वरादि को भी परिमाणत्व प्राप्त होता है। अर्थात् परिमाण व्यवहार के साधारणकारण अदृष्टादि मे लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। यदि कहे कि परिमाण व्यवहार मे जो व्यवहार के विषय रूप से कारण होता है, वह परिमाण कहा जाता है, इसप्रकार से विषयता रूप से व्यवहार का विशेषण होने से उक्त दोष नही रहता है, तो यह नही कह सकते है, क्योकि इसप्रकार से भी परिमाण

मानव्यवहारकारणस्य परिमाणत्वप्रसङ्गात्। विषयतयेति विशेषणाददोष इति चेत्, न, परिमाणत्वजातेरपि तथात्वापत्ते । जातिमत्त्वे सतीति चेत्, न, द्रव्येऽपि प्रसङ्गात्। परिमाणत्वजातिमत्त्वे सतीति चेत्, न, तावन्मात्रस्यैव लक्षणत्वोपपत्तौ व्यर्थविशेष्यत्वापातात्। नापि द्वितीय, द्वित्वस्य तदसमवायिकारणत्वस्य चानन्तरमेव निरस्तत्वात्। किच विशिष्टजातिमत्त्व ज्ञाततया तद्व्यवहारकारण वक्तव्यम्, तच्च किंचिदुपसंग्राहकपुर-

---

मसमवायिकारणत्वानधिकरणेत्युक्तम्। न हि परममहत्त्वस्य किंचित्प्रत्यसमवायिकारणत्वमस्ति। एकत्वादेश्च द्वित्वादेरसमवायिकारणत्वाधिकरणत्वान्निरास । ननु यद्यपि सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणादृष्टेश्वरादेरस्ति मानव्यवहारकारणत्व तथापि न विषयतया, तादृशकारणत्व चात्र विवक्षितमिति सङ्कते—**विषयेति**। 'गुणत्वे सति मानव्यवहारकारणम्' इत्युदयनस्तदपि गुणत्वखण्डनेन निरसनीयम्। यद्यपि परिमाणत्वजाते परिमाणविशेषणतया व्यवहारविषयत्वमस्ति, तथापि जातिमत्त्वे सतीति विवक्षितम्, नच जातौ जातिरस्तीति नातिव्याप्तिरित्याशङ्क्य तर्हि तदाधारद्रव्येऽतिव्याप्तिरित्याह—**न द्रव्येऽपीति**। न जातिमत्त्वमात्र विवक्षितम, किंतु परिमाणत्वजातिमत्त्वम्, तेन न द्रव्यादिष्वतिव्याप्तिरिति शङ्कते—**परिमाणत्वेति**। परिमाणत्वजातियोगीत्येतावदेवास्त्वित्यर्थ । ओमिति च न वाच्यम्, अन्त्यपक्षत्वेन दूष्यमाणत्वादिति भाव । शिवादित्यमनोहरयोरभिमतलक्षण दूषयति—**नापीति**। यानि च जातिपुरस्कारेण प्रवृत्तानि लक्षणानि, तेषा साधारणदूषणमाह—**किंचेति**। व्यवहारोऽपि लक्षणप्रयोजनम्, स च ज्ञातात्, इतरथातिप्रसङ्गात्, असत्त्वप्रसङ्गाच्च, केवलव्यतिरेकित्वाल्लक्षणस्य, तथा चैवविधजातिमत्त्वमपि लक्षण ज्ञातमेव व्यावर्तकमित्यर्थ । तत किमिति तत्राह—**तच्चेति**। एतादृशामेवविधजातिमत्त्व न

व्यवहार के विषय परिमाणत्व जाति को भी परिमाण गुण रूपता की प्राप्ति होगी, जाति मे अतिव्याप्तिवारण के लिये जातिमत्त्वे सति, कहे, तो भी अतिव्याप्ति नही जाती है, परिमाणविशिष्ट व्यवहार का विषय द्रव्य भी होता है, अत द्रव्य मे अतिव्याप्ति रहती ही है, परिमाणत्व जातिमत्त्वे सति परिमाण व्यवहार का विषय हो ऐसा लक्षण माने तो परिमाणत्व जातिमत्त्व इतना ही मात्र लक्षण की सिद्धि होते व्यर्थ विशेष्यत्व की प्राप्ति होता है। दूसरा (द्वित्वाऽसमवायिकारणकवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्त्व) लक्षण भी ठीक नही हो सकता है, क्योकि द्वित्त्व का और द्वित्वासमवायिकारणत्व का प्रथम अभी निराकरण किया गया है। और यह भी वक्तव्य है कि उक्त अवान्तर विशिष्ट जातिमत्त्व रूप लक्षण को ज्ञात हो करके ही परिमाण व्यवहार का कारण कहना होगा। क्योकि लक्षण का प्रयोजन (फल) व्यवहार होता है, वह अज्ञात लक्षण से नही हो सकता है। और (तच्च) वह

स्कारेणैव सर्वलक्ष्यव्यक्तिनिष्ठतयाधिगन्तव्यम्, अन्यथा व्यक्त्यन्तरे तथा प्रथाऽभावेन तद्व्यवहाराभावप्रसङ्गात्। तथा च तेनैवानुगतव्यवहारोपपत्तौ कृत विलक्षणलक्षणपरीक्षाप्रयासेन। नापि तृतीय, उक्तदोषानुषङ्गात्। नापि तुरीय, जातिव्यञ्जकस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। शक्यत्वे वा पूर्वोक्तदोषानुषक्तेश्च। तदेव न लक्षणनिरुक्ति।

नापि प्रमाणम्। नहि मानव्यवहार एव तत्र प्रमाणम्? तस्यानिरुक्ते, तथा हि—कोऽय मानव्यवहार? किं (१) हस्तवितस्त्यादिव्यवहार?

त्वनीदृशामिति यदिद ज्ञान तद्यदि व्यक्तिपुरस्कारेण तदा तद्रूपस्यान्यत्राभावेन तत्र तद्धेतुव्यवहारो न स्यात्, तथाच सर्वव्यक्तिनिष्ठमेकरूपसग्राहक पुरस्कृत्य स इति वक्तव्यमित्यर्थ। प्रथा प्रतीति। ततो वा किमित्यत्राह—**तथा चेति।** विलक्षणजातिविशिष्ट यल्लक्षण तत्परीक्षणप्रयासेन कृतमलमित्यर्थ। असमवायिकारणेत्यादितृतीयलक्षण दूषयति—**नापीति। अशक्यत्वादिति।** पूर्वोक्तलक्षणाना दूषितत्वादिति भाव।

ननु मानव्यवहार किमिति न प्रमाणमिति, तत्राह—**न हीति। अव्याप्ते-**

लक्षण, कुछ उपसग्राहक = विशेषण को स्वीकार करके ही सर्वलक्ष्यव्यक्तिवृत्तिरूप से ज्ञातव्य होगा, अन्यथा सग्राहक विशेषण को नही मानने पर, एक किसी व्यक्ति मे लक्षण का ज्ञान होने पर भी व्यक्त्यन्तर मे वैसी प्रथा (प्रतीति) के अभाव से उस जातिमत्त्व रूप परिमाण व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। अर्थात् जब विशिष्ट जातिमत्त्व परिमाण होगा, तो जैसे गोत्व जाति का सग्राहक सास्नादिमत्त्व है, वैसा इसका भी सग्राहक वक्तव्य है। और यदि वैसा कोई सग्राहक है, तो उसीसे अनुगत परिमाण व्यवहार की सिद्धि हो सकती है, विलक्षण जातिमत्त्व लक्षण की परीक्षा-विचार का कोई फल नही है। तृतीय लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि असमवायि-काणादि का प्रथम निराकरण हो चुका है, अत उक्त दोष का यहाँ भी सम्बन्ध होता है। परिमाणत्व जातिमत्त्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि जाति व्यञ्जक का निर्वचन करना अशक्य है। यदि शक्य हो, तो भी पूर्वोक्त दोष की प्राप्ति होती है, कि व्यञ्जक से ही परिमाणव्यवहार होगा, जाति की कल्पना व्यर्थ है। अत उक्त रीति से परिमाण के लक्षण का निर्वचन (निर्णय= कथन) नही हो सकता है, यह सिद्ध हुआ।

परिमाण मे कोई प्रमाण भी नही है, परिमाण व्यवहार ही उसमे प्रमाण है, यह नही कह सकते है, क्योकि उस व्यवहार की निरुक्ति नही हो सकती है। वह दर्शाया जाय कि यह मानव्यवहार क्या है? क्या हस्तवितस्ति (हाथ भर, बित्ता भर) आदि व्यवहार परिमाण व्यवहार है, या अणु महान् आदि, या असर्वगतत्व

(२) किं वाणुमहदादिव्यवहार ? (३) असर्वगतत्वव्यवहारो वा ? (४) परिमितत्वव्यवहारो वा ? सर्वथा नोपपद्यते, अव्याप्ते । अणुत्व-महत्त्वाद्यसिद्धौ तद्विशेषितव्यवहारासिद्धे, असर्वगतत्वव्यवहारस्य विभुत्वेनापि सभवात् । परिमितत्वव्यवहारस्य दशपलपरिमितमित्यादौ गुरुत्वेनापि दर्शनात्, यादृगाश्रयेऽणुमहदादिपरिमाणसमवाय परेणाङ्गीक्रियते, तादृगाश्रयविशेषादेव तद्व्यवहारोपपत्तौ तदतिरिक्तपरिमाणकल्पनाया कल्पना गौरवाच्च ।

अस्तु तर्ह्यनुमान मानमनोहरकारोक्तम्—'विवादाध्यासित द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठगुणाश्रय द्रव्यत्वाज्जलाणु-

---

रिति । हस्तवितस्त्यादीनामेकैकस्यैकैकस्मिन्भावात्परमाणौ परममहति वाऽभावादव्याप्तिरिति प्रथमपक्षे दूषणम् । द्वितीये दूषणमाह—**अणुत्वेति** । परिमाणमात्रासिद्धौ तद्विशेषोऽसिद्ध इति भाव । सकलपरिमाणाननुगतिश्च लक्षणस्य द्रष्टव्या । तृतीये दूषणमाह—**असर्वेति** । विभुत्वाभावमादायापि धटत इत्यर्थ । अत्रापि व्यापकपरिमाणेऽव्याप्तिर्द्रष्टव्या । चतुर्थ दूषयति—**परिमितेति** । कल्पनागौरव च सर्वपक्षसाधारणदूषणमाह—**यादृगिति** ।

एव प्रत्यक्ष निराकृत्यानुमानमुद्भाव्य निराकरोति—**अस्तु तर्हीति** । अद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्ते एकत्वैकपृथक्त्वाश्रयत्वेनार्थान्तरता, तदर्थ द्विष्ठगुणानसमवायिकारणेत्युक्तम् । तथापि शब्देन ज्ञानादिगुणैश्चार्थान्तरता, तदर्थमनित्यविशेषगुण-

---

व्यवहार है, या परिमित व्यवहार है, इन सब प्रकारो से सिद्ध नही होता है, अत अनुपपन्न (असिद्ध) है । अव्याप्ति से कोई लक्षण सिद्ध नही हो सकता है, क्योकि हस्तवितस्ति आदि की परस्पर अव्याप्ति रहती है, और अणुत्व, महत्त्वादि की असिद्धि रहते, अणुत्वादि युक्त व्यवहार की भी सिद्धि नही हो सकती है, अविभुत्व से भी असर्वगतत्व व्यवहार का सम्भव हो सकता है । यह दश पल परिमित है । इत्यादि मे परिमितत्व व्यवहार को गुरुत्व से भी देखा जाता है । और जैसे आश्रय मे अणु महदादि परिमाणो का समवाय आप मानते है, वैसे आश्रयविशेष से ही परिमाण व्यवहार की सिद्धि हो सकने पर, अतिरिक्त परिमाण कल्पना मे कल्पना गौरव भी है ।

प्रत्यक्ष प्रमाण नही होने पर मानमनोहर का उक्त अनुमान प्रमाण हो सकता है कि (विवादास्पद, द्विष्ठ गुणो के असमवायिकारण से भिन्न, अनित्य विशेष गुण-भिन्न, अद्विष्ठ गुण का आश्रय है । द्रव्य होने से, जलाणुवत्) यहाँ अद्विष्ठ गुणाश्रय मात्र कहने पर, एकत्वादि से अर्थान्तरता होती, अत द्विष्ठगुणाऽनसमवायिकारण कहा है, शब्द ज्ञानादि के वारण के लिये अनित्य विशेष गुणव्यतिरिक्त कहा है,

वत्, अत्र च जीवाकाशौ पक्षीक्रियेते । तथेश्वरो नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तानसमवायिकारणाद्विष्ठगुणाश्रय आत्मत्वाज्जीववदिति चेत्, न,

आद्यस्योपाधिमत्त्वेन साध्याभावान्निदर्शने ।
द्वितीयस्योभयत्रापि प्रतिसाधनरोधनात् ॥ ५१ ॥

प्रथमानुमाने मूर्तत्वस्योपाधित्वात् । न च पार्थिवपरमाणौ साध्याव्याप्ति, तत्रापि द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ता-

---

व्यतिरिक्तेत्युक्तम् । द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तगुणाश्रय इत्युक्ते सयोगविभागाजनकौ यौ घटादिनिष्ठौ सयोगविभागौ तदाश्रयत्वेन सिद्धसाधनता, अत उक्तमद्विष्ठेति । द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्ते कार्यद्रव्येषु व्यभिचारस्तेषामनित्यगुणमात्राश्रयत्वेनानित्यव्यतिरिक्तगुणाश्रयत्वाभावादत उक्त विशेषगुणेति । ईश्वरे व्यभिचारवारणायानित्यग्रहणम् । अत्र च विवादाध्यासितपदेन विवक्षित दर्शयति—**अत्र चेति** । तथा चानित्यविशेषगुणानामेव तथाभूताना सत्त्वेनोभयेषामपि पक्षत्वाद्दिक्कालयोर्विशेषगुणशून्यतया नित्यविशेषगुणपदस्य **वैयर्थ्यप्रसङ्गेन** पक्षत्वासभवात् जीवाकाशयोरेव पक्षत्व दिक्कालयोस्तु पक्षतुल्यतयावस्थानमिति भाव । अनुमानान्तरमपि तदीयमाह—**तथेति** । अत्राप्यद्विष्ठगुणाश्रय इत्युक्त एकत्वादिनार्थान्तरता, तदर्थमनसमवायिकारणेत्युक्तम् । तथापि ज्ञानादिनार्थान्तरता, तदर्थं नित्यविशेषगुणव्यतिरिक्तेत्युक्तम् । द्वित्वादिभिरर्थान्तरतापरिहारायाद्विष्ठग्रहणम् । सामान्यादिभिरर्थान्तरतापरिहाराय गुणग्रहणम् । अनयोर्दूषण सगृह्णाति—**आद्यस्येति** । द्वितीयस्य निदर्शने साध्याभावादित्यन्वय । श्लोक विवृणोति—**प्रथमेति** । यदत्र तेनैवोक्तम् 'नच स्पर्शवत्त्वमूर्तत्वे उपाधी, पवनपार्थिवपरमाणुव्यभिचारात्' इति तद्दूषयति—**नचेति** । साध्याव्याप्ति साध्येनोपाधेर्व्याप्त्यभाव, साध्याधिकवृत्तितेति यावत् ।

और यहाँ जीव और आकाश को पक्ष किया गया है। इसीप्रकार से (ईश्वर, नित्यविशेष गुण से भिन्न असमवायिकारण से भिन्न = अद्विष्ठ गुण का आश्रय है, आत्मा होने से, जीववत्) ये दोनो अनुमान प्रमाण है, ऐसा कहना युक्त नही। क्योकि—

आद्य को उपाधिमत्त्व है, द्वितीय के दृष्टान्त मे साध्य का अभाव है, और दोनो मे प्रतिसाधन से निरोधन प्राप्त होता है ॥ ५१ ॥

प्रथमानुमान मे मूर्तत्व उपाधि है, क्योकि पृथिवी, जलादि मे जहाँ परिमाणवत्त्व प्रसिद्ध है, वहाँ दृष्टान्त मे मूर्तत्व साध्य का व्यापक है, द्रव्यत्व का व्याप्य है। यदि कहे कि पार्थिव परमाणु मे साध्याऽव्याप्ति है, साध्य के नही रहते उपाधि रहता है, अत साध्य के साथ समव्याप्ति नही है, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि

द्विष्ठगुणाना परत्वापरत्ववेगादीना सद्भावात् । न चेश्वरे मूर्तत्वस्योपाधे साध्याव्याप्ति, तस्य वेदान्तिभिर्निर्गुणत्वाङ्गीकारात् । द्वितीयप्रयोगेऽपि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यात् । गुणाना नित्यत्वासिद्धावप्रसिद्धविशेषणत्वाच्च । सप्रतिसाधन चेद प्रयोगद्वयम्, विवदाध्यासितमुक्तविशेषणविशेषितसाधारणगुणाश्रयो न भवत्यमूर्तत्वाद्रूपादिवदिति प्रयोगोपपत्ते । न चाद्रव्यत्वमुपाधिः, तद्व्यतिरेके पृथिव्यादिषु मूर्तत्वस्यैवोपाधित्वात् ।

साध्याव्याप्तिरिति साध्यसमव्याप्त्यभावो विवक्षित । ननु विश्वेश्वरे नित्यज्ञानादेरुक्तरूपत्वेन साध्यवत्त्वमस्ति, नचास्ति मूर्तत्वमुपाधिरत साध्याव्यापक इति, तत्राह—**नचेश्वरे इति** । तत्र साध्यमपि नास्तीत्यर्थ । कि चात्र द्विष्ठविशेषगुणपदयोरपार्थकता, अनसमवायिकारणपदेनानित्यव्यतिरिक्तपदेन वाऽनभीष्टव्यावृत्तिसिद्धे । अर्थान्तरता च, शब्दज्ञाननित्यतामादायापि विश्रामात् । ईश्वरान्यामूर्तान्यत्वस्य समव्यापकस्योपाधित्वाच्च । **साध्यवैकल्यादिति** । निर्गुणात्मवादित्वाद्वेदान्तिन इत्यर्थ । नित्यविशेषगुणेत्ययमप्यशो मा प्रत्यमिद्ध इत्याह—**गुणानामिति** । उभयत्रापीत्यादिक विवृणोति—**सप्रतिसाधनमिति** । जीवाकाशौ द्विष्ठगुणानसमवायिकारणानित्यविशेषगुणव्यतिरिक्ताद्विष्ठसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम्, तथेश्वरोप्युक्तविशेषणविशिष्टसाधारणगुणाश्रयत्वानधिकरणम् । उभयत्रामूर्तत्वादिति हेतुरवगन्तव्य । **तद्व्यतिरेक इति** । एव हि उपाधेर्व्यतिरेको वक्तव्य —विप्रतिपन्नमेवविधगुणाश्रय द्रव्यत्वात् पृथिवीवदिति । तत्र मूर्तत्वमुपाधिरत साध्यव्याप्तिर्ना-

---

पार्थिव परमाणु मे भी, द्विष्ठ गुणासमवायिकारण से भिन्न अनित्य विशेष गुण से भिन्न, अद्विष्ठ गुण परत्व-अपरत्व वेगादि का सद्भाव रहता है । यदि कहे कि ईश्वर मे नित्यज्ञानादि रूप उक्त साध्यवत्त्व रहता है, और मूर्तत्व उपाधि का अभाव रहता है, अत साध्यव्यापकता नही है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि उस ईश्वर को वेदान्ती वस्तुत निर्गुण मानते है, अत वहाँ साध्य भी नही रहता है । दूसरे प्रयोग के दृष्टान्त मे साध्य की विकलता (अभाव) है, क्योकि आत्मा को निर्गुण मानने वाले के मत मे जीवात्मा भी गुणाश्रय नही है । और गुणो के नित्यत्व की असिद्धि रहते, नित्य विशेष गुण, रूप साध्य विशेषण की अप्रसिद्धि से अप्रसिद्ध विशेषणता है । और ये दोनो प्रयोग, प्रतिसाधन = प्रतिपक्षयुक्त है । प्रतिप्रयोग है कि (विवादविषय = जीव आकश द्विष्ठ गुण असमवायिकारण भिन्न अनित्य विशेष गुणभिन्न अद्विष्ठ साधारणाश्रय नही है, अमूर्त होने से, रूपादि के समान) यहाँ अद्रव्यत्व उपाधि नही कह सकते है, क्योकि उक्त अद्रव्यत्व के व्यतिरेक से उक्त साध्याभाव के साधन रूप व्यतिरेक मे, जहाँ अद्रव्यत्व नही, वहाँ साध्य नही । इसके उदाहरणप्रदर्शन मे पृथिवी आदि मे मूर्तत्व ही उपाधि है ।

तदेव परिमाणस्यासिद्धेर्न तदारम्भविचारणाप्यवकाश लभते ।

न च कारणगुणपूर्वकतानियम रूपादीनाम्, परिपक्वे लौहित्यस्याकारणगुणपूर्वस्यापि दर्शनात् । ननु निवृत्त श्यामो घटोऽन्य एव च लोहितस्तत्रोत्पन्न, तथा हि—श्यामत्वमाश्रयविनाशादेव नश्यति कार्यगतरूपत्वात् नष्टपटरूपवत् । तथा लौहित्यमाश्रयोत्पत्त्यनन्तरमेवोत्पद्यते कार्यगत-

---

स्तीत्यर्थ । किंच श्रोत्रमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन शक्यमाकाशे प्रकरणसमत्व सपादयितुमात्मनि च मनोमात्रग्राह्यधर्मवत्त्वेन, शब्दो वा ज्ञानादिक वा दृष्टान्त । परिमाणखण्डनस्य परिमाणकारणत्वनिराकरणोपयोगमाह--**तदेवमिति ।**

यच्च 'कारणगुणप्रक्रमेण कार्ये गुणारम्भ' इति वैशेषिकै परिभाष्यते, तदप्ययुक्तम्, पाकजप्रक्रियायामेव नियमस्याशक्यसमर्थत्वादित्याह—**नच कारणेति ।** यो हि परिपक्वो घटस्तस्य पाकसमये रूपान्तर तावदुत्पद्यते, नच तस्य कारणगुणपूर्वकत्वम्, पूर्वघटस्यानष्टत्वात् । स्थित एव तस्मिन् रूपान्तरस्याग्निसयोगात्परमुत्पत्तेरित्यर्थ । ननु स्थित एव घट इत्यसिद्ध नष्टत्वादामघटस्येति शङ्कते—**नन्विति ।** ननु स एवाय घट इति प्रत्यभिज्ञानात् घटैक्यावगमे कथ तस्य निवृत्तिरित्यत आह—**तथा हीत्यादिना ।** नष्टघटरूपेणार्थान्तरतापरिहारायैवग्रहणम् । परमाणुगतरूपेऽनैकान्तिकतापरिहाराय कार्यग्रहणम् । कार्यगतसत्तादिव्यावृत्त्यै रूपग्रहणम् । **एवमामघटध्वस** प्रसाध्य कार्यगुणाना कारणगुणपूर्वकत्वनियमार्थम् लोहितघटस्योत्पत्तावप्यनुमानमाह—**तथा लौहित्यमिति ।** लोहिततन्त्वारब्ध पटो लोहितपट । पटग्रहण चोपलक्षणार्थम् । एव किरणावलीकारोदीरितानुमानविरोधाद् द्रव्यभेदाधिगतौ

अर्थात् कहना होगा कि (जीवाकाश, ऐसे गुण के आश्रय है, द्रव्य होने से, पृथिवी के समान) वहाँ मूर्तत्वोपाधि होने से साध्य की व्याप्ति नही है। अत इस उक्त रीति से परिमाण की असिद्धि से उसके आरम्भ का विचार अवकाश नही पा सकता है।

वैशेषिक मत मे कार्य गुण को कारण गुणपूर्वक = कारणगुणजन्य मानते है। परन्तु रूपादि गुणो को कारण गुणपूर्वकता का नियम नही देखा जाता है, क्योकि रक्त तन्तु से रक्त पट को कारणगुणपूर्वक कार्यगुण होता है। किन्तु परिपक्व घट मे अकारण पूर्वक भी लौहित्य (रक्तत्व) देखा जाता है। शका होती है कि वहाँ भी कारण गुणपूर्वक ही कार्य गुण होता है, क्योकि अग्नि मे देने पर श्याम घट निवृत्त हो जाता है। अत नष्ट श्याम घट के परमाणु रक्त होने है, उनसे अन्य ही लोहित (रक्त) घट वहाँ उत्पन्न होता है, यह दर्शाया जाता हे कि (श्यामत्व, आश्रय के विनाश से ही नष्ट होता है, कार्यगत रूप होने से, नष्ट पटरूप के समान) इसीप्रकार से (लौहित्य, आश्रय की उत्पत्ति के अनन्तर ही उत्पन्न होता

रूपत्वात् कार्यलोहितपटरूपवदित्यनुमानतस्तद्भेदसिद्धे । न च विनाशे हेतोरभाव, स्पर्शवद्वेगवदनिलसचलनबलेन प्रज्वलज्ज्वलनस्य ज्वालाकलापस्यैव घटावयवसङ्घातविघटनहेतुत्वात् । अन्यथानलावयवानामन्तरानुप्रवेशासभवेन पिठरलठरसचारिसलिलोल्ललनतण्डुलविक्लेदनयोरसभवप्रसङ्गात् । मृदुकठिनतालक्षणविरुद्धधर्मससर्गोपलब्धेश्च तद्भेदावगतौ कथ न

प्रत्यभिज्ञा ज्वालाप्रत्यभिज्ञावद् भ्रान्तेत्यर्थ । नन्वत्र मुशलप्रहारादिरसमवायिकारणसयोगनाशहेतु पाकावस्थाया नास्ति तत्कथ विनाश ? अनुमानद्वय तु शङ्कितोपाधि व्याप्तिव्याहत भविष्यतीति, तत्राह—**न च विनाश इति**। स्पर्शवान् वेगवाश्च योऽनिलस्तस्य सचलनेन यो प्रज्वलज्ज्वलनस्तस्य यो ज्वालाकलापस्तस्येति विग्रह । अयमभिसधि —घटादिपार्थिवावयविना तेज सयोगे सत्यग्न्याद्याघातान्नोदनात् वा परपरया तदारम्भकेषु परमाणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते तेभ्यो विभाग विभागेभ्यो द्रव्यारम्भकसयोगनाशस्ततश्च द्वचणुकमारभ्यान्त्यावयविपर्यन्त द्रव्याणा विनाश, तस्मिन् विनष्टे परमाणुष्वग्निसयोगादौष्ण्यापेक्षाद् रूपरसगन्धस्पर्शाना विनाश, पुनरन्यस्मादग्निसयोगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजरूपादयो जायन्ते, तदनन्तर च भोगिनामदृष्टापेक्षादात्माणुसयोगादणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषा परस्परसयोगाद् द्वचणुकादिप्रक्रमेण कार्यद्रव्यमुत्पद्यते, तत्र च कारणगुणप्रक्रमेण रूपाद्युत्पत्तिरिति पीलुपाकवादिप्रक्रिया । तथाच स्पर्शवद्वेगवदग्निसयोगो द्रव्यासमवायिकारणसयोगनाशहेतुरिति । नन्वविनष्टे एव कार्यद्रव्ये रूपादिमात्रस्यैव निवृत्तिरपरस्य चोत्पत्ति कि न स्यादिति, तत्राह—**अन्यथेति**। अथवा तादृशज्वालासपर्को बहिष्ठावयवानाम्, न पुनर्घटान्तरावयवानाम्, तत्कथमान्तरावयवसयोगनाश इति ? तत्राह—**अन्यथेति**। उल्लघनम् ऊर्ध्वचलनम् । विरुद्धधर्मससर्गादपि द्रव्यान्तरमेवावसीयत इत्यभिप्रेत्याह—**मृद्विति**।

है, कार्यगत रूप होने से, कार्यरूप लोहित पट रूपवत्) इस अनुमान से श्यामघट और रक्तघट का भेद सिद्ध होता है, अत श्यामघट मे कारणगुणपूर्वकता के कारण रक्त रूप पाक से नही सिद्ध होता है । श्यामघट के नाश मे हेतु का अभाव नही कह सकते है, क्योकि स्पर्श और वेग वाले वायु के सचलन बल से जो प्रज्ज्वलित अग्नि ज्वालासमूह होता है, उसी को घट के अवयव समूह के वियोजन का हेतुत्व होता है, कि जिससे अवयवो के विभाग से घट का नाश होता है । अन्यथा यदि अग्निसयोग से अवयविभाग नही हो तो अग्नि के अवयवो के हण्डी आदि के अन्दर अनुप्रवेश के असम्भव से हण्डी के भीतर रहने वाले जल के उल्ललन = ऊर्ध्वचलन उफान चावल का प्रपचन का भी असभव प्राप्त होगा । और चावल घटादि मे पाक-अपाक दशा मे मृदुता-कठिनता स्वरूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध उपलब्ध होता है, इससे उस पक्व-अपक्व मे भेद के ज्ञान होने पर, कारण गुण-

कारणगुणपूर्वकता रूपादीनामिति चेत्, मैवम्,

तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात्तदाधेयानिपातत ।

सख्याप्रमाणयोरैक्यादन्यथा पाकसभवात् ॥ ५२ ॥

स एवाय घट इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षविरोधात्, उपरिस्थितशरावादीनामपातात्, तद्देशत्वतत्सख्यतातत्परिमाणतोपलब्धेश्च । अन्त पाकस्यापि सच्छिद्रत्वादवयविना स्फटिकान्तरिन्द्रियरश्मिप्रवेशवदुपपत्ते । अन्यथा

तदेतद् दूषयति—**मैवमिति ।** स एवायमिति प्रत्यभिज्ञानात्तावदामपक्वावस्थयोरैक्यमवगम्यते, ततस्तद्विरुद्धतया कालात्ययापदिष्टमनुमानजातमित्यैक्यमेव युक्तम् । **तदाधेयानिपाततः ।** यदि हि पाकसमये चुल्लयादीना विनाशोत्पादौ स्याताम्, तदा तदन्तराकाले तदुपरिस्थितस्थाल्यादीना निपात स्यान्मुद्गरादिप्रहारे तथादर्शनात् । इतश्चैक्यमेव युक्तम, सख्याप्रमाणयोरैक्यात्, यावन्तो यत्परिमाणाश्च घटा आमपाके निक्षिप्तास्तावन्तस्तत्परिमाणा एव च घटा पक्वा अपि दृश्यन्ते । अपूर्वोत्पत्तौ हि कतिभिश्चित्परमाणुभिरधिका वा अधिकपरिमाणा वा किमिति नारभ्यन्ते ? यत्तु पाकानुपपत्तिर्बाधिकोक्ता, तथाह—**अन्यथेति ।** द्रव्यविनाशव्यतिरेकेणापि सच्छिद्रत्वादवयविद्रव्याणा ज्वलनावयवानामान्तरेप्यनुप्रवेशसभवेन पाकोपपत्तेरिति सग्रहश्लोकार्थ ।

तमिम विवृणोति—**स एवेत्यादिना ।** यथाहि सलिले विनष्टेषु बुद्बुदेषु बुद्बुदान्तराणा चोत्पत्तौ न तद्देशत्वादिनियमस्तथेहापि स्यात्, पूर्वस्य विनाशात, न त्वेवमस्तीत्याह—**तद्देशत्वेति ।** अथ किमिति सच्छिद्रतावयविनामिति, तत्राह—**अन्यथेति ।** यथाहि सलिलस्यन्दनादिमात्रान्न तद्घटनाशस्त्वयाङ्गीक्रियते, तथा दहनानुप्रवेशेऽपि सच्छिद्रेषु पाकोपपत्तेर्न द्रव्यनाश इति भाव । विरुद्धधर्मससर्ग

पूर्वकता रूपादि को कैसे नही होगी, किन्तु कारण गुणपूर्वकता होगी । यह शका युक्त नही है, इसका उत्तर है कि—

पकने पर भी तद्रूप से प्रत्यभिज्ञा होती है, तथा पकते समय ऊपरिस्थित आधेय = आश्रित गिरता नही है, सख्या और परिमाण भी पकने पर एक-सा रहता है, और अन्यथा विनाश के बिना भी पाक का सम्भव है । अत पीलू (परमाणु) पाकवाद युक्त नही है ॥ ४२ ॥

अर्थात् स एवाय घट । वही यह घट है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के विरोध से, घट के ऊपरस्थिर शराव = पुरवा आदि के अपतन से, अग्नि के अन्दर जिस देश मे रखा गया उसी देश मे पूर्व के सख्या-परिमाण की उपलब्धि से और अवयवो के छिद्रसहित होने से स्फटिक के अन्दर इन्द्रिय (नेत्र) रश्मि प्रवेश के समान अग्नि-प्रवेश की सिद्धि से श्याम घट के नाश के बिना ही पाक की सिद्धि होती है, अन्यथा

सलिलस्यन्दनबहि शैत्योपलम्भयोरभावप्रसङ्गात् । मृदुकठिनतालक्षणविरुद्ध-धर्मससर्गस्याप्यन्तरेणावयविनाश छायातपविनिहितपटवदुपपत्ते । न च वेगवद्द्रव्याभिघातमात्रादवयविनाश , प्रबलपवनाभिमुखनिहितघटादेरपि विनाशापत्ते । नियतहेतुभावकुलालादिव्यतिरेकेण घटजन्मासिद्धेश्च । अन्यथा शब्दसुखादयोऽप्याश्रयविनाशविनाश्या , कार्यत्वे सति विशेषगुण-

---

परिहरति—**मृदुकठिनेति ।** यद्यपि छायातपविनिहितपटस्यापि पाको वैशेषिकै-रङ्गीक्रियते, तथापि न विरुद्धसस्पर्शवत्त्वेनावयविनो भेदोऽभिमत , अवयविन एकत्वेन प्रत्यभिज्ञानादिति भाव । यस्तु द्रव्यविनाशहेतुरुक्त , सोऽप्यन्यथासिद्धत्वाद-सिद्ध इत्याह—**न चेति ।** अथ तेजस एवाय स्वभाव यत्पूर्वव्यूहविनाशेन व्यूहान्तरो-त्पादनम्, तथाहोदयन —'ईदृशो हि तेजसो वेगातिशय स्पर्शातिशयो वा' इत्यादि, तदसत्, मुशलाभिघातेन तदभावप्रसङ्गात् । तेजस इत्येतदपि चानैकान्तम्, नहि चाक्षुष चान्द्र वा तेजो घटादि पाचयतीत्यनुमन्यन्ते । तस्माद्यत्र प्रबल विनाशप्रत्या-यकमस्ति तत्र विनाशो नान्यत्रेत्ययमेव पन्था , न तु तेजस्त्वमिति युक्तमुत्पश्याम । किच घटाद्युत्पत्तौ कुलालादयश्चेतनविशेषाश्चक्रचीवरादयश्च हेतवो लोकप्रसिद्धास्तद-भावे कथमामपाके कलशाद्युत्पत्ति ? नियतहेतुव्यतिरेकेण च तदुत्पत्तावाकस्मिकता-पातादित्याह—**नियतेति ।** यदि चैवमबाधितप्रत्यभिज्ञापरिप्रापितेऽपि वस्तुतत्त्वेऽनु-मानाभासदुर्मदेन कश्चिदनाश्वासी स्यात्तमतिप्रसङ्गाङ्कुशेन वशयति—**अन्यथेति ।** आश्रयविनाश आश्रयोत्पत्तेरप्युपलक्षणार्थ , तथाचाभाससमानयोगक्षेम प्रथमानुमान-

---

फुटने पर प्रत्यभिज्ञादि कुछ नही हो सकेगे, देश, सख्या, परिमाणादि अवश्य परिवर्तित होते । अन्यथा = यदि स्थिर घट को सच्छिद्र मान कर ऐसी व्यवस्था नही मानी जाय, तो घट के अन्दर स्थिर जल के बाहर स्पन्दन = स्राव और शीतता के ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा । और अवयवी के नाश के बिना भी मृदुता कठिनता रूप विरुद्ध धर्म का सम्बन्ध हो सकता है, जैसे कि छाया और आतप मे रखे हुए पट मे विरुद्ध धर्म का ससर्ग होता है । और वेग वाले द्रव्य के अभिघात मात्र से अवयवी का नाश नही हो सकता है । अन्यथा प्रबल वायु के सामने रखे हुए घटादि का भी विनाश प्राप्त होगा । और यदि अग्नि मे रखने पर घट नष्ट हो जाता है, और उसके परमाणुओ मे पाक हो जाते है, तो फिर उनसे घट की उत्पत्ति मानी जाती है कि जिसमे कारणगुणपूर्वक कार्य मे रक्तरूप माना जाता है, वहाँ घट के नियत (निश्चित) हेतुत्व वाले कुलालादि के बिना घटजन्म की सिद्धि नही हो सकती है । अन्यथा यदि आश्रय के नाश से गुण का नाश हो, आश्रय की फिर उत्पत्ति आदि का कुछ विचार नही करना हो, तो यह भी अनुमान होगा कि (शब्द सुखादि भी, आश्रय विनाश से विनाश्य होते है । कार्य होते हुए विशेष गुण

त्वात् घटरूपादिवदित्यपि स्यात् । प्रत्यभिज्ञाविरोधस्तु प्रकृतेऽपि समान । न चैव पिठरकुहरसचारितण्डुलानामनलसपर्केऽप्यनाशप्रसङ्ग , परिमाण-भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाद् विरोधिप्रत्यभिज्ञाभावाच्च । न च स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाविरोध प्रदीपेऽपि तुल्य , न्यूनाधिकपरिमाणभेदस्य तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भात्, तैलवर्त्यग्निसयोगाना च प्रतिक्षण भेदेन सामग्रीभेदाच्च कार्यभेदोपपत्ते , तत्र प्रत्यभिज्ञाया सादृश्यविषयतयान्यथासिद्धे । न चैकत्र प्रत्यभिज्ञाया अन्यथासिद्धौ सर्वत्र तथाभाव , बाधाबाधाभ्या तद्व्यवस्थोपपत्ते , अन्यथातिप्रसङ्गात् । तस्मात्कारणगुणप्रक्रमो न विदुषा परितोषायेति सिद्धम् ।

मिति भाव । अथ तत्र प्रत्यभिज्ञाविरोधमेव पुरो निदध्यात्तत्राह—**प्रत्यभिज्ञेति** । स्वमते त्वतिप्रसक्ति परिहरति—**न चैवमिति** । प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्येऽप्यतिप्रसक्ति वारयति—**न चेति** । तत्र सप्रतिपन्न द्रव्यान्यत्वम्, सामग्रीभेदश्च, अतस्तत्र युक्ता सादृश्यविषयतयाऽन्यथासिद्धि , इह तु न तथा बाधकमस्ति, प्रत्यभिज्ञात्वेन च बाधकानुमानमतिप्रसङ्गापराद्धान्ताभ्या ध्वस्तमित्यर्थ । एवमपि न्यायपदवीपरि-प्रापितमश्रद्दधान किरणावलीकारोऽनुमिमे—'घटादिद्रव्येष्वग्निसयोगा नियमेन द्रव्यारम्भकसयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकक्रियाहेतव अग्निसयोगत्वान्मूषाग्निसयोगवत्' इति, तदसत् । उदकाकाशाद्यग्निसयोगेऽनैकान्त्यात्, पार्थिवाग्निसयोगत्वादिनि विशेषणेपि विपक्षे बाधकाभावात् शङ्किताप्रयोजकता, प्रत्यभिज्ञाविरोधश्च निर्वहते । अन्यदपि तदीयमनुमानद्वयमाचार्येण प्रत्यभिज्ञाविरोधातिप्रसङ्गाभ्या निरस्तमेवेत्यलम् । उपसहरति—**तस्मादिति** ।

होने से, घट रूपादिवत्) इससे आत्मादि का नाश सिद्ध होगा । यदि कहे कि प्रत्यभिज्ञा से विरोध होगा, तो प्रत्यभिज्ञा का विरोध प्रकृत मे भी तुल्य है । यदि कहे कि प्रत्यभिज्ञादि से घट के नाश को नही मानने पर, हण्डी के अन्दरवर्ती तण्डुलो (चावलो) का अग्निसम्बन्ध होने पर भी नाश नही होना प्राप्त होगा । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अनुभव के अनुसार यथासम्भव पदार्थ को मानना युक्त है । घट मे तो, सोऽय घट , इत्यादि प्रत्यभिज्ञा आदि होते है, और उन चावलो मे पाक से न्यूनाधिक परिमाण का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, तथा नाशविरोधी प्रत्यभिज्ञा का अभाव रहता है, अत नाश माना जाता है । यदि कहे कि सोऽयम् इस प्रत्यभिज्ञा का विरोध क्षणिक प्रदीप मे भी तुल्य है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि न्यूनाधिक परिमाण का प्रदीप मे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । तथा तेल, वत्ती अग्नि के प्रतिक्षण भेद से सामग्री भेद होने के कारण कार्यभेद की सिद्धि होती है, अत वहाँ प्रत्यभिज्ञा की सादृश्य विषयता से अन्यथा = एकत्व अभेद के बिना भी सिद्धि होती

कारणत्वानिरुक्तेश्च । तथा हि—किमिद कारणत्वम् ? किं (१) पूर्वकालभावित्वम् ? कि वा (२) नियतप्राक्कालसत्त्वम् ? (३) सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्व वा ? (४) अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्व वा ? (५) सामग्र्येकदेशत्व वा ? (६) व्यापारवत्त्व वा ? (७) यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तद्वा ? नाद्य, रासभस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । न द्वितीय,

---

किच कारणत्वमेव यदा दुर्निरूपणम्, तदा कारणविशेषतया परमाण्वाद्यनुमानमसभवि, नच जात्युत्तरता, ब्रह्मण कारणत्वानङ्गीकारात, वियदादिविवर्ताधिष्ठानमात्रत्वात । नहि शुक्त्यादि रजत प्रति कारणमिति प्रसिद्धिरस्ति । अधिष्ठानत्वमप्यनिर्वाच्यप्रतियोगिकत्वादनिर्वाच्यमेव, मृदादावपि निरूप्यमाण कारणत्वमेवविधाधिष्ठानत्वमेव । एतादृशाधिष्ठानत्वविवक्षया च "स कारण करणाधिपाधिप" "कारणत्वेन चाकाशादिषु" इत्यादिश्रुतिसूत्रभाष्यादौ ब्रह्मणि कारणशब्दप्रयोग इति हृदि निधाय कारणत्व खण्डयति—**कारणत्वेति ।** कारणत्वानिरुक्तेश्च न कारणगुणप्रक्रमो विदुषा परितोषायेत्यन्वय । अङ्कुराजननलक्षणकार्याभाववत्त्वमतत्कारणस्याप्यस्तीत्युक्तम्—**सहकारीति ।** जातीयपद व्यक्तिसग्रहार्थम् । **यदनभ्युपगम इति ।** नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिनिवारक चेत्यर्थ । यस्य मृदादे कारणत्वेनाभिमतस्यानभ्युपगमे निर्हेतुकतया भावत्वे सति खादिवत घटादे सत्त्वम्, अभावत्वे सति शशविषाणादिवदसत्त्व च प्रपद्यते तन्मृदादिकारणमिति भाव । **रासभस्यापीति ।**

है । अब यह नही कहा जा सकता है, कि एकत्र प्रदीप मे प्रत्यभिज्ञा अन्यथा सिद्ध है तो सर्वत्र वैसा ही होना चाहिये, क्योकि बाध और अबाध से व्यवस्था की सिद्धि होती है, जहाँ प्रत्यभिज्ञा का बाध होता है, वहाँ सादृश्यमूलक अन्यथासिद्ध प्रत्यभिज्ञा मानी जाती है, और जहाँ बाध नही हो, वहाँ सच्ची प्रत्यभिज्ञा रहती है, अन्यथा प्रत्यभिज्ञा को सर्वत्र अन्यथासिद्ध मानने पर कोई पदार्थ स्थिर नही सिद्ध हो सकेगा और क्षणिक बाद प्राप्त होगा । अत कारण गुण को कार्य मे गुणजनकत्व की प्रक्रिया विद्वानो का परितोष के लिये नही है, यह सिद्ध हुआ ।

कारणत्व की अनिरुक्ति से भी यह प्रक्रिया युक्त नही है । क्योकि यह कारणत्व क्या है ? क्या कार्य से पूर्वकालभावित्व कारणत्व है, या नियत प्राक्काल सत्त्व है, या सहकारि विकलता प्रयुक्त कार्याऽजनकत्व है, या अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्व है, या सामग्री एकदेशत्व है, या व्यापारवत्त्व है, अथवा जिसके अस्वीकारावस्था मे कार्य के नित्य सत्त्व या नित्य असत्त्व की प्राप्ति हो, वह कारण है, आद्य लक्षण युक्त नही है, क्योकि धूमोत्पत्ति से पूर्व जहाँ दैवयोग से रासभ = गदहा होगा, वहाँ उसमे भी धूम कारणत्व की प्राप्ति होगी, द्वितीय भी युक्त नही है, क्योकि—

कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधितोऽन्योन्यसश्रयात् ।
स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वान्नियतत्वानिरुक्तित ॥ ५३ ॥

कालाव्याप्ते, कालस्य कालान्तराभावात् । न चौपाधिक कालस्य पौर्वापर्यम्, इतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । कालपौर्वापर्यं उपाधिपौर्वापर्यम्, तत्पौर्वापर्ये कालस्य तथात्वमिति । उपाध्यन्तराधीनमुपाधे पौर्वापर्यम्,

---

अकारणस्यापि गर्दभादेर्धूमादिपूर्वभावित्वमस्तीति तस्यापि धूमादिकारणत्वप्रसङ्गादतिव्याप्तिरित्यर्थ । नियतप्राक्कालसत्त्वमिति द्वितीयपक्षेऽपि दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**कालस्येति** । नहि कालस्य कालभावित्वमस्ति, कालस्यैकत्वेन कालान्तराभावात् । अथौपाधिक कालभेदोऽस्ति, तथाचोपाधिपौर्वापर्याभ्यामुपहितकालपौर्वापर्यमिति, तत्राह—**नाधित इति** । नाप्युपाधित पौर्वापर्यम्, कुत ? अन्योन्यासश्रयात् । उपाध्यन्तरेपि पौर्वापर्य किमुपाध्यन्तरात् ? किंवा पूर्वापरकालसबन्धात् ? नाद्य, अनवस्थानात्, तैरेव चार्थेषु पूर्वापरादिव्यवहारसिद्धे, कालवैयर्थ्याच्च । द्वितीयेऽन्योन्याश्रय । कालपौर्वापर्यादुपाधिपौर्वापर्यम्, उपाधिपौर्वापर्याच्च कालपौर्वापर्यमित्यर्थ । यदि च किंचिदुपाधिविशिष्टकालेनोपाध्यन्तरविशिष्टकालसबन्धादस्ति कालपौर्वापर्यमिति मति , तदा विशेष्याश आत्माश्रयत्व स्यात्, तच्चायुक्तम्, लोके तथाऽदर्शनादित्याह—**स्वात्मेति** । तव नियतत्वानिरूपणाच्च न तद्विशिष्टलक्षणमित्याह—**नियतत्वेति** ।

श्लोक विवृणोति—**कालाव्याप्तेरित्यादिना** । स्वात्मवृत्तेरित्येतद्विवृणोति—

द्वितीय लक्षण के अनुसार काल को अहेतुता प्राप्त होती है, आधि = उपाधि से भी हेतुता नही हो सकती है, अन्योन्याश्रय होना है, आत्माश्रयता से अयुक्तता है, और नियतत्व की अनिरुक्ति से भी लक्षण अयुक्त है ॥ ५३ ॥

नियत पूर्व काल सत्त्व द्वितीय लक्षण है, यहाँ कारणो को तो कार्य से पूर्वकालवृत्तित्व हो सकता है । परन्तु काल को सब कार्य का साधारण कारण माना जाता है, और उसको एक माना जाता है । अत उसको पूर्वकाल मे वृत्तित्व नही हो सकता है, वृत्तिता भिन्न मे होती है । उपाधि से भेद मानकर काल मे पौर्वापर्य (आधाराधेय भाव) माना जाय तो भी अन्योन्याश्रयत्व प्राप्त होता है, क्योकि काल के पूर्वापर भाव होने पर उपाधि के पौर्वापर्य होगा, और उपाधि के पौर्वापर्य से काल का होगा । काल के बिना उपाधि (कार्य) मे स्वत पौर्वापर्य हो नही सकता है । काल के बिना उपाध्यन्तर से उपाधि मे पौर्वापर्य माना जाय तो अनवस्था प्राप्त होगी, युगपद् अनन्त उपाधि की उपस्थिति का प्रसङ्ग होगा । यदि कहे कि ऐसा ही (माना जाय) तो यह कहना युक्त नही, क्योकि प्रमाण के अभाव से वैसा माना नही जा सकता है । व्यवहार से भी उपाधि को नही माना जा

न तु कालाधीनमिति चेत्, न, युगपदनन्तोपाध्यवस्थानप्रसङ्गात् । न चैवमस्त्विति वाच्यम्, प्रमाणाभावात्, व्यवहारस्य मायामयत्वेनोपपत्ते, कल्पकाभावाच्च । अन्यथा तदुपाधेरेवातीतादिव्यवहारोपपत्तौ कालापलाप-प्रसङ्गात् । उपाधिभेदेऽपि किंचिदुपाधिविशिष्टस्य कालस्यान्योपाधि-विशिष्टे काले न वृत्तिर्येन कालस्य पूर्वकाले भावित्वम्, स्वात्मनि वृत्तिविरोधात् । न हि कुण्डलिनि देवदत्ते स एव दण्डविशिष्टो वर्तते ।

का चेय नियति ? किं (१) तस्मिन्सत्येव भाव ? (२) अनन्यथा-सिद्धत्व वा ? (३) तत्तत्कार्यानुगुणतया प्राक्कालसत्त्व वा ? (४) तस्मिन्सति भाव एव वा ? नाद्य, रासभस्यापि धूमविशेष प्रति नियतत्वापत्ते, स्वसत्ताया सत्यामेव जायमानधूमविशेष प्रति तस्यापि नियतत्वात् । न

उपाधिभेदेऽपीति । स्वात्मवृत्तिविरोधमेवोपपादयति—**नहि कुण्डलिनीति** ।

अन्यदूषण विवृणोति—**का चेति** । प्राक्कालसत्त्वमाकाशादेरप्यस्तीति कार्यानु-गुणतयेत्युक्तम् । नच प्रथमचतुर्थयो पौनरुक्त्यम, धूमाग्न्योरन्ययोगव्यवच्छेदेऽप्ययोग-व्यवच्छेदाभावात् । **रासभस्येति** । यद्यपि धूमजातीयस्य रासभे सत्येव भाव इति नास्ति, तथापि तदानीमुत्पन्नधूमविशेषस्यैव भावोऽस्तीत्यतिव्याप्तिरित्यर्थ । एतदेव विशदयति—**स्वसत्तायामिति** । अनन्यथासिद्धत्वमिति पक्षेऽपीदमेव दूषणमाह—

सकता है, क्योकि व्यवहार की मायामयत्व से भी सिद्धि हो सकती है, काल मे काल भ्रम से भी भास सकता है । और कल्पक के अभाव से उपाधि कल्पना नही हो सकती है । अन्यथा = यदि उपाधि की कल्पना हो तो उपाधि से ही अतीतादि व्यवहारो की सिद्धि होगी काल का अपलाप (अस्वीकार) प्राप्त होगा । और उपाधि के भेद होने पर भी किसी एक उपाधि युक्त काल की अन्य उपाधि युक्त काल मे वृत्ति = स्थिति नही हो सकती है कि जिससे काल को पूर्वकालभावित्व हो, क्योकि स्वात्मा मे वृत्ति होना विरुद्ध है, अतएव कुण्डल युक्त देवदत्त मे दण्डयुक्त वही देवदत्त नही रहता है ।

और नियत प्राक्काल सत्त्व लक्षण मे यह नियति क्या है ? क्या, तस्मिन्, उस कारण के रहते ही कार्य का भाव (सत्त्व) होना है, या अनन्यथासिद्धत्व = अन्यथासिद्धभिन्नत्व है, या तत्तत् कार्यानुकूलतापूर्वक पूर्वकाल वृत्तित्व है, या कारण के रहने पर कार्य का होना ही नियति है । प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है । क्योंकि रासभ को भी धूमविशेष के प्रति नियतत्व (कारणत्व) होगा, जहाँ रासभ की अपनी सत्ता रहते ही धूमविशेष उत्पन्न होता है, वहाँ उस जायमान धूमविशेष के प्रति उस रासभ को भी नियतत्त्व रहता है । अनन्यथासिद्धत्व रूप दूसरा पक्ष

द्वितीय, रासभाकाशादेरपि तथात्वापत्ते । स्वकारणसत्त्वेन नित्यविभुतया च तेषा सन्निधिर्न त्वनन्यथासिद्ध इति चेत्, तत्कि स्वकारणसन्निधिप्रयुक्तसन्निधीनि बीजधरणीधामसलिलानीत्यकारणान्येवाङ्कुरोत्पत्तौ ? कि वा शब्दसुखाद्युत्पत्तौ ? नित्यविभुस्वभावा वियदात्मादय ? नापि तृतीय, प्राक्कालसत्त्वातिरिक्तानुगुणत्वस्याप्यनिरूपणात । न चतुर्थ, बीजादेरकार-

न द्वितीयः इति । नन्वनन्यथासिद्ध इति कोऽर्थ ? अन्यथासिद्धो न भवतीति, तथा च कारणत्व नियतत्व वा विना सिद्धो निष्पन्नो ज्ञातो वा न भवतीत्युक्त भवति, नचैव रासभ आकाशो वा, एकस्य स्वकारणप्रयुक्तसन्निधित्वादपरस्य च विभुतयाऽवर्जनीयसन्निधित्वम्, ततो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**स्वकारणसत्त्वेनेति ।** तत्कि स्वकारणप्रयुक्तसन्निधिविभुत्वे एव वान्यथासिद्धि ? किं वाभ्यामनुमीयमाना काचित ? नोभयथापि, बीजादीनामङ्कुराद्युत्पत्तावाकाशादीना च शब्दाद्युत्पत्तावुक्तरूपत्वभावेऽपि अनन्यथासिद्धत्वादिति दूषयति– **तत्किमित्यादिना ।** धाम तेज । तत्तत्कार्येत्यादि तृतीयपक्ष दूषयति—**नापीति । अनिरूपणादिति ।** यथा काललक्षणकारणेऽपि सभवति, तथा निरुक्तेरशक्तेस्तन्निरूप्यमानुगुण्यमपि दुर्निरूपणमतोऽसिद्धिरित्यर्थ । प्राक्कालसत्त्वमात्रस्य रासभाकाशादावप्यविशिष्टत्वादित्यपि द्रष्टव्यम् । सति तस्मिन्भवत्येवेति चतुर्थपक्षेऽव्याप्तिमाह—**बीजादेरिति ।** ननु यद्यपि बीजमात्रस्यैवविधनियमो नास्ति, तथापि सहकारिसमेतस्यास्ति कदाचित् । अपि च

भी युक्त नही है, क्योकि रासभ आकाशादि को भी अन्यथा सिद्धत्व है । अपने कारण के नियत सत्त्व के बिना गर्दभ नही सिद्ध होता है, और आकाश भी नियतत्व बिना सिद्ध वा ज्ञात नही है, अत नियत स्वरूप से सिद्ध और अनन्यथा सिद्ध दोनो है । यदि कहे कि अपने कारण के सत्त्व से और नित्य विभुता से रासभ आकाश की कार्य के साथ सन्निधि = समीपता होती है, अत अन्यथासिद्ध है । अनन्यथासिद्ध नही । यह कहा जाता है कि, अपने-अपने कारणो की सन्निनिधिनिमित्तक सन्निधि वाले, अपने-अपने कारणों से जन्य, बीज भूमि, तेज, जल होते है, अत क्या अड्कुर की उत्पत्ति मे अकारण ही है । अथवा नित्य विभुस्वभाव वाले आकाशात्मादि क्या शब्द सुखादि की उत्पत्ति मे अकारण है । अर्थात् बीजादि जैसे अकुरादि के कारण होते है, आकाशादि शब्दादि के कारण है, लक्षण के अनुसार गर्दभ और आकाश वैसे ही घटादि के कारण प्राप्त होते है । तत्तत् कार्य अनुकूलता से पूर्वकालवृत्तित्व यह तृतीय पक्ष भी युक्त नही हो सकना है, क्योकि पूर्वकाल मे सत्त्व से भिन्न अनुकूलत्व का ही निरूपण नही हो सकता है । कारण के रहने पर कार्य का अवश्य भाव होना यह चतुर्थ भी नियति का लक्षण युक्त नही है । क्योकि इसके अनुसार बीजादि मे अकारणत्व की प्राप्ति होती है, बीजादि के रहते अवश्य

णत्वप्रसङ्गात् । न हि तस्मिन्सति भाव एवाङ्कुरादे । सहकारिमध्यमध्यासीने तस्मिन्सति भवत्येवेति चेत्, मैवम्, रासभस्यापि कदाचित्सहकारिमध्यमध्यासीनतासभवात् । सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्व कारणत्वमिति तृतीयोऽपि न,

हेतुसाकल्यरूपाया सामग्र्या तदसभवात् ।
कारणत्वनिरुक्तौ च सहकार्यनिरूपणात् ।। ५४ ।।

सामग्र्या अकारणत्वप्रसङ्गात्, तस्या सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वाभावात्, सहकारिसकलताया एव सामग्रीत्वात् । किच सह करोतीति

तदन्वयो यत्र तत्र प्रतिनियतमुच्यते इति शङ्कते—**सहकारीति** । तत्र किं सहकारिमध्यनिवेश एवैवविधनियम ? अतिरिक्तो वा ? नान्त्य, अनिरुक्ते । आद्येऽतिव्याप्ते, गर्दभादेरपि क्षित्यादिसहकारिमध्यनिवेश एवैवविधनियममात्रेणाङ्कुर प्रतिनियतत्वापातादिति दूषयति—**मैवमिति** ।

एव नियतत्वखण्डेन द्वितीय कारणलक्षण दूषयित्वा तृतीय दूषयति—**सहकारीति** ।

तत्रापि दूषणानि सगृह्णाति—**हेत्विति** । कारणपौष्कल्यरूपा या सामग्री सापि तावद् बीजादिवत् कारणमेव । अथ च तत्र लक्षण न सभवति, तस्या सत्या सहकारिवैकल्यस्यैवासभवात् । किंच सह करोतीति सहकारी कारणविशेष , तथा केनेत्यपेक्षाया च कारणेनेति वचनीय तथा चात्माश्रयत्वमित्यर्थ । विवृणोति—**सामग्र्या इति** ।

अङ्कुरादि नही होते है। यदि कहे सहकारी के मध्य मे बीजादि के रहने पर अङ्कुरादि होते ही है। अत सहकारी मध्यस्थ के साथ ही अवश्यम्भावी कार्य का नियम है, तो ऐसा भी नही कह सकते है, सहकारी मध्यस्थता कभी रासभ को भी हो सकती है। अत उससे भी अङ्कुर की उत्पत्ति प्राप्त होगी। इसप्रकार से कारण का दूसरा लक्षण सिद्ध नही हो सका, सहकारी की विकलतानिमित्तक कार्याभाववत्त्व रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नही है। क्योकि—

हेतु की सकलता = पूर्णता रूप सामग्री मे इस लक्षण का होना असम्भव है। और कारणत्व की अनिरुक्ति रहते सहकारी का निरूपण नही हो सकता है ।। ५४ ।।

अर्थात् लक्षण के अनुसार सामग्री को अकारणत्व प्राप्त होता है, क्योकि सामग्री को सहकारिविकलता निमित्तक कार्याभाववत्त्व का अभाव रहता है। सहकारिसकलता को ही सामग्री कहा जाता है। और दूसरी बात है कि सहकरोति, कारण के साथ होकर जो कार्य को सिद्ध करे, उस प्रधान की अपेक्षा कारणान्तर को सहकारी कहा जाता है, और कारणत्व ही की अभी निरुक्ति नही

सहकारि कारणान्तरम्, तथा च कारणत्वस्यैवाद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रय । नापि चतुर्थं,

जातेरहेतुतापत्ते रासभेऽतिप्रसक्तित ।
गगनादिषु चाव्याप्तेरन्वयादेरयोगत ॥ ५५ ॥

जातेरकारणत्वप्रसङ्गात्, जातेर्जातिमत्त्वाभावात् । द्रव्यत्वादिना रासभादेरप्यन्वयव्यतिरेकवद्वह्न्यादिजातीयत्वेन धूमादिकारणत्वप्रसङ्गात् । द्रव्यत्वावान्तरजातीयत्व विवक्षितमितिचेत्, न, कालाकाशदिशामकारणत्वप्रसङ्गात्, तेषा द्रव्यत्वावान्तरजातिविधुरत्वात् । कौ चेमावन्वयव्यतिरेकौ ? किं कालत ? उत देशत ? उतोभाभ्याम् ? आद्ये, काले तदभावादव्याप्ति । द्वितीये तु देशे तदभाव । न तृतीयोऽपि, उभयोरप्युभया-

---

अन्वयव्यतिरेकवज्जातीयत्वमिति चतुर्थे पक्षे दूषणानि मगृह्णाति—**जातेरित्यादिना**। नहि जातेर्जातिरस्ति येन तज्जातीयतया कारणता तस्या स्यादित्यव्याप्ति । किंच सत्त्वादिकमादाय गर्दभादेरपि बीजादिजातीयतयाङ्कुरादिकारणतापातादतिव्याप्ति । अथ द्रव्यत्वावान्तरजात्या साजात्य विवक्ष्येत, तदाकाशादावभावादव्याप्ति, व्यतिरेकाभावाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम । तथान्वयव्यतिरेकयोरपि कालतो देशतो वा दुर्निरूपणादयुक्तमिद लक्षणमित्यर्थ ।

सग्रह विवृणोति विशदग्रन्थेन—**जातेरिति**। ननु न देशत कालतो वान्वयव्य-

---

हुई है, अत कारण के निरूपण मे कारणत्व की अपेक्षा होने पर आत्माश्रयता प्राप्त होती है। अन्वय-व्यतिरेकवज्जातीयत्व यह चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही है। क्योकि—

जाति को अहेतुता प्राप्त होती है, रासभ मे अतिव्याप्ति होती है, गगनादि मे अव्याप्ति होती है, अन्वयादि का अयोग है ॥ ५५ ॥

जाति मे अकारणत्व प्राप्त होता है, क्योकि जाति मे जातिमत्त्व का अभाव रहता है। और सत्ता द्रव्यत्वादि जाति द्वारा रासभादि को भी अन्वयव्यतिरेक वाले अग्नि आदि के सजाति होने से रासभादि मे धूमादि कारणत्व प्राप्त होता है। यदि कहे कि द्रव्यत्व अवान्तर (व्याप्य) जातीयत्व विवक्षित है। अत सत्ता द्रव्यत्व द्वारा अतिव्याप्ति नही होगी, तो यह कहना भी युक्त नही, ऐसी विवक्षा होने पर काल, आकाश, दिशा को अकारणत्व प्राप्त होगा, क्योकि उनमे द्रव्यत्व व्याप्य जाति का अभाव रहता है। और ये अन्वयव्यतिरेक भी कौन विवक्षित है, क्या काल द्वारा कालिक विवक्षित है, या दैशिक विवक्षित है। या दोनो द्वारा विवक्षित है, प्रथम पक्ष मे काल मे कालिक अन्वयव्यतिरेक की अव्याप्ति होगी, दूसरे पक्ष मे देश मे दैशिक अन्वयव्यतिरेक के अभाव से अव्याप्ति होगी, तृतीय पक्ष मे देशकाल

भावात्। सति भावोऽसत्यभाव एव ताविति चेत्, न, तदभावेऽपि तृणारणिमणीना दहनहेतुत्वाङ्गीकारात्। तेषामेकैकाभावेऽपि दहनदर्शनात्। तत्रापि तज्जन्यदहनानामवान्तरजातिभेदान्न व्यभिचार इति चेत्, न, जातिभेदे प्रमाणाभावात्। न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, इन्द्रियसन्निकर्षमात्रेण सुनिपुणैरप्यनुपलभ्यमानत्वात्। ननु तृणारणिमणिप्रभवत्वज्ञानसस्कृतेन्द्रियसनिकर्षाधिगम्योऽय जातिभेद, विशिष्टमातृपितृप्रभवत्वज्ञानसस्कारसचिवलोचन-

---

तिरेकावभिमतौ, किं तर्हि ? तस्मिन् सति भावोऽसत्यभाव एवेति यौ नियमौ ताविति शङ्कते—**सतीति**। तृणादिषु नियमाभाव विवृणोति—**तेषामिति**। नहि दहनस्तृणाभावे न जायते, मणेरपि जायमानत्वात्। नापि मणेरभावेऽभाव, अरणेरपि जायमानत्वात्। अथ च तेषामन्वयव्यतिरेकौ स्त, कारणत्वप्रसिद्धेरतोऽव्याप्तिरित्यर्थ। अत्र कुसुमाञ्जलिकारेण तृणादिप्रभवाग्निष्वप्यवान्तरवैजात्यमभ्युपगम्य कारणवैचित्र्ये कार्यवैचित्र्य समर्थितम्, तथाच तत्तद्विशेष प्रति तृणादीनामुक्तनियमोऽस्तीति शङ्कते—**तत्रापीति**। प्रत्यक्षतो वैजात्यमनुपलब्धिपराहतमित्याह—**तत्रापीति**। प्रत्यक्षतो वैजात्यमनुपलब्धिपराहतमित्याह—**सुनिपुणैरिति**। ननु यद्यपीन्द्रियसन्निकर्षमात्रान्न ज्ञायते तथाप्यभिव्यञ्जकान्तरसचिवप्रत्यक्षेण शक्य ज्ञातुमिति दृष्टान्तदर्शनपूर्वक शङ्कते—**नन्विति**। तत्र वक्तव्य किं तृणादिप्रभवत्व-

---

दोनो मे अव्याप्ति होगी, काल मे काल के अभाव से देश मे देश के अभाव से ये दोष प्राप्त होगे। यदि कहे कि, कारण के रहते कार्य का भाव होना, कारण के नही रहने पर कार्य का अभाव होना। ये ही क्रम से अन्वय और व्यतिरेक है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि कारणत्व रूप से अभिमत किसी के नही रहने पर भी तृण, अरणि मणि के अग्निहेतुत्व को माना जाता है। क्योकि उनमे से एक-एक के अभाव रहते भी अन्य से अग्नि की उत्पत्ति देखी जाती है, जैसे कि तृण के अभाव रहते भी अरणि और मणि से अग्नि होती है। यदि कहे कि वहाँ भी अग्नियो मे भेद से तृणजन्य अग्नि का तृण ही कारण होता है, अन्य नही, इसीप्रकार से अन्यत्र भी नियम होने से, उन अग्नियो मे अवान्तर जाति के भेद होने से व्यभिचार नही सिद्ध होता है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अग्नियो के जातिभेद मे प्रमाण का अभाव है, प्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। अत एव इन्द्रिय के सम्बन्ध मात्र से तृणादिजन्य अग्नियो मे जाति के भेद का ज्ञान निपुण लोगो को भी नही होता है। यदि कहे कि इन्द्रियसन्निकर्ष मात्र से जातिभेद का ज्ञान यद्यपि नही होता है, तथापि तृणजन्यत्व अरणि-मन्थन-जन्यत्व मणिजन्यत्व के प्रकार भेद के ज्ञान से सस्कृत इन्द्रियसम्बन्ध से यह अग्नि के जातिभेद का ज्ञान होता है। जैसे कि विशिष्ट माता-पिता से जन्यत्व के ज्ञानजन्य सस्कारसहित नेत्र का विषय

गोचर इव ब्राह्मणत्वमिति चेत्, न, तेषा व्यभिचारादेव जनकत्वासिद्धे । जातिभेदालिङ्गितव्यक्तिविशेष प्रति न तस्य व्यभिचार इति चेत्, न, सिद्धे जातिभेदे जनकत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च जातिभेदसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गात् । ननु कार्यविशेषेण तृणादिकारणविशेषप्रभवाणा बहूना वैजात्यानुमानमस्तु, तथा हि—"प्रदीप एव प्रसादोदरव्यापक प्रभामण्डलमारभते, न तथा ज्वालाजटिलोऽपि वह्निर्नेतरा च कारीष" इति कुसुमाञ्जलिकार इति चेत्, न, एकजातीयत्वग्राहिप्रत्यक्षप्रतिहतस्यानुमानस्यानुत्थानात् । न च प्रत्यक्षायोग्य वैजात्यम्, प्रत्यक्षव्यक्तिवृत्तिसामान्यस्याप्रत्यक्षत्वायोगात् ।

मग्निमात्रदर्शनादवगम्यते ? किं वा जातिभेदाऽऽलिङ्गिताग्निदर्शनात् ? आद्येऽसिद्धि । अग्निमात्र प्रति तेषा परस्परव्यभिचारादित्याह—**न, तेषामिति** । द्वितीय शङ्कते—**जातिभेदेति** । तर्ह्यन्योन्याश्रय, प्रथमतोऽग्निषु जातिभेदे ज्ञाते तद्दर्शनात् तृणादिप्रभवत्वज्ञानम् तज्ज्ञानाच्च जातिभेदज्ञानमिति परिहरति —**न, सिद्ध इति** । ननु न प्रत्यक्षेण जातिभेदाधिगति, किंतु लिङ्गेनेति शङ्कते—**नन्विति** । कार्यविशेषमेव समर्थयते—**तथा हीति** । कारीषो गोमयेन्धनोद्भव । प्रदीपप्रभामण्डल कारीषादिकारणाद्विभिन्नजातीयकारणजन्य तद्विभिन्नजातीयकार्यत्वाद्घटवदित्यनुमानाज्जातिभेदसिद्धिरित्यर्थ । नन्वतीन्द्रियजातिभेद एवानुमीयते तेन न प्रत्यक्षपराहतिस्तत्राह— **न चेति** । यदि हि प्रत्यक्षाश्रयापि जातिरप्रत्यक्षा, घटत्वादे प्रत्यक्षत्वे कुत

ब्राह्मणत्व होता है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि व्यभिचार से ही अग्नि के प्रति तृणादि की कारणता ही नही सिद्ध होती है, तो तत्तत् कारणजन्य ज्ञान सस्कृत इन्द्रिय को होना दूर रह जाता है । यदि कहे कि अग्नि सामान्य के प्रति तृणादि के व्यभिचार होते भी जातिभेदयुक्त अग्नि व्यक्तिविशेष के प्रति उस कारण का व्यभिचार नही है, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि जातिभेद की सिद्धि (ज्ञान) होने पर व्यभिचाराभाव से जनकत्व की सिद्धि होगी, और प्रत्येक मे पृथक् जनकत्व के ज्ञान होने पर जातिभेद की सिद्धि होगी, अत अन्योन्याश्रय होगा । यदि कहे कि अग्नियो के कार्यविशेष से तृणादि कारण विशेषजन्य बहुत अग्नियो की विजातीयता का अनुमान हो सकता है, मन्द, तीव्रादि प्रकाश के भेद से अग्नियो का भेद अनुमेय हो सकता है, जैसे कि प्रदीप ही गृह के अन्दर व्यापक प्रभामण्डल का आरम्भ करता है, ज्वालाजटिल भी काष्ठाग्नि वैसा नही कर सकती हे, और कारीष-गोमयजन्य अग्नि तो मानो प्रकाश ही नही करती है । इसप्रकार से कुसुमाञ्जलिकार का कथन है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि तृणादिजन्य अग्नियो मे एक जातीयत्व का ग्राहक प्रत्यक्षप्रतिहत अनुमान का उत्थान नही हो सकता है । प्रत्यक्ष के अयोग्य विजातीयता का अनुमान करे, यह भी नही हो

प्रसादोदरव्यापिप्रभामण्डलादिकार्यभेदस्य तत्तत्सहकारिभेदादन्यथोपपत्तेश्च, एकजातीयेऽपि मृदादौ तत्तत्सहकारिसाहित्येन तत्तद्विजातीयघटशरावादि-कार्योपलब्धे । एकजातीयादपि घटाद्भिन्नजातीयाना रूपादीनामुत्पत्तेरभ्यु-पगमाच्च ।

नापि पञ्चम, सामग्र्या दुर्निरूपत्वेन तदेकदेशस्यापि दुर्निरूपत्वात् । तथा हि—

अतिव्याप्ते स्ववृत्तित्वाद् भेदेऽभेदेप्यसभवात् ।
कार्यस्य हेतुभि सिद्धेर्वृथा साकल्यकल्पना ।। ५६ ।।

आश्वास ? व्यञ्जकस्य च पूर्वमेवोन्मूलितत्वादिति भाव । विपक्षे बाधकविधुरत्वा-च्छङ्कितोपाधिता च, कार्यभेदस्य प्रकारान्तरेणाप्युपपत्तेरित्याह—**प्रासादेति** । न केवलमुपपत्ति, दृश्यते च तत्र तत्र एकजातीयात् सहकारिभेदयुताद्विलक्षणद्रव्यस्य विलक्षणगुणस्य चोत्पत्तिस्ततश्चानैकान्तिकतेत्याह— **एकजातीयेत्यादिना** ।

सामाग्र्येकदेशत्वमिति पक्ष दूषयति—**नापि पञ्चम इति** तत्र सामग्रीदूष-णानि सगृह्णाति—**अतिव्याप्तेरित्यादिना** । कि वस्तूना साकल्य सामग्री ? किं वा कारणानाम् ? आद्ये अङ्कुराद्यजनकानामपि शिलाशकलादीनामपि साकल्यस्याङ्कु-रादिसामग्रीत्वप्रसङ्गादतिव्याप्ति । द्वितीये कारणज्ञानात्सामग्रीज्ञान सामग्रीज्ञानाच्च कारणज्ञानमित्यन्योन्याश्रयादित्यर्थ । किच तत्साकल्य कारणेभ्यो भिन्नम ? अभिन्न वा ? भिन्नत्वे नित्य चेत् सदा कार्यजन्मप्रसङ्ग । अनित्यत्वेऽपि व्यस्तेभ्य ? समस्तेभ्यो वा तस्य नोत्पत्तिसभव ? आद्ये, कार्यसामस्त्ययो सदा जन्मप्रसङ्ग । द्वितीये, साकल्यात्साकल्योत्पत्तिरित्यात्माश्रयात् । अभिन्नत्वे तु प्रत्येककारणेभ्योपि कार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्, तावन्मात्रत्वात्साकल्यस्य, तथाच सदा कार्यजन्मप्रसङ्ग ।

सकता है । क्योकि प्रत्यक्ष व्यक्तिवृत्ति जाति मे अप्रत्यक्षत्व नही हो सकता है । और प्रसाद भीतर व्यापक प्रभामण्डलादि रूप कार्यभेद की तत्तत् सहकारि भेद से अन्यथा = जाति भेद के बिना सिद्धि होती है, क्योकि एक जाति वाले मृत्तिकादि मे तत्तत् सहकारिभेद की सहायता से तत्तत् विजातीय घट, शरावादि कार्य की उपलब्धि होती है । और एक जाति वाले घट से भी भिन्न जाति वाले रूपादि की उत्पत्ति मानी जाती है ।

सामग्री के एकदेशत्व रूप भी कारण का पञ्चम लक्षण युक्त नही हो सकता है, क्योकि सामग्री के दुर्निरूप रहते उसका एक देश भी दुर्निरूप है ।

जैसे कि—

वस्तुसाकल्य को सामग्री मानने पर अतिव्याप्ति होती है, स्ववृत्तित्व = आत्मा-

कि वस्तूना साकल्य सामग्री ? कि वा कारणानाम् ? नाद्य, अकारण-साकल्येऽपि प्रसङ्गात्। द्वितीये, कारणत्वस्याद्याप्यनिरुक्तेरात्माश्रय। कारणसाकल्य च कारणाना स्वरूपम् ? अतिरिक्त वा ? आद्ये व्यस्तेभ्योऽपि कार्यमुत्पद्येत। द्वितीये, नित्यत्वे साकल्यस्य सदा कार्योत्पाद, अनित्यत्वेऽपि व्यस्तानामेव साकल्यकारणत्वे साकल्यस्यापि सदातनत्वेन कार्यस्यापि सदोत्पाद। समस्ताना हेतुत्वे चात्माश्रय, अनवस्था वा। साकल्यजनकेभ्य एव च प्रधानकार्योत्पत्ते, किमजागलस्तनायमानेन साकल्येन ? एतेन

किंचोत्पन्नाया सामग्र्या उत्पादकानि यानि कारणानि तैरेव कार्योत्पत्तिसिद्धे, वृथा तेषा साकल्यकल्पनेति श्लोकार्थम् विवृणोति—**कि वस्तूनामित्यादिना।** **व्यस्तानामेवेति।** यदि व्यस्तान्येव कारणानि साकल्यमुत्पादयन्ति, तदा बीजादेर-नित्यत्वेऽपीश्वरादेर्नित्यतया सदा साकल्योत्पादात्कार्यस्यापि सदातनता स्यादित्यर्थ। ननु न व्यस्ता, अपि तु सर्वे सभूय साकल्य जनयन्तीति, तर्हि साकल्यात्साकल्य-मुत्पद्यते इति वचनीयम्, तथा चाभेदे भेदे चात्माश्रयानवस्थे स्यातामित्याह—**समस्तानामिति।** समुदितानामित्यपि द्रष्टव्यम्। उत्तरार्धम् व्याचष्टे--**साकल्येति।** सामग्रीलक्षणान्तरेऽप्युक्तदूषणमतिदिशति—**एतेनेति।** तत्रापि वैशिष्टय भिन्नमभिन्न वेत्यादिदोषाणा समानत्वादित्यर्थ। ननु कारणाना योऽय

श्रयता प्राप्त होती है, कारणो से भेदाभेद मे भी असम्भवता होती है, और हेतुओ से कार्य के सिद्ध होने पर साकल्य रूप सामग्री की कल्पना व्यर्थ सिद्ध होती है ।।५६।।

क्या वस्तुओ का साकल्य = सकलता का नाम सामग्री है, या कारणो का साकल्य सामग्री है। प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि अकारण की सकलता मे भी सामग्रीत्व प्राप्त होगा। और दूसरे पक्ष मे कारणत्व की अभी निरुक्ति नही हुई है, अत कारण की निरुक्ति मे कारण की अपेक्षा से आत्माश्रयता प्राप्त होती है। और यह भी विचारणीय है कि कारण साकल्य कारणो का स्वरूप ही है, या भिन्न है। प्रथम पक्ष मे व्यस्त प्रत्येक कारण से भी कार्योत्पन्न होगा, क्योकि प्रत्येक सामग्री स्वरूप है। दूसरे पक्ष मे साकल्य के नित्य होने पर सदा कार्य की उत्पत्ति प्राप्त होगी। साकल्य के अनित्यत्व पक्ष मे भी व्यस्त = प्रत्येक हेतुओ को ही साकल्य के कारणत्व होने पर, हेतुगत ईश्वरादि के नित्य होने से तज्जन्य साकल्य की भी सदातनता से कार्य की भी सदा एक रस की उत्पत्ति होती रहेगी। समस्त हेतुओ को साकल्य का हेतु होने पर आत्माश्रयता होगी, या अनवस्था होगी, अर्थात् समस्त हेतुरूप साकल्य मे ही साकल्य की अपेक्षा होने पर आत्माश्रय होगा, अन्य-अन्य साकल्य की कल्पना करने पर अनवस्था होगी। और साकल्य-जनक रूप से माने गये हेतुओ से ही साकल्य से होने वाले प्रधान कार्य की उत्पत्ति

कारणानामन्योऽन्यवैशिष्ट्य सामग्रीति प्रत्यादिष्टम् । न च कारणसन्निधि सामग्री, तदनिर्वचनात् । न तावदेककालत्व सन्निधि, काले तदभावात् । नाप्येकदेशत्वम्, देशे तदभावात् । नोभयम्, उक्तदोषानुषङ्गात् । नापि सयोगसमवायौ, तयोरेवाकारणत्वप्रसङ्गात् । नाप्येककार्यकारणत्व सन्निधि, कार्यकारणभावस्यैवाप्रसिद्धेरात्माश्रयात् । नापि कारणाना चरमो व्यापार सामग्री, व्यस्ताना समस्ताना वा तज्जनकत्वे पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात् । अपि च व्यापारे जनयितव्ये कारकाणि व्यापारवन्ति ?

सन्निधि सैव सामग्री, नेत्याह—**न चेति । नयोरिति ।** यदि हि कारणाना सयोग सामग्री, तदा सयोगस्येतरकारणै सयोगाभावात् सामग्रचन्त पातित्वाभावेनाकारणत्व स्यादेव समवायेपीत्यर्थ । ननु कारणानामपि कश्चिच्चरमो व्यापारो यदनन्तर कार्यमुत्पद्यते सा सामग्रीति, तत्राह—**नापीति ।** इम पक्ष प्रकारान्तरेणापि दूषयति—**अपि चेत्यादिना ।** यश्चाय चरमो व्यापार कारणाना सोऽपि किं सव्यापारतया

हो सकने से अजागलस्तन समान व्यर्थ साकल्य से क्या होना है । इसीसे कारणो का परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव से सम्बन्ध सामग्री है, यह भी निरस्त हो गया । कारणो की सन्निधि सामग्री है, यह भी नही कह सकते है, क्योकि सन्निधि का निर्वचन नही हो सकता है । एक कालवत्त्व सन्निधि नही कही जा सकती है । क्योकि काल मे कालवत्त्व का अभाव रहता है । एकदेशवत्त्व भी नही कहा जा सकता है क्योकि देश रूप कारण मे देशवत्त्व का अभाव रहता है । उक्त दोष से ही एकदेशत्व एककालत्व उभय भी नही सन्निधि देश-काल मे हो सकती है । देश का स्वरूप से कारण होते है, देश काल मे रहकर नही । कारणो का सयोग वा समवाय भी सन्निधि नही हो सकती है, क्योकि सयोग वा समवाय सन्निधि रूप होगे तो उन दोनो को अकारणत्व प्राप्त होगा, क्योकि कारणो का सयोग कारण से भिन्न होगा, सयोग भी यदि कारण हो, तो उसको अन्य कारणो के साथ सयोग होना चाहिये । और सयोग का सयोग होता नही है, अत उसको सामग्री के अन्तर्गत नही होने से कारणत्व का अभाव प्राप्त होगा, इसीप्रकार से समवाय का समवाय नही होता है, अत वह भी कारण नही होगा । एक कार्यकारणत्व रूप भी सन्निधि (सामग्री) नही कही जा सकती है, क्योकि कार्यकारणभाव की अप्रसिद्धि से आत्माश्रयता होगी (कारण के निरूपण मे कारण की अपेक्षा प्राप्त होगी) । कारणो का अन्तिम व्यापार सामग्री होती है, यह भी नही कहा जा सकता है । क्योकि व्यस्त (प्रत्येक) वा समस्त कारणो के उस व्यापार के जनकत्व होने पर पूर्वोक्त दोषो की प्राप्ति होती है । और यह भी विचार कर्तव्य है कि अन्तिम व्यापार को उत्पन्न

निर्व्यापाराणि वा ? आद्येऽनवस्था । द्वितीये, कार्यमेव प्रधान तथा कुर्वन्तु कृतमन्तरा व्यापारेण ? व्यापारस्य च सव्यापारस्य जनकत्वेऽनवस्था, निर्व्यापारत्वे च कारकाणामेव तथात्वमस्तु, कि व्यापारेण ? यदनन्तरं कार्य भवत्येव सा सामग्रीति चेत्, न, विभागानन्तर पूर्वसयोगनाशस्यावश्योत्पत्तेर्विभागस्यापि तथा सामग्रीत्वप्रसङ्गात्, एव कर्मणो विभागेऽन्त्यतन्तुसयोगस्य च पटे तत्त्वप्रसङ्गाच्च ।

नापि षष्ठ —

व्यापाराव्यापनादात्माश्रयत्वादनिरुक्तित ।

जनक ? निर्व्यापारतया वा ? इति विकल्प्य दूषयति—**व्यापारस्येति** । सामग्र्या लक्षणान्तर शङ्कते—**यदनन्तरमिति** । कार्यं कारणे हि सत्येव भवतीति नियम, न त्वसत्येवेति, ततो नानिव्याप्तिरिति भाव । तदेतदतिव्याप्त्या दूषयति—**न, विभागानन्तरमित्यादिना । तत्त्वप्रसङ्गादिति** । सामग्रीत्वप्रसङ्गादित्यर्थ ।

व्यापारवत्त्वमिति षष्ठे पक्षे दूषणानि सगृह्णाति—**व्यापारेत्यादिना** । व्यापारस्य व्यापारवत्त्वाभावादकारणत्वप्रसङ्गेनाव्याप्ति । किच जनकत्वमन्तरेण व्यापारस्य दुर्निरूपत्वादात्माश्रत्व स्यात् । किंचास्य व्यापारवत्त्वानिरुक्तिनश्चासिद्धि-

---

करने मे सब कारण व्यापार वाले होकर व्यापार द्वारा उस अन्तिम व्यापार को उत्पन्न करते है, या निर्व्यापार ही उत्पन्न करते है, प्रथम पक्ष मे अनवस्था होगी, क्योकि सब व्यापार के उत्पादन मे व्यापारान्तर की अपेक्षा होगी, निर्व्यापार से कार्य होगा नही । यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि निर्व्यापार कारण से अन्तिम व्यापार होता है, उसके उत्पादन मे व्यापारान्तर की अपेक्षा नही होती है, तो कहा जाता है कि कारण जैसे व्यापार रूप कार्य को व्यापार के बिना उत्पन्न करते है, वैसे प्रधान कार्य को ही कर ले, अन्तरा = मध्य मे व्यापार को उत्पन्न करने का कोई फल नही है । और व्यापार को भी सव्यापार होकर कार्यजनक होने पर अनवस्था होगी, व्यापार को निर्व्यापार रहते भी जनक होने पर, कारणो को ही निर्व्यापार रहते कारणत्व हो, व्यापार से क्या मतलब है । यदि कहा जाय कि जिसके अनन्तर कार्य होता ही है, वह सामग्री है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि विभाग के अनन्तर पूर्व सयोग नाश की अवश्य उत्पत्ति होती है, अत पूर्वसयोग नाश के प्रति विभाग को भी इसप्रकार से सामग्रीत्व प्राप्त होगा, इसीप्रकार से कर्म को विभाग मे और पट मे अन्तिम तन्तुसयोग को सामग्रीत्व प्राप्त होगा ।

व्यापारवत्त्व रूप कारण का षष्ठ लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि—

व्यापार मे इस लक्षण की अव्याप्ति होती है, आत्माश्रयता प्राप्त होती है ।

समवायेऽस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गत ।। ५७ ।।

चरमव्यापारस्य व्यापारान्तरविधुरस्याकारणत्वप्रसङ्गात् । तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति जनकत्वमन्तर्भाव्य व्यापारनिरुक्तेरात्माश्रयत्वाच्च । व्यापारवत्त्व च व्यापारसमवायित्वम् ? उत तज्जनकत्वम् ? नाद्य, यागादे स्वर्गाद्यकरणत्वप्रसङ्गात् । ध्वस्तस्य यागादेरपूर्वादिव्यापारासमवायित्वात् । नेतर, आत्माश्रयत्वात् । नापि सप्तम,

असिद्धे प्रतिबन्धस्य नृश्रृङ्गादावभावत ।

लक्षणस्य, तथाहि—व्यापारसमवायित्वम् ? व्यापारजनकत्व वा व्यापारवत्त्वमिति मतुपोऽर्थ ? उभयत्र समवाये हेतुत्वे च पूर्वदोषानुषङ्गत, अव्याप्तिरात्माश्रयत्व च पूर्वदोष । तथाहि—यागादेरपूर्वसमवायित्वाभावादव्यापारवत्त्वप्रसङ्गादव्याप्ति । जनकत्वपक्षे च कारणत्वस्याद्याप्यसिद्धेरात्माश्रय इति श्लोकार्थ । विवृणोति—**चरमेत्यादिना** । अथ किमिति यागादे स्वर्गाद्यकारणत्वम्, तत्राह—**ध्वस्तस्येति** ।

यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसक्तिस्तत्त्वमिति सप्तमे पक्षे दूषणानि सगृह्णाति—**असिद्धेरित्यादिना** । यदि हि हेत्वभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्या व्याप्तिरवधार्यते ततस्तद्द्वयव्यञ्जकत्व स्यान्न त्वेतदस्तीत्याह—**असिद्धेः प्रतिबन्धस्येति** । तस्यैवोपपादनम्—**नृश्रृङ्गादावभावत इति** । आदिशब्देन प्रागभावो गृह्यते । तथा हि निर्हेतुत्व शशविषाणेऽस्त्यथ च नित्यसत्त्व नास्ति, तथा प्रागभावे

व्यापारवत्त्व की अनिरुक्ति है, समवाय मे इसके हेतुत्व को मानने पर पूर्वोक्त दोष होता है ।। ५७ ।।

अर्थात् व्यापारवान् को कारण मानने पर, व्यापाररहित अन्तिम व्यापार को अकारणत्व प्राप्त होता है, और कारण से जन्य होता हुआ कारण से जन्य का जनक हो, वह व्यापार कहा जाता है, इसप्रकार से जनकत्व को अन्तर्गत करके व्यापार की निरुक्ति होने से व्यापारवन् कारण के सम्पादक व्यापार के अन्दर कारण के आश्रयण से आत्माश्रय होता है । और व्यापारवत्त्व, व्यापारसमवायित्व है, या व्यापारजनकत्व है, यह विचारणीय है । आद्य पक्ष बन नही सकता है, क्योकि इसप्रकार से यागादि को स्वर्गादि के अकरणत्व प्राप्त होता है, ध्वस्त कर्म रूप यागादि को अपूर्व (अदृष्ट) आदि रूप व्यापार का समवायिकारणत्व नही हो सकता है । व्यापारवत्त्व का व्यापारजनकत्व रूप दूसरा अर्थ भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि जनकत्व के लक्षण मे जनकत्व के प्रवेश से आत्माश्रय होता है । कारण का सप्तम (यदनभ्युपगमे नित्यसत्त्वाऽसत्त्वयोरन्यतरप्रसक्ति) यह लक्षण भी युक्त नही हो सकता है । क्योकि—

नृश्रृङ्गादि मे प्रतिबन्ध = नियम की अप्रसिद्धि से, 'सत्त्वे सति' विशेषण के

मत्त्वे सतीति चायुक्त दृष्टान्तादेरसिद्धित ॥ ५८ ॥

निर्हेतुकस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभ्या प्रतिबन्धासिद्धौ नित्यसत्त्वासत्त्वयोरन्यतरप्रसङ्गस्य दुर्वचत्वात्। अहेतुकत्वेऽपि प्रागभावस्य नित्यसत्त्वासत्त्वाभावात्, शशविषाणस्य नित्यसत्त्वाभावाच्च। ननु भावत्वे सत्यहेतुकत्वस्य सदातनत्वे व्याप्तिराकाशादौ सिद्धेति चेत्, न, अस्या व्याप्ते स्वभाववादिन प्रत्यसिद्धे, भूतचतुष्टयतत्त्ववादिना तेनात्माकाशादीनामनभ्युपगमात्, विपर्ययापर्यवसानाच्च प्रसङ्गस्य। नहि यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधि-

---

निर्हेतौ नास्ति नित्यसत्त्व विनाशित्वादतो नास्ति व्याप्तिरित्यर्थं। ननु सत्त्वे सति निर्हेतुकत्वमाकाशादौ नित्यसत्त्वेन व्याप्तमिति, तत्राह—**सत्त्वे सतीति चायुक्तमिति**। तत्र हेतुर्दृष्टान्तादेरिति। स्वभाववादिन प्रत्याकाशादेरसिद्धेर्व्याप्त्यसिद्धिरिति भाव।

एतमेव श्लोक व्याचष्टे—**निर्हेतुकस्येत्यादिना**। प्रतिबन्धासिद्धेरेव विवरणम्—**अहेतुकत्वे इत्यादिना**। उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—**नन्विति**। दृष्टान्तादेरित्यादिशब्दसगृहीत दूषणमाह—**विपर्ययेति**। यद्धि निर्हेतुक तद्धि भावत्वे सति सदासत्त्वाधिकरण स्यादिति तर्क। तस्य चैव विपर्यय यद्भावत्वे सति सदा सत्त्वानधिकरणम्, तत्सहेतुकमिति। नचैव निर्हेतुकवादिन सप्रतिपन्नस्थलमस्तीत्यर्थ। वेदान्तिन

लगाने पर भी प्रतिबन्ध के अभाव से, और दृष्टान्तादि के अभाव से यह लक्षण अयुक्त है ॥ ५८ ॥

अर्थात् निर्हेतुकत्व को नित्य सत्त्व असत्त्व के साथ प्रतिबन्ध (सम्बन्ध) की असिद्धि रहते निर्हेतुकत्व से नित्य सत्त्वासत्त्व अन्यतर की प्रसक्ति को दुर्वचत्व है। क्योकि प्रागभाव मे अहेतुकत्व रहते भी नित्य सत्त्वाऽसत्त्व का अभाव रहता है, अहेतुकत्व को नित्य सत्त्वासत्त्व के साथ सम्बन्ध (व्याप्ति) होती, तो व्याप्य निर्हेतुकत्व के रहते वह अवश्य प्राप्त होता। इसीप्रकार निर्हेतुकत्व होते शशविषाण को नित्य सत्त्व नही होता है। यदि कहे कि केवल निर्हेतुकत्व को उक्त व्याप्ति नही है किन्तु 'भावत्वे सत्त्वे सति' निर्हेतुकत्व को नित्य सत्त्व के साथ आकाशादि मे व्याप्ति प्रसिद्ध है, तो यह भी नही कहा जा सकता है, क्योकि इसकी अव्याप्ति है। यत्र अहेतुकत्व तत्र नित्य सत्त्व ऐसी व्याप्ति नही है। स्वभाववादी (चार्वाक) के प्रति व्याप्ति के उदाहरण आकाशादि की असिद्धि से दृष्टान्त का अभाव है, क्योकि भूतचतुष्टयवादी उन चार्वाकादि से आत्मा आकाशादि का अङ्गीकार नही किया गया है। और अहेतुकत्व से नित्यत्वादि प्रसङ्ग का विपर्यय पर्यवसान भी नही होता है। क्योकि (जो निर्हेतुक होता है, वह भाव होता हुआ सदा सत्त्वासत्त्व का अधिकरण होता है)। इसका विपर्यय होगा

करण तत्सहेतुकमित्युपसहारस्थलमस्ति, लोकायतिक बौद्ध प्रति कार्य-कारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धे । ननु विमत सहेतुक प्रागभाववत्त्वाद्यन्निर्हेतु-कम्, न तत्प्रागभाववदात्मवदिति वेदान्तिन प्रति प्रयोग इति चेत्, न, हेतुशब्दार्थानिरुक्तौ सहेतुकत्वस्याप्यसिद्धेरप्रसिद्धविशेषणत्वात् । कारणा-निरुक्तौ च व्यापारवत्कारण कारकमिति कारकलक्षणमप्यपास्तम् । तदेव कारणलक्षण दुर्भणम् ।

तथा कार्यलक्षणमपि—(१) तत्कि कारणाधीनस्वात्मलाभम् ? (२) प्रागभावोपलक्षितसत्तायोगि वा ? (३) प्रागभावप्रतियोगि वा ? (४) प्रागभाववद्वा ? (५) प्रागसत्त्वे सत्युत्तरकालसबन्धि वा ? सर्वथा न निरूपणपथमवतरति—

प्रति व्यतिरेकव्याप्ति दर्शयन् कारणत्व समर्थयति—**नन्विति** । ममापि तावन्न तात्त्विकमस्ति हेतुत्व प्रामाणिकमतस्तद्गर्भसाध्यमप्रसिद्धमित्यर्थ । प्रसङ्गात्कारक-लक्षणमपि दूषयति—**कारणानिरुक्ताविति** ।

कार्यकारणात्मको ह्यय द्वैतवर्गस्तत्र कारणस्य दुर्निरूपत्वान्न तद्वर्गग्राहकप्रमाणै-र्विरोधोऽद्वैतश्रुतीनामित्युक्तम्, इदानी कार्यवर्गस्य दुर्निरूपतया तद्विषयप्रमाणैर्विरोधो नास्तीति दर्शयितु कार्यत्व खण्डयति—**तथा कार्येति** । स्वात्मलाभ सत्तायोगि-

---

कि (जो भाव होता हुआ सदा सत्त्व का अनधिकरण होता है, वह सहेतुक होता है, इस विपर्यय रूप उपसहार का स्थान नही है, क्योकि चार्वाक और बौद्ध के प्रति कार्यकारण भाव ही अभी सिद्ध नही हुआ है । यदि कहे कि चार्वाकादि की कथा का सम्बन्ध युक्त नही है । अत (विवाद विषय पदार्थ, सहेतुक है, प्रागभाव वाले होने से, जो निर्हेतुक होता है, वह प्रागभाव वाला नही होता है आत्मवत्) यह वेदान्ती के प्रति प्रयोग है, इससे कारण की सिद्धि होती है । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि हेतु शब्द के अर्थ की अनिरुक्ति रहते सहेतुकत्व की भी असिद्धि से अप्रसिद्ध विशेषणता होती है । अर्थात् वेदान्त मे भी सत्य हेतुत्व नही है, अत हेतुत्व युक्त साध्य अप्रसिद्ध है । और कारण की अनिरुक्ति रहते व्यापार वाला कारण कारक होता है, यह कारक का लक्षण भी अपास्त हो गया । इस उक्त रीति से कारण का लक्षण दुर्भर है ।

उक्त रीति से कार्य का लक्षण भी दुर्भर है, क्या वह कार्य, कारणाधीन स्वरूप लाभ वाला है, या प्रागभाव से उपलक्षित सत्तासम्बन्ध वाला है, या प्रागभाव का प्रतियोगी है, या प्रागभाव वाला है, या पूर्वकाल मे असत् होता हुआ उत्तर काल मे सम्बन्ध वाला है । सर्वथा निरूपण मार्ग मे कार्य नही आता है । क्योकि—

अनिरुक्तेरतिव्याप्तेरव्याप्तेस्तदसभवात् ।
अतिप्रसङ्गतोऽव्याप्तेर्मतुबर्थानिरूपणात् ॥ ५९ ॥

न तावदाद्य, कारणस्यानिरुक्तौ तदधीनस्वात्मलाभस्याप्यनिरुक्ते । न द्वितीय, आत्मादीनामपि कार्यत्वप्रसङ्गात् । घटादौ सत्ताया एव प्रागभावेनोपलक्षितत्वात्तस्याश्च तत्र भावात् । स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वमिति लक्षणविवक्षायामननुगम एव । सत्ताविरहिण प्रध्वसस्याकार्यत्वप्रस-

त्वम्, अभावप्रतियोगित्वमभाववत्त्वम्, उत्तरकालसत्त्व चेत्येतत्सर्व नित्यस्याप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं पञ्चस्वपि पक्षेषु प्रथमविशेषणानि ।

श्लोकेन दूषणानि सगृह्णाति—**अनिरुक्तेरित्यादिना** । प्रथमपक्षे कारणानिरुक्तौ तदधीनात्मलाभत्वमप्यनिरुक्तमित्यसिद्धि । द्वितीये त्वात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्ग । घटादिप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्वादेकत्वात्सत्ताया इत्यतिव्याप्ति । अथ स्वप्रागभावोपलक्षितसत्तायोगित्व विवक्षितम, तत्राह—**अव्याप्तेरिति** । स्वशब्दार्थाननुगमादव्याप्तिरित्यर्थ । पूर्वोक्तातिव्याप्तितादवस्थ्य च । तृतीये दोषमाह—**तदसंभवादिति** । तत्र हि प्रागभावप्रतियोगित्व किं प्रागभावेनैकदेशानवस्थानम् ? किं वैककालानवस्थायित्वम् ? आद्येऽसभव, प्रागभावकार्ययोरेकस्मिन्कारणे वृत्ते । द्वितीये प्राह—**अतिप्रसङ्गत इति** । अस्ति हि कालस्यापि प्रागभावेनैककालानवस्थानम् । काले वृत्त्यभावादित्यर्थ । तथा प्रागभावेत्यत्र यत्किंचित्प्रागभाव प्रागभावत्वेन विवक्षित ? स्वप्रागभावो वा ? आद्ये प्राह—**अव्याप्तेरिति** । घटादेरपि यत्किंचित्प्रागभावेन सहावस्थानात्तेष्वव्याप्तिरित्यर्थ । द्वितीये त्वात्मादावतिप्रसङ्ग वक्ष्यति, स्वशब्दार्थाननुगमादव्याप्ते । चतुर्थे प्राह—**मतुवर्थेति** । किं प्रागभावाधिकरणत्व प्रागभाववत्त्वम् ? किं वा तत्प्रतियोगित्वम् ? आद्ये, सुखादिप्रागभावाधिकरणात्मादावतिव्याप्ति । द्वितीये तु तृतीयपक्षोक्तदोष इति भाव । पञ्चमपक्षेऽव्याप्तिमनुषञ्जयिष्यति विशदग्रन्थेन । सग्रह विवृणोति—**न तावदित्यादिना** ।

अनिरुक्ति, अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, असम्भव, अतिप्रसङ्ग, अव्याप्ति, मतुबर्थ का अदर्शन से सर्वथा अनिरूपणीय है ॥ ५९ ॥

आद्य लक्षण युक्त नही है, क्योकि कारण की अनिरुक्ति रहते तदधीन आत्मलाभ की भी निरुक्ति नही हो सकती है । द्वितीय पक्ष भी युक्त नही, सामान्य रूप से आत्मा आदि भी प्रागभावोपलक्षित सत्ता वाला है, अत उसमे अतिव्याप्ति होती है । क्योकि घटादि मे सत्ता को ही प्रागभाव से उपलक्षितत्व है, और उसी सत्ता का आत्मादि मे भाव (सत्त्व) है । और स्वप्रागभावोपलक्षित सत्तायोगित्व, लक्षण की विवक्षा करने पर अननुगम ही होगा । और सत्तारहित ध्वसादि को अकार्यत्व

ङ्गाच्च । न तृतीय, प्रतियोगिशब्देनैकदेशानवस्थानाभिधाने लक्षणस्यासभवित्वात्, कार्यतत्प्रागभावयो कारणे वृत्ते, एककालानवस्थाने तु कालस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, कालस्य कालान्तराभावेन प्रागभावेनैकस्मिन्कालेऽनवस्थानात् । घटादेरपि कार्यस्य यत्किंचित्प्रागभावेन सहावस्थानादसभवदोषस्तदवस्थ ।

स्वप्रागभावेन सहानवस्थाने चात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्ग, तेषा प्रागभावाभावेन तेन सहानवस्थानात् । न चतुर्थ, मतुबर्थस्याधिकरणार्थतायामात्मादेरपि कार्यत्वप्रसङ्गात् । तेषामपि सुखादिकार्यप्रागभावाधिकरणत्वात् । प्रतियोगिपरत्वे पूर्वदोषानुषङ्गात् । न पञ्चम, उत्तरकालस्याकार्यत्वप्रसङ्गात् । तस्योत्तरकालसबन्धित्वाभावात् । अथ नोत्तरकाल कार्य नित्यत्वात्तस्येति चेत्, न, प्रागभावस्यापि कार्यत्वप्रसङ्गात्, तस्य प्रागसद्रूप-

---

यत्तद्रक्ष्यतीत्युक्त तदाह-**स्वप्रागभावेनेति** । यच्चानुषञ्जयिष्यतीत्युक्त तदाह-**उत्तरकालस्येति** । तस्मिन्नेव पक्षेऽतिप्रसङ्गान्तरमाह—**न प्रागभावस्येति** ।

प्राप्त होता है, उनमे लक्षण की अव्याप्ति होती है । तृतीय भी युक्त नही, क्योकि प्रतियोगी शब्द से एकदेश मे अनवस्थिति को कहने पर, लक्षण को असम्भावितत्त्व होगा । कार्य और प्रागभाव दोनो की कारण मे वृत्ति होने से एकदेश मे अनवस्थिति नही कही जा सकती है । प्रागभाव के साथ एककालानवस्थिति विवक्षित हो तो काल को भी कार्यत्व प्राप्त होगा, क्योकि कालान्तर के अभाव से प्रागभाव के साथ एक काल मे काल का अनवस्थान रहता है । और घटादि कार्य को भी यत्किञ्चित गुणादि प्रागभाव के साथ स्थिति से असम्भव दोष तदवस्थ रहता है ।

स्वप्रागभाव के साथ अनवस्थान के विवक्षित होने पर, आत्मादि को भी कार्यत्व प्राप्त होगा, क्योकि आत्मादि के प्रागभाव के अभाव होने से, उसके साथ अनवस्थान रहता है । चतुर्थ (प्रागभाववत्त्व) लक्षण भी युक्त नही । क्योकि मतुप् (मत् = वत्) को अधिकरणार्थता हो, तो आत्मादि को भी कार्यत्व प्राप्त होता है, क्योकि आत्मादि को भी सुखादि कार्य के प्रागभाव का अधिकरणत्व रहता है । प्रतियोगिपरत्व होने पर भी पूर्वोक्त तृतीय लक्षण वर्णित दोष प्राप्त होता है । प्रागसत्त्वे सति उत्तर काल सम्बन्धि, रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नही । क्योकि उत्तर काल को अकार्यत्व प्राप्त होता है, उसको उत्तरकालसम्बन्धित्व का अभाव है, यदि कहा जाय कि उत्तर काल के नित्य होने से उत्तर काल कार्य नहीं है, अत उसमे अकार्यत्व प्राप्ति दोष नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि काल को नित्य होने से यदि उत्तर कालत्व रूप औपाधिक रूप से कार्यत्व नही हो तो, प्रागभाव नित्य

त्वात्, किंचिच्चापेक्ष्योत्तरकालसबन्धित्वाच्च । प्रागसत्त्वशब्देन प्रागभाववत्ता विवक्षितेति चेत्, न, मतुबर्थानिरूपणात्, कालसबन्धपदस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च । एतेन नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्यमित्यपि परास्तम्, कारणानिरुक्तौ तदपेक्षया नियतोत्तरक्षणवर्तित्वस्यानिरूपणात् । कालानिरूपणाच्च न पूर्वोत्तरक्षणभाव कारणकार्यभाव ।

तथाहि—

प्रत्यक्षागोचरत्वेन परत्वादेरलिङ्गत ।
स्वरूपतोऽनिमित्तत्वादुपाधौ निष्फलत्वत ।। ६० ।।

वैयर्थ्येति । प्रागभाववत्त्वमित्युक्ते क्वातिव्याप्तिर्योत्तरकालसबन्धपदेन व्यावर्त्यतेत्यर्थ । एतेनेत्यस्यैव विवरणम्—**कारणानिरुक्ताविति** । नहि किंचिदपेक्षया नियतत्वमपि विवक्षितमतिप्रसङ्गादिति भाव ।

तत्र काले प्रमाण दूषयति श्लोकेन—**प्रत्यक्षेति** । न तावत्प्रत्यक्षप्रमाणम्, रूपादिरहितद्रव्यत्वेन बाह्यत्वेन च बहिरन्त करणागोचरत्वात् । नाप्यनुमानम्, परत्वादेस्तल्लिङ्गत्वाभावात् । ननु तज्जन्यत्वात्परत्वादे किमिति न तल्लिङ्गत्वम् ? तत्राह—**स्वरूपत इति** । किं कालस्वरूपमात्र परत्वादिनिमित्तम् ? किं वा तद्विशेष ? नाद्य, कालस्याविलक्षणत्वेन विलक्षणपरत्वादेस्ततोऽनुपपत्ते । न द्वितीय, स्वतो विशेषाभावात् । अथोपाधिकस्तत्राह—**उपाधौ निष्फलत्वत इति** । तैरेवोपाधिभि परत्वादिव्यवहारसिद्धेर्विफला कालकल्पनेत्यर्थ । ननु दिवाकरपरिस्पन्दभेदास्तावदुपाधय, नच तेषा पिण्डै साक्षात्सबन्ध, परिस्पन्दक्रियाया दिवाकरवर्तित्वात् । नचासबद्धाना पिण्डेषु व्यवहारजनकत्वमतिप्रसङ्गात्, अतस्तत्सबन्धकतया

नही है, प्रागभाव को भी कार्यत्व प्राप्त होगा, क्योकि उसकी प्रागसत्त्व (प्रागभाव) रूपता है, और किसी की अपेक्षा से उत्तर काल सम्बन्धित्व भी प्रागभाव मे रहता है । प्रागसत्त्व शब्द से प्रागभाववत्ता विवक्षित है, यह भी नही कह सकते है, क्योकि मतुप् के अर्थ का निरूपण नही हो सकता है, और कालसम्बन्ध पद को व्यर्थता प्राप्त होती है । क्योकि प्रागभाववत्त्व कहने ही से काम चल जाता है, कही अतिव्याप्ति नही होती है कि जिसका काल सम्बन्ध पद से निवारण हो । इसीसे नियतोत्तरक्षणवर्ति कार्य होता है । यह लक्षण भी निरस्त हो गया । क्योकि कारण की अनिरुक्ति रहते, कारण की अपेक्षा से उत्तरक्षणवर्त्तित्व का निरूपण नही हो सकता है । और काल के अनिरूपण से पूर्वोत्तरक्षणभाव रूप कारण कार्यभाव नही हो सकता है । क्योकि—

काल के प्रत्यक्ष के अविषय होने से, परत्वादि के अलिङ्ग होने से, स्वरूप से अनिमित्त होने से उपाधि के होने पर काल मे निष्फलता से और सूर्य क्रिया का

दिवाकरपरिस्पन्दपिण्डसङ्गतिसभवात् ।
व्यापिनश्चेतनादेव कथ काल प्रसिद्धयति ॥ ६१ ॥

न तावत्काले प्रत्यक्ष प्रमाणम्, द्रव्यग्राहकयोश्चक्षुस्पर्शनयोस्तस्मिन् रूपविरहिणि स्पर्शविधुरे चाप्रवृत्ते, मनसश्च बाह्येन्द्रियनिरपेक्षस्य बहिरप्रवृत्ते, अननुभवाच्च। नाप्यनुमानम्, तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्। परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यया प्रत्येक लिङ्गमिति चेत्, न, तेषा निरुपाधिककालनिबन्धनत्वे प्रत्ययवैलक्षण्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। तपनपरिस्पन्दभेदलक्षणोपाधिकवलितकालाधीनत्वे तूपाधिभिरेव तत्सिद्धे, कृत

कालकल्पनेति, तत्राह—**दिवाकरेति**। य खलु विभुरात्मा परमेश्वरस्तत एव दिवाकरपरिस्पन्दाना पिण्डाना च सगतिसभान्न तत्सिद्धयर्थमपिकाल कल्प्य इति श्लोकयोरर्थ ।

यथाक्रम विवृणोति—**न तावदित्यादिना**। परत्वादेरलिङ्गत इत्यस्य शङ्कामाह—**परापरेति**। तत्र परापरादिषट्क किं कालगुणतया स्वसमवायित्वेन त कल्पयति ? कि वा तदसमवायिकारणतया ? किं वा तन्निमित्तकतया ? नाद्य, कालस्य विभुतया पञ्चमात्रगुणतया च तद्गुणकत्वाभावात्। नापि द्वितीय, द्रव्यस्यासमवायिकारणत्वाभावात्। गुणकर्मणोरेव हि तत्त्वात्। नापि तृतीय, अपेक्षाबुद्धेरेव निमित्तत्वोपपत्ते । भवतु वा यथातथापि, कि कालमात्र निमित्तम् ? तद्विशेषो वा ? नाद्य इत्याह—**न, तेषामिति**। द्वितीयेऽपि किं स्वतो विशेष ? औपाधिको वा ? नाद्य, अपराद्धान्तात्। द्वितीये प्राह—**तपनेति**। भेदो विशेष । अत्र श्रीवल्लभोदीरितकालसमर्थनरीतिमुद्भावयति तन्निवर्तकतयोत्तरश्लोकमवतार-

---

शरीर के साथ सम्बन्ध सभव से, और व्यापक चेतन से ही सम्बन्ध सम्पादित हो सकता है। अत काल कैसे सिद्ध होगा ॥ ६०–६१ ॥

अर्थात् काल मे प्रत्यक्षप्रमाण नही है। क्योकि द्रव्यग्राहक नेत्र और त्वग् इन्द्रिय की रूप स्पर्शरहित उस काल मे प्रवृत्ति नही हो सकती है। और बाह्य इन्द्रिय की अपेक्षारहित मन की बाहर प्रवृत्ति नही होती है, मन आदि से काल के ग्रहण का अनुभव भी नही होता है। काल मे अनुमान भी प्रमाण नही है, क्योकि उस काल के साथ प्रतिबद्ध (सम्बद्ध व्याप्त) लिङ्ग का अभाव है। यदि कहे कि कालिक पर अपर=ज्येष्ठ, लघु, यौगपद्य, अयौगपद्य=समकालिकत्व, असमकालिकत्व, चिर क्षिप्र= विलम्ब शीघ्र का ज्ञान प्रत्येक कालानुमान मे लिङ्ग है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि उन ज्ञानो को निरुपाधिक एककाल निमित्तक होने पर, ज्ञानो मे विलक्षणता की अनुपपत्ति होगी। सूर्य की क्रियाविशेष रूप उपाधि गर्भित कालाधीनत्व ज्ञानो मे होने पर तो उपाधियो (सूर्यक्रियाओ) से ही उन भिन्न प्रकार वाले ज्ञानो के सिद्ध

कालकल्पनया ? ननु 'तरणिपरिस्पन्दभेदाना युवस्थविरादिपिण्डै स्वत सबन्धासभवेन दिवसमासादिविशिष्टप्रत्ययजनकत्वायोगात्पिण्डचण्डरोचि - परिस्पन्दयो परपरासबन्धसपादक काल स्वीकर्तव्य । स च सबन्ध. सयुक्तसयोगिसमवायात्मा । न च तत्र पृथिव्यादिचतुष्टय हेतु, तस्य तपनपिण्डाभ्या नियमेन ससर्गाभावात् । न च दिनकरकरनिकरस्तथा,

---

यितुम्—**नन्विति ।** तरणि सूर्य । अनुभूयते तावदन्वयव्यतिरेकाभ्या तरणिपरिस्पन्दविशेषाणा युवस्थविरशरीरादिपिण्डेषु मासादिविचित्रबुद्धिजननद्वारेण तदुपहितेषु परत्वापरत्वादिबुद्धिजनकत्वम्, न च तैरसबद्धाना तत्र बुद्धिजनकत्वम्, नच साक्षात्सबन्धो रविपरिस्पन्दाना पिण्डैरस्त्यत तत्सबन्धकतया कश्चिदष्टद्रव्यविलक्षणो द्रव्यविशेष स्वीकर्तव्य, तस्य च काल इति सज्ञेति । ननु स्वीकृतेऽपि तस्मिन् किं तपनपरिस्पन्दा पिण्डेषु समवयन्ति, तस्मात्कल्पितोऽप्यसत्कल्प, इति तत्राह—**स च संबन्ध इति ।** यद्यपि न साक्षात्सबन्धस्तथापि पिण्डसयुक्तकालसयोगवति तपने समवेताना परिस्पन्दाना सयुक्तसयोगिसमवायोऽस्ति सबन्ध अत स्वसयुक्तवर्तिधर्माणा स्वसयुक्तवस्त्वन्तरे सक्रामक कश्चित्कालनामा स्वीक्रियते इत्यर्थ । ननु तथापि कथ तस्य नवमत्वम ? यावता पृथिव्यादिभिरेवायमर्थ शक्यसपादन इति, तत्राह—**न च तत्र पृथिव्यादीति ।** तेषु तावन्नित्यवर्गस्य परमाणुतया अतिदूरवर्तितपनपिण्डयोर्न सबन्धकत्वम्, अनित्यवर्गस्याप्यनवस्थिततया सकलवस्त्वससर्गाच्च न नियमेन सबन्धकत्वमित्यर्थं । ननु सवितृकिरणैरेव सवितृपिण्डसबद्धैरय सबन्ध सपाद्यतामिति, तत्राह—**न च दिनकरेति ।** निखातवस्तुषु किरणसबन्धाभावेऽपि मासादिवैशिष्ट्यप्रतीतेस्तत्रापि रविपरिस्पन्दसबन्धसपादनक्षम कश्चित्कल्प्य इत्यर्थं । ननु तर्ह्याकाश आत्मा वा सबन्धसपादकौ भवतस्तयो सर्वससर्गितया सर्वोपपत्ति-

---

होने पर, काल की कल्पना का फल नही है । यहा शका होती है कि सूर्य के क्रियाविशेषो का युवा, वृद्धादि शरीरो के साथ दूरता के कारण स्वत साक्षात् सम्बन्ध नही रहता है । और सम्बन्ध के अभाव से शरीरादि मे दिवसपरिमाणवत्त्व मासादियुक्त ज्ञान के जनकत्व के प्रयोग से, नही बन सकने से, शरीर और सूर्य-क्रिया के परम्परा सम्बन्ध का साधक काल स्वीकर्तव्य है । वह सम्बन्ध (सयुक्त-सयोगि समवाय स्वरूप) है । वहाँ शरीर सयुक्त काल के साथ सयोगी सूर्य मे सूर्य-क्रिया का समवाय रहता है । और इस परम्परा सम्बन्ध से सूर्यक्रिया द्वारा दिवस, मासादि की सिद्धि और व्यवहार होता है । पृथिवी आदि चार भूत इस सम्बन्ध मे हेतु नही हो सकते है । क्योकि अविभु होने से शरीर और सूर्य के साथ नियम से इनके सम्बन्ध का अभाव रहता है, सूर्य के किरणसमूह से भी वैसा सम्बन्ध नही सिद्ध हो सकता है, क्योकि सूर्यकिरण के अभाव रहते भी गृहगर्तादि

तदभावे गृहनिखातनिध्यादिषु मासाद्यवच्छेदप्रतीते । न चाकाशात्मान तथा, विशेषगुणवत्त्वात् पृथिव्यादिवत् । न चाव्यापकत्वमुपाधि, एकस्य व्यापकस्य सबन्धोपनायकत्वे व्यापकान्तरस्य तदहेतुतया व्यतिरेकव्याप्तौ साध्याव्यापकत्वेनानुपाधित्वात् । तत परिशेषात्पिण्डसयुक्त कालस्तपनेनापि सयुज्यमानस्तत्समवेतपरिस्पन्दाना परम्परया पिण्डसबन्धहेतु सिद्ध’ इति लीलावतीकार ।

स्तत्राह—**न चाकाशेति । तथेति** सबन्धोपनायकौ । काले व्यभिचारवारणाय विशेषेत्युक्तम् । ननु पृथिव्यादिष्वेवविधसबन्धानापादकत्व न विशेषगुणवत्त्वप्रयुक्तम्, किं तर्ह्यव्यापकत्वप्रयुक्तम, ततस्तद्व्यावृत्तौ किमिति न सबन्धकत्वमनयोरिति, तत्राह—**न चाव्यापकत्वमिति ।** अयमर्थ —त्वयापि तावदाकाशात्मनोरन्यतरस्यैव हेतुत्व मन्तव्यम्, लाघवादनुगतिलाभाच्च । तथा च व्यापकस्याप्येकस्यासबन्धकत्वे यत्राव्यापकत्व नास्ति, तत्रासबन्धकत्वमपि नास्तीति व्यतिरेकव्याप्तिरेकव्याप्तिग-शक्यसमर्थनेति नायमुपाधिरिति, तदित्थम—प्रसक्तप्रतिषेधमन्यत्राप्रसङ्ग चोक्त्वा शिष्यमाणे सप्रत्यय दर्शयिष्यन्परिशेषमुपसहरति—**तत इत्यादिना ।** नच दिगेव

मे रखी गई निधि आदि मे मासादि भेद की प्रतीति होती है । आकाश, आत्मा भी उक्त सम्बन्ध के साधक नही हो सकते है, विशेष गुण वाले होने से भूमि आदि के तुल्य विशेष कारण है । यहाँ शका होती है कि (आकाश और आत्मा, सम्बन्ध सम्पादक नही है । विशेष गुण वाला होने से, भूमि आदि के समान) इस अनुमान मे अव्यापकत्व उपाधि है, अर्थात् पृथिवी आदि मे उक्त सम्बन्धानापादकत्व मे विशेष-गुणवत्त्व हेतु नही है, किन्तु अव्यापकत्व हेतु है, उस अव्यापकत्व के अभाव से आकाश और आत्मा मे सम्बन्धापादकत्व सिद्ध होता है, कालकल्पना की आवश्यकता नही है । इस शका का समाधान है, कि अव्यापकत्व उपाधि नही हो सकता है । क्योकि एक काल न मानकर विभु होने से आत्मा और आकाश इन दोनो को सम्बन्धापादक नही माना जा सकता है, किन्तु लाघव से किसी एक ही को माना जायगा, तो इसप्रकार से एक के सम्बन्ध के उपनायक (हेतु) होने पर, व्यापकान्तर (आत्माकाश मे से एक की सम्बन्ध अहेतुता) से व्यतिरेक व्याप्ति (यत्राव्यापकत्वाभाव = तत्रासम्बन्धकत्वाभाव) मे साध्य के अव्यापकत्व होने से उपाधित्व नही हो सकता है । अर्थात् आत्मा और आकाश मे से एक के सम्बन्धापादक होने पर भी एक मे आपादकत्व का अभाव रहता ही है अत उक्त व्यतिरेकी व्याप्ति नही हो सकती है । अत अन्य सम्बन्धक न होने पर परिशेष से शरीर मे सयुक्त काल सूर्य के साथ सयुक्त होता हुआ, उस सूर्य मे समवेत परिस्पन्दो (क्रियाओ) का परम्परा से शरीर के सम्बन्ध का हेतु सिद्ध होता है, यह लीलावतीकार का कथन है ।

मैवम्, उभयवादिसप्रतिपन्नात्मनैव वस्तूनामुपाधिसबन्धसिद्धेरतिरिक्त-द्रव्यकल्पनाया कल्पनागौरवप्रसङ्गात् । न च विशेषगुणवत्त्वादात्मन पृथिव्यादिवदुपाधिसबन्धानुपनायकत्वम्, विशेषगुणवैधुर्येण मनोवदेव भवदभिमतकालेऽप्युपाध्यनुपनायकत्वप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् । अव्यापकत्वो-पाधेस्त्वयैव निवारितत्वात् । ननूपाधिसबन्धोपनायकत्वेनैव कालसिद्धेस्त-त्पक्षीकारेण तद्विपर्ययप्रसञ्जने धर्मिग्राहकप्रमाणबाधस्तदसिद्धावाश्रया-

---

माऽस्त्विति वचनीयम् । कालविप्रतिपत्तुर्दिश्यपि समानत्वात्, सिद्धत्वेपि तत्कृतपर-त्वापरत्वव्यवहारादेस्तत्कृतस्य विलक्षणत्वादिति ।

एतन्निरासपरतया द्वितीयश्लोक योजयति—**मैवमित्यादिना** । पूर्ववाद्यनुशय-मुन्मूलयति—**न च विशेषगुणेति** । न तावद्विशेषगुणवत्त्वानुपनायकत्वयोर्व्यभिचारे किंचिद् बाधकमस्ति, तस्मात्साधर्म्यसमेयम् । अथैवमपि न प्रतिबुध्यसे, तर्हि विशेष-गुणराहित्यस्यानुपनायकत्वस्य चास्ति साहचर्य मनसीति तावककालस्याप्यनुपनायक-तापात इति व्याहतिभार वहत्वय वावदूकवादिगर्दभ इत्यभिसधिराह—**विशेषगुण-वैधुर्येणेति** । ननु न विशेषगुणविधुरत्वमनुपनायकत्वे प्रयोजकम्, किं तर्ह्यव्याप-कत्वम्, कालस्तु तद्विपरीत इति, तत्राह—**अव्यापकत्वेति** । अत्रापि हि पूर्ववद-व्यापकत्वनित्यनिवृत्तावनुपनायकत्वस्याकाशादौ व्यभिचारेण साध्याव्यापकत्वादि-त्यर्थ । ननु यदिदमभिधीयते यदि विशेषगुणवतामेवेदमनुपनायकत्व तर्हि विशेषगुण-रहितत्वादेव कालस्यापि मनोवदनुपनायकत्व स्यादिति प्रसञ्जन प्रसाधन वा काल-

---

परन्तु ऐसी शका युक्त नही, क्योकि उभयवादी को निश्चित आत्मा द्वारा ही शरीरादि वस्तु और सूर्य परिस्पन्द रूप उपाधि के सम्बन्ध के सिद्ध हो सकने से अतिरिक्त काल रूप द्रव्य की कल्पना मे कल्पनागौरव का प्रसङ्ग होता है। विशेष गुणवत्त्व होने से पृथिवी आदि के समान आत्मा को उपाधि सम्बन्ध जनकत्व नही हो सकता है, यह नही कहा जा सकता है। क्योकि यदि पृथिवी आदि के समान विशेष गुणवत्त्व से आत्मा उपाधि सम्बन्ध का हेतु नही हो, तो कहा जा सकता है कि विशेष गुण के अभाव से मन के समान ही आपके अभिमत काल मे भी उपाधि सम्बन्धाजनत्व का प्रसङ्ग दुर्वार होगा। यदि कहे कि मन मे उपाधिसम्बन्धा-जनकत्व विशेषगुणरहित होने से नही है किन्तु अव्यापकत्व उपाधि से है, अत मन के दृष्टान्त से काल मे सम्बन्धाऽजनकत्व का अपादन नही हो सकता है, तो यह कहना नही बन सकता है, क्योकि अव्यापकत्व उपाधि का आपने ही निवारण किया है। यदि शका हो कि सूर्यक्रिया रूप उपाधि सम्बन्धजनकत्व से ही काल की सिद्धि होने पर, उस काल को पक्ष बनाकर, मन के समान उस काल मे सम्बन्ध-जनकत्व के विपर्यय को साधने मे धर्मीग्राहक प्रमाण से बाध प्राप्त होगा, और

सिद्धिरिति चेत्, न, प्रतिवादिप्रसिद्धतामात्रेणैवाश्रयतोपपत्तेरसकृदुपपादितत्वात्। विशेषगुणविधुरत्व तरणिस्पन्दससर्गोपनायकवृत्ति न भवति विशेषगुणशून्यमात्रवृत्तित्वात् मनस्त्ववदिति कालवादिन प्रति प्रकारान्तरेणापि निरुक्तिसभवाच्च। न च परत्वापरत्वगुणासमवायिकारणसयोगाश्रयतया कालसिद्धि, परत्वापरत्वयोरेवासिद्धे। न च परापरत्वव्यवहारानुपपत्त्या

मधिकृत्य, तदयुक्तम्, कालसिद्धावसिद्धौ च तदनुपपत्तेरिति शङ्कित्वा परिहरति—**न, प्रतिवादीति।** एतेनेदमपास्त यदाह स एव—'यदि गगनमात्मा वाऽन्यधर्मेणान्यदवच्छिन्द्यात्काश्मीरवर्तिना कुङ्कुमरागेण कर्णाटकचक्रवर्तिकरकमलमवच्छिन्द्यात्। नच कालेऽप्येष प्रसङ्ग, तस्यासिद्धावाश्रयासिद्धे, सिद्धौ वा परापरनियतधर्मो‍ सक्रामकत्वस्वभावेनैव सिद्धेरिति। देहात्मवादिवत्प्रतीतिमात्रसिद्धस्याश्रयतोपपत्तौ दोषद्वयानास्कन्दनादिति। किच कालमङ्गीकृत्यापि स्वभाव एव शरणम, तदीश्वरस्यैवास्त्वय स्वभाव वृथानिरिक्तकल्पना। किंचोभयसप्रतिपन्नकिंचित्पक्षीकारेण काल-पक्षीकारव्यतिरेकेणैव विशेषगुणशून्यस्योक्तधर्मानुपनायकत्वस्य शक्यानुमानत्वात्क्षुद्रतरोऽय दोष इत्याह—**विशेषगुणेति।** सत्तादौ व्यभिचारनिवारणाय मात्रग्रहणम्। असिद्धिपरिहाराय विशेषपदम्। ननु याविमौ परत्वापरत्वगुणावनुभूयेते एतयोस्तावदसमवायिकारणेन केनचिद्भवितव्यम्, भावकार्यत्वात्। तच्च गुण कर्म वा स्यात्, तत्राप्यन्यगतत्वेन प्रत्यासत्त्यभावान्न रविपरिस्पन्द। अव्यवस्थितत्वाच्च न रूपादि। नाप्येकत्वादि द्वित्वादि, वैषम्यात्। नच कारणनिष्ठपरत्वादि, अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात्। तस्मात्कालविशेषपिण्डयो सयोगादसमवायिकारणात् समवायिकारणेषु पिण्डेष्विमावुत्पद्येते, दिग्विशेषपिण्डसयोगाच्च दिक्कृतौ। यथाहुर्भाष्यकृत—"परेण कालप्रदेशेन सयोगात्परत्वमुत्पद्यते, अपरेण कालप्रदेशेन सयोगादपरत्वस्योत्पत्तिरिति, तस्मादेतयोरसमवायिकारणभूतसयोगाश्रयतया कालसिद्धि", इति, तत्राह—**न च परत्वापरत्वेति।** ननु कथ परत्वापरत्वयोरसिद्धि? यावता यद्विशिष्टे द्रव्ये परम-

---

काल की असिद्धि रहते आश्रयाऽसिद्धि होगी। तो यह शका युक्त नही, क्योकि प्रतिवादी की प्रसिद्धता मात्र से ही काल मे आश्रयता की सिद्धि होती है, इसका कई बार उपपादन हो चुका हे। और (= विशेषगुणशून्यता, सूर्यस्पन्दसम्बन्धजनकवृत्ति नही रहती है, विशेष गुणशून्यमात्रवृत्ति होने से, मनस्त्ववत्) इस प्रकार से कालवादी के प्रति प्रकारान्तर से (काल को पक्ष करने बिना) भी निरुक्ति (प्रयोग) का सम्भव है। यदि कहा जाय कि परत्व, अपरत्व गुण के असमवायिकारण सयोग के आश्रय रूप से काल की सिद्धि होती है, तो कहना नही बनता है, क्योकि परत्व, अपरत्व की असिद्धि है (कालिक परत्व, अपरत्व है नही) ज्येष्ठत्व, लघुत्वादि व्यवहार के हेतु परत्वापरत्व की सिद्धि सूर्यस्पन्द के

तत्सिद्धि, प्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वेनैव तत्सिद्धे । अन्यथा परत्ववन्मध्यमत्वस्यापि गुणान्तरस्य स्वीकार स्यादिति भूषणभाषितदूषण-प्रसङ्गात् । न च तरणिपरिस्पन्दाना प्राचुर्यमल्पत्व च न सख्याभेदो, नापि परिमाणविशेषो, निर्गुणे कर्मण्यसभवादिति वाच्यम्, भवन्मते परत्वापरत्व-हेतुभूताया अपेक्षाबुद्धेर्यद्विषयनिबन्धन वैचित्र्य तस्यैवास्माभि प्रचुराल्पतर-शब्देनाभिलापात् । अपेक्षाबुद्धे स्वभावभेदादेव वैचित्र्यव्यवहारहेतुत्व न

परमिति बुद्धी जायेते ते परत्वापरत्वे इति लक्षणप्रमाणयोर्भावात्, तत्राह—**न च परेति ।** यस्य हि यदपेक्षया भूयोभिस्तरणिपरिस्पन्दैरन्तरित जन्म तत्तदपेक्षया परम्, यस्य च यदपेक्षया स्तोकतरणिपरिस्पन्दान्तरित जन्म तत्तदपेक्षयाऽपरमिति व्यवह्रियते इत्युपाधितोऽप्युपपन्नत्वान्नातिरिक्तगुणकल्पिकेयमित्यर्थ । अत एव च पूर्वोत्पन्नत्व परत्व पश्चादुत्पन्नत्वमपरत्वमिति भासर्वज्ञमते लीलावतीकारेण यद् दूषणमुक्तम्—'पूर्वपश्चाद्भावस्य परापरातिरिक्तस्य निर्वक्तुमशक्यत्वा'दिति, तदपि परिहृतम्, पूर्वापरयोरुपरोधनात्तरणिपरिस्पन्दप्राचुर्याल्पत्वमात्रेणैव समर्थनादिति । अतश्चैवमेवाश्रयणीयम्, इतरथा मध्यमोऽयमिति व्यवहारान्मध्यमत्वमपि कश्चिद् गुण स्यात् । नहि तत्रोक्तरीतिमन्तरेण शरणमित्याह—**अन्यथेति ।** लीलावती-कारस्तु सयोगाल्पत्वभूयस्त्वे विकल्प्य दूषयाबभूव, तद्रीतिमत्राप्युद्भाव्य दूषयति—**न च तरणीति ।** अवश्य तावद्युवानमवधि कृत्वा स्थविरे विप्रकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते स्थविरमवधि कृत्वा यूनि च सन्निकृष्टा बुद्धिरुत्पद्यते इत्यपेक्षाबुद्धित परत्वादिसभव-मभ्युपगच्छता परत्वापरत्वजनकबुद्ध्यो परस्पर विशेषो वक्तव्य । स च विषयगत-प्रचुराप्रचुरतरणिपरिस्पन्दान्तरितजन्मव्यतिरेकेण दुर्निरूपस्ततो यादृश प्राचुर्या-प्राचुर्य तवाभिमत तादृशमेव ममापीत्यर्थ । ननु न विषयविशेषकृतो बुद्ध्योर्विशेष, किंतु स्वरूपसामर्थ्यनिबन्धन, यथाह श्रीवल्लभ—'अपेक्षाबुद्धेर्विषयवैचित्र्यमन्तरे-णापि विचित्रकार्यजननशीलत्वेन विलक्षणफलजनकत्वाविरोधा'दिति । तदेतदुद्भाव-यति—**अपेक्षेति ।** एवविध स्वभाववैचित्र्य परापरबुद्ध्योरेव कल्प्यताम्, लाघवादा-

---

न्यूनाधिक अन्तरित जन्मत्व से ही होती है । अत परत्वादि के लिये काल को मानने की आवश्यकता नही है । अन्यथा परत्व, अपरत्व के समान मध्यमत्व रूप गुणान्तर का भी स्वीकार करना प्राप्त होगा, यह भूषण कथित दोष का प्रसङ्ग होगा । यदि कहे कि कर्म रूप सूर्यपरिस्पन्दो को बहुत्व और अल्पत्व न सख्या-विशेष रूप हो सकता है, न परिमाणविशेष रूप ही हो सकता है, क्योकि निर्गुण कर्म (परिस्पन्द) मे सख्या और परिमाण का होना असम्भव है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि आपके मत मे परत्वापरत्व के हेतु रूप अपेक्षाबुद्धि मे जिस

विषयभेदापेक्षयेति चेत्, मैवम्, परापरबुद्धयोरप्यन्तरेणैव विषयवैचित्र्य स्वभावभेदादेव तथाविधव्यवहारहेतुत्वप्रसङ्गात्। तथा नीलपीतादिबुद्धीनामपीति तथागताना त्वयैव दत्त स्वहस्त स्यात्। तदेव न कालसद्भावसिद्धि।

वश्यकत्वाच्च, वृथा तदतिरिक्तबुद्धिकल्पनापीत्याह—**मैवमिति**। अतिप्रसङ्गदर्शनपूर्वकमपराद्धान्तप्रसङ्ग चाह—**तथा नीलेति**। तथागता बौद्धा। भवेता वा यथातथा परत्वापरत्वे, तथापि तदसमवायिकारणसयोगाश्रय परमेश्वर एव प्रागुपपादितरीत्या घटते इति वृथा कालकल्पना। नचातिप्रसङ्ग, कालवदेव पदार्थविशेष एव तत्प्रवर्तकत्वात्। किच परम्परात्मकस्तावन्न सबन्धो भवन्नये, तस्मात रविपरिस्पन्दपिण्डस्वाभाव्यतो ह्यसौ, स्वीकृतेऽपि काले न तत्सयोगमात्रात्परत्वादिगुणोत्पत्तिरविशेषात्, उपहितकालसयोगाधीनत्वेऽप्युपाधिकाल्योरुपाधिपिण्डयोर्वा न साक्षात्सबन्ध। नच सयुक्तसयोगसमवायात्मक कश्चित्सबन्धो भवन्नये भावाभावान्तर्गततया शक्यनिरूपण। तस्माद्यथा समवायाभावयो स्वभावादेव सबन्धव्यवहारजनकत्वमेव तरणिपरिस्पन्दानामेव स्वभावविशेषवशात पिण्डेषु परत्वापरत्वव्यवहारजनकत्वमस्तु, कृतमन्तरालेऽजागलस्तनायितकालकल्पनयेति। एतेन परत्वापरत्वासमवायिसयोगाश्रयो विभु काल, परापरयौगपद्यायोगपद्यादिप्रत्ययलिङ्ग काल, नित्य परत्वापरत्वासमवायिकारणीभूतसयोगाश्रयो, द्रव्यनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिजातिमत्त्वरहित परत्वजनकसयोगवान्काल—इत्यादीनि श्रीवल्लभप्रशस्तपादशिवादित्यमिश्रादिकल्पितकाललक्षणान्यपि प्रतिक्षिप्तानि मन्तव्यानि, परत्वादिजनकसयोगस्यात्मन्येवोपपादनेन विशेषणासिद्धेरिति।

अनुमानानि तु समनन्तरमेव दिक्खण्डने पुरा निरस्यन्ते। इदानी दिशो

विषयनिमित्तक विचित्रता होती है, उसी को हम प्रचुर अल्पतर शब्द से कहते है। यदि कहे कि अपेक्षाबुद्धि को स्वभावविशेष से ही विचित्रता के व्यवहार का हेतुत्व होता है, विषयविशेष की अपेक्षा से नही, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि इसप्रकार से परापर बुद्धि को ही विषय की विचित्रता के बिना ही स्वभावविशेष से ही तथाविध (परापर) व्यवहार हेतुत्व का प्रसङ्ग होगा, और इसी प्रकार से नील पीतादि बुद्धियो को भी विषय के बिना ही स्वभावभेद से विचित्र व्यवहार का हेतुत्व सिद्ध होगा, तो इसप्रकार से सौगतो (बौद्धो) को आप से स्वहस्त दत्त होगा। मानो आप बुद्धवश हो जायगे। अत इस उक्त रीति से काल के सत्त्व की सिद्धि नही होती है।

दिशा की भी सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि—

इन्द्रियानधिगम्यत्वान्नाध्यक्ष नानुमा दिशि ।
वर्णैरर्थान्तरत्वेन साध्यासिद्धिर्निदर्शने ॥ ६२ ॥

एतेन दिगपि व्याख्याता, तस्या अप्यनध्यक्षत्वादलिङ्गत्वाच्च । ननु पूर्वापरदक्षिणोत्तरादिदशप्रत्यया सन्ति तत्कथ लिङ्गाभाव इति चेत्, न, तेषा निरुपाधिदिगालम्बनत्वे सर्वत्र सर्वप्रत्ययप्रसङ्गात् । दिशा दशत्वप्रसङ्गे

निराकुर्वंस्तत्र प्रमाणानि श्लोकेन दूषयति—**इन्द्रियेत्यादिना ।** न तावदध्यक्ष तत्र मानम्, पूर्ववदस्या अपीन्द्रियायोग्यत्वात् । नाप्यनुमानादिभिस्तत्सिद्धि , तेषा सर्वगत-वर्णसाधनेनाप्यर्थान्तरतापातात् । केषुचिद्दृष्टान्तेषु साध्यविकलता, एतच्च वक्ष्यमाण-दूषणानामप्युपलक्षणम् । आदिग्रहणेनान्यथानुपपत्तिराप्तवचन गृह्यते ।

सावतार श्लोक विवृणोति—**एतेनेत्यादिना ।** ननु सन्ति पूर्वापरादिप्रत्यया प्रत्यात्मवेदनीया , न च तेषा मूर्तद्रव्यनिबन्धनत्वम्, तेषामसार्वत्रिकत्वादनुगतविचित्र-व्यवहारानुपपादकत्वात्, पूर्वादिप्रतीत्यनुपपत्तेश्च । नच विभुद्रव्यान्तरनिबन्धना , तेषामविचित्रतया विचित्रव्यवहारानुपपत्ते । ततस्तेभ्योऽतिरिक्त किंचिदेषामालम्बन दिगभिधान कल्प्यमिति शङ्कते—**ननु पूर्वेति ।** तत्र किं निरुपाधिका दिगेषामाल-म्बनम् ? किवा तत्तदुपाध्युपहिता ? अनौपाधिकपक्षेऽप्येका ? अनेका वा ? आद्ये पूर्वादिदिशा व्यवस्था न स्यात्, अविचित्रविषयत्वादित्याह—**न तेषामिति ।** अथ पूर्वादिप्रत्ययविषयासकराय विभिन्ना दिश कल्प्येरस्तत्राह—**दिशामिति ।** यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—अनेकत्वेऽपि तत्क्रियोपनायक काल, सयोगोपनायिका दिक् । नच नवैवेति विरोध, आत्मनामानन्त्येप्यात्मत्ववदविरोधादिति । तत्र कालसग्रहोपाधि पुरस्तादेव निरस्त । दिक्सग्रहोपाधिमपि पुरा निराकरोति ।

इन्द्रियो से ज्ञेय नही होने से दिशा मे प्रत्यक्ष प्रमाण नही है, न अनुमान प्रमाण है, क्योकि अनुमानो को शब्दविभुत्वसाधन से अर्थान्तरता होती है, और दृष्टान्त मे साध्य की असिद्धि है ॥ ६२ ॥

अर्थात इस काल के निराकरण से दिशा की भी निराकरण कहा गया है । उसीके समान इसके निराकरण को समझना चाहिये । क्योकि दिशा को भी अप्रत्यक्षत्व है । और अनुमान हेतु लिङ्ग से रहितत्व है । यदि कहे कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तरादि दश दिशाओ के ज्ञान ही लिङ्ग है, फिर भी लिङ्ग का अभाव कैसे कहा जा सकता है, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि उन प्रतीतियो (ज्ञानो) को निरुपाधिक दिशाविषयकत्व हो, तो सर्वत्र सर्वज्ञान की प्राप्ति होगी, पूर्वादि ज्ञानो की विषयाधीन व्यवस्था नही हो सकेगी, और ज्ञानो की व्यवस्था के लिये दश दिशाये मानी जाय तो दिशाओ के दशत्व (दशसख्यावत्त्व) प्राप्त होने पर नव ही द्रव्य है, इस सिद्धान्त से विरोध होगा । यदि कहे कि आत्मा के अनन्त होते भी

नवैव द्रव्याणीति व्याघाताच्च । न चात्मत्वेन सग्रहवद्दिशामपि दिक्त्वेन सग्रहाददोष, शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया तत्कारणाकाशस्याप्यानन्त्य-प्रसङ्गात्, आकाशत्वेन सग्रहस्य तत्रापि तुल्यत्वात् । न च तथैवास्तु को दोष इति वाच्यम्, आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तास्ता सज्ञा आकाश कालो दिगिति भाष्यविरोधात् ।

सुरशिखरिशिखरपरिभ्रमन्मार्तण्डमण्डलप्रथमसयोगाद्युपाध्युपधाने तेनैव

अत्राभ्युपगम्याप्युपाधिमेव सग्रहेऽतिप्रसक्तिमाह—**न चात्मत्वेनेति** । यदि हि पूर्वादिप्रत्ययवैलक्षण्येन दिग्भेदकल्पनम्, तर्हि तारतरत्वादिरूपेण शब्दलिङ्गानामपि भिन्नतया गगनमपि किं विभिन्न न स्वीक्रियते ? शक्यते हि तत्राप्युपाधिपुरोधानेन विधातु नवत्वव्याकोपपरिहार इत्याह—**शब्दलिङ्गानामपीति** । गुडजिह्विकायामेव विश्वसन्त डिम्भक प्रत्याह—**न च तथैवेति** । भाष्य प्रशस्तपादीयम् । तथा काललिङ्गाविशेषादेकत्व सिद्धम्, दिग्लिङ्गाविशेषादञ्जसैकत्वेऽपीति च तत्र तत्र भाष्यमुदाहरणीयम् ।

एवमनौपाधिकपक्ष दूषयित्वौपाधिकपक्षमाशङ्क्य तत्राप्युपाधेर्निष्फलत्वत इत्येतदतिदिशति—**सुरशिखरीति** । सुरशिखरी मेरुपर्वत । तथाहि—"दिग्लिङ्गा-

---

आत्मत्वेन सग्रह होने से आत्मा एक द्रव्य माना जाता है, वैसे दश दिशाओ का दिक्त्वेन सग्रह होने से नव ही द्रव्य है, इस कथन से विरोध रूप दोष नही होगा । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यदि लिङ्गभेद से दिशा के दश भेद हो, तो मन्द तार तारतरत्वादि शब्द रूप लिङ्गो की भिन्नता से शब्द के कारण आकाश को भी अनन्तता की प्राप्ति होगी, क्योकि शब्द रूप लिङ्गो से आकाश के भेद को मानने पर भी, आकाशत्वेन सग्रह की तुल्यता वहाँ भी आत्मादि के समान होगी । यदि कहे कि तथैवास्तु, आत्मादि के समान आकाश भी अनन्त हो, और उसका आकाशत्व से सग्रह हो, ऐसा मानने मे दोष क्या है, तो कहा जाता है कि ऐसा नही कह सकते है, ऐसा मानने मे यह दोष है कि आपके मान्यभाष्य से विरोध है । आकाश, काल-दिशा के एक-एक होने से उनमे अपर=व्याप्य जाति का अभाव रहता है, अत जाति के अभाव रहते उनके जातिनिमित्तक नाम नही हो सकने से उनकी पारिभाषिकी (साकेतिकी) तत्तत् आकाश, काल और दिक् ये सज्ञा है, इससे भाष्य मे दिशा और आकाश मे जाति का अभाव कहा गया है उनकी अनेक व्यक्ति और उनमे जाति मानने पर स्पष्ट ही भाष्य से विरोध होगा ।

उक्त रीति से दिशा एक या दश भी नही मानी जा सकती है । न दिशा कोई वस्तु है, तो भी सुरशिखरि=सुमेरु पर्वत के शिखरो पर परिभ्रमण करते हुए सूर्य मण्डल के प्रथम सयोगादि उपाधि के सम्बन्ध के स्वीकार करने पर, उसीसे पूर्वादि

पूर्वादिप्रत्ययानामन्यथासिद्धत्वात् । उपहितदिगालम्बनत्वे च परस्पराश्रयत्वात्––पूर्वादिप्रत्ययबलादुपाध्युपहितदिक्सिद्धि, तत्सिद्धौ च तदालम्बनपूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धिरिति । लिङ्गान्तरेण तत्सिद्धौ पूर्वापरादिप्रत्ययवैयर्थ्यात् । उपाधीनामादित्यादिगतत्वात् पूर्वापरप्रत्ययालम्बनवस्तुभि

विशेषात् दिश एकत्वेपि दिश परमर्षिभि श्रुतिस्मृतिलोकसव्यवहारार्थ मेरुप्रदक्षिणमावर्तमानस्य भगवत सवितुर्ये सयोगास्तेषा सयोगाना लोकपालपरिगृहीतादिक्प्रदेशानामन्वर्था प्राच्यादिभेदेन दशविधसज्ञा कृता " इति भाष्यात्सन्ति दशोपाधय प्रागञ्चनमवागञ्चन प्रत्यगञ्चनमुदगञ्चनमिति मेर्वपेक्षया सन्ति चत्वार उपाधय, तथा तदन्तरालाश्चत्वार, तथा नक्षत्रलोकाद्यपेक्षयाभिमुख्य पृथिव्यादे, पृथिव्याद्यपेक्षयाभिमुख्य नक्षत्रलोकादेरिति द्वावुपाधी । तदेतैर्दशभिर्दिशो दशत्व न स्वभावत इति यद्यभिमतम, तर्हि तैरेवोपाधिभि पूर्वापरादिप्रत्यया पदार्थेषूत्पद्यन्ता कृतमन्तरा दिशेत्यर्थ । किञ्चौपाधिकत्वेऽप्येतेषा प्रत्ययाना किं दिङ्मात्र विषय ? उपाधिमात्र वा ? उपहितदिग्वा ? नाद्य, विचित्रत्वात । नोत्तर, दिग्वैयर्थ्यात् । तृतीये दूषणमाह––**उपहितेति** । परस्पराश्रय विवृणोति––**पूर्वापरेति** । अयमर्थ––तत्र कि पूर्वापरादिबुद्धय एव दिक्षु लिङ्गम् ? अन्यद्वा ? द्वितीये वक्ष्यति । प्रथमे तु ज्ञायमानतया तासा लिङ्गत्वम्, तत्रापि न रूपादिबुद्धिभिरिव चक्षुरादेरेताभिर्दिशामनुमानम्, तथा सति दिग्विषयत्वाभावप्रसङ्गात् । तथा च दिग्विषयाभिरेताभिरवगताभिर्दिशामनुमाने विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानात् दिगनुमिति, दिग्ज्ञाने च विषयविशिष्टबुद्धिलक्षणलिङ्गज्ञानम्, नहि तद्विषयज्ञानव्यतिरेकेण तद्विशिष्टबुद्धि शक्यज्ञानेतीतरेतराश्रयत्वमिति । दिग्ज्ञानाच्च दिग्ज्ञानमित्येतदपि कौतुकान्तरम् । यत्तु वक्ष्यतीत्युक्तम्, तदाह––**लिङ्गान्तरेति** । यत्तूपाधिमादायान्यथासिद्धिरुक्ता, ता परिहरति पूर्ववादी––**उपाधीनामिति** । तथाहि––पूर्वादिबुद्धयस्तावन्न दिङ्मात्र-

---

ज्ञानो की अन्यथा (दिशा बिना) सिद्धि होती है । उपाधियुक्त दिशा को पूर्वादि बुद्धि के अवलम्बन (विषय) मानने पर अन्योन्याश्रय प्राप्त होता है, क्योकि पूर्वादि ज्ञान से उपाधि से युक्त दिशा की सिद्धि होगी, और उन दिशाओ की सिद्धि होने पर उन विषयक पूर्व-पश्चिमादि बुद्धि की सिद्धि होगी । लिङ्गान्तर से उन दिशाओ की सिद्धि होती हो, तो पूर्वादि प्रत्ययो को व्यर्थता होगी, प्रत्ययादि दिशा अनुमान मे हेतु नही होगे । यदि कहे कि सुमेरु और सूर्य के सयोगक्रियादि रूप उपाधियो के आदित्यादि मे रहने से पूर्वापर ज्ञान के विषय वस्तुओ के साथ उन उपाधियो का स्वरूप से सम्बन्ध नही रहता है, अत सम्बन्धशून्य उन उपाधियो के परम्परासम्बन्ध का साधक वस्वन्तर के स्वीकार करने पर दिशा की सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यह सम्बन्ध आपके अभिमत काल से ही सिद्ध हो

स्वरूपत प्रत्यासत्तिशून्याना सबन्धापादकवस्त्वन्तरस्य स्वीकारे दिक्-सिद्धिरिति चेत्, न, त्वदभिमतकालेनैव तदुपपत्ते । न च कालकृत-परत्वापरत्ववैलक्षण्यादस्य दिक्कृतत्वम्, दिक्कल्पनामन्तरेणैव व्यवहर्तु स्वेन सयुक्तपृथिव्यादिभिर्हस्तदण्डादिसयोगानामल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामेव

विषया, किं त्विद पूर्वमिदमपरमिति घटादिवस्तुविषया, तत्रापि न तत्स्वरूपमात्र-विषया, घटस्वरूपव्यतिरेकेऽप्यस्य पटादिष्वपि विद्यमानत्वात्, घटस्वरूप एव च पूर्वादिविचित्रव्यवहारानुपपत्तेश्च। तस्मात्पदार्थान्तरविशिष्टघटादिस्वरूपनिबन्धना । विशेषणानि च मेरुप्रदेशे सहस्ररश्मिप्रथमसयोगादय । न च ते घटादिषु समवयन्ति, आदित्यमेरुनिष्ठत्वात । ततस्तेषा घटादिषूपसक्रामक कश्चिदेष्टव्य । स च न मूर्तवर्गे, तस्योभयत्राननुसन्तानत्वादाकाशात्मानौ त्वतिप्रसङ्गिनौ विशेषगुणवन्तौ च, तस्माद्व्यापक सूर्यसुमेरुराजप्रदेशसयोगभेदाना स्वसयुक्तसमवेताना स्वसयुक्तवस्त्वन्तरे सक्रामकम् । तस्य च दिगिति सज्ञा, कालस्य क्रियासक्रामकत्वात्, सा चेतरेभ्यो भिद्यते एवविधसयोगसक्रामकत्वात् न यदेव न तदेव यथा पृथिव्यादीति तत्सिद्धि-रित्यर्थ । दूषयति—**न, त्वदभिमतेति ।** शक्यमत्रापि कालोन्मूलनवदाकाशमात्मान वादायान्यथासिद्ध्या दिशोऽप्युन्मूलन कर्तुम्, विशेषगुणत्व च तत्रैव कृतसमाधानम् । अथापि भवतु नाम भवत श्रद्धानुसारेण विशेषगुणरहितमेव व्यापक किंचित्, तथापि त्वत्कल्पितकालत एव तत्सिद्धेर्न तद्विलक्षणकल्पनेत्यर्थ । ननु कालकृतपरापरत्वादि-लक्षणे परत्वापरत्वे तावदनुभूयेते, अस्ति हि नित्येष्वपि परमाणुषु दिक्कृतपरत्वा-परत्वव्यवहार । अनित्वेष्वपि, कालतस्त्वनित्येष्वेव, तथा कालतोऽपरेपि दिक्कृत-परत्व कालत परे च दिक्कृतमपरत्वमतस्तदसमवायिकारणपयोगस्य विलक्षणस्या-श्रयतया दिक्सिद्धिरिति शङ्कित्वा परिहरति—**न च कालकृतेति ।** नाय व्यवहार परत्वापरत्वकल्पक, कि तर्हि यदर्थस्य यदपेक्षया प्रमातु सयुक्तसयोगबाहुल्य तत्तत पर यस्य तु यदपेक्षया प्रमातु सयुक्तसयोगाल्पत्व तत्ततोऽपरमिति ताभ्यामेवान्यथा सिद्धत्वादित्याह—**दिक्कल्पनामिति । हस्तदण्डादीति ।** व्यवहर्तुर्देवदत्तस्य सयुक्त-पृथिव्यादिनापि हस्तदण्डादिसयोगाद्दशहस्तेन दण्डेन दशदण्डो निवर्तनमित्यादि-

---

सकता है। यदि कहे कि कालकृत परत्वापरत्व से इस दिक्कृत परत्वापरत्व मे विलक्षणता से दिशा की सिद्धि होती है। अर्थात नित्य परमाणुओ मे भी दिशाकृत परत्व-अपरत्व होता है, और कालकृत परत्व-अपरत्व अनित्य ही मे होता है। तो कहा जाता है कि दिशा के बिना भी यह विलक्षण परत्वापरत्व हो सकता है, दिशा की आवश्यकता नही है। क्योकि दिशा की कल्पना के बिना भी परापर के व्यवहार (कथन) करने वालो के अपने से सम्बन्धी भूमि आदि के साथ हस्त-दण्डादि सयोगो की न्यूनता अधिकता से ही विलक्षण परापर व्यवहार की सिद्धि हो जाती

विशिष्टपरापरव्यवहारोपपत्तेः। न चाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयो सख्यारूपगुणत्वे परिमाणविशेषत्वे च सयोगाख्यगुणाधिकरणत्वासभवादनुपपत्ति', भवदभिमतपरत्वापरत्वजनकसन्निकृष्टविप्रकृष्टलक्षणापेक्षाबुद्धिविषयसयोगाल्पीयस्त्वभूयस्त्वयोरपि तुल्यत्वात्।

यच्च दिक्कालयो प्रसाधनाय प्रमाणमुक्त लीलावतीकारेण—'महत्परि-

शास्त्रोक्तपरिमाणज्ञापकास्तेषा सयुक्तपिण्डापेक्षया अल्पीयस्त्वभूयस्त्वाभ्यामित्यर्थ। यत्तु किरणावलीकारेणैवमाशङ्क्योक्तम्—'न तदपेक्षया, प्रमातर्यपि परापरप्रत्यक्षप्रसङ्गात्, सयोगबाहुल्यादेरविशेषात्, भवति हि यावत्यध्वनि मत्तो वाराणसी तावति वाराणस्या अहमपि, न तु सा किंचिदपेक्ष्य मत्त परापरेतिवदहमपि तस्या परोऽपरो वा" इति, तदसत्, परत्वापरत्वोत्पत्तावप्यस्य प्रसङ्गस्य तुल्यत्वात्। तथाह—सयोगाल्पत्वबहुत्वे पिण्डवत्प्रमातर्यपि समाने इति किमिति तयो प्रमातर्यनुत्पत्ति ? पिण्ड एव वा किमित्युत्पत्ति ? अथ ब्रूयात्कारणशक्तिनियमादेव नियमोपपत्ति, भेर्याकाशसयोगस्योभयाश्रयत्वाविशेषेऽपि नभस्येव शब्दो न भेर्यामितिवत् सयुक्तसयोगाल्पत्वबहुत्वाविशेषेऽपि प्रमेय एव परत्वापरत्वे न प्रमातरीति सर्वमुपपन्नमिति, तदप्यसत, यद्धि सयुक्तसयोगाल्पत्वबहुत्वविशेषावच्छिन्नसयोगाधिकरणत्वेन प्रतिसन्धीयते तत्र परापरत्वव्यवहार, न प्रमातरि, तस्य तथाप्रतिसन्धीयमानत्वाभावात्, यदा तु सोऽपि तदधिकरणत्वेनानुसन्धीयते तदा भवत्येव तत्रापि तद्व्यवहार वाराणसीत परोऽहमिति। यत्तु लीलावतीकारेणोक्तम्—किं पुन सयोगस्य भूयस्त्वमल्पत्व चेत्' इत्यादि तदनूद्य निषेधति—**न चाल्पीयस्त्वेति।** भवतापि ह्यपेक्षाबुद्धिवैषम्यात्तज्जन्ययोरनयोर्वैषम्यमभ्युपेयते, बुद्धिवैषम्य च सयुक्तसयोगबहुत्वाल्पत्वलक्षणविषयवैषम्यात्। अत्रापि विप्रतिपत्तावुक्तमुत्तर कालखण्डने, तस्मात्तद्विकल्पस्तन्निराकरण च जात्युत्तरमित्यर्थ।

एव चिरतनप्रमाण दूषितमिदानीमाधुनिकोन्नीत दिक्कालसाधकानुमानजातमनूद्य निराकरोति—**यच्चेति।** अणुत्वे सिद्धसाधनतावारणाय महत्परिमाणसामान्यमित्युक्तम्। विशेषगुणशून्य यद्द्रव्य तदधिकरणा याऽनेकव्यक्तिर्महत्परिमाणानि

है। यदि कहे कि न्यूनत्व अधिकत्व को सख्या रूप गुण होने पर, या परिमाणविशेष होने पर सयोग नामक गुण मे वृत्तित्व के असम्भव होने से सयोग के न्यूनत्व अधिकत्व से परत्वापरत्व की सिद्धि नही हो सकती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि आपके सम्मत परत्वापरत्व के जनक सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट = समीप दूर रूप की अपेक्षाबुद्धि के विषय अल्पत्व-अधिकत्व मे भी यह अनुपपत्ति तुल्य है।

दिशा और काल की प्रसिद्धि के लिये लीलावतीकार ने जो प्रमाण कहा है कि (महत् परिमाण का सामान्य (जाति), विशेषगुणशून्य द्रव्य (= दिक्काल) रूप

माणसामान्य विशेषगुणशून्यद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्ति परिमाणतारतम्यविश्रान्तिविषयनिष्ठजातित्वादणुत्ववत्। अस्ति हि विशेषगुणशून्यानेकमनोगतानेकाणुपरिमाणनिष्ठताणुत्वजाते। तथा विवादाध्यासितानि मूर्तद्रव्याणि युगपद्विशेषगुणशून्यानेकद्रव्यससर्गीणि द्रव्यत्वादात्मवदिति, तदयुक्तम्, अन्तरेणापि दिक्कालौ व्यापकपञ्चाशद्वर्णद्रव्यप्रसाधनेनार्थान्तरत्वात्। वेदान्तिन प्रति दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वाच्च, मनसो विशेषगुण-

---

तद्वृत्तीत्यर्थ। द्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तीत्युक्ते गगनात्मघटादिवृत्त्यनेकमहत्परिमाणनिष्ठतासाधनेनार्थान्तरता स्यात, तदर्थ विशेषगुणशून्येत्युक्तम्। अनेकव्यक्ति ग्रहणेन च तदधिकरणविशेषगुणशून्यद्रव्यानेकत्वसिद्धौ कालदिशो सिद्धि। परिमाणवृत्तित्वेन सिद्धसाधनतानिवृत्त्यै द्रव्याधिकरणपदम्। घटत्वादिनिवृत्त्यै विश्रान्त्यादिविशेषणम्। ज्ञानत्वादिनिवृत्त्यै परिमाणेति। दृष्टान्ते साध्यप्रसिद्धि दर्शयति— **अस्ति हीति। विवादाध्यासितेति।** शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तमूर्तद्रव्याणीत्यर्थ। द्रव्यससर्गीणि इत्युक्ते गगनससर्गितयार्थान्तरता तदर्थमनेकद्रव्येत्युक्तम्। तथापि घटादिससर्गितयार्थान्तरता, तदर्थं विशेषगुणशून्येत्युक्तम्। तथापि क्रममुक्तससर्गितयार्थान्तरता तदर्थं युगपदित्युक्तम्। तेषा क्रमेणैवमुच्यमानाना युगपद्विशेषगुणशून्यताभावात्, युगपत्ससर्गीणीति वा साध्यम्। तदा लोकान्तर प्रतिष्ठमानैर्मनोभि क्रमेण सबध्यमानपृथिव्यादिना सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थम् युगपदिति पदम्। बाधपरिहारार्थ विशेषपदम्। मनोभि ससर्गेण चात्मसु साध्यसिद्धि। एतद्दूषणपरतया वर्णैरर्थान्तरत्वेनेत्येतदवतारयति—**तदयुक्तमित्यादिना।** अधिगतमिदमपौरुषेयवादे यद्वर्णाना नित्यत्व विभुत्व च। न च तेषा विशेषगुणा सन्ति। नादानामन्यधर्मत्वादन्यस्य चाभावादतस्तद्वृत्तिवृत्तितासाधनेनापि विश्रान्तेरर्थान्तरता प्रथमे। द्वितीयेऽपि तत्ससर्गसाधनेनार्थान्तरतेत्यर्थ। उभयोरपि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमाह—

अधिकरण वाली अनेक व्यक्तियो मे रहता है, परिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति (समाप्ति) के विषय मे वृत्ति जाति होने से, अणुत्ववत्) विशेष गुणशून्य अनेक मनरूप द्रव्यवृत्ति अनेक अणुपरिमाणो मे वृत्तित्व अणुत्व जाति को है ही, इससे दृष्टान्त मे साध्य की प्रसिद्धि भी होती ही है। अनेक व्यक्ति के ग्रहण से उस अनेक परिमाण के अधिकरण विशेष गुणशून्य द्रव्यानेकत्व की सिद्धि से दिक्-काल की सिद्धि होती है। इत्यादि। इसीप्रकार से (विवादास्पद) शरीरेन्द्रियभिन्न, मूर्त द्रव्य, विशेष गुणशून्य अनेक द्रव्यो के साथ युगपत् सम्बन्ध वाले है। द्रव्य होने से, आत्मा के समान। यहाँ मन सब के साथ आत्मा के सम्बन्ध से आत्मा मे साध्य की प्रसिद्धि होती है। गगनसम्बन्धिता से अर्थान्तरता के वारण के लिये, अनेक द्रव्य कहा है, घटादिससर्गिता से अर्थान्तरता के वारण के लिये विशेष गुणशून्य कहा

शून्यत्वे हि तद्गताणुत्वस्य विशेषगुणविधुरद्रव्याधिकरणानेकव्यक्तिवृत्तित्वम्, आत्मनश्च युगपद्विशेषगुणशून्यद्रव्यसमर्गित्व च भवेत्तच्च वेदान्तिन प्रत्यभिद्धम्, मनसोऽपि विशेषगुणवत्त्वात्। न च तत्र मानाभावा मूर्तत्वस्यैव तत्त्वात्। न च विशेषगुणवत्त्वे द्रव्यारम्भकत्वमुपाधि, घटादिष्वन्त्यावयविषु व्यभिचारात्। न च द्रव्यारम्भकवृत्तिद्रव्यत्वावान्तरजातिमत्त्व-

वेदान्तिनं प्रतीति। तदेव विवृणोति—**मनस इति**। **मूर्तत्वस्येति**। विप्रतिपन्न विशेष गुणवन्मूर्तत्वात् घटवदित्यनुमानेन मनसो विशेषगुणसिद्धिरित्यर्थ। अत्रोपाधिमाशङ्क्य निरस्यति—**न चेति**। विशेषगुणवत्स्वप्यन्त्यावयविषु द्रव्यारम्भकत्व नास्ति तत्त्वव्याघातादत साध्याव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थ। उपाध्यन्तर निरस्यति—**न च द्रव्यारम्भकेति**। द्रव्यारम्भकेषु वर्तमाना या द्रव्यत्वावान्तरजातिस्तद्वत्त्वम्। नच मनोगतमनस्त्वजातिर्द्रव्यारम्भकवृत्तिजातिरतो न साधनव्याप्ति, नाप्यन्त्यावयविषु साध्याव्याप्ति। पृथिवीत्वस्योक्तरूपस्य तत्रापि भावादिति भाव। तथापि साध्याव्याप्ति, आकाशे विशेषगुणवत्त्वेऽपि द्रव्यत्वावान्तरजातेरभावात्, आत्मनि तु विशेषगुणवति तत्सत्त्वेऽपि द्रव्यारम्भकवृत्तित्वाभावादित्याह—**आत्मेति**। उपाध्यन्तर दूषयति—**न चेति**। अस्ति च तत गगनेऽपीति भाव। तथापि भवन्मते विशेषगुणवत्त्वेन स्वीकृतात्मनि साध्याव्याप्ति, तद्गुणाना मानम-

गया है। शरीरेन्द्रिय की मन के साथ सम्बन्ध से सिद्धसाधनता होगी। अत उसको वारण के लिये शरीरेन्द्रियभिन्न कहना युक्त है, शरीरेन्द्रियभिन्न कारण रूप मूर्त द्रव्य के साथ युगपत् सम्बन्ध के आश्रय दिक्काल सिद्ध होते है। इत्यादि। परन्तु यह लीलावतीकार का कथन अयुक्त है, अर्थात् इन अनुमानो से दिक्-काल की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि दिक्-काल के बिना भी व्यापक नित्य पचास ककारादि वर्णरूप द्रव्य के प्रसाधन द्वारा अर्थान्तरता होनी है। और वेदान्ती के प्रति दृष्टान्तो को साध्य शून्यत्व है। क्योकि मन के विशेष गुणशून्यत्व होने पर, तद्गत अणुत्व को विशेष गुणरहित द्रव्य रूप अधिकरण वाली अनेक व्यक्तियो मे वृत्तित्व होता। और आत्मा को युगपद् विशेष गुण शून्य (मनो) द्रव्य सयोगित्व भी होता। परन्तु वेदान्ती को वह मन के विशेष गुण शून्यत्व अप्रसिद्ध है, क्योकि मन को भी विशेषगुणवत्त्व हैं। और मन की विशेषगुणवत्ता मे प्रमाण का अभाव है, ऐसा नही कह सकते है, क्योकि मन के मूर्तत्व ही उसके विशेष गुणवत्त्व मे तत्त्व (प्रमाणत्व) वाला है। अर्थात् (मन, विशेषगुणवत्, मूर्तत्वात, घटादिवत्) इस अनुमान से मन मे विशेष गुण सिद्ध होता है। विशेष गुणवत्त्वसाध्य मे द्रव्यारम्भकत्व उपाधि नही कहते है। क्योकि घटादि रूप अन्त्यावयवी मे विशेष गुणवत्त्व रूप साध्य के रहते भी द्रव्यारम्भकत्व रूप उपाधि के नही रहने से

मुपाधि, आत्माकाशयोर्व्यभिचारात् । न च बाह्येन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम्, भवदभिमतात्मनि व्यभिचारात् । न वा भूतात्मनोरन्यतरत्वमुपाधि, वेदान्तिन प्रति तमसि साध्याव्याप्ते । 'काम सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिरित्येतत्सर्व मन एवे'ति मनसो विशेषगुणवत्त्वश्रुतेश्च । न च कामादीना निमित्तकारणत्वान्मनसस्तथात्वव्यपदेश, मुख्ये बाधकाभावात्, निमित्तनैमित्तिकत्वमात्रेण सामानाधिकरण्यश्रवणानु-

प्रत्यक्षत्वादित्याह—**भवदिति** । अस्तु तर्हि भूतात्मनोरन्यतरत्व तथाचाकाशात्मनोरपि तदस्त्येवेति, तत्राह—**न वा भूतेति** । उपपादित खल्वेतत्तमोवादे यद्विशेषगुणवत्ता तमसोऽस्तीति, अत साध्यवत्त्वेऽपि तस्मिन्न भूतात्मनोरन्यतरत्वमिति साध्याव्याप्तिरित्यर्थ । अत्र श्रुतिमपि प्रमाणयन् विशेषगुणानपि तदीयान्निष्टङ्कते—**काम इति** । ननु कामादि मन एवेत्यत्र न गुणगुणिभावेन शुक्लो घट इतिवत्सामानाधिकरण्य विवक्षितम्, किं तर्ह्यात्मगुणानामेव सता निमित्तिकारणत्वात्तत्प्रयुक्तमिति, तत्राह—**न च कामादीनामिति** । न तावन्निमित्तकारणकार्ययो कुलालो घट इति सामानाधिकरण्य दृष्टचरम् । अथापि तच्छ्रमादिना कल्प्येत, यदि मुख्ये बाधक स्यान्नत्वेतदस्तीत्यर्थ । एव श्रीवल्लभानुमान निरस्य मानमनोहरीयमनुमान

व्यभिचार है, उपाधि मे साध्यव्यापकता का अभाव है । द्रव्यारम्भक वृत्ति द्रव्यत्वावान्तर (व्याप्य) जातिमत्त्व उपाधि भी नही कह सकते है, क्योकि विशेष गुण रूप साध्य वाले आत्मा और आकाश मे इस उपाधि का भी व्यभिचार = अभाव है, आत्मा और आकाश मे द्रव्यारम्भकत्व नही रहता है । बाह्य इन्द्रियग्राह्य विशेष गुणवत्त्व उपाधि भी नही कह सकते है, क्योकि आपके अभिमत आत्मा मे विशेष गुणवत्त्व साध्य रहता है, बाह्य इन्द्रियग्राह्य विशेष गुणवत्त्व के नही रहने से वहाँ व्यभिचार होता है (साध्यव्यापकता नही होती है) । भूत और आत्मा की अन्यतरता भी उपाधि नही कह सकते है, क्योकि वेदान्ती के प्रति तम मे साध्य की अव्याप्ति है, वेदान्ती तम मे नील रूपात्मक विशेष गुण मानते है, और भूतात्मान्यतरत्व नही रहता है । और (काम, सकल्प, विचिकित्सा = सशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य) ये सब मनस्वरूप ही है, इस श्रुति से मन को विशेष गुणवत्ता सुनी जाती है । यदि कहे कि आत्मगुण कामादि के निमित्त कारण होने से मन की कामादि रूपता का व्यपदेश = कथन किया गया है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि कामादि के साथ मन के सामानाधिकरण्य = अभेद की प्रतीति श्रुति से होती है, और उस मुख्य सामानाधिकरण्य मे बाधक का अभाव है, और मन मे निमित्तत्व कामादि मे नैमित्तिकत्व मात्र से सामानाधिकरण्य हो नही सकता है, अत निमित्त-नैमित्तिक भाव मानने पर श्रुति की अनुपपत्ति होगी । क्योकि निमित्त-नैमित्तिक

पपत्तेश्च । न हि भवति कुलालो घट इति सामानाधिकरण्यम् । एतेन मान-मनोहरप्रयोगोऽप्यपास्त —विवादाध्यासित कार्यं विशेषगुणरहितद्रव्याभ्या जन्यते कार्यत्वादन्त करणद्वयसयोगवदिति, तत्रापि दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, विवादाध्यासित विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इति बहुवचनप्रक्षेपेणापि प्रयोगसभवादतिरिक्तद्रव्यसाधकतयाऽऽभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च । न च दृष्टान्तासिद्धि , अनेकान्त करणाधिकरणापेक्षाबुद्धिजन्यबहुत्वस्यैव दृष्टान्ततोपपत्ते , विवादाध्यासित विशेषगुणरहितद्रव्याभ्या न जन्यतेऽन्त करणा-

---

दूषयति—**एतेनेति** । अत्र घटादि पक्ष,, मृदादिद्रव्येनार्थान्तरतानिवृत्त्यर्थम् विशेषगुणशून्यग्रहणम् । अदृष्टेश्वरेच्छादिभिरर्थान्तरताव्यावृत्त्यै द्रव्यग्रहणम् । एतेनेत्येतद्विवृणोति—**तत्रापीति ।** किंचानयैव रीत्या विशेषगुणरहित दशममपि शक्यसाधनमित्याभाससमानयोगक्षेममित्याह—**विवादेति ।** ननु विशेषगुणरहितद्रव्यैर्जन्यत इत्यत्र नास्ति दृष्टान्त , नहि बहुभिरन्त करणैरेक सयोगो जन्यत इति वैषम्यमुक्त तेनैवेति, तत्राह—**न च दृष्टान्तेति ।** अनेकान्त करणाधिकरणमपेक्षाबुद्धिजन्य च यद्बहुत्व तस्य दृष्टान्ततोपपत्तेरित्यर्थ । नच निमित्तकारणेति विशेषणेन निस्तार , तदनुमाने साध्यवैकल्यापातात् । सत्प्रतिपक्षतॉ चाह—**विवादाध्यासितमिति ।**

कुलाल और घट मे = कुलाल घट है, ऐसा सामानाधिकरण्य नही होता है, और प्रकृत मे सामानाधिकरण्य है, अत निमित्तानैमित्तिकभाव नही है । इसीसे मान-मनोहर का प्रयोग भी अपास्त हो गया । क्योकि, उनका प्रयोग है कि (विवाद-विषयक कार्य, विशेषगुणरहित (दिक्काल) दो द्रव्यो से उत्पन्न होता है । कार्य होने से, अन्त करणद्वयसयोग के समान) यहॉ घटादि कार्य पक्ष है, मृत्तिकादि द्वारा अर्थान्तर वारण के लिये विशेष गुणशून्य का ग्रहण है । अदृष्टादि द्वारा अर्थान्तर वारण के लिये द्रव्य का ग्रहण है । परन्तु इस प्रयोग मे भी दृष्टान्त मे साध्य विकलता है । क्योकि अन्त करण (मन) विशेष गुण वाला है, यह प्रथम कहा गया है । और यह प्रयोग दशम द्रव्य को साधाने वाला आभास प्रयोग के समान है, क्योकि (विवादविषय कार्य, विशेष गुणरहित बहुत द्रव्य से उत्पन्न होता है, कार्य होने से, अनेकाधिकरण वाले अपेक्षाबुद्धिजन्य बहुत्ववद्) इसप्रकार से बहुवचन का साध्य मे प्रदान के द्वारा भी प्रयोग के सम्भव हो सकने से अतिरिक्त द्रव्य की साधनता द्वारा आभास प्रयोग के समान योगक्षेमता होती है । दृष्टान्त की असिद्धि इस प्रयोग मे नही कह सकते है, क्योकि अनेकान्त करणरूप अधिकरण वाला अपेक्षाबुद्धिजन्य बहुत्व को ही दृष्टान्तत्व सिद्ध होता है । और इस अनुमान से दिक्काल से भिन्न दशम द्रव्यविशेष गुणरहित सिद्ध होगा । और (विवाद-विषय घटादि कार्य, विशेष गुणरहित द्रव्यो से नही उत्पन्न होता है । अन्त करण

कार्यत्वादाकाशवदिति सत्प्रतिपक्षत्वाच्च। न चाकार्यत्वमुपाधि, वेदान्त-वादिभिराकाशस्यापि कार्यताङ्गीकारात्। तदेव कालानिरूपणान्न तत्कृत-पूर्वापरीभाव कार्यकारणभाव ।

भेदाभेदविकल्पानुपपत्तेश्च । तथा ह्यत्यन्तभिन्नयोरश्वमहिषयोरिव नोपादानोपादेयभाव । तथात्यन्ताभेदेऽपि, पूर्वसिद्धस्योपादानत्वादसिद्धस्य

अत्रापि तेनोक्तमकार्यत्वमुपाधिरिति दूषयति—**न चाकार्यत्वमिति**। परत्वापरत्व-खण्डनेन च परमाणुपरत्वजनकसंयोगाश्रयो दिगित्यादीनि तन्मुखेन शिवादित्यमिश्रोक्तानि दिग्लक्षणानि खण्डितान्येव। एवं कालखण्डनप्रस्तावेन दिक् खण्डिता, काल-खण्डनस्य तु कारणखण्डनोपयोगमाह—**तदेवमिति**। अथ किमिति पृथिव्यादीनि न खण्डितानि ? न, खण्डितत्वात्। तथाहि—गन्धवती पृथिवीत्यादीनि गुणद्वारा यानि लक्षणानि, तानि गुणवद्द्रव्यमितिवदव्याप्त्या खण्डितप्रायाणि। पृथिवीत्वादिजाति-खण्डनेन तत्प्रमाणदूषणेन च गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वावान्तरजातिमती पृथिवी, स्नेहसमानाधिकरणद्रव्यत्वान्तरजातिमदुदकमित्यादीनि जातिपुरस्कारेण शिवादित्य-मिश्रप्रभृतिभिरुत्प्रेक्षितान्यपि निरस्तानि। शब्दस्य च विभुत्वनित्यत्वसाधनात्, तदधिकरणतयाकाशानिरुक्ति। सुखादीनां च साक्षिवेद्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुखादि-ग्राहकमिन्द्रियं मन इति मनोलक्षणासिद्धि। ज्ञानरूपत्वसमर्थनात्सुखादीनामन्त -करणगुणत्वात्प्रज्ञानाद्याधार आत्मेत्यात्मलक्षणानिरुक्तिरिति खण्डितान्येव नवापि द्रव्याणि।

इदानीं कार्यकारणभाव प्रकारान्तरेण दूषयति—**भेदाभेदेति**। भिन्नयोरपि कलशकुलालयो कार्यकारणभावोऽस्तीत्यत उक्त—**नोपादानेति**। नचात्यन्तभिन्नयो-रपि समवायवशादुपादानोपादेयभाव इति वाच्यम्, समवायाभावयोरत्यन्तभेदे किमिति मृद्घटयोरेव तमापादयति नाश्वमहिषयोरित्यत्र निरुत्तरत्वात्। स्वभाव-वशादिति चेत, प्रमाणमन्वेषणीयम्, अन्यथानुपपत्तिरिति चेदन्यथैवोपपत्ते। अत्यन्ताभेदपक्षेऽपि विरुद्धधर्माध्यासादसंभवमाह—**तथेति**। उभयानुपपत्तिं समा-

---

से अजन्य कार्य होने से, आकाशवत्) ऐसा सत्प्रतिपक्ष भी उस अनुमान का है। अकार्यत्व उपाधि भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि वेदान्तवादी आकाश को भी कार्य मानते हैं, अत विशेष गुणरहित मनोद्रव्याजन्यत्व साध्य के आकाश में रहते भी अजन्यत्व का व्यभिचार है। अत उक्त रीति से काल का निरूपण नहीं हो सकता है, अत कालकृत पूर्वापरीभाव रूप कार्यकारणभाव भी नहीं सिद्ध हो सकता है।

और कारण के साथ कार्य के भेदाभेद विकल्प की अनुपपत्ति (असिद्धि) से भी कार्यकारणभाव नहीं सिद्ध होता है। क्योंकि कार्यकारण को अत्यन्त भिन्न होने पर, अश्व-महिष के समान कार्यकारणभाव रूप उपादान-उपादेयभाव नहीं

चोपादेयत्वात्, एकत्र युगपत्सिद्धत्वासिद्धत्वविरोधादेव तदनुपपत्ते । अस्तु तर्हि भिन्नाभिन्नयो कार्यकारणभाव, अत्यन्ताभेदे भेदे च तदनुपपत्तेर्दर्शितत्वात्, सामानाधिकरण्यानुपपत्तेश्च । नहि भवति घट पट इति सामानाधिकरण्यम्, नापि घटो घट इति । दृश्यते च मृद्घट शुक्ल पट, गौ शाबलेय इति सामानाधिकरण्य ततो भेदाभेदसिद्धिरिति चेत्, न,

भेदेऽप्ययुतसिद्धत्वादुपादानत्वसंभवात् ।

धित्सुर्भेदाभेदवादी शङ्कते—**अस्तु तर्हीति ।** इतश्च भेदाभेद कार्यकारणानामित्याह—**सामानाधिकरण्येति ।** नन्वत्यन्तभेदेऽपि किमिति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्तत्राह - **न हीति ।** नच भेदेऽप्याधाराधेयभावादुपपद्यते इति वचनीयम्, कुण्ड दधीत्यपि प्रसङ्गात् । अभेददर्शनमाह—**नापि घटो घट इतीति ।**

एवं भेदेऽभेदेऽप्यनुपपद्यमानसामानाधिकरण्यस्य कार्यकारणगुणगुणिजातिव्यक्तिस्थलेषु सद्भाव दर्शयंस्तदुपपादकभेदाभेदमानयति—**दृश्यते चेति ।** उपलक्षण चैतद्विशिष्टस्वरूपांशांशिस्थलयोरपि । अत्र किं कार्यकारणभावमात्र भेदाभेदगमकम् ? उपादानोपादेयभावो वा ? नाद्य, सलिलादे कलमस्य तत्प्रसङ्गात् । तथात्वे वा व्यर्थविशेषणत्वात् । न द्वितीय, अत्यन्तभेदेऽपि तत्संभवादिति दूषयति सिद्धान्ती—**भेदेऽपीति श्लोकेन ।** अत्यन्तभेदेऽप्ययुतसिद्धत्वमादायोपादानोपादेयभावसंभवात्,

---

हो सकता है । इसीप्रकार से अत्यन्त अभेद रहते भी नही बन सकता है, क्योकि पूर्वकाल मे सिद्ध तन्तु आदि को उपादानत्व (कारणत्व) होता है । और पूर्व असिद्ध को उपादेयत्व (कार्यत्व) होता है, एक वस्तु मे एक काल मे सिद्धत्व असिद्धत्व के विरोध से ही एक अभिन्न वस्तु मे उस उपादान उपादेयभाव की अनुपपत्ति है । यदि कहा जाय कि अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त अभिन्न मे कार्यकारणभाव नही हो सकने पर भिन्नाभिन्न को कार्यकारणभाव कहना चाहिये, क्योकि अत्यन्त अभेद मे और भेद मे उस कार्यकारणभाव की अनुपपत्ति दर्शायी गई है । और अत्यन्त भेद वा अभेद पक्ष मे सामानाधिकरण्य (एकविभक्तिबोध्यत्व) भी नही हो सकता है, क्योकि अत्यन्त भेद से ही (घट पट) यह सामानाधिकरण्य नही होता है । अत्यन्त अभेद से (घटो घट) ऐसा भी सामानाधिकरण्य नही होता है । किन्तु, कार्य-कारण, गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति मे (मृद्घट, शुक्ल पट, गौ शावलेय) इसप्रकार का सामानाधिकरण्य देखा जाता है, अत कार्यकारण के भेदाभेद (कथञ्चिद्भेद कथञ्चिदभेद) की सिद्धि होती है । तो ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योकि—

भेद रहते भी अयुतसिद्ध होने से उपादानत्व का सम्भव हो सकता है, परन्तु

तस्यापि दुर्निरूपत्वात्समवायाद्यसगते ॥ ६३ ॥

अन्तरेणापि भेदाभेदौ जन्यजनकयोरयुतसिद्धतयैवोपादानोपादेयतोपपत्ते, भेदाभेदवादिनाप्ययुतसिद्धतायास्तन्नियामकत्वेनावश्याभ्युपेयत्वात्। न हि यत्रैव कार्यकारणभावस्तत्रैव भेदाभेदाविति शक्य कल्पयितुम्। अतश्चावश्याभ्युपेयैवायुतसिद्धिरिति तत एवार्थापत्तेरन्यथासिद्धि । न चान्तरेण भेदाभेदावयुतसिद्धिरेव न सिद्धचतोति वाच्यम्, अत्यन्तभिन्नयोरप्यात्माकाशयोर्भाट्टैरपीष्टत्वात्, उपादानोपादेयभावानिरूपणाच्च। तत्कि

उपादानत्वस्य च दुर्निरूपत्वात्तत्र हेतु—**समवायाद्यसंगतेरिति।** आदिशब्देन वक्ष्यमाणविकल्पदूषणानि सगृह्यन्ते। समवायित्वे सति कारणत्वमित्यादिप्रकार हि तत्। तच्च न सभवति, समवायाद्यसगतेरिति श्लोकार्थ । विवृणोति—**अन्तरेणापीत्यादिना।** अयुतसिद्धत्वेऽपि जातिव्यक्तचादेर्नोपादानोपादेयभाव इत्यत उक्तम्—**जन्यजनकयोरिति।** नन्वयुतसिद्धिरेवास्माकमसिद्धा, समवायानङ्गीकारात्स्वरूपेण दुर्निरूपत्वाच्चेति, तत्राह—**भेदाभेदेति।** दुर्निरूपत्वादिति तावदात्मान विस्मृत्याभिहितम्, किं वा भवन्मते सुनिरूपम्, समवायस्तु यद्यपि नाङ्गीक्रियते, तथापि भेदाभेदनियामकतयाऽयुतसिद्धिराश्रयणीया, इतरथा अनयोरेव नान्ययोरिति नियमाभावापातादित्यर्थ । ननु कार्यकारणभाव एव नियामकोऽस्तु किमयुतसिद्धचेति, तत्राह—**नहि यत्रैवेति।** नित्ययोरप्यात्मात्मत्वयोर्भेदाभेदाङ्गीकारादिति भाव । तत्रायुतसिद्धत्वसिद्धचर्थमेव भेदाभेदोऽस्तु, तत्राह—**नचेति। भाट्टैरिति।** जाति-

---

अयुतसिद्धत्व के भी दुर्निरूपत्व से तथा समवायादि की असङ्गति से कार्यकारणभाव सिद्ध नही हो सकता है ॥ ६३ ॥

अर्थात् भेदाभेद के बिना भी जन्य-जनक की अयुतसिद्धता से ही उपादानोपादेयता की उपपत्ति से भेदाभेद मानने की आवश्यकता नही है, क्योकि भेदाभेदवादी को भी अयुतसिद्धता को उस कार्यकारणभाव के नियामक रूप से (साधक रूप से) अवश्य मानना होगा। क्योकि जहाँ ही कार्यकारणभाव होता है, वहाँ ही भेदाभेद रहता है, ऐसी कल्पना नही कर सकते है, क्योकि कार्यकारणभाव के बिना भी नित्य आत्म और आत्मत्व के भेदाभेद को माना जाता है। अत भेदाभेद से कार्यकारणभाव की सिद्धि नही हो सकने से अयुतसिद्धि कार्यकारणभाव का नियामक अवश्य स्वीकर्तव्य है। उस सिद्धि से अर्थापत्ति की अन्यथासिद्धि हो जाती है। अर्थात् भेदाभेद के बिना कार्यकारणभाव नही हो सकता, इस अनुपपत्ति का अभाव हो जाता है। यदि कहे कि भेदाभेद के बिना अयुतसिद्धि नही हो सकती, यही अनुपपत्ति है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अत्यन्त भिन्न भी आत्मा और आकाश की अयुतसिद्धि भाट्ट ने माना है। और उपादान-उपादेय-

(१) समवायित्वे सति कारणत्वम् ? (२) उत कार्याधारत्वम् ? (३) जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्व वा ? (४) द्रव्यत्वविशेषित वा ? (५) आहोस्वित्कार्याकारेण परिणतत्वम् ? (६) अथवा कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वम् ? नाद्य, समवायस्यानङ्गीकारणान्निराकृतत्वाच्च । न द्वितीय, कुण्ड-बदरयोराधाराधेयभावेऽपि तददर्शनात् । स्वजन्याधारत्व तदिति चेत्, न, स्वजन्यघटाद्याधारे कुलादावतिव्याप्ते, आधारानिरुक्तेश्च । न तावदिहेति

व्यक्तिकार्यकारणगुणगुणिविशिष्टस्वरूपाशाशिरूपपञ्चसु स्थलेषु हि तैर्भेदाभेदोऽङ्गी-क्रियते, न मर्वत्र । न चैतेषामन्यतमत्वमाकाशात्मनोरथ चायुतसिद्धिरस्ति, नित्यत्वेन स्वगतत्वेन च पृथगाश्रयाश्रितत्वपृथग्गतिमत्त्वलक्षणद्विविधयुतसिद्धेरभावादित्यर्थ । तस्यापि दुर्निरूपत्वादित्येतद्विवृणोति—**उपादानेति** । निमित्तकारणासमवायिनोर्व्य-वच्छेदार्थं समवायित्वे सतीत्युक्तम् । आधारत्व जात्यपेक्षयाप्यस्ति, नच ता प्रत्युपा-दानत्वमित्यत उक्तम्—**कार्याधारत्वमिति** । जन्येनेत्यस्यापीदमेव प्रयोजनम् । जन्येन घटेनायुतसिद्धत्व घटादेरप्यस्ति, न च तदुपादानमित्यत उक्तम्—**जनकत्व-मिति** । कुलालादिनिवृत्त्यै जन्यग्रहणम् । ज्ञानेच्छादीनामपि परस्परमिदमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय विशेषण क्षिपति—**द्रव्यत्वेति** । साख्यमतावलम्बनेन पञ्चम । कार्यलक्षणो विभ्रम तदधिष्ठानत्व चेति वेदान्तिमतावलम्बनेन षष्ठ पक्ष । **समवायस्येति** । य खलु कार्यकारणयोर्भेदाभेदवादी भाट्टस्तेन समवायो नाङ्गी-क्रियतेऽतस्तद्विशेषितलक्षण तस्यासिद्धमित्यर्थ । नैयायिक प्रत्याह—**निराकृतत्वा-दिति** । कार्याधारत्वमुपादानत्वमित्यतिव्यापकम्, बदरकार्यम् प्रत्याधारेऽपि कुण्डे तदुपादानत्वादर्शनादित्याह—**कुण्डबदरयोरिति** । ननु न कार्याधारत्वमात्र लक्षणम्, किंतु स्वकार्यम् प्रत्याधारत्वम्, न बदराणा कुण्डकार्यत्वमित्यभिप्रेत्या-शङ्कते—**स्वजन्येति** । तथाप्यतिव्याप्ति, धृतोदकुम्भस्य स्वजन्यकुम्भाधारत्वेऽपि कुम्भोपादानत्वाभावादित्याह—**न स्वजन्यघटेति** । नन्विह गवि गोत्वमिह पटे शौक्ल्यमिह मृदि घट इत्यादौ समवायाश्रय एवाधारस्तद्रहितेषु तु गौण आधारशब्द-

---

भाव के अनिरूपण से भी उसके हेतुरूप से भेदाभेद की सिद्धि नही हो सकती है । क्योकि वह उपादानत्व, क्या समवायित्व युक्त कारणत्व है, या कार्याऽऽधारत्व है, या जन्य के साथ अयुतसिद्ध होता हुआ जनकत्व है, या द्रव्यत्व युक्त जन्यायुतसिद्धत्व युक्त जनकत्व है, या कार्याकारण से परिणतत्व है, या कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्व है । प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योकि समवाय को माना नही जाता है, और उसका निराकरण किया गया है । दूसरा पक्ष भी युक्त नही, क्योकि कुण्ड बैर मे आराधेय-भाव होते भी कुण्ड मे बदर-उपादानत्व नही देखा जाता है । यदि स्वजन्य आधारत्व उपादानत्व है, यह कहे, तो भी स्वजन्य घटादि के आधार कुलालादि मे

प्रत्ययविषयत्वम्, तत्रेति प्रत्ययाव्याप्ते । नापि समवायित्वम्, शशे विषाणाभाव कुण्डे बदरमित्यादावव्याप्ते । नापि सयोगित्वम्, गुणादौ तदसभवात्, सयोगिनोरुभयोरन्योन्याधारत्वप्रसङ्गाच्च । नापि पतनप्रतिबन्धकत्वम्, गुणादावव्याप्ते । अत एव नाधेयापेक्षया महत्परिमाणवत्त्व-

---

प्रयोग इति, तत्राह—**नापि समवायित्वमिति** । न च तत्र गौणतावैपरीत्यस्यापि सभवादिति भाव । अस्तु तर्हि सयोगित्वम, तथाच कुण्डे बदरमित्यादिसगृहीतमिति, तत्राह—**नापि संयोगित्वमिति** । न केवलमव्याप्तिरतिव्याप्तिश्चेत्याह – **संयोगिनोरिति** । यदि हि सयोगित्वमात्रमाधारार्थ , तदा तदुभयोरपि समानमिति घटे भूतल बदरे कुण्डमित्यपि स्यात्, नचैवमस्तीत्यर्थ । श्रीवल्लभीयमाधारत्व दूषयति—**नापि पतनेति** । नहि निर्गुणाना निष्क्रियाणा च गुणादीना पतनमस्ति, येन तदाधारता द्रव्यस्य स्यात् । गुणादेश्च गुणत्वाद्याधारता च न स्यादिति भाव । **अत एवेति** । गुणादावसभवादेव । यदि हि गुणस्य गुणत्वादेर्वा परिमाणवत्त्व स्यात्, तर्ह्येव तदपेक्षया तदाधारद्रव्यादेर्महत्परिमाणवत्त्व स्यात्, नत्वेतदस्तीत्यर्थ ।

अतिव्याप्ति होती है । और आधार की अनिरुक्ति से भी इस लक्षण का असम्भव है । क्योकि इह (यहाँ) इस प्रतीति के विषयत्व को आधारत्व नही कह सकते है । समीप के आधार मे इह (यहाँ) प्रतीति होती है, परन्तु दूर के आधार मे तत्र (वहाँ) ऐसी प्रतीति होती है, उसमे इह प्रतीतिविषयत्व की अव्याप्ति होती है । समवायित्व को भी आधारत्व नही कहा जा सकता है, क्योकि शश मे शृङ्ग का अभाव रहता है, कुण्ड मे बदर रहता है, अत उनकी शश और कुण्ड मे आधारता रहते भी समवायिता नही रहने से लक्षण की अव्याप्ति है । सयोगित्व = सयोगवत्त्व को भी आधारत्व नही कहा जा सकता है, क्योकि गुणादि मे असम्भव होगा, द्रव्य-भिन्न मे सयोग रहता नही है, और सयोग के द्विष्ठ होने से दोनो सयोगी को परस्पर आधारत्व प्राप्त होगा । अध पतन प्रतिबन्धकत्व को भी आधारत्व नही कहा जा सकता है, क्योकि गुरुत्व गुण से अध पतन रूप क्रिया द्रव्य मे ही होती है, निर्गुण निष्क्रिय गुणादि मे पतन क्रिया नही होती है कि जिसका प्रतिबन्धक उसका आधार हो सके, अत गुणादि के आधार मे लक्षण की अव्याप्ति होगी, और गुणादि मे भी गुणत्वादि की आधारता नही होगी । और अत एव = गुणादि मे असम्भव से ही आधेय की अपेक्षा से अधिक (महत्) परिमाणवत्त्व भी आधारत्व नही हो सकता है, क्योकि गुणादि मे वा गुणत्वादि मे परिमाणवत्त्व हो, तो उनकी अपेक्षा उनके आधार द्रव्यादि मे महत्परिमाणवत्त्व हो, वह गुणादि मे परिमाण ही नही रहता है । अत अव्याप्ति होती है । और करतल (हाथी के तलहती) मे रखे गये करतल से अतिमहत् तूलपिण्डादि के आधार करतलादि मे लक्षण का होना

मपि, करतलनिहितमहत्तरतूलपिण्डादावसभवाच्च। नापि तृतीय, ज्ञानेच्छादीना परस्परोपादानत्वप्रसङ्गात्। अस्ति हि तत्र जनकस्य ज्ञानजन्येनेच्छादिनाऽयुतसिद्धत्वम्, आत्मैकाश्रयतया पृथगाश्रयित्वलक्षणयुतसिद्ध्यभावात्। नापि चतुर्थं, व्यर्थविशेष्यत्वापत्ते। नहि द्रव्यमुपादानमित्यभिहितेऽस्ति क्वचिदतिप्रसङ्ग, येन जन्येनायुतसिद्धत्वमिति पदान्तरमुपादीयेत। नापि पञ्चम, निरवयवेष्वात्माकाशादिष्वव्याप्ते। नह्यात्माकाश वा ज्ञानेच्छादिरूपेण शब्दरूपेण वा परिणमते, कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वात्।

अव्याप्त्यन्तर चाह—**करतलेति**। एव कार्याधारत्वमिनि पक्ष दूषयित्वा जन्येनायुतसिद्धत्वे सति जनकत्वमिति पक्ष दूषयति—**नापि तृतीय इति**। ज्ञानेच्छादौ लक्षण वर्तयति—**अस्ति हीति**। द्रव्यत्वविशेषित वेति पक्ष दूषयति—**नापि चतुर्थ इति**। कार्याकारेण परिणतत्वमिति पक्ष दूषयति—**नापि पञ्चम इति**। अथ किमित्यात्मा ज्ञानादिरूपेण, आकाशश्च शब्दरूपेण न परिणमत इति, तत्राह—**कार्त्स्न्यैकदेशेति**। अयमर्थ—किमाकाश सर्वात्मना परिणमत? एकदेशेन वा? नाद्य, आकाशविनाशेनानित्यतापातात्। न विनाशस्तस्यैव शब्दत्वादिति चेत्, कि

असम्भव होगा। इसप्रकार आधारत्व के नही सिद्ध हो सकने से कार्याधारत्व रूप उपादान का द्वितीय लक्षण खण्डित हो गया। (जन्य के साथ अयुतसिद्ध होता हुआ जनकत्व) रूप तृतीय लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि ज्ञानेच्छादि को परस्पर उपादानत्व प्राप्त होना है। क्योकि एक आत्मा मे रहने के कारण पृथगाश्रयाश्रितत्व रूप युतसिद्धित्व इनमे नही रहना है, अत इनमे ज्ञान रूप जनक (हेतु) को ज्ञानजन्य इच्छादि के साथ अयुतसिद्धत्व रहता ही है। द्रव्यत्वयुक्त जन्यायुतयुक्त जनकत्व रूप चतुर्थ लक्षण भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि द्रव्यत्व विशेषित होने पर व्यर्थ विशेष्यता की प्राप्ति होती है, द्रव्य रूप कारण उपादानकारण होता है, इतना ही कहने पर कही अतिव्याप्ति नही रहती है कि जिससे उसका वारण करने के लिये, जन्य के साथ अयुतसिद्धत्व इस पदान्तर का ग्रहण किया जा सके, अत व्यर्थ विशेष्यता है। कार्याकार से परिणत्व रूप पञ्चम लक्षण भी युक्त नही है, क्योकि, निरवयव = अपरिणामी आत्मा, आकाशादि मे इस लक्षण की अव्याप्ति होती है। क्योकि आत्मा वा आकाश ज्ञान इच्छादि रूप से वा शब्द रूप से परिणत नही होता है। और न्यायमत से उपादान होता है। यदि आत्मादि का ज्ञानादि रूप से परिणाम माने तो वह युक्त नही हो सकता हे, क्योकि कृत्स्नस्वरूप से वा एकदेश से परिणाम होता है, इस विकल्प को यह परिणामवाद नही सह सकता है। निरवयवता से एकदेश से परिणाम नही कहा जा सकता है, और विनाशिता की प्राप्ति से सम्पूर्ण स्वरूप से भी परिणामित्व नही माना जा सकता है। और

तन्त्वादीनामपि पटाद्याकारेण गुणकर्माद्याकारेण वा परिणामादर्शनात्, नहि द्रव्य गुण कर्म वा भवति, तदाश्रयत्वात् । नापि षष्ठ, प्रपञ्चसत्यत्ववादिभिरनङ्गीकारात् । तदेवमुपादानोपादेयभावानिरूपणान्न तदन्यथानुपपत्त्या भेदाभेदसिद्धि ।

कारणव्यापारवैयर्थ्य समर्थयितुमध्यवसितोऽसि ? अभिव्यक्तौ सार्थक्यमिति चेत्, सत्यमस्तीय किंवदन्ती कापिलानाम्, तत्र त्वदभिव्यक्तावपि किमुत्पादकतया कारणचक्रसार्थक्यम् ? अभिव्यञ्जकतया वा ? आद्ये घट्टकुटीप्रभातायितम् । द्वितीये त्वनवस्थेति न किंचिदेतत् । नचोत्पत्तिप्रतिबन्दी, अनङ्गीकारात् । एकदेशपरिणामे तु किमवयव एकदेश ? किं वान्यत् किंचित् ? नाद्य, निरवयवत्वात् । न द्वितीय, अप्रसिद्धत्वात् । भवतु वा यथातथा, तथापि किमेकदेश आकाशादभिन्न ? भिन्नो वा ? नाद्य, पूर्वदोषात् । न द्वितीय, आकाशस्यापरिणामात् । भिन्नाभिन्न तदिति चेत्, सत्य यदि विरोधो न स्यात, विरुद्ध तु तत् । अथाविरुद्धौ कौचन धर्मौ भेदाभेदाभिधानौ, रूपरसादिषु मध्ये कयो कश्चिद्भेदाभेदनामाभिधीयते, तथापि पर्यनुयुक्तयो पक्षयो क परिगृहीत स्यात् ? नोभयमिति चेत्, तत्किमनिर्वचनीयम् ? हन्त ? शब्दाकारेणाकाशो विवर्तत इति निरवद्य निर्वेद, किमिति परिणामभाषया दुर्भगया भास्करगोत्राभिसारिकया ? एतेन परिणामपक्ष प्रत्याचक्षीत । तदेककार्त्स्न्यैकदेशविकल्पासहत्वादाकाशादीना न परिणाम, अथ च कारणप्रसिद्धिरस्ति शब्दादिप्रतीत्यव्याप्तिरित्यर्थ । न केवल निरवयवेषु परिणामानुपपत्ति, सावयवेष्वपीत्याह—**तन्त्वादीनामपीति ।** तत्रापि हि कार्त्स्न्यपक्षे तन्तुविनाशान्निरुपादानरूप पट स्यात् । स्यादेकदेशपक्षेऽपि भेदाभेदविकल्पकल्पान्तवातनिर्मूलोन्मूलनमिति भाव । आश्रयाश्रितप्रतीतिविरोधश्चेत्याह—**नहि द्रव्यमिति ।** द्रव्य यत्तन्त्वादि, तद्गुण कर्म वा नहि भवतीत्यन्वय । घटादिकार्यस्याप्युपलक्षणमिति, आश्रितत्वप्रतीतेस्तत्राप्यविशेषात् । कार्यविभ्रमाधिष्ठानत्वमिति षष्ठ पक्ष दूषयति—**नापीति ।** य खलु कार्यकारणभावनिर्वक्ता, न चासावनिर्वचनीयवादीति भाव ।

द्वे ह्यनुपपत्ती भेदाभेदसाधनाय कीर्तिते—एकोपादानोपादेयभावानुपपत्ति, अपरा तु सामानाधिकरण्यानुपपत्ति । तत्र प्रथमे दूषण प्रसारितमुपसहृत्य द्वितीय

तन्तु आदि उपादानो का भी पटादि कार्य रूप से वा गुण कर्मादि रूप से परिणाम नही देखा जाता है । क्योकि तन्तु आदि रूप द्रव्य, गुण वा कर्म रूप नही हो जाता है । किन्तु द्रव्य को गुण और कर्म का आश्रयत्व रहता है । (कार्यविभ्रमाऽधिष्ठानत्व) रूप षष्ठ लक्षण भी युक्त नही हो सकता है । क्योकि प्रपञ्च सत्यत्ववादी इस लक्षण को नही मानते है । इस उक्त रीति से उपादान उपादेय भाव के अनिरूपण से उसकी अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा भेदाभेद की सिद्धि नही हो सकती है ।

नापि सामानाधिकरण्यानुपपत्ति, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किं शाब्दस्य सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्ति? उतार्थिकस्य? नोभयथापि—

युक्ते शब्दनिमित्तानामेकाधिकरणत्वत ।
शाब्द न तावद्घटते भेदाभेदप्रसाधकम् ॥ ६४ ॥
धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तित ।
अभेदानुभवाभावादार्थं नैवास्य साधकम् ॥ ६५ ॥

शुक्ल पट इत्यादौ शाब्दसामानाधिकरण्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तयोरेकाधिकरणसबन्धादेवोपपत्ते धर्मधर्मिभेदाभेदयोरौदासीन्यात्। आर्थिकस्यापि

दूषयन्ति—**नापीति**। तत्र भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताना शब्दानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिरूपशाब्दसामानाधिकरण्यस्यैकाधिकरणत्वलक्षणार्थिकसामानाधिकरण्यस्य वात्यन्तभेदेऽप्युपपत्ति श्लोकद्वयेन दर्शयन्ति—**युक्तेः शब्दनिमित्तानामित्यादिना**। शौक्ल्यपटत्वादीनामेकपटाधिकरणत्वादेव शाब्दसामानाधिकरण्योपपत्तेर्न शाब्दसामानाधिकरण्य गुणगुण्यादिभेदाभेदप्रसाधकमिति प्रथमश्लोकयोजना। तथाऽऽर्थमपि सामानाधिकरण्यमस्य न साधकम्, कुत? धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तित। तथाहि—धर्मधर्मिणोस्तावत्सामानाधिकरण्यमेव नास्ति, अभेदानुभव इति सामानाधिकरण्यानुभवोऽत्र विवक्षितो, नह्यस्त्यनुभवो रूप पट इति वा, चलन पट इति वा। तथा धर्मयोरैकाधिकरण्यमेव सामानाधिकरण्य नाम। तथा च धर्मधर्मिणोर्भेदेऽपि तत्सबन्धादेव तदधिकरणत्वोपपत्तेरिति द्वितीयश्लोकयोजना।

तत्राद्य विवृणोति—**शुक्ल इत्यादिना। धर्मधर्मीति**। धर्मधर्मिणोर्यौ भेदाभेदौ तयोरौदासीन्यादित्यर्थ। द्वितीय विभजते—**आर्थिकेति। अत एवेति**। धर्मधर्मि-

---

सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति भी भेदाभेद का साधक नही हो सकती है, क्योकि वह विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, क्या शाब्दसामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति है, या आर्थिक सामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति है समान = एक विभक्तिक पदो मे शाब्दसामानाधिकरण्य रहता है, समानविभक्तिक बोध्य अर्थों मे आर्थिक सामानाधिकरण्य रहता है। प्रकृत मे दोनो प्रकार की अनुपपत्ति का सम्भव नही है। क्यो कि—

शब्दप्रवृत्ति-निमित्तो के एक अधिकरणत्व से युक्ति (अनुपपत्ति) को शाब्दभेदाऽभेदसाधकत्व नही हो सकता है ॥ ६४ ॥

धर्मो की एकवृत्तिता मात्र से सामानाधिकरण्य की सिद्धि से और अभेद के अनुभव नही होने से आर्थिक सामानाधिकरण्य भी इस भेदाभेद का साधक नही होता है ॥ ६५ ॥

शुक्ल पट है। इत्यादि मे समान विभक्तिकत्व रूप सामानाधिकरण्य की शब्द

धर्मयोरेकाधिकरणतालक्षणस्यात एवोपपत्ते । धर्मधर्मिणोरभेदानुभवस्यासप्रतिपत्तेश्चासाधकत्वात्, गुणो द्रव्यम्, कर्म द्रव्यम्, जातिर्व्यक्तिरिति सामानाधिकरण्यानुभवाभावात् ।

भिन्नाभिन्नमित्यत्र भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्याभिन्नशब्देन तदभावस्याभिधाने च भावाभावयोर्युगपदेकत्र परस्परविरोधेनासभवात् । अभेदे च

सबन्धादेवेत्यर्थ । अभेदानुभवाभावादित्यश विवृणोति—**धर्मेति**। अत्राप्यभेदानुभव सामानाधिकरण्यानुभव । असाधकत्वात्, भेदाभेदानुभवस्येति शेष । अनुभवाभावमेव विवृणोति—**गुण इति** ।

इदानी भेदाभेद इत्यस्यैव तावदव्याहत कश्चिदर्थो दुर्भण, कुत्र प्रमाणचिन्तेत्यभिसधिराह—**भिन्नेत्यादिना** । अत्र किं भिन्न इत्यनेन स्वरूपभेदो विवक्ष्यते, अभिन्न इत्यनेन तदभाव ? किंवा भिन्न इत्यनेनान्योन्याभाववत्त्वमभिप्रेयते, अभिन्न इति च तदभाव ? अथवा भिन्न इति स्वरूपभेदवत्त्वम, अभिन्न इति चेतरेतराभावराहित्यमभिधीयते इति ? नाद्य इत्याह—**भिन्नशब्देन स्वरूपभेदस्येति** । तदा हि स्वरूपत्वमस्वरूपत्व च भेदाभेदशब्दार्थ स्यात्, तच्च विरुद्धम्, अविरुद्धत्वेऽपि धर्मिणोऽपि स्वापेक्षया तथात्वापातात् । पटश्चापटश्चेत्यव्यवस्थितिरेव पदार्थैरास्थिता स्यादितिभाव । किच यदि शौक्ल्यपटयो स्वरूपभेदो नास्ति तदा शुक्ल इति पदेन यावानर्थोऽभिहित, तावानेन पट इत्यपीति पटबुद्धेस्तच्छब्दस्य च पौनरुक्त्य स्यात्, बुद्धेश्च पौनरुक्त्य वैयर्थ्यमेव, शब्दस्य च पौनरुक्त्ये सह प्रयोगानुपपत्ति । नच व्याख्याया

प्रवृत्तिनिमित्त शुक्लत्व पटत्व के एकाधिकरण मे सम्बन्ध से ही उपपत्ति (सिद्धि) होती है। अत धर्म-धर्मी के भेदाभेद मे शाब्दसामानाधिकरण्य की उदासीनता रहती है, अर्थात् भेदाभेद के बिना शाब्दसामानाधिकरण्य की अनुपपत्ति नही होने से वह भेदाभेद का साधक नही होता है। धर्मो की एक अधिकरणता रूप आर्थिक सामानाधिकरण्य की भी प्रवृत्ति-निमित्त के एक अधिकरण मे सम्बन्ध से ही सिद्ध होने से, और धर्म-धर्मी के अभेदानुभव की असिद्धि से, आर्थिक सामानाधिकरण्य भी भेदाभेद का साधक नही होता है। अर्थात् (गुण द्रव्य है, कर्म द्रव्य है, जाति व्यक्ति है) इसप्रकार के सामानाधिकरण्य के अनुभव के अभाव से आर्थिक सामानाधिकरण्य भेदाभेद का साधक नही होता है, क्योकि भेद रहते भी धर्मो की एक अधिकरणता रूप आर्थिक समानाधिकरणता सिद्ध हो जाती है। और धर्म-धर्मी का भेदाभेद रहता है, इसका अर्थ है कि धर्म और धर्मी भिन्नाभिन्न रहते है।

वहाँ भिन्न शब्द से स्वरूपभेद का (भेदवान् स्वरूप का) और अभिन्न शब्द से उस स्वरूप के अभाव का कथन होने पर, एक काल मे एकत्र भावाभाव का परस्पर विरोध से रहना असम्भव होगा। और अभेद होने पर, (शुक्ल पट है) इत्यादि

शुक्ल पट इत्यादिषु द्वितीयबुद्धिव्यपदेशयो पौनरुक्त्यापत्ते । न च भेदस्यापि भावात्सार्थकता, अभेदस्यापि भावे वैयर्थ्यस्यापि सम्प्रतिपन्नाश इव दुष्परिहरत्वात् । हेत्वभावे फलाभावादौत्सर्गिकाद्धेतुभावे फलभावस्य तदपवादतया बलीयस्त्वात् । अन्योन्याभावतदभावयोर्भिन्नाभिन्नशब्दाभ्या-

---

मूढप्रबोधनार्थमय सहप्रयोग, नियमेन व्युत्पन्नान्प्रत्यपि प्रयोगात् । यदि च शुक्लपदस्य पट एवार्थ तदा शुक्लो घट इत्यत्र घटस्यापि तत्त्वेन पटघटाद्वैतापात एव सर्वत्रेति जितमस्माभि । ननु भेदोऽपि धर्मधर्मिणोरस्तीति कथ नैरर्थक्यमिति, तत्राह—**न चेति । संप्रतिपन्नांश इवेति ।** पट पट इत्यत्रेवेत्यर्थ । ननूभयहेतुसद्भावे कोऽयमाग्रहो वैयर्थ्य स्यादिति, तत्र नैरर्थक्यमेवेति विनिगमनाया हेतुमाह—**हेत्वभाव इति ।** औत्सर्गिक खल्विद यद्धेत्वभावे फलाभाव इति, इतरथा तयो प्रागभावयोरनादिनोरनिवर्त्यतया नित्यमनुत्पत्तिरेव कार्यस्य स्यात्, तस्मात्तदुभयबाधको हेतुभावे फलभावोऽपवाद तदिहापि गुणगुणिना भेदपक्षे गुणज्ञानहेतुसद्भावेऽपि गुणिज्ञानहेत्वभावात्तज्ज्ञानलक्षणफलाभावस्यौत्सर्गिकस्याभेदपक्षे गुणज्ञानहेतुरूपगुणिज्ञानहेतुभावाद् गुणिज्ञानलक्षणकार्यभावोऽपवादो बलीयानिति नैरर्थक्यमेव युक्तमित्यर्थ । द्वितीयपक्षे पूर्वमेव दूषणमाह—**अन्योन्येति ।** समानो ह्यन्योन्याभावतदभावयोरप्येकोपाधौ विरोध । अविरोधे गवाश्वत्वयोरश्वगोत्वयोश्च घटपटत्वयो पटघटत्वयोश्चेत्येतादृशस्थलेष्वपि भेदाभेदापातात, जगति विरोध एवोच्छिद्येत । नच तथा प्रमाणाभावादनुच्छेद इति वाच्यम्, अत्रापि तदसम्प्रतिपत्ते । किंच मद्वचनमेवात्र किमिति प्रमाण न स्यात् ? अथ विरुद्धार्थत्वादिदमप्रमाणम्, न, अप्रमाणप्रतीतेर्विरोधस्यैवाभावात् । एतेन विरुद्धमिति न क्व सप्रत्ययो यत्प्रमाणपथमवतरतीत्यादि, तदपि प्रत्युक्तम् । माता मे बन्ध्येतिवद्भिन्नाभिन्नमित्यपि, व्याहतार्थत्वादिति । तथान्योन्याभावतद्राहित्ये पूर्ववत्पौनरुक्त्य चेत्यर्थ । तृतीय शङ्कते—

वाक्यो मे शुक्ल पद से कथित अर्थ को ही पट पद से कहा जायगा, तो द्वितीय पद की बुद्धि और व्यपदेश (शब्द प्रयोग) मे पुनरुक्ति की प्राप्ति होगी, अर्थात् पट बुद्धि और शब्द से कुछ विशेष अर्थ प्रकाशित और कथित नही होगा। दूसरा पद निरर्थक होगा । यदि कहे कि भेद के भी सत्त्व से सार्थकता होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि भेद के भी रहने पर अभेद के भी रहने से सम्प्रतिपन्न (ज्ञात) अश मे (पट पट) इत्यादि के समान व्यर्थता की भी दुष्परिहरता है। क्योकि हेतु के अभाव रहते फल का अभाव होना औत्सर्गिक (स्वाभाविक) होने से, हेतु के रहने पर, उस फलाभाव के अपवादता (बाधकता) रूप से फल के भाव को बलीयस्त्व होता है । अर्थात् भेद, अभेद दोनो के रहते अभेद पक्ष को मानकर पुनरुक्ति व्यर्थता का नियामक क्या है, ऐसी शका होने पर यह कहा जाता है कि

मभिधाने, विरोधपौनरुक्त्ये पूर्वोक्ते एव पुनरुपावर्तेते । ननु भेदशब्देन स्वरूपभेदस्याभेदशब्देनेतरेतराभावराहित्यस्य वाभिधानादविरोध इति चेत्, नैवम्, इतरेतराभावस्यैवोच्छेदप्रसङ्गात् । स्वरूपभेदे विद्यमानेऽपि तदविरोधितया यदि क्वचिदितरेतरभाव स्यात्, तर्हीतरेतरभावस्यैव निरकुशप्रसरतयेतरेतराभावविरह एव जगति स्यादित्यद्वैतवाद एव भेदाभेदवादिना समर्थित स्यात् । तदेव भेदाभेदादिपक्षेषु कार्यकारण-

---

नन्विति । तत्र तावत्स्वरूपभेदस्येतरेतरभावस्य च विरोधोऽस्ति ? नवा ? यद्यस्ति, तदा स्वरूपभेदे सतीतरेतरभावेन न भवितव्यम्, गत्यन्तराभावादित्यसभव्येवाय पक्ष । अथ नास्ति विरोधस्तदा क्वचिदपीतरेतराभावो न स्यात्, स्वरूपभेदस्या-तत्प्रयोजकत्वे प्रयोजकान्तरानिरूपणादित्यभिप्रेत्य परिहरति—**नैवमिति ।** एतदेवो-पपादयति—**स्वरूपभेद इत्यादिना ।** वादार्थोपसहारपूर्वक परिच्छेदार्थमुपसहरति—**तदेवमित्यादिना ।** भेदपक्षे, अभेदपक्षे, भेदाभेदपक्षे च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूप-त्वात्स्वरूपतश्च कार्यकारणभावस्य दुर्निरूपत्वात्सकलोऽय कार्यकारणरूपद्व्यणुक-

---

व्यर्थता ही नियामक है, क्योकि हेतु के अभाव और फल के अभाव का अपवाद रूप हेतु का भाव और फल का भाव सर्वत्र होता है, प्रकृत मे भी गुण, गुणी के भेद पक्ष मे, गुण शुक्लता के ज्ञान के हेतु के सद्भाव रहते भी गुणी पट के उस गुण से भिन्न होने से उस गुणी के ज्ञान के हेतु का अभाव रहता है, अत उसके ज्ञान के लिये पट पद का प्रयोग सार्थक होता है, क्योकि उसके ज्ञान के हेतु के अभाव से फल का स्वाभाविक अभाव रहता है । परन्तु अभेद पक्ष मे तो गुण के ज्ञान का हेतु रूप ही गुण से अभिन्न गुणी के ज्ञान के हेतु के सद्भाव से गुणी के पृथक् ज्ञान रूप कार्य का अभाव रूप अपवाद बलीयान है, अत निरर्थकता ही है । और अन्योन्याभाव और उसके अभाव को भिन्नाभिन्न शब्द से कहने पर विरोध और पुनरुक्ति पूर्वोक्त ही फिर प्राप्त होते है । अन्योन्याभाव और उसका अभाव एक अधिकरण मे नही रह सकता है । यदि कहे कि भेद शब्द से स्वरूप भेद का और अभेद शब्द से इतरेतरा-भावराहित्य (भेदाभाव) के कथन से विरोध नही होगा तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यदि स्वरूपभेद के साथ इतरेतर भाव को विरोध है, तो स्वरूपभेद के सर्वत्र रहने से (इतरेतर) अन्योन्याभाव कही रह नही सकेगा, उसके स्वरूप का ही उच्छेद हो जायगा, और यदि स्वरूपभेद के रहते भी अविरोधी रूप से कही (इतरेतर) अन्योन्याभाव रहेगा, तो इतरेतर भाव की ही निरकुश विस्तार से इतरेतराभाव (भेद) का अभाव ही ससार मे होगा, इसप्रकार से अद्वैतवाद ही भेदाभेदवादी से समर्थित = प्रतिपादित होगा ।

इस उक्त रीति से भेदाऽभेदादि पक्षो मे कार्यकारणादि भावो के दुर्निरूप्यत्व से

भावस्य दुर्निरूपत्वात्, स्वरूपतोऽपि विचारागोचरत्वात्, अनाद्यविद्यात-द्विलसित सकलोऽप्यय प्रपञ्च इति तद्ग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाभावा-द्वेदान्तवाक्य निरपवादमेवाद्वितीये ब्रह्मण्यपरोक्षज्ञान जनयतीति निरवद्यम् ।

इति श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-
श्रीचित्सुखमुनिविरचिताया तत्त्वप्रदीपिकाया
लक्षणभङ्गो नाम द्वितीय परिच्छेद



परमाण्वात्मकतया भावाभावभेदैश्च प्रमाणप्रमेयभेदेन च द्रव्यगुणादिभेदैश्च नैयायिक-वैशेषिकप्रभृतितार्किकै परिकल्पितो द्वैतप्रपञ्च शुक्तिरूप्यादिवदनिर्वचनीयाविद्याविल-सित । अविद्येति च अविद्याधिष्ठानचैतन्यमप्युपलक्ष्यते । तद्विलसितस्तद्विवर्त । इति हेतौ । यस्मादेव अत इति योजना । **अपरोक्षेति** चोत्तरवादे बीजावाप ।

भेदो द्रव्यादिषट्क क्षणनिधनमत षट्प्रमाणान्यभावो
भाव पश्चात्पराणुर्ह्यवयबिसहितश्चान्ययोगो वियोग ।
द्वित्वादिर्जातिमान द्व्यणुपरिमिता पाकजप्रक्रियाथो
हेतुत्व कालकाष्ठे जनिमदपि भिदाऽभेदवादो निरस्त ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहसपरिव्राजकाचार्यश्रीप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य
प्रत्यक्स्वरूपभगवत कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकाया
नयनप्रसादिन्या द्वितीय परिच्छेद ।



तथा कार्यादि के स्वरूप से भी विचार के विषय नही होने से, अनादि अविद्या का कार्य ही यह सब ससार सिद्ध होता है। अत उस प्रपञ्च के ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाणो के साथ विरोध के अभाव से अपवादरहित वेदान्तवाक्य अद्वितीय ब्रह्म-विषयक अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करते है, यह निर्दोष सिद्धान्त सिद्ध हुआ ॥

मायागुणविलासात्मबन्धद निखिल जगत् ।
खण्डयित्वाविचारास्त्रैरखण्ड पदमश्नुते ॥ १ ॥
भेद द्रव्यादिक सख्या प्रमाण द्व्यणुकादिकम् ।
दिक्कालादिसम चातो विखण्ड्याऽऽत्माऽवशेषित ॥ २ ॥

श्री स्वामी हनुमानदासजी षट्शास्त्रीकृतचित्सुखीभाषानुवाद
द्वितीय परिच्छेद समाप्त ।



तृतीयः परिच्छेदः

ननु कथमपरोक्षज्ञानजनकता शब्दस्य ? तथा सत्यपरोक्षप्रमितिकरणतया प्रत्यक्षान्तर्भावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मप्रतिपादकवाक्येष्वदर्शनाच्च। न च दशमस्त्वमसीति वाक्यमुदाहरणम्, तत्रापि केवलशब्दस्यापरोक्षज्ञानाजनक-

---

कि त्रैलोक्यसरोवरस्य नचिरादुन्निद्रमेकाम्बुज
किं वा योगिमन सरोरुहवनप्रोद्बोधको भानुमान्।
कि वा ससृतिसूरतप्तजनतामोदे सुधादीधिति-
र्देवोऽसौ विविध विभावितवपु श्रीसुन्दर पातु व ॥ १ ॥
इति स्म निर्वैरकथ निरूपित समस्तवेदान्तवचोभिरद्वयम्।
अथ स्वत सिद्धविमुक्तये नयैरुपायविज्ञानशरीरचिन्तनम् ॥ २ ॥

अनेन च हेतुहेतुमल्लक्षण परिच्छेदयो सबन्धोऽपि दर्शित। अविरुद्धतया साध्येऽवधृते हि साधनान्वेपणावकाश इति। अपरोक्षज्ञान जनयतीत्युक्तममृष्यमाणा वैशेषिकादयो मीमासकाश्च केचिन्मण्डनमिश्रप्रभृतय प्रत्यवतिष्ठन्ते—**ननु कथमिति**। न केवल शब्दत्वहान्या प्रत्यक्षत्वापत्तिर्बाधिका, अनुपलब्धिपराहतिश्चेत्याह—**धर्माधर्मेति**। ननु यद्यपि ज्योतिष्टोमादिवाक्येष्वदृष्टम्, तथापि विषयविशेषप्रयुक्त्या तत्र तथात्व किं न स्यात् ? यथा दशमस्त्वमसीत्यत्र। स च भ्रान्तिविभ्रान्तचेता परित्यक्तमात्मान दशमतया वाक्यादेव साक्षात्करोति कश्चिदित्यत्राह—**न च दशम इति**। यथाहि रत्नतत्त्वादावुपदेशमहित प्रत्यक्षमेव साक्षात्कारहेतुर्न

गुरु देव नमामीश सच्चिदानन्दमव्ययम्।
पर ब्रह्म विभु विघ्न सर्वात्मान विमोक्षदम् ॥ १ ॥

वेदान्तवाक्य अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करता है, इस पूर्वप्रकरणान्त पठित प्रश्नबीज को पाकर, प्रतिवादियो का प्रश्न है कि, वेदान्तवाक्य रूप शब्द की अपरोक्ष ज्ञानजनकता कैसी है। तथा सति, शब्द मे अपरोक्ष ज्ञान की जनकता के होने पर, उस शब्द मे अपरोक्षप्रमितिजनकता के कारण उसका प्रत्यक्षप्रमाण मे अन्तर्भाव प्राप्त होगा, उसमे शब्द रूप प्रमाणत्व ही नही रहेगा। यदि कहा जाय कि तथास्तु= वैसा ही हो, तो यह कहना नही बन सकता हे, क्योकि धर्माधर्म के प्रतिपादक वाक्यो मे अपरोक्ष ज्ञानजनकता देखी नही जाती है, अर्थात् उसमे कोई भी अपरोक्ष ज्ञानजनकता नही मानता है, अत उसके साहचर्य से वेदान्तवाक्य मे भी अपरोक्ष ज्ञानजनकता नही मानना ही युक्त है। यदि कहा जाय कि (दशमस्त्वमसि) यह वाक्य

त्वादिन्द्रियसन्निकर्षस्यापि दशमशरीरगोचरस्य तत्र भावात्। न च सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे तस्यादावदर्शनात् पश्चाद्भाविशब्दजनिततैव तस्येति निश्चेतु शक्यम्, रत्नतत्त्वाधिगमेऽपि तथात्वप्रसङ्गात्। तथाहि—सत्यपीन्द्रियसन्निकर्षे अनधिगतरत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्र पुष्परागादिभेद न प्रत्यक्षत प्रतिपद्यते, अधिगतशास्त्रार्थस्तु तत्तत्त्व प्रतिपद्यते। न चैतावता शास्त्र तत्र प्रत्यक्षप्रमितिजनकमभ्युपेयते। यत्पुनरिह कैश्चिदुच्यते—विमत शाब्दज्ञानमपरोक्षमपरोक्षविषयत्वात्सुखज्ञानवदिति। तत्र किमिदमपरोक्षत्व शाब्द-

---

छेवल शब्दस्तथेहापीत्यर्थ। प्राप्ताप्राप्तविवेकेन शब्दस्यैव करणतामाशङ्क्य रत्नतत्त्वप्रतिबन्द्या परिहरति—**नचेत्यादिना**। तत्रापि प्राप्ताप्राप्तविवेकसाम्यमाह—**तथा हीति**। अनधिगत रत्नतत्त्वपरीक्षाशास्त्र येन पुसा स तथोक्त। पुष्परागो रत्नविशेष। न्यायरत्नदीपावलीकृतामनुमानमुद्भावयति—**विमतमिति**। ज्योतिष्टोमादिवाक्ये बाधासिद्ध्यो परिहाराय विमतमित्युक्तम्। तत्त्वमस्यादिशब्दजनित-

---

उदाहरण है, अर्थात् नव को जानते हुए भी स्वात्म दशम मे भ्रान्त चित्त वाले के प्रति जैसे (दशमस्त्वमसि) यह वाक्य अपरोक्षात्म (दशम) ज्ञान का हेतु होता है, वैसे ही देहादि मे आत्मबुद्धि वाले भ्रान्तो के प्रति (तत्त्वमसि) इत्यादि वाक्य अपरोक्षात्मा के अपरोक्ष ज्ञान का हेतु होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि (दशमस्त्वमसि) इस उदाहरण = दृष्टान्त मे भी केवल शब्द को अपरोक्ष ज्ञानजनकत्व नही रहता है, किन्तु इन्द्रियसम्बन्ध को भी दशम शरीरविषयकत्व रहता है, अत शब्दसहित इन्द्रियप्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु होता है, केवल शब्द नही। यदि कहा जाय कि भ्रान्त के इन्द्रिय का शरीर के साथ सम्बन्ध तो शब्दश्रवण से प्रथम ही रहता है, परन्तु उससे उसको स्वरूप का दर्शन = अपरोक्ष ज्ञान नही होता है, और पीछे शब्द सुनने पर ज्ञान होता है, अत पश्चाद्भावि शब्दजनितता ही उस ज्ञान मे निश्चय किया जा सकता है, इन्द्रियजनितता नही, तो यह कहना भी युक्त नही। क्योकि ऐसा मानने पर रत्न के तत्त्व ज्ञान मे भी तथात्व (शाब्दत्व) प्राप्त होगा। देखा जाता है कि रत्नो के साथ इन्द्रियो के सम्बन्ध रहते भी रत्नतत्त्व की परीक्षा शास्त्र के अध्ययनरहित पुरुष पुष्परागादि रत्नो के भेदो को प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रथम नही समझता है। और रत्नपरीक्षा शास्त्र का अध्ययन वाला तो उस रत्नतत्त्व को समझता है। परन्तु इससे शास्त्र वहाँ रत्न प्रमा का जनक होता है, ऐसा नही माना जाता है, किन्तु प्रत्यक्ष ही प्रमाण को रत्नप्रत्यक्षप्रमा का जनक माना जाता है, शब्द को सहायक माना जाता है, वैसे ही प्रकृत मे मन्तव्य है। और भी जो कोई यहाँ कुछ कहते है कि (विमत = शाब्द तत्त्वमसि आदि शब्दजन्य ज्ञान) अपरोक्ष होता है। अपरोक्षविषयक होने से, सुखज्ञानवत्) वहाँ शाब्दज्ञान का

ज्ञानस्य ? किं साक्षात्कारत्वजातिमत्त्वम् ? अपरोक्षव्यवहारहेतुत्व वा ? नाद्य, अय घट इति शब्देऽनैकान्त्यात् । प्रतिपत्तिव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमपरोक्षविपयत्वमिति चेत्, न, अय पर्वतोऽग्निमानिति परोक्षापरोक्षविषयानुमानिकज्ञाने व्यभिचारात् । अपरोक्षमात्रविषयत्व विवक्षितमिति चेत्, न, सुखेच्छाया व्यभिचारात् । तज्जनकज्ञानस्य तद्विषयत्वादिच्छायास्तद्विषयत्वमुपचर्यते इति चेत्, मैवम्, तथाप्यविद्याया व्यभिचारात्,

ज्ञानमित्यर्थ । प्रत्यक्षेणार्थान्तिरनानिवृत्त्यै शाब्दग्रहणम । **अयं घट इतीति** । अस्ति ह्यय घट इति शब्दस्य पुरोवत्यपरोक्षघटविषयत्वम । अथ च न साक्षात्कारत्वजाति, ज्ञानवृत्तित्वात्तस्या इत्यर्थ । नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थ —यज्ज्ञानव्यवधानमन्तरेण तद्विषयत्वमिति । नच शब्दस्य तथात्वमस्ति । तद्विषयज्ञानजननद्वारा हि शब्दादीनामर्थविषयत्वम् । नच ज्ञानस्य ज्ञानजननद्वारा अर्थविषयत्वम् । नत्कुतोऽनैकान्तिकतेति शङ्कते—**प्रतिपत्तीति** । तथाप्यनेकान्तिकमित्याह—**अयमिति** । अग्निमत्त्वाश परोक्ष, पर्वताशोऽपरोक्ष, नह्यानुमानिकज्ञाने साक्षात्त्वजातिरिति भाव । ननु परोक्षाविषयत्वे सत्यपरोक्षविषयत्व हेतु, नचानुमानिकज्ञानमेवमतो नातिव्याप्तिरिति शङ्कते—**अपरोक्षमात्रेति** । तथापि सुखेच्छाया व्यभिचार, तस्या अपरोक्षसुखविषयत्वेऽपि साक्षात्त्वानधिकरणत्वादित्याह—**न, सुखेच्छायामिति** । इच्छाया सविषयत्वमौपचारिकम्, मुख्य च विवक्षितमिति शङ्कते—**तज्जनकेति** ।

यह अपरोक्षत्व क्या है ? क्या साक्षात्कारत्व जातिमत्त्व है, या अपरोक्ष व्यवहार हेतुत्व है । प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है । क्योकि (अय घट) यह घट है, इसमे हेतु अनैकान्तिक = व्यभिचारी है, क्योकि इस शाब्द मे साक्षात्कारत्व जातिमत्त्व रूप साध्य नही है । क्योकि वह जाति ज्ञानवृत्ति रहती है । और अपरोक्ष विषयकत्व रूप हेतु है । इस शब्द का विषय अपरोक्ष घट है । यदि कहे कि, अय घट, इस शब्द की अपरोक्ष ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष घटविषयत्व होता है, क्योकि शब्द का वाच्य होता हुआ भी पदार्थ विषय नही कहा जाता है, किन्तु ज्ञान का विषय कहा जाता है, अत शब्दजनित ज्ञान द्वारा शब्द का विषय अर्थ होता है । और प्रकृत मे ज्ञान रूप व्यवधान के बिना अपरोक्ष विषयत्व रूप हेतु है । अत अय घट इस शब्द मे व्यभिचार नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि इसप्रकार से उस शब्द मे व्यभिचार नही होने पर भी (यह पर्वत, अग्निवाला है) इस परोक्ष अपरोक्ष = अग्नि-पर्वत दोनो विषयक अनुमिति मे व्यभिचार है, क्योकि इसमे साक्षात्कारत्व जाति रूप साध्य नही रहता है, और पर्वताश मे अपरोक्ष वस्तु विषयत्व हेतु रहता है । यदि कहे कि अपरोक्ष वस्तुमात्र विषयत्व हेतु विवक्षित है, तो भी युक्त नही, क्योकि सुखेच्छा मे तो भी व्यभिचार होता है, इच्छा मे साक्षात्त्व

स्वतोऽपरोक्ष आत्मैवाविद्याया आश्रयो विषयश्चेति भवद्भिरभ्युपगमात् । नापि द्वितीय, अविद्यायामेव व्यभिचारात्, तस्या अपरोक्षात्मविषयत्वेऽपि तद्विपरीनव्यवहारहेतुतया तद्व्यवहारहेतुत्वाभावात् । अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमेव हेतुरिति चेत्, न, साध्याविशिष्टत्वप्रसङ्गात् । प्रतिप्रयोगसभवाच्च—विवादाध्यासित शब्द, अपरोक्षज्ञानजनको न भवति, शब्दत्वात्, ज्योतिष्टोमादिवाक्यवदिति । अत्रोच्यते—

साक्षात्करणहेतोरप्यप्रत्यक्षत्वसभवात् ।

ननु कथमपरोक्षविषयत्वमविद्याया येनानैकान्तिकतेति, तत्राह—**स्वत इति । भवद्भिरिति ।** एकजीववादिभिरित्यर्थ । अपरोक्षव्यवहारहेतुत्वमपरोक्षत्वमिति द्वितीये पक्षेऽप्यविद्याया व्यभिचारस्तत्र हेतुसद्भावेऽपि साध्याभावादित्याह—**नापि द्वितीय इत्यादिना ।** नन्वपरोक्षविषयत्वादिति हेतोरयमर्थ —यदपरोक्षव्यवहारहेतुत्वादिति, तथा च नाविद्याया विपरीतव्यवहारजनिकायामनैकान्त्यमिति शङ्कते—**अपरोक्षेति ।** परिहरति—**न, साध्येति ।** सत्प्रतिपक्ष चेदमनुमानमित्याह—**प्रतिप्रयोगेति ।** ज्योतिष्टोमादिवाक्येषु सिद्धसाधनतापरिहाराय विवादेति विशेषणम् । बाधसाध्यवैकल्ययो परिहारायापरोक्षेति विशेषणम् ।

साक्षादिति । अत्र किं बाधकवशाच्छब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्व नेष्यते ? अदर्श-

---

साध्य के नही रहते भी अपरोक्षमात्र विषयत्त्व हेतु रहता है । यदि कहे कि इच्छा मे उसके जनक ज्ञान के साक्षात् सुख वस्तुविषयत्व से साक्षाद् सुख वस्तुविषयत्व उपचरित होता है, और यहाँ मुख्य विवक्षित है, तो भी हेतु सिद्ध नही होता है, क्योकि अविद्या मे व्यभिचार होता है। स्वत अपरोक्ष आत्मा ही अविद्या का आश्रय और विषय है, ऐसा आप मानते है। शाब्दज्ञान को अपरोक्ष व्यवहार-हेतुत्व रूप अपरोक्षत्व है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है। क्योकि अविद्या मे ही व्यभिचार है, अविद्या मे अपरोक्ष आत्मविषयत्व के रहते भी, उससे विपरीत (परोक्ष) व्यवहार के हेतुत्व होने से आत्मा के अपरोक्ष व्यवहार के हेतुत्व का अभाव रहता है । अत साध्य के नही रहते भी हेतु रहता है। यदि कहे कि, अपरोक्षविषयत्व हेतु का अपरोक्ष व्यवहार हेतुत्त्व ही अर्थ है, अत वही उक्त अनुमान मे हेतु है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि इसप्रकार से हेतु को साध्याविशिष्टत्व (असिद्धत्व) प्राप्त होगा, तो सिद्ध साध्याय कल्पते, यह नही रहेगा। और प्रतिप्रयोग के सम्भव से सप्रतिपक्ष यह अनुमान है, प्रतिप्रयोग है कि ' विवाद-विषय शब्द, अपरोक्ष ज्ञान का जनक नही होता है, शब्द होने से, ज्योतिष्टोमादि वाक्य के समान) यह पूर्व पक्ष हुआ । अव यहाँ सिद्धान्त पक्ष कहा जाता है कि—

साक्षात् = अपरोक्ष ज्ञान के हेतु शब्द को भी अप्रत्यक्ष = प्रमाणत्व का

दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेव तदुद्भवात् ॥ १ ॥

यत्तावदुक्तमपरोक्षप्रमितिकरणत्वे प्रत्यक्षान्तर्भावः स्यादिति । तत्र ब्रूमः—अभ्युपगम्यते हि परेणापि योगिमनसो बाह्यविषयापरोक्षप्रमितिकरणता, तथापि न बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावस्तस्याभ्युपेयते, एवं शब्दस्यापरोक्षप्रमितिजनकत्वेऽपि प्रत्यक्षान्तर्भावो मा भूत् । अथ तत्र बाह्यप्रत्यक्षान्तर्भावे चक्षुरादीनामन्यतमत्वं योगिमनोऽन्यत्वे सति बाह्यप्रत्यक्षप्रमितिकरणत्वं वा प्रयोजकम्, हन्तेहापि तर्हि स्वतोऽपरोक्षब्रह्मात्मविषयशब्दान्यत्वे सत्यपरोक्षप्रमितिकरणत्वं प्रत्यक्षान्तर्भावे प्रयोजकमस्तु । सिद्धे शब्दस्यापरोक्षप्रमितिकरणत्वे तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणं युक्तं तदेव तु कथमिति चेत्, दशमस्त्वम-

---

नाद्यः ? नाद्यः, तदसिद्धेः । न तावत्प्रत्यक्षान्तर्भावो बाधकः, नहि साक्षात्कारिज्ञानहेतुतामात्रेण प्रत्यक्षत्वं संभवति, शब्दव्यतिरिक्तत्वे सति तादृशस्य तत्प्रयोजकत्वात् । ननु दृष्टे शब्दस्य तद्धेतुत्वे प्रयोजकसंकोचो युक्तस्तदेव कथमिति, तत्राह—**दशम इति ।** ननु तत्रापीन्द्रियमेव करणमित्युक्तम्, तत्राह—**शब्दादेवेति ।** श्लोकं विवृणोति—**यत्तावदित्यादिना ।** अत्र प्रत्यक्षविशेषप्रयोजके प्रतिबन्दीं गृह्णाति—**अभ्युपगम्यते हीति ।** विशेषणं दर्शयन्नाभासतां प्रतिबन्द्याः शङ्कते—**अथ तत्रेति ।** अनीश्वरप्रत्यक्षेषु चेदं प्रयोजकगवेषणमिति द्रष्टव्यम् । नायं विशेषः, प्रकृतेऽप्येवं शब्दसंकोचत्वादिति परिहरति—**हन्तेति ।** उत्तरार्धस्य शङ्कामाह—**सिद्ध इति ।** एतत्परिहारहेतुत्वेन तृतीयपादमवतारयति—**दशम इति ।** चतुर्थपादस्य शङ्का

संभव है, क्योंकि दशमस्त्वमसि, इत्यादि में शब्द ही से उस प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

अर्थात् जो यह कहा है कि शब्द में अपरोक्षप्रमा के करणत्व होने पर, शब्द को प्रत्यक्ष के अन्तर्भाव होना होगा । वहाँ कहा जाता है कि, आप भी बाह्यविषय की अपरोक्ष प्रमिति की करणता को योगी के मन में मानते हैं, तो भी उस मन को बाह्यप्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्गत नहीं मानते हैं । इसीप्रकार से शब्द को अपरोक्षप्रमिति के जनक होते भी उसका प्रत्यक्षप्रमाण में अन्तर्भाव नहीं होगा । यदि कहें कि बाह्यप्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्भाव होने में चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों का अन्यतमत्व प्रयोजक (हेतु) है, या योगी मन से अन्यत्व युक्त बाह्य प्रत्यक्षप्रमिति करण प्रयोजक है, अतः योगी के मन का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव नहीं होता है । तब तो यहाँ भी स्वतः अपरोक्षब्रह्मात्मविषयक शब्द से अन्यत्व युक्त अपरोक्षप्रमितिकरणत्व प्रत्यक्षान्तर्भाव में प्रयोजक हो सकता है । यदि कहें कि शब्द के अपरोक्षप्रमितिजनकत्व के सिद्ध होने पर, उस शब्द की व्यावृत्ति के लिये उक्त विशेषण (शब्दान्यत्व) युक्त हो सकता है । परन्तु वह शब्द के अपरोक्षप्रमिति जनकत्व धर्म ही

सीत्यादिवाक्येषु दर्शनादिति ब्रूम । ननु तत्रापीन्द्रियसहितस्यैव तद्धेतुत्व न केवलस्येत्युक्तमिति चेत्, अत्रापि तर्हि मन सहायस्यैव शब्दस्यापरोक्षप्रतीति-हेतुताऽस्तु । ननु तत्रेन्द्रियस्यैव करणत्व शब्दस्य तु सहकारितामात्रमिति चेत्, न, शब्द एव करणमिन्द्रिय सहकारीति वैपरीत्यमेव कुतो न स्यात् ? अन्वयव्यतिरेकयोस्तूभयत्राविशिष्टत्वात् । तथापि विनिगमनाया को हेतुरिति चेत्, क्वचिद्बहुलतमे तमसि क्वचिच्च लोचनविरहिणोऽपि वाक्याद्दशमोऽस्मीत्यपरोक्षप्रमितिदर्शनमेवेति वदाम । भवत्वेवम्, तथापि ब्रह्मसाक्षात्कारे करण मन एव 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुते ।

दर्शयति—**ननु तत्रापीति** । तत्र किं शब्द करणमिन्द्रिय तु सहकारीत्यभिधीयते ? किं वा गुडजिह्विकयेन्द्रियस्यैव करणत्व शब्द सहकारीत्यभिप्रेतिसितम् ? आद्ये प्रकृतेऽप्यस्त्येवेन्द्रिय सहायमित्याह—**अत्रापीति** । तथाच शब्दस्य करणत्व न व्याहतमिति भाव । द्वितीये शङ्कते—**ननु तत्रेति** । तदेतदविनिगमनेन दूषयति—**न शब्द एवेति । विनिगमनायां** शब्द एव करणमिति निर्णय इत्यर्थ । हेतु दर्शयति—**क्वचिदिति** । लोचनविरहिण सलोचनस्यापि गाढान्धकारनिरुद्धतया अव्यापृतलोचनस्य शब्दादेवापरोक्षज्ञानदर्शनमेव नियामकमित्यर्थ । उपलक्षण चैतत्स्पर्शनव्यापाराभावस्यापि । भवत्वेव दशमस्त्वमसीत्यादौ, प्रकृते तु न युक्त श्रुतिविरोधादिति शङ्कते—**भवत्वेवमिति** । आदिशब्देन 'हृदा मनीषया मनसाभि-

---

कैसे सिद्ध हो सकता है, तो कहा जाता है कि (दशमस्त्वमसि) दशमा तू है । इत्यादि वाक्यो मे अपरोक्ष ज्ञानजनकत्व के देखने से अपरोक्ष प्रमितिकरणत्व शब्द मे सिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि वहाँ दशम ज्ञान मे भी इन्द्रिय सहित ही शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का हेतुत्व होता है, केवल शब्द को नही, यह कहा गया है, तो यहाँ भी मनरूप सहाय वाला शब्द (वेदान्त) को अपरोक्ष ज्ञान हेतुता होती है, यह मन्तव्य है । यदि कहा जाय कि (दशमस्त्वमसि) यहाँ इन्द्रिय को ही करणत्व रहता है, शब्द को तो सहकारिता मात्र रहती है, करणत्व नही । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि वहाँ शब्द ही करण रहता है, और इन्द्रिय सहकारी रहता है, यह विपरीतता ही क्यो न होगा । क्योकि अन्वयव्यतिरेक की उभयत्र तुल्यता है । तो भी यदि जिज्ञासा हो कि विनिगमना (शब्द ही करण है, इस निर्णय) मे कौन हेतु है, तो कहा जाता है कि कही बहुत अन्धकार मे नेत्र वाले को और कही नेत्र हीन को भी दशमा तुम हो इस वाक्य से अपरोक्ष प्रमा ज्ञान का दर्शन ही विनि-गमक है । यदि कहा जाय कि उक्त रीति से दशम का ज्ञान शब्द से हो सकता है, तो भी ब्रह्मसाक्षात्कार मे तो मन ही करण हो सकता है, शब्द नही, क्योकि (मनसैवेदमाप्तव्यम्) मन से ही यह ब्रह्म प्राप्त कर्तव्य है । इत्यादि श्रुति से मन की

'यन्मनसा न मनुते' 'अप्राप्य मनसा सह' इत्यादिश्रुतेश्चानधिकृतमनोविषयत्वादिति चेत्, मैवम्,

तद्धेत्यादिश्रुते क्वापि मनसस्तदयोगत ।
शब्दत्वानुमितेर्बाधाद्वयभिचारादनुत्थिते ।। २ ।।

'तद्धास्य विजिज्ञौ' 'तमसः पार दर्शयति' इति चोपदेशमात्रादेवापरोक्षप्रमित्युपपत्तिप्रतिपादनात्। नन्वेतानि वचनान्यागमाचार्योपदेशयोर्न साक्षात्कारहेतुता प्रतिपादयन्ति, साक्षात्कारहेतोर्मनस सहायताप्रतिपादनपरत्वे-

---

क्लृप्त, दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचे'त्यादिश्रुतयो गृह्यन्ते। ननु 'यन्मनसा न मनुत' इत्यादिषु मनसा पुरुषो यद्ब्रह्म न मनुते' तथा वाचो मनसा सहाप्राप्य यतो निवर्तन्त इति मनोगम्यत्वमपि निषिद्ध तत्कथ मन एव करणमिति, तत्राह— **यन्मनसेति। अनधिकृतमनः** असस्कृतमन। सिद्धान्ती परिहरति—**मैवमिति।**

'तद्धास्य विजिज्ञौ' इत्यादिश्रुतेस्तावदुपदेशमात्रादपरोक्षज्ञानजन्मावसीयते, नचैता श्रुतयो मन प्रति सहायतामुपदेशस्य दर्शयन्ति, न तु करणतामिति युक्तम्, मनस क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वायोगात्। यत्तु शब्दत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तत्राह— **शब्दत्वेति।** उक्तश्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टत्वाद्दशमस्त्वमसीत्यादौ व्यभिचाराच्च शब्दत्वादित्यनुमितेरनुत्थितेरित्यर्थ।

श्लोक विवृणोति—**तद्धास्येति।** अस्याचार्यस्योपदेशेन तदुपदिश्यमान ब्रह्म विजिज्ञौ विशेषेण विज्ञातवान् शिष्य इत्यर्थ। **तमसः** शोकादिकारणाज्ञानस्य **पारम्** अन्तम्। निरवद्य ब्रह्म दर्शयति—अदर्शयदित्यर्थ। मनननिदिध्यासनविधानसत्वेन

करणता सिद्ध होती है। और (यन्मनसा न मनुते। अप्राप्य मनसा ब्रह्म) जिसको कोई मन से नही जान सकता है। मन सहित वाक् जिसको जाने बिना निवृत्त होती है) इत्यादि श्रुति को अनधिकृत असस्कृत = अशुद्ध मनविषयकत्व है। तो ऐसा कहना युक्त नही। क्योकि—

(तद्धास्य) इत्यादि श्रुति से, तथा कही मन के करणत्व के अयोग से, और शब्दत्व से अपरोक्ष साधनत्वाभाव अनुमान के बाध से और व्यभिचार से अनुमिति के अनुत्थान से शब्द मे करणत्व सिद्ध होता है ।। २ ।।

अर्थात् (तद्धास्य विजज्ञौ, तमस पार दर्शयति) उस ब्रह्म को गुरु के उपदेश से शिष्य प्रत्यक्ष समझा। तम से परब्रह्म को गुरु उपदेश से दर्शाते है। इत्यादि श्रुतियाँ उपदेश मात्र से ही अपरोक्ष प्रमा की उत्पत्ति का प्रतिपादन करती है। यदि शका हो कि ये उक्त वचन भी आगम और गुरुवचन मे ही साक्षात्कार की हेतुता का प्रतिपादन नही करते है, क्योकि साक्षात्कार के हेतु मन की सहायता के प्रतिपादन

नाप्युपपत्ते । अन्यथा श्रवणोत्तरकालयोर्मननिदिध्यासनयोर्विधानानर्थक्यात्, श्रवणेनैव साक्षात्कारोत्पत्ते, श्रुतवेदान्तानामपि पूर्ववत्ससारानुवृत्तिदर्शनाच्चेति चेत्, मैवम्, असभावनाविपरीतभावनाख्यस्य चित्तविक्षेपलक्षणस्य च प्रतिबन्धस्य निरासद्वारेण मनननिदिध्यासनयो फलोपकार्यङ्गतयापि श्रवण प्रति विधानोपपत्ते । पूर्ववत्ससारित्वोपलब्धेश्च प्रतिबद्धविज्ञानपुरुषविषयत्वात् । मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादिश्रुतेश्चित्तैकाग्र्यस्याङ्गताप्रतिपादनपरत्वात् । मनसश्च नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावब्रह्मात्मसाक्षात्कारहेतुत्वस्यादृष्टचरतया तत्र शब्दस्य सहकारित्वकल्पनानुपपत्ते ।

श्रवण न साक्षात्कारहेतुरित्याह—**अन्यथेति** । इतोऽपि न श्रवणरूपोपदेशमात्रान् माक्षात्कारोत्पत्तिरित्याह—**श्रुत इति** । तत्र तावच्छ्रवण प्रति फलोपकार्यङ्गतयोपयोग मनननिदिध्यासनयोर्दर्शयति सिद्धान्ती—**मैवमित्यादिना** । यद्यपि चित्तगतमललक्षणप्रतिबन्धो यज्ञादिभि शुद्ध्याधायकैर्निवारित, तथापि दृष्टस्य विक्षेपलक्षणप्रतिबन्धस्य ताभ्या निरास, अनुयाजादिवच्च फलोपकार्यङ्गतयोत्तरकालत्वमपि न विरुध्यत इति भाव । अनुपपत्त्यन्तर परिहरति—**पूर्ववदिति** । नहि प्रतिबन्धे सति कार्यानुत्पादकत्व कारणता विहन्ति । उक्त च सूत्रकृता—'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनादिति' इति भाव । या तु श्रुतिर्मनस साक्षात्कारकरणत्वे प्रमाणमुक्ता तामन्यथयति—**मनसैवेति** । यत्तु तद्धेत्यादिश्रुतीनामुपदेशस्य मन सहायताप्रतिपादकतयाप्युपपत्तेरिति, तत्राह—**मनसश्चेति** । **अदृष्टचरतयेति** । श्रुत्यादिष्विति

परत्व से भी इन वचनो की उपपत्ति (सार्थकता) होती है । अन्यथा यदि शब्दश्रवण को ही अपरोक्ष ब्रह्मात्मज्ञान हेतुता हो, तो श्रवण के उत्तर काल मे होने वाले मनन और निदिध्यासन के विधान मे अनर्थकता होगी । क्योकि श्रवण से ही ज्ञान की उत्पत्ति के होने से मननादि का कोई फल नही होगा । और वेदान्त के श्रवण जिन लोगो ने कर लिया है, उन श्रुत वेदान्त वालो मे भी ससार की अनुवृत्ति को देखने से भी सिद्ध होता है कि श्रवण मात्र से ब्रह्मसाक्षात्कार नही होता है, यह शका युक्त नही, क्योकि असभावना (सशय) और विपरीत भावना (विपर्यय) नामक चित्तविक्षेप स्वरूप प्रतिबन्ध के निरास = निवारण द्वारा फलोपकारिता रूप से ही मनन निदिध्यासन का श्रवण के प्रति विधान की सिद्धि होती है । अर्थात् सशय भ्रम के निवारण द्वारा श्रवणजन्य ज्ञान रूप फल मे मनननिदिध्यासन साधन होता है, साक्षात् नही । और पूर्ववत् ससार उपलब्धि को प्रतिबद्ध विज्ञान वाले पुरुष विषकत्व रहता है, सर्वत्र नही, और प्रतिबन्धक के रहते कार्य के अनुत्पादकत्व हेतुता को नष्ट नही करता है, अत श्रवण मे ज्ञान हेतुता अबाधित रहती है । और (मनसैवेदममाप्तव्यम्) इत्यादि श्रुति को चित्तैकाग्रता

तथात्वे श्रवणादीनामेव वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । सुखादीना साक्षिवेद्यत्वादात्मनश्च स्वयप्रकाशत्वात् मनस क्वचिदपि साक्षात्कारहेतुत्वासप्रतिपत्ते । भावना-सहायस्य तु मनसो गरुडादिसाक्षात्कारप्रमित्यनुत्पादकत्वात, तदपरोक्षस्य च विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारवद्विभ्रमत्वात् । अप्रमारूपसाक्षा-त्कारस्यापि साक्षिरूपतया मानसत्वाभावात् । इह च "भिद्यते हृदयग्रन्थि-

---

शेष । बाधकान्तर चाह—**तथात्व इति** । इदानी 'क्वापि मनसस्तदयोगत' इत्येतद्विवृणोति—**सुखादीनामिति** । एतेन साक्षात्कारहेतुतया क्लृप्तस्य मनस सभवे शब्दस्य तत्कल्पनानुपपत्तेरिति वाचस्पतिमिश्रैरुदीरितमपोदित मन्तव्यम् । ननु कथ साक्षात्कारहेतुत्वासप्रतिपत्तिर्यावता भावनापरिपाकसहकृतमनसो दृष्ट गरुडादि-साक्षात्कारहेतुत्वमिति तत्राह—**भावनेति** । कि तर्हि तदित्यत आह—**तदपरो-क्षेति** । पूर्व साक्षात्कारहेतुत्वमङ्गीकृत्य प्रमितिहेतुत्व नास्ति इत्युक्तमिदानी तदपि न मनोजन्यमित्याह—**अप्रमेति** । एतेनाप्रमारूपसाक्षात्कारहेतोर्मनस क्वचित्प्रमाहेतु-त्वेनापि भवितव्य नयनादिवदिति पर्यनुयोगोऽपि परास्त । प्रस्तुतस्थले च प्रमारूप-साक्षात्कार एवाविद्यानिवृत्तिक्षम श्रुतिभिरवगम्यते, तत्र च मनस करणत्वनिषेधात् करणान्तरानिरूपणाच्च वेदान्तवाक्यमेव करणमित्याह—**इह चेत्यादिना** । अथवात्रापि साक्षिरूप एव साक्षात्कारोऽविद्यानिवर्तक, अतस्तत्करणत्वेन शब्द-कल्पनमपि मनोवदेवायुक्तमिति, तत्राह—**इह चेति** । 'मामेव', 'तरत्यविद्या'मिति

की ज्ञानाङ्गता के प्रतिपादन परत्व है, मन के करणत्व प्रतिपादन परत्व नही । और श्रुति आदि मे नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाले ब्रह्मात्मा के साक्षात्कार के हेतुत्व को मन सम्बन्धित्व रूप से अदृष्ट अश्रुत होने से मन मे शब्द के सहकारित्व की कल्पना नही हो सकती है, अर्थात् मन करण है, और शब्द उसमे सहकारी हेतु है, ऐसी कल्पना नही हो सकती है । और वैसी कल्पना होने पर साक्षात्कार के साधन रूप से श्रवणादि को ही व्यर्थता प्राप्त होगी । और सुखादि के साक्षिवेद्य होने से आत्मा के स्वय प्रकाश होने से मन के साक्षात्कार के हेतुत्व (करणत्व) कही प्रसिद्ध नही है, कि जिससे मन को करण मान कर शब्द को सहकारी माना जाय । यदि कहा जाय कि दृढ भावना युक्त मन मे गरुडादि देव के साक्षात्कार के हेतुत्व को देखा गया है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि भावना रूप सहाय वाला मन को भी गरुडादि के साक्षात्कार रूप प्रमा के उत्पादकत्व (जनकत्व) नही होता है, क्योकि उस गरुडादि के अपरोक्ष को विधुर (स्त्री-विरही) से चिन्तित कामिनी के साक्षात्कार के समान विभ्रमत्व रहता है । और वस्तुत मन मे प्रमिति करणत्व नही है, इतना ही नही, किन्तु भ्रान्ति करणत्व भी नही है, क्योकि अप्रमा रूप साक्षात्कार को भी साक्षिस्वरूप होने से उसमे मानसत्व का अभाव है । और इस

श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः," "तमसः पारं दर्शयति," भूयश्चान्ते विश्वमाया-निवृत्तिः," "तरति शोकमात्मवित्," "योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि," "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते," तरत्यविद्यां विततां"-मित्यादिश्रुतिस्मृतिषु ब्रह्मविद्याया एवाविद्यानिवर्तकत्वश्रवणात् पारिशेष्या-त्तत्कारणं वेदान्तवाक्यमिति निश्चीयते। श्रूयते च—"नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्," "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि," "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" इति। अत्र हि वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानस्य विज्ञानमिति विशेषणेन विशेष-विषयत्वप्रतिपादनात्, निश्चयहेतुत्वे सिद्धेऽपि सुशब्दविशेषणेनापरोक्षनिश्चय-

---

स्मृती। शोककारणाविद्यामित्यर्थः। वेदादेव परमेश्वरज्ञानमित्यत्र साक्षादेव श्रुतिर-स्तीत्याह—**श्रूयते चेति।** तं बृहन्तम् अपरिच्छिन्नं परमेश्वरं अवेदवित् अवेदज्ञः पुरुषो न मनुते, अपितु वेदज्ञ एव जानातीत्यर्थः। अत्र च वेदशब्देन तदेकदेशा वेदान्ता विवक्ष्यन्ते। अथवा सप्रपञ्चनिष्प्रपञ्चप्रतिपादकतया सर्वं एव विवक्षिताः। उपनिषत्स्वेव वेद्यत इत्यौपनिषदः। वेदान्तजनितं विज्ञानं वेदान्तविज्ञानम्। नन्वत्र साक्षात्कारः कथं लभ्यते? नापि विज्ञानमित्युपसर्गबलात्, तस्य विशेषेण ज्ञानमिति निश्चयमात्रपर्यवसितत्वादिति, तत्राह—**अत्रेति।** चकारस्तूपपत्त्येदमुपसर्गसामर्थ्यं समुच्चिनोति। तां चोपपत्तिं वक्ष्यति।

वेदान्त वाक्य के करणता मे तो श्रुति ही प्रमाण है। क्योकि (भिद्यते हृदयग्रन्थि-श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। तमसः पारं दर्शयति। भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः। तरति शोकमात्मवित्। योऽस्माकमविद्यायाः परंपारं दर्शयति। मामेव ये प्रपद्यन्ते माया-मेतां तरन्ति ते। तरत्यविद्यां विततांम्) इत्यादि श्रुति-स्मृतियो मे ब्रह्मविद्या के ही अविद्या के निवर्तकत्व को सुना गया है। अतः परिशेषता से उस विद्या का करण वेदान्त वाक्य है, यह निश्चय होता है। जिस परावर के दर्शन से अविवेक कामादि ग्रन्थि = बन्धन कट जाता है, सर्वसंशय नष्ट हो जाते है। अज्ञान के अन्त स्वरूप ब्रह्म को गुरु दर्शाते है। देह के पतन होने पर फिर सब अविद्या निवृत्त हो जाती है। आत्मज्ञ शोकरहित हो जाता है। जो हमे अविद्या के पर पार को दर्शाता है। जो मुझे प्राप्त करते है, वे इस माया को तरते है, इत्यादि उक्त वचनो के संक्षिप्त अर्थ है। और भी सुना जाता है कि (वेद को नही जानने वाले उस बृहद् विभु को नही जानते है। किन्तु वेदज्ञ ही जानते है। उस उपनिषद् से ज्ञेय औपनिषद् पुरुष को मै आप से पूछता हू। वेदान्तजनित विज्ञान से सुनिश्चित अर्थ वाले सब परिमुक्त होते है। इन श्रुतियो मे वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान के विज्ञान इस विशेषण मे विशेषविषयत्व का प्रतिपादन किया है, उससे वेदान्तवाक्य मे निश्चय हेतुत्व के सिद्ध होने पर भी सुशब्द रूप विशेषण से अपरोक्ष निश्चय हेतुत्वप्रतिपादन से यह

हेतुत्वप्रतिपादनाच्चायमर्थो निश्चीयते ।

यत्पुन· शब्दत्वादित्यनुमानम्, तच्छ्रुतिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टम्, दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्येऽनैकान्त्य च ।

प्रतिप्रयोगयोगाच्च विपक्षे बाधसभवात् ।
तस्याभाससमानत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधी ॥ ३ ॥

प्रतिप्रयोगश्च—अपरोक्षत्व तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववत् । न च परोक्षत्व तद्वृत्ति परोक्षज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वादिति सप्रतिसाधनता, सिद्धसाधन-

---

उत्तरार्ध विवृणोति—**यत्पुनरिति** । दूषणान्तर चानुमानस्य श्लोकेनाह—**प्रतिप्रयोगेति** । अपरोक्षत्वमित्यादिप्रतिप्रयोगसभवात् । नन्वपरोक्षत्वस्याग्निहोत्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्तित्वमप्येव शक्यानुमानमित्याभाससमानतेति, तत्राह—**तस्याभाससमानत्वादिति** । तत्र हेतु विपक्षे बाधसभवादिति ।

श्लोक विवृणोति—**प्रतिप्रयोगश्चेति** । ज्ञानवृत्तीत्युक्ते प्रत्यक्षवृत्तितया अर्थान्तरता, तदर्थं वाक्यजन्यज्ञानवृत्तीत्युक्तम् । तथापि विवक्षितासिद्धि , वाक्यान्तरमादायाप्युपपत्तेरित्यत उक्तम्—**तत्त्वमस्यादीति** । असिद्धिनिवृत्त्यर्थ हेतावपरोक्षग्रहणम् । सविकल्पकत्वादिना वेदान्तवाक्यजन्यज्ञानानिष्ठेन व्यभिचारनिरासार्थमत्यन्ताभावग्रहणम । द्वितीयेऽपि शाब्दावृत्त्यनुमितित्वादिनिवृत्त्यर्थमत्यन्ताभाव-

---

उक्त अर्थ निश्चित होता है कि वेदान्तवाक्य ही ब्रह्मात्मा के अपरोक्ष ज्ञान का करण है ।

और जो शब्दत्व हेतु से अपरोक्ष ज्ञानजनकत्वाभाव का अनुमान कहा था, वह अनुमान श्रुतिविरोध से कालात्ययापदिष्ट (बाधित) है । और (दशमस्त्वमसि) इत्यादि वाक्य मे शब्दत्व हेतु अनैकान्तिक है, क्योकि इस शब्द से दशम का अपरोक्ष ज्ञान होता है । अत साध्य नही है, शब्दत्व हेतु है ।

और प्रतिप्रयोग के सम्भव से, विपक्ष मे बाध के सम्भव से और उस अनुमान मे आभास तुल्यता से शब्द रूप वेद्वान्त वाक्य से ही अपरोक्ष ज्ञान निश्चित होता है ॥ ३ ॥

और प्रतिप्रयोग (प्रतिपक्ष) है कि (अपरोक्षत्व = धर्म, तत्त्वमसि, आदि महावाक्यजन्य ज्ञान मे रहता है । अपरोक्ष ज्ञानवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, ज्ञानत्व समान), यदि कहे कि इस अनुमान को सप्रतिसाधनता = सप्रतिपक्षता है, क्योकि (परोक्षत्व, तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य ज्ञान मे रहता है, परोक्षज्ञानवृत्ति अत्यन्ताऽभाव का अप्रतियोगी होने से, ज्ञानत्व समान) ऐसा प्रतिप्रयोग

त्वात्। इष्यते हि तस्यासभावनाविपरीतभावनाप्रतिबद्धान्तःकरणे पुरुषे परोक्षज्ञानजनकत्वम्। 'तद्धास्य विजिज्ञौ' इति श्रुतिविरुद्धतया कालात्यया-पदिष्टत्वाच्च। न चापरोक्षत्वमग्निहोत्रादिवाक्यजन्यज्ञानवृत्ति, अपरोक्ष-ज्ञाननिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वात्, ज्ञानत्ववदित्याभाससमानयोगक्षेमता, विपक्षे बाधकतर्काभावेन तस्याप्रयोजकत्वात्। किं वाक्यप्रमाण्यानुपपत्ति-र्बाधिका? उतानुष्ठानानुपपत्तिः? स्वर्गादिफलासिद्धिर्वा? नाद्य, अनुमानादिवत्प्रमाण्योपपत्ते। न द्वितीय, परोक्षनिश्चयादप्यनुष्ठानसिद्धे। न तृतीय, अनुष्ठानादेव फलसिद्धे। इह त्वात्मविज्ञानस्य मोक्षसाधनत्व-श्रुत्यन्यथानुपपत्तिरेव बाधिका। तथाहि—'ब्रह्मविदाप्नोति परम्, 'ब्रह्म

ग्रहणम्। असिद्धिनिवृत्त्यर्थं च परोक्षग्रहणम्। सिद्धसाधनतामेव विवृणोति—**इष्यते हीति**। अथ ब्रूयाद्ध्रुवदभिमतज्ञानवृत्तित्वमनुमेयमिति, तत्राह—**तद्धास्येति**। तस्याभाससमानत्वादित्यस्याशङ्का पठति—**न चापरोक्षत्वमिति**। विपक्षे बाधकमेव विकल्पयति—**किं वाक्येत्यादिना**। यदि ह्यपरोक्षज्ञानजनकं न भवेत् तर्ह्यप्रमाण स्यादिति तावन्न बाधकम्, अनुमाने व्यभिचारादित्याह—**अनुमानेति**। विपक्षे बाधसम्भवादित्येतद्विवृणोति—**इह त्विति**। श्रूयतां नाम तत किमिति, तत्राह—

हो सकता है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि इस प्रतिप्रयोग मे सिद्धसाधनता होती है। असम्भावनाविपरीत भावना से प्रतिबद्ध (युक्त) अन्तःकरण वाले पुरुष मे उस महावाक्य के परोक्ष ज्ञानजनकत्व को माना ही जाता है। यदि कहा जाय कि अप्रतिबद्ध अन्तःकरण वाले के ज्ञान मे प्रतिप्रयोग से परोक्षता के अनुमान मे सिद्धसाधनता नही होगी, तो कहा जाता है कि (तद्धास्य विजज्ञौ) इस श्रुति से विरुद्धता होने से प्रतिप्रयोग बाधित है। यदि कहै कि अपरोक्षत्व (अग्निहोत्र जुहुयात्) इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान मे रहता है। (अपरोक्षज्ञानवृत्ति अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी होने से, नानत्व समान) इस आभास के समान योगक्षेमता उक्त अनुमान मे है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि विपक्ष मे बाधक तर्क के अभाव से उस आभास को अप्रयोजकत्व (साध्याऽसाधकत्व) है। यदि विपक्षबाधक तर्क है तो, वह क्या वाक्य प्रामाण्यानुपपत्ति बाधक है, या अनुष्ठानानुपपत्ति है, या स्वर्गादि फलाऽसिद्धि है, यहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योकि अपरोक्ष ज्ञानजनकता के बिना भी अग्निहोत्रादि वाक्यो मे अनुमानादि के समान प्रमाणता की सिद्धि होती है। परोक्ष निश्चय से अनुष्ठान की सिद्धि से दूसरा पक्ष भी युक्त नही। अनुष्ठान से ही स्वर्गादि फल की सिद्धि से तृतीय पक्ष भी युक्त नही, इससे प्रतिपक्ष रूप अनुमान मे विपक्ष बाधक तर्क का अभाव है। और इस सिद्धान्त के अनुमान मे तो आत्मविज्ञान के मोक्षसाधनत्व बोधक श्रुति की अन्यथा (अपरोक्ष ज्ञानजनकत्व के बिना)

वेद ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्'—इति वेदान्तवाक्यजनितात्मविज्ञानान्मोक्ष श्रूयते। स च सविलासाज्ञाननिवृत्तिलक्षण। ससारस्य दुर्निरूपत्वेनाविद्यारूपत्वात्, तस्य चाहं कर्ता भोक्तेत्याद्यपरोक्षविभ्रमलक्षणस्य परोक्षज्ञानान्निवृत्त्यनुपपत्ते। ब्रह्मणि च सकलकरणागोचरे प्रमाणान्तरेण प्रत्यक्षज्ञानानुत्पत्तेर्वाक्याच्चापरोक्षज्ञानानुत्पत्तावनिर्मोक्ष स्यादिति विपक्षे बाधकतर्कसभवान्नाभाससमानतानुमानस्य, तस्माच्छब्दादेवापरोक्षज्ञानात् कैवल्यमिति सकलमनाविलम्।

ननु कथ ज्ञानात्कैवल्य तस्य स्वर्गादिफलकर्मशेषतया स्वतन्त्रफलसाधन-

---

स चेति। यथा चाज्ञाननिवृत्तिर्मोक्ष तथा चतुर्थपरिच्छेदे वक्ष्यते। ननु ससारनिवृत्तिर्मोक्ष, किमिदमुच्यते अविद्यानिवृत्तिरिति, तत्राह—**संसारस्येति**। तथापि वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्व विना किमनुपपन्नम्? तत्राह—**तस्य चेति**। दिङ्मोहादौ तथा दर्शनादिति भाव। एतेन योपपत्तिर्वक्ष्यतीत्युक्ता, सापि प्रदर्शिता। नन्वपरोक्षज्ञानमपि मनसैवोत्पद्यतामिति, तत्राह—**ब्रह्मणीति**। **प्रत्यक्षे**त्यपरोक्षज्ञान विवक्षितम्। वादार्थमुपसहरश्चतुर्थम् पाद व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

ज्ञानात् कैवल्यमित्युक्तमसहमान कर्ममीमासक आक्षिपति—**ननु कथमिति**। ननु कथमात्मज्ञानस्य कर्मशेषता? तद्बोधकप्रमाणाभावात्, नह्यात्मज्ञानेन कर्म कुर्यादिति काचित श्रुतिरस्ति विनियोक्त्री, नापि लिङ्गमसमर्थत्वात्, नापि वाक्यम्, पदद्वयसमभिव्याहाराभावात्, नापि प्रकरणम्, साकाङ्क्षविधिसान्निध्यभावात्, नापि

अनुपपत्ति ही विपक्ष का बाधक है। क्योकि (ब्रह्मवित् परब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है। आत्मवेत्ता शोकरहित होता है) इसप्रकार से वेदान्तवाक्य जनित आत्मविज्ञान से मोक्ष सुना जाता है। और वह मोक्ष कार्यसहित अज्ञान की निवृत्ति स्वरूप है। जन्मादि ससार के दुर्निरूप होने से ससार दुर्निरूप अविद्या स्वरूप = माया अविद्या का कार्य है। मै कर्ता हू भोक्ता हूँ, इत्यादि अपरोक्ष वि भ्रम स्वरूप उस ससार की परोक्ष ज्ञान से निवृत्ति हो नही सकती है, प्रत्यक्ष भ्रम की प्रत्यक्ष ही ज्ञान से निवृत्ति होती है। और सब करणो के अविषय ब्रह्मविषयक प्रमाणान्तर से प्रत्यक्ष ज्ञान की अनुत्पत्ति होती है, और वाक्य से भी अपरोक्ष ज्ञान की अनुत्पत्ति होने पर अनिमोक्ष प्राप्त होगा। विपक्ष मे इस बाधक तर्क के सम्भव से सिद्धान्त के अनुमान मे आभास के साथ समानता नही है। अत शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान होता है, उससे कैवल्य = मोक्ष होता है, यह सब अनाविल (अपङ्किल = अदूषित) वर्णन है।

कर्ममीमासक की शका है कि, ज्ञान से कैवल्य कैसे हो सकता है, देहादि से भिन्न उस आत्मज्ञान को स्वर्गादि फल वाले कर्मो की शेषता = अङ्गता से स्वतन्त्र

त्वाभावात् । देहव्यतिरिक्तात्मतत्त्वविज्ञानव्यतिरेकेण पारलौकिककर्मणि प्रवृत्त्ययोगात्, फलश्रुतेश्चापापश्लोकश्रवणवदर्थवादत्वात् ।

तथाचाहु --

'आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न च चोदितम ।

स्थानम्, कर्मसन्निधावपठ्यमानत्वात्, नापि समाख्या, सञ्ज्ञासाम्याभावात्, तत कथ कर्मशेषत्वमिति, तत्राह—**देहव्यतिरिक्तेति** । यद्यपि श्रुत्यादीनि न सन्ति, तथापि सामर्थ्यलक्षणमस्ति लिङ्ग विनियोजकम्, दस्मीभूयमानदेहस्य पारलौकिकफलोपभोगासम्भवादिति भाव । ननु मोक्षाख्य फलमात्मज्ञानस्य श्रूयते, तत श्रुताधिकारस्य कथमन्यशेषत्वमिति, तत्राह—**फलश्रुतेरिति** । यथाहि—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप श्लोक शृणोति', 'यस्य खादिर स्रुवो भवति छन्दसामेव रसेनावद्यती' त्यादौ पर्णमयीत्वाद्याश्रित्य श्रूयमाणापापश्लोकादिश्रवणमर्थवाद, तत्कस्य हेतो ? परार्थत्वात् । नह्यत्र साक्षात्फलश्रवणमस्ति कामशिरस्कत्वाभावात् । कीर्तनमात्र ह्येतत् । तथा च न रात्रिसत्रवद्विपरिणेतव्यम् । नच स्वशेषिफलेनैव निराकाङ्क्षपर्णमयीताया फलान्तरापेक्षास्ति, यदर्थम् विपरिणेतव्यम् । नच वाक्य क्रतुसबन्धबोधनपरमपि भवति, तस्मादर्थवाद एवैतत् प्रतिबद्धफलश्रवणम्, तथेहापि स्वशेषिकर्मफलेनैव निराकाङ्क्षस्यात्मज्ञानस्य न ब्रह्मैव भवतीत्यादिवर्तमानोपदेशविपरिणामापेक्षेत्यर्थ । तथाह परमर्षि —'द्रव्यगुणसस्कारकर्मसु परार्थत्वात फलश्रुतिरर्थवाद स्या'दिति । अत्र वार्तिककारसमतिमप्याह—**तथा चाहुरिति** । अचोदितत्वे हेतु —

फल साधनत्व का ज्ञान मे अभाव रहता है । देह से भिन्न आत्मतत्त्व के विज्ञान के बिना पारलौकिक कर्म मे प्रवृत्ति नही हो सकती है, अत देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान कर्म मे प्रवृत्ति का हेतु होने से कर्म का अङ्ग है, स्वतन्त्र फल का हेतु नही है । ज्ञान के जो शोकनाश ब्रह्मप्राप्ति मुक्ति फलविषयक श्रुतियाँ है, वह (यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पाप श्लोक शृणोति) जिसका जुहूयज्ञपात्र पर्णमयी = पलाश काष्ठरचित होता है, वह यज्ञकर्ता पापश्लोक = अपना अपयश नही सुनता है । इत्यादि के समान अर्थवाद (स्तुति) रूप है । जुहू स्वार्थ नही होता है, परार्थ (यज्ञार्थ) होता है । अत उसका स्वतन्त्र फल नही होता है, तो भी जो फल श्रुति है, वह अर्थवाद मात्र है, वैसे ही आत्मज्ञान कर्माङ्ग है, अत उसका स्वतन्त्र फल नही होता है, तो भी जो फल श्रुति है, वह स्तुति रूप अर्थवाद है, यह भट्टपाद कहते है—

आत्मा ज्ञातव्य इत्यादि मोक्ष के लिये नही कहा गया है, क्योकि (आत्मज्ञान के कर्म मे प्रवृत्ति के हेतुत्व आत्मा ज्ञातव्य इत्यादि श्रुतियो से लक्षित = ज्ञात होता है ।

कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वम् आत्मज्ञानस्य लक्ष्यते ॥
विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये याऽपि नाम फलश्रुति ।
सार्थवादो भवेदेव न स्वर्गादे फलान्तरम् ॥' इति ।
(श्लो० वा० सबन्ध० १०३, १०४)

देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्य कर्मप्रवृत्त्युपयोगित्वेऽप्यशनायाद्यतीतब्रह्मविज्ञानस्य न तच्छेषत्वमनुपयोगादधिकारविरोधाच्चेति चेत्, मैवम्, आज्याावेक्षणव्रीहिप्रोक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपपत्ते । न चाधिकारविरोध , तथाभूत-

---

कर्मेति । फलान्तरश्रवणस्य गतिमाह—**विज्ञात इति । न स्वर्गादेरिति ।** स्वर्गादे सकाशात्फलान्तरमपि नास्तीत्यर्थं । स्यादेतत्–द्विविध ह्यात्मज्ञानम्, एक स्थूलदेहमात्रव्यतिरिक्ततया, अपर सूक्ष्मदेहतत्कारणाविद्यातिरिक्ततया । तत्र प्रथम कर्माङ्गम भवति, इतरत्तु न तथा, अनुपयोगात्, प्रत्युताधिकारविरोध एव ।

नाह भोक्तेत्यभिमन्यमान कथ भोक्ता स्यात् ? नाह कर्तेत्यभिमन्यमानो वा कथ कर्ता स्यात् ? इति शङ्कते—**देहव्यतिरिक्तेति ।** अशनायादीत्यादिशब्देन ब्राह्मण्यादिशब्देन ब्राह्मण्यादिजातिराहित्य गृह्यते, तेन चाधिकारान्वय प्रतिषिध्यते । तत्रानुपयोग परिहरति—**आज्यावेक्षणेति ।** दृष्टोपयोगाभावेऽप्यदृष्टोपयोगोऽस्ति, शास्त्रैकगम्यत्वादस्येत्यर्थ । अधिकारविरोध परिहरति—**न चाधिकारेति ।** यथाहि तथाविधाभिमानेऽपि यमादौ प्रवृत्तिर्विहितत्वात् तथा कर्मण्यपि विहितत्वादेव प्रवर्तितव्यम्, शास्त्रेण च तथाविधाभिमाने विद्यमानेऽपि प्रवृत्तिरुपदिश्येत, को

और इस ज्ञान मे परार्थता (कर्माङ्गता) के ज्ञात होने पर जो यह ज्ञानी के लिये, पापो के अफल (फलाभाव) की श्रुति है कि (अस्य सर्वे माप्मान प्रदूयन्ते) इस ज्ञानी के सब पाप नष्ट हो जाते है । इत्यादि । यह अर्थवाद ही हो सकता है । क्योकि स्वर्गादि से अन्य ज्ञान का फल नही होता है) ।

यदि शका हो कि आत्मज्ञान दो प्रकार का होता है, एक तो स्थूल देह से भिन्न कर्ता, भोक्ता आदि रूप से आत्मा का ज्ञान होता है, वह ज्ञान कर्मप्रवृत्ति का हेतु होता है, यह कहना बनता है, परन्तु वेदान्तवाक्यादि से जन्य सूक्ष्म देह से भी भिन्न भूख, पिपासा कर्तृ भोक्तृत्वादि रहित आत्मा का ज्ञान दूसरा होता है, उस ज्ञान को कर्माङ्गत्व नही हो सकता है, क्योकि उस ज्ञान का कर्म मे उपयोग = फल नही हो सकता है, उल्टा अकर्ता आदि स्वरूप आत्मज्ञान से कर्माधिकार का विरोध उपस्थित होता है, यहाँ मीमासक कहते है, कि ऐसी शका युक्त नही है, उस दूसरे ज्ञान का भी, कर्माङ्ग आज्यावेक्षण (यजमानपत्नी द्वारा घृत का दर्शन) ब्रीहिप्रोक्षणादि के समान अदृष्ट द्वारा कर्म मे उपयोग होता है । और उस आत्म ज्ञान से कर्माधिकार मे विरोध भी नही होता है, क्योकि क्षुधा आदि रहित ब्रह्म

ब्रह्मविदामपि यमनियमादौ प्रवृत्तिवत्कर्मप्रवृत्त्यविरोधात् । जनकोद्दालक-प्रभृतीना तथाभूतानामपि कर्मणि प्रवृत्तिदर्शनाच्चेति चेत्, अत्रोच्यते--

अभावाच्छ्रुतिलिङ्गादेरुपयोगानिरूपणात् ।
अधिकारविरोधाच्च कर्माङ्ग नात्मतत्त्वधी ।। ४ ।।

न तावद् 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इतिवदात्मविज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे श्रुतिरस्ति । न च 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तर

विरोध ? प्रत्युत प्रत्यवाय एव तदकरणे स्यादिति भाव । अस्ति चात्र लिङ्ग यदात्मज्ञाने विद्यमानेऽपि कर्मप्रवृत्तिर्न विरुध्यते इत्याह--**जनकेति ।**

सिद्धान्ती समाधत्ते—**अत्रेति ।** आद्यपाद विवृणोति—**न तावदित्यादिना ।** यथा हि 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इत्यैन्द्रया "कदाचन स्तरीरसि" इत्यृचो गार्हपत्यमिति गार्हपत्योपस्थाने तृतीयया विनियोग , किंचित्प्रति हि शेषत्व तृतीययावगम्यते, तच्च किंचित्किमित्यपेक्षाया गार्हपत्यमिति विशेषसमर्पणम्, गार्हपत्यमिति च द्वितीयया किंचित्प्रति शेषित्व गार्हपत्यस्य प्रतीयते, ऐन्द्रीपदेन च शेषविशेष समर्प्यते, अत एव च न वाक्यगम्यत्वशङ्कापि, न तयेहात्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वबोधिका काचन विनियोजिका श्रुतिरस्तीत्यर्थ । ननु 'यदेव विद्यया करोति' श्रद्धया आस्तिक्यबुद्धया उपनिषदा रहस्यविज्ञानेन च करोतीति विद्याया कर्मण्यस्ति विनियोग इति, तत्राह—**न चेति ।** अत्र तावत्सर्वविद्याना सर्वकर्मसु विनियोगो न

ज्ञानियो की भी जैसे यम, नियमादि साधन मे प्रवृत्ति होती है । वैसे कर्म मे प्रवृत्ति मे भी विरोध नही हो सकता है, क्योकि अविहित कर्म मे ज्ञानी प्रवृत्त नही हो सकता है, विहित मे तो प्रवृत्त होगा ही, अन्यथा नित्यादि कर्मो के त्याग से दोषभागी होगा, अत एव उक्त आत्मतत्त्वज्ञ भी जनक, उद्दालकादि महापुरुषो की कर्म मे प्रवृति की कथा देखी-सुनी जाती है । यदि ऐसी शका है, तो अब यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

ज्ञान की कर्माङ्गता मे श्रुति, लिङ्गादि प्रमाणो का अभाव है, तथा उपयोग का निरूपण नही हो सकता है, और कर्माधिकार का भी विरोध होता है, अत आत्मतत्त्व का ज्ञान कर्म का अङ्ग नही हो सकता है ।। ४ ।।

अर्थात् (ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते) इन्द्र जिसकी देवता है, उस (कदाचनस्तरीरसि) इस ऋड्-मन्त्र से गार्हपत्य नामक अग्नि के प्रति उपस्थित होना चाहिये, यहाँ इस मन्त्र की तृतीय विभक्ति श्रुति से गार्हपत्योपस्थान मे अङ्गता सिद्ध होती है, और गार्हपत्य मे द्वितीया विभक्ति श्रुति से गार्हपत्य मे शेषित्त्व (अङ्गित्व) का बोध है । इसप्रकार से आत्मज्ञान के कर्माङ्गत्व का बोधक कोई श्रुति नही है । यदि कहे कि (जो ही कर्म विद्या, श्रद्धा, उपनिषद्-रहस्य ज्ञान से करता है, वह

भवति' इति श्रुति तस्या प्रकृतोद्गीथविद्याविषयत्वात्। श्रद्धादिवत्सार्वत्रिक किन्न स्यादिति चेत्, तथाप्युपासनानुष्ठानस्यैव तदङ्गताऽस्तु, उपासनाप्रकरणे पाठात्। नापि 'बर्हिर्देवसदन दामि' इतिवच्छ्रुतिसामर्थ्यलक्षण लिङ्गमस्ति। न चोद्दालकादीना कर्मणा सहात्मविज्ञानसद्भावो लिङ्गम्,

---

यथाश्रुति प्रतिपिपादयिषित, अशक्यत्वात्। तस्माद्योग्यविषये सकुचन्ती श्रुति प्रकरणमनुरुध्योद्गीथविद्याविषयतया च तिष्ठते, तेन नात्मविद्यामास्कन्दत इत्यर्थ। एतदेवाक्षेपसमाधानाभ्या दर्शयति—**श्रद्धादिवदित्यादिना।** यथा स्वविशेषितश्रद्धामात्रस्य सर्वकर्माङ्गत्वमेव विद्यामात्रस्यापि कर्ममात्रशेषता किं न स्यादित्यर्थ। **तदङ्गतेति।** सा विद्या अङ्ग यस्योपासनानुष्ठानस्य तत्तदङ्ग तद्भावस्तदङ्गता। अत्रापि हि न श्रद्धामात्रमुपयोगि, नहि कारीरीश्रद्धा ज्योतिष्टोमोपयोगिनी, तस्माद्योग्यतावशेन विनियोक्तव्यम्। तथाच पूर्वोक्तप्रकरणपीडने कारणाभावाद्विद्यात्वाविशेषेणात्मविद्याग्रहेऽपि तत्तत्प्रकृतोपासनायामेव शेषत्वम्, तत्रापि 'सत्यकाम सत्यसकल्प' इत्यादिविद्याना दहराद्युपासनानुष्ठानशेषत्वम्, निर्गुणविद्यापि परीक्षा भावनोपयोगिनी, अपरोक्षा तु न किंचित्प्रति, तत परमनुष्ठानाभावादिति विवेक्तव्यम्। उक्तश्चायमर्थो व्याकरणाधिकरणे भट्टपादै —

'सर्वत्रैव हि विज्ञान सस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्ग चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधारणा॥ इति।

नापीति। यथाहि 'बर्हिर्देवसदनम्' देवाना सदनभूत बर्हिर्दर्भमुष्टिविशेष **दामि** खण्डयामिति बर्हिर्लवनप्रकाशनसमर्थमन्त्रस्य सामर्थ्यलक्षणलिङ्गेन बर्हिर्लवने विनियोग, न तथेह किंचित श्रुतिसामर्थ्यमस्तीत्यर्थ। श्रुतिसामर्थ्यलक्षणलिङ्गाभावेऽपि लिङ्गान्तरमस्तीत्याशङ्क्य विपरीतलिङ्गस्यापि भावादिदमनिर्णायकमित्याह—**न चोद्दालकेति।** स्यादेतत—आत्मा तावदव्यभिचरितक्रतुसबद्ध, तत्सग्रन्धि

कर्म बलवत्तर होता ह) यह श्रुति विद्या की कर्माङ्गता का बोधक है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सब विद्या सब कर्म का अङ्ग हो नही सकती है, अत प्रकरण से इस श्रुति को प्रकृत उद्गीथ विद्या विषयत्व है, कि उद्गीथ रूप सामभाग की उपासना सहित जो कर्म किया जाता है, वह बलवत्तर होता है। यदि कहे कि श्रद्धा आदि शब्द से सामान्य श्रद्धा आदि का ग्रहण होता है, वैसे ही विद्या से सार्वत्रिक (सामान्य विद्या) का ग्रहण क्यो न होगा। अर्थात् जैसे सामान्य श्रद्धादि को कर्माङ्गता है, वैसे सामान्य विद्या को कर्माङ्गता होगी। तो भी उपासना प्रकरण मे पाठ से उपासना अनुष्ठान को ही वह विद्या अङ्गवत्व हो सकता है। अन्य को नही। और (बर्हिर्देव सदन दामि) हे देव! आपके सदन = स्थान कुश का छेदन करता हू इस पर बैठो। इस श्रुति का जैसे शब्दसामर्थ्य लिङ्ग से कुशछेदन मे

'कि प्रजया करिष्याम' 'किमर्थं वयमध्येष्यामहे', इति च वैपरीत्यस्यापि दर्शनात् । न च 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' इतिवद्वाक्याद्विनियोग, पर्णमयीत्वादिवदात्मनोऽव्यभिचरितक्रतुसबन्धाभावात्, तस्य लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात् । न चात्मज्ञान कर्मप्रकरणे श्रुतम्, येन प्रयाजादिवत्कर्माङ्गतामनुवीत । नापि स्थानम्, कर्मसनिधावपठ्यमानत्वात् । नापि समाख्या,

---

चेदमात्मज्ञानम्, तदिह मा भूता लिङ्गश्रुती, वाक्यमेवास्ति कर्मणि विनियोजकम्, यथाहि—पर्णमयीताया सिद्धरूपतया फलजननाय क्रियासबन्धसाकाङ्क्षाया 'जुह्वा जुहोती'ति नियतप्रकृतिद्रव्यसाकाङ्क्षाव्यभिचरितक्रतुसबद्धजुहूद्वारा वाक्येन कर्मसु विनियोग तद्वदिति, तत्राह—**न च यस्येति ।** व्यभिचारमेवाह—**तस्येति ।** न च देहव्यतिरिक्तात्मज्ञान वैदिककर्माव्यभिचारीति वाच्यम्, कारीर्यादावभावेन तस्यापि व्यभिचारसाम्यादिति भाव । प्रकरणाद्विनियोग निराचष्टे—**न चात्मज्ञानमिति ।** सन्निधिपठितैर्ह्याकाङ्क्षा भावनाया पूर्यत इत्युत्सर्ग । यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितसमिदादिभि कल्पनागौरवेण फलवत्सनिधावित्यादिन्यायेनेतिकर्तव्यतासाकाङ्क्षप्रधानभावनाभिलाषपोषणम् । नच पूषाद्यनुमन्त्रणवदात्मज्ञानस्य स्वप्रकरणसमवाय कर्मप्रकरणसमवायो वा, येनासनिहितमपि तत्रोपयुज्येत, न च स्वप्रकरणपठितैरङ्गजातैर्निराकाङ्क्षस्य कर्मण क्वचिदप्यपेक्षास्तीति भाव । स्थानसमाख्ययोस्तु सभव

विनियोग (सम्बन्ध) होता है, वैसा कोई ज्ञान की कर्माङ्गता मे लिङ्ग भी नही है । यदि कहे कि श्रुतिसामर्थ्य रूप लिङ्ग के नही रहते भी, उद्दालकादि महापुरुषो मे कर्म के साथ आत्मविद्या का सद्भाव ही अर्थसामर्थ्य रूप लिङ्ग है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि (प्रजा से कौन फल पाऊँगा । किस फल के लिये हम अध्ययन करेगे) इत्यादि विपरीतता को भी देखा जाता है । ज्ञानी मे कर्माभाव के लिङ्ग का दर्शन होता है । यदि कहे कि (यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति) इसको जैसे परस्पर आकाङ्क्षित सहपाठ रूप वाक्य से कर्माङ्गता होती है, क्योकि (जुह्वा जुहोति) इसको जुहूकारण की आकाङ्क्षा रहती है । और पर्णमयी वाक्य को फलजनन के लिये क्रियासम्बन्ध की आकाङ्क्षा रहती है, अत वाक्य से परस्पर सम्बन्ध होता है, वैसे ज्ञान को कर्माङ्गता ही तो कहा जाता है, कि ऐसी कर्माङ्गता भी नही हो सकती है, क्योकि पणमयीत्व के समान आत्मा का क्रतु = यज्ञ के साथ अव्यभिचरित = नित्य सम्बन्ध का अभाव है, अत उसके ज्ञान के सम्बन्ध का अभाव है । क्योकि आत्मा को लौकिक, वैदिक सब कर्मो मे साधारण हेतुत्व है । और आत्मज्ञान को भी साधारणत्व है । और आत्मज्ञान कर्मप्रकरण मे नही पढा गया है कि जिससे प्रकरण द्वारा प्रयाजादि के समान प्रधान किसी कर्म का अङ्ग हो सके । कर्म सन्निधि पाठ रूप स्थानात्मक प्रमाण नही है, यौगिक शब्द रूप समाख्या भी इसी

सञ्ज्ञासाम्याभावात्। न चात्मज्ञानस्य कर्मण्युपकारप्रकारो निरूप्येत। देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानस्योपयोगेऽप्यशनायाद्यतीतात्मविज्ञानस्य तत्रानुपकारित्वात्। न चाज्यावेक्षणादिवददृष्टद्वारेणोपयोग, स्वप्रकरणपठितसंसारनिवृत्तिलक्षणदृष्टफलनिराकाङ्क्षस्यादृष्टफलकल्पनानुपपत्ते। न च क्रियाकारकफलशून्यमद्वैतमात्मान विजानत कर्मणि प्रवृत्तिरुपपद्यते। न च यमनियमादिप्रवृत्तिवदविरोध, यमनियमादावप्यपरोक्षात्मविज्ञानवतो विधित प्रवृत्त्यनङ्गीकारात्। 'तस्य कार्य न विद्यते',

'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिन।
नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥'

(जा० द० उ० १।२३)

इति स्मरणात्। भिक्षाटनादावपि व्युत्थानदशाया यदृच्छयैव प्रवृत्ते।

एव नास्तीत्युपेक्षा कृता। उपयोगानिरूपणादित्येतद्विवृणोति—**न चात्मज्ञानस्येति**। यस्त्वदृष्टद्वारेणोपयोग उक्तस्तत्राह—**न चाज्यावेक्षणेति**। उत्तरार्ध विवृणोति—**न च क्रियाकारकेत्यादिना**। उत्पन्नात्मापरोक्षस्यापि स्वभाववशाद्यमादीनामनुवृत्तिर्घटते नैव कर्मणामिति भाव। ज्ञानिनो विधेयव्यापाराभावे स्मृतीराह—**तस्येति**। स्यादेतत्—भवतु निवृत्तिरूपाणा विधिव्यतिरेकेणाप्यनुवृत्ति, भिक्षाटनादौ प्रवृत्तिरूपे का वार्ता? नहि तदौदासीन्यात्मकमिति, तत्राह—**भिक्षेति**। यथा

कोई नही कि जिससे आत्मज्ञान मे कर्माङ्गता का ज्ञान हो सके। क्योकि ज्ञान मे कर्म के साथ सज्ञा की समता का अभाव है। और आत्मज्ञान के कर्म मे उपकार के प्रकार का निरूपरूपण नही किया जा सकता है। देह से भिन्न आत्मज्ञान का कर्म मे उपयोग होते भी क्षुधादिरहित आत्मज्ञान का उस कर्म मे उपकार (फल) नही हो सकता है, आज्यावेक्षणादि के समान अदृष्ट द्वारा उपयोग कहा था, वह युक्त नही। क्योकि स्व (ज्ञान) प्रकरण मे पठित ससारबन्धनिवृत्ति रूप दृष्ट फल से निराकाड्क्ष ज्ञान की अदृष्ट कल्पना की सिद्धि नही हो सकती है। और क्रियाकारक फलशून्य अद्वैत आत्मा को जानने वाले की कर्म मे प्रवृत्ति नही हो सकती है। यम, नियमादि मे प्रवृत्ति के समान कर्म मे प्रवृत्ति मे कोई विरोध नही है, यह कहा था, वह युक्त नही है। क्योकि यम, नियमादि मे भी अपरोक्षात्म ज्ञानवान् की विधि से प्रवृत्ति नही मानी जाती है। क्योकि, उस ज्ञानी का कर्तव्य नही है।

ज्ञानामृत से तृप्त कृतकृत्य तृप्त योगी का कर्तव्य कुछ नही है, यदि किसीका कर्तव्य है, तो वह तत्त्वज्ञ नही है।

इत्यादि स्मृति से ज्ञानी के कर्तव्य कर्मों का अभाव सिद्ध होता है। भिक्षा-

न चैव कर्मणि प्रवृत्ति, नियतदेशकालतया तस्य विधानात् ।

एतेन ज्ञानकर्मणो समुच्चयोऽपि निराकृतो वेदितव्य, विरोधादेव । उक्त हि—

"यद्धि यस्यानुरोधेन स्वभावमनुवर्तते ।
तत्तस्य गुणभूत स्यान्न प्रधानाद् गुणो यत ॥"
(बृह० वा० ३।३।६८)

ह्यनियतदेशकालक्षुधाधीनतयाऽनियतवृत्तिर्भिक्षाहरणादि, नैव कर्म, तस्य 'प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत', 'सायप्रातरग्निहोत्र जुहोती'त्यादिनियतदेशकालतया विधानादित्यर्थ । एतेन 'भ्रान्त्या चेल्लौकिक कर्म वेदिक च तथा वदे'तिभास्करदुरुद्गारोऽपि चिकित्सित । भ्रान्त्यविशेषेऽप्यवान्तरविशेषस्य दर्शितत्वादिति ।

एव तावद्विद्याया कर्मशेषतानिरासेन कैवल्यफलता प्रसाधिता, इदानी भवतु विद्याया कैवल्यसाधनता । तथापि कर्मसमुच्चिताया एव न केवलाया इति समुच्चयवादिनो मत निराकुर्वन् ज्ञानिन कर्मणि प्रवृत्त्यनुपपत्तिमुक्त्वा तत्राप्यतिदिशति—**एतेनेति ।** अतिदिश्यमान विशदयति—**विरोधादेवेति ।** द्वेधा हि समुच्चय सभवति—समप्राधान्येन वा षडचागवत्, गुणप्राधान्येन वा प्रयाजदर्शपूर्णमासवत् । तत्रापि ज्ञान गुण कर्म प्रधानमिति वा ? विपरीत वा ? तत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण ज्ञानकर्मणो साध्यसाधनभावावगमात्, न समसमुच्चयो, गुणप्रधानपक्षेऽपि परपरया ज्ञान प्रति कर्मणा गुणभावोऽभ्युपगत एव । यत्तु कर्मप्रधान ज्ञान गुण इति तन्न, स्वरूपविरोधादिति भाव । अत्रैव सुरेश्वराचार्यसमतिमाह—**उक्तं हीति । न प्रधानादिति ।** प्रधानमत्तीति प्रधानात् प्रधानविघातक स तस्य गुणो न भवति यत

भोजनादि मे भी व्युत्थान काल मे यदृच्छा से ही ज्ञानी की प्रवृत्ति होती है, विधि से नही । यदि कहे कि इसीप्रकार से कर्म मे प्रवृत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि नियत देश-कालता रूप से उस कर्म का विधान है । उसमे यदृच्छा से प्रवृत्ति नही हो सकती है ।

इसीसे ज्ञान और कर्म का समुच्चय (सहभाव) भी निराकृत समझना चाहिये । क्योकि विरोध होने ही से समुच्चय नही हो सकता है, गुणप्रधान भाव से सम्बन्ध रूप समुच्चय होता है, वह विरोधी मे हो नही सकता है । अतएव श्री वार्तिककार ने कहा है कि—

जो जिसकी अनुकूलता से जिसके स्वभाव (सत्त्व) का अनुवर्तन = अनुसरण करता है, वह उसका गुणभूत = अङ्ग होता है । और प्रधान प्रतीति, प्रधानात् (प्रधान का घातक) यत अङ्ग नही होता है ।

अपि च उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतयः कर्मणः फलम्, विद्यायाः पुनरविद्यास्तमयस्तत्कथमनयोः साहित्यम्? नहि शुक्तिकाशकलं सकलमाकलयतः कलधौतविभ्रमनिवृत्तिः स्नानाऽऽचमनादिकर्मापेक्षया विलम्बते। तदेवं लौकिकेन न्यायेन ब्रह्मात्मसाक्षात्कार एव तदविद्यानिवृत्तिहेतुरित्यास्थेयम्। श्रुतिस्मृतिषु कर्मणो निर्वाणकारणतानिराकरणाच्चैतदवसेयम्। श्रूयते हि—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'न कर्मणा न

इत्यर्थः। यत्कर्मप्रवृत्तिविघातकं ज्ञानम्, तन्न कर्म प्रति गुणो भवतीति भावः। विभिन्नविरुद्धफलत्वाच्च न गुणगुणिभाव इत्याह—**अपि चेति**। नह्यविद्यास्तमयात्मकस्य नित्यप्रत्यग्भूताविकार्यनाधेयातिशयनिर्दोषात्ममात्रस्य मोक्षस्य ज्ञानोत्पाद्यत्वं संभवति भवनेनेव पिण्डस्य, नाप्याप्यत्वं दोहनेनेव पयसः, नापि विकार्यत्वमभिषवेणेव सोमस्य, नापि संस्कार्यत्वं प्रोक्षणेनेव व्रीहीणाम्—एतावदेव च कर्मफलमतः कर्मफलविलक्षणमेव ज्ञानफलमित्यर्थः। इदानीमुत्पन्नस्य ज्ञानस्याविद्यानिवर्तने कर्मापेक्षैव नास्ति, ततो ज्ञानं प्रधानं कर्म गुण इति प्रयाजदर्शपूर्णमासवत्समुच्चय इति पक्षोऽपि न संभवतीति लौकिकन्यायेन दर्शयति—**नहि शुक्तिकेति**। कलधौतं रजतम्। निर्वाणो मोक्षः। **एतदिति**। ज्ञानकर्मणोरेकफलता नास्तीति। **'तमेव'** तं विदित्वैवेत्यपि योज्यम्। **अतिमृत्युमेति**। मृत्युं जन्ममरणात्मकसंसारमत्येतीत्यर्थः। **अयनं** मार्गः। तेन च गन्तव्यमुपलक्ष्यते। क्षेमप्राप्तये ज्ञानव्यतिरेकेणान्यो मार्गो नास्तीत्यर्थः। **अकृतो** नित्यो लोकः, **कृतेन** कर्मणा **नास्ति** न लभ्यते

और, किसीकी उत्पत्ति से प्राप्ति होती है, गमनादि से किसी की प्राप्ति, विकार=पाकादिजन्य, प्रच्छालनादिजन्य संस्कार, ये चार प्रकार के फल होते है। और विद्या का फल अविद्या का नाशमात्र होता है, तो इसप्रकार से विलक्षण फल वाले कर्म और ज्ञान का साहित्य रूप समुच्चय कैसे होगा। अतः समुच्चय को निराकृत्त समझना चाहिये। क्योकि जिसने शुक्तिका के नील पृष्ठ त्रिकोणादि सम्पूर्ण शकल (आकार) का दर्शन कर लिया हो, उसकी कलधौत (रजत) भ्रम की निवृत्ति स्नान आचमनादि कर्म की अपेक्षा करके विलम्ब नही करती है, किन्तु शुक्तिका के ज्ञानमात्र से कलधौत भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। अतः इसप्रकार के लौकिक न्याय (दृष्टान्त) से ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार ही उसकी अविद्या की निवृत्ति का हेतु है, यह निश्चय करना चाहिये। और श्रुति, स्मृति मे कर्म की मोक्षकारणता के निराकरण से भी वह उक्त निश्चय कर्तव्य है। क्योकि सुना जाता है कि (उस पर ब्रह्म को जान करके प्राणी मृत्यु का उल्लंघन करता है, मरणरहित पद को पाता है, ज्ञान से अन्य गन्तव्य मोक्ष के लिये मार्ग नही है। कर्म, प्रजा

प्रजया धनेन', 'नास्त्यकृत कृतेन', 'एतावदरे खल्वमृतत्व'मित्यादि। स्मर्यते च—

'ज्ञानादेव तु कैवल्य प्राप्यते येन मुच्यते।
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतय पारदर्शिन ॥' इति।

नन्वेतानि वचनानि केवलानामेव कर्मणा कैवल्यसाधनत्वनिराकरणपराणि समुच्चितताना तूपपद्यते तत्साधनभाव, तथा च 'अन्धतम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता ॥' इत्येकैकनिन्दापुर सर 'विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय सह। अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥' इति ज्ञानकर्मणो समुच्चितयोर्मोक्षसाधनत्व-

---

इत्यर्थ। **अमृतत्व**ममृतत्वमाधनम्, **एतावत्** यन्मयोक्तमात्मज्ञान नात परमस्तीत्यर्थ। **पारदर्शिनः** ससारावसानरूपात्मतत्त्ववेदिन इत्यर्थ।

अत्र च समुच्चयवादी प्रदर्शितवचनानामन्यथासिद्धिमाह—**नन्वित्यादिना**। नन्वविशेषेण प्रवृत्तनिषेधस्य केवलधर्मपरया सकोच किंनिबन्धन इति, समुच्चयश्रुतिबलादित्याह—**तथा चेति**। नन्वत्र मृत्युतरणेऽविद्याया उपयोग, अमृतप्राप्तौ च

(पुत्र) वा धन (दान) से अमृतत्व नही मिलता है। नित्य स्वय प्रकाश अकृत = ब्रह्माकृत (कर्म) से नही प्राप्त होता है। अरे = मैत्रेयि! एतावत् = यह ज्ञानमात्र ही अमृतत्व = मोक्ष का साधन है) इत्यादि। स्मृति भी है कि—

ज्ञान से ही कैवल्य = शुद्धस्वरूप को प्राप्त = अनुभूत किया जाता है कि जिससे मुक्त होना होता है। कर्म से प्राणी बँधता है, और ज्ञान से विमुक्त होता है। अत ससार का पार = अन्त स्वरूप आत्मतत्त्व के ज्ञानी यति कर्म नही करते है। इत्यादि।

यहाँ ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी की शका होती है कि (ये उक्त वचन सब केवल कर्मो के ही कैवल्यसाधनत्व के निराकरण (खण्डन) परक है) ज्ञानसमुच्चित = सहित कर्मो को तो कैवल्यसाधनत्व सिद्ध होता है। जैसे कि श्रुति है कि (जो केवल कर्म रूप अविद्या की उपासना = सेवन = अनुष्ठान करते है, वे अन्धतम = अविद्या मे प्रवेश करते है। और जो केवल विद्या मे ही रत = प्रवृत्त रहते है, वे उससे भी अधिक गाढतम मे मानो प्रवेश करते है। इसप्रकार से एक-एक कर्म ज्ञान की निन्दापूर्वक कहा गया है कि (जो कोई विद्या और अविद्या = कर्म इन दोनो को साथ सेवते = प्राप्त करते है, वे अविद्या = कर्म से पाप रूप मृत्यु को तर कर = नष्ट करके विद्या से अमृत = मोक्ष सुख को पाते हैं) इससे समुच्चय युक्त ज्ञानकर्म के मोक्षसाधनत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। अत पूर्वोक्त वचन केवल

प्रतिपादनात् । तथा हि—संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिश्च मुक्तिः । तत्र विद्येतरत्वेनाविद्यामूलत्वेन वा अविद्याशब्दवाच्यानां कर्मणां मृत्युपदवेदनीयकर्मक्षयद्वारेण संसारनिवृत्तावुपयोगः । ब्रह्मत्वात्मरूपतया नित्यप्राप्तमविद्यामात्रतिरोहितं कण्ठगतचामीकरवत्, न तत्राविद्यानिवृत्तेरधिकं कार्यमस्तीति, अविद्यानिवृत्तौ विद्याया उपयोगः । तदिदमुक्तम्—'विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति । यत्पुनः परेषां व्याख्यानं 'देवताज्ञानमिह विद्याशब्देन विवक्षितम्, स्य कर्मणा समुच्चयोऽनेन वाक्येन कथ्यते' इति । तदयुक्तम्, प्रक्रमाननुगुण-

---

विद्यायाः, तत्कथमनयोरेकफलतया समुच्चयोऽत्र प्रतीयते इति, तत्राह—**तथा हीति** । नहि ब्रह्मप्राप्तिमात्रमपवर्गः, तस्य पूर्वमपि विद्यमानत्वेन साधनानुष्ठानवैयर्थ्यात् । नाप्यविद्यानिवृत्तिमात्रम्, अभावरूपस्यापुरुषार्थत्वात् । तस्मादविद्यानिवृत्त्युपलक्षितब्रह्मप्राप्तिरपवर्गः, तत्रचोभयमपि साधनमित्यर्थः । अस्त्वेवम्, तथापि कर्मणः किमायातं समुच्चये ? अविद्यया मृत्युतरणं प्रतीयत इति, तत्राह—**तत्र विद्येतरत्वेति** । अन्यत्वे नञोऽर्थः, कारणवाची वा कार्ये लक्षणया प्रवर्तत इत्यर्थः । तथापि कथं कर्मणः संसारनिवर्तकत्वम् ? यावता मृत्युतरणमेव तेन प्रतीयते, तत्राह—**मृत्युपदेति** । कर्मभिस्तु कर्मक्षयस्तद्द्वारा च मोक्षोपयोगः, ज्ञानेन तु साक्षादविद्यानिवृत्तिरिति ज्ञानोपयोगमाह—**ब्रह्मत्विति** । 'अमृतमश्नुते' इति प्रतिबन्धकाविद्यानिवृत्तिर्विवक्ष्यत इत्यर्थः । अत्र सिद्धान्त्यन्ययोजनामुद्भावयति पूर्ववादी—**यत्पुनरिति** । प्रक्रममेव दर्शयंस्तदननुगुणतां दर्शयति—**ईशावास्य**

कर्मविषयक है। अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति मात्र मोक्ष नहीं है, क्योंकि विभु (ब्रह्म) तो सदा प्राप्त ही है, अतः उसकी प्राप्ति के लिये साधन करना व्यर्थ होगा अविद्या की निवृत्ति भी अभाव रूप होने से अपुरुषार्थ स्वरूप ही है। अतः संसार की निवृत्ति और ब्रह्म की प्राप्ति स्वरूप मुक्ति है। वहाँ उक्त श्रुति में विद्या अन्यत्व से या अविद्या मूलकत्व से अविद्या शब्द के वाच्य कर्मों का मृत्यु पद से ज्ञातव्य संचित पापादि कर्मों के क्षय = नाश द्वारा संसार की निवृत्ति में उपयोग होता है। और ब्रह्म तो आत्मस्वरूप होने से नित्य प्राप्त ही है, तो भी कण्ठगत चामीकर = स्वर्णभूषण के समान अविद्या मात्र से ब्रह्म तिरोहित (आच्छादित) है। वहाँ अविद्या की निवृत्ति से अधिक = अन्य कार्य = कर्तव्य नहीं है, अतः अविद्या की निवृत्ति में विद्या का उपयोग (सम्बन्ध साफल्य) होता है। अतः यह कहा गया है कि (विद्या से अमृत को प्राप्त करता है) और जो अन्य का व्याख्यान है कि (देवता ज्ञान = उपासना यहाँ विद्या शब्द से विवक्षित है) और उसी देवज्ञान का कर्म के साथ समुच्चय = मेल होता है। जो समुच्चय = ऽयस्तद्वेदोभय सह, इस वाक्य से कहा जाता है। इति। यह व्याख्यान युक्त नहीं है, क्योंकि यह व्याख्यान प्रकरण

त्वात्, ईशावास्ये परमात्मन प्रक्रान्तत्वात् । तथा च श्रुति —'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च', 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' इति स्पष्टमेव समुच्चय प्रतिपादयति । स्मृतिरपि—

"तपो विद्या च विप्रस्य नि श्रेयसकर परम् ।
तपसा कल्मष हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।"

(मनु० १२।१०४)

तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञान च कर्म चोक्त महामुने ।
"यथान्न मधुसयुक्त मधु चान्नेन सयुतम् ।
एव तपश्च विद्या च सयुक्त भेषज महत् ।।" इत्यादिका ।

तेन च वाचनिकसमुच्चयानुसारेण कर्मनिन्दापराणा वाक्याना केवल-

इति । अत्र हीष्ट इतीट् परमेश्वर तेन परमेश्वरेणेशा वास्यमाच्छादनीय व्याप्यम् । वस निवास इत्यस्माद्धातोर्ण्यति वास्यमिति रूपम् । कारण हि कार्यं स्वस्मिन् वर्तयति । इद सर्वमिति परमात्मैवोपक्रान्तस्तद्विरुद्ध च मध्ये देवताविज्ञानाश्रयण-मित्यर्थ । **तेनैतीति** । यस्तैजसो योगी ब्रह्मवित्पुण्यकृच्च भवति, असौ तेनोत्तर-मार्गेणैति गच्छतीति ब्रह्मवित्त्वपुण्यकृत्त्वयोरेकपुरुषसबन्धकीर्तनात्, ज्ञानकर्मणो समुच्चयोऽवसीयत इत्यर्थ । सत्यतपोब्रह्मचर्याणा च सम्यग्ज्ञानेन समुच्चयोऽपि क्वचित्प्रतिपाद्यत इत्याह—**सत्येनेति** । पराशरदक्षस्मृतिपर्यालोचनयाप्येवमेवा-वसीयत इत्याह—**स्मृतिरपीति** ।

एव निन्दावचनाना केवलकर्मविषयतायामुपपादित हेतुमुपसहरति—**तेनेति** ।

के अनुसार नही है । ईशावास्य उपनिषद् मे परमात्मा को ही प्रक्रान्तत्व = निरूप-णीय रूप से आरब्धत्व = प्रस्तुतत्व है । ऐसे ही अन्य श्रुति भी स्पष्ट ही समुच्चय का प्रतिपादन करती है कि (तैजस=योगी ब्रह्मवित् पुण्यकृत होकर, उस उत्तरायण मार्ग से जाता है । और सत्य तप नित्य ब्रह्मचर्य तथा सम्यक् ज्ञान से यह आत्मा प्राप्त किया जाता है । इत्यादि । इसीप्रकार से स्मृति भी समुच्चय का प्रतिपादन करती है कि—

तप और विद्या विप्र के ऊपर नि श्रेयस करने वाले होते है, क्योकि तप से पाप को नष्ट करता है, और विद्या से अमृत = मोक्ष पाता है । हे महामुने ! उस ब्रह्मात्मा की प्राप्ति का हेतु ज्ञान और कर्म दोनो कहा गया है । और जैसे अन्न मधु से सयुक्त और मधु अन्न से युक्त होकर, स्वादु पुष्टिकारक औषध हो जाता है, वैसे तप और विद्या सयुक्त होकर, ससार मे रोग का महान् भेषज (औषध) होता है । इत्यादि ।

इस उक्त श्रुति, स्मृति वचनानुसार समुच्चय के अनुसार से कर्म निन्दा परक

कर्मविषयतैवेति निश्चीयते। न च मोक्षस्य साक्षाज्ज्ञान साधन कर्माणि तु पापाऽपाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानीति वचनाना व्यवस्था, 'कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय' इत्यादेस्तु लाङ्गलेन वय जीवामहे इतिवत्पारपर्येणापि तत्साधनपरत्वोपपत्तेरिति युक्तम्, साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन प्राप्तस्य कर्मण साधनसाधनत्वग्रहणे प्राप्तान्वयबाधप्रसङ्गात्। 'नान्य पन्था'

स्यादेतत्—ज्ञानमेव साक्षान्मोक्षसाधनम्, कर्माणि तु पापलक्षणप्रनिबन्धापाकरणद्वारेण ज्ञानसाधनानि, 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुते। तद्द्वारा च मोक्षसाधनमत साक्षादभावपराणि निन्दावचनानि समुच्चयवचनानि तु साधनतया पारपर्येण समुच्चयपराणि इत्यस्तु व्यवस्थेति, तत्राह—**न च मोक्षस्येति**। ननु 'कर्मणैव हि ससिद्धिमि'त्यादीनि कर्मणामपि साक्षान्मोक्षसाधनता दर्शयन्तीति, तत्राह—**कर्मणैवेति**। यथाहि साक्षात् जीवनसाधनौदनादिसाधने लाङ्गलादौ लाङ्गलेन वय जीवामह इति जीवनसाधनत्वव्यपदेशस्तद्वदित्यर्थ। नच युक्तमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**साक्षादिति**। वचनतस्तावत् साक्षात्साधनत्व प्राप्तम, तस्य बाधोऽयुक्त, रागत प्राप्त हि बाध्यते, न शास्त्रत प्राप्तम्। 'तुल्य हि साप्रदायिकम्।' इतरथा षोडशिग्रहणादावपि विकल्पानवकाशप्रसङ्गात, निषेधस्य निषेध्यसापेक्षतया दुर्बलत्वाच्चेति भाव। ननु 'नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादिवचनान्यपि ज्ञानव्यतिरिक्त मोक्षसाधन वारयन्ति, तथा च कर्मणामपि मोक्षसाधनत्वे तेपु प्राप्तान्वयबाध समान एवेति, तत्राह—**नान्यः पन्था इति**। यदिद ज्ञानव्यतिरिक्तसमस्तनिवारकवचनस्य तदेकदेशे केवलकर्मविषये व्यवस्थापनम्, नाय बाधोऽपि तु सकोच,

---

वाक्यो की केवल कर्मविषयता ही निश्चित होती है। समुच्चित कर्म विषयता नही। यदि कहा जाय कि मोक्ष का साक्षात् साधन तो ज्ञान है, और कर्म तो चित्ताशुद्धिकारक पापो के अपाकरण = नाश के द्वारा ज्ञान के साधन होते है। इस प्रकार से समुच्चयप्रतिपादक वचनो की व्यवस्था हो जाती है। और (जनकादि कर्म से ही सम्यक् सिद्धि पाये) इत्यादि वचनो को (लाङ्गल = हल से हम जीते है) इत्यादि के समान परम्परा से भी ससिद्धिसाधन परत्व की सिद्धि हो सकती है। तो कहा जाता है कि यह कहना युक्त नही है। क्योकि श्रुति आदि से साक्षात् मोक्षसाधन रूप से प्राप्त कर्म को मोक्ष के साधन ज्ञान के साधनत्त्व रूप से ग्रहण करने पर, वचन प्राप्त साक्षात् सम्बन्ध का बाध प्राप्त होता है, और रागादि से प्राप्त का बाधयुक्त होता है, वचनप्राप्त का नही। यदि कहा जाय कि (नान्य पन्था विद्यतेऽवनाय) इत्यादि वचन भी ज्ञान से भिन्न मोक्ष साधन का बारण करते है, तो कर्म के मोक्षसाधनत्व विषयक प्राप्त अन्वय का बाध होता ही है, तो कहा जाता है कि (नान्य पन्था) इत्यादि निषेध श्रुति की केवल कर्मविषयता से

इत्यादेस्तु निषेधस्य केवलकर्मविषयतयान्तरेणापि प्राप्तान्वयबाधसकोचेनाप्युपपत्ते । न च वाच्यमन्वयबाध एवात्र युक्त "तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन", "धर्मात् सुख च ज्ञान च ज्ञानान्मोक्षोऽधिगम्यते", "योगिन कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्मशुद्धये", "कषाये कर्मभि. पक्वे ततो ज्ञान प्रवर्तत" इत्यादिश्रुतिस्मृतिवाक्यै कर्मणा भोक्षसाधनसाधनत्वेन विनियोगादिति, ज्ञानस्यैव कैवल्यसाधनत्वे 'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता' इति केवलविद्यानिन्दानुपपत्ते । न च समुच्चयपक्षे 'नान्य पन्था विद्यते, न कर्मणा, नास्त्यकृत कृतेने'ति कर्मनिषेधानु-

---

श्रुतार्थस्य सर्वथा परित्यागाभावादित्यर्थ । अत्र यदानन्दबोधाचार्यैरुक्तम्, तदनूद्य दूषयति—**न च वाच्यमित्यादिना ।** अन्वयबाधे हेतुमाह—**तमेतमित्यादिना ।** अत्र हि वेदानुवचनोपलक्षितब्रह्मचर्याश्रमकर्मणा यज्ञदानोपलक्षितगार्हस्थ्याश्रमकर्मणा तपउपलक्षितवानप्रस्थाश्रमकर्मणा च विविदिषन्तीति वेदनेच्छाया वेदने वा विनियोग प्रतीयते, तत्रापि वेदन इति तत्त्वम् । इच्छाया विषयसौन्दर्यज्ञानाधीनत्वात्, तथा धर्माज्ज्ञानमिति चात्मनोऽन्त करणस्य शुद्धये कर्म कुर्वन्तीति च 'कर्मभि कषाये पक्वे' इति च ज्ञान प्रति चित्तशुद्ध्यादिद्वारेण विनियोगाच्छास्त्रेणैव व्यवस्थाया दर्शितत्वात्प्राप्तान्वयबाध एव युक्त इति भाव । नच वाच्यमित्युक्तम्, तत्र हेतुमाह—**ज्ञानस्यैवेति ।** यदि हि केवलविद्यैव विधित्सिता ततस्तन्निन्दा नोपपद्येतेत्यर्थ । पूर्वं

प्राप्त अन्वय के बाध के विना ही सकोच से भी उपपत्ति होती है । अर्थात् उस श्रुति का भाव है कि केवल कर्म मोक्ष का मार्ग नही है, इससे सामान्य रूप से जो कर्म का मोक्ष के साथ अन्वय सिद्ध है, उसका बाध तो नही होता है, किन्तु ज्ञानसमुच्चित कर्म मे सकोच हो जाता है । यहाँ आनन्द बोधाचार्य कहते है कि, कर्म के मोक्ष के साथ साक्षात् अन्वय का बाध होना ही युक्त है । क्योकि (इस ब्रह्मात्मा को वेदानुवचन = अध्ययन, यज्ञ, दान द्वारा ब्राह्मण जानना चाहते है । धर्म से सुख और ज्ञान होता है, और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है । सङ्ग को त्याग कर मन की शुद्धि के लिये योगिजन कर्म करते है । कर्मो से कषाय = दोषमल के पक्व = निवृत्त होने पर, ज्ञान की सिद्धि होती है) इत्यादि श्रुति, स्मृति वाक्यो से कर्म को मोक्ष के साधन ज्ञान के साधनत्व रूप से मोक्ष के साथ विनियोग (सम्बन्ध) सिद्ध होता है, साक्षात् नही । परन्तु यह उक्त आचार्य का वचन युक्त नही है, क्योकि ज्ञान को ही मोक्षसाधन होने पर (ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रता) यह केवल विद्या की निन्दा की अनुपपत्ति होगी । यदि कहा जाय कि समुच्चय पक्ष मे (नान्य पन्था विद्यते । न कर्मणा, नास्त्यकृत कृतेन) इत्यादि कर्म निषेध की

पपत्ति', तद्वचनाना षड्यागवत् साक्षात्समप्रधानतया साधनतानिषेधपर-त्वात्। अभ्युपगम्यते हि व्यवधानेन कर्मणा मोक्षसाधनत्वम्। व्यवधानत्वं च करणोपकारो, न तदुत्पादकत्वम्।

न चैवमपि कर्मसाध्यत्वे मोक्षस्यानित्यत्वदोष 'तद्यथेहे'त्यादिश्रुते' यत्कृतक तदनित्यमिति न्यायाच्चेति युक्तम्, बन्धप्रध्वसे कर्मणामुपयोगात्, बन्धप्रध्वसस्य कृतकत्वेऽपि नित्यत्वात्, अन्यथा नष्टानिष्टप्रसङ्गात्।

कर्मनिषेधवचनाना केवलकर्मविषयतया गतिरुक्ता, सप्रति गत्यन्तरमप्याह—**न च समुच्चयेति**। ननु यदि न समुच्चयस्तर्ह्यभ्युपगतहानिरिति तत्राह—**अभ्युपगम्यत इति**। नन्वस्माभिरपि साधनसाधनतया व्यवधानमेवाङ्गीक्रियते, तत्किमधिकमाचरितमायुष्यतेति, तत्राह—**व्यवधानत्वं चेति**। प्रयाजादिवदेषामङ्गत्वम्, नतु प्रोक्षणादिवदित्यर्थ।

ननु यद्यपि समप्रधानतया मोक्षसाधनत्व नास्ति, तथापि करणोपकारकत्वे करणेतिकर्तव्यतयोरेकविषयतया कर्मसाध्यत्व मोक्षस्य स्यात्। नच तद्युक्तम् 'यत्कृतक तदनित्य'मिति न्यायानुगृहीततया 'तद्यथेह कर्मचितो लोक, इत्यादिश्रुत्यवगतानित्यत्वापातेनापुनरावृत्तित्वव्याघातादिति, तत्राह—**न चैवमपीति**। हेतुमाह—**बन्धेति**। तत किमिति, तत्राह--**बन्धप्रध्वंसस्येति**। ननु कारणोपकारकत्वकल्पनमप्ययुक्तम्, 'तमेत'मिति श्रुतौ साधकतमार्थतया तृतीयया करणत्वप्रतिपादनादित्यानन्द-

---

अनुपपत्ति होगी। तो यह कहना युक्त नही। क्योकि उन वचनो को दर्शपौर्णमासगन आग्नेयादि यागो के समान साक्षात् समप्रधानता रूप से साधनत्व के निषेध परत्व है कि जैसे आग्नेयादि छ याग समप्रधानता रूप से स्वर्ग के साधन होते है, वैसे ज्ञान और कर्म समप्रधान होकर मोक्ष के साधन नही होते है। क्योकि व्यवधान द्वारा तो कर्मो के मोक्षसाधनत्व को माना ही जाता है। और वह व्यवधान ज्ञान के करण रूप ज्ञान का उपकार रूप होता है, उस करण का उत्पादकत्व रूप उपकार नही।

यदि कहा जाय कि ज्ञान के उपकारक कर्म से भी मोक्ष के साध्य = जन्य होने पर, मोक्ष मे अनित्यत्व दोष की प्राप्ति होगी, क्योकि (तद् यथेह कर्मचितो लोक क्षीयते) इत्यादि श्रुति से कर्मजनित लोक को विनश्वर कहा गया है। और जो कृतक = कार्य होता है, वह अनित्य होता है, इस लौकिकन्याय से भी कार्य मे अनित्यत्व सिद्ध होता है, तो यह कहना युक्त नही है। क्योकि बध (कर्मवासनादि) के ध्वस = नाश मे कर्म का उपयोग होता है। और बन्धध्वस मे कृतकत्व होते भी उसमे नित्यत्व = अविनाशित्व होता है। अन्यथा ध्वस को नित्य नही मानने पर नष्ट वस्तु की अनष्टि (अनाश = पुनरुन्मञ्जन) प्राप्त होगी। और

'वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति'इत्यत्र सन्वाच्येच्छाया करणसबन्धानुपपत्तावश्वेन जिगमिषतीत्यादाविवोभयवादिसप्रतिपन्नेष्यमाणवेदनोत्पत्तावेव कर्मणा करणत्वावगमात्, न कर्मणा करणोपकारकत्वम्, करणे मुख्यार्थायास्तृतीयाश्रुते करणोपकारकत्वे भङ्गप्रसङ्गादिति न वाच्यम्, 'यज्ञेन विविदिषन्ती'त्यत्रापूर्वत्वाद्विधिपरवाक्ये विध्यवच्छिन्नभावनारूप-

---

बोधाचार्योक्तमुद्भाव्य दूषयति—**वेदानुवचनेनेति**। करणसबन्धानुपपत्ताविति। उपसर्जन ह्येषा या सन्वाच्येच्छा। नचाय लिङाद्यर्थवद्वाच्यार्थ, येन प्रत्ययार्थप्राधान्य स्यात् 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूत सनोऽन्यत्रे'ति च न्याय। तदुपसर्जनमेषा। नचोपसर्जनेनान्वयो युक्त, नोपसर्जन पद पदान्तरेण सबध्यते' इति न्यायात्। तस्मात्प्रधानवेदनेनैव सबध्यत इत्यर्थ। **अश्वेनेति**। यथा ह्यश्वेन जिगमिषतीत्यत्राश्वस्य गमन प्रत्येव साधनता, नतु गमनेच्छा प्रतीत्यर्थ। अथ करणोपकारकत्वेऽपि साधनत्वात्तृतीया किं न स्यादित्यत्राह—**करण इति**। नच वाच्यमित्युक्त तत्र हेतु दर्शयन्करणोपकारकपरतया वाक्य योजयति—**यज्ञेनेति**। नन्वत्र बिविदिषन्तीति वर्तमानोपदेशाद्विधायकमेवेद न भवति, तत्राह—**अपूर्वत्वादिति**। यथा हि 'आश्विन गृह्णाति, मैत्रावरुण गृह्णाती'त्यादौ 'वचनान्यपूर्वत्वा'दिति न्यायेन विधिपरतया विधिविभक्तित्वेन परिणाम कृत, यथा च 'समिधो यजती'त्यादावपूर्वत्वादेव लिङ्परिग्रह कृत, एवमत्रापीति भाव। **विध्यवच्छिन्नेति**। प्रधानेन हि गुणानामन्वय, भावना च प्रधानमिति तयैवेतरेषामन्वय, पश्चाच्चारुणाधिकरणन्यायेन तमेवान्वय

यहाँ आनन्दबोधाचार्य जो यह कहते है कि (वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति) यहाँ सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा ज्ञान का विशेषण है, अत प्रत्ययार्थ होते भी लिङ्गादि के अर्थ के समान इच्छा प्रधान नही है, और अप्रधान सनार्थ इच्छा के साथ वेदानुवचनादि करण का सम्बन्ध हो नही सकता है। अत जैसे अश्वेन जिगमिषति, यहाँ अश्व को योग्यता के अनुसार गमन क्रिया के साथ अन्वय होता है, सनर्थ के साथ नही, वैसे प्रकृत मे उभयवादी सम्मत इच्छाविषय ज्ञानोत्पत्ति मे ही कर्मो मे करणत्व का ज्ञान होता है, कर्मो के करणोपकारकत्व का ज्ञान नही होता है, क्योकि (वेदानुवचनेन) इत्यादि करण मे मुख्यार्थक तृतीया विभक्ति श्रुति का करणोपकारकत्व पक्ष मे भङ्ग (बाध) प्राप्त होगा। यह भी आनन्दबोधाचार्य का कथन अयुक्त है। क्योकि (दर्शपौर्णमासाभ्या यजेत) इत्यादि के समान (यज्ञेन विविदिषन्ति) इत्यादि भी अपूर्वार्थक = अलौकिकार्थक होने से विधि वाक्य है। यदि कहे कि विधि हो, तो विविदिषेत होना चाहिये, तो यह कहना उचित ही है, किन्तु जैसे (आश्विन गृह्णाति) इत्यादि मे गृह्णीयात्, विधिविभक्ति रूप से परिणाम होता है, वैसे ही यहाँ भी (यज्ञेन विविदिषेत) विपरिणाम से विधित्व

वाक्यार्थानुप्रवेशेनैव पदार्थाना परस्परसबन्धात्, तस्याश्च भावनाया मोक्षभाव्यावच्छिन्नत्वात्, धात्वर्थस्य च स्वतोऽसमीहिततया भाव्यत्वानु-

निर्वोढु योग्यतावशेन परस्पर षाष्ठिकोऽन्वय इत्यर्थ । अस्तु प्रकृते किमायातमिति, तत्राह—**तस्याश्चेति** । विविदिषन्तीत्यत्राख्यातविशेषलिङा शाब्दभावनाभिधीयते, आख्यातविशेषेण च पुरुषप्रयत्नरूपार्थभावनाप्यभिधीयते । सा च कि भावयेत ? केन भावयेत ? केनोपकृत्येति ? भाव्यकरणेतिकर्तव्यतालक्षणाशत्रयवती प्रतीयते, एतदाकाङ्क्षात्रयपूरकतयैव चेतरेषामन्वय । तत्र च रात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकमोक्षो भाव्यत्वेनान्वेतीत्यर्थ । ननु कथ मोक्षस्य भाव्यत्वम् ? यावता समानपदोपात्ततया श्रौतस्य धात्वर्थस्य भिन्नपदोपात्ततया वाक्यप्राप्तात् प्राकरणिकाद्वा मोक्षाद्बलीयस्त्वेन तस्यैव भाव्यत्वमिति, तत्राह—**धात्वर्थस्य चेति** । अयमर्थ —चेतनसमीहास्पद हि फलम्, तत्साधनविधायिना चानेन वाक्येन भवितव्यम्, उपदेशत्वात् । तथा च भवतु नाम समानपदोपात्तो धात्वर्थ , तथापि दु खात्मकत्वेनासमीहास्पदत्वान्न तस्य भाव्यत्वम् । अपि च न फलस्य वाक्यार्थत्वम् । इष्टसाधनरूपभावना हि लिङ्गादिनाभिधीयते, तथा चेष्टमपि भाव्यमभिहितमेव, तेन पदान्तरेण तु पर तस्यैव विशेषसमर्पणम् । अत एव 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यादौ तृतीयायोगश्च, तस्मात् समानपदोपात्ताद् धात्वर्थात् समानप्रत्ययोपात्तमोक्ष एव बलीयान् । यथाहु —'समानप्रत्ययश्रुत्या

होता है। और विधिवाक्य भावना प्रधान होती है, भावना = प्रेरणा को या प्रवृत्ति को कहते है, यहाँ (यज्ञेन स्वर्गं भावयेत्) के समान, (यज्ञेन दानेन वेदानानुवचनेन भावयेत्) ऐसा अर्थ होने पर तीन वस्तु की आकाक्षा होती है (कि भावयेत्, केन भावयेत्, कथ भावयेत्) किसको सिद्ध करे, किससे सिद्ध करे, किसप्रकार से सिद्ध करे, तो इस आकाक्षा के भाव्य = साध्य, करण, और प्रकार रूप से भावना के साथ अन्य का सम्बन्ध होता है। अत विधिपरक वाक्य मे विधि के सम्बन्धी प्रधान भावना रूप वाक्यार्थ मे अनुप्रवेश (सम्बन्ध) द्वारा ही पदार्थो का परस्पर सम्बन्ध होता है। वहाँ प्रकृत भावना मे (किं भावयेत्) ऐसी आकाक्षा होने पर इस भावना को मोक्ष रूप भाव्य = साध्य से अवच्छिन्नत्व (सम्बन्धित्व) होता है कि (यज्ञादिभि ज्ञानद्वारा मोक्ष भावयेत) यज्ञादि से मोक्ष को प्राप्त करे। क्योकि धात्वर्थ के स्वत असमीहित (अनिच्छित) होने से उसमे भाव्यत्व नही हो सकता है, अर्थात् ज्ञानस्वत ईप्सित (इष्ट) नही होता है, किन्तु मोक्ष के लिये होता है, अत स्वत ईप्सित मोक्ष ही भाव्य होता है। अन्यार्थ (मोक्षार्थ) प्रवृत्त भावना से साध्यत्व रूप करणत्व ही धात्वर्थ को होता है, कि (केन मोक्ष साधयेत् = ज्ञानेन मोक्ष साधयेत्)। इसप्रकार से समान पद का अर्थ रूप श्रुत धात्वर्थ करण को लाभ कर लेने वाली भावना मे यज्ञादि की करण रूप से प्रवेश

पपत्ते । ततश्चान्यार्थप्रवृत्तभावनाभाव्यत्वलक्षणकरणभाव एव धात्वर्थस्य । तथा च लब्धश्रौतधात्वर्थकरणाया भावनाया यज्ञादीना करणत्वेनानुप्रवेशानुपपत्तेस्तदपेक्षितकरणोपकारद्वारेण तेषा सबन्ध, ततश्च यज्ञादिभिरुपकृत्येति वाक्यार्थं सपद्यते । न च शमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात् भावनाया यज्ञादीना विधेयधात्वर्थकरणत्वेनैवान्वय इति वाच्यम्, उभयोरपि प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यत्वेनैवान्वयोपपत्ते । तदेव बाधकाभावात् साधकसद्भावाच्च कर्मसमुच्चितमेव ज्ञान मोक्षसाधनमिति ।

बलीयस्या हि बाध्यते' इति । तस्मान्मोक्षस्यैव भाव्यत्व न धात्वर्थस्येति, कथ तर्हि धात्वर्थस्यान्वय इत्याशङ्क्य करणतयेत्याह—**ततश्चेति**। अन्यार्थ स्वर्गमोक्षोद्देशेन प्रवृत्ता या भावना तया चान्तराले भाव्यत्वलक्षणो य करणभाव स एव धात्वर्थस्य भवति, अत्र च फलव्यवच्छेदार्थमन्यार्थपदम् । कुठारादेरपि द्वैधीभावाद्युद्देशेन प्रवृत्तपुरुषप्रयत्नभाव्यत्वमेव हि करणत्व तदत्रापि समानमित्यर्थ । तथापि यज्ञादेरितिकर्तव्यत्वे किमायातमिति, तत्राह—**तथा चेति**। लब्ध श्रौत समानपदश्रुतिसिद्ध धात्वर्थलक्षण करण यया भावनया सा तथोक्ता। अत्रोपपत्तिर्भिन्नपदोपात्तस्य समानपदोपात्ताद् दुर्बलत्वादिति भाव । अन्वयप्रकारमेवाभिनयति—**ततश्चेति**। अत्र 'शान्तो दान्त' इत्यादिवाक्यपरिप्राप्तशमादीतिकर्तव्यतानिराकाङ्क्षत्वात्तद्द्वारेणाप्यनुप्रवेशो न युक्त, तथाच तृतीयानुसारेण कारणकरणतयैवैषामन्वय इत्यानन्दबोधाचार्या, तन्निषेधति—**न चेति**। भावनया हि साक्षादन्वय श्रेयान्, तथा च प्रकरणेन शमादिवदेव यज्ञादीनामपीतिकर्तव्यतयैवान्वय इत्यभिमान ।

की अनुपत्ति से, उस भावना से अपेक्षित करण (ज्ञान) के उपकार द्वारा यज्ञादि का भावना मे सम्बन्ध होता है कि (कथ भावयेत–यज्ञादिभिरुपकार सम्पाद्य भावयेत्) अत यज्ञादि से उपकार करके ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करे, यह वाक्यार्थ होता है। यदि कहा जाय कि शमदमादि रूप इतिकर्तव्यता = उपकारक से भावना के निराकाङ्क्ष होने से यज्ञादि को विधेय धात्वर्थ (ज्ञान) के करण रूप से ही अन्वय होगा, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यज्ञादि और शम, दमादि दोनो मे प्रयाज, अनुयाजादि यज्ञ साधनो के समान विशेषता के (भेद के) नही ग्रहण होने से इतिकर्तव्यता रूप से ही दोनो के अन्वय की सिद्धि होती है। अत इस उक्त रीति से समुच्चय मे बाधक के अभाव से और साधक श्रुति आदि के सद्भाव से कर्म समुच्चित ही ज्ञान मोक्ष का साधन होता है। यह समुच्चयवाद की चर्चा समाप्त हुई ।

तदिदमसुन्दरम्,—

यज्ञादे करणत्वेन श्रुत्यैव प्रतिपादनात् ।
शेषत्वाधिगतावेव प्रक्रमस्याप्युपक्षयात् ॥ ५ ॥

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेनेति तृतीयाश्रुत्या विधेयविज्ञानकरणत्वेन यज्ञादे प्रतिपादनात्, तेषा फलोपकार्यङ्गत्वकल्पने श्रुतिबाधकप्रसङ्गात् । न च प्रकरणप्रमाणेन प्रयाजानुयाजादिवदगृह्यमाणविशेषतयेतिकर्तव्यतात्वमेव यज्ञादीना शमादिवदिति वाच्यम्, प्रकरणस्य सामान्यत शेषत्वबोधने-

---

पूर्वपक्षिणा एवमुपपादित समुच्चय दूषयति सिद्धान्ती—**तदिदमिति** । यज्ञादेस्तृतीययैव तावद्विधेयभावना प्रति करणत्व प्रतीयते, यद्यदि साक्षान्न सभवति, तर्हि परपरयापि करणत्वमेव श्रेय, श्रुतिलोभात् । इतरथा प्रकरणलोभेन श्रुतिबाध स्यात्, नच तद्युक्तम्, श्रुत्यपेक्षया द्व्यन्तरितत्वात्तस्य । नच प्रकरणस्य श्रुतिविरोधशङ्काप्यस्तीत्याह—**शेषत्वेति** । सामान्यसबन्धबोधक हि प्रकरणम्, विशेषस्तु श्रुत्यादिभिरेव प्रार्थनीय । क्वचित्तु श्रुतिलिङ्गवाक्यानामप्रवृत्तौ प्रकरणेन विशेषविनियोग । यथाहु—'असयुक्त प्रकरणाद्' इति । श्रुत्यादिनाऽसयुक्त प्रकरणाद्विनियुज्य इत्यर्थ । तस्मात्सामान्यसबन्धबोधिन प्रकरणस्य न करणतया विशेषसबन्धबोधकश्रुत्या विरोध । अत एव नागृह्यमाणविशेषता, यज्ञादेस्तृतीयाश्रुत्या करणत्वप्रतिपादनात्, शमादेश्च तदभावादिति भाव । श्लोक विवृणोति—**विविदिषन्तीत्यादिना** । उत्तरार्ध व्याचष्टे—**न च प्रकरणेति** । प्रयाजानुयाजादिवदित्यगृह्यमाणविशेषताया दृष्टान्त । शमादिवदिति चेतिकर्तव्यतायाम् । **श्रुत्यादीनामेवेति** । प्रकरणेनैव शेषगतकर्मत्वकरणत्वादिलक्षणविशेषसिद्धौ तद्विशेषबोधकश्रुत्यादिवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति भाव । स्यादेतत्—यदि विधेयधात्वर्थकरणतया यज्ञादयो विधीयन्ते तर्हि भावना प्रति धात्वर्थ, त प्रति यज्ञादय इति वैरूप्याद्वाक्यभेद इति चेत्, न, विशिष्टविधान-

---

यह पूर्वोक्त समुच्चयवादी का कथन सुन्दर नही है । क्योकि—

यज्ञादि का करण रूप से तृतीया विभक्ति से ही प्रतिपादन किया गया है । और प्रकरण को भी शेषत्व ज्ञान मे ही चरितार्थता है उसके विशेष बोधन मे प्रकरण उदासीन है ॥ ५ ॥

अर्थात् (विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन) इस वाक्यगत तृतीया विभक्ति रूप श्रुति से विधेय विज्ञान के करण रूप से यज्ञादि का प्रतिपादन होना है, अत उनके फल के उपकारी अङ्गत्व की कल्पना करने पर तृतीया श्रुति का बाध प्राप्त होगा, और जो कहा था कि प्रकरण रूप प्रमाण से प्रयाजानुयाजादि के समान अगृहीत विशेषता के कारण यज्ञादि को शमादि के समान इतिकर्तव्यत्व ही होता है, यह कहना युक्त नही । क्योकि प्रकरण को सामान्य रूप शेषत्व (अङ्गत्व) बोधन द्वारा ही चरिता-

नैव चरितार्थत्वात्तद्विशेष प्रति श्रुत्यादीनामेव प्रमाणत्वात् । तस्माद् 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादाविव करणशरीरनिर्वर्तकतया च यज्ञादीना करणत्व

त्वेन दोषाभावादित्यभिप्रेत्याह—**तस्माद्व्रीहिभिरिति** । यथाहि व्रीहिभिरित्यत्र यागलक्षणकरणशरीरनिर्वर्तकतया भावनाऽन्वयस्तथेहापीत्यर्थ । इद तु चिन्त्य कथमुदाहरणसाङ्गत्यमिति ? नहि व्रीहिभिर्यजेतेत्यत्र यागो विधीयते येन विशिष्ट-विधान स्यात्किन्त्वधिकारवाक्यसिद्धयागानुवादेन व्रीहय एव विधीयन्ते, तस्मात्करण-करणतामात्र एवेदमुदाहरणम् । उदाहरण तु 'सोमेन यजेत' इत्यादि । तथा चैक-भावनावरोधान्न वाक्यभेदप्रसङ्ग । अत एव च यज्ञाद्यनेकगुणा अपि शक्यन्ते विधातुम्, प्राप्ते हि कर्मण्यनेकगुणविधानानुपपत्ति । यथाहु —

'प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातु शक्यते गुण ।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नत ॥' इति ।

(त० वा० २।२।६)

तस्मात् 'सोमेन यजेते'तिवत् 'यज्ञेन विविदिषन्ती'ति विशिष्टविधानम् । अपरे तु 'प्रज्ञा कुर्वीते'ति हि विज्ञानानुवादेन यज्ञादिगुणो विधीयत इति वदन्ति, तत्पक्षे वाक्यभेदो दुष्परिहर । एतच्च ज्ञानविधिभङ्ग कृत्योक्तम्, वस्तुतस्तु ज्ञाने नास्त्येव विधि, पुरुषेच्छानधीनत्वात् । तथा च ज्ञानविधान न घन्ते तथा कार्यवादे एव प्रपञ्चितम् । तस्मादपरोक्षज्ञान परमसुखसाक्षात्कारतया फलमनूद्य चित्तशुद्धिद्वारा तत्साधनत्वेन यज्ञादयो विधीयन्ते, नच वाक्यभेदो दोषाय, गत्यन्तराभावात् । नच भावनाया वाक्यार्थता, तत्र सगत्यग्रहात् । सिद्धार्थनिष्ठवाक्याना कार्यवाद एव सयर्थनात्, प्रवर्तकवाक्यानामपीष्टसाधनत्वमात्र एव विश्रान्तत्वात, प्रवृत्तेस्त्वर्थसिद्ध-त्वात् । यथा चेष्टसाधनमेव लिङर्थस्तथा दर्शित कार्यवादे । शब्दभावना तु दूरोत्सा-रिता, प्रमाणाभावात् । नहि शब्दस्य सङ्गतिग्रहण तत्सस्कारोद्बोध चान्तरेण शब्द-

र्थता हो जाती है । उस अङ्ग के विशेष करणत्वादि के बोध के प्रति श्रुतिलिङ्गादि को ही प्रमाणत्व रहता है। अत यदि शका हो कि यज्ञादि करण मानने पर (यज्ञादिभिर्ज्ञान भावयेत्, ज्ञानेन मोक्ष भावयेत्) यज्ञादि से ज्ञान को सिद्ध करे, और ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करे, ऐसा सम्बन्ध करने पर वाक्य भेद होगा, तो यह शका युक्त नही, (व्रीहीभिर्यजेत) इत्यादि के समान, करण (ज्ञान) के शरीर (स्वरूप) निर्वर्तक, साधक, रूप से यज्ञादि के करण रूप मे यज्ञेन इत्यादि तृतीया श्रुति से निश्चित होता है । अर्थात् (सोमेन यजेत) इत्यादि मे सोमेन याग, यागेन इष्ट भावयेत्, ऐसा सम्बन्ध करने पर वाक्यभेद प्राप्त होता है, परन्तु (सोमवता यागेन इष्ट भावयेत्) ऐसी विशिष्ट विधि मे वाक्यभेद नही होता है । इसी प्रकार से मोक्ष को उद्देश करकर के यज्ञादि विशिष्ट ज्ञान के विधान से वाक्यभेद

यज्ञेनेतितृतीयाश्रुत्या निश्चीयते। यज्ञादिभिरुपकृत्येति व्याख्याने साध्याहारयोजनाप्रसङ्गात्। न च यज्ञादीना श्रवणादिवत्साक्षाद्विज्ञानसाधनत्वाभावात् करणत्वानुपपत्ति, परम्परासाधनेष्वपि लोके वेदेऽपि करणत्वाभ्युपगमात्। अभ्युपगम्यते हि ज्वालाव्यवधानेनैव काष्ठाना पाके करणत्वम्, अपूर्वव्यवधानेनैव स्वर्गे यागस्य। तथेहापि परिपन्थिदुरितशोधनव्यवधानेन यज्ञादेर्विज्ञानकरणताया न कश्चिद्विरोध। तदेव तृतीयाश्रुत्या यज्ञादे-

---

भावना नाम कश्चिद्व्यापार सभवतीति। किंच त्वत्पक्षे यज्ञादिभिरुपकृत्य वेदनेन मोक्ष भावयेदिति योजनीयम्। तथाचाश्रुतमध्याहरणीयम्, उपकृत्येत्यश्रुतत्वात्, मत्पक्षे तु न किंचिदध्याहार्यम्, तृतीयया करणताया श्रुतत्वादित्याह—**यज्ञेति**। ननु यद्यपि तृतीयया करणत्व यज्ञादीना ज्ञान प्रति श्रूयते, तथापि तन्न सभवति, प्रमाणाधीनस्य ज्ञानस्य यज्ञाद्यजन्यत्वात्। नहि प्रत्यक्षादिमध्ये यज्ञादय किंचित्प्रमाणम्, अतो यथाश्रुतार्थासंभवादध्याहृत्यापि योजन श्रेय इति, तत्राह—**न च यज्ञादीनामिति**। यद्यपि साक्षाज्ज्ञान प्रति न साधनम, श्रवणादीनामेव तत्त्वात्, तथापि यज्ञादे परपरया सभवति, तदप्यभ्यर्हितमेव, इतरथा श्रुतिवाधप्रसङ्गात्। नच निर्देशायुक्ति, लोकवेदयोर्दृष्टचरत्वादिति भाव। **परिपन्थीति**। परिपन्थिभूत यद्दुरित तत्प्रतिशोधनेन यद्व्यवधान तेनेति योजना। एव श्रुत्यैव साधनसाधनताया दर्शितत्वात्साधारणसमुच्चयवचनान्येतदानुगुण्येन परपरया समुच्चये व्यवस्थापनीयानीत्याह—**तदेवमिति**। दुर्बल हि वाक्य श्रुतेरिति भाव।

नही होता है इत्यादि, और वस्तुत तो ज्ञान भी विधेय नही है, इत्यादि। और (यज्ञादिभिरुपकृत्य ज्ञानेन मोक्ष भावयेत्) यज्ञादि से उपकार करके ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करे, ऐसा सम्बन्ध करने पर, इस व्याख्यान मे, उपकृत्य, इसका अध्याहार सहित योजना (सम्बन्ध) प्राप्त होता है। सिद्धान्त के व्याख्यान मे यह दोष नही आता है। यदि कहा जाय कि श्रवण, मननादि के समान यज्ञ-दानादि मे साक्षात् विज्ञान के साधनत्व के अभाव से यज्ञादि मे करणत्व की अनुपपत्ति है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि परम्परा से साधनो मे भी लोक और वेद मे भी करणत्व माना गया है, जैसे कि ज्वाला के व्यवधान द्वारा ही काष्ठो के पाक मे करणत्व माना जाता है। अपूर्व = अदृष्ट के व्यवधान द्वारा ही यज्ञ के स्वर्ग मे करणत्व माना जाता है। इसीप्रकार से यहाँ भी ज्ञान के परिपन्थि = विरोधि पाप के शोधन = निवारण रूप व्यवधान द्वारा यज्ञादि की विज्ञान करणता मे कोई विरोध नही है। अत इस उक्त रीति से तृतीया श्रुति के द्वारा यज्ञादि के विज्ञान करणत्व के ज्ञान होने पर, सभी समुच्चयबोधक वचन परम्परा से समुच्चय के प्रतिपादन परक है, यह मन्तव्य है। और जो कहा था कि, केवल ज्ञान मोक्ष का साधन

विज्ञानकरणत्वाधिगतौ सर्वाण्यपि समुच्चयवचनानि परम्परासमुच्चय-प्रतिपादनपराणीत्यभ्युपेयम् ।

न च केवलविद्यानिन्दानुपपत्ति ,
निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेऽपि सभवात् ।
प्रक्रमस्यापि बाध्यत्वाद् बलीयस्या तृतीयया ॥ ६ ॥

निन्दाया देवताविज्ञानविषयत्वेनाप्युपपत्ते । न च परमात्मोपक्रम-विरोध, 'यज्ञेन' इति तृतीयाश्रुते प्रक्रमाद् बलीयस्त्वेन तद्बाधेऽप्यविरोधात् । क्रमसमुच्चयविषयत्वेनाप्युपपत्तेश्च, 'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इति पौर्वापर्याभिधानात् । 'सह वेद' इति च वेदन एव सहभाव

यत्केवलविद्याया साधनत्वे 'ततो भूय' इति तन्निन्दा नोपपद्यते, विविदिषितस्य निन्दायोगादिति, तच्च श्लोकेन परिहरति—**निन्दाया इति** । यत्त्वीशावास्ये परमात्मोपक्रमविरोधान्न देवताविज्ञानस्य निन्दा वा समुच्चयो वोपपद्यत इति, तत्राह—**प्रक्रमस्येति** ।

विवृणोति—**निन्देति** । एवमुपासनाविषयत्वेन परिहारोऽभिहित , इदानीमस्तु परमात्मविद्यैवोपक्रमानुसारेण, तथापि न विरोध उपायोपेयभावेन क्रमसमुच्चयपर-तयाप्युपपत्तेरित्याह—**क्रमेति** । न केवलमुपपद्यत इत्येतावन्मात्रम्, अपि त्वेवमेवोप-पद्यते, इतरथा क्रमश्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गादित्याह—**अविद्ययेति** । ननु परम्परापक्षे सह वेदेति फल प्रति साहित्यमनुपपन्नमिति, तत्राह—**सहेति** । उपायत्वज्ञान एव सहभावो, नतु फल प्रतीति भाव । नन्वस्मिन् पक्षे कथ निन्दोपपत्ति ? नहि

हो, तो (ततो भूय इव ते तम-) इस निन्दा की अनुपपत्ति होगी। यह केवल विद्या की निन्दा की अनुपपत्ति भी नही है । क्योकि—

निन्दा को देवताज्ञानविषयत्व का भी सम्भव है। और प्रकरण को भी बलीयसी तृतीया विभक्ति से बाध्यत्व होता है ॥ ६ ॥

अर्थात् केवल ज्ञान की निन्दा को देवताज्ञानविषयत्व से भी उपपत्ति होते, उस निन्दा को ब्रह्मात्मज्ञानविषयकत्व मानना युक्त नही है। और जो कहा था कि निन्दा को देवताज्ञाननिन्दापरक मानने पर, परमात्मोपक्रम विरोध होगा, यह उपक्रम विरोध नही है, क्योकि, यज्ञेन, यह जो तृतीया श्रुति है, उसके प्रक्रम से बलीयस्त्व होने के कारण प्रकरण के बाध होने पर भी विरोध नही होता है। अर्थात् श्रुत्यन्तर मे देवतोपासनायुक्त कर्म को बलवत्तर कहा गया है। उसके अनुसार ईशावास्य मे भी देवताज्ञानयुक्त कर्म की स्तुनि के लिये केवल ज्ञान की निन्दा है, और उसकी देवतापरता मे (यज्ञेन विविदिषन्ति) यह श्रुति अनुकूल है, अत प्रकरणबाध के बिना ही (क्रमसमुच्चयविषयत्व) से भी निन्दा

श्रवणात् । प्रक्रमानुरोधेनात्मविद्याविषयत्वेऽप्यपरिपक्वात्मज्ञानविषयतयाप्युपपन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति—विद्यापरिपाकात्प्रागेव ये यथास्वं विहित नित्यादिकर्म त्यजन्ति, तेषामुपात्तदुरितक्षयाभावाद्विहिताकरणनिमित्तप्रत्यवायस्याहरहरुपचीयमानत्वेनाशुद्धान्तःकरणतया परिपक्वात्मविद्यानुदयात्, न कैवल्यम् । शुभकर्मपरित्यागाच्च नाभ्युदय इत्यात्यन्तिक एवाधःपात स्यादिति । तत्रैषाक्षरयोजना—विद्या परिपक्वात्मज्ञानलक्षणाम्, अविद्या

प्रक्रमानुसारेण परमात्मविद्याकर्मणो परम्परया समुच्चयस्वीकारे साक्षात्साधनभूतकेवलविद्यानिन्दोपपद्येत इति, तत्राह—**प्रक्रमेति । उपपन्नत्वा**न्निन्दाया इति शेष । अयमर्थ —नास्मिन्पक्षेऽविद्यानिवर्तनसमर्थकेवलात्मविद्याविषया निन्दा, किं त्वपरिपक्वात्मविद्याविषया । तथा च —यावत्परिपक्वब्रह्मविद्योदयमाश्रमादिविहितकर्माण्यनुष्ठेयानीति फलिष्यतीति । उक्तार्थे 'ततो भूय' इति वाक्य योजयति—**एतदुक्तमिति ।** अन्त करणशुद्धे प्रागेवादृढापातज्ञानोदयमात्र एव कृतार्थमन्या सन्तो ये यथाविहितानि चित्तशोधकानि कर्माणि त्यजन्ति उभयभ्रष्टा समुपचितदुरितनिचयाश्चात्यन्तमध पतन्तीत्यर्थ । एव निन्दावाक्य योजयित्वा 'विद्या चाविद्या चे'त्येतदपि क्रमसमुच्चयपरतया योजयति—**तत्रैषेति ।**

श्रुति की उपपत्ति हो सकती है कि कर्म से अन्त करण के सशोधन के बिना जो ज्ञानोपार्जन मे लगता है । वह कर्म, ब्रह्म उभय से भ्रष्ट होकर भारी तम मे प्रविष्ट होता है। इत्यादि । और क्रमसमुच्चय तो अवश्य अभ्युपगन्तव्य है, क्योकि (अविद्या = कर्म से मृत्यु = हेतु पापादि को तर कर विद्या से अमृत पाता है । यहाँ पूर्वपरभाव के विधान से स्पष्ट ही क्रमसिद्ध होता है । और कर्म और विद्या के फल तथा अनुष्ठान मे क्रम होते भी, उपायत्व ज्ञान मे सहभाव होना है । अत (यस्तद्वेदोभय सह) यह वेदन (उपायज्ञान) मे ही सहभाव के श्रवण से क्रम मे विरोध नही है । अत प्रक्रम (आरम्भ) के अनुसार से विद्या शब्द के आत्मविद्याविषयक होने पर भी अपरिपक्व आत्मज्ञान विषयता से निन्दा की उपपत्ति होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि, जो लोग विद्या की परिपक्वावस्था से प्रथम ही अपने आश्रमादि के अनुसार विहित नित्यादि कर्मों को त्यागते है, उनके उपार्जित (सञ्चित) पापो के नाश नही होने से, तथा विहिताऽकरणनिमित्तक प्रत्यवाय (दोष) के प्रतिदिन = उपचीयमान = प्रवृद्ध होने से अशुद्धान्त करणवत्ता के कारण परिपक्व (शुद्ध) आत्मविद्या के अनुदय से कैवल्य नही होता है । और शुभ कर्मों के परित्याग से स्वर्गादि रूप अभ्युदय भी नही होता है । अत उनका आत्यन्तिक अध पात ही होगा । इस पक्ष मे श्रुति की ऐसी अक्षरयोजना कर्तव्य है कि, जो अधिकारी, परिपक्व आत्मज्ञानरूप विद्या, और कर्म रूप अविद्या को

च कर्मलक्षणा य सह उपायोपेयभावेन वेद। सोऽधिकृत पुरुषोऽविद्यया कर्मलक्षणया विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धक मृत्युपदवेदनीय पाप तीर्त्वा विद्यया परिपक्वसाक्षात्कारलक्षणयाऽमृत निर्वाणम् अश्नुत इति।

इदमत्राकूतम्—आविद्यापरिपाकाद्यथास्व कर्मानुष्ठेयम्, विद्या तु परिपक्वा कर्मनिरपेक्षैव मोक्ष साधयिष्यतीति। समुच्चयवादिनोऽपि न तावत्काम्यकर्मणा समुच्चय, तस्य मुमुक्षुणा परित्यागात्। नापि नित्य-

---

फलित सकलय्य दर्शयति—**इदमिति**। अथवा स्वाश्रमविहित कर्मानुष्ठेयम्, विद्या तु केवला मोक्षसाधनमिति विरोध इति, तत्राह—**इदमिति**। चित्तशुद्धिपर्यन्त यज्ञाद्याश्रमकर्माण्यनुष्ठेयानि, शुद्धे तु चित्ते सर्वकर्मसन्यासलक्षण पारिव्राज्यमास्थितेन साधनचतुष्टयसम्पन्नेन श्रवणाद्यावर्तनीयम्। ततश्च मननिदिध्यासनशमदमाद्यनेकविधेतिकर्तव्यतोपेतपरिनिष्पन्नश्रवणस्यासति प्रतिबन्धे वर्तमानशरीर एवापरोक्षज्ञान जायते, उत्पन्न त्वपरोक्षज्ञानमन्यानपेक्षमेवाविद्या निवर्तयतीति भाव। एतेन शिखायज्ञोपवीतत्यागोपलक्षितपारमहस्यसन्यासोऽपि समर्थित। कर्माङ्गभूताना शिखादीना शेषिकर्मपरित्यागे सुतरा परित्यागात्, श्रुतिस्मृतिशतेन च ज्ञानाङ्गत्वेन तत्त्यागस्य विधानात्। विचीर्ण चात्रापरिमितमतिभिस्तैस्तैराचार्यैरिति नास्माभि पराक्रम्यते। किंचेद समुच्चयवादी प्रष्टव्य—किं काम्यकर्मभि समुच्चय? नित्यनैमित्तिकैर्वा? नाद्य इत्याह—**समुच्चयेति**। इहामुत्रार्थभोगविरक्तो हि मुमुक्षुरिति भाव। द्वितीय दूषयति—**नापीति**। नहि सर्वेष्वाश्रमेषु समानानि कर्माणि। नहि गृहिणो यावन्ति तावन्तीतरेषाम्। उक्त हि 'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसहार' इति। तस्मात्तदुत्कर्षापकर्षाभ्या साध्यमोक्षेऽपि तौ स्याताम्, इतरथाधिकानुष्ठानस्य व्यर्थत्वेन निर्विकारतयानुष्ठानस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। अत एव ह्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिफलस्वर्गेपि वैषम्य कल्प्यते। यथाहुरर्थवादाधिकरणे वार्तिककृत—

'कर्मणामल्पमहता फलाना च स्वगोचर।
विभाग स्थानसामान्यादविभागोऽपि चोदित'॥ इति॥

उपाय-उपेय = साधन-साध्य रूप से साथ जानता (सीखता) है वह अधिकारी पुरुष कर्म रूप अविद्या द्वारा विद्या की उत्पत्ति का प्रतिबन्धक मृत्यु पद से वेदनीय (ज्ञातव्य) पाप को तर कर (नष्ट करके) परिपक्व साक्षात्कार स्वरूप विद्या से अविनाशी निर्वाण को प्राप्त करता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि, विद्या के परिपाक (दृढत्व) पर्यन्त शक्ति आदि के अनुसार कर्म-कर्तव्य है। परिपक्व विद्या तो कर्म की अपेक्षा के बिना ही मोक्ष को सिद्ध करेगी। समुच्चयवादी के मत मे भी काम्य कर्म का समुच्चय नही माना जा सकता है, क्योकि मुमुक्षु से उस काम्य कर्म का परित्याग ही किया जाता है।

नैमित्तिकै, तत्तदाश्रमविहिताना तेषामुत्कर्षापकर्षवत्त्वात्कर्मभूयस्त्वात्फल-भूयस्त्वन्यायेन कैवल्यफले तावभ्युपेयाविति स्वर्गवदपवर्गस्यापि सातिशय-त्वेनानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । तस्माज्ज्ञानमेव कैवल्यसाधनमित्यभ्यु-पेयम् ।

'सत्येन लभ्यस्तपसा' इत्यत्रापि सत्यादीना ज्ञानसाधनत्वम्, ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमित्यभ्युपेयम्, विविदिषावाक्ये यज्ञादीना विज्ञानसाधनत्व स्यावधृतत्वात् । 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्' इति ब्रह्मवित् पुण्यकृतोर्मार्गे समुच्चय, मार्गश्च कार्यब्रह्मगोचर, 'कार्य बादरिरस्य गत्युपपत्ते' इत्यत्र

तस्मादुच्चावचतयाऽनित्यत्वादिदोषो मोक्षस्य स्यात्, नित्यनिरतिशयानन्दात्मकश्च मोक्ष श्रुत्यादिषु प्रसिद्ध इति भाव । या चापरा समुच्चये श्रुति प्रमाणिता, तामपि पारपर्यपरतया योजयति—**सत्येनेति** । ननु सत्येन सम्यग्ज्ञान न ब्रह्मचर्येणैव आत्मा लभ्यत इत्यात्मलाभे समशिष्टाना सत्यादीना मध्ये कस्यचित्पारम्पर्येण कस्य-चित्साक्षादिति कल्पने वैरूप्य स्यादिति तत्राह—**विविदिषेति** । अनन्यथासिद्धश्रुति-बलादेव वैरूप्यमपि न दोषायेत्यर्थ । श्रुत्यन्तरेऽप्यन्यथासिद्धिमाह—**तेनेति** । नेय श्रुति परब्रह्मविषया, तेनैति गच्छति इति मार्गे समुच्चयश्रवणात्, परब्रह्मणि च गत्यानर्थक्यादसभवाच्च । अविद्यामात्रव्यवहित तत्, अविद्या चेहैव ब्रह्मतत्त्वविद्यया प्रविलीना । नच विगलितनिखिलस्थूलसूक्ष्मोपाधिजालस्य व्योमवत्सर्वगतचैतन्यैक रसस्य गमनमुपपद्यते । सूत्रकारोऽपि 'पर जैमिनिर्मुख्यत्वा'दिति पूर्वपक्षय्य 'कार्य ब्रह्म गन्तव्य बादरिराचार्यो मेने, कुत ? अस्य हि ब्रह्मणे गतिरुपपद्यते, प्रदेशावच्छि न्नतयोपासनात्, तत्फलस्यापि तादृशत्वादवधृतोपाधित्वाच्चे'ति सिद्धान्तयाबभूव, तथा गतेरर्थवत्त्वमुभयथा, अन्यथा हि विरोध इति निर्गुणविद्यासु गत्युपसहार वारयति । तस्मान्न परब्रह्मविषयेयमित्यर्थ । एव श्रुतीरन्यथयित्वा स्मृतिष्वप्यति-

---

नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ भी समुच्चय नही हो सकता है । क्योकि तत्तत् आश्रमविहित कर्मों के उत्कर्षापकर्षत्व = (श्रेष्ठत्वाश्रेष्ठत्व) से, कर्माधिक्य से फलाधिक्य न्याय द्वारा कैवल्य रूप फल मे भी वह उत्कर्षाऽपकर्ष मानना होगा, और ऐसा होने पर स्वर्ग के समान मोक्ष के अतिशय = भेदयुक्त होने के कारण अनित्यत्वादि दोष प्राप्त होगा । अत ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, यह मन्तव्य है ।

(सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा) यहा भी सत्यादि को ज्ञान साधनत्व है, और ज्ञान को ही मोक्षसाधनत्व है, यही मन्तव्य है । क्योकि विविदिषा वाक्य मे यज्ञादि के विज्ञानसाधनत्व का अवधाता = निश्चय हो चुका है । और (तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्) इस श्रुति से ब्रह्मवित् पुण्यकृत् के मार्ग मे समुच्चय कहा गया है, और मार्ग कार्य ब्रह्मविषयक होता है परब्रह्मविषयक नही, अत एव (कार्यं

राद्धान्तितत्वात् । एव चोदाहृता स्मृतयोऽपि क्रमसमुच्चयपरतया

दिशति—**एवं चेति**। तदेव तृतीयाश्रुत्येति ग्रन्थे साधारण्येनोपसहार, इह तु

वादरिरस्य गत्युपपत्ते) इस सूत्र से कार्य ब्रह्मविषयक गति को सिद्धान्तित = निश्चित किया गया है। इसीप्रकार से उदाहृत स्मृतियाँ भी क्रमसमुच्चय रूपता से श्रुति के अनुसार योजनीय = व्याख्येय है। आत्मज्ञान ही मोक्ष का साधन है, यह सिद्ध हुआ।

अज्ञान सशयज्ञान मिथ्याज्ञानमितित्रयम्।
ससारकारण शोक-मोह-द्रोह-प्रवर्तकम् ॥ १ ॥

अविद्याहेतव कामा काममूला प्रवृत्तय।
धर्माधर्मौ च तन्मूलौ देहोऽनर्थाश्रयस्तत ॥ २ ॥

अतोऽविद्यानिरोधे स्यान्निरोधो विदुष सदा।
अशेषानर्थहेतूना कामादीना तदैव हि ॥ ३ ॥

मायामात्रमिद सर्व त्रैलोक्य सचराचरम्।
ब्रह्मैव केवल सत्य चिदानन्दाऽद्वयात्मकम् ॥ ४ ॥

इति बुद्ध्वा गुरो शास्त्रात्स्वानुभूत्या विचारवान्।
कामादिबन्धनान्मुक्तो युक्तो ब्रह्मणि मोदते ॥ ५ ॥

कामबन्धनमेवैक नान्यदस्तीह बन्धनम्।
कामबन्धनमुक्तो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ६ ॥

कामाना हृदये वास ससार इति कीर्तित।
तेषा सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभि ॥ ७ ॥

अकामो धीरो अमृत स्वयभू रसेन तृप्तो न कुतश्चोन।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मान धीरमजर युवानम् ॥ ८ ॥

अथर्ववेद का० १।४।८।४४।

(न विभाय = न बिभेति। धीरम् सर्वज्ञम्। युवानम्-सर्वाधारम् = समर्थम्।)

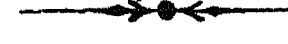
मोक्षकारणसामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धान भक्तिरित्यभिधीयते ॥ ९ ॥

सत्येन तपसा भक्त्या योगै शमदमादिभि।
आत्मलाभात्पुनर्जन्तुर्जायते नेह कुत्रचित् ॥ १० ॥

कर्माऽपमार्ष्टि पापानि भक्तिर्ज्ञान ददाति वै।

श्रुत्यनुसारेण योजनीया । तस्माज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति सिद्धम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-
श्रीचित्सुखाचार्यविरचिततत्त्वप्रदीपिकायां
तृतीयः परिच्छेदः ।



विशेषतः स्मृतीनामित्यजामिता । वादार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति ।**

शब्दः साक्षात्कारहेतुर्विद्या मुक्तिफलप्रदा ।
विद्यैव न तु कर्मेति तृतीये त्रितयं गतम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्स्वरूप-
भगवतः कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां नयनप्रसादिन्यां
तृतीयः परिच्छेदः ।



ज्ञानं हन्ति निजाऽज्ञानं मोक्षस्तदिह कथ्यते ॥ ११ ॥

श्रीस्वामी हनुमानदासजी महाराज षट्शास्त्री कृत चित्सुखी-
भाषानुवाद [में] तृतीय परिच्छेद समाप्त ।



चतुर्थः परिच्छेदः

क पुनरय मोक्ष ? न तावद्विषयाकारोपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरम, तज्ज्ञानसतानस्यात्मरूपतया तदुच्छेदस्यापुरुषार्थत्वात्, न हि सर्वत प्रियतमस्यात्मन समुच्छेदाय वाञ्छा कस्यचिदुपजायते, बन्धविमोकपर्या-

---

तृतीये त्रिविधोपाय परिच्छेदे परीक्षित ।
तुरीय तु तुरीयेस्मिन्मुक्तितत्त्व परीक्ष्यते ॥ १ ॥

साधनविचारानन्तर फलविचाराद्धेतुहेतुमल्लक्षण सबन्ध परिच्छेदयोरतिस्फुट, तावच्छून्यवादकक्षाक्रान्तमोक्ष निराचष्टे—**न तावदित्यादिना।** विषयाकारैर्नील-पीनाद्याकारैरुपप्लुतो दूषितो यो विज्ञानसन्तान तस्योपरमो विनाशो मोक्ष । उक्त हि—'प्रदीपस्येव निर्वाण विमोक्षस्तस्य तायिन' इति, एव न सभवतीत्यर्थ । हेतुमाह—**तज्ज्ञानेति।** नहि क्षणिकविज्ञानसन्ततिव्यतिरिक्त कश्चिदात्मा भवद्भि-रुपगम्यते, तेन सन्तत्युच्छेदो नाम स्वरूपोच्छेद एव, नचैवविधे प्रेक्षावत्प्रवृत्ति सभवति, अफलत्वात्। फलिनोऽभावे हि कस्य तत्फल स्यादिति भाव । किंच मुक्ति-शब्दार्थपराहतश्चाय मोक्ष । नहि बद्धस्य नाशो मोक्ष, मुच्लृ मोक्षणे इति मुचेर्वि-श्लेषकर्मणो मुक्तिशब्दव्युत्पत्ते, तस्मात्स्वत सकाशाद्बन्धस्य विश्लेषो मोक्षशब्दार्थ, न पुन स्वरूपनाश, नचैव भवन्मोक्ष इत्याह—**बन्धेति।** एव माध्यमिकमुक्ति

यल्लाभान्न परो लाभो यत्सुखान्न पर सुखम् ।
नित्यमुक्त निजात्मान पर श्रेयस्कर श्रये ॥

साधनविचार के बाद फलविचार का अवसर आता है, अत अब मोक्षरूप चतुर्थ पुरुषार्थ का विचार चतुर्थ परिच्छेद मे करना उचित है। पूर्व परिच्छेद के अन्त मे कहा गया है कि (ज्ञान ही मोक्ष का साधन है) वहाँ जिज्ञासा होती है कि यह मोक्ष क्या है। यदि शून्यवादी माध्यमिक मत के अनुसार कहा जाय कि विषयाकार से उपप्लुत = व्याप्त = दूषित विज्ञानसन्तान = प्रवाह का उपरम = नाश मोक्ष है, तो यह कहना युक्त नही हो सकता है, क्योकि वह ज्ञान का सन्तान ही उस मत मे आत्मा माना जाता है, वहाँ आत्मा के उच्छेद (नाश) को पुरुषा-र्थत्व (मोक्षत्व) नही हो सकता है। सब से अतिप्रिय आत्मा के समुच्छेद=विनाश के लिये किसी की इच्छा नही होती है। और बन्ध के विमोचन = निवृत्ति पर्याय= वाचक मुक्ति शब्द का आत्मा का नाश अर्थ नही है, क्योकि बद्ध = बन्धन युक्त का नाश मोक्ष शब्द का वाच्यार्थ नही होता है, किन्तु उस बद्ध के रहते ही बन्धन के

यस्य मुक्तिशब्दस्यातदर्थत्वाच्च । न हि बद्धनाशो मोक्षपदवाच्य, किं तु सत एव तस्य बन्धविश्लेष । नापि विधूतविषयाकारोपप्लवविशुद्धविज्ञान-सन्तानोदय, विकल्पासहत्वात् । तथा हि—किमय सन्तानिना पुरुषार्थ ? किं वा सन्तानस्य ? नाद्य, तेषा स्वरसपरिनिर्वाणात् । नोत्तर, तथाविध-सन्तानोदयेऽपि मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानरूपस्योपरमात् । बन्धमोक्षयोर्वैयधि-करण्यापाताच्च । उभयान्वयिन सन्तानिन सन्तानस्य वैकस्याभावात्,

---

दूषयित्वा योगाचारमुक्तिं दूषयति—**नापीति** । चतुर्विधभावनापरिपाकावसाने यो विषयाकारैरुपप्लवरहितो नाम स एव विशुद्धाना विज्ञानाना सन्तानोदयस्तद्रूपो मोक्ष इत्यपि नेत्यर्थ । **परिनिर्वाणं** नाश । स्वरसभङ्गुरविज्ञानलक्षणसन्तानिना चिरध्वस्ततया पश्चाद्भाविसन्तानान्तरोदयस्तेषा न पुरुषार्थ, फलिनोऽभावे फला-भावादित्यर्थ । **मुमुक्षोरुपप्लुतसन्तानस्येति** समानाधिकरणषष्ठ्यौ । अत्रापि पूर्वोक्तदोषानतिवृत्ति, उपप्लुतसन्तानरूपमुमुक्षोर्नष्टत्वादित्यर्थ । किंच यस्य बन्ध-स्तस्य मोक्ष इत्येतदपि न तव मते स्यात्, उपप्लुतानुपप्लुतसन्तानयोर्भेदात्, तथा च क प्रवर्तेत ? इत्याह—**बन्धेति** । अथोभयसतानान्वयी कश्चिदस्ति, तथा च सामानाधिकरण्य बन्धमोक्षयोरिति, तत्राह—**उभयेति** । सन्तानिनस्तावत्क्षणिकत्वा-देवाऽननुवृत्ति, सन्तानस्य सन्तानाभावादेकसन्तानापाताच्च सन्तानाननुवृत्ति-रित्यर्थ । किंच स्वत्पक्षे उपप्लुतविज्ञानसन्तानोपरमे विशुद्धविज्ञानसन्तानोदये च

विश्लेष = वियोग = अभाव को मोक्ष कहा जाता है । यदि योगाचार के मतानुसार, विषयाकार रूप दोषरहित विशुद्ध विज्ञान के सन्तान के उदय को मोक्ष कहा जाय, तो वह भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि यह मत विकल्पाऽसह है । विकल्प है कि क्या यह सन्तानियो, सन्तानगत व्यक्तियो का पुरुषार्थ = मोक्ष होता है, या सन्तान का होता है । प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योकि उन सन्तानियो = क्षणिक विज्ञान व्यक्तियो के स्वरस = स्वभाव से ही परिनिर्वाण (विनाश) रूप क्षणभङ्गुर होने से उनका शुद्ध सन्तानोदय रूप मोक्ष नही हो सकता है, भोक्ता के अभाव हो जाने पर उसको मोक्ष फल रूप भोग नही मिल सकता है । दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता हे, क्योकि, विशुद्ध विज्ञान के उदय होने पर भी दोषो से उपप्लुत सन्तान रूप मुमुक्षु का उपरम = अभाव हो जाता है, अत उसको मोक्ष इस पक्ष मे भी नही प्राप्त होता है, अतएव बन्धमोक्ष मे व्यधिकरणता = भिन्नाधिकरणता प्राप्त होती है, क्योकि सन्तानादि सब के क्षणिक होने से बन्धमोक्ष उभय के अन्वयी = सम्बन्धी एक सन्तानी और सन्तान का अभाव रहता है । अत अन्य के साधन से अन्य का मोक्ष नही हो सकता है । अत एव विशुद्ध सन्तान के उदय के कारण का भी अभाव है, क्योकि भावना के प्रकर्ष को उस विशुद्ध सन्तान रूप मोक्ष का कारण माना

कारणाभावाच्च । भावनाप्रकर्षो हि तस्य कारणमिष्यते, तस्य स्थिरैकाधिकरणाभावे विशेषानाधायकत्वात् । सन्तानस्यावस्तुत्वात् सन्तानिना च प्रतिक्षणमपूर्ववदुपजायमानत्वेनानासादितभावनाप्रकर्षतया विशुद्धविज्ञानजननासामर्थ्यात् ।

कारणमपि दुर्निरूपमित्याह—**कारणेति** । नन्वस्ति चतुर्विधभावनाप्रकर्षपर्यन्तजनितसाक्षात्कार उपाय इति, तत्राह—**भावनेति** । तत किमिति, तत्राह—**तस्येति** । नह्यन्यत्रानुभवोऽन्यत्र सस्कारोऽन्यत्र च तत्फल स्मृतिरिति सभवति, नहि जातु यज्ञदत्तोऽनुभवति विष्णुमित्रश्च तत्सस्कारवान्, देवदत्तश्च तस्य स्मरतीति दृष्टचरम् । तदिहानपायिन कस्यचिदभावे क्व सस्कार ? क्व वा तत्प्रकर्ष क्व च तत्फल मुक्ति ? स्थिरत्वेऽपि भिन्नाधिकरणत्वे न सभवति, किमु वक्तव्यमेकस्याप्यभाव इत्यर्थ । ननु सन्तानिषु सन्तान एवानुगतो विशेष आधीयता उक्त हि—

'यस्मिन्नेव हि सतान आहिता कर्मवासना ।
फल तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा' ॥ इति ।

तत्राह—**संतानस्येति** ।

अत्र तार्किका प्राहु—'योगपरिभावनाभुव परमेश्वरसाक्षात्कारान्नवानामात्म-

---

जाता है । वहाँ स्थिर एक अधिकरण के अभाव रहते उस भावना प्रकर्ष को कही विशेषाऽऽधायकत्व (विशेष फल प्रदत्व) नही हो सकता है । क्योकि सन्तानी से भिन्न स्थिर सन्तान कोई वस्तु नही है कि जिसमे भावनाप्रकर्ष विशेष गुण को उत्पन्न कर सके । और सन्तानियो को भी प्रतिक्षण अपूर्व (नूतन) उत्पन्न होने से भावनाजनित प्रकर्ष को नही प्राप्त करने से, अनासादित = अप्राप्त भावनाप्रकर्षता के कारण विशुद्ध विज्ञान जनन का सामर्थ्य उनमे नही हो सकता है । आत्यन्तिकी दुःख की निवृत्ति भी मोक्ष नही कहा जा सकता है । अर्थात् नैयायिक कहते है कि (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग) बाधना = पीडा रूप दुःख है, उसका अत्यन्त अभाव हो जाना ही मोक्ष है, सुख ब्रह्म की प्राप्ति आदि नही । यह कहना युक्त नही, क्योकि अतीत उस दुःख के स्वत निवृत्त होने के कारण, उसको साधन से साध्यत्व नही हो सकता है । वर्तमान दुःख का विरोधी गुण के प्रादुर्भाव द्वारा निवर्त्यत्व = नाश्यत्व होता है । अनागत दुःख को निवृत्त करना अशक्य है । यदि कहा जाय कि आत्यन्तिकत्व शब्द से निवृत्त दुःख के सजातीय दुःख की फिर उस आत्मा मे उत्पत्ति नही होना, यही निवृत्ति के आत्यन्तिकत्व विवक्षित है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि अनुत्पाद के भी प्रागभाव रूप होने से अनादि प्रागभाव मे अनुत्पाद्यत्व स्वय रहता है, वह साधन से साध्य नही हो सकता है ।

नाप्यात्यन्तिकी दु खनिवृत्ति , अतीतस्य तस्य स्वत एवात्यन्त निवृत्त-त्वेनासाध्यत्वात्, वर्तमानस्य विरोधिगुणप्रादुर्भावनिवर्त्यत्वात्, अनागतस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । निवृत्तेरात्यन्तिकत्वशब्देन निवृत्तजातीयस्य दु खस्य तस्मिन्नात्मनि पुनरनुत्पादो विवक्षित इति चेत्, न, अनुत्पादस्यापि प्रागभावतयानुत्पाद्यत्वात् । ननु दु खात्यन्ताभावो मोक्ष । न च तस्य नित्य-त्वादसाध्यत्वम्, तत्सबन्धस्य स्वात्मनि साध्यत्वात् । अशेषक्लेशहेतुना-

---

विशेषगुणानामात्यन्तिकी निवृत्तिरपवर्ग इति तद्दूषयति— **नापीति** । दु खशब्देन चैकविंशतिप्रकारमपि दु ख विवक्ष्यते, इन्द्रियषट्कम्, विषयषट्कम, बुद्धिषट्कम्, शरीरम्, सुखम्, दु खम् चेत्येकविंशतिप्रकार हि दु खम्, तत्र किमतीतवर्तमाने निवर्तेते ? अनागत वा दु खम् ? यथाह पतञ्जलि —'हेय दु खमनागतम्' इति । त्रिधापि न सभवतीत्याह—**अतीतस्येत्यादिना** । **अशक्यत्वादिति** । विद्यमानस्य हि प्रध्वस इत्यर्थ । पक्षत्रयप्रयुक्तदोषपरिहाराय तात्पर्यपरिशुद्धावुदयनोदीरितामा-त्यन्तिकत्वनिरुक्तिमुद्भावयति—**निवृत्तेरिति** । चेतनान्तरे तथाविधोत्पत्तिसभवेना-सभवनिवृत्त्यर्थं तस्मिन्नात्मनीति विशेषणम्, निवृत्तस्यानुत्पाद समारदशायामप्य-स्तीति तज्जातीयस्येत्युक्तम्, तथाप्युपायानुष्ठान व्यर्थमित्याह—**अनुत्पादस्यापीति** । अत्र लीलावतीकारमतमुद्भावयति—**ननु दुःखात्यन्ताभाव इत्यादिना** । नन्वत्य-न्ताभावपक्षे सुतरामानर्थक्यमुपायानुष्ठानस्य, नित्यत्वेनासाध्वत्वादिति, तत्राह— **न च तस्येति** । ननु भावाभावयोर्न मुख्य सबन्ध सभवी, सयोगसमवाययोरभावात्, अथ विशेषणविशेष्यभाव तथापि तस्य स्वभावानतिरिक्तनया न साध्यत्वमिति, तत्राह—**अशेषेति** । य एतेऽविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा दु खहेतव पञ्च क्लेशा-स्तेषामशेषाणा निवृत्तिरेव दु खात्यन्ताभावस्यात्मना सबन्ध , स च साध्व इत्यर्थ ।

यहाँ शका होती है कि (दु खो का अत्यन्ताभाव मोक्ष है) यदि कहा जाय कि अत्यन्ताभाव के नित्य होने से वह स्वत सिद्ध रहता है, अत यदि दु ख का अत्यन्ताभाव मोक्ष है, तो उसके लिये साधन करना व्यर्थ है, तो कहा जाता है कि उस अत्यन्ताभाव के नित्य होने से उसके असाध्यत्व को कहना युक्त नही, क्योकि उस अत्यन्ताऽभाव के नित्य होते भी उसके सम्बन्ध को स्वात्मा मे साध्यत्व होता है, अर्थात् उस अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध साधन से सिद्ध होता है, अत साधन निष्फल नही होता है । यदि कहा जाय कि अभाव रूप अत्यन्ताभाव का भावस्वरूप आत्मा के साथ सयोगादि सम्बन्ध भी साधन से साध्य होने योग्य नही है, और स्वरूपसम्बन्ध विशेषण-विशेष्य भाव के स्वाभाविक होने से वह भी साधन से साध्य नही हो सकता है, तो कहा जाता है कि, अशेष दु खो = क्लेशो के हेतुरूप, अविद्या अस्मित (अविवेक मोह) राग, द्वेष, अभिनिवेश (देहासक्ति अहकार

शस्य दुःखात्यन्ताभावात्मनो सबन्धरूपत्वात्, तदुत्पत्तौ दुःखात्यन्ताभावस्य तदीयत्वेन व्यवहारात्। तदीयतया व्यवहारहेतुत्वेन च विषयविषयिभावादिवदस्यापि सबन्धव्यवहारगोचरत्वात्। तस्य च कृतकत्वेऽपि ध्वसत्वादेवाविनाशित्वात्। न चात्यन्ताभावस्य प्रतियोगी दुर्निरूप, मुमुक्षुसमवेततया

नन्वय सयोगाद्यनन्तर्भूत कथ सबन्ध स्यादप्रसिद्धत्वादिति, तत्राह—**तदुत्पत्ताविति**। नहि सबन्धबुद्धिजनकत्वमन्तरेण सकलसबन्धेष्वनपायि सबन्धत्व नाम किंचिच्छक्यनिरूपणम्, तदिह यथा ज्ञानार्थयोस्तदीयबुद्धिजनकतया विषयविषयिभावसबन्ध तद्वद्दुःखात्यन्ताभावस्यात्मीयत्वव्यवहारहेतुरसावपि सबन्ध इत्यर्थ। **तस्य चेति**। अशेषक्लेशहेतुनाशस्येत्यर्थ। ननु कस्य दुःखस्यायमत्यन्ताभावो मोक्षत्वेनाश्रीयते? न तावदतीनवर्तमानयो, एतस्मिन्नुत्पन्नत्वेन तदत्यन्ताभावस्य तस्मिन्नसभवात। नापि भविष्यत, अन्यदीयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावस्य ससारदशायामप्येतस्मिन्विद्यमानत्वेऽप्येतन्मुक्तेरभावात्। एतदीयभविष्यद्दुःखात्यन्ताभावोऽस्य मुक्तिरिति चेत्, तर्ह्येतदीयभविष्यद्दुखात्यन्ताभावप्रतियोगिभूत प्रमितम्? न वा? आद्ये तदत्यन्ताभावोऽस्मिन्न सभवत्येव, प्रतियोगिसद्भावस्यात्र प्रमितत्वात्। द्वितीये त्वप्रतीतप्रतियोगित्वेनात्यन्ताभावरूपमोक्षस्याप्यप्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—**न चात्यन्तेति**। प्रामाणिकत्वाभावेऽपि सभावनोपनीतस्य सभवति प्रतियोगित्व-

---

मरणभय) के नाश को ही दुःखात्यन्ताऽभाव और आत्मा के सम्बन्धस्वरूपत्व है। क्योकि उन क्लेशहेतुओ के नाश की उत्पत्ति होने ही पर दुःखात्यन्ताभाव का तदीयत्वेन (आत्मसम्बन्धित्व रूप) से व्यवहार होता है। और उस क्लेशहेतु के नाश मे अत्यन्ताभाव के आत्मसम्बन्धित्वेन व्यवहार के हेतुत्व होने से विषयविषयिभावादि के समान इस क्लेशहेतुध्वस को सम्बन्धव्यवहार के विषयत्व होता है। अर्थात् ज्ञान और अर्थ का कोई सम्बन्ध नही रहना है, तो भी सम्बन्ध के व्यवहार से विषयविषयिभाव सम्बन्ध माना ही जाता है, वैसे ही दुःखात्यन्ताभाव और आत्मा के सम्बन्ध का व्यवहार होता है, वहाँ इस अशेष क्लेशहेतुनाश को सम्बन्धत्व है, क्योकि इसको भी सम्बन्ध व्यवहार विषयत्व है, और उस क्लेश हेतु ध्वस को कार्य (कृतक) होते भी ध्वश होने ही से अविनाशित्व है। यदि कहा जाय कि दुःख के अत्यन्ताभाव को मोक्ष कहने पर किस दुःख का अत्यन्ताभाव मोक्ष है, यह कहा नही जा सकता है, क्योकि अतीत दुःख नष्ट हो चुका है, वर्तमान स्वय नष्ट होने वाला है, भावी अभी ज्ञात नही है कि जिसका साधन से नाश किया जाय, अत अत्यन्नाभाव का प्रतियोगी दुर्निरूप है, तो कहा जाता है कि ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि प्रमाणिक अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी रूप दुःख के अभाव होते भी मुमुक्षु मे समवेत रूप से और मुमुक्षु की सभावना से मुमुक्षु मे उपनीत =

सभावनोपनीतस्य दु खस्य प्रतियोगित्वात्, असति योगाभ्यासे दुरितप्रवाह-स्यानागतसमयवर्तिदु खोत्पादकत्वात् । सर्वत्र चात्यन्ताभावनिरूपणे सामान्यतोऽवगतस्य विशेषत समारोपविज्ञानविषयस्यैव प्रतियोगित्वात्, विशेषतस्तु प्रतियोगिसद्भावनिश्चयापेक्षायामत्यन्ताभावनिरूपणव्याघातात्, शशे विषाण तदीयमन्यदीय वा नास्तीति पर्यनुयोगस्य सुवचत्वात् । न चास्य

मित्यर्थ । सभावनामेवोपपादयति—**असतीति** । नन्वप्रामाणिकत्वे कथ तन्निरूप्याभावस्य प्रामाणिकत्वमिति, तत्राह—**सर्वत्र चेति** । अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तस्थल एवाय नियम, यत्प्रतियोगिनो विशेषतोऽपि प्रामाणिकतयाऽभावप्रामाणिकता इत्यर्थ । एतदेव विपक्षे बाधकेन द्रढयति—**विशेषतस्त्विति** । यत्र हि शशविषाण नास्तीत्यादावत्यन्ताभावप्रमितिस्तत्रापि किमन्यदीयविषाणस्य ससर्गो निषिध्यते ? किं वा एतदीयस्य ? नाद्य, अन्यदीयविषाणस्य शशमस्तकेऽपि निधातु शक्यतया तत्ससर्गात्यन्ताभावस्यासभवात्, शशमस्तकोत्पन्नविषाणानिषेधप्रसङ्गाच्च । द्वितीये, तत्प्रमित्यप्रमित्योरुक्तदूषणापात इत्यर्थ । स्यादेतत्—अशेषदु ख निवृत्तिवदशेषसुख-निवृत्तिरपि भवद्भिरङ्गीक्रियते मुक्तौ, सुखस्यापि दु खानुरक्ततया दु खान्तर्भावाभ्यु-पगमात । तथा च समव्ययफलत्वान्न कोऽपि पुरुषार्थं इत्यप्रवृत्तिरेवात्र प्रेक्षावताम् । यथाहु —

"व्यसनानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च ।
अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षण ।।" इति ।

तत्राह--**न चास्येति** । अत्र तावत्ससारदशाया सुखस्याल्पत्वाद् दु खस्य च बहुलत्वात्तन्निवृत्ति सुखादप्यधिक पुरुषार्थ इति, न तु समव्ययफलता तथाऽत्यन्त-सुखस्यापि विद्यमानत्वाल्लाभबाहुल्यमेव कुतो व्ययशङ्का ? कुतस्तरा च समव्यय-

---

कल्पित भावी दु ख को प्रतियोगित्व होता है । क्योकि मुमुक्षु मे सभावना होती है कि योगाभ्यास के नही करने से दुरित (पाप) प्रवाह को अनागत = भावी समयवर्ती दु खो का उत्पादकत्व = हेतुत्व होगा । इसप्रकार से सर्वत्र अत्यन्ताभाव के निरूपण मे सामान्य रूप से ज्ञात और विशेष रूप से समारोप = कल्पना रूप विज्ञान के विषय को ही प्रतियोगित्व होता है । यदि अत्यन्ताभाव के निरूपण मे विशेष रूप से प्रतियोगी के सद्भाव के निश्चय की अपेक्षा हो तो अत्यन्ताभाव के निरूपण का व्याघात (अभाव) प्राप्त होगा । क्योकि (शशविषाण नास्ति) शशशृङ्ग नही है, ऐसा कहने पर, सुवच प्रश्न हो सकता है, कि शश मे विषाण किसका नही है, शश का विषाण नही है, या अन्य का नही है, वहाँ शशसम्बन्धी दोनो प्रकार के विषाण के अभाव से आरोपित का ही अभाव कहा जा सकता है, अत आरोपित प्रतियोगी होता है । यदि कहा जाय कि अशेष दु खनिवृत्ति के

समव्ययफलत्वेनापुरुषार्थत्वम्, योगप्रभावात् कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशाया सकलसुखोपभोगाङ्गीकारात् ।

'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे', 'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' इति श्रुतिस्मृतिशतेभ्य सर्वकर्मणा ज्ञानेन विलयावगमात् सुखोपभोगो न युक्त इति न वाच्यम्, तद्वचनानामचिरविनश्वरतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा सर्वकर्मणा विनाशाद्विदुष सद्य एव शरीरपाते जीवन्मुक्त्यभावप्रसङ्गात् । प्रारब्धकार्येतरकर्मणा ज्ञानादेव प्रक्षयो विवक्षित

फलता ? इत्याह—**योगप्रभावादिति** । जीवन्मुक्तिसहिताया परममुक्ते, पुरुषार्थत्वादिति भाव ।

ननु ज्ञानेन सुखोपभोगो न घटते, कर्मनिमित्तत्वात् सुखोपभोगस्य, कर्मणा च ज्ञानेन प्रदाहादिति, तत्राह—**क्षीयन्त इति** । **परावर इति** । परमविद्यातीतम् । **अवर** कारणतत्त्वम् । तदुभयात्मक इत्यर्थ । कुतो न वाच्यमित्यत आह—**तद्वचनानामिति** । क्षीयन्त इति कोऽर्थ ? न चिरात् क्षीयन्त इति, न पुनस्तत्क्षणमेव, भस्मसात करण च विनश्वरत्वस्योपलक्षणमित्यर्थ । सद्य शरीरपात वेदान्ती परिहरति—**प्रारब्धेति** । तथा च प्रारब्धभोगै कर्मभि शरीरस्थितिर्घटत इत्यर्थ । नैतद्युक्तम्, अप्रारब्धफलकर्मणामपि भोगव्यतिरेकेण ज्ञानमात्रादनिवृत्तेरिति

समान सासारिक अशेष सुखसाधन की भी मोक्ष मे निवृत्ति मानी जाती है अत इस मोक्ष के सम = तुल्य = व्यय = हानि और फल = लाभ रूप होने से इसमे पुरुषार्थत्व नही है । तो यह कहना युक्त नही । क्योकि योग के प्रभाव से कायव्यूह = शरीर समूह के निर्माण द्वारा जीवनमुक्ति अवस्था मे सब सुखभोग को माना जाना है, अत सुख का नाश नही होता है । यदि कहे कि—

शुद्ध ब्रह्म और अवर कारण के अपरोक्ष ज्ञान होने पर इस ज्ञानी के सब कर्म नष्ट हो जाते है । ज्ञानाग्नि सब कर्म को भस्म कर देती है । इत्यादि सैकडो श्रुति, स्मृति से ज्ञान द्वारा सब कर्मो का विनाश अवगत (ज्ञात) होता है, अत जीवन्मुक्ति अवस्था मे सुख का उपभोग होना युक्त नही है, तो कहा जाता है कि ऐसा नही कहना चाहिये, क्योकि उन वचनो का अचिरविनश्वरता=शीघ्रविनश्वरता मात्र के प्रतिपादन मे तात्पर्य है, सर्वथा विनाश मे नही । अन्यथा ज्ञान से सर्व कर्म के विनाश होने पर, ज्ञानी के शरीर के शीघ्रपात होने पर, जीवन्मुक्ति का अभाव प्राप्त होगा । यदि कहे कि प्रारब्ध कर्म से भिन्न कर्मो का ज्ञान से ही उन श्रुति, स्मृतियो मे विवक्षित है । अत योगप्रभाव से सब सुखोपभोग का सम्भव नही है, किन्तु प्रारब्ध पर्यन्त शरीर की स्थिति जीवन्मुक्ति अवस्था मे रहती है । तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि जिन कर्मो की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त नही किया

इति चेत्, मैवम्, अकृतप्रायश्चित्ताना कर्मणा देहारम्भककर्मवद्भोगैकनाश्यत्वनियमात् 'नाभुक्त क्षीयते कर्म' इति स्मृते । न चानन्त्यात्कर्मणा भोगेन प्रक्षयानुपपत्ति, योगप्रभावादनन्ततदुपभोगसाधनकायव्यूहनिर्माणेन तदुपपत्ते । न चानियतकालविपाकतया कर्मणा युगपदुपभोगविरोध, उपभोगानुकूलसहकारिसाकल्यादेव समानविपाकसमयतोपपत्ते । अत आत्यन्तिकदु खनिवृत्तावपि मुक्तौ न समव्ययफलता । न चाननुभूयमानतया दु खनिवृ-

परिहरति पूर्ववादी—**मैवमिति** । तत्कि तत्र तत्र प्रायश्चित्ताम्नान वृथेत्यत उक्तम्—**अकृतप्रायश्चित्तानामिति** । भोगो वा प्रायश्चित्त वा निवृत्तिहेतुरित्यर्थ । विमतानि कर्माणि भोगैकविनाश्यानि अकृतप्रायश्चित्तत्वे सति कर्मत्वात् प्रारब्धफलकर्मवदित्यनुमानविरोधादिति भाव । स्मृतिविरोधमपि दर्शयति—**नाभुक्तमिति** । ननु भोगेन क्षयवादिनोऽनिर्मोक्ष एव, अनन्तभवपरम्परोपार्जितकर्मणामानन्त्येन भोगावसानाभावात्, न शुभकर्मविषयमस्ति प्रायश्चित्तम्, तस्मान्मोक्षमिच्छतानिच्छतापि ज्ञानमेव कर्मक्षयहेतुरेष्टव्यमिति, तत्राह—**न चानन्त्यात्कर्मणामिति** । अत्र किमेकस्यानेकविग्रहग्रहणानुपपत्तिर्बाधिका ? अनियतविपाकत्व वा ? नाद्य । सौभर्यादिवद्योगप्रभावादुपपत्तेरित्याह—**योगेति** । नोत्तर, अनियतविपाकत्व हि कर्मणा सहकारिसपत्त्यनियमप्रयुक्तम्, सा च सहकारिसपत्तिरस्य योगप्रभावात्सपत्स्यते अगस्त्यादेरिव पयोनिधिपानादाविति भवत्येव युगपदुपभोग इत्याह—**न चानियतेति** । उक्त हि पतञ्जलिना 'योगप्रभावादृते नागस्त्य इव समुद्र पास्यती'ति । उपपादितमसमव्ययफलत्वमुपसहरति—**अत इति** । ननु दु खाभावस्य न पुरुषार्थत्वम्, अननुभूयमानत्वात्, अनुभवे च नाशेषविशेषगुणोच्छेद, ज्ञानस्यानुच्छिन्नत्वादिति, तत्र तात्पर्यपरिशुद्धावदयनोक्त परिहारमाह—**न चाननुभूयमानेति** । अत्र किं दु खनिवृत्तेरनुभूय-

गया हो उन कर्मो का भी देहारम्भक प्रारब्ध कर्म के समान ही भोगैकनाश्यत्व का नियम है, अत उनकी भोग से निवृत्ति होती है, अत कायव्यूह से ज्ञानी योगी उन सब को भोगता है, अत (नाऽभुक्त क्षीयते कर्म) भोगे बिना कर्म नष्ट नही होता है । इस स्मृति का कहना भी युक्त होता है । यदि कहे कि कर्मो की अनन्ता से उनका भोग से एक शरीर मे नाश होना असम्भव और अयुक्त है, अत भोगपूर्वक मोक्ष ही नही हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि योग के प्रभाव से अनन्त उस भोग के साधन रूप शरीरसमूह के द्वारा उस अनन्त कर्म के भोगो की सिद्धि होती है । यदि कहे कि अनियत देशकालिक विपाक=फल वाले कर्मो का एक काल मे उपभोग होने मे विरोध है, तो यह कहना भी युक्त नही । क्योकि योग के प्रभाव से ही उपभोग के सहकारियो की सफलता (पूर्णता) से समान = तुल्य फल समता की सिद्धि कर्मों मे हो जाती है । अत आत्यन्तिक दु खनिवृत्ति रूप भुक्ति मे

त्तेरपुरुषार्थत्वम्, विकल्पासहत्वात्। किमनुभूयमानतामात्र पुरुषार्थत्वोपयोगि ? यावद् दु खनिवृत्तिसत्त्व वा ? नाद्य , चरमे जन्मनि योगप्रभावादनागताया अपि दु खनिवृत्तेरनुभूयमानत्वसभवात्। वर्तमानाया अप्यचिरमनुभवोपपत्ते । तथाहि—योगिनश्चरमज्ञानेन सकलविषयेण दु खतदभावौ युगपत्साक्षात्कृतौ तेनैव विरोधिगुणप्रादुर्भावेण निवृत्ते दु खे विनश्यदवस्थज्ञानेन वर्तमानापि दु खनिवृत्तिरनुभूतेति । नापि द्वितीय , प्रसक्तकण्टकादिदु खनिवृत्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गात्, यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वात्। तथात्वे

मानत्वमात्र पुरुषार्थत्वोपयोगि ? कि वा यावद्दु खनिवृत्ते सत्त्व तावन्त कालमनुभूयमानत्वम् ? इति विकल्प्याद्य आपादकासिद्धिमाह—**चरमे जन्मनीति । योगप्रभावादिति ।** भूतभविष्यद्वर्तमानवेदनादित्यर्थ । ननु कथ वर्तमानाया सकलदु खनिवृत्तेरनुभवसभव ? येन हि चरमज्ञानेन दु खनिवृत्तिरनुभूयते, तदपि तावदेक दु खम, नच तत्समये तस्य निवृत्तिरस्ति, नापि तन्निवृत्तिसमये तदनुभवान्तरमस्ति, चरमत्वभङ्गादिति, तत्राह—**वर्तमानाया अपीति ।** तस्यैवोपपादनम्—**तथा हीति ।** विनश्यदवस्थेत्यत्र हृदयम्। नित्यद्रव्येष्वाश्रयविनाशाभावेन विरोधिगुणप्रादुर्भावेण पूर्वगुणनाशादुक्तम्—**विरोधिगुणप्रादुर्भावेणेति । प्रसक्तेति ।** यद्यपि कण्टकादिदु खनिवृत्तिस्त्विदानीमनुभूयते, तथापि न यावत्सत्त्वमनुभव , विषयान्तरसचाराद्यभावप्रसङ्गादत प्रशिथिलमूलतेति भाव । ननु दु खाभावस्य पुरुषार्थत्वमेव

भी समन्वय फलता नही प्राप्त होती है। यदि कहा जाय कि सब दु ख की निवृत्ति रूप मोक्ष को अनुभव के साधन इन्द्रियविषयादि सहित सब की निवृत्ति रूप माना जाता है, अत उसके अनुभव के साधन के अभाव से दु खनिवृत्ति रूप मोक्ष की अननुभूयमानता के कारण उसमे अपुरुषार्थता (अफलता = अवाञ्छनीयता) की प्राप्ति होती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यह कथन विकल्पाऽसह है। विकल्प है कि, क्या दु खनिवृत्ति की अनुभूयमानता मात्र पुरुषार्थता का उपयोगी होता है, या जब तक दु खनिवृत्ति का सत्त्व हो तब तक अनुभूयमानत्व उपयोगी होता है। प्रथम पक्ष मे कोई दोष नही है, क्योकि अन्तिम जन्म मे योग के प्रभाव से अनागत दु खनिवृत्ति की भी अनुभूयमानत्व का सम्भव रहता है। और वर्तमान दु खनिवृत्ति की भी अचिर, शीघ्र अनुभव की सिद्धि होती है। क्योकि योगी के सर्वविषयक अन्तिम ज्ञान से दु ख और उसका अभाव दोनो समकाल मे साक्षात् किये जाते है, वहाँ उसी विरोधी ज्ञान रूप गुण के प्रादुर्भाव = प्रकटता के कारण दु ख के निवृत्त होने पर, विनश्यदवस्था वाला उस ज्ञान से वर्तमान भी वह दु खनिवृत्ति अनुभूत हो जाती है। दु खनिवृत्ति की यावत्सत्त्व अनुभूयमानता रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नही है। क्योकि प्राप्त कण्टकादि दु खनिवृत्ति को अपुरुषार्थता उस पक्ष

विषयान्तरावेदनप्रसङ्गात् । न च दु खाभावस्य सुखशेषतया पुरुषार्थत्वम्, सुखस्यापि दु खाभावशेषतया पुरुपार्थत्वमिति वैपरीत्यस्यापि वक्तु सुकरत्वात् । कामनायाश्चोभयत्रापि समानोदयतयोभयोरपि पुरुषार्थत्वोपपत्ते । प्रयोगश्च—आत्मा कदाचिद् ध्वस्ताशेषविशेषगुण, नित्यत्वे सत्यनित्यविशेषगुणाश्रयत्वात्, महाप्रलयावस्थायामाकाशवदिति लीलावतीकार ।

वक्रमतानुसारिण पुनरेव मोक्षलक्षणमाचक्षते—'एतज्जीवनिष्ठदु ख-

नास्ति, या तु तत्र प्रार्थना सा तस्य सुखशेषतया, तत्राह —**न चेति**। हेतुमाह— **सुखस्यापीति**। ननु काम्यमानत्वात् सुखस्यैव पुरुषार्थत्वमिति, तत्राह —**कामनाया इति**। **आत्मेति**। इदानीमुपलभ्यमानविशेषगुणकतया बाधपरिहारार्थं कदाचिदित्युक्तम् । पर्यायेण विशेषगुणध्वसस्य ससारदशाया सिद्धत्वेनार्थान्तरत्वनिवृत्त्यर्थमशेषग्रहणम् । युगपदिति चात्र विवक्षितम् । सख्यापरिमाणादीना मोक्षदशायामपि विद्यमानत्वेन बाधपरिहारार्थ विशेषग्रहणम् । पीलुपाकपक्षे घटादिषु विशेषगुणै सहैव ध्वस्यमानेषु व्यभिचारनिवृत्त्यै नित्यत्वे सतीत्युक्तम् । ईश्वराप्यपरमाण्वादिषु व्यभिचारनिवृत्त्यर्थमनित्यविशेषगुणाश्रयत्वादित्युक्तम् । नित्यगुणादिष्वनैकान्तिकत्वपरिहाराय विशेषगुणग्रहणम् । दृष्टान्ते च शब्दव्यक्तिभेदापेक्षयाऽशेषपदसार्थक्यम् ।

तदेव दु खात्यन्ताभावात्मनो सबन्धरूपोऽशेषक्लेशहेतुनाशो मोक्ष इति श्रीवल्लभमत दर्शयित्वाऽधुनिकरीतिं दर्शयति —**वक्रेति**। एतज्जीवनिष्ठ यद्दु ख तेन समानकालीनो यो दु खध्वस , ततोतिरिक्त तत्त्वानधिकरण य एतन्निष्ठो दु खध्वस

मे प्राप्त होगी, उस दु खनिवृत्ति मे यावत् सत्त्व अनुभूयमानत्व नही रहता है । यदि सदा उसके अनुभूयमानत्व रहे, तो विषयान्तर के ज्ञान का अभाव प्राप्त होगा । यदि कहा जाय कि दु खाभाव स्वय पुरुषार्थ नही होता है, अत सुख के शेष = अङ्ग साधन रूप से उसमे पुरुषार्थत्व होता है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि सुख को भी दु खाभाव की शेषरूपता से पुरुषार्थत्व होता है, इसप्रकार से विपरीत कथन मे भी सुकरत्व है । अत कामना की दु खाभाव और सुख दोनो मे समानता से दोनो को पुरुषार्थत्व की सिद्धि होनी है । प्रयोग भी हो सकता है कि (आत्मा, कभी प्रध्वस्त अशेष विशेष गुण वाला रहता है, नित्य होता हुआ अनित्य विशेष गुणाश्रय होने से, महाप्रलयकालिक आकाशवत्) इसप्रकार से लीलावतीकार सब विशेष गुण रूप दु ख के अभाव रूप मोक्ष का अनुमान करते है, सख्या, परिमाणादि मोक्ष अवस्था भी रहते है, परन्तु सामान्य गुण दु ख रूप नही है, इच्छा आदि दु ख रूप है, अत उचके अभाव का अनुमान किया है ।

उक्त रीति से मोक्षविषयक प्राचीन मत दर्शाकर, कहते है कि (वक्र = कुटिल=केवल तर्क परायण, इस वक्ष्यमाण रीति से मोक्ष का लक्षण कहते है कि—

समानकालीनदु खध्वसातिरिक्तैतन्निष्ठदु खध्वसोऽस्य मुक्ति' इति। प्रयोगश्च—देवदत्तोऽयमेवविधदु खध्वसवान् दु खित्वाच्चैत्रवत्। एतन्निष्ठदु खप्रागभावासमानकालीनैतन्निष्ठदु खध्वसोऽस्य मोक्ष इत्यपरे। एवविधसाध्येऽपि दु खित्वादिति प्रयोग पूर्ववदेव। अन्ये तु ज्ञानाजनकसस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयो दु खध्वसो मोक्ष इति मन्यन्ते। तत्र साक्षात्कारविषयो दु खध्वस इत्येतावति लक्षणे सासारिकदु खध्वसेऽतिव्याप्तिर्मा

स एतज्जीवस्य मुक्तिरिति योजना। एतन्निष्ठदु खध्वस एतत्ससारदशायामप्यस्तीत्यतिव्याप्तिपरिहारायातिरिक्तेत्यन्त विशेषणम्। जीवान्तरससारसमयदु खध्वसे तादृश्यतिव्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदु खध्वस इत्युक्तम। असभवपरिहारायैतज्जीवनिष्ठेत्युक्तम्। घटादिध्वसव्यवच्छेदार्थ दु खध्वसेत्युक्तम्। **प्रयोगश्चेति**। अय देवदत्त एतद्देवदत्तनिष्ठदु खसमानकालीनदु खध्वसातिरिक्तदु खध्वसवान् दु खित्वात् चैत्रवदित्यनुमातव्यमित्यर्थ। लक्षणान्तरमाह—**एतन्निष्ठेति**। एतद्देवदत्तनिष्ठो यो दु खप्रागभावस्तेनासमानकालीनो य एतन्निष्ठदु खध्वस स एतन्मुक्तिरित्यर्थ। अत्रापि सासारिकैतद्दु खध्वसेऽतिव्याप्तिपरिहारायैतन्निष्ठदु खप्रागभावासमानकालीनेत्युक्तम्, ससारदशाया हि उत्पत्स्यमानदु खप्रागभावसमानकालीनो हि दु खध्वस। अत्रापि प्रयोग दर्शयति—**एवं विधेति**। अय देवदत्त एतन्निष्ठदु खप्रागभावासमानकालीनदु खध्वसवान् दु खित्वात् पुरुषान्तरवदिति प्रयोग इत्यर्थ। **ज्ञानाजनकेति**। ज्ञानाजनको य सस्कारस्तज्जनको जन्यश्च य साक्षात्कारस्तेन विषयीकृतो यो दु ख-

---

(= इस जीववृत्ति दु ख समानकालिक दु खध्वस से भिन्न इस जीववृत्ति अन्तिम दु खध्वस इसकी मुक्ति है और प्रयोग है कि (यह मुक्त देवदत्त, दु ख समान कालिक स्वदु खध्वस से अतिरिक्त दु खध्वसवाला है, दु खी होने से, चैत्र के समान) दृष्टान्त मे देवदत्त दु ख के अभाव से साध्य की प्रसिद्धि होती है, और देवदत्त मे अन्तिम दु खध्वस से साध्य सिद्ध होता है। दूसरे कोई मोक्ष का लक्षण कहते है कि (इस जीववृत्ति दु ख प्रागभाव के असमानकालिक एतद्वृत्ति दु खध्वस, इसका मोक्ष है) इस लक्षण के अनुसार साध्य मे भी (दु खित्वात्) इस हेतु से पूर्व तुल्य ही प्रयोग होता है। (यह देवदत्त, एतद्वृत्ति दु खप्रागभाव के असमानकालिक दु खध्वस वाला है, दु खी होने से, पुरुषान्तर के समान)। अन्य कोई मानते है कि (ज्ञान का अजनक जो सस्कार, उस सस्कार का जनक और साधनजन्य जो अन्तिम साक्षात्कार उसका विषयस्वरूप दु खध्वस मोक्ष है)। इस लक्षण का (साक्षात्कारविषयोध्वस) इतना ही स्वरूप होता, तो सासारिक दु खध्वस मे अतिव्याप्ति होती, वह नही हो, इसलिये, ज्ञानाजनक इत्यादि विशेषो से साक्षात्कार को विशेषित किया गया है, वहाँ जन्यपद से ईश्वर का साक्षात्कार

भूदिति ज्ञानाजनकेत्यादिना विशेषणेन साक्षात्कारो विशेष्यते। तत्र जन्य-पदेनेश्वरसाक्षात्कारो व्यावर्त्यते, तस्यापि सकलजनकतया ज्ञानाजनक-संस्कारजनकत्वात्। अस्ति च ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वं चरमसाक्षात्कारस्य दुःखध्वंसविषयस्य, तदनन्तरं मुक्तौ ज्ञानान्तरानुदयात्।

दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यत्र च "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इत्यादयो वेदान्ताः प्रमाणम्। प्रियशब्दाभिधेयस्य सुखस्यापि निराकरणात्। "यो वै भूमा तत्सुखम्" "एष एव परमानन्दः" इत्येवमा-

---

ध्वंसः स मोक्ष इति योजना। स्वयमेव विशेषणानां कृत्यमाह—**तत्रेत्यादिना**। ननु भावनासंस्कारस्यायं स्वभावः यत्स्मृतिजनकत्वम्, तत्कथं ज्ञानाजनकसंस्कारजनकत्वम्? अतोऽसिद्धिर्लक्षणस्येति तत्राह—**अस्ति चेति**। प्रयोगस्तु—अयं देवदत्तः एतद्देवदत्तनिष्ठज्ञानाजनकसंस्कारजनकजन्यसाक्षात्कारविषयदुःखध्वंसवान् दुःखित्वात् संप्रतिपन्नवदिति।

तदेवं दुःखनिवृत्तिरेव मुक्तिरित्यनुमानैरुपपादितं संप्रति श्रुतिमपि तत्र प्रमाणयति—**दुःखेति**। वावेत्यवधारणे। अशरीरं च सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत एवेति दुःखवत्सुखस्यापि प्रतिषेधात्, दुःखनिवृत्तिमात्रमेव मुक्तिः, न पुनः सुखसंपत्तिरपीत्यवसीयत इत्यर्थः। स्यादेतत्—सन्ति मुक्तौ सुखप्रतिपादिका अपि श्रुतयस्ताः किं प्रमत्तगीता इति, इत्राह—**यो वै भूमेति** यो नामादिभ्यः प्राणान्तेभ्यः परत्वेन प्रति ादितः सत्याख्यो भूमा तत्सुखम्। भूमशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वेऽपि विधेयसुखापेक्षया तदिति निर्देशः। वै इत्यवधारणे। एवं छान्दोग्यश्रुतिमुक्त्वा वाजसनेयकश्रुतिमप्याह—**एष इति**। यः सुषुप्त्यादावपरिच्छिन्न आनन्दः प्रतिभासते एषोऽस्यात्मनः परम उत्कृष्ट आनन्द इत्यर्थः। ननु किमिति मुख्यार्थः परित्यज्यते असंभवदर्थत्वा-

---

व्यावृत्त होता है, क्योकि ईश्वर ज्ञान को भी सकल जनकता से ज्ञानजनक संस्कार-जनकत्व होता है। और ज्ञानाजनक संस्कारजनकत्व दुःखध्वंसविषय अन्तिम साक्षात्कार को रहता है, क्योकि उसके अनन्तर मुक्ति मे ज्ञानान्तर की उत्पत्ति नही होती है।

इस उक्त रीति से अनुमान प्रदर्शित दुःखनिवृत्ति ही मुक्ति है, सुखप्राप्ति नही। इस अर्थ मे (अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः) इत्यादि वेदान्त प्रमाण है, शरीर रहित ज्ञानी को प्रिय अप्रिय = सुख दुःख नही स्पर्श करते है, इस कथन से मोक्ष मे सुख का भी अभाव स्पष्ट ही कहा गया है। अर्थात् प्रिय शब्द का वाच्य सुख का भी मोक्ष मे निराकरण किया गया है। यदि कहा जाय कि मोक्ष मे सुख के प्रतिपादक श्रुतियाँ है, जैसे कि (यो वै भूमा तत्सुखम्, ऐषोऽस्य परमानन्द) जो नामादि से पर सत्य वस्तु है, वह विभु सुख स्वरूप है, जो सुषुप्ति आदि मे

द्यास्तु श्रुतयो दुःखाभावविषयतयोपचरितार्था विषयाजन्यसुखस्यादृष्टचरत्वात्। न च सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरामर्शदर्शनाददृष्टचरत्वमसिद्धमिति वाच्यम्, पित्ताद्युपहतेन्द्रियस्य दुःखमहमस्वाप्समिति परामर्शात्, दुःखस्यापि नित्यताप्रसक्तेः। न च परमप्रेमास्पदत्वादात्मनः सुखरूपतानुमेया, दुःखाभावे व्यभिचारात्। आत्मनः सुखरूपत्वे च मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गात्, स्वयंप्रकाशस्य निरतिशयसुखरूपतया सदावभाससंभवात्। सुखं मे स्यादिति च प्रेमालोके, न सुखमहं स्यामिति, तथा

दित्याह—**विषयेति**। नन्वदृष्टचरत्वमसिद्धं सुप्तोत्थितेन परामृश्यमानत्वादिति तत्राह—**न च सुप्तेति**। ननु माभूदर्थापत्तिरनुमानं तु भविष्यति। तथाहि—आत्मा सुखं परमप्रेमास्पदत्वात् सम्प्रतिपन्नसुखवत्, व्यतिरेकेण दुःखवदिति वा तत्राह—**न च परमप्रेमेति**। अस्ति हि दुःखाभावस्यापि परमप्रेमास्पदत्वम्, नच तत्र सुखशेषनयेति वाच्यम्, वैपरीत्यस्य सुवचत्वात्, न च सुखरूपत्वमित्यनैकान्त्यमित्यर्थः। तर्कबाधितत्वं चाह—**आत्मन इति**। ननु स्वरूपभूतमपि सुखं संसारदशायां न प्रकाशते मुक्तौ तु प्रकाशतेऽतोऽस्ति विशेष इति तत्राह—**स्वयंप्रकाशेति**। प्रतिज्ञाविरोधलक्षणं निग्रहस्थानमप्याह—**सुखमिति**। पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

आनन्द प्रतीत होता है, वह परमानन्द आत्मस्वरूप है। इत्यादि। तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि ये श्रुतियाँ दुःखाभाव विषयता रूप से उपचरितार्थ हैं (अमुख्यार्थक हैं) क्योंकि विषय से अजन्य सुख अदृष्टचर है, अर्थात नित्य सुख किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि, प्रथम सोकर पीछे जागने वाले के मैं सुखपूर्वक सोया था, इसप्रकार के सौषुप्तिक विषयाऽजन्य सुख के स्मरण के ज्ञान से सुख मे अदृष्टचरत्व नहीं है। क्योंकि इस स्मरण से सुषुप्ति के सुख का अनुमान होता है, कारण है कि अनुभव के बिना स्मरण नहीं होता है, तो यह कहना युक्त नहीं, क्योंकि पित्तादि दोषों से उपहत (आवृत्त) इन्द्रिय (मन) वाले के मैं दुःखपूर्वक सोया था इस दुःख के स्मरण से दुःख को भी नित्यत्व प्राप्त होगा। यदि कहे कि उक्त रीति से नित्य सुखरूपता की आत्मा मे नहीं सिद्ध होने पर भी, परम प्रेमविषयत्व से आत्मा की सुखरूपता अनुमेय है, तो यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि दुःखाभाव मे व्यभिचार है, दुःखाभाव मे सुखरूपता नहीं रहते भी परम प्रेमविषयत्व रहता है अतः (आत्मा, परमसुखस्वरूप, परमप्रेमास्पदत्वात्) ऐसा अनुमान नहीं हो सकता है। और आत्मा यदि सुखस्वरूप हो, तो मुक्ति और संसार मे अविशेषता = तुल्यता प्राप्त होगी। क्योंकि स्वयं प्रकाश निरतिशय = निर्विशेष सर्वोत्तम सुखस्वरूप से सदा अवभास (अनुभव) का सम्भव होगा। और मुझे सुख हो, इस प्रकार के (प्रेमाऽऽलोके) प्रेम को मैं देखता हूँ। मैं सुखी हो

चात्मन सुखरूपत्वे प्रेमास्पदत्वमेव न स्यादिति प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधस्तत्र कुतस्तत सुखरूपतानुमानम् ? तस्माद् दु खनिवृत्तिरेव मुक्तिरिति ।

अत्रोच्यते—प्रतियोगिहेतुनाशो न तदत्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजक,

लीनशब्दनिदानेऽपि व्योम्नि तस्यानवस्थिते ।
रूपाभावव्यवहृतेस्तदभावेऽपि चात्मनि ॥ १ ॥

सिद्धान्तमुपक्रमते—**अत्रेति** । दु खात्यन्ताभावस्य स्वरूपतो नित्यत्वेऽपि तत्सबन्ध आत्मनि साध्य, सबन्धश्च दु खहेतूनामशेषक्लेशग्ना नाशस्तस्मिन् सति तदीयत्वव्यवहारादिति हि श्रीवल्लभेनोक्तम्, तत्र दु खहेतुनाशो दु खात्यन्ताभावस्यात्मीयतया व्यवहारे न प्रयोजको व्यभिचारादित्याह—**प्रतियोगीति** । प्रतियोगिनो दु खादेर्हेतुभूतक्लेशनाशो, न दु खात्यन्ताभावस्य तदीयत्वे प्रयोजक इति योजना । हेतु श्लोकेनाह—**लीनेति** । प्रलयावस्थाया ह्याकाशेऽधिकरणे शब्दहेतवोऽसमवायिकारणसमवायिकारणनिमित्तकारणानि च कानिचित्प्रलीनानि, अथापि शब्दात्यन्ताभावस्य नाकाशसबन्ध, नहि पूर्वोत्पन्नशब्दध्वसानुत्पद्यमानशब्दप्रागभावावन्तरेण तत्र शब्दात्यन्ताभावोऽस्ति । नच शब्दोपादानाकाशस्य निमित्तभूतेश्वरादेश्च विद्यमानत्वात्, प्रलये कथ शब्दकारणाभाव इति वचनीयम्, दु खेप्यात्मादीना सत्त्वेन हेतुनाशरूपसबन्धाभावस्यात्रापि वक्तु शक्यत्वात् । तदेवमन्वयो नास्तीत्युक्तम् व्यतिरेकोऽपि नास्तीत्याह—**रूपेति** । रूपहेत्वभावस्यात्मन्यविद्यमानत्वेऽपि रूपात्यन्ताभावव्यवहाराच्चेति श्लोकयोजना ।

जाऊँ । ऐसा प्रेम को नही देखता हू । तथा च आत्मा के सुख रूप होने पर प्रेमास्पदत्व ही नही होगा, क्योकि मुझे सुख हो इस प्राप्तव्य सुख मे प्रेम देखा जाता है । इस प्रतिज्ञा और हेतु को विरोध होगा, क्योकि सुखरूपना हेतु है, प्राप्य सुख मे, और सुखरूपता साध्य है, आत्मा मे । अत प्रतिज्ञा हेतु को समानाधिकरणता ही नही है, तो उस हेतु से सुखरूपता का अनुमान कैसे होगा, अत दु खो की निवृत्ति मुक्ति है, सुख की प्राप्ति नही । यहाँ पूर्व पक्ष समाप्त हुआ । अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि, प्रथम कहा है कि दु खात्यन्ताभाव के नित्य होते भी उसका आत्मा मे सम्बन्ध साध्य है, और अशेष क्लेशो का नाश ही सम्बन्ध है, वहाँ दु ख हेतु का नाश रूप प्रतियोगी हेतु नाश को दु खात्यन्ताभाव के आत्मसम्बन्ध का प्रयोजक (हेतु) प्रथम कहा गया है, वहाँ कहा जाता है कि—प्रतियोगी नाश को बु ख अत्यन्ताभाव के आत्मसम्बन्धित्व मे प्रयोजकत्व नही हो सकता है। क्योकि—

शब्द के हेतुओ के प्रलयकाल मे आकाश मे लीन होने पर भी शब्द के अत्यन्ताभाव की आकाश मे स्थिति नही होती है। और रूप हेतु के अभाव नाश

प्रलयदशायामशेषशब्दनिदाननाशेऽपि आकाशे न शब्दात्यन्ताभाव, पुन सर्गे तत्रैव शब्दोत्पत्ते । प्रतियोगिहेतुनाशाभावेऽप्यात्मनि रूपात्यन्ताभावव्यवहारात् । न चाभावत्वेऽपि विषयविषयिभावादिवत् ध्वसस्य सबन्धरूपता, विषयविषयिभावादेरप्यभावत्वे सबन्धरूपत्वे चासप्रतिपत्ते ।

न च विनाशस्याप्यविनाशिता, कृतकत्वात् । न च ध्वस्ताध्वस्तिप्रसङ्ग, पुरस्तादेव परास्तत्वात् । न च समारोपितप्रतियोगिकत्वे दु खात्य-

---

विवृणोति—**प्रलयेति** । उत्तरार्द्ध विवृणोति—**प्रतियोगीति** । क्लेशहेतुध्वसाभावेऽपि परमेश्वरे दु खात्यन्ताभावव्यवहाराच्च । नच तदत्यन्ताभावविवक्षा, जीवेष्वभावात् । नच ससर्गाभावमात्रविवक्षा, गगने व्यभिचारोदीरणादिति । किंच भावविशेषस्यैव सबन्धत्वप्रसिद्धे प्रतियोगिहेतुध्वसस्य सबन्धत्वमेव नास्ति । नच विषयविषयिभावादिदृष्टान्तस्तस्याप्युक्तरूपत्वे विप्रतिपत्तेरित्याह—**न चाभावत्वेऽपीति** ।

यत्तु ध्वसस्य कृतकत्वेऽपि नित्यत्वसमर्थन तद्दूषयति—**न च विनाशस्येति** । **पुरस्तादेवेति** । उत्तरोत्तरध्वसमालाया अन्यस्मिन्नपि ध्वस्तपदार्थे विरोधित्वादिति प्रागभावखण्डने कृतसमाधानत्वादित्यर्थ । यत्तु दु खात्यन्ताभावस्य सभावनोपनीततया विशेषत समारोपसिद्धदु खप्रतियोगिकत्वमुक्त तद्दूषयति—**न च समारोपितेति** । ननु समारोपितद्विरदध्वसस्यानत्यन्ताभावत्वादप्रामाणिकत्वम्, अत्यन्ता-

---

रूप प्रयोजक के आत्मा मे नही रहते भी रूप के अत्यन्ताभाव का व्यवहार आत्मा मे होता है ॥ १ ॥

अर्थात् प्रलय अवस्था मे सम्पूर्ण शब्दहेतु के नाश होने पर भी आकाश मे शब्द का अत्यन्ताभाव नही होता है, क्योकि फिर सृष्टिकाल मे उसी आकाश मे शब्द की उत्पत्ति होती है । और प्रतियोगी रूप हेतु के नाश के अभाव रहने भी आत्मा मे रूपात्यन्ताभाव का व्यवहार होता है। क्लेशहेतुध्वस के परमेश्वर मे अभाव रहते भी दु खात्यन्ताभाव का व्यवहार होता है। और क्लेशहेतु नाश को अभाव रूप होते भी विषयविषयिभाव के समान सम्बन्धत्व कहा था, वह ध्वस की सम्बन्धरूपता नही हो सकती है ।

और प्रथम क्लेशहेतु नाश की अविनाशिता कही गई है, वह अविनाशिता नही हो सकती है, क्योकि उसमे कृतकत्व है, यदि कहे कि ध्वस का ध्वस हो तो ध्वस्त प्रवियोगी की अध्वस्ति = उन्मज्जन प्रसङ्ग होगा। तो प्रथम ही इस दोष का निराकरण किया गया है कि घटादिप्रतियोगी का विरोधी जैसे ध्वस होता है, वैसे उत्तरोत्तर के ध्वस भी ध्वसप्रतियोगी के विरोधी होते है । और कहा था कि दु खाभाव का मुमुक्षु की सभावना से उपनीत विशेषप्रतियोगी रहता है, तो यह

न्ताभावस्य पारमार्थिकता, स्वप्नसमारोपितद्विरदध्वसवदस्यापि पारमार्थिकत्वानुपपत्ते । न च शशविषाणनिषेधप्रतिबन्दीग्रह, तस्याप्यविचारितरमणीयत्वात् । न च कायव्यूहनिर्माणेन जीवन्मुक्तिदशायामशेषसुखोपभोगाङ्गीकारात् समव्ययफलत्वदोषपरिहार, विदेहकैवल्ये दु खाननुभववत्सुखानुभवस्याप्यभावात् । न च सर्वकर्मफलोपभोगसभव प्रारब्धकर्मेतर-

---

भावस्य त्वय विशेष यत्प्रतियोग्यप्रामाणिकतयापि प्रामाणिकत्वम्, इतरथा शशविषाणनिषेधासभवादिति तत्राह—**न च शशेति** । समव्ययफलतामपि समर्थयते—**न च कायेति** । यद्यपि जीवन्मुक्तिदशायामेतच्छक्यपरिहारम्, तथापि विदेहकैवल्यावस्थाया दुष्परिहरमेतदित्याह—**विदेहेति** । एतेनैतदप्यपास्तम्, यदाह मानमनोहर —'योगर्द्धिसमासादितचिरकालोपभोग्यसुखविशेषपरत्वेऽप्युपपत्ते'रिति तादृशसुखस्य मुक्तावभावात् । नच जीवन्मुक्तिदशायामपि सर्वकर्मणा फलोपभोगसभव येनाधिकसुखोपभोग स्यादित्याह—**न च सर्वेति** । येन कर्मणा फल प्रारब्ध तत्कर्म प्रारब्ध कर्म । यदि हि भोगैकविनाश्यानि कर्माणि तदा ज्ञानान्निवृत्तिर्न श्रूयते, श्रूयते चातो न सर्वकर्मफलोपभोगस्तदेत्यर्थ । यत्तु ज्ञानान्निवृत्तिर्न घटत

कहना भी युक्त नही, क्योकि दु खात्यन्ताभाव के समारोपित प्रतियोगिकत्व होने पर, उसमे पारमार्थिकता नही होगी, क्योकि स्वप्न मे समारोपित हस्ती के ध्वस के समान इस दु खध्वस मे पारमार्थिकत्व की अनुपपत्ति होगी । यदि कहे कि स्वप्नहस्तिध्वस को तो ध्वसत्व ही नही रहता है । और कल्पित हो भी तो अत्यन्ताऽभाव के अभाव से अप्रमाणिकत्व रहता है । और अत्यन्ताभाव मे यह विशेष प्रभाव है कि प्रतियोगी के अप्रमाणिक होते भी अत्यन्ताभाव मे पारमार्थिकत्व होता है, अन्यथा शशविषाण का निषेध नही हो सकेगा, तो कहा जाता है कि शशविषाण के निषेध (अत्यन्ताभाव) रूप प्रतिबन्दी का ग्रहण भी (उसके असम्भवता का कथन भी) युक्त नही है, क्योकि शशविषाणात्यन्ताभाव मे अविचारित रमणीयत्व है, उसमे भी प्रामाणिकत्व नही है, क्योकि शश मे विषाण ससर्ग का निषेध माना जाता है । और योगप्रभाव से कायव्यूहनिर्माण के द्वारा जीवन्मुक्ति दशा मे अशेष सुखोपभोग के स्वीकार से जो समव्ययफलत्व दोष का परिहार = निवारण किया था, वह भी युक्त नही है, क्योकि जीवन्मुक्ति अवस्था मे कथञ्चिद् दोषपरिहार करने पर भी विदेह कैवल्यावस्था मे दु ख के अननुभव के सुखानुभव के भी अभाव से समव्ययफलत्व दोष रहता ही है । और प्रारब्ध कर्म से अन्य कर्मो की ज्ञान से निवृत्ति सुनी जाती है । अत सब कर्मों के फलो के उपभोग का सम्भव नही है । और जिन कर्मो की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त नही

कर्मणा ज्ञानान्निवृत्तिश्रवणात् । न चाकृतप्रायश्चित्ताना कर्मणा भोगैकनाश्यत्वनियम, "क्षीराक्तैराम्रपत्रैस्तु ज्वर सद्यो निवारयेत्" इत्यादिना अकृतप्रायश्चित्तानामपि ज्वरादिहेतुकर्मणा निवृत्तिस्मरणात् । न चाकृतप्रायश्चित्तत्वम्, 'एव हास्य सर्वे पाप्मान प्रदूयन्ते, एवम् 'एवविदि पाप कर्म न श्लिष्यते' इत्यादिवाक्यशेषे श्रूयमाणपापक्षयस्य रात्रिसत्रन्यायेन ज्ञानफलत्वकल्पनया सगुणासु विद्यासु दुरितक्षयकामो ब्रह्मोपासन कुर्यादिति प्रायश्चित्तविधित्वोपपत्ते ।

इत्यप्युक्तम्, तत्परिहरति—**न चाकृतेति** । तत्र हेतोरनैकान्तिकतामाह—**क्षीरेति** । अत्र हि य क्षीराभ्यक्ताम्रपत्रैर्होम नासौ प्रायश्चित्तम्, नापि भोग, अथापि निवर्त्यते ज्वरहेतुकर्म, ततो नाय नियम इत्यर्थ । नच तत्र ज्वरस्यैव कार्यस्य नाश कर्मणस्तु प्रतिबन्धमात्रमेवेति वाच्यम्, तत्कार्यस्यात्यन्तानुत्पत्तौ कर्मसद्भावे प्रमाणाभावात् । अभ्युपगम्य वेदमुक्तम्, वस्तुतस्तु कृतप्रायश्चित्तत्वमपि शक्यसपादमित्यसिद्धिमाह- **न चाकृतप्रायश्चित्तत्वमिति** । ननु पापक्षयोद्देशेनाविहितस्य कथ प्रायश्चित्तत्वावधारण तत्राह—**एवं हास्येति** । ननु वाक्यशेषे श्रूयमाणमपापश्लोकश्रवणवदर्थवाद इति तत्राह—**रात्रीति** । यथा हि 'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्यत्र विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गकल्पनाया गौरवप्रसङ्गात् कामपदविपरिणामेन प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्र कुर्यादिति कल्पित तद्वदित्यर्थ । **ज्ञानफलत्वेति** । ज्ञान प्रति फलत्वेन कल्पनयेत्यर्थ ।

किया गया हो, उन कर्मो के भोगैकनाश्यत्व का नियम नही है, क्योकि (दूध से भीगे हुए आम्र के पत्रो के हवन द्वारा ज्वर का शीघ्र निवारण करे) इस वचन के अनुसार प्रायश्चित्तरहित ज्वरादि हेतु कर्मो का विनाश कहा गया, यह होम प्रायश्चित्त रूप नही है, तो भी इससे कर्म की निवृत्ति मानी गई है । और ज्ञानी के कर्मो को अकृतप्रायश्चित्त नही रहता है । क्योकि (एव हास्य सर्वे पाप्मान प्रदूयन्ते । एव एवविदि पाप कर्म न श्लिष्यते) अग्नि मे दिया तूल के समान ज्ञानी के सब पापादि कर्म नष्ट हो जाते है । पद्मपत्र पर जल के समान ज्ञानी मे पापादि कर्म नही लिप्त होते है । इत्यादि वाक्यशेष मे श्रूयमाण पापक्षय को रात्रिसत्र न्याय से ज्ञानफलत्व की कल्पना होती है । अर्थात (प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरूपयन्ति) यहाँ (वे लोग प्रतिष्ठा पाते है कि जो इन रात्रि कर्मो का अनुष्ठान करते है) ऐसा होते भी विश्वजित न्याय से स्वर्गफल की कल्पना मे गौरवता से माना जाता है कि (प्रतिष्ठाकामो रात्रिसत्र कुर्यात्) प्रतिष्ठा की इच्छा वाला रात्रियज्ञ करे । इससे इस कर्म का श्रुत प्रतिष्ठा फल सिद्ध होता है । इसीप्रकार से श्रूयमाण पापक्षय के ज्ञानफलत्व की कल्पना से सगुण विद्याओ मे

'उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च।
प्रविश्य रजनीपाद ब्रह्मध्यान समाचारेत् ॥' इति स्मरणाच्च।
सत्येनापि शपेद्यस्तु देवाग्निगुरुसनिधौ।
तस्य वैवस्वतो राजा धर्मस्यार्द्ध निकृन्तति ॥'

इत्यादिस्मरणात्, सुकृतस्यापि भगैकनाश्यत्वनियमानुपपत्ते । 'नाऽभुक्त क्षीयते' इत्यादेरौत्सर्गिकत्वादपवाद परिहृत्यैव चोत्सर्गस्थिते । निर्गुण-ब्रह्मविद्यायाश्च सर्वकर्महेतुभूताऽविद्यानिरासिकाया अदृष्टद्वारेणैव तत्कार्य-पुण्यापुण्यनिवर्तकत्वोपपत्ते । न च कायव्यूहनिर्माणेन युगपत् सर्वकर्मफलो-

---

साक्षादेव च पापक्षयोद्देशेने ध्यानविधायिका स्मृतिरप्यस्तीत्याह—**उपपातकेष्विति**। **रजनीपादः** रजन्याश्चतुर्थभाग । नन्वस्तु दुरिते न नियम सुकृते तु भोगैकविनाश्यत्वनियमोऽस्त्येवेति तत्राह—**सत्येनापीति**। ननु तर्हि भोगैकविना-श्यत्वप्रतिपादकवचनस्य का गतिरिति तत्राह—**नाभुक्तमिति**। ननु तथापि निर्गुण-ज्ञानस्य कथ कर्मनिवर्तकत्वम् ? नहि तदुद्देशेने ध्यान विधातुमुचितमिति तत्राह—**निर्गुणेति**। नाय शास्त्रैकगम्योऽर्थ, वस्तुवृत्तेनैव तत्सिद्धे, नहि रज्जुतत्त्वज्ञानस्य भयकम्पादिनिवर्तकत्व शास्त्रमन्तरेण न बुद्धचत इति भाव । तदेव ज्ञाननिवर्त्यत्वान्न जीवन्मुक्तिदशायां सर्वकर्मफलोपभोग इत्युक्तम्। इदानीमशक्यत्वादपि न सर्वकर्म-फलोपभोगसभव इत्याह—**न च कायेति**। देहदेशादिवत्कालोऽपि सहकारी, सहस्र-सवत्सरादिपरिमितभोग्यस्य तत्र तत्र फलत्वेन श्रवणात, स च न योगीच्छामनुवर्तते,

---

पापक्षय की कामना वाला ब्रह्म की उपासना करे, इसप्रकार से प्रायश्चित्त विधित्व की सिद्धि होती है। और साक्षात् ही पापक्षय के लिये ध्यानविधायक स्मृति भी है कि—

सब पातको के, और महापातको के होने पर, उनकी निवृत्ति के लिये रात्रि के चतुर्थ भाग मे प्रवेश करके ब्रह्म का ध्यान करे। और (जो कोई देव, अग्नि और गुरु के समीप मे सत्य से भी साप देता है, शपथ करता है, उसके धर्म अर्द्धांश को धर्मराज नष्ट कर देते है।

इत्यादि स्मृति से पुण्य के भी भोगैक नाश्य के नियम की सिद्धि नही हो सकती है। और (नाऽभुक्त क्षीयते कर्म) अभुक्त कर्म नष्ट नही होता है। इत्यादि को औत्सर्गिकत्व (सामान्य शास्त्रत्व) है। और औत्सर्गिक होने से अपवाद (बाधक) के विषय को त्याग करके ही उत्सर्ग की स्थिति होती है, और सर्वकर्म के हेतु स्वरूप अविद्या के नाशक निर्गुण ब्रह्म विद्या को अदृष्ट द्वारा ही उस अविद्या के कार्य पुण्य-पाप के निवर्तकत्व सिद्ध होता है। अत सर्वकर्म विषयक भोगैक निवर्त्यत्व का नियम नही है। और कायव्यूहनिर्माण द्वारा एक काल मे

पभोगसभव, तत् तत् कल्पमन्वन्तरादिनियतकालोपभोग्याना युगपदुपभोगे तत्प्रतिपादकशास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात्। न च प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणामेव मुक्ति, येन कायव्यूहनिर्माणेन युगपदशेषकर्मफलोपभोग स्यात्, न त्वेवम्। भगवता पतञ्जलिना नियमाभावाभिधानात्––'यदा निर्धूतरजस्तमोमल बुद्धिसत्त्व पुरुषस्यान्यताप्रत्ययमात्राकार दग्धक्लेशबीज भवति, तदा पुरुषस्य शुद्धिसारूप्यमिवापन्न भवति, एतस्यामवस्थाया कैवल्य भवतीश्वर-

---

युगपदेव च तस्योपसहारे तादृशफलप्रतिपादकशास्त्रार्थपरित्यागादप्रामाण्यप्रसङ्गस्त-स्येत्यर्थ। किचाव्यापिका चेय कल्पना यत्कायव्यूहानिर्माणेन सर्वकर्मफलान्युप-भुक्तवतो मोक्ष इति, अप्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणा कायव्यूहनिर्माणाप्रवीणानामपि योगशास्त्रकृनवचनबलात्तत्तदितिहासपुराणादिगतलिङ्गावगमाच्च मुक्तिविज्ञानात्, त्वत्पक्षे च तेषाममुक्तिरेव स्यात्। नच बद्धैकस्वभावा केचन जीवा इति वचनीयम्, तथा सति तत्त्वशङ्कया सर्वेषामप्रवृत्त्यापातात्। नच शमदमविषयवैतृष्ण्याद्युपलम्भा-च्छङ्कोच्छेदेन विस्रब्धप्रवृत्तिरिति वचनीयम्, शमदमादेरपि निर्निमित्तमनुत्पत्ते सनिमित्तत्वे च तन्निमित्तानुष्ठानदशायामेवैषा शङ्का निरङ्कुशा स्यात्तदेतदखिल हृद्यालिख्याह—**न च प्राप्तेत्यादिना। यदा निर्धूतेति।** सत्त्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति विभूतिपादावमानसूत्र व्याचक्षाण परमर्षिराह—**यदेत्यादिः।** रजस्तमोलक्षणे मले निर्धूते यस्मिन् बुद्ध्याकारपरिणते सत्त्वगुणे तत्सत्त्व तथोक्तम्, अत एव पुरुषबुद्ध्योरन्यतैकाकारप्रत्ययमात्रेण परिणतम्, तथा क्लेशानविद्यादीन् प्रति दग्धो बीजभावो यस्य न पुनरकृतार्थचित्तवत्प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदारक्लेश कृतभोग-विवेकख्यातिलक्षणपुरुषार्थद्वयत्वात्, तत्तथोक्तम्, एव यदा भवति चित्तसत्त्व तदा पुरुषशुद्धिसारूप्यमिवापन्न भवति पुरुषशुद्धिसदृशशुद्धिमुद्भावयति। यथाहि पुरुष-श्चिन्मात्रतया स्वच्छ तथा सत्त्वमपि तन्मात्राकारत्वाद्भवति निर्मलतया सरूपम्,

---

सब कर्म के उपभोग का भी सम्भव नही है, क्योकि तत्तत् कल्प, मन्वन्तरादि नियत काल मे उपभोग योग्य कर्मो के एक काल मे उपभोग होने पर, नियत काल मे भोगप्रतिपादक शास्त्रो को अप्रमाणता प्राप्त होगा। और अणिमादि ऐश्वर्य (सिद्धियो) को प्राप्त करने ही वालो की ही मुक्ति होती है, ऐसा नियम नही है, कि जिससे कायव्यूह के निर्माण = सृष्टि द्वारा एक काल मे सब कर्मो के फल का उपभोग हो जाय। भगवान् पतञ्जलि ने कायव्यूहादिसिद्धि के नियम का अभाव योगसूत्र मे कहा है, और उसका भाष्यकर्ता भगवान् व्यास ने कहा है कि निर्धूत = निवृत्त रजोगुण तमोगुण वाला बुद्धिस्वरूप सत्त्व जब होता है, तब पुरुष के अन्यता = विवेक मात्र आकार वाला, तथा दग्ध क्लेश बीज वाला होता है। अतएव उस समय पुरुष की शुद्धित्वरूपता के समान शुद्धि से युक्त होता है,

स्यानीश्वरस्य वा' इति । जनकजडभरतविदुरधर्मव्याधपिङ्गलादीनामप्राप्तैश्वर्याणामपि मुक्तिस्मरणाच्च ।

न च युगपद्भोगे सहकारिसाकल्यम्, भविष्यत्तत्तत्कल्पमन्वन्तरादीना सहकारिणामिदानीमाहर्तुमशक्यत्वात् । न च प्रसक्तकण्टकादिदु खनिवृत्तिवन्मुक्तौ दु खनिवृत्तेर्वर्तमानतया साक्षात्कारसभव, अप्राप्तैश्वर्यस्यापि मुक्तिप्रतिपादनेन तदसभवस्योपपादितत्वात् । न च दु खाभाव स्वतन्त्रतया पुरुषार्थ, सुखाभिव्यक्तिशेषत्वात् । न च विपरिवृत्तिप्रसङ्ग, विकल्पासह-

---

अथ कैवल्य भवति कस्य ईश्वरस्य पूर्वोक्तसयमविशेषैर्ज्ञानक्रियाशक्तिमत, अनीश्वरस्य वा चक्षुरन्त करणयो सबन्धसयमाद्विवेकजज्ञानमित्यनन्तरोक्तसयमाद्विवेकजज्ञानवत ? इतरस्य वा उत्पन्नविवेकख्यातेरिति तदिहाप्राप्तैश्वर्यस्यापि इतरवदेव मुक्ति शास्तीत्यर्थ ।

यत्तु युगपदुपभोगे सहकारीसाहित्यात्समानविपाकतेति तत्राह—**न च युगपदिति ।** यत्तु यावत्सत्त्वमननुभूयमानत्वेऽपि कण्टकादिदु खनिवृत्तिवदशेषदु खनिवृत्तेरप्यनुभवमात्रात् पुरुषार्थत्व सभवति योगर्धिसामर्थ्याच्च सकलदु खाभावानुभवसभव इति तदप्युक्तन्यायेन परिहरति—**न च प्रसक्तेति ।** नन्वत्राप्युक्त वैपरीत्य किं न स्यादिति तत्राह—**न च विपरिवृत्तीति ।** यदिद दु खाभावशेषत्व सुखस्य तत्कि

इस अवस्था मे ईश्वर (अणिमादि ऐश्वर्य वाला) या अनीश्वर, दोनो को कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है। और जनक, जडभरत, विदुर, धर्मव्याध, पिङ्गला आदि ऐश्वर्य रहितो को भी मुक्ति स्मृति मे कही गई है ।

और जो कहा था कि युगपद् भोग मे सहकारी के सहाय से कर्मो मे समान विपाकत्व (एकफलवत्ता) होती है, वहाँ कहा जाता है कि युगपद् भोग मे सहकारी की सकलता (पूर्णता) नही हो सकती है, क्योकि तत्तत् कल्पमन्वन्तरादि रूप सहकारियो को इदानीम् = इस समय, आहरण (प्राप्त करना) शक्य नही है। और जो कहा था कि दु खध्वस के यावत् सत्त्व अनुभव नही होने पर भी प्रसक्त कण्डकादि दु ख की निवृत्ति के समान योगसामर्थ्य से मुक्ति मे दु खनिवृत्ति की वर्तमानता से उसके साक्षात्कार का सम्भव है। यह कहना सम्भव नही। क्योकि पतञ्जलि आदि के वचनो के अनुसार ऐश्वर्यरहित की मुक्ति के प्रतिपादन से उस दु खध्वस के साक्षात्कार के असम्भव का भी उपपादन हो चुका है। और सुखाभिव्यक्ति (प्राकटच) का शेष (अङ्ग साधन) होने से दु खाभाव स्वतन्त्र पुरुषार्थ नही हो सकता है। यदि कहे कि विपरीतवृत्ति प्रसङ्ग होगा = अर्थात् दु खाभाव का सुख अङ्ग है, ऐसी कल्पना भी हो सकेगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि आपका कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि सुख दु खाभाव का अङ्ग कैसे है।

त्वात्। कि सुख दु खाभावस्योत्पादकम् ? उताभिव्यञ्जकम् ? नोभयथापि, आत्मनि समस्तदु खाभावमनुभवतोऽप्यकस्मादुपनतविपञ्चीस्वरश्रवणादौ सुखोत्पत्ते। न च सतापवत शीतह्रदे निमग्नार्धकायस्य सत्येव दु खे सुखोपलम्भात्, न दु खाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषतेति वाच्यम्, सुखस्य दु खाभावैकाभिव्यङ्ग्यत्वनियमानभ्युपगमात्, अनुभूयमानो दु खाभाव सुखमभिव्यनक्त्येवेति नियमात्।

ननु वैषयिकसुखस्य कण्टकादिनिवृत्तावननुभवात्, आत्मनश्च सुखरूप-

तदुत्पादकतया ? तदभिव्यञ्जकतया वा ? इति विकल्प्योभयथापि व्यभिचारमाह—**आत्मनीति। विपञ्ची** वीणा। नहि विद्यमान एव दु खाभावो वीणापणवादिनिनादैरुत्पाद्यते अनुभूयमान एव वाभिव्यज्यत इत्यर्थ। ननु दु खाभावस्य सुखप्रतिपत्तिशेषताप्युक्ता दु खानुभवसमयेऽपि सुखानुभवदर्शनादिति तत्राह—**न च संतापवत इति।** मूर्च्छादौ सुखानुभवप्रसङ्गवारणायोक्तम्—**अनुभूयमान इति।**

स्यादेतत्—यदिद दु खाभावेनाभिव्यङ्ग्यतयाभिमत सुखम्, तत् किं वैषयिकम् ? उत स्वाभाविकम् ? नाद्य, कण्टकादिदु खनिवृत्तिसमये चन्दनवनितादिसेवाऽभावेन तत्सुखस्य तदानीमभावात्। न द्वितीय, तत्र प्रमाणाभावादिति शङ्कते—**नन्विति।**

क्या दु खाभाव का उत्पादक सुख है, या अभिव्यञ्जक है। दोनो प्रकार का सम्भव नही है। क्योकि अपनी आत्मा मे समस्त दु खो के अभाव को प्रथम से अनुभव करने वाले को भी अकस्मात् विपञ्ची = वीणा के स्वर श्रवणादि मे सुख की उत्पत्ति = अभिव्यक्ति होती है। वह पूर्वकाल से ही वर्तमान दु.खाभाव का न उत्पादक होता है, न व्यञ्जक हो सकता है। यदि कहे कि सताप वाला जो मनुष्य शीत तालाव मे निमग्न (प्रविष्ट) अर्ध शरीर वाला है, उसके कटि से ऊपर तापजन्य दु.ख के रहते भी नीचे सुख का ज्ञान होता है। अत दु खाभाव को सुख के ज्ञान मे अङ्गत्व नही हो सकता है, क्योकि वहाँ दु ख का अभाव नही है, तो भी सुख का अनुभव होता है, तो ऐसा कहना युक्त नही। क्योकि एक दु खाभाव मात्र ही से सुख के अभिव्यङ्ग्यत्व के नियम को नही माना जाता है कि दु खाभाव मात्र से ही सुख की अभिव्यक्ति होती है, अत वहाँ शीत स्पर्श से भी अर्द्ध काय मे सुख की अभिव्यक्ति मे कोई विरोध नही है, यह नियम माना जाता है कि अनुभूयमान दु खाभाव सुख को अभिव्यक्त करता ही है।

यहाँ शका होती है कि दु खाभाव किस सुख का अभिव्यञ्जक है, विषयजन्य सुख का या आत्मसुख का अभिव्यञ्जक है, उभयथापि व्यञ्जकता नही सिद्ध होती है, क्योकि कण्टकादि जन्य दु खो की निवृत्ति होने पर विषयजन्य सुख का अनुभव नही होता है। और आत्मा के सुखस्वरूपत्व का ज्ञान नही होता है। अत.

त्वासप्रतिपत्तेर्न दु खाभावस्य सुखाभिव्यक्तिशेषतेति चेत्, न, आत्मन सुख-रूपत्वस्यानन्तरमेव निवेदयिष्यमाणत्वात् । प्रयोगश्चासमीचीन , वेदान्तिन प्रति हेतोरसिद्धत्वात्, दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनविकलत्वात्, आकाश-स्यापि प्रलये लयाभ्युपगमात् । अस्तु तर्हि 'दु खसततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सततित्वात् प्रदीपसततिवत्' इति किरणावलीकारप्रयोग इति चेत्, न, पार्थिवपरमाणुरूपादिसताने त्वन्मते व्यभिचारात् । ननु सर्वमुक्तौ सापि सतति उच्छिद्यते, धर्माधर्माख्यनिमित्तस्य सुखदु खोपभोगलक्षणप्रयोजनस्य

यत्तु लीलावतीकारानुमान तद्दूषयति—**प्रयोग इति** । निर्गुणात्मवादिनो वेदान्तिनो हेतुरसिद्ध इत्यर्थ । साधनवैकल्य सुबोधम् । आश्रयहीनश्च दृष्टान्त । **अत्यन्तमुच्छिद्यत इति** । दु खप्रागभावासमानकालीनध्वसप्रतियोगिनीत्यर्थ । प्रलयावस्थाया दु खसन्ततेरुच्छेदस्वीकारात् सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमत्यन्तग्रहणम् । **पार्थिवेति** । तत्र हि सन्ततिरवमस्ति, नचात्यन्तोच्छित्ति सर्गान्तरेषु रूपाद्युत्पत्ते-रित्यर्थ । अत्र तदीयमेव परिहार समुद्भावयति—**नन्विति** । यदा हि सर्वेषा मुक्तिरिति पक्ष तदा क्रमेण सर्वेषु मुक्तेषु सत्सु निमित्तप्रयोजनयोरभावात् साप्यत्यन्त-मुच्छिद्यत इत्यर्थ । स्यादेव यद्येवमेव सर्वतार्किकाणा समति , सैव तु नास्तीत्याह—

दु खाभाव को सुखाभिव्यक्ति की शेषता (अङ्गता) नही हो सकती है, यह यदि सुखाभिव्यक्ति का जनक होता तो कण्टक दु ख के निवृत्त होते ही सुख अभिव्यक्त होता, यह नही होता है । यह शका यहाँ युक्त नही है, क्योकि आत्मा के सुख स्वरूपत्व को आगे अनन्तर मे ही निवेदन (प्रतिपादन) करना है, और कण्टकादि दु खो की निवृत्ति होने पर शान्तिस्वरूप आत्मसुख की अभिव्यक्ति होता ही है । और प्रथम जो प्रयोग किया था कि (आत्मा, कभी ध्वस्ताशेष गुणवाला रहता है । नित्य होता हुआ अनित्यविशेष गुण का आश्रय होने से, महाप्रलय कालिक आकाशवत्) यह प्रयोग समीचीन (सत्य) नही है । क्योकि वेदान्ती के प्रति हेतु असिद्ध है, आत्मा मे विशेषगुणाश्रयत्व नही है । और दृष्टान्त को भी साध्य-विकलत्व है, क्योकि आकाश का भी प्रलय मे लय माना जाता है । यदि कहा जाय कि (दु ख सन्तति, अत्यन्त विच्छिन्न होती है । सन्तति होने से, दीपसन्ततिवत्) यह किरणावलीकार का प्रयोग माना जाय । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि पार्थिव परमाणुवृत्ति रूपादि के सन्तान मे आपके मत मे व्यभिचार होना है, क्योकि सन्ततित्व रहना है, और उच्छेद नही होता है । सर्गान्तर मे फिर उनमे रूपादि उत्पन्न होते है । यदि कहे कि सब की मुक्ति होने पर पार्थिव परमाणुगत रूपादि सतति भी नष्ट हो जाती है, क्योकि सब की मुक्ति होने पर, सुख-दु ख के उपभोग रूप प्रयोजन वाले धर्माधर्म नामक निमित्त का भी अभाव हो जाता है अत

चाभावादिति चेत्, मैवम्, सर्वमुक्त्यनङ्गीकारवादिन प्रति एव पर्यनुयोगायोगात्, कन्दलीकारलीलावतीकारप्रभृतिभि कैश्चिद्वैशेषिकविशेषै सर्वमुक्तेरनङ्गीकारात्, केषाञ्चिदात्मना ससार्येकस्वभावताङ्गीकारात्। न चैव सति सर्वेषा तथात्वशङ्कया मोक्षसाधनाननुष्ठानप्रसङ्ग, शमदमोपरमतितिक्षादिना मुमुक्षुचिह्नेन श्रुतिसिद्धेन तथात्वशङ्कानिवृत्ते ।

वक्रानुमान पुन सिद्धसाधनत्वादुपेक्षणीयम्, न हि मुक्तस्य दु खनिवृत्तौ कश्चिद्विप्रतिपद्यते । तृतीयमपि मोक्षलक्षणमसभवित्वदोषेण निरसनीयम्, योगप्रभावनियमनिराकरणात्, अनागतदु खध्वसस्य साक्षात्कर्तुमशक्यत्वात्, चरमदु खध्वसदशाया विज्ञानस्यापि विशेषगुणस्योच्छेदस्याङ्गीकारात् ।

मैवं सर्वेति । ननु तर्हि कस्यापि मुक्त्यर्था प्रवृत्तिर्न स्यात्सर्वेषामात्मानि बद्धैकस्वभावत्वशङ्कयेति तत्र श्रीवल्लभीय परिहारमाह—**न चैवमिति** ।

सिद्धसाधानतामेव विशदयति—**न हीति** । ज्ञानाजनकसस्कारेत्यादिपक्ष दूषयति—**तृतीयमपीति** । चरमदु खध्वस किमनागत साक्षात्क्रियते ? किंवा वर्तमान ? नाद्य, योगप्रभावनियमनिरासेनानागतसाक्षात्कारनियमनिराकरणादित्याह—**योगेति** । द्वितीये प्राह—**चरमेति** । तन साक्षात्कारविषयो दु खध्वस इत्यशोऽसभवीत्यर्थ । या तु दु खनिवृत्तिमात्रमेव मोक्ष इत्यत्र श्रुतिरुदाहृता,

---

सृष्टि नही होती है, इससे रूपादि सतति का भी अभाव ही हो जाता है, तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि सर्वमुक्ति को नही मानने वालो के प्रति ऐसी पर्यनुयोग (जिज्ञासा प्रश्न) का होना युक्त नही है । और कन्दलीकार, लीलावतीकार आदि कोई वैशेषिक विशेषो से सर्वमुक्ति मानी नही गई है । और किसी आत्माओ की ससारी एकस्वभावता को मानते है । यदि शका हो कि ऐसा होने पर सब आत्मा को ससारी एकस्वभावता की शका से मोक्षसाधन के अनुष्ठान मे किसी की प्रवृत्ति नही होगी, अत मोक्षसाधन का अनुष्ठान प्राप्त होगा । तो यह शका युक्त नही, क्योकि शम, दम, उपरति, तितिक्षादि श्रुतिसिद्ध मुमुक्षु के चिह्नो से ये सारी स्वभावता की शका निवृत्त हो जाती है।

वक्र मत से जो अनुमान किया था कि (यह देवदत्त, स्ववृत्ति दु ख समान कालिक दु खध्वस से भिन्न दु खध्वस वाला है, दुखी होने से चैत्रवत्) यह अनुमान सिद्धसाधनता से उपेक्षणीय है । क्योकि मुक्त की दु ख निवृत्ति मे किसी की विप्रतिपत्ति (विरोध) नही है । और (ज्ञान का अजनक जो सस्कार, उस सस्कार का जनक और साधनजन्य जो अन्तिम साक्षात्कार उसका विषयस्वरूप दु खध्वस मोक्ष है । यह तृतीय मोक्षलक्षण भी असम्भावित्व दोष से निरसनीय है, क्योकि योगप्रभाव नियम के निराकरण से अनागत दु खध्वस को साक्षात् करना

प्रियस्पर्शनिषेधश्रुतिस्तु वैषयिकसुखनिषेधपरा, अन्यथा 'एषोऽस्य परमानन्द', 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति सुखरूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्। न चासामुपचरितार्थत्वम्, मुख्यार्थे बाधकाभावात्। न च नित्यसुखस्यानुपलब्धिर्बाधिका, नित्यज्ञानवदुपपत्ते। सुखस्य विषयेन्द्रियादिजन्यत्वव्याप्तेश्च ज्ञानेच्छादेर्जन्यत्वव्याप्तिवदेव निरसनीयत्वात्, श्रुत्यवष्टम्भेन नित्यत्वा-

तामन्यथयति—**प्रियस्पर्शेति**। मुक्तिदशायामानन्दप्रतिपादकश्रुतिराशेर्मुख्यार्थप्रच्यवनेनोपचरितार्थत्वकल्पनाद्वर प्रियस्पर्शनिषेधस्य वैषयिकप्रियस्पर्शतया सकोचमात्रत्वमिति भाव। **नित्यज्ञानेति**। यथाहि जीवज्ञानेच्छाप्रयत्नानामनित्यत्वेऽप्यैश्वरज्ञानादेर्नित्यत्वमिन्द्रियादेर्हेतुजातस्य च न ज्ञानादिमात्र प्रति व्याप्ति, किंतु तद्विशेष प्रतीति भवद्भि कल्प्यते, तत्कस्य हेतो? याग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरभावात्, अनन्यथासिद्धश्रुतिसमर्पितत्वाच्च, तथात्रापि स्वरूपभूतसुखस्य नित्यत्वेऽप्यविद्यावृततया

अशक्य है, चरम दु खध्वसावस्था मे विज्ञान रूप विशेष गुण के उच्छेद को भी माना जाता है, अत सर्व दु खध्वस का अनुभव हो नही सकता है। और जो कहा था कि दु खनिवृत्ति मात्र ही मोक्ष है, क्योकि ज्ञानी मे सुखस्पर्श का भी श्रुति ही निषेध करती है, यह कहना युक्त नही, क्योकि वह प्रिय स्पर्श निषेधविषयक श्रुति वैषयिक = विषयजन्य सुख निषेधपरक है। अन्यथा यदि सब सुख को निषेधपरक माना जाय तो (एषोऽस्य परमानन्द। यो वै भूमा तत्सुखम्) इस सुखरूपता के प्रतिपादक श्रुतियो से विरोध होगा। इन श्रुतियो को उपचरितार्थत्व = गौणार्थत्व नही हो सकता है, क्योकि मुख्यार्थ मे बाधक का अभाव है। यदि कहे कि नित्य सुख की अनुपलब्धि ही सुखरूपता रूप मुख्यार्थ मे बाधक है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अनुपलब्ध ईश्वर के नित्य ज्ञान के समान श्रुति से नित्य सुख की भी सिद्धि होती है। ईश्वर के नित्य ज्ञानादि को इन्द्रियो से प्रत्यक्ष नही किया जा सकता है, तो भी श्रुतिमूलक अनुमान से उसका स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार से इन्द्रियो का अविषय नित्यानन्द मन्तव्य है। और सुख के इन्द्रियजन्यत्व की व्याप्ति को ज्ञानेच्छादि के जन्यत्व की व्याप्ति के समान निराकरण करना चाहिये। अर्थात् जीव के ज्ञानेच्छादि के अनित्य होते भी श्रुति और योग्यता बल से जैसे ईश्वर के ज्ञानादि को नित्य माना जाता है, अनुपलब्धि रहते भी उनका अभाव नही माना जाता है, इसीप्रकार से वैषयिक सुख के अनित्य होते भी उससे भिन्न स्वरूप सुख को नित्यत्व है, और स्वरूप सुख मे नित्यत्व होते भी अविद्या से आवृत्त होने के कारण ससारदशा मे उसकी उपलब्धि नही होती है। विद्या से दु ख आदि के नाश से उस स्वरूप सुख की अभिव्यक्ति होती है। और उक्त व्याप्ति का इसलिये भी निराकरण करना चाहिये कि जिससे श्रुति के अवलम्ब द्वारा

ङ्गीकारस्योभयत्रापि तुल्यत्वाद्विषयाद्यभावेऽपि सुप्तोत्थितस्य सुखमहमस्वाप्समिति सुखपरामर्शदर्शनाच्च । न च दु खपरामर्शस्यापि सत्त्वान्नित्यदु खरूपत्वमपि तुल्यमिति वाच्यम्, नित्यदु खरूपतायामात्मन परमप्रेमास्पदत्वव्याकोपात । न च दु खाभावे व्यभिचारादिदमसाधनमिति वाच्यम्, तस्य सुखशेषतया परमप्रेमास्पदत्वाभावात् ।

परमप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यात्मन सुखरूपत्वे प्रमाणम् । आत्मन प्रेमास्पदताया न कस्यचिद्विवाद, मा न भूव भूयासमित्यात्मन्याशिषो लौकिकपरीक्षकसमतत्वात् । न चेयमाशी शरीरोपघातजन्मनो दु खाद् बिभ्यतो न पुनरात्मानमानन्द मन्यन्मानस्येति युक्तम्, शरीरोपघातजन्मनो

ससारदशायामुपलब्धुमयोग्यत्वात् श्रुतिबलाच्च नापलापसभव इति खण्डलकार्थ । अपि चोपलभ्यत एव ससारदशायामपि नित्यसुखमित्याह—**विषयाद्यभावेऽपीति ।** या त्वत्रातिप्रसक्तिरुक्ता, ता परिहरति—**न चेति ।** परप्रेमास्पदत्वमेव दु खरूपताया न घटत इत्यर्थ । अत्र यदुक्तम्—दु खाभावेऽपि परप्रेम्णो दर्शनान्न सुखरूपतासाधक परप्रेमाम्पदत्वमिति, तत्राह—**न च दुःखेति ।** निरुपाधिकत्व हि प्रेम्ण परत्व नाम, तथाच सुखशेषदु खाभावे कथ परत्वमित्यर्थ ।

एव परामर्शान्यथानुपपत्त्या सुखरूपत्वमुक्तम, सप्रति परप्रेमास्पदत्वानुपपत्तिरप्यत्र प्रमाणमित्याह—**परमप्रेमेति ।** इदानी परप्रेमास्पदत्वस्यैव कल्पक साधयति—**आत्मन इत्यादिना । शरीरेति ।** शरीरस्य य उपघात हिंसा तज्जन्य यद् दुख

नित्यत्व की स्वीकृति को ज्ञान और सुख दोनो मे तुल्यत्व है । और विषयादि के अभाव रहते भी सुप्तोत्थित के सुखपूर्वक मै सोया था । इस प्रकार का सुख का स्मरण देखा जाता है । जो कहा था कि दु ख परामर्श के भी सत्त्व से नित्य दु ख रूपत्व की प्राप्ति भी तुल्य ही है । यह कहना युक्त नही । क्योकि नित्य दु खरूपता मे आत्मा के परम प्रेम विषयत्व का विरोध होता है, दु ख स्वरूप मे परम प्रेम विषयत्व नही हो सकता है, यदि कहे कि दु खाभाव मे इस परम प्रेमास्पदत्व का व्यभिचार है, अत यह आनन्दरूपता साध्य का साधन नही है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि उस दु खाभाव की सुखानुभव के शेष (अङ्ग) होने से उसमे परम प्रेमास्पदत्व का अभाव रहता है । (श्रुति, स्मृति आदि तो आत्मा के सुखरूपता मे प्रमाण है ही) ।

परम प्रेम के आस्पदत्व की अनुपपत्ति भी आत्मा के सुखरूपत्व मे प्रमाण है । क्योकि आत्मा के परम प्रेम विषयता मे किसी का विवाद नही है । मै नही रहू, ऐसी अवस्था नही हो, किन्तु मै रहूँ, ऐसी स्थिति हो । इसप्रकार के आत्मविषयक आशिष, लौकिक परीक्षक सब को सम्मत है । यदि कहा जाय कि यह

भयस्याप्यात्मन प्रेमास्पदत्वमन्तरानुपपत्ते, न हि दु ख दु खतया भयहेतु-रन्यगतस्यापि तथाभावप्रसङ्गात्। 'तदेतत्प्रेय पुत्रात्' इति प्रेमास्पदत्व-श्रुतेश्च। न च दु खाभावतयात्मन प्रेमास्पदत्वम्, भावरूपत्वात्। नापि तदाश्रयतया, दु खदशायामप्यात्मनि प्रेमोपलम्भात्। नापि तत्साधनतया, साधने प्रेम्णो निरुपाधिकत्वासभवात्। अत एव न सुखसाधनतयापि सुख-स्याप्यात्मार्थतया प्रेमास्पदत्वात्। अत सकललौकिकवैदिकसुखगोचर-

---

तद्भयादेवेय प्रार्थनेत्यर्थ। ननु दु खस्वभावादेव भयजन्मेति तत्राह—**नहि दुःख-मिति**। परप्रेमास्पदत्वे श्रुतिमप्याह—**तदेतदिति**। तदेतदात्मतत्त्व पुत्रादपि प्रियतममित्यादि बृहदारण्यकश्रुतेरर्थ। भवतु तर्हि दु खाभावत्वादिति तत्राह—**न च दुःखेति**। अस्तु तर्हि दु खाभावाश्रयतयेति नेत्याह—**दुःखेति**। **तत्साधनतयेति** दु खाभावसाधनतयेत्यर्थ। **अत एव** निरुपाधिकत्वादित्यर्थ। **सुखस्यापीति**। तथापि कथ निरतिशयत्वमित्यत आह—**अत इति**। अप्रकाशमानस्य पुरुषार्थत्व न

आशिष शरीरघात = नाशजन्य दु ख से डरने वालो की होती है। आनन्दस्वरूप आत्मा को मानने वाले को नही, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि शरीरनाश-जन्य भय की भी आत्मा के प्रेमास्पदत्व के बिना अनुपपत्ति है। क्योकि दु ख होने ही से (स्वभाव से) ही भय का हेतु नही है, किन्तु स्वसम्बन्धी रूप से भय का हेतु है, अन्यथा = स्वरूप से भय का हेतु हो तो अन्यगत दु ख को भी भयहेतुत्व प्राप्त होगा। अर्थात् शरीर मे भी आध्यासिक आत्मत्व से ही प्रेम होता है, और प्रेम होने ही से (मा न भूव भूयासम्) ऐसी भावना होती है। यद्यपि यह अभिनिवेश नामक अविद्या का स्वरूप है, तथापि आत्मा की आनन्दरूपता मे प्रमाण रूप है। और आत्मसम्बन्ध से ही पुत्रादि मे भी प्रेम होता है, इसीसे परम प्रेम का विषय आत्मा ही है, यह श्रुति कहती है कि (तदेतत्प्रेय पुत्रात्) यह पुत्र से अतिप्रिय है। दु खाभावरूपता से आत्मा को प्रेमास्पदत्व होता है, यह नही कह सकते है, क्योकि सत्यतादि के बोधक श्रुति आदि से तथा सर्वानुभव से सिद्धभाव स्वरूपत्व आत्मा मे है। दु खाभाव के आश्रय होने से आत्मा मे प्रेम होता है, यह भी नही कह सकते है, क्योकि दु खावस्था मे भी प्रेम का ज्ञान होता है। दु खाभाव की साधनता से भी आत्मा मे प्रम नही कहा जा सकता है, क्योकि साधन मे निरूपाधिक (स्वाभाविक) प्रेम का होना असम्भव है। अतएव = स्वाभाविक होने से, सुख-साधनता निमित्तक भी आत्मा मे प्रेम नही होता है, क्योकि सुख को भी आत्मार्थ-कता से प्रेमास्पदत्व होता है। अत सब लौकिक, वैदिक सुखविषयक प्रेम से भी अतिशय = उत्तम प्रेम स्वात्मा मे होता है। लौकिक, वैदिक सुख भी आत्मस्वरूप सुख की ही अभिव्यक्ति रूप वैषम्य युक्त रहते हैं। स्वरूप सुख निरतिशय रहता है,

प्रेम्णोऽतिशयो स्वात्मनि प्रेमा, निरतिशयसुखगोचरप्रेमसमान एवात्मन्यव-कल्पत इत्यर्थापत्त्याऽऽत्मनो निरतिशयसुखस्वभावत्वसिद्धि । प्रयोगश्च--

कुम्भ कुम्भेतराचित्कासुखान्यान्य प्रसाध्यताम् ।
कुम्भत्वेन यदित्थ तत्तथा कुम्भान्तर यथा ॥ २ ॥

कुम्भोऽयमेतदितरानात्मासुखान्यान्य कुम्भत्वात्सप्रतिपन्नकुम्भवत् । न च कुम्भोऽयमेतदितरानात्मादु खान्यान्य कुम्भत्वात्सप्रतिपन्नकुम्भवदित्या

सभवतीत्यत उक्तम—**समान इति** । आत्मस्वरूपसुखसद्भावे अनुमानमप्याह—**कुम्भ इति** । अत्र कुम्भविशेष पक्ष ।

श्लोक विवृणोति—**कुम्भोऽयमिति** । अय कुम्भ एतत्कुम्भेतरत्वे सत्यनात्मत्वा-सुखत्वानधिकरणादन्य कुम्भत्वात्कुम्भान्तरवदित्यर्थ । अत्र च सुखत्वानधिकरणादन्य इत्युक्ते सुखादन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थमनात्मासुखान्यान्य इत्युक्तम्, तथा चाप्रसिद्ध-विशेषणता, अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणस्यैकस्यासप्रतिपत्तेर्नह्यात्मरूप किंचित्-सप्रतिपन्नमस्ति मुख प्रतिवादिन । तस्मादप्रसिद्धविशेषणतापरिहारार्थमेतदितरेत्यु-क्तम । एतत्कुम्भेतरत्वेन कुम्भान्तरे साध्यप्रसिद्धि । अस्य हि कुम्भस्यानात्मत्वासुख-त्वाधिकरणत्वेऽप्येतदितरत्वे सति तदधिकरणत्व नास्त्येव, एतस्यैवैतदितरत्वा-भावात् । पक्षे त्वेतदितरत्वे सत्यनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वम्, एतदितरत्वानधि-करणत्वाद्वा ? अनात्मत्वासुखत्वानधिकरणत्वाद्वा ? प्रथमे व्याहति, नह्येतस्माद-स्यान्यत्व सभवति । द्वितीये त्वेतदतिरिक्तमनात्मत्वासुखत्वानधिकरण किंचिदादाय तदन्यत्वसिद्धिरित्यात्मरूपसुखसिद्धि । नन्वाभाससमानयोगक्षेमोऽयमात्मस्वरूपभूत-

---

अत निरतिशय सुखस्वरूप विषयक प्रेमसमान = एक रस आत्मा ही मे सिद्ध होता है, अन्यत्र नही । इसप्रकार से अर्थापत्ति द्वारा आत्मा के निरतिशय सुख-स्वभावत्व = स्वरूपत्व की सिद्धि होती है । अनुमान भी प्रमाण है कि—

कुम्भ, कुम्भ से भिन्न अचेतन सुख = विषयजन्य सुख से भिन्न, चित्स्वरूप सुख से भिन्न है, ऐसा साधन करना चाहिये । कुम्भ होने से, जो इसके समान है, वह भी उक्त साध्य वाला है जैसे कि कुम्भान्तर है ॥ २ ॥

यहाँ कुम्भान्तर मे तो, पक्ष कुम्भ से भिन्न जो अचेतन सुख उससे भिन्न पक्ष रूप कुम्भ से भिन्नता से ही साध्य की प्रसिद्धि हो जाती है । पक्ष मे चित्स्वरूप सुख को मानने पर ही साध्य की सिद्धि होती है । अर्थात् (यह कुम्भ, इससे भिन्न अनात्म सुख से भिन्न से भिन्न है, कुम्भ होने से, निश्चित कुम्भ के समान) । यदि कहे कि (यह कुम्भ, इस कुम्भ से अन्य अनात्म दु ख = ससार दु ख से अन्य, चित्स्वरूप दु ख से अन्य है, कुम्भ होने से, निश्चित कुम्भवत्) इस आभास अनुमान के समान योगक्षेम वाला पूर्व अनुमान है, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि इस

भाससमानयोगक्षेमता, तस्यागमार्थापत्तिबाधितविषयतयानुत्थानात्। किंच सुखप्रेम्णो सबन्ध आत्मनिष्ठ सुखनिष्ठत्वात्सप्रतिपन्नलक्ष्यत्वादिवत्। न च सुखनिष्ठोत्कर्षापकर्षादिधर्मैरनेकान्तता, तेषा वेदान्तिभि सुखनिष्ठतानङ्गीकारात् तत्प्रतीतेरौपाधिकत्वाभ्युपगमात्। न चेदृशसबन्धोऽनात्मनिष्ठ प्रेमनिष्ठत्वात्सत्तादिवदिति सप्रतिसाधनता, प्रेमनिष्ठतयैव सिद्धसाधनत्वादनात्मनिष्ठ एवेति तु साधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता। सत्तादेरात्माना-

---

दु खस्यापि कस्यचिदेव शक्यसाधनत्वादिति तत्राह—**न चेति**। आगम आनन्दरूपताप्रतिपादकस्तदेतत्प्रेय इति। अर्थापत्तिश्च परप्रेमास्पदत्वानुपपत्ति, स्वापोत्थितपरामर्शान्यथानुपपत्तिर्वा। सुखरूपतायामनुमानान्तरमप्याह—**किंचेति**। इद हि सुखरूपता प्रेमरूपता चात्मन साधयति। तत्रापि प्रेमरूपतोभयवादिविप्रतिषिद्धेति सुखरूपतासिद्धि। ननु 'ते ये शत'मिति श्रुतौ मानुषानन्दमारभ्योत्तरोत्तरोत्कर्ष श्रूयते, प्रतीयते च प्रत्यात्ममनुभवेन सुखस्य तारतम्यमिति, तत्राह—**तत्प्रतीतेरिति**। शुभकर्मोपस्थापितविषयविशेषसपर्कान् सत्त्वप्रधाना येऽन्त करणपरिणामास्ते हि ससारदशाया स्वाभाविकानन्दाभिव्यञ्जका, तदवच्छेदाद्विषयतारतम्याच्चेदमानन्दे तारतम्यमध्यस्यत इत्यर्थ। ननु नानात्मनिष्ठत्वमात्रमत्र साध्य येन प्रेमलक्षणानात्मानमादायार्थान्तरता, किंत्वनात्मनिष्ठ एवेति तथाच तदाधारसुखस्याप्यनात्मत्व सिद्धचतीति तत्राह—**अनात्मेति**। पूर्वपक्ष्यनुशय परिहरति—**न चेति**। नच स्वप्रकाशस्य तिरोधानमेव न सभवतीति वाच्यम्, मतद्वयेऽपि व्याप्तचसिद्धे। यत्तु प्रेमास्पदत्वमेव सुखरूपत्वेन स्यात् सुखैकस्याप्रार्थनीयत्वादिच्छाया आत्मरूपस्योभया-

---

आभास अनुमान का विषय आगम और अर्थापत्ति से बाधित है, अत इसका उत्थान नही हो सकता है। अत समान योगक्षेमता नही होती है। आत्मा की सुखरूपता मे अन्य भी अनुमान है कि (सुख और प्रेम का सम्बन्ध, आत्मनिष्ठ है, सुखनिष्ठ होने से, निश्चित लक्ष्यत्वादि के समान) यदि कहा जाय कि सुखवृत्ति उत्कर्ष, अपकर्षादि द्वारा अनैकान्तिकता होगी, क्योकि सुखनिष्ठत्व हेतु उत्कर्षादि मे भी रहता है, और उत्कर्षादि मे आत्मनिष्ठत्व साध्य नही रहता है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि उन उत्कर्ष, अपकर्ष आदि की सुखनिष्ठता वेदान्ती नही मानते है, सुख मे उत्कर्षता आदि प्रतीति को औपाधिक मानते है, उपाधि से ही मनुष्य से ब्रह्मा पर्यन्त के सुखो मे भेद कहा गया है। यदि कहे कि (ईदृश सम्बन्ध = सुख प्रेम का सम्बन्ध, अनात्मनिष्ठ है, प्रेमनिष्ठ होने से, सत्ता के समान) इस प्रकार से पूर्वानुमान मे सत्प्रतिपक्षता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि प्रेमनिष्ठता से ही सिद्ध साधनता है। और अनात्मनिष्ठ ही सुख प्रेम का सम्बन्ध है, ऐसा साधन करें कि जिससे सुख मे अनात्मत्व सिद्ध हो, तो दृष्टान्त को साध्यविकलता प्राप्त होती

त्मनिष्ठत्वस्य परैरङ्गीकारात् । न च नित्यसुखरूपत्वे मुक्तिससारयोर-विशेषप्रसङ्ग , तस्याविद्यातिमिरतिरोधानातिरोधानाभ्या विशेषोपपत्ते । न चात्मन सुखरूपत्वे सुख मे स्यादिति प्रेमानुपपत्ति , सबन्धव्यपदेशस्यान्य-निष्ठताव्यावृत्तिपरत्वात् । अन्यासबन्धिसुखसाक्षात्कारे सत्यपि सबन्धा-भावापराधेनापुरुषार्थत्वानुपलब्धे । सबन्धस्य केवलव्यतिरेकाभावात् ।

नभिमतत्वादित्युक्तम्, तत्परिहरति—**न चात्मन इति ।** नन्वन्यनिष्ठताव्यावृत्ति-वत्स्वनिष्ठत्वमपि पुरुषार्थोपयोगि तथा व्यपदेशस्यापि मुख्यत्वमिति तत्राह—**अन्या-संबन्धीति ।** योगिन परसुखसाक्षात्कारेऽपि पुरुषार्थता नास्तीत्यन्यासबन्धीत्युक्तम् । नच सुखस्य सबन्धित्वे विद्यमानेऽप्यन्यासबन्धित्वाभावापराधेनापुरुषार्थत्वादर्शनात्तद-प्यप्रयोजकम् । सुखात्मनोरभेदवादे सबन्धस्यासमतत्वादुभयसमतान्यासबन्धित्वस्यैव प्रयोजकत्वे लाघवान्मम स्वरूपमितिवन्मम सुखमिति व्यवहारस्यान्यासबन्धित्वेनैवो-पपत्ते । किं सुखसबन्धमात्र पुरुषार्थं ? किंवा स्वस्य सुखसबन्ध ? नाद्य इत्याह—

है, क्योकि सत्ता आदि को अनात्मवृत्ति ही प्रतिवादी नही मानते हैं, किन्तु आत्मा-नात्म दोनो मे वृत्ति मानते है । यदि कहे कि आत्मा के नित्य सुखस्वरूप होने पर मुक्ति और ससार मे तुल्यता की प्राप्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि उस नित्य सुखरूपता का अविद्या रूप तम से आवरण और अनावरण के द्वारा विशेष= भेद की सिद्धि होती है । ससारावस्था मे सुखस्वरूपता आवृत्त रहती है, मोक्षावस्था मे अनावृत्त होती है । यदि कहा जाय कि आत्मा के सुखस्वरूप होने पर, मुझे सुख हो, ऐसा प्रेम (काम) की अनुपपत्ति होगी, तो कहा जाता है कि कल्पित भेदा-वस्था मे सम्बन्ध का कथन को अन्यनिष्ठता की व्यावृत्ति परत्व रहता है, जैसे कि मेरा स्वरूप चेतन है, इत्यादि व्यवहार होता है, वैसा ही यह व्यवहार गौण होता है । यदि कहा जाय कि सुख की अन्यनिष्ठता की व्यावृत्ति के समान स्वनिष्ठता भी पुरुषार्थ के उपयोगी होता है, अत 'सुख मे स्यात्', यह मुख्य ही कथन होता है, गौण नही । तो कहा जाता है कि अन्य के असम्बन्धी सुख के साक्षात्कार होने पर भी, सम्बन्धाभाव रूप अपराध (दोष से=सम्बन्ध की अप्रतीति से) अपुरुषार्थत्व की उपलब्धि नही होती है, सुखरूपता मात्र से प्राणी तृप्त होता है । सुखरूप होते सुखसम्बन्धिता नही हो तो अतृप्त नही रहता है । सुषुप्ति मे सुखस्वरूप ही मे मग्न होता है । भाव यह है कि सुख और आत्मा के अभेदवाद मे सम्बन्ध के अस्वीकार होने से उभय सम्मत अन्यासम्बन्धित्व ही, 'सुख मे स्यात्' इस व्यवहार का हेतु है, वह 'मम सुखम्-ममस्वरूपम्' । इत्यादि के समान होता है, इत्यादि । और सम्बन्ध को केवलव्यतिरेक का अभाव है । अर्थात् सम्बन्ध नही हो, तो प्रेम नही हो, पुरुषार्थता नही हो, ऐसा व्यतिरेक नही है । सुख के साथ सम्बन्ध मात्र को यदि

सुखसम्बन्धमात्रस्य पुरुषार्थत्वे परकीयसुखसबन्धस्यापि तथात्वप्रसङ्गात् । सबन्धे न सबन्धान्तरमभ्युपेय तथा चानवस्था । तस्मादात्यन्तिकी दु ख-निवृत्तिरेव मुक्तिरित्ययुक्तम् ।

एतेन प्रकृतिपुरुषविवेकदर्शनात् पुरुषस्य स्वरूपावस्थान मुक्तिरित्यपि परास्तम् ।

आत्मनोऽसुखरूपत्वाद् बन्धस्यान्यगतत्वत ।
उपचारस्य वायोगात् सबन्धस्यानिरूपणात् ॥ ३ ॥

सुखसाक्षात्कारस्यैव पुरुषार्थत्वोपपादनादात्मनश्च सुखत्वानभ्युपगमात् न पुरुषस्य स्वरूपमात्रावस्थान पुरुषार्थ । अपि च यस्य बन्धस्तस्यैव

सुखसबन्धेति । द्वितीये प्राह —**संबन्धेति** । वादार्थमुपसहरति—**तस्मादिति** ।

इदानी साख्यमतमोक्ष निराचष्टे—**एतेनेति** । महदादिविकृत्यन्ताकारपरिणा-मिनी त्रिगुणात्मिका जडा प्रकृति प्रधानापरपर्याया, स हि प्रकृनिरेव न पुनर्महदादि-सप्तकवत् प्रकृतिविकृत्यात्मिका, नापि पृथिव्यादिषोडशवत् विकृत्येकरूपिणी । पुरुषस्त्वसङ्गोऽनाधेयातिशय परमोदासीनश्चिच्छक्ति । तयोर्विवेकाग्रहणात्ससार । विवेकदर्शनात्त्वविवेकख्यातिनिवृत्तावुदासीनरूपावस्थान मोक्ष इति यत्साख्यै समाख्यायते, तदप्येतेन दु खनिवृत्तिमात्रलक्षणमोक्षप्रतिक्षेपेण प्रतिक्षिप्त मन्तव्यम, तत्राप्यानन्दानवाप्ते समानत्वादित्यर्थ । एतस्य चान्यान्यपि दूषणानि श्लोकेन सगृह्णाति—**आत्मन इति** । आद्यपाद विवृणोति—**सुखेति** । द्वितीयपाद विवृणोति—**अपि चेत्यादिना** । अनाधेयातिशयोदासीनैकरस स्वच्छ पुरुष, नच तस्य सुखदु खोपभोगलक्षण ससारस्तत्प्रयोजकपुण्यापुण्यावेशो वा सभवति, भोक्तृत्वे

पुरुषार्थ माना जाय, तो अन्य के सुखसम्बन्ध को भी पुरुषार्थत्व प्राप्त होगा । और स्वसम्बन्धी सुख के सम्बन्ध को पुरुषार्थ माना जाय तो सम्बन्ध के साथ सम्बन्धान्तर मानना होगा । तो इसप्रकार अनवस्था होगी । अत आत्यन्तिकी दु खनिवृत्ति मुक्ति है, यह कथन अयुक्त है ।

इसीसे प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान से पुरुष का स्वरूप मे अवस्थान मुक्ति है, यह मत भी निरस्त हो गया । क्योकि—

आत्मा के वस्तुत सुखस्वरूप होने, और बन्ध के अन्य बुद्धिगत होने से उपचार के भी नही बन सकने से, क्योकि आत्मा के असङ्ग होने से सम्बन्ध का निरूपण नही हो सकता है ॥ ३ ॥

अर्थात् सुख साक्षात्कार को ही प्रथम पुरुषार्थत्व प्रतिपादन किया गया हे, और आत्मा के सुखस्वरूपत्व के अस्वीकार से साख्य मे पुरुष का स्वरूप मात्र मे अवस्थान पुरुषार्थ (सुखसाक्षात्कार) नही सिद्ध हो सकता है । और जिसको बन्ध होता है,

मुक्ति । न च पुरुषस्य बन्ध, बन्धस्य बुद्धिगतत्वाङ्गीकारात् । न चोपचाराद् बुद्धिगतावेव बन्धमोक्षौ पुरुषे व्यपदिश्येते, निमित्ताभावादुपचारानुपपत्ते । न च स्वस्वामिभावो निमित्तम्, सर्वथोदासीनस्य स्वामिभावे दृष्टान्ताप्रसिद्धे । न च बुद्धे स्वत्वमपि, अनाधेयातिशयपुरुषेऽनुपकारक-

---

कर्तृत्वस्यापि तन्मार्गस्याशक्यवारणत्वात् । कर्तृत्वे च परिणामितया तद्वयासन्नजाड्यस्याप्यत्रर्जनीयतया चिच्छक्तिव्याघातेन जगत एव घोरान्धकारकूपे निपात स्यात । तस्माद्धेय बुद्धि सत्त्वरजस्तमोमयी तत्रैव बन्ध इति वक्तव्यम्, तथाच बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यमित्यर्थ । स्यादेतत्—मोक्षोऽपि बन्धवद् बुद्धिगत एव, नह्यपूर्व कश्चिदतिशयो मोक्षाख्य पुरुषे आधायते, विद्यमानो वा कश्चिदाकारो निवर्त्यते असङ्गत्वात् । कथ तर्हि चेतने बन्धमोक्षप्रसिद्धिर्बुद्धिगतयोरपि तत्रोपचारात् स्फटिकमणाविवारुणिम्न प्रसूनवर्तिन , योद्धृगतस्येव विजयस्य राजनि । उक्त हि—

"रूपै सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृति ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ।।" इति ।
(सा० का० ६३)

तथा पतञ्जलिनापि—"एव बन्धमोक्षौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते, स हि तत्फलस्य भोक्ता" इति । तत्राह—**न चोपचारादिति ।** एतेन तृतीय पादो विवृत । असाधारणसबन्ध निमित्तीकृत्य हि उपचार प्रवर्तते, यथा क्रौर्यशौर्यादिगुणगणशालिनि बलवर्मणि सिंहशब्द । नचात्यन्तविलक्षणयोश्चैनयोरस्ति तादृशगुणयोग इत्याह—**निमित्तेति ।** एतेन तुरीयचरणो विवृत । धनदानादिना हि उपकुर्वता वसुधापतिप्रभृतीना स्वामित्व दृष्ट युद्धादिनोपकुर्वता च भृत्यादीना स्वत्वम्, नचेह द्वयमित्याह—**न च स्वस्वामीत्यादिना ।** ननु चिच्छक्ते पुरुषस्य

उसीकी मुक्ति होती है। और बन्ध को बुद्धिगत मानने से, मुक्ति भी बुद्धि की होगी, पुरुष को बन्ध नही, अत उदासीन असङ्ग को मोक्ष भी नही हो सकता है। यदि कहे कि बुद्धिगत ही बन्ध और मोक्ष उपचार से = गौण रूप से, पुरुष मे व्यवहृत होते है। जैसे योद्धा के जयपराजय स्वामी मे व्यवहृत होता है। तो यह कहना नही बन सकता है, क्योकि उपचार के निमित्त बुद्धि के साथ सादृश्य सम्बन्धादि के अभाव से उपचार की सिद्धि नही हो सकती है। यदि कहे कि स्वस्वामिभाव पुरुष का बुद्धि के साथ सम्बन्ध है, वही उपचार का निमित्त है। तो कहा जाता है कि सर्वथा उदासीन के स्वामित्व मे दृष्टान्त की असिद्धि है, बुद्धि के स्वत्व = सेवकत्व भी नही सिद्ध हो सकता है, क्योकि जैसे राजा आदि स्वामी सेवा आदि उपकार से प्रसन्न आदि किया जाता है, वैसे अनाधेय = अनवस्थाप्य है अतिशय = फलविशेष जिसमे ऐसे पुरुष मे अनुपकारकत्व होने से बुद्धि मे स्वत्व

त्वात् । न च द्रष्टृदृश्ययोर्योग्यतालक्षण सबन्ध, मुक्तावपि प्रसङ्गात्, तस्यास्तदाप्यनपायात् । न च पुरुषभेदेन प्रकृतिगतयोग्यताया अपायानपायौ, अनाधेयातिशयतया पुरुष प्रति प्रकतिविशेषाभावे तद्व्यवस्थानुपपत्ते । तस्मादनतिशयानन्दस्वभावस्यात्मनोऽविद्यातिरोधानमेव बन्ध विद्यानिमित्तस्तदस्तमयो मोक्ष इति सिद्धम् ।

ननु कस्याविद्या ? कि ब्रह्मणो ? जीवाना वा ? नाद्य, सर्वज्ञस्य तदनु-

---

द्रष्टृयोग्यताऽस्ति जडबुद्धेर्दृश्ययोग्यता, अतो योग्यतालक्षण एवानयो सबन्धोऽस्त्यलमितरै । युक्त चैतत्, इतरथोभयोर्वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति, तत्राह—**न च द्रष्टृदृश्ययोरिति ।** एषा योग्यता मुक्तावप्यस्तीत्यनिर्मोक्ष एव स्यादित्यर्थ । अथ ससारावस्थायामेव योग्यता न मुक्ताविति ब्रूयात्तत्राह—**तस्या इति ।** स्वरूपातिरेकिणी न योग्यता नामास्तीति भाव । यदि मुक्तौ सत्यामयोग्यैव प्रकृतिस्तर्ह्येकत्वात्तस्या न किंचिदपि तत्र योग्यतेत्येकमुक्तौ सर्वमुक्ति स्यात् । अथैकापि प्रकृतिर्मुक्तम् प्रत्येवायोग्या नेतर प्रति, यथोक्तम्—"कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्यसाधारणत्वात्" इति तत्राह--**न च पुरुषेति ।** तत्र वक्तव्य किमिमावपायानपायौ मुक्तामुक्तत्वलक्षणपुरुषविशेषप्रयुक्तौ ? कि वा प्रकृतिरेवैव जानाना तिरोदधाति कचित्प्रत्यास्मानमिति ? तत्र नाद्य इत्याह—**अनाधेयेति ।** उत्तरस्तु जडत्वात् प्रकृतेरपास्य । एव पराभिमत मोक्ष निरस्य स्वसिद्धान्तसिद्धमोक्षमुपसहारव्याजेन दर्शयति—**तस्मादिति ।**

अविद्यया तिरोधान बन्धो, विद्यया चाविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इत्युक्तम, तदेतद् द्वयमुपपादनीयम् । तत्राविद्यातिरोधान निरूपयिष्यन्नविद्याश्रयविषयावाक्षिप्य समादधात्युत्तरवादेन—**ननु कस्येत्यादिना । सर्वज्ञस्येति ।** य खल्वविद्याश्रयोऽ-

---

नही हो सकता है । यदि कहा जाय कि द्रष्टा पुरुष और दृश्य बुद्धि इन दोनो मे द्रष्टृ दृश्य योग्यता ही सम्बन्ध है । तो यह कहना युक्त नही, योग्यता के स्वरूपात्मक नित्य होने से मुक्ति मे भी सम्बन्ध की प्राप्ति होगी, क्योकि उस सम्बन्ध का मोक्षावस्था मे भी नाश नही होता है । यदि कहे कि पुरुषभेद से प्रकृतिगत योग्यता का अपाय और अनपाय रहता है, अर्थात मुक्त के लिये प्रकृति अयोग्य हो जाती है, और बद्ध के लिये योग्य रहती है, तो ऐसी व्यवस्था नही बन सकती है । क्योकि पुरुष मे, अनाधेय अतिशयता = विशेषता से पुरुष के प्रति प्रकृति विशेष (भेद) के अभाव रहते, उक्त व्यवस्था की सिद्धि नही हो सकती है । अत निरतिशय आनन्द स्वरूप आत्मा का अविद्या से आवरण ही बन्ध है । और विद्यानिमित्तक उस अविद्या का नाश ही मोक्ष है । यह सिद्ध हुआ ।

उक्त स्वसिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये आगे की चर्चा है । वहाँ शका होती है

पपत्ते । न द्वितीय, तेषा परमार्थत परस्माद् भेदेऽद्वैतव्याघातात् । अभेदे च पूर्वदोषानुषङ्गात्, अविद्याकल्पितभेदत्वे चेतरेतराश्रयापातात्--अविद्याधीनो जीवविभागो, जीवाश्रया चाविद्येति । अनुपपत्तिरविद्याया न दूषणमिति चेत्, अनुपपत्त्यभावे मुक्ताना ब्रह्मणश्च सा कि न स्यात् ? ननु न सा मुक्ताना ब्रह्मणश्च भाति, नापि कल्प्या, कल्पकाभावात् । मुक्तसर्वज्ञयोरविद्याश्रयत्वव्याघाताच्च । जीवाना तु न सा कल्प्या, अहमज्ञ इत्यनुभव-

---

सावज्ञो भ्रान्तो वा दृष्ट सर्वज्ञस्य च ब्रह्मणो द्वयमपि विप्रतिषिद्धमित्यर्थं । ननु यद्यपि वस्तुतोऽभिन्ना ब्रह्मणो जीवा तथाप्यविद्याविकल्पितभेदा ह्येते । तेषामज्ञत्वेऽपि न ब्रह्मणस्तत्त्वमिति तत्राह—**अविद्येति** । जीवविभागे सिद्धे तदाश्रिताऽविद्यासिद्धि, सिद्धाया च तस्या जीवविभागसिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वमित्यर्थ । मण्डनमिश्रोक्तिमनुवदति—**अनुपपत्तिरिति** । ननु तस्या मुक्ताना ब्रह्मणो वा अनुपपत्तिरस्तीति नास्माभि परिकल्प्यते, किं तर्हि तन्निष्ठतयाननुभवात्कल्पकाभावाद्वेति शङ्कते—**नन्विति** । ननु कल्पकाभावो जीवेऽपि समान । सत्यम्, कल्पनायामय दोष । अनुभूयते तु जीवे इत्याशयवानाह—**जीवानामिति** । ननु यद्यप्यहमज्ञ इत्यत्राविद्याकल्पिताऽऽश्रयत्व न केनाप्युल्लिख्यते तथाप्यज्ञ इति प्रतीतिबलादज्ञानाश्रयस्याविद्या-

---

कि अविद्या किसकी है, ब्रह्म की है, या जीवो की है । ब्रह्म की तो कही नही जा सकती है, क्योकि सर्वज्ञ ब्रह्म की अविद्या की अनुपपत्ति है । जीव की अविद्या भी नही कही जा सकती है, क्योकि अविद्या वाले उन जीवो का परमार्थ रूप से परब्रह्म से भेद होने पर अद्वैत का व्याघात होगा, जीवो का परब्रह्म से अभेद पक्ष मे पूर्वोक्त दोष का सम्बन्ध होगा (सर्वज्ञ मे अविद्या की अनुपपत्ति प्राप्त होगी) और अविद्या से कल्पित (सिद्ध) जीव भेद को मानकर उस जीव की अविद्या को मानने पर इतरेतराश्रय प्राप्त होगा । क्योकि अविद्या के अधीन जीवो का विभाग = ब्रह्म से भेद सिद्ध होगा, और जीव के आश्रित अविद्या सिद्ध होगी । यदि कहे कि अविद्या माया आश्चर्य अनिर्वाच्य स्वरूप वाली है, अत उस अविद्या की अनुपपत्ति दूषण रूप नही है, अविद्या की अनुपपत्ति भूषण ही है, क्योकि वह मिथ्या है, उपपद्यमान स्वरूप वाली होगी, तब तो उसमे सत्यता की आपत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि अनुपपत्ति के नही रहने पर मुक्तो की और ब्रह्म की वह अविद्या क्यो नही होगी । वहाँ भी अविद्या प्राप्त होगी । यदि कहे कि मुक्तादि मे अविद्या प्राप्त नही हो सकती है, क्योकि मुक्त और ब्रह्म की अविद्या न प्रतीत होती है, न उस अविद्या का कोई कल्पक = साधक ज्ञाता है । अत कल्पक के अभाव से मुक्त और ब्रह्म मे कल्प्य स्वरूप भी अविद्या नही है । और मुक्त तथा सर्वज्ञ मे अविद्या की कल्पना करने पर व्याघात प्राप्त होता है । जीवो की वह अविद्या कल्प्य नही है,

सिद्धत्वादिति चेत्, न, अविद्याकल्पितोऽहमज्ञ इत्यनुभवाभावात्। नन्वह-मिति प्रतोति कल्पिततामविद्याश्रयस्य बोधयति, अहकृते कल्पनामय-त्वात्। सुषुप्ततुरीयादौ च सत्यपि चिदात्मनि तदभावात्। अह ब्रह्मास्मीति सामानाधिकरण्यस्य योऽय स्थाणुरसौ पुमानितिवद्बाधपरत्वात। अह-शब्दस्य तत्र लक्षणया शोधिततत्व पदार्थविषयत्वाभ्युपगमाच्च अत कल्पिता-श्रयमज्ञान प्रतीतित एव सिद्धमितिचेत्, न, प्रविलीनाहकारेऽप्यात्मनि

कल्पिततास्तीति शङ्कते—**नन्वहमित्यादिना। अहकृतेरिति**। अहमिति कृति करणमहमाकारेण परिणामो यस्मिन् यस्याहकारस्य वेत्यर्थ। अयावदात्मभावि-त्वाच्च कल्पित इत्याह—**सुषुप्तेति**। तुरीय मोक्षावस्था। नन्वह ब्रह्मास्मीति वाक्येन ब्रह्मसामानाधिकरण्यमहकारस्योच्यते नच कल्पितस्य वस्तुभूतेनैवय सभवतीति कथ कल्पितत्वमहकारस्येति तत्राह—**अहमिति**। अन्यतरबाधायामपि भ्रान्तिस्थलेषु सामानाधिकरण्य दृश्यत इत्यर्थ। ननु न तावदिद वाक्य बाधमात्र-परम्, ऐक्योपदेशपरत्वात् ऐक्यसाक्षात्कारेण ह्यविद्यानिवृत्तिरिति। सत्यम्, शोधितत्व पदार्थस्य ब्रह्मैक्योपदेशपर नत्वहकारस्य। कथ तर्ह्यहशब्दस्य तत्र प्रवृत्ति-स्तत्राह—**अहंशब्दस्येति**। स्यादेव यद्यहकारविशिष्टाश्रितमज्ञानमिति ते मत स्यात्। नत्वेव सुषुप्तिप्रलययोरप्यस्ति दण्डायमानमज्ञानमिति हि ते मतम्, नच तदाहकारोऽस्ति। विकारस्य तदा प्रविलयात्तदभावे कथ कल्पिताश्रयत्वमज्ञानस्येति दूषयति पूर्ववादी—**न प्रविलीनेति**। मण्डनवाचस्पतिमिश्राभिमतपरिहार दूषयति—

क्योकि (मै अज्ञ हू) इस अनुभव से अविद्या की सिद्धि होती है। यदि ऐसा कहा जाय तो, वह भी नही बन सकता है। क्योकि (अविद्या से कल्पित मै अज्ञ हू) ऐसा अनुभव नही होता है, अत जैसी अविद्या मानी जाती है, वसी अविद्या की सिद्धि इस अनुभव से नही हो सकती है। यदि कहे कि (अहम्) यह प्रतीति ही अविद्या के आश्रय की कल्पितता को बोध कराती है। क्योकि अहङ्कार को कल्पना-मयत्व है। सुषुप्ति और तुरीय (मोक्ष) अवस्था मे चिदात्मा के रहते भी अहङ्कार का अभाव रहता है। अत उसके कल्पितत्त्व की सिद्धि होती है। यदि कहा जाय कि (अह ब्रह्मास्मि) इस श्रुति से अहकार को ब्रह्मस्वरूप कहा जाता है, कल्पित को ब्रह्मरूपता नही हो सकती है, अत अहङ्कार मे कल्पितत्व नही है, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि, अह ब्रह्मास्मि, इस सामानाधिकरण्य (अभिन्नता) को जो यह स्थाणु (ठूठ) था, वह पुरुष है, यहाँ जसे भ्रमसिद्ध स्थाणुत्व के बाधपूर्वक पुरुषत्व की प्रतीति होती है। वैसे ही अहकार के बाधपरत्व श्रुति के होने से कल्पितता से विरोध नही है। क्योकि उस वाक्य मे अह शब्द को अहङ्कार के बाध-पूर्वक लक्षण द्वारा शोधित त्वपदार्थविषयकत्व के स्वीकार से विरोध का अभाव

सुषुप्तादावज्ञानस्य सद्भावाभ्युपगमादन्यथा सुषुप्तिप्रलययोर्मुक्तिप्रसङ्गात् । तस्मादविद्याधीनो जीवविभागस्तदधीना वाऽविद्येति दुर्वारा परस्पराश्रयता । न च बीजाङ्कुरसन्तानयोरिव जीवाविद्ययोरनादित्वेन तत्परिहार, दृष्टान्तवैषम्यात् । तत्र हि बीजाङ्कुरव्यक्तीनामन्योन्यकार्यकारणभावात्, तत्सन्तानयो परस्पराधीनत्वव्यपदेश, इह तु जीवाविद्याव्यक्त्योरेकत्वात् कार्यकारणभावाभावाच्च कथ तथा व्यपदेश स्यात्? नन्वात्मनि गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरिवानादित्वेऽपि प्रयोज्यप्रयोजकभावो जीवाविद्ययो कि

न चेति । वैषम्यमेवाह—**तत्र हीति** । नहि साक्षात्सन्तानयोरन्योन्यसमादुत्पत्ति, अनादित्वात् । ततो व्यक्तिद्वारा व्यक्तीनामप्यनेकतया नान्योन्यमुत्पत्ति । नहि यतो बीजाद्योऽङ्कुरो जायते तदेव बीज तस्मादङ्कुरात्, अपित्वङ्कुरान्तरात्, नचेह तथा । नहि प्रतिदिनमन्येऽन्ये जीवा नाप्यविद्या, तस्मादस्त्येव वैषम्यमित्यर्थ । यद्यप्यनादित्वादेकत्वाच्च नान्योन्यमुत्पत्तिर्जीवाविद्ययोर्नाप्यन्योन्यज्ञप्ति, एकस्य स्वप्रकाशत्वात्, अपरस्य साक्षिवेद्यत्वात् । तथाप्यन्योन्यनियम्यत्व घटत इति दृष्टान्तमवष्टभ्य शङ्कते—**नन्वात्मनीति** । तर्हि यथा गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरेक आत्मा-

---

सिद्ध होता है । अत कल्पित आश्रय वाला अज्ञान प्रतीति से ही सिद्ध होता है । तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि प्रविलीन अहकार वाले भी आत्मा मे सुषुप्ति मे अज्ञान के सद्भाव को स्वीकार करते है, अन्यथा सुषुप्ति प्रलय मे मुक्ति की प्राप्ति होगी, अत अविद्या के अधीन जीव का विभाग होता है, और विभागाधीन अविद्या की स्थिति होती है, अत परस्पराश्रयता दुर्वार है। यदि कहे कि बीजाङ्कुर सन्तान के समान जीव और अविद्या के अनादि होने से अन्योन्याश्रय का परिहार होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि दृष्टान्त मे विषमता है, क्योकि दृष्टान्त मे बीज और अङ्कुर व्यक्ति के परस्पर कार्यकारणभाव से उन बीजाङ्कुर के सन्तानो के परस्पर अधीनत्व का व्यवहार होता है, और यहाँ दार्ष्टान्त मे तो जीव और अविद्या व्यक्ति के एक-एक होने से, और कार्यकारणभाव के अभाव से बीजाङ्कुर के समान व्यपदेश कैसे होगा, अर्थात् दृष्टान्त मे अनेक बीज और अङ्कुर के होने से जिस बीज से जो अङ्कुर होता है, वही बीज उस अङ्कुर से नही होता है, किन्तु उस अङ्कुर से अन्य बीज होता है, उससे अङ्कुरान्तर होता हे। प्रकृत मे एक-एक व्यक्ति अनादि जीव अविद्या के होने से ऐसी सन्तति नही बन सकती है । यदि कहा जाय कि अनादि और एक-एक होने से परस्पर उत्पत्ति आदि के नही होने पर भी जैसे आत्मा मे गुणवत्त्व और द्रव्यत्व के अनादि होते भी परस्पर प्रयोज्य प्रयोजक भाव माना जाता है कि गुणवत्त्व से द्रव्यत्व सिद्ध होता है,

न स्यादिति चेत्, तर्ह्यविद्यावत्त्वजीवत्वयोश्चिन्मात्र किमधिकरणम् ? उताविद्याविशिष्टम् ? आद्ये ब्रह्मण्येवाविद्येति प्राचीनदोषानुषङ्ग । द्वितीये पुनरविद्यावत्येवाविद्येत्यात्माश्रय । ब्रह्मवज्जीवस्यानादित्वे च न ब्रह्मप्रतिबिम्बता ।

अथ ब्रह्मैव स्वाविद्यया ससरति स्वविद्यया च विमुच्यत इत्युच्येत, तदा तस्यैकत्वान्न विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्था स्यु । तथा हि—यदि नोत्पन्ना विद्या कस्तदा गुरुरात्मान्तराभावाद । यद्युत्पन्ना कस्तदा शिष्य ? सर्वभेदप्रविलयात् । मायाविनिर्मितौ गुरुशिष्यौ स्त एवेति चेत्,

---

धिकरणम्, तथाऽत्राप्येकमधिकरण वक्तव्य तत्कि चिन्मात्रम् ? कि वा अविद्याविशिष्टम् ? इति विकल्प्य दूषयति—**तर्हीत्यादिना** । दूषणान्तर चाह—**ब्रह्मवदिति** ।

इष्टसिद्धिकारमतमुद्भावयति—**अथेति** । गुर्वादिविभागाभावमेव प्रपञ्चयति—**तथा हीत्यादिना** । यद्यप्युत्पन्नविद्यतया गुरोर्माया नास्ति तथापि शिष्यस्याविद्यास्ति, अनुत्पन्नविद्यत्वात्तदविद्याविजृम्भित एव तद्गुरु । नच कल्पितस्योपदेष्टृ-

---

और द्रव्यत्व से गुणवत्त्व होता है । इसीप्रकार से जीव और अविद्या मे प्रयोज्य-प्रयोजक (साध्य-साधक) भाव क्यो नही होगा, तो ऐसा कहना भी नही बन सकता है, क्योकि इसप्रकार से भी दृष्टान्त मे द्रव्यत्व और गुणवत्त्व का जैसे द्रव्य अधिकरण होता है, तैसे अविद्यावत्त्व और जीवत्व का कोई अधिकरण होना चाहिये, यह क्या चेतन मात्र अधिकरण है, या अविद्याविशिष्ट अधिकरण है, यहाँ प्रथम पक्ष मे ब्रह्म मे ही अविद्या सिद्ध होगी, कि जिससे सर्वज्ञ मे अविद्या के होने मे असम्भवता रूप पूर्वोक्त दोष प्राप्त होगा । और दूसरे पक्ष मे अविद्या वाले मे अविद्या की स्थिति से अश मे आत्माश्रयता की प्राप्ति होगी । और ब्रह्म के समान जीव के अनादि होने से उसमे ब्रह्म की प्रतिबिम्बता नही हो सकती है ।

और यदि ब्रह्म ही अपनी अविद्या से ससारी जीव होता है, और अपनी विद्या से मुक्त होता है, ऐसा कहे, तो उस ब्रह्म के एक होने से विद्वान् अविद्वान् गुरुशिष्य बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था नही हो सकेगी । क्योकि यदि विद्या उत्पन्न नही हुई हो, तो अविद्या निमित्तक कल्पित या सत्य आत्मान्तर के अभाव से गुरु कौन होगा, किसका गुरु होगा । और यदि विद्या उत्पन्न हो गई, तो उस समय शिष्य कौन रहेगा, विद्या से सब भेद का ही प्रलय हो जायगा । यदि कहा जाय कि माया से विनिर्मित गुरु-शिष्य है ही, तो ऐसा नही कहा जा सकता है । क्योकि उत्पन्न विद्या वाले मे माया की सिद्धि नही हो सकती है । यदि कहा जाय कि विद्या वाले मे माया नही रहती है, किन्तु अज्ञशिष्य की अविद्या से निर्मित गुरु होते है (कल्पित सिद्ध होते है) तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अविद्या निर्मित की जडता से उसमे

न, उत्पन्नविद्यस्य मायानुपपत्ते । शिष्याविद्याविनिर्मितो गुरुरिति चेत्, न, अविद्यानिर्मितस्य जडत्वेन विद्यावत्त्वानुपपत्ते । दृश्यत एवाविद्यानिर्मितस्य गुरुत्व स्वप्न इति चेत्, तर्हि शिष्याविद्याविनिर्मितस्य गुरुत्वे तस्य तस्यापि शिष्यस्य स्वीयस्वीयशिष्य प्रति गुरुत्वेन तत्तदविद्याविनिर्मितत्वान्न कोऽपि परमार्थ परमात्मतया निरूपित स्यात् । यच्चाहु —स्वात्मानमेव कल्पित-भेद गुरु शास्तीति, तच्चायुक्तम्, तस्य स्वात्मनो मुक्ति निश्चिन्वत. स्वव्यतिरेकेण तेषामभाव च पश्यतस्तदुपदेशार्थं प्रवृत्त्ययोगात् । प्रवृत्तौ च 'मन्मुक्त्यैवासि मुक्तस्त्व मा यत्न कुरु मुक्तये' (इष्ट० ७।७) इत्येवोपदेश-प्रसङ्गात् । किचानादौ ससारे कस्यचिन्मुक्तिरासीत् ? न वा ? आद्ये नेदानी ससारोपलम्भ स्यादात्मान्तराभावात् । द्वितीयेऽपि कथ भविष्यतीति

त्वानुपपत्ति, स्वाप्नवदुपपत्तेरिति शङ्कते—**शिष्याविद्येति** । एव शिष्याविद्या-विनिर्मितो गुरुरिति पक्ष दूषयित्वा गुर्वविद्याविनिर्मित शिष्य इति पक्ष दूषयति— **यच्चाहुरिति** । तस्याप्यविद्यावस्थायामिय कल्पनेति वक्तव्यम्, सा चोत्पन्नविद्यया ध्वस्तेति शिष्यकल्पनैव नास्ति कथमनुशिष्यात् ? भवतु तथाप्यधिगतपरमार्थत्वाच्छि-ष्यादितत्त्व जानन्न पृथक्तमुपदिशेदित्याह—**तच्चायुक्तमित्यादिना** । एव गुरुशिष्य-व्यवस्थानुपपत्तिमुक्त्वा बद्धमुक्तव्यवस्थानुपपत्तिमप्याह—**किचेत्यादिना** । ननु पूर्वं विद्यैव नोत्पन्ना तेनोपपन्न ससार, शुकादीना तु विद्योत्पत्तिशास्त्रमर्थवादमात्रमिति,

---

विद्यावत्त्व की सिद्धि नही हो सकती है, यदि कहा जाय कि स्वप्न मे अविद्या-निर्मित के गुरुत्व को देखा ही जाता है, वैसे ही जाग्रत मे भी होता है, तो कहा जाता है कि शिष्य की अविद्या से निर्मित मे गुरुत्व होने पर, तत्तत् शिष्यो को भी अपने-अपने शिष्यो के प्रति गुरुत्व होने से वे सब भी अपने शिष्यो की अविद्या से ही निर्मित सिद्ध होगे, तो इसप्रकार से सब गुरु-शिष्यो मे अविद्यानिर्मितत्व होने से कोई भी परमात्म रूप से निश्चित परमार्थ स्वरूप नही सिद्ध होगा । और जो कोई यह कहते है कि गुरुकल्पित भेद वाले अपनी आत्मा को ही उपदेश देता है, यह कथन भी अयुक्त है । क्योकि अपनी आत्मा की मुक्ति के निश्चय वाले अपने से भिन्न उन शिष्यो के अभाव को देखने वाले गुरु की उन शिष्यो के उपदेश के लिये प्रवृत्ति होनी अयुक्त है । यदि प्रवृत्ति भी हो तो (मेरी मुक्ति से ही तुम मुक्त हो, मुक्ति के लिये यत्न नही करो, तुम मेरा स्वरूप ही भिन्न नही हो) इसप्रकार के उपदेश की प्राप्ति होगी, अन्यथा नही । गुरुशिष्यभाव की अनुपपत्ति तो है ही एकात्म और एक अविद्यावाद मे बन्धमोक्ष की व्यवस्था नही हो सकती है, क्योकि जिज्ञासा होती है कि अनादि इस ससार मे किसी की मुक्ति हुई है, या नही, आद्यपक्ष मे इस समय ससार का ज्ञान नही होना चाहिये, क्योकि आत्मान्तर का अभाव है । दूसरे पक्ष मे भी यदि

प्रत्याशा ? न च विद्याभावात्पूर्वममुक्ति । शुकवामदेवप्रभृतीनामविद्यमाना विद्याऽन्यस्य भविष्यतीति प्रत्याशाऽसभवात्, गुरुसप्रदायाभावाच्च। तस्मादेकात्मवादे बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्ते पारमार्थिक एवात्मभेद समाश्रयणीय । प्रयोगश्च--आत्मा, आत्मप्रतियोगिकान्योन्या भाववान्, आत्मनिष्ठमिथ्याभेदातिरिक्तभेदवान्, वा लक्ष्यत्वाद् घटवत् । न च 'एको देव सर्वभूतेषु गूढ ' इत्याद्यागमविरोध, तस्येश्वरैकत्वप्रतिपादनपरत्वात् । न च तत्र सर्वभूतान्तरात्मत्वविरोध, तस्यैव नियामकतया सर्वभूतान्तरवस्थानात् । तथा च श्रुति --'य आत्मनि तिष्ठन्य आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न

तत्राह—**न च विद्येति ।** किच पूर्व कस्यचिदपि चेद्विद्या नोत्पन्ना, तर्हि गुरुसप्रदायाभावादद्यापि विद्या नोत्पद्येतेति निर्णयस्यैव सभवादनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्याह—**गुरुसंप्रदायेति ।** तदेवमविद्याश्रयानिरूपणादविद्याधीनो जीवब्रह्मणोर्जीवाना च भेद इत्यसबद्धम् । अत पारमार्थिक एवात्मभेद इत्याह—**तस्मादिति ।** घटान्योन्याभावत्वेन सिद्धसाधनतापरिहाराय—**आत्मप्रतियोगिकेत्युक्तम् ।** आत्मनो भिद्यत इत्यर्थ । भेदमात्रमत्यत्वेऽप्यनुमानमाह—**आत्मनिष्ठेति ।** अतिरिक्तत्वमनधिकरणत्वम्, सिद्धसाधनतापरिहारार्थं मिथ्याभेदातिरिक्तेत्युक्तम् । अप्रसिद्धविशेषणतानिवृत्त्यर्थमात्मनिष्ठपदम् । 'नन्वेको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मे'ति सर्वभूतानामन्तरात्मत्वमप्यस्य कीर्त्यते, स च क्षेत्रज्ञ एवेति कथमस्येश्वरविषयता ? इत्याशङ्क्यान्तर्यामितया तस्यापि तत्सभवती याह—**न च तत्रेति ।**

अनादि काल से अब तक किसी की मुक्ति नही हुई है तो आगे होगी, ऐसी मुक्ति के प्रति आशा कैसे की जा सकती है, और अभी किसी को विद्या नही हुई है तो गुरुसम्प्रदाय के अभाव से भी ज्ञान मोक्ष की आशा नही होगी। अत एकात्मवाद मे बन्ध मोक्ष की व्यवस्था की अनुपपत्ति से पारमार्थिक ही आत्मभेद स्वीकर्तव्य है, आत्मभेदविषयक अनुमान भी होता है कि (आत्मा, आत्मप्रतियोगिक भेद वाला है, आत्मवृत्ति मिथ्या भेद से भिन्न भेद वाला है, लक्ष्य (ज्ञातव्य) होने से घट के समान) यदि कहा जाय कि इस अनुमान मे (एको देव सर्वभूतेषु गूढ) इस श्रुति से विरोध प्राप्त होता है, तो कहा जाता है कि इस आगम (शास्त्र) के ईश्वर के एकत्वप्रतिपादन परक होने से विरोध नही है। यदि कहा जाय कि श्रुति मे (सर्वभूतान्तरात्मत्व) का कथन है, अत ईश्वर के एकत्व के प्रतिपादन परक मानने पर विरोध होगा ही, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि उस एक ईश्वर को ही नियामक रूप से सर्वभूत के अन्तर स्थिति से सर्वभूतान्तरात्मत्व भी सिद्ध होता है, यह साक्षात् श्रुति कहती है कि (जो ईश्वर जीवात्मा मे रहता हुआ, आत्मा के अन्तर मे रहता है, जिसको जीवात्मा नही जानता है) जिसका जीवात्मा शरीर है,

वेद यस्यात्मा शरीर य आत्मानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत' इति ।

'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥'

इतिस्मृतेरपीश्वरपरत्वात्तस्य कायव्यूहनिर्माणेन बहुधा भावस्याप्युपपत्ते । तत्त्वमसीत्याद्यैकात्म्योपदेशस्य चोपासनापरत्वात् । न चोपासनाविध्यश्रवणादनत्परत्व शङ्कनीयम्, अपूर्वत्वेन 'पूषा प्रपिष्ठभाग' इत्यादाविव विधे कल्प्यमानत्वात् । 'नेह नानास्ति किचने'त्यादेश्चेश्वरभेदाभावपरत्वात् । 'मृत्यो स मृत्युम्' इत्यस्य भेददर्शननिन्दया अभेदोपासनाविधि-

नन्वेक एव तु भूतात्मेति प्रतिभूतेभेदेन प्रतिभासमानजीवात्मनामेवैक्यप्रतिपादिका स्मृतिरस्तीति, तत्राह—**एक एवेति** । नन्वीश्वरस्यैकत्वात्कथ तत्र बहुधा दृश्यत इति निर्देशोपपत्तिस्तत्राह—**तस्येति** । ननु तत्त्वमसीति प्रकृतिविलक्षणेश्वरात्मता श्वेतकेतूपलक्षितजीवस्य प्रतिपादयति तत्कथ जीवभेदस्तत्राह—**तत्त्वमसीति** । भिन्नेऽपि परमेश्वरे अभेददृष्टि कर्तव्या योषितीवाग्निदृष्टिरित्यर्थ । **पूषेति** । यथाहि— 'तस्मात् पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि स'' इतिवाक्येऽपूर्वत्वात्पूषोद्देशेन पिष्टभागविधि कल्पित एवमत्रापीत्यर्थ । आदिशब्देनोपरिधारणादि गृह्यते । श्रुत्यन्तरविरोध परिहरति—**नेहेति** । यद्यप्येते श्रुती कृतसमाधाने तथाप्य-

और जो आत्मा के अन्तर रहता हुआ जीवात्मा का नियमन करता है । वही यह तेरी आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

और एक ही भूतो (प्राणियो) की आत्मा तत्तत् भूतो=शरीरो मे विविध रूप से स्थिर है, वह चन्द्र और जलगत प्रतिबिम्ब रूप चन्द्र के समान एकधा=एकस्वरूप और बहुधा = बहुत स्वरूप दीखता है ।

इस स्मृति को भी ईश्वरपरक होने से, उस ईश्वर को शरीरव्यूह निर्माण के द्वारा बहुधा भाव की भी सिद्धि हो सकती है, जीव मे यह सघटित नही हो सकता है । और (तत्त्वमसि) इत्यादि एकात्मा के उपदेश को भी उपासनापरत्व है । यदि शका हो कि उपासना विधि के अश्रवण से उपासनाविधि परत्व नही है, तो ऐसी शका कर्तव्य नही है, क्योकि अपूर्वता से (पूषाप्रविष्टभागोऽदन्तको हि स) पूषादेवप्रविष्ट हवि के भागी होते है, क्योकि पूषादेवदान्त रहित है) यहाँ जैसे पूषादेव के उद्देश से विधि की कल्पना होती है, कि (पिष्ट हवि कुर्यात्) वैसे ही यहाँ भी विधि की कल्पना होती है कि (स्वाभिन्न ब्रह्मोपासीत) (नेह नानास्ति किञ्चन) इत्यादि श्रुति को ईश्वर के भेदाऽभावपरत्व है कि ईश्वर मे कुछ भेद नही है । और (मृत्यो स मृत्युमाप्नोति) मृत्यु से मृत्यु को वह पाता है, जो नाना

परत्वात्। 'द्वासुपर्णा' 'अजामेकाम्' इत्यादिना च जीवेश्वरयोर्जीवाना च परस्परभेदस्य साक्षादेव प्रतिपादनात्। न च तत्र लोकसिद्धभेदानुवाद इति वाच्यम्, ईश्वरस्यालौकिकत्वादेत्र तद्भेदस्य लोकतोऽधिगमासभवात्। जोवभेदस्य च लोकसिद्धत्वे प्रत्यक्षादिव्यतिरेकेण लोकशब्दार्थानिरूपणात्, प्रत्यक्षादिसिद्धत्वेन जीवभेदस्य प्रामाणिकत्वसिद्धि।

सुखदु खव्यवस्थानुपपत्तिरपि जीवभेद साधयति। अन्यथैकस्मिन्कस्मिश्चित्सुखिनि सुखिन एव सर्वे स्युर्दु खिनि वा दु खिन इति व्यवस्था न

भ्युच्चयत्वेनात्रोपन्यस्येते। न केवल श्रुत्यविरोध, श्रुतिसिद्धश्चात्मभेद इत्याह—**द्वा सुपर्णेति**। अत्र हि द्वाविति जीवेश्वरौ द्वित्वेन निर्दिष्टौ तथा तयोरन्य इत्यनश्नन्नन्य इति च भोक्त्रभोक्तृतया परस्परमन्यत्वेन च निर्दिष्टौ। तथा अजामेकामित्यत्रापि तेजोऽबन्नलक्षणामविद्यामेको जहाति, अन्यश्च जुषमाण प्रीयमाणोऽनुशेते इत्यजशब्दोपात्तजीवभेद प्रतीयते बद्धाबद्धत्वलक्षणधर्मभेदश्चेत्यर्थ। यद्यपि जीवस्य लौकिकतया तद्भेद शक्यानुवाद तथापि परमेश्वरस्यालौकिकत्वान्न तद्भेद सभवदनुवाद इति तत्प्रतिपादनपरमिद वाक्यमित्याह—**ईश्वरेति**। तर्हि जीवभेदप्रतिपादकत्वमुपेक्षितमस्य तथा चाप्रामाणिकभेदत्वाद् द्वैतसिद्धिरिति तत्राह—**जीवेति**। अस्यानुवादकत्वेऽपि यत्सिद्धमिदमनुवदति तदेव तत्र प्रमाणमित्यर्थ।

एवमनुमानागमाभ्यामात्मभेद साधयित्वार्थापत्तिमप्याह—**सुखदुःखेति**। ननु यथैकस्मिन्देहे पादशिर प्रदेशनिष्ठतया सुखदु खव्यवस्थायामपि न भेद, तत्कस्य हेतो? औपाधिकभेदमादाय, तथा सर्वदेहेष्वप्येक एवात्मा तत्तद्देहोपाधिभेदाच्च

के समान देखता है। इस श्रुति को भेदज्ञान की निन्दा द्वारा अभेदोपासना विधिपरत्व है। और (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, अजामेकाम्) इत्यादि श्रुतियो से तो भोक्ता अभोक्ता जीवेश्वर के और मुक्तामुक्तादि जीवो से परस्पर भेद को साक्षात् ही प्रतिपादन किया गया है। इन श्रुतियो मे लोक से सिद्ध भेद का अनुवाद मात्र है, ऐसा नही कहा जा सकता है। क्योकि ईश्वर के अलौकिकत्व से ही ईश्वर के भेद को भी लोक से समझना असम्भव है। और जीवभेद के लोकसिद्ध होने पर भी, प्रत्यक्षादि से भिन्न लोकशब्दार्थ के अनिरूपण से प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्धत्व लोकसिद्धत्व का अर्थ होता है, तो जीवभेद के प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्धत्व होने पर उस भेद मे प्रामाणिकत्व की सिद्धि होती है।

अनुमानागमादि से तो आत्मभेद सिद्ध होता ही है, सुखदु ख की व्यवस्था की अनुपपत्ति भी जीवभेद का साधक है, अन्यथा = एकात्मा के होने पर, एक किसी के सुखी होने पर, सभी सुखी होगे, और एक के दु खी होने पर सब दु खी होगे, कर्मादि के अनुसार सुखी, दु खी आदि की व्यवस्था नही हो सकेगी। यदि कहे कि

स्यात्। न च पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमितिवदुपाधिनिबन्धना व्यवस्था, तद्वदेव शरीरभेदेऽपि भोगानुसधानप्रसङ्गात्। न च सुखादीना साक्ष्यत्वेन साक्षिधर्मत्वाभावात् तद्भेदव्यवस्थापकत्वासिद्धि। प्रमातृव्यतिरिक्तसाक्षिणो दुर्निरूपत्वात्। तथा हि—तस्य द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भावाद-द्रष्टृत्वे सुखादिसाधकत्वासिद्धेर्ब्रह्मरूपत्वे च ससारदशायामनाविर्भावात्, साक्षिप्रत्यक्ष नाम व्यवहाराङ्ग न सिध्येत्। प्रमाणाभावाच्च। न

शीतादिव्यवस्थेति कि न स्यात्तत्राह—**न च पाद इति**। तर्हि यथा सकलावयवेष्वेकस्य तत्रानुसधान तथा सकलक्षेत्रेष्वप्येकोऽनुसदधीत नचैतदस्तीत्यर्थ। ननु व्यधिकरणमिदमभिधीयते यत्सुखादिव्यवस्थयात्मभेद इति। अन्त करणधर्मा हि सुखादय साक्ष्यत्वात्। नच साक्ष्याणा साक्षिधर्मत्व तथा सति स्वधर्मग्राहकत्वे स्वग्राहकतया स्ववृत्तिविरोधप्रसङ्गादिति तत्राह—**न च सुखादीनामिति**। साक्षी द्रष्टा ? न वा ? इति विकल्प्याद्य दूषयति—**द्रष्टृत्व इति**। नहि प्रमात्रतिरिक्त कश्चिदस्ति सप्रतिपन्नो द्रष्टेति भाव। ननु द्विविध द्रष्टृत्व ज्ञानाकारेण परिणामित्वम्, अलुप्तचिद्रूपत्व चेति। तत्र पूर्वममुख्यम्, अय पिण्डस्येव सक्रान्ताग्नेर्दग्धृत्वम्। उत्तर तु मुख्य वह्नेरिव, तत्र मुख्यो द्रष्टा साक्षी तेन न प्रमाता, नापि सुखादिसाधक इति। तर्हि मुक्तिदशायामेवैतादृशमभिव्यज्यत इति व्यवहारनिर्वाहकत्वव्याहतिरित्याह—**ब्रह्मरूपत्व इति**। नच प्रमात्रतिरिक्ते साक्षिणि किंचित्प्रमाणमस्तीत्याह—**प्रमाणेति**। प्रत्यक्षपक्षे हि न तावद्बाह्यमबाह्यत्वात्, आन्तरत्वेऽपि

एकात्म पक्ष मे भी, मेरे पैर मे पीडा है, शिर मे सुख है, इसके समान उपाधिनिमित्तक व्यवस्था होगी, आत्मा के एक रहते भी शरीरादि के भेद से सुखादि का भेद होगा। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि पाद और शिर उपाधि भेद से जहाँ एक को सुखदु ख होता है, वहाँ उस आत्मा को दोनो का अनुसधान, चिन्तन, स्मरण होना है, वैसे शरीरभेद मे भी भोगानुसन्धान की प्राप्ति एकात्मवाद मे प्राप्त होता है। यदि कहे कि सुखादिभेद से आत्मा का भेद नही हो सकता है, आत्मा तो साक्षी स्वरूप द्रष्टा है। और सुख दु खादि साक्ष्य = दृश्य है, अत ये साक्षी के धर्म नही है, किन्तु अन्त करण के धर्म है। अत सुखादि के भेद से अन्त करण का भेद हो सकता है, साक्षी का नही। अत साक्ष्य सुखादि मे आत्मभेद व्यवस्थापकत्व की असिद्धि है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि प्रमाता = कर्ता भोक्ता जीव से भिन्न साक्षी का निरूपण नही हो सकता है, उस साक्षी मे द्रष्टृत्व होने पर उसका प्रमाता = ज्ञाता जीव के अन्तर्भाव होगा। क्योकि जीव से भिन्न द्रष्टा प्रसिद्ध नही है। अद्रष्टा होने पर सुखादि के साधकत्व = बोधकत्व की असिद्धि होगी। ब्रह्मस्वरूप होने पर ससारदशा मे अनाविर्भाव = अप्रकटता से साक्षि प्रत्यक्ष नामक

तावत्प्रत्यक्षमत्र प्रमाणम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे प्रमात्रन्तर्भावप्रसङ्गात्। इच्छादय एतद्ग्राहकानित्यज्ञानातिरिक्तप्रत्यक्षवेद्या, अर्थापरोक्षत्वात् रूपादिवदित्यनुमान प्रमाणमिति चेत्, न, ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनत्वात। अनीश्वरवादिना चेच्छादय एतद्ग्राहकानित्यानुमानातिरिक्तानुमानवेद्या वेद्यत्वादिति साधनादाभाससमानयोगक्षेमत्वात्।

अनित्यप्रत्यक्षवेद्यत्वे बाधकाभावाच्च। सुखादिविशिष्टस्यात्मन स्वाश्रितज्ञानवेद्यत्वे कर्मकर्तृत्वविरोधप्रसङ्गो बाधक इति चेत्, मैवम्,

---

नित्यम्? अनित्य वा? अनित्यत्वे मानसमेव तदिति तद्वेद्य प्रमातैव नित्य च प्रत्यक्ष न जीवेऽस्तीति भाव। अस्तु तर्ह्यनुमान साक्षिप्रत्यक्षे प्रमाणमिति शङ्कते—**इच्छादय इति**। प्रत्यक्षवेद्या इत्युक्ते मानसप्रत्यक्षमादायार्थान्तरता तदर्थमनित्यज्ञानातिरिक्तेत्युक्तम्। तथा चानीश्वरवादिन प्रत्यप्रसिद्धविशेषणता तदर्थमेतद्ग्राहकेत्युक्तम्। अनेनैतद्ग्राहकानित्यप्रत्यक्षमादाय च साध्यप्रसिद्धि पक्षे चैतद्ग्राहकानित्यज्ञानत्वानधिकरणत्वमेतद्ग्राहकत्वानधिकरणत्वान्न सभवति, तद्वेद्यत्वेन व्याघातात्, तस्मादनित्यज्ञानत्वानधिकरण किचिन्नित्यप्रत्यक्षमादाय तद्ग्राह्यत्वमिच्छादीना सिध्यतीति नित्यसाक्षिप्रत्यक्षसिद्धिरित्यर्थ। अत्र तार्किक प्राह—**ईश्वरेति**। अनीश्वरवादी त्वाभाससममानयोगक्षेमतामाह—**अनीश्वरेति**। शक्यते हि नित्यमपि किचिदनुमानमेव साधयितुमित्यर्थ।

विपक्षे बाधकाभावाच्च शङ्कितापयोजकतामाह—**अनित्येति**। न केवलमस्मन्मत एवेय गति यत्स्वरूपेण ग्राहकत्व सुखादिविशिष्टाकारेण ग्राह्यत्वमित्यनु-

---

व्यवहार का अङ्गस्वरूप साक्षी नही सिद्ध होगा। और प्रमाता से भिन्न साक्षी मे प्रमाण का भी अभाव है। क्योकि रूपादिरहित मे वाह्य प्रत्यक्ष प्रमाण तो है नही, और मानसप्रत्यक्ष से वेद्य होने पर प्रमाता मे अन्तर्भाव प्राप्त होगा। यदि कहे कि (इच्छा आदि, अपने ग्राहक अनित्य ज्ञान से अतिरिक्त प्रत्यक्ष (साक्षी) से वेद्य है। अपरोक्षार्थ होने से, रूपादि के समान) यह अनुमान साक्षी मे प्रमाण है। क्योकि इच्छादि विषयक अनित्य ज्ञान अन्त करण की वृत्ति से भिन्न साक्षी स्वरूप ही ज्ञान हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि ईश्वर प्रत्यक्ष वेद्यता से सिद्धसाधनता होती है, ईश्वर प्रत्यक्ष इच्छादि विषयक अनित्य ज्ञान से भिन्न नित्य ज्ञान है। और अनीश्वरवादी के मत मे (इच्छा आदि, इनके ग्राहक अनित्य अनुमान से अतिरिक्त अनुमानवेद्य है, वेद्य होने से) इसप्रकार से साधनाऽऽभास की समानता है।

और अनित्य ज्ञान वेद्यत्व मे बाधक के अभाव से भी नित्य वेद्यत्व का अनुमान नही हो सकता है। यदि कहे कि सुखादियुक्त आत्मा के स्वाश्रित ज्ञान से वेद्यत्व

स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टस्वरूपेण कर्मत्वेऽप्यविरोधात्। अन्यथा त्वन्मतेऽपि कर्तृत्वकरणत्वयोरेकत्र समावेशो न स्यात्। अभ्युपगम्यते हि केवलाया बुद्धे करणत्वमात्मविशिष्टरूपेग च कर्तृत्वम्, अविद्याविशिष्टस्य साक्षित्व केवलाविद्यायाश्च साक्ष्यत्वमिति च स्वीकारात्। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्, तदात्मानमेवावेदह ब्रह्मास्मी'ति चात्मन एव वेद्यवेदकभाव-श्रवणात्। प्रमाणवत्त्वेन विरुद्धस्याप्यभ्युपगमे प्रकृतेऽप्यह सुखीत्यनुभव-सद्भावात् नासौ दण्डवारित । एतेन—सुखादिप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तिरपि

पहितोपहितभेदाश्रयणम, भवतोऽप्येवविधभेदाश्रयणमेव क्वचिच्छरणमित्याह -- **अन्यथेति।** आत्मैक्याध्यस्तबुद्धिर्हि प्रमाता कर्तेति बोध्यत इत्यर्थ । उदाहरणान्तर-माह—**अविद्येति।** निर्विकल्पचैतन्यस्य सर्वसाक्षित्वादिविकल्पाभावादविद्याविशि-ष्टस्य साक्षित्वमित्यर्थ । श्रुतिरप्यात्मनो ग्राह्यग्राहकता दर्शयतीत्याह—**ब्रह्मेति।** ननु तत्र तत्र श्रुत्यादय एव तथात्वे प्रमाणमिति न विरोध, तर्ह्यत्रापि समानमिति परिहरति—**प्रमाणेति।** एव प्रत्यक्षानुमाने साक्षिणि दूषयित्वा अर्थापत्ति दूषयति — **एतेनेति। अन्यथापीति।** मानसवेद्यत्वेऽपि विरोधाभावस्योक्तत्वादित्यर्थ । ननु चक्षुरादिपरस्परव्यभिचारिकरणैर्जन्यानि यानि ज्ञानानि तेषु जानामि जानामी-

---

होने पर कमकर्तृत्व विरोध प्राप्त होता है, वही अनित्यज्ञान वेद्यत्व मे बाधक है। अत निर्धर्मा साक्षिवेद्यत्व का अनुमान हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि स्वरूप मात्र से ग्राहक प्रमाता को सुखादि विशिष्ट रूप से ग्राह्यत्व की सिद्धि से कर्ता के कर्मत्व मे भी विरोध का अभाव है। अन्यथा विशिष्टरूपता से उक्त व्यवस्था को नही मानने पर आपके मत मे भी कर्तृत्व, करणत्व का एकत्र समावेश नही होगा। और आप मानते है कि केवल बुद्धि मे करणत्व रहता है, अध्यस्त आत्मभाव से आत्मविशिष्ट रूप से बुद्धि मे कर्तृत्व रहता है। इसीप्रकार से अविद्याविशिष्ट के साक्षित्व को और केवल अविद्या के साक्ष्यत्व को स्वीकार करते है। और यह सब जगत् सृष्टि से प्रथम ब्रह्मस्वरूप ही था, वह ब्रह्म अपने ही को समझा कि मै ब्रह्म हू। इसप्रकार से आत्मा मे ही वेद्यवेदक = ज्ञेयज्ञाता भाव श्रुति मे सुना जाता है। अत विरोध नही है। यदि कहे कि प्रमाणवत्त्व से श्रुति आदि वर्णित विरोध को भी माना जाता है, तो प्रमाणवत्त्व से विरुद्ध को भी मानने पर, प्रकृत मे भी अह सुखी इस अनुभव सद्भाव से विशिष्ट मे वेद्यता और केवल म वेदकता वह पूर्व वर्णित सिद्धान्त दण्ड वारित नही हो सकता है, न साक्षी का अनुमान हो सकता है। क्योकि सुखादि के ज्ञान की अन्यथा = साक्षी के बिना, अनुपपत्ति साक्षिसिद्धि मे प्रमाण है, यह भी निरस्त हो गया। सुखादि प्रतीति की अन्यथा साक्षी के बिना मन से ही वेद्यत्व की उपपत्ति हो जाती है। और

साक्षिसिद्धौ प्रमाणमिति परास्तम्, अन्यथाप्युपपत्तेः। न च व्यभिचारि-करणजन्यज्ञानाना चैतन्यरूपमनुगनमनुसधातारमन्तरेण प्रतिसधानानुपपत्ति साक्षिणि प्रमाणम्, ज्ञानाना स्वयप्रकाशत्वात् तदाश्रयतया सिद्धस्य स्थिरस्यात्मन पूर्वोत्तरकालीनज्ञानानुसधानोपपत्ते। एतेन प्रमातृप्रमाण-प्रमेयप्रतीत्यन्यथानुपपत्तिरपि परास्ता, त्रिपुटीप्रत्यक्षवादे घटमह जानामीति त्रितयप्रतिभासोपपत्ते। नापि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इत्यागम प्रमाणम्, साक्षादीक्षत इतीश्वरस्य सर्वापरोक्षदर्शिन प्रतिपादनात्।

त्यनुगत कश्चिदनुसधाता तावत्प्रमीयते। स च स्फुरन्नेवानुसधातुमर्हति, इतरथा जानामिति व्यवहारानिष्पत्ते। नच तस्य ज्ञानान्तरत स्फुरणम्, अनवस्थाभयात्। तस्माद्य स्वप्रकाश सकलस्वान्तवृत्त्यनुसधाता साक्षी सोऽर्थापत्तिसिद्ध। अथवा यदिद व्यावृत्तज्ञानेष्वनुसधानरूपमद्राक्षमित्यादि तत्स्फुरणमन्तरेण न घटतेऽनुभवमायश्च नोत्पन्नस्तत्सत्त्व च विप्रतिपन्नम्, अतस्तत्तद्वृत्तिसाधकसाक्ष्यर्थापत्तिसिद्ध इति तत्राह—**न च व्यभिचारीति**। अत्र स्फुरतानुसधात्रा हि भवितव्य तच्च सविदाश्रयत्वेनापि सभवति। नचानवस्था, तस्या स्वप्रकाशत्वादिति प्रभाकर परिहरति—**ज्ञानानामिति**। तार्किकपक्षे तु पूर्वोक्तरीत्या वृत्तिविरोधपरिहारेण मानसप्रत्यक्षमादाय परिहर्तव्यम। आगम साक्षिणि निषेधयति—**नापि साक्षीति**। चेताचेतन इत्यर्थ। तटस्थेश्वरमादायाप्युपपत्तेरिति भाव। किंच साक्ष्यस्य साक्षिधर्मत्व न घटत इति वक्तुमेव न शक्यते, पश्चनादीविरोधादित्याह—**सिद्धावपीति**। साक्षीरूपस्यात्मनो

विरोध नही रहता है। यदि कहे कि व्यभिचारी चक्षु आदि करणजन्य ज्ञानो की चेतन रूप अनुगत अनुसधाता के बिना प्रतिसधान=स्मरण=प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति ही साक्षी मे प्रमाण है। अत सर्व ज्ञानो का अनुसधाता स्थिर साक्षी स्वरूप अर्थापत्ति से सिद्ध होता है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि प्राभाकर मतानुसार ज्ञान के स्वय प्रकाश होने से उस ज्ञान के आश्रय रूप से सिद्ध जीव आत्मा को पूर्वोत्तर-कालिक ज्ञानो का अनुसधान हो सकता है, पृथक् साक्षी मानने की आवश्यकता नही है। इसीसे प्रमातृ प्रमाण प्रमेय रूप त्रिपुटी की अन्यथा अनुपपत्ति भी परास्त हो गई, क्योकि त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद मे (घट को मै जानता हू) इस प्रत्यक्ष से प्रमाता आदि तीनो के प्रतिभास = प्रत्यक्ष की सिद्धि हो जाती है। (साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च) यह आगम भी निर्गुण साक्षी मे प्रमाण नही हो सकता है। क्योकि, सक्षाद् ईक्षते, स साक्षी, इस अर्थ के अनुसार, सर्वापरोक्ष द्रष्टा ईश्वर का इस श्रुति से प्रतिपादन किया जाता है। अत इस उक्त प्रकार से साक्षी की सिद्धि नही होती है, चेता = चेतन साक्षी की सिद्धि होने पर भी सुख इच्छा आदि साक्ष्यो के साक्षि-धर्मत्व की क्षति नही हो सकती है, किन्तु सुखादि साक्षी के ही धर्म सिद्ध होते है,

तदेव न साक्षिण सिद्धि । सिद्धावपि न माक्ष्याणा धर्मत्वक्षति, "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्व चेति सन्ति धर्मा" इति साक्ष्याणामपि तद्धर्मत्वस्वीकारात्। किचाकाशो विशेषगुणवद्व्यापद्रव्यान्य द्रव्यत्वाद् घटवदित्यनुमानादपि आत्मना सुखादिविशेषगुणवत्त्वसिद्धि । तथा च तद्व्यवस्थातस्तेपा नानात्वमिद्धि ।

अत्रोच्यते—यत्तावदुक्त सर्वज्ञत्वाद् ब्रह्मणो नाविद्येति, तदयुक्तम्, यत —

स्वरूपत प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्व द्विधा स्थितम् ।
तच्चोभय विना विद्यासबन्ध नैव सिध्यति ॥ ४ ॥

विशेषगुणधर्मवत्त्वेऽप्यनुमानमाह—**किचेति**। द्रव्यान्य इत्युक्ते घटाद्यन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थ व्यापकद्रव्यान्य इत्युक्तम्। तथापि कालदिगन्यत्वेनार्थान्तरता, तदर्थ विशेषगुणवदित्युक्तम् । यस्माच्च विशेषगुणवतो द्रव्यादाकाशोऽन्य स आत्मा आकाशस्य पक्षत्वेन तदन्यत्वासभावात्, घटे त्वाकाशान्यत्वेन साध्यसिद्धि । फलितमाह—**तथा चेति**।

सिद्धान्ती समाधातुमुपक्रमते—**अत्रेति**। तत्राविद्याया जडनिष्ठत्व तावन्न सभवति। अविद्येतरजडस्य तज्जृम्भणतया कारणस्य कार्याश्रितत्वायोगादप्रतीतिप्रसङ्गाच्च। न हि सा स्वप्रकाशा, तस्या आश्रयोऽपि चेज्जड, **केनैषा** प्रकाश्येत ? तस्मात्तन्निष्ठत्व वक्तव्य यत्प्रकाशादेषापि प्रकाशत इति चैतन्यनिष्ठत्वमायाति। तत्रापि न जीवाश्रया, पूर्वोक्तदोषात्। यथा वक्ष्यते—'अनङ्गीकारपरास्ता' इति। नच ब्रह्मपक्षेऽपि दोषसाम्यम्, तदसिद्धेरित्यभिप्रेत्य ब्रह्माश्रितत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहरति—**यत्तावादित्यादिना। स्वरूपत इति**। द्वेधा हि सर्वज्ञत्व सभवति

क्योकि (आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्व चेति सन्ति धर्मा) आनन्द, विषयानुभव और नित्यत्व आत्मा के धर्म है। इसप्रकार से पञ्चपादिका मे साक्ष्यो के भी साक्षी धर्मत्व का स्वीकार किया है। और (आकाश, विशेष गुण वाला व्यापक द्रव्य = आत्मा से अन्य है। द्रव्य होने से, घटवत्) इस अनुमान से भी आत्मा के सुखादि विशेष गुणवत्त्व की सिद्धि होती है। और विशेष गुणवत्त्व की सिद्धि होने पर उन गुणो की व्यवस्था से उन आत्माओ के नानात्व की सिद्धि होती है।

(अत्रोच्यते) पूर्व पक्ष होने पर अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि जो कहा है कि ब्रह्म के सर्वज्ञ होने से ब्रह्म की अविद्या नही हो सकती है, यह कथन अयुक्त है, क्योकि—

स्वरूप से और प्रमाण द्वारा दो प्रकार के सर्वज्ञत्व स्थिर होना है। वह दोनो प्रकार का सर्वज्ञत्व अविद्या के सम्बन्ध के बिना नही सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

स्वरूपप्रज्ञया चेत्सर्वज्ञत्व ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते, तदा असङ्गस्य ब्रह्मणो नाविद्यामन्तरेणाशेषार्थसगतिरिति सर्वज्ञत्वोपपत्त्यर्थमेव साभ्युपगमनीया। प्रमाणत सर्वज्ञत्वेऽपि प्रमातृत्वस्य प्रमाणप्रमेयसबन्धस्य चाविचारितरमणीयानाद्यविद्यासबन्धमन्तरेणासिद्धे सर्वज्ञत्वमविद्यावत्तामाक्षिपति, न तु प्रतिपक्षिपतीति कुतो विप्रतिषेध ? ननु प्रकाशरूपस्य कथमप्रकाशरूपाविद्याश्रयत्व परस्परविरोधिनोस्तम प्रकाशयोरिवाधाराधेयभावानुपपत्तरिति चेत्, मैवम्, विकल्पासहत्वात्। किमप्रकाशशब्देन प्रकाशाभाव ?

स्वभावभूतप्रज्ञया वा यथा तावकेश्वरस्य, प्रमाणजनितप्रज्ञया वा यथा वा तावकयोगिनामुभयथाप्यविद्यासबन्धमन्तरेण नोपपद्यते इति श्लोकार्थ। विवृणोति— **स्वरूपेत्यादिना**। यथा दृग्दृश्ययोराध्यासिक एव सबन्धो नान्यस्तथोपपादित प्रथमपरिच्छेदे मिथ्यात्ववादे। **प्रमातृत्वस्येति**। प्रमाणजनितज्ञानाकारपरिणामी प्रमाता नाम। नच निर्विकल्पकचिन्मात्रात्मन परिणामसभव, नापि केवलजडबुद्धेरनध्यस्तताया प्रकाशाभासपरिणाम। तस्मादविद्यात्मनोरितरेतराध्यासविलसित प्रमाता, स चेन्द्रियाद्यधिष्ठाता, इतरथा तेषा करणत्वमस्य कर्तृत्व च नोपपद्यत इति। नच तेष्वह ममाभिमानहीनस्य तदधिष्ठातृत्वमस्ति, परव णेष्वदर्शनात्। नचासङ्गस्याविद्याध्यासमन्तरेण तादृगभिमानसभव। प्रमाणप्रमेययो सबन्धस्य चाध्यासिकत्वमधस्तादेवोपपादित तत्प्रमाणजनितमपि सर्वज्ञस्वमविद्यावत्त्वकल्पकमेवेत्यर्थ। एवमविद्याश्रयत्व सर्वज्ञत्वमनुरुणद्धि नतु विरुणद्धित्युक्तम्, स्वरूपविरोधमाशङ्क्य परिहरति—**ननु प्रकाशेत्यादिना**। विद्याया प्रकाशत्वमभिप्रेत्य नञ कोऽर्थोऽभिप्रेत इति विकल्प्य प्रथमेऽसिद्धिमाह—**नाद्य इति**। द्वितीये व्याप्त्यसिद्धिमाह—

अर्थात् स्वरूप प्रज्ञा (स्वरूप ज्ञान) और प्रमाणजन्य ज्ञान से सर्वज्ञत्व माना जाता है, जहाँ स्वरूप प्रज्ञा से ईश्वर मे और प्रमाण प्रज्ञा से योगी मे सर्वज्ञत्व माना जाता है। वहाँ स्वरूप प्रज्ञा से यदि ब्रह्म को सर्वज्ञ माना जाता है, तो असङ्ग ब्रह्म को अविद्या = माया के बिना, अशेष = सर्व अर्थ के साथ सङ्गति (सम्बन्ध) नही हो सकती है। और सम्बन्ध के बिना सर्वज्ञत्व नही हो सकता है। अत सर्वज्ञता की सिद्धि ही के लिये वह अविद्या = माया ब्रह्म की स्वीकर्तव्य है। और प्रमाण से सर्वज्ञत्व मे भी प्रमातृत्व = प्रमाणजनित ज्ञानवत्त्व की ओर तदर्थक प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्ध की अविचारितरमणीय (अनिर्वाच्य) अनादि अविद्या के सम्बन्ध बिना सिद्धि नही हो सकती है। अत सर्वज्ञत्व अविद्यावत्ता को आक्षेप करता है, प्रतिक्षेप, निवारण नही करता है। तो विरोध कैसे हो सकता है ? यदि शका हो कि प्रकाशस्वरूप ब्रह्म को अप्रकाशस्वरूप अविद्या का आश्रयत्व कैसे होगा। क्योकि तम और प्रकाश के समान परस्पर विरोधी को आधाराऽधेयभाव बन नही

उत प्रकाशादन्यत् ? तद्विरुद्ध वा विवक्षितम् ? नाद्य, अविद्याया भावाभाव-विलक्षणत्वेनाभावत्वानभ्युपगमात्। द्वितीये तु दृष्टान्ताभाव, किं खलु चित्प्रकाशादन्यत्तदाश्रय न भवतीति मा प्रत्युदाह्रियेत ? सर्वस्य जडस्य चित्प्रकाशाश्रयत्वाभ्युपगमात्। तदेकाश्रयस्य तेन सह विरोधासभवान्न तृतीयोऽपि। न चाविरुद्धत्वादनिवृत्ति, वेदान्तवाक्यजनितेन ब्रह्मैकाकारेण विज्ञानेन तदवच्छिन्नेन वाचित्प्रसाशेन तन्निवृत्युपपत्ते । न च विज्ञानस्य

द्वितीय इति। नाविद्या चैतन्याश्रया चैतन्यान्यत्वादिति हि तदा साधनीयम्। नचैव क्वचिदपि व्याप्तिर्मा प्रति सप्रतिपन्नास्ति, प्रत्युत विरुद्धश्च, विद्यातिरिक्तस्य चिदेका-यतनत्वेन व्याप्तेरित्यर्थ । चिदेकाश्रयता मत्त्रा नस्य मम विरोधपक्षो दूरधून इत्याह—**तदेकेति।** ननु यदि नाविद्याया विज्ञानेन विरोधस्तर्हि नेन न विनिवर्त्येते-त्यनिर्मोक्षो ब्रह्माश्रयवादिनामिति तत्राह—**न चाविरुद्धेति।** यद्यपि स्वरूपचैतन्य न निवर्तकमविद्यायास्तदाश्रयत्वात्तत्प्रकाशकत्वात् नित्यनिवृत्तिप्रसङ्गाच्च, तथापि वाक्यजनितब्रह्माकारचित्तवृत्तिफलकारूढचैतन्य तच्छायोपेता वा चित्तवृत्तिरविद्या-निर्वर्तिका 'बुद्धीद्धो बोधो बोधेद्धा बुद्धिर्वा अविद्यानिवृत्तिहेतु' इति हि वृद्धा इति भाव । **विज्ञानस्येति।** अन्त करणपरिणामस्येत्यर्थ । नन्वविद्याकार्येणान्त करण-

---

सकता है, तो यह शका युक्त नही है, क्योकि विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि अप्रकाश शब्द से, क्या, प्रकाशाभाव विवक्षित है, या प्रकाश से अन्य विवक्षित है, अथवा प्रकाशविरुद्ध विवक्षित है, इनमे प्रथम पक्ष युक्त नही, क्योकि अविद्या मे भावाभाव से विलक्षणत्व होने के कारण उसमे अभावत्व नही माना जाता है, अत प्रकाशस्वरूप का विरोध नही होता है। दूसरे पक्ष मे तो दृष्टान्त का अभाव है, क्योकि कौन चित्प्रकाश स्वरूप ब्रह्म से अन्य वस्तु है कि जिसका आश्रय ब्रह्म नही होता है, और उसका मेरे प्रति उदाहरण दिया जाय कि अमुक वस्तु ब्रह्म से अन्य है, यह ब्रह्माश्रित नही है, वैसे ही अविद्या भी ब्रह्माश्रित नही रह सकेगी। क्योकि सभी जड वस्तु को चित्प्रकाश ब्रह्माश्रित माना जाता है, अत वह एक ब्रह्म ही जिसका आश्रय है, उसको उस ब्रह्म के साथ विरोध असम्भव है, अतएव तद्विरुद्धत्व रूप तृतीय पक्ष भी युक्त नही है। यदि कहा जाय कि अविद्या को विज्ञान स्वरूप ब्रह्म से यदि विरोध नही है, तो उसकी विज्ञान से निवृत्ति नही होगी। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सामान्य प्रकाश के समान सामान्य-चित्स्वरूप ब्रह्म अविद्या के आश्रय होने से अविद्या का निवर्तक नही है, तो भी वेदान्तवाक्य से जन्य ब्रह्मैकाकार विज्ञान से या उस विज्ञान युक्त चेतन मे उस अविद्या की निवृत्ति की सिद्धि होती है। यदि शका हो कि वेदान्तजन्य अन्त करण की वृत्ति रूप विज्ञान से अविद्या आदि की निवृत्ति होने पर भी वृत्तिरूप विज्ञान के

निवर्तकान्तराभावदनिवृत्ति, भावे वा तन्निवर्तकान्तरस्याभ्युपगन्तव्यत्वादनवस्थेति वाच्यम्, कारणनिवृत्त्यैव तन्निवृत्तेरप्यत्र सिद्धत्वात्। न च कार्येण कारणस्यानिवृत्ति। सस्कारेण तज्जनकस्य ज्ञानस्य स्मरणेन तज्जनकसस्कारस्यान्त्यशब्देनोपान्तशब्दस्य च परीक्षकैर्नाशाभ्युपगमात्। लौकिके चारणिप्रभववेनाशुशुक्षणिनाऽरेणे कदलीफलोद्गमेन वा कदलीकाण्डादे प्रत्यक्षदर्शनाच्च।

ननु भवत्वेव ब्रह्माश्रया अविद्या, तस्याश्च को विषय? कि स्वयमेव ब्रह्म? उत द्वैतम्? उभय वा? सर्वथाप्यनुपपन्नम्, सर्वज्ञस्य तत्तद्विषयज्ञाने

परिणामेन कथ कारणाविद्यानिवृत्तिरविरोधात्। नहि जातु घटेन मृन्निवर्तमाना दृष्टचरीति तत्र लौकिकपरीक्षकाणा बहुश समतत्वादित्याह—**न च कार्येणेत्यादिना।** ननु निमित्तनिवर्तकत्वेऽप्यसमवायिनिवर्तकत्व न दृष्टमिति तत्राह—**अन्त्यशब्देनेति।** अथोपादाननिवर्तकत्व न दृष्टचरमिति ब्रूयात्त प्रत्याह—**कदलीति।**

एवमविद्याश्रय निरूप्य तद्विषय निरूपयति—**ननु भवत्वेवमित्यादिना।** ज्ञायमाने विषये अविद्या न सभवतीत्युक्त पूर्वपक्षिणा, तदसिद्धमित्याह—**मां न**

निवर्तकान्तर के अभाव से उस विज्ञान की मोक्षावस्था मे भी निवृत्ति नही होगी, और यदि विज्ञानान्तर रूप निवर्तक का भाव हो तो अनवस्था होगी, तो यह शका भी युक्त नही, क्योकि आश्रयाश अग्नि के समान अविद्या अन्त करण रूप कारण की निवृत्ति से ही उस विज्ञान की निवृत्ति भी यहाँ सिद्ध होती है, उसकी मोक्ष मे सत्ता नही रहती है। यदि कहे कि अविद्या के कार्य अन्त करण के परिणाम रूप विज्ञान से कारण रूप अविद्या की निवृत्ति नही हो सकती है, क्योकि घट से मृत्तिका की निवृत्ति नही होती है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि सस्कार से सस्कारजनक ज्ञान की निवृत्ति होती है, स्मरण से स्मरणजनक सस्कार की निवृत्ति होती है, अन्त्य शब्द से उपान्त (अन्त्य से अव्यवहित पूर्व) शब्द की निवृत्ति मानी जाती है, इसप्रकार से परीक्षको ने कार्य से कारण का नाश माना है। और लौकिक व्यवहार मे अरणिजन्य अग्नि से अरणि का, कदली फल की उत्पत्ति से कदली काण्डादि का नाश देखा जाता है।

यदि कहा जाय कि उक्त रीति से ब्रह्माश्रय वाली अविद्या हो, तो भी उसका विषय (उससे आवरणीय) क्या है, क्या स्वय ब्रह्म ही विषय है, या द्वैत जगत् विषय है, या दोनो है। सर्वथा ही अविद्या विषयत्व अनुपपन्न (असिद्ध) है। सर्वज्ञ ब्रह्म को तत्तत् विषयो के ज्ञान रहते तत्तद् विषय के अज्ञान का असम्भव है, क्योकि ज्ञायमान विषय की अविद्या नही रह सकती है। तो यह कहना युक्त नही है,

सति तत्र तत्राज्ञानासभवादिति चेत्, मैवम्, मां न जानामि त्वदुक्तमर्थं न जानामीति चावभासमानेऽपि विषये तस्या स्वानुभवसिद्धत्वात्। जडस्याविद्यानिर्मितत्वेन तद्विषयविद्यानुपपत्तौ तन्निवर्त्याविद्यायास्तत्रासभवाच्च। जीवाश्रयाविद्यापक्षोद्भावितास्तु दोषास्तदनङ्गीकारादेव परास्ता। यत्तु ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वे विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षव्यवस्था न स्यादिति, तदसत्, यावदविद्य सर्वव्यवस्थाना स्वप्नवदुपपत्ते। निवृत्ताया तस्या न काचिदपि व्यवस्था। न चाविद्यानिर्मितस्य गुरो. कल्पितत्वेन विद्यावत्त्वा-

---

जानामीति। यथाच ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नविषयताऽसभव तथोपपादित भावरूपाज्ञानवादे। किंच विद्याविद्ययोस्तावत्समानविषयत्व वक्तव्यमितरथातिप्रसङ्गात्। **नच** जगद्विषयिणी विद्या सभवतीति विषयचैतन्यमेवाविद्याया अपि विषय इत्याह—**जडस्येति**। एव ब्रह्माश्रयत्वपक्षोक्तदूषणानि परिहृत्य जीवाश्रयत्वपक्षोक्तदोषाननङ्गीकारेण परिहरति—**जीवेति**। दूषणान्तरमनूद्य दूषयति—**यत्त्वित्यादिना**। तत्र किमनिवृत्तायामविद्याया व्यवस्थाभाव ? निवृत्ताया वा ? आद्ये प्राह—**यावदिति**। द्वितीये प्राह—**निवृत्तायामिति**। ननु भवतु स्वप्नवद्विद्यावतो गुरो कल्पितत्व न।पि कल्पितस्या।र्थक्रियानुपपत्तिस्तथापि परमार्थ कोऽपि न निरूपित स्यात, तत्तच्छिष्याणामपि स्वस्वशिष्यगुरुतया कल्पितत्वादित्युक्तदोषोऽपरिहार्य इति, तत्राह—**न च**

क्योकि (मा न जानामि। त्वदुक्तमर्थं न जानामि) मैं अपने को नही जानता हू। आप से कहे अर्थ को नही जानता हू। इस प्रकार से अवभासमान = सामान्य रूप से प्रकाशित ज्ञात विषय मे भी उस अविद्या के स्वानुभव सिद्धत्व है। और जड वस्तु के अविद्या से निर्मित होने के कारण, जडविषयक विद्या की अनुपपत्ति होने पर, उस विद्या से निवर्तनीय अविद्या का भी जड मे होना असम्भव है, अर्थात् समानविषयक ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होता है, अत ब्रह्मज्ञान से निवर्तनीय अविद्या ब्रह्मविषयक रहती है। और जीवाश्रित अविद्या को नही मानने से ही जीवाश्रित अविद्या पक्ष मे कथित दोष निरस्त हो गये। और जो कहा था कि ब्रह्म विषयक ही अविद्या के होने पर ज्ञानी-अज्ञानी गुरु-शिष्य बन्ध-मोक्षादि की व्यवस्था नही होगी, यह कहना अयुक्त है। क्योकि अविद्या जबतक रहती है, तबतक सब व्यवस्था की स्वप्न के समान सिद्धि होती है। और उस अविद्या के निवृत्त होने पर कोई व्यवस्था नही रहती है। न उसका फल रहता है। यदि कहे कि स्वप्नतुल्य व्यवस्था होने पर स्वप्नतुल्य अविद्या से निर्मित गुरु के कल्पित = मिथ्या होने से विद्यावत्त्व की गुरु मे अनुपपत्ति होगी, तो यह कहना भी युक्त नही, स्वप्न के ही समान गुरु की विद्यावत्ता रूप से ही कल्पना की सिद्धि होती है। और यदि कहे

नुपपत्ति, स्वप्न इव विद्यावत्तयैव कल्पनोपपत्ते । न च गुरो शिष्याविद्याकल्पितत्वे शिष्याणामपि स्वीयस्वीयशिष्याविद्याकल्पितत्वान्न कोऽपि परमार्थ स्यादिति वाच्यम्, विकल्पासहत्वात् । गुरुशिष्यादिशब्दै कि केनचित्परिच्छेदेन कवलीकृत चैतन्यमभिधीयते ? कि वा निरस्तसमस्तभेदम् ? नाद्य, परिच्छिन्नस्य परिकल्पितत्वादेवाविद्याश्रयत्वानुपपत्ते । द्वितीये तु सिद्धसाधनम्, यस्मादस्माभिरप्येतदेवाभिधीयते——विध्वस्तसमस्तविकल्प चिन्मात्रमेव ब्रह्म स्वाविद्यापरिकल्पितास्तत्तद्विकल्पान् पश्यत् ससरतीति । तादृशमेव चाकारमभिप्रेत्य गुरुरिति शिष्य इति चाभिलप्यते, न तु परिच्छिन्न कचनाकारम् । न चेत्परिच्छिन्नानामविद्या कथ तर्हि मदविद्यानिर्मितस्त्व मदविद्यानिर्मितस्त्वमिति वादिप्रतिवादिनोरन्येषा च

गुरोरिति । शिष्याविद्याकल्पितो गुरुरिति वदतामस्माक शिष्यशब्देन किमवच्छिन्नचैतन्यमभिप्रेतमित्यबुध्यत भवान् ? अनवच्छिन्न वा ? आद्येऽनधिगतपराभिसधिरायुष्मान्, नह्यस्माभिरविद्याकल्पितस्य चिदवच्छेदस्याविद्याश्रयत्वमभ्युपेयते । कस्तर्हि शिष्यशब्दार्थ ? अज्ञातमात्रमनवच्छिन्न चैतन्यमित्यवगच्छतु भवान् । द्वितीये त्विष्टप्रसक्तिस्तदेतदभिप्रेत्याह—**विकल्पासहत्वादित्यादिना ।** अनुभवविरोध शङ्कते — **न चेत् परिच्छिन्नानामिति ।** यथाहि—स्वप्नदृश्यपुरुषाणामज्ञानितया शिष्यगुर्वादिभेदेन प्रतीयमानानामपि नाज्ञानित्वम्, किंतु यस्तान्सर्वानवच्छेदान् कल्पयन्पश्यति तन्निष्ठैवाविद्या तन्निवर्तकविद्या च । एवमिहापि सकलकल्पनासाक्षिभूतचैतन्यस्याविद्ययैव तथाविधकल्पनोपपत्तेर्नाय व्यवहारोऽवच्छेदेष्वविद्याकल्पक इति परिहरति—

कि गुरु के शिष्य की अविद्या से कल्पित होने पर, शिष्यो को भी अपने अपने शिष्यो की अविद्या से कल्पित होने के कारण कोई भी परमार्थ नही होगा, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि यह कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि गुरु शिष्यादि शब्दो के द्वारा क्या किसी परिच्छेद = उपाधि से कवलीकृत = उपहित = उपाधिविशिष्ट चैतन्य कहा जाता है, या समस्त उपाधि भेदरहित कहा जाता है । वहाँ प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योकि परिच्छिन्न के कल्पित = मिथ्या होने ही से उसको अविद्या के आश्रयत्व की सिद्धि नही हो सकती है, अत शिष्यत्व भी नही हो सकता है । दूसरे पक्ष मे सिद्ध का साधन है, क्योकि मै भी यही कहता हू कि सब विकल्प = भेद से रहित चेतन मात्र ब्रह्म अपनी अविद्या से कल्पित (सिद्ध) तत्तद् विकल्पो = भेदो को देखता हुआ ससारी होता है । और वैसा ही आकार के अभिप्राय से गुरु और शिष्य यह भी कहा जाता है, परिच्छिन्न किसी आकार को नही कहा जाता है । यदि, शका हो कि, यदि परिच्छिन्नो की = परिच्छिन्नाश्रित अविद्या नही है, तो मेरी अविद्या से निर्मित तुम हो । मेरी अविद्या से निर्मित तुम

कोलाहल इति चेत्, मैवम, विनैव तत्तत्परिच्छेदेष्वविद्या स्वप्ने इव परस्मिन्नेव ब्रह्मणि गुरुरिति शिष्य इति चायमिति चाहमिति चैकस्मिन्नेव नानाप्रतिभास स्वप्नदृशीव चिदात्मनीत्युक्तत्वादित्यल मतिकर्दमेन ।

एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेद गुरु शास्तीत्यत्राभिहितोपालम्भः परास्त, परमार्थेन उत्पन्नविद्यो मुक्तश्च कश्चिच्छास्तीत्यनङ्गीकारात् । अविद्यानिर्मिते च गुरौ स्वाप्न इव कस्मादित्थ कुरुते कस्मान्नेति पर्यनुयोगायोगात । यत्पुनरनादौ ससारे न कश्चिदपि मुक्तश्चेद्भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशा न सभवति, विद्योत्पत्तिरप्यनुपपन्ना गुरुसप्रदायाभावादिति, तदपि प्रत्युक्तम्, शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति मुक्तिरिति प्रत्याशोपपत्ते । न च गुरुसप्रदायाभाव, विद्वत्तया परिकल्पितगुरोस्तदुपपत्तेरुक्तत्वात् । प्रथम-

---

मैवम्, विनेति । एतेन स्वात्मानमेव कल्पितभेद गुरु शास्तीत्येतदपि समर्थितम । गुरुशब्देनावच्छिन्नानभिलापादित्याह—**एतेनेति** । यत्तु न पृथगुपदिशेद् उपदिशन्वा मन्मुक्त्यैव मुक्तस्त्वमित्युपदिशेदित्युक्तम्, तत्राह—**अविद्यानिर्मिते इति** । **शास्त्रप्रामाण्यादेवेति** । अत्र वामदेवादिमुक्तिप्रतीतेस्तावन्न विरोध, स्वप्न इव

हो । इसप्रकार से वादी-प्रतिवादियो का या अन्य किसी का कोलाहल (विवाद) कैसे होता है, इससे तो स्पष्ट परिच्छिन्न वृत्ति अविद्या सिद्ध होती है, यह शका भी युक्त नही, क्योकि तत्तत् परिच्छेदो = उपाधियो मे अविद्या के बिना ही स्वप्न के समान परब्रह्म मे ही, गुरु यह, शिष्य यह, और यह है, मै हू । एक ही मे नाना का प्रतिभास स्वप्नद्रष्टा के समान चिदात्मा मे होता है, यह कह चुका हू । आगे मतिमालिन्य की आवश्यकता नही है । उज्ज्वल मति से यह ज्ञातव्य है ।

इसीसे कल्पित भेद वाली अपनी आत्मा को ही गुरु उपदेश देता है, इस विषयक उपालम्भ प्रशस्त हो गया, क्योकि गुरु शब्द से निरुपाधिक ब्रह्म कहा जाता है । और परमार्थ रूप से उत्पन्न विद्या वाला कोई मुक्त पुरुष उपदेश देता है । यह नही माना जाता है । और जो प्रथम कहा था, कि एकात्मवाद मे तत्त्वमसि, इत्यादि उपदेश गुरु को नही करना चाहिये, यदि उपदेश करे, तो भी तुम मेरी मुक्ति से हो मुक्त हो, साधनानुष्ठान की आवश्यकता नही है, यह कहना युक्त नही, क्योकि स्वप्न के समान अविद्या निर्मित गुरु मे, ऐसा क्यो करता हे, ऐसा क्यो नही करता है, इत्यादि प्रश्न नही बन सकता है । और जो कहा था अनादि ससार मे यदि कोई मुक्त नही हुआ है, तो मुक्ति होगी, ऐसी मुक्ति की आशा नही हो सकती है, और गुरु सम्प्रदाय के अभाव से विद्या की उत्पत्ति नही हो सकती है । वह भी खण्डित हो गया, क्योकि शास्त्रप्रमाण से ही मुक्ति होगी ऐसी प्रत्याशा की सिद्धि होती है, गुरुसम्प्रदाय का अभाव भी कहना युक्त नही है, क्योकि विद्यावत्ता रूप से

प्रयोगे च पारमार्थिकान्योन्याभाववत्त्वसाधने साध्यविकलो दृष्टान्त, अद्वैतवादिभि घटस्यापि वास्तवान्योन्याभावानभ्युपगमात् । व्यावहारिक-साधने च सिद्धसाधनत्वात् । द्वितीयप्रयोगे च कालात्ययावदिष्टता, 'एको देव सर्वभूतेषु गूढ' इति श्रुत्या बाधात् । न चैषा श्रुतिरीश्वरपरा, अप्रसक्त-निषेधप्रसङ्गात् । नहीश्वरस्य प्रतिभूत भेदो लोकतो वेदत परीक्षकसमत्या

मुक्तामुक्तकल्पनाया सभवात् । नच तत्तच्छास्त्रप्रतिपादिनतया स्वप्नवैलक्षण्यमपि मन्तव्यम्, तत्तच्छास्त्राणामतत्परत्वात् । नच देवताधिकरणन्याय, अद्वितीयासङ्ग-चैतन्यब्रह्मविद्यासबन्धप्रतिपादकश्रुतितदुद्भवयुक्तिजातविरोधे तन्नचायानवनारात् । अखिलकल्पनानिवृत्तिस्तु चैतन्ये शास्त्रप्रामाण्यादेव भविष्यति । नच नदप्यनत्परम्, मुक्तौ तात्पर्यलिङ्गावगमात् भवदङ्गीकाराच्च । यथाच सर्वमुक्तित्वादिना द्वैतिनामित पूर्वमसजातापि मुक्ति सर्वजीवाना शास्त्रप्रमाण्यादेव भविष्यतीत्यध्यवसीयते । अथानुमानात्तत्राध्यवसायस्तदत्रापि तुल्यम् । शदयते हि यो यत्साधनमनुतिष्ठतीति व्याप्तिर्ग्रहीतुम्, विभ्रमत्वादिति वाऽविशेषत इति भाव । यत्त्वात्मभेदे प्रमाणमुक्तम—आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववानिति, तत्र पारमार्थिकतद्वत्त्व साध्यते ? व्यावहारिक वा ? उभयथापि दूषणमाह—**प्रथमप्रयोग इत्यादिना** । द्वितीयानुमाने दूषणमाह—**द्वितीयेति** । तत्र तावदात्मना परस्परभेदो न सिध्यति, आत्मनि भेदमात्रसाधनात्, तस्य च दृश्यप्रतियोगिकतयाप्युपपत्ते, तस्याप्यवस्थिति वदतो भेदखण्डनोक्तदोषा आवर्तनीया । भवतु चात्मभेदपरता तथापि कालात्ययापदेश इत्यर्थ । सत्प्रतिपक्षत्व चास्य मिथ्यात्ववादेऽस्माभिरुपदर्शितम् । ईश्वरेऽप्रसङ्ग-मेवाह—**न हीश्वरस्येति** । किंच सर्वभूतान्तरात्मत्वव्यपदेशादपि प्रत्यगात्मन एवाय-मेकत्वव्यपदेश, न तटस्थेश्वरस्य । यात्वन्तर्यामितया तटस्थेश्वरपक्षेऽप्यन्यथासिद्धि-

कल्पित गुरु से ही उस उपदेश की सिद्धि को कहा जा चुका है। और जो आत्मभेद मे अनुमान कहा है कि (आत्मा, आत्मप्रतियोगिक अन्योन्याभाववान्, लक्ष्यत्वात्, घटवत्) इस प्रथम प्रयोग मे पारमार्थिक अन्योन्याभाववत्त्व को साधने पर दृष्टान्त मे साध्यविकलता होती है। क्योकि अद्वैतवादी घट को भी वास्तविक अन्योन्या भाववान् नही मानते है। और व्यावहारिक भेद को साधने पर सिद्धसाधनता होती है । और (आत्मा आत्मवृत्ति मिथ्याभेदातिरिक्त भेदवान्, लक्ष्यत्वात्, घटवत्) इस दूसरे प्रयोग मे कालात्ययापदिष्ट (बाध) दोष है। क्योकि (एको देव सर्वभूतेषु गूढ) इस श्रुति से भेद का बाध होता है। यह श्रुति ईश्वरपरक है, ऐसा नही कह सकते है। क्योकि ईश्वरपरक होने पर, अप्रसक्त=अप्राप्त का प्रतिषेध-परत्व श्रुति को प्राप्त होगा। क्योकि सब प्राणी मे ईश्वर का भेदन लोक से प्राप्त है, न कि वेद से प्राप्त है, न परीक्षको विद्वानो की सम्मति से प्राप्त है कि जिसका,

वा प्रसक्त । न च तस्यापि नियन्तृतया सर्वभूतान्तरावस्थान 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति श्रुतेरिति वाच्यम्, आत्मेश्वरभेदाभावस्य तत्र तत्र श्रुतिषु बहुश प्रतिपादनात् । अन्तर्यामिब्राह्मणे च 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता' इत्यात्मभेदनिराकरणात्, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इति चौपाधिकस्यात्मनो घटाकाशस्य महाकाशाधीनत्ववत्स्वानुगतात्माधीनतामात्रप्रतिपादनपरत्वात्, अन्यथा नित्यद्रव्याणा स्वतन्त्राया परस्पराधाराधेयभावानुपपत्तेरनङ्गीकाराच्च श्रुतेरानर्थक्यप्रसङ्गात् ।

रुक्ता, तामनूद्य निराचष्टे—**न च तस्यापीति** । नच वाच्यमित्यन्वय । न केवल श्रुत्यन्तरे, अन्तर्यामिब्राह्मण एवात्मभेदो निराकृत इत्याह—**अन्तर्यामीति** । ननु तर्हि 'य आत्मनि तिष्ठ'न्नित्यात्मेश्वरयोराधाराधेयभावस्य का गतिरित्यत्राह—**य आत्मनीति** । यथाहि घटाकाशे महाकाशो वर्तत इति व्यपदिश्यते, तत्स्वरूपतया तत्रानुगतत्वात्, अत एव च महाकाशाधीनो घटाकाश इति व्यवहार, तद्वदत्राप्यौपाधिकजीवात्मन स्वरूपत्वात्परमात्मा तत्र निष्ठन्निति तन्नियमयतीति च परमेश्वराधीनताप्रतिपादनार्थोऽय व्यपदेश इत्यर्थ । किंच त्वत्पक्षेऽपि न मुख्योऽर्थ सभवति, नित्यद्रव्ययो परापरात्मनो परस्पराधाराधेयभावानुपपत्ते, व्यापित्वाच्च न कुण्डबदरन्याय, तस्मादनिच्छतापि नैरर्थक्यपरिहारायोक्तपरिहार स्वीकर्तव्य इत्याह—**अन्यथेति** ।

एको देव,, इससे निषेध किया जा सके । अत सर्वभूतान्तरात्मत्व के कथन से भी प्रत्यगात्मा का ही एकत्व श्रुति मे कहा गया है, इसीसे अनुमान का बाध होता है । यदि कहे कि ईश्वर की भी सर्वभूतो के अन्तर मे स्थिति है । यह (य आत्मनि निष्ठन्) इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि आत्म, और ईश्वर के भेद के अभाव का तत्र तत्र बहुत श्रुतियो मे प्रतिपादन किया गया है, अर्थात् अन्तर्यामी श्रुनि मे ही (एष त आत्मा) यह तेरा आत्मा है ऐसा कहा गया है । और भी अन्तर्यामी ब्राह्मण मे ही (इस आत्मा से अन्य द्रष्टा श्रोता मन्ता आदि नही है) इत्यादि वचनो से भेद का निराकरण किया गया है । यदि कहे कि (य आत्मनि तिष्ठन्) इससे आत्मा और ईश्वर मे आधाराधेयभाव सुना जाता है अभेद पक्ष मे इस श्रुति की सङ्गति कैसे होगी तो कहा जाता है कि उपाधि युक्त आत्मा को घटाकाश को महाकाश अधीनत्व के समान स्वानुगत आत्माधीनता मात्र प्रतिपादन मात्र परत्व श्रुति को है, सत्यात्मभेदपरत्व नही । क्योकि घटाकाश मे महाकाश रहता है । यह व्यवहार होता है, परन्तु भेद नही रहता है । वैसे ही औपाधिक जीवात्मा के स्वरूप होने से श्रुति कहती है, कि परमात्मा उसमे रहता है, मुख्य आधाराऽऽधेय भाव का सम्भव नही है । अन्यथा मुख्य रूप से कुण्डबदरादि

न च तत्त्वमसीत्याद्युपासनापरम्, तथात्वे प्रमाणाभावात्। तथाहि किं प्रमाणान्तरविरोधादुपासनापरम्? उत स्वार्थे तात्पर्यावगमोपायाभावात्? नाद्य, जीवब्रह्मणो प्रमाणान्तरागोचरतया तद्भेदस्यापि प्रमाणान्तरागोचरत्वात्। बिम्बप्रतिबिम्बयोरिव भेदावभासोपपत्तेश्च। नापि द्वितीय। "तत्त्वमसि" इति नवकृत्वोऽभ्यासाद्, "अनेन जीवेन" इति चार्थवादोपादानाद्, "अथ ये अन्यथाऽतो विदु" इति भेददर्शननिन्दनाद्, "अथ सपत्स्यते" इति फलश्रवणाद् "एकमेवाद्वितीयमैतदात्म्य" इति चोपक्रमोप-

श्रुत्यन्तरस्योक्तान्यथासिद्धि परिहरति—**न च तत्त्वमसीति**। यदि जीवब्रह्मणो भेद प्रमाणान्तरगोचरस्तर्ह्येकत्वग्राहिप्रमाणैरैक्योपदेशो विरुध्येत, न तदस्तीत्याह—**जीवब्रह्मणोरिति**। ननु परमेश्वरविरुद्धधर्मवत्तया तावत्कर्ता भोक्ता दुःख्यहमिति भेदप्रतीतिरस्ति ततस्तद्विरुद्धोऽयमागम इति, तत्राह—**बिम्बेति**। अथवा यदि जीवब्रह्मभेद प्रामाणान्तरागोचर, कथ तर्हि तत्प्रतिभास इति, तत्राह—**बिम्बेति**। न वास्तवभेदसाधिकेयमित्यर्थ। तात्पर्यावगमोपायाभावादिति द्वितीयपक्षेऽसिद्धि दर्शयन्नुपक्रमोपसहाराभ्यासापूर्वताफलार्थवादोपपत्तिलक्षणषड्विधतात्पर्यलिङ्गानि दर्शयति—**नापि द्वितीय इत्यादिना। अथ य इति**। 'अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति' इत्यत्र ये अत उक्तात् ऐक्यज्ञानान् व्यतिरेकेणान्यथा मत्तो भिन्न परमेश्वर अहं च तस्माद्भिन्न ससारीति भेदेन परमेश्वर विदु तेऽन्यराजान

के समान आधाराधेयभाव हो नही सकता है, क्योकि नित्य द्रव्यो की स्वतन्त्रता से परस्पर आधाराधेयभाव की अनुपपत्ति है, और माना भी नही जाता है। उसका प्रतिपादन करने पर श्रुति को अनर्थकता प्राप्त होगी।

और (तत्त्वमसि) इत्यादि को उपासनापरक कहा था, वह कथन भी युक्त नही है। क्योकि उन श्रुतियो के उपासनापरत्व मे प्रमाण का अभाव है, यह दर्शाया जाता है कि, क्या प्रमाणान्नर विरोध से उपासनापरक है। या स्वार्थ मे तात्पर्य ज्ञान के उपाय के अभाव से उपासनापरक मन्तव्य है, वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है, क्योकि जीव ब्रह्म के शास्त्रान्य प्रमाण के अविषय होने से उसके भेद को भी प्रमाणान्तराविषयत्व है, अत भेदग्राही प्रमाणान्तर से अभेद श्रुति को विरोध नही है यदि कहे कि जीव मे कर्तृत्व भोक्तृत्वादि ईश्वर से विरुद्ध धर्म है, तो उसकी बिम्ब-प्रतिबिम्ब के समान भेदावभास से सिद्धि हो सकती है, यह धर्मादि की प्रतीति वास्तव भेद का साधक नही हो सकती है। तात्पर्यावगम के उपाय का अभाव रूप दूसरा पक्ष भी युक्त नही है, क्योकि, तत्त्वमसि, इसका नव बार अभ्यास है, (अनेन जीवेनात्मानुप्रविश्य) इस अर्थवाद का उपपादन है, (अथ येऽन्यथा विदु) यह भेददर्शन की निन्दा है। (अथ सम्पत्स्ये) इससे फल का श्रवण है।

सहारयोरैकरूप्याद्, अपूर्वत्वान्मृदादिदृष्टान्तैश्चोपपादनात् । अन्यत्रापि "अह ब्रह्मास्मि" "स एष इह प्रविष्ट", "योऽन्या देवतामुपास्ते", "स इद सर्व भवति" इत्यादि श्रवणादेकत्वे तात्पर्यावगमात् । "तद्धास्य विजज्ञौ" इति "तरति शोकमात्मवित्" "तमस पार दर्शयति", "भिद्यते हृदयग्रन्थि" "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति विद्याया अविद्यानिवृत्तिब्रह्मात्मभाव फलकत्वश्रवणात्, उपासनाविज्ञानस्याप्रमाणत्वादविद्यानिवर्तकत्वायोगात् । परमार्थतो भिन्नस्यात्मनो ब्रह्मात्मत्वासम्भवात्स्थितस्य नष्टस्य

मन्तस्तदधीनतया स्वाराज्याभावात् क्षय्यलोका भवन्ति अपुनरावृत्तिलक्षणमुक्ति न प्रतिपद्यन्ते, मृत्युरूप ससार च प्रतिपद्यन्त इति भेदनिन्दाश्रवणादित्यर्थ । एव छान्दोग्यश्रुतौ लिङ्गादि दर्शयित्वा बृहदारण्यकेऽपि दर्शयति—**अन्यत्रापीति ।** अतोऽप्युपासनापरत्वमस्य नास्तीत्याह—**तद्धास्येत्यादिना ।** ननूपासनापि विद्यैव, अत सापि किमित्यविद्यानिवर्तिका न भवेत, तत्राह—**उपासनेति ।** न हि उपासनाविधिविषयतात्विकत्वमप्यपेक्षते, योषिदग्न्यादावदर्शनात । क्रियैव चैषोपासना विधेयत्वान्न प्रमिति, नहि प्रमिति पुरुषाधीनात्मलाभा, वस्त्वधीनत्वात्, तस्मादुपासना नाविद्यानिवर्तिकेत्यर्थ । इतोऽप्युपासनापरत्वमयुक्तमित्याह—**परमार्थत इति ।** किमभिन्नस्यैव सतो जीवस्य ब्रह्मणैक्यमुपासनयोत्पाद्यते ? भिन्नस्य वा ?

और (एकमेवाद्वितीयम् । एतदात्म्यमिद सर्वम्) इससे उपक्रम उपसहार की एकरूपता है, और अपूर्वता से मृदादि दृष्टान्तो के द्वारा अद्वैत का उपपादन (साधन) किया गया है, अत तात्पर्यज्ञान के सब लिङ्ग वर्तमान है । इस छान्दोग्य श्रुति के समान ही (अन्यत्र) बृहदारण्यक मे भी तात्पर्यलिङ्गयुक्त श्रुति है कि (अह ब्रह्मास्मि, स इह प्रविष्ट । योऽन्या देवतामुपासते, स इद सर्व भवति) इत्यादि सुनने से एकत्व मे तात्पर्य का ज्ञान होता है। और (तद्धास्य विजज्ञौ) तरति शोकमात्मवित् । तमस पार दर्शयति । भिद्यते हृदग्रन्थि । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति) इत्यादि से विद्या के अविद्या की निवृत्ति और ब्रह्मात्मत्व (ब्रह्मस्वरूपता की प्राप्ति) फलवत्त्व सुना जाता है । और उपासना विज्ञान के अप्रमाण रूप (तत्त्व ज्ञानाभाव रूप) होने से उसमे अविद्या निवर्तकत्व का अभाव रहता है, अत भेद, निन्दा आदि को जो प्रथम उपासनापरक कहा है, वह युक्त नही हो सकता है । और इस वक्ष्यमाण रीति से भी वस्तुत अभिन्न वा भिन्न जीव की ब्रह्मरूप से उपासना नही हो सकती है । क्योकि यदि वस्तुत अभिन्न है, तो भेद के भ्रान्ति से कल्पित होने से विद्या से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है, उपासना से नही । और यदि जीवात्मा परमार्थस्वरूप से भिन्न है, तो परमार्थ से भिन्न आत्मा के ब्रह्मस्वरूपत्व के असम्भव से, स्थित वा नष्ट ब्रह्म से अन्य जीव को, अन्यात्मत्व =

वान्यस्यान्यात्मत्वायोगात्, उपासनपरत्वस्य वक्तुमयुक्तत्वात् । 'वेद भवति, विद्वान् न बिभेति, पश्यन् प्रतिपेदे, को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत' इत्यादिना विद्यातत्फलयो समकालीनत्वप्रतिपादनात्, विधेयज्ञानापूर्वजन्यत्वे च तदयोगात् । 'नेह नानास्ती'त्यत्र च त्वप्रत्ययाश्रवणेन नानात्वस्यानिषेधात्, अप्रसक्तप्रतिषेधप्रसङ्गस्य च पूर्वमेव दर्शितत्वात् । नानाभूतस्य कार्यस्य प्रतिषेधे च कारणादन्यत्र कार्यस्याभावेन वाक्यस्य तन्मिथ्यात्वे पर्यवसानात् । उपासनाविधिपरत्वस्य निषेधादेव भेददर्शननिन्दायास्तत्परत्वायोगात् ।

नाद्य, अभेदस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात्, भेदस्य च तत्र भ्रान्तिमात्रतया विद्यैकनिवर्त्यत्वात् । द्वितीये तु स्थित एव जीवे ब्रह्मैक्यम् ? नष्टे वा ? नोभयथापि, एकत्र विरुद्धत्वादपरत्र स्वरूपनाशेनापुरुषार्थत्वादित्यर्थ । इतोऽप्युपासनापरत्व न घटते, यतो विद्योदयसमसमयमेव मोक्ष श्रूयते श्रुतिषु, उपासनापरत्वे ह्यपूर्वव्यवधानात्तदनुपपत्तेरित्याह—**वेद भवतीत्यादिना** । 'नेह नानास्ति किचने'त्यस्यापि समस्तद्वैतनिषेधपरत्वमुपपादयति—**नेहेति** । व्याख्यातश्चाय मिथ्यात्ववादे ग्रन्थ । भवतु ब्रह्मणि नानाभूतवस्तुनिषेधस्तथापि कथ मिथ्यात्वसिद्धिर्यावतान्यत्रापि सत्त्व सभाव्येतेह निषिद्धघटवादिति, तत्राह--**कारणादन्यत्रेति** । यत्तु भेददर्शननिन्दाऽभेदोपसनाविधिपरा न त्वतत्परेत्युक्तम, तत्राह—**उपासनेति** ।

ब्रह्मस्वरूपत्व हो नही सकता है, अत अभेदबोधक श्रुतियो के उपासनापरत्व कथन अयुक्त है । और (वेद भवति, विद्वान् न बिभेति, पश्यन् प्रतिपेदे । को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत) जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म होता है । विद्वान् किसी से डरता नही है । आत्मदर्शन करते ही सर्वात्मता को प्राप्त किया । एकत्व को प्रत्यक्ष जानने वाले को कौन मोह और शोक रहता है, कोई नही, इत्यादि श्रुतियो से विद्या और उसके फल की समकालता का प्रतिपादन किया गया है । विधेय उपासना ज्ञान (अनुष्ठान) जन्य अपूर्व (अदृष्ट) जन्यत्व फल मे हो, तो यह फल की समकालता हो नही सकती है । और (नेह नानाऽस्ति किञ्चन) यह श्रुति ब्रह्म मे सत्यद्वैत का निषेध करती है, ब्रह्म के नानात्व का नही । क्योकि नाना शब्द के आगे त्व प्रत्यय के अश्रवण से नानात्व का निषेध नही सिद्ध हो सकता है, और नानात्व के निषेध मे अप्रसक्त (अप्राप्त) के प्रतिषेध का प्रसङ्ग प्रथम दर्शाया गया है कि ब्रह्म मे नानात्व किसी प्रमाणादि से प्राप्त नही है कि जिसका निषेध हो सके । और नाना स्वरूप कार्य के निषेध करने पर तो, सर्व कारण ब्रह्म से अन्यत्र कार्य के अभाव होने से, कारण ब्रह्म मे भी कार्यों के निषेधक वाक्य का कार्य के मिथ्यात्व मे पर्यवसान (तात्पर्य निश्चय) होता है । और उपासनाविधिपरत्व के

द्वासुपर्णेत्यादेश्च लोकसिद्धभेदानुवादकत्वात् लोकसिद्धत्वेऽपि भेदस्य देहात्मभाववत् सवितृप्रादेशिकत्वादिवच्च प्रामाणिकत्वाप्रसङ्गात्। व्यवस्थानुपपत्तेश्च दुर्निरूपतया भेदासाधकत्वात्। व्यवस्थाशब्देन धर्मभेदमात्राभिधाने दाहापाकादेरिव धर्मिभेदासाधकत्वात्। भिन्नाधिकरणधर्मभेदाभिधाने चान्योन्याश्रयत्वात्। परस्परविरुद्धधर्मोक्तौ च विरोधस्य विचारासहत्वात्, सहानवस्थानस्यासिद्धे, एकस्मिन्नप्यात्मनि पादे मे वेदना

यास्त्वात्मभेदे श्रुतय पूर्वपक्षिणोदाहृतास्तासा कल्पितभेदविषयतयान्यथासिद्धिमाह—**द्वासुपर्णेत्यादेश्चेति**। ननु लोकोऽपि प्रत्यक्षाद्यन्यतमो निर्धारितविशेष इति तत्सिद्धत्वेऽपि प्रामाणिकत्वमेवापतति–इत्युक्तम, तदसत्, देहात्मभावादौ व्यभिचारादित्याह—**लोकसिद्धत्वेऽपीति**। या तु सुखादिव्यवस्थान्यथानुपपत्तिरुक्ता, ता परिहरति—**व्यवस्थेति**। दुर्निरूपतामेव दर्शयति—**व्यवस्थाशब्देनेति**। अत्र कि भिन्नधर्माणा युगपदेकत्रावस्थानानुपपत्तिरधिकरणभेदसाधिका ? उत भिन्नाधिकरणधर्माणामुक्तविधानुपपत्ति ? उत विरुद्धधर्माणामुक्तविधानुपपत्तिरिति ? अत्राद्य दूषयित्वा द्वितीय दूषयति—**भिन्नाधिकरणेति**। तृतीये प्राह—**परस्परेति**। कोऽय विरोध सुखादीनाम, किं सहानवस्थानम् ? किं वा वध्यघातकभाव ? उत भावाभावरूपत्वम ? आद्ये प्राह—**सहानवस्थेति**। ननु कथमणुपरिमाणस्य मनस

निषेध से ही भेद दर्शन निन्दा को भी अभेद उपासना परत्व नही हो सकता है।

और जो द्वा सुपर्णा, इत्यादि श्रुतियो को भेदप्रतिपादक कहा था, वह युक्त नही, क्योकि इन श्रुतियो को लोकसिद्ध भेद का अनुवादकत्व है, भेदविधायकत्व नही है। यदि कहे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध को ही लोकसिद्ध कहा जाता है, अत भेद मे प्रामाणिकत्व होने से वह मिथ्या नही हो सकता है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि भेद के लोकसिद्ध होने पर भी, देह मे आत्मत्व तुल्य और सूर्य के प्रादेशिकत्व (अल्पदेशवृत्तित्व) आदि के समान उसमे प्रामाणिकत्व की प्राप्ति नही हो सकती है। और सुख दु खादि की व्यवस्था की अनुपपत्ति भेद के बिना कहा था, वह भी युक्त नही। क्योकि व्यवस्था की अनुपपत्ति के दुर्निरूप होने से वह भेद का साधक नही हो सकती है। व्यवस्था शब्द से धर्मभेद मात्र को कहने पर, दाह, पाकादि के समान वह धर्मी के भेद का साधक नही हो सकता है, अर्थात् एक अग्नि मे जैसे दाहकत्व, पाचकत्व, प्रकाशकत्व नानाधर्म रहते है, वैसे एक आत्मा मे कल्पित नाना धर्म रह सकते है। यदि भिन्न अधिकरण मे रहने वाले धर्मों को भेद व्यवस्था शब्द से कहे, तो अन्योन्याश्रयता प्राप्त होती है। धर्मो से भेद और भेद से धर्म की स्थिति रूप अन्योन्याश्रय है। यदि विरुद्ध धर्मों को व्यवस्था शब्द से कहे, तो विरोध को विचाराऽसहत्व है। क्योकि सुखादि को विरोध क्या है।

शिरसि मे सुखमिति युगपत् सुखदु खयोरनुभवात् । अणुपरिमाणस्य मनसो युगपत्प्रदेशद्वयेन सन्निकर्षाभावेऽपि त्वगिन्द्रियेण व्यापकेन युगपत्सनिकर्षात् । तत्तत्प्रदेशावच्छिन्नात्ममन सनिकर्षस्य च सुखदु खनिदानत्वाङ्गीकारे सुख-दु खयोरणुमात्रतयोपलम्भप्रसङ्गात्, सकलदेहव्यापितया च तयोरनुत्पाद-प्रसङ्गात् । विनश्यदविनश्यतोश्च सुखदु खयो सहावस्थानस्य स्वयमेवाङ्गी-

---

शिर पादप्रदेशाभ्या युगपत्सबन्ध ? येन तत्तत्प्रदेशवर्तिसुखदु खयोर्युगपदुत्पत्ति स्यादत समानाधिकरणक्रमेणोत्पन्नसुखदु खयोर्भ्रान्तिरेव यौगपद्यप्रतीतिरिति, तत्राह—**अणुपरिमाणस्येति ।** त्वगिन्द्रिय हि निखिलशरीरव्यापकत्वाद्युगपच्छीतो ष्णाभ्या सन्निकृष्यते, तच्चैकेन मनसाधिष्ठीयते, ततश्चोभयविषयज्ञानोत्पत्तौ युगपत्सुख-दु खयोरुत्पादो न विरुध्यते । त्वग्द्वारा च युगपत्सनिकर्षाधिष्ठानादुभयविषयमेक ज्ञान सामग्रीसपत्त्या समुत्पद्यत इत्यर्थ । ननु भवतु युगपज्ज्ञानम्, तथापि नैकत्र द्वयोरवस्थानम, नहि यावदात्मसुखदु खोत्पत्ति , अनुपलम्भात्, कि तर्हि येन शरीर प्रदेशेन कण्टकादिसयोग समजनि तदवच्छिन्नात्मप्रदेशेन मन सयोगात्तत्रैव दु खादय उत्पद्यन्ते । ततश्च सुखदु खयोर्भिन्नप्रदेशावस्थितत्वादस्त्येव सहानवस्थानमिति, तत्राह—**तत्तत्प्रदेशेति ।** अथवाऽसमवायिकारणमन सयोगक्रमात् सुखदु खयो क्रमोत्पाद किं न स्यादिति, तत्राह—**तत्तत्प्रदेशेति । अण्विति ।** पादादिव्यापि-तया नोपलभ्येतेत्यर्थ दूषणान्तर चाह—**सकलेति ।** मन सयुक्तप्रदेशस्याणुपरिमाण-तया तत्र सुखस्य निखिलशरीरव्यापिता नोपलभ्येतेत्यर्थ । अल वा विवादेन, विनश्यदविनश्यतोर्भवतैव सहानवस्थानमङ्गीक्रियत इत्याह —**विनश्यदिति ।**

सहाऽनवस्थान रूप है, या बध्यघातक भावरूप है, अथवा भावाभावरूपत्व है। प्रथम सहाऽनवस्थान रूप विरोध की तो असिद्धि है, क्योकि एक ही आत्मा मे, मेरे पाद मे पीडा है, शिर मे सुख है । इस प्रकार से एक काल मे सुख-दु ख का अनुभव होना है । यदि कहे कि अणुपरिमाण वाले मन के तत्तत् प्रदेश मे युगपत् सम्बन्ध कैसे होगा कि जिससे शिर और पैर मे युगपद् सुख दु ख का ज्ञान होगा, वस्तुत समानाधिकरण मे क्रम से उत्पन्न सुख दु ख का यौपद्य की भ्रान्ति होती है, तो यह कहना युक्त नही । क्योकि अणुपरिमाण वाले मन के युगपत प्रदेशद्वय = शिरपाद के साथ सम्बन्ध के अभाव रहते भी मन से अधिष्ठित शरीर भर मे व्यापक त्वगिन्द्रिय के साथ एक काल मे सुखदु ख का सम्बन्ध होता है, इससे युगपद् ज्ञान की सिद्धि होती है । यदि कहे कि तत्तत् प्रदेश मे भिन्न भिन्न आत्मा और मन के सयोग से क्रम से ही सुख-दु ख की उत्पत्ति अनुभूति होती है, अत सहानवस्थान है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि तत्तत् देशवृत्ति आत्ममन सयोग को सुख का हेतु मानने पर, सुख दु ख का भी अणुमात्रता रूप से ज्ञान प्राप्त होगा, और सम्पूर्ण देह

कारात् । वध्यघातकभावस्य च 'नाजात एकोऽन्य हन्ति नाप्यन्याधारम्, इति न्यायेन सहावस्थानाक्षेपकत्वात् । व्यवस्थायाश्च कल्पितभेदाश्रयत्वे-नाप्युपपत्ते । अननुसधानस्य च शरीरभेदादेवातीतशरीरेष्विव सभवात् । वर्तमानशरीरेष्वपि निदर्शनाभावादेव योगिनमनङ्गीकुर्वद्भि अनुसधानस्य

द्वितीयपक्ष प्रतिक्षिपति—**वध्यघातकेति ।** नन्वस्त्वेव युक्तिपरिनिष्पन्न पन्था, अनुभवस्य तु का गति ? नह्येकस्मिन् सुखिनि सर्वे सुखिनो दु खिनि वा दु खिन उपलभ्यन्त इति, तत्राह – **व्यवस्थायाश्चेति ।** अङ्गीकृत्य सहानवस्थानमय काल्प-निकभेदमादाय परिहार । एतेन भावाभावपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्त, एकस्मिन्नप्यात्मनि सुखादेस्तदभावस्य च भवद्भिरेवाङ्गीकारेणाव्यवस्थापकत्वात् । नच भावाभावत्वमपि शङ्कामधिरोहति, उभयोरपि गुणत्वेनाङ्गीकारात । यत्तु पादाद्यवयवेष्विव निखिल-शरीरेष्वेकस्यैवानुसधान स्यादिति, तत्राह—**अननुसंधानस्येति ।** नन्वतीतत्वमेव तत्रोपाधि, नतु शरीरभेद, इतरथा वर्तमानानेकशरीराधिष्ठातृयोगव्याघ्रस्य तेष्वननुसधानप्रसङ्गादिति, तत्राह—**वर्तमानेति ।** मीमासकाना तावदय न युक्त

मे व्यापक रूप से सुख-दु ख का अनुत्पाद (अनुत्पत्ति) और अनुपलब्धि प्राप्त होगा । और विनश्यत्=अविनश्यत्=(नष्टावस्था मे प्राप्त होने वाला और वर्तमान) सुख-दु ख के स्वय सहावस्थान के अङ्गीकार से भी सहानवस्थान अयुक्त है । और बध्यघातक भाव को तो (एक अनुत्पन्न होता हुआ अन्य का नाश नही करता है, न अन्य अधिकरण वाला होकर नाश करता है) इस न्याय से सहावस्थान का आक्षेपकत्व होता है, अर्थात् गुणो को यदि बध्यघातकभाव रूप विरोध होगा, तो घातक गुण आत्मला न किये बिना और दूर रहकर घात नही कर सकेगा, अत बध्य के स्थान मे उत्पन्न होकर घात करेगा, तो सहावस्थान ही सिद्ध होगा । यदि कहा जाय कि उक्त रीति से सुख दु खादि की एकत्र स्थिति हो, तो भी एक के सुखी होने पर सब सुखी नही होते है, एकात्मवाद मे यह व्यवस्था कैसे बनेगी, तो कहा जाता है कि इस व्यवस्था की कल्पित भेदाश्रयत्व से भी सिद्धि हो सकती है, इसके लिये सत्यात्मभेद की आवश्यकता नही है । और जो कहा था कि एकात्मा के होने पर, पाद-शिर के दु ख सुख को जैसे एकात्मा अनुसधान = स्मरण प्रत्यभिज्ञा करता है, वैसे सब शरीरो के सुखादि का सर्वत्र अनुसधान होना चाहिये, वह क्यो नही होता है, वहाँ कहा जाता है, कि अननुसधान का तो शरीरभेद से ही अतीत शरीरो के समान सम्भव है, अर्थात् एक ही आत्मा जैसे अपने पूर्व शरीरो के ज्ञानादि का अनुसधान नही करता है, वैसे वर्तमान अन्य शरीरो के ज्ञानादि का अनुसधान नही करता है । योगी जैसे अपने वर्तमान अनेक शरीरो का अनुसधान

प्रसञ्जयितुमशक्यत्वात्, योगिसद्भावाभ्युपगमेऽपि नयनावच्छिन्नस्यात्मन शब्दाद्यननुसधानवदेकशरीरविशिष्टस्य शरीरान्तरेऽननुसधानोपपत्ते । उपलक्षितस्य परमात्मन सर्वज्ञस्य सर्वत्रानुसधानेऽपि दोषाभावात् । अनुसधानेऽपि तस्याभोक्तृत्वादेव योगिवदीश्वरवच्च तस्य तत्तच्छरीरदु ख-परिहाराय प्रवृत्तेरप्रसङ्गात् ।

प्रसङ्ग इत्यर्थ । तार्किकान् प्रत्यप्याह—**योगीति** । ननु यद्यपि चक्षुरवच्छिन्नस्य शब्दाद्यनुसधान नास्ति तथाप्यस्त्येवैकस्तदुपलक्षितोऽनुसन्धाता, इतरथा य एवाह रूपमद्राक्ष स एव शृणोमीति प्रतिसधानाभावप्रसङ्गादिति, तत्राह—**उपलक्षितस्येति** । परमात्मानुसदधात्येवेत्यर्थ । ननु कथ दोषाभाव ? यावता चरणतललग्न-कण्टकोद्धरणाय पाणितलव्यापारवच्चैत्रगात्रवेदनापरिहाराय मैत्रगात्रव्यापार-प्रसङ्गस्य दोषत्वादिति, तत्राह—**अनुसंधानेऽपीति** । यथाहि भवता सर्वज्ञस्येश्वरस्य योगिनो वा सर्वत्रानुसधानेऽप्यप्रवृत्ति, तत्कस्य हेतो ? अभोक्तृत्वात्, एवमस्मन्मतेऽपीत्यर्थ ।

यच्च साक्ष्यनया सुखादे साक्षिधर्मत्वाभावाद् व्यधिकरणतयाऽव्यवस्थापकत्व

करता है, वैसे आत्मा को अनुसधान करना चाहिये, इसप्रकार से योगी को नही मानने वाले के लिये दृष्टान्त के अभाव से, वह वर्तमान शरीरो मे भी अनुसधान की प्रसक्ति (प्राप्ति की शका) नही कर सकता है । योगी को मानने पर भी जैसे नेत्रोपाधि वाला आत्माशब्दानुसधान नही करता है, अत नेत्रावच्छिन्न आत्मा को शब्दाननुसधान की सिद्धि होती है, इसीप्रकार से एक शरीरविशिष्ट आत्मा को शरीरान्तर मे अननुसधान की सिद्धि होती है । अर्थात् औपाधिक भेद से भिन्ना-त्माओ का ही यह सधानाननुसधनादि धर्म है । शुद्धात्मा का नही ।

यदि शका हो कि चक्षु से अवच्छिन्न आत्मा शब्द का अनुसन्धान नही करता हो, तो भी चक्षु से उपलक्षित श्रोत्रादि मे सर्वत्र वृत्ति आत्मा एक है, वही अनुसधाता है, अतएव (जो मैने रूप देखा था वह मै शब्द सुनता हू । इत्यादि प्रत्यभिज्ञा होती है, ऐसे सब शरीरो मे अनुसधान होना चाहिये, तो इस शका का उत्तर है कि नेत्रादि मे उपलक्षित सर्वज्ञ परमात्मा को सर्वत्र सर्वविषय का अनुसधान होता ही है, ऐसा होने मे कोई दोष नही है, इष्टापत्ति है, यदि कहा जाय कि यदि उसको सबका अनुसधान होगा तो दु खनिवारणादि के लिये प्रवृत्ति रागद्वेषादि रूप दोष प्राप्त होगा ही, तो कहा जाता है कि सन्धान होने पर भी उस उपलक्षित शुद्धात्मा के अभोक्तृत्व से ही योगी और ईश्वर के समान उसको तत्तत् शरीर के दु खादि की निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति की प्राप्ति नही हो सकती है ।

सुखादीना च साक्ष्याणा साक्षिधर्मत्वाभावेन तद्भेदासाधकत्वात् साक्षिणश्च प्रमाकरणासनिधानेऽपि सुषुप्तावज्ञानसाधकस्य प्रमात्रन्तर्भावानुपपत्ते । तस्य च जीवात्मान्तर्भावात्साक्षिप्रत्यक्षस्य लौकिकव्यवहाराङ्गत्वोपपत्ते । न च साक्षिणि प्रमाणाभाव, यत —

'चैत्रराग स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा ।
तदध्यक्षेण सवीक्ष्य प्रत्यक्षत्वात्पटादिवत्' ॥ ५ ॥

विवादाध्यासिता चैत्रेच्छादय एतद्ग्राहकाऽनित्यज्ञानातिरिक्तैतत्

पूर्वपक्षिणाशङ्क्य दूषित तदपि समर्थयते—**सुखादीनां चेति**। यत्तु साक्षिणोऽपि द्रष्टृत्वे प्रमात्रन्तर्भाव, इतरथा व्यवहारानङ्गत्वमित्युक्तम्, तत्र द्रष्टृत्वेऽपि प्रमात्रन्तर्भाव परिहरति—**साक्षिणश्चेति**। प्रमाणैर्य प्रमिणोति स प्रमाताऽतो नैवमसावित्यर्थ । ननु तर्हि जाग्रदादौ ज्ञानादिसाधकत्व तस्य न स्यात्, अनुपरतप्रमाणव्यापारत्वात् तदानीम्, अतो व्यवहारानङ्गत्व तदवस्थमिति, तत्राह—**तस्य चेति**। अन्तर्भावात्स्वरूपतयेत्यर्थ । साक्षिणि तार्किक प्रत्यनुमानमाह—**चैत्रेति**। तदध्यक्षेण चैत्रप्रत्यक्षेणेत्यर्थ । इद च विशेषण पूर्वोक्तेश्वरप्रत्यक्षेणार्थान्तिरतापरिहारार्थम्, नहीश्वरप्रत्यक्ष चैत्रप्रत्यक्षमिति भवतामङ्गीकार ।

श्लोक विवृणोति—**विवादेति**। अत्राप्य**नित्यज्ञानातिरिक्तेति** अनित्यज्ञानत्वानधिकरणमित्यर्थ । ईश्वरप्रत्यक्षवेद्यतयार्थान्तिरतानिवृत्त्यर्थमेतत्प्रत्यक्षपदम्, मानसप्रत्यक्षवेद्यतया सिद्धसाधनतानिवृत्त्यर्थमेतद्ग्राहकेति पदम्, तथाचेच्छादिग्राहकनित्या-

---

सुखादि साक्ष्यो (विषयो) मे साक्षिधर्मत्व के अभाव से सुखादि साक्षी के भेद के साधक नही हो सकते है । और प्रमा के करणो के असन्निधान रहते भी सुषुप्ति मे अज्ञान का साधक = प्रकाशक साक्षी का प्रमाता के अन्तर्भाव नही हो सकता है, क्योकि जो प्रमाणो से जानता है, वह प्रमाता है । अत पूर्वोक्त प्रमाताऽन्तर्भाव अयुक्त है । यदि कहे कि साक्षी यदि सुषुप्ति मे अज्ञान का साधक है, तो जाग्रदादि मे ज्ञानादि का साधकत्व उसको नही होगा, तो कहा जाता है कि उस साक्षी को स्वरूप से जीवात्मा के अन्तर्भाव होने से साक्षीस्वरूप प्रत्यक्ष को लौकिक व्यवहार के अङ्गत्व की सिद्धि होती है। साक्षी मे प्रमाण का अभाव है, ऐसा नही कह सकते है । क्योकि—

चैत्र का राग, रागविषयक अनित्य ज्ञान से भिन्न (तदध्यक्ष) रागाऽध्यक्ष चैत्र प्रत्यक्ष साक्षी, से सम्वीक्ष्य = दृश्य है । प्रत्यक्ष होने से, पटादिवत् ॥ ५ ॥

दृष्टान्त मे तो पटादि का प्रत्यक्ष ही साक्ष्य रूप सिद्ध है, पक्ष मे साक्षी से साध्य की सिद्धि होती है । अर्थात् (विवाद के विषय, चैत्र के इच्छा आदि, इस इच्छा आदि के ग्राहक अनित्य ज्ञान से अतिरिक्त एतत् = चैत्र प्रत्यक्ष से ग्राह्य है, चैत्र के

प्रत्यक्षग्राह्या एतत्प्रत्यक्षत्वादेतत्प्रत्यक्षपटादिवत् । न चाभाससमानयोगक्षेमत्वम्, अनुमानस्य नित्यत्वप्रसाधने लक्षणव्याघातात् । व्याप्याद्व्यापके बुद्धिरनुमानम्, साधनधर्मदर्शनात् साध्यधर्मविशिष्टे बुद्धिरनुमानम्, लिङ्गदर्शनात् सजायमान लैङ्गिकमनुमानम्, त्रिरूपाल्लिङ्गतोऽर्थदृगित्यादिलक्षणैरनित्यस्यैव ज्ञानस्यानुमानत्वेन लक्ष्यमाणत्वात्, विपक्षे बाधकाभावाच्च । मानसप्रत्यक्षवेद्यत्वे इच्छादे कर्मकर्तृभावस्यैव बाधकत्वात् । न च स्वरूपमात्रेण ग्राहकस्य विशिष्टरूपेण ग्राह्यत्वेऽप्यविरोध । केवलस्य देवदत्तस्य

परोक्षसाक्षिसिद्धि, परोक्षादिष्वेतत्प्रत्यक्षाविषयेषु व्यभिचारनिवृत्त्यै हेतावेतत्पदम्, अतीन्द्रियेष्वव्यभिचाराय प्रत्यक्षपदम् । यत्तु नित्यानुमानस्यापि साधकतयाभाससमानयोगत्वमुक्तम्, तत्राह—**न चाभासेति** । जन्यत्वगर्भमनुमानलक्षणमित्यत्र तार्किकसमतिमाह—**व्याप्यादित्यादिना** । न च नित्यप्रत्यक्षाभ्युपगमेऽपि प्रत्यक्ष लक्षणव्याघात, साक्षात्कारिज्ञानत्वस्य तल्लक्षणत्वादीश्वरप्रत्यक्षस्य तार्किकैरङ्गीकारात् । मोक्षदशाया भाट्टैरविनाशिनोऽपरोक्षसुखज्ञानस्याङ्गीकारात् । गुरुमतेऽपि साक्षात्कारिज्ञानत्वस्यैव तल्लक्षणत्वाद्यथाह भाट्ट—'साक्षात्प्रतीति प्रत्यक्षम' इति । स्वानुमानस्य च विपक्षे बाधकतर्कमाह—**मानसप्रत्यक्षेति** । तत्र तदुक्त साधन दूषयति—**न च स्वरूपमात्रेणेति** । नायमविरोधनियामक, एतस्मिन्विद्यमानेऽपि कर्तृकर्मत्वयोरेकत्र देवदत्तादौ विरोधदर्शनादित्यर्थ । यत्तु कर्तृकरणत्वयोरपि बुद्धौ विरोधस्तत्रापि समान इत्युक्तम, तदसत्, लोके तयोर्बहुलमविरोधदर्शनादित्याह —

प्रत्यक्ष होने से, चैत्र प्रत्यक्ष घटादि के समान) और जो नित्यानुमान के साधकता रूप से समान योगक्षेमत्व कहा था कि (इच्छा आदि, एतद् ग्राहक अनित्य अनुमान से अतिरिक्त अनुमान से वेद्य है । वेद्य होने से, घटादिवत्) वहाँ अनुमान के नित्यत्व को साधने पर, अनुमान के लक्षण का व्याघात (बाध) होता है । (व्याप्य के ज्ञान से व्यापक के ज्ञान को अनुमान कहते है । साधन रूप धर्म के देखने से साध्य धर्मविशिष्ट विषयक ज्ञान अनुमान होता है । लिङ्ग = हेतु के दर्शन से जायमान लैङ्गिक = लिङ्गजन्य ज्ञान अनुमान कहा जाता है । पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षाऽसत्त्व रूप तीन रूप वाले लिङ्ग से अर्थ का ज्ञान अनुमान कहा जाता है) इत्यादि लक्षणो के द्वारा अनित्य ही ज्ञान को अनुमान रूप से लक्ष्यमाणत्व (ज्ञेयत्व) होता है । और अनुमानाभास के विपक्ष का बाध कोई तर्क नही हे । और सिद्धान्त के अनुमान मे इच्छादि के मानस वेद्यत्व रूप विपक्ष मे, कर्मकर्तृभाव को ही बाधकत्व है । यदि कहे कि स्वरूप मात्र से मन रूप से ग्राहकत्व, और इच्छा आदि विशिष्ट रूप से ग्राह्यत्व (कर्मत्व) होने पर भी विरोध नही होगा । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि ऐसा होने पर, केवल देवदत्त को गन्तृत्व और कुण्डलयुक्त

गन्तृत्व कुण्डलविशिष्टस्य तु गन्तव्यत्वमिति तत्रापि विरोधाभावप्रसङ्गात्। दृश्यते च कर्तुरप्यन्यत्र करणता 'योधै राजा युध्यते', 'चारेण परसैन्य कलयति' इत्यादिषु।

न चाविद्याविशिष्ट साक्षी, येन कर्तृकोटिनिविष्टाया अविद्याया कर्तृत्व स्यात्, चिद्रूपस्यैवात्मन साक्ष्यसम्बन्धे साक्षित्वेन व्यवहारात्, 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति' इत्यादिश्रुते । 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्'

दृश्यत इति। अन्यत्र, लोक इत्यर्थ । अत्र हि भटा युद्धकर्तार, अथ च करणतया निर्दिश्यन्त इत्यर्थ ।

या त्वविद्याया कर्तृत्वकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता, ता परिहरति—**न चाविद्येति**। नाविद्याविशिष्टस्य साक्षित्वम्, नाप्युपलक्षितस्य, किंतु तदुपाधिकस्य। अथ कोऽय विशेषणोपलक्षणोपाधीना भेद ? शृणु—

कार्यान्वयित्वेन तु भेदक यद्विशेषण नैल्यमिवोत्पलस्य ।
अनन्वयित्वेन तु भेदकानामुपाधितालक्षणता प्रसिद्धा ॥
तयोरपि—यावत्कार्यमवस्थायिभेदहेतोरुपाधिता ।
कादाचित्कतया भेदधी हेतुरुपलक्षणम् ॥

तेन नाविद्याया कर्तृभाव इत्यर्थ । **यद्वैतदिति**। इय हि साक्षाद् द्वैताभावनिबन्धनमदर्शन स्वरूपतश्च दर्शन वदतीत्युक्ति । स्वाभाविकमेव सकलावभासकचैतन्य तस्य तत्तद्विषयानुषङ्गवशाच्च तत्तद्विषयानुभवत्व विकल्प्य निदर्शयतीत्यर्थ । या तु तदात्मानमेवावेदिति ब्रह्मणि कर्तृकर्मत्वप्रतिबन्दी गृहीता, ता परिहरति—**ब्रह्म वा इति**। ननु तथापि कर्मकर्तृत्वाभावे किमायात यावतैकस्यैव वेद्यत्ववेदितृ-

---

को गन्तव्यत्व (कर्मत्व) होगा, और वहाँ भी विरोधाभाव प्राप्त होगा। और जो कहा था कि कर्तृकरणत्व के ज्ञान मे आपको भी विरोध तुल्य है। यह कहना युक्त नही, क्योकि कर्ता को अन्यत्र लोक मे करणता देखी जाती है। जैसे योद्धाओ के द्वारा राजा युद्ध करता है। चार के द्वारा परसैन्य को गिनता है। इत्यादि युद्धादि के कर्ता मे करणता का व्यवहार होता है।

और जो कहा था कि कर्तृ कोटि मे प्रविष्ट अविद्या को कर्तृत्व, कर्मत्व प्राप्त होगा, यह कहना युक्त नही, क्योकि अविद्याविशिष्ट आत्मा साक्षी नही होता है कि जिससे कर्तृकोटि निविष्ट अविद्या को कर्तृत्व होगा। केवल चिद्रूप ही आत्मा मे साक्ष्य विषय के सम्बन्ध से साक्षित्व का व्यवहार होता है। क्योकि (जो सुषुप्ति आदि मे आत्मा नही देखता है, वह देखता हुआ ही नही देखता है) इत्यादि श्रुति साक्षात् द्वैत के अभाव से अदर्शन और स्वरूप से दर्शन बताती है। और (यह सब जगत् प्रथम ब्रह्मस्वरूप ही था। तो ब्रह्म अपने को समझा) इत्यादि से भी

'तदात्मानमेवावेद्' इत्यादिना नात्मन कर्मकर्तृभावो विवक्ष्यते, किं तर्हि—वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्त करणवृत्तिरूपया विद्यया स्वत सिद्धस्यैवात्मनोऽब्रह्मत्वभ्रमकारणाविद्यानिवृत्ति, तथा चान्त करणविशिष्टस्यैव प्रमातृत्व विशुद्धस्य ब्रह्मणो वृत्तिव्याप्यत्वमिति कुतस्तत्रैकस्य कर्मकर्तृभाव ? न च नित्यबोधमन्तरेण पूर्वापरबुद्धीनामनुसधानसिद्धि, ग्राहकतया सिद्धेर्निराकृतत्वात्। न च 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चे'ति वाक्यमीश्वरपरत्वादात्मन साक्षित्वे न प्रमाणमिति युक्तम्, मायाविशिष्टरूपे तस्मिन् केवलो निर्गुण इति विशेषणानुपपत्ते। तस्मात् सर्वप्रत्यग्भूत विशुद्ध ब्रह्मात्र

त्वाङ्गीकारादिति, तत्राह—**तथा चेति।** नन्वेव घट्टकुटीप्रभातायितम, अन्त करणविशिष्टस्य प्रमातृत्व स्वरूपेण च कर्मत्वमिति वदनैकस्यैव कर्मकर्तृत्वमौपाधिकश्च विरोधपरिहार इत्यङ्गीकारादिति, न, तदुभयस्याप्यसिद्धे। न तावदन्त करणविशिष्टतयास्य कर्तृत्वम, आरोपात्। अन्त करणगत हि कर्तृत्व धर्म्यध्यासद्वारा चैतन्ये परमारोप्यते, नहि दण्डदेवदत्तयोरिव विशेषणविशेष्यभाव। तस्मादारोपितत्वान्न कर्तृत्वम, नापि कर्मत्वम्, तज्जन्यातिशताभावात्। अस्तु वा कर्म वृत्तिव्याप्यतामात्रेण, तथापि कर्तृत्वाभावादेव वैषम्यमिति, अनुसधानान्यथानुपपत्तिमपि साक्षिणि प्रमाण समर्थयते—**न च नित्येति।** निराकृतत्वात्स्वप्रकाशवाद इति शेष। आगममपि समर्थयते—**न च साक्षीति।** किमिति न युक्तम् ? तत्राह—**मायाविशिष्टेति।** नहि निर्विकारचैतन्यस्य मायानिवेशमन्तरेण वियदाद्याकारविवर्त सभवतीति भाव। तदेव न साक्षात्सुखादे साक्षिधर्मत्वमित्युक्तम्, यत्तु पञ्चपादीवचनमुदाहृतम्,

---

आत्म का कर्मकर्तृभाव विवक्षित नही है, किन्तु वेदान्तवाक्यजनित एक ब्रह्माकार अन्त करण की वृत्तिरूप विद्या से स्वत सिद्ध ही आत्मा के अब्रह्मत्व भ्रम के कारण अविद्या की निवृत्ति विवक्षित है। अत अन्त करण विशिष्ट को ही कर्तृत्व (प्रमातृत्व) है, और विशुद्ध ब्रह्म को वृत्तिव्याप्यत्व होता है, तो वहाँ एक को कर्मकर्तृभाव **कैसे** हो सकता है। और नित्य बोध के बिना पूर्वापर बुद्धि का अनुसधान की सिद्धि नही हो सकती है, अत नित्य साक्षी सिद्ध होता है, ग्राहक रूप से उसकी सिद्धि का प्रथम निराकरण किया गया है, अत स्वय प्रकाश चिद्रूप से सिद्ध होता है। और (साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च) यह वाक्य ईश्वरपरक होने से आत्मा के साक्षी स्वरूपत्व मे प्रमाण नही है, ऐसा कहना युक्त नही है। क्योकि मायाविशिष्ट ईश्वर परत्व यदि उस श्रुति को है, तो (केवलो निर्गुण) इस विशेषण की अनुपपत्ति होगी। अत सब का अन्तरात्मास्वरूप विशुद्ध ब्रह्म यहाँ जीव के साथ अभेदपूर्वक साक्षी इस शब्द से प्रतिपादित होता है। अर्थात् अविद्या से उपहित का निर्गुण ब्रह्मरूप से प्रतिपादन होने से अविद्या परित्यक्त हो जाती है।

जीवाभेदेन साक्षीति प्रतिपाद्यते। न चानन्दादीना साक्ष्याणा साक्षिधर्मत्वम्, आनन्दानुभवयोरात्मरूपत्वात्। न च नित्यत्व धर्मं, विनाशराहित्येनोपलक्षितस्वरूपस्य तथा व्यपदेशात्। विशेषगुणवद्व्यापकान्यत्वसाधन च प्रतिकल्प जायमानाकाशभेदैरेव सिद्धसाधनम्, अर्थान्तरञ्चेश्वरवादिनामीश्वरेण, अनित्यपदप्रक्षेपे च पूर्वोक्त एव दोष। तथा च सुखादीनामात्मगुणत्वाभावान्न तद्व्यवस्थानस्तद्भेदसिद्धि। तदेव स्वाविद्या ब्रह्मैव ससरति

तत्परिहरति—**न चानन्दादीनामिति**। यच्चाकाश पक्षीकृत्य विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यान्यत्वसाधनेनात्मनो भेदसाधनम, तत्परिहरति—**विशेषगुणेति**। यस्य हि वेदान्तिनो वियदधिकरणन्यायेनाकाशोऽप्युत्पद्यते प्रलीयते चेति मतम्, तन्मते कल्पान्तरीयाद् विशेषगुणवद्व्यापकद्रव्यादाकाशादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरमित्यर्थ। ईश्वरादन्यत्वमादायाप्यर्थान्तरनामाह—**अर्थान्तरं चेति**। नन्वनित्यविशेषगुणवद् व्यापकद्रव्यादन्यत्व मिषाधयिषितम्, नचेश्वरस्तथेति, तत्राह—**अनित्येति**। **पूर्वोक्त इति**। आकाशेनाऽर्थान्तरतेत्यर्थ। साक्ष्याणा साक्षिधर्मत्वाभावप्रतिपादन मुपसहरति—**तथा चेति**। सर्वयितमेकजीववादमुपसहरति—**तदेवमिति**। एकाविद्यापक्षे इति। अत्र चाविद्याशब्देन तदधीनो जीवो लक्ष्यते। एकजीवपक्षे इत्यर्थ—

पञ्चपादिका वचन से जो आनन्दादि साक्ष्य को साक्षी का धर्म कहा था, वह कहना युक्त नही, क्योकि आनन्दादि साक्ष्यो को साक्षिधर्मत्व नही है, किन्तु आनन्द और उसका अनुभव = प्रकाश आत्मस्वरूप है, नित्यत्व भी साक्षी का धर्म = गुण नही हे, किन्तु विनाशरहितता रूप से उपलक्षित स्वरूप आत्मा ही का नित्यत्व रूप से कथन किया जाता है। और (आकाश, विशेष गुण वाले व्यापक द्रव्य से अन्य है, द्रव्य होने से, घटवत्) इस अनुमान से जो आकाश को पक्ष करके विशेष गुण वाले व्यापक द्रव्य से अन्यत्व (आत्मा मे अन्यत्व) का साधन किया था। वह प्रतिकल्प मे जायमान आकाश के भेदो से ही सिद्धसाधनता को प्राप्त होता है। इस कल्प का आकाश कल्पान्तर के विशेष गुण वाला व्यापक आकाश से भिन्न होता हे, अत इस अनुमान से विशेष गुण वाला आत्मा नही सिद्ध हो सकता है। और ईश्वरवादी के मत मे ईश्वर के द्वारा अनुमान मे अर्थान्तरता की प्राप्ति होती है, अर्थात् जीवात्मा की इस अनुमान से सिद्धि नही होकर ईश्वर की सिद्धि होती है। विशेष गुण के साथ अनित्य पद के लगाने पर, ईश्वर से अर्थान्तरता के वारण होने पर भी पूर्वोक्त = आकाश से अर्थान्तरता ही दोष रहता है। उक्त रीति से साक्ष्यो के साक्षिधर्मत्व के अभाव से सुखादि मे आत्मगुणत्व के अभाव से उन सुखादिको की व्यवस्था से आत्मभेद की सिद्धि नही हो सकती है। अत उक्त रीति से सिद्ध हुआ कि एकात्म पक्ष मे एक ब्रह्मात्मा ही अपनी अविद्या से जीवस्वरूप होकर ससारी

स्वविद्यया च मुच्यत इति एकाविद्यापक्षे न कश्चिद्दोष, तथा नानाविद्यापक्षेऽपि ।

ननु नानाजीवाना किमेकाविद्या कल्पिका ? उत प्रतिजीव भिन्ना ? नाद्य, एकमुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गतादवस्थ्येन नानाजीवकल्पनायामपि व्यवस्थानुपपत्ते । न द्वितीय, कल्पनागौरवात् । ननु व्यवस्थानुपपत्तौ कल्पिकाया न कल्पनागौरव दोष 'प्रमाणवन्त्यदृष्टानि कल्प्यानि सुबहून्य-

---

नानाविद्यापक्षेऽपीति । नानाजीवपक्षे इत्यर्थ । एव हि किमेकाविद्या किं नानाविद्येत्युत्तरग्रन्थसामञ्जस्यम् ।

एव ब्रह्मस्वभावाविद्यासबन्धाद्यनुरोधेन विशदमतीन्प्रत्येकजीवपक्ष समर्थित, ये तु मन्दमतयो निबिडद्वैतवासनास्कन्दनजडतमशेमुषयो बद्धमुक्तादिव्यवस्थास्थेमनि बद्धास्था नानाजीवपक्षमेव रोचयन्ते तान्प्रति नानाजीवपक्षमप्याक्षेपसमाधानाभ्याम-भिदर्शयति—**नन्वित्यादिना ।** कल्पकसद्भावात्कल्पनागौरव न दोषायेति शङ्कते—**ननु व्यवस्थेति ।** किमिय पारमार्थिकी व्यवस्था याऽनेकाऽविद्या विना नोपपद्यते ? किं वा काल्पनिकी ? पारमार्थिकीव्यवस्थाया नानाविद्यामभ्यर्थयमान श्लाघनीयप्रज्ञो मातापितृमान् । द्वितीये त्वेकाविद्ययापि तत्सिद्धि । अथ कल्प्यगुर्वादीनामनेकत्वात्कल्पिकाविद्याया अपि नानात्वम्, तर्ह्येकस्याप्यनेकघटपटादिप्रतीत्यर्थमनन्ताविद्या कल्प्येरन्, तथाप्येकजीवगताऽविद्याभिरेव तत्सिद्धेरनेकजीवकल्पनावैयर्थ्या-

---

होता है । और अपनी विद्या से ससारित्व से मुक्त होता हे । इसप्रकार से एक अविद्या और उससे उपहित एक साक्षि आत्मा पक्ष मे कोई दोष नही है । और इसीप्रकार से नाना अविद्या 'जीव' पक्ष मे भी दोष नही हे । दोनो पक्ष मे भेद व्यवस्था स्वप्न के भेदादि के समान है, स्वरूप सत्य है ।

नाना अविद्यामूलक नाना जीववाद मे शका होती है कि नाना जीवो की कल्पिका (साधिका) एक अविद्या (माया) है । अथवा प्रति जीव भिन्न-भिन्न है, वहाँ प्रथम पक्ष युक्त नहीं हो सकता है, क्योकि एक की मुक्ति से सर्व की मुक्ति का प्रसग इस पक्ष मे भी कल्पक अविद्या को एक मानने पर तदवस्थ (एक जीववाद तुल्य) रहता है । अत नाना जीव की कल्पना करने पर भी व्यवस्था की सिद्धि नही होती है । कल्पना गौरव से दूसरा पक्ष भी युक्त नही है । यदि कहा जाय कि व्यवस्था की अनुपपत्ति होने पर कल्पिका = अविद्या मे कल्पना गौरव दोष नही है, यह कहा है कि (प्रमाण वाली अदृष्ट भी अतिबहुत वस्तु कल्पनीय है) इस न्याय से गौरव दोष रूप नही होता है । यह कहना युक्त नही है, क्योकि व्यवस्था के पारमार्थिक होने पर उसमे अविद्या के कार्यत्व की अनुपपत्ति है, अत उसकी सिद्धि के लिये उस नाना अविद्या की कल्पना व्यर्थ है । और उस व्यवस्था के

पी'ति न्यायादिति चेत्, मैवम्, व्यवस्थाया पारमार्थिकत्वे सत्यविद्याकार्यत्वानुपपत्तेस्तत्कल्पनावैयर्थ्यात् । अपारमार्थिकत्वे पुनरेकयैव तस्या सिद्धेरविद्याभेदकल्पना व्यर्था । अन्यथैकस्याप्यनन्तभेदभानायानन्ताविद्या कल्प्या स्यु । सन्तु को दोष इति चेत्, तर्हि ताभिरेव सर्वकल्पनासिद्धेरात्मान्तरस्य न ता कल्प्या । न च तेषामप्यज्ञतया भानात् ता कल्प्या इति वाच्यम्, अद्वैतवादिनस्तद्भेदभानस्य प्रामाणिकत्वाभावादप्रामाणिकस्य चैकाविद्याभिरेव सिद्धेर्नान्यस्याविद्या कल्पनीया ।

किं च यथान्तरेणैवार्थान्तरमविद्यान्तर च स्वप्ने चराचर जगत् त्वदविद्ययैव ते भाति, तथा जाग्रत्यपि किं न भायात् ? अपि चोत्पन्नविद्यस्यात्मान्तरमोहस्तत्कार्याणि भान्ति ? न वा ? आद्ये निवृत्ताविद्यस्यापि

दित्याह—**मैवम्, व्यवस्थाया इत्यादिना । अद्वैतवादिन इति ।** ये ते अज्ञा प्रतीयन्ते तद्भेदस्याप्याविद्यत्वात् सकलकल्पनाकल्पिकाविद्यानामेकचैतन्यगतानामेव कल्पनात् स्थितिरित्यर्थ ।

किंच नाविद्यावत्तया व्यवहारमात्रादविद्याभेदक्लृप्ति, नापि दृश्यभेदादविद्याभेद, स्वप्ने व्यभिचारादित्याह—**किंचेति ।** किंचानेकजीवकल्पनायामपि गुरुशिष्यव्यवस्थानुपपत्ति समानेत्याह—**अपि चेति ।** किंचानेकजीववादिनापि त्वया

अपारमार्थिक होने पर एक ही उस अविद्या से व्यवस्था की सिद्धि होने से अविद्या भेद की कल्पना व्यर्थ है । अन्यथा = एक से कार्य की सिद्धि होते अनेक की कल्पना हो, तो एक आत्मा के अनन्त भेद के भान (ज्ञान) के लिये अनन्त अविद्या कल्पनीय होगी । यदि कहे कि एक जीवात्मा के अनन्त अविद्या कल्प्य हो, दोष क्या है, तो कहा जाता है कि एक आत्मा के अनन्त अविद्या होने पर उसीसे सब कल्पना की सिद्धि हो सकती है । अत आत्मान्तर की वह अविद्या कल्पनीय नही होगी । यदि कहे कि उन आत्मान्तरो की अज्ञ रूप से प्रतीति होती है, अत उनकी वह अविद्या पृथक् कल्पनीय है, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि अद्वैतवादी के मत मे उस अज्ञ के भेद के भान को प्रामाणिकत्व के अभाव से और अप्रामाणिक भेद की एक जीव की अविद्याओ से ही सिद्धि होने से अन्य की अविद्या कल्पनीय है ।

और जैसे अर्थान्तर के बिना ही और अविद्यान्तर के बिना ही स्वप्न मे चराचर जगत आपकी अविद्या से ही आपको भासता प्रतीत होता है, वैसे ही जाग्रत मे भी क्यो न भास होगा । और अनेक जीव कल्पना करने पर भी गुरु शिष्यादि व्यवस्था की अनुपपत्ति है, क्योकि जिस जीव को विद्या उत्पन्न हो गई है । उसको आत्मान्तर मोह और मोह के कार्य भासते है, या नही । प्रथम पक्ष मे निवृत्त अविद्या वाले को भी भेद के भान (ज्ञान) रहते विभुस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति

भेदभाने न भूमलक्षणब्रह्मप्राप्ति । द्वितीये तु शिष्याद्यभानात् गुरोरुपदेशादिक्रिया न भवेत् । कि चैकस्य मोहो मोहान्तराणा तत्कार्याणा च भानहेतु ? उत कल्पक ? नाद्य, मोहस्य प्रकाशरूपत्वाभावात् । न द्वितीय, त्वन्मोहकल्पितस्य सप्रतिपन्नत्वन्मोहकल्पितवत्, अन्यमोहत्वतत्कार्यत्वानुपपत्ते । न चान्यमोहकल्प्यत्वम्, क्लृप्तत्वात् । न च त्वत्कल्पितस्यान्यमोहकल्पकत्वम्, कल्पितत्वात् रजतादिवत् । मोहान्तरतत्कार्याणा च स्वात्म-

---

त्वद्व्यतिरिक्तजीवतदज्ञानादिप्रतिभासस्तथा पारमार्थिको नेष्यते, तथाच त्वदविद्यानिर्मितत्व वक्तव्यम, त्वद्दृश्यत्वात् तत्राप्यप्रकाशकत्वात् कल्पकत्वमेव त्वदविद्याया वक्तव्यम, तथा चान्यमोहादित्वहानि त्वन्मोहादित्वसिद्धिश्चेत्याह—**किञ्चैकस्येत्यादिना** । नन्वन्यमोहेनापि कल्प्यत्वादन्यमोहजन्यत्वमप्यस्ति, तत्राह – **न चान्येति । क्लृप्तत्वात्,** त्वन्मोहेनेति शेप । इतरथानवस्थानात् । किच त्वन्मोहकल्पितस्य मोहान्तरस्य स्वातन्त्र्येणान्यकल्पकत्वमपि नास्तीत्याह **न च त्वत्कल्पितस्येति** । दूषणान्तरमाह—**मोहान्तरेत्यादिना** । विमतमोहतत्कार्याणि देवदत्तीयानि दृश्यत्वात सप्रतिपन्नवदित्यर्थं । अथान्यदृश्यत्वाद्वैपरीत्यमपि शाशानुमानम, न, हेतुदृष्टान्तयोरसिद्धेरित्याह—**अन्यमोहेत्यादिना** । स्वपक्षे दृष्टान्त-

---

नही हो सकती है । दूसरे पक्ष मे तो शिष्यादि के अभाव से (अज्ञान से) गुरु की उपदेशादि क्रिया (व्यवहार) नही सिद्ध हो सकेगी । और एक जीव का मोह-मोहान्तरो के ओर उनके कार्यो के मानव हेतु होना है, या उनका कल्पक = साधक होता है । आद्य पक्ष नही माना जा सकना है, क्योकि मोह के प्रकाश रूपत्व के अभाव से उसमे भान हेतुत्व नही हो सकता है । परापक्ष भी युक्त नही, क्योकि तुम्हारे मोह से कल्पित को निश्चित तेरे मोहकल्पित के समान अन्य मोह का तेरे मोह कार्य के कल्पकत्व की अनुपपत्ति है, अर्थात् एक जीव का मोह जैसे अपने कार्य को उत्पन्न करता है, वैसे ही दूसरे जीव का मोह अपने कार्य को उत्पन्न करना है, एक जीव का मोह दूसरे जीव के मोह का उसके कार्यो का कल्पक साधक नही हो सकता है । अतएव किसी मोह मे अन्य मोह कल्प्यत्व (साध्यत्व) नही रहता है, क्योकि कल्पना के हेतु मोह मे प्रथम से क्लृप्तत्व (सिद्धत्व) रहता है । अतएव तुम से कल्पित अन्य मोह को अन्य मोह कल्पकत्व नही हो सकना है, रजतादि के समान कल्पित होने से, अर्थात् एक के मोह से कल्पित रजतादि मे अन्य से कल्पितत्व नही होता है, तैसे एक से कल्पित मोह या उसके कार्य मे अन्य से कल्पितत्व नही हो सकता है । अतएव एक मोह-मोहान्तर वा उसके कार्यो का कल्पक नही होता है । और दूसरे जीव के मोह का कार्य अन्य आत्मा का दृश्य (विषय) नही हो सकता है, क्योकि मोहान्तर के कार्यों को स्वात्मा के दृश्य होने पर, उस

दृश्यत्वे सप्रतिपन्नवत् तन्मोहत्व तत्कार्यत्व च स्यात्। अन्यमोहतत्कार्याणां चान्यदृश्यत्वस्यासप्रतिपन्नत्वात्, स्वमोहतत्कार्याणा च स्वदृश्यत्वस्योभयवादिसिद्धत्वात्। न चेन्द्रजालादेर्बहुमोहकल्पितस्य बहुद्रष्टृकस्यैकस्य प्रसिद्धत्वात् दृष्टान्तसिद्धि, तत्तन्मोहकल्पितस्य तत्तद्दृष्टस्य च भिन्नत्वात्। तदेव मया दष्ट मयादृष्टमिति सवादस्य चैकरूपभ्रामोत्पादात् तन्निमित्तहर्षशोकादिकार्याणामेकरूपत्वाच्चोपपत्ते, एकदृष्टौत्पातिकसवितृसुष्याऽदावन्येषा विसवादादेकमोहकल्पितत्वस्य सिद्धे, एकस्यैव प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वे चैकस्य धिया तन्नाशे सर्वमुक्तिरनाशेऽप्येकस्याप्यमुक्ति, न

सिद्धिमाह—**स्वमोहेति**। ननु मायाविप्रदर्शितप्रासादादिनिगरणादेर्मोहविकल्पितस्यापि बहुदृश्यत्ववदत्राप्यन्यमोहादेरन्यदृश्यत्व किं न स्यात्? तत्राह—**न चेन्द्रजालेति**। तत्रापि प्रतिपुरुष भिन्नमेव दृश्यमित्यर्थ। तर्हि सवाद किंनिबन्धन? तत्राह—**तदेवेति**। अथ केन बलेन प्रत्यभिज्ञा बाध्यत इति, अन्यत्र मोहकल्पितस्यासाधारण्यदर्शनादित्याह—**एकदृष्टेति**। एकमोहकल्पितस्य दृष्टान्तस्य सिद्धिर्वाऽनेन समर्थ्यते। दूषणान्तरमाह—**एकस्यैवेति**। स्यादेतद्यस्य मोहो नष्टस्त प्रति प्रपञ्चोऽपि नष्ट एव इतर प्रति चानष्ट इत्यस्तु, नच विरोधगन्धोऽपि, कल्पित-

---

मोहान्तर को और उसके कार्यो को भी निश्चित अपने मोह और मोहकार्य के समान आत्ममोहत्व और आत्ममोहकार्यत्व प्राप्त होगा, उनमे परकीयत्व नही रहेगा। और अन्य के मोह तथा मोहकार्यो को अन्य का दृश्य होना यह कही निश्चित नही है। और अपने मोह और उसके कार्यो मे स्वदृश्यत्व उभयवादी से सिद्ध है। यदि कहे कि एक मायावी से प्रदर्शित मोह कल्पित इन्द्रजाल को जैसे अन्य लोग देखते है, वैसे अन्य मोहादि को अन्य दृश्यत्व होगा, क्योकि बहुत द्रष्टा वाला और बहुतो के मोह से कल्पित एक इन्द्रजालादि के प्रसिद्ध होने से दृष्टान्त सिद्धि होती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि इन्द्रजाल मे भी तत्तत् द्रष्टा के मोह से कल्पित तत्तत् दृष्ट वस्तु के भिन्न होने से एकत्व का अभाव रहता है। परन्तु एकरूप वाले भ्रम की उत्पत्ति से वही मैने देखा, वही मैंने देखा इस सवाद की सिद्धि होती है, और तन्निमित्तक हर्षशोकादि कार्यो की भी एक रूपत्व से सिद्धि होती है। और एक से दृष्ट औत्पातिक = अशुभसूचक सूर्य छिद्रादि मे अन्य के विसवाद से (सवाद के अभाव से) एक मोह कल्पितत्व की सिद्धि होती है। प्रकृत मे एक ही प्रपञ्च को बहुत के मोह (अज्ञान) से कल्पित होने पर, एक की धी (ज्ञान) से उस प्रपञ्च के नाश होने पर सबकी मुक्ति प्राप्त होगी, और एक के ज्ञान से नाश नही होने पर एक की भी मुक्ति नही होगी। यदि कहे कि एक ही प्रपञ्च

चैकमेव पुरुषभेदेन नष्टमनष्टं चेति युक्तम्, विरोधात्। अविरोधे वा तमेव प्रति युगपदेकमेव नष्टमनष्टं च स्यात्। द्विचन्द्रादेश्च युगपन्नष्टानष्टत्वस्यासम्प्रतिपन्नत्वात्। भ्रान्तपुरुषभेदेन तस्यापि भेदात्। तस्मान्नाविद्याभेदो नापि तद्भेदाज्जीवभेदसिद्धिरिति स्थितम्।

अत्रोच्यते—यस्तावदेकैवाविद्येति पक्षे दोषः, सोऽनभ्युपगमादेव परास्तः, ब्रह्मण एवैकस्य तत्तदनाद्यनन्ताविद्यावच्छेदेनानन्तजीवनिर्भासास्पदत्वाभ्युपगमात्। सति च कल्पके कल्पनागौरवस्यादोषत्वात्, एकस्यापि च

स्याचिन्त्यस्वभावत्वादिति, तत्राह—**न चैकमेवेति**। ननु बहुदृष्टद्विचन्द्रादावप्येवं भाव इति, नेत्याह—**द्विचन्द्रेति**। अनेकजीवदूषणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

समाधातुमुपक्रमते—**अत्रेति**। ननु तर्हि कल्पनागौरवमुक्तम्, तत्राह—**सति चेति**। तर्ह्येकस्याप्यनेकाविद्या कल्प्येरन् तत्कार्यभ्रमाणां विभिन्नत्वादिति, ओमित्याह—**एकस्यापीति**। एकजीववादिभिरप्ययमर्थोऽङ्गीक्रियत इत्याह—

मोहरहित के प्रति नष्ट होता हुआ भी मोह से रहित के प्रति अनष्ट रहता है, अतः एक के ज्ञान से सब का मोक्ष नहीं होता है, तो कहा जाता है कि एक ही को पुरुषभेद से नष्ट और अनष्ट कहना युक्त नहीं है। क्योंकि एक को एक काल में नष्ट और अनष्ट होना विरोध से सम्भव नहीं है। और यदि नष्ट-अनष्ट में अविरोध हो, तो जिस एक पुरुष के प्रति प्रपञ्च नष्ट होता है, उसीके प्रति एक ही काल में एक प्रपञ्च नष्ट और अनष्ट भी होगा, तो मोहाभाव का प्रसङ्ग रहेगा ही। और वह मोह कल्पित द्विचन्द्रादि के युगपद् नष्टानष्टत्व की अनुभूति भी नहीं होती है। क्योंकि भ्रान्त पुरुष के भेद से वहाँ भी कल्पित का भेद रहता है। अतः अविद्या का भेद नहीं है, न अविद्या के भेद से जीव के भेद की सिद्धि हो सकती है, यह स्थित हुआ।

अत्रोच्यते = अब यहाँ सिद्धान्त कहा जाता है कि, जो प्रथम एक ही अविद्या है, इस पक्ष मे दोष कहा है, वह दोष तो एक अविद्या के अस्वीकार से ही निरस्त है। क्योंकि एक ही ब्रह्म की तत्तत् अनादि, अनन्त अविद्या के भेद से अनन्त जीवरूप से प्रतीति विषयत्व को माना जाता है। और अनेक अविद्या पक्ष मे कल्पना गौरव दोष कहा था, वह युक्त नहीं, क्योंकि कल्पक हेतु के रहते कल्पनागौरव दोष नहीं गिना जाता है, यदि कहे कि एक जीव को भी अनेक भ्रम होता है, अतः भ्रमभेद से एक मे भी अनेक-अनेक अविद्या की कल्पना प्राप्त होगी, तो कहा जाता है कि एक जीव के अनेक अविद्या का सद्भाव माना ही जाता है, यह अनिष्ट नहीं है। इष्ट सिद्धिकार ने भी (जितने ज्ञान होते है, उतने ही उससे निवर्त्य अज्ञान रहते है) इसप्रकार से अनेक अविद्या का स्वीकार किया है। यदि कहे कि भेदप्रतीति

जीवस्यानेकाविद्यासद्भावाभ्युपगमात्। इष्टसिद्धिकारैरपि यावन्ति ज्ञानानि तावन्त्यज्ञानानीत्यनेकाविद्यास्वीकारात् नन्वपारमार्थिकत्वे भेदभानस्यैकाविद्ययैव तत्सिद्धेरविद्यान्तरकल्पना व्यर्था। न व्यर्था, विद्वदविद्वद्गुरुशिष्यबन्धमोक्षादिव्यवस्थासिद्धेरेव प्रयोजनत्वात्। एकाविद्यापक्षेऽपि स्वप्न इव व्यवस्था सिद्धयत्येवेति चेत्, तत्कि स्वप्नकल्पिकैवाविद्या जाग्रद्व्यवहारकल्पिका? उतान्या? आद्ये प्रबोधे स्वप्नकल्पकाविद्यानिवृत्तौ जाग्रद्व्यवहारोऽपि सर्वो निवर्तेतेति विनैव ब्रह्मविद्या मुक्ति स्यात्। अनिवृत्तौ वाऽविद्यायास्तत्त्वज्ञानान्निवृत्तौ दृष्टान्ताभावाद् ब्रह्मज्ञानादज्ञाननिवृत्तिर्न

इष्टसिद्धीति। पूर्वपक्ष्याशयमनूद्य दूषयति—**नन्वित्यादिना।** नन्वियमपि व्यवस्थैकाविद्यया शक्यसंपादेत्याशङ्क्य स्वप्नजाग्रत्प्रतिबन्द्या परिहरति—**तत्कि स्वप्ने त्यादिना।** ननु निवर्तता नाम स्वप्नव्यवहारनिवर्तकप्रबोधेन जाग्रद्व्यवहारोऽपि कि नश्छिन्नमिति, तत्राह—**विनैवेति।** यद्यपि जागरावस्थाया तद्विरोधिबाधकोदयेऽपि तस्य न निवृत्ति, तथापि तत्त्वज्ञानादज्ञाननिवृत्तावस्ति दृष्टान्तान्तरमिति शङ्कते —

के अपारमार्थिक होने पर एक अविद्या से ही उस भेद की सिद्धि होने से अविद्यान्तर की कल्पना व्यर्थ है, तो कहा जाता है कि व्यर्थ नही है। क्योकि ज्ञानी अज्ञानी गुरु शिष्य बन्ध मोक्षादि की व्यवस्था की सिद्धि ही उस अविद्या भेद का प्रयोजन (फल) है। यदि कहे कि एक अविद्या पक्ष मे भी स्वप्न के समान उक्त व्यवस्था की सिद्धि हो ही जायगी, तो यह कहना युक्त नही। क्योकि, क्या वह स्वप्न-कल्पिका अविद्या ही जाग्रद् व्यवहार की कल्पिका = कल्पना वाली होगी, या अन्य होगी। प्रथम पक्ष मे जागने पर, स्वप्नकल्पक अविद्या की निवृत्ति होने पर, जाग्रत् के सब व्यवहार भी स्वप्न व्यवहार के तुल्य ही निवृत्त हो जायगे। और ब्रह्मविद्या के बिना ही मुक्ति होगी। क्योकि स्वप्नकालिक अविद्या ही जाग्रत व्यवहार और बन्ध का हेतु थी, जागने से उस अविद्या के नाश होने के कारण उसके कार्य रह नही सकते है। यदि जाग्रत के ज्ञान से स्वप्नकालिक अज्ञान का नाश नही हो, तो उस अज्ञान की अनिवृत्ति पक्ष मे अविद्या की तत्त्व ज्ञान से निवृत्ति मे दृष्टान्त के अभाव से बद्ध ज्ञान से भी अज्ञान की निवृत्ति नही सिद्ध होगी। यदि कहे कि तत्त्वज्ञान के विरोधी अग्रहण = अज्ञान और भ्रम = मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति शुक्ति ज्ञान से देखी जाती है। इसीप्रकार से ब्रह्मतत्त्व ज्ञान के विरोधी अज्ञान की ब्रह्म तत्त्व ज्ञान से निवृत्ति समझी जा सकती है। तो कहा जाता है कि क्या यह आपका अनुमान है, या अर्थापत्ति है। अथवा दृष्टान्त के दर्शन से सम्भावना मात्र है। प्रथम पक्ष मे (विमत = अविद्या तत्कार्यम। तत्त्वज्ञान निवर्त्यम्। तत्त्वज्ञान

सिध्येत् । ननु तत्त्वावभासविरोधिनोरग्रहणमिथ्याज्ञानयो शुक्त्यादितत्त्व-ज्ञानान्निवृत्तेर्दृष्टत्वाद्ब्रह्मतत्त्वावभासविरोधिनोऽज्ञानस्य ब्रह्मतत्त्वज्ञानान्नि-वृत्तिवरगन्तु शक्यत इति चेत्, किमिदमनुमानम् ? आहोस्विदर्थापत्ति ? अथवा दृष्टान्तदर्शनात् सभावनामात्रम् ? आद्ये तेनैवाज्ञानेनानैकान्तता, प्रबोधेऽपि तस्य निवृत्त्यनभ्युपगमात् । न द्वितीय, ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेणैव तत्त्वावभासविरोधित्वस्य स्वप्नाविद्यावदुपपत्ते । न तृतीय, स्वप्नाविद्या-वद्वैपरीत्यस्यापि सभवात् । अथ श्रुतिप्रामाण्यात ज्ञानादज्ञाननिवृत्त्यध्य-वसाय, तर्हि 'भूयश्चान्ते विश्वमाया' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यादनेकान्यज्ञानानि

ननु तत्त्वेति । तेनैवेति । स्वप्नाज्ञानेनेत्यर्थ । तस्यैव विवरण **प्रबोधेऽपीति ।** विमत तत्त्वज्ञाननिवर्त्य तत्त्वावभासविरोधित्वात सप्रतिपन्नवदिति ह्यनुमानम्, तच्चेदमनैकान्तिक स्वप्नाज्ञाने इत्यर्थ । अर्थापत्तिपक्ष दूषयति—**न द्वितीय इति ।** तत्त्वावभासविरोधित्व हि तत्त्वज्ञाननिवर्त्यत्वकल्पकम । एतच्चानिवर्त्यत्वेऽप्युपपन्न जागरप्रपञ्चवदित्यर्थ । **स्वप्नाविद्यावदिति ।** स्वप्नजागरकल्पकाविद्यावदिति विवक्षितम् । सभावनापक्ष दूषयति—**न तृतीय इति ।** वैपरीत्येऽपि दृष्टान्तोऽस्ती-त्यर्थ । न वय युक्तिबलात्कल्पयाम येनैते दोषा प्रादुष्यु किंतु, 'तरति शोकमात्म-वि'दित्यादिश्रुतिबलात्तत्त्वज्ञानमज्ञाननिवर्तकमित्यगवच्छाम इति शङ्कते—**अथेति ।** परिहरति—**तर्हीति ।** अत्र हि विश्वशब्दान्मायाबाहुल्य पुन शब्दपर्यायभूय शब्दात क्रमान्निवृत्तिश्च प्रतीयत इत्यर्थ । तदेव स्वप्नकल्पकाविद्याव्यतिरिक्ताविद्याकल्पकत्व

विरोधित्वात, शुक्ति-अज्ञानवत्) इस हेतु का उस स्वप्न अज्ञान ही मे अनैकान्ति-कत्व है। हेतु के रहते भी उसकी जाग्रत् तत्त्वज्ञान से निवृत्ति नही मानी जा सकती है, क्योकि वह जब जाग्रत् व्यवहारादि का हेतु हे, तो उसके नाश से व्यवहारादि का अभाव प्राप्त होगा। अत जाग्रत् मे भी उसकी निवृत्ति नही मानी जाती है। दूसरा पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि ज्ञान से निवर्त्यत्व (नाश्यत्व) के बिना ही ब्रह्माऽज्ञान मे तत्त्वावभास के विरोधित्व की स्वप्नाऽ विद्या के समान सिद्धि हो सकती है। तृतीय पक्ष भी युक्त नही हो सकता है। क्योकि स्वप्नज्ञान के समान विपरीतता (तत्त्वज्ञान से अनिवर्तता) का भी सम्भव हो सकता है। अर्थात स्वप्न की अविद्या तत्त्वावभास के विरोधी होते भी जैसे प्रबोध = जाग्रत् ज्ञान से निवृत्त नही होती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान के ब्रह्मज्ञान के विरोधी होते भी ब्रह्मज्ञान से निवृत्त नही होगा। यदि (तरति शोकमात्मवित्) इत्यादि श्रुतिप्रामाण्य से ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति का निश्चय करते है। तो (भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति) इत्यादि श्रुतिप्रामाण्य से अनेक अज्ञान और उनकी क्रम से निवृत्ति भी स्वीकर्तव्य है, क्योकि इस श्रुति मे विश्व शब्द से माया

तन्निवृत्तयश्च क्रमेणेति स्वीक्रियताम्। द्वितीये तु तवाप्यनेकाविद्याकल्पना-दोषस्तदवस्थ। कार्यभेददर्शनस्य तत्कल्पकस्य भावाददोष इति चेत्, तत्किं भेददर्शनं पारमार्थिकम्? उत न? आद्ये विरोधान्न कल्पनासिद्धिः। द्वितीये त्वेकयैव तत्सिद्धेर्व्यर्थानेकाविद्याकल्पनेति त्वदुक्ता दोषास्त्वामेवोपहन्युः। कल्पितत्वाविशेषेऽपि किंचिद्व्यावहारिकं यद्देहाद्यात्मभावादिनिवर्तकात्मसाक्षात्कारपर्यन्तमनुवर्तते, किंचित्प्रातिभासिकं यत्प्रमातृत्वादिव्यवहारे सत्येव निवर्तत इत्यवान्तरभेदसिद्धये अविद्याभेदः कल्पनीय इति चेत्, तर्हि——

अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत्स्वप्नत्रिभेदिना।
यथा तथैव कल्प्यन्तामनन्ता सति कल्पके॥ ६॥

ममापि मुक्तामुक्तादिरूपेण व्यावहारिकानन्तजीवानां शुकवामदेवपरा-

---

जागरस्येति द्वितीयः पक्षः परिशेषितः। सम्प्रति तस्मिन् स्वमाम्यमाह—**द्वितीये त्विति**। उत्तरौ चोद्यपरिहारौ विशदौ।

ननु स्वप्नजागरयोः कल्पितत्वाविशेषेऽप्यवान्तरवैलक्षण्याद्विलक्षणाविद्यापरिकल्पितत्वमिति शङ्कयित्वापि साम्यं श्लोकेनाह—**अविद्येति। तर्हीति च** श्लोकस्योपकारः। सति कल्पक इत्येतद्विवरणपूर्वकमुत्तरार्धं विवृणोति—**ममापीति।**

के बहुत्व की और भूयः शब्द मे क्रम से निवृत्ति की प्रतीति होती है। स्वप्नकल्पक अविद्या से भिन्न अविद्या जाग्रत का कल्पक है, इस द्वितीय पक्ष मे तो आपको भी अनेकाऽविद्या की कल्पना रूप दोष तदवस्थ है। यदि कहे कि कार्यभेद का दर्शन रूप उस अविद्या के कल्पक के भाव (सत्त्व) से दोष नही है। तो कहा जाता है कि वह भेददर्शन पारमार्थिक है, या नही। प्रथम पक्ष मे विरोध होने से कल्पना की सिद्धि नही हो सकती है, क्योकि पारमार्थिक दर्शन, अविद्यामूलक कल्पना का विरोधी होता है। दूसरे पक्ष मे तो एक ही अविद्या से कल्पित कार्यो की सिद्धि होने से अनेक अविद्या की कल्पना व्यर्थ है, यह आप से उक्त ही दोष आपका उपघात करेगा। यदि कहे कि स्वप्न और जाग्रत पदार्थो मे कल्पितत्व के तुल्य होने भी कुछ व्यावहारिक है कि जो देहादि मे आत्मभावादि के निवर्तक आत्मसाक्षात्कार पर्यन्त रहता है। और कुछ प्रातिभासिक है कि जो प्रमातृत्वादि व्यवहार के रहते ही निवृत्त हो जाता है, वहाँ इस प्रकार के अवान्तर भेद की सिद्धि के लिये अविद्या का भेद भी कल्पनीय है। तब तो—

जाग्रत स्वप्न के भेदजनक अनेक अविद्या की जैसे कल्पना की जाती है, वैसे ही कल्पक के रहते अनन्त अविद्या कल्पनीय है॥ ६॥

अर्थात् मेरे मत मे भी मुक्तामुक्तादि रूप से व्यावहारिक अनन्त जीव शुक,

शरप्रभृतीना प्रतिभासनात्तदुपपत्तये तत्तद्धेतुभूतानेकाविद्याभ्युपगमेऽपि न दोष । न चाद्वैतवादिनो मानतस्तेषामभानात्, भ्रान्तिसिद्धाना चैकयैवाविद्यया सिद्धेर्नानन्ताविद्याकल्पना युक्तेति वाच्यम्, विकल्पासहत्वात् । तत्कि तत्त्वावेदकमानस्यागम्यत्वम् ? उत व्यावहारिकस्य ? न प्रथम, जाग्रत्स्वप्नव्यवहारभेदस्यापि तथात्वेन तवाप्यविद्याभेदस्यासिद्धे । न चरम, जीवभेदानामनुमानादिव्यावहारिकमानसिद्धत्वस्येष्टत्वात् । एतेन स्वप्ननिदर्शनेनैकाविद्ययैवालमिति प्रत्यवस्थान परास्तम् । यश्चोत्पन्नविद्य-

---

कृतसमाधानमप्याक्षेपमनूद्य भङ्ग्यन्तरेण समादधाति—**न चाद्वैतेत्यादिना । जाग्रत्स्वप्नेति ।** यत्तत्त्वावेदकमानागम्य तदेकाविद्याकल्पितमिति नापि ते व्याप्ति, जाग्रत्स्वप्नयोर्व्यभिचारादित्यर्थ । व्यावहारिकप्रमाणागम्यत्वमसिद्धमित्याह—**न चरम इति । एतेनेति ।** व्यावहारिकप्रमाणगम्यत्वेनेत्यर्थ । दूषणान्तरमप्यनूद्य

वामदेव, पराशरादि का प्रतिभास (ज्ञान) होता है, अत उनकी सिद्धि के लिये तत्तत् प्रतिभास के कारणस्वरूप अनेक अविद्या के स्वीकार मे कोई दोष नही है । और जो कहा है कि अद्वैतवादी को प्रमाण से तो उन अनेक जीवो का भाव है नही । अर्थात् श्रुतिप्रमाण से तो भेदो का अभाव ही सिद्ध होता है । और भ्रान्ति से सिद्ध जीवादिभेदो की एक ही अविद्या से सिद्धि हो सकती है, अत अनन्त अविद्या की कल्पना युक्त नही है, यह कहना भी युक्त नही है, क्योकि यह कथन विकल्पाऽसह है, विकल्प है कि, क्या वह जीवभेद तत्त्वावेदक (सत्य का बोधक) प्रमाण का अगम्य = अविषय है । या व्यावहारिक प्रमाण का अविषय है । अर्थात उसमे किससे अगम्यत्व हे, पारमार्थिक प्रमाण से, या व्यावहारिक प्रमाण से । प्रथम पक्ष नही माना जा सकता है, क्योंकि जाग्रत् स्वप्न व्यवहारभेद को भी तत्त्वावेदक मान से अगम्यत्व होने से तुम्हारे मत मे भी अविद्या के भेद की सिद्धि नही होगी । अर्थात् जो तत्त्वावेदक प्रमाण से अगम्य हो, वह एक अविद्या से कल्पित हो, यह नियम आपके मत मे भी नही सिद्ध हो सकता है, क्योकि जाग्रत् स्वप्न मे तत्त्वावेदक प्रमाण गम्यत्व हे, और एक अविद्या कल्पितत्व नही हे । अन्तिम पक्ष भी युक्त नही, क्योकि जीव भेदो को अनुमानादि व्यावहारिक प्रमाणों से सिद्ध माना जाता है, अत व्यावहारिक प्रमाण गम्यत्व नही होगे से एक अविद्या कल्पितत्व भी नही हो सकता है । (एतेन) = इस व्यावहारिक प्रमाण गम्यत्व से ही, स्वप्न दृष्टान्त से एक अविद्या से ही अलम् = प्रर्याप्त है, सब भेद एक अविद्या से सिद्ध हुआ है, अनेक अविद्या की आवश्यकता नही है, ऐसा प्रत्यवस्थान = विरोध परास्त हो

स्याविद्यान्तरतत्कार्याणा भानाभानयोर्दोष उद्भावित, स परस्यापि तुल्य, त्वन्मते विदुषा द्वैतभाने भूमलक्षणब्रह्मप्राप्त्याभावप्रसङ्गात्। अभाने च यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्, भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सपद्यत' इति सूत्रविरोधात्, अविद्यालेशस्वीकारवैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च। न चाविद्यान्तराणा तत्कार्याणा च तदविद्यात्व तत्कल्पितत्व चान्तरेणैव तस्य भानानुपपत्ति, त्वदभ्युपगताविद्यान्तरतत्कार्ययोरपि पर्यनुयोगसाम्यात्स्व-प्नाविद्यातत्कार्याणा जाग्रदविद्यात्व तत्कार्यत्व चान्तरेण भानाभ्युपगमात्।

साम्येन परिहरति **यावदधिकारमिति**। आधिकारिकाणामधिकारनिर्वर्तकाना सहस्राक्षसहस्ररश्मिव्यासवसिष्ठप्रभृतीना यावदधिकारमेवावस्थिति। अधिकारे तु परिसमाप्ते इहैव कैवल्य प्राप्नुवन्ति, तेषा जीवन्मुक्तिसाधनद्वारा ब्रह्मविद्याया पाक्षिकफलत्वनिरासफलमधिकरण भोगेनेति, **इतरे** प्रारब्धफले पुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा **संपद्यते** विदेहकैवल्य प्राप्नोतीत्यर्थ। यदि च प्रतिबुद्धतत्त्वस्य द्वैतभान-मेव न स्यात तदाऽविद्यालेशस्वीकारोऽपि वृथैकजीववादिनामित्याह—**अविद्येति**। पूर्वपक्षाशय दूषयति—**न चाविद्यान्तराणामिति**। एव वदतोऽव्यवस्थैव स्यात् त्वन्मोहादीनामप्यन्यमोहादित्वस्यैव शक्यसाधनत्वादित्यर्थ। पर्यनुयोगसाम्यमेव दर्शयति—**स्वप्नेति**। शक्यते हि वक्तुम् जागरेऽपि स्वप्नत्व दृश्यत्वात्स्वप्नवदिति।

गया। और जो उत्पन्न विद्या वाले ज्ञानी के अविद्यान्तर और उसके कार्यों के भान तथा अभान पक्षो मे दोष उद्भावित = सिद्ध किया था, यह उस प्रतिवादी के मत मे भी तुल्य दोष है। क्योकि तेरे = प्रतिवादी के मत मे भी विद्वानो को द्वैत के भान रहते विभुस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति का अभाव प्राप्त होगा। और विद्वान् को द्वैत का भान नही होना है, इस अभान पक्ष मे (यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्। भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते) इन्द्र, सूर्यादि अधिकारी = नेता पुरुषो की अधिकार = स्वकर्तव्य पर्यन्त लोक मे स्थिति रहती है। अधिकार की समाप्ति होने पर मुक्त होते है। भोगसे इतर प्रारब्ध पुण्य-पाप को नष्ट करके विदेह मुक्ति को प्राप्त करते है। इन सूत्रो से विरोध होगा, क्योकि ये सूत्र ज्ञानी के भेददर्शन व्यवहारादि को समझाते है। और यदि ज्ञानी को भेद का भान नही हो, तो अविद्यालेश का स्वीकार करना व्यर्थ होगा। और अविद्यान्तर तथा उसके कार्यो के तदविद्यात्व = कल्पक दर्शक अविद्यात्व तथा तत्कल्पितत्व के बिना उनके ज्ञान की ही अनुपपत्ति है, यह नही कह सकते है, क्योकि तुम से अभिगत (ज्ञात) अविद्यान्तर और उसके कार्य मे भी पर्यनुयोग (शका) की समता है। अर्थात् तेरे अज्ञान और उसके कार्य को जो समझेंगे, उन अन्य के मोहादित्व तेरे मोहादि मे भी प्राप्त होगा, इससे कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। और स्वप्न के अविद्या और उसके कार्यों को, जाग्रत के अविद्यात्व तथा जाग्रत अविद्या के कार्यत्व के बिना भी जाग्रत् मे भान माना जाता

यच्चाविद्यान्तरतत्कार्याणामन्यदृश्यत्वे सप्रतिपन्नवत् तदविद्यात्व तत्कार्यत्व च स्यादिति, तदपि जाग्रत्स्वप्नकल्पकाविद्याभेदेनैव व्याख्यातम्, एकपुरुषसबन्धित्वेऽपि परस्पर भेदात्, अस्माभिरप्यविद्यानामेव ब्रह्मसबधित्वाभ्युपगमाच्च । इन्द्रजालादिनिदर्शन च पूर्वोक्तन्यायेन परास्नम्, परकल्पितस्य पर प्रत्यपरोक्षत्वाभावेऽपि परोक्षतावभाससभवस्योक्तत्वात् । एतेन सवितृसुषिरनिदर्शनमपि परास्तम् । तत्रापि तद्वचनात् परोक्षत्वो-

---

अत्रापि यथा तयोरसकरस्तद्वदत्रापीत्यर्थ ।

यच्चान्यदृश्यत्वे बाधकमुक्तम् तदप्यनूद्य दूषयति—**यच्चेति** । अतिदेशमेव विशदयति—**एकपुरुषेति** । ननु तथापि तयोरेकदृश्यत्वादेकपुरुषसबन्धित्वमस्त्येव, तद्वद्विश्वाविद्यातत्कार्याणामपि स्यादिति तत्राह--**अस्माभिरपीति** । एकसबन्धित्व-मस्माकमपि सिद्धमित्यर्थ । यत्त्विन्द्रजालादावप्यसाधारण्यमुक्त तत्परिहरति—**इन्द्रेति** । पूर्वोक्तन्यायमेवाह—**परेति** । यश्चेन्द्रजालादेरसाधारण्ये दृष्टान्त उक्तस्त-मपि दूपयति—**एतेनेति** । कल्पितस्यैव प्रपञ्चस्यानेकसाधारणत्वगमकश्रुत्याद्याह—

है । जागने पर मनुष्य कहता है कि मेने स्वप्न मे अज्ञानमय जग्रत् को देखा था, इसीप्रकार से अन्य के अविद्या और उसके कार्य का अन्य को भान होना हे एतावता तदीय नही होता है, जैसे कि स्वप्न का जग्रत जाग्रत् का नही होता हे ।

और जो यह कहा था कि अविद्यान्तर और उसके कार्यो को अन्य के दृश्य होने पर, उस अन्य के निश्चित अविद्यात्व और उसको अविद्या के कार्यत्व हो जायगा, यह भी जाग्रत् स्वप्न के कल्पक अविद्या के भेद से ही व्याख्यात हो गया कि स्वप्न कल्पक अविद्या जाग्रत् मे ज्ञात होते भी वह जाग्रन की नही होती हे, ऐसे ही अन्य की अविद्या अन्य के दृश्य होने पर भी जिसकी है, उसकी रहेगी, दर्शक की नही होगी । जाग्रत् और स्वप्न की अविद्याओ को एक पुरुष के साथ सम्बन्ध रहते भी परस्पर भेद रहता है, तो अन्य की अविद्या मे कहना ही क्या हे । यदि शका हो कि स्वप्न जाग्रत् की एक पुरुष से दृश्यता होने पर, उन दोनो अविद्याओ को एक पुरुष के साथ सम्बन्ध भी रहता है, वैसे ही ससार की अविद्या और उसके कार्य को भी होना चाहिये, इस शका का उत्तर है कि हम भी अविद्याओ के एक सर्वात्म ब्रह्म सम्बन्धित्व को मानते ही है, इससे एक सम्बन्धित्व सिद्ध ही है । और जो इन्द्रजालादि मे असाधारणता कहा था, यह इन्द्रजालादि निदर्शन दृष्टान्त भी पूर्वोक्त न्याय से परास्त हो गया, क्योकि परकल्पित को अन्य के प्रति अपरोक्षत्व के अभाव होते भी परोक्ष रूप से अवभास का सम्भव कहा गया है । इसीसे सूर्यच्छिद्र निदर्शन भी परास्त हो गया, क्योकि वहाँ भी उस द्रष्टा के वचन से अन्य

पपत्ते । तथापि गुरुशिष्ययो परस्परमपरोक्षत्वाभावे कथमुपदेश क्रियत इति चेत्, मैवम, भूतभौतिकप्रपञ्चस्य कृत्स्नस्येश्वरमायाविनिर्मितत्वेऽपि सर्वापरोक्षत्वोपपत्ते । 'यतो वा इमानि भूतानी'ति, अह कृत्स्नस्य जगत, प्रभव, जन्माद्यस्य यत' इति श्रुतिस्मृतिसूत्रभाष्यादिभिरस्यार्थस्य प्रतिपादितत्वात् । अन्यथा शुक्तिरजतादिवज्जीवाविद्यामात्रनिर्मितत्वे जगतो जीवादिकर्तृकत्वनिरासप्रयासवैयर्थ्यात् । जीवाविद्याकल्पितत्वे चेश्वरस्य जीवानामीश्वरो नियन्तेत्यादिश्रुतिस्मृतीनामप्रामाण्यप्रसङ्गात् । एकस्य प्रपञ्चस्य बहुमोहकल्पितत्वानङ्गीकारादेव तत्रोक्तदोषाणा दूरपरास्तत्वात् ।

यत इत्यादिना । नन्वेनेभ्य कथ साधारण्य प्रतीयत इति, तत्राह—**जीवाविद्येति ।** यदिहि कल्पितस्य साधारण्य न स्यात् तदाऽतत्साधारणाभिर्जैवीभिरविद्याभि परिकल्पित स्यात्, तथा च सकलनियन्तृसाधारणपरमेश्वरकर्तृकत्व न भवेत्, तथा च तत्प्रतिपादकश्रुत्यादिविरोध । यश्च सूत्रकारभाष्यकाराभ्या जीवकर्तृकत्वनिरासप्रयास कृत सोऽपि वृथैवस्यात् । दूषणान्तर चाह—**जीवाविद्यति ।** यस्तु बहुमोहकल्पितत्वे सत्येकमुक्तौ सवमुक्तिदोष उक्तस्तमनङ्गीकारेण परिहरति—**एकस्येति ।** ब्रह्माश्रितसकलमायाकार्णैकमायाविजृम्भित प्रपञ्च इत्यभिमान । ननु प्रपञ्चस्य जीवाविद्याऽविजृम्भितत्वे जीवगततत्त्वज्ञानादनिवृत्तेरनिर्मोक्षापात इति, तत्राह—

के परोक्ष ज्ञान की सिद्धि होती है, तो भी गुरु और शिष्य के परस्पर अपरोक्षत्व के अभाव रहते उपदेश कैसे किया जाता है, ऐसा सशय हो तो कहा जाता है कि सम्पूण भूत भौतिक प्रपञ्च के ईश्वर माया से विनिर्मित होन पर भी सबके अपरोक्षत्व की सिद्धि होती है, गुरु-शिष्य के व्यावहारिक स्वरूप ईश्वर माया निर्मित है, स्वविद्या कल्पित नही, अत उनका परस्पर ज्ञान होता है, यह श्रुति कहती है कि (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते) जिससे सब प्राणी उत्पन्न होते है। स्मृति है कि (अह कृत्स्नस्य जगत प्रभव) मैं = ईश्वर सब ससार का उत्पत्तिस्थान हू। सूत्र है कि (जन्माद्यस्य यत) इस जगत के जन्मादि जिससे होते है, वह ब्रह्म है। इसप्रकार से श्रुति, स्मृति सूत्र भाष्यादि से इस उक्त अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। अन्यथा शुक्ति, रजतादि के समान जीव के अविद्या मात्र से जगत् के निर्मित होने पर, ससार के जीवादि कर्तृकत्व के निराकरण का प्रयास व्यर्थ होगा। और ईश्वर को जीव की अविद्या से कल्पित होने पर, जीवो का ईश्वर नियन्ता है इत्यादि अर्थ को कहने वाले श्रुति स्मृतियो की अप्रमाणता सिद्ध होगी। और एक प्रपञ्च को बहुत के मोह से कल्पित नही मानने से ही जो कहा था कि बहुत के मोह से कल्पित ससार मे एक के मोक्ष से सर्व को मुक्त होना चाहिये इत्यादि, यह उक्त दोष दूर निरस्त (त्यक्त) हो गये। और भूत भौतिक प्रपञ्च के

स्वीयस्वीयविद्यया च स्वस्वाविद्यानिर्मितकर्तृत्वभोक्तृत्वादेर्बन्धस्य सकारणस्य निरासेन नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाख्यब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तेरप्युपपत्ते । ननु स्वस्वाविद्येति कथ जीवनिष्ठत्वेनाविद्या व्यपदिश्यते ? ब्रह्माश्रयत्वादविद्यानामिति चेत्, सत्यम्, ब्रह्मसबन्धित्वेऽपि तासामवच्छिन्नजीवरूपपक्षपातितया प्रतिभानात् । दृष्ट हि लोके—मुखमात्रसबन्धिनोऽपि दर्पणस्य प्रतिबिम्बपक्षपातित्वम्, दृश्यते च घटस्याकाशमात्रसबन्धिनोऽप्यवच्छिन्नाकाशपक्षपातित्वम्, तस्मान्न किंचिदवद्यमिति ।

अपि च—

सूत्रभाष्यादिवाक्याना श्रुतिस्मृतिगिरामपि ।
मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्थैवाभ्युपेयताम् ।। ७ ।।

स्वीयस्वीयेति । असाधारणप्रपञ्चनिवृत्त्यैव मोक्ष, नतु साधारणनिवृत्त्या । विद्यमानोऽपि मुक्त प्रति न भाति प्रविलीननिखिलकरणत्वादन्ध प्रतीव रूपादिरित्यर्थ । **स्वस्वाविद्येति** । निर्देशमाक्षिप्य समादधाति—**ननु स्वस्वेत्यादिना** । अहमज्ञ इति हि प्रतीति, नतु ब्रह्माज्ञमिति भाव । ननु चिन्मात्रसबन्ध्यविद्याया कथ जीवपक्षपातित्व न ब्रह्मपक्षपातित्वमिति शक्य वक्तुम्, सबन्धाविशेषादिति तत्राह—**दृष्टं हीति** । द्वेधा हि सप्रदाय—अविद्याप्रतिबिम्बितचैतन्य जीव इति वाऽविद्यावच्छिन्नमिति वा, तत्राद्यपक्ष उदाहरणमुक्तम्, अवच्छेद उदाहरणमाह—**दृश्यते चेति** ।

इदानी तु जीवातिरिक्तेश्वरमीश्वराधीनता च जीवाना तदेकता च सूत्रभाष्य

ईश्वररचित होते भी अपनी-अपनी विद्या द्वारा अपनी-अपनी अविद्यानिर्मित कर्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप कारण सहित बन्ध के निराकरण से नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव नामक ब्रह्म की प्राप्ति रूप मोक्ष की सिद्धि होती है । यदि कहे कि स्वस्वाविद्या इस प्रकार से जीव वृत्तित्व रूप से अविद्या का निर्देश (कथन) कैसे करते है, क्योकि अविद्याओ को तो ब्रह्माश्रितत्व है । तो कहना सत्य है, तो भी अविद्याओ को ब्रह्म सम्बन्धित्व होते भी अवच्छिन्न (एक देशी = अन्त करण युक्त) जीवस्वरूप की पक्षपातिता रूप से अविद्या का प्रतिभान (ज्ञान) होता है । अत, अहमज्ञ, इस प्रतीति के अनुसार जीव की अविद्या कही जाती है (लोक मे भी देखा गया है कि मुखमात्र सम्बन्धी भी दर्पण को प्रतिबिम्ब पक्ष पातित्व होता है । और आकाश मात्र सम्बन्धी भी घट को अवच्छिन्न आकाश पक्षपातित्व देखा जाता है । अत इस प्रतिबिम्बवाद या अवच्छेवाद के अनुसार नाना जीववाद मे कोई दोष नही है ।

और सूत्रभाष्यादि वाक्यो के तथा श्रुति स्मृति वचनो के भी मुख्यार्थत्व की सिद्धि के लिये व्यवस्था ही स्वीकर्तव्य है ।। ७ ।।

एव च सति "नेतराऽनुपपत्ते", "अनुपपत्तेस्तु न शारीर", 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च", "परात्तु तच्छ्रुते", "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य", "यावदधिकारमवस्थिति", "पराभिध्यानात्तु तिरोहित ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ", "प्रकाशादिवन्नैव पर" "असन्ततेश्चाव्यतिकर" इत्येवमादीनि सूत्राणि तद्व्याख्यानपराणि भाष्याणि च सामञ्जस्येनोपपन्नार्थानि भवन्ति। "तद्यो यो देवाना प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथा ऋषीणा तथा मनुष्याणा तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेव प्रतिपेदे अह मनुरभव सूर्यश्च", तस्मै मृदितकषायाय तमस पारदर्शयति भगवान् सनत्कुमार,

श्रुतिभि क्रमेण साधयति—**अपि चेति।** श्लोक विवृणोति—**एवं च सतीति।** इतर शारीर। 'कर्मकर्तृव्यपदेशा'दिति 'एवमित प्रेत्याभिसम्भवितास्मी'तिप्राप्तृप्राप्तव्यतया जीवपरमेश्वरयो कर्तृकर्मभावनिर्देशान्न कर्मीभूतो मनोमयत्वादिगुणक शाण्डिल्यविद्याप्रतिपाद्य शारीर इत्यर्थ। बद्धाबद्धव्यवस्थायामपि श्रौतलिङ्गमाह—**तद्यो य इति।** देवाना मध्ये यो यो वीप्सया चाधिकारसपत्तौ सर्वेषामपि मुक्ति,

एव च सति (उक्त रीति से नाना जीव को मानने पर) (नेतरोऽनुपपत्ते) इतर = जीव आनन्दमय नही हो सकता है, क्योकि उसमे प्रकरणप्रतिपाद्य विशेष की अनुपपत्ति है। (अनुपपत्तेस्तु न शारीर) शारीर = जीव मे उपास्य गुण की असिद्धि से वह उपास्य नही है। (कर्मकतृव्यपदेशाच्च तमित प्रेत्याभिसम्भवितास्मि), इसप्रकार से कर्मकर्तृभाव के कथन मे शाण्डिल्य विद्या से प्राप्य जीव नही है। (परात्तु तत् श्रुते) जीव के कर्तृत्वादि ईश्वराधीन है, यह श्रुति से सिद्ध होता है। (कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धा वैयर्थ्यादिभ्य) पूर्वकृत कर्मापेक्षापूर्वक ईश्वर मे फलादि प्राप्ति प्रवृत्ति होती है, तभी विहित प्रतिषिद्ध कर्मो की अव्यर्थता आदि सिद्ध होते है। (यावदधिकारमवस्थिति) अधिकारपर्यन्त अधिकारियो की स्थिति रहती है। (पराभिध्यानात्तु तिरोहित ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ) ईश्वर के ध्यान से जीव के तिरोहित ज्ञानादि शक्ति प्रकट होती है, और उस ईश्वर से ही इसके बन्ध मोक्ष होते है। (प्रकाशादि वन्नैव पर) सूर्यादि प्रकाश के समान जीव कर्म का सम्बन्धी ईश्वर नही होता है। (असन्ततेश्चाव्यतिकर) जीव उपाधि की अव्यापकता से जीव कर्मो का व्यतिकर (समिश्रण) नही होता है। इसप्रकार के सूत्रो का उनके भाष्यादि व्याख्यानो का उक्त भेद को मानने पर सामञ्जस्य = औचित्य रूप से अर्थवत्त्व सिद्ध होता है। और (देवो मे जो-जो ब्रह्मात्मा को समझा वह उस ब्रह्मस्वरूप हो गया। तथा ऋषियो मे, मनुष्यो मे जो समझा वह ब्रह्मस्वरूप हुआ। और वह वामदेव ऋषि गर्भ ही मे इस आत्मस्वरूप ब्रह्म को देखता हुआ सर्वात्मता के अनुभव को पाया कि मै ही मनु हुआ और सूर्य हुआ।

"अभय वै जनक प्राप्तोऽसि", "एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्कय प्रवव्राज", "तद्धास्य विजज्ञौ", "एकशत ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास", भृगुर्वै वारुणि वरुण पितरमुपससार", "स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह" इत्येवमादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणवाक्यानि च मुख्यार्थे प्रामाण्यमश्नुवीरन् । तस्मादेकमपि ब्रह्माविकोपाधिभिरवच्छिन्न लब्धनानाजीवभाव तत्र बद्धमिव, यत्र विद्यया अविद्योपाधिनिवृत्तिस्तत्र मुक्तमिव भवतीति नानाजीववादेऽपि बन्धमुक्तिव्यवस्थोपपद्यत इति केचिदाचार्याः प्रतिपेदिरे ।

नतु तार्किकाणामिव बद्धैकस्वभावा केचिदिति दर्शितम् । तद्ब्रह्म प्रत्यबुध्यत प्रतिबुद्धवान् स एव तदभवत्, नतु स्वर्गादिष्विव भेदेन भोगमात्रम् । एव मनुष्यादिष्वपि । **एकशतमिति** । मघवानिन्द्र । प्रजापतौ प्रजापतिसकाशे । एकोत्तरशत वर्षाणि ब्रह्मविद्यार्थं ब्रह्मचर्यमुवास उषितवान् । **स ब्रह्मविद्यामीति ।** स ब्रह्मा ज्येष्ठपुत्रायाथर्वाय । अथर्वशब्दोऽयमकारान्त । सर्वविद्याप्रतिष्ठा ब्रह्मविद्या प्राह । स्मृतीतिहासादि बहिरेव द्रष्टव्यम् । अनेकजीववादमुपसहरति—**तस्मादिति ।** उपाधयोऽविद्या । इवद्वयेन बन्धमोक्षयोरेकानेकपक्षद्वयेऽपि दुर्निरूपत्व प्रदर्श्यते, उक्त हि सप्रदायविद्भि —

"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥" इति ।

केचिदाचार्या मण्डनमिश्रवाचस्पतिमिश्रमतावलम्बिन ।

उस दोषरहित नारद के प्रति तम से पार वस्तु को भगवान् सनत्कुमार ने दर्शाया । हे जनक ! तुम अभय को प्राप्त हुए हो । अरे मैत्रेयि ! इतना ही अमृतत्त्व है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य ऋषि परिव्राट् हुए । वह इस आत्मा को समझा । इन्द्र ने एक सौ एक वर्ष प्रजापति के स्थान मे ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास किया । वरुण का पुत्र भृगु ने वरुण पिता के शरण मे गया । वह ब्रह्मा ने सब विद्याओ मे श्रेष्ठ ब्रह्म विद्या को अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिये कहा । इत्यादि श्रुति, स्मृति इतिहास, पुराण वाक्य भी जीव के भेद को मानने पर ही अपने मुख्यार्थ मे प्रमाणता को प्राप्त करेंगे । अत- एक भी ब्रह्म अनेक उपाधि से परिच्छिन्न होकर जीवभाव को प्राप्त होता हुआ वहाँ बद्ध के समान होता है, और जहाँ विद्या से अविद्या रूप उपाधि की निवृत्ति होती है वहाँ मुक्त के समान होता है । अत नाना जीव बाद मे भी बन्ध मोक्ष की व्यवस्था की सिद्धि होती है, ऐसा कोई आचार्य समझे है ।

का पुनरविद्यानिवृत्ति । न तावत्सती, आत्मव्यतिरिक्तत्वे तस्या सद्द्वैततापत्ते । अव्यतिरिक्तत्वे चात्ममात्रत्वे सदानिवृत्ते ससारानुपलब्धिप्रसङ्गात् । तन्मात्रत्वे चात्मनस्तस्या ज्ञानजन्यतया पूर्वमभावात्, अज्ञानस्य स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात् । नाप्यसति, तुच्छत्वे शशविषाणादिवत् ज्ञानाधीनत्वा-

---

सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसब्रह्मात्मनोऽविद्यया तिरोधान बन्ध, विद्यया तन्निवृत्तिश्च मोक्ष इत्युक्तम्, तत्र ब्रह्मण्यविद्याश्रयत्वविषयत्वोपपादनेन जीवापेक्षाविद्यातिरोधानरूपबन्धविधा निरूपिता । तिरोधानेन हि तत्पूर्वविपर्यासो विवक्ष्यते सप्रत्यविद्यानिवृत्तिलक्षणमोक्षतत्त्व निरूपयत्याक्षेपसमाधानाभ्याम्—**का पुनरित्यादिना** । तत्र किं सद्रूपिण्यविद्यानिवृत्ति । असद्रूपिणी वा ? सदसद्रूपिणी वा अनिर्वचनीया वा ? पञ्चमप्रकारा वा ? आत्ममात्र वा ? सत्त्वपक्षेऽपि किमात्मातिरिक्ता ? अनतिरिक्ता वा । प्रथमे चाह—**आत्मेति** । द्वितीये प्राह—**अव्यतिरिक्तत्वे चेति** । तत्रापि वक्तव्य किमविद्यानिवृत्तेरात्ममात्रत्वम् ? आत्मनो वा निवृत्तिमात्रत्वम् ? आद्ये प्राह—**आत्ममात्रत्व इति** । आत्मन सदातनत्वादित्यर्थ । द्वितीय दूषयति—**तन्मात्रेति** । अविद्यानिवृत्तेस्तात्कालिकतया तन्मात्रात्मनोऽपि तात्कालिकत्वेन पूर्वमभावादज्ञानस्य साख्यप्रकृतिवत्स्वातन्त्र्य स्यादाश्रयाभावात्, आत्मनित्यत्वादयश्च बहव कुप्येरन्निति भाव । असत्त्वपक्ष दूषयति—**नापीति** । तत्रापि किं निरुपाख्यमसत्त्वेनाभिप्रेयते यथा शशविषाणादि ? किंवा सोपाख्य यथा घटाभावादि ? आद्ये प्राह—**तुच्छत्व इति** । नहि उत्पत्तिस्तस्य सभवतीत्यर्थ । द्वितीये प्राह—**अभावत्वेति** । तत्रापि किं निर्वाच्यमिति पक्ष यथा तार्किकप्रभृतीनाम् ? उतानिर्वाच्यमिति यथा भवन्नये शुक्तिरजतादि ? उभयत्रापि क्रमेण दूषणमाह—

ब्रह्माऽज्ञान से ब्रह्म को आवृत्त करने वाली अविद्या की विद्या से निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है । वहाँ शका होती है कि वह अविद्या की निवृत्ति क्या है, अर्थात् सत् है, या असत् है, या अन्य कुछ है । वहाँ सत् तो नही कही जा सकती है । क्योकि सत् उस अविद्या निवृत्ति को आत्मा से भिन्न होने पर, सत् द्वैत की प्राप्ति होगी । और उस निवृत्ति को आत्मा से अव्यतिरिक्त = अभिन्न होने पर, आत्ममात्रता के होने पर, आत्म रूप से निवृत्ति के सदा सत्त्व से ससार की अनुपलब्धि प्राप्त होगी । निवृत्ति को आत्मस्वरूप मानने पर यह दोष प्राप्त होता है । यदि आत्मा ही को तन्मात्र (अविद्यानिवृत्ति मात्र) माना जाय, तो आत्मा के तन्मात्र होने पर, उस अविद्या की निवृत्ति रूप आत्मा की ज्ञानजन्यता होने के कारण ज्ञान से पूर्व आत्मा के अभाव होने से अज्ञान (अविद्या) की प्रथम स्वतन्त्रता की प्राप्ति होगी । निवृत्ति को असत् भी नही कहा जा सकता है, क्योकि शश, विषाणादि के समान तुच्छ होने पर, ज्ञानाधीनत्व = ज्ञानसाध्यत्व का असम्भव है । यदि अभाव

सभवात्। अभावत्वे च तस्य निर्वाच्यत्वे द्वैतापातात्, अनिर्वाच्यत्वे च तत्कारणाविद्यावस्थनादनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। भावस्याभावो निवृत्तिरभावस्य च भाव भावाभावविलक्षणस्याज्ञानस्य कथमभावो निवृत्ति स्यात्? नाप्यनिर्वचनीया, अविद्यातत्कार्ययोरन्यतरत्वापातात्। न चाविद्यातत्कार्य-योरन्यतरत्वे निवृत्तिमत्त्वमुपाधि, अनिर्वचनीयत्वेन निवृत्तिमत्त्वस्यापि

तस्य निर्वाच्यत्व इत्यादिना। तत्कारणेति। अविद्याकल्पिते ह्यनिर्वाच्य नाम तथाच कार्यानिर्वाच्यस्थितौ तदुपादानेनापि स्थातव्यमित्यर्थ। नच भावा ावविल-क्षणाविद्याया निवृत्तिरभाव इत्यपि युक्तिसहमित्याह—**भावस्येति।** भावनिवृत्ते-रेवाभावत्वमभावनिवृत्तेस्तु भावत्व प्रसिद्ध तदुभयविलक्षणाविद्यानिवृत्ति कथम भाव स्यात? एतच्च भावत्वेऽपि तुल्यम्। एतेन सदसद्रूपपक्षोऽपि प्रतिक्षिप्त, अविद्याया सदसद्रूपत्वे हि तन्निवृत्ते सदसद्रूपता स्यात्। अनिर्वचनीयपक्ष दूषयति—**नापीति।** ननु नानिर्वचनीयत्वस्याविद्यातत्कार्यत्वेन प्रतिबन्ध, निवृत्तिमत्त्वस्य तत्प्रयोजकन्व त्। नच निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वमस्ति, अनवस्थानादपुनरावृत्तित्वव्याकोपाच्च। अतो निवृत्ति-मत्त्व व्यावर्तमानमविद्यातत्कार्यान्यतरत्वमप्यतो व्यावर्नयतीत्या नन्दबोधाचार्योक्त दूषयति—**न चाविद्येति।** साधनव्यापकत्वादनुपाधिरित्यर्थ। तत्र च बाधक

रूप असत् कहा जाय, तो भी घटाऽभावादि के समान निर्वाच्य कहा जाय तो द्वैत की प्राप्ति होगी, अनिर्वाच्य होने पर, अनिर्वाच्य के कारण अविद्या की स्थिति की प्राप्ति होने से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होगा, अर्थात् अनिर्वाच्य अविद्या की निवृत्ति यदि अनिर्वाच्य होगी तो वस्तुत अविद्या की निवृत्ति नही होगी अविद्या के अवस्थान्तर रूप होगी, और किसी प्रकार से अविद्या के रहते मुक्ति नही हो सकती है। और यह भी विचारणीय है कि भाव की निवृत्ति अभाव होता है, और अभाव की निवृत्ति भाव होता है, तो भावाभाव विलक्षण अज्ञान की निवृत्ति अभाव कैसे होगा, अर्थात् उभय विलक्षण की निवृत्ति न भाव रूप हो सकती है, न अभाव रूप हो सकती है। उस निवृत्ति को अनिर्वचनीय भी नही कह सकते है, क्योकि अनिर्वचनीय वस्तु अविद्या और उसके अन्तर्गत ही होती है। अत निवृत्ति को भी तदन्तर्गतत्त्व प्राप्त होगा। यदि कहे कि अविद्या उसके कार्य के अन्तर्गतत्व मे उभय अन्यतरत्व मे निवृत्तिमत्त्व उपाधि (प्रयोजक धर्म) है, अनिर्वाच्यत्व नही, अत अविद्या निवृत्ति के अनिर्वाच्य होते भी नैयायिकमान्य ध्वस के समान निवृत्ति-मत्त्व नही होने से अविद्यादि की अन्तर्भावना नही होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि अनिर्वाच्यत्व से ही निवृत्तिमत्त्व का भी साधन (अनुमान) होगा। यदि कहे कि निवृत्ति के निवृत्तिमत्त्व होने पर अनवस्था होगी, तो कहा जाता है कि

साधनात्। न च निवृत्तेर्निवृत्तिमत्त्वेऽनवस्था, निवृत्तिमत्प्रध्वसपक्षे प्रध्वस-मालावदुपपत्ते। प्रध्वसप्रध्वस इव प्रतियोगिनो बन्धस्यानुन्मज्जनादेवा-पुनरावृत्तिश्रुतेरप्यव्याकोपात्। तस्मादनिर्वचनीयत्वे अविद्यातत्कार्ययोरन्य-तरत्व प्रसज्यत एव। नापि पञ्चमप्रकारा, सदसद्विलक्षणतया तस्या अप्यनिर्वचनीयत्वप्रसङ्गात्, सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमिति लक्षणाङ्गी-कारात्।

ननु नेद लक्षण किंतु ज्ञाननिवर्त्यमनिर्वचनीयम्, न चाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञान-निवर्त्या, ज्ञानजन्यत्वात्। ज्ञानानिवर्त्यापि च सा बाधगोचराऽतो न प्रपञ्च-

---

परिहरति—**न च निवृत्तेरिति।** यथाहि प्रध्वसध्वसवादिनामनवस्था न दोष एवमित्यर्थ। अपुनरावृत्तित्वविरोध परिहरति—**प्रध्वंसप्रध्वंस इति।** यथाहि उत्तरोत्तरध्वसानामपि प्रथमपदार्थविरोधितया तथाऽनुन्मज्जन तथाऽविद्यानिवृत्ति-मालायाश्चापि प्राचीनाविद्याविरोधित्वादेव तदनुन्मज्जनादपुनरावृत्त्यविरोध इत्यर्थ। पञ्चमपक्ष दूषयति—**नापीति।** अथ सदसद्विलक्षणत्वेपि किमित्यनिर्वाच्यता? तत्राह—**सदसदिति।**

तत्र यदुक्त न्यायरत्नावलीकारैस्तदुद्भावयति दूषयितुम्—**ननु नेदमित्या-दिना।** नन्वियमपि ज्ञाननिवर्त्यैव, तत्राह—**नचेति।** स्यादेतत्—एवविधाप्यविद्या-निवृत्तिर्दृश्या तावदभ्युपेयते आत्मव्यतिरिक्तत्वात्तथाच यदि नेय ज्ञाननिवर्त्या तर्हि, दृश्यत्वहेतुरत्रैवानैकान्तिकमिति, तत्राह—**ज्ञानानिवर्त्यापीति।** ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्यत्

निवृत्ति वाला प्रध्वस पक्ष मे प्रध्वस पक्ष मे प्रध्वसमाला (प्रवाह) के समान निवृत्ति माला की सिद्धि होगी। यदि कहे कि निवृत्ति की निवृत्ति से ससारापत्ति होगी, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि प्रध्वस के प्रध्वस होने पर भी प्रतियोगी की उद्भूति जैसे नही होती है, वैसे ही निवृत्तिप्रतियोगी बन्ध के अनुन्मज्जन = अनुद्भूति से ही अपुनरावृत्ति श्रुति से भी विरोध नही होगा। अत अनिर्वचनीयत्व पक्ष मे अविद्या और उसके कार्य मे अन्यतर रूपता की प्राप्ति प्राप्त होता ही है। अविद्या निवृत्ति को सत्, असत्, सदसदुभय, और अनिर्वाच्य से विलक्षण पञ्चम प्रकार का मानना भी युक्त नही है। क्योकि सदसद्विलक्षणता से उसको भी अनिर्वचनीयत्व ही प्राप्त होगा, सदसत् से विलक्षण होता है, वह अनिर्वचनीय होता है। यही अनिर्वचनीय का लक्षण माना जाता है।

यदि कहे कि यह सदसद्विलक्षणत्व अनिर्वचनीय का लक्षण नही है, किन्तु ज्ञान निवर्त्यत्व अनिर्वचनीय का लक्षण है। और अज्ञान की निवृत्ति ज्ञानजन्य होने से ज्ञान से निवर्त्य नही है, अत ज्ञान से अनिवर्त्य है भी वह आत्म भिन्न होने से

मिथ्यात्वसाधन सव्यभिचारम् 'नेह नानास्ति किचने'ति प्रतिपन्नौपाधौ निषेधात्मबाधोऽज्ञाननिवृत्तेरपि तुल्य इति चेत्, मैवम्, अज्ञाननिवृत्तेर्ब्रह्म-ज्ञानरूपतया तज्जन्यत्वाभावात्, 'ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्तिर्वाऽज्ञानहानि'रितीष्ट-सिद्धिकारैरभिधानात्, विद्यैव वाऽद्वया शान्ता तदस्तमय उच्यते' इति ब्रह्मसिद्धिकारैरप्युक्तत्वात्, ज्ञानजन्यसस्कारे च ज्ञाननिवर्त्ये व्यभिचारात्। ननु तत्र ज्ञानान्तरेण ज्ञानान्तरजन्यसस्कारो निवर्तते न तु तेनैवेति वैषम्य-मिति चेत्, मैवम्, ईश्वरज्ञानजन्यस्य जगतस्तज्ज्ञानेनैव निवर्त्यत्वाङ्गी-

---

ज्ञानबाध्यत्व चान्यदित्यभिमान। अथ कथ बाध्यत्वमस्या इति, तत्राह—**नेह नानेति**। तदेतद्दूषयति—**मैवमिति**। नहि विरोध्युदयमन्तरेण विरोधिनिवृत्तिर्नामान्या दृश्यते युज्यते वेत्यर्थ। अत्राचार्यसमतिमप्याह—**ज्ञातोऽर्थ इति**। मण्डन-मिश्रसमतिमप्याह—**विद्यैवेति**। तदस्तमय अविद्यास्तमय। किच किं जात्युपाधा-विय व्याप्ति यज्ज्ञानजातीयजन्य तत्तज्जातीयेन न निवर्त्यत इति? किंवा व्यक्तौ? आद्ये व्यभिचारमाह—**ज्ञानजन्येति**। द्वितीय मुद्भावयति—**ननु तत्रेति**। अत्रापि व्यभिचारमाह—**मैवमीश्वरेति**। जगत्सहारेऽपि सृष्टिवदीश्वरज्ञान निमित्तमेवेति

बाध (मिथ्यात्व बुद्धि) का विषय होती है। अत मिथ्यात्व का साधन (दृश्यत्व) वहाँ सव्यभिचार नही होता है, क्योकि (नेह नानास्ति किञ्चन) यहाँ नाना कुछ नही है। इस प्रतिपन्न (निश्चित) उपाधि (अधिकरण) मे निषेध स्वरूप बाध अज्ञान निवृत्ति को अज्ञानादि के तुल्य ही रहता है। यह कहना युक्त नही हे, क्योकि अज्ञान निवृत्ति की ब्रह्मज्ञान रूपता से उसको ब्रह्मज्ञानजन्यत्व का अभाव है। अर्थात् अन्धकार की निवृत्ति जैसे प्रकाश स्वरूप ही होता है। वैसे ब्रह्मात्मा ज्ञान की निवृत्ति ब्रह्मात्मज्ञान स्वरूप होती है, उससे जन्य पृथग् वस्तु नही होती है। अत एव इष्टसिद्धिकार ने भी कहा है कि (ज्ञात अर्थ स्वरूप या अर्थ का ज्ञान स्वरूप अज्ञान की निवृत्ति होती है) और ब्रह्मसिद्धिकार ने भी कहा है कि अद्वय और शान्त स्वरूप विद्या ही उस अविद्या का अस्तमय = नाश कही जाती है) और अज्ञान की निवृत्ति ज्ञानजन्य होने से ज्ञान से निवर्त्य नही होगी, यह नियम नही है। क्योकि ज्ञान से निवर्त्य ज्ञानजन्य सस्कार मे इस नियम (व्याप्ति) का व्यभिचार है। क्योकि पूर्व ज्ञान से जन्य सस्कार उत्तर ज्ञान से निवर्त्य होना है। यदि कहे कि वहाँ ज्ञानान्तर से जन्य सस्कार अन्य ज्ञान से निवर्त्य होता है, और नियम ऐसा है कि जो जिस ज्ञान से जन्य होता है, वह उस ज्ञान से निवर्त्य नही होता है, प्रकृत मे ब्रह्मविद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है, उसकी निवृत्ति ब्रह्मविद्या ही से नही हो सकती है, यह सस्कार दृष्टान्त से विषमता है। तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि ईश्वरज्ञान से जन्य जगत् को उस ईश्वरज्ञान से ही

कारात्, उत्पाद्य घट न। ष्यामि इत्यभिसधानस्थले कुलालज्ञानजन्य-घटस्य तेनैव ज्ञानेन निवर्त्यत्वदर्शनाच्च। अज्ञाननिवृत्तेश्च ज्ञानानिवर्त्यत्वे प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनस्य तत्र व्यभिचारात्। ज्ञानानिवर्त्यत्वेपि बाध्यत्वात् न व्यभिचार इतिचेत्, न, ज्ञाननिवर्त्यत्वमन्तरेण बाध्यत्वस्यानिरूपणात्। सविलासाज्ञाननिवृत्तिर्बाध इत्यङ्गीकरणात्। नाप्यात्मैवाज्ञाननिवृत्ति, आत्मन सदातनत्वेनाज्ञाननिवृत्तेरपि तथात्वे ससाराभावप्रसङ्गात्, आत्मनस्तत्त्वज्ञानसाध्यत्वप्रसङ्गाच्च। ज्ञात आत्मा अज्ञाननिवृत्तिर्न स्वरूपेणैवेति चेत्, न, ज्ञानस्य विशेषणत्वे नित्यत्वे च मोक्षदशायामपि

भाव। अथाप्यनीश्वरज्ञान एवेय नियतिरिति ब्रूयात्, तर्हि तत्रापि व्यभिचार-माह—**उत्पाद्य घटमिति।** एक हीद ज्ञान यदुत्पाद्य नाशयिष्यामीति भाव। यच्च ज्ञाननिवर्त्यत्वज्ञानबाधयोर्भेदमादाय दृश्यत्वहेतोरनैकान्तिकतावारणम्, तदप्यसत्, ज्ञाननिवर्त्यत्वानिरिक्तस्य ज्ञानबाध्यत्वस्यानिरूपणादित्याह—**अज्ञानेत्यादिना।** अपसिद्धान्तश्चेत्याह—**सविलासेति।** षष्ठ पक्ष दूषयति—**नाप्यात्मैवेति।** आत्मनित्यत्वव्याहतिश्चेत्याह—**आत्मन इति। ज्ञानस्य विशेषणत्व इति।** ज्ञात आत्मेत्यत्र वृत्तिरूप तावज्ज्ञान वक्तव्यम, स्वरूपज्ञान प्रति कर्मत्वाभावात्ततश्च तद्यदि

निवर्त्य माना जाता है। यदि अनीश्वर ज्ञानविषयक उक्त नियम को माने तो भी जहाँ (घट को उत्पन्न करके नष्ट करूगा) ऐसा कुम्भकार सकल्प करता है, घट को बनाकर नष्ट करता है, वहाँ उसका एक ही निश्चय घट की उत्पत्ति और नाश का हेतु होता है। अत कुलालजन्य घट का स्वजनक उसी ज्ञान से निवर्त्यत्त्व देखा जाता है। और अज्ञान निवृत्ति को यदि ज्ञान से अनिवर्त्यत्व होगा, तो प्रपञ्च मिथ्यात्व साधन दृश्यत्व का उसीमे व्यभिचार होगा। ज्ञान से अनिवर्त्य होते भी बाध्य होने से व्यभिचार नही होगा। यह कहना युक्त नही। क्योकि ज्ञान से निवर्त्यत्व के बिना बाध्यत्व का निरूपण नही हो सकता है, अर्थात् ज्ञाननिवर्त्यता ही बाध है, अन्य नही। सविलास = सकार्य अज्ञान की निवृत्ति बाध है, ऐसा माना जाता है। और आत्मस्वरूप ही अज्ञान की निवृत्ति नही हो सकती है। क्योकि आत्मा के सनातन (नित्य) होने से, अज्ञान निवृत्ति को भी सनातनत्व होने पर, अज्ञानमूलक ससार का अभाव प्राप्त होगा। और आत्मा को तत्त्वज्ञान से साध्यत्व (जन्यत्व) प्राप्त होगा, यदि कहे कि ज्ञात आत्मा को अज्ञान निवृत्तित्व होता है, स्वरूप से ही नही, अत स्वरूप मे साध्यता की प्राप्ति नही हो सकती है। तो यह कहना भी युक्त नही, क्योकि ज्ञात आत्मा को अज्ञान की निवृत्ति रूप मानने पर, ज्ञान का विषय आत्मा ज्ञात होगा, वहाँ ज्ञान आत्मा का विशेषण होगा, या उपलक्षण होगा। ज्ञान के विशेषण होने पर और नित्य होने पर मोक्षावस्था मे भी

अन्त करणादेरवस्थानप्रसङ्गात् । अनित्यत्वे चाज्ञाननिवृत्तिरूपाया मुक्ते-रप्यनित्यत्वापातात् । न च ज्ञानोपलक्षित एवात्माज्ञाननिवृत्ति , उपलक्षित-त्वस्य नित्यत्वानित्वयो प्राचीनदोषानुषङ्गात् । तस्मान्नाज्ञाननिवृत्तिरुप-पन्नेति ।

अत्रोच्यते—निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षित ।
उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्त पाचकादिवत् ॥ ८ ॥

यथा लोके सकारणस्य कलधौतविभ्रमस्य ज्ञाता शुक्तिरेव निवृत्ति । न

विशेषण नित्य च तदा जन्यस्य कथ नित्यत्वमित्यास्ता तावत् । सन्तानरूपेण चेन्नित्यत्व तथापि तत्कारणान्त करणादेरवस्थानान्न ससारतो विशेष स्यादित्यर्थ । अथैतद्दोषभयादनित्यमेवाङ्गीक्रियते तर्ह्यपुनरावृत्तित्वव्याकोप इत्याह—**अनित्यत्वे चेति** । ननु ज्ञानोपलक्षितात्मरूपमविद्यानिवृत्तिस्तेन विशेषणपक्षप्रयुक्तदोषद्वय-निवृत्तिरिनि, तत्राह—**न च ज्ञानेति** । अत्राप्युपलक्षितत्वधर्ममादाय दूषणद्वय सुवचमित्यर्थ । पूर्वपक्षमुपसहरति—**तस्मादिति** ।

आत्मैवाज्ञानहानिरिति पक्ष परिगृह्णन्नुपपादयति –**उपलक्षणेति** । यथाहि लोके पचनलवनादिक्रियानिवृत्तावपि देवदत्त पाचको लावक इति प्रतीयते व्यवह्रि-यते, तथेहाप्युपलक्षणज्ञातत्वनाशेऽपि मुक्ति स्यादिति । श्लोकार्थ विवृणोति—**यथा लोक इति** । कलधौत रजतम् । ननु न शुक्तिज्ञान रजतविभ्रमनिवर्तक येन ज्ञातशुक्तिरेव तन्निवृत्ति स्यादपितु नेद रजतमित्यन्योन्याभावज्ञानम्, तथाच ज्ञानान्योन्याभाव एवान्यद्वा तन्निवृत्तिरिनि कथमधिष्ठानमात्रत्व तन्निवृत्तेरिनि,

---

उस वृत्ति रूप ज्ञान के उपादान कारण अन्त करणादि की स्थिति प्राप्त होगी। और ज्ञान के अनित्य होने पर अज्ञान की निवृत्ति रूप मुक्ति को भी अनित्यत्व प्राप्त होगा। क्योकि ज्ञान के नही रहने पर ज्ञानविषयत्व रूप ज्ञातात्मत्व रूप अज्ञान निवृत्ति भी नही रहेगी। अत मोक्ष भी नही रहेगा। ज्ञान से उपलक्षित आत्मा अज्ञान की निवृत्ति रूप है, यह भी नही कह सकते है, क्योकि उपलक्षितत्व के नित्यत्व और अनित्यत्व पक्ष मे पूर्वोक्त दोष का सम्बन्ध होता है। अत अज्ञान की निवृत्ति सदादि किसी रूप से उपपन्न (सिद्ध) नही होती है।

(अत्रोच्यते) अब यहाँ शका का समाधान कहा जाता है कि (ज्ञातत्व से उपलक्षित आत्मा मोह = अज्ञान की निवृत्ति स्वरूप है। और उपलक्षण के नाश होने पर भी पाचकादि के समान मुक्ति स्वरूप आत्मा रहेगा, और रहता है ॥ ८ ॥

अर्थात् लोक मे जैसे कारण सहित रजतभ्रम की निवृत्ति ज्ञात शुक्ति रूप ही होती है। यदि कहे कि वहाँ शुक्ति का ज्ञान रजतभ्रम का निवर्तक नही होता है

च तत्रापि नेद रजतमित्यन्योन्याभावज्ञान तन्निवर्तकमिति युक्तम्। अपरिज्ञाते शुक्तिशकले धर्मिप्रतियोगिसव्यपेक्षस्य तस्यैवासभवात्। परिज्ञाते तु तेनैव तदुपपत्तावितरस्य कृतकरस्य वैयर्थ्यात्। इदमाकारपरिज्ञानस्य च भ्रान्तौ विद्यमानस्य तदविरोधात। यथेहाप्यनृतजडदु खानात्मद्वैतविरोधिसत्यज्ञानानन्दानन्ताद्वयलक्षण ब्रह्मैव वेदान्तवाक्यजनितब्रह्मैकाकारान्त-करणपरिणामदर्पणप्रतिबिम्बित सविलासाज्ञाननिवृत्तिरिति युक्तमभ्युपगन्तुम्। न च ज्ञाततालक्षणोपलक्षणनाशे तेन घटितस्य मुक्तस्याभावप्रसङ्ग,

---

तत्राह—**न च तत्रापीति**। कुतो न युक्तमित्यत आह—**अपरिज्ञात इति**। धर्मितया प्रतियोगितया वा अधिष्ठानस्य पूर्वभावित्वात्तेनैव च तदारोपनिवृत्ते ससर्गमात्रारोपस्य चाधस्तादेव निरस्तत्वादन्योन्याभावज्ञानमर्थसिद्धानुवाद इत्यर्थ। नन्विदमाकार ज्ञानमेवान्योन्याभावज्ञानजनक न शुक्तिज्ञानम्, अतो न कृतकरत्वमिति, तत्राह—**इदमिति। तदविरोधात्** भ्रान्त्यविरोधात्तज्जनकत्व न सभवतीति शेष। इममेव न्याय प्रकृतस्थलेऽपि योजयति—**तथेहापीति। अनन्तेति** चानात्मत्वविरुद्धाकारनिर्देश। अप्रत्यग्भूत हि वस्तुत परिच्छिन्न भवेदिति। उत्तरार्ध विवृणोति—**न च ज्ञातेति**। ये त्विम पक्ष दोषबहुलतया मलीमस मन्यमान प्राहु —अत्रकेचित्परिहारकातरतया परिहारमाचक्षते आत्मैवाज्ञानहानिरिति, तेषा-

---

कि जिससे ज्ञात शुक्ति ही भ्रान्ति की निवृत्ति रूप हो सके, किन्तु (नेद रजतम्) यह रजत नही है, इस प्रकार का अन्योन्याभाव का ज्ञान भ्रान्ति का निवर्तक होता है। तो ऐसा कहना युक्त नही। क्योकि शुक्ति शकल (अश स्वरूप) के अपरिज्ञात रहते अनुयोगी-प्रतियोगी ज्ञानसापेक्ष उस अन्योन्याभाव के ज्ञान का ही असम्भव है। और शुक्तिशकल के परिज्ञात होने पर तो उसीसे सकारण भ्रम की निवृत्ति की सिद्धि होने पर, इतर = अन्योन्याभाव को ज्ञान, कृतकार्य का कारक होगा, अत उस कृतकर की व्यर्थता है। यदि कहे कि इदमाकार का ज्ञान ही अन्योन्याऽभाव ज्ञान का जनक है, शुक्तिज्ञान नही, अत अन्योन्याभाव मे कृतकरत्व नही है। तो कहा जाता है कि भ्रान्ति मे भी विद्यमान इदमाकार ज्ञान को भ्रान्ति से अविरोध रहता है, अत उसको भ्रान्तिविरोधी अन्योन्याभाव का जनकत्व नही हो सकता है, तो शुक्ति ज्ञान ही से अन्योन्याभाव के ज्ञान होने पर कृतकरत्व होगा ही। (तथा) उक्त रजतभ्रम निवृत्ति तुल्य ही, प्रकृत मे, अनृत, जड, दु ख, अनात्म, और द्वैत का विरोधी सत्य, ज्ञान, आनन्द, अनन्त, अद्वय स्वरूप ब्रह्म ही, वेदान्तवाक्य जनित ब्रह्मैकाकार अन्त करण के परिणाम रूप दर्पण मे प्रतिबिम्बित होकर, सविलास अज्ञान की निवृत्ति स्वरूप होता है, यह मानने योग्य है, ज्ञातता रूप उपलक्षण के नाश होने पर, उस ज्ञातता से घटित = युक्त मुक्त का

पाचकादिवदवस्थानोपपत्ते, न हि लोके पचनलवनादिक्रियायामतिवृत्ताया देवदत्त पाचको लावको न भवति, न वा तथा व्यवह्रियते। एतेनाज्ञाननिवृत्तेरनित्यत्वे पुनरज्ञानस्य ससारस्य चोन्मज्जनापत्तिरित्यादयो दोषा प्रत्युदस्ता, शुक्तिशकलादौ ज्ञाननाशेन ज्ञातत्वोपलक्षणनाशेऽपि निवृत्तस्याज्ञानस्य तद्विलासस्य वा पुनरुन्मज्जनादर्शनात्। पुनरुद्भवतो रजतादिविभ्रमस्याज्ञानान्तराधीनत्वात्, यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति तन्निवर्त्यान्यज्ञानानीत्यभ्युपगमात्। इह च 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'-रिति श्रुतेरशेषाज्ञाननिरासात् पुन ससारशङ्कातङ्कानवकाशात्। तस्मात्–

मनुशयमुन्मूलयति—**एतेनेति**। एतेनेत्येतद्विशदयति—**शुक्तीति**। ज्ञातत्वविशिष्ट-पक्षपरित्यागादेव तत्प्रयुक्तदोषशान्ते पञ्चमप्रकारे च प्रमाणाभावात् परिशेषस्य चैतेनैवोपपत्तेरनुत्थानादिति भाव। ननु पुनरपि तत्रैव विभ्रमदर्शनादुन्मज्जन-मस्त्येवेति, तत्राह—**पुनरुद्भवत इति**। नन्वेकमेवाज्ञानमिति, तत्राह—**यावन्तीति**। अशा वा प्रदेशा वा अवयवा वस्तुतन्त्राश्चाङ्गीक्रियन्त इति न तस्यैवोन्मज्जनमिति भाव। नन्वत्रापि ससारान्तरस्याज्ञानान्तरस्य च पुनरुद्भवोऽस्त्विति, तत्राह—**इह चेति**। आतङ्को भयम्।

भी अभाव प्राप्त होगा, एसा नही समझना चाहिये, क्योकि पाक आदि क्रिया की निवृत्ति होने पर भी जैसे पाचकादि की स्थिति रहती है, वैसे मुक्त की स्थिति की उपपत्ति होगी। क्योकि लोक मे पचन (पाक) लवन (छेदन) आदि क्रिया के अतिवृत्त (निवृत्त) हो जाने पर भी, वह पाचक लावक देवदत्त पाचक लावक नहीं रहता है, उसका अभाव हो जाता है, ऐसी स्थिति नही होती है, किन्तु क्रिया के अभाव होते भी पाचक लावक रहता है, और पाचक लावक नही है ऐसा व्यवहार भी नही किया जाता है। इसीसे अज्ञान निवृत्ति के अनित्य होने पर, फिर अज्ञान का और ससार का उन्मज्जन = प्रादुर्भाव की आपत्ति आदि रूप दोष प्रत्युदस्त = निरस्त हो गये। क्योकि शुक्ति शकलादि मे ज्ञान के नाश से ज्ञातत्व रूप उपलक्षण के नाश होने पर भी निवृत्त अज्ञान का या उस अज्ञान के कार्यों का पुन उन्मज्जन (प्रादुर्भाव) नही देखा जाता है। यदि कहा जाय कि फिर कभी वहाँ रजतादि का भ्रम होना है, अत उन्मज्जन होता ही है, तो कहा जाता है कि फिर रजतादि विभ्रम की उत्पत्ति अज्ञानान्तराधीन होती है, नष्ट अज्ञान का प्रादुर्भाव नही होता है, क्योकि जितने ज्ञान होते है, उतने उनसे निवर्तनीय अज्ञान माने जाते है। यदि कहा जाय कि इसी प्रकार से आत्मज्ञान होने पर भी अज्ञानान्तर से ससारान्तर का प्रादुर्भाव होगा, तो यह कहना युक्त नही, यहाँ प्रकृत मे तो (भूयश्चान्ते विश्व-मायानिवृत्ति) इस श्रुति से आत्मज्ञान होने पर अशेष अज्ञान का नाश सिद्ध

विगीताज्ञानहानि स्यात् ज्ञाताधिष्ठानमात्रकम् ।
तत्त्वाद्यदित्थं तत्तादृग्यथा शुक्त्यादिक मितम् ॥ ६ ॥

एव सति 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभू'दित्याद्या श्रुतय सर्वस्य द्वैतजातस्यात्ममात्रतया प्रविलयमुपपादयन्त्यो मुख्यार्थतामश्नुवीरन् । इतरथाऽनिर्वचनीयस्य पञ्चमप्रकारस्य वा अज्ञाननिवृत्तिरूपस्याङ्गीकारे ससारदशायामिव केवलात्ममात्ररूपेणावस्थानासभवादुदाहृता श्रुतय उपचरितार्था कदर्थिता स्यु । तस्मादुत्पन्नात्मविज्ञानस्य ज्ञात आत्मैव सविलासाज्ञाननिवृत्तिरितिस्थितम् ।

ननु भवत्वेव सभावना किं पुनरत्र प्रमाणमिति, तदाह श्लोकेन—**विगीतेति**। लौकिकविभ्रमनिवृत्त्यार्थान्तरतापरिहाराय विगीतग्रहणम् । तत्त्वात् अज्ञानहानित्वात् । यथा शुक्त्यादिकमिति तदज्ञाननिवृत्तेरुपलक्षणम्, शुक्त्यादिमात्राज्ञाननिवृत्तिर्यथेत्यर्थ । एवमनुग्राहकतर्कस्थलीयमनुमानमुक्त्वानुग्राह्यमागमम्याह —**एवं सतीति**। विजानत पुसो यस्यामवस्थाया सर्वाणि भूतानि, भवन्तीति भूतानि कार्यमात्रम्, आत्मैवाभूत्तत्र तस्यामवस्थाया को मोह क शोक इति श्रुत्यर्थ । यदि हि पञ्चमप्रकार स्यात्, तदा कथमात्मैवात्मव्यतिरिक्त समस्त वस्त्वभूदिति निर्दिश्येत ? अथ तस्याप्यारोपितत्वाद्वास्तववृत्तेरात्ममात्रत्वम्, तत्किमनिर्वचनीया अथ च पञ्चमप्रकारेतिव्याहत वक्तुमारब्धम्, एव यत्रत्वस्येत्यादावपि, कदर्थिता उद्वेजिता पीडिता इति यावत । वादार्थमुपसहरति—**तस्मादिति**।

होता है, अत पुन ससार की शका का आतङ्क = भय का अवसर नही रहता है । अत —

विवाद विषय = अज्ञान निवृत्ति, ज्ञात अधिष्ठान (आश्रय) मात्र होती है, अज्ञान निवृत्ति होने से, जो ऐसा होता है, वह अधिष्ठान मात्र होता है, जैसे ज्ञात शुक्ति आदि रजत भ्रमाज्ञान निवृत्ति रूप होते है ॥ ६ ॥

इसप्रकार से अनुमान द्वारा अज्ञान भ्रमनिवृत्ति को अधिष्ठान स्वरूप सिद्ध होने पर (जिस विज्ञानावस्था मे ज्ञानी को सब भूत आत्मा ही हो गये उस अवस्था मे उन ज्ञानी को कौन मोह और कौन शोक रह सकता है । जिस अवस्था मे इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया, उस अवस्था मे किससे किसको देखे) इत्यादि अर्थ वाली श्रुतियाँ सब द्वैतसमूह की आत्ममात्रता से सब के प्रविलय का उपपादन करती हुई मुख्यार्थता को प्राप्त होती है । अन्यथा अज्ञान की निवृत्ति के स्वरूप को अनिर्वचनीय या पञ्चम प्रकार मानने पर ससार दशा के समान मोक्षदशा मे भी केवल आत्मस्वरूप से स्थिति के असम्भव से उदाहृत श्रुतियाँ गौणार्थक और कदर्थित = उद्वेजित = पीडित होगी । अत आत्मज्ञ का ज्ञात आत्मा ही सविलासाज्ञाननिवृत्ति स्वरूप रहता है, यह स्थिर हुआ ।

ननु ज्ञात आत्मैव चेत्सविलासाज्ञाननिवृत्तिस्तदोत्पन्नविज्ञानस्य शरीरादिप्रतिभासानुवृत्तिर्न स्यात् । न चाविद्यालेशात् तदनुवृत्ति, निवर्तकतत्त्वज्ञानोदये तल्लेशस्यापि निवृत्ते । प्रारब्धकर्मणा प्रतिबद्ध तत्त्वज्ञान शरीरादिप्रतिभासहेतुमविद्यालेश न निवर्तयतीति चेत्, मैवम्, कर्मणोऽप्यविद्या-

---

तदेवमविद्यानिवृत्तिर्मुक्तिरित्ययमर्थ उपपादित, इदानी तत्रैव जीवन्मुक्तिलक्षणावान्तरविशेषमुपपादयन्ति मुक्तिसिद्धये । तथाहि—ज्ञान ह्यविद्यानिवर्तकम, तच्च तदुदयसमसमयमेव भवितुमर्हति, अविधिलक्षणत्वेन कालान्तरफलत्वाभावात्, शुक्त्यादितत्त्वज्ञानेषु समसमयतादर्शनाच्च । तदिह यदि जीवति ज्ञानमुत्पन्नमप्यविद्या न निवर्तयेत्, का वार्ता कालान्तरे तन्निवर्तने ? जीवत एव च ज्ञानोत्पत्ति, इतरथा तदुत्पादककरणाभावेनानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, तद्यदि मुक्तिरस्ति अस्त्येव जीवन्मुक्ति । अथ यदि न जीवन्मुक्ति नास्त्येव मुक्तिरिति मुक्तिसिद्ध्यर्थमेवाय विचार विद्यासप्रदायसिद्ध्यर्थम्, इतरथा हि तत्त्वविद सद्य शरीरपाते शिष्याद्यप्रतिभासादसाक्षात्कृततत्त्वस्य चानुपदेष्टृत्वाद्विहीनसप्रदायतयाऽनिर्मोक्ष एव पर्यवस्येत् । तदुक्तमाचार्यैजीवन्मुक्तिप्रकरणे—'जीवेन्मुक्तोऽस्ति मुक्तिर्यदी'त्यादिना । तत्र तावज्जीवन्मुक्तिमाक्षिपति—**नन्वित्यादिना** । अयमर्थ —यद्यात्मातिरिक्ता स्यादविद्यानिवृत्तिस्तदा देहपातानन्तरमपि शक्यसभावनया स्याद्विदुष शरीरादिप्रतिभास, यदा तु ज्ञानोपलक्षितात्मैवेति समर्थ्यते तदोपलक्षितात्मन सदातनत्वादुपलक्षणतत्सबन्धयो सतोरुपलक्षणतानिष्पत्तेर्निवृत्तैवाविद्येति वचनीयम्, तथाच तदा क्रोडितस्थूलसूक्ष्मकलेवरयुगलविलयाच्छिष्यादिप्रतिभासाभाव इति भाव । नन्वविद्याया कश्चिदेकदेशोऽस्ति ज्ञानेनाप्यनिवर्त्य तन्निबन्धनोऽय शरीरादिप्रतिभास इति, तत्राह—**न चेति** । नहि समस्ताविद्याविनोदिविज्ञानमेकदेशेऽसमर्थमिति सभवतीत्यर्थ । समर्थस्यापि प्रतिबन्ध शङ्कते—**प्रारब्धेति** । यदि हि प्रारब्धकर्मण स्थितिरेव स्यात्स्यात्तदा कारणवशपरिरक्षणम्, तदेव तु नास्तीति परिहरति—**मैवं कर्मण**

उक्त रीति से जीवित दशा मे ही अज्ञान की निवृत्ति से जीवन्मुक्ति कही गई है। वहाँ शका होती है कि यदि ज्ञात आत्मा ही सविलास अज्ञान की निवृत्ति रूप है, तो उत्पन्न ज्ञान वाले को शरीरादि की प्रतीति की अनुवृत्ति (स्थिति) नही रहनी चाहिये। यदि कहे कि अविद्या की निवृत्ति होने पर भी प्रारब्ध पर्यन्त अविद्या के लेश रहता है, उससे शरीरादि प्रतीति की अनुवृत्ति होती है, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि निवर्तक तत्त्वज्ञान के उदय होने पर उस अविद्यालेश की भी निवृत्ति होगी। यदि कहे कि प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध तत्त्वज्ञान शरीरादि की प्रतीति के हेतु अविद्यालेश को निवृत्त नही करता है, तो ऐसा कहना युक्त नही। क्योकि प्रारब्ध कर्म को भी अविद्या के कार्य होने से उस अविद्या की निवृत्ति होने

कार्यतया तन्निवृत्तौ तन्निवृत्ते, अनिवृत्तौ च कर्मणस्तत्कार्यस्य च शरीरादे सत्यत्वप्रसङ्गात्। 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणी'त्यविशेषेणाशेषकर्मणा ज्ञानात् प्रक्षयश्रवणाच्च। न च 'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सपत्स्य' इति विदुषो देहपातावधिश्रवणात्, प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषयैषा श्रुतिरिति वाच्यम्, तस्या परोक्षज्ञानिविषयत्वात्। ननु 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन' इत्यपरोक्षज्ञानिन एवोपदेष्टृत्व दर्शयन्नीश्वरस्तत्त्व-

---

इति। सत्यत्वप्रसङ्गादिति। ज्ञानबाध्यत्व हि मिथ्यात्वमिति भाव। ननु कर्माणि क्षीयन्ते इति सामान्यवचनमिदम्। अस्ति चापरा श्रुतिस्तस्य तावदेव चिरमिति विदुषोऽपि शरीरपातावधि दर्शयन्ती तया चैतदनुसारेण प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मविषये सा व्यवस्थापनीयेति, तत्राह—**न च तस्य तावदेवेति।** नेय श्रुतिरपरोक्षज्ञानिविषया येन तदेकदेशविषयतया ता सकोचयेदपि तु परोक्षज्ञानिविषयेति विरोधशङ्कैव नास्तीत्याह—**तस्या इति।** स्मृतिबलाज्जीवन्मुक्ति शङ्कयित्वा दूषयति—**नन्वित्यादिना।** स्यादेतत्—भवतु परोक्षज्ञानिविषयो ज्ञानिन इति निर्देश तत्त्वदर्शिन इति कथ तेषु सङ्गत स्यात्? साक्षात्कारो हि दर्शन नाम तस्मादेतदेव तत्त्वसाक्षात्कारिणा शरीरादिप्रतिभासे प्रमाणमिति, तत्राह—**तत्त्वदर्शिन इति चेति।** अत्र हि तत्त्व द्रष्टु शीलमेषामिति ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययविधानात्तत्त्वदर्शनाभ्यासशीला प्रयीयन्ते। नचापरोक्षज्ञानोदयेऽभ्यासावसर, तदर्थत्वादभ्यासस्य। तस्मात्परोक्षज्ञानाभ्यासशीलिन इह विवक्षिता। अत एव तत्समभिव्याहृतज्ञान शब्दोऽपि परोक्षज्ञानविषय इत्यर्थ। ननु परोक्षज्ञानशीलिना तत्त्वदर्शित्वमनुपपन्नम्,

---

पर उस कर्म की भी निवृत्ति होगी और यदि ज्ञान से उस कर्म की निवृत्ति नही हो, तो उस कर्म को और उसके कार्य शरीरादि को सत्त्यत्व की प्राप्ति होगी। और (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इस ज्ञानी के कर्म नष्ट हो जाते है, इस श्रुति से अविशेष (सामान्य) रूप से अशेष कर्म का ज्ञान से नाश सुना जाता है। अत प्रारब्ध की भी निवृत्ति होगी। यदि कहा जाय कि (तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये) उस ज्ञानी को तब तक विदेह मोक्ष मे विलम्ब रहता है, कि जब तक प्रारब्ध से मुक्त नही होना है। इस श्रुति से विद्वान् के देहपात की अवधि के सुनने से प्रारब्ध कर्म से भिन्न कर्म विषयक ही (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) यह श्रुति है। तो यह कहना युक्त नही, क्योकि (तस्य तावदेव चिरम्) इस श्रुति को परोक्ष ज्ञान विषयत्व है। अत अपरोक्ष ज्ञानविषयक (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इसका सकोचक = प्रारब्ध विभिन्न विषयत्व का बोधक नही हो सकती है। यदि कहे कि (उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन) इस वचन से अपरोक्ष ज्ञानी के भी

दर्शिनामपि शरीरादेस्तद्धेतूना च कर्मणामवस्थान सूचयतीति चेत्, मैवम्, ज्ञानिन इति परोक्षनिश्चयवतस्तत्त्वदर्शिन इति च तत्त्वदर्शनाभ्यासशीलस्य तत्र प्रतिपादितत्वात्। न चापरोक्षे परोक्षज्ञानविभ्रम, स्वात्मनि स्वसुखादौ च परकीयानुमानादिज्ञानस्याविभ्रमत्वात्।

कश्चायमविद्यालेश, किमविद्याया एकदेश ? किवा तदाकारान्तरम् ? नाद्य, अविद्याया घटादिवत्सावयत्वानङ्गीकारात्। नापि द्वितीय स्वाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानानुपपत्ते । अस्तु तर्हि सस्कारादेव द्वैतप्रतिभासानुवृत्ति, विनिवृत्तसर्पविभ्रमस्यापि सस्काराद्भयकम्पाद्यनुवृत्तिदर्शनात्, 'तिष्ठति सस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीर' इति च तन्त्रान्तरेऽप्यभिधानादिति चेत्, मैवम्, तस्याप्यविद्याकार्यत्वात्तन्निवृत्तौ तन्निवृत्ते । अतथात्वे वा

अपरोक्षे परोक्षज्ञानस्यायथार्थतया विभ्रमत्वादित्यत्राह—**न चापरोक्ष इति।** स्वात्मा स्वसुखादि च स्वस्य तावदपरोक्षे इतरेषा च तत्रानुमानाच्छब्दाद्वा परोक्षज्ञानमुत्पद्यते, नच तद्भ्रान्तम्, अवितथार्थत्वाद् इतरथा प्रतिपाद्याप्रमित्या कयाऽप्रवृत्त्याद्यापात इति भाव ।

एवमविद्यालेशस्थितिरनुपपन्नेत्युक्तम्, इदानी लेश एवाविद्याया दुर्निरूप इत्याह—**कश्चायमिति। अनङ्गीकारादिति।** न निरवयव न सावयवमित्यङ्गीकारात्, अद्रव्यत्वादनादितयावयवानारब्धत्वाच्चेत्यर्थ । मण्डनमिश्नमतमुद्भावयति—**अस्तु तर्हीति।** दृष्टचर चैतदित्याह—**विनिवृत्तेति।** साख्यसमतिमप्याह—**तिष्ठतीति।** तदेव दूषयति—**मैवमिति। अतथात्व इति।** अविद्यानाधीनतया

उपदेष्टृत्व (उपदेशकत्व) दर्शाते हुए ईश्वर (भगवान्) तत्त्वदर्शियो के भी शरीरादि की और उन शरीरादिको के हेतु कर्मों की स्थिति को सूचित करते है। तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि (ज्ञानेन) इससे परोक्ष निश्चयवान् को और तत्त्वदर्शिन, इससे तत्त्वदर्शनाऽभ्यासशील को वहाँ प्रतिपादितत्व है। अपरोक्ष ज्ञान को प्रतिपादितत्व नही है। यदि कहे कि परोक्षज्ञानशीली को तत्त्वदर्शित्व अनुपपन्न हे, क्योकि अपरोक्ष विषयक परोक्ष ज्ञान के अयथार्थ स्वरूप होने से उसे विभ्रमत्व रहता है। तो कहा जाता है कि अपरोक्ष विषयक परोक्ष ज्ञान विभ्रम नही होता है, क्योकि अपनी आत्मा और अपने सुखादि मे अपने अपरोक्षत्व के रहते भी अन्य के उन विषयक ही अनुमान ज्ञान को भ्रमत्व नही होता है।

और यह अविद्यालेश क्या है। क्या अविद्या का एकदेश है, या अविद्या का आकारान्तर है। प्रथम पक्ष युक्त नही हो सकता है। क्योकि घटादि के समान अविद्या को सावयव नही माना जाता है, अनादि सावयव निरवयव से विलक्षण अद्रव्य-स्वरूप अविद्या को माना जाता है, अत उसके एकदेश का सम्भव नही है। दूसरा

सत्त्वे द्वैतसत्यत्वापत्ते, मिथ्यात्वे च भावरूपकार्यस्योपादानमन्तरेणानुपपत्ते, निराश्रयत्वानुपपत्तेश्च। न चात्मैवाश्रय, निरविद्यासगस्य स्वत. कार्याश्रयत्वानुपपत्ते । न च स्थितप्रज्ञगुणातीतलक्षणाना जीवन्मुक्तविषय-

---

अनिवृत्तावित्यर्थ । नन्वविद्याजन्यत्वाभावेऽपि मिथ्यात्वान्नाद्वैतव्याघात इति, तत्राह—**मिथ्यात्व इति।** भावरूपेत्यभावविलक्षणेत्यर्थ । इद च प्रध्वसनिवृत्त्यर्थम् । दूषणान्तरमाह—**निराश्रयत्वेति।** ननु किमिति निराश्रयता ? यावता अविद्यासस्कारस्याप्यविद्याश्रयभूतात्मैवाश्रय, सस्काराधायकसस्कारयोरेकाश्रयत्वनियमादिति, तत्राह—**न चात्मैवेति।** यथा निरवयवस्यैवाविद्याश्रयत्व तद्वत्सस्काराश्रयत्व किं न स्यादित्यत आह—**कार्येति।** अपरिणामित्वादिति भाव । ननु स्थितप्रज्ञलक्षणपरासु गीतासु 'दु खेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृह' इत्यादिना

पक्ष भी युक्त नही हो सकता है, क्योकि स्वय आकार वाली वस्तु अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उसके आकारान्तर के अवस्थान (स्थिति) की अनुपपत्ति है, विद्यमान का आकारान्तर रह सकता है, नष्ट का नही । तो अविद्या के सस्कार से ही ज्ञानी मे द्वैत प्रतीति की अनुवृत्ति मानी जाय, क्योकि जिसको सर्प का विभ्रम निवृत्त हो गया हो, उसमे भ्रम के सस्कार से भय, कम्पादि की अनुवृत्ति देखी जाती है। और तन्त्रान्तर (शास्त्रान्तर) साख्य मे भी कहा गया है कि, सस्कार के वश से ज्ञानी शरीरधारी होकर कुछ समय तक रहता है, जैसे कि कुम्हार का चक्र कुछ देर तक भ्रमते रहता है, तो कहा जाता है कि ऐसा मानना भी युक्त नही । क्योकि सस्कार को भी अविद्या का कार्य होने से अविद्या की निवृत्ति होने पर उस सस्कार की भी निवृत्ति होगी । और (अतथात्व) अविद्या की अनधीनता से अविद्या की निवृत्ति होने पर भी सस्कार की निवृत्ति नही होने पर, यदि उस सस्कार का सत्यत्व हो, तो द्वैत के सत्यत्व की प्राप्ति होगी । और यदि सस्कार को मिथ्यात्व हो, तो भी भाव रूप (अभाव विलक्षण) सस्कार की उपादान कारण के बिना स्थिति को सिद्धि नही हो सकती है । निराश्रयत्व की भी अनुपपत्ति है, सस्कार किसी के आश्रित ही रहता है । आत्मा ही आश्रय है, यह नही कहा जा सकता है, क्योकि अविद्यारहित असङ्गात्मा को स्वत कार्याश्रयत्व की सिद्धि नही हो सकती है । यदि कहा जाय कि गीता के स्थितप्रज्ञा वाले के लक्षण मे दु खो मे अनुद्विग्नता सुखो मे निस्पृहता आदि का वर्णन किया गया है, तथा गुणातीत के लक्षण मे प्रियाप्रियादि मे समता कही गयी है, इससे तत्त्वज्ञ मे भी सुख, दु खादि, प्रियाऽप्रियादि का प्रतिभास होना सिद्ध होना है, तो कहा जाता है कि स्थितप्रज्ञ और गुणातीत के लक्षणो को जीवन्मुक्त विषयत्व नही है, अर्थात् वे लक्षण जीवन्मुक्त के नही है, किन्तु

त्वम्, साधकस्यैवावस्थाविशेष प्राप्तस्य तत्राभिधानात् अतो न जीवन्मुक्ति-र्युक्तिमतीति ।

अत्र वदाम —

अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तित ।
ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभि ॥ १० ॥
लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मादिरनुवृत्तित ।
उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्ति प्रसिध्यति ॥ ११ ॥

एव हि न्यायसुधायामाराध्यपादैरुपपादितम्, ससारमूलकारणभूता-विद्या यद्यप्येकैव, तथापि तस्या सन्त्येव बहव आकारास्तत्रैक प्रपञ्चस्य परमार्थसत्त्वभ्रमहेतु, द्वितीयोऽर्थक्रियासमर्थवस्तुकल्पक, तृतीयस्त्वपरोक्ष-

---

- तत्त्वसाक्षात्कारिणोऽपि दु खाद्यनुद्वेग दर्शयति । इतरथा क्वानुद्वेग कुर्यात् ? तथा चतुर्दशाध्यायेऽपि गुणातीतलक्षणेषु—

'प्रकाश च प्रवृत्ति च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥

तुल्यप्रियाप्रिय' इत्यादिना प्रीत्यादिप्रतिभासोऽवसीयते इति, तत्राह—**न च स्थितेति** । तत्र तावदनुष्ठापकत्वाद्वचनस्यैतेषा सपादनपर शास्त्र तथा च साधक एवैवगुणको भवेदित्युच्यते ? अथवा अपरोक्षज्ञानादर्वागेव काचिदुत्कृष्टामवस्था प्राप्तोऽत्र विवक्ष्यते ? सर्वथापि न जीवन्मुक्तलिङ्गत्वमित्यर्थ ।

समाधत्ते—**अत्रेति** । राद्धान्तहृदय श्लोकाभ्या सगृह्णाति सुखप्रतिपत्त्यर्थम्—**अविद्येति** । पूर्वार्धेनाविद्यालेश विशदयति, तस्य च ज्ञानोदयेऽपि स्थितिमुत्तरार्धेन समर्थयते, उत्तरश्लोकेन च फलितमाह—**लेशेति** । अपसिद्धान्तशङ्कानिवृत्त्यै गुरुसप्रदायप्रदर्शनपूर्वकमविद्याया आकारानाकारिनिवृत्तावाकारस्थितिं च दर्शयन् प्रथमार्ध विवृणोति—**एव हीत्यादिना** । आराध्यपादा स्वगुरव ज्ञानसिद्धिकार । पादशब्दश्च पूजार्थस्तत्प्रणीत च वेदान्तप्रकरण न्यायसुधा । **अपरोक्षेति** । अपरोक्ष-

---

अवस्थाविशेष को प्राप्त साधक का ही गीता मे कथन है । अत जीवन्मुक्ति युक्ति से सिद्ध नही होती है ।

उक्त शका का समाधान कहा जाता है कि—

अविद्यालेश शब्द से मोह के आकारान्तर का कथन होता है । प्रबल प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध ज्ञान को अविद्यालेश निवर्तकत्व नही होता है ॥ १० ॥

और अविद्यालेश की अनुवृत्ति रहते तज्जन्य कर्मादि की भी अनुवृत्ति रहती है, अत उत्पन्न आत्मबोध वाले की जीवन्मुक्ति प्रसिद्ध होती है ॥ ११ ॥

अर्थात् इस वक्ष्यमाण रीति से न्यायसुधा मे आराध्य पद (पूज्यवर) ज्ञान सिद्धिकार ने उपपादन (अविद्या की व्यवस्था) किया है कि, ससार का मूल

प्रतिभासविषयाकारकल्पक । तत्राद्वैतसत्यत्वाध्यवसायेन समस्तद्वैतसत्यत्वकल्पकाकारो निवर्तते । अर्थक्रियासमर्थप्रपञ्चोपादानमायाकारस्तत्त्वसाक्षात्कारेण विलीयते । अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाभासजनकस्तु मायालेशो जीवन्मुक्तस्यानिवृत्त समाध्यवस्थाया तिरोहितोऽन्यदा देहाभासजगदाभासहेतुतयानुवर्तते । प्रारब्धकर्म फलोपभोगावसाने तु निवर्तते । श्रुतिरपि 'इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयत' इत्याद्या माया विविधाकारा दर्शयति । न च लेशस्यापि विरोधितत्त्वज्ञानोदयान्निवृत्ति किं न स्यादिति वाच्यम्, प्रबलै

प्रतिभासविषयभूता य आकार पारमार्थिकत्वाथक्रियासामर्थ्यरहिततया ज्ञातस्यापि प्रपञ्चस्य शुक्तिरजतादिवत्तत्समर्थकस्तृतीय आकार इत्यर्थ । एतेषा च क्रमेण निवर्तकज्ञानशरीराणि दर्शयति—**तत्रेत्यादिना । तत्त्वसाक्षात्कारेणेति** । अद्वैतात्मवस्तुसाक्षात्कारेणेत्यर्थ । ननु यदि साक्षात्कारे जातेऽपि जीवन्मुक्तस्य समाध्यवस्थाया तिरोहितोऽन्यदा चोद्बुद्धो वर्तेत कश्चिदाकार, केन तर्हि तस्य निवृत्तिस्तत्राह—**प्रारब्धेति** । उक्तार्थे श्रुतिमपि प्रमाणयति—**श्रुतिरपीति** । इन्द्र परमेश्वर । इदि परमैश्वर्ये इति भीमसेनिस्मृते । आदिशब्देन 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्याद्या गृह्यन्ते । 'माया तु प्रकृति'मित्यादावेकत्वेन प्रतिपादितमायाया मायाभिरित्यादिबहुत्वाभिधानमाकारभेद एव घटत इति भाव । उत्तरार्ध व्याचष्टे—**न च लेशस्यापीत्यादिना** । इदानी प्रारब्धकर्मणा ज्ञानापेक्षया प्राबल्यमुपजीव्यतयोपपादयति—

कारणस्वरूप अविद्या यद्यपि एक ही है, तो भी उसके बहुत आकार है ही । उनमे से एक आकार प्रपञ्च के परमार्थ सत्त्व भ्रम का हेतु होता है, दूसरा आकार अर्थक्रियासमर्थ वस्तु का कल्पक होता है । तृतीय आकार तो अपरोक्ष प्रतीति का विषय जो आकार उसका कल्पक (साधक) होता है । वहाँ अद्वैत के सत्यत्व के निश्चय से समस्त द्वैत सत्यत्वकल्पक प्रथमाकार निवृत्त होता है । अर्थक्रियासमर्थ प्रपञ्चोपादान मायारूप दूसरा आकारतत्त्व साक्षात्कार से विलीन होता है । अपरोक्ष प्रतिभास योग्य अर्थाऽऽभास जनक मायालेश तो जीवन्मुक्त का होता है, वह निवृत्त नही होता हुआ समाधि अवस्था मे तिरोहित होता है, और अन्य अवस्था मे देहाभास और जगदाभास का हेतु रूप से अनुवृत्त रहता है । प्रारब्ध कर्म फलोपभोग के अवसान = अन्त होने पर निवृत्त होता है । और (इन्द्रो मायाभि पुरुरूपमीयते) इन्द्र माया से बहुरूप होता है, इत्यादि श्रुतियाँ भी विविधाकार वाली माया को दर्शाती है । यदि कहे कि अविद्या लेश की भी विरोधी तत्त्वज्ञान के उदय से निवृत्ति क्यो न होगी, तो ऐसा कहना युक्त नही, क्योकि प्रबल प्रारब्ध कर्मों से ज्ञान के प्रतिबद्ध होने के कारण अविद्यालेश की उससे निवृत्ति नही होती है, और प्रारब्ध कर्म अविद्यालेश तत्त्व ज्ञान का उपजीव्य भी है, अत उसके साथ तत्त्व-

प्रारब्धकर्मभिर्ज्ञानस्य प्रतिबद्धत्वात् । तथाहि--विद्यार्थानि कर्माणि कर्मान्तरारब्धशरीरे फल जनयन्ति । अन्यथा ज्ञानार्थानामपि कर्मणा भोगार्थत्वप्रसङ्गात् । तथा च शरीरारम्भककर्माण्युपजीव्य ज्ञानार्थानि कर्माणि तदविरोधेन स्वफल प्रयच्छन्तीति युक्तम् । तथा च तै प्रतिबद्धशक्तित्वात्तत्त्वज्ञानमविद्यालेश न निवर्तयति ।

न च कर्मणामप्यविद्याकार्यतया तन्निवृत्तौ निवृत्ति, तज्जनकाविद्यालेशस्यानिवृत्ते । नन्वेव सतीतरेतराश्रयत्वम्--तत्त्वज्ञानशक्तिप्रतिबन्धक-

---

तथा हीत्यादिना । नन्वन्यैरेव कतिभिश्चित्कर्मभिर्ज्ञानार्थमेव देहमुत्पाद्य तत्त्वज्ञानमुत्पाद्यता किमिति कर्मान्तरारब्धशरीरोपजीवन ज्ञानोत्पादकानाम्, तथाच ज्ञानोत्पत्तौ देहनिवृत्तेर्न जीवन्मुक्तिरिति, तत्राह—**अन्यथेति** । भवतु कर्मान्तरारब्धशरीरे फलजनकत्वमेषा तत किमिति, तत्राह—**तथा चेति** । ननु भवतु ज्ञानोत्पादककर्मणा प्रारब्धकर्मापेक्षया दौर्बल्यम्, ज्ञानस्य तु किमायात येनोत्पन्न ज्ञान तानि न निवर्तयतीति, तत्राह—**तथा च तैरिति** । उत्पद्यमानमेव तावत्यशे प्रतिबद्धशक्तिक कारणवशादुत्पद्यतामिति भाव ।

यत्तु प्रारब्धकर्मणा निरुपादानतया स्थितिरेव नोत्पद्यते, कुत प्रतिबन्धकत्वमित्युक्तम, तत् परिहरति—**न च कर्मणामिति** । निरुपादानकत्वमसिद्धमित्यर्थं । ज्ञप्तावितरेतराश्रय शङ्कते—**नन्वेवमिति** । नात्र प्रारब्धकर्मभिरेवाविद्यालेशावगति

ज्ञान का विरोध नही रहता है, क्योकि विद्यार्थक कर्म शमदमादि कर्मान्तर से आरब्ध (जन्य) शरीर मे अपने फल (ज्ञान) को उत्पन्न करते है, स्वय शरीरो का उत्पादक नही होते है, और जिस शरीर मे ज्ञान को उत्पन्न करते है, वह प्रारब्ध भोग के लिये भी रहता है, और ज्ञान का भी उपजीव्य होता है । वहाँ ज्ञानार्थक कर्म यदि शरीर का आरम्भक हो, तो ज्ञानार्थक कर्मो को भोगार्थकत्व प्राप्त होगा, अत शरीराम्भक कर्मो को उपजीव्य (उन कर्मो से आरब्ध शरीरादि का आश्रय लेकर) ज्ञानार्थक कर्म उन प्रारब्ध कर्मो से अविरोधपूर्वक अपने फल का प्रदान करते है, यह उचित वचन है । यदि कहे कि ज्ञानार्थक कर्म को प्रारब्ध कर्म के आश्रितत्व होने पर भी उत्पद्यमान ज्ञान उन प्रारब्ध कर्मो को क्यो नही नष्ट करता है, तो कहा जाता है कि उन प्रारब्ध कर्मो से ही प्रतिबद्ध शक्ति वाला होने से तत्त्वज्ञान अविद्यालेश को निवृत्त नही करता है । यदि कहे कि कर्मो को भी अविद्या के कार्य होने से अविद्या की निवृत्ति से उन प्रारब्ध कर्मों की भी निवृत्ति होगी, फिर उनमे प्रतिबन्धकत्व कैसे होगा, तो यह कहना युक्त नही है, क्योकि उन प्रारब्ध कर्मों के जनक अविद्यालेश की तत्त्वज्ञान से निवृत्ति नही होती है । यदि कहे कि ऐसा होने पर अन्योन्याऽऽश्रय की प्राप्ति होती है । क्योकि तत्त्वज्ञान की शक्ति के

कर्मणामवस्थानादविद्यालेशानुवृत्ति, तदनुवृत्तौ च कर्मणामनुवृत्तिरिति, मैवम्, 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रित्यत्र भूयोनिवृत्तिरिति विशेषणाद्रुभयविधमायाकारनिवृत्तेराकारान्तरानुवृत्तेश्च मानान्तरेणाधिगमात्, प्रतीतावितरेतराश्रयत्वाभावात्। 'अन्ते विश्वमायानिवृत्ति' इति च श्रवणात्, प्रारब्धफलकर्मलक्षणस्य विद्याशक्तिप्रतिबन्धकस्य फलोपभोगेन निवृत्तौ प्रतिबन्धाभावे तत्त्वज्ञानान्नि शेषाविद्यानिवृत्तिरिति प्रतीतेश्च ।

अतएव 'क्षीयन्ते चास्ये'ति सामान्यश्रुते प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तकर्मनिवृत्तिपरत्वोपपत्ति, 'तस्य तावदेव चिर'मिति विदुष प्रारब्धकर्मतत्कार्य-

---

श्रुनिवशादपि शक्याविगमत्वादिति परिहरति—**मैवम्, भूयश्चेति**। 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति'रिति श्वेताश्वतराणा मन्त्रोपनिषदि श्रूयते। अत्र च भूयोनिवृत्तिर्विश्वमायानिवृत्तिरिति प्रतीयते, तत्र विश्वग्रहणेनानेकमायाकारप्रतीतिस्तेषा च क्रमेण निवृत्तिर्भूयोनिवृत्तिरिति पौन पुन्यापरपर्यायक्रियासमभिहाराभिधायिना भूय शब्देनावगम्यते। अन्ते निवृत्तिरित्यनेन विदेहकैवल्यावस्थाया विलीयमान कश्चिदाकार प्रतीयते। **अन्ते विश्वमायानिवृत्तिरिति** च पूर्वमशेषमायाऽनिवृत्तिरिति च प्रतीयते ।

तदेव प्रारब्धकर्मणा प्रमाणमार्गेण विदेहनिर्वाणावस्थानाधिगमान, 'क्षीयन्त' इति सामान्यश्रुति- सकोचमर्हतीत्याह—**अत एवेति**। ननु 'तस्य तावदेवे'ति श्रुति

प्रतिबन्धक प्रारब्ध कर्मो के अवस्थान से अविद्यालेश की अनुवृत्ति रहती है, और अविद्यालेश की अनुवृत्ति से कर्म की अनुवृत्ति होती है। अर्थात् इनके ज्ञानो मे परस्पराश्रयता प्राप्त होती है। तो यह कहना युक्त नही। क्योकि प्रारब्ध कर्मो के ज्ञान से ही अविद्यालेश का ज्ञान नही होता है, किन्तु श्रुति से भी उसका ज्ञान होता है। (भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति) यहाँ भूयोनिवृत्ति इस विशेषण से पूर्वोक्त माया के द्विविध आकार की निवृत्ति का और आकारान्तर की अनुवृत्ति का मानान्तर से ज्ञान होता है, अत प्रतीति मे परस्पराश्रय का अभाव है। और (अन्ते विश्वमायानिवृत्ति) इस श्रवण से प्रारब्ध फल वाला कर्मस्वरूप विद्या शक्तिप्रतिबन्धक की फलोपभोग से निवृत्ति होने पर प्रतिबन्धक के भी अभाव काल मे तत्त्वज्ञान से अशेष अविद्या की निवृत्ति होती है, ऐसी प्रतीति से अन्योन्याश्रय नही प्राप्त होता है।

और (अत एव) प्रारब्ध कर्मो के विदेह मोक्ष से पूर्व काल तक प्रमाणो द्वारा अवस्थिति के ज्ञान से, (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इस सामान्य श्रुति को प्रारब्ध कर्मभिन्न कर्मपरत्व की सिद्धि होती है। और (तस्य तावदेव चिरम्) इस श्रुति से विद्वान् के प्रारब्ध कर्म उसके फल की अवस्थिति के ज्ञान से, तथा (तद्वास्य विजज्ञौ) इस श्रुति द्वारा विस्पष्ट ज्ञानोपजनन को आश्चर्य तुल्य प्रतिपादन से

योरवस्थानाधिगमाच्च, 'तद्धास्य विजज्ञा'विति विस्पष्टज्ञानोपजननस्याश्चर्यवत्प्रतिपादनात् परोक्षज्ञानविषयत्वानुपपत्ते । अन्यथा श्रुतवाक्यस्य परोक्षज्ञानस्यावश्यभावितया तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात् । न च 'ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन' इति स्मृति परोक्षनिश्चयवतस्तदभ्यसनशीलस्य प्रतिपादिका, दर्शनशब्देन साक्षात्कारस्यैव रूपादिदर्शनस्येवाभिधानात् । स्वात्मनि चापरोक्षे परोक्षज्ञानस्य विभ्रमत्वात् । न च सुखादिविषयपरकीयानुमानादिज्ञाने व्यभिचार । स्वापरोक्षस्य स्वपरोक्षज्ञानविषयत्वे विभ्रमत्वाङ्गीकारात् ।

न चाकारिनिवृत्तौ तदाकारावस्थानासभव, सामान्यविशेषघटित-

परोक्षज्ञानविषयतया प्रत्याख्यातेति, तत्राह—**तद्धास्येति** । तेन ह्याश्चर्यं द्योत्यत इत्यर्थ । ननु परोक्षज्ञानोत्पत्ताविदमाश्चर्यमस्तु श्रुते, भवति हि मूर्खेष्वनुत्पद्यमान परोक्षज्ञानमपि बुद्धिमत्सूत्पद्यमानमाश्चर्यहेतुरिति, तत्राह—**अन्यथेति** । अधीतवेदो विदितपदतदर्थसगतिक श्रवणेऽधिक्रियते, न च तस्य परोक्षज्ञानमात्रनोत्पत्तिराश्चर्यहेतु प्रत्युतानुत्पत्तौ गर्हैव स्यादिति भाव । स्मृतेरन्यथासिद्धि परिहरति –**न च ज्ञानिन इति** । किंचापरोक्षे परोक्षज्ञान विभ्रान्तमेव । नच परस्य परात्मानुमाने व्यभिचार । स्वापरोक्षे स्वपरोक्षविज्ञानस्य विभ्रमत्वाव्यभिचारादित्याह –**स्वात्मनिचेति** ।

यत्त्वाकार्यविद्यानिवृत्तावाकारावस्थितिर्न सभवतीत्युक्तम्, तत्परिहरति—**न चाकारीति** । अनुवृत्तव्यावृत्तात्मक हि समस्त वस्तु भाट्टैरभिप्रेयते । यथाहु —

'कार्यरूपेण नानात्वमभेद कारणात्मना ।
हेमात्मना यथाऽभेद कुण्डलाद्यात्मना भिदा' इति ।

(तस्य तावदेव चिरम्) इस श्रुति को पूर्वपक्षी मे वर्णित परोक्ष ज्ञानविषयत्व की अनुपपत्ति है । यदि कहे कि परोक्ष ज्ञान की उत्पत्तिविषयक ही उक्त आश्चर्य तुल्यता का प्रतिपादन हो, तो यह कहना युक्त नही, क्योकि (अन्यथा) अपरोक्ष ज्ञान के बिना, वाक्यार्थ को सुनने वाले के परोक्ष ज्ञान की अवश्यभाविता से उसके आश्चर्य के प्रतिपादन मे व्यर्थता होगी, क्योकि पदपदार्थ की सगति के ज्ञानपूर्वक वाक्यश्रवण से परोक्ष ज्ञान होना आश्चर्यजनक नही है, अपरोक्ष ज्ञान ही आश्चर्यजनक है । (आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट) । इसीप्रकार से (ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन) यह स्मृति परोक्ष निश्चय वाला परोक्ष ज्ञानाभ्यासशील का प्रतिपादक नही है, क्योकि रूपादिदर्शन के समान साक्षात्कार को ही दर्शन शब्द से कहा जाता है । और अपरोक्ष स्वात्मविषयक परोक्ष ज्ञान को विभ्रमत्व होगा । सुखादि विषयक अन्य के अनुमानादि ज्ञान मे व्यभिचार नही कहा जा सकता है, क्योकि स्व अपरोक्ष को स्वपरोक्षज्ञानविषयत्व होने पर विभ्रमत्व माना जाता है ।

और जो यह कहा था कि, आकारी = आकार वाली अविद्या की निवृत्ति होने

स्यापि वस्तुनो विशेषनिवृत्तौ सामान्याकारावस्थानस्य परीक्षकैरभ्युपगमात्। न च साधक एवावस्थाविशेष प्राप्त स्थितप्रज्ञो गुणातीतश्च, 'प्रजहाति यदा कामा'नित्याद्यभिहितविशेषणाना तत्रानुपपत्ते । नहि सर्वकामाना विमोक परमात्मसाक्षात्कारमन्तरेणोपपन्न । 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते' इति स्मरणात्, 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इतिश्रुतेश्च।

तत्र यथा कटककेयूराद्याकारनाशेनाकारिनिवृत्तावप्याकारान्तरस्यानुवृत्त्यानिवृत्तिस्तथेत्यर्थं ।

यदि चात्र तार्किको विप्रतिपद्येत त प्रति सामान्यविशेषयोरत्यन्तभेदस्य समवायस्य च चिरातीतखण्डनस्मारणेन समतिरानेतव्या । नचाकारादतिरिक्ताकार्येनि निरूपणसहिष्णु यन्निवृत्त्याऽस्यापि निवृत्तिरापाद्येत । ननु तथाप्यविद्याया कोऽयमाकार ? किमवयव ? किं वा तद्धर्म ? नोभयथापि । किं तर्हि अविद्यैवावस्थान्तरमापन्ना । विचित्रशक्तिर्ह्यविद्याऽत प्रारब्धभोगकर्मतत्कारणमात्ररूपेण तिष्ठतीत्यभ्युपेयम् । किंच स्थितप्रज्ञत्वेन च गुणातीतत्वेन च जीवन्मुक्तमेव भगवद्गीता प्रतिपादयति, न साधक शमादिसम्पन्नमपि, तस्यात्मसाक्षात्काराभावेन तत्प्रयुक्तसकलकामप्रहाणाभावादित्याह—**न चेत्यादिना**। साधक फलायोपात्तशमादिसाधन । अवस्थाविशेषम् उपसर्जनीभूतमनोनाशवासनाक्षयाभ्यासशालित्वरूपम। अन्त करणधर्माणा कामाना निर्वृत्ति प्रति विविक्तात्मसाक्षात्कार एव हेतुरित्येतदपि तत्रैव दर्शितमित्याह—**रसेति**। रस काम, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य ।

पर उसके आकार की स्थिति का सम्भव नही है। यह कथन अयुक्त है। सामान्य विशेष घटित वस्तु के विशेष की निवृत्ति होने पर भी सामान्याकार के अवस्थान को परीक्षको ने माना है, जैसे कि कटक, कुण्डलादि विशेष रूप की निवृत्ति होने पर भी सुवर्ण की स्थिति रहती है। इसीप्रकार से सामान्य स्वरूप वाली प्रारब्ध भोगानुकूल अविद्या रहती है। और साधक ही अवस्थाविशेष को प्राप्त होकर स्थितप्रज्ञ और गुणातीत नही कहा जाता है। क्योकि (प्रजहाति यदा कामान्) इत्यादि वचनो से कथिन विशेषणो का उक्त साधक मे उपपत्ति (सिद्धि) हो नही सकती है, परमात्मसाक्षात्कार के बिना सब कामो का त्याग सिद्ध नही हो सकता है। कहा गया है कि निराहार देही के रस (राग, काम) रहित विषय निवृत्त होते है, और (परतत्त्व को जानकर स्थिर इस ज्ञानी का राग भी निवृत्त हो जाता है) यह स्मृति कहती है। और (जब जीव के हृदिस्थ सब काम निवृत्त हो जाते है, तब यह मर्त्य = प्राणी अमृत = मुक्त हो जाता है। और इस शरीर मे ही ब्रह्म को प्राप्त करता है। इस श्रुति से ज्ञानी मे कामाभाव का प्रतिपादन किया गया है।

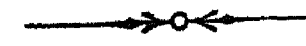
तदेव श्रुतिस्मृतिपुराणादिष्वाघुष्यमाणा जीवन्मुक्ति प्रद्वेषमात्रेण नापलपितु शक्यत इति सिद्धम् ।

इति श्रीगौडेश्वराचार्यपरमहंसपरिव्राजकाचार्यज्ञानोत्तमपूज्यपादशिष्य-
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीचित्सुखमुनिविरचिताया
तत्त्वप्रदीपिकाया चतुर्थ परिच्छेद ।



एतदेव श्रुतिरारण्यकी प्रकाशयतीत्याह—**यदेति** । फलितमाह—**तदेवमिति** ।

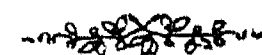
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यप्रत्यक्प्रकाशपूज्यपादशिष्यस्य प्रत्यक्स्वरूप-
भगवत कृतौ तत्त्वप्रदीपिकाटीकाया नयनप्रसादिन्या
चतुर्थ परिच्छेद ।। ४ ।।



इस उक्त रीति से श्रुति, स्मृति, पुराणादि मे कथित जीव-मुक्ति प्रद्वेष मात्र से अपलाप के योग्य नही है। यह सिद्ध हुआ ।

विद्यादिसारभूतोऽथ मूल विद्याविवेकयो ।
वेदा पर प्रमाण च नास्त्यत्र सशयो विद ।। १ ।।
सर्वोपनिषद सारो वेदाना बुधसम्मता ।
महावाक्यानि तत्सार प्रणव सार उत्तम ।। २ ।।
ओङ्कारार्थ पर ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणम ।
नामरूपे निषेध्यात्र तद् ब्रह्मावशेषितम ।। ३ ।।
नित्यानन्द स्वय ज्योति सर्वाधारो निराकृति ।
सर्वात्मैव विभुर्योऽच्छ सो वै वाड्मनस पर ।। ४ ।।
चित्सौख्यमुनिना तस्य दर्शनार्था प्रदीपिका ।
रचिता विमला तस्या पश्यन्तु द्योतन बुधा ।। ५ ।।
अस्ति भाति प्रिय नाम रूपञ्चेत्यशपञ्चकम् ।
आद्य त्रय ब्रह्मरूप मायारूप तनो द्वयम् ।। ६ ।।
सत्य बुद्ध्वा पर ब्रह्म मिथ्या बुद्ध्वा जगत्तथा ।
रागद्वेषभयान्मुक्तो जीवन्मुक्तो हि जायते ।। ७ ।।

इति श्रीस्वामी हनुमानदासजी महाराज षट्शास्त्री विरचित
चित्सुखी-भाषानुवाद का चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ।



परिशिष्टम् (१)

मूलोक्तपूर्वोत्तरपक्षसंग्राहकश्लोकाः

प्रथमः परिच्छेदः

पृष्ठाका श्लोका श्लोकसख्या

मगलाचरणम—

१ स्तम्भाभ्यन्तरगर्भभावनिगदव्याख्याततद्वैभवो,
य पार्श्वाननपार्श्वजन्यवपुषा व्यादिष्टविश्वात्मत ।
प्रह्लादाभिहितार्थतत्क्षणमिलद्दृष्टप्रमाण हरि ,
सोऽव्याद्व शरदिन्दुसुन्दरतनु सिहाद्रिचूडामणि ॥ १ ॥

४ ज्योतिर्यद् दक्षिणामूर्तिव्यासशकरशब्दितम् ।
ज्ञानोत्तमाख्य तद् वन्दे सत्यानन्दपदोदितम् ॥ २ ॥

५ विप्रतिपत्तिव्रातध्वान्तध्वसप्रगल्भवाचाला ।
क्रियते चित्सुखमुनिना प्रत्यक् तत्त्वप्रदीपिका विदुषा ॥ ३ ॥

६ प्रमाणनखर्निर्भिन्नमहामोहामरारये ।
नमस्कुर्मो नृसिहाय स्वप्रकाशचिदात्मने ॥ ४ ॥

सग्राहकश्लोका —

३१ अपरोक्षव्यवहृतेर्योग्यस्याधीपदस्य न ।
सभवे स्वप्रकाशस्य लक्षणासभव कुत ॥ १ ॥

३१ सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे ।
कथ कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषण ॥ २ ॥

५६ चिद्रूपत्वादकर्मत्वान् स्वयज्योतिरिति श्रुते ।
आत्मन स्वप्रकाशत्व को निवारयितु क्षम ॥ ३ ॥

६८ सबन्धस्याश्रयत्वेन विज्ञानासमवायिन ।
इन्द्रियत्वाविघाताच्च मन प्रत्यक्षमात्मवत् ॥ ४ ॥

७३ तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तर तम कस्मादकस्मादपलप्यते ॥ ५ ॥

८० चक्षु प्रकाशनाजन्यरूपवद् वीक्षणक्षमम् ।
रूपिग्राहीन्द्रियत्वेन यथैव स्पर्शनेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

९४ सर्वेषामपि भावानामाश्रयत्वेन समते ।
प्रतियोगित्वमत्यन्ताभाव प्रति मृषात्मता ॥ ७ ॥

पृष्ठाङ्का	श्लोका	श्लोकसख्या
१००	अशिन स्वाशगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिन । अशित्वादितराशीव दिगेषैव गुणादिषु ॥ ८ ॥	
१४७	अनादिभावरूप यद् विज्ञानेन विलीयते । तदज्ञानमिति प्राज्ञा लक्षण सम्प्रचक्षते ॥ ९ ॥	
१४९	देवदत्तप्रमा तत्स्थप्रमाभावातिरेकिण । अनादेर्ध्वंसिनी मात्वादविगीतप्रमा यथा ॥ १० ॥	
१८२	स्वीकारे विभ्रमाणा स्यात् स्वीयसिद्धान्तवाधना । अनभ्युपगमे तेषामाश्रयासिद्धिरुद्धता ॥ ११ ॥	
१७३	नयन नयनोद्भूतसम्यग्ज्ञानातिरेकिण । ज्ञानस्य कारण तत्त्वाद्यथैव नयनान्तरम् ॥ १२ ॥	
२०६	प्रत्येक सदसत्त्वाभ्या विचारपदवी न यत् । गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्तवेदिन ॥ १३ ॥	
२१५	एकालम्बनससर्गनिषेधे सदसत्त्वयो । धर्मत्वाद् रूपरसवत् सिद्धानिर्वचनीयता ॥ १४ ॥	
२३१	दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा । वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चिते ॥ १५ ॥	
२३९	विवादाध्यासित सिद्ध शब्दव्युत्पत्तिगोचर । मेयत्वान्न्यायगम्यत्वात् तवाभिमतकार्यवत् ॥ १६ ॥	
२४९	कार्यस्यावगतेर्हेतुर्यादृश हितसाधनम् । प्रवृत्तेस्तादृश हेतुर्व्यभिचारस्तत कुत ॥ १७ ॥	
२७७	विवादाध्यासिता शब्दा क्रियाकार्याभिधायिन । कार्यप्रत्ययहेतुत्वाद् आनयेत्यादिशब्दवत् ॥ १८ ॥	
२८८	ससर्गासगिसम्यग् धीहेतुता या गिरामियम् । उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता ॥ १९ ॥	
३०१	सत्यज्ञानादिगीरेतत - ससर्गव्यतिरेकिणि । अर्थे प्रमाण मानत्वान्नयनादि प्रमाणवत् ॥ २० ॥	
३२३	आहुर्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यजन्यता । तदन्यत प्रमायास्तत स्वतस्त्वमिति तद्विद ॥ २१ ॥	
३२४	प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सति नान्यत । जायते व्यतिरिक्तत्वाद् अप्रमात पटादिवत् ॥ २२ ॥	
३५६	परास्य शक्तिर्विविधा सर्गाद्या भावशक्तय । इति श्रुतिस्मृतिमिता शक्ति केन निवार्यते ॥ २३ ॥	

पृष्ठाङ्का	श्लोका	श्लोकसङ्ख्या
३७२	स्थितिस्थापकधर्मान्यातीन्द्रियाद्विष्ठसंश्रय ।	
	दहनो गुणयोगित्वाद् गुरुत्वाश्रयकुम्भवत् ॥	२४ ॥
३८९	विनाभिधेयस्मरणम् अन्वयाप्रतिपत्तित ।	
	तत्तत्पदार्थस्मृतय तेषामन्वयबोधिका ॥	२५ ॥
४०२	शब्दास्तात्पर्यविषयव्यतिषङ्गस्य लक्षका ।	
	तत्तात्पर्यानिधानत्वात् क्ष्वेल भुङ्क्ष्वेतिशब्दवत् ॥	२६ ॥
४१४	श्रुतीनामीश्वराज्जन्म केवल श्रुतिषु श्रुतम् ।	
	मानान्तरोपलब्धेऽर्थे रचना तु न मीयते ॥	२७ ॥

द्वितीयः परिच्छेदः

पृष्ठाङ्का	श्लोका	श्लोकसङ्ख्या
४३२	सापेक्षत्वात् सावधेश्च तत्त्वेऽद्वैतप्रसगत ।	
	एकाभावादसदेहात् न रूप वस्तुनो भिदा ॥	१ ॥
४३६	युगपद् ग्रहणायोगाद् अनवस्थाप्रसगत ।	
	परस्पराश्रयत्वाच्च धर्मभेदेऽपि नाक्षधी ॥	२ ॥
४४१	नान्योन्याभावरूपोऽय द्वैताभावप्रसगत ।	
	तादात्म्यस्याप्यमानत्वात् प्रतियोग्यनिरूपणात् ॥	३ ॥
४५२	अव्याप्तेरतिव्याप्तेर्द्रव्य नैव गुणाश्रय ।	
	आद्ये क्षणे गुणाभावाद् गुणादावपि वीक्षणात् ॥	४ ॥
४५८	द्रव्यत्वजातियोगित्वमपि नो द्रव्यलक्षणम् ।	
	तज्जातिव्यञ्जकाभावात् तन्मानस्यानिरूपणात् ॥	५ ॥
४६५	सामान्यवानगुण इत्याद्यप्यस्य न लक्षणम् ।	
	अन्योन्याश्रयतापत्तेर्गुणस्याद्याप्यसिद्धित ॥	६ ॥
४६७	गुणत्वजातियोगोऽपि न भवेद् गुणलक्षणम् ।	
	अन्योन्याश्रयदुष्टत्वात् जातेस्तद्व्यञ्जकस्य च ॥	७ ॥
४७१	यथा श्रुतेऽसभवित्वान्निरुक्तेरप्ययुक्तित ।	
	नानपेक्षतया हेतु कर्मयोगविभागयो ॥	८ ॥
४८०	नैव व्याप्तेरसिद्धत्वात् अनध्यवसितत्वत ।	
	यौगपद्यप्रतीतेश्च प्रत्यक्षत्वमुपेयुषाम् ॥	९ ॥
४८६	अतिव्याप्तचा निराकुर्यादाद्य पक्षचतुष्टयम् ।	
	अनेकत्वानिरुक्तेश्च पक्षमन्त्य प्रतिक्षिपेत् ॥	१० ॥
४९१	जातेरव्याप्यसिद्धेश्च सत्तादेरप्यसिद्धित ।	
	तदनाश्रयताऽन्यत्वलक्षणेऽन्योऽन्यसश्रय ॥	११ ॥

पृष्ठाका	श्लोका	श्लोकसख्या
४९२	नित्यद्रव्यैकवृत्तित्वम् अयोगपरिहारत । न लक्षणमतिव्याप्ते तवात्मत्वमनस्त्वयो	॥ १२ ॥
५०३	आश्रयासिद्धिदुष्टत्वाद् अप्रसिद्धविशेषणात् । प्रमाणतामश्नुवीत न प्राभाकरभाट्टयो	॥ १३ ॥
५०७	न स्यादयुतसिद्ध्यादि समवायस्य लक्षणम् । विशेषणविशेष्यत्वसम्बन्धे व्यभिचारत	॥ १४ ॥
५१९	घटस्तद्वृत्त्यनित्यान्यभावसम्बन्धवानयम् । सबन्धित्वादिति स्याच्चेन्नाभावे व्यभिचारत	॥ १५ ॥
५३०	सिद्धे भेदे विरोधे च धर्मयोर्धर्मिभेदधी । तयोर्नाद्यापि ससिद्धिर्धर्मिभेदस्तदा कुत	॥ १६ ॥
५४२	अन्यत्र लिगेन्द्रिययोरन्योन्यनिरपेक्षयो । दृष्ट सम्भूयकारित्व विशिष्टानुमितिं प्रति	॥ १७ ॥
५४६	मानाधीना मेयसिद्धि र्मानसिद्धिश्च लक्षणात् । तच्चाध्यक्षादि मानेषु गीर्वाणैरपि दुर्भणम्	॥ १८ ॥
५६०	अनिरुक्ते-रवधृते-रतिव्याप्तेर्द्वयोरपि । अव्याप्तेर्विभ्रमाभेदाज्जातिसाङ्कर्यशक्तित	॥ १९ ॥
५६५	आद्यकल्पेष्वतिव्याप्तेरव्याप्तेश्चान्त्योर्द्वयो । न मिथ्याध्यवसायत्व विपर्यासस्य लक्षणम्	॥ २० ॥
५७०	आद्ये कल्पेऽधिकव्याप्तेर्द्वयोश्चासभवित्वत । तुर्येऽतिव्याप्तितश्चान्त्येऽभावाद् व्यञ्जकमानयो	॥ २१ ॥
५७८	प्रमितेर्दुर्निरूपत्वाद् व्यञ्जकस्यानिरूपणात् । साक्षात्त्व जातिसाकर्यान्न प्रत्यक्षस्य लक्षणम्	॥ २२ ॥
५८६	किं व्यक्त्योरथवा जात्योस्तद्वतोर्वा विशेषयो । व्याप्तिस्त्वयेष्यते किं वा साध्यसाधनवस्त्वयो	॥ २३ ॥
५८७	सा न व्यक्त्योस्तदानन्त्यान्न जात्योस्तदसभवात् । न तद्वतोरुक्तदोषात न च चतुर्थोऽनिरूपणात्	॥ २४ ॥
५९९	न प्रत्यक्षमशक्यत्वात् नानुमाऽप्यनवस्थिते । नागमस्तदृते भावान्नोपमाऽतत्प्रमेयत	॥ २५ ॥
६००	नार्थापत्तिरनन्यत्वादनुमाफललोपनात् । नाभावो दुर्निरूप्यत्वान्न तर्कस्तर्कबाधनात्	॥ २६ ॥
६१४	पूर्वोदितेन न्यायेन पक्षस्यैवानिरूपणे । कथ तद्वचन वाच्य प्रतिज्ञेतिविपश्चिता	॥ २७ ॥

पृष्ठाका	श्लोका	श्लोकसख्या
६२१	अनुमानागयो सिद्धेर्व्याप्तिपक्षगतत्वयो । उदाहृतेरुपनयात् पञ्चावयवता मुधा ॥	२८
६२६	भूयोऽवयवसामान्य सादृश्य यच्च गोगतम् । विज्ञातमविकल्पेन प्रत्यभिज्ञायते यत ॥	२६
६३६	वाचको गवयस्याय तत्र वृत्त्यन्तरेऽसति । वृद्धै प्रयुज्यमानत्वाद् गोत्वे गौरितिगीरिव ॥	३०
६५७	शब्दो मान विवक्षाया ज्ञानेऽर्थे वा भवन्भवेत् । नाद्यौ तद्व्यभिचारित्वात् नान्त्य सगत्योगत ॥	३१
६६५	आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु । व्यभिचारान्न तद्युक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तित ॥	३२
६७०	आगमस्य बर्हिदेशविषयत्वस्य कल्पनात् । प्रागेव देवदत्तस्य गृहेऽभावो मितो न वा ॥	३३
६७०	आद्येऽनुमान तेनैव निष्प्रत्यूह प्रवर्तताम् । द्वितीये कल्पकाभावाद् अर्थापत्त्युदय कुत ॥	३४
६७३	तदसिद्धिरतिव्याप्ति सक्ति सप्रतिसाधने । असभवोऽतर्कता च दोषा तेषा क्रमादमी ॥	३५
६७७	केवलानुपलम्भस्य व्यभिचारनिवारिणी । योग्यता चेत् कुतो न स्यादनुमानमभावधी ॥	३६
६८३	सर्वस्य प्रतियोगित्वाद् दुर्लभा तदनिष्ठता । द्विधाप्यात्माश्रयत्वाच्च न स्वशब्दो विशेषणम् ॥	३७
७२०	अर्थान्तरत्वादाद्यस्य परस्योपाधिमत्त्वत । अन्त्यस्याभासतुल्यत्वात् प्रतिसाधनरोधनात् ॥	३८
७३१	प्रमितत्वस्य वैयर्थ्यात् सिद्धस्यैवाश्रयत्वत । देहात्मतावन्नियमाल्लक्षणैश्च व्यवस्थित ॥	३९
७३४	अन्योऽन्यसश्रयापत्तेरतिव्याप्तिप्रसगत । अव्याप्तेरजसयोगे द्रव्यत्वाद्यनिरूपणात् ॥	४०
७३८	सयोगस्यापृथक्त्वेऽपि व्याहारव्यवहारयो । समवाय इवोत्थानाद् वृथा सामान्यकल्पना ॥	४१
७४१	आत्माश्रयादतिव्याप्तेरयोगाद् व्यभिचारत । विशेषणाप्रसिद्धेश्च न विभाग प्रसिद्ध्यति ॥	४२
७४८	सयोगस्य निरस्तत्वाद् गुणानामनिरूपणात् । जातेश्च दुर्निरूपत्वात् स्यादसभवि लक्षणम् ॥	४३

पृष्ठाङ्का	श्लोका	श्लोकसख्या
७४८	प्रत्यक्षस्यान्यथासिद्धि स्यादेकत्वसमुच्चये । अनुमाऽप्याश्रयासिद्धिसाध्यवैकल्यदूषिता	।। ४४–४५ ।।
७५५	न च प्रमाण सख्यायामप्येकत्वादिबुद्धय । गुणादिष्वपि तद्भावात् तद्बाधस्यानिरूपणात्	।। ४६ ।।
७५७	प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न जाति सेद्धुमर्हति । व्यञ्जकैरन्यथासिद्धे तद्वृत्तेश्चानिरूपणात्	।। ४७ ।।
७७२	अद्रव्यवान्न सयोग साङ्कर्यान्नेतरावपि । पदार्थान्तरतापत्तेर्नान्यिसबन्धसभव	।। ४८ ।।
७६६	परमाणुबहुत्वेन महत्वारम्भसभवात् । त्र्यणुके द्व्यणुकारम्भप्रक्रियाऽपि न सिद्ध्यति	।। ४९ ।।
७७१	परिमाणस्य सिद्धत्वे तदारम्भविचारणा । नाद्याऽपि सिद्धस्तदभावोऽभावाल्लक्षणमानयो	।। ५० ।।
७७५	आद्यस्योपाधिमत्त्वेन साध्याभावान्निदर्शने । द्वितीयस्योभयत्रापि प्रतिसाधनरोधनात्	।। ५१ ।।
७७९	तत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानात् तदाधेयानिपातत । सख्याप्रमाणयोरैक्यादन्यथापाकसंभवात्	।। ५२ ।।
७८३	कालस्याहेतुतापत्तेर्नाधितोऽन्योन्यसश्रयात् । स्वात्मवृत्तेरयुक्तत्वात् नियतत्वानिरुक्तित	।। ५३ ।।
७८६	हेतुसाकल्यरूपाया सामग्र्या तदसम्भवात् । कारणत्वानिरुक्तौ च सहकार्यनिरूपणात्	।। ५४ ।।
७८७	जातेरहेतुतापत्ते रासभेऽतिप्रसक्तित । गगनादिषु चाव्याप्तेरन्वयादेरयोगत	।। ५५ ।।
७९०	अतिव्याप्ते स्ववृत्तित्वाद् भेदेऽभेदेऽप्यसभवात् । कार्यस्य हेतुभि सिद्धेर्वृथा साकल्यकल्पना	।। ५६ ।।
७९३	व्यापाराव्यापानादात्माश्रयत्वादनिरुक्तित । समवायेऽस्य हेतुत्वे पूर्वदोषानुषङ्गत	।। ५७ ।।
७९४	असिद्धे प्रतिबन्धस्य नृश्रृङ्गादावभावत । सत्त्वे सतीति चायुक्त दृष्टान्तादेरसिद्धित	।। ५८ ।।
७९७	अनिरुक्तेरतिव्याप्तेरव्याप्ते तदसभवात् । अतिप्रसगतोऽव्याप्ते मतुबर्थानिरूपणात्	।। ५९ ।।
७९९	प्रत्यक्षागोचरत्वेन परत्वादेरलिंगत । स्वरूपतोऽनिमितत्वाद् उपाधौ निष्फलत्वत	।। ६० ।।

पृष्ठाका	श्लोका	श्लोकसख्या
८००	दिवाकरपरिस्पन्द-पिण्डसगतिसभवात् । व्यापिनश्चेतनादेव कथ काल प्रसिद्धचति ॥	६१ ॥
८०७	इन्द्रियानधिगम्यत्वात् नाध्यक्ष नानुमा दिशि । वर्णैरर्थान्तरत्वेन साध्यासिद्धिर्निदशने ॥	६२ ॥
८१७	भेदेऽप्ययुतसिद्धत्वाद् उपादानत्वसम्भवात् । तस्यापि दुर्निरूपत्वात् समवायाद्यसगते ॥	६३ ॥
८२३	युक्ते शब्दनिमित्तानामेकाधिकरणत्वत । शाब्द न तावद् घटते भेदाभेदप्रसाधकम् ॥	६४ ॥
८२३	धर्माणामेकनिष्ठत्वमात्रेणैवोपपत्तित । अभेदानुभवाभावादार्थं नैवास्य साधकम् ॥	६५ ॥

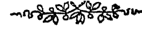
तृतीयः परिच्छेदः

८३१	साक्षात्करणहेतोरप्यप्रत्यक्षत्वसम्भवात् । दशमस्त्वमसीत्यादौ शब्दादेव तदुद्भवात् ॥	१ ॥
८३४	तद्धेत्यादिश्रुते क्वापि मनसस्तदयोगत । शब्दत्वानुमितेर्बाधाद् व्यभिचारादनुत्थिते ॥	२ ॥
८३८	प्रतिप्रयोगयोगाच्च विपक्षे बाधसम्भवात् । तस्याभासमानत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधी- ॥	३ ॥
८४३	अभावात् श्रुतिलिङ्गादेरुपयोगानिरूपणात् । अधिकारविरोधाच्च कर्माङ्ग नात्मतत्त्वधी ॥	४ ॥
८५८	यज्ञादे- करणत्वेन श्रुत्यैव प्रतिपादनात् । शेषत्वाधिगतावेव प्रक्रमस्याप्युपक्षयात् ॥	५ ॥
८६१	निन्दाया देवताज्ञानविषयत्वेऽपि सम्भवात । प्रक्रमस्यापि बाध्यत्वाद् बलीयस्या तृतीयया ॥	६ ॥

चतुर्थः परिच्छेदः

८८०	लीनशब्दनिदानेऽपि व्योम्नि तस्यानवस्थिते । रूपाभावव्यवहृतेस्तदभावेऽपि चात्मनि ॥	१ ॥
८९३	कुम्भ कुम्भेतराचित्कासुस्वान्यान्य- प्रसाध्यताम । कुम्भत्वेन यदित्थ तत्तथा कुम्भान्तर यथा ॥	२ ॥
८९६	आत्मनोऽसुखरूपत्वाद् बन्धस्यान्यगतत्वत । उपचारस्य चायोगात् सम्बन्धस्यानिरूपणात् ॥	३ ॥

पृष्ठाङ्का	श्लोका	श्लोकसङ्ख्या
९११	स्वरूपत प्रमाणैर्वा सर्वज्ञत्व द्विधा स्थितम् । तच्चोभय विना विद्यासम्बध नैव सिद्धचति ॥	४ ॥
९२७	चैत्रराग स्वविषयानित्यज्ञानातिरेकिणा । तदध्यक्षेण सवीक्ष्य प्रत्यक्षत्वात् पटादिवत् ॥	५ ॥
९३९	अविद्या कल्प्यतेऽनेका जाग्रत् स्वप्नविभेदिनी । यथा तथैव कल्प्यन्तामनन्ता सति कल्पके ॥	६ ॥
९४४	सूत्रभाष्यादिवाक्याना श्रुतिस्मृतिगिरामपि । मुख्यार्थत्वोपपत्त्यर्थं व्यवस्थैवाभ्युपेयताम् ॥	७ ॥
९५२	निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षित । उपलक्षणनाशेऽपि स्यान्मुक्त पाचकादिवत् ॥	८ ॥
९५५	विगीताज्ञानहानि स्याज्ज्ञाताधिष्ठानमात्रकम् । तत्त्वाद् यदित्थ तत्तादृग् यथा शुक्त्यादिक मितम् ॥	९ ॥
९६०	अविद्यालेशशब्देन मोहाकारान्तरोक्तित । ज्ञानस्य प्रतिबन्धाच्च प्रबलारब्धकर्मभि ॥	१० ॥
	लेशानुवृत्तौ तज्जन्यकर्मादेरनुवृत्तित । उत्पन्नात्मावबोधस्य जीवन्मुक्ति प्रसिद्धचति ।	११ ॥



परिशिष्टम् (२)

मूलोद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकाराः

नामानि	पृष्ठाङ्का
अक्षपादसूत्रम्	५४६, ६४२
आधुनिक (न्यायकल्पतरुकार)	१८८
उदयन	३१७, ६३६, ६५०, ७४८, ८७४
उद्द्योतकार	१६०, ५६७, ६४२
उम्बेक	६८६
कन्दलीकार	४६५, ५०७, ८८६
किरणावलीकार	४६६, ८८८
कुसुमाञ्जलिकार	७८८
खण्डनकारा	४५१
गुरु	१२, २६६, ६२८
तात्पर्यटीका	२५०
सौतान्तिक	६३०
न्यायकुसुमाञ्जलि॰	३१७
न्यायसुधा	६६०
पञ्चपादिकाचार्या	२५
पतञ्जलि॰	८७४, ८८५
प्रशस्तपाद	३७३, ४५६
ब्रह्माण्डपुराणम्	७०८

नामानि	पृष्ठाङ्का॰
भट्टपादा	३२७, ३३०, ३६७, ५८१
भट्टाचार्या	१०१, १७८, २७३
भट्टा	४८
भाट्ट	३१७, ३७३, ५०१, ७७०
भूषण	४६६, ६६७, ८०५
भूषणकार	५६५
मानमनोहरकार	५७, ४८३, ५०५ ७४७, ७५२, ७७४, ८१५
लीलावतीकार	३५५, ३७८, ४६१, ५०१ ५१६, ६६०, ७४८, ८०२, ८११, ८७६, ८८६
वाचस्पति॰	३००, ३३१, ५५०
वार्तिककारा (कुमारिलभट्टा॰)	५४५
शबरस्वामी	३०२
शालिकनाथ	२५६
सुरेश्वराचार्या	२४, ३६५, ८४७
सौगतवार्तिकम् (प्रमाणवार्तिकम्)	६५२

परिशिष्टम् (३)

व्याख्योद्धृत-ग्रन्थ-ग्रन्थकाराः

नामानि पृष्ठाका

अर्कबन्धु ३२९

आनन्दबोधाचार्या २८६, ८५३-५४, ८५८

इष्टसिद्धिकार २१८

उदयन, आत्मतत्त्वविवेककृत् ३२, ३५, ४०, ७९, १४३, २०७, ३०७, ३२१, ३३३, ३४२, ३४४, ७५३, ७५४, ७७२, ७८०, ९५८

किरणावलीकार, कुसुमाञ्जलिकार ३६०, ३६५, ३६९, ५१०, ५३१, ५५०, ६४१, ६४२, ६५०, ७३५, ७३५, ७४१, ७४४, ७६७, ७७७, ७८१, ८११

उम्बेक (भवभूति) ६६६

किरणावली ४६६, ४८५, ५०७

कुलार्कपण्डित ७६०

कुसुमाञ्जलि, न्यायकुसुमाञ्जलि ११२, ३१०, ३४२

गगापुरीभट्टारक २१, १६२

गुरु १२९, ९६०

जीवन्मुक्तिविवेकप्रकरणम् ९५६

जैमिनिसूत्रम् ५८, ५७९

ज्ञानसिद्धिकारा ९६०

तत्त्वकौमुदी ६३०, ६४१, ६७१

तत्त्वसारटीका ५०१

तथागत ५३१

नामानि पृष्ठाका

तात्पर्यटीकाकार, (वाचस्पति) ३१९, ३२१, ५५०, ५८२, ७४४, ८३६, ९००

तात्पर्यपरिशुद्धि ४०, १४३

तौतातित, भाट्ट ४८, ५१, ७७, १४४, ६३०, ६३१

दिङ्नाग ११३

धर्मकीर्ति १८५, ५४३

धातुसमीक्षा १५५

नाथ ७३ २२४, २२५

न्यायकल्पतरु १८८

न्यायबिन्दु १८५, १८६, ५४३

न्यायभूषणकार ४२३, ५६१, ५६७, ५७३७८

न्यायरत्नदीपावली १५, २२७, ३०८, ३१०, ३१६, ३१७, ३४५, ३४८, ८२९

न्यास १४४

पञ्चपादिकाकृत् २५

पञ्चपादी ९१०

पतञ्जलि ७, ५०२

परमर्षि (जैमिनि) ३९१

पाणिनि ५

पार्थसारथिमिश्र २६७

प्रकरणपञ्जिका ११५, १६१

प्रशस्तपाद ४०४, ४९०, ५०५, ६१३, ७४०, ८०६

नामानि पृष्ठाङ्का

प्राभाकर १२, ६५, ७३, १२१, १२५, ५०३, ६१३, ६३१, ६६१

बलवर्मा ५०६

भट्टपादा, भट्टाचार्या, वार्तिककारा ५०१, ६१३, ६१४, ६२५, ८४४, ८६३, ६६४

भट्टशम्भु १८४

भटोक्ति, भट्टवार्तिकम् २७, ३२०

भर्तृहरि १५५

भवनाथ २३२, २४८, २६२, २६८

भवभूति ६६६

भासर्वज्ञ ८०५

भास्कर ८२२

भैमसेनिस्मृति ७४२, ७४४, ७४६

मण्डनमिश्र ७५३, ७५५, ७७२, ८१४, ८२८, ८६६, ९०० ९५०, ९५८

मानमनोहरकार, मनोहर ४८, ५८, ६३, ७२, ७६, ८२, १३०, १६६ ४६६, ५०३, ५१२, ५१६, ६८३, ७१२, ७२५, ७४०, ८८२

वादिवागीश्वर ५४, ३०३, ५१०

नामानि पृष्ठाङ्का

वादीन्द्र ४७०, ४७२, ५२२, ५५८, ५९२, ६१२

विष्णुपुराणम् ६६१

विवरणकार २११

वृत्तिकार ५७६

शबरस्वामी ६१३, ६४३

शाब्दनिर्णय ३८५

शालिकनाथ (नाथ) ७३, १३६, २२४, २२५, २३६, २४३, ३७६, ३८५, ३८६, ५७२, ५७८

श्रीवल्लभ = लीलावतीकार = लीलावतीपति ३२, ३७८, ४५३, ४६५, ४६६, ४७३, ५१०, ५१६, ५७६, ५८७, ५८६, ६२२, ६२५, ६६० ६६५, ७२८, ७३७, ७४३, ७४५, ७४६, ७५३, ७५५, ७६६, ८०५, ८०६, ८११, ८१४, ८२०, ८७०, ८७६, ८८०, ८८६

श्रीहर्षकवि ४५१, ६७५, ७३२

सम्प्रदायविद (गौडपादा), सर्वदेव ४६७, ४६६, ५१०, ७४०



परिशिष्टम् (४)

मूलोद्धरणवाक्यानि

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अक्षमा भवत केयम्	२४	बृ. वा. १।४।१२१६
अग्निषोमीयम्पशुम्	६०	तै स ६।१।११
अजामेकाम्	६०६	श्वेता उ. ४।५
अतस्मिंतदिति प्रत्यय	५६७	न्या वा.
अत्रायम्पुरुष स्वयज्योति	६७	बृ उ २।३६
अतिदूरात्सामीप्यात्	३३०	सा का ७
अतिरात्रे षोडशिनम्	६०	प्र प पृ १८७
अतो मानान्तरापूर्वम्	२५२	प्र प
अथ यत्र सुप्तो न कचन कामम्	६२	बृ उ.
अथ येऽन्यथाऽतो विदु	६२०	बृ. उ १।४।१०
अथ सम्पत्स्यते	६२०	बृ उ
अन्नादो वसुदानो विन्दते वसु	१३४	बृ उ ४।४।२४
अन्धन्तम प्रविशन्ति	८४६	ईशा ६
अन्योऽन्यपरिहारेण	५५३	
अन्वितस्याभिधानार्थम्	६५६	प्र प पृ १८७
अनादिनिधना नित्या	४०७, ४१६	म भा शा प २३१।५६
अनुदिते जुहोति	६०	•
अनुपपत्तेस्तु शारीर	६४५	ब्र सू १।२।३
अनुमानस्य तु परित	३३२	न्या वा तात्पर्यटीका
अनुमेयेन सम्बद्धम्	६१३	वै भा
अनेन जीवेन	६२०, ६५०	छा उ ६।३।२
अप्राप्य मनसा सह	८३४	तै उ २।४।१
अभय वै जनक प्राप्तोऽसि	६४६	बृ उ ४।२।४
अय वै हरय	१३३	बृ उ २।५।१६
अयुतसिद्धानाम्	५०५	वै भा
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा	८६१	ईशा ६

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अविनाशी वाऽरेऽयम्	६१	बृ उ
अशरीरं वाव सन्तम्	८७८	छा उ ८।१२।१
असन्ततेश्चाव्यतिकर	६४५	ब्र सू २।३।४९
असन्निकृष्टवाचा च	६४४	श्लो वा अनु ५५।५६
असम्भवाद्विरुद्धधर्म०	६९०	न्या ली
अहं कृत्स्नस्य जगत	६४३	भ गी ७।६
अहं ब्रह्मास्मि	६२१, ६४३	बृ उ १।४।१०
अकाशकालदिश सत्तेतरजातिमत्य	४६१	न्या ली
आग्नेयोऽष्टाकपाल-	२६०	मै० स० १।१०।१
आत्मा कदाचित्	८७६	न्या ली
आत्मा ज्ञातव्य इत्येतत्	८४१	श्लो वा स १०।३४
आनन्दो विषयानुभव	२४९, ६११	पञ्चपादिका
आयुर्ह्योपासते	१३४	बृ उ ४।४।१६
इद सर्वमसृजत	४०६	तै उ ११।६
इन्द्रो मायाभि	९०, ६६१	ऋ म ६अ ४मू ४७म १८
इहात्मनि	१९०	न्या द सू २
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी	४०७	क उ १।३।१६
उदिते जुहोति	९०	
उपपातकेषु सर्वेषु	८८४	
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानम्	६५७	भ गी ४।३४
ऋग्वेद एवाग्नेरजायत	४१६	
एकधैवानुद्रष्टव्यम्	२४७, २९७	बृ उ ४।४।२०
एकमेवाद्वितीयम्	९०, २९७, ९२०	छा उ ६।२।१
एकशतं ह वै वर्षाणि	६४६	छा उ ८।११।३
एकसाध्याविनाभावे	४४८	
एको देव सर्वभूतेषु गूढ	९०४, ६१८	श्वेता उ ६।११
एतावदरे । खल्वमृतत्वम्	८४९, ६४६	बृ उ ४।५।१५
एवंविदि पाप कर्म न श्लिष्यते	८८३	छा उ ४।१४।३
एवं हास्य सर्वे पाप्मान	८८३	छा उ ५।१४।३
एषोऽस्य परमानन्द	८९०	छा उ ४।३।३३
ऐन्द्रचा गार्हपत्यम्	८४३	तै स १।५।८।३
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च	६४५	ब्र सू १।२।४

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
कर्मणैव हि समिद्धिम्	८५२	भ गी ३।२०
कषाये कर्मभि पक्वे	८५३	
काम सकल्पो विचिकित्सा	८१४	बृ उ १।५।३
कार्य वादरिरस्य गत्युपपत्ते	८६४	ब्र सू ४।३।७
किन्तु स्वय क्लेशरूपम्	२४३	प्रकरणपञ्चिका
कि प्रजया करिष्याम	८४५	बृ उ ४।४।२२
किमर्थ वयमध्येष्यामहे	८४५	ऐ उ २।३।६
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु	६४५	ब्र सू २।३।४२
कृतितत्साध्यमध्यस्थ	२५८	नयविवेक
कृष्णद्वैपायन व्यासम्	४०६	
क पुनर्विपर्यय	१६०	उद्योतकरवार्तिकम्
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि	८७३, ६५७, ६६३	मु उ २।२।८
गुरुत्वधर्माधर्मभावना	३७३	वै भा
जन्माद्यस्य यत	६४३	ब्र सू १।१।२
जात्यादिगोचरो विशिष्टव्यवहार	५१६	न्या ली पृ ७०८
जालान्तर्गते भानौ	७०८	ब्र पुराणम्
ज्ञातोऽर्थस्तज्ञप्तिर्वा	६५०	इष्टसिद्धि पृ ३६६
ज्ञातोऽर्थस्तज्ज्ञप्ति	६५०	इष्ट पृ ३६६
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि	८७३	भ गी ४।३७
ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन	६६४	भ गी ४।३४
ततो भूय इव ते	८५३	ईशा ६
तदात्मानमेवावेद	६३०	वाजसनेयिब्रा उ १।४।१०
तदेतत्प्रेय पुत्रात	८३४	बृ उ १।४।८
तद्धास्य विजज्ञौ	८३४-६४६, ६६४	छा उ ६।१६।३
तद्यो यो देवानाम्	६४५	बृ उ १।४।१०
तपो विद्या च विप्रस्य	५५०	मनु १२।१०४
तम आसीत	१४७	ऋ ८।७।१७
तमस पार दर्शयति	८३४, ५३७, ६२१	छा उ ७।२६।२
तमेव धीरो विज्ञाय	१३५	बृ उ ४।४।२१
तमेव विदित्वा	८४८	श्वे उ ३।८
तमेत वेदानुवचनेन	८५३	बृ उ ४।४।२२
तरणिपरिस्पन्दभेदानाम्	८०१	न्या ली पृ २८३

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
तरत्यविद्याम्	१५५, ८३७	वि पुरा ५।१७।१८
तरति शोकमात्मवित्	५३७, ९२१	छा उ ७।१।३
तस्माद्धरो भूषण	४६६	किर पृ १६०
तस्माद् गुणेभ्य	३२७	श्लो वा २६६
तस्माद्बोधात्मकत्वेन	३१५	श्लो वा २।५३
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत	४०५, ४१६	ऋ ८।४।१८
तस्य तावदेव चिरम्	९५७, ९६३	छा उ ६।१४।२
तिष्ठति संस्कारवशात्	९५८	सा का ६७
ते ध्यानयोगानुगता	३५६	श्वे उ १।३
तैलाद् घृत विलीनञ्च	६८४	श्लो वा वन २७
त त्वौपनिषद पुरुषम्	८३७	बृ उ ३।९।२६
त्रयो वेदा अजायन्त	४०५	
दर्शपूर्णमासाभ्याम्	२६०	
देवताज्ञानमिह	८५०	ई उ शा भा ९
द्वा सुपर्णा सयुजा	९०६	मु उ ३।१।१
धर्मात्सुख च ज्ञानञ्च	८५३	
न कर्मणा न प्रजया	८४८	महाना० १०।५
न च तद्गतानाम्	४०२	वे सू १।१।४
न तस्य कार्यम्	२५६	श्वे उ ६।८
न दृष्टेर्द्रष्टारम्	५९	बृ उ ३।४।२
न ब्राह्मणो हन्तव्य	९०	
न वाऽरे पत्यु कामाय	६०	बृ उ २।४।५
न हिंस्यात् सर्वा भूतानि	९०	
नाचिकेतमुपाख्यानम्	४०६	कठोप १।३।१६
नान्यतोऽस्ति	९१९	बृ उ ३।७।२३
नावेदविन्मनुते	८३७	तै ब्रा ३।१२।९।७
नास्त्यकृत कृतेन	८४८	मु उ १।२।१२
नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव	४९५	न्यायकन्दली
नियम्यत्वनियन्तृत्वे	३६७	श्लो वा ५।१२१
नियोगार्थसिद्धे	२६६	प्रभाकर
नियोज्य स च कार्य य॰	२४६	प्र प पृ
नेतरानुपपत्ते	९४५	ब्र सू १।१।१६

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
नेह नानास्ति किञ्चन	९०, १३४, ५५०, ६२१	बृ उ ४।४।१९
पदार्थान्तरतुल्यत्वात्	४०४	ब्र सि पृ० १११
परात्तु तच्छ्रुते	६४५	ब्र सू २।३।४१
पराभिध्यानात्तु	६४५	ब्र सू ३।२।५
पश्यन श्वेतिमारूपम्	३८७	श्लो वा वाक्य ३५८
पश्यन् प्रतिपेदे	६२२	बृ १।४।१०
पृथक्त्वस्य पृथक्त्वान्तरसादृश्य०	५०२	न्या० ली० पृ० २०२
प्रकाशादिवन्नैव पर	६४५	ब्र सू २।३।४६
प्रजहाति यदा कामान्	६६६	भ गी २।५५
प्रणिधानाभ्यासलिङ्ग०	३८३	न्या सू ३।२।४३
प्रतिपद्य पदार्थम्	२९६	तै वार्ति
प्रतिबन्धो विसामग्री	३४४	न्या कुसु १।००
प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा	४०७	
प्रमाणपञ्चक यत्र	६७१	श्लो वा अ १
प्रमाणमनुभूति सा स्मृतेरन्या	२५६	प्र प अमृ १
प्रमाणावन्त्यदृष्टानि	३०१	त वा २।१।२
प्राग्लोपाविनियम्यत्व०	४५१	खण्डन पृ २०७
प्राणा वै सत्यम्	९३	बृ उ २।१।२०
बर्हिर्देवसदन दामि	८४४	मै स १।१।२
ब्राह्मणे ब्राह्मणमालभेत	९०	
ब्रह्म वा इदमग्रे	६०६, ६२६	बृह ३०१।४।१
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति	६२१	मु उ ३।२।९
भिद्यते हृदयग्रन्थि	६२१	मु उ २।‾।८
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति	१५५, ६३८, ६६३	श्वे उ १।१०
भृगुर्वै वारुणि	६४६	तै उ ३।१
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा	६४१	ब्र सू ४।१।१९
मणिप्रदीपप्रभयो	५५०	प्रमा वा ३।५७
महत्परिमाणसामान्यम्	८११	न्यायलीलावती
मही घटत्वम्	६९१	वि पु
मायामेता तरन्ति ते	१५५	भ गी ७।१४
मामेव ये प्रपद्यन्ते	८३७	भ गी ७।१४
माया तु प्रकृतिं विद्यात्	१४०, १५४	श्वे उ ४।१०

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसख्या	आकरः
मूलक्षयकारी प्राहु	४२८	
मृत्यो स मृत्युमाप्नोति	९०	कठ ४।१०
य आत्मनि तिष्ठन्	९०४, ९१९	श प १४।५।३
य एकोऽवर्णो बहुधा	३५६	श्वे उ ४।१
यतो वा इमानि भूतानि	९४३	तै उ ३।१
यत्र त्वस्य सर्वम्	९५५	बृ उ ४।५।१५
यत्राप्यतिशयो दृष्ट	२६	श्लो वा २।११४
यद्धि यस्यानुरोधेन	८५७	बृ उ ३।३।६८
यदा स्वत प्रमाणत्वम्	३३०	श्लो वा २।५२
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	९६६	बृ उ ४।४।७
यदा निर्धूतरज	८८५	यो भा ३।५५
यदेव विद्यया करोति	८४३	छा उ १।१।१०
यन्मनसा न मनुते	८३४	केन १।६
यस्मिन् सर्वाणि कर्माणि	९५५	ईशा ७
यस्मिन् पञ्च पञ्चजना	१३५	बृ उ ४।४।१७
यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति	८४५	तै स ३।५।७
यावदविकारमवस्थिति	९४५	
यो वै भूमा तत	८९०	छा उ ७।२३।१
योगिन कर्म कुर्वन्ति	८५३	भ गी ५।११
यो वै वेदाश्च प्रहिणोति	४०६	श्वेता ६।१८
योऽनधीत्य द्विजो वेदम्	१२९	मनु २।१६८
रसवर्ज रसोऽप्यस्य	९६५	भ गी २।४९
वध्यता वध्यताम्	१९०	भा पु
वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे	३९६	प्र प वा परि
वचा विरूप नित्यया	४०६, ४१६	तै स २।६।११
विज्ञाया प्रज्ञा कुर्वीत	१३५	बृ उ ४।४।२१
विद्ययाऽमृतमश्नुते	८५०	ईशा ११
विद्याञ्चाविद्याञ्च	८४९	ईशा १४
विद्वान् न बिभेति	९२१	तै उ २।९।१
विवर्ययाभावस्तु युक्त	३६७	ब्र सि पृ १४६
विमत ज्ञानम्	३३१	न्या वा तात्पर्यटीका
विवादाध्यासितम्	३५५	न्या ली पृ ६२
विवादाध्यासितम्	८१५	मानमनोहर
विशिष्टार्थप्रयुक्ता हि	३९९	ब्र सि पृ १११

मूलोद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
विशेपण विशेष्य च	४३७	न्या ली पृ ७०
वेदानुवचनेन ब्राह्मणा	८५५	बृ उ ४।४।२२
व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ·	२४०	न्या द २।२।६५
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम्	३३६	किर पृ ३३
शक्तय सर्वभावानाम्	३५७	वि पु
शास्त्र शब्दविज्ञानात्	३०२, ६६५	शा भा १।१।५
षण्णा तु कर्मणाम्	१२८	मनु १०।७६
स इद सर्वं भवति	६२१	
स एष इह प्रविष्ट	६२१	बृ उ १।४।७
सच्च त्यच्चाभवत्	६०	तै उ २।६
सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म	६०	तै उ २।१।१
सत्येनापि शपेद्यस्तु	८८४	
सत्ता सामान्यसमवाय०	५०१	न्या ली पृ ७०२
सत्येन लभ्यस्तपसा	८५१	मुण्ड उ ३।१।५
स ब्रह्मविद्याम	६४६	मु उ १।१।१
समवायिन श्वैत्यात्	८३७	वै सू. ८।१।६
समानजातिगुणकर्म०	५०१	न्या लीला
सम्यगर्थे च सशब्द	५८१	श्लो वा ४।३८
सर्व वस्तु ज्ञाततया	१५४	
सर्वस्य वशी सर्वस्य	१३५	बृ उ ४।४।२२
सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोध	३५७	शिवपु विद्येश्वर १६।१२
सर्वादृष्टेश्च सदेहात्	६०२	न्या ली पृ २५२
सादृश्यस्य च वस्तुत्वम्	६३०	श्लो वा उप १८
साधर्म्यमिव वैधर्म्यम्	६३६	न्या कु ३।६
सामान्यवानचलनात्मक	४६५	न्या ली
सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानम्	६५०	
सुवर्णपुष्पाम्	३६८	
सयोगाजन्यसयोगासमवायि०	४६६	लक्षणावली
सस्थानेन घटत्वादि	६८४	श्लो वा वन २६
सवृतेर्न तु सत्यत्वम्	१०१	श्लो वा ५।६।७
स्वबुद्धया रज्यते येन	६५०	
स्वात्मसिद्धयनुकूलस्य	२४७	प्र प पृ १६०

परिशिष्टम् (५)

संस्कृतव्याख्योद्धरणवाक्यानि

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
अकर्तव्यो दुःखफल	२४३	
अत्यन्त बुभुत्सित०	६२२	न्या ली
अथैष ज्योति	६५	
अन्धस्येवान्धलग्नस्य	३५	आभाणक
अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र	३	काव्यादर्श १
अन्यस्य चान्यथाभानम्	१५८	प्र प नय २५
अन्यथासविदानोऽपि	६५८	श्लो वा १।१६०
अनित्य शब्द	४२३	मानमनोहर
अनित्य शब्दम्	६२२	न्या वा ता
अनियम्यस्य नायुक्ति	६७४	न्या कु ३।१६
अप्रतीतावपि प्रतीतिभ्रम	७३	प्र प
अभिधेयाविनाभूते	२२५	तन्त्रवा १।४।१२
अमावास्यायामपराह्णे	१२२	
अयथार्थत्वपक्षे च	१५८	प्र प नय ७२
अयथार्थस्य बोधस्य	१५८	प्र प नय ७३
अर्थविप्रकर्षात्	३६१	जै सू ३।३।१४
अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्	४५५	जै सू १।४।२५
अर्थेऽनुपलब्धे	५८	जै सू १।१।४
अर्हे कृत्यतृचश्च	२३६	पा सू ३।३।१६६
अल्पस्य हेतोर्बहु	१५६	रघु २।४७
अव्ययादाप्सुप	६५४	पा सू ३।३।१६६
अविज्ञात चाज्ञानम्	१७८	न्या सू ५।२।१७
अस्य महत-	५६	बृ उ २।४।१०
अत्र ब्रूमो य एवार्थ	११५, १५८	प्र प
आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य	४८६	छा ३।१४।३
आगमेनानुमानेन	६०७	खण्डन

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
आलजाटचो बहुभाषिणी	५	पा सू ५।२।१२५
आत्मा वाऽरे	५६	बृह उ २।४।६
आनन्दो विषयानुभव	२५	पञ्चपादिका
आश्रयग्राहकैरिन्द्रियै	७२६	
इद सर्व यदयमात्मा	५६	बृह उ २।४।६
इति सर्वभेदप्रत्ययस्य	५०२	तत्त्ववैशारदी
ईदृशो हि तैजस	७८०	
उतरसयोगानुत्पतौ	४७६	वै भा
उपनीय तु य शिष्यम्	१२४	मनु २।१४०
एकत्वमख्यामाचष्टे	१३०	मानमनोहर
एकदेशदर्शन खलु	१८१	भामती
एकद्वित्रिचतुष्पञ्च	३६१	त वा ३।३।७
एकमेवाद्वितीयम्	६१	छा उ ६।२।१
एकस्यैव पुन श्रुति	६५	जै सू २।२।२
एको देव सर्वभूतेषु	६०४	श्वेता ६।११
एक द्वे त्रीणि	७४८	न्या कु
एवमित प्रेत्य	६४५	छा उ ३।१४।४
एव सति ध्वसोऽपि	६६०	न्या ली
ऐहिकमप्यप्रस्तुत०	८३५	वे सू ३।४।५१
ऐन्द्रया गार्हपत्यम्	८४३	ते स १।५।८।३
क्त्वातोसुन्कसुन	६५४	पा सू १।१।४०
कथ तर्हि पदप्रयोग	७३	प्र प
कदाचनस्तरीरसि	८४३	तै स १।८।२२।१
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च	६४५	ब्र सू १।२४
कर्मणा पितृलोक	२६६	बृह उ १।५।१६
कर्मणामल्पमहताम्	८६३	
कल्पनापोढमभ्रान्तम्	५३१	प्रमाणसमुच्चय
कार्यकारणभावाद्वा	१८५	प्रमा वा ३।३०
कार्यरूपेण नानात्वम्	६६५	
कार्य यत्र समवैति	४६४	
कार्यत्वेन नियोज्य य	२६४	प्र प पृ १८८
कार्यविपर्ययाद्भवितव्यम्	४७६	किर

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
कार्यान्वयो हि	२२५	प्र प
किन्नु तेषा न दृष्टैषा	३८७	प्र प
किम्पुन मयोगस्य	८११	न्या ली
कृतार्थ प्रति नष्टम्	८६८	यो सू २।२२
कृतिसाध्य प्रधानम्	२४७	प्र प वाक्य
कृन्मेजन्त	६५४	पा सू १।१।३६
केनचित्सप्रयोगो हि	५७६	
को ब्रूते सती सा वित्ति	४०	
क्रमेणावगतानर्थान्	३८५	शब्दनिर्णय
क्रियावद् गुणवत्	४५७	वै० सू०
गुणश्चापूर्वमयोगे	६६	जै सू २।२।२३
गौण्यपि गुणलक्षण०	३६७	
घटादि द्रव्येषु अग्निसयोगा	७८१	किर
चेतश्चित्त क्रतुर्माया	६१	
चोदनाया फलाश्रुते	१२२	जै सू ४।३।१०
जन्माद्यस्य यत	१५५	ब्र. सू १।१।२
जरद्गव कम्बलपादुकाभ्याम्	२८७	
जातिसमवायस्य	४६०	न्या ली
जातेरपि विप्लवापत्ते	७५५	न्या ली
ज्ञानशब्दश्च ज्ञायते	६३	मानमनोहर
ज्ञानम्प्रत्यक्षवेद्यम्	४८	मानमनोहर
ज्ञापककोटिनिविष्टा	२४३	
ज्ञेयाभिव्यक्तितो यस्मात्	३३६	
झटिति प्रवृत्तिर्हि	३३६	न्या कु
तत्सिद्धिजातिसारूप्य	३६८	जै सू १।४।१२
तदसत्, कार्यान्वयोपाधि	२४०	
तदुत्सर्गे कर्मणीत्य	२३७	जै सू ४।१।३
तरत्यविद्याम्	८३६	
तस्मात् पूषा	६०५	तै स २।६।८।५
तस्माद्युतसिद्धिरेव	७२७	किर
तस्माद्वा एतस्मात्	१५५	तै उ २।५
तस्य लिप्सार्थलक्षण.	२३८	जै सू ४।१।२

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
तत्र क्रियावत्त्वस्य	५११	मानमनोहर
तत्रापि देशलक्षणभेद.	५०२	यो भा विभूति ५३
तानि द्वैधम्	३७७	जै सू २।१।६
तिस्र आहुतीर्जुहोति	६६	
तुल्य हि साम्प्रदायिकम्	५६	जै सू १।२।५
तेन यत्प्रार्थ्यते जाते	४२३	श्लो वा स्फो
त देवा ज्योतिषाम्	१२६	बृह उ ४।४।१६
दिग्लिङ्गविशेषात्	८०८	वै भा
दु खेष्वनुद्विग्नमना	६५६	भ गी २।६२
देवता ना प्रयोजयेत्	२६०	जै सू ६।१।४
द्रव्यगुणसस्कारकर्मसु	८४१	जै सू ४।३।१
द्वित्वे तात्पर्यम्	४७३	न्या ली
धर्मिसन्निकर्षो निदानम्	३६५	
न क्षणिका क्रियाम्	२६२	नयवि
न च पृथक्त्वादिकमेव	५०२	तत्ववैशारदी
न च प्रतिबन्धामवेदनम्	५६०	न्या ली
न च भेदानवस्था	४३६	मानमनोहर
न च स्वाधिगतनत्प्रिये	२३२	नयविवेक
न चाम्नायप्रतीत०	६०	
न तदपेक्षया	८११	किरणावली
न निरोधो न चोत्पत्ति	६४६	गौडका २।३२
न विधौ पर शब्द	३७८	शाबर
न स्वर्गकाम	२६८	नयविवेक
न हि कारणसद्भावे	३६७	
न हि तत्र स्वर्गकामस्य	२६७	पार्थसारथि
नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोप	५८	बृ उ ४।०।२३
नाज सयोगोऽस्ति	५११	वै भा
नान्तरीयकनाभावात्	६४४	धर्मकीर्ति
नित्यमेकमनेकसमवेतम्	४८६	श्रीवल्लभ
निश्चितौ हि वाद कुरुत	१६, ३१६	
नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्	२३७	मनु ४।४७
नेदमिद नेदमिह	७२८	न्या. ली

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकर
नेह नानास्ति किञ्चन	९०	बृ उ ४।४।१९
नो खल्वभावाभावो नाम कश्चिदन्य	६८७	तात्पर्यटीका
परस्परविरोधे हि	८३	न्या कु ३।८
परेण कालप्रदेशेन	८०४	वै भा
पर हि तद्गोचर वा	३२१	वाचस्पति
पादा इति च नामान्ते	५८१	
पूर्वपक्षाद्भावस्य	८०५	न्या ली
पूर्वसम्बन्धनियमहेतुत्वे	७३३	खण्डन
पूर्वापरावस्थयो	१४३	ता परि
पौर्वापर्यायोगात्	१८०	न्या द ५।२।१०
प्रकृतिप्रत्ययो महार्थम्	८५५	
प्रतिज्ञादोषमेवाहु	६२५	श्लो वा निरा ३०
प्रथमस्य तथाभावे	८३	श्लो वा चोदना ७६
प्रदीपस्येव निर्वाणम्	८६७	
प्रमाता ज्ञानसम्बन्ध	६१३	श्लो वा अनु० २
प्रमाणवत्त्वदृष्टानि	१७०	तन्त्रवा २।१।२
प्रमाणेन निश्चितस्य	६७१	सा त कौ
प्रागभावनिवृत्तिनिवृत्तौ	६९०	न्या ली
प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०	३८६	पा सू २।३।४६
प्राप्ते कर्मणि नानेक	८५९	तन्त्र वा २।२।६
फलमत उपपत्ते	२९०	ब्र सू ३।२।३८
बाधेन चोपाधिरुन्नीयते	६२५	
बुद्धीद्धो बोधो बोधेद्धा बुद्धिर्वा	९१३	
भस्मकादिषु कार्यस्य	१५९	प्र. प नय ७४
भवेन सर्वत्र सत्ता च	११२	
भावो यथा तथाऽभाव	३०७, ३८४	न्या कु १।१०
भिन्नकाल कथ ग्राह्यम्	११७	प्रमाणवा ३।२४८
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्ति	९५४, ९६१	श्वेता १।१०
भूतभाव्युपयोग हि	२२९	तन्त्रवा १।४।१२
मा भूज्जाति	३६९	न्या कु
मामेव ये प्रपद्यन्ते	८३६	भ गी ७।१४
माया तु प्रकृतिं विद्यात्	९६१	श्वेता ४।१०

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
मृत्यो स मृत्युम्	९१	कठ ४।१०
यतोऽन्यत्व तदसिद्धे	६७५	खण्डन
यत्कर्म द्रव्यानारम्भक	४७८	किर
यथा कुण्डदध्नो	५१७	वै भा
यथा द्रव्यगुणकर्मणाम्	५१८	वै भा
यथा मुद्गस्तम्बस्तथा	६४३	वै भा
यद्यपि स्याद्विविस्पृष्टे	२७३	श्लो वा २।२०३
यदा पार्थिवाप्ययो	७२५	वै भा
यदि स्वार्थ परित्यज्य	१५८	प्र प
यन्मनसा न मनुते	८३४	केनो १।६
यस्य खादिर स्रुव	८४१	
यस्य पर्णमयी जुहू	८४१	तै स ३।५।७।२
यस्मिन् प्रीति पुरुषस्य	१२४	जै सू ४।१।२
यावच्च व्यतिरेकत्वम्	५२४	
ये तु प्रतिपाद्यन्ति	३६०	न्या कु
येनाश्रुत श्रुत भवति	१०५	छा उ ६।१।३
यो हि शब्दो यत्र	६४१	मा त को
लिङादिस्तत्र कार्यम्	२४६	प्र प
वचनान्यपूर्वान्	८५५	
वर्तमानपरिच्छिन्ददवर्तमान	५३१	
वाक्यान्वयान्	९१	ब्र सू १।४।१९
विद्यमानोपलम्भात्	३७८	जै सू १।१।४
विद्यमानयोरप्राप्तयो	७३५	किर
विधिरात्माऽस्य भावस्य	५३१	आत्मन वि प १
विपरीतमतो यत् स्यात्	६१३	वै भा पृ १००
विभागकुर्वद्रूपत्वापर	४७२	वादीन्द्र
विवादाध्यासित	५१९	मानमनोहर
विशेषण विशेष्यञ्च	४९२	न्या ली
विश्वजिता यजेत	१२२	शतपथ १०।२।५।१६
वैश्वदेव्यामिक्षा	९६	
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम्	३५	किर पृ ३३

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
व्यावर्त्याभाववत्तैव	३६०	न्या कु ३।२
व्यापार करणानान्तु	५७६	श्लो वा ४।५४
व्युत्पत्तिरपि कार्यार्थे	२४२	प्र प
शक्तेरपि शक्त्यन्तरा	३५२	न्या ली,
शङ्का चेदनुमास्त्येव	६०३	न्या कु
शब्दज्ञानानुपाती वस्तु	७	यो सू १।६
शब्दान्तरे कर्मभेद	६५	जै सू २।२।१
शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्त	७६	मानमनोहर
शुक्त्यवस्थात्ममोहोत्था	२१८	इ सि
शुद्धतत्व प्रपञ्चस्य	१५१	धातुसमीक्षा
श्रूयमाण पद सर्वम्	३८५	प्र प
श्लेष प्रसाद समता	३	काव्यादर्श
स एव चोभयात्मायम्	६१३	श्लो वा अनु २४
स एव परमो न्याय	६२१	
स कारण करणाधिपा	७८२	श्वेता ६।६
सति पुष्कलकारणे	३६०	न्या कु
सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म	६०	तै उ २।१।१
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या	१५६	
सन्दिग्धे न्याय प्रवर्तते	३१६	न्यायभाष्य १।१।१
सन्निहितरजतशकले	१६१	प्र प
सम्बन्धस्य परिच्छेदम्	६४१	न्या कु ३।११
सम्माननोत्सञ्जनाचार्य	१२३	पा सू १।३।३६
समवायस्त्वप्राप्तयो	७३५	न्या कु
समानजातीयगुणा	४५६	किर
समासमाविनाभावौ	४४६	
समानप्रत्ययश्रुत्या	८५६	
सर्व ज्ञान धर्मिणि अभ्रान्तम्	२२३	
सर्वत्रैव हि विज्ञानम्	८४४	त वा १।३।८
सर्वोपसंहारप्रवृत्त०	६२५	न्या ली
सलिल एक	५६	बृह उ ४।३।३२
साङ्केतिक शब्दार्थयो सम्बन्ध	६६५	
सादृश्यस्यानिमित्तत्वात्	६४१	न्या कु

व्याख्योद्धरणवाक्यानि	पृष्ठसंख्या	आकरः
साध्यकृत्स्नसहचारिण	५९८	न्या. ली
साधर्म्यग्रहणञ्च	६४२	ना टी
सामान्यादीना त्रयाणाम्	४९०	वै भा
साक्षात्प्रतीति प्रत्यक्षम्	५७८	प्र प
सिहो मृगेन्द्र पञ्चास्य	२	अमरकाप
सयोगसमानाश्रयत्वे	७४२	मानमनोहर
सस्कार पुस एवेष्ट	३५४	न्या कु १।११
स्याज्जटपाकस्तु	५	अमरकोष
स्यु पुमास पञ्चजना	५	,,
स्वकाले यदकुर्वन् हि	३०७	नयविवेक
स्वपुत्राद्यनुमानम् यत्	६४५	
स्वभावनियमाभावात्	११३	न्या कु ४।२
स्वरितञित	१२३	पा सू १।३।७२
स्वरूपपररूपाभ्याम्	१९५	श्लो वा अभाव १२
स्वसत्तामात्रभाविनि	१८६	न्या बिन्दु
स्वाध्यायोऽध्येतव्य	१२८	तै आ २।१५
स्वार्थानाहु पदानीति	३८०	प्र प
स्वौजसमौट	६५२	पा. सू ४।१।२
हृदा मनीषाया	८३३	कठो ६।९
हेय दु खमनागतम्	८७०	यो सू १।१६

